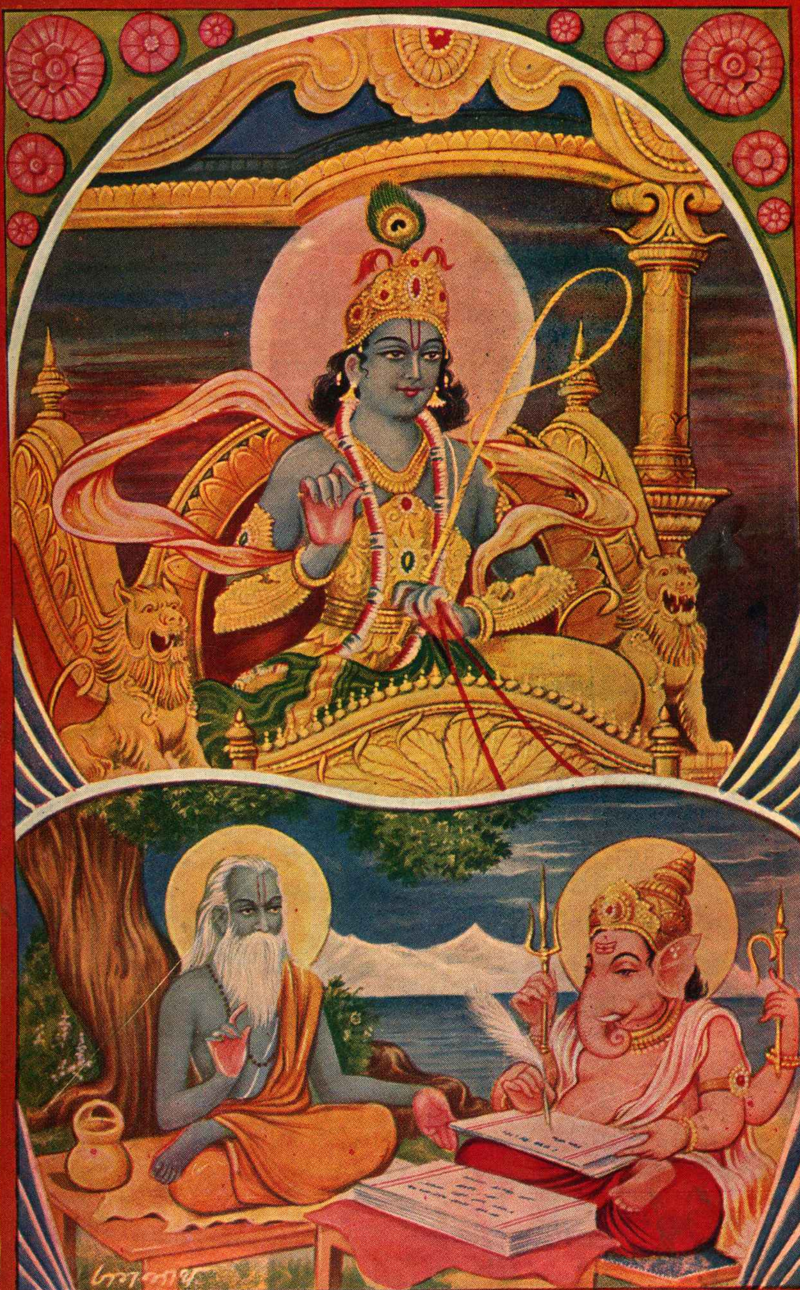
महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद



संस्कृत मूल

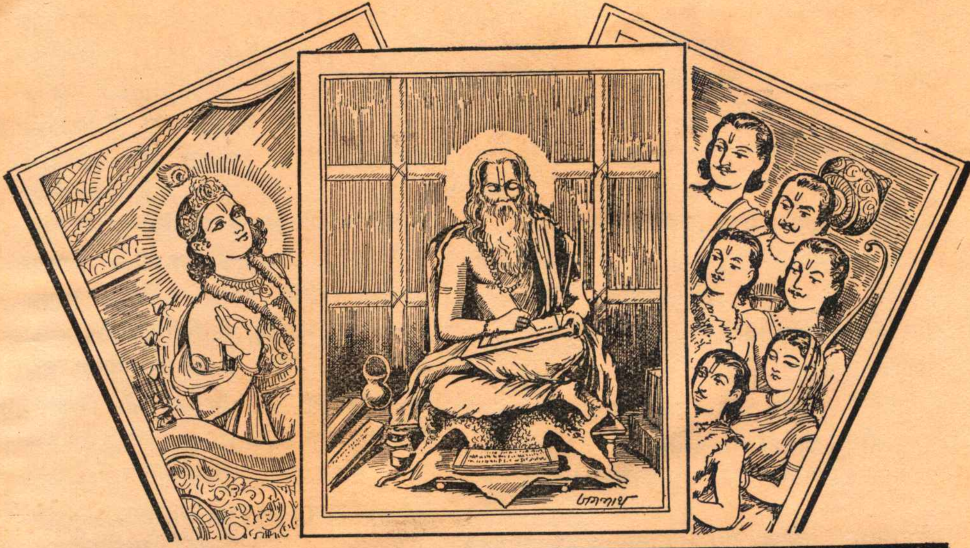
हिन्दी अनुवाद

वर्ष २

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या १

ॐ श्रीपरमात्मने नमः



महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष ३ } गोरखपुर, कार्तिक २०१४, नवम्बर १९५७ { संख्या १
पूर्ण संख्या २५

श्रीकृष्ण ही परमार्थपद हैं

श्रीकृष्ण एव परमार्थपदं न चान्यत्
तज्ज्ञास्त एव जगतामिह कीर्तनीयाः ।
तद्ध्यानतः परममङ्गलमस्ति पुंसां
तज्ज्ञानमेव परमार्थपदैकलाभः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ही परमार्थपद हैं, उनके सिवा दूसरी कोई वस्तु परमार्थ नहीं है । जो उनके तत्त्वको जाननेवाले हैं, वे ही यहाँ सम्पूर्ण जगत्के लिये कीर्तनीय हैं—सब लोग उन्हींकी महिमाका बखान करते हैं । भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानसे ही मनुष्योंका परम मङ्गल होता है तथा उनका ज्ञान ही एकमात्र परमार्थपदकी प्राप्ति है ।

वार्षिक मूल्य
भारतमें २०)
विदेशमें २६॥)
(४० शिलिंग)

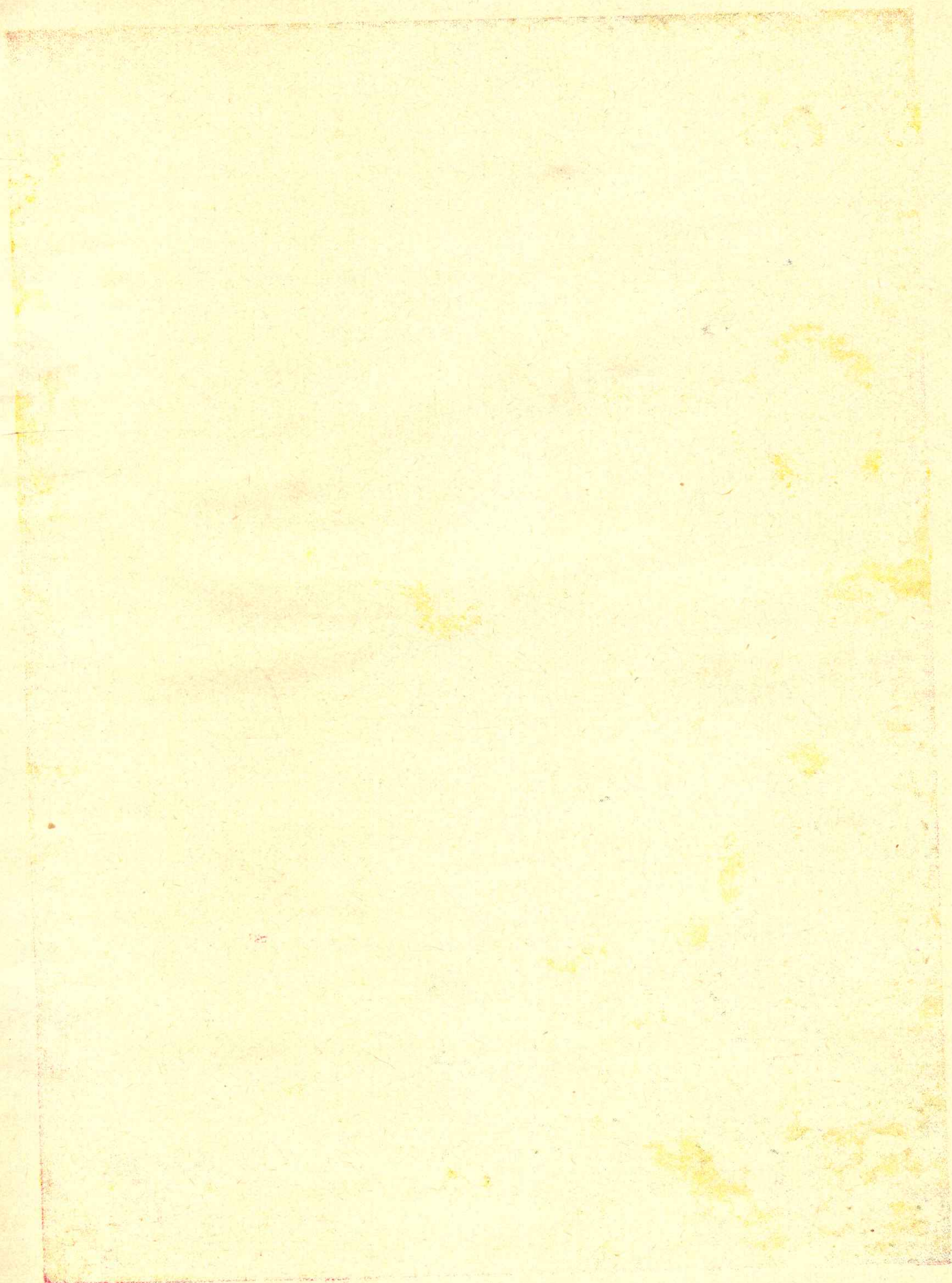
सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार
टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

एक प्रतिका
भारतमें २)
विदेशमें २॥)
(४ शिलिंग)

* श्रीहरिः *

विषय-सूची (शान्तिपर्व)

चित्र-सूची





भगवान् नारायणके नाभि-कमलसे लोकपितामह ब्रह्माकी उत्पत्ति

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका सेमल-वृक्षसे प्रशंसापूर्वक प्रश्न

युधिष्ठिर उवाच

बलिनः प्रत्यमित्रस्य नित्यमासन्नवर्तिनः।
उपकारापकाराभ्यां समर्थस्योद्यतस्य च ॥ १ ॥
मोहाद् विकत्थनामात्रैरसारोऽल्पबलो लघुः।
वाग्भिरप्रतिरूपाभिरभिद्रुह्य पितामह ॥ २ ॥
आत्मनो बलमास्थाय कथं वर्तेत मानवः।
आगच्छतोऽतिक्रुद्धस्य तस्योद्धरणकाम्यया ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो बलवान्, नित्य निकटवर्ती, उपकार और अपकार करनेमें समर्थ तथा नित्य उद्योगशील है, ऐसे शत्रुके साथ यदि कोई अल्प बलवान्, असार एवं सभी बातोंमें छोटी हैसियत रखनेवाला मनुष्य मोहवश शेखी बघारते हुए अयोग्य बातें कहकर वैर बाँध ले और वह बलवान् शत्रु अत्यन्त कुपित हो उस दुर्बल मनुष्यको उखाड़ फेंकनेके लिये आक्रमण कर दे, तब वह आक्रान्त मनुष्य अपने ही बलका भरोसा करके उस आक्रमणकारीके साथ कैसा बर्ताव करे ? (जिससे उसकी रक्षा हो सके) ॥ १-३ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं भरतश्रेष्ठ शाल्मलेः पवनस्य च ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष वायु और सेमलवृक्षके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ४ ॥

हिमवन्तं समासाद्य महानासीद् वनस्पतिः।
वर्षपूगाभिसंवृद्धः शाखी स्कन्धी पलाशवान् ॥ ५ ॥

हिमालय पर्वतपर एक बहुत बड़ा वनस्पति था, जो बहुत वर्षोंसे बढ़कर प्रबल हो गया था। वह स्कन्ध, शाखा और पत्तोंसे खूब हरा-भरा था ॥ ५ ॥

तत्र स्म मत्तमातङ्गा घर्मार्ताः श्रमकर्शिताः।
विश्राम्यन्ति महाबाहो तथान्या मृगजातयः ॥ ६ ॥

महाबाहो ! उसके नीचे बहुत-से मतवाले हाथी तथा दूसरे-दूसरे पशु धूपसे पीड़ित और परिश्रमसे थकित होकर विश्राम करते थे ॥ ६ ॥

नल्वमात्रपरीणाहो घनच्छायो वनस्पतिः।
सारिकाशुकसंजुष्टः पुष्पवान् फलवानपि ॥ ७ ॥

उस वृक्षकी लंबाई चार सौ हाथकी थी। छाया बड़ी सघन थी। उसपर तोते और मैनाओंके समूह बसेरा लेते थे। वह वृक्ष फल और फूल दोनोंसे ही भरा था ॥ ७ ॥

सार्थिका वणिजश्चापि तापसाश्च वनौकसः।
वसन्ति तत्र मार्गस्थाः सुरम्ये नगसत्तमे ॥ ८ ॥

दल बाँधकर यात्रा करनेवाले वणिक्, वनवासी तपस्वी तथा दूसरे राहगीर भी उस रमणीय एवं श्रेष्ठ वृक्षके नीचे निवास किया करते थे ॥ ८ ॥

तस्य ता विपुलाः शाखा दृष्ट्वा स्कन्धं च सर्वशः।
अभिगम्याब्रवीदेनं नारदो भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस वृक्षकी बड़ी-बड़ी शाखाओं तथा मोटे तनोंको देखकर देवर्षि नारद उसके पास गये और इस प्रकार बोले— ॥ ९ ॥

अहो नु रमणीयस्त्वमहो चासि मनोहरः।
प्रीयामहे त्वया नित्यं तरुप्रवर शाल्मले ॥ १० ॥

'अहो ! शाल्मले ! तुम बड़े रमणीय और मनोहर हो। तरुप्रवर ! तुमसे हमें सदा प्रसन्नता प्राप्त होती है ॥ १० ॥

सदैव शकुनास्तात मृगाश्चाथ तथा गजाः।
वसन्ति तव संहृष्टा मनोहर मनोहराः ॥ ११ ॥

'तात ! मनोहर वृक्षराज ! तुम्हारी शाखाओंपर सदा ही बहुत-से पक्षी तथा नीचे अनेकानेक मृग एवं हाथी प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं ॥ ११ ॥

तव शाखा महाशाख स्कन्धांश्च विपुलांस्तथा।
न वै प्रभग्नान् पश्यामि मारुतेन कथंचन ॥ १२ ॥

'महान् शाखाओंसे सुशोभित वनस्पते ! मैं देखता हूँ कि तुम्हारी शाखाओं और मोटे तनोंको वायुदेव भी किसी तरह तोड़ नहीं सके हैं ॥ १२ ॥

किं नु ते पवनस्तात प्रीतिमानथवा सुहृत्।
त्वां रक्षति सदा येन वनेऽत्र पवनो ध्रुवम् ॥ १३ ॥

'तात ! क्या पवनदेव तुमसे किसी कारणवश विशेष प्रसन्न रहते हैं अथवा वे तुम्हारे सुहृद् हैं, जिससे इस वनमें सदा तुम्हारी निश्चिततरूपसे रक्षा करते हैं ॥ १३ ॥

भगवान् पवनः स्थानाद् वृक्षानुच्चावचानपि।
पर्वतानां च शिखराण्याचालयति वेगवान् ॥ १४ ॥

'भगवान् वायु इतने वेगशाली हैं कि छोटे-बड़े वृक्षोंको कौन कहे, पर्वतोंके शिखरोंको भी अपने स्थानसे हिला देते हैं ॥ १४ ॥

शोषयत्येव पातालं वहन् गन्धवहः शुचिः।
सरांसि सरितश्चैव सागरांश्च तथैव च ॥ १५ ॥

'गन्धवाही पवित्र पवन पाताल, सरोवर, सरिताओं और समुद्रोंको भी सुखा सकता है ॥ १५ ॥

संरक्षति त्वां पवनः सखित्वेन न संशयः।
तस्मात् त्वं बहुशाखोऽपि पर्णवान् पुष्पवानपि ॥ १६ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि वायुदेव तुम्हें अपना मित्र माननेके कारण ही तुम्हारी रक्षा करते हैं; इसीलिये तुम अनेक शाखाओंसे सम्पन्न तथा पत्ते और पुष्पोंसे हरे-भरे हो ॥ १६ ॥

इदं च रमणीयं ते प्रतिभाति वनस्पते।
यदिमे विहगास्तात रमन्ते मुदितास्त्वयि ॥ १७ ॥

'तात वनस्पते ! तुम्हारे पास यह बड़ा ही रमणीय दृश्य जान

पड़ता है कि ये पक्षी तुम्हारी शाखाओंपर बड़े प्रसन्न रहकर रमण कर रहे हैं ॥ १७ ॥

एषां पृथक् समस्तानां श्रूयते मधुरस्वरः ।
पुष्पसम्मोदने काले वाशतां सुमनोहरम् ॥ १८ ॥

'वसन्त ऋतुमें अत्यन्त मनोरम बोली बोलनेवाले इन पक्षियोंका अलग-अलग तथा सबका एक साथ बड़ा मधुर स्वर सुनायी पड़ता है ॥ १८ ॥

तथेमे गर्जिता नागाः स्वयूथकुलशोभिताः ।
घर्मार्तास्त्वां समासाद्य सुखं विन्दन्ति शाल्मले ॥ १९ ॥

'शाल्मले ! अपने यूथकुलसे सुशोभित ये गर्जना करते हुए गजराज धूपसे पीड़ित हो तुम्हारे पास आकर सुख पाते हैं ॥

तथैव मृगजातीभिरन्याभिरभिशोभसे ।
तथा सर्वाधिवासैश्च शोभसे मेरुवद्द्रुम ॥ २० ॥

'वृक्षप्रवर ! इसी प्रकार दूसरी-दूसरी जातिके पशु भी तुम्हारी शोभा बढ़ा रहे हैं । तुम सबके निवासस्थान होनेके कारण मेरुपर्वतके समान सुशोभित होते हो ॥ २० ॥

ब्राह्मणैश्च तपःसिद्धैस्तापसैः श्रमणैस्तथा ।
त्रिविष्टपसमं मन्ये तवायतनमेव हि ॥ २१ ॥

'तपस्यासे शुद्ध हुए तापसों, ब्राह्मणों तथा श्रमणोंसे संयुक्त हो तुम्हारा यह स्थान मुझे स्वर्गके समान जान पड़ता है' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें वायु और शाल्मलिसंवादके प्रसङ्गमें एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका सेमल-वृक्षको उसका अहंकार देखकर फटकारना

नारद उवाच

बन्धुत्वादथवा सख्याच्छाल्मले नात्र संशयः ।
पालयत्येव सततं भीमः सर्वत्रगोऽनिलः ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—शाल्मले ! इसमें संशय नहीं कि तुम्हें अपना बन्धु अथवा मित्र माननेके कारण ही सर्वत्रगामी भयानक वायुदेव सदा तुम्हारी रक्षा करते हैं ॥ १ ॥

न्यग्भावं परमं वायोः शाल्मले त्वमुपागतः ।
तवाहमस्मीति सदा येन रक्षति मारुतः ॥ २ ॥

शाल्मले ! मालूम होता है, तुम वायुके सामने अत्यन्त विनम्र होकर कहते हो कि 'मैं तो आपका ही हूँ' इसीसे वह सदा तुम्हारी रक्षा करता है ॥ २ ॥

न तं पश्याम्यहं वृक्षं पर्वतं वेश्म चेदृशम् ।
यं न वायुबलाद् भग्नं पृथिव्यामिति मे मतिः ॥ ३ ॥

मैं इस भूतलपर ऐसे किसी वृक्ष, पर्वत या घरको नहीं देखता, जो वायुके बलसे भग्न न हो जाय । मेरा यही विश्वास है कि वायुदेव सबको तोड़कर गिरा सकते हैं ॥ ३ ॥

त्वं पुनः कारणैर्नूनं रक्ष्यसे शाल्मले यथा ।
वायुना सपरीवारस्तेन तिष्ठस्यसंशयम् ॥ ४ ॥

शाल्मले ! कुछ ऐसे कारण अवश्य हैं, जिनसे प्रेरित होकर वायुदेव निश्चित रूपसे सपरिवार तुम्हारी रक्षा करते हैं । निस्संदेह इसीसे यों ही खड़े रहते हो ॥ ४ ॥

शाल्मलिरुवाच

न मे वायुः सखा ब्रह्मन् न बन्धुर्न च मे सुहृत् ।
परमेष्ठी तथा नैव येन रक्षति वानिलः ॥ ५ ॥

सेमलने कहा—ब्रह्मन् ! वायु न तो मेरा मित्र है, न बन्धु है, न सुहृद् ही है । वह ब्रह्मा भी नहीं है, जो मेरी रक्षा करेगा ॥ ५ ॥

मम तेजो बलं भीमं वायोरपि हि नारद ।
कलामष्टादशीं प्राणैर्न मे प्राप्नोति मारुतः ॥ ६ ॥

नारद ! मेरा तेज और बल वायुसे भी भयंकर है । वायु अपनी प्राणशक्तिके द्वारा मेरी अठारहवीं कलाको भी नहीं पा सकता ॥ ६ ॥

आगच्छन् परुषो वायुर्मया विष्टम्भितो बलात् ।
भञ्जन् द्रुमान् पर्वतांश्च यच्चान्यदपि किंचन ॥ ७ ॥

जिस समय वायु देवता वृक्ष, पर्वत तथा दूसरी वस्तुओंको तोड़ता-फोड़ता हुआ मेरे पास पहुँचता है, उस समय मैं बलसे उसकी गतिको रोक देता हूँ ॥ ७ ॥

स मया बहुशो भग्नः प्रभञ्जन् वै प्रभञ्जनः ।
तस्मान्न बिभ्ये देवर्षे क्रुद्धादपि समीरणात् ॥ ८ ॥

देवर्षे ! इस प्रकार मैंने तोड़-फोड़ करनेवाले वायुकी गतिको अनेक बार रोक दिया है; अतः वह कुपित हो जाय तो भी मुझे उससे भय नहीं है ॥ ८ ॥

नारद उवाच

शाल्मले विपरीतं ते दर्शनं नात्र संशयः ।
न हि वायोर्बलेनास्ति भूतं तुल्यबलं क्वचित् ॥ ९ ॥

नारदजीने कहा—शाल्मले ! इस विषयमें तुम्हारी दृष्टि विपरीत है—समझ उलटी हो गयी है, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि वायुके बलके समान किसी भी प्राणीका बल नहीं है ॥

इन्द्रो यमो वैश्रवणो वरुणश्च जलेश्वरः ।
नैतेऽपि तुल्या मरुतः किं पुनस्त्वं वनस्पते ॥ १० ॥

वनस्पते ! इन्द्र, यम, कुबेर तथा जलके स्वामी वरुण—ये भी वायुके तुल्य बलशाली नहीं हैं; फिर तुम-जैसे साधारण वृक्षकी तो बात ही क्या है ? ॥ १० ॥

यच्च किंचिदिह प्राणी चेष्टते शाल्मले भुवि ।
सर्वत्र भगवान् वायुश्चेष्टाप्राणकरः प्रभुः ॥ ११ ॥

शाल्मले ! प्राणी इस पृथ्वीपर जो कुछ भी चेष्टा करता है, उस चेष्टाकी शक्ति तथा जीवन देनेवाले सर्वत्र सामर्थ्य-शाली भगवान् वायु ही हैं ॥ ११ ॥

एष चेष्टयते सम्यक् प्राणिनः सम्यगायतः।
असम्यगायतो भूयश्चेष्टते विकृतं नृषु ॥ १२ ॥

ये जब शरीरमें ठीक ढंगसे प्राण आदिके रूपमें विस्तारको प्राप्त होते हैं, तब समस्त प्राणियोंको चेष्टाशील बनाते हैं और जब ये ठीक ढंगसे काम नहीं करते हैं, तब प्राणियोंके शरीरमें विकृति आने लगती है ॥ १२ ॥

स त्वमेवंविधं वायुं सर्वसत्त्वभृतां वरम्।
न पूजयसि पूज्यं तं किमन्यद् बुद्धिलाघवात् ॥ १३ ॥

इस प्रकार समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ एवं पूजनीय वायुदेवकी जो तुम पूजा नहीं करते हो, यह तुम्हारी बुद्धिकी लघुताके सिवा और क्या है ॥ १३ ॥

असारश्चापि दुर्मेधाः केवलं बहु भाषसे।
क्रोधादिभिरवच्छन्नो मिथ्या वदसि शाल्मले ॥ १४ ॥

शाल्मले ! तुम सारहीन और दुर्बुद्धि हो, केवल बहुत बातें बनाते हो तथा क्रोध आदि दुर्गुणोंसे प्रेरित होकर झूठ बोलते हो ॥ १४ ॥

मम रोषः समुत्पन्नस्त्वय्येवं सम्प्रभाषति।
ब्रवीम्येष स्वयं वायोस्तव दुर्भाषितं बहु ॥ १५ ॥

तुम्हारे इस तरह बातचीत करनेसे मेरे मनमें रोष उत्पन्न हुआ है; अतः मैं स्वयं वायुके सामने तुम्हारे इन दुर्वचनोंको सुनाऊँगा ॥ १५ ॥

चन्दनैः स्यन्दनैः शालैः सरलैर्देवदारुभिः।
वेतसैर्धन्वनैश्चापि ये चान्ये बलवत्तराः ॥ १६ ॥
तैश्चापि नैवं दुर्बुद्धे क्षिप्तो वायुः कृतात्मभिः।
तेऽपि जानन्ति वायोश्च बलमात्मन एव च ॥ १७ ॥
तस्मात् तं वै नमस्यन्ति श्वसनं तरुसत्तमाः।

चन्दन, स्यन्दन (तिनिश), शाल, सरल, देवदारु, वेतस (बेत), धामिन तथा अन्य जो बलवान् वृक्ष हैं, उन जितात्मा वृक्षोंने भी कभी इस प्रकार वायुदेवपर आक्षेप नहीं किया है। दुर्बुद्धे ! वे भी अपने और वायुके बलको अच्छी तरह जानते हैं; इसीलिये वे श्रेष्ठ वृक्ष वायुदेवके सामने मस्तक झुका देते हैं ॥ १६-१७½ ॥

त्वं तु मोहान्न जानीषे वायोर्बलमनन्तकम्।
एवं तस्माद् गमिष्यामि सकाशं मातरिश्वनः ॥ १८ ॥

तुम तो मोहवश वायुके अनन्त बलको कुछ समझते ही नहीं हो; अतः अब मैं यहाँसे सीधे वायुदेवके ही पास जाऊँगा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पवन-शाल्मलिसंवादविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५५॥

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीकी बात सुनकर वायुका सेमलको धमकाना और सेमलका वायुको तिरस्कृत करके विचारमग्न होना

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा तु राजेन्द्र शाल्मलिं ब्रह्मवित्तमः।
नारदः पवने सर्वं शाल्मलेर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र ! सेमलसे ऐसा कहकर ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजीने वायुदेवके पास आकर उसकी सब बातें कह सुनायीं ॥ १ ॥

नारद उवाच

हिमवत्पृष्ठजः कश्चिच्छाल्मलिः परिवारवान्।
बृहन्मूलो बृहच्छायः स त्वां वायोऽवमन्यते ॥ २ ॥

नारदजीने कहा—वायुदेव ! हिमालयके पृष्ठभागपर एक सेमलका वृक्ष है, जो बहुत बड़े परिवारके साथ है। उसकी छाया विशाल और घनी है और जड़ें बहुत दूरतक फैली हैं। वह तुम्हारा अपमान करता है ॥ २ ॥

बहुव्याक्षेपयुक्तानि त्वामाह वचनानि सः।
न युक्तानि मया वायो तानि वक्तुं तवाग्रतः ॥ ३ ॥

उसने तुम्हारे प्रति बहुत-से ऐसे आक्षेपयुक्त वचन कहे हैं, जिन्हें तुम्हारे सामने मुझे कहना उचित नहीं है ॥ ३ ॥

जानामि त्वामहं वायो सर्वप्राणभृतां वरम्।
वरिष्ठं च गरिष्ठं च क्रोधे वैवस्वतं यथा ॥ ४ ॥

पवनदेव ! मैं तुम्हें जानता हूँ। तुम समस्त प्राणधारियोंमें श्रेष्ठ, महान् एवं गौरवशाली हो तथा क्रोधमें वैवस्वत यमके समान हो ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

एतत् तु वचनं श्रुत्वा नारदस्य समीरणः।
शाल्मलिं तमुपागम्य क्रुद्धो वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! नारदजीकी यह बात सुनकर वायुदेवने शाल्मलिके पास जा कुपित होकर कहा ॥ ५ ॥

वायुरुवाच

शाल्मले नारदो गच्छंस्त्वयोक्तो मद्विगर्हणम्।
अहं वायुः प्रभावं ते दर्शयाम्यात्मनो बलम् ॥ ६ ॥

वायु बोले—सेमल ! तुमने इधरसे जाते हुए नारदजीसे मेरी निन्दा की है। मैं वायु हूँ। तुम्हें अपना बल और प्रभाव दिखाता हूँ ॥ ६ ॥

अहं त्वामभिजानामि विदितश्चासि मे द्रुम।
पितामहः प्रजासर्गे त्वयि विश्रान्तवान् प्रभुः ॥ ७ ॥

वृक्ष ! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। तुम्हारे विषयमें मुझे सब कुछ ज्ञात है। भगवान् ब्रह्माजीने प्रजाकी सृष्टि करते समय तुम्हारी छायामें विश्राम किया था ॥ ७ ॥

तस्य विश्रमणादेष प्रसादो मत्कृतस्तव ।
रक्ष्यसे तेन दुर्बुद्धे नात्मवीर्याद् द्रुमाधम ॥ ८ ॥

दुर्बुद्धे ! उनके विश्राम करनेसे ही मैंने तुमपर यह कृपा की थी, इसीसे तुम्हारी रक्षा हो रही है। द्रुमाधम ! तुम अपने बलसे नहीं बचे हुए हो ॥ ८ ॥

यन्मां त्वमवजानीषे यथान्यं प्राकृतं तथा ।
दर्शयाम्येष चात्मानं यथा मां नावमन्यसे ॥ ९ ॥

परंतु तुम अन्य प्राकृतिक मनुष्यकी भाँति जो मेरा अपमान कर रहे हो, इससे कुपित होकर मैं अपना वह स्वरूप दिखाऊँगा, जिससे तुम फिर मेरा अपमान नहीं करोगे ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्ततः प्राह शाल्मलिः प्रहसन्निव ।
पवन त्वं च मे क्रुद्धो दर्शयात्मानमात्मना ॥ १० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पवनदेवके ऐसा कहनेपर सेमलने हँसते हुए-से कहा-'पवन ! तुम कुपित होकर स्वयं ही अपनी सारी शक्ति दिखाओ ॥ १० ॥

मयि वै त्यज्यतां क्रोधः किं मे क्रुद्धः करिष्यसि ।
न ते बिभेमि पवन यद्यपि त्वं स्वयं प्रभुः ॥ ११ ॥

'मेरे ऊपर अपना क्रोध उतारो। तुम कुपित होकर मेरा क्या कर लोगे। पवन ! यद्यपि तुम स्वयं बड़े प्रभावशाली हो; फिर भी मैं तुमसे डरता नहीं हूँ ॥ ११ ॥

बलाधिकोऽहं त्वत्तश्च न भीः कार्या मया तव ।
ये तु बुद्ध्या हि बलिनस्ते भवन्ति बलीयसः ॥ १२ ॥
प्राणमात्रबला ये वै नैव ते बलिनो मताः ।

'मैं बलमें तुमसे बहुत बढ़-चढ़कर हूँ; अतः मुझे तुमसे भय नहीं मानना चाहिये। जो बुद्धिके बली होते हैं, वे ही बलिष्ठ माने जाते हैं। जिनमें केवल शारीरिक बल होता है, वे वास्तवमें बलवान् नहीं समझे जाते' ॥ १२½ ॥

इत्येवमुक्तः पवनः श्व इत्येवाब्रवीद् वचः ॥ १३ ॥
दर्शयिष्यामि ते तेजस्ततो रात्रिरुपागमत् ।

सेमलके ऐसा कहनेपर वायुने कहा—'अच्छा, कल मैं तुम्हें अपना पराक्रम दिखाऊँगा'। इतनेहीमें रात आ गयी ॥

अथ निश्चित्य मनसा शाल्मलिर्वातकारितम् ॥ १४ ॥
पश्यमानस्तदाऽऽत्मानमसमं मातरिश्वना ।

उस समय सेमलने वायुके द्वारा जो कुछ किया जानेवाला था, उसपर मन-ही-मन विचार करके तथा अपने आपको वायुके समान बलवान् न देखकर सोचा—॥ १४½ ॥

नारदे यन्मया प्रोक्तं वचनं प्रति तन्मृषा ॥ १५ ॥
असमर्थो ह्यहं वायोर्बलेन बलवान् हि सः ।

'अहो ! मैंने नारदजीसे जो बातें कही थीं, वे सब झूठी थीं। मैं वायुका सामना करनेमें असमर्थ हूँ; क्योंकि वे बलमें मुझसे बढ़े हुए हैं ॥ १५½ ॥

मारुतो बलवान् नित्यं यथा वै नारदोऽब्रवीत् ॥ १६ ॥
अहं तु दुर्बलोऽन्येभ्यो वृक्षेभ्यो नात्र संशयः ।
किं तु बुद्ध्या समो नास्ति मया कश्चिद् वनस्पतिः ॥ १७ ॥

'जैसा कि नारदजीने कहा था, वायुदेव नित्य बलवान् हैं। मैं तो दूसरे वृक्षोंसे भी दुर्बल हूँ, इसमें संशय नहीं है; परंतु बुद्धिमें कोई भी वृक्ष मेरे समान नहीं है ॥ १६-१७ ॥

तदहं बुद्धिमास्थाय भयं मोक्ष्ये समीरणात् ।
यदि तां बुद्धिमास्थाय तिष्ठेयुः पर्णिनो वने ॥ १८ ॥
अरिष्टाः स्युः सदा क्रुद्धात् पवनान्नात्र संशयः ।

'मैं बुद्धिका आश्रय लेकर वायुके भयसे छुटकारा पाऊँगा। यदि वनमें रहनेवाले दूसरे वृक्ष भी उसी बुद्धिका सहारा लेकर रहे तो निःसंदेह कुपित वायुसे उनका कोई अनिष्ट नहीं होगा ॥

ते तु बाला न जानन्ति यथा वै तान् समीरणः ।
समीरयति संक्रुद्धो यथा जानाम्यहं तथा ॥ १९ ॥

'परंतु वे मूर्ख हैं; अतः वायुदेव जिस प्रकार कुपित होकर उन्हें दबाते हैं, उसका उन्हें ज्ञान नहीं है। मैं यह सब अच्छी तरह जानता हूँ' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पवन-शाल्मलि-संवादविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

सेमलका हार स्वीकार करना तथा बलवान्‌के साथ वैर न करनेका उपदेश

भीष्म उवाच

ततो निश्चित्य मनसा शाल्मलिः क्षुभितस्तदा ।
शाखाः स्कन्धान् प्रशाखाश्च स्वयमेव व्यशातयत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! मन-ही-मन ऐसा विचारकर सेमलने क्षुभित हो अपनी शाखाओं, डालियों तथा टहनियोंको स्वयं ही नीचे गिरा दिया ॥ १ ॥

स परित्यज्य शाखाश्च पत्राणि कुसुमानि च ।
प्रभाते वायुमायान्तं प्रत्यैक्षत वनस्पतिः ॥ २ ॥

वह वनस्पति अपनी शाखाओं, पत्तों और फूलोंको त्यागकर प्रातःकाल वायुके आनेकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ २ ॥

ततः क्रुद्धः श्वसन् वायुः पातयन् वै महाद्रुमान् ।
आजगामाथ तं देशमास्ते यत्र स शाल्मलिः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् सबेरा होनेपर वायुदेव कुपित हो बड़े-बड़े वृक्षोंको धराशायी करते हुए उस स्थानपर आये, जहाँ वह सेमलका वृक्ष था ॥ ३ ॥

तं हीनपर्णं पतिताग्रशाखं
निशीर्णपुष्पं प्रसमीक्ष्य वायुः ।
उवाच वाक्यं स्मयमान एवं
मुदा युतः शाल्मलिमुग्रशाखम् ॥ ४ ॥

वायुने देखा कि सेमलके पत्ते गिर गये हैं और उसकी श्रेष्ठ शाखाएँ धराशायी हो गयी हैं। यह फूलोंसे भी हीन हो चुका है, तब वे बड़े प्रसन्न हुए और जिसकी शाखाएँ पहले बड़ी भयंकर थीं, उस सेमलसे मुसकराते हुए इस प्रकार बोले ॥

वायुरुवाच

अहमप्येवमेव त्वां कुर्वाणः शाल्मले रुषा।
आत्मना यत्कृतं कृच्छ्रं शाखानामपकर्षणम् ॥ ५ ॥
हीनपुष्पाग्रशाखस्त्वं शीर्णांकुरपलाशकः।
आत्मदुर्मन्त्रितेनेह मद्वीर्यवशगः कृतः ॥ ६ ॥

वायुने कहा—शाल्मले! मैं भी रोषमें भरकर तुम्हें ऐसा ही बना देना चाहता था। तुमने स्वयं ही यह कष्ट स्वीकार कर लिया है, तुम्हारी शाखाएँ गिर गयीं। फूल, पत्ते, डालियाँ और अङ्कुर सभी नष्ट हो गये। तुमने अपनी ही कुमतिसे यह विपत्ति मोल ली है। तुम्हें मेरे बल और पराक्रमका शिकार बनना पड़ा है ॥ ५-६ ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो वायोः शाल्मलिर्व्रीडितस्तदा।
अतप्यत वचः स्मृत्वा नारदो यत् तदाब्रवीत्॥ ७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वायुका यह वचन सुनकर सेमल उस समय लज्जित हो गया और नारदजीने जो कुछ कहा था, उसे याद करके वह बहुत पछताने लगा ॥ ७ ॥

एवं हि राजशार्दूल दुर्बलः सन् बलीयसा।
वैरमारभते बालस्तप्यते शाल्मलिर्यथा ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ! इसी प्रकार जो मूर्ख मनुष्य स्वयं दुर्बल होकर किसी बलवान्के साथ वैर बाँध लेता है, वह सेमलके समान ही संतापका भागी होता है ॥ ८ ॥

तस्माद् वैरं न कुर्वीत दुर्बलो बलवत्तरैः।
शोचेद्धि वैरं कुर्वाणो यथा वै शाल्मलिस्तथा ॥ ९ ॥

अतः दुर्बल मनुष्य बलवानोंके साथ वैर न करे। यदि वह करता है तो सेमलके समान ही शोचनीय दशाको पहुँचकर शोकमग्न होता है ॥ ९ ॥

न हि वैरं महात्मानो विवृण्वन्त्यपकारिषु।
शनैः शनैर्महाराज दर्शयन्ति स्म ते बलम् ॥ १० ॥

महाराज! महामनस्वी पुरुष अपनी बुराई करनेवालोंपर वैरभाव नहीं प्रकट करते हैं। वे धीरे-धीरे ही अपना बल दिखाते हैं ॥ १० ॥

वैरं न कुर्वीत नरो दुर्बुद्धिर्बुद्धिजीविना।
बुद्धिर्बुद्धिमतो याति तृणेष्विव हुताशनः ॥ ११ ॥

खोटी बुद्धिवाला मनुष्य किसी बुद्धिजीवी पुरुषसे वैर न बाँधे; क्योंकि घास-फूँसपर फैलनेवाली आगके समान बुद्धिमानोंकी बुद्धि सर्वत्र पहुँच जाती है ॥ ११ ॥

न हि बुद्ध्या समं किंचिद् विद्यते पुरुषे नृप।
तथा बलेन राजेन्द्र न समोऽस्तीह कश्चन ॥ १२ ॥

नरेश्वर! राजेन्द्र! पुरुषमें बुद्धिके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है। संसारमें जो बुद्धि-बलसे युक्त है, उसकी समानता करनेवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं है ॥ १२ ॥

तस्मात् क्षमेत बालाय जडान्धबधिराय च।
बलाधिकाय राजेन्द्र तद् दृष्टं त्वयि शत्रुहन् ॥ १३ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले राजेन्द्र! इसलिये जो बालक, जड, अन्ध, बधिर तथा बलमें अपनेसे बढ़ा-चढ़ा हो, उसके द्वारा किये गये प्रतिकूल बर्तावको भी क्षमा कर देना चाहिये; यह क्षमाभाव तुम्हारे भीतर विद्यमान है ॥ १३ ॥

अक्षौहिण्यो दशैका च सप्त चैव महाद्युते।
बलेन न समा राजन्नर्जुनस्य महात्मनः ॥ १४ ॥

महातेजस्वी नरेश! अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ भी बलमें महात्मा अर्जुनके समान नहीं हैं ॥ १४ ॥

निहताश्चैव भग्नाश्च पाण्डवेन यशस्विना।
चरता बलमास्थाय पाकशासनिना मृधे ॥ १५ ॥

इन्द्र और पाण्डुके यशस्वी पुत्र अर्जुनने अपने बलका भरोसा करते हुए युद्धमें विचरते हुए यहाँ उन समस्त सेनाओंको मार डाला और भगा दिया ॥ १५ ॥

उक्ताश्च ते राजधर्मा आपद्धर्माश्च भारत।
विस्तरेण महाराज किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १६ ॥

भरतनन्दन! महाराज! मैंने तुमसे राजधर्म और आपद्धर्मका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, अब और क्या सुनना चाहते हो ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पवन-शाल्मलिसंवादविषयक एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

समस्त अनर्थोंका कारण लोभको बताकर उससे होनेवाले विभिन्न पापोंका वर्णन तथा श्रेष्ठ महापुरुषोंके लक्षण

युधिष्ठिर उवाच

पापस्य यदधिष्ठानं यतः पापं प्रवर्तते।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! मैं यथार्थरूपसे यह सुनना चाहता हूँ कि पापका अधिष्ठान क्या है और किससे उसकी प्रवृत्ति होती है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

पापस्य यदधिष्ठानं तच्छृणुष्व नराधिप।
एको लोभो महाग्राहो लोभात् पापं प्रवर्तते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! पापका जो अधिष्ठान है, उसे सुनो । एकमात्र लोभ ही पापका अधिष्ठान है। वह मनुष्यको निगल जानेके लिये एक बड़ा ग्राह है। लोभसे ही पापकी प्रवृत्ति होती है ॥ २ ॥

अतः पापमधर्मश्च तथा दुःखमनुत्तमम्।
निकृत्या मूलमेतद्धि येन पापकृतो जनाः ॥ ३ ॥

लोभसे ही पाप, अधर्म तथा महान् दुःखकी उत्पत्ति होती है। शठता तथा छल-कपटका भी मूल कारण लोभ ही है। इसीके कारण मनुष्य पापाचारी हो जाते हैं ॥ ३ ॥

लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रवर्तते।
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता ॥ ४ ॥

लोभसे ही क्रोध प्रकट होता है, लोभसे ही कामकी प्रवृत्ति होती है और लोभसे ही माया, मोह, अभिमान, उद्दण्डता तथा पराधीनता आदि दोष प्रकट होते हैं ॥ ४ ॥

अक्षमा ह्रीपरित्यागः श्रीनाशो धर्मसंक्षयः।
अभिध्याप्रख्यता चैव सर्वं लोभात् प्रवर्तते ॥ ५ ॥

असहनशीलता, निर्लज्जता, सम्पत्तिनाश, धर्मक्षय, चिन्ता और अपयश—ये सब लोभसे ही सम्भव होते हैं ॥ ५ ॥

अत्यागश्चातितर्षश्च विकर्मसु च याः क्रियाः।
कुलविद्यामदश्चैव रूपैश्वर्यमदस्तथा ॥ ६ ॥
सर्वभूतेष्वभिद्रोहः सर्वभूतेष्वसत्कृतिः।
सर्वभूतेष्वविश्वासः सर्वभूतेष्वनार्जवम् ॥ ७ ॥

लोभसे ही कृपणता, अत्यन्त तृष्णा, शास्त्रविरुद्ध कर्मोंमें प्रवृत्ति, कुल और विद्याविषयक अभिमान, रूप और ऐश्वर्यका मद, समस्त प्राणियोंके प्रति द्रोह, सबका तिरस्कार, सबके प्रति अविश्वास तथा कुटिलतापूर्ण बर्ताव होते हैं ॥ ६-७ ॥

हरणं परवित्तानां परदाराभिमर्शनम्।
वाग्वेगो मनसो वेगो निन्दावेगस्तथैव च ॥ ८ ॥
उपस्थोदरयोर्वेगो मृत्युवेगश्च दारुणः।
ईर्ष्यावेगश्च बलवान् मिथ्यावेगश्च दुर्जयः ॥ ९ ॥
रसवेगश्च दुर्वार्यः श्रोत्रवेगश्च दुःसहः।
कुत्सा विकत्था मात्सर्यं पापं दुष्करकारिता ॥ १० ॥
साहसानां च सर्वेषामकार्याणां क्रियास्तथा।

पराये धनका अपहरण, परायी स्त्रियोंके प्रति बलात्कार, वाणीका वेग, मनका वेग, निन्दा करनेकी विशेष प्रवृत्ति, जननेन्द्रियका वेग, उदरका वेग, मृत्युका भयंकर वेग अर्थात् आत्महत्या, ईर्ष्याका प्रबल वेग, मिथ्याका दुर्जय वेग, अनिवार्य रसनेन्द्रियका वेग, दुःसह श्रोत्रेन्द्रियका वेग, घृणा, अपनी प्रशंसाके लिये बढ़-बढ़कर बातें बनाना, मत्सरता, पाप, दुष्कर कर्मोंमें प्रवृत्ति, न करने योग्य कार्य कर बैठना—इन सबका कारण भी लोभ ही है ॥ ८-१०½ ॥

जातौ बाल्ये च कौमारे यौवने चापि मानवाः ॥ ११ ॥
न संत्यजन्त्यात्मकर्म यो न जीर्यति जीर्यतः।
यो न पूरयितुं शक्यो लोभः प्राप्त्या कुरूद्वह ॥ १२ ॥
नित्यं गम्भीरतोयाभिरापगाभिरिवोदधिः।

कुरुश्रेष्ठ ! मनुष्य जन्मकालमें, बाल्यावस्थामें तथा कौमार और यौवनावस्थामें जिसके कारण अपने बुरे कर्मोंको छोड़ नहीं पाते हैं, जो मनुष्यके वृद्ध होनेपर भी जीर्ण नहीं होता, वह लोभ ही है। जिस प्रकार गहरे जलवाली बहुत-सी नदियोंके मिल जानेसे भी समुद्र नहीं भरता है, उसी प्रकार कितने ही पदार्थोंका लाभ क्यों न हो जाय, लोभका पेट कभी नहीं भरता है ॥ ११-१२½ ॥

न प्रहृष्यति यो लाभैः कामैर्यश्च न तृप्यति ॥ १३ ॥
यो न देवैर्न गन्धर्वैर्नासुरैर्न महोरगैः।
ज्ञायते नृप तत्त्वेन सर्वैर्भूतगणैस्तथा ॥ १४ ॥

लोभी मनुष्य बहुत-सा लाभ पाकर भी संतुष्ट नहीं होता। भोगोंसे वह कभी तृप्त नहीं होता। नरेश्वर ! न देवताओं, न गन्धर्वों, न असुरों, न बड़े-बड़े नागों और न सम्पूर्ण भूतगणोंद्वारा ही लोभका स्वरूप यथार्थरूपसे जाना जाता है ॥

स लोभः सह मोहेन विजेतव्यो जितात्मना।
दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा ॥ १५ ॥
भवन्त्येतानि कौरव्य लुब्धानामकृतात्मनाम्।

जिसने अपने मन और इन्द्रियोंको काबूमें कर लिया है, उस पुरुषको चाहिये कि वह मोहसहित लोभको जीते। कुरुनन्दन ! दम्भ, द्रोह, निन्दा, चुगली और मत्सरता—ये सभी दोष अजितात्मा लोभी पुरुषोंमें ही होते हैं ॥ १५½ ॥

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्ति बहुश्रुताः ॥ १६ ॥
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्तीहाल्पबुद्धयः।

बहुश्रुत विद्वान् बड़े-बड़े शास्त्रोंको कण्ठस्थ कर लेते हैं। सबकी शङ्काओंका निवारण कर देते हैं; परंतु इस लोभमें फँसकर उनकी बुद्धि मारी जाती है और वे निरन्तर क्लेश उठाते रहते हैं ॥ १६½ ॥

द्वेषक्रोधप्रसक्ताश्च शिष्टाचारबहिष्कृताः ॥ १७ ॥
अन्तःक्रूरा वाङ्मधुराः कूपाश्छन्नास्तृणैरिव।
धर्मवैतंसिकाः क्षुद्रा मुष्णन्ति ध्वजिनो जगत् ॥ १८ ॥

वे दोष और क्रोधमें फँसकर शिष्टाचारको छोड़ देते हैं और ऊपरसे मीठे वचन बोलते हुए भी भीतरसे अत्यन्त कठोर हो जाते हैं। उनकी स्थिति घास-फूँससे ढके हुए कुएँके समान होती है। वे धर्मके नामपर संसारको धोखा देनेवाले, क्षुद्र मनुष्य धर्मध्वजी होकर (धर्मका ढोंग फैलाकर) जगत्को लूटते हैं ॥ १७-१८ ॥

कुर्वते च बहून् मार्गांस्तान् हेतुबलमाश्रिताः।
सतां मार्गान् विलुम्पन्ति लोभाज्ञानेषु निष्ठिताः ॥ १९ ॥

युक्तिबलका आश्रय लेकर बहुत-से असत् मार्ग खड़े कर

देते हैं तथा लोभ और अज्ञानमें स्थित हो सत्पुरुषोंके स्थापित किये हुए मार्गों (धर्ममर्यादाओं) का नाश करने लगते हैं ॥

धर्मस्य ह्रियमाणस्य लोभग्रस्तैर्दुरात्मभिः ।
या या विक्रियते संस्था ततः सापि प्रपद्यते ॥ २० ॥

लोभग्रस्त दुरात्मा पुरुषोंद्वारा अपहृत (विकृत) होनेवाले धर्मकी जो-जो स्थिति बिगड़ जाती या बदल जाती है, वह उसी रूपमें प्रचलित हो जाती है ॥ २० ॥

दर्पः क्रोधो मदः स्वप्नो हर्षः शोकोऽतिमानिता ।
एत एव हि कौरव्य दृश्यन्ते लुब्धबुद्धिषु ॥ २१ ॥

कुरुनन्दन ! जिनकी बुद्धि लोभमें फँसी हुई है, उन मनुष्योंमें दर्प, क्रोध, मद, दुःस्वप्न, हर्ष, शोक तथा अत्यन्त अभिमान—ये ही दोष दिखायी देते हैं ॥ २१ ॥

एतानशिष्टान् बुध्यस्व नित्यं लोभसमन्वितान् ।
शिष्टांस्तु परिपृच्छेथा यान् वक्ष्यामि शुचिव्रतान् ।२२।

जो सदा लोभमें डूबे रहते हैं, ऐसे ही मनुष्योंको तुम अशिष्ट समझो । तुम्हें शिष्ट पुरुषोंसे ही अपनी शंकाएँ पूछनी चाहिये । पवित्र नियमोंका पालन करनेवाले उन शिष्ट पुरुषोंका मैं परिचय दे रहा हूँ ॥ २२ ॥

येष्वावृत्तिभयं नास्ति परलोकभयं न च ।
नामिषेषु प्रसंगोऽस्ति न प्रियेष्वप्रियेषु च ॥ २३ ॥

जिन्हें फिर संसारमें जन्म लेनेका भय नहीं है, परलोकसे भी भय नहीं है, जिनकी भोगोंमें आसक्ति नहीं है तथा प्रिय और अप्रियमें भी जिनका राग-द्वेष नहीं है ॥ २३ ॥

शिष्टाचारः प्रियो येषु दमो येषु प्रतिष्ठितः ।
सुखं दुःखं समं येषां सत्यं येषां परायणम् ॥ २४ ॥

जिन्हें शिष्टाचार प्रिय है । जिनमें इन्द्रिय-संयम प्रतिष्ठित है। जिनके लिये सुख और दुःख समान हैं। सत्य ही जिनका परम आश्रय है ॥ २४ ॥

दातारो न ग्रहीतारो दयावन्तस्तथैव च ।
पितृदेवातिथेयाश्च नित्योद्युक्तास्तथैव च ॥ २५ ॥

वे देते हैं, लेते नहीं। उनमें स्वभावसे ही दया भरी रहती है । वे देवताओं, पितरों तथा अतिथियोंके सेवक होते हैं और सत्कर्म करनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं ॥ २५ ॥

सर्वोपकारिणो वीराः सर्वधर्मानुपालकाः ।
सर्वभूतहिताश्चैव सर्वदेयाश्च भारत ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! वे वीर पुरुष सबका उपकार करनेवाले, सम्पूर्ण धर्मोंके रक्षक तथा समस्त प्राणियोंके हितैषी होते हैं। वे परहितके लिये सर्वस्व निछावर कर देते हैं ॥ २६ ॥

न ते चालयितुं शक्या धर्मव्यापारकारिणः ।
न तेषां भिद्यते वृत्तं यत्पुरा साधुभिः कृतम् ॥ २७ ॥

उन्हें सत्कर्मसे विचलित नहीं किया जा सकता । वे केवल धर्मके अनुष्ठानमें तत्पर रहते हैं । पहलेके श्रेष्ठ पुरुषोंने जिसका पालन किया है, उसी सदाचारका वे भी पालन करते हैं । उनका वह आचार कभी नष्ट नहीं होता ॥ २७ ॥

न त्रासिनो न चपला न रौद्राः सत्पथे स्थिताः ।
ते सेव्याः साधुभिर्नित्यं येष्वहिंसा प्रतिष्ठिता ॥ २८ ॥

वे किसीको भय नहीं दिखाते, चपलता नहीं करते, उनका स्वभाव किसीके लिये भयंकर नहीं होता है, वे सदा सन्मार्गमें ही स्थित रहते हैं, उनमें अहिंसा नित्य प्रतिष्ठित होती है, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषोंका ही सदा सेवन करना चाहिये ॥ २८ ॥

कामक्रोधव्यपेता ये निर्ममा निरहंकृताः ।
सुव्रताः स्थिरमर्यादास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥ २९ ॥

जो काम और क्रोधसे रहित, ममता और अहङ्कारसे शून्य, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा धर्ममर्यादाको स्थिर रखनेवाले हैं, उन्हीं महापुरुषोंका संग करो और उनसे अपना संदेह पूछो ॥ २९ ॥

न धनार्थं यशोऽर्थं वा धर्मस्तेषां युधिष्ठिर ।
अवश्यं कार्य इत्येव शरीरस्य क्रियास्तथा ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर ! उनका धर्मपालन धन बटोरने या यश कमानेके लिये नहीं होता । वे धर्म तथा शारीरिक क्रियाओंको अवश्यकर्तव्य समझकर ही करते हैं॥ ३० ॥

न भयं क्रोधचापल्ये न शोकस्तेषु विद्यते ।
न धर्मध्वजिनश्चैव न गुह्यं कञ्चिदास्थिताः ॥ ३१ ॥

उनमें भय, क्रोध, चपलता तथा शोक नहीं होता । वे धर्मध्वजी (पाखण्डी) नहीं होते, किसी गोपनीय पाखण्डपूर्ण धर्मका आश्रय नहीं लेते हैं ॥ ३१ ॥

येष्वलोभस्तथामोहो ये च सत्यार्जवे स्थिताः ।
तेषु कौन्तेय रज्येथा येषां न भ्रश्यते पुनः ॥ ३२ ॥

कुन्तीनन्दन ! जिनमें लोभ और मोहका अभाव है, जो सत्य और सरलतामें स्थित हैं तथा कभी सदाचारसे भ्रष्ट नहीं होते हैं, ऐसे पुरुषोंमें तुम्हें प्रेम रखना चाहिये ॥ ३२ ॥

ये न हृष्यन्ति लाभेषु नालाभेषु व्यथन्ति च ।
निर्ममा निरहंकाराः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ ३३ ॥

लाभालाभौ सुखदुःखे च तात
प्रियाप्रिये मरणं जीवितं च ।
समानि येषां स्थिरविक्रमाणां
बुभुत्सतां सत्त्वपथे स्थितानाम् ॥ ३४ ॥

धर्मप्रियांस्तान् सुमहानुभावान्
दान्तोऽप्रमत्तश्च समर्चयेथाः ।
दैवात् सर्वे गुणवन्तो भवन्ति
शुभाशुभे वाक्प्रलापास्तथान्ये ॥ ३५ ॥

तात ! जो लाभमें हर्षसे फूल नहीं उठते, हानिमें व्यथित नहीं होते, ममता और अहङ्कारसे शून्य हैं, जो सर्वदा सत्त्वगुणमें स्थित और समदर्शी होते हैं, जिनकी दृष्टिमें लाभ-हानि, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मरण समान हैं, जो सुदृढ़ पराक्रमी, आध्यात्मिक उन्नतिके इच्छुक और सत्त्वमय मार्गमें स्थित हैं, उन धर्मप्रेमी महानुभावोंकी तुम सावधान

और जितेन्द्रिय रहकर सेवा-सत्कार करो । ये सब महापुरुष स्वभावसे ही बड़े गुणवान् होते हैं । शुभ और अशुभके विषयमें उनकी वाणी यथार्थ होती है । दूसरे लोग तो केवल बातें बनानेवाले होते हैं ॥ ३३—३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि आपन्मूलभूतदोषकथने अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें आपत्तिके मूलभूत दोषका वर्णनविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अज्ञान और लोभको एक दूसरेका कारण बताकर दोनोंकी एकता करना और दोनोंको ही समस्त दोषोंका कारण सिद्ध करना

युधिष्ठिर उवाच

अनर्थानामधिष्ठानमुक्तो लोभः पितामह ।
अज्ञानमपि वै तात श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने सब अनर्थोंके आधारभूत लोभका वर्णन तो किया, अब अज्ञानका भी यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये; मैं उसके परिणामको भी सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

करोति पापं योऽज्ञानान्नात्मनो वेत्ति च क्षयम् ।
प्रद्वेष्टि साधुवृत्तांश्च स लोकस्यैति वाच्यताम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो मनुष्य अज्ञान-वश पाप करता है और उससे होनेवाली अपनी ही हानिको नहीं समझता तथा श्रेष्ठ पुरुषोंसे द्वेष करता है, उसकी संसार-में बड़ी निन्दा होती है ॥ २ ॥

अज्ञानान्निरयं याति तथाज्ञानेन दुर्गतिम् ।
अज्ञानात् क्लेशमाप्नोति तथापत्सु निमज्जति ॥ ३ ॥

अज्ञानसे ही जीव नरकमें पड़ता है । अज्ञानसे ही उसकी दुर्गति होती है, अज्ञानसे वह कष्ट उठाता तथा विपत्तियोंके समुद्रमें डूब जाता है ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अज्ञानस्य प्रवृत्तिं च स्थानं वृद्धिक्षयोदयौ ।
मूलं योगं गतिं कालं कारणं हेतुमेव च ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भूपाल ! अज्ञानकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, क्षय, उद्गम, मूल, योग, गति, काल, कारण और हेतु क्या हैं ? ॥ ४ ॥

श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन यथावदिह पार्थिव ।
अज्ञानप्रसवं हीदं यद् दुःखमुपलभ्यते ॥ ५ ॥

पृथ्वीनाथ ! मैं इस विषयको यथावत्‌रूपसे तत्त्वके विवेचनपूर्वक सुनना चाहता हूँ; क्योंकि यह जो दुःख उपलब्ध होता है, उसकी उत्पत्तिका कारण अज्ञान ही है ॥

भीष्म उवाच

रागो द्वेषस्तथा मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता ।
कामः क्रोधश्च दर्पश्च तन्द्री चालस्यमेव च ॥ ६ ॥
इच्छा द्वेषस्तथा तापः परवृद्ध्युपतापिता ।
अज्ञानमेतन्निर्दिष्टं पापानां चैव याः क्रियाः ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमान, काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, इच्छा, वैर, ताप, दूसरोंकी उन्नति देखकर जलना और पापाचार करना—इन सबको (अज्ञानका कार्य होनेसे) अज्ञान बताया गया है ॥

एतस्य वा प्रवृत्तेश्च वृद्ध्यादीन्यांश्च पृच्छसि ।
विस्तरेण महाराज शृणु तच्च विशेषतः ॥ ८ ॥

महाराज ! इस अज्ञानकी उत्पत्ति और वृद्धि आदिके विषयमें जो प्रश्न कर रहे हो, उसके विषयमें विशेष विस्तारके साथ किया हुआ मेरा वर्णन सुनो ॥ ८ ॥

उभावेतौ समफलौ समदोषौ च भारत ।
अज्ञानं चातिलोभश्चाप्येकं जानीहि पार्थिव ॥ ९ ॥

भारत ! पृथ्वीनाथ ! अज्ञान और अत्यन्त लोभ—इन दोनोंको एक समझो, क्योंकि इनके परिणाम और दोष समान ही हैं ॥ ९ ॥

लोभप्रभवमज्ञानं वृद्धं भूयः प्रवर्धते ।
स्थाने स्थानं क्षये क्षैण्यमुपैति विविधां गतिम् ॥ १० ॥

लोभसे ही अज्ञान प्रकट होता है और लोभके बढ़नेपर वह अज्ञान और भी बढ़ता है । जबतक लोभ रहता है, तब-तक अज्ञान भी बना रहता है और जब लोभका क्षय होता है, तब अज्ञान भी क्षीण हो जाता है । अज्ञान और लोभके कारण ही जीव नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेता है ॥ १० ॥

मूलं लोभस्य मोहो वै कालात्मगतिरेव च ।
छिन्ने भिन्ने तथा लोभे कारणं काल एव च ॥ ११ ॥

मोह ही निःसंदेह लोभका मूलकारण है। यह कालस्वरूप मोहात्मक अज्ञान ही मनुष्यकी बुरी गतिका कारण है । लोभ-के छिन्न-भिन्न होनेमें भी काल ही कारण है ॥ ११ ॥

तस्याज्ञानाद्धि लोभो हि लोभादज्ञानमेव च ।
सर्वदोषास्तथा लोभात् तस्माल्लोभं विवर्जयेत् ॥ १२ ॥

मूढ़ मनुष्यको अज्ञानसे लोभ और लोभसे अज्ञान होता है । लोभसे ही सारे दोष पैदा होते हैं; इसलिये लोभको त्याग देना चाहिये ॥ १२ ॥

जनको युवनाश्वश्च वृषादर्भिः प्रसेनजित्।
लोभक्षयाद् दिवं प्राप्तास्तथैवान्ये नराधिपाः ॥ १३ ॥

जनक, युवनाश्व, वृषादर्भि, प्रसेनजित् तथा अन्य नरेश लोभका नाश करके ही दिव्यलोकमें गये हैं ॥ १३ ॥

प्रत्यक्षं तु कुरुश्रेष्ठ त्यज लोभमिहात्मना।
त्यक्त्वा लोभं सुखं लोके प्रेत्य चानुचरिष्यसि ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तुम स्वयं प्रयत्न करके इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले लोभका परित्याग करो। लोभका त्याग कर इस लोकमें सुख तथा मृत्युके पश्चात् परलोकमें भी आनन्द प्राप्त करके सुखपूर्वक विचरोगे ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि अज्ञानमाहात्म्ये एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें अज्ञानका माहात्म्यविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

मन और इन्द्रियोंके संयमरूप दमका माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्याये कृतयत्नस्य नरस्य च पितामह।
धर्मकामस्य धर्मात्मन् किं नु श्रेय इहोच्यते॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मात्मा पितामह ! जो स्वाध्यायके लिये यत्नशील है और धर्मपालनकी इच्छा रखता है, उस मनुष्यके लिये इस संसारमें श्रेय क्या बताया जाता है ?॥१॥

बहुधा दर्शने लोके श्रेयो यदिह मन्यसे।
अस्मिँल्लोके परे चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! जगत्‌में श्रेयका प्रतिपादन करनेवाले अनेक प्रकारके दर्शन (मत) हैं; परंतु आप जिसे श्रेय मानते हों, जो इस लोक और परलोकमें भी कल्याण करनेवाला हो, उसे मुझे बताइये ॥ २ ॥

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत।
किंस्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥ ३ ॥

भारत ! धर्मका यह मार्ग बहुत बड़ा है। इससे बहुत-सी शाखाएँ निकली हुई हैं। इन धर्मोंमेंसे कौन-सा धर्म सर्वोत्तम, अवश्य पालन करनेयोग्य माना गया है? ॥ ३ ॥

धर्मस्य महतो राजन् बहुशाखस्य तत्त्वतः।
यन्मूलं परमं तात तत् सर्वं ब्रूह्यशेषतः ॥ ४ ॥

राजन् ! बहुत-सी शाखाओंसे युक्त इस महान् धर्मका वास्तवमें परम मूल क्या है ? तात ! ये सब बातें मुझे पूर्णरूपसे बताइये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि येन श्रेयो ह्यवाप्स्यसि।
पीत्वामृतमिव प्राज्ञो ज्ञानतृप्तो भविष्यसि ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! मैं बड़े हर्षके साथ तुम्हें वह उपाय बताता हूँ, जिससे तुम कल्याण प्राप्त कर लोगे। जैसे अमृतको पीकर पूर्ण तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार तुम ज्ञानी होकर इस ज्ञान-सुधासे पूर्णतः तृप्त हो जाओगे ॥ ५ ॥

धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ॥ ६ ॥

महर्षियोंने अपने-अपने ज्ञानके अनुसार धर्मकी एक नहीं, अनेक विधियाँ बतायी हैं, परंतु उन सबका आधार दम (मन और इन्द्रियोंका संयम) ही है ॥ ६ ॥

दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ ७ ॥

धर्मके सिद्धान्तको जाननेवाले वृद्ध पुरुष दमको निःश्रेयस (परम कल्याण)का साधन बताते हैं। विशेषतः ब्राह्मणके लिये तो दम ही सनातन धर्म है ॥ ७ ॥

दमात् तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥ ८ ॥

दमसे ही उसे अपने शुभ कर्मोंकी यथावत् सिद्धि प्राप्त होती है। दम उसके लिये दान, यज्ञ और स्वाध्यायसे भी बढ़कर है ॥ ८ ॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम्।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥ ९ ॥

दम तेजकी वृद्धि करता है, दम परम पवित्र साधन है, दमसे पापरहित हुआ तेजस्वी पुरुष परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ॥ १० ॥

हमने संसारमें दमके समान दूसरा कोई धर्म नहीं सुना। जगत्‌में सभी धर्मवालोंके यहाँ दमको उत्कृष्ट बताया गया है। सबने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है ॥१० ॥

प्रेत्य चात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम्।
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते ॥ ११ ॥

नरेन्द्र ! दमसे अर्थात् इन्द्रिय और मनके संयमसे युक्त पुरुषको महान् धर्मकी प्राप्ति होती है। वह इहलोक और परलोकमें भी परम सुख पाता है ॥ ११ ॥

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं पर्येति लोकांश्च मनश्चास्य प्रसीदति ॥ १२ ॥

जिसने अपने मन और इन्द्रियोंका दमन कर लिया है, वह सुखसे सोता, सुखसे ही जागता और सुखपूर्वक ही लोकोंमें विचरता है। उसका मन सदा प्रसन्न रहता है ॥ १२ ॥

अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते।
अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान् ॥ १३ ॥

जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं हैं, वह पुरुष निरन्तर क्लेश उठाता है। साथ ही वह अपने ही दोषोंसे

बहुत-से दूसरे-दूसरे अनर्थोंकी भी सृष्टि कर लेता है ॥ १३ ॥

आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।
तस्य लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १४ ॥

चारों आश्रमोंमें दमको ही उत्तम व्रत बताया गया है। अब मैं इन्द्रिय-दमन एवं मनोनिग्रहके उन लक्षणोंको बताऊँगा, जिनका उदय होना ही दम कहा गया है ॥ १४ ॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १५ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता ।
अविहिंसानसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥ १६ ॥

क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्यवादिता, सरलता, इन्द्रिय-विजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोधहीनता, संतोष, प्रिय वचन बोलनेका स्वभाव, किसी भी प्राणीको कष्ट न देना और दूसरोंके दोष न देखना—इन सद्गुणोंका उदय होना ही दम कहलाता है ॥ १५-१६ ॥

गुरुपूजा च कौरव्य दया भूतेष्वपैशुनम् ।
जनवादं मृषावादं स्तुतिनिन्दाविसर्जनम् ॥ १७ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम् ।
रोषमीर्ष्यावमानं च नैव दान्तो निषेवते ॥ १८ ॥

कुरुनन्दन ! जिसने मन और इन्द्रियोंका दमन कर लिया है, उसमें गुरुजनोंके प्रति आदरका भाव, समस्त प्राणियोंके प्रति दया और किसीकी भी चुगली न खानेकी प्रवृत्ति होती है। वह जनापवाद, असत्य भाषण, निन्दा-स्तुतिकी प्रवृत्ति, काम, क्रोध, लोभ, दर्प, जडता, डींग हाँकना, रोष, ईर्ष्या और दूसरोंका अपमान—इन दुर्गुणोंका कभी सेवन नहीं करता ॥ १७-१८ ॥

अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः ।
समुद्रकल्पः स नरो न कथंचन पूर्यते ॥ १९ ॥

इन्द्रिय और मनको वशमें रखनेवाले पुरुषकी कभी निन्दा नहीं होती। उसके मनमें कोई कामना नहीं होती। वह छोटी-छोटी वस्तुओंके लिये किसीके सामने हाथ नहीं फैलाता अथवा तुच्छ विषय-सुखोंकी अभिलाषा नहीं रखता, दूसरोंके दोष नहीं देखता। वह मनुष्य समुद्रके समान अगाध गाम्भीर्य धारण करता है। जैसे समुद्र अनन्त जलराशि पाकर भी भरता नहीं है, उसी प्रकार वह भी निरन्तर धर्मसंचयसे कभी तृप्त नहीं होता ॥ १९ ॥

अहं त्वयि मयि त्वं च मयि ते तेषु चाप्यहम् ।
पूर्वसम्बन्धिसंयोगं नैतद् दान्तो निषेवते ॥ २० ॥

'मैं तुमपर स्नेह रखता हूँ और तुम मुझपर। वे मुझमें अनुराग रखते हैं और मैं उनमें' इस प्रकार पहलेके सम्बन्धियोंके सम्बन्धका जितेन्द्रिय पुरुष चिन्तन नहीं करता ॥

सर्वा ग्राम्यास्तथाऽऽरण्या याश्च लोके प्रवृत्तयः।
निन्दां चैव प्रशंसां च यो नाश्रयति मुच्यते ॥ २१ ॥

जगत्में ग्रामीणों और बनवासियोंकी जो-जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन सबका जो सेवन नहीं करता तथा दूसरोंकी निन्दा और प्रशंसासे भी दूर रहता है, उसकी मुक्ति हो जाती है ॥

मैत्रोऽथ शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविच्च यः ।
मुक्तस्य विविधैः सङ्गैस्तस्य प्रेत्य फलं महत् ॥ २२ ॥

जो सबके प्रति मित्रताका भाव रखनेवाला और सुशील है, जिसका मन प्रसन्न है, जो नाना प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त तथा आत्मज्ञानी है, उसे मृत्युके पश्चात् मोक्षरूप महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः।
प्राप्येह लोके सत्कारं सुगतिं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

जो सदाचारी, शीलसम्पन्न, प्रसन्नचित्त और आत्म-तत्त्वको जाननेवाला है, वह विद्वान् पुरुष इस लोकमें सत्कार पाकर परलोकमें परम गति पाता है ॥ २३ ॥

कर्म यच्छुभमेवेह सद्भिराचरितं च यत् ।
तदेव ज्ञानयुक्तस्य मुनेर्वर्त्म न हीयते ॥ २४ ॥

इस जगत्में जो केवल शुभ (कल्याणकारी) कर्म है तथा सत्पुरुषोंने जिसका आचरण किया है, वही ज्ञानवान् मुनिका मार्ग है। वह स्वभावतः उसका आचरण करता है। उससे कभी च्युत नहीं होता ॥ २४ ॥

निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयुक्तो जितेन्द्रियः ।
कालाकाङ्क्षी चरत्येवं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २५ ॥

ज्ञानसम्पन्न जितेन्द्रिय पुरुष घरसे निकलकर वनका आश्रय ले वहाँ मृत्युकालकी प्रतीक्षा करता हुआ निर्द्वन्द्व विचरता रहता है। इस प्रकार वह ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ हो जाता है ॥ २५ ॥

अभयं यस्य भूतेभ्यो भूतानामभयं यतः ।
तस्य देहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ २६ ॥

जिसको दूसरे प्राणियोंसे भय नहीं है तथा जिससे दूसरे प्राणी भी भय नहीं मानते, उस देहाभिमानसे रहित महात्मा पुरुषको कहींसे भी भय नहीं प्राप्त होता ॥ २६ ॥

अवाचिनोति कर्माणि न च सम्प्रचिनोति ह ।
समः सर्वेषु भूतेषु मैत्रायणगतिश्चरेत् ॥ २७ ॥

वह उपभोगद्वारा प्रारब्ध कर्मोंको क्षीण करता है और कर्तृत्वाभिमान तथा फलासक्तिसे शून्य होनेके कारण नूतन कर्मोंका संचय नहीं करता है। सभी प्राणियोंमें समानभाव रखकर सबको मित्रकी भाँति अभयदान देता हुआ विचरता है ॥ २७ ॥

शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च ।
यथा गतिर्न दृश्येत तथा तस्य न संशयः ॥ २८ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंका और जलमें जलचर जन्तुओं-का पदचिह्न नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार ज्ञानीकी गति भी जाननेमें नहीं आती है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥

गृहानुत्सृज्य यो राजन् मोक्षमेवाभिपद्यते ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य कल्पन्ते शाश्वतीः समाः ॥ २९ ॥

राजन्! जो घर-बारको छोड़कर मोक्षमार्गका ही आश्रय लेता है, उसे अनन्त वर्षोंके लिये दिव्य तेजोमय लोक प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि संन्यस्य विधिवत्तपः।
संन्यस्य विविधा विद्याः सर्वं संन्यस्य चैव ह ॥ ३० ॥
कामे शुचिरनावृत्तः प्रसन्नात्माऽऽत्मविच्छुचिः।
प्राप्येह लोके सत्कारं स्वर्गं समभिपद्यते ॥ ३१ ॥

जिसका आचार-विचार शुद्ध और अन्तःकरण निर्मल है, जिसकी कामनाएँ शुद्ध हैं तथा जो भोगोंसे पराङ्मुख हो चुका है, वह आत्मज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंका, तपस्याका तथा नाना प्रकारकी विद्याओंका विधिवत् संन्यास (त्याग) करके सर्वत्यागी संन्यासी होकर इहलोकमें सम्मानित हो परलोकमें अक्षय स्वर्ग (ब्रह्मधाम) को प्राप्त होता है।३०-३१।

यच्च पैतामहं स्थानं ब्रह्मराशिसमुद्भवम्।
गुहायां पिहितं नित्यं तद् दमेनाभिगम्यते ॥ ३२ ॥

ब्रह्मराशिसे उत्पन्न हुआ जो पितामह ब्रह्माजीका उत्तम धाम है, वह हृदयगुहामें छिपा हुआ है। उसकी प्राप्ति सदा दम (इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह) से ही होती है ॥ ३२॥

ज्ञानारामस्य बुद्धस्य सर्वभूताविरोधिनः।
नावृत्तिभयमस्तीह परलोकभयं कुतः ॥ ३३ ॥

जिसका किसी भी प्राणीके साथ विरोध नहीं है, जो ज्ञानस्वरूप आत्मामें रमता रहता है, ऐसे ज्ञानीको इस लोकमें पुनः जन्म लेनेका भय ही नहीं रहता, फिर उसे परलोकका भय कैसे हो सकता है ? ॥ ३३ ॥

एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ३४ ॥

दम अर्थात् संयममें एक ही दोष है, दूसरा नहीं। वह यह कि क्षमाशील होनेके कारण उसे लोग असमर्थ समझने लगते हैं ॥ ३४ ॥

एकोऽस्य सुमहाप्राज्ञ दोषः स्यात् सुमहान् गुणः।
क्षमया विपुला लोकाः सुलभा हि सहिष्णुता ॥ ३५ ॥

महाप्राज्ञ युधिष्ठिर ! उसका यह एक दोष ही महान् गुण हो सकता है। क्षमा धारण करनेसे उसको बहुत-से पुण्यलोक सुलभ होते हैं। साथ ही क्षमासे सहिष्णुता भी आ जाती है ॥ ३५ ॥

दान्तस्य किमरण्येन तथादान्तस्य भारत।
यत्रैव निवसेद् दान्तस्तदरण्यं स चाश्रमः ॥ ३६ ॥

भारत ! संयमी पुरुषको वनमें जानेकी क्या आवश्यकता है ? और जो असंयमी है, उसको वनमें रहनेसे भी क्या लाभ है ? संयमी पुरुष जहाँ रहे, वहीं उसके लिये वन और आश्रम है ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतद् भीष्मस्य वचनं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः।
अमृतेनेव संतृप्तः प्रहृष्टः समपद्यत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मजीकी यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए, मानो अमृत पीकर तृप्त हो गये हों ॥ ३७ ॥

पुनश्च परिपप्रच्छ भीष्मं धर्मभृतां वरम्।
तपः प्रति स चोवाच तस्मै सर्वं कुरूद्वह ॥ ३८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् उन्होंने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्मजीसे पुनः तपस्याके विषयमें प्रश्न किया। तब भीष्मजीने उन्हें उसके विषयमें सब कुछ बताना आरम्भ किया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि दमकथने षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें दमका वर्णनविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६०॥

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

तपकी महिमा

भीष्म उवाच

सर्वमेतत् तपोमूलं कवयः परिचक्षते।
न ह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस सम्पूर्ण जगत्का मूल कारण तप ही है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं। जिस मूढ़ने तपस्या नहीं की है, उसे अपने शुभ कर्मोंका फल नहीं मिलता है ॥ १ ॥

प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥

भगवान् प्रजापतिने तपसे ही इस समस्त संसारकी सृष्टि की है तथा ऋषियोंने तपसे ही वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया है ॥

तपसैव ससर्जान्नं फलमूलानि यानि च।
त्रीँल्लोकांस्तपसा सिद्धाः पश्यन्ति सुसमाहिताः ॥ ३ ॥

जो-जो फल, मूल और अन्न हैं, उनको विधाताने तपसे ही उत्पन्न किया है। तपस्यासे सिद्ध हुए एकाग्रचित्त महात्मा पुरुष तीनों लोकोंको प्रत्यक्ष देखते हैं ॥ ३ ॥

औषधान्यगदादीनि क्रियाश्च विविधास्तथा।
तपसैव हि सिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥ ४ ॥

औषध, आरोग्य आदिकी प्राप्ति तथा नाना प्रकारकी क्रियाएँ तपस्यासे ही सिद्ध होती हैं; क्योंकि प्रत्येक साधनकी जड़ तपस्या ही है ॥ ४ ॥

यद् दुरापं भवेत् किंचित् तत् सर्वं तपसो भवेत्।
ऐश्वर्यमृषयः प्राप्तास्तपसैव न संशयः ॥ ५ ॥

संसारमें जो कुछ भी दुर्लभ वस्तु हो, वह सब तपस्यासे सुलभ हो सकती है। ऋषियोंने तपस्यासे ही अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्यको प्राप्त किया है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

सुरापोऽसम्मतादायी भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसैव सुतप्तेन नरः पापात् प्रमुच्यते ॥ ६ ॥

शराबी, किसीकी सम्मतिके बिना ही उसकी वस्तु उठा लेनेवाला (चोर), गर्भहत्यारा और गुरुपत्नीगामी मनुष्य भी अच्छी तरह की हुई तपस्याद्वारा ही पापसे छुटकारा पाता है ॥ ६ ॥

तपसो बहुरूपस्य तैस्तैर्द्वारैः प्रवर्ततः।
निवृत्तस्य वर्तमानस्य तपो नानशनात् परम् ॥ ७ ॥

तपस्याके अनेक रूप हैं और भिन्न-भिन्न साधनों एवं उपायोंद्वारा मनुष्य उसमें प्रवृत्त होता है; परंतु जो निवृत्ति-मार्गसे चल रहा है, उसके लिये उपवाससे बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है ॥ ७ ॥

अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात् परम् ॥ ८ ॥

महाराज ! अहिंसा, सत्यभाषण, दान और इन्द्रिय-संयम—इन सबसे बढ़कर तप है और उपवाससे बड़ी कोई तपस्या नहीं है ॥ ८ ॥

न दुष्करतरं दानान्नातिमातरमाश्रयः।
त्रैविद्येभ्यः परं नास्ति संन्यासः परमं तपः ॥ ९ ॥

दानसे बढ़कर कोई दुष्कर धर्म नहीं है, माताकी सेवासे बड़ा कोई दूसरा आश्रय नहीं है, तीनों वेदोंके विद्वानोंसे श्रेष्ठ कोई विद्वान् नहीं है और संन्यास सबसे बड़ा तप है ॥ ९ ॥

इन्द्रियाणीह रक्षन्ति स्वर्गधर्माभिगुप्तये।
तस्मादर्थे च धर्मे च तपो नानशनात् परम् ॥ १० ॥

इस संसारमें धार्मिक पुरुष स्वर्गके साधनभूत धर्मकी रक्षाके लिये इन्द्रियोंको सुरक्षित (संयमशील बनाये) रखते हैं। परंतु धर्म और अर्थ दोनोंकी सिद्धिके लिये तप ही श्रेष्ठ साधन है और उपवाससे बढ़कर कोई तपस्या नहीं है ॥१०॥

ऋषयः पितरो देवा मनुष्या मृगपक्षिणः।
यानि चान्यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च॥ ११ ॥
तपःपरायणाः सर्वे सिद्ध्यन्ति तपसा च ते।
इत्येवं तपसा देवा महत्त्वं प्रतिपेदिरे ॥ १२ ॥

ऋषि, पितर, देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी तथा दूसरे जो चराचर प्राणी हैं, वे सब तपस्यामें ही तत्पर रहते हैं। तपस्या-से ही उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है। इसी प्रकार देवताओंने भी तपस्यासे ही महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त किया है ॥ ११-१२ ॥

इमानीष्टविभागानि फलानि तपसः सदा।
तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्वमपि निश्चयात् ॥ १३ ॥

ये जो भिन्न-भिन्न अभीष्ट फल कहे गये हैं, वे सब सदा तपस्यासे ही सुलभ होते हैं। तपस्यासे निश्चय ही देवत्व भी प्राप्त किया जा सकता है ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि तपःप्रशंसायामेकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें तपस्याकी प्रशंसाविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६१॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्यके लक्षण, स्वरूप और महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं धर्मं प्रशंसन्ति विप्रर्षिपितृदेवताः।
सत्यमिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! ब्राह्मण, ऋषि, पितर और देवता—ये सब सत्यभाषणरूप धर्मकी प्रशंसा करते हैं; अतः अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि सत्य क्या है ? उसे मुझे बताइये ॥ १ ॥

सत्यं किंलक्षणं राजन् कथं वा तदवाप्यते।
सत्यं प्राप्य भवेत् किं च कथं चैव तदुच्यताम् ॥ २ ॥

राजन् ! सत्यका लक्षण क्या है ? उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? सत्यका पालन करनेसे क्या लाभ होता है ? और कैसे होता है ? यह बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माणां संकरो न प्रशस्यते।
अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके जो धर्म हैं, उनका परस्पर सम्मिश्रण अच्छा नहीं माना जाता है। निर्विकार सत्य सभी वर्णोंमें प्रतिष्ठित है ॥

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥ ४ ॥

सत्पुरुषोंमें सदा सत्यरूप धर्मका ही पालन हुआ है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्यको ही सदा सिर झुकाना चाहिये; क्योंकि सत्य ही जीवकी परम गति है ॥ ४ ॥

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

सत्य ही धर्म, तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है, सत्यको ही परम यज्ञ कहा गया है तथा सब कुछ सत्यपर ही टिका हुआ है ॥ ५ ॥

आचारानिह सत्यस्य यथावदनुपूर्वशः।
लक्षणं च प्रवक्ष्यामि सत्यस्येह यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

अब मैं तुम्हें क्रमशः सत्यके आचार और लक्षण ठीक-ठीक बताऊँगा ॥ ६ ॥

प्राप्यते च यथा सत्यं तच्च श्रोतुमिहार्हसि।
सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत ॥ ७ ॥

साथ ही यह भी बता देना चाहता हूँ कि उस सत्य-

की प्राप्ति कैसे होती है ? तुम ध्यान देकर सुनो । भारत ! सम्पूर्ण लोकोंमें सत्यके तेरह भेद माने गये हैं ॥ ७ ॥

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ॥ ८ ॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! सत्य, समता, दम, मत्सरताका अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा (सहनशीलता), अनसूया, त्याग, परमात्माका ध्यान, आर्यता (श्रेष्ठ आचरण), निरन्तर स्थिर रहनेवाली धृति (धैर्य) तथा अहिंसा—ये तेरह सत्यके ही स्वरूप हैं इसमें संशय नहीं है ॥ ८-९ ॥

सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च ।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते ॥ १० ॥

नित्य एकरस, अविनाशी और अविकारी होना ही सत्यका लक्षण है । समस्त धर्मोंके अनुकूल कर्तव्यपालनरूप योगके द्वारा इस सत्यकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

आत्मनीष्टे तथानिष्टे रिपौ च समता तथा ।
इच्छाद्वेषक्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयं तथा ॥ ११ ॥

अपने प्रिय मित्रमें तथा अप्रिय शत्रुमें भी समानभाव रखना 'समता' है । इच्छा (राग), द्वेष, काम और क्रोधको मिटा देना ही समताकी प्राप्तिका उपाय है ॥ ११ ॥

दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च ।
अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ॥ १२ ॥

किसी दूसरेकी वस्तुको लेनेकी इच्छा न करना, सदा गम्भीरता और धीरता रखना, भयको त्याग देना तथा मनके रोगोंको शान्त कर देना—यह 'दम' (मन और इन्द्रियोंके संयम) का लक्षण है । इसकी प्राप्ति ज्ञानसे होती है ॥ १२ ॥

अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दाने धर्मे च संयमः ।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत् ॥ १३ ॥

दान और धर्म करते समय मनपर संयम रखना अर्थात् इस विषयमें दूसरोंसे ईर्ष्या न करना इसे विद्वान् लोग 'मत्सरताका अभाव' कहते हैं । सदा सत्यका पालन करनेसे ही मनुष्य मत्सरतासे रहित हो सकता है ॥ १३ ॥

अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च ।
क्षमते सम्मतः साधुः साध्वाप्नोति च सत्यवाक् ॥ १४ ॥

जो सहने और न सहनेयोग्य व्यवहारों तथा प्रिय एवं अप्रिय वचनोंको भी समानरूपसे सहन कर लेता है, वही सर्वसम्मत क्षमाशील श्रेष्ठ पुरुष है । सत्यवादी पुरुषको ही उत्तम रीतिसे क्षमाभावकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

कल्याणं कुरुते बाढं धीमान् न ग्लायते क्वचित् ।
प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते ॥ १५ ॥

जो बुद्धिमान् पुरुष भलीभाँति दूसरोंका कल्याण करता है और मनमें कभी खेद नहीं मानता, जिसकी मन-वाणी सदा शान्त रहती हैं, वह लज्जाशील माना जाता है । यह लज्जानामक गुण धर्मके आचरणसे प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

धर्मार्थहेतोः क्षमते तितिक्षा क्षान्तिरुच्यते ।
लोकसंग्रहणार्थं वै सा तु धैर्येण लभ्यते ॥ १६ ॥

धर्म और अर्थके लिये मनुष्य जो कष्ट सहन करता है, उसकी वह सहनशीलता 'तितिक्षा' कहलाती है । लोगोंके सामने आदर्श उपस्थित करनेके लिये उसका अवश्य पालन करना चाहिये । तितिक्षाकी प्राप्ति धैर्यसे होती है । (दूसरोंके दोष न देखना 'अनसूया' है) ॥ १६ ॥

त्यागः स्नेहस्य यत् त्यागो विषयाणां तथैव च ।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा ॥ १७ ॥

विषयोंकी आसक्तिका जो त्याग है, वही वास्तविक त्याग है । राग-द्वेषसे रहित होनेपर ही त्यागकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं (परमात्मचिन्तनका नाम ही 'ध्यान' है)॥

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः ।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च ॥ १८ ॥

जो मनुष्य अपनेको प्रकट न करके प्रयत्नपूर्वक प्राणियोंकी भलाईका काम करता रहता है, उसके उस श्रेष्ठ भाव और आचरणका नाम ही 'आर्यता' है । यह आसक्तिके त्यागसे प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम् ।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥ १९ ॥

सुख या दुःख प्राप्त होनेपर मनमें विकार न होना 'धृति' है । जो अपनी उन्नति चाहता हो, उस बुद्धिमान् पुरुषको सदा ही 'धृति' का सेवन करना चाहिये ॥ १९ ॥

सर्वथा क्षमिणा भाव्यं तथा सत्यपरेण च ।
वीतहर्षभयक्रोधो धृतिमाप्नोति पण्डितः ॥ २० ॥

मनुष्यको सदा क्षमाशील होना तथा सत्यमें तत्पर रहना चाहिये । जिसने हर्ष, भय और क्रोध तीनोंको त्याग दिया है, उस विद्वान् पुरुषको ही 'धैर्य' की प्राप्ति होती है ॥ २० ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा सभी प्राणियोंके साथ कभी द्रोह न करना तथा दया और दान यह श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है ॥

एते त्रयोदशाकाराः पृथक् सत्यैकलक्षणाः ।
भजन्ते सत्यमेवेह बृंहयन्ते च भारत ॥ २२ ॥

ये पृथक्-पृथक् तेरह रूपोंमें बताये हुए धर्म एकमात्र सत्यको ही लक्षित करानेवाले हैं । ये सत्यका ही आश्रय लेते और उसीकी वृद्धि एवं पुष्टि करते हैं ॥ २२ ॥

नान्तः शक्यो गुणानां च वक्तुं सत्यस्य पार्थिव ।
अतः सत्यं प्रशंसन्ति विप्राः सपितृदेवताः ॥ २३॥

पृथ्वीनाथ ! सत्यके गुणोंकी सीमा नहीं बतायी जा

सकती। इसीलिये पितर और देवताओंके सहित ब्राह्मण सत्यकी प्रशंसा करते हैं ॥ २३ ॥

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत्॥ २४ ॥

सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठसे बढ़कर कोई पातक नहीं है। सत्य ही धर्मकी आधारशिला है; अतः सत्यका लोप न करे ॥ २४ ॥

उपैति सत्याद् दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः।
त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः ॥ २५ ॥

दानका, दक्षिणाओंसहित यज्ञका, त्रिविध अग्नियोंमें हवनका, वेदोंके स्वाध्यायका तथा अन्य जो धर्मका निर्णय करनेवाले शास्त्र हैं, उनके भी अध्ययनका फल मनुष्य सत्यसे प्राप्त कर लेता है ॥ २५ ॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ २६ ॥

यदि एक ओर एक हजार अश्वमेध यज्ञोंको और दूसरी ओर एकमात्र सत्यको तराजूपर रक्खा जाय तो एक हजार अश्वमेध यज्ञोंकी अपेक्षा सत्यका ही पलड़ा भारी होगा ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि सत्यप्रशंसायां द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें सत्यकी प्रशंसाविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

काम, क्रोध आदि तेरह दोषोंका निरूपण और उनके नाशका उपाय

युधिष्ठिर उवाच

यतः प्रभवति क्रोधः कामो वा भरतर्षभ।
शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वं तथा मदः ॥ १ ॥
लोभो मात्सर्यमीर्ष्या च कुत्सासूया कृपा तथा।
एतत् सर्वं महाप्राज्ञ याथातथ्येन मे वद ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! परम बुद्धिमान् पितामह ! क्रोध, काम, शोक, मोह, विधित्सा (शास्त्रविरुद्ध काम करनेकी इच्छा), परासुता (दूसरोंके मारनेकी इच्छा), मद, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, निन्दा, दोषदृष्टि और कंजूसी (दैन्यभाव)—ये सब दोष किससे उत्पन्न होते हैं ? यह ठीक-ठीक बताइये ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

त्रयोदशैतेऽतिबलाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः।
उपासन्ते महाराज समन्तात् पुरुषानिह ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज युधिष्ठिर ! तुम्हारे कहे हुए ये तेरह दोष प्राणियोंके अत्यन्त प्रबल शत्रु माने गये हैं, जो यहाँ मनुष्योंको सब ओरसे घेरे रहते हैं ॥ ३ ॥

एते प्रमत्तं पुरुषमप्रमत्तास्तुदन्ति च।
वृका इव विलुम्पन्ति दृष्ट्वैव पुरुषं बलात् ॥ ४ ॥

ये सदा सावधान रहकर प्रमादमें पड़े हुए पुरुषको अत्यन्त पीड़ा देते हैं। मनुष्यको देखते ही भेड़ियोंकी तरह बलपूर्वक उसपर टूट पड़ते हैं ॥ ४ ॥

एभ्यः प्रवर्तते दुःखमेभ्यः पापं प्रवर्तते।
इति मर्त्यो विजानीयात् सततं पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

नरश्रेष्ठ ! इन्हींसे सबको दुःख प्राप्त होता है, इन्हींकी प्रेरणासे मनुष्यकी पापकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक पुरुषको सदा इस बातकी जानकारी रखनी चाहिये ॥ ५ ॥

एतेषामुदयं स्थानं क्षयं च पृथिवीपते।
हन्त ते कथयिष्यामि क्रोधस्योत्पत्तिमादितः ॥ ६ ॥
यथातत्त्वं क्षितिपते तदिहैकमनाः शृणु।

पृथ्वीनाथ ! अब मैं यह बता रहा हूँ कि इनकी उत्पत्ति किससे होती है ? ये किस तरह स्थिर रहते हैं ? और कैसे इनका विनाश होता है ? राजन् ! सबसे पहले क्रोधकी उत्पत्तिका यथार्थरूपसे वर्णन करता हूँ। तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर इस विषयको सुनो ॥ ६½ ॥

लोभात् क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते ॥ ७ ॥
क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्तते।

राजन् ! क्रोध लोभसे उत्पन्न होता, दूसरोंके दोष देखनेसे बढ़ता, क्षमा करनेसे थम जाता और क्षमासे ही निवृत्त हो जाता है ॥ ७½ ॥

संकल्पाज्जायते कामः सेव्यमानो विवर्धते ॥ ८ ॥
यदा प्राज्ञो विरमते तदा सद्यः प्रणश्यति।

काम संकल्पसे उत्पन्न होता है। उसका सेवन किया जाय तो बढ़ता है और जब बुद्धिमान् पुरुष उससे विरक्त हो जाता है, तब वह (काम) तत्काल नष्ट हो जाता है॥

परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्तते ॥ ९ ॥
दयया सर्वभूतानां निर्वेदात् सा निवर्तते।
अवद्यदर्शनादेति तत्त्वज्ञानाच्च धीमताम् ॥ १० ॥

क्रोध और लोभसे तथा अभ्याससे परासुता प्रकट होती है। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दयासे और वैराग्यसे वह निवृत्त होती है। परदोष-दर्शनसे इसकी उत्पत्ति होती और बुद्धिमानोंके तत्त्वज्ञानसे वह नष्ट हो जाती है ॥ ९-१० ॥

अज्ञानप्रभवो मोहः पापाभ्यासात् प्रवर्तते।
यदा प्राज्ञेषु रमते तदा सद्यः प्रणश्यति ॥ ११ ॥

मोह अज्ञानसे उत्पन्न होता है और पापकी आवृत्ति करनेसे बढ़ता है। जब मनुष्य विद्वानोंमें अनुराग करता है, तब उसका मोह तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

विरुद्धानीह शास्त्राणि ये पश्यन्ति कुरूद्वह।

विधित्सा जायते तेषां तत्त्वज्ञानान्निवर्तते ॥ १२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जो लोग धर्मके विरोधी शास्त्रोंका अवलोकन करते हैं, उनके मनमें अनुचित कर्म करनेकी इच्छारूप विधित्सा उत्पन्न होती है। यह तत्त्वज्ञानसे निवृत्त होती है ॥

प्रीत्या शोकः प्रभवति वियोगात् तस्य देहिनः ।
यदा निरर्थकं वेत्ति तदा सद्यः प्रणश्यति ॥ १३ ॥

जिसपर प्रेम हो, उस प्राणीके वियोगसे शोक प्रकट होता है। परंतु जब मनुष्य यह समझ ले कि शोक व्यर्थ है—उससे कोई लाभ नहीं है तो तुरंत ही उस शोककी शान्ति हो जाती है ॥ १३ ॥

परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्तते ।
दयया सर्वभूतानां निर्वेदात् सा निवर्तते ॥ १४ ॥

क्रोध, लोभ और अभ्यासके कारण परासुता अर्थात् दूसरोंको मारनेकी इच्छा होती है। समस्त प्राणियोंके प्रति दया और वैराग्य होनेसे उसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १४ ॥

सत्यत्यागात् तु मात्सर्यमहितानां च सेवया ।
एतत् तु क्षीयते तात साधूनामुपसेवनात् ॥ १५ ॥

सत्यका त्याग और दुष्टोंका साथ करनेसे मात्सर्यदोषकी उत्पत्ति होती है। तात ! श्रेष्ठ पुरुषोंकी सेवा और संगति करनेसे उसका नाश हो जाता है ॥ १५ ॥

कुलाज्ज्ञानात् तथैश्वर्यान्मदो भवति देहिनाम् ।
एभिरेव तु विज्ञातैः स च सद्यः प्रणश्यति ॥ १६ ॥

अपने उत्तम कुल, उत्कृष्ट ज्ञान तथा ऐश्वर्यका अभिमान होनेसे देहाभिमानी मनुष्योंपर मद सवार हो जाता है; परंतु इनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर वह मद तत्काल उतर जाता है ॥ १६ ॥

ईर्ष्या कामात् प्रभवति संहर्षाच्चैव जायते ।
इतरेषां तु सत्त्वानां प्रज्ञया सा प्रणश्यति ॥ १७ ॥

मनमें कामना होनेसे तथा दूसरे प्राणियोंकी हँसी-खुशी देखनेसे ईर्ष्याकी उत्पत्ति होती है तथा विवेकशील बुद्धिके द्वारा उसका नाश होता है ॥ १७ ॥

विभ्रमाल्लोकबाह्यानां द्वेष्यैर्वाक्यैरसम्मतैः ।
कुत्सा संजायते राजँल्लोकान् प्रेक्ष्याभिशाम्यति ॥

राजन् ! समाजसे बहिष्कृत हुए नीच मनुष्योंके द्वेषपूर्ण तथा अप्रामाणिक वचनोंको सुनकर भ्रममें पड़ जानेसे निन्दा करनेकी आदत होती है; परंतु श्रेष्ठ पुरुषोंको देखनेसे वह शान्त हो जाती है ॥ १८ ॥

प्रतिकर्तुं न शक्ता ये बलस्थायापकारिणे ।
असूया जायते तीव्रा कारुण्याद् विनिवर्तते ॥ १९ ॥

जो लोग अपनी बुराई करनेवाले बलवान् मनुष्यसे बदला लेनेमें असमर्थ होते हैं, उनके हृदयमें तीव्र असूया (दोषदर्शनकी प्रवृत्ति) पैदा होती है, परंतु दयाका भाव जाग्रत् होनेसे उसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १९ ॥

कृपणान् सततं दृष्ट्वा ततः संजायते कृपा ।
धर्मनिष्ठां यदा वेत्ति तदा शाम्यतिसा कृपा ॥ २० ॥

सदा कृपण मनुष्योंको देखनेसे अपनेमें भी दैन्यभाव—कंजूसीका भाव पैदा होता है; धर्मनिष्ठ पुरुषोंके उदार भावको जान लेनेपर वह कंजूसीका भाव नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा ।
अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्तते ॥ २१ ॥

प्राणियोंका भोगोंके प्रति जो लोभ देखा जाता है, वह अज्ञानके ही कारण है। भोगोंकी क्षणभङ्गुरताको देखने और जाननेसे उसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ २१ ॥

एतान्येव जितान्याहुः प्रशमाच्च त्रयोदश ।
एते हि धार्तराष्ट्राणां सर्वे दोषास्त्रयोदश ॥ २२ ॥
त्वया सत्यार्थिना नित्यं विजिता ज्येष्ठसेवनात्॥ २३ ॥

कहते हैं, ये तेरहों दोष शान्ति धारण करनेसे जीत लिये जाते हैं। धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें ये सभी दोष मौजूद थे और तुम सत्यको ग्रहण करना चाहते हो; इसलिये तुमने श्रेष्ठ पुरुषोंके सेवनसे इन सबपर विजय प्राप्त कर ली ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लोभनिरूपणे त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें लोभनिरूपणविषयक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

नृशंस अर्थात् अत्यन्त नीच पुरुषके लक्षण

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं विजानामि दर्शनेन सतां सदा ।
नृशंसान्न विजानामि तेषां कर्म च भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! सदा श्रेष्ठ पुरुषोंके सेवन और दर्शनसे मैं इस बातको तो जानता हूँ कि कोमलतापूर्ण बर्ताव कैसे किया जाता है ? परंतु नृशंस मनुष्यों और उनके कर्मोंका मुझे विशेष ज्ञान नहीं है ॥ १ ॥

कण्टकान् कूपमग्निं च वर्जयन्ति यथा नराः ।
तथा नृशंसकर्माणं वर्जयन्ति नरा नरम् ॥ २ ॥

जैसे मनुष्य रास्तेमें मिले हुए काँटों, कुओं और आगको बचाकर चलते हैं, उसी प्रकार मनुष्य नृशंस कर्म करनेवाले पुरुषको भी दूरसे ही त्याग देते हैं ॥ २ ॥

नृशंसो दह्यते नित्यं प्रेत्य चेह च भारत ।
तस्मात् त्वं ब्रूहि कौरव्य तस्य धर्मविनिश्चयम् ॥ ३ ॥

भारत ! कुरुनन्दन ! नृशंस मनुष्य इस लोक और परलोकमें भी सदा ही शोककी आगसे जलता रहता है; अतः

आप मुझे नृशंस मनुष्य और उसके धर्म-कर्मका यथार्थ परिचय दीजिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

स्पृहा स्याद् गर्हिता चैव विधित्सा चैव कर्मणाम्।
आक्रोष्टा क्रुश्यते चैव वञ्चितो बुद्ध्यते स च ॥ ४ ॥
दत्तानुकीर्तिर्विषमः क्षुद्रो नैकृतिकः शठः।
असंविभागी मानी च तथा सङ्गी विकत्थनः ॥ ५ ॥
सर्वातिशङ्की पुरुषो बलीशः कृपणोऽथवा।
वर्गप्रशंसी सततमाश्रमद्वेषसंकरी ॥ ६ ॥
हिंसाविहारः सततमविशेषगुणागुणः।
बह्वलीकोऽमनस्वी च लुब्धोऽत्यर्थं नृशंसकृत् ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जिसके मनमें बड़ी घृणित इच्छाएँ रहती हैं, जो हिंसाप्रधान कुत्सित कर्मोंको आरम्भ करना चाहता है, स्वयं दूसरोंकी निन्दा करता है और दूसरे उसकी निन्दा करते हैं, जो अपनेको दैवसे वञ्चित समझता और पापमें प्रवृत्त होता है, दिये हुए दानका बारंबार बखान करता है, जिसके मनमें विषमता भरी रहती है, जो नीच कर्म करनेवाला, दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला और शठ है, भोग्य वस्तुओंको दूसरोंको दिये बिना ही अकेले भोगता है, जिसके भीतर अभिमान भरा हुआ है, जो विषयोंमें आसक्त और अपनी प्रशंसाके लिये व्यर्थ ही बढ़-बढ़कर बातें बनानेवाला है, जिसके मनमें सबके प्रति संदेह बना रहता है, जो कौएकी तरह वञ्चक दृष्टि रखनेवाला है, जिसमें कृपणता कूट-कूटकर भरी है, जो अपने ही वर्गके लोगोंकी प्रशंसा करता, सदा आश्रमोंसे द्वेष रखता और वर्णसंकरता फैलाता है, सदा हिंसाके लिये ही जिसका घूमना-फिरना होता है, जो गुणको भी अवगुणके समान समझता और बहुत झूठ बोलता है, जिसके मनमें उदारता नहीं है और जो अत्यन्त लोभी है, ऐसा मनुष्य ही नृशंस कर्म करनेवाला कहा गया है ॥ ४–७ ॥

धर्मशीलं गुणोपेतं पापमित्यवगच्छति।
आत्मशीलप्रमाणेन न विश्वसिति कस्यचित् ॥ ८ ॥

वह धर्मात्मा और गुणवान् पुरुषको ही पापी मानता है और अपने स्वभावको आदर्श मानकर किसीपर विश्वास नहीं करता है ॥ ८ ॥

परेषां यत्र दोषः स्यात् तद् गुह्यं सम्प्रकाशयेत्।
समानेष्वेव दोषेषु वृत्त्यर्थमुपघातयेत् ॥ ९ ॥

जहाँ दूसरोंकी बदनामी होती हो, वहाँ उनके गुप्त दोषोंको भी प्रकट कर देता है और अपने तथा दूसरेके अपराध बराबर होनेपर भी वह आजीविकाके लिये दूसरेका ही सर्वनाश करता है ॥ ९ ॥

तथोपकारिणं चैव मन्यते वञ्चितं परम्।
दत्त्वापि च धनं काले संतपत्युपकारिणे ॥ १० ॥

जो उसका उपकार करता है, उसको वह अपने जालमें फँसा हुआ समझता है और उपकारीको भी यदि कभी धन देता है तो उसके लिये बहुत समयतक पश्चात्ताप करता रहता है ॥ १० ॥

भक्ष्यं पेयमथालेह्यं यच्चान्यत् साधु भोजनम्।
प्रेक्षमाणेषु योऽश्नीयान्नृशंसमिति तं वदेत् ॥ ११ ॥

जो मनुष्य दूसरोंके देखते रहनेपर भी उत्तम भक्ष्य, पेय, लेह्य तथा दूसरे-दूसरे भोज्य पदार्थोंको अकेला ही खा जाता है, उसको भी नृशंस ही कहना चाहिये ॥ ११ ॥

ब्राह्मणेभ्यः प्रदायाग्रं यः सुहृद्भिः सहाश्नुते।
स प्रेत्य लभते स्वर्गमिह चानन्त्यमश्नुते ॥ १२ ॥

जो पहले ब्राह्मणको देकर पीछे अपने सुहृदोंके साथ स्वयं भोजन करता है, वह इस लोकमें अनन्त सुख भोगता है और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १२ ॥

एष ते भरतश्रेष्ठ नृशंसः परिकीर्तितः।
सदा विवर्जनीयो हि पुरुषेण विजानता ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार तुम्हारे प्रश्नके अनुसार यहाँ नृशंस मनुष्यका परिचय दिया गया है। विज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह सदा उससे बचकर रहे ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि नृशंसाख्याने चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें नृशंसका वर्णनविषयक एक सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६४ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

नाना प्रकारके पापों और उनके प्रायश्चित्तोंका वर्णन

भीष्म उवाच

कृतार्थो यक्ष्यमाणश्च सर्ववेदान्तगश्च यः।
आचार्यपितृकार्यार्थं स्वाध्यायार्थमथापि च ॥ १ ॥
एते वै साधवो दृष्टा ब्राह्मणा धर्मभिक्षवः।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्या च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! सम्पूर्ण वेदों और उपनिषदोंका पारंगत विद्वान् ब्राह्मण यदि यज्ञ करनेवाला हो तथा उसका धन चोर चुरा ले गये हों तो राजाका कर्तव्य है कि वह उसे आचार्यकी दक्षिणा देने, पितरोंका श्राद्ध करने तथा वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करनेके लिये धन दे। भरतनन्दन! ये श्रेष्ठ ब्राह्मण प्रायः धर्मके लिये धनकी भिक्षा माँगते देखे गये हैं। इन्हें दान और विद्याध्ययनके लिये धन देना चाहिये ॥ १-२ ॥

अन्यत्र दक्षिणादानं देयं भरतसत्तम।

अन्येभ्योऽपि बहिर्वेदि चाकृतान्नं विधीयते ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इससे भिन्न परिस्थितिमें ब्राह्मणको केवल दक्षिणा देनी चाहिये और ब्राह्मणेतर मनुष्योंको भी यज्ञ-वेदीसे बाहर कच्चा अन्न देनेका विधान है ॥ ३ ॥

सर्वरत्नानि राजा हि यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणा एव वेदाश्च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
अन्योन्यं विभवाचारा यजन्ते गुणतः सदा ॥ ४ ॥

राजाको चाहिये कि वह ब्राह्मणोंको उनकी योग्यताके अनुसार सब प्रकारके रत्नोंका दान करे; क्योंकि ब्राह्मण ही वेद एवं बहुसंख्यक दक्षिणावाले यज्ञरूप हैं। अपनी सम्पत्तिके अनुसार समस्त कार्योंका आयोजन करनेवाले वे ब्राह्मण सदा आपसमें मिलकर गुणयुक्त यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥ ४ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं चापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ५ ॥

जिस ब्राह्मणके पास अपने पालनीय कुटुम्बीजनोंके भरण-पोषणके लिये तीन वर्षतक उपभोगमें आनेलायक पर्याप्त धन हो अथवा उससे भी अधिक वैभव विद्यमान हो, वही सोमपानका अधिकारी है—उसे ही सोमयागका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ॥ ५ ॥

यज्ञश्चेत् प्रतिरुद्धः स्यादंशेनैकेन यज्वनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ६ ॥
यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात् तस्य तद् वित्तं यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत् ॥ ७ ॥

यदि धर्मात्मा राजाके रहते हुए किसी यज्ञकर्ताका, विशेषतः ब्राह्मणका यज्ञ धनके बिना अधूरा रह जाय—उसके एक अंशकी पूर्ति शेष रह जाय तो राजाको चाहिये कि उसके राज्यमें जो बहुत पशुओं तथा वैभवसे सम्पन्न वैश्य हो, यदि वह यज्ञ तथा सोमयागसे रहित हो तो उसके कुटुम्बसे उस धनको यज्ञके लिये ले ले ॥ ६-७ ॥

आहरेदथ नो किञ्चित् कामं शूद्रस्य वेश्मनः ।
न हि यज्ञेषु शूद्रस्य किञ्चिदस्ति परिग्रहः ॥ ८ ॥

किंतु राजा अपनी इच्छाके अनुसार शूद्रके घरसे थोड़ा-सा भी धन न ले आवे; क्योंकि यज्ञोंमें शूद्रका किंचिन्मात्र भी अधिकार नहीं है ॥ ८ ॥

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ ९ ॥

जिस वैश्यके पास एक सौ गौएँ हों और वह अग्निहोत्र न करता हो तथा जिसके पास एक हजार गौएँ हों और वह यज्ञ न करता हो, उन दोनोंके कुटुम्बोंसे राजा बिना विचारे ही धन उठा लावे ॥ ९ ॥

अदातृभ्यो हरेद् वित्तं विख्याप्य नृपतिः सदा ।
तथैवाचरतो धर्मो नृपतेः स्यादथाखिलः ॥ १० ॥

जो धन रहते हुए उसका दान न करते हों, ऐसे लोगोंके इस दोषको विख्यात करके राजा सदा धर्मके लिये उनका धन ले ले, ऐसा आचरण करनेवाले राजाको सम्पूर्ण धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

तथैव शृणु मे भक्तं भक्तानि षडनश्नतः ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर ! इसी प्रकार मैं अन्नके विषयमें जो बात बता रहा हूँ, उसे सुनो । यदि ब्राह्मण अन्नाभावके कारण लगातार छः समयतक उपवास कर जाय तो उस अवस्थामें वह किसी निकृष्ट कर्म करनेवाले मनुष्यके घरसे उतने धनका अपहरण कर सकता है, जिससे उसके एक दिनका भोजन चल जाय और दूसरे दिनके लिये कुछ बाकी न रहे ॥ ११ ॥

खलात् क्षेत्रात् तथा रामाद् यतो वाप्युपपद्यते ।
आख्यातव्यं नृपस्यैतत् पृच्छतेऽपृच्छतेऽपि वा ॥ १२ ॥

खलिहानसे, खेतसे, बगीचेसे अथवा जहाँसे भी अन्न मिल सके, वहींसे वह भोजनमात्रके लिये अन्न उठा लावे और उसके बाद राजा पूछे या न पूछे, उसके पास जाकर अपनी वह बात उसे कह दे ॥ १२ ॥

न तस्मै धारयेद् दण्डं राजा धर्मेण धर्मवित् ।
क्षत्रियस्य तु बालिश्याद् ब्राह्मणः क्लिश्यते क्षुधा ॥ १३ ॥

उस दशामें धर्मज्ञ राजा धर्मके अनुसार उसे दण्ड न दे; क्योंकि क्षत्रिय राजाकी नादानीसे ही ब्राह्मणको भूखका कष्ट उठाना पड़ता है ॥ १३ ॥

श्रुतशीले समाज्ञाय वृत्तिमस्य प्रकल्पयेत् ।
अथैनं परिरक्षेत पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १४ ॥

राजा उसके शास्त्रज्ञान और स्वभावका परिचय प्राप्त करके उसके लिये उचित आजीविकाकी व्यवस्था करे और जैसे पिता अपने औरस पुत्रकी रक्षा करता है, उसी प्रकार वह उस ब्राह्मणकी रक्षा करे ॥ १४ ॥

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।
अनुकल्पः परो धर्मो धर्मवादैस्तु केवलम् ॥ १५ ॥

प्रतिवर्ष किये जानेवाले आग्रयण आदि यज्ञ यदि न किये जा सके हों तो उनके बदले प्रतिदिन वैश्वानरी इष्टि समर्पित करे । मुख्य कर्मके स्थानमें जो गौण कार्य किया जाता है, उसका नाम अनुकल्प है, धर्मज्ञ पुरुषोंद्वारा बताया गया अनुकल्प भी परम धर्म ही है ॥ १५ ॥

विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद् भीतैर्विधिः प्रतिनिधीकृतः ॥ १६ ॥

क्योंकि विश्वेदेव, साध्य, ब्राह्मण और महर्षि—इन सब लोगोंने मृत्युसे डरकर आपत्कालके विषयमें प्रत्येक विधिका प्रतिनिधि नियत कर दिया है ॥ १६ ॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ १७ ॥

जो मुख्य विधिके अनुसार कर्म करनेमें समर्थ होकर भी गौण विधिसे काम चलाता है, उस दुर्बुद्धि मनुष्यको पारलौकिक फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १७ ॥

न ब्राह्मणो निवेदेत किंचिद् राजनि वेदवित्।
स्ववीर्याद् राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ॥ १८ ॥

वेदज्ञ ब्राह्मणको चाहिये कि वह राजाके निकट अपनी आवश्यकता निवेदन न करे; क्योंकि ब्राह्मणकी अपनी शक्ति तथा राजाकी शक्तिमेंसे उसकी अपनी ही शक्ति प्रबल है ॥

तस्माद् राज्ञः सदा तेजो दुःसहं ब्रह्मवादिनाम्।
कर्ता शास्ता विधाता च ब्राह्मणो देव उच्यते ॥ १९ ॥

अतः ब्रह्मवादियोंका तेज राजाके लिये सदा दुःसह है। ब्राह्मण इस जगत्‌का कर्ता, शासक, धारण-पोषण करनेवाला और देवता कहलाता है ॥ १९ ॥

तस्मिन्नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कामीरयेद् गिरम्।
क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ॥ २० ॥
धनैर्वैश्यश्च शूद्रश्च मन्त्रैर्होमैश्च वै द्विजः।

अतः उसके प्रति अमङ्गलसूचक बात न कहे। रूखे वचन न बोले। क्षत्रिय अपने बाहुबलसे, वैश्य और शूद्र धनके बलसे तथा ब्राह्मण मन्त्र एवं हवनकी शक्तिसे अपनी विपत्तिसे पार हो सकता है ॥ २०½ ॥

नैव कन्या न युवतिर्नामन्त्रज्ञो न बालिशः ॥ २१ ॥
परिवेष्टाग्निहोत्रस्य भवेन्नासंस्कृतस्तथा।

न कन्या, न युवती, न मन्त्र न जाननेवाला, न मूर्ख और न संस्कारहीन पुरुष ही अग्निमें हवन करनेका अधिकारी है ॥ २१½ ॥

नरके निपतन्त्येते जुह्वानाः स च यस्य तत्।
तस्माद् वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारगः ॥ २२ ॥

यदि ये हवन करते हैं तो स्वयं तो नरकमें पड़ते ही हैं, जिसका वह यज्ञ है, वह भी नरकमें गिरता है। अतः जो यज्ञ-कर्ममें कुशल और वेदोंका पारङ्गत विद्वान् हो, वही होता हो सकता है ॥ २२ ॥

प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम्।
अनाहिताग्निरिति स प्रोच्यते धर्मदर्शिभिः ॥ २३ ॥

जो अग्निहोत्र आरम्भ करके प्रजापति देवताके लिये अश्वरूप दक्षिणाका दान नहीं करता, धर्मदर्शी पुरुष उसे अनाहिताग्नि कहते हैं ॥ २३ ॥

पुण्यानि यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
अनाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्न यजेत कथञ्चन ॥ २४ ॥

मनुष्य जो भी पुण्यकर्म करे, उसे श्रद्धापूर्वक और जितेन्द्रिय भावसे करे। पर्याप्त दक्षिणा दिये बिना किसी तरह यज्ञ न करे ॥ २४ ॥

प्रजाः पशूंश्च स्वर्गं च हन्ति यज्ञो ह्यदक्षिणः।
इन्द्रियाणि यशः कीर्तिमायुश्चाप्यवकृन्तति ॥ २५ ॥

बिना दक्षिणाका यज्ञ प्रजा और पशुका नाश करता है और स्वर्गकी प्राप्तिमें भी विघ्न डाल देता है। इतना ही नहीं, वह इन्द्रिय, यश, कीर्ति तथा आयुको भी क्षीण करता है ॥

उदक्यामासते ये च द्विजाः केचिदनग्नयः।
होमं चाश्रोत्रियं येषां ते सर्वे पापकर्मिणः ॥ २६ ॥

जो ब्राह्मण रजस्वला स्त्रीके साथ समागम करते हैं, जिन्होंने घरमें अग्निकी स्थापना नहीं की है तथा जो अवैदिक रीतिसे हवन करते हैं, वे सभी पापाचारी हैं ॥ २६ ॥

उदपानोदके ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः।
उषित्वा द्वादश समाः शूद्रकर्मैव गच्छति ॥ २७ ॥

जिस गाँवमें एक ही कुएँका पानी सब लोग पीते हैं, वहाँ बारह वर्षोंतक निवास करनेसे तथा शूद्रजातिकी स्त्रीके साथ विवाह कर लेनेसे ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है ॥ २७ ॥

अभार्यां शयने बिभ्रच्छूद्रं वृद्धं च वै द्विजः।
अब्राह्मणं मन्यमानस्तृणेष्वासीत पृष्ठतः।
तथा संशुध्यते राजञ्शृणु चात्र वचो मम ॥ २८ ॥

यदि ब्राह्मण अपनी पत्नीके सिवा दूसरी स्त्रीको शय्यापर बिठा ले अथवा बड़े-बूढ़े शूद्रको या ब्राह्मणेतर—क्षत्रिय या वैश्यको सम्मान देता हुआ ऊँचे आसनपर बैठाकर स्वयं चटाईपर बैठे तो वह ब्राह्मणत्वसे गिर जाता है। राजन्! उसकी शुद्धि जिस प्रकार होती है, वह मुझसे सुनो ॥ २८ ॥

यदेकरात्रेण करोति पापं
निकृष्टवर्णं ब्राह्मणः सेवमानः।
स्थानासनाभ्यां विहरन् व्रती स
त्रिभिर्वर्षैः शमयेदात्मपापम् ॥ २९ ॥

यदि ब्राह्मण एक रात भी किसी नीच वर्णके मनुष्यकी सेवा करे अथवा उसके साथ एक जगह रहे या एक आसनपर बैठे तो इससे जो पाप लगता है, उसको वह तीन वर्षोंतक व्रतका पालन करते हुए पृथ्वीपर विचरनेसे दूर कर सकता है ॥ २९ ॥

न नर्मयुक्तमनृतं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले।
न गुर्वर्थे नात्मनो जीवितार्थे
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ ३० ॥

राजन्! परिहासमें, स्त्रीके पास, विवाहके अवसरपर, गुरुके हितके लिये अथवा अपने प्राण बचानेके उद्देश्यसे बोला गया असत्य हानिकारक नहीं होता। इन पाँच अवसरोंपर असत्य बोलना पाप नहीं बताया गया है ॥ ३० ॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात्।
सुवर्णमपि चामेध्यादाददीताविचारयन् ॥ ३१ ॥

नीच वर्णके पुरुषके पास भी उत्तम विद्या हो तो उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिये और सोना अपवित्र स्थानमें भी पड़ा हो तो उसे बिना हिचकिचाहटके उठा लेना चाहिये ॥ ३१ ॥

---

१. जिसने अग्निकी स्थापना नहीं की है, उसे 'अनाहिताग्नि' कहा जाता है। तात्पर्य यह कि उक्त दक्षिणा दिये बिना उसके द्वारा की हुई अग्निस्थापना व्यर्थ हो जाती है।

स्त्रीरत्नं दुष्कुलाच्चापि विषादप्यमृतं पिबेत्।
अदूष्या हि स्त्रियो रत्नमाप इत्येव धर्मतः ॥ ३२ ॥

नीच कुलसे भी उत्तम स्त्रीको ग्रहण कर ले, विषके स्थानसे भी अमृत मिले तो उसे पी ले; क्योंकि स्त्रियाँ, रत्न और जल—ये धर्मतः दूषणीय नहीं होते हैं ॥ ३२ ॥

गोब्राह्मणहितार्थं च वर्णानां संकरेषु च।
वैश्यो गृह्णीत शस्त्राणि परित्राणार्थमात्मनः ॥ ३३ ॥

गौ और ब्राह्मणोंका हित, वर्णसंकरताका निवारण तथा अपनी रक्षा करनेके लिये वैश्य भी हथियार उठा सकता है॥

सुरापानं ब्रह्महत्या गुरुतल्पमथापि वा।
अनिर्देश्यानि मन्यन्ते प्राणान्तमिति धारणा ॥ ३४ ॥

मदिरापान, ब्रह्महत्या तथा गुरुपत्नीगमन—इन महापापोंसे छूटनेके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है। किसी भी उपायसे अपने प्राणोंका अन्त कर देना ही उन पापोंका प्रायश्चित्त होगा, ऐसी विद्वानोंकी धारणा है ॥ ३४ ॥

सुवर्णहरणं स्तैन्यं विप्रस्वं चेति पातकम्।
विहरन् मद्यपानाच्च अगम्यागमनादपि ॥ ३५ ॥
पतितैः सम्प्रयोगाच्च ब्राह्मणीयोनितस्तथा।
अचिरेण महाराज पतितो वै भवत्युत ॥ ३६ ॥

सुवर्णकी चोरी, अन्य वस्तुओंकी चोरी तथा ब्राह्मणका धन छीन लेना—यह महान् पाप है। महाराज! मदिरापान और अगम्या स्त्रीके साथ गमन करनेसे, पतितोंके साथ सम्पर्क रखनेसे तथा ब्राह्मणेतर होकर ब्राह्मणीके साथ समागम करनेसे स्वेच्छाचारी पुरुष शीघ्र ही पतित हो जाता है ॥ ३५-३६ ॥

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।
याजनाध्यापनाद् यौनाच्च तु यानासनाशनात् ॥ ३७ ॥

पतितके साथ रहनेसे, उसका यज्ञ करानेसे और उसे पढ़ानेसे मनुष्य एक वर्षमें पतित हो जाता है; परंतु उसकी संतानके साथ अपनी संतानका विवाह करनेसे, एक सवारी या एक आसनपर बैठनेसे तथा उसके साथमें भोजन करनेसे वह एक वर्षमें नहीं, किंतु तत्काल पतित हो जाता है ॥ ३७ ॥

एतानि हित्वातोऽन्यानि निर्देश्यानीति भारत।
निर्देश्यानेन विधिना कालेनाव्यसनी भवेत् ॥ ३८ ॥

भरतनन्दन! उपर्युक्त पाप अनिर्देश्य (प्रायश्चित्तरहित) कहे गये हैं। इन्हें छोड़कर और जितने पाप हैं, वे निर्देश्य हैं—शास्त्रमें उनका प्रायश्चित्त बताया गया है। उसके अनुसार प्रायश्चित्त करके पापका व्यसन छोड़ देना चाहिये ॥ ३८ ॥

अन्नं वीर्यं ग्रहीतव्यं प्रेतकर्मण्यपातिते।
त्रिषु त्वेतेषु पूर्वेषु न कुर्वीत विचारणाम् ॥ ३९ ॥

पूर्वोक्त (शराबी, ब्रह्महत्यारा और गुरुपत्नीगामी) तीन पापियोंके मरनेपर उनकी दाहादिक क्रिया किये बिना ही कुटुम्बीजनोंको उनके अन्न और धनपर अधिकार कर लेना चाहिये। इसमें कुछ अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३९ ॥

अमात्यान् वा गुरून् वापि जह्याद् धर्मेण धार्मिकः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणैनैतैरर्हति संविदम् ॥ ४० ॥

धार्मिक राजा अपने मन्त्री और गुरुजनोंको भी पतित हो जानेपर धर्मानुसार त्याग दे और जबतक ये अपने पापोंका प्रायश्चित्त न कर लें, तबतक इनके साथ बातचीत न करे ॥ ४० ॥

अधर्मकारी धर्मेण तपसा हन्ति किल्बिषम्।
ब्रुवन् स्तेन इति स्तेनं तावत् प्राप्नोति किल्बिषम् ॥ ४१ ॥

पापाचारी मनुष्य यदि धर्माचरण और तपस्या करे तो अपने पापको नष्ट कर देता है। चोरको 'यह चोर है' ऐसा कह देनेमात्रसे चोरके बराबर पापका भागी होना पड़ता है ॥

अस्तेनं स्तेन इत्युक्त्वा द्विगुणं पापमाप्नुयात्।
त्रिभागं ब्रह्महत्यायाः कन्या प्राप्नोति दुष्यती ॥ ४२ ॥

जो चोर नहीं है, उसको चोर कह देनेसे मनुष्यको चोरसे दूना पाप लगता है। कुमारी कन्या यदि अपनी इच्छासे चरित्रभ्रष्ट हो जाय तो उसे ब्रह्महत्याका तीन चौथाई पाप भोगना पड़ता है ॥ ४२ ॥

यस्तु दूषयिता तस्याः शेषं प्राप्नोति पाप्मनः।
ब्राह्मणानवगर्ह्येह स्पृष्ट्वा गुरुतरं भवेत् ॥ ४३ ॥

और जो उसे कलंकित करनेवाला पुरुष है, वह शेष एक चौथाई पापका भागी होता है। इस जगत्में ब्राह्मणोंको गाली देकर या उन्हें तिरस्कारपूर्वक धक्के देकर हटानेसे मनुष्यको बड़ा भारी पाप लगता है ॥ ४३ ॥

वर्षाणां हि शतं तावत् प्रतिष्ठां नाधिगच्छति।
सहस्रं चैव वर्षाणां निपत्य नरकं वसेत् ॥ ४४ ॥

सौ वर्षोंतक तो उसे प्रेतकी भाँति भटकना पड़ता है, कहीं भी ठहरनेके लिये ठौर नहीं मिलता। फिर एक हजार वर्षोंतक उसे नरकमें गिरकर रहना पड़ता है ॥ ४४ ॥

तस्मान्नैवावगर्ह्येत नैव जातु निपातयेत्।
शोणितं यावतः पांसून् संगृह्णीयाद् द्विजक्षतात् ॥ ४५ ॥
तावतीः स समा राजन् नरके प्रतिपद्यते।

अतः न ब्राह्मणको गाली दे और न उसे कभी धरतीपर गिरावे। राजन्! ब्राह्मणके शरीरमें घाव हो जानेपर उससे निकला हुआ रक्त धूलके जितने कणोंको भिगोता है, उसे चोट पहुँचानेवाला मनुष्य उतने ही वर्षोंतक नरकमें पड़ा रहता है ॥ ४५½ ॥

भ्रूणहाऽऽहवमध्ये तु शुद्ध्यते शस्त्रपाततः ॥ ४६ ॥
आत्मानं जुहुयादग्नौ समिद्धे तेन शुद्ध्यते।

गर्भके बच्चेकी हत्या करनेवाला यदि युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे मर जाय तो उसकी शुद्धि हो जाती है अथवा प्रज्वलित अग्निमें कूदकर अपने आपको होम दे तो वह शुद्ध हो जाता है ॥ ४६½ ॥

सुरापो वारुणीमुष्णां पीत्वा पापाद् विमुच्यते॥ ४७ ॥
तया स काये निर्दग्धे मृत्युं वा प्राप्य शुद्ध्यति।
लोकांश्च लभते विप्रो नान्यथा लभते हि सः ॥ ४८ ॥

मदिरा पीनेवाला पुरुष यदि मदिराको खूब गरम करके पी ले तो पापसे छुटकारा पा जाता है, अथवा उससे शरीर जल जानेके कारण उसकी मृत्यु हो जाय तो वह शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध हो जानेपर ही वह ब्राह्मण शुद्ध लोकोंको प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ४७-४८ ॥

गुरुतल्पमधिष्ठाय दुरात्मा पापचेतनः।
स्त्र्याकारां प्रतिमां लिंग्य मृत्युना सोऽभिशुद्ध्यति ॥

पापपूर्ण विचार रखनेवाला दुरात्मा पुरुष यदि गुरुपत्नी-गमनका पाप कर बैठे तो वह लोहेकी गरम की हुई नारी-प्रतिमाका आलिङ्गन करके प्राण दे देनेपर ही उस पापसे शुद्ध होता है ॥ ४९ ॥

अथवा शिश्नवृषणावादायाञ्जलिना स्वयम् ॥५०॥
नैर्ऋतीं दिशमास्थाय निपतेत् स त्वजिह्मगः।
ब्राह्मणार्थेऽपि वा प्राणान् संत्यजेत् तेन शुद्ध्यति॥५१॥

अथवा अपने शिश्न और अण्डकोषको स्वयं ही काटकर अञ्जलिमें ले सीधे नैर्ऋत्यदिशाकी ओर जाता हुआ गिर पड़े या ब्राह्मणके लिये प्राणोंका परित्याग कर दे तो शुद्ध हो जाता है॥

अश्वमेधेन वापीष्ट्वा अथवा गोसवेन वा।
अग्निष्टोमेन वा सम्यगिह प्रेत्य च पूज्यते ॥ ५२ ॥

अथवा अश्वमेधयज्ञ, गोसव नामक यज्ञ या अग्निष्टोम यज्ञके द्वारा भलीभाँति यजन करके वह इहलोक तथा परलोकमें पूजित होता है ॥ ५२ ॥

तथैव द्वादशसमाः कपाली ब्रह्महा भवेत्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यं स्वकर्म ख्यापयन् मुनिः ॥ ५३ ॥
एवं वा तपसा युक्तो ब्रह्महा सवनी भवेत्।

ब्रह्महत्या करनेवाला मनुष्य उस मरे हुए ब्राह्मणकी खोपड़ी लेकर अपना पापकर्म लोगोंको सुनाता रहे और बारह वर्षोंतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए सबेरे, शाम तथा दोपहर तीनों समय स्नान करे। इस प्रकार वह तपस्यामें संलग्न रहे। इससे उसकी शुद्धि हो जाती है ॥ ५३½ ॥

एवं तु समभिज्ञातामात्रेयीं वा निपातयेत् ॥ ५४ ॥
द्विगुणा ब्रह्महत्या वै आत्रेयीनिधने भवेत्।

इसी तरह जो जान-बूझकर गर्भिणी स्त्रीकी हत्या करता है, उसे उस गर्भिणी-वधके कारण दो ब्रह्महत्याओंका पाप लगता है॥

सुरापो नियताहारो ब्रह्मचारी क्षितीशयः ॥ ५५ ॥
ऊर्ध्वं त्रिभ्योऽपि वर्षेभ्यो यजेताग्निष्टुता परम्।
ऋषभैकसहस्रं वा गा दत्त्वा शौचमाप्नुयात् ॥ ५६ ॥

मदिरा पीनेवाला मनुष्य मिताहारी और ब्रह्मचारी होकर पृथ्वीपर शयन करे। इस तरह तीन वर्षोंतक रहनेके बाद 'अग्निष्टोम' यज्ञ करे। तत्पश्चात् एक हजार बैल या इतनी ही गौएँ ब्राह्मणोंको दान दे तो वह शुद्ध हो जाता है ॥५५-५६॥

वैश्यं हत्वा तु वर्षे द्वे ऋषभैकशतं च गाः।
शूद्रं हत्वाब्दमेवैकमृषभं च शतं च गाः ॥ ५७ ॥

यदि वैश्यकी हत्या कर दे तो दो वर्षोंतक पूर्वोक्त नियमसे रहनेके बाद एक सौ बैल और एक सौ गौओंका दान करे तथा शूद्रकी हत्या कर देनेपर हत्यारेको एक वर्षतक पूर्वोक्त नियमसे रहकर एक बैल और सौ गौओंका दान करना चाहिये ॥ ५७ ॥

श्ववराहखरान् हत्वा शौद्रमेव व्रतं चरेत्।
मार्जारचाषमण्डूकान् काकं व्यालं च मूषिकम्॥ ५८ ॥
उक्तः पशुसमो दोषो राजन् प्राणिनिपातनात्।

कुत्ते, सूअर और गदहोंकी हत्या करके मनुष्य शूद्रवध-सम्बन्धी व्रतका ही आचरण करे। राजन्! बिल्ली, नीलकण्ठ, मेढक, कौआ, साँप और चूहा आदि प्राणियोंको मारनेसे भी उक्त पशुवधके ही समान पाप बताया गया है ॥ ५८½ ॥

प्रायश्चित्तान्यथान्यानि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ५९ ॥
अल्पे वाप्यथ शोचेत पृथक् संवत्सरं चरेत्।
त्रीणि श्रोत्रियभार्यायां परदारे च द्वे स्मृते ॥ ६० ॥
काले चतुर्थे भुञ्जानो ब्रह्मचारी व्रती भवेत्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत् त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः।
एवमेव निराकर्ता यश्चाग्नीनपविध्यति ॥ ६१ ॥

अब दूसरे प्रायश्चित्तोंका भी क्रमशः वर्णन करता हूँ। अनजानमें कीड़ों-मकोड़ोंका वध आदि छोटा पाप हो जाय तो उसके लिये पश्चात्ताप करे। इतनेहीसे उसकी शुद्धि हो जाती है। गोवधके सिवा अन्य जितने उपपातक हैं, उनमेंसे प्रत्येकके लिये एक-एक वर्षतक व्रतका आचरण करे। श्रोत्रियकी पत्नीसे व्यभिचार करनेपर तीन वर्षतक और अन्य परस्त्रियोंसे समागम करनेपर दो वर्षोंतक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए दिनके चौथे पहरमें एक बार भोजन करे। अपने लिये पृथक् स्थान और आसनकी व्यवस्था रखते हुए घूमता रहे। दिनमें तीन बार जलसे स्नान करे। ऐसा करनेसे ही वह अपने उपर्युक्त पापोंका निवारण कर सकता है। जो अग्निको भ्रष्ट करता है, उसके लिये भी यही प्रायश्चित्त है ॥ ५९-६१ ॥

त्यजत्यकारणे यश्च पितरं मातरं गुरुम्।
पतितः स्यात्स कौरव्य यथा धर्मेषु निश्चयः ॥ ६२ ॥
ग्रासाच्छादनमात्रं तु दद्यादिति निदर्शनम्।
(ब्रह्मचारी द्विजेभ्यश्च दत्त्वा पापात् प्रमुच्यते।)

कुरुनन्दन! जो अकारण ही पिता, माता और गुरुका परित्याग करता है, वह पतित हो जाता है। उसे केवल अन्न और वस्त्र दे और पैतृकसम्पत्तिसे वञ्चित कर दे। वह ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए ब्राह्मणोंको दान दे (और पिता-माता आदिका पूर्ववत् आदर करने लगे) तो उस पापसे मुक्त हो जाता है, यही धर्मशास्त्रोंका निर्णय है ॥ ६२½ ॥

भार्यायां व्यभिचारिण्यां निरुद्धायां विशेषतः ।
यत् पुंसः परदारेषु तदेनां चारयेद् व्रतम् ॥ ६३ ॥

यदि पत्नीने व्यभिचार किया हो और विशेषतः इस कार्यमें पकड़ ली गयी हो तो परायी स्त्रीसे व्यभिचार करनेवाले पुरुषके लिये जो प्रायश्चित्तरूप व्रत बताया गया है, वही उससे भी करावे ॥ ६३ ॥

श्रेयांसं शयनं हित्वा यान्यं पापं निगच्छति ।
श्वभिस्तामर्दयेद् राजा संस्थाने बहुविस्तरे ॥ ६४ ॥

जो अपने श्रेष्ठ पतिको छोड़कर अन्य पापीकी शय्यापर जाती है, उस कुलटाको अत्यन्त विस्तृत मैदानमें खड़ी करके राजा कुत्तोंसे नोचवा डाले ॥ ६४ ॥

पुमांसमुन्नयेत् प्राज्ञः शयने तप्त आयसे ।
अप्यादधीत दारूणि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ६५ ॥
एष दण्डो महाराज स्त्रीणां भर्तृव्यतिक्रमात् ।
संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो भवेत् ॥ ६६ ॥
द्वे तस्य त्रीणि वर्षाणि चत्वारि सहसेविनि ।
कुचरः पञ्चवर्षाणि चरेद् भैक्ष्यं मुनिव्रतः ॥ ६७ ॥

इसी तरह व्यभिचारी पुरुषको बुद्धिमान् राजा लोहेकी तपायी हुई खाटपर सुलाकर ऊपरसे लकड़ी रख दे और आग लगा दे, जिससे वह पापी उसीमें जलकर भस्म हो जाय। महाराज ! पतिकी अवहेलना करके परपुरुषोंसे व्यभिचार करनेवाली स्त्रियोंके लिये भी यही दण्ड है, उपर्युक्त कहे हुएमें जिन दुष्टोंके लिये प्रायश्चित्त बताया है, उनके लिये यह भी विधान है कि एक वर्षके भीतर प्रायश्चित्त न करनेपर दुष्ट पुरुषको दूना दण्ड प्राप्त होना चाहिये। जो मनुष्य दो, तीन, चार या पाँच वर्षोंतक उस पतित पुरुषके संसर्गमें रहे, वह मुनिजनोचित व्रत धारण करके उतने ही वर्षोंतक पृथ्वीपर घूमता हुआ भिक्षावृत्तिसे जीवन-निर्वाह करे ॥ ६५–६७ ॥

परिवित्तिः परिवेत्ता या चैव परिविद्यते ।
पाणिग्रहास्त्वधर्मेण सर्वे ते पतिताः स्मृताः ॥ ६८ ॥

ज्येष्ठ भाईका विवाह होनेसे पहले ही यदि छोटा भाई अधर्मपूर्वक विवाह कर ले तो ज्येष्ठको 'परिवित्ति' कहते हैं। छोटे भाईको 'परिवेत्ता' कहते हैं और उसकी पत्नीको जिसका परिवेदन (ग्रहण) किया जाता है, परिवेदनीया कहते हैं, ये सबके सब पतित माने गये हैं ॥ ६८ ॥

चरेयुः सर्व एवैते वीरहा यद् व्रतं चरेत् ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं कृच्छ्रं वा पापशुद्धये ॥ ६९ ॥

इन तीनोंको पृथक्-पृथक् अपनी शुद्धिके लिये उसी व्रतका आचरण करना चाहिये, जो यज्ञहीन ब्राह्मणके लिये बताया गया है अथवा एक मासतक चान्द्रायण या कृच्छ्रचान्द्रायण व्रत करे ॥ ६९ ॥

परिवेत्ता प्रयच्छेत तां स्नुषां परिवित्तये ।
ज्येष्ठेन त्वभ्यनुज्ञातो यवीयानप्यनन्तरम् ।
एवं च मोक्षमाप्नोति तौ च सा चैव धर्मतः ॥ ७० ॥

परिवेत्ता पुरुष उस नववधूको पतोहूके रूपमें ज्येष्ठ भाईको सौंप दे और ज्येष्ठ भाईकी आज्ञा मिलनेपर छोटा भाई उसे पत्नीरूपमें ग्रहण करे। ऐसा करनेपर वे तीनों धर्मके अनुसार पापसे छुटकारा पाते हैं ॥ ७० ॥

अमानुषीषु गोवर्ज्यमनावृष्टिर्न दुष्यति ।
अधिष्ठात्रवमन्तारं पशूनां पुरुषं विदुः ॥ ७१ ॥

पशु जातियोंमें गौओंको छोड़कर अन्य किसीकी अनजानमें हिंसा हो जाय तो वह दोषावह नहीं मानी जाती; क्योंकि मनुष्यको पशुओंका अधिष्ठाता एवं पालक माना गया है ॥ ७१ ॥

परिधायोर्ध्ववालं तु पात्रमादाय मृन्मयम् ।
चरेत् सप्तगृहान्नित्यं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ ७२ ॥
तत्रैव लब्धभोजी स्याद् द्वादशाहात्स शुद्ध्यति ।
चरेत् संवत्सरं चापि तद् व्रतं येन कृन्तति ॥ ७३ ॥

गोवध करनेवाला पापी उस गायकी पूँछको इस प्रकार धारण करे कि उसका बाल ऊपरकी ओर रहे। फिर मिट्टीका पात्र हाथमें लेकर प्रतिदिन सात घरोंमें भिक्षा माँगे और अपने पापकर्मकी बात कहकर लोगोंको सुनाता रहे। उन्हीं सात घरोंकी भिक्षामें जो अन्न मिल जाय, वही खाकर रहे। ऐसा करनेसे वह बारह दिनोंमें शुद्ध हो जाता है। यदि पाप अधिक हो तो एक वर्षतक उस व्रतका अनुष्ठान करे, जिससे वह अपने पापको नष्ट कर देता है ॥ ७२-७३ ॥

भवेत्तु मानुषेष्वेवं प्रायश्चित्तमनुत्तमम् ।
दानं वा दानशक्तेषु सर्वमेतत् प्रकल्पयेत् ॥ ७४ ॥

इस प्रकार मनुष्योंके लिये परम उत्तम प्रायश्चित्तका विधान है। उनमें जो दान करनेमें समर्थ हों, उनके लिये दानकी भी विधि है। यह सब प्रायश्चित्त विचारपूर्वक करना चाहिये ॥ ७४ ॥

अनास्तिकेषु गोमात्रं दानमेकं प्रचक्षते ।
श्ववराहमनुष्याणां कुक्कुटस्य खरस्य च ॥ ७५ ॥
मांसं मूत्रं पुरीषं च प्राश्य संस्कारमर्हति ।

अनास्तिक पुरुषोंके लिये एक गोदानमात्र ही प्रायश्चित्त बतलाया गया है। कुत्ते, सूअर, मनुष्य, मुर्गे और गदहेके मांस और मल-मूत्र खा लेनेपर द्विजका पुनः संस्कार होना चाहिये ॥ ७५½ ॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमादाय सोमपः ॥ ७६ ॥
अपस्त्र्यहं पिबेदुष्णं त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत् ।
त्र्यहमुष्णं पयः पीत्वा वायुभक्षो भवेत् त्र्यहम् ॥ ७७ ॥

सोमपान करनेवाला ब्राह्मण यदि किसी शराबीकी गन्ध भी सूँघ ले तो वह तीन दिनोंतक गरम जल पीकर रहे, फिर तीन दिन गरम दूध पीये। तीन दिन गरम दूध पीनेके बाद तीन दिनतक केवल वायु पीकर रहे। इससे वह शुद्ध हो जाता है ॥ ७६-७७ ॥

एवमेतत् समुद्दिष्टं प्रायश्चित्तं सनातनम् ।

ब्राह्मणस्य विशेषेण यदज्ञानेन सम्भवेत् ॥ ७८ ॥

इस प्रकार यह सनातन प्रायश्चित्त सबके लिये बताया गया है। ब्राह्मणके लिये इसका विशेषरूपसे विधान है। अनजानमें जो पाप बन जाय, उसीके लिये प्रायश्चित्त है॥७८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि प्रायश्चित्तीये पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पापोंके प्रायश्चित्तकी विधिविषयक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७८½ श्लोक हैं)

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

खड्गकी उत्पत्ति और प्राप्तिकी परम्पराकी महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

कथान्तरमथासाद्य खड्गयुद्धविशारदः।
नकुलः शरतल्पस्थमिदमाह पितामहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कथाप्रसङ्गकी समाप्तिके समय अवसर पाकर खड्गयुद्धविशारद नकुलने बाणशय्यापर सोये हुए पितामह भीष्मसे इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

नकुल उवाच

धनुः प्रहरणं श्रेष्ठमतीवात्र पितामह।
मतस्तु मम धर्मज्ञ खड्ग एव सुसंशितः ॥ २ ॥

नकुल बोले—धर्मज्ञ पितामह ! यद्यपि इस जगत्‌में धनुष अत्यन्त श्रेष्ठ अस्त्र समझा जाता है, तथापि मुझे तो अत्यन्त तीखा खड्ग ही अच्छा जान पड़ता है ॥ २ ॥

विशीर्णे कार्मुके राजन् प्रक्षीणेषु च वाजिषु।
खड्गेन शक्यते युद्धे साध्वात्मा परिरक्षितुम् ॥ ३ ॥

राजन् ! जब धनुष टूट जाय और घोड़े भी नष्ट हो जायँ तब भी युद्धस्थलमें खड्गके द्वारा अपने शरीरकी भलीभाँति रक्षा की जा सकती है ॥ ३ ॥

शरासनधरांश्चैव गदाशक्तिधरांस्तथा।
एकः खड्गधरो वीरः समर्थः प्रतिबाधितुम् ॥ ४ ॥

एक ही खड्गधारी वीर धनुष, गदा और शक्ति धारण करनेवाले बहुत-से योद्धाओंको बाधा देनेमें समर्थ है ॥ ४ ॥

अत्र मे संशयश्चैव कौतूहलमतीव च।
किंस्वित् प्रहरणं श्रेष्ठं सर्वयुद्धेषु पार्थिव ॥ ५ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस विषयमें मेरे मनमें संशय और अत्यन्त कौतूहल भी हो रहा है कि सम्पूर्ण युद्धोंमें कौन-सा आयुध श्रेष्ठ है ?॥ ५ ॥

कथं चोत्पादितः खड्गः कस्मै चार्थाय केन च।
पूर्वाचार्यं च खड्गस्य प्रब्रूहि प्रपितामह ॥ ६ ॥

पितामह ! खड्गकी उत्पत्ति कैसे और किस प्रयोजनके लिये हुई ? किसने इसे उत्पन्न किया ? खड्गयुद्धका प्रथम आचार्य कौन था ? यह सब मुझे बताइये ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा माद्रीपुत्रस्य धीमतः।
स तु कौशलसंयुक्तं सूक्ष्मचित्रार्थसम्मतम् ॥ ७ ॥
ततस्तस्योत्तरं वाक्यं स्वरवर्णोपपादितम्।
शिक्षया चोपपन्नाय द्रोणशिष्याय भारत ॥ ८ ॥
उवाच स तु धर्मज्ञो धनुर्वेदस्य पारगः।
शरतल्पगतो भीष्मो नकुलाय महात्मने ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! जनमेजय ! बुद्धिमान् माद्रीपुत्र नकुलकी वह बात कौशलयुक्त तो थी ही, सूक्ष्म तथा विचित्र अर्थसे भी सम्पन्न थी। उसे सुनकर बाणशय्यापर सोये हुए धनुर्वेदके पारङ्गत विद्वान् धर्मज्ञ भीष्मने शिक्षाप्राप्त महामनस्वी द्रोणशिष्य नकुलको सुन्दर स्वर एवं वर्णोंसे युक्त वाणीमें इस प्रकार उत्तर देना आरम्भ किया ॥ ७–९ ॥

भीष्म उवाच

तत्त्वं शृणुष्व माद्रेय यदेतत् परिपृच्छसि।
प्रबोधितोऽस्मि भवता धातुमानिव पर्वतः ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—माद्रीनन्दन ! तुम जो यह प्रश्न कर रहे हो, इसका तत्त्व सुनो। मैं तो खूनसे लथपथ हो गेरूधातुसे रँगे हुए पर्वतके समान पड़ा हुआ था। तुमने यह प्रश्न करके मुझे जगा दिया ॥ १० ॥

सलिलैकार्णवं तात पुरा सर्वमभूदिदम्।
निष्प्रकम्पमनाकाशमनिर्देश्यमहीतलम् ॥ ११ ॥

तात ! पूर्वकालमें यह सम्पूर्ण जगत् जलके एकमात्र महासागरके रूपमें था। उस समय इसमें कम्पन नहीं था। आकाशका पता नहीं था। भूतलका कहीं नाम भी नहीं था॥११॥

तमसाऽऽवृतमस्पर्शमतिगम्भीरदर्शनम्।
निःशब्दं चाप्रमेयं च तत्र जज्ञे पितामहः ॥ १२ ॥

सब कुछ अन्धकारसे आवृत था। शब्द और स्पर्शका भी अनुभव नहीं होता था। वह एकार्णव देखनेमें बड़ा गम्भीर था। उसकी कहीं सीमा नहीं थी, उसीमें पितामह ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १२ ॥

सोऽसृजद् वातमग्निं च भास्करं चापि वीर्यवान्।
आकाशमसृजच्चोर्ध्वमधो भूमिं च नैर्ऋतीम् ॥ १३॥

उन शक्तिशाली पितामहने वायु, अग्नि और सूर्यकी सृष्टि की। आकाश, ऊपर, नीचे, भूमि तथा राक्षससमूहकी भी रचना की ॥ १३ ॥

नभः सचन्द्रतारं च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
संवत्सरानृतून् मासान् पक्षानथ लवान् क्षणान् ।१४।

चन्द्रमा तथा तारोंसहित आकाश, नक्षत्र, ग्रह, संवत्सर,

ऋतु, मास, पक्ष, लव और क्षणोंकी सृष्टि भी उन्होंने ही की ॥ १४ ॥

ततः शरीरं लोकस्थं स्थापयित्वा पितामहः ।
जनयामास भगवान् पुत्रानुत्तमतेजसः ॥ १५ ॥
मरीचिमृषिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
वसिष्ठाङ्गिरसौ चोभौ रुद्रं च प्रभुमीश्वरम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर भगवान् ब्रह्माने लौकिक शरीर धारण करके मुनिवर मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, अङ्गिरा तथा स्वभाव एवं ऐश्वर्यसे सम्पन्न रुद्र—इन तेजस्वी पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ १५-१६ ॥

प्राचेतसस्तथा दक्षः कन्याःषष्टिमजीजनत् ।
ता वै ब्रह्मर्षयः सर्वाः प्रजार्थं प्रतिपेदिरे ॥ १७ ॥

प्रचेताओंके पुत्र दक्षने साठ कन्याओंको जन्म दिया । उन सबको प्रजाकी उत्पत्तिके लिये ब्रह्मर्षियोंने पत्नीरूपमें प्राप्त किया ॥ १७ ॥

ताभ्यो विश्वानि भूतानि देवाः पितृगणास्तथा ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव रक्षांसि विविधानि च ॥ १८ ॥
पतत्रिमृगमीनाश्च प्लवङ्गाश्च महोरगाः ।
तथा पक्षिगणाः सर्वे जलस्थलविचारिणः ॥ १९ ॥
उद्भिदः स्वेदजाश्चैव साण्डजाश्च जरायुजाः ।
जज्ञे तात जगत् सर्वं तथा स्थावरजङ्गमम् ॥ २० ॥

उन्हीं कन्याओंसे समस्त प्राणी, देवता, पितर, गन्धर्व, अप्सरा, नाना प्रकारके राक्षस, पशु, पक्षी, मत्स्य, वानर, बड़े-बड़े नाग, जल और स्थलमें विचरनेवाले सब प्रकारके पक्षिगण, उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज प्राणी उत्पन्न हुए । तात ! इस प्रकार सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत् उत्पन्न हुआ॥ १८–२० ॥

भूतसर्गमिमं कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
शाश्वतं वेदपठितं धर्मं प्रयुयुजे ततः ॥ २१ ॥

सर्वलोकपितामह ब्रह्माने इन समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करके उनके ऊपर वेदोक्त सनातनधर्मके पालनका भार रक्खा ॥ २१ ॥

तस्मिन् धर्मे स्थिता देवाः सहाचार्यपुरोहिताः ।
आदित्या वसवो रुद्राः ससाध्या मरुदश्विनः ॥२२॥

आचार्य और पुरोहितगणोंसहित देवता, आदित्य, वसुगण, रुद्रगण, साध्यगण, मरुद्गण तथा अश्विनीकुमार—ये सभी उस सनातन धर्ममें प्रतिष्ठित हुए ॥ २२ ॥

भृग्वत्र्यङ्गिरसः सिद्धाः काश्यपाश्च तपोधनाः ।
वसिष्ठगौतमागस्त्यास्तथा नारदपर्वतौ ॥ २३ ॥
ऋषयो वालखिल्याश्च प्रभासाः सिकतास्तथा ।
घृतपाः सोमवायव्या वैश्वानरमरीचिपाः ॥ २४ ॥
अकृष्टाश्चैव हंसाश्च ऋषयो वाग्नियोनयः ।
वानप्रस्थाः पृश्नयश्च स्थिता ब्रह्मानुशासने ॥ २५ ॥

भृगु, अत्रि और अङ्गिरा—ये सिद्ध मुनि, तपस्याके धनी काश्यपगण, वसिष्ठ, गौतम, अगस्त्य, देवर्षि नारद, पर्वत, वालखिल्य ऋषि, प्रभास, सिकत, घृतप (घी पीकर रहनेवाले), सोमप (सोमपान करनेवाले), वायव्य (वायु पीकर रहनेवाले), मरीचिप (सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले) और वैश्वानर तथा अकृष्ट (बिना जोते-बोये उत्पन्न हुए अन्नसे जीविका चलानेवाले), हंसमुनि (संन्यासी), अग्निसे उत्पन्न होनेवाले ऋषिगण, वानप्रस्थ और पृश्निगण—ये सभी महात्मा ब्रह्माजीकी आज्ञाके अधीन रहकर सनातनधर्मका पालन करने लगे ॥ २३–२५ ॥

दानवेन्द्रास्त्वतिक्रम्य तत् पितामहशासनम् ।
धर्मस्यापचयं चक्रुः क्रोधलोभसमन्विताः ॥ २६ ॥

परंतु दानवेश्वरोंने क्रोध और लोभसे युक्त हो ब्रह्माजीकी उस आज्ञाका उल्लङ्घन करके धर्मको हानि पहुँचाना आरम्भ किया ॥ २६ ॥

हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षो विरोचनः ।
शम्बरो विप्रचित्तिश्च विराधो नमुचिर्बलिः ॥ २७ ॥
एते चान्ये च बहवः सगणा दैत्यदानवाः ।
धर्मसेतुमतिक्रम्य रेमिरेऽधर्मनिश्चयाः ॥ २८ ॥

हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, विरोचन, शम्बर, विप्रचित्ति, विराध, नमुचि और बलि—ये तथा और भी बहुत-से दैत्य और दानव अपने दलके साथ धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करके अधर्म करनेका ही दृढ़ निश्चय लेकर आमोद-प्रमोदमें जीवन व्यतीत करने लगे ॥ २७-२८ ॥

सर्वे तुल्याभिजातीया यथा देवास्तथा वयम् ।
इत्येवं धर्ममास्थाय स्पर्धमानाः सुरर्षिभिः ॥ २९ ॥

वे सभी दैत्य कहते थे कि 'हम और देवता एक ही जातिके हैं; अतः जैसे देवता हैं, वैसे हम हैं ।' इस प्रकार जातीय धर्मका आश्रय लेकर दैत्यगण देवर्षियोंके साथ स्पर्धा रखने लगे ॥ २९ ॥

न प्रियं नाप्यनुक्रोशं चक्रुर्भूतेषु भारत ।
त्रीनुपायानतिक्रम्य दण्डेन रुरुधुः प्रजाः ॥ ३० ॥

भरतनन्दन ! वे न तो प्राणियोंका प्रिय करते थे और न उनपर दयाभाव ही रखते थे । वे साम, दाम और भेद—इन तीनों उपायोंको लाँघकर केवल दण्डके द्वारा समस्त प्रजाओंको पीड़ा देने लगे ॥ ३० ॥

न जग्मुः संविदं तैश्च दर्पादसुरसत्तमाः ।
अथ वै भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मर्षिभिरुपस्थितः ॥ ३१ ॥
तदा हिमवतः शृङ्गे सुरम्ये पद्मतारके ।
शतयोजनविस्तारे मणिरत्नचयाचिते ॥ ३२ ॥

वे असुरश्रेष्ठ घमण्डमें भरकर उन प्रजाओंके साथ बातचीत भी नहीं करते थे । तदनन्तर ब्रह्मर्षियोंसहित भगवान् ब्रह्मा हिमालयके सुरम्य शिखरपर उपस्थित हुए । वह इतना ऊँचा था कि आकाशके तारे उसपर विकसित कमलके समान जान पड़ते थे । उसका विस्तार सौ योजनका

था ! वह मणियों तथा रत्नसमूहोंसे व्याप्त था ॥ ३१-३२ ॥

तस्मिन् गिरिवरे पुत्र पुष्पितद्रुमकानने ।
तस्थौ स विबुधश्रेष्ठो ब्रह्मा लोकार्थसिद्धये ॥ ३३ ॥

बेटा नकुल ! जहाँके वृक्ष और वन फूलोंसे भरे हुए थे, उस श्रेष्ठ पर्वतशिखरपर सुरश्रेष्ठ ब्रह्माजी सम्पूर्ण जगत्का कार्य सिद्ध करनेके लिये ठहर गये ॥ ३३ ॥

ततो वर्षसहस्रान्ते वितानमकरोत् प्रभुः ।
विधिना कल्पदृष्टेन यथावच्चोपपादितम् ॥ ३४ ॥
ऋषिभिर्यज्ञपटुभिर्यथावत् कर्मकर्तृभिः ।
समिद्भिः परिसंकीर्णं दीप्यमानैश्च पावकैः ॥ ३५ ॥
काञ्चनैर्यज्ञभाण्डैश्च भ्राजिष्णुभिरलंकृतम् ।
वृतं देवगणैश्चैव प्रवरैर्यज्ञमण्डलम् ॥ ३६ ॥
तथा ब्रह्मर्षिभिश्चैव सदस्यैरुपशोभितम् ।

तदनन्तर कई सहस्र वर्ष व्यतीत होनेपर भगवान् ब्रह्माने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार वहाँ एक यज्ञ आरम्भ किया । यज्ञकुशल महर्षियों तथा अन्य कार्यकर्ताओंने यथावत् विधिके अनुसार उस यज्ञका सम्पादन किया । वहाँ यज्ञवेदियोंपर समिधाएँ फैली हुई थीं । जगह-जगह अग्निदेव प्रज्वलित हो रहे थे । चमचमाते हुए सुवर्णनिर्मित यज्ञपात्र यज्ञमण्डपकी शोभा बढ़ाते थे । वह यज्ञमण्डल श्रेष्ठ देवताओं तथा सभासद् बने हुए महर्षियोंसे सुशोभित होता था ॥ ३४–३६½ ॥

तत्र घोरतमं वृत्तमृषीणां मे परिश्रुतम् ॥ ३७ ॥
चन्द्रमा विमलं व्योम यथाभ्युदिततारकम् ।
विकीर्याग्निं तथा भूतमुत्थितं श्रूयते तदा ॥ ३८ ॥

उस समय वहाँ एक अत्यन्त भयंकर घटना घटित हुई, जिसे मैंने ऋषियोंके मुँहसे सुना था । जैसे ताराओंके उगनेपर निर्मल आकाशमें चन्द्रमाका उदय हो, उसी प्रकार उस यज्ञ-मण्डपमें अग्निको इधर-उधर बिखेरकर एक भयंकर भूत प्रकट हुआ, ऐसा सुना जाता है ॥ ३७-३८ ॥

नीलोत्पलसवर्णाभं तीक्ष्णदंष्ट्रं कृशोदरम् ।
प्रांशुं सुदुर्धर्षतरं तथैव ह्यमितौजसम् ॥ ३९ ॥

उसके शरीरका रंग नीलकमलके समान श्याम था, दाढ़ें अत्यन्त तीखी दिखायी देती थीं और उसका पेट अत्यन्त कृश था । वह बहुत ऊँचा, परम दुर्धर्ष और अमित तेजस्वी जान पड़ता था ॥ ३९ ॥

तस्मिन्नुत्पतमाने च प्रचचाल वसुन्धरा ।
महोर्मिकलितावर्तश्चुक्षुभे स महोदधिः ॥ ४० ॥

उसके उत्पन्न होते ही धरती डोलने लगी, समुद्र क्षुब्ध हो उठा और उसमें उत्ताल तरंगोंके साथ भँवरें उठने लगीं ॥

पेतुरुल्का महोत्पाताः शाखाश्च मुमुचुर्द्रुमाः ।
अप्रशान्ता दिशः सर्वाः पवनश्चाशिवो ववौ ॥ ४१ ॥

आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं, बड़े-बड़े उत्पात प्रकट होने लगे, वृक्ष स्वयं ही अपनी शाखाओंको गिराने लगे, सम्पूर्ण दिशाएँ अशान्त हो गयीं और अमङ्गलकारी वायु प्रचण्ड वेगसे बहने लगी ॥ ४१ ॥

मुहुर्मुहुश्च भूतानि प्राव्यथन्त भयात् तथा ।
ततः स तुमुलं दृष्ट्वा तं च भूतमुपस्थितम् ॥ ४२ ॥
महर्षिसुरगन्धर्वानुवाचेदं पितामहः ।

सभी प्राणी भयके मारे बारंबार व्यथित हो उठते थे । उस भयानक भूतको उपस्थित हुआ देख पितामह ब्रह्माने महर्षियों, देवताओं तथा गन्धर्वोंसे कहा— ॥ ४२½ ॥

मयैवं चिन्तितं भूतमसिर्नामैष वीर्यवान् ॥ ४३ ॥
रक्षणार्थाय लोकस्य वधाय च सुरद्विषाम् ।

'मैंने ही इस भूतका चिन्तन किया था । यह असि नामधारी प्रबल आयुध है । इसे मैंने सम्पूर्ण जगत्की रक्षा तथा देव-द्रोही असुरोंके वधके लिये प्रकट किया है' ॥ ४३½ ॥

ततस्तद् रूपमुत्सृज्य बभौ निस्त्रिंश एव सः ॥ ४४ ॥
विमलस्तीक्ष्णधारश्च कालान्तक इवोद्यतः ।

तत्पश्चात् वह भूत उस रूपको त्यागकर तीस अङ्गुलसे कुछ बड़े खड्गके रूपमें प्रकाशित होने लगा । उसकी धार बड़ी तीखी थी । वह चमचमाता हुआ खड्ग काल और अन्तकके समान उद्यत प्रतीत होता था ॥ ४४½ ॥

ततः स शितिकण्ठाय रुद्रायार्षभकेतवे ॥ ४५ ॥
ब्रह्मा ददावसिं तीक्ष्णमधर्मप्रतिवारणम् ।

इसके बाद ब्रह्माजीने अधर्मका निवारण करनेमें समर्थ वह तीखी तलवार वृषभचिह्नित ध्वजावाले नीलकण्ठ भगवान् रुद्रको दे दी ॥ ४५½ ॥

ततः स भगवान् रुद्रो महर्षिजनसंस्तुतः ॥ ४६ ॥
प्रगृह्यासिममेयात्मा रूपमन्यच्चकार ह ।
चतुर्बाहुः स्पृशन् मूर्ध्ना भूस्थितोऽपि दिवाकरम् ४७

उस समय महर्षिगण रुद्रदेवकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे । तब अप्रमेयस्वरूप भगवान् रुद्रने वह तलवार लेकर एक दूसरा चतुर्भुज रूप धारण किया, जो भूतलपर खड़ा होकर भी अपने मस्तकसे सूर्यदेवका स्पर्श कर रहा था ॥

ऊर्ध्वदृष्टिर्महालिङ्गो मुखाज्ज्वालाः समुत्सृजन् ।
विकुर्वन् बहुधा वर्णान् नीलपाण्डुरलोहितान् ॥ ४८ ॥

उसकी दृष्टि ऊपरकी ओर थी, वह महान् चिह्न धारण किये हुए था । मुखसे आगकी लपटें छोड़ रहा था और अपने अङ्गोंसे नील, श्वेत तथा लोहित (लाल) अनेक प्रकारके रंग प्रकट कर रहा था ॥ ४८ ॥

बिभ्रत्कृष्णाजिनं वासो हेमप्रवरतारकम् ।
नेत्रं चैकं ललाटेन भास्करप्रतिमं वहन् ॥ ४९ ॥
शुशुभातेऽतिविमले द्वे नेत्रे कृष्णपिङ्गले ।

उसने काले मृगचर्मको वस्त्रके रूपमें धारण कर रक्खा था, जिसमें सुवर्णनिर्मित तारे जड़े हुए थे । वह अपने ललाटमें सूर्यके समान एक तेजस्वी नेत्र धारण करता था । उसके सिवा काले और पिङ्गलवर्णके दो अत्यन्त निर्मल नेत्र और शोभा पा रहे थे ॥ ४९½ ॥

ततो देवो महादेवः शूलपाणिर्भगाक्षिहा ॥ ५० ॥
सम्प्रगृह्य तु निस्त्रिंशं कालाग्निसमवर्चसम् ।
त्रिकूटं चर्म चोद्यम्य सविद्युतमिवाम्बुदम् ।
चचार विविधान् मार्गान् महाबलपराक्रमः ॥ ५१ ॥
विधुन्वन्नसिमाकाशे तथा युद्धचिकीर्षया ।

तदनन्तर भगदेवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न शूलपाणि भगवान् महादेव काल और अग्निके तुल्य तेजस्वी खड्गको तथा बिजलीसहित मेघके समान चमकीली तीन कोनोंवाली ढालको हाथमें लेकर भाँति-भाँतिके मार्गोंसे विचरने लगे और युद्ध करनेकी इच्छासे वह तलवार आकाशमें घुमाने लगे ॥ ५०-५१½ ॥

तस्य नादं विनदतो महाहासं च मुञ्चतः ॥ ५२ ॥
बभौ प्रतिभयं रूपं तदा रुद्रस्य भारत ।

भरतनन्दन ! उस समय जोर-जोरसे गर्जते और महान् अट्टहास करते हुए रुद्रदेवका स्वरूप बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ ५२½ ॥

तद्रूपधारिणं रुद्रं रौद्रकर्मचिकीर्षया ॥ ५३ ॥
निशम्य दानवाः सर्वे हृष्टाः समभिदुद्रुवुः ।

भयानक कर्म करनेकी इच्छासे वैसा ही रूप धारण करनेवाले रुद्रदेवको देखकर समस्त दानव हर्ष और उत्साहमें भरकर उनके ऊपर टूट पड़े ॥ ५३½ ॥

अश्मभिश्चाभ्यवर्षन्त प्रदीप्तैश्च तथोल्मुकैः ॥ ५४ ॥
घोरैः प्रहरणैश्चान्यैः क्षुरधारैरयोमयैः ।

कुछ लोग पत्थर बरसाने लगे, कुछ जलते लुआठे चलाने लगे, दूसरे भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंसे काम लेने लगे और कितने ही लोहनिर्मित छुरोंकी तीखी धारोंसे चोट करने लगे ॥ ५४½ ॥

ततस्तु दानवानीकं सम्प्रणेतारमच्युतम् ॥ ५५ ॥
रुद्रं दृष्ट्वा बलोद्भूतं प्रमुमोह चचाल च ।

तत्पश्चात् दानवदलने देखा कि देवसेनापतिका कार्य सँभालनेवाले उत्कट बलशाली रुद्रदेव युद्धसे पीछे नहीं हट रहे हैं, तब वे मोहित और विचलित हो उठे ॥ ५५½ ॥

चित्रं शीघ्रपदत्वाच्च चरन्तमसिपाणिनम् ॥ ५६ ॥
तमेकमसुराः सर्वे सहस्रमिति मेनिरे ।

शीघ्रतापूर्वक पैर उठानेके कारण विचित्र गतिसे विचरण करनेवाले एकमात्र खड्गधारी रुद्रदेवको वे सब असुर सहस्रोंके समान समझने लगे ॥ ५६½ ॥

छिन्दन् भिन्दन् रुजन् कृन्तन् दारयन् पोथयन्नपि॥५७॥
अचरद् वैरिसङ्घेषु दावाग्निरिव कक्षगः ।

जैसे सूखी लकड़ी और घास-फूँसमें लगा हुआ दावानल वनके समस्त वृक्षोंको जला देता है, उसी प्रकार भगवान् रुद्र शत्रुसमुदायमें दैत्योंको मारते-काटते, चीरते-फाड़ते, घायल करते, छेदते तथा विदीर्ण और धराशायी करते हुए विचरने लगे ॥

असिवेगप्रभग्नास्ते छिन्नबाहूरुवक्षसः ॥ ५८ ॥
सम्प्रकीर्णान्त्रगात्राश्च पेतुरुर्व्यां महाबलाः ।

तलवारके वेगसे उन सबमें भगदड़ मच गयी । कितनोंकी भुजाएँ और जाँघें कट गयीं । बहुतोंके वक्षःस्थल विदीर्ण हो गये और कितनोंके शरीरोंसे आँतें बाहर निकल आयीं । इस प्रकार वे महाबली दैत्य मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

अपरे दानवा भग्नाः खड्गपाताविपीडिताः ॥ ५९ ॥
अन्योन्यमभिनर्दन्तो दिशः सम्प्रतिपेदिरे ।

दूसरे दानव तलवारकी चोटसे पीड़ित हो भाग खड़े हुए और एक दूसरेको डाँट बताते हुए उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओंकी शरण ली ॥ ५९½ ॥

भूमिं केचित् प्रविविशुः पर्वतानपरे तथा ॥ ६० ॥
अपरे जग्मुराकाशमपरेऽम्भः समाविशन् ।

कितने ही धरतीमें घुस गये, बहुत-से पर्वतोंमें छिप गये, कुछ आकाशमें उड़ चले और दूसरे बहुत-से दानव पानीमें समा गये ॥ ६०½ ॥

तस्मिन् महति संवृत्ते समरे भृशदारुणे ॥ ६१ ॥
बभूव भूः प्रतिभया मांसशोणितकर्दमा ।

वह अत्यन्त दारुण महान् युद्ध आरम्भ होनेपर पृथ्वीपर रक्त और मांसकी कीच जम गयी । जिससे वह अत्यन्त भयंकर प्रतीत होने लगी ॥ ६१½ ॥

दानवानां शरीरैश्च पतितैः शोणितोक्षितैः ॥ ६२ ॥
समाकीर्णा महाबाहो शैलैरिव सकिंशुकैः ।

महाबाहो ! खूनसे लथपथ होकर गिरी हुई दानवोंकी लाशोंसे ढकी हुई यह भूमि पलाशके फूलोंसे युक्त पर्वत-शिखरोंद्वारा आच्छादित-सी जान पड़ती थी ॥ ६२½ ॥

स रुद्रो दानवान् हत्वा कृत्वा धर्मोत्तरं जगत् ॥ ६३ ॥
रौद्रं रूपमथोत्क्षिप्य चक्रे रूपं शिवं शिवः ।

दानवोंका वध करके जगत्‌में धर्मकी प्रधानता स्थापित करनेके पश्चात् भगवान् रुद्रदेवने उस रौद्र रूपको त्याग दिया । फिर वे कल्याणकारी शिव अपने मङ्गलमय रूपसे सुशोभित होने लगे ॥ ६३½ ॥

ततो महर्षयः सर्वे सर्वे देवगणास्तथा ॥ ६४ ॥
जयेनाद्भुतकल्पेन देवदेवं तथार्चयन् ।

तत्पश्चात् सम्पूर्ण महर्षियों और देवताओंने उस अद्भुत विजयसे संतुष्ट हो देवाधिदेव महादेवकी पूजा की ॥ ६४½ ॥

ततः स भगवान् रुद्रो दानवक्षतजोक्षितम् ॥ ६५ ॥
असिं धर्मस्य गोप्तारं ददौ सत्कृत्य विष्णवे ।

तदनन्तर भगवान् रुद्रने दानवोंके खूनसे रँगे हुए उस धर्मरक्षक खड्गको बड़े सत्कारके साथ भगवान् विष्णुके हाथमें दे दिया ॥ ६५½ ॥

विष्णुर्मरीचये प्रादान्मरीचिर्भगवानपि ॥ ६६ ॥
महर्षिभ्यो ददौ खड्गमृषयो वासवाय च ।

भगवान् विष्णुने मरीचिको, मरीचिने महर्षियोंको और महर्षियोंने इन्द्रको वह खड्ग प्रदान किया ॥ ६६½ ॥

महेन्द्रो लोकपालेभ्यो लोकपालास्तु पुत्रक ॥ ६७ ॥
मनवे सूर्यपुत्राय ददुः खड्गं सुविस्तरम् ।

बेटा ! फिर महेन्द्रने लोकपालोंको और लोकपालोंने सूर्य-पुत्र मनुको वह विशाल खड्ग दे दिया ॥ ६७½ ॥

ऊचुश्चैनं तथा वाक्यं मानुषाणां त्वमीश्वरः ॥ ६८ ॥
असिना धर्मगर्भेण पालयस्व प्रजा इति ।

तलवार देकर उन्होंने मनुसे कहा—'तुम मनुष्योंके शासक हो; अतः इस धर्मगर्भित खड्गसे प्रजाका पालन करो ॥

धर्मसेतुमतिक्रान्ताः स्थूलसूक्ष्मात्मकारणात् ॥ ६९ ॥
विभज्य दण्डं रक्ष्यास्तु धर्मतो न यदृच्छया ।
दुर्वाचा निग्रहो दण्डो हिरण्यबहुलस्तथा ॥ ७० ॥
व्यङ्गता च शरीरस्य वधो वानल्पकारणात् ।
असेरेतानि रूपाणि दुर्वादीनि निर्दिशेत् ॥ ७१ ॥

'जो लोग स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरको सुख देनेके लिये धर्मकी मर्यादाका उल्लङ्घन करें, उन्हें न्यायपूर्वक पृथक्-पृथक् दण्ड देना। धर्मपूर्वक समस्त प्रजाकी रक्षा करना किसीके प्रति स्वेच्छाचार न करना। कटुवचनसे अपराधीका दमन करना 'वाग्दण्ड' कहलाता है। जिसमें अपराधीसे बहुत-सा सुवर्ण वसूल किया जाय, वह 'अर्थदण्ड' कहलाता है। शरीरके किसी अङ्गविशेषका छेदन करना 'काय-दण्ड' कहा गया है। किसी महान् अपराधके कारण अपराधीका जो वध किया जाता है, वह 'प्राणदण्ड' के रूपमें प्रसिद्ध है। ये चारों दण्ड तलवारके दुर्निवार या दुर्धर्षरूप हैं। यह बात समस्त प्रजाको बता देनी चाहिये ॥ ६९–७१ ॥

असेरेवं प्रमाणानि परिपाल्य व्यतिक्रमात् ।
स विसृज्याथ पुत्रं स्वं प्रजानामधिपं ततः ॥ ७२ ॥
मनुः प्रजानां रक्षार्थं क्षुपाय प्रददावसिम् ।
क्षुपाज्जग्राह चेक्ष्वाकुरिक्ष्वाकोश्च पुरूरवाः ॥ ७३ ॥

'जब प्रजाके द्वारा धर्मका उल्लङ्घन हो जाय तो खड्गके द्वारा प्रमाणित (साधित) होनेवाले इन दण्डोंका यथा-योग्य प्रयोग करके धर्मकी रक्षा करनी चाहिये।' ऐसा कहकर लोकपालोंने अपने पुत्र प्रजापालक मनुको विदा कर दिया। तत्पश्चात् मनुने प्रजाकी रक्षाके लिये वह खड्ग क्षुपको दे दिया। क्षुपसे इक्ष्वाकु और इक्ष्वाकुसे पुरूरवाने उस तलवार-को ग्रहण किया ॥ ७२–७३ ॥

आयुश्च तस्माल्लेभे तं नहुषश्च ततो भुवि ।
ययातिर्नहुषाच्चापि पूरुस्तस्माच्च लब्धवान् ॥ ७४ ॥

पुरूरवासे आयुने, आयुसे नहुषने, नहुषसे ययातिने और ययातिसे पूरुने इस भूतलपर वह खड्ग प्राप्त किया ॥७४॥

अमूर्तरयसस्तस्मात्ततो भूमिशयो नृपः ।
भरतश्चापि दौष्यन्तिर्लेभे भूमिशयादसिम् ॥ ७५ ॥

पूरुसे अमूर्तरया, अमूर्तरयासे राजा भूमिशयने और भूमिशयसे दुष्यन्तकुमार भरतने उस खड्गको ग्रहण किया ॥

तस्माल्लेभे च धर्मज्ञो राजन्नैलविलस्तथा ।
ततस्त्वैलविलाल्लेभे धुन्धुमारो नरेश्वरः ॥ ७६ ॥

राजन् ! उनसे धर्मज्ञ ऐलविलने वह तलवार प्राप्त की। ऐलविलसे वह महाराज धुन्धुमारको मिली ॥ ७६ ॥

धुन्धुमाराच्च काम्बोजो मुचुकुन्दस्ततोऽलभत् ।
मुचुकुन्दान्मरुत्तश्च मरुत्तादपि रैवतः ॥ ७७ ॥
रैवताद् युवनाश्वश्च युवनाश्वात्ततो रघुः ।
इक्ष्वाकुवंशजस्तस्माद्धरिणाश्वः प्रतापवान् ॥ ७८ ॥
हरिणाश्वादसिं लेभे शुनकः शुनकादपि ।
उशीनरो वै धर्मात्मा तस्माद् भोजः स यादवः ॥ ७९ ॥
यदुभ्यश्च शिबिर्लेभे शिबेश्चापि प्रतर्दनः ।
प्रतर्दनादष्टकश्च पृषदश्वोऽष्टकादपि ॥ ८० ॥

धुन्धुमारसे काम्बोजने, काम्बोजसे मुचुकुन्दने, मुचुकुन्दसे मरुत्तने, मरुत्तसे रैवतने, रैवतसे युवनाश्वने, युवनाश्वसे इक्ष्वाकुवंशी रघुने, रघुसे प्रतापी हरिणाश्वने, हरिणाश्वसे शुनकने, शुनकसे धर्मात्मा उशीनरने, उशीनरसे यदुवंशी भोजने, यदुवंशियोंसे शिबिने, शिबिसे प्रतर्दनने, प्रतर्दनसे अष्टकने तथा अष्टकसे पृषदश्वने वह तलवार प्राप्त की ॥

पृषदश्वाद् भरद्वाजो द्रोणस्तस्मात् कृपस्ततः ।
ततस्त्वं भ्रातृभिः सार्धं परमासिमवाप्तवान् ॥ ८१ ॥

पृषदश्वसे भरद्वाजवंशी द्रोणाचार्यने और द्रोणाचार्यसे कृपाचार्यने खड्गविद्या प्राप्त की। फिर कृपाचार्यसे भाइयों-सहित तुमने उस उत्तम खड्गका उपदेश प्राप्त किया है ॥८१॥

कृत्तिकास्तस्य नक्षत्रमसेरग्निश्च दैवतम् ।
रोहिणी गोत्रमस्याथ रुद्रश्च गुरुरुत्तमः ॥ ८२ ॥

उस 'असि' का नक्षत्र कृत्तिका है, देवता अग्नि है, गोत्र रोहिणी है तथा उत्तम गुरु रुद्रदेव हैं ॥ ८२ ॥

असेरष्टौ हि नामानि रहस्यानि निबोध मे ।
पाण्डवेय सदा यानि कीर्तयन् लभते जयम् ॥ ८३ ॥

पाण्डुनन्दन ! असिके आठ गोपनीय नाम हैं। उन्हें मेरे मुँहसे सुनो। उन नामोंका कीर्तन करनेवाला पुरुष युद्धमें विजय प्राप्त करता है ॥ ८३ ॥

असिर्विशसनः खड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासदः ।
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्मपालस्तथैव च ॥ ८४ ॥

१. असि, २. विशसन, ३. खड्ग, ४. तीक्ष्णधार, ५. दुरासद, ६. श्रीगर्भ, ७. विजय और ८. धर्मपाल—ये ही वे आठ नाम हैं ॥ ८४ ॥

अग्र्यः प्रहरणानां च खड्गो माद्रवतीसुत ।
महेश्वरप्रणीतश्च पुराणे निश्चयं गतः ॥ ८५ ॥
(एतानि चैव नामानि पुराणे निश्चितानि वै ।)

माद्रीनन्दन ! खड्ग सब आयुधोंमें श्रेष्ठ है। भगवान् रुद्रने सबसे पहले इसका संचालन किया था। पुराणमें इसकी श्रेष्ठताका निश्चय किया गया है। उपर्युक्त सारे नाम पुराणोंमें निश्चितरूपसे कहे गये हैं ॥ ८५ ॥

पृथुस्तूत्पादयामास धनुराद्यमरिंदमः ।

तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि सुबहून्यपि।
धर्मेण च यथापूर्वं वैन्येन परिरक्षिता ॥ ८६ ॥

शत्रुदमन पृथुने सबसे पहले धनुषका उत्पादन किया था और उन्होंने ही इस पृथ्वीसे नाना प्रकारके शस्यों (अन्नके बीजों) का दोहन किया था। उन वेनकुमार पृथुने पहलेके ही समान धर्मपूर्वक इस पृथ्वीकी रक्षा की थी॥

तदेतदार्षं माद्रेय प्रमाणं कर्तुमर्हसि।
असेश्च पूजा कर्तव्या सदा युद्धविशारदैः ॥ ८७ ॥

माद्रीनन्दन! यह ऋषियोंका बताया हुआ मत है। तुम्हें इसे प्रमाण मानकर इसपर विश्वास करना चाहिये। युद्धविशारद पुरुषोंको सदा ही खड्गकी पूजा करनी चाहिये॥

इत्येष प्रथमः कल्पो व्याख्यातस्ते सुविस्तरात्।
असेरुत्पत्तिसंसर्गो यथावद् भरतर्षभ ॥ ८८ ॥

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार मैंने असि (खड्ग) की उत्पत्तिका प्रसङ्ग तुम्हें विस्तारपूर्वक और यथावत्‌रूपसे बताया है! इससे यह सिद्ध हुआ कि खड्ग ही आयुधोंमें सबसे प्रथम प्रकट हुआ है॥ ८८॥

सर्वथैतदिदं श्रुत्वा खड्गसाधनमुत्तमम्।
लभते पुरुषः कीर्तिं प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ ८९ ॥

खड्गप्राप्तिका यह उत्तम प्रसङ्ग सब प्रकारसे सुनकर पुरुष इस संसारमें कीर्ति पाता है और देहत्यागके पश्चात् अक्षय सुखका भागी होता है॥ ८९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि खड्गोत्पत्तिकथने षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें खड्गकी उत्पत्तिका कथनविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८९½ श्लोक हैं)

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धर्म, अर्थ और कामके विषयमें विदुर तथा पाण्डवोंके पृथक्-पृथक् विचार तथा अन्तमें युधिष्ठिरका निर्णय

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति भीष्मे तु तूष्णींभूते युधिष्ठिरः।
पप्रच्छावसथं गत्वा भ्रातॄन् विदुरपञ्चमान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह कहकर जब भीष्मजी चुप हो गये, तब राजा युधिष्ठिरने घर जाकर अपने चारों भाइयों तथा पाँचवें विदुरजीसे प्रश्न किया—॥ १॥

धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाहिता।
तेषां गरीयान् कतमो मध्यमः को लघुश्च कः ॥ २ ॥

'लोगोंकी प्रवृत्ति प्रायः धर्म, अर्थ और कामकी ओर होती है। इन तीनोंमें कौन सबसे श्रेष्ठ, कौन मध्यम और कौन लघु है?॥ २॥

कस्मिंश्चात्मा निधातव्यस्त्रिवर्गविजयाय वै।
संहृष्टा नैष्ठिकं वाक्यं यथावद् वक्तुमर्हथ ॥ ३ ॥

'इन तीनोंपर विजय पानेके लिये विशेषतः किसमें मन लगाना चाहिये। आप सब लोग हर्ष और उत्साहके साथ इस प्रश्नका यथावत्‌रूपसे उत्तर दें और वही बात कहें, जिसपर आपकी पूरी आस्था हो'॥ ३॥

ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः प्रथमं प्रतिभानवान्।
जगाद विदुरो वाक्यं धर्मशास्त्रमनुस्मरन् ॥ ४ ॥

तब अर्थकी गति और तत्त्वको जाननेवाले प्रतिभाशाली विदुरजीने धर्मशास्त्रका स्मरण करके सबसे पहले कहना आरम्भ किया॥ ४॥

विदुर उवाच

बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसम्पदः ॥ ५ ॥

विदुरजी बोले—राजन्! बहुत-से शास्त्रोंका अनुशीलन, तपस्या, त्याग, श्रद्धा, यज्ञकर्म, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य और संयम—ये सब आत्माकी सम्पत्ति हैं॥ ५॥

एतदेवाभिपद्यस्व मा तेऽभूच्चलितं मनः।
एतन्मूलौ हि धर्मार्थावेतदेकपदं हि मे ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर! तुम इन्हींको प्राप्त करो। इनकी ओरसे तुम्हारा मन विचलित नहीं होना चाहिये। धर्म और अर्थकी जड़ ये ही हैं। मेरे मतमें ये ही परम पद हैं॥ ६॥

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
धर्मेण देवा ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः ॥ ७ ॥

धर्मसे ही ऋषियोंने संसार-समुद्रको पार किया है। धर्मपर ही सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं। धर्मसे ही देवताओंकी उन्नति हुई है और धर्ममें ही अर्थकी भी स्थिति है॥ ७॥

धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ८ ॥

राजन्! धर्म ही श्रेष्ठ गुण है, अर्थको मध्यम बताया जाता है और काम सबकी अपेक्षा लघु है; ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं॥ ८॥

तस्माद् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि ॥ ९ ॥

अतः मनको वशमें करके धर्मको अपना प्रधान ध्येय बनाना चाहिये और सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये, जैसा हम अपने लिये चाहते हैं॥ ९॥

वैशम्पायन उवाच

समाप्तवचने तस्मिन्नर्थशास्त्रविशारदः।
पार्थो धर्मार्थतत्त्वज्ञो जगौ वाक्यं प्रचोदितः ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरजीकी बात समाप्त होनेपर धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले अर्थशास्त्रविशारद अर्जुनने युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर कहा॥

अर्जुन उवाच

कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते।

कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले—राजन्! यह कर्म-भूमि है। यहाँ जीविकाके साधनभूत कर्मोंकी ही प्रशंसा होती है। खेती, व्यापार, गोपालन तथा भाँति-भाँतिके शिल्प—ये सब अर्थप्राप्तिके साधन हैं ॥ ११ ॥

अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः ।
न ह्यृतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः ॥ १२ ॥

अर्थ ही समस्त कर्मोंकी मर्यादाके पालनमें सहायक है। अर्थके बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते, ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ १२ ॥

विषयैरर्थवान् धर्ममाराधयितुमुत्तमम् ।
कामं च चरितुं शक्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ १३ ॥

धनवान् मनुष्य धनके द्वारा उत्तम धर्मका पालन और अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये दुर्लभ कामनाओंकी प्राप्ति कर सकता है॥

अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः ।
अर्थसिद्ध्या विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः ॥ १४ ॥

श्रुतिका कथन है कि धर्म और काम अर्थके ही दो अवयव हैं। अर्थकी सिद्धिसे उन दोनोंकी भी सिद्धि हो जायगी ॥ १४ ॥

तद्गतार्थं हि पुरुषं विशिष्टतरयोनयः ।
ब्रह्माणमिव भूतानि सततं पर्युपासते ॥ १५ ॥

जैसे सब प्राणी सदा ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार उत्तम जातिके मनुष्य भी सदा धनवान् पुरुषकी उपासना किया करते हैं ॥ १५ ॥

जटाजिनधरा दान्ताः पङ्कदिग्धा जितेन्द्रियाः ।
मुण्डा निस्तन्तवश्चापि वसन्त्यर्थार्थिनः पृथक् ॥ १६ ॥

जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले जितेन्द्रिय संयतचित्त शरीरमें पङ्क धारण किये मुण्डितमस्तक नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी अर्थकी अभिलाषा रखकर पृथक्-पृथक् निवास करते हैं॥

काषायवसनाश्चान्ये श्मश्रुला ह्रीनिषेविणः ।
विद्वांसश्चैव शान्ताश्च मुक्ताः सर्वपरिग्रहैः ॥ १७ ॥
अर्थार्थिनः सन्ति केचिदपरे स्वर्गकाङ्क्षिणः ।
कुलप्रत्यागमाश्चैके स्वं स्वं धर्ममनुष्ठिताः ॥ १८ ॥

सब प्रकारके संग्रहसे रहित, संकोचशील, शान्त, गेरुआ वस्त्रधारी, दाढ़ी-मूँछ बढ़ाये विद्वान् पुरुष भी धनकी अभिलाषा करते देखे गये हैं। कुछ दूसरे प्रकारके ऐसे लोग हैं, जो स्वर्ग पानेकी इच्छा रखते हैं और कुलपरम्परागत नियमोंका पालन करते हुए अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके धर्मोंका अनुष्ठान कर रहे हैं; किंतु वे भी धनकी इच्छा रखते हैं ॥ १७-१८ ॥

आस्तिका नास्तिकाश्चैव नियताः संयमे परे ।
अप्रज्ञानं तमोभूतं प्रज्ञानं तु प्रकाशिता ॥ १९ ॥

दूसरे बहुत-से आस्तिक-नास्तिक संयम-नियम-परायण पुरुष हैं, जो अर्थके इच्छुक होते हैं। अर्थकी प्रधानताको न जानना तमोमय अज्ञान है। अर्थकी प्रधानताका ज्ञान प्रकाशमय है ॥ १९ ॥

भृत्यान् भोगैर्द्विषो दण्डैर्यो योजयति सोऽर्थवान् ।
एतन्मतिमतां श्रेष्ठ मतं मम यथातथम् ।
अनयोस्तु निबोध त्वं वचनं वाक्यकण्ठयोः ॥ २० ॥

धनवान् वही है, जो अपने भृत्योंको उत्तम भोग और शत्रुओंको दण्ड देकर उनको वशमें रखता है। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाराज! मुझे तो यही मत ठीक जँचता है। अब आप इन दोनोंकी बात सुनिये। इनकी वाणी कण्ठतक आ गयी है अर्थात् ये दोनों भाई बोलनेके लिये उतावले हो रहे हैं ॥२०॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मार्थकुशलौ माद्रीपुत्रावनन्तरम् ।
नकुलः सहदेवश्च वाक्यं जगदतुः परम् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर धर्म और अर्थके ज्ञानमें कुशल माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने अपनी उत्तम बात इस प्रकार उपस्थित की ॥ २१ ॥

नकुलसहदेवावूचतुः

आसीनश्च शयानश्च विचरन्नपि वा स्थितः ।
अर्थयोगं दृढं कुर्याद् योगैरुच्चावचैरपि ॥ २२ ॥

नकुल-सहदेव बोले—महाराज! मनुष्यको बैठते, सोते, घूमते-फिरते अथवा खड़े होते समय भी छोटे-बड़े हर तरहके उपायोंसे धनकी आयको सुदृढ़ बनाना चाहिये ॥२२॥

अस्मिंस्तु वै विनिर्वृत्ते दुर्लभे परमप्रिये ।
इह कामानवाप्नोति प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥ २३ ॥

धन अत्यन्त प्रिय और दुर्लभ वस्तु है। इसकी प्राप्ति अथवा सिद्धि हो जानेपर मनुष्य संसारमें अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर सकता है, इसका सभीको प्रत्यक्ष अनुभव है—इसमें संशय नहीं है ॥ २३ ॥

योऽर्थो धर्मेण संयुक्तो धर्मो यश्चार्थसंयुतः ।
तद्धि त्वामृतसंवादं तस्मादेतौ मताविह ॥ २४ ॥

जो धन धर्मसे युक्त हो और जो धर्म धनसे सम्पन्न हो, वह निश्चितरूपसे आपके लिये अमृतके समान होगा, यह हम दोनोंका मत है ॥ २४ ॥

अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथार्थोऽधर्मिणः कुतः ।
तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाद् यो बहिष्कृतः ॥ २५ ॥

निर्धन मनुष्यकी कामना पूर्ण नहीं होती और धर्महीन मनुष्यको धन भी कैसे मिल सकता है। जो पुरुष धर्मयुक्त अर्थसे वञ्चित है, उससे सब लोग उद्विग्न रहते हैं ॥ २५ ॥

तस्माद् धर्मप्रधानेन साध्योऽर्थः संयतात्मना ।
विश्वस्तेषु हि भूतेषु कल्पते सर्वमेव हि ॥ २६ ॥

इसलिये मनुष्य अपने मनको संयममें रखकर जीवनमें धर्मको प्रधानता देते हुए पहले धर्माचरण करके ही फिर धनका साधन करे; क्योंकि धर्मपरायण पुरुषपर ही समस्त प्राणियोंका विश्वास होता है और जब सभी प्राणी विश्वास

करने लगते हैं, तब मनुष्यका सारा काम स्वतः सिद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥

धर्मं समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम्।
ततः कामं चरेत् पश्चात् सिद्धार्थः स हि तत्परम् ॥ २७॥

अतः सबसे पहले धर्मका आचरण करे; फिर धर्मयुक्त धनका संग्रह करे। इसके बाद दोनोंकी अनुकूलता रखते हुए कामका सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्गका संग्रह करनेसे मनुष्य सफलमनोरथ हो जाता है ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

विरेमतुस्तु तद् वाक्यमुक्त्वा तावश्विनोः सुतौ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमिदं वक्तुं प्रचक्रमे ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतना कहकर नकुल और सहदेव चुप हो गये। तब भीमसेनने इस तरह कहना आरम्भ किया ॥ २८ ॥

भीमसेन उवाच

नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात् कामो विशिष्यते ॥ २९॥

भीमसेन बोले—धर्मराज ! जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, उसे न तो धन कमानेकी इच्छा होती है और न धर्म करनेकी ही। कामनाहीन पुरुष तो काम (भोग) भी नहीं चाहता है; इसलिये त्रिवर्गमें काम ही सबसे बढ़कर है ॥ २९॥

कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहिताः।
पलाशफलमूलाशा वायुभक्षाः सुसंयताः ॥ ३० ॥

किसी-न-किसी कामनासे संयुक्त होकर ही ऋषिलोग तपस्यामें मन लगाते हैं। फल, मूल और पत्ते चबाकर रहते हैं। वायु पीकर मन और इन्द्रियोंका संयम करते हैं ॥ ३० ॥

वेदोपवेदेष्वपरे युक्ताः स्वाध्यायपारगाः।
श्राद्धयज्ञक्रियायां च तथा दानप्रतिग्रहे ॥ ३१ ॥

कामनासे ही लोग वेद और उपवेदोंका स्वाध्याय करते तथा उसमें पारङ्गत विद्वान् हो जाते हैं। कामनासे ही श्राद्धकर्म, यज्ञकर्म, दान और प्रतिग्रहमें लोगोंकी प्रवृत्ति होती है ॥ ३१॥

वणिजः कर्षका गोपाः कारवः शिल्पिनस्तथा।
देवकर्मकृतश्चैव युक्ताः कामेन कर्मसु ॥ ३२ ॥

व्यापारी, किसान, ग्वाले, कारीगर और शिल्पी तथा देव-सम्बन्धी कार्य करनेवाले लोग भी कामनासे ही अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहते हैं ॥ ३२ ॥

समुद्रं वा विशन्त्यन्ये नराः कामेन संयुताः।
कामो हि विविधाकारः सर्वं कामेन संततम् ॥ ३३ ॥

कामनासे युक्त हुए दूसरे मनुष्य समुद्रमें भी घुस जाते हैं। कामनाके विविध रूप हैं तथा सारा कार्य ही कामनासे व्याप्त है ॥ ३३ ॥

नास्ति नासीन्नाभविष्यद् भूतं कामात्मकात् परम्।
एतत् सारं महाराज धर्मार्थावत्र संस्थितौ ॥ ३४॥

सभी प्राणी कामना रखते हैं। उससे भिन्न कामनारहित प्राणी न कहीं है, न कभी था और न भविष्यमें होगा ही; अतः यह काम ही त्रिवर्गका सार है। महाराज ! धर्म और अर्थ भी इसीमें स्थित हैं ॥ ३४ ॥

नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः।
श्रेयस्तैलं हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय उदश्वितः।
श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात् कामो धर्मार्थयोर्वरः ॥ ३५ ॥

जैसे दहीका सार माखन है, उसी प्रकार धर्म और अर्थका सार काम है। जैसे खलीसे श्रेष्ठ तेल है, तक्रसे श्रेष्ठ घी है और वृक्षके काष्ठसे श्रेष्ठ उसका फूल और फल है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ दोनोंसे श्रेष्ठ काम है ॥ ३५ ॥

पुष्पतो मध्विव रसः काम आभ्यां तथा स्मृतः।
कामो धर्मार्थयोर्योनिः कामश्चाथ तदात्मकः ॥ ३६ ॥

जैसे फूलसे उसका मधु-तुल्य रस श्रेष्ठ है, उसी प्रकार धर्म और अर्थसे काम श्रेष्ठ माना गया है। काम धर्म और अर्थका कारण है, अतः वह धर्म और अर्थरूप है ॥ ३६ ॥

नाकामतो ब्राह्मणाः स्वन्नमर्था-
न्नाकामतो ददति ब्राह्मणेभ्यः।
नाकामतो विविधा लोकचेष्टा
तस्मात् कामः प्राक् त्रिवर्गस्य दृष्टः ॥ ३७ ॥

बिना किसी कामनाके ब्राह्मण अच्छे अन्नका भी भोजन नहीं करते और बिना कामनाके कोई ब्राह्मणोंको धनका दान नहीं करते हैं। जगत्‌के प्राणियोंको जो नाना प्रकारकी चेष्टा होती है, वह बिना कामनाके नहीं होती; अतः त्रिवर्गमें कामका ही प्रथम एवं प्रधान स्थान देखा गया है ॥ ३७ ॥

सुचारुवेषाभिरलंकृताभि-
र्मदोत्कटाभिः प्रियदर्शनाभिः।
रमस्व योषाभिरुपेत्य कामं
कामो हि राजन् परमो भवेन्नः ॥ ३८ ॥

अतः राजन् ! आप कामका अवलम्बन करके सुन्दर वेषवाली, आभूषणोंसे विभूषित तथा देखनेमें मनोहर एवं मदमत्त युवतियोंके साथ विहार कीजिये। हमलोगोंको इस जगत्‌में कामको ही श्रेष्ठ मानना चाहिये ॥ ३८ ॥

बुद्धिर्ममैषा परिखास्थितस्य
मा भूद् विचारस्तव धर्मपुत्र।
स्यात् संहितं सद्भिरफल्गुसारं
समेति वाक्यं परमानृशंसम् ॥ ३९ ॥

धर्मपुत्र ! मैंने गहराईमें पैठकर ऐसा निश्चय किया है। मेरे इस कथनमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरा यह वचन उत्तम, कोमल, श्रेष्ठ, तुच्छतारहित एवं सारभूत है; अतः श्रेष्ठ पुरुष भी इसे स्वीकार कर सकते हैं ॥ ३९ ॥

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या
यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः ।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं
स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे ॥ ४० ॥

मेरे विचारसे धर्म, अर्थ और काम तीनोंका एक साथ ही सेवन करना चाहिये। जो इनमेंसे एकका ही भक्त है, वह मनुष्य अधम है, जो दोके सेवनमें निपुण है, उसे मध्यम श्रेणीका बताया गया है और जो त्रिवर्गमें समानरूपसे अनुरक्त है, वह मनुष्य उत्तम है ॥ ४० ॥

प्राज्ञः सुहृच्चन्दनसारलिप्तो
विचित्रमाल्याभरणैरुपेतः ।
ततो वचः संग्रहविस्तरेण
प्रोक्त्वाथ वीरान् विरराम भीमः ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान्, सुहृद्, चन्दनसारसे चर्चित तथा विचित्र मालाओं और आभूषणोंसे विभूषित भीमसेन उन वीर बन्धुओंसे संक्षेप और विस्तारपूर्वक पूर्वोक्त वचन कहकर चुप हो गये ॥ ४१ ॥

ततो मुहूर्तादथ धर्मराजो
वाक्यानि तेषामनुचिन्त्य सम्यक् ।
उवाच वाचावितथं स्मयन् वै
लब्धश्रुतो धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ ४२ ॥

जिन्होंने महात्माओंके मुखसे धर्मका उपदेश सुना है, उन धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक पूर्व वक्ताओंके वचनोंपर भलीभाँति विचार करके मुसकराते हुए यह यथार्थ बात कही ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

निःसंशयं निश्चितधर्मशास्त्राः
सर्वे भवन्तो विदितप्रमाणाः ।
विज्ञातुकामस्य ममेह वाक्य-
मुक्तं यद् वै नैष्ठिकं तच्छ्रुतं मे ।
इदं त्ववश्यं गदतो ममापि
वाक्यं निबोधध्वमनन्यभावाः ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले—बन्धुओ! इसमें संदेह नहीं कि आपलोग धर्मशास्त्रोंके सिद्धान्तोंपर विचार करके एक निश्चयपर पहुँच चुके हैं। आपलोगोंको प्रमाणोंका भी ज्ञान प्राप्त है। मैं सबके विचार जानना चाहता था, इसलिये मेरे सामने यहाँ आपलोगोंने जो अपना-अपना निश्चित सिद्धान्त बताया है, वह सब मैंने ध्यानसे सुना है। अब आप, मैं जो कुछ कह रहा हूँ, मेरी उस बातको भी अनन्यचित्त होकर अवश्य सुनिये ॥ ४३ ॥

यो वै न पापे निरतो न पुण्ये
नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे ।
विमुक्तदोषः समलोष्टकाञ्चनो
विमुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः ॥ ४४ ॥

जो न पापमें लगा हो और न पुण्यमें, न तो अर्थोपार्जनमें तत्पर हो न धर्ममें, न काममें ही। वह सब प्रकारके दोषोंसे रहित मनुष्य दुःख और सुखको देनेवाली सिद्धियोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, उस समय मिट्टीके ढेले और सोनेमें उसका समान भाव हो जाता है ॥ ४४ ॥

भूतानि जातिस्मरणात्मकानि
जराविकारैश्च समन्वितानि ।
भूयश्च तैस्तैः प्रतिबोधितानि
मोक्षं प्रशंसन्ति न तं च विद्मः ॥ ४५ ॥

जो पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेवाले तथा वृद्धावस्थाके विकारसे युक्त हैं, वे मनुष्य नाना प्रकारके सांसारिक दुःखोंके उपभोगसे निरन्तर पीड़ित हो मुक्तिकी ही प्रशंसा करते हैं, परंतु हमलोग उस मोक्षके विषयमें जानते ही नहीं हैं ॥ ४५ ॥

स्नेहेन युक्तस्य न चास्ति मुक्ति-
रिति स्वयम्भूर्भगवानुवाच ।
बुधाश्च निर्वाणपरा भवन्ति
तस्मान्न कुर्यात् प्रियमप्रियं च ॥ ४६ ॥

स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजीका कथन है कि जिसके मनमें आसक्ति है, उसकी कभी मुक्ति नहीं होती। आसक्तिशून्य ज्ञानी मनुष्य ही मोक्षको प्राप्त होते हैं; अतः मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि वह किसीका प्रिय अथवा अप्रिय न करे ॥ ४६ ॥

एतत् प्रधानं च न कामकारो
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।
भूतानि सर्वाणि विधिर्नियुङ्क्ते
विधिर्बलीयानिति वित्त सर्वे ॥ ४७ ॥

इस प्रकार विचार करना ही मोक्षका प्रधान उपाय है, स्वेच्छाचार नहीं। विधाताने मुझे जिस कार्यमें लगा दिया है, मैं उसे ही करता हूँ। विधाता सभी प्राणियोंको विभिन्न कार्योंके लिये प्रेरित करता है। अतः आप सब लोगोंको ज्ञात होना चाहिये कि विधाता ही प्रबल है ॥ ४७ ॥

न कर्मणाऽऽप्नोत्यनवाप्यमर्थं
यद्भावि तद् वै भवतीति वित्त ।
त्रिवर्गहीनोऽपि हि विन्दतेऽर्थं
तस्मादहो लोकहिताय गुह्यम् ॥ ४८ ॥

मनुष्य कर्मद्वारा अप्राप्य अर्थ नहीं पा सकता। जो होनहार है, वही होती है; इस बातको तुम सब लोग जान लो। मनुष्य त्रिवर्गसे रहित होनेपर भी आवश्यक पदार्थको प्राप्त कर लेता है; अतः मोक्षप्राप्तिका गूढ़ उपाय (ज्ञान) ही जगत्‌का वास्तविक कल्याण करनेवाला है ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तदग्र्यं वचनं मनोनुगं
समस्तमाज्ञाय ततो हि हेतुमत् ।
तदा प्रणेदुश्च जहर्षिरे च ते
कुरुप्रवीराय च चक्रिरेऽञ्जलिम् ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर-की कही हुई बात बड़ी उत्तम, युक्तियुक्त और मनमें बैठने-वाली हुई । उसे पूर्णरूपसे समझकर वे सब भाई बड़े प्रसन्न हो हर्षनाद करने लगे । उन सबने कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिरको अञ्जलि बाँधकर प्रणाम किया ॥ ४९ ॥

सुचारुवर्णाक्षरचारुभूषितां
मनोनुगां निर्धुतवाक्यकण्टकाम् ।
निशम्य तां पार्थिव पार्थभाषितां
गिरं नरेन्द्राः प्रशशंसुरेव ते ॥ ५० ॥

जनमेजय ! युधिष्ठिरकी उस वाणीमें किसी प्रकारका दोष नहीं था । वह अत्यन्त सुन्दर स्वर और व्यञ्जनके संनिवेशसे विभूषित तथा मनके अनुरूप थी, उसे सुनकर समस्त राजाओंने युधिष्ठिरकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ५० ॥

स चापि तान् धर्मसुतो महामना-
स्तदा प्रतीतान् प्रशशंस वीर्यवान् ।
पुनश्च पप्रच्छ सरिद्वरासुतं
ततः परं धर्ममहीनचेतसम् ॥ ५१ ॥

पराक्रमी धर्मपुत्र महामना युधिष्ठिरने भी उन समस्त विश्वासपात्र नरेशों एवं बन्धुजनोंकी प्रशंसा की और पुनः उदारचेता गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास आकर उनसे उत्तम धर्मके विषयमें प्रश्न किया ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षड्जगीतायां सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें षड्जगीताविषयक एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

मित्र बनाने एवं न बनाने योग्य पुरुषोंके लक्षण तथा कृतघ्न गौतमकी कथाका आरम्भ

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ कुरूणां प्रीतिवर्धन ।
प्रश्नं कञ्चित् प्रवक्ष्यामि तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—कौरवकुलकी प्रीति बढ़ानेवाले महाज्ञानी पितामह ! मैं कुछ और प्रश्न आपके सामने उपस्थित कर रहा हूँ । मेरे उन प्रश्नोंका विवेचन कीजिये ॥

कीदृशा मानवाः सौम्याः कैः प्रीतिः परमा भवेत् ।
आयत्यां च तदात्वे च के क्षमास्तान् वदस्व मे ॥ २ ॥

सौम्य स्वभावके मनुष्य कैसे होते हैं ? किनके साथ प्रेम करना उत्तम होता है ? वर्तमान और भविष्यमें कौन-से मनुष्य उपकार करनेमें समर्थ होते हैं? उन सबका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

न हि तत्र धनं स्फीतं न च सम्बन्धिबान्धवाः ।
तिष्ठन्ति यत्र सुहृदस्तिष्ठन्तीति मतिर्मम ॥ ३ ॥

मेरी तो यह धारणा है कि जिस स्थानपर सुहृद् खड़े होते हैं, वहाँ न तो प्रचुर धन काम दे सकता है और न सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धव ही ठहर सकते हैं ॥ ३ ॥

दुर्लभो हि सुहृच्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत् ।
एतद् धर्मभृतां श्रेष्ठ सर्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

हितकी बात सुननेवाला सुहृद् दुर्लभ है तथा हितकारी सुहृद् भी दुर्लभ ही है । धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पितामह! इन सब प्रश्नोंका आप विशद विवेचन कीजिये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

संधेयान् पुरुषान् राजन्नसंधेयांश्च तत्त्वतः ।
वदतो मे निबोध त्वं निखिलेन युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—राजा युधिष्ठिर ! किनके साथ संधि (मित्रता) करनी चाहिये और किनके साथ नहीं ? यह बात मैं तुम्हें ठीक-ठीक बता रहा हूँ । तुम सब कुछ ध्यान देकर सुनो ॥ ५ ॥

लुब्धः क्रूरस्त्यक्तधर्मा निकृतिः शठ एव च ।
क्षुद्रः पापसमाचारः सर्वशङ्की तथालसः ॥ ६ ॥
दीर्घसूत्रोऽनृजुः क्रुष्टो गुरुदारप्रधर्षकः ।
व्यसने यः परित्यागी दुरात्मा निरपत्रपः ॥ ७ ॥
सर्वतः पापदर्शी च नास्तिको वेदनिन्दकः ।
सम्प्रकीर्णेन्द्रियो लोके यः कामं निरतश्चरेत् ॥ ८ ॥
असत्यो लोकविद्विष्टः समये चानवस्थितः ।
पिशुनोऽथाकृतप्रज्ञो मत्सरी पापनिश्चयः ॥ ९ ॥
दुःशीलोऽथाकृतात्मा च नृशंसः कितवस्तथा ।
मित्रैरपकृतिर्नित्यमिच्छतेऽर्थं परस्य यः ॥ १० ॥
ददतश्च यथाशक्ति यो न तुष्यति मन्दधीः ।
अधैर्यमपि यो युङ्क्ते सदा मित्रं नरर्षभ ॥ ११ ॥
अस्थानक्रोधनोऽयुक्तो यश्चाकस्माद् विरुध्यते ।
सुहृदश्चैव कल्याणानाशु त्यजति किल्बिषी ॥ १२ ॥
अल्पेऽप्यपकृते मूढस्तथाज्ञानात् कृतेऽपि च ।
कार्यसेवी च मित्रेषु मित्रद्वेषी नराधिप ॥ १३ ॥
शत्रुर्मित्रमुखो यश्च जिह्मप्रेक्षी विलोचनः ।
न विरज्यति कल्याणे यस्त्यजेत् तादृशं नरम् ॥ १४ ॥
पानपो द्वेषणः क्रोधी निर्घृणः परुषस्तथा ।
परोपतापी मित्रध्रुक् तथा प्राणिवधे रतः ॥ १५ ॥
कृतघ्नश्चाधमो लोके न संधेयः कदाचन ।
छिद्रान्वेषी ह्यसंधेयः संधेयानपि मे शृणु ॥ १६ ॥

जो लोभी, क्रूर, धर्मत्यागी, कपटी, शठ, क्षुद्र, पापा-चारी, सबपर संदेह करनेवाला, आलसी, दीर्घसूत्री, कुटिल, निन्दित, गुरुपत्नीगामी, संकटके समय साथ छोड़कर चल

देनेवाला, दुरात्मा, निर्लज्ज, सब ओर पापपूर्ण दृष्टि डालनेवाला, नास्तिक, वेदोंकी निन्दा करनेवाला, इन्द्रियोंको खुला छोड़कर जगत्में इच्छानुसार विचरनेवाला, झूठा, सबके द्वेषका पात्र, अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर न रहनेवाला, चुगलखोर, अपवित्र बुद्धिवाला, ईर्ष्यालु, पापपूर्ण विचार रखनेवाला, दुष्ट स्वभाववाला, मनको वशमें न रखनेवाला, नृशंस, धूर्त, मित्रोंकी बुराई करनेवाला, सदा दूसरोंका धन लेनेकी इच्छा रखनेवाला, यथाशक्ति देनेवालेपर भी संतुष्ट न रहनेवाला, मन्दबुद्धि, मित्रको भी सदा धैर्यसे विचलित करनेवाला, असावधान, बेमौके क्रोध करनेवाला, अकस्मात् विरोधी होकर कल्याणकारी सुहृदोंको भी शीघ्र ही त्याग देनेवाला, अनजानमें थोड़ा-सा भी अपराध बन जानेपर मित्रका अनिष्ट करनेवाला, पापी, अपना काम बनानेके लिये ही मित्रोंसे मेल रखनेवाला, वास्तवमें मित्रद्वेषी, मुखसे मित्रताकी बातें करके भीतरसे शत्रुभाव रखनेवाला, कुटिल दृष्टिसे देखनेवाला, विपरीतदर्शी, भलाईसे कभी पीछे न हटनेवाले मित्रको भी त्याग देनेवाला, शराबी, द्वेषी, क्रोधी, निर्दयी, क्रूर, दूसरोंको सतानेवाला, मित्रद्रोही, प्राणियोंकी हिंसामें तत्पर रहनेवाला, कृतघ्न तथा नीच हो, संसारमें ऐसे मनुष्यके साथ कभी संधि नहीं करनी चाहिये। जो दूसरोंका छिद्र खोजता हो, वह भी संधि करनेके योग्य नहीं है। अब संधि करनेके योग्य पुरुषोंको बता रहा हूँ, सुनो ॥ ६–१६ ॥

कुलीना वाक्यसम्पन्ना ज्ञानविज्ञानकोविदाः।
रूपवन्तो गुणोपेतास्तथाऽलुब्धा जितश्रमाः ॥ १७ ॥
सन्मित्राश्च कृतज्ञाश्च सर्वज्ञा लोभवर्जिताः।
माधुर्यगुणसम्पन्नाः सत्यसंधा जितेन्द्रियाः ॥ १८ ॥
व्यायामशीलाः सततं कुलपुत्राः कुलोद्वहाः।
दोषैः प्रमुक्ताः प्रथितास्ते ग्राह्याः पार्थिवैर्नराः ॥ १९ ॥

जो कुलीन, बोलनेमें समर्थ, ज्ञान-विज्ञानमें कुशल, रूपवान्, गुणवान्, लोभहीन, काम करनेसे कभी न थकनेवाले, अच्छे मित्रोंसे सम्पन्न, कृतज्ञ, सर्वज्ञ, लोभसे दूर रहनेवाले, मधुरस्वभाववाले, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, सदा व्यायामशील, उत्तम कुलकी संतान, अपने कुलका भार वहन करनेमें समर्थ, दोषशून्य तथा लोकमें विख्यात हों, ऐसे मनुष्योंको राजा अपना मित्र बनावे ॥ १७–१९ ॥

यथाशक्ति समाचाराः सम्प्रतुष्यन्ति हि प्रभो।
नास्थाने क्रोधवन्तश्च न चाकस्माद् विरागिणः।
विरक्ताश्च न दुष्यन्ति मनसाप्यर्थकोविदाः ॥ २० ॥
आत्मानं पीडयित्वापि सुहृत्कार्यपरायणाः।
विरज्यन्ति न मित्रेभ्यो वासो रक्तमिवाविकम् ॥ २१ ॥
क्रोधाच्च लोभमोहाभ्यां नानर्थे युवतीषु च।
न दर्शयन्ति सुहृदो विश्वस्ता धर्मवत्सलाः ॥ २२ ॥
लोष्टकाञ्चनतुल्यार्थाः सुहृत्सु दृढबुद्धयः।
ये चरन्त्यभिमानानि सृष्टार्थमनुषङ्गिणः ॥ २३ ॥
संगृह्णन्तः परिजनं स्वाम्यर्थपरमाः सदा।
ईदृशैः पुरुषश्रेष्ठैर्यः संधिं कुरुते नृपः ॥ २४ ॥
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव।

प्रभो ! जो अपनी शक्तिके अनुसार कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करते और संतुष्ट रहते हैं, जिन्हें बेमौके क्रोध नहीं आता, जो अकस्मात् स्नेहका त्याग नहीं करते, जो उदासीन हो जानेपर भी मनसे कभी बुराई नहीं चाहते, अर्थके तत्त्वको समझते हैं और अपनेको कष्टमें डालकर भी हितैषी पुरुषोंका कार्य सिद्ध करते हैं। जैसे रँगा हुआ ऊनी कपड़ा अपना रंग नहीं छोड़ता, उसी प्रकार जो मित्रकी ओरसे विरक्त नहीं होते हैं, जो क्रोधवश मित्रका अनर्थ करनेमें प्रवृत्त नहीं होते हैं तथा लोभ और मोहके वशीभूत हो मित्रकी युवतियोंपर अपनी आसक्ति नहीं दिखाते, जो मित्रके विश्वासपात्र और धर्मके प्रति अनुरक्त हैं, जिनकी दृष्टिमें मिट्टीका ढेला और सोना दोनों एक-से हैं, जो सदा सुहृदोंके प्रति सुस्थिर बुद्धि रखनेवाले हैं, सबके लिये प्रमाणभूत शास्त्रोंके अनुसार चलते हैं और प्रारब्धवश प्राप्त हुए धनमें ही संतुष्ट रहते हैं, जो कुटुम्बका संग्रह रखते हुए सदा अपने सुहृद् एवं स्वामीके कार्य-साधनमें तत्पर रहते हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ जो राजा संधि (मेल) करता है, उसका राज्य उसी तरह बढ़ता है, जैसे चन्द्रमाकी चाँदनी २०-२४½

शास्त्रनित्या जितक्रोधा बलवन्तो रणे सदा ॥ २५ ॥
जन्मशीलगुणोपेताः संधेयाः पुरुषोत्तमाः।

जो प्रतिदिन शास्त्रोंका स्वाध्याय करते हैं, क्रोधको काबूमें रखते हैं और युद्धमें सदा प्रबल रहते हैं, जिनका उत्तम कुलमें जन्म हुआ है, जो शीलवान् और श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष ही मित्र बनानेके योग्य होते हैं ॥ २५½ ॥

ये च दोषसमायुक्ता नराः प्रोक्ता मयानघ ॥ २६ ॥
तेषामप्यधमा राजन् कृतघ्ना मित्रघातकाः।
त्यक्तव्यास्तु दुराचाराः सर्वेषामिति निश्चयः ॥ २७ ॥

निष्पाप नरेश ! मैंने जो दोषयुक्त मनुष्य बताये हैं, उन सबमें अधम होते हैं कृतघ्न ! वे मित्रोंकी हत्यातक कर डालते हैं। ऐसे दुराचारी नराधमोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये। यह सबका निश्चय है ॥ २६-२७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणाथ सम्बन्धं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यः प्रोक्तस्तद् वदस्व मे ॥ २८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! आपने जिसे मित्रद्रोही और कृतघ्न कहा है, उसका यथार्थ इतिहास क्या है ? यह मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ, आप कृपा करके मुझे बताइये ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
उदीच्यां दिशि यद् वृत्तं म्लेच्छेषु मनुजाधिप ॥ २९ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें एक पुराना इतिहास बता रहा हूँ। यह घटना उत्तरदिशामें म्लेच्छोंके देशमें घटित हुई थी ॥ २९ ॥

ब्राह्मणो मध्यदेशीयः कश्चिद् वै ब्रह्मवर्जितः ।
ग्रामं वृद्धियुतं वीक्ष्य प्राविशद् भैक्ष्यकाङ्क्षया ॥ ३० ॥

मध्यदेशका एक ब्राह्मण, जिसने वेद बिल्कुल नहीं पढ़ा था, कोई सम्पन्न गाँव देखकर उसमें भीख माँगनेके लिये गया ॥ ३० ॥

तत्र दस्युर्धनयुतः सर्ववर्णविशेषवित् ।
ब्रह्मण्यः सत्यसंधश्च दाने च निरतोऽभवत् ॥ ३१ ॥

उस गाँवमें एक धनी डाकू रहता था, जो समस्त वर्णोंकी विशेषताका जानकार था । उसके हृदयमें ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति थी । वह सत्यप्रतिज्ञ और दानी था ॥ ३१ ॥

तस्य क्षयमुपागम्य ततो भिक्षामयाचत ।
प्रतिश्रयं च वासार्थं भिक्षां चैवाथ वार्षिकीम् ॥ ३२ ॥
प्रादात् तस्मै स विप्राय वस्त्रं च सदशं नवम् ।
नारीं चापि वयोपेतां भर्त्रा विरहितां तथा ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणने उसीके घर जाकर भिक्षाके लिये याचना की । दस्युने ब्राह्मणको रहनेके लिये एक घर देकर वर्षभर निर्वाह करनेके योग्य अन्नकी भिक्षाका प्रबन्ध कर दिया, उपयुक्त नया वस्त्र दिया और उसकी सेवामें एक युवती दासी भी दे दी, जो उस समय पतिसे रहित थी ॥ ३२-३३ ॥

एतत् सम्प्राप्य हृष्टात्मा दस्योः सर्वं द्विजस्तथा ।
तस्मिन् गृहवरे राजंस्तया रेमे स गौतमः ॥ ३४ ॥

राजन् ! दस्युसे ये सारी वस्तुएँ पाकर ब्राह्मण मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ और उस सुन्दर गृहमें दासीके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥ ३४ ॥

कुटुम्बार्थं च दास्याश्च साहाय्यं चाप्यथाकरोत् ।
तत्रावसत् स वर्षांश्च समृद्धे शबरालये ॥ ३५ ॥

वह दासीके कुटुम्बके लिये कुछ सहायता भी करने लगा । ब्राह्मणने भीलके उस समृद्धिशाली भवनमें अनेक वर्षों-तक निवास किया ॥ ३५ ॥

बाणवेधे परं यत्नमकरोच्चैव गौतमः ।
चक्राङ्गान् स च नित्यं वै सर्वतो वनगोचरान् ॥ ३६ ॥
जघान गौतमो राजन् यथा दस्युगणास्तथा ।
हिंसापटुर्घृणाहीनः सदा प्राणिवधे रतः ॥ ३७ ॥

उसका नाम गौतम था । उसने बाण चलाकर लक्ष्य बेधनेका वहाँ बड़े यत्नके साथ अभ्यास किया । राजन् ! गौतम भी दस्युओंकी तरह प्रतिदिन जंगलमें सब ओर घूम-फिरकर हंसोंका शिकार करने लगा । वह हिंसामें बड़ा प्रवीण था । उसमें दया नहीं थी । वह सदा प्राणियोंको मारनेकी ही ताकमें लगा रहता था ॥ ३६-३७ ॥

गौतमः संनिकर्षेण दस्युभिः समतामियात् ।
तथा तु वसतस्तस्य दस्युग्रामे सुखं तदा ॥ ३८ ॥
अगमन् बहवो मासा निघ्नतः पक्षिणो बहून् ।

डाकुओंके सम्पर्कमें रहनेसे गौतम भी उनके ही समान पूरा डाकू बन गया । डाकुओंके गाँवमें सुखपूर्वक रहकर प्रतिदिन बहुत-से पक्षियोंका शिकार करते हुए उसके कई महीने बीत गये ॥ ३८½ ॥

ततः कदाचिदपरो द्विजस्तं देशमागतः ॥ ३९ ॥
जटाचीराजिनधरः स्वाध्यायपरमः शुचिः ।
विनीतो नियताहारो ब्रह्मण्यो वेदपारगः ॥ ४० ॥

तदनन्तर एक दिन कोई दूसरा ब्राह्मण उस गाँवमें आया, जो जटा, वल्कल और मृगचर्म धारण किये हुए था । वह स्वाध्यायपरायण, पवित्र, विनयी, नियमके अनुकूल भोजन करनेवाला, ब्राह्मणभक्त तथा वेदोंका पारङ्गत विद्वान् था ॥ ३९-४० ॥

स ब्रह्मचारी तद्देश्यः सखा तस्यैव सुप्रियः ।
तं दस्युग्राममगमद् यत्रासौ गौतमोऽवसत् ॥ ४१ ॥

वह ब्रह्मचारी ब्राह्मण गौतमके ही गाँवका निवासी तथा उसका परम प्रिय मित्र था और घूमता हुआ डाकुओंके उसी गाँवमें जा पहुँचा था, जहाँ गौतम निवास करता था ॥ ४१ ॥

स तु विप्रगृहान्वेषी शूद्रान्नपरिवर्जकः ।
ग्रामे दस्युसमाकीर्णे व्यचरत् सर्वतोदिशम् ॥ ४२ ॥

वह शूद्रका अन्न नहीं खाता था; इसलिये दस्युओंसे भरे हुए उस गाँवमें ब्राह्मणके घरकी तलाश करता हुआ सब ओर घूमने लगा ॥ ४२ ॥

ततः स गौतमगृहं प्रविवेश द्विजोत्तमः ।
गौतमश्चापि सम्प्राप्तस्तावन्योन्येन संगतौ ॥ ४३ ॥

घूमता-घामता वह श्रेष्ठ ब्राह्मण गौतमके घरपर गया, इतनेहीमें गौतम भी शिकारसे लौटकर वहाँ आ पहुँचा । उन दोनोंकी एक दूसरेसे भेंट हुई ॥ ४३ ॥

चक्राङ्गभारस्कन्धं तं धनुष्पाणिं धृतायुधम् ।
रुधिरेणावसिक्ताङ्गं गृहद्वारमुपागतम् ॥ ४४ ॥
तं दृष्ट्वा पुरुषादाभमपध्वस्तं क्षयागतम् ।
अभिज्ञाय द्विजो व्रीडन्निदं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणने देखा, गौतमके कंधेपर मारे गये हंसकी लाश है, हाथमें धनुष और बाण है, सारा शरीर रक्तसे सींच उठा है, घरके दरवाजेपर आया हुआ गौतम नरभक्षी राक्षसके समान जान पड़ता है और ब्राह्मणत्वसे भ्रष्ट हो चुका है । उसे इस अवस्थामें घरपर आया देख ब्राह्मणने पहचान लिया । पहचानकर वे बड़े लज्जित हुए और उससे इस प्रकार बोले— ॥ ४४-४५ ॥

किमिदं कुरुषे मोहाद् विप्रस्त्वं हि कुलोद्वहः ।
मध्यदेशपरिज्ञातो दस्युभावं गतः कथम् ॥ ४६ ॥

'अरे ! तू मोहवश यह क्या कर रहा है ? तू तो मध्यदेश-का विख्यात एवं कुलीन ब्राह्मण था । यहाँ डाकू कैसे बन गया ? ॥ ४६ ॥

पूर्वान् स्मर द्विज ज्ञातीन् प्रख्यातान् वेदपारगान्।
तेषां वंशेऽभिजातस्त्वमीदृशः कुलपांसनः ॥ ४७ ॥

'ब्रह्मन् ! अपने पूर्वजोंको तो याद कर । उनकी कितनी ख्याति थी। वे कैसे वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे और तू उन्हींके वंशमें पैदा होकर ऐसा कुलकलङ्क निकला ॥ ४७ ॥

अवबुध्यात्मनाऽऽत्मानं सत्त्वं शीलं श्रुतं दमम् ।
अनुक्रोशं च संस्मृत्य त्यज वासमिमं द्विज ॥ ४८ ॥

'अब भी तो अपने-आपको पहचान ! तू द्विज है; अतः द्विजोचित सत्त्व, शील, शास्त्रज्ञान, संयम और दयाभावको याद करके अपने इस निवासस्थानको त्याग दे' ॥ ४८ ॥

स एवमुक्तः सुहृदा तेन तत्र हितैषिणा ।
प्रत्युवाच ततो राजन् विनिश्चित्य तदार्तवत् ॥ ४९ ॥

राजन् ! अपने उस हितैषी सुहृद्‌के इस प्रकार कहनेपर गौतम मन-ही-मन कुछ निश्चय करके आर्त-सा होकर बोला—॥ ४९ ॥

निर्धनोऽस्मि द्विजश्रेष्ठ नापि वेदविदप्यहम् ।
वित्तार्थमिह सम्प्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम ॥ ५० ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! मैं निर्धन हूँ और वेदको भी नहीं जानता; अतः द्विजप्रवर ! मुझे धन कमानेके लिये इधर आया हुआ समझें ॥ ५० ॥

त्वद्दर्शनात् तु विप्रेन्द्र कृतार्थोऽस्म्यद्य वै द्विज।
आवां हि सह यास्यावः श्वो वसस्वाद्य शर्वरीम् ॥ ५१ ॥

'विप्रेन्द्र ! आज आपके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया। ब्रह्मन् ! अब रातभर यहीं रहिये, कल सबेरे हम दोनों साथ ही चलेंगे' ॥ ५१ ॥

स तत्र न्यवसद् विप्रो घृणी किञ्चिदसंस्पृशन् ।
क्षुधितश्छन्द्यमानोऽपि भोजनं नाभ्यनन्दत ॥ ५२ ॥

वह ब्राह्मण दयालु था। गौतमके अनुरोधसे उसके यहाँ ठहर गया, किंतु वहाँकी किसी भी वस्तुको हाथसे छुआ भी नहीं। यद्यपि वह भूखा था और भोजन करनेके लिये गौतमद्वारा उससे बड़ी अनुनय-विनय की गयी, तो भी किसी तरह वहाँका अन्न ग्रहण करना उसने स्वीकार नहीं किया ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गौतमका समुद्रकी ओर प्रस्थान और संध्याके समय एक दिव्य बकपक्षीके घरपर अतिथि होना

भीष्म उवाच

तस्यां निशायां व्युष्टायां गते तस्मिन् द्विजोत्तमे ।
निष्क्रम्य गौतमोऽगच्छत् समुद्रं प्रति भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! जब रात बीती, सबेरा हुआ और वह श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँसे चला गया, तब गौतम भी घर छोड़कर समुद्रकी ओर चल दिया ॥ १ ॥

सामुद्रिकान् स वणिजस्ततोऽपश्यत् स्थितान् पथि ।
स तेन सह सार्थेन प्रययौ सागरं प्रति ॥ २ ॥

रास्तेमें उसने देखा कि समुद्रके आसपास रहनेवाले कुछ व्यापारी वैश्य ठहरे हुए हैं । वह उन्हींके दलके साथ हो लिया और समुद्रकी ओर जाने लगा ॥ २ ॥

स तु सार्थो महान् राजन् कस्मिंश्चिद् गिरिगह्वरे ।
मत्तेन द्विरदेनाथ निहतः प्रायशोऽभवत् ॥ ३ ॥

राजन् ! वैश्योंका वह महान् दल किसी पर्वतकी गुफामें डेरा डाले हुए था । इतनेहीमें एक मतवाले हाथीने उसपर आक्रमण कर दिया । उस दलके अधिकांश मनुष्य उसके द्वारा मारे गये ॥ ३ ॥

स कथंचिद् भयात् तस्माद् विमुक्तो ब्राह्मणस्तथा ।
कांदिग्भूतो जीवितार्थी प्रदुद्रावोत्तरां दिशम् ॥ ४ ॥

गौतम ब्राह्मण किसी तरह उस भयसे छूट तो गया; परंतु उस घबराहटमें वह यह निर्णय न कर सका कि मुझे किस दिशामें जाना है ? अपने प्राण बचानेके लिये वह उत्तर दिशाकी ओर भाग चला ॥ ४ ॥

स तु सार्थपरिभ्रष्टस्तस्माद् देशात् तथा च्युतः ।
एकाकी व्यचरत् तत्र वने किंपुरुषो यथा ॥ ५ ॥

व्यापारियोंके दलका साथ छूट गया, अतः उस देशसे भी भ्रष्ट होकर वह अकेला ही उस वनमें विचरने लगा; मानो कोई किंपुरुष घूम रहा हो ॥ ५ ॥

स पन्थानमथासाद्य समुद्राभिसरं तदा ।
आससाद वनं रम्यं दिव्यं पुष्पितपादपम् ॥ ६ ॥

उस समय समुद्रकी ओर जानेवाला एक मार्ग उसे मिल गया और उसीको पकड़कर वह दिव्य एवं रमणीय वनमें जा पहुँचा । वहाँके सभी वृक्ष सुन्दर फूलोंसे सुशोभित थे ॥ ६ ॥

सर्वर्तुकैराम्रवणैः पुष्पितैरुपशोभितम् ।
नन्दनोद्देशसदृशं यक्षकिंनरसेवितम् ॥ ७ ॥

सभी ऋतुओंमें फूलने-फलनेवाली आम्रवृक्षोंकी पंक्तियाँ उस वनकी शोभा बढ़ा रही थीं । यक्षों और किन्नरोंसे सेवित वह प्रदेश नन्दनवनके समान मनोरम जान पड़ता था ॥ ७ ॥

शालैस्तालैस्तमालैश्च कालागुरुवनैस्तथा ।
चन्दनस्य च मुख्यस्य पादपैरुपशोभितम् ।
गिरिप्रस्थेषु रम्येषु तेषु तेषु सुगन्धिषु ॥ ८ ॥
समन्ततो द्विजश्रेष्ठास्तत्राकूजन्त वै तदा ।

शाल, ताल, तमाल, काले अगुरुके वन तथा श्रेष्ठ चन्दनके वृक्ष उस वनको सुशोभित करते थे । वहाँके रमणीय और सुगन्धित पर्वतीय समतल प्रदेशोंमें चारों ओर उत्तमोत्तम पक्षी कलरव कर रहे थे ॥ ८½ ॥

मनुष्यवदनाश्चान्ये भारुण्डा इति विश्रुताः ॥ ९ ॥
भूलिङ्गशकुनाश्चान्ये सामुद्राः पर्वतोद्भवाः ।

कहीं मनुष्योंके समान मुखवाले 'भारुण्ड' नामक पक्षी बोलते थे। कहीं समुद्रतट और पर्वतोंपर रहनेवाले भूलिङ्ग पक्षी तथा अन्य विहंगम चहचहा रहे थे ॥ ९½ ॥

स तान्यतिमनोज्ञानि विहगानां रुतानि वै ॥ १० ॥
शृण्वन् सुरमणीयानि विप्रोऽगच्छत गौतमः ।

पक्षियोंके उन मधुर मनोहर एवं रमणीय कलरवोंको सुनता हुआ गौतम ब्राह्मण आगे बढ़ता चला गया ॥ १०½ ॥

ततोऽपश्यत् सुरम्येषु सुवर्णसिकताचिते ॥ ११ ॥
देशे समे सुखे चित्रे स्वर्गोद्देशसमे नृप ।
श्रिया जुष्टं महावृक्षं न्यग्रोधं च सुमण्डलम् ॥ १२ ॥
शाखाभिरनुरूपाभिर्भूषितं छत्रसंनिभम् ।
तस्य मूलं च संसिक्तं वरचन्दनवारिणा ॥ १३ ॥

नरेश्वर! तदनन्तर उन रमणीय प्रदेशोंमेंसे एक ऐसे स्थानपर जो सुवर्णमयी बालुकाराशिसे व्याप्त, समतल, सुखद, विचित्र तथा स्वर्गीय भूमिके समान मनोहर था, गौतमने एक अत्यन्त शोभायमान बरगदका विशाल वृक्ष देखा, जो चारों ओर मण्डलाकार फैला हुआ था। अपनी बहुत-सी सुन्दर शाखाओंके कारण वह वृक्ष एक महान् छत्रके समान जान पड़ता था। उसकी जड़ चन्दनमिश्रित जलसे सींची गयी थी ॥ ११–१३ ॥

दिव्यपुष्पान्वितं श्रीमत् पितामहसभोपमम् ।
तं दृष्ट्वा गौतमः प्रीतो मनःकान्तमनुत्तमम् ॥ १४ ॥

ब्रह्माजीकी सभाके समान शोभा पानेवाला वह वृक्ष दिव्य पुष्पोंसे सुशोभित था। उस परम उत्तम मनोरम वटवृक्षको देखकर गौतमको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १४ ॥

मेध्यं सुरगृहप्रख्यं पुष्पितैः पादपैर्वृतम् ।
तमासाद्य मुदा युक्तस्तस्याधस्तादुपाविशत् ॥ १५ ॥

वह पवित्र, देवगृहके समान सुन्दर और खिले हुए वृक्षोंसे घिरा हुआ था। उस वृक्षके पास जाकर वह बड़े हर्षके साथ उसके नीचे छायामें बैठा ॥ १५ ॥

तत्रासीनस्य कौन्तेय गौतमस्य सुखः शिवः ।
पुष्पाणि समुपस्पृश्य प्रववावनिलः शुभः ।
ह्लादयन् सर्वगात्राणि गौतमस्य तदा नृप ॥ १६ ॥

कुन्तीनन्दन! गौतमके वहाँ बैठते ही फूलोंका स्पर्श करके सुन्दर मन्द सुगन्ध वायु चलने लगी, जो बड़ी ही सुखद और कल्याणप्रद जान पड़ती थी। नरेश्वर! वह गौतमके सम्पूर्ण अङ्गोंको आह्लाद प्रदान कर रही थी ॥ १६ ॥

स तु विप्रः प्रशान्तश्च स्पृष्टः पुण्येन वायुना ।
सुखमासाद्य सुष्वाप भास्करश्चास्तमभ्ययात् ॥ १७ ॥

उस पवित्र वायुका स्पर्श पाकर गौतमको बड़ी शान्ति मिली। वह सुखका अनुभव करता हुआ वहीं लेट गया। उधर सूर्य भी डूब गया ॥ १७ ॥

ततोऽस्तं भास्करे याते संध्याकाल उपस्थिते ।
आजगाम स्वभवनं ब्रह्मलोकात् खगोत्तमः ॥ १८ ॥

तदनन्तर, सूर्यके अस्ताचलको चले जानेके पश्चात् संध्याकाल उपस्थित होनेपर ब्रह्मलोकसे वहाँ एक श्रेष्ठ पक्षी आया। वह वृक्ष ही उसका घर या वासस्थान था ॥ १८ ॥

नाडीजङ्घ इति ख्यातो दयितो ब्रह्मणः सखा ।
बकराजो महाप्राज्ञः कश्यपस्यात्मसम्भवः ॥ १९ ॥

वह महर्षि कश्यपका पुत्र और ब्रह्माजीका प्रिय सखा था। उसका नाम था नाडीजङ्घ। वह बगुलोंका राजा और महाबुद्धिमान् था ॥ १९ ॥

राजधर्मेति विख्यातो बभूवाप्रतिमो भुवि ।
देवकन्यासुतः श्रीमान् विद्वान् देवसमप्रभः ॥ २० ॥

वह अनुपम पक्षी इस भूतलपर राजधर्माके नामसे विख्यात था। देवकन्यासे उत्पन्न होनेके कारण उसके शरीरकी कान्ति देवताके समान थी। वह बड़ा विद्वान् था और दिव्य तेजसे सम्पन्न दिखायी देता था ॥ २० ॥

मृष्टाभरणसम्पन्नो भूषणैरर्कसंनिभैः ।
भूषितः सर्वगात्रेषु देवगर्भः श्रिया ज्वलन् ॥ २१ ॥

उसके अङ्गोंमें सूर्यदेवकी किरणोंके समान चमकीले आभूषण शोभा देते थे। वह देवकुमार अपने सभी अङ्गोंमें विशुद्ध एवं दिव्य आभरणोंसे विभूषित हो दिव्य दीप्तिसे देदीप्यमान होता था ॥ २१ ॥

तमागतं खगं दृष्ट्वा गौतमो विस्मितोऽभवत् ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तो हिंसार्थी चाभ्यवैक्षत ॥ २२ ॥

उस पक्षीको आया देख गौतम आश्चर्यसे चकित हो उठा। उस समय वह भूखा-प्यासा तो था ही, रास्ता चलनेकी थकावटसे भी चूर-चूर हो रहा था। अतः राजधर्माको मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर देखा ॥ २२ ॥

राजधर्मोवाच

स्वागतं भवतो विप्र दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मे गृहम् ।
अस्तं च सविता यातः संध्येयं समुपस्थिता ॥ २३ ॥

राजधर्मा (पास आकर) बोला—विप्रवर! आपका स्वागत है। यह मेरा घर है। आप यहाँ पधारे, यह मेरे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये। यह संध्याकाल उपस्थित है ॥ २३ ॥

मम त्वं निलयं प्राप्तः प्रियातिथिरनिन्दितः ।
पूजितो यास्यसि प्रातर्विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ २४ ॥

आप मेरे घर आये हुए प्रिय एवं उत्तम अतिथि हैं। मैं शास्त्रीय विधिके अनुसार आज आपकी पूजा करूँगा। रातमें मेरा आतिथ्य स्वीकार करके कल प्रातःकाल यहाँसे जाइयेगा ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६९ ॥

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गौतमका राजधर्माद्वारा आतिथ्यसत्कार और उसका राक्षसराज विरूपाक्षके भवनमें प्रवेश

भीष्म उवाच

गिरं तां मधुरां श्रुत्वा गौतमो विस्मितस्तदा ।
कौतूहलान्वितो राजन् राजधर्माणमैक्षत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! पक्षीकी वह मधुर वाणी सुनकर गौतमको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह कौतूहलपूर्ण दृष्टिसे राजधर्माकी ओर देखने लगा ॥ १ ॥

राजधर्मोवाच

भोः कश्यपस्य पुत्रोऽहं माता दाक्षायणी च मे ।
अतिथिस्त्वं गुणोपेतः स्वागतं ते द्विजोत्तम ॥ २ ॥

राजधर्मा बोला—द्विजश्रेष्ठ! मैं महर्षि कश्यपका पुत्र हूँ। मेरी माता दक्ष प्रजापतिकी कन्या हैं। आप गुणवान् अतिथि हैं, मैं आपका स्वागत करता हूँ ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

तस्मै दत्त्वा स सत्कारं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
शालपुष्पमयीं दिव्यां बृसीं वै समकल्पयत् ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर राजधर्माने शास्त्रीय विधिके अनुसार गौतमका सत्कार किया। शालके फूलोंका आसन बनाकर उसे बैठनेके लिये दिया ॥ ३ ॥



भगीरथरथाक्रान्तदेशान् गङ्गानिषेवितान् ।
ये चरन्ति महामीनास्तांश्च तस्यान्वकल्पयत् ॥ ४ ॥

राजा भगीरथके रथसे आक्रान्त हुए जिन भूभागोंमें श्रीगङ्गाजी प्रवाहित होती हैं, वहाँ गङ्गाजीके जलमें जो बड़े-बड़े मत्स्य विचरते हैं, उन्हींमेंसे कुछ मत्स्योंको लाकर राजधर्माने गौतमके लिये भोजनकी व्यवस्था की ॥ ४ ॥

वह्निं चापि सुसंदीप्तं मीनांश्चापि सुपीवरान् ।
स गौतमायातिथये न्यवेदयत काश्यपिः ॥ ५ ॥

कश्यपके उस पुत्रने अग्नि प्रज्वलित कर दी और मोटे-मोटे मत्स्य लाकर अपने अतिथि गौतमको अर्पित कर दिये ॥ ५ ॥

भुक्तवन्तं च तं विप्रं प्रीतात्मानं महातपाः ।
क्लमापनयनार्थं स पक्षाभ्यामभ्यवीजयत् ॥ ६ ॥

वह ब्राह्मण उन मत्स्योंको पकाकर जब खा चुका और उसकी अन्तरात्मा तृप्त हो गयी, तब वह महातपस्वी पक्षी उसकी थकावट दूर करनेके लिये अपने पंखोंसे हवा करने लगा ॥ ६ ॥

ततो विश्रान्तमासीनं गोत्रप्रश्नमपृच्छत ।
सोऽब्रवीद् गौतमोऽस्मीति ब्रह्म नान्यदुदाहरत् ॥ ७ ॥

विश्रामके पश्चात् जब वह बैठा, तब राजधर्माने उससे गोत्र पूछा। गौतमने कहा—'मेरा नाम गौतम है और मैं जातिसे ब्राह्मण हूँ।' इससे अधिक कोई बात वह बता न सका ॥ ७ ॥

तस्मै पर्णमयं दिव्यं दिव्यपुष्पाधिवासितम् ।
गन्धाढ्यं शयनं प्रादात् स शिश्ये तत्र वै सुखम् ॥ ८ ॥

तब पक्षीने उसके लिये पत्तोंका दिव्य बिछावन तैयार किया, जो फूलोंसे अधिवासित होनेके कारण सुगन्धसे मँह-मँह महक रहा था। वह बिछावन उसे दिया और गौतम उसपर सुखपूर्वक सोया ॥ ८ ॥

अथोपविष्टं शयने गौतमं धर्मराट् तदा ।
पप्रच्छ काश्यपो वाग्मी किमागमनकारणम् ॥ ९ ॥

धर्मराज! जब गौतम उस बिछौनेपर बैठा, तब बातचीतमें कुशल कश्यपकुमारने पूछा—'ब्रह्मन्! आप इधर किसलिये आये हैं?' ॥ ९ ॥

ततोऽब्रवीद् गौतमस्तं दरिद्रोऽहं महामते ।
समुद्रगमनाकाङ्क्षी द्रव्यार्थमिति भारत ॥ १० ॥

भारत! तब गौतमने उससे कहा—'महामते! मैं दरिद्र हूँ और धनके लिये समुद्रतटपर जानेकी इच्छा लेकर घरसे चला हूँ' ॥ १० ॥

तं काश्यपोऽब्रवीत् प्रीतो नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि ।
कृतकार्यो द्विजश्रेष्ठ सद्रव्यो यास्यसे गृहान् ॥ ११ ॥

यह सुनकर राजधर्माने प्रसन्न होकर कहा—'द्विजश्रेष्ठ! अब आप वहाँतक जानेके लिये उत्सुक न हों, यहीं आपका काम हो जायगा। आप यहींसे धन लेकर अपने घरको जाइयेगा ॥ ११ ॥

चतुर्विधा ह्यर्थसिद्धिर्बृहस्पतिमतं यथा ।
पारम्पर्यं तथा दैवं काम्यं मैत्रमिति प्रभो ॥ १२ ॥

'प्रभो! बृहस्पतिजीके मतके अनुसार अर्थकी सिद्धि चार

प्रकारसे होती है—वंशपरम्परासे, प्रारब्धकी अनुकूलतासे, धनके लिये किये गये सकामकर्मसे और मित्रके सहयोगसे ॥ १२॥

प्रादुर्भूतोऽस्मि ते मित्रं सुहृत्त्वं च मम त्वयि।
सोऽहं तथा यतिष्यामि भविष्यसि यथार्थवान् ॥ १३ ॥

'मैं आपका मित्र हो गया हूँ, आपके प्रति मेरा सौहार्द बढ़ गया है; अतः मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे आपको अर्थकी प्राप्ति हो जायगी' ॥ १३ ॥

ततः प्रभातसमये सुखं दृष्ट्वाब्रवीदिदम्।
गच्छ सौम्य पथानेन कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ १४ ॥
इतस्त्रियोजनं गत्वा राक्षसाधिपतिर्महान्।
विरूपाक्ष इति ख्यातः सखा मम महाबलः ॥ १५ ॥

तदनन्तर जब प्रातःकाल हुआ, तब राजधर्माने ब्राह्मणके सुखका उपाय सोचकर इस प्रकार कहा—'सौम्य ! इस मार्गसे जाइये, आपका कार्य सिद्ध हो जायगा। यहाँसे तीन योजन दूर जानेपर जो नगर मिलेगा, वहाँ महाबली राक्षसराज विरूपाक्ष रहते हैं, वे मेरे महान् मित्र हैं ॥ १४-१५ ॥

तं गच्छ द्विजमुख्य त्वं स मद्वाक्यप्रचोदितः।
कामानभीप्सितांस्तुभ्यं दाता नास्त्यत्र संशयः ॥ १६ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! आप उनके पास जाइये । वे मेरे कहनेसे आपको यथेष्ट धन देंगे और आपकी मनोवाञ्छित कामनाएँ पूर्ण करेंगे, इसमें संशय नहीं है' ॥ १६ ॥

इत्युक्तः प्रययौ राजन् गौतमो विगतक्लमः।
फलान्यमृतकल्पानि भक्षयन् स यथेष्टतः ॥ १७ ॥
चन्दनागुरुमुख्यानि त्वक्पत्राणां वनानि च।
तस्मिन् पथि महाराज सेवमानो द्रुतं ययौ ॥ १८ ॥

राजन् ! उसके ऐसा कहनेपर गौतम वहाँसे चल दिया। उसकी सारी थकावट दूर हो चुकी थी। महाराज ! मार्गमें तेजपातोंके वनमें, जहाँ चन्दन और अगुरुके वृक्षोंकी प्रधानता थी, विश्राम करता और इच्छानुसार अमृतके समान मधुर फल खाता हुआ वह बड़ी तेजीसे आगे बढ़ता चला गया ॥

ततो मेरुव्रजं नाम नगरं शैलतोरणम्।
शैलप्राकारवप्रं च शैलयन्त्राकुलं तथा ॥ १९ ॥

चलते-चलते वह मेरुव्रज नामक नगरमें जा पहुँचा, जिसके चारों ओर पर्वतोंके टीले और पर्वतोंकी ही चहारदिवारी थी। उसका सदर फाटक भी एक पर्वत ही था। नगरकी रक्षाके लिये सब ओर शिलाकी बड़ी-बड़ी चट्टानें और मशीनें थीं ॥ १९ ॥

विदितश्चाभवत् तस्य राक्षसेन्द्रस्य धीमतः।
प्रहितः सुहृदा राजन् प्रीयमाणः प्रियातिथिः ॥ २० ॥

परम बुद्धिमान् राक्षसराज विरूपाक्षको सेवकोंद्वारा यह सूचना दी गयी कि राजन् ! आपके मित्रने अपने एक प्रिय अतिथिको आपके पास भेजा है, वह बहुत प्रसन्न है ॥ २० ॥

ततः स राक्षसेन्द्रः स्वान् प्रेष्यानाह युधिष्ठिर।
गौतमो नगरद्वाराच्छीघ्रमानीयतामिति ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! यह समाचार पाते ही राक्षसराजने अपने सेवकोंसे कहा—'गौतमको नगरद्वारसे शीघ्र यहाँ लाया जाय' ॥

ततः पुरवरात् तस्मात् पुरुषाः श्येनवेगिनः।
गौतमेत्यभिभाषन्तः पुरद्वारमुपागमन् ॥ २२ ॥

यह आदेश प्राप्त होते ही राजसेवक गौतमको पुकारते हुए बाजकी तरह झपटकर उस श्रेष्ठ नगरके फाटकपर आये ॥

ते तमूचुर्महाराज राजप्रेष्यास्तदा द्विजम्।
त्वरस्व तूर्णमागच्छ राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ॥ २३ ॥

महाराज ! राजाके उन सेवकोंने उस समय उस ब्राह्मणसे कहा—'ब्रह्मन् ! जल्दी कीजिये। शीघ्र आइये। महाराज आपसे मिलना चाहते हैं ॥ २३ ॥

राक्षसाधिपतिर्वीरो विरूपाक्ष इति श्रुतः।
स त्वां त्वरति वै द्रष्टुं तत् क्षिप्रं संविधीयताम् ॥ २४ ॥

'विरूपाक्ष नामसे प्रसिद्ध वीर राक्षसराज आपको देखनेके लिये उतावले हो रहे हैं; अतः आप शीघ्रता कीजिये' ॥२४॥

ततः स प्राद्रवद् विप्रो विस्मयाद् विगतक्लमः।
गौतमः परमर्धिं तां पश्यन् परमविस्मितः ॥ २५ ॥

बुलावा सुनते ही गौतमकी थकावट दूर हो गयी। वह विस्मित होकर दौड़ पड़ा। राक्षसराजकी उस महासमृद्धिको देखकर उसे बड़ा आश्चर्य होता था ॥ २५ ॥

तैरेव सहितो राज्ञो वेश्म तूर्णमुपाद्रवत्।
दर्शनं राक्षसेन्द्रस्य काङ्क्षमाणो द्विजस्तदा ॥ २६ ॥

राक्षसराजके दर्शनकी इच्छा मनमें लिये वह ब्राह्मण उन सेवकोंके साथ शीघ्र ही राजमहलमें जा पहुँचा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७० ॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गौतमका राक्षसराजके यहाँसे सुवर्णराशि लेकर लौटना और अपने मित्र बकके वधका घृणित विचार मनमें लाना

भीष्म उवाच

ततः स विदितो राज्ञः प्रविश्य गृहमुत्तमम्।
पूजितो राक्षसेन्द्रेण निषसादासनोत्तमे ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर राजाको उसके आगमनकी सूचना दी गयी और वह उनके उत्तम भवनमें प्रविष्ट हुआ। वहाँ राक्षसराजने उसका विधिवत् पूजन किया।

तत्पश्चात् वह एक उत्तम आसनपर विराजमान हुआ ॥ १ ॥

पृष्टश्च गोत्रचरणं स्वाध्यायं ब्रह्मचारिकम् ।
न तत्र व्याजहारान्यद् गोत्रमात्राद‍ृते द्विजः ॥ २ ॥

विरूपाक्षने गौतमसे उसके गोत्र, शाखा और ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक किये गये स्वाध्यायके विषयमें प्रश्न किया; परंतु उसने गोत्र (जाति) के सिवा और कुछ नहीं बताया ॥ २ ॥

ब्रह्मवर्चसहीनस्य स्वाध्यायोपरतस्य च ।
गोत्रमात्रविदो राजा निवासं समपृच्छत ॥ ३ ॥

तब ब्राह्मणोचित तेजसे हीन, स्वाध्यायसे उपरत, केवल गोत्र अथवा जातिका नाम जाननेवाले उस ब्राह्मणसे राजाने उसका निवासस्थान पूछा ॥ ३ ॥

राक्षस उवाच

क ते निवासः कल्याण किंगोत्रा ब्राह्मणी च ते ।
तत्त्वं ब्रूहि न भीः कार्या विश्वसस्व यथासुखम् ॥ ४ ॥

राक्षसराज बोले—भद्र ! तुम्हारा निवास कहाँ है ? तुम्हारी पत्नी किस गोत्रकी कन्या है ? यह सब ठीक-ठीक बताओ । भय न करो । मुझपर विश्वास करो और सुखसे रहो ॥

गौतम उवाच

मध्यदेशप्रसूतोऽहं वासो मे शबरालये ।
शूद्रा पुनर्भूर्भार्या मे सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥

गौतमने कहा—राक्षसराज ! मेरा जन्म तो हुआ है मध्यदेशमें, किंतु मैं एक भीलके घरमें रहता हूँ । मेरी स्त्री शूद्र जातिकी है और मुझसे पहले दूसरेकी पत्नी रह चुकी है । यह बात मैं आपसे सत्य ही कहता हूँ ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

ततो राजा विममृशे कथं कार्यमिदं भवेत् ।
कथं वा सुकृतं मे स्यादिति बुद्ध्यान्वचिन्तयत् ॥ ६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह सुनकर राक्षसराज मन-ही-मन विचार करने लगे कि अब किस तरह काम करना चाहिये ? कैसे मुझे पुण्य प्राप्त हो सकता है ? इस प्रकार उन्होंने बारंबार बुद्धि लगाकर सोचा और विचारा ॥ ६ ॥

अयं वै जन्मना विप्रः सुहृत् तस्य महात्मनः ।
सम्प्रेषितश्च तेनायं काश्यपेन ममान्तिकम् ॥ ७ ॥
तस्य प्रियं करिष्यामि स हि मामाश्रितः सदा ।
भ्राता मे बान्धवश्चासौ सखा च हृदयङ्गमः ॥ ८ ॥

वे मन-ही-मन कहने लगे, 'यह केवल जन्मसे ही ब्राह्मण है; परंतु महात्मा राजधर्माका सुहृद् है । उन कश्यपकुमारने ही इसे यहाँ मेरे पास भेजा है; अतः उनका प्रिय कार्य अवश्य करूँगा । वह सदा मुझपर भरोसा रखता है और मेरा भाई, बान्धव तथा हार्दिक मित्र भी है ॥ ७-८ ॥

कार्तिक्यामद्य भोक्तारः सहस्रं मे द्विजोत्तमाः ।
तत्रायमपि भोक्ता च देयमस्मै च मे धनम् ॥ ९ ॥
स चाद्य दिवसः पुण्यो ह्यतिथिश्चायमागतः ।
संकल्पितं चैव धनं किं विचार्यमतः परम् ॥ १० ॥

'आज कार्तिककी पूर्णिमा है । आजके दिन सहस्रों श्रेष्ठ ब्राह्मण मेरे यहाँ भोजन करेंगे । उन्हींमें यह भी भोजन कर लेगा, उन्हींके साथ इसे भी धन देना चाहिये । आज पुण्य दिवस है, यह ब्राह्मण अतिथिरूपसे यहाँ आया है और मैंने धन दान करनेका संकल्प कर ही रक्खा है । अब इसके बाद क्या विचार करना है ?' ॥ ९-१० ॥

ततः सहस्रं विप्राणां विदुषां समलंकृतम् ।
स्नातानामनुसम्प्राप्तं सुमहत् क्षौमवाससाम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर भोजनके समय हजारों विद्वान् ब्राह्मण स्नान करके रेशमी वस्त्र और अलंकार धारण किये वहाँ आ पहुँचे ॥ ११ ॥

तानागतान् द्विजश्रेष्ठान् विरूपाक्षो विशाम्पते ।
यथार्हं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १२ ॥

प्रजानाथ ! विरूपाक्षने वहाँ पधारे हुए उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका शास्त्रीय विधिके अनुसार यथायोग्य स्वागत-सत्कार किया ॥

बृस्यस्तेषां तु संन्यस्ता राक्षसेन्द्रस्य शासनात् ।
भूमौ वरकुशाः स्तीर्णाः प्रेष्यैर्भरतसत्तम ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राक्षसराजकी आज्ञासे सेवकोंने जमीनपर उनके लिये कुशाके सुन्दर आसन बिछा दिये ॥ १३ ॥

तासु ते पूजिता राज्ञा निषण्णा द्विजसत्तमाः ।
तिलदर्भोदकेनाथ अर्चिता विधिवद् द्विजाः ॥ १४ ॥

राजाके द्वारा सम्मानित वे श्रेष्ठ ब्राह्मण जब उन आसनोंपर विराजमान हो गये, तब विरूपाक्षने तिल, कुश और जल लेकर उनका विधिवत् पूजन किया ॥ १४ ॥

विश्वेदेवाः सपितरः साग्नयश्चोपकल्पिताः ।
विलिप्ताः पुष्पवन्तश्च सुप्रचाराः सुपूजिताः ।
व्यराजन्त महाराज नक्षत्रपतयो यथा ॥ १५ ॥

उनमें विश्वेदेवों, पितरों तथा अग्निदेवकी भावना करके उन सबको चन्दन लगाया, फूलोंकी मालाएँ पहनायीं और सुन्दर रीतिसे उनकी पूजा की । महाराज ! उन आसनोंपर बैठकर वे ब्राह्मण चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाने लगे ॥

ततो जाम्बूनदीः पात्रीर्वज्राङ्का विमलाः शुभाः ।
वरान्नपूर्णा विप्रेभ्यः प्रादान्मधुघृतप्लुताः ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् उसने हीरोंसे जड़ी हुई सोनेकी स्वच्छ सुन्दर थालियोंमें घीसे बने हुए मीठे पकवान परोसकर उन ब्राह्मणोंके आगे रख दिये ॥ १६ ॥

तस्य नित्यं सदाऽऽषाढ्यां माघ्यां च बहवो द्विजाः ।
ईप्सितं भोजनवरं लभन्ते सत्कृतं सदा ॥ १७ ॥

उसके यहाँ आषाढ़ और माघकी पूर्णिमाको सदा बहुत-से ब्राह्मण सत्कारपूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार उत्तम भोजन पाते थे ॥ १७ ॥

विशेषतस्तु कार्तिक्यां द्विजेभ्यः सम्प्रयच्छति ।
शरद्व्यपाये रत्नानि पौर्णमास्यामिति श्रुतिः ॥ १८ ॥

विशेषतः कार्तिककी पूर्णिमाको, जब कि शरद्‌ऋतुकी

समाप्ति होती है, वह ब्राह्मणोंको रत्नोंका दान करता था; ऐसा सुननेमें आया है ॥ १८ ॥

सुवर्णं रजतं चैव मणीनथ च मौक्तिकान् ॥ १९ ॥
वज्रान् महाधनांश्चैव वैदूर्याजिनराङ्कवान् ।
रत्नराशीन् विनिक्षिप्य दक्षिणार्थे स भारत ॥ २० ॥
ततः प्राह द्विजश्रेष्ठान् विरूपाक्षो महाबलः ।
गृह्णीत रत्नान्येतानि यथोत्साहं यथेष्टतः ॥ २१ ॥
येषु येषु च भाण्डेषु भुक्तं वो द्विजसत्तमाः ।
तान्येवादाय गच्छध्वं स्ववेश्मानीति भारत ॥ २२ ॥

भारत ! भोजनके पश्चात् ब्राह्मणोंके समक्ष बहुत-से सोने, चाँदी, मणि, मोती, बहुमूल्य हीरे, वैदूर्यमणि, रंकु-मृगके चर्म तथा रत्नोंके कई ढेर लगाकर महाबली विरूपाक्षने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे कहा—'द्विजवरो ! आपलोग अपनी इच्छा और उत्साहके अनुसार इन रत्नोंको उठा ले जायँ और जिनमें आपलोगोंने भोजन किया है, उन पात्रोंको भी अपने घर लेते जायँ' ॥

इत्युक्तवचने तस्मिन् राक्षसेन्द्रे महात्मनि ।
यथेष्टं तानि रत्नानि जगृहुर्ब्राह्मणर्षभाः ॥ २३ ॥

उन महात्मा राक्षसराजके ऐसा कहनेपर उन ब्राह्मणोंने इच्छानुसार उन सब रत्नोंको ले लिया ॥ २३ ॥

ततो महार्हैस्ते सर्वे रत्नैरभ्यर्चिताः शुभैः ।
ब्राह्मणा मृष्टवसनाः सुप्रीताः स्म ततोऽभवन् ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् उन सुन्दर एवं महामूल्यवान् रत्नोंद्वारा पूजित हुए वे सभी उज्ज्वल वस्त्रधारी ब्राह्मण बड़े प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

ततस्तान् राक्षसेन्द्रश्च द्विजानाह पुनर्वचः ।
नानादेशगतान् राजन् राक्षसान् प्रतिषिध्य वै ॥ २५ ॥
अद्यैकं दिवसं विप्रा न वोऽस्तीह भयं क्वचित् ।
राक्षसेभ्यः प्रमोदध्वमिष्टतो यात माचिरम् ॥ २६ ॥

राजन् ! इसके बाद राक्षसराज विरूपाक्षने नाना देशोंसे आये हुए राक्षसोंको हिंसा करनेसे रोककर उन ब्राह्मणोंसे कहा—'विप्रगण ! आज एक दिनके लिये आपलोगोंको राक्षसोंकी ओरसे कहीं कोई भय नहीं है; अतः आनन्द कीजिये और शीघ्र ही अपने अभीष्ट स्थानको चले जाइये ! विलम्ब न कीजिये' ॥ २५-२६ ॥

ततः प्रदुद्रुवुः सर्वे विप्रसंघाः समन्ततः ।
गौतमोऽपि सुवर्णस्य भारमादाय सत्वरः ॥ २७ ॥
कृच्छ्रात् समुद्वहन् भारं न्यग्रोधं समुपागमत् ।
न्यषीदच्च परिश्रान्तः क्लान्तश्च क्षुधितश्च सः ॥ २८ ॥

यह सुनकर सब ब्राह्मणसमुदाय चारों ओर भाग चले। गौतम भी सुवर्णका भारी भार लेकर बड़ी कठिनाईसे ढोता हुआ जल्दी-जल्दी चलकर बरगदके पास आया। वहाँ पहुँचते ही थककर बैठ गया। वह भूखसे पीड़ित और क्लान्त हो रहा था॥

ततस्तमभ्यगाद् राजन् राजधर्मा खगोत्तमः ।
स्वागतेनाभिनन्दंश्च गौतमं मित्रवत्सलः ॥ २९ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् पक्षियोंमें श्रेष्ठ मित्रवत्सल राजधर्मा गौतमके पास आया और स्वागतपूर्वक उसका अभिनन्दन किया ॥

तस्य पक्षाग्रविक्षेपैः क्लमं व्यपनयत् खगः ।
पूजां चाप्यकरोद् धीमान् भोजनं चाप्यकल्पयत् ॥ ३० ॥

उस बुद्धिमान् पक्षीने अपने पंखोंके अग्रभागका संचालन करके उसे हवा की और उसकी सारी थकावट दूर कर दी; फिर उसका पूजन किया तथा उसके लिये भोजनकी व्यवस्था की ॥

स भुक्तवान् सुविश्रान्तो गौतमोऽचिन्तयत् तदा ।
हाटकस्याभिरूपस्य भारोऽयं सुमहान् मया ॥ ३१ ॥
गृहीतो लोभमोहाभ्यां दूरं च गमनं मम ।
न चास्ति पथि भोक्तव्यं प्राणसंधारणं मम ॥ ३२ ॥

भोजन करके विश्राम कर लेनेपर गौतम इस प्रकार चिन्ता करने लगा—'अहो ! मैंने लोभ और मोहसे प्रेरित होकर सुन्दर सुवर्णका यह महान् भार ले लिया है। अभी मुझे बहुत दूर जाना है । रास्तेमें खानेके लिये कुछ भी नहीं है, जिससे मेरे प्राणोंकी रक्षा हो सके ॥ ३१-३२ ॥

किं कृत्वा धारयेयं वै प्राणानित्यभ्यचिन्तयत् ।
ततः स पथि भोक्तव्यं प्रेक्षमाणो न किंचन ॥ ३३ ॥
कृतघ्नः पुरुषव्याघ्र मनसेदमचिन्तयत् ।
अयं बकपतिः पार्श्वे मांसराशिः स्थितो महान् ॥ ३४ ॥
इमं हत्वा गृहीत्वा च यास्येऽहं समभिद्रुतम् ॥ ३५ ॥

'अब मैं कौन-सा उपाय करके अपने प्राणोंको धारण कर सकूँगा ?' इस प्रकारकी चिन्तामें वह मग्न हो गया । पुरुषसिंह ! तदनन्तर मार्गमें भोजनके लिये कुछ भी न देख-कर उस कृतघ्नने मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया—'यह बगुलोंका राजा राजधर्मा मेरे पास ही तो है। यह मांसका एक बहुत बड़ा ढेर है । इसीको मारकर ले लूँ और शीघ्रतापूर्वक यहाँसे चल दूँ' ॥ ३३-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

कृतघ्न गौतमद्वारा मित्र राजधर्माका वध तथा राक्षसोंद्वारा उसकी हत्या और कृतघ्नके मांसको अभक्ष्य बताना

भीष्म उवाच

अथ तत्र महार्चिष्मानलो वातसारथिः ।
तस्याविदूरे रक्षार्थं खगेन्द्रेण कृतोऽभवत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पक्षिराज राजधर्माने अपने मित्र

गौतमकी रक्षाके लिये उससे थोड़ी दूरपर आग प्रज्वलित कर-दी थी, जिससे हवाका सहारा पाकर बड़ी-बड़ी लपटें उठ रही थीं ॥ १ ॥

स चापि पार्श्वे सुष्वाप विश्वस्तो बकराट् तदा।
कृतघ्नस्तु स दुष्टात्मा तं जिघांसुरथाग्रतः ॥ २ ॥
ततोऽलातेन दीप्तेन विश्वस्तं निजघान तम्।
निहत्य च मुदा युक्तः सोऽनुबन्धं न दृष्टवान् ॥ ३ ॥

बकराजको भी मित्रपर विश्वास था; इसलिये उस समय उसके पास ही सो गया। इधर वह दुष्टात्मा कृतघ्न उसका वध करनेकी इच्छासे उठा और विश्वासपूर्वक सोये हुए राजधर्माको सामनेसे जलती हुई लकड़ी लेकर उसके द्वारा मार डाला। उसे मारकर वह बहुत प्रसन्न हुआ, मित्रके वधसे जो पाप लगता है, उसकी ओर उसकी दृष्टि नहीं गयी ॥

स तं विपक्षरोमाणं कृत्वाग्नावपचत् तदा।
तं गृहीत्वा सुवर्णं च ययौ द्रुततरं द्विजः ॥ ४ ॥

उसने मरे हुए पक्षीके पंख और बाल नोचकर उसे आगमें पकाया और उसे साथमें ले सुवर्णका बोझ सिरपर उठाकर वह ब्राह्मण बड़ी तेजीके साथ वहाँसे चल दिया ॥४॥

(ततो दाक्षायणीपुत्रं नागतं तं तु भारत।
विरूपाक्षश्चिन्तयन् वै हृदयेन विदूयता) ॥

भारत ! उस दिन दक्षकन्याका पुत्र राजधर्मा अपने मित्र विरूपाक्षके यहाँ न जा सका; इससे विरूपाक्ष व्याकुल हृदयसे उसके लिये चिन्ता करने लगा ॥

ततोऽन्यस्मिन् गते चाह्नि विरूपाक्षोऽब्रवीत् सुतम्।
न प्रेक्षे राजधर्माणमद्य पुत्र खगोत्तमम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर दूसरा दिन भी व्यतीत हो जानेपर विरूपाक्षने अपने पुत्रसे कहा—'बेटा ! मैं आज पक्षियोंमें श्रेष्ठ राजधर्मा-को नहीं देख रहा हूँ ॥ ५ ॥

स पूर्वसंध्यां ब्रह्माणं वन्दितुं याति सर्वदा।
मां वा दृष्ट्वा कदाचित् स न गच्छति गृहं खगः ॥ ६ ॥

'वे पक्षिप्रवर प्रतिदिन प्रातःकाल ब्रह्माजीकी वन्दना करनेके लिये जाया करते थे और वहाँसे लौटनेपर मुझसे मिले बिना कभी अपने घर नहीं जाते थे ॥ ६ ॥

उभे द्विरात्रिसंध्ये वै नाभ्यगात् स ममालयम्।
तस्मान्न शुद्ध्यते भावो मम स ज्ञायतां सुहृत् ॥ ७ ॥

'आज दो संध्याएँ व्यतीत हो गयीं, किंतु वह मेरे घर-पर नहीं पधारे; अतः मेरे मनमें संदेह पैदा हो गया है। तुम मेरे मित्रका पता लगाओ ॥ ७ ॥

स्वाध्यायेन वियुक्तो हि ब्रह्मवर्चसवर्जितः।
तद्‌गतस्तत्र मे शंका हन्यात् तं स द्विजाधमः ॥ ८ ॥

'वह अधम ब्राह्मण गौतम स्वाध्यायरहित और ब्रह्मतेजसे शून्य था तथा हिंसक जान पड़ता था। उसीपर मेरा संदेह है। कहीं वह मेरे मित्रको मार न डाले ॥ ८ ॥

दुराचारस्तु दुर्बुद्धिरिङ्गितैर्लक्षितो मया।
निष्कृपो दारुणाकारो दुष्टो दस्युरिवाधमः ॥ ९ ॥

'उसकी चेष्टाओंसे मैंने लक्षित किया तो वह मुझे दुर्बुद्धि एवं दुराचारी तथा दयाहीन प्रतीत होता था। वह आकारसे ही बड़ा भयानक और दुष्ट दस्युके समान अधम जान पड़ता था ॥ ९ ॥

गौतमः स गतस्तत्र तेनोद्विग्नं मनो मम।
पुत्र शीघ्रमितो गत्वा राजधर्मनिवेशनम् ॥ १० ॥
ज्ञायतां स विशुद्धात्मा यदि जीवति मा चिरम्।

'नीच गौतम यहाँसे लौटकर फिर उन्हींके निवासस्थान-पर गया था; इसलिये मेरे मनमें उद्वेग हो रहा है। बेटा ! तुम शीघ्र यहाँसे राजधर्माके घरपर जाओ और पता लगाओ कि वे शुद्धात्मा पक्षिराज जीवित हैं या नहीं। इस कार्यमें विलम्ब न करो' ॥ १०½ ॥

स एवमुक्तस्त्वरितो रक्षोभिः सहितो ययौ ॥ ११ ॥
न्यग्रोधं तत्र चापश्यत् कङ्कालं राजधर्मणः।

पिताकी ऐसी आज्ञा पाकर वह तुरंत ही राक्षसोंके साथ उस वटवृक्षके पास गया। वहाँ उसे राजधर्माका कंकाल अर्थात् उसके पंख, हड्डियों और पैरोंका समूह दिखायी दिया ॥

स रुदन्नगमत् पुत्रो राक्षसेन्द्रस्य धीमतः ॥ १२ ॥
त्वरमाणः परं शक्त्या गौतमग्रहणाय वै।

बुद्धिमान् राक्षसराजका पुत्र राजधर्माकी यह दशा देखकर रो पड़ा और उसने पूरी शक्ति लगाकर गौतमको शीघ्र पकड़ने की चेष्टा की ॥ १२½ ॥

ततोऽविदूरे जगृहुर्गौतमं राक्षसास्तदा ॥ १३ ॥
राजधर्मशरीरं च पक्षास्थिचरणोज्झितम्।

तदनन्तर कुछ ही दूर जानेपर राक्षसोंने गौतमको पकड़ लिया। साथ ही उन्हें पंख, पैर और हड्डियोंसे रहित राज-धर्माकी लाश भी मिल गयी ॥ १३½ ॥

तमादायाथ रक्षांसि द्रुतं मेरुव्रजं ययुः ॥ १४ ॥
राज्ञश्च दर्शयामासुः शरीरं राजधर्मणः।
कृतघ्नं पुरुषं तं च गौतमं पापकारिणम् ॥ १५ ॥

गौतमको लेकर वे राक्षस शीघ्र ही मेरुव्रजमें गये। वहाँ उन्होंने राजाको राजधर्माका मृत शरीर दिखाया और पापा-चारी कृतघ्न गौतमको भी सामने खड़ा कर दिया ॥ १४-१५ ॥

रुरोद राजा तं दृष्ट्वा सामात्यः सपुरोहितः।
आर्तनादश्च सुमहानभूत् तस्य निवेशने ॥ १६ ॥
सस्त्रीकुमारं च पुरं बभूवास्वस्थमानसम्।

अपने मित्रको इस दशामें देखकर मन्त्री और पुरोहितों के साथ राजा विरूपाक्ष फूट-फूटकर रोने लगे। उनके महलमें महान् आर्तनाद गूँजने लगा। स्त्री और बच्चोंसहित सारे नगरमें शोक छा गया। किसीका भी मन स्वस्थ न रहा ।१६½।

अथाब्रवीन्नृपः पुत्रं पापोऽयं वध्यतामिति ॥ १७ ॥
अस्य मांसैरिमे सर्वे विहरन्तु यथेष्टतः ।

तब राजाने अपने पुत्रको आज्ञा दी—'बेटा ! इस पापीको मार डालो । ये समस्त राक्षस इसके मांसका यथेष्ट उपयोग करें' ॥

पापाचारः पापकर्मा पापात्मा पापसाधनः ॥ १८ ॥
हन्तव्योऽयं मम मतिर्भवद्भिरिति राक्षसाः ।

'राक्षसो ! यह पापाचारी, पापकर्मा और पापात्मा है । इसके सारे साधन पापमय हैं; अतः तुम्हें इसका वध कर देना चाहिये, यही मेरा मत है' ॥ १८½ ॥

इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसा घोरविक्रमाः ॥ १९ ॥
नैच्छन्त तं भक्षयितुं पापकर्माणमित्युत ।

राक्षसराजके इस प्रकार आदेश देनेपर भी भयानक पराक्रमी राक्षसोंने गौतमको खानेकी इच्छा नहीं की; क्योंकि वह घोर पापाचारी था ॥ १९½ ॥

दस्यूनां दीयतामेष साध्वद्य पुरुषाधमः ॥ २० ॥
इत्यूचुस्ते महाराज राक्षसेन्द्रं निशाचराः ।
शिरोभिः प्रणताः सर्वे व्याहरन् राक्षसाधिपम् ॥ २१ ॥
न दातुमर्हसि त्वं नो भक्षणायास्य किल्बिषम् ।

महाराज ! उन निशाचरोंने राक्षसराजसे कहा—'प्रभो ! इस नराधमका मांस दस्युओंको दे दिया जाय । आप हमें इसका पाप खानेके लिये न दें' इस प्रकार समस्त राक्षसोंने राक्षसराजके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रार्थना की ॥ २०-२१½ ॥

एवमस्त्विति तानाह राक्षसेन्द्रो निशाचरान् ॥ २२ ॥
दस्यूनां दीयतामेष कृतघ्नोऽद्यैव राक्षसाः ।

यह सुनकर राक्षसराजने उन निशाचरोंसे कहा—'राक्षसो ! ऐसा ही सही, इस कृतघ्नको आज ही डाकुओंके हवाले कर दो' ॥

इत्युक्ता राक्षसास्तेन शूलपट्टिशपाणयः ॥ २३ ॥
कृत्वा तं खण्डशः पापं दस्युभ्यः प्रददुस्तदा ।

राजाकी ऐसी आज्ञा पाकर हाथमें शूल और पट्टिश धारण किये राक्षसोंने पापी गौतमके टुकड़े-टुकड़े करके उसे दस्युओंको सौंप दिया ॥ २३½ ॥

दस्यवश्चापि नैच्छन्त तमत्तुं पापकारिणम् ।
क्रव्यादा अपि राजेन्द्र कृतघ्नं नोपभुञ्जते ॥ २४ ॥

राजेन्द्र ! उन दस्युओंने भी उस पापाचारीका मांस खानेकी इच्छा नहीं की । मांसाहारी जीव-जन्तु भी कृतघ्नका मांस काममें नहीं लेते हैं ॥ २४ ॥

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ २५ ॥

राजन् ! ब्रह्महत्यारे, शराबी, चोर तथा व्रतभङ्ग करनेवालोंके लिये शास्त्रमें प्रायश्चित्तका विधान है; परंतु कृतघ्नके उद्धारका कोई उपाय नहीं बताया गया है ॥ २५ ॥

मित्रद्रोही नृशंसश्च कृतघ्नश्च नराधमः ।
क्रव्यादैः कृमिभिश्चैव न भुज्यन्ते हि तादृशाः ॥ २६ ॥

मित्रद्रोही, नृशंस, नराधम तथा कृतघ्न—ऐसे मनुष्योंका मांस मांसभक्षी जीव-जन्तु तथा कीड़े भी नहीं खाते हैं ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यान-विषयक एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २७ श्लोक हैं)

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजधर्मा और गौतमका पुनः जीवित होना

भीष्म उवाच

ततश्चितां बकपतेः कारयामास राक्षसः ।
रत्नैर्गन्धैश्च बहुभिर्वस्त्रैश्च समलंकृताम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर विरूपाक्षने बकराजके लिये एक चिता तैयार करायी । उसे बहुत-से रत्नों, सुगन्धित चन्दनों तथा वस्त्रोंसे खूब सजाया गया था ॥

ततः प्रज्वाल्य नृपतिर्बकराजं प्रतापवान् ।
प्रेतकार्याणि विधिवद् राक्षसेन्द्रश्चकार ह ॥ २ ॥

तत्पश्चात् बकराजके शवको उसके ऊपर रखकर प्रतापी राक्षसराजने उसमें आग लगायी और विधिपूर्वक मित्रका दाह-कर्म सम्पन्न किया ॥ २ ॥

तस्मिन् काले च सुरभिर्देवी दाक्षायणी शुभा ।
उपरिष्टात् ततस्तस्य सा बभूव पयस्विनी ॥ ३ ॥

उसी समय दिव्य धेनु दक्षकन्या सुरभिदेवी वहाँ आकर आकाशमें ठीक चिताके ऊपर खड़ी हो गयीं ॥

तस्या वक्त्राच्च्युतः फेनः क्षीरमिश्रस्तदानघ ।
सोऽपतद् वै ततस्तस्यां चितायां राजधर्मणः ॥ ४ ॥

अनघ ! उनके मुखसे जो दूधमिश्रित फेन झरकर गिरा, वह राजधर्माकी उस चितापर पड़ा ॥ ४ ॥

ततः संजीवितस्तेन बकराजस्तदानघ ।
उत्पत्य च समीयाय विरूपाक्षं बकाधिपः ॥ ५ ॥

निष्पाप नरेश ! उससे उस समय बकराज जी उठा और वह उड़कर विरूपाक्षसे जा मिला ॥ ५ ॥

ततोऽभ्ययाद् देवराजो विरूपाक्षपुरं तदा ।
प्राह चेदं विरूपाक्षं दिष्ट्या संजीवितस्त्वया ॥ ६ ॥

उसी समय देवराज इन्द्र विरूपाक्षके नगरमें आये और विरूपाक्षसे इस प्रकार बोले—'बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारेद्वारा बकराजको जीवन मिला' ॥ ६ ॥

श्रावयामास चेन्द्रस्तं विरूपाक्षं पुरातनम् ।
यथा शापः पुरा दत्तो ब्रह्मणा राजधर्मणः ॥ ७ ॥

इन्द्रने विरूपाक्षको एक प्राचीन घटना सुनायी, जिसके अनुसार ब्रह्माजीने पहले राजधर्माको शाप दिया था ॥ ७ ॥

यदा बकपती राजन् ब्रह्माणं नोपसर्पति ।
ततो रोषादिदं प्राह खगेन्द्राय पितामहः ॥ ८ ॥

राजन्! एक समय जब बकराज ब्रह्माजीकी सभामें नहीं पहुँच सके, तब पितामहने बड़े रोषमें भरकर इन पक्षि-राजको शाप देते हुए कहा—॥ ८ ॥

यस्मान्मूढो मम सभां नागतोऽसौ बकाधमः ।
तस्माद् वधं स दुष्टात्मा नचिरात् समवाप्स्यति॥ ९ ॥

'वह मूर्ख और नीच बगला मेरी सभामें नहीं आया है; इसलिये शीघ्र ही उस दुष्टात्माको वधका कष्ट भोगना पड़ेगा'॥

तदयं तस्य वचनान्निहतो गौतमेन वै ।
तेनैवामृतसिक्तश्च पुनः संजीवितो बकः ॥ १० ॥

ब्रह्माजीके उस वचनसे ही गौतमने इनका वध किया और ब्रह्माजीने ही पुनः अमृत छिड़ककर राजधर्माको जीवन-दान दिया है ॥ १० ॥

राजधर्मा बकः प्राह प्रणिपत्य पुरन्दरम् ।
यदि तेऽनुग्रहकृता मयि बुद्धिः सुरेश्वर ॥ ११ ॥
सखायं मे सुदयितं गौतमं जीवयेत्युत ।

तदनन्तर राजधर्मा बकने इन्द्रको प्रणाम करके कहा—'सुरेश्वर! यदि आपकी मुझपर कृपा है तो मेरे प्रिय मित्र गौतमको भी जीवित कर दीजिये' ॥ ११½ ॥

तस्य वाक्यं समादाय वासवः पुरुषर्षभ ॥ १२ ॥
सिक्त्वामृतेन तं विप्रं गौतमं जीवयत् तदा ।

'पुरुषप्रवर! उसके अनुरोधको स्वीकार करके इन्द्रदेवने गौतम ब्राह्मणको भी अमृत छिड़ककर जिला दिया ॥१२½॥

सभाण्डोपस्करं राजंस्तमासाद्य बकाधिपः ॥ १३ ॥
सम्परिष्वज्य सुहृदं प्रीत्या परमया युतः ।

राजन्! बर्तन और सुवर्ण आदि सब सामग्रीसहित प्रिय सुहृद् गौतमको पाकर बकराजने बड़े प्रेमसे उसको हृदयसे लगा लिया॥

अथ तं पापकर्माणं राजधर्मा बकाधिपः ॥ १४ ॥
विसर्जयित्वा सधनं प्रविवेश स्वमालयम् ।

फिर बकराज राजधर्माने उस पापाचारीको धनसहित विदा करके अपने घरमें प्रवेश किया ॥ १४½ ॥

यथोचितं च स बको ययौ ब्रह्मसदस्तथा ॥ १५ ॥
ब्रह्मा चैनं महात्मानमातिथ्येनाभ्यपूजयत् ।

तदनन्तर बकराज यथोचित रीतिसे ब्रह्माजीकी सभामें गया और ब्रह्माजीने उस महात्माका आतिथ्य-सत्कार किया ॥

गौतमश्चापि सम्प्राप्य पुनस्तं शबरालयम् ।
शूद्रायां जनयामास पुत्रान् दुष्कृतकारिणः ॥ १६ ॥

गौतम भी पुनः भीलोंके ही गाँवमें जाकर रहने लगा। वहाँ उसने उस शूद्रजातिकी स्त्रीके पेटसे ही अनेक पापाचारी पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ १६ ॥

शापश्च सुमहांस्तस्य दत्तः सुरगणैस्तदा ।
कुक्षौ पुनर्भ्वां पापोऽयं जनयित्वा चिरात् सुतान्॥ १७॥
निरयं प्राप्स्यति महत् कृतघ्नोऽयमिति प्रभो ।

तब देवताओंने गौतमको महान् शाप देते हुए कहा—'यह पापी कृतघ्न है और दूसरा पति स्वीकार करनेवाली शूद्रजातीय स्त्रीके पेटसे बहुत दिनोंसे संतान पैदा करता आ रहा है। इस पापके कारण यह घोर नरकमें पड़ेगा'॥

एतत् प्राह पुरा सर्वं नारदो मम भारत ॥ १८ ॥
संस्मृत्य चापि सुमहदाख्यानं भरतर्षभ ।
मयापि भवते सर्वं यथावदनुवर्णितम् ॥ १९ ॥

भारत! यह सारा प्रसङ्ग पूर्वकालमें मुझसे महर्षि नारदने कहा था। भरतश्रेष्ठ! इस महान् आख्यानको याद करके मैंने तुम्हारे समक्ष सब यथार्थरूपसे कहा है ॥१८-१९॥

कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम् ।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ २० ॥

कृतघ्नको कैसे यश प्राप्त हो सकता है? उसे कैसे स्थान और सुखकी उपलब्धि हो सकती है? कृतघ्न विश्वासके योग्य नहीं होता। कृतघ्नके उद्धारके लिये शास्त्रोंमें कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है ॥ २० ॥

मित्रद्रोहो न कर्तव्यः पुरुषेण विशेषतः ।
मित्रध्रुङ्नरकं घोरमनन्तं प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

मनुष्यको विशेष ध्यान देकर मित्रद्रोहके पापसे बचना चाहिये। मित्रद्रोही मनुष्य अनन्तकालके लिये घोर नरकमें पड़ता है ॥ २१ ॥

कृतज्ञेन सदा भाव्यं मित्रकामेन चैव ह ।
मित्राच्च लभते सर्वं मित्रात् पूजां लभेत च ॥ २२ ॥

प्रत्येक मनुष्यको सदा कृतज्ञ होना चाहिये और मित्रकी इच्छा रखनी चाहिये; क्योंकि मित्रसे सब कुछ प्राप्त होता है। मित्रके सहयोगसे सदा सम्मानकी प्राप्ति होती है॥

मित्राद् भोगांश्च भुञ्जीत मित्रेणापत्सु मुच्यते ।
सत्कारैरुत्तमैर्मित्रं पूजयेत विचक्षणः ॥ २३ ॥

मित्रकी सहायतासे भोगोंकी भी उपलब्धि होती है और मित्रद्वारा मनुष्य आपत्तियोंसे छुटकारा पा जाता है, अतः बुद्धिमान् पुरुष उत्तम सत्कारोंद्वारा मित्रका पूजन करे॥

परित्याज्यो बुधैः पापः कृतघ्नो निरपत्रपः ।
मित्रद्रोही कुलाङ्गारः पापकर्मा नराधमः ॥ २४ ॥

जो पापी, कृतघ्न, निर्लज्ज, मित्रद्रोही, कुलाङ्गार और पापाचारी हो, ऐसे अधम मनुष्यका विद्वान् पुरुष सदा त्याग करे ॥ २४ ॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठ प्रोक्तः पापो मया तव ।
मित्रद्रोही कृतघ्नो वै किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ २५ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! इस प्रकार यह मैंने तुम्हें पापी, मित्रद्रोही और कृतघ्न पुरुषका परिचय दिया है। अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥२५॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तदा वाक्यं भीष्मेणोक्तं महात्मना।
युधिष्ठिरः प्रीतमना बभूव जनमेजय ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा भीष्म-का यह वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

(मोक्षधर्मपर्व)

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

शोकाकुल चित्तकी शान्तिके लिये राजा सेनजित् और ब्राह्मणके संवादका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

धर्माः पितामहेनोक्ता राजधर्माश्रिताः शुभाः।
धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हसि पार्थिव ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! यहाँतक आपने राजधर्मसम्बन्धी श्रेष्ठ धर्मोंका उपदेश दिया। पृथ्वीनाथ ! अब आप आश्रमियोंके उत्तम धर्मका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं तपः।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! वेदोंमें सर्वत्र सभी आश्रमों-के लिये स्वर्गसाधक यथार्थ फलकी प्राप्ति करानेवाली तपस्याका उल्लेख है। धर्मके बहुत-से द्वार हैं। संसारमें कोई ऐसी क्रिया नहीं है, जिसका कोई फल न हो ॥ २ ॥

यस्मिन् यस्मिंस्तु विषये यो यो याति विनिश्चयम्।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो-जो पुरुष जिस-जिस विषयमें पूर्ण निश्चयको पहुँच जाता है (जिसके द्वारा उसे अभीष्ट सिद्धिका विश्वास हो जाता है), उसीको वह कर्तव्य समझता है। दूसरे विषयको नहीं ॥ ३ ॥

यथा यथा च पर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः ॥ ४ ॥

मनुष्य जैसे-जैसे संसारके पदार्थोंको सारहीन समझता है, वैसे ही वैसे इनमें उसका वैराग्य होता जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

एवं व्यवसिते लोके बहुदोषे युधिष्ठिर।
आत्ममोक्षनिमित्तं वै यतेत मतिमान् नरः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार यह जगत् अनेक दोषोंसे परिपूर्ण है, ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान् पुरुष अपने मोक्षके लिये प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
यया बुद्ध्या नुदेच्छोकं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! धनके नष्ट हो जानेपर अथवा स्त्री, पुत्र या पिताके मर जानेपर किस बुद्धिसे मनुष्य अपने शोकका निवारण करे ? यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
अहो दुःखमिति ध्यायञ्शोकस्यापचितिं चरेत् ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स ! जब धन नष्ट हो जाय अथवा स्त्री, पुत्र या पिताकी मृत्यु हो जाय, तब 'ओह ! संसार कैसा दुःखमय है' यह सोचकर मनुष्य शोकको दूर करनेवाले शम-दम आदि साधनोंका अनुष्ठान करें ॥ ७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा सेनजितं विप्रः कश्चिदेत्याब्रवीत् सुहृत् ॥ ८ ॥

इस विषयमें किसी हितैषी ब्राह्मणने राजा सेनजित्के पास आकर उन्हें जैसा उपदेश दिया था, उसी प्राचीन इतिहास-को विज्ञ पुरुष दृष्टान्तके रूपमें प्रस्तुत किया करते हैं ॥ ८ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तं राजानं शोकविह्वलम्।
विषण्णमनसं दृष्ट्वा विप्रो वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

राजा सेनजित्के पुत्रकी मृत्यु हो गयी थी। वे उसीके शोककी आगसे जल रहे थे। उनका मन विषादमें डूबा हुआ था। उन शोकविह्वल नरेशको देखकर ब्राह्मणने इस प्रकार कहा— ॥ ९ ॥

किं नु मुह्यसि मूढस्त्वं शोच्यः किमनुशोचसि।
यदा त्वामपि शोचन्तः शोच्या यास्यन्ति तां गतिम् ॥ १० ॥

'राजन् ! तुम मूढ मनुष्यकी भाँति क्यों मोहित हो रहे हो ? शोकके योग्य तो तुम स्वयं ही हो, फिर दूसरोंके लिये क्यों शोक करते हो ? अजी ! एक दिन ऐसा आयेगा, जब कि दूसरे शोचनीय मनुष्य तुम्हारे लिये भी शोक करते हुए उसी गतिको प्राप्त होंगे ॥ १० ॥

त्वं चैवाहं च ये चान्ये त्वामुपासन्ति पार्थिव।
सर्वे तत्र गमिष्यामो यत एवागता वयम् ॥ ११ ॥

'पृथ्वीनाथ ! तुम, मैं और ये दूसरे लोग जो इस समय तुम्हारे पास बैठे हैं, सब वहीं जायँगे, जहाँसे हम आये हैं' ॥ ११ ॥

सेनजिदुवाच

का बुद्धिः किं तपो विप्र कः समाधिस्तपोधन ।
किं ज्ञानं किं श्रुतं चैव यत् प्राप्य न विषीदसि ॥ १२ ॥

सेनजित्‌ने पूछा—तपस्याके धनी ब्राह्मणदेव ! आपके पास ऐसी कौन-सी बुद्धि, कौन तप, कौन समाधि, कैसा ज्ञान और कौन-सा शास्त्र है, जिसे पाकर आपको किसी प्रकारका विषाद नहीं है ॥ १२ ॥

(हृष्यन्तमवसीदन्तं सुखदुःखविपर्यये ।
आत्मानमनुशोचामि ममैष हृदि संस्थितः ॥)

सुख और दुःखका चक्र घूमता रहता है। मैं सुखमें हर्षसे फूल उठता हूँ और दुःखमें खिन्न हो जाता हूँ। ऐसी अवस्थामें पड़े हुए अपने आपके लिये मुझे निरन्तर शोक होता है। यह शोक मेरे हृदयमें डेरा डाले बैठा है ॥

ब्राह्मण उवाच

पश्य भूतानि दुःखेन व्यतिषिक्तानि सर्वशः ।
उत्तमाधममध्यानि तेषु तेष्विह कर्मसु ॥ १३ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! देखो, इस संसारमें उत्तम, मध्यम और अधम सभी प्राणी भिन्न-भिन्न कर्मोंमें आसक्त हो दुःखसे ग्रस्त हो रहे हैं ॥ १३ ॥

(अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तं न पश्यामि यो मम ॥)

मैं तो अकेला हूँ। न तो दूसरा कोई मेरा है और न मैं किसी दूसरेका हूँ। मैं उस पुरुषको नहीं देखता, जिसका मैं होऊँ तथा उसको भी नहीं देखता, जो मेरा हो (न मुझपर किसीकी ममता है, न मेरा ही किसीपर ममत्व है)॥

आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ।
यथा मम तथान्येषामिति चिन्त्य न मे व्यथा ।
एतां बुद्धिमहं प्राप्य न प्रहृष्ये न च व्यथे ॥ १४ ॥

यह शरीर भी मेरा नहीं अथवा सारी पृथ्वी भी मेरी नहीं है। ये सब वस्तुएँ जैसी मेरी हैं, वैसी ही दूसरोंकी भी हैं। ऐसा सोचकर इनके लिये मेरे मनमें कोई व्यथा नहीं होती। इसी बुद्धिको पाकर न मुझे हर्ष होता है, न शोक ॥ १४ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ १५ ॥

जिस प्रकार समुद्रमें बहते हुए दो काष्ठ कभी-कभी एक दूसरेसे मिल जाते हैं और मिलकर फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस लोकमें प्राणियोंका समागम होता है ॥ १५ ॥

एवं पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवास्तथा ।
तेषां स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो ध्रुवो हि तैः ॥ १६ ॥

इसी तरह पुत्र, पौत्र, जाति-बान्धव और सम्बन्धी भी मिल जाते हैं। उनके प्रति कभी आसक्ति नहीं बढ़ानी चाहिये; क्योंकि एक दिन उनसे बिछोह होना निश्चित है ॥ १६ ॥

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
न त्वासौ वेद न त्वं तं कः सन् किमनुशोचसि ॥ १७ ॥

तुम्हारा पुत्र किसी अज्ञात स्थितिसे आया था और अब अज्ञात स्थितिमें ही चला गया है। न तो वह तुम्हें जानता था और न तुम उसे जानते थे; फिर तुम उसके कौन होकर किस लिये शोक करते हो ? ॥ १७ ॥

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ।
सुखात् संजायते दुःखं दुःखमेवं पुनः पुनः ॥ १८ ॥

संसारमें विषयोंकी तृष्णासे जो व्याकुलता होती है, उसीका नाम दुःख है और उस दुःखका विनाश ही सुख है। उस सुखके बाद (पुनः कामनाजनित) दुःख होता है। इस प्रकार बारंबार दुःख ही होता रहता है ॥ १८ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्ततः ॥ १९ ॥

सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है। मनुष्योंके सुख और दुःख चक्रकी भाँति घूमते रहते हैं ॥ १९ ॥

सुखात् त्वं दुःखमापन्नः पुनरापत्स्यसे सुखम् ।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥ २० ॥

इस समय तुम सुखसे दुःखमें आ पड़े हो। अब फिर तुम्हें सुखकी प्राप्ति होगी। यहाँ किसी भी प्राणीको न तो सदा सुख ही प्राप्त होता है और न सदा दुःख ही ॥ २० ॥

शरीरमेवायतनं सुखस्य
दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम् ।
यद्यच्छरीरेण करोति कर्म
तेनैव देही समुपाश्नुते तत् ॥ २१ ॥

यह शरीर ही सुखका आधार है और यही दुःखका भी आधार है। देहाभिमानी पुरुष शरीरसे जो-जो कर्म करता है, उसीके अनुसार वह सुख एवं दुःखरूप फल भोगता है ॥ २१ ॥

जीवितं च शरीरेण जात्यैव सह जायते ।
उभे सह विवर्तेते उभे सह विनश्यतः ॥ २२ ॥

यह जीवन स्वभावतः शरीरके साथ ही उत्पन्न होता है। दोनों साथ-साथ विविध रूपोंमें रहते हैं और साथ ही साथ नष्ट हो जाते हैं ॥ २२ ॥

स्नेहपाशैर्बहुविधैराविष्टविषया जनाः ।
अकृतार्थाश्च सीदन्ते जलैः सैकतसेतवः ॥ २३ ॥

मनुष्य नाना प्रकारके स्नेह-बन्धनोंमें बँधे हुए हैं, अतः वे सदा विषयोंकी आसक्तिसे घिरे रहते हैं; इसीलिये जैसे बालूद्वारा बनाये हुए पुल जलके वेगसे बह जाते हैं, उसी प्रकार उन मनुष्योंकी विषयकामना सफल नहीं होती; जिससे वे दुःख पाते रहते हैं ॥ २३ ॥

स्नेहेन तिलवत् सर्वं सर्गचक्रे निपीड्यते ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसम्भवैः ॥ २४ ॥

तेलीलोग तेलके लिये जैसे तिलोंको कोल्हूमें पेरते हैं, उसी प्रकार स्नेहके कारण सब लोग अज्ञानजनित क्लेशोंद्वारा सृष्टि-चक्रमें पिस रहे हैं ॥ २४ ॥

संचिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः ।
एकः क्लेशानवाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ २५ ॥

मनुष्य स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बके लिये चोरी आदि पाप-कर्मोंका संग्रह करता है; किंतु इस लोक और परलोकमें उसे अकेले ही उन समस्त कर्मोंका क्लेशमय फल भोगना पड़ता है ॥ २५ ॥

पुत्रदारकुटुम्बेषु प्रसक्ताः सर्वमानवाः ।
शोकपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ २६ ॥

स्त्री, पुत्र और कुटुम्बमें आसक्त हुए सभी मनुष्य उसी प्रकार शोकके समुद्रमें डूब जाते हैं, जैसे बूढ़े जंगली हाथी दलदलमें फँसकर नष्ट हो जाते हैं ॥ २६ ॥

पुत्रनाशे वित्तनाशे ज्ञातिसम्बन्धिनामपि ।
प्राप्यते सुमहद् दुःखं दावाग्निप्रतिमं विभो ।
दैवायत्तमिदं सर्वं सुखदुःखे भवाभवौ ॥ २७ ॥

प्रभो ! यहाँ सब लोगोंको पुत्र, धन, कुटुम्बी तथा सम्बन्धियों-का नाश होनेपर दावानलके समान दाह उत्पन्न करनेवाला महान् दुःख प्राप्त होता है; परंतु सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु आदि यह सब कुछ प्रारब्धके ही अधीन है ॥ २७ ॥

असुहृत् ससुहृच्चापि सशत्रुर्मित्रवानपि ।
सप्रज्ञः प्रज्ञया हीनो दैवेन लभते सुखम् ॥ २८ ॥

मनुष्य हितैषी सुहृदोंसे युक्त हो या न हो, वह शत्रुके साथ हो या मित्रके, बुद्धिमान् हो या बुद्धिहीन, दैवकी अनुकूलता होनेपर ही सुख पाता है ॥ २८ ॥

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः ।
न च प्रज्ञालमर्थानां न सुखानामलं धनम् ॥ २९ ॥

अन्यथा न तो सुहृद् सुख देनेमें समर्थ हैं, न शत्रु दुःख देनेमें समर्थ हैं, न तो बुद्धि धन देनेकी शक्ति रखती है और न धन ही सुख देनेमें समर्थ होता है ॥ २९ ॥

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३० ॥

न तो बुद्धि धनकी प्राप्तिमें कारण है, न मूर्खता निर्धनतामें, वास्तवमें संसारचक्रकी गतिका वृत्तान्त कोई ज्ञानी पुरुष ही जान पाता है, दूसरा नहीं ॥ ३० ॥

बुद्धिमन्तं च शूरं च मूढं भीरुं जडं कविम् ।
दुर्बलं बलवन्तं च भागिनं भजते सुखम् ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान्, शूरवीर, मूढ़, डरपोक, गूँगा, विद्वान्, दुर्बल और बलवान् जो भी भाग्यवान् होगा—दैव जिसके अनुकूल होगा, उसे बिना यत्नके ही सुख प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

धेनुर्वत्सस्य गोपस्य स्वामिनस्तस्करस्य च ।
पयः पिबति यस्तस्या धेनुस्तस्येति निश्चयः ॥ ३२ ॥

दूध देनेवाली गौ बछड़ेकी है या उसे दुहने अथवा चरानेवाले ग्वालेकी है या रखनेवाले मालिककी है अथवा उसे चुराकर ले जानेवाले चोरकी है ? वास्तवमें जो उसका दूध पीता है, उसीकी वह गाय है; ऐसा विद्वानोंका निश्चय है ॥ ३२ ॥

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः ।
ते नराः सुखमेधन्ते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥ ३३ ॥

इस संसारमें जो अत्यन्त मूढ़ हैं और जो बुद्धिसे परे पहुँच गये हैं, वे ही मनुष्य सुखी हैं । बीचके सभी लोग कष्ट भोगते हैं ॥ ३३ ॥

अन्त्येषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे ।
अन्त्यप्राप्तिं सुखामाहुर्दुःखमन्तरमन्त्ययोः ॥ ३४ ॥

ज्ञानी पुरुष अन्तिम स्थितियोंमें रमण करते हैं, मध्यवर्ती स्थितिमें नहीं । अन्तिम स्थितिकी प्राप्ति सुखस्वरूप बतायी जाती है और उन दोनोंके मध्यकी स्थिति दुःखरूप कही गयी है ॥ ३४ ॥

(सुखं स्वपिति दुर्मेधाः स्वानि कर्माण्यचिन्तयन् ।
अविज्ञानेन महता कम्बलेनेव संवृतः ॥)

खोटी बुद्धिवाला मूर्ख मनुष्य अपने कर्मोंके शुभाशुभ परिणामकी कोई परवा न करके सुखसे सोता है; क्योंकि वह कम्बलसे ढके हुए पुरुषकी भाँति महान् अज्ञानसे आवृत रहता है ॥

ये च बुद्धिसुखं प्राप्ता द्वन्द्वातीता विमत्सराः ।
तान् नैवार्था न चानर्था व्यथयन्ति कदाचन ॥ ३५ ॥

किंतु जिन्हें ज्ञानजनित सुख प्राप्त है, जो द्वन्द्वोंसे अतीत हैं तथा जिनमें मत्सरताका भी अभाव है, उन्हें अर्थ और अनर्थ कभी पीड़ा नहीं देते हैं ॥ ३५ ॥

अथ ये बुद्धिमप्राप्ता व्यतिक्रान्ताश्च मूढताम् ।
तेऽतिवेलं प्रहृष्यन्ति संतापमुपयान्ति च ॥ ३६ ॥

जो मूढ़ताको तो लाँघ चुके हैं, परंतु जिनको ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, वे सुखकी परिस्थिति आनेपर अत्यन्त हर्षसे फूल उठते हैं और दुःखकी परिस्थितिमें अतिशय संतापका अनुभव करने लगते हैं ॥ ३६ ॥

नित्यं प्रमुदिता मूढा दिवि देवगणा इव ।
अवलेपेन महता परिभूत्या विचेतसः ॥ ३७ ॥

मूर्ख मनुष्य स्वर्गमें देवताओंकी भाँति सदा विषयसुखमें मग्न रहते हैं; क्योंकि उनका चित्त विषयासक्तिके कीचड़में लथपथ होकर मोहित हो जाता है ॥ ३७ ॥

सुखं दुःखान्तमालस्यं दुःखं दाक्ष्यं सुखोदयम् ।
भूतिस्त्वेवं श्रिया सार्धं दक्षे वसति नालसे ॥ ३८ ॥

आरम्भमें आलस्य सुख-सा जान पड़ता है, परंतु वह अन्तमें दुःखदायी होता है और कार्यकौशल दुःख-सा लगता है, परंतु वह सुखका उत्पादक है । कार्यकुशल पुरुषमें ही लक्ष्मीसहित ऐश्वर्य निवास करता है, आलसीमें नहीं ॥ ३८ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥ ३९ ॥

अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि सुख या दुःख, प्रिय अथवा अप्रिय, जो-जो प्राप्त हो जाय, उसका हृदयसे स्वागत करे, कभी हिम्मत न हारे ॥ ३९ ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।

दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ४० ॥

शोकके हजारों स्थान हैं और भयके सैकड़ों स्थान हैं; किंतु वे प्रतिदिन मूर्खोंपर ही प्रभाव डालते हैं, विद्वानोंपर नहीं ॥ ४० ॥

बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम् ।
दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम् ॥ ४१ ॥

जो बुद्धिमान्, ऊहापोहमें कुशल एवं शिक्षित बुद्धिवाला, अध्यात्मशास्त्रके श्रवणकी इच्छा रखनेवाला, किसीके दोष न देखनेवाला, मनको वशमें रखनेवाला और जितेन्द्रिय है, उस मनुष्यको शोक कभी छू भी नहीं सकता ॥ ४१ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय गुप्तचित्तश्चरेद् बुधः ।
उदयास्तमयज्ञं हि न शोकः स्प्रष्टुमर्हति ॥ ४२ ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह इसी विचारका आश्रय लेकर मनको काम, क्रोध आदि शत्रुओंसे सुरक्षित रखते हुए उत्तम बर्ताव करे । जो उत्पत्ति और विनाशके तत्त्वको जानता है, उसे शोक छू नहीं सकता ॥ ४२ ॥

यन्निमित्तं भवेच्छोकस्तापो वा दुःखमेव च ।
आयासो वा यतो मूलमेकाङ्गमपि तत् त्यजेत् ॥ ४३ ॥

जिसके कारण शोक, ताप अथवा दुःख हो या जिसके कारण अधिक श्रम उठाना पड़े, वह दुःखका मूल कारण अपने शरीरका एक अङ्ग भी हो तो उसे त्याग देना चाहिये ॥ ४३ ॥

किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापार्थं सर्वं सम्पद्यते तथा ॥ ४४ ॥

मनुष्य जब किसी भी पदार्थमें ममत्व कर लेता है, तब वे ही सब उसके वैसे दुःखके कारण बन जाते हैं ॥ ४४ ॥

यद् यत् यजति कामानां तत् सुखस्याभिपूर्यते ।
कामानुसारी पुरुषः कामाननुविनश्यति ॥ ४५ ॥

वह कामनाओंमेंसे जिस-जिसका परित्याग कर देता है, वही उसके सुखकी पूर्ति करनेवाली हो जाती है । जो पुरुष कामनाओंका अनुसरण करता है, वह उन्हींके पीछे नष्ट हो जाता है ॥ ४५ ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ४६ ॥

संसारमें जो कुछ इस लोकके भोगोंका सुख है और जो स्वर्गका महान् सुख है, वे दोनों तृष्णाक्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं ॥ ४६ ॥

पूर्वदेहकृतं कर्म शुभं वा यदि वाशुभम् ।
प्राज्ञं मूढं तथा शूरं भजते यादृशं कृतम् ॥ ४७ ॥

मनुष्य बुद्धिमान् हो, मूर्ख हो अथवा शूरवीर हो, उसने पूर्वजन्ममें जैसा शुभ या अशुभ कर्म किया है, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है ॥ ४७ ॥

एवमेव किलैतानि प्रियाण्येवाप्रियाणि च ।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ४८ ॥

इस प्रकार जीवोंको प्रिय-अप्रिय और सुख-दुःखकी प्राप्ति बार-बार क्रमसे होती ही रहती है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ४८ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय सुखमास्ते गुणान्वितः ।
सर्वान् कामान् जुगुप्सेत कामान् कुर्वीत पृष्ठतः ॥ ४९ ॥

ऐसी बुद्धिका आश्रय लेकर कामनाओंके त्यागरूपी गुणसे युक्त हुआ मनुष्य सुखसे रहता है; इसलिये सब प्रकारके भोगोंसे विरक्त होकर उन्हें पीठ-पीछे कर दे अर्थात् उनसे विमुख हो जाय ॥ ४९ ॥

वृत्त एष हृदि प्रौढो मृत्युरेष मनोभवः ।
क्रोधो नाम शरीरस्थो देहिनां प्रोच्यते बुधैः ॥ ५० ॥

हृदयसे उत्पन्न होनेवाला यह काम हृदयमें ही पुष्ट होता है, फिर यही मृत्युका रूप धारण कर लेता है; क्योंकि (जब इसकी सिद्धिमें कोई बाधा आती है, तब) विद्वानोंद्वारा यही प्राणियोंके शरीरके भीतर क्रोधके नामसे पुकारा जाता है ॥ ५० ॥

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदाऽऽत्मज्योतिरात्मायमात्मन्येव प्रपश्यति ॥ ५१ ॥

कछुआ जैसे अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार यह जीव जब अपनी सब कामनाओंका संकोच कर देता है, तब यह अपने विशुद्ध अन्तःकरणमें ही स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ५१ ॥

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५२ ॥

जब यह किसीसे भय नहीं मानता और इससे भी किसीको भय नहीं होता तथा जब यह किसी वस्तुको न तो चाहता है और न उससे द्वेष ही करता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ५२ ॥

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ भयाभये ।
प्रियाप्रिये परित्यज्य प्रशान्तात्मा भविष्यति ॥ ५३ ॥

जब यह साधक सत्य और असत्य अर्थात् जगत्के व्यक्त और अव्यक्त पदार्थोंका, शोक और हर्षका, भय और अभयका तथा प्रिय और अप्रिय आदि समस्त द्वन्द्वोंका परित्याग कर देता है, तब उसका चित्त शान्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

यदा न कुरुते धीरः सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५४ ॥

जब धैर्यसम्पन्न ज्ञानवान् पुरुष किसी भी प्राणीके प्रति मन, वाणी और क्रियाद्वारा पापपूर्ण बर्ताव नहीं करता, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ५४ ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥

खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्यके जीर्ण (वृद्ध) हो जानेपर भी स्वयं कभी जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणोंके साथ जानेवाला रोग

बनकर रहती है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है ॥ ५५ ॥

अत्र पिङ्गलया गीता गाथाः श्रूयन्ति पार्थिव ।
यथा सा कृच्छ्रकालेऽपि लेभे धर्मं सनातनम् ॥ ५६ ॥

राजन्! इस विषयमें पिङ्गलाकी गायी हुई गाथाएँ सुनी जाती हैं, जिसके अनुसार चलकर संकटकालमें भी उसने सनातन धर्मको प्राप्त कर लिया था ॥ ५६ ॥

संकेते पिङ्गला वेश्या कान्तेनासीद् विनाकृता ।
अथ कृच्छ्रगता शान्ता बुद्धिमास्थापयत् तदा ॥ ५७ ॥

एक बार पिङ्गला वेश्या बहुत देरतक संकेत-स्थानपर बैठी रही, तब भी उसका प्रियतम उसके पास नहीं आया; इससे वह बड़े कष्टमें पड़ गयी, तथापि शान्त रहकर इस प्रकार विचार करने लगी ॥ ५७ ॥

पिङ्गलोवाच

उन्मत्ताहमनुन्मत्तं कान्तमन्ववसं चिरम् ।
अन्तिके रमणं सन्तं नैनमध्यगमं पुरा ॥ ५८ ॥

पिङ्गला बोली—मेरे सच्चे प्रियतम चिरकालसे मेरे निकट ही रहते हैं। मैं सदासे उनके साथ ही रहती आयी हूँ। वे कभी उन्मत्त नहीं होते; परंतु मैं ऐसी मतवाली हो गयी थी कि आजसे पहले उन्हें पहचान ही न सकी ॥ ५८ ॥

एकस्थूणं नवद्वारमपिधास्याम्यगारकम् ।
का हि कान्तमिहायान्तमयं कान्तेति मंस्यते ॥ ५९ ॥

जिसमें एक ही खंभा और नौ दरवाजे हैं, उस शरीररूपी घरको आजसे मैं दूसरोंके लिये बंद कर दूँगी। यहाँ आनेवाले उस सच्चे प्रियतमको जानकर भी कौन नारी किसी हाड़-मांसके पुतलेको अपना प्राणवल्लभ मानेगी? ॥ ५९ ॥

अकामां कामरूपेण धूर्ता नरकरूपिणः ।
न पुनर्वञ्चयिष्यन्ति प्रतिबुद्धास्मि जागृमि ॥ ६० ॥

अब मैं मोहनिद्रासे जग गयी हूँ और निरन्तर सजग हूँ—कामनाओंका भी त्याग कर चुकी हूँ। अतः वे नरकरूपी धूर्त मनुष्य कामका रूप धारण करके अब मुझे धोखा नहीं दे सकेंगे ॥ ६० ॥

अनर्थो हि भवेदर्थो दैवात् पूर्वकृतेन वा ।
सम्बुद्धाहं निराकारा नाहमद्याजितेन्द्रिया ॥ ६१ ॥

भाग्यसे अथवा पूर्वकृत शुभ कर्मोंके प्रभावसे कभी-कभी अनर्थ भी अर्थरूप हो जाता है, जिससे आज निराश होकर मैं उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न हो गयी हूँ। अब मैं अजितेन्द्रिय नहीं रही हूँ ॥ ६१ ॥

सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥ ६२ ॥

वास्तवमें जिसे किसी प्रकारकी आशा नहीं है, वही सुखसे सोता है। आशाका न होना ही परम सुख है। देखो, आशाको निराशाके रूपमें परिणत करके पिङ्गला सुखकी नींद सोने लगी ॥ ६२ ॥

भीष्म उवाच

एतैश्चान्यैश्च विप्रस्य हेतुमद्भिः प्रभाषितैः ।
पर्यवस्थापितो राजा सेनजिन्मुमुदे सुखी ॥ ६३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मणके कहे हुए इन पूर्वोक्त तथा अन्य युक्तियुक्त वचनोंसे राजा सेनजित्का चित्त स्थिर हो गया। वे शोक छोड़कर सुखी हो गये और प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ब्राह्मणसेनजित्संवादकथने चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ब्राह्मण और सेनजित्के संवादका कथनविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं)

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषका क्या कर्तव्य है, इस विषयमें पिताके प्रति पुत्रद्वारा ज्ञानका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतिक्रामति कालेऽस्मिन् सर्वभूतक्षयावहे ।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! समस्त भूतोंका संहार करनेवाला यह काल बराबर बीता जा रहा है, ऐसी अवस्थामें मनुष्य क्या करनेसे कल्याणका भागी हो सकता है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें ज्ञानी पुरुष पिता और पुत्रके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। तुम उस संवादको ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

द्विजातेः कस्यचित् पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै ।
बभूव पुत्रो मेधावी मेधावी नाम नामतः ॥ ३ ॥

कुन्तीकुमार! प्राचीन कालमें एक ब्राह्मण थे, जो सदा वेदशास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहते थे। उनके एक पुत्र हुआ, जो गुणसे तो मेधावी था ही नामसे भी मेधावी था ॥ ३ ॥

सोऽब्रवीत् पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम् ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो लोकतत्त्वविचक्षणः ॥ ४ ॥

वह मोक्ष, धर्म और अर्थमें कुशल तथा लोकतत्त्वका अच्छा ज्ञाता था। एक दिन उस पुत्रने अपने स्वाध्याय-परायण पितासे कहा ॥ ४ ॥

पुत्र उवाच

धीरः किंस्वित् तात कुर्यात् प्रजानन्
क्षिप्रं ह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम्।
पितस्तदाचक्ष्व यथार्थयोगं
ममानुपूर्व्या येन धर्मं चरेयम् ॥ ५ ॥

पुत्र बोला—पिताजी! मनुष्योंकी आयु तीव्र गतिसे बीती जा रही है। यह जानते हुए धीर पुरुषको क्या करना चाहिये? तात! आप मुझे उस यथार्थ उपायका उपदेश कीजिये, जिसके अनुसार मैं धर्मका आचरण कर सकूँ ॥ ५ ॥

पितोवाच

वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र
पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितॄणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्ट्‌यज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ ६ ॥

पिताने कहा—बेटा! द्विजको चाहिये कि वह पहले ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करे; फिर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके पितरोंकी सद्गतिके लिये पुत्र पैदा करनेकी इच्छा करे। विधिपूर्वक त्रिविध अग्नियोंकी स्थापना करके यज्ञोंका अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे। उसके बाद मौनभावसे रहते हुए संन्यासी होनेकी इच्छा करे ॥ ६ ॥

पुत्र उवाच

एवमभ्याहते लोके समन्तात् परिवारिते।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ॥ ७ ॥

पुत्रने कहा—पिताजी! यह लोक जब इस प्रकारसे मृत्युद्वारा मारा जा रहा है, जरा-अवस्थाद्वारा चारों ओरसे घेर लिया गया है, दिन और रात सफलतापूर्वक आयुक्षयरूप काम करके बीत रहे हैं ऐसी दशामें भी आप धीरकी भाँति कैसी बात कर रहे हैं ॥ ७ ॥

पितोवाच

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः।
अमोघाः काः पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम् ॥ ८ ॥

पिताने पूछा—बेटा! तुम मुझे भयभीत-सा क्यों कर रहे हो। बताओ तो सही, यह लोक किससे मारा जा रहा है, किसने इसे घेर रक्खा है और यहाँ कौन-से ऐसे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं ॥ ८ ॥

पुत्र उवाच

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः।
अहोरात्राः पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुध्यसे ॥ ९ ॥

पुत्रने कहा—पिताजी! देखिये, यह सम्पूर्ण जगत् मृत्युके द्वारा मारा जा रहा है। बुढ़ापेने इसे चारों ओरसे घेर लिया है और ये दिन-रात ही वे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक प्राणियोंकी आयुका अपहरणस्वरूप अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं, इस बातको आप समझते क्यों नहीं हैं? ॥ ९ ॥

अमोघा रात्रयश्चापि नित्यमायान्ति यान्ति च।
यदाहमेतज्जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये जालेनापिहितश्चरन् ॥ १० ॥

ये अमोघ रात्रियाँ नित्य आती हैं और चली जाती हैं। जब मैं इस बातको जानता हूँ कि मृत्यु क्षणभरके लिये भी रुक नहीं सकती और मैं उसके जालमें फँसकर ही विचर रहा हूँ, तब मैं थोड़ी देर भी प्रतीक्षा कैसे कर सकता हूँ? ॥ १० ॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा ॥ ११ ॥

जब-जब एक-एक रात बीतनेके साथ ही आयु बहुत कम होती चली जा रही है, तब छिछले जलमें रहनेवाली मछलीके समान कौन सुख पा सकता है? ॥ ११ ॥

(यस्यां रात्र्यां व्यतीतायां न किंचिच्छुभमाचरेत्।)
तदैव वन्ध्यं दिवसमिति विद्याद् विचक्षणः।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥ १२ ॥

जिस रातके बीतनेपर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे, उस दिनको विद्वान् पुरुष 'व्यर्थ ही गया' समझे। मनुष्यकी कामनाएँ पूरी भी नहीं होने पातीं कि मौत उसके पास आ पहुँचती है ॥ १२ ॥

शष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ १३ ॥

जैसे घास चरते हुए भेंड़के पास अचानक व्याघ्री पहुँच जाती है और उसे दबोचकर चल देती है, उसी प्रकार मनुष्यका मन जब दूसरी ओर लगा होता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती और उसे लेकर चल देती है ॥ १३ ॥

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम्।
अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ॥ १४ ॥

इसलिये जो कल्याणकारी कार्य हो, उसे आज ही कर डालिये। आपका यह समय हाथसे निकल न जाय; क्योंकि सारे काम अधूरे ही पड़े रह जायँगे और मौत आपको खींच ले जायगी ॥ १४ ॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥ १५ ॥

कल किया जानेवाला काम आज ही पूरा कर लेना चाहिये। जिसे सायंकालमें करना है, उसे प्रातःकालमें ही कर लेना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं ॥ १५ ॥

को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति।
(न मृत्युरामन्त्रयते हर्तुकामो जगत्प्रभुः।

अबुद्ध एवाक्रमते मीनान् मीनग्रहो यथा ॥)

कौन जानता है कि किसका मृत्युकाल आज ही उपस्थित होगा ? सम्पूर्ण जगत्पर प्रभुत्व रखनेवाली मृत्यु जब किसीको हरकर ले जाना चाहती है तो उसे पहलेसे निमन्त्रण नहीं भेजती है। जैसे मछेरे चुपकेसे आकर मछलियोंको पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार मृत्यु भी अज्ञात रहकर ही आक्रमण करती है॥

युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम् ।
कृते धर्मे भवेत् कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम् ॥ १६ ॥

अतः युवावस्थामें ही सबको धर्मका आचरण करना चाहिये; क्योंकि जीवन निःसंदेह अनित्य है । धर्माचरण करनेसे इस लोकमें मनुष्यकी कीर्तिका विस्तार होता है और परलोकमें भी उसे सुख मिलता है ॥ १६ ॥

मोहेन हि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः ।
कृत्वा कार्यमकार्यं वा पुष्टिमेषां प्रयच्छति ॥ १७ ॥

जो मनुष्य मोहमें डूबा हुआ है, वही पुत्र और स्त्रीके लिये उद्योग करने लगता है और करने तथा न करने योग्य काम करके इन सबका पालन-पोषण करता है ॥ १७ ॥

तं पुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम् ।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव मृत्युरादाय गच्छति ॥ १८ ॥

जैसे सोये हुए मृगको बाघ उठा ले जाता है, उसी प्रकार पुत्र और पशुओंसे सम्पन्न एवं उन्हींमें मनको फँसाये रखनेवाले मनुष्यको एक दिन मृत्यु आकर उठा ले जाती है।१८।

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ।
व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति ॥ १९ ॥

जबतक मनुष्य भोगोंसे तृप्त नहीं होता, संग्रह ही करता रहता है, तभीतक ही उसे मौत आकर ले जाती है । ठीक वैसे ही, जैसे व्याघ्र किसी पशुको ले जाता है ॥ १९ ॥

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ।
एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे ॥ २० ॥

मनुष्य सोचता है कि यह काम पूरा हो गया, यह अभी करना है और यह अधूरा ही पड़ा है; इस प्रकार चेष्टाजनित सुखमें आसक्त हुए मानवको काल अपने वशमें कर लेता है ॥

कृतानां फलमप्राप्तं कर्मणां कर्मसंज्ञितम् ।
क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युरादाय गच्छति ॥ २१ ॥

मनुष्य अपने खेत, दूकान और घरमें ही फँसा रहता है, उसके किये हुए उन कर्मोंका फल मिलने भी नहीं पाता, उसके पहले ही उस कर्मासक्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है।२१।

दुर्बलं बलवन्तं च शूरं भीरुं जडं कविम् ।
अप्राप्तं सर्वकामार्थान् मृत्युरादाय गच्छति ॥ २२ ॥

कोई दुर्बल हो या बलवान्, शूरवीर हो या डरपोक तथा मूर्ख हो या विद्वान्, मृत्यु उसकी समस्त कामनाओंके पूर्ण होनेसे पहले ही उसे उठा ले जाती है ॥ २२ ॥

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम् ।
अनुषक्तं यदा देहे किं स्वस्थ इव तिष्ठसि ॥ २३ ॥

पिताजी ! जब इस शरीरमें मृत्यु, जरा, व्याधि और अनेक कारणोंसे होनेवाले दुःखोंका आक्रमण होता ही रहता है, तब आप स्वस्थ-से होकर क्यों बैठे हैं ? ॥ २३ ॥

जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चान्वेति देहिनम् ।
अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥ २४ ॥

देहधारी जीवके जन्म लेते ही अन्त करनेके लिये मौत और बुढ़ापा उसके पीछे लग जाते हैं । ये समस्त चराचर प्राणी इन दोनोंसे बँधे हुए हैं ॥ २४ ॥

मृत्योर्वा मुखमेतद् वै या ग्रामे वसतो रतिः ।
देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः ॥ २५ ॥

ग्राम या नगरमें रहकर जो स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्ति बढ़ायी जाती है, यह मृत्युका मुख ही है और जो वनका आश्रय लेता है, यह इन्द्रियरूपी गौओंको बाँधनेके लिये गोशालाके समान है, यह श्रुतिका कथन है ॥ २५ ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः॥ २६ ॥

ग्राममें रहनेपर वहाँके स्त्री-पुत्र आदि विषयोंमें जो आसक्ति होती है, यह जीवको बाँधनेवाली रस्सीके समान है । पुण्यात्मा पुरुष ही इसे काटकर निकल पाते हैं । पापी पुरुष इसे नहीं काट पाते हैं ॥ २६ ॥

न हिंसयति यो जन्तून् मनोवाक्कायहेतुभिः ।
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स हिंस्यते ॥ २७ ॥

जो मनुष्य मन, वाणी और शरीररूपी साधनोंद्वारा प्राणियोंकी हिंसा नहीं करता, उसकी भी जीवन और अर्थका नाश करनेवाले हिंसक प्राणी हिंसा नहीं करते हैं ॥ २७ ॥

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ।
ऋते सत्यमसत् त्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ॥ २८ ॥

सत्यके बिना कोई भी मनुष्य सामने आते हुए मृत्युकी सेनाका कभी सामना नहीं कर सकता; इसलिये असत्यको त्याग देना चाहिये; क्योंकि अमृतत्व सत्यमें ही स्थित है।२८।

तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः ।
सत्यागमः सदा दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥ २९ ॥

अतः मनुष्यको सत्यव्रतका आचरण करना चाहिये । सत्ययोगमें तत्पर रहना और शास्त्रकी बातोंको सत्य मानकर श्रद्धापूर्वक सदा मन और इन्द्रियोंका संयम करना चाहिये । इस प्रकार सत्यके द्वारा ही मनुष्य मृत्युपर विजय पा सकता है॥

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युमापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥ ३० ॥

अमृत और मृत्यु दोनों इस शरीरमें ही स्थित हैं । मनुष्य मोहसे मृत्युको और सत्यसे अमृतको प्राप्त होता है ॥

सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः।
समदुःखसुखः क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमर्त्यवत् ॥ ३१ ॥

अतः अब मैं हिंसासे दूर रहकर सत्यकी खोज करूँगा,

काम और क्रोधको हृदयसे निकालकर दुःख और सुखमें समान भाव रक्खूँगा तथा सबके लिये कल्याणकारी बनकर देवताओंके समान मृत्युके भयसे मुक्त हो जाऊँगा ॥ ३१ ॥

शान्तियज्ञरतो दान्तो ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः ।
वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने ॥ ३२ ॥

मैं निवृत्तिपरायण होकर शान्तिमय यज्ञमें तत्पर रहूँगा, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर ब्रह्मयज्ञ (वेद-शास्त्रोंके स्वाध्याय) में लग जाऊँगा और मुनिवृत्तिसे रहूँगा । उत्तरायणके मार्गसे जानेके लिये मैं जप और स्वाध्यायरूप वाग्यज्ञ, ध्यानरूप मनोयज्ञ और अग्निहोत्र एवं गुरुशुश्रूषादिरूप कर्मयज्ञका अनुष्ठान करूँगा ॥ ३२ ॥

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति ।
अन्तवद्भिरिव प्राज्ञः क्षेत्रयज्ञैः पिशाचवत् ॥ ३३ ॥

मेरे-जैसा विद्वान् पुरुष नश्वर फल देनेवाले हिंसायुक्त पशुयज्ञ और पिशाचोंके समान अपने शरीरके ही रक्त-मांसद्वारा किये जानेवाले तामस यज्ञोंका अनुष्ठान कैसे कर सकता है ? ॥

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा ।
तपस्त्यागश्च सत्यं च स वै सर्वमवाप्नुयात् ॥ ३४ ॥

जिसकी वाणी और मन दोनों सदा भलीभाँति एकाग्र रहते हैं तथा जो त्याग, तपस्या और सत्यसे सम्पन्न होता है, वह निश्चय ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है ॥ ३४ ॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥ ३५ ॥

संसारमें विद्या (ज्ञान) के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्यके समान कोई तप नहीं है, रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है ॥ ३५ ॥

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजोऽपि वा ।
आत्मन्येव भविष्यामि न मां तारयति प्रजा ॥ ३६ ॥

मैं संतानरहित होनेपर भी परमात्मामें ही परमात्माद्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, परमात्मामें ही स्थित हूँ । आगे भी आत्मामें ही लीन होऊँगा । संतान मुझे पार नहीं उतारेगी ॥ ३६ ॥

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च ।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ ३७ ॥

परमात्माके साथ एकता तथा समता, सत्यभाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा, दण्डका परित्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकारके सकाम कर्मोंसे उपरति—इनके समान ब्राह्मणके लिये दूसरा कोई धन नहीं है ॥ ३७ ॥

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते
किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताः पिता च ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणदेव पिताजी ! जब आप एक दिन मर ही जायँगे तो आपको इस धनसे क्या लेना है अथवा भाई-बन्धुओंसे आपका क्या काम है तथा स्त्री आदिसे आपका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है । आप अपने हृदयरूपी गुफामें स्थित हुए परमात्माको खोजिये । सोचिये तो सही, आपके पिता और पितामह कहाँ चले गये ? ॥ ३८ ॥

भीष्म उवाच

पुत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा यथाकार्षीत् पिता नृप ।
तथा त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥ ३९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! पुत्रका यह वचन सुनकर पिताने जैसे सत्य-धर्मका अनुष्ठान किया था, उसी प्रकार तुम भी सत्य-धर्ममें तत्पर रहकर यथायोग्य बर्ताव करो ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पितापुत्रसंवादकथने पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पिता और पुत्रके संवादका कथनविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

त्यागकी महिमाके विषयमें शम्पाक ब्राह्मणका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

धनिनश्चाधना ये च वर्तयन्ते स्वतन्त्रिणः ।
सुखदुःखागमस्तेषां कः कथं वा पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! धनी और निर्धन दोनों स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करते हैं; फिर उन्हें किस रूपमें और कैसे सुख और दुःखकी प्राप्ति होती है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शम्पाकेनेह मुक्तेन गीतं शान्तिगतेन च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष इस पुरातन इतिहासका उदाहरण देते हैं, जिसे परम शान्त जीवन्मुक्त शम्पाकने यहाँ कहा था ॥ २ ॥

अब्रवीन्मां पुरा कश्चिद् ब्राह्मणस्त्यागमाश्रितः ।
क्लिश्यमानः कुदारेण कुचैलेन बुभुक्षया ॥ ३ ॥

पहलेकी बात है, फटे-पुराने वस्त्रों एवं अपनी दुष्टा स्त्रीके और भूखके कारण अत्यन्त कष्ट पानेवाले एक त्यागी ब्राह्मणने जिसका नाम शम्पाक था, मुझसे इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

उत्पन्नमिह लोके वै जन्मप्रभृति मानवम् ।
विविधान्युपवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ४ ॥

'इस संसारमें जो भी मनुष्य उत्पन्न होता है (वह धनी हो या निर्धन) उसे जन्मसे ही नाना प्रकारके सुख-दुःख प्राप्त होने लगते हैं ॥ ४ ॥

तयोरेकतरे मार्गे यदेनमभिसन्नयेत् ।
न सुखं प्राप्य संहृष्येन्नासुखं प्राप्य संज्वरेत् ॥ ५ ॥

'विधाता यदि उसे सुख और दुःख इन दोनोंमेंसे किसी एकके मार्गपर ले जाय तो वह न तो सुख पाकर प्रसन्न हो और न दुःखमें पड़कर परितप्त हो ॥ ५ ॥

न वै चरसि यच्छ्रेय आत्मनो वा यदीशिषे ।
अकामात्मापि हि सदा धुरमुद्यम्य चैव ह ॥ ६ ॥

'तुम जो कामनारहित होकर भी अपने कल्याणका साधन नहीं कर रहे हो और मनको वशमें नहीं कर रहे हो, इसका कारण यही है कि तुमने राज्यका बोझा अपनेपर उठा रखा है ॥ ६ ॥

अकिंचनः परिपतन् सुखमास्वादयिष्यसि ।
अकिंचनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव ह ॥ ७ ॥

'यदि तुम सब कुछ त्यागकर किसी वस्तुका संग्रह नहीं रक्खोगे तो सर्वत्र विचरते हुए सुखका ही अनुभव करोगे; क्योंकि जो अकिंचन होता है—जिसके पास कुछ नहीं रहता है, वह सुखसे सोता और जागता है ॥ ७ ॥

आकिंचन्यं सुखं लोके पथ्यं शिवमनामयम् ।
अनमित्रपथो ह्येष दुर्लभः सुलभो मतः ॥ ८ ॥

'संसारमें अकिंचनता ही सुख है । वही हितकारक, कल्याणकारी और निरापद है । इस मार्गमें किसी प्रकारके शत्रुका भी खटका नहीं है । यह दुर्लभ होनेपर भी सुलभ है ॥ ८ ॥

अकिंचनस्य शुद्धस्य उपपन्नस्य सर्वतः ।
अवेक्षमाणस्त्रीँल्लोकान् न तुल्यमिह लक्षये ॥ ९ ॥

'मैं तीनों लोकोंपर दृष्टि डालकर देखता हूँ तो मुझे अकिंचन, शुद्ध एवं सब ओरसे वैराग्यसम्पन्न पुरुषके समान दूसरा कोई नहीं दिखायी देता है ॥ ९ ॥

आकिंचन्यं च राज्यं च तुलया समतोलयम् ।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम् ॥ १० ॥

'मैंने अकिंचनता तथा राज्यको बुद्धिकी तराजूपर रखकर तौला तो गुणोंमें अधिक होनेके कारण राज्यसे भी अकिंचनताका ही पलड़ा भारी निकला ॥ १० ॥

आकिंचन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम् ।
नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा ॥ ११ ॥

'अकिंचनता तथा राज्यमें बड़ा भारी अन्तर यह है कि धनी राजा सदा इस प्रकार उद्विग्न रहता है, मानो मौतके मुखमें पड़ा हुआ हो ॥ ११ ॥

नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः ।
प्रभवन्ति धनत्यागाद् विमुक्तस्य निराशिषः ॥ १२ ॥

'परंतु जो मनुष्य धनको त्यागकर उसकी आसक्तिसे मुक्त हो गया है और मनमें किसी तरहकी कामना नहीं रखता, उसपर न अग्निका जोर चलता है, न अरिष्टकारी ग्रहोंका, न मृत्यु उसका कुछ बिगाड़ सकती है, न डाकू और लुटेरे ही ॥ १२ ॥

तं वै सदा कामचरमनुपस्तीर्णशायिनम् ।
बाहूपधानं शाम्यन्तं प्रशंसन्ति दिवौकसः ॥ १३ ॥

'वह सदा दैव-इच्छाके अनुसार विचरता है । बिना बिछौनेके भूतलपर सोता है । बाँहोंकी ही तकिया लगाता है और सदा शान्तभावसे रहता है । देवतालोग भी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं ॥ १३ ॥

धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्टचेतनः ।
तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भ्रुकुटीमुखः ॥ १४ ॥

'जो धनवान् है, वह क्रोध और लोभके आवेशमें आकर अपनी विचारशक्तिको खो बैठता है, टेढ़ी आँखोंसे देखता है, उसका मुँह सूखा रहता है, भौंहें चढ़ी होती हैं और वह पापमें ही मग्न रहा करता है ॥ १४ ॥

निर्दशन्नधरोष्ठं च क्रुद्धो दारुणभाषिता ।
कस्तमिच्छेत् परिद्रष्टुं दातुमिच्छति चेन्महीम् ॥ १५ ॥

'क्रोधके कारण वह ओठ चबाता रहता है और अत्यन्त कठोर वचन बोलता है । ऐसा मनुष्य सारी पृथ्वीका राज्य ही दे देना चाहता हो, तो भी उसकी ओर कौन देखना चाहेगा ? ॥ १५ ॥

श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो मोहयत्यविचक्षणम् ।
सा तस्य चित्तं हरति शारदाभ्रमिवानिलः ॥ १६ ॥

'सदा धन-सम्पत्तिका सहवास मूर्ख मनुष्यके चित्तको लुभाकर उसे मोहमें ही डाले रहता है । जैसे वायु शरद् ऋतुके बादलोंको उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार वह सम्पत्ति मनुष्यके मनको हर लेती है ॥ १६ ॥

अथैनं रूपमानश्च धनमानश्च विन्दति ।
अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः ॥ १७ ॥

'फिर उसके ऊपर रूपका अहंकार और धनका मद सवार हो जाता है और वह ऐसा मानने लगता है कि मैं बड़ा कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ, कोई साधारण मनुष्य नहीं हूँ ॥ १७ ॥

इत्येभिः कारणैस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रमाद्यति ।
सम्प्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसंचितान् ।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते ॥ १८ ॥

'रूप, धन और कुल—इन तीनोंके अभिमानके कारण उसके चित्तमें प्रमाद भर जाता है, वह भोगोंमें आसक्त होकर

बाप-दादोंके जोड़े हुए पैसोंको खो बैठता है और दरिद्र होकर दूसरोंके धनको हड़प लाना अच्छा मानने लगता है ॥ १८ ॥

तमतिक्रान्तमर्यादमाददानं ततस्ततः ।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥ १९ ॥

'इस तरह मर्यादाका उल्लङ्घन करके जब वह इधर-उधरसे लूट-खसोटकर धन ले आता है, तब राजा उसे उसी प्रकार कठोर दण्ड देकर रोकते हैं, जैसे व्याध बाणोंसे मारकर मृगोंकी गति रोक देते हैं ॥ १९ ॥

एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम् ।
विविधान्युपपद्यन्ते गात्रसंस्पर्शजान्यपि ॥ २० ॥

'इस प्रकार मनको तप्त करनेवाले और शरीरके स्पर्शसे होनेवाले ये नाना प्रकारके दुःख मनुष्यको प्राप्त होते हैं।२०।

तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत् ।
लोकधर्ममवज्ञाय ध्रुवाणामध्रुवैः सह ॥ २१ ॥

'अतः अनित्य शरीरोंके साथ सदैव लगे रहनेवाले पुत्रैषणा आदि लोकधर्मोंकी अवहेलना करके अवश्य प्राप्त होनेवाले पूर्वोक्त महान् दुःखोंकी विचारपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २१ ॥

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम् ।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ॥ २२ ॥

'कोई मनुष्य त्याग किये बिना सुख नहीं पाता, त्याग किये बिना परमात्माको नहीं पा सकता और त्याग किये बिना निर्भय सो नहीं सकता; इसलिये तुम भी सब कुछ त्यागकर सुखी हो जाओ' ॥ २२ ॥

इत्येतद्धास्तिनपुरे ब्राह्मणेनोपवर्णितम् ।
शम्पाकेन पुरा मह्यं तस्मात् त्यागः परो मतः ॥ २३ ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें शम्पाक नामक ब्राह्मणने हस्तिनापुरमें मुझसे त्यागकी महिमाका वर्णन किया था । अतः त्याग ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शम्पाकगीतायां षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शम्पाकगीताविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

मङ्किगीता—धनकी तृष्णासे दुःख और उसकी कामनाके त्यागसे परम सुखकी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम् ।
धनतृष्णाभिभूतश्च किं कुर्वन् सुखमाप्नुयात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! यदि कोई मनुष्य धनकी तृष्णासे ग्रस्त होकर तरह-तरहके उद्योग करनेपर भी धन न पा सके तो वह क्या करे, जिससे उसे सुखकी प्राप्ति हो सके ?॥

भीष्म उवाच

सर्वसाम्यमनायासं सत्यवाक्यं च भारत ।
निर्वेदश्चाविधित्सा च यस्य स्यात् स सुखी नरः॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! सबमें समताका भाव, व्यर्थ परिश्रमका अभाव, सत्यभाषण, संसारसे वैराग्य और कर्मासक्तिका अभाव—ये पाँचों जिस मनुष्यमें होते हैं, वह सुखी होता है ॥ २ ॥

एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये ।
एष स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुत्तमं मतम् ॥ ३ ॥

ज्ञानवृद्ध पुरुष इन्हीं पाँच वस्तुओंको शान्तिका कारण बताते हैं । यही स्वर्ग है, यही धर्म है और यही परम उत्तम सुख माना गया है ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निर्वेदान्मङ्किना गीतं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार पुरुष एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । मङ्कि नामक मुनिने भोगोंसे विरक्त होकर जो उद्गार प्रकट किया था, वही इस इतिहासमें वर्णित है । उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

ईहमानो धनं मङ्किर्भग्नेहश्च पुनः पुनः ।
केनचिद् धनशेषेण क्रीतवान् दम्यगोयुगम् ॥ ५ ॥

मङ्कि धनके लिये अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करते थे; परंतु हर बार उनका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता था । अन्तमें जब बहुत थोड़ा धन शेष रह गया तो उसे देकर उन्होंने दो नये बछड़े खरीदे ॥ ५ ॥

सुसम्बद्धौ तु तौ दम्यौ दमनायाभिनिःसृतौ ।
आसीनमुष्ट्रं मध्येन सहसैवाभ्यधावताम् ॥ ६ ॥

एक दिन उन दोनों बछड़ोंको परस्पर जोड़कर वे हल चलानेकी शिक्षा देनेके लिये ले जा रहे थे । जब वे दोनों बछड़े गाँवसे बाहर निकले तो बैठे हुए एक ऊँटको बीचमें करके सहसा दौड़ पड़े ॥ ६ ॥

तयोः सम्प्राप्तयोरुष्ट्रः स्कन्धदेशममर्षणः ।
उत्थायोत्क्षिप्य तौ दम्यौ प्रससार महाजवः ॥ ७ ॥

जब वे उसकी गर्दनके पास पहुँचे तो ऊँटके लिये यह असह्य हो उठा । वह रोषमें भरकर खड़ा हो गया और उन दोनों बछड़ोंको ऊपर लटकाये बड़े जोरसे भागने लगा ॥७॥

ह्रियमाणौ तु तौ दम्यौ तेनोष्ट्रेण प्रमाथिना ।
म्रियमाणौ च सम्प्रेक्ष्य मङ्किस्तत्राब्रवीदिदम् ॥ ८ ॥

बलपूर्वक अपहरण करनेवाले उस ऊँटके द्वारा उन

दोनों बछड़ोंको अपहृत होते और मरते देख मङ्किने इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

न चैवाविहितं शक्यं दक्षेणापीहितुं धनम् ।
युक्तेन श्रद्धया सम्यगीहां समनुतिष्ठता ॥ ९ ॥

'मनुष्य कैसा ही चतुर क्यों न हो, जो उसके भाग्यमें नहीं है, उस धनको वह श्रद्धापूर्वक भलीभाँति प्रयत्न करके भी नहीं पा सकता ॥ ९ ॥

कृतस्य पूर्वं चानर्थैर्युक्तस्याप्यनुतिष्ठतः ।
इमं पश्यत संगत्या मम दैवमुपप्लवम् ॥ १० ॥

'पहले मैंने जो प्रयत्न किया था, उसमें अनेक प्रकारके अनर्थ खड़े हो गये थे । उन अनर्थोंसे युक्त होनेपर भी मैं धनोपार्जनकी ही चेष्टामें लगा रहा; परंतु देखो, आज इन बछड़ोंकी सङ्गतिसे मुझपर कैसा दैवी उपद्रव आ गया ? ॥

उद्यम्योद्यम्य मे दम्यौ विषमेणैव गच्छतः ।
उत्क्षिप्य काकतालीयमुत्पथेनैव धावतः ॥ ११ ॥
मणी वोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम ।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम् ॥ १२ ॥

'यह ऊँट मेरे बछड़ोंको उछाल-उछालकर विषम मार्गसे ही जा रहा है । काकतालीयन्यायसे[1] (अर्थात् दैवसंयोगसे) इन्हें गर्दनपर उठाकर बुरे मार्गसे ही दौड़ रहा है । इस ऊँटके गलेमें मेरे दोनों प्यारे बछड़े दो मणियोंके समान लटक रहे हैं । यह केवल दैवकी ही लीला है । हठपूर्वक किये हुए पुरुषार्थसे क्या होता है ? ॥ ११-१२ ॥

यदि वाप्युपपद्येत पौरुषं नाम कर्हिचित् ।
अन्विष्यमाणं तदपि दैवमेवावतिष्ठते ॥ १३ ॥

'यदि कभी कोई पुरुषार्थ सफल होता दिखायी देता है तो वहाँ भी खोज करनेपर दैवका ही सहयोग सिद्ध होता है ॥

तस्मान्निर्वेद एवेह गन्तव्यः सुखमिच्छता ।
सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने ॥ १४ ॥

'अतः सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको धन आदिकी ओरसे वैराग्यका ही आश्रय लेना चाहिये । धनोपार्जनकी चेष्टासे निराश होकर जो विरक्त हो जाता है, वह सुखकी नींद सोता है ॥ १४ ॥

अहो सम्यक् शुकेनोक्तं सर्वतः परिमुच्यता ।
प्रतिष्ठता महारण्यं जनकस्य निवेशनात् ॥ १५ ॥

'अहा ! शुकदेव मुनिने जनकके राजमहलसे विशाल वनकी ओर जाते समय सब ओरसे बन्धनमुक्त हो क्या ही अच्छा कहा था ? ॥ १५ ॥

यः कामानाप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ १६ ॥

''जो मनुष्य अपनी समस्त कामनाओंको पा लेता है तथा जो इन सबका केवल त्याग कर देता है—इन दोनोंके कार्योंमें समस्त कामनाओंको प्राप्त करनेकी अपेक्षा उनका त्याग ही श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

नान्तं सर्वविधित्सानां गतपूर्वोऽस्ति कश्चन ।
शरीरे जीविते चैव तृष्णा मन्दस्य वर्धते ॥ १७ ॥

'कोई भी पहले कभी धन आदिके लिये होनेवाली सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका अन्त नहीं पा सका है । शरीर और जीवनके प्रति मूर्ख मनुष्यकी ही तृष्णा बढ़ती है ॥ १७ ॥

निवर्तस्व विधित्साभ्यः शाम्य निर्विद्य कामुक ।
असकृच्चासि निकृतो न च निर्विद्यसे ततः ॥ १८ ॥

'ओ कामनाओंके दास मन ! तू सब प्रकारकी चेष्टाओंसे निवृत्त हो जा और वैराग्यपूर्वक शान्ति धारण कर । तू धनकी चेष्टा करके बारंबार ठगा गया है तो भी उसकी ओरसे वैराग्य नहीं होता है ॥ १८ ॥

यदि नाहं विनाश्यस्ते यद्येवं रमसे मया ।
मा मां योजय लोभेन वृथा त्वं वित्तकामुक ॥ १९ ॥

'ओ धनकी कामनावाले मन ! यदि तुझे मेरा विनाश नहीं करना है । यदि तू इसी प्रकार मेरे साथ आनन्दपूर्वक रहना चाहता है तो मुझे व्यर्थ लोभमें न फँसा ॥ १९ ॥

संचितं संचितं द्रव्यं नष्टं तव पुनः पुनः ।
कदाचिन्मोक्ष्यसे मूढ धनेहां धनकामुक ॥ २० ॥

'तूने बार-बार द्रव्यका संचय किया और वह बारंबार नष्ट होता चला गया । धनकी इच्छा रखनेवाले मूढ ! क्या कभी तू धनकी इस तृष्णा और चेष्टाका त्याग भी करेगा ? ॥

अहो नु मम बालिश्यं योऽहं क्रीडनकस्तव ।
किं नैवं जातु पुरुषः परेषां प्रेष्यतामियात् ॥ २१ ॥

'अहो ! यह मेरी कैसी नादानी है ? जो मैं तेरे हाथका खिलौना बना हुआ हूँ । यदि ऐसी बात न होती तो क्या कोई समझदार पुरुष कभी दूसरोंकी दासता स्वीकार कर सकता है ? ॥ २१ ॥

न पूर्वे नापरे जातु कामानामन्तमाप्नुवन् ।
त्यक्त्वा सर्वसमारम्भान् प्रतिबुद्धोऽस्मि जागृमि ॥२२॥

'पूर्वकालके तथा पीछेके मनुष्य भी कभी कामनाओंका अन्त नहीं पा सके हैं, अतः मैं समस्त कर्मोंका आयोजन त्यागकर सावधान हो गया हूँ और मैं पूर्णतः जग गया हूँ॥

नूनं ते हृदयं काम वज्रसारमयं दृढम् ।
यदनर्थशताविष्टं शतधा न विदीर्यते ॥ २३ ॥

---

१. एक ताड़के वृक्षके नीचे एक बटोही बैठा था । उसी वृक्षके ऊपर एक काक भी आ बैठा । काकके आते ही ताड़का एक पका हुआ फल नीचे गिरा । यद्यपि फल पककर आपसे आप ही गिरा था, पर पथिक दोनों बातोंको साथ होते देख, यही समझ गया कि कौवेके आनेसे ही ताड़का फल गिरा है; अतः जहाँ संयोगवश अचानक कोई घटना घटित हो जाय, वहाँ उसे काकतालीयन्यायसे घटित हुई बताया जाता है । यहाँ बछड़ोंका आना और ऊँटका रास्तेमें बैठे रहना—ये बातें संयोगवश हो गयी थीं ।

'काम ! निश्चय ही तेरा हृदय फौलादका बना हुआ है; अतएव अत्यन्त सुदृढ़ है। यही कारण है कि सैकड़ों अनर्थोंसे व्याप्त होनेपर भी इसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ २३ ॥

जानामि काम त्वां चैव यच्च किंचित् प्रियं तव।
तवाहं प्रियमन्विच्छन्नात्मन्युपलभे सुखम् ॥ २४ ॥

'काम ! मैं तुझे अच्छी तरह जानता हूँ और जो कुछ तुझे प्रिय लगता है, उससे भी परिचित हूँ। चिरकालसे तेरा प्रिय करनेकी चेष्टा करता चला आ रहा हूँ; परंतु कभी मेरे मनमें सुखका अनुभव नहीं हुआ ॥ २४॥

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि॥ २५ ॥

'काम ! मैं तेरी जड़को जानता हूँ। निश्चय ही तू संकल्पसे उत्पन्न होता है। अब मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा, जिससे तू समूल नष्ट हो जायगा ॥ २५ ॥

ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशो यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा ॥ २६ ॥

''धनकी इच्छा अथवा चेष्टा सुखदायिनी नहीं है। यदि धन मिल भी जाय तो उसकी रक्षा आदिके लिये बड़ी भारी चिन्ता बढ़ जाती है और यदि एक बार मिलकर वह नष्ट हो जाय, तब तो मृत्युके समान ही भयंकर कष्ट होता है और उद्योग करनेपर भी धन मिलेगा या नहीं, यह निश्चय नहीं होता ॥ २६ ॥

परित्यागे न लभते ततो दुःखतरं नु किम्।
न च तुष्यति लब्धेन भूय एव च मार्गति ॥ २७ ॥

'शरीरको निछावर कर देनेपर भी मनुष्य जब धन नहीं पाता है तो उसके लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या हो सकता है? यदि धनकी उपलब्धि हो भी जाय तो उतनेसे ही वह संतुष्ट नहीं होता है अपितु अधिक धनकी तलाश करने लग जाता है ॥ २७ ॥

अनुतर्षुल एवार्थः स्वादु गाङ्गमिवोदकम्।
मद्विलापनमेतत्तु प्रतिबुद्धोऽस्मि संत्यज ॥ २८ ॥

'काम ! स्वादिष्ट गङ्गाजलके समान यह धन तृष्णाकी ही वृद्धि करनेवाला है। मैं अच्छी तरह जान गया हूँ कि यह तृष्णाकी वृद्धि मेरे विनाशका कारण है; अतः तू मेरा पिण्ड छोड़ दे ॥ २८ ॥

य इमं मामकं देहं भूतग्रामः समाश्रितः।
स यात्वितो यथाकामं वसतां वा यथासुखम् ॥ २९ ॥

'मेरे इस शरीरका आश्रय लेकर जो पाँचों भूतोंका समुदाय स्थित है, वह इसमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक चला जाय या इसमें रहे, इसकी मुझे परवा नहीं है ॥२९॥

न युष्मास्विह मे प्रीतिः कामलोभानुसारिषु।
तस्मादुत्सृज्य कामान् वै सत्त्वमेवाश्रयाम्यहम्॥३० ॥

'पञ्चभूतगण ! अहंकार आदिके साथ तुम सब लोग काम और लोभके पीछे लगे रहनेवाले हो। अतः तुमपर यहाँ मेरा रत्तीभर भी स्नेह नहीं है। इसलिये मैं समस्त कामनाओंको छोड़कर केवल अब सत्त्वगुणका आश्रय ले रहा हूँ ॥ ३० ॥

सर्वभूतान्यहं देहे पश्यन् मनसि चात्मनः।
योगे बुद्धिं श्रुते सत्त्वं मनो ब्रह्मणि धारयन् ॥ ३१ ॥
विहरिष्याम्यनासक्तः सुखी लोकान् निरामयः।
यया मां त्वं पुनर्नैवं दुःखेषु प्रणिधास्यसि ॥ ३२ ॥

'मैं अपने शरीरमें मनके अंदर सम्पूर्ण भूतोंको देखता हुआ बुद्धिको योगमें, एकाग्रचित्तको श्रवण-मनन आदि साधनोंमें और मनको परब्रह्म परमात्मामें लगाकर रोग-शोकसे रहित एवं सुखी हो सम्पूर्ण लोकोंमें अनासक्त भावसे विचरूँगा, जिससे तू फिर मुझे इस प्रकार दुःखोंमें न डाल सकेगा ॥ ३१-३२ ॥

त्वया हि मे प्रणुन्नस्य गतिरन्या न विद्यते।
तृष्णाशोकश्रमाणां हि त्वं काम प्रभवः सदा ॥ ३३ ॥

'काम ! तृष्णा, शोक और परिश्रम—इनका उत्पत्तिस्थान सदा तू ही है। जबतक तू मुझे प्रेरित करके इधर-उधर भटकाता रहेगा, तबतक मेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ ३३ ॥

धननाशेऽधिकं दुःखं मन्ये सर्वमहत्तरम्।
ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते मित्राणि च धनाच्च्युतम् ॥ ३४ ॥

'मैं तो समझता हूँ कि धनका नाश होनेपर जो अत्यन्त दुःख होता है, वही सबसे बढ़कर है; क्योंकि जो धनसे वञ्चित हो जाता है, उसे अपने भाई-बन्धु और मित्र भी अपमानित करने लगते हैं ॥ ३४ ॥

अवज्ञानसहस्रैस्तु दोषाः कष्टतराऽधने।
धने सुखकला या तु सापि दुःखैर्विधीयते ॥ ३५ ॥

'दरिद्रको सहस्र-सहस्र तिरस्कार सहने पड़ते हैं; अतः निर्धन अवस्थामें बहुत-से कष्टदायक दोष हैं; और धनमें जो सुखका लेश प्रतीत होता है, वह भी दुःखोंसे ही सम्पादित होता है ॥ ३५ ॥

धनमस्येति पुरुषं पुरो निघ्नन्ति दस्यवः।
क्लिश्यन्ति विविधैर्दण्डैर्नित्यमुद्वेजयन्ति च ॥ ३६ ॥

'जिस पुरुषके पास धन होनेका संदेह होता है, उसे उसका धन लूटनेके लिये लुटेरे मार डालते हैं अथवा उसे तरह-तरहकी पीड़ाएँ देकर सताते और सदा उद्वेगमें डाले रहते हैं ॥ ३६ ॥

अर्थलोलुपता दुःखमिति बुद्धं चिरान्मया।
यद् यदालम्बसे काम तत्तदेवानुरुध्यसे ॥ ३७ ॥

'धनलोलुपता दुःखका कारण है, यह बात बहुत देरके बाद मेरी समझमें आयी है। काम ! तू जिस-जिसका आश्रय लेता है, उसी उसीके पीछे पड़ जाता है ॥ ३७ ॥

अतत्त्वज्ञोऽसि बालश्च दुस्तोषोऽपूरणोऽनलः।

नैव त्वं वेत्थ सुलभं नैव त्वं वेत्थ दुर्लभम् ॥ ३८ ॥

'तू तत्त्वज्ञानसे रहित और बालकके समान मूढ है, तुझे संतोष देना कठिन है। आगके समान तेरा पेट भरना असम्भव है। तू यह नहीं जानता कि कौन-सी वस्तु सुलभ है और कौन-सी दुर्लभ ॥ ३८ ॥

पाताल इव दुष्पूरो मां दुःखैर्योक्तुमिच्छसि।
नाहमद्य समावेष्टुं शक्यः काम पुनस्त्वया ॥ ३९ ॥

'काम! पातालके समान तुझे भरना कठिन है। तू मुझे दुःखोंमें फँसाना चाहता है; किंतु अब तू फिर मेरे भीतर प्रवेश नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥

निर्वेदमहमासाद्य द्रव्यनाशाद् यदृच्छया।
निर्वृत्तिं परमां प्राप्य नाद्य कामान् विचिन्तये ॥ ४० ॥

'अकस्मात् धनका नाश हो जानेसे वैराग्यको प्राप्त होकर मुझे परम सुख मिल गया है। अब मैं भोगोंका चिन्तन नहीं करूँगा ॥ ४० ॥

अतिक्लेशान् सहामीह नाहं बुद्ध्याम्यबुद्धिमान्।
निकृतो धननाशेन शये सर्वाङ्गविज्वरः ॥ ४१ ॥

'पहले मैं बड़े-बड़े क्लेश सहता था, परंतु ऐसा बुद्धिहीन हो गया था कि 'धनकी कामनामें कष्ट है,' इस बातको समझ ही नहीं पाता था। परंतु अब धनका नाश हो जानेसे उससे वञ्चित होकर मैं सम्पूर्ण अङ्गोंमें क्लेश और चिन्तासे मुक्त होकर सुखसे सोता हूँ ॥ ४१ ॥

परित्यजामि काम त्वां हित्वा सर्वमनोगतीः।
न त्वं मया पुनः काम वत्स्यसे न च रंस्यसे ॥ ४२ ॥

'काम! मैं अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियोंको दूर हटाकर तेरा परित्याग कर रहा हूँ। अब तू फिर मेरे साथ न तो रह सकेगा और न मौज ही कर सकेगा ॥ ४२ ॥

क्षमिष्ये क्षिपमाणानां न हिंसिष्ये विहिंसितः।
द्वेष्ययुक्तः प्रियं वक्ष्याम्यनादृत्य तदप्रियम् ॥ ४३ ॥

'अब जो लोग मुझपर आक्षेप या मेरा तिरस्कार करेंगे, उनके उस बर्तावको मैं चुपचाप सह लूँगा। जो लोग मुझे मारें-पीटेंगे या कष्ट देंगे, उनके साथ भी मैं बदलेमें वैसा बर्ताव नहीं करूँगा। द्वेषके योग्य पुरुषका भी यदि साथ हो जाय और वह मुझे अप्रिय वचन कहने लगे तो मैं उसपर ध्यान न देकर उससे अप्रिय वचन नहीं बोलूँगा ॥ ४३ ॥

तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं यथालब्धेन वर्तयन्।
न सकामं करिष्यामि त्वामहं शत्रुमात्मनः ॥ ४४ ॥

'मैं सदा संतुष्ट एवं स्वस्थ इन्द्रियोंसे सम्पन्न रहकर भाग्यवश जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन-निर्वाह करता रहूँगा; परंतु तुझे कभी सफल न होने दूँगा; क्योंकि तू मेरा शत्रु है ॥ ४४ ॥

निर्वेदं निर्वृतिं तृप्तिं शान्तिं सत्यं दमं क्षमाम्।
सर्वभूतदयां चैव विद्धि मां समुपागतम् ॥ ४५ ॥

'तू यह अच्छी तरह समझ ले कि मुझे वैराग्य, सुख, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और समस्त प्राणियोंके प्रति दयाभाव—ये सभी सद्गुण प्राप्त हो गये हैं ॥ ४५ ॥

तस्मात् कामश्च लोभश्च तृष्णा कार्पण्यमेव च।
त्यजन्तु मां प्रतिष्ठन्तं सत्त्वस्थो ह्यस्मि साम्प्रतम् ॥ ४६ ॥

'अतः काम, लोभ, तृष्णा और कृपणताको चाहिये कि वे मोक्षकी ओर प्रस्थान करनेवाले मुझ साधकको छोड़कर चले जायँ। अब मैं सत्त्वगुणमें स्थित हो गया हूँ ॥ ४६ ॥

प्रहाय कामं लोभं च सुखं प्राप्तोऽस्मि साम्प्रतम्।
नाद्य लोभवशं प्राप्तो दुःखं प्राप्स्याम्यनात्मवान् ॥ ४७ ॥

'इस समय काम और लोभका त्याग करके मैं प्रत्यक्ष ही सुखी हो गया हूँ; अतः अजितेन्द्रिय पुरुषकी भाँति अब लोभमें फँसकर दुःख नहीं उठाऊँगा ॥ ४७ ॥

यद् यत् त्यजति कामानां तत् सुखस्याभिपूर्यते।
कामस्य वशगो नित्यं दुःखमेव प्रपद्यते ॥ ४८ ॥

'मनुष्य जिस-जिस कामनाको छोड़ देता है, उस-उसकी ओरसे सुखी हो जाता है। कामनाके वशीभूत होकर तो वह सर्वदा दुःख ही पाता है ॥ ४८ ॥

कामानुबन्धं नुदते यत् किंचित् पुरुषो रजः।
कामक्रोधोद्भवं दुःखमह्रीररतिरेव च ॥ ४९ ॥

'मनुष्य कामसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कुछ भी रजोगुण हो, उसे दूर कर दे। दुःख, निर्लज्जता और असंतोष—ये काम और क्रोधसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं ॥ ४९ ॥

एष ब्रह्मप्रतिष्ठोऽहं ग्रीष्मे शीतमिव ह्रदम्।
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखं मामेति केवलम् ॥ ५० ॥

'जैसे ग्रीष्मऋतुमें लोग शीतल जलवाले सरोवरमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार अब मैं परब्रह्ममें प्रतिष्ठित हो गया हूँ, अतः शान्त हूँ, सब ओरसे निर्वाणको प्राप्त हो गया हूँ। अब मुझे केवल सुख-ही-सुख मिल रहा है ॥ ५० ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ५१ ॥

'इस लोकमें जो विषयोंका सुख है तथा परलोकमें जो दिव्य एवं महान् सुख है, ये दोनों प्रकारके सुख तृष्णाके क्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं ॥ ५१ ॥

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी ॥ ५२ ॥

'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता—ये देहधारियोंके सात शत्रु हैं। इनमें सातवाँ कामरूप शत्रु सबसे प्रबल है। उन सबके साथ इस महान् शत्रु कामका नाश करके मैं अविनाशी ब्रह्मपुरमें स्थित हो राजाके समान सुखी होऊँगा' ॥ ५२ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय मङ्किर्निर्वेदमागतः।
सर्वान् कामान् परित्यज्य प्राप्य ब्रह्म महत्सुखम् ॥ ५३ ॥

राजन्! इसी बुद्धिका आश्रय लेकर मङ्कि धन और भोगोंसे विरक्त हो गये और समस्त कामनाओंका परित्याग

करके उन्होंने परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त कर लिया ॥

दम्यनाशकृते मङ्किरमृतत्वं किलागमत्।
अच्छिनत् काममूलं स तेन प्राप महत्सुखम् ॥ ५४ ॥

बछड़ोंके नाशको निमित्त बनाकर ही मङ्कि अमृतत्वको प्राप्त हो गये। उन्होंने कामकी जड़ काट डाली; इसीलिये महान् सुख प्राप्त कर लिया ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मङ्किगीतायां सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मङ्किगीताविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७७॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

जनककी उक्ति तथा राजा नहुषके प्रश्नोंके उत्तरमें बोध्यगीता

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं विदेहराजेन जनकेन प्रशाम्यता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इसी विषयमें शान्त-भावको प्राप्त हुए विदेहराज जनकने जो उद्गार प्रकट किया था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ १ ॥

अनन्तमिव मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥ २ ॥

[जनक बोले—]मेरे पास अनन्त-सा धन-वैभव है; फिर भी मेरा कुछ नहीं है। इस मिथिलापुरीमें आग लग जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलता ॥ २ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीमं बोध्यस्य पदसंचयम्।
निर्वेदं प्रति विन्यस्तं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर! इसी प्रसंगमें वैराग्यको लक्ष्य करके बोध्य मुनिने जो वचन कहे हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

बोध्यं शान्तमृषिं राजा नाहुषः पर्यपृच्छत।
निर्वेदाच्छान्तिमापन्नं शास्त्रप्रज्ञानतर्पितम् ॥ ४ ॥

कहते हैं, किसी समय नहुषनन्दन राजा ययातिने वैराग्यसे शान्तभावको प्राप्त हुए शास्त्रके उत्कृष्ट ज्ञानसे परितृप्त परम शान्त बोध्य ऋषिसे पूछा— ॥ ४ ॥

उपदेशं महाप्राज्ञ शमस्योपदिशस्व मे।
कां बुद्धिं समनुध्याय शान्तश्चरसि निर्वृतः ॥ ५ ॥

'महाप्राज्ञ! आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मुझे शान्ति मिले। कौन-सी ऐसी बुद्धि है, जिसका आश्रय लेकर आप शान्ति और संतोषके साथ विचरते हैं?' ॥५॥

बोध्य उवाच

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कंचन।
लक्षणं तस्य वक्ष्येऽहं तत् स्वयं परिमृश्यताम् ॥ ६ ॥

बोध्यने कहा—राजन्! मैं किसीको उपदेश नहीं देता, बल्कि स्वयं दूसरोंसे प्राप्त हुए उपदेशके अनुसार आचरण करता हूँ। मैं अपनेको मिले हुए उपदेशका लक्षण बता रहा हूँ (जिनसे उपदेश मिला है, उन गुरुओंका संकेत-मात्र कर रहा हूँ), उसपर तुम स्वयं विचार करो ॥ ६ ॥

पिङ्गला कुररः सर्पः सारङ्गान्वेषणं वने।
इषुकारः कुमारी च षडेते गुरवो मम ॥ ७ ॥

पिङ्गला, कुरर पक्षी, सर्प, वनमें सारङ्गका अन्वेषण, बाण बनानेवाला और कुमारी कन्या—ये छः मेरे गुरु हैं ॥

भीष्म उवाच

आशा बलवती राजन् नैराश्यं परमं सुखम्।
आशां निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥ ८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! बोध्यको अपने गुरुओंसे जो उपदेश प्राप्त हुआ था, वह इस प्रकार समझना चाहिये—आशा बड़ी प्रबल है। वही सबको दुःख देती है। निराशा ही परम सुख है। आशाको निराशाके रूपमें परिणत करके पिङ्गला वेश्या सुखसे सो गयी। (पिङ्गला आशाके त्यागका उपदेश देनेके कारण गुरु हुई) ॥ ८ ॥

सामिषं कुररं दृष्ट्वा वध्यमानं निरामिषैः।
आमिषस्य परित्यागात् कुररः सुखमेधते ॥ ९ ॥

चोंचमें मांसका टुकड़ा लिये उड़ते हुए कुरर(क्रौञ्च)पक्षीको देखकर दूसरे पक्षी जो मांस नहीं लिये हुए थे, उसे मारने लगे। तब उसने उस मांसके टुकड़ेको त्याग दिया। अतः पक्षियोंने उसका पीछा करना छोड़ दिया। इस प्रकार आमिषके त्यागसे क्रौञ्चपक्षी सुखी हो गया। भोगोंके परित्यागका उपदेश देनेके कारण कुरर (क्रौञ्च) पक्षी गुरु हुआ ॥ ९ ॥

गृहारम्भो हि दुःखाय न सुखाय कदाचन।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ १० ॥

घर बनानेका खटपट करना दुःखका ही कारण है। उससे कभी सुख नहीं मिलता। देखो, साँप दूसरोंके बनाये हुए घर (बिल) में प्रवेश करके सुखसे रहता है। (अतः अनिकेत रहने—घर-द्वारके चक्करमें न पड़नेका उपदेश देनेके कारण सर्प गुरु हुआ) ॥ १० ॥

सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः।
अद्रोहेणैव भूतानां सारङ्गा इव पक्षिणः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार पपीहा पक्षी किसी भी प्राणीसे वैर न करके याचनावृत्तिसे अपना निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार मुनिजन भिक्षावृत्तिका आश्रय लेकर सुखसे जीवन व्यतीत करते हैं (अद्रोहका उपदेश देनेके कारण पपीहा गुरु हुआ) ॥ ११॥

इषुकारो नरः कश्चिदिषावासक्तमानसः।
समीपेनापि गच्छन्तं राजानं नावबुद्धवान् ॥ १२ ॥

एक बार एक बाण बनानेवालेको देखा गया, वह अपने

काममें ऐसा दत्तचित्त था कि उसके पाससे निकली हुई राजाकी सवारीका भी उसे कुछ पता नहीं चला (उसके द्वारा एकाग्रचित्तताका उपदेश प्राप्त हुआ; इसलिये वह गुरु हो गया) ॥ १२ ॥

बहूनां कलहो नित्यं द्वयोः संकथनं ध्रुवम् ।
एकाकी विचरिष्यामि कुमारीशंखको यथा ॥ १३ ॥

बहुत मनुष्य एक साथ रहें तो उनमें प्रतिदिन कलह होता है और दो रहें तो भी उनमें बातचीत तो अवश्य ही होती है; अतः मैं कुमारी कन्याके हाथमें धारण की हुई शङ्खकी एक-एक चूड़ीके समान अकेला ही विचरूँगा* ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बोध्यगीतायां अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बोध्यगीताविषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१७८॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रह्लाद और अवधूतका संवाद—आजगर वृत्तिकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वीतशोकश्चरेन्महीम् ।
किञ्च कुर्वन्नरो लोके प्राप्नोति गतिमुत्तमाम् ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आप सदाचारके स्वरूपको जाननेवाले हैं । कृपया यह बताइये, किस तरहके आचारको अपनाकर मनुष्य शोकरहित हो इस पृथ्वीपर विचरण कर सकता है ? और इस जगत्में कौन-सा कर्म करके वह उत्तम गति पा सकता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस विषयमें भी प्रह्लाद तथा अजगरवृत्तिसे रहनेवाले एक मुनिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका दृष्टान्त दिया जाता है ॥ २ ॥

चरन्तं ब्राह्मणं कञ्चित् कल्पचित्तमनामयम् ।
पप्रच्छ राजा प्रह्लादो बुद्धिमान् बुद्धिसम्मतम् ॥ ३ ॥

एक सुदृढ़चित्त, दुःख-शोकसे रहित तथा बुद्धिसम्मत ब्राह्मणको पृथ्वीपर विचरते देख बुद्धिमान् राजा प्रह्लादने उससे इस प्रकार पूछा ॥ ३ ॥

प्रह्लाद उवाच

स्वस्थः शक्तो मृदुर्दान्तो निर्विधित्सोऽनसूयकः ।
सुवाक् प्रगल्भो मेधावी प्राज्ञश्चरसि बालवत् ॥ ४ ॥

प्रह्लाद बोले—ब्रह्मन् ! आप स्वस्थ, शक्तिमान्, मृदु, जितेन्द्रिय, कर्मारम्भसे दूर रहनेवाले, दूसरोंके दोषोंपर दृष्टि न डालनेवाले, सुन्दर और मधुर वचन बोलनेवाले, निर्भीक, प्रतिभाशाली, मेधावी तथा तत्त्वज्ञ होकर भी बालकोंके समान विचर रहे हैं ॥ ४॥

नैव प्रार्थयसे लाभं नालाभेष्वनुशोचसि ।
नित्यतृप्त इव ब्रह्मन् न किञ्चिदिव मन्यसे ॥ ५ ॥

न आप कोई लाभ चाहते हैं और न हानि होनेपर उसके लिये ही शोक करते हैं । ब्रह्मन् ! आप नित्यतृप्त-से रहते हुए न किसी वस्तुको प्रिय मानते हैं और न अप्रिय ॥ ५ ॥

स्रोतसा ह्रियमाणासु प्रजासु विमना इव ।
धर्मकामार्थकार्येषु कूटस्थ इव लक्ष्यसे ॥ ६ ॥

सारी प्रजा काम-क्रोध आदिके प्रवाहमें पड़कर बही जा रही है; परंतु आप उधरसे उदासीन-जैसे जान पड़ते हैं तथा धर्म, अर्थ एवं कामसम्बन्धी कार्योंके प्रति भी निश्चेष्ट-से दिखायी देते हैं ॥ ६ ॥

नानुतिष्ठसि धर्मार्थौ न कामे चापि वर्तसे ।
इन्द्रियार्थाननादृत्य मुक्तश्चरसि साक्षिवत् ॥ ७ ॥

धर्म और अर्थसम्बन्धी कार्योंका आप अनुष्ठान नहीं करते हैं, काममें भी आपकी प्रवृत्ति नहीं है । आप इन्द्रियोंके सम्पूर्ण विषयोंकी उपेक्षा करके साक्षीके समान मुक्तरूपसे विचरते हैं ॥७॥

का नु प्रज्ञा श्रुतं वा किं वृत्तिर्वा का नु ते मुने ।
क्षिप्रमाचक्ष्व मे ब्रह्मन् श्रेयो यदिह मन्यसे ॥ ८ ॥

मुने ! आपके पास कौन-सी ऐसी बुद्धि, कैसा शास्त्रज्ञान अथवा कौन-सी वृत्ति है, जिससे आपका जीवन ऐसा बन गया है ? ब्रह्मन् ! आपके मतसे इस जगत्में मेरे लिये जो श्रेयका साधन हो, उसे शीघ्र बतावें ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच

अनुयुक्तः स मेधावी लोकधर्मविधानवित् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा प्रह्लादमनपार्थया ॥ ९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! प्रह्लादके इस प्रकार पूछनेपर लोक-धर्मके विधानको जाननेवाले उन मेधावी मुनिने उनसे मधुर एवं सार्थक वाणीमें इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

* एक गृहस्थके घरपर कुछ अतिथि आ गये । घरके सब लोग कहीं बाहर चले गये थे । भीतर केवल एक कुमारी कन्या थी, जिसपर उन अतिथियोंके भोजन आदिका भार आ पड़ा । वह उनके निमित्त रसोई बनानेके लिये धान कूटने लगी । उसके हाथोंमें शङ्खकी बनी हुई कई चूड़ियाँ थीं, जो धान कूटते समय खनखना उठीं । अतिथियोंको इस बातका पता न चल जाय; इसलिये एक-एक करके उसने चूड़ियाँ निकाल लीं, दोनों हाथोंमें केवल एक-एक चूड़ी ही शेष रह गयी; फिर उनका बजना बंद हो गया । इस तरह एकाकी रहनेका उपदेश देनेके कारण वह कुमारी गुरु हुई ।

पश्य प्रह्लाद भूतानामुत्पत्तिमनिमित्ततः।
ह्रासं वृद्धिं विनाशं च न प्रहृष्ये न च व्यथे ॥ १० ॥

'प्रह्लाद ! देखो, इस जगत्के प्राणियोंकी उत्पत्ति, वृद्धि, ह्रास और विनाश कारणरहित सत्स्वरूप परमात्मासे ही हुए हैं; इस कारण मैं उनके लिये न तो हर्ष प्रकट करता हूँ और न व्यथित ही होता हूँ ॥ १० ॥

स्वभावादेव संदृश्या वर्तमानाः प्रवृत्तयः।
स्वभावनिरताः सर्वाः परितुष्येन्न केनचित् ॥ ११ ॥

'ऐसा समझना चाहिये, पूर्वकृत कर्मानुसार बने हुए स्वभावसे ही प्राणियोंकी वर्तमान प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं; अतः समस्त प्रजा स्वभावमें ही तत्पर है, उनका दूसरा कोई आश्रय नहीं है । इस रहस्यको समझकर मनुष्यको किसी भी परिस्थितिमें संतुष्ट नहीं होना चाहिये ॥ ११ ॥

पश्य प्रह्लाद संयोगान् विप्रयोगपरायणान्।
संचयांश्च विनाशान्तान् न क्वचिद् विदधे मनः ॥१२॥

'प्रह्लाद ! देखो, जितने संयोग हैं, उनका पर्यवसान वियोगमें ही होता है और जितने संचय हैं, उनकी समाप्ति विनाशमें ही होती है । यह सब देखकर मैं कहीं भी अपने मनको नहीं लगाता हूँ ॥ १२ ॥

अन्तवन्ति च भूतानि गुणयुक्तानि पश्यतः।
उत्पत्तिनिधनज्ञस्य किं कार्यमवशिष्यते ॥ १३ ॥

'जो गुणयुक्त सम्पूर्ण भूतोंको नाशवान् देखता है तथा उत्पत्ति और प्रलयके तत्त्वको जानता है, उसके लिये यहाँ कौन-सा कार्य अवशिष्ट रह जाता है ?॥ १३ ॥

जलजानामपि ह्यन्तं पर्यायेणोपलक्षये।
महतामपि कायानां सूक्ष्माणां च महोदधौ ॥ १४ ॥

'महासागरके जलमें पैदा होनेवाले विशाल शरीरवाले तिमि आदि मत्स्यों तथा छोटे-छोटे कीड़ोंका भी बारी-बारीसे विनाश होता देखता हूँ ॥ १४ ॥

जङ्गमस्थावराणां च भूतानामसुराधिप।
पार्थिवानामपि व्यक्तं मृत्युं पश्यामि सर्वशः ॥ १५ ॥

'असुरराज ! पृथ्वीपर भी जितने स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उन सबकी मृत्यु मुझे स्पष्ट दिखायी दे रही है ॥

अन्तरिक्षचराणां च दानवोत्तम पक्षिणाम्।
उत्तिष्ठते यथाकालं मृत्युर्बलवतामपि ॥ १६ ॥

'दानवश्रेष्ठ ! आकाशमें विचरनेवाले बलवान् पक्षियोंके समक्ष भी यथासमय मृत्यु आ पहुँचती है ॥ १६ ॥

दिवि संचरमाणानि ह्रस्वानि च महान्ति च।
ज्योतींष्यपि यथाकालं पतमानानि लक्षये ॥ १७ ॥

'आकाशमें जो छोटे-बड़े ज्योतिर्मय नक्षत्र विचर रहे हैं, उन्हें भी मैं यथासमय नीचे गिरते देखता हूँ ॥१७॥

इति भूतानि सम्पश्यन्ननुषक्तानि मृत्युना।
सर्वसामान्यगो विद्वान् कृतकृत्यः सुखं स्वपे ॥ १८ ॥

'इस प्रकार सारे प्राणियोंको मैं मृत्युके पाशमें बद्ध देखता हूँ; इसलिये तत्त्वको जानकर कृतकृत्य हो सबके प्रति समान भाव रखता हुआ सुखसे सोता हूँ ॥ १८ ॥

सुमहान्तमपि ग्रासं ग्रसे लब्धं यदृच्छया।
शये पुनरभुञ्जानो दिवसानि बहून्यपि ॥ १९ ॥

'यदि दैवेच्छासे अकस्मात् अधिक भोजन प्राप्त हो जाय तो मैं बहुत खा लेता हूँ, ग्रासमात्र मिले तो उसीमें संतुष्ट रहता हूँ और न मिला तो बहुत दिनोंतक बिना खाये-पीये भी सो रहता हूँ ॥ १९ ॥

आशयन्त्यपि मामन्नं पुनर्बहुगुणं बहु।
पुनरल्पं पुनःस्तोकं पुनर्नैवोपपद्यते ॥ २० ॥

'फिर कितने ही लोग आकर मुझे अनेक गुणोंसे सम्पन्न बहुत-सा अन्न खिला देते हैं । पुनः कभी बहुत थोड़ा, कभी थोड़ेसे भी थोड़ा भोजन मिलता है और कभी वह भी नहीं मिलता ॥ २० ॥

कणं कदाचित् खादामि पिण्याकमपि च ग्रसे।
भक्षये शालिमांसानि भक्षांश्चोच्चावचान् पुनः ॥ २१ ॥

'कभी चावलकी कनी खाता हूँ, कभी तिलकी खली ही खाकर रह जाता हूँ और कभी अगहनीके चावलका भात भरपेट खाता हूँ । इस प्रकार मुझे बढ़िया-घटिया सभी तरहके भोजन बारंबार प्राप्त होते रहते हैं ॥ २१ ॥

शये कदाचित् पर्यङ्के भूमावपि पुनः शये।
प्रासादे चापि मे शय्या कदाचिदुपपद्यते ॥ २२ ॥

'कभी पलंगपर सोता हूँ, कभी पृथ्वीपर ही पड़ा रहता हूँ और कभी-कभी मुझे महलके भीतर बिछी हुई बहुमूल्य शय्या भी उपलब्ध हो जाती है ॥ २२ ॥

धारयामि च चीराणि शाणक्षौमाजिनानि च।
महार्हाणि च वासांसि धारयाम्यहमेकदा ॥ २३ ॥

'मैं कभी तो चिथड़े अथवा वल्कल पहनकर रहता हूँ, कभी सनके, कभी रेशमके और कभी मृगचर्मके वस्त्र धारण करता हूँ तथा किसी एक कालमें बहुत-से बहुमूल्य वस्त्रोंको भी पहन लेता हूँ ॥ २३ ॥

न संनिपतितं धर्म्यमुपभोगं यदृच्छया।
प्रत्याचक्षे न चाप्येनमनुरुध्ये सुदुर्लभम् ॥ २४ ॥

'यदि दैववश मुझे कोई धर्मानुकूल भोग्य पदार्थ प्राप्त हो जाय तो मैं उससे द्वेष नहीं करता हूँ और प्राप्त न होनेपर किसी दुर्लभ भोगकी भी कभी इच्छा नहीं करता ॥ २४ ॥

अचलमनिधनं शिवं विशोकं
शुचिमतुलं विदुषां मते प्रविष्टम्।
अनभिमतमसेवितं विमूढै-
र्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २५ ॥

मैं सदा पवित्रभावसे रहकर इस अजगरवृत्तिका अनुसरण करता हूँ । यह अत्यन्त सुदृढ़, मृत्युसे दूर रखनेवाली, कल्याणमय, शोकहीन, शुद्ध, अनुपम और विद्वानोंके मतके

अनुकूल है। मूर्ख मनुष्य न तो इसे मानते हैं और न इसका सेवन ही करते हैं ॥ २५ ॥

अचलितमतिरच्युतः स्वधर्मात्
परिमितसंसरणः परावरज्ञः।
विगतभयकषायलोभमोहो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २६ ॥

'मेरी बुद्धि अविचल है, मैं अपने धर्मसे च्युत नहीं हुआ हूँ, मेरा सांसारिक व्यवहार परिमित हो गया है, मुझे उत्तम और अधमका ज्ञान है, मेरे हृदयसे भय, राग-द्वेष, लोभ और मोह दूर हो गये हैं तथा पवित्रभावसे रहकर इस अजगरोचित व्रतका आचरण करता हूँ ॥ २६ ॥

अनियतफलभक्ष्यभोज्यपेयं
विधिपरिणामविभक्तदेशकालम्।
हृदयसुखमसेवितं कदर्यै-
र्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २७ ॥

'यह अजगरसम्बन्धी व्रत मेरे हृदयको सुख देनेवाला है। इसमें भक्ष्य, भोज्य, पेय और फल आदिके मिलनेकी कोई नियत व्यवस्था नहीं रहती—अनियतरूपसे जो कुछ मिल जाय, उसीसे निर्वाह करना होता है। इस व्रतमें प्रारब्धके परिणामके अनुसार देश और कालका विभाग नियत है। विषयलोलुप नीच पुरुष इसका सेवन नहीं करते, मैं पवित्रभावसे इसी व्रतका आचरण करता हूँ ॥ २७ ॥

इदमिदमिति तृष्णयाभिभूतं
जनमनवाप्तधनं विषीदमानम्।
निपुणमनुनिशाम्य तत्त्वबुद्ध्या
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २८ ॥

'जो यह मिले, वह मिले, इस प्रकार तृष्णासे दबे रहते हैं और धन न मिलनेके कारण निरन्तर विषाद करते हैं; ऐसे लोगोंकी दशा अच्छी तरह देखकर तात्त्विक बुद्धिसे सम्पन्न हुआ मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ २८ ॥

बहुविधमनुदृश्य चार्थहेतोः
कृपणमिहार्यमनार्यमाश्रयन्तम्।
उपशमरुचिरात्मवान् प्रशान्तो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २९ ॥

'मैं बारंबार देखता हूँ कि श्रेष्ठ मनुष्य भी धनके लिये दीनभावसे नीच पुरुषका आश्रय लेते हैं। यह देखकर मेरी रुचि प्रशान्त हो गयी है। अतः मैं अपने स्वरूपको प्राप्त और सर्वथा शान्त हो गया हूँ और पवित्रभावसे इस आजगर व्रतका आचरण करता हूँ ॥ २९ ॥

सुखमसुखमलाभमर्थलाभं
रतिमरतिं मरणं च जीवितं च।
विधिनियतमवेक्ष्य तत्त्वतोऽहं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३० ॥

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, अनुकूल और प्रतिकूल तथा जीवन और मरण—ये सब दैवके अधीन हैं। इस प्रकार यथार्थरूपसे जानकर मैं शुद्धभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३० ॥

अपगतभयरागमोहदर्पो
धृतिमतिबुद्धिसमन्वितः प्रशान्तः।
उपगतफलभोगिनो निशाम्य
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३१ ॥

'मेरे भय, राग, मोह और अभिमान नष्ट हो गये हैं। मैं धृति, मति और बुद्धिसे सम्पन्न एवं पूर्णतया शान्त हूँ। और प्रारब्धवश स्वतः अपने समीप आयी हुई वस्तुका ही उपभोग करनेवालोंको देखकर मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३१ ॥

अनियतशयनासनः प्रकृत्या
दमनियमव्रतसत्यशौचयुक्तः।
अपगतफलसंचयः प्रहृष्टो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३२ ॥

'मेरे सोने-बैठनेका कोई नियत स्थान नहीं है। मैं स्वभावतः दम, नियम, व्रत, सत्य और शौचाचारसे सम्पन्न हूँ। मेरे कर्मफलसंचयका नाश हो चुका है। मैं प्रसन्नतापूर्वक पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥

अपगतमसुखार्थमीहनार्थै-
रुपगतबुद्धिरवेक्ष्य चात्मसंस्थम्।
तृषितमनियतं मनो नियन्तुं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३३ ॥

'जिनका परिणाम दुःख है, उन इच्छाके विषयभूत समस्त पदार्थोंसे जो विरक्त हो चुका है, ऐसे आत्मनिष्ठ महापुरुषको देखकर मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है। अतः मैं तृष्णासे व्याकुल असंयत मनको वशमें करनेके लिये पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३३ ॥

न हृदयमनुरुध्य वाङ्मनो वा
प्रियसुखदुर्लभतामनित्यतां च।
तदुभयमुपलक्षयन्निवाहं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३४ ॥

'मन, वाणी और बुद्धिकी उपेक्षा करके इनको प्रिय लगनेवाले विषय-सुखोंकी दुर्लभता तथा अनित्यता—इन दोनोंको देखनेवालेकी भाँति मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३४ ॥

बहुकथितमिदं हि बुद्धिमद्भिः
कविभिरपि प्रथयद्भिरात्मकीर्तिम्।
इदमिदमिति तत्र तत्र हन्त
स्वपरमतैर्गहनं प्रतर्कयद्भिः ॥ ३५ ॥

'अपनी कीर्तिका विस्तार करनेवाले विद्वानों और बुद्धि-

मानोंने अपने और दूसरोंके मतसे गहन तर्क और वितर्क करके 'ऐसे करना चाहिये' 'ऐसे करना चाहिये' इत्यादि कह-कर इस व्रतकी अनेक प्रकारसे व्याख्या की है ॥ ३५ ॥

तदिदमनुनिशम्य विप्रपातं पृथगभिपन्नमिहाबुधैर्मनुष्यैः ।
अनवसितमनन्तदोषपारं नृषु विहरामि विनीतदोषतृष्णः ॥ ३६॥

'मूर्खलोग इस अजगरवृत्तिको सुनकर इसे पहाड़की चोटीसे गिरनेकी भाँति भयंकर समझते हैं। परंतु उनकी वह मान्यता भिन्न है। मैं इस अजगरवृत्तिको अज्ञानका नाशक और समस्त दोषोंसे रहित मानता हूँ। अतः दोष और तृष्णाका त्याग करके मनुष्योंमें विचरता हूँ' ॥ ३६॥

भीष्म उवाच

अजगरचरितं व्रतं महात्मा य इह नरोऽनुचरेद् विनीतरागः।
अपगतभयलोभमोहमन्युः स खलु सुखी विचरेदिमं विहारम् ॥३७॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जो महापुरुष राग, भय, लोभ, मोह और क्रोधको त्यागकर इस आजगर व्रतका पालन करता है, वह इस लोकमें सानन्द विचरण करता है॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि आजगरप्रह्लादसंवादे एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अजगरवृत्तिसे रहनेवाले मुनि और प्रह्लादका संवादविषयक एक सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७९ ॥

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

सद्बुद्धिका आश्रय लेकर आत्महत्यादि पापकर्मसे निवृत्त होनेके सम्बन्धमें काश्यप ब्राह्मण और इन्द्रका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

बान्धवाः कर्म वित्तं वा प्रज्ञा वेह पितामह ।
नरस्य का प्रतिष्ठा स्यादेतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! अब मेरे प्रश्नके अनुसार मुझे यह बताइये कि मनुष्यको बन्धुजन, कर्म, धन अथवा बुद्धि—इनमेंसे किसका आश्रय लेना चाहिये ? ॥ १॥

भीष्म उवाच

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञा लाभः परो मतः ।
प्रज्ञा निःश्रेयसी लोके प्रज्ञा स्वर्गो मतः सताम्॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! प्राणियोंका प्रधान आश्रय बुद्धि है। बुद्धि ही उनका सबसे बड़ा लाभ है। संसारमें बुद्धि ही उनका कल्याण करनेवाली है। सत्पुरुषोंके मतमें बुद्धि ही स्वर्ग है ॥ २॥

प्रज्ञया प्रापितार्थो हि बलिरैश्वर्यसंक्षये ।
प्रह्लादो नमुचिर्मङ्किस्तस्याः किं विद्यते परम् ॥ ३ ॥

राजा बलिने अपना ऐश्वर्य क्षीण हो जानेपर पुनः उसे बुद्धिबलसे ही पाया था। प्रह्लाद, नमुचि और मङ्किने भी बुद्धिबलसे ही अपना-अपना अर्थ सिद्ध किया था। संसारमें बुद्धिसे बढ़कर और क्या है ? ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इन्द्रकाश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और काश्यप-के संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥ ४ ॥

वैश्यः कश्चिदृषिसुतं काश्यपं संशितव्रतम् ।
रथेन पातयामास श्रीमान् दृप्तस्तपस्विनम् ॥ ५ ॥

कहते हैं, पूर्वकालमें धनके अभिमानसे मतवाले हुए किसी धनी वैश्यने कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी ऋषिकुमार काश्यपको अपने रथसे धक्के देकर गिरा दिया॥

आर्तः स पतितः क्रुद्धस्त्यक्त्वाऽऽत्मानमथाब्रवीत्।
मरिष्याम्यधनस्येह जीवितार्थो न विद्यते ॥ ६ ॥

वे पीड़ासे कराहकर गिर पड़े और कुपित होकर आत्म-हत्याके लिये उद्यत हो इस प्रकार बोले—'अब मैं प्राण दे दूँगा; क्योंकि इस संसारमें निर्धन मनुष्यका जीवन व्यर्थ है'॥

तथा मुमूर्षुमासीनमकूजन्तमचेतसम् ।
इन्द्रः शृगालरूपेण बभाषे लुब्धमानसम् ॥ ७ ॥

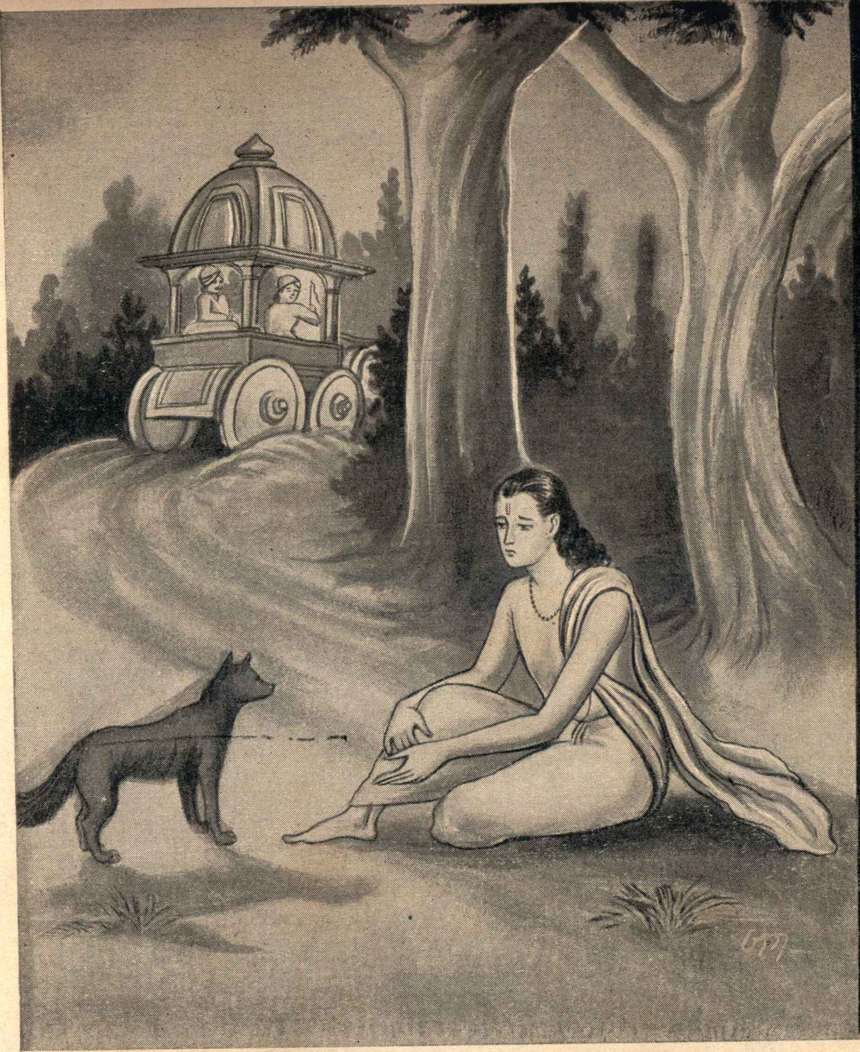
उन्हें इस प्रकार मरनेकी इच्छा लेकर बैठे मूर्छित अचेत हो कुछ न बोलते और मन-ही-मन धनके लिये ललचाते देखकर इन्द्रदेव सियारका रूप धारण करके आये और उनसे इस प्रकार कहने लगे—॥ ७ ॥

मनुष्ययोनिमिच्छन्ति सर्वभूतानि सर्वशः ।
मनुष्यत्वे च विप्रत्वं सर्व एवाभिनन्दति ॥ ८ ॥

'मुने! सभी प्राणी सब प्रकारसे मनुष्ययोनि पानेकी इच्छा रखते हैं। उसमें भी ब्राह्मणत्वकी प्रशंसा तो सभी लोग करते हैं ॥ ८ ॥

मनुष्यो ब्राह्मणश्चासि श्रोत्रियश्चासि काश्यप ।
सुदुर्लभमवाप्यैतन्न दोषान्मर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

'काश्यप! आप तो मनुष्य हैं, ब्राह्मण हैं और श्रोत्रिय भी हैं। ऐसा परम दुर्लभ शरीर पाकर आपको उसमें दोष-दृष्टि करके स्वयं ही मरनेके लिये उद्यत होना उचित नहीं है।



काश्यप ब्राह्मणके प्रति गीदड़के रूपमें इन्द्रका उपदेश



इन्द्रको पहचाननेपर काश्यपद्वारा उनकी पूजा

सर्वे लाभाः साभिमाना इति सत्यवती श्रुतिः ।
संतोषणीयरूपोऽसि लोभाद् यदभिमन्यसे ॥ १० ॥

'संसारमें जितने लाभ हैं, वे सभी अभिमानपूर्ण हैं, ऐसा सत्य अर्थका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका कथन है (अर्थात् मैंने यह लाभ अपने पुरुषार्थसे किया है, ऐसा अहंकार प्रायः सभी मनुष्य कर लेते हैं)।आपका स्वरूप तो संतोष रखनेके योग्य है । आप लोभवश ही उसकी अवहेलना करते हैं ॥

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः ॥ ११ ॥

'अहो ! जिनके पास भगवान्‌के दिये हुए हाथ हैं, उनको तो मैं कृतार्थ मानता हूँ । इस जगत्‌में जिनके पास एकसे अधिक हाथ हैं, उनके-जैसा सौभाग्य पानेकी इच्छा मुझे बारंबार होती है ॥ ११ ॥

पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै ।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ॥ १२ ॥

'जैसे आपके मनमें धनकी लालसा है, उसी प्रकार हम पशुओंको हाथवाले मनुष्योंसे हाथ पानेकी अभिलाषा रहती है । हमारी दृष्टिमें हाथ मिलनेसे अधिक दूसरा कोई लाभ नहीं ॥ १२ ॥

अपाणित्वाद् वयं ब्रह्मन् कण्टकं नोद्धरामहे ।
जन्तूनुच्चावचानङ्गे दशतो न कषाम वा ॥ १३ ॥

'ब्रह्मन् ! हमारे शरीरमें काँटे गड़ जाते हैं; परंतु हाथ न होनेसे हम उन्हें निकाल नहीं पाते हैं । जो छोटे-बड़े जीव-जन्तु हमारे शरीरमें डँसते हैं, उनको भी हम हटा नहीं सकते ॥

अथ येषां पुनः पाणी देवदत्तौ दशाङ्गुली ।
उद्धरन्ति कृमीनङ्गाद् दशतो निकषन्ति च ॥ १४ ॥

'परंतु जिनके पास भगवान्‌के दिये हुए दस अंगुलियोंसे युक्त दो हाथ हैं, वे अपने अङ्गोंसे उन कीड़ोंको हटाते या नष्ट कर देते हैं, जो उन्हें डँसते हैं ॥ १४ ॥

वर्षाहिमातपानां च परित्राणानि कुर्वते ।
चैलमन्नं सुखं शय्यां निवातं चोपभुञ्जते ॥ १५ ॥

'वे वर्षा, सर्दी और धूपसे अपनी रक्षा कर लेते हैं, कपड़ा पहनते हैं, सुखपूर्वक अन्न खाते हैं, शय्या बिछाकर सोते हैं तथा एकान्त स्थानका उपभोग करते हैं ॥ १५ ॥

अधिष्ठाय च गां लोके भुञ्जते वाहयन्ति च ।
उपायैर्बहुभिश्चैव वश्यानात्मनि कुर्वते ॥ १६ ॥

'हाथवाले मनुष्य बैलोंसे जुती हुई गाड़ीपर चढ़कर उन्हें हाँकते हैं और जगत्‌में उनका यथेष्ट उपभोग करते हैं तथा हाथसे ही अनेक प्रकारके उपाय करके लोगोंको अपने वशमें कर लेते हैं ॥ १६ ॥

ये खल्वजिह्वाः कृपणा अल्पप्राणा अपाणयः ।
सहन्ते तानि दुःखानि दिष्ट्या त्वं न तथा मुने ॥ १७ ॥

'मुने ! जो दुःख बिना हाथके दीन, दुर्बल और बेजबान प्राणी सहते हैं, सौभाग्यवश वे तो आपको नहीं सहने पड़ते हैं ॥

दिष्ट्या त्वं न शृगालो वै न कृमिर्न च मूषकः ।
न सर्पो न च मण्डूको न चान्यः पापयोनिजः ॥ १८ ॥

'आपका बड़ा भाग्य है कि आप गीदड़, कीड़ा, चूहा, साँप, मेढक या किसी दूसरी पापयोनिमें नहीं उत्पन्न हुए ॥

एतावतापि लाभेन तोष्टुमर्हसि काश्यप ।
किं पुनर्योऽसि सत्त्वानां सर्वेषां ब्राह्मणोत्तमः ॥ १९ ॥

'काश्यप ! आपको इतने ही लाभसे संतुष्ट रहना चाहिये । इससे अधिक लाभ क्या होगा कि आप सभी प्राणियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं ॥ १९ ॥

इमे मां कृमयोऽदन्ति येषामुद्धरणाय वै ।
नास्ति शक्तिरपाणित्वात् पश्यावस्थामिमां मम ॥ २० ॥

'मुझे ये कीड़े खा रहे हैं, जिन्हें निकाल फेंकनेकी शक्ति मुझमें नहीं है । हाथ न होनेके कारण होनेवाली मेरी इस दुर्दशाको आप प्रत्यक्ष देख लें ॥ २० ॥

अकार्यमिति चैवेमं नात्मानं संत्यजाम्यहम् ।
नातः पापीयसीं योनिं पतेयमपरामिति ॥ २१ ॥

'आत्महत्या करना पाप है; यह सोचकर ही मैं अपने इस शरीरका परित्याग नहीं करता हूँ । मुझे भय है कि मैं इससे भी बढ़कर किसी दूसरी पापयोनिमें न गिर जाऊँ ॥

मध्ये वै पापयोनीनां शार्गालीं यामहं गतः ।
पापीयस्यो बहुतरा इतोऽन्याः पापयोनयः ॥ २२ ॥

'यद्यपि मैं इस समय जिस शृगालयोनिमें हूँ, इसकी गणना भी पापयोनियोंमें ही है, तथापि दूसरी बहुत-सी पापयोनियाँ इससे भी नीची श्रेणीकी हैं ॥ २२ ॥

जात्यैवैके सुखितराः सन्त्यन्ये भृशदुःखिताः ।
नैकान्तं सुखमेवेह क्वचित्पश्यामि कस्यचित् ॥ २३ ॥

'कुछ देवता आदि जातिसे ही सुखी हैं, दूसरे पशु आदि जातिसे ही अत्यन्त दुखी हैं; परंतु मैं कहीं किसीको ऐसा नहीं देखता, जिसको सर्वथा सुख ही सुख हो ॥ २३ ॥

मनुष्या ह्याढ्यतां प्राप्य राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम् ।
राज्याद् देवत्वमिच्छन्ति देवत्वादिन्द्रतामपि ॥ २४ ॥

'मनुष्य धनी हो जानेपर राज्य पाना चाहते हैं, राज्यसे देवत्वकी इच्छा करते हैं और देवत्वसे फिर इन्द्रपद प्राप्त करना चाहते हैं ॥ २४ ॥

भवेस्त्वं यद्यपि त्वाढ्यो न राजा न च दैवतम् ।
देवत्वं प्राप्य चेन्द्रत्वं नैव तुष्येस्तथा सति ॥ २५ ॥

'यदि आप धनी हो जायँ तो भी ब्राह्मण होनेके कारण राजा नहीं हो सकते । यदि कदाचित् राजा हो जायँ तो देवता नहीं हो सकते । देवता और इन्द्रका पद भी पा जायँ तो भी आप उतनेसे संतुष्ट नहीं रह सकेंगे ॥ २५ ॥

न तृप्तिः प्रियलाभेऽस्ति तृष्णा नाद्भिः प्रशाम्यति ।
सम्प्रज्वलति सा भूयः समिद्भिरिव पावकः ॥ २६ ॥

'प्रिय वस्तुओंका लाभ होनेसे कभी तृप्ति नहीं होती ।

बढ़ती हुई तृष्णा जलसे नहीं बुझती। ईंधन पाकर जलनेवाली आगके समान वह और भी प्रज्वलित होती जाती है ॥

अस्त्येव त्वयि शोकोऽपि हर्षश्चापि तथा त्वयि ।
सुखदुःखे तथा चोभे तत्र का परिदेवना ॥ २७ ॥

'तुम्हारे भीतर शोक भी है और हर्ष भी। साथ ही सुख और दुःख दोनों हैं; फिर शोक करना किस कामका? ॥ २७ ॥

परिच्छिद्यैव कामानां सर्वेषां चैव कर्मणाम् ।
मूलं बुद्धीन्द्रियग्रामं शकुन्तानिव पञ्जरे ॥ २८ ॥

'बुद्धि और इन्द्रियाँ ही समस्त कामनाओं और कर्मोंकी मूल हैं। उन्हें पिंजड़ेमें बंद पक्षियोंकी तरह अपने काबूमें रखा जाय तो कोई भय नहीं है ॥ २८ ॥

न द्वितीयस्य शिरसश्छेदनं विद्यते क्वचित् ।
न च पाणेस्तृतीयस्य यन्नास्ति न ततो भयम् ॥ २९ ॥

'मनुष्यको दूसरे सिर और तीसरे हाथके कटनेका कभी भय नहीं होता है। जो वास्तवमें है ही नहीं, उसके कारण भय भी नहीं होता है ॥ २९ ॥

न खल्वप्यरसज्ञस्य कामः क्वचन जायते ।
संस्पर्शाद् दर्शनाद् वापि श्रवणाद् वापि जायते ॥ ३० ॥

'जो किसी विषयका रस नहीं जानता, उसके मनमें कभी उसकी कामना भी नहीं होती। स्पर्शसे, दर्शनसे अथवा श्रवणसे भी कामनाका उदय होता है ॥ ३० ॥

न त्वं स्मरसि वारुण्या लट्वाकानां च पक्षिणाम् ।
ताभ्यां चाप्यधिको भक्ष्यो न कश्चिद् विद्यते क्वचित् ३१

'वारुणी मदिरा तथा चिड़िया—इन दोनोंका आप कभी स्मरण नहीं करते होंगे; क्योंकि इनको आपने नहीं खाया है; परंतु (जो तामसी मनुष्य इनको खाते हैं उनके लिये) कहीं और कोई भी भक्ष्य पदार्थ उन दोनोंसे बढ़कर नहीं है ॥ ३१ ॥

यानि चान्यानि भूतेषु भक्ष्यजातानि कस्यचित् ।
येषामभुक्तपूर्वाणि तेषामस्मृतिरेव ते ॥ ३२ ॥

'प्राणियोंमें किसीके भी जो अन्यान्य भक्ष्य पदार्थ हैं, जिनका तुमने पहले उपभोग नहीं किया है, उन भोजनोंकी स्मृति तुमको कभी नहीं होगी ॥ ३२ ॥

अप्राशनमसंस्पर्शमसंदर्शनमेव च ।
पुरुषस्यैष नियमो मन्ये श्रेयो न संशयः ॥ ३३ ॥

'मैं ऐसा मानता हूँ कि किसी वस्तुको न खाने, न छूने और न देखनेका नियम लेना ही पुरुषके लिये कल्याणकारी है, इसमें संशय नहीं ॥ ३३ ॥

पाणिमन्तो बलवन्तो धनवन्तो न संशयः ।
मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः ॥ ३४ ॥

'जिनके दोनों हाथ बने हुए हैं, निस्संदेह वे ही बलवान् और धनवान् हैं। मनुष्योंको तो मनुष्योंने ही दास बना रक्खा है ॥

वधबन्धपरिक्लेशैः क्लिश्यन्ते च पुनः पुनः ।
ते खल्वपि रमन्ते च मोदन्ते च हसन्ति च ॥ ३५ ॥

'कितने ही मनुष्य बारंबार वध और बन्धनके क्लेश भोगते रहते हैं, परंतु वे भी (आत्महत्या करके प्राण नहीं देते, बल्कि) आपसमें क्रीड़ा करते, आनन्दित होते और हँसते हैं॥

अपरे बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः ।
जुगुप्सितां च कृपणां पापवृत्तिमुपासते ॥ ३६ ॥

'दूसरे बहुत-से बाहुबलसे सम्पन्न विद्वान् और मनस्वी मनुष्य दीन, निन्दित एवं पापपूर्ण वृत्तिसे जीविका चलाते हैं ॥

उत्सहन्ते च ते वृत्तिमन्यामप्युपसेवितुम् ।
स्वकर्मणा तु नियतं भवितव्यं तु तत् तथा ॥ ३७ ॥

'वे दूसरी वृत्तिका सेवन करनेके लिये भी उत्साह रखते हैं; परंतु अपने कर्मके अनुसार जो नियत है, वैसा ही भविष्यमें होता है ॥ ३७ ॥

न पुल्कसो न चाण्डाल आत्मानं त्यक्तुमिच्छति ।
तया तुष्टः स्वया योन्या मायां पश्यस्व यादृशीम् ॥ ३८ ॥

'भङ्गी अथवा चाण्डाल भी अपने शरीरको त्यागना नहीं चाहता है, वह अपनी उसी योनिसे संतुष्ट रहता है। देखिये, भगवान्‌की कैसी माया है ! ॥ ३८ ॥

दृष्ट्वा कुणीन् पक्षहतान् मनुष्यानामयाविनः ।
सुसम्पूर्णः स्वया योन्या लब्धलाभोऽसि काश्यप ३९

'काश्यप ! कुछ मनुष्य लूले और लँगड़े हैं, कुछ लोगोंको लकवा मार गया है, बहुत-से मनुष्य निरन्तर रोगी ही रहते हैं। उन सबकी ओर देखकर यह कहना पड़ता है कि आप अपनी योनिके अनुसार नीरोग और परिपूर्ण अङ्गवाले हैं। आपको मानवशरीरका लाभ मिल चुका है ॥ ३९ ॥

यदि ब्राह्मण देहस्ते निरातङ्को निरामयः ।
अङ्गानि च समग्राणि न च लोकेषु धिक्कृतः ॥ ४० ॥

'ब्राह्मणदेव ! यदि आपका शरीर निर्भय और नीरोग है, आपके सारे अङ्ग ठीक हैं, किसीमें कोई विकार नहीं आया है तो लोकमें कोई भी आपको धिक्कार नहीं सकता—आप धिक्कारके पात्र नहीं हो सकते ॥ ४० ॥

न केनचित् प्रवादेन सत्येनैवापहारिणा ।
धर्मायोत्तिष्ठ विप्रर्षे नात्मानं त्यक्तुमर्हसि ॥ ४१ ॥

'यदि आपपर जातिच्युत करनेवाला कोई सच्चा कलङ्क लगा हो तो भी आपको प्राणत्यागका विचार नहीं करना चाहिये। ब्रह्मर्षे ! आप धर्मपालनके लिये उठ खड़े होइये ॥

यदि ब्रह्मञ्शृणोष्येतच्छ्रद्दधासि च मे वचः ।
वेदोक्तस्यैव धर्मस्य फलं मुख्यमवाप्स्यसि ॥ ४२ ॥

'ब्रह्मन् ! यदि आप मेरी बात सुनेंगे और उसपर श्रद्धा करेंगे तो आपको वेदोक्त धर्मके पालनका ही मुख्य फल प्राप्त होगा ॥ ४२ ॥

स्वाध्यायमग्निसंस्कारमप्रमत्तोऽनुपालय ।
सत्यं दमं च दानं च स्पर्धिष्ठा मा च केनचित् ॥४३॥

'आप सावधान होकर स्वाध्याय, अग्निहोत्र, सत्य,

इन्द्रियसंयम तथा दानधर्मका पालन कीजिये। किसीके साथ स्पर्धा न कीजिये ॥ ४३ ॥

ये केचन स्वध्ययनाः प्राप्ता यजनयाजनम्।
कथं ते चानुशोचेयुर्ध्यायेयुर्वाप्यशोभनम्।
इच्छन्तस्ते विहाराय सुखं महदवाप्नुयुः ॥ ४४ ॥

'जो ब्राह्मण स्वाध्यायमें लगे रहते हैं तथा यज्ञ करते और कराते हैं, वे किसी प्रकारकी चिन्ता क्यों करेंगे और कोई आत्म-हत्या आदि बुरी बात भी क्यों सोचेंगे? वे यदि चाहें तो यज्ञादिके द्वारा विहार करते हुए महान् सुख पा सकते हैं ॥

उत जाताः सुनक्षत्रे सुतिथौ सुमुहूर्तजाः।
यज्ञदानप्रजेहायां यतन्ते शक्तिपूर्वकम् ॥ ४५ ॥

'जो उत्तम नक्षत्र, उत्तम तिथि और उत्तम मुहूर्तमें पैदा हुए हैं, वे अपनी शक्तिके अनुसार यज्ञ एवं दान करते और न्यायानुकूल संतानोत्पादनकी चेष्टा भी करते हैं ॥ ४५ ॥

नक्षत्रेष्वासुरेष्वन्ये दुस्तिथौ दुर्मुहूर्तजाः।
सम्पतन्त्यासुरीं योनिं यज्ञप्रसववर्जिताः ॥ ४६ ॥

'दूसरे जो लोग आसुर नक्षत्र, दूषित तिथि तथा अशुभ मुहूर्तमें उत्पन्न होते हैं, वे यज्ञ तथा संतानसे रहित होकर आसुरी योनिमें पड़ते हैं ॥ ४६ ॥

अहमासं पण्डितको हैतुको वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥ ४७ ॥

'पूर्वजन्ममें मैं एक पण्डित था और कुतर्कका आश्रय लेकर वेदोंकी निन्दा करता था। प्रत्यक्षके आधारपर अनु-मानको प्रधानता देनेवाली थोथी तर्कविद्यापर ही उस समय मेरा अधिक अनुराग था ॥ ४७ ॥

हेतुवादान् प्रवदिता वक्ता संसत्सु हेतुमत्।
आक्रोष्टा चाभिवक्ता च ब्रह्मवाक्येषु च द्विजान् ४८

'मैं सभाओंमें जाकर तर्क और युक्तिकी बातें ही अधिक बोलता। जहाँ दूसरे ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक वेदवाक्योंपर विचार करते, वहाँ मैं बलपूर्वक आक्रमण करके उन्हें खरी-खोटी सुना देता और स्वयं ही अपना तर्कवाद बका करता था ॥४८॥

नास्तिकः सर्वशङ्की च मूर्खः पण्डितमानिकः।
तस्येयं फलनिर्वृत्तिः शृगालत्वं मम द्विज ॥ ४९ ॥

'मैं नास्तिक, सबपर संदेह करनेवाला तथा मूर्ख होकर भी अपनेको पण्डित माननेवाला था। विप्रवर! यह शृगाल-योनि मेरे उसी कुकर्मका फल है ॥ ४९ ॥

अपि जातु तथा तत्स्यादहोरात्रशतैरपि।
यदहं मानुषीं योनिं शृगालः प्राप्नुयां पुनः ॥ ५० ॥

अब मैं सैकड़ों दिन-रातोंतक साधन करके भी क्या कभी वह उपाय कर सकता हूँ, जिससे आज सियारकी योनिमें पड़ा हुआ मैं पुनः वह मनुष्ययोनि पा सकूँ ॥ ५० ॥

संतुष्टश्चाप्रमत्तश्च यज्ञदानतपोरतिः।
ज्ञेयज्ञाता भवेयं वै वर्ज्यवर्जयिता तथा ॥ ५१ ॥

'जिस मनुष्ययोनिमें मैं संतुष्ट और सावधान रहकर यज्ञ, दान और तपस्यामें लगा रह सकूँ, जिसमें मैं जाननेयोग्य वस्तुको जान लूँ और त्यागनेयोग्य वस्तुका त्याग कर दूँ' ॥ ५१ ॥

ततः स मुनिरुत्थाय काश्यपस्तमुवाच ह।
अहो बतासि कुशलो बुद्धिमांश्चेति विस्मितः ॥ ५२ ॥

यह सुनकर काश्यप मुनि आश्चर्यसे चकित होकर खड़े हो गये और बोले—'अहो! तुम तो बड़े कुशल और बुद्धि-मान् हो' ॥ ५२ ॥

समवैक्षत तं विप्रो ज्ञानदीर्घेण चक्षुषा।
ददर्श चैनं देवानां देवमिन्द्रं शचीपतिम् ॥ ५३ ॥

ऐसा कहकर ब्रह्मर्षिने उसकी ओर ज्ञानदृष्टिसे देखा। तब उसके रूपमें इन्हें देवदेव शचीपति इन्द्र दिखायी दिये ॥ ५३ ॥

ततः सम्पूजयामास काश्यपो हरिवाहनम्।
अनुज्ञातस्तु तेनाथ प्रविवेश स्वमालयम् ॥ ५४ ॥

तदनन्तर काश्यपने इन्द्रदेवका पूजन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे पुनः अपने घरको लौट गये ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शृगालकाश्यपसंवादे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गीदड़ और काश्यपका संवादविषयक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८० ॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम कर्ताको अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा तपस्तप्तं तथैव च।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! यदि दान, यज्ञ, तप अथवा गुरुशुश्रूषा पुण्यकर्म है और उसका कुछ फल होता है तो वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

आत्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः।
स्वकर्मकलुषं कृत्वा कृच्छ्रे लोके विधीयते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! काम, क्रोध आदि दोषोंसे युक्त बुद्धिकी प्रेरणासे मन पापकर्ममें प्रवृत्त होता है। इस प्रकार मनुष्य अपने ही कार्योंद्वारा पाप करके दुःखमय लोक

(नरक) में गिराया जाता है ॥ २ ॥

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद् भयम्।
मृतेभ्यः प्रमृतं यान्ति दरिद्राः पापकारिणः ॥ ३ ॥

पापाचारी दरिद्र मनुष्य दुर्भिक्षसे दुर्भिक्ष, क्लेशसे क्लेश और भयसे भय पाते हुए मरे हुओंसे भी अधिक मृतकतुल्य हो जाते हैं ॥ ३ ॥

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम्।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनाढ्याः शुभकारिणः ॥ ४ ॥

जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धनसम्पन्न तथा शुभकर्मपरायण होते हैं, वे उत्सवसे अधिक उत्सवको, स्वर्गसे अधिक स्वर्गको तथा सुखसे अधिक सुखको प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचोरभयेषु च।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम् ॥ ५ ॥

नास्तिक मनुष्योंके हाथमें हथकड़ी डालकर राजा उन्हें राज्यसे दूर निकाल देता है और वे उन जङ्गलोंमें चले जाते हैं, जो मतवाले हाथियोंके कारण दुर्गम तथा सर्प और चोर आदिके भयसे भरे हुए होते हैं। इससे बढ़कर उन्हें और क्या दण्ड मिल सकता है ? ॥ ५ ॥

प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम् ॥ ६ ॥

जिन्हें देवपूजा और अतिथिसत्कार प्रिय है, जो उदार हैं तथा श्रेष्ठ पुरुष जिन्हें अच्छे लगते हैं, वे पुण्यात्मा मनुष्य अपने दाहिने हाथके समान मङ्गलकारी एवं मनको वशमें रखनेवाले योगियोंको ही प्राप्त होनेयोग्य मार्गपर आरूढ़ होते हैं ॥ ६ ॥

पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु।
तद्विधास्ते मनुष्याणां येषां धर्मो न कारणम् ॥ ७ ॥

जिनका उद्देश्य धर्म नहीं है, ऐसे मनुष्य मानवसमाजके भीतर वैसे ही समझे जाते हैं, जैसे धानमें थोथा पौधा और पङ्खवाले जीवोंमें मच्छर ॥ ७ ॥

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ॥ ८ ॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते ॥ ९ ॥

जिस-जिस मनुष्यने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजीके साथ उसके पीछे जाता है। जब वह सोता है तो उसका कर्मफल भी उसके साथ ही सो जाता है। जब वह खड़ा होता है तो वह भी पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है तो उसके पीछे-पीछे वह भी चलने लगता है। इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता। सदा छायाके समान पीछे लगा रहता है ॥ ८-९ ॥

येन येन यथा यद् यत् पुरा कर्म समीहितम्।
तत्तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना ॥ १० ॥

जिस-जिस मनुष्यने अपने-अपने पूर्वजन्मोंमें जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वह अपने ही किये हुए उन कर्मोंका फल सदा अकेला ही भोगता है ॥ १० ॥

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम्।
भूतग्राममिमं कालः समन्तात् परिकर्षति ॥ ११ ॥

अपने-अपने कर्मका फल एक धरोहरके समान है, जो कर्मजनित अदृष्टके द्वारा सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आनेपर यह काल इस कर्मफलको प्राणिसमुदायके पास खींच लाता है ॥ ११ ॥

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ १२ ॥

जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणाके बिना ही अपने समयपर वृक्षोंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार पहलेके किये हुए कर्म भी अपने फलभोगके समयका उल्लङ्घन नहीं करते ॥

सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ।
प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पुनः पुनः ॥ १३ ॥

सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति-अवनति—ये पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार बार-बार प्राप्त होते हैं और प्रारब्धभोगके पश्चात् निवृत्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम्।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥ १४ ॥

दुःख अपने ही किये हुए कर्मोंका फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है। जीव माताकी गर्भशय्यामें आते ही पूर्वशरीरद्वारा उपार्जित सुख-दुःखका उपभोग करने लगता है ॥ १४ ॥

बालो युवा च वृद्धश्च यत् करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥

कोई बालक हो, तरुण हो या बूढ़ा हो, वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, दूसरे जन्ममें उसी-उसी अवस्थामें उस-उस कर्मका फल उसे प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

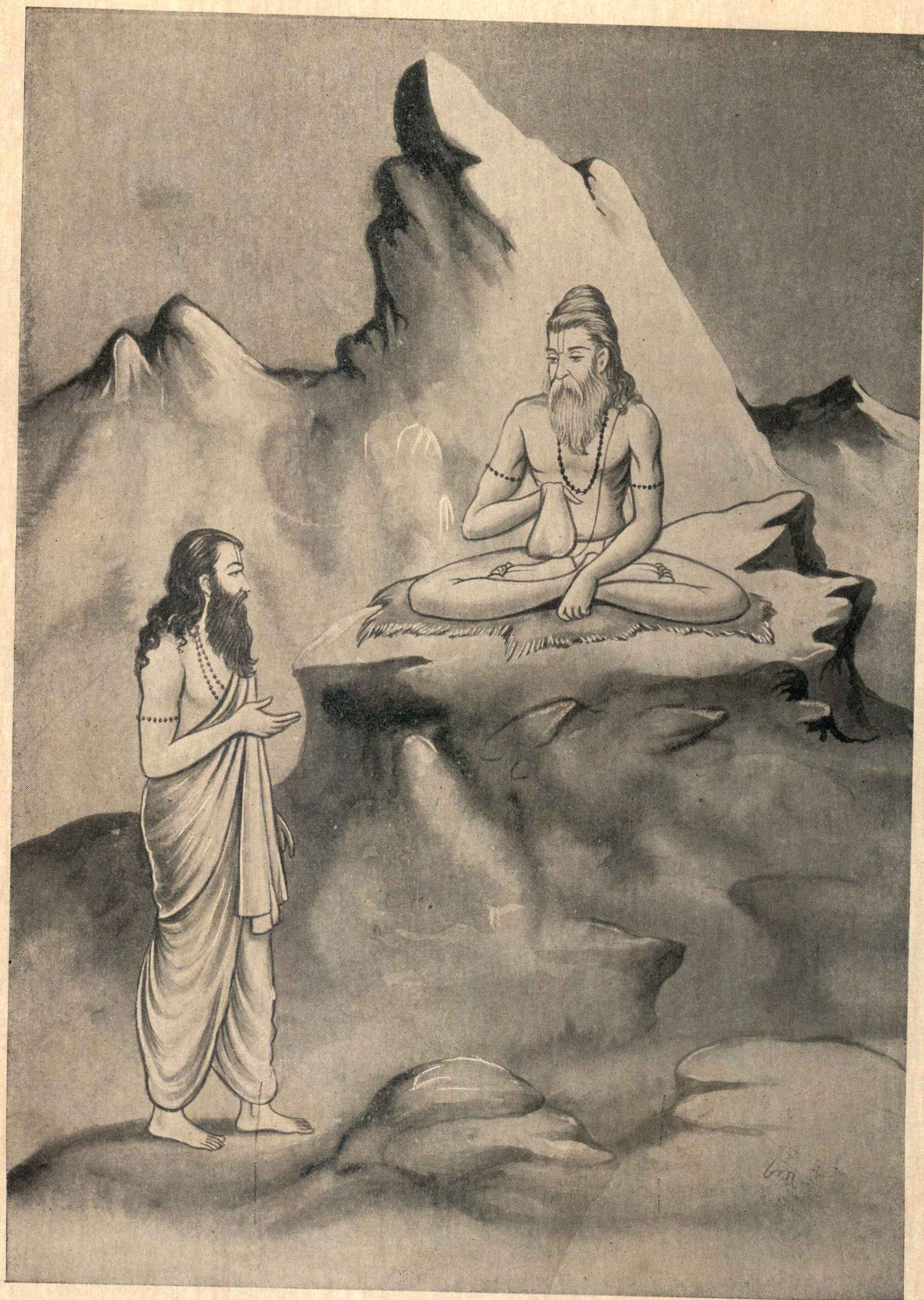
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १६ ॥

जैसे बछड़ा हजारों गौओंमेंसे अपनी माँको पहचानकर उसे पा लेता है, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी अपने कर्ताके पास पहुँच जाता है ॥ १६ ॥

समुन्नमग्रतो वस्त्रं पश्चाच्छुध्यति कर्मणा।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम् ॥ १७ ॥

जैसे पहलेसे क्षार आदिमें भिगोया हुआ कपड़ा पीछे धोनेसे साफ हो जाता है, उसी प्रकार जो उपवासपूर्वक तपस्या करते हैं, उन्हें कभी समाप्त न होनेवाला महान् सुख मिलता है ॥ १७ ॥

दीर्घकालेन तपसा सेवितेन तपोवने।
धर्मनिर्धूतपापानां सम्पद्यन्ते मनोरथाः ॥ १८ ॥



महर्षि भृगुके साथ भरद्वाज मुनिका प्रश्नोत्तर

तपोवनमें रहकर की हुई दीर्घकालतककी तपस्यासे तथा धर्मसे जिनके सारे पाप धुल गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ सफल हो जाते हैं ॥ १८ ॥

शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंके और जलमें मछलियोंके चरण-चिह्न दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार ज्ञानियोंकी गतिका पता नहीं चलता ॥ १९ ॥

अलमन्यैरुपालम्भैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २० ॥

दूसरोंको उलाहने देने तथा लोगोंके अन्यान्य अपराधोंकी चर्चा करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। जो काम सुन्दर, अनुकूल और अपने लिये हितकर जान पड़े, वही कर्म करना चाहिये ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भरद्वाज और भृगुके संवादमें जगत्‌की उत्पत्तिका और विभिन्न तत्त्वोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कुतः सृष्टमिदं विश्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! इस सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत्‌की उत्पत्ति कहाँसे हुई है? प्रलयकालमें यह किसमें लीन होता है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥ २ ॥

समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, भूमि, अग्नि और वायु-सहित इस संसारका किसने निर्माण किया है? ॥ २ ॥

कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः।
शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम् ॥ ३ ॥

प्राणियोंकी सृष्टि किस प्रकार हुई? वर्णोंका विभाग किस तरह किया गया? उनमें शौच और अशौचकी व्यवस्था कैसे हुई? तथा धर्म और अधर्मका विधान किस प्रकार किया गया? ॥ ३ ॥

कीदृशो जीवतां जीवः क्व वा गच्छन्ति ये मृताः।
अस्माल्लोकादमुं लोकं सर्वं शंसतु नो भवान् ॥ ४ ॥

जीवित प्राणियोंका जीवात्मा कैसा है? जो मर गये, वे कहाँ चले जाते हैं? इस लोकसे उस लोकमें जानेका क्रम क्या है? ये सब बातें आप हमें बतावें ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
भृगुणाभिहितं शास्त्रं भरद्वाजाय पृच्छते ॥ ५ ॥

भीष्मजी बोले—राजन्! विज्ञ पुरुष इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें भरद्वाजके प्रश्न करनेपर भृगुके उपदेशका उल्लेख हुआ है ॥ ५ ॥

कैलासशिखरे दृष्ट्वा दीप्यमानं महौजसम्।
भृगुं महर्षिमासीनं भरद्वाजोऽन्वपृच्छत ॥ ६ ॥

कैलास पर्वतके शिखरपर अपने तेजसे देदीप्यमान होते हुए महातेजस्वी महर्षि भृगुको बैठा देख भरद्वाज मुनिने पूछा—॥ ६ ॥

ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥ ७ ॥

'समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, भूमि, अग्नि और वायु-सहित इस संसारका किसने निर्माण किया है? ॥ ७ ॥

कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः।
शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम् ॥ ८ ॥

'प्राणियोंकी सृष्टि किस प्रकार हुई? वर्णोंका विभाग किस तरह किया गया? उनमें शौच और अशौचकी व्यवस्था कैसे हुई? तथा धर्म और अधर्मका विधान किस प्रकार किया गया? ॥ ८ ॥

कीदृशो जीवतां जीवः क्व वा गच्छन्ति ये मृताः।
परलोकमिमं चापि सर्वं शंसितुमर्हसि ॥ ९ ॥

'जीवित प्राणियोंका जीवात्मा कैसा है? जो मर गये, वे कहाँ चले जाते हैं? तथा यह लोक और परलोक कैसा है? यह सब मुझे बतानेकी कृपा करें' ॥ ९ ॥

एवं स भगवान् पृष्टो भरद्वाजेन संशयम्।
ब्रह्मर्षिर्ब्रह्मसंकाशः सर्वं तस्मै ततोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

भरद्वाज मुनिके इस प्रकार अपना संशय पूछनेपर ब्रह्माजीके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षि भगवान् भृगुने उन्हें सब कुछ बताया ॥ १० ॥

भृगुरुवाच

(नारायणो जगन्मूर्तिरन्तरात्मा सनातनः।
कूटस्थोऽक्षर अव्यक्तो निर्लेपो व्यापकः प्रभुः ॥
प्रकृतेः परतो नित्यमिन्द्रियैरप्यगोचरः।
स सिसृक्षुः सहस्रांशादसृजत् पुरुषं प्रभुः।)
मानसो नाम विख्यातः श्रुतपूर्वो महर्षिभिः।
अनादिनिधनो देवस्तथाभेद्योऽजरामरः ॥ ११ ॥

भृगु बोले—ब्रह्मन्! भगवान् नारायण सम्पूर्ण जगत्-स्वरूप हैं। वे ही सबके अन्तरात्मा और सनातन पुरुष हैं। वे

ही कूटस्थ, अविनाशी, अव्यक्त, निर्लेप, सर्वव्यापी, प्रभु, प्रकृतिसे परे और इन्द्रियातीत हैं। उन भगवान् नारायणके हृदयमें जब सृष्टिविषयक संकल्पका उदय हुआ तो उन्होंने अपने हजारवें अंशसे एक पुरुषको उत्पन्न किया, महर्षियोंने सर्वप्रथम जिसको इसी नामसे सुना था, जो मानसपुरुषके नामसे प्रसिद्ध है। पूर्वकालमें उत्पन्न वह मानसदेव अनादि, अनन्त, अभेद्य, अजर और अमर है॥ ११॥

अव्यक्त इति विख्यातः शाश्वतोऽथाक्षयोऽव्ययः।
यतः सृष्टानि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ति च॥ १२॥

उसीकी अव्यक्त नामसे प्रसिद्धि है। वही शाश्वत, अक्षय और अविनाशी है। उससे उत्पन्न सब प्राणी जन्मते और मरते रहते हैं॥ १२॥

सोऽसृजत् प्रथमं देवो महान्तं नाम नामतः।
महान् ससर्जाहंकारं स चापि भगवानथ॥ १३॥

उस स्वयम्भू देवने पहले महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) की रचना की। फिर उस महत्तत्त्वस्वरूप भगवान्‌ने अहङ्कार (समष्टि अहङ्कार) की सृष्टि की॥ १३॥

आकाशमिति विख्यातं सर्वभूतधरः प्रभुः।
आकाशादभवद् वारि सलिलादग्निमारुतौ।
अग्निमारुतसंयोगात् ततः समभवन्मही॥ १४॥

सम्पूर्ण भूतोंको धारण करनेवाले अहङ्कारस्वरूप भगवान्‌ने शब्दतन्मात्रा रूप आकाशको उत्पन्न किया। आकाशसे जल और जलसे अग्नि एवं वायुकी उत्पत्ति हुई। अग्नि और वायुके संयोगसे इस पृथ्वीका प्रादुर्भाव हुआ*॥ १४॥

ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा।
तस्मात् पद्मात् समभवद् ब्रह्मा वेदमयो निधिः॥ १५॥

उसके बाद उस स्वयम्भू मानसदेवने पहले एक तेजोमय दिव्य कमल उत्पन्न किया। उसी कमलसे वेदमय निधिरूप ब्रह्माजी प्रकट हुए॥ १५॥

अहंकार इति ख्यातः सर्वभूतात्मभूतकृत्।
ब्रह्मा वै स महातेजा य एते पञ्च धातवः॥ १६॥

वे अहङ्कार नामसे भी विख्यात हैं और समस्त भूतोंके आत्मा तथा उन भूतोंकी सृष्टि करनेवाले हैं। ये जो पाँच महाभूत हैं, इनके रूपमें महातेजस्वी ब्रह्मा ही प्रकट हुए हैं॥ १६॥

शैलास्तस्यास्थिसंज्ञास्तु मेदो मांसं च मेदिनी।
समुद्रास्तस्य रुधिरमाकाशमुदरं तथा॥ १७॥

पर्वत उनकी हड्डियाँ हैं, पृथ्वी उनका मेद और मांस है। समुद्र उनका रुधिर है और आकाश उदर है॥ १७॥

पवनश्चैव निःश्वासस्तेजोऽग्निर्निम्नगाः शिराः।
अग्नीषोमौ तु चन्द्रार्कौ नयने तस्य विश्रुते॥ १८॥

वायु निःश्वास है, अग्नि तेज है, नदियाँ नाड़ियाँ हैं, सूर्य और चन्द्रमा जिन्हें अग्नि और सोम भी कहते हैं, ब्रह्माजीके नेत्रोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं॥ १८॥

नभश्चोर्ध्वं शिरस्तस्य क्षितिः पादौ भुजौ दिशः।
दुर्विज्ञेयो ह्यचिन्त्यात्मा सिद्धैरपि न संशयः॥ १९॥

आकाशका ऊपरी भाग उनका सिर है, पृथ्वी पैर है और दिशाएँ भुजाएँ हैं। वे अचिन्त्यस्वरूप ब्रह्मा सिद्ध पुरुषोंके लिये भी दुर्विज्ञेय हैं, इसमें संशय नहीं है॥ १९॥

स एष भगवान् विष्णुरनन्त इति विश्रुतः।
सर्वभूतात्मभूतस्थो दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः॥ २०॥

वह स्वयम्भू ही भगवान् विष्णु हैं, जो अनन्त नामसे प्रसिद्ध हैं, वे ही सम्पूर्ण भूतोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामी आत्माके रूपमें विद्यमान हैं। जिनका हृदय शुद्ध नहीं है, उनके लिये इनके स्वरूपको ठीक-ठीक जानना बहुत कठिन है॥ २०॥

अहंकारस्य यः स्रष्टा सर्वभूतभवाय वै।
यतः समभवद् विश्वं पृष्टोऽहं यदिह त्वया॥ २१॥

वे ही सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिके लिये प्राकृत अहङ्कारकी सृष्टि करनेवाले हैं। तुमने मुझसे जो पूछा था कि इस विश्वकी उत्पत्ति किससे हुई है, वह सब मैंने तुम्हें बता दिया॥ २१॥

भरद्वाज उवाच

गगनस्य दिशां चैव भूतलस्यानिलस्य वा।
कान्यत्र परिमाणानि संशयं छिन्धि तत्त्वतः॥ २२॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो! आकाश, दिशा, पृथ्वी और वायुका कितना-कितना परिमाण है? यह ठीक-ठीक बताकर मेरा संशय दूर कीजिये॥ २२॥

भृगुरुवाच

अनन्तमेतदाकाशं सिद्धदैवतसेवितम्।
रम्यं नानाश्रयाकीर्णं यस्यान्तो नाधिगम्यते॥ २३॥

भृगुजीने कहा—सुने! यह आकाश तो अनन्त है, इसमें अनेकानेक सिद्ध और देवता निवास करते हैं। इसमें उनके भिन्न-भिन्न लोक भी स्थित हैं। यह बड़ा ही रमणीय है और इतना महान् है कि कहीं इसका अन्त नहीं मिलता॥ २३॥

ऊर्ध्वं गतेरधस्तात्तु चन्द्रादित्यौ न दृश्यतः।
तत्र देवाः स्वयं दीप्ता भास्कराभाग्निवर्चसः॥ २४॥

ऊपर तथा नीचे जानेसे जहाँ सूर्य और चन्द्रमा नहीं दिखायी देते, वहाँ सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी देवता स्वयं अपने प्रकाशसे ही प्रकाशित होते हैं॥ २४॥

ते चाप्यन्तं न पश्यन्ति नभसः प्रथितौजसः।
दुर्गमत्वादनन्तत्वादिति मे विद्धि मानद॥ २५॥

मानद! परंतु वे तेजस्वी नक्षत्रस्वरूप देवता भी इस आकाशका अन्त नहीं देख पाते; क्योंकि यह दुर्गम और अनन्त है, यह बात तुम्हें मेरे मुखसे सुनकर अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये॥ २५॥

---

* यहाँ जो सृष्टिका क्रम बताया गया है, वह श्रुतिसम्मत क्रमसे भिन्न है। श्रुतिने आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्तिका क्रम बताया है।

उपरिष्टोपरिष्टात्तु प्रज्वलद्भिः स्वयंप्रभैः ।
निरुद्धमेतदाकाशमप्रमेयं सुरैरपि ॥ २६ ॥

ऊपर-ऊपर प्रकाशित होनेवाले स्वयंप्रकाश देवताओंसे यह अप्रमेय आकाश भी भरा हुआ-सा प्रतीत होता है ॥२६॥

पृथिव्यन्ते समुद्रास्तु समुद्रान्ते तमः स्मृतम्।
तमसोऽन्ते जलं प्राहुर्जलस्यान्तेऽग्निरेव च ॥ २७ ॥

पृथ्वीके अन्तमें समुद्र हैं। समुद्रके अन्तमें घोर अन्धकार है। अन्धकारके अन्तमें जल है और जलके अन्तमें अग्निकी स्थिति बतायी गयी है ॥ २७ ॥

रसातलान्ते सलिलं जलान्ते पन्नगाधिपाः ।
तदन्ते पुनराकाशमाकाशान्ते पुनर्जलम् ॥ २८ ॥

रसातलके अन्तमें जल है। जलके अन्तमें नागराज शेष हैं। उनके अन्तमें पुनः आकाश और आकाशके ही अन्त-भागमें पुनः जल है ॥ २८ ॥

एवमन्तं भगवतः प्रमाणं सलिलस्य च ।
अग्निमारुततोयेभ्यो दुर्ज्ञेयं दैवतैरपि ॥ २९ ॥

इस प्रकार भगवान्‌का, आकाशका, जलका तथा अग्नि और वायुका भी अन्त और परिमाण जानना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ २९ ॥

अग्निमारुततोयानां वर्णाः क्षितितलस्य च ।
आकाशादवगृह्यन्ते भिद्यन्तेऽतत्त्वदर्शनात् ॥ ३० ॥

अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी– इनके रंग-रूप आकाशसे ही गृहीत होते हैं; अतः उससे भिन्न नहीं हैं। तत्त्वज्ञान न होनेसे ही उनमें भेदकी प्रतीति होती है ॥ ३० ॥

पठन्ति चैव मुनयः शास्त्रेषु विविधेषु च ।
त्रैलोक्ये सागरे चैव प्रमाणं विहितं यथा ॥ ३१ ॥
अदृश्याय त्वगम्याय कः प्रमाणमुदाहरेत् ।
सिद्धानां देवतानां च यदा परिमिता गतिः ॥ ३२ ॥

ऋषियोंने विविध शास्त्रोंमें तीनों लोकों और समुद्रोंके विषयमें तो कुछ निश्चित प्रमाण बताया भी है; परंतु जो दृष्टिसे परे हैं और जहाँतक इन्द्रियोंकी पहुँच नहीं है, उस परमात्माका परिमाण कोई कैसे बतायेगा ! आखिर इन सिद्धों और देवताओंका ज्ञान भी तो परिमित ही है ॥ ३१-३२ ॥

ततो गौणमनन्तस्य नामानन्तेति विश्रुतम् ।
नामधेयानुरूपस्य मानसस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥

अतः परमात्मा मानसदेव अपने नामके अनुरूप ही अनन्त हैं। उनका सुप्रसिद्ध अनन्त नाम उनके गुणके अनुसार ही है ॥ ३३ ॥

यदा तु दिव्यं तद् रूपं ह्रसते वर्धते पुनः ।
कोऽन्यस्तद्वेदितुं शक्तो योऽपि स्यात् तद्विधोऽपरः ॥३४॥

जब उन परमात्माका वह दिव्यरूप उनकी मायासे कभी बहुत छोटा हो जाता है और कभी बहुत बढ़ जाता है, तब कोई उनसे भिन्न दूसरा उन्हींके समान प्रतिभाशाली कौन है, जो कि उस स्वरूपका यथार्थ परिमाण जान सके अर्थात् ऐसा कोई नहीं है ॥ ३४ ॥

ततः पुष्करतः सृष्टः सर्वज्ञो मूर्तिमान् प्रभुः ।
ब्रह्मा धर्ममयः पूर्वः प्रजापतिरनुत्तमः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर पूर्वोक्त कमलसे सर्वज्ञ, मूर्तिमान्, प्रभावशाली, परम उत्तम तथा प्रथम प्रजापति धर्ममय ब्रह्माका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ३५ ॥

भरद्वाज उवाच

पुष्कराद् यदि सम्भूतो ज्येष्ठं भवति पुष्करम्।
ब्रह्माणं पूर्वजं चाह भवान् संदेह एव मे ॥ ३६ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो ! यदि ब्रह्माजी कमलसे प्रकट हुए तब तो कमल ही ज्येष्ठ प्रतीत होता है; परंतु आपने ब्रह्माजीको पूर्वज बताया है; अतः यह संदेह मेरे मनमें बना ही रह गया ॥ ३६ ॥

भृगुरुवाच

मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता ।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते ॥ ३७ ॥

भृगुने कहा—मुने ! मानसदेवका जो स्वरूप बताया गया है, वही ब्रह्मरूपमें प्रकट है। उन्हीं ब्रह्माजीके आसनके लिये इस पृथ्वीको ही पद्म (कमल) कहते हैं ॥ ३७ ॥

कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः ।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः॥३८ ॥

इस कमलकी कर्णिका मेरुपर्वत है, जो आकाशमें बहुत ऊँचेतक गया है। उसी पर्वतके मध्यभागमें स्थित होकर जगदीश्वर ब्रह्मा सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करते हैं ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु और भरद्वाजका संवादविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४० श्लोक हैं)

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

आकाशसे अन्य चार स्थूल भूतोंकी उत्पत्तिका वर्णन

भरद्वाज उवाच

प्रजाविसर्गं विविधं कथं स सृजते प्रभुः ।
मेरुमध्ये स्थितो ब्रह्मा तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! मेरुपर्वतके मध्यभागमें स्थित होकर ब्रह्माजी नाना प्रकारकी प्रजासृष्टि कैसे करते हैं, यह मुझे बताइये ? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

प्रजाविसर्गं विविधं मानसो मनसासृजत् ।

संरक्षणार्थं भूतानां सृष्टं प्रथमतो जलम् ॥ २ ॥

भृगुने कहा—उन मानसदेवने अपने मानसिक संकल्पसे ही नाना प्रकारकी प्रजासृष्टि की है। उन्होंने प्राणियोंकी रक्षाके लिये सबसे पहले जलकी सृष्टि की ॥ २ ॥

यत् प्राणः सर्वभूतानां वर्धन्ते येन च प्रजाः।
परित्यक्ताश्च नश्यन्ति तेनेदं सर्वमावृतम् ॥ ३ ॥

वह जल समस्त प्राणियोंका जीवन है। उसीसे प्रजाकी वृद्धि होती है। जलके न मिलनेसे प्राणी नष्ट हो जाते हैं। उसीने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है ॥ ३ ॥

पृथिवी पर्वता मेघा मूर्तिमन्तश्च ये परे।
सर्वं तद् वारुणं ज्ञेयमापस्तस्तम्भिरे यतः ॥ ४ ॥

पृथ्वी, पर्वत, मेघ तथा अन्य जो मूर्तिमान् वस्तुएँ हैं, उन सबको जलमय समझना चाहिये; क्योंकि जलने ही उन सबको स्थिर कर रक्खा है ॥ ४ ॥

भरद्वाज उवाच

कथं सलिलमुत्पन्नं कथं चैवाग्निमारुतौ।
कथं वा मेदिनी सृष्टेत्यत्र मे संशयो महान् ॥ ५ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन्! जलकी उत्पत्ति कैसे हुई? अग्नि और वायुकी सृष्टि किस प्रकार हुई तथा पृथ्वीकी भी रचना कैसे की गयी, इस विषयमें मुझे महान् संदेह है ॥ ५ ॥

भृगुरुवाच

ब्रह्मकल्पे पुरा ब्रह्मन् ब्रह्मर्षीणां समागमे।
लोकसम्भवसंदेहः समुत्पन्नो महात्मनाम् ॥ ६ ॥

भृगुने कहा—ब्रह्मन्! पूर्वकालमें जब ब्रह्मकल्प चल रहा था, उस समय ब्रह्मर्षियोंका परस्पर समागम हुआ। उन महात्माओंकी उस सभामें लोकसृष्टिविषयक संदेह उपस्थित हुआ ॥ ६ ॥

तेऽतिष्ठन् ध्यानमालम्ब्य मौनमास्थाय निश्चलाः।
त्यक्ताहाराः पवनपा दिव्यं वर्षशतं द्विजाः ॥ ७ ॥

वे ब्रह्मर्षि भोजन छोड़कर वायु पीकर रहते हुए सौ दिव्य वर्षोंतक ध्यान लगाकर मौनका आश्रय ले निश्चलभावसे बैठे रह गये ॥ ७ ॥

तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागमत्।
दिव्या सरस्वती तत्र सम्बभूव नभस्तलात् ॥ ८ ॥

उस ध्यानावस्थामें उन सबके कानोंमें ब्रह्ममयी वाणी सुनायी पड़ी। उस समय वहाँ आकाशसे दिव्य सरस्वती प्रकट हुई थी ॥ ८ ॥

पुरा स्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपमम्।
नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ ॥ ९ ॥

वह आकाशवाणी इस प्रकार है—'पूर्वकालमें अनन्त आकाश पर्वतके समान निश्चल था। उसमें चन्द्रमा, सूर्य अथवा वायु किसीके दर्शन नहीं होते थे। वह सोया हुआ-सा जान पड़ता था ॥ ९ ॥

ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः।
तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः ॥ १० ॥

'तदनन्तर आकाशसे जलकी उत्पत्ति हुई; मानो अन्धकारमें ही दूसरा अन्धकार प्रकट हुआ हो। उस जलप्रवाहसे वायुका उत्थान हुआ ॥ १० ॥

यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते।
तच्चाम्भसा पूर्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥ ११ ॥

'जैसे कोई छिद्ररहित पात्र निःशब्द-सा लक्षित होता है; परंतु जब उसमें छिद्र करके जल भरा जाता है, तब वायु उसमें आवाज प्रकट कर देती है ॥ ११ ॥

तथा सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे।
भित्त्वार्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान् ॥ १२ ॥

'इसी प्रकार जलसे आकाशका सारा प्रान्त ऐसा अवरुद्ध हो गया था कि उसमें कहीं थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं था। तब उस एकार्णवके तलप्रदेशका भेदन करके बड़ी भारी आवाजके साथ वायुका प्राकट्य हुआ ॥ १२ ॥

स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः।
आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥ १३ ॥

'इस प्रकार समुद्रके जलसमुदायसे प्रकट हुई यह वायु सर्वत्र विचरने लगी और आकाशके किसी भी स्थानमें पहुँचकर वह शान्त नहीं हुई ॥ १३ ॥

तस्मिन् वाय्वम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः।
प्रादुरभूदूर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः ॥ १४ ॥

'वायु और जलके उस संघर्षसे अत्यन्त तेजोमय महाबली अग्निदेवका प्राकट्य हुआ, जिनकी लपटें ऊपरकी ओर उठ रही थीं। वह आग आकाशके सारे अन्धकारको नष्ट करके प्रकट हुई थी ॥ १४ ॥

अग्निः पवनसंयुक्तः खं समाक्षिपते जलम्।
सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥ १५ ॥

'वायुका संयोग पाकर अग्नि जलको आकाशमें उछालने लगी; फिर वही जल अग्नि और वायुके संयोगसे घनीभूत हो गया ॥ १५ ॥

तस्याकाशे निपतितः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः।
स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥ १६ ॥

'उसका जो वह गीलापन आकाशमें गिरा, वही घनीभूत होकर पृथ्वीके रूपमें परिणत हो गया ॥ १६ ॥

रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा ।
भूमियोंनिरिह ज्ञेया यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥ १७ ॥

'इस पृथ्वीको सम्पूर्ण रसों, गन्धों, स्नेहों तथा प्राणियोंका कारण समझना चाहिये । इसीसे सबकी उत्पत्ति होती है' ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे मानसभूतोत्पत्तिकथने त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु और भरद्वाजसंवादके प्रसङ्गमें मानसभूतोंकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८३ ॥

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतोंके गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन

भरद्वाज उवाच

त एते धातवः पञ्च ब्रह्मा यानसृजत् पुरा ।
आवृता यैरिमे लोका महाभूताभिसंज्ञिताः ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन् ! लोकमें ये पाँच धातु ही 'महाभूत' कहलाते हैं, जिन्हें ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें रचा था । ये ही इन समस्त लोकोंमें व्याप्त हैं ॥ १ ॥

यदासृजत् सहस्राणि भूतानां स महामतिः ।
पञ्चानामेव भूतत्वं कथं समुपपद्यते ॥ २ ॥

परंतु जब महाबुद्धिमान् ब्रह्माजीने और भी हजारों भूतोंकी रचना की है, तब इन पाँचको ही 'भूत' कहना कहाँतक युक्तिसंगत है ? ॥ २ ॥

भृगुरुवाच

अमितानां महाशब्दो यान्ति भूतानि सम्भवम् ।
ततस्तेषां महाभूतशब्दोऽयमुपपद्यते ॥ ३ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! ये पाँच भूत ही असीम हैं, इसलिये इन्हींके साथ 'महा'शब्द जोड़ा जाता है । इन्हींसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है; अतः इन्हींके लिये 'महाभूत' शब्दका प्रयोग सुसंगत है ॥ ३ ॥

चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवः ।
पृथिवी चात्र संघातः शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ ४ ॥

प्राणियोंका शरीर इन पाँच महाभूतोंका ही संघात है । इसमें जो चेष्टा या गति है, वह वायुका भाग है । जो खोखलापन है, वह आकाशका अंश है । ऊष्मा (गर्मी) अग्निका अंश है । लोहू आदि तरल पदार्थ जलके अंश हैं और हड्डी मांस आदि ठोस पदार्थ पृथ्वीके अंश हैं ॥ ४ ॥

इत्येतैः पञ्चभिर्भूतैर्युक्तं स्थावरजङ्गमम् ।
श्रोत्रं घ्राणं रसः स्पर्शो दृष्टिश्चेन्द्रियसंज्ञिताः ॥ ५ ॥

इस प्रकार सारा स्थावर-जङ्गम जगत् इन पाँच भूतोंसे युक्त है । इन्हींके सूक्ष्म अंश श्रोत्र (कान), घ्राण (नासिका), रसना, त्वचा और नेत्र—इन पाँच इन्द्रियोंके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥

भरद्वाज उवाच

पञ्चभिर्यदि भूतैस्तु युक्ताः स्थावरजङ्गमाः ।
स्थावराणां न दृश्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥ ६ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन् ! आपके कथनानुसार यदि समस्त स्थावर-जङ्गम पदार्थ इन पाँच महाभूतोंसे ही संयुक्त हैं तो स्थावरोंके शरीरोंमें तो पाँच भूत नहीं दिखायी देते हैं ॥ ६ ॥

अनूष्मणामचेष्टानां घनानां चैव तत्त्वतः ।
वृक्षाणां नोपलभ्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥ ७ ॥

वृक्षोंके शरीरमें गर्मी नहीं है, कोई चेष्टा भी नहीं है तथा वास्तवमें वे घन हैं; अतः उनके शरीरमें पाँचों भूतोंकी उपलब्धि नहीं होती है ॥ ७ ॥

न शृण्वन्ति न पश्यन्ति न गन्धरसवेदिनः ।
न च स्पर्शं विजानन्ति ते कथं पाञ्चभौतिकाः ॥ ८ ॥

वे न सुनते हैं, न देखते हैं, न गन्ध और रसका ही अनुभव करते हैं और न उन्हें स्पर्शका ही ज्ञान होता है; फिर वे पाञ्चभौतिक कैसे कहे जाते हैं ? ॥ ८ ॥

अद्रवत्वादनग्नित्वादभूमित्वादवायुतः ।
आकाशस्याप्रमेयत्वाद् वृक्षाणां नास्ति भौतिकम् ॥ ९ ॥

उनमें न तो द्रवत्व देखा जाता है, न अग्निका अंश, न पृथ्वी और वायुका ही भाग उपलब्ध होता है । आकाश तो अप्रमेय है; अतः वह भी वृक्षोंमें नहीं है, इसलिये वृक्षोंकी पाञ्चभौतिकता नहीं सिद्ध होती है ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच

घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशयः ।
तेषां पुष्पफलव्यक्तिर्नित्यं समुपपद्यते ॥ १० ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! यद्यपि वृक्ष ठोस जान पड़ते हैं तो भी उनमें आकाश है, इसमें संशय नहीं है । इसीसे उनमें नित्यप्रति फल-फूल आदिकी उत्पत्ति सम्भव हो सकती है ॥

ऊष्मतो म्लायते पर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च ।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥ ११ ॥

वृक्षोंके भीतर जो ऊष्मा या गर्मी है, उसीसे उनके पत्ते, छाल, फल, फूल कुम्हलाते हैं, मुरझाकर झड़ जाते हैं; इससे उनमें स्पर्शका होना भी सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥ १२ ॥

यह भी देखा जाता है कि वायु, अग्नि और बिजलीकी कड़क आदि भीषण शब्द होनेपर वृक्षोंके फल-फूल झड़कर गिर जाते हैं । शब्दका ग्रहण तो श्रवणेन्द्रियसे ही होता है;

इससे यह सिद्ध हुआ कि वृक्ष भी सुनते हैं ॥ १२ ॥

वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति ।
न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात् पश्यन्ति पादपाः ॥ १३ ॥

लता वृक्षको चारों ओरसे लपेट लेती है और उसके ऊपरी भागतक चढ़ जाती है। बिना देखे किसीको अपने जानेका मार्ग नहीं मिल सकता; इससे सिद्ध है कि वृक्ष देखते भी हैं ॥ १३ ॥

पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि ।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥ १४ ॥

पवित्र और अपवित्र गन्धसे तथा नाना प्रकारके धूपोंकी गन्धसे वृक्ष नीरोग होकर फूलने-फलने लग जाते हैं; इससे प्रमाणित होता है कि वृक्ष भी सूँघते हैं ॥ १४ ॥

पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात् ।
व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥ १५ ॥

वृक्ष अपनी जड़से जल पीते हैं और कोई रोग होनेपर जड़में ओषधि डालकर उनकी चिकित्सा भी की जाती है; इससे सिद्ध है कि वृक्षमें रसनेन्द्रिय भी है ॥ १५ ॥

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत् ।
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥ १६ ॥

जैसे मनुष्य कमलकी नाल मुँहमें लगाकर उसके द्वारा ऊपरको जल खींचता है, उसी तरह वायुकी सहायतासे युक्त वृक्ष अपनी जड़ोंद्वारा ऊपरकी ओर पानी खींचता है ॥१६॥

सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

वृक्ष कट जानेपर उनमें नया अंकुर उत्पन्न हो जाता है और वे सुख-दुःखको ग्रहण करते हैं। इससे मैं देखता हूँ कि वृक्षोंमें जीव भी है। वे अचेतन नहीं हैं ॥ १७ ॥

तेन तज्जलमादत्तं जरयत्यग्निमारुतौ ।
आहारपरिणामाच्च स्नेहो वृद्धिश्च जायते ॥ १८ ॥

वृक्ष अपनी जड़से जो जल खींचता है, उसे उसके अंदर रहनेवाली वायु और अग्नि पचाती है। आहारका परिपाक होनेसे वृक्षमें स्निग्धता आती है और वे बढ़ते हैं ॥

जङ्गमानां च सर्वेषां शरीरे पञ्च धातवः ।
प्रत्येकशः प्रभिद्यन्ते यैः शरीरं विचेष्टते ॥ १९ ॥

समस्त जङ्गमोंके शरीरोंमें भी पाँच भूत रहते हैं; परंतु वहाँ उनके स्वरूपमें भेद होता है। उन पाँच भूतोंके सहयोगसे ही शरीर चेष्टाशील होता है ॥ १९ ॥

त्वक् च मांसं तथास्थीनि मज्जा स्नायुश्च पञ्चमम् ।
इत्येतदिह संघातं शरीरे पृथिवीमयम् ॥ २० ॥

शरीरमें त्वचा, मांस, हड्डी, मज्जा और स्नायु—इन पाँच वस्तुओंका समुदाय पृथ्वीमय है ॥ २० ॥

तेजो ह्यग्निस्तथा क्रोधश्चक्षुरूष्मा तथैव च ।
अग्निर्जरयते यश्च पञ्चाग्नेयाः शरीरिणः ॥ २१ ॥

तेज, क्रोध, नेत्र, ऊष्मा और जठरानल—ये पाँच वस्तुएँ देहधारियोंके शरीरमें अग्निमय हैं ॥ २१ ॥

श्रोत्रं घ्राणं तथाऽऽस्यं च हृदयं कोष्ठमेव च ।
आकाशात् प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः ॥ २२ ॥

कान, नासिका, मुख, हृदय और उदर प्राणियोंके शरीरमें ये पाँच धातुमय खोखलापन आकाशसे उत्पन्न हुए हैं— ॥ २२ ॥

श्लेष्मा पित्तमथ स्वेदो वसा शोणितमेव च ।
इत्यापः पञ्चधा देहे भवन्ति प्राणिनां सदा ॥ २३ ॥

कफ, पित्त, स्वेद, चर्बी और रुधिर—ये प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाली पाँच गीली वस्तुएँ जलरूप हैं ॥ २३ ॥

प्राणात् प्रणीयते प्राणी व्यानाद् व्यायच्छते तथा ।
गच्छत्यपानोऽधश्चैव समानो हृद्यवस्थितः ॥ २४ ॥
उदानादुच्छ्वसिति च प्रतिभेदाच्च भाषते ।
इत्येते वायवः पञ्च चेष्टयन्तीह देहिनम् ॥ २५ ॥

प्राणसे प्राणी चलने-फिरनेका काम करता है, व्यानसे व्यायाम (बलसाध्य उद्यम) करता है, अपान वायु ऊपरसे नीचेकी ओर जाती है, समान वायु हृदयमें स्थित होती है, उदानसे पुरुष उच्छ्वास लेता है और कण्ठ, तालु आदि स्थानोंके भेदसे शब्दों एवं अक्षरोंका उच्चारण करता है। इस प्रकार ये पाँच वायुके परिणाम हैं, जो शरीरधारीको चेष्टाशील बनाते हैं ॥ २४-२५ ॥

भूमेर्गन्धगुणान् वेत्ति रसं चाद्भ्यः शरीरवान् ।
ज्योतिषा चक्षुषा रूपं स्पर्शं वेत्ति च वाहिना ॥ २६ ॥

जीव भूमिसे ही (अर्थात् घ्राणेन्द्रियद्वारा) गन्ध गुणका अनुभव करता है, जलसम्बन्धी इन्द्रिय रसनासे शरीरधारी पुरुष रसका आस्वादन करता है, तेजोमय नेत्रके द्वारा रूपका तथा वायुसम्बन्धी त्वगिन्द्रियके द्वारा जीव स्पर्शका ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

गन्धः स्पर्शो रसो रूपं शब्दश्चात्र गुणाः स्मृताः ।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तराभिहितान् गुणान् ॥२७॥

गन्ध, स्पर्श, रस, रूप और शब्द—ये पृथ्वीके गुण माने गये हैं। इनमेंसे प्रधान गन्धके गुणोंका मैं विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ ॥ २७ ॥

इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरः कटुरेव च ।
निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च ॥ २८ ॥
एवं नवविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्धविस्तरः ।

अनुकूल, प्रतिकूल, मधुर, कटु, निर्हारी अर्थात् दूरसे आनेवाली, तेज गन्धमिश्रित, स्निग्ध, रूक्ष और विशद—ये गन्धके नौ भेद जानने चाहिये। इस प्रकार पार्थिव गन्धका विस्तार बताया गया ॥ २८½ ॥

ज्योतिः पश्यति चक्षुर्भ्यां स्पर्शं वेत्ति च वायुना ॥२९॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि गुणाः स्मृताः ।

रसज्ञानं तु वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३० ॥

मनुष्य दोनों नेत्रोंसे रूपको देखता है और त्वगिन्द्रियसे स्पर्शका अनुभव करता है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये जलके गुण माने गये हैं। उनमें प्रधान गुण रस है, उसकी जानकारीके लिये अब मैं उसके भेदोंका वर्णन करता हूँ। तुम उसे मेरे मुँहसे सुनो ॥ २९-३० ॥

रसो बहुविधः प्रोक्त ऋषिभिः प्रथितात्मभिः।
मधुरो लवणस्तिक्तः कषायोऽम्लः कटुस्तथा ॥ ३१ ॥

उदारचेता महर्षियोंने रसके अनेक भेद बताये हैं—मधुर, लवण, तिक्त, कषाय, अम्ल और कटु। इन छः रूपोंमें विस्तारको प्राप्त हुआ रस जलमय माना गया है ॥ ३१ ॥

एष षड्विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते ॥ ३२ ॥
ज्योतिः पश्यति रूपाणि रूपं च बहुधा स्मृतम्।

शब्द, स्पर्श और रूप—ये अग्निके तीन गुण बताये जाते हैं। ज्योतिर्मय नेत्र रूपको देखते हैं। अग्निके प्रधान गुण रूपको भी अनेक प्रकारका माना गया है ॥ ३२½ ॥

ह्रस्वो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुरस्रोऽनुवृत्तवान् ॥ ३३ ॥
शुक्लः कृष्णस्तथा रक्तः पीतो नीलारुणस्तथा।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो मृदुदारुणः ॥ ३४ ॥
एवं षोडशविस्तारो ज्योतीरूपगुणः स्मृतः।

ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चौकोर और सब ओरसे गोल, सफेद, काला, लाल, पीला और आकाशकी भाँति नीला, कठिन, चिक्कण, अल्प, पिच्छिल, मृदु और दारुण—इस प्रकार ज्योतिर्मय रूपनामक गुण सोलह भेदोंमें विस्तारको प्राप्त हुआ है ॥ ३३-३४½ ॥

शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरित्युत ॥ ३५ ॥
वायव्यस्तु गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः।

वायुके दो गुण जानने चाहिये—शब्द और स्पर्श। वायुका प्रमुख गुण स्पर्श ही है, जिसके अनेक भेद माने गये हैं—॥ ३५½ ॥

उष्णः शीतः सुखो दुःखः स्निग्धो विशद एव च ॥ ३६ ॥
तथा खरो मृदू रूक्षो लघुर्गुरुतरोऽपि च।
एवं द्वादशधा स्पर्शो वायव्यो गुण उच्यते ॥ ३७ ॥

उष्ण, शीत, सुख, दुःख, स्निग्ध, विशद, खर, मृदु, रूक्ष, हल्का, भारी और अधिक भारी—इस प्रकार वायुसम्बन्धी स्पर्श गुणके बारह भेद कहे जाते हैं ॥ ३६-३७ ॥

तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव तत्स्मृतम्।
तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरं विविधात्मकम् ॥ ३८ ॥
षड्ज ऋषभगान्धारौ मध्यमो धैवतस्तथा।
पञ्चमश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादवान् ॥ ३९ ॥
एष सप्तविधः प्रोक्तो गुण आकाशसम्भवः।

आकाशका एकमात्र गुण शब्द ही माना गया है। उस शब्दगुणका अनेक भेदोंमें जो विस्तार हुआ है, उसका वर्णन करता हूँ—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद—ये आकाशजनित शब्दगुणके सात भेद बताये गये हैं, जिन्हें जानना चाहिये ॥ ३८-३९½ ॥

ऐश्वर्येण तु सर्वत्र स्थितोऽपि पटहादिषु ॥ ४० ॥
मृदङ्गभेरीशङ्खानां स्तनयित्नो रथस्य च।
यः कश्चिच्छ्रूयते शब्दः प्राणिनोऽप्राणिनोऽपि वा।
एतेषामेव सर्वेषां विषये सम्प्रकीर्तितः ॥ ४१ ॥

अपने व्यापक स्वरूपसे तो शब्द सर्वत्र है, किंतु पटह (नगाड़े) आदिमें इसकी विशेषरूपसे अभिव्यक्ति होती है। मृदङ्ग, भेरी, शङ्ख, मेघ तथा रथकी घर्घराहट आदिमें जो कुछ शब्द सुना जाता है और जड या चेतनका जो कुछ भी शब्द श्रवणगोचर होता है, वह सब इन सात भेदोंके ही अन्तर्गत बताया गया है ॥ ४०-४१ ॥

एवं बहुविधाकारः शब्द आकाशसम्भवः।
आकाशजं शब्दमाहुरेभिर्वायुगुणैः सह ॥ ४२ ॥

इस प्रकार आकाशजनित शब्दके अनेक भेद हैं। वायुसम्बन्धी गुणोंके साथ ही आकाशजनित शब्द होता है; ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं ॥ ४२ ॥

अव्याहतैश्चेतयते न वेत्ति विषमस्थितैः।
आप्याय्यन्ते च ते नित्यं धातवस्तैस्तु धातुभिः ॥ ४३ ॥

जब वायुसम्बन्धी गुण बाधित न होकर शब्दके साथ रहता है, तब मनुष्य शब्दको सुनता और समझता है; किंतु जब वायुसम्बन्धी गुण दीवार अथवा प्रतिकूल वायुसे बाधित होकर विषम अवस्थामें स्थित हो जाते हैं, तब शब्दका ग्रहण नहीं होता है। वे शब्द आदिके उत्पादक धातु (इन्द्रिय-गोलक) धातुओं (इन पाँचों भूतों) द्वारा ही पोषित होते हैं ॥

आपोऽग्निर्मारुतश्चैव नित्यं जाग्रति देहिषु।
मूलमेते शरीरस्य व्याप्य प्राणानिह स्थिताः ॥ ४४ ॥

जल, अग्नि और वायु—ये तीन तत्त्व सदा देहधारियोंमें जाग्रत् रहते हैं। ये ही शरीरके मूल हैं और प्राणोंमें ओतप्रोत होकर शरीरमें स्थित रहते हैं ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभारद्वाजसंवादे चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

शरीरके भीतर जठरानल तथा प्राण-अपान आदि वायुओंकी स्थिति आदिका वर्णन

भरद्वाज उवाच

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं प्रभो ।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो ! शरीरके भीतर रहनेवाली अग्नि पार्थिव धातु (पाञ्चभौतिक देह) का आश्रय लेकर कैसे रहती है और वायु भी उसी पार्थिव धातुका आश्रय लेकर अवकाश विशेषके द्वारा देहको कैसे चेष्टाशील बनाती है ? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

वायोर्गतिमहं ब्रह्मन् कथयिष्यामि तेऽनघ ।
प्राणिनामनिलो देहान् यथा चेष्टयते बली ॥ २ ॥

भृगुने कहा—ब्रह्मन् ! निष्पाप महर्षे ! मैं तुमसे वायुकी गतिका वर्णन करता हूँ । प्रबल वायु प्राणियोंके शरीरोंको किस प्रकार चेष्टाशील बनाती है ? यह बताता हूँ ॥

श्रितो मूर्धानमात्मा तु शरीरं परिपालयन् ।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ॥ ३ ॥

आत्मा मस्तकके रन्ध्रस्थानमें स्थित होकर सम्पूर्ण शरीरकी रक्षा करता है और प्राण मस्तक तथा अग्नि दोनोंमें स्थित होकर शरीरको चेष्टाशील बनाता है ॥ ३ ॥

स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः ।
मनो बुद्धिरहङ्कारो भूतानि विषयश्च सः ॥ ४ ॥

वह प्राणसे संयुक्त आत्मा ही जीव है, वही सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा सनातन पुरुष है । वही मन, बुद्धि, अहंकार, पाँचों भूत और विषयरूप हो रहा है ॥ ४ ॥

एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिचाल्यते ।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः ॥ ५ ॥

इस प्रकार (जीवात्मासे संयुक्त हुए) प्राणके द्वारा शरीरके भीतरके समस्त विभाग तथा इन्द्रिय आदि सारे बाह्य अङ्ग परिचालित होते हैं । तत्पश्चात् समान वायुके रूपमें परिणत हो प्राण ही अपनी-अपनी गतिके आश्रित शरीरका संचालक होता है ॥ ५ ॥

बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः ।
वहन्मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्तते ॥ ६ ॥

अपान वायु जठरानल, मूत्राशय और गुदाका आश्रय ले मल एवं मूत्रको निकालता हुआ ऊपरसे नीचेको घूमता रहता है ॥ ६ ॥

प्रयत्ने कर्मणि बले य एकस्त्रिषु वर्तते ।
उदान इति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ ७ ॥

जिस एक ही वायुकी प्रयत्न, कर्म और बल तीनोंमें प्रवृत्ति होती है, उसे अध्यात्मतत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंने उदान कहा है ॥ ७ ॥

संधिष्वपि च सर्वेषु संनिविष्टस्तथानिलः ।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

जो मनुष्योंके शरीरोंमें और उनकी समस्त संधि[योंमें] भी व्याप्त है, उस वायुको 'व्यान' कहते हैं ॥ ८ ॥

धातुष्वग्निस्तु विततः समानेन समीरितः ।
रसान् धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन्नवतिष्ठते ॥ ९ ॥

शरीरके समस्त धातुओंमें व्याप्त जो अग्नि है, वह सम[ान] वायुद्वारा संचालित होती है । वह समान वायु ही शरीर[के] रसों, धातुओं (इन्द्रियों) और दोषों (कफ आदि) [का] संचालन करती हुई सम्पूर्ण शरीरमें स्थित है ॥ ९ ॥

अपानप्राणयोर्मध्ये प्राणापानसमाहितः ।
समन्वितस्त्वधिष्ठानं सम्यक्पचति पावकः ॥ १० ॥

अपान और प्राणके मध्यभाग (नाभि) में प्राण अ[ौर] अपान दोनोंका आश्रय लेकर स्थित हुआ जठरानल खा[ये] हुए अन्नको भलीभाँति पचाता है ॥ १० ॥

आस्यं हि पायुपर्यन्तमन्ते स्याद् गुदसंज्ञितम् ।
स्रोतस्तस्मात् प्रजायन्ते सर्वस्रोतांसि देहिनाम् ॥ ११ ॥

मुखसे लेकर पायु (गुदा) तक जो महान् स्रोत (प्रा[णवायुके] प्रवाहित होनेका मार्ग) है, वही अन्तिम छोरमें गुदाके नाम[से] प्रसिद्ध है । उसी महान् स्रोतसे देहधारियोंके अन्य सभी छो[टे-]छोटे स्रोत (प्राणोंके संचरणके मार्ग अथवा नाडीसमुदाय) प्रकट होते हैं ॥ ११ ॥

प्राणानां संनिपाताच्च संनिपातः प्रजायते ।
ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ॥ १२ ॥

उन स्रोतोंद्वारा सारे अङ्गोंमें प्राणोंका सम्बन्ध [या] प्रसार होनेसे उसके साथ रहनेवाले जठरानलका भी सम्बन्ध या प्रसार हो जाता है । प्राणियोंके शरीरमें जो गर्मी अनुभव होता है, उसे उस जठरानलका ही ताप समझना चाहिये । वही देहधारियोंके खाये हुए अन्नको पचाता है ॥ १२ ॥

अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते ।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ॥ १३ ॥

अग्निके वेगसे बहता हुआ प्राण गुदाके निकट जाकर प्रतिहत हो जाता है; फिर ऊपरकी ओर लौटकर समीपवर्ती अग्निको भी ऊपर उठा देता है ॥ १३ ॥

पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः ।
नाभिमध्ये शरीरस्य सर्वे प्राणाश्च संस्थिताः ॥ १४ ॥

नाभिसे नीचे पक्वाशय और ऊपर आमाशय स्थित है तथा नाभिके मध्यभागमें शरीरसम्बन्धी सभी प्राण स्थित हैं ॥

प्रस्थिता हृदयात् सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दश प्राणप्रचोदिताः ॥ १५ ॥

वे समस्त प्राण हृदयसे इधर-उधर और ऊपर-नीचे

प्रस्थान करते हैं; इसलिये दस[1] प्राणोंसे परिचालित होकर सारी नाड़ियाँ अन्नका रस वहन करती हैं ॥ १५ ॥

एष मार्गोऽथ योगानां येन गच्छन्ति तत्पदम्।
जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधन् ॥ १६ ॥

यह मुखसे लेकर गुदातकका जो महान् स्रोत है, वह योगियोंका मार्ग है। उससे वे योगी परमपदको प्राप्त होते हैं, जिन्होंने सारे क्लेशोंको जीत लिया है, जो सर्वत्र समदर्शी और धीर हैं तथा जिन महात्माओंने सुषुम्णा नाड़ीके द्वारा मस्तकमें पहुँचकर वहीं अपने आपको स्थित कर दिया है॥

एवं सर्वेषु विहितः प्राणापानेषु देहिनाम्।
तस्मिन् समिध्यते नित्यमग्निः स्थाल्यामिवाहितः ॥१७॥

प्राणियोंके प्राण, अपान आदि सभी वायुओंमें स्थापित हुई जठराग्नि शरीरमें ही रहकर सदा अग्निकुण्डमें रखी हुई अग्निकी भाँति प्रज्वलित होती रहती है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८५ ॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

जीवकी सत्तापर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे शंका उपस्थित करना

भरद्वाज उवाच

यदि प्राणयते वायुर्वायुरेव विचेष्टते।
श्वसित्याभाषते चैव तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन् ! यदि वायु ही प्राणीको जीवित रखती है, वायु ही शरीरको चेष्टाशील बनाती है, वही साँस लेती और वही बोलती भी है, तब तो इस शरीरमें जीव-की सत्ता स्वीकार करना व्यर्थ ही है ॥ १ ॥

यद्युष्मभाव आग्नेयो वह्निना पच्यते यदि।
अग्निर्जरयते चैतत् तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ २ ॥

यदि शरीरमें गर्मी अग्निका अंश है, यदि अग्निसे ही खाये हुए अन्नका परिपाक होता है, यदि अग्नि ही सबको जीर्ण करती है, तब तो जीवकी सत्ता मानना व्यर्थ ही है॥

जन्तोः प्रमीयमाणस्य जीवो नैवोपलभ्यते।
वायुरेव जहात्येनमूष्मभावश्च नश्यति ॥ ३ ॥

जब किसी प्राणीकी मृत्यु होती है; तब वहाँ जीवकी उपलब्धि नहीं होती। प्राणवायु ही इस प्राणीका परित्याग करती है और शरीरकी गर्मी नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

यदि वायुमयो जीवः संश्लेषो यदि वायुना।
वायुमण्डलवद् दृश्यो गच्छेत् सह मरुद्गणैः ॥ ४ ॥

यदि जीव वायुमय है, यदि वायुसे उसका घनिष्ठ सम्पर्क है, तब तो वायुमण्डलके समान उसे प्रत्यक्ष अनुभवमें आना चाहिये। वह मृत्युके पश्चात् वायुके साथ ही जाता हुआ दिखायी देना चाहिये ॥ ४ ॥

संश्लेषो यदि वातेन यदि तस्मात् प्रणश्यति।
महार्णवविमुक्तत्वादन्यत् सलिलभाजनम् ॥ ५ ॥

यदि वायुके साथ जीवका दृढ़ संयोग है और उसीके कारण वह वायुके साथ ही नष्ट हो जाता है, तब तो जैसे जलपात्रमें पत्थर भरकर उसे कोई समुद्रमें डाल दे और वह डूब जाय, उसी प्रकार वायुके सम्पर्कसे ही जीवका विनाश मानना पड़ेगा। उस दशामें जैसे प्रस्तरसे पृथक् जलपात्रकी उपलब्धि होती है, उसी प्रकार प्राणवायुसे पृथक् जीवकी उपलब्धि होनी चाहिये ॥ ५ ॥

कूपे वा सलिलं दद्यात् प्रदीपं वा हुताशने।
क्षिप्रं प्रविश्य नश्येत यथा नश्यत्यसौ तथा ॥ ६ ॥
पञ्चधारणके ह्यस्मिन् शरीरे जीवितं कुतः।
तेषामन्यतराभावाच्चतुर्णां नास्ति संशयः ॥ ७ ॥

अथवा जैसे कुआँमें जल गिराया जाय या जलती आग-में जला हुआ दीपक डाल दिया जाय, तो वे दोनों शीघ्र ही उनमें प्रविष्ट होकर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठते हैं। उसी प्रकार पाञ्चभौतिक शरीरका नाश होनेपर जीव भी पाँचों तत्त्वमें विलीन होकर अपने पृथक् अस्तित्वसे रहित हो जाना चाहिये, ऐसा मान लेनेपर तो पाँच भूतोंसे धारण किये हुए इस शरीरमें जीव है ही कहाँ ? अतः यह सिद्ध हुआ कि पाञ्चभौतिक संघातसे भिन्न जीव नहीं है; उन पाँच तत्त्वों-मेंसे किसी एकका अभाव होनेपर शेष चारोंका भी अभाव हो जाता है—इसमें संशय नहीं है ॥ ६-७ ॥

नश्यन्त्यापो ह्यनाहाराद् वायुरुच्छ्वासनिग्रहात्।
नश्यते कोष्ठभेदात् खमग्निर्नश्यत्यभोजनात् ॥ ८ ॥

जलका सर्वथा त्याग करनेसे शरीरके जलीय अंशका नाश हो जाता है, श्वास रुक जानेसे वायुका नाश होता है। उदरका भेदन होनेसे आकाशतत्त्व नष्ट होता है और भोजन बंद कर देनेसे शरीरके अग्नितत्त्वका नाश हो जाता है ॥ ८ ॥

व्याधिव्रणपरिक्लेशैर्मेदिनी चैव शीर्यते।
पीडितेऽन्यतरे ह्येषां संघातो याति पञ्चधा ॥ ९ ॥

ज्वर आदि रोग, घाव तथा अन्यान्य प्रकारके क्लेशोंसे शरीरका पृथ्वीतत्त्व बिखर जाता है। इन पाँचों तत्त्वोंमेंसे एक

1. प्राणवायुके दस भेद इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान तथा नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय।

तत्त्वको भी यदि हानि पहुँची तो इनका सारा संघात ही पञ्चत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

तस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने जीवः किमनुधावति ।
किं वेदयति वा जीवः किं शृणोति ब्रवीति च ॥ १० ॥

पाञ्चभौतिक संघात (शरीर) के नष्ट होनेपर यदि जीव है तो वह किसके पीछे दौड़ता है ? क्या अनुभव करता है ? क्या सुनता है और क्या बोलता है ? ॥ १० ॥

एषा गौः परलोकस्थं तारयिष्यति मामिति ।
यो दत्त्वा म्रियते जन्तुः सा गौः कं तारयिष्यति ॥ ११ ॥

मृत्युके समय लोग इस आशासे गोदान करते हैं कि यह गौ परलोकमें जानेपर मुझे तार देगी; परंतु जीव तो गोदान करके मर जाता है; फिर वह गौ किसको तारेगी ? ॥

गौश्च प्रतिग्रहीता च दाता चैव समं यदा ।
इहैव विलयं यान्ति कुतस्तेषां समागमः ॥ १२ ॥

गौ, गोदान करनेवाला मनुष्य तथा उसको लेनेवाला ब्राह्मण—ये तीनों जब यहीं मर जाते हैं, तब परलोकमें उनका कैसे समागम होता है ? ॥ १२ ॥

विहगैरुपभुक्तस्य शैलाग्रात् पतितस्य च ।
अग्निना चोपयुक्तस्य कुतः संजीवनं पुनः ॥ १३ ॥

इनमेंसे जो मरता है, उसे या तो पक्षी खा जाते हैं या वह पर्वतके शिखरसे गिरकर चूर-चूर हो जाता है अथवा आगमें जलकर भस्म हो जाता है । ऐसी दशामें उनका पुनः जीवित होना कैसे सम्भव है ? ॥ १३ ॥

छिन्नस्य यदि वृक्षस्य न मूलं प्रतिरोहति ।
बीजान्यस्य प्रवर्तन्ते मृतः क्व पुनरेष्यति ॥ १४ ॥

यदि जड़से कटे हुए वृक्षका मूल फिर अंकुरित नहीं होता है, केवल उसके बीज ही जमते हैं, तब मरा हुआ मनुष्य फिर कहाँसे आ जायगा ? ॥ १४ ॥

बीजमात्रं पुरा सृष्टं यदेतत् परिवर्तते ।
मृतामृताः प्रणश्यन्ति बीजाद् बीजं प्रवर्तते ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें बीजमात्रकी सृष्टि हुई थी, जिससे यह जगत् चलता आ रहा है । जो लोग मर जाते हैं, वे तो नष्ट हो जाते हैं और बीजसे बीज पैदा होता रहता है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जीवस्वरूपाक्षेपे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जीवके स्वरूपपर आक्षेपविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

जीवकी सत्ता तथा नित्यताको युक्तियोंसे सिद्ध करना

भृगुरुवाच

न प्रणाशोऽस्ति जीवस्य दत्तस्य च कृतस्य च ।
याति देहान्तरं प्राणी शरीरं तु विशीर्यते ॥ १ ॥

भृगुजीने कहा—ब्रह्मन् ! जीवका तथा उसके दिये हुए दान एवं किये हुए कर्मका कभी नाश नहीं होता है । जीव तो दूसरे शरीरमें चला जाता है, केवल उसका छोड़ा हुआ शरीर ही यहाँ नष्ट होता है ॥ १ ॥

न शरीराश्रितो जीवस्तस्मिन् नष्टे प्रणश्यति ।
समिधामिव दग्धानां यथाग्निर्दृश्यते तथा ॥ २ ॥

शरीरके आश्रयसे रहनेवाला जीव उसके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता है । जैसे समिधाओंके आश्रित हुई आग उनके जल जानेपर भी देखी जाती है, उसी प्रकार जीवकी सत्ताका भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है ॥ २ ॥

भरद्वाज उवाच

अग्नेर्यथा तथा तस्य यदि नाशो न विद्यते ।
इन्धनस्योपयोगान्ते स चाग्निर्नोपलभ्यते ॥ ३ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन् ! यदि अग्निके समान जीवका नाश नहीं होता तो ईंधनके जल जानेपर वह भी तो बुझ ही जाती है; फिर उसकी तो उपलब्धि नहीं होती है ॥ ३ ॥

नश्यतीत्येव जानामि शान्तमग्निमनिन्धनम् ।
गतिर्यस्य प्रमाणं वा संस्थानं वा न विद्यते ॥ ४ ॥

अतः मैं ईंधनरहित बुझी हुई आगको यही समझता हूँ कि वह नष्ट हो गयी; क्योंकि जिसकी गति, प्रमाण अथवा स्थिति नहीं है, उसका नाश भी मानना पड़ता है । यही दशा जीवकी भी है ॥ ४ ॥

भृगुरुवाच

समिधामुपयोगान्ते यथाग्निर्नोपलभ्यते ।
आकाशानुगतत्वाद्धि दुर्ग्राह्यो हि निराश्रयः ॥ ५ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! समिधाओंके जल जानेपर अग्निका नाश नहीं होता । वह आकाशमें अव्यक्तरूपसे स्थित हो जाती है, इसलिये उसकी उपलब्धि नहीं होती; क्योंकि बिना किसी आश्रयके अग्निका ग्रहण होना अत्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

तथा शरीरसंत्यागे जीवो ह्याकाशवत् स्थितः ।
न गृह्यते तु सूक्ष्मत्वाद् यथा ज्योतिर्न संशयः ॥ ६ ॥

उसी प्रकार शरीरको त्याग देनेपर जीव आकाशकी भाँति स्थित होता है । वह अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण बुझी हुई आगके समान अनुभवमें नहीं आता, परंतु रहता अवश्य है; इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

प्राणान् धारयते ह्यग्निः स जीव उपधार्यताम् ।

वायुसंधारणो ह्यग्निर्नश्यत्युच्छ्वासनिग्रहात्॥ ७ ॥

अग्नि प्राणोंको धारण करती है। जीवको उस अग्निके समान ही ज्योतिर्मय समझो। उस अग्निको वायु देहके भीतर धारण किये रहती है। श्वास रुक जानेपर वायुके साथ-साथ अग्नि भी नष्ट हो जाती है ॥ ७ ॥

तस्मिन् नष्टे शरीराग्नौ ततो देहमचेतनम्।
पतितं याति भूमित्वमयनं तस्य हि क्षितिः ॥ ८ ॥
जङ्गमानां हि सर्वेषां स्थावराणां तथैव च।
आकाशं पवनोऽन्वेति ज्योतिस्तमनुगच्छति।
तेषां त्रयाणामेकत्वाद् द्वयं भूमौ प्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

उस शरीराग्निके नष्ट होनेपर अचेतन शरीर पृथ्वीपर गिरकर पार्थिवभावको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि पृथ्वी ही उसका आधार है। समस्त स्थावरों और जङ्गमोंकी प्राणवायु आकाशको प्राप्त होती है और अग्नि भी उस वायुका ही अनुसरण करती है। इस प्रकार आकाश, वायु और अग्नि—ये तीन तत्त्व एकत्र हो जाते हैं और जल तथा पृथ्वी—दो तत्त्व भूमिपर ही रह जाते हैं ॥ ८-९ ॥

यत्र खं तत्र पवनस्तत्राग्निर्यत्र मारुतः।
अमूर्तयस्ते विज्ञेया मूर्तिमन्तः शरीरिणाम् ॥ १० ॥

जहाँ आकाश होता है, वहीं वायुकी स्थिति होती है और जहाँ वायु होती है, वहीं अग्नि भी रहती है। ये तीनों तत्त्व यद्यपि निराकार हैं तथापि देहधारियोंके शरीरोंमें स्थित होकर मूर्तिमान् समझे जाते हैं ॥ १० ॥

भरद्वाज उवाच

यद्यग्निमारुतौ भूमिः खमापश्च शरीरिषु।
जीवः किंलक्षणस्तत्रेत्येतदाचक्ष्व मेऽनघ ॥ ११ ॥

भरद्वाजने पूछा—निष्पाप मुनिवर! यदि देहधारियोंके शरीरोंमें केवल अग्नि, वायु, भूमि, आकाश और जल-तत्त्व ही विद्यमान है तो उनमें रहनेवाले जीवके क्या लक्षण हैं? यह मुझे बताइये ॥ ११ ॥

पञ्चात्मके पञ्चरतौ पञ्चविज्ञानचेतने।
शरीरे प्राणिनां जीवं वेत्तुमिच्छामि यादृशम् ॥ १२ ॥

प्राणियोंका शरीर पाञ्चभौतिक है। पाँच विषयोंमें इसकी रति है। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और चित्त उपलब्ध होते हैं। इसमें रहनेवाले जीवका स्वरूप कैसा है; इस बातको मैं जानना चाहता हूँ ॥ १२ ॥

मांसशोणितसंघाते मेदःस्नाय्वस्थिसंचये।
भिद्यमाने शरीरे तु जीवो नैवोपलभ्यते ॥ १३ ॥

रक्त और मांसके समूह, चर्बी, नाड़ी और हड्डियोंके संग्रहरूपी इस शरीरको चीरने-फाड़नेपर इसके भीतर कोई जीव नहीं उपलब्ध होता ॥ १३ ॥

यद्यजीवं शरीरं तु पञ्चभूतसमन्वितम्।
शारीरे मानसे दुःखे कस्तां वेदयते रुजम् ॥ १४ ॥

यदि इस पाञ्चभौतिक शरीरको जीवरहित मान लिया जाय, तब प्रश्न यह होता है कि शरीर अथवा मनमें पीड़ा होनेपर उसके कष्टका अनुभव कौन करता है? ॥ १४ ॥

शृणोति कथितं जीवः कर्णाभ्यां न शृणोति तत्।
महर्षे मनसि व्यग्रे तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ १५ ॥

महर्षे! जीव किसीकी कही हुई बातको पहले दोनों कानोंसे सुनता है; परंतु यदि मनमें व्यग्रता रही तो वह सुनकर भी नहीं सुनता; इसलिये मनके अतिरिक्त किसी जीवकी सत्ता मानना व्यर्थ है ॥ १५ ॥

सर्वं पश्यति यद् दृश्यं मनोयुक्तेन चक्षुषा।
मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १६ ॥

जो भी दृश्य पदार्थ है, उसे प्राणी तभी देख पाता है जब कि उसकी दृष्टिके साथ मनका संयोग हो। यदि मन व्याकुल हो तो उसकी आँख देखती हुई भी नहीं देख पाती है ॥ १६ ॥

न पश्यति न चाघ्राति न शृणोति न भाषते।
न च स्पर्शरसौ वेत्ति निद्रावशगतः पुनः ॥ १७ ॥

निद्राके वशमें पड़ा हुआ पुरुष (सम्पूर्ण इन्द्रियोंके होते हुए भी) न देखता है, न सूँघता है, न सुनता है, न बोलता है और न स्पर्श तथा रसका ही अनुभव करता है ॥

हृष्यति क्रुद्ध्यते कोऽत्र शोचत्युद्विजते च कः।
इच्छति ध्यायति द्वेष्टि वाचमीरयते च कः ॥ १८ ॥

अतः यह जिज्ञासा होती है कि इस शरीरके अंदर कौन हर्ष और कौन क्रोध करता है? किसे शोक और उद्वेग होता है? इच्छा, ध्यान, द्वेष और बातचीत कौन करता है? ॥

भृगुरुवाच

न पञ्चसाधारणमत्र किंचि-
च्छरीरमेको वहतेऽन्तरात्मा।
स वेत्ति गन्धांश्च रसाञ्श्रुतीश्च
स्पर्शं च रूपं च गुणाश्च येऽन्ये ॥ १९ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! मन भी पाञ्चभौतिक ही है; अतः वह पाँचों भूतोंसे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। एकमात्र अन्तरात्मा ही इस शरीरका भार वहन करता है, वही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दका और दूसरे भी जो गुण हैं, उनका अनुभव करता है ॥ १९ ॥

पञ्चात्मके पञ्चगुणप्रदर्शी
स सर्वगात्रानुगतोऽन्तरात्मा।
स वेत्ति दुःखानि सुखानि चात्र
तद्विप्रयोगात् तु न वेत्ति देहः ॥ २० ॥

वह अन्तरात्मा पाँचों इन्द्रियोंके गुणोंको धारण करनेवाले मनका द्रष्टा है और वही इस पाञ्चभौतिक शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंमें व्याप्त होकर सुख-दुःखका अनुभव करता है। जब उसका शरीरके साथ सम्बन्ध छूट जाता है, तब इस शरीरको सुख-

दुःखका भान नहीं होता है (इससे मनके अतिरिक्त उसके साक्षी आत्माकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है) ॥ २० ॥

यदा न रूपं न स्पर्शो नोष्मभावश्च पञ्चके ।
तदा शान्ते शरीराग्नौ देहत्यागे न नश्यति ॥ २१ ॥

जब पाञ्चभौतिक शरीरमें रूप, स्पर्श और गर्मीका भान नहीं होता, उस अवस्थामें शरीरस्थित अग्निके शान्त हो जानेपर जीवात्मा इस शरीरको त्यागकर भी नष्ट नहीं होता ॥ २१ ॥

आपोमयमिदं सर्वमापो मूर्तिः शरीरिणाम् ।
तत्रात्मा मानसो ब्रह्मा सर्वभूतेषु लोककृत् ॥ २२ ॥

यह सब प्रपञ्च जलमय है, प्राणियोंका यह शरीर भी प्रायः जलमय ही है । उसमें मनमें रहनेवाला आत्मा विद्यमान है । वही सम्पूर्ण भूतोंमें लोकस्रष्टा ब्रह्माके नामसे विख्यात है; क्योंकि समस्त जीवोंके संघातका ही नाम ब्रह्मा है ॥ २२ ॥

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥ २३ ॥

आत्मा जब प्राकृत गुणोंसे युक्त होता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं और उन्हीं गुणोंसे जब वह मुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है ॥ २३ ॥

आत्मानं तं विजानीहि सर्वलोकहितात्मकम् ।
तस्मिन् यः संश्रितो देहे ह्यब्बिन्दुरिव पुष्करे ॥ २४ ॥

तुम क्षेत्रज्ञको आत्मा ही समझो । वह सर्वलोकहितकारी है । इस शरीरमें रहकर भी वह कमल-पत्रपर पड़े हुए जल-बिन्दुकी तरह वास्तवमें इससे पृथक् ही है ॥ २४ ॥

क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं लोकहितात्मकम् ।
तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणानिमान् ॥ २५ ॥

उस क्षेत्रज्ञको सदा आत्मा ही जानो । वह सम्पूर्ण जगत्का हितस्वरूप है । तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनों प्राकृत गुणोंको प्रकृति-स्थित होनेके कारण जीवके गुण समझो ॥ २५ ॥

सचेतनं जीवगुणं वदन्ति
स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम् ।
अतः परं क्षेत्रविदो वदन्ति
प्रावर्तयद् यो भुवनानि सप्त ॥ २६ ॥

चेतन जीवके सम्बन्धसे उपर्युक्त जीवके गुणोंको चेतनायुक्त कहते हैं*। वह जीव स्वयं चेष्टा करता है और सबसे चेष्टा करवाता है । शरीरके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष इस क्षेत्रज्ञ आत्मासे उस परमात्माको श्रेष्ठ बताते हैं, जिसने भूः भुवः आदि सातों लोकोंको उत्पन्न किया है ॥ २६ ॥

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे
मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः ।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति
दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥ २७ ॥

देहका नाश होनेपर भी जीवका नाश नहीं होता । जो जीवकी मृत्यु बताते हैं, वे अज्ञानी हैं और उनका वह कथन मिथ्या है । जीव तो इस मृत देहका त्याग करके दूसरे शरीरमें चला जाता है । शरीरके पाँच तत्त्वोंका अलग-अलग हो जाना ही शरीरका नाश है ॥ २७ ॥

एवं सर्वेषु भूतेषु गूढश्चरति संवृतः ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया तत्त्वदर्शिभिः ॥ २८ ॥

इस प्रकार आत्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर उनकी हृदय-गुफामें गूढ़भावसे छिपा रहता है । वह तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म बुद्धिसे साक्षात् किया जाता है ॥ २८ ॥

तं पूर्वापररात्रेषु युञ्जानः सततं बुधः ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ २९ ॥

जो विद्वान् परिमित आहार करके रातके पहले और पिछले पहरमें सदा ध्यानयोगका अभ्यास करता है, वह अन्तःकरण शुद्ध होनेपर अपने हृदयमें ही उस आत्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ २९ ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हित्वा कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥ ३० ॥

चित्त शुद्ध होनेपर वह शुभाशुभ कर्मोंसे अपना सम्बन्ध हटाकर प्रसन्नचित्त हो आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है और अनन्त आनन्दका अनुभव करने लगता है ॥ ३० ॥

मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते ।
सृष्टिः प्रजापतेरेषा भूताध्यात्मविनिश्चये ॥ ३१ ॥

समस्त शरीरोंमें मनके भीतर रहनेवाला जो अग्निके समान प्रकाशस्वरूप चैतन्य है, उसीको समष्टि जीवस्वरूप प्रजापति कहते हैं । उसी प्रजापतिसे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है । यह बात अध्यात्मतत्त्वका निश्चय करके कही गयी है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे जीवस्वरूपनिरूपणे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजके संवादके प्रसङ्गमें जीवके स्वरूपका निरूपणविषयक एक सौ सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८७ ॥

---

* जैसे लोहा दाहक एवं दीप्तिमान् हो उठता है, उसी प्रकार चेतन जीवके संसर्गसे उसके सत्त्वादि गुणको भी चैतन्ययुक्त कहते हैं ।

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

वर्णविभागपूर्वक मनुष्योंकी और समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका वर्णन

भृगुरुवाच

असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्॥ १ ॥

भृगुजी कहते हैं—मुने! ब्रह्माजीने सृष्टिके प्रारम्भमें अपने तेजसे सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले ब्राह्मणों, मरीचि आदि प्रजापतियोंको ही उत्पन्न किया ॥१॥

ततः सत्यं च धर्मं च तपो ब्रह्म च शाश्वतम्।
आचारं चैव शौचं च स्वर्गाय विदधे प्रभुः॥ २ ॥

उसके बाद भगवान् ब्रह्माने स्वर्ग-प्राप्तिके साधनभूत सत्य, धर्म, तप, सनातन वेद, आचार और शौचके नियम बनाये ॥ २ ॥

देवदानवगन्धर्वा दैत्यासुरमहोरगाः।
यक्षराक्षसनागाश्च पिशाचा मनुजास्तथा॥ ३ ॥

तदनन्तर देवता, दानव, गन्धर्व, दैत्य, असुर, महान् सर्प, यक्ष, राक्षस, नाग, पिशाच और मनुष्योंको उत्पन्न किया ॥ ३ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम।
ये चान्ये भूतसङ्घानां सङ्घास्तांश्चापि निर्ममे॥ ४ ॥

द्विजश्रेष्ठ! फिर उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन चारों वर्णोंकी रचना की और प्राणिसमूहोंमें जो अन्य समुदाय हैं, उनकी भी सृष्टि की ॥ ४ ॥

ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंका रंग श्वेत, क्षत्रियोंका लाल, वैश्योंका पीला तथा शूद्रोंका काला बनाया ॥ ५ ॥

भरद्वाज उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते।
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकरः॥ ६ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो! यदि चारों वर्णोंमेंसे एक वर्णके साथ दूसरे वर्णका रंग-भेद है, तब तो सभी वर्णोंमें विभिन्न रंगके मनुष्य होनेके कारण वर्णसंकरता ही दिखायी देती है ॥ ६ ॥

कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते॥ ७ ॥

काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा और थकावटका प्रभाव हम सब लोगोंपर समानरूपसे ही पड़ता है; फिर वर्णोंका भेद कैसे सिद्ध होता है? ॥ ७ ॥

स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम्।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद् वर्णो विभज्यते॥ ८ ॥

हम सब लोगोंके शरीरसे पसीना, मल, मूत्र, कफ, पित्त और रक्त निकलते हैं। ऐसी दशामें रंगके द्वारा वर्णोंका विभाग कैसे किया जा सकता है? ॥ ८ ॥

जङ्गमानामसंख्येयाः स्थावराणां च जातयः।
तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्णविनिश्चयः॥ ९ ॥

पशु, पक्षी, मनुष्य आदि जङ्गम प्राणियों तथा वृक्ष आदि स्थावर जीवोंकी असंख्य जातियाँ हैं। उनके रंग भी नाना प्रकारके हैं, अतः उनके वर्णोंका निश्चय कैसे हो सकता है? ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥ १० ॥

भृगुजीने कहा—मुने! पहले वर्णोंमें कोई अन्तर नहीं था, ब्रह्माजीसे उत्पन्न होनेके कारण यह सारा जगत् ब्राह्मण ही था। पीछे विभिन्न कर्मोंके कारण उनमें वर्णभेद हो गया ॥ १० ॥

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः॥ ११ ॥

जो अपने ब्राह्मणोचित धर्मका परित्याग करके विषय-भोगके प्रेमी, तीखे स्वभाववाले, क्रोधी और साहसका काम पसंद करनेवाले हो गये और इन्हीं कारणोंसे जिनके शरीरका रंग लाल हो गया, वे ब्राह्मण क्षत्रिय-भावको प्राप्त हुए—क्षत्रिय कहलाने लगे ॥ ११ ॥

गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः॥१२॥

जिन्होंने गौओंसे तथा कृषिकर्मके द्वारा जीविका चलानेकी वृत्ति अपना ली और उसीके कारण जिनके रंग पीले पड़ गये तथा जो ब्राह्मणोचित धर्मको छोड़ बैठे, वे ही ब्राह्मण वैश्यभावको प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥ १३ ॥

जो शौच और सदाचारसे भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्यके प्रेमी हो गये, लोभवश व्याधोंके समान सभी तरहके निन्द्य कर्म करके जीविका चलाने लगे और इसीलिये जिनके शरीरका रंग काला पड़ गया, वे ब्राह्मण शूद्रभावको प्राप्त हो गये ॥ १३ ॥

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते॥ १४ ॥

इन्हीं कर्मोंके कारण ब्राह्मणत्वसे अलग होकर वे सभी ब्राह्मण दूसरे-दूसरे वर्णके हो गये, किंतु उनके लिये नित्य-धर्मानुष्ठान और यज्ञकर्मका कभी निषेध नहीं किया गया है ॥ १४ ॥

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती ।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः ॥ १५ ॥

इस प्रकार ये चार वर्ण हुए, जिनके लिये ब्रह्माजीने पहले ब्राह्मी सरस्वती (वेदवाणी) प्रकट की । परंतु लोभविशेषके कारण शूद्र अज्ञानभावको प्राप्त हुए—वेदाध्ययनके अनधिकारी हो गये ॥ १५ ॥

ब्राह्मणा ब्रह्मतन्त्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति ।
ब्रह्म धारयतां नित्यं व्रतानि नियमांस्तथा ॥ १६ ॥

जो ब्राह्मण वेदकी आज्ञाके अधीन रहकर सारा कार्य करते, वेदमन्त्रोंको स्मरण रखते और सदा व्रत एवं नियमोंका पालन करते हैं, उनकी तपस्या कभी नष्ट नहीं होती ॥ १६ ॥

ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः ।
तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्र तत्र हि जातयः ॥ १७ ॥

जो इस सारी सृष्टिको परब्रह्म परमात्माका रूप नहीं जानते हैं, वे द्विज कहलानेके अधिकारी नहीं हैं । ऐसे लोगोंको नाना प्रकारकी दूसरी-दूसरी योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है ॥

पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः ।
प्रणष्टज्ञानविज्ञानाः स्वच्छन्दाचारचेष्टिताः ॥ १८ ॥

वे ज्ञान-विज्ञानसे हीन और स्वेच्छाचारी लोग पिशाच, राक्षस, प्रेत तथा नाना प्रकारकी म्लेच्छ-जातिके होते हैं ॥ १८ ॥

प्रजा ब्राह्मणसंस्काराः स्वकर्मकृतनिश्चयाः ।
ऋषिभिः स्वेन तपसा सृज्यन्ते चापरे परैः ॥ १९ ॥

पीछेसे ऋषियोंने अपनी तपस्याके बलसे कुछ ऐसी प्रजा उत्पन्न की, जो वैदिक संस्कारोंसे सम्पन्न तथा अपने धर्म-कर्ममें दृढ़तापूर्वक डटी रहनेवाली थी । इस प्रकार प्राचीन ऋषियोंद्वारा अर्वाचीन ऋषियोंकी सृष्टि होने लगी ॥ १९ ॥

आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया ।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥ २० ॥

किंतु जो सृष्टि आदिदेव ब्रह्माके मनसे उत्पन्न हुई है, जिसके जड़-मूल केवल ब्रह्माजी ही हैं तथा जो अक्षय, अविकारी एवं धर्ममें तत्पर रहनेवाली है, वह सृष्टि मानसी कहलाती है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे वर्णविभागकथने अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजके प्रसङ्गमें वर्णोंके विभागका वर्णनविषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

चारों वर्णोंके अलग-अलग कर्मोंका और सदाचारका वर्णन तथा वैराग्यसे परब्रह्मकी प्राप्ति

भरद्वाज उवाच

ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम ।
वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ! द्विजोत्तम ! अब मुझे यह बताइये कि मनुष्य कौन-सा कर्म करनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र होता है ? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ॥ २ ॥
शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः ।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥ ३ ॥

भृगुजीने कहा—जो जाति, कर्म आदि संस्कारोंसे सम्पन्न, पवित्र तथा वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न है, (यजन-याजन, अध्ययनाध्यापन और दान-प्रतिग्रह—इन) छः कर्मोंमें स्थित रहता है, शौच एवं सदाचारका पालन तथा परम उत्तम यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करता है, गुरुके प्रति प्रेम रखता, नित्य व्रतका पालन करता तथा सत्यमें तत्पर रहता है, वही ब्राह्मण कहलाता है ॥ २-३ ॥

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा ।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ ४ ॥

जिसमें सत्य, दान, द्रोह न करनेका भाव, क्रूरताका अभाव, लज्जा, दया और तप—ये सद्गुण देखे जाते हैं, वह ब्राह्मण माना गया है ॥ ४ ॥

क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः ।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥ ५ ॥

जो क्षत्रियोचित युद्ध आदि कर्मका सेवन करता है, वेदोंके अध्ययनमें लगा रहता है, ब्राह्मणोंको दान देता है और प्रजासे कर लेकर उसकी रक्षा करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है ॥ ५ ॥

वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार जो वेदाध्ययनसे सम्पन्न होकर व्यापार, पशुपालन और खेतीका काम करके अन्न संग्रह करनेकी रुचि रखता है और पवित्र रहता है, वह वैश्य कहलाता है ॥ ६ ॥

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः ।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥ ७ ॥

किंतु जो वेद और सदाचारका परित्याग करके सदा सब कुछ खानेमें अनुरक्त रहता है और सब तरहके काम करता है, साथ ही बाहर-भीतरसे अपवित्र रहता है, वह शूद्र कहा गया है ॥ ७ ॥

शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते ।

न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ ८ ॥

उपर्युक्त सत्य आदि सात गुण यदि शूद्रमें दिखायी दें और ब्राह्मणमें न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है ॥ ८ ॥

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
एतत् पवित्रं ज्ञानानां तथा चैवात्मसंयमः ॥ ९ ॥

सभी उपायोंसे लोभ और क्रोधको जीतना चाहिये । यही ज्ञानोंमें पवित्र ज्ञान है और यही आत्मसंयम है ॥ ९ ॥

वार्यौ सर्वात्मना तौ हि श्रेयोघातार्थमुच्छ्रितौ ।
नित्यं क्रोधाच्छ्रियं रक्षेत् तपो रक्षेच्च मत्सरात् ॥१०॥
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ।

क्रोध और लोभ मनुष्यके कल्याणमें बाधा डालनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं; अतः पूरी शक्ति लगाकर इन दोनोंका निवारण करना चाहिये । धन-सम्पत्तिको क्रोधके आघातसे बचाना चाहिये, तपको मात्सर्यके आघातसे बचाना चाहिये, विद्याको मान-अपमानसे और अपने-आपको प्रमादके आक्रमणसे बचाना चाहिये ॥ १०½ ॥

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धना द्विज ॥ ११ ॥
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी च स बुद्धिमान् ।

ब्रह्मन् ! जिसके सभी कार्य कामनाओंके बन्धनसे रहित होते हैं तथा जिसने त्यागकी आगमें सब कुछ होम दिया है, वही त्यागी और वही बुद्धिमान् है ॥ ११½ ॥

अहिंस्रः सर्वभूतानां मैत्रायणगतश्चरेत् ॥ १२ ॥
परिग्रहान् परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या जितेन्द्रियः ।
अशोकं स्थानमातिष्ठेदिह चामुत्र चाभयम् ॥ १३ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे, सबके साथ मैत्रीपूर्ण बर्ताव करे । स्त्री-पुत्र आदिकी ममता एवं आसक्तिको त्यागकर बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंको वशमें करे और उस स्थितिको प्राप्त करे, जो इहलोक और परलोकमें भी निर्भय एवं शोक-रहित है ॥ १२-१३ ॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ १४ ॥

नित्य तप करे, मननशील होकर इन्द्रियोंका दमन और मनका संयम करे । आसक्तिके आश्रयभूत देह-गेह आदिमें आसक्त न होकर अजित (परमात्मा) को जीतने (प्राप्त करने) की इच्छा रक्खे ॥ १४ ॥

इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत्तद् व्यक्तमिति स्थितिः ।
अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंसे जिसका ग्रहण होता है, वह सब व्यक्त कहलाता है । जो इन्द्रियातीत होनेके कारण अनुमानसे ही जाना जाय, उसे अव्यक्त समझना चाहिये ॥ १५ ॥

अविस्रम्भे न गन्तव्यं विस्रम्भे धारयेन्मनः ।
मनः प्राणे निगृह्णीयात् प्राणं ब्रह्मणि धारयेत् ॥ १६ ॥

जो विश्वासके योग्य नहीं है, उस मार्गपर न चले और जो विश्वास करनेयोग्य है, उसमें मन लगावे । मनको प्राणमें और प्राणको ब्रह्ममें स्थापित करे ॥ १६ ॥

निर्वेदादेव निर्वाणं न च किञ्चिद् विचिन्तयेत् ।
सुखं वै ब्राह्मणो ब्रह्म निर्वेदेनाधिगच्छति ॥ १७ ॥

वैराग्यसे ही निर्वाणपद (मोक्ष) प्राप्त होता है । उसे पाकर मनुष्य किसी अनात्मपदार्थका चिन्तन नहीं करता है । ब्राह्मण संसारसे वैराग्य होनेपर सुखस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

शौचेन सततं युक्तः सदाचारसमन्वितः ।
सानुक्रोशश्च भूतेषु तद् द्विजातिषु लक्षणम् ॥ १८ ॥

सर्वदा शौच और सदाचारका पालन करे और समस्त प्राणियोंपर दयाभाव बनाये रक्खे; यह ब्राह्मणका प्रधान लक्षण है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे वर्णस्वरूपकथने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादके प्रसङ्गमें वर्णोंके स्वरूपका कथनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८९ ॥

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्यकी महिमा, असत्यके दोष तथा लोक और परलोकके सुख-दुःखका विवेचन

भृगुरुवाच

सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः ।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति ॥ १ ॥

भृगुजी कहते हैं—मुने ! सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही तप है, सत्य ही प्रजाकी सृष्टि करता है, सत्यके ही आधारपर संसार टिका हुआ है और सत्यके ही प्रभावसे मनुष्य स्वर्गमें जाता है ॥ १ ॥

अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः ।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसाऽऽवृताः ॥ २ ॥

असत्य अन्धकारका रूप है । वह मनुष्यको नीचे गिराता है । अज्ञानान्धकारसे घिरे हुए मनुष्य तमोगुणसे ग्रस्त होकर ज्ञानके प्रकाशको नहीं देख पाते हैं ॥ २ ॥

स्वर्गः प्रकाश इत्याहुर्नरकं तम एव च ।
सत्यानृतं तदुभयं प्राप्यते जगतीचरैः ॥ ३ ॥

स्वर्ग प्रकाशमय है और नरक अन्धकारमय है, ऐसा कहते हैं। सत्य और अनृतसे युक्त जो मानव-योनि है, वह ज्ञान और अज्ञान दोनोंके सम्मिश्रणसे जगत्‌के जीवोंको प्राप्त होती है ॥३॥

तत्राप्येवंविधा लोके वृत्तिः सत्यानृते भवेत् ।

धर्माधर्मौ प्रकाशश्च तमो दुःखं सुखं तथा ॥ ४ ॥

उसमें भी लोकमें ऐसी वृत्ति जाननी चाहिये, जो सत्य और अनृत हैं, वे ही धर्म और अधर्म, प्रकाश और अन्धकार तथा दुःख और सुख हैं ॥ ४ ॥

तत्र यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत् सुखमिति । तत्र यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्तत् तमो यत् तमस्तद् दुःखमिति ॥ ५ ॥

वहाँ जो सत्य है, वही धर्म है, जो धर्म है वही प्रकाश है और जो प्रकाश है, वही सुख है । इसी प्रकार वहाँ जो अनृत अर्थात् असत्य है, वही अधर्म है और जो अधर्म है, वही अन्धकार है और जो अन्धकार है, वही दुःख है ॥ ५ ॥

अत्रोच्यते—

शारीरैर्मानसैर्दुःखैः सुखैश्चाप्यसुखोदयैः ।
लोकसृष्टिं प्रपश्यन्तो न मुह्यन्ति विचक्षणाः ॥ ६ ॥

इस विषयमें ऐसा कहा जाता है—संसारकी सृष्टि शारीरिक और मानसिक क्लेशोंसे युक्त है । इसमें जो सुख हैं, वे भी अन्तमें दुःख ही उत्पन्न करनेवाले हैं । ऐसी दृष्टि रखनेवाले विद्वान् पुरुष कभी मोहमें नहीं पड़ते हैं ॥ ६ ॥

तत्र दुःखविमोक्षार्थं प्रयतेत विचक्षणः ।
सुखं ह्यनित्यं भूतानामिहलोके परत्र च ॥ ७ ॥

अतः विज्ञ एवं बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि सदा दुःखसे छूटनेके लिये प्रयत्न करे । इहलोक और परलोकमें भी प्राणियोंको जो सुख मिलता है, वह अनित्य है ॥ ७ ॥

राहुग्रस्तस्य सोमस्य यथा ज्योत्स्ना न भासते ।
तथा तमोऽभिभूतानां भूतानां नश्यते सुखम् ॥ ८ ॥

जैसे राहुसे ग्रस्त होनेपर चन्द्रमाकी चाँदनी प्रकाशमें नहीं आती, उसी प्रकार तम (अज्ञान एवं दुःख) से पीड़ित हुए प्राणियोंका सुख नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

तत् खलु द्विविधं सुखमुच्यते शारीरं मानसं च । इह खल्वमुष्मिंश्च लोके वस्तुप्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते । न ह्यतः परं त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति स एव काम्यो गुणविशेषो धर्मार्थगुणारम्भस्तद्धेतुरस्योत्पत्तिः सुखप्रयोजनार्थ आरम्भः ॥ ९ ॥

सुख दो प्रकारका बताया जाता है—शारीरिक और मानसिक । इहलोक और परलोकमें जो वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्तियाँ हैं, वे सुखके लिये ही बतायी जाती हैं । इस सुखसे बढ़कर त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का और कोई अत्यन्त विशिष्ट फल नहीं है । वह सुख ही प्राणीका वाञ्छनीय गुणविशेष है । धर्म और अर्थ जिसके अङ्ग हैं, उस सुखके लिये ही कर्मोंका आरम्भ किया जाता है; क्योंकि सुखकी उत्पत्तिमें उद्यम ही हेतु हैं; अतः सुखके उद्देश्यसे ही कर्मोंका आरम्भ किया जाता है ॥ ९ ॥

भरद्वाज उवाच

यदेतद् भवताभिहितं सुखानां परमा स्थितिरिति न तदुपगृह्णीमो न ह्येषामृषीणां महति स्थितानामप्राप्य एष काम्यो गुणविशेषो न चैनमभिलषन्ति च तपसि श्रूयते त्रिलोककृद् ब्रह्मा प्रभुरेकाकी तिष्ठति । ब्रह्मचारी न कामसुखेष्वात्मानमवदधाति । अपि च भगवान् विश्वेश्वर उमापतिः काममभिवर्तमानमनङ्गत्वेन शममनयत् । तस्माद् ब्रूमो न तु महात्मभिरयं प्रतिगृहीतो न त्वेषां तावद्विशिष्टो गुणविशेष इति । नैतद् भगवतः प्रत्येमि भगवता तूक्तं सुखान्न परमस्तीति लोकप्रवादो हि द्विविधः फलोदयः सुकृतात् सुखमवाप्यते दुष्कृताद् दुःखमिति ॥ १० ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो! आपने जो यह बताया है कि सुखोंका ही सबसे ऊँचा स्थान है—सुखसे बढ़कर त्रिवर्गका और कोई फल नहीं है, आपकी यह बात हमारे मनमें ठीक नहीं जँचती है; क्योंकि जो महान् तपमें स्थित ऋषिगण हैं, उनके लिये यह वाञ्छनीय गुणविशेष सुख यद्यपि प्राप्त हो सकता है, तो भी वे इसे नहीं चाहते हैं । सुना जाता है कि तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् ब्रह्मा अकेले ही रहते हैं, ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और कामसुखमें कभी मन नहीं लगाते हैं । भगवती उमाके प्राणवल्लभ भगवान् विश्वनाथने भी अपने सामने आये हुए कामको जलाकर शान्त कर दिया और उसे अनङ्ग बना दिया; इसलिये हम कहते हैं कि महात्मा पुरुषोंने कभी इसे स्वीकार नहीं किया है । उनके लिये यह कामसुख अर्थात् सांसारिक भोगोंका सुख सबसे बढ़कर गुणविशेष नहीं है; परंतु आपकी बातोंसे मुझे ऐसी प्रतीति नहीं होती है । आपने तो यह कहा है कि इस सुखसे बढ़कर दूसरा कोई फल नहीं है । लोकमें ऐसा कहा जाता है कि फलकी उत्पत्ति दो प्रकारकी होती है । पुण्यकर्मसे सुख प्राप्त होता है और पापकर्मसे दुःख ॥ १० ॥

भृगुरुवाच

अत्रोच्यते-अनृतात् खलु तमः प्रादुर्भूतं ततस्तमोग्रस्ता अधर्ममेवानुवर्तन्ते न धर्मं क्रोधलोभहिंसानृतादिभिरवच्छन्ना न खल्वस्मिँल्लोके नामुत्र सुखमाप्नुवन्ति । विविधव्याधिरुजोपतापैरवकीर्यन्ते । वधबन्धनपरिक्लेशादिभिश्च क्षुत्पिपासाश्रमकृतैरुपतापैरुपतप्यन्ते । वर्षवातात्युष्णातिशीतकृतैश्च प्रतिभयैः शारीरैर्दुःखैरुपतप्यन्ते । बन्धुधनविनाशविप्रयोगकृतैश्च मानसैः शोकैरभिभूयन्ते जरामृत्युकृतैश्चान्यैरिति ॥ ११ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! असत्यसे अज्ञानकी उत्पत्ति हुई है; अतः तमोग्रस्त मनुष्य अधर्मके ही पीछे चलते हैं; धर्मका अनुसरण नहीं करते हैं । जो लोग क्रोध, लोभ, हिंसा और असत्य आदिसे आच्छादित हैं, वे न तो इस लोकमें सुखी होते हैं और न परलोकमें ही । वे नाना प्रकारके रोग, व्याधि और तापसे संतप्त होते रहते हैं । वध और बन्धन आदि क्लेशोंसे तथा भूख, प्यास और थकावटके कारण होनेवाले

संतापोंसे भी पीड़ित होते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें आँधी, पानी, अत्यन्त गर्मी और अधिक सर्दीसे उत्पन्न हुए भयङ्कर शारीरिक कष्ट भी सहन करने पड़ते हैं। बन्धु-बान्धवोंकी मृत्यु, धनके नाश और प्रेमी जनोंके वियोगके कारण होनेवाले मानसिक शोक भी उन्हें सताते रहते हैं। बुढ़ापा और मृत्युके कारण भी बहुत-से दूसरे-दूसरे क्लेश भी उन्हें पीड़ा देते रहते हैं ॥ ११ ॥

यस्त्वेतैः शारीरमानसैर्दुःखैर्न संस्पृश्यते स सुखं वेद। न चैते दोषाः स्वर्गे प्रादुर्भवन्ति। तत्र खलु भवन्ति ॥ १२ ॥

जो इन शारीरिक और मानसिक दुःखोंके सम्बन्धसे रहित है, उसीको सुखका अनुभव होता है। स्वर्गलोकमें ये पूर्वोक्त दुःखरूप दोष नहीं उत्पन्न होते हैं। वहाँ निम्नाङ्कित बातें होती हैं ॥ १२ ॥

सुसुखः पवनः स्वर्गे गन्धश्च सुरभिस्तथा।
क्षुत्पिपासा श्रमो नास्ति न जरा न च पापकम्॥ १३ ॥

स्वर्गमें अत्यन्त सुखदायिनी हवा चलती है। मनोहर सुगन्ध छायी रहती है। भूख, प्यास, परिश्रम, बुढ़ापा और पापके फलका कष्ट वहाँ कभी नहीं भोगना पड़ता है ॥ १३ ॥

नित्यमेव सुखं स्वर्गे सुखं दुःखमिहोभयम्।
नरके दुःखमेवाहुः सुखं तत्परमं पदम् ॥ १४ ॥

स्वर्गमें सदा सुख ही होता है। इस मर्त्यलोकमें सुख और दुःख दोनों होते हैं। नरकमें केवल दुःख-ही-दुःख बताया गया है। वास्तविक सुख तो वह परमपदस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है ॥ १४ ॥

पृथिवी सर्वभूतानां जनित्री तद्विधाः स्त्रियः।
पुमान् प्रजापतिस्तत्र शुक्रं तेजोमयं विदुः ॥ १५ ॥

पृथ्वी सम्पूर्ण भूतोंकी जननी है। संसारकी स्त्रियाँ भी पृथ्वीके समान ही संतानकी जननी होती हैं। पुरुष ही वहाँ प्रजापतिके समान है। पुरुषका जो वीर्य है, उसे तेजःस्वरूप समझा जाता है ॥ १५ ॥

इत्येतल्लोकनिर्माणं ब्रह्मणा विहितं पुरा।
प्रजाः समनुवर्तन्ते स्वैः स्वैः कर्मभिरावृताः ॥ १६ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इस स्त्री-पुरुषस्वरूप जगत्‌की सृष्टि की थी। यहाँ समस्त प्रजा अपने-अपने कर्मोंसे आवृत होकर सुख-दुःखका अनुभव करती है ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९०॥

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमोंके धर्मका वर्णन

भरद्वाज उवाच

दानस्य किं फलं प्राहुर्धर्मस्य चरितस्य च।
तपसश्च सुतप्तस्य स्वाध्यायस्य हुतस्य वा ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—ब्रह्मन्! आचरणमें लाये हुए दानरूप धर्मका, भलीभाँति की हुई तपस्याका तथा स्वाध्याय और अग्निहोत्रका क्या फल बताया गया है? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

हुतेन शाम्यते पापं स्वाध्यायैः शान्तिरुत्तमा।
दानेन भोगानित्याहुस्तपसा स्वर्गमाप्नुयात् ॥ २ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! अग्निहोत्रसे पापका निवारण किया जाता है, स्वाध्यायसे उत्तम शान्ति मिलती है, दानसे भोगोंकी प्राप्ति बतायी गयी है और तपस्यासे मनुष्य स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

दानं तु द्विविधं प्राहुः परत्रार्थमिहैव च।
सद्भ्यो यद् दीयते किंचित् तत्परत्रोपतिष्ठते ॥ ३ ॥
असद्भ्यो दीयते यत्तु तद् दानमिह भुज्यते।
यादृशं दीयते दानं तादृशं फलमश्नुते ॥ ४ ॥

दान दो प्रकारका बताया जाता है—एक परलोकके लिये है और दूसरा इहलोकके लिये। सत्पुरुषोंको जो कुछ दिया जाता है, वह दान परलोकमें अपना फल देनेके लिये उपस्थित होता है और असत्पुरुषोंको जो दान दिया जाता है, उसका फल यहीं भोगा जाता है। जैसा दान दिया जाता है, वैसा ही उसका फल भी भोगनेमें आता है ॥ ३-४ ॥

भरद्वाज उवाच

किं कस्य धर्माचरणं किं वा धर्मस्य लक्षणम्।
धर्मः कतिविधो वापि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ५ ॥

भरद्वाजने पूछा—ब्रह्मन्! किसका धर्माचरण कैसा होता है अथवा धर्मका लक्षण क्या है? या धर्मके कितने भेद हैं? यह सब आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

भृगुरुवाच

स्वधर्माचरणे युक्ता ये भवन्ति मनीषिणः।
तेषां स्वर्गफलावाप्तिर्योऽन्यथा स विमुह्यते ॥ ६ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! जो मनीषी पुरुष अपने वर्णाश्रमोचित धर्मके आचरणमें सावधानीके साथ लगे रहते हैं, उन्हें स्वर्गरूपी फलकी प्राप्ति होती है। जो इसके विपरीत अधर्मका आचरण करता है, वह मोहके वशीभूत होता है* ॥ ६ ॥

* इस श्लोकमें पूर्वोक्त तीनों प्रश्नोंका एक साथ ही सामान्य उत्तर दे दिया गया है। जो जिस वर्ण अथवा आश्रमका है,

भरद्वाज उवाच

यदेतच्चातुराश्रम्यं ब्रह्मर्षिविहितं पुरा ।
तेषां स्वे स्वे समाचारास्तान् मे वक्तुमिहार्हसि॥ ७ ॥

भरद्वाज ऋषिने पूछा—भगवन् ! ब्रह्मर्षियोंने पूर्वकालमें जो चार आश्रमोंका विभाग किया है, उनके अपने-अपने धर्म क्या हैं ? उन्हें बतानेकी कृपा कीजिये ॥ ७ ॥

भृगुरुवाच

पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा लोकहितमनुतिष्ठता धर्मसंरक्षणार्थमाश्रमाश्चत्वारोऽभिनिर्दिष्टाः । तत्र गुरुकुलवासमेव प्रथममाश्रममुदाहरन्ति।सम्यग् यत्र शौचसंस्कारनियमव्रतविनियतात्मा उभे संध्ये भास्कराग्निदैवतान्युपस्थाय विहाय तन्द्रचालस्ये गुरोरभिवादनवेदाभ्यासश्रवणपवित्रीकृतान्तरात्मा त्रिषवणमुपस्पृश्य ब्रह्मचर्याग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषानित्यभिक्षाभैक्ष्यादिसर्वनिवेदितान्तरात्मा गुरुवचननिर्देशानुष्ठानाप्रतिकूलो गुरुप्रसादलब्धस्वाध्यायतत्परः स्यात् ॥ ८ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! जगत्का कल्याण करनेवाले भगवान् ब्रह्माने पूर्वकालमें ही धर्मकी रक्षाके लिये चार आश्रमोंका निर्देश किया था । उनमेंसे ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक गुरुकुलवासको ही पहला आश्रम कहते हैं । उसमें रहनेवाले ब्रह्मचारीको बाहर-भीतरकी शुद्धि, वैदिक संस्कार तथा व्रत-नियमोंका पालन करते हुए अपने मनको वशमें रखना चाहिये। सुबह और शाम दोनों संध्याओंके समय संध्योपासना, सूर्योपस्थान और अग्निहोत्रके द्वारा अग्निदेवकी आराधना करनी चाहिये। तन्द्रा और आलस्यको त्यागकर प्रतिदिन गुरुको प्रणाम करे और वेदोंके अभ्यास तथा श्रवणसे अपनी अन्तरात्माको पवित्र करे । सबेरे, शाम और दोपहर तीनों समय स्नान करे। ब्रह्मचर्यका पालन, अग्निकी उपासना और गुरुकी सेवा करे । प्रतिदिन भिक्षा माँगकर लाये । भिक्षामें जो कुछ प्राप्त हो, वह सब गुरुको अर्पण कर दे । अपनी अन्तरात्माको भी गुरुके चरणोंमें निछावर कर दे । गुरुजी जो कुछ कहें, जिसके लिये संकेत करें और जिस कार्यके निमित्त स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा दें, उसके विपरीत आचरण न करे । गुरुके कृपाप्रसादसे मिले हुए स्वाध्यायमें तत्पर होवे ॥ ८ ॥

भवति चात्र श्लोकः—

गुरुं यस्तु समाराध्य द्विजो वेदमवाप्नुयात् ।
तस्य स्वर्गफलावाप्तिः सिध्यते चास्य मानसमिति ।९।

उसका धर्माचरण भी वैसा ही है । धर्मका लक्षण है—स्वर्गप्राप्ति करानेवाला वर्णाश्रमोचित आचार । वर्ण और आश्रमके जितने भेद हैं, उतने ही उनके धर्मके भी हैं ।

इस विषयमें यह श्लोक है—

जो द्विज गुरुकी आराधना करके वेदाध्ययन करता है उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है और उसका मानसिक संकल्प सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

गार्हस्थ्यं खलु द्वितीयमाश्रमं वदन्ति । तस्य समुदाचारलक्षणं सर्वमनुव्याख्यास्यामः । समावृत्तानां सदाचाराणां सहधर्मचर्यफलार्थिनां गृहाश्रमो विधीयते । धर्मार्थकामावाप्तिर्ह्यत्र त्रिवर्गसाधनमपेक्ष्या गर्हितेन कर्मणा धनान्यादाय स्वाध्यायोपलब्धप्रकर्षेण वा ब्रह्मर्षिनिर्मितेन वा अद्रिसारगतेन वा । हव्यकव्यनियमाभ्यासदैवतप्रसादोपलब्धेन वा धनेन गृहस्थो गार्हस्थ्यं वर्तयेत् । तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति । गुरुकुलनिवासिनः परिव्राजका ये चान्ये संकल्पितव्रतनियमधर्मानुष्ठायिनस्तेषामप्यत एव भिक्षाबलिसंविभागाः प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

गार्हस्थ्यको दूसरा आश्रम कहते हैं । अब हम उसमें पालन करने योग्य समस्त उत्तम आचरणोंकी व्याख्या करेंगे । जो सदाचारका पालन करनेवाले ब्रह्मचारी विद्या पढ़कर गुरुकुलसे स्नातक होकर लौटते हैं, उन्हें यदि सहधर्मिणीके साथ रहकर धर्माचरण करने और उसका फल पानेकी इच्छा हो तो उनके लिये गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी विधि है । इस आश्रममें धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी प्राप्ति होती है; इसलिये त्रिवर्गसाधनकी इच्छा रखकर गृहस्थको उत्तम कर्मके द्वारा धन संग्रह करना चाहिये अर्थात् वह स्वाध्यायसे प्राप्त हुई विशिष्ट योग्यतासे, ब्रह्मर्षियोंद्वारा धर्मशास्त्रोंमें निश्चित किये हुए मार्गसे अथवा पर्वतसे उपलब्ध हुए उसके सारभूत मणि-रत्न, दिव्यौषधि एवं स्वर्ण आदिसे धनका संचय करे । अथवा हव्य (यज्ञ), कव्य (श्राद्ध); नियम, वेदाभ्यास तथा देवताओंकी प्रसन्नतासे प्राप्त धनके द्वारा गृहस्थ पुरुष अपनी गृहस्थीका निर्वाह करे; क्योंकि गार्हस्थ्य आश्रमको सब आश्रमोंका मूल कहते हैं । गुरुकुलमें निवास करनेवाले ब्रह्मचारी, वनमें रहकर संकल्पके अनुसार व्रत, नियम तथा धर्मोंका पालन करनेवाले अन्यान्य वानप्रस्थ एवं सब कुछ त्यागकर सर्वत्र विचरनेवाले संन्यासी भी इस गृहस्थाश्रमसे ही भिक्षा, भेंट, उपहार तथा दान आदि पाकर अपने-अपने धर्मके पालनमें प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

वानप्रस्थानां च द्रव्योपस्कार इति प्रायशः खल्वेते साधवः साधुपथ्यौदनाः स्वाध्यायप्रसङ्गिनस्तीर्थाभिगमनदेशदर्शनार्थं पृथिवीं पर्यटन्ति, तेषां प्रत्युत्थानाभिगमनाभिवादनानसूयवाक्प्रदानसुखशक्त्यासनसुखशयनाभ्यवहारसत्क्रिया चेति ॥ ११ ॥

वानप्रस्थोंके लिये धनका संग्रह करना निषिद्ध है।

श्रेष्ठ लोग प्रायः शुद्ध एवं हितकर अन्नमात्रके इच्छुक होकर स्वाध्याय, तीर्थयात्रा एवं देश-दर्शनके निमित्त सारी पृथ्वीपर घूमते-फिरते हैं। ये घरपर पधारें तो उठकर, आगे बढ़कर इनका स्वागत करे। इनके चरणोंमें मस्तक झुकावे, दोषदृष्टि न रखकर उनसे उत्तम वचन बोले। यथाशक्ति सुखद आसन दे, सुखद शय्यापर उन्हें सुलावे और उत्तम भोजन करावे। इस प्रकार उनका पूर्ण सत्कार करे। यही उन श्रेष्ठ पुरुषके प्रति गृहस्थका कर्तव्य है ॥ ११ ॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥ १२ ॥

इस विषयमें ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

जिस गृहस्थके दरवाजेसे कोई अतिथि भिक्षा न पानेके कारण निराश होकर लौट जाता है, वह उस गृहस्थको अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है ॥ १२ ॥

अपि चात्र यज्ञक्रियाभिर्देवताः प्रीयन्ते। निवापेन पितरो विद्याभ्यासश्रवणधारणेन ऋषयः। अपत्योत्पादनेन प्रजापतिरिति ॥ १३ ॥

इसके सिवा गृहस्थाश्रममें रहकर यज्ञ करनेसे देवता, श्राद्ध-तर्पण करनेसे पितर, वेद-शास्त्रोंके श्रवण, अभ्यास और धारणसे ऋषि तथा संतानोत्पादनसे प्रजापति प्रसन्न होते हैं ॥ १३ ॥

श्लोकौ चात्र भवतः—

वात्सल्यात्सर्वभूतेभ्यो वाच्याः श्रोत्रसुखा गिरः।
परितापोपघातश्च पारुष्यं चात्र गर्हितम् ॥ १४ ॥

इस विषयमें ये दो श्लोक प्रसिद्ध हैं—

वाणी ऐसी बोलनी चाहिये, जिसमें सब प्राणियोंके प्रति स्नेह भरा हो तथा जो सुनते समय कानोंको सुखद जान पड़े। दूसरोंको पीड़ा देना, मारना और कटु वचन सुनाना—ये सब निन्दित कार्य हैं ॥ १४ ॥

अवज्ञानमहंकारो दम्भश्चैव विगर्हितः।
अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः ॥ १५ ॥

किसीका अनादर करना, अहंकार दिखाना और ढोंग करना—इन दुर्गुणोंकी भी विशेष निन्दा की गयी है। किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना और मनमें क्रोध न आने देना—यह सभी आश्रमवालोंके लिये उपयोगी तप है॥

अपि चात्र माल्याभरणवस्त्राभ्यङ्गनित्योपभोगनृत्यगीतवादित्रश्रुतिसुखनयनाभिरामदर्शनानां प्राप्तिर्भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयचोष्याणामभ्यवहार्याणां विविधानामुपभोगः। स्वविहारसंतोषः कामसुखावाप्तिरिति ॥ १६ ॥

इसके सिवा इस गृहस्थ-आश्रममें फूलोंकी माला, नाना प्रकारके आभूषण, वस्त्र, अङ्गराग (तेल-उबटन), नित्य उपभोगकी वस्तु, नृत्य, गीत, वाद्य, श्रवणसुखद शब्द और नयनाभिराम रूपके दर्शनकी भी प्राप्ति होती है। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय और चोष्यरूप नानाप्रकारके भोजनसम्बन्धी पदार्थ खाने-पीनेको भी मिलते हैं। अपने उद्यानमें घूमने-फिरनेका आनन्द प्राप्त होता है और कामसुखकी भी उपलब्धि होती है ॥ १६ ॥

त्रिवर्गगुणनिर्वृत्तिर्यस्य नित्यं गृहाश्रमे।
स सुखान्यनुभूयेह शिष्टानां गतिमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

जिस पुरुषको गृहस्थाश्रममें सदा धर्म, अर्थ और कामके गुणोंकी सिद्धि होती रहती है, वह इस लोकमें सुखका अनुभव करके अन्तमें शिष्ट पुरुषोंकी गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

उञ्छवृत्तिर्गृहस्थो यः स्वधर्माचरणे रतः।
त्यक्तकामसुखारम्भः स्वर्गस्तस्य न दुर्लभः ॥ १८ ॥

जो गृहस्थ ब्राह्मण अपने धर्मके आचरणमें तत्पर हो उञ्छवृत्तिसे (खेत या बाजारमें बिखरे हुए अनाजके एक-एक दानेको बीनकर) जीविका चलाता है तथा कामसुखका परित्याग कर देता है, उसके लिये स्वर्ग कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९१॥

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यास धर्मोंका वर्णन तथा हिमालयके उत्तर पार्श्वमें स्थित उत्कृष्ट लोककी विलक्षणता एवं महत्ताका प्रतिपादन, भृगु-भरद्वाज-संवादका उपसंहार

भृगुरुवाच

वानप्रस्थाः खल्वपि धर्ममनुसरन्तः पुण्यानि तीर्थानि नदीप्रस्रवणानि सुविविक्तेष्वरण्येषु मृगमहिषवराहशार्दूलवनगजाकीर्णेषु तपस्यन्तोऽनुसंचरन्ति त्यक्तग्राम्यवस्त्राभ्यवहारोपभोगा वन्यौषधिफलमूलपर्णपरिमितविचित्रनियताहाराः स्थानासनिनो भूमिपाषाणसिकताशर्करावालुकाभस्मशायिनः काशकुशचर्मवल्कलसंवृताङ्गाः केशश्मश्रुनखरोमधारिणो नियतकालोपस्पर्शना अस्कन्दितकालबलिहोमानुष्ठायिनः समित्कुशकुसुमापहा-

रसम्मार्जनलब्धविश्रामाः शीतोष्णवर्षपवनविष्टम्भविभिन्नसर्वत्वचो विविधनियमोपयोगचर्यानुष्ठानविहितपरिशुष्कमांसशोणितत्वगस्थिभूता धृतिपराः सत्त्वयोगाच्छरीराण्युद्वहन्ते ॥ १ ॥

भृगुजी कहते हैं—मुने ! तीसरे आश्रम वानप्रस्थका पालन करनेवाले मनुष्य धर्मका अनुसरण करते हुए पवित्र तीर्थोंमें, नदियोंके किनारे, झरनोंके आसपास तथा मृग, भैंसे, सूअर, सिंह एवं जंगली हाथियोंसे भरे हुए एकान्त वनोंमें तप करते हुए विचरते रहते हैं। गृहस्थोंके उपभोगमें आनेवाले ग्रामजनोचित सुन्दर वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन और विषय-भोगोंका परित्याग करके वे जंगलमें अपने-आप होनेवाले अन्न, फल, मूल तथा पत्तोंका परिमित, विचित्र एवं नियत आहार करते हैं। भूमिपर ही बैठते हैं। जमीन, पत्थर, रेत, कँकरीली मिट्टी, बालू अथवा राखपर ही सोते हैं। काश, कुश, मृगचर्म और वृक्षोंकी छालसे बने वस्त्रोंसे अपना शरीर ढकते हैं। सिरके बाल, दाढ़ी, मूँछ, नख और रोम सदा धारण किये रहते हैं। नियत समयपर स्नान करके निश्चित कालका उल्लङ्घन न करते हुए बलिवैश्वदेव तथा अग्निहोत्र आदि कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। सबेरे हवन पूजनके लिये समिधा, कुशा और फूल आदिका संग्रह करके आश्रमको झाड़-बुहार लेनेके पश्चात् उन्हें कुछ विश्राम मिलता है। सर्दी, गर्मी, वर्षा और हवाका वेग सहते-सहते उनके शरीरके चमड़े फट जाते हैं। नाना प्रकारके नियमोंका पालन और सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते रहनेसे उनके रक्त और मांस सूख जाते हैं और शरीरकी जगह चामसे ढकी हुई हड्डियोंका ढाँचामात्र रह जाता है; फिर भी धैर्य रखकर साहसपूर्वक शरीरका भार ढोते रहते हैं ॥ १ ॥

यस्त्वेतां नियतश्चर्यां ब्रह्मर्षिविहितां चरेत् स।
दहेदग्निवद्दोषान् जयेल्लोकांश्च दुर्जयान् ॥ २ ॥

जो पुरुष नियमके साथ रहकर ब्रह्मर्षियोंद्वारा आचरणमें लायी हुई इस वानप्रस्थ धर्मकी विधिका अनुष्ठान करता है, वह अग्निकी भाँति अपने दोषोंको भस्म करके दुर्लभ लोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

परिव्राजकानां पुनराचारः-तद् यथा विमुच्याग्निधनकलत्रपरिबर्हणं संगेष्वात्मनः स्नेहपाशानवधूय परिव्रजन्ति । समलोष्टाश्मकाञ्चनास्त्रिवर्गप्रवृत्तेष्वसक्तबुद्धयोऽरिमित्रोदासीनानां तुल्यदर्शनाः स्थावरजरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जानां भूतानां वाङ्मनःकर्मभिरनभिद्रोहिणोऽनिकेताः पर्वतपुलिनवृक्षमूलदेवतायतनान्यनुचरन्तो वासार्थमुपेयुर्नगरं ग्रामं वा नगरे पञ्चरात्रिका ग्रामे चैकरात्रिकाः प्रविश्य च प्राणधारणार्थं द्विजातीनां भवनान्यसंकीर्णकर्मणामुपतिष्ठेयुः पात्रपतितायाचितभैक्ष्याः कामक्रोधदर्पलोभमोहकार्पण्यदम्भपरिवादाभिमानहिंसानिवृत्ता इति ॥ ३ ॥

अब संन्यासियोंका आचरण बतलाया जाता है। वह इस प्रकार है—इसमें प्रवेश करनेवाले पुरुष अग्निहोत्र, धन, स्त्री आदि परिवार तथा घरकी सारी सामग्रीका परित्याग करके भोगों और सङ्गोंके प्रति अपनी आसक्तिके बन्धनोंको तोड़कर सदाके लिये घरसे बाहर निकल जाते हैं। ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझते हैं। धर्म, अर्थ और कामसम्बन्धी प्रवृत्तियोंमें उनकी बुद्धि आसक्त नहीं होती। शत्रु, मित्र और उदासीन—सबके प्रति वे समान दृष्टि रखते हैं। स्थावर, पिण्डज, अण्डज, स्वेदज और उदभिज्ज प्राणियोंके प्रति मन, वाणी और क्रियाओंद्वारा कभी द्रोह नहीं करते हैं, कुटी या मठ बनाकर नहीं रहते हैं। उन्हें चाहिये कि चारों ओर विचरते रहें तथा रात्रिमें ठहरनेके लिये पर्वतकी गुफा, नदीका किनारा, वृक्षकी जड़, देवमन्दिर, नगर अथवा गाँवमें चले जाया करें। नगरमें पाँच रात्रि और गाँवमें एक रात्रिसे अधिक न ठहरें। प्राणधारणके लिये अपने विशुद्ध धर्मोंका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन द्विजातियोंके ऐसे घरोंपर जाकर खड़े हो जायँ, जहाँ संकीर्णता न हो। बिना माँगे ही पात्रमें जितनी भिक्षा आ जाय, उतनी ही स्वीकार करें। काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता, दम्भ, निन्दा, अभिमान तथा हिंसासे सर्वथा दूर रहें ॥ ३ ॥

भवति चात्र श्लोकः—

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ४ ॥

इस विषयमें ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

जो मुनि सब प्राणियोंको अभयदान देकर विचरता है, उसको सम्पूर्ण प्राणियोंमें किसीसे भी कहीं भय नहीं प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं
शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति।
विप्रस्तु भैक्ष्योपगतैर्हविर्भि-
श्चिताग्निनां स व्रजते हि लोकम् ॥ ५ ॥

जो ब्राह्मण अग्निहोत्रको अपने शरीरमें आरोपित करके शरीरस्थ अग्निके उद्देश्यसे अपने मुखमें प्राप्त भिक्षारूप हविष्यका होम करता है, वह अग्नि-चयन करनेवाले अग्निहोत्रियोंके लोकमें जाता है ॥ ५ ॥

मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तं
शुचिः सुसंकल्पितमुक्तबुद्धिः।
अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तं
स ब्रह्मलोकं श्रयते मनुष्यः ॥ ६ ॥

जो बुद्धिको संकल्परहित करके पवित्र हो शास्त्रोक्त विधिके अनुसार मोक्ष-आश्रम (संन्यास) के नियमोंका

पालन करता है, वह मनुष्य बिना ईंधनकी आगके समान परम शान्त ज्योतिर्मय ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भरद्वाज उवाच

अस्माल्लोकात् परो लोकः श्रूयते नोपलभ्यते ।
तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ७ ॥

भरद्वाजने पूछा—ब्रह्मन् ! इस लोकसे कोई श्रेष्ठ लोक सुना जाता है; किंतु वह देखनेमें नहीं आता । मैं उसे जानना चाहता हूँ, आप उसे बतानेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

भृगुरुवाच

उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते ।
पुण्यः क्षेम्यश्च काम्यश्च स परो लोक उच्यते ॥ ८ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! उत्तरदिशामें हिमालयके पार्श्वभागमें, जो सर्वगुणसम्पन्न एवं पुण्यमय प्रदेश है, वहाँके भू-भागपर श्रेष्ठ लोक बताया जाता है, वह पवित्र, कल्याणकारी और कमनीय लोक है ॥ ८ ॥

तत्र ह्यपापकर्माणः शुचयोऽत्यन्तनिर्मलाः ।
लोभमोहपरित्यक्ता मानवा निरुपद्रवाः ॥ ९ ॥

वहाँ पापकर्मसे रहित, पवित्र, अत्यन्त निर्मल, लोभ और मोहसे शून्य तथा सब प्रकारके उपद्रवोंसे रहित मानव निवास करते हैं ॥ ९ ॥

स स्वर्गसदृशो देशस्तत्र ह्युक्ताः शुभा गुणाः ।
काले मृत्युः प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न च ॥ १० ॥

वह देश स्वर्गके तुल्य है । वहाँ सभी शुभ गुणोंकी स्थिति बतायी गयी है । वहाँ समयपर ही मृत्यु होती है । रोग-व्याधि किसीका स्पर्श नहीं करते हैं ॥ १० ॥

न लोभः परदारेषु स्वदारनिरतो जनः ।
नान्योन्यं वध्यते तत्र द्रव्येषु च न विस्मयः ।
परो ह्यधर्मो नैवास्ति संदेहो नापि जायते ॥ ११ ॥

वहाँ किसीके मनमें परायी स्त्रियोंके प्रति लोभ नहीं होता । सब लोग अपनी ही स्त्रियोंमें अनुरक्त रहते हैं । वहाँके निवासी धनके लिये एक दूसरेका वध नहीं करते । किसीको बन्धनमें नहीं डालते । उन्हें कभी महान् विस्मय नहीं होता । अधर्मका तो वहाँ नाम भी नहीं है । वहाँ किसीके मनमें संदेह नहीं पैदा होता है ॥ ११ ॥

कृतस्य तु फलं तत्र प्रत्यक्षमुपलभ्यते ।
पानासनाशनोपेताः प्रासादभवनाश्रयाः ॥ १२ ॥
सर्वकामैर्वृताः केचिद्धेमाभरणभूषिताः ।
प्राणधारणमात्रं तु केषांचिदुपपद्यते ।
श्रमेण महता केचित् कुर्वन्ति प्राणधारणम् ॥ १३ ॥

वहाँ किये हुए कर्मका फल प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है । उस लोकमें कुछ लोग बड़े-बड़े महलोंमें रहते, अच्छे आसनोंपर बैठते और उत्तमोत्तम वस्तुएँ खाते-पीते हैं । समस्त कामनाओंसे सम्पन्न और सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित होते हैं तथा कुछ लोगोंको प्राणधारणमात्रके लिये भोजन प्राप्त होता है, कुछ लोग बड़े परिश्रमसे तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए प्राण धारण करते हैं (इस प्रकार वह लोक इस लोकसे सर्वथा उत्कृष्ट है) * ॥ १२-१३ ॥

इह धर्मपराः केचित् केचिन्नैकृतिका नराः ।
सुखिता दुःखिताः केचिन्निर्धना धनिनोऽपरे ॥ १४ ॥

इस मनुष्यलोकमें कुछ मनुष्य धर्मपरायण होते हैं तो कुछ बड़े भारी ठग निकलते हैं । इसीलिये कोई सुखी और कोई दुखी होते हैं । कुछ धनवान् और कुछ लोग निर्धन हो जाते हैं ॥ १४ ॥

इह श्रमो भयं मोहः क्षुधा तीव्रा च जायते ।
लोभश्चार्थकृतो नृणां येन मुह्यन्त्यपण्डिताः ॥ १५ ॥

इहलोकमें श्रम, भय, मोह और तीव्र भूखका कष्ट होता है । मनुष्योंमें धनका लोभ विशेष होता है, जिससे अज्ञानी पुरुष मोहमें पड़ जाते हैं ॥ १५ ॥

इह वार्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कारिणः ।
यस्तद्वेदोभयं प्राज्ञः पाप्मना न स लिप्यते ॥ १६ ॥

इस देशमें धर्म और अधर्म करनेवाले मनुष्योंके विषयमें नाना प्रकारकी बातें सुनी जाती हैं । जो धर्म और अधर्म दोनोंके परिणामको जानता है, वह विद्वान् पुरुष पापसे लिप्त नहीं होता है ॥ १६ ॥

सोपधं निकृतिः स्तेयं परीवादो ह्यसूयिता ।
परोपघातो हिंसा च पैशुन्यमनृतं तथा ॥ १७ ॥
एतानासेवते यस्तु तपस्तस्य प्रहीयते ।
यस्त्वेतान् नाचरद् विद्वांस्तपस्तस्य प्रवर्धते ॥ १८ ॥

कपट, शठता, चोरी, निन्दा, दूसरोंके दोष देखना, दूसरोंको हानि पहुँचाना, प्राणियोंकी हिंसा करना, चुगली खाना और झूठ बोलना—जो इन दुर्गुणोंका सेवन करता है, उसकी तपस्या क्षीण होती है और जो विद्वान् इन दोषोंको कभी अपने आचरणमें नहीं लाता, उसकी तपस्या निरन्तर बढ़ती रहती है ॥ १७-१८ ॥

इह चिन्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कर्मणः ।
कर्मभूमिरियं लोके इह कृत्वा शुभाशुभम् ।
शुभैः शुभमवाप्नोति तथाशुभमथान्यथा ॥ १९ ॥

इस लोकमें पुण्य और पापकर्मके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके विचार होते रहते हैं । यह कर्मभूमि है । इस जगत्‌में शुभ और अशुभ कर्म करके मनुष्य शुभ कर्मोंका शुभ फल पाता है और अशुभ कर्मोंका अशुभ फल भोगता है ॥ १९ ॥

* आचार्य नीलकण्ठने 'उत्तरे हिमवत्पार्श्वे' इत्यादिसे लेकर इस अध्यायके अन्ततकके श्लोकोंका आध्यात्मिक अर्थ किया है । वे परलोक या उत्कृष्ट लोकका अर्थ परमात्मा मानते हैं और इसी दृष्टिसे उन्होंने श्रुति और युक्तिका आश्रय ले पूरे प्रकरणकी संगति लगायी है ।

इह प्रजापतिः पूर्वं देवाः सर्षिगणास्तथा।
इष्ट्वेष्टतपसः पूता ब्रह्मलोकमुपाश्रिताः ॥ २० ॥

पूर्वकालमें यहीं प्रजापति, देवता तथा ऋषियोंने यज्ञ और अभीष्ट तपस्या करके पवित्र हो ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लिया ॥

उत्तरः पृथिवीभागः सर्वपुण्यतमः शुभः।
इहस्थास्तत्र जायन्ते ये वै पुण्यकृतो जनाः ॥ २१ ॥

पृथ्वीका उत्तरभाग सबसे अधिक पवित्र और मङ्गलमय है। इस लोकमें जो पुण्यात्मा मनुष्य हैं, वे ही मृत्युके पश्चात् उस भूभागमें जन्म लेते हैं ॥ २१ ॥

असत्कर्माणि कुर्वन्तस्तिर्यग्योनिषु चापरे।
क्षीणायुषस्तथा चान्ये नश्यन्ति पृथिवीतले ॥ २२ ॥

दूसरे लोग जो यहाँ पापकर्म करते हैं, वे पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म ग्रहण करते हैं और दूसरे कितने ही आयुक्षय होनेपर नष्ट हो जाते हैं और पातालमें चले जाते हैं ॥ २२ ॥

अन्योन्यभक्षणासक्ता लोभमोहसमन्विताः।
इहैव परिवर्तन्ते न ते यान्त्युत्तरां दिशम् ॥ २३ ॥

जो लोभ और मोहसे युक्त हो एक दूसरेको खा जानेके लिये उद्यत रहते हैं, वे भी इसी लोकमें आवागमन करते रहते हैं, उत्तरदिशाके उत्कृष्ट लोकमें नहीं जाने पाते हैं ॥

ये गुरून् पर्युपासन्ते नियता ब्रह्मचारिणः।
पन्थानं सर्वलोकानां विजानन्ति मनीषिणः ॥ २४

जो मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर ब्रह्मचर्य पालन करते हुए गुरुजनोंकी उपासना करते हैं, वे मनी पुरुष सभी लोकोंके मार्गको जानते हैं ॥ २४ ॥

इत्युक्तोऽयं मया धर्मः संक्षिप्तो ब्रह्मनिर्मितः।
धर्माधर्मौ हि लोकस्य यो वै वेत्ति स बुद्धिमान् ॥

इस प्रकार मैंने यहाँ ब्रह्माजीके द्वारा निर्मित इस धर्म संक्षेपसे वर्णन किया है। जो लोकमें करने और न करने यो धर्म और अधर्मको जानता है, वही बुद्धिमान् है ॥ २५

भीष्म उवाच

इत्युक्तो भृगुणा राजन् भरद्वाजः प्रतापवान्।
भृगुं परमधर्मात्मा विस्मितः प्रत्यपूजयत् ॥ २६

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! भृगुजीके इस प्रक कहनेपर परम धर्मात्मा प्रतापी भरद्वाजने आश्चर्यचकि होकर उनकी पूजा की ॥ २६ ॥

एष ते प्रसवो राजन् जगतः सम्प्रकीर्तितः।
निखिलेन महाप्राज्ञ किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २७ ॥

परम बुद्धिमान् नरेश! इस प्रकार मैंने तुमसे जगत् उत्पत्तिके सम्बन्धमें ये सारी बातें बतायी हैं। अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९२ ॥

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिष्टाचारका फलसहित वर्णन, पापको छिपानेसे हानि और धर्मकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

आचारस्य विधिं तात प्रोच्यमानं त्वयानघ।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मज्ञ पितामह! अब मैं आपके मुखसे सदाचारकी विधि सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

दुराचारा दुर्विचेष्टा दुष्प्रज्ञाः प्रियसाहसाः।
असंतस्त्विति विख्याताः संतश्चाचारलक्षणाः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जो दुराचारी, बुरी चेष्टावाले, दुर्बुद्धि और दुःसाहसको प्रिय माननेवाले हैं, वे दुष्टात्माके नामसे विख्यात होते हैं। श्रेष्ठ पुरुष तो वही हैं, जिनमें सदाचार देखा जाय—सदाचार ही उनका लक्षण है ॥ २ ॥

पुरीषं यदि वा मूत्रं ये न कुर्वन्ति मानवाः।
राजमार्गे गवां मध्ये धान्यमध्ये च ते शुभाः ॥ ३ ॥

जो मनुष्य सड़कपर, गौओंके बीचमें और अनाजमें मल या मूत्रका त्याग नहीं करते हैं, वे श्रेष्ठ समझे जाते हैं ॥

शौचमावश्यकं कृत्वा देवतानां च तर्पणम्।
धर्ममाहुर्मनुष्याणामुपस्पृश्य नदीं तरेत् ॥ ४ ॥

प्रतिदिन आवश्यक शौचका सम्पादन करके आचमन करे फिर नदीमें नहाये और अपने अधिकारके अनुसार संध्यो पासनाके अनन्तर देवता आदिका तर्पण करे। इसे विद्वान् पुरुष मानवमात्रका धर्म बताते हैं ॥ ४ ॥

सूर्यं सदोपतिष्ठेत न च सूर्योदये स्वपेत्।
सायं प्रातर्जपेत् संध्यां तिष्ठन् पूर्वां तथेतराम् ॥ ५ ॥

नित्यप्रति सूर्योपस्थान करे। सूर्योदयके समय कभी न सोये। सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय संध्योपासना करके गायत्रीमन्त्रका जप करे ॥ ५ ॥

पञ्चार्द्रो भोजनं भुञ्ज्यात् प्राङ्मुखो मौनमास्थितः।
न निन्द्यादन्नभक्ष्यांश्च स्वाद्वस्वादु च भक्षयेत् ॥ ६ ॥

दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह—इन पाँच अङ्गोंको धोकर

१. तात्पर्य यह कि भोजनके लिये जाते समय तत्काल हाथ, पैर और मुँह धोने चाहिये। बहुत पहलेके धोये हों, तो भी उस समय धो लेना आवश्यक है।

पूर्वाभिमुख हो भोजन करे। भोजनके समय मौन रहे। परोसे हुए अन्नकी निन्दा न करे। वह स्वादिष्ट हो या न हो, प्रेमसे भोजन कर ले ॥ ६ ॥

आर्द्रपाणिः समुत्तिष्ठेन्नार्द्रपादः स्वपेन्निशि।
देवर्षिर्नारदः प्राह एतदाचारलक्षणम् ॥ ७ ॥

भोजनके बाद हाथ धोकर उठे। रातको भीगे पैर न सोये। देवर्षि नारद इसीको सदाचारका लक्षण कहते हैं ॥ ७ ॥

शुचि देशमनड्वाहं देवगोष्ठं चतुष्पथम्।
ब्राह्मणं धार्मिकं चैत्यं नित्यं कुर्यात् प्रदक्षिणम् ॥ ८ ॥
अतिथीनां च सर्वेषां प्रेष्याणां स्वजनस्य च।
सामान्यं भोजनं भृत्यैः पुरुषस्य प्रशस्यते ॥ ९ ॥

यज्ञशाला आदि पवित्र स्थान, बैल, देवालय, चौराहा, ब्राह्मण, धर्मात्मा मनुष्य तथा चैत्य (देवसम्बन्धी वृक्ष)—इनको सदा दाहिने करके चले। गृहस्थ पुरुषको घरमें अतिथियों, सेवकों और स्वजनोंके लिये भी एक-सा भोजन बनवाना श्रेष्ठ माना गया है ॥ ८-९ ॥

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं वेदनिर्मितम्।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत् ॥ १० ॥

शास्त्रमें मनुष्योंके लिये सायंकाल और प्रातःकाल दो ही समय भोजन करनेका विधान है। बीचमें भोजन करनेकी विधि नहीं देखी गयी है। जो इस नियमका पालन करता है, उसे उपवास करनेका फल प्राप्त होता है ॥ १० ॥

होमकाले तथा जुह्वन्नृतुकाले तथा व्रजन्।
अनन्यस्त्रीजनः प्राज्ञो ब्रह्मचारी तथा भवेत् ॥ ११ ॥

जो होमके समय प्रतिदिन हवन करता, ऋतुकालमें स्त्रीके पास जाता और परायी स्त्रीपर कभी दृष्टि नहीं डालता, वह बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मचारीके समान माना जाता है ॥ ११ ॥

अमृतं ब्राह्मणोच्छिष्टं जनन्या हृदयं कृतम्।
तज्जनाः पर्युपासन्ते सत्यं सन्तः समासते ॥ १२ ॥

ब्राह्मणको भोजन करानेके बाद बचा हुआ अन्न अमृत है। वह माताके स्तन्यकी भाँति हितकर है। उसका जो लोग सेवन करते हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं ॥ १२ ॥

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी तु यो नरः।
नित्योच्छिष्टः शंकुशुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥ १३ ॥

जो मनुष्य मिट्टीके ढेले फोड़ता, तिनके तोड़ता, नख चबाता, सदा जूठे हाथ और जूठे मुँह रहता है तथा खूँटीमें बँधे हुए तोतेके समान पराधीन जीवन बिताता है, उसे इस जगत्में बड़ी आयु नहीं मिलती ॥ १३ ॥

यजुषा संस्कृतं मांसं निवृत्तो मांसभक्षणात्।
न भक्षयेद् वृथामांसं पृष्ठमांसं च वर्जयेत् ॥ १४ ॥

जो मांस-भक्षण न करता हो, वह यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा संस्कार किया हुआ मांस भी न खाय। व्यर्थ मांस और श्राद्ध-शेष मांस भी वह त्याग दे ॥ १४ ॥

स्वदेशे परदेशे वा अतिथिं नोपवासयेत्।
काम्यकर्मफलं लब्ध्वा गुरूणामुपपादयेत् ॥ १५ ॥

मनुष्य स्वदेशमें हो या परदेशमें—अपने पास आये हुए अतिथिको भूखा न रहने दे। सकाम कर्तव्यकर्मोंके फलरूपमें प्राप्त पदार्थ अपने गुरुजनोंको निवेदित कर दे ॥ १५ ॥

गुरुभ्य आसनं देयं कर्तव्यं चाभिवादनम्।
गुरूनभ्यर्च्य युज्यन्ते आयुषा यशसा श्रिया ॥ १६ ॥

गुरुजन पधारें तो उन्हें बैठनेके लिये आसन दे, प्रणाम करे, गुरुओंकी पूजा करनेसे मनुष्य आयु, यश और लक्ष्मीसे सम्पन्न होते हैं ॥ १६ ॥

नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं न च नग्नां परस्त्रियम्।
मैथुनं सततं धर्म्यं गुह्ये चैव समाचरेत् ॥ १७ ॥

उगते हुए सूर्यकी ओर न देखे, नंगी हुई परायी स्त्रीको ओर दृष्टि न डाले और सदा धर्मानुसार ऋतुकालके समय अपनी ही पत्नीके साथ एकान्त स्थानमें समागम करे ॥ १७ ॥

तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः।
सर्वमार्यकृतं चौक्ष्यं वालसंस्पर्शनानि च ॥ १८ ॥

तीर्थोंमें श्रेष्ठ तीर्थ विशुद्ध हृदय है, पवित्र वस्तुओंमें अतिपवित्र भी विशुद्ध हृदय ही है। शिष्ट पुरुष जिसे आचरणमें लाते हैं, वह आचरण सर्वश्रेष्ठ है। चँवर आदिमें लगे हुए गायकी पूँछके बालोंका स्पर्श भी शिष्टाचारानुमोदित होनेके कारण शुद्ध है ॥ १८ ॥

दर्शने दर्शने नित्यं सुखप्रश्नमुदाहरेत्।
सायं प्रातश्च विप्राणां प्रदिष्टमभिवादनम् ॥ १९ ॥

परिचित मनुष्यसे जब-जब भेंट हो, सदा उसका कुशल-समाचार पूछे। सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय ब्राह्मणोंको प्रणाम करे, यह शास्त्रकी आज्ञा है ॥ १९ ॥

देवागारे गवां मध्ये ब्राह्मणानां क्रियापथे।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ २० ॥

देवमन्दिरमें, गौओंके बीचमें, ब्राह्मणके यज्ञादि कर्मोंमें, शास्त्रोंके स्वाध्यायकालमें और भोजन करते समय दाहिने हाथसे काम ले ॥ २० ॥

सायं प्रातश्च विप्राणां पूजनं च यथाविधि।
पण्यानां शोभते पण्यं कृषीणां बाद्यते कृषिः ॥ २१ ॥
बहुकारं च सस्यानां वाह्ये वाहो गवां तथा।

सबेरे और शाम दोनो समय विधिपूर्वक ब्राह्मणोंका पूजन (सेवा-सत्कार) करना चाहिये। यही व्यापारोंमें उत्तम व्यापारकी भाँति शोभा पाता है और यही खेतीमें सबसे अच्छी खेतीके समान प्रत्यक्ष फलदायक है। ब्राह्मण-पूजक पुरुषके विविध अन्नोंकी वृद्धि होती है और उसे वाहनोंमें गोजातिके श्रेष्ठ वाहन सुलभ होते हैं ॥ २१½ ॥

सम्पन्नं भोजने नित्यं पानीये तर्पणं तथा ॥ २२ ॥
सुशृतं पायसे ब्रूयाद् यवाग्वां कृसरे तथा ।

भोजन करानेके पश्चात् दाता पूछे कि क्या भोजन सम्पन्न हो गया ? ब्राह्मण उत्तर दे कि सम्पन्न हो गया । इसी प्रकार जल पिलानेके बाद दाता पूछे तृप्ति हुई क्या ? ब्राह्मण उत्तर दे कि अच्छी तरह तृप्ति हो गयी । खीर खिलानेके बाद जब यजमान पूछे कि अच्छा बना था न ? तब ब्राह्मण उत्तर दे बहुत अच्छा बना था। इसी प्रकार जौका हलुआ और खिचड़ी खिलानेके बाद भी प्रश्न और उत्तर होना चाहिये ॥ २२½ ॥

श्मश्रुकर्मणि सम्प्राप्ते क्षुते स्नानेऽथ भोजने ।
व्याधितानां च सर्वेषामायुष्यमभिनन्दनम् ॥ २३ ॥

हजामत बनाने, छींकने, स्नान और भोजन करनेके बाद हरेक मनुष्यको तथा सभी अवस्थाओंमें सम्पूर्ण रोगियोंका कर्तव्य है कि वे ब्राह्मणोंको प्रणाम आदिसे प्रसन्न करें । इससे उनकी आयु बढ़ती है ॥ २३ ॥

प्रत्यादित्यं न मेहेत न पश्येदात्मनः शकृत् ।
सह स्त्रियाथ शयनं सह भोज्यं च वर्जयेत् ॥ २४ ॥

सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब न करे । अपनी विष्ठापर दृष्टि न डाले । स्त्रीके साथ एक शय्यापर सोना और एक थालीमें भोजन करना छोड़ दे ॥ २४ ॥

त्वंकारं नामधेयं च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत् ।
अवराणां समानानामुभयेषां न दुष्यति ॥ २५ ॥

अपनेसे बड़ोंका नाम लेकर या तू कहकर न पुकारे, जो अपनेसे छोटे या समवयस्क हों, उनके लिये वैसा करना दोषकी बात नहीं है ॥ २५ ॥

हृदयं पापवृत्तानां पापमाख्याति वैकृतम् ।
ज्ञानपूर्वं विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ॥ २६ ॥

पापियोंका हृदय तथा उनके नेत्र और मुख आदिका विकार ही उनके पापोंको बता देता है । जो लोग जान-बूझकर किये हुए पापको महापुरुषोंसे छिपाते हैं, वे गिर जाते हैं ॥

ज्ञानपूर्वकृतं पापं छादयत्यबहुश्रुतः ।
नैनं मनुष्याः पश्यन्ति पश्यन्त्येव दिवौकसः ॥ २७ ॥

मूर्ख मनुष्य ही जान-बूझकर किये हुए पापको छिपाता है । यद्यपि उस पापको मनुष्य नहीं देखते हैं, तो भी देवता-लोग तो देखते ही हैं ॥ २७ ॥

पापेनापिहितं पापं पापमेवानुवर्तते ।
धर्मेणापिहितो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ।
धार्मिकेण कृतो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ॥ २८

पापी मनुष्यका पापके द्वारा छिपाया हुआ पाप पु उसे पापमें ही लगाता है और धर्मात्माका धर्मतः गुप्त रख हुआ धर्म उस पुनः धर्ममें ही प्रवृत्त करता है ॥ २८ ॥

पापं कृतं न स्मरतीह मूढो
विवर्तमानस्य तदेति कर्तुः ।
राहुर्यथा चन्द्रमुपैति चापि
तथाबुधं पापमुपैति कर्म ॥ २९

मूर्ख मनुष्य अपने किये हुए पापको याद नहीं रखत परंतु पापमें प्रवृत्त हुए कर्ताका पाप स्वयं ही उसके पी लगा रहता है, जैसे राहु चन्द्रमाके पास स्वतः पहुँच जा है, उसी प्रकार उस मूढ़ मनुष्यके पास उसका पाप स्व चला जाता है ॥ २९ ॥

आशया संचितं द्रव्यं दुःखेनैवोपभुज्यते ।
तद् बुधा न प्रशंसन्ति मरणं न प्रतीक्षते ॥ ३०

किसी विशेष कामनाकी पूर्तिकी आशासे जो धन संचि करके रखा गया है, उसका उपभोग दुःखपूर्वक ही किय जाता है; अतः विद्वान् पुरुष उसकी प्रशंसा नहीं करते है क्योंकि मृत्यु किसीकी कामना-पूर्तिके अवसरकी प्रतीक्षा न करती है ॥ ३० ॥

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत् ॥ ३१ ॥

मनीषी पुरुषोंका कथन है कि समस्त प्राणियोंके लि मनद्वारा किया हुआ धर्म ही श्रेष्ठ है; अतः मनसे सम्पू जीवोंका कल्याण सोचता रहे ॥ ३१ ॥

एक एव चरेद् धर्मं नास्ति धर्मे सहायता ।
केवलं विधिमासाद्य सहायः किं करिष्यति ॥ ३२ ॥

केवल वेदविधिका सहारा लेकर अकेले ही धर्मका आचरण करना चाहिये । उसमें सहायताकी आवश्यकता नहीं है । कोई दूसरा सहायक आकर क्या करेगा ? ॥ ३२ ॥

धर्मो योनिर्मनुष्याणां देवानाममृतं दिवि ।
प्रेत्यभावे सुखं धर्माच्छश्वत्तैरुपभुज्यते ॥ ३३ ॥

धर्म ही मनुष्योंकी योनि है । वही स्वर्गमें देवताओंका अमृत है । धर्मात्मा मनुष्य मरनेके पश्चात् धर्मके ही बलसे सदा सुख भोगते हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि भीष्मयुधिष्ठिरसंवादे आचारविधौ त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भीष्म-युधिष्ठिरसंवादके प्रसङ्गमें आचारविधिविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अध्यात्मज्ञानका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

अध्यात्मं नाम यदिदं पुरुषस्येह चिन्त्यते।
यदध्यात्मं यथा चैतत् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये अध्यात्मके नामसे जिसका विचार किया जाता है, वह अध्यात्मज्ञान क्या है और कैसा है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

कुतः सृष्टमिदं विश्वं ब्रह्मन् स्थावरजङ्गमम्।
प्रलये कथमभ्येति तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ २ ॥

ब्रह्मन् ! इस चराचर जगत्की सृष्टि किससे हुई है और प्रलयकालमें इसका लय किस प्रकार होता है; इस विषयका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अध्यात्ममिति मां पार्थ यदेतदनुपृच्छसि।
तद् व्याख्यास्यामि ते तात श्रेयस्करतमं सुखम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! कुन्तीनन्दन ! तुम जिस अध्यात्मज्ञानके विषयमें पूछ रहे हो, उसकी व्याख्या मैं तुम्हारे लिये करता हूँ; वह परम कल्याणकारी और सुखस्वरूप है ॥ ३ ॥

सृष्टिप्रलयसंयुक्तमाचार्यैः परिदर्शितम्।
यज्ज्ञात्वा पुरुषो लोके प्रीतिं सौख्यं च विन्दति।
फललाभश्च तस्य स्यात् सर्वभूतहितं च तत् ॥ ४ ॥

आचार्योंने सृष्टि और प्रलयकी व्याख्याके साथ अध्यात्मज्ञानका विवेचन किया है, जिसे जानकर मनुष्य इस संसारमें सुख और प्रसन्नताका भागी होता है । उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति भी होती है । वह अध्यात्मज्ञान समस्त प्राणियोंके लिये हितकर है ॥ ४ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
महाभूतानि भूतानां सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ॥ ५ ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि—ये पाँच महाभूत सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं ॥५॥

यतः सृष्टानि तत्रैव तानि यान्ति पुनः पुनः।
महाभूतानि भूतेभ्यः सागरस्योर्मयो यथा ॥ ६ ॥

जैसे लहरें समुद्रसे प्रकट होकर फिर उसीमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ये पाँच महाभूत भी जिस परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं, उसीमें सब प्राणियोंके सहित बारंबार लीन होते हैं ॥ ६ ॥

प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः।
तद्वद् भूतानि भूतात्मा सृष्टानि हरते पुनः ॥ ७ ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको फैलाकर पुनः समेट लेता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा परब्रह्म परमेश्वर अपने रचे हुए सम्पूर्ण भूतोंको फैलाकर फिर अपने भीतर ही समेट लेते हैं ॥ ७ ॥

महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत्।
अकरोत् तेषु वैषम्यं तत्तु जीवो न पश्यति ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले परमात्माने सब प्राणियोंके शरीरोंमें पाँच ही महाभूतोंको स्थापित किया है; परंतु उनमें विषमता कर दी है—किसी महाभूतके अंशको अधिक और किसीके अंशको कम करके रक्खा है । उस वैषम्यको साधारण जीव नहीं देख पाता ॥ ८ ॥

शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशयोनिजम्।
वायोः स्पर्शस्तथा चेष्टा त्वक् चैव त्रितयं स्मृतम् ॥ ९ ॥

शब्दगुण, श्रोत्र इन्द्रिय और शरीरके सम्पूर्ण छिद्र—ये तीन आकाशके कार्य हैं । स्पर्श, चेष्टा और त्वगिन्द्रिय—ये तीन वायुके कार्य माने गये हैं ॥ ९ ॥

रूपं चक्षुस्तथा पाकस्त्रिविधं तेज उच्यते।
रसः क्लेदश्च जिह्वा च त्रयो जलगुणाः स्मृताः ॥ १० ॥

रूप, नेत्र और परिपाक—ये तीन तेजके कार्य बताये जाते हैं । रस, जिह्वा तथा क्लेद (गीलापन)—ये तीन जलके गुण अर्थात् कार्य माने गये हैं ॥ १० ॥

घ्रेयं घ्राणं शरीरं च एते भूमिगुणास्त्रयः।
महाभूतानि पञ्चैव षष्ठं च मन उच्यते ॥ ११ ॥

गन्ध, घ्राणेन्द्रिय और शरीर—ये तीन भूमिके गुण अर्थात् कार्य हैं । इस प्रकार इस शरीरमें पाँच महाभूत और छठा मन है; ऐसा बताया जाता है ॥ ११ ॥

इन्द्रियाणि मनश्चैव विज्ञानान्यस्य भारत।
सप्तमी बुद्धिरित्याहुः क्षेत्रज्ञः पुनरष्टमः ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ और मन—ये जीवात्माको विषयोंका ज्ञान करानेवाले हैं । शरीरमें इन छःके अतिरिक्त सातवीं बुद्धि और आठवाँ क्षेत्रज्ञ है ॥ १२ ॥

चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः।
बुद्धिरध्यवसानाय क्षेत्रज्ञः साक्षिवत् स्थितः ॥ १३ ॥

इन्द्रियाँ विषयोंको ग्रहण कराती हैं । मन संकल्प-विकल्प करता है । बुद्धि निश्चय करानेवाली है और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) साक्षीकी भाँति स्थित रहता है ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वं पादतलाभ्यां यदर्वाक्चोर्ध्वं च पश्यति।
एतेन सर्वमेवेदं विद्ध्यभिव्याप्तमन्तरम् ॥ १४ ॥

दोनों पैरोंके तलोंसे लेकर ऊपरतक जो शरीर स्थित है, उसे जो साक्षीभूत चेतन ऊपर-नीचे सब ओरसे देखता है, वह इस सारे शरीरके भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त है । इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ १४ ॥

पुरुषैरिन्द्रियाणीह वेदितव्यानि कृत्स्नशः ।
तमो रजश्च सत्त्वं च तेऽपि भावास्तदाश्रिताः॥ १५ ॥

सभी मनुष्योंको अपनी इन्द्रियों (और मन-बुद्धि) की देख-भाल करके उनके विषयमें पूरी जानकारी रखनी चाहिये; क्योंकि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण उन्हींका आश्रय लेकर रहते हैं ॥ १५ ॥

एतां बुद्ध्वा नरो बुद्ध्या भूतानामागतिं गतिम्।
समवेक्ष्य शनैश्चैव लभते शममुत्तमम् ॥ १६ ॥

मनुष्य अपनी बुद्धिके बलसे इन सबको और जीवोंके आवागमनकी अवस्थाको जानकर शनैः-शनैः उसपर विचार करनेसे उत्तम शान्ति पा जाता है ॥ १६ ॥

गुणैर्नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि ।
मनःषष्ठानि सर्वाणि तदभावे कुतो गुणाः ॥ १७ ॥

तम आदि गुण बुद्धिको बारंबार विषयोंकी ओर ले जाते हैं; तथा बुद्धिके साथ-साथ मनसहित पाँचों इन्द्रियोंको और उनकी समस्त वृत्तियोंको भी ले जाते हैं । उस बुद्धिके अभावमें गुण कैसे रह सकते हैं ? ॥ १७ ॥

इति तन्मयमेवैतत् सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलीयते चोद्भवति तस्मान्निर्दिश्यते तथा ॥ १८ ॥

यह चराचर जगत् बुद्धिके उदय होनेपर ही उत्पन्न होता है और उसके लयके साथ ही लीन हो जाता है; इसलिये यह सारा प्रपञ्च बुद्धिमय ही है; अतएव श्रुतिने सबकी बुद्धिरूपताका ही निर्देश किया है ॥ १८ ॥

येन पश्यति तच्चक्षुः शृणोति श्रोत्रमुच्यते ।
जिघ्रति घ्राणमित्याहू रसं जानाति जिह्वया ॥ १९ ॥

बुद्धि जिसके द्वारा देखती है, उसे नेत्र और जिसके द्वारा सुनती है, उसे श्रोत्र कहते हैं । इसी प्रकार जिससे वह सूँघती है, उसे घ्राण कहा गया है, वही जिह्वाके द्वारा रसका अनुभव करती है ॥ १९ ॥

त्वचा स्पर्शयते स्पर्शं बुद्धिर्विक्रियतेऽसकृत् ।
येन प्रार्थयते किञ्चित् तदा भवति तन्मनः ॥ २० ॥

बुद्धि त्वचासे स्पर्शका बोध प्राप्त करती है । इस प्रकार वह बारंबार विकारको प्राप्त होती रहती है । वह जिस करणके द्वारा जिसका अनुभव करना चाहती है, मन उसीका रूप धारण कर लेता है ॥ २० ॥

अधिष्ठानानि बुद्धेर्हि पृथगर्थानि पञ्चधा ।
इन्द्रियाणीति यान्याहुस्तान्यदृश्योऽधितिष्ठति ॥ २१ ॥

भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेके लिये जो बुद्धिके पाँच अधिष्ठान हैं, उन्हींको पाँच इन्द्रियाँ कहते हैं । अदृश्य जीवात्मा उन सबका अधिष्ठाता (प्रेरक) है ॥ २१ ॥

पुरुषे तिष्ठती बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते ।
कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदनुशोचति ॥ २२ ॥
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि वर्तते ।

जीवात्माके आश्रित रहकर बुद्धि (सुख, दुःख और मोह) तीन भावोंमें स्थित होती है । वह कभी तो प्रसन्नताका अनुभव करती है, कभी शोकमें डूबी रहती है और कभी सुख और दुःख दोनोंके अनुभवसे रहित मोहाच्छन्न हो जाती है ॥ २२½ ॥

एवं नराणां मनसि त्रिषु भावेष्ववस्थिता ॥ २३ ॥
सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतानतिवर्तते ।
सरितां सागरो भर्ता महावेलामिवोर्मिमान् ॥ २४ ॥

इस प्रकार वह मनुष्योंके मनके भीतर तीन भावोंमें अवस्थित है, यह भावात्मिका बुद्धि (समाधि-अवस्थामें) सुख, दुःख और मोह—इन तीनों भावोंको लाँघ जाती है; ठीक उसी तरह जैसे सरिताओंका स्वामी समुद्र उत्ताल तरङ्गोंसे संयुक्त हो अपनी विशाल तटभूमिको भी कभी-कभी लाँघ जाता है ॥ २३-२४ ॥

अतिभावगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते ।
प्रवर्तमानं तु रजस्तद्भावमनुवर्तते ॥ २५ ॥

उपर्युक्त भावोंको लाँघ जानेपर भी बुद्धि भावात्मक मनमें सूक्ष्मरूपसे स्थित रहती है । तत्पश्चात् समाधिसे उत्थानके समय प्रवृत्त्यात्मक रजोगुण बुद्धिभावका अनुसरण करता है ॥ २५ ॥

इन्द्रियाणि हि सर्वाणि प्रवर्तयति सा तदा ।
ततः सत्त्वं तमोभावः प्रीतियोगात् प्रवर्तते ॥ २६ ॥

उस समय रजोगुणसे युक्त हुई बुद्धि सारी इन्द्रियोंको प्रवृत्तिमें लगा देती है । तदनन्तर विषयोंके सम्बन्धसे प्रीतिरूप सत्त्वगुण प्रकट होता है । उसके बाद पुरुषके आसक्ति आदि दोषोंसे तमोमय भावका उदय होता है ॥ २६ ॥

प्रीतिः सत्त्वं रजः शोकस्तमो मोहस्तु ते त्रयः ।
ये ये च भावा लोकेऽस्मिन् सर्वेष्वेतेषु वै त्रिषु ॥ २७ ॥

प्रसन्नता या हर्ष सत्त्वगुणका कार्य है, शोक रजोगुणरूप है और मोह तमोगुणरूप । इस संसारमें जो-जो भाव हैं, वे सब इन्हीं तीनोंके अन्तर्गत हैं ॥ २७ ॥

इति बुद्धिगतिः सर्वा व्याख्याता तव भारत ।
इन्द्रियाणि च सर्वाणि विजेतव्यानि धीमता ॥ २८ ॥

भारत ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समक्ष बुद्धिकी सम्पूर्ण गतिका विशद विवेचन किया है । बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको काबूमें रक्खे ॥ २८ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव प्राणिनां संश्रिताः सदा ।
त्रिविधा वेदना चैव सर्वसत्त्वेषु दृश्यते ॥ २९ ॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति भारत ।

भारत ! सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण सदा ही प्राणियोंमें स्थित रहते हैं और इनके कारण उन सब जीवोंमें सात्त्विकी, राजसी और तामसी—यह तीन प्रकारकी अनुभूति देखी जाती है ॥ २९½ ॥

सुखस्पर्शः सत्त्वगुणो दुःखस्पर्शो रजोगुणः ।

तमोगुणेन संयुक्तौ भवतोऽव्यावहारिकौ ॥ ३० ॥

सत्त्वगुण सुखकी अनुभूति करानेवाला है, रजोगुण दुःख-की प्राप्ति कराता है और जब वे दोनों तमोगुण (मोह) से संयुक्त होते हैं, तब व्यवहारके विषय नहीं रह जाते ॥३०॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्याचक्षीत तत् तथा ॥ ३१ ॥

जब शरीर या मनमें किसी प्रकारसे भी प्रसन्नताका भाव हो, तब यह कहना चाहिये कि सात्त्विकभावका उदय हुआ है ॥

अथ यद् दुःखसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
प्रवृत्तं रज इत्येव तन्न संरभ्य चिन्तयेत् ॥ ३२ ॥

जब अपने मनमें दुःखसे युक्त अप्रसन्नताका भाव जाग्रत् हो, तब यह समझना चाहिये कि रजोगुणकी प्रवृत्ति हुई है ! अतः उस दुःखको पाकर मनमें चिन्ता न करे (क्योंकि चिन्तासे दुःख और बढ़ता है) ॥ ३२ ॥

अथ यन्मोहसंयुक्तमव्यक्तविषयं भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३३ ॥

जब मनमें कोई मोहयुक्तभाव पैदा हो और किसी भी इन्द्रियका विषय स्पष्ट जान न पड़े, उसके विषयमें कोई तर्क भी काम न करे और वह किसी तरह समझमें न आवे, तब यही निश्चय करना चाहिये कि तमोगुणकी वृद्धि हुई है ॥

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ।
कथंचिदभिवर्तन्त इत्येते सात्त्विका गुणाः ॥ ३४ ॥

जब मनमें किसी प्रकार भी अत्यन्त हर्ष, प्रेम, आनन्द, सुख और शान्तिका अनुभव हो रहा हो, तब इन गुणोंको सात्त्विक समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

अतुष्टिः परितापश्च शोको लोभस्तथाक्षमा ।
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुभिः ॥ ३५ ॥

जिस समय किसी कारणसे या बिना कारण ही असंतोष, शोक, संताप, लोभ और असहनशीलताके भाव दिखायी दें तो उन्हें रजोगुणका चिह्न जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

अवमानस्तथा मोहः प्रमादः स्वप्नतन्द्रिता ।
कथंचिदभिवर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार जब अपमान, मोह, प्रमाद, स्वप्न, निद्रा और आलस्य आदि दोष किसी तरह भी घेरते हों तो उन्हें तमोगुणके ही विविध रूप समझे ॥ ३६ ॥

दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम् ।
मनः सुनियतं यस्य स सुखी प्रेत्य चेह च ॥ ३७ ॥

जिसका दूरतक दौड़ लगानेवाला और अनेक विषयोंकी ओर जानेवाला कामनायुक्त संशयात्मक मन अच्छी तरह वशमें हो जाता है, वह मनुष्य इहलोकमें तथा मरनेके बाद परलोक-में भी सुखी होता है ॥ ३७ ॥

सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः ।
सृजते तु गुणानेक एको न सृजते गुणान् ॥ ३८ ॥

बुद्धि और आत्मा—ये दोनों ही सूक्ष्म तत्त्व हैं तथापि इनमें बड़ा भारी अन्तर है । तुम इस अन्तरपर दृष्टिपात करो । इनमें बुद्धि तो गुणोंकी सृष्टि करती है और आत्मा गुणोंकी सृष्टिसे अलग रहता है ॥ ३८ ॥

मशकोदुम्बरौ वापि सम्प्रयुक्तौ यथा सदा ।
अन्योन्यमेतौ स्यातां च सम्प्रयोगस्तथा तयोः ॥ ३९ ॥

जैसे गूलरका फल और उसके भीतर रहनेवाले कीड़े एक साथ रहते हुए भी एक दूसरेसे अलग हैं, उसी प्रकार बुद्धि और आत्मा दोनोंका एक साथ रहना और भिन्न-भिन्न होना समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

पृथग्भूतौ प्रकृत्या तौ सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा ।
यथा मत्स्यो जलं चैव सम्प्रयुक्तौ तथैव तौ ॥ ४० ॥

ये दोनों स्वभावसे ही अलग-अलग हैं तो भी सदा एक दूसरेसे मिले रहते हैं । ठीक वैसे ही, जैसे मछली और जल एक दूसरेसे पृथक् होकर भी परस्पर संयुक्त रहते हैं । यही स्थिति बुद्धि और आत्माकी भी है ॥ ४० ॥

न गुणा विदुरात्मानं स गुणान् वेत्ति सर्वशः ।
परिद्रष्टा गुणानां तु संसृष्टान्मन्यते तथा ॥ ४१ ॥

सत्त्व आदि गुण जड होनेके कारण आत्माको नहीं जानते; किंतु आत्मा चेतन है, इसलिये वह गुणोंको सब प्रकारसे जानता है । यद्यपि आत्मा गुणोंका साक्षी है, अतः उनसे सर्वथा भिन्न है तो भी वह अपनेको उन गुणोंसे संयुक्त मानता है ॥

इन्द्रियैस्तु प्रदीपार्थं कुरुते बुद्धिसप्तमैः ।
निर्विचेष्टैरजानद्भिः परमात्मा प्रदीपवत् ॥ ४२ ॥

जैसे घड़ेमें रक्खा हुआ दीपक घड़ेके छेदोंसे अपना प्रकाश फैलाकर वस्तुओंका ज्ञान कराता है, उसी प्रकार परमात्मा शरीरके भीतर स्थित होकर चेष्टा और ज्ञानसे शून्य इन्द्रियों तथा मन-बुद्धि इन सातोंके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंका अनुभव कराता है ॥ ४२ ॥

सृजते हि गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति ।
सम्प्रयोगस्तयोरेष सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्ध्रुवः ॥ ४३ ॥

बुद्धि गुणोंकी सृष्टि करती है और आत्मा साक्षी बनकर देखता रहता है । उन बुद्धि और आत्माका यह संयोग अनादि है ॥

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य क्षेत्रज्ञस्य च कश्चन ।
सत्त्वं मनः संसृजते न गुणान् वै कदाचन ॥ ४४ ॥

बुद्धिका परमात्माके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं है और क्षेत्रज्ञका भी कोई दूसरा आश्रय नहीं है बुद्धि । मनसे ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है । गुणोंके साथ उसका साक्षात् सम्पर्क कदापि नहीं होता ॥ ४४ ॥

रश्मींस्तेषां स मनसा यदा सम्यङ्नियच्छति ।
तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा घटे दीपो ज्वलन्निव ॥ ४५ ॥

जब जीव बुद्धिरूपी सारथि और मनरूपी बागडोरद्वारा इन्द्रियरूपी अश्वोंकी लगाम अच्छी तरह काबूमें रखता है,

तब घड़ेमें रक्खे हुए प्रज्वलित दीपकके समान अपने भीतर ही उसका आत्मा प्रकाशित होने लगता है ॥ ४५ ॥

त्यक्त्वा यः प्राकृतं कर्म नित्यमात्मरतिर्मुनिः ।
सर्वभूतात्मभूतस्तस्मात् स गच्छेदुत्तमां गतिम् ॥ ४६ ॥

जो सांसारिक कर्मोंका परित्याग करके सदा अपने-आपमें ही अनुरक्त रहता है, वह मननशील मुनि सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा होकर परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

यथा वारिचरः पक्षी सलिलेन न लिप्यते ।
एवमेव कृतप्रज्ञो भूतेषु परिवर्तते ॥ ४७ ॥

जैसे जलचर पक्षी जलसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार विशुद्धबुद्धि ज्ञानी पुरुष निर्लिप्त रहकर ही सम्पूर्ण भूतोंमें विचरता है ॥ ४७ ॥

एवं स्वभावमेवैतत् स्वबुद्ध्या विहरेन्नरः ।
अशोचन्नप्रहृष्यंश्च समो विगतमत्सरः ॥ ४८ ॥

यह आत्मतत्त्व ऐसा ही निर्लिप्त एवं शुद्ध-बुद्धिस्वरूप है; ऐसा अपनी बुद्धिके द्वारा निश्चय करके ज्ञानी पुरुष हर्ष, शोक और मात्सर्य-दोषसे रहित हो सर्वत्र समानभाव रखते हुए विचरे ॥ ४८ ॥

स्वभावयुक्त्या युक्तस्तु स नित्यं सृजते गुणान् ।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं विज्ञेयास्तन्तुवद् गुणाः ॥ ४९ ॥

आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित रहकर ही सदा गुणोंकी सृष्टि करता है । ठीक उसी तरह, जैसे मकड़ी अपने स्वरूपमें स्थित रहती हुई ही जाला बनाती है । मकड़ीके जालेके ही समान समस्त गुणोंकी सत्ता समझनी चाहिये ॥ ४९ ॥

प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते निवृत्तिर्नोपलभ्यते ।
प्रत्यक्षेण परोक्षं तदनुमानेन सिध्यति ॥ ५० ॥
एवमेकेऽध्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ।
उभयं सम्प्रधार्यैतद् व्यवस्येत यथामति ॥ ५१ ॥

आत्मसाक्षात् हो जानेपर गुण नष्ट हो जाते हैं तो भी सर्वथा निवृत्त नहीं होते हैं; क्योंकि उनकी निवृत्ति प्रत्यक्ष नहीं देखी जाती है । जो परोक्ष वस्तु है, उसकी सिद्धि अनुमानसे होती है । एक श्रेणीके विद्वानोंका ऐसा ही निश्चय है । दूसरे लोग यह मानते हैं कि गुणोंकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है । इन दोनों मतोंपर भलीभाँति विचार करके अपनी बुद्धिके अनुसार यथार्थ वस्तुका निश्चय करना चाहिये ॥

इतीमं हृदयग्रन्थिं बुद्धिभेदमयं दृढम् ।
विमुच्य सुखमासीत न शोचेच्छिन्नसंशयः ॥ ५२ ॥

बुद्धिके द्वारा कल्पित हुआ जो भेद है, वही हृदयकी सुदृढ़ गाँठ है । उसे खोलकर संशयरहित हो ज्ञानवान् पुरुष सुखसे रहे, कदापि शोक न करे ॥ ५२ ॥

मलिनाः प्राप्नुयुः शुद्धिं यथा पूर्णां नदीं नराः ।
अवगाह्य सुविद्वांसो विद्धि ज्ञानमिदं तथा ॥ ५३ ॥

जैसे मैले शरीरवाले मनुष्य जलसे भरी हुई नदीमें नहा-धोकर साफ-सुथरे हो जाते हैं, उसी प्रकार इस ज्ञानमय नदीमें अवगाहन करके मलिन-चित्त मनुष्य भी शुद्ध एवं ज्ञान सम्पन्न हो जाते हैं; ऐसा जानो ॥ ५३ ॥

महानद्या हि पारज्ञस्तप्यते न तदन्यथा ।
न तु तप्यति तत्त्वज्ञः फले ज्ञाते तरत्युत ॥ ५४ ॥

किसी महानदीके पारको जाननेवाला पुरुष केवल जानने मात्रसे कृतकृत्य नहीं होता । जबतक वह नौका आदिके द्वारा वहाँ पहुँच न जाय, तबतक वह चिन्तासे संतप्त ही रहता है; परंतु तत्त्वज्ञ पुरुष ज्ञानमात्रसे ही संसार-सागरसे पार हो जाता है, उसे संताप नहीं होता; क्योंकि यह ज्ञान स्वयं ही पुलस्वरूप है ॥ ५४ ॥

एवं ये विदुराध्यात्मं केवलं ज्ञानमुत्तमम् ॥ ५५ ॥
एतां बुद्ध्वा नरः सर्वां भूतानामागतिं गतिम् ।
अवेक्ष्य च शनैर्बुद्ध्या लभते शमनं ततः ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य बुद्धिसे जीवोंके इस आवागमनपर शनैः-शनैः विचार करके उस विशुद्ध एवं उत्तम आध्यात्मिक ज्ञानको प्राप्त कर लेता है, वह परम शान्ति पाता है ॥ ५५-५६ ॥

त्रिवर्गो यस्य विदितः प्रेक्ष्य यश्च विमुञ्चति ।
अन्विष्य मनसा युक्तस्तत्त्वदर्शी निरुत्सुकः ॥ ५७ ॥

जिसे धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंका ठीक-ठीक ज्ञान है, जो खूब सोच-समझकर उनका परित्याग कर चुका है और जिसने मनके द्वारा आत्मतत्त्वका अनुसंधान करके योगयुक्त हो, आत्मासे भिन्न वस्तुके लिये उत्सुकताका त्याग कर दिया है, वही तत्त्वदर्शी है ॥ ५७ ॥

न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैश्च विभागशः ।
तत्र तत्र विसृष्टैश्च दुर्वार्यैश्चाकृतात्मभिः ॥ ५८ ॥

जिन्होंने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वे भिन्न-भिन्न विषयोंकी ओर प्रेरित हुई दुर्निवार्य इन्द्रियोंद्वारा आत्माका साक्षात्कार नहीं कर सकते ॥ ५८ ॥

एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम् ।
विज्ञाय तद्धि मन्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥ ५९ ॥

यह जानकर मनुष्य ज्ञानी हो जाता है । ज्ञानीका इसके सिवा और क्या लक्षण है? क्योंकि मनीषी पुरुष उस परमात्म-तत्त्वको जानकर ही अपनेको कृतकृत्य मानते हैं ॥ ५९ ॥

न भवति विदुषां ततो भयं
यदविदुषां सुमहद् भयं भवेत् ।
न हि गतिरधिकास्ति कस्यचित्
सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम् ॥ ६० ॥

अज्ञानियोंके लिये जो महान् भयका स्थान है, उसी संसारसे ज्ञानी पुरुषोंको भय नहीं होता । ज्ञान होनेपर सबको एक-सी ही गति (मुक्ति) प्राप्त होती है । किसीको उत्कृष्ट या निकृष्ट गति नहीं मिलती; क्योंकि गुणोंका सम्बन्ध रहनेपर ही उनके तारतम्यके अनुसार प्राप्त होनेवाली गतिमें

भी असमानता बतायी जाती है (ज्ञानीका गुणोंसे सम्बन्ध नहीं रहता) ॥ ६० ॥

यः करोत्यनभिसंधिपूर्वकं
तच्च निर्णुदति यत्पुराकृतम् ।
नाप्रियं तदुभयं कुतः प्रियं
तस्य तज्जनयतीह सर्वतः ॥ ६१ ॥

जो निष्काम भावसे कर्म करता है, उसका वह कर्म पहलेके किये हुए समस्त कर्म-संस्कारोंका नाश कर देता है । पूर्वजन्म और इस जन्मके किये हुए वे दोनों प्रकारके कर्म उस पुरुषके लिये न तो अप्रिय फल उत्पन्न करते हैं और न तो प्रिय फलके ही जनक होते हैं (क्योंकि कर्तापनके अभिमान और फलकी आसक्तिसे शून्य होनेके कारण उनका उन कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रह जाता) ॥ ६१ ॥

लोकमातुरमसूयते जन-
स्तस्य तज्जनयतीह सर्वतः ॥ ६२ ॥

जो काम, क्रोध आदि दुर्व्यसनोंसे आतुर रहता है, उसे विचारवान् पुरुष धिक्कारते हैं । उसके निन्दनीय कर्म उस आतुर मानवको सभी योनियों (पशु-पक्षी आदिके शरीरों) में जन्म दिलाता है ॥ ६२ ॥

लोक आतुरजनान् विराविण-
स्तत्तदेव बहु पश्य शोचतः ।
तत्र पश्य कुशलानशोचतो
ये विदुस्तदुभयं पदं सताम् ॥ ६३ ॥

लोकमें भोगासक्तिके कारण आतुर रहनेवाले लोग स्त्री, पुत्र आदिके नाश होनेपर उनके लिये बहुत शोक करते और फूट-फूटकर रोते हैं । तुम उनकी इस दुर्दशाको देख लो । साथ ही, जो सारासार-विवेकमें कुशल हैं और सत्पुरुषों-को प्राप्त होनेवाले दो प्रकारके पदको अर्थात् सगुण-उपासना और निर्गुण-उपासनाके फलको जानते हैं, वे कभी शोक नहीं करते हैं । उनकी अवस्थापर भी दृष्टिपात कर लो (फिर तुम्हें अपने लिये जो हितकर दिखायी दे, उसी पथका आश्रय लो) ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अध्यात्मकथने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अध्यात्मतत्त्वका वर्णनविषयक एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

ध्यानयोगका वर्णन

भीष्म उवाच

हन्त वक्ष्यामि ते पार्थ ध्यानयोगं चतुर्विधम् ।
यं ज्ञात्वा शाश्वतीं सिद्धिं गच्छन्तीह महर्षयः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! अब मैं तुमसे ध्यानयोगका वर्णन करूँगा, जो आलम्बनके भेदसे चार प्रकार-का होता है । जिसे जानकर महर्षिगण यहीं सनातन सिद्धि-को प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

यथा स्वनुष्ठितं ध्यानं तथा कुर्वन्ति योगिनः ।
महर्षयो ज्ञानतृप्ता निर्वाणगतमानसाः ॥ २ ॥

निर्वाणस्वरूप मोक्षमें मन लगानेवाले ज्ञानतृप्त योगयुक्त महर्षिगण उसी उपायका अवलम्बन करते हैं, जिससे ध्यानका भलीभाँति अनुष्ठान हो सके ॥ २ ॥

नावर्तन्ते पुनः पार्थ मुक्ताः संसारदोषतः ।
जन्मदोषपरिक्षीणाः स्वभावे पर्यवस्थिताः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन ! वे संसारके काम, क्रोध आदि दोषोंसे मुक्त तथा जन्मसम्बन्धी दोषसे शून्य होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, इसलिये पुनः इस संसारमें उन्हें नहीं लौटना पड़ता ॥ ३ ॥

निर्द्वन्द्वा नित्यसत्त्वस्था विमुक्ता नियमस्थिताः ।
असङ्गान्यविवादीनि मनःशान्तिकराणि च ॥ ४ ॥
तत्र ध्यानेन संश्लिष्टमेकाग्रं धारयेन्मनः ।
पिण्डीकृत्येन्द्रियग्राममासीनः काष्ठवन्मुनिः ॥ ५ ॥

ध्यानयोगके साधकोंको चाहिये कि सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य सत्त्वगुणमें स्थित, सब प्रकारके दोषोंसे रहित और शौच-संतोषादि नियमोंमें तत्पर रहें । जो स्थान असङ्ग (सब प्रकारके भोगोंके सङ्गसे शून्य), ध्यानविरोधी वस्तुओंसे रहित तथा मनको शान्ति देनेवाले हों, वहीं इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे समेटकर काठकी भाँति स्थिरभावसे बैठ जाय और मनको एकाग्र करके परमात्माके ध्यानमें लगा दे ॥ ४-५ ॥

शब्दं न विन्देच्छ्रोत्रेण स्पर्शं त्वचा न वेदयेत् ।
रूपं न चक्षुषा विद्याज्जिह्वया न रसांस्तथा ॥ ६ ॥
घ्रेयाण्यपि च सर्वाणि जह्याद् ध्यानेन योगवित् ।
पञ्चवर्गप्रमाथीनि नेच्छेच्चैतानि वीर्यवान् ॥ ७ ॥

योगको जाननेवाले समर्थ पुरुषको चाहिये कि कानोंके द्वारा शब्द न सुने, त्वचासे स्पर्शका अनुभव न करे, आँखसे रूपको न देखे और जिह्वासे रसोंको ग्रहण न करे एवं ध्यानके द्वारा समस्त सूँघने योग्य वस्तुओंको भी त्याग दे तथा पाँचों इन्द्रियोंको मथ डालनेवाले इन विषयोंकी कभी मनसे भी इच्छा न करे ॥ ६-७ ॥

ततो मनसि संगृह्य पञ्चवर्गं विचक्षणः ।

समादध्यान्मनो भ्रान्तमिन्द्रियैः सह पञ्चभिः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् बुद्धिमान् एवं विद्वान् पुरुष पाँचों इन्द्रियोंको मनमें स्थिर करे। उसके बाद पाँचों इन्द्रियोंसहित चञ्चल मनको परमात्माके ध्यानमें एकाग्र करे ॥ ८ ॥

विसंचारि निरालम्बं पञ्चद्वारं चलाचलम्।
पूर्वं ध्यानपथे धीरः समादध्यान्मनोऽन्तरा ॥ ९ ॥

मन नाना प्रकारके विषयोंमें विचरण करनेवाला है। उसका कोई स्थिर आलम्बन नहीं है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उसके इधर-उधर निकलनेके द्वार हैं तथा वह अत्यन्त चञ्चल है। ऐसे मनको धीर योगी पुरुष पहले अपने हृदयके भीतर ध्यानमार्गमें एकाग्र करे ॥ ९ ॥

इन्द्रियाणि मनश्चैव यदा पिण्डीकरोत्ययम्।
एष ध्यानपथः पूर्वो मया समनुवर्णितः ॥ १० ॥

जब यह योगी इन्द्रियोंसहित मनको एकाग्र कर लेता है, तभी उसके प्रारम्भिक ध्यानमार्गका आरम्भ होता है। युधिष्ठिर! यह मैंने तुम्हारे निकट प्रथम ध्यानमार्गका वर्णन किया है ॥ १० ॥

तस्य तत् पूर्वसंरुद्धमात्मनः षष्ठमान्तरम्।
स्फुरिष्यति समुद्भ्रान्ता विद्युदम्बुधरे यथा ॥ ११ ॥

इस प्रकार प्रयत्न करनेसे जो इन्द्रियोंसहित मन कुछ देरके लिये स्थिर हो जाता है, वही फिर अवसर पाकर जैसे बादलोंमें बिजली चमक उठती है, उसी प्रकार पुनः बारंबार विषयोंकी ओर जानेके लिये चञ्चल हो उठता है ॥ ११ ॥

जलबिन्दुर्यथा लोलः पर्णस्थः सर्वतश्चलः।
एवमेवास्य चित्तं च भवति ध्यानवर्त्मनि ॥ १२ ॥

जैसे पत्तेपर पड़ी हुई पानीकी बूँद सब ओरसे हिलती रहती है, उसी प्रकार ध्यानमार्गमें स्थित साधकका मन भी प्रारम्भमें चञ्चल होता रहता है ॥ १२ ॥

समाहितं क्षणं किञ्चिद् ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति।
पुनर्वायुपथं भ्रान्तं मनो भवति वायुवत् ॥ १३ ॥

एकाग्र करनेपर कुछ देर तो वह ध्यानमें स्थित रहता है; परंतु फिर नाड़ी मार्गमें पहुँचकर भ्रान्त-सा होकर वायुके समान चञ्चल हो उठता है ॥ १३ ॥

अनिर्वेदो गतक्लेशो गततन्द्रिरमत्सरी।
समादध्यात् पुनश्चेतो ध्यानेन ध्यानयोगवित् ॥ १४ ॥

ध्यानयोगको जाननेवाला साधक ऐसे विक्षेपके समय खेद या क्लेशका अनुभव न करे; अपितु आलस्य और मात्सर्यका त्याग करके ध्यानके द्वारा मनको पुनः एकाग्र करनेका प्रयत्न करे ॥ १४ ॥

विचारश्च विवेकश्च वितर्कश्चोपजायते।
मुनेः समादधानस्य प्रथमं ध्यानमादितः ॥ १५ ॥

योगी जब ध्यानका आरम्भ करता है, तब पहले उसके मनमें ध्यानविषयक विचार, विवेक और वितर्क आदि प्रकट होते हैं ॥ १५ ॥

मनसा क्लिश्यमानस्तु समाधानं च कारयेत्।
न निर्वेदं मुनिर्गच्छेत् कुर्यादेवात्मनो हितम् ॥ १६ ॥

ध्यानके समय मनमें कितना ही क्लेश क्यों न हो, साधकको उससे ऊबना नहीं चाहिये; बल्कि और भी तत्परताके साथ मनको एकाग्र करनेका प्रयत्न करना चाहिये। ध्यानयोगी मुनिको सर्वथा अपने कल्याणका ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ १६ ॥

पांसुभस्मकरीषाणां यथा वै राशयश्चिताः।
सहसा वारिणा सिक्ता न यान्ति परिभावनम् ॥ १७ ॥
किञ्चित् स्निग्धं यथा च स्याच्छुष्कचूर्णमभावितम्।
क्रमशस्तु शनैर्गच्छेत् सर्वं तत्परिभावनम् ॥ १८ ॥
एवमेवेन्द्रियग्रामं शनैः सम्परिभावयेत्।
संहरेत् क्रमशश्चैव स सम्यक् प्रशमिष्यति ॥ १९ ॥

जैसे धूलि, भस्म और सूखे गोबरके चूर्णकी अलग-अलग इकट्ठी की हुई ढेरियोंपर जल छिड़का जाय तो वे सहसा जलसे भीगकर इतनी तरल नहीं हो सकतीं कि उनके द्वारा कोई आवश्यक कार्य किया जा सके; क्योंकि बारंबार भिगोये बिना वह सूखा चूर्ण थोड़ा-सा भीगता है, पूरा नहीं भीगता; परंतु उसको यदि बार-बार जल देकर क्रमसे भिगोया जाय तो धीरे-धीरे वह सब गीला हो जाता है, उसी प्रकार योगी विषयोंकी ओर बिखरी हुई इन्द्रियोंको धीरे-धीरे विषयोंकी ओरसे समेटे और चित्तको ध्यानके अभ्याससे क्रमशः स्नेहयुक्त बनावे। ऐसा करनेपर वह चित्त भलीभाँति शान्त हो जाता है ॥ १७—१९ ॥

स्वयमेव मनश्चैवं पञ्चवर्गं च भारत।
पूर्वं ध्यानपथे स्थाप्य नित्ययोगेन शाम्यति ॥ २० ॥

भरतनन्दन! ध्यानयोगी पुरुष स्वयं ही मन और पाँचों इन्द्रियोंको पहले ध्यानमार्गमें स्थापित करके नित्य किये हुए योगाभ्यासके बलसे शान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

न तत्पुरुषकारेण न च दैवेन केनचित्।
सुखमेष्यति तत् तस्य यदेवं संयतात्मनः ॥ २१ ॥

इस प्रकार मनोनिग्रहपूर्वक ध्यान करनेवाले योगीको जो दिव्य सुख प्राप्त होता है, वह मनुष्यको किसी दूसरे पुरुषार्थसे या दैवयोगसे भी नहीं मिल सकता ॥ २१ ॥

सुखेन तेन संयुक्तो रंस्यते ध्यानकर्मणि।
गच्छन्ति योगिनो ह्येवं निर्वाणं तन्निरामयम् ॥ २२ ॥

उस ध्यानजनित सुखसे सम्पन्न होकर योगी उस ध्यानयोगमें अधिकाधिक अनुरक्त होता जाता है। इस प्रकार योगीलोग दुःख-शोकसे रहित निर्वाण (मोक्ष) पदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ध्यानयोगकथने पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ध्यानयोगका वर्णनविषयक एक सौ पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९५ ॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जपयज्ञके विषयमें युधिष्ठिरका प्रश्न, उसके उत्तरमें जप और ध्यानकी महिमा और उसका फल

युधिष्ठिर उवाच

चातुराश्रम्यमुक्तं ते राजधर्मास्तथैव च।
नानाश्रयाश्च बहव इतिहासाः पृथग्विधाः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने चार आश्रमों तथा राजधर्मोंका वर्णन किया एवं अनेकानेक विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत-से भिन्न-भिन्न इतिहास भी सुनाये ॥ १ ॥

श्रुतास्त्वत्तः कथाश्चैव धर्मयुक्ता महामते।
संदेहोऽस्ति तु कश्चिन्मे तद् भवान् वक्तुमर्हति॥ २ ॥

महामते ! मैंने आपके मुखसे अनेक धर्मयुक्त कथाएँ सुनी हैं; फिर भी मेरे मनमें एक संदेह रह गया है, उसे आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

जापकानां फलावाप्तिं श्रोतुमिच्छामि भारत।
किं फलं जपतामुक्तं क्व वा तिष्ठन्ति जापकाः ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि जप करनेवालोंको फलकी प्राप्ति कैसे होती है ? जापकोंके जपका फल क्या बताया गया है अथवा जप करनेवाले पुरुष किन लोकोंमें स्थान पाते हैं ? ॥ ३॥

जप्यस्य च विधिं कृत्स्नं वक्तुमर्हसि मेऽनघ।
जापका इति किञ्चैतत् सांख्ययोगक्रियाविधिः ॥ ४ ॥

अनघ ! आप मुझे जपकी सम्पूर्ण विधि भी बताइये। 'जापक' इस पदसे क्या तात्पर्य है ? क्या यह सांख्ययोग, ध्यानयोग अथवा क्रियायोगका अनुष्ठान है ? ॥ ४ ॥

किं यज्ञविधिरेवैष किमेतज्जप्यमुच्यते।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ ५ ॥

अथवा यह जप भी कोई यज्ञकी ही विधि है ? जिसका जप किया जाता है, वह क्या वस्तु है ? आप यह सारी बातें मुझे बताइये; क्योंकि आप मेरी मान्यताके अनुसार सर्वज्ञ हैं ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यमस्य यत् पुरावृत्तं कालस्य ब्राह्मणस्य च ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जो पूर्वकालमें यम, काल और ब्राह्मणके बीचमें घटित हुआ था ॥ ६ ॥

सांख्ययोगौ तु यावुक्तौ मुनिभिर्मोक्षदर्शिभिः।
संन्यास एव वेदान्ते वर्तते जपनं प्रति ॥ ७ ॥

मोक्षदर्शी मुनियोंने जो सांख्य और योगका वर्णन किया है, उनमेंसे वेदान्त (सांख्य) में तो जपका संन्यास (त्याग) ही बताया गया है ॥ ७ ॥

वेदवादाश्च निर्वृत्ताः शान्ता ब्रह्मण्यवस्थिताः।
सांख्ययोगौ तु यावुक्तौ मुनिभिः समदर्शिभिः॥ ८ ॥
मार्गौ तावप्युभावेतौ संश्रितौ न च संश्रितौ।

उपनिषदोंके वाक्य निर्वृत्ति (परमानन्द), शान्ति तथा ब्रह्मनिष्ठताका बोध करानेवाले हैं (अतः वहाँ जपकी अपेक्षा नहीं है) । समदर्शी मुनियोंने जो सांख्य और योग बताये हैं, वे दोनों मार्ग चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानप्राप्तिमें उपकारक होनेसे जपका आश्रय लेते हैं, नहीं भी लेते हैं ॥ ८½ ॥

यथा संश्रूयते राजन् कारणं चात्र वक्ष्यते ॥ ९ ॥
मनःसमाधिरत्रापि तथेन्द्रियजयः स्मृतः।

राजन् ! यहाँ जैसा कारण सुना जाता है, वैसा आगे बताया जायगा। सांख्य और योग—इन दोनों मार्गोंमें भी मनोनिग्रह और इन्द्रियसंयम आवश्यक माने गये हैं ॥९½॥

सत्यमग्निपरीचारो विविक्तानां च सेवनम् ॥ १० ॥
ध्यानं तपो दमः क्षान्तिरनसूया मिताशनम्।
विषयप्रतिसंहारो मितजल्पस्तथा शमः ॥ ११ ॥
एष प्रवर्तको यज्ञो निवर्तकमथो शृणु।
यथा निवर्तते कर्म जपतो ब्रह्मचारिणः ॥ १२ ॥

सत्य, अग्निहोत्र, एकान्तसेवन, ध्यान, तपस्या, दम, क्षमा, अनसूया, मिताहार, विषयोंका संकोच, मितभाषण तथा शम—यह प्रवर्तक यज्ञ है। अब निवर्तक यज्ञका वर्णन सुनो; जिसके अनुसार जप करनेवाले ब्रह्मचारी साधकके सारे कर्म निवृत्त हो जाते हैं (अर्थात् उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है) ॥ १०—१२ ॥

एतत् सर्वमशेषेण यथोक्तं परिवर्तयेत्।
निवृत्तं मार्गमासाद्य व्यक्ताव्यक्तमनाश्रयम् ॥ १३ ॥

इन मनोनिग्रह आदि पूर्वोक्त सभी साधनोंका निष्काम-भावसे अनुष्ठान करके उन्हें प्रवृत्तिके विपरीत निवृत्तिमार्गमें बदल डाले। निवृत्तिमार्ग तीन तरहका है—व्यक्त, अव्यक्त और अनाश्रय, उस मार्गका आश्रय लेकर स्थिरचित्त हो जाय ॥ १३ ॥

कुशोच्चयनिषण्णः सन् कुशहस्तः कुशैः शिखी।
कुशैः परिवृतस्तस्मिन् मध्ये छन्नः कुशैस्तथा ॥ १४॥

निवृत्तिमार्गपर पहुँचनेकी विधि यह है—जपकर्ताको कुशासनपर बैठना चाहिये। उसे अपने हाथमें भी कुश रखना चाहिये। शिखामें भी कुश बाँध लेना चाहिये, वह कुशोंसे घिरकर बैठे और मध्यभागमें भी कुशोंसे आच्छादित रहे॥

विषयेभ्यो नमस्कुर्याद् विषयान्न च भावयेत्।
साम्यमुत्पाद्य मनसा मनस्येव मनो दधत् ॥ १५ ॥

विषयोंको दूरसे ही नमस्कार करे और कभी उनका अपने मनमें चिन्तन न करे। मनसे समताकी भावना करके मनका मनमें ही लय करे॥ १५॥

तद् धिया ध्यायति ब्रह्म जपन् वै संहितां हिताम्।
संन्यस्यत्यथवा तां वै समाधौ पर्यवस्थितः ॥ १६ ॥

फिर बुद्धिके द्वारा परब्रह्म परमात्माका ध्यान करे तथा सर्व-हितकारिणी वेदसंहिताका एवं प्रणव और गायत्री मन्त्रका जप करे। फिर समाधिमें स्थित होनेपर उस संहिता एवं गायत्री मन्त्र आदिके जपको भी त्याग दे॥ १६॥

ध्यानमुत्पादयत्यत्र संहिताबलसंश्रयात्।
शुद्धात्मा तपसा दान्तो निवृत्तद्वेषकामवान् ॥ १७ ॥
अरागमोहो निर्द्वन्द्वो न शोचति न सज्जते।
न कर्ता कारणानां च न कार्याणामिति स्थितिः ॥ १८ ॥

संहिताके जपसे जो बल प्राप्त होता है, उसका आश्रय लेकर साधक अपने ध्यानको सिद्ध कर लेता है। वह शुद्धचित्त होकर तपके द्वारा मन और इन्द्रियोंको जीत लेता है तथा द्वेष और कामनासे रहित एवं आसक्ति और मोहसे रहित हुआ शीत और उष्ण आदि समस्त द्वन्द्वोंसे अतीत हो जाता है। अतः वह न तो कभी शोक करता है और न कहीं भी आसक्त होता है। वह कर्मोंका कारण और कार्यका कर्ता नहीं होता (अर्थात् अपनेमें कर्तापनका अभिमान नहीं लाता है)॥ १७-१८॥

न चाहङ्कारयोगेन मनः प्रस्थापयेत् क्वचित्।
न चार्थग्रहणे युक्तो नावमानी न चाक्रियः ॥ १९ ॥

वह अहंकारसे युक्त होकर कहीं भी अपने मनको न लगाता है। वह न तो स्वार्थ-साधनमें संलग्न होता है, न किसीका अपमान करता है और न अकर्मण्य होकर बैठता है॥ १९॥

ध्यानक्रियापरो युक्तो ध्यानवान् ध्याननिश्चयः।
ध्याने समाधिमुत्पाद्य तदपि त्यजति क्रमात् ॥ २० ॥

वह ध्यानरूप क्रियामें ही नित्य तत्पर रहता है, ध्याननिष्ठ हो ध्यानके द्वारा ही तत्त्वका निश्चय कर लेता है, ध्यानमें समाधिस्थ होकर क्रमशः ध्यानरूप क्रियाका भी त्याग कर देता है॥ २०॥

स वै तस्यामवस्थायां सर्वत्यागकृतः सुखम्।
निरिच्छस्त्यजति प्राणान् ब्राह्मीं संविशते तनुम् ॥ २१ ॥

वह उस अवस्थामें स्थित हुआ योगी निस्संदेह सर्वत्यागरूप निर्वीज समाधिसे प्राप्त होनेवाले दिव्य परमानन्दका अनुभव करता है। वह योगजनित अणिमा आदि सिद्धियोंकी भी इच्छा न रखकर सर्वथा निष्काम हो प्राणोंका परित्याग कर देता है और विशुद्ध परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें प्रवेश कर जाता है॥ २१॥

अथवा नेच्छते तत्र ब्रह्मकायनिषेवणम्।
उत्क्रामति च मार्गस्थो नैव क्वचन जायते ॥ २२ ॥

अथवा यदि वह परब्रह्मका सायुज्य नहीं प्राप्त करना चाहता तो देवयानमार्गपर स्थित हो ऊपरके लोकोंमें गमन करता है अर्थात् परब्रह्म परमात्माके परम धाममें चला जाता है। पुनः इस संसारमें कहीं जन्म नहीं लेता॥ २२॥

आत्मबुद्ध्या समास्थाय शान्तीभूतो निरामयः।
अमृतं विरजः शुद्धमात्मानं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

आत्मस्वरूपका बोध हो जानेसे वह रजोगुणसे रहित निर्मल शान्तस्वरूप योगी अमृतस्वरूप विशुद्ध आत्माको प्राप्त होता है॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १९६॥

सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जापकमें दोष आनेके कारण उसे नरककी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

गतीनामुत्तमा प्राप्तिः कथिता जापकेष्विह।
एकैवैषा गतिस्तेषामुत यान्त्यपरामपि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! आपने यहाँ जापकोंके लिये गतियोंमें उत्तम गतिकी प्राप्ति बतायी है। क्या उनके लिये एकमात्र यही गति है? या वे किसी दूसरी गतिको भी प्राप्त होते हैं?॥ १॥

भीष्म उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् जापकानां गतिं विभो।
यथा गच्छन्ति निरयाननेकान् पुरुषर्षभ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! तुम सावधान होकर जापकोंकी गतिका वर्णन सुनो। प्रभो! पुरुषप्रवर! अब मैं यह बता रहा हूँ कि वे किस तरह नाना प्रकारके नरकोंमें पड़ते हैं* ॥ २ ॥

यथोक्तपूर्वं पूर्वं यो नानुतिष्ठति जापकः।
एकदेशक्रियश्चात्र निरयं स च गच्छति ॥ ३ ॥

जो जापक जैसा पहले बताया गया है, उसी तरह नियमोंका ठीक-ठीक पालन नहीं करता, एकदेशका ही अनुष्ठान करता है अर्थात् किसी एक ही नियमका पालन करता है, वह नरकमें पड़ता है ॥ ३ ॥

अवमानेन कुरुते न प्रीयति न हृष्यति।
ईदृशो जापको याति निरयं नात्र संशयः ॥ ४ ॥

जो अवहेलनापूर्वक जप करता है, उसके प्रति प्रेम या प्रसन्नता नहीं प्रकट करता है, ऐसा जापक भी निःसंदेह नरकमें ही पड़ता है ॥ ४ ॥

अहङ्कारकृतश्चैव सर्वे निरयगामिनः।
परावमानी पुरुषो भविता निरयोपगः ॥ ५ ॥

जपके कारण अपनेमें बड़प्पनका अभिमान करनेवाले सभी जापक नरकगामी होते हैं। दूसरोंका अपमान करनेवाला जापक भी नरकमें ही पड़ता है ॥ ५ ॥

अभिध्यापूर्वकं जप्यं कुरुते यश्च मोहितः।
यत्राभिध्यां स कुरुते तं वै निरयमृच्छति ॥ ६ ॥

जो मोहित हो फलकी इच्छा रखकर जप करता है, वह जिस फलका चिन्तन करता है, उसीके उपयुक्त नरकमें पड़ता है ॥ ६ ॥

अथैश्वर्यप्रवृत्तेषु जापकस्तत्र रज्यते।
स एव निरयस्तस्य नासौ तस्मात् प्रमुच्यते ॥ ७ ॥

यदि जप करनेवाले साधकको अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त हों और वह उनमें अनुरक्त हो जाय तो वह ही उसके लिये नरक है, वह उससे छुटकारा नहीं पाता है ॥ ७ ॥

रागेण जापको जप्यं कुरुते तत्र मोहितः।
यत्रास्य रागः पतति तत्र तत्रोपपद्यते ॥ ८ ॥

जो जापक मोहके वशीभूत हो विषयासक्तिपूर्वक जप करता है, वह जिस फलमें उसकी आसक्ति होती है, उसीके अनुरूप शरीरको प्राप्त होता है। इस प्रकार उसका पतन हो जाता है ॥ ८ ॥

दुर्बुद्धिरकृतप्रज्ञश्चले मनसि तिष्ठति।
चलामेव गतिं याति निरयं वा नियच्छति ॥ ९ ॥

जिसकी बुद्धि भोगोंमें आसक्तिके कारण दूषित है तथा जो विवेकशील नहीं है, वह जापक यदि मनके चञ्चल रहते हुए ही जप करता है तो विनाशशील गतिको प्राप्त होता है अथवा नरकमें गिरता है अर्थात् विनाशशील या स्वर्गादि विचलित स्वभाववाले लोकोंको प्राप्त होता है या तिर्यक्-योनियोंमें जाता है ॥ ९ ॥

अकृतप्रज्ञको बालो मोहं गच्छति जापकः।
स मोहान्निरयं याति तत्र गत्वानुशोचति ॥ १० ॥

जो विवेकशून्य मूढ़ जापक मोहग्रस्त हो जाता है, वह उस मोहके कारण नरकमें गिरता है और उसमें गिरकर निरन्तर शोकमग्न रहता है ॥ १० ॥

दृढग्राही करोमीति जाप्यं जपति जापकः।
न सम्पूर्णो न संयुक्तो निरयं सोऽनुगच्छति॥ ११॥

'मैं निश्चय ही जपका अनुष्ठान पूरा करूँगा,' ऐसा दृढ़ आग्रह रखकर जो जापक जपमें प्रवृत्त होता है, परंतु न तो उसमें अच्छी तरह संलग्न होता है और न उसे पूरा ही कर पाता है, वह नरकमें गिरता है ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनिवृत्तं परं यत्तदव्यक्तं ब्रह्मणि स्थितम्।
तद्भूतो जापकः कस्मात् स शरीरमिहाविशेत् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—जो कभी निवृत्त न होनेवाला सनातन अव्यक्त ब्रह्म है, उस गायत्रीके जपमें स्थित रहनेवाला एवं उससे भावित हुआ जापक किस कारणसे यहाँ शरीरमें प्रवेश करता है अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण करता है? ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

दुष्प्रज्ञानेन निरया बहवः समुदाहृताः।
प्रशस्तं जापकत्वं च दोषाश्चैते तदात्मकाः ॥ १३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! काम आदिसे बुद्धि दूषित होनेके कारण ही उसके लिये बहुत-से नरकोंकी प्राप्ति अर्थात् नाना योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेकी बात कही गयी है। जापक होना तो बहुत उत्तम है। वे उपर्युक्त राग आदि दोष तो उसमें दूषित बुद्धिके कारण ही आते हैं ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९७ ॥

---

* इस प्रकरणमें पुनर्जन्मको ही नरकके नामसे कहा गया है। यह बात छठे और सातवें श्लोकके वर्णनसे स्पष्ट हो जाती है।

अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

परमधामके अधिकारी जापकके लिये देवलोक भी नरक-तुल्य हैं—इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशं निरयं याति जापको वर्णयस्व मे।
कौतूहलं हि राजन् मे तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! जप करनेवालेको उसके दोषोंके कारण किस तरहके नरककी प्राप्ति होती है? उसका मुझसे वर्णन कीजिये। राजन्! उसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है; अतः आप अवश्य बतावें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

धर्मस्यांशप्रसूतोऽसि धर्मिष्ठोऽसि स्वभावतः।
धर्ममूलाश्रयं वाक्यं शृणुष्वावहितोऽनघ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—अनघ! तुम धर्मके अंशसे उत्पन्न हुए हो और स्वभावसे ही धर्मनिष्ठ हो; अतः सावधान होकर धर्मके मूलभूत वेद और परमात्मासे सम्बन्ध रखनेवाली मेरी बात सुनो ॥ २ ॥

अमूनि यानि स्थानानि देवानां परमात्मनाम्।
नानासंस्थानवर्णानि नानारूपफलानि च ॥ ३ ॥
दिव्यानि कामचारीणि विमानानि सभास्तथा।
आक्रीडा विविधा राजन् पद्मिन्यश्चैव काञ्चनाः ॥ ४ ॥

परम बुद्धिमान् देवताओंके ये जो स्थान बताये जाते हैं, उनके रूप-रङ्ग अनेक प्रकारके हैं। फल भी नाना प्रकारके हैं। देवताओंके यहाँ इच्छानुसार विचरनेवाले दिव्य विमान तथा दिव्य सभाएँ होती हैं। राजन्! उनके यहाँ नाना प्रकारके क्रीडा-स्थल तथा सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित बावलियाँ होती हैं ॥ ३-४ ॥

चतुर्णां लोकपालानां शुक्रस्याथ बृहस्पतेः।
मरुतां विश्वदेवानां साध्यानामश्विनोरपि ॥ ५ ॥
रुद्रादित्यवसूनां च तथान्येषां दिवौकसाम्।
एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः ॥ ६ ॥

तात! वरुण, कुबेर, इन्द्र और यमराज—इन चारों लोकपालों, शुक्र, बृहस्पति, मरुद्गण, विश्वेदेव, साध्य, अश्विनीकुमार, रुद्र, आदित्य, वसु तथा अन्य देवताओंके जो ऐसे ही लोक हैं, वे सब परमात्माके परमधामके सामने नरक ही हैं ॥ ५-६ ॥

अभयं चानिमित्तं च न तत् क्लेशसमावृतम्।
द्वाभ्यां मुक्तं त्रिभिर्मुक्तमष्टाभिस्त्रिभिरेव च ॥ ७

परमात्माका परमधाम विनाशके भयसे रहित है; क्यो वह कारणरहित नित्य-सिद्ध है। वह अविद्या, अस्मि राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच क्लेशोंसे घिरा हु नहीं है। उसमें प्रिय और अप्रिय ये दो भाव नहीं हैं*। प्रि और अप्रियके हेतुभूत तीन गुण—सत्त्व, रज और तम भी न हैं तथा वह परमधाम भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, उपाल कर्म, प्राण और अविद्या—इन आठ पुरियों † से भी मुक्त है वहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इस त्रिपुटीका भी अभाव है ॥ ७

चतुर्लक्षणवर्जं तु चतुष्कारणवर्जितम्।
अप्रहर्षमनानन्दमशोकं विगतक्लमम् ॥ ८

इतना ही नहीं, वह दृष्टि, श्रुति, मति और विज्ञाति—इ चार लक्षणोंसे रहित है‡। ज्ञानके कारणभूत प्रत्यक्ष, अनुमा उपमान और शब्द—इन चारोंसे वह परे है। वहाँ इष्टविषय प्राप्तिसे होनेवाले हर्ष और उसके भोगजनित आनन्दका अभाव है। वह शोक और श्रमसे भी सर्वथा रहित है ॥ ८

कालः सम्पद्यते तत्र कालस्तत्र न वै प्रभुः।
स कालस्य प्रभू राजन् स्वर्गस्यापि तथेश्वरः ॥ ९

राजन्! कालकी उत्पत्ति भी वहींसे होती है। उस धाम पर कालकी प्रभुता नहीं चलती। वह परमात्मा कालका स्वामी और स्वर्गका भी ईश्वर है ॥ ९ ॥

आत्मकेवलतां प्राप्तस्तत्र गत्वा न शोचति।
ईदृशं परमं स्थानं निरयास्ते च तादृशाः ॥ १०

जो आत्मकैवल्यको प्राप्त हो चुका है, वही मनुष्य वह जाकर शोकसे रहित हो जाता है। उस परमधामका स्वरू ऐसा ही है और पहले जो नाना प्रकारके सुखभोगोंसे सम्प लोक बताये गये हैं, वे सभी उसकी तुलनामें नरक हैं ॥ १०

एते ते निरयाः प्रोक्ताः सर्व एव यथातथम्।
तस्य स्थानवरस्येह सर्वे निरयसंज्ञिताः ॥ ११

राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हें यथार्थरूपसे ये सभी नरक बताये हैं। उस परमपदके सामने वस्तुतः वे सभी लोक 'नरक' ही कहलाने योग्य हैं ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ १९८

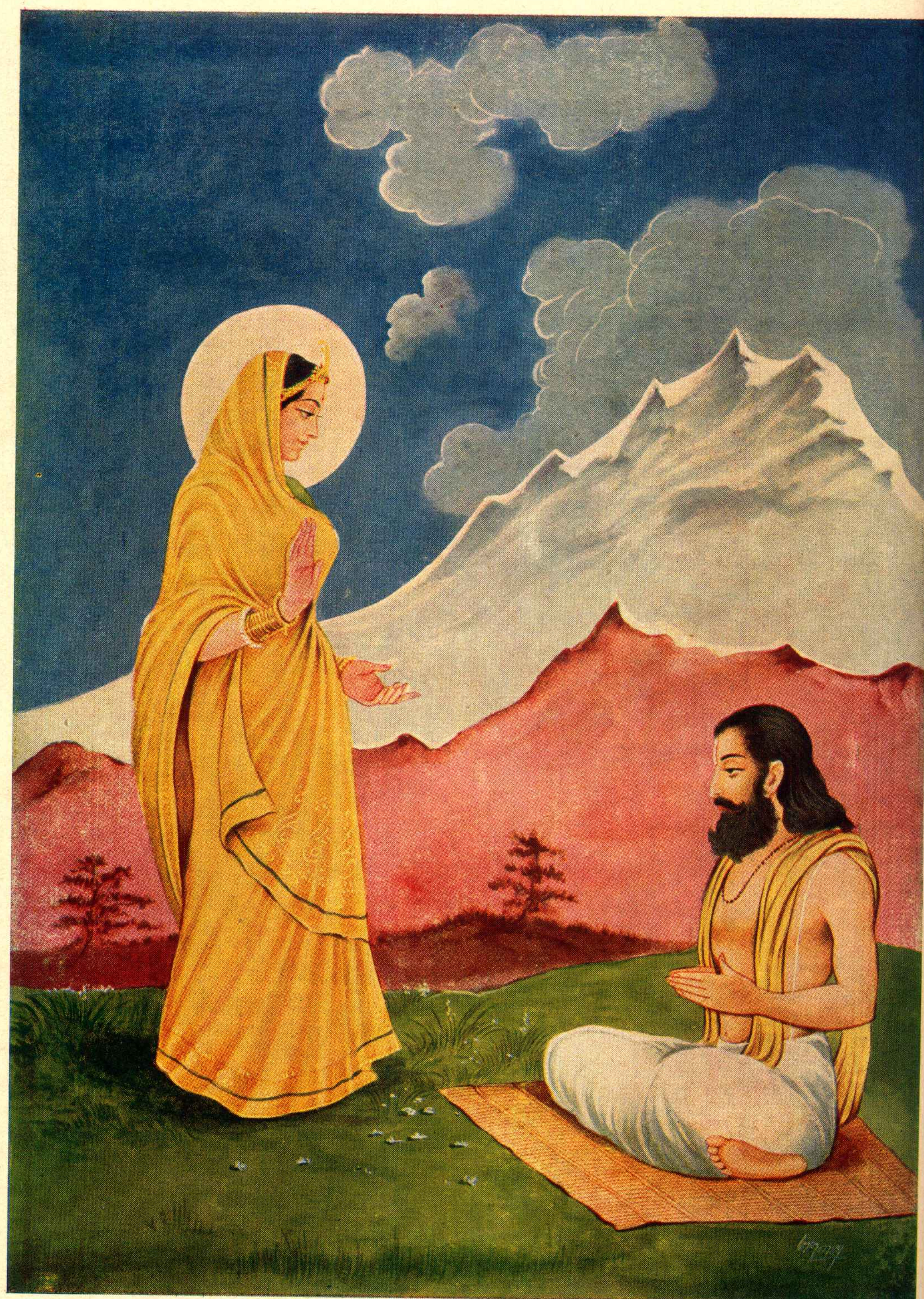
---

* श्रुति भी कहती है—'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।'

† आठ पुरियोंका बोधक वचन इस प्रकार उपलब्ध होता है—

भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः। अविद्या चेत्यमुं वर्गमाहुः पुर्यष्टकं बुधाः ॥

‡ इन लक्षणोंका नाम-निर्देश श्रुतिमें इस प्रकार किया गया है—'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः।



कौशिक ब्राह्मणको सावित्रीदेवीका प्रत्यक्ष दर्शन

नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जापकको सावित्रीका वरदान, उसके पास धर्म, यम और काल आदिका आगमन, राजा इक्ष्वाकु और जापक ब्राह्मणका संवाद, सत्यकी महिमा तथा जापककी परम गतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कालमृत्युयमानां ते इक्ष्वाकोर्ब्राह्मणस्य च ।
विवादो व्याहृतः पूर्वं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने काल, मृत्यु, यम, इक्ष्वाकु और ब्राह्मणके विवादकी पहले चर्चा की थी; अतः उसे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इक्ष्वाकोः सूर्यपुत्रस्य यद् वृत्तं ब्राह्मणस्य च ॥ २ ॥
कालस्य मृत्योश्च तथा यद् वृत्तं तन्निबोध मे ।
यथा स तेषां संवादो यस्मिन् स्थानेऽपि चाभवत् ॥३॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इसी प्रसङ्गमें उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें राजा इक्ष्वाकु, सूर्यपुत्र यम, ब्राह्मण, काल और मृत्युके वृत्तान्तका उल्लेख है। जिस स्थानपर और जिस रूपमें उनका वह संवाद हुआ था, उसे बताता हूँ, मुझसे सुनो ॥ २-३ ॥

ब्राह्मणो जापकः कश्चिद् धर्मवृत्तो महायशाः ।
षडङ्गविन्महाप्राज्ञः पैप्पलादिः स कौशिकः ॥ ४ ॥
तस्यापरोक्षं विज्ञानं षडङ्गेषु बभूव ह ।
वेदेषु चैव निष्णातो हिमवत्पादसंश्रयः ॥ ५ ॥

कहते हैं कि हिमालय पर्वतके निकटवर्ती पहाड़ियोंपर एक महायशस्वी धर्मात्मा ब्राह्मण रहता था, जो वेदके छहों अङ्गोंका ज्ञाता, परम बुद्धिमान् तथा जपमें तत्पर रहनेवाला था। वह पिप्पलादका पुत्र था और कौशिक वंशमें उसका जन्म हुआ था। वेदके छहों अङ्गोंका विज्ञान उसे प्रत्यक्ष हो गया था, अतः वह वेदोंका पारङ्गत विद्वान् था ॥ ४-५ ॥

सोऽयं ब्राह्मं तपस्तेपे संहितां संयतो जपन् ।
तस्य वर्षसहस्रं तु नियमेन तथा गतम् ॥ ६ ॥

वह अर्थज्ञानपूर्वक संहिताका जप करता हुआ इन्द्रियोंको संयममें रखकर ब्राह्मणोचित तपस्या करने लगा। नियमपूर्वक जप-तप करते हुए उसके एक हजार वर्ष व्यतीत हो गये ॥ ६ ॥

स देव्या दर्शितः साक्षात् प्रीतास्मीति तदा किल ।
जप्यमावर्तयंस्तूष्णीं न स तां किञ्चिदब्रवीत् ॥ ७ ॥

कहते हैं, उसके उस जपसे प्रसन्न होकर देवी सावित्रीने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा कि मैं तुझपर प्रसन्न हूँ। ब्राह्मण अपने जपनीय वेद-संहिताके गायत्रीमन्त्रकी आवृत्ति कर रहा था; इसलिये सावित्रीदेवीके आनेपर भी चुपचाप बैठा ही रह गया। उनसे कुछ न बोला ॥ ७ ॥

तस्यानुकम्पया देवी प्रीता समभवत् तदा ।
वेदमाता ततस्तस्य तज्जप्यं समपूजयत् ॥ ८ ॥

देवी सावित्रीकी उसपर कृपा हो गयी थी; अतः वे उसके उस समयके व्यवहारसे भी प्रसन्न ही हुईं। वेदमाताने ब्राह्मणके उस नियमानुकूल जपकी मन-ही-मन प्रशंसा की ॥ ८ ॥

समाप्तजप्यस्तूत्थाय शिरसा पादयोस्तदा ।
पपात देव्या धर्मात्मा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

जब जप समाप्त हो गया, तब धर्मात्मा ब्राह्मणने उठकर देवी सावित्रीके चरणोंमें मस्तक रखकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और इस प्रकार कहा— ॥ ९ ॥

दिष्ट्या देवि प्रसन्ना त्वं दर्शनं चागता मम ।
यदि चापि प्रसन्नासि जप्ये मे रमतां मनः ॥ १० ॥

'देवि ! आज मेरा अहोभाग्य है कि आपने प्रसन्न होकर मुझे दर्शन दिया। यदि वास्तवमें आप मुझपर संतुष्ट हैं तो ऐसी कृपा कीजिये जिससे मेरा मन जपमें लगा रहे' ॥ १० ॥

सावित्र्युवाच

किं प्रार्थयसि विप्रर्षे किं चेष्टं करवाणि ते ।
प्रब्रूहि जपतां श्रेष्ठ सर्वं तत् ते भविष्यति ॥ ११ ॥

सावित्रीने कहा—ब्रह्मर्षे ! तुम क्या चाहते हो ? कौन-सी वस्तु तुम्हें अभीष्ट है ? बताओ। मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगी। जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ! तुम अपनी अभिलाषा बताओ। तुम्हारी वह सारी इच्छा पूर्ण हो जायगी ॥ ११ ॥

इत्युक्तः स तदा देव्या विप्रः प्रोवाच धर्मवित् ।
जप्यं प्रति ममेच्छेयं वर्धत्विति पुनः पुनः ॥ १२ ॥
मनसश्च समाधिर्मे वर्धेताहरहः शुभे ।

सावित्रीदेवीके ऐसा कहनेपर वह धर्मात्मा ब्राह्मण बोला— 'शुभे ! इस मन्त्रके जपमें मेरी यह इच्छा बराबर बढ़ती रहे और मेरे मनकी एकाग्रता भी प्रतिदिन बढ़े' ॥ १२½ ॥

तत् तथेति ततो देवी मधुरं प्रत्यभाषत ॥ १३ ॥
इदं चैवापरं प्राह देवी तत्प्रियकाम्यया ।
निरयं नैव याता त्वं यत्र याता द्विजर्षभाः ॥ १४ ॥
यास्यसि ब्रह्मणः स्थानमनिमित्तमनिन्दितम् ।
साधये भविता चैतद् यत्त्वयाहमिहार्थिता ॥ १५ ॥
नियतो जप चैकाग्रो धर्मस्त्वां समुपैष्यति ।
कालो मृत्युर्यमश्चैव समायास्यन्ति तेऽन्तिकम् ॥ १६ ॥
भविता च विवादोऽत्र तव तेषां च धर्मतः ।

तब सावित्रीदेवीने मधुर वाणीमें 'तथास्तु' कहा। इसके बाद देवीने ब्राह्मणका प्रिय करनेकी इच्छासे यह दूसरा वचन और कहा—'विप्रवर! जहाँ दूसरे श्रेष्ठ ब्राह्मण गये हैं, उन स्वर्गादि निम्नश्रेणीके लोकोंमें तुम नहीं जाओगे। तुम्हें स्वभावसिद्ध एवं निर्दोष ब्रह्मपदकी प्राप्ति होगी। तुमने मुझसे जो यहाँ प्रार्थना की है, वह पूरी होगी। मैं उसे पूर्ण करनेकी चेष्टा करूँगी। तुम नियमपूर्वक एकाग्रचित्त होकर जप करो। धर्म स्वयं तुम्हारी सेवामें उपस्थित होगा। काल, मृत्यु और यम भी तुम्हारे निकट पधारेंगे, तुम्हारा उन सबके साथ यहाँ धर्मानुकूल वाद-विवाद भी होगा ॥ १३—१६½ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा भगवती जगाम भवनं स्वकम् ॥ १७ ॥
ब्राह्मणोऽपि जपन्नास्ते दिव्यं वर्षशतं तथा।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर भगवती सावित्री देवी अपने धामको चली गयीं और ब्राह्मण भी दिव्य सौ वर्षोंतक पूर्ववत् जपमें संलग्न रहा ॥ १७½ ॥

सदा दान्तो जितक्रोधः सत्यसंधोऽनसूयकः॥ १८ ॥
समाप्ते नियमे तस्मिन्नथ विप्रस्य धीमतः।
साक्षात् प्रीतस्तदा धर्मो दर्शयामास तं द्विजम्॥ १९ ॥

वह सदा मन और इन्द्रियोंको संयममें रखता था, क्रोधको जीत चुका था। अपनी की हुई प्रतिज्ञाका सचाईके साथ पालन करता था और किसीके दोष नहीं देखता था। बुद्धिमान् ब्राह्मणका वह नियम पूर्ण होनेपर साक्षात् भगवान् धर्म उस समय उसपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया। १८-१९

धर्म उवाच

द्विजाते पश्य मां धर्ममहं त्वां द्रष्टुमागतः।
जप्यस्यास्य फलं यत्तत् सम्प्राप्तं तच्च मे शृणु ॥ २० ॥

धर्म बोले—विप्रवर! तुम मेरी ओर देखो। मैं धर्म हूँ और तुम्हारा दर्शन करनेके लिये आया हूँ। तुम्हें इस जपका जो फल प्राप्त हुआ है, वह सब मुझसे सुन लो ॥ २० ॥

जिता लोकास्त्वया सर्वे ये दिव्या ये च मानुषाः।
देवानां निलयान् साधो सर्वानुत्क्रम्य यास्यसि॥ २१ ॥

तुमने दिव्य और मानुष सभी लोकोंपर विजय प्राप्त की है। साधो! तुम सम्पूर्ण देवताओंके लोकोंको लाँघकर उनसे भी ऊपर जाओगे ॥ २१ ॥

प्राणत्यागं कुरु मुने गच्छ लोकान् यथेप्सितान्।
त्यक्त्वाऽऽत्मनः शरीरं च ततो लोकानवाप्स्यसि २२

मुने! अब तुम अपने प्राणोंका परित्याग करो और अभीष्ट लोकोंमें जाओ। अपने शरीरका परित्याग करनेके पश्चात् ही तुम उन पुण्यलोकोंमें जाओगे ॥ २२ ॥

ब्राह्मण उवाच

किं नु लोकैर्हि मे धर्म गच्छ त्वं च यथासुखम्।
बहुदुःखसुखं देहं नोत्सृजेयमहं विभो ॥ २३ ॥

ब्राह्मणने कहा—धर्म! मुझे उन लोकोंको लेकर क्या करना है? आप सुखपूर्वक यहाँसे अपने स्थानको पधारिये। प्रभो! मैंने इस शरीरके साथ बहुत दुःख और सुख उठा है; अतः इसका त्याग नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

धर्म उवाच

अवश्यं भोः शरीरं ते त्यक्तव्यं मुनिपुङ्गव।
स्वर्गमारोह भो विप्र किं वा वै रोचतेऽनघ ॥ २४ ॥

धर्म बोले—निष्पाप मुनिश्रेष्ठ! शरीर तो तुम्हें अवश्य त्यागना पड़ेगा। विप्रवर! अब स्वर्गलोकपर आरूढ़ हो जाओ अथवा तुम्हारी क्या रुचि है? बताओ ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच

न रोचये स्वर्गवासं विना देहमहं विभो।
गच्छ धर्म न मे श्रद्धा स्वर्गं गन्तुं विनाऽऽत्मना॥ २५ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रभो! मैं इस शरीरके बिना स्वर्गलोकमें निवास करना नहीं चाहता; अतः धर्मदेव! आप यहाँसे जाइये। इस शरीरको छोड़कर स्वर्गलोकमें जानेके लिये मेरे मनमें तनिक भी उत्साह नहीं है ॥ २५ ॥

धर्म उवाच

अलं देहे मनः कृत्वा त्यक्त्वा देहं सुखी भव।
गच्छ लोकानरजसो यत्र गत्वा न शोचसि ॥ २६ ॥

धर्म बोले—मुने! शरीरमें मनको आसक्त रखना ठीक नहीं है। तुम देह त्यागकर सुखी हो जाओ। उन रजोगुणरहित निर्मल लोकोंमें जाओ, जहाँ जाकर फिर तुम्हें शोक नहीं करना पड़ेगा ॥ २६ ॥

ब्राह्मण उवाच

रमे जपन् महाभाग किं नु लोकैः सनातनैः।
सशरीरेण गन्तव्यं मया स्वर्गं न वा विभो ॥ २७ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाभाग! मैं तो जपमें ही सुख मानता हूँ। मुझे सनातन लोकोंको लेकर क्या करना है? भगवन्! यह बताइये, मैं सशरीर स्वर्गलोकमें जा सकता हूँ या नहीं? ॥ २७ ॥

धर्म उवाच

यदि त्वं नेच्छसे त्यक्तुं शरीरं पश्य वै द्विज।
एष कालस्तथा मृत्युर्यमश्च त्वामुपागताः ॥ २८ ॥

धर्म बोले—ब्रह्मन्! यदि तुम शरीर छोड़ना नहीं चाहते हो तो देखो, ये काल, मृत्यु और यम तुम्हारे पास आये हैं ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच

अथ वैवस्वतः कालो मृत्युश्च त्रितयं विभो।
ब्राह्मणं तं महाभागमुपगम्येदमब्रुवन् ॥ २९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वैवस्वत यम, काल और मृत्यु—तीनों उस महाभाग ब्राह्मणके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ २९ ॥

यम उवाच

तपसोऽस्य सुतप्तस्य तथा सुचरितस्य च।
फलप्राप्तिस्तव श्रेष्ठा यमोऽहं त्वामुपब्रुवे ॥ ३० ॥

यमराज बोले--ब्रह्मन् ! तुम्हारेद्वारा भलीभाँति की हुई इस तपस्याका तथा शुभ आचरणोंका भी तुम्हें उत्तम फल प्राप्त हुआ है। मैं यमराज हूँ और स्वयं तुमसे यह बात कहता हूँ ॥ ३० ॥

काल उवाच

यथावदस्य जप्यस्य फलं प्राप्तमनुत्तमम्।
कालस्ते स्वर्गमारोढुं कालोऽहं त्वामुपागतः ॥ ३१ ॥

कालने कहा—विप्रवर ! तुम्हारे इस जपका यथायोग्य सर्वोत्तम फल प्राप्त हुआ है। अतः अब तुम्हारे लिये स्वर्गलोकमें जानेका समय आया है। यही सूचित करनेके लिये मैं साक्षात् काल तुम्हारे पास आया हूँ ॥ ३१ ॥

मृत्युरुवाच

मृत्युं मां विद्धि धर्मज्ञ रूपिणं स्वयमागतम्।
कालेन चोदितो विप्र त्वामितो नेतुमद्य वै ॥ ३२ ॥

मृत्युने कहा--धर्मज्ञ ब्राह्मण ! मुझे मृत्यु समझो। मैं स्वयं ही शरीर धारण करके यहाँ आया हूँ। विप्रवर ! मैं कालसे प्रेरित होकर आज तुम्हें यहाँसे ले जानेके लिये उपस्थित हुआ हूँ ॥ ३२ ॥

ब्राह्मण उवाच

स्वागतं सूर्यपुत्राय कालाय च महात्मने।
मृत्यवे चाथ धर्माय किं कार्यं करवाणि वः ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणने कहा--सूर्यपुत्र यम, महामना काल, मृत्यु तथा धर्म—इन सबका स्वागत है। बताइये, मैं आपलोगोंका कौन-सा कार्य करूँ ? ॥ ३३ ॥

भीष्म उवाच

अर्घ्यं पाद्यं च दत्त्वा स तेभ्यस्तत्र समागमे।
अब्रवीत् परमप्रीतः स्वशक्त्या किं करोमि वः॥ ३४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वहाँ उन सबका समागम होनेपर ब्राह्मणने उनके लिये अर्घ्य और पाद्य देकर बड़ी प्रसन्नताके साथ कहा--'देवताओ ! मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ३४ ॥

तस्मिन्नेवाथ काले तु तीर्थयात्रामुपागतः।
इक्ष्वाकुरगमत् तत्र समेता यत्र ते विभो ॥ ३५ ॥

इसी समय तीर्थयात्राके लिये आये हुए राजा इक्ष्वाकु भी उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ वे सब लोग एकत्र हुए थे ॥ ३५ ॥

सर्वानेव तु राजर्षिः सम्पूज्याथ प्रणम्य च।
कुशलप्रश्नमकरोत् सर्वेषां राजसत्तमः ॥ ३६ ॥

नृपश्रेष्ठ राजर्षि इक्ष्वाकुने उन सबको प्रणाम करके उनकी पूजा की और उन सबका कुशल-समाचार पूछा ॥ ३६ ॥

तस्मै सोऽथासनं दत्त्वा पाद्यमर्घ्यं तथैव च।
अब्रवीद् ब्राह्मणो वाक्यं कृत्वा कुशलसंविदम्॥ ३७॥

ब्राह्मणने भी राजाको अर्घ्य, पाद्य और आसन देकर कुशल-मङ्गल पूछनेके बाद इस प्रकार कहा-॥ ३७ ॥



स्वागतं ते महाराज ब्रूहि यद् यदिहेच्छसि।
स्वशक्त्या किं करोमीह तद् भवान् प्रब्रवीतु माम्॥ ३८॥

'महाराज ! आपका स्वागत है ! आपकी जो-जो इच्छा हो, उसे यहाँ बताइये। मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपकी क्या सेवा करूँ ? यह आप मुझे बतावें' ॥ ३८ ॥

राजोवाच

राजाहं ब्राह्मणश्च त्वं यदा षट्कर्मसंस्थितः।
ददानि वसु किंचित्ते प्रथितं तद् वदस्व मे ॥ ३९ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! मैं क्षत्रिय राजा हूँ और आप छः कर्मोंमें स्थित रहनेवाले ब्राह्मण। अतः मैं आपको कुछ धन देना चाहता हूँ। आप प्रसिद्ध धनरत्न मुझसे माँगिये ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण उवाच

द्विविधा ब्राह्मणा राजन् धर्मश्च द्विविधः स्मृतः।
प्रवृत्ताश्च निवृत्ताश्च निवृत्तोऽहं प्रतिग्रहात् ॥४०॥

ब्राह्मणने कहा--राजन् ! ब्राह्मण दो प्रकारके होते हैं और धर्म भी दो प्रकारका माना गया है-प्रवृत्ति और निवृत्ति। मैं प्रतिग्रहसे निवृत्त ब्राह्मण हूँ ॥ ४० ॥

तेभ्यः प्रयच्छ दानानि ये प्रवृत्ता नराधिप ।
अहं न प्रतिगृह्णामि किमिष्टं किं ददामि ते ।
ब्रूहि त्वं नृपतिश्रेष्ठ तपसा साधयामि किम् ॥ ४१ ॥

नरेश्वर ! आप उन ब्राह्मणोंको दान दीजिये, जो प्रवृत्ति-मार्गमें हों । मैं आपसे दान नहीं लूँगा । नृपश्रेष्ठ ! इस समय आपको क्या अभीष्ट है ? मैं आपको क्या दूँ ? बताइये, मैं अपनी तपस्याद्वारा आपका कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ ? ॥ ४१ ॥

राजोवाच

क्षत्रियोऽहं न जानामि देहीति वचनं क्वचित् ।
प्रयच्छ युद्धमित्येवंवादिनः स्मो द्विजोत्तम ॥ ४२ ॥

राजा बोले—द्विजश्रेष्ठ ! मैं क्षत्रिय हूँ । 'दीजिये' ऐसा कहकर याचना करनेकी बातको मैं कभी नहीं जानता । माँगनेके नामपर तो हमलोग तो यही कहना जानते हैं कि 'युद्ध दो' ॥ ४२ ॥

ब्राह्मण उवाच

तुष्यसि त्वं स्वधर्मेण तथा तुष्टा वयं नृप ।
अन्योन्यस्यान्तरं नास्ति यदिष्टं तत् समाचर ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणने कहा—नरेश्वर ! जैसे आप अपने धर्मसे संतुष्ट हैं, उसी तरह हम भी अपने धर्मसे संतुष्ट हैं । हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है । अतः आपको जो अच्छा लगे, वह कीजिये ॥ ४३ ॥

राजोवाच

स्वशक्त्याहं ददानीति त्वया पूर्वमुदाहृतम् ।
याचे त्वां दीयतां मह्यं जप्यस्यास्य फलं द्विज ॥ ४४ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! आपने मुझसे पहले कहा है कि 'मैं अपनी शक्तिके अनुसार दान दूँगा' तो मैं आपसे यही माँगता हूँ कि आप अपने जपका फल मुझे दे दीजिये ॥

ब्राह्मण उवाच

युद्धं मम सदा वाणी याचतीति विकत्थसे ।
न च युद्धं मया सार्धं किमर्थं याचसे पुनः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! आप तो बहुत बढ़-बढ़कर बातें बना रहे थे कि मेरी वाणी सदा युद्धकी ही याचना करती है, तब आप मेरे साथ भी युद्धकी ही याचना क्यों नहीं कर रहे हैं ? ॥ ४५ ॥

राजोवाच

वाग्वज्रा ब्राह्मणाः प्रोक्ताः क्षत्रिया बाहुजीविनः ।
वाग्युद्धं तदिदं तीव्रं मम विप्र त्वया सह ॥ ४६ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! ब्राह्मणोंकी वाणी ही वज्रके समान प्रभाव डालनेवाली होती है और क्षत्रिय बाहुबलसे जीवन-निर्वाह करनेवाले होते हैं; अतः आपके साथ मेरा यह तीव्र वाग्युद्ध उपस्थित हुआ है ॥ ४६ ॥

ब्राह्मण उवाच

सैवाद्यापि प्रतिज्ञा मे स्वशक्त्या किं प्रदीयताम् ।
ब्रूहि दास्यामि राजेन्द्र विभवे सति मा चिरम् ॥ ४७ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजेन्द्र ! मेरी वही प्रतिज्ञा इस समय भी है । मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपको क्या दूँ ? बोलिये, विलम्ब न कीजिये । मैं शक्ति रहते आपको मुँहमाँगी वस्तु अवश्य प्रदान करूँगा ॥ ४७ ॥

राजोवाच

यत्तद् वर्षशतं पूर्णं जप्यं वै जपता त्वया ।
फलं प्राप्तं तत् प्रयच्छ मम दित्सुर्भवान् यदि ॥ ४८ ॥

राजाने कहा—मुने ! यदि आप देना ही चाहते हैं तो पूरे सौ वर्षोंतक जप करके आपने जिस फलको प्राप्त किया है, वही मुझे दे दीजिये ॥ ४८ ॥

ब्राह्मण उवाच

परमं गृह्यतां तस्य फलं यज्जपितं मया ।
अर्धं त्वमविचारेण फलं तस्य ह्यवाप्नुहि ॥ ४९ ॥
अथवा सर्वमेवेह मामकं जापकं फलम् ।
राजन् प्राप्नुहि कामं त्वं यदि सर्वमिहेच्छसि ॥ ५० ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! मैंने जो जप किया है, उसका उत्तम फल आप ग्रहण करें । मेरे जपका आधा फल तो आप बिना विचारे ही प्राप्त करें अथवा यदि आप मेरेद्वारा किये हुए जपका सारा ही फल लेना चाहते हों तो अवश्य अपनी इच्छाके अनुसार वह सब प्राप्त कर लें ॥ ४९-५० ॥

राजोवाच

कृतं सर्वेण भद्रं ते जप्यं यद् याचितं मया ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि किञ्च तस्य फलं वद ॥ ५१ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने जो जपका फल माँगा है, उन सबकी पूर्ति हो गयी । आपका भला हो, कल्याण हो । मैं चला जाऊँगा; किंतु यह तो बता दीजिये कि उसका फल क्या है ? ॥ ५१ ॥

ब्राह्मण उवाच

फलप्राप्तिं न जानामि दत्तं यज्जपितं मया ।
अयं धर्मश्च कालश्च यमो मृत्युश्च साक्षिणः ॥ ५२ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! इस जपका फल क्या मिलेगा ? इसको मैं नहीं जानता; परंतु मैंने जो कुछ जप किया था, वह सब आपको दे दिया । ये धर्म, यम, मृत्यु और काल इस बातके साक्षी हैं ॥ ५२ ॥

राजोवाच

अज्ञातमस्य धर्मस्य फलं किं मे करिष्यति ।
फलं ब्रवीषि धर्मस्य न चेज्जप्यकृतस्य माम् ।
प्राप्नोतु तत् फलं विप्रो नाहमिच्छे ससंशयम् ॥ ५३ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! यदि आप मुझे अपने जप-जनित धर्मका फल नहीं बता रहे हैं तो इस धर्मका अज्ञात फल मेरे किस काम आयेगा ? वह सारा फल आपहीके पास रहे। मैं संदिग्ध फल नहीं चाहता ॥ ५३ ॥

ब्राह्मण उवाच

नाददेऽपरवक्तव्यं दत्तं चास्य फलं मया।
वाक्यं प्रमाणं राजर्षे ममाद्य तव चैव हि ॥ ५४ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजर्षे ! अब तो मैं अपने जपका फल दे चुका; अतः दूसरी कोई बात नहीं स्वीकार करूँगा। इस विषयमें आज मेरी और आपकी बातें ही प्रमाण-स्वरूप हैं (हम दोनोंको अपनी-अपनी बातोंपर दृढ़ रहना चाहिये) ॥ ५४ ॥

नाभिसंधिर्मया जप्ये कृतपूर्वः कदाचन।
जप्यस्य राजशार्दूल कथं वेत्स्याम्यहं फलम् ॥ ५५ ॥

राजसिंह ! मैंने जप करते समय कभी फलकी कामना नहीं की थी; अतः इस जपका क्या फल होगा, यह कैसे जान सकूँगा ? ॥ ५५ ॥

ददस्वेति त्वया चोक्तं ददानीति मया तथा।
न वाचं दूषयिष्यामि सत्यं रक्ष स्थिरो भव ॥ ५६ ॥

आपने कहा था कि 'दीजिये' और मैंने कहा था कि 'दूँगा'—ऐसी दशामें मैं अपनी बात झूठी नहीं करूँगा। आप सत्यकी रक्षा कीजिये और इसके लिये सुस्थिर हो जाइये ॥ ५६ ॥

अथैवं वदतो मेऽद्य वचनं न करिष्यसि।
महानधर्मो भविता तव राजन् मृषा कृतः ॥ ५७ ॥

राजन् ! यदि इस तरह स्पष्ट बात करनेपर भी आप आज मेरे वचनका पालन नहीं करेंगे तो आपको असत्यका महान् पाप लगेगा ॥ ५७ ॥

न युक्तं तु मृषा वाणी त्वया वक्तुमरिंदम।
तथा मयाप्यभिहितं मिथ्या कर्तुं न शक्यते ॥ ५८ ॥

शत्रुदमन नरेश ! आपके लिये भी झूठ बोलना उचित नहीं है और मैं भी अपनी कही हुई बातको मिथ्या नहीं कर सकता ॥ ५८ ॥

संश्रुतं च मया पूर्वं ददानीत्यविचारितम्।
तद् गृह्णीष्वाविचारेण यदि सत्ये स्थितो भवान् ॥ ५९ ॥

मैंने बिना कुछ सोच-विचार किये ही पहले देनेकी प्रतिज्ञा कर ली है; अतः आप भी बिना विचारे मेरा दिया हुआ जप ग्रहण करें। यदि आप सत्यपर दृढ़ हैं तो आपको ऐसा अवश्य करना चाहिये ॥ ५९ ॥

इहागम्य हि मां राजन् जाप्यं फलमयाचथाः।
तन्मे निसृष्टं गृह्णीष्व भव सत्ये स्थिरोऽपि च ॥ ६० ॥

राजन् ! आपने स्वयं यहाँ आकर मुझसे जपके फलकी याचना की है और मैंने उसे आपके लिये दे दिया है; अतः आप उसे ग्रहण करें और सत्यपर डटे रहें ॥ ६० ॥

नायं लोकोऽस्ति न परो न च पूर्वान् स तारयेत्।
कुत एव जनिष्यांस्तु मृषावादपरायणः ॥ ६१ ॥

जो झूठ बोलनेवाला है, उस मनुष्यको न इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें ही। वह अपने पूर्वजोंको भी नहीं तार सकता; फिर भविष्यमें होनेवाली संततिका उद्धार तो कर ही कैसे सकता है ? ॥ ६१ ॥

न यज्ञाध्ययने दानं नियमास्तारयन्ति हि।
यथा सत्यं परे लोके तथेह पुरुषर्षभ ॥ ६२ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! परलोकमें सत्य जिस प्रकार जीवोंका उद्धार करता है, उस प्रकार यज्ञ, वेदाध्ययन, दान और नियम भी नहीं तार सकते हैं ॥ ६२ ॥

तपांसि यानि चीर्णानि चरिष्यन्ति च यत् तपः।
शतैः शतसहस्रैश्च तैः सत्यान्न विशिष्यते ॥ ६३ ॥

लोगोंने अबतक जितनी तपस्याएँ की हैं और भविष्यमें भी जितनी करेंगे, उन सबको सौगुना या लाखगुना करके एकत्र किया जाय तो भी उनका महत्त्व सत्यसे बढ़कर नहीं सिद्ध होगा ॥ ६३ ॥

सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ॥ ६४ ॥

सत्य ही एकमात्र अविनाशी ब्रह्म है। सत्य ही एकमात्र अक्षय तप है, सत्य ही एकमात्र अविनाशी यज्ञ है, सत्य ही एकमात्र नाशरहित सनातन वेद है ॥ ६४ ॥

सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम्।
सत्याद् धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ६५ ॥

वेदोंमें सत्य ही जागता है—उसीकी महिमा बतायी गयी है। सत्यका ही सबसे श्रेष्ठ फल माना गया है। धर्म और इन्द्रिय-संयमकी सिद्धि भी सत्यसे ही होती है। सत्यके ही आधारपर सब कुछ टिका हुआ है ॥ ६५ ॥

सत्यं वेदास्तथाङ्गानि सत्यं विद्यास्तथा विधिः।
व्रतचर्या तथा सत्यमोङ्कारः सत्यमेव च ॥ ६६ ॥

सत्य ही वेद और वेदाङ्ग है। सत्य ही विद्या तथा विधि है। सत्य ही व्रतचर्या तथा सत्य ही ओङ्कार है ॥ ६६ ॥

प्राणिनां जननं सत्यं सत्यं संततिरेव च।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः ॥ ६७ ॥

सत्य प्राणियोंको जन्म देनेवाला (पिता) है, सत्य ही संतति है, सत्यसे ही वायु चलती है और सत्यसे ही सूर्य तपता है ॥ ६७ ॥

सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्यं यज्ञस्तपो वेदाः स्तोभा मन्त्राः सरस्वती ॥ ६८ ॥

सत्यसे ही आग जलती है तथा सत्यपर ही स्वर्गलोक प्रतिष्ठित है। यज्ञ, तप, वेद, स्तोभ, मन्त्र और सरस्वती—सब सत्यके ही स्वरूप हैं ॥ ६८ ॥

तुलामारोपितो धर्मः सत्यं चैवेति नः श्रुतम् ।
समकक्षां तुलयतो यतः सत्यं ततोऽधिकम् ॥ ६९ ॥

मैंने सुना है कि किसी समय धर्म और सत्यको तराजूपर, जिसके दोनों पलड़े बराबर थे, रक्खा और तौला गया; उस समय जिस ओर सत्य था, उधरका ही पलड़ा भारी हुआ ॥

यतो धर्मस्ततः सत्यं सर्वं सत्येन वर्धते ।
किमर्थमनृतं कर्म कर्तुं राजंस्त्वमिच्छसि ॥ ७० ॥

जहाँ धर्म है, वहाँ सत्य है । सत्यसे ही सबकी वृद्धि होती है । राजन् ! आप क्यों असत्यपूर्ण बर्ताव करना चाहते हैं ? ॥ ७० ॥

सत्ये कुरु स्थिरं भावं मा राजन्ननृतं कृथाः ।
कस्मात्त्वमनृतं वाक्यं देहीति कुरुषेऽशुभम् ॥ ७१ ॥

महाराज ! आप सत्यमें ही अपने मनको स्थिर कीजिये । मिथ्यापूर्ण बर्ताव न कीजिये । यदि लेना ही नहीं था तो आपने 'दीजिये' यह झूठा और अशुभ वचन क्यों मुँहसे निकाला था ॥ ७१ ॥

यदि जप्यफलं दत्तं मया नैषिष्यसे नृप ।
धर्मेभ्यः सम्परिभ्रष्टो लोकाननुचरिष्यसि ॥ ७२ ॥

नरेश्वर ! यदि आप मेरे दिये हुए इस जपके फलको नहीं स्वीकार करेंगे तो धर्मभ्रष्ट होकर सम्पूर्ण लोकोंमें भटकते फिरेंगे ॥ ७२ ॥

संश्रुत्य यो न दित्सेत याचित्वा यश्च नेच्छति ।
उभावानृतिकावेतौ न मृषा कर्तुमर्हसि ॥ ७३ ॥

जो पहले देनेकी प्रतिज्ञा करके फिर देना नहीं चाहता तथा जो याचना तो करता है, किंतु मिलनेपर उसे लेना नहीं चाहता, वे दोनों ही मिथ्यावादी होते हैं; अतः आप अपनी और मेरी भी बात मिथ्या न कीजिये ॥ ७३ ॥

राजोवाच

योद्धव्यं रक्षितव्यं च क्षत्रधर्मः किल द्विज ।
दातारः क्षत्रियाः प्रोक्ता गृह्णीयां भवतः कथम् ॥ ७४ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! क्षत्रियका धर्म तो प्रजाकी रक्षा और युद्ध करना है । क्षत्रियोंको दाता कहा गया है; फिर मैं उल्टे ही आपसे दान कैसे ले सकता हूँ ? ॥ ७४ ॥

ब्राह्मण उवाच

न च्छन्दयामि ते राजन्नापि ते गृहमाव्रजम् ।
इहागम्य तु याचित्वा न गृह्णीषे पुनः कथम् ॥ ७५ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! दान लेनेके लिये मैंने आपसे अनुरोध या आग्रह नहीं किया था और न मैं देनेके लिये आपके घर ही गया था । आपने स्वयं यहाँ आकर याचना की है; फिर लेनेसे कैसे इन्कार करते हैं ? ॥ ७५ ॥

धर्म उवाच

अविवादोऽस्तु युवयोर्वित्त मां धर्ममागतम् ।
द्विजो दानफलैर्युक्तो राजा सत्यफलेन च ॥ ७६ ॥

धर्म बोले—आप दोनोंमें विवाद न हो । आपको विदित होना चाहिये कि मैं साक्षात् धर्म यहाँ आया हूँ । ब्राह्मण-देवता दानके फलसे युक्त हो जायँ और राजा भी सत्यके फलसे सम्पन्न हों ॥ ७६ ॥

स्वर्ग उवाच

स्वर्गं मां विद्धि राजेन्द्र रूपिणं स्वयमागतम् ।
अविवादोऽस्तु युवयोरुभौ तुल्यफलौ युवाम् ॥ ७७ ॥

स्वर्ग बोला—राजेन्द्र ! आपको विदित हो कि मैं स्वर्ग हूँ और स्वयं ही शरीर धारण करके यहाँ आया हूँ । आप दोनोंमें विवाद न हो । आप दोनों समान फलके भागी हों ॥

राजोवाच

कृतं स्वर्गेण मे कार्यं गच्छ स्वर्ग यथागतम् ।
विप्रो यदीच्छते गन्तुं चीर्णं गृह्णातु मे फलम् ॥ ७८ ॥

राजाने कहा—मुझे स्वर्गकी कोई आवश्यकता नहीं है । स्वर्ग ! तुम जैसे आये थे, वैसे ही लौट जाओ । यदि ये ब्राह्मणदेवता स्वर्गमें जाना चाहते हों तो मेरे किये हुए पुण्य-फलको ग्रहण करें ॥ ७८ ॥

ब्राह्मण उवाच

बाल्ये यदि स्यादज्ञानान्मया हस्तः प्रसारितः ।
निवृत्तलक्षणं धर्ममुपासे संहितां जपन् ॥ ७९ ॥

ब्राह्मणने कहा—यदि बाल्यावस्थामें अज्ञानवश मैंने कभी किसीके सामने हाथ फैलाया हो तो उसका मुझे स्मरण नहीं है; परंतु अब तो संहिता—गायत्रीमन्त्रका जप करता हुआ निवृत्तिधर्मकी उपासना करता हूँ ॥ ७९ ॥

निवृत्तं मां चिराद्राजन् विप्रलोभयसे कथम् ।
स्वेन कार्यं करिष्यामि त्वत्तो नेच्छे फलं नृप ।
तपःस्वाध्यायशीलोऽहं निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ॥ ८० ॥

राजन् ! मैं निवृत्तिमार्गका पथिक हूँ, आप बहुत देरसे मुझे लुभानेका प्रयत्न क्यों करते हैं ? नरेश्वर ! मैं स्वयं ही अपना कर्तव्य करूँगा, आपसे कोई फल नहीं लेना चाहता । मैं प्रतिग्रहसे निवृत्त होकर तप और स्वाध्यायमें लगा हुआ हूँ ॥

राजोवाच

यदि विप्र विसृष्टं ते जप्यस्य फलमुत्तमम् ।
आवयोर्यत् फलं किञ्चित् सहितं नौ तदस्त्विह ॥ ८१ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! यदि आपने अपने जपका उत्तम फल दे ही दिया है तो ऐसा कीजिये कि हम दोनोंके जो भी पुण्यफल हों, उन्हें एकत्र करके हम दोनों साथ ही भोगें—हम दोनोंका उनपर समान अधिकार रहे ॥ ८१ ॥

द्विजाः प्रतिग्रहे युक्ता दातारो राजवंशजाः ।
यदि धर्मः श्रुतो विप्र सहैव फलमस्तु नौ ॥ ८२ ॥

ब्राह्मणोंको दान लेनेका अधिकार है और क्षत्रिय केवल दान देते हैं, लेते नहीं; यह धर्म आपने भी सुना होगा; अतः

विप्रवर ! हम दोनोंके कार्यका फल साथ ही हम दोनोंके उपयोगमें आवे ॥ ८२ ॥

मा वा भूत् सहभोज्यं नौ मदीयं फलमाप्नुहि ।
प्रतीच्छ मत्कृतं धर्मं यदि ते मय्यनुग्रहः ॥ ८३ ॥

अथवा यदि आपकी इच्छा न हो तो हमें साथ रहकर कर्मफल भोगनेकी आवश्यकता नहीं है । उस अवस्थामें मैं यही प्रार्थना करूँगा कि यदि आपका मुझपर अनुग्रह हो तो आप ही मेरे शुभकर्मोंका पूरा-पूरा फल ग्रहण कर लें । मैंने जो कुछ भी धर्म किया है, वह सब आप स्वीकार कर लें ॥

भीष्म उवाच

ततो विकृतवेषौ द्वौ पुरुषौ समुपस्थितौ ।
गृहीत्वान्योन्यमावेष्ट्य कुचैलावूचतुर्वचः ॥ ८४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इसी समय वहाँ विकराल वेषधारी दो पुरुष उपस्थित हुए । दोनोंने एक दूसरेको पकड़कर अपने हाथोंसे आवेष्टित कर रक्खा था । दोनोंके शरीरपर मैले वस्त्र थे (उनमेंसे एकका नाम विकृत था और दूसरेका नाम विरूप) । वे दोनों बारंबार इस प्रकार कह रहे थे ॥८४॥

न मे धारयसीत्येको धारयामीति चापरः ।
इहास्ति नौ विवादोऽयमयं राजानुशासकः ॥ ८५ ॥

एकने कहा—भाई ! तुम्हारे ऊपर मेरा कोई ऋण नहीं है। दूसरा कहता—नहीं, मैं तुम्हारा ऋणी हूँ । पहलेने कहा—यहाँ जो हम दोनोंका विवाद है, इसका निर्णय ये सबका शासन करनेवाले राजा करेंगे ॥ ८५ ॥

सत्यं ब्रवीम्यहमिदं न मे धारयते भवान् ।
अनृतं वदसीह त्वमृणं ते धारयाम्यहम् ॥ ८६ ॥

दूसरा बोला—मैं सच कहता हूँ कि तुमपर मेरा कोई ऋण नहीं है । पहलेने कहा—तुम झूठ बोलते हो । मुझपर तुम्हारा ऋण है ॥ ८६ ॥

तावुभौ भृशसंतप्तौ राजानमिदमूचतुः ।
परीक्ष्य त्वं यथा स्यावो नावामिह विगर्हितौ ॥ ८७ ॥

तब वे दोनों अत्यन्त संतप्त होकर राजासे इस प्रकार बोले—आप हमारे मामलेकी जाँच-पड़ताल करके फैसला कर दें, जिससे हम दोनों यहाँ दोषके भागी और निन्दाके पात्र न हों ॥ ८७ ॥

विरूप उवाच

धारयामि नरव्याघ्र विकृतस्येह गोः फलम् ।
ददतश्च न गृह्णाति विकृतो मे महीपते ॥ ८८ ॥

विरूप बोला—पुरुषसिंह ! मैं विकृतके एक गोदानका फल ऋणके तौरपर अपने यहाँ रखता हूँ । पृथ्वीनाथ ! उस ऋणको आज मैं दे रहा हूँ; परंतु यह विकृत ले नहीं रहा है॥

विकृत उवाच

न मे धारयते किञ्चिद् विरूपोऽयं नराधिप ।
मिथ्या ब्रवीत्ययं हि त्वां सत्याभासं नराधिप॥ ८९ ॥

विकृतने कहा—नरेश्वर ! इस विरूपपर मेरा कोई ऋण नहीं है । यह आपसे झूठ बोलता है । इसकी बातमें सत्यका आभासमात्र है ॥ ८९ ॥

राजोवाच

विरूप किं धारयते भवानस्य ब्रवीतु मे ।
श्रुत्वा तथा करिष्येऽहमिति मे धीयते मनः ॥ ९० ॥

राजा बोले—विरूप ! तुम्हारे ऊपर विकृतका कौन-सा ऋण है ? बताओ, मैं उसे सुनकर कोई निर्णय करूँगा । मेरे मनका ऐसा ही निश्चय है ॥ ९० ॥

विरूप उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् यथैतद् धारयाम्यहम् ।
विकृतस्यास्य राजर्षे निखिलेन नराधिप ॥ ९१ ॥

विरूप बोला—राजन् ! नरेश्वर ! आप सावधान होकर सुनें, राजर्षे ! इस विकृतका ऋण जिस प्रकार मैं धारण करता हूँ, वह सब पूर्णरूपसे बता रहा हूँ ॥ ९१ ॥

अनेन धर्मप्राप्त्यर्थं शुभा दत्ता पुरानघ ।
धेनुर्विप्राय राजर्षे तपःस्वाध्यायशीलिने ॥ ९२ ॥

निष्पाप राजर्षे ! इसने धर्मकी प्राप्तिके लिये एक तपस्वी और स्वाध्यायशील ब्राह्मणको एक दूध देनेवाली उत्तम गाय दी थी ॥ ९२ ॥

तस्याश्चायं मया राजन् फलमभ्येत्य याचितः ।
विकृतेन च मे दत्तं विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ ९३ ॥

राजन् ! मैंने इसके घर जाकर इससे उसी गोदानका फल माँगा था और विकृतने शुद्ध हृदयसे मुझे वह दे दिया था ॥ ९३ ॥

ततो मे सुकृतं कर्म कृतमात्मविशुद्धये ।
गावौ च कपिले क्रीत्वा वत्सले बहुदोहने ॥ ९४ ॥
ते चोञ्छवृत्तये राजन् मया समपवर्जिते ।
यथाविधि यथाश्रद्धं तदस्याहं पुनः प्रभो ॥ ९५ ॥

तदनन्तर मैंने भी अपनी शुद्धिके लिये पुण्यकर्म किया । राजन् ! दो अधिक दूध देनेवाली कपिला गौएँ, जिनके साथ उनके बछड़े भी थे, खरीदकर उन्हें मैंने एक उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणको विधि और श्रद्धापूर्वक दे दिया । प्रभो ! उसी गोदानका फल मैं पुनः इसे वापस करना चाहता हूँ ॥९४-९५॥

इहाद्यैव गृहीत्वा तु प्रयच्छे द्विगुणं फलम् ।
एवं स्यात् पुरुषव्याघ्र कः शुद्धः कोऽत्र दोषवान् ९६

पुरुषसिंह ! इससे एक गोदानका फल लेकर आज मैं इसे दूना फल लौटा रहा हूँ । ऐसी परिस्थितिमें आप स्वयं निर्णय कीजिये कि हम दोनोंमेंसे कौन शुद्ध है और कौन दोषी ? ॥ ९६ ॥

एवं विवदमानौ स्वस्त्वामिहाभ्यागतौ नृप ।
कुरु धर्ममधर्मं वा विनये नौ समादध ॥ ९७ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार आपसमें विवाद करते हुए हम दोनों

यहाँ आपके समीप आये हैं । आप निर्णय कीजिये । अब आप चाहे न्याय करें या अन्याय । इस झगड़ेका निपटारा कर दें । हम दोनोंको विशिष्ट न्यायके मार्गपर लगा दें ॥ ९७ ॥

यदि नेच्छति मे दानं यथा दत्तमनेन वै ।
भवानत्र स्थिरो भूत्वा मार्गे स्थापयिताद्य नौ ॥ ९८ ॥

इसने जिस तरह मुझे दान दिया है, उसी तरह यदि स्वयं भी मुझसे लेना नहीं चाहता है तो आप स्वयं सुस्थिर होकर हम दोनोंको धर्मके मार्गपर स्थापित कर दें ॥ ९८ ॥

राजोवाच

दीयमानं न गृह्णासि ऋणं कस्मात् त्वमद्य वै ।
यथैव तेऽभ्यनुज्ञातं तथा गृह्णीष्व मा चिरम् ॥ ९९ ॥

राजाने कहा—विकृत ! जब विरूप तुम्हें तुम्हारा दिया हुआ ऋण लौटा रहा है, तब तुम उसे आज ग्रहण क्यों नहीं करते ? जैसे इसने तुम्हारी दी हुई वस्तु स्वीकार कर ली थी, उसी प्रकार तुम भी इसकी दी हुई वस्तुको ले लो । विलम्ब न करो ॥ ९९ ॥

विकृत उवाच

धारयामीत्यनेनोक्तं ददानीति तथा मया ।
नायं मे धारयत्यद्य गच्छतां यत्र वाञ्छति ॥ १०० ॥

विकृत बोला—राजन् ! विरूपने अभी आपसे कहा है कि मैं ऋण धारण करता हूँ; परंतु मैंने उस समय 'दान' कह करके वह वस्तु इसे दी थी; इसलिये इसके ऊपर मेरा कोई ऋण नहीं है । अब यह जहाँ जाना चाहे, जा सकता है ॥ १०० ॥

राजोवाच

ददतोऽस्य न गृह्णासि विषमं प्रतिभाति मे ।
दण्ड्यो हि त्वं मम मतो नास्त्यत्र खलु संशयः १०१

राजाने कहा—विकृत ! यह तुम्हें तुम्हारी वस्तु दे रहा है और तुम लेते नहीं हो । यह मुझे अनुचित जान पड़ता है; अतः मेरे मतमें तुम दण्डनीय हो; इसमें कोई संशय नहीं है ॥ १०१ ॥

विकृत उवाच

मयास्य दत्तं राजर्षे गृह्णीयां तत् कथं पुनः ।
काममत्रापराधो मे दण्डमाज्ञापय प्रभो ॥ १०२ ॥

विकृत बोला—राजर्षे ! मैंने इसे दान दिया था; फिर वह दान इससे वापस कैसे ले लूँ । भले, इसमें मेरा अपराध समझा जाय; परंतु मैं दिया हुआ दान वापस नहीं ले सकता । प्रभो ! मुझे दण्ड भोगनेकी आज्ञा प्रदान करें ॥ १०२ ॥

विरूप उवाच

दीयमानं यदि मया नेषिष्यसि कथञ्चन ।
नियंस्यति त्वां नृपतिरयं धर्मानुशासकः ॥ १०३ ॥

विरूपने कहा—विकृत ! यदि तुम मेरी दी हुई वस्तु स्वीकार नहीं करोगे तो ये धर्मपूर्ण शासन करनेवाले नरेश तुम्हें कैद कर लेंगे ॥ १०३ ॥

विकृत उवाच

स्वं मया याचितेनेह दत्तं कथमिहाद्य तत् ।
गृह्णीयां गच्छतु भवानभ्यनुज्ञां ददानि ते ॥ १०४ ॥

विकृत बोला—तुम्हारे माँगनेपर मैंने अपना धन दानके रूपमें दिया था; फिर आज उसे वापस कैसे ले सकता हूँ ? तुम्हारे ऊपर मेरा कुछ भी पावना नहीं है । मैं तुम्हें जानेके लिये आज्ञा देता हूँ, तुम जाओ ॥ १०४ ॥

ब्राह्मण उवाच

श्रुतमेतत्त्वया राजन्ननयोः कथितं द्वयोः ।
प्रतिज्ञातं मया यत्ते तद् गृहाणाविचारितम् ॥ १०५ ॥

इसी बीचमें जापक ब्राह्मण बोल उठा—राजन् ! आपने इन दोनोंकी बातें सुन लीं । मैंने आपको देनेके लिये जो प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार आप मेरा दान बिना विचारे ग्रहण करें ॥ १०५ ॥

राजोवाच

प्रस्तुतं सुमहत् कार्यमनयोर्गह्वरं यथा ।
जापकस्य दृढीकारः कथमेतद् भविष्यति ॥ १०६ ॥

राजाने मन-ही-मन कहा—इन दोनोंका बड़ा भारी और गहन कार्य सामने आ गया है । इधर जापक ब्राह्मणका सुदृढ़ आग्रह ज्यों-का-त्यों बना हुआ है । इससे निपटारा कैसे होगा ॥ १०६ ॥

यदि तावन्न गृह्णामि ब्राह्मणेनापवर्जितम् ।
कथं न लिप्येयमहं पापेन महताद्य वै ॥ १०७ ॥

यदि मैं आज ब्राह्मणकी दी हुई वस्तु ग्रहण न करूँ तो किस प्रकार महान् पापसे निर्लिप्त रह सकूँगा ॥ १०७ ॥

तौ चोवाच स राजर्षिः कृतकार्यौ गमिष्यथः ।
नेदानीं मामिहासाद्य राजधर्मो भवेन्मृषा ॥ १०८ ॥

इसके बाद राजर्षि इक्ष्वाकुने उन दोनोंसे कहा—'तुम दोनों अपने विवादका निपटारा हो जानेपर ही यहाँसे जाना । इस समय मेरे पास आकर अपना कार्य पूर्ण हुए बिना न जाना । मुझे भय है कि राजधर्म मिथ्या अथवा कलङ्कित न हो जाय ॥

स्वधर्मः परिपाल्यस्तु राज्ञामिति विनिश्चयः ।
विप्रधर्मश्च गहनो मामनात्मानमाविशत् ॥ १०९ ॥

राजाओंको अपने धर्मका पालन करना चाहिये, यही शास्त्रका सिद्धान्त है । इधर मुझ अजितात्माके भीतर गहन ब्राह्मणधर्मने प्रवेश किया है ॥ १०९ ॥

ब्राह्मण उवाच

गृहाण धारयेऽहं च याचितं संश्रुतं मया ।
न चेद् ग्रहीष्यसे राजञ्शपिष्ये त्वां न संशयः ॥ ११० ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! आपने जो वस्तु माँगी थी

और जिसे देनेकी मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी, उसे मैं आपकी धरोहरके रूपमें अपने पास रखता हूँ; अतः शीघ्र उसे ले लें। यदि नहीं लेंगे तो निस्संदेह मैं आपको शाप दे दूँगा ॥ ११० ॥

राजोवाच

धिग्राजधर्मं यस्यायं कार्यस्येह विनिश्चयः।
इत्यर्थं मे ग्रहीतव्यं कथं तुल्यं भवेदिति ॥ १११ ॥

राजाने कहा—धिक्कार है राजधर्मको, जिसके कार्यका यहाँ यह परिणाम निकला। ब्राह्मणको और मुझको समान फलकी प्राप्ति कैसे हो, इसी उद्देश्यसे मुझे यह दान ग्रहण करना है ॥ १११ ॥

एष पाणिरपूर्वं मे निक्षेपार्थं प्रसारितः।
यन्मे धारयसे विप्र तदिदानीं प्रदीयताम् ॥ ११२ ॥

ब्रह्मन्! यह मेरा हाथ जो आजसे पहले किसीके सामने नहीं फैलाया गया था, आज आपसे धरोहर लेनेके लिये आपके सामने फैला है। आप मेरा जो कुछ भी धरोहर धारण करते हैं, उसे इस समय मुझे दे दीजिये ॥ ११२ ॥

ब्राह्मण उवाच

संहितां जपता यावान् गुणः कश्चित् कृतो मया।
तत् सर्वं प्रतिगृह्णीष्व यदि किंचिदिहास्ति मे ॥ ११३ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! मैंने संहिताका जप करते हुए कहींसे जितना भी पुण्य अथवा सद्गुण संग्रह किया है, वह सब आप ले लें। इसके सिवा भी मेरे पास जो कुछ पुण्य हो, उसे ग्रहण करें ॥ ११३ ॥

राजोवाच

जलमेतन्निपतितं मम पाणौ द्विजोत्तम।
सममस्तु सहैवास्तु प्रतिगृह्णातु वै भवान् ॥ ११४ ॥

राजाने कहा—द्विजश्रेष्ठ! मेरे हाथपर यह संकल्पका जल पड़ा हुआ है। मेरा और आपका सारा पुण्य हम दोनोंके लिये समान हो और हम साथ-साथ उसका उपभोग करें; इस उद्देश्यसे आप मेरा दिया हुआ दान भी ग्रहण करें ॥

विरूप उवाच

कामक्रोधौ विद्धि नौ त्वमावाभ्यां कारितो भवान्।
सहेति च यदुक्तं ते समा लोकास्तवास्य च ॥ ११५ ॥

विरूपने कहा—राजन्! आपको विदित हो कि हम दोनों काम और क्रोध हैं। हमने ही आपको इस कार्यमें लगाया है। आपने जो साथ-साथ फल भोगनेकी बात कही है, इससे आपको और इस ब्राह्मणको एक समान लोक प्राप्त होंगे ॥ ११५ ॥

नायं धारयते किंचिज्जिज्ञासा त्वत्कृते कृता।
कालो धर्मस्तथा मृत्युः कामक्रोधौ तथा युवाम् ॥ ११६ ॥
सर्वमन्योन्यनिष्कर्षे निघृष्टं पश्यतस्तव।
गच्छ लोकान् जितान् स्वेन कर्मणा यत्रवाञ्छसि ॥ ११७ ॥

यह मेरा साथी कुछ भी धारण नहीं करता अथवा मुझपर भी इसका कोई ऋण नहीं है। यह सब खेल तो हमलोगोंने आपकी परीक्षा लेनेके लिये किया था। काल, धर्म, मृत्यु, काम, क्रोध और आप दोनों—ये सब-के-सब एक दूसरेकी कसौटीपर आपके देखते-देखते कसे गये हैं। अब जहाँ आपकी इच्छा हो, अपने कर्मसे जीते हुए उन लोकोंमें जाइये ॥

जापकानां फलावाप्तिर्मया ते सम्प्रदर्शिता।
गतिः स्थानं च लोकाश्च जापकेन यथा जिताः ॥ ११८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जापकोंको किस प्रकार फलकी प्राप्ति होती है? इस बातका दिग्दर्शन मैंने तुम्हें करा दिया। जापक ब्राह्मणने कौन-सी गति प्राप्त की? किस स्थानपर अधिकार किया? कौन-कौन-से लोक उसके लिये सुलभ हुए? और यह सब किस प्रकार सम्भव हुआ? ये बातें आगे बतायी जायँगी ॥ ११८ ॥

प्रयाति संहिताध्यायी ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
अथवाग्निं समायाति सूर्यमाविशतेऽपि वा ॥ ११९ ॥

संहिताका स्वाध्याय करनेवाला द्विज परमेष्ठी ब्रह्माको प्राप्त होता है अथवा अग्निमें समा जाता है अथवा सूर्यमें प्रवेश कर जाता है ॥ ११९ ॥

स तैजसेन भावेन यदि तत्र रमत्युत।
गुणांस्तेषां समाधत्ते रागेण प्रतिमोहितः ॥ १२० ॥

यदि वह जापक तैजस शरीरसे उन लोकोंमें रमण करता है तो रागसे मोहित होकर उनके गुणोंको अपने भीतर धारण कर लेता है ॥ १२० ॥

एवं सोमे तथा वायौ भूम्याकाशशरीरगः।
सरागस्तत्र वसति गुणांस्तेषां समाचरन् ॥ १२१ ॥

इसी प्रकार संहिताका जप करनेवाला पुरुष रागयुक्त होनेपर चन्द्रलोक, वायुलोक, भूमिलोक तथा अन्तरिक्षलोकके योग्य शरीर धारण करके वहाँ निवास करता है और उन लोकोंमें रहनेवाले पुरुषोंके गुणोंका आचरण करता रहता है ॥

अथ तत्र विरागी स गच्छति त्वथ संशयम्।
परमव्ययमिच्छन् स तमेवाविशते पुनः ॥ १२२ ॥

यदि उन लोकोंकी उत्कृष्टतामें संदेह हो जाय और इस कारण वह जापक वहाँसे विरक्त हो जाय तो वह उत्कृष्ट एवं अविनाशी मोक्षकी इच्छा रखता हुआ फिर उसी परमेष्ठी ब्रह्मामें प्रवेश कर जाता है ॥ १२२ ॥

अमृताच्चामृतं प्राप्तः शान्तीभूतो निरात्मवान्।
ब्रह्मभूतः स निर्द्वन्द्वः सुखी शान्तो निरामयः ॥ १२३ ॥

अन्य लोकोंकी अपेक्षा परमेष्ठिभावकी प्राप्ति अमृतरूप है। उससे भी उत्कृष्ट कैवल्यरूपी अमृतको प्राप्त होकर वह शान्त (निष्काम), अहङ्कारशून्य, निर्द्वन्द्व, सुखी,

शान्तिपरायण तथा रोग-शोकसे रहित ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥

ब्रह्मस्थानमनावर्तमेकमक्षरसंज्ञकम् ।
अदुःखमजरं शान्तं स्थानं तत् प्रतिपद्यते ॥१२४॥

ब्रह्मपद पुनरावृत्तिरहित, एक, अविनाशी, संज्ञारहित, दुःख-शून्य, अजर और शान्त आश्रय है, उसे ही वह जापक प्राप्त होता है ॥ १२४ ॥

चतुर्भिर्लक्षणैर्हीनं तथा षड्भिः सषोडशैः ।
पुरुषं तमतिक्रम्य आकाशं प्रतिपद्यते ॥१२५॥

जापक पूर्वोक्त परमेष्ठी पुरुष (सगुण ब्रह्म) से भी ऊपर उठकर आकाशस्वरूप निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होता है। वहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—इन चारों प्रमाणों और लक्षणोंकी पहुँच नहीं है। क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह तथा जरा और मृत्यु—ये छः तरङ्गें वहाँ नहीं हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों प्राण तथा मन—इन सोलह उपकरणोंसे भी वह रहित है ॥ १२५ ॥

अथ नेच्छति रागात्मा सर्वं तदधितिष्ठति ।
यच्च प्रार्थयते तच्च मनसा प्रतिपद्यते ॥१२६॥

यदि उसके मनमें भोगोंके प्रति राग है और वह निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होना नहीं चाहता है तो वह सम्पूर्ण पुण्यलोकोंका अधिष्ठाता बन जाता है और मनसे जिस वस्तुको पाना चाहता है, उसे तुरंत प्राप्त कर लेता है ॥ १२६ ॥

अथवा चेक्षते लोकान् सर्वान् निरयसंज्ञितान् ।
निस्पृहः सर्वतो मुक्तस्तत्र वै रमते सुखम् ॥१२७॥

अथवा वह सम्पूर्ण उत्तम लोकोंको भी नरकके तुल्य देखता है और सब ओरसे निःस्पृह एवं मुक्त होकर उस निर्गुण ब्रह्ममें सुखपूर्वक रमण करता है ॥ १२७ ॥

एवमेषा महाराज जापकस्य गतिर्यथा ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥१२८॥

महाराज ! इस प्रकार यह जापककी गति बतायी गयी है। यह सारा प्रसङ्ग मैंने कह सुनाया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ १२८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९९ ॥

द्विशततमोऽध्यायः

जापक ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकुकी उत्तम गतिका वर्णन तथा जापकको मिलनेवाले फलकी उत्कृष्टता

युधिष्ठिर उवाच

किमुत्तरं तदा तौ स चक्रतुस्तस्य भाषिते ।
ब्राह्मणो वाथवा राजा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! उस समय विरूपके पूर्वोक्त वचन कहनेपर ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकु उन दोनोंने उसे क्या उत्तर दिया, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

अथवा तौ गतौ तत्र यदेतत् कीर्तितं त्वया ।
संवादो वा तयोः कोऽभूत् किं वा तौ तत्र चक्रतुः ॥२॥

तथा आपने जो यह सद्योमुक्ति, क्रममुक्ति और लोकान्तरकी प्राप्तिरूप तीन प्रकारकी गति बतायी है, उनमेंसे वे दोनों किस गतिको प्राप्त हुए ? उस समय उन दोनोंमें क्या बातचीत हुई और उन्होंने क्या किया ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

तथेत्येवं प्रतिश्रुत्य धर्मं सम्पूज्य च प्रभो ।
यमं कालं च मृत्युं च स्वर्गं सम्पूज्य चार्हतः ॥ ३ ॥
पूर्वे ये चापरे तत्र समेता ब्राह्मणर्षभाः ।
सर्वान् सम्पूज्य शिरसा राजानं सोऽब्रवीद् द्विजः॥४॥

भीष्मजीने कहा—प्रभो ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर ब्राह्मणने धर्म, यम, काल, मृत्यु और स्वर्ग—इन सभी पूजनीय देवताओंका पूजन किया। वहाँ पहलेसे जो ब्राह्मण मौजूद थे और दूसरे भी जो श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ पधारे थे, उन सबके चरणोंमें सिर झुकाकर सबकी यथोचित पूजा करके ब्राह्मणने राजासे कहा—॥ ३-४ ॥

फलेनानेन संयुक्तो राजर्षे गच्छ मुख्यताम् ।
भवता चाभ्यनुज्ञातो जपेयं भूय एव ह ॥ ५ ॥

'राजर्षे ! इस फलसे संयुक्त होकर आप श्रेष्ठ गतिको प्राप्त कीजिये और आपकी आज्ञा लेकर मैं फिर जपमें लग जाऊँगा ॥ ५ ॥

वरश्च मम पूर्वं हि दत्तो देव्या महाबल ।
श्रद्धा ते जपतो नित्यं भवत्विति विशाम्पते ॥ ६ ॥

'महाबली प्रजानाथ ! मुझे देवी सावित्रीने वर दिया है कि जपमें तुम्हारी नित्य श्रद्धा बनी रहेगी' ॥ ६ ॥

राजोवाच

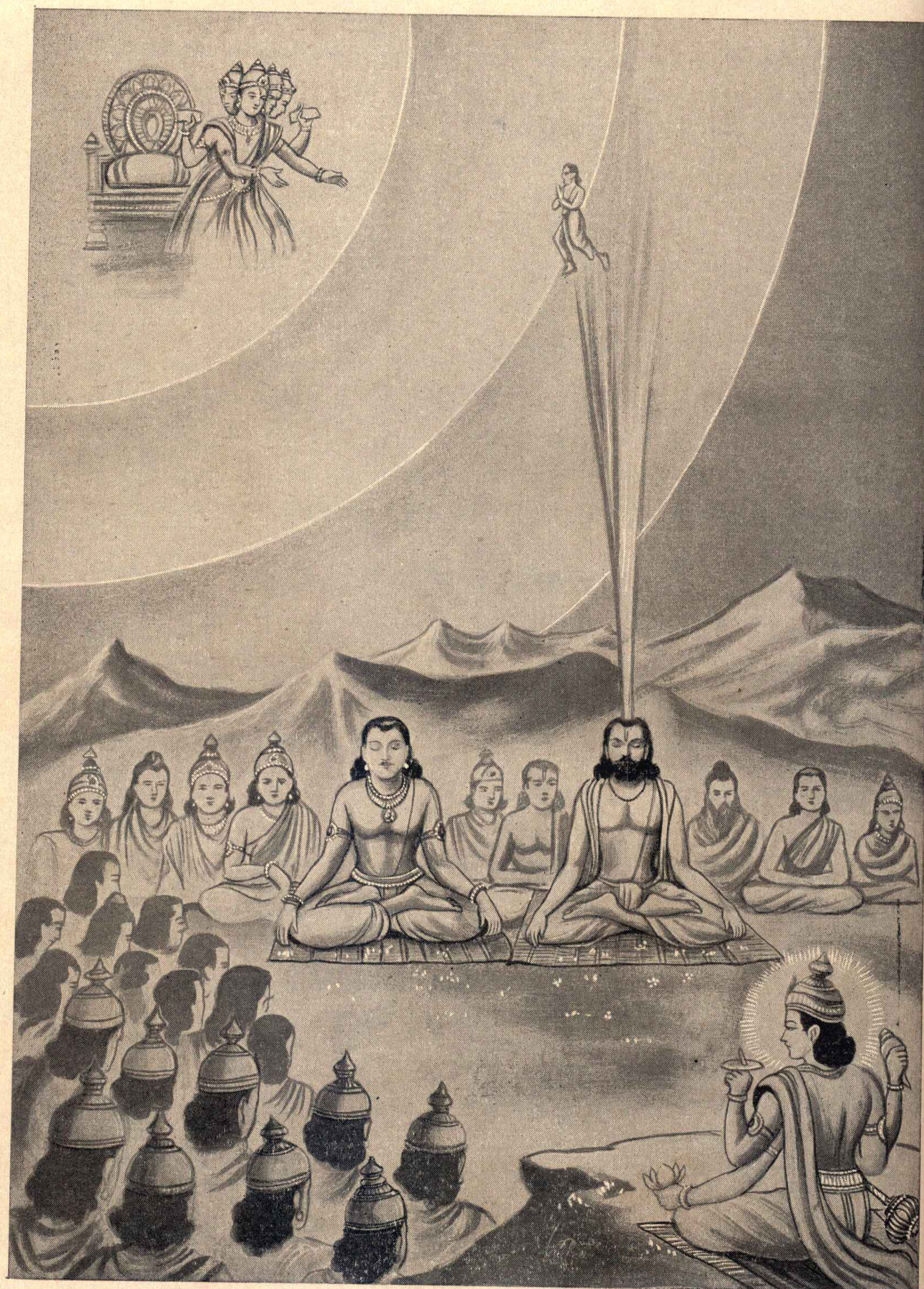
यद्येवमफला सिद्धिः श्रद्धा च जपितुं तव ।
गच्छ विप्र मया सार्धं जापकं फलमाप्नुहि ॥ ७ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! यदि इस प्रकार मुझे फल समर्पण करनेके कारण आपको फलकी प्राप्ति नहीं हो रही है और पुनः जप करनेमें ही आपकी श्रद्धा होती है तो आप मेरे साथ ही चलें और जप-दानजनित फलको प्राप्त करें ॥ ७ ॥

ब्राह्मण उवाच

कृतः प्रयत्नः सुमहान् सर्वेषां संनिधाविह ।
सह तुल्यफलावावां गच्छावो यत्र नौ गतिः ॥ ८ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! मैंने यहाँ सबके समीप आपको अपने जपका फल देनेके लिये महान् प्रयत्न किया है; किंतु आपका आग्रह साथ-साथ फलका उपभोग करनेका है; अतः हम दोनों समान फलके ही भागी हों। चलिये



जापक ब्राह्मण एवं महाराज इक्ष्वाकुकी ऊर्ध्वगति

जहाँतक हम दोनोंकी गति हो सके, साथ-साथ चलें ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच

व्यवसायं तयोस्तत्र विदित्वा त्रिदशेश्वरः ।
सह देवैरुपययौ लोकपालैस्तथैव च ॥ ९ ॥
साध्याश्च विश्वे मरुतो वाद्यानि सुमहान्ति च ।
नद्यः शैलाः समुद्राश्च तीर्थानि विविधानि च ॥ १० ॥
तपांसि संयोगविधिर्वेदाः स्तोभाः सरस्वती ।
नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हहाहुहूः ॥ ११ ॥
गन्धर्वश्चित्रसेनश्च परिवारगणैर्युतः ।
नागाः सिद्धाश्च मुनयो देवदेवः प्रजापतिः ॥ १२ ॥
विष्णुः सहस्रशीर्षश्च देवोऽचिन्त्यः समागमत् ।
अवाद्यन्तान्तरिक्षे च भेर्यस्तूर्याणि वा विभो ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! उन दोनोंका वहाँ ऐसा निश्चय जानकर सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकपालोंके साथ देवराज इन्द्र उस स्थानपर आये। उनके साथ साध्यगण, विश्वेदेवगण और मरुद्गण भी थे। बड़े-बड़े वाद्य बज रहे थे। नदियाँ, पर्वत, समुद्र, नाना प्रकारके तीर्थ, तपस्या, संयोगविधि, वेद, स्तोभ (साम-गानकी पूर्तिके लिये बोले जानेवाले अक्षर हाई हावु इत्यादि), सरस्वती, नारद, पर्वत, विश्वावसु, हाहा, हूहू, परिवारसहित चित्रसेन गन्धर्व, नाग, सिद्ध, मुनि, देवाधिदेव प्रजापति ब्रह्मा, सहस्रों मस्तकवाले शेषनाग तथा अचिन्त्य देव भगवान् विष्णु भी वहाँ पधारे। प्रभो! उस समय आकाशमें भेरियाँ और तुरही आदि बाजे बज रहे थे ॥ ९–१३ ॥

पुष्पवर्षाणि दिव्यानि तत्र तेषां महात्मनाम् ।
ननृतुश्चाप्सरःसंघास्तत्र तत्र समन्ततः ॥ १४ ॥

वहाँ उन महात्माओंपर दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगी। झुंडकी झुंड अप्सराएँ सब ओर नृत्य करने लगीं ॥ १४ ॥

अथ स्वर्गस्तथा रूपी ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ।
संसिद्धस्त्वं महाभाग त्वं च सिद्धस्तथा नृप ॥ १५ ॥

तदनन्तर मूर्तिमान् स्वर्गने ब्राह्मणसे कहा—'महाभाग! तुम सिद्ध हो गये।' फिर राजासे कहा—'नरेश्वर! तुम भी सिद्ध हो गये' ॥ १५ ॥

अथ तौ सहितौ राजन्नन्योन्यविधिना ततः ।
विषयप्रतिसंहारमुभावेव प्रचक्रतुः ॥ १६ ॥

राजन्! तदनन्तर वे दोनों एक दूसरेका उपकार करते हुए एक साथ हो गये। उन्होंने एक ही साथ अपने मनको विषयोंकी ओरसे हटा लिया ॥ १६ ॥

प्राणापानौ तथोदानं समानं व्यानमेव च ।
एवं तौ मनसि स्थाप्य दधतुः प्राणयोर्मनः ॥ १७ ॥
उपस्थितकृतौ तौ च नासिकाग्रमधो भ्रुवोः ।
भ्रुकुट्या चैव मनसा शनैर्धारयतस्तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—इन पाँचों प्राण-वायुओंको हृदयमें स्थापित किया; इस प्रकार स्थित हुए उन दोनोंने मनको प्राण और अपानके साथ मिला दिया। भौंहोंके नीचे नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि रखते हुए मनसहित प्राण-अपानको उन्होंने दोनों भौंहोंके बीच स्थिर किया ॥ १७-१८ ॥

निश्चेष्टाभ्यां शरीराभ्यां स्थिरदृष्टी समाहितौ ।
जितात्मानौ तथाऽऽधाय मूर्धन्यात्मानमेव च ॥ १९ ॥

इस प्रकार मनको जीतकर दृष्टिको एकाग्र करके उन दोनोंने प्राणसहित मनको सुषुम्णा मार्गद्वारा मूर्धामें स्थापित कर दिया। फिर वे दोनों समाधिमें स्थित हो गये। उस समय उन दोनोंके शरीर जडकी भाँति चेष्टाहीन हो गये ॥

तालुदेशमथोद्दाल्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
ज्योतिर्ज्वाला सुमहती जगाम त्रिदिवं तदा ॥ २० ॥

इसी समय महात्मा ब्राह्मणके तालुदेश (ब्रह्म-रन्ध्र) का भेदन करके एक ज्योतिर्मयी विशाल ज्वाला निकली और स्वर्गकी ओर चल दी ॥ २० ॥

हाहाकारस्तथा दिक्षु सर्वेषां सुमहानभूत् ।
तज्ज्योतिः स्तूयमानं स्म ब्रह्माणं प्राविशत् तदा ॥ २१ ॥
ततः स्वागतमित्याह तत् तेजः प्रपितामहः ।
प्रादेशमात्रं पुरुषं प्रत्युद्गम्य विशाम्पते ॥ २२ ॥

फिर तो सम्पूर्ण दिशाओंमें महान् कोलाहल मच गया। उस ज्योतिकी सभी लोग स्तुति करने लगे। प्रजानाथ! प्रादेशके बराबर लंबे पुरुषका आकार धारण किये वह तेजःपुञ्ज ब्रह्माजीके पास पहुँचा, तब ब्रह्माजीने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया ॥ २१-२२ ॥

भूयश्चैवापरं प्राह वचनं मधुरं तदा ।
जापकैस्तुल्यफलता योगानां नात्र संशयः ॥ २३ ॥

ब्रह्माजीने उस तेजोमय पुरुषका स्वागत करनेके पश्चात् पुनः उससे मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा—'विप्रवर! योगियोंको जो फल मिलता है, निस्संदेह वही फल जप करनेवालोंको भी प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

योगस्य तावदेतेभ्यः प्रत्यक्षं फलदर्शनम् ।
जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम् ॥ २४ ॥

'योगियोंको जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह इन सभासदोंने प्रत्यक्ष देखा है; किंतु जापकोंको उनसे भी श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है, यह सूचित करनेके लिये ही मैंने उठकर तुम्हारा स्वागत किया है ॥ २४ ॥

उष्यतां मयि चेत्युक्त्वाचेतयत् सततं पुनः ।
अथास्यं प्रविवेशास्य ब्राह्मणो विगतज्वरः ॥ २५ ॥

'अब तुम मेरे भीतर सुखपूर्वक निवास करो।' इतना कहकर ब्रह्माजीने उसे पुनः तत्त्वज्ञान प्रदान किया। आज्ञा पाकर वह ब्राह्मण-तेज रोग-शोकसे मुक्त हो ब्रह्माजीके मुखारविन्दमें प्रविष्ट हो गया ॥ २५ ॥

राजाप्येतेन विधिना भगवन्तं पितामहम्।
यथैव द्विजशार्दूलस्तथैव प्राविशत् तदा ॥ २६ ॥

राजा इक्ष्वाकु भी उस श्रेष्ठ ब्राह्मणकी ही भाँति विधिपूर्वक भगवान् ब्रह्माजीके मुखारविन्दमें प्रविष्ट हो गये ॥ २६ ॥

स्वयम्भुवमथो देवा अभिवाद्य ततोऽब्रुवन्।
जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर देवताओंने ब्रह्माजीको प्रणाम करके कहा—'भगवन्! आपने जो आगे बढ़कर इस ब्राह्मणका स्वागत किया है, इससे सिद्ध हो गया कि जापकोंको योगियोंसे भी श्रेष्ठ फलकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

जापकार्थमयं यत्नो यदर्थं वयमागताः।
कृतपूजाविमौ तुल्यौ त्वया तुल्यफलाविमौ ॥ २८ ॥

'इस जापक ब्राह्मणको सद्गति देनेके लिये ही आपने ऐसा उद्योग किया था। इसीको देखनेके लिये हमलोग भी आये थे। आपने इन दोनोंका समानरूपसे आदर किया और ये दोनों ही एक-सी स्थितिमें पहुँचकर आपके समान फलके भागी हुए हैं ॥ २८ ॥

योगजापकयोर्दृष्टं फलं सुमहदद्य वै।
सर्वाँल्लोकानतिक्रम्य गच्छेतां यत्र वाञ्छितम् ॥ २९ ॥

'आज हमलोगोंने योगी और जापकके महान् फलको प्रत्यक्ष देख लिया। वे सम्पूर्ण लोकोंको लाँघकर जहाँ उनकी इच्छा हो, जा सकते हैं' ॥ २९ ॥

ब्रह्मोवाच

महास्मृतिं पठेद् यस्तु तथैवानुस्मृतिं शुभाम्।
तावप्येतेन विधिना गच्छेतां मत्सलोकताम् ॥ ३० ॥
यश्च योगे भवेद् भक्तः सोऽपि नास्त्यत्र संशयः।
विधिनानेन देहान्ते मम लोकानवाप्नुयात्।
साधये गम्यतां चैव यथास्थानानि सिद्धये ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ! जो महास्मृति त[था] कल्याणमयी अनुस्मृतिका पाठ करता है, वह भी इसी विधि[से] मेरा सालोक्य प्राप्त कर लेता है। जो योगका भक्त है, व[ह] भी देहत्यागके पश्चात् इसी विधिसे मेरे लोकोंको प्राप्त क[र] लेता है, इसमें संशय नहीं है। अब तुम सब लोग अप[नी] अभीष्ट-सिद्धिके लिये अपने-अपने स्थानको जाओ। मैं तु[म] लोगोंका अभीष्ट साधन करता रहूँगा ॥ ३०-३१ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा स तदा देवस्तत्रैवान्तरधीयत।
आमन्त्र्य च ततो देवा ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ ३२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर ब्रह्मा[जी] वहीं अन्तर्धान हो गये। देवता भी उनकी आज्ञा पाकर अप[ने]-अपने स्थानको चले गये ॥ ३२ ॥

ते च सर्वे महात्मानो धर्मं सत्कृत्य तत्र वै।
पृष्ठतोऽनुययू राजन् सर्वे सुप्रीतचेतसः ॥ ३३ ॥

राजन्! फिर वे सभी महात्मा धर्मको सत्कारपूर्वक आ[गे] करके प्रसन्नचित्त हो पीछे-पीछे चल दिये ॥ ३३ ॥

एतत् फलं जापकानां गतिश्चैषा प्रकीर्तिता।
यथाश्रुतं महाराज किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ३४ ॥

महाराज! मैंने जैसा सुना था, उसके अनुसार जापकोंको मिलनेवाले इस उत्तम फल और गतिका वर्णन किया। अ[ब] तुम और क्या सुनना चाहते हो? ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०० ॥

एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

बृहस्पतिके प्रश्नके उत्तरमें मनुद्वारा कामनाओंके त्यागकी एवं ज्ञानकी प्रशंसा तथा परमात्मतत्त्वका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

किं फलं ज्ञानयोगस्य वेदानां नियमस्य च।
भूतात्मा च कथं ज्ञेयस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! ज्ञानयोगका, वेदोंका तथा वेदोक्त नियम (अग्निहोत्र आदि) का क्या फल है? समस्त प्राणियोंके भीतर रहनेवाले परमात्माका ज्ञान कैसे हो सकता है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मनोः प्रजापतेर्वादं महर्षेश्च बृहस्पतेः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें प्रजापति मनु तथा महर्षि बृहस्पतिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

प्रजापतिं श्रेष्ठतमं प्रजानां
देवर्षिसंघप्रवरो महर्षिः।
बृहस्पतिः प्रश्नमिमं पुराणं
पप्रच्छ शिष्योऽथ गुरुं प्रणम्य ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, देवता और ऋषियोंकी मण्डलीमें प्रधान महर्षि बृहस्पतिने प्रजाओंके श्रेष्ठतम प्रजापति गुरु मनुको शिष्यभावसे प्रणाम करके यह प्राचीन प्रश्न पूछा— ॥

यत्कारणं यत्र विधिः प्रवृत्तो
ज्ञाने फलं यत्प्रवदन्ति विप्राः।



प्रजापति मनु एवं महर्षि बृहस्पतिका संवाद

यन्मन्त्रशब्दैरकृतप्रकाशं
तदुच्यतां मे भगवन् यथावत् ॥ ४ ॥

भगवन्! जो इस जगत्का कारण है, जिसके लिये वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान किया जाता है, ब्राह्मण लोग जिसे ही ज्ञान होनेपर प्राप्त होनेवाला फल (परब्रह्म परमात्मा) बताते हैं तथा वेदके मन्त्र-वाक्योंद्वारा जिसका तत्त्व पूर्णरूपसे प्रकाशमें नहीं आता, उस नित्य वस्तुका आप मेरे लिये यथावद्रूपसे वर्णन कीजिये ॥ ४ ॥

यच्चार्थशास्त्रागममन्त्रविद्भि-
र्यज्ञैरनेकैरथ गोप्रदानैः ।
फलं महद्भिर्यदुपास्यते च
किं तत्कथं वा भविता क वा तत् ॥ ५ ॥

अर्थशास्त्र, आगम (वेद) और मन्त्रको जाननेवाले विद्वान् पुरुष अनेकानेक महान् यज्ञों और गोदानोंद्वारा जिस सुखमय फलकी उपासना करते हैं, वह क्या है, किस प्रकार प्राप्त होता है और कहाँ उसकी स्थिति है ? ॥ ५ ॥

मही महीजाः पवनोऽन्तरिक्षं
जलौकसश्चैव जलं दिवं च ।
दिवौकसश्चापि यतः प्रसूता-
स्तदुच्यतां मे भगवन् पुराणम् ॥ ६ ॥

भगवन्! पृथ्वी, पार्थिव पदार्थ, वायु, आकाश, जलजन्तु, जल, द्युलोक और देवता जिससे उत्पन्न होते हैं, वह पुरातन वस्तु क्या है ! यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥

ज्ञानं यतः प्रार्थयते नरो वै
ततस्तदर्थां भवति प्रवृत्तिः ।
न चाप्यहं वेद परं पुराणं
मिथ्याप्रवृत्तिं च कथं नु कुर्याम् ॥ ७ ॥

मनुष्यको जिस वस्तुका ज्ञान होता है, उसीको वह पाना चाहता है और पानेकी इच्छा उत्पन्न होनेपर उसके लिये वह प्रयत्न आरम्भ करता है; परंतु मैं तो उस पुरातन परमोत्कृष्ट वस्तुके विषयमें कुछ जानता ही नहीं हूँ; फिर उसे पानेके लिये झूठा प्रयत्न कैसे करूँ ? ॥ ७ ॥

ऋक्सामसंघांश्च यजूंषि चापि
च्छन्दांसि नक्षत्रगतिं निरुक्तम् ।
अधीत्य च व्याकरणं सकल्पं
शिक्षां च भूतप्रकृतिं न वेद्मि ॥ ८ ॥

मैंने ऋक्, साम और यजुर्वेदका तथा छन्दका अर्थात् अथर्ववेदका एवं नक्षत्रोंकी गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षाका भी अध्ययन किया है तो भी मैं आकाश आदि पाँचों महाभूतोंके उपादान कारणको न जान सका ॥ ८ ॥

स मे भवान् शंसतु सर्वमेतत्
सामान्यशब्दैश्च विशेषणैश्च ।
स मे भवान् शंसतु तावदेत-
ज्ज्ञाने फलं कर्मणि वा यदस्ति ॥ ९ ॥

यथा च देहाच्च्यवते शरीरी
पुनः शरीरं च यथाभ्युपैति ।

अतः आप सामान्य और विशेष शब्दोंद्वारा इस सम्पूर्ण विषयका मेरे निकट वर्णन कीजिये । तत्त्वज्ञान होनेपर कौन-सा फल प्राप्त होता है ? कर्म करनेपर किस फलकी उपलब्धि होती है ? देहाभिमानी जीव देहसे किस प्रकार निकलता है और फिर दूसरे शरीरमें कैसे प्रवेश करता है ?—ये सारी बातें भी आप मुझे बताइये ॥ ९½ ॥

मनुरुवाच

यद् यत्प्रियं यस्य सुखं तदाहु-
स्तदेव दुःखं प्रवदन्त्यनिष्टम् ॥ १० ॥
इष्टं च मे स्यादितरच्च न स्या-
देतत्कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः ।
इष्टं त्वनिष्टं च न मां भजेते-
त्येतत्कृते ज्ञानविधिः प्रवृत्तः ॥ ११ ॥

मनुने कहा—जिसको जो-जो विषय प्रिय होता है, वही उसके लिये सुखरूप बताया गया है और जो अप्रिय होता है, उसे ही दुःखरूप कहा गया है । मुझे इष्ट (प्रिय) की प्राप्ति हो और अनिष्टका निवारण हो जाय, इसीके लिये कर्मोंका अनुष्ठान आरम्भ किया गया है तथा इष्ट और अनिष्ट दोनों ही मुझे प्राप्त न हों, इसके लिये ज्ञानयोगका उपदेश किया गया है ॥ १०-११ ॥

कामात्मकाश्छन्दसि कर्मयोगा
एभिर्विमुक्तः परमश्नुवीत ।
नानाविधे कर्मपथे सुखार्थी
नरः प्रवृत्तो न परं प्रयाति ॥ १२ ॥

वेदमें जो कर्मोंके प्रयोग बताये गये हैं, वे प्रायः सकामभावसे युक्त हैं । जो इन कामनाओंसे मुक्त होता है, वही परमात्माको पा सकता है । नाना प्रकारके कर्ममार्गमें सुखकी इच्छा रखकर प्रवृत्त होनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

बृहस्पतिरुवाच

इष्टं त्वनिष्टं च सुखासुखे च
साशीस्त्ववच्छन्दति कर्मभिश्च ।

बृहस्पतिने कहा—भगवन् ! सुख सबको अभीष्ट होता है और दुःख किसीको भी प्रिय नहीं होता । इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके निवारणके लिये जो कामना होती है, वही मनुष्योंसे कर्म करवाती है और उन कर्मोंद्वारा उनका मनोरथ पूर्ण करती है; अतः कामनाको आप त्याज्य कैसे बताते हैं ? ॥ १२½ ॥

मनुरुवाच

एभिर्विमुक्तः परमाविवेश
एतत् कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः ।

कामात्मकांश्छन्दति कर्मयोग
एभिर्विमुक्तः परमाददीत ॥ १३ ॥

मनुने कहा—मनुष्य इन कामनाओंसे मुक्त हो निष्काम भावसे कर्मोंका अनुष्ठान करके परब्रह्म परमात्माको प्राप्त करे, इसी उद्देश्यसे कर्मोंका विधान किया है, वेदमें स्वर्ग आदिकी कामनासे जो योगादि कर्मोंका विधान किया गया है, वह उन्हीं मनुष्योंको अपने जालमें फँसाता है, जिनका मन भोगोंमें आसक्त है। वास्तवमें इन कामनाओंसे दूर रहकर परमात्माको ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करे (भगवत्प्राप्तिके लिये ही कर्म करे, क्षुद्रभोगोंके लिये नहीं) ॥ १३ ॥

आत्मादिभिः कर्मभिरिन्ध्यमानो
धर्मे प्रवृत्तो द्युतिमान् सुखार्थी।
परं हि तत् कर्मपथादपेतं
निराशिषं ब्रह्मपरं ह्यवैति ॥ १४ ॥

जब मन नित्य कर्मोंके अनुष्ठानसे राग आदि दोषोंको दूर करके दर्पणकी भाँति स्वच्छ एवं दीप्तिमान् हो जाता है, तब वह द्युतिमान् (सदसद्-विवेकके प्रकाशसे युक्त) और नित्य सुखका अभिलाषी (मुमुक्षु) होकर निर्वाणभावसे धर्ममें प्रवृत्त होता है एवं कर्ममार्गसे अतीत तथा कामनाओंसे रहित परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ १४ ॥

प्रजाः सृष्टा मनसा कर्मणा च
द्वावेवैतौ सत्पथौ लोकजुष्टौ।
दृष्टं कर्म शाश्वतं चान्तवच्च
मनस्त्यागः कारणं नान्यदस्ति ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीने मन और कर्म–इन दोनोंके सहित प्रजाकी सृष्टि की है; अतः ये दोनों लोकसेवित सन्मार्गरूप हैं। कर्म दो प्रकारका देखा गया है–एक सनातन और दूसरा विनाशशील; (मोक्षका हेतुभूत कर्म सनातन है और नश्वर भोगोंकी प्राप्ति करानेवाला नाशवान् है) मनके द्वारा किये जानेवाले फलकी इच्छाका त्याग ही कर्मोंको सनातन बनाने और उनके द्वारा परब्रह्मकी प्राप्ति करानेमें कारण है, दूसरा कुछ नहीं ॥

स्वेनात्मना चक्षुरिव प्रणेता
निशात्यये तमसा संवृतात्मा।
ज्ञानं तु विज्ञानगुणेन युक्तं
कर्माशुभं पश्यति वर्जनीयम् ॥ १६ ॥

जब रात बीत जाती है और अन्धकारका आवरण हट जाता है, उस समय जैसे चलनेमें प्रवृत्त करनेवाला नेत्र अपने तैजस स्वरूपसे युक्त हो रास्तेमें पड़े हुए त्यागने योग्य काँटे आदिको देखते हैं, उसी प्रकार बुद्धि भी मोहका पर्दा हट जानेपर ज्ञानके प्रकाशसे युक्त हो त्यागने योग्य अशुभ कर्मको देखती है ॥ १६ ॥

सर्पान् कुशाग्राणि तथोदपानं
ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचि-
ज्ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम् ॥ १७

मनुष्य जब जान लेते हैं कि रास्तेमें सर्प है, कुश काँटे हैं और कुएँ हैं, तब उनसे बचकर निकलते हैं। जो न जानते हैं, ऐसे कितने ही पुरुष उन्हींपर गिर पड़ते हैं। अ ज्ञानका जो विशिष्ट फल है, उसे तुम प्रत्यक्ष देख लो ॥ १७

कृत्स्नस्तु मन्त्रो विधिवत् प्रयुक्तो
यथा यथोक्तास्त्विह दक्षिणाश्च।
अन्नप्रदानं मनसः समाधिः
पञ्चात्मकं कर्मफलं वदन्ति ॥ १८

विधिपूर्वक सम्पूर्ण मन्त्रोंका उच्चारण, वेदोक्त विधा अनुसार यज्ञोंका अनुष्ठान, यथायोग्य दक्षिणा, अन्नका द और मनकी एकाग्रता–इन पाँच अङ्गोंसे सम्पन्न होनेपर यज्ञ-कर्मका पूरा-पूरा फल प्राप्त होता है, ऐसा विद्वान् पु कहते हैं ॥ १८ ॥

गुणात्मकं कर्म वदन्ति वेदा-
स्तस्मान्मन्त्रो मन्त्रपूर्वं हि कर्म।
विधिर्विधेयं मनसोपपत्तिः
फलस्य भोक्ता तु तथा शरीरी ॥ १९

वेदोंका कहना है कि कर्म त्रिगुणात्मक होते हैं अ सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारके होते इसीलिये मन्त्र भी सात्त्विक आदि भेदसे तीन प्रकारके होते हैं; क्योंकि मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही कर्मका अनुष्ठान कि जाता है। इसी तरह उन कर्मोंकी विधि, विधेय (उनके लि किया जानेवाला कार्य), मनके द्वारा अभीष्ट फलकी सि और उसका भोक्ता देहाभिमानी जीव—ये सभी तीन प्रकारके होते हैं ॥ १९ ॥

शब्दाश्च रूपाणि रसाश्च पुण्याः
स्पर्शाश्च गन्धाश्च शुभास्तथैव।
नरो न संस्थानगतः प्रभुः स्या-
देतत् फलं सिद्ध्यति कर्मलोके ॥ २०

शब्द, रूप, पवित्र रस, सुखद स्पर्श और सुन्दर गन्ध ही कर्मोंके फल हैं; किंतु इस शरीरमें स्थित हुआ मनु इन फलोंको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं है। कर्मोंके फल प्राप्ति जो उनका फल भोगनेके लिये प्राप्त शरीरमें होती वह दैवाधीन है ॥ २० ॥

यद् यच्छरीरेण करोति कर्म
शरीरयुक्तः समुपाश्नुते तत्।
शरीरमेवायतनं सुखस्य
दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम् ॥ २१

जीव शरीरसे जो-जो अशुभ या शुभ कर्म करता शरीरसे युक्त हुआ ही उसके फलोंको भोगता है; क्योंकि श ही सुख और दुःख भोगनेका स्थान है ॥ २१ ॥

वाचा तु यत् कर्म करोति किंचिद्
वाचैव सर्वं समुपाश्नुते तत् ।
मनस्तु यत् कर्म करोति किञ्चि-
न्मनःस्थ एवायमुपाश्नुते तत् ॥ २२ ॥

मनुष्य वाणीद्वारा जो कोई कर्म करता है, उसका सारा फल वह वाणीद्वारा ही भोगता है और मनसे जो कुछ कर्म करता है, उसका फल यह जीवात्मा मनके साथ हुआ मनसे ही भोगता है ॥ २२ ॥

यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी
करोत्ययं कर्मफले निविष्टः ।
तथा तथायं गुणसम्प्रयुक्तः
शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति ॥ २३ ॥

फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य कर्मके फलमें आसक्त हो जैसे-जैसे गुणवाला—सात्त्विक, राजस या तामस कर्म करता है, वैसे-ही-वैसे गुणोंसे प्रेरित होकर इसे उस कर्मका शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है ॥ २३ ॥

मत्स्यो यथा स्रोत इवाभिपाती
तथा कृतं पूर्वमुपैति कर्म ।
शुभे त्वसौ तुष्यति दुष्कृते तु
न तुष्यते वै परमः शरीरी ॥ २४ ॥

जैसे मछली जलके बहावके साथ बह जाती है, उसी प्रकार मनुष्य पहिलेके किये हुए कर्मका अनुसरण करता है। उसे उस कर्मप्रवाहमें बहना पड़ता है; परंतु उस दशामें वह श्रेष्ठ देहधारी जीव शुभ फल मिलनेपर तो संतुष्ट होता है और अशुभ फल प्राप्त होनेपर दुखी हो जाता है (यह उसकी मूढ़ता ही तो है) ॥ २४ ॥

यतो जगत् सर्वमिदं प्रसूतं
ज्ञात्वाऽऽत्मवन्तो व्यतियान्ति यत् तत् ।
यन्मन्त्रशब्दैरकृतप्रकाशं
तदुच्यमानं शृणु मे परं यत् ॥ २५ ॥

जिससे इस सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, जिसे जानकर मनको वशमें रखनेवाले ज्ञानी पुरुष इस संसारको लाँघकर परमपद प्राप्त कर लेते हैं तथा वेदके मन्त्रवाक्योंद्वारा जिसका तात्त्विक स्वरूप पूर्णतः प्रकाशमें नहीं आता, उस सर्वोत्कृष्ट वस्तुका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २५ ॥

रसैर्विमुक्तं विविधैश्च गन्धै-
रशब्दमस्पर्शमरूपवच्च ।
अग्राह्यमव्यक्तमवर्णमेकं
पञ्चप्रकारान् ससृजे प्रजानाम् ॥ २६ ॥

वह अनिर्वचनीय वस्तु नाना प्रकारके रस और भाँति-भाँतिके गन्धोंसे रहित है। शब्द, स्पर्श एवं रूपसे भी शून्य है। मन, बुद्धि और वाणीद्वारा भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता। वह अव्यक्त, अद्वितीय तथा रूप-रंगसे रहित है तथापि उसीने प्रजाओंके लिये रूप, रस आदि पाँचों विषयोंकी सृष्टि की है ॥

न स्त्री पुमान् नापि नपुंसकं च
न सन्न चासत् सदसच्च तन्न ।
पश्यन्ति यद् ब्रह्मविदो मनुष्या-
स्तदक्षरं न क्षरतीति विद्धि ॥ २७ ॥

वह न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। न सत् है, न असत् है और न सदसत् उभयरूप ही है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही उसका साक्षात्कार करते हैं। उसका कभी क्षय नहीं होता; इसलिये वह अविनाशी परब्रह्म परमात्मा अक्षर कहलाता है, इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादविषयक दो सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०१ ॥

द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

आत्मतत्त्वका और बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थोंका विवेचन तथा उसके साक्षात्कारका उपाय

मनुरुवाच

अक्षरात् खं ततो वायुस्ततो ज्योतिस्ततो जलम् ।
जलात् प्रसूता जगती जगत्यां जायते जगत् ॥ १ ॥

मनु कहते हैं—बृहस्पते ! अविनाशी परमात्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे यह पृथ्वी उत्पन्न हुई है। इस पृथ्वीमें ही सम्पूर्ण पार्थिव जगत्‌की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

एतैः शरीरैर्जलमेव गत्वा
जलाच्च तेजः पवनोऽन्तरिक्षम् ।
खाद् वै निवर्तन्ति न भाविनस्ते
मोक्षं च ते वै परमाप्नुवन्ति ॥ २ ॥

इन पूर्वोक्त शरीरोंके साथ (पार्थिव शरीरके बाद) प्राणियोंका जलमें लय होता है; फिर वे जलसे अग्निमें, अग्निसे वायुमें और वायुसे आकाशमें लीन होते हैं। आकाशसे सृष्टिकालमें फिर वे पूर्वोक्त क्रमसे उत्पन्न होते हैं; परंतु जो ज्ञानी हैं, वे मोक्षस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उनका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता ॥ २ ॥

नोष्णं न शीतं मृदु नापि तीक्ष्णं
नाम्लं कषायं मधुरं न तिक्तम् ।

न शब्दवन्नापि च गन्धवत्त-
न्न रूपवत्तत् परमस्वभावम् ॥ ३ ॥

वह परमात्मतत्त्व न गर्म है न शीतल, न कोमल है न तीक्ष्ण, न खट्टा है न कसैला, न मीठा है न तीता। शब्द, गन्ध और रूपसे भी वह रहित है। उसका स्वरूप सबसे उत्कृष्ट एवं विलक्षण है ॥ ३ ॥

स्पर्शं तनुर्वेद रसं च जिह्वा
घ्राणं च गन्धान् श्रवणौ च शब्दान्।
रूपाणि चक्षुर्न च तत्परं यद्
गृह्णन्त्यनध्यात्मविदो मनुष्याः ॥ ४ ॥

त्वचा स्पर्शका, जिह्वा रसका, घ्राणेन्द्रिय गन्धका, कान शब्दका और नेत्र रूपका ही अनुभव करते हैं। ये इन्द्रियाँ परमात्माको प्रत्यक्ष नहीं कर सकतीं। अध्यात्मज्ञानसे हीन मनुष्य परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

निवर्तयित्वा रसनां रसेभ्यो
घ्राणं च गन्धाच्छ्रवणौ च शब्दात्।
स्पर्शात् त्वचं रूपगुणात् तु चक्षु-
स्ततः परं पश्यति स्वं स्वभावम् ॥५॥

अतः जो जिह्वाको रससे, नासिकाको गन्धसे, कानोंको शब्दसे, त्वचाको स्पर्शसे और नेत्रोंको रूपसे हटाकर अन्तर्मुखी बना लेता है, वही अपने मूलस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार कर सकता है ॥ ५ ॥

यतो गृहीत्वा हि करोति यच्च
यस्मिंश्च तामारभते प्रवृत्तिम्।
यस्मिंश्च यद् येन च यश्च कर्ता
यत् कारणं ते समुदायमाहुः ॥ ६ ॥

महर्षिगण कहते हैं जो कर्ता जिस कारणसे, जिस फलके उद्देश्यसे, जिस देश या कालमें, जिस प्रिय या अप्रियके निमित्त, जिस राग या द्वेषसे प्रभावित हो प्रवृत्तिमार्गका आश्रय ले जिस कर्मको करता है, इन सबके समुदायका जो कारण है, वही सबका स्वरूपभूत परब्रह्म परमात्मा है ॥ ६ ॥

यद् व्याप्यभूद् व्यापकं साधकं च
यन्मन्त्रवत् स्थास्यति चापि लोके।
यः सर्वहेतुः परमात्मकारी
तत् कारणं कार्यमतो यदन्यत् ॥ ७ ॥

श्रुतिके कथनानुसार जो व्यापक, व्याप्य और उनका साधन है, जो सम्पूर्ण लोकमें सदा ही स्थित रहनेवाला कूटस्थ, सबका कारण और स्वयं ही सब कुछ करनेवाला है, वही परम कारण है। उसके सिवा जो कुछ है, सब कार्यमात्र है ॥ ७ ॥

यथा हि कश्चित् सुकृतैर्मनुष्यः
शुभाशुभं प्राप्नुतेऽथाविरोधात्।
एवं शरीरेषु शुभाशुभेषु
स्वकर्मजैर्ज्ञानमिदं निबद्धम् ॥ ८ ॥

जैसे कोई मनुष्य भलीभाँति किये हुए कर्मोंद्वारा बिना किसी प्रतीकारके विभिन्न देश और कालमें उनका शुभा[शुभ] फल पाता है, उसी प्रकार अपने कर्मानुसार प्राप्त उत्तम [और] अधम शरीरोंमें यह चिन्मय ज्ञान बिना किसी विरोधके [स्थित] रहता है ॥ ८ ॥

यथा प्रदीप्तः पुरतः प्रदीपः
प्रकाशमन्यस्य करोति दीप्यन्।
तथेह पञ्चेन्द्रियदीपवृक्षा
ज्ञानप्रदीप्ताः परवन्त एव ॥ ९ ॥

जिस प्रकार अग्निसे प्रज्वलित दीपक स्वयं प्रकाशित [हो]कर पासमें स्थित अन्य वस्तुओंको भी प्रकाशित कर देता [है], उसी प्रकार इस शरीररूप वृक्षमें स्थित पाँच इन्द्रियाँ चैत[न्य]रूपी ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित होकर विषयोंको प्रका[शित] करती हैं (उनका प्रकाश चिन्मय प्रकाशके ही अधीन है[, इस] कारण वे पराधीन हैं। स्वतः प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं हैं) ॥ ९ ॥

यथा च राज्ञा बहवो ह्यमात्याः
पृथक् प्रमाणं प्रवदन्ति युक्ताः।
तद्वच्छरीरेषु भवन्ति पञ्च
ज्ञानैकदेशः परमः स तेभ्यः ॥ १० ॥

जैसे किसी राजाके द्वारा भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्त [कि]ये गये बहुत-से मन्त्री अपने पृथक्-पृथक् कार्योंकी जानकारी रा[जाको] कराते हैं। उसी प्रकार शरीरोंमें स्थित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अ[पने]-अपने एकदेशीय विषयका परिचय राजस्थानीय बुद्धिको दे[ती] हैं। जैसे मन्त्रियोंसे राजा श्रेष्ठ है, उसी प्रकार उन पाँचों इन्द्रि[यों]से उनका प्रवर्तक वह ज्ञान श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

यथार्चिषोऽग्नेः पवनस्य वेगो
मरीचयोऽर्कस्य नदीषु चापः।
गच्छन्ति चायान्ति च संचरन्त्य-
स्तद्वच्छरीराणि शरीरिणां तु ॥ ११ ॥

जैसे अग्निकी शिखाएँ, वायुका वेग, सूर्यकी किरणें [और] नदियोंका बहता हुआ जल—ये सदा आते-जाते रहते हैं, [उसी] प्रकार देहधारियोंके शरीर भी आवागमनके प्रवाहमें [पड़े] हुए हैं ॥ ११ ॥

यथा च कश्चित् परशुं गृहीत्वा
धूमं न पश्येज्ज्वलनं च काष्ठे।
तद्वच्छरीरोदरपाणिपादं
छित्त्वा न पश्यन्ति ततो यदन्यत् ॥ १२ ॥

जैसे कोई मनुष्य कुल्हाड़ी लेकर लकड़ीको चीरे [तो] उसमें उसे न तो आग दिखायी देगी और न धुआँ ही प्र[कट] होगा, उसी प्रकार इस शरीरका पेट फाड़ने या हाथ-[पैर] काटनेसे कोई उसे नहीं देख पाता, जो अन्तर्यामी आ[त्मा] शरीरसे भिन्न है ॥ १२ ॥

तान्येव काष्ठानि यथा विमथ्य
धूमं च पश्येज्ज्वलनं च योगात्।

तद्वत् सबुद्धिः सममिन्द्रियात्मा
बुधः परं पश्यति तं स्वभावम् ॥ १३ ॥

परंतु उन्हीं काठोंका युक्तिपूर्वक मन्थन करनेपर जैसे अग्नि और धूम दोनों ही देखनेमें आते हैं, उसी प्रकार योगके द्वारा मन और इन्द्रियोंको बुद्धिके सहित समाहित कर लेनेवाला बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष इन सबसे परम श्रेष्ठ उस ज्ञानको और आत्माको साक्षात् कर लेता है ॥ १३ ॥

यथात्मनोऽङ्गं पतितं पृथिव्यां
स्वप्नान्तरे पश्यति चात्मनोऽन्यत् ।
श्रोत्रादियुक्तः सुमनाः सुबुद्धि-
र्लिङ्गात्तथा गच्छति लिङ्गमन्यत् ॥ १४ ॥

जैसे स्वप्नमें मनुष्य अपने शरीरके कटे हुए अङ्गको अपनेसे अलग और पृथ्वीपर पड़ा देखता है, उसी प्रकार दस इन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायका अभिमानी शुद्ध मन और बुद्धिवाला मनुष्य शरीरको अपनेसे पृथक् जाने । जो ऐसा नहीं जानता, वही एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जन्म लेता रहता है ॥ १४ ॥

उत्पत्तिवृद्धिव्ययसंनिपातै-
र्न युज्यतेऽसौ परमः शरीरी ।
अनेन लिङ्गेन तु लिङ्गमन्यद्
गच्छत्यदृष्टः फलसंनियोगात् ॥ १५ ॥

आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है । वह इसके उत्पत्ति, वृद्धि, क्षय और मृत्यु आदि दोषोंसे कभी लिप्त नहीं होता । किंतु अज्ञानी मनुष्य पूर्वकृत कर्मोंके फलके सम्बन्धसे इस ऊपर बताये हुए सूक्ष्म शरीरके सहित दूसरे शरीरमें चला जाता है ॥ १५ ॥

न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो
न चापि संस्पर्शमुपैति किंचित् ।
न चापि तैः साधयते तु कार्यं
ते तं न पश्यन्ति स पश्यते तान् ॥१६॥

कोई भी इन चर्मचक्षुओंके द्वारा आत्माके स्वरूपको नहीं देख सकता । अपनी त्वचासे उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता । भाव यह कि इन्द्रियोंद्वारा आत्माको जाननेका कोई कार्य नहीं किया जा सकता । वे इन्द्रियाँ उसे नहीं देखतीं; पर वह आत्मा उन सबको देखता है ॥ १६ ॥

यथा समीपे ज्वलतोऽनलस्य
संतापजं रूपमुपैति कश्चित् ।
न चान्तरं रूपगुणं बिभर्ति
तथैव तद् दृश्यति रूपमस्य ॥ १७ ॥

जैसे कोई लोहा आदि पदार्थ समीप जलती हुई आगकी गर्मीसे लाल रंगका हो जाता है और उसमें दाहकताका गुण भी थोड़ी मात्रामें आ जाता है; परंतु वह उसके वास्तविक आन्तरिक रूप और गुणको धारण नहीं करता, उसी प्रकार आत्माका स्वरूप चैतन्यमात्र इन्द्रियादिके समूह शरीरमें दिखायी देता है, किंतु उनका समुदायभूत शरीर वास्तवमें चेतन नहीं होता । एवं समीपस्थ वस्तुका जैसा रूप होता है वैसा ही रूप उस अग्निका भी प्रतीत होने लगता है ॥ १७ ॥

तथा मनुष्यः परिमुच्य काय-
मदृश्यमन्यद् विशते शरीरम् ।
विसृज्य भूतेषु महत्सु देहं
तदाश्रयं चैव बिभर्ति रूपम् ॥ १८ ॥

इसी तरह मनुष्य अपने दृश्य शरीरका त्याग करके जब दूसरे अदृश्य शरीरमें प्रवेश करता है, तब पहलेके स्थूल शरीरको पञ्च महाभूतोंमें मिलनेके लिये छोड़कर दूसरे शरीरका आश्रय ले उसीको अपना स्वरूप मानकर धारण करता है ॥

खं वायुमग्निं सलिलं तथोर्वीं
समन्ततोऽभ्याविशते शरीरी ।
नानाश्रयाः कर्मसु वर्तमानाः
श्रोत्रादयः पञ्च गुणाञ्श्रयन्ते ॥ १९ ॥

देहाभिमानी जीव जब शरीर छोड़ता है, तब उस शरीरमें जो आकाशका अंश होता है, वह सब प्रकारसे आकाशमें, वायुका अंश वायुमें, अग्निका अंश अग्निमें, जलका अंश जलमें तथा पृथ्वीका अंश पृथ्वीमें विलीन हो जाता है । किंतु इन नाना भूतोंके आश्रित जो श्रोत्र आदि तत्त्व हैं, वे विलीन न होकर अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हैं और दूसरे शरीरमें जाकर पाँचों भूतोंका आश्रय ले लेते हैं ॥ १९ ॥

श्रोत्रं खतो घ्राणमथो पृथिव्या-
स्तेजोमयं रूपमथो विपाकः ।
जलाश्रयं स्वेदमुक्तं रसं च
वाय्वात्मकः स्पर्शकृतो गुणश्च ॥ २० ॥

आकाशसे श्रोत्रेन्द्रिय (और उसका विषय शब्द), पृथ्वीसे घ्राणेन्द्रिय (और उसका विषय गन्ध) होता है तथा रूप और विपाक वे दोनों (एवं नेत्र-इन्द्रिय)—ये सब तेजोमय हैं । स्वेद एवं रस (और रसना-) इन्द्रिय—ये जलके आश्रित हैं । एवं स्पर्श करनेवाली इन्द्रिय और स्पर्श यह वायुस्वरूप है ॥ २० ॥

महत्सु भूतेषु वसन्ति पञ्च
पञ्चेन्द्रियार्थाश्च तथेन्द्रियाणि ।
सर्वाणि चैतानि मनोऽनुगानि
बुद्धिं मनोऽन्वेति मतिः स्वभावम् ।२१।

पाँचों इन्द्रियोंके पाँचों विषय तथा पाँचों इन्द्रियाँ भी पञ्च सूक्ष्म महाभूतोंमें निवास करते हैं, ये शब्द आदि विषय, आकाश आदि भूत तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ सब-के-सब मनके अनुगामी हैं । मन बुद्धिका अनुसरण करता है और बुद्धि आत्माका आश्रय लेकर रहती है ॥ २१ ॥

शुभाशुभं कर्म कृतं यदन्यत्
तदेव प्रत्याददते स्वदेहे ।
मनोऽनुवर्तन्ति परावराणि
जलौकसः स्रोत इवानुकूलम् ॥ २२ ॥

जब जीवात्मा अपने कर्मोंद्वारा उपार्जित नवीन शरीरमें स्थित होता है, उस समय वह पहले जो शुभाशुभ कर्म किये हुए है उन्हींका फल प्राप्त करता है। जैसे जल-जन्तु जलके अनुकूल प्रवाहका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार पूर्वकृत अच्छे और बुरे कर्म मनका अनुगमन करते हैं अर्थात् मनके द्वारा फल प्रदान करते हैं ॥ २२ ॥

चलं यथा दृष्टिपथं परैति
सूक्ष्मं महद् रूपमिवाभिभाति ।
स्वरूपमालोचयते च रूपं
परं तथा बुद्धिपथं परैति ॥ २

जैसे शीघ्रगामी नौकापर बैठे हुए पुरुषकी दृष्टिमें प वर्ती वृक्ष पीछेकी ओर वेगसे भागते हुए दिखायी दे उसी प्रकार कूटस्थ निर्विकारी आत्मा बुद्धिके विकारसे वि वान्-सा प्रतीत होता है एवं जैसे चश्मे या दूरबीनसे अक्षर मोटा दीखता है और छोटी आकृति बहुत बड़ी दि देती है, उसी प्रकार सूक्ष्म आत्मतत्त्व भी बुद्धि, समूह शरीरसे संयुक्त होनेके कारण शरीरके रूपमें प्रतीत लगता है । तथा जैसे स्वच्छ दर्पण अपने मुखका प्रति दिखा देता है, उसी प्रकार शुद्ध बुद्धिमें आत्माके स्व झाँकी उपलब्ध हो जाती है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु-बृहस्पति-संवादविषयक दो सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०२ ॥

त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शरीर, इन्द्रिय और मन-बुद्धिसे अतिरिक्त आत्माकी नित्य सत्ताका प्रतिपादन

मनुरुवाच

यदिन्द्रियैस्तूपहितं पुरस्तात्
प्राप्तान् गुणान् संस्मरते चिराय ।
तेष्विन्द्रियेषूपहतेषु पश्चात्
स बुद्धिरूपः परमः स्वभावः ॥ १ ॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते ! बुद्धिके साथ तद्रूप हुआ जो जीव नामक चेतनतत्त्व है, वह इन्द्रियोंद्वारा दीर्घकालतक पहलेके भोगे हुए विषयोंका कालान्तरमें स्मरण करता है। यद्यपि उस समय उन विषयोंका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं है, उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है तो भी वे बुद्धिमें संस्काररूपसे अङ्कित हैं; इसलिये उनका स्मरण होता है । (इससे बुद्धिके अतिरिक्त उसके प्रकाशक चेतनकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है) ॥ १ ॥

यथेन्द्रियार्थान् युगपत् समस्ता-
न्नोपेक्षते कृत्स्नमतुल्यकालम् ।
तथाचलं संचरते स विद्वां-
स्तस्मात् स एकः परमः शरीरी ॥ २ ॥

वह एक समय अथवा अनेक समयोंमें भूत और भविष्यके सम्पूर्ण पदार्थोंकी, जो इस जन्ममें या दूसरे जन्मोंमें देखे गये हैं, सामान्य रूपसे उपेक्षा नहीं करता अर्थात् उन्हें प्रकाशित ही करता है तथा परस्पर विलग न होनेवाली तीनों अवस्था-ओंमें विचरता रहता है; अतः वह सबको जाननेवाला साक्षी सर्वोत्कृष्ट देहका स्वामी आत्मा एक है ॥ २ ॥

रजस्तमः सत्त्वमथो तृतीयं
गच्छत्यसौ स्थानगुणान् विरूपान् ।
तथेन्द्रियाण्याविशते शरीरी
हुताशनं वायुरिवेन्धनस्थम् ॥ ३

बुद्धिके जो स्थान—जागरित आदि अवस्थाएँ हैं, वे स सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे विभक्त हैं। अवस्थाओंसे सम्बन्धित जो सुख-दुःख आदि गुण हैं, वे पर विलक्षण हैं। उन सबको वह आत्मा बुद्धिके सम्बन्धसे अनु करता है। इन्द्रियोंमें भी उस जीवात्माका आवेश उसी प्र होता है जैसे काठमें लगी हुई आगमें वायुका अर्थात् व जैसे अग्निमें प्रविष्ट होकर अग्निको उद्दीप्त कर देती है, इ प्रकार आत्मा इन्द्रियोंको चेतना प्रदान करता है ॥ ३

न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो
न पश्यति स्पर्शनमिन्द्रियेन्द्रियम् ।
न श्रोत्रलिङ्गं श्रवणेन दर्शनं
तथा कृतं पश्यति तद् विनश्यति ॥ ४

मनुष्य नेत्रोंद्वारा आत्माके रूपका दर्शन नहीं कर सकता त्वचा नामक इन्द्रिय उसका स्पर्श नहीं कर सकती; क्यों वह इन्द्रियोंकी भी इन्द्रिय अर्थात् उनका प्रकाशक है। आत्माके स्वरूपका श्रवणेन्द्रियके द्वारा श्रवण नहीं हो सकता क्योंकि वह शब्दरहित है । ज्ञानविषयक विचारसे आत्माका साक्षात्कार किया जाता है, तब उसके साधनोंका हो जाता है ॥ ४ ॥

श्रोत्रादीनि न पश्यन्ति स्वं स्वमात्मानमात्मना ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वज्ञस्तानि पश्यति ॥ ५

श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ स्वयं अपनेद्वारा आपको नहीं सकतीं । आत्मा सर्वज्ञ और सबका साक्षी है । सर्वज्ञ होने कारण ही वह उन सबको जानता है ॥ ५ ॥

यथा हिमवतः पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा ।
न दृष्टपूर्वं मनुजैर्न च तन्नास्ति तावता ॥ ६ ॥
तद्वद् भूतेषु भूतात्मा सूक्ष्मो ज्ञानात्मवानसौ ।
अदृष्टपूर्वश्चक्षुर्भ्यां न चासौ नास्ति तावता ॥ ७ ॥

जैसे मनुष्योंद्वारा हिमालय पर्वतका दूसरा पार्श्व तथा चन्द्रमाका पृष्ठ-भाग देखा हुआ नहीं है तो भी इसके आधारपर यह नहीं कहा जा सकता कि उनके पार्श्व और पृष्ठ भागका अस्तित्व ही नहीं है। उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके भीतर रहनेवाला उनका अन्तर्यामी ज्ञानस्वरूप आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण कभी नेत्रोंद्वारा नहीं देखा गया है; अतः उतनेहीसे यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा है ही नहीं ॥ ६-७ ॥

पश्यन्नपि यथा लक्ष्म जगत् सोमे न विन्दति ।
एवमस्ति न चोत्पन्नं न च तन्न परायणम् ॥ ८ ॥

जैसे चन्द्रमामें जो कलङ्क है, वह जगत्का अर्थात् तद्गत पृथ्वीका ही चिह्न है; परंतु उसको देखकर भी मनुष्य ऐसा नहीं समझता कि वह जगत्का अर्थात् पृथ्वीका चिह्न है। इसी प्रकार सबको 'मैं हूँ' इस रूपमें आत्माका ज्ञान है; परंतु यथार्थ ज्ञान नहीं है; इस कारण मनुष्य उसके परायण—आश्रित नहीं है ॥ ८ ॥

रूपवन्तमरूपत्वादुदयास्तमने बुधाः ।
धिया समनुपश्यन्ति तद्गताः सवितुर्गतिम् ॥ ९ ॥
तथा बुद्धिप्रदीपेन दूरस्थं सुविपश्चितः ।
प्रत्यासन्नं निनीषन्ति ज्ञेयं ज्ञानाभिसंहितम् ॥ १० ॥

रूपवान् पदार्थ अपनी उत्पत्तिसे पूर्व और नष्ट हो जानेके बाद रूपहीन ही रहते हैं, इस नियमसे जैसे बुद्धिमान् लोग उनकी अरूपताका निश्चय करते हैं तथा सूर्यके उदय और अस्तके द्वारा विद्वान् पुरुष बुद्धिसे जिस प्रकार न दिखायी देनेवाली सूर्यकी गतिका अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार विवेकी मनुष्य बुद्धिरूप दीपकके द्वारा इन्द्रियातीत ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेते हैं और इस निकटवर्ती दृश्य-प्रपञ्चको उस ज्ञानस्वरूप परमात्मामें विलीन कर देना चाहते हैं ॥ ९-१० ॥

न हि खल्वनुपायेन कश्चिदर्थोऽभिसिद्ध्यति ।
सूत्रजालैर्यथा मत्स्यान् बध्नन्ति जलजीविनः ॥ ११ ॥
मृगैर्मृगाणां ग्रहणं पक्षिणां पक्षिभिर्यथा ।
गजानां च गजैरेवं ज्ञेयं ज्ञानेन गृह्यते ॥ १२ ॥

उचित उपाय किये बिना कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, जैसे जलमें रहनेवाले प्राणियोंसे जीविका चलानेवाले सूतके जाल बनाकर उनके द्वारा मछलियोंको बाँध लेते हैं, जैसे मृगोंके द्वारा मृगोंको, पक्षियोंद्वारा पक्षियोंको और हाथियोंद्वारा हाथियोंको पकड़ा जाता है, उसी प्रकार ज्ञेय वस्तुका ज्ञानके द्वारा ग्रहण होता है ॥ ११-१२ ॥

अहिरेव ह्यहेः पादान् पश्यतीति हि नः श्रुतम् ।
तद्वन्मूर्तिषु मूर्तिस्थं ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति ॥ १३ ॥

हमने सुना है कि सर्पके पैरोंको सर्प ही पहचानता है, उसी प्रकार मनुष्य समस्त शरीरोंमें शरीरस्थ ज्ञेयस्वरूप आत्माको ज्ञानके द्वारा ही जान सकता है ॥ १३ ॥

नोत्सहन्ते यथा वेत्तुमिन्द्रियैरिन्द्रियाण्यपि ।
तथैवेह परा बुद्धिः परं बोध्यं न पश्यति ॥ १४ ॥

जैसे इन्द्रियाँ भी इन्द्रियोंद्वारा किसी ज्ञेयको नहीं जान सकतीं, उसी प्रकार यहाँ परा बुद्धि भी उस परम बोध्य तत्त्वको स्वयं नहीं देख पाती है; किंतु ज्ञाता पुरुष ही बुद्धिके द्वारा उसका साक्षात् करता है ॥ १४ ॥

यथा चन्द्रो ह्यमावास्यामलिङ्गत्वान्न दृश्यते ।
न च नाशोऽस्य भवति तथा विद्धि शरीरिणम् ॥ १५ ॥

जैसे चन्द्रमा अमावास्याको प्रकाशहीन हो जानेके कारण दिखायी नहीं देता है; किंतु उस समय उसका नाश नहीं होता। उसी प्रकार शरीरधारी आत्माके विषयमें भी समझना चाहिये अर्थात् आत्मा अदृश्य होनेपर भी उसका अभाव नहीं है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १५ ॥

क्षीणकोशो ह्यमावास्यां चन्द्रमा न प्रकाशते ।
तद्वन्मूर्तिविमुक्तोऽसौ शरीरी नोपलभ्यते ॥ १६ ॥

जैसे चन्द्रमा अमावास्याको अपने प्रकाश्य स्थानसे वियुक्त हो जानेके कारण दिखायी नहीं देता है, उसी प्रकार देहधारी आत्मा शरीरसे वियुक्त होनेपर दृष्टिगोचर नहीं होता है ॥ १६ ॥

यथाऽऽकाशान्तरं प्राप्य चन्द्रमा भ्राजते पुनः ।
तद्वल्लिङ्गान्तरं प्राप्य शरीरी भ्राजते पुनः ॥ १७ ॥

फिर वही चन्द्रमा जैसे अन्यत्र आकाशमें स्थान पाकर पुनः प्रकाशित होने लगता है, उसी प्रकार जीवात्मा दूसरा शरीर धारण करके पुनः प्रकट हो जाता है ॥ १७ ॥

जन्म वृद्धिः क्षयश्चास्य प्रत्यक्षेणोपलभ्यते ।
सा तु चान्द्रमसी वृत्तिर्न तु तस्य शरीरिणः ॥ १८ ॥

जन्म, वृद्धि और क्षयका जो प्रत्यक्ष दर्शन होता है, वह चन्द्रमण्डलमें प्रतीत होनेवाली वृत्ति चन्द्रमाकी नहीं है। उसी प्रकार शरीरका ही जन्म आदि होता है, उस शरीरधारी आत्माका नहीं ॥ १८ ॥

उत्पत्तिवृद्धिवयसा यथा स इति गृह्यते ।
चन्द्र एव त्वमावास्यां तथा भवति मूर्तिमान् ॥ १९ ॥

जैसे किसी व्यक्तिका जन्म होता है, वह बढ़ता है और किशोर, यौवन आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें पहुँच जाता है तो भी यही समझा जाता है कि यह वही व्यक्ति है तथा अमावास्याके बाद जब चन्द्रमा पुनः मूर्तिमान् होकर प्रकट होता है तो यही माना जाता है कि यह वही चन्द्रमा है (उसी प्रकार दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेपर भी वह देहधारी आत्मा वही है—ऐसा समझना चाहिये) ॥ १९ ॥

नोपसर्पद् विमुञ्चद् वा शशिनं दृश्यते तमः ।
विसृजंश्चोपसर्पंश्च तद्वत् पश्य शरीरिणम् ॥ २० ॥

जैसे अन्धकाररूप राहु चन्द्रमाकी ओर आता और

उसे छोड़कर जाता हुआ नहीं दिखायी देता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी शरीरमें आता और उसे छोड़कर जाता हुआ नहीं दीख पड़ता है। ऐसा समझो ॥ २० ॥

यथा चन्द्रार्कसंयुक्तं तमस्तदुपलभ्यते।
तद्वच्छरीरसंयुक्तः शरीरीत्युपलभ्यते ॥ २१ ॥

जैसे सूर्यग्रहणकालमें चन्द्रमा सूर्यसे संयुक्त होनेपर सूर्यमें छायारूपी राहुका दर्शन होता है, उसी प्रकार शरीरसे संयुक्त होनेपर शरीरधारी आत्माकी उपलब्धि होती है ॥ २१ ॥

यथा चन्द्रार्कनिर्मुक्तः स राहुर्नोपलभ्यते।
तद्वच्छरीरनिर्मुक्तः शरीरी नोपलभ्यते ॥ २

जैसे चन्द्रमा-सूर्यसे अलग होनेपर सूर्यमें राहुकी उप नहीं होती, उसी प्रकार शरीरसे विलग होनेपर शरीर आत्माका दर्शन नहीं होता ॥ २२ ॥

यथा चन्द्रो ह्यमावास्यां नक्षत्रैर्युज्यते गतः।
तद्वच्छरीरनिर्मुक्तः फलैर्युज्यति कर्मणः ॥ २

जैसे अमावास्याका अतिक्रमण करनेपर चन्द्रमा नक्ष संयुक्त होता है, उसी प्रकार जीवात्मा एक शरीरका त्य करनेपर कर्मोंके फलस्वरूप दूसरे शरीरसे युक्त होता है॥२

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादरूप दो सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२०३॥

चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

आत्मा एवं परमात्माके साक्षात्कारका उपाय तथा महत्त्व

मनुरुवाच

यथा व्यक्तमिदं शेते स्वप्ने चरति चेतनम्।
ज्ञानमिन्द्रियसंयुक्तं तद्वत् प्रेत्य भवाभवौ ॥ १ ॥

मनु कहते हैं—बृहस्पते! जैसे स्वप्नावस्थामें यह स्थूल शरीर तो सोया रहता है और सूक्ष्म शरीर विचरण करता रहता है, उसी प्रकार इस शरीरको छोड़नेपर यह ज्ञानस्वरूप जीवात्मा या तो इन्द्रियोंके सहित पुनः शरीर ग्रहण कर लेता है या सुषुप्तिकी भाँति मुक्त हो जाता है ॥ १ ॥

यथाम्भसि प्रसन्ने तु रूपं पश्यति चक्षुषा।
तद्वत्प्रसन्नेन्द्रियत्वाज्ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति ॥ २ ॥

जिस प्रकार मनुष्य स्वच्छ और स्थिर जलमें नेत्रोंद्वारा अपना प्रतिबिम्ब देखता है, वैसे ही मनसहित इन्द्रियोंके शुद्ध एवं स्थिर हो जानेपर वह ज्ञानदृष्टिसे ज्ञेयस्वरूप आत्माका साक्षात्कार कर सकता है ॥ २ ॥

स एव लुलिते तस्मिन् यथा रूपं न पश्यति।
तथेन्द्रियाकुलीभावे ज्ञेयं ज्ञाने न पश्यति ॥ ३ ॥

वही मनुष्य हिलते हुए जलमें जैसे अपना रूप नहीं देख पाता, उसी प्रकार मनसहित इन्द्रियोंके चञ्चल होनेपर वह बुद्धिमें ज्ञेयस्वरूप आत्माका दर्शन नहीं कर सकता ॥३॥

अबुद्धिरज्ञानकृता अबुद्ध्या कृष्यते मनः।
दुष्टस्य मनसः पञ्च सम्प्रदुष्यन्ति मानसाः ॥ ४ ॥

अविवेकसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उस भ्रष्ट बुद्धिसे मन राग आदि दोषोंमें फँस जाता है। इस प्रकार मनके दूषित होनेसे उसके अधीन रहनेवाली पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी दूषित हो जाती हैं ॥ ४ ॥

अज्ञानतृप्तो विषयेष्ववगाढो न तृप्यते।
अदृष्टवच्च भूतात्मा विषयेभ्यो निवर्तते ॥ ५ ॥

जिसको अज्ञानसे ही तृप्ति प्राप्त हो रही है, वह मनु विषयोंके अगाध जलमें सदा डूबा रहकर भी कभी तृप्त नहीं होत वह जीवात्मा प्रारब्धाधीन हुआ विषय-भोगोंकी इच्छाके का बारंबार इस संसारमें आता और जन्म ग्रहण करता है ॥५

तर्षच्छेदो न भवति पुरुषस्येह कल्मषात्।
निवर्तते तदा तर्षः पापमन्तगतं यदा ॥ ६

पापके कारण ही संसारमें पुरुषकी तृष्णाका अन्त न होता। जब पापोंकी समाप्ति हो जाती है, तभी उसकी तृ निवृत्त हो जाती है ॥ ६ ॥

विषयेषु तु संसर्गाच्छाश्वतस्य तु संश्रयात्।
मनसा चान्यथा काङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते ॥ ७

विषयोंके संसर्गसे, सदा उन्हींमें रचे-पचे रहनेसे त मनके द्वारा साधनके विपरीत भोगोंकी इच्छा रखनेसे पुरुष परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ ७ ॥

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।
यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ८

पाप-कर्मोंका क्षय होनेसे ही मनुष्योंके अन्तःकरणमें ज्ञान उदय होता है। जैसे स्वच्छ दर्पणमें ही मानव अपने प्रतिबिम्ब को अच्छी तरह देख पाता है ॥ ८ ॥

प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी तैरेव नियतैः सुखी।
तस्मादिन्द्रियरूपेभ्यो यच्छेदात्मानमात्मना ॥ ९

विषयोंकी ओर इन्द्रियोंके फैले रहनेसे ही मनुष्य दु होता है और उन्हींको संयममें रखनेसे सुखी हो जाता इसलिये इन्द्रियोंके विषयोंसे बुद्धिके द्वारा अपने मनको रोकना चाहिये ॥ ९ ॥

इन्द्रियेभ्यो मनः पूर्वं बुद्धिः परतरा ततः।
बुद्धेः परतरं ज्ञानं ज्ञानात् परतरं महत् ॥ १०

इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे ज्ञान श्रेष्ठतर है और ज्ञानसे परात्पर परमात्मा श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

अव्यक्तात्प्रसृतं ज्ञानं ततो बुद्धिस्ततो मनः।
मनः श्रोत्रादिभिर्युक्तं शब्दादीन् साधु पश्यति॥ ११ ॥

अव्यक्त परमात्मासे ज्ञान प्रसारित हुआ है। ज्ञानसे बुद्धि और बुद्धिसे मन प्रकट हुआ है। वह मन ही श्रोत्र आदि इन्द्रियोंसे युक्त होकर शब्द आदि विषयोंका भलीभाँति अनुभव करता है ॥ ११ ॥

यस्तांस्त्यजति शब्दादीन् सर्वाश्च व्यक्तयस्तथा।
विमुञ्चेत्प्राकृतान्ग्रामांस्तान् मुक्त्वामृतमश्नुते॥ १२॥

जो पुरुष शब्द आदि विषयोंको, उनके आश्रयभूत सम्पूर्ण व्यक्त तत्त्वोंको, स्थूलभूतों और प्राकृत गुण-समुदायोंको त्याग देता है अर्थात् उनसे सम्बन्धविच्छेद कर लेता है, वह उन्हें त्यागकर अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १२॥

उद्यन् हि सविता यद्वत्सृजते रश्मिमण्डलम्।
स एवास्तमपागच्छंस्तदेवात्मनि यच्छति ॥ १३ ॥
अन्तरात्मा तथा देहमाविश्येन्द्रियरश्मिभिः।
प्राप्येन्द्रियगुणान् पञ्च सोऽस्तमावृत्य गच्छति॥ १४ ॥

जैसे सूर्य उदित होकर अपनी किरणोंको सब ओर फैला देता है और अस्त होते समय उन समस्त किरणोंको अपने भीतर ही समेट लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा देहमें प्रविष्ट होकर फैली हुई इन्द्रियोंकी वृत्तिरूपी किरणोंद्वारा पाँचों विषयोंको ग्रहण करता है और शरीरको छोड़ते समय उन सबको समेटकर अपने साथ लेकर चल देता है॥ १३-१४ ॥

प्रणीतं कर्मणा मार्गं नीयमानः पुनः पुनः।
प्राप्नोत्ययं कर्मफलं प्रवृत्तं धर्ममात्तवान् ॥ १५ ॥

जिसने प्रवृत्तिप्रधान पुण्य-पापमय कर्मका आश्रय लिया है, वह जीवात्मा कर्मोंद्वारा कर्म-मार्गपर बारंबार लाया जाकर अर्थात् संसार-चक्रमें भ्रमाया जाकर सुख-दुःखरूप कर्म-फलको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ १६ ॥

इन्द्रियद्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेसे पुरुषके वे विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; परंतु उनमें उनकी आसक्ति बनी रहती है। परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर पुरुषकी वह आसक्ति भी दूर हो जाती है ॥ १६ ॥

बुद्धिः कर्मगुणैर्हीना यदा मनसि वर्तते।
तदा सम्पद्यते ब्रह्म तत्रैव प्रलयं गतम् ॥ १७ ॥

जिस समय बुद्धि कर्मजनित गुणोंसे छूटकर हृदयमें स्थित हो जाती है, उस समय जीवात्मा ब्रह्ममें लीन होकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

अस्पर्शनमश्रृण्वानमनास्वादमदर्शनम्।
अघ्राणमवितर्कं च सत्त्वं प्रविशते परम् ॥ १८ ॥

परब्रह्म परमात्मा स्पर्श, श्रवण, रसन, दर्शन, घ्राण और संकल्प-विकल्पसे भी रहित है; इसलिये केवल विशुद्ध बुद्धि ही उसमें प्रवेश कर पाती है ॥ १८ ॥

मनस्याकृतयो मग्ना मनस्त्वभिगतं मतिम्।
मतिस्त्वभिगता ज्ञानं ज्ञानं चाभिगतं परम् ॥ १९ ॥

मनमें शब्दादि विषयरूप समस्त आकृतियोंका लय होता है। मनका बुद्धिमें, बुद्धिका ज्ञानमें और ज्ञानका परमात्मामें लय होता है ॥ १९ ॥

नेन्द्रियैर्मनसः सिद्धिर्न बुद्धिं बुद्ध्यते मनः।
न बुद्धिर्बुद्ध्यतेऽव्यक्तं सूक्ष्मं त्वेतानि पश्यति ॥ २० ॥

इन्द्रियोंद्वारा मनकी सिद्धि नहीं होती अर्थात् इन्द्रियाँ मनको नहीं जानती हैं। मन बुद्धिको नहीं जानता और बुद्धि सूक्ष्म एवं अव्यक्त आत्माको नहीं जानती है; किंतु अव्यक्त आत्मा इन सबको देखता और जानता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादविषयक दो सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०४ ॥

पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

मनुरुवाच

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते।
यस्मिन् न शक्यते कर्तुं यत्नस्तं नानुचिन्तयेत्॥ १ ॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते! जब मनुष्यपर कोई ऐसा शारीरिक या मानसिक दुःख आ पड़े, जिसके रहते हुए साधन करना अशक्य हो जाय, तब उस दुःखका चिन्तन करना छोड़ दे ॥ १ ॥

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि चाभ्येति भूयश्चापि प्रवर्तते ॥ २ ॥

दुःखको दूर करनेके लिये सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका चिन्तन छोड़ दिया जाय; क्योंकि चिन्तन करनेसे वह सामने आता है और अधिकाधिक बढ़ता रहता है ॥ २॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ ३ ॥

अतः मानसिक दुःखको बुद्धि एवं विचारद्वारा तथा शारीरिक कष्टको ओषधियोंद्वारा दूर करे, यही विज्ञानकी

सामर्थ्य है, जिससे मनुष्य दुःखमें पड़नेपर बच्चोंके समान बैठकर रोये नहीं ॥ ३ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ ४ ॥

यौवन, रूप, जीवन, धन-संग्रह, आरोग्य और प्रियजनोंका समागम—ये सब अनित्य हैं । विवेकशील पुरुषोंको इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ ४ ॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति ।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥ ५ ॥

जो दुःख सारे देशपर है, उसके लिये किसी एक व्यक्तिको शोक नहीं करना चाहिये । यदि उसे टालनेका कोई उपाय दिखायी दे तो शोक न करके उस दुःखके निवारणका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५ ॥

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः ।
स्निग्धस्य चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥ ६ ॥

इसमें संदेह नहीं कि जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक है । जो पुरुष विषयोंमें अधिक आसक्त होता है, वह मोहवश मरणरूप अप्रिय कष्ट भोगता है ॥ ६ ॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः ।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न ते शोचन्ति पण्डिताः ॥ ७ ॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको छोड़ देता है, वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त होता है, अतः वे ज्ञानी पुरुष कभी शोक नहीं करते हैं ॥ ७ ॥

दुःखमर्था हि युज्यन्ते पालनेन च ते सुखम् ।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत् ॥ ८ ॥

विषयोंके उपार्जनमें दुःख है । उनकी रक्षामें भी तुम्हें सुख नहीं मिल सकता । दुःखसे ही उनकी उपलब्धि होती है; अतः उनका नाश हो जाय तो चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥

ज्ञानं ज्ञेयाभिनिर्वृत्तं विद्धि ज्ञानगुणं मनः ।
प्रज्ञाकरणसंयुक्तं ततो बुद्धिः प्रवर्तते ॥ ९ ॥

बृहस्पते ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि ज्ञेयरूपमें परमात्मासे ज्ञान प्रकट होता है और मन ज्ञानका गुण (कार्य) है । जब वह ज्ञानेन्द्रियोंसे युक्त होता है, तब बुद्धि कर्मोंमें प्रवृत्त होती है ॥ ९ ॥

यदा कर्मगुणैर्हीना बुद्धिर्मनसि वर्तते ।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म ध्यानयोगसमाधिना ॥ १० ॥

जिस समय बुद्धि कर्म-संस्कारोंसे रहित होकर हृदयमें स्थित हो जाती है, उसी समय ध्यानयोगजनित समाधिके द्वारा ब्रह्मका भलीभाँति ज्ञान हो जाता है ॥ १० ॥

सेयं गुणवती बुद्धिर्गुणेष्वेवाभिवर्तते ।
अपरादभिनिःसृत्य गिरेः शृङ्गादिवोदकम् ॥ ११ ॥

अन्यथा जैसे जलकी धारा पर्वतके शिखरसे निकलकर ढालकी ओर बहती है, उसी प्रकार यह गुणवती बुद्धि अज्ञानके कारण परमात्मासे नियुक्त होकर रूप आदि गुण ओर बहने लग जाती है ॥ ११ ॥

यदा निर्गुणमाप्नोति ध्यानं मनसि पूर्वजम् ।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म निकषं निकषे यथा ॥ १२

परंतु जब साधक सबके आदिकारण निर्गुण ध्येयतत्त्व ध्यानद्वारा अन्तःकरणमें प्राप्त कर लेता है, तब कसौटी कसे हुए सुवर्णके समान ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है

मनस्त्वपहृतं पूर्वमिन्द्रियार्थनिदर्शकम् ।
न समक्षगुणापेक्षि निर्गुणस्य निदर्शकम् ॥ १३

परंतु इन्द्रियोंके विषयोंको दिखानेवाला मन जब प से ही विषयोंकी ओर अपहृत हो जाता है, तब वह विषय गुणोंकी अपेक्षा रखनेवाला मन निर्गुण तत्त्वका दर्शन करा समर्थ नहीं होता ॥ १३ ॥

सर्वाण्येतानि संवार्य द्वाराणि मनसि स्थितः ।
मनस्येकाग्रतां कृत्वा तत्परं प्रतिपद्यते ॥ १४

समस्त इन्द्रियोंको रोककर संकल्पमात्रसे मनमें स्थि हो उन सबको हृदयमें एकत्र करके साधक उससे भी विद्यमान परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

यथा महान्ति भूतानि निवर्तन्ते गुणक्षये ।
तथेन्द्रियाण्युपादाय बुद्धिर्मनसि वर्तते ॥ १५

जिस प्रकार गुणोंका क्षय होनेपर पञ्चमहाभूत निवृ हो जाते हैं, उसी प्रकार बुद्धि समस्त इन्द्रियोंको ले हृदयमें स्थित हो जाती है ॥ १५ ॥

यदा मनसि सा बुद्धिर्वर्ततेऽन्तरचारिणी ।
व्यवसायगुणोपेता तदा सम्पद्यते मनः ॥ १६

जब निश्चयात्मिका बुद्धि अन्तर्मुखी होकर हृदयमें स्थि होती है, तब मन विशुद्ध हो जाता है ॥१६॥

गुणवद्भिर्गुणोपेतं यदा ध्यानगुणं मनः ।
तदा सर्वान् गुणान् हित्वा निर्गुणं प्रतिपद्यते ॥ १७

शब्दादि गुणोंसे युक्त इन्द्रियोंके सम्बन्धसे उन गुणोंसे भि हुआ मन जब ध्यानजनित गुणोंसे सम्पन्न होता है, त उन समस्त गुणोंको त्यागकर निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है

अव्यक्तस्येह विज्ञाने नास्ति तुल्यं निदर्शनम् ।
यत्र नास्ति पदन्यासः कस्तं विषयमाप्नुयात् ॥ १८

उस अव्यक्त ब्रह्मका बोध करानेके लिये इस संसार कोई योग्य दृष्टान्त नहीं है । जहाँ वाणीका व्यापार ह नहीं है, उस वस्तुको कौन वर्णनका विषय बना सकता है ॥

तपसा चानुमानेन गुणैर्जात्या श्रुतेन च ।
निनीषेत् परमं ब्रह्म विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ १९

इसलिये तपसे, अनुमानसे, शम आदि गुणोंसे, जातिग धर्मोंके पालनसे तथा शास्त्रोंके स्वाध्यायसे अन्तःकरणको विशुद्ध करके उसके द्वारा परब्रह्मको प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥

गुणहीनो हि तं मार्गं बहिः समनुवर्तते ।
गुणाभावात्प्रकृत्या वा निस्तर्क्यं ज्ञेयसम्मितम् ॥ २० ॥

उक्त तपस्या आदि गुणोंसे रहित मनुष्य बाहर रहकर बाह्य मार्गका ही अनुसरण करता है । वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा गुणोंसे अतीत होनेके कारण स्वभावसे ही तर्कका विषय नहीं है ॥ २० ॥

नैर्गुण्याद् ब्रह्म चाप्नोति सगुणत्वान्निवर्तते ।
गुणप्रचारिणी बुद्धिर्हुताशन इवेन्धने ॥ २१ ॥

जैसे अग्नि सूखे काठमें विचरण करती है, उसी प्रकार बुद्धि भी शब्द, स्पर्श आदि गुणोंमें विचरती रहती है । जब वह उन गुणोंका सम्बन्ध छोड़ देती है, तब निर्गुण होनेके कारण ब्रह्मको प्राप्त होती है और जबतक गुणोंमें आसक्त रहती है, तबतक गुणोंसे सम्बन्धित होनेके कारण ब्रह्मको न पाकर लौट आती है ॥ २१ ॥

यथा पञ्च विमुक्तानि इन्द्रियाणि स्वकर्मभिः ।
तथा हि परमं ब्रह्म विमुक्तं प्रकृतेः परम् ॥ २२ ॥

जैसे पाँचों इन्द्रियाँ अपने कार्यरूप शब्द आदि गुणोंसे भिन्न हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा भी प्रकृतिसे सर्वथा परे है ॥ २२ ॥

एवं प्रकृतितः सर्वे प्रवर्तन्ते शरीरिणः ।
निवर्तन्ते निवृत्तौ च स्वर्गं चैवोपयान्ति च ॥ २३ ॥

इस प्रकार समस्त प्राणी प्रकृतिसे उत्पन्न होते और यथासमय उसीमें लयको प्राप्त होते हैं । उस लय अथवा मृत्युके पश्चात् वे पुण्य और पापके फलस्वरूप स्वर्ग और नरकमें जाते हैं ॥ २३ ॥

पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिर्विषयाश्चेन्द्रियाणि च ।
अहंकारोऽभिमानश्च समूहो भूतसंज्ञकः ॥ २४ ॥

पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, पाँच विषय, दस इन्द्रियाँ, अहङ्कार, मन और पञ्च महाभूत—इन पचीस तत्त्वोंका समूह ही प्राणी नामसे कहा जाता है ॥ २४ ॥

एतस्याद्या प्रवृत्तिस्तु प्रधानात् सम्प्रवर्तते ।
द्वितीया मिथुनव्यक्तिमविशेषान्नियच्छति ॥ २५ ॥

बुद्धि आदि तत्त्वसमूहकी प्रथम सृष्टि प्रकृतिसे ही हुई है । तदनन्तर दूसरी बारसे उनकी सामान्यतः मैथुन-धर्मसे नियमपूर्वक अभिव्यक्ति होने लगी है ॥ २५ ॥

धर्मादुत्कृष्यते श्रेयस्तथाश्रेयोऽप्यधर्मतः ।
रागवान् प्रकृतिं ह्येति विरक्तो ज्ञानवान् भवेत् ॥ २६ ॥

धर्म करनेसे श्रेयकी वृद्धि होती है और अधर्म करनेसे मनुष्यका अकल्याण होता है । विषयासक्त पुरुष प्रकृतिको प्राप्त होता है और विरक्त आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०५ ॥

षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

परमात्मतत्त्वका निरूपण—मनु-बृहस्पति-संवादकी समाप्ति

मनुरुवाच

यदा तैः पञ्चभिः पञ्च युक्तानि मनसा सह ।
अथ तद् द्रक्ष्यते ब्रह्म मणौ सूत्रमिवार्पितम् ॥ १ ॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते ! जिस समय मनुष्य शब्द आदि पाँच विषयोंसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मनको काबूमें कर लेता है, उस समय वह मणियोंमें ओतप्रोत तागेके समान सर्वत्र व्याप्त परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है ॥ १ ॥

तदेव च यथा सूत्रं सुवर्णे वर्तते पुनः ।
मुक्तास्वथ प्रवालेषु मृन्मये राजते तथा ॥ २ ॥
तद्वद् गोऽश्वमनुष्येषु तद्वद्धस्तिमृगादिषु ।
तद्वत् कीटपतङ्गेषु प्रसक्तात्मा स्वकर्मभिः ॥ ३ ॥

जैसे वही तागा सोनेकी लड़ियोंमें, मोतियोंमें, मूँगोंमें और मिट्टीकी मालाके दानोंमें ओतप्रोत होकर सुशोभित होता है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा गौ, अश्व, मनुष्य, हाथी, मृग और कीट-पतङ्ग आदि समस्त शरीरोंमें व्याप्त है ! विषयासक्त जीवात्मा अपने-अपने कर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न शरीर धारण करता है ॥ २-३ ॥

येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोत्ययम् ।
तेन तेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्नुते ॥ ४ ॥

यह मनुष्य जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है, उस-उस शरीरसे उसी-उसी कर्मका फल भोगता है ॥ ४ ॥

यथा ह्येकरसा भूमिरोषध्यर्थानुसारिणी ।
तथा कर्मानुगा बुद्धिरन्तरात्मानुदर्शिनी ॥ ५ ॥

जैसे भूमिमें एक ही रस होता है तो भी उसमें जैसा बीज बोया जाता है, उसीके अनुसार वह उसमें रस उत्पन्न करती है, उसी तरह अन्तरात्मासे ही प्रकाशित बुद्धि पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होती है ॥

ज्ञानपूर्वा भवेल्लिप्सा लिप्सापूर्वाभिसंधिता ।
अभिसंधिपूर्वकं कर्म कर्ममूलं ततः फलम् ॥ ६ ॥

मनुष्यको पहले तो विषयका ज्ञान होता है; फिर उसके मनमें उसे पानेकी इच्छा उत्पन्न होती है । उसके बाद 'इस कार्यको सिद्ध करूँ' यह निश्चय और प्रयत्न आरम्भ होता है । फिर कर्म सम्पन्न होता और उसका फल मिलता है ॥ ६ ॥

फलं कर्मात्मकं विद्यात् कर्म ज्ञेयात्मकं तथा ।

ज्ञेयं ज्ञानात्मकं विद्याज्ज्ञानं सदसदात्मकम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार फलको कर्मस्वरूप समझे । कर्मको जाननेमें आनेवाले पदार्थोंका रूप समझे और ज्ञेयको ज्ञानरूप समझे तथा ज्ञानका स्वरूप कार्य और कारण जाने ॥ ७ ॥

ज्ञानानां च फलानां च ज्ञेयानां कर्मणां तथा ।
क्षयान्ते यत् फलं विद्याज्ज्ञानं ज्ञेयप्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

ज्ञान, फल, ज्ञेय और कर्म—इन सबका अन्त होनेपर जो प्राप्तव्य फलरूपसे शेष रहता है, उसको ही तुम ज्ञेयमात्रमें व्याप्त होकर स्थित हुआ ज्ञानस्वरूप परमात्मा समझो ॥८॥

महद्धि परमं भूतं यत् प्रपश्यन्ति योगिनः ।
अबुधास्तं न पश्यन्ति ह्यात्मस्थं गुणबुद्धयः ॥ ९ ॥

उस परम महान् तत्त्वको योगिजन ही देख पाते हैं। विषयोंमें आसक्त अज्ञानी मनुष्य अपने भीतर ही विराजमान उस परब्रह्म परमात्माको नहीं देख सकते हैं ॥ ९ ॥

पृथिवीरूपतो रूपमपामिह महत्तरम् ।
अद्भ्यो महत्तरं तेजस्तेजसः पवनो महान् ॥ १० ॥
पवनाच्च महद् व्योम तस्मात् परतरं मनः ।
मनसो महती बुद्धिर्बुद्धेः कालो महान् स्मृतः ॥ ११ ॥
कालात् स भगवान् विष्णुर्यस्य सर्वमिदं जगत् ।
नादिर्न मध्यं नैवान्तस्तस्य देवस्य विद्यते ॥ १२ ॥

इस जगत्में पृथ्वीके रूपसे जलका ही रूप महान् है। जलसे तेज अतिमहान् है, तेजसे पवन महान् है, पवनसे आकाश महान् है, आकाशसे मन परतर है अर्थात् सूक्ष्म, श्रेष्ठ और महान् है। मनसे बुद्धि महान् है, बुद्धिसे काल अर्थात् प्रकृति महान् है और कालसे भगवान् विष्णु अनन्त, सूक्ष्म, श्रेष्ठ और महान हैं। यह सारा जगत् उन्हींकी सृष्टि है। उन भगवान् विष्णुका न कोई आदि है, न मध्य है और न अन्त ही है ॥ १०—१२ ॥

अनादित्वादमध्यत्वादनन्तत्वाच्च सोऽव्ययः ।
अत्येति सर्वदुःखानि दुःखं ह्यन्तवदुच्यते ॥ १३ ॥

वे आदि, मध्य और अन्तसे रहित होनेके कारण ही अविनाशी हैं;अतएव सम्पूर्ण दुःखोंसे परे हैं, क्योंकि विनाशशील वस्तु ही दुःखरूप हुआ करती है ॥ १३ ॥

तद् ब्रह्म परमं प्रोक्तं तद्धाम परमं पदम् ।
तद् गत्वा कालविषयाद् विमुक्ता मोक्षमाश्रिताः ॥ १४ ॥

अविनाशी विष्णु ही परब्रह्म कहे जाते हैं। वे ही परमधाम और परमपद हैं। उन्हें प्राप्त कर लेनेपर जीव कालके राज्यसे मुक्त हो मोक्षधाममें स्थित हो जाते हैं ॥ १४ ॥

गुणेष्वेते प्रकाशन्ते निर्गुणत्वात् ततः परम् ।
निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥ १५ ॥

ये बध्य जीव गुणोंमें अर्थात् गुणोंके कार्यरूप शरीर आदिके सम्बन्धसे व्यक्त हो रहे हैं; परंतु परमात्मा निर्गुण होनेके कारण उनसे अत्यन्त परे हैं। जो निवृत्तिरूप धर्म (निष्काम कर्म) है, वह अक्षय पद (मोक्ष) प्राप्ति करानेमें समर्थ है ॥ १५ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि शरीराणि व्यपाश्रिताः ।
जिह्वाग्रेषु प्रवर्तन्ते यत्नसाध्या विनाशिनः ॥ १६ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—ये अध्ययनकाल शरीरके आश्रित रहते हैं और जिह्वाके अग्रभागपर प्र होते हैं; इसीलिये वे यत्नसाध्य और विनाशशील हैं अ इनका लुप्त होना स्वाभाविक है ॥ १६ ॥

न चैवमिष्यते ब्रह्म शरीराश्रयसम्भवम् ।
न यत्नसाध्यं तद् ब्रह्म नादिमध्यं न चान्तवत् ॥ १७ ॥

किंतु परब्रह्म परमात्मा इस प्रकार शरीरका आश्रय ले प्रकट होनेपर भी वेदाध्ययनकी भाँति यत्नसाध्य नहीं क्योंकि उनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है ॥ १७ ॥

ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते ।
अन्तश्चादिमतां दृष्टो न त्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः ॥ १८ ॥

वही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका आदि कहल है। जिनका कोई आदि होता है, उन पदार्थोंका अन्त हो देखा गया है। ब्रह्मका कोई भी आदि नहीं बताया गया है

अनादित्वादनन्तत्वात्तदनन्तमथाव्ययम् ।
अव्ययत्वाच्च निर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम् ॥ १९ ॥

वह अनादि और अनन्त होनेके कारण अक्षय अविनाशी है। अविनाशी होनेसे ही दुःखरहित है। उ हर्ष और शोक आदि द्वन्द्वोंका अभाव है; अतएव सबसे परे है ॥ १९ ॥

अदृष्टतोऽनुपायाच्च प्रतिसंधेश्च कर्मणः ।
न तेन मर्त्याः पश्यन्ति येन गच्छन्ति तत् पदम् ॥ २० ॥

परंतु दुर्भाग्य, साधनहीनता और कर्मफलविषय आसक्तिके कारण जिससे परमात्माकी प्राप्ति होती है, मनु उस मार्गका दर्शन नहीं कर पाते हैं ॥ २० ॥

विषयेषु च संसर्गाच्छाश्वतस्य च दर्शनात् ।
मनसा चान्यदाकाङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

मनुष्योंकी विषयोंमें आसक्ति है; क्योंकि विषयसुख रहनेवाले हैं; ऐसी उनकी भावना है तथा वे अपने म सांसारिक पदार्थोंको पानेकी इच्छा रखते हैं; इसीलिये उ परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ २१ ॥

गुणान् यदिह पश्यन्ति तदिच्छन्त्यपरे जनाः ।
परं नैवाभिकाङ्क्षन्ति निर्गुणत्वाद् गुणार्थिनः ॥ २२ ॥

संसारी मनुष्य इस संसारमें जिन-जिन विषयोंको दे हैं, उन्हींको पाना चाहते हैं। सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म परमात्मा उन्हें पानेके लिये उनके मनमें इच्छा नहीं होती है; क्यों वे गुणार्थी (विषयाभिलाषी) होते हैं और परमा निर्गुण (गुणातीत) हैं ॥ २२ ॥

गुणैर्यस्त्ववरैर्युक्तः कथं विद्यात् परान् गुणान् ।
अनुमानाद्धि गन्तव्यं गुणैरवयवैः परम् ॥ २३ ॥

भला, जो इन तुच्छ विषयोंमें फँसा हुआ है, वह परम-दिव्य गुणोंको कैसे जान सकता है ? जैसे धूमसे अग्निका अनुमान होता है, उसी प्रकार नित्यत्व आदि स्वरूपभूत दिव्य गुणोंद्वारा परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका दिग्दर्शन हो सकता है ॥ २३ ॥

सूक्ष्मेण मनसा विद्मो वाचा वक्तुं न शक्नुमः ।
मनो हि मनसा ग्राह्यं दर्शनेन च दर्शनम् ॥ २४ ॥

हम ध्यानद्वारा शुद्ध और सूक्ष्म हुए मनसे परमात्माके स्वरूपका अनुभव तो कर सकते हैं, किंतु वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं कर सकते; क्योंकि मनके द्वारा ही मानसिक विषय-का ग्रहण हो सकता है और ज्ञानके द्वारा ही ज्ञेयको जाना जा सकता है ॥ २४ ॥

ज्ञानेन निर्मलीकृत्य बुद्धिं बुद्ध्या मनस्तथा ।
मनसा चेन्द्रियग्राममक्षरं प्रतिपद्यते ॥ २५ ॥

इसलिये ज्ञानके द्वारा बुद्धिको, बुद्धिके द्वारा मनको तथा मनके द्वारा इन्द्रिय-समुदायको निर्मल एवं शुद्ध करके अविनाशी परमात्माको प्राप्त किया जा सकता है ॥ २५ ॥

बुद्धिप्रवीणो मनसा समृद्धो
निराशिषं निर्गुणमभ्युपैति ।
परं त्यजन्तीह विलोड्यमाना
हुताशनं वायुरिवेन्धनस्थम् ॥ २६ ॥

बुद्धिमें प्रवीण अर्थात् विशुद्ध और सूक्ष्म बुद्धिसे सम्पन्न एवं मानसिक बलसे युक्त हुआ पुरुष, समस्त इच्छासे अतीत निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होता है। जैसे वायु काठमें रहनेवाले अदृश्य अग्निको बिना प्रज्वलित किये ही छोड़ देता है, वैसे ही कामनाओंसे विकल हुए पुरुष भी अपने शरीरके भीतर स्थित परमात्माका त्याग कर देते हैं अर्थात् उसे जानने और पानेकी चेष्टा नहीं करते ॥ २६ ॥

गुणादाने विप्रयोगे च तेषां
मनः सदा बुद्धिपरावराभ्याम् ।
अनेनैव विधिना सम्प्रवृत्तो
गुणापाये ब्रह्म शरीर मेति ॥ २७ ॥

जब साधक साधनरूप गुणोंको धारण कर लेता है और उन सांसारिक पदार्थोंसे मनको हटा लेता है, तब उसका मन बुद्धिजन्य अच्छे-बुरे भावोंसे रहित होकर निरन्तर निर्मल रहता है। इस प्रकार साधनमें लगा हुआ साधक जब गुणोंसे अतीत हो जाता है, तब ब्रह्मके स्वरूपका साक्षात् कर लेता है ॥

अव्यक्तात्मा पुरुषो व्यक्तकर्मा
सोऽव्यक्तत्वं गच्छति ह्यन्तकाले ।
तैरेवायं चेन्द्रियैर्वर्धमानै-
र्ग्लायद्भिर्वाऽऽवर्ततेऽकामरूपः ॥२८ ॥

पुरुषका आत्मा (वास्तविक स्वरूप) अव्यक्त है और उसके कर्म शरीररूपमें व्यक्त हैं। अतः वह अन्तकालमें अव्यक्तभावको प्राप्त हो जाता है। परंतु कामनाओंसे तद्रूप हुआ वह जीव उन बढ़ी हुई विषयप्रबल इन्द्रियोंसे युक्त होकर पुनः संसारमें आ जाता है अर्थात् पुनः शरीरको धारण कर लेता है ॥ २८ ॥

सर्वैरयं चेन्द्रियैः सम्प्रयुक्तो
देहं प्राप्तः पञ्चभूताश्रयः स्यात् ।
नासामर्थ्याद् गच्छति कर्मणेह
हीनस्तेन परमेणाव्ययेन ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे संयुक्त होकर यह देहधारी जीव पञ्च-भूतस्वरूप शरीरके आश्रित हो जाता है। ज्ञान और उपासना आदिकी शक्तिके बिना वह केवल कर्मोंद्वारा परमात्माको नहीं पाता। अतः वह उस अविनाशी परमेश्वरसे वञ्चित रह जाता है ॥ २९ ॥

पृथ्व्यां नरः पश्यति नान्तमस्या
ह्यन्तश्चास्या भविता चेति विद्धि ।
परं नयन्तीह विलोड्यमानं
यथा प्लवं वायुरिवार्णवस्थम् ॥ ३० ॥

इस भूतलपर रहनेवाला मनुष्य यद्यपि इस पृथ्वीका अन्त नहीं देखता है तो भी कहीं-न-कहीं इसका अन्त अवश्य है, ऐसा समझो। जैसे समुद्रमें लहरोंद्वारा ऊपर-नीचे होते हुए जहाजको प्रवाहके अनुकूल बहती हुई हवा तटपर लगा देती है, उसी प्रकार संसारसमुद्रमें गोता लगाते हुए मनुष्यको अनुकूल वातावरण संसारसागरसे पार कर देता है ॥ ३० ॥

दिवाकरो गुणमुपलभ्य निर्गुणो
यथा भवेदपगतरश्मिमण्डलः ।
तथा ह्यसौ मुनिरिह निर्विशेषवान्
स निर्गुणं प्रविशति ब्रह्म चाव्ययम् ॥३१॥

सम्पूर्ण जगत्का प्रकाशक सूर्य प्रकाशरूपी गुणको पाकर भी अस्ताचलको जाते समय अपने किरणसमूहको समेटकर जैसे निर्गुण हो जाता है, उसी प्रकार भेदभावसे रहित हुआ मुनि यहाँ अविनाशी निर्गुण ब्रह्ममें प्रवेश कर जाता है ॥३१॥

अनागतं सुकृतवतां परां गतिं
स्वयम्भुवं प्रभवनिधानमव्ययम् ।
सनातनं यदमृतमव्ययं ध्रुवं
निचाय्य तत् परममृतत्वमश्नुते ॥ ३२ ॥

जो कहींसे आया हुआ नहीं है, नित्य विद्यमान है, पुण्य-वानोंकी परमगति है, स्वयम्भू (अजन्मा) है, सबकी उत्पत्ति और प्रलयका स्थान है, अविनाशी एवं सनातन है, अमृत, अविकारी एवं अचल है, उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परममोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादरूप दो सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ २०६ ॥

सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिका तथा उनकी महिमाका कथन

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ पुण्डरीकाक्षमच्युतम् ।
कर्तारमकृतं विष्णुं भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ १ ॥
नारायणं हृषीकेशं गोविन्दमपराजितम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छामि केशवम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भरतश्रेष्ठ ! महाप्राज्ञ पितामह ! कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले, सबके कर्ता, अकृत (नित्य सिद्ध), सर्वव्यापी तथा सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। ये कभी किसीसे पराजित नहीं होते। ये ही नारायण, हृषीकेश, गोविन्द और केशव—इन नामोंसे भी विख्यात हैं। मैं इनके स्वरूपका तात्त्विक विवेचन सुनना चाहता हूँ ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

श्रुतोऽयमर्थो रामस्य जामदग्न्यस्य जल्पतः ।
नारदस्य च देवर्षेः कृष्णद्वैपायनस्य च ॥ ३ ॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! मैंने इस विषयका विवेचन जमदग्निनन्दन परशुराम, देवर्षि नारद तथा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीके मुँहसे सुना है ॥ ३ ॥

असितो देवलस्तात वाल्मीकिश्च महातपाः ।
मार्कण्डेयश्च गोविन्दे कथयन्त्यद्भुतं महत् ॥ ४ ॥

तात ! असित, देवल, महातपस्वी वाल्मीकि और महर्षि मार्कण्डेयजी भी इन भगवान् गोविन्दके विषयमें बड़ी अद्भुत बातें कहा करते हैं ॥ ४ ॥

केशवो भरतश्रेष्ठ भगवानीश्वरः प्रभुः ।
पुरुषः सर्वमित्येव श्रूयते बहुधा विभुः ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भगवान् श्रीकृष्ण सबके ईश्वर और प्रभु हैं। श्रुतिमें 'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्'* इत्यादि वचनोंद्वारा इन्हीं सर्वव्यापी श्रीकृष्णकी महिमाका नाना प्रकारसे निरूपण किया गया है।

किं तु यानि विदुर्लोके ब्राह्मणाः शार्ङ्गधन्वनि ।
माहात्म्यानि महाबाहो शृणु तानि युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

महाबाहु युधिष्ठिर ! जगत्में ब्राह्मणोंने शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्णके जिन माहात्म्योंको जानते हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ६ ॥

यानि चाहुर्मनुष्येन्द्र ये पुराणविदो जनाः ।
कर्माणि त्विह गोविन्दे कीर्तयिष्यामि तान्यहम् ॥ ७ ॥

नरेन्द्र ! पुराणवेत्ता पुरुष गोविन्दकी जिन-जिन लीलाओं तथा चरित्रोंका वर्णन करते हैं, उनका मैं यहाँ वर्णन करूँगा ॥ ७ ॥

महाभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः ।
वायुर्ज्योतिस्तथा चापः खं च गां चान्वकल्पयत् ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा महात्मा पुरुषोत्तमने आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पाँच महाभूतोंकी रचना की है ॥ ८ ॥

स सृष्ट्वा पृथिवीं चैव सर्वभूतेश्वरः प्रभुः ।
अप्स्वेव भवनं चक्रे महात्मा पुरुषोत्तमः ॥ ९ ॥

सर्वभूतेश्वर, प्रभु, महात्मा पुरुषोत्तमने इस पृथ्वीकी सृष्टि करके जलमें ही अपना निवासस्थान बनाया ॥ ९ ॥

सर्वतेजोमयस्तस्मिञ्शयानः पुरुषोत्तमः ।
सोऽग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत् ॥ १० ॥
आश्रयं सर्वभूतानां मनसेतीह शुश्रुम ।

उसमें शयन करते हुए सर्वतेजोमय पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने मनसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंके अग्रज तथा आश्रय संकर्षणको उत्पन्न किया, यह हमने सुना है ॥ १०½ ॥

स धारयति भूतानि उभे भूतभविष्यती ॥ ११ ॥
ततस्तस्मिन् महाबाहौ प्रादुर्भूते महात्मनि ।
भास्करप्रतिमं दिव्यं नाभ्यां पद्ममजायत ॥ १२ ॥

वे संकर्षण ही समस्त भूतोंको धारण करते हैं तथा ही भूत और भविष्यके भी आधार हैं। उन महाबाहु महात्मा संकर्षणका प्रादुर्भाव होनेके पश्चात् श्रीहरिकी नाभिसे एक दिव्य कमल प्रकट हुआ, जो सूर्यके समान प्रकाशमान था ॥ ११-१२ ॥

स तत्र भगवान् देवः पुष्करे भ्राजयन् दिशः ।
ब्रह्मा समभवत् तात सर्वभूतपितामहः ॥ १३ ॥

तात ! उस कमलसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए समस्त प्राणियोंके पितामह देवस्वरूप भगवान् ब्रह्मा उत्पन्न हुए ॥ १३ ॥

तस्मिन्नपि महाबाहौ प्रादुर्भूते महात्मनि ।
तमसा पूर्वजो जज्ञे मधुर्नाम महासुरः ॥ १४ ॥

उन महाबाहु महात्मा ब्रह्माजीकी भी उत्पत्ति हो जानेपर वहाँ तमोगुणसे मधुनामक महान् असुर प्रकट हुआ, जो असुरोंका पूर्वज था ॥ १४ ॥

तमुग्रमुग्रकर्माणमुग्रं कर्म समास्थितम् ।
ब्रह्मणोपचितिं कुर्वन् जघान पुरुषोत्तमः ॥ १५ ॥

उसका स्वभाव बड़ा ही उग्र था। वह सदा ही भयानक कर्म करनेवाला था। भयंकर कर्म करनेका निश्चय लेकर आये हुए उस असुरको पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीका हित करनेके लिये मार डाला ॥ १५ ॥

तस्य तात वधात् सर्वे देवदानवमानवाः ।
मधुसूदनमित्याहुर्ऋषभं सर्वसात्वताम् ॥ १६ ॥

तात ! उस मधुका वध करनेके कारण ही सम्पूर्ण देवता, दानव और मानव—इन सर्वसात्वतशिरोमणि श्रीकृष्णको मधुसूदन कहते हैं ॥ १६ ॥

* पुरुष (श्रीकृष्ण) ही यह सब कुछ है ।

ब्रह्मानुससृजे पुत्रान् मानसान् दक्षसप्तमान् ।
मरीचिमत्र्यङ्गिरसं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ॥ १७ ॥

ब्रह्माजीने सात मानस पुत्रोंको उत्पन्न किया, जिनमें दक्ष प्रजापति सातवें थे (ये ही सबसे प्रथम उत्पन्न हुए थे)। शेष छः पुत्रोंके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु ॥ १७ ॥

मरीचिः कश्यपं तात पुत्रमग्रजमग्रजः ।
मानसं जनयामास तैजसं ब्रह्मवित्तमम् ॥ १८ ॥

तात! इन छः पुत्रोंमें सबसे बड़े थे मरीचि। उन्होंने अपने मनसे ही ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ कश्यप नामक श्रेष्ठ पुत्रको जन्म दिया, जो बड़े ही तेजस्वी हैं ॥ १८॥

अङ्गुष्ठात् ससृजे ब्रह्मा मरीचेरपि पूर्वजम् ।
सोऽभवद् भरतश्रेष्ठ दक्षो नाम प्रजापतिः ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने दक्षको अपने अँगूठेसे उत्पन्न किया था। वे मरीचिसे भी बड़े थे। इसीलिये प्रजापतिके पदपर दक्ष प्रतिष्ठित हुए ॥ १९ ॥

तस्य पूर्वमजायन्त दश तिस्रश्च भारत ।
प्रजापतेर्दुहितरस्तासां ज्येष्ठाभवद् दितिः ॥ २० ॥

भरतनन्दन! प्रजापति दक्षके पहले तेरह कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जिनमें दिति सबसे बड़ी थी ॥ २० ॥

सर्वधर्मविशेषज्ञः पुण्यकीर्तिर्महायशाः ।
मारीचः कश्यपस्तात सर्वासामभवत् पतिः ॥ २१ ॥

तात! सम्पूर्ण धर्मोंके विशेषज्ञ, पुण्यकीर्ति, महायशस्वी मरीचिनन्दन कश्यप उन सब कन्याओंके पति हुए ॥ २१ ॥

उत्पाद्य तु महाभागस्तासामवरजा दश ।
ददौ धर्माय धर्मज्ञो दक्ष एव प्रजापतिः ॥ २२ ॥

तदनन्तर धर्मके ज्ञाता महाभाग प्रजापति दक्षने दस कन्याएँ और उत्पन्न कीं, जो पूर्वोक्त तेरह कन्याओंसे छोटी थीं। उन सबका विवाह उन्होंने धर्मके साथ कर दिया ॥

धर्मस्य वसवः पुत्रा रुद्राश्चामिततेजसः ।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च मरुत्वन्तश्च भारत ॥ २३ ॥

भरतनन्दन! धर्मके वसु, अमित तेजस्वी रुद्र, विश्वेदेव, साध्य तथा मरुद्गण—ये बहुत-से पुत्र हुए ॥ २३ ॥

अपराश्च यवीयस्यस्ताभ्योऽन्याः सप्तविंशतिः ।
सोमस्तासां महाभागः सर्वासामभवत् पतिः ॥ २४ ॥
इतरास्तु व्यजायन्त गन्धर्वांस्तुरगान् द्विजान् ।
गाश्च किंपुरुषान्मत्स्यानुद्भिज्जांश्च वनस्पतीन् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् दक्षके अन्य सत्ताईस कन्याएँ हुईं, जो पूर्वोक्त कन्याओंसे छोटी थीं। महाभाग सोम उन सबके पति हुए। इन सबके अतिरिक्त भी दक्षके बहुत-सी कन्याएँ हुईं, जिन्होंने गन्धर्वों, अश्वों, पक्षियों, गौओं, किम्पुरुषों, मत्स्यों, उद्भिज्जों और वनस्पतियोंको जन्म दिया ॥ २४-२५ ॥

आदित्यानदितिर्जज्ञे देवश्रेष्ठान् महाबलान् ।
तेषां विष्णुर्वामनोऽभूद् गोविन्दश्चाभवत् प्रभुः ॥ २६ ॥

अदितिने देवताओंमें श्रेष्ठ महाबली आदित्योंको उत्पन्न किया। उन आदित्योंमें सर्वव्यापी भगवान् गोविन्द भी वामनरूपसे प्रकट हुए ॥ २६ ॥

तस्य विक्रमणाच्चापि देवानां श्रीर्व्यवर्धत ।
दानवाश्च पराभूता दैतेयी चासुरी प्रजा ॥ २७ ॥

उनके विक्रमसे अर्थात् विराट्रूप धारणकर तीन पैडमें त्रिलोकीको नाप लेनेके कारण देवताओंकी श्रीवृद्धि हुई। दानव पराजित हुए तथा दैत्यों और असुरोंकी प्रजा भी पराभवको प्राप्त हुई ॥ २७ ॥

विप्रचित्तिप्रधानांश्च दानवानसृजद् दनुः ।
दितिस्तु सर्वानसुरान् महासत्त्वानजीजनत् ॥ २८ ॥

दनुने दानवोंको जन्म दिया, जिनमें विप्रचित्ति आदि दानव प्रमुख थे। दिति समस्त असुरों—महान् शक्तिशाली दैत्योंकी जननी हुई ॥ २८ ॥

अहोरात्रं च कालं च यथर्तु मधुसूदनः ।
पूर्वाह्णं चापराह्णं च सर्वमेवानुकल्पयत् ॥ २९ ॥

इन्हीं श्रीमधुसूदनने दिन-रात, ऋतुके अनुसार काल, पूर्वाह्ण तथा अपराह्ण आदि समस्त कालविभागकी व्यवस्था की ॥ २९ ॥

बुद्ध्याय सोऽसृजन्मेघांस्तथा स्थावरजङ्गमान् ।
पृथिवीं सोऽसृजद् विश्वां सहितां भूरितेजसा ॥ ३० ॥

उन्होंने ही अपने मनके संकल्पसे मेघों, स्थावर-जङ्गम प्राणियों तथा समस्त पदार्थोंसहित महान् तेजसे संयुक्त समूची पृथ्वीकी सृष्टि की ॥ ३० ॥

ततः कृष्णो महाभागः पुनरेव युधिष्ठिर ।
ब्राह्मणानां शतं श्रेष्ठं मुखादेवासृजत् प्रभुः ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर महाभाग श्रीकृष्णने पुनः सैकड़ों श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको मुखसे ही उत्पन्न किया ॥ ३१ ॥

बाहुभ्यां क्षत्रियशतं वैश्यानामूरुतः शतम् ।
पद्भ्यां शूद्रशतं चैव केशवो भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ! इन केशवने सैकड़ों क्षत्रियोंको अपनी दोनों भुजाओंसे, सैकड़ों वैश्योंको अपनी जाँघोंसे तथा सैकड़ों शूद्रोंको दोनों पैरोंसे उत्पन्न किया ॥ ३२ ॥

स एवं चतुरो वर्णान् समुत्पाद्य महातपाः ।
अध्यक्षं सर्वभूतानां धातारमकरोत् स्वयम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार इन महातपस्वी श्रीहरिने चारों वर्णोंको उत्पन्न करके स्वयं ही धाताको सम्पूर्ण भूतोंका अध्यक्ष बनाया ॥ ३३॥

वेदविद्याविधातारं ब्रह्माणममितद्युतिम् ।
भूतमातृगणाध्यक्षं विरूपाक्षं च सोऽसृजत् ॥ ३४ ॥

वे ही वेदविद्याको धारण करनेवाले अमित तेजस्वी ब्रह्मा हुए। फिर श्रीहरिने भूतों और मातृगणोंके अध्यक्ष विरूपाक्ष (रुद्र) की रचना की ॥ ३४ ॥

शासितारं च पापानां पितॄणां समवर्तिनम् ।
असृजत् सर्वभूतात्मा निधिपं च धनेश्वरम् ॥ ३५ ॥

सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा श्रीहरिने पापियोंको दण्ड देनेवाले तथा पितरोंके समवर्ती यमराजको और सम्पूर्ण निधियोंके पालक धनाध्यक्ष कुबेरको उत्पन्न किया ॥ ३५ ॥

यादसामसृजन्नाथं वरुणं च जलेश्वरम्।
वासवं सर्वदेवानामध्यक्षमकरोत् प्रभुः ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार उन्होंने जल-जन्तुओंके स्वामी जलेश्वर वरुणकी सृष्टि की । उन्हीं भगवान्ने इन्द्रको सम्पूर्ण देवताओंका अध्यक्ष बनाया ॥ ३६ ॥

यावद्यावदभूच्छ्रद्धा देहं धारयितुं नृणाम्।
तावत् तावदजीवंस्ते नासीद् यमकृतं भयम् ॥ ३७ ॥

पहले मनुष्योंको जितने दिनोंतक शरीर धारण करनेकी इच्छा होती, उतने दिनोंतक वे जीवित रहते थे । उन्हें यमराजका कोई भय नहीं होता था ॥ ३७ ॥

न चैषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ।
संकल्पादेव चैतेषामपत्यमुपपद्यते ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पहलेके लोगोंमें मैथुनधर्मकी प्रवृत्ति नहीं हुई थी । इन सबको संकल्पसे ही संतान पैदा होती थी ॥ ३८ ॥

ततस्त्रेतायुगे काले संस्पर्शाज्जायते प्रजा।
न ह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप ॥ ३९ ॥

तदनन्तर त्रेतायुगका समय आनेपर स्पर्श करनेमात्रसे संतानकी उत्पत्ति होने लगी । नरेश्वर! उस समयके लोगोंमें भी मैथुन-धर्मका प्रचार नहीं हुआ था ॥ ३९ ॥

द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप।
तथा कलियुगे राजन् द्वन्द्वमापेदिरे जनाः ॥ ४० ॥

नरेश्वर ! द्वापरयुगमें प्रजाके मनमें मैथुनधर्मका सूत्रपात हुआ । राजन् ! उसी तरह कलियुगमें भी लोग मैथुनधर्मको प्राप्त होने लगे ॥ ४० ॥

एष भूतपतिस्तात स्वध्यक्षश्च तथोच्यते।
निरपेक्षांश्च कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ ४१ ॥

तात कुन्तीनन्दन ! ये भगवान् श्रीकृष्ण ही भूतनाथ एवं सबके अध्यक्ष कहे जाते हैं । अब जो नरकका दर्शन करनेवाले हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ४१ ॥

दक्षिणापथजन्मानः सर्वे नरवरान्ध्रकाः।
गुहाः पुलिन्दाः शबराश्चुचुका मद्रकैः सह ॥ ४२ ॥

नरेश्वर ! दक्षिण भारतमें जन्म लेनेवाले सभी आन्ध्र, गुह, पुलिन्द, शबर, चूचुक और मद्रक—ये सब-के-सब म्लेच्छ हैं ॥ ४२ ॥

उत्तरापथजन्मानः कीर्तयिष्यामि तानपि।
यौनकाम्बोजगान्धाराः किराता बर्बरैः सह ॥ ४३ ॥
एते पापकृतस्तात चरन्ति पृथिवीमिमाम्।

तात ! अब उत्तर भारतमें जन्म लेनेवाले म्लेच्छोंका वर्णन करूँगा; यौन, काम्बोज, गान्धार, किरात और बर्बर—ये सब-के-सब पापाचारी होकर इस सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ ४३½ ॥

श्वपाकबलगृध्राणां सधर्माणो नराधिप ॥ ४
नैते कृतयुगे तात चरन्ति पृथिवीमिमाम्।

नरेश्वर ! ये सब-के-सब चाण्डाल, कौए और गीधोंके स आचार-विचारवाले हैं । ये सत्ययुगमें इस पृथ्वीपर विचरण करते हैं ॥ ४४½ ॥

त्रेताप्रभृति वर्धन्ते ते जना भरतर्षभ ॥ ४
ततस्तस्मिन् महाघोरे संध्याकाल उपस्थिते।
राजानः समसज्जन्त समासाद्येतरेतरम् ॥ ४

भरतश्रेष्ठ ! त्रेतासे वे लोग बढ़ने लगे थे । तदन त्रेता और द्वापरका महाघोर संध्याकाल उपस्थित होनेपर रा लोग एक दूसरेसे टक्कर लेकर युद्धमें आसक्त हुए ४५

एवमेष कुरुश्रेष्ठ प्रादुर्भूतो महात्मना।

कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार महात्मा श्रीकृष्णने इस लोक उत्पन्न किया है ॥ ४६½ ॥

(तपःस्वरूपो महादेवः कृष्णो देवकिनन्दनः।
तस्य प्रसादाद् दुःखस्य नाशं प्राप्स्यसि मानद ॥
एकः कर्ता स कृष्णश्च ज्ञानिनां परमा गतिः।

सबको मान देनेवाले नरेश ! महान् देवता भगव देवकीनन्दन श्रीकृष्ण तपस्यारूप ही हैं । उन्हींकी कृ तुम्हारे सारे दुःखोंका नाश हो जायगा । एकमात्र जगत्क श्रीकृष्ण ज्ञानियोंकी परमगति हैं ॥

इदमाश्रित्य देवेन्द्रो देवा रुद्रास्तथाश्विनौ॥
स्वे स्वे पदे विविशिरे भुक्तिमुक्तिविदो जनाः॥

तपस्यारूप इन श्रीकृष्णका आश्रय लेकर देवराज इ अन्यान्य देवता, रुद्रगण, दोनों अश्विनीकुमार तथा भोग औ मोक्षके तत्त्वको जाननेवाले महर्षि अपने-अपने पदपर प्रति रहते हैं ॥

श्रूयतामस्य सद्भावः सम्यग्ज्ञानं यथा तव।
भूतानामन्तरात्मासौ स नित्यपदसंवृतः॥

वे सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं तथा नित्य वैकु धाममें अपनी योगमायासे आवृत होकर निवास करते उनकी सत्ता और महत्ताको तुम श्रवण करो, जिससे तु श्रीकृष्णतत्त्वका ज्ञान हो जाय ॥

पुरा देवऋषिः श्रीमान् नारदः परमार्थवान्।
चचार पृथिवीं कृत्स्नां तीर्थान्यनुचरन् प्रभुः॥

पहलेकी बात है परमार्थमें सम्पन्न देवर्षि श्रीनार भूमण्डलके सम्पूर्ण तीर्थोंमें विचरण करते हुए घूम रहे थे

हिमवत्पादमाश्रित्य विचार्य च पुनः पुनः।
स ददर्श ह्रदं तत्र पद्मोत्पलसमाकुलम्॥

वे हिमालयके समीपवर्ती पर्वतपर बारंबार विचरण क एक ऐसे स्थानपर गये, जहाँ उन्हें कमल और उत्पलसे भ हुआ एक सरोवर दिखायी दिया ॥

ततः स्नात्वा महातेजा वाग्यतो नियतेन्द्रियः।
तुष्टाव पुरुषव्याघ्रो जिज्ञासुश्च तदद्भुतम्॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी पुरुषप्रवर नारदने उस सरोव मौनभावसे स्नान करके इन्द्रियोंको संयममें रखकर उस भगवा

के स्वरूपका अद्भुत रहस्य जाननेके लिये भगवान्‌की स्तुतिकी ॥

ततो वर्षशते पूर्णे भगवाँल्लोकभावनः ।
प्रादुश्चकार विश्वात्मा ऋषेः परमसौहृदात् ॥

तदनन्तर सौ वर्ष पूर्ण होनेपर लोकस्रष्टा विश्वात्मा भगवान् श्रीहरि ऋषिके प्रति परम सौहार्दवश उनके सामने प्रकट हुए ॥

तमागतं जगन्नाथं सर्वकारणकारणम् ।
अखिलामरमौल्यङ्करुक्मारुणपदद्वयम् ॥
वैनतेयपदस्पर्शकिणशोभितजानुकम् ।
पीताम्बरलसत्काञ्चीदामबद्धकटीतटम् ॥
श्रीवत्सवक्षसं चारुमणिकौस्तुभकन्धरम् ।
मन्दस्मितमुखाम्भोजं चलदायतलोचनम् ॥
नम्रचापानुकरणनम्रभ्रूयुगशोभितम् ।
नानारत्नमणिवज्रस्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥
इन्द्रनीलनिभाभं तं केयूरमुकुटोज्ज्वलम् ।
देवैरिन्द्रपुरोगैश्च ऋषिसङ्घैरभिष्टुतम् ॥
नारदो जयशब्देन ववन्दे शिरसा हरिम् ।

नारदजीने देखा, समस्त कारणोंके भी कारण भगवान् जगन्नाथ पधारे हैं। उनके युगल चरणारविन्द सम्पूर्ण देवताओंके सुवर्णमय मुकुटोंके कुङ्कुमसे रक्तवर्ण हो रहे हैं। गरुड़जीके ऊपर सवारी करनेसे उनके दोनों घुटनोंमें रगड़ पड़नेके कारण चिह्न बन गये हैं; जो उन घुटनोंकी शोभा बढ़ा रहे हैं। उनके श्यामसुन्दर अङ्गपर पीताम्बर शोभा पा रहा है और कटिप्रदेशमें किङ्किणीकी लड़ें बँधी हुई हैं। वक्षःस्थलमें श्रीवत्सकी सुनहरी रेखा शोभा पाती है। गलेमें मनोहर कौस्तुभमणि अपना प्रकाश बिखेर रही है। मुखारविन्दपर मन्द-मन्द मुसकानकी मनोहर छटा छा रही है। विशाल नेत्र चञ्चल गतिसे इधर-उधर देख रहे हैं। झुके हुए दो धनुषोंकी भाँति बाँकी भौंहें उनके मुखमण्डलकी शोभा बढ़ा रही हैं। नाना प्रकारके रत्न, मणि और हीरोंसे जटित मकराकार कुण्डल जगमगा रहे हैं। उनकी अङ्गकान्ति इन्द्रनीलमणिके समान श्याम है। बाँहोंमें केयूर तथा मस्तकपर मुकुटकी उज्ज्वल आभा छिटक रही है एवं इन्द्र आदि देवता और महर्षियोंके समुदाय उनकी स्तुति करते हैं। भगवान्‌की यह झाँकी देखकर जय-जयकार करते हुए नारदजीने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥

ततः स भगवाञ्श्रीमान् मेघगम्भीरया गिरा।
प्राहेशः सर्वभूतानां नारदं पतितं क्षितौ ॥

तदनन्तर नारदजीको पृथ्वीपर पड़ा देख सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी श्रीमान् भगवान् नारायणने मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा ॥

श्रीभगवानुवाच

भद्रमस्तु ऋषे तुभ्यं वरं वरय सुव्रत ।
यत्ते मनसि सुव्यक्तमस्ति च प्रददामि तत् ॥

श्रीभगवान् बोले— उत्तम व्रतका पालन करनेवाले देवर्षे ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम कोई वर माँगो। तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हुई हो, उसे स्पष्ट बताओ। मैं उसे पूर्ण करूँगा ॥

भीष्म उवाच

स चेमं जयशब्देन प्रसीदेत्यातुरो मुनिः ।
प्रोवाच हृदि संरूढं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
विवक्षितं जगन्नाथ मया ज्ञातं त्वयाच्युत ।
तत् प्रसीद हृषीकेश श्रोतुमिच्छामि तद्धरे ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! प्रेमसे आतुर हुए मुनिवर नारदने जय-जयकार करते हुए अपने हृदयमें नित्य विराजमान रहनेवाले शङ्ख, चक्र और गदाधारी भगवान्‌से कहा—'प्रभो ! प्रसन्न होइये। जगन्नाथ ! अच्युत ! हृषीकेश ! हरे ! मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, वह आपको पहलेसे ही ज्ञात है। मैं उसीको सुनना चाहता हूँ। आप मुझपर कृपा करें' ॥

ततः स्मयन् महाविष्णुरभ्यभाषत नारदम् ।
निर्द्वन्द्वा निरहङ्काराः शुचयः शुद्धलोचनाः ॥
ते मां पश्यन्ति सततं तान् पृच्छ यदिहेच्छसि ।

तब मुसकराते हुए भगवान् महाविष्णुने नारदजीसे कहा—'जो लोग शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे रहित, अहंकारशून्य, पवित्र तथा निर्दोष दृष्टिवाले महात्मा हैं, वे निरन्तर मेरे उस स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं; अतः तुम यहाँ जो कुछ चाहते हो, उसके विषयमें उन्हीं महात्माओंके पास जाकर प्रश्न करो ॥

ये योगिनो महाप्राज्ञा मदंशा ये व्यवस्थिताः ।
तेषां प्रसादं देवर्षे मत्प्रसादमवेहि तत् ॥

'देवर्षे ! जो लोग योगी और महाज्ञानी हैं तथा जो मेरे अंशरूपसे स्थित हैं, उनके प्रसादको तुम मेरा ही कृपाप्रसाद समझो' ॥

इत्युक्त्वा स जगामाथ भगवान् भूतभावनः ।
तस्माद् व्रज हृषीकेशं कृष्णं देवकिनन्दनम् ॥

ऐसा कहकर भूतभावन भगवान् विष्णु वहाँसे चले गये; अतः युधिष्ठिर ! तुम भी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी शरणमें जाओ ॥

एतमाराध्य गोविन्दं गता मुक्तिं महर्षयः ।
एष कर्ता विकर्ता च सर्वकारणकारणम् ॥

इन भगवान् गोविन्दकी आराधना करके कितने ही महर्षि मुक्तिको प्राप्त हो गये हैं। ये ही जगत्‌के सृष्टिकर्ता, संहारकर्ता और समस्त कारणोंके भी कारण हैं ॥

मयाप्येतच्छ्रुतं राजन् नारदात्तु निबोध तत् ।
स्वयमेव समाचष्ट नारदो भगवान् मुनिः ॥

राजन्! मैंने भी यह बात नारदजीसे ही सुनी है। तुम भी उनके मुखसे सुन सकते हो। भगवान् नारदमुनिने स्वयं ही यह बात मुझसे कही थी॥

समस्तसंसारविघातकारणं
भजन्ति ये विष्णुमनन्यमानसाः।
ते यान्ति सायुज्यमतीव दुर्लभं
इतीव नित्यं हृदि वर्णयन्ति॥)

जो समस्त संसार-बन्धनकी निवृत्तिके कारणभूत भगवान् विष्णुकी अनन्य चित्तसे आराधना करते हैं, वे अत्यन्त दुर्लभ सायुज्य मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। यह बात सदा मेरे हृदयमें बनी रहती है तथा ऋषिलोग भी इसका वर्णन करते हैं॥

देवं देवर्षिराचष्ट नारदः सर्वलोकदृक्॥ ४७॥

सम्पूर्ण जगत्को देखनेवाले देवर्षि नारदने म श्रीकृष्णकी महिमाका प्रतिपादन किया था॥ ४७॥

नारदोऽप्यथ कृष्णस्य परं मेने नराधिप।
शाश्वतत्वं महाबाहो यथावद् भरतर्षभ॥४

महाबाहु भरतश्रेष्ठ नरेश्वर! नारदजीने श्रीकृष्णके सनातन परमात्मभावको यथावत्‌रूपसे जाना और माना

एवमेष महाबाहुः केशवः सत्यविक्रमः।
अचिन्त्यः पुण्डरीकाक्षो नैष केवलमानुषः॥४

युधिष्ठिर! इस प्रकार ये सत्यपराक्रमी कमल महाबाहु केशव अचिन्त्य परमेश्वर हैं। इन्हें केवल मनुष्य मानना चाहिये॥ ४९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सर्वभूतोत्पत्तिकथने सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २०७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिविषयक दौ सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २०७॥

अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्माके पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियोंके वंशका तथा प्रत्येक दिशामें निवास करनेवाले महर्षियोंका वर्

युधिष्ठिर उवाच

के पूर्वमासन् पतयः प्रजानां भरतर्षभ।
के चर्षयो महाभागा दिक्षु प्रत्येकशः स्मृताः॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! पूर्वकालमें कौन-कौन-से लोग प्रजापति थे और प्रत्येक दिशामें किन-किन महाभाग महर्षियोंकी स्थिति मानी गयी है॥ १॥

भीष्म उवाच

श्रूयतां भरतश्रेष्ठ यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
प्रजानां पतयो येऽस्मिन् दिक्षु ये चर्षयः स्मृताः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ! इस जगत्‌में जो प्रजापति रहे हैं तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें जिन-जिन ऋषियोंकी स्थिति मानी गयी है, उन सबको जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछते हो; मैं बताता हूँ, सुनो॥ २॥

एकः स्वयम्भूर्भगवानाद्यो ब्रह्मा सनातनः।
ब्रह्मणः सप्त वै पुत्रा महात्मानः स्वयम्भुवः॥ ३॥

एकमात्र सनातन भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मा सबके आदि हैं। स्वयम्भू ब्रह्माके सात महात्मा पुत्र बताये गये हैं॥ ३॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठश्च महाभागः सदृशो वै स्वयम्भुवा॥ ४॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा महाभाग वसिष्ठ। ये सभी स्वयम्भू ब्रह्माके समान ही शक्तिशाली हैं॥ ४॥

सप्तब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सर्वानेव प्रजापतीन्॥ ५॥

पुराणमें ये सात ब्रह्मा निश्चित किये गये हैं। अब मैं समस्त प्रजापतियोंका वर्णन आरम्भ करता हूँ॥ ५॥

अत्रिवंशसमुत्पन्नो ब्रह्मयोनिः सनातनः।
प्राचीनबर्हिर्भगवांस्तस्मात् प्राचेतसो दश॥ ६

अत्रिकुलमें उत्पन्न जो सनातन ब्रह्मयोनि भगवान् प्राची बर्हि हैं, उनसे प्राचेतस नामवाले दस प्रजापति उत्पन्न हुए

दशानां तनयस्त्वेको दक्षो नाम प्रजापतिः।
तस्य द्वे नामनी लोके दक्षः क इति चोच्यते॥ ७

उन दसोंके एकमात्र पुत्र दक्ष नामसे प्रसिद्ध प्रजापति हैं उनके दो नाम बताये जाते हैं—'दक्ष' और 'क'॥ ७॥

मरीचेः कश्यपः पुत्रस्तस्य द्वे नामनी स्मृते।
अरिष्टनेमिरित्येके कश्यपेत्यपरे विदुः॥ ८

मरीचिके पुत्र जो कश्यप हैं, उनके भी दो नाम म गये हैं। कुछ लोग उन्हें अरिष्टनेमि कहते हैं और दूसरे लो उन्हें कश्यपके नामसे जानते हैं॥ ८॥

अत्रेश्चैवौरसः श्रीमान् राजा सोमश्च वीर्यवान्।
सहस्रं यश्च दिव्यानां युगानां पर्युपासिता॥ ९

अत्रिके औरस पुत्र श्रीमान् और बलवान् राजा सो हुए, जिन्होंने सहस्र दिव्य युगोंतक भगवान्‌की उपासना की थी

अर्यमा चैव भगवान् ये चास्य तनया विभो।
एते प्रदेशाः कथिता भुवनानां प्रभावनाः॥ १०॥

प्रभो! भगवान् अर्यमा और उनके सभी पुत्र—ये प्रदे (आदेश देनेवाले शासक) तथा प्रभावन (उत्तम स्रष्टा) कहे गये हैं॥ १०॥

शशबिन्दोश्च भार्याणां सहस्राणि दशाच्युत।
एकैकस्यां सहस्रं तु तनयानामभूत् तदा॥ ११॥

एवं शतसहस्राणां शतं तस्य महात्मनः।
पुत्राणां च न ते कंचिदिच्छन्त्यन्यं प्रजापतिम्॥ १२॥

धर्मसे विचलित न होनेवाले युधिष्ठिर! शशबिन्दुके दस हजार स्त्रियाँ थीं। उनमेंसे प्रत्येकके गर्भसे एक-एक हजार पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार उन महात्माके एक करोड़ पुत्र थे। वे उनके सिवा किसी दूसरे प्रजापतिकी इच्छा नहीं करते थे॥ ११-१२॥

प्रजामाचक्षते विप्राः पुराणाः शाशबिन्दवीम्।
स वृष्णिवंशप्रभवो महावंशः प्रजापतेः॥ १३॥

प्राचीनकालके ब्राह्मण अधिकांश प्रजाकी उत्पत्ति शशबिन्दुसे ही बताते हैं। प्रजापतिका वह महान् वंश ही वृष्णिवंशका उत्पादक हुआ॥ १३॥

एते प्रजानां पतयः समुद्दिष्टा यशस्विनः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि देवांस्त्रिभुवनेश्वरान्॥ १४॥

युधिष्ठिर! ये सब यशस्वी प्रजापति बताये गये हैं। अब मैं तीनों लोकोंपर शासन करनेवाले देवताओंका परिचय दूँगा॥

भगोंऽशश्चार्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा।
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महाबलः॥ १५॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते।
इत्येते द्वादशादित्याः कश्यपस्यात्मसम्भवाः॥ १६॥

भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, महाबली विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और बारहवें विष्णु कहे गये हैं। ये बारह आदित्य हैं, जो कश्यप और अदितिके पुत्र हैं॥ १५-१६॥

नासत्यश्चैव दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनावपि।
मार्तण्डस्यात्मजावेतावष्टमस्य महात्मनः॥ १७॥

नासत्य और दस्र—ये दोनों अश्विनीकुमार बताये गये हैं। ये दोनों अष्टम आदित्य महात्मा सूर्यके पुत्र हैं॥ १७॥

ते च पूर्वं सुराश्चेति द्विविधाः पितरः स्मृताः।
त्वष्टुश्चैवात्मजः श्रीमान् विश्वरूपो महायशाः॥ १८॥

ये तथा पूर्वोक्त देवता—दो प्रकारके पितर माने गये हैं। त्वष्टाके पुत्र महायशस्वी श्रीमान् विश्वरूप हुए॥ १८॥

अजैकपादहिर्बुध्न्यो विरूपाक्षोऽथ रैवतः।
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः॥ १९॥
सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः।
पूर्वमेव महाभागा वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः॥ २०॥

अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, रैवत, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, सुरेश्वर, सावित्र, जयन्त, पिनाकी और अपराजित—ये ग्यारह रुद्र हैं। महाभाग आठ वसुओंके नाम पहले ही बताये गये हैं॥ १९-२०॥

एत एवंविधा देवा मनोरेव प्रजापतेः।
ते च पूर्वे सुराश्चेति द्विविधाः पितरः स्मृताः॥ २१॥

इस प्रकार ये देवता प्रजापति मनुकी ही संतान हैं। वे तथा पूर्वोक्त देवता—ये दो प्रकारके पितर माने गये हैं॥२१॥

शीलयौवनतस्त्वन्यस्तथान्यः सिद्धसाध्ययोः।
ऋभवो मरुतश्चैव देवानां चोदितो गणः॥ २२॥

देवताओंमें एक वर्ग ऐसा है, जो सुन्दर शील-स्वभाव और अक्षय यौवनसे सम्पन्न है। दूसरा वर्ग सिद्धों और साध्योंका है। ऋभु और मरुत्—ये देवताओंके समुदायोंके नाम हैं॥

एवमेते समाम्नाता विश्वेदेवास्तथाश्विनौ।
आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा॥ २३॥

इसी प्रकार ये विश्वेदेव और अश्विनीकुमार भी देवताओंके गण माने गये हैं। इन देवताओंमें आदित्यगण क्षत्रिय और मरुद्गण वैश्य माने जाते हैं॥ २३॥

अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ।
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः॥ २४॥

उग्र तपस्यामें लगे हुए दोनों अश्विनीकुमारोंको शूद्र कहा जाता है। अङ्गिरा गोत्रवाले सम्पूर्ण देवता ब्राह्मण माने गये हैं। यही विद्वानोंका निश्चय है॥ २४॥

इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्तितम्।
एतान् वै प्रातरुत्थाय देवान् यस्तु प्रकीर्तयेत्॥ २५॥
स्वजादन्यकृताच्चैव सर्वपापात् प्रमुच्यते।

इस प्रकार सम्पूर्ण देवताओंमें जो चार वर्ण हैं, उनका वर्णन किया गया। जो सबेरे उठकर इन देवताओंका कीर्तन करता है, वह स्वयं किये हुए तथा दूसरोंके संसर्गसे प्राप्त हुए सम्पूर्ण पापसमूहसे मुक्त हो जाता है॥ २५½॥

यवक्रीतोऽथ रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू॥ २६॥
औशिजश्चैव कक्षीवान् बलश्चाङ्गिरसः सुताः।

यवक्रीत, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, औशिज, कक्षीवान् और बल—ये अङ्गिराके पुत्र हैं॥ २६½॥

ऋषिर्मेधातिथेः पुत्रः कण्वो बर्हिषदस्तथा॥ २७॥
त्रैलोक्यभावनास्तात प्राच्यां सप्तर्षयस्तथा।

तात! मेधातिथिके पुत्र कण्वमुनि, बर्हिषद तथा त्रिलोकीको उत्पन्न करनेमें समर्थ सप्तर्षिगण हैं, जो पूर्व दिशामें स्थित होते हैं॥

उन्मुचो विमुचश्चैव स्वस्त्यात्रेयश्च वीर्यवान्॥ २८॥
प्रमुचश्चेध्मवाहश्च भगवांश्च दृढव्रतः।
मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान्॥ २९॥
एते ब्रह्मर्षयो नित्यमाश्रिता दक्षिणां दिशम्।

उन्मुच, विमुच, बलवान् स्वस्त्यात्रेय, प्रमुच, इध्मवाह, दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मित्रावरुणके प्रतापी पुत्र भगवान् अगस्त्य—ये ब्रह्मर्षि सदा दक्षिणदिशामें रहते हैं॥ २८-२९½॥

उषङ्गुः कवषो धौम्यः परिव्याधश्च वीर्यवान्॥ ३०॥
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः।
अत्रेः पुत्रश्च भगवांस्तथा सारस्वतः प्रभुः॥ ३१॥
एते चैव महात्मनः पश्चिमामाश्रिता दिशम्।

उषङ्गु, कवष, धौम्य, शक्तिशाली परिव्याध, एकत,

द्वित, त्रित तथा अत्रिके प्रभावशाली पुत्र भगवान् सारस्वत—ये महात्मा महर्षि पश्चिम दिशामें निवास करते हैं ॥ ३०-३१½ ॥

आत्रेयश्च वसिष्ठश्च कश्यपश्च महानृषिः ॥ ३२ ॥
गौतमोऽथ भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ।
तथैव पुत्रो भगवानृचीकस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
जमदग्निश्च सप्तैते उदीचीमाश्रिता दिशम् ।

आत्रेय, वसिष्ठ, महर्षि कश्यप, गौतम, भरद्वाज, कुशिकवंशी विश्वामित्र तथा महात्मा ऋचीकके पुत्र भगवान् जमदग्नि—ये सात उत्तर दिशामें रहते हैं ॥ ३२-३३½ ॥

एते प्रतिदिशं सर्वे कीर्तितास्तिग्मतेजसः ॥ ३४ ॥
साक्षिभूता महात्मानो भुवनानां प्रभावनाः ।
एवमेते महात्मानः स्थिताः प्रत्येकशो दिशम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार प्रत्येक दिशामें रहनेवाले सम्पूर्ण तेज महर्षियोंका वर्णन किया गया । ये महात्मा सम्पूर्ण लोकों सृष्टि करनेमें समर्थ एवं सबके साक्षी हैं । इनका हृदय विशाल है । इस तरह ये प्रत्येक दिशामें निवास करते है

एतेषां कीर्तनं कृत्वा सर्वपापात् प्रमुच्यते ।
यस्यां यस्यां दिशि ह्येते तां दिशं शरणं गतः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्वस्तिमांश्च गृहान् व्रजेत् ॥ ३

इन सबका गुणगान करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे हो जाता है । जिस-जिस दिशामें ये महर्षि रहते हैं, उस दिशामें जानेपर जो मनुष्य इनकी शरण लेता है, वह पापोंसे मुक्त हो जाता और कुशलपूर्वक अपने घरको प जाता है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दिशास्वस्तिकं नाम अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें दिशास्वस्तिक नामक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०८ ॥

नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुका वराहरूपमें प्रकट होकर देवताओंकी रक्षा और दानवोंका विनाश कर देना तथा नारदको अनुस्मृतिस्तोत्रका उपदेश और नारदद्वारा भगवान्‌की स्तुति

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ युधि सत्यपराक्रम ।
श्रोतुमिच्छामि कार्त्स्न्येन कृष्णमव्ययमीश्वरम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—युद्धमें सच्चा पराक्रम प्रकट करनेवाले महाप्राज्ञ पितामह ! भगवान् श्रीकृष्ण अविनाशी ईश्वर हैं; मैं पूर्णरूपसे इनके महत्त्वका वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

यच्चास्य तेजः सुमहद् यच्च कर्म पुरा कृतम् ।
तन्मे सर्वं यथातत्त्वं ब्रूहि त्वं पुरुषर्षभ ॥ २ ॥

पुरुषप्रवर ! इनका जो महान् तेज है, इन्होंने पूर्वकालमें जो महान् कर्म किया है, वह सब आप मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ २ ॥

तिर्यग्योनिगतं रूपं कथं धारितवान् प्रभुः ।
केन कार्यनिसर्गेण तमाख्याहि महाबल ॥ ३ ॥

महाबली पितामह ! सम्पूर्ण जगत्‌के प्रभु होकर भी इन्होंने किस निमित्तसे तिर्यग्योनिमें जन्म ग्रहण किया; यह मुझे बताइये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

पुराहं मृगयां यातो मार्कण्डेयाश्रमे स्थितः ।
तत्रापश्यं मुनिगणान् समासीनान् सहस्रशः ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! पहलेकी बात है, मैं शिकार खेलनेके लिये वनमें गया और मार्कण्डेय मुनिके आश्रमपर ठहरा । वहाँ मैंने सहस्रों मुनियोंको बैठे देखा ॥ ४ ॥

ततस्ते मधुपर्केण पूजां चक्रुरथो मयि ।
प्रतिगृह्य च तां पूजां प्रत्यनन्दमृषीनहम् ॥ ५ ॥

मेरे जानेपर उन महर्षियोंने मधुपर्क समर्पित करके आतिथ्य-सत्कार किया । मैंने भी उनका सत्कार ग्रहण क उन सभी महर्षियोंका अभिनन्दन किया ॥ ५ ॥

कथैषा कथिता तत्र कश्यपेन महर्षिणा ।
मनःप्रह्लादिनीं दिव्यां तामिहैकमनाः शृणु ॥ ६

फिर महर्षि कश्यपने मनको आनन्द प्रदान करनेवाली दिव्य कथा मुझे सुनायी । मैं उसे कहता हूँ, तुम एकाग्रचि होकर सुनो ॥ ६ ॥

पुरा दानवमुख्या हि क्रोधलोभसमन्विताः ।
बलेन मत्ताः शतशो नरकाद्या महासुराः ॥ ७

पूर्वकालमें नरकासुर आदि सैकड़ों मुख्य-मुख्य दा क्रोध और लोभके वशीभूत हो बलके मदसे मतवाले गये थे ॥ ७ ॥

तथैव चान्ये बहवो दानवा युद्धदुर्मदाः ।
न सहन्ते स्म देवानां समृद्धिं तामनुत्तमाम् ॥ ८

इनके सिवा और भी बहुत-से रणदुर्मद दानव थे, देवताओंकी उत्तम समृद्धिको सहन नहीं कर पाते थे ॥ ८ ॥

दानवैरर्द्यमानास्तु देवा देवर्षयस्तथा ।
न शर्म लेभिरे राजन् विशमानास्ततस्ततः ॥ ९

राजन् ! उन दानवोंसे पीड़ित हो देवता और देव कहीं चैन नहीं पाते थे । वे इधर-उधर लुकते-छिपते फिरते थे ॥

पृथिवीमार्तरूपां ते समपश्यन् दिवौकसः ।
दानवैरभिसंस्तीर्णां घोररूपैर्महाबलैः ॥ १०

समूचे भूमण्डलमें भयानक रूपधारी महाबली दा

फैल गये थे। देवताओंने देखा, यह पृथ्वी दानवोंके पाप-भारसे पीड़ित एवं आर्त हो उठी है ॥ १० ॥

भारार्तामपहृष्टां च दुःखितां संनिमज्जतीम्।
अथादितेयाः संत्रस्ता ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ॥ ११ ॥

यह भारसे व्याकुल, हर्ष और उल्लाससे शून्य तथा दुखी हो रसातलमें डूब रही है। यह देखकर अदितिके सभी पुत्र भयसे थर्रा उठे और ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—॥ ११॥

कथं शक्ष्यामहे ब्रह्मन् दानवैरभिमर्दनम्।
स्वयम्भूस्तानुवाचेदं निसृष्टोऽत्र विधिर्मया ॥ १२ ॥

'ब्रह्मन्! दानवलोग जो हमें इस प्रकार रौंद रहे हैं, इसे हम किस प्रकार सह सकेंगे ?' तब स्वयम्भू ब्रह्माने उनसे इस प्रकार कहा—'देवताओ! इस विपत्तिको दूर करनेके लिये मैंने उपाय कर दिया है ॥ १२ ॥

ते वरेणाभिसम्पन्ना बलेन च मदेन च।
नावबुध्यन्ति सम्मूढा विष्णुमव्यक्तदर्शनम् ॥ १३ ॥
वराहरूपिणं देवमधृष्यममरैरपि ।

'वे दानव वर पाकर बल और अभिमानसे मत्त हो उठे हैं। वे मूढ़ दैत्य अव्यक्तस्वरूप भगवान् विष्णुको नहीं जानते, जो देवताओंके लिये भी दुर्धर्ष हैं। उन्होंने वाराह रूप धारण कर रखा है ॥ १३½ ॥

एष वेगेन गत्वा हि यत्र ते दानवाधमाः ॥ १४ ॥
अन्तर्भूमिगता घोरा निवसन्ति सहस्रशः।
शमयिष्यति तच्छ्रुत्वा जहृषुः सुरसत्तमाः ॥ १५ ॥

'वे सहस्रों घोर दैत्य और दानवाधम भूमिके भीतर पातालमें निवास करते हैं; भगवान् वाराह वेगपूर्वक वहीं जाकर उन सबका विनाश कर देंगे। यह सुनकर सभी श्रेष्ठ देवता हर्षसे खिल उठे ॥ १४-१५ ॥

ततो विष्णुर्महातेजा वाराहं रूपमास्थितः।
अन्तर्भूमिं सम्प्रविश्य जगाम दितिजान् प्रति ॥ १६ ॥

उधर महातेजस्वी भगवान् विष्णु वाराहरूप धारण कर बड़े वेगसे भूमिके भीतर प्रविष्ट हुए और दैत्योंके पास जा पहुँचे ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा च सहिताः सर्वे दैत्याः सत्त्वममानुषम्।
प्रसह्य तरसा सर्वे संतस्थुः कालमोहिताः ॥ १७ ॥

उस अलौकिक जन्तुको देखकर सब दैत्य एक साथ हो वेगपूर्वक उसका सामना करनेके लिये हठात् खड़े हो गये; क्योंकि वे कालसे मोहित हो रहे थे ॥ १७ ॥

ततस्ते समभिद्रुत्य वराहं जगृहुः समम्।
संक्रुद्धाश्च वराहं तं व्यकर्षन्त समन्ततः ॥ १८ ॥

उन सबने कुपित होकर भगवान् वाराहपर एक साथ धावा बोल दिया और उन्हें हाथोंहाथ पकड़ लिया। पकड़कर वे वाराहदेवको चारों ओरसे खींचने लगे ॥ १८ ॥

दानवेन्द्रा महाकाया महावीर्यबलोच्छ्रिताः।
नाशक्नुवंश्च किंचित् ते तस्य कर्तुं तदा विभो ॥ १९ ॥

प्रभो! यद्यपि वे विशालकाय दानवराज महान् बल और वीर्यसे सम्पन्न थे, तो भी उन भगवान्‌का कुछ बिगाड़ न सके ॥ १९ ॥

ततोऽगच्छत् विस्मयं ते दानवेन्द्रा भयं तथा।
संशयं गतमात्मानं मेनिरे च सहस्रशः ॥ २० ॥

इससे उन दानवेन्द्रोंको बड़ा विस्मय और भय प्राप्त हुआ। वे सहस्रों दैत्य अपने आपको जीवनके संशयमें पड़ा हुआ मानने लगे ॥ २० ॥

ततो देवाधिदेवः स योगात्मा योगसारथिः।
योगमास्थाय भगवांस्तदा भरतसत्तम ॥ २१ ॥
विननाद महानादं क्षोभयन् दैत्यदानवान्।
संनादिता येन लोकाः सर्वाश्चैव दिशो दश ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ! इसके बाद योगस्वरूप योगके नियन्ता देवाधिदेव भगवान् वाराह दैत्यों और दानवोंको क्षोभमें डालनेके लिये योगका आश्रय ले बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगे। उस भीषण गर्जनासे तीनों लोक और ये सारी दसों दिशाएँ गूँज उठीं ॥ २१-२२ ॥

तेन संनादशब्देन लोकानां क्षोभ आगमत्।
संत्रस्ताश्च भृशं लोके देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ २३ ॥

उस भीषण गर्जनासे समस्त लोकोंमें हलचल मच गयी। स्वर्गलोकमें इन्द्र आदि देवता भी अत्यन्त भयभीत हो उठे ॥२३॥

निर्विचेष्टं जगच्चापि बभूवातिभृशं तदा।
स्थावरं जङ्गमं चैव तेन नादेन मोहितम् ॥ २४ ॥

उस सिंहनादसे मोहित होकर समस्त चराचर जगत् अत्यन्त चेष्टारहित हो गया ॥ २४॥

ततस्ते दानवाः सर्वे तेन नादेन भीषिताः।
पेतुर्गतासवश्चैव विष्णुतेजःप्रमोहिताः ॥ २५ ॥

तदनन्तर वे सब दानव भगवान्‌की उस गर्जनासे भयभीत हो प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। वे सब-के-सब भगवान् विष्णुके तेजसे मोहित हो अपनी सुध-बुध खो बैठे थे ॥ २५ ॥

रसातलगतश्चापि वराहस्त्रिदशद्विषाम्।
खुरैर्विदारयामास मांसमेदोऽस्थिसंचयान् ॥ २६ ॥

रसातलमें जाकर भी भगवान् वाराहने देवद्रोही असुरोंको अपने खुरोंसे विदीर्ण कर दिया। उनके मांस, मेदा और हड्डियोंके ढेर लग गये थे ॥ २६ ॥

नादेन तेन महता सनातन इति स्मृतः।
पद्मनाभो महायोगी भूताचार्यः स भूतराट् ॥ २७ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके आचार्य और स्वामी महायोगी वे भगवान् पद्मनाभ अपने महान् सिंहनादके कारण 'सनातन'[1] माने गये हैं ॥ २७ ॥

---

१. इस श्लोकमें वर्णित भावके अनुसार सनातन शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—नादनेन सहितः सनादनः। दकारस्थाने

ततो देवगणाः सर्वे पितामहमुपाद्रवन्।
तत्र गत्वा महात्मानमूचुश्चैव जगत्पतिम्॥ २८॥
नादोऽयं कीदृशो देव नैतं विद्म वयं प्रभो।
कोऽसौ हि कस्य वा नादो येन विह्वलितं जगत्॥ २९॥
देवाश्च दानवाश्चैव मोहितास्तस्य तेजसा।

उनके उस सिंहनादको सुनकर सब देवता जगदीश्वर भगवान् ब्रह्माजीके पास गये। वहाँ पहुँचकर वे इस प्रकार बोले—'देव! प्रभो! यह कैसा सिंहनाद है? इसे हमलोग नहीं जानते। वह कौन वीर है? अथवा किसकी गर्जना है? जिसने इस जगत्को व्याकुल कर दिया है। देवता और दानव सभी उसके तेजसे मोहित हो रहे हैं' ॥ २८-२९½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुर्वाराहं रूपमास्थितः।
उदतिष्ठन्महाबाहो स्तूयमानो महर्षिभिः॥ ३०॥

महाबाहो! इसी बीचमें वाराहरूपधारी भगवान् विष्णु जलसे ऊपर उठे। उस समय महर्षिगण उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ३० ॥

पितामह उवाच

निहत्य दानवपतीन् महावर्ष्मा महाबलः।
एष देवो महायोगी भूतात्मा भूतभावनः॥ ३१॥

ब्रह्माजी बोले—देवताओ! ये महाकाय महाबली महायोगी भूतभावन भूतात्मा भगवान् विष्णु हैं, जो दानवराजोंका वध करके आ रहे हैं ॥ ३१॥

सर्वभूतेश्वरो योगी मुनिरात्मा तथाऽऽत्मनः।
स्थिरीभवत कृष्णोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः॥ ३२॥

ये सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर, योगी, मुनि तथा आत्माके भी आत्मा हैं, ये ही समस्त विघ्नोंका विनाश करनेवाले श्रीकृष्ण हैं; अतः तुमलोग धैर्य धारण करो ॥ ३२ ॥

कृत्वा कर्मातिसाध्वेतदशक्यममितप्रभः।
समायातः स्वमात्मानं महाभागो महाद्युतिः॥ ३३॥

अनन्त प्रभासे परिपूर्ण, महातेजस्वी एवं महान् सौभाग्यके आश्रयभूत ये भगवान् अत्यन्त उत्तम और दूसरोंके लिये असम्भव कार्य करके आ रहे हैं ॥ ३३ ॥

पद्मनाभो महायोगी महात्मा भूतभावनः।
न संतापो न भीः कार्या शोको वा सुरसत्तमाः॥ ३४॥

सुरश्रेष्ठगण! ये महायोगी भूतभावन महात्मा पद्मनाभ हैं; अतः तुम्हें अपने मनसे संताप, भय एवं शोकको दूर कर देना चाहिये ॥ ३४ ॥

विधिरेष प्रभावश्च कालः संक्षयकारकः।
लोकान् धारयता तेन नादो मुक्तो महात्मना॥ ३५॥

ये ही विधि हैं, ये ही प्रभाव हैं और ये ही संहारकारी-काल हैं, इन्हीं परमात्माने सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते यह भीषण सिंहनाद किया है ॥ ३५ ॥

स एष हि महाबाहुः सर्वलोकनमस्कृतः।
अच्युतः पुण्डरीकाक्षः सर्वभूतादिरीश्वरः॥

ये सम्पूर्ण भूतोंके आदि कारण, सर्वलोकवन्दित महाबाहु कमलनयन अच्युत हैं ॥ ३६ ॥

(युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
प्रयाणकाले किं जप्यं मोक्षिभिस्तत्त्वचिन्तकैः॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें महाप्राज्ञ पितामह! मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले तत्त्व-चिन्त मृत्युकालमें किस मन्त्रका जप करना चाहिये ॥

किमनुस्मरन् कुरुश्रेष्ठ मरणे पर्युपस्थिते।
प्राप्नुयात् परमां सिद्धिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥

कुरुश्रेष्ठ! मृत्युका समय उपस्थित होनेपर कि चिन्तन करनेवाला पुरुष परम सिद्धिको प्राप्त हो सकता यह मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

सद्युक्तिसहितः सूक्ष्म उक्तः प्रश्नस्त्वयानघ।
शृणुष्वावहितो राजन् नारदेन पुरा श्रुतम्॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! निष्पाप नरेश! जो प्रश्न उपस्थित किया है, वह उत्तम युक्तियुक्त और है। उसे सावधान होकर सुनो। जो पूर्वकालमें मैंने नारद सुना था, वही मैं तुमसे कहता हूँ ॥

श्रीवत्साङ्कं जगद्बीजमनन्तं लोकसाक्षिणम्।
पुरा नारायणं देवं नारदः परिपृष्टवान्॥

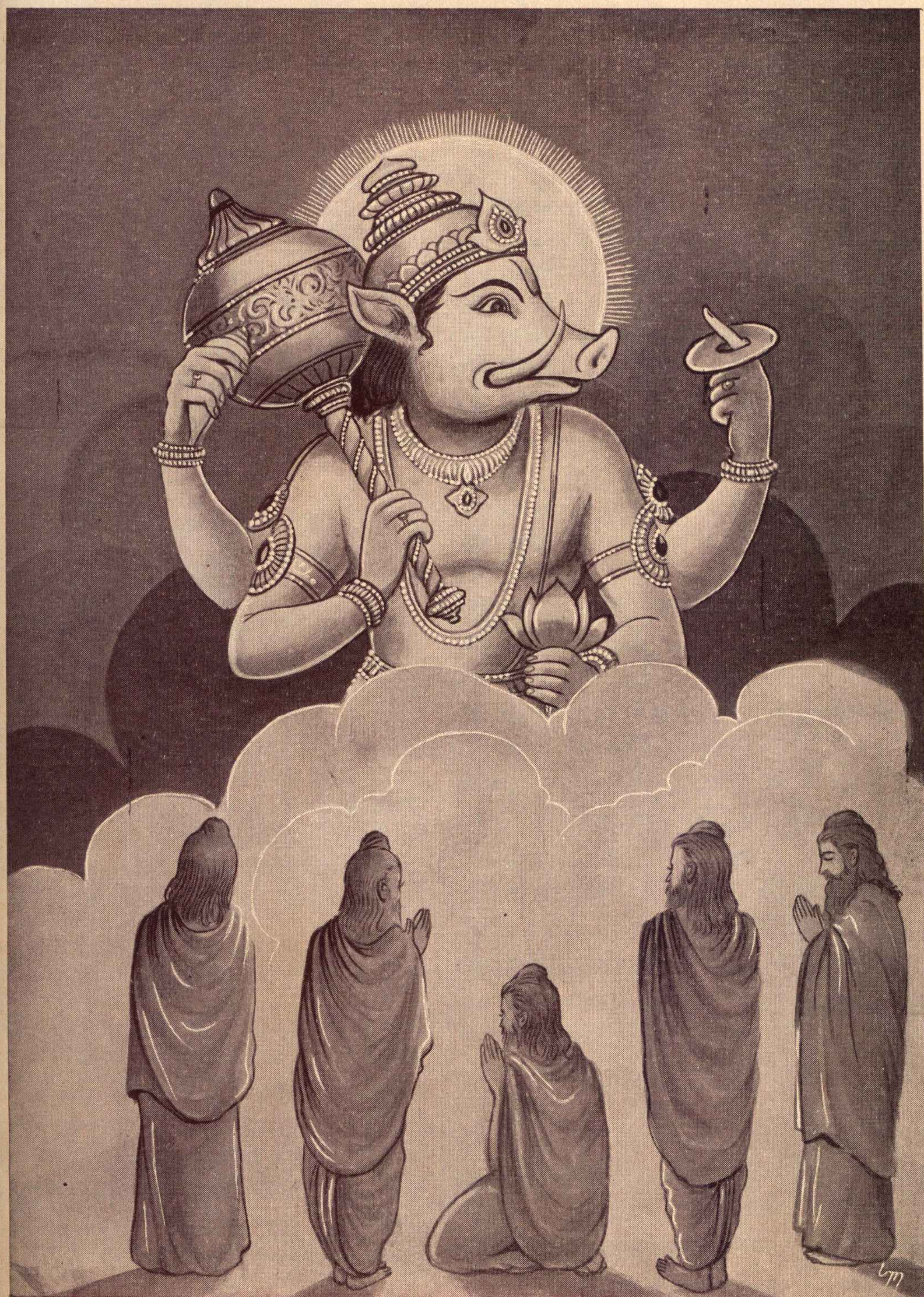
जिनका वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित है, जो जगत्के बीज (मूल कारण) हैं, जिनका कहीं अन्त नहीं तथा जो इस जगत्के साक्षी हैं, उन्हीं भगवान् नारायणसे पूर्वका नारदजीने इस प्रकार प्रश्न किया ॥

नारद उवाच

त्वामक्षरं परं ब्रह्म निर्गुणं तमसः परम्।
आहुर्वेद्यं परं धाम ब्रह्मादिकमलोद्भवम्॥
भगवन् भूतभव्येश श्रद्दधानैर्जितेन्द्रियैः।
कथं भक्तैर्विचिन्त्योऽसि योगिभिर्मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

नारदजीने पूछा—भगवन्! महर्षिगण कहते आप अविनाशी (नित्य), परब्रह्म, निर्गुण, अज्ञानान्धका एवं तमोगुणसे अतीत, विद्याके अधिपति, परम धामस्वरू ब्रह्मा तथा उनकी प्राकट्यभूमि—आदिकमलके उत्पत्ति स्थान हैं, भूत और भविष्यके स्वामी परमेश्वर! श्रद्धालु और जितेन्द्रिय भक्तों तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले योगियों आपके स्वरूपका किस प्रकार चिन्तन करना चाहिये?॥

तकारो छान्दसः। जो नादके साथ हो, वह 'सनादन' कहलाता है। सनादनके दकारके स्थानमें तकार हो जानेसे 'सनातन' बनता है।



भगवान् वराहकी ऋषियोंद्वारा स्तुति

किं च जप्यं जपेन्नित्यं कल्यमुत्थाय मानवः ।
कथं युञ्जन् सदा ध्यायेद् ब्रूहि तत्त्वं सनातनम् ॥

मनुष्य प्रतिदिन सबेरे उठकर किस जपनीय मन्त्रका जप करे और योगी पुरुष किस प्रकार निरन्तर ध्यान करे ? आप इस सनातन तत्त्वका वर्णन कीजिये ॥

श्रुत्वा तस्य तु देवर्षेर्वाक्यं वाचस्पतिः स्वयम् ।
प्रोवाच भगवान् विष्णुर्नारदं वरदः प्रभुः ॥

देवर्षि नारदका यह वचन सुनकर वाणीके अधिपति वरदायक भगवान् विष्णुने नारदजीसे इस प्रकार कहा ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि इमां दिव्यामनुस्मृतिम् ।
यामधीत्य प्रयाणे तु मद्भावायोपपद्यते ॥

श्रीभगवान् बोले—देवर्षे ! मैं हर्षपूर्वक तुम्हारे सामने इस दिव्य अनुस्मृतिका वर्णन करता हूँ । मृत्युकालमें जिसका अध्ययन और श्रवण करके मनुष्य मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥

ओङ्कारमग्रतः कृत्वा मां नमस्कृत्य नारद ।
एकाग्रः प्रयतो भूत्वा इमं मन्त्रमुदीरयेत् ॥
ॐ नमो भगवते वासुदेवायेति ।

नारद ! आदिमें ओंकारका उच्चारण करके मुझे नमस्कार करे । अर्थात् एकाग्र एवं पवित्रचित्त होकर इस मन्त्रका उच्चारण करे—'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति ॥

इत्युक्तो नारदः प्राह प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ॥
सर्वदेवेश्वरं विष्णुं सर्वात्मानं हरिं प्रभुम् ।

भगवान्‌के ऐसा कहनेपर नारदजी हाथ जोड़ प्रणाम करके खड़े हो गये और उन सर्वदेवेश्वर सर्वात्मा एवं पापहारी प्रभु श्रीविष्णुसे बोले ॥

नारद उवाच

अव्यक्तं शाश्वतं देवं प्रभवं पुरुषोत्तमम् ॥
प्रपद्ये प्राञ्जलिर्विष्णुमक्षरं परमं पदम् ।

नारदजीने कहा—प्रभो ! जो अव्यक्त सनातन देवता, सबकी उत्पत्तिके कारण, पुरुषोत्तम, अविनाशी और परम पदस्वरूप हैं, उन भगवान् विष्णुकी मैं हाथ जोड़कर शरण लेता हूँ ॥

पुराणं प्रभवं नित्यमक्षयं लोकसाक्षिणम् ॥
प्रपद्ये पुण्डरीकाक्षमीशं भक्तानुकम्पिनम् ।

जो पुराणपुरुष, सबकी उत्पत्तिके कारण, नित्य, अक्षय और सम्पूर्ण जगत्‌के साक्षी हैं, जिनके नेत्र कमलके समान सुन्दर हैं, उन भक्तवत्सल भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ ॥

लोकनाथं सहस्राक्षमद्भुतं परमं पदम् ॥
भगवन्तं प्रपन्नोऽस्मि भूतभव्यभवत्प्रभुम् ।

जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी तथा संरक्षक हैं, जिनके सहस्रों नेत्र हैं तथा जो भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी हैं, उन अद्भुत परमपदरूप भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ ॥

स्रष्टारं सर्वलोकानामनन्तं विश्वतोमुखम् ॥
पद्मनाभं हृषीकेशं प्रपद्ये सत्यमच्युतम् ।

समस्त लोकोंके स्रष्टा और सब ओर मुखवाले, अनन्त, सत्य, अच्युत एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् पद्मनाभकी मैं शरण लेता हूँ ॥

हिरण्यगर्भममृतं भूगर्भं परतः परम् ॥
प्रभोः प्रभुमनाद्यन्तं प्रपद्ये तं रविप्रभम् ।

जो हिरण्यगर्भ, अमृतस्वरूप, पृथ्वीको गर्भमें धारण करनेवाले, परात्पर तथा प्रभुओंके भी प्रभु हैं, उन अनादि, अनन्त तथा सूर्यके समान कान्तिवाले भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ ॥

सहस्रशीर्षं पुरुषं महर्षिं तत्त्वभावनम् ॥
प्रपद्ये सूक्ष्ममचलं वरेण्यमभयप्रदम् ।

जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो अन्तर्यामी आत्मा हैं, तत्त्वोंका चिन्तन करनेवाले महर्षि कपिलस्वरूप हैं, उन सूक्ष्म, अचल, वरेण्य और अभयप्रद भगवान् श्रीहरिकी शरण लेता हूँ ॥

नारायणं पुराणर्षिं योगात्मानं सनातनम् ॥
संस्थानं सर्वतत्त्वानां प्रपद्ये ध्रुवमीश्वरम् ।

जो पुरातन ऋषि नारायण हैं, योगात्मा हैं, सनातन पुरुष हैं, सम्पूर्ण तत्त्वोंके अधिष्ठान एवं अविनाशी ईश्वर हैं, उन भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ ॥

यः प्रभुः सर्वभूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥
चराचरगुरुर्विष्णुः स मे देवः प्रसीदतु ।

जो सम्पूर्ण भूतोंके प्रभु हैं, जिन्होंने इस समस्त संसारको व्याप्त कर रक्खा है तथा जो चर और अचर प्राणियोंके गुरु हैं, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

यस्मादुत्पद्यते ब्रह्मा पद्मयोनिः पितामहः ॥
ब्रह्मयोनिर्हि विश्वात्मा स मे विष्णुः प्रसीदतु ।

जिनसे पद्मयोनि पितामह ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है तथा जो वेद और ब्राह्मणोंकी योनि हैं, वे विश्वात्मा विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

यः पुरा प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके परावरे ॥
आभूतसम्प्लवे चैव प्रलीने प्रकृतौ महान् ।
एकस्तिष्ठति विश्वात्मा स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥

प्राचीन कालमें महाप्रलय प्राप्त होनेपर जब सभी चराचर प्राणी नष्ट हो जाते हैं, ब्रह्मा आदि देवताओंका भी लय हो जाता है और संसारकी छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ लुप्त हो जाती हैं तथा सम्पूर्ण भूतोंका क्रमशः लय होकर जब प्रकृतिमें महत्तत्त्व भी विलीन हो जाता है, उस समय जो एकमात्र

शेष रह जाते हैं, वे विश्वात्मा विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥

चौर, चौर, दो[3], पाँच तथा दो[5]—इन सत्रह अक्षरोंवाले मन्त्रोंद्वारा जिन्हें आहुति दी जाती है, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

पर्जन्यः पृथिवी सस्यं कालो धर्मः क्रियाक्रिये ।
गुणाकरः स मे बभ्रुर्वासुदेवः प्रसीदतु ॥

मेघ, पृथ्वी, शस्य, काल, धर्म, कर्म और कर्मका अभाव—ये सब जिनके स्वरूप हैं, गुणोंके भण्डाररूप वे श्यामवर्ण भगवान् वासुदेव मुझपर प्रसन्न हों ॥

अग्नीषोमार्कताराणां ब्रह्मरुद्रेन्द्रयोगिनाम् ।
यस्तेजयति तेजांसि स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥

जो अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, तारागण, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा योगियोंके भी तेजको जीत लेते हैं, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

योगावास नमस्तुभ्यं सर्वावास वरप्रद ।
यज्ञगर्भ हिरण्याङ्ग पञ्चयज्ञ नमोऽस्तु ते ॥

योगके आवासस्थान ! आपको नमस्कार है । सबके निवासस्थान, वरदायक, यज्ञगर्भ, सुनहरे रंगोंवाले पञ्चयज्ञमय परमेश्वर ! आपको नमस्कार है ॥

चतुर्मूर्ते परं धाम लक्ष्म्यावास परार्चित ।
सर्वावास नमस्तेऽस्तु वासुदेव प्रधानकृत् ॥

आप श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार रूपोंवाले, परमधामस्वरूप, लक्ष्मीनिवास, परमपूजित, सबके आवासस्थान और प्रकृतिके भी प्रवर्तक हैं । वासुदेव ! आपको नमस्कार है ॥

अजस्त्वमगमः पन्था ह्यमूर्तिर्विश्वमूर्तिधृक् ।
विकर्तः पञ्चकालज्ञ नमस्ते ज्ञानसागर ॥

आप अजन्मा हैं, अगम्य मार्ग हैं, निराकार हैं अथवा जगत्के सम्पूर्ण आकार आप ही धारण करते हैं, आप ही संहारकारी रुद्र हैं । आप प्रातः, सङ्गव, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्न—इन पाँच कालोंको जाननेवाले हैं । ज्ञानसागर ! आपको नमस्कार है ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमुत्पन्नं व्यक्ताद् यस्तु परोऽक्षरः ।
यस्मात् परतरं नास्ति तमस्मि शरणं गतः ॥

जिन अव्यक्त परमात्मासे इस व्यक्त जगत्की उत्पत्ति हुई है, जो व्यक्तसे परे और अविनाशी हैं, जिनसे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उन भगवान् विष्णुकी मैं शरणमें आया हूँ ॥

न प्रधानो न च महान् पुरुषश्चेतनो ह्यजः ।
अनयोर्यः परतरः तमस्मि शरणं गतः ॥

प्रकृति और महत्तत्त्व—ये दोनों जड हैं । पुरुष चे… और अजन्मा है । इन दोनों क्षर और अक्षर पुरुषों… उत्कृष्ट और विलक्षण हैं, उन भगवान् पुरुषोत्तमकी मैं श… लेता हूँ ॥

चिन्तयन्तो हि यं नित्यं ब्रह्मेशानादयः प्रभुम् ।
निश्चयं नाधिगच्छन्ति तमस्मि शरणं गतः ॥

ब्रह्मा और शिव आदि देवता जिन भगवान्का सदा चि… करते रहनेपर भी उनके स्वरूपके सम्बन्धमें किसी निश्… तक नहीं पहुँच पाते, उन परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ ॥

जितेन्द्रिया महात्मानो ज्ञानध्यानपरायणाः ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तमस्मि शरणं गतः ॥

ज्ञानी और ध्यानपरायण जितेन्द्रिय महात्मा जि… पाकर फिर इस संसारमें नहीं लौटते हैं, उन भगवान् श्री… की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥

एकांशेन जगत् सर्वमवष्टभ्य विभुः स्थितः ।
अग्राह्यो निर्गुणो नित्यस्तमस्मि शरणं गतः ॥

जो सर्वव्यापी परमेश्वर इस सम्पूर्ण जगत्को अपने … अंशसे धारण करके स्थित हैं, जो किसी इन्द्रियविशेषके … ग्रहण नहीं किये जाते तथा जो निर्गुण एवं नित्य हैं, … परमात्माकी मैं शरणमें जाता हूँ ॥

सोमार्काग्निमयं तेजो या च तारामयी द्युतिः ।
दिवि संजायते योऽयं स महात्मा प्रसीदतु ॥

आकाशमें जो सूर्य और चन्द्रमाका तेज प्रकाशित हो… है तथा तारागणोंकी जो ज्योति जगमगाती रहती है, … सब जिनका ही स्वरूप है, वे परमात्मा मुझपर प्रसन्न हों ॥

गुणादिर्निर्गुणश्चाद्यो लक्ष्मीवांश्चेतनो ह्यजः ।
सूक्ष्मः सर्वगतो योगी स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो समस्त गुणोंके आदि कारण और स्वयं निर्गुण … आदि पुरुष, लक्ष्मीवान्, चेतन, अजन्मा, सूक्ष्म, सर्वव्या… तथा योगी हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

सांख्ययोगाश्च ये चान्ये सिद्धाश्च परमर्षयः ।
यं विदित्वा विमुच्यन्ते स महात्मा प्रसीदतु ॥

ज्ञानयोगी, कर्मयोगी तथा जो दूसरे-दूसरे सिद्ध औ… महर्षि हैं, वे जिन्हें जानकर इस संसारसे मुक्त हो जाते… वे परमात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

अव्यक्तः समधिष्ठाता ह्यचिन्त्यः सदसत्परः ।
आस्थितिः प्रकृतिश्रेष्ठः स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो अव्यक्त, सबके अधिष्ठाता, अचिन्त्य और स… असत्से विलक्षण हैं, आधाररहित एवं प्रकृतिसे श्रेष्ठ हैं, … महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

क्षेत्रज्ञः पञ्चधा भुङ्क्ते प्रकृतिं पञ्चभिर्मुखैः ।
महान् गुणांश्च यो भुङ्क्ते स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो जीवात्मारूपसे पाँच ज्ञानेन्द्रियरूपी मुखोंद्वा… शब्द आदि पाँच विषयोंका उपभोग करते हैं तथा स्वयं मह…

१. आश्रावय, २. अस्तु श्रौषट्, ३. यज, ४. ये यजामहे, ५. वषट् ।

होकर भी जो गुणोंका अनुभव करते हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

सूर्यमध्ये स्थितः सोमस्तस्य मध्ये च या स्थिता ।
भूतबाह्या च या दीप्तिः स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो सूर्यमण्डलमें सोमरूपसे स्थित होते हैं, उस सोमके भीतर जो अलौकिक दीप्ति है, वह जिनका स्वरूप है, वे परमात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

नमस्ते सर्वतः सर्व सर्वतोऽक्षिशिरोमुख ।
निर्विकार नमस्तेऽस्तु साक्षी क्षेत्रे व्यवस्थितः ॥

सर्वस्वरूप परमेश्वर ! आपको सब ओरसे नमस्कार है, आपके सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख है । निर्विकार परमात्मन् ! आपको नमस्कार है । आप प्रत्येक क्षेत्र (शरीर) में साक्षीरूपसे स्थित हैं ॥

अतीन्द्रिय नमस्तुभ्यं लिङ्गैर्व्यक्तैर्न मीयसे ।
ये च त्वां नाभिजानन्ति संसारे संसरन्ति ते ॥

इन्द्रियातीत परमेश्वर ! आपको नमस्कार है । व्यक्त लिङ्गोंद्वारा आपका ज्ञान होना असम्भव है । संसारमें जो आपको नहीं जानते हैं, वे जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े रहते हैं ॥

कामक्रोधविनिर्मुक्ता रागद्वेषविवर्जिताः ।
नान्यभक्ता विजानन्ति न पुनर्नारका द्विजाः ॥

जो काम और क्रोधसे मुक्त, राग-द्वेषसे रहित तथा आपके अनन्य भक्त हैं, वे ही आपको जान पाते हैं । जो विषयोंके नरकमें पड़े हुए द्विज हैं, वे आपको नहीं जानते हैं ॥

एकान्तिनो हि निर्द्वन्द्वा निराशीःकर्मकारिणः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणस्त्वां विशन्ति विनिश्चिताः ॥

जो आपके अनन्य भक्त, द्वन्द्वोंसे रहित तथा निष्काम कर्म करनेवाले हैं, जिन्होंने ज्ञानमयी अग्निसे अपने समस्त कर्मोंको दग्ध कर दिया है, वे आपके प्रति दृढ़ निष्ठा रखनेवाले पुरुष आपमें ही प्रवेश करते हैं ॥

अशरीरं शरीरस्थं समं सर्वेषु देहिषु ।
पुण्यपापविनिर्मुक्ता भक्तास्त्वां प्रविशन्त्युत ॥

आप शरीरमें रहते हुए भी उससे रहित हैं तथा सम्पूर्ण देहधारियोंमें समभावसे स्थित हैं । जो पुण्य और पापसे मुक्त हैं, वे भक्तजन आपमें ही प्रवेश करते हैं ॥

अव्यक्तं बुद्ध्यहङ्कारमनोभूतेन्द्रियाणि च ।
त्वयि तानि च तेषु त्वं न तेषु त्वं न ते त्वयि ॥

अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि (महत्तत्त्व), अहङ्कार, मन, पञ्च महाभूत तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ सभी आपमें हैं और उन सबमें आप हैं, किंतु वास्तवमें न उनमें आप हैं, न आपमें वे हैं ॥

एकत्वान्यत्वनानात्वं ये विदुर्यान्ति ते परम् ।
समोऽसि सर्वभूतेषु न ते द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥
समत्वमभिकाङ्क्षेऽहं भक्त्या वै नान्यचेतसा ।

एकत्व, अन्यत्व और नानात्वका रहस्य जो लोग अच्छी तरह जानते हैं, वे आप परमात्माको प्राप्त होते हैं । आप सम्पूर्ण भूतोंमें सम हैं । आपका न कोई द्वेषपात्र है और न प्रिय । मैं अनन्य चित्तसे आपकी भक्तिके द्वारा समत्व पाना चाहता हूँ ॥

चराचरमिदं सर्वं भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥
त्वया त्वय्येव तत् प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।

चार प्रकारका जो यह चराचर प्राणिसमुदाय है, वह सब आपसे व्याप्त है । जैसे सूतमें मणियाँ पिरोये होते हैं, उसी प्रकार यह सारा जगत् आपमें ही ओतप्रोत है ॥

स्रष्टा भोक्तासि कूटस्थो ह्यतत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः ॥
अकर्महेतुरचलः पृथगात्मन्यवस्थितः ।

आप जगत्के स्रष्टा, भोक्ता और कूटस्थ हैं । तत्त्वरूप होकर भी उससे सर्वथा विलक्षण हैं । आप कर्मके हेतु नहीं हैं । अविचल परमात्मा हैं । प्रत्येक शरीरमें पृथक्-पृथक् जीवात्मारूपसे आप ही विद्यमान हैं ॥

न ते भूतेषु संयोगो भूततत्त्वगुणातिगः ॥
अहङ्कारेण बुद्ध्या वा न ते योगस्त्रिभिर्गुणैः ।

वास्तवमें प्राणियोंसे आपका संयोग नहीं है । आप भूत, तत्त्व और गुणोंसे परे हैं । अहंकार, बुद्धि और तीनों गुणोंसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है ॥

न ते धर्मोऽस्त्यधर्मो वा नारम्भो जन्म वा पुनः ॥
जरामरणमोक्षार्थं त्वां प्रपन्नोऽस्मि सर्वशः ।

न आपका कोई धर्म है और न कोई अधर्म । न कोई आरम्भ है न जन्म । मैं जरा-मृत्युसे छुटकारा पानेके लिये सब प्रकारसे आपकी शरणमें आया हूँ ॥

ईश्वरोऽसि जगन्नाथ ततः परम उच्यसे ॥
भक्तानां यद्धितं देव तद्ध्याहि त्रिदशेश्वर ।

जगन्नाथ ! आप ईश्वर हैं, इसीलिये परमात्मा कहलाते हैं । देव ! सुरेश्वर ! भक्तोंके लिये जो हितकी बात हो, उसका मेरे लिये चिन्तन कीजिये ॥

विषयैरिन्द्रियैर्वापि न मे भूयः समागमः ॥
पृथिवीं यातु मे घ्राणं यातु मे रसना जलम् ।
रूपं हुताशनं यातु स्पर्शो यातु च मारुतम् ॥
श्रोत्रमाकाशमप्येतु मनो वैकारिकं पुनः ।

विषयों और इन्द्रियोंके साथ फिर मेरा कभी समागम न हो । मेरी घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी-तत्त्वमें मिल जाय और रसना जलमें, रूप (नेत्र) अग्निमें, स्पर्श (त्वचा) वायुमें, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशमें और मन वैकारिक अहंकारमें मिल जाय ॥

इन्द्रियाण्यपि संयान्तु स्वासु स्वासु च योनिषु ॥
पृथिवी यातु सलिलमापोऽग्निमनलोऽनिलम् ।
वायुराकाशमप्येतु मनश्चाकाश एव च ॥
अहङ्कारं मनो यातु मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

अहङ्कारस्ततो बुद्धिं बुद्धिरव्यक्तमच्युत ॥

अच्युत ! इन्द्रियाँ अपनी-अपनी योनियोंमें मिल जायँ, पृथ्वी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश मनमें, मन समस्त प्राणियोंको मोहनेवाले अहंकारमें, अहंकार बुद्धि (महत्तत्त्व) में और बुद्धि अव्यक्त प्रकृतिमें मिल जाय ॥

प्रधाने प्रकृतिं याते गुणसाम्ये व्यवस्थिते।
वियोगः सर्वकरणैर्गुणभूतैश्च मे भवेत् ॥

जब प्रधान प्रकृतिको प्राप्त हो जाय और गुणोंकी साम्यावस्थारूप महाप्रलय उपस्थित हो जाय, तब मेरा समस्त इन्द्रियों और उनके विषयोंसे वियोग हो जाय ॥

निष्कैवल्यपदं तात काङ्क्षेऽहं परमं तव।
एकीभावस्त्वया मेऽस्तु न मे जन्म भवेत् पुनः ॥

तात ! मैं तुम्हारे लिये परम मोक्षकी आकाङ्क्षा रखता हूँ। आपके साथ मेरा एकीभाव हो जाय। इस संसारमें फिर मेरा जन्म न हो ॥

त्वद्बुद्धिस्त्वद्गतप्राणस्त्वद्भक्तस्त्वत्परायणः।
त्वामेवाहं स्मरिष्यामि मरणे पर्युपस्थिते ॥

मृत्युकाल उपस्थित होनेपर मेरी बुद्धि आपमें ही लगी रहे। मेरे प्राण आपमें ही लीन रहें। मेरा आपमें ही भक्ति-भाव बना रहे और मैं सदा आपकी ही शरणमें पड़ा रहूँ। इस प्रकार मैं निरन्तर आपका ही स्मरण करता रहूँ ॥

पूर्वदेहकृता ये मे व्याधयः प्रविशन्तु माम्।
अर्दयन्तु च दुःखानि ऋणं मे प्रतिमुञ्चतु ॥

पूर्वशरीरमें मैंने जो दुष्कर्म किये हों, उनके फलस्वरूप रोग-व्याधि मेरे शरीरमें प्रवेश करें और नाना प्रकारके दुःख मुझे आकर सतावें। इन सबका जो मेरे ऊपर ऋण है, वह उतर जाय ॥

अनुध्यातोऽसि देवेश न मे जन्म भवेत् पुनः।
तस्माद् ब्रवीमि कर्माणि ऋणं मे न भवेदिति ॥

देवेश्वर ! मैंने इसलिये आपका स्मरण किया है कि फिर मेरा जन्म न हो; अतः फिर कहता हूँ कि मेरे कर्म नष्ट हो जायँ और मुझपर किसीका ऋण बाकी न रह जाय ॥

उपतिष्ठन्तु मां सर्वे व्याधयः पूर्वसंचिताः।
अनृणो गन्तुमिच्छामि तद् विष्णोः परमं पदम् ॥

पूर्व जन्ममें जिन कर्मोंका मेरे द्वारा संचय किया गया है, वे सभी रोग मेरे शरीरमें उपस्थित हो जायँ। मैं सबसे उऋण होकर भगवान् विष्णुके परम धामको जाना चाहता हूँ॥

श्रीभगवानुवाच

अहं भगवतस्तस्य मम चासौ सनातनः।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

श्रीभगवान् बोले--नारद ! मैं उस सौभाग्यशाली भक्तका हूँ और वह भक्त भी मेरा सनातन सखा है। मैं उसके लिये कभी अदृश्य नहीं होता और न वही कभी दृष्टिसे ओझल होता है ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि च।
दशेन्द्रियाणि मनसि अहङ्कारे तथा मनः॥
अहङ्कारं तथा बुद्धौ बुद्धिमात्मनि योजयेत्।

साधक पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको सं[यममें] रखकर उन दसों इन्द्रियोंको मनमें विलीन करे। म[नको] अहंकारमें, अहंकारको बुद्धिमें और बुद्धिको आत्मामें ल[गावे।]

यतबुद्धीन्द्रियः पश्यन् बुद्ध्या बुद्ध्येत् परात्परम्।
ममायमिति यस्याहं येन सर्वमिदं ततम्।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको संयममें रखकर बुद्धिके द्वारा प[रम] परमात्माका अनुभव करे कि यह परमेश्वर मेरा है औ[र] इसका हूँ तथा इसीने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त[कर] रक्खा है ॥

आत्मनाऽऽत्मनि संयोज्य परमात्मन्यनुस्मरेत्॥
ततो बुद्धेः परं बुद्ध्वा लभते न पुनर्भवम्।
मरणे समनुप्राप्ते यश्चैवं मामनुस्मरेत्॥
अपि पापसमाचारः स याति परमां गतिम्।

स्वयं ही अपने-आपको परमात्माके ध्यानमें ल[गाकर] निरन्तर उनका स्मरण करे, तदनन्तर बुद्धिसे भी परे परम[ात्मा]को जानकर मनुष्य फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता। मृत्युकाल आनेपर इस प्रकार मेरा स्मरण करता है,[वह] पुरुष पहलेका पापाचारी रहा हो तो भी परम गतिको[प्राप्त] होता है ॥

ओं नमो भगवते तस्मै देहिनां परमात्मने॥
नारायणाय भक्तानामेकनिष्ठाय शाश्वते।

समस्त देहधारियोंके परमात्मा तथा भक्तोंके प्रति एक[ान्त] निष्ठा रखनेवाले उन सनातन भगवान् नारायणको नमस्का[र है।]

इमामनुस्मृतिं दिव्यां वैष्णवीं सुसमाहितः॥
स्वपन् विबुध्यंश्च पठन् यत्र तत्र समभ्यसेत्।

यह दिव्य वैष्णवी-अनुस्मृति विद्या है। मनुष्य एक[ाग्र]चित्त होकर सोते, जागते और स्वाध्याय करते समय [जहाँ] कहीं भी इसका जप करता रहे ॥

पौर्णमास्याममायां च द्वादश्यां च विशेषतः॥
श्रावयेच्छ्रद्दधानांश्च मद्भक्तांश्च विशेषतः।

पूर्णिमा, अमावास्या तथा विशेषतः द्वादशी तिथि[को] मेरे श्रद्धालु भक्तोंको इसका श्रवण करावे ॥

यद्यहङ्कारमाश्रित्य यज्ञदानतपःक्रियाः॥
कुर्वंस्तत्फलमाप्नोति पुनरावर्तनं तु तत्।

यदि कोई अहंकारका आश्रय लेकर यज्ञ, दान[और] तपरूप कर्म करे तो उसका फल उसे मिलता है। [पर] वह आवागमनके चक्करमें डालनेवाला होता है ॥

अभ्यर्चयन् पितृन् देवान् पठञ्जुह्वन् बलिं ददत् ॥
ज्वलदग्निं स्मरेद् यो मां स याति परमां गतिम्।

जो देवताओं और पितरोंकी पूजा, पाठ, होम और बलिवैश्वदेव करते तथा अग्निमें आहुति देते समय मेरा स्मरण करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
यज्ञं दानं तपस्तस्मात् कुर्यादाशीर्विवर्जितः।

यज्ञ, दान और तप—ये मनीषी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं; अतः यज्ञ, दान और तपका निष्कामभावसे अनुष्ठान करे ॥

नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः॥
तस्याक्षयो भवेल्लोकः श्वपाकस्यापि नारद।

नारद! जो मेरा भक्त श्रद्धापूर्वक मेरे लिये केवल नमस्कारमात्र बोल देता है, वह चाण्डाल ही क्यों न हो, उसे अक्षयलोककी प्राप्ति होती है ॥

किं पुनर्ये यजन्ते मां साधका विधिपूर्वकम् ॥
श्रद्धावन्तो यतात्मानस्ते मां यान्ति मदाश्रिताः।

फिर जो साधक मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर मेरे आश्रित हो श्रद्धा और विधिके साथ मेरी आराधना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥

कर्माण्याद्यन्तवन्तीह मद्भक्तो नान्तमश्नुते ॥
मामेव तस्माद् देवर्षे ध्याहि नित्यमतन्द्रितः।
अवाप्स्यसि ततः सिद्धिं द्रक्ष्यस्येव पदं मम ॥

देवर्षे! सारे कर्म और उनके फल आदि-अन्तवाले हैं; परंतु मेरा भक्त अन्तवान् (विनाशशील) फलका उपभोग नहीं करता; अतः तुम सदा आलस्यरहित होकर मेरा ही ध्यान करो। इससे तुम्हें परम सिद्धि प्राप्त होगी और तुम मेरे परमधामका दर्शन कर लोगे ॥

अज्ञानाय च यो ज्ञानं दद्याद् धर्मोपदेशतः।
कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यात् तेन तुल्यं च तत्फलम् ॥

जो धर्मोपदेशके द्वारा अज्ञानी पुरुषको ज्ञान प्रदान करता है अथवा जो किसीको समूची पृथ्वीका दान कर देता है तो उस ज्ञानदानका फल इस पृथ्वीदानके बराबर ही माना जाता है ॥

तस्मात् प्रदेयं साधुभ्यो जन्मबन्धभयापहम्।
एवं दत्त्वा नरश्रेष्ठ श्रेयो वीर्यं च विन्दति ॥

नरश्रेष्ठ नारद! इसलिये साधु पुरुषोंको जन्म और बन्धनके भयको दूर करनेवाला ज्ञान ही देना चाहिये। इस प्रकार ज्ञान देकर मनुष्य कल्याण और बल प्राप्त करता है॥

अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः समाचरेत्।
नासौ पदमवाप्नोति मद्भक्तैर्यदवाप्यते ॥

जो दस लाख अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान कर ले, वह भी उस पदको नहीं पा सकता, जो मेरे भक्तोंको प्राप्त हो जाता है ॥

भीष्म उवाच

एवं पृष्टः पुरा तेन नारदेन सुरर्षिणा।
यदुवाच तदा शम्भुस्तदुक्तं तव सुव्रत ॥

भीष्मजी कहते हैं—सुव्रत! इस प्रकार पूर्वकालमें देवर्षि नारदके पूछनेपर कल्याणमय भगवान् विष्णुने उस समय जो कुछ कहा था, वह सब तुम्हें बता दिया ॥

त्वमप्येकमना भूत्वा ध्याहि ध्येयं गुणातिगम्।
भजस्व सर्वभावेन परमात्मानमव्ययम् ॥

तुम भी एकचित्त होकर उन गुणातीत परमात्माका ध्यान करो और सम्पूर्ण भक्तिभावसे उन्हीं अविनाशी परमात्माका भजन करो ॥

श्रुत्वैतन्नारदो वाक्यं दिव्यं नारायणेरितम्।
अत्यन्तभक्तिमान् देव एकान्तत्वमुपेयिवान् ॥

भगवान् नारायणका कहा हुआ यह दिव्य वचन सुनकर अत्यन्त भक्तिमान् देवर्षि नारद भगवान्‌के प्रति एकाग्रचित्त हो गये ॥

नारायणमृषिं देवं दशवर्षाण्यनन्यभाक्।
इदं जपन् वै प्राप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्॥

जो पुरुष अनन्यभावसे दस वर्षोंतक ऋषिप्रवर नारायणदेवका ध्यान करते हुए इस मन्त्रका जप करता है, वह भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त कर लेता है ॥

किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैर्भक्तिर्यस्य जनार्दने।
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः॥

जिसकी भगवान् जनार्दनमें भक्ति है, उसे बहुत-से मन्त्रोंद्वारा क्या लेना है ? 'ॐ नमो नारायणाय' यह एकमात्र मन्त्र ही सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि करनेवाला है ॥

इमां रहस्यां परमामनुस्मृति-
मधीत्य बुद्धिं लभते च नैष्ठिकीम्।
विहाय दुःखान्यवमुच्य सङ्कटात्
स वीतरागो विचरेन्महीमिमाम् ॥

इस परम गोपनीय अनुस्मृति विद्याका स्वाध्याय करके मनुष्य भगवान्‌के प्रति दृढ़ निष्ठा रखनेवाली बुद्धि प्राप्त कर लेता है। वह सारे दुःखोंको दूर करके संकटसे मुक्त एवं वीतराग हो इस पृथ्वीपर सर्वत्र विचरण करता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अन्तर्भूमिविक्रीडनं नाम नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भूमिके भीतर भगवान् वाराहकी क्रीड़ानामक दो सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८६½ श्लोक मिलाकर कुल १२२½ श्लोक हैं)

दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

गुरु-शिष्यके संवादका उल्लेख करते हुए श्रीकृष्ण-सम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

योगं मे परमं तात मोक्षस्य वद भारत।
तमहं तत्त्वतो ज्ञातुमिच्छामि वदतां वर॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ तात भरतनन्दन! आप मुझे मोक्षके साधनभूत परम योगका उपदेश कीजिये। मैं उसे यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ॥ १॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह॥ २॥

भीष्मजी बोले—राजन्! इस विषयमें एक शिष्यका गुरुके साथ जो मोक्षसम्बन्धी संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है॥ २॥

कश्चिद् ब्राह्मणमासीनमाचार्यमृषिसत्तमम्।
तेजोराशिं महात्मानं सत्यसंधं जितेन्द्रियम्॥ ३॥
शिष्यः परममेधावी श्रेयोऽर्थी सुसमाहितः।
चरणावुपसंगृह्य स्थितः प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ ४॥

किसी समयकी बात है, एक विद्वान् ब्राह्मण श्रेष्ठ आसनपर विराजमान थे। वे आचार्यकोटिके पण्डित और श्रेष्ठतम महर्षि थे। देखनेमें महान् तेजकी राशि जान पड़ते थे। बड़े महात्मा, सत्यप्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय थे। एक दिन उनकी सेवामें कोई परम मेधावी कल्याणकामी एवं समाहितचित्त शिष्य आया (जो चिरकालतक उनकी शुश्रूषा कर चुका था), वह उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़ सामने खड़ा हो इस प्रकार बोला—॥ ३-४॥

उपासनात् प्रसन्नोऽसि यदि वै भगवन् मम।
संशयो मे महान् कश्चित् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।
कुतश्चाहं कुतश्च त्वं तत् सम्यग्ब्रूहि यत्परम्॥ ५॥

'भगवन्! यदि आप मेरी सेवासे प्रसन्न हैं तो मेरे मनमें जो एक बड़ा भारी संदेह है, उसे दूर करनेकी कृपा करें—मेरे प्रश्नकी विशद व्याख्या करें। मैं इस संसारमें कहाँसे आया हूँ और आप भी कहाँसे आये हैं? यह भलीभाँति समझाकर बताइये। इसके सिवा जो परम तत्त्व है, उसका भी विवेचन कीजिये॥ ५॥

कथं च सर्वभूतेषु समेषु द्विजसत्तम।
सम्यग्वृत्ता निवर्तन्ते विपरीताः क्षयोदयाः॥ ६॥

'द्विजश्रेष्ठ! पृथ्वी आदि सम्पूर्ण महाभूत सर्वत्र समान हैं; सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर उन्हींसे निर्मित हुए हैं तो भी उनमें क्षय और वृद्धि—ये दोनों विपरीतभाव क्यों होते हैं?॥ ६॥

वेदेषु चापि यद् वाक्यं लौकिकं व्यापकं च यत्।
एतद् विद्वन् यथातत्त्वं सर्वं व्याख्यातुमर्हसि॥ ७॥

'वेदों और स्मृतियोंमें भी जो लौकिक और व्यापक धर्मोंका वर्णन है, उनमें भी विषमता है। अतः विद्वन्! सबकी आप यथार्थरूपसे व्याख्या करें'॥ ७॥

गुरुरुवाच

शृणु शिष्य महाप्राज्ञ ब्रह्मगुह्यमिदं परम्।
अध्यात्मं सर्वविद्यानामागमानां च यद्वसु॥ ८॥

गुरुने कहा—वत्स! सुनो। महामते! तुमने जो बात पूछी है, वह वेदोंका उत्तम एवं गूढ़ रहस्य है। यही अध्यात्म तत्त्व है तथा यही समस्त विद्याओं और शास्त्रोंका सर्वस्व है॥ ८॥

वासुदेवः परमिदं विश्वस्य ब्रह्मणो मुखम्।
सत्यं ज्ञानमथो यज्ञस्तितिक्षा दम आर्जवम्॥ ९॥

सम्पूर्ण वेदका मुख जो प्रणव है वह तथा सत्य, ज्ञान, यज्ञ, तितिक्षा, इन्द्रिय-संयम, सरलता और परम तत्त्व—यह सब कुछ वासुदेव ही है॥ ९॥

पुरुषं सनातनं विष्णुं यं तं वेदविदो विदुः।
स्वर्गप्रलयकर्तारमव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम्॥ १०॥

वेदज्ञजन उसीको सनातन पुरुष और विष्णु भी मानते हैं। वही संसारकी सृष्टि और प्रलय करनेवाला अव्यक्त एवं सनातन ब्रह्म है॥ १०॥

तदिदं ब्रह्म वार्ष्णेयमितिहासं शृणुष्व मे।
ब्राह्मणो ब्राह्मणैः श्राव्यो राजन्यः क्षत्रियैस्तथा॥ ११॥
वैश्यो वैश्यैस्तथा श्राव्यः शूद्रः शूद्रैर्महामनाः।
माहात्म्यं देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः॥ १२॥

वही ब्रह्म वृष्णिकुलमें श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण हुआ। इस कथाको तुम मुझसे सुनो। ब्राह्मण ब्राह्मणको, क्षत्रिय क्षत्रियको, वैश्य वैश्यको तथा शूद्र महामनस्वी शूद्रको, अमित तेजस्वी देवाधिदेव विष्णुका माहात्म्य सुनावे॥ ११-१२॥

अर्हस्त्वमसि कल्याणं वार्ष्णेयं शृणु यत्परम्।
कालचक्रमनाद्यन्तं भावाभावस्वलक्षणम्॥ १३॥
त्रैलोक्यं सर्वभूतेशे चक्रवत्परिवर्तते।

तुम भी यह सब सुननेके योग्य अधिकारी हो; अतः भगवान् श्रीकृष्णका जो कल्याणमय उत्कृष्ट माहात्म्य है, उसे सुनो। यह जो सृष्टि-प्रलयरूप अनादि, अनन्त कालचक्र है, वह श्रीकृष्णका ही स्वरूप है। सर्वभूतेश्वर श्रीकृष्णमें ये तीनों लोक चक्रकी भाँति घूम रहे हैं॥ १३½॥

यत्तदक्षरमव्यक्तममृतं ब्रह्म शाश्वतम्।
वदन्ति पुरुषव्याघ्र केशवं पुरुषर्षभम्॥ १४॥

पुरुषसिंह! पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको ही अक्षर, अव्यक्त, अमृत एवं सनातन परब्रह्म कहते हैं॥ १४॥

पितॄन् देवानृषींश्चैव तथा वै यक्षराक्षसान्।
नागासुरमनुष्यांश्च सृजते परमोऽव्ययः॥ १५॥

ये अविनाशी परमात्मा श्रीकृष्ण ही पितर, देवता,

ऋषि, यक्ष, राक्षस, नाग, असुर और मनुष्य आदिकी रचना करते हैं ॥ १५ ॥

तथैव वेदशास्त्राणि लोकधर्मांश्च शाश्वतान् ।
प्रलयं प्रकृतिं प्राप्य युगादौ सृजते पुनः ॥ १६ ॥

इसी प्रकार प्रलयकाल बीतनेपर कल्पके आरम्भमें प्रकृतिका आश्रय ले भगवान् श्रीकृष्ण ही ये वेद-शास्त्र और सनातन लोक-धर्मोंको पुनः प्रकट करते हैं ॥ १६ ॥

यथर्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ १७ ॥

जैसे ऋतु-परिवर्तनके साथ ही भिन्न-भिन्न ऋतुओंके नाना प्रकारके वे ही-वे लक्षण प्रकट होते रहते हैं, वैसे ही प्रत्येक कल्पके आरम्भमें पूर्व कल्पोंके अनुसार तदनुरूप भावोंकी अभिव्यक्ति होती रहती है ॥ १७ ॥

अथ यद्यद् यदा भाति कालयोगाद् युगादिषु ।
तत् तदुत्पद्यते ज्ञानं लोकयात्राविधानजम् ॥ १८ ॥

काल-क्रमसे युगादिमें जब-जब जो-जो वस्तु भासित होती है, लोक-व्यवहारवश तब-तब उसी-उसी विषयका ज्ञान प्रकट होता रहता है ॥ १८ ॥

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥ १९ ॥

कल्पके अन्तमें लुप्त हुए वेदों और इतिहासोंको कल्पके आरम्भमें स्वयम्भू ब्रह्माके आदेशसे महर्षियोंने तपस्याद्वारा सबसे पहले उपलब्ध किया था ॥ १९ ॥

वेदविद् वेद भगवान् वेदाङ्गानि बृहस्पतिः ।
भार्गवो नीतिशास्त्रं तु जगाद जगतो हितम् ॥ २० ॥

उस समय स्वयं भगवान् ब्रह्माको वेदोंका, बृहस्पतिजीको वेदाङ्गोंका और शुक्राचार्यको नीतिशास्त्रका ज्ञान हुआ तथा उन लोगोंने जगत्‌के हितके लिये उन सब विषयोंका उपदेश किया ॥ २० ॥

गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम् ।
देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम् ॥ २१ ॥

नारदजीको गान्धर्व वेदका, भरद्वाजको धनुर्वेदका, महर्षि गार्ग्यको देवर्षियोंके चरित्रका तथा कृष्णात्रेयको चिकित्सा-शास्त्रका ज्ञान हुआ ॥ २१ ॥

न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः ।
हेत्वागमसदाचारैर्यदुक्तं तदुपास्यताम् ॥ २२ ॥

तर्कशील विद्वानोंने तर्कशास्त्रके अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन किया। उन महर्षियोंने युक्तियुक्त शास्त्र और सदाचारके द्वारा जिस ब्रह्मका उपदेश किया है, उसीकी तुम भी उपासना करो ॥ २२ ॥

अनाद्यं तत्परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ।
एकस्तद् वेद भगवान् धाता नारायणः प्रभुः ॥ २३ ॥

वह परब्रह्म अनादि और सबसे परे है। उसे न देवता जानते हैं न ऋषि। उसे तो एकमात्र जगत्पालक नारायण ही जानते हैं ॥ २३ ॥

नारायणादृषिगणास्तथा मुख्याः सुरासुराः ।
राजर्षयः पुराणाश्च परमं दुःखभेषजम् ॥ २४ ॥

नारायणसे ही ऋषियों, मुख्य-मुख्य देवताओं, असुरों तथा प्राचीन राजर्षियोंने उस ब्रह्मको जाना है; वह ब्रह्म-ज्ञान ही समस्त दुःखोंका परम औषध है ॥ २४ ॥

पुरुषाधिष्ठितान् भावान् प्रकृतिः सूयते यदा ।
हेतुयुक्तमतः पूर्वं जगत् सम्परिवर्तते ॥ २५ ॥

पुरुषद्वारा संकल्पमें लाये गये विविध पदार्थोंकी रचना प्रकृति ही करती है। इस प्रकृतिसे सर्वप्रथम कारणसहित जगत् उत्पन्न होता है ॥ २५ ॥

दीपादन्ये यथा दीपाः प्रवर्तन्ते सहस्रशः ।
प्रकृतिः सूयते तद्वदानन्त्यान्नापचीयते ॥ २६ ॥

जैसे एक दीपकसे दूसरे सहस्रों दीप जला लिये जाते हैं और पहले दीपकको कोई हानि नहीं होती, उसी प्रकार एक प्रकृति ही असंख्य पदार्थोंको उत्पन्न करती है और अनन्त होनेके कारण उसका क्षय नहीं होता ॥ २६ ॥

अव्यक्तकर्मजा बुद्धिरहंकारं प्रसूयते ।
आकाशं चाप्यहंकाराद् वायुराकाशसम्भवः ॥ २७ ॥

अव्यक्त प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर जिस बुद्धि (महत्तत्त्व) की उत्पत्ति होती है, वह बुद्धि अहंकारको जन्म देती है। अहंकारसे आकाश और आकाशसे वायुकी उत्पत्ति होती है ॥ २७ ॥

वायोस्तेजस्ततश्चाप अद्भ्योऽथ वसुधोद्‌गता ।
मूलप्रकृतयो ह्यष्टौ जगदेतास्ववस्थितम् ॥ २८ ॥

वायुसे अग्निकी, अग्निसे जलकी और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार ये आठ मूल-प्रकृतियाँ बतायी गयी हैं। इन्हींमें सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥ २८ ॥

ज्ञानेन्द्रियाण्यतः पञ्च पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यपि ।
विषयाः पञ्च चैकं च विकारे षोडशं मनः ॥ २९ ॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय और एक मन—ये सोलह विकार कहे गये हैं। (इनमें मन तो अहंकारका विकार है और अन्य पन्द्रह अपने-अपने कारणरूप सूक्ष्म महाभूतोंके विकार हैं) ॥ २९ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं ज्ञानेन्द्रियाण्यथ ।
पादौ पायुरुपस्थश्च हस्तौ वाक्कर्मणी अपि ॥ ३० ॥

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ (लिङ्ग) और वाक्—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ॥ ३० ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
विज्ञेयं व्यापकं चित्तं तेषु सर्वगतं मनः ॥ ३१ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं तथा इनमें व्यापक जो चित्त है, उसीको मन समझना चाहिये। मन सर्वगत कहा गया है ॥ ३१ ॥

रसज्ञाने तु जिह्वेयं व्याहृते वाक् तथोच्यते ।
इन्द्रियैर्विविधैर्युक्तं सर्वं व्यक्तं मनस्तथा ॥ ३२ ॥

रस-ज्ञानके समय मन ही यह रसना (जिह्वा) रूप हो जाता है तथा बोलनेके समय वह मन ही वागिन्द्रिय कहलाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके साथ मिलकर उन सबके रूपमें मन ही व्यक्त होता है ॥ ३२ ॥

विद्यात् तु षोडशैतानि दैवतानि विभागशः।
देहेषु ज्ञानकर्तारमुपासीनमुपासते ॥ ३३ ॥

दस इन्द्रिय, पञ्च महाभूत और एक मन—ये सोलह तत्त्व इस शरीरमें विभागपूर्वक रहते हैं। इनको देवतारूप जानना चाहिये। शरीरके भीतर जो ज्ञान प्रकट करनेवाला परमात्माके निकटस्थ जीवात्मा है, उसकी ये सोलहों देवता उपासना करते हैं ॥ ३३ ॥

तद्वत् सोमगुणा जिह्वा गन्धस्तु पृथिवीगुणः।
श्रोत्रं नभोगुणं चैव चक्षुरग्नेर्गुणस्तथा।
स्पर्शं वायुगुणं विद्यात् सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ ३४ ॥

जिह्वा जलका कार्य है, घ्राणेन्द्रिय पृथ्वीका कार्य है, श्रवणेन्द्रिय आकाशका और नेत्रेन्द्रिय अग्निका कार्य है तथा सम्पूर्ण भूतोंमें त्वचा नामकी इन्द्रियको सदा वायुका कार्य समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

मनः सत्त्वगुणं प्राहुः सत्त्वमव्यक्तजं तथा।
सर्वभूतात्मभूतस्थं तस्माद् बुद्ध्येत बुद्धिमान्॥ ३५ ॥

मनको महत्तत्त्वका कार्य कहा है और महत्तत्त्वको अव्यक्त प्रकृतिका कार्य कहा है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह समस्त भूतोंके आत्मारूप परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें स्थित जाने ॥ ३५ ॥

एते भावा जगत् सर्वं वहन्ति सचराचरम्।
श्रिता विरजसं देवं यमाहुः प्रकृतेः परम् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ये सम्पूर्ण पदार्थ समस्त चराचर जगत्का भार वहन करते हैं। ये सब जो प्रकृतिसे अतीत रजोगुण-रहित हैं, उस परमदेव परमात्माके आश्रित हैं ॥ ३६ ॥

नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम्।
व्याप्य शेते महानात्मा तस्मात् पुरुष उच्यते ॥ ३७ ॥

इन्हीं चौबीस पदार्थोंसे सम्पन्न इस नौ द्वारोंवाले पवित्र पुर (शरीर) को व्याप्त करके इसमें इन सबसे जो महान् है वह आत्मा शयन करता है; इसलिये उसे 'पुरुष' कहते हैं ॥ ३७ ॥

अजरः सोऽमरश्चैव व्यक्ताव्यक्तोपदेशवान्।
व्यापकः सगुणः सूक्ष्मः सर्वभूतगुणाश्रयः ॥ ३८ ॥

वह पुरुष जरा-मरणसे रहित, व्यापक, (समस्त स्थूल-सूक्ष्म तत्त्वोंका प्रेरक, सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त, सूक्ष्म तथा सम्पूर्ण भूतों और उनके गुणोंका आश्रय है ॥ ३८ ॥

यथा दीपः प्रकाशात्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान्।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यात् पुरुषं सर्वजन्तुषु ॥ ३

जैसे दीपक छोटा हो या बड़ा, प्रकाश-स्वरूप ही उसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें स्थित जीवात्मा ज्ञानस्वरूप ऐसा समझे ॥ ३९ ॥

श्रोत्रं वेदयते वेद्यं स शृणोति स पश्यति।
कारणं तस्य देहोऽयं स कर्ता सर्वकर्मणाम् ॥ ४

वही श्रवणेन्द्रियको उसके ज्ञेयभूत शब्दका बोध क है। तात्पर्य यह कि श्रवण और नेत्रोंद्वारा वही सुनता देखता है। यह शरीर उसके शब्द आदि विषयोंके अनु निमित्त है। वह जीवात्मा ही समस्त कर्मोंका कर्ता है ॥४

अग्निर्दारुगतो यद्वद् भिन्ने दारौ न दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवानुदृश्यते ॥ ४
अग्निर्यथा ह्युपायेन मथित्वा दारु दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवात्र दृश्यते ॥ ४

जिस प्रकार अग्नि काष्ठमें व्याप्त रहनेपर भी का चीरनेपर भी उसमें दिखायी नहीं देती, उसी प्रकार आ शरीरमें रहता है, परंतु दिखायी नहीं देता—योगसे ही उस दर्शन होता है। जैसे मन्थन आदि उपायोंद्वारा का मथकर उनमें अग्निको प्रत्यक्ष किया जाता है, उसी प्र योगके द्वारा शरीरस्थ आत्माका साक्षात्कार किया सकता है ॥ ४१-४२ ॥

नदीष्वापो यथा युक्ता यथा सूर्ये मरीचयः।
संततत्वाद् यथा यान्ति तथा देहाः शरीरिणाम् ॥ ४

जैसे नदियोंमें जल रहता ही है और सूर्यमें किरणें रहती ही हैं तथा वे जल और किरणें नदी और सूर्यसे नि सम्बद्ध होनेके कारण उनके साथ-साथ जाती हैं, उसी प्र देहधारियोंके सूक्ष्म शरीर भी जीवात्माके साथ ही रहते और उसे साथ लेकर ही आते-जाते हैं ॥ ४३ ॥

स्वप्नयोगे यथैवात्मा पञ्चेन्द्रियसमायुतः।
देहमुत्सृज्य वै याति तथैवात्मोपलभ्यते ॥ ४४ ॥

जैसे स्वप्नमें पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसहित जीवात्मा इस शरी को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है, वैसे ही मृत्युके बा भी वह इस शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण क लेता है ॥ ४४ ॥

कर्मणा बाध्यते रूपं कर्मणा चोपलभ्यते।
कर्मणा नीयतेऽन्यत्र स्वकृतेन बलीयसा ॥ ४५ ॥

कर्मके द्वारा ही इस देहका बाध होता है; कर्मसे ही अन्य देहकी उपलब्धि होती है तथा अपने किये हुए प्रब कर्मके द्वारा ही वह अन्य शरीरमें ले जाया जाता है ॥४५॥

स तु देहाद् यथा देहं त्यक्त्वान्यं प्रतिपद्यते।
तथान्यं सम्प्रवक्ष्यामि भूतग्रामं स्वकर्मजम् ॥ ४६ ॥

वह जीवात्मा जिस प्रकार एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करता है तथा अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुआ प्राणि-समुदाय जिस प्रकार अन्य देह धारण करता है, वह सब मैं तुम्हें बतलाता हूँ ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका निरूपणविषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१० ॥

एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

संसारचक्र और जीवात्माकी स्थितिका वर्णन

गुरुरुवाच

चतुर्विधानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
अव्यक्तप्रभवान्याहुरव्यक्तनिधनानि च ।
अव्यक्तलक्षणं विद्यादव्यक्तात्मात्मकं मनः ॥ १ ॥

गुरुजी कहते हैं—वत्स ! जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—ये चार प्रकारके जो स्थावर और जङ्गम प्राणी हैं, वे सब अव्यक्तसे उत्पन्न हुए बताये गये हैं और अव्यक्तमें ही उन सबका लय होता है । जिसका कोई लक्षण व्यक्त न हो उसे अव्यक्त समझना चाहिये । मन अव्यक्त प्रकृतिके समान ही त्रिगुणात्मक है ॥ १ ॥

यथाश्वत्थकणीकायामन्तर्भूतो महाद्रुमः ।
निष्पन्नो दृश्यते व्यक्तमव्यक्तात् सम्भवस्तथा ॥ २ ॥

जैसे पीपलके छोटे-से बीजमें एक विशाल वृक्ष अव्यक्त रूपसे समाया हुआ है, जो बीजके उगनेपर वृक्षरूपमें परिणत हो प्रत्यक्ष दिखायी देता है, उसी प्रकार अव्यक्तसे व्यक्त जगत्‌की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

अभिद्रवत्ययस्कान्तमयो निश्चेतनं यथा ।
स्वभावहेतुजा भावा यद्वदन्यदपीदृशम् ॥ ३ ॥

जिस प्रकार लोहा अचेतन होनेपर भी चुम्बककी ओर खिंच जाता है, वैसे ही शरीरके उत्पन्न होनेपर प्राणीके स्वाभाविक संस्कार तथा अविद्या, काम, कर्म आदि दूसरे गुण उसकी ओर खिंच आते हैं ॥ ३ ॥

तद्वदव्यक्तजा भावाः कर्तुः कारणलक्षणाः ।
अचेतनाश्चेतयितुः कारणादभिसंहताः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार उस अव्यक्तसे उत्पन्न हुए उपर्युक्त कारण-स्वरूप भाव अचेतन होनेपर भी चेतनकर्ताके सम्बन्धसे चेतन-से होकर जानना आदि क्रियाके हेतु बन जाते हैं ॥ ४ ॥

न भूर्न खं द्यौर्भूतानि नर्षयो न सुरासुराः ।
नान्यदासीदृते जीवमासेदुर्न तु संहतम् ॥ ५ ॥

पहले पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, भूतगण, ऋषिगण तथा देवता और असुरगण इनमेंसे कोई नहीं था । चेतनके सिवा दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं थी । जड-चेतनका संयोग भी नहीं था ॥ ५ ॥

पूर्वं नित्यं सर्वगतं मनोहेतुमलक्षणम् ।
अज्ञानकर्म निर्दिष्टमेतत् कारणलक्षणम् ॥ ६ ॥

आत्मा सबके पहले विद्यमान था । वह नित्य, सर्वगत, मनका भी हेतु और लक्षणरहित है । यह कारणस्वरूप समस्त जगत् अज्ञानका कार्य बताया गया है ॥ ६ ॥

तत्कारणैर्हि संयुक्तं कार्यसंग्रहकारकम् ।
येनैतद् वर्तते चक्रमनादिनिधनं महत् ॥ ७ ॥

इन कारणोंसे युक्त होकर जीव कर्मोंका संग्रह करता है । कर्मोंसे वासना और वासनाओंसे पुनः कर्म होते हैं । इस प्रकार यह अनादि, अनन्त महान् संसार-चक्र चलता रहता है ॥ ७ ॥

अव्यक्तनाभं व्यक्तारं विकारपरिमण्डलम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं चक्रं स्निग्धाक्षं वर्तते ध्रुवम् ॥ ८ ॥

यह जन्म-मरणका प्रवाहरूप संसार चक्रके समान घूम रहा है । अव्यक्त उसकी नाभि है । व्यक्त (देह और इन्द्रिय आदि) उसके अरे हैं । सुख-दुःख, इच्छा आदि विकार इसकी नेमि हैं । आसक्ति धुरा है । यह चक्र निश्चितरूपसे घूमता रहता है । क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) इस चक्रपर चालक बनकर बैठा हुआ है ॥ ८ ॥

स्निग्धत्वात् तिलवत् सर्वं चक्रेऽस्मिन् पीड्यते जगत् ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः ॥ ९ ॥

जैसे तेली लोग तेलसे युक्त होनेके कारण तिलोंको कोल्हूमें पेरते हैं, उसी प्रकार यह सारा जगत् आसक्तिग्रस्त होनेके कारण अज्ञानजनित भोगोंद्वारा दबा-दबाकर इस संसारचक्रमें पेरा जा रहा है ॥ ९ ॥

कर्म तत् कुरुते तर्षादहंकारपरिग्रहात् ।
कार्यकारणसंयोगे स हेतुरुपपादितः ॥ १० ॥

जीव अहङ्कारके अधीन होकर तृष्णाके कारण कर्म करता है और वह कर्म आगामी कार्य-कारण-संयोगमें हेतु बन जाता है ॥ १० ॥

नाभ्येति कारणं कार्यं न कार्यं कारणं तथा ।
कार्याणां तूपकरणे कालो भवति हेतुमान् ॥ ११ ॥

न तो कारण कार्यमें प्रवेश करता है और न कार्य कारणमें । कार्य करते समय काल ही उनकी सिद्धि और असिद्धिमें हेतु होता है ॥ ११ ॥

हेतुयुक्ताः प्रकृतयो विकाराश्च परस्परम् ।
अन्योन्यमभिवर्तन्ते पुरुषाधिष्ठिताः सदा ॥ १२ ॥

हेतुसहित आठों प्रकृतियाँ और सोलह विकार—ये पुरुषसे अधिष्ठित हो सदा एक दूसरेसे मिलते और सृष्टिका विस्तार करते हैं ॥ १२ ॥

राजसैस्तामसैर्भावैर्युतो हेतुबलान्वितः ।
क्षेत्रज्ञमेवानुयाति पांसुर्वातेरितो यथा ॥ १३ ॥

राजस और तामसभावोंसे युक्त हेतुबलसे प्रेरित सूक्ष्म-शरीर क्षेत्रज्ञ जीवात्माके साथ-साथ ठीक उसी तरह दूसरे स्थूल शरीरमें चला जाता है, जैसे वायुद्वारा उड़ायी हुई धूल उसीके साथ-साथ एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाती है ॥ १३ ॥

न च तैः स्पृश्यते भावैर्न ते तेन महात्मना ।
सरजस्कोऽरजस्कश्च नैव वायुर्भवेद् यथा ॥ १४ ॥

जैसे धूलके उड़नेसे वायु न तो धूलसे लिप्त होती है और न अलिप्त ही रहती है । उसी प्रकार न तो उन राजस, तामस आदि भावोंसे जीवात्मा लिप्त होता है और न अलिप्त ही रहता है ॥ १४ ॥

तथैतदन्तरं विद्यात् सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्बुधः ।
अभ्यासात् स तथा युक्तो न गच्छेत् प्रकृतिं पुनः

अतः विवेकी पुरुषको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका यह अ[न्तर] जान लेना चाहिये। इन दोनोंके तादात्म्यका-सा अभ्यास जानेसे जीव ऐसा हो गया है कि उसे अपने शुद्ध स्वरू[प]का पता ही नहीं लगता ॥ १५ ॥

संदेहमेतमुत्पन्नमच्छिनद् भगवानृषिः ।
तथा वार्तां समीक्षेत कृतलक्षणसम्मिताम् ॥ १६

(भीष्मजी कहते हैं—) इस प्रकार उन महर्षि भग[वान्] गुरुदेवने शिष्यके उत्पन्न हुए इस संदेहको काट डा[ला]। अतः विद्वान् पुरुष ऐसे उपायोंपर दृष्टि रक्खे, जो क्रि[या]द्वारा उद्देश्यकी सिद्धिमें सहायक हों ॥ १६ ॥

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः ॥ १७

जैसे आगमें भूने हुए बीज नहीं उगते, उसी प्र[कार] ज्ञानरूपी अग्निसे अविद्यादि सब क्लेशोंके दग्ध हो जाने[पर] जीवात्माको फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका कथनविषयक दोसौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २११ ॥

द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

निषिद्ध आचरणके त्याग, सत्त्व, रज और तमके कार्य एवं परिणामका तथा सत्त्वगुणके सेवनका उपदेश

भीष्म उवाच

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो यथा समुपलभ्यते ।
तेषां विज्ञाननिष्ठानामन्यत्तत्त्वं न रोचते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! कर्मनिष्ठ पुरुषोंको जिस प्रकार प्रवृत्तिधर्मकी उपलब्धि होती है—वही उन्हें अच्छा लगता है, उसी प्रकार जो ज्ञानमें निष्ठा रखनेवाले हैं, उन्हें ज्ञानके सिवा दूसरी कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती ॥ १ ॥

दुर्लभा वेदविद्वांसो वेदोक्तेषु व्यवस्थिताः ।
प्रयोजनं महत्त्वात्तु मार्गमिच्छन्ति संस्तुतम् ॥ २ ॥

वेदोंके विद्वान् और वेदोक्त कर्मोंमें निष्ठा रखनेवाले पुरुष प्रायः दुर्लभ हैं । जो अत्यन्त बुद्धिमान् हैं, वे पुरुष वेदोक्त दोनों मार्गोंमेंसे जो अधिक महत्त्वपूर्ण होनेके कारण सबके द्वारा प्रशंसित है, उस मोक्षमार्गको ही चाहते हैं ॥ २ ॥

सद्भिराचरितत्वात्तु वृत्तमेतदगर्हितम् ।
इयं सा बुद्धिरन्येत्य यया याति परां गतिम् ॥ ३ ॥

सत्पुरुषोंने सदा इसी मार्गको ग्रहण किया है; अतः यही अनिन्द्य एवं निर्दोष है । यह वह बुद्धि है जिसके द्वारा चलकर मनुष्य परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

शरीरवानुपादत्ते मोहात् सर्वान् परिग्रहान् ।
क्रोधलोभादिभिर्भावैर्युक्तो राजसतामसैः ॥ ४ ॥

जो देहाभिमानी है, वह मोहवश क्रोध, लोभ आदि राज[स] तामस-भावोंसे युक्त होकर सब प्रकारकी वस्तुओंके संग्र[हमें] लग जाता है ॥ ४ ॥

नाशुद्धमाचरेत् तस्मादभीप्सन् देहयापनम् ।
कर्मणा विवरं कुर्वन्न लोकानाप्नुयाच्छुभान् ॥ ५ ॥

अतः जो देह-बन्धनसे मुक्त होना चाहता हो, उसे क[भी] अशुद्ध (अवैध) आचरण नहीं करना चाहिये । वह निष्का[म] कर्मद्वारा मोक्षका द्वार खोले और स्वर्ग आदि पुण्यलो[कोंको] पानेकी कदापि इच्छा न करे ॥ ५ ॥

लोहयुक्तं यथा हेम विपक्वं न विराजते ।
तथापक्वकषायाख्यं विज्ञानं न प्रकाशते ॥ ६ ॥

जैसे लोहयुक्त सुवर्ण आगमें पकाकर शुद्ध किये बि[ना] अपने स्वरूपसे प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार चित्तके रा[ग] आदि दोषोंका नाश हुए बिना उसमें ज्ञानस्वरूप आत्[मा] प्रकाशित नहीं होता है ॥ ६ ॥

यश्चाधर्मं चरेल्लोभात् कामक्रोधावनुप्लवन् ।
धर्म्यं पन्थानमाक्रम्य सानुबन्धो विनश्यति ॥ ७ ॥

जो लोभवश काम-क्रोधका अनुसरण करते हुए धर्[म]मार्गका उल्लङ्घन करके अधर्मका आचरण करने लगता है, वह सगे-सम्बन्धियोंसहित नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

शब्दादीन् विषयांस्तस्मान्न संरागादयं व्रजेत् ।
क्रोधो हर्षो विषादश्च जायन्तेह परस्परात् ॥ ८ ॥

अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको कभी रागके वशमें होकर शब्द आदि विषयोंका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि वैसा करनेपर हर्ष, क्रोध और विषाद—इन सात्त्विक, राजस और तामस-भावोंकी एक दूसरेसे उत्पत्ति होती है ॥

पञ्चभूतात्मके देहे सत्त्वे राजसतामसे ।
कमभिष्टुवते चायं कं वाऽऽक्रोशति किं वदन् ॥ ९ ॥

यह शरीर पाँच भूतोंका विकार है और सत्त्व, रज एवं तम—तीन गुणोंसे युक्त है । इसमें रहकर यह निर्विकार आत्मा क्या कहकर किसकी निन्दा और किसकी स्तुति करे ॥ ९ ॥

स्पर्शरूपरसाद्येषु सङ्गं गच्छन्ति बालिशाः ।
नावगच्छन्त्यविज्ञानादात्मानं पार्थिवं गुणम् ॥ १० ॥

अज्ञानी पुरुष स्पर्श, रूप और रस आदि विषयोंमें आसक्त होते हैं । वे विशिष्ट ज्ञानसे रहित होनेके कारण यह नहीं जानते हैं कि यह शरीर पृथ्वीका विकार है ॥ १० ॥

मृन्मयं शरणं यद्वन्मृदैव परिलिप्यते ।
पार्थिवोऽयं तथा देहो मृद्विकारान्न नश्यति ॥ ११ ॥

जैसे मिट्टीका घर मिट्टीसे ही लीपा जाता है तो सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार यह पार्थिव शरीर पृथ्वीके ही विकारभूत अन्न और जलके सेवनसे ही नष्ट नहीं होता है ॥ ११ ॥

मधु तैलं पयः सर्पिर्मांसानि लवणं गुडः ।
धान्यानि फलमूलानि मृद्विकाराः सहाम्भसा ॥ १२ ॥

मधु, तेल, दूध, घी, मांस, लवण, गुड़, धान्य, फल-मूल और जल—ये सभी पृथ्वीके ही विकार हैं ॥ १२ ॥

यद्वत् कान्तारमातिष्ठन्नौत्सुक्यं समनुव्रजेत् ।
श्राम्यमाहारमादद्यादस्वाद्वपि हि यापनम् ॥ १३ ॥
तद्वत् संसारकान्तारमातिष्ठञ्छ्रमतत्परः ।
यात्रार्थमद्यादाहारं व्याधितो भेषजं यथा ॥ १४ ॥

जैसे वनमें रहनेवाला संन्यासी स्वादिष्ट अन्न (मिठाई आदि) के लिये उत्सुक नहीं होता । वह शरीर-निर्वाहके लिये स्वाधीन रूखा सूखा ग्रामीण आहार भी ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार संसाररूपी वनमें रहनेवाला गृहस्थ परिश्रममें संलग्न हो जीवन निर्वाहमात्रके लिये शुद्ध सात्त्विक आहार ग्रहण करे । ठीक उसी तरह, जैसे रोगी जीवनरक्षाके लिये औषध सेवन करता है ॥ १३-१४ ॥

सत्यशौचार्जवत्यागैर्वर्चसा विक्रमेण च ।
क्षान्त्या धृत्या च बुद्ध्या च मनसा तपसैव च ॥ १५ ॥
भावान् सर्वानुपावृत्तान् समीक्ष्य विषयात्मकान् ।
शान्तिमिच्छन्नदीनात्मा संयच्छेदिन्द्रियाणि च ॥ १६ ॥

उदारचित्त पुरुष सत्य, शौच, सरलता, त्याग, तेज, पराक्रम, क्षमा, धैर्य, बुद्धि, मन और तपके प्रभावसे समस्त विषयात्मक भावोंपर आलोचनात्मक दृष्टि रखते हुए शान्तिकी इच्छासे अपनी इन्द्रियोंको संयममें रक्खे ॥ १५-१६ ॥

सत्त्वेन रजसा चैव तमसा चैव मोहिताः ।
चक्रवत् परिवर्तन्ते ह्यज्ञानाज्जन्तवो भृशम् ॥ १७ ॥

अजितेन्द्रिय जीव अज्ञानवश सत्त्व, रज और तमसे मोहित हो निरन्तर चक्रकी तरह घूमते रहते हैं ॥ १७ ॥

तस्मात् सम्यक् परीक्षेत दोषानज्ञानसम्भवान् ।
अज्ञानप्रभवं दुःखमहंकारं परित्यजेत् ॥ १८ ॥

अतः विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह अज्ञानजनित दोषोंकी भलीभाँति परीक्षा करे तथा उस अज्ञानसे उत्पन्न हुए दुःख और अहंकारको त्याग दे ॥ १८ ॥

महाभूतानीन्द्रियाणि गुणाः सत्त्वं रजस्तमः ।
त्रैलोक्यं सेश्वरं सर्वमहंकारे प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥

पञ्चमहाभूत, इन्द्रियाँ, शब्द आदि गुण, सत्त्व, रज और तम तथा लोकपालोंसहित तीनों लोक—यह सब कुछ अहंकारमें ही प्रतिष्ठित है ॥ १९ ॥

यथेह नियतः कालो दर्शयत्यार्तवान् गुणान् ।
तद्वद्भूतेष्वहंकारं विद्यात् कर्मप्रवर्तकम् ॥ २० ॥

जैसे इस जगत्में नियत काल यथासमय ऋतु-सम्बन्धी गुणोंको प्रकट कर दिखाता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें अहंकारको ही उनके कर्मोंका प्रवर्तक जानना चाहिये ॥

सम्मोहकं तमो विद्यात् कृष्णमज्ञानसम्भवम् ।
प्रीतिदुःखनिबद्धांश्च समस्तांस्त्रीनथो गुणान् ॥ २१ ॥

अहंकार सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारका होता है । तमोगुण मोहमें डालनेवाला तथा अन्धकारके समान काला है । उस अज्ञानसे उत्पन्न हुआ समझना चाहिये । प्रीति उत्पन्न करनेवाल भाव सात्त्विक है और दुःख देनेवाले राजस । इस प्रकार इन समस्त त्रिविध गुणोंका स्वरूप जानना चाहिये ॥ २१ ॥

सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च निबोध तान् ।
प्रसादो हर्षजा प्रीतिरसंदेहो धृतिः स्मृतिः ।
एतान् सत्त्वगुणान् विद्यादिमान् राजसतामसान् २२
कामक्रोधौ प्रमादश्च लोभमोहौ भयं क्लमः ।
विषादशोकावरतिर्मानदर्पावनार्यता ॥ २३ ॥

अब मैं तुम्हें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके कार्य बताता हूँ, सुनो । प्रसन्नता, हर्षजनित प्रीति, संदेहका अभाव, धैर्य और स्मृति—इन सबको सत्त्वगुणके कार्य समझो । काम, क्रोध, प्रमाद, लोभ, मोह, भय, क्लान्ति, विषाद, शोक, अप्रसन्नता, मान, दर्प और अनार्यता—इन्हें रजोगुण और तमोगुणके कार्य समझना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

दोषाणामेवमादीनां परीक्ष्य गुरुलाघवम् ।
विमृशेदात्मसंस्थानमेकैकमनुसंततम् ॥ २४ ॥

इनके तथा ऐसे ही दूसरे दोषोंके बड़े-छोटेका विचार करके फिर इस बातकी परीक्षा करे कि इनमेंसे एक-एक दोष मुझमें है या नहीं । यदि है तो कितनी मात्रामें है (इस तरह विचार करते हुए सभी दोषोंसे छूटनेका प्रयत्न करे) ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

के दोषा मनसा त्यक्ताः के बुद्ध्या शिथिलीकृताः ।
के पुनः पुनरायान्ति के मोहादफला इव ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पूर्वकालके मुमुक्षुओंने किन-किन दोषोंका मनके द्वारा त्याग किया है और किन्हें बुद्धिके द्वारा शिथिल किया है ? कौन दोष बारंबार आते हैं और कौन मोहवश फल देनेमें असमर्थ-से प्रतीत होते हैं ? ॥

केषां बलाबलं बुद्ध्या हेतुभिर्विमृशेद् बुधः ।
एष मे संशयस्तात तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥

विद्वान् पुरुष अपनी बुद्धि तथा युक्तियोंद्वारा किन दोषोंके बलाबलका विचार करे । तात ! पितामह ! यह मेरा संशय है । आप मुझसे इसका विवेचन कीजिये ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

दोषैर्मूलादवच्छिन्नैर्विशुद्धात्मा विमुच्यते ।
विनाशयति सम्भूतमयस्मयमयो यथा ।
तथा कृतात्मा सहजैर्दोषैर्नश्यति तामसैः ॥ २७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इन दोषोंका मूल कारण है अज्ञान । अतः मूलसहित इन दोषोंका नाश हो जानेपर मनुष्यका अन्तःकरण विशुद्ध होता है और वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है । जैसे लोहेकी बनी हुई छेनीकी धार लोहमयी साँकलको काटकर स्वयं भी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शुद्ध हुई बुद्धि तमोगुणजनित सहज दोषोंको नष्ट करके उनके साथ ही स्वयं भी शान्त हो जाती है ॥ २७ ॥

राजसं तामसं चैव शुद्धात्मकमकल्मषम् ।
तत् सर्वं देहिनां बीजं सत्त्वमात्मवतः समम् ॥ २८ ॥

यद्यपि रजोगुण, तमोगुण तथा काम, मोह आदि दोषोंसे रहित शुद्ध सत्त्वगुण—ये तीनों ही देहधारियोंकी देहकी उत्पत्तिके मूल कारण हैं, तथापि जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, उस पुरुषके लिये सत्त्वगुण ही समताका साधन है ॥ २८ ॥

तस्मादात्मवता वर्ज्यं रजश्च तम एव च ।
रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तं सत्त्वं निर्मलतामियात् ॥ २९ ॥

अतः जितात्मा पुरुषको रजोगुण और तमोगुणका त्याग ही करना चाहिये । इन दोनोंसे छूट जानेपर बुद्धि निर्मल हो जाती है ॥ २९ ॥

अथवा मन्त्रवद्‌ब्रूयुरात्मादानाय दुष्कृतम् ।
स वै हेतुरनादाने शुद्धधर्मानुपालने ॥ ३० ॥

अथवा बुद्धिको वशमें करनेके लिये शास्त्रविहित मन्त्रयुक्त यज्ञादि कर्मको कुछ लोग दोषयुक्त बताते हैं; परंतु मन्त्रयुक्त यज्ञादि धर्म भी निष्कामभावसे किये जानेपर वैराग्यका हेतु है तथा शुद्ध धर्म—शम, दम आदिके निरन्तर पालनमें भी वही निमित्त बनता है ॥ ३० ॥

रजसाधर्मयुक्तानि कार्याण्यपि समाप्नुते ।
अर्थयुक्तानि चात्यर्थं कामान् सर्वांश्च सेवते ॥ ३१ ॥

मनुष्य रजोगुणके अधीन होनेपर उसके द्वारा भाँति-भाँतिके अधर्मयुक्त एवं अर्थयुक्त कर्म करने लगता है तथा सम्पूर्ण भोगोंका अत्यन्त आसक्तिपूर्वक सेवन करता है ॥ ३१ ॥

तमसा लोभयुक्तानि क्रोधजानि च सेवते ।
हिंसाविहाराभिरतस्तन्द्रीनिद्रासमन्वितः ॥ ३२ ॥

तमोगुणद्वारा मनुष्य लोभ और क्रोधजनित कर्मोंका सेवन करता है, हिंसात्मक कर्मोंमें उसकी विशेष आसक्ति हो जाती है तथा वह हर समय निद्रा-तन्द्रासे घिरा रहता है ॥ ३२ ॥

सत्त्वस्थः सात्त्विकान् भावाञ्शुद्धान् पश्यति संश्रितः ।
स देही विमलः श्रीमाञ्श्रद्धाविद्यासमन्वितः ॥ ३३ ॥

सत्त्वगुणमें स्थित हुआ पुरुष शुद्ध सात्त्विक भावोंको देखता और उन्हींका आश्रय लेता है । वह अत्यन्त निर्मल और कान्तिमान् होता है । उसमें श्रद्धा और विद्याकी प्रधानता होती है ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मकथनविषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१२ ॥

त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

जीवोत्पत्तिका वर्णन करते हुए दोषों और बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये विषयासक्तिके त्यागका उपदेश

भीष्म उवाच

रजसा साध्यते मोहस्तमसा भरतर्षभ ।
क्रोधलोभौ भयं दर्प एतेषां सादनाच्छुचिः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! रजोगुण और तमोगुणसे मोहकी उत्पत्ति होती है तथा उससे क्रोध, लोभ, भय एवं दर्प उत्पन्न होते हैं; इन सबका नाश करनेसे ही मनुष्य शुद्ध होता है ॥ १ ॥

परमं परमात्मानं देवमक्षयमव्ययम् ।
विष्णुमव्यक्तसंस्थानं विदुस्तं देवसत्तमम् ॥ २ ॥

ऐसे शुद्धात्मा पुरुष ही उस अक्षय, अविनाशी, स्वप्रकाश देव, अव्यक्तस्वरूप, देवप्रवर परमात्मा विष्णुका तत्त्व जान पाते हैं ॥ २ ॥

तस्य मायापिनद्धाङ्गा नष्टज्ञाना विचेतसः ।
मानवा ज्ञानसम्मोहात् ततः क्रोधं प्रयान्ति वै ॥ ३ ॥

उसी ईश्वरकी मायासे आवृत हो जानेपर मनुष्योंके ज्ञान और विवेकका नाश हो जाता है तथा वे बुद्धिके व्यामोहसे क्रोधके वशीभूत हो जाते हैं ॥ ३ ॥

क्रोधात् काममवाप्याथ लोभमोहौ च मानवाः ।
मानदर्पावहङ्कारमहङ्कारात् ततः क्रियाः ॥ ४ ॥

क्रोधसे काम उत्पन्न होता है और फिर कामसे मनुष्य लोभ, मोह, मान, दर्प एवं अहङ्कारको प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् अहङ्कारसे प्रेरित होकर ही उनकी सारी क्रियाएँ होने लगती हैं ॥ ४ ॥

क्रियाभिः स्नेहसम्बन्धात्स्नेहाच्छोकमनन्तरम् ।
सुखदुःखक्रियारम्भाज्जन्माजन्मकृतक्षणाः ॥ ५ ॥

ऐसी क्रियाओंद्वारा मनुष्य आसक्तिसे युक्त हो जाता है। आसक्तिसे शोक होता है। फिर सुख-दुःखयुक्त कार्य आरम्भ करनेसे मनुष्यको जन्म और मृत्युके कष्ट स्वीकार करने पड़ते हैं ॥ ५ ॥

जन्मतो गर्भवासं तु शुक्रशोणितसम्भवम् ।
पुरीषमूत्रविक्लेदं शोणितप्रभवाविलम् ॥ ६ ॥

जन्मके निमित्तसे गर्भवासका कष्ट भोगना पड़ता है। रज और वीर्यके परस्पर संयुक्त होनेपर गर्भवासका अवसर आता है, जहाँ मल और मूत्रसे भीगे तथा रक्तके विकारसे मलिन स्थानमें रहना पड़ता है ॥ ६ ॥

तृष्णाभिभूतस्तैर्बद्धस्तानेवाभिपरिप्लवन् ।
संसारतन्त्रवाहिन्यस्तत्र बुद्ध्येत योषितः ॥ ७ ॥

तृष्णासे अभिभूत तथा काम, क्रोध आदि दोषोंसे बद्ध होकर उन्हींका अनुसरण करता हुआ मनुष्य (महान् दुःख उठाता रहता है। यदि उनसे छूटनेकी इच्छा हो तो) स्त्रियों-को संसाररूपी वस्त्रको बुननेवाली तन्तुवाहिनी समझे और उनसे दूर रहे ॥ ७ ॥

प्रकृत्या क्षेत्रभूतास्ता नराः क्षेत्रज्ञलक्षणाः ।
तस्मादेवाविशेषेण नरोऽतीयाद् विशेषतः ॥ ८ ॥

स्त्रियाँ प्रकृतिके तुल्य हैं; अतः क्षेत्रस्वरूपा हैं और पुरुष क्षेत्रज्ञरूप हैं (जैसे प्रकृति अज्ञानी पुरुषको बाँधती है, उसी प्रकार ये स्त्रियाँ पुरुषोंको अपने मोहजालमें बाँध लेती हैं), इसलिये सामान्यतः प्रत्येक पुरुषको विशेष प्रयत्नपूर्वक स्त्रीके संसर्गसे दूर रहना चाहिये ॥ ८ ॥

कृत्या ह्येता घोररूपा मोहयन्त्यविचक्षणान् ।
रजस्यन्तर्हिता मूर्तिरिन्द्रियाणां सनातनी ॥ ९ ॥

ये स्त्रियाँ भयानक कृत्याके समान हैं; अतः अज्ञानी मनुष्योंको मोहमें डाल देती हैं। इन्द्रियोंमें विकार उत्पन्न करनेवाली यह सनातन नारीमूर्ति रजोगुणसे तिरोहित है ॥९॥

तस्मात् तदात्मकाद् रागाद् बीजाज्जायन्ति जन्तवः ।
स्वदेहजानस्वसंज्ञान् यद्वदङ्गात् कृमींस्त्यजेत् ।
स्वसंज्ञानस्वकांस्तद्वत् सुतसंज्ञान् कृमींस्त्यजेत् ॥१०॥

अतः स्त्रीसम्बन्धी अनुरागके कारण पुरुषके वीर्यसे जीवोंकी उत्पत्ति होती है, जैसे मनुष्य अपनी ही देहसे उत्पन्न हुए जूँ और लीख आदि स्वेदज कीटोंको अपना न मानकर त्याग देता है, उसी प्रकार अपने कहलानेवाले जो अनात्मा पुत्रनामधारी कीट हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिये ॥ १० ॥

शुक्रतो रसतश्चैव देहाज्जायन्ति जन्तवः ।
स्वभावात् कर्मयोगाद् वा तानुपेक्षेत बुद्धिमान् ॥ ११ ॥

इस शरीरसे वीर्यद्वारा अथवा पसीनोंद्वारा स्वभावसे अथवा प्रारब्धके अनुसार जन्तुओंका जन्म होता रहता है। बुद्धिमान् पुरुषोंको उनकी उपेक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

रजस्तमसि पर्यस्तं सत्त्वं च रजसि स्थितम् ।
ज्ञानाधिष्ठानमव्यक्तं बुद्ध्यहङ्कारलक्षणम् ॥ १२ ॥

तमोगुणमें स्थित रजोगुण तथा रजोगुणमें स्थित सत्त्वगुण जब रजोगुण-तमोगुणमें स्थित हो जाता है और सत्त्वगुण रजोगुणमें स्थित हो जाता है, तब ज्ञानका अधिष्ठानभूत अव्यक्त आत्मा बुद्धि और अहङ्कारसे युक्त हो जाता है ॥ १२ ॥

तद् बीजं देहिनामाहुस्तद् बीजं जीवसंज्ञितम् ।
कर्मणा कालयुक्तेन संसारपरिवर्तनम् ॥ १३ ॥

वह अव्यक्त आत्मा ही देहधारी प्राणियोंका बीज है और वह बीजभूत आत्मा ही गुणोंके सङ्गके कारण जीव कहलाता है। वही कालसे युक्त कर्मसे प्रेरित हो संसार-चक्रमें घूमता रहता है ॥ १३ ॥

रमत्ययं यथा स्वप्ने मनसा देहवानिव ।
कर्मगर्भैर्गुणैर्देही गर्भे तदुपलभ्यते ॥ १४ ॥

जैसे स्वप्नावस्थामें यह जीव मनके द्वारा ही दूसरा शरीर धारण करके क्रीडा करता है, उसी प्रकार वह कर्मगर्भित गुणोंद्वारा गर्भमें उपलब्ध होता है ॥ १४ ॥

कर्मणा बीजभूतेन चोद्यते यद् यदिन्द्रियम् ।
जायते तदहङ्काराद् रागयुक्तेन चेतसा ॥ १५ ॥

बीजभूत कर्मसे जिस-जिस इन्द्रियकी उत्पत्तिके लिये प्रेरणा प्राप्त होती है, रागयुक्त चित्त एवं अहङ्कारसे वही-वही इन्द्रिय प्रकट हो जाती है ॥ १५ ॥

शब्दरागाच्छ्रोत्रमस्य जायते भावितात्मनः ।
रूपरागात् तथा चक्षुर्घ्राणं गन्धचिकीर्षया ॥ १६ ॥

शब्दके प्रति राग होनेसे उस भावितात्मा पुरुषकी श्रवणेन्द्रिय प्रकट होती है। रूपके प्रति राग होनेसे नेत्र और गन्ध ग्रहण करनेकी इच्छा होनेसे नासिकाका प्राकट्य होता है ॥ १६ ॥

स्पर्शने त्वक् तथा वायुः प्राणापानव्यपाश्रयः ।
व्यानोदानौ समानश्च पञ्चधा देहयापनम् ॥ १७ ॥

स्पर्शके प्रति राग होनेसे त्वगिन्द्रिय और वायुका प्राकट्य होता है। वायु प्राण और अपानका आश्रय है। वही उदान, व्यान तथा समान है। इस प्रकार वह पाँच रूपोंमें प्रकट हो शरीर-यात्राका निर्वाह करती है ॥ १७ ॥

संजातैर्जायते गात्रैः कर्मजैर्वर्ष्मणा वृतः ।
दुःखाद्यन्तैर्दुःखमध्यैर्नरः शारीरमानसैः ॥ १८ ॥

मनुष्य जन्मकालमें पूर्णतः उत्पन्न हुए कर्मजनित अङ्गों और सम्पूर्ण शरीरसे युक्त होकर जन्म ग्रहण करता है । वह मनुष्य आदि, मध्य और अन्तमें भी शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे पीड़ित रहता है ॥ १८ ॥

दुःखं विद्यादुपादानादभिमानाच्च वर्धते ।
त्यागात् तेभ्यो निरोधः स्यान्निरोधज्ञो विमुच्यते ॥ १९ ॥

शरीरके ग्रहणमात्रसे दुःखकी प्राप्ति निश्चित समझनी चाहिये । शरीरमें अभिमान करनेसे उस दुःखकी वृद्धि होती है । अभिमानके त्यागसे उन दुःखोंका अन्त होता है । जो दुःखोंके अन्त होनेकी इस कलाको जानता है, वह मु जाता है ॥ १९ ॥

इन्द्रियाणां रजस्येव प्रलयप्रभवावुभौ ।
परीक्ष्य संचरेद् विद्वान् यथावच्छास्त्रचक्षुषा ॥ २

इन्द्रियोंकी उत्पत्ति और लय—ये दोनों कार्य रजो ही होते हैं । विद्वान् पुरुष शास्त्रदृष्टिसे इन बातोंकी भाँति परीक्षा करके यथोचित आचरण करे ॥ २० ॥

ज्ञानेन्द्रियाणीन्द्रियार्थान्नोपसर्पन्त्यतर्षुलम् ।
हीनैश्च करणैर्देही न देहं पुनरर्हति ॥ २

जिसमें तृष्णाका अभाव है, उस पुरुषको ये ज्ञाने विषयोंकी प्राप्ति नहीं करातीं । इन्द्रियोंके विषयासक्तिसे हो जानेपर देही पुनः शरीरको धारण नहीं करता ॥ २१

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका कथनविषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१३ ॥

चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य तथा वैराग्यसे मुक्ति

भीष्म उवाच

अत्रोपायं प्रवक्ष्यामि यथावच्छास्त्रचक्षुषा ।
तत्त्वज्ञानाच्चरन् राजन् प्राप्नुयात्परमां गतिम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! अब मैं तुम्हें शास्त्र-दृष्टिसे मोक्षका यथावत् उपाय बताता हूँ । शास्त्रविहित कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करता हुआ मनुष्य तत्त्वज्ञानसे परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

सर्वेषामेव भूतानां पुरुषः श्रेष्ठ उच्यते ।
पुरुषेभ्यो द्विजानाहुर्द्विजेभ्यो मन्त्रदर्शिनः ॥ २ ॥

समस्त प्राणियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है । मनुष्योंमें द्विजोंको और द्विजोंमें भी मन्त्रद्रष्टा (वेदज्ञ) ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ बताया गया है ॥ २ ॥

सर्वभूतात्मभूतास्ते सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः ।
ब्राह्मणा वेदशास्त्रज्ञास्तत्त्वार्थगतनिश्चयाः ॥ ३ ॥

वेद-शास्त्रोंके यथार्थ ज्ञाता ब्राह्मण समस्त भूतोंके आत्मा, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं । उन्हें परमार्थतत्त्वका पूर्ण निश्चय होता है ॥ ३ ॥

नेत्रहीनो यथा ह्येकः कृच्छ्राणि लभतेऽध्वनि ।
ज्ञानहीनस्तथा लोके तस्माज्ज्ञानविदोऽधिकाः ॥ ४ ॥

जैसे नेत्रहीन पुरुष मार्गमें अकेला होनेपर तरह-तरहके दुःख पाता है, उसी प्रकार संसारमें ज्ञानहीन मनुष्यको भी अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं; इसलिये ज्ञानी पुरुष ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

तांस्तानुपासते धर्मान् धर्मकामा यथागमम् ।
न त्वेषामर्थसामान्यमन्तरेण गुणानिमान् ॥ ५ ॥

धर्मकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य शास्त्रके अनुसार उन यज्ञादि सकाम धर्मोंका अनुष्ठान करते हैं; किंतु बताये जानेवाले गुणोंके बिना इन्हें सबके लिये समान अभीष्ट मोक्ष नामक पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ५ ॥

वाग्देहमनसां शौचं क्षमा सत्यं धृतिः स्मृतिः ।
सर्वधर्मेषु धर्मज्ञा ज्ञापयन्ति गुणाञ्छुभान् ॥ ६

वाणी, शरीर और मनकी पवित्रता, क्षमा, सत्य, और स्मृति—इन गुणोंको प्रायः सभी धर्मोंके धर्मज्ञ पु कल्याणकारी बताते हैं ॥ ६ ॥

यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम् ।
परं तत् सर्वधर्मेभ्यस्तेन यान्ति परां गतिम् ॥ ७

यह जो ब्रह्मचर्य नामक गुण है, इसे तो शास्त्रोंमें ब्रह्म स्वरूप ही बताया गया है । यह सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है । ब्रह्मच पालनसे मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ७ ॥

लिङ्गसंयोगहीनं यच्छब्दस्पर्शविवर्जितम् ।
श्रोत्रेण श्रवणं चैव चक्षुषा चैव दर्शनम् ॥ ८
वाक्सम्भाषाप्रवृत्तं यत् तन्मनःपरिवर्जितम् ।
बुद्ध्या चाध्यवसीयीत ब्रह्मचर्यमकल्मषम् ॥ ९

वह परमपद पाँच प्राण, मन, बुद्धि और दसों इन्द्रि संघातरूप शरीरके संयोगसे शून्य है, शब्द और स्पर्शसे र है । जो कानसे सुनता नहीं, आँखसे देखता नहीं और वा द्वारा कुछ बोलता नहीं है तथा जो मनसे भी रहित है, वह परमपद या ब्रह्म है । मनुष्य बुद्धिके द्वारा उसका नि करे और उसकी प्राप्तिके लिये निष्कलङ्क ब्रह्मचर्यव्र पालन करे ॥ ८-९ ॥

सम्यग्वृत्तिर्ब्रह्मलोकं प्राप्नुयान्मध्यमः सुरान् ।
द्विजाग्र्यो जायते विद्वान् कन्यसीं वृत्तिमास्थितः॥ १०॥

जो मनुष्य इस व्रतका अच्छी तरह पालन करता है, वह ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेता है। मध्यम श्रेणीके ब्रह्मचारीको देवताओंका लोक प्राप्त होता है और कनिष्ठ श्रेणीका विद्वान् ब्रह्मचारी श्रेष्ठ ब्राह्मणके रूपमें जन्म लेता है ॥ १० ॥

सुदुष्करं ब्रह्मचर्यमुपायं तत्र मे शृणु ।
सम्प्रदीप्तमुदीर्णं च निगृह्णीयाद् द्विजो रजः ॥ ११ ॥

ब्रह्मचर्यका पालन अत्यन्त कठिन है। उसके लिये जो उपाय है, वह मुझसे सुनो। ब्राह्मणको चाहिये कि जब रजोगुणकी वृत्ति प्रकट होने और बढ़ने लगे तो उसे रोक दे ॥

योषितां न कथा श्राव्या न निरीक्ष्या निरम्बराः ।
कथञ्चिद् दर्शनादासां दुर्बलानां विशेद्रजः ॥ १२ ॥

स्त्रियोंकी चर्चा न सुने। उन्हें नंगी अवस्थामें न देखे; क्योंकि यदि किसी प्रकार नग्नावस्थाओंमें उनपर दृष्टि चली जाती है तो दुर्बल हृदयवाले पुरुषोंके मनमें रजोगुण—राग या कामभावका प्रवेश हो जाता है ॥ १२ ॥

रागोत्पन्नश्चरेत् कृच्छ्रं महार्तिः प्रविशेदपः ।
मग्नः स्वप्ने च मनसा त्रिर्जपेदघमर्षणम् ॥ १३ ॥

ब्रह्मचारीके मनमें यदि राग या काम-विकार उत्पन्न हो जाय तो वह आत्मशुद्धिके लिये कृच्छ्रव्रत[1]का आचरण करे। यदि वीर्यकी वृद्धि होनेसे उसे कामवेदना अधिक सता रही हो तो वह नदी या सरोवरके जलमें प्रवेश करके स्नान करे। यदि स्वप्नावस्थामें वीर्यपात हो जाय तो जलमें गोता लगाकर मन-ही-मन तीन बार अघमर्षण[2] सूक्तका जप करे ॥

पाप्मानं निर्दहेदेवमन्तर्भूतरजोमयम् ।
ज्ञानयुक्तेन मनसा संततेन विचक्षणः ॥ १४ ॥

विवेकी पुरुषको इस प्रकार ज्ञानयुक्त एवं संयमशील मनके द्वारा अपने अन्तःकरणमें प्रकट हुए पापमय काम-विकारको दग्ध कर देना चाहिये ॥ १४ ॥

कुणपामेध्यसंयुक्तं यद्वदच्छिद्रबन्धनम् ।
तद्वद् देहगतं विद्यादात्मानं देहबन्धनम् ॥ १५ ॥

मुर्देके समान अपवित्र एवं मलयुक्त नाड़ियाँ जिस प्रकार देहके भीतर दृढ़तापूर्वक बँधी हुई हैं, उसी प्रकार (अज्ञानसे) उसके भीतर जीवात्मा भी दृढ़ बन्धनमें बँधा हुआ है, ऐसा जानना चाहिये ॥ १५ ॥

वातपित्तकफाद् रक्तं त्वङ्मांसं स्नायुमस्थि च ।
मज्जां देहं शिराजालैस्तर्पयन्ति रसा नृणाम् ॥ १६ ॥

भोजनसे प्राप्त हुए रस नाड़ीसमूहोंद्वारा संचरित होकर मनुष्योंके वात, पित्त, कफ, रक्त, त्वचा, मांस, स्नायु, अस्थि, चर्बी एवं सम्पूर्ण शरीरको तृप्त एवं पुष्ट करते हैं ॥

दश विद्याद् धमन्योऽत्र पञ्चेन्द्रियगुणावहाः ।
याभिः सूक्ष्माः प्रतायन्ते धमन्योऽन्याः सहस्रशः॥ १७॥

इस शरीरके भीतर उपर्युक्त वात, पित्त आदि दस वस्तुओंको वहन करनेवाली दस ऐसी नाड़ियाँ हैं, जो पाँचों इन्द्रियोंके शब्द आदि गुणोंको ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त करानेवाली हैं। उन्हींके साथ अन्य सहस्रों सूक्ष्म नाड़ियाँ सारे शरीरमें फैली हुई हैं ॥ १७ ॥

एवमेताः शिरा नद्यो रसोदा देहसागरम् ।
तर्पयन्ति यथाकालमापगा इव सागरम् ॥ १८ ॥

जैसे नदियाँ अपने जलसे यथासमय समुद्रको तृप्त करती रहती हैं, उसी प्रकार रसको बहानेवाली ये नाड़ीरूप नदियाँ इस देह-सागरको तृप्त किया करती हैं ॥ १८ ॥

मध्ये च हृदयस्यैका शिरा तत्र मनोवहा ।
शुक्रं संकल्पजं नृणां सर्वगात्रैर्विमुञ्चति ॥ १९ ॥

हृदयके मध्यभागमें एक मनोवहा नामकी नाड़ी है, जो पुरुषोंके कामविषयक संकल्पके द्वारा सारे शरीरसे वीर्यको खींचकर बाहर निकाल देती है ॥ १९ ॥

सर्वगात्रप्रतायिन्यस्तस्या ह्यनुगताः शिराः ।
नेत्रयोः प्रतिपद्यन्ते वहन्त्यस्तैजसं गुणम् ॥ २० ॥

उस नाड़ीके पीछे चलनेवाली और सम्पूर्ण शरीरमें फैली हुई अन्य नाड़ियाँ तैजस-गुणरूप ग्रहणकी शक्तिको वहन करती हुई नेत्रोंतक पहुँचती हैं ॥ २० ॥

पयस्यन्तर्हितं सर्पिर्यद्वन्निर्मथ्यते खजैः ।
शुक्रं निर्मथ्यते तद्वद् देहसंकल्पजैः खजैः ॥ २१ ॥

जिस प्रकार दूधमें छिपे हुए घीको मथानीसे मथकर अलग किया जाता है, उसी प्रकार देहस्थ संकल्प और इन्द्रियोंसे होनेवाले स्त्रियोंके दर्शन एवं स्पर्श आदिसे मथित होकर पुरुषका वीर्य बाहर निकल जाता है ॥ २१ ॥

स्वप्नेऽप्येवं यथाभ्येति मनःसंकल्पजं रजः ।
शुक्रं संकल्पजं देहात् सृजत्यस्य मनोवहा ॥ २२ ॥

जैसे स्वप्नमें संसर्ग न होनेपर भी मनके संकल्पसे उत्पन्न हुआ स्त्रीविषयक राग उपस्थित हो जाता है, उसी प्रकार

---

1. 'कृच्छ्र' शब्दसे प्राजापत्यकृच्छ्रका ग्रहण किया जाता है। प्राजापत्यकृच्छ्रका विधान इस प्रकार है—

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात् प्राजापत्योऽयमुच्यते ॥
(मनुस्मृति ११ । २१२)

तीन दिन केवल प्रातःकाल, तीन दिन केवल सायंकाल तथा तीन दिनतक केवल अयाचित अन्नका भोजन करे। फिर तीन दिनतक उपवास रक्खे। इसे प्राजापत्यकृच्छ्र कहा जाता है।

2. अघमर्षणसूक्त निम्नलिखित है—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।

मनोवहा नाड़ी पुरुषके शरीरसे संकल्पजनित वीर्यका निःसारण कर देती है ॥ २२ ॥

महर्षिर्भगवानत्रिर्वेद तच्छुक्रसम्भवम् ।
त्रिबीजमिन्द्रदैवत्यं तस्मादिन्द्रियमुच्यते ॥ २३ ॥

भगवान् महर्षि अत्रि वीर्यकी उत्पत्ति और गतिको जानते हैं तथा ऐसा कहते हैं कि मनोवहा नाड़ी, संकल्प और अन्न—ये तीन ही वीर्यके कारण हैं । इस वीर्यका देवता इन्द्र है; इसलिये इसे इन्द्रिय कहते हैं ॥ २३ ॥

ये वै शुक्रगतिं विद्युर्भूतसंकरकारिकाम् ।
विरागा दग्धदोषास्ते नाप्नुयुर्देहसम्भवम् ॥ २४ ॥

जो यह जानते हैं कि वीर्यकी गति ही सम्पूर्ण प्राणियोंमें वर्णसंकरता उत्पन्न करनेवाली है, वे विरक्त हो अपने सारे दोषोंको भस्म कर डालते हैं; इसलिये वे पुनः देहके बन्धनमें नहीं पड़ते ॥ २४ ॥

गुणानां साम्यमागम्य मनसैव मनोवहम् ।
देहकर्मा नुदन् प्राणानन्तकाले विमुच्यते ॥ २५ ॥

जो केवल शरीरकी रक्षाके लिये भोजन आदि कर्म करता है, वह अभ्यासके बलसे गुणोंकी साम्यावस्थारूप निर्विकल्प समाधि प्राप्त करके मनके द्वारा मनोवहा नाड़ीको संयममें रखते हुए अन्तकालमें प्राणोंको सुषुम्णा मार्गसे ले जाकर संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

भविता मनसो ज्ञानं मन एव प्रजायते ।
ज्योतिष्मद्विरजो नित्यं मन्त्रसिद्धं महात्मनाम् ॥ २६

उन महात्माओंके मनमें तत्त्वज्ञानका उदय हो जाता है; क्योंकि प्रणवोपासनासे परिशुद्ध हुआ उनका मन नि… प्रकाशमय और निर्मल हो जाता है ॥ २६ ॥

तस्मात् तदभिघाताय कर्म कुर्यादकल्मषम् ।
रजस्तमश्च हित्वेह यथेष्टां गतिमाप्नुयात् ॥ २७

अतः मनको वशमें करनेके लिये मनुष्यको निर्दोष … निष्काम कर्म करने चाहिये । ऐसा करनेसे वह रजोगुण … तमोगुणसे छूटकर इच्छानुसार गति प्राप्त कर लेता है ॥ २७

तरुणाधिगतं ज्ञानं जरादुर्बलतां गतम् ।
विपक्वबुद्धिः कालेन आदत्ते मानसं बलम् ॥ २८

युवावस्थामें प्राप्त किया हुआ ज्ञान प्रायः बुढ़ापेमें … हो जाता है, परंतु परिपक्वबुद्धि मनुष्य समयानुसार … मानसिक बल प्राप्त कर लेता है, जिससे उसका ज्ञान … क्षीण नहीं होता ॥ २८ ॥

सुदुर्गमिव पन्थानमतीत्य गुणबन्धनम् ।
यथा पश्येत् तथा दोषानतीत्यामृतमश्नुते ॥ २९

वह परिपक्व बुद्धिवाला मनुष्य अत्यन्त दुर्गम मार्ग… समान गुणोंके बन्धनको पार करके जैसे-जैसे अपने दोष देख… है, वैसे ही वैसे उन्हें लाँघकर अमृतमय परमात्मपदको प्रा… कर लेता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मकथनविषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१४ ॥

पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

आसक्ति छोड़कर सनातन ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेका उपदेश

भीष्म उवाच

दुरन्तेष्विन्द्रियार्थेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
ये त्वसक्ता महात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रियोंके विषयोंका पार पाना बहुत कठिन है । जो प्राणी उनमें आसक्त होते हैं, वे दुःख भोगते रहते हैं और जो महात्मा उनमें आसक्त नहीं होते, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

जन्ममृत्युजरादुःखैर्व्याधिभिर्मानसक्लमैः ।
दृष्ट्वैव संततं लोकं घटेन्मोक्षाय बुद्धिमान् ॥ २ ॥

यह जगत् जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके दुःखों, नाना प्रकारके रोगों तथा मानसिक चिन्ताओंसे व्याप्त है; ऐसा समझकर बुद्धिमान् पुरुषको मोक्षके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ २ ॥

वाङ्मनोभ्यां शरीरेण शुचिः स्यादनहंकृतः ।
प्रशान्तो ज्ञानवान् भिक्षुर्निरपेक्षश्चरेत् सुखम् ॥ ३

वह मन, वाणी और शरीरसे पवित्र रहकर अहङ्कार… शून्य, शान्तचित्त, ज्ञानवान् एवं निःस्पृह होकर भिक्षावृत्ति… निर्वाह करता हुआ सुखपूर्वक विचरे ॥ ३ ॥

अथवा मनसः सङ्गं पश्येद् भूतानुकम्पया ।
तत्राप्युपेक्षां कुर्वीत ज्ञात्वा कर्मफलं जगत् ॥ ४

अथवा प्राणियोंपर दया करते रहनेसे भी मोहवश उन… प्रति मनमें आसक्ति हो जाती है । इस बातपर दृष्टिपात क… और यह समझकर कि सारा जगत् अपने-अपने कर्मोंका फ… भोग रहा है, सबके प्रति उपेक्षाभाव रखे ॥ ४ ॥

यत् कृतं स्याच्छुभं कर्म पापं वा यदि वाश्नुते ।
तस्माच्छुभानि कर्माणि कुर्याद् वा बुद्धिकर्मभिः ॥ ५

मनुष्य शुभ या अशुभ जैसा भी कर्म करता है, उसका फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है; इसलिये मन, बुद्धि और…

क्रियाके द्वारा सदा शुभ कर्मोंका ही आचरण करे ॥ ५ ॥

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
क्षमा चैवाप्रमादश्च यस्यैते स सुखी भवेत्॥ ६ ॥

अहिंसा, सत्यभाषण, समस्त प्राणियोंके प्रति सरलतापूर्ण बर्ताव, क्षमा तथा प्रमादशून्यता—ये गुण जिस पुरुषमें विद्यमान हों, वही सुखी होता है ॥ ६ ॥

यश्चैनं परमं धर्मं सर्वभूतसुखावहम्।
दुःखानिःसरणं वेद सर्वज्ञः स सुखी भवेत्॥ ७ ॥

जो मनुष्य इस अहिंसा आदि परम धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये सुखद और दुःखनिवारक जानता है, वही सर्वज्ञ है और वही सुखी होता है ॥ ७ ॥

तस्मात् समाहितं बुद्ध्या मनो भूतेषु धारयेत्।
नापध्यायेन्न स्पृहयेन्नाबद्धं चिन्तयेदसत्॥ ८ ॥
अथामोघप्रयत्नेन मनो ज्ञाने निवेशयेत्।
वाचामोघप्रयासेन मनोज्ञं तत् प्रवर्तते॥ ९ ॥

इसलिये बुद्धिके द्वारा मनको समाहित करके समस्त प्राणियोंमें स्थित परमात्मामें लगावे। किसीका अहित न सोचे, असम्भव वस्तुकी कामना न करे, मिथ्या पदार्थोंकी चिन्ता न करे और सफल प्रयत्न करके मनको ज्ञानके साधनमें लगा दे। वेदान्त-वाक्योंके श्रवण तथा सुदृढ़ प्रयत्नसे उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ८-९ ॥

विवक्षता च सद्वाक्यं धर्मं सूक्ष्ममवेक्षता।
सत्यां वाचमहिंस्रां च वदेदनपवादिनीम्॥ १० ॥
कल्कापेतामपरुषामनृशंसामपैशुनाम्।
ईदृगल्पं च वक्तव्यमविक्षिप्तेन चेतसा॥ ११ ॥

जो सूक्ष्म धर्मको देखता और उत्तम वचन बोलना चाहता हो, उसको ऐसी बात कहनी चाहिये जो सत्य होनेके साथ ही हिंसा और परनिन्दासे रहित हो। जिसमें शठता, कठोरता, क्रूरता और चुगली आदि दोषोंका सर्वथा अभाव हो, ऐसी वाणी भी बहुत थोड़ी मात्रामें और सुस्थिर चित्तसे बोलनी चाहिये ॥ १०-११ ॥

वाक्प्रबद्धो हि संसारो विरागाद् व्याहरेद् यदि।
बुद्ध्याप्यनुगृहीतेन मनसा कर्म तामसम्॥ १२ ॥

संसारका सारा व्यवहार वाणीसे ही बँधा हुआ है, अतः सदा उत्तम वाणी ही बोले और यदि वैराग्य हो तो बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके अपने किये हुए हिंसादि तामस कर्मोंको भी लोगोंसे कह दे (क्योंकि प्रकाशित कर देनेसे पापकी मात्रा घट जाती है) ॥ १२ ॥

रजोभूतैर्हि करणैः कर्मणि प्रतिपद्यते।
स दुःखं प्राप्य लोकेऽस्मिन् नरकायोपपद्यते॥
तस्मान्मनोवाक्शरीरैराचरेद् धैर्यमात्मनः॥ १३ ॥

रजोगुणसे प्रभावित हुई इन्द्रियोंकी प्रेरणासे मनुष्य विषयभोगरूप कर्मोंमें प्रवृत्त होता है और इस लोकमें दुःख भोगकर अन्तमें नरकगामी होता है; अतः मन, वाणी और शरीरद्वारा ऐसा कार्य करे, जिससे अपनेको धैर्य प्राप्त हो ॥ १३ ॥

प्रकीर्णमेषभारं हि यद्वद् धार्येत दस्युभिः।
प्रतिलोमां दिशं बुद्ध्वा संसारमबुधास्तथा॥ १४ ॥

जैसे चोर या लुटेरे किसीकी भेड़को मारकर उसे कंधेपर उठाये हुए जबतक भागते हैं, तबतक उन्हें सारी दिशाओंमें पकड़े जानेका भय बना रहता है और जब मार्गको प्रतिकूल समझकर उस भेड़के बोझको अपने कंधेसे उतार फेंकते हैं, तब अपनी अभीष्ट दिशाको सुखपूर्वक चले जाते हैं। उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य जबतक सांसारिक कर्मरूप बोझको ढोते हैं, तबतक उन्हें सर्वत्र भय बना रहता है और जब उसे त्याग देते हैं, तब शान्तिके भागी हो जाते हैं ॥ १४ ॥

तमेव च यथा दस्युः क्षिप्त्वा गच्छेच्छिवां दिशम्।
तथा रजस्तमःकर्माण्युत्सृज्य प्राप्नुयाच्छुभम्॥ १५ ॥

जैसे चोर या डाकू जब उस चोरीके मालका बोझ उतार फेंकता है, तब जहाँ उसे सुख मिलनेकी आशा होती है, उस दिशामें अनायास चला जाता है, उसी प्रकार मनुष्य राजस और तामस कर्मोंको त्यागकर शुभ गति प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

निःसंदिग्धमनीहो वै मुक्तः सर्वपरिग्रहैः।
विविक्तचारी लघ्वाशी तपस्वी नियतेन्द्रियः॥ १६ ॥
ज्ञानदग्धपरिक्लेशः प्रयोगरतिरात्मवान्।
निष्प्रचारेण मनसा परं तदधिगच्छति॥ १७ ॥

जो सब प्रकारके संग्रहसे रहित, निरीह, एकान्तवासी, अल्पाहारी, तपस्वी और जितेन्द्रिय है, जिसके सम्पूर्ण क्लेश ज्ञानाग्निसे दग्ध हो गये हैं तथा जो योगानुष्ठानका प्रेमी और मनको वशमें रखनेवाला है, वह अपने निश्चल चित्तके द्वारा उस परब्रह्म परमात्माको निःसंदेह प्राप्त कर लेता है ॥ १६-१७ ॥

धृतिमानात्मवान् बुद्धिं निगृह्णीयादसंशयम्।
मनो बुद्ध्या निगृह्णीयाद् विषयान्मनसाऽऽत्मनः॥ १८ ॥

बुद्धिमान् एवं धीर पुरुषको चाहिये कि वह बुद्धिको निश्चय ही अपने वशमें करे; फिर बुद्धिके द्वारा मनको और मनके द्वारा अपनी इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे रोककर अपने अधीन करे ॥ १८ ॥

निगृहीतेन्द्रियस्यास्य कुर्वाणस्य मनो वशे।
देवतास्तत् प्रकाशन्ते हृष्टा यान्ति तमीश्वरम्॥ १९ ॥

इस प्रकार जिसने इन्द्रियोंको वशमें करके मनको अपने अधीन कर लिया है, उस अवस्थामें उसकी इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवता प्रसन्नतासे प्रकाशित होने लगते हैं और ईश्वरकी ओर प्रवृत्त हो जाते हैं ॥ १९ ॥

ताभिः संयुक्तमनसो ब्रह्म तत् सम्प्रकाशते।
शनैश्चोपगते सत्त्वे ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २० ॥

उन इन्द्रियदेवताओंसे जिसका मन संयुक्त हो गया है, उसके अन्तःकरणमें परब्रह्म परमात्मा प्रकाशित हो उठता है;

फिर धीरे-धीरे सत्त्वगुण प्राप्त होनेपर वह मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

अथवा न प्रवर्तेत योगतन्त्रैरुपक्रमेत्।
येन तन्त्रयतस्तन्त्रं वृत्तिः स्यात् तत् तदाचरेत्॥ २१॥

अथवा यदि पूर्वोक्तरूपसे उसके भीतर ब्रह्म प्रकाशित न हो तो वह योगी योगप्रधान उपायोंद्वारा अभ्यास आरम्भ करे। जिस हेतुसे योगाभ्यास करते हुए योगीकी ब्रह्ममें ही स्थिति हो, वह उसी-उसीका अनुष्ठान करे ॥ २१ ॥

कणकुल्माषपिण्याकशाकयावकसक्तवः ।
तथा मूलफलं भैक्ष्यं पर्यायेणोपयोजयेत्॥ २२॥

अन्नके दाने, उड़द, तिलकी खली, साग, जौकी लप्सी, सत्तू, मूल और फल जो कुछ भी भिक्षामें मिल जाय, क्रमशः उसी अन्नसे योगी अपने जीवनका निर्वाह करे ॥ २२ ॥

आहारनियमं चैव देशे काले च सात्त्विकम्।
तत् परीक्ष्यानुवर्तेत तत्प्रवृत्त्यनुपूर्वकम् ॥ २३ ॥

देश और कालके अनुसार सात्त्विक आहार ग्रहण करनेका नियम रक्खे। उस आहारके दोष-गुणकी परीक्षा करके यदि वह योगसिद्धिके अनुकूल हो तो उसे उपयोगमें ले ॥ २३ ॥

प्रवृत्तं नोपरुन्धेत शनैरग्निमिवेन्धयेत्।
ज्ञानान्वितं तथा ज्ञानमर्कवत् सम्प्रकाशते ॥ २४ ॥

साधन आरम्भ कर देनेपर उसे बीचमें न रोके। जैसे आग धीरे-धीरे तेज की जाती है, उसी प्रकार ज्ञानके साधन... शनैः-शनैः उद्दीपित करे। ऐसा करनेसे ज्ञान सूर्यके सम... प्रकाशित होने लगता है ॥ २४ ॥

ज्ञानाधिष्ठानमज्ञानं त्रीँल्लोकानधितिष्ठति।
विज्ञानानुगतं ज्ञानमज्ञानेनापकृष्यते ॥ २५...

अज्ञानका अधिष्ठान भी ज्ञान ही है, जो तीनों लोकों... व्याप्त है। अज्ञानके द्वारा विज्ञानयुक्त ज्ञानका ह... होता है ॥ २५ ॥

पृथक्त्वात् सम्प्रयोगाच्च नासूयुर्वेद शाश्वतम्।
स तयोरपवर्गज्ञो वीतरागो विमुच्यते ॥ २६...

शास्त्रोंमें कहीं जीवात्मा और परमात्माकी पृथक्ता... प्रतिपादन करनेवाले वचन उपलब्ध होते हैं और कहीं उन... एकताका। यह परस्पर विरोध देखकर दोषदृष्टि न करते हु... सनातन ज्ञानको प्राप्त करे। जो उन दोनों प्रकारके वचनों... तात्पर्य समझकर मोक्षके तत्त्वको जान लेता है, वह वीतरा... पुरुष संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २६ ॥

ततो वीतजरामृत्युर्ज्ञात्वा ब्रह्म सनातनम्।
अमृतं तदवाप्नोति यत् तदक्षरमव्ययम् ॥ २७...

ऐसा पुरुष जरा और मृत्युका उल्लङ्घनकर सना... ब्रह्मको जानकर उस अक्षर, अविकारी एवं अमृत ब्रह्म... प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका वर्णनविषयक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१५ ॥

षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थामें मनकी स्थिति तथा गुणातीत ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

भीष्म उवाच

निष्कल्मषं ब्रह्मचर्यमिच्छता चरितुं सदा।
निद्रा सर्वात्मना त्याज्या स्वप्नदोषानवेक्षता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! सदा निष्कलंक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको स्वप्नके दोषोंपर दृष्टि रखते हुए सब प्रकारसे निद्राका परित्याग कर देना चाहिये ॥ १ ॥

स्वप्ने हि रजसा देही तमसा चाभिभूयते।
देहान्तरमिवापन्नश्चरत्यपगतस्पृहः ॥ २ ॥

स्वप्नमें जीवको प्रायः रजोगुण और तमोगुण दबा लेते हैं। वह कामनायुक्त होकर दूसरे शरीरको प्राप्त हुएकी भाँति विचरता है ॥ २ ॥

ज्ञानाभ्यासाज्जागरणं जिज्ञासार्थमनन्तरम्।
विज्ञानाभिनिवेशात्तु स जागर्त्यनिशं सदा ॥ ३ ॥

मनुष्यमें पहले तो ज्ञानका अभ्यास करनेसे जागने... आदत होती है, तत्पश्चात् विचार करनेके लिये जाग... अनिवार्य हो जाता है तथा जो तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता... वह तो ब्रह्ममें निरन्तर जागता ही रहता है ॥ ३ ॥

अत्राह को न्वयं भावः स्वप्ने विषयवानिव।
प्रलीनैरिन्द्रियैर्देही वर्तते देहवानिव ॥ ४...

यहाँ पूर्व पक्ष यह प्रश्न उठाता है कि स्वप्नमें जो... देहादि पदार्थ दिखायी देता है, क्या है! (सत्य है... असत्य? यदि कहें कि सत्य है तो ठीक नहीं; क्योंकि) स्वप्ना... वस्थामें सब कुछ विषयोंसे सम्पन्न-सा दिखायी देनेपर... वास्तवमें वहाँ कोई विषय नहीं होता, सारी इन्द्रियाँ उ... समय मनमें विलीन हो जाती हैं। उन्हीं इन्द्रियोंसे देहा... भिमानी जीव देहधारी-जैसा बर्ताव करता है। और यदि... कहें कि स्वप्नके पदार्थ असत्य हैं तो यह भी ठीक नहीं...

क्योंकि जो सर्वथा असत् है, (जैसे आकाशका पुष्प) उसकी प्रतीति ही नहीं होती ॥ ४ ॥

अत्रोच्यते यथा ह्येतद् वेद योगेश्वरो हरिः ।
तथैतदुपपन्नार्थं वर्णयन्ति महर्षयः ॥ ५ ॥

अब यहाँ सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जाता है । यह स्वप्न-जगत् जैसा है, उसे ठीक-ठीक योगेश्वर श्रीहरि ही जानते हैं; पर जैसा श्रीहरि जानते हैं, वैसा ही महर्षि भी उसका वर्णन करते हैं, उनका वह वर्णन युक्तिसंगत भी है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणां श्रमात् स्वप्नमाहुः सर्वगतं बुधाः ।
मनसस्त्वप्रलीनत्वात् तत् तदाहुर्निदर्शनम् ॥ ६ ॥

विद्वान् महर्षियोंका कहना है कि जाग्रत्-अवस्थामें निरन्तर शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करते-करते श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ जब थक जाती हैं, तब सभी प्राणियोंके अनुभवमें आनेवाला स्वप्न दिखायी देने लगता है । उस समय इन्द्रियोंके लय होनेपर भी मनका लय नहीं होता है; इसलिये वह समस्त विषयोंका जो मनसे अनुभव करता है, वही स्वप्न कहलाता है । इस विषयमें प्रसिद्ध दृष्टान्त बताया जाता है ॥ ६ ॥

कार्यं व्यासक्तमनसः संकल्पो जाग्रतो ह्यपि ।
यद्वन्मनोरथैश्वर्यं स्वप्ने तद्वन्मनोगतम् ॥ ७ ॥

जैसे जाग्रत्-अवस्थामें विभिन्न कार्योंमें आसक्त-चित्त हुए मनुष्यके संकल्प मनोराज्यकी ही विभूति हैं, उसी प्रकार स्वप्नके भाव भी मनसे ही सम्बन्ध रखते हैं ॥ ७ ॥

संस्काराणामसंख्यानां कामात्मा तदवाप्नुयात् ।
मनस्यन्तर्हितं सर्वं स वेदोत्तमपूरुषः ॥ ८ ॥

कामनाओंमें जिसका मन आसक्त है, वह पुरुष स्वप्नमें असंख्य संस्कारोंके अनुसार अनेक दृश्योंको देखता है । वे समस्त संस्कार उसके मनमें ही छिपे रहते हैं, जिन्हें वह सर्वश्रेष्ठ अन्तर्यामी पुरुष परमात्मा जानता है ॥ ८ ॥

गुणानामपि यद्येतत् कर्मणा चाप्युपस्थितम् ।
तत् तच्छंसन्ति भूतानि मनो यद्भावितं यथा ॥ ९ ॥

कर्मोंके अनुसार सत्त्वादि गुणोंमेंसे यदि यह सत्त्व, रज या तम जो कोई भी गुण प्राप्त होता है, उससे मनपर जब जैसे संस्कार पड़ते हैं अथवा जब जिस कर्मसे मन भावित होता है, उस समय सूक्ष्मभूत स्वप्नमें वैसे ही आकार प्रकट कर देते हैं ॥ ९ ॥

ततस्तमुपसर्पन्ति गुणा राजसतामसाः ।
सात्त्विका वा यथायोगमानन्तर्यफलोदयम् ॥ १० ॥

उस स्वप्नका दर्शन होते ही सात्त्विक, राजस अथवा तामस गुण यथायोग्य सुख-दुःखरूप फलका अनुभव कराने-के लिये उसके पास आ पहुँचते हैं ॥ १० ॥

ततः पश्यन्त्यसम्बुद्ध्या वातपित्तकफोत्तरान् ।
रजस्तमोगतैर्भावैस्तदप्याहुर्दुरत्ययम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर मनुष्य स्वप्नमें अज्ञानवश वात, पित्त या कफकी प्रधानतासे युक्त तथा काम, मोह आदि राजस, तामस भावोंसे व्याप्त नाना प्रकारके शरीरोंका दर्शन करते हैं । तत्त्वज्ञान हुए बिना उस स्वप्नदर्शनको लाँघना अत्यन्त कठिन बताया गया है ॥ ११ ॥

प्रसन्नैरिन्द्रियैर्यद् यत् संकल्पयति मानसम् ।
तत् तत् स्वप्नेऽप्युपगते मनो ह्यष्यन्निरीक्षते ॥ १२ ॥

जाग्रत्-अवस्थामें प्रसन्न इन्द्रियोंके द्वारा मनुष्य अपने मनमें जो-जो संकल्प करता है, स्वप्नावस्था आनेपर भी उसका वह मन हर्षपूर्वक उसी-उसी संकल्पको पूर्ण होता देखा करता है ॥ १२ ॥

व्यापकं सर्वभूतेषु वर्ततेऽप्रतिघं मनः ।
आत्मप्रभावात् विद्यात् सर्वा ह्यात्मनि देवताः ॥ १३ ॥

मनकी सर्वत्र अबाध गति है । वह अपने अधिष्ठान-भूत आत्माके ही प्रभावसे सम्पूर्ण भूतोंमें व्याप्त है; अतः आत्मा-को अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सभी देवता आत्मामें ही स्थित हैं ॥ १३ ॥

मनस्यन्तर्हितं द्वारं देहमास्थाय मानुषम् ।
यद् यत् सदसदव्यक्तं स्वपित्यस्मिन्निदर्शनम् ।
सर्वभूतात्मभूतस्थं तमध्यात्मगुणं विदुः ॥ १४ ॥

स्वप्न-दर्शनका द्वारभूत जो स्थूल मानव देह है, वह सुषुप्ति-अवस्थामें मनमें लीन हो जाता है । उसी देहका आश्रय ले मन अव्यक्त सदसत्स्वरूप एवं साक्षीभूत आत्माको प्राप्त होता है । वह आत्मा सम्पूर्ण भूतोंके आत्मभूत है । ज्ञानी पुरुष उसे अध्यात्मगुणसे युक्त मानते हैं ॥ १४ ॥

लिप्सेत मनसा यश्च संकल्पादैश्वरं गुणम् ।
आत्मप्रसादं तं विद्यात् सर्वा ह्यात्मनि देवताः ॥ १५ ॥

जो योगी मनके द्वारा संकल्पसे ही ईश्वरीय गुणको पाना चाहता है, वह उस आत्मप्रसादको प्राप्त कर लेता है; क्योंकि सम्पूर्ण देवता आत्मामें ही स्थित हैं ॥ १५ ॥

एवं हि तरसा युक्तमर्कवत् तमसः परम् ।
त्रैलोक्यप्रकृतिर्देही तमसोऽन्ते महेश्वरः ॥ १६ ॥

इस प्रकार तपस्यासे युक्त हुआ मन अज्ञानान्धकारसे ऊपर उठकर सूर्यके समान ज्ञानमय प्रकाशसे प्रकाशित होने लगता है । जीवात्मा तीनों लोकोंका कारणभूत ब्रह्म ही है । वह अज्ञान निवृत्तिके पश्चात् महेश्वर (विशुद्ध परमात्मा) रूपसे प्रतिष्ठित होता है ॥ १६ ॥

तपो ह्यधिष्ठितं देवैस्तपोघ्नमसुरैस्तमः ।
एतद् देवासुरैर्गुप्तं तदाहुर्ज्ञानलक्षणम् ॥ १७ ॥

देवताओंने तपका आश्रय लिया है और असुरोंने तपस्यामें विघ्न डालनेवाले दम्भ, दर्प आदि तमको अपनाया है; परंतु ब्रह्मतत्त्व देवताओं और असुरोंसे छिपा हुआ है; तत्त्वज्ञ पुरुष इसे ज्ञानस्वरूप बताते हैं ॥ १७ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति देवासुरगुणान् विदुः ।
सत्त्वं देवगुणं विद्यादितरावासुरौ गुणौ ॥ १८ ॥

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—इन्हें देवताओं और असुरोंका गुण माना गया है । इनमें सत्त्व तो देवताओंका गुण और शेष दोनों असुरोंके गुण हैं ॥ १८ ॥

ब्रह्म तत् परमं ज्ञानममृतं ज्योतिरक्षरम् ।
ये विदुर्भावितात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १९ ॥

ब्रह्म इन सभी गुणोंसे अतीत, अक्षर, अमृत, स्वयंप्रकाश और ज्ञानस्वरूप है । जो शुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा उसे जानते हैं, वे परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १९ ॥

हेतुमच्छक्यमाख्यातुमेतावज्ज्ञानचक्षुषा ।
प्रत्याहारेण वा शक्यमक्षरं ब्रह्म वेदितुम् ॥ २० ॥

ज्ञानमयी दृष्टि रखनेवाले महापुरुष ही ब्रह्मके विषयमें युक्तिसंगत बात कह सकते हैं अथवा मन और इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर एकाग्रचित्त हो चिन्तन करनेसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो सकता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका कथनविषयक दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१६ ॥

सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) उन चारोंके ज्ञानसे मुक्तिका कथन तथा परमात्मप्राप्तिके अन्य साधनोंका भी वर्णन

भीष्म उवाच

न स वेद परं ब्रह्म यो न वेद चतुष्टयम् ।
व्यक्ताव्यक्तं च यत् तत्त्वं सम्प्रोक्तं परमर्षिणा ॥ १ ॥
व्यक्तं मृत्युमुखं विद्यादव्यक्तममृतं पदम् ।
प्रवृत्तिलक्षणं धर्ममृषिर्नारायणोऽब्रवीत् ॥ २ ॥
तत्रैवावस्थितं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
निवृत्तिलक्षणं धर्ममव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! जो मनुष्य सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग तथा प्रकृति और पुरुष—इन चारोंको नहीं जानता है, वह परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता है । परम ऋषि नारायणने जिस व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वका प्रतिपादन किया है, उसमें व्यक्त (दृश्यवर्ग) को मृत्युके मुखमें पड़नेवाला जाने और अव्यक्तको अमृतपद समझे तथा नारायण ऋषिने जिस प्रवृत्तिरूप धर्मका प्रतिपादन किया है, उसीपर चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकी प्रतिष्ठित है । निवृत्तिरूप जो धर्म है, वह अव्यक्त सनातन ब्रह्मस्वरूप है ॥ १–३ ॥

प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं प्रजापतिरथाब्रवीत् ।
प्रवृत्तिः पुनरावृत्तिर्निवृत्तिः परमा गतिः ॥ ४ ॥

प्रजापति ब्रह्माजीने प्रवृत्तिरूप धर्मका उपदेश दिया है; परंतु प्रवृत्तिरूप धर्म पुनरावृत्तिका कारण है । उसके आचरणसे संसारमें बारंबार जन्म लेना पड़ता है और निवृत्तिरूप धर्म परमगतिकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ ४ ॥

तां गतिं परमामेति निवृत्तिपरमो मुनिः ।
ज्ञानतत्त्वपरो नित्यं शुभाशुभनिदर्शकः ॥ ५ ॥

जो सदा ज्ञानतत्त्वके चिन्तनमें संलग्न रहनेवाला, शुभ और अशुभको (ज्ञाननेत्रोंके द्वारा तत्त्वसे) देखनेवाला तथा निवृत्तिपरायण मुनि है, वही उस परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

तदेवमेतौ विज्ञेयावव्यक्तपुरुषावुभौ ।
अव्यक्तपुरुषाभ्यां तु यत् स्यादन्यन्महत्तरम् ॥ ६ ॥
तं विशेषमवेक्षेत विशेषेण विचक्षणः ।

इस प्रकार विचारशील पुरुषको चाहिये कि वह पहले अव्यक्त[1] (प्रकृति) और पुरुष (जीवात्मा)—इन दोनोंका ज्ञान प्राप्त करे; फिर इन दोनोंसे श्रेष्ठ जो परम महान् पुरुषोत्तम तत्त्व है, उसका विशेषरूपसे ज्ञान प्राप्त करे ॥ ६½ ॥

अनाद्यन्तावुभावेतावलिङ्गौ चाप्युभावपि ॥ ७ ॥
उभौ नित्यावविचलौ महद्भ्यश्च महत्तरौ ।
सामान्यमेतदुभयोरेवं ह्यन्यद्विशेषणम् ॥ ८ ॥

ये प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) दोनों ही अनादि और अनन्त हैं* । दोनों ही अलिङ्ग निराकार हैं तथा दोनों ही नित्य, अविचल और महान्से भी महान् हैं । ये सब बातें इन दोनोंमें समानरूपसे पायी जाती हैं; परंतु इनमें जो अन्तर या वैलक्षण्य है, वह दूसरा ही है, जिसे बताया जाता है ॥ ७-८ ॥

प्रकृत्या सर्गधर्मिण्या तथा त्रिगुणधर्मया ।
विपरीतमतो विद्यात् क्षेत्रज्ञस्य स्वलक्षणम् ॥ ९ ॥

प्रकृति त्रिगुणमयी है । ब्रह्मके सकाशसे सृष्टि करना उसका सहज धर्म है, किंतु क्षेत्रज्ञ अथवा पुरुषके स्वरूपको प्रकृतिसे सर्वथा विपरीत (विलक्षण) जानना चाहिये ॥ ९ ॥

---

१. इससे पूर्व पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें अव्यक्त शब्द परमात्माका वाचक है और यहाँ 'अव्यक्त' शब्द प्रकृतिका वाचक समझना चाहिये ।

* प्रकृति प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त है तथा पुरुष (जीवात्मा) स्वरूपसे ।

प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणान्वितम् ।
अग्राह्यौ पुरुषावेतावलिङ्गत्वादसंहतौ ॥ १० ॥

वह स्वयं गुणोंसे रहित तथा प्रकृतिके विकारों (कार्यों) का द्रष्टा है। ये दोनों प्रकृति और पुरुष सम्पूर्णतः इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं। दोनों ही आकाररहित तथा एक दूसरेसे विलक्षण हैं ॥ १० ॥

संयोगलक्षणोत्पत्तिः कर्मणा गृह्यते यथा ।
करणैः कर्मनिर्वृत्तिः कर्ता यद् यद् विचेष्टते ।
कीर्त्यते शब्दसंज्ञाभिः कोऽहमेषोऽप्यसाविति॥ ११ ॥

प्रकृति और पुरुषके संयोगसे चराचर जगत्‌की उत्पत्ति होती है, जो कर्मसे ही जानी जाती है। जीव मन-इन्द्रियोंद्वारा कर्म करता है। वह जिस-जिस कर्मको करता है, उस-उसका कर्ता कहलाता है। 'कौन' 'मैं' 'यह' और 'वह'—इन शब्दों एवं संज्ञाओंद्वारा उसीका वर्णन किया जाता है॥ ११ ॥

उष्णीषवान् यथा वस्त्रैस्त्रिभिर्भवति संवृतः ।
संवृतोऽयं तथा देही सत्त्वराजसतामसैः ॥ १२ ॥

जैसे पगड़ी बाँधनेवाला पुरुष तीन वस्त्रों (पगड़ी, ऊर्ध्ववस्त्र, अधोवस्त्र) से परिवेष्टित होता है, उसी प्रकार यह देहाभिमानी जीव सत्त्व, रज और तम—तीन गुणोंसे आवृत होता है ॥ १२ ॥

तस्माच्चतुष्टयं वेद्यमेतैर्हेतुभिरावृतम् ।
यथासंज्ञो ह्ययं सम्यगन्तकाले न मुह्यति ॥ १३ ॥

अतः इन्हीं हेतुओंसे आवृत हुई इन चार वस्तुओं (सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग, प्रकृति और पुरुष) को जानना चाहिये। इन्हें भलीभाँति तत्त्वसे जान लेनेपर मनुष्य मृत्युके समय मोहमें नहीं पड़ता है ॥ १३ ॥

श्रियं दिव्यामभिप्रेप्सुर्वर्ष्मवान् मनसा शुचिः ।
शारीरैर्नियमैरुग्रैश्चरेन्निष्कल्मषं तपः ॥ १४ ॥

जो दिव्य सम्पत्ति अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहे, उस देहधारी पुरुषको अपना मन शुद्ध रखना चाहिये और शरीरसे कठोर नियमोंका पालन करते हुए निर्दोष तपका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १४ ॥

त्रैलोक्यं तपसा व्याप्तमन्तर्भूतेन भास्वता ।
सूर्यश्च चन्द्रमाश्चैव भासतस्तपसा दिवि ॥ १५ ॥

आन्तरिक तप चैतन्यमय प्रकाशसे युक्त है। उसके द्वारा तीनों लोक व्याप्त हैं। आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा भी तपसे ही प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

प्रकाशस्तपसो ज्ञानं लोके संशब्दितं तपः ।
रजस्तमोघ्नं यत् कर्म तपसस्तत् स्वलक्षणम् ॥ १६ ॥

लोकमें तप शब्द विख्यात है। उस तपका फल है, ज्ञानस्वरूप प्रकाश। रजोगुण और तमोगुणका नाश करनेवाला जो निष्काम कर्म है, वही तपस्याका स्वरूपबोधक लक्षण है ॥

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।
वाङ्मनोनियमः सम्यङ्मानसं तप उच्यते ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्य और अहिंसाको शारीरिक तप कहते हैं। मन और वाणीका भलीभाँति किया हुआ संयम मानसिक तप कहलाता है ॥ १७ ॥

विधिज्ञेभ्यो द्विजातिभ्यो ग्राह्यमन्नं विशिष्यते ।
आहारनियमेनास्य पाप्मा शाम्यति राजसः ॥ १८ ॥

वैदिक विधिको जानने और उनके अनुसार चलनेवाले द्विजातियोंसे ही अन्न ग्रहण करना उत्तम माना गया है। ऐसे अन्नका नियमपूर्वक भोजन करनेसे रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला पाप शान्त हो जाता है ॥ १८ ॥

वैमनस्यं च विषये यान्त्यस्य करणानि च ।
तस्मात् तन्मात्रमादद्याद् यावदत्र प्रयोजनम् ॥ १९ ॥

उससे साधककी इन्द्रियाँ भी विषयोंकी ओरसे विरक्त हो जाती हैं। इसलिये उतना ही अन्न ग्रहण करना चाहिये, जितना जीवन-रक्षाके लिये वाञ्छनीय हो ॥ १९ ॥

अन्तकाले बलोत्कर्षाच्छनैः कुर्यादनातुरः ।
एवं युक्तेन मनसा ज्ञानं यदुपपद्यते ॥ २० ॥

इस प्रकार योगयुक्त मनके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे जीवनके अन्त समयतक पूरी शक्ति लगाकर धीरे-धीरे प्राप्त ही कर लेना चाहिये। इस कार्यमें धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये ॥ २० ॥

रजोवर्ज्योऽप्ययं देही देहवाञ्छब्दवच्चरेत् ।
कार्यैरव्याहतमतिर्वैराग्यात् प्रकृतौ स्थितः ॥ २१ ॥

योगपरायण योगीकी बुद्धि कार्योंद्वारा व्याहत नहीं होती। वह वैराग्यवश अपने स्वाभावमें स्थित रहता है, रजोगुणसे रहित होता है तथा देहधारी होकर भी शब्दकी भाँति अबाध गतिसे सर्वत्र विचरण करता है ॥ २१ ॥

आ देहादप्रमादाच्च देहान्ताद् विप्रमुच्यते ।
हेतुयुक्तः सदा सर्गो भूतानां प्रलयस्तथा ॥ २२ ॥

देह-त्यागपर्यन्त प्रमाद न होनेपर योगी देहावसानके पश्चात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है और जो बन्धनके कारणभूत अज्ञानसे युक्त होते हैं, उन प्राणियोंके सदा जन्म और मरण होते रहते हैं ॥ २२ ॥

परप्रत्ययसर्गे तु नियतिर्नानुवर्तते ।
भावान्तप्रभवप्रज्ञा आसते ये विपर्ययम् ॥ २३ ॥

जिनको ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया है, उनका प्रारब्ध अनुसरण नहीं करता है अर्थात् वे प्रारब्धके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। परंतु जो इसके विपरीत स्थितिमें हैं अर्थात् जिनका अज्ञान दूर नहीं हुआ है, वे प्रारब्धवश जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े रहते हैं ॥ २३ ॥

धृत्या देहान् धारयन्तो बुद्धिसंक्षिप्तचेतसः ।
स्थानेभ्यो ध्वंसमानाश्च सूक्ष्मत्वात् तदुपासते ॥२४॥

कुछ योगीजन बुद्धिके द्वारा अपने चित्तको विषयोंकी

ओरसे हटाकर आसनकी दृढ़तासे स्थिरतापूर्वक देहको धारण करते हुए इन्द्रिय-गोलकोंसे सम्बन्ध त्यागकर सूक्ष्म बुद्धि होनेके कारण ब्रह्मकी उपासना करते हैं * ॥ २४ ॥

यथागमं च गत्वा वै बुद्ध्या तत्रैव बुद्ध्यते ।
देहान्तं कश्चिदन्वास्ते भावितात्मा निराश्रयम्॥ २५ ॥

कोई-कोई शास्त्रमें बताये हुए क्रमसे (उत्तरोत्तर उत्कृष्ट तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करते हुए पराकाष्ठातक पहुँचकर वहीं) बुद्धिके द्वारा ब्रह्मका अनुभव करते हैं । जिसने योगके द्वारा अपनी बुद्धिको शुद्ध कर लिया है, ऐसा कोई-कोई योगी ही देहस्थितिपर्यन्त आश्रयरहित—अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित ब्रह्ममें स्थित रहता है ॥ २५ ॥

युक्तं धारणया सम्यक् सतः केचिदुपासते ।
अभ्यस्यन्ति परं देवं विद्युत्संशब्दिताक्षरम् ॥ २६ ॥

इसी तरह कोई तो योगधारणाके द्वारा सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं और कोई उस परम देवका चिन्तन करते हैं, जो विद्युत्के समान ज्योतिर्मय और अविनाशी कहा गया है ॥ २६ ॥

अन्तकाले ह्युपासन्ते तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
सर्व एते महात्मानो गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ २७ ॥

कुछ लोग तपस्यासे अपने पापोंको दग्ध करके अन्तकालमें ब्रह्मकी प्राप्ति करते हैं । इन सभी महात्माओंको उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

सूक्ष्मं विशेषणं तेषामवेक्षेच्छास्त्रचक्षुषा ।
देहान्तं परमं विद्याद् विमुक्तमपरिग्रहम् ।
अन्तरिक्षादन्यतरं धारणासक्तमानसम् ॥ २८ ॥

शास्त्रीय दृष्टिसे उन महात्माओंकी सूक्ष्म विशेषताको देखे । देहत्यागपर्यन्त नित्यमुक्त, अपरिग्रह, आकाशसे भी विलक्षण उस परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करे, जिसमें योगधारणाद्वारा मनको स्थापित किया जाता है ॥ २८ ॥

मर्त्यलोकाद् विमुच्यन्ते विद्यासंसक्तचेतसः ।
ब्रह्मभूता विरजसस्ततो यान्ति परां गतिम् ॥ २९ ॥

जिनका मन ज्ञानके साधनमें लगा हुआ है, वे मर्त्यलोकके बन्धनसे छूट जाते हैं और रजोगुणसे रहित एवं ब्रह्मस्वरूप हो परम गतिको प्राप्त कर लेते हैं ॥ २९ ॥

एवमेकायनं धर्ममाहुर्वेदविदो जनाः ।
यथाज्ञानमुपासन्तः सर्वे यान्ति परां गतिम् ॥ ३० ॥

वेदके ज्ञाता विद्वान् पुरुषोंने इस प्रकार एकमात्र ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाले साधनरूप धर्मका वर्णन किया है । अपने अपने ज्ञानके अनुसार उपासना करनेवाले सभी साधक परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

कषायवर्जितं ज्ञानं येषामुत्पद्यते चलम् ।
यान्ति तेऽपि पराँल्लोकान् विमुच्यन्ते यथाबलम्॥ ३१ ॥

जिन्हें राग आदि दोषोंसे रहित अस्थायी ज्ञान प्राप्त होता है, वे भी उत्तम लोकोंको प्राप्त होते हैं । तदनन्तर साधनबलसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३१ ॥

भगवन्तमजं दिव्यं विष्णुमव्यक्तसंज्ञितम् ।
भावेन यान्ति शुद्धा ये ज्ञानतृप्ता निराशिषः ॥ ३२ ॥

जो सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे युक्त, अजन्मा, दिव्य एवं अव्यक्त नामवाले भगवान् विष्णुकी भक्तिभावसे शरण लेते हैं, वे ज्ञानानन्दसे तृप्त, विशुद्ध और कामनारहित हो जाते हैं ॥

ज्ञात्वाऽऽत्मस्थं हरिं चैव न निवर्तन्ति तेऽव्ययाः ।
प्राप्य तत् परमं स्थानं मोदन्तेऽक्षरमव्ययम् ॥ ३३ ॥

वे अपने अन्तःकरणमें श्रीहरिको स्थित जानकर अव्ययस्वरूप हो जाते हैं । उन्हें फिर इस संसारमें नहीं आना पड़ता । वे उस अविनाशी और अविकारी परमपदको पाकर परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

एतावदेतद् विज्ञानमेतदस्ति च नास्ति च ।
तृष्णाबद्धं जगत् सर्वं चक्रवत् परिवर्तते ॥ ३४ ॥

इतना ही यह विज्ञान है—यह जगत् है भी और नहीं भी है (अर्थात् व्यावहारिक अवस्थामें यह जगत् है और पारमार्थिक अवस्थामें नहीं है) । सम्पूर्ण जगत् तृष्णामें बँधकर चक्रके समान घूम रहा है ॥ ३४ ॥

बिसतन्तुर्यथैवायमन्तःस्थः सर्वतो बिसे ।
तृष्णातन्तुरनाद्यन्तस्तथा देहगतः सदा ॥ ३५ ॥

जैसे कमलकी नालमें रहनेवाला तन्तु उसके सभी अंशोंमें फैला रहता है, उसी प्रकार अनादि एवं अनन्त तृष्णातन्तु सदा देहधारीके चित्तमें स्थित रहता है ॥ ३५ ॥

सूच्या सूत्रं यथा वस्त्रे संसारयति वायकः ।
तद्वत् संसारसूत्रं हि तृष्णासूच्या निबद्ध्यते ॥ ३६ ॥

जैसे कपड़ा बुननेवाला जुलाहा सूईसे वस्त्रमें सूतको पिरो देता है, उसी प्रकार तृष्णारूपी सूईसे संसाररूपी सूत्र ग्रथित होता है ॥ ३६ ॥

विकारं प्रकृतिं चैव पुरुषं च सनातनम् ।
यो यथावद् विजानाति स वितृष्णो विमुच्यते ॥ ३७ ॥

जो प्रकृतिको, उसके कार्यको, पुरुष (जीवात्मा) को और सनातन परमात्माको यथार्थ रूपसे जानता है, वह तृष्णारहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ३७ ॥

प्रकाशं भगवानेतदृषिर्नारायणोऽमृतम् ।

* पुराणान्तरमें बताया गया है कि इन्द्रियोंका आत्मभावसे चिन्तन करनेवाले योगी दस मन्वन्तरोंतक ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं । यथा—

दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।

भूतानामनुकम्पार्थं जगाद जगतो गतिः ॥ ३८ ॥

संसारको शरण देनेवाले ऋषिश्रेष्ठ भगवान् नारायणने जीवोंपर दया करनेके लिये ही इस अमृतमय ज्ञानको प्रकाशित किया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका वर्णनविषयक दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१७ ॥

अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजा जनकके दरबारमें पञ्चशिखका आगमन और उनके द्वारा नास्तिक मतोंके निराकरणपूर्वक शरीरसे भिन्न आत्माकी नित्य सत्ताका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ जनको मिथिलाधिपः ।
जगाम मोक्षं मोक्षज्ञो भोगानुत्सृज्य मानुषान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सदाचारके ज्ञाता पितामह ! मोक्ष-धर्मको जाननेवाले मिथिलानरेश जनकने मानवभोगोंका परित्याग करके किस प्रकारके आचरणसे मोक्ष प्राप्त किया ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
येन वृत्तेन धर्मज्ञः स जगाम महत्सुखम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसके आचरणसे धर्मज्ञ राजा जनक महान् सुख (मोक्ष) को प्राप्त हुए थे ॥ २ ॥

जनको जनदेवस्तु मिथिलायां जनाधिपः ।
और्ध्वदेहिकधर्माणामासीद् युक्तो विचिन्तने ॥ ३ ॥

प्राचीन कालकी बात है मिथिलामें जनकवंशी राजा जन-देव राज्य करते थे । वे सदा देह-त्यागके पश्चात् आत्माके अस्तित्वरूप धर्मोंके ही चिन्तनमें लगे रहते थे ॥ ३ ॥

तस्य स्म शतमाचार्या वसन्ति सततं गृहे ।
दर्शयन्तः पृथग्धर्मान् नानाश्रमनिवासिनः ॥ ४ ॥

उनके दरबारमें सौ आचार्य बराबर रहा करते थे, जो विभिन्न आश्रमोंके निवासी थे और उन्हें भिन्न-भिन्न धर्मोंका उपदेश देते रहते थे ॥ ४ ॥

स तेषां प्रेत्यभावे च प्रेत्यजातौ विनिश्चये ।
आगमस्थः स भूयिष्ठमात्मतत्त्वे न तुष्यति ॥ ५ ॥

'इस शरीरको त्याग देनेके पश्चात् जीवकी सत्ता रहती है या नहीं, अथवा देह-त्यागके बाद उसका पुनर्जन्म होता है या नहीं' इस विषयमें उन आचार्योंका जो सुनिश्चित सिद्धान्त था, वे लोग आत्मतत्त्वके विषयमें जैसा विचार उपस्थित करते थे, उससे शास्त्रानुयायी राजा जनदेवको विशेष संतोष नहीं होता था ॥ ५ ॥

तत्र पञ्चशिखो नाम कापिलेयो महामुनिः ।
परिधावन् महीं कृत्स्नां जगाम मिथिलामथ ॥ ६ ॥

एक बार कपिलाके पुत्र महामुनि पञ्चशिख सारी पृथ्वी-की परिक्रमा करते हुए मिथिलामें जा पहुँचे ॥ ६ ॥

सर्वसंन्यासधर्माणां तत्त्वज्ञानविनिश्चये ।
सुपर्यवसितार्थश्च निर्द्वन्द्वो नष्टसंशयः ॥ ७ ॥

वे सम्पूर्ण संन्यास-धर्मोंके ज्ञाता और तत्त्वज्ञानके निर्णयमें एक सुनिश्चित सिद्धान्तके पोषक थे । उनके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था । वे निर्द्वन्द्व होकर विचरा करते थे ॥ ७ ॥

ऋषीणामाहुरेकं तं यं कामानावृतं नृषु ।
शाश्वतं सुखमत्यन्तमन्विच्छन्तं सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥

उन्हें ऋषियोंमें अद्वितीय बताया जाता है । वे कामनासे सर्वथा शून्य थे । वे मनुष्योंके हृदयमें अपने उपदेशद्वारा अत्यन्त दुर्लभ सनातन सुखकी प्रतिष्ठा करना चाहते थे ॥ ८ ॥

यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षिं प्रजापतिम् ।
स मन्ये तेन रूपेण विस्मापयति हि स्वयम् ॥ ९ ॥

सांख्यके विद्वान् तो उन्हें साक्षात् प्रजापति महर्षि कपिल-का ही स्वरूप बताते हैं । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् कपिल स्वयं पञ्च-शिखके रूपमें आकर लोगोंको आश्चर्यमें डाल रहे हैं ॥ ९ ॥

आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम् ।
पञ्चस्रोतसि यः सत्रमास्ते वर्षसहस्रिकम् ॥ १० ॥

उन्हें आसुरि मुनिका प्रथम शिष्य और चिरंजीवी बताया जाता है । उन्होंने एक हजार वर्षोंतक मानस यज्ञका अनुष्ठान किया था ॥ १० ॥

तं समासीनमागम्य कापिलं मण्डलं महत् ।
पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः ॥ ११ ॥
पञ्चज्ञः पञ्चकृत्पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः ।
पुरुषावस्थमव्यक्तं परमार्थं न्यवेदयत् ॥ १२ ॥

एक समय आसुरि मुनि अपने आश्रममें बैठे हुए थे । इसी समय कपिलमतावलम्बी मुनियोंका महान् समुदाय वहाँ आया और प्रत्येक पुरुषके भीतर स्थित, अव्यक्त एवं परमार्थ-तत्त्वके विषयमें उनसे कुछ कहनेका अनुरोध करने लगा ।

उन्हींमें पञ्चशिख भी थे, जो पाँच स्रोतों (इन्द्रियों) वाले मनके व्यापार (ऊहापोह) में कुशल थे, पञ्चरात्र आगमके विशेषज्ञ थे, पाँच कोशोंके ज्ञाता और तद्विषयक पाँच प्रकारकी उपासनाओंके जानकार थे। शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान—इन पाँच गुणोंसे भी युक्त थे। उन पाँचों कोशोंसे भिन्न होनेके कारण उनके शिखास्थानीय जो ब्रह्म है, वह पञ्चशिख कहा गया है। उसके ज्ञाता होनेसे ऋषिको भी 'पञ्चशिख' माना गया है ॥ ११-१२ ॥

इष्टसत्रेण संसिद्धो भूयश्च तपसाऽऽसुरिः ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्व्यक्तिं बुबुधे देवदर्शनः ॥ १३ ॥

आसुरि तपोबलसे दिव्य दृष्टि प्राप्त कर चुके थे। ज्ञानयज्ञके द्वारा सिद्धि प्राप्त करके उन्होंने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको स्पष्टरूपसे समझ लिया था ॥ १३ ॥

यत् तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते ।
आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम् ॥ १४ ॥

जो एकमात्र अक्षर और अविनाशी ब्रह्म नाना रूपोंमें दिखायी देता है, उसका ज्ञान आसुरिने उस मुनिमण्डलीमें प्रतिपादित किया ॥ १४ ॥

तस्य पञ्चशिखः शिष्यो मानुष्या पयसा भृतः ।
ब्राह्मणी कपिला नाम काचिदासीत् कुटुम्बिनी ॥ १५ ॥
तस्याः पुत्रत्वमागम्य स्त्रियाः स पिबति स्तनौ ।
ततः स कापिलेयत्वं लेभे बुद्धिं च नैष्ठिकीम् ॥ १६ ॥

उन्हींके शिष्य पञ्चशिख थे, जो मानवी स्त्रीके दूधसे पले थे। कपिला नामवाली कोई कुटुम्बिनी ब्राह्मणी थी। उसी स्त्रीके पुत्रभावको प्राप्त होकर वे उसके स्तनोंका दूध पीते थे; अतः कपिलाका पुत्र कहलानेके कारण कापिलेय नामसे उनकी प्रसिद्धि हुई। उन्होंने नैष्ठिक (ब्रह्ममें निष्ठा रखनेवाली) बुद्धि प्राप्त की थी ॥ १५-१६ ॥

एतन्मे भगवानाह कापिलेयस्य सम्भवम् ।
तस्य तत् कापिलेयत्वं सर्ववित्त्वमनुत्तमम् ॥ १७ ॥

कापिलेयके जन्मका यह वृत्तान्त मुझे भगवान्‌ने बताया था। उनके कपिलापुत्र कहलाने और सर्वज्ञ होनेका यही परम उत्तम वृत्तान्त है ॥ १७ ॥

सामान्यं जनकं ज्ञात्वा धर्मज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ।
उपेत्य शतमाचार्यान् मोहयामास हेतुभिः ॥ १८ ॥

धर्मज्ञ पञ्चशिखने उत्तम ज्ञान प्राप्त किया था। वे राजा जनकको सौ आचार्योंपर समानभावसे अनुरक्त जान उनके दरबारमें गये और वहाँ जाकर उन्होंने अपने युक्तियुक्त वचनोंद्वारा उन सब आचार्योंको मोहित कर दिया ॥ १८ ॥

जनकस्त्वभिसंरक्तः कापिलेयानुदर्शनात् ।
उत्सृज्य शतमाचार्यान् पृष्ठतोऽनुजगाम तम् ॥ १९ ॥

उस समय महाराज जनक कपिलानन्दन पञ्चशिखका ज्ञान देखकर उनके प्रति आकृष्ट हो गये और अपने सौ आचार्योंको छोड़कर उन्हींके पीछे चलने लगे ॥ १९ ॥

तस्मै परमकल्याय प्रणताय च धर्मतः ।
अब्रवीत् परमं मोक्षं यत् तत् सांख्येऽभिधीयते ॥ २०

तब मुनिवर पञ्चशिखने राजाको धर्मानुसार चरणोंमें पड़ा देख उन्हें योग्य अधिकारी मानकर परम मोक्षका उपदेश दिया, जिसका सांख्यशास्त्रमें वर्णन है ॥ २० ॥

जातिनिर्वेदमुक्त्वा स कर्मनिर्वेदमब्रवीत् ।
कर्मनिर्वेदमुक्त्वा च सर्वनिर्वेदमब्रवीत् ॥ २१

उन्होंने 'जातिनिर्वेद'[1] का वर्णन करके 'कर्मनिर्वेद'[2] का उपदेश किया। तत्पश्चात् 'सर्वनिर्वेद'[3] की बात बतायी ॥ २१

यदर्थं धर्मसंसर्गः कर्मणां च फलोदयः ।
तमनाश्वासिकं मोहं विनाशि चलमध्रुवम् ॥ २२

उन्होंने कहा— 'जिसके लिये धर्मका आचरण किया जाता है, जो कर्मोंके फलका उदय होनेपर प्राप्त होता है, वह इहलोक या परलोकका भोग नश्वर है। उसपर आस्था करना उचित नहीं। वह मोहरूप, चञ्चल और अस्थिर है' ॥ २२ ॥

दृश्यमाने विनाशे च प्रत्यक्षे लोकसाक्षिके ।
आगमात् परमस्तीति ब्रुवन्नपि पराजितः ॥ २३

कुछ नास्तिक ऐसा कहा करते हैं कि देहरूपी आत्माका विनाश प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। सम्पूर्ण लोक इसका साक्षी है। फिर भी यदि कोई शास्त्रप्रमाणकी ओट लेकर देहसे भिन्न आत्माकी सत्ताका प्रतिपादन करता है तो वह परास्त है; क्योंकि उसका कथन लोकानुभवके विरुद्ध है ॥ २३ ॥

अनात्मा ह्यात्मनो मृत्युः क्लेशो मृत्युर्जरामयः ।
आत्मानं मन्यते मोहात् तदसम्यक् परं मतम् ॥ २४

आत्माके स्वरूपभूत शरीरका अभाव होना ही उसकी मृत्यु है। इस दृष्टिसे दुःख, वृद्धावस्था तथा नाना प्रकारके रोग—ये सभी आत्माकी मृत्यु ही है (क्योंकि इनके द्वारा शरीरका आंशिक विनाश होता रहता है)। फिर भी जो लोग आत्माको देहसे भिन्न मानते हैं, उनकी यह मान्यता बहुत ही असङ्गत है ॥ २४ ॥

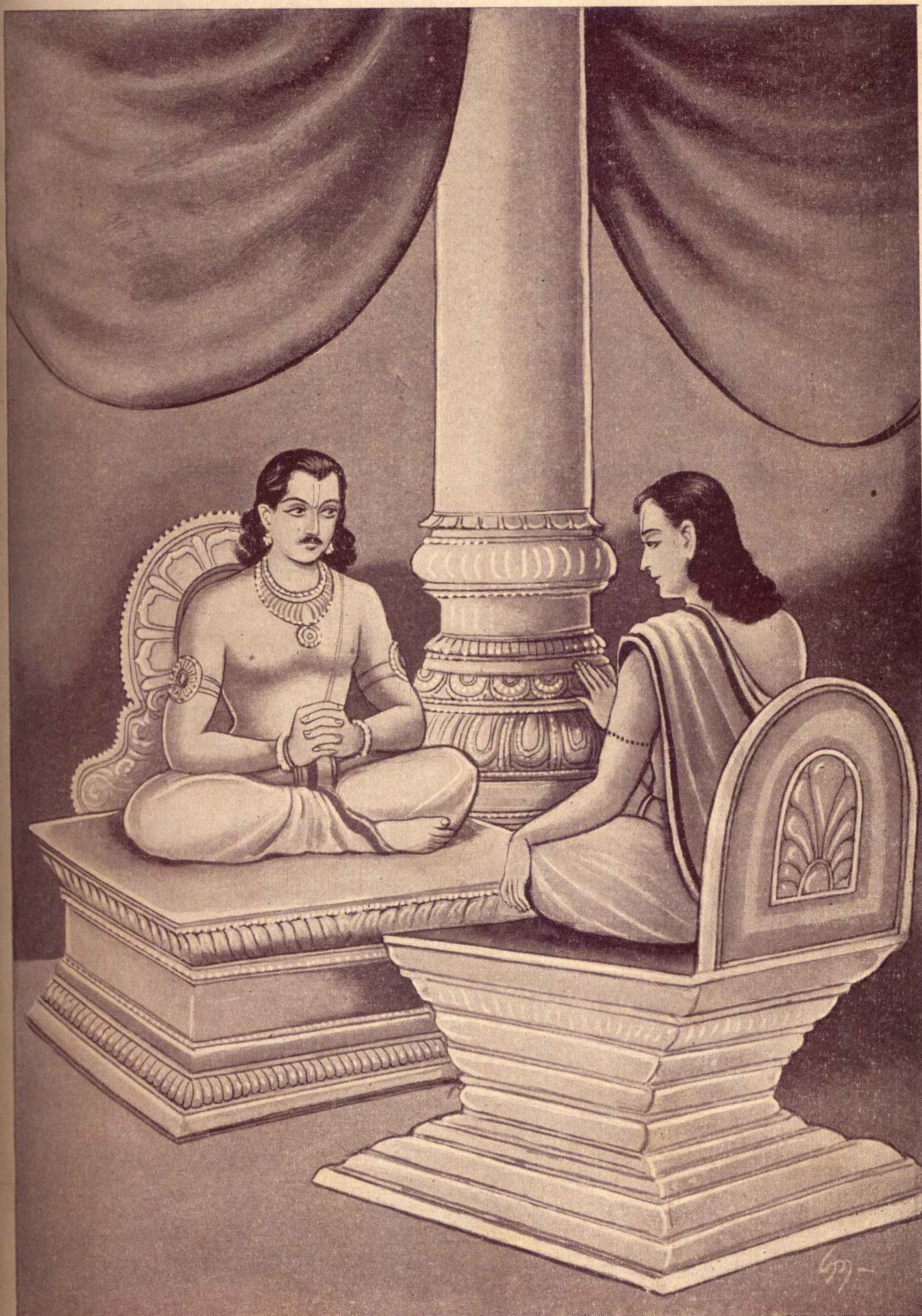
अथ चेदेवमप्यस्ति यल्लोके नोपपद्यते ।
अजरोऽयममृत्युश्च राजासौ मन्यते यथा ॥ २५

यदि ऐसी वस्तुका भी अस्तित्व मान लिया जाय, जो लोकमें सम्भव नहीं है अर्थात् यदि शास्त्रके आधारपर यह स्वीकार कर लिया जाय कि शरीरसे भिन्न कोई अजर-अमर आत्मा है, जो स्वर्गादि लोकोंमें दिव्य सुख भोगता है, तब

१- जन्मके समय गर्भवास आदिके कारण जो कष्ट होता है, उसपर विचार करके शरीरसे वैराग्य होना 'जातिनिर्वेद' है।

२- कर्मजनित क्लेश — नाना योनियोंकी प्राप्ति एवं नरक-यातनाका विचार करके पाप तथा काम्य कर्मोंसे विरत होना 'कर्मनिर्वेद' है।

३- इस जगत्‌की छोटी-से-छोटी वस्तुओंसे लेकर ब्रह्मलोकतकके भोगोंकी क्षणभङ्गुरता और दुःखरूपताका विचार करके सब ओरसे विरक्त होना 'सर्वनिर्वेद' कहलाता है।



महर्षि पञ्चशिखका महाराज जनकको उपदेश

बन्दीजन जो राजाको अजर-अमर कहते हैं, उनकी वह बात भी ठीक माननी पड़ेगी (सारांश यह है कि जैसे बन्दीजन आशीर्वादमें उपचारतः राजाको अजर-अमर कहते हैं, उसी प्रकार यह शास्त्रका वचन भी औपचारिक ही है। नीरोग शरीरको ही अजर-अमर और यहाँके प्रत्यक्ष सुख-भोगको ही स्वर्गीय सुख कहा गया है) ॥ २५ ॥

अस्ति नास्तीति चाप्येतत् तस्मिन्नसति लक्षणे ।
किमधिष्ठाय तद् ब्रूयाल्लोकयात्राविनिश्चयम् ॥ २६ ॥

यदि आत्मा है या नहीं—यह संशय उपस्थित होनेपर अनुमानसे उसके अस्तित्वका साधन किया जाय तो इसके लिये कोई ऐसा ज्ञापक हेतु नहीं उपलब्ध होता, जो कहीं दोषयुक्त न होता हो; फिर किस अनुमानका आश्रय लेकर लोकव्यवहार-का निश्चय किया जा सकता है ॥ २६ ॥

प्रत्यक्षं ह्येतयोर्मूलं कृतान्तैतिह्ययोरपि ।
प्रत्यक्षेणागमो भिन्नः कृतान्तो वा न किञ्चन ॥ २७ ॥

अनुमान और आगम—इन दोनों प्रमाणोंका मूल प्रत्यक्ष प्रमाण है। आगम या अनुमान यदि प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध है तो वह कुछ भी नहीं है—उसकी प्रामाणिकता नहीं स्वीकार की जा सकती ॥ २७ ॥

यत्र यत्रानुमानेऽस्मिन् कृतं भावयतोऽपि च ।
नान्यो जीवः शरीरस्य नास्तिकानां मते स्थितः ॥ २८ ॥

जहाँ-कहीं भी ईश्वर, अदृष्ट अथवा नित्य आत्माकी सिद्धिके लिये अनुमान किया जाता है, वहाँ साध्य-साधनके लिये की हुई भावना भी व्यर्थ है, अतः नास्तिकोंके मतमें जीवात्माकी शरीरसे भिन्न कोई सत्ता नहीं है—यह बात स्थिर हुई ॥ २८ ॥

रेतो वटकणीकायां घृतपाकाधिवासनम् ।
जातिः स्मृतिरयस्कान्तः सूर्यकान्तोऽम्बुभक्षणम् ॥ २९ ॥

जैसे वटवृक्षके बीजमें पत्र, पुष्प, फल, मूल तथा त्वचा आदि छिपे होते हैं, जैसे गायके द्वारा खायी हुई घासमेंसे घी, दूध आदि प्रकट होते हैं तथा जिस प्रकार अनेक औषध द्रव्योंका पाक एवं अधिवासन करनेसे उसमें नशा पैदा करने-वाली शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार वीर्यसे ही शरीर आदिके साथ चेतनता भी प्रकट होती है। इसके सिवा जाति, स्मृति, अयस्कान्तमणि, सूर्यकान्तमणि और बड़वानलके द्वारा समुद्रके जलका पान आदि दृष्टान्तोंसे भी देहातिरिक्त चैतन्यकी सिद्धि नहीं होती * ॥ २९ ॥

प्रेतीभूतेऽत्ययश्चैव देवताद्युपयाचनम् ।
मृते कर्मनिवृत्तिश्च प्रमाणमिति निश्चयः ॥ ३० ॥

(इस नास्तिक मतका खण्डन इस प्रकार समझना चाहिये) मरे हुए शरीरमें जो चेतनताका अभाव देखा जाता है, वही देहातिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें प्रमाण है (यदि चेतनता देहका ही धर्म हो तो मृतक शरीरमें भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिये; परंतु मृत्युके पश्चात् कुछ कालतक शरीर तो रहता है, पर उसमें चेतनता नहीं रहती; अतः यह सिद्ध हो जाता है कि चेतन आत्मा शरीरसे भिन्न है)। नास्तिक भी रोग आदिकी निवृत्तिके लिये मन्त्र, जप तथा तान्त्रिक पद्धतिसे देवता आदिकी आराधना करते हैं। (वह देवता क्या है ? यदि पाञ्चभौतिक है तो घट आदिकी भाँति उसका दर्शन होना चाहिये और यदि वह भौतिक पदार्थोंसे भिन्न है तो चेतनकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो गयी; अतः देहसे भिन्न आत्मा है, यह प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध हो जाता है और देह ही आत्मा है, यह प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध जान पड़ता है)। यदि शरीरकी मृत्युके साथ आत्माकी भी मृत्यु मान ली जाय, तब तो उसके किये हुए कर्मोंका भी नाश मानना पड़ेगा; फिर तो उसके शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेवाला कोई नहीं रह जायगा और देहकी उत्पत्तिमें अकृताभ्यागम (बिना किये हुए कर्मका ही भोग प्राप्त हुआ ऐसा) मानने-का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। ये सब प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि देहातिरिक्त चेतन आत्माकी सत्ता अवश्य है ॥ ३० ॥

नन्वेते हेतवः सन्ति ये केचिन्मूर्तिसंस्थिताः ।
अमूर्तस्य हि मूर्तेन सामान्यं नोपपद्यते ॥ ३१ ॥

नास्तिकोंकी ओरसे जो कोई हेतुभूत दृष्टान्त दिये गये हैं, वे सब मूर्त पदार्थ हैं। मूर्त जड पदार्थसे मूर्त जड पदार्थकी ही उत्पत्ति होती है। यही उन दृष्टान्तोंद्वारा सिद्ध होता है। जैसे काष्ठसे अग्निकी उत्पत्ति (यदि पञ्चभूतोंसे आत्माकी अथवा मूर्तसे अमूर्तकी उत्पत्ति स्वीकार की जाय तब तो पृथ्वी आदि मूर्त पदार्थोंसे आकाशकी भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जो असम्भव है)। आत्मा अमूर्त पदार्थ है और देह मूर्त; अतः अमूर्तकी मूर्तके साथ समानता अथवा मूर्त भूतों-के संयोगसे अमूर्त चेतन आत्माकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥

अविद्या कर्म तृष्णा च केचिदाहुः पुनर्भवे ।
कारणं लोभमोहौ तु दोषाणां तु निषेवणम् ॥ ३२ ॥

* जाति कहते हैं जन्मको। जैसे गुड़ या महुवे आदिसे अनेक द्रव्योंके संयोगद्वारा जो मद्य तैयार किया जाता है, उसमें उपा-दानकी अपेक्षा विलक्षण मादकताशक्तिका जन्म हो जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चार द्रव्योंके संयोगसे इस शरीरमें ही जीव चैतन्य प्रकट हो जाता है। जैसे जड मनसे अजड स्मृति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जड शरीरसे चेतन जीवकी उत्पत्ति हो जाती है। जैसे अयस्कान्तमणि (चुम्बक) जड होकर भी लोहको खींच लेती है, उसी प्रकार जड शरीर भी इन्द्रियोंका संचालन और नियन्त्रण कर लेता है; अतः आत्मा उससे भिन्न नहीं है। जैसे सूर्यकान्तमणि शीतल होकर भी सूर्यकी किरणोंके संयोगसे आग प्रकट करने लगती है, उसी प्रकार वीर्य शीतल होकर भी रस और रक्तके संयोगसे जठरानलका आविष्कार करता है और जैसे जलसे उत्पन्न हुआ बडवानल जलको ही भक्षण करता है, उसी प्रकार वीर्यसे उत्पन्न हुआ यह शरीर स्वयं भी वीर्यका आधान एवं धारण करता है। अतः शरीरसे भिन्न आत्माकी सत्ता माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

कुछ लोग अविद्या, कर्म, तृष्णा, लोभ, मोह तथा दोषोंके सेवनको पुनर्जन्ममें कारण बताते हैं ॥ ३२ ॥

अविद्यां क्षेत्रमाहुर्हि कर्म बीजं तथा कृतम् ।
तृष्णा संजननं स्नेह एष तेषां पुनर्भवः ॥ ३३ ॥

अविद्याको वे क्षेत्र कहते हैं। पूर्व-जन्मोंका किया हुआ कर्म बीज है और तृष्णा अङ्कुरकी उत्पत्ति करानेवाला स्नेह या जल है। यही उनके मतमें पुनर्जन्मका प्रकार है ॥ ३३ ॥

तस्मिन् गूढे च दग्धे च भिन्ने मरणधर्मिणि ।
अन्योऽस्माज्जायते देहस्तमाहुः सत्त्वसंक्षयम् ॥ ३४ ॥

वे अविद्या आदि कारणसमूह सुषुप्ति और प्रलयमें भी संस्काररूपमें गूढ़भावसे स्थित रहते हैं। उनके रहते हुए जब एक मरणधर्मा शरीर नष्ट हो जाता है, तब उसीसे पूर्वोक्त अविद्या आदिके कारण दूसरा शरीर उत्पन्न हो जाता है। जब ज्ञानके द्वारा अविद्या आदि निमित्त दग्ध हो जाते हैं, तब शरीर-नाशके पश्चात् सत्त्व (बुद्धि) का क्षयरूप मोक्ष होता है, ऐसा उनका कथन है ॥ ३४ ॥

यदा स्वरूपतश्चान्यो जातितः शुभतोऽर्थतः ।
कथमस्मिन् स इत्येवं सर्वं वा स्यादसंहितम् ॥ ३५ ॥

(उपर्युक्त नास्तिक मतमें आस्तिकलोग इस प्रकार दोष देते हैं—) क्षणिक विज्ञानवादीकी मान्यताके अनुसार शरीर और जीव जब क्षणिक हैं, तब पूर्वक्षणवर्ती शरीरसे परक्षण-वर्ती शरीर रूप, जाति, धर्म और प्रयोजन सभी दृष्टियोंसे भिन्न हैं। ऐसी अवस्थामें यह वही है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा (स्मृति) नहीं हो सकती। अथवा भोग, मोक्ष आदि सब कुछ बिना इच्छा किये ही अकस्मात् प्राप्त हो जाता है, ऐसा मानना पड़ेगा (उस दशामें यह भी कहा जा सकता है कि मोक्षकी इच्छा करनेवाला दूसरा है, साधन करनेवाला दूसरा है और उससे मुक्त होनेवाला भी दूसरा ही है) ॥ ३५ ॥

एवं सति च का प्रीतिर्दानविद्यातपोबलैः ।
यदस्याचरितं कर्म सर्वमन्यत् प्रपद्यते ॥ ३६ ॥

यदि ऐसी ही बात है, तब दान, विद्या, तपस्या और बलसे किसीको क्या प्रसन्नता होगी ? क्योंकि उसका किया हुआ सारा कर्म दूसरेको ही अपना फल प्रदान करेगा (अर्थात् दान करते समय जो दाता है, वह क्षणिक विज्ञानवादके अनुसार फल-भोगकालमें नहीं रह जाता, अतः पुण्य या पाप एक करता है और उसका फल दूसरा भोगता है) ॥ ३६ ॥

अपि ह्ययमिहैवान्यैः प्राकृतैर्दुःखितो भवेत् ।
सुखितो दुःखितो वापि दृश्यादृश्यविनिर्णयः ॥ ३७ ॥

(यदि कहें, यह आपत्ति तो अभीष्ट ही है कि कर्म करते समय जो कर्ता है, वह फल-भोग-कालमें नहीं है। एक विज्ञानसे उत्पन्न हुआ दूसरा विज्ञान ही फल भोगता है, तब तो) इस जगत्में यह देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त आदि दूसरोंके किये हुए अशुभ कर्मोंसे दुखी एवं परकृत शुभ कर्मोंसे सुखी हो सकता है (क्योंकि जब कर्ता दूसरा और भोक्ता दूसरा है, तब तो किसीका भी कर्म किसीको भी सुख-दुःख दे सकता है)। उस दशामें दृश्य और अदृश्यका भी यही होगा कि जो पूर्वक्षणमें दृश्य था, वह वर्तमान अदृश्य हो गया तथा जो पहले अदृश्य था, वही इस दृश्य हो रहा है ॥ ३७ ॥

तथा हि मुसलैर्हन्युः शरीरं तत् पुनर्भवेत् ।
पृथग्ज्ञानं यदन्यच्च येनैतन्नोपपद्यते ॥

यदि कहें, देवदत्तके ज्ञानसे यज्ञदत्तका ज्ञान पृथ विजातीय है, सजातीय विज्ञानधारामें ही कर्म और फलका भोग प्राप्त होता है; अतः देवदत्तके किये हुए भोग यज्ञदत्तको नहीं प्राप्त हो सकता, उस कारण दोषका आपत्ति सम्भव नहीं है, तब हम यह पूछते आपके मतमें जो यह सादृश्य या सजातीय विज्ञान होता है, उसका उपादान क्या है ? यदि पूर्वक्षणवर्ती वि को ही उपादान बताया जाय तो यह ठीक नहीं है वह विज्ञान नष्ट हो चुका और यदि पूर्वक्षणवर्ती वि नाश ही उत्तरक्षणवर्ती सजातीय विज्ञानकी उत्पत्ति है, तब तो यदि कुछ लोग किसीके शरीरको मूसलों डालें तो उस मरे हुए शरीरसे भी दूसरे शरीर उत्पत्ति हो सकती है (अतः यह मत ठीक नहीं है) ॥

ऋतुसंवत्सरौ तिष्यः शीतोष्णेऽथ प्रियाप्रिये ।
यथातीतानि पश्यन्ति तादृशः सत्त्वसंक्षयः ॥

ऋतु, संवत्सर, युग, सर्दी, गर्मी तथा प्रिय और अ ये सब वस्तुएँ आकर चली जाती हैं और जाकर जाती हैं, यह सब लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। उसी प्रका संक्षयरूप मोक्ष भी फिर आकर निवृत्त हो सकता है (विज्ञानधाराका कहीं अन्त नहीं है) ॥ ३९ ॥

जरयाभिपरीतस्य मृत्युना च विनाशिना ।
दुर्बलं दुर्बलं पूर्वं गृहस्येव विनश्यति ॥

जैसे मकानके दुर्बल-दुर्बल अङ्ग पहले नष्ट होने और फिर क्रमशः सारा मकान ही गिर जाता है, उसी वृद्धावस्था और विनाशकारी मृत्युसे आक्रान्त हुए दुर्बल-दुर्बल अङ्ग क्षीण होते-होते एक दिन सम्पूर्ण नाश हो जाता है ॥ ४० ॥

इन्द्रियाणि मनो वायुः शोणितं मांसमस्थि च ।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति स्वं धातुमुपयान्ति च ।

इन्द्रिय, मन, प्राण, रक्त, मांस और हड्डी—ये सब नष्ट होते और अपने कारणमें मिल जाते हैं ॥ ४१ ॥

लोकयात्राविघातश्च दानधर्मफलागमे ।
तदर्थं वेदशब्दाश्च व्यवहाराश्च लौकिकाः ।

यदि आत्माकी सत्ता न मानी जाय तो लोक निर्वाह नहीं होगा। दान और दूसरे धर्मोंके फल लिये कोई आस्था नहीं रहेगी; क्योंकि वैदिक लौकिक व्यवहार सब आत्माको ही सुख देनेके लि

इति सम्यङ्मनस्येते बहवः सन्ति हेतवः ।
एतदस्तीदमस्तीति न किञ्चित्प्रतिदृश्यते ।

इस प्रकार मनमें अनेक प्रकारके तर्क उठते हैं और उन तर्कों तथा युक्तियोंसे आत्माकी सत्ता या असत्ताका निर्धारण कुछ भी होता नहीं दिखायी देता ॥ ४३ ॥

तेषां विमृशतामेव तत् तत्समभिधावताम् ।
क्वचिन्निविशते बुद्धिस्तत्र जीर्यति वृक्षवत् ॥ ४४ ॥

इस तरह विचार करते हुए भिन्न-भिन्न मतोंकी ओर दौड़नेवाले लोगोंकी बुद्धि कहीं एक जगह प्रवेश करती है और वहीं वृक्षकी भाँति जड़ जमाये जीर्ण हो जाती है ॥४४॥

एवमर्थैरनर्थैश्च दुःखिताः सर्वजन्तवः ।
आगमैरपकृष्यन्ते हस्तिपैर्हस्तिनो यथा ॥ ४५ ॥

इस प्रकार अर्थ और अनर्थसे सभी प्राणी दुखी रहते हैं । केवल शास्त्रके वचन ही उन्हें खींचकर राहपर लाते हैं । ठीक उसी तरह, जैसे महावत हाथीपर अङ्कुश रखकर उन्हें काबूमें किये रहते हैं ॥ ४५ ॥

अर्थांस्तथात्यन्तसुखावहांश्च
लिप्सन्त एते बहवो विशुष्काः ।
महत्तरं दुःखमनुप्रपन्ना
हित्वाऽऽमिषं मृत्युवशं प्रयान्ति ॥ ४६ ॥

बहुत-से शुष्क हृदयवाले लोग ऐसे विषयोंकी लिप्सा रखते हैं, जो अत्यन्त सुखदायक हों; किंतु इस लिप्सामें उन्हें भारी-से-भारी दुःखोंका ही सामना करना पड़ता है और अन्तमें वे भोगोंको छोड़कर मृत्युके ग्रास बन जाते हैं ॥ ४६ ॥

विनाशिनो ह्यध्रुवजीवितस्य
किं बन्धुभिर्भिन्नपरिग्रहैश्च ।
विहाय यो गच्छति सर्वमेव
क्षणेन गत्वा न निवर्तते च ॥ ४७ ॥

जो एक दिन नष्ट होनेवाला है, जिसके जीवनका कुछ ठिकाना नहीं, ऐसे अनित्य शरीरको पाकर इन बन्धु-बान्धवों तथा स्त्री-पुत्र आदिसे क्या लाभ है ? यह सोचकर जो मनुष्य इन सबको क्षणभरमें वैराग्यपूर्वक त्यागकर चल देता है, उसे मृत्युके पश्चात् फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ४७ ॥

भूव्योमतोयानलवायवोऽपि
सदा शरीरं प्रतिपालयन्ति ।
इतीदमालक्ष्य रतिः कुतो भवेद्
विनाशिनोऽप्यस्य न शर्म विद्यते ॥ ४८ ॥

पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि और वायु—ये सदा शरीरकी रक्षा करते रहते हैं । इस बातको अच्छी तरह समझ लेनेपर इसके प्रति आसक्ति कैसे हो सकती है ? जो एक दिन मृत्युके मुखमें पड़नेवाला है, ऐसे शरीरसे सुख कहाँ है ॥ ४८ ॥

इदमनुपधिवाक्यमच्छलं
परमनिरामयमात्मसाक्षिकम् ।
नरपतिरभिवीक्ष्य विस्मितः
पुनरनुयोक्तुमिदं प्रचक्रमे ॥ ४९ ॥

पञ्चशिखका यह उपदेश जो भ्रम और वञ्चनासे रहित, सर्वथा निर्दोष तथा आत्माका साक्षात्कार करानेवाला था, सुनकर राजा जनकको बड़ा विस्मय हुआ; अतः उन्होंने पुनः प्रश्न करनेका विचार किया ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखवाक्ये पाण्खडखण्डनं नामाष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।२१८।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पञ्चशिखके उपदेशके प्रसङ्गमें पाखण्डखण्डन नामक दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१८ ॥

एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चशिखके द्वारा मोक्षतत्त्वका विवेचन एवं भगवान् विष्णुद्वारा मिथिलानरेश जनकवंशी जनदेवकी परीक्षा और उनके लिये वरप्रदान

भीष्म उवाच

जनको जनदेवस्तु ज्ञापितः परमर्षिणा ।
पुनरेवानुपप्रच्छ साम्पराये भवाभवौ ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महर्षि पञ्चशिखके इस प्रकार उपदेश देनेपर जनदेव जनकने पुनः उनसे मृत्युके पश्चात् आत्माकी सत्ता या विनाशके विषयमें प्रश्न किया ॥

जनक उवाच

भगवन् यदि न प्रेत्य संज्ञा भवति कस्यचित् ।
एवं सति किमज्ञानं ज्ञानं वा किं करिष्यति ॥ २ ॥

जनकने पूछा—भगवन् ! यदि मृत्युके पश्चात् किसीकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रह जाती तो उस स्थितिमें अज्ञान अथवा ज्ञान क्या करेगा ? ॥ २ ॥

सर्वमुच्छेदनिष्ठं स्यात् पश्य चैतद् द्विजोत्तम ।
अप्रमत्तः प्रमत्तो वा किं विशेषं करिष्यति ॥ ३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! देखिये, मनुष्यकी मृत्युके साथ-साथ उसका सारा साधन नष्ट हो जाता है; फिर वह पहलेसे सावधान हो या असावधान, क्या विशेष लाभ उठा सकेगा ? ॥ ३ ॥

असंसर्गो हि भूतेषु संसर्गो वा विनाशिषु ।
कस्मै क्रियेत कल्प्येत निश्चयः कोऽत्र तत्त्वतः ॥ ४ ॥

मृत्यु होनेके पश्चात् जीवात्माका विनाशशील पञ्च-महाभूतोंसे कोई संसर्ग रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो किसलिये रहता है ? इस विषयमें यथार्थरूपसे क्या निश्चय किया जा सकता है ? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

तमसा हि प्रतिच्छन्नं विभ्रान्तमिव चातुरम् ।

पुनः प्रशमयन् वाक्यैः कविः पञ्चशिखोऽब्रवीत्॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! राजा जनककी बुद्धिको अज्ञानान्धकारसे आच्छादित तथा आत्माके नाशकी सम्भावनासे भ्रान्त एवं व्याकुल जानकर ज्ञानी महात्मा पञ्चशिख उन्हें मधुर वचनोंद्वारा शान्त करते हुए-से बोले— ॥ ५ ॥

उच्छेदनिष्ठा नेहास्ति भावनिष्ठा न विद्यते ।
अयं ह्यपि समाहारः शरीरेन्द्रियचेतसाम् ।
वर्तते पृथगन्योन्यमप्यपाश्रित्य कर्मसु ॥ ६ ॥

'राजन् ! मृत्युके पश्चात् आत्माका न तो नाश होता है और न वह किसी विशेष आकारमें ही परिणत होता है। यह जो प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला सङ्घात है, यह भी शरीर, इन्द्रिय और मनका समूहमात्र है। यद्यपि ये सब पृथक्-पृथक् हैं तो भी एक दूसरेका आश्रय लेकर कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ६ ॥

धातवः पञ्च भूतेषु खं वायुर्ज्योतिषो धरा ।
ते स्वभावेन तिष्ठन्ति वियुज्यन्ते स्वभावतः ॥ ७ ॥

प्राणियोंके शरीरमें उपादानके रूपमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँच धातु हैं। ये स्वभावसे ही एकत्र होते और विलग हो जाते हैं ॥ ७ ॥

आकाशो वायुरूष्मा च स्नेहो यश्चापि पार्थिवः ।
एष पञ्चसमाहारः शरीरमपि नैकधा ॥ ८ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पाँच तत्त्वोंके समाहारसे ही अनेक प्रकारके शरीरोंका निर्माण हुआ है ॥

ज्ञानमूष्मा च वायुश्च त्रिविधः कार्यसंग्रहः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना मनः ।
प्राणापानौ विकारश्च धातवश्चात्र निःसृताः ॥ ९ ॥

शरीरमें ज्ञान (बुद्धि), ऊष्मा (जठरानल) तथा वायु (प्राण)—इनका समुदाय समस्त कर्मोंका संग्राहकगण है; क्योंकि इन्हींसे इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, स्वभाव, चेतना, मन, प्राण, अपान, विकार और धातु प्रकट हुए हैं ॥ ९ ॥

श्रवणं स्पर्शनं जिह्वा दृष्टिर्नासा तथैव च ।
इन्द्रियाणीति पञ्चैते चित्तपूर्वं गता गुणाः ॥ १० ॥

श्रवण, त्वचा, जिह्वा, नेत्र और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। शब्द आदि गुण चित्तसे संयुक्त होकर इन इन्द्रियोंके विषय होते हैं ॥ १० ॥

तत्र विज्ञानसंयुक्ता त्रिविधा चेतना ध्रुवा ।
सुखदुःखेति यामाहुरदुःखामसुखेति च ॥ ११ ॥

विज्ञानयुक्त चेतना (विषयोंकी उपादेयता, हेयता और उपेक्षणीयताके कारण) निश्चय ही तीन प्रकारकी होती है। उसे अदुःखा, असुखा और सुख-दुःखा कहते हैं ॥ ११ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च मूर्तयः ।
एते ह्यामरणात् पञ्च षड्गुणा ज्ञानसिद्धये ॥ १२ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा मूर्त द्रव्य—ये छः गुण जीवकी मृत्युके पहलेतक इन्द्रियजन्य ज्ञानके साधक होते हैं (इनके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेपर ही भिन्न-भिन्न विष- का ज्ञान होता है) ॥ १२ ॥

तेषु कर्मविसर्गश्च सर्वतत्त्वार्थनिश्चयः ।
तमाहुः परमं शुक्रं बुद्धिरित्यव्ययं महत् ॥ १३ ॥

श्रोत्र आदि इन्द्रियोंमें उनके विषयोंका विसर्जन (त्या- करनेसे सम्पूर्ण तत्त्वोंके यथार्थ निश्चयरूप मोक्षकी प्रा- होती है। उस तत्त्वनिश्चयको अत्यन्त निर्मल उत्तम बु- और अविनाशी महान् ब्रह्मपद कहते हैं ॥ १३ ॥

इमं गुणसमाहारमात्मभावेन पश्यतः ।
असम्यग्दर्शनैर्दुःखमनन्तं नोपशाम्यति ॥ १४ ॥

जो लोग गुणोंके सङ्घातरूप इस शरीरको ही आ- समझ लेते हैं, उन्हें मिथ्या ज्ञानके कारण अनन्त दुःखों- प्राप्ति होती है और उनकी परम्परा कभी शान्त न- होती ॥ १४ ॥

अनात्मेति च यद् दृष्टं तेनाहं न ममेत्यपि ।
वर्तते किमधिष्ठानात् प्रसक्ता दुःखसंसृतिः ॥ १५ ॥

इसके विपरीत जिनकी दृष्टिमें यह दृश्य-प्रपञ्च अना- सिद्ध हो चुका है, उनकी इसके प्रति न ममता होती है- अहंता, फिर उन्हें दुःखपरम्परा कैसे प्राप्त हो; उन दुःखों- लिये आधार ही क्या रह जाता है ? ॥ १५ ॥

अत्र सम्यग्वधो नाम त्यागशास्त्रमनुत्तमम् ।
शृणु यत् तव मोक्षाय भाष्यमाणं भविष्यति ॥ १६ ॥

अब मैं उस परम उत्तम सांख्यशास्त्रका वर्णन क- हूँ, जिसका नाम है सम्यग्वध (सम्यग्रूपेण दुःखोंका न- करनेवाला)। उसमें त्यागकी प्रधानता है। तुम ध्यान दे- सुनो। उसका उपदेश तुम्हारे लिये मोक्षदायक होगा ॥ १६ ॥

त्याग एव हि सर्वेषां युक्तानामपि कर्मणाम् ।
नित्यं मिथ्याविनीतानां क्लेशो दुःखवहो मतः ॥ १७ ॥

जो लोग मुक्तिके लिये प्रयत्नशील हों, उन सबको चा- कि सम्पूर्ण कर्मोंमें अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्या- करे। जो इनका त्याग किये बिना ही विनीत (शम, द- आदि साधनोंमें तत्पर) होनेका झूठा दावा करते हैं, उ- अविद्या आदि दुःखदायी क्लेश प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

द्रव्यत्यागे तु कर्माणि भोगत्यागे व्रतान्यपि ।
सुखत्यागे तपो योगं सर्वत्यागे समापना ॥ १८ ॥

शास्त्रोंमें द्रव्यका त्याग करनेके लिये यज्ञ आदि क- भोगका त्याग करनेके लिये व्रत, दैहिक सुखोंके त्यागके लिये- और सब कुछ (अहंता, ममता, आसक्ति, कामना आदि- त्याग देनेके लिये योगके अनुष्ठानकी आज्ञा दी गयी है। य- त्यागकी चरम सीमा है ॥ १८ ॥

तस्य मार्गोऽयमद्वैधः सर्वत्यागस्य दर्शितः ।
विप्रहाणाय दुःखस्य दुर्गतिस्त्वन्यथा भवेत् ॥ १९ ॥

सर्वस्व-त्यागका यह एकमात्र मार्ग ही दुःखोंसे छुट-

पानेके लिये उत्तम बताया गया है, इसके विपरीत आचरण करनेवालोंको दुर्गति भोगनी पड़ती है ॥ १९ ॥

पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्युक्त्वा मनःषष्ठानि चेतसि ।
बलषष्ठानि वक्ष्यामि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि तु ॥ २० ॥

बुद्धिमें स्थित मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका वर्णन करके अब पाँच कर्मेन्द्रियोंका वर्णन करूँगा। जिनके साथ प्राणशक्ति छठी बतायी गयी है ॥ २० ॥

हस्तौ कर्मेन्द्रियं ज्ञेयमथ पादौ गतीन्द्रियम् ।
प्रजननानन्दयोः शेफो निसर्गे पायुरिन्द्रियम् ॥ २१ ॥

दोनों हाथोंको काम करनेवाली इन्द्रिय जानना चाहिये, दोनों पैर चलने-फिरनेका काम करनेवाली इन्द्रिय हैं। लिङ्ग संतानोत्पादन एवं मैथुनजनित आनन्दकी प्राप्ति करनेके लिये है। गुदानामक इन्द्रियका कार्य मल-त्याग करना है ॥ २१ ॥

वाक् च शब्दविशेषार्थमिति पञ्चान्वितं विदुः ।
एवमेकादशैतानि बुद्ध्याऽऽशु विसृजेन्मनः ॥ २२ ॥

वाक्-इन्द्रिय शब्दविशेषका उच्चारण करनेके लिये है। इस प्रकार पाँच कर्मेन्द्रियोंको पाँच विषयोंसे युक्त माना गया है। मनसहित एकादश इन्द्रियोंके विषयोंका बुद्धिके द्वारा शीघ्र त्याग कर देना चाहिये ॥ २२ ॥

कर्णौ शब्दश्च चित्तं च त्रयः श्रवणसंग्रहे ।
तथा स्पर्शे तथा रूपे तथैव रसगन्धयोः ॥ २३ ॥

श्रवण-कालमें श्रोत्ररूपी इन्द्रिय, शब्दरूपी विषय और चित्तरूपी कर्ता—इन तीनोंका संयोग होता है, इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धके अनुभव-कालमें भी इन्द्रिय, विषय एवं मनका संयोग अपेक्षित है ॥ २३ ॥

एवं पञ्चत्रिका ह्येते गुणास्तदुपलब्धये ।
येनायं त्रिविधो भावः पर्यायात् समुपस्थितः ॥ २४ ॥

इस प्रकार ये तीन-तीनके पाँच समुदाय हैं, ये सब गुण कहे गये हैं। इनसे शब्दादि विषयोंका ग्रहण होता है, जिससे ये कर्ता, कर्म और करणरूपी त्रिविध भाव बारी-बारीसे उपस्थित होते हैं ॥ २४ ॥

सात्त्विको राजसश्चापि तामसश्चापि ते त्रयः ।
त्रिविधा वेदना येषु प्रसृताः सर्वसाधनाः ॥ २५ ॥

इनमेंसे एक-एकके सात्त्विक, राजस और तामस तीन-तीन भेद होते हैं। उनसे प्राप्त होनेवाले अनुभव भी तीन प्रकारके ही हैं। जो हर्ष, प्रीति आदि सभी भावोंके साधक हैं ॥ २५ ॥

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ।
अकुतश्चित् कुतश्चिद् वा चिन्तितः सात्त्विको गुणः ॥ २६ ॥

हर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और चित्तकी शान्ति—ये सब भाव बिना किसी कारणके स्वतः हों, या कारणवश (भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सत्सङ्ग आदिके कारण) हों, सात्त्विक गुण माने गये हैं ॥ २६ ॥

अतुष्टिः परितापश्च शोको लोभस्तथाक्षमा ।
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुतः ॥ २७ ॥

असंतोष, संताप, शोक, लोभ और असहनशीलता—ये किसी कारणसे हों या अकारण—रजोगुणके चिह्न हैं ॥ २७ ॥

अविवेकस्तथा मोहः प्रमादः स्वप्नतन्द्रिता ।
कथंचिदपि वर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ २८ ॥

अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न और आलस्य—ये किसी तरह भी क्यों न हों, तमोगुणके ही विविध रूप हैं ॥ २८ ॥

अत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्यपेक्षेत तत् तथा ॥ २९ ॥

इनमें जो शरीर या मनमें प्रीतिके संयोगसे उदित हो, वह सात्त्विक भाव है और उसको सत्त्वगुणकी वृद्धि जाननी चाहिये ॥ २९ ॥

यत् त्वसंतोषसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
प्रवृत्तं रज इत्येवं ततस्तदपि चिन्तयेत् ॥ ३० ॥

जो अपने लिये असंतोषजनक एवं अप्रीतिकर हो, उसको रजोगुणकी प्रवृत्ति एवं अभिवृद्धि समझनी चाहिये ॥

अथ यन्मोहसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३१ ॥

शरीर या मनमें जो अतर्क्य, अज्ञेय एवं मोहसंयुक्त भाव प्रादुर्भूत हो, उसको तमोगुणजनित जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

श्रोत्रं व्योमाश्रितं भूतं शब्दः श्रोत्रं समाश्रितः ।
नोभयं शब्दविज्ञाने विज्ञानस्येतरस्य वा ॥ ३२ ॥

शब्दका आधार श्रोत्रेन्द्रिय है और श्रोत्रेन्द्रियका आधार आकाश है; अतः वह आकाशरूप ही है। ऐसी स्थितिमें शब्दका अनुभव करते समय आकाश और श्रोत्र—ये दोनों ही ज्ञान अथवा अज्ञानके विषय नहीं होते हैं* ॥ ३२ ॥

एवं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति पञ्चमी ।
स्पर्शे रूपे रसे गन्धे तानि चेतो मनश्च तत् ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका भी क्रमशः स्पर्श, रूप, रस और गन्धके आश्रय तथा अपने आधारभूत महाभूतोंके स्वरूप हैं। इन सबका कारण मन है, इसलिये ये सब-के-सब मनःस्वरूप हैं ॥ ३३ ॥

स्वकर्मयुगपद्भावो दशस्वेतेषु तिष्ठति ।
चित्तमेकादशं विद्धि बुद्धिर्द्वादशमी भवेत् ॥ ३४ ॥

इन दसों इन्द्रियोंमें अपने-अपने विषयोंको एक साथ भी ग्रहण करनेकी शक्ति होती है। ग्यारहवाँ मन और बारहवीं बुद्धि—इनको इन्द्रियोंका सहायक समझना चाहिये ॥

तेषामयुगपद्भाव उच्छेदो नास्ति तामसे ।
आस्थितो युगपद्भावो व्यवहारः स लौकिकः ॥ ३५ ॥

* 'ये दोनों ज्ञान अथवा अज्ञानके विषय नहीं होते', इस कथनका अभिप्राय यों समझना चाहिये—जो श्रवणकालमें शब्दका अनुभव करता है, वह उसके साथ ही श्रोत्र और आकाशका अनुभव नहीं करता है। साथ ही उसे इन दोनोंका अज्ञान भी नहीं रहता; क्योंकि शब्दका श्रवणेन्द्रिय और आकाश दोनोंसे सम्बन्ध है। इन दोनोंके बिना शब्दका अनुभव हो ही नहीं सकता।

तमोगुणजनित सुषुप्तिकालमें अपने कारणमें विलीन हो जानेसे इन्द्रियाँ विषयोंका ग्रहण नहीं कर सकतीं, किंतु उनका नाश नहीं होता है। उनमें जो अपने विषयोंको एक साथ ग्रहण करनेकी शक्ति है, वह लौकिक व्यवहारमें ही दिखायी देती है (सुषुप्तिकालमें नहीं) ॥ ३५ ॥

इन्द्रियाण्यपि सूक्ष्माणि दृष्ट्वा पूर्वश्रुतागमात्।
चिन्तयन्नानुपर्येति त्रिभिरेवान्वितो गुणैः ॥ ३६ ॥

पहले जाग्रत्-अवस्थाके देखने-सुनने आदिके द्वारा पूर्व-वासनावश शब्द आदि विषयोंकी प्राप्ति होनेसे स्वप्नदर्शी पुरुष सूक्ष्म ग्यारह इन्द्रियोंको देखकर विषयसंगकी भावना करता हुआ सत्त्व आदि तीनों गुणोंसे युक्त हो शरीरके भीतर ही इच्छानुसार घूमता रहता है ॥ ३६ ॥

यत् तमोपहतं चित्तमाशु संहारमध्रुवम्।
करोत्युपरमं काये तदाहुस्तामसं बुधाः ॥ ३७ ॥

सुषुप्तिकालमें जब चित्त तमोगुणसे अभिभूत होकर अपने प्रवृत्ति और प्रकाश-स्वभावका शीघ्र ही संहार करके थोड़ी देरके लिये इन्द्रियोंके व्यापारको बंद कर देता है, उस समय शरीरमें जो सुखकी प्रतीति होती है, उसे विद्वान् पुरुष तामस सुख कहते हैं ॥ ३७ ॥

यद् यदागमसंयुक्तं न कृच्छ्रमनुपश्यति।
अथ तत्राप्युपादत्ते तमोऽव्यक्तमिवानृतम् ॥ ३८ ॥

सुषुप्तिकालमें स्वप्नदर्शी पुरुष उपस्थित दुःखको प्रत्यक्षकी भाँति अनुभव नहीं करता है। इसलिये वह सुषुप्ति-कालमें भी तमोगुणयुक्त मिथ्या सुखका अनुभव करता है ॥

एवमेष प्रसंख्यातः स्वकर्मप्रत्ययो गुणः।
कथञ्चिद् वर्तते सम्यक् केषांचिद् वा निवर्तते ॥ ३९ ॥

इस प्रकार अपने कर्मके अनुसार गुणकी प्राप्तिके विषयमें कहा गया है। अज्ञानियोंके ये गुण सम्यक्‌रूपेण प्रवृत्त होते हैं और ज्ञानियोंके निवृत्त हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

एतदाहुः समाहारं क्षेत्रमध्यात्मचिन्तकाः।
स्थितो मनसि यो भावः स वै क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ ४० ॥

अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले विद्वान् इस शरीर और इन्द्रियोंके संघातको क्षेत्र कहते हैं और मनमें जो चेतन सत्ता स्थित है, वही क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) कहलाता है ॥ ४० ॥

एवं सति क उच्छेदः शाश्वतो वा कथं भवेत्।
स्वभावाद् वर्तमानेषु सर्वभूतेषु हेतुतः ॥ ४१ ॥

ऐसी अवस्थामें आत्माका विनाश कैसे हो सकता है? अथवा हेतुपूर्वक प्रकृतिके अनुसार प्रवृत्त पञ्चमहाभूतोंसे उसका शाश्वत संसर्ग भी कैसे रह सकता है? ॥ ४१ ॥

यथार्णवगता नद्यो व्यक्तीर्जहति नाम च।
नदाश्च ता नियच्छन्ति तादृशः सत्त्वसंक्षयः ॥ ४२ ॥

जैसे नद और नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपने नाम और व्यक्तित्व (रूप) को त्याग देती हैं तथा जैसे बड़े-बड़े नद छोटी-छोटी नदियोंको अपनेमें विलीन कर लेते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मामें विलीन हो जाता है। मोक्ष है ॥ ४२ ॥

एवं सति कुतः संज्ञा प्रेत्यभावे पुनर्भवेत्।
प्रतिसम्मिश्रिते जीवेऽगृह्यमाणे च सर्वतः ॥ ४

जीवके ब्रह्ममें विलीन हो जानेपर उसके नाम-रू किसी प्रकार भी ग्रहण नहीं हो सकता। ऐसी द मृत्युके पश्चात् जीवकी संज्ञा कैसे रहेगी? ॥ ४३ ॥

इमां च यो वेद विमोक्षबुद्धि-
मात्मानमन्विच्छति चाप्रमत्तः।
न लिप्यते कर्मफलैरनिष्टैः
पत्रं बिसस्येव जलेन सिक्तम् ॥ ४

जो इस मोक्षविद्याको जानता है और सावधानीके आत्मतत्त्वका अनुसंधान करता है, वह जलसे कमलके प भाँति कर्मके अनिष्ट फलोंसे कभी लिप्त नहीं होता ॥ ४४

दृढैर्हि पाशैर्बहुभिर्विमुक्तः
प्रजानिमित्तैरपि दैवतैश्च।
यदा ह्यसौ सुखदुःखे जहाति
मुक्तस्तदाग्र्यां गतिमेत्यलिङ्गः ॥ ४

किंतु संतानोंके प्रति आसक्तिके कारण और भिन्न-भि देवताओंकी प्रसन्नताके लिये अज्ञानियोंद्वारा जो सकाम किये जाते हैं, ये सब मनुष्यके लिये नाना प्रकारके सु बन्धन हैं। जब वह इन बन्धनोंसे छूटकर सुख-दुः चिन्ता छोड़ देता है, उस समय सूक्ष्म शरीरके अभिमान त्याग करके सर्वश्रेष्ठ गति प्राप्त कर लेता है ॥ ४५ ॥

श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च
शेते जरामृत्युभयादभीतः।
क्षीणे च पुण्ये विगते च पापे
ततो निमित्ते च फले विनष्टे।
अलेपमाकाशमलिङ्गमेव-
मास्थाय पश्यन्ति महत्यसक्ताः ॥ ४

श्रुति-प्रतिपादित प्रमाणोंका विचार और शास्त्रमें ब हुए मङ्गलमय साधनोंका अनुष्ठान करनेसे मनुष्य जरा मृत्युके भयसे रहित होकर सुखसे सोता है। जब पुण्य पापका क्षय तथा उनसे मिलनेवाले सुख दुःख आदि फलों नाश हो जाता है, उस समय सम्पूर्ण पदार्थोंमें स आसक्तिसे रहित पुरुष आकाशके समान निर्लेप और नि परमात्मामें स्थित हुए उसका साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ ४

यथोर्णनाभिः परिवर्तमान-
स्तन्तुक्षये तिष्ठति पात्यमानः।
तथा विमुक्तः प्रजहाति दुःखं
विध्वंसते लोष्ट इवाद्रिमृच्छन् ॥ ४७

जैसे मकड़ी जाला तानकर उसपर चक्कर लगाती र है; किंतु उन जालोंका नाश हो जानेपर एक स्थानपर स्थि हो जाती है, उसी प्रकार अविद्याके वशीभूत हो नीचे गिरे

वाला जीव कर्मजालमें पड़कर भटकता रहता है और उससे छूटनेपर दुःखसे रहित हो जाता है। जैसे पर्वतपर फेंका हुआ मिट्टीका ढेला उससे टकराकर चूर-चूर हो जाता है, उसी प्रकार उसके सम्पूर्ण दुःखोंका विध्वंस हो जाता है ॥ ४७ ॥

यथा रुरुः शृङ्गमथो पुराणं
हित्वा त्वचं वाप्युरगो यथा च।
विहाय गच्छत्यनवेक्षमाण-
स्तथा विमुक्तो विजहाति दुःखम्॥ ४८॥

जैसे रुरुनामक मृग अपने पुराने सींगको और साँप अपनी केंचुलको त्यागकर उसकी ओर देखे बिना ही चल देता है, उसी प्रकार ममता और अभिमानसे रहित हुआ पुरुष संसार-बन्धनसे मुक्त हो अपने सम्पूर्ण दुःखोंको दूर कर देता है ॥ ४८ ॥

द्रुमं यथा वाप्युदके पतन्त-
मुत्सृज्य पक्षी निपतत्यसक्तः।
तथा ह्यसौ सुखदुःखे विहाय
मुक्तः परार्द्ध्यां गतिमेत्यलिङ्गः॥ ४९॥

जिस प्रकार पक्षी वृक्षको जलमें गिरते देख उसमें आसक्ति छोड़कर वृक्षका परित्याग करके उड़ जाता है, उसी प्रकार मुक्त पुरुष सुख और दुःख—दोनोंका त्याग करके सूक्ष्म शरीरसे रहित हो उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥४९॥

भीष्म उवाच

अपि च भवति मैथिलेन गीतं
नगरमुपाहितमग्निनाभिवीक्ष्य।
न खलु मम हि दह्यतेऽत्र किंचित्
स्वयमिदमाह किल स्म भूमिपालः॥५०॥
इदममृतपदं निशाम्य राजा
स्वयमिह पञ्चशिखेन भाष्यमाणम्।
निखिलमभिसमीक्ष्य निश्चितार्थः
परमसुखी विजहार वीतशोकः॥ ५१॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! स्वयं आचार्य पञ्चशिखके बताये हुए इस अमृतमय ज्ञानोपदेशको सुनकर राजा जनक एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँच गये और सारी बातोंपर विचार करके शोकरहित हो बड़े सुखसे रहने लगे; फिर तो उनकी स्थिति ही कुछ और हो गयी। एक बार उन मिथिला-नरेश राजा जनकने मिथिला-नगरीको आगसे जलती देखकर स्वयं यह उद्गार प्रकट किया था कि इस नगरके जलनेसे मेरा कुछ भी नहीं जलता है ॥ ५०-५१ ॥

इमं हि यः पठति विमोक्षनिश्चयं
महीपते सततमवेक्षते तथा।
उपद्रवान् नानुभवत्यदुःखितः
प्रमुच्यते कपिलमिवैत्य मैथिलः॥ ५२॥

राजन्! यहाँ जो मोक्षतत्त्वका निर्णय किया गया है, उसका जो पुरुष सदा स्वाध्याय और चिन्तन करता रहता है, उसे उपद्रवोंका कष्ट नहीं भोगना पड़ता। दुःख तो उसके पास कभी फटकने नहीं पाते हैं तथा जिस प्रकार राजा जनक कपिलमतावलम्बी पञ्चशिखके समागमसे इस ज्ञानको पाकर मुक्त हो गये थे, उसी प्रकार वह भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥

(श्रूयतां नृपशार्दूल यदर्थं दीपिता पुरा।
वह्निना दीपिता सा तु तन्मे शृणु महामते॥

नृपश्रेष्ठ! महामते! पूर्वकालमें जिस उद्देश्यसे अग्निद्वारा मिथिलानगरी जलायी गयी, उसे बताता हूँ, सुनो ॥

जनको जनदेवस्तु कर्माण्याधाय चात्मनि।
सर्वभावमनुप्राप्य भावेन विचचार सः॥

जनकवंशी राजा जनदेव परमात्मामें कर्मोंको स्थापित करके सर्वात्मताको प्राप्त होकर उसी भावसे सर्वत्र विचरण करते थे ॥

यजन् ददंस्तथा जुह्वन् पालयन् पृथिवीमिमाम्।
अध्यात्मविन्महाप्राज्ञस्तन्मयत्वेन निष्ठितः॥

महाप्राज्ञ जनक अध्यात्मतत्त्वके ज्ञाता होनेके कारण निष्कामभावसे यज्ञ, दान, होम और पृथ्वीका पालन करते हुए भी उस अध्यात्मज्ञानमें ही तन्मय रहते थे ॥

स तस्य हृदि संकल्पं ज्ञातुमैच्छत् स्वयं प्रभुः।
सर्वलोकाधिपस्तत्र द्विजरूपेण संयुतः॥
मिथिलायां महाबुद्धिर्व्यलीकं किंचिदाचरन्।
स गृहीत्वा द्विजश्रेष्ठैर्नृपाय प्रतिवेदितः॥
अपराधं समुद्दिश्य तं राजा प्रत्यभाषत॥

एक समय सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति साक्षात् भगवान् नारायणने राजा जनकके मनोभावकी परीक्षा लेनेका विचार किया; अतः वे ब्राह्मणरूपसे वहाँ आये। उन परम बुद्धिमान् श्रीहरिने मिथिलानगरीमें कुछ प्रतिकूल आचरण किया। तब वहाँके श्रेष्ठ द्विजोंने उन्हें पकड़कर राजाको सौंप दिया। ब्राह्मणके अपराधको लक्ष्य करके राजाने उनसे इस प्रकार कहा ॥

जनक उवाच

न त्वां ब्राह्मण दण्डेन नियोक्ष्यामि कथंचन।
मम राज्याद् विनिर्गच्छ यावत् सीमा भुवो मम॥

जनकने कहा—ब्राह्मण! मैं तुम्हें किसी प्रकार दण्ड नहीं दूँगा, तुम मेरे राज्यसे, जहाँतक मेरी राज्यभूमिकी सीमा है, उससे बाहर निकल जाओ ॥

इत्युक्तः स तथा तेन मैथिलेन द्विजोत्तमः।
अब्रवीत् तं महात्मानं राजानं मन्त्रिभिर्वृतम्॥

मिथिलानरेशके ऐसा कहनेपर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणने मन्त्रियोंसे घिरे हुए उन महात्मा राजा जनकसे इस प्रकार कहा— ॥

त्वमेवं पद्मनाभस्य नित्यं पक्षपदाहितः।
अहो सिद्धार्थरूपोऽसि गमिष्ये स्वस्ति तेऽस्तु वै॥

'महाराज! आप सदा पद्मनाभ भगवान् नारायणके चरणोंमें अनुराग रखनेवाले और उन्हींके शरणागत हैं। अहो! आप कृतार्थरूप हैं, आपका कल्याण हो! अब मैं चला जाऊँगा' ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ विप्रस्तज्जिज्ञासुर्द्विजोत्तमः ।
अदहच्चाग्निना तस्य मिथिलां भगवान् स्वयम् ॥

ऐसा कहकर वे ब्राह्मण वहाँसे चल दिये । जाते-जाते राजाकी परीक्षा लेनेके लिये उन श्रेष्ठ ब्राह्मणरूपधारी भगवान् श्रीहरिने स्वयं ही मिथिलानगरीमें आग लगा दी ॥

प्रदीप्यमानां मिथिलां दृष्ट्वा राजा न कम्पितः ।
जनैः स परिपृष्टस्तु वाक्यमेतदुवाच ह ॥

मिथिलाको जलती हुई देखकर राजा तनिक भी विचलित नहीं हुए । लोगोंके पूछनेपर उन्होंने उनसे यह बात कही—॥

अनन्तं बत मे वित्तं भाव्यं मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किंचन दह्यते ॥

'मेरे पास आत्मज्ञानरूप अनन्त धन है; अतः अब मेरे लिये कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं है, इस मिथिलानगरीके जल जानेपर भी मेरा कुछ नहीं जलता है' ॥

तदस्य भाषमाणस्य श्रुत्वा श्रुत्वा हृदि स्थितम् ।
पुनः संजीवयामास मिथिलां तां द्विजोत्तमः ॥

राजा जनकके इस प्रकार कहनेपर उन द्विजश्रेष्ठने उनकी बात सुनी और उनके मनोभावको समझा; फिर उन् मिथिलानगरीको पूर्ववत् सजीव एवं दाहरहित कर दिया।

आत्मानं दर्शयामास वरं चास्मै ददौ पुनः ।
धर्मे तिष्ठतु सद्भावो बुद्धिस्तेऽर्थे नराधिप ॥
सत्ये तिष्ठस्व निर्विण्णः स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् ।

साथ ही उन्होंने राजाको अपने साक्षात् स्वरूपका द कराया और उन्हें वर देते हुए पुनः कहा—'नरे तुम्हारा मन सद्भावपूर्वक धर्ममें लगा रहे और बुद्धि तत्त्व परिनिष्ठित हो । सदा विषयोंसे विरक्त रहकर तुम स मार्गपर डटे रहो । तुम्हारा कल्याण हो । अब मैं जाता हूँ

इत्युक्त्वा भगवांश्चैनं तत्रैवान्तरधीयत ।
एतत् ते कथितं राजन् किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

उनसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि वहीं अन्तर्धान गये । राजन् ! यह प्रसङ्ग तुम्हें सुना दिया । अब और सुनना चाहते हो ? ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखवाक्यं नाम एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पञ्चशिखका उपदेशनामक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्वेतकेतु और सुवर्चलाका विवाह, दोनों पति-पत्नीका अध्यात्मविषयक संवाद तथा गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करते हुए ही उनका परमात्माको प्राप्त होना एवं दमकी महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अस्ति कश्चिद् यदि विभो सदारो नियतो गृहे ।
अतीतसर्वसंसारः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ॥
तं मे ब्रूहि महाप्राज्ञ दुर्लभः पुरुषो महान् ।

युधिष्ठिरने कहा—महाप्राज्ञ ! प्रभो ! यदि कोई ऐसा पुरुष हो, जो गृहस्थ आश्रममें पत्नीसहित संयम-नियमके साथ रहता हो, समस्त सांसारिक बन्धनोंको पार कर चुका हो और सम्पूर्ण द्वन्द्वोंसे दूर रहकर उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करता हो तो उसका मुझे परिचय दीजिये, क्योंकि ऐसा महापुरुष दुर्लभ होता है ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं यन्मां त्वं पृष्टवानसि ।
इतिहासमिमं शुद्धं संसारभयभेषजम् ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! तुमने मुझसे जो विषय पूछा है, उसे यथावत्‌रूपसे सुनो । यह विशुद्ध इतिहास जन्म-मरणरूप रोगका भय दूर करनेके लिये उत्तम औषध है ॥

देवलो नाम विप्रर्षिः सर्वशास्त्रार्थकोविदः ।
क्रियावान् धार्मिको नित्यं देवब्राह्मणपूजकः ॥

ब्रह्मर्षि देवलका नाम सर्वत्र प्रसिद्ध है । वे सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण, क्रियानिष्ठ, धार्मिक तथा देव और ब्राह्मणोंकी सदा पूजा करनेवाले थे ॥

सुता सुवर्चला नाम तस्य कल्याणलक्षणा ।
नातिह्रस्वा नातिकृशा नातिदीर्घा यशस्विनी ॥

उनके एक पुत्री थी, जो सुवर्चलाके नामसे पु जाता थी । वह यशस्विनी कन्या सभी शुभ-लक्षणोंसे स थी । वह न तो अधिक नाटी थी और न अधिक लंबी विशेष दुबली भी नहीं थी ॥

प्रदानसमयं प्राप्ता पिता तस्य ह्यचिन्तयत् ॥
अस्याः पतिः कुतो वेति ब्राह्मणः श्रोत्रियः परः ।
विद्वान् विप्रो ह्यकुटुम्बः प्रियवादी महातपाः ॥

धीरे-धीरे उसकी विवाहके योग्य अवस्था हो ग उसके पिता सोचने लगे, मेरी इस पुत्रीका पति श्रेष्ठ श्रो ब्राह्मण होना चाहिये, जो विद्वान् होनेके साथ ही प्रिय स बोलनेवाला, महातपस्वी और अविवाहित हो; परंतु पुरुष कहाँसे सुलभ हो सकता है ? ॥

इत्येवं चिन्तयानं तं रहस्याह सुवर्चला ।
अन्धाय मां महाप्राज्ञ देह्यनन्धाय वै पितः ।
एवं स्मर सदा विद्वन् ममेदं प्रार्थितं मुने ॥

एकान्तमें बैठकर ऐसी ही चिन्तामें पड़े हुए

पास जाकर सुवर्चलाने इस प्रकार कहा—'पिताजी ! आप परम बुद्धिमान्, विद्वान् और मुनि हैं। आप मुझे ऐसे पतिके हाथमें सौंपियेगा, जो अन्धा भी हो और आँखवाला भी हो। मेरी इस प्रार्थनाको सदा याद रखियेगा' ॥

पितोवाच

न शक्यं प्रार्थितं वत्से त्वयाद्य प्रतिभाति मे ।
अन्धतानन्धता चेति विकारो मम जायते ॥
उन्मत्तेवाशुभं वाक्यं भाषसे शुभलोचने ।

पिता बोले—बेटी ! तुम्हारी यह प्रार्थना पूर्ण हो सके, ऐसा तो मुझे नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि एक ही व्यक्ति अन्धा भी हो और अन्धा न भी हो, यह कैसे सम्भव है ? तुम्हारी यह बात सुनकर मेरे मनमें खेद होता है। शुभलोचने ! तुम पगली-सी होकर अशुभ बात मुँहसे निकाल रही हो ॥

सुवर्चलोवाच

नाहमुन्मत्तभूताद्य बुद्धिपूर्वं ब्रवीमि ते ।
विद्यते चेत् पतिस्तादृक् स मां भरति वेदवित् ॥

सुवर्चला बोली—पिताजी ! मैं पगली नहीं हूँ। खूब सोच-समझकर आपसे ऐसी बात कह रही हूँ। यदि ऐसा कोई वेदवेत्ता पति प्राप्त हो जाय तो वह मेरा भरण-पोषण कर सकता है ॥

येभ्यस्त्वं मन्यसे दातुं मामिहानय तान् द्विजान् ।
तादृशं तं पतिं तेषु वरयिष्ये यथातथम् ॥

आप जिन ब्राह्मणोंके हाथमें मुझे देना चाहते हैं, उन सबको यहाँ बुलवा लीजिये। मैं उन्हींमेंसे अपनी पसंदके अनुसार योग्य पतिका वरण कर लूँगी ॥

तथेति चोक्त्वा तां कन्यामृषिः शिष्यानुवाच ह ।
ब्राह्मणान् वेदसम्पन्नान् योनिगोत्रविशोधितान् ।
मातृतः पितृतः शुद्धाञ्छुद्धानाचारतः शुभान् ।
अरोगान् बुद्धिसम्पन्नाञ्शीलसत्त्वगुणान्वितान् ॥
असंकीर्णांश्च गोत्रेषु वेदव्रतसमन्वितान् ।
ब्राह्मणान् स्नातकाञ्शीघ्रं मातापितृसमन्वितान् ॥
निवेष्टुकामान् कन्यां मे दृष्ट्वाऽऽनयत शिष्यकाः ।

तब अपनी पुत्रीसे 'तथास्तु' कहकर ऋषिने शिष्योंसे कहा—'शिष्यगण ! जो वेदविद्यासे सम्पन्न, निष्कलङ्क माता-पितासे उत्पन्न, निर्दोष कुलके बालक, शुद्ध आचार-विचारवाले, शुभ लक्षणोंसे युक्त, नीरोग, बुद्धिमान्, शील और सत्त्वसे सम्पन्न, गोत्रोंमें वर्णसंकरताके दोषसे रहित, वेदोक्त व्रतके पालनमें तत्पर, स्नातक, जीवित माता-पितावाले तथा मेरी कन्यासे विवाहकी इच्छा रखनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, उन सबको देखकर तुमलोग यहाँ शीघ्र बुला ले आओ ॥'

तच्छ्रुत्वा त्वरिताः शिष्या ह्याश्रमेषु ततस्ततः ।
ग्रामेषु च ततो गत्वा ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ॥

मुनिकी यह बात सुनकर उनके शिष्योंने तुरंत इधर-उधर आश्रमों तथा गाँवोंमें जाकर ब्राह्मणोंको इसकी सूचना दी ॥

ऋषेः प्रभावं मत्वा ते कन्यायाश्च द्विजोत्तमाः ।
अनेकमुनयो राजन् सम्प्राप्ता देवलाश्रमम् ॥

राजन् ! ऋषि और उस कन्याके प्रभावको जानकर अनेक श्रेष्ठ ब्राह्मण महर्षि देवलके आश्रमपर आये ॥

अनुमान्य यथान्यायं मुनीन् मुनिकुमारकान् ।
अभ्यर्च्य विधिवत् तत्र कन्यामाह पिता महान् ॥

कन्याके महान् पिता देवलने वहाँ आये हुए ऋषियों तथा ऋषिकुमारोंका यथायोग्य सम्मान तथा विधिपूर्वक पूजन करके अपनी पुत्रीसे कहा—

एतेऽपि मुनयो वत्से स्वपुत्रैकमता इह ।
वेदवेदाङ्गसम्पन्नाः कुलीनाः शीलसम्मताः ॥
येऽमी तेषु वरं भद्रे त्वमिच्छसि महाव्रतम् ।
तं कुमारं वृणीष्वाद्य तस्मै दास्याम्यहं शुभे ॥

'बेटी ! ये मुनि जो यहाँ पधारे हैं, वेद-वेदाङ्गोंसे सम्पन्न, कुलीन और शीलवान् हैं। ये मेरे लिये अपने पुत्रके समान प्रिय हैं। भद्रे ! इन लोगोंमेंसे तुम जिस महान् व्रतधारी ऋषिकुमारको पति बनाना चाहो, उसे आज चुन लो, शुभे ! मैं उसीके साथ तुम्हारा विवाह कर दूँगा' ॥

तथेति चोक्त्वा कल्याणी तप्तहेमनिभा तदा ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना वाक्यमाह यशस्विनी ॥
विप्राणां समितीर्दृष्ट्वा प्रणिपत्य तपोधनान् ।

तब 'तथास्तु' कहकर तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाली, समस्त शुभलक्षणोंसे सम्पन्न, यशस्विनी, कल्याणमयी सुवर्चला ब्राह्मणोंके उस समुदायको देखकर सम्पूर्ण तपोधनोंको प्रणाम करके इस प्रकार बोली ॥

सुवर्चलोवाच

यद्यस्ति समितौ विप्रो ह्यन्धोऽनन्धः स मे वरः ॥

सुवर्चलाने कहा—इस ब्राह्मण-सभामें वही मेरा पति हो सकता है, जो अन्धा हो और अन्धा न भी हो ॥

तच्छ्रुत्वा मुनयस्तत्र वीक्षमाणाः परस्परम् ।
नोचुर्विप्रा महाभागाः कन्यां मत्वा ह्यवेदिकाम् ॥

उस कन्याकी यह बात सुनकर सब मुनि एक दूसरेका मुँह देखने लगे। वे महाभाग ब्राह्मण उस कन्याको अबोध जानकर कुछ बोले नहीं ॥

कुत्सयित्वा मुनिं तत्र मनसा मुनिसत्तमाः ॥
यथागतं ययुः क्रुद्धा नानादेशनिवासिनः ।
कन्या च संस्थिता तत्र पितृवेश्मनि भामिनी ॥

नाना देशोंमें निवास करनेवाले वे श्रेष्ठ मुनि कुपित हो मन-ही-मन देवल ऋषिकी निन्दा करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही लौट गये और वह मानिनी कन्या वहाँ पिताके ही घरमें रह गयी ॥

ततः कदाचिद् ब्रह्मण्यो विद्वान् न्यायविशारदः।
ऊहापोहविधानज्ञो ब्रह्मचर्यसमन्वितः ॥
वेदविद् वेदतत्त्वज्ञः क्रियाकल्पविशारदः।
आत्मतत्त्वविभागज्ञः पितृमान् गुणसागरः ॥
श्वेतकेतुरिति ख्यातः श्रुत्वा वृत्तान्तमादरात्।
कन्यार्थं देवलं चापि शीघ्रं तत्रागतोऽभवत् ॥

तदनन्तर किसी समय विद्वान्, ब्राह्मणभक्त, न्यायविशारद, ऊहापोह करनेमें कुशल, ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न, वेदवेत्ता, वेदतत्त्वज्ञ, कर्म-काण्डविशारद, आत्मतत्त्वको विवेकपूर्वक जाननेवाले, जीवित पितावाले तथा सद्गुणोंके सागर श्वेतकेतु ऋषि सारा वृत्तान्त सुनकर उस कन्याको प्राप्त करनेके लिये शीघ्रतापूर्वक आदरसहित देवल ऋषिके आश्रमपर आये ॥

उद्दालकसुतं दृष्ट्वा श्वेतकेतुं महाव्रतम्।
यथान्यायं च सम्पूज्य देवलः प्रत्यभाषत ॥

उद्दालकके पुत्र महान् व्रतधारी श्वेतकेतुको आया देख देवलने उनकी यथायोग्य पूजा करके अपनी पुत्रीसे कहा—॥

कन्ये एष महाभागे प्राप्तो ऋषिकुमारकः।
वरयैनं महाप्राज्ञं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥

'महान् सौभाग्यशालिनी कन्ये ! ये ऋषिकुमार श्वेतकेतु पधारे हैं। ये बड़े भारी पण्डित और वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् हैं। तुम इनका वरण कर लो' ॥

तच्छ्रुत्वा कुपिता कन्या ऋषिपुत्रमुदैक्षत।
तां कन्यामाह विप्रर्षिः सोऽहं भद्रे समागतः ॥

पिताकी यह बात सुनकर कन्याने कुपित हो ऋषिकुमार श्वेतकेतुकी ओर देखा। तब ब्रह्मर्षि श्वेतकेतुने उस कन्यासे कहा—'भद्रे ! मैं वही हूँ (जिसे तुम चाहती हो), तुम्हारे लिये ही यहाँ आया हूँ ॥

अन्धोऽहमत्र तत्त्वं हि तथा मन्ये च सर्वदा।
विशालनयनं विद्धि तथा मां हीनसंशयम् ॥
वृणीष्व मां वरारोहे भजे च त्वामनिन्दिते।

'मैं अन्ध हूँ, यह यथार्थ है। मैं अपने मनमें सदा ऐसा ही मानता भी हूँ। साथ ही मैं संदेहरहित होनेके कारण विशाल नेत्रोंसे युक्त भी हूँ। ऐसा ही तुम मुझे समझो। श्रेष्ठ अङ्गोंवाली अनिन्द्य सुन्दरी ! तुम मुझे अङ्गीकार करो। मैं तुम्हारी अभीष्ट-सिद्धि करूँगा ॥

येनेदं वीक्षते नित्यं वृणोति स्पृशतेऽथ वा ॥
घ्रायते वक्ति सततं येनेदं रसते पुनः।
येनेदं मन्यते तत्त्वं येन बुध्यति वा पुनः ॥
न चक्षुर्विद्यते ह्येतत् स वै भूतान्ध उच्यते।

'जिस परमात्माकी शक्तिसे जीवात्मा सदा यह सब कुछ देखता है, ग्रहण करता है, स्पर्श करता है, सूँघता है, बोलता है, निरन्तर विभिन्न वस्तुओंका स्वाद लेता है, तत्त्वका मनन करता और बुद्धिद्वारा निश्चय करता है, वह परमात्मा ही चक्षु[1] कहलाता है। जो इस चक्षुसे रहित है, वही प्राणियोंमें अन्धा कहलाता है (और परमात्मारूपी चक्षुसे युक्त होनेके कारण मैं अनन्ध-नेत्रवाला भी हूँ)॥

यस्मिन् प्रवर्तते चेदं पश्यञ्छृण्वन् स्पृशन्नपि ॥
जिघ्रंश्च रसयंस्तद्वद् वर्तते येन चक्षुषा।
तन्मे नास्ति ततो ह्यन्धो वृणु भद्रेऽद्य मामतः ॥

'जिस परमात्माके भीतर ही यह सम्पूर्ण जगत् व्यवहारमें प्रवृत्त होता है। यह जगत् जिस आँखसे देखता, कानसे सुनता, त्वचासे स्पर्श करता, नासिकासे सूँघता, रसनासे रस लेता एवं जिस लौकिक चक्षुसे यह सारा बर्ताव करता है, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मैं अन्ध हूँ; अतः भद्रे ! तुम मेरा वरण करो ॥

लोकदृष्ट्या करोमीह नित्यनैमित्तिकादिकम्।
आत्मदृष्ट्या च तत् सर्वं विलिप्यामि च नित्यशः॥

'मैं लोकसंग्रहकी दृष्टिसे ही यहाँ नित्य-नैमित्तिक आदि कर्म करता हूँ तथा नित्य आत्मदृष्टि रखनेके कारण उन सब कर्मोंसे लिप्त नहीं होता हूँ ॥

स्थितोऽहं निर्भरः शान्तः कार्यकारणभावनः।
अविद्यया तरन् मृत्युं विद्यया तं तथामृतम् ॥
यथाप्राप्तं तु संदृश्य वसामीह विमत्सरः।

'कार्य-कारणरूप परमात्माका चिन्तन करता हुआ मैं सदा शान्तभावसे उन्हींपर निर्भर रहता हूँ। कर्मोंके अनुष्ठानसे मृत्युको पार करके ज्ञानके द्वारा अमृतमय परमात्माका साक्षात्कार कर चुका हूँ और प्रारब्धवश जो कुछ प्रिय-अप्रिय पदार्थ प्राप्त होता है, उसको समानभावसे देखता हुआ मैं ईर्ष्या-द्वेषसे रहित होकर यहाँ निवास करता हूँ ॥

क्रीते व्यवसितं भद्रे भर्ताहं ते वृणीष्व माम् ॥
ततः सुवर्चला दृष्ट्वा प्राह तं द्विजसत्तमम्।

'भद्रे ! मैं तुम्हारा उचित शुल्क चुकानेका निश्चय कर चुका हूँ और तुम्हारा भरण-पोषण करनेमें समर्थ हूँ; अतः तुम मेरा वरण करो।' यह सुनकर सुवर्चलाने द्विजश्रेष्ठ श्वेतकेतुकी ओर देखकर कहा ॥

सुवर्चलोवाच

मनसासि वृतो विद्वञ्शेषकर्ता पिता मम।
वृणीष्व पितरं मह्यमेष वेदविधिक्रमः ॥

सुवर्चला बोली—विद्वन् ! मैंने अपने हृदयसे आपका वरण कर लिया। शास्त्रमें कथित शेष कार्योंकी पूर्ति करनेवाले मेरे पिताजी हैं। आप उनसे मुझे माँग लीजिये। यही वेदविहित मर्यादा है ॥

भीष्म उवाच

तद् विज्ञाय पिता तस्या देवलो मुनिसत्तमः।
श्वेतकेतुं च सम्पूज्य तथैवोद्दालकेन तम् ॥
मुनीनामग्रतः कन्यां प्रददौ जलपूर्वकम्।

---

१. चष्टे इति चक्षुः—जो देखता है, वह चक्षु है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार सर्वद्रष्टा परमात्मा ही चक्षुः पदका वाच्यार्थ है।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यह सब वृत्तान्त जानकर सुवर्चलाके पिता मुनिश्रेष्ठ देवलने उद्दालकसहित श्वेतकेतुकी पूजा करके मुनियोंके सामने जलसे संकल्प करके अपनी कन्या श्वेतकेतुको दे दी ॥

उदाहरन्ति वै तत्र श्वेतकेतुं निरीक्ष्य तम् ॥
हृत्पुण्डरीकनिलयः सर्वभूतात्मको हरिः ।
श्वेतकेतुस्वरूपेण स्थितोऽसौ मधुसूदनः ॥

वहाँ श्वेतकेतुको देखकर ऋषिगण इस प्रकार कहने लगे—मानो यहाँ श्वेतकेतुके रूपमें सबके हृदय-कमलमें निवास करनेवाले, सर्वभूतस्वरूप श्रीहरि भगवान् मधुसूदन ही विराजमान हैं ॥

देवल उवाच

प्रीयतां माधवो देवः पत्नी चेयं सुता मम ।
प्रतिपादयामि ते कन्यां सहधर्मचरीं शुभाम् ॥

देवल बोले—वररूपमें विराजमान ये भगवान् लक्ष्मीपति प्रसन्न हों । यह मेरी पुत्री इन्हें पत्नीरूपसे समर्पित है । प्रभो ! मैं आपको कल्याणमयी सहधर्मिणीके रूपमें अपनी यह कन्या दे रहा हूँ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै देवलो मुनिपुङ्गवः ।
प्रतिगृह्य च तां कन्यां श्वेतकेतुर्महायशाः ॥
उपयम्य यथान्यायमत्र कृत्वा यथाविधि ।
समाप्य तन्त्रं मुनिभिर्वैवाहिकमनुत्तमम् ॥
सगार्हस्थ्ये वसन् धीमान् भार्यां तामिदमब्रवीत् ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर मुनिवर देवलने उन्हें कन्यादान कर दिया । महायशस्वी श्वेतकेतुने उस कन्याको लेकर उसके साथ यथोचितरूपसे विधिपूर्वक विवाह किया । फिर मुनियोंद्वारा कराये हुए परम उत्तम वैवाहिक विधानको पूर्ण करके गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए बुद्धिमान् श्वेतकेतुने अपनी उस धर्मपत्नीसे इस प्रकार कहा ॥

श्वेतकेतुरुवाच

यानि चोक्तानि वेदेषु तत् सर्वं कुरु शोभने ।
मया सह यथान्यायं सहधर्मचरी मम ॥

श्वेतकेतुने कहा—शोभने ! वेदोंमें जिन शुभ कर्मोंका विधान है, मेरे साथ रहकर उन सबका यथोचितरूपसे अनुष्ठान करो और यथार्थरूपसे मेरी सहधर्मचारिणी बनो ॥

अहमित्येव भावेन स्थितोऽहं त्वं तथैव च ।
तस्मात् कर्माणि कुर्वीथाः कुर्यां ते च ततः परम् ॥

मैं इसी भावसे स्थित हूँ । तुम भी इसी भावसे स्थित रहना, अतः मेरी आज्ञाके अनुसार सारे कर्म करो, फिर मैं भी तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा ॥

न ममेति च भावेन ज्ञानाग्निनिलयेन च ।
अनन्तरं तथा कुर्यास्तानि कर्माणि भस्मसात् ॥
एवं त्वया च कर्तव्यं सर्वदादुर्भगा मया ।
यद् यदाचरति श्रेष्ठः तत् तदेवेतरो जनः ॥
तस्माल्लोकस्य सिद्ध्यर्थं कर्तव्यं चात्मसिद्धये ॥

तदनन्तर 'ये सब कर्म मेरे नहीं है और मैं इनका कर्ता नहीं हूँ' इस भावसे ज्ञानाग्निद्वारा उन सब कर्मोंको भस्म कर डालो, तुम परम सौभाग्यवती हो । तुम्हें सदा इसी तरह ममता और अहंकारसे रहित होकर कर्म करना चाहिये और मुझे भी ऐसा ही करना चाहिये । श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, वैसे ही दूसरे लोग भी करते हैं, अतः लोक-व्यवहारकी सिद्धि तथा आत्मकल्याणके लिये हम दोनोंको कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये ॥

भीष्म उवाच

उक्त्वैवं स महाप्राज्ञः सर्वज्ञानैकभाजनः ।
पुत्रानुत्पाद्य तस्यां च यज्ञैः संतर्प्य देवताः ॥
आत्मयोगपरो नित्यं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा उपदेश देकर सम्पूर्ण ज्ञानके एकमात्र निधि महाज्ञानी श्वेतकेतुने सुवर्चलाके गर्भसे अनेक पुत्र उत्पन्न किये, यज्ञोंद्वारा देवताओंको संतुष्ट किया; फिर आत्मयोगमें नित्य तत्पर रहकर वे निर्द्वन्द्व एवं परिग्रहशून्य हो गये ॥

भार्यां तां सदृशीं प्राप्य बुद्धिं क्षेत्रज्ञयोरिव ।
लोकमन्यमनुप्राप्तौ भार्या भर्ता तथैव च ॥
साक्षिभूतौ जगत्यस्मिंश्चरमाणौ मुदान्वितौ ।

अपने अनुरूप पत्नीको पाकर श्वेतकेतु उसी प्रकार सुशोभित होते थे, जैसे बुद्धिको पाकर क्षेत्रज्ञ । वे दोनों पति-पत्नी लोकान्तरमें भी पहुँच जाते थे और इस जगत्में साक्षीकी भाँति स्थित होकर प्रसन्नतापूर्वक विचरते थे ॥

ततः कदाचिद् भर्तारं श्वेतकेतुं सुवर्चला ।
पप्रच्छ को भवानत्र ब्रूहि मे तद् द्विजोत्तम ।
तामाह भगवान् वाग्मी त्वया ज्ञातो न संशयः ॥
द्विजोत्तमेति मामुक्त्वा पुनः कमनुपृच्छसि ।

तदनन्तर एक दिन सुवर्चलाने अपने पति श्वेतकेतुसे पूछा—'द्विजश्रेष्ठ ! आप कौन हैं, यह मुझे बताइये !' उस समय प्रवचन-कुशल भगवान् श्वेतकेतुने उससे कहा—'देवि ! तुमने मेरे विषयमें जान ही लिया है, इसमें संदेह नहीं है । तुमने द्विजश्रेष्ठ कहकर मुझे सम्बोधित भी किया है; फिर उस द्विजश्रेष्ठके सिवा और किसको पूछ रही हो ?' ॥

सा तमाह महात्मानं पृच्छामि हृदि शायिनम् ॥

तब सुवर्चलाने अपने महात्मा पतिसे कहा—'नाथ ! मैं हृदय-गुफामें शयन करनेवाले आत्माको पूछती हूँ' ॥

तच्छ्रुत्वा प्रत्युवाचैनां स न वक्ष्यति भामिनि ।
नामगोत्रसमायुक्तमात्मानं मन्यसे यदि ।
तन्मिथ्या गोत्रसद्भावे वर्तते देहबन्धनम् ॥

यह सुनकर श्वेतकेतुने उससे कहा—'भामिनि ! वह तो कुछ कहेगा नहीं । यदि तुम आत्माको नाम और गोत्रसे

युक्त मानती हो तो यह तुम्हारी मिथ्या धारणा है; क्योंकि नाम-गोत्र होनेपर देहका बन्धन प्राप्त होता है ॥

अहमित्येष भावोऽत्र त्वयि चापि समाहितः।
त्वमप्यहमहं सर्वमहमित्येव वर्तते ॥
नात्र तत् परमार्थं वै किमर्थमनुपृच्छसि ॥

'आत्मामें अहम् (मैं हूँ) यह भाव स्थापित किया गया है। तुममें भी वही भाव है। तुम भी अहम्, मैं भी अहम् और यह सब अहम्का ही रूप है। इसमें वह परमार्थतत्त्व नहीं है; फिर किसलिये पूछती हो ?'॥

ततः प्रहस्य सा हृष्टा भर्तारं धर्मचारिणी।
उवाच वचनं काले स्मयमाना तदा नृप ॥

नरेश्वर ! तब धर्मचारिणी पत्नी सुवर्चला बहुत प्रसन्न हुई, उसने हँसकर मुस्कराते हुए यह समयोचित वचन कहा ॥

सुवर्चलोवाच

किमनेकप्रकारेण विरोधेन प्रयोजनम्।
क्रियाकलापैर्ब्रह्मर्षे ज्ञाननष्टोऽसि सर्वदा ॥
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ यथाहं त्वामनुव्रता ॥

सुवर्चला बोली—ब्रह्मर्षे ! अनेक प्रकारके विरोधसे क्या प्रयोजन ? सदा इस नाना प्रकारके क्रिया-कलापमें पड़कर आपका ज्ञान लुप्त होता जा रहा है। अतः महाप्राज्ञ ! आप मुझे इसका कारण बताइये, क्योंकि मैं आपका अनुसरण करनेवाली हूँ ॥

श्वेतकेतुरुवाच

यद् यदाचरति श्रेष्ठः तत् तदेवेतरो जनः।
वर्तते तेन लोकोऽयं संकीर्णश्च भविष्यति ॥

श्वेतकेतुने कहा—प्रिये ! श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, वही दूसरे लोग भी करते हैं; अतः हमारे कर्म त्याग देनेसे यह सारा जनसमुदाय संकरताके दोषसे दूषित हो जायगा ॥

संकीर्णे च तथा धर्मे वर्णसंकरमेति च।
संकरे च प्रवृत्ते तु मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥

इस प्रकार धर्ममें संकीर्णता आनेपर प्रजामें वर्णसंकरता फैल जाती है और संकरता फैल जानेपर सर्वत्र मात्स्यन्यायकी प्रवृत्ति हो जाती है (जैसे प्रबल मत्स्य दुर्बल मत्स्यको निगल जाते हैं, उसी प्रकार बलवान् मनुष्य दुर्बलोंको सताने लगते हैं) ॥

तदनिष्टं हरेर्भद्रे धातुरस्य महात्मनः।
परमेश्वरसंक्रीडा लोकसृष्टिरियं शुभे ॥

भद्रे ! सम्पूर्ण जगत्का भरण-पोषण करनेवाले परमात्मा श्रीहरिको यह अभीष्ट नहीं है। शुभे ! जगत्की यह सारी सृष्टि परमेश्वरकी क्रीडा है ॥

यावत् पांसव उद्दिष्टास्तावत्योऽस्य विभूतयः।
तावत्यश्चैव मायास्तु तावत्योऽस्याश्च शक्तयः ॥

धूलिके जितने कण हैं, उतनी ही परमेश्वर श्रीहरिकी विभूतियाँ हैं; उतनी ही उनकी मायाएँ हैं और उतनी उन मायाओंकी शक्तियाँ भी हैं ॥

एवं सुगह्वरे मुक्तो यत्र मे तद्भवाभवम्।
छित्त्वा ज्ञानासिना गच्छेत् स विद्वान् स च मे प्रियः।
सोऽहमेव न संदेहः प्रतिज्ञा इति तस्य वै ॥

स्वयं भगवान् नारायणका कथन है कि 'जो मुक्तिला लिये उद्योगशील पुरुष अत्यन्त गहन गुफामें रहकर ज्ञान खड्गके द्वारा जन्म-मृत्युके बन्धनको काटकर मेरे धाम चला जाता है, वही विद्वान् है और वही मुझे प्रिय है। योगी पुरुष मैं ही हूँ। इसमें संदेह नहीं है' यह भगवान् प्रतिज्ञा है ॥

ये मूढास्ते दुरात्मानो धर्मसंकरकारकाः।
मर्यादाभेदका नीचा नरके यान्ति जन्तवः।
आसुरीं योनिमापन्ना इति देवानुशासनम् ॥

'जो मूढ़, दुरात्मा, धर्मसंकरता उत्पन्न करनेवा मर्यादाभेदक और नीच मनुष्य हैं, वे नरकमें गिरते हैं औ आसुरी योनिमें पड़ते हैं, यह भी उन्हीं भगवान् अनुशासन है' ॥

भगवत्या तथा लोके रक्षितव्यं न संशयः।
मर्यादालोकरक्षार्थमेवमस्मि तथा स्थितः ॥

देवि ! तुम्हें भी जगत्की रक्षाके लिये लोकमर्यादा पालन करना चाहिये। इसमें संशय नहीं है। मैं भी इ भावसे लोक-मर्यादाकी रक्षामें स्थित हूँ ॥

सुवर्चलोवाच

शब्दः कोऽत्र इति ख्यातस्तथार्थश्च महामुने।
आकृत्यापि तयोर्ब्रूहि लक्षणेन पृथक् पृथक् ॥

सुवर्चलाने पूछा—महामुने ! यहाँ शब्द किसे क गया है और अर्थ भी क्या है ? आप उन दोनोंकी आकृ और लक्षणका निर्देश करते हुए उनका पृथक्-पृथ वर्णन कीजिये ॥

श्वेतकेतुरुवाच

व्यत्ययेन च वर्णानां परिवादकृतो हि यः।
स शब्द इति विज्ञेयस्तन्निपातोऽर्थ उच्यते ॥

श्वेतकेतुने कहा—अकार आदि वर्णोंके समुदाय क्रम या व्यतिक्रमसे उच्चारण करनेपर जो वस्तु प्रकाशि होती है, उसे 'शब्द' जानना चाहिये और उस शब्दसे जि अभिप्रायकी प्रतीति हो, उसका नाम 'अर्थ' है ॥

सुवर्चलोवाच

शब्दार्थयोर्हि सम्बन्धस्त्वनयोरस्ति वा न वा।
तन्मे ब्रूहि यथातत्त्वं शब्दस्थानेऽर्थ एव चेत् ॥

सुवर्चला बोली—यदि शब्दके होनेपर ही अर्थ प्रतीति होती है तो इन शब्द और अर्थमें कोई सम्बन्ध या नहीं ? यह आप मुझे यथार्थरूपसे बतावें ॥

श्वेतकेतुरुवाच

शब्दार्थयोर्न चैवास्ति सम्बन्धोऽत्यन्त एव हि।
पुष्करे च यथा तोयं तथास्तीति च वेत्थ तत् ॥

श्वेतकेतुने कहा—शब्द और अर्थमें एक प्रकारसे कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। कमलके पत्तेपर स्थित जलकी भाँति शब्द एवं अर्थका अनियत सम्बन्ध है, ऐसा जानो ॥

सुवर्चलोवाच

अर्थे स्थितिर्हि शब्दस्य नान्यथा च स्थितिर्भवेत्।
विद्यते चेन्महाप्राज्ञ विनार्थं ब्रूहि सत्तम ॥

सुवर्चला बोली—महाप्राज्ञ ! अर्थपर ही शब्दकी स्थिति है, अन्यथा उसकी स्थिति नहीं हो सकती। साधुशिरोमणे! यदि बिना अर्थका कोई शब्द हो तो उसे बताइये ॥

श्वेतकेतुरुवाच

स संसर्गोऽतिमात्रस्तु वाचकत्वेन वर्तते।
अस्ति चेद् वर्तते नित्यं विकारोच्चारणेन वै ॥

श्वेतकेतुने कहा—अर्थके साथ शब्दका वाचकत्वरूप सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध नित्य है। यदि शब्द है तो उसका अर्थ भी सदा है ही। विपरीत क्रमसे उच्चारण करनेपर भी शब्दका कुछ-न-कुछ अर्थ होता ही है (जैसे नदी, दीन इत्यादि) ॥

सुवर्चलोवाच

शब्दस्थानोऽत्र इत्युक्तस्तथार्थ इति मे कृतम्।
अर्थास्थितो न तिष्ठेच्च विरूढमिह भाषितम् ॥

सुवर्चला बोली—शब्द अर्थात् वेदका आधार है अर्थभूत परमात्मा। ऐसा ही विद्वानोंने कहा है और यही मेरा भी मत है। उस अर्थका आधार लिये बिना तो शब्द टिक ही नहीं सकता। परंतु आप तो इनमें कोई नियत सम्बन्ध ही नहीं मानते हैं, अतः आपका कथन प्रसिद्धिके विपरीत है ॥

श्वेतकेतुरुवाच

न विकूलोऽत्र कथितो नाकाशं हि विना जगत्।
सम्बन्धस्तत्र नास्त्येव तद्वदित्येष मन्यताम् ॥

श्वेतकेतुने कहा—मैंने प्रसिद्धिके विपरीत कुछ नहीं कहा है। देखो, आकाशके बिना पृथ्वी अथवा पार्थिव जगत् टिक नहीं सकता तथापि इनमें कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। शब्द और अर्थका सम्बन्ध भी वैसा ही मानना चाहिये ॥

सुवर्चलोवाच

सदाहङ्कारशब्दोऽयं व्यक्तमात्मनि संश्रितः।
न वाचस्तत्र वर्तन्ते इति मिथ्या भविष्यति ॥

सुवर्चला बोली—यह 'अहम्' शब्द सदा ही आत्माके अर्थमें स्पष्टरूपसे प्रयुक्त होता है; परंतु 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इस श्रुतिके अनुसार वहाँ वाणीकी पहुँच नहीं है; अतः आत्माके लिये 'अहम्' पदका प्रयोग भी मिथ्या ही होगा ॥

श्वेतकेतुरुवाच

अहंशब्दो ह्यहंभावो नात्मभावे शुभव्रते।
न वर्तन्ते परेऽचिन्त्ये वाचः सगुणलक्षणाः ॥

श्वेतकेतुने कहा—शुभव्रते ! अहम् शब्दका आत्मभावमें प्रयोग नहीं होता; किंतु अहम्भावका ही आत्मभावमें प्रयोग होता है; क्योंकि सगुण पदार्थके बोधक वचन अचिन्त्य परब्रह्म परमात्माका बोध करानेमें असमर्थ हैं ॥

मृण्मये हि घटे भावस्तादृग्भाव इहेष्यते।
अयं भावः परेऽचिन्त्ये ह्यात्मभावो यथा च तत् ॥

जैसे मिट्टीके घड़ेमें मृत्तिका-भाव होता है, उसी प्रकार परमात्मासे उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थमें परमात्मभाव अभीष्ट है; अतएव अचिन्त्य परब्रह्म परमात्मामें अहम्भाव ही आत्मभाव है और वही यथार्थ है ॥

अहं त्वमेतदित्येव परे संकल्पना मया।
तस्माद् वाचो न वर्तन्त इति नैव विरुध्यते ॥

'मैं' 'तुम' और 'यह'—ये सब नाम परब्रह्म परमात्मामें हमलोगोंद्वारा कल्पित हैं (वास्तविक नहीं है), अतः 'उस परमात्मातक वाणीकी पहुँच नहीं हो पाती' श्रुतिके इस कथनसे कोई विरोध नहीं है ॥

तस्माद् वामेन वर्तन्ते मनसा भीरु सर्वशः।
यथाकाशगतं विश्वं संसक्तमिव लक्ष्यते ॥

अतएव भीरु ! मनुष्य भ्रान्तचित्तद्वारा ही अहम् आदि पदोंका प्रयोग करता है। जैसे आकाशमें स्थित सम्पूर्ण विश्व उसमें सटा हुआ-सा दीखता है, उसी प्रकार परमात्मामें स्थित हुआ सारा दृश्य-प्रपञ्च उससे जुड़ा हुआ-सा जान पड़ता है ॥

संसर्गे सति सम्बन्धात् तद् विकारं भविष्यति।
अनाकाशगतं सर्वं विकारे च सदा गतम् ॥

ब्रह्मके साथ जगत्का जो सम्बन्ध है, उसी सम्बन्धसे यह उसीका कार्य जान पड़ता है। जैसे सारा जगत् आकाशसे पृथक् है तो भी उसके विकारोंसे सम्बन्ध होनेके कारण सदा उससे मिश्रित ही रहता है, उसी प्रकार जगत्से ब्रह्मका कोई सम्पर्क नहीं है तो भी यह उसीसे उत्पन्न होनेके कारण तद्रूप माना जाता है ॥

तद् ब्रह्म परमं शुद्धमनौपम्यं न शक्यते।
न दृश्यते तथा तच्च दृश्यते च मतिर्मम ॥

वह ब्रह्म परम शुद्ध और उपमारहित है; अतः वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इन चर्मचक्षुओंसे उसको नहीं देखा जा सकता है तथा ज्ञानदृष्टिसे उसका साक्षात्कार होता है, ऐसा मेरा मत है ॥

सुवर्चलोवाच

निर्विकारं ह्यमूर्तिं च निरयं सर्वगं तथा।
दृश्यते च वियन्नित्यं दृगात्मा तेन दृश्यते ॥

सुवर्चला बोली—तब तो यह मानना होगा कि जिस प्रकार निर्विकार, निराकार, निःसीम और सर्वव्यापी आकाशका सर्वदा ही दर्शन होता है, उसीके समान ज्ञानस्वरूप आत्माका भी दर्शन होता है ॥

श्वेतकेतुरुवाच

त्वचा स्पृशति वै वायुमाकाशस्थं पुनः पुनः।
तत्स्थं गन्धं तथाऽऽघ्राति ज्योतिः पश्यति चक्षुषा ॥

श्वेतकेतुने कहा—मनुष्य त्वचाद्वारा आकाशमें स्थित वायुका बारंबार स्पर्श करता है, नासिकाद्वारा आकाशवर्ती गन्धको बारंबार सूँघता है और नेत्रद्वारा आकाशस्थित ज्योतिका दर्शन करता है ॥

तमोरश्मिगणश्चैव मेघजालं तथैव च ।
वर्षं तारागणं चैव नाकाशं दृश्यते पुनः ॥

इसके सिवा अन्धकार, किरणसमूह, मेघोंकी घटा, वर्षा तथा तारागणका भी बारंबार दर्शन होता है; परंतु आकाश दृष्टिगोचर नहीं होता ॥

आकाशस्याप्यथाकाशं सद्रूपमिति निश्चितम् ।
तदर्थं कल्पिता ह्येते तत् सत्यो विष्णुरेव च ॥

सत्स्वरूप परमात्मा उस आकाशका भी आकाश है, अर्थात् उसे भी अवकाश देनेवाला महाकाश है; यह निश्चित है, उन्हींके लिये और उन्हींके द्वारा इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि हुई है । वे ही सत्य तथा सर्वव्यापी हैं ॥

यानि नामानि गौणानि ह्युपचारात् परात्मनि ।
न चक्षुषा न मनसा न चान्येन परो विभुः ॥
चिन्त्यते सूक्ष्मया बुद्ध्या वाचा वक्तुं न शक्यते ।

भगवान्के जो गुण-सम्बन्धी नाम हैं, वे परमात्मामें औपचारिक हैं । नेत्र, मन तथा अन्य किसी इन्द्रियके द्वारा भी उस सर्वव्यापी परमात्माका ग्रहण नहीं हो सकता । वाणी-द्वारा भी उनका वर्णन नहीं किया जा सकता । केवल सूक्ष्म बुद्धिद्वारा उनका चिन्तन एवं साक्षात्कार किया जा सकता है ॥

एतत् प्रपञ्चमखिलं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
महाघटोऽल्पकश्चैव यथा मह्यां प्रतिष्ठितौ ॥

यह सारा प्रपञ्च (समष्टि एवं व्यष्टि-जगत्) उन्हीं परमात्मामें प्रतिष्ठित है । ठीक उसी तरह, जैसे बड़ा और छोटा घड़ा पृथ्वीपर स्थित होते हैं ॥

न च स्त्री न पुमांश्चैव तथैव न नपुंसकः ।
केवलज्ञानमात्रं तत् तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

वह परमात्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है, केवल ज्ञानस्वरूप है । उसीके आधारपर यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥

भूमिसंस्थानयोगेन वस्तुसंस्थानयोगतः ।
रसभेदा यथा तोये प्रकृत्यामात्मनस्तथा ॥

जैसे एक ही जलमें मृत्तिकाविशेष एवं बीज आदि द्रव्य-विशेषके संयोगसे रसभेद उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति और आत्माके संयोगसे गुण-कर्मके अनुसार अनेक प्रकारकी सृष्टि प्रकट होती है ॥

तद्वाक्यस्मरणान्नित्यं तृप्तिं वारि पिबन्निव ।
प्राप्नोति ज्ञानमखिलं तेन तत् सुखमेधते ॥

जैसे प्यासा मनुष्य पानी पीकर तृप्ति लाभ करता है, उसी प्रकार साधक ब्रह्मबोधक वाक्यको स्मरण करके सदा तृप्ति एवं सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञानसे उसका सुख उत्तरोत्तर अभ्युदयको प्राप्त होता है ॥

सुवर्चलोवाच

अनेन साध्यं किं स्याद् वै शब्देनेति मतिर्मम ।
वेदगम्यः परोऽचिन्त्य इति पौराणिका विदुः ॥
निरर्थको यथा लोके तद्वत् स्यादिति मे मतिः ।
निरीक्ष्यैवं यथान्यायं वक्तुमर्हसि मेऽनघ ॥

सुवर्चला बोली—निष्पाप मुने ! इस शब्दसे क्या सिद्ध होनेवाला है ? मेरी तो ऐसी धारणा है कि शब्दसे कुछ भी होने-जानेवाला नहीं है । परंतु पौराणिक विद्वान् ऐसा मानते हैं कि परमात्मा अचिन्त्य एवं वेदगम्य हैं । जैसे लोकमें बहुत-से शब्द निरर्थक होते हैं, उसी प्रकार वैदिक शब्द भी हो सकते हैं । मेरी बुद्धिमें तो यही बात आती है; अतः आप इस विषयमें यथोचित विचार करके मुझे यथार्थ बात बतानेकी कृपा करें ॥

श्वेतकेतुरुवाच

वेदगम्यं परं शुद्धमिति सत्या परा श्रुतिः ।
व्याहत्या नैतदित्याह व्युपलिङ्गे च वर्तते ॥

श्वेतकेतुने कहा—'शुद्धस्वरूप परब्रह्म परमात्मा वेदगम्य हैं' श्रुतिका यह कथन परम सत्य है । इस विषयमें नास्तिकोंका कहना है कि परब्रह्मकी प्रत्यक्ष उपलब्धि न होनेसे उक्त श्रुतिका कथन व्याघात दोषसे दूषित होनेके कारण सत्य नहीं है । इसका उत्तर आस्तिक यों देते हैं कि सूक्ष्म शरीरविशिष्ट स्थूल देहमें जीवात्मारूपसे परब्रह्मकी ही उपलब्धि होती है; अतः श्रुतिका पूर्वोक्त कथन यथार्थ ही है ॥

निरर्थको न चैवास्ति शब्दो लौकिक उत्तमे ।
अनन्वयास्तथा शब्दा निरर्था इति लौकिकैः ॥

उत्तम अङ्गोंवाली देवि ! कोई लौकिक शब्द भी निरर्थक नहीं है; फिर वैदिक शब्द तो व्यर्थ हो ही कैसे सकता है। जिन शब्दोंका परस्पर अन्वय नहीं होता—जो एक दूसरेसे असम्बद्ध होते हैं, उन्हींको लौकिक पुरुष निरर्थक बताते हैं ॥

गृह्यन्ते तद्वदित्येव न वर्तन्ते परात्मनि ।
अगोचरत्वं वचसां युक्तमेवं तथा शुभे ॥

किंतु शुभे ! लौकिक शब्दोंकी ही भाँति वैदिक शब्द भी यद्यपि सार्थक समझे जाते हैं, तथापि वे साक्षात् परमात्माका बोध करानेमें असमर्थ हैं; क्योंकि परमात्माको वाणीका अगोचर बताया गया है और उनकी अगोचरता युक्ति-सङ्गत भी है ॥

साधनस्योपदेशाच्च ह्युपायस्य च सूचनात् ।
उपलक्षणयोगेन व्यावृत्त्या च प्रदर्शनात् ॥
वेदगम्यः परः शुद्ध इति मे धीयते मतिः ।

वेदोंमें ब्रह्मकी उपासना अथवा उसकी प्राप्तिके साधनका उपदेश है । उपासनाके उपाय भी सूचित किये गये हैं। (जैसे ग्रहणकालमें चन्द्रमा और सूर्यके साथ राहुका दर्शन होता है उसी प्रकार) उपलक्षण-योगसे प्रत्येक शरीरमें जीवात्मा-रूपसे ब्रह्मकी ही स्थितिका प्रदर्शन किया गया है । इसके

सिवा नेति-नेति आदि निषेधात्मक वचनोंद्वारा अनात्मवस्तुके बाधपूर्वक ब्रह्मके स्वरूपकी ओर संकेत किया गया है। इसलिये शुद्धस्वरूप परमात्मा एकमात्र वेदगम्य हैं, यही मेरी सुनिश्चित धारणा है॥

अध्यात्मध्यानसम्भूतभूतं दीपवत् स्फुटम् ॥
ज्ञाने विद्धि शुभाचारे तेन यान्ति परां गतिम् ।

शुभ आचरणोंवाली देवि ! तुम्हें यह विदित हो कि अध्यात्मतत्त्वके चिन्तनसे नित्य ज्ञान दीपककी भाँति स्पष्टरूपसे प्रकाशित होने लगता है। उस ज्ञानसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त होते हैं॥

यदि मे व्याहृतं गुह्यं श्रुतं न तु त्वया शुभे ॥
तथ्यमित्येव वा शुद्धे ज्ञानं ज्ञानविलोचने ।

शुभे ! शुद्धस्वरूपे ! ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न देवि ! मैंने यह जो गूढ़ एवं यथार्थ ब्रह्मज्ञानका विषय बताया है, इसे तुमने सुना है या नहीं ?॥

नानारूपवदस्यैवमैश्वर्यं दृश्यते शुभे ।
न वायुस्तत्र सूर्यस्तत्राग्निस्तत् तु परं पदम् ॥
अनेन पूर्णमेतद्धि हृदि भूतमिहेष्यते ।

शुभे ! परब्रह्म परमात्माका ऐश्वर्य नाना रूपोंमें दिखायी देता है ! वायुकी वहाँतक पहुँच नहीं है। सूर्य और अग्नि उस परमपदस्वरूप परमेश्वरको प्रकाशित नहीं कर सकते। परमात्मासे ही यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है और वे ही प्रत्येक प्राणीके हृदयमें आत्मारूपसे निवास करते हैं॥

एतावदात्मविज्ञानमेतावद् यदहं स्मृतम् ॥
आवयोर्न च सत्त्वे वै तस्मादज्ञानबन्धनम् ।

इतना ही परमात्मविज्ञान है। इतना ही अहम् पदार्थ माना गया है। हम दोनोंकी सत्ता नित्य नहीं है, ऐसी धारणा अज्ञानके कारण होती है॥

भीष्म उवाच

एवं सुवर्चला दृष्टा प्रोक्ता भर्त्रा यथार्थवत् ।
परिचर्यमाणा ह्यनिशं तत्त्वबुद्धिसमन्विता ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! अपने पति श्वेतकेतुके इस प्रकार यथार्थ उपदेश देनेपर सुवर्चला आनन्दमग्न हो गयी। वह निरन्तर तत्त्वज्ञाननिष्ठ रहकर तदनुरूप आचरण करने लगी॥

भर्ता च तामनुप्रेक्ष्य नित्यनैमित्तिकान्वितः ।
परमात्मनि गोविन्दे वासुदेवे महात्मनि ॥
समाधाय च कर्माणि तन्मयत्वेन भावितः ।
कालेन महता राजन् प्राप्नोति परमां गतिम् ॥

श्वेतकेतु पत्नीको साथ रखकर नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें संलग्न रहते थे। वे सबके हृदयमें निवास करनेवाले महामना परमात्मा गोविन्दको अपने समस्त कर्म समर्पित करके उन्हींके ध्यानमें तन्मय रहा करते थे। राजन् ! इस प्रकार दीर्घकाल-तक परमात्मचिन्तन करके उन्होंने परमगति प्राप्त कर ली॥

एतत् ते कथितं राजन् यस्मात् त्वं परिपृच्छसि ।
गार्हस्थ्यं च समाधाय गतौ जायापती परम् ॥

नरेश्वर ! तुमने जो प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें मैंने यह प्रसङ्ग सुनाया है। इस प्रकार वे दोनों पति-पत्नी गृहस्थधर्मका आश्रय लेकर परमात्माको प्राप्त हो गये॥

युधिष्ठिर उवाच

किं कुर्वन् सुखमाप्नोति किं कुर्वन् दुःखमाप्नुयात् ।
किं कुर्वन्निर्भयो लोके सिद्धश्चरति भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! मनुष्य क्या उपाय करनेसे सुख पाता है; क्या करनेसे दुःख उठाता है और कौन-सा काम करनेसे वह सिद्धकी भाँति संसारमें निर्भय होकर विचरता है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

दममेव प्रशंसन्ति वृद्धाः श्रुतिसमाधयः ।
सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणस्य विशेषतः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! मनोयोगपूर्वक वेदार्थका विचार करनेवाले वृद्ध पुरुष सामान्यतः सभी वर्णोंके लिये और विशेषतः ब्राह्मणके लिये मन और इन्द्रियोंके संयमरूप 'दम' की ही प्रशंसा करते हैं ॥ २ ॥

नादान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपपद्यते ।
क्रिया तपश्च सत्यं च दमे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥

जिसने दमका पालन नहीं किया है, उसे अपने कर्मोंमें यथोचित सफलता नहीं मिलती; क्योंकि क्रिया, तप और सत्य—ये सभी दमके आधारपर ही प्रतिष्ठित होते हैं ॥ ३ ॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दम उच्यते ।
विपाप्मा निर्भयो दान्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥ ४ ॥

'दम' तेजकी वृद्धि करता है। 'दम' परम पवित्र बताया गया है, मन और इन्द्रियोंका संयम करनेवाला पुरुष पाप और भयसे रहित होकर 'महत्' पदको प्राप्त कर लेता है॥

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुद्ध्यते ।
सुखं लोके विपर्येति मनश्चास्य प्रसीदति ॥ ५ ॥

दमका पालन करनेवाला मनुष्य सुखसे सोता, सुखसे जागता और सुखसे ही संसारमें विचरता है तथा उसका मन भी प्रसन्न रहता है ॥ ५ ॥

तेजो दमेन ध्रियते तन्न तीक्ष्णोऽधिगच्छति ।
अमित्रांश्च बहून् नित्यं पृथगात्मनि पश्यति ॥ ६ ॥

दमसे ही तेजको धारण किया जाता है, जिसमें दमका अभाव है, वह तीव्र कामवाला रजोगुणी पुरुष उस तेजको नहीं धारण कर सकता और सदा काम, क्रोध आदि बहुत-से शत्रुओंको अपनेसे पृथक् अनुभव करता है ॥ ६ ॥

क्रव्याद्भ्य इव भूतानामदान्तेभ्यः सदा भयम् ।
तेषां विप्रतिषेधार्थं राजा सृष्टः स्वयम्भुवा ॥ ७ ॥

जिन्होंने मन और इन्द्रियोंका दमन नहीं किया है,

उनसे समस्त प्राणियोंको उसी प्रकार सदा भय बना रहता है, जैसे मांसभक्षी व्याघ्र आदि जन्तुओंसे भय हुआ करता है। ऐसे उद्दण्ड मनुष्योंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिको रोकनेके लिये ही ब्रह्माजीने राजाकी सृष्टि की है ॥ ७ ॥

आश्रमेषु च सर्वेषु दम एव विशिष्यते।
यच्च तेषु फलं धर्मे भूयो दान्ते तदुच्यते ॥ ८ ॥

चारों आश्रमोंमें दमको ही श्रेष्ठ बताया गया है। उन सब आश्रमोंमें धर्मका पालन करनेसे जो फल मिलता है, दमनशील पुरुषको वह फल और अधिक मात्रामें उपलब्ध होता है ॥ ८ ॥

तेषां लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः।
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्दधानता ॥ ९ ॥
अक्रोध आर्जवं नित्यं नातिवादोऽभिमानिता।
गुरुपूजानसूया च दया भूतेष्वपैशुनम् ॥ १० ॥
जनवादमृषावादस्तुतिनिन्दाविवर्जनम् ।
साधुकामश्च स्पृहयेन्नायतिं प्रत्ययेषु च ॥ ११ ॥

अब मैं उन लक्षणोंका वर्णन करूँगा, जिनकी उत्पत्तिमें दम ही कारण है। कृपणताका अभाव, उत्तेजनाका न होना, संतोष, श्रद्धा, क्रोधका न आना, नित्य सरलता, अधिक बकवाद न करना, अभिमानका त्याग, गुरुसेवा, किसीके गुणोंमें दोषदृष्टि न करना, समस्त जीवोंपर दया करना, किसीकी चुगली न करना, लोकापवाद, असत्यभाषण तथा निन्दा-स्तुति आदिको त्याग देना, सत्पुरुषोंके सङ्गकी इच्छा तथा भविष्यमें आनेवाले सुखकी स्पृहा और दुःखकी चिन्ता न करना—॥ ९–११ ॥

अवैरकृत् सूपचारः समो निन्दाप्रशंसयोः।
सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मवान् प्रभुः ॥१२॥
प्राप्य लोके च सत्कारं स्वर्गं वै प्रेत्य गच्छति।

जितेन्द्रिय पुरुष किसीके साथ वैर नहीं करता। उसका सबके साथ अच्छा बर्ताव होता है। वह निन्दा और स्तुतिमें समान भाव रखनेवाला, सदाचारी, शीलवान्, प्रसन्नचित्त, धैर्यवान् तथा दोषोंका दमन करनेमें समर्थ होता है। वह इहलोकमें सम्मान पाता और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १२½ ॥

दुर्गमं सर्वभूतानां प्रापयन् मोदते सुखी ॥ १३ ॥
सर्वभूतहिते युक्तो न स्म यो द्विषते जनम्।
महाह्रद इवाक्षोभ्यः प्रज्ञातृप्तः प्रसीदति ॥ १४ ॥

दमनशील पुरुष समस्त प्राणियोंको दुर्लभ वस्तुएँ देक[र] दूसरोंको सुख पहुँचाकर स्वयं सुखी और प्रमुदित होता है जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें लगा रहता और किसीसे द्[्वेष] नहीं करता है, वह बहुत बड़े जलाशयकी भाँति गम्भी[र] होता है। उसके मनमें कभी क्षोभ नहीं होता तथा वह स[दा] ज्ञानानन्दसे तृप्त एवं प्रसन्न रहता है ॥ १३-१४ ॥

अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः।
नमस्यः सर्वभूतानां दान्तो भवति बुद्धिमान् ॥ १५ ॥

जो समस्त प्राणियोंसे निर्भय है तथा जिससे सम्पू[र्ण] प्राणी निर्भय हो गये हैं, वह दमनशील एवं बुद्धिमान् पु[रुष] सब जीवोंके लिये वन्दनीय होता है ॥ १५ ॥

न हृष्यति महत्यर्थे व्यसने च न शोचति।
स वै परिमितप्रज्ञः स दान्तो द्विज उच्यते ॥ १६ ॥

जो बहुत बड़ी सम्पत्ति पाकर हर्षसे फूल नहीं उठ[ता] और संकटमें पड़नेपर शोक नहीं करता, वह द्विज सू[क्ष्म] बुद्धिसे युक्त एवं जितेन्द्रिय कहलाता है ॥ १६ ॥

कर्मभिः श्रुतिसम्पन्नः सद्भिराचरितैः शुचिः।
सदैव दमसंयुक्तस्तस्य भुङ्क्ते महाफलम् ॥ १७ ॥

जो वेदशास्त्रोंका ज्ञाता और सत्पुरुषोंद्वारा आचरण[में] लाये हुए शुभ कर्मोंसे पवित्र है तथा जिसने सदा ही दम[का] पालन किया है, वह अपने शुभकर्मका महान् फल भोगता है।

अनसूया क्षमा शान्तिः संतोषः प्रियवादिता।
सत्यं दानमनायासो नैष मार्गो दुरात्मनाम् ॥ १८ ॥

किसीके दोष न देखना, हृदयमें क्षमाभाव रखना, शान्ति, संतोष, मीठे वचन बोलना, सत्य, दान तथा क्रियाओं[में] परिश्रमका बोध न होना—ये सद्गुण हैं। दुरात्मा पुरुष इ[स] मार्गसे नहीं चलते हैं ॥ १८ ॥

कामक्रोधौ च लोभश्च परस्येर्ष्याविकत्थना।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥ १९ ॥
विक्रम्य घोरे तपसि ब्राह्मणः संशितव्रतः।
कालाकाङ्क्षी चरेल्लोकान् निरपाय इवात्मवान् ॥ २० ॥

उनमें तो काम, क्रोध, लोभ, दूसरोंके प्रति डाह औ[र] अपनी झूठी प्रशंसा आदि दुर्गुण ही भरे रहते हैं; इसलि[ये] उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणको चाहि[ये] कि वह जितेन्द्रिय होकर काम और क्रोधको वशमें करे तथ[ा] ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उत्साहके साथ घोर तपस्यामें संलग्न हो जाय एवं मृत्युकालकी प्रतीक्षा करता हुआ विघ्न-बाधाओं[से] रहित हो धैर्यपूर्वक सम्पूर्ण जगत्‌में विचरे ॥ १९-२० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दमप्रशंसायां विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें दमकी प्रशंसाविषयक दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १०८½ श्लोक मिलाकर कुल १२८½ श्लोक हैं)

एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्रत, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य तथा अतिथिसेवा आदिका विवेचन तथा यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करनेवालेको परम उत्तम गतिकी प्राप्तिका कथन

युधिष्ठिर उवाच

द्विजातयो व्रतोपेता यदिदं भुञ्जते हविः।
अन्नं ब्राह्मणकामाय कथमेतत् पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! व्रतयुक्त द्विजगण वेदोक्त सकामकर्मोंके फलकी इच्छासे हविष्यान्नका भोजन करते हैं ! उनका यह कार्य उचित है या नहीं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अवेदोक्तव्रतोपेता भुञ्जानाः कार्यकारिणः।
वेदोक्तेषु च भुञ्जाना व्रतलुब्धा युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो लोग अवैदिक व्रतका आश्रय ले हविष्यान्नका भोजन करते हैं, वे स्वेच्छाचारी हैं और जो वेदोक्त व्रतोंमें प्रवृत्त हो सकाम यज्ञ करते और उसमें खाते हैं, वे भी उस व्रतके फलोंके प्रति लोलुप कहे जाते हैं (अतः उन्हें भी बारंबार इस संसारमें आना पड़ता है) ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं तप इत्याहुरुपवासं पृथग्जनाः।
एतत् तपो महाराज उताहो किं तपो भवेत् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाराज ! संसारके साधारण लोग जो उपवासको ही तप कहते हैं, क्या वास्तवमें यही तप है या दूसरा। यदि दूसरा है तो उस तपका क्या स्वरूप है ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

मासपक्षोपवासेन मन्यन्ते यत् तपो जनाः।
आत्मतन्त्रोपघातस्तु न तपस्तत्सतां मतम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! साधारण जन जो महीने-पंद्रह दिन उपवास करके उसे तप मानते हैं, उनका वह कार्य धर्मके साधनभूत शरीरका शोषण करनेवाला है; अतः श्रेष्ठ पुरुषोंके मतमें वह तप नहीं है ॥ ४ ॥

त्यागश्च संनतिश्चैव शिष्यते तप उत्तमम्।
सदोपवासी च भवेद् ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥ ५ ॥

उनके मतमें तो त्याग और विनय ही उत्तम तप है। इनका पालन करनेवाला मनुष्य नित्य उपवासी और सदा ब्रह्मचारी है ॥ ५ ॥

मुनिश्च स्यात् सदा विप्रो दैवतं च सदा भवेत्।
कुटुम्बिको धर्मकामः सदास्वप्नश्च भारत ॥ ६ ॥

भरतनन्दन ! त्यागी और विनयी ब्राह्मण सदा मुनि और सर्वदा देवता समझा जाता है। वह कुटुम्बके साथ रहकर भी निरन्तर धर्मपालनकी इच्छा रक्खे और निद्रा तथा आलस्यको कभी पास न आने दे ॥ ६ ॥

मांसादी सदा च स्यात् पवित्रश्च सदा भवेत्।
अमृताशी सदा च स्याद् देवतातिथिपूजकः ॥ ७ ॥

मांस कभी न खाय, सदा पवित्र रहे, वैश्वदेव आदि यज्ञसे बचे हुए अमृतमय अन्नका भोजन तथा देवता और अतिथियोंकी पूजा करे ॥ ७ ॥

विघसाशी सदा च स्यात् सदा चैवातिथिव्रतः।
श्रद्दधानः सदा च स्याद् देवताद्विजपूजकः ॥ ८ ॥

उसे सदा यज्ञशिष्ट अन्नका भोक्ता, अतिथिसेवाका व्रती, श्रद्धालु तथा देवता और ब्राह्मणोंका पूजक होना चाहिये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं सदोपवासी स्याद् ब्रह्मचारी कथं भवेत्।
विघसाशी कथं च स्यात् सदा चैवातिथिव्रतः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! मनुष्य नित्य उपवास करनेवाला कैसे हो सकता है ? वह सतत ब्रह्मचारी कैसे रह सकता है ? वह किस प्रकार अन्न ग्रहण करे, जिससे सदा यज्ञशिष्ट अन्नका भोक्ता हो सके तथा वह निरन्तर अतिथिसेवाका व्रत भी कैसे निभा सकता है ? ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च।
सदोपवासी स भवेद् यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो प्रतिदिन प्रातःकालके सिवा फिर शामको ही भोजन करे और बीचमें कुछ न खाय, वह नित्य उपवास करनेवाला होता है ॥ १० ॥

भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति वै द्विजः।
ऋतवादी भवेन्नित्यं ज्ञाननित्यश्च यो नरः ॥ ११ ॥

जो द्विज केवल ऋतुस्नानके समय ही पत्नीके साथ समागम करता, सदा सत्य बोलता और नित्य ज्ञानमें स्थित रहता है, वह सदा ब्रह्मचारी ही होता है ॥ ११ ॥

न भक्षयेत् तथा मांसममांसाशी भवत्यपि।
दाननित्यः पवित्रश्च अस्वप्नश्च दिवास्वपन् ॥ १२ ॥

तथा जो कभी मांस न खाय, वह अमांसाहारी होता है। जो नित्य दान करनेवाला है, वह पवित्र माना जाता है। जो दिनमें कभी नहीं सोता, वह सदा जागनेवाला समझा जाता है ॥ १२ ॥

भृत्यातिथिषु यो भुङ्क्ते भुक्तवत्सु सदा सदा।
अमृतं केवलं भुङ्क्ते इति विद्धि युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर ! जो सदा भरण-पोषण करनेके योग्य पिता-माता आदि कुटुम्बीजनों, सेवकों तथा अतिथियोंके भोजन कर लेनेपर ही खाता है, वह केवल अमृत भोजन करता है; ऐसा समझो ॥ १३ ॥

(अदत्त्वा योऽतिथिभ्योऽन्नं न भुङ्क्ते सोऽतिथिप्रियः।
अदत्त्वान्नं दैवतेभ्यो यो न भुङ्क्ते स दैवतम् ॥)

जो अतिथियोंको अन्न दिये बिना स्वयं भी नहीं खाता, वह अतिथिप्रिय है तथा जो देवताओंको अन्न दिये बिना भोजन नहीं करता, वह देवभक्त है ॥

अभुक्तवत्सु नाश्नानः सततं यस्तु वै द्विजः ।
अभोजनेन तेनास्य जितः स्वर्गो भवत्युत ॥ १४ ॥

जो द्विज भृत्यों और अतिथियोंके भोजन न करनेपर स्वयं भी कभी अन्न ग्रहण नहीं करता, वह भोजन न करनेके उस पुण्यसे स्वर्गलोकपर विजय पा लेता है ॥ १४ ॥

देवताभ्यः पितृभ्यश्च भृत्येभ्योऽतिथिभिः सह ।
अवशिष्टं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम् ॥ १५ ॥

देवगण, पितृगण, माता-पिता तथा अतिथियोंसहित भृत्यवर्गसे अवशिष्ट अन्नको ही जो भोजन करता है, उसे विघसाशी (यज्ञशिष्ट अन्नका भोक्ता) कहते हैं ॥ १५ ॥

तेषां लोका ह्यपर्यन्ताः सदने ब्रह्मणा सह।
उपस्थिताश्चाप्सरोभिः परियान्ति दिवौकसः ॥ १६ ॥

ऐसे पुरुषोंको अक्षयलोक प्राप्त होते हैं। ब्रह्माजीके अप्सराओंसहित समस्त देवता उनके घरपर आकर उनकी परिक्रमा किया करते हैं ॥ १६ ॥

देवताभिश्च ये सार्धं पितृभिश्चोपभुञ्जते।
रमन्ते पुत्रपौत्रैश्च तेषां गतिरनुत्तमा ॥ १७ ॥

जो देवताओं और पितरोंके साथ (अर्थात् उन्हें उनका भाग अर्पण करके) भोजन करते हैं, वे इस लोकमें पुत्र-पौत्रोंके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं और परलोकमें उन्हें परम उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अमृतप्राशनिको नाम एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अमृतभोजन-सम्बन्धी दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सनत्कुमारजीका ऋषियोंको भगवत्स्वरूपका उपदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

केचिदाहुर्द्विजा लोके त्रिधा राजन्ननेकधा ।
न प्रत्ययो न चान्यच्च दृश्यते ब्रह्म नैव तत् ॥
नानाविधानि शास्त्राणि युक्ताश्चैव पृथग्विधाः ।
किमधिष्ठाय तिष्ठामि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन् ! जगत्में कुछ विद्वान् जड और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वोंका प्रतिपादन करते हैं। कुछ लोग जीव, ईश्वर और प्रकृति—इन तीन तत्त्वोंका वर्णन करते हैं और कितने ही विद्वान् अनेक तत्त्वोंका निरूपण करते रहते हैं; अतः कहीं न विश्वास किया जा सकता है, न अविश्वास। इसके सिवा वह परब्रह्म परमात्मा दिखायी नहीं देता है। नाना प्रकारके शास्त्र हैं और भिन्न-भिन्न प्रकारसे उनका वर्णन किया गया है; इसलिये पितामह ! मैं किस सिद्धान्तका आश्रय लेकर रहूँ, यह मुझे बताइये ॥

भीष्म उवाच

स्वे स्वे युक्ता महात्मानः शास्त्रेषु प्रभविष्णवः।
वर्तन्ते पण्डिता लोके को विद्वान् कश्च पण्डितः॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! शास्त्रोंके विचारमें प्रभावशाली सभी महात्मा अपने-अपने सिद्धान्तके प्रतिपादनमें स्थित हैं। ऐसे पण्डित इस जगत्में बहुत हैं; परंतु उनमें वास्तवमें कौन तत्त्वको जाननेवाला विद्वान् है और कौन शास्त्रचर्चामें पण्डित है ? यह कहना कठिन है ॥

सर्वेषां तत्त्वमज्ञाय यथारुचि तथा भवेत्।
अस्मिन्नर्थे पुराभूतमितिहासं पुरातनम् ॥
महाविवादसंयुक्तमृषीणां भावितात्मनाम् ।

सबके तत्त्वको भलीभाँति समझकर जैसी रुचि हो, उसके अनुसार आचरण करे। इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध है। एक समय बहुत-से भावितात्मा मुनियोंका इस विषयको लेकर आपसमें बड़ा भारी वाद-विवाद हुआ था ॥

हिमवत्पार्श्व आसीना ऋषयः संशितव्रताः ॥
षण्णां तानि सहस्राणि ऋषीणां गणमाहितम् ।

हिमालय पर्वतके पार्श्वभागमें कठोर व्रतका पालन करनेवाले छः हजार ऋषियोंकी एक बैठक हुई थी ॥

तत्र केचिद् ध्रुवं विश्वं सेश्वरं तु निरीश्वरम् ।
प्राकृतं कारणं नास्ति सर्वं नैवमिदं जगत् ॥

उनमेंसे कुछ लोग इस जगत्को ध्रुव (सदा रहनेवाला) बताते थे, कुछ इसे ईश्वरसहित कहते थे और कुछ लोग बिना ईश्वरके ही जगत्की उत्पत्तिका प्रतिपादन करते थे। कुछ लोगोंका कहना था कि इसका कोई प्राकृत कारण नहीं है तथा कुछ लोगोंका मत यह था कि वास्तवमें इस सम्पूर्ण जगत्की सत्ता है ही नहीं ॥

अनेन चापरे विप्राः स्वभावं कर्म चापरे।
पौरुषं कर्म दैवं च यत् स्वभावादिरेव तम् ॥

इसी प्रकार दूसरे ब्राह्मणोंमेंसे कुछ लोग स्वभावको, कितने ही कर्मको, बहुतेरे पुरुषार्थको, दूसरे लोग दैवको और अन्य बहुत-से लोग स्वभाव-कर्म आदि सभीको जगत्‌का कारण बताते थे ॥

नानाहेतुशतैर्युक्ता नानाशास्त्रप्रवर्तकाः।
स्वभावाद् ब्राह्मणा राजञ्जिगीषन्तः परस्परम् ॥

वे नाना प्रकारके शास्त्रोंके प्रवर्तक थे तथा अनेक प्रकार

की सैकड़ों युक्तियोंद्वारा अपने मतका पोषण करते थे। राजन्! वे सभी ब्राह्मण स्वभावसे ही इस शास्त्रार्थमें एक दूसरेको पराजित करनेकी इच्छा करते थे ॥

ततस्तु मूलमुद्भूतं वादिप्रत्यर्थिसंयुतम्।
पात्रदण्डविघातं च वल्कलाजिनवाससाम् ॥
एके मन्युसमापन्नास्ततः शान्ता द्विजोत्तमाः।
वशिष्ठमब्रुवन् सर्वे त्वं नो ब्रूहि सनातनम् ॥
नाहं जानामि विप्रेन्द्राः प्रत्युवाच स तान् प्रभुः।

तदनन्तर उन वादी और प्रतिवादियोंमें मूलभूत प्रश्नको लेकर बड़ा भारी वाद-विवाद खड़ा हो गया। उनमेंसे कितने ही क्रोधमें भरकर एक दूसरेके पात्र, दण्ड, वल्कल, मृगचर्म और वस्त्रोंको भी नष्ट करने लगे। तत्पश्चात् शान्त होनेपर वे सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण महर्षि वशिष्ठसे बोले—'प्रभो! आप ही हमें सनातन तत्त्वका उपदेश करें।' यह सुनकर वशिष्ठने उत्तर दिया—'विप्रवरो! मैं उस सनातन तत्त्वके विषयमें कुछ नहीं जानता' ॥

ते सर्वे सहिता विप्रा नारदमृषिमब्रुवन् ॥
त्वं नो ब्रूहि महाभाग तत्त्वविच्च भवानसि।

तब वे सब ब्राह्मण एक साथ नारदमुनिसे बोले—'महाभाग! आप ही हमें सनातन तत्त्वका उपदेश करें; क्योंकि आप तत्त्ववेत्ता हैं' ॥

नाहं द्विजा विजानामि क्व हि गच्छाम संगताः॥
इति तानाह भगवांस्ततः प्राह च स द्विजान्।
को विद्वानिह लोकेऽस्मिन्नमोहोऽमृतमद्भुतम् ॥

तब भगवान् नारदने उन ब्राह्मणोंसे कहा—'विप्रगण! मैं उस तत्त्वको नहीं जानता। हम सब लोग मिलकर कहीं और चलें। इस जगत्में कौन ऐसा विद्वान् है, जिसमें मोह न हो तथा जो उस अद्भुत अमृततत्त्वके प्रतिपादनमें समर्थ हो' ॥

तच्च ते शुश्रुवुर्वाक्यं ब्राह्मणा ह्यशरीरिणः।
सनद्धाम द्विजा गत्वा पृच्छध्वं स च वक्ष्यति ॥

यह बातचीत हो ही रही थी कि उन ब्राह्मणोंने किसी अदृश्य देवताकी बात सुनी—'ब्राह्मणो! सनत्कुमारके आश्रमपर जाकर पूछो। वे तुम्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे' ॥

तमाह कश्चिद् द्विजवर्यसत्तमो
विभाण्डको मण्डितवेदराशिः।
कस्त्वं भवानर्थविभेदमध्ये
न दृश्यसे वाक्यमुदीरयंश्च ॥

उस समय वेदराशिके ज्ञानसे सुशोभित विभाण्डक नामक किन्हीं ब्राह्मणशिरोमणिने उस अदृश्य देवतासे पूछा—'हम लोगोंमें तत्त्वके विषयमें मतभेद उत्पन्न हो गया है; ऐसी स्थितिमें आप कौन हैं, जो बात तो कर रहे हैं, किंतु दीखते नहीं हैं' ॥

अथाहेदं तं भगवान् सनन्तं
महामुने विद्धि मां पण्डितोऽसि।
ऋषिं पुराणं सततैकरूपं
यमक्षयं वेदविदो वदन्ति।

(भीष्मजी कहते हैं—राजन्!) तब भगवान् सनत्कुमारने उनसे कहा—'महामुने! तुम तो पण्डित हो। तुम मुझे सदा एकरूपसे ही विचरण करनेवाला पुरातन ऋषि सनत्कुमार समझो। मैं वही हूँ, जिसे वेदवेत्ता पुरुष अक्षय बताते हैं' ॥

पुनस्तमाहेदमसौ महात्मा
स्वरूपसंस्थं वद आह पार्थ।
त्वमेकोऽस्मदृषिपुङ्गवाद्य
न सत्स्वरूपमथवा पुनः किम् ॥

कुन्तीनन्दन! तब उन महात्मा विभाण्डकने पुनः उनसे कहा—'आदिमुनिप्रवर! आप अपने स्वरूपका परिचय दीजिये। केवल आप ही हमसे विलक्षण जान पड़ते हैं, आपका स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं है। अथवा यदि आपका भी कोई स्वरूप है तो वह कैसा है?' ॥

अथाह गम्भीरतरानुपादं
वाक्यं महात्मा ह्यशरीर आदिः।
न ते मुने श्रोत्रमुखेऽपि चास्यं
न पादहस्तौ प्रपदात्मकेन ॥

तब उस अदृश्य आदि महात्माने गम्भीर स्वरमें यह बात कही—'मुने! तुम्हारे न तो कान है, न मुख है, न हाथ है, न पैर है और न पैरोंके पंजे ही हैं' ॥

ब्रुवन् मुनीन् सत्यमथो निरीक्ष्य
स्वमाह विद्वान् मनसा निगम्य।
ऋषे कथं वाक्यमिदं ब्रवीषि
न चास्य मन्ता न च विद्यते चेत्॥
न शुश्रुवुस्ततस्तत् तु प्रतिवाक्यं द्विजोत्तमाः।
निरीक्ष्यमाणा आकाशं प्रहसन्तस्ततस्ततः ॥

मुनियोंसे बातचीत करते हुए विद्वान् विभाण्डकने अपने विषयमें जब यह सब सत्य देखा तो मन-ही-मन विचार करके कहा—'ऋषे! आप ऐसी बात क्यों कहते हैं? यदि इसको जाननेवाला या न जाननेवाला कोई न रहे, तब क्या होगा?' परंतु इसका उत्तर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको फिर नहीं सुनायी दिया। वे हँसते हुए आकाशकी ओर देखते ही रह गये ॥

आश्चर्यमिति मत्वा ते ययुर्हैमं महागिरिम्।
सनत्कुमारसंकाशं सगणा मुनिसत्तमाः ॥

'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है' ऐसा मानकर वे सभी मुनिश्रेष्ठ दल-बलसहित सुवर्णमय महागिरि मेरुपर सनत्कुमारजीके पास गये ॥

तं पर्वतं समारुह्य ददृशुर्ध्यानमाश्रिताः।
कुमारं देवमर्हन्तं वेदपाराविवर्जितम् ॥

उस पर्वतपर आरूढ़ हो ध्यानका आश्रय ले उन ऋषियोंने पूजनीय देव सनत्कुमारको देखा, जो निरन्तर वेदके पारायणमें लगे हुए थे ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे प्रकृतिस्थं महामुनिम् ।
सनत्कुमारं राजेन्द्र प्रणिपत्य द्विजाः स्थिताः ॥
आगतान् भगवानाह ज्ञाननिर्धूतकल्मषः ।
ज्ञातं मया मुनिगणा वाक्यं तदशरीरिणः ॥
कार्यमद्य यथाकामं पृच्छध्वं मुनिपुङ्गवाः ।

राजेन्द्र ! एक वर्ष पूर्ण होनेपर जब महामुनि सनत्कुमार प्रकृतिस्थ हुए, तब वे ब्राह्मण उन्हें प्रणाम करके खड़े हो गये । ज्ञानसे जिनके सारे पाप धुल गये थे, उन भगवान् सनत्कुमारने वहाँ पधारे हुए ऋषियोंसे कहा—'मुनिगण ! अदृश्य देवताने जो बात कही है, वह मुझे ज्ञात है; अतः आज आपलोगोंके प्रश्नोंका उत्तर देना है । मुनिवरो ! आप इच्छानुसार प्रश्न करें ॥

तमब्रुवन् प्राञ्जलयो महामुनिं
द्विजोत्तमं ज्ञाननिधिं सुनिर्मलम् ।
कथं वयं ज्ञाननिधिं वरेण्यं
यक्ष्यामहे विश्वरूपं कुमार ॥

(भीष्मजी कहते हैं—) तब उन ब्राह्मणोंने हाथ जोड़कर परमनिर्मल ज्ञाननिधि द्विजश्रेष्ठ महामुनि सनत्कुमारसे कहा—'कुमार ! हमलोग ज्ञानके भण्डार और सर्वश्रेष्ठ विश्वरूप परमेश्वरका किस प्रकार यजन करें ? ॥

प्रसीद नो भगवञ्ज्ञानलेशं
मधु प्रयाताय सुखाय सन्तः ।
यत् तत्पदं विश्वरूपं महामुने
तत्र ब्रूहि किं कुत्र महानुभाव ॥

'भगवन् ! महामुने ! महानुभाव ! आप हमपर प्रसन्न होइये और हमें ज्ञानरूपी मधुर अमृतका लेशमात्र दान दीजिये; क्योंकि संत अपने शरणागतोंको सदा सुख देते हैं । वह जो विश्वरूप पद है, वह क्या है ? यह हमें बताइये' ॥

स तैर्वियुक्तो भगवान् महात्मा
यः संगवान् सत्यवित् तच्छृणुध्व ।

उनके इस प्रकार विशेष अनुरोध करनेपर परब्रह्म परमात्मामें आसक्तचित्त सत्यवेत्ता महात्मा भगवान् सनत्कुमारने जो कुछ कहा, उसे सुनो ॥

अनेकसाहस्रकलेषु चैव
प्रसन्नधातुं च शुभाशया सत् ॥

वे अनेक सहस्र ऋषियोंके बीचमें बैठे थे । उन्होंने उनके शुभ निवेदनसे सत्स्वरूप आनन्दमय परमेश्वरका इस प्रकार प्रतिपादन प्रारम्भ किया ॥

यथाह पूर्वं युष्मासु ह्यशरीरी द्विजोत्तमाः ।
तथैव वाक्यं तत् सत्यमजानन्तश्च कीर्तितम् ॥

सनत्कुमार बोले—द्विजोत्तमो ! आपलोगोंके बीचमें पहले अदृश्य देवताने जो कुछ कहा था, उनका वह कथन उसी रूपमें सत्य है । आपलोगोंने उसे न जानते हुए ही उसके साथ वार्तालाप किया था ॥

शृणुध्वं परमं कारणमस्ति । स एव सर्वं विद्वा[illegible]
बिभेति न गच्छति । कुत्राहं कस्य नाहं केन केने[illegible]
वर्तमानो विजानाति ।

सुनिये, वह विश्वरूप परमात्मा सबका परम कारण [illegible] जो उस सर्वस्वरूप परमेश्वरको जानता है, वह न तो भय[illegible] होता है और न कहीं जाता है । मैं कहाँ हूँ ? किसका [illegible] किसका नहीं हूँ ? किस-किस साधनसे कार्य करता [illegible] इत्यादि विचारोंमें न पड़कर परमात्माको अनुभव करता [illegible]

स युगतो व्यापी । स पृथक् स्थितः । तदपरमार्थ[illegible]

वह परमात्मा युग-युगमें व्यापक है । वह जड़ात्मक प्रप[illegible] अत्यन्त भिन्न रूपमें पृथक् स्थित है । उस परमात्मासे भि[illegible] जो कोई भी जड वस्तु है, उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं [illegible]

यथा वायुरेकः सन् बहुधेरितः । यथावद् द्विजे [illegible]
व्याघ्रे च । मनुजे वेणुसंश्रयो भिद्यते वायुरथैक[illegible]
आत्मा तथासौ परमात्मासावन्य इव भाति ।

जैसे वायु एक होकर भी अनेक रूपोंमें संचरित हो[illegible] है । पक्षी, मृग, व्याघ्र और मनुष्यमें तथा वेणुमें य[illegible] रूपसे स्थित होकर एक ही वायुके भिन्न-भिन्न स्वरू[illegible] जाते हैं । जो आत्मा है वही परमात्मा है; परंतु वह जी[illegible]त्मासे भिन्न-सा जान पड़ता है ॥

एवमात्मा स एव गच्छति । सर्वमात्मा पश्यञ्शृणो[illegible]
न जिघ्रति न भाषते ।

इस प्रकार वह आत्मा ही परमात्मा है । वही जाता [illegible] वह आत्मा ही सबको देखता है, सबकी बातें सुनता [illegible] सभी गंधोंको सूँघता है और सबसे बातचीत करता है ॥

चक्रेऽस्य तं महात्मानं परितो दश रश्मयः ।
विनिष्क्रम्य यथासूर्यमनुगच्छति तं प्रभुम् ॥

सूर्यदेवके चक्रमें सब ओर दस-दस किरणें हैं, जो व[illegible] निकलकर महात्मा भगवान् सूर्यके पीछे-पीछे चलती हैं ॥

दिने दिनेऽस्तमभ्येति पुनरुद्गच्छते दिशः ।
तावुभौ न रवौ चास्तां तथा वित्त शरीरिणम् ॥

सूर्यदेव प्रतिदिन अस्त होते और पुनः पूर्वदि[illegible] उदित होते हैं; परंतु वे उदय और अस्त दोनों ही [illegible] नहीं हैं । इसी प्रकार शरीरके अन्तर्गत अन्तर्यामीरूपसे [illegible] भगवान् नारायण विराजमान हैं, उनको जानो ([illegible] शरीर और अशरीरभाव सूर्यमें उदय-अस्तकी ही [illegible] कल्पित हैं) ॥

पतिते वित्त विप्रेन्द्रा भक्षणे चरणे परः ।
ऊर्ध्वमेकस्तथाधस्तादेकस्तिष्ठति चापरः ॥

विप्रवरो ! आपलोगोंको गिरते-पड़ते, चलते-फिरते [illegible] खाते-पीते प्रत्येक कार्यके समय, ऊपर-नीचे आदि प्र[illegible] देश और दिशामें एकमात्र भगवान् नारायण सर्वत्र वि[illegible] रहे हैं—ऐसा अनुभव करना चाहिये ॥

हिरण्यसदनं ज्ञेयं समेत्य परमं पदम् ।
आत्मना ह्यात्मदीपं तमात्मनि ह्यात्मपूरुषम् ॥

उनका दिव्य सुवर्णमय धाम ही परमपद जानना चाहिये, उसे पाकर जीवन कृतार्थ हो जाता है । वह स्वयं ही अपना प्रकाशक और स्वयं ही अपने-आपमें अन्तर्यामी आत्मा है ॥

संचितं संचितं पूर्वं भ्रमरो वर्तते भ्रमन् ।
योऽभिमानीव जानाति न मुह्यति न हीयते ॥

भौंरा पहले रसका संचय कर लेता है, तब फूलके चारों ओर चक्कर लगाने लगता है, उसी प्रकार जो ज्ञानी पुरुष देहाभिमानी-जैसा बनकर लोकसंग्रहके लिये सब विषयोंका अनुभव करता है, वह न तो मोहमें पड़ता है और न क्षीण ही होता है ॥

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनं
हृदा मनीषा पश्यति रूपमस्य ।
इज्यते यस्तु मन्त्रेण यजमानो द्विजोत्तमः ॥

कोई भी उस परमात्माको अपने चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकता । अन्तःकरणमें स्थित निर्मल बुद्धिके द्वारा ही उसके रूपको ज्ञानी पुरुष देख पाता है । उस परमात्माका मन्त्रद्वारा यजन किया जाता है तथा श्रेष्ठ द्विज ही उसका यजन करता है ॥

नैव धर्मी न चाधर्मी द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
ज्ञानतृप्तः सुखं शेते ह्यमृतात्मा न संशयः ॥

वह अमृतस्वरूप परमात्मा न धर्मी है, न अधर्मी । वह द्वन्द्वोंसे अतीत और ईर्ष्या-द्वेषसे शून्य है । इसमें संदेह नहीं कि वह ज्ञानसे परितृप्त होकर सुखपूर्वक सोता है ॥

एवमेष जगत्सृष्टिं कुरुते मायया प्रभुः ।
न जानाति विमूढात्मा कारणं चात्मनो ह्यसौ ॥

तथा ये भगवान् अपनी मायाद्वारा जगत्‌की सृष्टि करते हैं । जिसका हृदय मोहसे आच्छन्न है, वह अपने कारणभूत परमात्माको नहीं जानता ॥

ध्याता द्रष्टा तथा मन्ता बोद्धा दृष्टान् स एव सः ।
को विद्वान् परमात्मानमनन्तं लोकभावनम् ॥
यत्तु शक्यं मया प्रोक्तं गच्छध्वं मुनिपुङ्गवाः ।

वही ध्यान, दर्शन, मनन और देखी हुई वस्तुओंका बोध प्राप्त करनेवाला है । सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाले उस अनन्त परमात्माको कौन जान सकता है ? मुनिवरो ! मुझसे जहाँतक हो सकता था, मैंने इसका स्वरूप बता दिया । अब आपलोग जाइये ॥

भीष्म उवाच

एवं प्रणम्य विप्रेन्द्रा ज्ञानसागरसम्भवम् ।
सनत्कुमारं संदृश्य जग्मुस्ते रुचिरं पुनः ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार ज्ञानके समुद्रकी उत्पत्तिके कारणभूत मनोहर आकृतिवाले सनत्कुमारको प्रणाम करके उनका दर्शन करनेके पश्चात् वे सब ऋषि-मुनि वहाँसे चले गये ॥

तस्मात् त्वमपि कौन्तेय ज्ञानयोगपरो भव ।
ज्ञानमेव महाराज सर्वदुःखविनाशनम् ॥

अतः महाराज कुन्तीनन्दन ! तुम भी ज्ञानयोगके साधनमें तत्पर हो जाओ । ऐसा ज्ञान ही सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश करनेवाला है ॥

इदं महादुःखसमाकराणां
नृणां परित्राणविनिर्मितं पुरा ।
पुराणपुंसा ऋषिणा महात्मना
महामुनीनां प्रवरेण तद् ध्रुवम् ॥

जो लोग महान् दुःखके आकर बने हुए हैं, उन मनुष्योंके परित्राणके लिये पूर्वकालमें पुराणपुरुष महात्मा महामुनिशिरोमणि नारायणऋषिने इस ज्ञानको प्रकट किया था, यह अविनाशी है ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं कर्म लोकेऽस्मिन् शुभं वा यदि वाशुभम् ।
पुरुषं योजयत्येव फलयोगेन भारत ॥ १ ॥
कर्तास्ति तस्य पुरुष उताहो नेति संशयः ।
एतदिच्छामि तत्त्वेन त्वत्तः श्रोतुं पितामह ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! इस लोकमें जो यह शुभ अथवा अशुभ कर्म होता है, वह पुरुषको उसके सुख-दुःखरूप फल भोगनेमें लगा ही देता है; परंतु पुरुष उस कर्मका कर्ता है या नहीं, इस विषयमें मुझे संदेह है; अतः पितामह ! मैं आपके द्वारा इसका तत्त्वयुक्त समाधान सुनना चाहता हूँ ॥ १–२ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और प्रह्लादके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

असक्तं धूतपाप्मानं कुले जातं बहुश्रुतम् ।
अस्तब्धमनहङ्कारं सत्त्वस्थं समये रतम् ॥ ४ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिं दान्तं शून्यागारनिवासिनम् ।
चराचराणां भूतानां विदितप्रभवाप्ययम् ॥ ५ ॥
अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमप्रियेषु प्रियेषु च ।
काञ्चने वाथ लोष्टे वा उभयोः समदर्शिनम् ॥ ६ ॥

आत्मनि श्रेयसि ज्ञाने धीरं निश्चितनिश्चयम् ।
परावरज्ञं भूतानां सर्वज्ञं समदर्शनम् ॥ ७ ॥
(भक्तं भागवतं नित्यं नारायणपरायणम् ।
ध्यायन्तं परमात्मानं हिरण्यकशिपोः सुतम् ॥)
शक्रः प्रह्लादमासीनमेकान्ते संयतेन्द्रियम् ।
बुभुत्समानस्तत्प्रज्ञामभिगम्येदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

प्रह्लादजीके मनमें किसी विषयके प्रति आसक्ति नहीं थी । उनके सारे पाप धुल गये थे । वे कुलीन और बहुश्रुत विद्वान् थे । वे गर्व और अहंकारसे रहित थे । वे धर्मकी मर्यादाके पालनमें तत्पर और शुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित रहते थे । निन्दा और स्तुतिको समान समझते, मन और इन्द्रियोंको काबूमें रखते और एकान्त स्थानमें निवास करते थे । उन्हें चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाशका ज्ञान था । अप्रियकी प्राप्तिमें क्रोधयुक्त तथा प्रियकी प्राप्ति होनेपर हर्षयुक्त नहीं होते थे। मिट्टीके ढेले और सुवर्ण दोनोंमें उनकी समानदृष्टि थी । वे ज्ञानस्वरूप कल्याणमय परमात्माके ध्यानमें स्थित और धीर थे । उन्हें परमात्मतत्त्वका पूर्ण निश्चय हो गया था । उन्हें परावरस्वरूप ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान था । वे सर्वज्ञ, सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें समदर्शी एवं जितेन्द्रिय थे । वे भगवान् नारायणके प्रिय भक्त और सदा उन्हींके चिन्तनमें तत्पर रहनेवाले थे । हिरण्यकशिपुनन्दन प्रह्लादजीको एकान्तमें बैठकर परमात्मा श्रीहरिका ध्यान करते देख इन्द्र उनकी बुद्धि और विचारको जाननेकी इच्छासे उनके निकट जाकर इस प्रकार बोले—॥ ४–८ ॥

यैः कश्चित् सम्मतो लोके गुणैः स्यात् पुरुषो नृषु ।
भवत्यनपगान् सर्वांस्तान् गुणाँल्लक्षयामहे ॥ ९ ॥

'दैत्यराज ! संसारमें जिन गुणोंको पाकर कोई भी पुरुष सम्मानित हो सकता है, उन सबको मैं आपके भीतर स्थिरभावसे स्थित देखता हूँ ॥ ९ ॥

अथ ते लक्ष्यते बुद्धिः समा बालजनैरिह ।
आत्मानं मन्यमानः सन् श्रेयः किमिह मन्यसे ॥ १० ॥

'आपकी बुद्धि बालकोंके समान राग-द्वेषसे रहित दिखायी देती है । आप आत्माका अनुभव करते हैं, इसीलिये आपकी ऐसी स्थिति है; अतः मैं पूछता हूँ कि इस जगत्में आप किसको आत्मज्ञानका सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं ? ॥ १० ॥

बद्धः पाशैश्च्युतः स्थानाद् द्विषतां वशमागतः ।
श्रिया विहीनः प्रह्लाद शोचितव्ये न शोचसि ॥ ११ ॥

'आप रस्सियोंसे बाँधे गये, अपने राज्यसे भ्रष्ट हुए और शत्रुओंके वशमें पड़ गये थे । आप अपनी राज्यलक्ष्मीसे वञ्चित हो गये । प्रह्लादजी ! ऐसी शोचनीय स्थितिमें पड़ जानेपर भी आप शोक नहीं कर रहे हैं ? ॥ ११ ॥

प्रज्ञालाभात् तु दैतेय उताहो धृतिमत्तया ।
प्रह्लाद सुस्थरूपोऽसि पश्यन् व्यसनमात्मनः ॥ १२ ॥

'प्रह्लादजी ! आप अपने ऊपर संकट आया देखकर भी निश्चिन्त कैसे हैं ? दैत्यराज ! आपकी यह स्थिति आत्मज्ञानके कारण है या धैर्यके कारण ?' ॥ १२ ॥

इति संचोदितस्तेन धीरो निश्चितनिश्चयः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा स्वां प्रज्ञामनुवर्णयन् ॥ १३ ॥

इन्द्रके इस प्रकार पूछनेपर परमात्मतत्त्वको निश्चितरूपसे जाननेवाले धीरबुद्धि प्रह्लादजीने अपने ज्ञानका वर्णन करते हुए मधुर वाणीमें कहा ॥ १३ ॥

प्रह्लाद उवाच

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च भूतानां यो न बुद्ध्यते ।
तस्य स्तम्भो भवेद् बाल्यान्नास्ति स्तम्भोऽनुपश्यतः ॥ १४ ॥

प्रह्लादजी बोले—देवराज ! जो प्राणियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानता, उसीको अविवेकके कारण स्तम्भ (जड़ता या मोह) होता है । जिसे आत्माका साक्षात्कार हो गया है, उसको कभी मोह नहीं होता ॥ १४ ॥

स्वभावात् सम्प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते तथैव च ।
सर्वे भावास्तथाभावाः पुरुषार्थो न विद्यते ॥ १५ ॥

सब तरहके भाव और अभाव स्वभावसे ही आते-जाते रहते हैं । उसके लिये पुरुषका कोई प्रयत्न नहीं होता ॥ १५ ॥

पुरुषार्थस्य चाभावे नास्ति कश्चिच्च कारकः ।
स्वयं न कुर्वतस्तस्य जातु मानो भवेदिह ॥ १६ ॥

पुरुषका प्रयत्न न होनेसे कोई पुरुष कर्ता नहीं हो सकता; परंतु स्वयं कभी न करते हुए भी उसे इस जगत्में कर्तापनका अभिमान हो जाता है ॥ १६ ॥

यस्तु कर्तारमात्मानं मन्यते साध्वसाधु वा ।
तस्य दोषवती प्रज्ञा अतत्त्वज्ञेति मे मतिः ॥ १७ ॥

जो आत्माको शुभ या अशुभ कर्मोंका कर्ता मानता है, उसकी बुद्धि दोषसे युक्त और तत्त्वज्ञानसे रहित है—ऐसी मेरी मान्यता है ॥ १७ ॥

यदि स्यात् पुरुषः कर्ता शक्रात्मश्रेयसे ध्रुवम् ।
आरम्भास्तस्य सिद्ध्येयुर्न तु जातु परा भवेत् ॥ १८ ॥

इन्द्र ! यदि पुरुष ही कर्ता होता तो वह अपने कल्याणके लिये जो कुछ भी करता, उसके भी सारे कार्य अवश्य सिद्ध होते । उसे अपने प्रयत्नमें कभी पराभव नहीं प्राप्त होता ॥ १८ ॥

अनिष्टस्य हि निर्वृत्तिरनिर्वृत्तिः प्रियस्य च ।
लक्ष्यते यतमानानां पुरुषार्थस्ततः कुतः ॥ १९ ॥

परंतु देखा यह जाता है कि इष्टसिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवालोंको अनिष्टकी भी प्राप्ति होती है और इष्टकी सिद्धिसे वे वञ्चित रह जाते हैं; अतः पुरुषार्थकी प्रधानता कहाँ रही ? ॥ १९ ॥

अनिष्टस्याभिनिर्वृत्तिमिष्टसंवृत्तिमेव च ।
अप्रयत्नेन पश्यामः केषाञ्चित् तत्स्वभावतः ॥ २० ॥

कितने ही प्राणियोंको बिना किसी प्रयत्नके ही हमलोग अनिष्टकी प्राप्ति और इष्टका निवारण होते देखते हैं। यह बात स्वभावसे ही होती है ॥ २० ॥

प्रतिरूपतराः केचिद् दृश्यन्ते बुद्धिमत्तराः।
विरूपेभ्योऽल्पबुद्धिभ्यो लिप्समाना धनागमम्॥ २१ ॥

कितने ही सुन्दर और अत्यन्त बुद्धिमान् पुरुष भी कुरूप और अल्पबुद्धि मनुष्योंसे धन पानेकी आशा करते देखे जाते हैं ॥ २१ ॥

स्वभावप्रेरिताः सर्वे निविशन्ते गुणा यदा।
शुभाशुभास्तदा तत्र कस्य किं मानकारणम् ॥ २२ ॥

जब शुभ और अशुभ सभी प्रकारके गुण स्वभावकी ही प्रेरणासे प्राप्त होते हैं, तब किसीको भी उनपर अभिमान करनेका क्या कारण है ? ॥ २२ ॥

स्वभावादेव तत्सर्वमिति मे निश्चिता मतिः।
आत्मप्रतिष्ठा प्रज्ञा वा मम नास्ति ततोऽन्यथा ॥ २३ ॥

मेरी तो यह निश्चित धारणा है कि स्वभावसे ही सब कुछ प्राप्त होता है। मेरी आत्मनिष्ठ बुद्धि भी इसके विपरीत विचार नहीं रखती ॥ २३ ॥

कर्मजं त्विह मन्यन्ते फलयोगं शुभाशुभम्।
कर्मणां विषयं कृत्स्नमहं वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २४ ॥

यहाँपर जो शुभ और अशुभ फलकी प्राप्ति होती है, उसमें लोग कर्मको ही कारण मानते हैं; अतः मैं तुमसे कर्मके विषयका ही पूर्णतया वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २४ ॥

यथा वेदयते कश्चिदोदनं वायसो ह्यदन्।
एवं सर्वाणि कर्माणि स्वभावस्यैव लक्षणम् ॥ २५ ॥

जैसे कोई कौआ कहीं गिरे हुए भातको खाते समय काँव-काँव करके अन्य कार्कोको यह जता देता है कि यहाँ अन्न है, उसी प्रकार समस्त कर्म अपने स्वभावको ही सूचित करनेवाले हैं ॥ २५ ॥

विकारानेव यो वेद न वेद प्रकृतिं पराम्।
तस्य स्तम्भो भवेद् बाल्यान्नास्ति स्तम्भोऽनुपश्यतः॥२६॥

जो विकारों (कार्यों) को ही जानता है, उनकी परम प्रकृति (स्वभाव) को नहीं जानता, उसीको अविवेकके कारण मोह या अभिमान होता है। जो इस बातको ठीक-ठीक समझता है, उसे मोह नहीं होता ॥ २६ ॥

स्वभावभाविनो भावान् सर्वानेवेह निश्चयात्।
बुद्ध्यमानस्य दर्पो वा मानो वा किं करिष्यति ॥ २७ ॥

सभी भाव स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं। इस बातको जो निश्चितरूपसे जान लेता है, उसका दर्प या अभिमान क्या बिगाड़ सकता है ? ॥ २७ ॥

वेद धर्मविधिं कृत्स्नं भूतानां चाप्यनित्यताम्।
तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ॥ २८ ॥

इन्द्र ! मैं धर्मकी पूरी-पूरी विधि तथा सम्पूर्ण भूतोंकी अनित्यताको जानता हूँ। इसलिये, 'यह सब नाशवान् है' ऐसा समझकर किसीके लिये शोक नहीं करता ॥ २८ ॥

निर्ममो निरहंकारो निराशीर्मुक्तबन्धनः।
स्वस्थो व्यपेतः पश्यामि भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ २९ ॥

ममता, अहङ्कार तथा कामनाओंसे शून्य और सब प्रकारके बन्धनोंसे रहित हो आत्मनिष्ठ एवं असङ्ग रहकर मैं प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाशको सदा देखता रहता हूँ॥

कृतप्रज्ञस्य दान्तस्य वितृष्णस्य निराशिषः।
नायासो विद्यते शक्र पश्यतो लोकमव्ययम् ॥ ३० ॥

इन्द्र ! मैं शुद्ध-बुद्धि तथा मन और इन्द्रियोंको अपने अधीन करके स्थित हूँ। मैं तृष्णा और कामनासे रहित हूँ और सदा अविनाशी आत्मापर ही दृष्टि रखता हूँ, इसलिये मुझे कभी कष्ट नहीं होता ॥ ३० ॥

प्रकृतौ च विकारे च न मे प्रीतिर्न च द्विषे।
द्वेष्टारं च न पश्यामि यो मामद्य ममायते ॥ ३१ ॥

प्रकृति और उसके कार्योंके प्रति मेरे मनमें न तो राग है, न द्वेष। मैं किसीको न अपना द्वेषी समझता हूँ और न आत्मीय ही मानता हूँ ॥ ३१ ॥

नोर्ध्वं नावाङ् न तिर्यक् च न क्वचिच्छक्र कामये।
न हि ज्ञेये न विज्ञाने न ज्ञाने कर्म विद्यते ॥ ३२ ॥

इन्द्र ! मुझे ऊपर (स्वर्गकी), नीचे (पातालकी) तथा बीचके लोक (मर्त्यलोक) की भी कभी कामना नहीं होती। ज्ञान-विज्ञान और ज्ञेयके निमित्त भी मेरे लिये कोई कर्म आवश्यक नहीं है ॥ ३२ ॥

शक्र उवाच

येनैषा लभ्यते प्रज्ञा येन शान्तिरवाप्यते।
प्रब्रूहि तमुपायं मे सम्यक् प्रह्लाद पृच्छतः ॥ ३३ ॥

इन्द्रने कहा—प्रह्लादजी ! जिस उपायसे ऐसी बुद्धि और इस तरहकी शान्ति प्राप्त होती है, उसे पूछता हूँ। आप मुझे अच्छी तरह उसे बताइये ॥ ३३ ॥

प्रह्लाद उवाच

आर्जवेनाप्रमादेन प्रसादेनात्मवत्तया।
वृद्धशुश्रूषया शक्र पुरुषो लभते महत् ॥ ३४ ॥

प्रह्लादने कहा—इन्द्र ! सरलता, सावधानी, बुद्धिकी निर्मलता, चित्तकी स्थिरता तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेसे पुरुषको महत्-पदकी प्राप्ति होती है ॥ ३४ ॥

स्वभावाल्लभते प्रज्ञां शान्तिमेति स्वभावतः।
स्वभावादेव तत्सर्वं यत्किंचिदनुपश्यसि ॥ ३५ ॥

इन गुणोंको अपनानेपर स्वभावसे ही ज्ञान प्राप्त होता है, स्वभावसे ही शान्ति मिलती है तथा जो कुछ भी तुम देख रहे हो, सब स्वभावसे ही प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

इत्युक्तो दैत्यपतिना शक्रो विस्मयमागमत्।
प्रीतिमांश्च तदा राजंस्तद्वाक्यं प्रत्यपूजयत् ॥ ३६ ॥

राजन्! दैत्यराज प्रह्लादके इस प्रकार कहनेपर इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने बहुत प्रसन्न होकर उनके वचनोंकी प्रशंसा की ॥ ३६ ॥

स तदाभ्यर्च्य दैत्येन्द्रं त्रैलोक्यपतिरीश्वरः।
असुरेन्द्रमुपामन्त्र्य जगाम स्वं निवेशनम् ॥ ३७ ॥

इतना ही नहीं, त्रिलोकीनाथ देवेश्वर इन्द्रने उस समय दैत्यों और असुरोंके स्वामी प्रह्लादका पूजन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे अपने निवास-स्थान स्वर्गलोकको चले गये ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शक्रप्रह्लादसंवादो नाम द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें इन्द्र और प्रह्लादका संवादनामक दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४५½ श्लोक मिलाकर कुल ८२½ श्लोक हैं)

त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और बलिका संवाद—इन्द्रके आक्षेपयुक्त वचनोंका बलिके द्वारा कठोर प्रत्युत्तर

युधिष्ठिर उवाच

यथा बुद्ध्या महीपालो भ्रष्टश्रीर्विचरेन्महीम्।
कालदण्डविनिष्पिष्टस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट हो गया हो और कालके दण्डसे पिस गया हो, वह भूपाल किस बुद्धिसे इस पृथ्वीपर विचरे, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वासवस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें जानकार मनुष्य विरोचनकुमार बलि और इन्द्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

पितामहमुपागम्य प्रणिपत्यकृताञ्जलिः।
सर्वानेवासुरान् जित्वा बलिं पप्रच्छ वासवः ॥ ३ ॥

एक समय इन्द्र समस्त असुरोंपर विजय पाकर पितामह ब्रह्माजीके पास गये और हाथ जोड़ प्रणाम करके उन्होंने पूछा—'भगवन्! बलि कहाँ रहता है?' ॥ ३ ॥

यस्य स्म ददतो वित्तं न कदाचन हीयते।
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम् ॥ ४ ॥

'ब्रह्मन्! जिसके दान देते समय उसके धनका भण्डार कभी खाली नहीं होता था, उस राजा बलिको मैं ढूँढ़नेपर भी नहीं पा रहा हूँ। आप मुझे बलिका पता बताइये ॥ ४ ॥

स वायुर्वरुणश्चैव स रविः स च चन्द्रमाः।
सोऽग्निस्तपति भूतानि जलं च स भवन्युत ॥ ५ ॥
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम्।

'वह राजा बलि ही वायु बनकर चलता, वरुण बनकर वर्षा करता, सूर्य और चन्द्रमा बनकर प्रकाश करता, अग्नि बनकर समस्त प्राणियोंको ताप देता तथा जल बनकर सबकी प्यास बुझाता था, उसी राजा बलिको मैं कहीं नहीं पा रहा हूँ। ब्रह्मन्! आप मुझे बलिका पता बताइये ॥ ५ ॥

स एव ह्यस्तमयते स स्म विद्योतते दिशः ॥ ६ ॥
स वर्षति स्म वर्षाणि यथाकालमतन्द्रितः।
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम् ॥ ७ ॥

'वही यथासमय आलस्य छोड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाशित होता, वही अस्त होता और वही वर्षा करता था। ब्रह्मन्! उस बलिको मैं ढूँढ़नेपर भी नहीं पा रहा हूँ। आप मुझे राजा बलिका पता बताइये ॥ ६-७ ॥

ब्रह्मोवाच

नैतत् ते साधु मघवन् यदेनमनुपृच्छसि।
पृष्टस्तु नानृतं ब्रूयात् तस्माद् वक्ष्यामि ते बलिम् ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीने कहा—मघवन्! यह तुम्हारे लिये अच्छी बात नहीं है कि तुम मुझसे बलिका पता पूछ रहे हो। पूछनेपर झूठ नहीं बोलना चाहिये, इसलिये मैं तुमसे बलिका पता बता रहा हूँ ॥ ८ ॥

उष्ट्रेषु यदि वा गोषु खरेष्वश्वेषु वा पुनः।
वरिष्ठो भविता जन्तुः शून्यागारे शचीपते ॥ ९ ॥

शचीपते! किसी शून्य घरमें ऊँट, गौ, गर्दभ अथवा अश्वजातिके पशुओंमें जो श्रेष्ठ जीव उपलब्ध हो, उसे बलि समझो ॥ ९ ॥

शक्र उवाच

यदि स्म बलिना ब्रह्मञ्शून्यागारे समेयिवान्।
हन्यामेनं न वा हन्यां तद् ब्रह्मन्ननुशाधि माम् ॥ १० ॥

इन्द्रने पूछा—ब्रह्मन्! यदि किसी एकान्त गृहमें राजा बलिसे मेरी भेंट हो जाय तो मैं उन्हें मार डालूँ या न मारूँ, यह मुझे बतावें ॥ १० ॥

ब्रह्मोवाच

मा स्म शक्र बलिं हिंसीर्न बलिर्वधमर्हति।
न्यायस्तु शक्र प्रष्टव्यस्त्वया वासव काम्यया ॥ ११ ॥

ब्रह्माजीने कहा—इन्द्र! तुम बलिका वध न करना, बलि वधके योग्य नहीं है। वासव! तुम उनसे इच्छानुसार न्यायोचित व्यवहारके विषयमें प्रश्न कर सकते हो ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तो भगवता महेन्द्रः पृथिवीं तदा।
चचारैरावतस्कन्धमधिरुह्य श्रिया वृतः ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! भगवान् ब्रह्माजीके इस प्रकार आदेश देनेपर देवराज इन्द्र ऐरावतकी पीठपर सवार हो राजलक्ष्मीसे सुशोभित होते हुए पृथ्वीपर विचरने लगे ॥१२॥

ततो ददर्श स बलिं खरवेषेण संवृतम्।
यथाऽऽख्यातं भगवता शून्यागारकृतालयम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर उन्होंने भगवान् ब्रह्माके बताये अनुसार एक शून्य घरमें निवास करनेवाले राजा बलिको देखा, जिन्होंने गर्दभके वेषमें अपने आपको छिपा रखा था ॥ १३ ॥

शक्र उवाच

खरयोनिमनुप्राप्तस्तुषभक्षोऽसि दानव।
इयं ते योनिरधमा शोचस्याहो न शोचसि ॥ १४ ॥

इन्द्र बोले—दानव! तुम गदहेकी योनिमें पड़कर भूसी खा रहे हो। यह नीच योनि तुम्हें प्राप्त हुई है। इसके लिये तुम्हें शोक होता है या नहीं? ॥ १४ ॥

अदृष्टं बत पश्यामि द्विषतां वशमागतम्।
श्रिया विहीनं मित्रैश्च भ्रष्टवीर्यपराक्रमम् ॥ १५ ॥

आज तुम्हारी ऐसी अवस्था देख रहा हूँ, जो पहले कभी नहीं देखी गयी थी। तुम शत्रुओंके वशमें पड़ गये हो। राजलक्ष्मी तथा मित्रोंसे हीन हो गये हो तथा तुम्हारा बल-पराक्रम नष्ट हो गया है ॥ १५ ॥

यत् तद् यानसहस्रैस्त्वं ज्ञातिभिः परिवारितः।
लोकान् प्रतापयन् सर्वान् यास्यस्मानवितर्कयन् ॥ १६ ॥

पहले तुम अपने सहस्रों वाहनों और सजातीय बन्धुओंसे घिरकर सब लोगोंको ताप देते और हम देवताओंको कुछ न समझते हुए यात्रा करते थे ॥ १६ ॥

त्वन्मुखाश्चैव दैतेया व्यतिष्ठंस्तव शासने।
अकृष्टपच्या च मही तवैश्वर्ये बभूव ह ॥ १७ ॥
इदं च तेऽद्य व्यसनं शोचस्याहो न शोचसि।

सब दैत्य तुम्हारा मुँह जोहते हुए तुम्हारे ही शासनमें रहते थे। तुम्हारे राज्यमें पृथ्वी बिना जोते-बोये ही अनाज पैदा करती थी। परंतु आज तुम्हारे ऊपर यह सङ्कट आ पहुँचा है। इसके लिये तुम शोक करते हो या नहीं? ॥१७½॥

यदाऽऽतिष्ठः समुद्रस्य पूर्वकूले विलेलिहन् ॥ १८ ॥
ज्ञातीन् विभजतो वित्तं तदाऽऽसीत् ते मनः कथम्।

जिस समय तुम समुद्रके पूर्वतटपर विविध भोगोंका आस्वादन करते हुए निवास करते थे और अपने भाई-बन्धुओंको धन बाँटते थे, उस समय तुम्हारे मनकी अवस्था कैसी रही होगी? ॥ १८½ ॥

यत् ते सहस्रसमिता ननृतुर्देवयोषितः ॥ १९ ॥
बहूनि वर्षपूगानि विहारे दीप्यतः श्रिया।
सर्वाः पुष्करमालिन्यः सर्वाः काञ्चनसप्रभाः ॥ २० ॥
कथमद्य तदा चैव मनस्ते दानवेश्वर।

तुमने बहुत वर्षोंतक राजलक्ष्मीसे सुशोभित हो विहारमें समय बिताया है। उस समय सुवर्णकी-सी कान्तिवाली सहस्रों देवाङ्गनाएँ जो सब-की-सब पद्ममालाओंसे अलंकृत होती थीं, तुम्हारे सामने नृत्य किया करती थीं। दानवराज! उन दिनों तुम्हारे मनकी क्या अवस्था थी और अब कैसी है? ॥

छत्रं तवासीत् सुमहत् सौवर्णं रत्नभूषितम् ॥ २१ ॥
ननृतुस्तत्र गन्धर्वाः षट् सहस्राणि सप्तधा।

एक समय था, जब कि तुम्हारे ऊपर सोनेका बना हुआ रत्नभूषित विशाल छत्र तना रहता था और छः हजार गन्धर्व सात स्वरोंमें गीत गाते हुए तुम्हारे सम्मुख अपनी नृत्य-कलाका प्रदर्शन करते थे ॥ २१½ ॥

यूपस्तवासीत् सुमहान् यजतः सर्वकाञ्चनः ॥ २२ ॥
यत्राददः सहस्राणि अयुतानां गवां दश।
अनन्तरं सहस्रेण तदाऽऽसीद् दैत्य का मतिः ॥ २३ ॥

यज्ञ करते समय तुम्हारे यज्ञमण्डपका अत्यन्त विशाल मध्यवर्ती स्तम्भ पूरा-का-पूरा सोनेका बना हुआ होता था। जिस समय तुम निरन्तर दस-दस करोड़ गौओंका सहस्रों बार दान किया करते थे, दैत्यराज! उस समय तुम्हारे मनमें कैसे विचार उठते रहे होंगे? ॥ २२-२३ ॥

यदा च पृथिवीं सर्वां यजमानोऽनुपर्यगाः।
शम्याक्षेपेण विधिना तदाऽऽसीत् किं नु ते हृदि ॥२४॥

जब तुमने शम्याक्षेप[1]की विधिसे यज्ञ करते हुए सारी पृथ्वीकी परिक्रमा की थी, उस समय तुम्हारे हृदयमें कितना उत्साह रहा होगा? ॥ २४ ॥

न ते पश्यामि भृङ्गारं न च्छत्रं व्यजने न च।
ब्रह्मदत्तां च ते मालां न पश्याम्यसुराधिप ॥ २५ ॥

असुरराज! अब तो मैं तुम्हारे पास न तो सोनेकी झारी,

---

१. शम्याक्षेप कहते हैं शम्यापातको। 'शम्या' एक ऐसे काठके डंडेको कहते हैं, जिसका निचला भाग मोटा होता है। उसे जब कोई बलवान् पुरुष उठाकर जोरसे फेंके, तब जितनी दूरीपर जाकर वह गिरे, उतने भूभागको एक 'शम्यापात' कहते हैं।

न छत्र और न चँवर ही देखता हूँ तथा ब्रह्माजीकी दी हुई वह दिव्य माला भी तुम्हारे गलेमें नहीं दिखायी देती है ॥

(भीष्म उवाच

ततः प्रहस्य स बलिर्वासवेन समीरितम् ।
निशम्य भावगम्भीरं सुरराजमथाब्रवीत् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रकी कही हुई वह भावगम्भीर वाणी सुनकर राजा बलि हँस पड़े और देवराजसे इस प्रकार बोले ॥

बलिरुवाच

अहो हि तव बालिश्यमिह देवगणाधिप ।
अयुक्तं देवराजस्य तव कष्टमिदं वचः ॥)

बलिने कहा—देवेश्वर ! यहाँ तुमने जो मूर्खता दिखायी है, वह मेरे लिये आश्चर्यजनक है । तुम देवताओंके राजा हो । इस तरह दूसरोंको कष्ट देनेवाली बात कहना तुम्हारे लिये योग्य नहीं है ॥

न त्वं पश्यसि भृङ्गारं न च्छत्रं व्यजने न च ।
ब्रह्मदत्तां च मे मालां न त्वं द्रक्ष्यसि वासव ॥ २६ ॥

इन्द्र ! इस समय तुम मेरी सोनेकी झारीको, मेरे छत्र और चँवरको तथा ब्रह्माजीकी दी हुई मेरी उस दिव्य मालाको भी नहीं देख सकोगे ॥ २६ ॥

गुहायां निहितानि त्वं मम रत्नानि पृच्छसि ।
यदा मे भविता कालस्तदा त्वं तानि द्रक्ष्यसि ॥ २७ ॥

तुम मेरे जिन रत्नोंके विषयमें पूछ रहे हो, वे गुफामें छिपा दिये गये हैं । जब मेरे लिये अच्छा समय आयेगा, तब तुम फिर उन्हें देखोगे ॥ २७ ॥

न त्वेतदनुरूपं ते यशसो वा कुलस्य च ।
समृद्धार्थोऽसमृद्धार्थं यन्मां कत्थितुमिच्छसि ॥ २८ ॥

इस समय तुम समृद्धिशाली हो और मेरी समृद्धि नष्ट हो गयी है, ऐसी अवस्थामें जो तुम मेरे सामने अपनी प्रशंसाके गीत गाना चाहते हो, यह तुम्हारे कुल और यशके अनुरूप नहीं है ॥ २८ ॥

न हि दुःखेषु शोचन्ते न प्रहृष्यन्ति चर्धिषु ।
कृतप्रज्ञा ज्ञानतृप्ताः क्षान्ताः सन्तो मनीषिणः ॥ २९ ॥

जिसकी बुद्धि शुद्ध है तथा जो ज्ञानसे तृप्त हैं, वे क्षमाशील मनीषी सत्पुरुष दुःख पड़नेपर शोक नहीं करते और समृद्धि प्राप्त होनेपर हर्षसे फूल नहीं उठते हैं ॥ २९ ॥

त्वं तु प्राकृतया बुद्ध्या पुरन्दर विकत्थसे ।
यदाहमिव भावी स्यास्तदा नैवं वदिष्यसि ॥ ३० ॥

पुरन्दर ! तुम अपनी अशुद्धि बुद्धिके कारण मेरे सामने आत्मप्रशंसा कर रहे हो । जब मेरी-जैसी स्थिति तुम्हारी हो जायगी, तब ऐसी बात नहीं बोल सकोगे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादो नाम त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बलि और इन्द्रका संवाद नामक दो सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

बलि और इन्द्रका संवाद, बलिके द्वारा कालकी प्रबलताका प्रतिपादन करते हुए इन्द्रको फटकार

भीष्म उवाच

पुनरेव तु तं शक्रः प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं प्रव्याहाराय भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! ऐसा कहकर सर्पके समान फुफकारते हुए बलिसे इन्द्रने पुनः अपना उत्कर्ष सूचित करनेके लिये हँसते हुए कहा ॥ १ ॥

शक्र उवाच

यत् तद् यानसहस्रेण ज्ञातिभिः परिवारितः ।
लोकान् प्रतापयन् सर्वान् यास्यस्मानवितर्कयन् ॥ २ ॥
दृष्ट्वा सुकृपणां चेमामवस्थामात्मनो बले ।
ज्ञातिमित्रपरित्यक्तः शोचस्याहो न शोचसि ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले—दैत्यराज बलि ! पहले जो तुम सहस्रों वाहनों और भाई-बन्धुओंसे घिरकर सम्पूर्ण लोकोंको संताप देते और हम देवताओंको कुछ न समझते हुए यात्रा करते थे और अब बन्धु-बान्धवों तथा मित्रोंसे परित्यक्त होकर अपनी यह अत्यन्त दीनदशा देख रहे हो, इससे तुम्हारे मनमें शोक होता है या नहीं ? ॥ २-३ ॥

प्रीतिं प्राप्यातुलां पूर्वं लोकांश्चात्मवशे स्थितान् ।
विनिपातमिमं बाह्यं शोचस्याहो न शोचसि ॥ ४ ॥

पूर्वकालमें तुमने सम्पूर्ण लोकोंको अपने अधीन कर लिया था और अनुपम प्रसन्नता प्राप्त की थी; किंतु इस समय बाह्य जगत्‌में तुम्हारा यह घोर पतन हुआ है, यह सब सोचकर तुम्हारे मनमें शोक होता है या नहीं ? ॥ ४ ॥

बलिरुवाच

अनित्यमुपलक्ष्येह कालपर्यायधर्मतः ।
तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ॥ ५ ॥

बलिने कहा—इन्द्र ! कालचक्र स्वभावसे ही परिवर्तनशील है, उसके द्वारा यहाँकी प्रत्येक वस्तुको मैं अनित्य

समझता हूँ, इसीलिये कभी शोक नहीं करता हूँ; क्योंकि यह सारा जगत् विनाशशील है ॥ ५ ॥

अन्तवन्त इमे देहा भूतानां च सुराधिप ।
तेन शक्र न शोचामि नापराधादिदं मम ॥ ६ ॥

देवेश्वर ! प्राणियोंके ये सारे शरीर अन्तवान् हैं; इसलिये मैं कभी शोक नहीं करता हूँ । यह गर्दभका शरीर भी मुझे किसी अपराधसे नहीं प्राप्त हुआ है (मैंने इसे स्वेच्छासे ग्रहण किया है) ॥ ६ ॥

जीवितं च शरीरं च जात्यैव सह जायते ।
उभे सह विवर्धेते उभे सह विनश्यतः ॥ ७ ॥

जीवन और शरीर दोनों जन्मके साथ ही उत्पन्न होते हैं, साथ ही बढ़ते हैं और साथ ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

न हीदृशमहं भावमवशः प्राप्य केवलम् ।
यद्येवमभिजानामि का व्यथा मे विजानतः ॥ ८ ॥

मैं इस गर्दभ-शरीरको पाकर भी विवश नहीं हुआ हूँ । जब मैं इस प्रकार देहकी अनित्यता और आत्माकी असङ्गता-को जानता हूँ, तब यह जानते हुए मुझे क्या व्यथा हो सकती है ! ॥ ८ ॥

भूतानां निधनं निष्ठा स्रोतसामिव सागरः ।
नैतत् सम्यग्विजानन्तो नरा मुह्यन्ति वज्रधृक् ॥ ९ ॥

वज्रधारी इन्द्र ! जैसे जलके प्रवाहोंका अन्तिम आश्रय समुद्र है, उसी प्रकार शरीरधारियोंकी अन्तिम गति मृत्यु है । जो पुरुष इस बातको अच्छी तरह जानते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते हैं ॥ ९ ॥

ये त्वेवं नाभिजानन्ति रजोमोहपरायणाः ।
ते कृच्छ्रं प्राप्य सीदन्ति बुद्धिर्येषां प्रणश्यति ॥ १० ॥

जो लोग रजोगुण (काम-क्रोध) और मोहके वशीभूत हो इस बातको भलीभाँति नहीं जानते हैं तथा जिनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वे सङ्कटमें पड़नेपर बहुत दुखी होते हैं ॥

बुद्धिलाभात् तु पुरुषः सर्वं तुदति किल्बिषम् ।
विपाप्मा लभते सत्त्वं सत्त्वस्थः सम्प्रसीदति ॥ ११ ॥

जिसे सद्बुद्धि प्राप्त होती है, वह पुरुष उस बुद्धिके द्वारा सारे पापोंको नष्ट कर देता है । पापहीन होनेपर उसे सत्त्वगुण-की प्राप्ति होती है और सत्त्वगुणमें स्थित होकर वह सात्त्विक प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

ततस्तु ये निवर्तन्ते जायन्ते वा पुनः पुनः ।
कृपणाः परितप्यन्ते तैरर्थैरभिचोदिताः ॥ १२ ॥

जो मन्दबुद्धि मानव सत्त्वगुणसे भ्रष्ट हो जाते हैं, वे बारंबार इस संसारमें जन्म लेते हैं तथा रजोगुणजनित काम, क्रोध आदि दोषोंसे प्रेरित होकर सदा संतप्त होते रहते हैं ॥

अर्थसिद्धिमनर्थं च जीवितं मरणं तथा ।
सुखदुःखफले चैव न द्वेष्मि न च कामये ॥ १३ ॥

मैं न तो अर्थसिद्धि, जीवन और सुखमय फलकी कामना करता हूँ और न अनर्थ, मृत्यु एवं दुःखमय फलसे द्वेष ही रखता हूँ ॥ १३ ॥

हतं हन्ति हतो ह्येव यो नरो हन्ति कञ्चन ।
उभौ तौ न विजानीतो यश्च हन्ति हतश्च यः ॥ १४ ॥

जो मनुष्य किसीकी हत्या करता है, वह वास्तवमें स्वयं मरा हुआ होते हुए मरे हुएको ही मारता है । जो मारता है और जो मारा जाता है, वे दोनों ही आत्माको नहीं जानते हैं (क्योंकि आत्मा हननक्रियाका न तो कर्म है, न कर्ता) ॥

हत्वा जित्वा च मघवन् यः कश्चित् पुरुषायते ।
अकर्ता ह्येव भवति कर्ता ह्येव करोति तत् ॥ १५ ॥

मघवन् ! जो कोई किसीको मारकर या जीतकर अपने पौरुषपर गर्व करता है, वह वास्तवमें उस पुरुषार्थका कर्ता ही नहीं है; क्योंकि जो जगत्‌का कर्ता, जो परमात्मा है, वही उस कर्मका भी कर्ता है ॥ १५ ॥

को हि लोकस्य कुरुते विनाशप्रभवावुभौ ।
कृतं हि तत् कृतेनैव कर्ता तस्यापि चापरः ॥ १६ ॥

सम्पूर्ण जगत्‌का संहार और सृष्टि—इन दोनों कार्योंको कौन करता है ? वह सब प्राणियोंके कर्मोंद्वारा ही किया गया है और उसका भी प्रयोजक कोई और (ईश्वर) ही है ॥

पृथिवी ज्योतिराकाशमापो वायुश्च पञ्चमः ।
एतद्योनीनि भूतानि तत्र का परिदेवना ॥ १७ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये ही सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंके कारण हैं; अतः उनके लिये शोक और विलापकी क्या आवश्यकता है ? ॥ १७ ॥

महाविद्योऽल्पविद्यश्च बलवान् दुर्बलश्च यः ।
दर्शनीयो विरूपश्च सुभगो दुर्भगश्च यः ॥ १८ ॥
सर्वं कालः समादत्ते गम्भीरः स्वेन तेजसा ।
तस्मिन् कालवशं प्राप्ते का व्यथा मे विजानतः ॥ १९ ॥

कोई बड़ा भारी विद्वान् हो या अल्पविद्यासे युक्त, बलवान् हो या दुर्बल, सुन्दर हो या कुरूप, सौभाग्यशाली हो या दुर्भाग्ययुक्त, गम्भीर काल सबको अपने तेजसे ग्रहण कर लेता है; अतः उन सबके कालके अधीन हो जानेपर जगत्‌की क्षणभङ्गुरताको जाननेवाले मुझ बलिको क्या व्यथा हो सकती है ? ॥ १८-१९ ॥

दग्धमेवानुदहति हतमेवानुहन्यते ।
नश्यते नष्टमेवाग्रे लब्धव्यं लभते नरः ॥ २० ॥

जो कालके द्वारा दग्ध हो चुका है, उसीको पीछेसे आग जलाती है । जिसे कालने पहलेसे ही मार डाला है, वही

किसी दूसरेके द्वारा मारा जाता है। जो पहलेसे ही नष्ट हो चुकी है, वही वस्तु किसीके द्वारा नष्ट की जाती है तथा जिसका मिलना पहलेसे ही निश्चित है, उसीको मनुष्य हस्तगत करता है॥

नास्य द्वीपः कुतः पारो नावारः सम्प्रदृश्यते ।
नान्तमस्य प्रपश्यामि विधेर्दिव्यस्य चिन्तयन् ॥ २१ ॥

मैं बहुत सोचनेपर भी दिव्य विधाता कालका अन्त नहीं देख पाता हूँ। उस समुद्र-जैसे कालका कहीं द्वीप भी नहीं है, फिर पार कहाँसे प्राप्त हो सकता है? उसका आर-पार कहीं नहीं दिखायी देता है ॥ २१ ॥

यदि मे पश्यतः कालो भूतानि न विनाशयेत् ।
स्यान्मे हर्षश्च दर्पश्च क्रोधश्चैव शचीपते ॥ २२ ॥

शचीपते! यदि काल मेरे देखते-देखते समस्त प्राणियोंका विनाश नहीं करता तो मुझे हर्ष होता, अपनी शक्तिपर गर्व होता और उस क्रूर कालपर मुझे क्रोध भी होता ॥ २२ ॥

तुषभक्षं तु मां ज्ञात्वा प्रविविक्तजने गृहे ।
बिभ्रतं गार्दभं रूपमागत्य परिगर्हसे ॥ २३ ॥

इस एकान्त गृहमें गर्दभका रूप धारण किये मुझे भूसी खाता जानकर तुम यहाँ आये हो और मेरी निन्दा करते हो॥

इच्छन्नहं विकुर्यां हि रूपाणि बहुधाऽऽत्मनः ।
विभीषणानि यानीक्ष्य पलायेथास्त्वमेव मे ॥ २४ ॥

मैं चाहूँ तो अपने बहुत-से ऐसे भयानक रूप प्रकट कर सकता हूँ, जिन्हें देखकर तुम्हीं मेरे निकटसे भाग खड़े होओगे ॥

कालः सर्वं समादत्ते कालः सर्वं प्रयच्छति ।
कालेन विहितं सर्वं मा कृथाः शक्र पौरुषम् ॥ २५ ॥

इन्द्र! काल ही सबको ग्रहण करता है, काल ही सब कुछ देता है तथा कालने ही सब कुछ किया है; अतः अपने पुरुषार्थका गर्व न करो ॥ २५ ॥

पुरा सर्वं प्रव्यथितं मयि क्रुद्धे पुरंदर ।
अवैमि त्वस्य लोकस्य धर्मं शक्र सनातनम् ॥ २६ ॥

पुरन्दर! पूर्वकालमें मेरे कुपित होनेपर सारा जगत् व्यथित हो उठता था। इस लोककी कभी वृद्धि होती है और कभी ह्रास। यह इसका सनातन स्वभाव है। शक्र! इस बातको मैं अच्छी तरह जानता हूँ ॥ २६ ॥

त्वमप्येवमवेक्षस्व माऽऽत्मना विस्मयं गमः ।
प्रभवश्च प्रभावश्च नात्मसंस्थः कदाचन ॥ २७ ॥

तुम भी जगत्को इसी दृष्टिसे देखो। अपने मनमें विस्मित न होओ। प्रभुता और प्रभाव अपने अधीन नहीं हैं ॥२७॥

कौमारमेव ते चित्तं तथैवाद्य यथा पुरा ।
समवेक्षस्व मघवन् बुद्धिं विन्दस्व नैष्ठिकीम् ॥ २८ ॥

तुम्हारा चित्त अभी बालकके समान है। वह जैसा पहले था, वैसा ही आज भी है। मघवन्! इस बातक दृष्टिपात करो और नैष्ठिक बुद्धि प्राप्त करो ॥ २८ ॥

देवा मनुष्याः पितरो गन्धर्वोरगराक्षसाः ।
आसन् सर्वे मम वशे तत् सर्वं वेत्थ वासव ॥

वासव! एक दिन देवता, मनुष्य, पितर, गन्धर्व और राक्षस—ये सभी मेरे अधीन थे। वह सब कु जानते हो ॥ २९ ॥

नमस्तस्यै दिशेऽप्यस्तु यस्यां वैरोचनो बलिः ।
इति मामभ्यपद्यन्त बुद्धिमात्सर्यमोहिताः ॥

मेरे शत्रु अपने बुद्धिगत द्वेषसे मोहित होकर मेरी ग्रहण करते हुए ऐसा कहा करते थे कि विरोचनकुमार जिस दिशामें हों, उस दिशाको भी हमारा नमस्कार है॥

नाहं तदनुशोचामि नात्मभ्रंशं शचीपते ।
एवं मे निश्चिता बुद्धिः शास्तुस्तिष्ठाम्यहं वशे ॥

शचीपते! मुझे अपने इस पतनके लिये तनिक भी नहीं होता है, मेरी बुद्धिका ऐसा निश्चय है कि मैं सदा शासक ईश्वरके वशमें हूँ ॥ ३१ ॥

दृश्यते हि कुले जातो दर्शनीयः प्रतापवान् ।
दुःखं जीवन् सहामात्यो भवितव्यं हि तत् तथा ॥

एक उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ दर्शनीय एवं प्रतापी अपने मन्त्रियोंके साथ दुःखपूर्वक जीवन बिताता देखा जा उसका वैसा ही भवितव्य था ॥ ३२ ॥

दौष्कुलेयस्तथा मूढो दुर्जातः शक्र दृश्यते ।
सुखं जीवन् सहामात्यो भवितव्यं हि तत् तथा ॥

इन्द्र! एक नीच कुलमें उत्पन्न हुआ मूढ़ जिसका जन्म दुराचारसे हुआ है, अपने मन्त्रियोंसहित जीवन बिताता देखा जाता है। उसकी भी वैसी ही हो समझनी चाहिये ॥ ३३ ॥

कल्याणी रूपसम्पन्ना दुर्भगा शक्र दृश्यते ।
अलक्षणा विरूपा च सुभगा दृश्यते परा ॥

शक्र! एक कल्याणमय आचार-विचार रखने सुरूपवती युवती विधवा हुई देखी जाती है और कुलक्षणा और कुरूपा स्त्री सौभाग्यवती दिखायी देती

नैतदस्मत्कृतं शक्र नैतच्छक्र त्वया कृतम् ।
यत् त्वमेवंगतो वज्रिन् यच्चाप्येवंगता वयम् ॥

वज्रधारी इन्द्र! आज जो तुम इस तरह समृद्धि हो गये हो और हमलोग जो ऐसी अवस्थामें पहुँच गये यह न तो हमारा किया हुआ है और न तुमने ही कुछ किया

न कर्म भवितात्प्येतत् कृतं मम शतक्रतो ।
ऋद्धिर्वाप्यथवा नर्द्धिः पर्यायकृतमेव तत् ॥

शतक्रतो! इस समय मैं इस परिस्थितिमें हूँ और

कर्म मेरे इस शरीरसे हो रहा है, यह सब मेरा किया हुआ नहीं है। समृद्धि और निर्धनता (प्रारब्धके अनुसार) बारी-बारीसे सबपर आती है ॥ ३६ ॥

पश्यामि त्वां विराजन्तं देवराजमवस्थितम् ।
श्रीमन्तं द्युतिमन्तं च गर्जमानं ममोपरि ॥ ३७ ॥

मैं देखता हूँ, इस समय तुम देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हो। अपने कान्तिमान् और तेजस्वी स्वरूपसे विराज रहे हो और मेरे ऊपर बारंबार गर्जना करते हो ॥ ३७ ॥

एवं नैव न चेत् कालो मामाक्रम्य स्थितो भवेत् ।
पातयेयमहं त्वाद्य सवज्रमपि मुष्टिना ॥ ३८ ॥

परंतु यदि इस तरह काल मुझपर आक्रमण करके मेरे सिरपर सवार न होता तो मैं आज वज्र लिये होनेपर भी तुम्हें केवल मुक्केसे मारकर धरतीपर गिरा देता ॥ ३८ ॥

न तु विक्रमकालोऽयं शान्तिकालोऽयमागतः ।
कालः स्थापयते सर्वं कालः पचति वै तथा ॥ ३९ ॥

किंतु यह मेरे लिये पराक्रम प्रकट करनेका समय नहीं है; अपितु शान्त रहनेका समय आया है । काल ही सबको विभिन्न अवस्थाओंमें स्थापित करके सबका पालन करता है और काल ही सबको पकाता (क्षीण करता) है ॥ ३९ ॥

मां चेदभ्यागतः कालो दानवेश्वरपूजितम् ।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च कमन्यं नागमिष्यति ॥ ४० ॥

एक दिन मैं दानवेश्वरोंद्वारा पूजित था और मैं भी गर्जता तथा अपना प्रताप सर्वत्र फैलाता था । जब मुझपर भी कालका आक्रमण हुआ है, तब दूसरे किसपर वह आक्रमण नहीं करेगा ? ॥ ४० ॥

द्वादशानां तु भवतामादित्यानां महात्मनाम् ।
तेजांस्येकेन सर्वेषां देवराज धृतानि मे ॥ ४१ ॥

देवराज ! तुमलोग जो बारह महात्मा आदित्य कहलाते हो, तुम सब लोगोंके तेज मैंने अकेले धारण कर रक्खे थे ॥

अहमेवोद्वहाम्यापो विसृजामि च वासव ।
तपामि चैव त्रैलोक्यं विद्योताम्यहमेव च ॥ ४२ ॥

वासव ! मैं ही सूर्य बनकर अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीका जल ऊपर उठाता और मेघ बनकर वर्षा करता था । मैं ही त्रिलोकीको ताप देता और विद्युत् बनकर प्रकाश फैलाता था ॥ ४२ ॥

संरक्षामि विलुम्पामि ददाम्यहमथाददे ।
संयच्छामि नियच्छामि लोकेषु प्रभुरीश्वरः ॥ ४३ ॥

मैं प्रजाकी रक्षा करता था और लुटेरोंको लूट भी लेता था । मैं सदा दान देता और प्रजासे कर लेता था । मैं ही सम्पूर्ण लोकोंका शासक और प्रभु होकर सबको संयम-नियममें रखता था ॥ ४३ ॥

तदद्य विनिवृत्तं मे प्रभुत्वममराधिप ।
कालसैन्यावगाढस्य सर्वं न प्रतिभाति मे ॥ ४४ ॥

अमरेश्वर ! आज मेरी वह प्रभुता समाप्त हो गयी । कालकी सेनासे मैं आक्रान्त हो गया हूँ; अतः मेरा वह सब ऐश्वर्य अब प्रकाशित नहीं हो रहा है ॥ ४४ ॥

नाहं कर्ता न चैव त्वं नान्यः कर्ता शचीपते ।
पर्यायेण हि भुज्यन्ते लोकाः शक्र यदृच्छया ॥ ४५ ॥

शचीपति इन्द्र ! न मैं कर्ता हूँ, न तुम कर्ता हो और न कोई दूसरा ही कर्ता है । काल बारी-बारीसे अपनी इच्छाके अनुसार सम्पूर्ण लोकोंका उपभोग करता है ॥ ४५ ॥

मासमासार्धवेश्मानमहोरात्राभिसंवृतम् ।
ऋतुद्वारं वर्षमुखमायुर्वेदविदो जनाः ॥ ४६ ॥

वेदवेत्ता पुरुष कहते हैं कि मास और पक्ष कालके आवास (शरीर) हैं । दिन और रात उसके आवरण (वस्त्र) हैं । ऋतुएँ द्वार (मन-इन्द्रिय) हैं और वर्ष मुख है । वह काल आयुस्वरूप है ॥ ४६ ॥

आहुः सर्वमिदं चिन्त्यं जनाः केचिन्मनीषया ।
अस्याः पञ्चैव चिन्तायाः पर्येष्यामि च पञ्चधा ॥ ४७ ॥

कुछ विद्वान् अपनी बुद्धिके बलसे कहते हैं कि यह सब कुछ कालसंज्ञक ब्रह्म है । इसका इसी रूपमें चिन्तन करना चाहिये । इस चिन्तनके मास आदि उपर्युक्त पाँच ही विषय हैं । मैं पूर्वोक्त पाँच भेदोंसे युक्त कालको जानता हूँ ॥ ४७ ॥

गम्भीरं गहनं ब्रह्म महत्तोयार्णवं यथा ।
अनादिनिधनं चाहुरक्षरं क्षरमेव च ॥ ४८ ॥

वह कालरूप ब्रह्म अनन्त जलसे भरे हुए महासागरके समान गम्भीर एवं गहन है । उसका कहीं आदि-अन्त नहीं है । उसे ही क्षर एवं अक्षररूप बताया गया है ॥ ४८ ॥

सत्त्वेषु लिङ्गमावेश्य निर्लिङ्गमपि तत् स्वयम् ।
मन्यन्ते ध्रुवमेवैनं ये जनास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ४९ ॥

जो लोग तत्त्वदर्शी हैं, वे निश्चितरूपसे ऐसा मानते हैं कि वह कालरूप परब्रह्म परमात्मा स्वयं निराकार होते हुए भी समस्त प्राणियोंके भीतर जीवका प्रवेश कराता है ॥ ४९ ॥

भूतानां तु विपर्यासं कुरुते भगवानिति ।
न ह्येतावद् भवेद् गम्यं न यस्मात् प्रभवेत् पुनः ॥ ५० ॥

भगवान् काल ही समस्त प्राणियोंकी अवस्थामें उलट-फेर कर देते हैं । कोई भी व्यक्ति उनके इस माहात्म्यको समझ नहीं पाता । कालकी ही महिमासे पराजित होकर मनुष्य कुछ भी कर नहीं पाता ॥ ५० ॥

गतिं हि सर्वभूतानामगत्वा क्व गमिष्यति ।
यो धावता न हातव्यस्तिष्ठन्नपि न हीयते ॥ ५१ ॥
तमिन्द्रियाणि सर्वाणि नानुपश्यन्ति पञ्चधा ।
आहुश्चैनं केचिदग्निं केचिदाहुः प्रजापतिम् ॥ ५२ ॥

देवराज ! समस्त प्राणियोंकी गति जो काल है, उसको प्राप्त हुए बिना तुम कहाँ जाओगे ? मनुष्य भागकर भी उसे छोड़ नहीं सकता—उससे दूर नहीं जा सकता और न खड़ा होकर ही उसके चंगुलसे छूट सकता है । श्रवण आदि समस्त इन्द्रियाँ मास-पक्ष आदि पाँच भेदोंसे युक्त उस कालका अनुभव नहीं कर पातीं । कुछ लोग इन कालदेवताको अग्नि कहते हैं और कुछ प्रजापति ॥ ५१-५२ ॥

ऋतून् मासार्धमासांश्च दिवसांश्च क्षणांस्तथा ।
पूर्वाह्णमपराह्णं च मध्याह्नमपि चापरे ॥ ५३ ॥
मुहूर्तमपि चैवाहुरेकं सन्तमनेकधा ।
तं कालमिति जानीहि यस्य सर्वमिदं वशे ॥ ५४ ॥

दूसरेलोग उस कालको ऋतु, मास, पक्ष, दिन, क्षण, पूर्वाह्ण, अपराह्ण और मध्याह्न कहते हैं । उसीको विद्वान् पुरुष मुहूर्त भी कहते हैं । वह एक होकर भी अनेक प्रकारका बताया जाता है । इन्द्र ! तुम उस कालको इस प्रकार जानो । यह सारा जगत् उसीके अधीन है ॥ ५३-५४ ॥

बहूनीन्द्रसहस्राणि समतीतानि वासव ।
बलवीर्योपपन्नानि यथैव त्वं शचीपते ॥ ५५ ॥

शचीपति इन्द्र ! जैसे तुम हो, वैसे ही बल और पराक्रमसे सम्पन्न अनेक सहस्र इन्द्र समाप्त हो चुके हैं ॥ ५५ ॥

त्वामप्यतिबलं शक्र देवराजं बलोत्कटम् ।
प्राप्ते काले महावीर्यः कालः संशमयिष्यति ॥ ५६ ॥

शक्र ! तुम अपनेको अत्यन्त शक्तिशाली और उग्र बलसे युक्त देवराज समझते हो; परंतु समय आनेपर म[hidden] पराक्रमी काल तुम्हें भी शान्त कर देगा ॥ ५६ ॥

य इदं सर्वमादत्ते तस्माच्छक्र स्थिरो भव ।
मया त्वया च पूर्वैश्च न स शक्योऽतिवर्तितुम् ॥ ५७ ॥

इन्द्र ! वह काल ही सम्पूर्ण जगत्को अपने वशमें कर लेता है; अतः तुम भी स्थिर रहो । मैं, तुम तथा हमारे पूर्वज भी कालकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥ ५७ ॥

यामेतां प्राप्य जानीषे राज्यश्रियमनुत्तमाम् ।
स्थिता मयीति तन्मिथ्या नैषा ह्येकत्र तिष्ठति॥ ५८ ॥

तुम जिस इस परम उत्तम राजलक्ष्मीको पाकर यह जानते हो कि यह मेरे पास स्थिरभावसे रहेगी, तुम्हारी यह धारणा मिथ्या है; क्योंकि यह कहीं एक जगह बँधकर नहीं रहती है ॥ ५८ ॥

स्थिता हीन्द्र सहस्रेषु त्वद्विशिष्टतमेष्वियम् ।
मां च लोला परित्यज्य त्वामगाद् विबुधाधिप ॥ ५९ ॥

इन्द्र ! यह लक्ष्मी तुमसे भी श्रेष्ठ सहस्रों पुरुषोंके पास रह चुकी है । देवेश्वर ! इस समय यह चञ्चला मुझे छोड़कर तुम्हारे पास गयी है ॥ ५९ ॥

मैवं शक्र पुनः कार्षीः शान्तो भवितुमर्हसि ।
त्वामप्येवंविधं ज्ञात्वा क्षिप्रमन्यं गमिष्यति ॥ ६० ॥

शक्र ! अब फिर तुम ऐसा बर्ताव न करना । अब तुम्हें शान्ति धारण कर लेनी चाहिये । तुम्हें भी मेरी-जैसी स्थिति में जानकर यह लक्ष्मी शीघ्र किसी दूसरेके पास चली जायगी ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादे चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बलि और इन्द्रका संवादविषयक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और लक्ष्मीका संवाद, बलिको त्यागकर आयी हुई लक्ष्मीकी इन्द्रके द्वारा प्रतिष्ठा

भीष्म उवाच

शतक्रतुरथापश्यद् बलेर्दीप्तां महात्मनः ।
स्वरूपिणीं शरीराद्धि निष्क्रामन्तीं तदा श्रियम्॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर इन्द्रने देखा कि महात्मा बलिके शरीरसे परम सुन्दरी तथा कान्तिमती लक्ष्मी मूर्तिमती होकर निकल रही हैं ॥ १ ॥

तां दृष्ट्वा प्रभया दीप्तां भगवान् पाकशासनः ।
विस्मयोत्फुल्लनयनो बलिं पप्रच्छ वासवः ॥ २ ॥

पाकशासन भगवान् इन्द्र प्रभासे प्रकाशित होनेवाली उस लक्ष्मीको देखकर आश्चर्यचकित हो उठे । उनके नेत्र विस्मयसे खिल उठे । उन्होंने बलिसे पूछा ॥ २ ॥

शक्र उवाच

बले केयमपक्रान्ता रोचमाना शिखण्डिनी ।
त्वत्तः स्थिता सकेयूरा दीप्यमाना स्वतेजसा ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले—बले ! यह वेणी धारण करनेवाली कान्तिमयी कौन सुन्दरी तुम्हारे शरीरसे निकल कर खड़ी है ? इसकी भुजाओंमें बाजूबंद शोभा पा रहे हैं और यह अपने तेजसे उद्भासित हो रही है ॥ ३ ॥

बलिरुवाच

न हीमामासुरीं वेद्मि न दैवीं च न मानुषीम् ।
त्वमेनां पृच्छ वा मा वा यथेष्टं कुरु वासव ॥ ४ ॥

बलिने कहा—इन्द्र ! मेरी समझमें न तो यह असुरकुलकी स्त्री है, न देवजातिकी है और न मानवी ही है । तुम जानना चाहते हो तो इसीसे पूछो अथवा न पूछो । जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो ॥ ४ ॥

शक्र उवाच

का त्वं बलेरपक्रान्ता रोचमाना शिखण्डिनी ।
अजानतो ममाचक्ष्व नामधेयं शुचिस्मिते ॥ ५ ॥
का त्वं तिष्ठसि मामेवं दीप्यमाना स्वतेजसा ।
हित्वा दैत्यवरं सुभ्रु तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ६ ॥

तब इन्द्रने पूछा—पवित्र मुसकानवाली सुन्दरी ! बलिके शरीरसे निकलकर खड़ी हुई तुम कौन हो ? तुम्हारी चमक-दमक अद्भुत है । तुम्हारी वेणी भी अत्यन्त सुन्दर है । मैं तुम्हें जानता नहीं हूँ; इसलिये पूछता हूँ । तुम मुझे अपना नाम बताओ । सुभ्रू ! दैत्यराजको त्यागकर अपने तेजसे मुझे प्रकाशित करती हुई इस प्रकार तुम कौन खड़ी हो ? मेरे प्रश्नके अनुसार अपना परिचय दो ॥ ५-६ ॥

श्रीरुवाच

न मां विरोचनो वेद नायं वैरोचनो बलिः ।
आहुर्मां दुःसहेत्येवं विधित्सेति च मां विदुः ॥ ७ ॥

लक्ष्मी बोली—मुझे न तो विरोचन जानता है और न उसका पुत्र यह बलि । लोग मुझे दुःसहा कहते हैं और कुछ लोग मुझे विधित्साके नामसे भी जानते हैं ॥ ७ ॥

भूतिर्लक्ष्मीति मामाहुः श्रीरित्येवं च वासव ।
त्वं मां शक्र न जानीषे सर्वे देवा न मां विदुः ॥ ८ ॥

वासव ! जानकार मनुष्य मुझे भूति, लक्ष्मी और श्री भी कहते हैं । शक्र ! तुम मुझे नहीं जानते तथा सम्पूर्ण देवताओंको भी मेरे विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं है ॥ ८ ॥

शक्र उवाच

किमिदं त्वं मम कृते उताहो बलिनः कृते ।
दुःसहे विजहास्येनं चिरसंवासिनी सती ॥ ९ ॥

इन्द्रने पूछा—दुःसहे ! तुमने चिरकालतक राजा बलिके शरीरमें निवास किया है, अब क्या तुम मेरेलिये अथवा बलिके ही हितके लिये इनका त्याग कर रही हो ? ॥ ९ ॥

श्रीरुवाच

नो धाता न विधाता मां विदधाति कथंचन ।
कालस्तु शक्र पर्यागान्मैनं शक्रावमन्यथाः ॥ १० ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! धाता या विधाता किसी प्रकार भी मुझे किसी कार्यमें नियुक्त नहीं कर सकते हैं; किंतु कालका ही आदेश मुझे मानना पड़ता है । वही काल इस समय बलिका परित्याग करनेके लिये मुझे प्रेरित करनेके निमित्त उपस्थित हुआ है । इन्द्र ! तुम उस कालकी अवहेलना न करना ॥ १० ॥

शक्र उवाच

कथं त्वया बलिस्त्यक्तः किमर्थं वा शिखण्डिनि ।
कथं च मां न जह्यास्त्वं तन्मे ब्रूहि शुचिस्मिते ॥ ११ ॥

इन्द्रने पूछा—वेणी धारण करनेवाली लक्ष्मी ! तुमने बलिका कैसे और किसलिये त्याग किया है ? शुचिस्मिते ! तुम मेरा त्याग किस प्रकार नहीं करोगी ? यह मुझे बताओ ॥ ११ ॥

श्रीरुवाच

सत्ये स्थितास्मि दाने च व्रते तपसि चैव हि ।
पराक्रमे च धर्मे च पराचीनस्ततो बलिः ॥ १२ ॥

लक्ष्मीने कहा—मैं सत्य, दान, व्रत, तपस्या, पराक्रम और धर्ममें निवास करती हूँ । राजा बलि इन सबसे विमुख हो चुके हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्मण्योऽयं पुरा भूत्वा सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
अभ्यसूयद् ब्राह्मणानामुच्छिष्टश्चास्पृशद् घृतम् ॥ १३ ॥

ये पहले ब्राह्मणोंके हितैषी, सत्यवादी और जितेन्द्रिय थे; किंतु आगे चलकर ब्राह्मणोंके प्रति इनकी दोषदृष्टि हो गयी तथा इन्होंने जूठे हाथसे घी छू दिया था ॥ १३ ॥

यज्ञशीलः सदा भूत्वा मामेव यजत स्वयम् ।
प्रोवाच लोकान् मूढात्मा कालेनोपनिपीडितः ॥ १४ ॥

पहले ये सदा यज्ञ किया करते थे; किंतु आगे चलकर कालसे पीड़ित एवं मोहितचित्त होकर इन्होंने सब लोगोंको स्वयं ही स्पष्टरूपसे आदेश दिया कि तुम सब लोग मेरा ही यजन करो । १४ ।

अपाकृता ततः शक्र त्वयि वत्स्यामि वासव ।
अप्रमत्तेन धार्यास्मि तपसा विक्रमेण च ॥ १५ ॥

वासव ! इस प्रकार इनके द्वारा तिरस्कृत होकर अब मैं तुममें ही निवास करूँगी । तुम्हें सदा सावधान रहकर तपस्या और पराक्रमद्वारा मुझे धारण करना चाहिये ॥ १५ ॥

शक्र उवाच

नास्ति देवमनुष्येषु सर्वभूतेषु वा पुमान् ।
यस्त्वामेको विषहितुं शक्नुयात् कमलालये ॥ १६ ॥

इन्द्रने कहा—कमलालये ! देवताओं, मनुष्यों अथवा सम्पूर्ण प्राणियोंमें कोई भी ऐसा पुरुष नहीं है, जो अकेला तुम्हारा भार सहन कर सके ? ॥ १६ ॥

श्रीरुवाच

नैव देवो न गन्धर्वो नासुरो न च राक्षसः ।
यो मामेको विषहितुं शक्तः कश्चित् पुरंदर ॥ १७ ॥

लक्ष्मीने कहा–पुरंदर ! देवता, गन्धर्व, असुर और राक्षस कोई भी अकेला मेरा भार सहन नहीं कर सकता ॥१७॥

शक्र उवाच

तिष्ठेथा मयि नित्यं त्वं यथा तद् ब्रूहि मे शुभे ।
तत् करिष्यामि ते वाक्यमृतं तद् वक्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

इन्द्रने कहा—शुभे ! तुम जिस प्रकार मेरे निकट सदा निवास कर सको, वह उपाय मुझे बताओ । मैं तुम्हारी आज्ञाका यथार्थरूपसे पालन करूँगा; क्योंकि तुम वह उपाय मुझे अवश्य बता सकती हो ॥ १८ ॥

श्रीरुवाच

स्थास्यामि नित्यं देवेन्द्र यथा त्वयि निबोध तत् ।
विधिना वेददृष्टेन चतुर्धा विभजस्व माम् ॥ १९ ॥

लक्ष्मीने कहा––देवेन्द्र ! मैं जिस उपायसे तुम्हारे निकट सदा निवास कर सकूँगी, वह बताती हूँ, सुनो । तुम वेदमें बतायी हुई विधिसे मुझे चार भागोंमें विभक्त करो ॥१९॥

शक्र उवाच

अहं वै त्वां निधास्यामि यथाशक्ति यथाबलम् ।
न तु मेऽतिक्रमः स्याद् वै सदा लक्ष्मि तवान्तिके ॥ २० ॥

इन्द्रने कहा—लक्ष्मी ! मैं शारीरिक बल और मानसिक शक्तिके अनुसार तुम्हें धारण करूँगा, किंतु तुम्हारे निकट कभी मेरा परित्याग न हो ॥ २० ॥

भूमिरेव मनुष्येषु धारिणी भूतभाविनी ।
सा ते पादं तितिक्षेत समर्था हीति मे मतिः ॥ २१ ॥

मेरी यह धारणा है कि मनुष्यलोकमें सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाली यह पृथ्वी ही सबको धारण करती है। अतः तुम्हारे पैरका भार सह सकेगी; क्योंकि वह सामर्थ्यशालिनी है ॥ २१ ॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयं भूमौ प्रतिष्ठितः ।
द्वितीयं शक्र पादं मे तस्मात् सुनिहितं कुरु ॥ २२ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! यह जो मेरा एक पैर पृथ्वीपर रक्खा हुआ है, इसे मैंने यहीं प्रतिष्ठित कर दिया। अब तुम मेरे दूसरे पैरको भी सुप्रतिष्ठित करो ॥ २२ ॥

शक्र उवाच

आप एव मनुष्येषु द्रवन्त्यः परिचारिणीः ।
तास्ते पादं तितिक्षन्तामलमापस्तितिक्षितुम् ॥ २३ ॥

इन्द्रने कहा—लक्ष्मी ! मनुष्यलोकमें जल ही सब ओर प्रवाहित होता है; अतः वही तुम्हारे दूसरे पैरका भार सहन करे; क्योंकि जल इस कार्यके लिये पूर्ण समर्थ है॥२३॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयमप्सु प्रतिष्ठितः ।
तृतीयं शक्र पादं मे तस्मात् सुनिहितं कुरु ॥ २४ ॥

लक्ष्मीने कहा–इन्द्र ! लो, मैंने यह पैर जलमें रख दिया । अब यह जलमें ही सुप्रतिष्ठित है । अब तुम मेरे तीसरे पैरको भलीभाँति स्थापित करो ॥ २४ ॥

शक्र उवाच

यस्मिन् वेदाश्च यज्ञाश्च यस्मिन् देवाः प्रतिष्ठिताः ।
तृतीयं पादमग्निस्ते सुधृतं धारयिष्यति ॥ २५ ॥

इन्द्रने कहा––देवि ! जिसमें वेद, यज्ञ और सम्पूर्ण देवता प्रतिष्ठित हैं । वे अग्निदेव तुम्हारे तीसरे पैरको अच्छी तरह धारण करेंगे ॥ २५ ॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयमग्नौ प्रतिष्ठितः ।

चतुर्थं शक्र पादं मे तस्मात् सुनिहितं कुरु ॥ २६ ॥

लक्ष्मीने कहा--इन्द्र ! यह तीसरा पाद मैंने अग्निमें रख दिया। अब यह अग्निमें प्रतिष्ठित है। इसके बाद मेरे चौथे पादको भलीभाँति स्थापित करो ॥ २६ ॥

शक्र उवाच

ये वै सन्तो मनुष्येषु ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।
ते ते पादं तितिक्षन्तामलं सन्तस्तितिक्षितुम् ॥ २७ ॥

इन्द्र बोले—देवि ! मनुष्योंमें जो ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे आपके चौथे पादका भार वहन करें; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष उसे सहन करनेमें पूर्ण समर्थ हैं॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयं सत्सु प्रतिष्ठितः ।
एवं हि निहितां शक्र भूतेषु परिधत्स्व माम् ॥ २८ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! यह मैंने अपना चौथा पाद रक्खा। अब यह सत्पुरुषोंमें प्रतिष्ठित हुआ। इसी प्रकार तुम अब सम्पूर्ण भूतोंमें मुझे स्थापित करके सब ओरसे मेरी रक्षा करो ॥ २८ ॥

शक्र उवाच

भूतानामिह यो वै त्वां मया विनिहितां सतीम् ।
उपहन्यात् स मे धृष्यस्तथा शृण्वन्तु मे वचः ॥ २९ ॥

इन्द्रने कहा—देवि ! मेरेद्वारा स्थापित की हुई आपको समस्त प्राणियोंमेंसे जो भी पीड़ा देगा, वह मेरेद्वारा दण्डनीय होगा। मेरी यह बात वे सब लोग सुन लें ॥ २९ ॥

ततस्त्यक्तः श्रिया राजा दैत्यानां बलिरब्रवीत् ।
यावत् पुरस्तात् प्रतपेत् तावद् वै दक्षिणां दिशाम्।
पश्चिमां तावदेवापि तथोदीचीं दिवाकरः ॥ ३० ॥

तदनन्तर लक्ष्मीसे परित्यक्त होकर दैत्यराज बलिने कहा—'सूर्य जबतक पूर्वदिशामें प्रकाशित होंगे, तभीतक वे दक्षिण, पश्चिम और उत्तरदिशाको भी प्रकाशित करेंगे ॥ ३०॥

तथा मध्यंदिने सूर्यो नास्तमेति यदा तदा ।
पुनर्देवासुरं युद्धं भावि जेतास्मि वस्तदा ॥ ३१ ॥

'जब सूर्य केवल मध्याह्नकालमें ही स्थित रहेंगे, अस्ताचलको नहीं जायँगे, उस समय पुनः देवासुरसंग्राम होगा और उसमें मैं तुम सब देवताओंको परास्त करूँगा ॥ ३१ ॥

सर्वलोकान् यदाऽऽदित्य एकस्थस्तापयिष्यति ।
तदा देवासुरे युद्धे जेताहं त्वां शतक्रतो ॥ ३२ ॥

'शतक्रतो ! जब सूर्य एक स्थान अर्थात् ब्रह्मलोकमें ही स्थित होकर नीचेके सम्पूर्ण लोकोंको ताप देने लगेंगे, उस समय देवासुरसंग्राममें मैं तुम्हें अवश्य जीत लूँगा*' ॥ ३२ ॥

शक्र उवाच

ब्रह्मणोऽस्मि समादिष्टो न हन्तव्यो भवानिति ।
तेन तेऽहं बले वज्रं न विमुञ्चामि मूर्धनि ॥ ३३ ॥

इन्द्रने कहा—बले ! ब्रह्माजीने मुझे आज्ञा दी है कि तुम बलिका वध न करना; इसीलिये तुम्हारे मस्तकपर मैं अपना वज्र नहीं छोड़ रहा हूँ ॥ ३३ ॥

यथेष्टं गच्छ दैत्येन्द्र स्वस्ति तेऽस्तु महासुर ।
आदित्यो नैव तपिता कदाचिन्मध्यतः स्थितः ॥ ३४ ॥

दैत्यराज ! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चले जाओ। महान् असुर ! तुम्हारा कल्याण हो। सूर्य कभी मध्याह्नमें ही स्थित होकर सम्पूर्ण लोकोंको ताप नहीं देंगे ॥ ३४ ॥

स्थापितो ह्यस्य समयः पूर्वमेव स्वयम्भुवा ।
अजस्रं परियात्येष सत्येनावतपन् प्रजाः ॥ ३५ ॥

ब्रह्माजीने पहलेसे ही उनके लिये मर्यादा स्थापित कर दी है, अतः उसी सत्यमर्यादाके अनुसार सूर्य सम्पूर्ण लोकोंको ताप प्रदान करते हुए निरन्तर परिभ्रमण करते हैं ॥ ३५॥

अयनं तस्य षण्मासानुत्तरं दक्षिणं तथा ।
येन संयाति लोकेषु शीतोष्णे विसृजन् रविः ॥ ३६ ॥

उनके दो मार्ग हैं--उत्तर और दक्षिण। छः महीनोंका उत्तरायण होता है और छः महीनोंका दक्षिणायन। उसीसे सम्पूर्ण जगत्‌में सर्दी-गर्मीकी सृष्टि करते हुए सूर्यदेव भ्रमण करते हैं ॥ ३६ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तु दैत्येन्द्रो बलिरिन्द्रेण भारत ।
जगाम दक्षिणामाशामुदीचीं तु पुरंदरः ॥ ३७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! इन्द्रके ऐसा कहनेपर दैत्यराज बलि दक्षिणदिशाको चले गये और स्वयं इन्द्र उत्तरदिशाको ॥ ३७ ॥

---

* वैवस्वत मन्वन्तरको आठ भागोंमें विभक्त करके जब अन्तिम आठवाँ भाग व्यतीत होने लगेगा, तब पूर्व आदि चारों दिशाओंमें जो इन्द्र, यम, वरुण और कुबेरकी चार पुरियाँ हैं, वे नष्ट हो जायँगी। उस समय केवल ब्रह्मलोकमें स्थित होकर सूर्य नीचेके सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करेंगे। उसी समय सावर्णिक मन्वन्तरका आरम्भ होगा, जिसमें राजा बलि इन्द्र होंगे। (नीलकण्ठी)

इत्येतद् बलिना गीतमनहंकारसंज्ञितम्।
वाक्यं श्रुत्वा सहस्राक्षः खमेवारुरुहे तदा ॥ ३८ ॥

राजा बलिका वह पूर्वोक्त अनहंकारसंज्ञक वाक्य सुनकर सहस्रनेत्रधारी इन्द्र पुनः आकाशको ही उड़ चले ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्रीसंनिधानो नाम पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीसंनिधाननामक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२५ ॥

षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और नमुचिका संवाद

भीष्म उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शतक्रतोश्च संवादं नमुचेश्च युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! इसी विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और नमुचिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

श्रिया विहीनमासीनमक्षोभ्यमिव सागरम्।
भवाभवज्ञं भूतानामित्युवाच पुरंदरः ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, दैत्यराज नमुचि राजलक्ष्मीसे च्युत हो गये, तो भी वे प्रशान्त महासागरके समान क्षोभरहित बने रहे; क्योंकि वे कालक्रमसे होनेवाले प्राणियोंके अभ्युदय और पराभवके तत्त्वको जाननेवाले थे। उस समय देवराज इन्द्र उनके पास जाकर इस प्रकार बोले--॥ २ ॥

बद्धः पाशैश्च्युतः स्थानाद् द्विषतां वशमागतः।
श्रिया विहीनो नमुचे शोचस्याहो न शोचसि ॥ ३ ॥

'नमुचे ! तुम रस्सियोंसे बाँधे गये, राज्यसे भ्रष्ट हुए, शत्रुओंके वशमें पड़े और धन-सम्पत्तिसे वञ्चित हो गये। तुम्हें अपनी इस दुरवस्थापर शोक होता है या नहीं ?' ॥ ३ ॥

नमुचिरुवाच

अनिवार्येण शोकेन शरीरं चोपतप्यते।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति शोके नास्ति सहायता ॥ ४ ॥

नमुचिने कहा--देवराज ! यदि शोकको रोका न जाय तो उसके द्वारा शरीर संतप्त हो उठता है और शत्रु प्रसन्न होते हैं। शोकके द्वारा विपत्तिको दूर करनेमें भी कोई सहायता नहीं मिलती ॥ ४ ॥

तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत्।
संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते श्रियः ॥ ५ ॥
संतापाद् भ्रश्यते चायुर्धर्मश्चैव सुरेश्वर।

इन्द्र ! इसीलिये मैं शोक नहीं करता; क्योंकि यह सम्पूर्ण वैभव नाशवान् है। संताप करनेसे रूपका नाश होता है। संतापसे कान्ति फीकी पड़ जाती है और सुरेश्वर ! संतापसे आयु तथा धर्मका भी नाश होता है ॥ ५½ ॥

विनीय खलु तद् दुःखमागतं वैमनस्यजम् ॥ ६ ॥
ध्यातव्यं मनसा हृद्यं कल्याणं संविजानता।

अतः समझदार पुरुषको वैमनस्यके कारण प्राप्त दुःखका निवारण करके मन-ही-मन हृदयस्थित कल्याणमय परमात्माका चिन्तन करना चाहिये ॥ ६½ ॥

यदा यदा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः।
तदा तस्य प्रसिध्यन्ति सर्वार्था नात्र संशयः ॥ ७ ॥

पुरुष जब-जब कल्याणस्वरूप परमात्माके चिन्तनमें मन लगाता है, तब-तब उसके सारे मनोरथ सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता।
तेनानुयुक्तः प्रवणादिवोदकं
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ ८ ॥

जगत्का शासन करनेवाला एक ही है, दूसरा नहीं। वही शासक गर्भमें सोये हुए जीवका भी शासन करता है। जैसे जल निम्न स्थानकी ओर ही प्रवाहित होता है, उसी प्रकार प्राणी उस शासकसे प्रेरित होकर उसकी अभीष्ट दिशाको ही गमन करता है। उस ईश्वरकी जैसी प्रेरणा होती है, उसीके अनुसार मैं भी कार्यभार वहन करता हूँ ॥ ८ ॥

भवाभवौ त्वभिजानन् गरीयो
ज्ञानाच्छ्रेयो न तु तद् वै करोमि।

आशासु धर्म्यासु परासु कुर्वन्
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ ९ ॥

मैं प्राणियोंके अभ्युदय और पराभवको जानता हूँ। श्रेष्ठ तत्त्वसे भी परिचित हूँ और ज्ञानसे कल्याणकी प्राप्ति होती है, इस बातको भी समझता हूँ, तथापि उसका सम्पादन नहीं करता हूँ। इसके विपरीत धर्मसम्मत अथवा अधर्मयुक्त आशाएँ मनमें लेकर जैसी अन्तर्यामीकी प्रेरणा होती है, उसके अनुसार कार्यभार वहन करता हूँ ॥ ९ ॥

यथा यथास्य प्राप्तव्यं प्राप्नोत्येव तथा तथा।
भवितव्यं यथा यच्च भवत्येव तथा तथा ॥ १० ॥

पुरुषको जो वस्तु जिस प्रकार मिलनेवाली होती है, वह उस प्रकार मिल ही जाती है। जिस वस्तुकी जैसी होनहार होती है, वह वैसी होती ही है ॥ १० ॥

यत्र यत्रैव संयुक्तो धात्रा गर्भे पुनः पुनः।
तत्र तत्रैव वसति न यत्र स्वयमिच्छति ॥ ११ ॥

विधाता जिस-जिस गर्भमें रहनेके लिये जीवको बार-बार प्रेरित करते हैं, वह जीव उसी-उसी गर्भमें वास करता है; किंतु वह स्वयं जहाँ रहनेकी इच्छा करता है, वहाँ नहीं रह पाता है ॥ ११ ॥

भावो योऽयमनुप्राप्तो भवितव्यमिदं मम।
इति यस्य सदा भावो न स मुह्येत् कदाचन ॥ १२ ॥

मुझे जो यह अवस्था प्राप्त हुई है, ऐसी ही होनहार थी। जिसके हृदयमें सदा इस तरहकी भावना होती है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥ १२ ॥

पर्यायैर्हन्यमानानामभियोक्ता न विद्यते।
दुःखमेतत् तु यद् द्वेष्टा कर्ताहमिति मन्यते ॥ १३ ॥

कालक्रमसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखोंद्वारा जो लोग आहत होते हैं, उनके उस दुःखके लिये दूसरा कोई दोषी या अपराधी नहीं है। दुःख पानेका कारण तो यह है कि पुरुष वर्तमान दुःखसे द्वेष करके अपनेको उसका कर्ता मान बैठता है ॥ १३ ॥

ऋषींश्च देवांश्च महासुरांश्च
त्रैविद्यवृद्धांश्च वने मुनींश्च।
कानापदो नोपनमन्ति लोके
परावरज्ञास्तु न सम्भ्रमन्ति ॥ १४ ॥

ऋषि, देवता, बड़े-बड़े असुर, तीनों वेदोंके ज्ञानमें बढ़े हुए विद्वान् पुरुष तथा वनवासी मुनि—इनमेंसे किनके ऊपर संसारमें आपत्तियाँ नहीं आती हैं; परंतु जिन्हें सत्-असत्‌का विवेक है, वे मोह या भ्रममें नहीं पड़ते हैं ॥ १४ ॥

न पण्डितः क्रुद्ध्यति नाभिपद्यते
न चापि संसीदति न प्रहृष्यति।
न चार्थकृच्छ्रव्यसनेषु शोचते
स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥ १५ ॥

विद्वान् पुरुष कभी क्रोध नहीं करता, कहीं आसक्त नहीं होता, अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर दुःखसे व्याकुल नहीं होता और किसी प्रिय वस्तुको पाकर अत्यन्त हर्षित नहीं होता है। आर्थिक कठिनाई या संकटके समय भी वह शोकग्रस्त नहीं होता है; अपितु हिमालयके समान स्वभावसे ह अविचल बना रहता है ॥ १५ ॥

यमर्थसिद्धिः परमा न मोहयेत्
तथैव काले व्यसनं न मोहयेत्।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं
निषेवते यः स धुरंधरो नरः ॥ १६ ॥

जिसे उत्तम अर्थसिद्धि मोहमें नहीं डालती, इसी तरह जो कभी संकट पड़नेपर धैर्य या विवेकको खो नहीं बैठता तथा सुखका, दुःखका और दोनोंके बीचकी अवस्थाका समान भावसे सेवन करता है, वही महान् कार्यभारको सँभालनेवाला श्रेष्ठ पुरुष माना जाता है ॥ १६ ॥

यां यामवस्थां पुरुषोऽधिगच्छेत्
तस्यां रमेतापरितप्यमानः।
एवं प्रवृद्धं प्रणुदन्मनोजं
संतापनीयं सकलं शरीरात् ॥ १७ ॥

पुरुष जिस-जिस अवस्थाको प्राप्त हो, उसीमें उसे संतप्त न होकर आनन्द मानना चाहिये। इस प्रकार संतापजनक बढ़े हुए कामको अपने शरीर और मनसे पूर्णतः निकाल दे ॥ १७ ॥

न तत्सदः सत्परिषत् सभा च सा
प्राप्य यां न कुरुते सदा भयम्।
धर्मतत्त्वमवगाह्य बुद्धिमान्
योऽभ्युपैति स धुरंधरः पुमान् ॥ १८ ॥

न तो ऐसी कोई सभा है, न साधु-सत्पुरुषोंकी कोई परिषद् है और न कोई ऐसा जनसमाज ही है, जिसे पाकर कोई पुरुष कभी भय न करे। जो बुद्धिमान् धर्मतत्त्वमें अवगाहन करके उसीको अपनाता है, वही धुरंधर माना गया है ॥ १८ ॥

प्राज्ञस्य कर्माणि दुरन्वयानि
न वै प्राज्ञो मुह्यति मोहकाले।
स्थानाच्च्युतश्चेन्न मुमोह गौतम-
स्तावत् कृच्छ्रामापदं प्राप्य वृद्धः॥ १९॥

विद्वान् पुरुषके सारे कार्य साधारण लोगोंके लिये दुर्बोध होते हैं। विद्वान् पुरुष मोहके अवसरपर भी मोहित नहीं होता। जैसे वृद्ध गौतममुनि अत्यन्त कष्टजनक विपत्तिमें पड़कर और पदच्युत होकर भी मोहित नहीं हुए॥ १९॥

न मन्त्रबलवीर्येण प्रज्ञया पौरुषेण च।
न शीलेन न वृत्तेन तथा नैवार्थसम्पदा।
अलभ्यं लभते मर्त्यस्तत्र का परिदेवना॥ २०॥

जो वस्तु नहीं मिलनेवाली होती है, उसको कोई मनुष्य मन्त्र, बल, पराक्रम, बुद्धि, पुरुषार्थ, शील, सदाचार और धन-सम्पत्तिसे भी नहीं पा सकता; फिर उसके लिये शोक क्यों किया जाय?॥ २०॥

यदेवमनुजातस्य धातारो विदधुः पुरा।
तदेवानुचरिष्यामि किं मे मृत्युः करिष्यति॥ २१॥

पूर्वकालमें विधाताने मेरे लिये जैसा विधान रच दिया है, मैं जन्मके पश्चात् उसीका अनुसरण करता आया हूँ और आगे भी करूँगा; अतः मृत्यु मेरा क्या करेगी?॥ २१॥

लब्धव्यान्येव लभते गन्तव्यान्येव गच्छति।
प्राप्तव्यान्येव चाप्नोति दुःखानि च सुखानि च॥ २२॥

मनुष्यको प्रारब्धके विधानसे जो कुछ पाना है, उसे वह पाता है। जहाँ जाना है, वहीं वह जाता है और जो सुख या दुःख उसके लिये प्राप्तव्य हैं, उन्हें वह प्राप्त करता है॥ २२॥

एतद् विदित्वा कार्त्स्न्येन यो न मुह्यति मानवः।
कुशली सर्वदुःखेषु स वै सर्वधनो नरः॥ २३॥

यह पूर्णरूपसे जानकर जो मनुष्य कभी मोहित नहीं होता है, वह सब प्रकारके दुःखोंमें सकुशल रहता है। वही हर तरहसे धनवान् है॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शक्रनमुचिसंवादो नाम षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें इन्द्र और नमुचिका संवादनामक दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२६॥

सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और बलिका संवाद—काल और प्रारब्धकी महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे किं श्रेयः पुरुषस्य हि।
बन्धुनाशे महीपाल राज्यनाशेऽथवा पुनः॥ १॥
त्वं हि नः परमो वक्ता लोकेऽस्मिन् भरतर्षभ।
एतद् भवन्तं पृच्छामि तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि॥ २॥

युधिष्ठिरने पूछा—भूपाल! जो मनुष्य बन्धु-बान्धवोंका अथवा राज्यका नाश हो जानेपर घोर संकटमें पड़ गया हो, उसके कल्याणका क्या उपाय है? भरतश्रेष्ठ! इस संसारमें आप ही हमारे लिये सबसे श्रेष्ठ वक्ता हैं; इसलिये यह बात आपसे ही पूछता हूँ। आप यह सब मुझे बतानेकी कृपा करें॥ १-२॥

भीष्म उवाच

पुत्रदारैः सुखैश्चैव वियुक्तस्य धनेन वा।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे धृतिः श्रेयस्करी नृप॥ ३॥
धैर्येण युक्तस्य सतः शरीरं न विशीर्यते।

भीष्मजीने कहा—राजा युधिष्ठिर! जिसके स्त्री-पुत्र मर गये हों, सुख छिन गया हो अथवा धन नष्ट हो गया हो और इन कारणोंसे जो कठिन विपत्तिमें फँस गया हो, उसका तो धैर्य धारण करनेमें ही कल्याण है। जो धैर्यसे युक्त है, उस सत्पुरुषका शरीर चिन्ताके कारण जीर्ण नहीं होता॥ ३½॥

विशोकता सुखं धत्ते धत्ते चारोग्यमुत्तमम्॥ ४॥
आरोग्याच्च शरीरस्य स पुनर्विन्दते श्रियम्।

शोकहीनता सुख और उत्तम आरोग्यका उत्पादन करती है, शरीरके नीरोग होनेसे मनुष्य फिर धन-सम्पत्तिका उपार्जन कर लेता है॥ ४½॥

यश्च प्राज्ञो नरस्तात सात्त्विकीं वृत्तिमास्थितः॥ ५॥
तस्यैश्वर्यं च धैर्यं च व्यवसायश्च कर्मसु।

तात! जो बुद्धिमान् मनुष्य सदा सात्त्विक वृत्तिका सहारा लिये रहता है। उसीको ऐश्वर्य और धैर्यकी प्राप्ति होती है तथा वही सम्पूर्ण कर्मोंमें उद्योगशील होता है॥ ५½॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ ६ ॥
बलिवासवसंवादं पुनरेव युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर ! इस विषयमें पुनः बलि और इन्द्रके संवाद-रूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ ६½ ॥

वृत्ते देवासुरे युद्धे दैत्यदानवसंक्षये ॥ ७ ॥
विष्णुक्रान्तेषु लोकेषु देवराजे शतक्रतौ ।
इज्यमानेषु देवेषु चातुर्वर्ण्ये व्यवस्थिते ॥ ८ ॥
समृध्यमाने त्रैलोक्ये प्रीतियुक्ते स्वयम्भुवि ।

पूर्वकालमें जब दैत्यों और दानवोंका संहार करनेवाला देवासुर-संग्राम समाप्त हो गया, वामनरूपधारी भगवान् विष्णुने अपने पैरोंसे तीनों लोकोंको नाप लिया और सौ यज्ञों-का अनुष्ठान करनेवाले इन्द्र जब देवताओंके राजा हो गये, तब देवताओंकी सब ओर आराधना होने लगी । चारों वर्णोंके लोग अपने-अपने धर्ममें स्थित रहने लगे । तीनों लोकोंका अभ्युदय होने लगा और सबको सुखी देखकर स्वयम्भू ब्रह्माजी अत्यन्त प्रसन्न रहने लगे ॥ ७-८½ ॥

रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यामपि चर्षिभिः ॥ ९ ॥
गन्धर्वैर्भुजगेन्द्रैश्च सिद्धैश्चान्यैर्वृतः प्रभुः ।
चतुर्दन्तं सुदान्तं च वारणेन्द्रं श्रिया वृतम् ।
आरुह्यैरावतं शक्रस्त्रैलोक्यमनुसंययौ ॥ १० ॥

उन्हीं दिनोंकी बात है, देवराज इन्द्र अपने ऐरावत नामक गजराजपर, जो चार सुन्दर दाँतोंसे सुशोभित और दिव्य शोभासे सम्पन्न था, आरूढ़ हो तीनों लोकोंमें भ्रमण करनेके लिये निकले । उस समय त्रिलोकीनाथ इन्द्र रुद्र, वसु, आदित्य, अश्विनीकुमार, ऋषिगण, गन्धर्व, नाग, सिद्ध तथा विद्याधरों आदिसे घिरे हुए थे ॥ ९-१० ॥

स कदाचित् समुद्रान्ते कस्मिंश्चिद् गिरिगह्वरे ।
बलिं वैरोचनिं वज्री ददर्शोपससर्प च ॥ ११ ॥

घूमते-घूमते वे किसी समय समुद्रतटपर जा पहुँचे । वहाँ किसी पर्वतकी गुफामें उन्हें विरोचनकुमार बलि दिखायी दिये । उन्हें देखते ही इन्द्र हाथमें वज्र लिये उनके पास जा पहुँचे ॥ ११ ॥

तमैरावतमूर्धस्थं प्रेक्ष्य देवगणैर्वृतम् ।
सुरेन्द्रमिन्द्रं दैत्येन्द्रो न शुशोच न विव्यथे ॥ १२ ॥

देवताओंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रको ऐरावतकी पीठपर बैठे देख दैत्यराज बलिके मनमें तनिक भी शोक या व्यथा नहीं हुई ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा तमविकारस्थं तिष्ठन्तं निर्भयं बलिम् ।
अधिरूढो द्विपश्रेष्ठमित्युवाच शतक्रतुः ॥ १३ ॥

उन्हें निर्भय और निर्विकार होकर खड़ा देख श्रेष्ठ गज-राजपर चढ़े हुए शतक्रतु इन्द्रने उनसे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

दैत्य न व्यथसे शौर्यादथवा वृद्धसेवया ।
तपसा भावितत्वाद् वा सर्वथैतत् सुदुष्करम् ॥ १४ ॥

'दैत्य ! तुम्हें अपने शत्रुकी समृद्धि देखकर व्यथा क्यों नहीं होती ? क्या शौर्यसे अथवा बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेसे या तपस्यासे अन्तःकरण शुद्ध हो जानेके कारण तुम्हें शोक नहीं होता है ? साधारण पुरुषके लिये तो यह धैर्य सर्वथा परम दुष्कर है ॥ १४ ॥

शत्रुभिर्वशमानीतो हीनः स्थानादनुत्तमात् ।
वैरोचने किमाश्रित्य शोचितव्ये न शोचसि ॥ १५ ॥

'विरोचनकुमार ! तुम शत्रुओंके वशमें पड़े और उत्तम स्थान (राज्य) से भ्रष्ट हुए—इस प्रकार शोचनीय दशामें पड़कर भी तुम किस बलका सहारा लेकर शोक नहीं करते हो ? ॥ १५ ॥

श्रैष्ठ्यं प्राप्य स्वजातीनां महाभोगाननुत्तमान् ।
हृतस्वरत्नराज्यस्त्वं ब्रूहि कस्मान्न शोचसि ॥ १६ ॥

'तुमने अपने जाति-भाइयोंमें सबसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया था और परम उत्तम महान् भोगोंपर अधिकार जमा रक्खा था; किंतु इस समय तुम्हारे रत्न और राज्यका अपहरण हो गया है, तो भी बताओ, तुम्हें शोक क्यों नहीं होता है ? ॥

ईश्वरो हि पुरा भूत्वा पितृपैतामहे पदे ।
तत्त्वमद्य हृतं दृष्ट्वा सपत्नैः किं न शोचसि ॥ १७ ॥

'पहले तो तुम अपने बाप-दादोंके राज्यपर बैठकर तीनों लोकोंके ईश्वर बने हुए थे । अब उस राज्यको शत्रुओंने छीन लिया; यह देखकर भी तुम्हें शोक क्यों नहीं होता है ? ॥ १७ ॥

बद्धश्च वारुणैः पाशैर्वज्रेण च समाहतः ।
हृतदारो हृतधनो ब्रूहि कस्मान्न शोचसि ॥ १८ ॥

'तुम्हें वरुणके पाशसे बाँधा गया, वज्रसे घायल किया गया तथा तुम्हारी स्त्री और धनका भी अपहरण कर लिया गया; फिर भी बोलो, तुम्हें शोक कैसे नहीं होता है ? ॥ १८ ॥

नष्टश्रीर्विभवभ्रष्टो यन्न शोचसि दुष्करम् ।
त्रैलोक्यराज्यनाशे हि कोऽन्यो जीवितुमुत्सहेत् ॥ १९ ॥

'तुम्हारी राज्यलक्ष्मी नष्ट हो गयी । तुम अपने धन-वैभव-से हाथ धो बैठे । इतनेपर भी जो तुम्हें शोक नहीं होता है, यह दूसरोंके लिये बड़ा कठिन है । तीनों लोकोंका राज्य नष्ट हो जानेपर भी तुम्हारे सिवा दूसरा कौन जीवित रहनेके लिये उत्साह दिखा सकता है ? ॥ १९ ॥

पतच्चान्यच्च परुषं ब्रुवन्तं परिभूय तम्।
श्रुत्वा सुखमसम्भ्रान्तो बलिर्वैरोचनोऽब्रवीत्॥ २०॥

ये तथा और भी बहुत-सी कठोर बातें सुनाकर इन्द्रने बलिका तिरस्कार किया। विरोचनकुमार बलिने वे सारी बातें बड़े आनन्दसे सुन लीं और मनमें तनिक भी घबराहट न लाकर उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया॥ २०॥

बलिरुवाच

निगृहीते मयि भृशं शक्र किं कत्थितेन ते।
वज्रमुद्यम्य तिष्ठन्तं पश्यामि त्वां पुरंदर॥ २१॥

बलिने कहा—इन्द्र! जब मैं शत्रुओं अथवा कालके द्वारा भलीभाँति बन्दी बना लिया गया हूँ, तब मेरे सामने इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनानेसे तुम्हें क्या लाभ होगा? पुरंदर! मैं देखता हूँ, आज तुम वज्र उठाये मेरे सामने खड़े हो॥

अशक्तः पूर्वमासीस्त्वं कथञ्चिच्छक्ततां गतः।
कस्त्वदन्य इमां वाचं सुक्रूरां वक्तुमर्हति॥ २२॥

किंतु पहले तुममें ऐसा करनेकी शक्ति नहीं थी। अब किसी तरह शक्ति आ गयी है। तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा अत्यन्त क्रूर वचन कह सकता है?॥ २२॥

यस्तु शत्रोर्वशस्थस्य शक्तोऽपि कुरुते दयाम्।
हस्तप्राप्तस्य वीरस्य तं चैव पुरुषं विदुः॥ २३॥

जो शक्तिशाली होकर भी अपने वशमें पड़े हुए अथवा हाथमें आये हुए वीर शत्रुपर दया करता है, उसे अच्छे लोग उत्तम पुरुष मानते हैं॥ २३॥

अनिश्चयो हि युद्धेषु द्वयोर्विवदमानयोः।
एकः प्राप्नोति विजयमेकश्चैव पराजयम्॥ २४॥

जब दो व्यक्तियोंमें विवाद एवं युद्ध छिड़ जाता है, तब किसकी जीत होगी—इसका कोई निश्चय नहीं रहता है। उनमेंसे एक पक्ष विजयी होता है और दूसरेको पराजय प्राप्त होती है॥ २४॥

मा च तेऽभूत् स्वभावोऽयमिति ते देवपुङ्गव।
ईश्वरः सर्वभूतानां विक्रमेण जितो बलात्॥ २५॥

इसलिये देवराज! तुम्हारा स्वभाव ऐसा न हो, तुम ऐसा न समझ लो कि मैंने अपने बल और पराक्रमसे ही समस्त प्राणियोंके स्वामी मुझ बलिपर विजय पायी है॥ २५॥

नैतदस्मत्कृतं शक्र नैतच्छक्र कृतं त्वया।
यत् त्वमेवंगतो वज्रिन् यद्वाप्येवंगता वयम्॥ २६॥

वज्रधारी इन्द्र! आज जो तुम इस प्रकार राज-वैभवसे सम्पन्न हो अथवा हमलोग जो इस दीन दशाको पहुँच गये हैं, यह सब न तो तुम्हारा किया हुआ है और न हमारा ही किया हुआ है॥ २६॥

अहमासं यथाद्य त्वं भविता त्वं यथा वयम्।
मावमंस्था मया कर्म दुष्कृतं कृतमित्युत॥ २७॥

आज जैसे तुम हो, कभी मैं भी ऐसा ही था और इस समय जिस दशामें हमलोग पड़े हुए हैं, कभी तुम्हारी भी वैसी ही अवस्था होगी; अतः तुम यह समझकर कि मैंने बड़ा दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है, मेरा अपमान न करो॥ २७॥

सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणाधिगच्छति।
पर्यायेणासि शक्रत्वं प्राप्तः शक्र न कर्मणा॥ २८॥

प्रत्येक पुरुष बारी-बारीसे सुख और दुःख पाता है। इन्द्र! तुम भी अपने पराक्रमसे नहीं, कालक्रमसे ही इन्द्र-पदको प्राप्त हुए हो॥ २८॥

कालः काले नयति मां त्वां च कालो नयत्ययम्।
तेनाहं त्वं यथा नाद्य त्वं चापि न यथा वयम्॥ २९॥

काल ही मुझे कुसमयकी ओर ले जा रहा है और काल ही तुम्हें अच्छे दिन दिखा रहा है; इसलिये आज जैसे तुम हो, वैसा मैं नहीं हूँ और जैसे हमलोग हैं, वैसे तुम नहीं हो॥ २९॥

न मातृपितृशुश्रूषा न च दैवतपूजनम्।
नान्यो गुणसमाचारः पुरुषस्य सुखावहः॥ ३०॥

माता-पिताकी सेवा, देवताओंकी पूजा तथा अन्य सद्गुणयुक्त सदाचार भी बुरे दिनोंमें किसी पुरुषके लिये सुखदायक नहीं होता है॥ ३०॥

न विद्या न तपो दानं न मित्राणि न बान्धवाः।
शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम्॥ ३१॥

कालसे पीड़ित हुए मनुष्यको न विद्या, न तप, न दान, न मित्र और न बन्धु-बान्धव ही कष्टसे बचा पाते हैं।

नागामिनमनर्थं हि प्रतिघातशतैरपि।
शक्नुवन्ति प्रतिव्योढुमृते बुद्धिबलान्नराः॥ ३२॥

मनुष्य बुद्धि-बलके सिवा और किसी उपायसे सैकड़ों आघात करके भी आनेवाले अनर्थको नहीं रोक सकते॥ ३२॥

पर्यायैर्हन्यमानानां परित्राता न विद्यते।
इदं तु दुःखं यच्छक्र कर्ताहमिति मन्यसे॥ ३३॥

कालक्रमसे जिनपर आघात होता है—स्वयं काल जिन्हें पीड़ा देता है, उनकी रक्षा कोई नहीं कर सकता। शक्र! तुम जो अपनेको इस परिस्थितिका कर्ता मानते हो, यही तुम्हारे लिये दुःखकी बात है॥ ३३॥

यदि कर्ता भवेत् कर्ता न क्रियेत कदाचन।
यस्मात्तु क्रियते कर्ता तस्मात् कर्ताप्यनीश्वरः॥ ३४॥

यदि कार्य करनेवाला पुरुष स्वयं ही कर्ता होता

उसको उत्पन्न करनेवाला दूसरा कोई कभी न होता। वह दूसरेके द्वारा उत्पन्न किया जाता है; इसलिये कालके सिवा दूसरा कोई कर्ता नहीं है ॥ ३४ ॥

कालेनाहं त्वामजयं कालेनाहं जितस्त्वया।
गन्ता गतिमतां कालः कालः कलयति प्रजाः ॥ ३५ ॥

कालकी सहायता पाकर मैंने तुमपर विजय पायी थी और कालके ही सहयोगसे अब तुमने मुझे पराजित कर दिया है। काल ही जानेवाले प्राणियोंके साथ जाता या उन्हें गमनकी शक्ति प्रदान करता है और वही समस्त प्रजाका संहार करता है ॥ ३५ ॥

इन्द्र प्राकृतया बुद्ध्या प्रलयं नावबुद्ध्यसे।
केचित् त्वां बहु मन्यन्ते श्रैष्ठ्यं प्राप्तं स्वकर्मणा ॥ ३६ ॥

इन्द्र ! तुम्हारी बुद्धि साधारण है; इसलिये उसके द्वारा तुम एक-न-एक दिन अवश्य होनेवाले अपने विनाशकी बात नहीं समझ पाते। संसारमें कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो तुम्हें अपने ही पराक्रमसे श्रेष्ठताको प्राप्त हुआ मानते और तुम्हें अधिक महत्त्व देते हैं ॥ ३६ ॥

कथमस्मद्विधो नाम जानँल्लोकप्रवृत्तयः।
कालेनाभ्याहतः शोचेन्मुह्येद् वाप्यथ विभ्रमेत् ॥ ३७ ॥

किंतु मेरे-जैसा पुरुष जो जगत्‌की प्रवृत्तिको जानता है—उन्नति और अवनतिका कारण काल—प्रारब्ध ही है; ऐसा समझता है, वह तुम्हें महत्त्व कैसे दे सकता है ? जो कालसे पीड़ित है, वह प्राणी शोकग्रस्त, मोहित अथवा भ्रान्त भी हो सकता है ॥ ३७ ॥

नित्यं कालपरीतस्य मम वा मद्विधस्य वा।
बुद्धिर्व्यसनमासाद्य भिन्ना नौरिव सीदति ॥ ३८ ॥

मैं होऊँ या मेरे-जैसा दूसरा कोई पुरुष हो। जब काल (प्रारब्ध) से आक्रान्त हो जाता है, तब सदा ही उसकी बुद्धि संकटमें पड़कर फटी हुई नौकाके समान शिथिल हो जाती है ॥ ३८ ॥

अहं च त्वं च ये चान्ये भविष्यन्ति सुराधिपाः।
ते सर्वे शक्र यास्यन्ति मार्गमिन्द्रशतैर्गतम् ॥ ३९ ॥

इन्द्र ! मैं, तुम या और जो लोग भी देवेश्वरके पदपर प्रतिष्ठित होंगे, वे सब-के-सब उसी मार्गपर जायँगे, जिसपर पहलेके सैकड़ों इन्द्र जा चुके हैं ॥ ३९ ॥

त्वामप्येवं सुदुर्धर्षं ज्वलन्तं परया श्रिया।
काले परिणते कालः कालयिष्यति मामिव ॥ ४० ॥

यद्यपि आज तुम इस प्रकार दुर्धर्ष हो और अत्यन्त तेजसे प्रज्वलित हो रहे हो; किंतु जब समय परिवर्तित होगा, अर्थात् जब तुम्हारा प्रारब्ध खराब होगा, तब मेरी ही भाँति तुम्हें भी काल अपना शिकार बना लेगा—इन्द्रपदसे भ्रष्ट कर देगा ॥ ४० ॥

बहूनीन्द्रसहस्राणि दैवतानां युगे युगे।
अभ्यतीतानि कालेन कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ४१ ॥

युग-युगमें (प्रत्येक मन्वन्तरमें) इन्द्रोंका परिवर्तन होनेके कारण अबतक देवताओंके अनेक सहस्र इन्द्र कालके गालमें चले गये हैं; अतः कालका उल्लङ्घन करना किसीके लिये अत्यन्त कठिन है ॥ ४१ ॥

इदं तु लब्ध्वा संस्थानमात्मानं बहु मन्यसे।
सर्वभूतभवं देवं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ॥ ४२ ॥
न चेदमचलं स्थानमनन्तं वापि कस्यचित्।
त्वं तु बालिशया बुद्ध्या ममेदमिति मन्यसे ॥ ४३ ॥

तुम इस शरीरको पाकर समस्त प्राणियोंको जन्म देनेवाले सनातन देव भगवान् ब्रह्माजीकी भाँति अपनेको बहुत बड़ा मानते हो; किंतु तुम्हारा यह इन्द्रपद आजतक (किसीके लिये भी) अविचल या अनन्त कालतक रहनेवाला नहीं सिद्ध हुआ—इसपर कितने ही आये और चले गये। केवल तुम्हीं अपनी मूढ़बुद्धिके कारण इसे अपना मानते हो ॥ ४२-४३ ॥

अविश्वस्ते विश्वसिषि मन्यसे वाध्रुवे ध्रुवम्।
नित्यं कालपरीतात्मा भवत्येवं सुरेश्वर ॥ ४४ ॥

देवेश्वर ! नाशवान् होनेके कारण जो विश्वासके योग्य नहीं है, उस राज्यपर तुम विश्वास करते हो और जो अस्थिर है, उसे स्थिर मानते हो; किंतु इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि कालने जिसके हृदयपर अधिकार कर लिया हो, वह सदा ऐसी ही विपरीत भावनासे भावित होता है ॥ ४४ ॥

ममेयमिति मोहात् त्वं राजश्रियमभीप्ससि।
नेयं तव न चास्माकं न चान्येषां स्थिरा सदा॥ ४५ ॥

तुम मोहवश जिस राजलक्ष्मीको 'यह मेरी है' ऐसा समझकर पाना चाहते हो, वह न तुम्हारी है, न हमारी है और न दूसरोंकी ही है। वह किसीके पास भी सदा स्थिर नहीं रहती ॥ ४५ ॥

अतिक्रम्य बहूनन्यांस्त्वयि तावदियं गता।
कंचित् कालमियं स्थित्वा त्वयि वासव चञ्चला॥ ४६ ॥
गौर्निपानमिवोत्सृज्य पुनरन्यं गमिष्यति।

वासव ! यह चञ्चला राजलक्ष्मी दूसरे बहुत-से राजाओं-को लाँघकर इस समय तुम्हारे पास आयी है और कुछ कालतक तुम्हारे यहाँ ठहरकर फिर उसी तरह दूसरेके पास

चली जायगी, जैसे गौ जल पीनेके स्थानका परित्याग करके चली जाती है ॥ ४६½ ॥

राजलोका ह्यतिक्रान्ता यान्न संख्यातुमुत्सहे ॥ ४७ ॥
त्वत्तो बहुतराश्चान्ये भविष्यन्ति पुरंदर ।

पुरंदर ! अबतक इसने जितने राजाओंका परित्याग किया है, उनकी गणना मैं नहीं कर सकता। तुम्हारे बाद भी बहुत-से नरेश इसके अधिकारी होंगे ॥ ४७½ ॥

सवृक्षौषधिरत्नेयं ससत्त्ववनाकरा ॥ ४८ ॥
तानिदानीं न पश्यामि यैर्भुक्तेयं पुरा मही ।

जिन लोगोंने पहले वृक्ष, ओषधि, रत्न, जीव-जन्तु, वन और खानोंसहित इस सारी पृथ्वीका उपभोग किया है, उन सबको मैं इस समय नहीं देखता हूँ ॥ ४८½ ॥

पृथुरैलो मयो भीमो नरकः शम्बरस्तथा ॥ ४९ ॥
अश्वग्रीवः पुलोमा च स्वर्भानुरमितध्वजः ।
प्रह्लादो नमुचिर्दक्षो विप्रचित्तिर्विरोचनः ॥ ५० ॥
ह्रीनिषेवः सुहोत्रश्च भूरिहा पुष्पवान् वृषः ।
सत्येषुर्ऋषभो बाहुः कपिलाश्वो विरूपकः ॥ ५१ ॥
बाणः कार्तस्वरो वह्निर्विश्वदंष्ट्रोऽथ नैर्ऋतिः ।
संकोचोऽथ वरीताक्षो वराहाश्वो रुचिप्रभः ॥ ५२ ॥
विश्वजित् प्रतिरूपश्च वृषाण्डो विष्करो मधुः ।
हिरण्यकशिपुश्चैव कैटभश्चैव दानवः ॥ ५३ ॥
दैतेया दानवाश्चैव सर्वे ते नैर्ऋतैः सह ।
एते चान्ये च बहवः पूर्वे पूर्वतराश्च ये ॥ ५४ ॥
दैत्येन्द्रा दानवेन्द्राश्च यांश्चान्याननुशुश्रुम ।
बहवः पूर्वदैत्येन्द्राः संत्यज्य पृथिवीं गताः ॥ ५५ ॥
कालेनाभ्याहताः सर्वे कालो हि बलवत्तरः ।

पृथु, इलानन्दन पुरूरवा, मय, भीम, नरकासुर, शम्बरासुर, अश्वग्रीव, पुलोमा, स्वर्भानु, अमितध्वज, प्रह्लाद, नमुचि, दक्ष, विप्रचित्ति, विरोचन, ह्रीनिषेव, सुहोत्र, भूरिहा, पुष्पवान्, वृष, सत्येषु, ऋषभ, बाहु, कपिलाश्व, विरूपक, बाण, कार्तस्वर, वह्नि, विश्वदंष्ट्र, नैर्ऋति, संकोच, वरीताक्ष, वराहाश्व, रुचिप्रभ, विश्वजित्, प्रतिरूप, वृषाण्ड, विष्कर, मधु, हिरण्यकशिपु और कैटभ—ये तथा और भी बहुत-से दैत्य, दानव एवं राक्षस सभी इस पृथ्वीके स्वामी हो चुके हैं। पहलेके और बहुत पहलेके ये पूर्वोक्त तथा अन्य अनेक दैत्यराज, दानवराज एवं दूसरे-दूसरे नरेश जिनका नाम हमलोग सुनते आ रहे हैं, कालसे पीड़ित हो सभी इस पृथ्वीको छोड़कर चले गये; क्योंकि काल ही सबसे बड़ा बलवान् है ॥ ४९–५५½ ॥

सर्वैः क्रतुशतैरिष्टं न त्वमेकः शतक्रतुः ॥ ५६ ॥
सर्वे धर्मपराश्चासन् सर्वे सततसत्रिणः ।
अन्तरिक्षचराः सर्वे सर्वेऽभिमुखयोधिनः ॥ ५७ ॥

केवल तुमने ही सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया हो, ऐसी बात नहीं है। उन सभी राजाओंने सौ-सौ यज्ञ किये थे। सभी धर्मपरायण थे और सभी निरन्तर यज्ञमें संलग्न रहते थे। वे सभी आकाशमें विचरनेकी शक्ति रखते थे और युद्धमें शत्रुके सामने डटकर लोहा लेनेवाले थे ॥ ५६-५७ ॥

सर्वे संहननोपेताः सर्वे परिघबाहवः ।
सर्वे मायाशतधराः सर्वे ते कामरूपिणः ॥ ५८ ॥

वे सब-के-सब सुदृढ़ शरीरसे सुशोभित होते थे। उन सबकी भुजाएँ परिघ (लोहदण्ड) के समान मोटी और मजबूत थीं। वे सभी सैकड़ों माया जानते और इच्छानुसार रूप धारण करते थे ॥ ५८ ॥

सर्वे समरमासाद्य न श्रूयन्ते पराजिताः ।
सर्वे सत्यव्रतपराः सर्वे कामविहारिणः ॥ ५९ ॥

वे सब लोग समराङ्गणमें पहुँचकर कभी पराजित होते नहीं सुने गये थे। सभी सत्यव्रतका पालन करनेमें तत्पर और इच्छानुसार विहार करनेवाले थे ॥ ५९ ॥

सर्वे वेदव्रतपराः सर्वे चैव बहुश्रुताः ।
सर्वे सम्मतमैश्वर्यमीश्वराः प्रतिपेदिरे ॥ ६० ॥

सभी वेदोक्त व्रतको धारण करनेवाले और बहुश्रुत विद्वान् थे। सभी लोकेश्वर थे और सबने मनोवाञ्छित ऐश्वर्य प्राप्त किया था ॥ ६० ॥

न चैश्वर्यमदस्तेषां भूतपूर्वो महात्मनाम् ।
सर्वे यथार्हदातारः सर्वे विगतमत्सराः ॥ ६१ ॥

उन महामना नरेशोंको पहले कभी भी ऐश्वर्यका मद नहीं हुआ था। वे सब-के-सब यथायोग्य दान करनेवाले और ईर्ष्या-द्वेषसे रहित थे ॥ ६१ ॥

सर्वे सर्वेषु भूतेषु यथावत् प्रतिपेदिरे ।
सर्वे दाक्षायणीपुत्राः प्राजापत्या महाबलाः ॥ ६२ ॥

वे सभी सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ यथायोग्य बर्ताव करते थे। उन सबका जन्म दक्ष-कन्याओंके गर्भसे हुआ था और वे सभी महाबलशाली वीर प्रजापति कश्यपकी संतान थे।

ज्वलन्तः प्रतपन्तश्च कालेन प्रतिसंहृताः ।
त्वं चैवेमां यदा भुक्त्वा पृथिवीं त्यक्षसे पुनः ॥ ६३ ॥
न शक्ष्यसि तदा शक्र नियन्तुं शोकमात्मनः ।

इन्द्र ! वे सभी नरेश अपने तेजसे प्रज्वलित होनेवाले और प्रतापी थे, किंतु कालने उन सबका संहार कर दिया।

तुम जब इस पृथ्वीका उपभोग करके पुनः इसे छोड़ोगे, तब अपने शोकको रोकनेमें समर्थ न हो सकोगे ॥ ६३½ ॥

मुञ्चेच्छां कामभोगेषु मुञ्चेमं श्रीभवं मदम् ॥ ६४ ॥
एवं स्वराज्यनाशे त्वं शोकं सम्प्रसहिष्यसि ।

तुम काम-भोगकी इच्छाको छोड़ो और राजलक्ष्मीके इस मदको त्याग दो । इस दशामें यदि तुम्हारे राज्यका नाश हो जाय तो तुम उस शोकको सह सकोगे ॥ ६४½ ॥

शोककाले शुचो मा त्वं हर्षकाले च मा हृषः ॥ ६५ ॥
अतीतानागतं हित्वा प्रत्युत्पन्नेन वर्तय ।

तुम शोकका अवसर आनेपर शोक न करो और हर्षके समय हर्षित मत होओ । भूत और भविष्यकी चिन्ता छोड़कर वर्तमान कालमें जो वस्तु उपलब्ध हो, उसीसे जीवन-निर्वाह करो ॥ ६५½ ॥

मां चेदभ्यागतः कालः सदा युक्तमतन्द्रितः ॥ ६६ ॥
क्षमस्व नचिरादिन्द्र त्वामप्युपगमिष्यति ।

इन्द्र ! मैं सदा सावधान रहता था, तथापि कभी आलस्य न करनेवाले कालका यदि मुझपर आक्रमण हो गया तो तुमपर भी शीघ्र ही उस कालका आक्रमण होगा । इस कटु सत्यके लिये मुझे क्षमा करना ॥ ६६½ ॥

त्रासयन्निव देवेन्द्र वाग्भिस्तक्षसि मामिह ॥ ६७ ॥
संयते मयि नूनं त्वमात्मानं बहु मन्यसे ।

देवेन्द्र ! इस समय भयभीत करते हुए-से तुम यहाँ अपने वाग्बाणोंसे मुझे छेदे डालते हो । मैं अपनेको संयममें रखकर शान्त बैठा हूँ; इसीलिये अवश्य तुम अपनेको बहुत बड़ा समझने लगे हो ॥ ६७½ ॥

कालः प्रथममायान्मां पश्चात् त्वामनुधावति ॥ ६८ ॥
तेन गर्जसि देवेन्द्र पूर्वं कालहते मयि ।

देवराज ! जिस कालका पहले मुझपर धावा हुआ है, वही पीछे तुमपर भी चढ़ाई करेगा । मैं पहले कालसे पीड़ित हो गया हूँ; इसीलिये तुम सामने खड़े होकर गरज रहे हो ॥

को हि स्थातुमलं लोके मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥ ६९ ॥
कालस्तु बलवान् प्राप्तस्तेन तिष्ठसि वासव ।

अन्यथा संसारमें कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें कुपित होनेपर मेरे सामने ठहर सके । इन्द्र ! बलवान् काल (अदृष्ट) ने मुझपर आक्रमण किया है, इसीसे तुम मेरे सम्मुख खड़े हुए हो ॥ ६९½॥

यत् तद् वर्षसहस्रान्तं पूर्णं भवितुमर्हति ॥ ७० ॥
यथा मे सर्वगात्राणि न सुस्थानि महौजसः ।
अहमैन्द्राच्च्युतः स्थानात् त्वमिन्द्रः प्रकृतो दिवि॥ ७१॥

देवताओंका वह सहस्रों वर्षका समय अब पूरा होना ही चाहता है, जबतक कि तुम्हें इन्द्रके पदपर रहना है । कालके ही प्रभावसे मुझ महाबली वीरके अब सारे अङ्ग उतने स्वस्थ नहीं रह गये हैं । मैं इन्द्रपदसे गिरा दिया गया और तुम स्वर्गमें इन्द्र बना दिये गये ॥ ७०-७१ ॥

सुचित्रे जीवलोकेऽस्मिन्नुपास्यः कालपर्ययात् ।
किं हि कृत्वा त्वमिन्द्रोऽद्य किं वा कृत्वा वयं च्युताः॥ ७२॥

कालके उलट-फेरसे ही इस विचित्र जीवलोकमें तुम सबके आराध्य बन गये हो । भला बताओ तो तुम कौन-सा शुभ कर्म करके आज इन्द्र हो गये और हम कौन-सा अशुभ कर्म करके इन्द्रपदसे नीचे गिर गये ॥ ७२ ॥

कालः कर्ता विकर्ता च सर्वमन्यदकारणम् ।
नाशं विनाशमैश्वर्यं सुखं दुःखं भवाभवौ ॥ ७३ ॥
विद्वान् प्राप्यैवमत्यर्थं न प्रहृष्येन्न च व्यथेत् ।

काल (प्रारब्ध) ही सबकी उत्पत्ति और संहारका कर्ता है । दूसरी सारी वस्तुएँ इसमें कारण नहीं मानी जा सकतीं; अतः विद्वान् पुरुष नाश-विनाश, ऐश्वर्य, सुख-दुःख, अभ्युदय या पराभव पाकर न तो अत्यन्त हर्ष माने और न अधिक व्यथित ही हो ॥ ७३½ ॥

त्वमेव हीन्द्र वेत्थास्मान् वेदाहं त्वां च वासव॥ ७४ ॥
किं कत्थसे मां किं च त्वं कालेन निरपत्रपः ।

इन्द्र ! हम कैसे हैं, यह तुम्हीं अच्छी तरह जानते हो । वासव ! मैं तुम्हें भली-भाँति जानता हूँ; फिर भी तुम लज्जाको तिलाञ्जलि दे क्यों मेरे सामने व्यर्थ आत्मश्लाघा कर रहे हो । वास्तवमें काल ही यह सब कुछ करा रहा है ॥ ७४½ ॥

त्वमेव हि पुरा वेत्थ यत् तदा पौरुषं मम ॥ ७५ ॥
समरेषु च विक्रान्तं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।

पहले मैं जो पुरुषार्थ प्रकट कर चुका हूँ, उसको सबसे अधिक तुम्हीं जानते हो । कई बारके युद्धोंमें तुम मेरा पराक्रम देख चुके हो । इस समय एक ही दृष्टान्त देना काफी होगा॥

आदित्याश्चैव रुद्राश्च साध्याश्च वसुभिः सह॥ ७६ ॥
मया विनिर्जिताः पूर्वं मरुतश्च शचीपते ।
त्वमेव शक्र जानासि देवासुरसमागमे ॥ ७७ ॥

शचीवल्लभ इन्द्र ! पहले जब देवासुरसंग्राम हुआ था, उस समयकी बात तुम्हें अच्छी तरह याद होगी । मैंने अकेले ही समस्त आदित्यों, रुद्रों, साध्यों, वसुओं तथा मरुद्गणोंको परास्त किया था ॥ ७६-७७ ॥

समेता विबुधा भग्नास्तरसा समरे मया ।
पर्वताश्चासकृत् क्षिप्ताः सवनाः सवनौकसः ॥ ७८ ॥

सटङ्कशिखरा भग्नाः समरे मूर्ध्नि ते मया ।
किं नु शक्यं मया कर्तुं कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ७९ ॥

मेरे वेगसे सब देवता युद्धका मैदान छोड़कर एक साथ ही भाग खड़े हुए थे । वन एवं वनवासियोंसहित कितने ही पर्वत, मैंने बारंबार तुमलोगोंपर चलाये थे । तुम्हारे सिरपर भी सुदृढ़ पाषाण और शिखरोंसहित बहुत-से पर्वत मैंने फोड़ डाले थे; किंतु इस समय मैं क्या कर सकता हूँ; क्योंकि कालका उल्लङ्घन करना बहुत कठिन है ॥७८-७९॥

न हि त्वां नोत्सहे हन्तुं सवज्रमपि मुष्टिना ।
न तु विक्रमकालोऽयं क्षमाकालोऽयमागतः ॥ ८० ॥

तुम्हारे हाथमें वज्र रहनेपर भी मैं केवल मुक्केसे मारकर तुम्हें यमलोक न पहुँचा सकूँ, ऐसी बात नहीं है । किंतु मेरे लिये यह पराक्रम दिखानेका नहीं, क्षमा करनेका समय आया है ॥ ८० ॥

तेन त्वां मर्षये शक्र दुर्मर्षणतरस्त्वया ।
तं मां परिणते काले परीतं कालवह्निना ॥ ८१ ॥
नियतं कालपाशेन बद्धं शक्र विकत्थसे ।

इन्द्र ! यही कारण है कि मैं तुम्हारे सब अपराध चुपचाप सहे लेता हूँ । अब भी मेरा वेग तुम्हारे लिये अत्यन्त दुःसह है । किंतु जब समयने पलटा खाया है, कालरूपी अग्निने मुझे सब ओरसे घेर लिया है और मैं कालपाशसे निश्चितरूपसे बँध गया हूँ, तब तुम मेरे सामने खड़े होकर अपनी झूठी बड़ाई किये जा रहे हो ॥ ८१½ ॥

अयं स पुरुषः श्यामो लोकस्य दुरतिक्रमः ॥ ८२ ॥
बद्ध्वा तिष्ठति मां रौद्रः पशुं रशनया यथा ।

जैसे मनुष्य रस्सीसे किसी पशुको बाँध लेता है, उसी प्रकार यह भयंकर कालपुरुष मुझे अपने पाशमें बाँधे खड़ा है ॥ ८२½ ॥

लाभालाभौ सुखं दुःखं कामक्रोधौ भवाभवौ ॥ ८३ ॥
वधबन्धप्रमोक्षं च सर्वं कालेन लभ्यते ।

पुरुषको लाभ-हानि, सुख-दुःख, काम-क्रोध, अभ्युदय-पराभव, वध, कैद और कैदसे छुटकारा—यह सब काल (प्रारब्ध) से ही प्राप्त होते हैं ॥ ८३½ ॥

नाहं कर्ता न कर्ता त्वं कर्ता यस्तु सदा प्रभुः ॥ ८४ ॥
सोऽयं पचति कालो मां वृक्षे फलमिवागतम् ।

न मैं कर्ता हूँ, न तुम कर्ता हो । जो वास्तवमें सदा कर्ता है, वह सर्वसमर्थ काल वृक्षपर लगे हुए फलके समान मुझे पका रहा है ॥ ८४½ ॥

यान्येव पुरुषः कुर्वन् सुखैः कालेन युज्यते ॥ ८५ ॥
पुनस्तान्येव कुर्वाणो दुःखैः कालेन युज्यते ।

पुरुष कालका सहयोग पाकर जिन कर्मोंको करनेसे सु[illegible] होता है, कालका सहयोग न मिलनेसे पुनः उन्हीं क[illegible] करके वह दुःखका भागी होता है ॥ ८५½ ॥

न च कालेन कालज्ञः स्पृष्टः शोचितुमर्हति ॥ ८[illegible]
तेन शक्र न शोचामि नास्ति शोके सहायता ।

इन्द्र ! जो कालके प्रभावको जानता है, वह [illegible] आक्रान्त होकर भी शोक नहीं करता; क्योंकि विपत्ति [illegible] करनेमें शोकसे कोई सहायता नहीं मिलती, इसलिये [illegible] शोक नहीं करता हूँ ॥ ८६½ ॥

यदा हि शोचतः शोको व्यसनं नापकर्षति ॥ ८[illegible]
सामर्थ्यं शोचतो नास्तीत्यतोऽहं नाद्य शोचिमि ।

जब शोक करनेवाले पुरुषका शोक उसके संकटको [illegible] नहीं हटा पाता है, उलटे शोकग्रस्त मनुष्यकी शक्ति [illegible] हो जाती है, तब शोक क्यों किया जाय ? यही सोचक[illegible] शोक नहीं करता हूँ ॥ ८७½ ॥

एवमुक्तः सहस्राक्षो भगवान् पाकशासनः ॥ ८[illegible]
प्रतिसंहृत्य संरम्भमित्युवाच शतक्रतुः ।

बलिके ऐसा कहनेपर सहस्रनेत्रधारी पाकशासन [illegible] क्रतु भगवान् इन्द्रने अपने क्रोधको रोककर इस प्रकार कहा—

सवज्रमुद्यतं बाहुं दृष्ट्वा पाशांश्च वारुणान् ॥ ८[illegible]
कस्येह न व्यथेद् बुद्धिर्मृत्योरपि जिघांसतः ।
सा ते न व्यथते बुद्धिरचला तत्त्वदर्शिनी ॥ ९[illegible]

'दैत्यराज ! मेरे हाथको वज्र एवं वरुणपाशसहित [illegible] उठा देखकर मारनेकी इच्छासे आयी हुई मृत्युका भी [illegible] दहल जाता है; फिर दूसरा कौन है जिसकी बुद्धि व्यथित न[illegible] तुम्हारी बुद्धि तत्त्वको जाननेवाली और स्थिर है; इसलिये [illegible] भी विचलित नहीं होती है ॥ ८९-९० ॥

ध्रुवं न व्यथसेऽद्य त्वं धैर्यात् सत्यपराक्रम ।
को हि विश्वासमर्थेषु शरीरे वा शरीरभृत् ॥ ९[illegible]
कर्तुमुत्सहते लोके दृष्ट्वा सम्प्रस्थितं जगत् ।

'सत्यपराक्रमी वीर ! तुम निश्चय ही धैर्यके [illegible] व्यथित नहीं होते हो । इस सम्पूर्ण जगत्को विनाशकी [illegible] जाते देखकर कौन शरीरधारी पुरुष धन-वैभव, विषय[illegible] अथवा अपने शरीरपर भी विश्वास कर सकता है ! ॥ ९१[illegible]

अहमप्येवमेवैनं लोकं जानाम्यशाश्वतम् ॥ ९[illegible]
कालाग्नावाहितं घोरे गुह्ये सततगेऽक्षरे ।

'मैं भी इसी प्रकार सर्वव्यापी, अवि[illegible]

घोर एवं गुह्य कालाग्निमें पड़े हुए इस जगत्‌को क्षण-भङ्गुर ही जानता हूँ ॥ ९२½ ॥

नचात्र परिहारोऽस्ति कालस्पृष्टस्य कस्यचित् ॥ ९३ ॥
सूक्ष्माणां महतां चैव भूतानां परिपच्यताम् ।

'जो कालकी पकड़में आ चुका है, ऐसे किसी भी पुरुषके लिये उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं है । सूक्ष्मसे सूक्ष्म और महान् भूत भी कालाग्निमें पकाये जा रहे हैं, उनका भी उससे छुटकारा होनेवाला नहीं है ॥ ९३½ ॥

अनीशस्याप्रमत्तस्य भूतानि पचतः सदा ॥ ९४ ॥
अनिवृत्तस्य कालस्य क्षयं प्राप्तो न मुच्यते ।

'कालपर किसीका भी वश नहीं चलता । वह सदा सावधान रहकर सम्पूर्ण भूतोंको पकाता रहता है । वह कभी लौटनेवाला नहीं है । ऐसे कालके अधीन हुआ प्राणी उससे छुटकारा नहीं पाता है ॥ ९४½ ॥

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु कालो जागर्ति देहिषु ॥ ९५ ॥
प्रयत्नेनाप्यपक्रान्तो दृष्टपूर्वो न केनचित् ।

'देहधारी जीव प्रमादमें पड़कर सोते हैं; किंतु काल सदा सावधान रहकर जागता रहता है । किसीके प्रयत्नसे भी कालको पीछे हटाया जा सका हो, ऐसा पहले कभी किसीने देखा नहीं है॥ ९५½ ॥

पुराणः शाश्वतो धर्मः सर्वप्राणभृतां समः ॥ ९६ ॥
कालो न परिहार्यश्च न चास्यास्ति व्यतिक्रमः ।

'काल पुरातन (अनादि), सनातन, धर्मस्वरूप और समस्त प्राणियोंके प्रति समान दृष्टि रखनेवाला है । कालका किसीके द्वारा भी परिहार नहीं हो सकता और न उसका कोई उल्लङ्घन ही कर सकता है ॥ ९६½ ॥

अहोरात्रांश्च मासांश्च क्षणान् काष्ठा लवान् कलाः॥९७॥
सम्पीडयति यः कालो वृद्धिं वार्धुषिको यथा ।

जैसे ऋण देनेवाला पुरुष व्याजका हिसाब जोड़कर ऋण लेनेवालोंको तंग करता है, उसी प्रकार वह काल दिन, रात, मास, क्षण, काष्ठा, लव और कला तकका हिसाब लगाकर प्राणियोंको पीड़ा देता रहता है ॥ ९७½ ॥

इदमद्य करिष्यामि श्वः कर्तास्मीति वादिनम् ॥ ९८ ॥
कालो हरति सम्प्राप्तो नदीवेग इव द्रुमम् ।

'जैसे नदीका वेग सहसा बढ़कर किनारेके वृक्षका हरण कर लेता है । उसी प्रकार 'यह आज करूँगा और वह कल पूरा करूँगा ।' ऐसा कहनेवाले पुरुषका काल सहसा आकर हरण कर लेता है ॥ ९८½ ॥

इदानीं तावदेवासौ मया दृष्टः कथं मृतः ॥ ९९ ॥
इति कालेन ह्रियतां प्रलापः श्रूयते नृणाम् ।

''अरे ! अभी-अभी तो मैंने उसे देखा था । वह मर कैसे गया ?' इस प्रकार कालसे अपहृत होनेवालोंके लिये अन्य मनुष्योंका प्रलाप सुना जाता है ॥ ९९½ ॥

नश्यन्त्यर्थास्तथा भोगाः स्थानमैश्वर्यमेव च ॥१००॥
जीवितं जीवलोकस्य कालेनागम्य नीयते ।

'धन और भोग नष्ट हो जाते हैं । स्थान और ऐश्वर्य छिन जाता है तथा इस जीव-जगत्‌के जीवनको भी काल आकर हर ले जाता है ॥ १००½ ॥

उच्छ्राया विनिपातान्ता भावोऽभावः स एव च ॥१०१॥
अनित्यमध्रुवं सर्वं व्यवसायो हि दुष्करः ।

'ऊँचे चढ़नेका अन्त है नीचे गिरना तथा जन्मका अन्त है मृत्यु । जो कुछ देखनेमें आता है, वह सब नाशवान् है, अस्थिर है तो भी इसका निरन्तर स्मरण रहना कठिन हो जाता है ॥ १०१½ ॥

सा ते न व्यथते बुद्धिरचला तत्त्वदर्शिनी ॥१०२॥
अहमासं पुरा चेति मनसापि न बुद्ध्यते ।

'अवश्य ही तुम्हारी बुद्धि तत्त्वको जाननेवाली तथा स्थिर है, इसीलिये उसे व्यथा नहीं होती । मैं पहले अत्यन्त ऐश्वर्यशाली था, इस बातको तुम मनसे भी स्मरण नहीं करते ॥ १०२½ ॥

कालेनाक्रम्य लोकेऽस्मिन् पच्यमाने बलीयसा॥१०३॥
अज्येष्ठमकनिष्ठं च क्षिप्यमाणो न बुद्ध्यते ।

'अत्यन्त बलवान् काल इस सम्पूर्ण जगत्‌पर आक्रमण करके सबको अपनी आँचमें पका रहा है । वह इस बातको नहीं देखता है कि कौन छोटा है और कौन बड़ा ? सब लोग कालाग्निमें झोंके जा रहे हैं, फिर भी किसीको चेत नहीं होता ॥ १०३½ ॥

ईर्ष्याभिमानलोभेषु कामक्रोधभयेषु च ॥१०४॥
स्पृहामोहाभिमानेषु लोकः सक्तो विमुह्यति ।

'लोग ईर्ष्या, अभिमान, लोभ, काम, क्रोध, भय, स्पृहा, मोह और अभिमानमें फँसकर अपना विवेक खो बैठे हैं ॥ १०४½ ॥

भवांस्तु भावतत्त्वज्ञो विद्वान् ज्ञानतपोऽन्वितः॥१०५॥
कालं पश्यति सुव्यक्तं पाणावामलकं यथा ।
कालचारित्रतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ॥१०६॥
विवेचने कृतात्मासि स्पृहणीयो विजानताम् ।
सर्वलोको ह्ययं मन्ये बुद्ध्या परिगतस्त्वया ॥१०७॥

'परंतु तुम विद्वान्, ज्ञानी और तपस्वी हो । समस्त पदार्थोंके तत्त्वको जानते हो । कालकी लीला और उसके तत्त्वको समझते हो । सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हो । तत्त्वके विवेचनमें कुशल, मनको वशमें रखनेवाले तथा ज्ञानी पुरुषोंके आदर्श हो । इसीलिये हाथपर रक्खे हुए आँवलेके

समान कालको स्पष्टरूपसे देख रहे हो। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि तुमने अपनी बुद्धिसे सम्पूर्ण लोकोंका तत्त्व जान लिया है ॥ १०५–१०७ ॥

विहरन् सर्वतो मुक्तो न क्वचित् परिषज्जते।
रजश्च हि तमश्च त्वां स्पृशते न जितेन्द्रियम् ॥१०८॥

'तुम सर्वत्र विचरते हुए भी सबसे मुक्त हो। कहीं भी तुम्हारी आसक्ति नहीं है। तुमने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है; इसलिये रजोगुण और तमोगुण तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकते ॥ १०८ ॥

निष्प्रीतिं नष्टसंतापमात्मानं त्वमुपाससे।
सुहृदं सर्वभूतानां निर्वैरं शान्तमानसम् ॥१०९॥

'जो हर्षसे रहित, संतापसे शून्य, सम्पूर्ण भूतोंका सुहृद्, वैररहित और शान्तचित्त है, उस आत्माकी तुम उपासना करते हो ॥ १०९ ॥

दृष्ट्वा त्वां मम संजाता त्वय्यनुक्रोशिनी मतिः।
नाहमेतादृशं बुद्धं हन्तुमिच्छामि बन्धने ॥११०॥

'तुम्हें देखकर मेरे मनमें दयाका संचार हो आया है। मैं ऐसे ज्ञानी पुरुषको बन्धनमें रखकर उसका वध करना नहीं चाहता ॥ ११० ॥

आनृशंस्यं परो धर्मो ह्यनुक्रोशश्च मे त्वयि।
मोक्ष्यन्ते वारुणाः पाशास्तवेमे कालपर्ययात् ॥१११॥

'किसीके प्रति क्रूरतापूर्ण बर्ताव न करना सबसे बड़ा धर्म है। तुम्हारे ऊपर मेरा पूर्ण अनुग्रह है। कुछ समय बीतनेपर तुम्हें बाँधनेवाले ये वरुणदेवताके पाश अपने आप ही तुम्हें छोड़ देंगे ॥ १११ ॥

प्रजानामपचारेण स्वस्ति तेऽस्तु महासुर।
यदा श्वश्रूं स्नुषा वृद्धां परिचारेण योक्ष्यते ॥११२॥
पुत्रश्च पितरं मोहात् प्रेषयिष्यति कर्मसु।
ब्राह्मणैः कारयिष्यन्ति वृषलाः पादधावनम् ॥११३॥
शूद्राश्च ब्राह्मणीं भार्यामुपयास्यन्ति निर्भयाः।
वियोनिषु विमोक्ष्यन्ति बीजानि पुरुषा यदा ॥११४॥
संकरं कांस्यभाण्डैश्च बलिं चैव कुपात्रकैः।
चातुर्वर्ण्यं यदा कृत्स्नममर्यादं भविष्यति ॥११५॥
एकैकस्ते तदा पाशः क्रमशः परिमोक्ष्यते।

'महान् असुर! जब प्रजाजनोंका न्यायके विपरीत आचरण होने लगेगा, तब तुम्हारा कल्याण होगा। जब पतोहू बूढ़ी साससे अपनी सेवा-टहल कराने लगेगी और पुत्र भी मोहवश पिताको विभिन्न प्रकारके कार्य करनेके लिये आज्ञा प्रदान करने लगेगा, शूद्र ब्राह्मणोंसे पैर धुलाने लगेंगे तथा निर्भय होकर ब्राह्मण जातिकी स्त्रीको अपनी भार्या बनाने लगेंगे, जब पुरुष निर्भय होकर मानवेतर योनियोंमें अपना [वीर्य] स्थापित करने लगेंगे, जब काँसेके पात्रमें ऊँच जाति [और] नीच जातिके लोग एक साथ भोजन करने लगेंगे एवं अप[वित्र] पात्रोंद्वारा देवपूजाके लिये उपहार अर्पित किया जा[ने लगेगा,] सारा वर्णधर्म जब मार्यादाशून्य हो जायगा, उस स[मय] क्रमशः तुम्हारा एक-एक पाश (बन्धन) खु[ल] जायगा ॥ ११२–११५½ ॥

अस्मत्तस्ते भयं नास्ति समयं प्रतिपालय।
सुखी भव निराबाधः स्वस्थचेता निरामयः ॥११६॥

'हमारी ओरसे तुम्हें कोई भय नहीं है। तुम सम[यकी] प्रतीक्षा करो और निर्बाध, स्वस्थचित्त एवं रोगरहित [होकर] सुखसे रहो' ॥ ११६ ॥

तमेवमुक्त्वा भगवाञ्छतक्रतुः
प्रतिप्रयातो गजराजवाहनः।
विजित्य सर्वानसुरान् सुराधिपो
ननन्द हर्षेण बभूव चैकराट् ॥११७॥

बलिसे ऐसा कहकर गजराजकी सवारीपर चलने[वाले] भगवान् शतक्रतु इन्द्र अपने स्थानको लौट गये। वे स[म्पूर्ण] असुरोंपर विजय पाकर देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुए थे [और] एकच्छत्रसम्राट् होकर हर्षसे प्रफुल्लित हो उठे थे ॥ ११७ ॥

महर्षयस्तुष्टुवुरञ्जसा च तं
वृषाकपिं सर्वचराचरेश्वरम्।
हिमापहो हव्यमुवाह चाध्वरे
तथामृतं चार्पितमीश्वरोऽपि हि ॥११८॥

उस समय महर्षियोंने सम्पूर्ण चराचर जगत्के स[्वामी] इन्द्रका भलीभाँति स्तवन किया। अग्निदेव यज्ञमण्ड[पमें] देवताओंके लिये हविष्य वहन करने लगे और देवेश्वर इ[न्द्र] भी सेवकोंद्वारा अर्पित अमृत पीने लगे ॥ ११८ ॥

द्विजोत्तमैः सर्वगतैरभिष्टुतो
विदीप्ततेजा गतमन्युरीश्वरः।
प्रशान्तचेता मुदितः स्वमालयं
त्रिविष्टपं प्राप्य मुमोद वासवः ॥११९॥

सर्वत्र पहुँचनेकी शक्ति रखनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने अ[त्यन्त] तेजस्वी और क्रोधशून्य हुए देवेश्वर इन्द्रकी स्तुति की; [फिर] वे इन्द्र शान्तचित्त एवं प्रसन्न हो अपने निवासस्[थान] स्वर्गलोकमें जाकर आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ ११९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बलि-वासवसंवादविषयक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२७ ॥

महाभारत

संस्कृत मूल



हिन्दी अनुवाद

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

वर्ष ३

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या २

ॐ श्रीपरमात्मने नमः



महाभारत

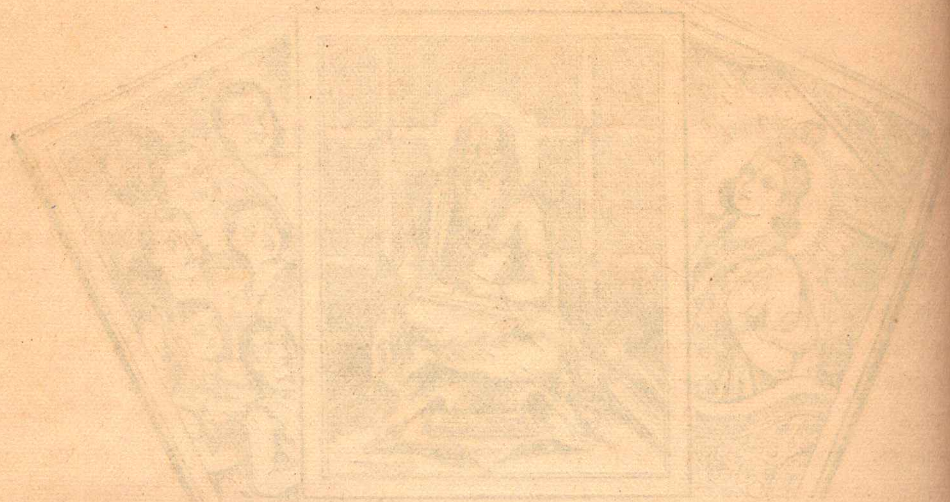
नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्मनिधये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष ३ } गोरखपुर, मार्गशीर्ष २०१४, दिसम्बर १९५७ { संख्या २
पूर्ण संख्या २६

श्रीकृष्णप्रेम ही मुक्ति है

मुक्तेः स्वरूपमपि कृष्णपदारविन्द-
प्रेमैव तद्विरहिता भवबन्धबद्धाः ।
मुक्तास्त एव सततं हरिपादपद्मे
प्रेम्णा परेण रमते हृदयं हि येषाम् ॥

भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंका प्रेम ही मुक्तिका स्वरूप है । जो उस प्रेमसे रहित हैं, वे ही भवबन्धनमें बँधे हुए हैं । जिनका हृदय श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें अत्यन्त प्रेमसे निरन्तर रमता रहता है, वे ही मुक्त हैं ।



वार्षिक मूल्य
भारतमें २०)
विदेशमें २६॥)
(४० शिलिंग)

सम्पादक—**हनुमानप्रसाद पोद्दार**

टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

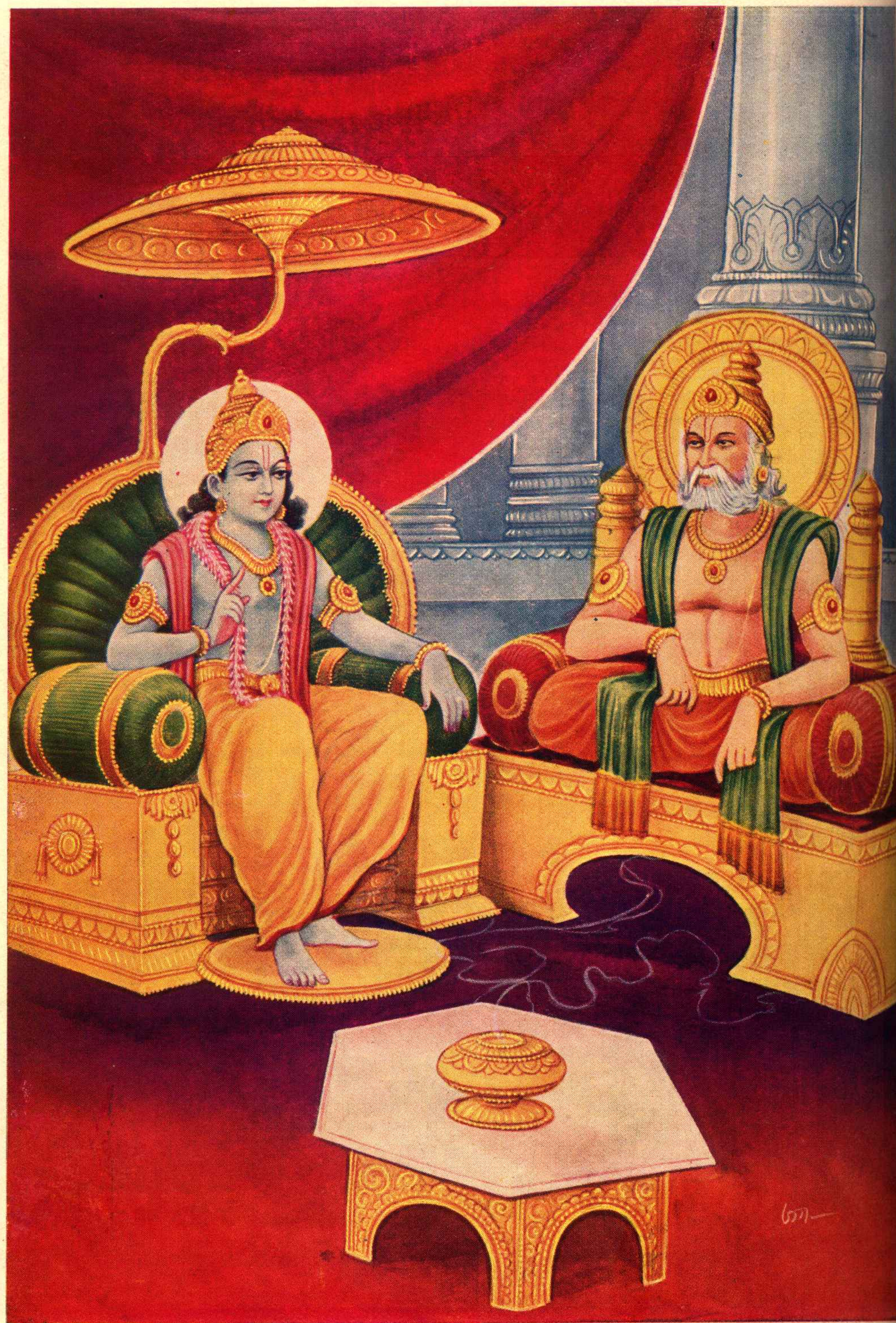
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

एक प्रति
भारतमें
विदेशमें
(४ शिलिंग)

* श्रीहरिः *

विषय-सूची (शान्तिपर्व)

चित्र-सूची



श्रीकृष्णकी उग्रसेनसे भेंट

अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दैत्योंको त्यागकर इन्द्रके पास लक्ष्मीदेवीका आना तथा किन सद्गुणोंके होनेपर लक्ष्मी आती हैं और किन दुर्गुणोंके होनेपर वे त्यागकर चली जाती हैं, इस बातको विस्तारपूर्वक बताना

युधिष्ठिर उवाच

पूर्वरूपाणि मे राजन् पुरुषस्य भविष्यतः।
पराभविष्यतश्चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन्! पितामह! जिस पुरुषका उत्थान या पतन होनेवाला होता है, उसके पूर्व लक्षण कैसे होते हैं? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! तुम्हारा कल्याण हो। जिस मनुष्यका उत्थान या पतन होनेको होता है, उसका मन ही उसके पूर्व लक्षणोंको प्रकट कर देता है ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
श्रिया शक्रस्य संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

इस विषयमें लक्ष्मीके साथ जो इन्द्रका संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण यहाँ दिया जाता है। युधिष्ठिर! तुम ध्यान देकर उसे सुनो ॥ ३ ॥

महतस्तपसो व्युष्ट्या पश्यँल्लोकौ परावरौ।
सामान्यमृषिभिर्गत्वा ब्रह्मलोकनिवासिभिः ॥ ४ ॥
ब्रह्मेवामितदीप्तौजाः शान्तपाप्मा महातपाः।
विचचार यथाकामं त्रिषु लोकेषु नारदः ॥ ५ ॥

एक समयकी बात है, महातपस्वी एवं पापरहित नारदजी अपनी इच्छाके अनुसार तीनों लोकोंमें विचरण करते थे। वे अपनी बड़ी भारी तपस्याके प्रभावसे ऊँचे और नीचे दोनों प्रकारके लोकोंको देख सकते थे तथा ब्रह्मलोकनिवासी ऋषियोंके समान होकर ब्रह्माजीकी ही भाँति अमित दीप्ति और ओजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४-५ ॥

कदाचित् प्रातरुत्थाय पिस्पृक्षुः सलिलं शुचि।
ध्रुवद्वारभवां गङ्गां जगामावततार च ॥ ६ ॥

एक दिन वे प्रातःकाल उठकर पवित्र जलमें स्नान करनेकी इच्छासे ध्रुवद्वारसे प्रवाहित हुई गङ्गाजीके तटपर गये और उसके भीतर उतरे ॥ ६ ॥

सहस्रनयनश्चापि वज्री शम्बरपाकहा।
तस्या देवर्षिजुष्टायास्तीरमभ्याजगाम ह ॥ ७ ॥

इसी समय शम्बरासुर और पाक नामक दैत्यका वध करनेवाले वज्रधारी सहस्रलोचन इन्द्र भी देवर्षियोंद्वारा सेवित गङ्गाजीके उसी तटपर आये ॥ ७ ॥

तावाप्लुत्य यतात्मानौ कृतजप्यौ समासतः।
नद्याः पुलिनमासाद्य सूक्ष्मकाञ्चनवालुकम् ॥ ८ ॥
पुण्यकर्मभिराख्याता देवर्षिकथिताः कथाः।
चक्रतुस्तौ तथाऽऽसीनौ महर्षिकथितास्तथा ॥ ९ ॥

फिर उन दोनोंने गङ्गाजीमें गोते लगाकर मनको एकाग्र करके संक्षेपसे गायत्रीजपका कार्य पूर्ण किया। इसके बाद सूक्ष्म सुवर्णमयी बालुकासे भरे हुए सुन्दर गङ्गातटपर आकर वे दोनों बैठ गये और पुण्यात्मा पुरुषों, देवर्षियों तथा महर्षियोंके मुखसे सुनी हुई कथाएँ कहने-सुनने लगे ॥

पूर्ववृत्तव्यपेतानि कथयन्तौ समाहितौ।
अथ भास्करमुद्यन्तं रश्मिजालपुरस्कृतम् ॥ १० ॥
पूर्णमण्डलमालोक्य तावुत्थायोपतस्थतुः।

दोनों एकाग्रचित्त होकर प्राचीन वृत्तान्तोंकी चर्चा कर ही रहे थे कि किरणजालसे मण्डित भगवान् भास्करका उदय हुआ। सूर्यदेवका सम्पूर्ण मण्डल देख उन दोनोंने खड़े होकर उनका उपस्थान किया ॥ १०½ ॥

अभितस्तूदयन्तं तमर्कमर्कमिवापरम् ॥ ११ ॥
आकाशे ददृशे ज्योतिरुद्यतार्चिःसमप्रभम्।
तयोः समीपं तं प्राप्तं प्रत्यदृश्यत भारत ॥ १२ ॥

उदित होते हुए सूर्यके पास ही आकाशमें उन्हें द्वितीय सूर्यके समान एक दिव्य ज्योति दिखायी दी, जो प्रज्वलित अग्निशिखाके समान प्रकाशित हो रही थी। भारत! वह ज्योति क्रमशः उन दोनोंके समीप आती दिखायी दी ॥ ११-१२ ॥

तत् सुपर्णार्कचरितमास्थितं वैष्णवं पदम्।
भाभिरप्रतिमं भाति त्रैलोक्यमवभासयत् ॥ १३ ॥

वह प्रभापुञ्ज भगवान् विष्णुका एक विमान था, जो अपनी दिव्य प्रभासे तीनों लोकोंको प्रकाशित करता हुआ अनुपम जान पड़ता था। सूर्य और गरुड़ जिस आकाशमार्गसे चलते हैं, उसीपर वह भी चल रहा था ॥ १३ ॥

तत्राभिरूपशोभाभिरप्सरोभिः पुरस्कृताम्।
बृहतीमंशुमत्प्रख्यां बृहद्भानोरिवार्चिषम् ॥ १४ ॥
नक्षत्रकल्पाभरणां तां मौक्तिकसमस्रजम्।
श्रियं ददृशतुः पद्मां साक्षात् पद्मदलस्थिताम् ॥ १५ ॥

उस विमानमें उन दोनोंने कमलदलपर विराजमान साक्षात् लक्ष्मीदेवीको देखा, जो पद्माके नामसे प्रसिद्ध हैं। उन्हें बहुत-सी परम शोभामयी सुन्दरी अप्सराएँ आगे किये खड़ी थीं। लक्ष्मीदेवीकी आकृति विशाल थी। वे अंशुमाली सूर्यके समान तेजस्विनी थीं और प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाके समान जाज्वल्यमान हो रही थीं। उनके आभूषण नक्षत्रोंके समान चमक रहे थे। मोती-जैसे रत्नोंके हार उनके कण्ठदेशकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १४-१५ ॥

सावरुह्य विमानाग्रादङ्गनानामनुत्तमा ।
अभ्यागच्छत् त्रिलोकेशं देवर्षिं चापि नारदम् ॥ १६ ॥

अङ्गनाओंमें परम उत्तम लक्ष्मीदेवी उस विमानके अग्रभागसे उतरकर त्रिभुवनपति इन्द्र और देवर्षि नारदके पास आयीं ॥ १६ ॥

नारदानुगतः साक्षान्मघवांस्तामुपागमत् ।
कृताञ्जलिपुटो देवीं निवेद्यात्मानमात्मना ॥ १७ ॥
चक्रे चानुपमां पूजां तस्याश्चापि स सर्ववित् ।
देवराजः श्रियं राजन् वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १८ ॥

आगे-आगे नारदजी और उनके पीछे साक्षात् इन्द्रदेव हाथ जोड़े हुए देवीकी ओर बढ़े । उन्होंने स्वयं ही देवीको आत्मसमर्पण करके उनकी अनुपम पूजा की । राजन् ! तत्पश्चात् सर्वज्ञ देवराजने लक्ष्मीदेवीसे इस प्रकार कहा ॥ १७-१८ ॥

शक्र उवाच

का त्वं केन च कार्येण सम्प्राप्ता चारुहासिनि ।
कुतश्चागम्यते सुभ्रु गन्तव्यं क्व च ते शुभे ॥ १९ ॥

इन्द्र बोले—चारुहासिनि ! तुम कौन हो ? और किस कार्यसे यहाँ आयी हो ? सुन्दर भौंहोंवाली देवि ! तुम्हारा शुभागमन कहाँसे हुआ है ? और शुभे ! तुम्हें जाना कहाँ है ? ॥ १९ ॥

श्रीरुवाच

पुण्येषु त्रिषु लोकेषु सर्वे स्थावरजङ्गमाः ।
ममात्मभावमिच्छन्तो यतन्ते परमात्मना ॥ २० ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! तीनों पुण्यमय लोकोंके समस्त चराचर प्राणी मुझे प्राप्त करनेकी इच्छासे परम उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते रहते हैं ॥ २० ॥

साहं वै पङ्कजे जाता सूर्यरश्मिविबोधिते ।
भूत्यर्थं सर्वभूतानां पद्मा श्रीः पद्ममालिनी ॥ २१ ॥

मैं समस्त प्राणियोंको ऐश्वर्य प्रदान करनेके लिये सूर्यकी किरणोंके तापसे खिले हुए कमलमें प्रकट हुई हूँ । मेरा नाम पद्मा, श्री और पद्ममालिनी है ॥ २१ ॥

अहं लक्ष्मीरहं भूतिः श्रीश्चाहं बलसूदन ।
अहं श्रद्धा च मेधा च संनतिर्विजितिः स्थितिः ॥ २२ ॥
अहं धृतिरहं सिद्धिरहं त्विड् भूतिरेव च ।
अहं स्वाहा स्वधा चैव संस्तुतिर्नियतिः स्मृतिः ॥ २३ ॥

बलसूदन ! मैं ही लक्ष्मी हूँ । मैं ही भूति हूँ और मैं ही श्री हूँ । मैं श्रद्धा, मेधा, संनति, विजिति, स्थिति, धृति, सिद्धि, कान्ति, समृद्धि, स्वाहा, स्वधा, संस्तुति, नियति और स्मृति हूँ ॥ २२-२३ ॥

राज्ञां विजयमानानां सेनाग्रेषु ध्वजेषु च ।
निवासे धर्मशीलानां विषयेषु पुरेषु च ॥ २४ ॥

युद्धमें विजय पानेवाले राजाओंकी सेनाओंके अग्रभागमें फहरानेवाले ध्वजाओंपर और स्वभावसे ही धर्माचरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके निवासस्थानमें, उनके राज्य और नगरोंमें भी मैं सदा निवास करती हूँ ॥ २४ ॥

जितकाशिनि शूरे च संग्रामेष्वनिवर्तिनि ।
निवसामि मनुष्येन्द्रे सदैव बलसूदन ॥ २५ ॥

बलसूदन ! संग्राममें पीछे न हटनेवाले तथा विजयसे सुशोभित होनेवाले शूरवीर नरेशके शरीरमें भी मैं सदा ही मौजूद रहती हूँ ॥ २५ ॥

धर्मनित्ये महाबुद्धौ ब्रह्मण्ये सत्यवादिनि ।
प्रश्रिते दानशीले च सदैव निवसाम्यहम् ॥ २६ ॥

नित्य धर्माचरण करनेवाले, परम बुद्धिमान्, ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, विनयी तथा दानशील पुरुषमें भी मैं सदा ही निवास करती हूँ ॥ २६ ॥

असुरेष्ववसं पूर्वं सत्यधर्मनिबन्धना ।
विपरीतांस्तु तान् बुद्ध्वा त्वयि वासमरोचयम् ॥ २७ ॥

सत्य और धर्मसे बँधकर पहले मैं असुरोंके यहाँ रहती थी । अब उन्हें धर्मके विपरीत देखकर मैंने तुम्हारे यहाँ रहना पसंद किया है ॥ २७ ॥

शक्र उवाच

कथंवृत्तेषु दैत्येषु त्वमवात्सीर्वरानने ।
दृष्ट्वा च किमिहागास्त्वं हित्वा दैतेयदानवान् ॥ २८ ॥

इन्द्रने कहा—सुमुखि ! दैत्योंका आचरण पहले कैसा था ? जिससे तुम उनके पास रहती थीं और अब क्या देखा है, जो उन दैत्यों और दानवोंको छोड़कर यहाँ चली आयी हो ? ॥ २८ ॥

श्रीरुवाच

स्वधर्ममनुतिष्ठत्सु धैर्यादचलितेषु च ।
स्वर्गमार्गाभिरामेषु सत्त्वेषु निरता ह्यहम् ॥ २९ ॥

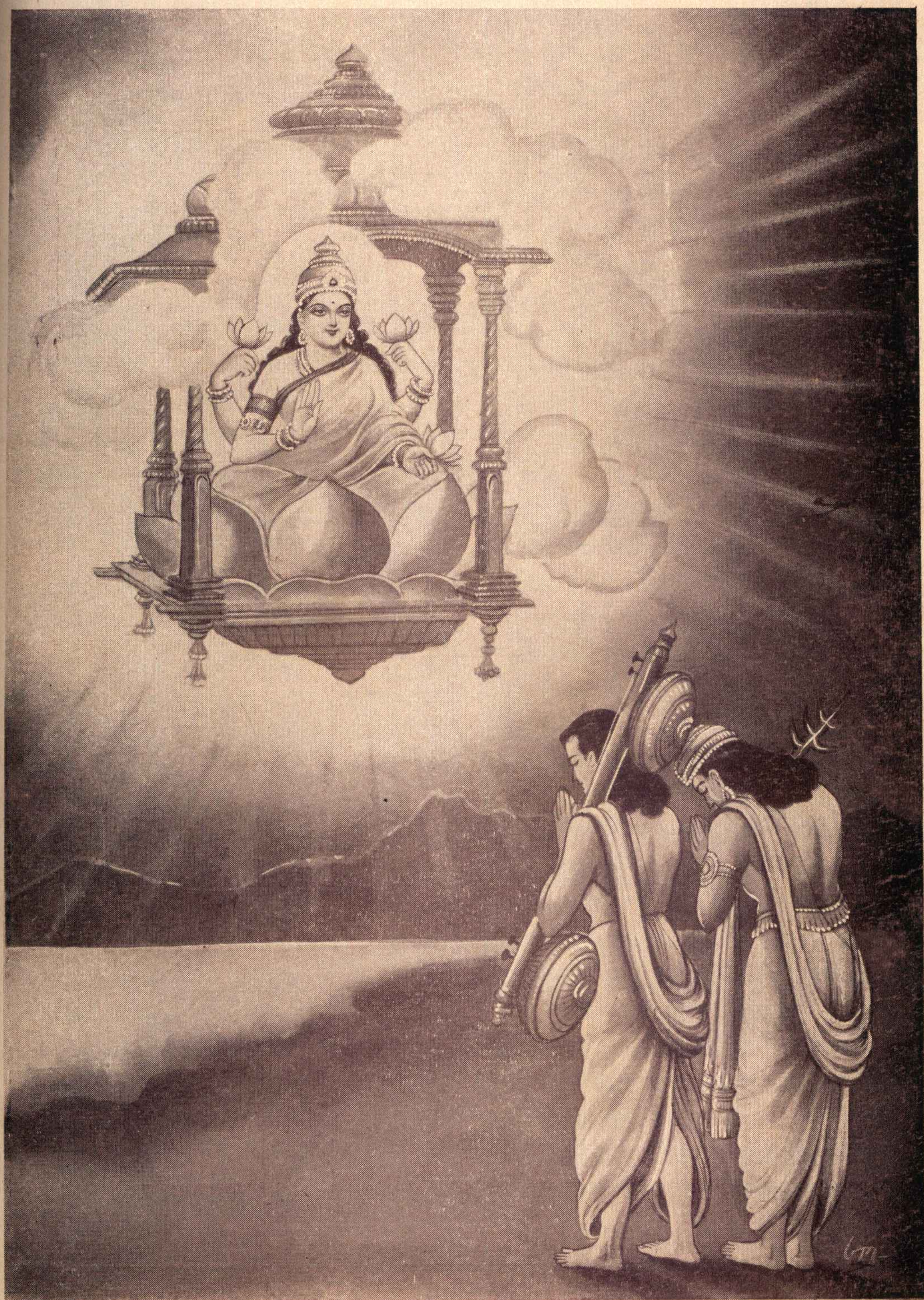
लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! जो अपने धर्मका पालन करते, धैर्यसे कभी विचलित नहीं होते और स्वर्गप्राप्तिके साधनोंमें सानन्द लगे रहते हैं, उन प्राणियोंके भीतर मैं सदा निवास करती हूँ ॥ २९ ॥

दानाध्ययनयज्ञेज्यापितृदैवतपूजनम् ।
गुरूणामतिथीनां च तेषां सत्यमवर्तत ॥ ३० ॥

पहले दैत्यलोग दान, अध्ययन और यज्ञ-यागमें संलग्न रहते थे । देवता, गुरु, पितर और अतिथियोंकी पूजा करते थे । उनके यहाँ सत्यका भी पालन होता था ॥ ३० ॥

सुसम्मृष्टगृहाश्चासन् जितस्त्रीका हुताग्नयः ।
गुरुशुश्रूषका दान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥ ३१ ॥

वे अपना घर-द्वार झाड़-बुहारकर साफ रखते थे । अपनी स्त्रीके मनको प्यारसे जीत लेते थे । प्रतिदिन अग्निहोत्र करते थे । वे गुरुसेवी, जितेन्द्रिय, ब्राह्मणभक्त तथा सत्यवादी थे ।



देवर्षि एवं देवराजको भगवती लक्ष्मीका दर्शन

श्रद्दधाना जितक्रोधा दानशीलानसूयवः ।
भृतपुत्रा भृतामात्या भृतदारा ह्यनीर्षवः ॥ ३२ ॥

उनमें श्रद्धा थी । वे क्रोधको जीत चुके थे । वे दानी थे । दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि नहीं रखते थे और ईर्ष्यारहित थे । वे स्त्री, पुत्र और मन्त्री आदिका भरण-पोषण करते थे ॥

अमर्षेण न चान्योन्यं स्पृहयन्ते कदाचन ।
न च जातूपतप्यन्ति धीराः परसमृद्धिभिः ॥ ३३ ॥

अमर्षवश कभी एक दूसरेके प्रति लाग-डाँट नहीं रखते थे । सभी धीर स्वभावके थे । दूसरोंकी समृद्धियोंसे उनके मनमें कभी संताप नहीं होता था ॥ ३३ ॥

दातारः संगृहीतार आर्याः करुणवेदिनः ।
महाप्रसादा ऋजवो दृढभक्ता जितेन्द्रियाः ॥ ३४ ॥

वे दान देते, कर आदिके द्वारा धन-संग्रह करते तथा आर्यजनोचित आचार-विचारसे रहते थे । वे दया करना जानते थे । वे दूसरोंपर महान् अनुग्रह करनेवाले थे । वे सभी सरल स्वभावके और दृढतापूर्वक भक्ति रखनेवाले थे । उन सबने अपनी इन्द्रियोंपर विजय पायी थी ॥ ३४ ॥

संतुष्टभृत्यसचिवाः कृतज्ञाः प्रियवादिनः ।
यथार्हमानार्थकरा ह्रीनिषेवा यतव्रताः ॥ ३५ ॥

वे अपने भृत्यों और मन्त्रियोंको संतुष्ट रखते थे । कृतज्ञ और मधुरभाषी थे । सबका समुचित रूपसे सम्मान करते, सबको धन देते, लज्जाका सेवन करते और व्रत एवं नियमोंका पालन करते थे ॥ ३५ ॥

नित्यं पर्वसु सुस्नाताः स्वनुलिप्ताः स्वलंकृताः ।
उपवासतपःशीलाः प्रतीता ब्रह्मवादिनः ॥ ३६ ॥

सदा ही पर्वोंपर विशेष स्नान करते, अपने अङ्गोंमें चन्दन लगाते और सुन्दर अलंकार धारण करते थे । स्वभावसे ही उपवास और तपमें लगे रहते थे । सबके विश्वासपात्र थे और वेदोंका स्वाध्याय किया करते थे ॥ ३६ ॥

नैनानभ्युदियात् सूर्यो न चाप्यासन् प्रगेशयाः ।
रात्रौ दधि च सक्तूंश्च नित्यमेव व्यवर्जयन् ॥ ३७ ॥

दैत्य कभी प्रातःकाल सोये नहीं रहते थे । उनके सोते समय सूर्य नहीं उगते थे अर्थात् वे सूर्योदयसे पहले ही जाग उठते थे । वे रातमें कभी दही और सत्तू नहीं खाते थे ॥ ३७ ॥

कल्यं घृतं चान्ववेक्षन् प्रयता ब्रह्मवादिनः ।
मङ्गल्यान्यपि चापश्यन् ब्राह्मणांश्चाप्यपूजयन् ॥ ३८ ॥

वे मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते, सबेरे उठकर घीका दर्शन करते, वेदोंका पाठ करते, अन्य माङ्गलिक वस्तुओंको देखते और ब्राह्मणोंकी पूजा करते थे ॥ ३८ ॥

सदा हि वदतां धर्मं सदा चाप्रतिगृह्णताम् ।
अर्धं च रात्र्याः स्वपतां दिवा चास्वपतां तथा ॥ ३९ ॥

सदा धर्मकी ही चर्चामें लगे रहते और प्रतिग्रहसे दूर रहते थे । रातके आधे भागमें ही सोते थे और दिनमें नहीं सोते थे ॥ ३९ ॥

कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम् ।
दयां च संविभागं च नित्यमेवान्वमोदताम् ॥ ४० ॥

कृपण, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी और स्त्रियोंपर दया करते तथा उनके लिये अन्न और वस्त्र बाँटते थे । इस कार्यका वे सदा अनुमोदन किया करते थे ॥ ४० ॥

त्रस्तं विषण्णमुद्विग्नं भयार्तं व्याधितं कृशम् ।
हृतस्वं व्यसनार्तं च नित्यमाश्वासयन्ति ते ॥ ४१ ॥

त्रस्त, विषादग्रस्त, उद्विग्न, भयभीत, व्याधिग्रस्त, दुर्बल और पीड़ितको तथा जिसका सर्वस्व लुट गया हो, उस मनुष्यको वे सदा ढाढ़स बँधाया करते थे ॥ ४१ ॥

धर्ममेवान्ववर्तन्त न हिंसन्ति परस्परम् ।
अनुकूलाश्च कार्येषु गुरुवृद्धोपसेविनः ॥ ४२ ॥

वे धर्मका ही आचरण करते थे । एक-दूसरेकी हिंसा नहीं करते थे । सब कार्योंमें परस्पर अनुकूल रहते और गुरुजनों तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें दत्तचित्त थे ॥ ४२ ॥

पितॄन् देवातिथींश्चैव यथावत् तेऽभ्यपूजयन् ।
अवशेषाणि चाश्नन्ति नित्यं सत्यतपोधृताः ॥ ४३ ॥

पितरों, देवताओं और अतिथियोंकी विधिवत् पूजा करते थे तथा उन्हें अर्पण करनेके पश्चात् बचे हुए अन्नको ही प्रसादरूपमें पाते थे । वे सभी सत्यवादी और तपस्वी थे ॥

नैकेऽश्नन्ति सुसम्पन्नं न गच्छन्ति परस्त्रियम् ।
सर्वभूतेष्ववर्तन्त यथाऽऽत्मनि दयां प्रति ॥ ४४ ॥

वे अकेले बढ़िया भोजन नहीं करते थे । पहले दूसरोंको देकर पीछे अपने उपभोगमें लाते थे । परायी स्त्रीसे कभी संसर्ग नहीं रखते थे । सब प्राणियोंको अपने ही समान समझकर उनपर दया रखते थे ॥ ४४ ॥

नैवाकाशे न पशुषु वियोनौ च न पर्वसु ।
इन्द्रियस्य विसर्गं ते रोचयन्ति कदाचन ॥ ४५ ॥

वे आकाशमें, पशुओंमें, विपरीत योनिमें तथा पर्वके अवसरोंपर वीर्यत्याग करना कदापि अच्छा नहीं मानते थे ॥

नित्यं दानं तथा दाक्ष्यमार्जवं चैव नित्यदा ।
उत्साहोऽथानहंकारः परमं सौहृदं क्षमा ॥ ४६ ॥
सत्यं दानं तपः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्रेषु चानभिद्रोहः सर्वं तेष्वभवत् प्रभो ॥ ४७ ॥

प्रभो ! नित्य दान, चतुरता, सरलता, उत्साह, अहङ्कार-शून्यता, परम सौहार्द, क्षमा, सत्य, दान, तप, शौच, करुणा, कोमल वचन, मित्रोंसे द्रोह न करनेका भाव—ये सभी सद्‌गुण उनमें सदा मौजूद रहते थे ॥ ४६-४७ ॥

निद्रा तन्द्रीरसम्प्रीतिरसूयाथानवेक्षिता ।
अरतिश्च विषादश्च स्पृहा चाप्यविशन्न तान् ॥ ४८ ॥

निद्रा, तन्द्रा (आलस्य), अप्रसन्नता, दोषदृष्टि,

अविवेक, अप्रीति, विषाद और कामना आदि दोष उनके भीतर प्रवेश नहीं कर पाते थे ॥ ४८ ॥

साहमेवंगुणेष्वेव दानवेष्ववसं पुरा।
प्रजासर्गमुपादाय नैकं युगविपर्ययम् ॥ ४९ ॥

इस प्रकार उत्तम गुणोंवाले दानवोंके पास सृष्टिकालसे लेकर अबतक मैं अनेक युगोंसे रहती आयी हूँ ॥ ४९ ॥

ततः कालविपर्यासे तेषां गुणविपर्ययात्।
अपश्यं निर्गतं धर्मं कामक्रोधवशात्मनाम् ॥ ५० ॥

किंतु समयके उलट-फेरसे उनके गुणोंमें विपरीतता आ गयी। मैंने देखा, दैत्योंमें धर्म नहीं रह गया है। वे काम और क्रोधके वशीभूत हो गये हैं ॥ ५० ॥

सभासदां च वृद्धानां सतां कथयतां कथाः।
प्राहसन्नभ्यसूयंश्च सर्ववृद्धान् गुणावराः ॥ ५१ ॥

जब बड़े-बूढ़े लोग उस सभामें बैठकर कोई बात कहते हैं, तब गुणहीन दैत्य उनमें दोष निकालते हुए उन सब वृद्ध पुरुषोंकी हँसी उड़ाया करते हैं ॥ ५१ ॥

युवानश्च समासीना वृद्धानपि गतान् सतः।
नाभ्युत्थानाभिवादाभ्यां यथापूर्वमपूजयन् ॥ ५२ ॥

ऊँचे आसनोंपर बैठे हुए नवयुवक दैत्य बड़े-बूढ़ोंके आ जानेपर भी पहलेकी भाँति न तो उठकर खड़े होते हैं और न प्रणाम करके ही उनका आदर-सत्कार करते हैं ॥५२॥

वर्तयत्येव पितरि पुत्रः प्रभवते तथा।
अमित्रभृत्यतां प्राप्य ख्यापयन्त्यनपत्रपाः ॥ ५३ ॥

बापके रहते ही बेटा मालिक बन बैठता है। वे शत्रुओंके सेवक बनकर अपने उस कर्मको निर्लज्जतापूर्वक दूसरोंके सामने कहते हैं ॥ ५३ ॥

तथा धर्मादपेतेन कर्मणा गर्हितेन ये।
महतः प्राप्नुवन्त्यर्थांस्तेषां तत्राभवत् स्पृहा ॥ ५४ ॥

धर्मके विपरीत निन्दित कर्मद्वारा जिन्हें महान् धन प्राप्त हो गया है, उनकी उसी प्रकार धनोपार्जन करनेकी अभिलाषा बढ़ गयी है ॥ ५४ ॥

उच्चैश्चाभ्यवदन् रात्रौ नीचैस्तत्राग्निरज्वलत्।
पुत्राः पितॄनत्यचरन् नार्यश्चात्यचरन् पतीन् ॥ ५५ ॥

दैत्य रातमें जोर-जोरसे हल्ला मचाते हैं और उनके यहाँ अग्निहोत्रकी आग मन्दगतिसे जलने लगी है। पुत्रोंने पिताओंपर और स्त्रियोंने पतियोंपर अत्याचार आरम्भ कर दिया है ॥५५॥

मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम्।
गुरुत्वान्नाभ्यनन्दन्त कुमारान् नान्वपालयन् ॥ ५६ ॥

दैत्य और दानव गुरुत्व होते हुए भी माता-पिता, वृद्ध-पुरुष, आचार्य, अतिथि और गुरुजनोंका अभिनन्दन नहीं करते हैं। संतानोंके लालन-पालनपर भी ध्यान नहीं देते हैं ॥ ५६ ॥

भिक्षां बलिमदत्त्वा च स्वयमन्नानि भुञ्जते।
अनिष्ट्वासंविभज्याथ पितृदेवातिथीन् गुरून् ॥ ५७ ॥

देवताओं, पितरों, गुरुजनों तथा अतिथियोंका यजन-पूजन और उन्हें अन्नदान किये बिना, भिक्षादान और बलि-वैश्वदेवकर्मका सम्पादन किये बिना ही दैत्यलोग स्वयं भोजन कर लेते हैं ॥ ५७ ॥

न शौचमनुरुद्ध्यन्त तेषां सूदजनास्तथा।
मनसा कर्मणा वाचा भक्ष्यमासीदनावृतम् ॥ ५८ ॥

दैत्य तथा उनके रसोइये मन, वाणी और क्रियाद्वारा शौचाचारका पालन नहीं करते हैं। उनका भोजन बिना ढके ही छोड़ दिया जाता है ॥ ५८ ॥

विप्रकीर्णानि धान्यानि काकमूषिकभोजनम्।
अपावृतं पयोऽतिष्ठदुच्छिष्टाश्चास्पृशन् घृतम् ॥ ५९ ॥

उनके घरोंमें अनाजके दाने बिखरे रहते हैं और उन्हें कौए तथा चूहे खाते हैं। वे दूधको बिना ढके छोड़ देते हैं और घीको जूठे हाथोंसे छू देते हैं ॥ ५९ ॥

कुद्दालं दात्रपिटकं प्रकीर्णं कांस्यभाजनम्।
द्रव्योपकरणं सर्वं नान्ववैक्षत् कुटुम्बिनी ॥ ६० ॥

दैत्योंकी गृहस्वामिनियाँ घरमें इधर-उधर बिखरे हुए कुदाल, दराँती (या हँसुआ), पिटारी, काँसेके बर्तन तथा अन्य सब द्रव्यों और सामानोंकी देख-भाल नहीं करती हैं ॥ ६० ॥

प्राकारागारविध्वंसान्न स्म ते प्रतिकुर्वते।
नाद्रियन्ते पशून् बद्ध्वा यवसेनोदकेन च ॥ ६१ ॥

उनके गाँवों और नगरोंकी चहारदिवारी तथा घर गिर जाते हैं; परंतु वे उसकी मरम्मत नहीं कराते हैं। दैत्यलोग पशुओंको घरमें बाँध देते हैं, किंतु चारा और पानी देकर उनकी सेवा नहीं करते हैं ॥ ६१ ॥

बालानां प्रेक्षमाणानां स्वयं भक्ष्यमभक्षयन्।
तथा भृत्यजनं सर्वमसंतर्प्य च दानवाः ॥ ६२ ॥

छोटे बच्चे आशा लगाये देखते रहते हैं और दानवलोग खानेकी चीजें स्वयं खा लेते हैं। सेवकों तथा अन्य सब कुटुम्बीजनोंको भूखे छोड़कर अपने खा लेते हैं ॥ ६२ ॥

पायसं कृसरं मांसमपूपानथ शष्कुलीः।
अपाचयन्नात्मनोऽर्थे वृथा मांसान्यभक्षयन् ॥ ६३ ॥

खीर, खिचड़ी, मांस, पूआ और पूरी आदि भोज्य वे सिर्फ अपने खानेके लिये बनवाते हैं तथा वे व्यर्थ ही मांस खाया करते हैं ॥ ६३ ॥

उत्सूर्यशायिनश्चासन् सर्वे चासन् प्रगेनिशाः।
अवर्तन् कलहाश्चात्र दिवारात्रं गृहे गृहे ॥ ६४ ॥

अब वे सूर्योदय होनेतक सोने लगे हैं। प्रातःकालको भी रात ही समझते हैं। उनके घर-घरमें दिन-रात कलह मचा रहता है ॥ ६४ ॥

अनार्याश्चार्यमासीनं पर्युपासन्न तत्र ह।
आश्रमस्थान् विधर्मस्थाः प्राद्विषन्त परस्परम् ॥ ६५ ॥

दानवोंके यहाँ अनार्य वहाँ बैठे हुए आर्य पुरुषकी सेवामें उपस्थित नहीं होते हैं। अधर्मपरायण दैत्य आश्रमवासी महात्माओंसे तथा आपसमें भी द्वेष रखते हैं ॥ ६५ ॥

संकराश्चाभ्यवर्तन्त न च शौचमवर्तत।
ये च वेदविदो विप्रा विस्पष्टमनृचश्च ये ॥ ६६ ॥
निरन्तरविशेषास्ते बहुमानावमानयोः।

अब उनके यहाँ वर्णसङ्कर संतानें होने लगी हैं। किसीमें पवित्रता नहीं रह गयी है। जो वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण हैं और जो स्पष्ट ही वेदकी एक ऋचा भी नहीं जानते हैं, उन दोनोंमें वे दैत्यलोग कोई अन्तर या विशेषता नहीं समझते हैं और न उनका मान या अपमान करनेमें ही कोई अन्तर रखते हैं ॥ ६६½ ॥

हारमाभरणं वेषं गतं स्थितमवेक्षितम् ॥ ६७ ॥
असेवन्त भुजिष्या वै दुर्जनाचरितं विधिम्।

वहाँकी दासियाँ सुन्दर हार एवं अन्य आभूषण पहनकर मनोहर वेष धारण करतीं और दुराचारिणी स्त्रियोंकी भाँति चलती-फिरती, खड़ी होती और कटाक्ष करती हैं। साथ ही वे उस कुकृत्यको अपनाती हैं, जिसका आचरण दुराचारीजन करते हैं ॥ ६७½ ॥

स्त्रियः पुरुषवेषेण पुंसः स्त्रीवेषधारिणः ॥ ६८ ॥
क्रीडारतिविहारेषु परां मुदमवाप्नुवन्।

क्रीडा, रति और विहारके अवसरोंपर वहाँकी स्त्रियाँ पुरुषवेष धारण करके और पुरुष स्त्रियोंका वेष बनाकर एक दूसरेसे मिलते और बड़े आनन्दका अनुभव करते हैं ॥ ६८½ ॥

प्रभवद्भिः पुरा दायानर्हेभ्यः प्रतिपादितान् ॥ ६९ ॥
नाभ्यवर्तन्त नास्तिक्याद् वर्तन्तः सम्भवेष्वपि।

कितने ही दानव पूर्वकालमें अपने पूर्वजोंद्वारा सुयोग्य ब्राह्मणोंको दानके रूपमें दी हुई जागीरें नास्तिकताके कारण उनके पास रहने नहीं देते हैं यद्यपि वे अन्य सम्भव उपायोंसे जीवन-निर्वाह कर सकते हैं तथापि उस दिये हुए दानको छीन लेते हैं ॥ ६९½ ॥

मित्रेणाभ्यर्थितं मित्रमर्थसंशयिते क्वचित् ॥ ७० ॥
बालकोट्यग्रमात्रेण स्वार्थेनाघ्नत तद् वसु।

कहीं धनके विषयमें संशय उपस्थित होनेपर अर्थात् यह धन न्यायतः मेरा है या दूसरेका, यह प्रश्न खड़ा होनेपर यदि उस धनका अधिकारी व्यक्ति अपने किसी मित्रसे प्रार्थना करता है कि वह पंचायतद्वारा इस मामलेको निपटा दे तो वह मित्र अपने बालकी नोकके बराबर स्वार्थके लिये भी उसकी उस सम्पत्तिको चौपट कर देता है ॥ ७०½ ॥

परस्वादानरुचयो विपणव्यवहारिणः ॥ ७१ ॥
अदृश्यन्तार्यवर्णेषु शूद्राश्चापि तपोधनाः।

दानवोंके यहाँ जो व्यापारी हैं, वे सदा दूसरोंका धन ठग लेनेका ही विचार रखते हैं तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंमें शूद्र भी मिलकर तपोधन बन बैठे हैं ॥ ७१½ ॥

अधीयतेऽव्रताः केचिद् वृथा व्रतमथापरे ॥ ७२ ॥

कुछ लोग ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किये बिना ही वेदोंका स्वाध्याय करते हैं, । कुछ लोग व्यर्थ (अवैदिक) व्रतका आचरण करते हैं ॥ ७२ ॥

अशुश्रूषुर्गुरोः शिष्यः कश्चिच्छिष्यसखो गुरुः।

शिष्य गुरुकी सेवा करना नहीं चाहता। कोई-कोई गुरु भी ऐसा है जो शिष्योंको दोस्त बनाकर रखता है ॥

पिता चैव जनित्री च श्रान्तौ वृत्तोत्सवाविव ॥ ७३ ॥
अप्रभुत्वे स्थितौ वृद्धावन्नं प्रार्थयतः सुतान्।

जब पिता और माता उत्सवशून्यकी भाँति थक जाते हैं, तब घरमें उनकी कोई प्रभुता नहीं रह जाती। वे दोनों बूढ़े दम्पति बेटोंसे अन्नकी भीख माँगते हैं ॥ ७३½ ॥

तत्र वेदविदः प्राज्ञा गाम्भीर्ये सागरोपमाः ॥ ७४ ॥
कृष्यादिष्वभवन् सक्ता मूर्खाः श्राद्धान्यभुञ्जत।

वहाँ जो वेदवेत्ता ज्ञानी तथा गम्भीरतामें समुद्रके समान पुरुष हैं, वे तो खेती आदि कार्योंमें संलग्न हो गये हैं और मूर्खलोग श्राद्धान्न खाते फिरते हैं ॥ ७४½ ॥

प्रातः प्रातश्च सुप्रश्नं कल्पनं प्रेषणक्रियाः ॥ ७५ ॥
शिष्यानप्रहितास्तेषामकुर्वन् गुरवः स्वयम्।

गुरुलोग प्रतिदिन प्रातःकाल जाकर शिष्योंसे पूछते हैं कि आपकी रात सुखसे बीती है न ? इसके सिवा वे उन शिष्योंके वस्त्र आदि ठीकसे पहनाते और उनकी वेश-भूषा सँवारते हैं तथा उनकी ओरसे कोई प्रेरणा न होनेपर भी स्वयं ही उनके संदेशवाहक दूत आदिका कार्य करते हैं ॥

श्वश्रूश्वशुरयोरग्रे वधूः प्रेष्यानशासत ॥ ७६ ॥
अन्वशासच्च भर्तारं समाहूयाभिजल्पति।

सास-ससुरके सामने ही बहू सेवकोंपर शासन करने लगी है। वह पतिको भी आदेश देती है और सबके सामने पतिको बुलाकर उससे बात करती है ॥ ७६½ ॥

प्रयत्नेनापि चारक्षच्चित्तं पुत्रस्य वै पिता ॥ ७७ ॥
व्यभजच्चापि संरम्भाद् दुःखवासं तथावसत्।

पिता विशेष प्रयत्नपूर्वक पुत्रका मन रखते हैं। वे उनके क्रोधसे डरकर सारा धन पुत्रोंको बाँट देते हैं और स्वयं बड़े कष्टसे जीवन बिताते हैं ॥ ७७½ ॥

अग्निदाहेन चोरैर्वा राजभिर्वा हृतं धनम् ॥ ७८ ॥
दृष्ट्वा द्वेषात् प्राहसन्त सुहृत्सम्भाविता ह्यपि।

जिन्हें हितैषी और मित्र समझा जाता था, वे ही लोग जब अपने सम्बन्धीके धनको आग लगने, चोरी हो जाने अथवा राजाके द्वारा छिन जानेसे नष्ट हुआ देखते हैं, तब द्वेषवश उसकी हँसी उड़ाते हैं ॥ ७८½ ॥

कृतघ्ना नास्तिकाः पापा गुरुदाराभिमर्शिनः ॥ ७९ ॥

अभक्ष्यभक्षणरता निर्मर्यादा हतत्विषः ।

दैत्यगण कृतघ्न, नास्तिक, पापाचारी तथा गुरुपत्नीगामी हो गये हैं । जो चीज नहीं खानी चाहिये, वे भी खाते और धर्मकी मर्यादा तोड़कर मनमाने आचरण करते हैं। इसीलिये वे कान्तिहीन हो गये हैं ॥ ७९½ ॥

तेष्वेवमादीनाचारानाचरत्सु विपर्यये ॥ ८० ॥
नाहं देवेन्द्र वत्स्यामि दानवेष्विति मे मतिः ।

देवेन्द्र ! जबसे इन दैत्योंने ये धर्मके विपरीत आचरण अपनाये हैं, तबसे मैंने यह निश्चय कर लिया है कि अब इन दानवोंके घरमें नहीं रहूँगी ॥ ८०½ ॥

तन्मां स्वयमनुप्राप्तामभिनन्द शचीपते ॥ ८१ ॥
त्वयार्चितां मां देवेश पुरो धास्यन्ति देवताः ।

शचीपते ! देवेश्वर ! इसीलिये मैं स्वयं तुम्हारे यहाँ आयी हूँ । तुम मेरा अभिनन्दन करो । तुमसे पूजित होनेपर मुझे अन्य देवता भी अपने सम्मुख स्थापित (एवं सम्मानित) करेंगे ॥ ८१½ ॥

यत्राहं तत्र मत्कान्ता मद्विशिष्टा मदर्पणाः ॥ ८२ ॥
सप्त देव्यो जयाष्टम्यो वासमेष्यन्ति तेऽष्टधा ।

जहाँ मैं रहूँगी, वहाँ सात देवियाँ और निवास करेंगी, उन सबके आगे आठवीं जया देवी भी रहेंगी । ये आठों देवियाँ मुझे बहुत प्रिय हैं, मुझसे भी श्रेष्ठ हैं और मुझे आत्मसमर्पण कर चुकी हैं ॥ ८२½ ॥

आशा श्रद्धा धृतिः शान्तिर्विजितिः संनतिः क्षमा ॥ ८३ ॥
अष्टमी वृत्तिरेतासां पुरोगा पाकशासन ।

पाकशासन ! उन देवियोंके नाम इस प्रकार हैं——आशा, श्रद्धा, धृति, शान्ति, विजिति, संनति, क्षमा और आठवीं वृत्ति (जया) । ये आठवीं देवी उन सातोंकी अग्रगामिनी हैं ॥

ताश्चाहं चासुरांस्त्यक्त्वा युष्मद्विषयमागताः ॥ ८४ ॥
त्रिदशेषु निवत्स्यामो धर्मनिष्ठान्तरात्मसु ।

वे देवियाँ और मैं सब-के-सब उन असुरोंको त्यागकर तुम्हारे राज्यमें आयी हैं । देवताओंकी अन्तरात्मा धर्ममें निष्ठा रखनेवाली है; इसलिये अब हमलोग इन्हींके यहाँ निवास करेंगी ॥ ८४½ ॥

इत्युक्तवचनां देवीं प्रीत्यर्थं च ननन्दतुः ॥ ८५ ॥
नारदश्चात्र देवर्षिर्वृत्रहन्ता च वासवः ।

(भीष्मजी कहते हैं—) लक्ष्मीदेवीके इस प्रकार कहनेपर देवर्षि नारद तथा वृत्रहन्ता इन्द्रने उनकी प्रसन्नताके लिये उनका अभिनन्दन किया ॥ ८५½ ॥

ततोऽनलसखो वायुः प्रववौ देववर्त्मसु ॥ ८६ ॥
इष्टगन्धः सुखस्पर्शः सर्वेन्द्रियसुखावहः ।

उस समय देवमार्गोंपर मनोरम गन्ध और सुखद स्पर्शसे युक्त तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको आनन्द प्रदान करनेवाले वायुदेव, जो अग्निदेवताके मित्र हैं, मन्दगतिसे बहने लगे ॥

शुचौ चाभ्यर्थिते देशे त्रिदशाः प्रायशः स्थिताः ॥ ८
लक्ष्मीसहितमासीनं मघवन्तं दिदृक्षवः ॥ ८

उस परम पवित्र एवं मनोवाञ्छित प्रदेशमें राजलक्ष्मी इन्द्रदेवका दर्शन करनेके लिये प्रायः सभी देवता उप हो गये ॥ ८७-८८ ॥

ततो दिवं प्राप्य सहस्रलोचनः
श्रियोपपन्नः सुहृदा महर्षिणा ।
रथेन हर्यश्वयुजा सुरर्षभः
सदः सुराणामभिसत्कृतो ययौ ॥ ८

तत्पश्चात् सहस्रनेत्रधारी सुरश्रेष्ठ इन्द्र लक्ष्मीदेवी अपने सुहृद् महर्षि नारदके साथ हरे रंगके घोड़ोंसे जुते रथपर बैठकर स्वर्गलोककी राजधानी अमरावतीमें आये देवताओंसे सत्कृत हो उनकी सभामें गये ॥ ८९ ॥

अथेङ्गितं वज्रधरस्य नारदः
श्रियश्च देव्या मनसा विचारयन् ।
श्रियै शशंसामरदृष्टपौरुषः
शिवेन तत्रागमनं महर्षिभिः ॥ ९

उस समय अमरोंके पौरुषको प्रत्यक्ष देखनेवाले नारदजीने अन्य महर्षियोंके साथ मिलकर वज्रधारी इन्द्र लक्ष्मीदेवीके संकेतपर मन-ही-मन विचार करके वहाँ जीके शुभागमनकी प्रशंसा की और उनका पदार्पण लोकोंके लिये मङ्गलकारी बताया ॥ ९० ॥

ततोऽमृतं द्यौः प्रववर्ष भास्वती
पितामहस्यायतने स्वयम्भुवः ।
अनाहता दुन्दुभयोऽथ नेदिरे
तथा प्रसन्नाश्च दिशश्चकाशिरे ॥ ९

तदनन्तर निर्मल एवं प्रकाशपूर्ण आकाशमण्डल ब्रह्माजीके भवनमें अमृतकी वर्षा करने लगा । देवता दुन्दुभियाँ बिना बजाये ही बज उठीं तथा सम्पूर्ण दि स्वच्छ एवं प्रकाशित दिखायी देने लगीं ॥ ९१ ॥

यथर्तु सस्येषु ववर्ष वासवो
न धर्ममार्गाद् विचचाल कश्चन ।
अनेकरत्नाकरभूषणा च भूः
सुघोषघोषा भुवनौकसां जये ॥ ९

लक्ष्मीजीके स्वर्गमें पधारनेपर इन्द्रदेव ऋतुके अ संसारमें लगी हुई खेतीको सींचनेके लिये समयपर वर्षा लगे । कोई भी धर्मके मार्गसे विचलित नहीं होता था अनेक समुद्रोंसे विभूषित हुई पृथ्वी उन समुद्रोंकी गर्ज रूपमें त्रिभुवनवासियोंकी विजयके लिये मानो सुन्दर ज करने लगी ॥ ९२ ॥

क्रियाभिरामा मनुजा मनस्विनो
बभुः शुभे पुण्यकृतां पथि स्थिताः ।

नरामराः किन्नरयक्षराक्षसाः
समृद्धिमन्तः सुमनस्विनोऽभवन्॥ ९३ ॥

उस समय मनस्वी मानव पुण्यवानोंके मङ्गलमय पथपर स्थित हो सत्कर्मोंसे परम सुन्दर शोभा पाने लगे तथा देवता, किन्नर, यक्ष, राक्षस और मनुष्य समृद्धिशाली एवं उदारचेता हो गये ॥ ९३ ॥

न जात्वकाले कुसुमं कुतः फलं
पपात वृक्षात् पवनेरितादपि ।
रसप्रदाः कामदुघाश्च धेनवो
न दारुणा वाग्विचचार कस्यचित्॥ ९४॥

उन दिनों अकाल-मृत्युकी तो बात ही क्या है, प्रचण्ड पवनके वेगपूर्वक हिलानेसे भी किसी वृक्षसे असमयमें फूलतक नहीं गिरता था; फिर फल कहाँसे गिरेगा ? सभी धेनुएँ दुग्ध आदि रस देती थीं। वे इच्छानुसार दुग्ध दिया करती थीं। किसीके मुखसे कभी कोई कठोर वचन नहीं निकलता था ॥

इमां सपर्यां सह सर्वकामदैः
श्रियश्च शक्रप्रमुखैश्च दैवतैः ।
पठन्ति ये विप्रसदःसमागताः
समृद्धकामाः श्रियमाप्नुवन्ति ते॥ ९५ ॥

सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले इन्द्र आदि देवताओंद्वारा की हुई लक्ष्मीजीकी इस पूजा-अर्चाके प्रसङ्गको जो लोग ब्राह्मणोंकी सभामें आकर पढ़ते हैं, उनकी सारी कामनाएँ सम्पन्न होती हैं और वे लक्ष्मी भी प्राप्त कर लेते हैं ॥ ९५ ॥

त्वया कुरूणां वर यत् प्रचोदितं
भवाभवस्येह परं निदर्शनम् ।
तदद्य सर्वं परिकीर्तितं मया
परीक्ष्य तत्त्वं परिगन्तुमर्हसि ॥ ९६ ॥

कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुमने जो अभ्युदय-पराभवका लक्षण पूछा था, वह सब मैंने आज यह उत्तम दृष्टान्त देकर बता दिया। तुम्हें स्वयं सोच-विचारकर उसकी यथार्थताका निश्चय करना चाहिये ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्री-वासवसंवादो नाम अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें लक्ष्मी और इन्द्रका संवादनामक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जैगीषव्यका असित-देवलको समत्वबुद्धिका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपराक्रमः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! कैसे शील, किस तरहके आचरण, कैसी विद्या और कैसे पराक्रमसे युक्त होनेपर मनुष्य प्रकृतिसे परे अविनाशी ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ? ॥

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु नियतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं तत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो पुरुष मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर मोक्षोपयोगी धर्मोंके पालनमें संलग्न रहता है, वही प्रकृतिसे परे अविनाशी ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
जैगीषव्यस्य संवादमसितस्य च भारत ॥ ३ ॥

भारत ! इस विषयमें भी जैगीषव्य और असित-देवल-मुनिका संवादरूप यह पुरातन इतिहास उदाहरणके तौरपर प्रस्तुत किया जाता है ॥ ३ ॥

जैगीषव्यं महाप्रज्ञं धर्माणामागतागमम् ।
अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमसितो देवलोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

एक बार सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले शास्त्रवेत्ता, महाज्ञानी और क्रोध एवं हर्षसे रहित जैगीषव्य मुनिसे असित-देवलने इस प्रकार पूछा ॥ ४ ॥

देवल उवाच

न प्रीयसे वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यसे ।
का ते प्रज्ञा कुतश्चैषा किं ते तस्याः परायणम् ॥ ५ ॥

देवल बोले—मुनिवर ! यदि आपको कोई प्रणाम करे, तो आप अधिक प्रसन्न नहीं होते और निन्दा करे तो भी आप उसपर क्रोध नहीं करते, यह आपकी बुद्धि कैसी है ? कहाँसे प्राप्त हुई है ? और आपकी इस बुद्धिका परम आश्रय क्या है ? ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

इति तेनानुयुक्तः स तमुवाच महातपाः ।
महद्वाक्यमसंदिग्धं पुष्कलार्थपदं शुचि ॥ ६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! देवलके इस प्रकार प्रश्न करनेपर महातपस्वी जैगीषव्यने उनसे इस प्रकार संदेहरहित, प्रचुर अर्थका बोधक, पवित्र और उत्तम वचन कहा ॥ ६ ॥

जैगीषव्य उवाच

या गतिर्या परा काष्ठा या शान्तिः पुण्यकर्मणाम्।
तां तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि महतीमृषिसत्तम ॥ ७ ॥

जैगीषव्य बोले—मुनिश्रेष्ठ ! पुण्यकर्म करनेवाले महा-

पुरुषोंको जिसका आश्रय लेनेसे उत्तम गति, उत्कर्षकी चरम सीमा और परम शान्ति प्राप्त होती है, उस श्रेष्ठ बुद्धिका मैं तुमसे वर्णन करता हूँ ॥ ७ ॥

निन्दत्सु च समा नित्यं प्रशंसत्सु च देवल ।
निह्नुवन्ति च ये तेषां समयं सुकृतं च यत् ॥ ८ ॥

देवल ! महात्मा पुरुषोंकी कोई निन्दा करे या सदा उनकी प्रशंसा करे अथवा उनके सदाचार तथा पुण्य कर्मों-पर पर्दा डाले, किंतु व सबके प्रति एक-सी ही बुद्धि रखते हैं ॥ ८ ॥

उक्ताश्च न वदिष्यन्ति वक्तारमहिते हितम् ।
प्रतिहन्तुं न चेच्छन्ति हन्तारं वै मनीषिणः ॥ ९ ॥

उन मनीषी पुरुषोंसे कोई कटु वचन कह दे तो वे उस कटुवादी पुरुषको बदलेमें कुछ नहीं कहते । अपना अहित करनेवालेका भी हित ही चाहते हैं तथा जो उन्हें मारता है, उसे भी वे बदलेमें मारना नहीं चाहते हैं ॥ ९ ॥

नाप्राप्तमनुशोचन्ति प्राप्तकालानि कुर्वते ।
न चातीतानि शोचन्ति न चैव प्रतिजानत ॥ १० ॥

जो अभी सामने नहीं आयी है या भविष्यमें होनेवाली है, उसके लिये वे शोक या चिन्ता नहीं करते हैं । वर्तमान समयमें जो कार्य प्राप्त हैं, उन्हींको वे करते हैं । जो बातें बीत गयी हैं, उनके लिये भी उन्हें शोक नहीं होता है और वे किसी बातकी प्रतिज्ञा नहीं करते हैं ॥ १० ॥

सम्प्राप्तानां च पूज्यानां कामादर्थेषु देवल ।
यथोपपत्ति कुर्वन्ति शक्तिमन्तः कृतव्रताः ॥ ११ ॥

देवल ! यदि कोई कामना मनमें लेकर किन्हीं विशेष प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये पूजनीय पुरुष उनके पास आ जायँ तो वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शक्तिशाली महात्मा यथाशक्ति उनके कार्य-साधनकी चेष्टा करते हैं ॥ ११ ॥

पक्वविद्या महाप्राज्ञा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
मनसा कर्मणा वाचा नापराध्यन्ति कर्हिचित् ॥ १२ ॥

उनका ज्ञान परिपक्व होता है । वे महाज्ञानी, क्रोधको जीतनेवाले और जितेन्द्रिय होते हैं तथा मन, वाणी और शरीरसे कभी किसीका अपराध नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

अनीर्षवो न चान्योन्यं विहिंसन्ति कदाचन ।
न च जातूपतप्यन्ते धीराः परसमृद्धिभिः ॥ १३ ॥

उनके मनमें एक दूसरेके प्रति ईर्ष्या नहीं होती । वे कभी हिंसा नहीं करते तथा वे धीर पुरुष दूसरोंकी समृद्धियोंसे कभी मन-ही-मन जलते नहीं हैं ॥ १३ ॥

निन्दाप्रशंसे चात्यर्थं न वदन्ति परस्य ये ।
न च निन्दाप्रशंसाभ्यां विक्रियन्ते कदाचन ॥ १४ ॥

वे दूसरोंकी न तो निन्दा करते हैं और न अधिक प्रशंसा ही । उनकी भी कोई निन्दा या प्रशंसा करे तो उनके मनमें कभी विकार नहीं होता है ॥ १४ ॥

सर्वतश्च प्रशान्ता ये सर्वभूतहिते रताः ।
न क्रुद्ध्यन्ति न हृष्यन्ति नापराध्यन्ति कर्हिचित् ॥ १

वे सर्वथा शान्त और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें सं रहते हैं, न कभी क्रोध करते हैं, न हर्षित होते हैं और किसीका अपराध ही करते हैं ॥ १५ ॥

विमुच्य हृदयग्रन्थिं चङ्क्रमन्ति यथासुखम् ।
न येषां बान्धवाः सन्ति ये चान्येषां न बान्धवाः ॥ १

वे हृदयकी अज्ञानमयी गाँठ खोलकर चारों ओर आन के साथ विचरा करते हैं । न उनके कोई भाई-बन्धु हो और न वे ही दूसरोंके भाई-बन्धु होते हैं ॥ १६ ॥

अमित्राश्च न सन्त्येषां ये चामित्रा न कस्यचित् ।
य एवं कुर्वते मर्त्याः सुखं जीवन्ति सर्वदा ॥ १

न उनके कोई शत्रु होते हैं और न वे ही किसीके होते हैं । जो मनुष्य ऐसा करते हैं, वे सदा सुखसे जी बिताते हैं ॥ १७ ॥

ये धर्मं चानुरुद्ध्यन्ते धर्मज्ञा द्विजसत्तम ।
ये ह्यतो विच्युता मार्गात् ते हृष्यन्त्युद्विजन्ति च ॥ १

द्विजश्रेष्ठ ! जो धर्मके अनुसार चलते हैं, वे ही धर्म तथा जो धर्ममार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं, उन्हें ही हर्ष-उ आदि प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

आस्थितस्तमहं मार्गमसूयिष्यामि कं कथम् ।
निन्द्यमानः प्रशस्तो वा हृष्येऽहं केन हेतुना ॥ १

मैंने भी उसी धर्ममार्गका अवलम्बन किया है; अ अपनी निन्दा सुनकर क्यों किसीके प्रति द्वेष-दृष्टि क अथवा प्रशंसा सुनकर भी किस लिये हर्ष मानूँ ! ॥ १

यद् यदिच्छन्ति तत् तस्मादपि गच्छन्तु मानवाः ।
न मे निन्दाप्रशंसाभ्यां ह्रासवृद्धी भविष्यतः ॥ २

मनुष्य निन्दा और प्रशंसामेंसे जिससे जो-जो लाभ उठ चाहते हों, उससे वह-वह लाभ उठा लें । उस निन्दा प्रशंसासे न मेरी कोई हानि होगी, न लाभ ॥ २० ॥

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य तत्त्ववित् ।
विषस्येवोद्विजेन्नित्यं सम्मानस्य विचक्षणः ॥ २

तत्त्वज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह अपमानको अमृ समान समझकर उससे संतुष्ट हो और विद्वान् मनुष्य सम्मा को विषके तुल्य समझकर उससे सदा डरता रहे ॥ २१ ॥

अवज्ञातः सुखं शेते इह चामुत्र चाभयम् ।
विमुक्तः सर्वदोषेभ्यो योऽवमन्ता स बध्यते ॥ २

सम्पूर्ण दोषोंसे मुक्त महात्मा पुरुष अपमानित होने भी इस लोक और परलोकमें निर्भय होकर सुखसे सोता परंतु उसका अपमान करनेवाला पुरुष पापबन्धनमें जाता है ॥ २२ ॥

परां गतिं च ये केचित् प्रार्थयन्ति मनीषिणः ।
एतद् व्रतं समाश्रित्य सुखमेधन्ति ते जनाः ॥ २

जो मनीषी पुरुष उत्तम गति प्राप्त करना चाहते हैं,

इस उत्तम व्रतका आश्रय लेकर सुखी एवं अभ्युदयशील होते हैं ॥ २३ ॥

सर्वतश्च समाहृत्य क्रतून् सर्वान् जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २४ ॥

मनुष्यको चाहिये कि सारे काम्यकर्मोंका परित्याग करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें कर ले । फिर वह प्रकृतिसे परे अविनाशी ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

नास्य देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
पदमन्ववरोहन्ति प्राप्तस्य परमां गतिम् ॥ २५ ॥

परमगतिको प्राप्त हुए उस ज्ञानी महात्माके पदका अनुसरण न देवता कर पाते हैं न गन्धर्व, न पिशाच कर पाते हैं और न राक्षस ही ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जैगीषव्यासितसंवादे एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जैगीषव्य और असित-देवलसंवादविषयक दो सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२९ ॥

त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवाद—नारदजीकी लोकप्रियताके हेतुभूत गुणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

प्रियः सर्वस्य लोकस्य सर्वसत्त्वाभिनन्दिता ।
गुणैः सर्वैरुपेतश्च को न्वस्ति भुवि मानवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! इस भूतलपर कौन ऐसा मनुष्य है ? जो सब लोगोंका प्रिय, सम्पूर्ण प्राणियोंको आनन्द प्रदान करनेवाला तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि पृच्छतो भरतर्षभ ।
उग्रसेनस्य संवादं नारदे केशवस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे इस प्रश्नके उत्तरमें मैं श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवाद सुनाता हूँ, जो नारदजीके विषयमें हुआ था ॥ २ ॥

उग्रसेन उवाच

यस्य संकल्पते लोको नारदस्य प्रकीर्तने ।
मन्ये स गुणसम्पन्नो ब्रूहि तन्मम पृच्छतः ॥ ३ ॥

उग्रसेन बोले—जनार्दन ! सब लोग जिनके गुणोंका कीर्तन करनेकी इच्छा रखते हैं, वे नारदजी मेरी समझमें अवश्य उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं; अतः मैं उनके गुणोंके विषयमें पूछता हूँ, तुम मुझे बताओ ॥ ३ ॥

वासुदेव उवाच

कुकुराधिप यान् मन्ये शृणु तान् मे विवक्षतः ।
नारदस्य गुणान् साधून् संक्षेपेण नराधिप ॥ ४ ॥

श्रीकृष्णने कहा—कुकुरकुलके स्वामी ! नरेश्वर ! मैं नारदके जिन उत्तम गुणोंको मानता और जानता हूँ, उन्हें संक्षेपसे बताना चाहता हूँ । आप मुझसे उनका श्रवण कीजिये ॥ ४ ॥

न चारित्रनिमित्तोऽस्याहंकारो देहतापनः ।
अभिन्नश्रुतचारित्रस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ५ ॥

नारदजीमें शास्त्रज्ञान और चरित्रबल दोनों एक साथ संयुक्त हैं । फिर भी उनके मनमें अपनी सच्चरित्रताके कारण तनिक भी अभिमान नहीं है । वह अभिमान शरीरको संतप्त करनेवाला है । उसके न होनेसे ही नारदजीकी सर्वत्र पूजा (प्रतिष्ठा) होती है ॥ ५ ॥

अरतिः क्रोधचापल्ये भयं नैतानि नारदे ।
अदीर्घसूत्रः शूरश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ६ ॥

नारदजीमें अप्रीति, क्रोध, चपलता और भय—ये दोष नहीं हैं, वे दीर्घसूत्री (किसी कामको विलम्बसे करनेवाले या आलसी) नहीं हैं तथा धर्म और दया आदि करनेमें बड़े शूरवीर हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र आदर होता है ॥ ६ ॥

उपास्यो नारदो बाढं वाचि नास्य व्यतिक्रमः ।
कामतो यदि वा लोभात् तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ७ ॥

निश्चय ही नारद उपासना करनेके योग्य हैं । कामना या लोभसे भी कभी उनके द्वारा अपनी बात पलटी नहीं जाती; इसीलिये उनका सर्वत्र सम्मान होता है ॥ ७ ॥

अध्यात्मविधितत्त्वज्ञः क्षान्तः शक्तो जितेन्द्रियः ।
ऋजुश्च सत्यवादी च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ८ ॥

वे अध्यात्मशास्त्रके तत्त्वज्ञ विद्वान्, क्षमाशील, शक्तिमान्, जितेन्द्रिय, सरल और सत्यवादी हैं । इसीलिये वे सर्वत्र पूजे जाते हैं ॥ ८ ॥

तेजसा यशसा बुद्ध्या ज्ञानेन विनयेन च ।
जन्मना तपसा वृद्धस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ९ ॥

नारदजी तेज, बुद्धि, यश, ज्ञान, विनय, जन्म और तपस्याद्वारा भी सबसे बढ़े-चढ़े हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ ९ ॥

सुशीलः सुखसंवेशः सुभोजः स्वादरः शुचिः ।
सुवाक्यश्चाप्यनीर्ष्यश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १० ॥

वे सुशील, सुखसे सोनेवाले, पवित्र भोजन करनेवाले, उत्तम आदरके पात्र, पवित्र, उत्तम वचन बोलनेवाले तथा ईर्ष्यासे रहित हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा हुई है ॥ १० ॥

कल्याणं कुरुते बाढं पापमस्मिन्न विद्यते ।

न प्रीयते परानर्थैस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ११ ॥

वे खुले दिलसे सबका कल्याण करते हैं । उनके मनमें लेशमात्र भी पाप नहीं है । दूसरोंका अनर्थ देखकर उन्हें प्रसन्नता नहीं होती; इसीलिये उनका सब जगह सम्मान होता है ॥ ११ ॥

वेदश्रुतिभिराख्यानैरर्थानभिजिगीषति ।
तितिक्षुरनवज्ञाता तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १२ ॥

नारदजी वेदों और उपनिषदोंकी, श्रुतियों तथा इतिहास-पुराणकी कथाओंद्वारा प्रस्तुत विषयोंको समझाने और सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं । वे सहनशील तो हैं ही, कभी किसी-की अवज्ञा नहीं करते हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ १२ ॥

समत्वाच्च प्रियो नास्ति नाप्रियश्च कथंचन ।
मनोऽनुकूलवादी च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १३ ॥

वे सर्वत्र समभाव रखते हैं; इसलिये उनका न कोई प्रिय है और न किसी तरह अप्रिय ही है । वे मनके अनुकूल बोलते हैं, इसलिये सर्वत्र उनका आदर होता है ॥ १३ ॥

बहुश्रुतश्चित्रकथः पण्डितोऽलालसोऽशठः ।
अदीनोऽक्रोधनोऽलुब्धस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १४ ॥

वे अनेक शास्त्रोंके विद्वान् हैं और उनका कथा कहनेका ढंग भी बड़ा विचित्र है । उनमें पूर्ण पाण्डित्य होनेके साथ ही लालसा और शठताका भी अभाव है । दीनता, क्रोध और लोभ आदि दोषसे वे सर्वथा रहित हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र सम्मान होता है ॥ १४ ॥

नार्थे धने वा कामे वा भूतपूर्वोऽस्य विग्रहः ।
दोषाश्चास्य समुच्छिन्नास्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १५ ॥

धन, अन्य कोई प्रयोजन अथवा कामके विषयमें नारद-जीका पहले कभी किसीके साथ कलह हुआ हो, ऐसी बात नहीं है । उनमें समस्त दोषोंका अभाव है, इसीलिये उनका सब जगह आदर होता है ॥ १५ ॥

दृढभक्तिरनिन्द्यात्मा श्रुतवानानृशंसवान् ।
वीतसम्मोहदोषश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १६ ॥

उनकी मेरे प्रति दृढ़ भक्ति है । उनका हृदय शुद्ध है । वे विद्वान् और दयालु हैं । उनके मोह आदि दोष दूर हो गये हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र आदर है ॥ १६ ॥

असक्तः सर्वभूतेषु सक्तात्मेव च लक्ष्यते ।
अदीर्घसंशयो वाग्मी तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १७ ॥

वे सम्पूर्ण प्राणियोंमें आसक्तिसे रहित हैं; फिर भी आसक्त हुए-से दिखायी देते हैं । उनके मनमें दीर्घकालतक कोई संशय नहीं रहता और वे बहुत अच्छे वक्ता हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ १७ ॥

समाधिर्नास्य कामार्थे नात्मानं स्तौति कर्हिचित् ।
अनीर्षुर्मृदुसंवादस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १८ ॥

उनका मन कभी विषयभोगोंमें स्थित नहीं होता और वे कभी अपनी प्रशंसा नहीं करते हैं । किसीके प्रति ईर्ष्या नहीं रखते तथा सबसे मीठे वचन बोलते हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र आदर होता है ॥ १८ ॥

लोकस्य विविधं चित्तं प्रेक्षते चाप्यकुत्सयन् ।
संसर्गविद्याकुशलस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १९ ॥

नारदजी लोगोंकी नाना प्रकारकी चित्तवृत्तिको देखते और समझते हैं । फिर भी किसीकी निन्दा नहीं करते । किसका संसर्ग कैसा है ? इसके ज्ञानमें वे बड़े निपुण हैं; इसीलिये वे सर्वत्र पूजित होते हैं ॥ १९ ॥

नासूयत्यागमं कंचित् स्वनयेनोपजीवति ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २० ॥

वे किसी शास्त्रमें दोषदृष्टि नहीं करते । अपनी नीतिके अनुसार जीवन-यापन करते हैं । समयको कभी व्यर्थ नहीं गँवाते और मनको वशमें रखते हैं; इसीलिये वे सर्वत्र सम्मानित होते हैं ॥ २० ॥

कृतश्रमः कृतप्रज्ञो न च तृप्तः समाधितः ।
नित्ययुक्तोऽप्रमत्तश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २१ ॥

उन्होंने योगाभ्यासके लिये बड़ा परिश्रम किया है । उनकी बुद्धि पवित्र है । उन्हें समाधिसे कभी तृप्ति नहीं होती । वे कर्तव्य-पालनके लिये सदा उद्यत रहते हैं और कभी प्रमाद नहीं करते हैं; इसीलिये सर्वत्र पूजे जाते हैं ॥ २१ ॥

नापत्रपश्च युक्तश्च नियुक्तः श्रेयसे परैः ।
अभेत्ता परगुह्यानां तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २२ ॥

नारदजी निर्लज्ज नहीं हैं । दूसरोंकी भलाईके लिये सदा उद्यत रहते हैं; इसीलिये दूसरे लोग उन्हें अपने कल्याणकारी कार्योंमें लगाये रखते हैं तथा वे किसीके गुप्त रहस्यको कहीं प्रकट नहीं करते हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र सम्मान होता है ॥ २२ ॥

न हृष्यत्यर्थलाभेषु नालाभे तु व्यथत्यपि ।
स्थिरबुद्धिरसक्तात्मा तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २३ ॥

वे धनका लाभ होनेसे प्रसन्न नहीं होते और उसके न मिलनेसे उन्हें दुःख भी नहीं होता है । उनकी बुद्धि स्थिर और मन आसक्तिरहित है; इसीलिये वे सर्वत्र पूजित हुए हैं ॥ २३ ॥

तं सर्वगुणसम्पन्नं दक्षं शुचिमनामयम् ।
कालज्ञं च प्रियज्ञं च कः प्रियं न करिष्यति ॥ २४ ॥

वे सम्पूर्ण गुणोंसे सुशोभित, कार्यकुशल, पवित्र, नीरोग, समयका मूल्य समझनेवाले और परम प्रिय आत्मतत्त्वके ज्ञाता हैं; फिर कौन उन्हें अपना प्रिय नहीं बनायेगा ? ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वासुदेवोग्रसेनसंवादे त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवादविषयक दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३० ॥

एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीका प्रश्न और व्यासजीका उनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कालका स्वरूप बताना

युधिष्ठिर उवाच

आद्यन्तं सर्वभूतानां ज्ञातुमिच्छामि कौरव।
ध्यानं कर्म च कालं च तथैवायुर्युगे युगे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुनन्दन ! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति किससे होती है ? उनका अन्त कहाँ होता है ? परमार्थकी प्राप्तिके लिये किसका ध्यान और किस कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये ? कालका क्या स्वरूप है ? तथा भिन्न-भिन्न युगोंमें मनुष्योंकी कितनी आयु होती है ? ॥ १ ॥

लोकतत्त्वं च कात्स्न्र्येन भूतानामागतिं गतिम्।
सर्गश्च निधनं चैव कुत एतत् प्रवर्तते ॥ २ ॥

मैं लोकका तत्त्व पूर्णरूपसे जानना चाहता हूँ। प्राणियोंके आवागमन और सृष्टि-प्रलय किससे होते हैं ? ॥ २ ॥

यदि तेऽनुग्रहे बुद्धिरस्मास्विह सतां वर।
एतद् भवन्तं पृच्छामि तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ३ ॥

सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह ! यदि आपका हमलोगोंपर अनुग्रह करनेका विचार है तो मैं यही बात आपसे पूछता हूँ। आप मुझे बताइये ॥ ३ ॥

पूर्वं हि कथितं श्रुत्वा भृगुभाषितमुत्तमम्।
भरद्वाजस्य विप्रर्षेस्ततो मे बुद्धिरुत्तमा ॥ ४ ॥

पहले ब्रह्मर्षि भरद्वाजके प्रति भृगुजीका जो उत्तम उपदेश हुआ था, उसे आपके मुँहसे सुनकर मुझे उत्तम बुद्धि प्राप्त हुई थी ॥ ४ ॥

जाता परमधर्मिष्ठा दिव्यसंस्थानसंस्थिता।
ततो भूयस्तु पृच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ५ ॥

मेरी बुद्धि परम धर्मिष्ठ एवं दिव्य स्थितिमें स्थित हो गयी थी; इसीलिये फिर पूछता हूँ। आप इस विषयका वर्णन करनेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
जगौ यद् भगवान् व्यासः पुत्राय परिपृच्छते ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें भगवान् व्यासने अपने पुत्रके पूछनेपर जो उपदेश दिया था, वही प्राचीन इतिहास मैं दुहराऊँगा ॥ ६ ॥

अधीत्य वेदानखिलान् साङ्गोपनिषदस्तथा।
अन्विच्छन्नैष्ठिकं कर्म धर्मनैपुणदर्शनात् ॥ ७ ॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासं पुत्रो वैयासकिः शुकः।
पप्रच्छ संदेहमिमं छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ ८ ॥

अङ्गों और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके व्यासपुत्र शुकदेवने नैष्ठिक कर्मको जाननेकी इच्छासे अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासकी धर्मज्ञानविषयक निपुणता देखकर उनसे अपने मनका संदेह पूछा। उन्हें यह विश्वास था कि पिताजीके उपदेशसे मेरा धर्म और अर्थविषयक सारा संशय दूर हो जायगा ॥ ७-८ ॥

श्रीशुक उवाच

भूतग्रामस्य कर्तारं कालज्ञाने च निश्चयम्।
ब्राह्मणस्य च यत् कृत्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—पिताजी ! समस्त प्राणिसमुदायको उत्पन्न करनेवाला कौन है ? कालके ज्ञानके विषयमें आपका क्या निश्चय है ? और ब्राह्मणका क्या कर्तव्य है ? ये सब बातें आप बतानेकी कृपा करें ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

तस्मै प्रोवाच तत् सर्वं पिता पुत्राय पृच्छते।
अतीतानागते विद्वान् सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ १० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भूत और भविष्यके ज्ञाता तथा सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले सर्वज्ञ विद्वान् पिता व्यासने अपने पुत्रके पूछनेपर उसे उन सब बातोंका इस प्रकार उपदेश किया ॥ १० ॥

व्यास उवाच

अनाद्यन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे सम्प्रवर्तते ॥ ११ ॥

व्यासजी बोले—बेटा ! सृष्टिके आरम्भमें अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्य, अजर-अमर, ध्रुव, अविकारी, अतर्क्य और ज्ञानातीत ब्रह्म ही रहता है ॥ ११ ॥

काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव
त्रिंशत्तु काष्ठा गणयेत् कलां ताम्।
त्रिंशत्कलश्चापि भवेन्मुहूर्तो
भागः कलाया दशमश्च यः स्यात् ॥ १२ ॥

(अब कालका विभाग इस प्रकार समझना चाहिये) पंद्रह निमेषकी एक काष्ठा और तीस काष्ठाकी एक कला गिननी चाहिये तीस कलाका एक मुहूर्त होता है। उसके साथ कलाका दसवाँ भाग और सम्मिलित होता है अर्थात् तीस कला और तीन काष्ठाका एक मुहूर्त होता है ॥ १२ ॥

त्रिंशन्मुहूर्तं तु भवेदहश्च
रात्रिश्च संख्या मुनिभिः प्रणीता।
मासः स्मृतो राज्यहनी च त्रिंशत्
संवत्सरो द्वादशमास उक्तः ॥ १३ ॥

तीस मुहूर्तका एक दिन-रात होता है। महर्षियोंने दिन और रात्रिके मुहूर्तोंकी संख्या उतनी ही बतायी है। तीस रात-दिनका एक मास और बारह मासोंका एक संवत्सर बताया गया है ॥ १३ ॥

संवत्सरं द्वे त्वयने वदन्ति
संख्याविदो दक्षिणमुत्तरं च ॥ १४ ॥

विद्वान् पुरुष दो अयनोंको मिलाकर एक संवत्सर कहते हैं। वे दो अयन हैं—उत्तरायण और दक्षिणायन ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषलौकिके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ १५ ॥

मनुष्यलोकके दिन-रातका विभाग सूर्यदेव करते हैं। रात प्राणियोंके सोनेके लिये है और दिन काम करनेके लिये ॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तयोः पुनः।
शुक्लोऽहः कर्मचेष्टायां कृष्णः स्वप्नाय शर्वरी ॥ १६ ॥

मनुष्योंके एक मासमें पितरोंका एक दिन-रात होता है। शुक्लपक्ष उनके काम-काज करनेके लिये दिन है और कृष्णपक्ष उनके विश्रामके लिये रात है ॥ १६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद् दक्षिणायनम् ॥ १७ ॥

मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंके एक दिन-रातके बराबर है, उनके दिन-रातका विभाग इस प्रकार है। उत्तरायण उनका दिन है और दक्षिणायन उनकी रात्रि ॥ १७ ॥

ये ते रात्र्यहनी पूर्वं कीर्तिते जीवलौकिके।
तयोः संख्याय वर्षाग्रं ब्राह्मे वक्ष्याम्यहःक्षपे ॥ १८ ॥
पृथक् संवत्सराग्राणि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
कृते त्रेतायुगे चैव द्वापरे च कलौ तथा ॥ १९ ॥

पहले मनुष्योंके जो दिन-रात बताये गये हैं, उन्हींकी संख्याके हिसाबसे अब मैं ब्रह्माके दिन-रातका मान बताता हूँ। साथ ही सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन चारों युगोंकी वर्ष-संख्या भी अलग-अलग बता रहा हूँ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥ २० ॥

देवताओंके चार हजार वर्षोंका एक सत्ययुग होता है। सत्ययुगमें चार सौ दिव्य वर्षोंकी संध्या होती है और उतने ही वर्षोंका एक संध्यांश भी होता है। (इस प्रकार सत्ययुग अड़तालीस सौ दिव्य वर्षोंका होता है) ॥

इतरेषु ससंध्येषु संध्यांशेषु ततस्त्रिषु।
एकपादेन हीयन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ २१ ॥

संध्या और संध्यांशोंसहित अन्य तीन युगोंमें यह (चार हजार आठ सौ वर्षोंकी) संख्या क्रमशः एक-एक चौथाई घटती जाती है* ॥ २१ ॥

एतानि शाश्वताँल्लोकान् धारयन्ति सनातनान्।
एतद् ब्रह्मविदां तात विदितं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ २२ ॥

ये चारों युग प्रवाहरूपसे सदा रहनेवाले सनातन लोकोंको धारण करते हैं। तात ! यह युगात्मक काल ब्रह्मवेत्ताओंके सनातन ब्रह्मका ही स्वरूप है ॥ २२ ॥

चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चित् परस्तस्य प्रवर्तते ॥ २३ ॥

सत्ययुगमें सत्य और धर्मके चारों चरण मौजूद रहते हैं—उस समय सत्य और धर्मका पूरा-पूरा पालन होता है। उस समय कोई भी धर्मशास्त्र अधर्मसे संयुक्त नहीं होता। उसका उत्तम रीतिसे पालन होता है ॥ २३ ॥

इतरेष्वागमाद् धर्मः पादशस्त्ववरोप्यते।
चौर्यकानृतमायाभिरधर्मश्चोपचीयते ॥ २४ ॥

अन्य युगोंमें शास्त्रोक्त धर्मका क्रमशः एक-एक चरण क्षीण होता जाता है और चोरी, असत्य तथा छल-कपट आदिके द्वारा अधर्मकी वृद्धि होने लगती है ॥ २४ ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतायुगे त्वेषां पादशो ह्रसते वयः ॥ २५ ॥

सत्ययुगके मनुष्य नीरोग होते हैं। उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ सिद्ध होती हैं तथा वे चार सौ वर्षोंकी आयुवाले होते हैं। त्रेतायुग आनेपर उनकी आयु एक चौथाई घटकर तीन सौ वर्षोंकी रह जाती है। इसी प्रकार द्वापरमें दो सौ और कलियुगमें सौ वर्षोंकी आयु होती है ॥ २५ ॥

वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीह नः श्रुतम्।
आयूंषि चाशिषश्चैव वेदस्यैव च यत्फलम् ॥ २६ ॥

त्रेता आदि युगोंमें वेदोंका स्वाध्याय और मनुष्योंकी आयु घटने लगती है, ऐसा सुना गया है। उनकी कामनाओंकी सिद्धिमें भी बाधा पड़ती है और वेदाध्ययनके फलमें भी न्यूनता आ जाती है ॥ २६ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ २७ ॥

युगोंके ह्रासके अनुसार सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें मनुष्योंके धर्म भी भिन्न-भिन्न प्रकारके हो जाते हैं ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुत्तमम्।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ २८ ॥

सत्ययुगमें तपस्याको ही सबसे बड़ा धर्म माना गया है। त्रेतामें ज्ञानको ही उत्तम बताया गया है। द्वापरमें यज्ञ और कलियुगमें एकमात्र दान ही श्रेष्ठ कहा गया है ॥

एतां द्वादशसाहस्रीं युगाख्यां कवयो विदुः।
सहस्रपरिवर्तं तद् ब्राह्मं दिवसमुच्यते ॥ २९ ॥

इस प्रकार देवताओंके बारह हजार वर्षोंका एक चतुर्युग होता है; यह विद्वानोंकी मान्यता है। एक सहस्र चतुर्युगको ब्रह्माका एक दिन बताया जाता है ॥ २९ ॥

रात्रिमेतावतीं चैव तदादौ विश्वमीश्वरः।
प्रलये ध्यानमाविश्य सुप्त्वा सोऽन्ते विबुद्ध्यते ॥ ३० ॥

---

* अर्थात् संध्या और संध्यांशोंसहित त्रेतायुग छत्तीस सौ वर्षोंका, द्वापर चौबीस सौ वर्षोंका और कलियुग बारह सौ वर्षोंका होता है।

इतने ही युगोंकी उनकी एक रात्रि भी होती है। भगवान् ब्रह्मा अपने दिनके आरम्भमें संसारकी सृष्टि करते हैं और रातमें जब प्रलयका समय होता है, तब सबको अपनेमें लीन करके योगनिद्राका आश्रय ले सो जाते हैं; फिर प्रलयका अन्त होने अर्थात् रात बीतनेपर वे जाग उठते हैं॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ ३१॥

एक हजार चतुर्युगका जो ब्रह्माका एक दिन बताया गया है और उतनी ही बड़ी जो उनकी रात्रि कही गयी है, उसको जो लोग ठीक-ठीक जानते हैं, वे ही दिन और रात अर्थात् कालतत्त्वको जाननेवाले हैं॥ ३१॥

प्रतिबुद्धो विकुरुते ब्रह्माक्षय्यं क्षपाक्षये।
सृजते च महद्भूतं तस्माद् व्यक्तात्मकं मनः॥ ३२॥

रात्रि समाप्त होनेपर जाग्रत् हुए ब्रह्माजी पहले अपने अक्षय स्वरूपको मायासे विकारयुक्त बनाते हैं फिर महत्तत्त्वको उत्पन्न करते हैं। तत्पश्चात् उससे स्थूल जगत्को धारण करनेवाले मनकी उत्पत्ति होती है॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २३१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकका अनुप्रश्नविषयक दो सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३१॥

द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्यासजीका शुकदेवको सृष्टिके उत्पत्ति-क्रम तथा युगधर्मोंका उपदेश

व्यास उवाच

ब्रह्म तेजोमयं शुक्रं यस्य सर्वमिदं जगत्।
एकस्य ब्रह्मभूतस्य द्वयं स्थावरजङ्गमम्॥ १॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! तेजोमय ब्रह्म ही सबका बीज है, उसीसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। उस एक ही ब्रह्मसे स्थावर और जङ्गम दोनोंकी उत्पत्ति होती है॥

अहर्मुखे विबुद्धः सन् सृजतेऽविद्यया जगत्।
अग्र एव महद्भूतमाशु व्यक्तात्मकं मनः॥ २॥

पहले कह आये हैं, ब्रह्माजी अपने दिनके आरम्भमें जागकर अविद्या (त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके) द्वारा सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करते हैं। सबसे पहले महत्तत्त्व प्रकट होता है। उससे स्थूल सृष्टिका आधारभूत मन उत्पन्न होता है॥

अभिभूयेह चार्चिष्मद् व्यसृजत् सप्त मानसान्।
दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम्॥ ३॥

उस मनकी दूरतक गति है तथा वह अनेक प्रकारसे गमनागमन करता है। प्रार्थना और संशयवृत्तिशाली वह मन चैतन्यसे संयुक्त होकर सम्पूर्ण पदार्थोंको अभिभूत करके सात[1] मानस ऋषियोंकी सृष्टि करता है॥ ३॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात् तस्य शब्दं गुणं विदुः॥ ४॥

फिर सृष्टिकी इच्छासे प्रेरित होनेपर मन नाना प्रकारकी सृष्टि करता है। उससे आकाशकी उत्पत्ति होती है। आकाशका गुण 'शब्द' माना गया है॥ ४॥

आकाशात् तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः॥ ५॥

तत्पश्चात् जब आकाशमें विकार होता है, तब उससे पवित्र और सम्पूर्ण गन्धोंको वहन करनेवाले बलवान् वायुतत्त्वका आविर्भाव होता है। उसका गुण 'स्पर्श' माना गया है॥ ५॥

वायोरपि विकुर्वाणाज्ज्योतिर्भवति भास्वरम्।
रोचिष्णु जायते शुक्रं तद्रूपगुणमुच्यते॥ ६॥

फिर वायुमें भी विकार होता है और उससे प्रकाशपूर्ण अग्नि-तत्त्व प्रकट होता है। वह अग्नि-तत्त्व चमचमाता हुआ एवं दीप्तिमान् है। उसका गुण 'रूप' बताया जाता है॥

ज्योतिषोऽपि विकुर्वाणाद् भवन्त्यापो रसात्मिकाः।
अद्भ्यो गन्धवहा भूमिः सर्वेषां सृष्टिरुच्यते॥ ७॥

फिर अग्नि-तत्त्वमें विकार आनेपर रसमय जलतत्त्वकी उत्पत्ति होती है। जलसे गन्धका वहन करनेवाली पृथ्वीका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि बतायी जाती है॥ ७॥

गुणाः सर्वस्य पूर्वस्य प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम्।
तेषां यावद् यथा यच्च तत्तत् तावद्गुणं स्मृतम्॥ ८॥

पीछे प्रकट हुए वायु आदि भूत उत्तरोत्तर अपने पूर्ववर्ती सभी भूतोंके गुण धारण करते हैं। इन सब भूतोंमेंसे जो भूत जितने समयतक जिस प्रकार रहता है, उसके गुण भी उतने ही समयतक रहते हैं॥ ८॥

उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणात्।

---

1. इन सप्तर्षियोंके नाम इस प्रकार हैं—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते॥

(महा० शान्ति० ३४० । ६९)

मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं।

पृथिव्यामेव तं विद्यादपां वायोश्च संश्रितम् ॥ ९ ॥

यदि कुछ मनुष्य जलमें गन्ध पाकर अयोग्यतावश यह कहने लगें कि यह जलका ही गुण है तो उनका वह कथन मिथ्या होगा; क्योंकि गन्ध वास्तवमें पृथ्वीका गुण है; अतः उसे पृथ्वीमें ही स्थित जानना चाहिये। जल और वायुमें तो वह आगन्तुककी भाँति स्थित होता है ॥ ९ ॥

एते सप्तविधात्मानो नानावीर्याः पृथक् पृथक्।
नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥ १० ॥

ये नाना प्रकारकी शक्तिवाले महत्तत्त्व, मन (अहंकार) और पञ्चसूक्ष्म महाभूत—सात पदार्थ पृथक्-पृथक् रहकर जबतक सब-के-सब मिल न सकें; तबतक उनमें प्रजाकी सृष्टि करनेकी शक्ति नहीं आयी ॥ १० ॥

ते समेत्य महात्मानो ह्यन्योन्यमभिसंश्रिताः।
शरीराश्रयणं प्राप्तास्ततः पुरुष उच्यते ॥ ११ ॥

परंतु ये सातों व्यापक पदार्थ ईश्वरकी इच्छा होनेपर जब एक दूसरेसे मिलकर परस्पर सहयोगी हो गये, तब भिन्न-भिन्न शरीरके आकारमें परिणत हुए। उस शरीर-नामक पुरमें निवास करनेके कारण जीवात्मा पुरुष कहलाता है ॥

शरीरं श्रयणाद् भवति मूर्तिमत् षोडशात्मकम्।
तमाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मणा ॥ १२ ॥

पञ्च स्थूल महाभूत, दस इन्द्रियाँ और मन—इन सोलह तत्त्वोंसे शरीरका निर्माण हुआ है। इन सबका आश्रय होनेके कारण ही देहको शरीर कहते हैं। शरीरके उत्पन्न होनेपर उसमें जीवोंके भोगावशिष्ट कर्मोंके साथ सूक्ष्म महाभूत प्रवेश करते हैं ॥ १२ ॥

सर्वभूतान्युपादाय तपसश्चरणाय हि।
आदिकर्ता स भूतानां तमेवाहुः प्रजापतिम् ॥ १३ ॥

भूतोंके आदि कर्ता ब्रह्माजी ही तपस्याके लिये समस्त सूक्ष्म भूतोंको साथ लेकर समष्टि शरीरमें प्रवेश करके स्थित होते हैं; इसलिये मुनिजन उन्हें प्रजापति कहते हैं ॥

स वै सृजति भूतानि स्थावराणि चराणि च।
ततः स सृजति ब्रह्मा देवर्षिपितृमानवान् ॥ १४ ॥
लोकान् नदीः समुद्रांश्च दिशः शैलान् वनस्पतीन्।
नरकिंनररक्षांसि वयःपशुमृगोरगान्।
अव्ययं च व्ययं चैव द्वयं स्थावरजङ्गमम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वे ब्रह्मा ही चराचर प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं। वे ही देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य, नाना प्रकारके लोक, नदी, समुद्र, दिशा, पर्वत, वनस्पति, किन्नर, राक्षस, पशु, पक्षी, मृग तथा सर्पोंको भी उत्पन्न करते हैं। अक्षय आकाश आदि और क्षयशील चराचर प्राणियोंकी सृष्टि भी उन्हींके द्वारा हुई है ॥ १४-१५ ॥

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥ १६ ॥

पूर्वकल्पकी सृष्टिमें जिन प्राणियोंद्वारा जैसे कर्म गये होते हैं, दूसरे कल्पोंमें बारंबार जन्म लेनेपर वे पूर्वकृत कर्मोंकी वासनासे प्रभावित होनेके कारण वैसे कर्म करने लगते हैं ॥ १६ ॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत् तस्य रोचते ॥ १७

एक जन्ममें मनुष्य हिंसा-अहिंसा, कोमलता-कठोर धर्म-अधर्म और सच-झूठ आदि जिन गुणों या दो अपनाता है, दूसरे जन्ममें भी उनके संस्कारोंसे प्रभा होकर उन्हीं गुणोंको वह पसंद करता और वैसे कार्योंमें लग जाता है ॥ १७ ॥

महाभूतेषु नानात्वमिन्द्रियार्थेषु मूर्तिषु।
विनियोगं च भूतानां धातैव विदधात्युत ॥ १८

आकाश आदि महाभूतोंमें, शब्द आदि विषयोंमें देवता आदिकी आकृतियोंमें जो अनेकता और भिन्नता तथा प्राणियोंकी जो भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्ति है, सबका विधान विधाता ही करते हैं ॥ १८ ॥

केचित् पुरुषकारं तु प्राहुः कर्मसु मानवाः।
दैवमित्यपरे विप्राः स्वभावं भूतचिन्तकाः ॥ १

कुछ लोग कर्मोंकी सिद्धिमें पुरुषार्थको ही प्र मानते हैं। दूसरे ब्राह्मण दैवको प्रधानता देते हैं और चिन्तक नास्तिकगण स्वभावको ही कार्यसि कारण बताते हैं ॥ १९ ॥

पौरुषं कर्म दैवं च फलवृत्तिः स्वभावतः।
त्रय एतेऽपृथग्भूता न विवेकं तु केचन ॥ २०

कुछ विद्वान् कहते हैं कि पुरुषार्थ, दैव और स्वभा अनुगृहीत कर्म—इन तीनोंके सहयोगसे फलकी सि होती है। ये तीनों मिलकर ही कार्यसाधक होते इनका अलग-अलग होना कार्यकी सिद्धिका हेतु नहीं होता

एतमेव च नैवं च न चोभे नानुभे न च।
कर्मस्था विषयं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ २१

कर्मवादी इस विषयमें यह पुरुषार्थ ही कार्यसाधक ऐसा नहीं कहते। ऐसा नहीं है, अर्थात् पुरुषार्थ नहीं, कारण है, यह भी नहीं कहते। दोनों मिलकर कार्यसि हेतु हैं, यह भी नहीं कहते और दोनों नहीं हैं, यह भी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वे इस विषयमें कुछ निश्चय कर पाते हैं; परंतु जो सत्त्वस्वरूप परमात्मामें स्थि हुए योगी हैं, वे समदर्शी हैं अर्थात् शम (ब्रह्म) ही कारण मानते हैं ॥ २१ ॥

तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः।
तेन सर्वानवाप्नोति यान् कामान् मनसेच्छति ॥ २२

तप ही जीवके कल्याणका मुख्य साधन है। तपका मू है शम और दम। पुरुष अपने मनसे जिन-जिन कामना

को पाना चाहता है, उन सबको वह तपस्यासे प्राप्त कर लेता है ॥ २२ ॥

तपसा तदवाप्नोति यद्भूतं सृजते जगत्।
स तद्भूतश्च सर्वेषां भूतानां भवति प्रभुः ॥ २३ ॥

तपस्यासे वह उस परमात्मसत्ताको भी प्राप्त कर लेता है, जिससे इस जगत्की सृष्टि होती है। तपसे परमात्मस्वरूप होकर मनुष्य समस्त प्राणियोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है ॥ २३ ॥

ऋषयस्तपसा वेदानध्यैषन्त दिवानिशम्।
अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ॥ २४ ॥

तपके ही प्रभावसे महर्षिगण दिन-रात वेदोंका अध्ययन करते थे। तपःशक्तिसे सम्पन्न होकर ही ब्रह्माजीने आदि-अन्तसे रहित वेदमयी वाणीका प्रथम उच्चारण किया ॥ २४ ॥

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ॥ २५ ॥
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।

ऋषियोंके नाम, वेदोक्त सृष्टिक्रमके अनुसार रचे हुए सब पदार्थोंके नाम, प्राणियोंके अनेकविध रूप तथा उनके कर्मोंका विधान—यह सब कुछ वे ऐश्वर्यशाली प्रजापति सृष्टिके आदिकालमें वेदोक्त शब्दोंके अनुसार ही रचते हैं ॥ २५½ ॥

नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु सृष्टयः ॥ २६ ॥
शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विदधात्यजः।

वेदोंमें ऋषियोंके नाम तो हैं ही, सृष्टिमें उत्पन्न हुए सब पदार्थोंके भी नाम हैं। अजन्मा ब्रह्माजी अपनी रात्रिके अन्तमें अर्थात् नूतन सृष्टिके प्रभातकालमें अपने द्वारा रचे गये सभी पदार्थोंका दूसरोंके लिये नाम-निर्देश करते हैं ॥ २६½ ॥

नामभेदतपःकर्मयज्ञाख्या लोकसिद्धयः ॥ २७ ॥

फिर ब्रह्माजीने ऋग्वेद आदिके नाम, वर्ण और आश्रम-के भेद, तप, शम, दम (कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत), कर्म (संध्यो-पासन आदि नित्य-कर्म) और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ बनाये। ये नाम आदि लौकिक सिद्धियाँ हैं ॥ २७ ॥

आत्मसिद्धिस्तु वेदेषु प्रोच्यते दशभिः क्रमैः।
यदुक्तं वेदवादेषु गहनं वेददर्शिभिः।
तदन्तेषु यथायुक्तं क्रमयोगेन लक्ष्यते ॥ २८ ॥

आत्मा (के मोक्ष) की सिद्धि तो वेदोंमें दस[1] उपायों-द्वारा बतायी जाती है। जो गहन (दुर्बोध) ब्रह्म वेदवाक्यों-में वेददर्शी विद्वानोंद्वारा वर्णित हुआ है और वेदान्तवचनोंमें जिसका स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है, वह क्रमयोगसे लक्षित होता है ॥ २८ ॥

कर्मजोऽयं पृथग्भावो द्वन्द्वयुक्तोऽपि देहिनः।
तमात्मसिद्धिविज्ञानाज्जहाति पुरुषो बलात् ॥ २९ ॥

देहाभिमानी जीवको जो यह पृथक्-पृथक् शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका भोग प्राप्त होता है, वह कर्मजनित है। मनुष्य तत्त्वज्ञानके द्वारा उस द्वन्द्वभोगको त्याग देता है तथा ज्ञानके ही बलसे आत्मसिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है ॥

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ३० ॥

ब्रह्मके दो स्वरूप जानने चाहिये—एक शब्द ब्रह्म और दूसरा परब्रह्म, जो शब्द ब्रह्म अर्थात् वेदका पूर्ण विद्वान् है, वह सुगमतासे परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ३० ॥

आलम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञाः शूद्रास्तु तपोयज्ञा द्विजातयः ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणोंके लिये तप ही यज्ञ है, क्षत्रियोंके लिये हिंसा-प्रधान युद्ध आदि ही यज्ञ हैं, वैश्योंके लिये घृत आदि हविष्यकी आहुति देना ही यज्ञ है और शूद्रोंके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा ही यज्ञ है ॥ ३१ ॥

त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे।
द्वापरे विप्लवं यान्ति यज्ञाः कलियुगे तथा ॥ ३२ ॥

यह यज्ञोंका विधान त्रेतायुगमें ही था, सत्ययुगमें नहीं। द्वापरसे क्रमशः क्षीण होते हुए यज्ञ कलियुगमें लुप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

अपृथग्धर्मिणो मर्त्या ऋक्सामानि यजूंषि च।
काम्या इष्टीः पृथग् दृष्ट्वा तपोभिस्तप एव च ॥ ३३ ॥

सत्ययुगमें अद्वैत-धर्ममें निष्ठा रखनेवाले मनुष्य ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद तथा सकाम इष्टियोंको ज्ञानरूप तपस्या-से भिन्न देखकर उन सबको छोड़ केवल ज्ञानरूप तपस्यामें ही संलग्न होते हैं ॥ ३३ ॥

त्रेतायां तु समस्ता ये प्रादुरासन् महाबलाः।
संयन्तारः स्थावराणां जङ्गमानां च सर्वशः ॥ ३४ ॥

त्रेतायुगमें जो महाबली नरेश प्रकट हुए थे, वे सब-के-सब समस्त चराचर प्राणियोंके नियन्ता थे ॥ ३४ ॥

त्रेतायां संहता वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।
संरोधादायुषस्त्वेते भ्रश्यन्ते द्वापरे युगे ॥ ३५ ॥

त्रेतायुगमें वेद, यज्ञ और वर्णाश्रम-धर्म सुव्यवस्थितरूपसे पालित होते थे; परंतु द्वापरयुगमें आयुकी न्यूनता होनेसे लोगोंमें उनके पालनका उत्साह कम हो गया—वे वेद यज्ञ आदिसे च्युत होने लगे ॥ ३५ ॥

दृश्यन्ते न च दृश्यन्ते वेदाः कलियुगेऽखिलाः।
उत्सीदन्ते सयज्ञाश्च केवलाधर्मपीडिताः ॥ ३६ ॥

कलियुग आनेपर तो कहीं वेदोंका दर्शन होता है और कहीं नहीं होता है। उस समय केवल अधर्मसे पीड़ित होकर यज्ञ और वेद लुप्त हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

---

1. स्वाध्याय, गार्हस्थ्य, संध्यावन्दनादि, कृच्छ्रचान्द्रायणादि, यज्ञ, पूर्तकर्म, योग, दान, गुरुशुश्रूषा और समाधि—ये दस क्रमयोग हैं।

कृते युगे यस्तु धर्मो ब्राह्मणेषु प्रदृश्यते ।
आत्मवत्सु तपोवत्सु श्रुतवत्सु प्रतिष्ठितः ॥ ३७ ॥

सत्ययुगमें जिस चारों चरणोंवाले धर्मकी चर्चा की गयी है, वह अन्य युगोंमें भी मनको वशमें रखनेवाले तपस्वी एवं वेद-वेदान्तोंके ज्ञाता ब्राह्मणोंमें प्रतिष्ठित देखा जाता है ॥ ३७ ॥

सधर्मव्रतसंयोगं यथाधर्मं युगे युगे ।
विक्रियन्ते स्वधर्मस्था वेदवादा यथागमम् ॥ ३८ ॥

सत्ययुगमें मनुष्य स्वभावके अनुसार यज्ञ, व्रत और तीर्थाटन आदि करते हैं और त्रेता आदि युगमें वेदवादी एवं स्वधर्मनिष्ठ पुरुष शास्त्रके कथनानुसार धर्मके ह्रासते विकारको प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥

यथा विश्वानि भूतानि वृष्ट्या भूयांसि प्रावृषि ।
सृज्यन्ते जङ्गमस्थानि तथा धर्मा युगे युगे ॥ ३९ ॥

जैसे वर्षाकालमें जलकी वर्षा होनेसे स्थावर और जङ्गम समस्त पदार्थ वृद्धिको प्राप्त होते हैं और वर्षा बीतनेपर उनका ह्रास होने लगता है, उसी प्रकार प्रत्येक युगमें धर्म और अधर्मकी वृद्धि एवं ह्रास होते रहते हैं ॥ ३९ ॥

यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा ब्रह्महरादिषु ॥ ४० ॥

जैसे वसन्त आदि ऋतुओंमें फूल और फल आदि नाना प्रकारके ऋतुचिह्न दृष्टिगोचर होते हैं और भिन्न ऋतुओंमें उन चिह्नोंका दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मा, वि और महेश्वरमें भी सृष्टि, रक्षा और संहारकी शक्तियाँ न्यून और कभी अधिक दिखायी देती हैं ॥ ४० ॥

विहितं कालनानात्वमनादिनिधनं तथा ।
कीर्तितं तत्पुरस्तात् ते तत्सूते चात्ति च प्रजाः ॥ ४

स्वयं ब्रह्माजीने ही सत्ययुग, त्रेता आदिके रूपमें भेदका विधान किया है । वह अनादि और अनन्त है । काल ही लोककी सृष्टि और संहार करता है । बेटा ! मैं तुमसे पहले ही बता चुका हूँ ॥ ४१ ॥

दधाति प्रभवे स्थानं भूतानां संयमो यमः ।
स्वभावेनैव वर्तन्ते द्वन्द्वयुक्तानि भूरिशः ॥ ४

काल ही सम्पूर्ण प्राणियोंको संयम और नियममें र वाला है । वही उनकी उत्पत्तिके लिये स्थान धारण क है । सारे प्राणी स्वभावसे ही द्वन्द्वोंसे युक्त होकर अत्यन्त पाते हैं ॥ ४२ ॥

सर्गकालक्रिया वेदाः कर्ता कार्यं क्रियाफलम् ।
प्रोक्तं ते पुत्र सर्वं वै यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४

बेटा ! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसके अ मैंने तुम्हें सृष्टि, काल, क्रिया, वेद, कर्ता, कार्य तथा क्रि फल आदि सब विषय बता दिये ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीका अनुप्रश्नविषयक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मप्रलय एवं महाप्रलयका वर्णन

व्यास उवाच

प्रत्याहारं तु वक्ष्यामि शर्वर्यादौ गतेऽहनि ।
यथेदं कुरुतेऽध्यात्मं सुसूक्ष्मं विश्वमीश्वरः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! अब मैं यह बता रहा हूँ कि ब्रह्माजीका दिन बीतनेपर उनकी रात्रि आरम्भ होनेके पहले ही किस प्रकार इस सृष्टिका लय होता है तथा लोकेश्वर ब्रह्माजी स्थूल जगत्को अत्यन्त सूक्ष्म करके इसे कैसे अपने भीतर लीन कर लेते हैं ? ॥ १ ॥

दिवि सूर्यस्तथा सप्त दहन्ति शिखिनोऽर्चिषः ।
सर्वमेतत् तदार्चिर्भिः पूर्णं जाज्वल्यते जगत् ॥ २ ॥

जब प्रलयका समय आता है, तब आकाशमें ऊपरसे सूर्य और नीचेसे अग्निकी सात ज्वालाएँ संसारको भस्म करने लगती हैं । उस समय यह सारा जगत् ज्वालाओंसे व्याप्त होकर जाज्वल्यमान दिखायी देने लगता है ॥ २ ॥

पृथिव्यां यानि भूतानि जङ्गमानि ध्रुवाणि च ।
तान्येवाग्रे प्रलीयन्ते भूमित्वमुपयान्ति च ॥ ३ ॥

भूतलके जितने भी चराचर प्राणी हैं, वे सब पहले दग्ध होकर पृथ्वीमें एकाकार हो जाते हैं ॥ ३ ॥

ततः प्रलीने सर्वस्मिन् स्थावरे जङ्गमे तथा ।
निर्वृक्षा निस्तृणा भूमिर्दृश्यते कूर्मपृष्ठवत् ॥ ४

तदनन्तर स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण प्राणियोंके लीन हो पर तृण और वृक्षोंसे रहित हुई यह भूमि कछुएकी पी दिखायी देने लगती है ॥ ४ ॥

भूमेरपि गुणं गन्धमाप आददते यदा ।
आत्तगन्धा तदा भूमिः प्रलयत्वाय कल्पते ॥ ५

तत्पश्चात् जब जल पृथ्वीके गुण गन्धको ग्रहण कर है, तब गन्धहीन हुई पृथ्वी अपने कारणभूत जलमें हो जाती है ॥ ५ ॥

आपस्तत्र प्रतिष्ठन्ति ऊर्मिमत्यो महास्वनाः ।
सर्वमेवेदमापूर्य तिष्ठन्ति च चरन्ति च ॥ ६

फिर तो जल गम्भीर शब्द करता हुआ चारों ओर उ पड़ता है और उसमें उत्ताल तरङ्गें उठने लगती हैं । सम्पूर्ण विश्वको अपनेमें निमग्न करके लहराता रहता है ॥

अपामपि गुणं तात ज्योतिराददते यदा।
आपस्तदा त्वात्तगुणा ज्योतिःषूपरमन्ति वै ॥ ७ ॥

वत्स! तदनन्तर तेज जलके गुण रसको ग्रहण कर लेता है और रसहीन जल तेजमें लीन हो जाता है ॥ ७ ॥

यदाऽऽदित्यं स्थितं मध्ये गूहन्ति शिखिनोऽर्चिषः।
सर्वमेवेदमर्चिर्भिः पूर्णं जाज्वल्यते नभः ॥ ८ ॥

उस समय जब आगकी लपटें सूर्यको अपने भीतर करके चारों ओरसे ढक लेती हैं, तब सम्पूर्ण आकाश ज्वालाओंसे व्याप्त होकर प्रज्वलित होता-सा जान पड़ता है ॥ ८ ॥

ज्योतिषोऽपि गुणं रूपं वायुराददते यदा।
प्रशाम्यति ततो ज्योतिर्वायुर्दोधूयते महान् ॥ ९ ॥

फिर तेजके गुण रूपको वायुतत्त्व ग्रहण कर लेता है। इससे आग शान्त हो जाती है और वायुमें मिल जाती है। तब वायु अपने महान् वेगसे सम्पूर्ण आकाशको क्षुब्ध कर डालती है ॥ ९ ॥

ततस्तु स्वनमासाद्य वायुः सम्भवमात्मनः।
अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च दोधवीति दिशो दश ॥ १० ॥

वह बड़े जोरसे हरहराती और अपने वेगसे उत्पन्न आवाजको फैलाती हुई ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर दसों दिशाओंमें चलने लगती है ॥ १० ॥

वायोरपि गुणं स्पर्शमाकाशं ग्रसते यदा।
प्रशाम्यति तदा वायुः खं तु तिष्ठति नादवत् ॥ ११ ॥

इसके बाद आकाश वायुके गुण स्पर्शको भी ग्रस लेता है। तब वायु शान्त हो जाती और आकाशमें मिल जाती है; फिर तो आकाश महान् शब्दसे युक्त हो अकेला ही रह जाता है ॥ ११ ॥

अरूपमरसस्पर्शमगन्धं न च मूर्तिमत्।
सर्वलोकप्रणदितं खं तु तिष्ठति नादवत् ॥ १२ ॥

उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका नाम भी नहीं रह जाता। किसी भी मूर्त पदार्थकी सत्ता नहीं रहती। जिसका शब्द सभी लोकोंमें निनादित होता था, वह आकाश ही केवल शब्द गुणसे युक्त होकर शेष रहता है ॥ १२ ॥

आकाशस्य गुणं शब्दमभिव्यक्तात्मकं मनः।
मनसो व्यक्तमव्यक्तं ब्राह्मः सम्प्रतिसंचरः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् दृश्य प्रपञ्चको व्यक्त करनेवाला मन आकाशके गुण शब्दको, जो मनसे ही प्रकट हुआ था, अपनेमें लीन कर लेता है। इस तरह व्यक्त मन और अव्यक्त (महत्तत्त्व) का ब्रह्माके मनमें लय होना ब्राह्म प्रलय कहलाता है ॥ १३ ॥

तदात्मगुणमाविश्य मनो ग्रसति चन्द्रमाः।
मनस्युपरते चापि चन्द्रमस्युपतिष्ठते ॥ १४ ॥

महाप्रलयके समय चन्द्रमा व्यक्त मनको आत्मगुणमें प्रविष्ट करके स्वयं उसको ग्रस लेते हैं। तब मन उपरत (शान्त) हो जाता है; फिर वह चन्द्रमामें उपस्थित रहता है ॥ १४ ॥

तं तु कालेन महता संकल्पः कुरुते वशे।
चित्तं ग्रसति संकल्पं तच्च ज्ञानमनुत्तमम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् संकल्प (अव्यक्त मन) दीर्घकालमें उस व्यक्त-मनसहित चन्द्रमाको अपने वशीभूत कर लेता है और समष्टि बुद्धि संकल्पको ग्रस लेती है। उसी बुद्धिको परम उत्तम ज्ञान माना गया है ॥ १५ ॥

कालो गिरति विज्ञानं कालं बलमिति श्रुतिः।
बलं कालो ग्रसति तु तं विद्वान् कुरुते वशे ॥ १६ ॥

सुननेमें आया है कि काल ज्ञान (समष्टि बुद्धि) को ग्रस लेता है, शक्ति उस कालको अपने अधीन कर लेती है; फिर महाकाल शक्तिको और परब्रह्म महाकालको अपने अधीन कर लेता है ॥ १६ ॥

आकाशस्य यथा घोषं तं विद्वान् कुरुतेऽऽत्मनि।
तदव्यक्तं परं ब्रह्म तच्छाश्वतमनुत्तमम्।
एवं सर्वाणि भूतानि ब्रह्मैव प्रतिसंचरः ॥ १७ ॥

जिस प्रकार आकाश अपने गुण शब्दको आत्मसात् कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म महाकालको अपनेमें विलीन कर लेता है। वह परब्रह्म परमात्मा अव्यक्त, सनातन और सर्वोत्तम है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंका लय होता है और सबके लयका अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा ही है ॥ १७ ॥

यथावत् कीर्तितं सम्यगेवमेतदसंशयम्।
बोध्यं विद्यामयं दृष्ट्वा योगिभिः परमात्मभिः ॥ १८ ॥

इस प्रकार परमात्मस्वरूप योगियोंने इस ज्ञानमय बोध्य-तत्त्वका साक्षात्कार करके इसका यथार्थरूपसे वर्णन किया है, यह उत्तम ज्ञान निःसंदेह ऐसा ही है ॥ १८ ॥

एवं विस्तारसंक्षेपौ ब्रह्माव्यक्ते पुनः पुनः।
युगसाहस्रयोरादावहोरात्रस्तथैव च ॥ १९ ॥

इस प्रकार बारंबार अव्यक्त परब्रह्ममें सृष्टिका विस्तार और लय होता है। ब्रह्माजीका दिन एक हजार चतुर्युगका होता है और उनकी रात भी उतनी ही बड़ी होती है; यह बात पहले ही बता दी गयी है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकका अनुप्रश्नविषयक दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंका कर्तव्य और उन्हें दान देनेकी महिमाका वर्णन

व्यास उवाच

भूतग्रामे नियुक्तं यत् तदेतत् कीर्तितं मया।
ब्राह्मणस्य तु यत् कृत्यं तत् ते वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! तुमने भूतसमुदायके

विषयमें जो प्रश्न किया था, उसीके उत्तरमें मैंने यह सब बताया है। अब मैं तुम्हें ब्राह्मणका जो कर्तव्य है, वह बता रहा हूँ, सुनो ॥ १ ॥

जातकर्मप्रभृत्यस्य कर्मणां दक्षिणावताम्।
क्रिया स्यादासमावृत्तेराचार्ये वेदपारगे ॥ २ ॥

ब्राह्मण-बालकके जातकर्मसे लेकर समावर्तनतक समस्त संस्कार वेदोंके पारङ्गत विद्वान् आचार्यके निकट रहकर सम्पन्न होने चाहिये और उनमें समुचित दक्षिणा देनी चाहिये ॥

अधीत्य वेदानखिलान् गुरुशुश्रूषणे रतः।
गुरूणामनृणो भूत्वा समावर्तेत यज्ञवित् ॥ ३ ॥

उपनयनके पश्चात् ब्राह्मण-बालक गुरुशुश्रूषामें तत्पर हो सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करे। तत्पश्चात् पर्याप्त गुरु-दक्षिणा दे। गुरु-ऋणसे उऋण हो वह यज्ञवेत्ता बालक समावर्तन-संस्कारके पश्चात् घर लौटे ॥ ३ ॥

आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम् ।
आविमोक्षाच्छरीरस्य सोऽवतिष्ठेद् यथाविधि ॥ ४ ॥

तदनन्तर आचार्यकी आज्ञा लेकर चारों आश्रमोंमेंसे किसी एक आश्रममें शास्त्रोक्त विधिके अनुसार जीवनपर्यन्त रहे (अथवा क्रमशः सभी आश्रमोंमें प्रवेश करे) ॥ ४ ॥

प्रजासर्गेण दारैश्च ब्रह्मचर्येण वा पुनः।
वने गुरुसकाशे वा यतिधर्मेण वा पुनः ॥ ५ ॥

उसकी इच्छा हो तो स्त्री-परिग्रह करके गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए संतान उत्पन्न करे अथवा आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे या वनमें रहकर वानप्रस्थ-धर्मका आचरण करे अथवा गुरुके समीप रहे या संन्यास-धर्मके अनुसार जीवन व्यतीत करे ॥ ५ ॥

गृहस्थस्त्वेष धर्माणां सर्वेषां मूलमुच्यते।
यत्र पक्वकषायो हि दान्तः सर्वत्र सिध्यति ॥ ६ ॥

यह गृहस्थ-आश्रम सब धर्मोंका मूल कहा जाता है। इसमें रहकर अन्तःकरणके रागादि दोष पक जानेपर जितेन्द्रिय पुरुषको सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

प्रजावाञ्श्रोत्रियो यज्वा मुक्त एव ऋणैस्त्रिभिः।
अथान्यानाश्रमान् पश्चात् पूतो गच्छेत कर्मभिः॥ ७ ॥

गृहस्थ पुरुष संतान उत्पन्न करके पितृ-ऋणसे, वेदोंका स्वाध्याय करके ऋषि-ऋणसे और यज्ञोंका अनुष्ठान करके देव-ऋणसे छुटकारा पाता है। इस प्रकार तीनों ऋणोंसे मुक्त हो विहित कर्मोंका सम्पादन करके पवित्र बने। तत्पश्चात् दूसरे आश्रमोंमें प्रवेश करे ॥ ७ ॥

यत् पृथिव्यां पुण्यतमं विद्यात् स्थानं तदावसेत्।
यतेत तस्मिन् प्रामाण्यं गन्तुं यशसि चोत्तमे ॥ ८ ॥

इस पृथ्वीपर जो स्थान पवित्र एवं उत्तम जान पड़े, वहीं निवास करे। उसी स्थानमें रहकर वह उत्तम यशके विषयमें अपनेको आदर्श पुरुष बनानेका प्रयत्न करे ॥ ८ ॥

तपसा वा सुमहता विद्यानां पारणेन वा।
इज्यया वा प्रदानैर्वा विप्राणां वर्धते यशः ॥ ९ ॥
यावदस्य भवत्यस्मिन् कीर्तिर्लोके यशस्करी।
तावत् पुण्यकृतां लोकाननन्तान् पुरुषोऽश्नुते ॥ १० ॥

महान् तप, पूर्ण विद्याध्ययन, यज्ञ अथवा दान करनेसे ब्राह्मणोंका यश बढ़ता है। जबतक इस जगत्में यशको बढ़ानेवाली उसकी कीर्ति बनी रहती है, तबतक वह पुण्यवानोंके अक्षय लोकोंमें निवास करके दिव्य सुख भोगता रहता है।

अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा।
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात् कथंचन ॥ ११ ॥

ब्राह्मणको अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन तथा दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंका आश्रय लेना चाहिये; परंतु उसे किसी तरह न तो अनुचित प्रतिग्रह स्वीकार करना चाहिये, न व्यर्थ दान ही देना चाहिये ॥ ११ ॥

याज्यतः शिष्यतो वापि कन्याया वा धनं महत्।
यदाऽऽगच्छेद् यजेद् दद्यान्नैकोऽश्नीयात् कथंचन।

यजमानसे, शिष्यसे अथवा कन्या-शुल्कसे जब महान् धन प्राप्त हो, तब उसके द्वारा यज्ञ करे, दान दे, अकेला किसी तरह उस धनका उपभोग न करे ॥ १२ ॥

गृहमावसतो ह्यस्य नान्यत् तीर्थं प्रतिग्रहात्।
देवर्षिपितृगुर्वर्थं वृद्धातुरबुभुक्षताम् ॥ १३ ॥

देवता, ऋषि, पितर, गुरु, वृद्ध, रोगी और भूखे मनुष्योंको भोजन देनेके लिये गृहस्थ ब्राह्मणको प्रतिग्रह स्वीकार करना चाहिये। प्रतिग्रहके सिवा ब्राह्मणके लिये धन-संग्रहका दूसरा कोई पवित्र मार्ग नहीं है ॥ १३ ॥

अन्तर्हिताधितप्तानां यथाशक्ति बुभूषताम्।
देवानामतिशक्त्यापि देयमेषां कृतादपि ॥ १४ ॥
अर्हतामनुरूपाणां नादेयं ह्यस्ति किंचन।
उच्चैःश्रवसमप्यश्वं प्रापणीयं सतां विदुः ॥ १५ ॥

जो दारिद्र्यग्रस्त होनेके कारण लज्जासे छिपे-छिपे फिरते हैं तथा अत्यन्त संतप्त हैं, अथवा जो यथाशक्ति अपनी पारमार्थिक उन्नतिके लिये प्रयत्न करना चाहते हैं, ऐसे भूदेवों को उपार्जित धनमेंसे यथाशक्ति देना चाहिये। योग्य एवं पूजनीय ब्राह्मणोंके लिये कोई भी वस्तु अदेय नहीं है। श्रेष्ठ सत्पात्रोंके लिये तो उच्चैःश्रवा घोड़ा भी दिया जा सकता है, यह श्रेष्ठ पुरुषोंका मत है ॥ १४-१५ ॥

अनुनीय यथाकामं सत्यसंधो महाव्रतः।
स्वैः प्राणैर्ब्राह्मणप्राणान् परित्राय दिवं गतः ॥ १६ ॥

महान् व्रतधारी राजा सत्यसंधने इच्छानुसार अनुनय-विनय करके अपने प्राणोंद्वारा एक ब्राह्मणके प्राणोंकी रक्षा की थी, ऐसा करके वे स्वर्गलोकमें गये थे ॥ १६ ॥

रन्तिदेवश्च सांकृत्यो वसिष्ठाय महात्मने।
अपः प्रदाय शीतोष्णा नाकपृष्ठे महीयते ॥ १७ ॥

संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवने महात्मा वसिष्ठको शीतोष्ण जल प्रदान किया था, जिससे वे स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हैं।

आत्रेयश्चेन्द्रदमनो ह्यर्हते विविधं धनम्।
दत्त्वा लोकान् ययौ धीमाननन्तान् स महीपतिः ॥१८॥

अत्रिवंशज बुद्धिमान् राजा इन्द्रदमनने एक योग्य ब्राह्मणको नाना प्रकारके धनका दान करके अक्षय लोक प्राप्त किये थे ॥

शिविरौशीनरोऽङ्गानि सुतं च प्रियमौरसम्।
ब्राह्मणार्थमुपाहृत्य नाकपृष्ठमितो गतः ॥ १९ ॥

उशीनरके पुत्र राजा शिविने किसी ब्राह्मणके लिये अपने शरीर और प्रिय औरस पुत्रका दान कर दिया था, जिससे वे यहाँसे स्वर्गलोकमें गये थे ॥ १९ ॥

प्रतर्दनः काशिपतिः प्रदाय नयने स्वके।
ब्राह्मणायातुलां कीर्तिमिह चामुत्र चाश्नुते ॥ २० ॥

काशिराज प्रतर्दनने किसी ब्राह्मणको अपने दोनों नेत्र प्रदान करके इस लोकमें अनुपम कीर्ति प्राप्त की और परलोकमें वे उत्तम सुख भोगते हैं ॥ २० ॥

दिव्यमष्टशलाकं तु सौवर्णं परमर्द्धिमत्।
छत्रं देवावृधो दत्त्वा सराष्ट्रोऽभ्यपतद् दिवम् ॥ २१ ॥

राजा देवावृधने आठ शलाकाओं (ताड़ियों) से युक्त सोनेका बना हुआ बहुमूल्य छत्र दान करके अपने देशकी प्रजाके साथ स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ २१ ॥

सांकृतिश्च तथाऽऽत्रेयः शिष्येभ्यो ब्रह्म निर्गुणम्।
उपदिश्य महातेजा गतो लोकाननुत्तमान् ॥ २२ ॥

अत्रिवंशमें उत्पन्न महातेजस्वी सांकृति अपने शिष्योंको निर्गुण ब्रह्मका उपदेश देकर उत्तम लोकोंको प्राप्त हुए ॥

अम्बरीषो गवां दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यः प्रतापवान्।
अर्बुदानि दशैकं च सराष्ट्रोऽभ्यपतद् दिवम् ॥ २३ ॥

प्रतापी राजा अम्बरीषने ब्राह्मणोंको ग्यारह अर्बुद (एक अरब दस करोड़) गौएँ दानमें देकर देशवासियों-सहित स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ २३ ॥

सावित्री कुण्डले दिव्ये शरीरं जनमेजयः।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य जग्मतुर्लोकमुत्तमम् ॥ २४ ॥

सावित्रीने दो दिव्य कुण्डल दान किये थे और राजा जनमेजयने ब्राह्मणके लिये अपने शरीरका परित्याग किया था। इससे वे दोनों उत्तम लोकमें गये ॥ २४ ॥

सर्वरत्नं वृषादर्भिर्युवनाश्वः प्रियाः स्त्रियः।
रम्यमावसथं चैव दत्त्वा स्वर्लोकमास्थितः ॥ २५ ॥

वृषदर्भके पुत्र युवनाश्व सब प्रकारके रत्न, अभीष्ट स्त्रियाँ तथा सुरम्य गृह दान करके स्वर्गलोकमें निवास करते हैं ॥

निमी राष्ट्रं च वैदेहो जामदग्न्यो वसुन्धराम्।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ चापि गयश्चोर्वीं सपत्तनाम् ॥ २६ ॥

विदेहराज निमिने अपना राज्य और जमदग्निनन्दन परशुराम तथा राजा गयने नगरोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मणको दानमें दे दी थी ॥ २६ ॥

अवर्षति च पर्जन्ये सर्वभूतानि भूतकृत्।
वसिष्ठो जीवयामास प्रजापतिरिव प्रजाः ॥ २७ ॥

एक बार पानी न बरसनेपर महर्षि वसिष्ठने प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले दूसरे प्रजापतिके समान सम्पूर्ण प्रजाको जीवन-दान दिया था ॥ २७ ॥

करन्धमस्य पुत्रस्तु कृतात्मा मरुतस्तथा।
कन्यामङ्गिरसे दत्त्वा दिवमाशु जगाम ह ॥ २८ ॥

करन्धमके पुण्यात्मा पुत्र राजा मरुत्तने महर्षि अङ्गिराको कन्यादान करके तत्काल स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया था ॥

ब्रह्मदत्तश्च पाञ्चाल्यो राजा बुद्धिमतां वरः।
निधिं शङ्खं द्विजाग्र्येभ्यो दत्त्वा लोकानवाप्तवान् ॥ २९ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पाञ्चाल राज ब्रह्मदत्तने उत्तम ब्राह्मणोंको शङ्खनिधि देकर पुण्यलोक प्राप्त किये थे ॥ २९ ॥

राजा मित्रसहश्चापि वसिष्ठाय महात्मने।
मदयन्तीं प्रियां दत्त्वा तया सह दिवं गतः ॥ ३० ॥

राजा मित्रसहने महात्मा वसिष्ठको अपनी प्यारी रानी मदयन्ती देकर उसके साथ ही स्वर्गलोकमें पदार्पण किया था ॥

सहस्रजिच्च राजर्षिः प्राणानिष्टान् महायशाः।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३१ ॥

महायशस्वी राजर्षि सहस्रजित् ब्राह्मणके लिये अपने प्यारे प्राणोंका परित्याग करके परम उत्तम लोकोंमें गये ॥

सर्वकामैश्च सम्पूर्णं दत्त्वा वेश्म हिरण्मयम्।
मुद्गलाय गतः स्वर्गं शतद्युम्नो महीपतिः ॥ ३२ ॥

महाराज शतद्युम्न मुद्गल ब्राह्मणको समस्त भोगोंसे सम्पन्न सुवर्णमय भवन देकर स्वर्गलोकमें गये थे ॥ ३२ ॥

नाम्ना च द्युतिमान् नाम शाल्वराजः प्रतापवान्।
दत्त्वा राज्यमृचीकाय गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३३ ॥

प्रतापी शाल्वराज द्युतिमान्ने ऋचीकको राज्य देकर परम उत्तम लोक प्राप्त किये थे ॥ ३३ ॥

लोमपादश्च राजर्षिः शान्तां दत्त्वा सुतां प्रभुः।
ऋष्यशृङ्गाय विपुलैः सर्वकामैरयुज्यत ॥ ३४ ॥

शक्तिशाली राजर्षि लोमपाद अपनी पुत्री शान्ताका ऋष्यशृङ्गमुनिको दान करके सब प्रकारके प्रचुर भोगोंसे सम्पन्न हो गये ॥ ३४ ॥

मदिराश्वश्च राजर्षिर्दत्त्वा कन्यां सुमध्यमाम्।
हिरण्यहस्ताय गतो लोकान् देवैरभिष्टुतान् ॥ ३५ ॥

राजर्षि मदिराश्व हिरण्यहस्तको अपनी सुन्दरी कन्या देकर देववन्दित लोकोंमें गये थे ॥ ३५ ॥

दत्त्वा शतसहस्रं तु गवां राजा प्रसेनजित्।
सवत्सानां महातेजा गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३६ ॥

महातेजस्वी राजा प्रसेनजित्ने एक लाख सवत्सा गौओं-का दान करके उत्तम लोक प्राप्त किये थे ॥ ३६ ॥

एते चान्ये च बहवो दानेन तपसैव च।
महात्मानो गताः स्वर्गं शिष्टात्मानो जितेन्द्रियाः॥ ३७ ॥

ये तथा और भी बहुतसे शिष्ट स्वभाववाले जितेन्द्रिय

महात्मा दान और तपस्यासे स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ३७ ॥

तेषां प्रतिष्ठिता कीर्तिर्यावत् स्थास्यति मेदिनी ।
दानयज्ञप्रजासर्गैरेते हि दिवमाप्नुवन् ॥ ३८ ॥

जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक उनकी कीर्ति स्थिर रहेगी। उन सबने दान, यज्ञ और प्रजा-सृष्टिके द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त किया था ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकानुप्रश्नविषयक दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणके कर्तव्यका प्रतिपादन करते हुए कालरूप नदको पार करनेका उपाय बतलाना

व्यास उवाच

त्रयीं विद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तामथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥ १ ॥
तिष्ठत्येतेषु भगवान् षट्सु कर्मसु संस्थितः ।

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! ब्राह्मणको चाहिये कि वेदोंमें बतायी गयी त्रयी विद्या—'अ उ म्' इन तीन अक्षरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रणवविद्याका चिन्तन एवं विचार करे। वेदके छहों अङ्गोंसहित ऋक्, साम, यजुष् एवं अथर्वके मन्त्रोंका स्वर-व्यञ्जनके सहित अध्ययन करे; क्योंकि यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंमें विराजमान भगवान् धर्म ही इन वेदोंमें प्रतिष्ठित हैं ॥

वेदवादेषु कुशला ह्यध्यात्मकुशलाश्च ये ॥ २ ॥
सत्त्ववन्तो महाभागाः पश्यन्ति प्रभवाप्ययौ ।
एवं धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ॥ ३ ॥

जो लोग वेदोंके प्रवचनमें निपुण, अध्यात्मज्ञानमें कुशल, सत्त्वगुणसम्पन्न और महान् भाग्यशाली हैं, वे जगत्की सृष्टि और प्रलयको ठीक-ठीक जानते हैं; अतः ब्राह्मणको इस प्रकार धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए शिष्ट पुरुषोंकी भाँति सदाचारका पालन करना चाहिये ॥ २-३ ॥

असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत वै द्विजः ।
सद्भ्य आगतविज्ञानः शिष्टः शास्त्रविचक्षणः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण किसी भी जीवको कष्ट न देकर—उसकी जीविकाका हनन न करके अपनी जीविका चलानेकी इच्छा करे। संतोंकी सेवामें रहकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करे, सत्पुरुष बने और शास्त्रकी व्याख्या करनेमें कुशल हो ॥ ४ ॥

स्वधर्मेण क्रिया लोके कुर्वाणः सत्यसंगरः ।
तिष्ठते तेषु गृहवान् षट्सु कर्मसु स द्विजः ॥ ५ ॥

जगत्में अपने धर्मके अनुकूल कर्म करे, सत्यप्रतिज्ञ बने। गृहस्थ ब्राह्मणको पूर्वोक्त छः कर्मोंमें ही स्थित रहना चाहिये ॥

पञ्चभिः सततं यज्ञैः श्रद्दधानो यजेत च ।
धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ॥ ६ ॥

सदा श्रद्धापूर्वक पञ्च-महायज्ञोंद्वारा परमात्माका पूजन करे, सर्वदा धैर्य धारण करे। प्रमाद (अकर्तव्य कर्मको करने और कर्तव्य कर्मकी अवहेलना करने) से बचे, इन्द्रियोंको संयममें रक्खे, धर्मका ज्ञाता बने और मनको भी अपने अधीन रक्खे ॥ ६ ॥

वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति ।
दानमध्ययनं यज्ञस्तपो ह्रीरार्जवं दमः ॥ ७
एतैर्वर्धयते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ।

जो ब्राह्मण हर्ष, मद और क्रोधसे रहित है, उसे क... दुःख नहीं उठाना पड़ता है। दान, वेदाध्ययन, यज्ञ, त... लज्जा, सरलता और इन्द्रियसंयम—इन सद्गुणोंसे ब्राह्मण अ... तेजकी वृद्धि और पापका नाश करता है ॥ ७½ ॥

धूतपाप्मा च मेधावी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥ ८
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ।

इस प्रकार पाप धुल जानेपर बुद्धिमान् ब्राह्मण स्वल... करते हुए इन्द्रियोंको जीते और काम तथा क्रोधको अ... करके ब्रह्मपदको प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥ ८½ ॥

अग्नींश्च ब्राह्मणांश्चार्चेद् देवताः प्रणमेत च ॥ ९
वर्जयेदुशतीं वाचं हिंसां चाधर्मसंहिताम् ।
एषा पूर्वंगता वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ॥ १०

अग्नि, ब्राह्मण और देवताओंको प्रणाम एवं उन... पूजन करे। कड़वी बात मुँहसे न निकाले और हिंसा न क... क्योंकि वह अधर्मसे युक्त है। यह ब्राह्मणके लिये परम... वृत्ति (कर्तव्य) का विधान किया गया है ॥ ९-१० ॥

ज्ञानागमेन कर्माणि कुर्वन् कर्मसु सिध्यति ।
पञ्चेन्द्रियजलां घोरां लोभकूलां सुदुस्तराम् ॥ ११
मन्युपङ्कामनाधृष्यां नदीं तरति बुद्धिमान् ।
कालमभ्युद्यतं पश्येन्नित्यमत्यन्तमोहनम् ॥ १२

कर्मोंके तत्त्वको जानकर उनका अनुष्ठान करनेसे अ... सिद्धि प्राप्त होती है। संसारका जीवन एक भयंकर न... समान है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इस नदीका जल हैं। ... किनारा है। क्रोध इसके भीतर कीचड़ है। इसे पार क... अत्यन्त कठिन है और इसके वेगको दबाना अत्यन्त अस... है, तथापि बुद्धिमान् पुरुष इसे पार कर जाता है। प्राणियों... अत्यन्त मोहमें डालनेवाला काल सदा आक्रमण करनेके लि... उद्यत है, इस बातकी ओर सदा ही दृष्टि रखे ॥ ११-१२ ॥

महता विधिदृष्टेन बलेनाप्रतिघातिना ।
स्वभावस्रोतसा वृत्तमुह्यते सततं जगत् ॥ १३

जो महान् है, जो विधाताकी ही दृष्टिमें आ सकता... तथा जिसका बल कहीं प्रतिहत नहीं होता, उस स्वभाव...

धारा-प्रवाहमें यह सारा जगत् निरन्तर बहता जा रहा है ॥

कालोदकेन महता वर्षावर्तेन संततम् ।
मासोर्मिणर्तुवेगेन पक्षोलपतृणेन च ॥ १४ ॥
निमेषोन्मेषफेनेन अहोरात्रजलेन च ।
कामग्राहेण घोरेण वेदयज्ञप्लवेन च ॥ १५ ॥
धर्मद्वीपेन भूतानां चार्थकामजलेन च ।
ऋतवाङ्मोक्षतीरेण विहिंसातरुवाहिना ॥ १६ ॥
युगह्रदौघमध्येन ब्रह्मप्रायभवेन च ।
धात्रा सृष्टानि भूतानि कृष्यन्ते यमसादनम् ॥ १७ ॥

कालरूपी महान् नद बह रहा है। इसमें वर्षरूपी भँवरें सदा उठ रही हैं। महीने इसकी उत्ताल तरंगें हैं। ऋतु वेग हैं। पक्ष लता और तृण हैं। निमेष और उन्मेष फेन हैं। दिन और रात जल-प्रवाह हैं। कामदेव भयंकर ग्राह है। वेद और यज्ञ नौका हैं। धर्म प्राणियोंका आश्रयभूत द्वीप है। अर्थ और काम जल हैं। सत्यभाषण और मोक्ष दोनों किनारे हैं। हिंसारूपी वृक्ष उस कालरूपी प्रवाहमें बह रहे हैं। युग ह्रद है तथा ब्रह्म ही उस कालनदको उत्पन्न करनेवाला पर्वत है। उसी प्रवाहमें पड़कर विधाताके रचे हुए समस्त प्राणी यमलोककी ओर खिंचे चले जा रहे हैं ॥ १४—१७ ॥

एतत् प्रज्ञामयैर्धीरा निस्तरन्ति मनीषिणः ।
प्लवैरप्लववन्तो हि किं करिष्यन्त्यचेतसः ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् और धीर मनुष्य प्रज्ञारूप नौकाओंद्वारा उस कालनदके पार हो जाते हैं। जो वैसी नौकाओंसे रहित हैं, वे अविवेकी मनुष्य क्या करेंगे ? ॥ १८ ॥

उपपन्नं हि यत् प्राज्ञो निस्तरेन्नेतरो जनः ।
दूरतो गुणदोषौ हि प्राज्ञः सर्वत्र पश्यति ॥ १९ ॥

विद्वान् पुरुष जो कालनदसे पार हो जाता है और अज्ञानी मनुष्य नहीं पार होता है, यह युक्तिसङ्गत ही है; क्योंकि ज्ञानवान् पुरुष सर्वत्र गुण और दोषोंको दूरसे ही देख लेता है ॥ १९ ॥

संशयं स तु कामात्मा चलचित्तोऽल्पचेतनः ।
अप्राज्ञो न तरत्येनं यो ह्यास्ते न स गच्छति ॥ २० ॥

कामनाओंमें आसक्त, चञ्चलचित्त, मन्दबुद्धि एवं अज्ञानी पुरुष संदेहमें पड़ जानेके कारण कालनदको पार नहीं कर पाता तथा जो निश्चेष्ट होकर बैठ जाता है, वह भी उसके पार नहीं जा सकता ॥ २० ॥

अप्लवो हि महादोषं मुह्यमानो नियच्छति ।
कामग्राहगृहीतस्य ज्ञानमप्यस्य न प्लवः ॥ २१ ॥

जिसके पास ज्ञानमयी नौका नहीं है, वह मोहितचित्त मूढ़ मानव महान् दोषको प्राप्त होता है। कामरूपी ग्राहसे पीड़ित होनेके कारण ज्ञान भी उसके लिये नौका नहीं बन पाता ॥ २१ ॥

तस्मादुन्मज्जनस्यार्थे प्रयतेत विचक्षणः ।
एतदुन्मज्जनं तस्य यदयं ब्राह्मणो भवेत् ॥ २२ ॥

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको कालनद या भवसागरसे पार होनेका अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। उसका पार होना यही है कि वह वास्तवमें ब्राह्मण बन जाय अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे ॥ २२ ॥

अवदातेषु संजातस्त्रिसंदेहस्त्रिकर्मकृत् ।
तस्मादुन्मज्जने तिष्ठेत् प्रज्ञया निस्तरेद् यथा ॥ २३ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ ब्राह्मण अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह—इन तीन कर्मोंको संदेहकी दृष्टिसे देखे (कि कहीं इनमें आसक्त न हो जाऊँ) और अध्ययन, यजन तथा दान—इन तीन कर्मोंका अवश्य पालन करे। वह जैसे भी हो प्रज्ञाद्वारा अपने उद्धारका प्रयत्न करे, उस कालनदसे पार हो जाय ॥ २३ ॥

संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः ।
प्राज्ञस्यानन्तरा सिद्धिरिहलोके परत्र च ॥ २४ ॥

जिसके वैदिक संस्कार विधिवत् सम्पन्न हुए हैं, जो नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियोंपर विजय पा चुका है, उस विज्ञ पुरुषको इहलोक और परलोकमें कहीं भी सिद्धि प्राप्त होते देर नहीं लगती ॥ २४ ॥

वर्तेत तेषु गृहवानक्रुद्ध्यन्ननसूयकः ।
पञ्चभिः सततं यज्ञैर्विघसाशी यजेत च ॥ २५ ॥

गृहस्थ ब्राह्मण क्रोध और दोष-दृष्टिका त्याग करके पूर्वोक्त नियमोंके पालनमें संलग्न रहे। नित्य पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान करे और यज्ञशिष्ट अन्नका ही भोजन करे ॥ २५ ॥

सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ।
असंरोधेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेदगर्हिताम् ॥ २६ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंके धर्मके अनुसार चले और शिष्टाचारका पालन करे तथा ऐसी आजीविका प्राप्त करनेकी इच्छा करे, जिससे दूसरे लोगोंकी जीविकाका हनन न हो और जिसकी लोकमें निन्दा न होती हो ॥ २६ ॥

श्रुतिविज्ञानतत्त्वज्ञः शिष्टाचारो विचक्षणः ।
स्वधर्मेण क्रियावांश्च कर्मणा सोऽप्यसंकरः ॥ २७ ॥

ब्राह्मणको वेदका विद्वान्, तत्त्वज्ञानी, सदाचारी और चतुर होना चाहिये। वह अपने धर्मके अनुसार कार्य करे, परंतु कर्मद्वारा संकरता न फैलावे अर्थात् स्वधर्म और पर-धर्मका सम्मिश्रण न करे ॥ २७ ॥

क्रियावाञ्श्रद्दधानो हि दान्तः प्राज्ञोऽनसूयकः ।
धर्माधर्मविशेषज्ञः सर्वं तरति दुस्तरम् ॥ २८ ॥

जो अपने धर्मके अनुसार कार्य करनेवाला, श्रद्धालु, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, विद्वान्, किसीके दोष न देखनेवाला तथा धर्म और अधर्मका विशेषज्ञ है, वह सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाता है ॥ २८ ॥

धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ।
वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति ॥ २९ ॥

जो धैर्यवान्, प्रमादशून्य, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, मनस्वी

तथा हर्ष, मद और क्रोधसे रहित है, वह ब्राह्मण कभी विषादको नहीं प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

एषा पुरातनी वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।
ज्ञानवत्त्वेन कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति ॥ ३० ॥

यह ब्राह्मणकी प्राचीनकालसे चली आनेवाली वृत्तिका विधान किया गया है। ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले ब्राह्मणको सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ३० ॥

अधर्मं धर्मकामो हि करोति ह्यविचक्षणः।
धर्मं वाधर्मसंकाशं शोचन्निव करोति सः ॥ ३१ ॥

धर्मं करोमीति करोत्यधर्म-
मधर्मकामश्च करोति धर्मम्।
उभे बालः कर्मणी न प्रजानन्
स जायते म्रियते चापि देही ॥ ३२ ॥

जो मूढ़ है, वह धर्मकी इच्छा रखकर भी अधर्म करता है अथवा शोकमग्न-सा होकर अधर्मतुल्य धर्मका सम्पादन करता है। मूर्ख या अविवेकी मनुष्य न जाननेके कारण 'मैं धर्म कर रहा हूँ' ऐसा समझकर अधर्म करता है और अधर्मकी इच्छा रखकर धर्म करता है, इस प्रकार अज्ञानपूर्वक दोनों तरहके कर्म करनेवाला देहधारी मनुष्य बारंबार जन्म लेता और मरता है ॥ ३१-३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ध्यानके सहायक योग, उनके फल और सात प्रकारकी धारणाओंका वर्णन तथा सांख्य एवं योगके अनुसार ज्ञानद्वारा मोक्षकी प्राप्ति

व्यास उवाच

अथ चेद् रोचयेदेतद्दुह्येत स्रोतसा यथा।
उन्मज्जंश्च निमज्जंश्च ज्ञानवान् प्लववान् भवेत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—वत्स! मनुष्य जिस प्रकार डूबता-उतराता हुआ जलके प्रवाहमें बहता रहता है और यदि संयोगवश कोई नौका मिल गयी तो उसकी सहायतासे पार लग जाता है, उसी प्रकार संसार-सागरमें डूबता-उतराता हुआ मानव यदि इस संकटसे मुक्त होना चाहे तो उसे ज्ञानरूपी नौकाका आश्रय लेना चाहिये ॥ १ ॥

प्रज्ञया निश्चिता धीरास्तारयन्त्यबुधान् प्लवैः।
नाबुधास्तारयन्त्यन्यानात्मानं वा कथंचन ॥ २ ॥

जिन्हें बुद्धिद्वारा तत्त्वका पूर्ण निश्चय हो गया है, वे धीर पुरुष अपनी ज्ञाननौकाद्वारा दूसरे अज्ञानियोंको भी भवसागरसे पार कर देते हैं, परंतु जो अज्ञानी हैं वे न तो दूसरोंको तार सकते है और न अपना ही किसी प्रकार उद्धार कर पाते हैं ॥ २ ॥

छिन्नदोषो मुनिर्योगान् युक्तो युञ्जीत द्वादश।
देशकर्मानुरागार्थानुपायापायनिश्चयैः ॥ ३ ॥
चक्षुराहारसंहारैर्मनसा दर्शनेन च।

समाहितचित्त मुनिको चाहिये कि वह हृदयके राग आदि दोषोंको नष्ट करके योगमें सहायता पहुँचानेवाले देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षुष्, आहार, संहार, मन और दर्शन—इन बारह योगोंका आश्रय ले ध्यानयोगका अभ्यास करे* ॥ ३½ ॥

यच्छेद् वाङ्मनसी बुद्ध्या य इच्छेज्ज्ञानमुत्तमम् ॥ ४ ॥
ज्ञानेन यच्छेदात्मानं य इच्छेच्छान्तिमात्मनः।

जो उत्तम ज्ञान प्राप्त करना चाहता हो, उसे बुद्धिके द्वारा मन और वाणीको जीतना चाहिये तथा जो अपने लिये शान्ति चाहे, उसे ज्ञानद्वारा बुद्धिको परमात्मामें नियन्त्रित करना चाहिये ॥ ४½ ॥

एतेषां चेदनुद्रष्टा पुरुषोऽपि सुदारुणः ॥ ५ ॥
यदि वा सर्ववेदज्ञो यदि वाप्यनृचो द्विजः।
यदि वा धार्मिको यज्वा यदि वा पापकृत्तमः ॥ ६ ॥

---

* ध्यानयोगके साधकको ऐसे स्थानपर आसन लगाना चाहिये, जो समतल और पवित्र हो। निर्जन वन, गुफा या ऐसा ही कोई एकान्त स्थान ही ध्यानके लिये उपयोगी होता है। ऐसे स्थानपर आसन लगानेको देशयोग कहते हैं। आहार-विहार, चेष्टा, सोना और जागना—ये सब परिमित और नियमानुकूल होने चाहिये। यही कर्मनामक योग है। परमात्मा एवं उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तीव्र अनुराग रखना अनुरागयोग कहलाता है। केवल आवश्यक सामग्रीको ही रखना अर्थयोग है। ध्यानोपयोगी आसनसे बैठना उपाययोग है। संसारके विषयों और सगे-सम्बन्धियोंसे आसक्ति तथा ममता हटा लेनेको अपाययोग कहते हैं। गुरु और वेदशास्त्रोंके वचनोंपर विश्वास रखनेका नाम निश्चययोग है। चक्षुको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर करना चक्षुर्योग है। शुद्ध और सात्त्विक भोजनका नाम है आहारयोग। विषयोंकी ओर होनेवाली मन-इन्द्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोकना संहारयोग कहलाता है। मनको संकल्प-विकल्पसे रहित करके एकाग्र करना मनोयोग है। जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि होनेके समय महान् दुःख और दोषोंका वैराग्यपूर्वक दर्शन करना दर्शनयोग है। जिसे योगके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी हो, उसे इन बारह योगोंका अवश्य अवलम्बन करना चाहिये।

यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लेशधारितः ।
तरत्येवं महादुर्गं जरामरणसागरम् ॥ ७ ॥

मनुष्य अत्यन्त दारुण हो या सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञाता हो अथवा ब्राह्मण होकर भी वैदिकज्ञानसे शून्य हो अथवा धर्मपरायण एवं यज्ञशील हो या घोर पापाचारी हो अथवा पुरुषोंमें सिंहके समान शूरवीर हो या बड़े कष्टसे जीवन धारण करता हो, वह यदि इन बारह योगोंका भलीभाँति साक्षात्कार अर्थात् ज्ञान कर ले तो जरा-मृत्युके परम दुर्गम समुद्रसे पार हो जाता है ॥ ५–७ ॥

एवं ह्येतेन योगेन युञ्जानो ह्येवमन्ततः ।
अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ८ ॥

इस प्रकार सिद्धिपर्यन्त इस योगका अभ्यास करनेवाला पुरुष यदि ब्रह्मका जिज्ञासु हो तो वेदोक्त सकाम कर्मोंकी सीमाको लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

धर्मोपस्थो ह्रीवरूथ उपायापायकूबरः ।
अपानाक्षः प्राणयुगः प्रज्ञायुर्जीवबन्धनः ॥ ९ ॥
चेतनाबन्धुरश्चारुश्चाचारग्रहनेमिमान् ।
दर्शनस्पर्शनवहो घ्राणश्रवणवाहनः ॥ १० ॥
प्रज्ञानाभिः सर्वतन्त्रप्रतोदो ज्ञानसारथिः ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितो धीरः श्रद्धादमपुरःसरः ॥ ११ ॥
त्यागसूक्ष्मानुगः क्षेम्यः शौचगो ध्यानगोचरः ।
जीवयुक्तो रथो दिव्यो ब्रह्मलोके विराजते ॥ १२ ॥

यह योग एक सुन्दर रथ है । धर्म ही इसका पिछला भाग या बैठक है । लज्जा आवरण है । पूर्वोक्त उपाय और अपाय इसका कूबर है । अपानवायु धुरा है । प्राणवायु जूआ है । बुद्धि आयु है । जीवन बन्धन है । चैतन्य बन्धुर है । सदाचार-ग्रहण इस रथकी नेमि हैं । नेत्र, त्वचा, घ्राण और श्रवण इसके वाहन हैं । प्रज्ञा नाभि है । सम्पूर्ण शास्त्र चाबुक है । ज्ञान सारथि है । क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) इसपर रथी बनकर बैठा हुआ है । यह रथ धीरे-धीरे चलनेवाला है । श्रद्धा और इन्द्रियदमन इस रथके आगे-आगे चलनेवाले रक्षक हैं । त्यागरूपी सूक्ष्म गुण इसके अनुगामी (पृष्ठ-रक्षक) हैं । यह मङ्गलमय रथ ध्यानके पवित्र मार्गपर चलता है । इस प्रकार यह जीवयुक्त दिव्य रथ ब्रह्मलोकमें विराजमान होता है अर्थात् इसके द्वारा जीवात्मा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ९–१२ ॥

अथ संत्वरमाणस्य रथमेवं युयुक्षतः ।
अक्षरं गन्तुमनसो विधिं वक्ष्यामि शीघ्रगम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार योगरथपर आरूढ़ हो साधनकी इच्छा रखनेवाले तथा अविनाशी परब्रह्म परमात्माको तत्काल प्राप्त करनेकी कामनावाले साधकको जिस उपायसे शीघ्र सफलता मिलती है, वह उपाय मैं बता रहा हूँ ॥ १३ ॥

सप्त या धारणाः कृत्स्ना वाग्यतः प्रतिपद्यते ।
पृष्ठतः पार्श्वतश्चान्यास्तावत्यस्ताः प्रधारणाः ॥ १४ ॥

साधक वाणीका संयम करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, बुद्धि और अहंकारसम्बन्धी सात धारणाओंको सिद्ध करता है । इनके विषयों (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, अहंवृत्ति और निश्चय) से सम्बन्धित सात प्रधारणाएँ इनकी पार्श्ववर्तिनी एवं पृष्ठवर्तिनी हैं ॥ १४ ॥

क्रमशः पार्थिवं यच्च वायव्यं खं तथा पयः ।
ज्योतिषो यत् तदैश्वर्यमहङ्कारस्य बुद्धितः ।
अव्यक्तस्य तथैश्वर्यं क्रमशः प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥

साधक क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और बुद्धिके ऐश्वर्यपर अधिकार कर लेता है । इसके बाद वह क्रमपूर्वक अव्यक्त ब्रह्मका ऐश्वर्य भी प्राप्त कर लेता है* ॥

विक्रमाश्चापि यस्यैते तथा युक्तेषु योगतः ।
तथा योगस्य युक्तस्य सिद्धिमात्मनि पश्यतः ॥ १६ ॥

अब योगाभ्यासमें प्रवृत्त हुए योगियोंमेंसे जिस योगीको ये आगे बताये जानेवाले पृथ्वीजय आदि ऐश्वर्य जिस प्रकार प्राप्त होते हैं; वह बताता हूँ तथा धारणापूर्वक ध्यान करते समय ब्रह्म-प्राप्तिका अनुभव करनेवाले योगीको जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसका भी वर्णन करता हूँ ॥ १६ ॥

निर्मुच्यमानः सूक्ष्मत्वाद् रूपाणीमानि पश्यतः ।
शैशिरस्तु यथा धूमः सूक्ष्मः संश्रयते नभः ॥ १७ ॥

साधक जब स्थूल देहके अभिमानसे मुक्त होकर ध्यानमें स्थित होता है, उस समय सूक्ष्मदृष्टिसे युक्त होनेके कारण उसे कुछ इस तरहके रूप (चिह्न) दिखायी पड़ते हैं । प्रारम्भमें पृथ्वीकी धारणा करते समय मालूम होता है कि शिशिरकालीन कुहरेके समान कोई सूक्ष्म वस्तु सम्पूर्ण आकाशको आच्छादित कर रही है ॥ १७ ॥

तथा देहाद् विमुक्तस्य पूर्वं रूपं भवत्युत ।
अथ धूमस्य विरमे द्वितीयं रूपदर्शनम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार देहाभिमानसे मुक्त हुए योगीके अनुभवका यह पहला रूप है । जब कुहरा निवृत्त हो जाता है, तब दूसरे रूपका दर्शन होता है ॥ १८ ॥

---

* पातञ्जलयोग-दर्शनमें 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' अर्थात् एकदेशमें चित्तको एकाग्र करना धारणा बतलाया गया है । साधक सर्वप्रथम पृथ्वीतत्त्वमें चित्तको लगावे । इस धारणासे उसका पृथ्वीतत्त्वपर अधिकार हो जाता है । फिर पृथ्वीतत्त्वको जलतत्त्वमें विलीन करके जलतत्त्वकी धारणा करे । इससे साधक जलतत्त्वका ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है । फिर जल-तत्त्वको अग्नितत्त्वमें विलीन करके अग्नितत्त्वकी धारणा करे । इससे अग्नितत्त्वपर अधिकार हो जाता है । तदनन्तर अग्निको वायुमें विलीन करके चित्तको वायुतत्त्वमें एकाग्र करे । इससे साधक वायुतत्त्वपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है । इसीप्रकार क्रमशः वायुको आकाशमें और आकाशको मनमें और मनको बुद्धिमें लय करके उस-उस तत्त्वकी धारणा करे । इस प्रकार धारणाके ये सात स्तर हैं । अन्तमें बुद्धिको अव्यक्त ब्रह्ममें विलीन कर देना चाहिये ।

जलरूपमिवाकाशे तथैवात्मनि पश्यति।
अपां व्यतिक्रमे चास्य वह्निरूपं प्रकाशते ॥ १९ ॥

वह सम्पूर्ण आकाशमें जल-ही-जल-सा देखता है तथा आत्माको भी जलरूप अनुभव करता है (यह अनुभव जल-तत्त्वकी धारणा करते समय होता है) । फिर जलका लय हो जानेपर अग्नितत्त्वकी धारणा करते समय उसे सर्वत्र अग्नि प्रकाशित दिखायी देती है ॥ १९ ॥

तस्मिन्नुपरतेऽजोऽस्य पीतशस्त्रः प्रकाशते।
ऊर्णारूपसवर्णस्य तस्य रूपं प्रकाशते ॥ २० ॥

उसके भी लय हो जानेपर योगीको आकाशमें सर्वत्र फैले हुए वायुका ही अनुभव होता है। उस समय वृक्ष और पर्वत आदि अपने समस्त शस्त्रोंको पी जानेके कारण वायुकी 'पीतशस्त्र' संज्ञा हो जाती है अर्थात् पृथ्वी, जल और तेजरूप समस्त पदार्थोंको निगलकर वायु केवल आकाशमें ही आन्दोलित होता रहता है और साधक स्वयं भी ऊनके धागेके समान अत्यन्त छोटा और हलका होकर अपनेको निराधार आकाशमें वायुके साथ ही स्थित मानता है ॥ २० ॥

अथ श्वेतां गतिं गत्वा वायव्यं सूक्ष्ममच्युत।
अशुक्लं चेतसः सौक्ष्म्यमव्युक्तं ब्राह्मणस्य वै ॥ २१ ॥

तदनन्तर तेजका संहार और वायु-तत्त्वपर विजय प्राप्त होनेके पश्चात् वायुका सूक्ष्म रूप स्वच्छ आकाशमें लीन हो जाता है और केवल नीलाकाशमात्र शेष रह जाता है। उस अवस्थामें ब्रह्मभावको प्राप्त होनेकी इच्छा रखनेवाले योगीका चित्त अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, ऐसा बताया गया है। (उसे अपने स्थूल रूपका तनिक भी भान नहीं रहता। यही वायुका लय और आकाशतत्त्वपर विजय कहलाता है।) ॥ २१ ॥

एतेष्वपि हि जातेषु फलजातानि मे शृणु।
जातस्य पार्थिवैश्वर्यैः सृष्टिरत्र विधीयते ॥ २२ ॥

इन सब लक्षणोंके प्रकट हो जानेपर योगीको जो-जो फल प्राप्त होते हैं, उन्हें मुझसे सुनो। पार्थिव ऐश्वर्यकी सिद्धि हो जानेपर योगीमें सृष्टि करनेकी शक्ति आ जाती है ॥

प्रजापतिरिवाक्षोभ्यः शरीरात् सृजते प्रजाः।
अङ्गुल्यङ्गुष्ठमात्रेण हस्तपादेन वा तथा ॥ २३ ॥
पृथिवीं कम्पयत्येको गुणो वायोरिति श्रुतिः।

वह प्रजापतिके समान क्षोभरहित होकर अपने शरीरसे प्रजाकी सृष्टि कर सकता है। जिसको वायुतत्त्व सिद्ध हो जाता है, वह बिना किसीकी सहायताके हाथ-पैर, अँगूठे अथवा अङ्गुलिमात्रसे दबाकर पृथ्वीको कम्पित कर सकता है—ऐसा सुननेमें आया है २३½ ॥

आकाशभूतश्चाकाशे सवर्णत्वात् प्रकाशते ॥ २४ ॥
वर्णतो गृह्यते चापि कामात् पिबति चाशयान्।

आकाशको सिद्ध करनेवाला पुरुष आकाशमें आकाशके ही समान सर्वव्यापी हो जाता है। वह अपने शरीरको अन्तर्धान करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। जिसका जल-तत्त्वपर अधिकार होता है, वह इच्छा करते ही बड़े-बड़े जलाशयोंको पी जाता है ॥ २४½ ॥

न चास्य तेजसा रूपं दृश्यते शाम्यते तथा।
अहङ्कारेऽस्य विजिते पञ्चैते स्युर्वशानुगाः ॥ २५ ॥

अग्नितत्त्वको सिद्ध कर लेनेपर वह अपने शरीरको इत… तेजस्वी बना लेता है कि कोई उसकी ओर आँख उठाकर दे… भी नहीं सकता और न उसके तेजको बुझा ही सकता है। अहंकारको जीत लेनेपर पाँचों भूत योगीके वशमें हो जाते हैं।

षण्णामात्मनि बुद्धौ च जितायां प्रभवत्यथ।
निर्दोषप्रतिभा ह्येनं कृत्स्ना समभिवर्तते ॥ २६ ॥

पञ्चभूत और अहंकार—इन छः तत्त्वोंका आत्मा है बुद्धि… उसको जीत लेनेपर सम्पूर्ण ऐश्वर्योंकी प्राप्ति हो जाती है तथा उस योगीको निर्दोष प्रतिभा (विशुद्ध तत्त्वज्ञान) पू… रूपसे प्राप्त हो जाती है ॥ २६ ॥

तथैव व्यक्तमात्मानमव्यक्तं प्रतिपद्यते।
यतो निःसरते लोको भवति व्यक्तसंज्ञकः ॥ २७ ॥

उपर्युक्त सप्त पदार्थोंका कार्यभूत व्यक्त जगत् अव्यक्त परमात्मामें ही विलीन हो जाता है, क्योंकि उन्हीं परमात्मा… यह जगत् उत्पन्न होता है और व्यक्त नाम धारण करता है ॥

तत्राव्यक्तमयीं विद्यां शृणु त्वं विस्तरेण मे।
तथा व्यक्तमयं चैव सांख्ये पूर्वं निबोध मे ॥ २८ ॥

वत्स ! तुम सांख्यदर्शनमें वर्णित अव्यक्तविद्या… विस्तारपूर्वक मुझसे श्रवण करो। सर्वप्रथम सांख्यशास्त्र… कथित व्यक्तविद्याको मुझसे समझो ॥ २८ ॥

पञ्चविंशति तत्त्वानि तुल्यान्युभयतः समम्।
योगे सांख्येऽपि च तथा विशेषं तत्र मे शृणु ॥ २९ ॥

सांख्य और पातञ्जलयोग—इन दोनों दर्शनोंमें समान भावसे पच्चीस तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है*। इ…

---

* सांख्य-कारिकामें बतलाया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥
(सां० का० ३)

मूलप्रकृति—अव्याकृत माया, महत्तत्त्व आदि प्रकृतिके सा… विकार—महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), सोलह विकार—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, हाथ, पैर, गुदा और शिश्न) तथा मन और पञ्चमहाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) एवं पुरुष, जो न प्रकृति है और न प्रकृतिका विकार ही—इस प्रकार सांख्यके अनुसार ये पचीस तत्त्व हैं।

पातञ्जलयोगदर्शनमें इनका इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।
(योग० साधनपाद १९)

'विशेष—पञ्चमहाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन, अविशेष—पञ्चतन्मात्रा और अहंकार, लिङ्गमात्र—महत्तत्त्व, अलिङ्ग—मूलप्रकृति; इस प्रकार ये चौबीस तत्त्व एवं पचीसवाँ द्रष्टा (पुरुष) है।

विषयमें जो विशेष बात है, वह मुझसे सुनो ॥ २९ ॥

प्रोक्तं तद् व्यक्तमित्येव जायते वर्धते च यत् ।
जीर्यते म्रियते चैव चतुर्भिर्लक्षणैर्युतम् ॥ ३० ॥

जन्म, वृद्धि, जरा और मरण—इन चार लक्षणोंसे युक्त जो तत्त्व है, उसीको व्यक्त कहते हैं ॥ ३० ॥

विपरीतमतो यत् तु तदव्यक्तमुदाहृतम् ।
द्वावात्मानौ च वेदेषु सिद्धान्तेष्वप्युदाहृतौ ॥ ३१ ॥

जो तत्त्व इसके विपरीत है अर्थात् जिसमें जन्म आदि चारों विकार नहीं हैं, उसे अव्यक्त कहा गया है। वेदों और सिद्धान्तप्रतिपादक शास्त्रोंमें उस अव्यक्तके दो भेद बताये गये हैं—जीवात्मा और परमात्मा ॥ ३१ ॥

चतुर्लक्षणजं त्वाद्यं चतुर्वर्गं प्रचक्षते ।
व्यक्तमव्यक्तजं चैव तथा बुद्धमथेतरत् ।
सत्त्वं क्षेत्रज्ञ इत्येतद् द्वयमप्यनुदर्शितम् ॥ ३२ ॥
द्वावात्मानौ च वेदेषु विषयेष्वनुरज्यतः ।
विषयात् प्रतिसंहारः सांख्यानां सिद्धिलक्षणम् ॥ ३३ ॥

अव्यक्त होते हुए भी जीवात्मा व्यक्तके सम्पर्कसे जन्म, वृद्धि, जरा और मृत्यु—इन चार लक्षणोंसे युक्त तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंसे सम्बन्धित कहा जाता है। दूसरा अव्यक्त परमात्मा ज्ञानस्वरूप है। व्यक्त (जडवर्ग) की उत्पत्ति उसी अव्यक्त (परमात्मा) से होती है। व्यक्तको सत्त्व (जडवर्ग—क्षेत्र) तथा अव्यक्त जीवात्माको क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनोंहीका वर्णन किया गया है। वेदोंमें भी पूर्वोक्त दो आत्मा बताये गये हैं। विषयोंमें आसक्त हुआ जीवात्मा जब आसक्तिरहित होकर विषयोंसे निवृत्त हो जाता है, तब वह मुक्त कहलाता है। सांख्यवादियोंके मतमें यही मोक्षका लक्षण है ॥ ३२-३३ ॥

निर्ममश्चानहङ्कारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः ।
नैव क्रुद्ध्यति न द्वेष्टि नानृता भाषते गिरः ॥ ३४ ॥
आक्रुष्टस्ताडितश्चैव मैत्रेण ध्याति नाशुभम् ।
वाग्दण्डकर्ममनसां त्रयाणां च निवर्तकः ॥ ३५ ॥
समः सर्वेषु भूतेषु ब्रह्माणमभिवर्तते ।

जिसने ममता और अहंकारका त्याग कर दिया है, जो शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंको समानभावसे सहता है, जिसके संशय दूर हो गये हैं, जो कभी क्रोध और द्वेष नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, किसीकी गाली सुनकर और मार खाकर भी उसका अहित नहीं सोचता, सबपर मित्रभाव ही रखता है, जो मन, वाणी और कर्मसे किसी जीवको कष्ट नहीं पहुँचाता और समस्त प्राणियोंपर समानभाव रखता है, वही योगी ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ३४-३५½ ॥

नैवेच्छति न चानिच्छो यात्रामात्रव्यवस्थितः ॥ ३६ ॥
अलोलुपोऽव्यथो दान्तो न कृती न निराकृतिः ।
नास्येन्द्रियमनेकाग्रं न विक्षिप्तमनोरथः ॥ ३७ ॥
सर्वभूतसदृङ्मैत्रः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ ३८ ॥
अस्पृहः सर्वकामेभ्यो ब्रह्मचर्यदृढव्रतः ।
अहिंस्रः सर्वभूतानामीदृक् सांख्यो विमुच्यते ॥ ३९ ॥

जो किसी वस्तुकी न तो इच्छा करता है, न अनिच्छा ही करता है, जीवन-निर्वाहमात्रके लिये जो कुछ मिल जाता है, उसीपर संतोष करता है, जो निर्लोभ, व्यथारहित और जितेन्द्रिय है, जिसको न तो कुछ करनेसे प्रयोजन है और न कुछ न करनेसे ही, जिसकी इन्द्रियाँ और मन कभी चञ्चल नहीं होते, जिसका मनोरथ पूर्ण हो गया है, जो समस्त प्राणियोंपर समान दृष्टि और मैत्रीभाव रखता है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णको एक-सा समझता है, जिसकी दृष्टिमें प्रिय और अप्रियका भेद नहीं है, जो धीर है और अपनी निन्दा तथा स्तुतिमें सम रहता है, जो सम्पूर्ण भोगोंमें स्पृहारहित है, जो दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित है तथा जो सब प्राणियोंमें हिंसाभावसे रहित है, ऐसा सांख्ययोगी (ज्ञानी) संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३६-३९ ॥

यथा योगाद् विमुच्यन्ते कारणैर्यैर्निबोध तत् ।
योगैश्वर्यमतिक्रान्तो यो निष्क्रामति मुच्यते ॥ ४० ॥

योगी जिस प्रकार और जिन कारणोंसे योगके फलस्वरूप मोक्ष लाभ करते हैं, अब उन्हें बताता हूँ, सुनो। जो पर-वैराग्यके बलसे योगजनित ऐश्वर्यको लाँघकर उसकी सीमासे बाहर निकल जाता है, वही मुक्त होता है ॥ ४० ॥

इत्येषा भावजा बुद्धिः कथिता ते न संशयः ।
एवं भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्माणं चाधिगच्छति ॥ ४१ ॥

बेटा ! यह तुम्हारे निकट मैंने भावशुद्धिसे प्राप्त होनेवाली बुद्धिका वर्णन किया है। जो उपर्युक्तरूपसे साधना करके द्वन्द्वोंसे रहित हो जाता है, वही ब्रह्मभावको प्राप्त होता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सृष्टिके समस्त कार्योंमें बुद्धिकी प्रधानता और प्राणियोंकी श्रेष्ठताके तारतम्यका वर्णन

व्यास उवाच

अथ ज्ञानप्लवं धीरो गृहीत्वा शान्तिमात्मनः ।
उन्मज्जंश्च निमज्जंश्च ज्ञानमेवाभिसंश्रयेत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—वत्स ! धीर पुरुषको चाहिये

कि वह विवेकरूप नौकाका अवलम्बन लेकर भवसागरमें डूबता-उतराता हुआ अर्थात् प्रत्येक परिस्थितिमें अपनी परम शान्तिके लिये वास्तविक ज्ञानके आश्रित हो जाय ॥ १ ॥

शुक उवाच

किं तज्ज्ञानमथो विद्या यथा निस्तरते द्वयम्।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिरिति वा वद ॥ २ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! जिसके द्वारा मनुष्य जन्म और मृत्यु दोनोंके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है, वह ज्ञान अथवा विद्या क्या है ? वह प्रवृत्तिरूप धर्म है या निवृत्ति-रूप ? यह मुझे बताइये ॥ २ ॥

व्यास उवाच

यस्तु पश्यन् स्वभावेन विनाभावमचेतनः।
पुष्यते च पुनः सर्वान् प्रज्ञया मुक्तहेतुकान् ॥ ३ ॥

व्यासजीने कहा—जो यह समझता है कि यह जगत् स्वभावसे ही उत्पन्न है, इसका कोई चेतन मूल कारण नहीं है, वह अज्ञानी मनुष्य व्यर्थ तर्कयुक्त बुद्धिद्वारा हेतुरहित वचनोंका बारंबार पोषण करता रहता है ॥ ३ ॥

येषां चैकान्तभावेन स्वभावात् कारणं मतम्।
पूत्वा तृणमिषीकां वा ते लभन्ते न किंचन ॥ ४ ॥

जिनकी यह मान्यता है कि निश्चित-रूपसे वस्तुगत स्वभाव ही जगत्का कारण है—स्वभावसे भिन्न अन्य कोई कारण नहीं है, (किंतु इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध न होने मात्र हेतुसे उनका यह मानना कि ईश्वर-जैसा कोई जगत्का कारण है ही नहीं, युक्तिसङ्गत नहीं है; क्योंकि) मूँजके भीतर स्थित दिखायी न देनेवाली सींक क्या मूँजको चीर डालनेपर उन्हें उपलब्ध नहीं होती ? अपितु अवश्य होती है (उसी प्रकार समस्त जगत्में व्याप्त परमात्मा यद्यपि इन्द्रियोंद्वारा दिखायी नहीं देता तो भी उसकी उपलब्धि दिव्य-ज्ञानके द्वारा अवश्य होती है) ॥ ४ ॥

ये चैनं पक्षमाश्रित्य निवर्तन्त्यल्पमेधसः।
स्वभावं कारणं ज्ञात्वा न श्रेयः प्राप्नुवन्ति ते ॥ ५ ॥

जो मन्दबुद्धि मानव इस नास्तिक-मतका अवलम्बन करके स्वभावहीको कारण जानकर परमेश्वरकी उपासनासे निवृत्त हो जाते हैं, वे कल्याणके भागी नहीं होते हैं ॥ ५ ॥

स्वभावो हि विनाशाय मोहकर्म मनोभवः।
निरुक्तमेतयोरेतत् स्वभावपरिभावयोः ॥ ६ ॥

नास्तिक लोग जो स्वभाववादका आश्रय लेकर ईश्वर और अदृष्टकी सत्ताको स्वीकार नहीं करते हैं, यह उनका मोह-जनित कार्य है, स्वभाववाद मूढ़ोंकी कल्पनामात्र है। यह मानवोंको परमार्थसे वञ्चित करके उनका विनाश करनेके लिये ही उपस्थित किया गया है। स्वभाव और परिभावके तत्त्वका यह आगे बताया जानेवाला विवेचन सुनो ॥ ६ ॥

कृष्यादीनीह कर्माणि सस्यसंहरणानि च।
प्रज्ञावद्भिः प्रक्लृप्तानि यानासनगृहाणि च ॥ ७ ॥

देखा जाता है कि जगत्में बुद्धिसम्पन्न चेतन प्राणियोंद्वारा ही भूमिको जोतने आदिके कार्य, अनाजके बीजोंका संग्रह तथा सवारी, आसन और गृहनिर्माण—ये सब कार्य सदासे किये जाते हैं। यदि स्वभावसे ये कार्य हो जाते तो कोई इनमें प्रवृत्त ही न होता ॥ ७ ॥

आक्रीडानां गृहाणां च गदानामगदस्य च।
प्रज्ञावन्तः प्रयोक्तारो ज्ञानवद्भिरनुष्ठिताः ॥ ८ ॥

बेटा ! चेतन प्राणी क्रीडाके लिये स्थान और रहनेके लिये घर बनाते हैं। वे ही रोगोंको पहचानकर उनपर ठीक-ठीक दवाका प्रयोग करते हैं। बुद्धिमान् पुरुषोंद्वारा ही इन सब कार्योंका यथावत् अनुष्ठान होता है (स्वभावसे-अपने-आप नहीं) ॥ ८ ॥

प्रज्ञा संयोजयत्यर्थैः प्रज्ञा श्रेयोऽधिगच्छति।
राजानो भुञ्जते राज्यं प्रज्ञया तुल्यलक्षणाः ॥ ९ ॥

बुद्धि ही धनकी प्राप्ति कराती है। बुद्धिसे ही मनुष्य कल्याणको प्राप्त होता है। एक-से लक्षणोंवाले राजाओंमें भी जो बुद्धिमें बढ़े-चढ़े होते हैं, वे ही राज्यका उपभोग और दूसरोंपर शासन करते हैं ॥ ९ ॥

परावरं तु भूतानां ज्ञानेनैवोपलभ्यते।
विद्यया तात सृष्टानां विद्यैवेह परा गतिः ॥ १० ॥

तात ! प्राणियोंके स्थूल-सूक्ष्म या छोटे-बड़ेका भेद बुद्धिसे ही जाना जाता है। इस जगत्में सब प्राणियोंकी सृष्टि विद्यासे हुई है और उनकी परम गति विद्या ही है ॥ १० ॥

भूतानां जन्म सर्वेषां विविधानां चतुर्विधम्।
जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजं चोपलक्षयेत् ॥ ११ ॥

संसारमें जो नाना प्रकारके जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चतुर्विध प्राणी हैं, उन सबके जन्मकी ओर भी लक्ष्य करना चाहिये ॥ ११ ॥

स्थावरेभ्यो विशिष्टानि जङ्गमान्युपधारयेत्।
उपपन्नं हि यच्चेष्टा विशिष्येत विशेष्यया ॥ १२ ॥

स्थावर प्राणियोंसे जङ्गम प्राणियोंको श्रेष्ठ समझना चाहिये। यह बात युक्तिसङ्गत भी है, क्योंकि उनमें विशेषरूप-से चेष्टा देखी जाती है, इस विशेषताके कारण जङ्गम प्राणियों-की विशिष्टता स्वतः सिद्ध है ॥ १२ ॥

आहुर्वै बहुपादानि जङ्गमानि द्वयानि तु।
बहुपाद्भ्यो विशिष्टानि द्विपदानि बहून्यपि ॥ १३ ॥

जङ्गम जीवोंमें भी बहुत पैरवाले और दो पैरवाले—दो तरहके प्राणी होते हैं। इनमें बहुत पैरवालोंकी अपेक्षा दो पैरवाले अनेक प्राणी श्रेष्ठ बताये गये हैं ॥ १३ ॥

द्विपदानि द्वयान्याहुः पार्थिवानीतराणि च।
पार्थिवानि विशिष्टानि तानि ह्यन्नानि भुञ्जते ॥ १४ ॥

दो पैरवाले जङ्गम प्राणी भी दो प्रकारके कहे गये हैं—पार्थिव (मनुष्य) और अपार्थिव (पक्षी)। अपार्थिवोंसे पार्थिव श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे अन्न भोजन करते हैं ॥ १४ ॥

पार्थिवानि द्वयान्याहुर्मध्यमान्यधमानि तु।
मध्यमानि विशिष्टानि जातिधर्मोपधारणात् ॥ १५ ॥

पार्थिव (मनुष्य) भी दो प्रकारके बताये गये हैं—मध्यम और अधम । उनमें मध्यम मनुष्य अधमकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे जाति-धर्मको धारण करते हैं ॥ १५ ॥

मध्यमानि द्वयान्याहुर्धर्मज्ञानीतराणि च।
धर्मज्ञानि विशिष्टानि कार्याकार्योपधारणात् ॥ १६ ॥

मध्यम मनुष्य दो प्रकारके कहे गये हैं—धर्मज्ञ और धर्मसे अनभिज्ञ । इनमें धर्मज्ञ ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका विवेक रखते और कर्त्तव्यका पालन करते हैं ॥ १६॥

धर्मज्ञानि द्वयान्याहुर्वेदज्ञानीतराणि च।
वेदज्ञानि विशिष्टानि वेदो ह्येषु प्रतिष्ठितः ॥ १७ ॥

धर्मज्ञोंके भी दो भेद कहे गये हैं—वेदज्ञ और अवेदज्ञ । इनमें वेदज्ञ श्रेष्ठ हैं; क्योंकि उन्हींमें वेद प्रतिष्ठित है ॥ १७ ॥

वेदज्ञानि द्वयान्याहुः प्रवक्तृणीतराणि च।
प्रवक्तृणि विशिष्टानि सर्वधर्मोपधारणात् ॥ १८ ॥

वेदज्ञ भी दो प्रकारके बताये गये हैं—प्रवक्ता और अप्रवक्ता । इनमें प्रवक्ता (प्रवचन करनेवाले) श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे वेदमें बताये हुए सम्पूर्ण धर्मोंको धारण करनेवाले होते हैं। १८।

विज्ञायन्ते हि यैर्वेदाः सधर्माः सक्रियाफलाः।
सधर्मा निखिला वेदाः प्रवक्तृभ्यो विनिःसृताः ॥ १९ ॥

एवं उन्हींके द्वारा धर्म, कर्म और फलोंसहित वेदोंका ज्ञान दूसरोंको होता है । धर्मसहित सम्पूर्ण वेद प्रवक्ताओंके ही मुखसे प्रकट होते हैं ॥ १९ ॥

प्रवक्तृणि द्वयान्याहुरात्मज्ञानीतराणि च।
आत्मज्ञानि विशिष्टानि जन्माजन्मोपधारणात् ॥ २० ॥

प्रवक्ता भी दो प्रकारके कहे गये हैं—आत्मज्ञ और अनात्मज्ञ । इनमें आत्मज्ञ पुरुष ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे जन्म और मृत्युके तत्त्वको समझते हैं ॥ २० ॥

धर्मद्वयं हि यो वेद स सर्वज्ञः स सर्ववित्।
स त्यागी सत्यसंकल्पः सत्यः शुचिरथेश्वरः ॥ २१ ॥

जो प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप दो प्रकारके धर्मको जानता है, वही सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता, त्यागी, सत्यसंकल्प, सत्यवादी, पवित्र और समर्थ होता है ॥ २१ ॥

ब्रह्मज्ञानप्रतिष्ठं हि तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
शब्दब्रह्मणि निष्णातं परे च कृतनिश्चयम् ॥ २२ ॥

जो शब्दब्रह्म (वेद) में पारङ्गत होकर परब्रह्मके तत्त्वका निश्चय कर चुका है और सदा ब्रह्मज्ञानमें ही स्थित रहता है, उसे ही देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ॥ २२ ॥

अन्तःस्थं च बहिष्ठं च साधियज्ञाधिदैवतम्।
ज्ञानान्विता हि पश्यन्ति ते देवास्तात ते द्विजाः ॥ २३ ॥

बेटा ! जो लोग ज्ञानवान् होकर बाहर और भीतर व्याप्त अधियज्ञ (परमात्मा) और अधिदैव (पुरुष) का साक्षात्कार कर लेते हैं, वे ही देवता और वे ही द्विज हैं ॥ २३ ॥

तेषु विश्वमिदं भूतं सर्वं च जगदाहितम्।
तेषां माहात्म्यभावस्य सदृशं नास्ति किंचन ॥ २४ ॥

उन्हींमें यह सारा विश्व, सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है । उनके माहात्म्यकी कहीं कोई तुलना नहीं है ॥ २४ ॥

आद्यन्ते निधनं चैव कर्म चातीत्य सर्वशः।
चतुर्विधस्य भूतस्य सर्वस्येशाः स्वयम्भुवः ॥ २५ ॥

वे जन्म, मृत्यु और कर्मकी सीमाको भलीभाँति लाँघकर समस्त चतुर्विध प्राणियोंके अधीश्वर एवं स्वयम्भू होते हैं ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि **मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३७ ॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

नाना प्रकारके भूतोंकी समीक्षापूर्वक कर्मतत्त्वका विवेचन, युगधर्मका वर्णन एवं कालका महत्त्व

व्यास उवाच

एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।
ज्ञानवानेव कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! यह ब्राह्मणकी अत्यन्त प्राचीनकालसे चली आयी हुई वृत्ति है, जो शास्त्रविहित है। ज्ञानवान् मनुष्य ही सर्वत्र कर्म करता हुआ सिद्धि प्राप्त करता है ॥ १ ॥

तत्र चेन्न भवेदेवं संशयः कर्मसिद्धये।
किं तु कर्म स्वभावोऽयं ज्ञानं कर्मेति वा पुनः ॥ २ ॥

यदि कर्ममें संशय न हो तो वह सिद्धि देनेवाला होता है। यहाँ संदेह यह होता है कि क्या यह कर्म स्वभावसिद्ध है अथवा ज्ञानजनित ? ॥ २ ॥

तत्र वेदविधिः स स्याज्ज्ञानं चेत् पुरुषं प्रति।
उपपत्त्युपलब्धिभ्यां वर्णयिष्यामि तच्छृणु ॥ ३ ॥

उपर्युक्त संशय होनेपर यह कहा जाता है कि यदि वह पुरुषके लिये वैदिक विधानके अनुसार कर्त्तव्य हो तो ज्ञान-जन्य है, अन्यथा स्वाभाविक है । मैं युक्ति और फल-प्राप्तिके सहित इस विषयका वर्णन करूँगा, तुम उसे सुनो ॥ ३ ॥

पौरुषं कारणं केचिदाहुः कर्मसु मानवाः।
दैवमेके प्रशंसन्ति स्वभावमपरे जनाः ॥ ४ ॥

कुछ मनुष्य कर्मोंमें पुरुषार्थको कारण बताते हैं । कोई-कोई दैव (प्रारब्ध अथवा भावी)की प्रशंसा करते हैं और दूसरे लोग स्वभावके गुण गाते हैं ॥ ४ ॥

पौरुषं कर्म दैवं च कालवृत्तिस्वभावतः।
त्रयमेतत् पृथग्भूतमविवेकं तु केचन ॥ ५ ॥

कितने ही मनुष्य पुरुषार्थद्वारा की हुई क्रिया, दैव और कालगत स्वभाव—इन तीनोंको कारण मानते हैं। कुछ लोग इन्हें पृथक्-पृथक् प्रधानता देते हैं अर्थात् इनमेंसे एक प्रधान है और दूसरे दो अप्रधान कारण हैं—ऐसा कहते हैं और कुछ लोग इन तीनोंको पृथक् न करके इनके समुच्चयको ही कारण बताते हैं ॥ ५ ॥

एतदेवं च नैवं च न चोभे नानुभे तथा।
कर्मस्था विषयं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ ६ ॥

कुछ कर्मनिष्ठ विचारक घट-पट आदि विषयोंके सम्बन्धमें कहते हैं कि 'यह ऐसा ही है।' दूसरे कहते हैं कि 'यह ऐसा नहीं है।' तीसरोंका कहना है कि 'ये दोनों ही सम्भव हैं अर्थात् यह ऐसा है और नहीं भी है।' अन्य लोग कहते हैं कि 'ये दोनों ही मत सम्भव नहीं हैं' परंतु सत्त्वगुणमें स्थित हुए योगी पुरुष सर्वत्र समस्वरूप ब्रह्मको ही कारणरूपमें देखते हैं ॥ ६ ॥

त्रेतायां द्वापरे चैव कलिजाश्च ससंशयाः।
तपस्विनः प्रशान्ताश्च सत्त्वस्थाश्च कृते युगे ॥ ७ ॥

त्रेता, द्वापर तथा कलियुगके मनुष्य परमार्थके विषयमें संशयशील होते हैं; परंतु सत्ययुगके लोग तपस्वी और सत्त्वगुणी होनेके कारण प्रशान्त (संशयरहित) होते हैं ॥ ७ ॥

अपृथग्दर्शनाः सर्वे ऋक्सामसु यजुःषु च।
कामद्वेषौ पृथक् कृत्वा तपः कृत उपासते ॥ ८ ॥

सत्ययुगमें सभी द्विज ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन तीनोंमें भेददृष्टि न रखते हुए राग-द्वेषको मनसे हटाकर तपस्याका आश्रय लेते हैं ॥ ८ ॥

तपोधर्मेण संयुक्तस्तपोनित्यः सुसंशितः।
तेन सर्वानवाप्नोति कामान् यान् मनसेच्छति ॥ ९ ॥

जो मनुष्य तपस्यारूप धर्मसे संयुक्त हो पूर्णतया संयमका पालन करते हुए सदा तपमें ही तत्पर रहता है, वह उसीके द्वारा अपने मनसे जिन-जिन कामनाओंको चाहता है, उन सबको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

तपसा तदवाप्नोति यद् भूत्वा सृजते जगत्।
तद् भूतश्च ततः सर्वभूतानां भवति प्रभुः ॥ १० ॥

तपस्यासे मनुष्य उस ब्रह्मभावको प्राप्त कर लेता है, जिसमें स्थित होकर वह सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करता है, अतः ब्रह्मभावको प्राप्त व्यक्ति समस्त प्राणियोंका प्रभु हो जाता है ॥ १० ॥

तदुक्तं वेदवादेषु गहनं वेददर्शिभिः।
वेदान्तेषु पुनर्व्यक्तं कर्मयोगेन लक्ष्यते ॥ ११ ॥

वह ब्रह्म वेदके कर्मकाण्डोंमें गुप्तरूपसे प्रतिपादित हुआ है; अतः वेदज्ञ विद्वानोंद्वारा भी वह अज्ञात ही रहता है। किंतु वेदान्तमें उसी ब्रह्मका स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया गया है और निष्काम कर्मयोगके द्वारा उस ब्रह्मका साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ ११ ॥

आलम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातयः ॥ १२ ॥

क्षत्रिय आलम्भ[1] यज्ञ करनेवाले होते हैं, वैश्य हविष्यप्रधान यज्ञ करनेवाले माने गये हैं, शूद्र सेवारूप यज्ञ करनेवाले और ब्राह्मण जपयज्ञ करनेवाले होते हैं ॥ १२ ॥

परिनिष्ठितकार्यो हि स्वाध्यायेन द्विजो भवेत्।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ १३ ॥

क्योंकि ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्यायसे ही कृतकृत्य हो जाता है। वह और कोई कार्य करे या न करे, सब प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला होनेके कारण ही वह ब्राह्मण कहलाता है।

त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।
संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे ॥ १४ ॥

सत्ययुग और त्रेतामें वेद, यज्ञ तथा वर्णाश्रम धर्म विशुद्ध रूपमें पालित होते हैं, परंतु द्वापरयुगमें लोगोंकी आयुका ह्रास होनेके कारण ये भी क्षीण होने लगते हैं ॥ १४ ॥

द्वापरे विप्लवं यान्ति वेदाः कलियुगे तथा।
दृश्यन्ते नापि दृश्यन्ते कलेरन्ते पुनः किल ॥ १५ ॥

द्वापर और कलियुगमें वेद प्रायः लुप्त हो जाते हैं। कलियुगके अन्तिम भागमें तो वे कभी कहीं दिखायी देते हैं और कभी दिखायी भी नहीं देते हैं ॥ १५ ॥

उत्सीदन्ति स्वधर्माश्च तत्राधर्मेण पीडिताः।
गवां भूमेश्च ये चापामोषधीनां च ये रसाः ॥ १६ ॥

उस समय अधर्मसे पीड़ित हो सभी वर्णोंके स्वधर्म नष्ट हो जाते हैं। गौ, जल, भूमि और ओषधियोंके रस भी नष्टप्राय हो जाते हैं ॥ १६ ॥

अधर्मान्तर्हिता वेदा वेदधर्मास्तथाऽऽश्रमाः।
विक्रियन्ते स्वधर्मस्थाः स्थावराणि चराणि च ॥ १७ ॥

वेद, वैदिक धर्म तथा स्वधर्मपरायण आश्रम ये-सभी उस समय अधर्मसे आच्छादित हो अदृश्य हो जाते हैं और स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी अपने धर्मसे विकृत हो जाते हैं अर्थात् सबमें विकार उत्पन्न हो जाता है ॥ १७ ॥

यथा सर्वाणि भूतानि वृष्टिर्भौमानि वर्षति।
सृजते सर्वतोऽङ्गानि तथा वेदा युगे युगे ॥ १८ ॥

जैसे वर्षा भूतलके समस्त प्राणियोंको उत्पन्न करती है और सब ओरसे उनके अङ्गोंको पुष्ट करती है, उसी प्रकार वेद प्रत्येक युगमें सम्पूर्ण योगाङ्गोंका पोषण करते हैं ॥ १८ ॥

---

१. आलम्भके दो अर्थ हैं—स्पर्श और हिंसा। क्षत्रिय लोग किसी वस्तुका स्पर्श करके अथवा छूकर जो दान देते हैं, वह आलम्भ कहलाता है। इसी प्रकार वे प्रजाकी रक्षाके लिये जो हिंसक जन्तुओं तथा दुष्ट डाकुओंका वध करते हैं, यह भी आलम्भ यज्ञके अन्तर्गत है।

निश्चितं कालनानात्वमनादिनिधनं च यत् ।
कीर्तितं यत् पुरस्तान्मे सूते यच्चात्ति च प्रजाः ॥ १९ ॥

इसी प्रकार निश्चय ही कालके भी अनेक रूप हैं। उसका न आदि है और न अन्त। वही प्रजाकी सृष्टि करता है और अन्तमें वही सबको अपना ग्रास बना लेता है। यह बात मैंने तुमको पहले ही बता दी है ॥ १९ ॥

यच्चेदं प्रभवः स्थानं भूतानां संयमो यमः ।
स्वभावेनैव वर्तन्ते द्वन्द्वसृष्टानि भूरिशः ॥ २० ॥

यह जो काल नामक तत्त्व है, वही प्राणियोंकी उत्पत्ति, पालन, संहार और नियन्त्रण करनेवाला है। उसीमें द्वन्द्वयुक्त असंख्य प्राणी स्वभावसे ही निवास करते हैं ॥ २० ॥

सर्गः कालो धृतिर्वेदाः कर्ता कार्यं क्रियाफलम् ।
एतत् ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २१ ॥

तात ! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसके अनुसार मैंने तुम्हारे समक्ष सर्ग, काल, धारणा, वेद, कर्ता, कार्य और क्रियाफलके विषयमें ये सब बातें कही हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ज्ञानका साधन और उसकी महिमा

भीष्म उवाच

इत्युक्तोऽभिप्रशस्यैतत् परमर्षेस्तु शासनम् ।
मोक्षधर्मार्थसंयुक्तमिदं प्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार महर्षि व्यासके उपदेश देनेपर शुकदेवजीने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और मोक्षधर्मके विषयमें पूछनेके लिये उत्सुक होकर इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

शुक उवाच

प्रज्ञावाञ्श्रोत्रियो यज्वा कृतप्रज्ञोऽनसूयकः ।
अनागतमनैतिह्यं कथं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २ ॥

शुकदेवने पूछा—पिताजी ! प्रज्ञावान्, वेदवेत्ता, याज्ञिक, दोष-दृष्टिसे रहित तथा शुद्ध बुद्धिवाला पुरुष उस ब्रह्मको कैसे प्राप्त करता है, जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी अज्ञात है तथा वेदके द्वारा भी जिसका इदमित्थंरूपसे वर्णन नहीं किया गया है ॥ २ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण सर्वत्यागेन मेधया ।
सांख्ये वा यदि वा योग एतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ ३ ॥

सांख्य एवं योगमें तप, ब्रह्मचर्य, सर्वस्वका त्याग और मेधाशक्ति—इनमेंसे किस साधनके द्वारा तत्त्वका साक्षात्कार माना गया है ? यह आपसे मेरा प्रश्न है, आप मुझे कृपापूर्वक इस विषयका उपदेश दीजिये ॥ ३ ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां च यथैकाग्र्यमवाप्यते ।
येनोपायेन पुरुषैस्तत् त्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

मनुष्य मन और इन्द्रियोंको जिस उपायसे और जिस तरह एकाग्र कर सकता है, उस विषयका आप विशद विवेचन कीजिये ॥ ४ ॥

व्यास उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात् सिद्धिं विन्दति कश्चन ॥ ५ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! विद्या, तप, इन्द्रियनिग्रह और सर्वस्वत्यागके बिना कोई भी सिद्धि नहीं पा सकता ॥५॥

महाभूतानि सर्वाणि पूर्वसृष्टिः स्वयम्भुवः ।
भूयिष्ठं प्राणभृद्ग्रामे निविष्टानि शरीरिषु ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण महाभूत विधाताकी पहली सृष्टि है। वे समस्त प्राणिसमुदायमें तथा सभी देहधारियोंके शरीरोंमें अधिक-से-अधिक भरे हुए हैं ॥ ६ ॥

भूमेर्देहो जलात् स्नेहो ज्योतिषश्चक्षुषी स्मृते ।
प्राणापानाश्रयो वायुः खेष्वाकाशं शरीरिणाम् ॥ ७ ॥

देहधारियोंकी देहका निर्माण पृथ्वीसे हुआ है, चिकनाहट और पसीने आदि जलसे प्रकट होते हैं, अग्निसे नेत्र तथा वायुसे प्राण और अपानका प्रादुर्भाव हुआ है। नाक, कान आदिके छिद्रोंमें आकाश-तत्त्व स्थित है ॥ ७ ॥

क्रान्ते विष्णुर्बले शक्रः कोष्ठेऽग्निर्भोक्तुमिच्छति ।
कर्णयोः प्रदिशः श्रोत्रं जिह्वायां वाक् सरस्वती ॥ ८ ॥

चरणोंकी गतिमें विष्णु और बाहुबल [पाणिनामक इन्द्रिय] में इन्द्र स्थित हैं। उदरमें अग्निदेवता प्रतिष्ठित हैं, जो भोजन चाहते और पचाते हैं। कानोंमें श्रवणशक्ति और दिशाएँ हैं तथा जिह्वामें वाणी और सरस्वती देवीका निवास है ॥ ८ ॥

कर्णौ त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
दर्शनीयेन्द्रियोक्तानि द्वाराण्याहारसिद्धये ॥ ९ ॥

दोनों कान, त्वचा, दोनों नेत्र, जिह्वा और पाँचवीं नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हें विषयानुभवका द्वार बतलाया गया है ॥ ९ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
इन्द्रियार्थान् पृथग् विद्यादिन्द्रियेभ्यस्तु नित्यदा ॥ १० ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं। इन्हें सदा इन्द्रियोंसे पृथक् समझना चाहिये ॥ १० ॥

इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते वश्यान् यन्तेव वाजिनः ।
मनश्चापि सदा युङ्क्ते भूतात्मा हृदयाश्रितः ॥ ११ ॥

जैसे सारथि घोड़ोंको अपने वशमें रखकर उन्हें इच्छानुसार चलाता है, इसी प्रकार मन इन्द्रियोंको काबूमें रखकर

उन्हें स्वेच्छासे विषयोंकी ओर प्रेरित करता है, परंतु हृदयमें रहनेवाला जीवात्मा सदा उस मनपर भी शासन किया करता है ॥ ११ ॥

इन्द्रियाणां तथैवैषां सर्वेषामीश्वरं मनः ।
नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मानसस्तथा ॥ १२ ॥

जैसे मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंका राजा और उन्हें विषयोंकी ओर प्रवृत्त करने तथा रोकनेमें भी समर्थ है, उसी प्रकार हृदयस्थित जीवात्मा भी मनका स्वामी तथा उसके निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ है ॥ १२ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना मनः ।
प्राणापानौ च जीवश्च नित्यं देहेषु देहिनाम् ॥ १३ ॥

इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके रूप, रस आदि विषय, स्वभाव [शीतोष्णादि धर्म], चेतना, मन, प्राण, अपान और जीव— ये देहधारियोंके शरीरोंमें सदा विद्यमान रहते हैं ॥ १३ ॥

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य गुणाः शब्दो न चेतना ।
सत्त्वं हि तेजः सृजति न गुणान् वै कथंचन ॥ १४ ॥

शरीर भी वास्तवमें सत्त्व अर्थात् बुद्धिका आश्रय नहीं है; क्योंकि पाञ्चभौतिक शरीर तो उसका कार्य है तथा गुण, शब्द एवं चेतना भी बुद्धिके आश्रय (कारण) नहीं हैं; क्योंकि बुद्धि चेतनाकी सृष्टि करती है, परंतु बुद्धि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको उत्पन्न नहीं करती; क्योंकि बुद्धि स्वयं उसका कार्य है ॥ १४ ॥

एवं सप्तदशं देहे वृतं षोडशभिर्गुणैः ।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १५ ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् ब्राह्मण इस शरीरमें पाँच इन्द्रिय, पाँच विषय, स्वभाव, चेतना, मन, प्राण, अपान और जीव— इन सोलह तत्त्वोंसे आवृत सत्रहवें परमात्माका बुद्धिके द्वारा अन्तःकरणमें साक्षात्कार करता है ॥ १५ ॥

न ह्ययं चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसा तु प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशते ॥ १६ ॥

इस परमात्माका नेत्रों अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे भी दर्शन नहीं हो सकता । यह विशुद्ध मनरूपी दीपकसे ही बुद्धिमें प्रकाशित होता है ॥ १६ ॥

अशब्दस्पर्शरूपं तदरसागन्धमव्ययम् ।
अशरीरं शरीरेषु निरीक्षेत निरिन्द्रियम् ॥ १७ ॥

वह आत्मतत्त्व यद्यपि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे हीन, अविकारी तथा शरीर और इन्द्रियोंसे रहित है तो भी शरीरोंके भीतर ही इसका अनुसंधान करना चाहिये ॥

अव्यक्तं सर्वदेहेषु मर्त्येषु परमाश्रितम् ।
योऽनुपश्यति स प्रेत्य कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ १८ ॥

जो इस विनाशशील समस्त शरीरोंमें अव्यक्तभावसे स्थित परमेश्वरका ज्ञानमयी दृष्टिसे निरन्तर दर्शन करता रहता है, वह मृत्युके पश्चात् ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ हो जाता है ॥ १८ ॥

विद्याभिजनसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १९ ॥

पण्डितजन विद्या और उत्तम कुलसे सम्पन्न ब्राह्मण तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे स्थित ब्रह्मका दर्शन करनेवाले होते हैं ॥ १९ ॥

स हि सर्वेषु भूतेषु जङ्गमेषु ध्रुवेषु च ।
वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम् ॥ २० ॥

जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह एक परमात्मा ही समस्त चराचर प्राणियोंके भीतर निवास करता है ॥ २० ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ २१ ॥

जब जीवात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनेको और अपनेमें सम्पूर्ण प्राणियोंको स्थित देखता है, उस समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ २१ ॥

यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि ।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २२ ॥

अपने शरीरके भीतर जैसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वैसा ही दूसरोंके शरीरमें भी है, जिस पुरुषको निरन्तर ऐसा ज्ञान बना रहता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होनेमें समर्थ है ॥ २२ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य विभोर्भूतहितस्य च ।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ २३ ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा होकर सब प्राणियोंके हितमें लगा हुआ है, जिसका अपना कोई स्पष्ट मार्ग नहीं है तथा जो ब्रह्मपदको प्राप्त करना चाहता है, उस समर्थ ज्ञानयोगीके मार्गकी खोज करनेमें देवता भी मोहित हो जाते हैं ॥ २३ ॥

शकुन्तानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके ।
यथा गतिर्न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः ॥ २४ ॥

जैसे आकाशमें चिड़ियोंके और जलमें मछलियोंके पदचिह्न नहीं दिखायी देते, उसी प्रकार ज्ञानियोंकी गतिका भी किसीको पता नहीं चलता है ॥ २४ ॥

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येवात्मनात्मनि ।
यस्मिंस्तु पच्यते कालस्तं वेदेह न कश्चन ॥ २५ ॥

काल सम्पूर्ण प्राणियोंको स्वयं ही अपने भीतर पकाता रहता है, परंतु जहाँ काल भी पकाया जाता है, जो कालका भी काल है; उस परमात्माको यहाँ कोई नहीं जानता ॥ २५ ॥

न तदूर्ध्वं न तिर्यक् च नाधो न च पुनः पुनः ।
न मध्ये प्रतिगृह्णीते नैव किंचित् कुतश्चन ॥ २६ ॥
सर्वेऽन्तःस्था इमे लोका बाह्यमेषां न किंचन ।

वह परमात्मा न ऊपर है न नीचे और न वह अगल-बगलमें अथवा बीचमें ही है । कोई भी स्थानविशेष उसको ग्रहण नहीं कर सकता, वह परमात्मा किसी एक स्थानसे दूसरे स्थानमें

---

१. अन्तःकरणमें जो ज्ञानशक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य सुख-दुःख और समस्त पदार्थोंका अनुभव करते हैं, जो कि अन्तःकरणकी एक वृत्तिविशेष है, इसे ही 'चेतना' कहते हैं ।

नहीं जाता है। ये सम्पूर्ण लोक उसके भीतर ही स्थित हैं, इनका कोई भी भाग या प्रदेश उस परमात्मासे बाहर नहीं है॥

यद्यजस्रं समागच्छेद् यथा बाणो गुणच्युतः ॥ २७ ॥
नैवान्तं कारणस्येयाद् यद्यपि स्यान्मनोजवः ।

यदि कोई धनुषसे छूटे हुए बाणके समान अथवा मनके सदृश तीव्र वेगसे निरन्तर दौड़ता रहे तो भी जगत्के कारण-स्वरूप उस परमेश्वरका अन्त नहीं पा सकता ॥ २७½ ॥

तस्मात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नास्ति स्थूलतरं ततः॥ २८ ॥
सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ २९ ॥

उस सूक्ष्मस्वरूप परमात्मासे बढ़कर सूक्ष्मतर वस्तु कोई नहीं है, उससे बढ़कर स्थूलतर वस्तु भी कोई नहीं है। उसके सब ओर हाथ पैर हैं, सब ओर नेत्र, सिर और मुख हैं तथा सब ओर कान हैं। वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है॥

तदेवाणोरणुतरं तन्महद्भ्यो महत्तरम् ।
तदन्तःसर्वभूतानां ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते ॥ ३० ॥

वह लघुसे भी अत्यन्त लघु और महान्से भी अत्यन्त महान् है, वह निश्चय ही समस्त प्राणियोंके भीतर स्थित है तो भी किसीको दिखायी नहीं देता ॥ ३० ॥

अक्षरं च क्षरं चैव द्वैधीभावोऽयमात्मनः ।
क्षरः सर्वेषु भूतेषु दिव्यं तमृतमक्षरम् ॥ ३१ ॥

उस परमात्माके क्षर और अक्षर ये दो भाव (स्वरूप) हैं, सम्पूर्ण भूतोंमें तो उसका क्षर (विनाशी) रूप है और दिव्य सत्यस्वरूप चेतनात्मा अक्षर (अविनाशी) है ॥ ३१ ॥

नवद्वारं पुरं गत्वा हंसो हि नियतो वशी ।
ईशः सर्वस्य भूतस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ ३२ ॥

स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंका ईश्वर स्वाधीन परमात्मा नव द्वारोंवाले शरीरमें प्रवेश करके हंस (जीव) रूपसे स्थिरतापूर्वक स्थित है ॥ ३२ ॥

हानिभङ्गविकल्पानां नवानां संचयेन च ।
शरीराणामजस्याहुर्हंसत्वं पारदर्शिनः ॥ ३३ ॥

पारदर्शी (तत्त्वज्ञानी) पुरुष परिणाममें हानि, भङ्ग एवं विकल्पसे युक्त नवीन शरीरोंको बारंबार ग्रहण करनेके कारण अजन्मा परमात्माके अंशभूत जीवात्माको 'हंस' कहते हैं ॥ ३३ ॥

हंसोक्तं चाक्षरं चैव कूटस्थं यत् तदक्षरम् ।
तद् विद्वानक्षरं प्राप्य जहाति प्राणजन्मनी ॥ ३४ ॥

हंस नामसे जिस अविनाशी जीवात्माका प्रतिपादन किया गया है, वह कूटस्थ अक्षर ही है, इस प्रकार जो विद्वान् उस अक्षर आत्माको यथार्थरूपसे जान लेता है, वह प्राण, जन्म और मृत्युके बन्धनको सदाके लिये त्याग देता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३९ ॥

चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

योगसे परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन

व्यास उवाच

पृच्छतस्तव सत्पुत्र यथावदिह तत्त्वतः ।
सांख्यज्ञानेन संयुक्तं यदेतत् कीर्तितं मया ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—सत्पुत्र शुक ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने जो यहाँ ज्ञानके विषयका यथार्थ रूपसे तात्त्विक वर्णन किया है, ये सब सांख्यज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं ॥ १ ॥

योगकृत्यं तु ते कृत्स्नं वर्तयिष्यामि तच्छृणु ।
एकत्वं बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणां च सर्वशः ॥ २ ॥
आत्मनो व्यापिनस्तात ज्ञानमेतदनुत्तमम् ।

अब योगसम्बन्धी सम्पूर्ण कृत्योंका वर्णन आरम्भ करता हूँ, सुनो। तात ! इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको सब ओरसे रोककर सर्वव्यापी आत्माके साथ उनकी एकता स्थापित करना ही योगशास्त्रियोंके मतमें सर्वोत्तम ज्ञान है ॥ २½ ॥

तदेतदुपशान्तेन दान्तेनाध्यात्मशीलिना ॥ ३ ॥
आत्मारामेण बुद्धेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा ।

इसे प्राप्त करनेके लिये साधक सब ओरसे मनको हटाकर शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न हो आत्म-तत्त्वका चिन्तन करे, एकमात्र परमात्मामें ही रमण करे, ज्ञानवान् पुरुषसे ज्ञान ग्रहण करे एवं शास्त्रविहित पवित्र कर्तव्यकर्मोंका निष्कामभावसे अनुष्ठान करके ज्ञातव्य तत्त्वको जाने ॥ ३½ ॥

योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः॥ ४ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम् ।
क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात् ॥ ५ ॥
सत्त्वसंसेवनाद् धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति ।

विद्वानोंने योगके जो काम, क्रोध, लोभ, भय और पाँचवाँ स्वप्न—ये पाँच दोष बताये हैं उनका पूर्णतया उच्छेद करे। इनमेंसे क्रोधको शम (मनोनिग्रह) के द्वारा जीते, कामको संकल्पके त्यागद्वारा पराजित करे तथा धीर पुरुष सत्त्वगुणका सेवन करनेसे निद्राका उच्छेद कर सकता है ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ॥ ६ ॥
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनोवाचं च कर्मणा ।
अप्रमादाद् भयं जह्याद् दम्भं प्राज्ञोपसेवनात् ॥ ७ ॥

मनुष्य धैर्यका सहारा लेकर शिश्न और उदरकी रक्षा करे अर्थात् विषयभोग और भोजनकी चिन्ता दूर कर दे। नेत्रोंकी

सहायतासे हाथ और पैरोंकी, मनके द्वारा नेत्र और कानोंकी तथा कर्मके द्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे अर्थात् इनको शुद्ध बनावे। सावधानीके द्वारा भयका और विद्वान् पुरुषोंके सेवनसे दम्भका त्याग करे ॥ ६-७ ॥

एवमेतान् योगदोषान् जयेन्नित्यमतन्द्रितः।
अग्नींश्च ब्राह्मणांश्चार्चेद् देवताः प्रणमेत च ॥ ८ ॥

इस प्रकार सदैव सावधानीपूर्वक आलस्य छोड़कर इन योगसम्बन्धी दोषोंको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये। एवं अग्नि और ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये तथा देवताओंको प्रणाम करना चाहिये ॥ ८ ॥

वर्जयेदुशतीं वाचं हिंसायुक्तां मनोनुदाम्।
ब्रह्म तेजोमयं शुक्रं यस्य सर्वमिदं रसः ॥ ९ ॥
एतस्य भूतं भव्यस्य दृष्टं स्थावरजङ्गमम्।

साधकको चाहिये कि मनको पीड़ा देनेवाली हिंसायुक्त वाणीका प्रयोग न करे। तेजोमय निर्मल ब्रह्म सबका बीज (कारण) है। यह जो कुछ दिखायी दे रहा है, सब उसीका रस (कार्य) है। सम्पूर्ण चराचर जगत् उस ब्रह्मके ही ईक्षण (संकल्प) का परिणाम है ॥ ९½ ॥

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा ॥ १० ॥
शौचमाचारसंशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः।
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ॥ ११ ॥

ध्यान, वेदाध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, शौच, आचारशुद्धि एवं इन्द्रियोंका निग्रह—इनके द्वारा तेजकी वृद्धि होती है और पापोंका नाश हो जाता है ॥ १०-११ ॥

सिध्यन्ति चास्य सर्वार्था विज्ञानं च प्रवर्तते।
समः सर्वेषु भूतेषु लब्धालब्धेन वर्तयन् ॥ १२ ॥
धूतपाप्मा तु तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ॥ १३ ॥

इतना ही नहीं, इनसे साधकके सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं तथा उसे विज्ञानकी भी प्राप्ति होती है। योगीको चाहिये कि वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान भाव रक्खे। जो कुछ भी मिले या न मिले, उसीसे संतोषपूर्वक निर्वाह करे। पापोंको धो डाले तथा तेजस्वी, मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर काम और क्रोधको वशमें करके ब्रह्मपदको पानेकी इच्छा करे ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां च कृत्वैकाग्र्यं समाहितः।
पूर्वरात्रापरार्धे च धारयेन्मन आत्मनि ॥ १४ ॥

योगी मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके रातके पहले और पिछले पहरमें ध्यानस्थ होकर मनको आत्मामें लगावे ॥

जन्तोः पञ्चेन्द्रियस्यास्य यदेकं छिद्रमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवते प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ १५ ॥

जैसे मशकमें एक जगह भी छेद हो जाय तो वहाँसे पानी बह जाता है, उसी प्रकार पाँच इन्द्रियोंसे युक्त जीवात्माकी एक इन्द्रिय भी यदि छिद्रयुक्त हुई—विषयोंकी ओर प्रवृत्त हुई तो उसीसे उसकी बुद्धि क्षीण हो जाती है ॥

मनस्तु पूर्वमादद्यात् कुमीनमिव मत्स्यहा।
ततः श्रोत्रं ततश्चक्षुर्जिह्वां घ्राणं च योगवित् ॥ १६ ॥

जैसे मछलीमार जाल काटनेवाली दुष्ट मछलीको पहले पकड़ता है, उसी तरह योगवेत्ता साधक पहले अपने मनको वशमें करे। उसके बाद कानका, फिर नेत्रका, तदनन्तर जिह्वा और घ्राण आदिका निग्रह करे ॥ १६ ॥

तत एतानि संयम्य मनसि स्थापयेद् यतिः।
तथैवापोह्य संकल्पान्मनो ह्यात्मनि धारयेत् ॥ १७ ॥

यत्नशील साधक इन पाँचों इन्द्रियोंको वशमें करके मनमें स्थापित करे। इसी प्रकार संकल्पोंका परित्याग करके मनको बुद्धिमें लीन करे ॥ १७ ॥

पञ्चेन्द्रियाणि संधाय मनसि स्थापयेद् यतिः।
यदैतान्यवतिष्ठन्ति मनःषष्ठान्यथात्मनि ॥ १८ ॥
प्रसीदन्ति च संस्थाय तदा ब्रह्म प्रकाशते।

योगी पाँचों इन्द्रियोंको वशमें करके उन्हें दृढ़तापूर्वक मनमें स्थापित करे। जब छठे मनसहित ये इन्द्रियाँ बुद्धिमें स्थिर होकर प्रसन्न (स्वच्छ) हो जाती हैं, तब उस योगीको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है ॥ १८½ ॥

विधूम इव दीप्तार्चिरादित्य इव दीप्तिमान् ॥ १९ ॥
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि।

वह योगी अपने अन्तःकरणमें धूमरहित प्रज्वलित अग्नि, दीप्तिमान् सूर्य तथा आकाशमें चमकती हुई बिजलीकी ज्योतिके समान प्रकाशस्वरूप आत्माका दर्शन करता है ॥ १९½ ॥

सर्वस्तत्र स सर्वत्र व्यापकत्वाच्च दृश्यते ॥ २० ॥
तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
धृतिमन्तो महाप्राज्ञाः सर्वभूतहिते रताः ॥ २१ ॥

सब उस आत्मामें दृष्टिगोचर होते हैं और व्यापक होनेके कारण वह आत्मा सबमें दिखायी देता है। जो महात्मा ब्राह्मण मनीषी, महाज्ञानी, धैर्यवान् और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले हैं, वे ही उस परमात्माका दर्शन कर पाते हैं ॥

एवं परिमितं कालमाचरन् संशितव्रतः।
आसीनो हि रहस्येको गच्छेदक्षरसात्मताम् ॥ २२ ॥

जो योगी प्रतिदिन नियत समयतक अकेला एकान्त स्थानमें बैठकर भलीभाँति नियमोंके पालनपूर्वक इस प्रकार योगाभ्यास करता है, वह अक्षर-ब्रह्मकी समताको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

प्रमोहो भ्रम आवर्तो घ्राणं श्रवणदर्शने।
अद्भुतानि रसस्पर्शौ शीतोष्णे मारुताकृतिः ॥ २३ ॥

योगसाधनामें अग्रसर होनेपर मोह, भ्रम और आवर्त आदि विघ्न प्राप्त होते हैं। फिर दिव्य सुगन्ध आती है और दिव्य शब्दोंके श्रवण एवं दिव्य रूपोंके दर्शन होते हैं। नाना प्रकारके अद्भुत रस और स्पर्शका अनुभव होता है। इच्छानुकूल सर्दी और गर्मी प्राप्त होती है तथा वायुरूप होकर आकाशमें चलने-फिरनेकी शक्ति आ जाती है ॥ २३ ॥

प्रतिभामुपसर्गांश्चाप्युपसंगृह्य योगतः।
तांस्तत्त्वविदनादृत्य आत्मन्येव निवर्तयेत् ॥ २४ ॥

प्रतिभा बढ़ जाती है। दिव्य भोग अपने आप उपस्थित हो जाते हैं। इन सब सिद्धियोंको योगबलसे प्राप्त करके भी तत्त्ववेत्ता योगी उनका आदर न करे; क्योंकि ये सब योगके विघ्न हैं। अतः मनको उनकी ओरसे लौटाकर आत्मामें ही एकाग्र करे ॥ २४ ॥

कुर्यात् परिचयं योगे त्रैकाल्ये नियतो मुनिः।
गिरिशृङ्गे तथा चैत्ये वृक्षाग्रेषु च योजयेत् ॥ २५ ॥

नित्य-नियमसे रहकर योगी मुनि किसी पर्वतके शिखरपर किसी देववृक्षके समीप या एकान्त मन्दिरमें अथवा वृक्षोंके सम्मुख बैठकर तीन समय (सबेरे तथा रातके पहले और पिछले पहरोंमें) योगका अभ्यास करे ॥ २५ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं कोष्ठे भाण्डमना इव।
एकाग्रं चिन्तयेन्नित्यं योगान्नोद्वेजयेन्मनः ॥ २६ ॥

द्रव्य चाहनेवाले मनुष्य जैसे सदा द्रव्यसमुदायको कोठेमें बाँध करके रखता है, उसी तरह योगका साधक भी इन्द्रिय-समुदायको संयममें रखकर हृदयकमलमें स्थित नित्य आत्माका एकाग्रभावसे चिन्तन करे। मनको योगसे उद्विग्न न होने दे ॥

येनोपायेन शक्येत संनियन्तुं चलं मनः।
तं च युक्तो निषेवेत न चैव विचलेत् ततः ॥ २७ ॥

जिस उपायसे चञ्चल मनको रोका जा सके, योगका साधक उसका सेवन करे और उस साधनसे वह कभी विचलित न हो ॥ २७ ॥

शून्या गिरिगुहाश्चैव देवतायतनानि च।
शून्यागाराणि चैकाग्रो निवासार्थमुपक्रमेत् ॥ २८ ॥

एकाग्रचित्त योगी पर्वतकी सूनी गुफा, देवमन्दिर तथा एकान्तस्थ शून्य गृहको ही अपने निवासके लिये चुने ॥ २८ ॥

नाभिष्वजेत् परं वाचा कर्मणा मनसापि वा।
उपेक्षको यताहारो लब्धालब्धे समो भवेत् ॥ २९ ॥

योगका साधक मन, वाणी या क्रियाद्वारा भी किसी दूसरेमें आसक्त न हो। सबकी ओरसे उपेक्षाका भाव रक्खे। नियमित भोजन करे और लाभ-हानिमें भी समान भाव रक्खे॥

यश्चैनमभिनन्देत यश्चैनमपवादयेत्।
समस्तयोश्चाप्युभयोर्नाभिध्यायेच्छुभाशुभम् ॥ ३० ॥

जो उसकी प्रशंसा करे और जो उसकी निन्दा करे, उन दोनोंमें वह समान भाव रक्खे, एककी भलाई या दूसरेकी बुराई न सोचे ॥ ३० ॥

न प्रहृष्येत लाभेषु नालाभेषु च चिन्तयेत्।
समः सर्वेषु भूतेषु सधर्मा मातरिश्वनः ॥ ३१ ॥

कुछ लाभ होनेपर हर्षसे फूल न उठे और न होनेपर चिन्ता न करे। समस्त प्राणियोंके प्रति समान दृष्टि रखे। वायुके समान सर्वत्र विचरता हुआ भी असङ्ग और अनिकेत रहे ॥ ३१ ॥

एवं स्वस्थात्मनः साधोः सर्वत्र समदर्शिनः।
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ३२ ॥

इस प्रकार स्वस्थचित्त और सर्वत्र समदर्शी रहकर कर्मफलका उल्लङ्घन करके छः महीनेतक नित्य योगाभ्यास करनेवाला श्रेष्ठ योगी वेदोक्त परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ३२ ॥

वेदनार्ताः प्रजा दृष्ट्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
एतस्मिन् विरतो मार्गे विरमेन्न च मोहितः ॥ ३३ ॥

प्रजाको धनकी प्राप्तिके लिये वेदनासे पीड़ित देख धनकी ओरसे विरक्त हो जाय—मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णको समान समझे। विरक्त पुरुष इस योगमार्गसे न तो विरत हो और न मोहमें ही पड़े ॥ ३३ ॥

अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ ३४ ॥

कोई नीच वर्णका पुरुष और स्त्री ही क्यों न हो, यदि उनके मनमें धर्मसम्पादनकी अभिलाषा है तो इस योगमार्गका सेवन करनेसे उन्हें भी परमगतिकी प्राप्ति हो सकती है ॥ ३४ ॥

अजं पुराणमजरं सनातनं
यदिन्द्रियैरुपलभेत निश्चलैः।
अणोरणीयो महतो महत्तरं
तदात्मना पश्यति मुक्तमात्मवान् ३५

जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, वही योगी निश्चल मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जिसकी उपलब्धि होती है, उस अजन्मा, पुरातन, अजर, सनातन, नित्यमुक्त, अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् परमात्माका आत्मासे अनुभव करता है ॥ ३५ ॥

इदं महर्षेर्वचनं महात्मनो
यथावदुक्तं मनसानुदृश्य च।
अवेक्ष्य चेमां परमेष्ठिसाम्यतां
प्रयान्ति चाभूतगतिं मनीषिणः ॥ ३६ ॥

महर्षि महात्मा व्यासके यथावद्रूपसे कहे गये इस उपदेशवाक्यपर मन-ही-मन विचार करके एवं इसको भलीभाँति समझकर जो इसके अनुसार आचरण करते हैं, वे मनीषी पुरुष ब्रह्माजीकी समानताको प्राप्त होते हैं और प्रलयकालपर्यन्त ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके साथ रहकर अन्तमें उन्हींके साथ मुक्त हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्म और ज्ञानका अन्तर तथा ब्रह्मप्राप्तिके उपायका वर्णन

शुक उवाच

यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।
कां दिशं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा॥ १ ॥

शुकदेवने पूछा—पिताजी! वेदमें 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो'—ये जो दो प्रकारके वचन मिलते हैं, उनके सम्बन्धमें मैं यह जानना चाहता हूँ कि विद्या (ज्ञान) के द्वारा कर्मको त्याग देनेपर मनुष्य किस दिशामें जाते हैं? और कर्म करनेसे उन्हें किस गतिकी प्राप्ति होती है? ॥ १ ॥

एतद् वै श्रोतुमिच्छामि तद् भवान् प्रब्रवीतु मे।
एतच्चान्योन्यवैरूप्ये वर्तेते प्रतिकूलतः॥ २ ॥

मैं इस विषयको सुनना चाहता हूँ, आप कृपापूर्वक मुझे यह बतावें। ये दोनों वचन एक दूसरेके विपरीत हैं, अतः प्रतिकूल परिणाम ही उत्पन्न कर सकते हैं॥ २ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं पराशरसुतः सुतम्।
कर्मविद्यामयावेतौ व्याख्यास्यामि क्षराक्षरौ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! शुकदेवजीके इस प्रकार पूछनेपर पराशरनन्दन भगवान् व्यासने यों उत्तर दिया—'बेटा! ये कर्ममय और ज्ञानमय मार्ग क्रमशः विनाशशील और अविनाशी हैं, मैं इनकी व्याख्या आरम्भ करता हूँ॥ ३ ॥

यां दिशं विद्यया यान्ति यां च गच्छन्ति कर्मणा।
शृणुष्वैकमना वत्स गह्वरं ह्येतदन्तरम्॥ ४ ॥

'वत्स! ज्ञानसे मनुष्य जिस दिशाको जाते हैं और कर्मद्वारा उन्हें जिस गतिकी प्राप्ति होती है, वह सब बताता हूँ, एकचित्त होकर सुनो। इन दोनोंका अन्तर अत्यन्त गहन है॥

अस्ति धर्म इति प्रोक्तं नास्तीत्यत्रैव यो वदेत्।
तस्य पक्षस्य सदृशमिदं मम भवेद् व्यथा॥ ५ ॥

'धर्म है, ऐसा शास्त्रका उपदेश है, इसके विपरीत यदि कोई कहे कि धर्म नहीं है तो उसे सुनकर एक आस्तिकको जितना कष्ट होता है, उसके पक्षके ही समान यह कर्म और विद्याका तारतम्यविषयक प्रश्न मेरे लिये क्लेशदायक है॥

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च सुभाषितः॥ ६ ॥

'प्रवृत्तिलक्षण धर्म और निवृत्तिके उद्देश्यसे प्रतिपादित धर्म, ये दो मार्ग हैं जहाँ वेद प्रतिष्ठित हैं॥ ६ ॥

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥ ७ ॥

'सकामकर्मसे मनुष्य बन्धनमें पड़ता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है, अतः दूरदर्शी यति कर्म नहीं करते हैं॥ ७ ॥

कर्मणा जायते प्रेत्य मूर्तिमान् षोडशात्मकः।
विद्यया जायते नित्यमव्यक्तं ह्यव्ययात्मकम्॥ ८ ॥

'कर्म करनेसे मनुष्य मृत्युके पश्चात् सोलह* तत्त्वोंके बने हुए मूर्तिमान् शरीरको धारण करके जन्म लेता है; किंतु ज्ञानके प्रभावसे जीव नित्य, अव्यक्त, अविनाशी परमात्माको प्राप्त होता है॥ ८ ॥

कर्म त्वेके प्रशंसन्ति स्वल्पबुद्धिरता नराः।
तेन ते देहजालानि रमयन्त उपासते॥ ९ ॥

'अधूरे ज्ञानमें आसक्त अर्थात् इन्द्रियज्ञानको ही ज्ञान माननेवाले कुछ मनुष्य सकामकर्मकी प्रशंसा करते हैं, इसलिये वे भोगासक्त होकर बारंबार विभिन्न शरीरोंमें आनन्द मानकर उनका सेवन करते हैं॥ ९ ॥

ये स्म बुद्धिं परां प्राप्ता धर्मनैपुण्यदर्शिनः।
न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव॥ १०॥

'परंतु जो धर्मके तत्त्वको भलीभाँति समझकर सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, वे कर्मकी उसी तरह प्रशंसा नहीं करते हैं, जैसे प्रतिदिन नदीका पानी पीनेवाले मनुष्य कुँएका आदर नहीं करते हैं॥ १० ॥

कर्मणः फलमाप्नोति सुखदुःखे भवाभवौ।
विद्यया तदवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति॥ ११॥

'कर्मके फल हैं सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु। कर्मद्वारा मनुष्य इन्हींको पाते हैं, परंतु ज्ञानके द्वारा उन्हें उस परमपदकी प्राप्ति होती है, जहाँ जानेसे सदाके लिये शोकसे मुक्त हो जाता है॥ ११ ॥

यत्र गत्वा न म्रियते यत्र गत्वा न जायते।
न पुनर्जायते यत्र यत्र गत्वा न वर्तते॥ १२॥

'जहाँ जाकर फिर मृत्युका कष्ट नहीं उठाना पड़ता; जहाँ जानेसे फिर जन्म नहीं होता, जहाँ पुनर्जन्मका भय नहीं रहता तथा जहाँ जाकर मनुष्य फिर इस संसारमें नहीं लौटता॥ १२ ॥

यत्र तद् ब्रह्म परममव्यक्तमचलं ध्रुवम्।
अव्याकृतमनायासममव्यक्तं चावियोगि च॥ १३॥

'जहाँ बिना क्लेशके प्राप्त होनेवाले और मिलकर कभी विलग न होनेवाले, अव्यक्त, अचल, नित्य, अनिर्वचनीय तथा विकारशून्य उस परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है॥ १३ ॥

द्वन्द्वैर्न यत्र बाध्यन्ते मानसेन च कर्मणा।
समाः सर्वत्र मैत्राश्च सर्वभूतहिते रताः॥ १४॥

'उस स्थितिको प्राप्त हुए मनुष्योंको सुख-दुःखादि द्वन्द्व

---

* पाँच इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियोंके विषय, स्वभाव (शीतोष्णादि धर्म), चेतना (ज्ञानशक्ति), मन, प्राण, अपान और जीव—ये सोलह तत्त्व पूर्वमें २३९ वें अध्यायके १३ वें श्लोकमें बता चुके हैं।

मानसिक संकल्प और कर्म-संस्कार बाधा नहीं पहुँचाते । वहाँ पहुँचे हुए मानव सर्वत्र समानभाव रखते हैं, सबको मित्र मानते हैं और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं ॥

विद्यामयोऽन्यः पुरुषस्तात कर्ममयोऽपरः ।
विद्धि चन्द्रमसं दर्शे सूक्ष्मया कलया स्थितम् ॥ १५ ॥

'तात ! ज्ञानी मनुष्य कुछ और ही होता है, कर्मासक्त मनुष्य उससे सर्वथा भिन्न है । जैसे चन्द्रमा घटते-घटते अमावास्याको एक सूक्ष्म कलाके रूपमें ही शेष रह जाता है, यही अवस्था तुम कर्मासक्त मनुष्योंकी भी समझो—उसे क्षय और वृद्धिके ही चक्करमें पड़े रहना पड़ता है ॥ १५ ॥

तदेतदृषिणा प्रोक्तं विस्तरेणानुमीयते ।
नवजं शशिनं दृष्ट्वा वक्रतन्तुमिवाम्बरे ॥ १६ ॥

'इस बातको एक मन्त्रद्रष्टा ऋषिने विस्तारके साथ बताया है । अमावास्याके बाद आकाशमें एक टेढ़े और पतले सूतके समान प्रतीत होनेवाले नवोदित चन्द्रमाको देखकर ऐसा ही अनुमान किया जाता है ॥ १६ ॥

एकादशविकारात्मा कलासम्भारसम्भृतः ।
मूर्तिमानिति तं विद्धि तात कर्मगुणात्मकम् ॥ १७ ॥

'कर्मजन्य कलाओंके भारको धारण करनेवाला कर्मासक्त मनुष्य मन और इन्द्रियरूप ग्यारह विकारोंसे युक्त होकर जन्म धारण किया करता है । इस प्रकार वह मूर्तिमान् (देहधारी) व्यक्ति होता है । तुम उसे कर्मफलसम्भूत त्रिगुणात्मक शरीरसे युक्त तथा चन्द्रमाके समान वृद्धि और ह्रासका भागी होनेवाला समझो ॥ १७ ॥

देवो यः संश्रितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे ।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीयान्नित्यं योगजितात्मकम् ॥ १८ ॥

'प्राणियोंके अन्तःकरण (हृदयाकाश) में जो स्वयम्प्रकाश चिन्मय देवता कमलके पत्तेपर पड़ी हुई पानीकी बूँदके समान निर्लेपभावसे विराजमान है तथा जिसने योगके द्वारा चित्तको वशमें किया है, उस आत्मतत्त्वको तुम सदैव क्षेत्रज्ञ समझो ॥ १८ ॥

तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणात्मकम् ।
जीवमात्मगुणं विद्यादात्मानं परमात्मनः ॥ १९ ॥

'तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनोंको बुद्धिका गुण समझो, इनके सम्बन्धसे जीव गुणस्वरूप और गुण जीवस्वरूप प्रतीत होने लगते हैं । अतः वास्तवमें जीवात्मा परमात्माका ही अंश है, ऐसा समझो ॥ १९ ॥

सचेतनं जीवगुणं वदन्ति
स चेष्टते जीवयते च सर्वम् ।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति
प्राकल्पयद् यो भुवनानि सप्त ॥ २० ॥

'शरीर स्वयं तो अचेतन (जड) है, परंतु चेतनसे युक्त होनेसे उसे जीवात्माके गुण चैतन्यसे युक्त कहा जाता है । जीवात्मा ही शरीरके द्वारा चेष्टा करता है और वही समस्त शरीरको जीवन (चेतना) प्रदान करता है, परंतु जिस परमात्माने सातों भुवनोंकी सृष्टि की है, उसे क्षेत्रवेत्ता विद्वान् उस जीवात्मासे भी श्रेष्ठ बताते हैं' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ एकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

आश्रमधर्मकी प्रस्तावना करते हुए ब्रह्मचर्य-आश्रमका वर्णन

शुक उवाच

क्षरात्प्रभृति यः सर्गः सगुणानीन्द्रियाणि च ।
बुद्ध्यैश्वर्यातिसर्गोऽयं प्रधानश्चात्मनः श्रुतम् ॥ १ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! क्षर अर्थात् प्रधानसे जो चौबीस तत्त्वोंवाली सामान्य सृष्टि हुई है तथा शब्द आदि विषयोंसहित जो इन्द्रियाँ हैं, उनकी सृष्टि बुद्धिके सामर्थ्यसे हुई है, अतः यह अतिसर्ग—असाधारण सृष्टि है । बन्धनकारी होनेके कारण इसे प्रमुख या प्रबल माना गया है, यह दोनों प्रकारकी सृष्टि पुरुषके संनिधानसे, प्रकृतिसे उत्पन्न हुई है; यह सब मैंने पहले सुन लिया है ॥ १ ॥

भूय एव तु लोकेऽस्मिन् सद्वृत्तिं कालहैतुकीम् ।
यथा सन्तः प्रवर्तन्ते तदिच्छाम्यनुवर्तितुम् ॥ २ ॥

अब पुनः इस संसारमें प्रत्येक युगके अनुसार जो शिष्ट पुरुषोंकी आचार-परम्परा रही है तथा जिसके अनुकूल सत्पुरुषोंका बर्ताव होता आया है, उसका मैं भी अनुसरण करना चाहता हूँ ॥ २ ॥

वेदे वचनमुक्तं तु कुरु कर्म त्यजेति च ।
कथमेतद् विजानीयां तच्च व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

वेदमें 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो'—ये दोनों बातें कही गयी हैं । मैं इनका तात्पर्य कैसे समझूँ ? जिससे इनका विरोध हट जाय । आप इस विषयकी व्याख्या करें ॥ ३ ॥

लोकवृत्तान्ततत्त्वज्ञः पूतोऽहं गुरुशासनात् ।
कृत्वा बुद्धिं विमुक्तात्मा द्रक्ष्याम्यात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

मैं आप-जैसे गुरुके उपदेशसे पवित्र हो गया हूँ तथा मुझे जगत्के वृत्तान्त (लौकिक नीति-रीति) का भी ज्ञान हो गया है; अतः धर्माचरणसे बुद्धिका संस्कार करके स्थूल देहका अभिमान त्यागकर अपने अविनाशीस्वरूप परमात्माका दर्शन करूँगा ॥ ४ ॥

व्यास उवाच

यथा वै विहिता वृत्तिः पुरस्ताद् ब्रह्मणा स्वयम् ।
एषा पूर्वतरैः सद्भिराचीर्णा परमर्षिभिः ॥ ५ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! पूर्वकालमें साक्षात् ब्रह्माजी-ने जिस आचार-व्यवहारका विधान कर दिया है, पहलेके सत्पुरुष तथा ऋषि-महर्षि भी उसीका पालन करते आ रहे हैं॥

ब्रह्मचर्येण वै लोकान् जयन्ति परमर्षयः।
आत्मनश्च ततः श्रेयांस्यन्विच्छन् मनसाऽऽत्मनि॥ ६ ॥

परम ऋषियोंने ब्रह्मचर्यके पालनसे ही उत्तम लोकोंपर विजय पायी है; अतः मन-ही-मन अपने कल्याणकी इच्छा रखकर पहले ब्रह्मचर्यका पालन करे ॥ ६ ॥

वने मूलफलाशी च तप्यन् सुविपुलं तपः।
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः॥ ७ ॥

(फिर वानप्रस्थ-धर्मका आश्रय ले) वनमें फल-मूल खाकर रहे, भारी तपस्यामें तत्पर हो जाय, पुण्य-तीर्थोंमें भ्रमण करे और किसी भी प्राणीकी अपने द्वारा हिंसा न होने दे ॥ ७ ॥

विधूमे सन्नमुसले वानप्रस्थप्रतिश्रये।
काले प्राप्ते चरन् भैक्ष्यं कल्पते ब्रह्मभूयसे॥ ८ ॥

इसके बाद संन्यासी होकर यथासमय भिक्षासे जीवन-निर्वाह करते हुए भिक्षाके लिये 'वानप्रस्थी' के आश्रमपर उस समय जाना चाहिये, जब कि मूसलसे धान कूटनेकी आवाज न सुनायी पड़े और रसोईघरसे धूँआ निकलना बंद हो जाय। इस प्रकार जीवन बितानेवाला संन्यासी ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ॥ ८ ॥

निःस्तुतिर्निर्नमस्कारः परित्यज्य शुभाशुभे।
अरण्ये विचरैकाकी येन केनचिदाशितः॥ ९ ॥

शुकदेव ! तुम भी स्तुति और नमस्कारसे अलग रहकर शुभाशुभ कर्मोंका परित्याग करके जो कुछ फल-मूल मिल जाय, उसीसे भूख मिटाते हुए वनमें अकेले विचरते रहो॥

शुक उवाच

यदिदं वेदवचनं लोकवादे विरुध्यते।
प्रमाणे वाप्रमाणे च विरुद्धे शास्त्रता कुतः॥ १० ॥
इत्येतच्छ्रोतुमिच्छामि प्रमाणं तूभयं कथम्।
कर्मणामविरोधेन कथं मोक्षः प्रवर्तते॥ ११ ॥

शुकदेवने पूछा—पिताजी ! 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो'—ये जो वेदके दो तरहके वचन हैं, लोकदृष्टिसे विचार करनेपर परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं। ये प्रामाणिक हैं या अप्रामाणिक ? यदि प्रामाणिक हैं तो परस्पर विरोध रहते हुए इन्हें शास्त्रवचन कैसे माना जा सकता है तथा दोनों ही प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं ? यह सब मैं सुनना चाहता हूँ; साथ ही यह भी बताइये कि कर्मोंका विरोध किये बिना मोक्षकी प्राप्ति किस तरह हो सकती है ? ॥ १०-११ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं गन्धवत्याः सुतः सुतम्।
ऋषिस्तत्पूजयन् वाक्यं पुत्रस्यामिततेजसः॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उनके इस प्रकार पूछनेपर गन्धवती (सत्यवती) के पुत्र महर्षि व्यासने अपने अमिततेजस्वी पुत्रके वचनका आदर करते हुए उससे इस प्रकार कहा ॥ १२ ॥

व्यास उवाच

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम्॥ १३॥

व्यासजी बोले—बेटा ! ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये सभी अपने-अपने आश्रमके लिये विहित शास्त्रोक्त कर्मोंका पालन करते हुए परम गतिको प्राप्त होते हैं।

एको वाप्याश्रमानेतान् योऽनुतिष्ठेद् यथाविधि।
अकामद्वेषसंयुक्तः स परत्र विधीयते॥ १४॥

यदि कोई एक पुरुष भी इन आश्रमोंके धर्मोंका राग-द्वेषसे शून्य होकर विधिपूर्वक अनुष्ठान कर ले तो वह परब्रह्म परमात्माको तत्त्वसे जाननेका अधिकारी हो जाता है ॥ १४॥

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते॥ १५॥

ये चारों आश्रम ब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित हैं और ब्रह्मतक पहुँचानेके लिये चार पैंडीवाली सीढ़ीके समान माने गये हैं। इस सीढ़ीपर चढ़कर मनुष्य ब्रह्मलोकमें सम्मानित होता है॥

आयुषस्तु चतुर्भागं ब्रह्मचार्यनसूयकः।
गुरौ वा गुरुपुत्रे वा वसेद् धर्मार्थकोविदः॥ १६॥

द्विजके बालकको चाहिये कि ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरु अथवा गुरुपुत्रकी सेवामें अपनी आयुके एक चौथाई भाग अर्थात् पच्चीस वर्षोंतक रहे। वहाँ रहते हुए किसीके दोष न देखे। ऐसा करनेवाला ब्रह्मचारी धर्म और अर्थके ज्ञानमें कुशल होता है ॥ १६ ॥

जघन्यशायी पूर्वं स्यादुत्थाय गुरुवेश्मनि।
यच्च शिष्येण कर्तव्यं कार्यं दासेन वा पुनः॥ १७॥

वह गुरुके सोनेके पश्चात् नीचे आसनपर सोवे और उनके जागनेसे पहले ही उठ जाय। गुरुके घरमें एक शिष्य या दासके करने योग्य जो कुछ भी कार्य हो, उसे वह स्वयं पूरा करे ॥ १७ ॥

कृतमित्येव तत्सर्वं कृत्वा तिष्ठेत पार्श्वतः।
किंकरः सर्वकारी स्यात् सर्वकर्मसु कोविदः॥ १८॥

गुरुजी जो भी आज्ञा दें उसके लिये सदा यही उत्तर दे कि 'भगवन् ! इसे अभी पूरा किया' और वह सब कार्य करके उनके पास आकर खड़ा हो जाय। 'मेरे लिये क्या आज्ञा है ?' ऐसा पूछते हुए एक आज्ञाकारी सेवककी भाँति गुरुका सारा कार्य करनेके लिये तैयार रहे और सभी कर्मोंके सम्पादनमें कुशल हो ॥ १८ ॥

कर्मातिशेषेण गुरावध्येतव्यं बुभूषता।
दक्षिणोऽनपवादी स्यादाहूतो गुरुमाश्रयेत्॥ १९॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले शिष्यको गुरुकी सेवा-टहलका सारा कार्य समाप्त करके उनके पास बैठकर अध्ययन

करना चाहिये। वह सबके प्रति सदा उदार रहे और किसी-पर कोई कलङ्क न लगावे। गुरुके बुलानेपर झट उनकी सेवामें उपस्थित हो जाय ॥ १९ ॥

शुचिर्दक्षो गुणोपेतो ब्रूयादिष्टमिवान्तरा ।
चक्षुषा गुरुमव्यग्रो निरीक्षेत जितेन्द्रियः ॥ २० ॥

बाहर-भीतरसे पवित्र रहे। कार्यमें कुशल हो। गुणवान् बने। भीतरसे सद्भावना रखकर बीच-बीचमें ऐसी बात बोले जो गुरुको प्रिय लगनेवाली हो। शान्तभावसे भक्तिभरी दृष्टि डालकर गुरुकी ओर देखे और इन्द्रियोंको वशमें रखे ॥ २० ॥

नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिबेत् ।
नातिष्ठति तथाऽऽसीत नासुप्ते प्रस्वपेत च ॥ २१ ॥

आचार्य जबतक भोजन न कर लें, तबतक स्वयं भी न खाय। वे जबतक जल-पान न कर लें, तबतक स्वयं भी न करे। उनके बैठनेसे पहले स्वयं भी न बैठे और उनके सोनेसे पहले स्वयं भी न सोये ॥ २१ ॥

उत्तानाभ्यां च पाणिभ्यां पादावस्य मृदु स्पृशेत् ।
दक्षिणं दक्षिणेनैव सव्यं सव्येन पीडयेत् ॥ २२ ॥

दोनों हाथ फैलाकर अपने दाहिने हाथसे गुरुका दाहिना चरण और बायें हाथसे उनका बायाँ चरण धीरे-धीरे छूकर प्रणाम करे ॥ २२ ॥

अभिवाद्य गुरुं ब्रूयादधीष्व भगवन्निति ।
इदं करिष्ये भगवन्निदं चापि कृतं मया ॥ २३ ॥

इस प्रकार अभिवादनके पश्चात् हाथ जोड़कर गुरुसे कहे—'भगवन्! अब आप मुझे पढ़ावें। मैंने अमुक काम पूरा कर लिया है और यह अमुक कार्य अभी करूँगा ॥ २३ ॥

ब्रह्मंस्तदपि कर्तास्मि यद् भवान् वक्ष्यते पुनः ।
इति सर्वमनुज्ञाप्य निवेद्य च यथाविधि ॥ २४ ॥
कुर्यात् कृत्वा च तत्सर्वमाख्येयं गुरवे पुनः ।

'ब्रह्मन्! इसके सिवा और भी जिन कार्योंके लिये आप आज्ञा देंगे, उन्हें भी मैं शीघ्र पूर्ण करूँगा।' इस तरह सब बातें विधिवत् निवेदन करके गुरुकी आज्ञा लेकर फिर दूसरा कार्य करे और उसे पूरा करके पुनः उसका सारा समाचार गुरुजीको बतावे ॥ २४½ ॥

यांस्तु गन्धान् रसान् वापि ब्रह्मचारी न सेवते ॥ २५ ॥
सेवेत तान् समावृत्य इति धर्मेषु निश्चयः ।

जिन-जिन गन्धों और रसोंका ब्रह्मचारीको सेवन नहीं करना चाहिये, उनका वह ब्रह्मचर्यकालमें त्याग करे। समावर्तनसंस्कारके बाद ही वह उनका सेवन कर सकता है, यही धर्मका निश्चय है ॥ २५½ ॥

ये केचिद् विस्तरेणोक्ता नियमा ब्रह्मचारिणः ॥ २६ ॥
तान् सर्वानाचरेन्नित्यं भवेच्चानपगो गुरोः ।

शास्त्रोंमें ब्रह्मचारीके लिये जो कोई भी नियम विस्तारपूर्वक बताये गये हैं, उन सबका वह पालन करे तथा सदा गुरुके समीप ही रहे ॥ २६½ ॥

स एवं गुरवे प्रीतिमुपहृत्य यथाबलम् ॥ २७ ॥
आश्रमादाश्रमेष्वेव शिष्यो वर्तेत कर्मणा ।

इस प्रकार शिष्य यथाशक्ति सेवा करके गुरुको प्रसन्न करे और उन्हें उपहार देकर उनकी आज्ञासे ब्रह्मचर्य-आश्रमसे दूसरे आश्रमोंमें पदार्पण करे और वहाँ भी उन आश्रमोंके कर्तव्योंका पालन करता रहे ॥ २७½ ॥

वेदव्रतोपवासेन चतुर्थे चायुषो गते ॥ २८ ॥
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावर्त्तेद् यथाविधि ॥ २९ ॥

जब वेदसम्बन्धी व्रत और उपवास करते हुए आयुका एक चौथाई भाग व्यतीत हो जाय, तब गुरुको दक्षिणा देकर विधिपूर्वक समावर्तन-संस्कार सम्पन्न करे ॥ २८-२९ ॥

धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनुत्पाद्य यत्नतः ।
द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी भवेद् व्रती ॥ ३० ॥

धर्मतः पत्नीका पाणिग्रहण करके उसके साथ यत्नपूर्वक अग्निकी स्थापना करे और आयुके द्वितीय भाग अर्थात् पचास वर्षकी अवस्थातक उत्तम व्रतका पालन करते हुए गृहस्थ बना रहे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंके उपलक्षणसे गार्हस्थ्य-धर्मका वर्णन

व्यास उवाच

द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी गृहे वसेत् ।
धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनाहृत्य सुव्रतः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! गृहस्थ पुरुष अपनी आयुके दूसरे भागतक गृहस्थधर्मका पालन करते हुए घरपर ही रहे। धर्मानुसार स्त्रीसे विवाह करके उसके साथ अग्निस्थापना करनेके पश्चात् नित्य अग्निहोत्र आदि करे और उत्तम व्रतका पालन करता रहे ॥ १ ॥

गृहस्थवृत्तयश्चैव चतस्रः कविभिः स्मृताः ।
कुसूलधान्यः प्रथमः कुम्भधान्यस्त्वनन्तरम् ॥ २ ॥
अश्वस्तनोऽथ कापोतीमाश्रितो वृत्तिमाहरेत् ।
तेषां परः परो ज्यायान् धर्मतो धर्मजित्तमः ॥ ३ ॥

गृहस्थ ब्राह्मणके लिये विद्वानोंने चार प्रकारकी आजीविका बतायी है—कोठेभर अनाजका संग्रह करके रखना, यह पहली जीविकावृत्ति है। कुंडेभर अन्नका संग्रह करना, यह दूसरी वृत्ति है तथा उतने ही अन्नका संग्रह करना जो

दूसरे दिनके लिये शेष न रहे, यह तीसरी वृत्ति है। अथवा 'कापोतीवृत्ति' (उञ्छवृत्ति) का आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करे, यह चौथी वृत्ति है। इन चारोंमें पहलीकी अपेक्षा दूसरी-दूसरी वृत्ति श्रेष्ठ है। अन्तिम वृत्तिका आश्रय लेनेवाला धर्मकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ है और वही सबसे बढ़कर धर्मविजयी है ॥ २-३ ॥

षट्कर्मा वर्तयत्येकस्त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रे व्यवस्थितः ॥ ४ ॥

पहली श्रेणीके अनुसार जीविका चलानेवाले ब्राह्मणको यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान और प्रतिग्रह—ये छः कर्म करने चाहिये। दूसरी श्रेणीवालेको अध्ययन, यजन और दान—इन तीन कर्मोंमें ही प्रवृत्त होना चाहिये। तीसरी श्रेणीवालेको अध्ययन और दान—ये दो ही कर्म करने चाहिये तथा चौथी श्रेणीवालेको केवल ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन) करना उचित है ॥ ४ ॥

गृहमेधिव्रतान्यत्र महान्तीह प्रचक्षते ।
नात्मार्थे पाचयेदन्नं न वृथा घातयेत् पशून् ॥ ५ ॥

गृहस्थोंके लिये शास्त्रोंमें बहुत-से श्रेष्ठ नियम बताये गये हैं। वह केवल अपने ही भोजनके लिये रसोई न बनावे (अपितु देवता, पितर और अतिथियोंके उद्देश्यसे ही बनावे) और पशुहिंसा न करे, क्योंकि यह अनर्थमूलक है ॥

प्राणी वा यदि वाप्राणी संस्कारं यजुषार्हति ।
न दिवा प्रस्वपेज्जातु न पूर्वापररात्रिषु ॥ ६ ॥

यज्ञमें यजमान एवं हविष्य आदि सबका यजुर्वेदके मन्त्रसे संस्कार होना चाहिये। गृहस्थ पुरुष दिनमें कभी न सोये। रातके पहले और पिछले भागमें भी नींद न ले ॥ ६ ॥

न भुञ्जीतान्तरा काले नानृतावाह्वयेत् स्त्रियम् ।
नास्यानश्नन् गृहे विप्रो वसेत् कश्चिदपूजितः ॥ ७ ॥

सबेरे और शाम दो ही समय भोजन करे, बीचमें न खाय। ऋतुकालके सिवा अन्य समयमें स्त्रीको अपनी शय्यापर न बुलावे। उसके घरपर आया हुआ कोई ब्राह्मण अतिथि आदर-सत्कार और भोजन पाये बिना न रह जाय ॥ ७ ॥

तथास्यातिथयः पूज्या हव्यकव्यवहाः सदा ।
वेदविद्याव्रतस्नाताः श्रोत्रिया वेदपारगाः ॥ ८ ॥
स्वधर्मजीविनो दान्ताः क्रियावन्तस्तपस्विनः ।
तेषां हव्यं च कव्यं चाप्यर्हणार्थं विधीयते ॥ ९ ॥

यदि द्वारपर अतिथिके रूपमें वेदके पारङ्गत विद्वान्, स्नातक, श्रोत्रिय, हव्य (यज्ञान्न) और कव्य (श्राद्धान्न) भोजन करनेवाले, जितेन्द्रिय, क्रियानिष्ठ, स्वधर्मसे ही जीवन-निर्वाह करनेवाले और तपस्वी ब्राह्मण आ जायँ तो सदा उनकी विधिवत् पूजा करके उन्हें हव्य और कव्य समर्पित करने चाहिये। उनके सत्कारके लिये यह सब करनेका विधान है ॥ ८-९ ॥

नखरैः सम्प्रयातस्य स्वधर्मज्ञापकस्य च ।
अपविद्धाग्निहोत्रस्य गुरोर्वालीककारिणः ॥
संविभागोऽत्र भूतानां सर्वेषामेव शिष्यते ।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥

जो धार्मिकताका ढोंग दिखानेके लिये अपने नख बाल बढ़ाकर आया हो, अपने ही मुखसे अपने किये धर्मका विज्ञापन करता हो, अकारण अग्निहोत्रका त्याग चुका हो अथवा गुरुके साथ कपट करनेवाला हो, मनुष्य भी गृहस्थके घरमें अन्न पानेका अधिकारी है। सभी प्राणियोंके लिये अन्न-वितरणकी विधि है। जो हाथसे भोजन नहीं बनाते, ऐसे लोगों (ब्रह्मचारियों संन्यासियों) के लिये गृहस्थ पुरुषको सदा ही अन्न चाहिये ॥ १०-११ ॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः ।
अमृतं यज्ञशेषं स्याद् भोजनं हविषा समम् ॥

गृहस्थको सदा विघस और अमृत अन्नका भोजन चाहिये। यज्ञसे बचा हुआ भोजन हविष्यके समान अमृत माना गया है ॥ १२ ॥

भृत्यशेषं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम् ।
विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम् ॥

कुटुम्बमें भरण-पोषणके योग्य जितने लोग हैं, भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नको जो भोजन करता उसे विघसाशी (विघस अन्न भोजन करनेवाला) गया है। पोष्यवर्गसे बचे हुए अन्नको विघस तथा यज्ञ एवं बलिवैश्वदेवसे बचे हुए अन्नको अमृत कहते

स्वदारनिरतो दान्तो ह्यनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ॥
वृद्धबालातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ॥
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ।
एतान् विमुच्य संवादान् सर्वपापैर्विमुच्यते ॥

गृहस्थ पुरुष सदा अपनी ही स्त्रीसे प्रेम करे। इन्द्रियोंका संयम करके जितेन्द्रिय बने। किसीके गुणोंमें दोष ढूँढ़े। वह ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, जाति-भाई, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव, माता-पिता, कुटुम्बकी स्त्री, भाई, पुत्र, पुत्री तथा सेवक-समूहके साथ कभी विवाद न करे। जो सबके साथ कलह त्याग देता है, वह सब पापोंसे मुक्त जाता है ॥ १४—१६ ॥

एतैर्जितस्तु जयति सर्वाँल्लोकान् न संशयः ।
आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ॥
अतिथिस्त्विन्द्रलोकस्य देवलोकस्य चर्त्विजः ।
जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवे तु ज्ञातयः ॥

इनसे हार मानकर रहनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण लोकों विजय पाता है, इसमें संशय नहीं है। आचार्य ब्रह्मलोक

स्वामी है, पिता प्रजापतिलोकका ईश्वर है, अतिथि इन्द्रलोकके और ऋत्विज देवलोकके स्वामी हैं। कुटुम्बकी स्त्रियाँ अप्सराओंके लोककी स्वामिनी हैं और जाति-भाई विश्वेदेव लोकके अधिकारी हैं ॥ १७-१८ ॥

सम्बन्धिबान्धवा दिक्षु पृथिव्यां मातृमातुलौ।
वृद्धबालातुरकृशास्त्वाकाशे प्रभविष्णवः ॥ १९ ॥

सम्बन्धी और बन्धु-बान्धव दिशाओंपर, माता और मामा पृथ्वीपर तथा वृद्ध, बालक और निर्बल रोगी आकाशपर अपना प्रभुत्व रखते हैं। इन सबको संतुष्ट रखनेसे उन-उन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः।
छाया स्वा दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ॥ २० ॥

बड़ा भाई पिताके समान है। पत्नी और पुत्र अपने ही शरीर हैं तथा सेवकगण अपनी छायाके समान हैं। बेटी तो और भी अधिक दयनीय है ॥ २० ॥

तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेन्नित्यमसंज्वरः।
गृहधर्मपरो विद्वान् धर्मशीलो जितक्लमः ॥ २१ ॥

अतः इनके द्वारा कभी अपना तिरस्कार भी हो जाय तो सदा क्रोधरहित रहकर सहन कर लेना चाहिये। गृहस्थधर्मका पालन करनेवाले विद्वान् पुरुषको निश्चिन्त होकर क्लेश और थकावटको जीतकर धर्मका निरन्तर पालन करते रहना चाहिये ॥ २१ ॥

न चार्थबद्धः कर्माणि धर्मवान् कश्चिदाचरेत्।
गृहस्थवृत्तयस्तिस्रस्तासां निःश्रेयसं परम् ॥ २२ ॥

किसी भी धर्मात्मा पुरुषको धनके लोभसे धर्मकर्मोंका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये। गृहस्थ ब्राह्मणके लिये जो तीन आजीविकाकी वृत्तियाँ बतायी गयी हैं, उनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ एवं कल्याणकारिणी हैं ॥ २२ ॥

परं परं तथैवाहुश्चातुराश्रम्यमेव तत्।
यथोक्ता नियमास्तेषां सर्वं कार्यं बुभूषता ॥ २३ ॥

इसी प्रकार चारों आश्रम भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कहे गये हैं। उन आश्रमोंके जो शास्त्रोक्त नियम हैं, उन सबका अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको पालन करना चाहिये ॥ २३ ॥

कुम्भधान्यैरुञ्छशिलैः कापोतीं चास्थितास्तथा।
यस्मिंश्चैते वसन्त्यर्हास्तद् राष्ट्रमभिवर्धते ॥ २४ ॥

कुंडेभर अनाजका संग्रह करके अथवा उञ्छशिल (अनाजके एक-एक दाने बीनने अथवा उस अनाजकी बाली बीनने) के द्वारा अन्नका संग्रह करके 'कापोती-वृत्ति' का आश्रय लेनेवाले पूजनीय ब्राह्मण जिस देशमें निवास करते हैं, उस राष्ट्रकी वृद्धि होती है ॥ २४ ॥

पूर्वान् दश दश परान् पुनाति च पितामहान्।
गृहस्थवृत्तीश्चाप्येता वर्तयेद् यो गतव्यथः ॥ २५ ॥

जो मनमें तनिक भी क्लेशका अनुभव न करके गृहस्थकी इन वृत्तियोंके सहारे जीवन निभाता है, वह अपनी दस पीढ़ीके पूर्वजोंको तथा दस पीढ़ीतक आगे होनेवाली संतानोंको पवित्र कर देता है ॥ २५ ॥

स चक्रधरलोकानां सदृशीमाप्नुयाद् गतिम्।
जितेन्द्रियाणामथवा गतिरेषा विधीयते ॥ २६ ॥

उसे चक्रधारी श्रीविष्णुके लोकके सदृश उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है अथवा वह जितेन्द्रिय पुरुषको मिलनेवाली श्रेष्ठ गति प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

स्वर्गलोको गृहस्थानामुदारमनसां हितः।
स्वर्गो विमानसंयुक्तो वेददृष्टः सुपुष्पितः ॥ २७ ॥

उदारचित्तवाले गृहस्थोंको हितकारक स्वर्गलोक प्राप्त होता है। उनके लिये विमानसहित सुन्दर फूलोंसे सुशोभित परम रमणीय स्वर्ग सुलभ होता है, जिसका वेदोंमें वर्णन है ॥

स्वर्गलोको गृहस्थानां प्रतिष्ठा नियतात्मनाम्।
ब्रह्मणा विहिता योनिरेषा यस्माद् विधीयते।
द्वितीयं क्रमशः प्राप्य स्वर्गलोके महीयते ॥ २८ ॥

मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले गृहस्थोंके लिये स्वर्गलोकको ही प्रतिष्ठाका स्थान नियत किया है। ब्रह्माजीने गार्हस्थ्य-आश्रमको स्वर्गकी प्राप्तिका कारण बनाया है; इसीलिये इसके पालनका विधान किया गया है। इस प्रकार क्रमशः द्वितीय आश्रम गार्हस्थ्यको पाकर मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ २८ ॥

अतः परं परममुदारमाश्रमं
तृतीयमाहुस्त्यजतां कलेवरम्।
वनौकसां गृहपतिनामनुत्तमं
शृणुष्व संश्लिष्टशरीरकारिणाम् ॥ २९ ॥

इस गृहस्थाश्रमके पश्चात् तीसरा उससे भी श्रेष्ठ परम उदार वानप्रस्थ-आश्रम है; जो शरीरको सुखाकर अस्थिचर्मावशिष्ट कर देनेवाले तथा वनमें रहकर तपस्यापूर्वक शरीरको त्यागनेवाले वानप्रस्थियोंका आश्रय है। यह गृहस्थोंसे श्रेष्ठतम माना गया है, अब इसके धर्म बताता हूँ, सुनो ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमके धर्म और महिमाका वर्णन

भीष्म उवाच

प्रोक्ता गृहस्थवृत्तिस्ते विहिता या मनीषिभिः।
तदनन्तरमुक्तं यत् तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ १ ॥
(व्यासेन कथितं पूर्वं सुताय सुमहात्मने।)

भीष्मजी कहते हैं—बेटा युधिष्ठिर ! मनीषी पुरुषोंद्वारा जिसका विधान एवं आचरण किया गया है, उस गृहस्थ-वृत्तिका मैंने तुमसे वर्णन किया । तदनन्तर व्यासजीने अपने महात्मा पुत्र शुकदेवसे जो कुछ कहा था, वह सब बताता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

क्रमशस्त्ववधूयैनां तृतीयां वृत्तिमुत्तमाम् ।
संयोगव्रतखिन्नानां वानप्रस्थाश्रमौकसाम् ॥ २ ॥
श्रूयतां पुत्र भद्रं ते सर्वलोकाश्रमात्मनाम् ।
प्रेक्षापूर्वं प्रवृत्तानां पुण्यदेशनिवासिनाम् ॥ ३ ॥

वत्स ! तुम्हारा कल्याण हो । गृहस्थकी इस उत्तम तृतीय वृत्तिकी भी उपेक्षा करके सहधर्मिणीके संयोगसे किये जानेवाले व्रत-नियमोंद्वारा जो खिन्न हो चुके हैं तथा वानप्रस्थ-आश्रमको जिन्होंने अपना आश्रय बना लिया है, सम्पूर्ण लोक और आश्रम जिनके अपने ही स्वरूप हैं, जो विचारपूर्वक व्रत और नियमोंमें प्रवृत्त हैं तथा पवित्र स्थानोंमें निवास करते हैं, ऐसे वनवासी मुनियोंका जो धर्म है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ २-३ ॥

व्यास उवाच

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदा श्रयेत् ॥ ४ ॥
तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत् ।
तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकसः ॥ ५ ॥

व्यासजी बोले—बेटा ! गृहस्थ पुरुष जब अपने सिरके बाल सफेद दिखायी दें, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जायँ और पुत्रको भी पुत्रकी प्राप्ति हो जाय तो अपनी आयुका तीसरा भाग व्यतीत करनेके लिये वनमें जाय और वानप्रस्थ-आश्रममें रहे । वह वानप्रस्थ-आश्रममें भी उन्हीं अग्नियोंका सेवन करे, जिनकी गृहस्थाश्रममें उपासना करता था । साथ ही वह प्रतिदिन देवाराधन भी करता रहे ॥ ४-५ ॥

नियतो नियताहारः षष्ठभुक्तोऽप्रमत्तवान् ।
तदग्निहोत्रं ता गावो यज्ञाङ्गानि च सर्वशः ॥ ६ ॥

वानप्रस्थी पुरुष नियमके साथ रहे, नियमानुकूल भोजन करे । दिनके छठे भाग अर्थात् तीसरे पहरमें एक बार अन्न ग्रहण करे और प्रमादसे बचा रहे । गृहस्थाश्रमकी ही भाँति अग्निहोत्र, वैसी ही गो-सेवा तथा उसी प्रकार यज्ञके सम्पूर्ण अङ्गोंका सम्पादन करना वानप्रस्थका धर्म है ॥ ६ ॥

अफालकृष्टं व्रीहियवं नीवारं विघसानि च ।
हवींषि सम्प्रयच्छेत मखेष्वत्रापि पञ्चसु ॥ ७ ॥

वनवासी मुनि बिना जोती हुई पृथ्वीसे पैदा हुआ धान, जौ, नीवार तथा विघस (अतिथियोंको देनेसे बचे हुए) अन्नसे जीवन-निर्वाह करे । वानप्रस्थमें भी पञ्चमहायज्ञोंमें हविष्य वितरण करे ॥ ७ ॥

वानप्रस्थाश्रमेऽप्येताश्चतस्रो वृत्तयः स्मृताः ।
सद्यःप्रक्षालकाः केचित् केचिन्मासिकसंचयाः ॥ ८ ॥

वानप्रस्थ-आश्रममें भी चार प्रकारकी वृत्तियाँ [illegible] गयी हैं । कोई उतने ही अन्नका संग्रह करते हैं कि [illegible] बना-खाकर बर्तनको धो-माँजकर साफ कर लें अर्थात् वे [illegible] दिनके लिये कुछ नहीं बचाते । कुछ दूसरे लोग वे [illegible] एक महीनेके लिये अनाजका संग्रह करते हैं ॥ ८ ॥

वार्षिकं संचयं केचित् केचिद् द्वादशवार्षिकम् ।
कुर्वन्त्यतिथिपूजार्थं यज्ञतन्त्रार्थमेव वा ॥ [illegible]

कोई वर्षभरके लिये और कोई बारह वर्षोंके लिये [illegible] का संग्रह करते हैं । उनका यह संग्रह अतिथि-सेवा [illegible] यज्ञकर्मके लिये होता है ॥ ९ ॥

अभ्रावकाशा वर्षासु हेमन्ते जलसंश्रयाः ।
ग्रीष्मे च पञ्च तपसः शश्वच्च मितभोजनाः ॥ [illegible]

वे वर्षाके समय खुले आकाशके नीचे और सर्दीमें [illegible] के भीतर खड़े रहते हैं । जब गर्मी आती है, तब पञ्चा[illegible] शरीरको तपाते हैं और सदा स्वल्प भोजन करनेवाले होते [illegible]

भूमौ विपरिवर्तन्ते तिष्ठन्ति प्रपदैरपि ।
स्थानासनैर्वर्तयन्ति सवनेष्वभिषिञ्चते ॥ [illegible]

वानप्रस्थी महात्मा जमीनपर लोट-पोट करते, [illegible] बल खड़े होते, एक स्थानपर आसन लगाकर बैठते [illegible] तीनों काल स्नान और संध्या करते हैं ॥ ११ ॥

दन्तोलूखलिकाः केचिदश्मकुट्टास्तथा परे ।
शुक्लपक्षे पिबन्त्येके यवागूं क्वथितां सकृत् ॥ [illegible]
कृष्णपक्षे पिबन्त्यन्ये भुञ्जते वा यथागतम् ।

कोई दाँतोंसे ही ओखलीका काम लेते हैं, अर्थात् [illegible] अन्नको चबा-चबाकर खाते हैं । दूसरे लोग पत्थरपर कू[illegible] भोजन करते हैं और कोई-कोई शुक्लपक्ष या कृष्णपक्षमें [illegible] बार जौका औटाया हुआ माँड़ पीकर रह जाते हैं अ[illegible] समयानुसार जो कुछ मिल जाय वही खाकर जीवन-नि[illegible] करते हैं ॥ १२½ ॥

मूलैरेके फलैरेके पुष्पैरेके दृढव्रताः ॥ [illegible]
वर्तयन्ति यथान्यायं वैखानसगतिं श्रिताः ।

वानप्रस्थ-धर्मका आश्रय लेकर कोई कन्द-मूलों[illegible] कोई-कोई दृढ़ व्रतका पालन करते हुए फूलोंसे ही धर्म[illegible] जीविका चलाते हैं ॥ १३½ ॥

एताश्चान्याश्च विविधा दीक्षास्तेषां मनीषिणाम् ॥ [illegible]
चतुर्थश्चौपनिषदो धर्मः साधारणः स्मृतः ।
वानप्रस्थाद् गृहस्थाच्च ततोऽन्यः सम्प्रवर्तते ॥ [illegible]

उन मनीषी पुरुषोंके लिये ये तथा और भी ब[illegible] नाना प्रकारके नियम शास्त्रोंमें बताये गये हैं । चौथे सं[illegible] आश्रममें विहित जो उपनिषद्-प्रतिपादित शम, दम, उप[illegible] तितिक्षा और समाधानरूप धर्म है, वह सभी आश्रमोंके [illegible] साधारण माना गया है, उसका पालन सभी आश्रमवा[illegible] करना चाहिये; किंतु चौथे आश्रम संन्यासका जो विशेष [illegible] है, वह वानप्रस्थ और गृहस्थसे भिन्न है ॥ १४-१५ ॥

अस्मिन्नेव युगे तात विप्रैः सर्वार्थदर्शिभिः ।
अगस्त्यः सप्त ऋषयो मधुच्छन्दोऽघमर्षणः ॥ १६ ॥
सांकृतिः सुदिवा तण्डिर्यथावासोऽकृतश्रमः ।
अहोवीर्यस्तथा काव्यस्ताण्ड्यो मेधातिथिर्बुधः ॥ १७ ॥
बलवान् कर्णनिर्वाकः शून्यपालः कृतश्रमः ।
एवं धर्मं कृतवन्तस्ततः स्वर्गमुपागमन् ॥ १८ ॥

तात ! इस युगमें भी सर्वार्थदर्शी ब्राह्मणोंने इस वानप्रस्थ-धर्मका पालन एवं प्रसार किया । अगस्त्य, सप्तर्षिगण, मधुच्छन्द, अघमर्षण, सांकृति, सुदिवा, तण्डि, यथावास, अकृतश्रम, अहोवीर्य, काव्य (शुक्राचार्य), ताण्ड्य, मेधातिथि, बुध, शक्तिशाली कर्ण निर्वाक, शून्यपाल और कृतश्रम—इन सबने इस धर्मका पालन किया, जिससे ये सभी स्वर्गलोकको प्राप्त हुए ॥ १६–१८ ॥

तात प्रत्यक्षधर्माणस्तथा यायावरा गणाः ।
ऋषीणामुग्रतपसां धर्मनैपुणदर्शिनाम् ॥ १९ ॥
अन्ये चापरिमेयाश्च ब्राह्मणा वनमाश्रिताः ।
वैखानसा वालखिल्याः सैकताश्च तथा परे ॥ २० ॥

तात ! जिनकी तपस्या उग्र है, जिन्होंने धर्मकी निपुणताको देखा और अनुभव किया है, उन ऋषियोंके यायावर नामक गण भी वानप्रस्थी हैं, जिन्हें धर्मके फलका प्रत्यक्ष अनुभव है । वे तथा और भी असंख्य वनवासी ब्राह्मण, वालखिल्य और सैकत नामवाले दूसरे मुनि भी वैखानस (वानप्रस्थ) धर्मका पालन करनेवाले हैं ॥ १९-२० ॥

कर्मभिस्ते निरानन्दा धर्मनित्या जितेन्द्रियाः ।
गताः प्रत्यक्षधर्माणस्ते सर्वे वनमाश्रिताः ॥ २१ ॥
अनक्षत्रास्त्वनाधृष्या दृश्यन्ते ज्योतिषां गणाः ।

ये सब ब्राह्मण प्रायः उपवास आदि क्लेशदायक कर्म करनेके कारण लौकिक सुखसे रहित थे । सदा धर्ममें तत्पर रहते और इन्द्रियोंको वशमें रखते थे । उन्हें धर्मके फलका प्रत्यक्ष अनुभव था । वे सब-के-सब वानप्रस्थी थे । इस लोकसे जानेपर आकाशमें वे नक्षत्र-भिन्न, दुर्धर्ष ज्योतिर्मय तारोंके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं २१½ ॥

जरया च परिद्यूनो व्याधिना च प्रपीडितः ॥ २२ ॥
चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत् ।
सद्यस्कारां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार वानप्रस्थकी अवधि पूरी कर लेनेके बाद जब आयुका चौथा भाग शेष रह जाय, वृद्धावस्थासे शरीर दुर्बल हो जाय और रोग सताने लगें तो उस आश्रमका परित्याग कर दे (और संन्यास-आश्रम ग्रहण कर ले) । संन्यासकी दीक्षा लेते समय एक दिनमें पूरा होनेवाला यज्ञ करके अपना सर्वस्व दक्षिणामें दे डाले ॥ २२-२३ ॥

आत्मयाजी सोऽऽत्मरतिरात्मक्रीडात्मसंश्रयः ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य त्यक्त्वा सर्वपरिग्रहान् ॥ २४ ॥
सद्यस्कांश्च यजेद् यज्ञानिष्टीश्चैवेह सर्वदा ।
यदैव याजिनां यज्ञादात्मनीज्या प्रवर्तते ॥ २५ ॥

फिर आत्माका ही यजन, आत्मामें ही रत होकर आत्मामें ही क्रीडा करे । सब प्रकारसे आत्माका ही आश्रय ले । अग्निहोत्रकी अग्नियोंको आत्मामें ही आरोपित करके सम्पूर्ण संग्रह-परिग्रहको त्याग दे और तुरंत सम्पन्न किये जानेवाले ब्रह्मयज्ञ आदि यज्ञों तथा इष्टियोंका सदा ही मानसिक अनुष्ठान करता रहे । ऐसा तबतक करे, जबतक कि याज्ञिकोंके कर्ममय यज्ञसे हटकर आत्मयज्ञका अभ्यास न हो जाय ॥ २४-२५ ॥

त्रींश्चैवाग्नीन् यजेत् सम्यगात्मन्येवात्ममोक्षणात् ।
प्राणेभ्यो यजुषः पञ्च षट् प्राश्नीयादकुत्सयन् ॥ २६ ॥

आत्मयज्ञका स्वरूप इस प्रकार है, अपने भीतर ही तीनों अग्नियोंकी विधिपूर्वक स्थापना करके देहपात होनेतक प्राणाग्निहोत्रकी[1] विधिसे भलीभाँति यजन करता रहे । यजुर्वेदके 'प्राणाय स्वाहा' आदि मन्त्रोंका उच्चारण करता हुआ पहले अन्नके पाँच-छः ग्रास ग्रहण करे (फिर आचमनके पश्चात्) शेष अन्नकी निन्दा न करते हुए मौनभावसे भोजन करे ॥ २६ ॥

केशलोमनखान् वाप्य वानप्रस्थो मुनिस्ततः ।
आश्रमादाश्रमं पुण्यं पूतो गच्छति कर्मभिः ॥ २७ ॥

तदनन्तर वानप्रस्थ मुनि केश, लोम और नख कटाकर कर्मोंसे पवित्र हो वानप्रस्थ-आश्रमसे पुण्यमय संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे ॥ २७ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् द्विजः ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ २८ ॥

जो ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देकर संन्यासी हो जाता है, वह मरनेके पश्चात् तेजोमय लोकमें जाता है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ २८ ॥

सुशीलवृत्तो व्यपनीतकल्मषो
न चेह नामुत्र च कर्तुमीहते ।
अरोषमोहो गतसंधिविग्रहो
भवेदुदासीनवदात्मविन्नरः ॥ २९ ॥

आत्मज्ञानी पुरुष सुशील, सदाचारी और पापरहित होता है । वह इहलोक और परलोकके लिये भी कोई कर्म करना नहीं चाहता । क्रोध, मोह, संधि और विग्रहका त्याग करके वह सब ओरसे उदासीन-सा रहता है ॥ २९ ॥

यमेषु चैवानुगतेषु न व्यथे
स्वशास्त्रसूत्राहुतिमन्त्रविक्रमः ।

१. ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा—ये प्राणाग्निहोत्रके पाँच मन्त्र हैं, भोजन आरम्भ करते समय पहले आचमन करके इनमेंसे एक-एक मन्त्रको पढ़कर एक-एक ग्रास अन्न मुँहमें डाले । इस प्रकार पाँच ग्रास पूरे होनेपर पुनः आचमन कर ले । यही प्राणाग्निहोत्र कहलाता है ।

भवेद् यथेष्टागतिरात्मवेदिनि
न संशयो धर्मपरे जितेन्द्रिये ॥ ३० ॥

जो अहिंसा आदि यमों और शौच संतोष आदि नियमोंका पालन करनेमें कभी कष्टका अनुभव नहीं करता, संन्यास-आश्रमका विधान करनेवाले शास्त्रके सूत्रभूत वचनोंके अनुसार त्यागमयी अग्निमें अपने सर्वस्वकी आहुति दे देनेके लिये निरन्तर उत्साह दिखाता है, उसे इच्छानुसार गति (मुक्ति) प्राप्त होती है। ऐसे जितेन्द्रिय एवं धर्मपरायण आत्मज्ञानीकी मुक्तिके विषयमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है ॥ ३० ॥

ततः परं श्रेष्ठमतीव सद्गुणै-
रधिष्ठितं त्रीनधिवृत्तिमुत्तमम्।
चतुर्थमुक्तं परमाश्रमं शृणु
प्रकीर्त्यमानं परमं परायणम् ॥ ३१ ॥

जो वानप्रस्थ-आश्रमसे उत्कृष्ट तथा अपने सद्गुणोंके कारण अति ही श्रेष्ठ है, जो पूर्वोक्त तीनों आश्रमोंसे ऊपर है, जिसमें शम आदि गुणोंका अधिक विकास होता है, जो सबसे श्रेष्ठ और सबकी परम गति है, उस सर्वोत्तम चतुर्थ आश्रमका यद्यपि वर्णन किया गया है, तथापि पुनः विशेषरूपसे उसका प्रतिपादन करता हूँ; तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३१½ श्लोक हैं)

पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

संन्यासीके आचरण और ज्ञानवान् संन्यासीकी प्रशंसा

शुक उवाच

वर्तमानस्तथैवात्र वानप्रस्थाश्रमे यथा ।
योक्तव्योऽऽत्मा कथं शक्त्या वेद्यं वै काङ्क्षता परम् ॥ १ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमोंमें जैसे शास्त्रोक्त नियमके अनुसार चलना आवश्यक है, उसी प्रकार इस वानप्रस्थ आश्रममें भी शास्त्रोक्त नियमका पालन करते हुए चलना चाहिये । यह सब तो मैंने सुन लिया । अब मैं यह जानना चाहता हूँ, जो जानने योग्य परब्रह्म परमात्माको पाना चाहता हो, उसे अपनी शक्तिके अनुसार उस परमात्माका चिन्तन कैसे करना चाहिये ? ॥

व्यास उवाच

प्राप्य संस्कारमेताभ्यामाश्रमाभ्यां ततः परम् ।
यत्कार्यं परमार्थं तु तदिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमके धर्मोंद्वारा चित्तका संस्कार (शोधन) करनेके अनन्तर मुक्तिके लिये जो वास्तविक कर्तव्य है, उसे बताता हूँ, तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

कषायं पाचयित्वाऽऽशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु ।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

पङ्क्तिक्रमसे स्थित पूर्वोक्त तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थमें चित्तके राग-द्वेष आदि दोषोंको पकाकर-उन्हें नष्ट करके शीघ्र ही सर्वोत्तम चतुर्थ आश्रम संन्यासको ग्रहण कर ले॥

तद् भवानेवमभ्यस्य वर्ततां श्रूयतां तथा ।
एक एव चरेद् धर्मं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ॥ ४ ॥

बेटा ! तुम इस संन्यास-धर्मके नियमोंको सुनो और उन्हें अभ्यासमें लाकर उसीके अनुसार बर्ताव करो । संन्यासीको चाहिये कि वह सिद्धि प्राप्त करनेके लिये किसीको साथ न लेकर अकेला ही संन्यास-धर्मका पालन करे ॥ ४ ॥

एकश्चरति यः पश्यन् न जहाति न हीयते ।
अनग्निरनिकेतश्च ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ॥ ५ ॥

जो आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करके एकाकी विचरता रहता है, वह सर्वव्यापी होनेके कारण न तो स्वयं किसीका त्याग करता है और न दूसरे ही उसका त्याग करते हैं । संन्यासी कभी न तो अग्निकी स्थापना करे और न घर या मठ ही बनाकर रहे; केवल भिक्षा लेनेके लिये ही गाँवमें जाय ॥ ५ ॥

अश्वस्तनविधाता स्यान्मुनिर्भावसमाहितः ।
लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता ॥ ६ ॥

वह दूसरे दिनके लिये अन्नका संग्रह न करे। चित्त-वृत्तियोंको एकाग्र करके मौनभावसे रहे । हलका और नियमानुकूल भोजन करे तथा दिन-रातमें केवल एक ही बार अन्न ग्रहण करे ॥ ६ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ।
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम् ॥ ७ ॥

भिक्षापात्र एवं कमण्डलु रखे । वृक्षकी जड़में सोये या निवास करे । जो देखनेमें सुन्दर न हो, ऐसा वस्त्र धारण करे । किसीको साथ न रखे और सब प्राणियोंकी उपेक्षा कर दे । ये सब संन्यासीके लक्षण हैं ॥ ७ ॥

यस्मिन् वाचः प्रविशन्ति कूपे त्रस्ता द्विपा इव ।
न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ८ ॥

जैसे डरे हुए हाथी भागकर किसी जलाशयमें प्रवेश कर जाते हैं, फिर सहसा निकलकर अपने पूर्व स्थानको नहीं लौटते, उसी प्रकार जिस पुरुषमें दूसरोंके कहे हुए निन्दात्मक या प्रशंसात्मक वचन समा जाते हैं, परंतु प्रत्युत्तरके रूपमें वे वापस पुनः नहीं लौटते अर्थात् जो किसीकी की हुई निन्दा

या स्तुतिका कोई उत्तर नहीं देता, वही संन्यास-आश्रममें निवास कर सकता है ॥ ८ ॥

नैव पश्येन्न शृणुयादवाच्यं जातु कस्यचित्।
ब्राह्मणानां विशेषेण नैव ब्रूयात् कथंचन ॥ ९ ॥

संन्यासी किसीकी निन्दा करनेवाले पुरुषकी ओर आँख उठाकर देखे नहीं, कभी किसीका निन्दात्मक वचन सुने नहीं तथा विशेषतः ब्राह्मणोंके प्रति किसी प्रकार न कहने योग्य बात न कहे ॥ ९ ॥

यद् ब्राह्मणस्य कुशलं तदेव सततं वदेत्।
तूष्णीमासीत निन्दायां कुर्वन् भैषज्यमात्मनः ॥ १० ॥

जिससे ब्राह्मणोंका हित हो, वैसा ही वचन सदा बोले। अपनी निन्दा सुनकर भी चुप रह जाय—इस मौनावलम्बनको भवरोगसे छूटनेकी दवा समझकर इसका सेवन करता रहे ॥

येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा।
शून्यं येन जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ११ ॥

जो सदा अपने सर्वव्यापी स्वरूपसे स्थित होनेके कारण अकेले ही सम्पूर्ण आकाशमें परिपूर्ण-सा हो रहा है तथा जो असङ्ग होनेके कारण लोगोंसे भरे हुए स्थानको भी सूना समझता है, उसे ही देवतालोग ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) मानते हैं ॥ ११ ॥

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः।
यत्र क्वचन शायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १२ ॥

जो जिस किसी भी (वस्त्र-वल्कल आदि) वस्तुसे अपना शरीर ढक लेता है, समयपर जो भी रूखा-सूखा मिल जाय, उसीसे भूख मिटा लेता है और जहाँ कहीं भी सो रहता है, उसे देवता ब्रह्मज्ञानी समझते हैं ॥ १२ ॥

अहेरिव गणाद् भीतः सौहित्यान्नरकादिव।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १३ ॥

जो जनसमुदायको सर्प-सा समझकर उसके निकट जानेसे डरता है, स्वादिष्ट भोजनजनित तृप्तिको नरक-सा मानकर उससे दूर रहता है और स्त्रियोंको मुर्दोंके समान समझकर उनकी ओरसे विरक्त होता है, उसे देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥

न क्रुद्ध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्च यः।
सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १४ ॥

जो सम्मान प्राप्त होनेपर हर्षित, अपमानित होनेपर कुपित नहीं होता तथा जिसने सम्पूर्ण प्राणियोंको अभय-दान कर दिया है, उसे ही देवता लोग ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ १४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा ॥ १५ ॥

संन्यासी न तो जीवनका अभिनन्दन करे और न मृत्युका ही। जैसे सेवक स्वामीके आदेशकी प्रतीक्षा करता रहता है, उसी प्रकार उसे भी कालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये ॥ १५ ॥

अनभ्याहतचित्तः स्यादनभ्याहतवाग् भवेत्।
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो निरमित्रस्य किं भयम् ॥ १६ ॥

संन्यासी अपने चित्तको राग-द्वेष आदि दोषोंसे दूषित न होने दे। अपनी वाणीको निन्दा आदि दोषोंसे बचावे और सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर सर्वथा शत्रुहीन हो जाय। जिसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो उसे किसीसे क्या भय हो सकता है ? ॥ १६ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो भूतानामभयं ततः।
तस्य मोहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ १७ ॥

जिसे सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय प्राप्त है तथा जिसकी ओरसे किसी भी प्राणीको कोई भय नहीं है, उस मोहमुक्त पुरुषको किसीसे भी भय नहीं होता ॥ १७ ॥

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥ १८ ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते।
अमृतः स नित्यं वसति यो हिंसां न प्रपद्यते ॥ १९ ॥

जैसे पैरोंद्वारा चलनेवाले अन्य प्राणियोंके सम्पूर्ण पद-चिह्न हाथीके पदचिह्नमें समा जाते हैं, उसी प्रकार सारा धर्म और अर्थ अहिंसाके अन्तर्भूत है। जो किसीकी हिंसा नहीं करता, वह सदा अमृत (जन्म और मृत्युके बन्धनसे मुक्त) होकर निवास करता है ॥ १८-१९ ॥

अहिंसकः समः सत्यो धृतिमान् नियतेन्द्रियः।
शरण्यः सर्वभूतानां गतिमाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ २० ॥

जो हिंसा न करनेवाला, समदर्शी, सत्यवादी, धैर्यवान्, जितेन्द्रिय और सम्पूर्ण प्राणियोंको शरण देनेवाला है, वह अत्यन्त उत्तम गति पाता है ॥ २० ॥

एवं प्रज्ञानतृप्तस्य निर्भयस्य निराशिषः।
न मृत्युरतिगो भावः स मृत्युमधिगच्छति ॥ २१ ॥

इस प्रकार जो ज्ञानानन्दसे तृप्त होकर भय और कामनाओंसे रहित हो गया है, उसपर मृत्युका जोर नहीं चलता। वह स्वयं ही मृत्युको लाँघ जाता है ॥ २१ ॥

विमुक्तं सर्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत् स्थितम्।
अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २२ ॥

जो सब प्रकारकी आसक्तियोंसे छूटकर मुनिवृत्तिसे रहता है, आकाशकी भाँति निर्लेप और स्थिर है, किसी भी वस्तुको अपनी नहीं मानता, एकाकी विचरता और शान्तभावसे रहता है, उसे देवता ब्रह्मवेत्ता मानते हैं ॥ २२ ॥

जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २३ ॥

जिसका जीवन धर्मके लिये और धर्म भगवान् श्रीहरिके लिये होता है, जिसके दिन और रात धर्म-पालनमें ही व्यतीत होते हैं, उसे देवता ब्रह्मज्ञ मानते हैं ॥ २३ ॥

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्।
निर्मुक्तं बन्धनैः सर्वैस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २४ ॥

जो कामनाओंसे रहित तथा सब प्रकारके आरम्भोंसे रहित है, नमस्कार और स्तुतिसे दूर रहता तथा सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होता है, उसे ही देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ २४ ॥

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते
सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते ।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः
कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्दधानः ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण प्राणी सुखमें प्रसन्न होते और दुःखसे बहुत डरते हैं; अतः प्राणियोंपर भय आता देखकर जिसे खेद होता है, उस श्रद्धालु पुरुषको भयदायक कर्म नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

दानं हि भूताभयदक्षिणायाः
सर्वाणि दानान्यधितिष्ठतीह ।
तीक्ष्णां तनुं यः प्रथमं जहाति
सोऽनन्त्यमाप्नोत्यभयं प्रजाभ्यः॥ २६ ॥

इस जगत्‌में जीवोंको अभयकी दक्षिणा देना सब दानोंसे बढ़कर है । जो पहलेसे ही हिंसाका त्याग कर देता है, वह सब प्राणियोंसे निर्भय होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

उत्तान आस्ये न हविर्जुहोति
लोकस्य नाभिर्जगतः प्रतिष्ठा ।
तस्याङ्गमङ्गानि कृताकृतं च
वैश्वानरः सर्वमिदं प्रपेदे ॥ २७ ॥

जो संन्यासी खोले हुए मुखमें 'प्राणाय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रोंसे प्राणोंके लिये अन्नकी आहुति नहीं देता, अपितु प्राणों (इन्द्रिय-मन आदि) को ही आत्मामें होम देता—लीन करता है, उसका मस्तक आदि सारा अङ्गसमुदाय तथा किया हुआ और नहीं किया हुआ कर्मसमूह अग्निका ही अवयव हो जाता है अर्थात् वह उस अग्निका स्वरूप हो जाता है, जो सृष्टिके आरम्भसे ही प्राणियोंके नाभिस्थान—उदरमें जठरानलरूपमें विराजमान है तथा सम्पूर्ण जगत्‌का आश्रय है । उस वैश्वानर (अग्नि) ने इस सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रखा है ॥ २७ ॥

प्रादेशमात्रे हृदि निःसृतं यत्
तस्मिन् प्राणानात्मयाजी जुहोति ।
तस्याग्निहोत्रं हुतमात्मसंस्थं
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु ॥ २८ ॥

आत्मयज्ञ करनेवाला ज्ञानी पुरुष नाभिसे लेकर हृदय-तकका जो प्रादेशमात्र स्थान है, उसमें प्रकट हुई जो चैतन्य-ज्योति है, उसीमें समस्त प्राणोंकी—इन्द्रिय, मन आदिकी आहुति देता है अर्थात् समस्त प्राणादिका आत्मामें लय करता है । उसका प्राणाग्निहोत्र यद्यपि अपने शरीरके भीतर ही होता है तथापि वह सर्वात्मा होनेके कारण उसके द्वारा देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें प्राणाग्निहोत्रकर्म सम्पन्न हो जाता है; अर्थात् उसके प्राणोंकी तृप्तिसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके प्राण तृप्त हो जाते हैं ॥ २८ ॥

देवं त्रिधातुं त्रिवृतं सुपर्णं
ये विद्युरग्र्यां परमात्मतां च ।
ते सर्वलोकेषु महीयमाना
देवाः समर्त्याः सुकृतं वदन्ति ॥ २९ ॥

जो सम्पूर्ण जगत्‌में अपने चिन्मयस्वरूपसे प्रकाशित होता है, तीन धातु (वर्ण—अकार, उकार, मकार) अर्थात् प्रणव जिसका वाचक है, जो सत्त्व आदि तीनों गुणोंमें—त्रिगुणमयी मायामें उसके नियन्तारूपसे विद्यमान है तथा जिसके जगत्-सम्बन्धी व्यापार वृक्षके सुन्दर पत्तोंके समान विस्तारको प्राप्त हुए हैं, उस अन्तर्यामी पुरुषको तथा उसकी उत्तम परब्रह्मस्वरूपताको जो जानते हैं, वे सम्पूर्ण लोकोंमें सम्मानित होते हैं और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण देवता उनके शुभकर्मकी प्रशंसा करते हैं ॥ २९ ॥

वेदांश्च वेद्यं तु विधिं च कृत्स्न-
मथो निरुक्तं परमार्थतां च ।
सर्वं शरीरात्मनि यः प्रवेद
तस्यैव देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण वेदशास्त्र, ज्ञेय वस्तु (आकाश आदि भूत और भौतिक जगत्), समस्त विधि (कर्मकाण्ड), निरुक्त (शब्द-प्रमाणगम्य परलोक आदि) और परमार्थता (आत्माकी सत्यस्वरूपता)—यह सब कुछ शरीरके भीतर विद्यमान आत्मामें ही प्रतिष्ठित है । ऐसा जो जानता है, उस सर्वात्मा ज्ञानी पुरुषकी सेवाके लिये देवता भी सदा लालायित रहते हैं ॥ ३० ॥

भूमावसक्तं दिवि चाप्रमेयं
हिरण्मयं योऽण्डजमण्डमध्ये ।
पतत्रिणं पक्षिणमन्तरिक्षे
यो वेद भोग्यात्मनि रश्मिदीप्तः॥ ३१ ॥

जो पृथ्वीपर रहकर भी उसमें आसक्त नहीं है, अनन्त आकाशमें अप्रमेयभावसे स्थित है, जो हिरण्मय (चिन्मय ज्योतिस्वरूप), अण्डज—ब्रह्माण्डके भीतर प्रादुर्भूत और अण्ड-पिण्डात्मक शरीरके मध्यभागमें स्थित हृदय-कमलके आसनपर, भोग्यात्मा (शरीर) के अन्तर्गत हृदयाकाशमें जीवरूपसे विराजमान है; जिसमें अनेक अङ्गदेवता छोटे-छोटे पंखोंके समान शोभा पाते हैं तथा जो मोद और प्रमोद नामक दो प्रमुख पंखोंसे शोभायमान है; उस सुवर्णमय पक्षीरूप जीवात्मा एवं ब्रह्मको जो जानता है, वह ज्ञानकी तेजोमयी किरणोंसे प्रकाशित होता है ॥ ३१ ॥

आवर्तमानमजरं विवर्तनं
षण्णाभिकं द्वादशारं सुपर्व ।
यस्येदमास्ये परियाति विश्वं
तत् कालचक्रं निहितं गुहायाम् ॥ ३२ ॥

जो निरन्तर घूमता रहता है, कभी जीर्ण या क्षीण नहीं होता, जो लोगोंकी आयुको क्षीण करता है, छः ऋतुएँ जिसकी नाभि हैं, बारह महीने जिसके अरे हैं, दर्शपौर्णमास आदि जिसके सुन्दर पर्व हैं; यह सम्पूर्ण विश्व जिसके मुँहमें भक्ष्य पदार्थके समान जाता है, वह कालचक्र बुद्धिरूपी गुहामें स्थित है (उसे जो जानता है, देवगण उसके शुभकर्मकी प्रशंसा करते हैं) ॥ ३२ ॥

य: सम्प्रसादो जगतः शरीरं
सर्वान् स लोकानधिगच्छतीह ।
तस्मिन् हितं तर्पयतीह देवां-
स्ते वै तृप्तास्तर्पयन्त्यास्यमस्य ॥ ३३ ॥

जो मनको प्रसन्नता प्रदान करता है, इस जगत्का शरीर है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् जिसके विराट् शरीरमें विराजित है, वह परमात्मा इस जगत्में सब लोकोंको घेरे हुए स्थित है। उस परमात्मामें ध्यानद्वारा स्थापित किया हुआ मन, इस देहमें स्थित देवताओं-प्राणोंको तृप्त करता है और वे तृप्त हुए प्राण उस ज्ञानीके मुखको ज्ञानामृतसे तृप्त करते हैं॥ ३३॥

तेजोमयो नित्यमयः पुराणो
लोकाननन्तानभयानुपैति ।
भूतानि यस्मान्न त्रसन्ते कदाचित्
स भूतानां न त्रसते कदाचित् ॥ ३४ ॥

जो ब्रह्मज्ञानमय तेजसे सम्पन्न और पुरातन नित्य-ब्रह्म-परायण है, वह भिक्षु अनन्त एवं निर्भय लोकोंको प्राप्त होता है। जिससे जगत्के प्राणी कभी भयभीत नहीं होते, वह भी संसारके प्राणियोंसे कभी भय नहीं पाता है ॥ ३४ ॥

अगर्हणीयो न च गर्हतेऽन्यान्
स वै विप्रः परमात्मानमीक्षेत् ।
विनीतमोहो व्यपनीतकल्मषो
न चेह नामुत्र च सोऽन्नमृच्छति ॥३५॥

जो न तो स्वयं निन्दनीय है और न दूसरोंकी निन्दा करता है, वही ब्राह्मण परमात्माका दर्शन कर सकता है। जिसके मोह और पाप दूर हो गये हैं, वह इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्त नहीं होता ॥ ३५ ॥

अरोषमोहः समलोष्टकाञ्चनः
प्रहीणकोशो गतसंधिविग्रहः।
अपेतनिन्दास्तुतिरप्रियाप्रिय-
श्चरन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ३६ ॥

ऐसे संन्यासीको रोष और मोह नहीं छू सकते। वह मिट्टीके ढेले और सोनेको समान समझता है। पाँच कोशोंका अभिमान त्याग देता है और संधि-विग्रह तथा निन्दा-स्तुतिसे रहित हो जाता है। उसकी दृष्टिमें न कोई प्रिय होता है न अप्रिय। वह संन्यासी उदासीनकी भाँति सर्वत्र विचरता रहता है॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

परमात्माकी श्रेष्ठता, उसके दर्शनका उपाय तथा इस ज्ञानमय उपदेशके पात्रका निर्णय

व्यास उवाच

प्रकृत्यास्तु विकारा ये क्षेत्रज्ञस्तैरधिष्ठितः ।
न चैनं ते प्रजानन्ति स तु जानाति तानपि ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! देह, इन्द्रिय और मन आदि जो प्रकृतिके विकार हैं, वे क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के ही आधारपर स्थित रहते हैं। वे जड होनेके कारण क्षेत्रज्ञको नहीं जानते; परंतु क्षेत्रज्ञ उन सबको जानता है ॥ १ ॥

तैश्चैवं कुरुते कार्यं मनःषष्ठैरिहेन्द्रियैः ।
सुदान्तैरिव संयन्ता दृढैः परमवाजिभिः ॥ २ ॥

जैसे चतुर सारथि अपने वशमें किये हुए बलवान् और उत्तम घोड़ोंसे अच्छी तरह काम लेता है, उसी प्रकार यहाँ क्षेत्रज्ञ भी अपने वशमें किये हुए मनसहित इन्द्रियोंके द्वारा सम्पूर्ण कार्य सिद्ध करता है ॥ २ ॥

इन्द्रियेभ्यः परे ह्यर्था अर्थेभ्यः परमं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ ३ ॥

इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय बलवान् हैं, विषयोंसे मन बलवान् है, मनसे बुद्धि बलवान् है और बुद्धिसे जीवात्मा बलवान् है ॥ ३ ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् परतोऽमृतम् ।
अमृतान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ४ ॥

जीवात्मासे बलवान् है अव्यक्त (मूल प्रकृति) और अव्यक्तसे बलवान् और श्रेष्ठ है अमृतस्वरूप परमात्मा। उस परमात्मासे बढ़कर श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। वही श्रेष्ठता-की चरम सीमा और परम गति है ॥ ४ ॥

एवं सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ ५ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर उनकी हृदय-गुफामें छिपा हुआ वह परमात्मा इन्द्रियोंद्वारा प्रकाशमें नहीं आता। सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी महात्मा ही अपनी सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ बुद्धिद्वारा उसका दर्शन करते हैं ॥ ५ ॥

अन्तरात्मनि संलीय मनःषष्ठानि मेधया ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च बहुचिन्त्यमचिन्तयन् ॥ ६ ॥
ध्यानेनोपरमं कृत्वा विद्यासम्पादितं मनः ।
अनीश्वरः प्रशान्तात्मा ततोऽर्च्छत्यमृतं पदम् ॥ ७ ॥

योगी बुद्धिके द्वारा मनसहित इन्द्रियों और उनके विषयोंको अन्तरात्मामें लीन करके नाना प्रकारके चिन्तनीय विषयका चिन्तन न करता हुआ जब विवेकद्वारा विशुद्ध किये हुए मनको ध्यानके द्वारा सब ओरसे पूर्णतया उपरत करके अपनेको कुछ भी करनेमें असमर्थ बना लेता है अर्थात् सर्वथा कर्तापनके अभिमानसे शून्य हो जाता है, तब उसका मन अविचल परम शान्ति-

सम्पन्न हो जाता है और वह अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ६-७ ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां वश्यात्मा चलितस्मृतिः ।
आत्मनः सम्प्रदानेन मर्त्यो मृत्युमुपाश्नुते ॥ ८ ॥

जिसका मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंके वशमें होता है, वह मनुष्य विवेक-शक्तिको खो देता है और अपनेको काम आदि शत्रुओंके हाथोंमें सौंपकर मृत्युका कष्ट भोगता है ॥ ८ ॥

आहत्य सर्वसंकल्पान् सत्त्वे चित्तं निवेशयेत् ।
सत्त्वे चित्तं समावेश्य ततः कालंजरो भवेत् ॥ ९ ॥

अतः सब प्रकारके संकल्पोंका नाश करके चित्तको सूक्ष्म बुद्धिमें लीन करे । इस प्रकार बुद्धिमें चित्तका लय करके वह कालपर विजय पा जाता है ॥ ९ ॥

चित्तप्रसादेन यतिर्जहातीह शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ १० ॥

चित्तकी पूर्ण शुद्धिसे सम्पन्न हुआ यत्नशील योगी इस जगत्‌में शुभ और अशुभको त्याग देता है और प्रसन्नचित्त एवं आत्मनिष्ठ होकर अक्षय सुखका उपभोग करता है ।१०।

लक्षणं तु प्रसादस्य यथा स्वप्ने सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्यमानो न कम्पते ॥ ११ ॥

मनुष्य नींदके समय जैसे सुखसे सोता है—सुषुप्तिके सुखका अनुभव करता है, अथवा जैसे वायुरहित स्थानमें जलता हुआ दीपक कम्पित नहीं होता, एकतार जला करता है, उसी प्रकार मन कभी चञ्चल न हो, यही उसके प्रसादका अर्थात् परम शुद्धिका लक्षण है ॥ ११ ॥

एवं पूर्वापरे काले युञ्जन्नात्मानमात्मनि ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १२ ॥

जो मिताहारी और शुद्धचित्त होकर रातके पहले और पिछले पहरोंमें उपर्युक्त प्रकारसे आत्माको परमात्माके ध्यानमें लगाता है, वही अपने अन्तःकरणमें परमात्माका दर्शन करता है ॥ १२ ॥

रहस्यं सर्ववेदानामनैतिह्यमनागमम् ।
आत्मप्रत्ययिकं शास्त्रमिदं पुत्रानुशासनम् ॥ १३ ॥

बेटा ! मैंने जो यह उपदेश दिया है, यह परमात्माका ज्ञान करानेवाला शास्त्र है । यही सम्पूर्ण वेदोंका रहस्य है । केवल अनुमान या आगमसे इसका ज्ञान नहीं होता, अनुभवसे ही यह ठीक-ठीक समझमें आता है ॥ १३ ॥

धर्माख्यानेषु सर्वेषु सत्याख्याने च यद् वसु ।
दशेदमृक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमुद्धृतम् ॥ १४ ॥

धर्म और सत्यके जितने भी आख्यान हैं, उन सबका यह सारभूत धन है । ऋग्वेदकी दस हजार ऋचाओंका मन्थन करके यह अमृतमय सारतत्त्व निकाला गया है ॥१४॥

नवनीतं यथा दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च ।
तथैव विदुषां ज्ञानं पुत्र हेतोः समुद्धृतम् ॥ १५ ॥

बेटा ! मनुष्य जैसे दहीसे मक्खन निकालते हैं [illegible] काठसे आग प्रकट करते हैं, उसी प्रकार मैंने भी [illegible] लिये ज्ञानजनक यह मोक्षशास्त्र शास्त्रोंको मथकर [illegible]

स्नातकानामिदं शास्त्रं वाच्यं पुत्रानुशासनम् ।
तदिदं नाप्रशान्ताय नादान्तायातपस्विने ॥ [illegible]

बेटा ! व्रतधारी स्नातकोंको ही तुम इस [illegible] उपदेश करना । जिसका मन शान्त नहीं है, जिसकी [illegible] वशमें नहीं हैं तथा जो तपस्वी नहीं है, उसे इस [illegible] उपदेश नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

नावेदविदुषे वाच्यं तथा नानुगताय च ।
नासूयकायानृजवे न चानिर्दिष्टकारिणे ॥ [illegible]
न तर्कशास्त्रदग्धाय तथैव पिशुनाय च ।

जो वेदका विद्वान् न हो, अनुगत भक्त न हो, [illegible] रहित न हो, सरल स्वभावका न हो और आज्ञाकारी [illegible] तथा तर्कशास्त्रकी आलोचना करते-करते जिसका हृदय [illegible] रस-शून्य हो गया हो और जो दूसरोंकी चुगली खाता [illegible] लोगोंको इस ज्ञानका उपदेश देना उचित नहीं है ॥ [illegible]

श्लाघिने श्लाघनीयाय प्रशान्ताय तपस्विने ॥ [illegible]
इदं प्रियाय पुत्राय शिष्यायानुगताय च ।
रहस्यधर्मं वक्तव्यं नान्यस्मै तु कथंचन ॥ [illegible]

जो तत्त्वज्ञानकी अभिलाषा रखनेवाला, स्पृहणीय [illegible] युक्त, शान्तचित्त, तपस्वी एवं अनुगत शिष्य हो [illegible] इन्हीं गुणोंसे युक्त प्रिय पुत्र हो, उसीको इस गूढ़ [illegible] धर्मका उपदेश देना चाहिये; दूसरे किसीको किसी [illegible] भी नहीं ॥ १८-१९ ॥

यद्यप्यस्य महीं दद्याद् रत्नपूर्णामिमां नरः ।
इदमेव ततः श्रेय इति मन्येत तत्त्ववित् ॥ [illegible]

यदि कोई मनुष्य रत्नोंसे भरी हुई यह सम्पूर्ण [illegible] लगे तो भी तत्त्ववेत्ता पुरुष यही समझे कि इस सारे [illegible] अपेक्षा यह ज्ञान ही श्रेष्ठ है ॥ २० ॥

अतो गुह्यतरार्थं तदध्यात्ममतिमानुषम् ।
यत् तन्महर्षिभिर्दृष्टं वेदान्तेषु च गीयते ॥ २१ ॥
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २२ ॥

बेटा ! तुम मुझसे जो प्रश्न कर रहे हो, उसके [illegible] मैं इससे भी गूढ़तर अर्थवाले अलौकिक [illegible] उपदेश करूँगा, जिसे महर्षियोंने प्रत्यक्ष अनुभव [illegible] और जिसका वेदान्तशास्त्र—उपनिषदोंमें गान [illegible] गया है ॥ २१-२२ ॥

यच्च ते मनसि वर्तते परं
यत्र चास्ति तव संशयः क्वचित् ।
श्रूयतामयमहं तवाग्रतः
पुत्र किं हि कथयामि ते पुनः ॥ [illegible]

पुत्र! तुम्हारे मनमें जो वस्तु सर्वश्रेष्ठ जान पड़ती हो तथा जिसके विषयमें तुम्हें कहीं संशय हो रहा हो, उसे पूछो और उसके उत्तरमें मैं जो कुछ तुम्हारे सामने कहूँ, उसे सुनो! बोलो, मैं फिर तुम्हें किस विषयका उपदेश करूँ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २४६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२४६॥

सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

महाभूतादि तत्त्वोंका विवेचन

शुक उवाच

अध्यात्मं विस्तरेणेह पुनरेव वदस्व मे।
यदध्यात्मं यथा वेद भगवन्नृषिसत्तम॥ १॥

शुकदेवजीने कहा—भगवन्! मुनिश्रेष्ठ! अब पुनः मुझे अध्यात्मज्ञानका विस्तारपूर्वक उपदेश दीजिये। अध्यात्म क्या है और उसे मैं कैसे जानूँगा?॥ १॥

व्यास उवाच

अध्यात्मं यदिदं तात पुरुषस्येह पठ्यते।
तत् तेऽहं वर्तयिष्यामि तस्य व्याख्यामिमां शृणु॥ २॥

व्यासजीने कहा—तात! मनुष्यके लिये शास्त्रमें जो यह अध्यात्मविषयकी चर्चा की जाती है, उसका परिचय मैं तुम्हें दे रहा हूँ; तुम अध्यात्मकी यह व्याख्या सुनो॥२॥

भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाश एव च।
महाभूतानि भूतानां सागरस्योर्मयो यथा॥ ३॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरमें स्थित हैं। जैसे समुद्रकी लहरें उठती और विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार ये पाँचों महाभूत प्राणियोंके शरीरके रूपमें जन्म ग्रहण करते और विलीन होते रहते हैं॥ ३॥

प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः।
तद्वन्महान्ति भूतानि यवीयःसु विकुर्वते॥ ४॥

जैसे कछुआ यहाँ अपने अङ्गोंको सब ओर फैलाकर फिर समेट लेता है, इसी प्रकार ये सारे महाभूत छोटे-छोटे शरीरोंमें विकृत होते—उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं॥४॥

इति तन्मयमेवेदं सर्वं स्थावरजङ्गमम्।
सर्गे च प्रलये चैव तस्मिन् निर्दिश्यते तथा॥ ५॥

इस प्रकार यह समस्त स्थावर-जङ्गम जगत् पञ्चभूतमय ही है। सृष्टिकालमें पञ्चभूतोंसे ही सबकी उत्पत्ति होती है और प्रलयके समय उन्हींमें सबका लय बताया जाता है॥५॥

महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत्।
अकरोत् तात वैषम्यं यस्मिन् यदनुपश्यति॥ ६॥

यद्यपि सम्पूर्ण शरीरोंमें पाँच ही भूत हैं तथापि लोगोंको उनमेंसे जिसमें जो वैषम्य दिखायी देता है, उसका कारण यह है कि सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजीने समस्त प्राणियोंमें उनके कर्मानुसार ही न्यूनाधिकरूपमें उन भूतोंका समावेश किया है॥ ६॥

शुक उवाच

अकरोद् यच्छरीरेषु कथं तदुपलक्षयेत्।
इन्द्रियाणि गुणाः केचित् कथं तानुपलक्षयेत्॥ ७॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी! देवता, मनुष्य, पशु और पक्षी आदिके शरीरोंमें विधाताने जो वैषम्य किया है, उसको किस प्रकार लक्ष्य किया जाय? शरीरमें इन्द्रियाँ भी हैं और कुछ गुण भी हैं, उन्हें कैसे देखा जाय—उनमेंसे कौन किस महाभूतके कार्य हैं, इसकी पहचान कैसे हो?॥ ७॥

व्यास उवाच

एतत् ते वर्तयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः।
शृणु तत् त्वमिहैकाग्रो यथातत्त्वं यथा च तत्॥ ८॥

व्यासजीने कहा—बेटा! मैं इस विषयका क्रमशः और यथावत्‌रूपसे प्रतिपादन करूँगा। यह समस्त विषय तत्त्वतः जैसा है, वह सब तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो॥

शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशसम्भवम्।
प्राणश्चेष्टा तथा स्पर्श एते वायुगुणास्त्रयः॥ ९॥

शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय तथा शरीरके सम्पूर्ण छिद्र—ये तीनों वस्तुएँ आकाशसे उत्पन्न हुई हैं। प्राण, चेष्टा तथा स्पर्श—ये तीनों वायुके गुण (कार्य) हैं॥ ९॥

रूपं चक्षुर्विपाकश्च त्रिधा ज्योतिर्विधीयते।
रसोऽथ रसनं स्नेहो गुणास्त्वेते त्रयोऽम्भसः॥ १०॥

रूप, नेत्र और जठरानल—इन तीन रूपोंमें अग्निका ही कार्य प्रकट हुआ है। रस, रसना और स्नेह—ये तीनों जलके कार्य हैं॥ १०॥

घ्रेयं घ्राणं शरीरं च भूमेरेते गुणास्त्रयः।
एतावानिन्द्रियग्रामैर्व्याख्यातः पाञ्चभौतिकः॥ ११॥

गन्ध, नासिका और शरीर—ये तीनों भूमिके गुण हैं। इस प्रकार इन्द्रियसमुदायसहित यह शरीर पाञ्चभौतिक बताया गया है॥ ११॥

वायोः स्पर्शो रसोऽद्भ्यश्च ज्योतिषो रूपमुच्यते।
आकाशप्रभवः शब्दो गन्धो भूमिगुणः स्मृतः॥ १२॥

स्पर्श वायुका, रस जलका और रूप तेजका गुण बताया जाता है एवं शब्द आकाशका और गन्ध भूमिका गुण माना गया है॥ १२॥

मनो बुद्धिः स्वभावश्च त्रय एते स्वयोनिजाः।
न गुणानतिवर्तन्ते गुणेभ्यः परमागताः॥ १३॥

मन, बुद्धि और स्वभाव (अहंभाव)—ये तीनों अपने कारणभूत पूर्वसंस्कारोंसे उत्पन्न हुए हैं। ये तीनों पाञ्चभौतिक होते हुए भी भूतोंके अन्य कार्य जो श्रोत्रादि हैं, उनसे श्रेष्ठ हैं तो भी गुणोंका सर्वथा उल्लङ्घन नहीं कर पाते हैं ॥ १३ ॥

यथा कूर्म इहाङ्गानि प्रसार्य विनियच्छति।
एवमेवेन्द्रियग्रामं बुद्धिः सृष्ट्वा नियच्छति ॥ १४ ॥

जैसे कछुआ यहाँ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार बुद्धि सम्पूर्ण इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर फैलाकर फिर उन्हें वहाँसे हटा लेती है ॥ १४ ॥

यदूर्ध्वं पादतलयोरवाङ्मूर्ध्नश्च पश्यति।
एतस्मिन्नेव कृत्ये तु वर्तते बुद्धिरुत्तमा ॥ १५ ॥

पैरोंसे ऊपर और मस्तकसे नीचे मनुष्य जो कुछ देखता है अर्थात् सम्पूर्ण शरीरको जो अहंभावसे देखता है, इस कार्यमें उत्तम बुद्धि प्रवृत्त होती है। तात्पर्य यह कि शरीरमें जो अहंभावका अनुभव है, वह बुद्धिका ही रूपान्तर है ॥ १५ ॥

गुणान् नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि।
मनःषष्ठानि सर्वाणि बुद्ध्यभावे कुतो गुणाः ॥ १६ ॥

बुद्धि ही शब्द आदि गुणोंको श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके पास बार-बार ले जाती है और बुद्धि ही मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंको विषयोंके पास पुनः-पुनः खींच ले जाती है; यदि इनके साथ बुद्धि न रहे तो इन्द्रियोंद्वारा शब्द आदि विषयोंका अनुभव कैसे हो सकता है ॥ १६ ॥

इन्द्रियाणि नरे पञ्च षष्ठं तु मन उच्यते।
सप्तमीं बुद्धिमेवाहुः क्षेत्रज्ञं पुनरष्टमम् ॥ १७ ॥

मनुष्यके शरीरमें पाँच इन्द्रियाँ हैं। छठा तत्त्व मन है। सातवाँ तत्त्व बुद्धि और आठवाँ क्षेत्रज्ञ बताया गया है ॥ १७ ॥

चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः।
बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ १८ ॥

आँख देखनेका काम करती है, (यह उपलक्षण है। इससे सभी इन्द्रियोंके कार्यका लक्ष्य कराया गया है) मन संदेह करता है और बुद्धि उसका निश्चय करती है; किंतु क्षेत्रज्ञ (आत्मा) उन सबका साक्षी कहलाता है ॥ १८ ॥

रजस्तमश्च सत्त्वं च यत्र एते स्वयोनिजाः।
समाः सर्वेषु भूतेषु तान् गुणानुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥

रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण—ये तीनों अपने कारणभूत मूल प्रकृतिसे प्रकट हुए हैं; वे तीनों गुण सब प्राणियोंमें समानरूपसे रहते हैं। उनकी पहचान उनके कार्योंद्वारा क[रे]।

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव संशुद्धं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २० ॥

जब अपनेमें कुछ प्रसन्नतायुक्त विशुद्ध और शान्त-सा भाव दिखायी दे, तब यह निश्चय करे कि सत्त्वगुण प्रवृत्त हुआ है।

यत् तु संतापसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत्।
प्रवृत्तं रज इत्येवं तत्र चाप्युपलक्षयेत् ॥ २१ ॥

शरीर अथवा मनमें जब कुछ संतापयुक्त भाव दृष्टिगोचर हो, तब वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि रजोगुणकी प्रवृत्ति हो रही है ॥ २१ ॥

यत् तु सम्मोहसंयुक्तमव्यक्तविषयं भवेत्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधार्यताम् ॥ २२ ॥

जब मोहयुक्त भाव मनपर छा जाय, किसी भी विषयमें कोई बात स्पष्ट न जान पड़े, जब तर्क भी काम न दे और किसी तरह कोई बात समझमें न आवे, तब समझना चाहिये कि तमोगुण प्रवृत्त हुआ है ॥ २२ ॥

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः साम्यं स्वस्थात्मचित्तता।
अकस्माद् यदि वा कस्माद् वर्तन्ते सात्त्विका गुणाः ॥ २३ ॥

जब अतिशय हर्ष, प्रेम, आनन्द, समता और स्वस्थचित्तता—ये सद्गुण अकस्मात् या किसी कारणवश विकसित हों, तब समझना चाहिये कि ये सात्त्विक गुण हैं ॥ २३ ॥

अभिमानो मृषावादो लोभो मोहस्तथाक्षमा।
लिङ्गानि रजसस्तानि वर्तन्ते हेत्वहेतुतः ॥ २४ ॥

अभिमान, असत्यभाषण, लोभ, मोह और असहनशीलता—ये दोष चाहे किसी कारणसे प्रकट हुए हों अथवा बिना कारणके हर एक परिस्थितिमें रजोगुणके ही चिह्न माने गये हैं ॥ २४ ॥

तथा मोहः प्रमादश्च निद्रा तन्द्राप्रबोधिता।
कथंचिदभिवर्तन्ते विज्ञेयास्तामसा गुणाः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार मोह, प्रमाद, निद्रा, तन्द्रा और अज्ञान किसी कारणसे हो जायँ, उन्हें तमोगुणका कार्य जानना चाहिये।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

बुद्धिकी श्रेष्ठता और प्रकृति-पुरुष-विवेक

व्यास उवाच

मनो विसृजते भावं बुद्धिरध्यवसायिनी।
हृदयं प्रियाप्रिये वेद त्रिविधा कर्मचोदना ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र ! कर्म करनेमें तीन प्रकारसे प्रेरणा प्राप्त होती है। पहले तो मन संकल्पमात्रसे नाना प्रकारके भावकी सृष्टि करता है, बुद्धि उसका निश्चय करती है। तत्पश्चात् हृदय उनकी अनुकूलता और प्रतिकूलताका अनुभव करता है। (इसके बाद कर्ममें प्रवृत्ति होती है)।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यः परमं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा परो मतः ॥ २ ॥

इन्द्रियोंसे उनके विषय बलवान् हैं (क्योंकि वे बलात् इन्द्रियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं), उन विषयोंसे मन बलवान् है (क्योंकि वह इन्द्रियोंको उनसे हटानेमें समर्थ है) । मनसे बुद्धि बलवान् है (क्योंकि वह मनको वशमें रख सकती है) और बुद्धिसे आत्मा बलवान् माना गया है (क्योंकि वह बुद्धिको सम बनाकर स्वाधीन कर सकता है) ॥ २ ॥

बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनाऽऽत्मनि ।
यदा विकुरुते भावं तदा भवति सा मनः ॥ ३ ॥

बुद्धि प्राणियोंकी समस्त इन्द्रियोंकी अधिष्ठात्री है, इसलिये वह जीवात्माके समान ही उनकी आत्मा मानी गयी है । बुद्धि ही स्वयं अपने भीतर जब भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेके लिये विकृत हो नाना प्रकारके रूप धारण करती है, तब वही मन बन जाती है ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावाद् बुद्धिर्विक्रियते ह्यतः ।
शृण्वती भवति श्रोत्रं स्पृशती स्पर्श उच्यते ॥ ४ ॥

इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् हैं, इसलिये उनकी क्रियाएँ भी पृथक्-पृथक् हैं । अतः उन्हींके लिये बुद्धि नाना प्रकारके रूप धारण करती है । वही जब सुनती है तो श्रोत्र कहलाती है और स्पर्श करते समय स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) के नामसे पुकारी जाती है ॥ ४ ॥

पश्यती भवते दृष्टी रसती रसनं भवेत् ।
जिघ्रती भवति घ्राणं बुद्धिर्विक्रियते पृथक् ॥ ५ ॥

वही देखते समय दृष्टि और रसास्वादनके समय रसना हो जाती है । जब वह गन्धको ग्रहण करती है, तब वही घ्राणेन्द्रिय कहलाती है । इस प्रकार बुद्धि ही पृथक्-पृथक् विकृत होती है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणि तु तान्याहुस्तेष्वदृश्योऽधितिष्ठति ।
तिष्ठती पुरुषे बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते ॥ ६ ॥

बुद्धिके इन विकारोंको ही इन्द्रियाँ कहते हैं । अदृश्य जीवात्मा उन सबमें अधिष्ठित है । बुद्धि उस जीवात्मामें ही स्थित हो सात्त्विक आदि तीनों भावोंमें रहती है ॥ ६ ॥

कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदपि शोचति ।
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदिह युज्यते ॥ ७ ॥

इसी हेतुसे वह कभी प्रेम और प्रसन्नता लाभ करती है (यह उसका सात्त्विक भाव है) । कभी शोकमें डूबती है (यह उसका राजस भाव है) । और कभी न तो सुखसे युक्त होती है एवं न दुःखसे ही; उसपर मोह छाया रहता है (यही उसका तामस भाव है) ॥ ७ ॥

सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतानतिवर्तते ।
सरितां सागरो भर्ता महावेलामिवोर्मिमान् ॥ ८ ॥

जैसे उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त सरिताओंका स्वामी समुद्र कभी-कभी अपनी विशाल तटभूमिको भी लाँघ जाता है, उसी प्रकार यह भावात्मिका बुद्धि चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगमें स्थित होनेपर इन तीनों भावोंको लाँघ जाती है ॥ ८ ॥

यदा प्रार्थयते किंचित् तदा भवति सा मनः ।
अधिष्ठानानि वै बुद्ध्यां पृथगेतानि संस्मरेत् ।
इन्द्रियाण्येव मेध्यानि विजेतव्यानि कृत्स्नशः ॥ ९ ॥

मनुष्य जब किसी वस्तुकी इच्छा करता है, तब उसकी बुद्धि मनके रूपमें परिणत हो जाती है । ये जो एक दूसरेसे पृथक्-पृथक् इन्द्रियोंके भाव हैं, इन्हें बुद्धिके ही अन्तर्गत समझना चाहिये । 'मेधा' कहते हैं रूप आदिके ज्ञानको, उसमें हितकर या सहायक होनेके कारण इन्द्रियाँ 'मेध्य' कही गयी हैं । योगीको सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनी चाहिये ॥ ९ ॥

सर्वाण्येवानुपूर्व्येण यद् यदानुविधीयते ।
अविभागगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते ॥ १० ॥

बुद्धि सम्पूर्ण इन्द्रियोंमेंसे जब जिस इन्द्रियके साथ हो जाती है, उस समय पहले अलग न होनेपर भी वह बुद्धि संकल्पात्मक मन एवं घटादि पदार्थोंमें उपस्थित होती है अर्थात् बुद्धिसे अनुगृहीत होनेपर ही कोई भी इन्द्रिय संकल्प-जनित घट-पटादिको क्रमशः ग्रहण करती है ॥ १० ॥

ये चैव भावा वर्तन्ते सर्वे एष्वेव ते त्रिषु ।
अन्वर्थाः सम्प्रवर्तन्ते रथनेमिमरा इव ॥ ११ ॥

जगत्‌में जो भी नाना भाव हैं, वे सब-के-सब सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों भावोंके ही अन्तर्गत हैं । जैसे अरे रथकी नेमिसे जुड़े होते हैं, उसी प्रकार सभी भाव सात्त्विक आदि गुणोंके अनुगामी हैं ॥ ११ ॥

प्रदीपार्थं मनः कुर्यादिन्द्रियैर्बुद्धिसत्तमैः ।
निश्चरद्भिर्यथायोगमुदासीनैर्यदृच्छया ॥ १२ ॥

बुद्धिरूप अधिष्ठानमें स्थित हुई उदासीनभावसे स्वभावके अनुसार यथासम्भव विषयोंकी ओर जानेवाली इन्द्रियोंद्वारा मन दीपकका कार्य करता है अर्थात् जैसे दीपक अपनी प्रभाद्वारा घटादि वस्तुओंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मन नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा घट-पट आदि वस्तुओंका दर्शन एवं ग्रहण कराता है ॥ १२ ॥

एवं स्वभावमेवेदमिति विद्वान् न मुह्यति ।
अशोचन्नप्रहृष्यन् हि नित्यं विगतमत्सरः ॥ १३ ॥

इस जगत्‌का ऐसा ही परिवर्तनस्वभाव है, ऐसा जाननेवाला ज्ञानी पुरुष कभी मोहमें नहीं पड़ता, हर्ष और शोक नहीं करता तथा ईर्ष्या-द्वेष आदिसे रहित रहता है ॥ १३ ॥

न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैः कामगोचरैः ।
प्रवर्तमानैरनये दुष्करैरकृतात्मभिः ॥ १४ ॥

जो दुष्कर्मपरायण और अशुद्ध अन्तःकरणवाले हैं, वे अज्ञानी पुरुष अन्यायपूर्वक मनोवाञ्छित विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंद्वारा आत्माका दर्शन नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

तेषां तु मनसा रश्मीन् यदा सम्यङ्नियच्छति ।
तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा दीपदीप्ता यथाऽऽकृतिः ॥ १५ ॥

परंतु जब मनुष्य अपने मनके द्वारा इन्द्रियरूपी अश्वोंकी बागडोरको सदा पकड़े रहकर उन्हें अच्छी तरह काबूमें कर लेता है; तब उसे ज्ञानके प्रकाशमें आत्माका दर्शन उसी प्रकार होता है जिस प्रकार दीपकके प्रकाशमें किसी वस्तुकी आकृति स्पष्ट दिखायी देती है ॥ १५ ॥

सर्वेषामेव भूतानां तमस्यपगते यथा ।
प्रकाशं भवते सर्वं तथेदमुपधार्यताम् ॥ १६ ॥

जैसे अन्धकार दूर हो जानेपर सभी प्राणियोंके सामने प्रकाश छा जाता है, उसी प्रकार यह निश्चितरूपसे समझ लो कि अज्ञानका नाश होनेपर ही ज्ञानस्वरूप आत्माका साक्षात्कार होता है ॥ १६ ॥

यथा वारिचरः पक्षी न लिप्यति जले चरन् ।
विमुक्तात्मा तथा योगी गुणदोषैर्न लिप्यते ॥ १७ ॥

जैसे जलचर पक्षी जलमें विचरता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार मुक्तात्मा योगी संसारमें रहकर भी उसके गुण और दोषोंसे लिपायमान नहीं होता ॥ १७ ॥

एवमेव कृतप्रज्ञो न दोषैर्विषयांश्चरन् ।
असज्जमानः सर्वेषु कथंचन न लिप्यते ॥ १८ ॥

इसी प्रकार जिसकी बुद्धि शुद्ध है, वह स्त्री, पुत्र आदि सम्बन्धियोंमें आसक्त न होनेके कारण विषयोंका सेवन करता हुआ भी किसी प्रकार उनके दोषोंसे लिप्त नहीं होता है ॥१८॥

त्यक्त्वा पूर्वकृतं कर्म रतिर्यस्य सदाऽऽत्मनि ।
सर्वभूतात्मभूतस्य गुणवर्गेष्वसज्जतः ॥ १९ ॥

जो अपने पूर्वकृत कर्मोंके संस्कारोंका त्याग करके सदा परमात्मामें ही अनुराग रखता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा हो जाता है और विषयोंमें कभी आसक्त नहीं होता ॥

सत्त्वमात्मा प्रसरति गुणान् वापि कदाचन ।
न गुणा विदुरात्मानं गुणान् वेद स सर्वदा ॥ २०॥
परिद्रष्टा गुणानां च परिस्रष्टा यथातथम् ।
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः ॥ २१॥

जीवात्मा कभी बुद्धिकी ओर झुकता है और कभी गु… की ओर । गुण आत्माको नहीं जानते, किंतु आत्मा गुणों… सदा जानता रहता है, क्योंकि वह गुणोंका द्रष्टा और य… वत्रूपसे स्रष्टा भी है । यद्यपि बुद्धि और क्षेत्रज्ञ दोनों… सूक्ष्म वस्तु हैं, किंतु उन दोनोंमें यही अन्तर समझो कि बु… दृश्य है और आत्मा द्रष्टा है ॥ २०-२१ ॥

सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान् ।
पृथग्भूतौ प्रकृत्या तौ सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा ॥ २२॥

इन दोनोंमेंसे एक (बुद्धि) तो गुणोंकी सृष्टि करती है और दूसरा (आत्मा) गुणोंकी सृष्टि नहीं करता है । वे दो… स्वरूपतः एक दूसरेसे पृथक् हैं; परंतु सदा संयुक्त रहते हैं।

यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात् सम्प्रयुक्तौ तथैव तौ ।
मशकोदुम्बरौ वापि सम्प्रयुक्तौ यथा सह ॥ २३॥

जैसे मछली जलसे भिन्न है, फिर भी वे एक दूसरे… संयुक्त रहते हैं । जैसे गूलर और उसके कीड़े एक दूसरे… पृथक् हैं तथापि परस्पर संयुक्त रहते हैं । उसी प्रकार बु… और क्षेत्रज्ञको भी समझना चाहिये ॥ २३ ॥

इषीका वा यथा मुञ्जे पृथक् च सह चैव च ।
तथैव सहितावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ ॥ २४॥

जैसे मूँजमें जो सींक है, वह उससे पृथक् है तो… वे दोनों साथ ही रहते हैं, उसी प्रकार बुद्धि और क्षे… सर्वथा एक दूसरेसे पृथक् होते हुए भी दोनों साथ-साथ … एक दूसरेके आश्रित रहते हैं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ज्ञानके साधन तथा ज्ञानीके लक्षण और महिमा

व्यास उवाच

सृजते तु गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञस्त्वधितिष्ठति ।
गुणान् विक्रियतः सर्वानुदासीनवदीश्वरः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र ! प्रकृति ही गुणोंकी सृष्टि करती है । क्षेत्रज्ञ—आत्मा तो उदासीनकी भाँति उन सम्पूर्ण विकारशील गुणोंको देखा करता है । वह स्वाधीन एवं उनका अधिष्ठाता है ॥ १ ॥

स्वभावयुक्तं तत् सर्वं यदिमान् सृजते गुणान् ।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं सृजते तद्गुणांस्तथा ॥ २ ॥

जैसे मकड़ी अपने शरीरसे तन्तुओंकी सृष्टि करती है, उसी प्रकार प्रकृति भी समस्त त्रिगुणात्मक पदार्थोंको उत्पन्न करती है । प्रकृति जो इन सब विषयोंकी सृष्टि करती है वह सब उसके स्वभावसे ही होता है ॥ २ ॥

प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते प्रवृत्तिर्नोपलभ्यते ।
एवमेके व्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ॥ ३॥

किन्हींका मत है कि तत्त्वज्ञानसे जब गुणोंका नाश … दिया जाता है, तब भी वे सर्वथा नष्ट नहीं होते; किंतु … के लिये उनकी उपलब्धि नहीं होती अर्थात् उसका … सम्बन्ध नहीं रहता । दूसरे लोग मानते हैं कि उनकी … निवृत्ति हो जाती है अर्थात् उनका अस्तित्व नहीं रहता।

उभयं सम्प्रधार्यैतदध्यवस्येद् यथामति ।
अनेनैव विधानेन भवेद् गर्भशयो महान् ॥ ४॥

इन दोनों मतोंपर अपनी बुद्धिके अनुसार विचार करके सिद्धान्तका निश्चय करे । इस प्रकार निश्चय करनेसे (बार-बार) गर्भमें शयन करनेवाला जीव महान् हो जाता है ॥ ४ ॥

अनादिनिधनो ह्यात्मा तं बुद्ध्वा विचरेन्नरः ।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च नित्यं विगतमत्सरः ॥ ५ ॥

आत्मा आदि और अन्तसे रहित है । उसे जानकर मनुष्य सदा हर्ष, क्रोध और ईर्ष्या-द्वेषसे रहित हो विचरता रहे ॥ ५ ॥

इत्येवं हृदयग्रन्थिं बुद्धिचिन्तामयं दृढम् ।
अनित्यं सुखमासीत अशोचंश्छिन्नसंशयः ॥ ६ ॥

साधकको चाहिये कि बुद्धिके चिन्ता आदि धर्मोंसे सुदृढ़ हुई हृदयकी अविद्यामयी अनित्य ग्रन्थिको उपर्युक्त प्रकारसे काटकर शोक और संदेहसे रहित हो सुख-पूर्वक परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाय ॥ ६ ॥

ताम्येयुः प्रच्युताः पृथ्व्या यथा पूर्णां नदीं नराः ।
अवगाढा ह्यविद्वांसो विद्धि लोकमिमं तथा ॥ ७ ॥

जैसे तैरनेकी कला न जाननेवाले मनुष्य यदि किनारेकी भूमिसे जलपूर्ण नदीमें गिर पड़ते हैं तो गोते खाते हुए महान् क्लेश सहन करते हैं; उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य इस संसार-सागरमें डूबकर कष्ट भोगते रहते हैं—ऐसा समझो ॥ ७ ॥

न तु ताम्यति वै विद्वान् स्थले चरति तत्त्ववित् ।
एवं यो विन्दतेऽऽत्मानं केवलं ज्ञानमात्मनः ॥ ८ ॥

परंतु जो तैरना जानता है, वह कष्ट नहीं उठाता । वह तो जलमें भी स्थलकी ही भाँति चलता है, उसी तरह ज्ञानस्वरूप विशुद्ध आत्माको प्राप्त हुआ तत्त्ववेत्ता संसार-सागरसे पार हो जाता है ॥ ८ ॥

एवं बुद्ध्वा नरः सर्वं भूतानामागतिं गतिम् ।
समवेक्ष्य च वैषम्यं लभते शममुत्तमम् ॥ ९ ॥

जो मनुष्य इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके आवागमनको जानता तथा उनकी विषम अवस्थापर विचार करता है, उसे परम उत्तम शान्ति प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

एतद् वै जन्मसामर्थ्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
आत्मज्ञानं शमश्चैव पर्याप्तं तत्परायणम् ॥ १० ॥

विशेषरूपसे ब्राह्मणमें और समानभावसे मनुष्यमात्रमें इस ज्ञानको प्राप्त करनेकी जन्मसिद्ध शक्ति है । मन और इन्द्रियोंका संयम तथा आत्मज्ञान मोक्ष-प्राप्तिके लिये पर्याप्त साधन है ॥ १० ॥

एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम् ।
विज्ञायैतद् विमुच्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥ ११ ॥

शम और आत्मतत्त्वको जानकर पुरुष अत्यन्त शुद्ध-बुद्ध हो जाता है । ज्ञानीका इसके सिवा और क्या लक्षण हो सकता है । बुद्धिमान् मनुष्य इस आत्मतत्त्वको जानकर कृतार्थ और मुक्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

न भवति विदुषां महद्भयं
यदविदुषां सुमहद्भयं परत्र ।
न हि गतिरधिकास्ति कस्यचिद्
भवति हि या विदुषः सनातनी ॥ १२ ॥

परलोकमें जो अज्ञानी मनुष्योंको महान् भय प्राप्त होता है, वह महान् भय ज्ञानी पुरुषोंको नहीं होता । ज्ञानीको जो सनातन गति प्राप्त होती है, उससे बढ़कर उत्तम गति और किसीको भी प्राप्त नहीं होती ॥ १२ ॥

लोकमातुरमसूयते जन-
स्तत् तदेव च निरीक्ष्य शोचते ।
तत्र पश्य कुशलानशोचतो
ये विदुस्तदुभयं कृताकृतम् ॥ १३ ॥

कुछ लोग मनुष्योंको दुखी और रोगी देखकर उनमें दोष-दृष्टि करते हैं और दूसरे लोग उनकी वह अवस्था देखकर शोक करते हैं । परंतु जो कार्य और कारण दोनोंको तत्त्वसे जानते हैं, वे शोक नहीं करते । तुम उन्हीं लोगोंको वहाँ कुशल समझो ॥ १३ ॥

यत् करोत्यनभिसंधिपूर्वकं
तच्च निर्णुदति तत् पुराकृतम् ।
न प्रियं तदुभयं न चाप्रियं
तस्य तज्जनयतीह कुर्वतः ॥ १४ ॥

कर्मपरायण मनुष्य निष्कामभावसे जिस कर्मका अनुष्ठान करते हैं, वह पहलेके किये हुए सकाम या अशुभ कर्मोंको भी नष्ट कर देता है; इस प्रकार कर्म करनेवाले साधकके कर्म इस लोकमें या परलोकमें कहीं भी उसका भला-बुरा या दोनों कुछ भी नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४९ ॥

पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

परमात्माकी प्राप्तिका साधन, संसार-नदीका वर्णन और ज्ञानसे ब्रह्मकी प्राप्ति

शुक उवाच

यस्माद् धर्मात् परो धर्मो विद्यते नेह कश्चन ।
यो विशिष्टश्च धर्मेभ्यस्तं भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! इस जगत्में जिस धर्मसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है तथा जो सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है, उसका आप मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

व्यास उवाच

धर्मं ते सम्प्रवक्ष्यामि पुराणमृषिभिः कृतम् ।
विशिष्टं सर्वधर्मेभ्यस्तमिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! मैं ऋषियोंके बताये हुए

उस प्राचीन धर्मका, जो सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है, तुमसे यहाँ वर्णन करता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि बुद्ध्या संयम्य यत्नतः ।
सर्वतो निष्पतिष्णूनि पिता बालानिवात्मजान् ॥ ३ ॥

जैसे पिता अपने छोटे पुत्रोंको काबूमें रखता है, उसी प्रकार मनुष्यको चाहिये कि वह सब विषयोंपर टूट पड़नेवाली अपनी प्रमथनशील इन्द्रियोंका बुद्धिके द्वारा यत्नपूर्वक संयम करके उन्हें वशमें रखे ॥ ३ ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥ ४ ॥

मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही सबसे बड़ी तपस्या है । यही सब धर्मोंसे श्रेष्ठतम परम धर्म बताया जाता है ॥४॥

तानि सर्वाणि संधाय मनःषष्ठानि मेधया ।
आत्मतृप्त इवासीत बहुचिन्त्यमचिन्तयन् ॥ ५ ॥

मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंको बुद्धिके द्वारा स्थिर करके बहुत-से चिन्तनीय विषयोंका चिन्तन न करते हुए अपनी आत्मामें तृप्त-सा होकर निश्चिन्त और निश्चल हो जाय ॥५॥

गोचरेभ्यो निवृत्तानि यदा स्थास्यन्ति वेश्मनि ।
तदा त्वमात्मनाऽऽत्मानं परं द्रक्ष्यसि शाश्वतम्॥ ६ ॥

जिस समय ये इन्द्रियाँ अपने विषयोंसे हटकर अपने निवासस्थानमें स्थित हो जायँगी, उस समय तुम स्वयं ही उस सनातन परमात्माका दर्शन कर लोगे ॥ ६ ॥

सर्वात्मानं महात्मानं विधूममिव पावकम् ।
तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥ ७ ॥

धूमरहित अग्निके समान देदीप्यमान वह परमेश्वर ही सबका आत्मा और परम महान् है । महात्मा एवं ज्ञानी ब्राह्मण ही उसे देख पाते हैं ॥ ७ ॥

यथा पुष्पफलोपेतो बहुशाखो महाद्रुमः ।
आत्मनो नाभिजानीते क्व मे पुष्पं क्व मे फलम् ॥ ८ ॥
एवमात्मा न जानीते क्व गमिष्ये कुतस्त्वहम् ।
अन्यो ह्यत्रान्तरात्मास्ति यः सर्वमनुपश्यति ॥ ९ ॥

जैसे फल और फूलोंसे भरा हुआ अनेक शाखाओंसे युक्त विशाल वृक्ष अपने ही विषयमें यह नहीं जानता कि कहाँ मेरा फूल है और कहाँ मेरा फल है; उसी प्रकार जीवात्मा यह नहीं जानता कि मैं कहाँसे आया हूँ और कहाँ जाऊँगा । किंतु शरीरमें जीवसे पृथक् दूसरा ही अन्तरात्मा है, जो सबको सब प्रकारसे निरन्तर देखता रहता है ॥ ८–९ ॥

ज्ञानदीपेन दीप्तेन पश्यत्यात्मानमात्मनि ।
दृष्ट्वा त्वमात्मनाऽऽत्मानं निरात्मा भव सर्ववित् ॥१०॥

पुरुष प्रज्वलित ज्ञानमय प्रदीपके द्वारा अपनेमें ही परमात्माका दर्शन करता है; इसी प्रकार तुम भी आत्माद्वारा परमात्माका साक्षात्कार करके सर्वज्ञ और स्वाभिमानसे रहित हो जाओ ।१०।

विमुक्तः सर्वपापेभ्यो मुक्तत्वच इवोरगः ।
परां बुद्धिमवाप्येह विपाप्मा विगतज्वरः ॥ ११ ॥

केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पके समान सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो उत्तम बुद्धि पाकर तुम यहाँ पाप और चिन्तासे रहित हो जाओ ॥ ११ ॥

सर्वतःस्रोतसं घोरां नदीं लोकप्रवाहिनीम् ।
पञ्चेन्द्रियग्राहवतीं मनःसंकल्परोधसम् ॥ १२ ॥
लोभमोहतृणच्छन्नां कामक्रोधसरीसृपाम् ।
सत्यतीर्थानृतक्षोभां क्रोधपङ्कां सरिद्वराम् ॥ १३ ॥
अव्यक्तप्रभवां शीघ्रां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
प्रतरस्व नदीं बुद्ध्या कामग्राहसमाकुलाम् ॥ १४ ॥
संसारसागरगमां योनिपातालदुस्तराम् ।
आत्मकर्मोद्भवां तात जिह्वावर्तां दुरासदाम् ॥ १५ ॥

यह संसार एक भयंकर नदी है, जो सम्पूर्ण लोकोंमें प्रवाहित हो रही है । इसके स्रोत सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर बहते हैं । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इसके भीतर पाँच ग्राहोंके समान हैं । मनके संकल्प ही इसके किनारे हैं । लोभ और मोहरूपी घास और सेवारसे यह ढकी हुई है । काम और क्रोध इसमें सर्पके समान निवास करते हैं । सत्य इसका घाट है । मिथ्या इसकी हलचल है । क्रोध ही कीचड़ है । यह नदी दूसरी नदियोंसे श्रेष्ठ है । यह अव्यक्त प्रकृतिरूपी पर्वतसे प्रकट हुई है । इसके जलका वेग बड़ा प्रखर है । अजितात्मा पुरुषोंके लिये इसे पार करना अत्यन्त कठिन है। इसमें कामरूपी ग्राह सब ओर भरे हैं । यह नदी संसार-सागरमें मिली है। वासनारूपी गहरे गड्ढोंके कारण इसे पार करना अत्यन्त कठिन है । तात ! यह अपने कर्मोंसे ही उत्पन्न हुई है । जिह्वा भँवर है तथा इस नदीको लाँघना दुष्कर है । तुम अपनी विशुद्ध बुद्धिके द्वारा इस नदीको पार कर जाओ ॥ १२–१५ ॥

यां तरन्ति कृतप्रज्ञा धृतिमन्तो मनीषिणः ।
तां तीर्णः सर्वतो मुक्तो विधूतात्माऽऽत्मवित्छुचिः ॥ १६ ॥
उत्तमां बुद्धिमास्थाय ब्रह्मभूयान् भविष्यसि ।
संतीर्णः सर्वसंसारात् प्रसन्नात्मा विकल्मषः ॥ १७ ॥

धैर्यशाली, मनीषी और तत्त्वज्ञानी लोग जिस नदीको पार करते हैं, उसे तुम भी तैर जाओ । सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त, संयतचित्त, आत्मज्ञ और पवित्र हो जाओ । उत्तम बुद्धि (ज्ञान) का आश्रय ले तुम सब प्रकारके सांसारिक बन्धनोंसे छूट जाओगे और निष्पाप एवं प्रसन्नचित्त हो ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाओगे ॥ १६-१७ ॥

भूमिष्ठानीव भूतानि पर्वतस्थो निशामय ।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च न नृशंसमतिस्तथा ॥ १८ ॥

जैसे पर्वतके शिखरपर खड़ा हुआ पुरुष धरतीपर रहनेवाले समस्त प्राणियोंको सुस्पष्ट देखता है, उसी प्रकार तुम भी ज्ञानरूपी शैलशिखरपर आरूढ़ हो समस्त प्राणियोंकी अवस्थापर दृष्टिपात करो । क्रोध और हर्षसे रहित हो जाओ तथा बुद्धिकी क्रूरतासे भी रहित हो जाओ ॥ १८ ॥

ततो द्रक्ष्यसि सर्वेषां भूतानां प्रभवाप्ययौ।
एवं वै सर्वभूतेभ्यो विशिष्टं मेनिरे बुधाः।
धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठा मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥ १९ ॥

ऐसा करनेसे तुम समस्त भूतोंके उत्पत्ति और प्रलयको देख सकोगे। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तत्त्वदर्शी ज्ञानी मुनि इस धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये सबसे श्रेष्ठ मानते हैं ॥ १९ ॥

आत्मनो व्यापिनो ज्ञानमिदं पुत्रानुशासनम्।
प्रयताय प्रवक्तव्यं हितायानुगताय च ॥ २० ॥

बेटा! यह उपदेश व्यापक आत्माका ज्ञान करानेवाला है। जो संयतचित्त, हितैषी और अनुगत भक्त हो, उसीके समक्ष इसका वर्णन करना चाहिये ॥ २० ॥

आत्मज्ञानमिदं गुह्यं सर्वगुह्यतमं महत्।
अब्रुवं यदहं तात आत्मसाक्षिकमञ्जसा ॥ २१ ॥

यह गोपनीय आत्मज्ञान सबसे अधिक गुह्यतम और महान् है। तात! मैंने जिसका उपदेश किया है, वह यथार्थतः मेरे अपने प्रत्यक्ष अनुभवमें लाया हुआ ज्ञान है ॥ २१ ॥

नैव स्त्री न पुमानेतन्नैव चेदं नपुंसकम्।
अदुःखमसुखं ब्रह्म भूतभव्यभवात्मकम् ॥ २२ ॥

दुःख और सुखसे रहित तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमानस्वरूप ब्रह्म तो न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है ॥

नैतज्ज्ञात्वा पुमान् स्त्री वा पुनर्भवमवाप्नुते।
अभवप्रतिपत्त्यर्थमेतद् धर्मे विधीयते ॥ २३ ॥

पुरुष हो या स्त्री, इस ब्रह्मको जान ले तो उसका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता। अपुनर्भवस्थिति प्राप्त करनेके लिये ही इस ब्रह्मज्ञानरूप धर्मका विधान किया गया है ॥ २३ ॥

यथा मतानि सर्वाणि तथैतानि यथा तथा।
कथितानि मया पुत्र भवन्ति न भवन्ति च ॥ २४ ॥

बेटा! सारे विभिन्न मत जैसे रहे हैं, वैसे ही मेरेद्वारा तुम्हारे समक्ष यथार्थरूपसे बताये गये हैं। जो इन मतोंका अनुसरण करते हैं; वे मुक्त हो जाते हैं, जो नहीं करते हैं, वे नहीं होते हैं ॥ २४ ॥

तत् प्रीतियुक्तेन गुणान्वितेन
पुत्रेण सत्पुत्र दमान्वितेन।
पृष्टो हि सम्प्रीतमना यथार्थं
ब्रूयात् सुतस्येह यदुक्तमेतत् ॥ २५ ॥

सत्पुत्र शुकदेव! प्रीतियुक्त, गुणवान् तथा इन्द्रियसंयमी पुत्र यदि प्रश्न करे तो पिता संतुष्टचित्त होकर उस जिज्ञासु पुत्रके समीप यथार्थरूपसे इस ज्ञानका उपदेश करे, जो कुछ मैंने तुम्हारे निकट कहा है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५० ॥

एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणके लक्षण और परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

व्यास उवाच

गन्धान् रसान् नानुरुन्ध्यात् सुखं वा
नालंकारांश्चाप्नुयात् तस्य तस्य।
मानं च कीर्तिं च यशश्च नेच्छेत्
स वै प्रचारः पश्यतो ब्राह्मणस्य ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! साधकको चाहिये कि गन्ध और रस आदि विषयोंका उपभोग न करे, विषयसेवन-जनित सुखकी ओर न जाय, स्वर्ण आदिके बने हुए सुन्दर-सुन्दर आभूषणोंको भी न धारण करे तथा मान, बड़ाई और यशकी इच्छा न करे, यही ज्ञानवान् ब्राह्मणका आचार है ॥ १ ॥

सर्वान् वेदानधीयीत शुश्रूषुर्ब्रह्मचर्यवान्।
ऋचो यजूंषि सामानि न तेन न स वै द्विजः ॥ २ ॥

जो सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर ले, गुरुकी सेवामें रहे, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेदका पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त कर ले, वही मुख्य ब्राह्मण है ॥ २ ॥

ज्ञातिवत् सर्वभूतानां सर्ववित् सर्ववेदवित्।
नाकामो म्रियते जातु न तेन न च वै द्विजः ॥ ३ ॥

जो समस्त प्राणियोंको अपने कुटुम्बकी भाँति समझकर उनपर दया करता है। जाननेयोग्य तत्त्वका ज्ञाता तथा सब वेदोंका तत्त्वज्ञ है और कामनासे रहित है। वह कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता अर्थात् जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। इन लक्षणोंसे सम्पन्न पुरुष ब्राह्मण नहीं है ऐसी बात नहीं, किंतु वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ ३ ॥

इष्टीश्च विविधाः प्राप्य क्रतूंश्चैवाप्तदक्षिणान्।
प्राप्नोति नैव ब्राह्मण्यमविधानात् कथंचन ॥ ४ ॥

नाना प्रकारकी इष्टियों और बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंका अनुष्ठान करनेमात्रसे बिना विधानके अर्थात् बिना आत्मज्ञानके किसीको किसी तरह भी ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ४ ॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५ ॥

जिस समय वह दूसरे प्राणियोंसे नहीं डरता और दूसरे प्राणी भी उससे भयभीत नहीं होते तथा जब वह इच्छा और द्वेषका सर्वथा परित्याग कर देता है, उसी समय उसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ६ ॥

जब वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीकी

बुराई करनेका विचार अपने मनमें नहीं करता, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम् ।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ७ ॥

जगत्‌में कामना ही एकमात्र बन्धन है, यहाँ दूसरा कोई बन्धन नहीं है। जो कामनाके बन्धनसे छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है ॥ ७ ॥

कामतो मुच्यमानस्तु धूम्राभ्रादिव चन्द्रमाः ।
विरजाः कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण वर्तते ॥ ८ ॥

कामनासे मुक्त हुआ रजोगुणरहित धीर पुरुष धूमिल रंगके बादलसे निकले हुए चन्द्रमाकी भाँति निर्मल होकर धैर्यपूर्वक कालकी प्रतीक्षा करता रहता है ॥ ८ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामः ॥ ९ ॥

जैसे नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण और अविचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, उसी प्रकार सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही प्रविष्ट हो जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं॥

स कामकान्तो न तु कामकामः
स वै कामात् स्वर्गमुपैति देही ॥ १० ॥

भोग ही उस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी कामना करते हैं, परंतु वह भोगोंकी कामना नहीं रखता। जो कामभोग चाहनेवाला देहाभिमानी है, वह कामनाओंके फल-स्वरूप स्वर्गलोकमें चला जाता है॥

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषद् दानं दानस्योपनिषत् तपः ॥ ११ ॥

वेदका सार है सत्य वचन, सत्यका सार है इन्द्रियोंका संयम, संयमका सार है दान और दानका सार है तपस्या ॥

तपसोपनिषत् त्यागस्त्यागस्योपनिषत् सुखम् ।
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः स्वर्गस्योपनिषच्छमः ॥ १२ ॥

तपस्याका सार है त्याग, त्यागका सार है सुख, सुखका सार है स्वर्ग और स्वर्गका सार है शान्ति ॥ १२ ॥

क्लेदनं शोकमनसोः संतापं तृष्णया सह ।
सत्त्वमिच्छसि संतोषाच्छान्तिलक्षणमुत्तमम् ॥ १३ ॥

मनुष्यको संतोषपूर्वक रहकर शान्तिके उत्तम उपाय सत्त्वगुणको अपनानेकी इच्छा करनी चाहिये । सत्त्वगुण मनकी तृष्णा, शोक और संकल्पको उसी प्रकार जलाकर नष्ट करनेवाला है, जैसे गरम जल चावलको गला देता है ॥

विशोको निर्ममः शान्तः प्रसन्नात्मा विमत्सरः ।
षड्भिर्लक्षणवानेतैः समग्रः पुनरेष्यति ॥ १४ ॥

शोकशून्य, ममतारहित, शान्त, प्रसन्नचित्त, मात्सर्यहीन और संतोषी—इन छः लक्षणोंसे युक्त मनुष्य पूर्ण ज्ञानसे तृप्त हो मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

षड्भिः सत्त्वगुणोपेतैः प्राज्ञैरधिगतं त्रिभिः ।
ये विदुः प्रेत्य चात्मानमिहस्थं तं गुणं विदुः ॥ १५ ॥

जो देहाभिमानसे मुक्त होकर सत्त्वप्रधान सत्य, दम, दान, तप, त्याग और शम—इन छः गुणों तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप त्रिविध साधनोंसे प्राप्त होनेवाले आत्माको इस शरीरके रहते हुए ही जान लेते हैं, वे परम शान्तिरूप गुणको प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

अकृत्रिममसंहार्यं प्राकृतं निरुपस्कृतम् ।
अध्यात्मं सुकृतं प्राप्तः सुखमव्ययमश्नुते ॥ १६ ॥

जो उत्पत्ति और विनाशसे रहित, स्वभावसिद्ध, संस्कारशून्य तथा शरीरके भीतर स्थित सुकृत नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह अक्षय सुखका भागी होता है ॥ १६ ॥

निष्प्रचारं मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः ।
यामयं लभते तुष्टिं सा न शक्याऽऽत्मनोऽन्यथा ॥ १७ ॥

अपने मनको इधर-उधर जानेसे रोककर आत्मामें सम्पूर्णरूपसे स्थापित कर लेनेपर पुरुषको जिस संतोष और सुखकी प्राप्ति होती है, उसका दूसरे किसी उपायसे प्राप्त होना असम्भव है॥

येन तृप्यत्यभुञ्जानो येन तृप्यत्यवित्तवान् ।
येनास्नेहो बलं धत्ते यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १८ ॥

जिससे बिना भोजनके भी मनुष्य तृप्त हो जाता है, जिसके होनेसे निर्धनको भी पूर्ण संतोष रहता है तथा जिसका आश्रय मिलनेसे घृत आदि स्निग्ध पदार्थका सेवन किये बिना भी मनुष्य अपनेमें अनन्त बलका अनुभव करता है, उस ब्रह्मको जो जानता है, वही वेदोंका तत्त्वज्ञ है ॥ १८ ॥

संगुप्तान्यात्मनो द्वाराण्यपिधाय विचिन्तयन् ।
यो ह्यास्ते ब्राह्मणः शिष्टः स आत्मरतिरुच्यते ॥ १९ ॥

जो अपनी इन्द्रियोंके सुरक्षित द्वारोंको सब ओरसे बंद करके नित्य ब्रह्मका चिन्तन करता रहता है, वही श्रेष्ठ ब्राह्मण आत्माराम कहलाता है ॥ १९ ॥

समाहितं परे तत्त्वे क्षीणकाममवस्थितम् ।
सर्वतः सुखमन्वेति वपुश्चान्द्रमसं यथा ॥ २० ॥

जो अपनी कामनाओंको नष्ट करके परम तत्त्वरूप परमात्मामें एकाग्रचित्त होकर स्थित है, उसका सुख शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति सब ओरसे बढ़ता रहता है ॥ २० ॥

अविशेषाणि भूतानि गुणांश्च जहतो मुनेः ।
सुखेनापोह्यते दुःखं भास्करेण तमो यथा ॥ २१ ॥

जो सामान्यतः सम्पूर्ण भूतों और भौतिक गुणोंका त्याग कर देता है, उस मुनिका दुःख उसी प्रकार सुखपूर्वक अनायास नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्योदयसे अन्धकार ॥ २१ ॥

तमतिक्रान्तकर्माणमतिक्रान्तगुणक्षयम् ।
ब्राह्मणं विषयाश्लिष्टं जरामृत्यू न विन्दतः ॥ २२ ॥

गुणोंके ऐश्वर्य तथा कर्मोंका परित्याग करके विषयवासनासे रहित हुए उस ब्रह्मवेत्ता पुरुषको जरा और मृत्यु नहीं प्राप्त होती हैं ॥ २२ ॥

स यदा सर्वतो मुक्तः समः पर्यवतिष्ठते ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च शरीरस्थोऽतिवर्तते ॥ २३ ॥

जब मनुष्य समस्त बन्धनोंसे पूर्णतया मुक्त होकर समतामें स्थित हो जाता है, उस समय इस शरीरके भीतर रहकर भी वह इन्द्रियों और उनके विषयोंकी पहुँचके बाहर हो जाता है॥

कारणं परमं प्राप्य अतिक्रान्तस्य कार्यताम् ।
पुनरावर्तनं नास्ति सम्प्राप्तस्य परं पदम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार जो परम कारणस्वरूप ब्रह्मको पाकर कार्यमयी प्रकृतिकी सीमाको लाँघ जाता है, वह ज्ञानी परमपदको प्राप्त हो जाता है । उसे पुनः इस संसारमें नहीं लौटना पड़ता है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शरीरमें पञ्चभूतोंके कार्य और गुणोंकी पहचान

व्यास उवाच

द्वन्द्वानि मोक्षजिज्ञासुरर्थधर्मावनुष्ठितः ।
वक्त्रा गुणवता शिष्यः श्राव्यः पूर्वमिदं महत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते है—बेटा ! जो अर्थ और धर्मका अनुष्ठान करके सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको धैर्यपूर्वक सहता हो और मोक्षकी जिज्ञासा रखता हो, उस श्रद्धालु शिष्यको गुणवान् वक्ता पहले इस महत्त्वपूर्ण अध्यात्मशास्त्रका श्रवण कराये ॥ १ ॥

आकाशं मारुतो ज्योतिरापः पृथ्वी च पञ्चमी ।
भावाभावौ च कालश्च सर्वभूतेषु पञ्चसु ॥ २ ॥

आकाश, वायु, जल, तेज और पाँचवाँ पृथ्वी तथा भावपदार्थ अर्थात् गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय एवं अभाव और काल (दिक्, आत्मा और मन)—ये सब-के-सब समस्त पाञ्चभौतिक शरीरधारी प्राणियोंमें स्थित हैं ॥

अन्तरात्मकमाकाशं तन्मयं श्रोत्रमिन्द्रियम् ।
तस्य शब्दं गुणं विद्यान्मूर्तिशास्त्रविधानवित् ॥ ३ ॥

आकाश अवकाशस्वरूप है और श्रवणेन्द्रिय आकाशमय है । शरीर-शास्त्रके विधानको जाननेवाला मनुष्य शब्दको आकाशका गुण जाने ॥ ३ ॥

चरणं मारुतात्मेति प्राणापानौ च तन्मयौ ।
स्पर्शनं चेन्द्रियं विद्यात् तथा स्पर्शं च तन्मयम् ॥ ४ ॥

चलना-फिरना वायुका धर्म है । प्राण और अपान भी वायुस्वरूप ही हैं (समान, उदान और व्यानको भी वायुरूप ही मानना चाहिये)। स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) तथा स्पर्श नामक गुणको भी वायुमय ही समझना चाहिये ॥ ४ ॥

तापः पाकः प्रकाशश्च ज्योतिश्चक्षुश्च पञ्चमम् ।
तस्य रूपं गुणं विद्यात् ताम्रगौरासितात्मकम् ॥ ५ ॥

ताप, पाक, प्रकाश और नेत्रेन्द्रिय—ये सब तेज या अग्नितत्त्वके कार्य हैं । श्याम, गौर और ताम्र आदि वर्णवाले रूपको उसका गुण समझना चाहिये ॥ ५ ॥

प्रक्लेदः क्षुद्रता स्नेह इत्यपामुपदिश्यते ।
असृङ्मज्जा च यच्चान्यत् स्निग्धं विद्यात् तदात्मकम् ॥ ६ ॥

क्लेदन (किसी वस्तुको सड़ा-गला देना), क्षुद्रता (सूक्ष्मता) तथा स्निग्धता—ये जलके धर्म बताये जाते हैं । रक्त, मज्जा तथा अन्य जो कुछ स्निग्ध पदार्थ है, उस सबको जलमय समझे ॥ ६ ॥

रसनं चेन्द्रियं जिह्वा रसश्चापां गुणो मतः ।
संघातः पार्थिवो धातुरस्थिदन्तनखानि च ॥ ७ ॥

रसनेन्द्रिय, जिह्वा और रस—ये सब जलके गुण माने गये हैं । शरीरमें जो संघात या कड़ापन है, वह पृथ्वीका कार्य है, अतः हड्डी, दाँत और नख आदिको पृथ्वीका अंश समझना चाहिये ॥ ७ ॥

श्मश्रु रोम च केशाश्च शिरा स्नायु च चर्म च ।
इन्द्रियं घ्राणसंज्ञातं नासिकेत्यभिसंज्ञिता ॥ ८ ॥
गन्धश्चैवेन्द्रियार्थोऽयं विज्ञेयः पृथिवीमयः ।

इसी प्रकार दाढ़ी, मूँछ, शरीरके रोएँ, केश, नाड़ी, स्नायु और चर्म—इन सबकी उत्पत्ति भी पृथ्वीसे ही हुई है । नासिका नामसे प्रसिद्ध जो घ्राणेन्द्रिय है, वह भी पृथ्वीका ही अंश है । इस गन्धनामक विषयको भी पार्थिव गुण ही जानना चाहिये ॥ ८½ ॥

उत्तरेषु गुणाः सन्ति सर्वसत्त्वेषु चोत्तराः ॥ ९ ॥

उत्तरोत्तर सभी भूतोंमें पूर्ववर्ती भूतोंके गुण विद्यमान हैं, (जैसे आकाशमें शब्दमात्र गुण है; वायुमें शब्द और स्पर्श दो गुण; तेजमें शब्द, स्पर्श और रूप—तीन गुण; जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस—चार गुण तथा पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँच गुण हैं)॥ ९ ॥

पञ्चानां भूतसंघानां संततिं मुनयो विदुः ।
मनो नवममेषां तु बुद्धिस्तु दशमी स्मृता ॥ १० ॥

मुनिलोग भावना, अज्ञान और कर्म—इन तीनोंको पाँच महाभूतोंके समुदायकी संतति मानते हैं । इन्हीं तीनोंको अविद्या, काम और कर्म भी कहते हैं । ये सब मिलकर आठ हुए । इनके साथ मनको नवाँ और बुद्धिको दसवाँ तत्त्व माना गया है ॥ १० ॥

एकादशस्त्वनन्तात्मा स सर्वः पर उच्यते ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिर्मनो व्याकरणात्मकम् ।
कर्मानुमानाद् विज्ञेयः स जीवः क्षेत्रसंज्ञकः ॥ ११ ॥

अविनाशी आत्मा ग्यारहवाँ तत्त्व है । उसीको सर्वस्वरूप और श्रेष्ठ बताया जाता है । बुद्धि निश्चयात्मिका होती है और मनका स्वरूप संशय बताया गया है । कर्मोंका ज्ञाता और कर्ता कोई भी जड़तत्त्व नहीं हो सकता, इस अनुमान-ज्ञानसे उस क्षेत्रज्ञ नामक जीवात्माको समझना चाहिये ॥ ११ ॥

एभिः कालात्मकैर्भावैर्यः सर्वैः सर्वमन्वितम् ।
पश्यत्यकलुषं कर्म स मोहं नानुवर्तते ॥ १२ ॥

जो मनुष्य सारे जगत्को इन समस्त कालात्मक भावोंसे सम्पन्न देखता और निष्पाप कर्म करता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता है ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे भिन्न जीवात्माका और परमात्माका योगके द्वारा साक्षात्कार करनेका प्रकार

व्यास उवाच

शरीराद् विप्रमुक्तं हि सूक्ष्मभूतं शरीरिणम् ।
कर्मभिः परिपश्यन्ति शास्त्रोक्तैः शास्त्रवेदिनः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र ! योगशास्त्रके ज्ञाता शास्त्रोक्त कर्मोंके द्वारा स्थूल शरीरसे निकले हुए सूक्ष्म स्वरूप जीवात्माको देखते हैं ॥ १ ॥

यथा मरीच्यः सहिताश्चरन्ति
सर्वत्र तिष्ठन्ति च दृश्यमानाः ।
देहैर्विमुक्तानि चरन्ति लोकां-
स्तथैव सत्त्वान्यतिमानुषाणि ॥ २ ॥

जैसे सूर्यकी किरणें परस्पर मिली हुई ही सर्वत्र विचरती हैं एवं स्थित हुई दृष्टिगोचर होती हैं, उसी प्रकार अलौकिक जीवात्मा स्थूल शरीरसे निकलकर सम्पूर्ण लोकोंमें जाते हैं । (यह ज्ञानदृष्टिसे ही जाननेमें आ सकता है) ॥ २ ॥

प्रतिरूपं यथैवाप्सु तापः सूर्यस्य लक्ष्यते ।
सत्त्ववत्सु तथा सत्त्वं प्रतिरूपं स पश्यति ॥ ३ ॥

जैसे विभिन्न जलाशयोंके जलमें सूर्यकी किरणोंका पृथक्-पृथक् दर्शन होता है, उसी प्रकार योगी पुरुष सभी सजीव शरीरोंके भीतर सूक्ष्मरूपसे स्थित पृथक्-पृथक् जीवोंको देखता है ॥ ३ ॥

तानि सूक्ष्माणि सत्त्वानि विमुक्तानि शरीरतः ।
स्वेन सत्त्वेन सत्त्वज्ञाः पश्यन्ति नियतेन्द्रियाः ॥ ४ ॥

शरीरके तत्त्वको जाननेवाले जितेन्द्रिय योगीजन उन स्थूलशरीरोंसे निकले हुए सूक्ष्म लिङ्गशरीरोंसे युक्त जीवोंको अपने आत्माके द्वारा देखते हैं ॥ ४ ॥

स्वपतां जाग्रतां चैव सर्वेषामात्मचिन्तितम् ।
प्रधानाद्वैधमुक्तानां जहतां कर्मजं रजः ॥ ५ ॥
यथाहनि तथा रात्रौ यथा रात्रौ तथाहनि ।
वशे तिष्ठति सत्त्वात्मा सततं योगयोगिनाम् ॥ ६ ॥

जो अपने मनमें चिन्तित कर्मजनित रजोगुणका अर्थात् रजोगुणजनित काम आदिका योगबलसे परित्याग कर देते हैं तथा जो प्रकृतिके तादात्म्यभावसे भी मुक्त हैं, उन सभी योगपरायण योगी पुरुषोंका जीवात्मा जैसे दिनमें वैसे रातमें, जैसे रातमें वैसे दिनमें सोते-जागते समय निरन्तर उनके वशमें रहता है ॥ ५-६ ॥

तेषां नित्यं सदा नित्यो भूतात्मा सततं गुणैः ।
सप्तभिस्त्वन्वितः सूक्ष्मैश्चरिष्णुरजरामरः ॥ ७ ॥

उन योगियोंका नित्य-स्वरूप जीव सदा सात सूक्ष्म गुणों (महत्तत्त्व, अहङ्कार और पाँच तन्मात्राओं) से युक्त हो अजर-अमर देवताओंकी भाँति नित्यप्रति विचरता रहता है ॥ ७ ॥

मनोबुद्धिपराभूतः स्वदेहपरदेहवित् ।
स्वप्नेष्वपि भवत्येष विज्ञाता सुखदुःखयोः ॥ ८ ॥

जिन मूढ़ मनुष्योंका जीवात्मा मन और बुद्धिके वशीभूत रहता है, वह अपने और पराये शरीरको जाननेवाला मनुष्य स्वप्न-अवस्थामें भी सूक्ष्म शरीरसे सुख-दुःखका अनुभव करता है ॥ ८ ॥

तत्रापि लभते दुःखं तत्रापि लभते सुखम् ।
क्रोधलोभौ तु तत्रापि कृत्वा व्यसनमृच्छति ॥ ९ ॥

वहाँ (स्वप्नमें भी) उसे दुःख और सुख प्राप्त होते हैं एवं उस स्वप्नमें भी (जाग्रत्की भाँति ही) क्रोध और लोभ करके वह संकटमें पड़ जाता है ॥ ९ ॥

प्रीणितश्चापि भवति महतोऽर्थानवाप्य हि ।
करोति पुण्यं तत्रापि जीवन्निव च पश्यति ॥ १० ॥

वहाँ भी महान् धन पाकर वह प्रसन्न होता है तथा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करता है; इतना ही नहीं, जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति वह स्वप्नमें भी सब वस्तुओंको देखता है ॥ १० ॥

महोष्मान्तर्गतश्चापि गर्भत्वं समुपेयिवान् ।
दश मासान् वसन् कुक्षौ नैषोऽन्नमिव जीर्यते ॥ ११ ॥

(यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात है कि) गर्भभावको प्राप्त हुआ जीवात्मा दस मासतक माताके उदरमें निवास करता है और जठरानलकी अधिक आँचसे संतप्त होता रहता है तो भी अन्नकी भाँति पच नहीं जाता ॥ ११ ॥

तमेतमतितेजोंऽशं भूतात्मानं हृदि स्थितम् ।
तमोरजोभ्यामाविष्टा नानुपश्यन्ति मूर्तिषु ॥ १२ ॥

यह जीवात्मा परमात्माका ही अंश है और देहधारियोंके हृदयमें विराजमान है तथापि जो लोग रजोगुण और तमोगुणसे अभिभूत हैं, वे देहके भीतर उस जीवात्माकी स्थितिको देख या समझ नहीं पाते हैं ॥ १२ ॥

योगशास्त्रपरा भूत्वा तमात्मानं परीप्सवः ।
अनुच्छ्वासान्यमूर्तानि यानि वज्रोपमान्यपि ॥ १३ ॥

जड स्थूल शरीर, अमूर्त सूक्ष्म शरीर तथा वज्रतुल्य सुदृढ़ कारण शरीर—ये जो तीन प्रकारके शरीर हैं, इन्हें आत्माको प्राप्त करनेकी इच्छावाले योगीजन योगशास्त्रपरायण होकर लाँघ जाते हैं ॥ १३ ॥

पृथग्भूतेषु सृष्टेषु चतुर्थाश्रमकर्मसु ।
समाधौ योगमेवैतच्छाण्डिल्यः शममब्रवीत् ॥ १४ ॥

संन्यास-आश्रमके कर्म भिन्न-भिन्न प्रकारके बताये गये हैं । उनमें समाधिके विषयमें मैंने जो कुछ बताया है, इसीको शाण्डिल्य मुनिने शमके नामसे (छान्दोग्यउपनिषद् शाण्डिल्य ब्राह्मणमें) कहा है ॥ १४ ॥

विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं च महेश्वरम् ।
प्रधानविनियोगज्ञः परं ब्रह्मानुपश्यति ॥ १५ ॥

जो पञ्चतन्मात्रा तथा मन और बुद्धि—इन सात सूक्ष्म तत्त्वोंको शाश्वत जानकर एवं छः अङ्गोंसे यानी ऐश्वर्योंसे युक्त महेश्वरका ज्ञान प्राप्त करके इस बातको जान लेता है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका परिणाम ही यह सम्पूर्ण जगत् है, वह परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कामरूपी अद्भुत वृक्षका तथा उसे काटकर मुक्ति प्राप्त करनेके उपायका और शरीररूपी नगरका वर्णन

व्यास उवाच

हृदि कामद्रुमश्चित्रो मोहसंचयसम्भवः ।
क्रोधमानमहास्कन्धो विधित्सापरिषेचनः ॥ १ ॥
तस्य चाज्ञानमाधारः प्रमादः परिषेचनम् ।
सोऽभ्यसूयापलाशो हि पुरा दुष्कृतसारवान् ॥ २ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! मनुष्यकी हृदयभूमिमें मोहरूपी बीजसे उत्पन्न हुआ एक विचित्र वृक्ष है, जिसका नाम है काम । क्रोध और अभिमान उसके महान् स्कन्ध हैं । कुछ करनेकी इच्छा उसमें जल सींचनेका पात्र है । अज्ञान उसकी जड़ है । प्रमाद ही उसे सींचनेवाला जल है । दूसरोंके दोष देखना उस वृक्षका पत्ता है तथा पूर्वजन्ममें किये हुए पाप उसके सारभाग हैं ॥ १-२ ॥

सम्मोहचिन्ताविटपः शोकशाखो भयाङ्कुरः ।
मोहनीभिः पिपासाभिर्लताभिरनुवेष्टितः ॥ ३ ॥

शोक उसकी शाखा, मोह और चिन्ता डालियाँ एवं भय उसके अङ्कुर हैं । मोहमें डालनेवाली तृष्णारूपी लताएँ उसमें लिपटी हुई हैं ॥ ३ ॥

उपासते महावृक्षं सुलुब्धास्तत्फलेप्सवः ।
आयसैः संयुताः पाशैः फलदं परिवेष्ट्य तम् ॥ ४ ॥

लोभी मनुष्य लोहेकी जंजीरोंके समान वासनाके बन्धनोंमें बंधकर उस फलदायक महान् वृक्षको चारों ओरसे घेरकर आसपास बैठे हैं और उसके फलको प्राप्त करना चाहते हैं ॥

यस्तान् पाशान् वशे कृत्वा तं वृक्षमपकर्षति ।
गतः स दुःखयोरन्तं जरामरणयोर्द्वयोः ॥ ५ ॥

जो उन वासनाके बन्धनोंको वशमें करके वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उस काम-वृक्षको काट डालता है, वह मनुष्य जरा और मृत्युजनित दोनों प्रकारके दुःखोंसे पार हो जाता है ॥

संरोहत्यकृतप्रज्ञः सदा येन हि पादपम् ।
स तमेव ततो हन्ति विषग्रन्थिरिवातुरम् ॥ ६ ॥

परंतु जो मूर्ख फलके लोभसे सदा उस वृक्षपर चढ़ता है, उसे वह वृक्ष ही मार डालता है; ठीक वैसे ही, जैसे खायी हुई विषकी गोली रोगीको मार डालती है ॥ ६ ॥

तस्यानुगतमूलस्य मूलमुद्ध्रियते बलात् ।
योगप्रसादात् कृतिना साम्येन परमासिना ॥ ७ ॥

उस काम-वृक्षकी जड़ें बहुत दूरतक फैली हुई हैं । कोई विद्वान् पुरुष ही ज्ञानयोगके प्रसादसे समतारूप उत्तम खड्गके द्वारा बलपूर्वक उस वृक्षका मूलोच्छेद कर डालता है ॥

एवं यो वेद कामस्य केवलस्य निवर्तनम् ।
बन्धं वै कामशास्त्रस्य स दुःखान्यतिवर्तते ॥ ८ ॥

इस प्रकार जो केवल कामनाओंको निवृत्त करनेका उपाय जानता है तथा भोगविधायक शास्त्र बन्धनकारक है—इस बातको समझता है, वह सम्पूर्ण दुःखोंको लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

शरीरं पुरमित्याहुः स्वामिनी बुद्धिरिष्यते ।
तत्त्वबुद्धेः शरीरस्थं मनो नामार्थचिन्तकम् ॥ ९ ॥

इस शरीरको पुर या नगर कहते हैं । बुद्धि इस नगरकी रानी मानी गयी है और शरीरके भीतर रहनेवाला मन निश्चयात्मिका बुद्धिरूप रानीके अर्थकी सिद्धिका विचार करनेवाला मन्त्री है ॥

इन्द्रियाणि मनःपौरास्तदर्थं तु पराकृतिः ।
तत्र द्वौ दारुणौ दोषौ तमो नाम रजस्तथा ।
तदर्थमुपजीवन्ति पौराः सह पुरेश्वरैः ॥ १० ॥

इन्द्रियाँ इस नगरमें निवास करनेवाली प्रजा हैं । वे मनरूपी मन्त्रीकी आज्ञाके अधीन रहती हैं । उन प्रजाओंकी रक्षाके लिये मनको बड़े-बड़े कार्य करने पड़ते हैं । वहाँ दो

दारुण दोष हैं, जो रज और तमके नामसे प्रसिद्ध हैं। नगरके शासक मन, बुद्धि और जीव इन तीनोंके साथ समस्त पुरवासी रूप इन्द्रियगण मनके द्वारा प्रस्तुत किये हुए शब्द आदि विषयोंका उपभोग करते हैं ॥ १० ॥

अद्वारेण तमेवार्थं द्वौ दोषावुपजीवतः।
तत्र बुद्धिर्हि दुर्धर्षा मनः सामान्यमश्नुते ॥ ११ ॥

रजोगुण और तमोगुण—ये दो दोष निषिद्धमार्गके द्वारा उस विषय-सुखका आश्रय लेते हैं। वहाँ बुद्धि दुर्धर्ष होनेपर भी मनके साथ रहनेसे उसीके समान हो जाती है ॥ ११ ॥

पौराश्चापि मनस्त्रस्तास्तेषामपि चला स्थितिः।
तदर्थं बुद्धिरध्यास्ते सोऽनर्थः परिषीदति ॥ १२ ॥

उस समय इन्द्रियरूपी पुरवासी जन मनके भयसे त्रस्त हो जाते हैं, अतः उनकी स्थिति भी चञ्चल ही रहती है। बुद्धि भी उस अनर्थका ही निश्चय करती है। इसलिये वह अनर्थ आ बसता है ॥ १२ ॥

यदर्थं पृथगध्यास्ते मनस्तत्परिषीदति।
पृथग्भूतं मनो बुद्ध्या मनो भवति केवलम् ॥ १३ ॥

बुद्धि जिस विषयका अवलम्बन करती है, मन भी उसी का आश्रय लेता है। मन जब बुद्धिसे पृथक् होता है, तब केवल मन रह जाता है ॥ १३ ॥

तत्रैनं विधृतं शून्यं रजः पर्यवतिष्ठते।
तन्मनः कुरुते सख्यं रजसा सह सङ्गतम्।
तं चादाय जनं पौरं रजसे सम्प्रयच्छति ॥ १४ ॥

उस समय रजोगुणजनित काम मनको आत्माके बलसे युक्त होनेपर भी विवेकसे रहित होनेके कारण सब ओरसे घेर लेता है। तब वह कामसे घिरा हुआ मन उस रजोगुणरूप कामके साथ मित्रता स्थापित कर लेता है। उसके बाद वह मन उस इन्द्रियरूप पुरवासीजनको रजोगुणजनित कामके हाथमें समर्पित कर देता है (जैसे राजाका विरोधी मन्त्री राज्य और प्रजाको शत्रुके हाथमें सौंप देता है) ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चभूतोंके तथा मन और बुद्धिके गुणोंका विस्तृत वर्णन

भीष्म उवाच

भूतानां परिसंख्यानं भूयः पुत्र निशामय।
द्वैपायनमुखाद् भ्रष्टं श्लाघया परयानघ ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—निष्पाप पुत्र युधिष्ठिर! द्वैपायन व्यासजीके मुखसे वर्णित जो पञ्चमहाभूतोंका निरूपण है, वह मैं पुनः तुम्हें बता रहा हूँ; तुम बड़ी स्पृहाके साथ इस विषयको सुनो ॥ १ ॥

दीप्तानलनिभः प्राह भगवान् धूमवर्चसे।
ततोऽहमपि वक्ष्यामि भूयः पुत्र निदर्शनम् ॥ २ ॥

वत्स! प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी भगवान् वेदव्यासने धूमाच्छादित अग्निके सदृश विराजमान अपने पुत्र शुकदेवके समक्ष पहले जिस प्रकार इस विषयका प्रतिपादन किया था, उसे मैं पुनः तुमसे कहूँगा। बेटा! तुम सुनिश्चित दर्शन-शास्त्रको श्रवण करो ॥ २ ॥

भूमेः स्थैर्यं गुरुत्वं च काठिन्यं प्रसवार्थता।
गन्धो गुरुत्वं शक्तिश्च संघातः स्थापना धृतिः ॥ ३ ॥

स्थिरता, भारीपन, कठिनता (कड़ापन), बीजको अङ्कुरित करनेकी शक्ति, गन्ध, विशालता, शक्ति, संघात, स्थापना और धारणशक्ति—ये दस पृथ्वीके गुण हैं ॥ ३ ॥

अपां शैत्यं रसः क्लेदो द्रवत्वं स्नेहसौम्यता।
जिह्वा विस्यन्दनं चापि भौमानां श्रपणं तथा ॥ ४ ॥

शीतलता, रस, क्लेद (गलाना या गीला करना), द्रवत्व (पिघलना), स्नेह (चिकनाहट), सौम्यभाव, जिह्वा, टपकना, ओले या बर्फके रूपमें जम जाना तथा पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले चावल-दाल आदिको गला देना—ये सब जलके गुण हैं ॥ ४ ॥

अग्नेर्दुर्धर्षता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम्।
शोको रागो लघुस्तैक्ष्ण्यं सततं चोर्ध्वभासिता ॥ ५ ॥

दुर्धर्ष होना, जलना, ताप देना, पकाना, प्रकाश करना, शोक, राग, हल्कापन, तीक्ष्णता और आगकी लपटोंका सदा ऊपरकी ओर उठना एवं प्रकाशित होना—ये सब अग्निके गुण हैं ॥ ५ ॥

वायोरनियमस्पर्शो वादस्थानं स्वतन्त्रता।
बलं शैघ्र्यं च मोक्षं च कर्म चेष्टाऽऽत्मता भवः ॥ ६ ॥

अनियत स्पर्श, वाक्-इन्द्रियकी स्थिति, चलने-फिरने आदिकी स्वतन्त्रता, बल, शीघ्रगामिता, मल-मूत्र आदिको शरीरसे बाहर निकालना, उत्क्षेपण आदि कर्म, क्रिया-शक्ति, प्राण और जन्म-मृत्यु—ये सब वायुके गुण हैं ॥ ६ ॥

आकाशस्य गुणः शब्दो व्यापित्वं छिद्रतापि च।
अनाश्रयमनालम्बमव्यक्तमविकारिता ॥ ७ ॥
अप्रतीघातिता चैव भूतत्वं विकृतानि च।
गुणाः पञ्चाशतं प्रोक्ताः पञ्चभूतात्मभाविताः ॥ ८ ॥

शब्द, व्यापकता, छिद्र होना, किसी स्थूल पदार्थका आश्रय न होना, स्वयं किसी दूसरे आधारपर न रहना, अव्यक्तता, निर्विकारता, प्रतिघातशून्यता और भूतता अर्थात् श्रवणेन्द्रियका कारण होना और विकृतिसे युक्त होना—ये सब

आकाशके गुण हैं। इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंके ये पचास गुण बताये गये हैं ॥ ७-८ ॥

धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः ॥ ९ ॥

धैर्य, तर्क-वितर्कमें कुशलता, स्मरण, भ्रान्ति, कल्पना, क्षमा, शुभ एवं अशुभ संकल्प और चञ्चलता—ये मनके नौ गुण हैं ॥ ९ ॥

इष्टानिष्टविपत्तिश्च व्यवसायः समाधिता।
संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धेः पञ्चगुणान् विदुः ॥ १० ॥

इष्ट और अनिष्ट वृत्तियोंका नाश, विचार, समाधान, संदेह और निश्चय—ये पाँच बुद्धिके गुण माने गये हैं ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं पञ्चगुणा बुद्धिः कथं पञ्चेन्द्रिया गुणाः।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सूक्ष्मज्ञानं पितामह ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! बुद्धिके पाँच ही गुण कैसे हैं ? तथा पाँच इन्द्रियाँ भी भूतोंके गुण कैसे हो सकती हैं ? यह सारा सूक्ष्म ज्ञान आप मुझे बताइये ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

आहुः षष्टिं बुद्धिगुणान् वै
भूतविशिष्टा नित्यविषक्ताः।
भूतविभूतीश्चाक्षरसृष्टाः
पुत्र न नित्यं तदिह वदन्ति ॥ १२ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स युधिष्ठिर ! महर्षियोंका कहना है कि बुद्धिके साठ गुण हैं अर्थात् पाँचों भूतोंके पूर्वोक्त पचास गुण तथा बुद्धिके पाँच गुण मिलकर पचपन हुए। इनमें पञ्चभूतोंको भी बुद्धिके गुणरूपसे गिन लेनेपर वे साठ हो जाते हैं। ये सभी गुण नित्य चैतन्यसे मिले हुए हैं। पञ्चमहाभूत और उनकी विभूतियाँ अविनाशी परमात्माकी सृष्टि हैं; परंतु परिवर्तनशील होनेके कारण उसे तत्त्वज्ञ पुरुष नित्य नहीं बताते हैं ॥ १२ ॥

तत् पुत्र चिन्ताकलिलं तदुक्त-
मनागतं वै तव सम्प्रतीह।
भूतार्थतत्त्वं तदवाप्य सर्वं
भूतप्रभावाद् भव शान्तबुद्धिः ॥ १३ ॥

वत्स युधिष्ठिर ! अन्य वक्ताओंने जगत्‌की उत्पत्तिके विषयमें पहले जो कुछ कहा है, वह सब वेदविरुद्ध और विचार-दूषित है; अतः इस समय तुम नित्यसिद्ध परमात्माका यथार्थ तत्त्व सुनकर उन्हीं परमेश्वरके प्रभाव एवं प्रसादसे शान्त-बुद्धि हो जाओ ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५५ ॥

षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका मृत्युविषयक प्रश्न, नारदजीका राजा अकम्पनसे मृत्युकी उत्पत्तिका प्रसंग सुनाते हुए ब्रह्माजीकी रोषाग्निसे प्रजाके दग्ध होनेका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

य इमे पृथिवीपालाः शेरते पृथिवीतले।
पृतनामध्य एते हि गतसंज्ञा महाबलाः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! ये जो असंख्य भूपाल (प्राणशून्य होकर) इस भूतलपर सेनाके बीचमें सो रहे हैं इनकी ओर दृष्टिपात कीजिये। ये महान् बलवान् थे तो भी संज्ञाहीन होकर पड़े हैं ॥ १ ॥

एकैकशो भीमबला नागायुतबलास्तथा।
एते हि निहताः संख्ये तुल्यतेजोबलैर्नरैः ॥ २ ॥

इनमेंसे एक-एक नरेश भयानक बलसे सम्पन्न था। दस-दस हजार हाथियोंकी शक्ति रखता था। ये सब-के-सब इस युद्धस्थलमें अपने समान ही तेजस्वी और बलवान् मनुष्यों-द्वारा मारे गये हैं ॥ २ ॥

नैषां पश्यामि हन्तारं प्राणिनां संयुगे परम्।
विक्रमेणोपसम्पन्नास्तेजोबलसमन्विताः ॥ ३ ॥

इन प्राणशक्ति-सम्पन्न नरेशोंको कोई दूसरा वीर संग्राम-भूमिमें मार सके—ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता था; क्योंकि वे सब-के-सब बल-पराक्रमसे सम्पन्न और तेजस्वी थे ॥ ३ ॥

अथ चेमे महाप्राज्ञाः शेरते हि गतासवः।
मृता इति च शब्दोऽयं वर्तत्येषु गतासुषु ॥ ४ ॥

किंतु इस समय ये महाबुद्धिमान् भूपाल निष्प्राण होकर पड़े हैं। इनके प्राण निकल जानेपर इनके लिये मृत शब्दका व्यवहार होता है अर्थात् 'ये मर गये' ऐसा कहा जाता है ॥

इमे मृता नृपतयः प्रायशो भीमविक्रमाः।
तत्र मे संशयो जातः कुतः संज्ञा मृता इति ॥ ५ ॥
कस्य मृत्युः कुतो मृत्युः केन मृत्युरिह प्रजाः।
हरत्यमरसंकाश तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

ये जो नरेश मृत्युको प्राप्त हो गये हैं, इनमें बहुत-से भयानक पराक्रमसे सम्पन्न हैं। यहाँ मेरे मनमें यह संदेह होता है कि इन्हें मृत नाम कैसे दिया गया ? किसकी मृत्यु होती है ? किससे मृत्यु होती है ? और किस कारणसे मृत्यु यहाँ समस्त प्राणियोंका अपहरण करती है ? देवतुल्य पितामह ! मुझे यह सब बतानेकी कृपा करें ॥ ५-६ ॥

भीष्म उवाच

पुरा कृतयुगे तात राजा ह्यासीदकम्पनः।
स शत्रुवशमापन्नः संग्रामे क्षीणवाहनः॥ ७॥

भीष्मजीने कहा—तात ! प्राचीन सत्ययुगकी बात है, अकम्पन नामके एक राजा थे। एक समय संग्राममें उनका रथ नष्ट हो गया और वे शत्रुके वशमें पड़ गये ॥७॥

तस्य पुत्रो हरिर्नाम नारायणसमो बले।
स शत्रुभिर्हतः संख्ये सबलः सपदानुगः॥ ८॥

उनके एक पुत्र था, जिसका नाम था हरि। वह बलमें भगवान् नारायणके ही समान जान पड़ता था, परंतु उस समराङ्गणमें शत्रुओंने सेना और सेवकोंसहित उस राजकुमारको मार गिराया ॥ ८ ॥

स राजा शत्रुवशगः पुत्रशोकसमन्वितः।
यदृच्छया शान्तिपरो ददर्श भुवि नारदम्॥ ९॥

राजा अकम्पन स्वतन्त्र भूपाल न रहकर शत्रुके अधीन हो गये तथा पुत्रके शोकमें डूबे रहने लगे। वे शान्तिका उपाय ढूँढ़ रहे थे। इतनेहीमें दैवेच्छासे भूतलपर विचरते हुए देवर्षि नारदका उन्हें दर्शन हुआ ॥ ९ ॥

तस्मै स सर्वमाचष्ट यथावृत्तं जनेश्वरः।
शत्रुभिर्ग्रहणं संख्ये पुत्रस्य मरणं तथा॥ १०॥

राजाने युद्धस्थलमें शत्रुओंद्वारा अपने पकड़े जाने एवं पुत्रकी मृत्यु होनेका सारा समाचार यथावत् रूपसे नारदजीके सामने कह सुनाया ॥ १० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा नारदोऽथ तपोधनः।
आख्यानमिदमाचष्ट पुत्रशोकापहं तदा॥ ११॥

राजाका वह कथन सुनकर तपस्याके धनी नारदजीने उस समय उनसे यह प्राचीन इतिहास कहना आरम्भ किया, जो उनके पुत्रशोकको मिटानेवाला था ॥ ११ ॥

नारद उवाच

राजञ्शृणु समाख्यानमद्येदं बहुविस्तरम्।
यथावृत्तं श्रुतं चैव मयेदं वसुधाधिप॥ १२॥

नारदजी बोले—राजन् ! आज यह अत्यन्त विस्तृत आख्यान सुनो। पृथ्वीनाथ ! मैंने इसे जैसा सुना है, वह यथावत् वृत्तान्त तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ १२ ॥

प्रजाः सृष्ट्वा महातेजाः प्रजासर्गे पितामहः।
अतीव वृद्धा बहुला नामृष्यत पुनः प्रजाः॥ १३॥

प्रजाकी सृष्टि करते समय महातेजस्वी पितामह ब्रह्माने जब बहुत-से प्राणियोंकी सृष्टि कर डाली, तब उनकी संख्या बहुत अधिक हो गयी। इतनी अधिक प्रजाओंका होना ब्रह्माजीसे सहन न हो सका ॥ १३ ॥

न ह्यन्तरमभूत् किञ्चित् क्वचिज्जन्तुभिरच्युत।
निरुच्छ्वासमिवोन्नद्धं त्रैलोक्यमभवन्नृप॥ १४॥

अपने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले नरेश ! उस समय कहीं कोई थोड़ा-सा भी ऐसा स्थान नहीं रह गया, जो जीव-जन्तुओंसे भरा न हो। सारी त्रिलोकी अवरुद्ध हो गयी। लोगोंका कहीं साँस लेना भी असम्भव-सा हो गया—सबका दम घुटने लगा ॥ १४ ॥

तस्य चिन्ता समुत्पन्ना संहारं प्रति भूपते।
चिन्तयन् नाध्यगच्छच्च संहारे हेतुकारणम्॥ १५॥

भूपाल ! अब ब्रह्माजीके मनमें प्रजाके संहारकी—उनकी संख्या घटानेकी चिन्ता उत्पन्न हुई। वे बहुत देरतक सोचते-विचारते रहे, परंतु प्रजाके संहारका कोई युक्तियुक्त कारण ध्यानमें नहीं आया ॥ १५ ॥

तस्य रोषान्महाराज खेभ्योऽग्निरुदतिष्ठत।
तेन सर्वा दिशो राजन् ददाह स पितामहः॥ १६॥

महाराज ! उस समय रोषवश ब्रह्माजीके नेत्र आदि इन्द्रियगोलकोंसे अग्नि प्रकट हो गयी। राजन् ! उस अग्निसे पितामहने सम्पूर्ण दिशाओंको दग्ध करना आरम्भ किया ॥ १६ ॥

ततो दिवं भुवं खं च जगच्च सचराचरम्।
ददाह पावको राजन् भगवत्कोपसम्भवः॥ १७॥

राजन् ! तब भगवान् ब्रह्माके क्रोधसे प्रकट हुई वह आग स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण जगत्को जलाने लगी ॥ १७ ॥

तत्रादह्यन्त भूतानि जङ्गमानि ध्रुवाणि च।
महता क्रोधवेगेन कुपिते प्रपितामहे॥ १८॥

प्रपितामह ब्रह्माके कुपित होनेपर उनके क्रोधके महान् वेगसे सभी स्थावर-जङ्गम प्राणी दग्ध होने लगे ॥ १८ ॥

ततोऽध्वरजटः स्थाणुर्वेदाध्वरपतिः शिवः।
जगाम शरणं देवो ब्रह्माणं परवीरहा॥ १९॥

तब यज्ञ ही जिनकी जटाएँ हैं तथा जो वेदों और यज्ञोंके प्रतिपालक हैं, वे शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कल्याणकारी भगवान् शिव ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ १९ ॥

तस्मिन्नभिगते स्थाणौ प्रजानां हितकाम्यया।
अब्रवीत् परमो देवो ज्वलन्निव तदा शिवम्॥ २०॥

प्रजावर्गके हितकी इच्छासे महादेवजीके अपने सामने आनेपर तेजसे जलते हुए-से परमदेव ब्रह्माजी उनसे इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

करवाण्यद्य कं कामं वरार्होऽसि मतो मम।
कर्ता ह्यस्मि प्रियं शम्भो तव यद्धृदि वर्तते॥ २१॥

'शम्भो ! मैं तुम्हें वर पानेके योग्य समझता हूँ, बोलो, आज तुम्हारी कौन-सी इच्छा पूर्ण करूँ ? तुम्हारे हृदयमें जो भी प्रिय मनोरथ हो, उसे मैं पूर्ण करूँगा' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादोपक्रमे षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २५६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मृत्यु और प्रजापतिके संवादका उपक्रमविषयक दो सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

महादेवजीकी प्रार्थनासे ब्रह्माजीके द्वारा अपनी रोषाग्निका उपसंहार तथा मृत्युकी उत्पत्ति

स्थाणुरुवाच

प्रजासर्गनिमित्तं मे कार्यवत्तामिमां प्रभो।
विद्धि सृष्टास्त्वया हीमा मा कुप्यासां पितामह ॥ १ ॥

महादेवजीने कहा—प्रभो ! पितामह ! मेरा मनोरथ या प्रयोजन आपसे प्रजासर्गकी रक्षाके लिये प्रार्थना करना है। आप इस बातको जान लें। आपहीने इन प्रजाओंकी सृष्टि की है; अतः आप इनपर क्रोध न कीजिये ॥ १ ॥

तव तेजोऽग्निना देव प्रजा दह्यन्ति सर्वशः।
ता दृष्ट्वा मम कारुण्यं मा कुप्यासां जगत्प्रभो ॥ २ ॥

देव ! जगदीश्वर ! आज आपकी क्रोधाग्निसे सारी प्रजाएँ दग्ध हो रही हैं। उन्हें उस अवस्थामें देखकर मुझे दया आती है, आप उनपर क्रोध न करें ॥ २ ॥

प्रजापतिरुवाच

न कुप्ये न च मे कामो न भवेयुः प्रजा इति।
लाघवार्थं धरण्यास्तु ततः संहार इष्यते ॥ ३ ॥

प्रजापति ब्रह्माजी बोले—शिव ! मैं प्रजापर कुपित नहीं हूँ और न मेरी यही इच्छा है कि प्रजाओंका विनाश हो जाय। पृथ्वीका भार हल्का करनेके लिये ही प्रजाके संहारकी आवश्यकता प्रतीत हुई है ॥ ३ ॥

इयं हि मां सदा देवी भारार्ता समचोदयत्।
संहारार्थं महादेव भारेणाप्सु निमज्जति ॥ ४ ॥

महादेव ! यह पृथ्वीदेवी भारी भारसे पीड़ित हो सदा मुझे प्रजाके संहारके लिये प्रेरित करती रही है; क्योंकि यह जगत्के भारसे समुद्रमें डूबी जा रही है ॥ ४ ॥

यदाहं नाधिगच्छामि बुद्ध्या बहु विचारयन्।
संहारमासां वृद्धानां ततो मां क्रोध आविशत् ॥ ५ ॥

जब बहुत विचार करनेपर भी मुझे इन बढ़ी हुई प्रजाओंके संहारका कोई उपाय न सूझा, तब मुझे क्रोध आ गया ॥ ५ ॥

स्थाणुरुवाच

संहारार्थं प्रसीदस्व मा क्रुधो विबुधेश्वर।
मा प्रजाः स्थावरं चैव जङ्गमं च व्यनीनशत् ॥ ६ ॥

महादेवजीने कहा—देवेश्वर ! संहारके लिये आप क्रोध न करें। प्रजापर प्रसन्न हों। कहीं ऐसा न हो कि समस्त चराचर प्राणियोंका विनाश हो जाय ॥ ६ ॥

पल्वलानि च सर्वाणि सर्वं चैव तृणोपलम्।
स्थावरं जङ्गमं चैव भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥ ७ ॥
तदेतद् भस्मसाद्भूतं जगत् सर्वमुपप्लुतम्।
प्रसीद भगवन् साधो वर एष वृतो मया ॥ ८ ॥

ये सारे जलाशय, सब-के-सब घास और लता-बेलें तथा चार प्रकारके प्राणिसमुदाय (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जरायुज) भस्मीभूत हो रहे हैं। सारे जगत्का प्रलय उपस्थित हो गया है। भगवन् ! प्रसन्न होइये। साधो ! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ ॥ ७-८ ॥

नष्टा न पुनरेष्यन्ति प्रजा ह्येताः कथंचन।
तस्मान्निवर्ततामेतत् तेन स्वेनैव तेजसा ॥ ९ ॥

यदि इन प्रजाओंका नाश हो गया तो ये किसी तरह फिर यहाँ उपस्थित न हो सकेंगी। इसलिये आप अपने ही प्रभावसे इस क्रोधाग्निको निवृत्त कीजिये ॥ ९ ॥

उपायमन्यं सम्पश्य भूतानां हितकाम्यया।
यथामी जन्तवः सर्वे न दह्येरन् पितामह ॥ १० ॥

पितामह ! आप सम्पूर्ण प्राणियोंके हितके लिये संहारका कोई दूसरा ही उपाय सोचिये, जिससे ये सारे जीव-जन्तु एक साथ ही दग्ध न हो जायँ ॥ १० ॥

अभावं हि न गच्छेयुरुच्छिन्नप्रजनाः प्रजाः।
अधिदैवे नियुक्तोऽस्मि त्वया लोकेश्वरेश्वर ॥ ११ ॥

लोकेश्वरेश्वर ! आपने मुझे देवताओंके आधिपत्य-पदपर नियुक्त किया है, अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, यदि प्रजाकी संततिका उच्छेद होगा तो समस्त प्रजाओंका सर्वथा अभाव ही हो जायगा; अतः आप इस विनाशको बंद कीजिये॥

त्वद्भवं हि जगन्नाथ एतत् स्थावरजङ्गमम्।
प्रसाद्य त्वां महादेव याचाम्यावृत्तिजाः प्रजाः ॥ १२ ॥

जगन्नाथ ! महादेव ! यह समस्त चराचर जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है; अतः मैं आपको प्रसन्न करके यह याचना करता हूँ कि ये सारी प्रजा पुनरावर्तनशील हो—मरकर पुनः जन्म धारण करे ॥ १२ ॥

नारद उवाच

श्रुत्वा तु वचनं देवः स्थाणोर्नियतवाङ्मनाः।
तेजस्तत् संनिजग्राह पुनरेवान्तरात्मनि ॥ १३ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! महादेवजीकी वह बात सुनकर भगवान् ब्रह्माने मन और वाणीका संयम किया तथा उस अग्निको पुनः अपनी अन्तरात्मामें ही लीन कर लिया ॥

ततोऽग्निमुपसंगृह्य भगवाँल्लोकपूजितः।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कल्पयामास वै प्रभुः ॥ १४ ॥

तब लोकपूजित भगवान् ब्रह्माने उस अग्निका उपसंहार करके प्रजाके लिये जन्म और मृत्युकी व्यवस्था की ॥ १४ ॥

उपसंहरतस्तस्य तमग्निं रोषजं तदा।
प्रादुर्बभूव विश्वेभ्यः खेभ्यो नारी महात्मनः ॥ १५ ॥

उस क्रोधाग्निका उपसंहार करते समय महात्मा ब्रह्माजीकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे एक मूर्तिमती नारी प्रकट हुई ॥ १५ ॥

कृष्णरक्ताम्बरधरा कृष्णनेत्रतलान्तरा।
दिव्यकुण्डलसम्पन्ना दिव्याभरणभूषिता ॥ १६ ॥

उसके वस्त्र काले और लाल थे। आँखोंके निम्न और आभ्यन्तर प्रदेश भी काले रंगके ही थे। वह दिव्य कुण्डलोंसे कान्तिमती तथा अलौकिक आभूषणोंसे विभूषित थी ॥ १६ ॥

सा विनिःसृत्य वै खेभ्यो दक्षिणामाश्रिता दिशम्।
ददृशाते च तां कन्यां देवौ विश्वेश्वरावुभौ ॥ १७ ॥

वह ब्रह्माजीके इन्द्रियच्छिद्रोंसे निकलकर दक्षिण दिशाकी ओर चल दी। उस समय उन दोनों जगदीश्वरों (ब्रह्मा और शिव) ने उस कन्याको देखा ॥ १७ ॥

तामाहूय तदा देवो लोकानामादिरीश्वरः।
मृत्यो इति महीपाल जहि चेमाः प्रजा इति ॥ १८ ॥

भूपाल! तब लोकोंके आदिकारण भगवान् ब्रह्माने उसे 'मृत्यु' कहकर पुकारा और निकट बुलाकर कहा—'तुम इन प्रजाओंका समय-समयपर विनाश करती रहो ॥ १८ ॥

त्वं हि संहारबुद्ध्या मे चिन्तिता रुषितेन च।
तस्मात् संहर सर्वास्त्वं प्रजाः सजडपण्डिताः ॥ १९ ॥

'मैंने प्रजाके संहारकी भावनासे रोषमें भरकर तुम्हारा चिन्तन किया था; इसलिये तुम मूढ़ और विद्वानोंसहित सम्पूर्ण प्रजाओंका संहार करो ॥ १९ ॥

अविशेषेण चैव त्वं प्रजाः संहर कामिनि।
मम त्वं हि नियोगेन श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ २० ॥

'कामिनि! तुम मेरे आदेशसे सामान्यतः सारी प्रजाका संहार करो। इससे तुम्हें परम कल्याणकी प्राप्ति होगी' ॥ २० ॥

एवमुक्ता तु सा देवी मृत्युः कमलमालिनी।
प्रदध्यौ दुःखिता बाला साश्रुपातमतीव च ॥ २१ ॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर कमलोंकी मालासे अलंकृत नवयौवना मृत्यु देवी नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई दुखी हो गहरी चिन्तामें पड़ गयी ॥ २१ ॥

पाणिभ्यां चैव जग्राह तान्यश्रूणि जनेश्वरः।
मानवानां हितार्थाय ययाचे पुनरेव ह ॥ २२ ॥

तब जनेश्वर ब्रह्माजीने मानवोंके हितके लिये अपने दोनों हाथोंमें मृत्युके आँसू ले लिये। फिर मृत्युने उनसे इस प्रकार प्रार्थना की ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादे सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मृत्यु और प्रजापतिका संवादविषयक दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

मृत्युकी घोर तपस्या और प्रजापतिकी आज्ञासे उसका प्राणियोंके संहारका कार्य स्वीकार करना

नारद उवाच

विनीय दुःखमबला साऽऽत्मनैवायतेक्षणा।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा लतेवावर्जिता तदा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वह विशाल नेत्रोंवाली अबला स्वयं ही उस दुःखको दूर हटाकर झुकायी हुई लताके समान विनम्र हो हाथ जोड़कर ब्रह्माजीसे बोली—॥

त्वया सृष्टा कथं नारी मादृशी वदतां वर।
रौद्रकर्माभिजायेत सर्वप्राणिभयङ्करी ॥ २ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ प्रजापते! (यदि मुझसे क्रूर कर्म ही कराना था तो) आपने मुझ-जैसी कोमलहृदया नारीको क्यों उत्पन्न किया? क्या मुझ-जैसी स्त्री समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर तथा क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाली हो सकती है? ॥ २ ॥

बिभेम्यहमधर्मस्य धर्म्यमादिश कर्म मे।
त्वं मां भीतामवेक्षस्व शिवेनेक्षस्व चक्षुषा ॥ ३ ॥

'भगवन्! मैं अधर्मसे बहुत डरती हूँ। आप मुझे धर्मानुकूल कार्य करनेकी आज्ञा दें। मुझ भयभीत अबलापर दृष्टिपात करें और कल्याणमयी दृष्टिसे मेरी ओर देखें ॥ ३ ॥

बालान् वृद्धान् वयस्थांश्च न हरेयमनागसः।
प्राणिनः प्राणिनामीश नमस्तेऽस्तु प्रसीद मे ॥ ४ ॥

'समस्त प्राणियोंके अधीश्वर! मैं निरपराध बाल, वृद्ध और तरुण प्राणियोंके प्राण नहीं लूँगी। आपको नमस्कार है, आप मुझपर प्रसन्न हों ॥ ४ ॥

प्रियान् पुत्रान् वयस्यांश्च भ्रातॄन् मातॄः पितॄनपि।
अपध्यास्यन्ति यद्येवं मृतास्तेषां बिभेम्यहम् ॥ ५ ॥

'जब मैं लोगोंके प्यारे पुत्रों, मित्रों, भाइयों, माताओं तथा पिताओंको मारने लगूँगी, तब उनके सम्बन्धी उनके इस प्रकार मारे जानेके कारण मेरा अनिष्ट-चिन्तन करेंगे; अतः मैं उन लोगोंसे बहुत डरती हूँ ॥ ५ ॥

कृपणाश्रुपरिक्लेदो दहेन्मां शाश्वतीः समाः।
तेभ्योऽहं बलवद् भीता शरणं त्वामुपागता ॥ ६ ॥

'उन दीन-दुखियोंके नेत्रोंसे जो आँसू बहकर उनके कपोलों और वक्षःस्थलको भिगो देगा, वह मुझे सदा अनन्त वर्षोंतक जलाता रहेगा। मैं उनसे बहुत डरी हुई हूँ, इसलिये आपकी शरणमें आयी हूँ ॥ ६ ॥

यमस्य भवने देव पात्यन्ते पापकर्मिणः।
प्रसादये त्वां वरद प्रसादं कुरु मे प्रभो ॥ ७ ॥

'वरदायक प्रभो! देव! सुना है कि पापाचारी प्राणी यमराजके लोकमें गिराये जाते हैं, अतः आपसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करती हूँ, आप मुझपर कृपा कीजिये ॥ ७ ॥

एतदिच्छाम्यहं कामं त्वत्तो लोकपितामह।
इच्छेयं त्वत्प्रसादार्थं तपस्तप्तुं महेश्वर ॥ ८ ॥

'लोकपितामह! महेश्वर! मैं आपसे अपनी एक अभिलाषाकी पूर्ति चाहती हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं आपकी प्रसन्नताके लिये कहीं जाकर तप करूँ' ॥ ८ ॥

पितामह उवाच

मृत्यो संकल्पिता मे त्वं प्रजासंहारहेतुना।
गच्छ संहर सर्वास्त्वं प्रजा मा च विचारय ॥ ९ ॥

ब्रह्माजीने कहा—मृत्यो! प्रजाके संहारके लिये ही मैंने संकल्पपूर्वक तुम्हारी सृष्टि की है। जाओ, सारी प्रजाका संहार करो। इसके लिये मनमें कोई विचार न करो ॥ ९ ॥

एतदेवमवश्यं हि भविता नैतदन्यथा।
क्रियतामनवद्याङ्गि यथोक्तं मद्वचोऽनघे ॥ १० ॥

यह बात अवश्य ही इसी प्रकार होनेवाली है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। निर्दोष अङ्गोंवाली देवि! मैंने जो बात कही है, उसका पालन करो। इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा ॥ १० ॥

एवमुक्ता महाबाहो मृत्युः परपुरंजय।
न व्याजहार तस्थौ च प्रह्वा भगवदुन्मुखी ॥ ११ ॥

महाबाहो! शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले नरेश! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर मृत्यु उन्हींकी ओर मुँह करके हाथ जोड़े खड़ी रह गयी—कुछ बोल न सकी ॥ ११ ॥

पुनः पुनरथोक्ता सा गतसत्त्वेव भामिनी।
तूष्णीमासीत् ततो देवो देवानामीश्वरेश्वरः ॥ १२ ॥
प्रससाद किल ब्रह्मा स्वयमेवात्मनाऽऽत्मनि।
स्मयमानश्च लोकेशो लोकान् सर्वानवैक्षत ॥ १३ ॥

उनके बारंबार कहनेपर वह मानिनी नारी निष्प्राण-सी होकर मौन रह गयी। 'हाँ' या 'ना' कुछ भी न बोल सकी। तदनन्तर देवताओंके भी देवता और ईश्वरोंके भी ईश्वर लोकनाथ ब्रह्माजी स्वयं ही अपने मनमें बड़े प्रसन्न हुए और मुसकराते हुए समस्त लोकोंकी ओर देखने लगे ॥ १२-१३ ॥

निवृत्तरोषे तस्मिंस्तु भगवत्यपराजिते।
सा कन्याथ जगामास्य समीपादिति नः श्रुतम् ॥ १४ ॥

उन अपराजित भगवान् ब्रह्माका रोष निवृत्त हो जानेपर वह कन्या भी उनके निकटसे चली गयी, ऐसा हमने सुना है ॥

अपसृत्याप्रतिश्रुत्य प्रजासंहरणं तदा।
त्वरमाणेव राजेन्द्र मृत्युर्धेनुकमभ्यगात् ॥ १५ ॥

राजेन्द्र! उस समय प्रजाका संहार करनेके विषयमें कोई प्रतिज्ञा न करके मृत्यु वहाँसे हट गयी और बड़ी उतावलीके साथ धेनुकाश्रममें जा पहुँची ॥ १५ ॥

सा तत्र परमं देवी तपोऽचरद् दुश्चरम्।
समा ह्येकपदे तस्थौ दश पद्मानि पञ्च च ॥ १६ ॥

वहाँ मृत्युदेवीने अत्यन्त दुष्कर और उत्तम तपस्या की। वह पंद्रह पद्म वर्षोंतक एक पैरपर खड़ी रही ॥ १६ ॥

तां तथा कुर्वतीं तत्र तपः परमदुश्चरम्।
पुनरेव महातेजा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

इस प्रकार वहाँ अत्यन्त दुष्कर तपस्या करती हुई मृत्युसे महातेजस्वी ब्रह्माजीने पुनः जाकर इस प्रकार कहा— ॥

कुरुष्व मे वचो मृत्यो तदनादृत्य सत्वरा।
तथैवैकपदे तात पुनरन्यानि सप्त सा ॥ १८ ॥
तस्थौ पद्मानि षट् चैव पञ्च द्वे चैव मानद।

'मृत्यो! तुम मेरी आज्ञाका पालन करो।' दूसरोंको मान देनेवाले तात! उनके इस कथनका आदर न करके मृत्युने तुरंत ही दूसरे बीस पद्म वर्षोंतक पुनः एक पैरपर खड़ी हो तपस्या आरम्भ कर दी ॥ १८½ ॥

भूयः पद्मायुतं तात मृगैः सह चचार सा ॥ १९ ॥
द्वे चायुते नरश्रेष्ठ वाय्वाहारा महामते।

तात! महामते! नरश्रेष्ठ! फिर वह दस हजार पद्म वर्षोंतक मृगोंके साथ विचरती रही। इसके बाद बीस हजार वर्षोंतक उसने केवल वायुका आहार किया ॥ १९½ ॥

पुनरेव ततो राजन् मौनमातिष्ठदुत्तमम् ॥ २० ॥
अप्सु वर्षसहस्राणि सप्त चैकं च पार्थिव।

राजन्! तदनन्तर उसने उत्तम मौन-व्रत धारण कर लिया। पृथ्वीपते! फिर उसने जलमें आठ हजार वर्षोंतक रहकर तपस्या की॥

ततो जगाम सा कन्या कौशिकीं नृपसत्तम ॥ २१ ॥
तत्र वायुजलाहारा चचार नियमं पुनः।

नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर वह कन्या कौशिकी नदीके तटपर गयी। वहाँ वायु और जलका आहार करके उसने पुनः कठोर नियमोंका पालन किया ॥ २१½ ॥

ततो ययौ महाभागा गङ्गां मेरुं च केवलम् ॥ २२ ॥
तस्थौ दार्विव निश्चेष्टा प्रजानां हितकाम्यया।

तत्पश्चात् वह महाभागा ब्रह्मकन्या गङ्गाजीके किनारे और केवल मेरुपर्वतपर गयी। वहाँ प्रजावर्गके हितकी इच्छासे वह काठकी भाँति निश्चेष्ट खड़ी रही ॥ २२½ ॥

ततो हिमवतो मूर्ध्नि यत्र देवाः समीजिरे ॥ २३ ॥
तत्राङ्गुष्ठेन राजेन्द्र निखर्वमपरं ततः।
तस्थौ पितामहं चैव तोषयामास यत्नतः ॥ २४ ॥

राजेन्द्र! तदनन्तर हिमालय पर्वतके शिखरपर जहाँ पहले देवताओंने यज्ञ किया था, उस स्थानपर वह परम शुभलक्षणा कन्या एक निखर्व वर्षोंतक अँगूठेके बलपर खड़ी रही। इस प्रकार यत्न करके उसने पितामह ब्रह्माजीको संतुष्ट कर लिया॥

ततस्तामब्रवीत् तत्र लोकानां प्रभवाप्ययः।
किमिदं वर्तते पुत्रि क्रियतां मम तद् वचः ॥ २५ ॥

तब सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलयके कारणभूत ब्रह्माजी वहाँ उस कन्यासे बोले—'बेटी! तुम यह क्या करती हो? मेरी आज्ञाका पालन करो' ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीत् पुनर्मृत्युर्भगवन्तं पितामहम्।
न हरेयं प्रजा देव पुनश्चाहं प्रसादये ॥ २६ ॥

तब मृत्युने पुनः भगवान् पितामहसे कहा—'देव! मैं प्रजाका नाश नहीं कर सकती। इसके लिये पुनः आपका कृपाप्रसाद चाहती हूँ' ॥ २६ ॥

तामधर्मभयाद् भीतां पुनरेव प्रयाचतीम्।
तदाब्रवीद् देवदेवो निगृह्येदं वचस्ततः ॥ २७ ॥

अधर्मके भयसे डरकर पुनः कृपाकी भीख माँगती हुई मृत्युको रोककर देवाधिदेव ब्रह्माने उससे यह बात कही—॥

अधर्मो नास्ति ते मृत्यो संयच्छेमाः प्रजाः शुभे।
मया ह्युक्तं मृषा भद्रे भविता नेह किंचन ॥ २८ ॥

'मृत्यो ! तुम इन प्रजाओंका संहार करो। शुभे ! इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा। भद्रे ! मेरी कही हुई कोई भी बात यहाँ झूठी नहीं हो सकती ॥ २८ ॥

धर्मः सनातनश्च त्वामिहैवानुप्रवेक्ष्यति।
अहं च विबुधाश्चैव त्वद्धिते निरताः सदा ॥ २९ ॥

'सनातन धर्म यहीं तुम्हारे भीतर प्रवेश करेगा। मैं तथा ये सम्पूर्ण देवता सदा तुम्हारे हितमें लगे रहेंगे ॥

इममन्यं च ते कामं ददानि मनसेप्सितम्।
न त्वां दोषेण यास्यन्ति व्याधिसम्पीडिताः प्रजाः॥ ३०॥
पुरुषेषु स्वरूपेण पुरुषस्त्वं भविष्यसि।
स्त्रीषु स्त्रीरूपिणी चैव तृतीयेषु नपुंसकम् ॥ ३१ ॥

'मैं तुम्हें यह दूसरा भी मनोवाञ्छित वर दे रहा हूँ कि रोगोंसे पीड़ित हुई प्रजा तुम्हारे प्रति दोष-दृष्टि नहीं करेगी। तुम पुरुषोंमें पुरुषरूपसे रहोगी, स्त्रियोंमें स्त्रीरूप धारण कर लोगी और नपुंसकोंमें नपुंसक हो जाओगी' ॥ ३०-३१ ॥

सैवमुक्ता महाराज कृताञ्जलिरुवाच ह।
पुनरेव महात्मानं नेति देवेशमव्ययम् ॥ ३२ ॥

महाराज ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर मृत्यु हाथ जोड़कर उन अविनाशी महात्मा देवेश्वर ब्रह्मासे पुनः इस प्रकार बोली—'प्रभो ! मैं प्राणियोंका संहार नहीं करूँगी' ॥ ३२ ॥

तामब्रवीत् तदा देवो मृत्यो संहर मानवान्।
अधर्मस्ते न भविता तथा ध्यास्याम्यहं शुभे ॥ ३३ ॥

तब ब्रह्माजीने उससे कहा—'मृत्यो ! तुम मनुष्योंका संहार करो, तुम्हें पाप नहीं लगेगा। शुभे ! मैं तुम्हारे लिये शुभ-चिन्तन करता रहूँगा ॥ ३३ ॥

यानश्रुबिन्दून् पतितानपश्यं
ये पाणिभ्यां धारितास्ते पुरस्तात्।
ते व्याधयो मानवान् घोररूपाः
प्राप्ते काले कालयिष्यन्ति मृत्यो ॥ ३४ ॥

'मृत्यो ! मैंने पहले तुम्हारे जिन अश्रुबिन्दुओंको गिरते देखा और जिन्हें अपने हाथोंमें धारण कर लिया था, वे ही समय आनेपर भयंकर रोग बनकर मनुष्योंको कालके गालमें डाल देंगे ॥ ३४ ॥

सर्वेषां त्वं प्राणिनामन्तकाले
कामक्रोधौ सहितौ योजयेथाः।
एवं धर्मस्त्वामुपैष्यत्यमेयो
न चाधर्मं लप्स्यसे तुल्यवृत्तिः ॥ ३५ ॥

'सभी प्राणियोंके अन्तकालमें तुम काम और क्रोधको एक साथ नियुक्त कर देना। इस प्रकार तुम्हें अप्रमेय धर्मकी प्राप्ति होगी और तुम्हें पाप नहीं लगेगा; क्योंकि तुम्हारी चित्तवृत्ति सम (राग-द्वेषसे शून्य) है ॥ ३५॥

एवं धर्मं पालयिष्यस्यथो त्वं
न चात्मानं मज्जयिष्यस्यधर्मे।
तस्मात् कामं रोचयाभ्यागतं त्वं
संयोज्याथो संहरस्वेह जन्तून् ॥ ३६॥

'इस प्रकार तुम धर्मका पालन करोगी और अपने-आपको पापमें नहीं डुबाओगी; अतः अपनेको प्राप्त होनेवाले इस अधिकारको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करो और कामको इस कार्यमें लगाकर इस जगत्के प्राणियोंका संहार करो' ॥ ३६॥

सा वै तदा मृत्युसंज्ञापदेशा
भीता शापाद् बाढमित्यब्रवीत् तम्।
अथो प्राणान् प्राणिनामन्तकाले
कामक्रोधौ प्राप्य निर्मोह्य हन्ति ॥ ३७॥

तब वह मृत्यु नामवाली नारी शापसे डरकर ब्रह्माजीसे बोली—'बहुत अच्छा, आपकी आज्ञा स्वीकार है।' वही मृत्यु प्राणियोंका अन्तकाल आनेपर काम और क्रोधको प्रेरित करके उनके द्वारा उन्हें मोहमें डालकर मार डालती है॥

मृत्योर्ये ते व्याधयश्चाश्रुपाता
मनुष्याणां रुज्यते यैः शरीरम्।
सर्वेषां वै प्राणिनां प्राणनान्ते
तस्माच्छोकं मा कृथा बुद्ध्य बुद्ध्या॥

पहले मृत्युके जो अश्रुबिन्दु गिरे थे, वे ही ज्वर आदि रोग हो गये; जिनके द्वारा मनुष्योंका शरीर रुग्ण हो जाता है। वह मृत्यु सभी प्राणियोंकी आयु समाप्त होनेपर उनके पास आती है। अतः राजन् ! तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो। इस विषयको बुद्धिके द्वारा समझो॥

सर्वे देवाः प्राणिनां प्राणनान्ते
गत्वा वृत्ताः संनिवृत्तास्तथैव।
एवं सर्वे मानवाः प्राणनान्ते
गत्वा वृत्ता देववद् राजसिंह ॥ ३९॥

राजसिंह ! जैसे इन्द्रियाँ जाग्रत्-अवस्थाके अन्तमें सुषुप्तिके समय निष्क्रिय होकर विलीन हो जाती हैं और जाग्रत्-अवस्था आनेपर पुनः लौट आती हैं, उसी प्रकार सारे प्राणी ही जीवनके अन्तमें परलोकमें जाकर कर्मोंके अनुसार देवताओंके तुल्य अथवा नरकगामी होते हैं और कर्मोंके क्षीण होनेपर इस जगत्में लौटकर पुनः मनुष्य आदि योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं ॥ ३९ ॥

वायुर्भीमो भीमनादो महौजाः
स सर्वेषां प्राणिनां प्राणभूतः।
नानावृत्तिर्देहिनां देहभेदे
तस्माद् वायुर्देवदेवो विशिष्टः ॥ ४०॥

भयंकर शब्द करनेवाला महान् बलशाली भयानक प्राणवायु ही समस्त प्राणियोंका प्राणस्वरूप है। वही देह-

प्राणियोंके देहका नाश होनेपर नाना प्रकारके रूपों या शरीरोंको प्राप्त होता है। अतः इस शरीरके भीतर देवाधिदेव वायु (प्राण) ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ४० ॥

सर्वे देवा मर्त्यसंज्ञाविशिष्टाः
सर्वे मर्त्या देवसंज्ञाविशिष्टाः।
तस्मात् पुत्रं मा शुचो राजसिंह
पुत्रः स्वर्गं प्राप्य ते मोदते ह ॥ ४१ ॥

सभी देवता पुण्य क्षय होनेपर इस लोकमें आकर मरणधर्मा नामसे विभूषित होते हैं और सभी मरणधर्मा मनुष्य पुण्यके प्रभावसे मृत्युके पश्चात् देवसंज्ञासे संयुक्त होते हैं। अतः राजसिंह ! तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो। तुम्हारा पुत्र स्वर्गलोकमें जाकर आनन्द भोग रहा है ॥ ४१ ॥

एवं मृत्युर्देवसृष्टा प्रजानां
प्राप्ते काले संहरन्ती यथावत्।
तस्याश्चैव व्याधयस्तेऽश्रुपाताः
प्राप्ते काले संहरन्तीह जन्तून् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार ब्रह्माजीने ही प्राणियोंकी मृत्यु रची है। वह मृत्यु ठीक समय आनेपर यथावत् रूपसे जीवोंका संहार करती है। उसके जो अश्रुपात हैं, वे ही मृत्युकाल प्राप्त होनेपर रोग बनकर इस जगत्‌के प्राणियोंका संहार करते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादे अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मृत्यु और प्रजापतिका संवादविषयक दो सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्माधर्मके स्वरूपका निर्णय

युधिष्ठिर उवाच

इमे वै मानवाः सर्वे धर्मं प्रति विशङ्किताः।
कोऽयं धर्मः कुतो धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! ये सभी मनुष्य प्रायः धर्मके विषयमें संशयशील हैं; अतः मैं जानना चाहता हूँ कि धर्म क्या है ? और उसकी उत्पत्ति कहाँसे हुई है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

धर्मस्त्वयमिहार्थः किममुत्रार्थोऽपि वा भवेत्।
उभयार्थो हि वा धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! इस लोकमें सुख पानेके लिये जो कर्म किया जाता है, वही धर्म है या परलोकमें कल्याणके लिये जो कुछ किया जाता है, उसे धर्म कहते हैं ? अथवा लोक-परलोक दोनोंके सुधारके लिये कुछ किया जानेवाला कर्म ही धर्म कहलाता है ? यह मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम्।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम् ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वेद, स्मृति और सदाचार—ये तीन धर्मके स्वरूपको लक्षित करानेवाले हैं। कुछ विद्वान् अर्थको भी धर्मका चौथा लक्षण बताते हैं ॥ ३ ॥

अपि ह्युक्तानि धर्माणि व्यवस्यन्त्युत्तरावरे।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ॥ ४ ॥

शास्त्रोंमें जो धर्मानुकूल कार्य बताये गये हैं, उन्हें ही प्रधान एवं अप्रधान सभी लोग निश्चित रूपसे धर्म मानते हैं। लोकयात्राका निर्वाह करनेके लिये ही महर्षियोंने यहाँ धर्मकी मर्यादा स्थापित की है ॥ ४ ॥

उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च।
अलब्ध्वा निपुणं धर्मं पापः पापेन युज्यते ॥ ५ ॥

धर्मका पालन करनेसे आगे चलकर इस लोक और परलोकमें भी सुख मिलता है। पापी मनुष्य विचारपूर्वक धर्मका आश्रय न लेनेसे पापमें प्रवृत्त हो उसके दुःखरूप फलका भागी होता है ॥ ५ ॥

न च पापकृतः पापान्मुच्यन्ते केचिदापदि।
अपापवादी भवति यथा भवति धर्मकृत्।
धर्मस्य निष्ठा त्वाचारस्तमेवाश्रित्य भोत्स्यसे ॥ ६ ॥

पापाचारी मनुष्य आपत्तिकालमें कष्ट भोगकर भी उस पापसे मुक्त नहीं होते और धर्मका आचरण करनेवाले लोग आपत्तिकालमें भी पापका समर्थन नहीं करते हैं। आचार (शौचाचार-सदाचार) ही धर्मका आधार है; अतः युधिष्ठिर ! तुम उस आचारका आश्रय लेकर ही धर्मके यथार्थ स्वरूपको जान सकोगे ॥ ६ ॥

यथा धर्मसमाविष्टो धनं गृह्णाति तस्करः।
रमते निर्हरन् स्तेनः परवित्तमराजके ॥ ७ ॥

जैसे चोर धर्मकार्यमें प्रवृत्त होकर भी दूसरोंके धनका अपहरण कर ही लेता है और अराजक-अवस्थामें पराये धनका अपहरण करनेवाला लुटेरा सुखका अनुभव करता है ॥

यदास्य तद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति।
तदा तेषां स्पृहयते ये वै तुष्टाः स्वकैर्धनैः ॥ ८ ॥

परंतु जब दूसरे लोग उस चोरका भी धन हर लेते हैं, तब वह चोर भी प्रजाकी रक्षा करने और चोरोंको दण्ड देनेवाले राजाको चाहता है—उसकी आवश्यकताका अनुभव

करता है । उस अवस्थामें वह उन पुरुषोंके समान बननेकी इच्छा करता है, जो अपने ही धनसे संतुष्ट रहते हैं—दूसरोंके धनपर हाथ लगाना पाप समझते हैं ॥ ८ ॥

अभीतः शुचिरभ्येति राजद्वारमशङ्कितः ।
न हि दुश्चरितं किंचिदन्तरात्मनि पश्यति ॥ ९ ॥

जो पवित्र है—जिसमें चोरी आदिके दोष नहीं हैं, वह मनुष्य निर्भय और निःशङ्क होकर राजाके द्वारपर चला जाता है; क्योंकि वह अपनी अन्तरात्मामें कोई दुराचार नहीं देखता है॥९॥

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम् ।
सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

सत्य बोलना शुभ कर्म है । सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई कार्य नहीं है । सत्यने ही सबको धारण कर रक्खा है और सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥

अपि पापकृतो रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक् पृथक् ।
अद्रोहमविसंवादं प्रवर्तन्ते तदाश्रयाः ॥ ११ ॥

क्रूर स्वभाववाले पापी भी पृथक्-पृथक् सत्यकी शपथ खाकर ही आपसमें द्रोह या विवादसे बचे रहते हैं । इतना ही नहीं, वे सत्यका आश्रय लेकर सत्यकी ही दुहाई देकर अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ११ ॥

ते चेन्मिथोऽधृतिं कुर्युर्विनश्येयुरसंशयम् ।
न हर्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः ॥ १२ ॥

वे यदि आपसकी शपथको भंग कर दें तो निस्संदेह परस्पर लड़-भिड़कर नष्ट हो जायँ । दूसरोंके धनका अपहरण नहीं करना चाहिये—यही सनातन धर्म है ॥ १२ ॥

मन्यन्ते बलवन्तस्तं दुर्बलैः सम्प्रवर्तितम् ।
यदा नियतिदौर्बल्यमथैषामेव रोचते ॥ १३ ॥

कुछ बलवान् लोग (बलके घमंडमें नास्तिकभावका आश्रय लेकर) धर्मको दुर्बलोंका चलाया हुआ मानते हैं; किंतु जब भाग्यवश वे भी दुर्बल हो जाते हैं, तब अपनी रक्षाके लिये उन्हें भी धर्मका ही सहारा लेना अच्छा जान पड़ता है ॥ १३ ॥

न ह्यत्यन्तं बलवन्तो भवन्ति सुखिनोऽपि वा ।
तस्मादनार्जवे बुद्धिर्न कार्या ते कदाचन ॥ १४ ॥

संसारमें कोई भी न तो अत्यन्त बलवान् होते हैं और न बहुत सुखी ही । इसलिये तुम्हें अपनी बुद्धिमें कभी कुटिलताका विचार नहीं लाना चाहिये ॥ १४ ॥

असाधुभ्योऽस्य न भयं न चौरेभ्यो न राजतः ।
अकिंचित् कस्यचित् कुर्वन् निर्भयः शुचिरावसेत् ॥ १५ ॥

जो किसीका कुछ बिगाड़ता नहीं है, उसे दुष्टों, चोरों अथवा राजासे भय नहीं होता । शुद्ध आचार-विचारवाला पुरुष सदा निर्भय रहता है ॥ १५ ॥

सर्वतः शङ्कते स्तेनो मृगो ग्राममिवेयिवान् ।
बहुधाऽऽचरितं पापमन्यत्रैवानुपश्यति ॥ १६ ॥

गाँवोंमें आये हुए हिरणकी भाँति चोर सबसे डरता रह... है । वह अनेकों बार दूसरोंके साथ जैसा पापाचार कर चु... है, दूसरोंको भी वैसा ही पापाचारी समझता है ॥ १६ ॥

मुदितः शुचिरभ्येति सर्वतो निर्भयः सदा ।
न हि दुश्चरितं किंचिदात्मनोऽन्येषु पश्यति ॥ १७ ॥

जिसका आचार-विचार शुद्ध है, उसे कहींसे कोई खट... नहीं होता । वह सदा प्रसन्न एवं सब ओरसे निर्भय ब... रहता है तथा वह अपना कोई दुष्कर्म दूसरोंमें नहीं देखता है...

दातव्यमित्ययं धर्म उक्तो भूतहिते रतैः ।
तं मन्यन्ते धनयुताः कृपणैः सम्प्रवर्तितम् ॥ १८ ॥

समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले महात्माओं... 'दान करना चाहिये' ऐसा कहकर इसे धर्म बता... है; परंतु बहुत-से धनवान् उसे दरिद्रोंका चलाया हुआ धर्म समझते हैं ॥ १८ ॥

यदा नियतिकार्पण्यमथैषामेव रोचते ।
न ह्यत्यन्तं धनवन्तो भवन्ति सुखिनोऽपि वा ॥ १९ ॥

परंतु यदि भाग्यवश वे भी निर्धन या दर-दरके भिखा... हो जाते हैं, उस समय उनको भी यह धर्म उत्तम ज... पड़ता है; क्योंकि कोई भी न तो अत्यन्त धनवान् होते... और न अतिशय सुखी ही हुआ करते हैं (अतः धन... अभिमान नहीं करना चाहिये) ॥ १९ ॥

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ २० ॥

मनुष्य दूसरोंद्वारा किये हुए जिस व्यवहारको अपने... लिये वाञ्छनीय नहीं मानता, दूसरोंके प्रति भी वै... वैसा बर्ताव न करे । उसे यह जानना चाहिये कि... जो बर्ताव अपने लिये अप्रिय है, वह दूसरोंके लिये भी प्रिय नहीं हो सकता ॥ २० ॥

योऽन्यस्य स्यादुपपतिः स कं किं वक्तुमर्हति ।
यदन्यस्य ततः कुर्यान्न मृष्येदिति मे मतिः ॥ २१ ॥

जो स्वयं दूसरेके घरमें उपपति (जार) बनकर जा... है—परायी स्त्रीके साथ व्यभिचार करता है, वह दूसरेको वै... ही कर्म करते देख किससे क्या कह सकता है ? यदि दूसरे... उसी प्रवृत्तिके कारण वह निन्दा करे तो वह पुरुष उस... निन्दाको नहीं सह सकता—ऐसा मेरा विश्वास है ॥ २१ ॥

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद् यदात्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत् ॥ २२ ॥

जो स्वयं जीवित रहना चाहता हो, वह दूसरोंके प्रा... कैसे ले सकता है ? मनुष्य अपने लिये जो-जो सुख-सुवि...

चाहे, वही दूसरेके लिये भी सुलभ करानेकी बात सोचे ॥

अतिरिक्तैः संविभजेद् भोगैरन्यानकिंचनान् ।
एतस्मात् कारणाद् धात्रा कुसीदं सम्प्रवर्तितम् ॥ २३ ॥

जो अपनी आवश्यकतासे अधिक हो, उन भोगपदार्थोंको दूसरे दीन-दुखियोंके लिये बाँट दे । इसीलिये विधाताने सूदपर धन देनेकी वृत्ति चलायी है ॥ २३ ॥

यस्मिंस्तु देवाः समये संतिष्ठेरंस्तथा भवेत् ।
अथवा लाभसमये स्थितिर्धर्मेऽपि शोभना ॥ २४ ॥

जिस सन्मार्ग या मर्यादापर देवता स्थित होते हैं, उसीपर मनुष्यको भी स्थिर रहना चाहिये अथवा धन-लाभके समय धर्ममें स्थित रहना भी अच्छा है ॥ २४ ॥

सर्वं प्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
पश्यैतं लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ! सबके साथ प्रेमपूर्ण बर्ताव करनेसे जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब धर्म है, ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है तथा जो इसके विपरीत है, वह अधर्म है । तुम धर्म और अधर्मका संक्षेपसे यही लक्षण समझो ॥ २५ ॥

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा ।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम् ॥ २६ ॥

विधाताने पूर्वकालमें सत्पुरुषोंके जिस उत्तम आचरणका विधान किया है, वह विश्वके कल्याणकी भावनासे युक्त है और उससे धर्म एवं अर्थके सूक्ष्म स्वरूपका ज्ञान होता है ॥

धर्मलक्षणमाख्यातमेतत् ते कुरुसत्तम ।
तस्मादनार्जवे बुद्धिर्न ते कार्या कथंचन ॥ २७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यह मैंने तुमसे धर्मका लक्षण बताया है; अतः तुम्हें किसी तरह कुटिल मार्गमें अपनी बुद्धिको नहीं ले जाना चाहिये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्मलक्षणे एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्मका लक्षणविषयक दो सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५९ ॥

षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धर्मकी प्रामाणिकतापर संदेह उपस्थित करना

युधिष्ठिर उवाच

सूक्ष्मं साधु समादिष्टं भवता धर्मलक्षणम् ।
प्रतिभा त्वस्ति मे काचित् तां ब्रूयामनुमानतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! आपने धर्मका सूक्ष्म एवं सुन्दर लक्षण बताया है; परंतु मुझे कुछ और ही स्फुरित हो रहा है । अतः मैं उसके सम्बन्धमें अनुमानसे ही कुछ कहूँगा ॥ १ ॥

भूयांसो हृदये ये मे प्रश्नास्ते व्याहृतास्त्वया ।
इमं त्वन्यत् प्रवक्ष्यामि न राजन् विग्रहादिव ॥ २ ॥

मेरे हृदयमें जो बहुत-से प्रश्न उठे थे, उन सबका निराकरण आपने कर दिया । महाराज ! अब मैं यह दूसरा प्रश्न उपस्थित कर रहा हूँ । इसमें जिज्ञासा ही कारण है, दुराग्रह नहीं ॥ २ ॥

इमानि हि प्राणयन्ति सृजन्त्युत्तारयन्ति च ।
न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! धर्म ही इन प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं । धर्म ही उनके जीवनधारण और उद्धारमें कारण होते हैं; परंतु धर्मको केवल वेदोंके पाठमात्रसे नहीं जाना जा सकता ॥

अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः ।
आपदस्तु कथं शक्याः परिपाठेन वेदितुम् ॥ ४ ॥

जो मनुष्य अच्छी स्थितिमें है, उसका धर्म दूसरा है और जो संकटमें पड़ा हुआ है, उसका धर्म दूसरा ही है । केवल वेदोंके पाठसे आपद्धर्मका ज्ञान कैसे हो सकता है ? ॥ ४ ॥

सदाचारो मतो धर्मः सन्तस्त्वाचारलक्षणाः ।
साध्यासाध्यं कथं शक्यं सदाचारो ह्यलक्षणः ॥ ५ ॥

आपके कथनानुसार सत्पुरुषोंका आचरण धर्म माना गया है और जिनमें धर्माचरण लक्षित होता है, वे ही सत्पुरुष हैं । ऐसी दशामें अन्योन्याश्रय दोष पड़नेके कारण साध्य और असाध्यका विवेक कैसे हो सकता है ? ऐसी दशामें सदाचार धर्मका लक्षण नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

दृश्यते हि धर्मरूपेणाधर्मं प्राकृतश्चरन् ।
धर्मं चाधर्मरूपेण कश्चिदप्राकृतश्चरन् ॥ ६ ॥

इस लोकमें देखा जाता है कि कितने ही प्राकृत मनुष्य धर्म-से दिखायी देनेवाले अधर्मका आचरण करते हैं और कितने ही अप्राकृत (शिष्ट) पुरुष अधर्म प्रतीत होनेवाले धर्मका अनुष्ठान करते हैं (अतः केवल आचारसे धर्माधर्मका निर्णय नहीं हो सकता) ॥ ६ ॥

पुनरस्य प्रमाणं हि निर्दिष्टं शास्त्रकोविदैः ।
वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीह नः श्रुतम् ॥ ७ ॥

शास्त्रज्ञ पुरुषोंने धर्ममें वेदको ही प्रमाण बताया है; किंतु हमने सुना है कि युग-युगमें वेदोंका ह्रास होता है अर्थात् धर्मके सम्बन्धमें जो वेदोंका निश्चय है, वह प्रत्येक युगमें बदलता रहता है ॥ ७ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे धर्मा यथाशक्ति कृता इव ॥ ८ ॥

सत्ययुगके धर्म कुछ और हैं, त्रेता और द्वापरके धर्म

कुछ और ही हैं और कलियुगके धर्म कुछ और ही बताये गये हैं। मानो मुनियोंने लोगोंकी शक्तिके अनुसार ही धर्मकी व्यवस्था की है ॥ ८ ॥

आम्नायवचनं सत्यमित्ययं लोकसंग्रहः।
आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृताः सर्वतोमुखाः ॥ ९ ॥

वेदोंका वचन सत्य है, यह कथन लोकरञ्जनमात्र है। वेदोंसे ही सर्वतोमुखी स्मृतियोंका प्रचार और प्रसार हुआ है॥

ते चेत् सर्वप्रमाणं वै प्रमाणं तन्न विद्यते।
प्रमाणेऽप्यप्रमाणेन विरुद्धे शास्त्रता कुतः ॥ १० ॥

यदि सम्पूर्ण वेद प्रामाणिक हैं तो स्मृतियाँ भी प्रामाणिक हो सकती हैं; परंतु जब (युग-युगमें धर्मके विषयमें विभिन्न प्रकारकी बात कहनेसे) प्रमाणभूत वेद भी अप्रामाणिक हो तो वेदमूलक स्मृतियाँ भी प्रामाणिक नहीं रहेंगी। यदि स्मृतिका श्रुतिके साथ विरोध हो, तो उसमें शास्त्रत्व कैसे रह सकता है ? ॥ १० ॥

धर्मस्य क्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः।
या या विक्रियते संस्था ततः सापि प्रणश्यति ॥ ११ ॥

जब धर्मका अनुष्ठान हो रहा हो, उस समय बलवान् दुरात्माओंद्वारा उसमें जो-जो विकृति उत्पन्न की जाती है, उसके कारण उस धर्ममर्यादाका ही लोप हो जाता है ॥११॥

विद्म चैवं न वा विद्म शक्यं वा वेदितुं न वा।
अणीयान् क्षुरधाराया गरीयानपि पर्वतात् ॥ १२ ॥

हम धर्मको जानते हों या न जानते हों, धर्मस्वरूप जाना जा सकता हो या नहीं; इतना तो हम समझते ही हैं कि धर्म छूरेकी धारसे भी सूक्ष्म और पर्वतसे भी अधिक विशाल एवं भारी है ॥ १२ ॥

गन्धर्वनगराकारः प्रथमं सम्प्रदृश्यते।
अन्वीक्ष्यमाणः कविभिः पुनर्गच्छत्यदर्शनम् ॥ १३ ॥

धर्मके विषयमें जब आलोचना की जाती है, तब पहले तो वह गन्धर्वनगरके समान दिखायी देता है; फिर विद्वानोंद्वारा विशेष रूपसे विचार करनेपर यह प्रतीत होता है कि वह अदृश्य हो गया ॥ १३ ॥

निपानानीव गोभ्योऽपि क्षेत्रे कुल्ये च भारत।
स्मृतिर्हि शाश्वतो धर्मो विप्रहीणो न दृश्यते ॥ १४ ॥

भरतनन्दन ! जैसे बहुत-सी गौओंको पानी पिलानेसे निपान (क्षुद्र जलाशय) सूख जाते हैं तथा जैसे अधिक खेतोंकी सिंचाई करनेसे नहरोंका पानी निपट जाता है, उसी प्रकार सनातन वैदिक धर्म अथवा स्मृति-शास्त्र धीरे-धीरे क्षीण होकर कलियुगके अन्तिम भागमें दिखायी ही नहीं देता है ॥

कामादन्येच्छया चान्ये कारणैरपरैस्तथा।
असन्तोऽपि वृथाचारं भजन्ते बहवोऽपरे ॥ १५ ॥

क्योंकि उस समय कुछ लोग स्वार्थवश, दूसरे लोग दूसरोंकी इच्छासे तथा अन्य मनुष्य अन्यान्य कारणोंसे धर्माचरण करते हैं और बहुत-से असाधु पुरुष भी व्यर्थ धर्माचरणका ढोंग फैला लेते हैं ॥ १५ ॥

धर्मो भवति स क्षिप्रं प्रलापस्त्वेव साधुषु।
अथैतानाहुरुन्मत्तानपि चावहसन्त्युत ॥ १६ ॥

उन दिनों लोगोंद्वारा प्रायः सकामभावसे ही धर्मका आचरण होता देखा जाता है। श्रेष्ठ पुरुषोंमें जो यथार्थ धर्म होता है, वह शीघ्र ही मूढ मनुष्योंकी दृष्टिमें प्रलापमात्र सिद्ध होता है। वे मूढ उन धर्मात्मा पुरुषोंको पागल कहते और उनकी हँसी उड़ाते हैं ॥ १६ ॥

महाजना ह्युपावृत्ता राजधर्मं समाश्रिताः।
न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते ॥ १७ ॥

आचार्य द्रोण-जैसे महापुरुष भी स्वधर्मसे हटकर क्षत्रिय-धर्मका आश्रय लेते हैं; अतः कोई भी आचार ऐसा नहीं है, जो सबके लिये समानरूपसे हितकर या सबके द्वारा समानरूपसे पालित हो ॥ १७ ॥

तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः।
दृश्यते चैव स पुनस्तुल्यरूपो यदृच्छया ॥ १८ ॥

यह भी देखा जाता है कि उसी धर्मके आचरणसे विश्वामित्र आदि अन्य महापुरुषोंने उन्नति प्राप्त की है तथा रावणादि निशाचर उसी धर्मके बलसे दूसरोंको पीड़ा देते हैं एवं कश्यप आदि अनेक महर्षि ईश्वरकी इच्छासे उसी धर्मके द्वारा सदा एक-सी स्थितिमें दिखायी देते हैं ॥ १८ ॥

येनैवान्यः प्रभवति सोऽपरानपि बाधते।
आचाराणामनैकाग्र्यं सर्वेषामुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥

जिस धर्मको अपनाकर एक व्यक्ति उन्नति करता है, उसीसे दूसरा दूसरोंको पीड़ा देता है; अतः सबके लिये आचारोंकी एकरूपता कोई नहीं दिखा सकता ॥१९॥

चिराभिपन्नः कविभिः पूर्वं धर्म उदाहृतः।
तेनाचारेण पूर्वेण संस्था भवति शाश्वती ॥ २० ॥

आपने पहले उसी धर्मका वर्णन किया है, जिसे विद्वान् लोग चिरकालसे धारण करते चले आ रहे हैं। मैं भी यही समझता हूँ कि उस पूर्वप्रचलित धर्मके आचरणद्वारा ही समाजकी मर्यादा दीर्घकालतक टिकी रहती है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्मप्रामाण्याक्षेपे षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्मकी प्रामाणिकतापर आक्षेपविषयक दो सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६०॥

एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलिकी घोर तपस्या, सिरपर जटाओंमें पक्षियोंके घोंसला बनानेसे उनका अभिमान और आकाशवाणीकी प्रेरणासे उनका तुलाधार वैश्यके पास जाना

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तुलाधारस्य वाक्यानि धर्मे जाजलिना सह ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! धर्मके विषयमें जाजलिके साथ तुलाधार वैश्यकी जो बातें हुई थीं, उसी प्राचीन इतिहासका विद्वान् पुरुष यहाँ उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

वने वनचरः कश्चिज्जाजलिर्नाम वै द्विजः ।
सागरोद्देशमागम्य तपस्तेपे महातपाः ॥ २ ॥

प्राचीन कालमें जाजलि नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो वनमें ही रहते और विचरते थे । उन महातपस्वी जाजलिने समुद्रके तटपर जाकर बड़ी भारी तपस्या की ॥२॥

नियतो नियताहारश्चीराजिनजटाधरः ।
मलपङ्कधरो धीमान् बहून् वर्षगणान् मुनिः ॥ ३ ॥

वे नियमसे रहते, नियमित भोजन करते और वल्कल, मृगचर्म एवं जटा धारण किया करते थे । वे बुद्धिमान् मुनि बहुत वर्षोंतक शरीरपर मैल और कीचड़ धारण किये खड़े रहे ॥ ३ ॥

स कदाचिन्महातेजा जलवासो महीपते ।
चचार लोकान् विप्रर्षिः प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ४ ॥

राजन्! फिर किसी समय समुद्रतटस्थ जलयुक्त प्रदेशमें निवास करनेवाले वे महातेजस्वी विप्रर्षि सम्पूर्ण लोकोंको देखनेके लिये मनके समान तीव्र गतिसे विचरण करने लगे ॥ ४ ॥

स चिन्तयामास मुनिर्जलवासे कदाचन ।
विप्रेक्ष्य सागरान्तां वै महीं सवनकाननाम् ॥ ५ ॥

वन और काननोंसहित समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका निरीक्षण करके समुद्रतटवर्ती सजल प्रदेशमें निवास करते समय जाजलि मुनि कभी इस प्रकार विचार करने लगे ॥ ५ ॥

न मया सदृशोऽस्तीह लोके स्थावरजङ्गमे ।
अप्सु वैहायसं गच्छेन्मया योऽन्यः सहेति वै ॥ ६ ॥

इस चराचर जगत्में मेरे सिवा ऐसा कोई दूसरा मनुष्य नहीं है, जो मेरे साथ जलमें विचरने और आकाशमें घूमने-फिरनेकी शक्ति रखता हो ॥ ६ ॥

अदृश्यमानो रक्षोभिर्जलमध्ये वदंस्तथा ।
अब्रुवंश्च पिशाचास्तं नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

राक्षसोंसे अदृश्य रहकर जलयुक्त प्रदेशमें निवास करनेवाले जाजलि मुनिने जब इस प्रकार कहा, तब अदृश्य पिशाचोंने उनसे कहा, 'मुने! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥

तुलाधारो वणिग्धर्मा वाराणस्यां महायशाः ।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं यथा त्वं द्विजसत्तम ॥ ८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! काशीमें महायशस्वी तुलाधार रहते हैं, जो वणिक्-धर्मका पालन करते हैं; किंतु वे भी ऐसी बात नहीं कह सकते, जैसी आज आप कह रहे हैं' ॥ ८ ॥

इत्युक्तो जाजलिर्भूतैः प्रत्युवाच महातपाः ।
पश्येयं तमहं प्राज्ञं तुलाधारं यशस्विनम् ॥ ९ ॥

उन अदृश्य भूतोंके ऐसा कहनेपर महातपस्वी जाजलिने उनसे कहा—'क्या मैं उन ज्ञानी एवं यशस्वी तुलाधारका दर्शन कर सकता हूँ' ॥ ९ ॥

इति ब्रुवाणं तमृषिं रक्षांस्युद्धृत्य सागरात् ।
अब्रुवन् गच्छ पन्थानमास्थायेमं द्विजोत्तम ॥ १० ॥

ऐसा कहते हुए उन महर्षिको समुद्रतटवर्ती जलप्रदेशसे बाहर निकालकर राक्षसोंने उनसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! इस मार्गका आश्रय लेकर काशीपुरी चले जाइये' ॥ १० ॥

इत्युक्तो जाजलिर्भूतैर्जगाम विमनास्तदा ।
वाराणस्यां तुलाधारं समासाद्याब्रवीदिदम् ॥ ११ ॥

उन अदृश्य भूतोंके ऐसा कहनेपर जाजलि मुनि उदास होकर काशीमें गये और तुलाधारके पास पहुँचकर उससे इस प्रकार बोले ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं कृतं दुष्करं तात कर्म जाजलिना पुरा ।
येन सिद्धिं परां प्राप्तस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात! पूर्वकालमें जाजलिने कौन-सा ऐसा दुष्कर कार्य किया था, जिससे वे परम सिद्धिको प्राप्त हो गये, यह मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

अतीव तपसा युक्तो घोरेण स बभूव ह ।
तथोपस्पर्शनरतः सायं प्रातर्महातपाः ॥ १३ ॥
अग्नीन् परिचरन् सम्यक् स्वाध्यायपरमो द्विजः ।
वानप्रस्थविधानज्ञो जाजलिर्ज्वलितः श्रिया ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा! जाजलि मुनि महान् तपस्वी थे और अत्यन्त घोर तपस्यामें लगे हुए थे । वे प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल स्नान एवं संध्योपासना करके विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते और वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहते थे । ब्रह्मर्षि जाजलि वानप्रस्थके धर्मकी विधिको जानने और पालनेवाले थे, वे अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे ॥ १३-१४ ॥

वने तपस्यतिष्ठत् स न च धर्ममवैक्षत ।
वर्षास्वाकाशशायी च हेमन्ते जलसंश्रयः ॥ १५ ॥
वातातपसहो ग्रीष्मे न च धर्ममविन्दत ।
दुःखशय्याश्च विविधा भूमौ च परिवर्तते ॥ १६ ॥

वे वनमें रहकर तपस्यामें ही लगे रहते, किंतु अपने धर्मकी कभी अवहेलना नहीं करते थे । वे वर्षाके दिनोंमें

खुले आकाशके नीचे सोते और हेमन्त ऋतुमें पानीके भीतर बैठा करते थे। इसी तरह गर्मीके महीनोंमें कड़ी धूप और लूका कष्ट सहते थे; परंतु उनको वास्तविक धर्मका ज्ञान नहीं हुआ। वे पृथ्वीपर ही लोटते और तरह-तरहसे इस प्रकार सोते, जिससे दुःख और कष्टका ही अधिक अनुभव होता था॥

ततः कदाचित् स मुनिर्वर्षास्वाकाशमास्थितः।
अन्तरिक्षाज्जलं मूर्ध्ना प्रत्यगृह्णान्मुहुर्मुहुः॥ १७॥

तदनन्तर किसी समय वर्षा-ऋतु आनेपर वे मुनि खुले आकाशके नीचे खड़े हो गये और आकाशसे जो जलकी मूसलाधार वृष्टि होती थी, उसके आघातको बारंबार अपने मस्तकपर ही सहने लगे॥ १७॥

अथ तस्य जटाः क्लिन्ना बभूवुर्ग्रथिताः प्रभो।
अरण्यगमनान्नित्यं मलिनोऽमलसंयुतः॥ १८॥

प्रभो! उनके सिरके बाल बराबर भींगे रहनेके कारण उलझकर जटाके रूपमें परिणत हो गये। सदा वनमें ही विचरण करनेके कारण उनके शरीरपर मैल जम गयी थी; परंतु उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया था॥ १८॥

स कदाचिन्निराहारो वायुभक्षो महातपाः।
तस्थौ काष्ठवदव्यग्रो न चचाल च कर्हिचित्॥ १९॥

एक समयकी बात है, वे महातपस्वी जाजलि निराहार रहकर वायु-भक्षण करते हुए काष्ठकी भाँति खड़े हो गये, उस समय उनके चित्तमें तनिक भी व्यग्रता नहीं थी और वे क्षणभरके लिये भी कभी विचलित नहीं होते थे॥ १९॥

तस्य स स्थाणुभूतस्य निर्विचेष्टस्य भारत।
कुलिङ्गशकुनौ राजन् नीडं शिरसि चक्रतुः॥ २०॥

भरतनन्दन! वे चेष्टाशून्य होनेके कारण किसी ठूँठे पेड़के समान जान पड़ते थे। राजन्! उस समय उनके सिरपर गौरैया पक्षीके एक जोड़ेने अपने रहनेके लिये एक घोंसला बना लिया॥ २०॥

स तौ दयावान् ब्रह्मर्षिरुपप्रैक्षत दम्पती।
कुर्वाणौ नीडकं तत्र जटासु तृणतन्तुभिः॥ २१॥

वे विप्रर्षि बड़े दयालु थे, इसलिये उन्होंने उन दोनों पक्षियोंको तिनकोंसे अपनी जटाओंमें घोंसला बनाते देखकर भी उनकी उपेक्षा कर दी—उन्हें हटाने या उड़ानेकी कोई चेष्टा नहीं की॥ २१॥

यदा न स चलत्येव स्थाणुभूतो महातपाः।
ततस्तौ सुखविश्वस्तौ सुखं तत्रोषतुस्तदा॥ २२॥

जब वे महातपस्वी ठूँठे काठके समान होकर जरा भी हिले-डुले नहीं, तब अच्छी तरह विश्वास जम जानेके कारण वे दोनों पक्षी वहाँ बड़े सुखसे रहने लगे॥ २२॥

अतीतास्वथ वर्षासु शरत्काल उपस्थिते।
प्राजापत्येन विधिना विश्वासात् काममोहितौ॥ २३॥
तत्रापातयतां राजन् शिरस्यण्डानि खेचरौ।
तान्यबुध्यत तेजस्वी स विप्रः संशितव्रतः॥ २४॥

राजन्! धीरे-धीरे वर्षा-ऋतु बीत गयी और शरत्काल उपस्थित हुआ। उस समय कामसे मोहित होकर उन गौरैयों-ने संतानोत्पादनकी विधिसे परस्पर समागम किया और विश्वासके कारण महर्षिके सिरपर ही अण्डे दिये। कठोर व्रतका पालन करनेवाले उन तेजस्वी ब्राह्मणको यह मालूम हो गया कि पक्षियोंने मेरी जटाओंमें अण्डे दिये हैं॥ २३-२४॥

बुद्ध्वा च स महातेजा न चचाल च जाजलिः।
धर्मे कृतमना नित्यं नाधर्मं स त्वरोचयत्॥ २५॥

इस बातको जानकर भी महातेजस्वी जाजलि विचलित नहीं हुए। उनका मन सदा धर्ममें लगा रहता था; अतः उन्हें अधर्मका कार्य पसंद नहीं था॥ २५॥

अहन्यहनि चागत्य ततस्तौ तस्य मूर्धनि।
आश्वासितौ निवसतः सम्प्रहृष्टौ तदा विभो॥ २६॥

प्रभो! चिड़ियोंके वे जोड़े प्रतिदिन चारा चुगनेके लिये जाते और फिर लौटकर उनके मस्तकपर ही बसेरा लेते थे, वहाँ उन्हें बड़ा आश्वासन मिलता था और वे बहुत प्रसन्न रहते थे॥

अण्डेभ्यस्त्वथ पुष्टेभ्यः प्राजायन्त शकुन्तकाः।
व्यवर्धन्त च तत्रैव न चाकम्पत जाजलिः॥ २७॥

अण्डोंके पुष्ट होनेपर उन्हें फोड़कर बच्चे बाहर निकले और वहीं पलकर बड़े होने लगे, तथापि जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं॥

स रक्षमाणस्त्वण्डानि कुलिङ्गानां धृतव्रतः।
तथैव तस्थौ धर्मात्मा निर्विचेष्टः समाहितः॥ २८॥

दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले वे एकाग्रचित्त धर्मात्मा मुनि उन पक्षियोंके अण्डोंकी रक्षा करते हुए पूर्ववत् निश्चेष्टभावसे खड़े रहे॥ २८॥

ततस्तु कालसमये बभूवुस्तेऽथ पक्षिणः।
बुबुधे तांस्तु स मुनिर्जातपक्षान् कुलिङ्गकान्॥ २९॥

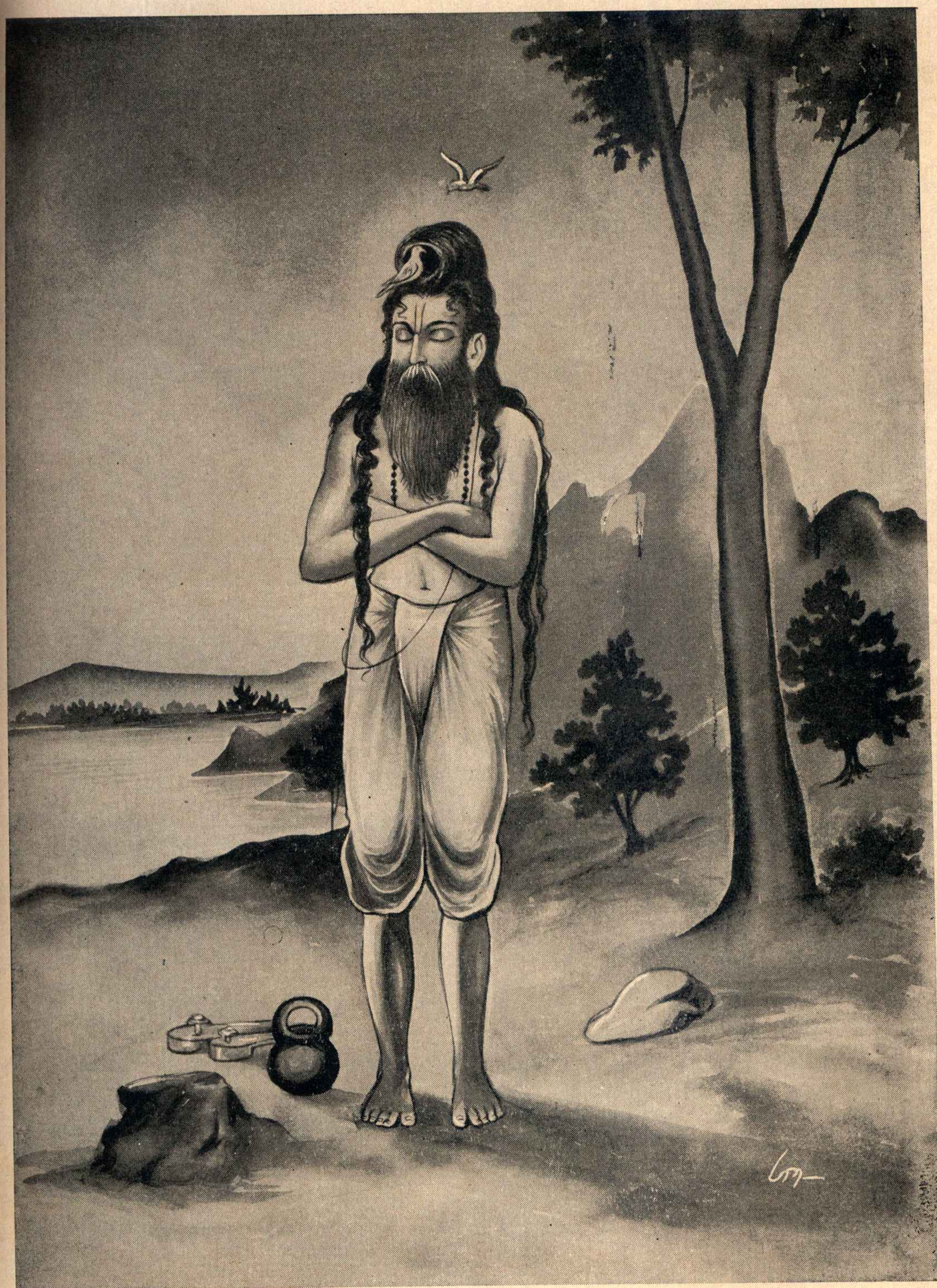
तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर उन सब बच्चोंके पर निकल आये, मुनिको यह बात मालूम हो गयी कि चिड़ियोंके इन बच्चोंके पंख निकल आये हैं॥ २९॥

ततः कदाचित् तांस्तत्र पश्यन् पक्षीन् यतव्रतः।
बभूव परमप्रीतस्तदा मतिमतां वरः॥ ३०॥
तथा तानपि संवृद्धान् दृष्ट्वा चाप्नुवतां मुदम्।
शकुनौ निर्भयौ तत्र ऊषतुश्चात्मजैः सह॥ ३१॥

संयमपूर्वक व्रतके पालनमें तत्पर रहनेवाले, बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ जाजलि किसी दिन वहाँ उन पंखधारी बच्चोंको उड़ते देख बड़े प्रसन्न हुए तथा अपने बच्चोंको बड़ा हुआ देख वे दोनों पक्षी भी बड़े आनन्दका अनुभव करने लगे और अपनी संतानोंके साथ निर्भय होकर वहीं रहने लगे॥ ३०-३१॥

जातपक्षांश्च सोऽपश्यदुड्डीनान् पुनरागतान्।
सायं सायं द्विजान् विप्रो न चाकम्पत जाजलिः॥ ३२॥

बच्चोंके पंख हो गये थे, इसलिये वे दिनमें चारा चुगनेके लिये उड़कर निकल जाते और प्रतिदिन सायंकाल फिर वहीं लौट आते थे। ब्राह्मणप्रवर जाजलि उन पक्षियोंको इस



मुनि जाजलिकी तपस्या

प्रकार आते-जाते देखते, परंतु हिलते-डुलते नहीं थे ॥ ३२ ॥

कदाचित् पुनरभ्येत्य पुनर्गच्छन्ति संततम् ।
त्यक्ता मातापितृभ्यां ते न चाकम्पत जाजलिः ॥ ३३ ॥

किसी समय माता-पिता उनको छोड़कर उड़ गये । अब वे बच्चे कभी आकर फिर चले जाते और जाकर फिर चले आते थे, इस प्रकार वे सदा आने-जाने लगे । उस समयतक जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं ॥ ३३ ॥

तथा ते दिवसं चापि गत्वा सायं पुनर्नृप ।
उपावर्तन्त तत्रैव निवासार्थं शकुन्तकाः ॥ ३४ ॥

नरेश्वर ! अब वे पक्षी दिनभर चरनेके लिये चले जाते और शामको पुनः बसेरा लेनेके लिये वहीं आते थे ॥ ३४ ॥

कदाचिद् दिवसान् पञ्च समुत्पत्य विहङ्गमाः ।
षष्ठेऽहनि समाजग्मुर्न चाकम्पत जाजलिः ॥ ३५ ॥

कभी-कभी वे विहङ्गम उड़कर पाँच-पाँच दिनतक बाहर ही रह जाते और छठे दिन वहाँ लौटते थे, तबतक भी जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं ॥ ३५ ॥

क्रमेण च पुनः सर्वे दिवसान् सुबहूनथ ।
नोपावर्तन्त शकुना जातप्राणाः स्म ते यदा ॥ ३६ ॥

फिर क्रमशः वे सब पक्षी बहुत दिनोंके लिये जाने और आने लगे, अब वे हृष्ट-पुष्ट और बलवान् हो गये थे । अतः बाहर निकल जानेपर जल्दी नहीं लौटते थे ॥ ३६ ॥

कदाचिन्मासमात्रेण समुत्पत्य विहङ्गमाः ।
नैवागच्छंस्ततो राजन् प्रातिष्ठत स जाजलिः ॥ ३७ ॥

राजन् ! एक समय वे आकाशचारी पक्षी उड़ जानेके बाद एक मासतक लौटकर नहीं आये, तब जाजलि मुनि वहाँसे अन्यत्र चल दिये ॥ ३७ ॥

ततस्तेषु प्रलीनेषु जाजलिर्जातविस्मयः ।
सिद्धोऽस्मीति मतिं चक्रे ततस्तं मान आविशत् ॥ ३८ ॥

उन पक्षियोंके अदृश्य हो जानेपर जाजलिको बड़ा विस्मय हुआ, वे मन-ही-मन यह मानने लगे कि मैं सिद्ध हो गया, फिर तो उनके भीतर अहंकार आ गया ॥ ३८ ॥

स तथा निर्गतान् दृष्ट्वा शकुन्तान् नियतव्रतः ।
सम्भावितात्मा सम्भाव्य भृशं प्रीतमनाऽभवत् ॥ ३९ ॥

नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले वे सम्भावितात्मा महर्षि उन पक्षियोंको इस प्रकार गया हुआ देख अपनी सिद्धिकी सम्भावना करके मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३९ ॥

स नद्यां समुपस्पृश्य तर्पयित्वा हुताशनम् ।
उदयन्तमथादित्यमुपातिष्ठन्महातपाः ॥ ४० ॥

फिर नदीके तटपर जाकर उन महातपस्वी मुनिने स्नान किया और संध्या-तर्पणके पश्चात् अग्निहोत्रके द्वारा अग्निदेवको तृप्त करके उगते हुए सूर्यका उपस्थान किया ॥ ४० ॥

सम्भाव्य चटकान् मूर्ध्नि जाजलिर्जपतां वरः ।
आस्फोटयत् तथाऽऽकाशे धर्मः प्राप्तो मयेति वै ॥ ४१ ॥

जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ जाजलि अपने मस्तकपर चिड़ियोंके पैदा होने और बढ़ने आदिकी बातें याद करके अपनेको महान् धर्मात्मा समझने लगे और आकाशमें मानो ताल ठोंकते हुए स्पष्ट वाणीमें बोले, मैंने धर्मको प्राप्त कर लिया ॥ ४१ ॥

अथान्तरिक्षे वागासीत् तां च शुश्राव जाजलिः ।
धर्मेण न समस्त्वं वै तुलाधारस्य जाजले ॥ ४२ ॥
वाराणस्यां महाप्राज्ञस्तुलाधारः प्रतिष्ठितः ।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं यथा त्वं भाषसे द्विज ॥ ४३ ॥

इतनेहीमें आकाशवाणी[1] हुई—'जाजले ! तुम धर्ममें तुलाधारके समान नहीं हो, काशीपुरीमें महाज्ञानी तुलाधार वैश्य प्रतिष्ठित हैं । विप्रवर ! वे तुलाधार भी ऐसी बात नहीं कह सकते, जैसी तुम कह रहे हो ।' जाजलिने उस आकाशवाणीको सुना ॥ ४२-४३ ॥

सोऽमर्षवशमापन्नस्तुलाधारदिदृक्षया ।
पृथिवीमचरद् राजन् यत्र सायंगृहो मुनिः ॥ ४४ ॥

राजन् ! इससे वे अमर्षके वशीभूत हो गये और वे तुलाधारको देखनेके लिये पृथ्वीपर विचरने लगे । जहाँ संध्या होती, वहीं वे मुनि टिक जाते थे ॥ ४४ ॥

कालेन महतागच्छत् स तु वाराणसीं पुरीम् ।
विक्रीणन्तं च पण्यानि तुलाधारं ददर्श सः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार दीर्घकालके पश्चात् वे वाराणसी पुरीमें जा पहुँचे, वहाँ उन्होंने तुलाधारको सौदा बेचते देखा ॥ ४५ ॥

सोऽपि दृष्ट्वैव तं विप्रमायान्तं भाण्डजीवनः ।
समुत्थाय सुसंहृष्टः स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥ ४६ ॥

विविध पदार्थोंके क्रय-विक्रयसे जीवन-निर्वाह करनेवाले तुलाधार भी ब्राह्मणको आते देख तुरंत ही उठकर खड़े हो गये और बड़े हर्षके साथ आगे बढ़कर उन्होंने ब्राह्मणका स्वागत-सत्कार किया ॥ ४६ ॥

तुलाधार उवाच

आयानेवासि विदितो मम ब्रह्मन् न संशयः ।
ब्रवीमि यत् तु वचनं तच्छृणुष्व द्विजोत्तम ॥ ४७ ॥

तुलाधारने कहा—ब्रह्मन् ! आप मेरे पास आ रहे हैं, यह बात मुझे पहले ही मालूम हो गयी थी, इसमें संशय नहीं है । द्विजश्रेष्ठ ! अब जो कुछ मैं कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनिये ॥ ४७ ॥

सागरानूपमाश्रित्य तपस्तप्तं त्वया महत् ।
न च धर्मस्य संज्ञां त्वं पुरा वेत्थ कथंचन ॥ ४८ ॥

आपने सागरके तटपर सजल प्रदेशमें रहकर बड़ी भारी तपस्या की है, परंतु पहले कभी किसी तरह आपको यह बोध नहीं हुआ था कि मैं बड़ा धर्मवान् हूँ ॥ ४८ ॥

ततः सिद्धस्य तपसा तव विप्र शकुन्तकाः ।

---

१. इसी अध्यायमें पहले अदृश्य भूत-पिशाचोंके द्वारा उपर्युक्त वचन कहा गया है । यहाँ उसीकी आकाशवाणी बतला रहे हैं ।

क्षिप्रं शिरस्यजायन्त ते च सम्भावितास्त्वया ॥ ४९ ॥

विप्रवर ! जब आप तपस्यासे सिद्ध हो गये, तब पक्षियोंने शीघ्र ही आपके सिरपर अण्डे दिये और उनसे बच्चे पैदा हुए, आपने उन सबकी भलीभाँति रक्षा की ॥ ४९ ॥

जातपक्षा यदा ते च गताश्चारीमितस्ततः ।
मन्यमानस्ततो धर्मं चटकप्रभवं द्विज ॥ ५० ॥

ब्रह्मन् ! जब उनके पर निकल आये और वे चारा चुगनेके लिये उड़कर इधर-उधर चले गये, तब उन पक्षियोंके पालनजनित धर्मको आप बहुत बड़ा मानने लगे ॥ ५० ॥

खे वाचं त्वमथाश्रौषीर्मां प्रति द्विजसत्तम ।
अमर्षवशमापन्नस्ततः प्राप्तो भवानिह ।
करवाणि प्रियं किं ते तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥ ५१ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! उसी समय मेरे विषयमें आकाशवाणी हुई जिसे आपने सुना और सुनते ही अमर्षके वशीभूत होकर आप यहाँ मेरे पास चले आये । विप्रवर ! बताइये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार-जाजलि-संवादविषयक दो सौ एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलि और तुलाधारका धर्मके विषयमें संवाद

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तदा तेन तुलाधारेण धीमता ।
प्रोवाच वचनं धीमाञ्जाजलिर्जपतां वरः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उस समय बुद्धिमान् तुलाधारके इस प्रकार कहनेपर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ मतिमान् जाजलिने यह बात कही ॥ १ ॥

जाजलिरुवाच

विक्रीणतः सर्वरसान् सर्वगन्धांश्च वाणिज ।
वनस्पतीनोषधीश्च तेषां मूलफलानि च ॥ २ ॥

जाजलि बोले—वैश्यपुत्र ! तुम तो सब प्रकारके रस, गन्ध, वनस्पति, ओषधि, मूल और फल आदि बेचा करते हो ॥ २ ॥

अध्यगा नैष्ठिकीं बुद्धिं कुतस्त्वामिदमागतम् ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं निखिलेन महामते ॥ ३ ॥

महामते ! तुम्हें यह धर्ममें निष्ठा रखनेवाली बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई ? तुम्हें यह ज्ञान कैसे सुलभ हुआ ? यह सब पूर्णरूपसे मुझे बताओ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तुलाधारो ब्राह्मणेन यशस्विना ।
उवाच धर्मसूक्ष्माणि वैश्यो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यशस्वी ब्राह्मण जाजलिके इस प्रकार पूछनेपर धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले तुलाधार वैश्यने उन्हें धर्म-सम्बन्धी सूक्ष्म बातोंको इस तरह बताना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

तुलाधार उवाच

वेदाहं जाजले धर्मं सरहस्यं सनातनम् ।
सर्वभूतहितं मैत्रं पुराणं यं जना विदुः ॥ ५ ॥

तुलाधार बोले—जाजले ! जो समस्त प्राणियोंके लिये हितकारी और सबके प्रति मैत्रीभावकी स्थापना करनेवाला है, जिसे सब लोग पुरातन धर्मके रूपमें जानते हैं, गूढ़ रहस्योंसहित उस सनातन धर्मका मुझे ज्ञान है ॥ ५ ॥

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ॥ ६ ॥

जिसमें किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करना पड़े अथवा कम-से-कम द्रोह करनेसे काम चल जाय, ऐसी जो जीवन-वृत्ति है, वही उत्तम धर्म है । जाजले ! मैं उसीसे जीवननिर्वाह करता हूँ ॥ ६ ॥

परच्छिन्नैः काष्ठतृणैर्मयेदं शरणं कृतम् ।
अलक्तं पद्मकं तुङ्गं गन्धांश्चोच्चावचांस्तथा ॥ ७ ॥

मैंने दूसरोंके द्वारा काटे गये काठ और घास-फूससे यह घर तैयार किया है । अलक्तक (वृक्षविशेषकी छाल), पद्मक (पद्माख), तुङ्गकाष्ठ तथा चन्दनादि गन्धद्रव्य एवं अन्य छोटी-बड़ी वस्तुओंको मैं दूसरोंसे खरीदकर बेचता हूँ ॥ ७ ॥

रसांश्च तांस्तान् विप्रर्षे मद्यवर्ज्यान् बहूनहम् ।
क्रीत्वा वै प्रतिविक्रीणे परहस्तादमायया ॥ ८ ॥

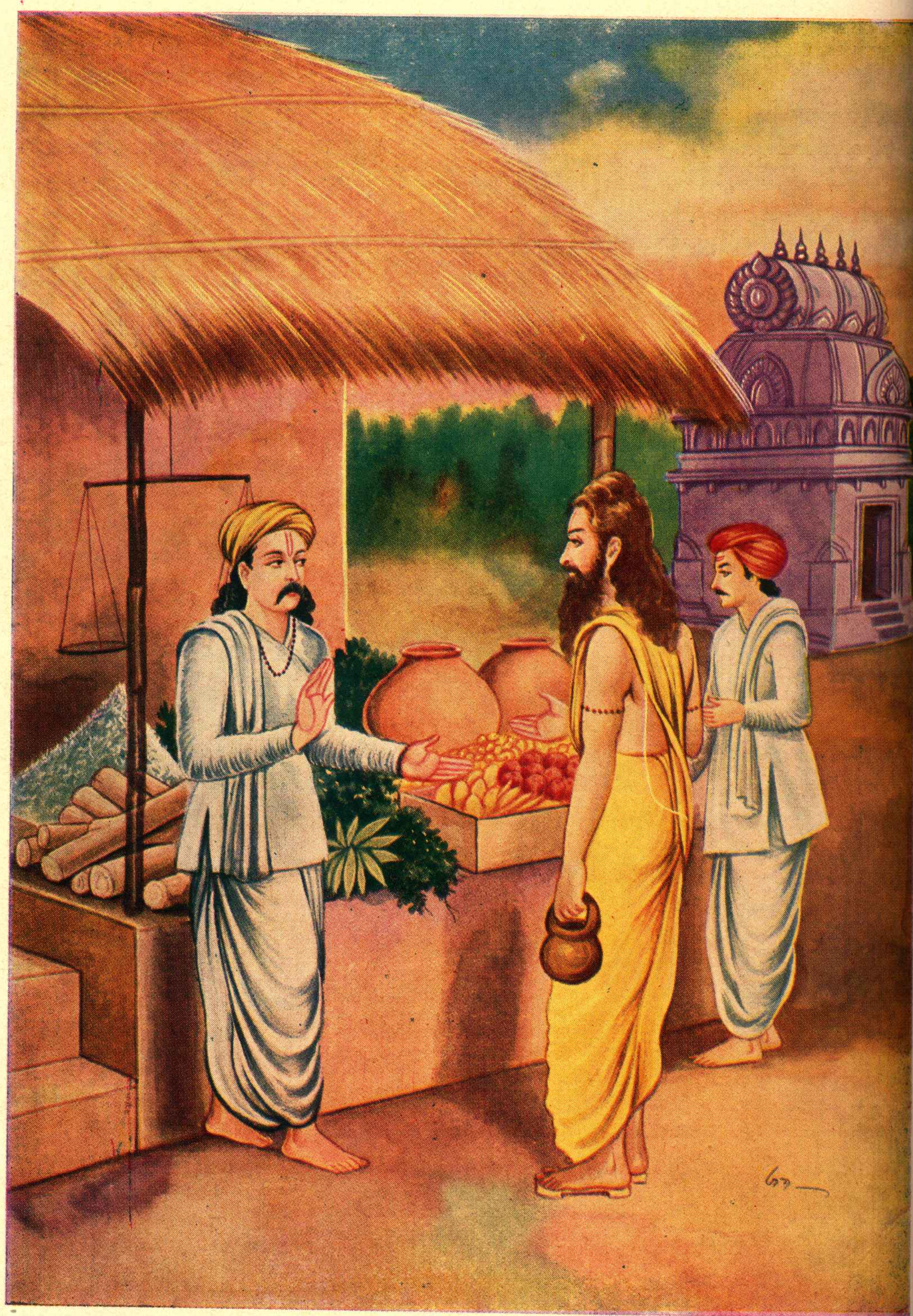
विप्रर्षे ! मेरे यहाँ मदिरा नहीं बेची जाती, उसे छोड़कर बहुत-से पीनेयोग्य रसोंको दूसरोंसे खरीदकर बेचता हूँ । मा[illegible] बेचनेमें छल-कपट एवं असत्यसे काम नहीं लेता ॥ ८ ॥

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥ ९ ॥

जाजले ! जो सब जीवोंका सुहृद् होता और मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा सदा सबके हितमें लगा रहता है, वही वास्तवमें धर्मको जानता है ॥ ९ ॥

नानुरुध्ये निरुध्ये वा न द्वेष्मि न च कामये ।
समोऽहं सर्वभूतेषु पश्य मे जाजले व्रतम् ।
तुला मे सर्वभूतेषु समा तिष्ठति जाजले ॥ १० ॥

मैं न किसीसे अनुरोध करता हूँ, न विरोध ही करता हूँ और न कहीं मेरा द्वेष है, न किसीसे कुछ कामना करता हूँ । समस्त प्राणियोंके प्रति मेरा समभाव है । जाजले ! यही मेरा व्रत और नियम है, इसपर दृष्टिपात करो । मुने ! मेरी तराजू सब मनुष्योंके लिये सम है—सबके लिये बराबर तौलती है ।



वैश्य तुलाधारके द्वारा मुनि जाजलिका सत्कार

नाहं परेषां कृत्यानि प्रशंसामि न गर्हये ।
आकाशस्येव विप्रेन्द्र पश्यँल्लोकस्य चित्रताम् ॥ ११ ॥

विप्रवर ! मैं आकाशकी भाँति असङ्ग रहकर जगत‍्के कार्योंकी विचित्रताको देखता हुआ दूसरोंके कार्योंकी न तो प्रशंसा करता हूँ और न निन्दा ही ॥ ११ ॥

इति मां त्वं विजानीहि सर्वलोकस्य जाजले ।
समं मतिमतां श्रेष्ठ समलोष्टाश्मकाञ्चनम् ॥ १२ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ जाजले ! इस प्रकार तुम मुझे सब लोगोंके प्रति समता रखनेवाला और मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा सुवर्णको समान समझनेवाला जानो ॥ १२ ॥

यथान्धबधिरोन्मत्ता उच्छ्वासपरमाः सदा ।
देवैरपिहितद्वाराः सोपमा पश्यतो मम ॥ १३ ॥

जैसे अन्धे, बहरे और उन्मत्त (पागल) मनुष्य, जिनके नेत्र, कान आदि द्वार देवताओंने सदाके लिये बंद कर दिये हैं, सदा केवल साँस लेते रहते हैं, मुझ द्रष्टा पुरुषकी भी वैसी ही उपमा है (अर्थात् मैं देखकर भी नहीं देखता, सुनकर भी नहीं सुनता और विषयोंकी ओर मन नहीं ले जाता, केवल साक्षीरूपसे देखता हुआ श्वास-प्रश्वासमात्रकी क्रिया करता रहता हूँ) ॥ १३ ॥

यथा वृद्धातुरकृशा निःस्पृहा विषयान् प्रति ।
तथार्थकामभोगेषु ममापि विगता स्पृहा ॥ १४ ॥

जैसे वृद्ध, रोगी और दुर्बल मनुष्य विषयभोगोंकी स्पृहा नहीं रखते, उसी प्रकार मेरे मनसे भी धन और विषय-भोगोंकी इच्छा दूर हो गयी है ॥ १४ ॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १५ ॥

जब यह पुरुष दूसरेसे भयभीत नहीं होता, जब दूसरे प्राणी भी इससे भयभीत नहीं होते तथा जब यह न तो किसीकी इच्छा रखता है और न किसीसे द्वेष ही करता है, तब ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १५ ॥

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १६ ॥

जब समस्त प्राणियोंके प्रति मन, वाणी और क्रियाद्वारा भी बुरे भाव नहीं होते हैं तब मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त होता है॥

न भूतो न भविष्योऽस्ति न च धर्मोऽस्ति कश्चन ।
योऽभयः सर्वभूतानां स प्राप्नोत्यभयं पदम् ॥ १७ ॥

जिसका भूत या भविष्यमें कोई कार्य नहीं है तथा जिसके लिये कोई धर्म करना शेष नहीं है, साथ ही सम्पूर्ण भूतोंको अभय प्रदान करता है, वही निर्भय पदको प्राप्त होता है ॥

यस्मादुद्विजते लोकः सर्वो मृत्युमुखादिव ।
वाक्क्रूराद् दण्डपरुषात् स प्राप्नोति महद् भयम् ॥ १८ ॥

जैसे सब लोग मौतके मुखमें जानेसे डरते हैं, उसी प्रकार जिसके स्मरणमात्रसे सब लोग उद्विग्न हो उठते हैं तथा जो कटुवचन बोलनेवाला और दण्ड देनेमें कठोर है, ऐसे मनुष्यको महान् भयका सामना करना पड़ता है ॥ १८ ॥

यथावद् वर्तमानानां वृद्धानां पुत्रपौत्रिणाम् ।
अनुवर्तामहे वृत्तमहिंस्राणां महात्मनाम् ॥ १९ ॥

जो वृद्ध हैं, पुत्र और पौत्रोंसे सम्पन्न हैं, शास्त्रके अनुसार यथोचित आचरण करते हैं और किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करते हैं, उन्हीं महात्माओंके बर्तावका मैं भी अनुसरण करता हूँ ॥

प्रणष्टः शाश्वतो धर्मस्त्वनाचारेण मोहितः ।
तेन वैद्यस्तपस्वी वा बलवान् वा विमुह्यते ॥ २० ॥

अनाचारसे सनातनधर्म मोहयुक्त होकर नष्ट हो जाता है। उसके द्वारा विद्वान्, तपस्वी तथा काम-क्रोधको जीतनेवाला बलवान् पुरुष भी मोहमें पड़ जाता है ॥ २० ॥

आचाराज्जाजले प्राज्ञः क्षिप्रं धर्ममवाप्नुयात् ।
एवं यः साधुभिर्दान्तश्चरेदद्रोहचेतसा ॥ २१ ॥

जाजले ! जो जितेन्द्रिय पुरुष अपने चित्तमें दूसरोंके प्रति द्रोह न रखकर, इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा पालित आचारको अपने आचरणमें लाता है, वह विद्वान् वेदबोधित सदाचारका पालन करनेसे शीघ्र ही धर्मके रहस्यको जान लेता है॥

नद्यां चेह यथा काष्ठमुह्यमानं यदृच्छया ।
यदृच्छयैव काष्ठेन सन्धिं गच्छेत केनचित् ॥ २२ ॥
तत्रापराणि दारूणि संसृज्यन्ते परस्परम् ।
तृणकाष्ठकरीषाणि कदाचिन्न समीक्षया ॥ २३ ॥

जैसे यहाँ नदीकी धारामें दैवेच्छासे बहता हुआ काठ अकस्मात् किसी दूसरे काठसे संयुक्त हो जाता है; फिर वहाँ दूसरे-दूसरे काष्ठ, तिनके, छोटी-छोटी लकड़ियाँ और सूखे गोबर भी आकर एक-दूसरेसे जुड़ जाते हैं, परंतु इन सबका वह संयोग आकस्मिक ही होता है, समझ-बूझकर नहीं (इसी प्रकार संसारके प्राणियोंके भी परस्पर संयोग-वियोग होते रहते हैं) ॥ २२-२३ ॥

यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन ।
अभयं सर्वभूतेभ्यः स प्राप्नोति सदा मुने ॥ २४ ॥

मुने ! जिससे कोई भी प्राणी कभी किसी तरह भी उद्विग्न नहीं होता, वह सदा सम्पूर्ण भूतोंसे अभय प्राप्त कर लेता है ॥

यस्मादुद्विजते विद्वन् सर्वलोको वृकादिव ।
क्रोशतस्तीरमासाद्य यथा सर्वे जलेचराः ॥ २५ ॥
स भयं सर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोति महामते ।

महामते ! विद्वन् ! जैसे नदीके तीरपर आकर कोलाहल करनेवाले मनुष्यके डरसे सभी जलचर जन्तु भयके मारे छिप जाते हैं तथा जिस प्रकार भेड़ियेको देखकर सभी थर्रा उठते हैं, उसी प्रकार जिससे सब लोग डरते हैं, उसे भी सम्पूर्ण प्राणियोंसे भय प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

एवमेवायमाचारः प्रादुर्भूतो यतस्ततः।
सहायवान् द्रव्यवान् यः सुभगोऽथ परस्तथा ॥ २६ ॥

इस प्रकार यह अभयदानरूप आचार प्रकट हुआ है, जो सभी उपायोंसे साध्य है—जैसे बने वैसे इसका पालन करना चाहिये। जो इसे आचरणमें लाता है वह सहायवान्, द्रव्यवान्, सौभाग्यशाली तथा श्रेष्ठ समझा जाता है ॥ २६ ॥

ततस्तानेव कवयः शास्त्रेषु प्रवदन्त्युत।
कीर्त्यर्थमल्पहृल्लेखाः पटवः कृत्स्ननिर्णयाः ॥ २७ ॥

अतः जो अभयदान देनेमें समर्थ होते हैं, उन्हींको विद्वान् पुरुष शास्त्रोंमें श्रेष्ठ बताते हैं। उनमेंसे जो बहिर्मुख होकर अपने हृदयमें क्षणभङ्गुर विषय-सुखोंकी इच्छा रखते हैं, वे तो कीर्ति और मान-बड़ाईके लिये ही अभयदानरूप व्रतका पालन करते हैं; परंतु जो पटु या प्रवीण पुरुष हैं, वे पूर्णस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही इस व्रतका आश्रय लेते हैं ॥२७॥

तपोभिर्यज्ञदानैश्च वाक्यैः प्रज्ञाश्रितैस्तथा।
प्राप्नोत्यभयदानस्य यद् यत् फलमिहाश्नुते ॥ २८ ॥

तप, यज्ञ, दान और ज्ञान-सम्बन्धी उपदेशके द्वारा मनुष्य यहाँ जो-जो फल प्राप्त करता है, वह सब उसे केवल अभय-दानसे मिल जाता है ॥ २८ ॥

लोके यः सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम्।
स सर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम् ॥ २९ ॥

जो जगत्में सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयकी दक्षिणा देता है, वह मानो समस्त यज्ञोंका अनुष्ठान कर लेता है तथा उसे भी सब ओरसे अभय-दान प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन।
यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन।
सोऽभयं सर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोति महामुने ॥ ३० ॥

प्राणियोंकी हिंसा न करनेसे जिस धर्मकी सिद्धि होती है, उससे बढ़कर महान् धर्म कोई नहीं है। महामुने! जिससे कभी कोई भी प्राणी किसी तरह उद्विग्न नहीं होता, वह भी सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

यस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव।
न स धर्ममवाप्नोति इहलोके परत्र च ॥ ३१ ॥

घरके भीतर रहनेवाले सर्पके समान जिस पुरुषसे सब लोग भयभीत रहते हैं, वह इहलोक और परलोकमें भी कभी धर्मके फलको नहीं पाता ॥ ३१ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ ३२ ॥

जो समस्त प्राणियोंका आत्मा हो गया है और सम्पूर्ण भूतोंको अपनेसे अभिन्न देखता है, उसे किसी विशेष स्थानकी प्राप्ति नहीं होती। वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। उसके पदचिह्नकी खोज करनेवाले देवता भी उस ज्ञानी पुरुषके मार्गके विषयमें मोहित हो जाते हैं—उसकी गतिका पता नहीं पाते हैं ॥ ३२ ॥

दानं भूताभयस्याहुः सर्वदानेभ्य उत्तमम्।
ब्रवीमि ते सत्यमिदं श्रद्दधस्व च जाजले ॥ ३३ ॥

प्राणियोंको अभयदान देना सब दानोंसे उत्तम बताया गया है। जाजले! मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ, तुम इसपर विश्वास करो ॥ ३३ ॥

स एव सुभगो भूत्वा पुनर्भवति दुर्भगः।
व्यापत्तिं कर्मणां दृष्ट्वा जुगुप्सन्ति जनाः सदा ॥ ३४ ॥

जो स्वर्गादिकी कामना करके धर्मकार्य करते हैं, वे ही स्वर्गादि फलोंको पाकर सौभाग्यवान् कहलाते हैं, फिर वे ही पुण्यक्षीण होनेके पश्चात् जब स्वर्गसे नीचे गिरते हैं, तब दुर्भाग्यसे दूषित माने जाते हैं, इस प्रकार कर्मोंका विनाश देखकर विज्ञ पुरुष सदा ही सकाम कर्मोंकी निन्दा करते हैं ॥ ३४ ॥

अकारणो हि नैवास्ति धर्मः सूक्ष्मो हि जाजले।
भूतभव्यार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम् ॥ ३५ ॥

जाजले! कोई भी धर्म निष्प्रयोजन या निष्फल नहीं है, उसका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, स्वर्ग या ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही यहाँ धर्मकी व्याख्या की गयी है ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मत्वान्न स विज्ञातुं शक्यते बहुनिह्नवः।
उपलभ्यान्तरा चान्यानाचारानवबुध्यते ॥ ३६ ॥

धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण वह सबकी समझमें नहीं आ सकता; क्योंकि उसके स्वरूपको छिपानेवाली बहुत-सी बातें हैं। बीच-बीचमें विभिन्न सत्पुरुषोंके आचारोंको देखकर मनुष्य वास्तविक धर्मका ज्ञान प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

ये च च्छिन्दन्ति वृषणान् ये च भिन्दन्ति नस्तकान्।
वहन्ति महतो भारान् बध्नन्ति दमयन्ति च ॥ ३७ ॥
हत्वा सत्त्वानि खादन्ति तान् कथं न विगर्हसे।
मानुषा मानुषानेव दासभावेन भुञ्जते ॥ ३८ ॥

जो लोग बैलोंको बधिया करके बाँधते-नाथते, उनसे भारी बोझ ढुलाते और उनका दमन करके उन्हें काममें निकालते हैं, जो कितने ही जीवोंको मारकर खा जाते हैं, मनुष्य होकर मनुष्योंको दास बनाकर और उनके परिश्रमका फल आप भोगते हैं, उनकी तुम निन्दा क्यों नहीं करते हो? ॥ ३७-३८ ॥

वधबन्धनिरोधेन कारयन्ति दिवानिशम्।
आत्मनश्चापि जानाति यद् दुःखं वधबन्धने ॥ ३९ ॥

जो लोग वध और बन्धनकी दशामें अपनेको कितना कष्ट होता है, इस बातको जानते हैं तो भी दूसरोंको वध, बन्धन और कैदके कष्टमें डालकर उनसे दिन-रात काम कराते हैं, उनकी निन्दा तुम क्यों नहीं करते हो? ॥ ३९ ॥

पञ्चेन्द्रियेषु भूतेषु सर्वं वसति दैवतम्।
आदित्यश्चन्द्रमा वायुर्ब्रह्मा प्राणः क्रतुर्यमः ॥ ४० ॥

तानि जीवानि विक्रीय का मृतेषु विचारणा।

पाँच इन्द्रियोंवाले समस्त प्राणियोंमें सूर्य, चन्द्र, वायु, ब्रह्मा, प्राण, यज्ञ और यमराज—इन सब देवताओंका निवास है, जो उन्हें जीते-जी बेचकर जीविका चलाते हैं, उन्हें अधर्मकी प्राप्ति होती है। फिर मृत जीवोंका विक्रय करनेवालोंके विषयमें तो कहा ही क्या जाय ? ॥ ४०½ ॥

अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट्॥ ४१ ॥
धेनुर्वत्सश्च सोमो वै विक्रीयैतन्न सिध्यति।

बकरा अग्निका, भेड़ वरुणका, घोड़ा सूर्यका और पृथ्वी विराट्का रूप है तथा गाय और बछड़े चन्द्रमाके स्वरूप हैं, इनको बेचनेसे कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४१½ ॥

का तैले का घृते ब्रह्मन् मधुन्यप्यौषधेषु वा ॥ ४२ ॥
अदंशमशके देशे सुखसंवर्धितान् पशून्।
तांश्च मातुः प्रियाञ्ज्ञात्वाक्रम्य बहुधा नराः ॥ ४३ ॥
बहुदंशाकुलान् देशान् नयन्ति बहुकर्दमान्।
वाहसम्पीडिता धुर्याः सीदन्त्यविधिना परे ॥ ४४ ॥

किंतु ब्रह्मन्! तेल, घी, शहद और दवाओंकी बिक्री करनेमें क्या हानि है, बहुत-से मनुष्य तो दंश और मच्छरोंसे रहित देशमें उत्पन्न और सुखसे पले हुए पशुओंको यह जानते हुए भी कि ये अपनी माताओंको बहुत प्रिय हैं और इनके बिछुड़नेसे उन्हें बहुत कष्ट होगा, जबरदस्ती आक्रमण करके ऐसे देशोंमें ले जाते हैं जहाँ दंश, मच्छर और कीचड़की अधिकता होती है। कितने ही बोझ ढोनेवाले पशु भारी भारसे पीड़ित हो लोगोंद्वारा अनुचित रूपसे सताये जाते हैं ॥

न मन्ये भ्रूणहत्यापि विशिष्टा तेन कर्मणा।
कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा च वृत्तिः सुदारुणा ॥ ४५ ॥

मैं समझता हूँ कि उस क्रूर कर्मसे बढ़कर भ्रूणहत्याका पाप भी नहीं है। कुछ लोग खेतीको अच्छा मानते हैं, परंतु वह वृत्ति भी अत्यन्त कठोर है ॥ ४५ ॥

भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्।
तथैवानडुहो युक्तान् समवेक्षस्व जाजले ॥ ४६ ॥

जाजले! जिसके मुखपर फाल जुड़ा हुआ है, वह हल पृथ्वीको पीड़ा देता है और उसके भीतर रहनेवाले जीवोंका भी वध कर डालता है और उसमें जो बैल जोते जाते हैं, उनकी दुर्दशापर भी दृष्टिपात करो ॥ ४६ ॥

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत् तु यः ॥ ४७ ॥

श्रुतिमें गौओंको अघ्न्या (अवध्य) कहा गया है, फिर कौन उन्हें मारनेका विचार करेगा ? जो पुरुष गाय और बैलोंको मारता है, वह महान् पाप करता है ॥ ४७ ॥

ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयन्।
गां मातरं चाप्यवधीर्वृषभं च प्रजापतिम् ॥ ४८ ॥
अकार्यं नहुषाकार्षीर्लप्स्यामस्त्वत्कृते व्यथाम्।
शतं चैकं च रोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन् ॥ ४९ ॥
ऋषयस्ते महाभागाः प्रजास्वेव हि जाजले।
भ्रूणहं नहुषं त्वाहुर्न ते होष्यामहे हविः ॥ ५० ॥

एक समयकी बात है, ऋषियों और यतियोंने राजा नहुषके पास जाकर निवेदन किया कि तुमने माता गौ और प्रजापति वृषभका वध किया है, नहुष ! यह तुम्हारे द्वारा न करनेयोग्य पापकर्म किया गया है, तुम्हारे इस कुकृत्यके कारण हम सब लोगोंको बड़ी व्यथा हो रही है। जाजले ! ऐसा कहकर नहुषके द्वारा प्रशंसित उन महाभाग ऋषियोंने पापको एक सौ एक रोगोंके रूपमें परिणत करके समस्त प्राणियोंपर डाल दिया, राजा नहुषको भ्रूणहत्यारा बताया और स्पष्ट कह दिया कि हमलोग तुम्हारे यज्ञमें हविष्यकी आहुति नहीं देंगे॥

इत्युक्त्वा ते महात्मानः सर्वे तत्त्वार्थदर्शिनः।
ऋषयो यतयः शान्तास्तपसा प्रत्यवेदयन् ॥ ५१ ॥

ऐसा कहकर उन समस्त तत्त्वार्थदर्शी महात्माओंने तपस्या (ध्यान) द्वारा सारी बातें जान लीं और नहुषके अज्ञानवश वह पाप होनेके कारण उन्हें निर्दोष पाकर वे सब ऋषि और यति शान्त हो गये ॥ ५१ ॥

ईदृशानशिवान् घोरानाचारानिह जाजले।
केवलाचरितत्वात् तु निपुणो नावबुद्ध्यसे ॥ ५२ ॥

जाजले ! इस तरहके अमङ्गलकारी और भयंकर आचार इस जगत्में बहुत-से प्रचलित हैं; केवल इसलिये कि अमुक कर्म पूर्वजोंद्वारा भी किया गया है, तुम चतुर होते हुए भी उसकी बुराईपर ध्यान नहीं देते ॥ ५२ ॥

कारणाद् धर्ममन्विच्छेन्न लोकचरितं चरेत्।
यो हन्याद् यश्च मां स्तौति तत्रापि शृणु जाजले ॥ ५३ ॥
समौ तावपि मे स्यातां न हि मेऽस्ति प्रियाप्रियम्।
एतदीदृशकं धर्मं प्रशंसन्ति मनीषिणः ॥ ५४ ॥

इस कर्मका हेतु या परिणाम क्या है ? इसपर विचार करके ही तुम्हें किसी भी धर्मको स्वीकार करना चाहिये। लोगोंने किया है या कर रहे हैं, यह जानकर उनका अन्धानुकरण नहीं करना चाहिये। जाजले ! अब मैं अपने विषयमें कुछ निवेदन करता हूँ, उसे सुनो, जो मुझे मारता है तथा जो मेरी प्रशंसा करता है, वे दोनों ही मेरे लिये बराबर हैं। उनमेंसे कोई भी मेरे लिये प्रिय या अप्रिय नहीं है, मनीषी पुरुष ऐसे ही धर्मकी प्रशंसा करते हैं ॥ ५३-५४ ॥

उपपत्त्या हि सम्पन्नो यतिभिश्चैव सेव्यते।

सततं धर्मशीलैश्च निपुणेनोपलक्षितः ॥ ५५ ॥

यही युक्तिसंगत है, यति भी इसीका सेवन करते हैं तथा धर्मात्मा मनुष्य अच्छी तरह विचारकर सदा इसी धर्मका अनुष्ठान करते हैं ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार और जाजलिका संवादविषयक दो सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५५½ श्लोक हैं)

त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलिको तुलाधारका आत्मयज्ञविषयक धर्मका उपदेश

जाजलिरुवाच

अयं प्रवर्तितो धर्मस्तुलां धारयता त्वया ।
स्वर्गद्वारं च वृत्तिं च भूतानामवरोत्स्यते ॥ १ ॥

जाजलिने कहा—वणिक् महोदय ! तुम हाथमें तराजू लेकर सौदा-तौलते हुए जिस धर्मका उपदेश करते हो, उससे तो स्वर्गका दरवाजा ही बंद किये देते हो और प्राणियोंकी जीविकावृत्तिमें भी रुकावट पैदा करते हो ॥ १ ॥

कृष्या ह्यन्नं प्रभवति ततस्त्वमपि जीवसि ।
पशुभिश्चौषधीभिश्च मर्त्या जीवन्ति वाणिज ॥ २ ॥

वैश्यपुत्र ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि खेतीसे ही अन्न पैदा होता है, जिससे तुम भी जी रहे हो । अन्न और पशुओंसे ही मनुष्यका जीवन-निर्वाह होता है ॥ २ ॥

ततो यज्ञः प्रभवति नास्तिक्यमपि जल्पसि ।
न हि वर्तेदयं लोको वार्तामुत्सृज्य केवलाम् ॥ ३ ॥

उन्हींसे यज्ञकार्य सम्पन्न होता है । तुम तो नास्तिकताकी भी बातें करते हो । यदि पशुओंके कष्टका ख्याल करके खेती आदि वृत्तियोंका त्याग कर दिया जाय, तो इस संसारका जीवन ही समाप्त हो जायगा ॥ ३ ॥

तुलाधार उवाच

वक्ष्यामि जाजले वृत्तिं नास्मि ब्राह्मण नास्तिकः ।
न यज्ञं च विनिन्दामि यज्ञवित् तु सुदुर्लभः ॥ ४ ॥

तुलाधारने कहा—जाजले ! मैं तुम्हें हिंसातिरिक्त जीविका-वृत्ति बताऊँगा । ब्राह्मणदेव ! मैं नास्तिक नहीं हूँ और न यज्ञकी ही निन्दा करता हूँ; परंतु यज्ञके यथार्थ स्वरूपको समझनेवाला पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४ ॥

नमो ब्राह्मणयज्ञाय ये च यज्ञविदो जनाः ।
स्वयज्ञं ब्राह्मणा हित्वा क्षात्रयज्ञमिहास्थिताः ॥ ५ ॥

विप्र ! ब्राह्मणोंके लिये जिस यज्ञका विधान है, उसको तो मैं नमस्कार करता हूँ और जो लोग उस यज्ञको ठीक-ठीक जानते हैं, उनके चरणोंमें भी मस्तक झुकाता हूँ, किंतु खेद है, इस समय ब्राह्मणलोग अपने यज्ञका परित्याग करके क्षत्रियोचित यज्ञोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ ५ ॥

लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम् ।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥ ६ ॥

ब्रह्मन् ! धन कमानेके प्रयत्नमें लगे हुए बहुत-से लोभी और नास्तिक पुरुषोंने वैदिक वचनोंका तात्पर्य न समझकर सत्य-से प्रतीत होनेवाले मिथ्या यज्ञोंका प्रचार कर दिया है ॥ ६ ॥

इदं देयमिदं देयमिति चायं प्रशस्यते ।
अतः स्तैन्यं प्रभवति विकर्माणि च जाजले ॥ ७ ॥

जाजले ! श्रुतियों और स्मृतियोंमें कहा गया है कि अमुक कर्मके लिये यह दक्षिणा देनी चाहिये, वह दक्षिणा देनी चाहिये, उसके अनुसार वैसी दक्षिणा देनेसे भी यह यज्ञ श्रेष्ठ माना जाता है; अन्यथा शक्ति रहते हुए यदि यज्ञकर्ताने लोभ दिखाया तो उसको चोरी करनेका पाप लगता है और उस कर्ममें भी विपरीतता आ जाती है ॥ ७ ॥

यदेव सुकृतं हव्यं तेन तुष्यन्ति देवताः ।
नमस्कारेण हविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथा ॥ ८ ॥
पूजा स्याद् देवतानां हि यथा शास्त्रनिदर्शनम् ।

शुभ कर्मके द्वारा जिस हविष्यका संग्रह किया जाता है, उसीके होमसे देवता संतुष्ट होते हैं । शास्त्रके कथनानुसार नमस्कार, स्वाध्याय, घी और अन्न—इन सबके द्वारा देवताओंकी पूजा हो सकती है ॥ ८½ ॥

इष्टापूर्तादसाधूनां विगुणा जायते प्रजा ॥ ९ ॥

जो लोग कामनाके वशीभूत होकर यज्ञ करते, तालाब खुदवाते या बगीचे लगवाते हैं, उन (सकामभावयुक्त) असाधु पुरुषोंसे उन्हींके समान गुणहीन संतान उत्पन्न होती है ॥ ९ ॥

लुब्धेभ्यो जायते लुब्धः समेभ्यो जायते समः ।
यजमाना यथाऽऽत्मानमृत्विजश्च तथा प्रजाः ॥ १० ॥

लोभी पुरुषोंसे लोभीका जन्म होता है और समदर्शी पुरुषोंसे समदर्शी पुत्र उत्पन्न होता है । यजमान और ऋत्विज स्वयं जैसे होते हैं, उनकी प्रजा भी वैसी ही होती है ॥

यज्ञात् प्रजा प्रभवति नभसोऽम्भ इवामलम् ।
अग्नौ प्रास्ताहुतिर्ब्रह्मन्नादित्यमुपगच्छति ॥ ११ ॥
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।

जिस प्रकार आकाशसे निर्मल जलकी वर्षा होती है उसी प्रकार शुद्ध भावसे किये हुए यज्ञसे योग्य प्रजाकी उत्पत्ति होती है। विप्रवर ! अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यमण्डलको प्राप्त होती है, सूर्यसे जलकी वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न उपजता है और अन्नसे सम्पूर्ण प्रजा जन्म तथा जीवन धारण करती है ॥ ११½ ॥

तस्मात् सुनिष्ठिताः पूर्वे सर्वान् कामांश्च लेभिरे ॥ १२ ॥
अकृष्टपच्या पृथिवी आशीर्भिर्वीरुधोऽभवन् ।

पहलेके लोग कर्तव्य समझकर यज्ञमें श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त होते थे और उस यज्ञसे उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ स्वतः पूर्ण हो जाती थीं। पृथ्वीसे बिना जोते-बोये ही काफी अन्न पैदा होता तथा जगत्की भलाईके लिये उनके शुभ संकल्पसे ही वृक्षों और लताओंमें फल-फूल लगते थे ॥ १२½ ॥

न ते यज्ञेष्वात्मसु वा फलं पश्यन्ति किंचन ॥ १३ ॥
शङ्कमानाः फलं यज्ञे ये यजेरन् कथंचन ।
जायन्तेऽसाधवो धूर्ता लुब्धा वित्तप्रयोजनाः ॥ १४ ॥

वे यज्ञोंमें अपने लिये किसी फलकी ओर दृष्टि नहीं रखते थे। जो मनुष्य यज्ञसे कोई फल मिलता है या नहीं, इस प्रकारका संदेह मनमें लेकर किसी तरह यज्ञोंमें प्रवृत्त होते हैं, वे धन चाहनेवाले लोभी, धूर्त और दुष्ट होते हैं ॥ १३-१४ ॥

स स पापकृतां लोकान् गच्छेदशुभकर्मणा ।
प्रमाणमप्रमाणेन यः कुर्यादशुभं नरः ॥ १५ ॥
पापात्मा सोऽकृतप्रज्ञः सदैवेह द्विजोत्तम ।

द्विजश्रेष्ठ ! जो मनुष्य प्रमाणभूत वेदको अपने अप्रामाणिक कुतर्कद्वारा अमङ्गलकारी सिद्ध करता है, उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, उसका मन सदा यहाँ पापोंमें ही लगा रहता है और वह अपने अशुभ कर्मके कारण पापाचारियोंके लोकों (नरकों) में ही जाता है ॥ १५½ ॥

कर्तव्यमिति कर्तव्यं वेत्ति वै ब्राह्मणो भयम् ॥ १६ ॥
ब्रह्मैव वर्तते लोके नैव कर्तव्यतां पुनः ।

जो करने योग्य कर्मोंको अपना कर्तव्य समझता है और उसका पालन न होनेपर भय मानता है, जिसकी दृष्टिमें (ऋत्विक्, हविष्य, मन्त्र और अग्नि आदि) सब कुछ ब्रह्म ही है तथा जो किसी भी कर्तव्यको अपना नहीं मानता—कर्तापनका अभिमान नहीं रखता, वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ १६½ ॥

विगुणं च पुनः कर्म ज्याय इत्यनुशुश्रुम ॥ १७ ॥
सर्वभूतोपघातश्च फलभावे च संयमः ।

हमने सुना है कि यदि कर्ममें किसी प्रकारकी त्रुटि हो जानेके कारण वह गुणहीन हो जाय तो भी यदि वह निष्कामभावसे किया जा रहा है तो श्रेष्ठ ही है अर्थात् वह कल्याणकारी ही होता है। निष्कामभावसे किये जानेवाले कर्ममें यदि कुत्ते आदि अपवित्र पशुओंके द्वारा स्पर्श हो जानेसे कोई बाधा भी आ जाय तथापि वह कर्म नष्ट नहीं होता, वह श्रेष्ठतम ही माना जाता है, अतः प्रत्येक कर्ममें फलकी भावना या कामनापर संयम—नियन्त्रण रखना आवश्यक है ॥ १७½ ॥

सत्ययज्ञा दमयज्ञा अर्थलुब्धार्थतृप्तयः ॥ १८ ॥
उत्पन्नत्यागिनः सर्वे जना आसन्नमत्सराः ।

प्राचीन कालके ब्राह्मण सत्यभाषण और इन्द्रियसंयमरूप यज्ञका अनुष्ठान करते थे। वे परम पुरुषार्थ (मोक्ष) के प्रति लोभ रखते थे, उन्हें लौकिक धनकी प्यास नहीं रहती थी, वे उस ओरसे सदा तृप्त रहते थे। वे सब लोग प्राप्त वस्तुका त्याग करनेवाले और ईर्ष्या-द्वेषसे रहित थे ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञतत्त्वज्ञाः स्वयज्ञपरिनिष्ठिताः ॥ १९ ॥
ब्राह्मं वेदमधीयन्तस्तोषयन्त्यपरानपि ।

वे क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के तत्त्वको जाननेवाले और आत्मयज्ञ-परायण थे। उपनिषदोंके अध्ययनमें तत्पर रहते तथा स्वयं संतुष्ट होकर दूसरोंको भी संतोष देते थे ॥ १९½ ॥

अखिलं दैवतं सर्वं ब्रह्म ब्रह्मणि संश्रितम् ॥ २० ॥
तुष्यन्ति तृप्यतो देवास्तृप्तास्तृप्तस्य जाजले ।

ब्रह्म सर्वस्वरूप है, सम्पूर्ण देवता उसीके रूप हैं, वह ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणके भीतर विराजमान है। इसलिये जाजले ! इसके तृप्त होनेपर सम्पूर्ण देवता तृप्त एवं संतुष्ट हो जाते हैं ॥

यथा सर्वरसैस्तृप्तो नाभिनन्दति किंचन ॥ २१ ॥
तथा प्रज्ञानतृप्तस्य नित्यतृप्तिः सुखोदया ।

जैसे सब प्रकारके रसोंसे तृप्त हुआ मनुष्य किसी भी रसका अभिनन्दन नहीं करता, उसी प्रकार जो ज्ञानानन्दसे परितृप्त है, उसे अक्षय सुख देनेवाली नित्य तृप्ति बनी रहती है ॥

धर्माधारा धर्मसुखाः कृत्स्नव्यवसितास्तथा ॥ २२ ॥
अस्ति नस्तत्त्वतो भूय इति प्राज्ञस्त्ववेक्षते ।

हममेंसे बहुत लोग ऐसे हैं, जिनका धर्म ही आधार है, जो धर्ममें ही सुख मानते हैं तथा जिन्होंने सम्पूर्ण कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय कर लिया है; परंतु हमलोगोंका जो यथार्थरूप है, उसकी अपेक्षा बहुत महान् और व्यापक परमात्मा सर्वत्र सर्वात्मा रूपसे विराजमान है—ऐसा ज्ञानी पुरुष देखता है ॥ २२½ ॥

ज्ञानविज्ञानिनः केचित् परं पारं तितीर्षवः ॥ २३ ॥
अतीव पुण्यदं पुण्यं पुण्याभिजनसंहितम् ।
यत्र गत्वा न शोचन्ति न च्यवन्ति व्यथन्ति च ॥ २४ ॥

भवसागरसे पार उतरनेकी इच्छावाले कोई-कोई ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न महात्मा पुरुष ही अत्यन्त पवित्र और पुण्यात्माओंसे सेवित पुण्यदायक ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं,

जहाँ जाकर वे न तो शोक करते हैं, न वहाँसे नीचे गिरते हैं और न मनमें किसी प्रकारकी व्यथाका ही अनुभव करते हैं ॥ २३-२४ ॥

ते तु तद् ब्रह्मणः स्थानं प्राप्नुवन्तीह सात्त्विकाः।
नैव ते स्वर्गमिच्छन्ति न यजन्ति यशोधनैः ॥ २५ ॥
सतां वर्त्मानुवर्तन्ते यजन्ते चाविहिंसया।
वनस्पतीनोषधीश्च फलं मूलं च ते विदुः ॥ २६ ॥
न चैतानृत्विजो लुब्धा याजयन्ति फलार्थिनः।

वे सात्त्विक महापुरुष उस ब्रह्मधामको ही प्राप्त होते हैं, उन्हें स्वर्गकी इच्छा नहीं होती, वे यश और धनके लिये यज्ञ नहीं करते, सत्पुरुषोंके मार्गपर चलते और हिंसा-रहित यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं। वनस्पति, अन्न और फल-मूलको ही वे हविष्य मानते हैं, धनकी इच्छा रखनेवाले लोभी ऋत्विज इनका यज्ञ नहीं कराते हैं ॥ २५-२६½ ॥

स्वमेव चार्थं कुर्वाणा यज्ञं चक्रुः पुनर्द्विजाः ॥ २७ ॥
परिनिष्ठितकर्माणः प्रजानुग्रहकाम्यया।

ज्ञानी ब्राह्मणोंने अपनेको ही यज्ञका उपकरण मानकर मानसिक यज्ञका अनुष्ठान किया है। उन्होंने प्रजाहितकी कामनासे ही मानसिक यज्ञका अनुष्ठान किया है ॥ २७½ ॥

तस्मात् तानृत्विजो लुब्धा याजयन्त्यशुभान् नरान् २८
प्रापयेयुः प्रजाः स्वर्गं स्वधर्माचरणेन वै।
इति मे वर्तते बुद्धिः समा सर्वत्र जाजले ॥ २९ ॥

लोभी ऋत्विज तो ऐसे लोगोंका ही यज्ञ कराते हैं, जो अशुभ (मोक्षकी इच्छासे रहित) होते हैं, श्रेष्ठ पुरुष तो स्वधर्मका आचरण करते हुए ही प्रजाको स्वर्गमें पहुँचा देते हैं। जाजले ! यही सोचकर मेरी बुद्धि भी सर्वत्र समान भाव ही रखती है ॥ २८-२९ ॥

यानि यज्ञेष्विहेज्यन्ति सदा प्राज्ञा द्विजर्षभाः।
तेन ते देवयानेन पथा यान्ति महामुने ॥ ३० ॥

महामुने ! श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण सदा ही जिन द्रव्योंको लेकर उनका यज्ञोंमें उपयोग करते हैं उन्हींके द्वारा वे दिव्य मार्गसे पुण्य लोकोंमें जाते हैं ॥ ३० ॥

आवृत्तिस्तस्य चैकस्य नास्त्यावृत्तिर्मनीषिणः।
उभौ तौ देवयानेन गच्छतो जाजले यथा ॥ ३१ ॥

जाजले ! जो कामनाओंमें आसक्त है, उसी मनुष्यकी इस संसारमें पुनरावृत्ति होती है। ज्ञानीका पुनः यहाँ जन्म नहीं होता। यद्यपि दोनों दिव्यमार्गसे ही पुण्यलोकोंमें जाते हैं,तथापि संकल्प-भेदसे ही उनकी आवृत्ति और अनावृत्ति होती है॥

स्वयं चैषामनडुहो युज्यन्ति च वहन्ति च।
स्वयमुस्राश्च दुह्यन्ते मनःसंकल्पसिद्धिभिः ॥ ३२ ॥

ज्ञानी महात्माओंकी इच्छा होते ही उनके मानसिक संकल्पकी सिद्धियोंके अनुसार बैल स्वयं गाड़ीमें जुतकर उनकी सवारी ढोने लगते हैं, दूध देनेवाली गौएँ स्वयं ही सब प्रकारके मनोरथोंकी सिद्धिरूप दुग्ध प्रदान करती हैं।

स्वयं यूपानुपादाय यजन्ते स्वाप्तदक्षिणैः।
यस्तथा भावितात्मा स्यात् स गामालब्धुमर्हति ॥ ३३॥

योगसिद्ध पुरुषोंके पास स्वयं यज्ञयूप उपस्थित हो जाते हैं और उन्हें लेकर वे पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञोंद्वारा यजन करते हैं। उनके ऋत्विजोंके पास दक्षिणा भी स्वतः उपस्थित हो जाती है। जिसका अन्तःकरण इस प्रकार शुद्ध एवं सिद्ध हो गया है, वही पृथ्वीको उपलब्ध कर सकता है॥

ओषधीभिस्तथा ब्रह्मन् यजेरंस्ते न तादृशाः।
इति त्यागं पुरस्कृत्य तादृशं प्रब्रवीमि ते ॥ ३४॥

ब्रह्मन् ! इसलिये वे योगसिद्ध पुरुष ओषधियों—अन्न आदिके द्वारा यज्ञ कर सकते हैं। जो पहले बताये अनुसार मूढ़ लोग हैं, वे उस तरहका यज्ञ नहीं कर सकते। कर्म-फलका त्याग करनेवाले महात्माओंका ऐसा अद्भुत माहात्म्य है, इसलिये मैं त्यागको आगे रखकर तुमसे ऐसी बात कह रहा हूँ॥

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३५॥

जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो किसी फलकी इच्छासे कर्मोंका आरम्भ नहीं करता, नमस्कार और स्तुतिसे अलग रहता है, जिसका धर्म नहीं क्षीण हुआ है, कर्म-बन्धन क्षीण हो गया है, उसी पुरुषको देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं॥

न श्रावयन् न च यजन् न ददद् ब्राह्मणेषु च।
काम्यां वृत्तिं लिप्समानः किंगतिं याति जाजले।
इदं तु दैवतं कृत्वा यथा यज्ञमवाप्नुयात् ॥ ३६॥

जाजले ! जो ब्राह्मण वेदाध्ययन, यजन और ब्राह्मणोंको दान देना आदि वर्णोचित कर्म नहीं करता और मनोहर भोग-पदार्थोंकी लिप्सा रखता है, वह कुत्सित गतिको प्राप्त होता है। किंतु निष्काम धर्मको देवताके समान आराध्य बनानेवाला मनुष्य यज्ञके यथार्थ फल—मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥३६॥

जाजलिरुवाच

न वै मुनीनां शृणुमः स्म तत्त्वं
पृच्छामि ते वाणिज कष्टमेतत्।
पूर्वैः पूर्वैश्चास्य नावेक्षमाणा
नातः परं तमृषयः स्थापयन्ति ॥ ३७॥

जाजलिने पूछा—वैश्यप्रवर ! मैंने आत्मयाजी मुनियोंके समीप तुम्हारेद्वारा प्रतिपादित तत्त्वको कभी नहीं सुना। सम्भवतः यह समझनेमें कठिन भी है, क्योंकि पूर्वकालीन महर्षियोंने उसके ऊपर विशेष विचार नहीं किया है। जिन्होंने विचार किया है, उन्होंने भी उत्तम होनेपर भी इस धर्मकी जगत्में स्थापना नहीं की है अतः मैं तुमसे ही पूछता हूँ ॥ ३७ ॥

यस्मिन्नेवात्मतीर्थे न पशवः प्राप्नुयुर्मखम् ।
अथ स्म कर्मणा केन वाणिज प्राप्नुयात् सुखम् ॥ ३८ ॥
शंस मे तन्महाप्राज्ञ भृशं वै श्रद्दधामि ते ।

वणिक्पुत्र ! यदि इस प्रकार आत्मतीर्थमें पशु अर्थात् अज्ञानी मानव आत्मयज्ञका सौभाग्य नहीं पा सकते, तो किस कर्मसे उन्हें सुखकी प्राप्ति हो सकती है ? महामते ! यह बात मुझे बताओ। मैं तुम्हारे कथनपर अधिक श्रद्धा रखता हूँ ॥

तुलाधार उवाच

उत यज्ञा उतायज्ञा मखं नार्हन्ति ते क्वचित् ॥ ३९ ॥
आज्येन पयसा दध्ना पूर्णाहुत्या विशेषतः ।
वालैः शृङ्गेण पादेन सम्भरत्येव गौर्मखम् ॥ ४० ॥

तुलाधारने कहा—ब्रह्मन् ! जिन दम्भी पुरुषोंके यज्ञ अश्रद्धा आदि दोषोंके कारण यज्ञ कहलानेयोग्य नहीं रह जाते, वे न तो मानसिक यज्ञके अधिकारी हैं और न क्रियात्मक यज्ञके ही। श्रद्धालु पुरुष तो घी, दूध, दही और विशेषतः पूर्णाहुतिसे ही अपना यज्ञ पूर्ण करते हैं। श्रद्धालुओंमें जो असमर्थ हैं, उनका यज्ञ गाय अपनी पूँछके बालोंके स्पर्शसे, शृङ्गजलसे और पैरोंकी धूलसे ही पूर्ण कर देती है ॥ ३९-४० ॥

पत्नीं चानेन विधिना प्रकरोति नियोजयन् ।
इष्टं तु दैवतं कृत्वा यथा यज्ञमवाप्नुयात् ॥ ४१ ॥

इसी विधिसे देवताके लिये घी आदि द्रव्य समर्पित करनेके लिये श्रद्धाको ही पत्नी बनाये और यज्ञको ही देवताके समान आराध्य बनाकर यथावत् रूपसे यज्ञपुरुष भगवान् विष्णुको प्राप्त करे ॥ ४१ ॥

पुरोडाशो हि सर्वेषां पशूनां मेध्य उच्यते ।
सर्वा नद्यः सरस्वत्यः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः ॥ ४२ ॥

यज्ञविहित समस्त पशुओंके दुग्ध आदिसे निर्मित पुरोडाशको ही पवित्र बताया जाता है। सारी नदियाँ ही सरस्वतीका रूप हैं और समस्त पर्वत ही पुण्यमय प्रदेश हैं ॥

जाजले तीर्थमात्मैव मा स्म देशातिथिर्भव ।
एतानीदृशकान् धर्मानाचरन्निह जाजले ॥ ४३ ॥
कारणैर्धर्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान् ।

जाजले ! यह आत्मा ही प्रधान तीर्थ है। आप तीर्थ-सेवनके लिये देश-देशमें मत भटकिये। जो यहाँ मेरे बताये हुए अहिंसाप्रधान धर्मोंका आचरण करता है तथा विशेष कारणोंसे धर्मका अनुसंधान करता है, वह कल्याणकारी लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ४३½ ॥

भीष्म उवाच

एतानीदृशकान् धर्मांस्तुलाधारः प्रशंसति ॥ ४४ ॥
उपपत्त्याभिसम्पन्नान् नित्यं सद्भिर्निषेवितान् ॥ ४५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार हिंसा-रहित, युक्तिसंगत तथा श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सेवित धर्मोंकी ही तुलाधार वैश्यने सदा प्रशंसा की थी ॥ ४४-४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार और जाजलिका संवादविषयक दो सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलिको पक्षियोंका उपदेश

तुलाधार उवाच

सद्भिर्वा यदि वासद्भिः पन्थानमिममास्थितम् ।
प्रत्यक्षं क्रियतां साधु ततो ज्ञास्यसि तद् यथा ॥ १ ॥

तुलाधारने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने धर्मके जिस मार्गका दर्शन कराया है, उसपर सज्जन पुरुष चलते हैं या दुर्जन ? इस बातको अच्छी तरह जाँचकर प्रत्यक्ष कर लो। तब तुम्हें इसकी यथार्थताका ज्ञान होगा ॥ १ ॥

एते शकुन्ता बहवः समन्ताद् विचरन्ति ह ।
तवोत्तमाङ्गे सम्भूताः श्येनाश्चान्याश्च जातयः ॥ २ ॥

देखो ! आकाशमें ये जो बहुत-से श्येन एवं दूसरी जातियोंके पक्षी चारों ओर विचरण कर रहे हैं, इनमें तुम्हारे सिरपर उत्पन्न हुए पक्षी भी हैं ॥ २ ॥

आह्वयैनान् महाब्रह्मन् विशमानांस्ततस्ततः ।
पश्येमान् हस्तपादैश्च श्लिष्टान् देहेषु सर्वशः ॥ ३ ॥

ब्रह्मन् ! ये यत्र-तत्र घोंसलोंमें घुस रहे हैं। देखो, इन सबके हाथ-पैर सिकुड़कर शरीरोंसे सट गये हैं। इन सबको बुलाकर पूछो ॥ ३ ॥

सम्भावयन्ति पितरं त्वया सम्भाविताः खगाः ।
असंशयं पिता वै त्वं पुत्रानाह्वय जाजले ॥ ४ ॥

ये पक्षी तुम्हारे द्वारा पालित और समादृत हुए हैं। अतः तुम्हारा पिताके समान सम्मान करते हैं। जाजले ! इसमें संदेह नहीं कि तुम इनके पिता ही हो; अतः इन पुत्रोंको बुलाकर प्रश्न करो ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

ततो जाजलिना तेन समाहूताः पतत्त्रिणः ।
वाचमुच्चारयन्ति स्म धर्मस्य वचनात् किल ॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर जाजलिने उन पक्षियोंको बुलाया। उनका धर्मयुक्त वचन सुनकर

वे पक्षी वहाँ आये और उनसे मनुष्यके समान स्पष्ट वाणीमें बोलने लगे—॥ ५ ॥

अहिंसादिकृतं कर्म इह चैव परत्र च।
श्रद्धां निहन्ति वै ब्रह्मन् सा हता हन्ति तं नरम्॥ ६ ॥

'अहिंसा और दया आदि भावोंसे प्रेरित होकर किया हुआ कर्म इहलोक और परलोकमें भी उत्तम फल देनेवाला है। ब्रह्मन्! यदि मनमें हिंसाकी भावना हो तो वह श्रद्धाका नाश कर देती है। फिर नष्ट हुई श्रद्धा कर्म करनेवाले इस हिंसक मनुष्यका ही सर्वनाश कर डालती है॥ ६॥

समानां श्रद्दधानानां संयतानां सुचेतसाम्।
कुर्वतां यज्ञ इत्येव न यज्ञो जातु नेष्यते॥ ७॥

'जो हानि और लाभमें समान भाव रखनेवाले, श्रद्धालु, संयमी और शुद्ध चित्तवाले पुरुष हैं तथा यज्ञको कर्तव्य समझकर करते हैं, उनका यज्ञ कभी असफल नहीं होता॥७॥

श्रद्धा वैवस्वती सेयं सूर्यस्य दुहिता द्विज।
सावित्री प्रसवित्री च बहिर्वाङ्मनसी ततः॥ ८॥

'ब्रह्मन्! श्रद्धा सूर्यकी पुत्री है, इसलिये उसे वैवस्वती, सावित्री और प्रसवित्री (विशुद्ध जन्मदायिनी) भी कहते हैं। वाणी और मन भी श्रद्धाकी अपेक्षा बहिरङ्ग हैं॥ ८॥

वाग्वृद्धं त्रायते श्रद्धा मनोवृद्धं च भारत।
श्रद्धावृद्धं वाङ्मनसी न कर्म त्रातुमर्हति॥ ९॥

'भरतनन्दन! यदि वाणीके दोषसे मन्त्रके उच्चारणमें त्रुटि रह जाय और मनकी चञ्चलताके कारण इष्टदेवताका ध्यान आदि कर्म सम्पन्न न हो सके तो भी यदि श्रद्धा हो तो वह वाणी और मनके दोषको दूर करके उस कर्मकी रक्षा कर सकती है। परंतु यदि श्रद्धा न होनेके कारण कर्ममें त्रुटि रह जाय तो वाणी और मन (मन्त्रोच्चारण और ध्यान) उस कर्मकी रक्षा नहीं कर सकते॥ ९॥

अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
शुचेरश्रद्दधानस्य श्रद्दधानस्य चाशुचेः॥ १०॥
देवा वित्तममन्यन्त सदृशं यज्ञकर्मणि।
श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः॥ ११॥
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन्।

इस विषयमें प्राचीन वृत्तान्तोंको जाननेवाले लोग ब्रह्माजीकी गायी हुई गाथाका वर्णन किया करते हैं, जो इस प्रकार है—पहले देवतालोग श्रद्धाहीन पवित्र और पवित्रतारहित श्रद्धालुके द्रव्यको यज्ञकर्मके लिये एक-सा ही समझते थे। इसी प्रकार वे कृपण वेदवेत्ता और महादानी सूदखोरके अन्नमें भी कोई अन्तर नहीं मानते थे। देवताओंने खूब सोच-विचारकर दोनों प्रकारके अन्नोंको समान निश्चित किया था। १०-११½।

प्रजापतिस्तानुवाच विषमं कृतमित्युत॥ १२॥
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्।

'किंतु एक बार यज्ञमें प्रजापतिने उनके इस बर्तावको देखकर कहा—'देवताओ! तुमने यह अनुचित किया है। वास्तवमें उदारका अन्न उसकी श्रद्धाके कारण पवित्र होता है और कंजूसका अश्रद्धाके कारण अपवित्र एवं नष्टप्राय समझा जाता है* ॥ १२½ ॥

भोज्यमन्नं वदान्यस्य कदर्यस्य न वार्धुषेः॥ १३॥
अश्रद्दधान एवैको देवानां नार्हते हविः।
तस्यैवान्नं न भोक्तव्यमिति धर्मविदो विदुः॥ १४॥

'सारांश यह कि उदारका ही अन्न भोजन करना चाहिये, कृपण, श्रोत्रिय एवं केवल सूदखोरका नहीं। जिसमें श्रद्धा नहीं है, एकमात्र वही देवताओंको हविष्य अर्पण करनेका अधिकार नहीं रखता है। उसीका अन्न नहीं खाना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुष ऐसा ही मानते हैं॥ १३-१४॥

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥ १५॥

'अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पापसे छुटकारा दिलानेवाली है। जैसे साँप अपने पुरानी केंचुलको छोड़ देता है, उसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष पापका परित्याग कर देता है॥ १५॥

ज्यायसी या पवित्राणां निवृत्तिः श्रद्धया सह।
निवृत्तशीलदोषो यः श्रद्धावान् पूत एव सः॥ १६॥

'श्रद्धा होनेके साथ-ही-साथ पापोंसे निवृत्त हो जाना समस्त पवित्रताओंसे बढ़कर है। जिसके शीलसम्बन्धी दोष दूर हो गये हैं, वह श्रद्धालु पुरुष सदा पवित्र ही है॥ १६॥

किं तस्य तपसा कार्यं किं वृत्तेन किमात्मना।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ १७॥

'उसे तपस्याद्वारा क्या लेना है? आचार-व्यवहार अथवा आत्मचिन्तनद्वारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करना है? यह पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है, वह वैसा सात्त्विक, राजस या तामस होता है॥१७॥

इति धर्मः समाख्यातः सद्भिर्धर्मार्थदर्शिभिः।
वयं जिज्ञासमानास्तु सम्प्राप्ता धर्मदर्शनात्॥ १८॥

'धर्म और अर्थका साक्षात्कार करनेवाले सत्पुरुषोंने इसी प्रकार धर्मकी व्याख्या की है। हमलोगोंने धर्मदर्शन नामक मुनिसे जिज्ञासा प्रकट करनेपर उस धर्मका ज्ञान प्राप्त किया है॥ १८॥

श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ ततः प्राप्स्यसि यत् परम्।
श्रद्धावाञ्श्रद्दधानश्च धर्मश्चैव हि जाजले।

* अतः श्रद्धाहीन पवित्रकी अपेक्षा पवित्रताहीन श्रद्धालुका ही अन्न ग्रहण करने योग्य है। इसी प्रकार कृपण वेदवेत्ता और दानी सूदखोरमेंसे दानी सूदखोरका ही अन्न श्रद्धापूत एवं ग्राह्य है। केवल सूदखोर और केवल कृपणका अन्न तो त्याज्य है ही।

स्ववर्त्मनि स्थितश्चैव गरीयानेव जाजले ॥ १९ ॥

महाज्ञानी जाजलि ! तुम इसपर श्रद्धा करो । तदनन्तर इसके अनुसार आचरण करनेसे तुम्हें परमगतिकी प्राप्ति होगी। श्रद्धा करनेवाला श्रद्धालु पुरुष साक्षात् धर्मका स्वरूप है । जाजले ! जो श्रद्धापूर्वक अपने धर्मपर स्थित है, वही सबसे श्रेष्ठ माना गया है' ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच

ततोऽचिरेण कालेन तुलाधारः स एव च ।
दिवं गत्वा महाप्राज्ञौ विहरेतां यथासुखम् ॥ २० ॥
स्वं स्वं स्थानमुपागम्य स्वकर्मफलनिर्जितम् ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर थोड़े ही समयमें तुलाधार और जाजलि दोनों महाज्ञानी पुरुष परमधाममें जाकर अपने शुभ कर्मोंके फलस्वरूप अपने-अपने स्थानको पाकर वहाँ सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ २०½ ॥

एवं बहुविधार्थं च तुलाधारेण भाषितम् ॥ २१ ॥
सम्यक् चेदमुपालब्धो धर्मश्चोक्तः सनातनः ।
तस्य विख्यातवीर्यस्य श्रुत्वा वाक्यानि स द्विजः॥ २२ ॥

इस प्रकार तुलाधारने नाना प्रकारके वक्तव्य विषयोंसे युक्त उत्तम भाषण किया । उन्होंने सनातनधर्मका भी वर्णन किया । ब्राह्मण जाजलिने विख्यात प्रभावशाली तुलाधारके वे वचन सुनकर उनके इस तात्पर्यको भलीभाँति हृदयंगम किया ॥ २१-२२ ॥

तुलाधारस्य कौन्तेय शान्तिमेवान्वपद्यत ।
एवं बहुमतार्थं च तुलाधारेण भाषितम् ।
यथौपम्योपदेशेन किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन ! तुलाधारने जो उपदेश दिया था, वह बहुजनसम्मत अर्थसे युक्त था । उसे सुनकर जाजलिको परम शान्ति प्राप्त हुई । उसे यथावत् दृष्टान्तपूर्वक समझाया गया है । अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार-जाजलि-संवादविषयक दो सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६४ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजा विचख्नुके द्वारा अहिंसा-धर्मकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रजानामनुकम्पार्थं गीतं राज्ञा विचख्नुना ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! प्राचीन कालमें राजा विचख्नुने समस्त प्राणियोंपर दया करनेके लिये जो उद्गार प्रकट किया था, उस प्राचीन इतिहासका इस प्रसङ्गमें जानकार मनुष्य उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम् ।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः ॥ २ ॥

एक समय किसी यज्ञशालामें राजाने देखा कि एक बैलकी गरदन कटी हुई है और वहाँ बहुत-सी गौएँ आर्तनाद कर रही हैं । यज्ञशालाके प्राङ्गणमें कितनी ही गौएँ खड़ी हैं । यह सब देखकर राजा बोले—॥ २ ॥

स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम् ।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता ॥ ३ ॥

'संसारमें समस्त गौओंका कल्याण हो ।' जब हिंसा आरम्भ होने जा रही थी, उस समय उन्होंने गौओंके लिये यह शुभ कामना प्रकट की और उस हिंसाका निषेध करते हुए कहा—॥ ३ ॥

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥ ४ ॥

'जो धर्मकी मर्यादासे भ्रष्ट हो चुके हैं, मूर्ख हैं, नास्तिक हैं तथा जिन्हें आत्माके विषयमें संदेह है एवं जिनकी कहीं प्रसिद्धि नहीं है, ऐसे लोगोंने ही हिंसाका समर्थन किया है ॥

सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून् नराः ॥ ५ ॥

धर्मात्मा मनुने सम्पूर्ण कर्मोंमें अहिंसाका ही प्रतिपादन किया है । मनुष्य अपनी ही इच्छासे यज्ञकी बाह्यवेदीपर पशुओंका बलिदान करते हैं ॥ ५ ॥

तस्मात् प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥ ६ ॥

अतः विज्ञ पुरुषको उचित है कि वह वैदिक प्रमाणसे धर्मके सूक्ष्म स्वरूपका निर्णय करे । सम्पूर्ण भूतोंके लिये जिन धर्मोंका विधान किया गया है, उनमें अहिंसा ही सबसे बड़ी मानी गयी है ॥ ६ ॥

उपोष्य संशितो भूत्वा हित्वा वेदकृताः श्रुतीः ।
आचार इत्यनाचाराः कृपणाः फलहेतवः ॥ ७ ॥

उपवासपूर्वक कठोर नियमोंका पालन करे । वेदकी फलश्रुतियोंका परित्याग कर दे अर्थात् काम्य कर्मोंको छोड़ दे, सकामकर्मोंके आचरणको अनाचार समझकर उनमें प्रवृत्त न हो । कृपण (क्षुद्र) मनुष्य ही फलकी इच्छासे कर्म करते हैं ॥ ७ ॥

यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः ।
वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते ॥ ८ ॥

यदि कहें कि मनुष्य यूपनिर्माणके उद्देश्यसे जो वृक्ष काटते और यज्ञके उद्देश्यसे पशुबलि देकर जो मांस खाते हैं, वह व्यर्थ नहीं है अपि तु धर्म ही है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसे धर्मकी कोई प्रशंसा नहीं करते ॥ ८ ॥

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥ ९ ॥

सुरा, आसव, मधु, मांस और मछली तथा तिल और चावलकी खिचड़ी—इन सब वस्तुओंको धूर्तोंने यज्ञमें प्रचलित कर दिया है। वेदोंमें इनके उपयोगका विधान नहीं है ॥९॥

मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम् ।

उन धूर्तोंने अभिमान, मोह और लोभके वशीभूत होकर उन वस्तुओंके प्रति अपनी यह लोलुपता ही प्रकट की है ।९½।

विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥ १० ॥
पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम् ।

ब्राह्मण तो सम्पूर्ण यज्ञोंमें भगवान् विष्णुका ही आदर-भाव मानते हैं और खीर तथा फूल आदिसे ही उनकी पूजाका विधान है ॥ १०½ ॥

यज्ञियाश्चैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिताः ॥ ११ ॥
यच्चापि किंचित् कर्तव्यमन्यच्चोक्षैः सुसंस्कृतम् ।
महासत्त्वैः शुद्धभावैः सर्वं देवार्हमेव तत् ॥ १२ ॥

वेदोंमें जो यज्ञ-सम्बन्धी वृक्ष बताये गये हैं, उन्हींका यज्ञोंमें उपयोग होना चाहिये। शुद्ध आचार-विचारवाले महान् सत्त्वगुणी पुरुष अपनी विशुद्ध भावनासे प्रोक्षण आदिके द्वारा उत्तम संस्कार करके जो कोई भी हविष्य या नैवेद्य तैयार करते हैं, वह सब देवताओंको अर्पण करनेके योग्य होता है ॥ ११-१२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शरीरमापदश्चापि विवदन्त्यविहिंसतः ।
कथं यात्रा शरीरस्य निरारम्भस्य सेत्स्यते ॥ १३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो हिंसासे अलग दूर रहनेवाला है, उस पुरुषका शरीर और आपत्तियाँ परस्पर विवाद करने लगती हैं—आपत्तियाँ शरीरका शोषण करती हैं और शरीर आपत्तियोंका नाश चाहता है; अतः सूक्ष्म हिंसाके भयसे कृषि आदि किसी कार्यका आरम्भ न करनेवाले पुरुषकी शरीरयात्राका निर्वाह कैसे होगा ? ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच

यथा शरीरं न ग्लायेन्नेयान्मृत्युवशं यथा ।
तथा कर्मसु वर्तेत समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! कर्मोंमें इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिये, जिससे शरीरकी शक्ति सर्वथा क्षीण न हो जाय, जिससे वह मृत्युके अधीन न हो जाय; क्योंकि मनुष्य शरीरके समर्थ होनेपर ही धर्मका पालन कर सकता है ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि विचख्नुगीतायां पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें विचख्नुगीताविषयक दो सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

महर्षि गौतम और चिरकारीका उपाख्यान—दीर्घकालतक सोच-विचारकर कार्य करनेकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

कथं कार्यं परीक्षेत शीघ्रं वाथ चिरेण वा ।
सर्वथा कार्यदुर्गेऽस्मिन् भवान् नः परमो गुरुः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आप मेरे परम गुरु हैं। कृपया यह बतलाइये कि यदि कभी सर्वथा ऐसा कार्य उपस्थित हो जाय, जो गुरुजनोंकी आज्ञाके कारण अवश्य कर्तव्य हो, परंतु हिंसायुक्त होनेके कारण दुष्कर एवं अनुचित प्रतीत होता हो तो ऐसे अवसरपर उस कार्यकी परख कैसे करनी चाहिये ? उसे शीघ्र कर डाले या देरतक उसपर विचार करता रहे ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चिरकारेस्तु यत् पूर्वं वृत्तमाङ्गिरसे कुले ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! इस विषयमें जानकार लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जो पहले आङ्गिरस-कुलमें उत्पन्न चिरकारीपर बीत चुका है ॥ २ ॥

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक ।
चिरकारी हि मेधावी नापराध्यति कर्मसु ॥ ३ ॥

'चिरकारी ! तुम्हारा कल्याण हो। चिरकारी ! तुम्हारा मङ्गल हो। चिरकारी बड़ा बुद्धिमान् है। चिरकारी कर्तव्यों-के पालनमें कभी अपराध नहीं करता है।' (यह बात चिर-कारीकी प्रशंसा करते हुए उसके पिताने कही थी) ॥ ३ ॥

चिरकारी महाप्राज्ञो गौतमस्याभवत् सुतः ।
चिरेण सर्वकार्याणि विमृश्यार्थान् प्रपद्यते ॥ ४ ॥

कहते हैं, महर्षि गौतमके एक महाज्ञानी पुत्र था, जिसका नाम था चिरकारी। वह कर्तव्य-विषयोंका भलीभाँति

विचार करके सारे कार्य विलम्बसे किया करता था ॥ ४ ॥

चिरं स चिन्तयत्यर्थांश्चिरं जाग्रच्चिरं स्वपन्।
चिरं कार्याभिपत्तिं च चिरकारी तथोच्यते ॥ ५ ॥

वह सभी विषयोंपर बहुत देरतक विचार करता था, चिरकालतक जागता और चिरकालतक सोता था तथा चिर-विलम्बके बाद ही कार्य पूर्ण करता था; इसलिये सब लोग उसे चिरकारी कहने लगे ॥ ५ ॥

अलसग्रहणं प्राप्तो दुर्मेधावी तथोच्यते।
बुद्धिलाघवयुक्तेन जनेनादीर्घदर्शिना ॥ ६ ॥

जो दूरतककी बात नहीं सोच सकते, ऐसे मन्दबुद्धि मानवोंने उसे आलसीकी उपाधि दे दी। उसे दुर्बुद्धि कहा जाने लगा ॥ ६ ॥

व्यभिचारे तु कस्मिंश्चिद् व्यतिक्रम्यापरान् सुतान्।
पित्रोक्तः कुपितेनाथ जहीमां जननीमिति ॥ ७ ॥

एक दिनकी बात है, गौतमने अपनी स्त्रीके द्वारा किये गये किसी व्यभिचारपर कुपित हो अपने दूसरे पुत्रोंको न कहकर चिरकारीसे कहा—'बेटा ! तू अपनी इस पापिनी माताको मार डाल' ॥ ७ ॥

इत्युक्त्वा स तदा विप्रो गौतमो जपतां वरः।
अविमृश्य महाभागो वनमेव जगाम सः ॥ ८ ॥

उस समय बिना विचारे ही ऐसी आज्ञा देकर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि महाभाग गौतम वनमें चले गये ॥ ८ ॥

स तथेति चिरेणोक्त्वा स्वभावाच्चिरकारिकः।
विमृश्य चिरकारित्वाच्चिन्तयामास वै चिरम् ॥ ९ ॥

चिरकारीने अपने स्वभावके अनुसार देर करके कहा, 'बहुत अच्छा'। चिरकारी तो वह था ही, चिरकालतक उस बातपर विचार करता रहा ॥ ९ ॥

पितुराज्ञां कथं कुर्यां न हन्यां मातरं कथम्।
कथं धर्मच्छलेनास्मिन् निमज्जेयमसाधुवत् ॥ १० ॥

उसने सोचा कि 'मैं किस उपायसे काम लूँ जिससे पिताकी आज्ञाका पालन भी हो जाय और माताका वध भी न करना पड़े। धर्मके बहाने यह मेरे ऊपर महान् संकट आ गया है। भला, अन्य असाधु पुरुषोंकी भाँति मैं भी इसमें डूबनेका कैसे साहस करूँ ! ॥ १० ॥

पितुराज्ञा परो धर्मः स्वधर्मो मातृरक्षणम्।
अस्वतन्त्रं च पुत्रत्वं किं तु मां नानुपीडयेत् ॥ ११ ॥

'पिताकी आज्ञाका पालन परम धर्म है और माताकी रक्षा करना पुत्रका प्रधान धर्म है। पुत्र कभी स्वतन्त्र नहीं होता, वह सदा माता-पिताके अधीन ही रहता है, अतः क्या करूँ जिससे मुझे धर्मकी हानिरूप पीड़ा न हो ॥ ११ ॥

स्त्रियं हत्वा मातरं च को हि जातु सुखी भवेत्।
पितरं चाप्यवज्ञाय कः प्रतिष्ठामवाप्नुयात् ॥ १२ ॥

'एक तो स्त्री-जाति, दूसरे माताका वध करके कौन पुत्र कभी भी सुखी हो सकता है ? पिताकी अवहेलना करके भी कौन प्रतिष्ठा पा सकता है ? ॥ १२ ॥

अनवज्ञा पितुर्युक्ता धारणं मातृरक्षणम्।
युक्तक्षमावुभावेतौ नातिवर्तेत मां कथम् ॥ १३ ॥

'पिताका अनादर उचित नहीं है, साथ ही माताकी रक्षा करना भी पुत्रका धर्म है। ये दोनों ही धर्म उचित और योग्य हैं। मैं किस प्रकार इनका उल्लङ्घन न करूँ ? ॥ १३ ॥

पिता ह्यात्मानमाधत्ते जायायां जज्ञिवानिति।
शीलचारित्रगोत्रस्य धारणार्थं कुलस्य च ॥ १४ ॥

'पिता स्वयं अपने शील, सदाचार, कुल और गोत्रकी रक्षाके लिये स्त्रीके गर्भमें अपना ही आधान करता और पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

सोऽहं मात्रा स्वयं पित्रा पुत्रत्वे प्रकृतः पुनः।
विज्ञानं मे कथं न स्याद् द्वौ बुद्धये चात्मसम्भवम् ॥ १५ ॥

'अतः मुझे माता और पिता—दोनोंने ही पुत्रके रूपमें जन्म दिया है। मैं इन दोनोंको ही अपनी उत्पत्तिका कारण समझता हूँ। मेरा ऐसा ही ज्ञान क्यों न सदा बना रहे ? ॥

जातकर्मणि यत् प्राह पिता यच्चोपकर्मणि।
पर्याप्तः स दृढीकारः पितुर्गौरवनिश्चये ॥ १६ ॥

'जातकर्म-संस्कार और उपनयन-संस्कारके समय पिताने जो आशीर्वाद दिया है, वह पिताके गौरवका निश्चय करानेमें पर्याप्त एवं सुदृढ़ प्रमाण है ॥ १६ ॥

गुरुरग्र्यः परो धर्मः पोषणाध्यापनान्वितः।
पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः ॥ १७ ॥

'पिता भरण-पोषण करने तथा शिक्षा देनेके कारण पुत्रका प्रधान गुरु है। वह परम धर्मका साक्षात् स्वरूप है। पिता जो कुछ आज्ञा दे, उसे ही धर्म समझकर स्वीकार करना चाहिये। वेदोंमें भी उसीको धर्म निश्चित किया गया है ॥ १७ ॥

प्रीतिमात्रं पितुः पुत्रः सर्वं पुत्रस्य वै पिता।
शरीरादीनि देयानि पिता त्वेकः प्रयच्छति ॥ १८ ॥

'पुत्र पिताकी सम्पूर्ण प्रीतिरूप है और पिता पुत्रका सर्वस्व है। केवल पिता ही पुत्रको देह आदि सम्पूर्ण देने योग्य वस्तुओंको देता है ॥ १८ ॥

तस्मात् पितुर्वचः कार्यं न विचार्यं कदाचन।
पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः ॥ १९ ॥

'इसलिये पिताके आदेशका पालन करना चाहिये। उसपर कभी कोई विचार नहीं करना चाहिये। जो पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाला है, उसके पातक भी नष्ट हो जाते हैं ॥ १९ ॥

भोग्ये भोज्ये प्रवचने सर्वलोकनिदर्शने।

भर्त्रा चैव समायोगे सीमन्तोन्नयने तथा ॥ २० ॥

'पुत्रके भोग्य (वस्त्र आदि), भोज्य (अन्न आदि), प्रवचन (वेदाध्ययन), सम्पूर्ण लोक-व्यवहारकी शिक्षा तथा गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन आदि समस्त संस्कारोंके सम्पादनमें पिता ही प्रभु है ॥ २० ॥

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः ।
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीयन्ति देवताः ॥ २१ ॥

'इसलिये पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सबसे बड़ी तपस्या है । पिताके प्रसन्न होनेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं ॥ २१ ॥

आशिषस्ता भजन्त्येनं परुषं प्राह यत् पिता ।
निष्कृतिः सर्वपापानां पिता यच्चाभिनन्दति ॥ २२ ॥

'पिता पुत्रसे यदि कुछ कठोर बातें कह देता है तो वे आशीर्वाद बनकर उसे अपना लेती हैं और पिता यदि पुत्रका अभिनन्दन करता है—मीठे वचन बोलकर उसके प्रति प्यार और आदर दिखाता है तो इससे पुत्रके सम्पूर्ण पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ २२ ॥

मुच्यते बन्धनात् पुष्पं फलं वृक्षात् प्रमुच्यते ।
क्लिश्यन्नपि सुतं स्नेहैः पिता पुत्रं न मुञ्चति ॥ २३ ॥

'फूल डंठलसे अलग हो जाता है, फल वृक्षसे अलग हो जाता है; परंतु पिता कितने ही कष्टमें क्यों न हो, लाड़-प्यारसे पाले हुए अपने पुत्रको कभी नहीं छोड़ता है अर्थात् पुत्र कभी पितासे अलग नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

एतद् विचिन्तितं तावत् पुत्रस्य पितृगौरवम् ।
पिता नाल्पतरं स्थानं चिन्तयिष्यामि मातरम् ॥ २४ ॥

'पुत्रके निकट पिताका कितना गौरव होना चाहिये, इस बातपर पहले विचार किया है । विचार करनेसे यह बात स्पष्ट हो गयी कि पिता पुत्रके लिये कोई छोटा-मोटा आश्रय नहीं है । अब मैं माताके विषयमें सोचता हूँ ॥ २४ ॥

यो ह्ययं मयि संघातो मर्त्यत्वे पाञ्चभौतिकः ।
अस्य मे जननी हेतुः पावकस्य यथारणिः ॥ २५ ॥

'मेरे लिये जो यह पाञ्चभौतिक मनुष्यशरीर मिला है, इसके उत्पन्न होनेमें मेरी माता ही मुख्य हेतु है । जैसे अग्निके प्रकट होनेका मुख्य आधार अरणी-काष्ठ है ॥ २५ ॥

माता देहारणिः पुंसां सर्वस्यार्तस्य निर्वृतिः ।
मातृलाभे सनाथत्वमनाथत्वं विपर्यये ॥ २६ ॥

'माता मनुष्योंके शरीररूपी अग्निको प्रकट करनेवाली अरणी है । संसारके समस्त आर्त प्राणियोंको सुख और सान्त्वना प्रदान करनेवाली माता ही है । जबतक माता जीवित रहती है, मनुष्य अपनेको सनाथ समझता है और उसके न रहनेपर वह अनाथ हो जाता है ॥ २६ ॥

न च शोचति नाप्येनं स्थाविर्यमपकर्षति ।
श्रिया हीनोऽपि यो गेहमम्बेति प्रतिपद्यते ॥ २७ ॥

'माताके रहते मनुष्यको कभी चिन्ता नहीं होती है, बुढ़ापा उसे अपनी ओर नहीं खींचता है । जो अपनी माँको पुकारता हुआ घरमें जाता है, वह निर्धन होनेपर भी मानो माता अन्नपूर्णाके पास चला जाता है ॥ २७ ॥

पुत्रपौत्रोपपन्नोऽपि जननीं यः समाश्रितः ।
अपि वर्षशतस्यान्ते स द्विहायनवच्चरेत् ॥ २८ ॥

'पुत्र और पौत्रोंसे सम्पन्न होनेपर भी जो अपनी माताके आश्रयमें रहता है, वह सौ वर्षकी अवस्थाके बाद भी उसके पास दो वर्षके बच्चेके समान आचरण करता है ॥ २८ ॥

समर्थं वासमर्थं वा कृशं वाप्यकृशं तथा ।
रक्षत्येव सुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः ॥ २९ ॥

'पुत्र असमर्थ हो या समर्थ, दुर्बल हो या हृष्ट-पुष्ट, माता उसका पालन करती ही है । माताके सिवा दूसरा कोई विधिपूर्वक पुत्रका पालन-पोषण नहीं कर सकता ॥ २९ ॥

तदा स वृद्धो भवति तदा भवति दुःखितः ।
तदा शून्यं जगत् तस्य यदा मात्रा वियुज्यते ॥ ३० ॥

'जब मातासे विछोह हो जाता है, उसी समय मनुष्य अपनेको बुड्ढा समझने लगता है, दुखी हो जाता है और उसके लिये सारा संसार सूना प्रतीत होने लगता है ॥ ३० ॥

नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः ।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥ ३१ ॥

'माताके समान दूसरी कोई छाया नहीं है अर्थात् माताकी छत्रछायामें जो सुख है, वह कहीं नहीं है । माताके तुल्य दूसरा सहारा नहीं है, माताके सदृश अन्य कोई रक्षक नहीं है तथा बच्चेके लिये माके समान दूसरी कोई प्रिय वस्तु नहीं है ॥ ३१ ॥

कुक्षिसंधारणाद् धात्री जननाज्जननी स्मृता ।
अङ्गानां वर्धनादम्बा वीरसूत्वेन वीरसूः ॥ ३२ ॥

'वह गर्भाशयमें धारण करनेके कारण धात्री, जन्म देनेके कारण जननी, शिशुका अङ्गवर्धन (पालन-पोषण) करनेसे अम्बा तथा वीर-संतानका प्रसव करनेके कारण वीरसू कही गयी है ॥ ३२ ॥

शिशोः शुश्रूषणाच्छुश्रूर्माता देहमनन्तरम् ।
चेतनावान् नरो हन्याद् यस्य नासुषिरं शिरः ॥ ३३ ॥

'वह शिशुकी शुश्रूषा करके शुश्रू नाम धारण करती है । माता अपना निकटतम शरीर है । जिसका मस्तिष्क विचारशून्य नहीं हो गया है, ऐसा कोई सचेतन मनुष्य कभी अपनी माताकी हत्या नहीं कर सकता ॥ ३३ ॥

दम्पत्योः प्राणसंश्लेषे योऽभिसंधिः कृतः किल ।
तं माता च पिता चेति भूतार्थो मातरि स्थितः ॥ ३४ ॥

'पति और पत्नी मैथुनकालमें सुयोग्य पुत्र होनेके लिये

जो अभिलाषा करते हैं, उसे यद्यपि पिता और माता—दोनों धारण करते हैं तथापि वास्तवमें वह अभिलाषा मातामें ही प्रतिष्ठित होती है ॥ ३४ ॥

माता जानाति यद्गोत्रं माता जानाति यस्य सः ।
मातुर्भरणमात्रेण प्रीतिः स्नेहः पितुः प्रजाः ॥ ३५ ॥

'पुत्रका गोत्र क्या है ? यह माता जानती है । वह किस पिताका पुत्र है ? यह भी माता ही जानती है । माता बालकको अपने गर्भमें धारण करती है, इसलिये उसीका उसपर अधिक स्नेह और प्रेम होता है । पिताका तो अपनी संतानपर प्रभुत्वमात्र है ॥ ३५ ॥

पाणिबन्धं स्वयं कृत्वा सह धर्ममुपेत्य च ।
यदायास्यन्ति पुरुषाः स्त्रियो नार्हन्ति वाच्यताम्॥ ३६ ॥

'जब स्वयं ही पत्नीका पाणिग्रहण करके साथ-साथ धर्माचरण करनेकी प्रतिज्ञा लेकर भी पुरुष परायी स्त्रियोंके पास जायँगे (और उनपर बलात्कार करेंगे), तब इसके लिये स्त्रियोंको दोषी नहीं ठहराया जा सकता ॥ ३६ ॥

भरणाद्धि स्त्रियो भर्ता पालनाद्धि पतिस्तथा ।
गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्ता न पुनः पतिः॥ ३७ ॥

'पुरुष अपनी स्त्रीका भरण-पोषण करनेसे भर्ता और पालन करनेके कारण पति कहलाता है । इन गुणोंके न रहनेपर वह न तो भर्ता है और न पति ही कहलाने योग्य है ॥

एवं स्त्री नापराध्नोति नर एवापराध्यति ।
व्युच्चरंश्च महादोषं नर एवापराध्यति ॥ ३८ ॥

'वास्तवमें स्त्रीका कोई अपराध नहीं होता है, पुरुष ही अपराध करता है । व्यभिचारका महान् पाप पुरुष ही करता है, इसलिये वही अपराधी है ॥ ३८ ॥

स्त्रिया हि परमो भर्ता दैवतं परमं स्मृतम् ।
तस्यात्मना तु सदृशमात्मानं परमं ददौ ॥ ३९ ॥

'स्त्रीके लिये पति ही परम आदरणीय है, वही उसका सबसे बड़ा देवता माना गया है । मेरी माताने ऐसे पुरुषको आत्मसमर्पण किया है, जो शरीरसे, वेशभूषासे पिताजीके समान ही था ॥ ३९ ॥

नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति ।
सर्वकार्यापराध्यत्वान्नापराध्यन्ति चाङ्गनाः ॥ ४० ॥

'ऐसे अवसरोंपर स्त्रियोंका अपराध नहीं होता, पुरुष ही अपराधी होता है । सभी कार्योंमें अबला होनेके कारण स्त्रियोंको अपराधके लिये विवश कर दिया जाता है, अतः पराधीन होनेके कारण वे अपराधिनी नहीं हैं ॥ ४० ॥

यश्च नोक्तोऽथ निर्देशः स्त्रिया मैथुनतृप्तये ।
तस्य स्मारयतो व्यक्तमधर्मो नास्ति संशयः ॥ ४१ ॥

'स्त्रीके द्वारा मैथुनजनित सुखसे तृप्त होनेके लिये कोई संकेत न करनेपर भी उसके कामको उद्दीप्त करनेवाले पुरुषको स्पष्ट ही अधर्मकी प्राप्ति होती है । इसमें संशय नहीं है ॥

एवं नारीं मातरं च गौरवे चाधिके स्थिताम् ।
अवध्यां तु विजानीयुः पशवोऽप्यविचक्षणाः ॥ ४२ ॥

'इस प्रकार विचार करनेसे एक तो वह नारी होनेके कारण ही अवध्य है, दूसरे मेरी पूजनीया माता है । माताका गौरव पितासे भी बढ़कर है, जिसमें मेरी मा प्रतिष्ठित है । नासमझ पशु भी स्त्री और माताको अवध्य मानते हैं (फिर मैं समझदार मनुष्य होकर भी उसका वध कैसे करूँ ?) ॥

देवतानां समावायमेकस्थं पितरं विदुः ।
मर्त्यानां देवतानां च स्नेहादभ्येति मातरम् ॥ ४३ ॥

'मनीषी पुरुष यह जानते हैं कि पिता एक स्थानपर स्थित सम्पूर्ण देवताओंका समूह है; परंतु माताके भीतर उसके स्नेहवश समस्त मनुष्यों और देवताओंका समुदाय स्थित रहता है (अतः माताका गौरव पितासे भी अधिक है);' ॥ ४३ ॥

एवं विमृशतस्तस्य चिरकारितया बहु ।
दीर्घः कालो व्यतिक्रान्तस्ततोऽस्याभ्यागमत् पिता॥४४॥

विलम्ब करनेका स्वभाव होनेके कारण चिरकारी इस प्रकार सोचता-विचारता रहा । इसी सोच-विचारमें बहुत अधिक समय व्यतीत हो गया । इतनेमें ही उसके पिता वनसे लौट आये ॥ ४४ ॥

मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः ।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम्॥ ४५ ॥
सोऽब्रवीद् भृशसंतप्तो दुःखेनाश्रूणि वर्तयन् ।
श्रुतधैर्यप्रसादेन पश्चात्तापमुपागतः ॥ ४६ ॥

महाज्ञानी तपोनिष्ठ मेधातिथि गौतम उस समय पत्नीके वधके अनौचित्यपर विचार करके अधिक संतप्त हो गये । वे दुःखसे आँसू बहाते हुए वेदाध्ययन और धैर्यके प्रभावसे किसी तरह अपनेको सँभाले रहे और पश्चात्ताप करते हुए मन-ही-मन इस प्रकार कहने लगे—॥ ४५-४६ ॥

आश्रमं मम सम्प्राप्तस्त्रिलोकेशः पुरंदरः ।
अतिथिव्रतमास्थाय ब्राह्मणं रूपमास्थितः ॥ ४७ ॥
स मया सान्त्वितो वाग्भिः स्वागतेनाभिपूजितः ।
अर्घ्यं पाद्यं यथान्यायं मया च प्रतिपादितः ॥ ४८ ॥

'अहो ! त्रिभुवनका स्वामी इन्द्र ब्राह्मणका रूप धारण करके मेरे आश्रमपर आया था । मैंने अतिथि-सत्कारके गृहस्थोचित व्रतका आश्रय लेकर उसे मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना दी, उसका स्वागत-सत्कार किया और यथोचित रूपसे अर्घ्य-पाद्य आदि निवेदन करके मैंने स्वयं ही उसकी विधिवत् पूजा की ॥ ४७-४८ ॥

परवानस्मि चेत्युक्तः प्रणयिष्यति तेन च ।
अत्र चाकुशले जाते स्त्रिया नास्ति व्यतिक्रमः॥ ४९ ॥

'मैंने विनयपूर्वक कहा—'भगवन् ! मैं आपके अधीन

हूँ। आपके पदार्पणसे मैं सनाथ हो गया।' मुझे आशा थी कि मेरे इस सद्व्यवहारसे संतुष्ट होकर अतिथिदेवता मुझसे प्रेम करेंगे; परंतु यहाँ इन्द्रकी विषयलोलुपताके कारण दुःखद घटना घटित हो गयी। इसमें मेरी स्त्रीका कोई अपराध नहीं॥

एवं न स्त्री न चैवाहं नाध्वगस्त्रिदशेश्वरः।
अपराध्यति धर्मस्य प्रमादस्त्वपराध्यति ॥ ५० ॥

'इस प्रकार न तो स्त्री अपराधिनी है, न मैं अपराधी हूँ और न एक पथिक ब्राह्मणके वेशमें आया हुआ देवताओंका राजा इन्द्र ही अपराधी है। मेरेद्वारा धर्मके विषयमें जो स्त्रीवध-रूप प्रमाद हुआ है, वही इस अपराधकी जड़ है ॥ ५० ॥

ईर्ष्याजं व्यसनं प्राहुस्तेन चैवोर्ध्वरेतसः।
ईर्ष्यया त्वहमाक्षिप्तो मग्नो दुष्कृतसागरे ॥ ५१ ॥

'ऊर्ध्वरेता मुनि उस प्रमादके ही कारण ईर्ष्याजनित संकट-की प्राप्ति बताते हैं; ईर्ष्याने मुझे पापके समुद्रमें ढकेल दिया है और मैं उसमें डूब गया हूँ ॥ ५१ ॥

हत्वा साध्वीं च नारीं च व्यसनित्वाच्च वासिताम्।
भर्तव्यत्वेन भार्या च को नु मां तारयिष्यति ॥ ५२ ॥

'जिसे मैंने पत्नीके रूपमें अपने घरमें आश्रय दिया था। जो एक सती-साध्वी नारी थी और भार्या होनेके कारण मुझसे भरण-पोषण पानेकी अधिकारिणी थी, उसीका मैंने प्रमादरूपी व्यसनके वशीभूत होनेके कारण वध करा डाला। अब इस पापसे मेरा कौन उद्धार करेगा ? ॥ ५२ ॥

अन्तरेण मयाऽऽज्ञप्तश्चिरकारीत्युदारधीः।
यद्यद्य चिरकारी स्यात् स मां त्रायेत पातकात्॥ ५३ ॥

'परंतु मैंने उदारबुद्धि चिरकारीको उसकी माताके वधके लिये आज्ञा दी थी। यदि उसने इस कार्यमें विलम्ब करके अपने नामको सार्थक किया हो, तो वही मुझे स्त्रीहत्याके पापसे बचा सकता है ॥ ५३ ॥

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक।
यद्यद्य चिरकारी त्वं ततोऽसि चिरकारिकः ॥ ५४ ॥

'बेटा चिरकारी ! तेरा कल्याण हो। चिरकारी ! तेरा मङ्गल हो। यदि आज भी तूने विलम्बसे कार्य करनेके अपने स्वभावका अनुसरण किया हो तभी तेरा चिरकारी नाम सफल हो सकता है ॥ ५४ ॥

त्राहि मां मातरं चैव तपो यच्चार्जितं मया।
आत्मानं पातकेभ्यश्च भवाद्य चिरकारिकः ॥ ५५ ॥

'बेटा ! आज विलम्ब करके तू वास्तवमें चिरकारी बन और मेरी, अपनी माताकी तथा मैंने जो तपका उपार्जन किया है, उसकी भी रक्षा कर। साथ ही अपने आपको भी पातकोंसे बचा ले ॥ ५५ ॥

सहजं चिरकारित्वमतिप्रज्ञतया तव।
सफलं तत् तथा तेऽस्तु भवाद्य चिरकारिकः॥ ५६ ॥

'अत्यन्त बुद्धिमान् होनेके कारण तुझमें जो चिरकारिता-का सहज गुण है, वह इस समय सफल हो। आज तू वास्तवमें चिरकारी बन ॥ ५६ ॥

चिरमाशंसितो मात्रा चिरं गर्भेण धारितः।
सफलं चिरकारित्वं कुरु त्वं चिरकारिक ॥ ५७ ॥

'तेरी माता चिरकालसे तेरे जन्मकी आशा लगाये बैठी थी। उसने चिरकालतक तुझे गर्भमें धारण किया है, अतः बेटा चिरकारी ! आज तू अपनी माताकी रक्षा करके चिर-कारिताको सफल कर ले ॥ ५७ ॥

चिरायते च संतापाच्चिरं स्वपिति वारितः।
आवयोश्चिरसंतापादवेक्ष्य चिरकारिकः ॥ ५८ ॥

'मेरा बेटा चिरकारी कोई दुःख या संताप प्राप्त होनेपर भी कार्य करनेमें विलम्ब करनेका स्वभाव नहीं छोड़ता है। मना करनेपर भी चिरकालतक सोता रहता है। आज हम दोनों माता-पिताका चिरसंताप देखकर वह अवश्य चिरकारी बने' ॥ ५८ ॥

एवं स दुःखितो राजन् महर्षिर्गौतमस्तदा।
चिरकारिं ददर्शाथ पुत्रं स्थितमथान्तिके ॥ ५९ ॥

राजन् ! इस प्रकार दुखी हुए महर्षि गौतमने घर आने-पर अपने पुत्र चिरकारीको पास ही खड़ा देखा ॥ ५९ ॥

चिरकारी तु पितरं दृष्ट्वा परमदुःखितः।
शस्त्रं त्यक्त्वा ततो मूर्ध्ना प्रसादायोपचक्रमे॥ ६० ॥

पिताको उपस्थित देख चिरकारी बहुत दुखी हुआ। वह हथियार फेंककर उनके चरणोंमें मस्तक झुका उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगा ॥ ६० ॥

गौतमस्तं ततो दृष्ट्वा शिरसा पतितं भुवि।
पत्नीं चैव निराकारां परामभ्यागमन्मुदम् ॥ ६१ ॥

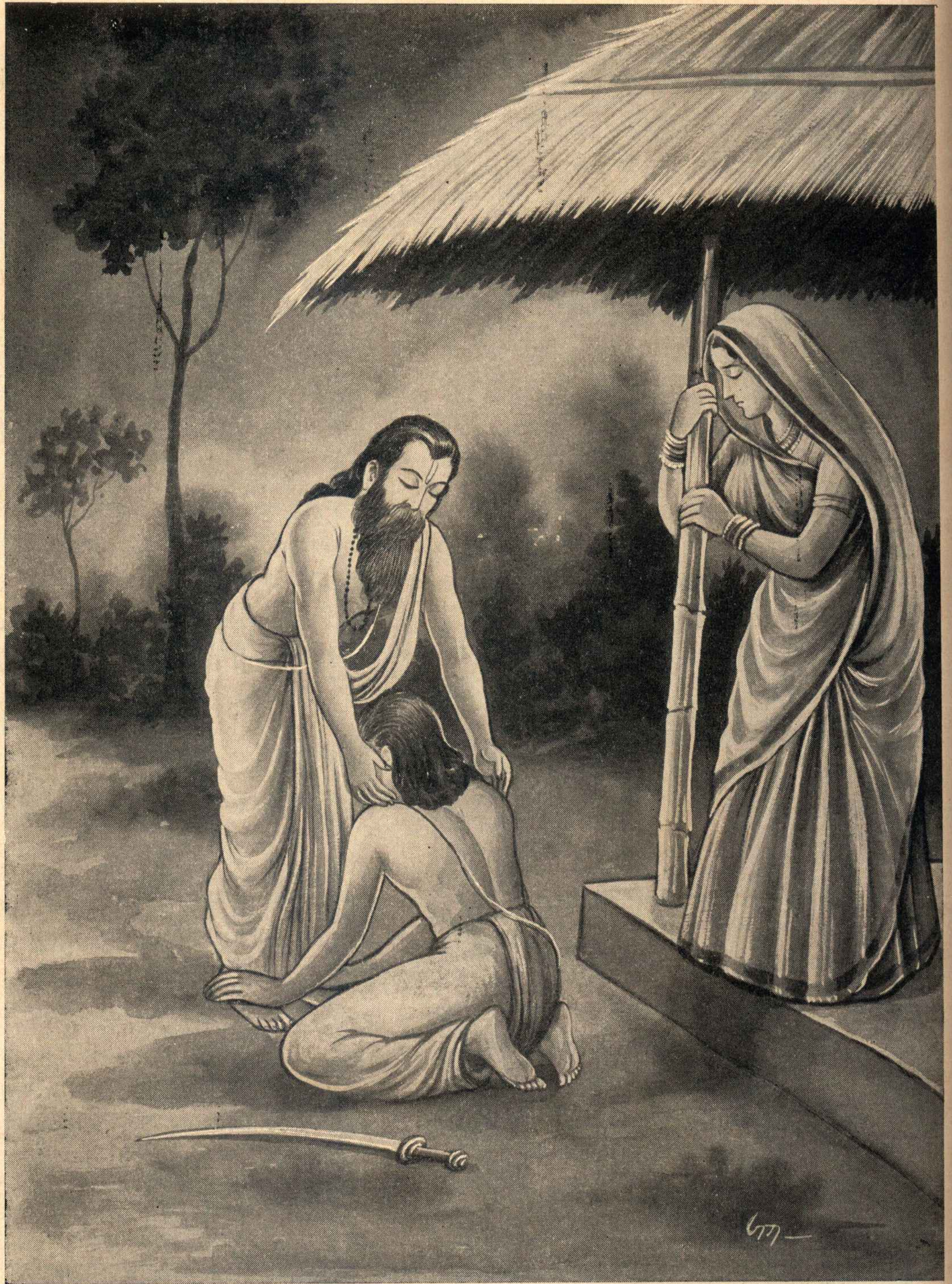
गौतमने देखा, चिरकारी पृथ्वीपर माथा टेककर पड़ा है और पत्नी लज्जाके मारे निश्चेष्ट खड़ी है। यह देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ६१ ॥

न हि सा तेन सम्भेदं पत्नी नीता महात्मना।
विजने चाश्रमस्थेन पुत्रश्चापि समाहितः ॥ ६२ ॥

एकान्त वनमें उस आश्रमके भीतर रहनेवाले महात्मा गौतमने अपनी पत्नी तथा एकाग्रचित्त पुत्र चिरकारीको कभी अपनेसे अलग नहीं किया ॥ ६२ ॥

हन्या इति समादेशः शस्त्रपाणौ सुते स्थिते।
विनीते प्रसवत्यर्थे विवासे चात्मकर्मसु ॥ ६३ ॥

अपने आवश्यक कर्म जप-ध्यान आदिके लिये महर्षि गौतमके बाहर चले जानेपर उनका पुत्र चिरकारी यद्यपि हाथमें हथियार लेकर खड़ा था तथापि माताकी रक्षाके लिये वह विनीतभावसे कुछ सोचता-विचारता रहा। इसीलिये



चिरकारी शस्त्र त्यागकर अपने पिताको प्रणाम कर रहे हैं

माताको मार डालनेका जो आदेश प्राप्त हुआ था, वह पालित न हो सका ॥ ६३ ॥

बुद्धिश्चासीत् सुतं दृष्ट्वा पितुश्चरणयोर्नतम् ।
शस्त्रग्रहणचापल्यं संवृणोति भयादिति ॥ ६४ ॥

पुत्रको अपने चरणोंमें नतमस्तक हुआ देख गौतमके मनमें यह विचार हुआ कि सम्भवतः चिरकारी भयके मारे हथियार उठानेकी चपलताको छिपा रहा है ॥ ६४ ॥

ततः पित्रा चिरं स्तुत्वा चिरं चाघ्राय मूर्धनि।
चिरं दोर्भ्यां परिष्वज्य चिरं जीवेत्युदाहृतः ॥ ६५ ॥

तब पिताने चिरकालतक उसकी प्रशंसा करके देरतक उसका मस्तक सूँघा और चिरकालतक दोनों भुजाओंसे खींचकर उसे हृदयसे लगाये रक्खा और आशीर्वाद देते हुए कहा—'बेटा ! चिरञ्जीवी हो' ॥ ६५ ॥

एवं स गौतमः पुत्रं प्रीतिहर्षगुणैर्युतः ।
अभिनन्द्य महाप्राज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ६६ ॥

महामते ! इस प्रकार प्रेम और हर्षसे भरे हुए गौतमने पुत्रका अभिनन्दन करके यह बात कही—॥६६॥

चिरकारिक भद्रं ते चिरकारी चिरं भव।
चिराय यदि ते सौम्य चिरमस्मि न दुःखितः॥ ६७ ॥

'बेटा चिरकारी ! तेरा कल्याण हो । तू चिरकालतक चिरकारी एवं चिरञ्जीवी बना रह। सौम्य ! यदि तू चिरकाल-तक ऐसे ही स्वभावका बना रहा तो मैं दीर्घकालतक कभी दुखी नहीं होऊँगा' ॥ ६७ ॥

गाथाश्चाप्यब्रवीद् विद्वान् गौतमो मुनिसत्तमः ।
चिरकारिषु धीरेषु गुणोद्देशसमाश्रयाः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर विद्वान् मुनिश्रेष्ठ गौतमने कुछ गाथाएँ गायीं । चिरकालतक सोच-विचारकर काम करनेवाले धीर पुरुषोंमें जो गुण होते हैं, उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वे गाथाएँ इस प्रकार हैं—॥ ६८ ॥

चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत् ।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति ॥ ६९ ॥

चिरकालतक सोच-विचार करके किसीके साथ मित्रता जोड़नी चाहिये और जिसे मित्र बना लिया, उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिये । यदि छोड़नेकी आवश्यकता पड़ ही जाय तो उसके परिणामपर चिरकालतक विचार कर लेना चाहिये । दीर्घकालतक सोच-विचार करके बनाया हुआ जो मित्र है, उसीकी मैत्री चिरकालतक टिक पाती है ॥६९॥

रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ।
अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ॥ ७० ॥

'राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापाचरण और किसीका अप्रिय करनेमें जो विलम्ब करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है ॥ ७० ॥

बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च ।
अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते ॥ ७१ ॥

'बन्धुओं, सुहृदों, सेवकों और स्त्रियोंके छिपे हुए अपराधोंके विषयमें कुछ निर्णय करनेमें भी जो जल्दबाजी न करके दीर्घकालतक सोच-विचार करता है, उसीकी प्रशंसा की जाती है' ॥ ७१ ॥

एवं स गौतमस्तत्र प्रीतः पुत्रस्य भारत ।
कर्मणा तेन कौरव्य चिरकारितया तथा ॥ ७२ ॥

भारत ! कुरुनन्दन ! इस प्रकार गौतम वहाँ अपने पुत्रके विलम्बपूर्वक कार्य करनेके कारण बहुत प्रसन्न हुए थे ॥७२॥

एवं सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ।
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ॥ ७३ ॥

इस प्रकार सभी कार्योंमें विचार करके चिरकालके पश्चात् किसी निश्चयपर पहुँचनेवाले पुरुषको दीर्घकालतक पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता ॥ ७३ ॥

चिरं धारयते रोषं चिरं कर्म नियच्छति ।
पश्चात्तापकरं कर्म न किंचिदुपपद्यते ॥ ७४ ॥

जो चिरकालतक रोषको अपने भीतर ही दबाये रखता है और रोषपूर्वक किये जानेवाले कर्मको देरतक रोके रहता है, उसके द्वारा कोई कर्म ऐसा नहीं बनता, जो पश्चात्ताप करानेवाला हो ॥ ७४ ॥

चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत् ।
चिरं धर्मं निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणं चिरम् ॥ ७५ ॥

दीर्घकालतक बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करे । दीर्घकालतक उनका सङ्ग करके उनकी पूजा (आदर-सत्कार) करे । चिर-कालतक धर्मका सेवन और दीर्घकालतक उसका अनुसंधान करे॥

चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टान् निषेव्य च ।
चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम् ॥ ७६ ॥

अधिक समयतक विद्वानोंका सङ्ग करके चिरकालतक शिष्ट पुरुषोंकी सेवामें रहे तथा चिरकालतक अपने मनको वशमें रखे । इससे मनुष्य चिरकालतक अवज्ञाका नहीं किंतु सम्मानका भागी होता है ॥ ७६ ॥

ब्रुवतश्च परस्यापि वाक्यं धर्मोपसंहितम् ।
चिरं पृष्टोऽपि च ब्रूयाच्चिरं न परितप्यते ॥ ७७ ॥

धर्मोपदेश करनेवाले पुरुषसे यदि कोई प्रश्न करे तो उसे देरतक सोच-विचार कर ही उत्तर देना चाहिये । ऐसा करनेसे उसको देरतक पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता है ॥ ७७ ॥

उपास्य बहुलास्तस्मिन्नाश्रमे सुमहातपाः ।

समाः स्वर्गं गतो विप्रः पुत्रेण सहितस्तदा ॥ ७८ ॥

वे महातपस्वी ब्रह्मर्षि गौतम उस आश्रममें बहुत वर्षोंतक रहकर अन्तमें पुत्र चिरकारीके साथ ही स्वर्गलोकको सिधारे ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चिरकारिकोपाख्याने षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें चिरकारीका उपाख्यानविषयक दो सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६६ ॥

सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्युमत्सेन और सत्यवान्‌का संवाद—अहिंसापूर्वक राज्यशासनकी श्रेष्ठताका कथन

युधिष्ठिर उवाच

कथं राजा प्रजा रक्षेन्न च किंचित् प्रघातयेत् ।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह ! मैं आपसे यह पूछ रहा हूँ कि राजा किस प्रकार प्रजाकी रक्षा करे, जिससे उसको किसीकी हिंसा न करनी पड़े; वह आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
द्युमत्सेनस्य संवादं राज्ञा सत्यवता सह ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें राजा सत्यवान्‌के साथ उनके पिता द्युमत्सेनका जो संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

अव्याहृतं व्याजहार सत्यवानिति नः श्रुतम् ।
वधायोन्नीयमानेषु पितुरेवानुशासनात् ॥ ३ ॥

हमने सुना है कि एक दिन सत्यवान्‌ने देखा कि पिताकी आज्ञासे बहुत-से अपराधी शूलीपर चढ़ा देनेके लिये ले जाये जा रहे हैं । उस समय उन्होंने पिताके पास जाकर ऐसी बात कही, जो पहले किसीने नहीं कही थी ॥ ३ ॥

अधर्मतां याति धर्मो यात्यधर्मश्च धर्मताम् ।
वधो नाम भवेद् धर्मो नैतद् भवितुमर्हति ॥ ४ ॥

'पिताजी ! यह सत्य है कि कभी ऊपरसे धर्म-सा दिखायी देनेवाला कार्य अधर्मरूप हो जाता है और अधर्म भी धर्मके रूपमें परिणत हो जाता है, तथापि किसी प्राणीका वध करना भी धर्म हो—ऐसा कदापि नहीं हो सकता' ॥ ४ ॥

द्युमत्सेन उवाच

अथ चेदवधो धर्मोऽधर्मः को जातु चिद् भवेत् ।
दस्यवश्चेन्न हन्येरन् सत्यवन् संकरो भवेत् ॥ ५ ॥

द्युमत्सेन बोले—बेटा सत्यवान् ! यदि अपराधीका वध न करना भी कभी धर्म हो तो अधर्म क्या हो सकता है ? यदि चोर-डाकू मारे न जायँ तो प्रजामें वर्णसंकरता और धर्मसंकरता फैल जाय ॥ ५ ॥

ममेदमिति नास्यैतत् प्रवर्तेत कलौ युगे ।
लोकयात्रा न चैव स्यादथ चेद् वेत्थ शंस नः ॥ ६ ॥

कलियुग आनेपर तो लोग 'यह वस्तु मेरी है, इसकी नहीं है' ऐसा कहकर सीधे ही दूसरोंका धन हड़प लेंगे। इस तरह लोकयात्राका निर्वाह असम्भव हो जायगा। यदि तुम इसका कोई समाधान जानते हो, तो मुझसे बताओ ॥ ६ ॥

सत्यवानुवाच

सर्व एते त्रयो वर्णाः कार्या ब्राह्मणबन्धनाः ।
धर्मपाशनिबद्धानामन्योऽप्येवं चरिष्यति ॥ ७ ॥

सत्यवान् बोले—पिताजी ! क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र- इन तीनों वर्णोंको ब्राह्मणोंके अधीन कर देना चाहिये। जब चारों वर्णोंके लोग धर्मके बन्धनमें बँधकर उसका पालन करने लगेंगे तो उनकी देखा-देखी दूसरे मनुष्य सूत-मागध आदि भी धर्मका आचरण करेंगे ॥ ७ ॥

यो यस्तेषामपचरेत् तमाचक्षीत वै द्विजः ।
अयं मे न शृणोतीति तस्मिन् राजा प्रधारयेत् ॥ ८ ॥

इनमेंसे जो भी ब्राह्मणकी आज्ञाके विपरीत आचरण करे, उसके विषयमें ब्राह्मणको राजाके पास जाकर कहना चाहिये कि 'अमुक मनुष्य मेरी बात नहीं सुनता है।' तब राजा उसी व्यक्तिको दण्ड दे ॥ ८ ॥

तत्त्वाभेदेन यच्छास्त्रं तत् कार्यं नान्यथाविधम् ।
असमीक्ष्यैव कर्माणि नीतिशास्त्रं यथाविधि ॥ ९ ॥

जो दण्ड-विधान शरीरके पाँचों तत्त्वोंको अलग-अलग न कर सके अर्थात् किसीके प्राण न ले, उसीका प्रयोग करना चाहिये । नीतिशास्त्रकी आलोचना और अपराधीके कार्योंका भलीभाँति विचार किये बिना ही इसके विपरीत कोई दण्ड नहीं देना चाहिये ॥ ९ ॥

दस्यून् निहन्ति वै राजा भूयसो वाप्यनागसः ।
भार्या माता पिता पुत्रो हन्यन्ते पुरुषेण ते ।
परेणापकृतो राजा तस्मात् सम्यक् प्रधारयेत् ॥ १० ॥

राजा डाकुओं अथवा दूसरे बहुत-से निरपराध मनुष्योंको मार डालता है और इस प्रकार उसके द्वारा मारे गये पुरुषके पिता-माता, स्त्री और पुत्र आदि भी जीविकाका कोई उपाय न रह जानेके कारण मानो मार दिये जाते हैं, अतः किसी दूसरेके अपकार करनेपर राजाको भलीभाँति विचार करना चाहिये (जल्दबाजी करके किसीको प्राणदण्ड नहीं देना चाहिये) ॥ १० ॥

असाधुश्चैव पुरुषो लभते शीलमेकदा।
साधोश्चापि ह्यसाधुभ्यः शोभना जायते प्रजा ॥ ११ ॥

दुष्ट पुरुष भी कभी साधुसङ्गसे सुधरकर सुशील बन जाता है तथा बहुत-से दुष्ट पुरुषोंकी संतानें भी अच्छी निकल जाती हैं ॥ ११ ॥

न मूलघातः कर्तव्यो नैष धर्मः सनातनः।
अपि स्वल्पवधेनैव प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ १२ ॥

इसलिये दुष्टोंको प्राणदण्ड देकर उनका मूलोच्छेद नहीं करना चाहिये। किसीकी जड़ उखाड़ना सनातन धर्म नहीं है। अपराधके अनुरूप साधारण दण्ड देना चाहिये, उसीसे अपराधीके पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १२ ॥

उद्वेजनेन बन्धेन विरूपकरणेन च।
वधदण्डेन ते क्लिश्या न पुरोहितसंसदि ॥ १३ ॥

अपराधीको उसका सर्वस्व छीन लेनेका भय दिखाया जाय अथवा उसे कैद कर लिया जाय या उसके किसी अङ्गको भङ्ग करके उसे कुरूप बना दिया जाय; परंतु प्राणदण्ड देकर उनके कुटुम्बियोंको क्लेश पहुँचाना उचित नहीं है। इसी तरह यदि वे पुरोहित ब्राह्मणकी शरणमें जा चुके हों तो भी राजा उन्हें दण्ड न दे ॥ १३ ॥

यदा पुरोहितं वा ते पर्येयुः शरणैषिणः।
करिष्यामः पुनर्ब्रह्मन् न पापमिति वादिनः ॥ १४ ॥
तदा विसर्गमर्हाः स्युरितीदं धातृशासनम्।
बिभ्रद् दण्डाजिनं मुण्डो ब्राह्मणोऽर्हति शासनम् ॥ १५ ॥

यदि शरण चाहनेवाले डाकू या दुष्ट पुरुष पुरोहितकी शरणमें चले जायँ और यह प्रतिज्ञा करें कि 'ब्रह्मन्! अब हम फिर ऐसा पाप नहीं करेंगे' तो उन्हें छोड़ देना चाहिये। यह ब्रह्माजीका आदेश है। सिर मुड़ाकर दण्ड और मृगचर्म धारण करनेवाला संन्यासी ब्राह्मण भी यदि पाप करे तो दण्ड पानेका अधिकारी है ॥ १४-१५ ॥

गरीयांसो गरीयांसमपराधे पुनः पुनः।
तदा विसर्गमर्हन्ति न यथा प्रथमे तथा ॥ १६ ॥

यदि मनुष्य बारंबार अपराध करे, तो प्रमुख विचारकगण उसके अपराधके लिये गुरुतर दण्ड प्रदान करें। उस अवस्थामें पहले बारके अपराधकी भाँति वे बिना दण्ड दिये छोड़ देनेके योग्य नहीं रह जाते हैं ॥ १६ ॥

द्युमत्सेन उवाच

यत्र यत्रैव शक्येरन् संयन्तुं समये प्रजाः।
स तावान् प्रोच्यते धर्मो यावन्न प्रतिलङ्घ्यते ॥ १७ ॥

द्युमत्सेनने कहा—बेटा! जहाँ-जहाँ भी प्रजाको धर्मकी मर्यादाके भीतर नियन्त्रित करके रखा जा सके वहाँ-वहाँ वैसा करना धर्म ही बताया जाता है। जबतक कि धर्मका उल्लङ्घन नहीं किया जाता (तबतक ही वहाँ ऐसी व्यवस्था कर लेनी चाहिये) ॥ १७ ॥

अहन्यमानेषु पुनः सर्वमेव पराभवेत्।
पूर्वे पूर्वतरे चैव सुशास्या ह्यभवन् जनाः ॥ १८ ॥
मृदवः सत्यभूयिष्ठा अल्पद्रोहाल्पमन्यवः।
पुरा धिग्दण्ड एवासीद् वाग्दण्डस्तदनन्तरम् ॥ १९ ॥

यदि धर्मका उल्लङ्घन करनेपर भी लुटेरोंका वध न किया जाय तो उनसे सारी प्रजाको कष्ट पहुँच सकता है। पहले और बहुत पहलेके लोगोंपर शासन करना सुगम था, क्योंकि उनका स्वभाव कोमल था, सत्यमें उनकी विशेष रुचि थी और द्रोह तथा क्रोधकी मात्रा उनमें बहुत कम थी। पहले अपराधीको धिक्कार देना ही बड़ा भारी दण्ड समझा जाता था। तदनन्तर अपराधकी मात्रा बढ़नेपर वाग्दण्डका प्रचार हुआ—अपराधीको कटुवचन सुनाकर छोड़ दिया जाने लगा ॥ १८-१९ ॥

आसीदादानदण्डोऽपि वधदण्डोऽद्य वर्तते।
वधेनापि न शक्यन्ते नियन्तुमपरे जनाः ॥ २० ॥

इसके बाद आवश्यकता समझकर अर्थदण्ड भी चालू किया गया और आजकल तो वधका दण्ड भी प्रचलित हो गया है। बहुत-से दुष्टात्मा मनुष्योंको तो प्राणदण्डके द्वारा भी काबूमें लाना या मर्यादाके भीतर रखना असम्भव-सा हो रहा है ॥ २० ॥

नैव दस्युर्मनुष्याणां न देवानामिति श्रुतिः।
न गन्धर्वपितॄणां च कः कस्येह न कश्चन ॥ २१ ॥

सुननेमें आया है कि डाकू मनुष्यों, देवताओं, गन्धर्वों अथवा पितरोंमेंसे किसीका आत्मीय नहीं होता। इतना ही नहीं, इस संसारमें कौन लुटेरा किसका है, यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। कोई डाकू किसीका नहीं होता है, यही कहना यथार्थ है ॥ २१ ॥

पद्मं श्मशानादादत्ते पिशाचाच्चापि दैवतम्।
तेषु यः समयं कश्चित् कुर्वीत हतबुद्धिषु ॥ २२ ॥

वह तो मरघटमें जाकर मृत शरीरसे चिह्नभूत वस्त्र आदि उतार लाता है और देवताकी सम्पत्तिको भी लूट लेता है। जिनकी बुद्धि मारी गयी है, उन डाकुओंपर जो कोई विश्वास करता है, वह मूर्ख है ॥ २२ ॥

सत्यवानुवाच

तान् न शक्नोषि चेत् साधून् परित्रातुमहिंसया।
कस्यचिद् भूतभव्यस्य लाभेनान्तं तथा कुरु ॥ २३ ॥

सत्यवान्ने कहा—पिताजी! यदि आप लुटेरोंका वध न करके साधुओंकी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं, अथवा उन दस्युओंको ही साधु बनाकर अहिंसाद्वारा उनकी प्राणरक्षा नहीं कर सकते तो भूत, वर्तमान और भविष्यमें उनके पारमार्थिक लाभका उद्देश्य सामने रखकर किसी उत्तम उपायसे उनका या उनकी दस्युवृत्तिका अन्त कर दीजिये॥

राजानो लोकयात्रार्थं तप्यन्ते परमं तपः।
तेऽपत्रपन्ति तादृग्भ्यस्तथावृत्ता भवन्ति च ॥ २४ ॥

बहुत से नरेश, लोगोंकी जीवनयात्राका यथावत् रूपसे निर्वाह हो, इस उद्देश्यसे बड़ी भारी तपस्या करते हैं। वे राजा अपने राज्यमें चोर-डाकुओंके होनेसे लज्जाका अनुभव करते हैं। इसीलिये प्रजाको शुद्ध, सदाचारी एवं सुखी बनानेकी इच्छासे वैसी तपस्यामें प्रवृत्त होते हैं ॥ २४ ॥

वित्रास्यमानाः सुकृतो न कामाद् घ्नन्ति दुष्कृतीन्।
सुकृतेनैव राजानो भूयिष्ठं शासते प्रजाः ॥ २५ ॥

जब प्रजामें दण्डका भय उत्पन्न किया जाता है, तब वह सत्कर्मपरायण होती है; अतः भय दिखाकर प्रजाको धर्ममें लगाना ही दण्डका उद्देश्य है, किसीका प्राण लेना नहीं। राजालोग अपनी इच्छासे दुष्टोंका वध नहीं करते हैं। श्रेष्ठ नरेश प्रायः सत्कर्मों और सद्व्यवहारोंद्वारा ही दीर्घकालतक प्रजापर शासन करते हैं ॥ २५ ॥

श्रेयसः श्रेयसोऽप्येवं वृत्तं लोकोऽनुवर्तते।
सदैव हि गुरोर्वृत्तमनुवर्तन्ति मानवाः ॥ २६ ॥

इस प्रकार परम श्रेष्ठ राजाके सद्व्यवहारका सब लोग अनुसरण करते हैं। मनुष्य स्वभावसे ही सदा बड़ोंके आचरणोंका अनुकरण करते हैं ॥ २६ ॥

आत्मानमसमाधाय समाधित्सति यः परान्।
विषयेष्विन्द्रियवशं मानवाः प्रहसन्ति तम् ॥ २७ ॥

जो राजा स्वयं विषय भोगनेके लिये इन्द्रियोंका दास हो रहा है, अपने मनको काबूमें नहीं रख पाता है, वह यदि दूसरोंको सदाचारका उपदेश देने लगे तो लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं ॥ २७ ॥

यो राज्ञो दम्भमोहेन किंचित् कुर्यादसाम्प्रतम्।
सर्वोपायैर्नियम्यः स तथा पापान्निवर्तते ॥ २८ ॥

यदि कोई मनुष्य दम्भ या मोहके कारण राजाके साथ किंचिन्मात्र भी कोई अनुचित बर्ताव करने लगे तो सभी उपायोंसे उसका दमन करना चाहिये। ऐसा करनेपर वह पापकर्मसे दूर हट जाता है ॥ २८ ॥

आत्मैवादौ नियन्तव्यो दुष्कृतं संनियच्छता।
दण्डयेच्च महादण्डैरपि बन्धूननन्तरान् ॥ २९ ॥

जो राजा पापकी प्रवृत्तिको रोकना चाहता हो, उसे पहले अपने मनको ही वशमें करना चाहिये। फिर अपने सगे बन्धु-बान्धव भी अपराध करें तो उनको भी भारी-से-भारी दण्ड देना चाहिये ॥ २९ ॥

यत्र वै पापकृन्नीचो न महद् दुःखमर्च्छति।
वर्धन्ते तत्र पापानि धर्मो ह्रसति च ध्रुवम् ॥ ३० ॥

जहाँ पाप करनेवाले नीचको महान् दुःख नहीं भोगना पड़ता है, वहाँ निश्चय ही पाप बढ़ता है और धर्मका ह्रास होता है ॥ ३० ॥

इति कारुण्यशीलस्तु विद्वान् वै ब्राह्मणोऽन्वशात्।
इति चैवानुशिष्टोऽस्मि पूर्वैस्तात पितामहैः ॥ ३१ ॥
आश्वासयद्भिः सुभृशमनुक्रोशात् तथैव च।
एतत् प्रथमकल्पेन राजा कृतयुगे जयेत् ॥ ३२ ॥

पिताजी! एक दयालु एवं विद्वान् ब्राह्मणने मुझे यह सब उपदेश दिया था। उस समय उसने कहा था कि 'तात सत्यवान्! मेरे पूर्वज पितामहोंने मुझे आश्वासन देते हुए अत्यन्त कृपापूर्वक ऐसी शिक्षा दी थी। इसलिये राजाको सत्ययुगमें जब कि धर्म अपने चारों चरणोंसे मौजूद रहता है, पूर्वोक्त प्रथम श्रेणीके (अहिंसामय) दण्डद्वारा ही प्रजाको वशमें करना चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

पादोनेनापि धर्मेण गच्छेत् त्रेतायुगे तथा।
द्वापरे तु द्विपादेन पादेन त्वधरे युगे ॥ ३३ ॥

'त्रेतायुग आनेपर धर्मका प्रचार एक चौथाई कम हो जाता है, द्वापरमें धर्मके दो ही पैर रह जाते हैं; परंतु कलियुगमें तो धर्मका चतुर्थ भाग ही शेष रह जाता है ॥ ३३ ॥

तथा कलियुगे प्राप्ते राज्ञो दुश्चरितेन ह।
भवेत् कालविशेषेण कला धर्मस्य षोडशी ॥ ३४ ॥

'इस प्रकार कलियुग उपस्थित होनेपर राजाके दुर्व्यवहारसे तथा उस कालविशेषका प्रभाव पड़नेसे सम्पूर्ण धर्मकी सोलहवीं कलामात्र शेष रह जायगी ॥ ३४ ॥

अथ प्रथमकल्पेन सत्यवन् संकरो भवेत्।
आयुः शक्तिं च कालं च निर्दिश्य तप आदिशेत् ॥ ३५ ॥

'सत्यवान्! यदि प्रथम श्रेणीके अहिंसात्मक दण्डसे धर्म और अधर्मका सम्मिश्रण होने लगे, तब दण्डनीय व्यक्तिकी आयु, शक्ति और कालको ध्यानमें रखते हुए राजा यथोचित दण्डके लिये आज्ञा प्रदान करे ॥ ३५ ॥

सत्याय हि यथा नेह जह्याद् धर्मफलं महत्।
भूतानामनुकम्पार्थं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

'स्वायम्भुव मनुने प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये धर्मका उपदेश किया है, जिससे इस जगत्में वह सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले धर्मके महान् फलसे वञ्चित न रह जाय' ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि द्युमत्सेनसत्यवत्संवादे सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें द्युमत्सेन और सत्यवान्‌का संवादविषयक दो सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्यूमरश्मि और कपिलका संवाद—स्यूमरश्मिके द्वारा यज्ञकी अवश्यकर्तव्यताका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

अविरोधेन भूतानां योगः षाड्गुण्यकारकः ।
यः स्यादुभयभाग्धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! प्राणियोंका विरोध (अहित) न करते हुए मनुष्योंको शम-दमादि छहों गुणोंकी प्राप्ति करानेवाला जो योग है तथा जो भोग और मोक्ष दोनों फलोंको प्राप्त करानेवाला धर्म है, वह मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

गार्हस्थ्यस्य च धर्मस्य योगधर्मस्य चोभयोः ।
अदूरसम्प्रस्थितयोः किंस्विच्छ्रेयः पितामह ॥ २ ॥

दादाजी ! गार्हस्थ्यधर्म और योगधर्म दोनों एक दूसरेसे दूर नहीं हैं, तथापि उन दोनोंमेंसे कौन श्रेष्ठ है ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

उभौ धर्मौ महाभागावुभौ परमदुश्चरौ ।
उभौ महाफलौ तौ तु सद्भिराचरितावुभौ ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! गार्हस्थ्य और योगधर्म दोनों महान् सौभाग्य प्रदान करनेवाले हैं, दोनों अत्यन्त दुष्कर हैं। दोनोंके ही फल महान् हैं और दोनोंका ही श्रेष्ठ पुरुषोंने आचरण किया है ॥ ३ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि प्रामाण्यमुभयोस्तयोः ।
शृणुष्वैकमनाः पार्थ च्छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ ४ ॥

कुन्तीनन्दन ! मैं तुम्हें इन दोनों धर्मोंकी प्रामाणिकताका प्रतिपादन करूँगा और तुम्हारे धर्म तथा अर्थविषयक संदेहको मिटा दूँगा । तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कपिलस्य गोश्च संवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार लोग महर्षि कपिल और गौके भीतर आविष्ट हुए स्यूमरश्मिके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥

आम्नायमनुपश्यन् हि पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ।
नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम् ॥ ६ ॥

हमने सुना है कि पूर्वकालमें राजा नहुषने वेदके अनुशासनको प्राचीन, सनातन एवं नित्य समझकर अपने घरपर आये हुए अतिथि त्वष्टाके लिये एक गायका आलम्भ करनेका विचार किया ॥ ६ ॥

तां नियुक्तामदीनात्मा सत्त्वस्थः संयमे रतः ।
ज्ञानवान् नियताहारो ददर्श कपिलस्तथा ॥ ७ ॥

उस समय सत्त्वगुणमें स्थित, संयमपरायण, मिताहारी, उदारचित्त और ज्ञानवान् कपिलमुनिने त्वष्टाके लिये नियुक्त हुई उस गायको देखा ॥ ७ ॥

स बुद्धिमुत्तमां प्राप्तो नैष्ठिकीमकुतोभयाम् ।
सतीमशिथिलां सत्यां वेदाश्चेत्यब्रवीत् सकृत् ॥ ८ ॥

तब उत्तम, निर्भय, सुस्थिर, सत्य, सद्भावयुक्त एवं उत्साहयुक्त बुद्धिको प्राप्त हुए महर्षि कपिलने केवल एक बार इतना ही कहा—हा वेद ! (जो तुम्हारे नामपर लोग ऐसा अनाचार करते हैं) ॥ ८ ॥

तां गामृषिः स्यूमरश्मिः प्रविश्य यतिमब्रवीत् ।
हंहो वेदा३ यदि मता धर्माः केनापरे मताः ॥ ९ ॥

उस समय स्यूमरश्मि नामक एक ऋषिने उस गायके भीतर प्रवेश करके कपिलमुनिसे कहा—'अहो ! यदि वेदोंकी प्रामाणिकतापर आपको संदेह है तो अन्य धर्मशास्त्रोंको किस आधारपर प्रमाणभूत माना जा सकता है ? ॥ ९ ॥

तपस्विनो धृतिमन्तः श्रुतिविज्ञानचक्षुषः ।
सर्वमार्षं हि मन्यन्ते व्याहृतं विदितात्मनः ॥ १० ॥

'तपस्वी, धैर्यवान्, वेद एवं विज्ञानरूप दृष्टिवाले ऋषि-मुनि वेदको नित्यज्ञानसम्पन्न परमेश्वरकी निःश्वासभूत वाणी मानते हैं ॥ १० ॥

तस्यैवं गततृष्णस्य विज्वरस्य निराशिषः ।
का विवक्षास्ति वेदेषु निरारम्भस्य सर्वतः ॥ ११ ॥

'जो तृष्णारहित, उद्वेगशून्य, निष्काम तथा सब प्रकारके आरम्भोंसे रहित है, उस परमेश्वरके निःश्वाससे निःसृत वेदोंके विषयमें आप विपरीत वचन क्यों कह रहे हैं ?' ॥ ११ ॥

कपिल उवाच

नाहं वेदान् विनिन्दामि न विवक्ष्यामि कर्हिचित् ।
पृथगाश्रमिणां कर्माण्येकार्थानीति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥

कपिलने कहा—मैं न तो वेदोंकी निन्दा करता हूँ और न कभी उन्हें विपरीत बात बतानेवाला बताता हूँ । पृथक्-पृथक् आश्रमवालोंके जो कर्म हैं, उन सबके उद्देश्य एक ही हैं—ऐसा हमने सुन रखा है ॥ १२ ॥

गच्छत्येव परित्यागी वानप्रस्थश्च गच्छति ।
गृहस्थो ब्रह्मचारी च उभौ तावपि गच्छतः ॥ १३ ॥

संन्यासी परमपदको प्राप्त कर सकता है, वानप्रस्थ भी वहीं जा सकता है । गृहस्थ और ब्रह्मचारी—ये दोनों भी उसी पदको प्राप्त हो सकते हैं ॥ १३ ॥

देवयाना हि पन्थानश्चत्वारः शाश्वता मताः ।
एषां ज्यायः कनीयस्त्वं फलेषूक्तं बलाबलम् ॥ १४ ॥

चारों आश्रम ही देवयाननामक चार सनातन मार्ग माने गये हैं । इनमें कौन बड़ा है कौन छोटा; अतः कौन प्रबल है, कौन दुर्बल—यह उनके फलोंको निमित्त बनाकर बताया गया है ॥ १४ ॥

एवं विदित्वा सर्वार्थानारभेतेति वैदिकम् ।
नारभेतेति चान्यत्र नैष्ठिकी श्रूयते श्रुतिः ॥ १५ ॥

ऐसा जानकर समस्त कार्योंका आरम्भ करे, यह वैदिक मत है। अन्यत्र यह सिद्धान्तभूत श्रुति भी सुनी जाती है कि कर्मोंका आरम्भ ही न करे ॥ १५ ॥

अनालम्भे ह्यदोषः स्यादालम्भे दोष उत्तमः ।
एवं स्थितस्य शास्त्रस्य दुर्विज्ञेयं बलाबलम् ॥ १६ ॥

क्योंकि यज्ञ आदि कार्योंमें आलम्भन न करनेपर दोषकी प्राप्ति नहीं होती है और आलम्भन करनेपर महान् दोष प्राप्त होता है । ऐसी स्थितिमें वेदवचनोंके बलाबलको जानना अत्यन्त कठिन है ॥ १६ ॥

यद्यत्र किञ्चित् प्रत्यक्षमहिंसायाः परं मतम् ।
ऋते त्वागमशास्त्रेभ्यो ब्रूहि तद् यदि पश्यसि ॥ १७ ॥

वेदों और तदनुकूल आगमोंको छोड़कर अन्यत्र अहिंसासे भिन्न हिंसाबोधक शास्त्रका कोई फल यदि युक्तिसे भी प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला प्रतीत होता हो अथवा तुम अनुभवमें उसका साक्षात्कार कर रहे हो तो उसे स्पष्ट बताओ ॥१७॥

स्यूमरश्मिरुवाच

स्वर्गकामो यजेतेति सततं श्रूयते श्रुतिः ।
फलं प्रकल्प्य पूर्वं हि ततो यज्ञः प्रतायते ॥ १८ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—'स्वर्गकी इच्छा रखनेवाला पुरुष यज्ञ करे' यह श्रुति सदा ही सुनी जाती है। अतः मनुष्य पहले स्वर्गरूप फलकी कल्पना (संकल्प) करके फिर यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ करता है ॥ १८ ॥

अजश्चाश्वश्च मेषश्च गौश्च पक्षिगणाश्च ये ।
ग्राम्यारण्याश्चौषधयः प्राणस्यान्नमिति श्रुतिः ॥ १९ ॥

बकरा, घोड़ा, भेड़, गाय, पक्षी, ग्राम्य अन्न तथा जंगली अन्न आदि सारी वस्तुएँ प्राणके लिये अन्न हैं—ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ १९ ॥

तथैवान्नं ह्यहरहः सायंप्रातर्निरूप्यते ।
पशवश्चाथ धान्यं च यज्ञस्याङ्गमिति श्रुतिः ॥ २० ॥

प्रतिदिन सबेरे-शाम अन्नको प्राणका भोज्य बताया गया है। पशु और धान्य—ये यज्ञके अङ्ग हैं, ऐसा श्रुति कहती है॥

एतानि सह यज्ञेन प्रजापतिरकल्पयत् ।
तेन प्रजापतिर्देवान् यज्ञेनायजत प्रभुः ॥ २१ ॥

भगवान् प्रजापतिने यज्ञके साथ-साथ इन सबकी सृष्टि की। फिर उन प्रजापतिने ही इन यज्ञसामग्रियोंद्वारा देवताओंसे यज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ २१ ॥

तदन्योन्यवराः सर्वे प्राणिनः सप्त सप्तधा ।
यज्ञेषूपाकृतं विश्वं प्राहुरुत्तमसंज्ञितम् ॥ २२ ॥

सात-सात प्रकारके जो ग्राम्य और आरण्य (जंगली) प्राणी हैं, वे सब एक-दूसरेकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। इन सबमें 'उत्तम' नामसे प्रसिद्ध जो सब-के-सब पुरुष या मनुष्यसंज्ञक प्राणी हैं, उन्हें भी यज्ञके लिये नियुक्त बताया गया है।

एतच्चैवाभ्यनुज्ञातं पूर्वैः पूर्वतरैस्तथा ।
को जातु न विचिन्वीत विद्वान् स्वां शक्तिमात्मनः॥२३॥

पूर्ववर्ती तथा अधिक पूर्ववर्ती पुरुषोंने इन समस्त द्रव्योंको यज्ञका अङ्ग माना है, अतः कौन विद्वान् मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार कभी किसी यज्ञको अपने लिये नहीं चुनेगा ॥ २३ ॥

पशवश्च मनुष्याश्च द्रुमाश्चौषधिभिः सह ।
स्वर्गमेवाभिकाङ्क्षन्ते न च स्वर्गस्ततो मखात् ॥ २४ ॥

पशु, मनुष्य, वृक्ष और ओषधियाँ—ये सब-के-सब स्वर्ग चाहते हैं, परंतु यज्ञको छोड़कर और किसी साधनसे वह विशाल स्वर्गलोक सुलभ नहीं हो सकता है ॥ २४ ॥

ओषध्यः पशवो वृक्षा वीरुदाज्यं पयो दधि ।
हविर्भूमिर्दिशः श्रद्धा कालश्चैतानि द्वादश ॥ २५ ॥

ओषधि (अन्न आदि), पशु, वृक्ष, लता, घी, दूध, दही, अन्यान्य हविष्य, भूमि, दिशा, श्रद्धा और काल—ये बारह यज्ञके अङ्ग हैं ॥ २५ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि यजमानश्च षोडश ।
अग्निर्ज्ञेयो गृहपतिः स सप्तदश उच्यते ॥ २६ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और यजमान—ये चार मिलकर सोलह यज्ञाङ्ग होते हैं तथा गार्हपत्य अग्निको सत्रहवाँ यज्ञाङ्ग समझना चाहिये । इस प्रकार ये सत्रह अङ्ग बताये जाते हैं ॥ २६ ॥

अङ्गान्येतानि यज्ञस्य यज्ञो मूलमिति श्रुतिः ।
आज्येन पयसा दध्ना शकृताऽऽमिक्षया त्वचा ॥ २७ ॥
वालैः शृङ्गेण पादेन सम्भवत्येव गौर्मखम् ।
एवं प्रत्येकशः सर्वं यद् यदस्य विधीयते ॥ २८ ॥

ये सब यज्ञके अङ्ग हैं और यज्ञ इस जगत्की स्थितिका मूल कारण है; ऐसा श्रुतिका कथन है। घी, दूध, दही, छाछ, गोबर, चमड़ा, बाल, सींग और पैर—इन सबके द्वारा गौ यज्ञकर्मका सम्पादन करती है। इस प्रकार इनमेंसे प्रत्येक वस्तुका, जो-जो विहित है, संग्रह करना चाहिये ॥ २७-२८ ॥

यज्ञं वहन्ति सम्भूय सहर्त्विग्भिः सदक्षिणैः ।
संहृत्यैतानि सर्वाणि यज्ञं निर्वर्तयन्त्युत ॥ २९ ॥

ऋत्विक् और दक्षिणाओंके साथ ये सब मिलकर यज्ञका निर्वाह करते हैं। यजमान इन सारी वस्तुओंका संग्रह करके यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥ २९ ॥

यज्ञार्थानि हि सृष्टानि यथार्था श्रूयते श्रुतिः ।
एवं पूर्वतराः सर्वे प्रवृत्ताश्चैव मानवाः ॥ ३० ॥

ये सारी वस्तुएँ यज्ञके लिये रची गयी हैं; यह श्रुतिका कथन यथार्थ ही है। पहलेके सभी मनुष्य इसी प्रकार यज्ञानुष्ठानमें प्रवृत्त होते आये हैं ॥ ३० ॥

न हिनस्ति नारभते नाभिद्रुह्यति किंचन।
यज्ञो यष्टव्य इत्येव यो यजत्यफलेप्सया ॥ ३१ ॥

यज्ञका अनुष्ठान अपना कर्तव्य है—ऐसा समझकर जो फलकी इच्छा न रखते हुए यज्ञ करता है, वह न तो हिंसा करता है, न किसीसे द्रोह करता है और न अहंकारपूर्वक किसी कर्मका आरम्भ ही करता है ॥ ३१ ॥

यज्ञाङ्गान्यपि चैतानि यज्ञोक्तान्यनुपूर्वशः।
विधिना विधियुक्तानि धारयन्ति परस्परम् ॥ ३२ ॥

यज्ञशास्त्रमें क्रमशः वर्णित ये सम्पूर्ण यज्ञाङ्ग विधिपूर्वक यज्ञमें प्रयुक्त हो एक दूसरेको धारण करते हैं ॥ ३२ ॥

आम्नायमार्षं पश्यामि यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः।
तं विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ब्राह्मणस्यानुदर्शनात् ॥ ३३ ॥

मैं ऋषियोंद्वारा कथित आम्नाय (धर्मशास्त्र) को देखता हूँ, जिसमें सारे वेद प्रतिष्ठित हैं। कर्ममें प्रवृत्ति करानेवाले ब्राह्मणग्रन्थके वाक्योंका उसमें दर्शन होनेसे विद्वान् पुरुष उस आर्षग्रन्थको प्रमाणभूत मानते हैं ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणप्रभवो यज्ञो ब्राह्मणार्पण एव च।
अनुयज्ञं जगत् सर्वं यज्ञश्चानुजगत् सदा ॥ ३४ ॥

वेदोंके ब्राह्मणभागसे यज्ञका प्राकट्य हुआ है। वह यज्ञ ब्राह्मणोंको ही अर्पित किया जाता है। यज्ञके पीछे सारा जगत् और जगत्के पीछे सदा यज्ञ रहता है ॥ ३४ ॥

ओमिति ब्रह्मणो योनिर्नमः स्वाहा स्वधा वषट्।
यस्यैतानि प्रयुज्यन्ते यथाशक्ति कृतान्यपि ॥ ३५ ॥

'ॐ' यह वेदका मूल कारण है। वह ॐ तथा नमः, स्वाहा, स्वधा और वषट्—ये पद यथाशक्ति जिसके यज्ञमें प्रयुक्त होते हैं, उसीका यज्ञ साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होता है ॥

न तस्य त्रिषु लोकेषु परलोकभयं विदुः।
इति वेदा वदन्तीह सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ३६ ॥

ऐसे मनुष्यको तीनों लोकोंमें किसी भी प्राणीसे भय नहीं होता है। यह बात यहाँ सम्पूर्ण वेद तथा सिद्ध महर्षि भी कहते हैं ॥ ३६ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि स्तोभाश्च विधिचोदिताः।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि भवन्तीह स वै द्विजः ॥ ३७ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और विधिविहित स्तोभ[1]—ये सब जिसमें विद्यमान होते हैं, वही इस जगत्में द्विज कहलानेका अधिकारी है ॥ ३७ ॥

अग्न्याधेये यद् भवति यच्च सोमे सुते द्विज।
यच्चेतरैर्महायज्ञैर्वेद तद् भगवान् पुनः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मन्! अग्न्याधान, (अग्निहोत्र) तथा सोमयाग करनेसे जो फल मिलता है और अन्यान्य महायज्ञोंके अनुष्ठानसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, उसे आप जानते हैं ॥ ३८ ॥

तस्माद् ब्रह्मन् यजेच्चैव याजयेच्चाविचारयन्।
यजतः स्वर्गविधिना प्रेत्य स्वर्गफलं महत् ॥ ३९ ॥

अतः विप्रवर! प्रत्येक द्विजको चाहिये कि वह बिना किसी विचारके यज्ञ करे और करावे। जो स्वर्गदायक विधिसे यज्ञ करता है, उसे देहत्यागके पश्चात् महान् स्वर्गफलकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञानां परश्चेति विनिश्चयः।
वेदवादविदश्चैव प्रमाणमुभयं तदा ॥ ४० ॥

यह निश्चय है कि जो यज्ञ नहीं करते हैं, ऐसे पुरुषोंके लिये न तो यह लोक सुखदायक होता है और न स्वर्ग ही। जो वेदोक्त विषयोंके जानकार हैं, वे प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंको ही प्रमाणभूत मानते हैं ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गोकपिलीयोपाख्यानविषयक दो सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमार्गके विषयमें स्यूमरश्मि-कपिल-संवाद

कपिल उवाच

एतावदनुपश्यन्ति यतयो यान्ति मार्गगाः।
नैषां सर्वेषु लोकेषु कश्चिदस्ति व्यतिक्रमः ॥ १ ॥

कपिलने कहा——यम-नियमोंका पालन करनेवाले संन्यासी ज्ञानमार्गका आश्रय लेकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। वे इस दृश्य प्रपञ्चको नश्वर समझते हैं। सम्पूर्ण लोकोंमें उनकी गतिका कहीं कोई अवरोध नहीं होता ॥

निर्द्वन्द्वा निर्नमस्कारा निराशीर्बन्धना बुधाः।
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यश्चरन्ति शुचयोऽमलाः ॥ २ ॥

उन्हें सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्व विचलित नहीं करते। वे न तो किसीको प्रणाम करते हैं और न आशीर्वाद ही देते हैं। इतना ही नहीं, वे विद्वान् पुरुष कामनाओंके बन्धनमें भी नहीं बँधते हैं। सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त, पवित्र और निर्मल होकर सर्वत्र विचरते रहते हैं ॥ २ ॥

अपवर्गेऽथ संत्यागे बुद्धौ च कृतनिश्चयाः।
ब्रह्मिष्ठा ब्रह्मभूताश्च ब्रह्मण्येव कृतालयाः ॥ ३ ॥

वे मोक्षकी प्राप्ति और सर्वस्वके त्यागके लिये अपनी बुद्धिमें दृढ़ निश्चय रखते हैं। ब्रह्मके ध्यानमें तत्पर एवं

[1] सामगानके जो 'हाऽऽयि, हाऽऽवु' इत्यादि पूरक अक्षर हैं, उन्हें 'स्तोभ' कहते हैं।

ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्ममें ही निवास करते हैं ॥ ३ ॥

विशोका नष्टरजसस्तेषां लोकाः सनातनाः ।
तेषां गतिं परां प्राप्य गार्हस्थ्ये किं प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

उन्हें वे सनातन लोक प्राप्त होते हैं, जहाँ शोक और दुःखका सर्वथा अभाव है तथा जहाँ रजोगुण (काम-क्रोध आदि) का दर्शन नहीं होता । उस परम गतिको पाकर उन्हें गार्हस्थ्य-आश्रममें रहने और वहाँके धर्मोंके पालन करनेकी क्या आवश्यकता रह जाती है ? ॥ ४ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

यद्येषा परमा काष्ठा यद्येषा परमा गतिः ।
गृहस्थानव्यपाश्रित्य नाश्रमोऽन्यः प्रवर्तते ॥ ५ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—ज्ञान प्राप्त करके परब्रह्ममें स्थित हो जाना ही यदि पुरुषार्थकी चरम सीमा है, यदि वही उत्तम गति है, तब तो गृहस्थ-धर्मका महत्त्व और भी बढ़ जाता है; क्योंकि गृहस्थोंका सहारा लिये बिना कोई भी आश्रम न तो चल सकता है और न तो ज्ञानकी निष्ठा ही प्रदान कर सकता है ॥ ५ ॥

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः ॥ ६ ॥

जैसे समस्त प्राणी माताकी गोदका सहारा पाकर ही जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रमका आश्रय लेकर ही दूसरे आश्रम टिके हुए हैं ॥ ६ ॥

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः ।
गार्हस्थ्यमस्य धर्मस्य मूलं यत्किंचिदेजते ॥ ७ ॥

गृहस्थ ही यज्ञ करता है, गृहस्थ ही तप करता है। मनुष्य जो कुछ भी चेष्टा करता है—जिस किसी भी शुभ कर्मका आचरण करता है, उस धर्मका मूल कारण गार्हस्थ्य-आश्रम ही है ॥ ७ ॥

प्रजनाद्यभिनिर्वृत्ताः सर्वे प्राणभृतो जनाः ।
प्रजनं चाप्युतान्यत्र न कथंचन विद्यते ॥ ८ ॥

समस्त प्राणधारी जीव संतानके उत्पादन आदिसे सुखका अनुभव करते हैं, परंतु संतान गार्हस्थ्य-आश्रमके सिवा अन्यत्र किसी तरह सुलभ नहीं है ॥ ८ ॥

यास्तु स्युर्बहिरोषध्यो बहिरन्यास्तथाद्रिजाः ।
ओषधिभ्यो बहिर्यस्मात् प्राणात् कश्चिन्न दृश्यते ॥ ९ ॥

कुश-काश आदि तृण, धान-जौ आदि ओषधि, नगरके बाहर उत्पन्न होनेवाली दूसरी ओषधियाँ तथा पर्वतपर होनेवाली जो ओषधियाँ हैं, उन सबका मूल भी गार्हस्थ्य-आश्रम ही है (क्योंकि वहींके यज्ञसे पर्जन्य (मेघ) की उत्पत्ति होती है, जिससे वर्षा आदिके द्वारा तृण-लता, ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं) । प्राणस्वरूप जो ओषधियाँ हैं; उससे बाहर कोई दिखायी नहीं देता ॥ ९ ॥

कस्यैषा वाग् भवेत् सत्या मोक्षो नास्ति गृहादिति ।
अश्रद्दधानैरप्राज्ञैः सूक्ष्मदर्शनवर्जितैः ॥ १० ॥
निरासैरलसैः श्रान्तैस्तप्यमानैः स्वकर्मभिः ।
शमस्योपरमो दृष्टः प्रव्रज्यायामपण्डितैः ॥ ११ ॥

गृहस्थाश्रमके धर्मोंका पालन करनेसे मोक्ष नहीं होता है, ऐसी किसकी वाणी सत्य होगी । जो श्रद्धारहित, मूढ़ और सूक्ष्मदृष्टिसे वञ्चित हैं, अस्थिर, आलसी, श्रान्त और अपने पूर्वकृत कर्मोंसे संतप्त हैं, वे अज्ञानी पुरुष ही संन्यास-मार्गका आश्रय ले गृहस्थाश्रममें शान्तिका अभाव देखते हैं ।१०-११।

त्रैलोक्यस्यैव हेतुर्हि मर्यादा शाश्वती ध्रुवा ।
ब्राह्मणो नाम भगवान् जन्मप्रभृति पूज्यते ॥ १२ ॥

वैदिक धर्मकी सनातन मर्यादा तीनों लोकोंका हित करनेवाली एवं ध्रुव है । ब्राह्मण पूजनीय है और जन्मकालसे ही उसका सबके द्वारा समादर होता है ॥ १२ ॥

प्राग्गर्भाधानान्मन्त्रा हि प्रवर्तन्ते द्विजातिषु ।
अविश्रम्भेषु वर्तन्ते विश्रम्भेष्वप्यसंशयम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तीनों वर्णोंमें गर्भाधानसे पहले वेदमन्त्रोंका उच्चारण किया जाता है । फिर लौकिक और पारलौकिक सभी कार्योंमें निस्संदेह उन वेदमन्त्रोंकी प्रवृत्ति होती है ॥ १३ ॥

दाहे पुनः संश्रयणे संश्रिते पात्रभोजने ।
दाने गवां पशूनां वा पिण्डानामप्सु मज्जने ॥ १४ ॥

मृतकके दाह-संस्कारमें, पुनः देह धारण करनेमें, देह धारण कर लेनेपर, मृत व्यक्तिकी तृप्तिके लिये प्रतिदिन तर्पण और श्राद्ध करनेमें, वैतरणीके निमित्त गौओं अथवा अन्य पशुओंका दान करनेमें तथा श्राद्धकर्ममें दिये हुए पिण्डोंका जलके भीतर विसर्जन करनेमें भी वैदिक मन्त्रोंका उपयोग होता है—इन सब कार्योंके मूल वेद-मन्त्र हैं ॥ १४ ॥

अर्चिष्मन्तो बर्हिषदः क्रव्यादाः पितरस्तथा ।
मृतस्याप्यनुमन्यन्ते मन्त्रान् मन्त्राश्च कारणम् ॥ १५ ॥

अर्चिष्मत्, बर्हिषद् तथा कव्यवाह संज्ञक पितर भी मृत व्यक्तिके (सुख-शान्ति एवं प्रसन्नता) के लिये मन्त्र-पाठकी अनुमति देते हैं । मन्त्र ही सब धर्मोंके कारण हैं॥

एवं क्रोशत्सु वेदेषु कुतो मोक्षोऽस्ति कस्यचित् ।
ऋणवन्तो यदा मर्त्याः पितृदेवद्विजातिषु ॥ १६ ॥

वे ही वेद-मन्त्र जब पुकार-पुकारकर कहते हैं कि मनुष्य देवताओं, पितरों और ऋषियोंके जन्मसे ही ऋणी होते हैं, तब गृहस्थाश्रममें रहकर उन ऋणोंको चुकाये बिना किसीका भी मोक्ष कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

श्रिया विहीनैरलसैः पण्डितैः सम्प्रवर्तितम् ।
वेदवादापरिज्ञानं सत्याभासमिवानृतम् ॥ १७ ॥

श्रीहीन और आलसी पण्डितोंने कर्मोंके त्यागसे मोक्ष मिलता है—ऐसा मत चलाया है । यह सुननेमें सत्य-सा आभासित होता है, परंतु है मिथ्या । इस मार्गमें किसीको वेदके सिद्धान्तोंका तनिक भी ज्ञान नहीं है ॥ १७ ॥

न वै पापैर्ह्रियते कृष्यते वा
यो ब्राह्मणो यजते वेदशास्त्रैः।
ऊर्ध्वं यज्ञैः पशुभिः सार्धमेति
संतर्पितस्तर्पयते च कामैः ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मण वेद-शास्त्रोंके अनुसार यज्ञका अनुष्ठान करता है, उसपर पापोंका आक्रमण नहीं हो सकता और न पाप उसे अपनी ओर खींच ही सकते हैं। वह अपने किये हुए यज्ञों और उनमें उपयोगी पशुओंके साथ ऊपरके पुण्यलोकोंमें जाता है और स्वयं सब प्रकारके भोगोंसे तृप्त होकर दूसरोंको भी तृप्त करता है ॥ १८ ॥

न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया।
महत् प्राप्नोति पुरुषो ब्रह्मणि ब्रह्म विन्दति ॥ १९ ॥

वेदोंका अनादर करनेसे, शठतासे तथा छल-कपटसे कोई भी मनुष्य परब्रह्म परमात्माको नहीं पाता है। वेदों तथा उनमें बताये हुए कर्मोंका आश्रय लेनेपर ही उसे परब्रह्म-की प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

कपिल उवाच

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासंस्तेषु धर्मः सनातनः ॥ २० ॥

कपिलजीने कहा—बुद्धिमान् पुरुषके लिये दर्श, पौर्णमास, अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य आदिके अनुष्ठानका विधान है; क्योंकि उनमें सनातनधर्मकी स्थिति है ॥ २० ॥

अनारम्भाः सुधृतयः शुचयो ब्रह्मसंज्ञिताः।
ब्रह्मणैव स्म ते देवांस्तर्पयन्त्यमृतैषिणः ॥ २१ ॥

परंतु जो संन्यास धर्म स्वीकार करके कर्मानुष्ठानसे निवृत्त हो गये हैं तथा धीर, पवित्र एवं ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हैं, वे अविनाशी ब्रह्मको चाहनेवाले महात्मा पुरुष ब्रह्मज्ञानसे ही देवताओंको तृप्त करते हैं ॥ २१ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ २२ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंके आत्मारूपसे स्थित हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मभावसे ही देखते हैं, जिनका कोई विशेष पद नहीं है, उन ज्ञानी पुरुषका पदचिह्न ढूँढ़नेवाले—उनकी गतिका पता लगानेवाले देवता भी मार्गमें मोहित हो जाते हैं ॥

चतुर्द्वारं पुरुषं चतुर्मुखं
चतुर्धा चैनमुपयाति वाचा।
बाहुभ्यां वाच उदरादुपस्थात्
तेषां द्वारं द्वारपालो बुभूषेत् ॥ २३ ॥

मनुष्योंके हाथ-पैर, वाणी, उदर और उपस्थ—ये चार द्वार हैं। इनका द्वारपाल होनेकी इच्छा करे अर्थात् इनपर संयम रखे। वह शास्त्रवाक्योंके अनुसार इन चारों द्वारोंके संयमसे प्राप्य ऋक्, यजुः, साम, अथर्वरूप—चार मुखोंसे युक्त परमपुरुषको भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं अष्टाङ्गयोग—इन चार उपायोंसे प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

नाक्षैर्दीव्येन्नाददीतान्यवित्तं
न वायोनीयस्य शृतं प्रगृह्णात्।
क्रुद्धो न चैव प्रहरेत धीमां-
स्तथास्य तत्पाणिपादं सुगुप्तम् ॥ २४ ॥

बुद्धिमान् पुरुष जूआ न खेले, दूसरोंका धन न ले, नीच पुरुषका बनाया हुआ अन्न न ग्रहण करे और क्रोधमें आकर किसीको मार न बैठे—ऐसा करनेसे उसके हाथ-पैर सुरक्षित रहते हैं ॥ २४ ॥

नाक्रोशमृच्छेन्न वृथा वदेच्च
न पैशुनं जनवादं च कुर्यात्।
सत्यव्रतो मितभाषोऽप्रमत्त-
स्तथास्य वाग्द्वारमथो सुगुप्तम् ॥ २५ ॥

किसीको गाली न दे, व्यर्थ न बोले, दूसरोंकी चुगली या निन्दा न करे, मितभाषी हो, सत्य वचन बोले तथा इसके लिये सदा सावधान रहे—ऐसा करनेसे वाक्-इन्द्रिय-रूप द्वारकी रक्षा होती है ॥ २५ ॥

नानाशनः स्यान्न महाशनः स्या-
दलोलुपः साधुभिरागतः स्यात्।
यात्रार्थमाहारमिहाददीत
तथास्य स्याज्जाठरी द्वारगुप्तिः ॥ २६ ॥

उपवास न करे, किंतु बहुत अधिक भी न खाय, सदा भोजनके लिये लालायित न रहे। सज्जनोंका सङ्ग करे और जीवननिर्वाहके लिये जितना आवश्यक हो, उतना ही अन्न पेटमें डाले—इससे उदरद्वारका संरक्षण होता है ॥ २६ ॥

न वीर पत्नीं विहरेत नारीं
न चापि नारीमनृतावाह्वयीत।
भार्याव्रतं ह्यात्मनि धारयीत
तथास्योपस्थद्वारगुप्तिर्भवेत ॥ २७ ॥

वीर युधिष्ठिर! अपनी धर्मपत्नीके साथ ही विहार करे, परायी स्त्रीके साथ नहीं, अपनी स्त्रीको भी जबतक वह ऋतुस्नाता न हुई हो, समागमके लिये अपने पास न बुलाये और मनमें एकपत्नीव्रत धारण करे। ऐसा करनेसे उसके उपस्थ-द्वारकी रक्षा हो सकती है ॥ २७ ॥

द्वाराणि यस्य सर्वाणि सुगुप्तानि मनीषिणः।
उपस्थमुदरं बाहू वाक् चतुर्थी स वै द्विजः ॥ २८ ॥

जिस मनीषी पुरुषके उपस्थ, उदर, हाथ-पर और वाणी—ये सभी द्वार पूर्णतः रक्षित हैं, वही वास्तवमें ब्राह्मण है ॥

मोघान्यगुप्तद्वारस्य सर्वाण्येव भवन्त्युत।
किं तस्य तपसा कार्यं किं यज्ञेन किमात्मना ॥ २९ ॥

जिसके ये द्वार सुरक्षित नहीं हैं, उसके सारे शुभ-कर्म निष्फल होते हैं, ऐसे मनुष्यको तपस्या, यज्ञ तथा आत्मचिन्तन-से क्या लाभ हो सकता है ? ॥ २९ ॥

अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्णशायिनम् ।
बाहूपधानं शाम्यन्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३० ॥

जिसके पास वस्त्रके नामपर एक लंगोटी मात्र है, ओढ़नेके लिये एक चादरतक नहीं है, जो बिना बिछौनेके ही सोता है, बाँहोंका ही तकिया लगाता है और सदा शान्तभावसे रहता है, उसीको देवता ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३० ॥

द्वन्द्वारामेषु सर्वेषु य एको रमते मुनिः ।
परेषामननुध्यायंस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३१ ॥

जो मुनि शीत-उष्ण आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वरूपी उपवनोंमें अकेला ही आनन्दपूर्वक रहता है और दूसरोंका चिन्तन नहीं करता, उसे देवतालोग ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) समझते हैं ॥

येन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ।
गतिज्ञः सर्वभूतानां तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३२ ॥

जिसको इस सम्पूर्ण जगत्की नश्वरताका ज्ञान है, जो प्रकृति और उसके विकारोंसे परिचित है तथा जिसे सम्पूर्ण भूतोंकी गतिका ज्ञान है, उसे देवतालोग ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ ३२ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।
सर्वभूतात्मभूतो यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३३ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंसे निर्भय है, जिससे समस्त प्राणी भय नहीं मानते हैं तथा जो सब भूतोंका आत्मा है, उसीको देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ ३३ ॥

नान्तरेणानुजानन्ति दानयज्ञक्रियाफलम् ।
अविज्ञाय च तत् सर्वमन्यद् रोचयते फलम् ॥ ३४ ॥

परंतु मूढ़ मानव दान और यज्ञ-कर्मके फलके सिवा योग आदिके फलका अनुमोदन नहीं करते । वे उन मोक्षप्रद समस्त साधनोंके महत्त्वको न जाननेके कारण स्वर्ग आदि अन्य फलोंमें ही रुचि रखते हैं ॥ ३४ ॥

स्वकर्मभिः संश्रितानां तपो घोरत्वमागतम् ।
तं सदाचारमाश्रित्य पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

किंतु उस पुराण, शाश्वत एवं ध्रुव यौगिक सदाचारका आश्रय लेकर अपने कर्तव्य कर्मोंमें परायण रहनेवाले ज्ञानियोंका तप उत्तरोत्तर तीव्रताको प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

अशक्नुवन्तश्चरितुं किंचिद् धर्मेषु सूत्रितम् ।
निरापद्धर्म आचारो ह्यप्रमादोऽपराभवः ॥ ३६ ॥

प्रवृत्तिमार्गी मनुष्य योगशास्त्रके सूत्रोंमें कथित यम-नियमादिका अनुष्ठान नहीं कर सकते । वह यौगिक आचार आपत्तिशून्य, प्रमादरहित है । वह कामादिसे पराभवको नहीं प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

फलवन्ति च कर्माणि व्युष्टिमन्ति ध्रुवाणि च ।
विगुणानि च पश्यन्ति तथानैकान्तिकानि च ॥ ३७ ॥

योगशास्त्रमें कथित कर्म श्रेष्ठ फल देनेवाले, उन्नति करनेवाले एवं स्थायी हैं; तो भी प्रवृत्तिमार्गी मनुष्य उनको गुणरहित (निष्फल) और अस्थिर समझते हैं ॥ ३७ ॥

गुणाश्चात्र सुदुर्ज्ञेया ज्ञाताश्चात्र सुदुष्कराः ।
अनुष्ठिताश्चान्तवन्त इति त्वमनुपश्यसि ॥ ३८ ॥

गुणोंके कार्यभूत जो यज्ञ-यागादि हैं, उनके स्वरूप और विधि-विधानको समझना बहुत कठिन है । समझ लेनेपर भी उनका अनुष्ठान करना तो और भी कठिन है । यदि अनुष्ठान भी किया जाय तो भी उनसे नाशवान् फलकी ही प्राप्ति होती है । इन सब बातोंको तुम भी देखते और समझते हो ॥ ३८ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

यथा च वेदप्रामाण्यं त्यागश्च सफलो यथा ।
तौ पन्थानावुभौ व्यक्तौ भगवंस्तद् वदस्व मे ॥ ३९ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—भगवन् ! 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो' ये जो परस्परविरुद्ध दो स्पष्ट मार्ग हैं, इनका उपदेश करनेवाले वेदकी प्रामाणिकताका निर्वाह कैसे हो ? तथा त्याग कैसे सफल होता है ? यह आप मुझसे बताइये ॥ ३९ ॥

कपिल उवाच

प्रत्यक्षमिह पश्यन्ति भवन्तः सत्पथे स्थिताः ।
प्रत्यक्षं तु किमत्रास्ति यद् भवन्त उपासते ॥ ४० ॥

कपिलने कहा—आपलोग सन्मार्गमें स्थित रहकर यहाँ योगमार्गके फलका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं; परंतु कर्ममार्गमें रहकर आपलोग जिस यज्ञकी उपासना करते हैं, उससे यहाँ कौन-सा प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है ? ॥ ४० ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

स्यूमरश्मिरहं ब्रह्मन् जिज्ञासार्थमिहागतः ।
श्रेयस्कामः प्रत्यवोचमार्जवान्न विवक्षया ॥ ४१ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—ब्रह्मन् ! मेरा नाम स्यूमरश्मि है । मैं ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छासे यहाँ आया हूँ । मैंने कल्याणकी इच्छा रखकर सरल भावसे ही अपनी बातें आपकी सेवामें उपस्थित की हैं, वाद-विवादकी इच्छासे नहीं ॥ ४१ ॥

इमं च संशयं घोरं भगवान् प्रब्रवीतु मे ।
प्रत्यक्षमिह पश्यन्तो भवन्तः सत्पथे स्थिताः ।
किमत्र प्रत्यक्षतमं भवन्तो यदुपासते ॥ ४२ ॥
अन्यत्र तर्कशास्त्रेभ्य आगमार्थं यथागमम् ।

मेरे मनमें एक भयानक संशय उठ खड़ा हुआ है, इसे आप ही मिटा सकते हैं । आपने कहा था कि तुम सन्मार्गमें स्थित रहकर यहाँ योगमार्गके फलका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते

हो। मैं पूछता हूँ कि आप जिसकी उपासना करते हैं, यहाँ उसका अत्यन्त प्रत्यक्ष फल क्या है ? आप उसका तर्कका सहारा न लेकर प्रतिपादन कीजिये, जिससे मैं आगमके अर्थको जान सकूँ ॥ ४२½ ॥

आगमो वेदवादास्तु तर्कशास्त्राणि चागमः ॥ ४३ ॥

वेदमतका अनुसरण करनेवाले शास्त्र तो आगम हैं ही, तर्कशास्त्र (वेदोंके अर्थका निर्णय करनेवाले पूर्वोत्तर मीमांसा आदि) भी आगम हैं ॥ ४३ ॥

यथाश्रममुपासीत आगमस्तत्र सिध्यति ।
सिद्धिः प्रत्यक्षरूपा च दृश्यत्यागमनिश्चयात् ॥ ४४ ॥

जिस-जिस आश्रममें जो-जो धर्म विहित है, वहाँ-वहाँ उसी-उसी धर्मकी उपासना करनी चाहिये । उस-उस स्थानपर उसी-उसी धर्मका आचरण करनेसे वहाँ आगम सफल होता है। एवं शास्त्रके निश्चयसे ही सिद्धिका प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ ४४ ॥

नौर्नावीव निबद्धा हि स्रोतसा सनिबन्धना ।
ह्रियमाणा कथं विप्र कुबुद्धींस्तारयिष्यति ।
एतद् ब्रवीतु भगवानुपपन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥ ४५ ॥

जैसे एक जगह जानेवाली नावमें दूसरी जगह जानेवाली नाव बाँध दी जाय तो वह जलके स्रोतसे अपहृत हो किसीको गन्तव्य स्थानतक नहीं पहुँचा सकती, उसी प्रकार पूर्वजन्मके कर्मोंकी वासनासे बँधी हुई हमारी कर्ममयी नौका हम कुबुद्धि पुरुषोंको कैसे भवसागरसे पार उतारेगी ? भगवन् ! यह आप मुझे बताइये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप मुझे उपदेश दीजिये ॥ ४५ ॥

नैव त्यागी न संतुष्टो नाशोको न निरामयः ।
न निर्विधित्सो नावृत्तो नापवृत्तोऽस्ति कश्चन ॥ ४६ ॥

वास्तवमें इस जगत्के भीतर न कोई त्यागी है न संतुष्ट, न शोकहीन है न नीरोग । न तो कोई पुरुष कर्म करनेकी इच्छासे सर्वथा शून्य है, न आसक्तिसे रहित है और न सर्वथा कर्मका त्यागी ही है ॥ ४६ ॥

भवन्तोऽपि च हृष्यन्ति शोचन्ति च यथा वयम् ।
इन्द्रियार्थाश्च भवतां समानाः सर्वजन्तुषु ॥ ४७ ॥

आप भी हमलोगोंकी ही भाँति हर्ष और शोक प्रकट करते हैं। समस्त प्राणियोंके समान आपके समक्ष भी शब्द, स्पर्श आदि विषय उपस्थित और गृहीत होते हैं ॥ ४७ ॥

एवं चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां प्रवृत्तिषु ।
एकमालम्बमानानां निर्णये किं निरामयम् ॥ ४८ ॥

इस प्रकार चारों वर्णों और आश्रमोंके लोग सभी प्रवृत्तियोंमें एकमात्र सुखका ही आश्रय लेते हैं—उसीको अपना लक्ष्य बनाकर चलते हैं, अतः सिद्धान्ततः अक्षय सुख क्या है, यह बताइये ॥ ४८ ॥

कपिल उवाच

यद् यदाचरते शास्त्रमर्थ्यं सर्वप्रवृत्तिषु ।
यस्य यत्र ह्यनुष्ठानं तत्र तत्र निरामयम् ॥ ४९ ॥

कपिलने कहा—जो-जो शास्त्र जिस-जिस अर्थका आचरण—प्रतिपादन करता है, वह-वह सभी प्रवृत्तियोंमें सफल होता है। जिस साधनका जहाँ अनुष्ठान होता है, वहाँ-वहाँ अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ४९ ॥

ज्ञानं प्लावयते सर्वं यो ज्ञानं ह्यनुवर्तते ।
ज्ञानादपेत्य या वृत्तिः सा विनाशयति प्रजाः ॥ ५० ॥

जो ज्ञानका अनुसरण करता है, ज्ञान उसके समस्त संसारबन्धनका नाश कर देता है। बिना ज्ञानकी जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रजाको जन्म और मरणके चक्करमें डालकर उसका विनाश कर देती है ॥ ५० ॥

भवन्तो ज्ञानिनो व्यक्तं सर्वतश्च निरामयाः ।
ऐकात्म्यं नाम कश्चिद्धि कदाचिदुपपद्यते ॥ ५१ ॥

आपलोग ज्ञानी हैं, यह बात सर्वविदित है। आप सब ओरसे नीरोग भी हैं; परंतु क्या आपलोगोंमेंसे कोई भी किसी भी कालमें एकात्मताको प्राप्त हुआ है ? (जब एकमात्र अद्वितीय आत्मा अर्थात् ब्रह्मकी ही सत्ताका सर्वत्र बोध होने लगे, तब उसे एकात्मताका ज्ञान कहते हैं) ॥ ५१ ॥

शास्त्रं ह्यबुद्ध्वा तत्त्वेन केचिद् वादबलाज्जनाः ।
कामद्वेषाभिभूतत्वादहङ्कारवशं गताः ॥ ५२ ॥

शास्त्रको यथार्थरूपसे न जानकर कुछ लोग वितण्डावादके ही बलसे राग-द्वेषसे अभिभूत होनेके कारण अहंकारके अधीन हो गये हैं ॥ ५२ ॥

याथातथ्यमविज्ञाय शास्त्राणां शास्त्रदस्यवः ।
ब्रह्मस्तेना निरारम्भा दम्भमोहवशानुगाः ॥ ५३ ॥

वे शास्त्रोंके यथार्थ तात्पर्यको न जाननेके कारण शास्त्रदस्यु (शास्त्रोंके अर्थपर डाका डालनेवाले लुटेरे) कहे जाते हैं। सर्वव्यापी ब्रह्मका भी अपलाप करनेके कारण ब्रह्मचोरकी पदवीसे विभूषित होते हैं। शम-दम आदि साधनोंका कभी अनुष्ठान नहीं करते हैं तथा दम्भ और मोहके वशमें पड़े रहते हैं ॥ ५३ ॥

नैर्गुण्यमेव पश्यन्ति न गुणाननुयुञ्जते ।
तेषां तमःशरीराणां तम एव परायणम् ॥ ५४ ॥

वे शम-दम आदि साधनोंको सदा निष्फल ही देखते और समझते हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य आदि सद्गुणोंकी जिज्ञासा नहीं करते हैं। उन तमोमय शरीरवाले पुरुषोंका तमोगुण ही सबसे बड़ा अवलम्ब है ॥ ५४ ॥

यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः प्रकृतेः स्याद् वशानुगः ।
तस्य द्वेषश्च कामश्च क्रोधो दम्भोऽनृतं मदः ।
नित्यमेवाभिवर्तन्ते गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ॥ ५५ ॥

जिस प्राणीकी जैसी प्रकृति होती है, उस प्रकृतिके वह अधीन होता है। उसके भीतर द्वेष, काम, क्रोध, दम्भ, असत्य और मद—ये प्रकृतिजनित गुण सदा ही विद्यमान रहते हैं ॥ ५५ ॥

एवं ध्यात्वानुपश्यन्तः संत्यजेयुः शुभाशुभम्।
परां गतिमभीप्सन्तो यतयः संयमे रताः ॥ ५६ ॥

परम गति प्राप्त करनेकी इच्छावाले संयमशील यति इस प्रकार सोच-विचारकर शुभ और अशुभ दोनोंका परित्याग कर देते हैं ॥ ५६ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

सर्वमेतन्मया ब्रह्मन् शास्त्रतः परिकीर्तितम्।
न ह्यविज्ञाय शास्त्रार्थं प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः ॥ ५७ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—ब्रह्मन्! मैंने यहाँ जो कुछ कहा है, वह सब शास्त्रसे प्रतिपादित है; क्योंकि शास्त्रके अर्थको जाने बिना किसीकी किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती।५७।

यः कश्चिन्न्याय्य आचारः सर्वं शास्त्रमिति श्रुतिः।
यदन्याय्यमशास्त्रं तदित्येषा श्रूयते श्रुतिः ॥ ५८ ॥

जो कोई भी न्यायोचित आचार है, वह सब शास्त्र है, ऐसा श्रुतिका कथन है। जो अन्यायपूर्ण बर्ताव है, वह अशास्त्रीय है, ऐसी श्रुति भी सुनी जाती है ॥ ५८ ॥

न प्रवृत्तिर्ऋते शास्त्रात् काचिदस्तीति निश्चयः।
यदन्यद् वेदवादेभ्यस्तदशास्त्रमिति श्रुतिः ॥ ५९ ॥

शास्त्रके बिना अर्थात् शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके कोई प्रवृत्ति सफल नहीं हो सकती, यह विद्वानोंका निश्चय है। जो वैदिक वचनोंके विरुद्ध है, वह सब अशास्त्रीय है, ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ ५९ ॥

शास्त्रादपेतं पश्यन्ति बहवो व्यक्तमानिनः।
शास्त्रदोषान् न पश्यन्ति शोचन्ति च यथा वयम्।
इन्द्रियार्थाश्च भवतां समानाः सर्वजन्तुषु ॥ ६० ॥

बहुत-से मनुष्य प्रत्यक्षको ही माननेवाले हैं। वे शास्त्रसे पृथक् इहलोकपर ही दृष्टि रखते हैं। शास्त्रोक्त दोषोंको नहीं देखते हैं और जैसे हमलोग शोक करते हैं, वैसे ही वे भी अवैदिकमतका आश्रय लेकर शोक किया करते हैं। आप-जैसे ज्ञानियोंको भी सब जन्तुओंके समान ही इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव होता है ॥ ६० ॥

एवं चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां प्रवृत्तिषु।
एकमालम्बमानानां निर्णये सर्वतोदिशम् ॥ ६१ ॥
आनन्त्यं वदमानेन शक्तेनावर्जितात्मना।
अविज्ञानहतप्रज्ञा हीनप्रज्ञास्तमोवृताः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार चारों वर्णों और आश्रमोंकी जो प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें लगे हुए मनुष्य एकमात्र सुखका ही आश्रय लेते हैं—उसे ही प्राप्त करना चाहते हैं। उनमेंसे हम-जैसे लोग अज्ञानसे हतबुद्धि, तुच्छ विषयोंमें मन लगानेवाले तथा तमोगुणसे आवृत हैं। आप ऊहापोह करनेमें समर्थ—कुशल हैं, अतः सार्वदेशिक सिद्धान्तके रूपमें मोक्षसुखकी अनन्तता बताकर आपने मनसे हमें शान्ति पहुँचायी है ॥ ६१-६२ ॥

शक्यं त्वेकेन युक्तेन कृतकृत्येन सर्वशः।
पिण्डमात्रं व्यपाश्रित्य चरितुं विजितात्मना ॥ ६३ ॥
वेदवादं व्यपाश्रित्य मोक्षोऽस्तीति प्रभाषितुम्।
अपेतन्यायशास्त्रेण सर्वलोकविगर्हिणा ॥ ६४ ॥

जो आपके समान एकाकी, योगयुक्त, कृतकृत्य और मनपर विजय पानेवाला है तथा जो केवल शरीरका अथवा उसकी रक्षाके लिये स्वल्प भिक्षान्नमात्रका सहारा लेकर सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरण कर सकता है, जिसने न्यायशास्त्रका परित्याग कर दिया है तथा जो सम्पूर्ण संसारको नाशवान् होनेके कारण गर्हित समझता है, ऐसा पुरुष ही वेद-वाक्योंका आश्रय लेकर 'मोक्ष है' यह साधिकार कह सकता है।६३-६४।

इदं तु दुष्करं कर्म कुटुम्बमभिसंश्रितम्।
दानमध्ययनं यज्ञः प्रजासंतानमार्जवम् ॥ ६५ ॥

गृहस्थाश्रमके अनुसार जो यह कुटुम्बके भरण-पोषणसे सम्बन्ध रखनेवाला कार्य है तथा दान, स्वाध्याय, यज्ञ, संतानोत्पादन एवं सदा सरल और कोमल भावसे बर्ताव करना रूप जो कर्म है, यह सब मनुष्यके लिये अत्यन्त दुष्कर है ॥ ६५ ॥

यद्येतदेवं कृत्वापि न विमोक्षोऽस्ति कस्यचित्।
धिक् कर्तारं च कार्यं च श्रमश्चायं निरर्थकः ॥ ६६ ॥

यदि यह सब दुष्कर कर्म करके भी किसीको मोक्ष नहीं प्राप्त हुआ तो कर्ताको धिक्कार है। उसके उस कार्यको धिक्कार है। और इसमें जो परिश्रम हुआ, वह व्यर्थ हो गया ॥६६॥

नास्तिक्यमन्यथा च स्याद् वेदानां पृष्ठतः क्रिया।
एतस्यानन्त्यमिच्छामि भगवञ्छ्रोतुमञ्जसा ॥ ६७ ॥

यदि कर्मकाण्डको व्यर्थ समझकर छोड़ दिया जाय तो यह नास्तिकता और वेदोंकी अवहेलना होगी; अतः भगवन्! मैं यह सुनना चाहता हूँ कि कर्मकाण्ड किस प्रकार सुगमतापूर्वक मोक्षका साधक होगा ॥ ६७ ॥

तत्त्वं वदस्व मे ब्रह्मन्नुपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः।
यथा ते विदितो मोक्षस्तथेच्छाम्युपशिक्षितुम् ॥ ६८ ॥

ब्रह्मन्! आप मुझे तत्त्वकी बात बताइये। मैं शिष्यभावसे आपकी शरणमें आया हूँ। गुरुदेव! मुझे उपदेश कीजिये। आपको मोक्षके स्वरूपका जैसा ज्ञान है, वैसा ही मैं भी सीखना और जानना चाहता हूँ ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गोकपिलीयोपाख्यानविषयक दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६९ ॥

सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्यूमरश्मि-कपिल-संवाद—चारों आश्रमोंमें उत्तम साधनोंके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्तिका कथन

कपिल उवाच

वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्॥ १ ॥

कपिलने कहा—स्यूमरश्मे ! सम्पूर्ण लोकोंके लिये वेद ही प्रमाण हैं। अतः वेदोंकी अवहेलना नहीं की गयी है। ब्रह्मके दो रूप समझने चाहिये—शब्दब्रह्म (वेद) और परब्रह्म (सच्चिदानन्दघन परमात्मा)॥ १॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।
शरीरमेतत् कुरुते यद् वेदे कुरुते तनुम्॥ २ ॥
कृतशुद्धशरीरो हि पात्रं भवति ब्राह्मणः।
आनन्त्यमत्र बुद्ध्येदं कर्मणां तद् ब्रवीमि ते॥ ३ ॥

जो पुरुष शब्दब्रह्ममें पारंगत (वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे शुद्धचित्त हो चुका) है, वह परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। पिता और माता वेदोक्त गर्भाधानकी विधिसे बालकके जिस शरीरको जन्म देते हैं, वे उस बालकके उस शरीरका ही संस्कार करते हैं। इस प्रकार जिसका शरीर वैदिक संस्कारसे शुद्ध हो जाता है, वही ब्रह्मज्ञानका पात्र होता है। अब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हें यह बता रहा हूँ कि कर्म किस प्रकार अक्षय मोक्ष-सुखकी प्राप्ति करानेमें कारण होते हैं।२-३।

अनागममनैतिह्यं प्रत्यक्षं लोकसाक्षिकम्।
धर्म इत्येव ये यज्ञान् वितन्वन्ति निराशिषः॥ ४ ॥

जो अपना धर्म (कर्तव्य) समझकर बिना किसी प्रकारकी भोगेच्छाके यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, उनके उस यज्ञका फल वेद या इतिहासद्वारा नहीं जाना जाता है। वह प्रत्यक्ष है और उसे सब लोग अपनी आँखों देखते हैं॥ ४॥

उत्पन्नत्यागिनोऽलुब्धाः कृपासूयाविवर्जिताः।
धनानमेष वै पन्थास्तीर्थेषु प्रतिपादनम्॥ ५ ॥
अनाश्रिताः पापकर्म कदाचित् कर्मयोगिनः।
मनःसंकल्पसंसिद्धा विशुद्धज्ञाननिश्चयाः॥ ६ ॥

जो प्राप्त हुए पदार्थोंका त्याग सब प्रकारके लालचको छोड़कर करते हैं, जो कृपणता और असूयासे रहित हैं और 'धनके उपयोगका यही सर्वोत्तम मार्ग है' ऐसा समझकर सत्पात्रोंको दान करते हैं, कभी पापकर्मका आश्रय नहीं लेते तथा सदा कर्मयोगके साधनमें ही लगे रहते हैं, उनके मानसिक संकल्पकी सिद्धि होने लगती है और उन्हें विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परब्रह्मके विषयमें दृढ़ निश्चय हो जाता है॥ ५-६॥

अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः।
ज्ञाननिष्ठास्त्रिशुक्लाश्च सर्वभूतहिते रताः॥ ७ ॥

वे किसीपर क्रोध नहीं करते, कहीं दोषदृष्टि नहीं रखते, अहंकार तथा मात्सर्यसे दूर रहते हैं, ज्ञानके साधनोंमें उनकी निष्ठा होती है, उनके जन्म, कर्म और विद्या—तीनों ही शुद्ध होते हैं तथा वे समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं॥७॥

आसन् गृहस्था भूयिष्ठा अव्युत्क्रान्ताः स्वकर्मसु।
राजानश्च तथा युक्ता ब्राह्मणाश्च यथाविधि॥ ८ ॥

पूर्वकालमें बहुत-से ब्राह्मण और राजा ऐसे हो गये हैं, जो गृहस्थ आश्रममें ही रहते हुए अपने-अपने कर्मोंका त्याग न करके उनमें निष्काम भावसे विधिपूर्वक लगे रहे॥

समा ह्यार्जवसम्पन्नाः संतुष्टा ज्ञाननिश्चयाः।
प्रत्यक्षधर्माः शुचयः श्रद्दधानाः परावरे॥ ९ ॥

वे सब प्राणियोंपर समान दृष्टि रखते थे। सरल, संतुष्ट, ज्ञाननिष्ठ, प्रत्यक्ष फल देनेवाले धर्मके अनुष्ठाता और शुद्धचित्त होते थे तथा शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म—दोनोंमें ही श्रद्धा रखते थे॥ ९॥

पुरस्ताद् भावितात्मानो यथावच्चरितव्रताः।
चरन्ति धर्मं कृच्छ्रेऽपि दुर्गे चैवापि संहताः॥ १० ॥
संहत्य धर्मं चरतां पुराऽऽसीत् सुखमेव तत्।
तेषां नासीद् विधातव्यं प्रायश्चित्तं कथंचन॥ ११ ॥

वे आवश्यक नियमोंका यथावत् पालन करके पहले अपने चित्तको शुद्ध करते थे और कठिनाई तथा दुर्गम स्थानोंमें पड़ जानेपर भी परस्पर मिलकर धर्मानुष्ठानमें तत्पर रहते थे। संघ-बद्ध होकर धर्मानुष्ठान करनेवाले उन पूर्ववर्ती पुरुषोंको इसमें सुखका ही अनुभव होता था। उन्हें किसी प्रकारका प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी॥ १०-११॥

सत्यं हि धर्ममास्थाय दुराधर्षतमा मताः।
न मात्रामनुरुध्यन्ते न धर्मच्छलमन्ततः॥ १२ ॥

वे सत्यधर्मका आश्रय लेकर ही अत्यन्त दुर्धर्ष माने जाते थे। लेशमात्र भी पाप नहीं करते थे और प्राणान्तका अवसर उपस्थित होनेपर भी धर्मके विषयमें छलसे काम नहीं लेते थे॥ १२॥

य एव प्रथमः कल्पस्तमेवाभ्याचरन् सह।
तेषां नासीद् विधातव्यं प्रायश्चित्तं कदाचन॥ १३ ॥

जो प्रथम श्रेणीका धर्म माना जाता था, उसीका वे सब लोग साथ रहकर आचरण करते थे, अतः उनके सामने कभी प्रायश्चित्त करनेका अवसर नहीं आता था॥ १३॥

तस्मिन् विधौ स्थितानां हि प्रायश्चित्तं न विद्यते।
दुर्बलात्मन उत्पन्नं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः॥ १४ ॥

धर्मकी उस उत्तम श्रेणीमें स्थित हुए उन शुद्धचित्त

पुरुषोंके लिये प्रायश्चित्त है ही नहीं। जिनका हृदय दुर्बल है, उन्हींसे पाप होता है और उन्हींके लिये प्रायश्चित्तका विधान किया गया है—ऐसा सुननेमें आता है ॥ १४ ॥

एवं बहुविधा विप्राः पुराणा यज्ञवाहनाः।
त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो यशस्विनः ॥ १५ ॥

इस प्रकार बहुत-से ब्राह्मण पूर्वकालमें यज्ञका निर्वाह करते थे। वे वेदविद्याके ज्ञानमें बढ़े-चढ़े, पवित्र, सदाचारी और यशस्वी थे ॥ १५ ॥

यजन्तोऽहरहर्यज्ञैर्निराशीर्बन्धना बुधाः।
तेषां यज्ञाश्च वेदाश्च कर्माणि च यथागमम् ॥ १६ ॥

वे विद्वान् पुरुष प्रतिदिन कामनाओंके बन्धनसे मुक्त हो यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करते थे। उनके वे यज्ञ, वेदाध्ययन तथा अन्यान्य कर्म शास्त्रविधिके अनुसार सम्पन्न होते थे ॥ १६ ॥

आगमाश्च यथाकाले संकल्पाश्च यथाक्रमम्।
अपेतकामक्रोधानां दुश्चराचारकर्मणाम् ॥ १७ ॥

उन्होंने काम और क्रोधको त्याग दिया था। उनके आचार-कर्म दूसरोंके लिये आचरणमें लाने अत्यन्त कठिन थे। उनके हृदयमें यथासमय शास्त्र-ज्ञान और सत्संकल्पका क्रमशः उदय होता था ॥ १७ ॥

स्वकर्मभिः शंसितानां प्रकृत्या शंसितात्मनाम्।
ऋजूनां शमनित्यानां स्वेषु कर्मसु वर्तताम् ॥ १८ ॥

अपने उत्तम कर्मोंके कारण उनकी बड़ी प्रशंसा होती थी। वे स्वभावसे ही पवित्रचित्त, सरल, शान्तिपरायण और स्वधर्मनिष्ठ होते थे ॥ १८ ॥

सर्वमानन्त्यमेवासीदिति नः शाश्वती श्रुतिः।
तेषामदीनसत्त्वानां दुश्चराचारकर्मणाम् ॥ १९ ॥

उनके हृदय बड़े उदार थे, उनके आचार और कर्म दूसरोंके लिये आचरणमें लानेमें अत्यन्त कठिन थे, अतः उनका सारा शुभ कर्म ही अक्षय मोक्षरूप फल देनेवाला था। यह बात सदा हमारे सुननेमें आयी है ॥ १९ ॥

स्वकर्मभिः सम्भृतानां तपो घोरत्वमागतम्।
तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ २० ॥

वे अपने-अपने कर्मोंसे ही परिपुष्ट थे। उनकी तपस्या घोर रूप धारण कर चुकी थी। वे आश्चर्यजनक सदाचारका पालन करते थे और उसका उन्हें पुरातन, शाश्वत एवं अविनाशी ब्रह्मरूप फल प्राप्त होता था ॥ २० ॥

अशक्नुवद्भिश्चरितुं किंचिद् धर्मेषु सूक्ष्मताम्।
निरापद्धर्म आचारो ह्यप्रमादोऽपराभवः ॥ २१ ॥

धर्मोंमें जो किंचित् सूक्ष्मता है, उसका आचरण करनेमें कितने ही लोग असमर्थ हो जाते हैं। वास्तवमें वेदोक्त आचार और धर्म आपत्तिसे रहित है। उसमें न तो प्रमाद है और न पराभव ही है ॥ २१ ॥

सर्ववर्णेषु जातेषु नासीत् कश्चिद् व्यतिक्रमः।
व्यस्तमेकं चतुर्धा हि ब्राह्मणा आश्रमं विदुः ॥ २२ ॥

पूर्वकालमें सब वर्णोंकी उत्पत्ति हो जानेपर आश्रमके विषयमें कोई वैषम्य नहीं था। तदनन्तर एक ही आश्रमको अवस्था-भेदसे चार भागोंमें विभक्त किया गया। इस बातको सभी ब्राह्मण जानते रहे ॥ २२ ॥

तं सन्तो विधिवत् प्राप्य गच्छन्ति परमां गतिम्।
गृहेभ्य एव निष्क्रम्य वनमन्ये समाश्रिताः ॥ २३ ॥
गृहमेवाभिसंश्रित्य ततोऽन्ये ब्रह्मचारिणः।
त एते दिवि दृश्यन्ते ज्योतिर्भूता द्विजातयः ॥ २४ ॥
नक्षत्राणीव धिष्ण्येषु बहवस्तारकागणाः।
आनन्त्यमुपसम्प्राप्ताः संतोषादिति वैदिकम् ॥ २५ ॥

श्रेष्ठ पुरुष विधिपूर्वक उन सब आश्रमोंमें प्रवेश करके उनके धर्मका पालन करते हुए परमगतिको प्राप्त होते हैं। उनमेंसे कुछ लोग तो घरसे निकलकर (अर्थात् संन्यासी होकर), कुछ लोग वानप्रस्थका आश्रय लेकर, कुछ मानव गृहस्थ ही रहकर और कोई ब्रह्मचर्य आश्रमका सेवन करते हुए ही उस आश्रमधर्मका पालन करके परमपदको प्राप्त होते हैं। उस समय वे ही द्विजगण आकाशमें ज्योतिर्मयरूपसे दिखायी देते हैं, जो कि नक्षत्रोंके समान ही आकाशके विभिन्न स्थानोंमें अनेक तारागण हैं—इन सबने संतोषके द्वारा ही यह अनन्त पद प्राप्त किया है, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है ॥ २३—२५ ॥

यद्यागच्छन्ति संसारं पुनर्योनिषु तादृशाः।
न लिप्यन्ते पापकृत्यैः कदाचित् कर्मयोनितः ॥ २६ ॥

ऐसे पुण्यात्मा पुरुष यदि कभी पुनः संसारकी कर्माधिकार युक्त योनियोंमें आते या जन्म ग्रहण करते हैं तो वे उस योनिके सम्बन्धसे पापकर्मोंद्वारा लिप्त नहीं होते हैं ॥ २६ ॥

एवमेव ब्रह्मचारी शुश्रूषुर्घोरनिश्चयः।
एवं युक्तो ब्राह्मणः स्यादन्यो ब्राह्मणको भवेत् ॥ २७ ॥

इसी प्रकार गुरुकी सेवामें तत्पर रहनेवाला, ब्रह्मचर्यपरायण, दृढ़ निश्चयवाला तथा योगयुक्त ब्रह्मचारी ही उत्तम ब्राह्मण हो सकता है। उससे भिन्न अन्य प्रकारका ब्राह्मण निम्न कोटिका अथवा नाममात्रका ब्राह्मण समझा जाता है ॥ २७ ॥

कर्मैवं पुरुषस्याह शुभं वा यदि वाशुभम्।
एवं पक्वकषायाणामानन्त्येन श्रुतेन च ॥ २८ ॥
सर्वमानन्त्यमासीद् वै एवं नः शाश्वती श्रुतिः।
तेषामपेततृष्णानां निर्णिक्तानां शुभात्मनाम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्म ही पुरुषका तदनुरूप नाम नियत करता है। जिनके राग-द्वेष आदि कषाय पक गये हैं, जिनके मनसे तृष्णा निकल गयी है, जो बाहर-भीतरसे शुद्ध हैं तथा जिनकी बुद्धि कल्याणस्वरूप मोक्षमें

[ल]गी हुई है, उन तत्त्वज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें अनन्त ब्रह्मज्ञान तथा शास्त्रज्ञानके प्रभावसे सब कुछ ब्रह्मस्वरूप हो गया था; यह बात सदा ही हमारे सुननेमें आयी है ॥ २८-२९ ॥

चतुर्थोपनिषद् धर्मः साधारण इति स्मृतिः ।
संसिद्धैः साध्यते नित्यं ब्राह्मणैर्नियतात्मभिः ॥ ३० ॥

तुरीय ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली जो उपनिषद्-विद्या है, उसकी प्राप्ति करानेवाले शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधानरूप जो धर्म हैं, वह सभी वर्ण और आश्रमके लोगोंके लिये साधारण हैं—ऐसा स्मृतिका कथन है। परंतु जो संयतचित्त और तपःसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ पुरुष हैं, वे ही सदा उस धर्मका साधन कर पाते हैं ॥ ३० ॥

संतोषमूलस्त्यागात्मा ज्ञानाधिष्ठानमुच्यते ।
अपवर्गमतिर्नित्यो यतिधर्मः सनातनः ॥ ३१ ॥

संतोष ही जिसके सुखका मूल है, त्याग ही जिसका स्वरूप है, जो ज्ञानका आश्रय कहा जाता है, जिसमें मोक्ष-दायिनी बुद्धि—ब्रह्मसाक्षात्काररूप वृत्ति नित्य आवश्यक है, वह संन्यास-आश्रमरूप धर्म सनातन है ॥ ३१ ॥

साधारणः केवलो वा यथाबलमुपासते ।
गच्छतां गच्छतां क्षेमं दुर्बलोऽत्रावसीदति ।
ब्रह्मणः पदमन्विच्छन् संसारान्मुच्यते शुचिः ॥ ३२ ॥

यह यतिधर्म अन्य आश्रमके धर्मोंसे मिला हुआ हो या स्वतन्त्र हो, जो अपने वैराग्य-बलके अनुसार इसका आश्रय लेते हैं, वे कल्याणके भागी होते हैं। इस मार्गसे जानेवाले सभी पथिकोंका परम कल्याण होता है; परंतु जो दुर्बल है—मन और इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण जो इसके साधनमें असमर्थ है, वही यहाँ शिथिल होकर बैठ रहता है। जो बाहर और भीतरसे पवित्र है, वह ब्रह्मपदका अनुसंधान करता हुआ संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

ये भुञ्जते ये ददते यजन्तेऽधीयते च ये ।
मात्राभिरुपलब्धाभिर्ये वा त्यागं समाश्रिताः ॥ ३३ ॥
एतेषां प्रेत्यभावे तु कतमः स्वर्गजित्तमः ।
एतदाचक्ष्व मे ब्रह्मन् यथातत्त्वेन पृच्छतः ॥ ३४ ॥

स्यूमरश्मिने पूछा—ब्रह्मन्! जो लोग प्राप्त हुए धनके द्वारा केवल भोग भोगते हैं, जो दान करते हैं, जो उस धनको यज्ञमें लगाते हैं, जो स्वाध्याय करते हैं अथवा जो त्यागका आश्रय लेते हैं, इनमेंसे कौन पुरुष मृत्युके पश्चात् प्रधान-रूपसे स्वर्गलोकपर विजय पाता है? मैं जिज्ञासुभावसे पूछ रहा हूँ; आप मुझे यह सब यथार्थरूपसे बताइये ॥ ३३-३४ ॥

कपिल उवाच

परिग्रहाः शुभाः सर्वे गुणतोऽभ्युदयाश्च ये ।
न तु त्यागसुखं प्राप्ता एतत् त्वमपि पश्यसि ॥ ३५ ॥

कपिलजीने कहा—जिनका सात्त्विक गुणसे प्राकट्य हुआ है, ऐसे सभी परिग्रह शुभ हैं; परंतु त्यागमें जो सुख है, उसे इनमेंसे कोई भी नहीं पा सके हैं। इस बातको तुम भी देखते ही हो ॥ ३५ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

भवन्तो ज्ञाननिष्ठा वै गृहस्थाः कर्मनिश्चयाः ।
आश्रमाणां च सर्वेषां निष्ठायामैक्यमुच्यते ॥ ३६ ॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन विशेषो नात्र दृश्यते ।
तद् यथावद् यथान्यायं भगवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ३७ ॥

स्यूमरश्मिने पूछा—भगवन्! आप तो ज्ञाननिष्ठ हैं और गृहस्थलोग कर्मनिष्ठ होते हैं; परंतु आप इस समय निष्ठामें सभी आश्रमोंकी एकताका प्रतिपादन कर रहे हैं। इस प्रकार ज्ञान और कर्मकी एकता और पृथक्ता—दोनों-का भ्रम होनेसे इनका ठीक-ठीक अन्तर समझमें नहीं आता है। इसलिये आप मुझे उसे यथोचित एवं यथार्थरीतिसे बतानेकी कृपा करें ॥ ३६-३७ ॥

कपिल उवाच

शरीरपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति ॥ ३८ ॥

कपिलजीने कहा—कर्म स्थूल और सूक्ष्म शरीरकी शुद्धि करनेवाले हैं, किंतु ज्ञान परम गतिरूप है। जब कर्मों-द्वारा चित्तके रागादि दोष जल जाते हैं, तब मनुष्य रस-स्वरूप ज्ञानमें स्थित हो जाता है ॥ ३८ ॥

आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम् ।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा ॥ ३९ ॥
पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्परम् ।
तद् विद्वाननुबुद्ध्येत मनसा कर्मनिश्चयम् ॥ ४० ॥

समस्त प्राणियोंपर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह, निरभिमानता, लज्जा, तितिक्षा और शम—ये परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके मार्ग हैं। इनके द्वारा पुरुष परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार विद्वान् पुरुषको मनके द्वारा कर्मके वास्तविक परिणामका निश्चय समझना चाहिये ॥ ३९-४० ॥

यां विप्राः सर्वतः शान्ता विशुद्धा ज्ञाननिश्चयाः ।
गतिं गच्छन्ति संतुष्टास्तामाहुः परमां गतिम् ॥ ४१ ॥

सब ओरसे शान्त, संतुष्ट, विशुद्धचित्त और ज्ञाननिष्ठ विप्र जिस गतिको प्राप्त होते हैं, उसीको परमगति कहते हैं ॥

वेदांश्च वेदितव्यं च विदित्वा च यथास्थितिम् ।
एवं वेदविदित्याहुरतोऽन्यो वातरेचकः ॥ ४२ ॥

जो वेदों और उनके द्वारा जानने योग्य परब्रह्मको ठीक-ठीक जानता है, उसीको वेदवेत्ता कहते हैं। उससे भिन्न जो दूसरे लोग हैं, वे मुँहसे वेद नहीं पढ़ते, धौंकनीके समान केवल हवा छोड़ते हैं ॥ ४२ ॥

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च ॥ ४३ ॥

वेदज्ञ पुरुष सभी विषयोंको जानते हैं; क्योंकि वेदमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। जो-जो वस्तु है और जो नहीं है, उन सबकी स्थिति वेदमें बतायी गयी है ॥ ४३ ॥

एषैव निष्ठा सर्वत्र यत् तदस्ति च नास्ति च।
एतदन्तं च मध्यं च सच्चासच्च विजानतः ॥ ४४ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रोंकी एकमात्र निष्ठा यही है कि जो-जो दृश्य पदार्थ है वह प्रतीतिकालमें तो विद्यमान है, परंतु परमार्थ ज्ञानकी स्थितिमें बाधित हो जानेपर वह नहीं है। ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें सदसत् स्वरूप ब्रह्म ही इस जगत्का आदि, मध्य और अन्त है ॥ ४४ ॥

समाप्तं त्याग इत्येव सर्ववेदेषु निष्ठितम्।
संतोष इत्यनुगतमपवर्गे प्रतिष्ठितम् ॥ ४५ ॥

सब कुछ त्याग देनेपर ही उस ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यही बात सम्पूर्ण वेदोंमें निश्चित की गयी है। वह अपने आनन्दस्वरूपसे सबमें अनुगत तथा अपवर्ग (मोक्ष) में प्रतिष्ठित है ॥ ४५ ॥

ऋतं सत्यं विदितं वेदितव्यं
सर्वस्यात्मा स्थावरं जङ्गमं च।
सर्वं सुखं यच्छिवमुत्तरं च
ब्रह्माव्यक्तं प्रभवश्चाव्ययं च ॥ ४६ ॥

अतः वह ब्रह्म ऋत, सत्य, ज्ञात, ज्ञातव्य, सबका आत्मा, स्थावर-जङ्गमरूप, सम्पूर्ण सुखरूप, कल्याणमय, सर्वोत्कृष्ट, अव्यक्त, सबकी उत्पत्तिका कारण और अविनाशी है ॥ ४६ ॥

तेजः क्षमा शान्तिरनामयं शुभं
तथाविधं व्योम सनातनं ध्रुवम्।
एतैः सर्वैर्गम्यते बुद्धिनेत्रै-
स्तस्मै नमो ब्रह्मणे ब्राह्मणाय ॥ ४७ ॥

उस आकाशके समान असङ्ग, अविनाशी और सदा एकरस तत्त्वका ज्ञान-नेत्रोंवाले सभी पुरुष तेज, क्षमा और शान्तिरूप शुभ साधनोंके द्वारा साक्षात्कार करते हैं। जो वास्तवमें ब्रह्मवेत्तासे अभिन्न है, उस परब्रह्म परमात्माको नमस्कार है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गोकपिलीयोपाख्यानविषयक दो सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७० ॥

एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

धन और काम-भोगोंकी अपेक्षा धर्म और तपस्याका उत्कर्ष सूचित करनेवाली ब्राह्मण और कुण्डधार मेघकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

धर्ममर्थं च कामं च वेदाः शंसन्ति भारत।
कस्य लाभो विशिष्टोऽत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन पितामह! वेद तो धर्म, अर्थ और काम—तीनोंकी ही प्रशंसा करते हैं; अतः आप मुझे यह बताइये कि इन तीनोंमेंसे किसकी प्राप्ति मेरे लिये सबसे बढ़कर है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
कुण्डधारेण यत् प्रीत्या भक्तायोपकृतं पुरा ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा, जिसके अनुसार कुण्डधार नामक मेघने पूर्वकालमें प्रसन्न होकर अपने एक भक्तका उपकार किया था ॥ २ ॥

अधनो ब्राह्मणः कश्चित् कामाद् धर्ममवैक्षत।
यज्ञार्थं सततोऽर्थार्थी तपोऽतप्यत दारुणम् ॥ ३ ॥

किसी समय एक निर्धन ब्राह्मणने सकामभावसे धर्म करनेका विचार किया। वह यज्ञ करनेके लिये सदा ही धनकी इच्छा रखता था, अतः बड़ी कठोर तपस्या करने लगा ॥ ३ ॥

स निश्चयमथो कृत्वा पूजयामास देवताः।
भक्त्या न चैवाध्यगच्छद् धनं सम्पूज्य देवताः ॥ ४ ॥

यही निश्चय करके उसने भक्तिपूर्वक देवताओंकी पूजा-अर्चा आरम्भ की। परंतु देवताओंकी पूजा करके भी वह धन न पा सका ॥ ४ ॥

ततश्चिन्तामनुप्राप्तः कतमद्दैवतं तु तत्।
यन्मे द्रुतं प्रसीदेत मानुषैरजडीकृतम् ॥ ५ ॥

तब वह इस चिन्तामें पड़ा कि वह कौन-सा देवता है, जो मुझपर शीघ्र प्रसन्न हो जाय और मनुष्योंने आराधना करके जिसे जड न बना दिया हो ॥ ५ ॥

सोऽथ सौम्येन मनसा देवानुचरमन्तिके।
प्रत्यपश्यज्जलधरं कुण्डधारमवस्थितम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर उस ब्राह्मणने शान्त मनसे देवताओंके अनुचर कुण्डधार नामक मेघको पास ही खड़ा देखा ॥ ६ ॥

दृष्ट्वैव तं महाबाहुं तस्य भक्तिरजायत।
अयं मे धास्यति श्रेयो वपुरेतद्धि तादृशम् ॥ ७ ॥

उस महाबाहु मेघको देखते ही ब्राह्मणके मनमें उसके



प्रति भक्ति उत्पन्न हो गयी और वह सोचने लगा कि यह अवश्य मेरा कल्याण करेगा; क्योंकि इसका यह शरीर वैसे ही लक्षणोंसे सम्पन्न है ॥ ७ ॥

संनिकृष्टश्च देवस्य न चान्यैर्मानुषैर्वृतः ।
एष मे दास्यति धनं प्रभूतं शीघ्रमेव च ॥ ८ ॥

यह देवताका संनिकटवर्ती है और दूसरे मनुष्योंने इसे घेर नहीं रखा है । इसलिये यह मुझे शीघ्र ही प्रचुर धन देगा ॥

ततो धूपैश्च गन्धैश्च माल्यैरुच्चावचैरपि ।
बलिभिर्विविधाभिश्च पूजयामास तं द्विजः ॥ ९ ॥

तब ब्राह्मणने धूप, गन्ध, छोटे-बड़े माल्य तथा भाँति-भाँतिके पूजोपहार अर्पित करके कुण्डधार मेघका पूजन किया ॥

ततस्त्वल्पेन कालेन तुष्टो जलधरस्तदा ।
तस्योपकारनियतामिमां वाचमुवाच ह ॥ १० ॥

इससे वह मेघ थोड़े ही समयमें संतुष्ट हो गया और उसने ब्राह्मणके उपकारमें नियमपूर्वक प्रवृत्ति सूचित करनेवाली यह बात कही—॥ १० ॥



ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ ११ ॥

'ब्रह्मन् ! ब्रह्महत्यारे, शराबी, चोर और व्रतभङ्ग करनेवाले मनुष्यके लिये साधुपुरुषोंने प्रायश्चित्तका विधान किया है, किंतु कृतघ्नके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥ ११ ॥

आशायास्तनयोऽधर्मः क्रोधोऽसूयासुतः स्मृतः ।
लोभः पुत्रो निकृत्यास्तु कृतघ्नो नार्हति प्रजाम् ॥ १२ ॥

'आशाका पुत्र अधर्म है । असूयाका पुत्र क्रोध माना गया है । निकृति (शठता) का पुत्र लोभ है; परंतु कृतघ्न मनुष्य संतान पानेके योग्य नहीं है' ॥ १२ ॥

ततः स ब्राह्मणः स्वप्ने कुण्डधारस्य तेजसा ।
अपश्यत् सर्वभूतानि कुशेषु शयितस्तदा ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह ब्राह्मण कुण्डधारके तेजसे प्रेरित हो कुशोंकी शय्यापर सो गया और स्वप्नमें उसने समस्त प्राणियोंको देखा ॥

शमेन तपसा चैव भक्त्या च निरुपस्कृतः ।
शुद्धात्मा ब्राह्मणो रात्रौ निदर्शनमपश्यत ॥ १४ ॥

वह शम-दम, तप और भक्तिभावसे सम्पन्न, भोगरहित तथा शुद्धचित्तवाला था । उस ब्राह्मणको रातमें कुछ ऐसा दृष्टान्त दिखायी दिया, जिससे उसे कुण्डधारके प्रति अपनी भक्तिका परिचय मिल गया ॥ १४ ॥

मणिभद्रं स तत्रस्थं देवतानां महाद्युतिम् ।
अपश्यत महात्मानं व्यादिशन्तं युधिष्ठिर ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर ! उसने देखा कि महातेजस्वी महात्मा यक्षराज मणिभद्र वहाँ विराजमान हैं और देवताओंके समक्ष विभिन्न याचकोंको उपस्थित कर रहे हैं ॥ १५ ॥

तत्र देवाः प्रयच्छन्ति राज्यानि च धनानि च ।
शुभैः कर्मभिरारब्धाः प्रच्छिन्दन्त्यशुभेषु च ॥ १६ ॥

वहाँ देवतालोग उन याचकोंके शुभकर्मके बदले राज्य और धन आदि दे रहे थे और अशुभ कर्मका भोग उपस्थित होनेपर पहलेके दिये हुए राज्य आदिको भी छीन लेते थे ॥

पश्यतामथ यक्षाणां कुण्डधारो महाद्युतिः ।
निपत्य पतितो भूमौ देवानां भरतर्षभ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ यक्षोंके देखते-देखते महातेजस्वी कुण्डधारने देवताओंके आगे धरतीपर माथा टेक दिया ॥ १७ ॥

ततस्तु देववचनान्मणिभद्रो महामनाः ।
उवाच पतितं भूमौ कुण्डधार किमिष्यते ॥ १८ ॥

तब महामनस्वी मणिभद्रने देवताओंके कहनेसे पृथ्वीपर पड़े हुए उस मेघसे पूछा, 'कुण्डधार ! तुम क्या चाहते हो?' ॥

कुण्डधार उवाच

यदि प्रसन्ना देवा मे भक्तोऽयं ब्राह्मणो मम ।
अस्यानुग्रहमिच्छामि कृतं किंचित् सुखोदयम् ॥ १९ ॥

कुण्डधार बोला—यह ब्राह्मण मेरा भक्त है । यदि देवतालोग मुझपर प्रसन्न हों तो मैं इसके ऊपर उनका ऐसा अनुग्रह चाहता हूँ, जिससे इसे भविष्यमें कुछ सुख मिल सके ॥

ततस्तं मणिभद्रस्तु पुनर्वचनमब्रवीत् ।
देवानामेव वचनात् कुण्डधारं महाद्युतिम् ॥ २० ॥

तब मणिभद्रने देवताओंकी ही आज्ञासे महातेजस्वी कुण्डधारके प्रति पुनः यह बात कही ॥ २० ॥

मणिभद्र उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते कृतकृत्यः सुखी भव ।

धनार्थी यदि विप्रोऽयं धनमस्मै प्रदीयताम् ॥ २१ ॥

मणिभद्र बोले—कुण्डधार! उठो, उठो; तुम्हारा कल्याण हो, तुम कृतकृत्य और सुखी हो जाओ। यदि यह ब्राह्मण धन चाहता हो तो इसे धन दे दिया जाय ॥ २१ ॥

यावद् धनं प्रार्थयते ब्राह्मणोऽयं सखा तव।
देवानां शासनात् तावदसंख्येयं ददाम्यहम् ॥ २२ ॥

तुम्हारा सखा यह ब्राह्मण जितना धन चाहता हो, देवताओंकी आज्ञासे मैं उतना ही अथवा असंख्य धन इसे दे रहा हूँ ॥ २२ ॥

विचार्य कुण्डधारस्तु मानुष्यं चलमध्रुवम्।
तपसे मतिमाधत्त ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर! परंतु कुण्डधारने यह सोचकर कि मानव-जीवन चञ्चल एवं अस्थिर है, उस ब्राह्मणके तपोबलको भी बढ़ानेका विचार किया ॥ २३ ॥

कुण्डधार उवाच

नाहं धनानि याचामि ब्राह्मणाय धनप्रद ॥ २४ ॥
अन्यमेवाहमिच्छामि भक्तायानुग्रहं कृतम्।
पृथिवीं रत्नपूर्णां वा महद् वा रत्नसंचयम् ॥ २५ ॥
भक्ताय नाहमिच्छामि भवेदेष तु धार्मिकः।
धर्मेऽस्य रमतां बुद्धिर्धर्मं चैवोपजीवतु।
धर्मप्रधानो भवतु ममैषोऽनुग्रहो मतः ॥ २६ ॥

कुण्डधार बोला—धनदाता देव! मैं ब्राह्मणके लिये धनकी याचना नहीं करता हूँ। मेरी इच्छा है कि मेरे इस भक्तपर किसी और प्रकारका ही अनुग्रह किया जाय। मैं अपने इस भक्तको रत्नोंसे भरी हुई पृथ्वी अथवा रत्नोंका विशाल भण्डार नहीं देना चाहता। मेरी तो यह इच्छा है कि यह धर्मात्मा हो। इसकी बुद्धि धर्ममें लगी रहे तथा यह धर्मसे ही जीवन-निर्वाह करे। इसके जीवनमें धर्मकी ही प्रधानता रहे। इसीको मैं इसके लिये महान् अनुग्रह मानता हूँ ॥ २४-२६ ॥

मणिभद्र उवाच

सदा धर्मफलं राज्यं सुखानि विविधानि च।
फलान्येवायमश्नातु कायक्लेशविवर्जितः ॥ २७ ॥

मणिभद्र बोला—धर्मके फल तो सदा राज्य और नाना प्रकारके सुख ही हैं; अतः यह ब्राह्मण शारीरिक कष्टसे रहित हो केवल उन फलोंका ही उपभोग करे ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तदेव बहुशः कुण्डधारो महायशाः।
अभ्यासमकरोद् धर्मे ततस्तुष्टास्तु देवताः ॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! मणिभद्रके ऐसा कहनेपर भी महायशस्वी कुण्डधारने बार-बार अपनी वही बात दुहरायी। ब्राह्मणका धर्म बढ़े, इसीके लिये आग्रह किया। इससे सब देवता संतुष्ट हो गये ॥ २८ ॥

मणिभद्र उवाच

प्रीतास्ते देवताः सर्वा द्विजस्यास्य तथैव च।
भविष्यत्येष धर्मात्मा धर्मे चाधास्यते मतिः ॥ २९ ॥

तब मणिभद्रने कहा—कुण्डधार! सब देवता तुमपर और इस ब्राह्मणपर भी बहुत प्रसन्न हैं। यह धर्मात्मा होगा और इसकी बुद्धि धर्ममें ही लगी रहेगी ॥ २९ ॥

ततः प्रीतो जलधरः कृतकार्यो युधिष्ठिर।
ईप्सितं मनसो लब्ध्वा वरमन्यैः सुदुर्लभम् ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ मनोवाञ्छित वर पाकर कृतकृत्य एवं सफलमनोरथ हो वह मेघ बड़ा प्रसन्न हुआ ॥ ३० ॥

ततोऽपश्यत चीराणि सूक्ष्माणि द्विजसत्तमः।
पार्श्वतोऽभ्याशतो न्यस्तान्यथ निर्वेदमागतः ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने अपने निकट अगल-बगलमें रक्खे हुए बहुत-से सूक्ष्म चीर (वल्कल आदि) देखे। इससे उसके मनमें बड़ा खेद एवं वैराग्य हुआ ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण उवाच

अयं न सुकृतं वेत्ति को न्वन्यो वेत्स्यते कृतम्।
गच्छामि वनमेवाहं वरं धर्मेण जीवितुम् ॥ ३२ ॥

ब्राह्मण मन-ही-मन बोला—जब मेरे इस पुण्यमय तपका उद्देश्य यह कुण्डधार ही नहीं समझ पा रहा है, तब दूसरा कौन जानेगा! अच्छा, अब मैं वनको ही चलता हूँ। धर्ममय जीवन बिताना ही अच्छा है ॥ ३२ ॥

भीष्म उवाच

निर्वेदाद् देवतानां च प्रसादात् स द्विजोत्तमः।
वनं प्रविश्य सुमहत् तप आरब्धवांस्तदा ॥ ३३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वैराग्य और देवताओंके कृपाप्रसादसे वनमें जाकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने उस समय बड़ी भारी तपस्या आरम्भ की ॥ ३३ ॥

देवतातिथिशेषेण फलमूलाशनो द्विजः।
धर्मे चास्य महाराज दृढा बुद्धिरजायत ॥ ३४ ॥

देवताओं और अतिथियोंको अर्पण करके शेष बचे हुए फल-मूल आदिका वह आहार करता था। महाराज! धर्मके विषयमें उसकी बुद्धि अटल हो गयी थी ॥ ३४ ॥

त्यक्त्वा मूलफलं सर्वं पर्णाहारोऽभवद् द्विजः।
पर्णं त्यक्त्वा जलाहारः पुनरासीद् द्विजस्तदा ॥ ३५ ॥
वायुभक्षस्ततः पश्चाद् बहून् वर्षगणानभूत्।
न चास्य क्षीयते प्राणस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३६ ॥

कुछ कालके बाद वह ब्राह्मण सारे फल-मूलका भोजन छोड़कर केवल पत्ते चबाकर रहने लगा। फिर पत्तोंका भी त्याग करके केवल जल पीकर निर्वाह करने लगा। तत्पश्चात् बहुत वर्षोंतक वह केवल वायु पीकर रहा। फिर भी उसकी

प्राणशक्ति क्षीण नहीं होती थी, यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥

धर्मे च श्रद्दधानस्य तपस्युग्रे च वर्ततः ।
कालेन महता तस्य दिव्या दृष्टिरजायत ॥ ३७ ॥

धर्ममें श्रद्धा रखते हुए दीर्घकालतक उग्र तपस्यामें लगे हुए उस ब्राह्मणको दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी ॥ ३७ ॥

तस्य बुद्धिः प्रादुरासीद् यदि दद्यामहं धनम् ।
तुष्टः कस्यचिदेवेह मिथ्यावाङ् न भवेन्मम ॥ ३८ ॥

उस समय उसे यह अनुभव हुआ कि यदि मैं संतुष्ट होकर इस जगत्‌में किसीको प्रचुर धन दे दूँ तो मेरा दिया हुआ वचन मिथ्या नहीं होगा ॥ ३८ ॥

ततः प्रहृष्टवदनो भूय आरब्धवांस्तपः ।
भूयश्चाचिन्तयत् सिद्धो यत्परं सोऽभिमन्यते ॥ ३९ ॥

यह विचार आते ही उसका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और उसने बड़े उत्साहके साथ पुनः तपस्या आरम्भ की। पुनः सिद्धि प्राप्त होनेपर उसने देखा कि वह मनमें जो-जो संकल्प करता है, वह अत्यन्त महान् होनेपर भी सामने प्रस्तुत हो जाता है। यह देखकर ब्राह्मणने पुनः यों विचार किया—॥ ३९ ॥

यदि दद्यामहं राज्यं तुष्टो वै यस्य कस्यचित् ।
स भवेदचिराद् राजा न मिथ्या वाग् भवेन्मम ।

'यदि मैं संतुष्ट होकर जिस किसीको भी राज्य दे दूँ तो वह शीघ्र ही राजा हो जायगा। मेरी यह बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती' ॥ ३९½ ॥

तस्य साक्षात् कुण्डधारो दर्शयामास भारत ॥ ४० ॥
ब्राह्मणस्य तपोयोगात् सौहृदेनाभिचोदितः ॥ ४१ ॥
समागम्य स तेनाथ पूजांचक्रे यथाविधि ।
ब्राह्मणः कुण्डधारस्य विस्मितश्चाभवन्नृप ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन! इतनेहीमें ब्राह्मणकी तपस्याके प्रभावसे तथा उसके प्रति सौहार्दसे प्रेरित होकर कुण्डधारने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उससे मिलकर ब्राह्मणने कुण्डधारकी विधिपूर्वक पूजा की। नरेश्वर! उसे देखकर ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ॥

ततोऽब्रवीत् कुण्डधारो दिव्यं ते चक्षुरुत्तमम् ।
पश्य राज्ञां गतिं विप्र लोकांश्चैव तु चक्षुषा ॥ ४३ ॥

तब कुण्डधारने ब्राह्मणसे कहा—'विप्रवर! तुम्हें परम उत्तम दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई है; अतः तुम अपनी आँखोंसे देख लो कि राजाओंको किस गतिकी प्राप्ति होती है तथा वे किन-किन लोकोंमें जाते हैं' ॥ ४३ ॥

ततो राजसहस्राणि मग्नानि निरये तदा ।
दूरादपश्यद् विप्रः स दिव्ययुक्तेन चक्षुषा ॥ ४४ ॥

तब उस ब्राह्मणने दूरसे ही अपने दिव्य नेत्रोंसे देखा कि सहस्रों राजा नरकमें डूबे हुए हैं ॥ ४४ ॥

कुण्डधार उवाच

मां पूजयित्वा भावेन यदि त्वं दुःखमाप्नुयाः ।
कृतं मया भवेत् किं ते कश्च तेऽनुग्रहो भवेत् ॥ ४५ ॥

कुण्डधार बोला—ब्रह्मन्! तुमने बड़े भक्तिभावसे मेरी पूजा की थी। इसपर भी यदि तुम धन पाकर दुःख ही भोगते रहते तो मेरे द्वारा तुम्हारा क्या उपकार हुआ होता और तुम्हारे ऊपर मेरा कौन-सा अनुग्रह सिद्ध हो सकता था ॥ ४५ ॥

पश्य पश्य च भूयस्त्वं कामानिच्छेत् कथं नरः ।
स्वर्गद्वारं हि संरुद्धं मानुषेषु विशेषतः ॥ ४६ ॥

देखो-देखो, एक बार फिर लोगोंकी दशापर दृष्टिपात करो। यह सब देख-सुनकर मनुष्य भोगोंकी इच्छा कैसे कर सकता है। जो धन और भोगोंमें आसक्त हैं, ऐसे लोगों, विशेषतः मनुष्योंके लिये स्वर्गका दरवाजा प्रायः बंद ही रहता है ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

ततोऽपश्यत् स कामं च क्रोधं लोभं भयं मदम् ।
निद्रां तन्द्रीं तथाऽऽलस्यमावृत्य पुरुषान् स्थितान् ॥ ४७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर ब्राह्मणने देखा कि उन भोगी पुरुषोंको काम, क्रोध, लोभ, भय, मद, निद्रा, तन्द्रा और आलस्य आदि शत्रु घेरकर खड़े हैं ॥ ४७ ॥

कुण्डधार उवाच

एतैर्लोकाः सुसंरुद्धा देवानां मानुषाद् भयम् ।
तथैव देववचनाद् विघ्नं कुर्वन्ति सर्वशः ॥ ४८ ॥

कुण्डधार बोला—विप्रवर! देखो, सब लोग इन्हीं दोषोंसे घिरे हुए हैं। देवताओंको मनुष्योंसे भय बना रहता है, इसलिये ये काम आदि दोष देवताओंके आदेशसे मनुष्यके धर्म और तपस्यामें सब प्रकारसे विघ्न डाला करते हैं ॥ ४८ ॥

न देवैरननुज्ञातः कश्चिद् भवति धार्मिकः ।
एष शक्तोऽसि तपसा दातुं राज्यं धनानि च ॥ ४९ ॥

देवताओंकी अनुमति प्राप्त किये बिना कोई निर्विघ्नरूपसे धर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकता; किंतु तुम्हें तो देवताओंका अनुग्रह प्राप्त हो गया है। इसलिये अब तुम अपने तपके प्रभावसे दूसरोंको राज्य और धन देनेमें समर्थ हो गये हो ॥

भीष्म उवाच

ततः पपात शिरसा ब्राह्मणस्तोयधारिणे ।
उवाच चैनं धर्मात्मा महान् मेऽनुग्रहः कृतः ॥ ५० ॥
कामलोभानुबन्धेन पुरा ते यदसूयितम् ।
मया स्नेहमविज्ञाय तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तब उस धर्मात्मा ब्राह्मणने धरतीपर मस्तक टेककर कुण्डधार मेघको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उससे कहा—'प्रभो! आपने मुझपर महान् अनुग्रह किया है। आपके स्नेहको न समझकर काम और लोभके बन्धनमें बँधे रहनेसे मैंने पहले आपके प्रति जो दोषदृष्टि

कर ली थी, उसके लिये आप मुझे क्षमा करें' ॥५०-५१ ॥

क्षान्तमेव मयेत्युक्त्वा कुण्डधारो द्विजर्षभम् ।
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां तत्रैवान्तरधीयत ॥ ५२ ॥

(कुण्डधारने कहा—) 'विप्रवर ! मैं तो पहलेसे ही क्षमा कर चुका हूँ' ऐसा कहकर उस मेघने उस श्रेष्ठ ब्राह्मणको अपनी दोनों भुजाओंद्वारा हृदयसे लगा लिया और वह फिर वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ ५२ ॥

ततः सर्वांस्तदा लोकान् ब्राह्मणोऽनुचचार ह ।
कुण्डधारप्रसादेन तपसा सिद्धिमागतः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर कुण्डधारके कृपाप्रसादसे तपस्याद्वारा सिद्धि पाकर वह ब्राह्मण सम्पूर्ण लोकोंमें विचरने लगा ॥ ५३ ॥

विहायसा च गमनं तथा संकल्पितार्थता ।
धर्माच्छक्त्या तथा योगाद् या चैव परमा गतिः॥५४॥

आकाशमार्गसे चलना, संकल्पमात्रसे ही अभीष्ट वस्तुका प्राप्त हो जाना तथा धर्म, शक्ति और योगके द्वारा जो परमगति प्राप्त होती है, वह सब कुछ उस ब्राह्मणको प्राप्त हो गयी॥५४॥

देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुषचारणाः ।
धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान् न कामिनः॥ ५५॥

देवता, ब्राह्मण, साधु-संत, यक्ष, मनुष्य और चारण—ये सब-के-सब इस जगत्में धर्मात्माओंका ही पूजन करते हैं, धनियों और भोगियोंका नहीं ॥ ५५ ॥

सुप्रसन्ना हि ते देवा यत्ते धर्मे रता मतिः ।
धने सुखकला काचिद् धर्मे तु परमं सुखम् ॥ ५६॥

राजन् ! तुम्हारे ऊपर भी देवता बहुत प्रसन्न हैं, जिससे तुम्हारी बुद्धि धर्ममें लगी हुई है । धनमें तो सुखका कोई लेशमात्र ही रहता है । परमसुख तो धर्ममें ही है ॥ ५६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि कुण्डधारोपाख्याने एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें कुण्डधारका उपाख्यानविषयक दोसौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७१॥

द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

यज्ञमें हिंसाकी निन्दा और अहिंसाकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

बहूनां यज्ञतपसामेकार्थानां पितामह ।
धर्मार्थं न सुखार्थार्थं कथं यज्ञः समाहितः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यज्ञ और तप तो बहुत हैं और वे सब एकमात्र भगवत्प्रीतिके लिये किये जा सकते हैं; परंतु उनमेंसे जिस यज्ञका प्रयोजन केवल धर्म हो, स्वर्ग-सुख अथवा धनकी प्राप्ति न हो, उसका सम्पादन कैसे होता है ?॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि नारदेनानुकीर्तितम् ।
उञ्छवृत्तेः पुरावृत्तं यज्ञार्थे ब्राह्मणस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेवाले एक ब्राह्मणका यज्ञके सम्बन्धमें जैसा वृत्तान्त है और जिसे नारदजीने मुझसे कहा था, वही प्राचीन इतिहास मैं यहाँ तुम्हें बता रहा हूँ ॥ २ ॥

नारद उवाच

राष्ट्रे धर्मोत्तरे श्रेष्ठे विदर्भेष्वभवद् द्विजः ।
उञ्छवृत्तिर्ऋषिः कश्चिद् यज्ञं यष्टुं समादधे ॥ ३ ॥

नारदजीने कहा—जहाँ धर्मकी ही प्रधानता है, उस उत्तम राष्ट्र विदर्भमें कोई ब्राह्मण ऋषि निवास करता था । वह कटे हुए खेत या खलिहानसे अन्नके बिखरे हुए दानोंको बीन लाता और उसीसे जीवन-निर्वाह करता था । एक बार उसने यज्ञ करनेका निश्चय किया ॥ ३ ॥

श्यामाकमशनं तत्र सूर्यपर्णी सुवर्चला ।
तिक्तं च विरसं शाकं तपसा स्वादुतां गतम् ॥ ४ ॥

जहाँ वह रहता था, वहाँ अन्नके नामपर साँवाँ मिलता था । दाल बनानेके लिये सूर्यपर्णी (जंगली उड़द) मिलती थी और शाक-भाजीके लिये सुवर्चला (ब्राह्मी लता) तथा अन्य प्रकारके तिक्त एवं रसहीन शाक उपलब्ध होते थे; परंतु ब्राह्मणकी तपस्यासे उपर्युक्त सभी वस्तुएँ सुस्वादु हो गयी थीं ॥ ४ ॥

उपगम्य वने सिद्धिं सर्वभूताविहिंसया ।
अपि मूलफलैरिष्टो यज्ञः स्वर्ग्यः परंतप ॥ ५ ॥

परंतप युधिष्ठिर ! उस ब्राह्मणने वनमें तपस्याद्वारा सिद्धि लाभ करके समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी भी हिंसा न करते हुए मूल और फलोंद्वारा भी स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाले यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ५ ॥

तस्य भार्या व्रतकृशा शुचिः पुष्करधारिणी ।
यज्ञपत्नी समानीता सत्येनानुविधीयते ॥ ६ ॥

उस ब्राह्मणके एक पत्नी थी, जिसका नाम था पुष्करधारिणी । उसके आचार-विचार परम पवित्र थे । वह व्रत-उपवास करते-करते दुर्बल हो गयी थी । ब्राह्मणका नाम सत्य था । यद्यपि वह ब्राह्मणी अपने पति सत्यके हिंसाप्रधान यज्ञकी इच्छा प्रकट करनेपर उसके अनुकूल नहीं होती थी, तो भी ब्राह्मण उसे यज्ञपत्नीके स्थानपर आग्रहपूर्वक बुला ही लाता था ॥ ६ ॥

सा तु शापपरित्रस्ता तत्स्वभावानुवर्तिनी ।
मायूरजीर्णपर्णानां वस्त्रं तस्याश्च वर्णितम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणी शापसे डरकर पतिके स्वभावका सर्वथा अनुसरण

करती थी। ऐसा कहा जाता है कि वह मोरोंकी टूटकर गिरी पुरानी पाँखोंको जोड़कर उनसे ही अपना शरीर ढँकती थी ॥ ७ ॥

अकामया कृतस्तत्र यज्ञो होत्रनुशासनात् ।
शुक्रस्य पुनराजातिः पर्णादो नाम धर्मवित् ॥ ८ ॥

होताके आदेशसे इच्छा न होनेपर भी ब्राह्मण-पत्नीने उस यज्ञका कार्य सम्पन्न किया। होताका कार्य पर्णाद नामसे प्रसिद्ध एक धर्मज्ञ ऋषि करते थे, जो शुक्राचार्यके वंशज थे ॥ ८ ॥

तस्मिन् वने समीपस्थो मृगोऽभूत् सहवासिकः ।
वचोभिरब्रवीत् सत्यं त्वयेदं दुष्कृतं कृतम् ॥ ९ ॥

उस वनमें सत्यका सहवासी एक मृग था, जो वहाँ पास ही रहता था। एक दिन उसने मनुष्यकी बोलीमें सत्यसे कहा—'ब्राह्मण ! तुमने यज्ञके नामपर यह दुष्कर्म किया है ॥ ९ ॥

यदि मन्त्राङ्गहीनोऽयं यज्ञो भवति वै कृतः ।
मां भोः प्रक्षिप होत्रे त्वं गच्छ स्वर्गमनिन्दितः॥ १० ॥

'यदि किया हुआ यज्ञ मन्त्र और अङ्गसे हीन हो तो वह यजमानके लिये दुष्कर्म ही है। ब्राह्मणदेव ! तुम मुझे होताको सौंप दो और स्वयं निन्दारहित होकर स्वर्गलोकमें जाओ' ॥ १० ॥

ततस्तु यज्ञे सावित्री साक्षात् तं संन्यमन्त्रयत्।
निमन्त्रयन्ती प्रत्युक्ता न हन्यां सहवासिनम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर उस यज्ञमें साक्षात् सावित्रीने पधारकर उस ब्राह्मणको मृगकी आहुति देनेकी सलाह दी। ब्राह्मणने यह कहकर कि मैं अपने सहवासी मृगका वध नहीं कर सकता, सावित्रीकी आज्ञा माननेसे इनकार कर दी ॥ ११ ॥

एवमुक्ता निवृत्ता सा प्रविष्टा यज्ञपावकम् ।
किं नु दुश्चरितं यज्ञे दिदृक्षुः सा रसातलम् ॥ १२ ॥

ब्राह्मणसे इस प्रकार कोरा जवाब मिल जानेपर सावित्रीदेवी लौट पड़ीं और यज्ञाग्निमें प्रविष्ट हो गयीं। यज्ञमें कौन-सा दुष्कर्म या त्रुटि है—यही देखनेकी इच्छासे वे आयी थीं और फिर रसातलमें चली गयीं ॥ १२ ॥

स तु बद्धाञ्जलि सत्यमयाचद्धरिणः पुनः ।
सत्येन स परिष्वज्य संदिष्टो गम्यतामिति ॥ १३ ॥

सत्य सावित्रीदेवीकी ओर हाथ जोड़कर खड़ा था। इतनेहीमें उस हरिणने पुनः अपनी आहुति देनेके लिये याचना की। सत्यने मृगको हृदयसे लगा लिया और बड़े प्यारसे कहा-'तुम यहाँसे चले जाओ' ॥ १३ ॥

ततः स हरिणो गत्वा पदान्यष्टौ न्यवर्तत ।
साधु हिंसय मां सत्य हतो यास्यामि सद्गतिम्॥ १४ ॥

तब वह हरिण आठ पग आगे जाकर लौट पड़ा और बोला—'सत्य ! तुम विधिपूर्वक मेरी हिंसा करो। मैं यज्ञमें वधको प्राप्त होकर उत्तम गति पा लूँगा ॥ १४ ॥

पश्य ह्यप्सरसो दिव्या मया दत्तेन चक्षुषा ।
विमानानि विचित्राणि गन्धर्वाणां महात्मनाम्॥ १५ ॥

'मैंने तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान की है; उससे देखो, आकाशमें वे दिव्य अप्सराएँ खड़ी हैं। महात्मा गन्धर्वोंके विचित्र विमान भी शोभा पा रहे हैं' ॥ १५ ॥

ततः स सुचिरं दृष्ट्वा स्पृहालग्नेन चक्षुषा ।
मृगमालोक्य हिंसायां स्वर्गवासं समर्थयत् ॥ १६ ॥

सत्यकी आँखें बड़ी चाहसे उधर ही जा लगीं। उसने बड़ी देरतक वह रमणीय दृश्य देखा, फिर मृगकी ओर दृष्टिपात करके 'हिंसा करनेपर ही मुझे स्वर्गवासका सुख मिल सकता है' यह मन-ही-मन निश्चय किया ॥ १६ ॥

स तु धर्मो मृगो भूत्वा बहुवर्षोषितो वने ।
तस्य निष्कृतिमाधत्त न त्वसौ यज्ञसंविधिः ॥ १७ ॥

वास्तवमें उस मृगके रूपमें साक्षात् धर्म थे, जो मृगका शरीर धारण करके बहुत वर्षोंसे वनमें निवास करते थे। पशुहिंसा यज्ञकी विधिके प्रतिकूल कर्म है। भगवान् धर्मने उस ब्राह्मणका उद्धार करनेका विचार किया ॥ १७ ॥

तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा ।
तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया ॥ १८ ॥

मैं उस पशुका वध करके स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा; यह सोचकर मृगकी हिंसा करनेके लिये उद्यत उस ब्राह्मणका महान् तप तत्काल नष्ट हो गया। इसलिये हिंसा यज्ञके लिये हितकर नहीं है ॥ १८ ॥

ततस्तं भगवान् धर्मो यज्ञं याजयत स्वयम् ।
समाधानं च भार्याया लेभे स तपसा परम्॥ १९ ॥

तदनन्तर भगवान् धर्मने स्वयं सत्यका यज्ञ कराया। फिर सत्यने तपस्या करके अपनी पत्नी पुष्करधारिणीके मनकी जैसी स्थिति थी, वैसा ही उत्तम समाधान प्राप्त किया (उसे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि हिंसासे बड़ी हानि होती है, अहिंसा ही परम कल्याणका साधन है) ॥ १९ ॥

अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः ।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि यो धर्मः सत्यवादिनाम्॥ २० ॥

अहिंसा ही सम्पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है और अधर्म अहितकारक होता है। अब मैं तुम्हें सत्यका महत्त्व बताऊँगा, जो सत्यवादी पुरुषोंका परम धर्म है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि यज्ञनिन्दानाम द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हिंसात्मक यज्ञकी निन्दा नामक दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७२॥

त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्म, अधर्म, वैराग्य और मोक्षके विषयमें युधिष्ठिरके चार प्रश्न और उनका उत्तर

युधिष्ठिर उवाच

कथं भवति पापात्मा कथं धर्मं करोति वा।
केन निर्वेदमादत्ते मोक्षं वा केन गच्छति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! मनुष्य पापात्मा कैसे हो जाता है? वह धर्मका आचरण किस प्रकार करता है? किस हेतुसे उसे वैराग्य प्राप्त होता है और किस साधनसे वह मोक्ष पाता है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

विदिताः सर्वधर्मास्ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि।
शृणु मोक्षं सनिर्वेदं पापं धर्मं च मूलतः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! तुम्हें सब धर्मोंका ज्ञान है। तुम तो लोकमर्यादाकी रक्षा तथा मेरी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये मुझसे प्रश्न कर रहे हो। अच्छा अब तुम मोक्ष, वैराग्य, पाप और धर्मका मूल क्या है, इसको श्रवण करो ॥ २ ॥

विज्ञानार्थं हि पञ्चानामिच्छा पूर्वं प्रवर्तते।
प्राप्यैकं जायते कामो द्वेषो वा भरतर्षभ ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ! मनुष्यको (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—इन) पाँचों विषयोंका अनुभव करनेके लिये पहले इच्छा होती है। फिर उन पाँचों विषयोंमेंसे किसी एकको पाकर उसके प्रति राग या द्वेष हो जाता है ॥ ३ ॥

ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत्।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च चिकीर्षति ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् जिसके प्रति राग होता है, उसे पानेके लिये वह प्रयत्न करता है। बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ करता है। वह अपने इच्छित रूप और गन्ध आदिका बारंबार सेवन करना चाहता है ॥ ४ ॥

ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम्।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ॥ ५ ॥

इससे उन विषयोंके प्रति उसके मनमें राग उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर प्रतिकूल विषयसे द्वेष होता है। फिर अनुकूल विषयके लिये लोभ होता है और लोभके बाद उसके मनपर मोह अधिकार जमा लेता है ॥ ५ ॥

लोभमोहाभिभूतस्य रागद्वेषान्वितस्य च।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद् धर्मं करोति च ॥ ६ ॥

लोभ और मोहसे घिरे हुए तथा राग-द्वेषके वशीभूत हुए मनुष्यकी बुद्धि धर्ममें नहीं लगती है। वह किसी-न-किसी बहानेसे दिखाऊ धर्मका आचरण करता है ॥ ६ ॥

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते।
व्याजेन सिद्ध्यमानेषु धनेषु कुरुनन्दन ॥ ७ ॥
तत्रैव कुरुते बुद्धिं ततः पापं चिकीर्षति।
सुहृद्भिर्वार्यमाणोऽपि पण्डितैश्चापि भारत ॥ ८ ॥
उत्तरं न्यायसम्बद्धं ब्रवीति विधिचोदितम्।

कुरुनन्दन! वह कोई बहाना लेकर ही धर्म करता है, कपटसे ही धन कमानेकी रुचि रखता है और यदि कपटसे धन प्राप्त करनेमें सफलता मिल गयी तो वह उसीमें अपनी सारी बुद्धि लगा देता है। भरतनन्दन! फिर तो विद्वानों और सुहृदोंके मना करनेपर भी वह केवल पाप ही करना चाहता है तथा मना करनेवालोंको धर्मशास्त्रके वाक्योंके द्वारा प्रतिपादित न्याययुक्त उत्तर दे देता है ॥ ७-८½ ॥

अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्धते रागमोहजः ॥ ९ ॥
पापं चिन्तयते चैव प्रब्रवीति करोति च।

उसका राग और मोहजनित तीन प्रकारका अधर्म बढ़ता है। वह मनसे पापकी ही बात सोचता है, वाणीसे पाप ही बोलता है और क्रियाद्वारा पाप ही करता है ॥ ९½ ॥

तस्याधर्मप्रवृत्तस्य दोषान् पश्यन्ति साधवः ॥ १० ॥
एकशीलाश्च मित्रत्वं भजन्ते पापकर्मिणः।
स नेह सुखमाप्नोति कुत एव परत्र वै ॥ ११ ॥

श्रेष्ठ पुरुष तो अधर्ममें प्रवृत्त हुए मनुष्यके दोष जानते हैं, परंतु उस पापीके समान स्वभाववाले पापाचारी मनुष्य उसके साथ मित्रता स्थापित करते हैं। ऐसा पुरुष इस लोकमें ही सुख नहीं पाता है, फिर परलोकमें तो पा ही कैसे सकता है ॥ १०-११ ॥

एवं भवति पापात्मा धर्मात्मानं तु मे शृणु।
यथा कुशलधर्मा स कुशलं प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥
कुशलेनैव धर्मेण गतिमिष्टां प्रपद्यते।

इस प्रकार मनुष्य पापात्मा हो जाता है। अब धर्मात्माके विषयमें मुझसे सुनो। वह जिस प्रकार परहितसाधक कल्याणकारी धर्मका आचरण करता है, उसी प्रकार कल्याणका भागी होता है। वह क्षेमकारक धर्मके प्रभावसे ही अभीष्ट गतिको प्राप्त होता है ॥ १२½ ॥

य एतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति ॥ १३ ॥
कुशलः सुखदुःखानां साधूंश्चाप्यथ सेवते।
तस्य साधुसमाचारादभ्यासाच्चैव वर्धते ॥ १४ ॥

जो पुरुष अपनी बुद्धिसे राग आदि दोषोंको पहले ही देख लेता है, वह सुख-दुःखको समझनेमें कुशल होता है। फिर वह श्रेष्ठ पुरुषोंका सेवन करता है। सत्पुरुषोंकी सेवा या सत्संगसे और सत्कर्मोंके अभ्याससे उस पुरुषकी बुद्धि बढ़ती है ॥ १३-१४ ॥

प्रज्ञा धर्मे च रमते धर्मं चैवोपजीवति।

सोऽथ धर्मादवाप्तेषु धनेषु कुरुते मनः ॥ १५ ॥

वह बढ़ी हुई बुद्धि धर्ममें ही सुख मानती और उसीका सहारा लेती है। वह पुरुष धर्मसे प्राप्त होनेवाले धनमें मन लगाता है ॥ १५ ॥

तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान् पश्यति तत्र वै।
धर्मात्मा भवति ह्येवं मित्रं च लभते शुभम् ॥ १६ ॥

वह जहाँ गुण देखता है, उसीके मूलको सींचता है। ऐसा करनेसे वह पुरुष धर्मात्मा होता है और शुभकारक मित्र प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

स मित्रधनलाभात् तु प्रेत्य चेह च नन्दति।
शब्दे स्पर्शे रसे रूपे तथा गन्धे च भारत ॥ १७ ॥
प्रभुत्वं लभते जन्तुर्धर्मस्यैतत् फलं विदुः।
स तु धर्मफलं लब्ध्वा न हृष्यति युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

भारत ! उत्तम मित्र और धनके लाभसे वह इहलोक और परलोकमें भी आनन्दित होता है। ऐसा पुरुष शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इन पाँचों विषयोंपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है। इसे धर्मका फल माना जाता है। युधिष्ठिर ! वह धर्मका फल पाकर भी हर्षसे फूल नहीं उठता है ॥ १७-१८ ॥

अतृप्यमाणो निर्वेदमादत्ते ज्ञानचक्षुषा।
प्रज्ञाचक्षुर्यदा कामे रसे गन्धे न रज्यते ॥ १९ ॥
शब्दे स्पर्शे तथा रूपे न च भावयते मनः।
विमुच्यते तदा कामान्न च धर्मं विमुञ्चति ॥ २० ॥

वह इससे तृप्त न होनेके कारण विवेकदृष्टिसे वैराग्यको ही ग्रहण करता है, बुद्धिरूप नेत्रके खुल जानेके कारण जब वह कामोपभोग, रस और गन्धमें अनुरक्त नहीं होता तथा शब्द, स्पर्श और रूपमें भी उसका चित्त नहीं फँसता, तब वह सब कामनाओंसे मुक्त हो जाता है और धर्मका त्याग नहीं करता ॥ १९-२० ॥

सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम्।
ततो मोक्षाय यतते नानुपायादुपायतः ॥ २१ ॥
शनैर्निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च।
धर्मात्मा चैव भवति मोक्षं च लभते परम् ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण लोकोंको नाशवान् समझकर वह सर्वस्वका मनसे त्याग कर देनेका यत्न करता है। तदनन्तर वह अयोग्य उपायसे नहीं किंतु योग्य उपायसे मोक्षके लिये यत्नशील हो जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे मनुष्यको वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर वह पापकर्म तो छोड़ देता है और धर्मात्मा बन जाता है। तत्पश्चात् परम मोक्षको प्राप्त कर लेता है।२१-२२।

एतत् ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
पापं धर्मस्तथा मोक्षो निर्वेदश्चैव भारत ॥ २३ ॥

तात ! भरतनन्दन ! तुमने मुझसे पाप, धर्म, वैराग्य और मोक्षके विषयमें जो प्रश्न किया था, वह सब मैंने कह सुनाया ॥ २३ ॥

तस्माद् धर्मे प्रवर्तेथाः सर्वावस्थं युधिष्ठिर।
धर्मे स्थितानां कौन्तेय सिद्धिर्भवति शाश्वती ॥ २४ ॥

अतः कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! तुम सभी अवस्थाओंमें धर्मका ही आचरण करो; क्योंकि जो लोग धर्ममें स्थित रहते हैं, उन्हें सदा रहनेवाली मोक्षरूप परम सिद्धि प्राप्त होती है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चतुःप्राश्निको नाम त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें चार प्रश्न और उनका उत्तरनामक दो सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२७३॥

चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मोक्षके साधनका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

मोक्षः पितामहेनोक्त उपायान्नानुपायतः।
तमुपायं यथान्यायं श्रोतुमिच्छामि भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने योग्य उपायसे मोक्षकी प्राप्ति बतायी, अयोग्य उपायसे नहीं। भरतनन्दन ! वह यथायोग्य उपाय क्या है ? इसे मैं सुनना चाहता हूँ ॥१॥

भीष्म उवाच

त्वय्येवैतन्महाप्राज्ञ युक्तं निपुणदर्शनम्।
येनोपायेन सर्वार्थं नित्यं मृगयसेऽनघ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—महाप्राज्ञ निष्पाप नरेश ! तुम उचित उपायसे ही सदा सम्पूर्ण धर्म आदि पुरुषार्थोंकी खोज किया करते हो। इसलिये तुममें सुने हुए विषयोंकी परीक्षा करनेकी निपुण दृष्टिका होना उचित ही है ॥ २ ॥

करणे घटस्य या बुद्धिर्घटोत्पत्तौ न सा मता।
एवं धर्माभ्युपायेषु नान्यधर्मेषु कारणम् ॥ ३ ॥

घटके निर्माणकालमें जिस बुद्धिका उपयोग है, वह घटकी उत्पत्ति हो जानेपर आवश्यक नहीं रहती, इसी प्रकार चित्त-शुद्धिके उपायभूत यज्ञादि धर्मोंका लक्ष्य पूरा हो जानेपर मोक्षसाधनरूप शम-दमादि अन्य धर्मोंके लिये वे आवश्यक नहीं रहते ॥ ३ ॥

पूर्वे समुद्रे यः पन्थाः स न गच्छति पश्चिमम्।
एकः पन्था हि मोक्षस्य तन्मे विस्तरतः शृणु ॥ ४ ॥

देखो, जो मार्ग पूर्व समुद्रकी ओर जाता है, वह पश्चिम समुद्रकी ओर नहीं जा सकता। इसी प्रकार मोक्षका भी एक ही मार्ग है, उसे मैं विस्तारपूर्वक बता रहा हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

क्षमया क्रोधमुच्छिन्द्यात् कामं संकल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनाद् धीरो निद्रां च च्छेत्तुमर्हति ॥ ५ ॥

मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि क्षमासे क्रोधका और संकल्पोंके त्यागसे कामनाओंका उच्छेद कर डाले। धीर पुरुष ज्ञान-ध्यानादि सात्त्विक गुणोंके सेवनसे निद्राका क्षय करे ॥ ५ ॥

अप्रमादाद् भयं रक्षेच्छ्वासं क्षेत्रज्ञशीलनात्।
इच्छां द्वेषं च कामं च धैर्येण विनिवर्तयेत् ॥ ६ ॥

अप्रमादसे भयको दूर करे, आत्माके चिन्तनसे श्वासकी रक्षा करे अर्थात् प्राणायाम करे और धैर्यके द्वारा इच्छा, द्वेष एवं कामका निवारण करे ॥ ६ ॥

भ्रमं सम्मोहमावर्तमभ्यासाद् विनिवर्तयेत्।
निद्रां च प्रतिभां चैव ज्ञानाभ्यासेन तत्त्ववित्॥ ७ ॥

तत्त्ववेत्ता पुरुष शास्त्रके अभ्याससे भ्रम, मोह और संशयका तथा आलस्य और प्रतिभा (नानाविषयिणी बुद्धि)—इन दोनों दोषोंका ज्ञानके अभ्याससे निराकरण करे ॥ ७ ॥

उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्।
लोभं मोहं च संतोषाद् विषयांस्तत्त्वदर्शनात् ॥ ८ ॥

शारीरिक उपद्रवों तथा रोगोंका हितकर, सुपाच्य और परिमित आहारसे, लोभ और मोहका संतोषसे तथा विषयोंका तात्त्विक दृष्टिसे निवारण करे ॥ ८ ॥

अनुक्रोशादधर्मं च जयेद् धर्ममवेक्षया।
आयत्या च जयेदाशामर्थं संगविवर्जनात् ॥ ९ ॥

अधर्मको दयासे और धर्मको विचारपूर्वक पालन करनेसे जीते। भविष्यका विचार करके आशापर और आसक्तिके त्यागसे अर्थपर विजय प्राप्त करे ॥ ९ ॥

अनित्यत्वेन च स्नेहं क्षुधां योगेन पण्डितः।
कारुण्येनात्मनो मानं तृष्णां च परितोषतः ॥ १० ॥

विद्वान् पुरुष वस्तुओंकी अनित्यताका चिन्तन करके स्नेहको, योगाभ्यासके द्वारा क्षुधाको, करुणाके द्वारा अपने अभिमानको और संतोषसे तृष्णाको जीते ॥ १० ॥

उत्थानेन जयेत् तन्द्रीं वितर्कं निश्चयाज्जयेत्।
मौनेन बहुभाष्यं च शौर्येण च भयं त्यजेत् ॥ ११ ॥

आलस्यको उद्योगसे और विपरीत तर्कको शास्त्रके प्रति दृढ़ विश्वाससे जीते, मौनावलम्बनद्वारा बहुत बोलनेकी आदतको और शूरवीरताके द्वारा भयको त्याग दे ॥ ११ ॥

यच्छेद् वाङ्मनसी बुद्ध्या तां यच्छेज्ज्ञानचक्षुषा।
ज्ञानमात्मावबोधेन यच्छेदात्मानमात्मना ॥ १२ ॥
तदेतदुपशान्तेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा।

मन और वाणीको अर्थात् मनसहित समस्त इन्द्रियोंको बुद्धिद्वारा वशमें करे, बुद्धिका विवेकरूप नेत्रद्वारा शमन करे, फिर आत्मज्ञानद्वारा विवेकज्ञानका शमन करे और आत्माको परमात्मामें विलीन कर दे। इस प्रकार पवित्र आचार-विचारसे युक्त साधकको सब ओरसे उपरत होकर शान्तभावसे परमात्माका साक्षात्कार करना चाहिये ॥ १२½ ॥

योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः ॥ १३ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम्।
परित्यज्य निषेवेत यतवाग् योगसाधनान् ॥ १४ ॥

काम, क्रोध, लोभ, भय और निद्रा—ये ही योगसम्बन्धी वे पाँच दोष हैं, जिनको विद्वान् पुरुष जानते हैं। इनका मूलोच्छेद कर देना चाहिये तथा इनका परित्याग करके वाणीको संयममें रखते हुए योगसाधनोंका सेवन करना चाहिये ॥

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचमाहारतः शुद्धिरिन्द्रियाणां च संयमः ॥ १५ ॥
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानमुपहन्ति च।
सिध्यन्ति चास्य संकल्पा विज्ञानं च प्रवर्तते ॥ १६ ॥

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, बाहर-भीतरकी पवित्रता, आहारशुद्धि और इन्द्रियोंका संयम—ये ही योगके साधन हैं। इन सबके द्वारा साधकका तेज बढ़ता है। वह अपने पापोंका नाश कर डालता है। उसके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं और हृदयमें विज्ञानका आविर्भाव हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

धूतपापः स तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार जब पाप धुल जायँ और साधक तेजस्वी, मिताहारी और जितेन्द्रिय हो जाय, तब वह काम और क्रोधको अपने अधीन करके अपने-आपको ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठित करनेकी इच्छा करे ॥ १७ ॥

अमूढत्वमसंगित्वं कामक्रोधविवर्जनम्।
अदैन्यमनुदीर्णत्वमनुद्वेगो व्यवस्थितिः ॥ १८ ॥
एष मार्गो हि मोक्षस्य प्रसन्नो विमलः शुचिः।
तथा वाक्कायमनसां नियमः कामतोऽन्यथा ॥ १९ ॥

मूढता और आसक्तिका अभाव, काम और क्रोधका त्याग एवं दीनता, उद्दण्डता तथा उद्वेगसे रहित होना और चित्तकी स्थिरता एवं निष्कामभावसे मन, वाणी और इन्द्रियोंका संयम—यह मोक्षका स्वच्छ, निर्मल एवं पवित्र मार्ग है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि योगाचारानुवर्णनं नाम चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें योगसम्बन्धी आचारका वर्णननामक दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जीवात्माके देहाभिमानसे मुक्त होनेके विषयमें नारद और असितदेवलका संवाद

भीष्म उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादं देवलस्यासितस्य च ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस विषयमें देवर्षि नारद तथा ब्रह्मर्षि असितदेवलके संवादरूप प्राचीन इतिहास-का विद्वान् पुरुष उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

आसीनं देवलं वृद्धं बुद्ध्वा बुद्धिमतां वरम्।
नारदः परिपप्रच्छ भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ बूढ़े असित-देवलको आसनपर बैठा हुआ जान नारदजीने उनसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके विषयमें प्रश्न किया ॥ २ ॥

नारद उवाच

कुतः सृष्टमिदं विश्वं ब्रह्मन् स्थावरजङ्गमम्।
प्रलये च कमभ्येति तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ३ ॥

नारदजीने पूछा—ब्रह्मन् ! इस समस्त चराचर जगत्की सृष्टि किससे हुई है तथा यह प्रलयके समय किसमें लीन हो जाता है, यह आप मुझे बताइये ? ॥ ३ ॥

असित उवाच

येभ्यः सृजति भूतानि काले भावप्रचोदितः।
महाभूतानि पञ्चेति तान्याहुर्भूतचिन्तकाः ॥ ४ ॥

असितदेवलने कहा—देवर्षे ! सृष्टिके समय परमात्मा प्राणियोंकी वासनाओंसे प्रेरित हो समयपर जिन तत्त्वोंसे सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करते हैं, उन्हें भूतचिन्तक (भौतिक विज्ञानवादी) विद्वान् पञ्चमहाभूत कहते हैं ॥ ४ ॥

तेभ्यः सृजति भूतानि काल आत्मप्रचोदितः।
एतेभ्यो यः परं ब्रूयादसद् ब्रूयादसंशयम् ॥ ५ ॥

परमात्माकी प्रेरणासे काल इन पाँच तत्त्वोंद्वारा समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करता है। जो इनसे भिन्न किसी अन्य तत्त्वको प्राणियोंके शरीरोंका उपादान कारण बताता है, वह निस्संदेह झूठी बात कहता है ॥ ५ ॥

विद्धि नारद पञ्चैताञ्शाश्वतानचलान् ध्रुवान्।
महतस्तेजसो राशीन् कालषष्ठान् स्वभावतः ॥ ६ ॥

नारद ! पाँच भूत और छठा काल—इन छः तत्त्वोंको तुम प्रवाहरूपसे शाश्वत, अविचल और ध्रुव समझो। ये तेजोमय महत्तत्त्वकी स्वाभाविक कलाएँ हैं ॥ ६ ॥

आपश्चैवान्तरिक्षं च पृथिवी वायुपावकौ।
नासीद्धि परमं तेभ्यो भूतेभ्यो मुक्तसंशयम् ॥ ७ ॥

जल, आकाश, पृथ्वी, वायु और अग्नि—इन भूतोंसे भिन्न कोई तत्त्व कभी नहीं था; इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

नोपपत्त्या न वा युक्त्या त्वसद् ब्रूयादसंशयम्।
वेत्थैतानभिनिर्वृत्तान् षडेते यस्य राशयः ॥ ८ ॥

किसी भी युक्ति या प्रमाणसे इन छःके अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं बताया जा सकता। इसलिये जो कोई दूसरी बात कहता है, वह निस्संदेह झूठ बोलता है। तुम सभी कार्योंमें अनुगत हुए इन छः तत्त्वोंको और जिसके ये कार्य हैं, उस कारणको भी जानते हो ॥ ८ ॥

पञ्चैव तानि कालश्च भावाभावौ च केवलौ।
अष्टौ भूतानि भूतानां शाश्वतानि भवात्ययौ ॥ ९ ॥

पाँच महाभूत, काल तथा विशुद्ध भाव और अभाव अर्थात् नित्य आत्मतत्त्व और परिवर्तनशील महत्तत्त्व—ये आठ तत्त्व नित्य हैं। ये ही चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान हैं ॥ ९ ॥

अभावं यान्ति तेष्वेव तेभ्यश्च प्रभवन्त्यपि।
विनष्टोऽप्यनु तान्येव जन्तुर्भवति पञ्चधा ॥ १० ॥

सब प्राणी उन्हींमें लीन होते हैं और उन्हींसे उनका प्राकट्य भी होता है। जीवोंका शरीर नष्ट हो जानेपर पाँच भागोंमें विभक्त होकर अपने-अपने कारणमें विलीन हो जाता है ॥ १० ॥

तस्य भूमिमयो देहः श्रोत्रमाकाशसम्भवम्।
सूर्याच्चक्षुरसुर्वायोरद्भ्यस्तु खलु शोणितम् ॥ ११ ॥

प्राणियोंका शरीर पृथ्वीका विकार है, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशसे उत्पन्न हुई है, नेत्रेन्द्रिय सूर्यसे, प्राण वायुसे और रक्त जलसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ११ ॥

चक्षुषी नासिकाकर्णौ त्वक् जिह्वेति च पञ्चमी।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थानां ज्ञानानि कवयो विदुः ॥ १२ ॥

विद्वान् पुरुष ऐसा मानते हैं कि नेत्र, नासिका, कर्ण, त्वचा और पाँचवीं जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही विषयोंको ग्रहण करनेवाली हैं ॥ १२ ॥

दर्शनं श्रवणं घ्राणं स्पर्शनं रसनं तथा।
उपपत्त्या गुणान् विद्धि पञ्च पञ्चसु पञ्चधा ॥ १३ ॥

बाह्य पदार्थोंको देखना, सुनना, सूँघना, छूना तथा रस लेना—ये क्रमशः नेत्र आदि पाँच इन्द्रियोंके कार्य हैं। उन्हें युक्तिसे तुम इन इन्द्रियोंके गुण ही समझो। पाँचों इन्द्रियाँ पाँचों विषयोंमें पाँच प्रकारसे (दर्शन आदि क्रियाओंके रूपमें) विद्यमान हैं ॥ १३ ॥

रूपं गन्धो रसः स्पर्शः शब्दश्चैवाथ तद्गुणाः।
इन्द्रियैरुपलभ्यन्ते पञ्चधा पञ्च पञ्चभिः ॥ १४ ॥

नेत्र आदि पाँच इन्द्रियोंद्वारा रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द—ये पाँच गुण दर्शन आदि पाँच प्रकारोंसे उपलब्ध किये जाते हैं ॥ १४ ॥

रूपं गन्धं रसं स्पर्शं शब्दं चैवाथ तद्गुणान् ।
इन्द्रियाणि न बुध्यन्ते क्षेत्रज्ञस्तैस्तु बुध्यते ॥ १५ ॥

रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द—इन्द्रियोंके इन पाँचों गुणोंको स्वयं इन्द्रियाँ नहीं जानती हैं। उन इन्द्रियोंद्वारा क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) ही उनका अनुभव करता है ॥ १५ ॥

चित्तमिन्द्रियसंघातात् परं तस्मात् परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः क्षेत्रज्ञो बुद्धितः परः ॥ १६ ॥

शरीर और इन्द्रियोंके संघातसे चित्त श्रेष्ठ है, चित्तसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे भी क्षेत्रज्ञ श्रेष्ठ है॥

पूर्वं चेतयते जन्तुरिन्द्रियैर्विषयान् पृथक् ।
विचार्य मनसा पश्चादथ बुद्‌ध्या व्यवस्यति ।
इन्द्रियैरुपलब्धार्थान् बुद्धिमांस्तु व्यवस्यति ॥ १७ ॥

जीव पहले तो इन्द्रियोंद्वारा उनके अलग-अलग विषयों-को प्रकाशित करता है, फिर मनसे विचार करके बुद्धिद्वारा उसका निश्चय करता है। बुद्धियुक्त जीव ही इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध विषयोंका निश्चितरूपसे अनुभव करता है ॥ १७ ॥

चित्तमिन्द्रियसंघातं मनो बुद्धिस्तथाष्टमी ।
अष्टौ ज्ञानेन्द्रियाण्याहुरेतान्यध्यात्मचिन्तकाः ॥ १८ ॥

अध्यात्मतत्त्वोंका चिन्तन करनेवाले पुरुष पाँच इन्द्रिय तथा चित्त, मन और आठवीं बुद्धि— इन आठोंको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं ॥ १८ ॥

पाणिपादं च पायुश्च मेहनं पञ्चमं मुखम् ।
इति संशब्द्यमानानि शृणु कर्मेन्द्रियाण्यपि ॥ १९ ॥

हाथ, पैर, पायु और उपस्थ तथा पाँचवाँ मुख—ये सब-के-सब कर्मेन्द्रिय कहे जाते हैं। तुम इनका भी विवरण सुनो ॥ १९ ॥

जल्पनाभ्यवहारार्थं मुखमिन्द्रियमुच्यते ।
गमनेन्द्रियं तथा पादौ कर्मणः करणे करौ ॥ २० ॥

मुख-इन्द्रियका उपयोग बोलने और भोजन करनेके लिये बताया जाता है। पैर चलनेकी और हाथ काम करनेकी इन्द्रियाँ हैं॥

पायूपस्थं विसर्गार्थमिन्द्रिये तुल्यकर्मणी ।
विसर्गे च पुरीषस्य विसर्गे चापि कामिके ॥ २१ ॥

पायु और उपस्थ—ये दो इन्द्रियाँ क्रमशः मल और मूत्रका त्याग करनेके लिये हैं। इन दोनोंके त्यागरूप कर्म समान ही हैं। इनमेंसे पायु-इन्द्रिय मलका त्याग करती है और उपस्थ मैथुनके समय वीर्यका भी त्याग करता है ॥२१॥

बलं षष्ठं षडेतानि वाचा सम्यग्यथा मम ।
ज्ञानचेष्टेन्द्रियगुणाः सर्वेषां शब्दिता मया ॥ २२ ॥

इसके सिवा छठी कर्मेन्द्रिय बल अर्थात् प्राणसमूह है। इस प्रकार मैंने अपनी वाणीद्वारा तुम्हें समस्त इन्द्रियाँ और उनके ज्ञान, कर्म एवं गुण सुना दिये ॥ २२ ॥

इन्द्रियाणां स्वकर्मभ्यः श्रमादुपरमो यदा।
भवतीन्द्रियसंत्यागादथ स्वपिति वै नरः ॥ २३॥

जब अपने-अपने कर्मोंसे थककर इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं, तब इन्द्रियोंका त्याग करके जीवात्मा सो जाता है॥

इन्द्रियाणां व्युपरमे मनोऽव्युपरतं यदि।
सेवते विषयानेव तं विद्यात् स्वप्नदर्शनम् ॥ २४॥

इन्द्रियोंके उपरत हो जानेपर भी यदि मन निवृत्त न होकर विषयोंका ही सेवन करता है तो उसे स्वप्नदर्शनकी अवस्था समझना चाहिये ॥ २४ ॥

सात्त्विकाश्चैव ये भावास्तथा तामसराजसाः।
कर्मयुक्तान् प्रशंसन्ति सात्त्विकानितरांस्तथा ॥ २५॥

जो सात्त्विक, राजस और तामसभाव प्रसिद्ध हैं, वे ही जब भोग प्रदान करनेवाले कर्मोंसे संयुक्त होते हैं, तब उन सात्त्विक आदि भावोंकी मनुष्य प्रशंसा करते हैं ॥ २५॥

आनन्दः कर्मणां सिद्धिः प्रतिपत्तिः परा गतिः।
सात्त्विकस्य निमित्तानि भावान् संश्रयते स्मृतिः॥२६॥

आनन्द, सुख, कर्मोंकी सिद्धि जाननेकी सामर्थ्य और उत्तम गति——ये चार सात्त्विक भाव हैं। सात्त्विक पुरुषकी स्मृति इन्हीं चार निमित्तोंका आश्रय लेती है अर्थात् सात्त्विक पुरुष जाग्रत् कालकी भाँति स्वप्नमें भी आनन्द आदि भावों-का ही स्मरण करता है ॥ २६ ॥

जन्तुष्वेकतमेष्वेवं भावा ये विधिमास्थिताः।
भावयोरीप्सितं नित्यं प्रत्यक्षं गमनं तयोः ॥ २७॥

इनसे भिन्न राजस और तामस—प्राणियोंमेंसे जिस किसी एक श्रेणीके जीवोंमें जो-जो भाव (वासनाएँ), विधि (कर्म-गति) का आश्रय लेकर स्थित हैं, उन्हीं भावोंको उनकी स्मृति ग्रहण करती है। अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न—दोनों ही अवस्थाओंमें उन मनुष्योंको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार राजस और तामस पदार्थोंका सदा प्रत्यक्ष दर्शन होता है॥

इन्द्रियाणि च भावाश्च गुणाः सप्तदश स्मृताः।
तेषामष्टादशो देही यः शरीरे स शाश्वतः ॥ २८॥
अथवा सशरीरास्ते गुणाः सर्वे शरीरिणाम्।
संश्रितास्तद्‌वियोगे हि सशरीरा न सन्ति ते ॥ २९॥

पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चित्त, मन, बुद्धि, प्राण तथा सात्त्विक आदि तीन भाव—ये सत्रह गुण माने गये हैं। इनका अधिष्ठाता देहाभिमानी जीवात्मा अठारहवाँ है, जो इस शरीरके भीतर निवास करता है। उसे सनातन माना गया है। अथवा शरीरसहित वे सभी गुण देहधारियोंके आश्रित रहते हैं।

जब जीवका वियोग हो जाता है, तब शरीर और उसमें रहने-वाले वे तत्त्व भी नहीं रह जाते ॥ २८-२९ ॥

अथवा संनिपातोऽयं शरीरं पाञ्चभौतिकम् ।
एकश्च दश चाष्टौ च गुणाः सह शरीरिणा ॥ ३० ॥

अथवा इन सबका समुदाय ही पाञ्चभौतिक शरीर है । एक महत्तत्त्व और जीवसहित पूर्वोक्त अठारह गुण— ये सभी इस समुदायके अन्तर्गत हैं ॥ ३० ॥

ऊष्मणा सह विंशो वा संघातः पाञ्चभौतिकः ।
महान् संधारयत्येतच्छरीरं वायुना सह ॥ ३१ ॥

जठरानलके साथ-साथ उक्त तत्त्वोंकी गणना करनेपर यह पाञ्चभौतिक संघात बीस तत्त्वोंका समूह है । महत्तत्त्व प्राणवायुके साथ इस शरीरको धारण करता है । यह वायु शरीर-का भेदन करनेमें प्रभावशाली महत्तत्त्वका उपकरणमात्र है ॥

तस्य प्रभाववयुक्तस्य निमित्तं देहभेदने ।
यथैवोत्पद्यते किंचित् पञ्चत्वं गच्छते तथा ॥ ३२ ॥
पुण्यपापविनाशान्ते पुण्यपापसमीरितः ।
देहं विशति कालेन ततोऽयं कर्मसम्भवम् ॥ ३३ ॥

जैसे इस जगत्में घट आदि कोई वस्तु उत्पन्न होती और फिर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार प्रारब्ध, पुण्य और पापका क्षय होनेपर शरीर पञ्चत्वको प्राप्त हो जाता है तथा संचित पुण्य और पापसे प्रेरित हो जीव समयानुसार कर्म-जनित दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है ॥ ३२-३३ ॥

हित्वा हित्वा ह्ययं प्रैति देहाद् देहं कृताश्रयः ।
कालसंचोदितः क्षेत्री विशीर्णाद् वा गृहाद् गृहम् ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार घरमें रहनेवाला पुरुष एक घरके गिरनेपर दूसरेमें और दूसरेके गिरनेपर तीसरेमें चला जाता है, उसी प्रकार कालसे प्रेरित हुआ जीव क्रमशः एक-एक शरीरको छोड़कर पूर्वसंकल्पके द्वारा निर्मित दूसरे-दूसरे शरीरमें जाता है ॥

तत्र नैवानुतप्यन्ते प्राज्ञा निश्चितनिश्चयाः ।
कृपणास्त्वनुतप्यन्ते जनाः सम्बन्धदर्शिनः ॥ ३५ ॥

विद्वान् पुरुष यह निश्चितरूपसे जानते हैं कि आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न, असङ्ग और अविनाशी है, अतः शरीरका वियोग होनेपर उन्हें तनिक भी संताप नहीं होता; परंतु अज्ञानीजन देहसे अपना सम्बन्ध मानते हैं; इसलिये देह छूटनेसे उन्हें बड़ा दुःख होता है ॥ ३५ ॥

न ह्ययं कस्यचित् कश्चिन्नास्य कश्चन विद्यते ।
भवत्येको ह्ययं नित्यं शरीरे सुखदुःखभाक् ॥ ३६ ॥

यह जीव वास्तवमें किसीका कोई नहीं है और न कोई दूसरा ही उसका कुछ है । वास्तवमें यह तो सदा अकेला ही है । परंतु शरीरमें रहकर उसे अपना माननेके कारण ही यह सुख-दुःखका भागी होता है ॥ ३६ ॥

नैव संजायते जन्तुर्न च जातु विपद्यते ।
याति देहमयं मुक्त्वा कदाचित्परमां गतिम् ॥ ३७ ॥

जीव न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है । जब कभी इसे तत्त्वज्ञान होता है, तब यह शरीर-अभिमान छोड़कर परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ३७ ॥

पुण्यपापमयं देहं क्षपयन् कर्मसंक्षयात् ।
क्षीणदेहः पुनर्देही ब्रह्मत्वमुपगच्छति ॥ ३८ ॥

यह शरीर पुण्य-पापमय है । देहधारी जीव प्रारब्ध-कर्मोंके क्षयके साथ-साथ इस शरीरको क्षीण करता रहता है । इस प्रकार शरीरका नाश हो जानेपर वह मुक्त पुरुष ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते ।
तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम् ॥ ३९ ॥

पुण्य और पापोंके क्षयके लिये ही ज्ञानयोगको साधन बताया गया है । उनका क्षय हो जानेपर जब जीवात्माको ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो जाती है, तब विद्वान्‌लोग उसकी परमगति मानते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारदासितसंवादे पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारद और असितदेवलका संवादविषयक दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७५ ॥

षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

तृष्णाके परित्यागके विषयमें माण्डव्य मुनि और जनकका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

भ्रातरः पितरः पौत्रा ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अर्थहेतोर्हताः क्रूरैरस्माभिः पापकर्मभिः ॥ १ ॥
येयमर्थोद्भवा तृष्णा कथमेतां पितामह ।
निवर्तयेयं पापानि तृष्णया कारिता वयम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! हमलोग बड़े पापी और क्रूर हैं । हमने धनके लिये ही भाई, पिता, पौत्र, कुटुम्बीजन, सुहृद् और पुत्र—इन सबका संहार कर डाला । यह जो धनजनित तृष्णा है, इसीने हमसे बड़े-बड़े पाप करवाये हैं । हम इस तृष्णाको किस तरह दूर करें ? ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं विदेहराजेन माण्डव्यायानुपृच्छते ॥ ३ ॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! एक बार माण्डव्य मुनिने

विदेहराज जनकसे ऐसा ही प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें विदेहराजने जो उद्गार प्रकट किया था, उसी प्राचीन इतिहासको विज्ञ पुरुष ऐसे अवसरोंपर उदाहरणके तौरपर दुहराया करते हैं ॥ ३ ॥

सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन ॥ ४ ॥

राजा जनकने कहा था कि मैं बड़े सुखसे जीवन व्यतीत करता हूँ; क्योंकि इस जगत्‌की कोई भी वस्तु मेरी नहीं है। किसीपर भी मेरा ममत्व नहीं है। यदि सारी मिथिलामें आग लग जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलता है ॥ ४ ॥

अर्थाः खलु समृद्धा हि बाढं दुःखं विजानताम् ।
असमृद्धास्त्वपि सदा मोहयन्त्यविचक्षणान् ॥ ५ ॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ६ ॥

जो विवेकी हैं, उन्हें बड़े समृद्धिसम्पन्न विषय भी दुःख-रूप ही जान पड़ते हैं। परंतु अज्ञानियोंको तुच्छ विषय भी सदा मोहमें डाले रहते हैं। लोकमें जो कामजनित सुख है तथा जो स्वर्गका दिव्य एवं महान् सुख है, वे दोनों तृष्णा-क्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाकी भी तुलना पानेके योग्य नहीं हैं ॥ ५-६ ॥

यथैव शृङ्गं गोः काले वर्धमानस्य वर्धते ।
तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते ॥ ७ ॥

जिस प्रकार समयानुसार बड़े होते हुए बछड़ेका सींग भी उसके शरीरके साथ ही बढ़ता है, उसी प्रकार बढ़ते हुए धनके साथ उसकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है ॥ ७ ॥

किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापाय नाशे सम्पद्यते पुनः ॥ ८ ॥

कोई भी वस्तु क्यों न हो, जब उसके प्रति ममता कर ली जाती है—वह वस्तु अपनी मान ली जाती है, तब नष्ट होने-पर वही संतापका कारण बन जाती है ॥ ८ ॥

न कामाननुरुद्ध्येत दुःखं कामेषु वै रतिः ।
प्राप्यार्थमुपयुञ्जीत धर्मं कामान् विसर्जयेत् ॥ ९ ॥

इसलिये कामनाओं या भोगोंकी वृद्धिके लिये आग्रह नहीं रखना चाहिये। भोगोंमें जो आसक्ति होती है, वह दुःखरूप ही है। धन पाकर भी उसे धर्ममें ही लगा देना चाहिये। काम-भोगोंको तो सर्वथा त्याग ही देना चाहिये ॥

विद्वान् सर्वेषु भूतेषु आत्मना सोपमो भवेत् ।
कृतकृत्यो विशुद्धात्मा सर्वं त्यजति चैव ह ॥ १० ॥

विद्वान् पुरुष सभी प्राणियोंके प्रति अपने समान ही भाव रखे। इससे वह कृतकृत्य और शुद्धचित्त होकर समस्त दोषोंको त्याग देता है ॥ १० ॥

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ प्रियाप्रिये ।
भयाभयं च संत्यज्य स प्रशान्तो निरामयः ॥ ११ ॥

वह सत्य-असत्य, हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय तथा भय-अभय आदि सभी द्वन्द्वोंको त्यागकर अत्यन्त शान्त और निर्विकार हो जाता है ॥ ११ ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥ १२ ॥

खोटी बुद्धिवाले मूढ़ पुरुषोंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो शरीरके जराजीर्ण हो जानेपर भी स्वयं जीर्ण न होकर नयी-नवेली ही बनी रहती है तथा जिसे प्राणान्तकाल-तक रहनेवाला रोग माना गया है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको परम सुख मिलता है ॥ १२ ॥

चारित्रमात्मनः पश्यंश्चन्द्रशुद्धमनामयम् ।
धर्मात्मा लभते कीर्तिं प्रेत्य चेह यथासुखम् ॥ १३ ॥

जो अपने सदाचारको चन्द्रमाके समान विशुद्ध, उज्ज्वल एवं निर्विकार देखता है, वह धर्मात्मा पुरुष इहलोक और परलोकमें कीर्ति एवं उत्तम सुख पाता है ॥ १३ ॥

राज्ञस्तद् वचनं श्रुत्वा प्रीतिमानभवद् द्विजः ।
पूजयित्वा च तद् वाक्यं माण्डव्यो मोक्षमाश्रितः ॥ १४ ॥

राजाके ये वचन सुनकर ब्रह्मर्षि माण्डव्य बड़े प्रसन्न हुए। उनके कथनकी प्रशंसा करके मुनिने मोक्षमार्गका आश्रय लिया ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि माण्डव्यजनकसंवादे षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें माण्डव्य और जनकका संवादविषयक दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शरीर और संसारकी अनित्यता तथा आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषके कर्तव्यका निर्देश—पिता-पुत्रका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

अतिक्रामति कालेऽस्मिन् सर्वभूतभयावहे ।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! सम्पूर्ण प्राणियोंको भय देनेवाला यह काल धीरे-धीरे बीता जा रहा है। (कौन कब तक जीवित रहेगा, इसका कुछ निश्चय नहीं है।) ऐसी दशामें मनुष्य किस कार्यको अपने लिये कल्याणकारी समझे, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष पिता-पुत्र-संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥ २ ॥

द्विजातेः कस्यचित् पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै।
पुत्रो बभूव मेधावी मेधावी नाम नामतः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन ! प्राचीनकालमें किसी स्वाध्यायपरायण ब्राह्मणके एक बड़ा मेधावी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'मेधावी' ही था ॥ ३ ॥

सोऽब्रवीत् पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम्।
मोक्षधर्मेष्वकुशलं मोक्षधर्मविचक्षणः ॥ ४ ॥

उसके पिता सदा स्वाध्यायमें ही तत्पर रहते थे, किंतु मोक्षधर्ममें इतने निपुण नहीं थे। पुत्र मोक्षधर्मके ज्ञानमें कुशल था; अतः उसने अपने पितासे पूछा ॥ ४ ॥

पुत्र उवाच

धीरः किंस्वित् तात कुर्यात् प्रजानन्
क्षिप्रं ह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम्।
पितस्तथाऽऽख्याहि यथार्थयोगं
ममानुपूर्व्या येन धर्मं चरेयम् ॥ ५ ॥

पुत्र बोला—तात ! मनुष्योंकी आयु तीव्रगतिसे बीती जा रही है। इस बातको अच्छी तरह जाननेवाला धीर पुरुष किस धर्मका अनुष्ठान करे ? पिताजी ! यह सब क्रमशः और यथार्थरूपसे आप मुझे बताइये, जिससे मैं भी उस धर्मका आचरण कर सकूँ ॥ ५ ॥

पितोवाच

अधीत्य वेदान् ब्रह्मचर्येण पुत्र
पुत्रानिच्छेत् पावनाय पितॄणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ ६ ॥

पिताने कहा—बेटा ! द्विजको चाहिये कि वह पहले ब्रह्मचर्य-आश्रममें रहकर वेदोंका अध्ययन कर ले, फिर पितरोंका उद्धार करनेके लिये गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके पुत्रोत्पादनकी इच्छा करे। वहाँ विधिपूर्वक अग्नियोंकी स्थापना करके उनमें विधिवत् अग्निहोत्र करे। इस प्रकार यज्ञकर्मका सम्पादन करके वानप्रस्थ-आश्रममें प्रविष्ट हो मुनिवृत्तिसे रहनेकी इच्छा करे ॥ ६ ॥

पुत्र उवाच

एवमभ्याहते लोके सर्वतः परिवारिते।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ॥ ७ ॥

पुत्रने पूछा—पिताजी ! यह लोक तो किसीके द्वारा अत्यन्त ताड़ित और सब ओरसे घिरा हुआ जान पड़ता है। यहाँ ये अमोघ वस्तुएँ निरन्तर हमलोगोंपर टूटी पड़ती हैं। ऐसी दशामें आप धीर पुरुषके समान कैसे बातचीत कर रहे हैं ? ॥ ७ ॥

पितोवाच

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः।
अमोघाः काः पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम् ॥ ८ ॥

पिता बोले—पुत्र ! तुम मुझे डरानेकी चेष्टा क्यों करते हो ? भला, यह लोक कैसे ताड़ित होता है अथवा किसने इसे घेर रक्खा है ? और यहाँ कौन-सी अमोघ वस्तुएँ हमपर टूटी पड़ती हैं ? ॥ ८ ॥

पुत्र उवाच

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः।
अहोरात्राः पतन्तीमे तच्च कस्मान्न बुद्ध्यसे ॥ ९ ॥

पुत्र बोला—पिताजी ! देखिये, मृत्यु सारे जगत्‌को पीट रही है। बुढ़ापेने इसे घेर लिया है। ये दिन और रात्रियाँ हमपर टूटी पड़ती हैं। इस बातको आप समझ क्यों नहीं रहे हैं ? ॥ ९ ॥

यदाहमेव जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये ज्ञानेनापिहितश्चरन् ॥ १० ॥

जब मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि मौत मेरे कहनेसे क्षणभर भी रुक नहीं सकती और मैं ज्ञानरूपी कवचसे अपनेको बिना ढके हुए ही विचर रहा हूँ, तब यह समझकर भी मैं अपने कल्याणसाधनमें एक क्षणकी भी प्रतीक्षा कैसे करूँगा ? ॥ १० ॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा ॥ ११ ॥

जब प्रत्येक रात बीतनेके बाद आयु क्षीण होकर कुछ-न-कुछ थोड़ी होती चली जा रही है, तब छिछले पानीमें रहनेवाली मछलीके समान कौन सुख पा सकता है ? ॥ ११ ॥

पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्र गतमानसम्।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥ १२ ॥

जैसे मनुष्य वनमें फूल चुन रहा हो, उसी बीचमें कोई हिंसक जीव उसपर आक्रमण कर दे; उसी प्रकार जब मनुष्यका मन दूसरी ओर (विषयभोगोंमें) लगा होता है, उसी समय उसकी इच्छा पूर्ण होनेके पहले ही सहसा मौत आकर उसे दबोच लेती है ॥ १२ ॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम् ॥ १३ ॥

इसलिये जिस कामको कल करना हो, उसे आज ही कर ले। जिसे अपराह्णमें करना हो, उसे पूर्वाह्णमें ही कर डाले;

क्योंकि मृत्यु इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करती कि इसका काम पूरा हो गया या नहीं ॥ १३ ॥

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगान्महान्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ॥ १४ ॥

जो कल्याणकारी कार्य है, उसे आप आज ही कर डालिये। यह महान् काल आपको लाँघ न जाय; क्योंकि कौन जानता है कि आज किसकी मृत्युकी घड़ी आ पहुँचेगी ॥ १४ ॥

अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति।
युवैव धर्मशीलः स्यादनिमित्तं हि जीवितम् ॥ १५ ॥

सारे काम अधूरे ही रह जाते हैं और मौत अपनी ओर खींच लेती है, इसलिये युवावस्थामें ही मनुष्यको धर्मका आचरण करना चाहिये, क्योंकि जीवनका कुछ ठिकाना नहीं है ॥ १५ ॥

कृते धर्मे भवेत् प्रीतिरिह प्रेत्य च शाश्वती।
मोहेन हि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः ॥ १६ ॥
कृत्वा कार्यमकार्यं वा तुष्टिमेषां प्रयच्छति।
तं पुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम् ॥ १७ ॥
सुप्तं व्याघ्रं महौघो वा मृत्युरादाय गच्छति।

धर्माचरण करनेसे इस लोकमें प्रसन्नता प्राप्त होती है और मृत्युके पश्चात् परलोकमें अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है। जिसपर मोहका आवेश होता है, वही स्त्री-पुत्रोंके लिये तरह-तरहके काम-धंधोंकी खटपटमें लगा रहता है। वह करने और न करने योग्य काम करके भी इन सबको संतोष देता है। पुत्रों और पशुओंसे सम्पन्न हो जब मनुष्यका मन उन्हींमें आसक्त रहता है, उसी समय जैसे नदीका महान् जलप्रवाह अपने तटपर सोये हुए व्याघ्रको बहा ले जाता है, उसी प्रकार मृत्यु उस मनुष्यको लेकर चल देती है। १६-१७½।

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ॥ १८ ॥
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति।

वह भोग-सामग्रियोंका संयम करता और कामनाओंसे अतृप्त ही रहता है। तभी मृत्यु आकर उसे उसी तरह उठा ले जाती है, जैसे बाघिन भेड़के पास पहुँचकर उसे दबोच लेती है ॥१८½ ॥

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ॥ १९ ॥
एवमीहासमायुक्तं मृत्युरादाय गच्छति।

मनुष्य सोचता है कि यह काम तो मैंने कर लिया, इस कामको अभी करना है और यह दूसरा कार्य कुछ हदतक हो गया है और शेष बाकी पड़ा है। इस प्रकार मनसूबे बाँधनेमें लगे हुए उस मनुष्यको मौत लेकर चल देती है ॥ १९½ ॥

कृतानां फलमप्राप्तं कार्याणां कर्मसङ्गिनाम् ॥ २० ॥
क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युदाराय गच्छति।

वह अपने खेत, दूकान और घरके ही चक्करमें पड़ा रहता है। उनके लिये तरह-तरहके कर्मोंमें फँसता है; परंतु उनका फल मिलने भी नहीं पाता कि मौत उसको इस संसारसे उठा ले जाती है ॥ २०½ ॥

दुर्बलं बलवन्तं च प्राज्ञं शूरं जडं कविम् ॥ २१ ॥
अप्राप्तसर्वकामार्थं मृत्युदाराय गच्छति।

मनुष्य दुर्बल हो या बलवान्, बुद्धिमान् हो या शूरवीर अथवा मूर्ख हो या विद्वान्—मृत्यु उसकी समस्त कामनाओंके पूर्ण होनेसे पहले ही उसे उठा ले जाती है ॥ २१½ ॥

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम् ॥ २२ ॥
असंत्याज्यं यदा मर्त्यैः किं स्वस्थ इव तिष्ठसि।

पिताजी ! जब इस शरीरमें मृत्यु, जरा, व्याधि और अनेक कारणोंसे होनेवाले दुःखोंका ताँता बँधा ही रहता है और मनुष्य किसी प्रकार भी उनसे अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकते, तब ऐसी दशामें आप निश्चिन्त-से क्यों बैठे हैं ॥

जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चाभ्येति देहिनम् ॥ २३ ॥
अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः।

मनुष्यके जन्म लेते ही उसका अन्त कर डालनेके लिये अन्तक (यमराज) उसके पीछे लग जाता है और बुढ़ापा भी देहधारीके पास आता ही है। समस्त चराचर पदार्थ इन दोनोंसे बँधे हुए हैं ॥ २३½ ॥

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ॥ २४ ॥
बलात् सत्यमृते त्वेकं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम्।

एकमात्र सत्यके बिना कोई भी मनुष्य कभी सामने आती हुई मृत्युकी सेनाको बलपूर्वक नहीं दबा सकता (अतः असत्यको त्यागकर सत्यका ही आश्रय लेना चाहिये)। क्योंकि सत्यमें ही अमृत (ब्रह्म) प्रतिष्ठित है ॥ २४½ ॥

मृत्योर्वा गृहमेतद् वै या ग्रामे वसतो रतिः ॥ २५ ॥
देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः।

गाँव या नगरमें रहकर स्त्री-पुत्रोंमें आसक्ति रखना-यह मृत्युका घर ही है। 'यदरण्यम्' इस श्रुतिके अनुसार जो वानप्रस्थ-आश्रम है, यह देवताओंकी गोशालाके समान है॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ॥ २६ ॥
छित्त्वैनां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः।

गाँवोंमें रहकर विषय-भोगोंमें आसक्त होना—यह जीवको बाँधनेवाली रस्सीके समान है। केवल पुण्यात्मा पुरुष ही इसे काटकर निकल पाते हैं। पापी पुरुष इसे नहीं काट सकते ॥ २६½ ॥

यो न हिंसति सत्त्वानि मनोवाक्कर्महेतुभिः ॥ २७ ॥
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स बद्ध्यते।

जो मन, वाणी, क्रिया तथा अन्य कारणोंद्वारा किसी भी प्राणीकी जीविकाका अपहरण करके उसकी हिंसा नहीं करता, उसको दूसरे प्राणी भी वध या बन्धनके कष्टमें नहीं डालते ॥ २७½ ॥

तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्यव्रतपरायणः ॥ २८ ॥
सत्यकामः समो दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत्।

अतः मनुष्यको सत्यव्रतका आचरण करना चाहिये। सत्यरूपी व्रतके पालनमें तत्पर रहना चाहिये। वह सत्यकी कामना करे। सबके प्रति समान भाव रखे। जितेन्द्रिय बने और सत्यके द्वारा ही मृत्युपर विजय प्राप्त करे ॥ २८½ ॥

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ॥ २९ ॥
मृत्युरापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम्।

अमृत और मृत्यु—ये दोनों इस शरीरमें ही विद्यमान हैं। मोहसे मृत्यु प्राप्त होती है और सत्यसे अमृतपदकी उपलब्धि होती है ॥ २९½ ॥

सोऽहं सत्यमहिंसार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः ॥ ३० ॥
समाश्रित्य सुखं क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमृत्युवत्।

अतः अब मैं काम और क्रोधको त्यागकर अहिंसा-धर्मके पालनकी इच्छा करूँगा। सत्यका आश्रय लेकर कल्याणका भागी बनूँगा और अमरकी भाँति मृत्युको दूर हटा दूँगा ॥ ३०½ ॥

शान्तियज्ञरतो दान्तो ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः ॥ ३१ ॥
वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने।

सूर्यके उत्तरायण होनेपर शान्तिमय यज्ञमें तत्पर, जितेन्द्रिय, ब्रह्मयज्ञपरायण एवं मननशील होकर मैं जप-स्वाध्यायरूप वाग्यज्ञ, ध्यानरूप मनोयज्ञ और शास्त्रविहित कर्मोंका निष्काम-भावसे आचरणरूप कर्मयज्ञका अनुष्ठान करूँगा ॥ ३१½ ॥

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति ॥ ३२ ॥
अन्तवद्भिरुत प्राज्ञः क्षत्रयज्ञैः पिशाचवत्।

मेरे-जैसा ज्ञानवान् पुरुष हिंसाप्रधान पशुयज्ञोंद्वारा कैसे यजन कर सकता है? अथवा पिशाचके समान विनाश-शील क्षत्रिय—यज्ञोंके अनुष्ठानमें कैसे प्रवृत्त हो सकता है ॥

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजः पितः ॥ ३३ ॥
आत्मयज्ञो भविष्यामि न मां तारयति प्रजा।

पिताजी! मैं आत्मासे अपने आपमें ही उत्पन्न हुआ हूँ। अपने आपमें ही स्थित हूँ। मेरे कोई संतान नहीं है। मैं आत्मयज्ञका ही यजमान होऊँगा। मुझे संतान नहीं तार सकती है ॥ ३३½ ॥

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा ॥ ३४ ॥
तपस्त्यागश्च योगश्च स तैः सर्वमवाप्नुयात्।

जिसकी वाणी और मन सदा एकाग्र रहते हैं तथा जिसमें तप, त्याग और योग—तीनोंका समावेश है, वह उनके द्वारा सब कुछ पा लेता है ॥ ३४½ ॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति विद्यासमं फलम् ॥ ३५ ॥
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥ ३६ ॥

संसारमें ब्रह्मविद्याके समान कोई नेत्र नहीं है, ब्रह्म-विद्याके समान कोई फल नहीं है, रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है ॥ ३५-३६ ॥

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च।
शीले स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ ३७ ॥

ब्रह्ममें एकीभाव, समता, सत्यपरायणता, सदाचारनिष्ठा, दण्डका त्याग (अहिंसा); सरलता तथा सब प्रकारके सकाम कर्मोंसे निवृत्ति—इनके समान ब्राह्मणका दूसरा कोई धर्म नहीं है ॥ ३७ ॥

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते
किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क गताः पिता च ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणदेव (पिताजी)! जब एक दिन आपको मरना ही है, तब इन धन-वैभव, बन्धु-बान्धव तथा स्त्री-पुत्रोंसे क्या प्रयोजन है! अपनी हृदयगुहामें विराजमान आत्माकी खोज कीजिये। सोचिये तो सही, आज आपके पिताजी कहाँ हैं, दादा-बाबा कहाँ चले गये ॥ ३८ ॥

भीष्म उवाच

पुत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा तथाकार्षीत् पिता नृप।
तथा त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥ ३९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर! पुत्रका यह वचन सुनकर उसके पिताने सब कुछ उसके कथनानुसार किया। उसी प्रकार तुम भी सत्य और धर्ममें तत्पर होकर उसी प्रकार आचरण करो ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पितापुत्रसंवादे सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पिता और पुत्रका संवादविषयक दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

हारीत मुनिके द्वारा प्रतिपादित संन्यासीके स्वभाव, आचरण और धर्मोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपरायणः।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! प्रकृतिसे परे जो परब्रह्मका अविनाशी परमधाम है, उसे कैसे स्वभाव, किस तरहके आचरण, कैसी विद्या और किन कर्मोंमें तत्पर रहनेवाला पुरुष प्राप्त कर सकता है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु निरतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
प्राप्नोति परमं स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जो पुरुष मोक्षधर्मोंमें तत्पर, मिताहारी और जितेन्द्रिय होता है, वह उस प्रकृतिसे परे परब्रह्म परमात्माका जो अविनाशी परमधाम है, उसे प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

(अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
हारीतेन पुरा गीतं तं निबोध युधिष्ठिर ॥)

युधिष्ठिर! पूर्वकालमें हारीत मुनिने जो ज्ञानका उपदेश किया है, इस विषयमें विज्ञ पुरुष उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥

स्वगृहादभिनिःसृत्य लाभेऽलाभे समो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ३ ॥

मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि लाभ और हानिमें समान भाव रखकर मुनिवृत्तिसे रहे और भोगोंके उपस्थित होनेपर भी उनकी आकाङ्क्षासे रहित हो अपने घरसे निकलकर संन्यास ग्रहण कर ले ॥ ३ ॥

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित् ॥ ४ ॥

न नेत्रसे, न मनसे और न वाणीसे ही वह दूसरेके दोष देखे, सोचे या कहे। किसीके सामने या परोक्षमें पराये दोषकी चर्चा कहीं न करे ॥ ४ ॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ५ ॥

समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी भी हिंसा न करे—किसीको भी पीड़ा न दे। सबके प्रति मित्रभाव रखकर विचरता रहे। इस नश्वर जीवनको लेकर किसीके साथ शत्रुता न करे ॥ ५ ॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नाभिमन्येत कंचन।
क्रोध्यमानः प्रियं ब्रूयादाकुष्टः कुशलं वदेत् ॥ ६ ॥

यदि कोई अपने प्रति अमर्यादित बात कहे—निन्दा या कटुवचन सुनाये तो उसके उन वचनोंको चुपचाप सह ले। किसीके प्रति अहंकार या घमंड न प्रकट करे। कोई क्रोध करे तो भी उससे प्रिय वचन ही बोले। यदि कोई गाली दे तो भी उसके प्रति हितकर वचन ही मुँहसे निकाले ॥ ६ ॥

प्रदक्षिणं च सव्यं च ग्राममध्ये च नाचरेत्।
भैक्षचर्यामनापन्नो न गच्छेत् पूर्वकेतितः ॥ ७ ॥

गाँव या जनसमुदायमें दायें-बायें न करे—किसीकी पक्ष-विपक्ष न करे तथा भिक्षावृत्तिको छोड़कर किसीके यहाँ पहलेसे निमन्त्रित होकर भोजनके लिये न जाय ॥ ७ ॥

अवकीर्णः सुगुप्तश्च न वाचा ह्यप्रियं वदेत्।
मृदुः स्यादप्रतिक्रूरो विस्रब्धः स्यादकत्थनः ॥ ८ ॥

कोई अपने ऊपर धूल या कीचड़ फेंके तो मुमुक्षु पुरुष उससे आत्मरक्षामात्र करे। बदलेमें स्वयं भी वैसा ही न करे और न मुँहसे कोई अप्रिय वचन ही निकाले। सर्वदा मृदुताका बर्ताव करे। किसीके प्रति कठोरता न करे। निश्चिन्त रहे और बहुत बढ़-बढ़कर बातें न बनाये ॥ ८ ॥

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
अतीतपात्रसंचारे भिक्षां लिप्सेत वै मुनिः ॥ ९ ॥

जब रसोईघरसे धूआँ निकलना बंद हो जाय, अनाज मसाला कूटनेके लिये उठाया हुआ मूसल अलग रख दिया जाय, चूल्हेकी आग ठंडी पड़ जाय, घरके लोग भोजन कर चुके हों और बर्तनोंका संचार—रसोई परोसी हुई थालीका इधर-उधर ले जाया जाना बंद हो जाय, उस समय संन्यासी मुनिको भिक्षा प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ॥

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रालाभेष्वनादृतः।
अलाभे न विहन्येत लाभश्चैनं न हर्षयेत् ॥ १० ॥

उसे केवल अपनी प्राणयात्राके निर्वाहमात्रका यत्न करना चाहिये। भर पेट भोजन मिल जाय, इसकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। यदि भिक्षा न मिले तो उससे मनमें पीड़ाका अनुभव न करे और मिल जाय तो उसके कारण वह हर्षित न हो ॥ १० ॥

लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः।
अभिपूजितलाभं हि जुगुप्सेतैव तादृशः ॥ ११ ॥

साधारण (लौकिक) लाभकी इच्छा न करे। जहाँ विशेष आदर एवं पूजा होती हो, वहाँ भोजन न करे। मुमुक्षु पुरुषको आदर-सत्कारके लाभकी तो निन्दा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

न चान्नदोषान् निन्देत न गुणानभिपूजयेत्।
शय्यासने विविक्ते च नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥ १२ ॥

भिक्षामें मिले हुए अन्नके दोष बताकर उनकी निन्दा

न करे और न उसके गुण बताकर उन गुणोंकी प्रशंसा ही करे। सोने और बैठनेके लिये सदा एकान्तका ही आदर करे॥

शून्यागारं वृक्षमूलमरण्यमथवा गुहाम्।
अज्ञातचर्यां गत्वान्यां ततोऽन्यत्रैव संविशेत्॥ १३॥

सूने घर, वृक्षकी जड़, जंगल अथवा पर्वतकी गुफामें अथवा अन्य किसी गुप्त स्थानमें अज्ञातभावसे रहकर आत्म-चिन्तनमें ही लगा रहे॥ १३॥

अनुरोधविरोधाभ्यां समः स्यादचलो ध्रुवः।
सुकृतं दुष्कृतं चोभे नानुरुध्येत कर्मणा॥ १४॥

लोगोंके अनुरोध या विरोध करनेपर भी सदा समभावसे रहे, निश्चल एवं स्थिरचित्त हो जाय तथा अपने कर्मोंद्वारा पुण्य एवं पापका अनुसरण न करे॥ १४॥

नित्यतृप्तः सुसंतुष्टः प्रसन्नवदनेन्द्रियः।
विभीर्जप्यपरो मौनी वैराग्यं समुपाश्रितः॥ १५॥

सर्वदा तृप्त और संतुष्ट रहे। मुख और इन्द्रियोंको प्रसन्न रखे। भयको पास न आने दे। प्रणव आदिका जप करता रहे तथा वैराग्यका आश्रय ले मौन रहे॥ १५॥

अभ्यस्तं भौतिकं पश्यन् भूतानामागतिं गतिम्।
निःस्पृहः समदर्शी च पक्वापक्वेन वर्तयन्।
आत्मना यः प्रशान्तात्मा लघ्वाहारो जितेन्द्रियः॥ १६॥

भौतिक देह, इन्द्रिय आदि सभी वस्तुएँ नष्ट होनेवाली हैं और प्राणियोंके आवागमन—जन्म और मरण—बारंबार होते रहते हैं। यह सब देख और सोचकर जो सर्वत्र निःस्पृह तथा समदर्शी हो गया है, पके (रोटी, भात आदि) और कच्चे (फल, मूल आदि) से जीवन-निर्वाह करता है, आत्मलाभ-के लिये जो शान्तचित्त हो गया है तथा जो मिताहारी और जितेन्द्रिय है, वही वास्तवमें संन्यासी कहलाने योग्य है॥ १६॥

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् विषहेद् वै तपस्वी
निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्॥ १७॥

संन्यासी तपस्वी होकर वाणी, मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थ—इनके वेगोंको सहता हुआ इन्हें वशमें रखे। दूसरोंद्वारा की हुई निन्दा उसके हृदयमें कोई विकार न उत्पन्न करे॥ १७॥

मध्यस्थ एव तिष्ठेत प्रशंसानिन्दयोः समः।
एतत् पवित्रं परमं परिव्राजक आश्रमे॥ १८॥

प्रशंसा और निन्दा—दोनोंमें समान भाव रखकर उदासीन ही रहना चाहिये। संन्यासाश्रममें इस प्रकारका आचरण परम पवित्र माना गया है॥ १८॥

महात्मा सर्वतो दान्तः सर्वत्रैवानपाश्रितः।
अपूर्वचारकः सौम्यो अनिकेतः समाहितः॥ १९॥

संन्यासीको महामनस्वी, सब प्रकारसे जितेन्द्रिय, सब ओरसे असङ्ग, सौम्य, मठ और कुटियासे रहित तथा एकाग्रचित्त होना चाहिये। उसे अपने पूर्व आश्रमके परिचित स्थानोंमें नहीं विचरना चाहिये॥ १९॥

वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित्।
अज्ञातलिप्सं लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत्॥ २०॥

वानप्रस्थों और गृहस्थोंके साथ उसे कभी संसर्ग नहीं रखना चाहिये। अपनी रुचि प्रकट किये बिना ही जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीको लेनेकी इच्छा रखनी चाहिये तथा अभीष्ट वस्तुके मिलनेपर उसके मनमें हर्षका आवेश नहीं होना चाहिये॥ २०॥

विजानतां मोक्ष एष श्रमः स्यादविजानताम्।
मोक्षयानमिदं कृत्स्नं विदुषां हारितोऽब्रवीत्॥ २१॥

यह संन्यासाश्रम ज्ञानियोंके लिये तो मोक्षरूप है, परंतु अज्ञानियोंके लिये श्रमरूप ही है। हारीत मुनिने विद्वानोंके लिये इस सम्पूर्ण धर्मको मोक्षका विमान बताया है॥ २१॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् गृहात्।
लोकास्तेजोमयास्तस्य तथाऽऽनन्त्याय कल्पते॥ २२॥

जो पुरुष सबको अभय-दान देकर घरसे निकल जाता है, उसे तेजोमय लोकोंकी प्राप्ति होती है तथा वह अनन्त परमात्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है॥ २२॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हारीतगीतायां अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २७८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हारीतगीताविषयक दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय तथा उस विषयमें वृत्र-शुक्र-संवादका आरम्भ

युधिष्ठिर उवाच

धन्या धन्या इति जनाः सर्वेऽस्मान् प्रवदन्त्युत।
न दुःखिततरः कश्चित् पुमानस्माभिरस्ति ह॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! सभी लोग हमलोगोंको धन्य-धन्य कहते हैं, परंतु हमलोगोंसे बढ़कर अत्यन्त दुखी दूसरा कोई मनुष्य नहीं है॥ १॥

लोकसम्भावितैर्दुःखं यत् प्राप्तं कुरुसत्तम।
प्राप्य जातिं मनुष्येषु देवैरपि पितामह॥ २॥

कुरुश्रेष्ठ पितामह ! देवताओंद्वारा मानवलोकमें जन्म पाकर तथा सब लोगोंद्वारा सम्मानित होकर भी हमें यहाँ महान् दुःख प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

कदा वयं करिष्यामः संन्यासं दुःखसंज्ञकम् ।
दुःखमेतच्छरीराणां धारणं कुरुसत्तम ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! संसारी मनुष्य जिसे दुःख कहते हैं, उस संन्यासका अवलम्बन हमलोग कब करेंगे ? हमें तो इन शरीरोंका धारण करना ही दुःख जान पड़ता है ॥ ३ ॥

विमुक्ताः सप्तदशभिर्हेतुभूतैश्च पञ्चभिः ।
इन्द्रियार्थैर्गुणैश्चैव अष्टाभिश्च पितामह ॥ ४ ॥
न गच्छन्ति पुनर्भावं मुनयः संशितव्रताः ।
कदा वयं गमिष्यामो राज्यं हित्वा परंतप ॥ ५ ॥

पितामह ! पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, मन और बुद्धि—ये सत्रह तत्त्व; काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न—ये संसारके पाँच हेतु; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय; सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण तथा पाँच भूतोंसहित अविद्या, अहंकार और कर्म—ये आठ तत्त्वोंके समुदाय सब मिलाकर अड़तीस तत्त्व होते हैं । इन सबसे मुक्त हुए तीक्ष्ण व्रतधारी मुनि पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते हैं । परंतप पितामह ! हमलोग भी कब अपना राज्य छोड़कर इसी स्थितिको प्राप्त होंगे ॥ ४-५ ॥

भीष्म उवाच

नास्त्यनन्तं महाराज सर्वं संख्यानगोचरः ।
पुनर्भावोऽपि विख्यातो नास्ति किंचिदिहाचलम् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज ! दुःख अनन्त नहीं हैं । जगत्‌की सभी वस्तुएँ संख्याकी सीमामें ही हैं—असंख्य नहीं हैं । पुनर्जन्म भी नश्वरताके लिये विख्यात ही है । तात्पर्य यह कि इस जगत्‌में कोई भी वस्तु अचल या स्थायी नहीं है ॥ ६ ॥

न चापि मन्यसे राजन्नेष दोषः प्रसङ्गतः ।
उद्योगादेव धर्मज्ञाः कालेनैव गमिष्यथ ॥ ७ ॥

तुम जो ऐसा मानते हो कि ऐश्वर्य दोषकारक होता है, क्योंकि वह आसक्तिका हेतु होनेके कारण मोक्षका प्रतिबन्धक है तो तुम्हारी यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि तुम सब लोग धर्मके ज्ञाता हो । स्वयं ही उद्योग करके शम, दम आदि साधनोंद्वारा कुछ ही कालमें मोक्ष प्राप्त कर सकते हो ॥ ७ ॥

नेशोऽयं सततं देही नृपते पुण्यपापयोः ।
तत एव समुत्थेन तमसा रुध्यतेऽपि च ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! यह जीवात्मा पुण्य और पापके फल सुख और दुःख भोगनेमें स्वतन्त्र नहीं है, उन पुण्य और पापोंसे उत्पन्न संस्काररूप अन्धकारसे यह आच्छन्न हो जाता है ॥ ८ ॥

यथाञ्जनमयो वायुः पुनर्मानःशिलं रजः ।
अनुप्रविश्य तद्वर्णो दृश्यते रञ्जयन् दिशः ॥ ९ ॥
तथा कर्मफलैर्देही रञ्जितस्तमसाऽऽवृतः ।
विवर्णो वर्णमाश्रित्य देहेषु परिवर्तते ॥ १० ॥

जैसे अन्धकारमयी वायु मैनसिलके लाल-पीले चूर्णमें प्रवेश करके उसीके रंगसे युक्त हो सम्पूर्ण दिशाओंको रँगती दिखायी देती है, उसी प्रकार स्वभावतः वर्णविहीन यह जीवात्मा तमोमय अज्ञानसे आवृत और कर्मफलसे रञ्जित हो वही वर्ण ग्रहण कर अर्थात् विभिन्न शरीरोंके धर्मोंको स्वीकार करके समस्त प्राणियोंके शरीरोंमें घूमता रहता है ॥ ९-१० ॥

ज्ञानेन हि यदा जन्तुरज्ञानप्रभवं तमः ।
व्यपोहति तदा ब्रह्म प्रकाशति सनातनम् ॥ ११ ॥

जब जीव तत्त्वज्ञानद्वारा अज्ञानजनित अन्धकारको दूर कर देता है, तब उसके हृदयमें सनातन ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है ॥ ११ ॥

अयत्नसाध्यं मुनयो वदन्ति
ये चापि मुक्तास्त उपासितव्याः ।
त्वया च लोकेन च सामरेण
तस्मान्नमस्यामि महर्षिसङ्घान् ॥ १२ ॥

ऋषि-मुनि कहते हैं कि ब्रह्मकी प्राप्ति किसी क्रियात्मक यत्नसे साध्य नहीं है । इसके लिये तो देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को और तुमको उन पुरुषोंकी उपासना करनी चाहिये जो जीवन्मुक्त हैं; अतएव मैं महर्षियोंके समुदायको नमस्कार करता हूँ ॥ १२ ॥

अस्मिन्नर्थे पुरा गीतं शृणुष्वैकमना नृप ।
यथा दैत्येन वृत्रेण भ्रष्टैश्वर्येण चेष्टितम् ॥ १३ ॥
निर्जितेनासहायेन हृतराज्येन भारत ।
अशोचता शत्रुमध्ये बुद्धिमास्थाय केवलाम् ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास कहा जाता है । उसे एकचित्त होकर सुनो । भरतनन्दन ! पूर्वकालमें वृत्रासुर पराजित और ऐश्वर्य-भ्रष्ट हो गया था । उसका कोई सहायक नहीं रह गया था । देवताओंने उसका राज्य छीन लिया था । उस दशामें पड़कर भी उस असुरने जैसी चेष्टा की थी, उसीका इस कथामें वर्णन है । वह शत्रुओंके बीचमें रहकर भी आसक्तिशून्य बुद्धिका आश्रय ले शोक नहीं करता था ॥ १३-१४ ॥

भ्रष्टैश्वर्यं पुरा वृत्रमुशना वाक्यमब्रवीत् ।
कच्चित् पराजितस्याद्य न व्यथा तेऽस्ति दानव ॥ १५ ॥

पूर्वकालकी बात है कि वृत्रासुरको ऐश्वर्यभ्रष्ट हुआ देख शुक्राचार्यने उससे पूछा—'दानवराज ! तुम्हें देवताओंने पराजित कर दिया है तो भी आजकल तुम्हारे चित्तमें किसी प्रकारकी व्यथा नहीं है; इसका क्या कारण है ?' ॥ १५ ॥

वृत्र उवाच

सत्येन तपसा चैव विदित्वासंशयं ह्यहम् ।
न शोचामि न हृष्यामि भूतानामागतिं गतिम् ॥ १६ ॥

वृत्रासुरने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने सत्य और तपके प्रभावसे जीवोंके आवागमनका रहस्य निश्चितरूपसे जान लिया है; इसलिये मैं उसके विषयमें हर्ष और शोक नहीं करता हूँ ॥ १६ ॥

कालसंचोदिता जीवा मज्जन्ति नरकेऽवशाः ।
परितुष्टानि सर्वाणि दिव्यान्याहुर्मनीषिणः ॥ १७ ॥

कालसे प्रेरित हुए जीव अपने पापकर्मोंके फलस्वरूप विवश होकर नरकमें डूबते हैं और पुण्यके फलसे वे सब-के-सब स्वर्गलोकमें जाकर वहाँ आनन्द भोगते हैं । ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है ॥ १७ ॥

क्षपयित्वा तु तं कालं गणितं कालचोदिताः ।
सावशेषेण कालेन सम्भवन्ति पुनः पुनः ॥ १८ ॥

इस प्रकार स्वर्ग अथवा नरकमें कर्मफलभोगद्वारा निश्चित समय व्यतीत करके भोगनेसे बचे हुए कर्मसहित कालकी प्रेरणासे वे बारंबार इस संसारमें जन्म लेते रहते हैं ॥ १८ ॥

तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च ।
निर्गच्छन्त्यवशा जीवाः कामबन्धनबन्धनाः ॥ १९ ॥

कामनाओंके बन्धनमें बँधकर विवश हुए कितने ही जीव सहस्रों बार तिर्यक्योनि तथा नरकमें पड़कर पुनः वहाँसे निकलते हैं ॥ १९ ॥

एवं संसरमाणानि जीवान्यहमदृष्टवान् ।
यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम् ॥ २० ॥

इस प्रकार मैंने सभी जीवोंको जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ देखा है । शास्त्रका भी ऐसा सिद्धान्त है कि जैसा कर्म होता है, वैसा ही फल मिलता है ॥ २० ॥

तिर्यग् गच्छन्ति नरकं मानुष्यं दैवमेव च ।
सुखदुःखे प्रिये द्वेष्ये चरित्वा पूर्वमेव ह ॥ २१ ॥

प्राणी पहले ही सुख-दुःख तथा प्रिय और अप्रिय-विषयोंमें विचरण करके कर्मके अनुसार नरक, तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि अथवा देवयोनिमें जाते हैं ॥ २१ ॥

कृतान्तविधिसंयुक्तः सर्वो लोकः प्रपद्यते ।
गतं गच्छन्ति चाध्वानं सर्वभूतानि सर्वदा ॥ २२ ॥

समस्त जीव जगत्-विधाताके विधानसे ही परिचालित हो सुख-दुःख पाता है और समस्त प्राणी सदा चले हुए मार्ग-पर ही चलते हैं ॥ २२ ॥

कालसंख्यानसंख्यातं सृष्टिस्थितिपरायणम् ।
तं भाषमाणं भगवानुशना प्रत्यभाषत ।
धीमान् दुष्टप्रलापांस्त्वं तात कस्मात् प्रभाषसे ॥ २३ ॥

जो काल नामसे प्रसिद्ध एवं सृष्टि और पालनके परम आश्रय हैं, उन परमात्माका प्रतिपादन करते हुए वृत्रासुरकी बात सुनकर भगवान् शुक्राचार्यने उससे कहा—'तात ! तुम तो बड़े बुद्धिमान् हो, फिर ये असुरभावके विपरीत दोषयुक्त निरर्थक वचन कैसे कह रहे हो ?' ॥ २३ ॥

वृत्र उवाच

प्रत्यक्षमेतद् भवतस्तथान्येषां मनीषिणाम् ।
मया यज्जयलुब्धेन पुरा तप्तं महत् तपः ॥ २४ ॥

वृत्रासुरने कहा—ब्रह्मन् ! आपने तथा दूसरे मनीषी महानुभावोंने यह तो प्रत्यक्ष देखा है कि मैंने पहले विजयके लोभसे बड़ी भारी तपस्या की थी ॥ २४ ॥

गन्धानादाय भूतानां रसांश्च विविधानपि ।
अवर्धं त्रीन् समाक्रम्य लोकान् वै स्वेन तेजसा ॥ २५ ॥

मैं बलमें बहुत बढ़ा-चढ़ा था; अतः मैंने अपने ही तेजसे तीनों लोकोंपर आक्रमण करके दूसरे प्राणियोंको धूलमें मिलाकर उनके उपभोगकी गन्ध और रस आदि विविध वस्तुएँ छीन ली थीं ॥ २५ ॥

ज्वालामालापरिक्षिप्तो वैहायसचरस्तथा ।
अजेयः सर्वभूतानामासं नित्यमपेतभीः ॥ २६ ॥

मेरे शरीरसे आगकी लपटें निकलती थीं और मैं ज्वाला-मालाओंसे घिरकर सदा आकाशमें निर्भय विचरता हुआ समस्त प्राणियोंके लिये अजेय हो गया था ॥ २६ ॥

ऐश्वर्यं तपसा प्राप्तं भ्रष्टं तच्च स्वकर्मभिः ।
धृतिमास्थाय भगवन् न शोचामि ततस्त्वहम् ॥ २७ ॥

भगवन् ! इस प्रकार मैंने तपस्याके प्रभावसे जो ऐश्वर्य प्राप्त किया था, वह मेरे अपने ही कर्मोंसे नष्ट हो गया । तथापि मैं धैर्य धारण करके उसके लिये शोक नहीं करता हूँ ॥

युयुत्सुना महेन्द्रेण पुंसा सार्धं महात्मना ।
ततो मे भगवान् दृष्टो हरिर्नारायणः प्रभुः ॥ २८ ॥

महामनस्वी पुरुषप्रवर देवराज इन्द्र जब युद्धकी इच्छासे मेरे सामने आये, उस समय उनके साथ उन्हींकी सहायताके लिये आये हुए सबके प्रभु भगवान् श्रीनारायण हरिका मैंने दर्शन किया था ॥ २८ ॥

वैकुण्ठः पुरुषोऽनन्तः शुक्लो विष्णुः सनातनः ।
मुञ्जकेशो हरिश्मश्रुः सर्वभूतपितामहः ॥ २९ ॥

वे भगवान् वैकुण्ठ, पुरुष, अनन्त, शुक्ल, विष्णु, सनातन, मुञ्जकेश, हरिश्मश्रु तथा सम्पूर्ण भूतोंके पितामह हैं ॥

नूनं तु तस्य तपसः सावशेषमिहास्ति वै ।
यदहं प्रष्टुमिच्छामि भगवन् कर्मणः फलम् ॥ ३० ॥

भगवन् ! अवश्य ही मेरी उस तपस्याका कोई अंश अब भी शेष रह गया है, अतः मैं उस कर्मफलके विषयमें प्रश्न करना चाहता हूँ ॥ ३० ॥

ऐश्वर्यं वै महद् ब्रह्म वर्णे कस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।

निवर्तते चापि पुनः कथमैश्वर्यमुत्तमम् ॥ ३१ ॥

अणिमा आदि ऐश्वर्य और महद् ब्रह्म किस वर्णमें प्रतिष्ठित हैं ? तथा वह उत्तम ऐश्वर्य कैसे नष्ट हो जाता है ? ॥

कस्माद् भूतानि जीवन्ति प्रवर्तन्ते तथा पुनः ।
किं वा फलं परं प्राप्य जीवस्तिष्ठति शाश्वतः ॥ ३२ ॥

प्राणी किस हेतुसे जीवन धारण करते हैं ? तथा किस कारणसे कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ? जीव किस परम फलको पाकर अविनाशी एवं सनातनरूपसे प्रतिष्ठित होता है ? ॥३२॥

केन वा कर्मणा शक्यमथ ज्ञानेन केन वा ।
तदवाप्तुं फलं विप्र तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३३ ॥

विप्रवर ! किस कर्म अथवा ज्ञानसे उस फलको प्राप्त किया जा सकता है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ३३ ॥

इतीदमुक्तः स मुनिस्तदानीं
प्रत्याह यत् तच्छृणु राजसिंह ।
मयोच्यमानं पुरुषर्षभ त्व-
मनन्यचित्तः सह सोदरीयैः ॥ ३४ ॥

राजसिंह ! पुरुषप्रवर युधिष्ठिर ! उसके ऐसा प्रश्न करनेपर मुनिवर शुक्राचार्यने उस समय उसे जो उत्तर दिया, उसे मैं बता रहा हूँ; तुम अपने भाइयोंके साथ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रगीतासु एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वृत्र-गीताविषयक दो सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७९ ॥

अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वृत्रासुरको सनत्कुमारका अध्यात्मविषयक उपदेश देना और उसकी परमगति तथा भीष्मद्वारा युधिष्ठिरकी शङ्काका निवारण

उशनोवाच

नमस्तस्मै भगवते देवाय प्रभविष्णवे ।
यस्य पृथ्वीतलं तात साकाशं बाहुगोचरः ॥ १ ॥

शुक्राचार्यने कहा—तात ! आकाशसहित यह सारी पृथ्वी जिनकी भुजाओंके बलपर स्थित है, महान् प्रभावशाली उन भगवान् विष्णुदेवको नमस्कार है ॥ १ ॥

मूर्धा यस्य त्वनन्तं च स्थानं दानवसत्तम ।
तस्याहं ते प्रवक्ष्यामि विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥

दानवश्रेष्ठ ! जिनका मस्तक और स्थान भी अनन्त है, उन भगवान् विष्णुका उत्तम माहात्म्य मैं तुम्हें बताऊँगा ॥

तयोः संवदतोरेवमाजगाम महामुनिः ।
सनत्कुमारो धर्मात्मा संशयच्छेदनाय वै ॥ ३ ॥

शुक्राचार्य और वृत्रासुरमें ये बातें हो ही रही थीं कि वहाँ महामुनि धर्मात्मा सनत्कुमार उनके संशयका निवारण करनेके लिये आ पहुँचे ॥ ३ ॥

स पूजितोऽसुरेन्द्रेण मुनिनोशनसा तथा ।
निषसादासने राजन् महार्हे मुनिपुङ्गवः ॥ ४ ॥

राजन् ! असुरराज वृत्र और मुनि शुक्राचार्यके द्वारा पूजित हो मुनिवर सनत्कुमार एक बहुमूल्य सिंहासनपर विराजमान हुए ॥ ४ ॥

तमासीनं महाप्रज्ञमुशना वाक्यमब्रवीत् ।
ब्रूह्यस्मै दानवेन्द्राय विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ॥ ५ ॥

जब महाज्ञानी सनत्कुमार आरामसे बैठ गये, तब शुक्राचार्यने उनसे कहा—'भगवन् ! आप इस दानवराजको भगवान् विष्णुका उत्तम माहात्म्य बताइये' ॥ ५ ॥

सनत्कुमारस्तु ततः श्रुत्वा प्राह वचोऽर्थवत् ।
विष्णोर्माहात्म्यसंयुक्तं दानवेन्द्राय धीमते ॥ ६ ॥

यह सुनकर सनत्कुमारजीने बुद्धिमान् दानवराज वृत्रासुरके प्रति भगवान् विष्णुकी महिमासे युक्त यह सार्थक वचन कहा—॥ ६ ॥

शृणु सर्वमिदं दैत्य विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ।
विष्णौ जगत् स्थितं सर्वमिति विद्धि परंतप ॥ ७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले दैत्य ! भगवान् विष्णुका यह सम्पूर्ण उत्तम माहात्म्य सुनो—तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि यह समस्त संसार भगवान् विष्णुमें ही स्थित है ॥

सृजत्येष महाबाहो भूतग्रामं चराचरम् ।
एष चाक्षिपते काले काले विसृजते पुनः ॥ ८ ॥

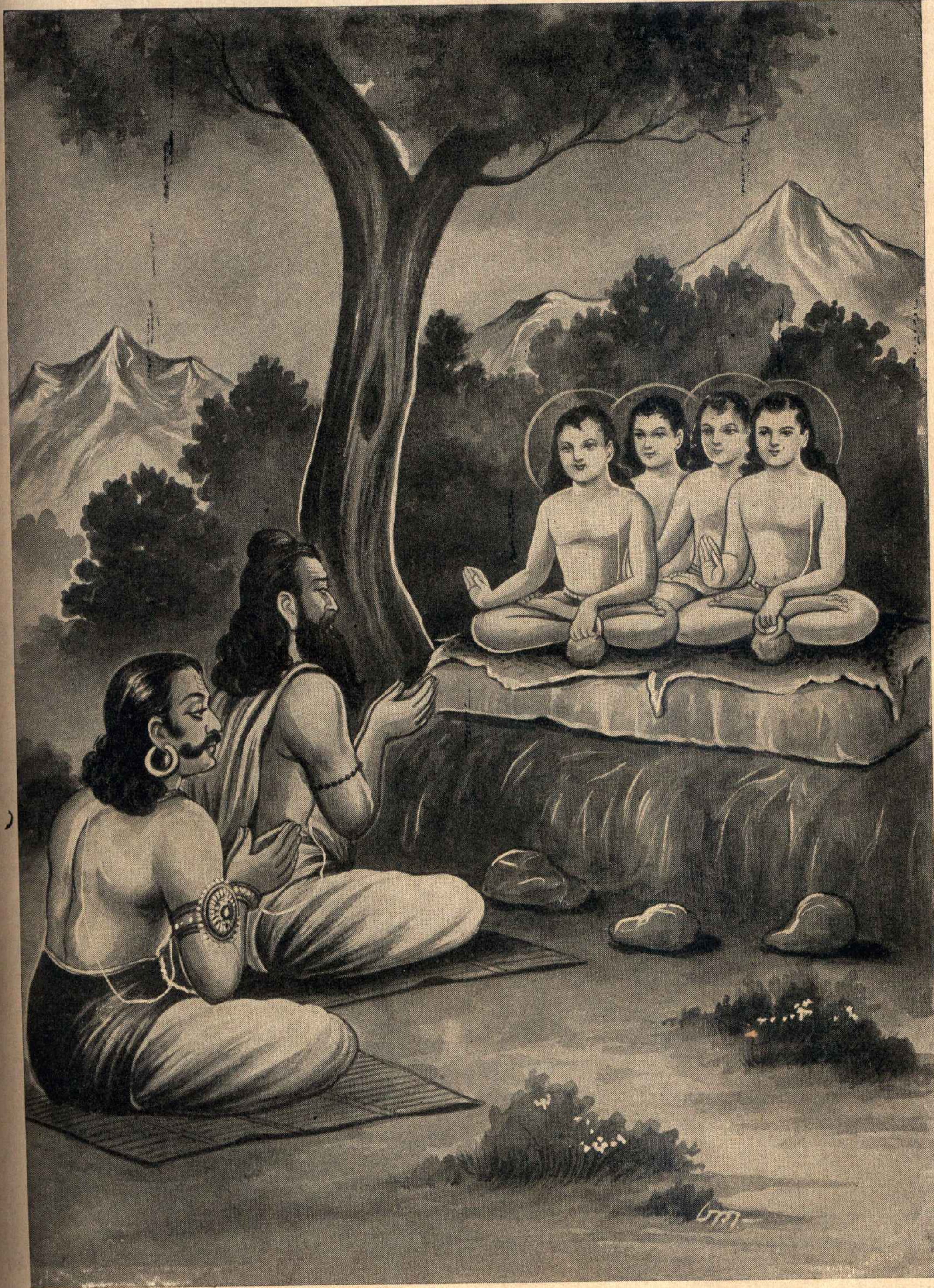
'पर महाबाहो ! ये श्रीविष्णु ही सम्पूर्ण चराचर प्राणि-समुदायकी सृष्टि करते हैं और ये ही समय आनेपर उसका विनाश करते हैं एवं समय आनेपर पुनः सृष्टि भी करते हैं ॥ ८ ॥

अस्मिन् गच्छन्ति विलयमस्माच्च प्रभवन्त्युत ।
नैष ज्ञानवता शक्यस्तपसा नैव चेज्यया ।
सम्प्राप्तुमिन्द्रियाणां तु संयमेनैव शक्यते ॥ ९ ॥

'समस्त प्राणी इन्हींमें लयको प्राप्त होते हैं और इन्हींसे प्रकट भी होते हैं । इन्हें कोई शास्त्रज्ञान, तपस्या और यज्ञके द्वारा भी नहीं पा सकता । केवल इन्द्रियोंके संयमसे ही उनकी उपलब्धि हो सकती है ॥ ९ ॥

बाह्ये चाभ्यन्तरे चैव कर्मणा मनसि स्थितः ।
निर्मलीकुरुते बुद्ध्या सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते ॥ १० ॥

'जो बाह्य (यज्ञ आदि) और आभ्यन्तर (शम, दम



सनकादि महर्षियोंकी शुक्राचार्य एवं वृत्रासुरसे भेंट

आदि) कर्मोंमें प्रवृत्त होकर मनके विषयमें स्थिरता प्राप्त करके अर्थात् मनको स्थिर करके बुद्धिके द्वारा उसे निर्मल बनाता है, वह परलोकमें अक्षय सुख (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

यथा हिरण्यकर्ता वै रूप्यमग्नौ विशोधयेत्।
बहुशोऽतिप्रयत्नेन महताऽऽत्मकृतेन ह ॥ ११ ॥
तद्वज्जातिशतैर्जीवः शुद्ध्यतेऽनेन कर्मणा।
यत्नेन महता चैवाप्येकजातौ विशुद्ध्यते ॥ १२ ॥

'जैसे सोनार बारंबार किये हुए अपने महान् प्रयत्नके द्वारा चाँदीको आगमें डालकर उसे शुद्ध करता है, उसी प्रकार जीव सैकड़ों जन्मोंमें अपने मनको शुद्ध कर पाता है; परंतु इस यज्ञ आदि और शम-दम आदि कर्मोंद्वारा यदि वह महान् प्रयत्न करे तो एक ही जन्ममें शुद्ध हो जाता है ॥ ११-१२ ॥

लीलयाल्पं यथा गात्रात् प्रमृज्यादात्मनो रजः।
बहुयत्नेन महता दोषनिर्हरणं तथा ॥ १३ ॥

'जैसे अपने शरीरमें लगी हुई थोड़ी-सी धूलको मनुष्य साधारण चेष्टासे खेल-खेलमें ही झाड़-पोंछ देता है, उसी प्रकार बारंबार किये हुए महान् प्रयत्नसे वह अपने राग-द्वेष आदि दोषोंको भी दूर कर सकता है ॥ १३ ॥

यथा चाल्पेन माल्येन वासितं तिलसर्षपम्।
न मुञ्चति स्वकं गन्धं तद्वत् सूक्ष्मस्य दर्शनम् ॥ १४ ॥

'जैसे थोड़े-से पुष्प एवं मालाद्वारा वासित किया हुआ तिल और सरसोंका तेल अपनी गन्ध नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार थोड़े-से प्रयत्नसे न तो दोष दूर होते हैं और न सूक्ष्म ब्रह्मका साक्षात्कार ही हो पाता है ॥ १४ ॥

तदेव बहुभिर्माल्यैर्वास्यमानं पुनः पुनः।
विमुञ्चति स्वकं गन्धं माल्यगन्धे च तिष्ठति ॥ १५ ॥
एवं जातिशतैर्युक्तो गुणैरेव प्रसङ्गिषु।
बुद्ध्या निवर्तते दोषो यत्नेनाभ्यासजेन ह ॥ १६ ॥

'वही तिल या सरसोंका तेल बहुत-से सुगन्धित पुष्पोंद्वारा बारंबार वासित होनेपर अपनी गन्धको छोड़ देता है और उस फूलकी गन्धमें ही स्थित हो जाता है। उसी प्रकार सैकड़ों जन्मोंमें स्त्री-पुत्र आदिके संसर्गसे युक्त तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंद्वारा प्रवर्तित दोषसमूह बुद्धि तथा अभ्यासजनित यत्नसे निवृत्त हो पाता है ॥ १५-१६ ॥

कर्मणा त्वनुरक्तानि विरक्तानि च दानव।
यथा कर्मविशेषांश्च प्राप्नुवन्ति तथा शृणु ॥ १७ ॥

'दनुनन्दन! कर्मसे अनुरक्त और कर्मसे विरक्त होनेवाले प्राणिसमूह जिस प्रकार राग और विरागके हेतुभूत विभिन्न कर्मोंको प्राप्त होते हैं, वह सुनो ॥ १७ ॥

यथावत् सम्प्रवर्तन्ते यस्मिंस्तिष्ठन्ति वा विभो।
तत् तेऽनुपूर्व्या व्याख्यास्ये तदिहैकमनाः शृणु ॥ १८ ॥

'प्रभो! जिस प्रकार वे कर्ममें प्रवृत्त होते तथा जिस निमित्तसे उसमें स्थित होते हैं और जिस अवस्थामें उससे निवृत्त हो जाते हैं, वह सब मैं तुमसे क्रमशः बताऊँगा। तुम उसे यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ १८ ॥

अनादिनिधनः श्रीमान् हरिर्नारायणः प्रभुः।
देवः सृजति भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ १९ ॥

'श्रीमान् भगवान् नारायण हरि आदि और अन्तसे रहित हैं। वे ही चराचर प्राणियोंकी रचना करते हैं ॥ १९ ॥

स वै सर्वेषु भूतेषु क्षरश्चाक्षर एव च।
एकादशविकारात्मा जगत् पिबति रश्मिभिः ॥ २० ॥

'वे ही सम्पूर्ण प्राणियोंमें क्षर और अक्षररूपसे विद्यमान हैं। ग्यारह इन्द्रियोंका जो वैकारिक सर्ग है, वह भी उन्हींका स्वरूप है। वे अपनी चैतन्यमयी किरणोंद्वारा सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हो रहे हैं ॥ २० ॥

पादौ तस्य महीं विद्धि मूर्धानं दिवमित्युत।
बाहवस्तु दिशो दैत्य श्रोत्रमाकाशमेव च ॥ २१ ॥
तस्य तेजोमयः सूर्यो मनश्चन्द्रमसि स्थितम्।
बुद्धिर्ज्ञानगता नित्यं रसस्त्वप्सु प्रतिष्ठितः ॥ २२ ॥

'दैत्यराज! पृथ्वीको भगवान् विष्णुके दोनों चरण समझो, स्वर्गलोकको मस्तक जानो, ये चारों दिशाएँ उनकी चार भुजाएँ हैं, आकाश कान है, तेजस्वी सूर्य उनका नेत्र है, मन चन्द्रमा है, बुद्धि (महत्तत्त्व) उनकी नित्य ज्ञानवृत्ति है और जल रसनेन्द्रिय है ॥ २१-२२ ॥

भ्रुवोरनन्तरास्तस्य ग्रहा दानवसत्तम।
नक्षत्रचक्रं नेत्राभ्यां पादयोर्भूश्च दानव ॥ २३ ॥

'दानवप्रवर! सम्पूर्ण ग्रह उनकी दोनों भौंहोंके बीचमें स्थित हैं। नक्षत्रमण्डल नेत्रोंसे प्रकट हुआ है। दनुनन्दन! यह पृथ्वी उनके दोनों चरणोंमें स्थित है ॥ २३ ॥

(तं विद्धि भूतं विश्वादिं परमं विद्धि चेश्वरम्।)
रजस्तमश्च सत्त्वं च विद्धि नारायणात्मकम्।
सोऽऽश्रमाणां फलं तात कर्मणस्तत् फलं विदुः ॥ २४ ॥

'उन्हें तुम सम्पूर्ण भूतस्वरूप, इस जगत्का आदिकारण और परमेश्वर समझो। रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनोंको नारायणमय ही मानो। तात! समस्त आश्रमोंका

१. श्रीविष्णुपुराणमें तीन प्रकारकी प्राकृत सृष्टि बतायी गयी है—पहली महत्तत्त्वकी सृष्टि है, जिसे यहाँ 'क्षर' शब्दसे कहा गया है। दूसरी भूत-सृष्टि मानी गयी है, जो तन्मात्राओंकी सृष्टि है। यहाँ 'भूतेषु' पदके द्वारा उसीकी ओर संकेत किया गया है। 'एकादशविकारात्मा' इस पदके द्वारा तीसरी सृष्टिका निर्देश किया गया है, जिसे वैकारिक अथवा ऐन्द्रियक सर्ग भी कहते हैं। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—इन ग्यारह तत्त्वोंकी रचना हुई है।

फल वे ही हैं। विद्वान् पुरुष समस्त कर्मोंद्वारा प्राप्तव्य फल उन्हींको मानते हैं ॥ २४ ॥

अकर्मणः फलं चैव स एव परमव्ययः।
छन्दांसि यस्य रोमाणि ह्यक्षरं च सरस्वती ॥ २५ ॥

'कर्मोंका त्यागरूप जो संन्यास है, उसका फल भी वे ही अविनाशी परमात्मा हैं। वेद-मन्त्र उनके रोम हैं तथा प्रणव उनकी वाणी है ॥ २५ ॥

बह्वाश्रयो बहुमुखो धर्मो हृदि समाश्रितः।
स ब्रह्म परमो धर्मस्तपश्च सदसच्च सः ॥ २६ ॥

'बहुत-से वर्ण और आश्रम उनके आश्रय हैं, उनके अनेक मुख हैं। हृदयमें आश्रित धर्म भी उन्हींका स्वरूप है। वे ही ब्रह्म हैं। वे ही आत्मदर्शनरूप परम धर्म हैं। वे ही तप और सदसत्स्वरूप हैं ॥ २६ ॥

श्रुतिशास्त्रग्रहोपेतः षोडशर्त्विक् क्रतुश्च सः।
पितामहश्च विष्णुश्च सोऽश्विनौ स पुरंदरः।
मित्रोऽथ वरुणश्चैव यमोऽथ धनदस्तथा ॥ २७ ॥

'श्रुति (वेद), शास्त्र और सोमपात्रसहित सोलह[1] ऋत्विजोंवाला यज्ञ भी वे ही हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु, अश्विनी-कुमार, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम और कुबेर हैं ॥ २७ ॥

ते पृथग्दर्शनास्तस्य संविदन्ति तथैकताम्।
एकस्य विद्धि देवस्य सर्वं जगदिदं वशे ॥ २८ ॥

'उनका दर्शन पृथक्-पृथक् होनेपर भी वे अपनी एकताको जानते हैं। तुम भी इस सम्पूर्ण जगत्को एक परमात्मदेवके ही अधीन समझो ॥ २८ ॥

नानाभूतस्य दैत्येन्द्र तस्यैकत्वं वदत्ययम्।
जन्तुः पश्यति विज्ञानात् ततो ब्रह्म प्रकाशते ॥ २९ ॥

'दैत्यराज ! अनेक रूपोंमें प्रकट हुए उन परमात्माकी एकताका यह वेद प्रतिपादन करता है। जीव विज्ञानबलसे ही ब्रह्मका साक्षात्कार करता है। उस समय उसकी बुद्धिमें वह ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है ॥ २९ ॥

संहारविक्षेपसहस्रकोटी-
स्तिष्ठन्ति जीवाः प्रचरन्ति चान्ये।
प्रजाविसर्गस्य च पारिमाण्यं
वापीसहस्राणि बहूनि दैत्य ॥ ३० ॥

'कितने ही जीव करोड़ों कल्पोंतक स्थावररूपसे एक स्थानमें स्थित रहते हैं और कितने ही उतने समयतक इधर-उधर विचरते रहते हैं। दैत्यप्रवर ! प्रजाके सृष्टिका परिमाण कई हजार बावड़ियोंकी संख्याके समान है ॥

वाप्यः पुनर्योजनविस्तृतास्ताः
क्रोशं च गम्भीरतयावगाढाः।
आयामतः पञ्चशताश्च सर्वाः
प्रत्येकशो योजनतः प्रवृद्धाः ॥ ३१ ॥
वाप्या जलं क्षिप्यति वालकोट्या
त्वह्ना सकृच्चाप्यथ न द्वितीयम्।
तासां क्षये विद्धि परं विसर्गं
संहारमेकं च तथा प्रजानाम् ॥ ३२ ॥

'वे सारी बावड़ियाँ पाँच सौ योजन चौड़ी, पाँच सौ योजन लंबी और एक-एक कोस गहरी हों। गहराई इतनी हो कि कोई उनमें प्रवेश न कर सके। तात्पर्य यह कि प्रत्येक बावड़ी बहुत लंबी-चौड़ी और गहरी हो—उनमेंसे एक बावड़ीके जलको कोई दिन-भरमें एक ही बार एक बालकी नोकसे उलीचे, दूसरी बार न उलीचे। इस प्रकार उलीचनेसे उन सारी बावड़ियोंका जल जितने समयमें समाप्त हो सकता है, उतने ही समयमें प्राणियोंकी सृष्टि और संहारके क्रमकी समाप्ति हो सकती है (अर्थात् जैसे उक्त प्रकारसे उलीचनेपर उन बावड़ियोंका जल सूखना असम्भव है, वैसे ही बिना ज्ञानके संसारका उच्छेद होना असम्भव है।) ॥ ३१-३२ ॥

षड् जीववर्णाः परमं प्रमाणं
कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम्।
रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु
हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम् ॥ ३३ ॥

'प्राणियोंके वर्ण छः प्रकारके हैं—कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हरिद्रा (पीला) और शुक्ल[1]। इनमेंसे कृष्ण, धूम्र

---

[1] सोलह ऋत्विजोंके नाम इस प्रकार हैं—१–ब्रह्मा, २–ब्राह्मणाच्छंसी, ३–आग्नीध्र और ४–पोता—ये चार ऋत्विज सम्पूर्ण वेदोंके ज्ञाता होते हैं। ५–होता, ६–मैत्रावरुण, ७–अच्छावाक और ८–ग्रावस्तोता–ये चार ऋत्विज ऋग्वेदी होते हैं। ९–अध्वर्यु, १०–प्रतिपस्थाता, ११–नेष्टा और १२–उन्नेता—ये चार यजुर्वेदी होते हैं। १३–उद्गाता, १४–प्रस्तोता, १५–प्रतिहर्ता तथा १६–सुब्रह्मण्य—ये सामवेदके गायक होते हैं।

[1] जब तमोगुणकी अधिकता, सत्त्वगुणकी न्यूनता और रजोगुणकी सम अवस्था हो, तब कृष्णवर्ण होता है। यह स्थावर सृष्टिका रंग माना गया है। तमोगुणकी अधिकता, रजोगुणकी न्यूनता और सत्त्वगुणकी सम अवस्था होनेपर धूम्रवर्ण होता है। यह पशु-पक्षीकी योनिमें जन्म लेनेवाले प्राणियोंका वर्ण माना गया है। रजोगुणकी अधिकता, सत्त्वगुणकी न्यूनता और तमोगुणकी सम अवस्था होनेपर नीलवर्ण होता है। यह मानवसर्गका वर्ण बताया गया है। इसीमें जब सत्त्वगुणकी सम अवस्था और तमोगुणकी न्यूनावस्था हो तो मध्यमवर्ण होता है। उसका रंग लाल होता है। इसे अनुग्रह सर्ग कहते हैं। जब सत्त्वगुणकी अधिकता, रजोगुणकी न्यूनता और तमोगुणकी सम अवस्था हो तो हरिद्राके समान पीतवर्ण होता है। यही देवताओंका वर्ण है, अतः इसे देवसर्ग कहते हैं। उसीमें जब रजोगुणकी सम अवस्था और तमोगुणकी न्यूनता हो तो शुक्लवर्ण होता है। इसीको कौमारसर्ग कहा गया है।

और नील वर्णका सुख मध्यम होता है। रक्तवर्ण विशेष रूपसे सहन करने योग्य होता है। हरिद्राकी-सी कान्ति सुख देनेवाली होती है और शुक्लवर्ण अत्यन्त सुखदायक होता है॥

परं तु शुक्लं विमलं विशोकं
गतक्लमं सिद्ध्यति दानवेन्द्र।
गत्वा तु योनिप्रभवाणि दैत्य
सहस्रशः सिद्धिमुपैति जीवः॥ ३४॥

'दानवराज! शुक्लवर्ण निर्मल, शोकहीन, परिश्रमशून्य होनेके कारण सिद्धिकारक होता है। दितिकुलनन्दन! जीव सहस्रों योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेके बाद मनुष्य-योनिमें आकर कभी सिद्धि लाभ करता है॥ ३४॥

गतिं च यां दर्शनमाह देवो
गत्वा शुभं दर्शनमेव चापि।
गतिः पुनर्वर्णकृता प्रजानां
वर्णस्तथा कालकृतोऽसुरेन्द्र॥ ३५॥

'असुरेन्द्र! देवराज इन्द्रने मंगलमय तत्त्वज्ञान प्राप्त करके हमारे निकट जिस गति और दर्शन-शास्त्रका वर्णन किया है, वह प्राणियोंकी वर्णजनित गति है अर्थात् शुक्लवर्णवालोंको वही सिद्धि प्राप्त होती है। वह वर्ण कालकृत माना गया है॥

शतं सहस्राणि चतुर्दशेह
परागतिर्जीवगणस्य दैत्य।
आरोहणं तत्कृतमेव विद्धि
स्थानं तथा निःसरणं च तेषाम्॥ ३६॥

'दैत्यप्रवर! इस जगत्‌में समस्त जीव-समुदायकी परागति चौदह लाख बतायी गयी है। (पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चौदह करण हैं। इन्हींके भेदसे चौदह प्रकारकी गति होती है। फिर विषय-भेदसे वृत्तिभेद होनेके कारण चौदह लाख प्रकारकी गति होती है।) जीवका जो ऊर्ध्वलोकोंमें गमन होता है, वह भी उन्हीं चौदह करणोंद्वारा सम्पादित होता है। विभिन्न स्थानोंमें जो स्थिरतापूर्वक निवास है, वह और उन स्थानोंसे जो उन जीवोंका अधःपतन होता है, वह भी उन्हींके सम्बन्धसे होता है। इस बातको तुम अच्छी तरह जान लो (अतः इन चौदह करणोंको सात्त्विक मार्गाभिमुखी बनाना चाहिये)॥ ३६॥

कृष्णस्य वर्णस्य गतिर्निकृष्टा
स सज्जते नरके पच्यमानः।
स्थानं तथा दुर्गतिभिस्तु तस्य
प्रजाविसर्गान् सुबहून् वदन्ति॥ ३७॥

'कृष्णवर्णकी गति नीच बतायी गयी है। वह नरक प्रदान करनेवाले निषिद्ध कर्मोंमें आसक्त होता है, इसीलिये नरककी आगमें पकाया जाता है। वह कुमार्गमें प्रवृत्त हुए पूर्वोक्त चौदह करणोंद्वारा पापाचार करनेके कारण अनेक कल्पोंतक नरकमें ही निवास करता है—ऐसा ऋषि-मुनि कहते हैं॥ ३७॥

शतं सहस्राणि ततश्चरित्वा
प्राप्नोति वर्णं हरितं तु पश्चात्।
स चैव तस्मिन् निवसत्यनीशो
युगक्षये तपसा संवृतात्मा॥ ३८॥

'तदनन्तर वह जीव लाखों बार (या लाखों वर्षोंतक) नरकमें विचरण करके फिर धूम्रवर्ण पाता है (पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जन्म लेता है)। उस योनिमें भी वह विवश होकर बड़े दुःखसे निवास करता है। फिर युगक्षय होनेपर वह तप (पुरातन पुण्यकर्म या विवेक) के प्रभावसे सुरक्षित होकर उस संकटसे उद्धार पा जाता है॥ ३८॥

स वै यदा सत्त्वगुणेन युक्त-
स्तमो व्यपोहन् घटते स्वबुद्ध्या।
स लोहितं वर्णमुपैति नीलान्
मनुष्यलोके परिवर्तते च॥ ३९॥

'वही जीव जब सत्त्वगुणसे युक्त होता है, तब अपनी बुद्धिके द्वारा तमोगुणकी प्रवृत्तिको दूर हटाता हुआ अपने कल्याणके लिये प्रयत्न करता है। उस समय सत्त्वगुणके बढ़ जानेपर वह रक्तवर्णको प्राप्त होता है (इसीको अनुग्रह सर्ग कहा गया है, चित्तकी विभिन्न वृत्तियोंपर अनुग्रह करनेवाले देवविशेषका ही नाम 'अनुग्रह' है)। जब सत्त्वगुणमें कुछ कमी रह जाती है, तब वह जीव नीलवर्णको प्राप्त होकर मनुष्यलोकमें आवागमन करने लगता है॥ ३९॥

स तत्र संहारविसर्गमेकं
स्वधर्मजैर्बन्धनैः क्लिश्यमानः।
ततः स हारिद्रमुपैति वर्णं
संहारविक्षेपशते व्यतीते॥ ४०॥

'तत्पश्चात् वह मनुष्यलोकमें एक कल्पतक स्वधर्मजनित बन्धनोंसे बँधकर क्लेश उठाता हुआ जब धीरे-धीरे अपनी तपस्याको बढ़ाता है, तब हल्दीकी-सी कान्तिवाले पीतवर्ण—देवताभावको प्राप्त होता है। वहाँ भी सैकड़ों कल्प व्यतीत कर लेनेपर वह पुनः पुण्यक्षयके पश्चात् मनुष्य होता है (इस प्रकार वह देवतासे मनुष्य और मनुष्यसे देवता होता रहता है)॥

हारिद्रवर्णस्तु प्रजाविसर्गात्
सहस्रशस्तिष्ठति संचरन् वै।
अविप्रमुक्तो निरये च दैत्य
ततः सहस्राणि दशापराणि॥ ४१॥
गतीः सहस्राणि च पञ्च तस्य
चत्वारि संवर्तकृतानि चैव।
विमुक्तमेनं निरयाच्च विद्धि
सर्वेषु चान्येषु च सम्भवेषु॥ ४२॥

'दैत्य! सहस्रों कल्पोंतक देवरूपसे विचरते रहनेपर भी

जीव विषयभोगसे मुक्त नहीं होता तथा प्रत्येक कल्पमें किये हुए अशुभ कर्मोंके फलोंको नरकमें रहकर भोगता हुआ जीव उन्नीस[1] हजार विभिन्न गतियोंको प्राप्त होता है। तत्पश्चात् उसे नरकसे छुटकारा मिलता है। मनुष्यके सिवा अन्य सभी योनियोंमें केवल सुख-दुःखके भोग प्राप्त होते हैं। मोक्षका सुयोग हाथ नहीं लगता है। इस बातको तुम्हें भलीभाँति समझ लेना चाहिये ॥ ४१-४२ ॥

स देवलोके विहरत्यभीक्ष्णं
ततश्च्युतो मानुषतामुपैति।
संहारविक्षेपशतानि चाष्टौ
मर्त्येषु तिष्ठत्यमृतत्वमेति ॥ ४३ ॥

'वह जीव निरन्तर देवलोकमें विहार करता है और वहाँसे भ्रष्ट होनेपर मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है। मर्त्यलोकमें वह आठ सौ कल्पोंतक बारंबार जन्म लेता रहता है। तत्पश्चात् शुभकर्म करके वह पुनः देवभावको प्राप्त करता है (यह आवागमनका चक्र तभीतक चलता है, जबतक जीवको परमज्ञान या अनन्य भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो जाती, उसकी प्राप्ति होनेपर तो वह मुक्त या परमात्माको प्राप्त हो जाता है।) ॥ ४३ ॥

सोऽस्मादथ भ्रश्यति कालयोगात्
कृष्णे तले तिष्ठति सर्वकृष्टे।
यथा त्वयं सिद्ध्यति जीवलोक-
स्तत् तेऽभिधास्याम्यसुरप्रवीर ॥ ४४ ॥

'असुरोंके प्रमुख वीर! वह जीव कालक्रमसे अशुभ कर्म करके कभी-कभी मर्त्यलोकसे भी नीचे गिर जाता है और सबसे निकृष्ट, तलप्रदेशकी भाँति निम्नतम, कृष्णवर्ण (स्थावर योनि) में जन्म ग्रहण करके स्थित होता है। इस प्रकार उत्थान-पतनके चक्रमें पड़े हुए इस जीवसमूहको जिस प्रकार सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त होती है, वह मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ ४४ ॥

दैवानि स व्यूहशतानि सप्त
रक्तो हरिद्रोऽथ तथैव शुक्लः।
संश्रित्य संधावति शुक्लमेत-
मष्टावरानर्च्यतमान् स लोकान् ॥ ४५ ॥

'क्रमशः रक्तवर्ण (अनुग्राहक देवता), हरिद्रावर्ण (देवता) तथा शुक्लवर्ण (सनकादिकुमारों-जैसा सिद्ध शरीरधारी) होकर वह जीव बारी-बारीसे सात सौ दिव्य शरीरोंका आश्रय ले भू आदि सात उत्तमोत्तम लोकोंमें विचरण करके पूर्व पुण्यके प्रभावसे वेगपूर्वक विशुद्ध ब्रह्म-लोकमें चला जाता है ॥ ४५ ॥

अष्टौ च षष्टिं च शतानि चैव
मनोनिरुद्धानि महाद्युतीनाम्।
शुक्लस्य वर्णस्य परा गतिर्या
त्रीण्येव रुद्धानि महानुभाव ॥ ४६ ॥

'महानुभाव वृत्रासुर! प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ—ये आठ, तथा दूसरे साठ[1] तत्त्व और इनकी जो सैकड़ों वृत्तियाँ हैं—ये सब महातेजस्वी योगियोंके मनके द्वारा अवरुद्ध की हुई होती हैं। तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको भी वे अवरुद्ध कर देते हैं। अतः शुक्लवर्णवाले (सनकादिकोंके समान सिद्ध) पुरुषको जो उत्तम गति प्राप्त होती है, वही उन योगियोंको मिलती है ॥

संहारविक्षेपमनिष्टमेकं
चत्वारि चान्यानि वसत्यनीशः।
षष्ठस्य वर्णस्य परा गतिर्या
सिद्धावसिद्धस्य गतक्लमस्य ॥ ४७ ॥

'जो परमगति छठे (शुक्ल) वर्णके साधकको मिलती है, उसे पानेका अधिकार भ्रष्ट करके भी जो असिद्ध हो रहा है एवं जिसके समस्त पाप नष्ट हो चुके हैं ऐसा योगी भी यदि योगजनित ऐश्वर्यके सुखभोगकी वासनाका त्याग करनेमें असमर्थ है तो वह न चाहनेपर भी एक कल्पतक अपनी साधनाके फलरूप महर्, जन, तप और सत्य—इन चारों लोकोंमें क्रमशः निवास करता है (और कल्पके अन्तमें मुक्त हो जाता है) ॥ ४७ ॥

सप्तोत्तरं तत्र वसत्यनीशः
संहारविक्षेपशतं सशेषम्।
तस्मादुपावृत्य मनुष्यलोके
ततो महान् मानुषतामुपैति ॥ ४८ ॥

'किंतु जो भलीभाँति योगसाधनमें असमर्थ है, वह योग-भ्रष्ट पुरुष सौ कल्पोंतक ऊपरके सात लोकोंमें निवास करता है। फिर बचे हुए कर्मसंस्कारोंके सहित वहाँसे लौटकर मनुष्यलोकमें पहलेसे बढ़कर महत्त्वसम्पन्न हो मनुष्यशरीरको पाता है ॥ ४८ ॥

तस्मादुपावृत्य ततः क्रमेण
सोऽग्रेण संतिष्ठति भूतसर्गम्।
स सप्तकृत्वश्च परैति लोकान्
संहारविक्षेपकृतप्रभावः ॥ ४९ ॥

'तदनन्तर मनुष्ययोनिसे निकलकर वह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ देवादि योनियोंकी ओर अग्रसर होता है एवं सातों लोकोंमें प्रभावशाली होकर एक कल्पतक निवास करता है ॥ ४९ ॥

---

१. दस इन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—ये उन्नीस भोगके साधन हैं, विषय और वृत्तियोंके भेदसे इन्हींके उतने ही सौ और उतने ही हजार प्रकार हो जाते हैं।

१. पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय—ये दस इन्द्रियाँ सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके भेदसे प्रत्येक छः-छः प्रकारकी होती हैं। इस प्रकार इनके साठ भेद हो जाते हैं।

सत्त्वैव संहारमुपप्लवानि
सम्भाव्य संतिष्ठति जीवलोके ।
ततोऽव्ययं स्थानमनन्तमेति
देवस्य विष्णोरथ ब्रह्मणश्च ।
शेषस्य चैवाथ नरस्य चैव
देवस्य विष्णोः परमस्य चैव ॥ ५० ॥

'फिर वह योगी भू आदि सात लोकोंको विनाशशील क्षणभङ्गुर समझकर पुनः मनुष्यलोकमें भलीभाँति (शोक-मोहसे रहित होकर) निवास करता है। तदनन्तर शरीरका अन्त होनेपर वह अव्यय (अविनाशी या निर्विकार) एवं अनन्त (देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेदसे शून्य) स्थान (परब्रह्मपद) को प्राप्त होता है। वह अव्यय एवं अनन्त स्थान किसीके मतमें महादेवजीका कैलासधाम है। किसीके मतमें भगवान् विष्णुका वैकुण्ठधाम है। किसीके मतमें ब्रह्माजीका सत्यलोक है। कोई-कोई उसे भगवान् शेष या अनन्तका धाम बताते हैं। कोई वह जीवका ही परमधाम है—ऐसा कहते हैं और कोई-कोई उसे सर्वव्यापी चिन्मय प्रकाशसे युक्त परब्रह्मका स्वरूप बताते हैं ॥ ५० ॥

संहारकाले परिदग्धकाया
ब्रह्माणमायान्ति सदा प्रजा हि ।
चेष्टात्मनो देवगणाश्च सर्वे
ये ब्रह्मलोकेऽपराः स्म तेऽपि ॥ ५१ ॥

'ज्ञानाग्निके द्वारा जिनके सूक्ष्म, स्थूल और कारणशरीर दग्ध हो गये हैं, वे प्रजाजन अर्थात् योगीलोग प्रलयकालमें सदा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं एवं जो ब्रह्मलोकसे नीचेके लोकोंमें रहनेवाले साधनशील दैवी प्रकृतिसे सम्पन्न साधक हैं, वे सब परब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

प्रजाविसर्गं तु सशेषकाले
स्थानानि स्वान्येव सरन्ति जीवाः ।
निःशेषतस्तत्पदं यान्ति चान्ते
सर्वे देवा ये सदृशा मनुष्याः ॥ ५२ ॥

'प्रलयकालमें जो जीव देवभावको प्राप्त थे, वे यदि अपने सम्पूर्ण कर्मफलोंका उपभोग समाप्त करनेसे पहले ही लयको प्राप्त हो जाते हैं तो कल्पान्तरमें पुनः प्रजाकी सृष्टि होनेपर वे शेष फलका उपभोग करनेके लिये उन्हीं स्थानोंको प्राप्त होते हैं, जो उन्हें पूर्वकल्पमें प्राप्त थे; किंतु जो कल्पान्तमें उस योनिसम्बन्धी कर्मफल-भोगको पूर्ण कर चुके हैं, वे स्वर्गलोकका नाश हो जानेपर दूसरे कल्पमें उनके जैसे कर्म हैं, उसीके सदृश अन्य प्राणियोंकी भाँति मनुष्य-योनिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

ये तु च्युताः सिद्धलोकात् क्रमेण
तेषां गतिं यान्ति तथाऽऽनुपूर्व्या ।
जीवाः परे तद्बलतुल्यरूपाः
स्वं स्वं विधिं यान्ति विपर्ययेण ॥ ५३ ॥

'जो योगी सिद्धलोकसे गिरकर मृत्युलोकमें आये हैं, उनके समान साधनबलसे सम्पन्न जो अन्य योगी हैं, वे भी एक लोकसे दूसरे लोकमें ऊपर उठते हुए क्रमशः उन सिद्ध पुरुषोंकी ही गतिको प्राप्त होते हैं। परंतु जो वैसे नहीं हैं, वे विपरीतभावके कारण अपनी-अपनी गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ५३ ॥

स यावदेवास्ति सशेषभुक् ते
प्रजाश्च देव्यौ च तथैव शुक्रे ।
तावत् तदङ्गेषु विशुद्धभावः
संयम्य पञ्चेन्द्रियरूपमेतत् ॥ ५४ ॥

'विशुद्धभावसे सम्पन्न सिद्ध पुरुष जबतक पञ्चेन्द्रिय-रूप इस करणसमुदायका संयम करके शेष प्रारब्ध कर्मका उपभोग करता है, तबतक उसके शरीरमें समस्त प्रजागणोंका अर्थात् इन्द्रियोंके देवताओंका तथा अपरा और परा विद्याका निवास रहता है ॥ ५४ ॥

शुद्धां गतिं तां परमां परैति
शुद्धेन नित्यं मनसा विचिन्वन् ।
ततोऽव्ययं स्थानमुपैति ब्रह्म
दुष्प्रापमभ्येति स शाश्वतं वै ॥ ५५ ॥

'जो साधक सदा शुद्ध मनसे उस विशुद्ध परमगतिका अनुसंधान करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर अविकारी, दुर्लभ एवं सनातन ब्रह्मपदको प्राप्त करके वह उसीमें प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ५५ ॥

इत्येतदाख्यातमहीनसत्त्व
नारायणस्येह बलं मया ते ॥ ५६ ॥

'उत्कृष्ट बलशाली दैत्यराज! इस प्रकार यहाँ मैंने तुमसे यह भगवान् नारायणका बल एवं प्रभाव बताया है' ॥

वृत्र उवाच

एवं गते मे न विषादोऽस्ति कश्चित्
सम्यक् च पश्यामि वचस्तथैतत् ।
श्रुत्वा तु ते वाचमदीनसत्त्व
विकल्मषोऽस्म्यद्य तथा विपाप्मा ॥ ५७ ॥

वृत्रासुर बोला—उदारचित्त महात्मा सनत्कुमारजी! यदि ऐसी बात है तो मुझे कोई विषाद नहीं है। मैं आपके वचनको अच्छी तरह समझता और इसे यथार्थ मानता हूँ। आज मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि आपकी इस वाणीको सुनकर मेरे सारे पाप और कलुष दूर हो गये ॥ ५७ ॥

प्रवृत्तमेतद् भगवन् महर्षे
महाद्युतेश्चक्रमनन्तवीर्यम् ।
विष्णोरनन्तस्य सनातनं तत्
स्थानं सर्गा यत्र सर्वे प्रवृत्ताः ।

स वै महात्मा पुरुषोत्तमो वै
तस्मिन् जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितम् ॥५८॥

भगवन् ! महर्षे ! महातेजस्वी, अनन्त एवं सर्वव्यापी भगवान् विष्णुका यह अमित शक्तिशाली संसारचक्र चल रहा है। यह भगवान् विष्णुका वह सनातन स्थान है, जहाँसे सारी सृष्टियोंका आरम्भ होता है। महात्मा विष्णु पुरुषोत्तम हैं। उन्हींमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥५८॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स कौन्तेय वृत्रः प्राणानवासृजत्।
योजयित्वा तथाऽऽत्मानं परं स्थानमवाप्तवान् ॥ ५९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! ऐसा कहकर वृत्रासुरने अपने आत्माको परमात्मामें लगाकर उन्हींका ध्यान करते हुए प्राण त्याग दिये और परमेश्वरके परमधामको प्राप्त कर लिया ॥ ५९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं स भगवान् देवः पितामह जनार्दनः।
सनत्कुमारो वृत्राय यत्तदाख्यातवान् पुरा ॥ ६० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पूर्वकालमें महात्मा सनत्कुमारने वृत्रासुरसे जिनके स्वरूपका वर्णन किया था, वे भगवान् विष्णु—ये हमारे जनार्दन श्रीकृष्ण ही तो हैं ? ॥

भीष्म उवाच

मूलस्थायी महादेवो भगवान् स्वेन तेजसा।
तत्स्थः सृजति तान् भावान् नानारूपान् महामनाः ।६१।

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! मूल-कारणरूपसे स्थित, महान् देव, महामनस्वी भगवान् नारायण हैं। वे अपने उस चिन्मय स्वरूपमें स्थित होकर अपने प्रभावसे नाना प्रकारके सम्पूर्ण पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं ॥ ६१ ॥

तुरीयांशेन तस्येमं विद्धि केशवमच्युतम्।
तुरीयार्धेन लोकांस्त्रीन् भावयत्येव बुद्धिमान् ॥ ६२ ॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले इन भगवान् श्रीकृष्णको तुम उस श्रीनारायणके एक चतुर्थ अंशसे सम्पन्न समझो। बुद्धिमान् श्रीकृष्ण अपने उस चतुर्थ अंशसे ही तीनों लोकोंकी रचना करते हैं ॥ ६२ ॥

अर्वाक् स्थितस्तु यः स्थायी कल्पान्ते परिवर्तते।
स शेते भगवानप्सु योऽसावतिबलः प्रभुः।
तान् विधाता प्रसन्नात्मा लोकांश्चरति शाश्वतान्।६३।

जो परवर्ती सनातन नारायण प्रलयकालमें भी विद्यमान हैं, वे ही अत्यन्त बलशाली और सबके अधीश्वर भगवान् श्रीहरि कल्पान्तमें जलके भीतर शयन करते हैं तथा वे प्रसन्नात्मा सृष्टिकर्ता ईश्वर उन समस्त शाश्वत लोकोंमें विचरण करते हैं ॥

सर्वाण्यशून्यानि करोत्यनन्तः
सनातनः संचरते च लोकान्।
स चानिरुद्धः सृजते महात्मा
तत्स्थं जगत् सर्वमिदं विचित्रम् ॥ ६४ ॥

अनन्त एवं सनातन भगवान् श्रीहरि समस्त कारणोंको सत्ता और स्फूर्ति देकर परिपूर्ण करते और लीलावपु धारण करके लोकोंमें विचरण करते हैं। उन महापुरुषकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। वे ही इस जगत्की सृष्टि करते हैं। उन्हींमें यह सम्पूर्ण विचित्र विश्व प्रतिष्ठित है ॥ ६४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वृत्रेण परमार्थज्ञ दृष्टा मन्येऽऽत्मनो गतिः।
शुभा तस्मात् स सुखितो न शोचति पितामह ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—परमार्थतत्त्वके ज्ञाता पितामह ! मैं समझता हूँ कि वृत्रासुरने आत्माके शुभ एवं यथार्थ स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया था; इसीलिये वह सुखी था, शोक नहीं करता था ॥ ६५ ॥

शुक्लः शुक्लाभिजातीयः साध्यो नावर्ततेऽनघ।
तिर्यग्गतेश्च निर्मुक्तो निरयाच्च पितामह ॥ ६६ ॥

निष्पाप पितामह ! वह शुद्ध कुलमें उत्पन्न हुआ था और स्वभावसे भी शुद्ध था। जान पड़ता है वह साध्य नामक देवता ही था; इसीलिये पुनः संसारमें नहीं लौटा। वह पशु-पक्षियोंकी योनि तथा नरकसे छुटकारा पा गया ॥ ६६ ॥

हारिद्रवर्णे रक्ते वा वर्तमानस्तु पार्थिव।
तिर्यगेवानुपश्येत कर्मभिस्तामसैर्वृतः ॥ ६७ ॥

पृथ्वीनाथ ! पीतवर्णवाले देवसर्गमें तथा रक्तवर्णवाले अनुग्रहसर्गमें विद्यमान प्राणी कभी तामस कर्मोंसे आवृत होकर तिर्यग्योनिका भी दर्शन कर सकता है ॥ ६७ ॥

वयं तु भृशमापन्ना रक्ता दुःखसुखेऽसुखे।
कां गतिं प्रतिपत्स्यामो नीलां कृष्णाधमामथ ॥ ६८ ॥

हमलोग तो और भी अधिक आपत्तिसे घिरे हुए हैं। दुःख-सुखसे मिश्रित भावमें अथवा केवल दुःखमय भावमें आसक्त हैं। ऐसी दशामें पता नहीं हमें किस गतिकी प्राप्ति होगी। हम नीलवर्णवाली मानव-योनिमें पड़ेंगे या कृष्णवर्णवाली स्थावर योनिसे भी हीनदशाको जा पहुँचेंगे ॥ ६८ ॥

भीष्म उवाच

शुद्धाभिजनसम्पन्नाः पाण्डवाः संशितव्रताः।
विहृत्य देवलोकेषु पुनर्मानुषमेष्यथ ॥ ६९ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! तुम सभी पाण्डव विशुद्ध कुलसे सम्पन्न और तीक्ष्ण व्रतोंका भलीभाँति पालन करनेवाले हो; अतः देवताओंके लोकोंमें विहार करके पुनः मनुष्य-शरीरको ही प्राप्त करोगे ॥ ६९ ॥

प्रजाविसर्गं च सुखेन काले
प्रत्येत्य देवेषु सुखानि भुक्त्वा।
सुखेन संयास्यथ सिद्धसंख्यां
मा वो भयं भूद् विमलाः स्थ सर्वे ॥ ७० ॥

तुम सब लोग यथासमय सुखसे संतानोत्पादन करके

देवलोकोंमें जाकर सुख भोगोगे। तत्पश्चात् सुखपूर्वक सिद्धि प्राप्त करके सिद्धोंमें गिने जाओगे। तुम्हारे मनमें दुर्गतिका भय नहीं होना चाहिये; क्योंकि तुम सब लोग निर्मल एवं निष्पाप हो ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रगीतासु अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वृत्रगीताविषयक दो सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७०½ श्लोक हैं)

एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और वृत्रासुरके युद्धका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अहो धर्मिष्ठता तात वृत्रस्यामिततेजसः।
यस्य विज्ञानमतुलं विष्णोर्भक्तिश्च तादृशी ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! अमित तेजस्वी वृत्रासुरकी धर्मनिष्ठा अद्भुत थी। उसका विज्ञान भी अनुपम था और भगवान् विष्णुके प्रति उसकी भक्ति भी वैसी ही उच्चकोटिकी थी ॥ १ ॥

दुर्विज्ञेयं पदं तात विष्णोरमिततेजसः।
कथं वा राजशार्दूल पदं तु ज्ञातवानसौ ॥ २ ॥

तात! अनन्त तेजस्वी श्रीविष्णुके स्वरूपका ज्ञान तो अत्यन्त कठिन है। नृपश्रेष्ठ! उस वृत्रासुरने उस परमपदका ज्ञान कैसे प्राप्त कर लिया? यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ २ ॥

भवता कथितं ह्येतच्छ्रद्दधे चाहमच्युत।
भूयस्तु मे समुत्पन्ना बुद्धिरव्यक्तदर्शनात् ॥ ३ ॥

आपने इस घटनाका वर्णन किया है; इसलिये मैं इसे सत्य मानता और इसपर विश्वास करता हूँ; क्योंकि आप कभी सत्यसे विचलित नहीं होते हैं तथापि यह बात स्पष्टरूपसे मेरी समझमें नहीं आयी है; अतः पुनः मेरी बुद्धिमें प्रश्न उत्पन्न हो गया ॥ ३ ॥

कथं विनिहतो वृत्रः शक्रेण पुरुषर्षभ।
धार्मिको विष्णुभक्तश्च तत्त्वज्ञश्च पदान्वये ॥ ४ ॥

पुरुषप्रवर! वृत्रासुर धर्मात्मा, भगवान् विष्णुका भक्त और वेदान्तके पदोंका अन्वय करके उनके तात्पर्यको ठीक-ठीक समझनेमें कुशल था तो भी इन्द्रने उसे कैसे मार डाला? ॥ ४ ॥

एतन्मे संशयं ब्रूहि पृच्छते भरतर्षभ।
वृत्रस्तु राजशार्दूल यथा शक्रेण निर्जितः ॥ ५ ॥

भरतभूषण! नृपश्रेष्ठ! मैं यह बात आपसे पूछता हूँ, आप मेरे इस संशयका समाधान कीजिये। इन्द्रने वृत्रासुरको कैसे परास्त किया? ॥ ५ ॥

यथा चैवाभवद् युद्धं तच्चाचक्ष्व पितामह।
विस्तरेण महाबाहो परं कौतूहलं हि मे ॥ ६ ॥

महाबाहु पितामह! इन्द्र और वृत्रासुरमें किस प्रकार युद्ध हुआ था, यह विस्तारपूर्वक बताइये; इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्सुकता हो रही है ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

रथेनेन्द्रः प्रयातो वै सार्धं देवगणैः पुरा।
ददर्शाथाग्रतो वृत्रं धिष्ठितं पर्वतोपमम् ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! प्राचीन कालकी बात है, इन्द्र रथपर आरूढ़ हो देवताओंको साथ ले वृत्रासुरसे युद्ध करनेके लिये चले। उन्होंने अपने सामने खड़े हुए पर्वतके समान विशालकाय वृत्रको देखा ॥ ७ ॥

योजनानां शतान्यूर्ध्वं पञ्चोच्छ्रितमरिंदम।
शतानि विस्तरेणाथ त्रीण्येवाभ्यधिकानि वै ॥ ८ ॥

शत्रुदमन नरेश! वह पाँच सौ योजन ऊँचा था और कुछ अधिक तीन सौ योजन उसकी मोटाई थी ॥ ८ ॥

तत् प्रेक्ष्य तादृशं रूपं त्रैलोक्येनापि दुर्जयम्।
वृत्रस्य देवाः संत्रस्ता न शान्तिमुपलेभिरे ॥ ९ ॥

वृत्रासुरका वह वैसा रूप, जो तीनों लोकोंके लिये भी दुर्जय था, देखकर देवतालोग डर गये। उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी ॥ ९ ॥

शक्रस्य तु तदा राजन्नूरुस्तम्भो व्यजायत।
भयाद् वृत्रस्य सहसा दृष्ट्वा तद्रूपमुत्तमम् ॥ १० ॥

राजन्! उस समय वृत्रासुरका वह उत्तम एवं विशाल रूप देखकर सहसा भयके मारे इन्द्रकी दोनों जाँघें अकड़ गयीं ॥

ततो नादः समभवद् वादित्राणां च निःस्वनः।
देवासुराणां सर्वेषां तस्मिन् युद्धे ह्युपस्थिते ॥ ११ ॥

तदनन्तर वह युद्ध उपस्थित होनेपर समस्त देवताओं और असुरोंके दलोंमें रणवाद्योंका भीषण नाद होने लगा ॥

अथ वृत्रस्य कौरव्य दृष्ट्वा शक्रमवस्थितम्।
न सम्भ्रमो न भीः काचिदास्था वा समजायत ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन! इन्द्रको खड़ा देखकर भी वृत्रासुरके मनमें न तो घबराहट हुई, न कोई भय हुआ और न इन्द्रके प्रति उसकी कोई युद्धविषयक चेष्टा ही हुई ॥ १२ ॥

ततः समभवद् युद्धं त्रैलोक्यस्य भयंकरम्।
शक्रस्य च सुरेन्द्रस्य वृत्रस्य च महात्मनः ॥ १३ ॥

फिर तो देवराज इन्द्र और महामनस्वी वृत्रासुरमें भारी युद्ध छिड़ गया, जो तीनों लोकोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाला था ॥ १३ ॥

असिभिः पट्टिशैः शूलैः शक्तितोमरमुद्गरैः ।
शिलाभिर्विविधाभिश्च कार्मुकैश्च महास्वनैः ॥ १४ ॥
शस्त्रैश्च विविधैर्दिव्यैः पावकोल्काभिरेव च ।
देवासुरैस्ततः सैन्यैः सर्वमासीत् समाकुलम् ॥ १५ ॥

उस समय तलवार, पट्टिश, त्रिशूल, शक्ति, तोमर, मुद्गर, नाना प्रकारकी शिला, भयानक टङ्कार करनेवाले धनुष, अनेक प्रकारके दिव्य अस्त्र-शस्त्र तथा आगकी ज्वालाओंसे एवं देवताओं और असुरोंकी सेनाओंसे यह सारा आकाश व्याप्त हो गया ॥

पितामहपुरोगाश्च सर्वे देवगणास्तथा ।
ऋषयश्च महाभागास्तद् युद्धं द्रष्टुमागमन् ॥ १६ ॥
विमानाग्र्यैर्महाराज सिद्धाश्च भरतर्षभ ।
गन्धर्वाश्च विमानाग्र्यैरप्सरोभिः समागमन् ॥ १७ ॥

भरतभूषण महाराज ! ब्रह्मा आदि समस्त देवता, महाभाग ऋषि, सिद्धगण तथा अप्सराओंसहित गन्धर्व—ये सबके सब श्रेष्ठ विमानोंपर आरूढ़ हो उस अद्भुत युद्धका दृश्य देखनेके लिये वहाँ आ गये थे ॥ १६-१७ ॥

ततोऽन्तरिक्षमावृत्य वृत्रो धर्मभृतां वरः ।
अश्मवर्षेण देवेन्द्रं समाकिरदतिद्रुतम् ॥ १८ ॥

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ वृत्रासुरने आकाशको घेरकर बड़ी उतावलीके साथ देवराज इन्द्रपर पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १८ ॥

ततो देवगणाः क्रुद्धाः सर्वतः शरवृष्टिभिः ।
अश्मवर्षमपोहन्त वृत्रप्रेरितमाहवे ॥ १९ ॥

यह देख देवगण कुपित हो उठे । उन्होंने युद्धमें सब ओरसे बाणोंकी वर्षा करके वृत्रासुरके चलाये हुए पत्थरोंकी वर्षाको नष्ट कर दिया ॥ १९ ॥

वृत्रस्तु कुरुशार्दूल महामायो महाबलः ।
मोहयामास देवेन्द्रं मायायुद्धेन सर्वशः ॥ २० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! महामायावी महाबली वृत्रासुरने सब ओरसे मायामय युद्ध छेड़कर देवराज इन्द्रको मोहमें डाल दिया ॥२०॥

तस्य वृत्रार्दितस्याथ मोह आसीच्छतक्रतोः ।
रथन्तरेण तं तत्र वसिष्ठः समबोधयत् ॥ २१ ॥

वृत्रासुरसे पीड़ित हुए इन्द्रपर मोह छा गया । तब वसिष्ठजीने रथन्तर सामद्वारा वहाँ इन्द्रको सचेत किया ॥२१॥

वसिष्ठ उवाच

देवश्रेष्ठोऽसि देवेन्द्र दैत्यासुरनिबर्हण ।
त्रैलोक्यबलसंयुक्तः कस्माच्छक्र विषीदसि ॥ २२ ॥

वसिष्ठजीने कहा—देवेन्द्र ! तुम सब देवताओंमें श्रेष्ठ हो । दैत्यों तथा असुरोंका संहार करनेवाले शक्र ! तुम तो त्रिलोकीके बलसे सम्पन्न हो; फिर इस प्रकार विषादमें क्यों पड़े हो ? ॥ २२ ॥

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवश्चैव जगत्पतिः ।
सोमश्च भगवान् देवः सर्वे च परमर्षयः ॥ २३ ॥
(समुद्विग्नं समीक्ष्य त्वां स्वस्तीत्यूचुर्जयाय ते ।)

ये जगदीश्वर ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा भगवान् सोमदेव और समस्त महर्षि तुम्हें उद्विग्न देखकर तुम्हारी विजयके लिये स्वस्तिवाचन कर रहे हैं ॥ २३ ॥

मा कार्षीः कश्मलं शक्र कश्चिदेवेतरो यथा ।
आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा जहि शत्रून् सुराधिप ॥ २४ ॥

इन्द्र ! किसी साधारण मनुष्यके समान तुम कायरता न प्रकट करो । सुरेश्वर ! युद्धके लिये श्रेष्ठ बुद्धिका सहारा लेकर अपने शत्रुओंका संहार करो ॥ २४ ॥

एष लोकगुरुस्त्र्यक्षः सर्वलोकनमस्कृतः ।
निरीक्षते त्वां भगवांस्त्यज मोहं सुराधिप ॥ २५ ॥

देवराज ! ये सर्वलोकवन्दित लोकगुरु भगवान् त्रिलोचन शिव तुम्हारी ओर कृपापूर्ण दृष्टिसे देख रहे हैं । तुम मोहको त्याग दो ॥ २५ ॥

एते ब्रह्मर्षयश्चैव बृहस्पतिपुरोगमाः ।
स्तवेन शक्र दिव्येन स्तुवन्ति त्वां जयाय वै ॥ २६ ॥

शक्र ! ये बृहस्पति आदि ब्रह्मर्षि तुम्हारी विजयके लिये दिव्य स्तोत्रद्वारा स्तुति कर रहे हैं ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

एवं सम्बोध्यमानस्य वसिष्ठेन महात्मना ।
अतीव वासवस्यासीद् बलमुत्तमतेजसः ॥ २७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महात्मा वसिष्ठके द्वारा इस प्रकार सचेत किये जानेपर महातेजस्वी इन्द्रका बल बहुत बढ़ गया ॥

ततो बुद्धिमुपागम्य भगवान् पाकशासनः ।
योगेन महता युक्तस्तां मायां व्यपकर्षत ॥ २८ ॥

तब भगवान् पाकशासनने उत्तम बुद्धिका आश्रय ले महान् योगसे युक्त हो उस मायाको नष्ट कर दिया ॥ २८ ॥

ततोऽङ्गिरःसुतः श्रीमांस्ते चैव सुमहर्षयः ।
दृष्ट्वा वृत्रस्य विक्रान्तमुपागम्य महेश्वरम् ॥ २९ ॥
ऊचुर्वृत्रविनाशार्थं लोकानां हितकाम्यया ।

तदनन्तर अङ्गिराके पुत्र श्रीमान् बृहस्पति तथा बड़े-बड़े महर्षियोंने जब वृत्रासुरका पराक्रम देखा, तब महादेवजीके पास आकर लोकहितकी कामनासे वृत्रासुरके विनाशके लिये उनसे निवेदन किया ॥ २९½ ॥

ततो भगवतस्तेजो ज्वरो भूत्वा जगत्पतेः ॥ ३० ॥
समाविशत् तदा रौद्रो वृत्रं लोकपतिं तदा ।

तब जगदीश्वर भगवान् शिवका तेज रौद्र ज्वर होकर लोकेश्वर वृत्रके शरीरमें समा गया ॥ ३०½ ॥

विष्णुश्च भगवान् देवः सर्वलोकाभिपूजितः ॥ ३१ ॥
ऐन्द्रं समाविशद् वज्रं लोकसंरक्षणे रतः ।

फिर लोकरक्षापरायण सर्वलोकपूजित देवेश्वर भगवान् विष्णुने भी इन्द्रके वज्रमें प्रवेश किया ॥ ३१½ ॥

ततो बृहस्पतिर्धीमानुपागम्य शतक्रतुम् ।

वसिष्ठश्च महातेजाः सर्वे च परमर्षयः ॥ ३२ ॥
ते समासाद्य वरदं वासवं लोकपूजितम् ।
ऊचुरेकाग्रमनसो जहि वृत्रमिति प्रभो ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् बुद्धिमान् बृहस्पति, महातेजस्वी वसिष्ठ तथा सम्पूर्ण महर्षि वरदायक, लोकपूजित शतक्रतु इन्द्रके पास जाकर एकाग्रचित्त हो इस प्रकार बोले—'प्रभो ! वृत्रासुरका वध करो' ॥ ३२-३३ ॥

महेश्वर उवाच

एष वृत्रो महाञ्शक्र बलेन महता वृतः ।
विश्वात्मा सर्वगश्चैव बहुमायश्च विश्रुतः ॥ ३४ ॥

महेश्वर बोले—इन्द्र ! यह महान् वृत्रासुर बड़ी भारी सेनासे घिरा हुआ तुम्हारे सामने खड़ा है । ज्ञाननिष्ठ होनेके कारण यह सम्पूर्ण विश्वका आत्मा है । इसमें सर्वत्र गमन करनेकी शक्ति है । यह अनेक प्रकारकी मायाओंका सुविख्यात ज्ञाता भी है ॥ ३४ ॥

तदेनमसुरश्रेष्ठं त्रैलोक्येनापि दुर्जयम् ।
जहि त्वं योगमास्थाय मावमंस्थाः सुरेश्वर ॥ ३५ ॥

सुरेश्वर ! यह श्रेष्ठ असुर तीनों लोकोंके लिये भी दुर्जय है । तुम योगका आश्रय लेकर इसका वध करो । इसकी अवहेलना न करो ॥ ३५ ॥

अनेन हि तपस्तप्तं बलार्थममराधिप ।
षष्टिं वर्षसहस्राणि ब्रह्मा चास्मै वरं ददौ ॥ ३६ ॥

अमरेश्वर ! इस वृत्रासुरने बलकी प्राप्तिके लिये ही साठ हजार वर्षोंतक तप किया था और तब ब्रह्माजीने इसे मनोवाञ्छित वर दिया था ॥ ३६ ॥

महत्त्वं योगिनां चैव महामायत्वमेव च ।
महाबलत्वं च तथा तेजश्चाग्र्यं सुरेश्वर ॥ ३७ ॥

सुरेन्द्र ! उन्होंने इसे योगियोंकी महिमा, महामायावीपन, महान् बल-पराक्रम तथा सर्वश्रेष्ठ तेज प्रदान किया है ॥

एतत् त्वां मामकं तेजः समाविशति वासव ।
व्यग्रमेनं त्वमप्येनं वज्रेण जहि दानवम् ॥ ३८ ॥

वासव ! लो, यह मेरा तेज तुम्हारे शरीरमें प्रवेश करता है । इस समय दानव वृत्र ज्वरके कारण बहुत व्यग्र हो रहा है; इसी अवस्थामें तुम वज्रसे इसे मार डालो ॥ ३८ ॥

शक्र उवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादेन दितिजं सुदुरासदम् ।
वज्रेण निहनिष्यामि पश्यतस्ते सुरर्षभ ॥ ३९ ॥

इन्द्रने कहा—भगवन् ! सुरश्रेष्ठ ! आपकी कृपासे इस दुर्धर्ष दैत्यको मैं आपके देखते-देखते वज्रसे मार डालूँगा ॥

भीष्म उवाच

आविश्यमाने दैत्ये तु ज्वरेणाथ महासुरे ।
देवतानामृषीणां च हर्षान्नादो महानभूत् ॥ ४० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! जब महादैत्य वृत्रासुरके शरीरमें ज्वरने प्रवेश किया, तब देवता और ऋषियोंका महान् हर्षनाद वहाँ गूँज उठा ॥ ४० ॥

ततो दुन्दुभयश्चैव शङ्खाश्च सुमहास्वनाः ।
मुरजा डिण्डिमाश्चैव प्रावाद्यन्त सहस्रशः ॥ ४१ ॥

फिर तो दुन्दुभियाँ, जोर-जोरसे बजनेवाले शङ्ख, ढोल और नगाड़े आदि सहस्रों बाजे बजाये जाने लगे ॥ ४१ ॥

असुराणां तु सर्वेषां स्मृतिलोपो महानभूत् ।
मायानाशश्च बलवान् क्षणेन समपद्यत ॥ ४२ ॥

समस्त असुरोंकी स्मरण-शक्तिका बड़ा भारी लोप हो गया । क्षणभरमें उनकी सारी मायाओंका पूर्णरूपसे विनाश हो गया ॥ ४२ ॥

तथाविष्टमथो ज्ञात्वा ऋषयो देवतास्तथा ।
स्तुवन्तः शक्रमीशानं तथा प्राचोदयन्नपि ॥ ४३ ॥

इस प्रकार वृत्रासुरमें महादेवजीके ज्वरका आवेश हुआ जान देवता और ऋषि देवेश्वर इन्द्रकी स्तुति करते हुए उन्हें वृत्रवधके लिये प्रेरणा देने लगे ॥ ४३ ॥

रथस्थस्य हि शक्रस्य युद्धकाले महात्मनः ।
ऋषिभिः स्तूयमानस्य रूपमासीत् सुदुर्दृशम् ॥ ४४ ॥

युद्धके समय रथपर बैठकर ऋषियोंके द्वारा अपनी स्तुति सुनते हुए महामना इन्द्रका रूप ऐसा तेजस्वी प्रतीत होता था कि उसकी ओर देखना भी अत्यन्त कठिन जान पड़ता था ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रवधे एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वृत्रासुरका वधविषयक दो सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं)

द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वृत्रासुरका वध और उससे प्रकट हुई ब्रह्महत्याका ब्रह्माजीके द्वारा चार स्थानोंमें विभाजन

भीष्म उवाच

वृत्रस्य तु महाराज ज्वराविष्टस्य सर्वशः ।
अभवन् यानि लिङ्गानि शरीरे तानि मे शृणु ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज ! ज्वरसे आविष्ट हुए वृत्रासुरके शरीरमें जो लक्षण प्रकट हुए थे, उन्हें मुझसे सुनो ॥

ज्वलितास्योऽभवद् घोरो वैवर्ण्यं चागमत् परम् ।
गात्रकम्पश्च सुमहाञ्श्वासश्चाप्यभवन्महान् ॥ २ ॥

उसके मुखमें विशेष जलन होने लगी । उसकी आकृति बड़ी भयानक हो गयी । अङ्गकान्ति बहुत फीकी पड़ गयी । शरीर जोर-जोरसे काँपने लगा तथा बड़े वेगसे साँस चलने लगी ॥

रोमहर्षश्च तीव्रोऽभून्निःश्वासश्च महान् नृप ।
शिवा चाशिवसंकाशा तस्य वक्त्रात् सुदारुणा ॥ ३ ॥

निष्पपात महाघोरा स्मृतिः सा तस्य भारत ।

नरेश्वर ! उसके सारे शरीरमें तीव्र रोमाञ्च हो आया। वह लंबी साँस खींचने लगा। भरतनन्दन! वृत्रासुरके मुखसे अत्यन्त भयंकर अकल्याणस्वरूपा महाघोर गीदड़ीके रूपमें उसकी स्मरणशक्ति ही बाहर निकल पड़ी ॥ ३½ ॥

उल्काश्च ज्वलितास्तस्य दीप्ताः पार्श्वे प्रपेदिरे ॥ ४ ॥
गृध्राः कङ्का बलाकाश्च वाचोऽमुञ्चन् सुदारुणाः ।
वृत्रस्योपरि संहृष्टाश्चक्रवत् परिबभ्रमुः ॥ ५ ॥

उसके पार्श्वभागमें प्रज्वलित एवं प्रकाशित उल्काएँ गिरने लगीं। गीध, कंक, बगले आदि भयंकर पक्षी अपनी बोली सुनाने लगे और एक दूसरेसे सटकर वृत्रासुरके ऊपर चक्रकी भाँति घूमने लगे ॥ ४-५ ॥

ततस्तं रथमास्थाय देवाप्यायित आहवे ।
वज्रोद्यतकरः शक्रस्तं दैत्यं समवैक्षत ॥ ६ ॥

तदनन्तर महादेवजीके तेजसे परिपुष्ट हो वज्र हाथमें लिये हुए इन्द्रने रथपर बैठकर युद्धमें उस दैत्यकी ओर देखा ॥

अमानुषमथो नादं स मुमोच महासुरः ।
व्यजृम्भच्चैव राजेन्द्र तीव्रज्वरसमन्वितः ॥ ७ ॥

राजेन्द्र! इसी समय तीव्र ज्वरसे पीड़ित हो उस महान् असुरने अमानुषी गर्जना की और बारंबार जँभाई ली ॥ ७ ॥

अथास्य जृम्भतः शक्रस्ततो वज्रमवासृजत् ।
स वज्रः सुमहातेजाः कालाग्निसदृशोपमः ॥ ८ ॥

जँभाई लेते समय ही इन्द्रने उसके ऊपर वज्रका प्रहार किया। वह महातेजस्वी वज्र कालाग्निके समान जान पड़ता था ॥

क्षिप्रमेव महाकायं वृत्रं दैत्यमपातयत् ।
ततो नादः समभवत् पुनरेव समन्ततः ॥ ९ ॥
वृत्रं विनिहतं दृष्ट्वा देवानां भरतर्षभः ।

उसने उस महाकाय दैत्य वृत्रासुरको तुरंत ही धराशायी कर दिया*। भरतश्रेष्ठ! फिर तो वृत्रासुरको मारा गया देख चारों ओरसे देवताओंका सिंहनाद वहाँ बारंबार गूँजने लगा ॥

वृत्रं तु हत्वा मघवा दानवारिर्महायशाः ॥ १० ॥
वज्रेण विष्णुयुक्तेन दिवमेव समाविशत् ।

दानवशत्रु महायशस्वी इन्द्रने विष्णुके तेजसे व्याप्त हुए वज्रके द्वारा वृत्रासुरका वध करके पुनः स्वर्गलोकमें ही प्रवेश किया ॥ १०½ ॥

अथ वृत्रस्य कौरव्य शरीरादभिनिःसृता ॥ ११ ॥
ब्रह्मवध्या महाघोरा रौद्रा लोकभयावहा ।
करालदशना भीमा विकृता कृष्णपिङ्गला ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन! तदनन्तर वृत्रासुरके मृत शरीरसे सम्पूर्ण जगत्‌को भय देनेवाली महाघोर एवं क्रूर स्वभाववाली ब्रह्महत्या प्रकट हुई। उसके दाँत बड़े विकराल थे। उसकी आकृति कृष्ण और पिङ्गल वर्णकी थी। वह देखनेमें बड़ी भयानक और विकृत रूपवाली थी ॥ ११-१२ ॥

प्रकीर्णमूर्धजा चैव घोरनेत्रा च भारत ।
कपालमालिनी चैव कृत्येव भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतनन्दन! उसके बाल बिखरे हुए थे, नेत्र बड़े भयावने थे। उसके गलेमें नरमुण्डोंकी माला थी। भरतश्रेष्ठ! वह कृत्या-सी जान पड़ती थी ॥ १३ ॥

रुधिरार्द्रा च धर्मज्ञ चीरवल्कलवासिनी ।
साभिनिष्क्रम्य राजेन्द्र तादृग्रूपा भयावहा ॥ १४ ॥
वज्रिणं मृगयामास तदा भरतसत्तम ।

धर्मज्ञ राजेन्द्र! भरतसत्तम! उसके सारे अङ्ग रक्तसे भींगे हुए थे। उसने चीर और वल्कल पहन रखे थे। ऐसे विकराल रूपवाली वह भयानक ब्रह्महत्या वृत्रके शरीरसे निकलकर तत्काल ही वज्रधारी इन्द्रको खोजने लगी ॥ १४½ ॥



कस्यचित् त्वथ कालस्य वृत्रहा कुरुनन्दन ॥ १५ ॥
स्वर्गायाभिमुखः प्रायाल्लोकानां हितकाम्यया ।
सा विनिःसरमाणं तु दृष्ट्वा शक्रं महौजसम् ॥ १६ ॥

कुरुनन्दन! उस समय वृत्रविनाशक इन्द्र लोकहितकी कामनासे स्वर्गकी ओर जा रहे थे। महातेजस्वी इन्द्रको युद्धभूमिसे निकलकर जाते देख ब्रह्महत्या कुछ ही कालमें उनके पास जा पहुँची ॥ १५-१६ ॥

जग्राह वध्या देवेन्द्रं सुलग्ना चाभवत् तदा ।
स हि तस्मिन् समुत्पन्ने ब्रह्मवध्याकृते भये ॥ १७ ॥

* अध्याय २८० के ५९ वें श्लोकमें आया है कि 'वृत्रासुरने अपने आत्माको परमात्मामें लगाकर उन्हींका चिन्तन करते हुए प्राण त्याग दिये और परमेश्वरके परम धामको प्राप्त कर लिया'—यहाँ भी इतनी बात और समझ लेनी चाहिये ।

नलिन्या बिसमध्यस्थ उवासाब्दगणान् बहून् ।

उस ब्रह्महत्याने देवेन्द्रको पकड़ लिया और वह तुरंत ही उनके शरीरसे सट गयी। वह ब्रह्महत्याजनित भय उपस्थित होनेपर इन्द्र उससे पिण्ड छुड़ानेके लिये भागे और कमलकी नालके भीतर घुसकर उसीमें बहुत वर्षोंतक छिपे रहे ॥ १७½ ॥

अनुसृत्य तु यत्नात् स तया वै ब्रह्महत्यया ॥ १८ ॥
तदा गृहीतः कौरव्य निस्तेजाः समपद्यत ।

परंतु उस ब्रह्महत्याने यत्नपूर्वक उनका पीछा करके वहाँ भी उन्हें जा पकड़ा। कुरुनन्दन ! ब्रह्महत्याद्वारा पकड़ लिये जानेपर इन्द्र निस्तेज हो गये ॥ १८½ ॥

तस्या व्यपोहने शक्रः परं यत्नं चकार ह ॥ १९ ॥
न चाशकत् तां देवेन्द्रो ब्रह्मवध्यां व्यपोहितुम् ।

देवेन्द्रने उसके निवारणके लिये महान् प्रयत्न किया; परंतु किसी तरह भी वे उसे दूर न कर सके ॥ १९½ ॥

गृहीत एव तु तया देवेन्द्रो भरतर्षभ ॥ २० ॥
पितामहमुपागम्य शिरसा प्रत्यपूजयत् ।

भरतभूषण ! ब्रह्महत्याने देवराज इन्द्रको अपना बंदी बना ही लिया। वे उसी अवस्थामें ब्रह्माजीके पास गये और मस्तक झुकाकर उन्होंने ब्रह्माजीको प्रणाम किया ॥ २०½ ॥

ज्ञात्वा गृहीतं शक्रं स द्विजप्रवरवध्यया ॥ २१ ॥
ब्रह्मा स चिन्तयामास तदा भरतसत्तम ।

भरतसत्तम ! एक श्रेष्ठ ब्राह्मणके वधसे पैदा हुई ब्रह्महत्याने इन्द्रको पकड़ लिया है—यह जानकर ब्रह्माजी विचार करने लगे ॥ २१½ ॥

तामुवाच महाबाहो ब्रह्मवध्यां पितामहः ॥ २२ ॥
स्वरेण मधुरेणाथ सान्त्वयन्निव भारत ।

महाबाहु भारत ! तब ब्रह्माजीने उस ब्रह्महत्याको अपनी मीठी वाणीद्वारा सान्त्वना देते हुए-से उससे कहा— ॥ २२½ ॥

मुच्यतां त्रिदशेन्द्रोऽयं मत्प्रियं कुरु भाविनि ॥ २३ ॥
ब्रूहि किं ते करोम्यद्य कामं किं त्वमिहेच्छसि ॥ २४ ॥

'भाविनि ! ये देवताओंके राजा इन्द्र हैं, इन्हें छोड़ दो। मेरा यह प्रिय कार्य करो। बोलो, मैं तुम्हारी कौन-सी अभिलाषा पूर्ण करूँ। तुम जिस किसी मनोरथको पाना चाहो उसे बताओ' ॥ २३-२४ ॥

ब्रह्मवध्योवाच

त्रिलोकपूजिते देवे प्रीते त्रैलोक्यकर्तरि ।
कृतमेव हि मन्यामि निवासं तु विधत्स्व मे ॥ २५ ॥

ब्रह्महत्या बोली—तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले त्रिभुवनपूजित आप परमदेवके प्रसन्न हो जानेपर मैं अपने सारे मनोरथोंको पूर्ण हुआ ही मानती हूँ। अब आप मेरे लिये केवल निवासस्थानका प्रबन्ध कर दीजिये ॥ २५ ॥

त्वया कृतेयं मर्यादा लोकसंरक्षणार्थिना ।
स्थापना वै सुमहती त्वया देव प्रवर्तिता ॥ २६ ॥

आपने सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षाके लिये यह धर्मकी मर्यादा बाँधी है। देव ! आपहीने इस महत्त्वपूर्ण मर्यादाकी स्थापना करके इसे चलाया है ॥ २६ ॥

प्रीते तु त्वयि धर्मज्ञ सर्वलोकेश्वर प्रभो ।
शक्रादपगमिष्यामि निवासं संविधत्स्व मे ॥ २७ ॥

धर्मके ज्ञाता सर्वलोकेश्वर प्रभो ! जब आप प्रसन्न हैं तो मैं इन्द्रको छोड़कर हट जाऊँगी; परंतु आप मेरे लिये निवासस्थानकी व्यवस्था कर दीजिये ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

तथेति तां प्राह तदा ब्रह्मवध्यां पितामहः ।
उपायतः स शक्रस्य ब्रह्मवध्यां व्यपोहत ॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब ब्रह्माजीने ब्रह्महत्यासे कहा—'बहुत अच्छा, मैं तुम्हारे रहनेकी व्यवस्था करता हूँ' ऐसा कहकर उन्होंने उपायद्वारा इन्द्रकी ब्रह्महत्याको दूर किया ॥ २८ ॥

ततः स्वयम्भुवा ध्यातस्तत्र वह्निर्महात्मना ।
ब्रह्माणमुपसंगम्य ततो वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

तदनन्तर महात्मा स्वयम्भूने वहाँ अग्निदेवका स्मरण किया। उनके स्मरण करते ही वे ब्रह्माजीके पास आ गये और इस प्रकार बोले— ॥ २९ ॥

प्राप्तोऽस्मि भगवन् देव त्वत्सकाशमनिन्दित ।
यत् कर्तव्यं मया देव तद् भवान् वक्तुमर्हसि ॥ ३० ॥

'भगवन् ! अनिन्द्य देव ! मैं आपके निकट आया हूँ। प्रभो ! मुझे जो कार्य करना हो, उसके लिये आप मुझे आज्ञा दें' ॥ ३० ॥

ब्रह्मोवाच

बहुधा विभजिष्यामि ब्रह्मवध्यामिमामहम् ।
शक्रस्याघविमोक्षार्थं चतुर्भागं प्रतीच्छ वै ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अग्निदेव ! मैं इन्द्रको पापमुक्त करनेके लिये इस ब्रह्महत्याके कई भाग करूँगा। इसका एक चतुर्थांश तुम भी ग्रहण कर लो ॥ ३१ ॥

अग्निरुवाच

मम मोक्षस्य कोऽन्तो वै ब्रह्मन् ध्यायस्व वै प्रभो ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वतो लोकपूजित ॥ ३२ ॥

अग्निने कहा—ब्रह्मन् ! प्रभो ! मेरे लिये आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, परंतु मैं भी इस ब्रह्महत्यासे मुक्त हो सकूँ, इसके लिये इसकी अन्तिम अवधि क्या होगी, इसपर आप विचार करें। विश्ववन्द्य पितामह ! मैं इस बातको ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ। ३२।

ब्रह्मोवाच

यस्त्वां ज्वलन्तमासाद्य स्वयं वै मानवः क्वचित् ।
बीजौषधिरसैर्वह्ने न यक्ष्यति तमोवृतः ॥ ३३ ॥
तमेषा यास्यति क्षिप्रं तत्रैव च निवत्स्यति ।

ब्रह्मवध्या हव्यवाह व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ३४ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अग्निदेव ! यदि किसी स्थानपर तुम प्रज्वलित हो रहे हो, वहाँ पहुँचकर कोई अधिकारी मानव तमोगुणसे आवृत होनेके कारण बीज, ओषधि या रसोंसे स्वयं ही तुम्हारा पूजन नहीं करेगा तो उसीपर तुरंत यह ब्रह्महत्या चली जायगी और उसीके भीतर निवास करने लगेगी; अतः हव्यवाहन ! तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ३३-३४ ॥

इत्युक्तः प्रतिजग्राह तद् वचो हव्यकव्यभुक् ।
पितामहस्य भगवांस्तथा च तदभूत् प्रभो ॥ ३५ ॥

प्रभो ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर हव्य और कव्यके भोक्ता भगवान् अग्निदेवने उन पितामहकी वह आज्ञा स्वीकार कर ली। इस प्रकार ब्रह्महत्याका एक चौथाई भाग अग्निमें चला गया ॥ ३५ ॥

ततो वृक्षौषधितृणं समाहूय पितामहः ।
इममर्थं महाराज वक्तुं समुपचक्रमे ॥ ३६ ॥

महाराज ! इसके बाद पितामह वृक्ष, तृण और ओषधियोंको बुलाकर उनसे भी वही बात कहने लगे ॥ ३६ ॥

(*ब्रह्मोवाच*

इयं वृत्रादनुप्राप्ता ब्रह्महत्या महाभया ।
पुरुहूतं चतुर्थांशमस्या यूयं प्रतीच्छथ ॥)

ब्रह्माजी बोले—वृत्रासुरके वधसे यह महाभयंकर ब्रह्महत्या प्रकट होकर इन्द्रके पीछे लगी है । तुमलोग उसका एक चौथाई भाग स्वयं ग्रहण कर लो ॥

ततो वृक्षौषधितृणं तथैवोक्तं यथातथम् ।
व्यथितं वह्निवद् राजन् ब्रह्माणमिदमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

राजन् ! ब्रह्माजीने जब उसी प्रकार सब बातें ठीक-ठीक सामने रख दीं, तब अग्निके ही समान वृक्ष, तृण और ओषधियोंका समुदाय भी व्यथित हो उठा और उन सबने ब्रह्माजीसे इस प्रकार कहा—॥ ३७ ॥

अस्माकं ब्रह्मवध्यायाः कोऽन्तो लोकपितामह ।
दैवेनाभिहतानस्मान् न पुनर्हन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥

'लोकपितामह ! हमारी इस ब्रह्महत्याका अन्त क्या होगा ? हम तो यों ही दैवके मारे हुए स्थावर योनिमें पड़े हैं; अतः अब आप पुनः हमें न मारें ॥ ३८ ॥

वयमग्निं तथा शीतं वर्षं च पवनेरितम् ।
सहामः सततं देव तथा च्छेदनभेदने ॥ ३९ ॥

ब्रह्मवध्यामिमामद्य भवतः शासनाद् वयम् ।
ग्रहीष्यामस्त्रिलोकेश मोक्षं चिन्तयतां भवान् ॥ ४० ॥

'देव ! त्रिलोकीनाथ ! हमलोग सदा अग्नि और धूपका ताप, सर्दी, वर्षा, आँधी और अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा भेदन-छेदनका कष्ट सहते रहते हैं । आज आपकी आज्ञासे इस ब्रह्महत्याको भी ग्रहण कर लेंगे; किंतु आप इनसे हमारे छुटकारेका उपाय भी तो सोचिये' ॥ ३९-४० ॥

ब्रह्मोवाच

पर्वकाले तु सम्प्राप्ते यो वै च्छेदनभेदनम् ।
करिष्यति नरो मोहात् तमेषानुगमिष्यति ॥ ४१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—संक्रान्ति, ग्रहण, पूर्णिमा, अमावास्या आदि पर्वकाल प्राप्त होनेपर जो मनुष्य मोहवश तुम्हारा भेदन-छेदन करेगा, उसीके पीछे तुम्हारी यह ब्रह्महत्या लग जायगी ॥

भीष्म उवाच

ततो वृक्षौषधितृणमेवमुक्तं महात्मना ।
ब्रह्माणमभिसम्पूज्य जगामाशु यथागतम् ॥ ४२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महात्मा ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर वृक्ष, ओषधि और तृणका समुदाय उनकी पूजा करके जैसे आया था, वैसे ही शीघ्र लौट गया ॥ ४२ ॥

आहूयाप्सरसो देवस्ततो लोकपितामहः ।
वाचा मधुरया प्राह सान्त्वयन्निव भारत ॥ ४३ ॥

भारत ! तत्पश्चात् लोकपितामह ब्रह्माजीने अप्सराओंको बुलाकर उन्हें मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना देते हुए-से कहा—

इयमिन्द्रादनुप्राप्ता ब्रह्मवध्या वराङ्गनाः ।
चतुर्थमस्या भागांशं मयोक्ताः सम्प्रतीच्छत ॥ ४४ ॥

'सुन्दरियो ! यह ब्रह्महत्या इन्द्रके पाससे आयी है। तुमलोग मेरे कहनेसे इसका एक चतुर्थांश ग्रहण कर लो' ॥

अप्सरस ऊचुः

ग्रहणे कृतबुद्धीनां देवेश तव शासनात् ।
मोक्षं समयतोऽस्माकं चिन्तयस्व पितामह ॥ ४५ ॥

अप्सराएँ बोलीं—देवेश पितामह ! आपकी आज्ञासे हमने इस ब्रह्महत्याको ग्रहण कर लेनेका विचार किया है, किंतु इससे हमारे छुटकारेके समयका भी विचार करनेकी कृपा करें ॥ ४५ ॥

ब्रह्मोवाच

रजस्वलासु नारीषु यो वै मैथुनमाचरेत् ।
तमेषा यास्यति क्षिप्रं व्येतु वो मानसो ज्वरः ॥ ४६ ॥

ब्रह्माजीने कहा—जो पुरुष रजस्वला स्त्रियोंके साथ मैथुन करेगा, उसपर यह ब्रह्महत्या शीघ्र चली जायगी; अतः तुम्हारी यह मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥

भीष्म उवाच

तथेति हृष्टमनस इत्युक्त्वाप्सरसां गणाः ।
स्वानि स्थानानि सम्प्राप्य रेमिरे भरतर्षभ ॥ ४७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! यह सुनकर अप्सराओंका मन प्रसन्न हो गया । वे 'बहुत अच्छा' कहकर अपने-अपने स्थानोंमें जाकर विहार करने लगीं ॥ ४७ ॥

ततस्त्रिलोककृद् देवः पुनरेव महातपाः ।
अपः संचिन्तयामास ध्यातास्ताश्चाप्यथागमन् ॥ ४८ ॥

तब त्रिभुवनकी सृष्टि करनेवाले महातपस्वी भगवान् ब्रह्माने पुनः जलका चिन्तन किया । उनके स्मरण करते ही तुरंत जल देवता वहाँ उपस्थित हो गये ॥ ४८ ॥

तास्तु सर्वाः समागम्य ब्रह्माणममितौजसम् ।
इदमूचुर्वचो राजन् प्रणिपत्य पितामहम् ॥ ४९ ॥

राजन् ! वे सब अमित तेजस्वी पितामह ब्रह्माजीके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार बोले–॥ ४९ ॥

इमाः स्म देव सम्प्राप्तास्त्वत्सकाशमरिंदम ।
शासनात् तव लोकेश समाज्ञापय नः प्रभो ॥ ५० ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले प्रभो ! देव ! लोकनाथ ! हम आपकी आज्ञासे सेवामें उपस्थित हुए हैं । हमें आज्ञा दीजिये, हम कौन-सी सेवा करें ?' ॥ ५० ॥

ब्रह्मोवाच

इयं वृत्रादनुप्राप्ता पुरुहूतं महाभया ।
ब्रह्मवध्या चतुर्थांशमस्या यूयं प्रतीच्छत ॥ ५१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—वृत्रासुरके वधसे इन्द्रको यह महाभयंकर ब्रह्महत्या प्राप्त हुई है । तुमलोग इसका एक चौथाई भाग ग्रहण कर लो ॥ ५१ ॥

आप ऊचुः

एवं भवतु लोकेश यथा वदसि नः प्रभो ।
मोक्षं समयतोऽस्माकं संचिन्तयितुमर्हसि ॥ ५२ ॥

जलदेवताने कहा—लोकेश्वर ! प्रभो ! आप जैसा कहते हैं, ऐसा ही होगा; परंतु हम इस ब्रह्महत्यासे किस समय छुटकारा पायेंगे, इसका भी विचार कर लें ॥ ५२ ॥

त्वं हि देवेश सर्वस्य जगतः परमा गतिः ।
कोऽन्यः प्रसादो हि भवेद् यन्नः कृच्छ्रात् समुद्धरेत् ॥ ५३ ॥

देवेश्वर ! आप ही इस सम्पूर्ण जगत्‌के परम आश्रय हैं । आप हमारा इस संकटसे उद्धार कर दें, इससे बढ़कर हम लोगोंपर दूसरा कौन अनुग्रह होगा ॥ ५३ ॥

ब्रह्मोवाच

अल्पा इति मतिं कृत्वा यो नरो बुद्धिमोहितः ।
श्लेष्ममूत्रपुरीषाणि युष्मासु प्रतिमोक्ष्यति ॥ ५४ ॥
तमियं यास्यति क्षिप्रं तत्रैव च निवत्स्यति ।
तथा वो भविता मोक्ष इति सत्यं ब्रवीमि वः ॥ ५५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—जो मनुष्य अपनी बुद्धिकी मन्दतासे मोहित होकर जलमें तुच्छ बुद्धि करके तुम्हारे भीतर थूक, खँखार या मल-मूत्र डालेगा, तुम्हें छोड़कर यह ब्रह्महत्या तुरंत उसीपर चली जायगी और उसीके भीतर निवास करेगी । इस प्रकार तुमलोगोंका ब्रह्महत्यासे उद्धार हो जायगा, यह मैं सत्य कहता हूँ ॥ ५४-५५ ॥

ततो विमुच्य देवेन्द्रं ब्रह्मवध्या युधिष्ठिर ।
यथा विसृष्टं तं वासमगमद् देवशासनात् ॥ ५६ ॥

युधिष्ठिर ! तदनन्तर देवराज इन्द्रको छोड़कर वह ब्रह्महत्या ब्रह्माजीकी आज्ञासे उनके दिये हुए पूर्वोक्त निवासस्थानोंको चली गयी ॥ ५६ ॥

एवं शक्रेण सम्प्राप्ता ब्रह्मवध्या जनाधिप ।
पितामहमनुज्ञाप्य सोऽश्वमेधमकल्पयत् ॥ ५७ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार इन्द्रको ब्रह्महत्या प्राप्त हुई थी, फिर उन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञा लेकर अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ५७ ॥

श्रूयते च महाराज सम्प्राप्ता वासवेन वै ।
ब्रह्मवध्या ततः शुद्धिं हयमेधेन लब्धवान् ॥ ५८ ॥

महाराज ! सुननेमें आता है कि इन्द्रको जो ब्रह्महत्या लगी थी, उससे उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करके ही शुद्धि लाभ की थी ॥ ५८ ॥

समवाप्य श्रियं देवो हत्वारींश्च सहस्रशः ।
प्रहर्षमतुलं लेभे वासवः पृथिवीपते ॥ ५९ ॥

पृथ्वीनाथ ! देवराज इन्द्रने सहस्रों शत्रुओंका वध करके अपनी खोयी हुई राजलक्ष्मीको पाकर अनुपम आनन्द प्राप्त किया ॥ ५९ ॥

वृत्रस्य रुधिराच्चैव शिखण्डाः पार्थ जज्ञिरे ।
द्विजातिभिरभक्ष्यास्ते दीक्षितैश्च तपोधनैः ॥ ६० ॥

कुन्तीनन्दन ! वृत्रासुरके रक्तसे बहुतेरे छत्रक उत्पन्न हुए थे, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये तथा यज्ञकी दीक्षा लेनेवालोंके लिये और तपस्वियोंके लिये अभक्षणीय हैं ॥ ६० ॥

सर्वावस्थं त्वमप्येषां द्विजातीनां प्रियं कुरु ।
इमे हि भूतले देवाः प्रथिताः कुरुनन्दन ॥ ६१ ॥

कुरुनन्दन ! तुम भी इन ब्राह्मणोंका सभी अवस्थाओंमें प्रिय करो । ये इस पृथ्वीपर देवताके रूपमें विख्यात हैं ॥ ६१ ॥

एवं शक्रेण कौरव्य बुद्धिसौक्ष्म्यान्महासुरः ।
उपायपूर्वं निहतो वृत्रो ह्यमिततेजसा ॥ ६२ ॥

कुरुकुलभूषण ! इस तरह अमित तेजस्वी देवराज इन्द्रने अपनी सूक्ष्म बुद्धिसे काम लेकर उपायपूर्वक महान् असुर वृत्रका वध किया था ॥ ६२ ॥

एवं त्वमपि कौन्तेय पृथिव्यामपराजितः ।
भविष्यसि यथा देवः शतक्रतुरमित्रहा ॥ ६३ ॥

कुन्तीकुमार ! जैसे स्वर्गलोकमें शत्रुसूदन इन्द्रदेव विजयी हुए थे, उसी प्रकार तुम भी इस पृथ्वीपर किसीसे पराजित होनेवाले नहीं हो ॥ ६३ ॥

ये तु शक्रकथां दिव्यामिमां पर्वसु पर्वसु ।
विप्रमध्ये वदिष्यन्ति न ते प्राप्स्यन्ति किल्बिषम् ॥ ६४ ॥

जो प्रत्येक पर्वके दिन ब्राह्मणोंकी सभामें इस दिव्य कथाका प्रवचन करेंगे, उन्हें किसी प्रकारका पाप नहीं प्राप्त होगा ॥ ६४ ॥

इत्येतद् वृत्रमाश्रित्य शक्रस्यात्यद्भुतं महत्।
कथितं कर्म ते तात किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ ६५॥

तात ! इस प्रकार वृत्रासुरके प्रसंगसे मैंने तुम्हें यह इन्द्रका अत्यन्त अद्भुत चरित्र सुना दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ब्रह्महत्याविभागे द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ब्रह्महत्याका विभाजनविषयक दो सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं)

त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शिवजीद्वारा दक्षयज्ञका भंग और उनके क्रोधसे ज्वरकी उत्पत्ति तथा उसके विविध रूप

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
अस्मिन् वृत्रवधे देव विवक्षा मम जायते॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण महाप्राज्ञ पितामह ! देव ! इस वृत्रवधके प्रसंगमें मुझे कुछ पूछनेकी इच्छा हो रही है ॥ १ ॥

ज्वरेण मोहितो वृत्रः कथितस्ते जनाधिप।
निहतो वासवेनेह वज्रेणेति तदानघ॥ २॥

निष्पाप जनेश्वर ! आपने कहा है कि वृत्रासुर ज्वरसे मोहित हो गया था, उसी अवस्थामें इन्द्रने अपने वज्रसे उसे मार डाला ॥ २ ॥

कथमेष महाप्राज्ञ ज्वरः प्रादुर्बभौ कुतः।
ज्वरोत्पत्तिं निपुणतः श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो॥ ३॥

महामते ! प्रभो ! यह ज्वर कैसे और कहाँसे उत्पन्न हुआ ? मैं ज्वरकी उत्पत्तिका प्रसंग भलीभाँति सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् ज्वरस्येमं सम्भवं लोकविश्रुतम्।
विस्तरं चास्य वक्ष्यामि यादृशश्चैव भारत॥ ४॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! ज्वरकी उत्पत्तिका यह वृत्तान्त सम्पूर्ण लोकोंमें प्रसिद्ध है, सुनो। भारत ! यह प्रसंग जैसा है, उसे मैं विस्तारपूर्वक बता रहा हूँ ॥ ४ ॥

पुरा मेरोर्महाराज शृङ्गं त्रैलोक्यपूजितम्।
ज्योतिष्कं नाम सावित्रं सर्वरत्नविभूषितम्॥ ५॥
अप्रमेयमनाधृष्यं सर्वलोकेषु भारत।

भरतनन्दन ! महाराज ! पूर्वकालमें सुमेरु पर्वतका ज्योतिष्क नामसे प्रसिद्ध एक शिखर था, जो सविता (सूर्य) देवतासे सम्बन्ध रखनेके कारण सावित्र कहलाता था। वह सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित, अप्रमेय, समस्त लोकोंके लिये अगम्य और तीनों लोकोंद्वारा पूजित था ॥ ५½ ॥

तत्र देवो गिरितटे हेमधातुविभूषिते॥ ६॥
पर्यङ्क इव विभ्राजन्नुपविष्टो बभूव ह।
शैलराजसुता चास्य नित्यं पार्श्वे स्थिता बभौ॥ ७॥

सुवर्णमय धातुसे विभूषित उस पर्वतशिखरके तटपर बैठे हुए महादेवजी उसी प्रकार अपूर्व शोभा पाते थे मानो किसी सुन्दर पर्यङ्कपर बैठे हों। वहीं प्रतिदिन उनके वामपार्श्वमें रहकर गिरिराजनन्दिनी भगवती पार्वती भी अनुपम शोभा पाती थीं ॥ ६-७ ॥

तथा देवा महात्मानो वसवश्चामितौजसः।
तथैव च महात्मानावश्विनौ भिषजां वरौ।
तथा वैश्रवणो राजा गुह्यकैरभिसंवृतः॥ ८॥
यक्षाणामीश्वरः श्रीमान् कैलासनिलयः प्रभुः।
(शङ्खपद्मनिधिभ्यां च ऋद्ध्या परमया सह।)
उपासन्त महात्मानमुशना च महामुनिः॥ ९॥

इसी प्रकार वहाँ बहुत-से महामनस्वी देवता, अमित तेजस्वी वसुगण, चिकित्सकोंमें श्रेष्ठ महामना अश्विनीकुमार, शङ्खनिधि, पद्मनिधि तथा उत्तम ऋद्धिके साथ गुह्यकोंसे घिरे हुए कैलासवासी यक्षपति प्रभुतासम्पन्न श्रीमान् राजा कुबेर तथा महामुनि शुक्राचार्य—ये सभी परमात्मा महादेवजीकी उपासना किया करते थे ॥ ८-९ ॥

सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव च महर्षयः।
अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा देवर्षयोऽपरे॥ १०॥
विश्वावसुश्च गन्धर्वस्तथा नारदपर्वतौ।
अप्सरोगणसंघाश्च समाजग्मुरनेकशः॥ ११॥

सनत्कुमार आदि महर्षि, अङ्गिरा आदि तथा अन्य देवर्षि, विश्वावसु गन्धर्व, नारद, पर्वत और अप्सराओंके अनेक समुदाय उस पर्वतपर महादेवजीकी आराधनाके लिये आया करते थे ॥ १०-११ ॥

ववौ सुखः शिवो वायुर्नानागन्धवहः शुचिः।
सर्वर्तुकुसुमोपेताः पुष्पवन्तो द्रुमास्तथा॥ १२॥

वहाँ नाना प्रकारकी सुगन्धको फैलानेवाली, पवित्र सुखद एवं मङ्गलमयी वायु चलती रहती थी। सभी ऋतुओंके फूलोंसे सुशोभित होनेवाले खिले हुए वृक्ष उस शिखरकी शोभा बढ़ाते थे ॥ १२ ॥

तथा विद्याधराश्चैव सिद्धाश्चैव तपोधनाः।
महादेवं पशुपतिं पर्युपासन्त भारत ॥ १३ ॥

भारत ! तपस्याके धनी सिद्ध और विद्याधर भी वहाँ पशुपति महादेवजीकी उपासनामें तत्पर रहते थे ॥ १३ ॥

भूतानि च महाराज नानारूपधराण्यथ ।
राक्षसाश्च महारौद्राः पिशाचाश्च महाबलाः ॥ १४ ॥
बहुरूपधरा हृष्टा नानाप्रहरणोद्यताः।
देवस्यानुचरास्तत्र तस्थिरे चानलोपमाः ॥ १५ ॥

महाराज ! अनेक रूप धारण करनेवाले भूत, महाभयङ्कर राक्षस, महाबली और बहुत-से रूप धारण करनेवाले पिशाच, जो महादेवजीके अनुचर थे, वहाँ हर्षमें भरकर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये खड़े रहते थे । वे सब-के-सब अग्निके समान तेजस्वी थे ॥ १४-१५ ॥

नन्दी च भगवांस्तत्र देवस्यानुमते स्थितः।
प्रगृह्य ज्वलितं शूलं दीप्यमानः स्वतेजसा ॥ १६ ॥

महादेवजीकी आज्ञासे भगवान् नन्दी अपने तेजसे देदीप्यमान हो हाथमें प्रज्वलित शूल लेकर वहाँ खड़े रहते थे ॥

गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा सर्वतीर्थजलोद्भवा।
पर्युपासत तं देवं रूपिणी कुरुनन्दन ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! समस्त तीर्थोंके जलोंको लेकर प्रकट हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजी वहाँ दिव्यरूप धारण करके देवाधिदेव महादेवजीकी आराधना करती थीं ॥ १७ ॥

स एवं भगवांस्तत्र पूज्यमानः सुरर्षिभिः।
देवैश्च सुमहातेजा महादेवो व्यतिष्ठत ॥ १८ ॥

इस प्रकार देवताओं और देवर्षियोंसे पूजित होते हुए महातेजस्वी भगवान् महादेव वहाँ नित्य विराजमान थे ॥१८॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य दक्षो नाम प्रजापतिः।
पूर्वोक्तेन विधानेन यक्ष्यमाणोऽन्वपद्यत ॥ १९ ॥

कुछ कालके अनन्तर दक्ष नामसे प्रसिद्ध प्रजापतिने पूर्वोक्त शास्त्रीय विधानके अनुसार यज्ञ करनेका संकल्प लेकर उसके लिये तैयारी आरम्भ कर दी ॥ १९ ॥

ततस्तस्य मखं देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः।
गमनाय समागम्य बुद्धिमापेदिरे तदा ॥ २० ॥

उस समय इन्द्र आदि सब देवताओंने दक्ष प्रजापतिके यज्ञमें जानेके लिये परस्पर मिलकर निश्चय किया ॥ २० ॥

ते विमानैर्महात्मानो ज्वलनार्कसमप्रभैः।
देवस्यानुमतेऽगच्छन् गङ्गाद्वारमिति श्रुतिः ॥ २१ ॥

वे महामनस्वी देवता सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी विमानोंपर बैठकर महादेवजीकी आज्ञा ले गङ्गाद्वार (हरिद्वार) को गये—यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥

प्रस्थिता देवता दृष्ट्वा शैलराजसुता तदा।
उवाच वचनं साध्वी देवं पशुपतिं पतिम् ॥ २२ ॥

देवताओंको प्रस्थित हुआ देख सती साध्वी गिरिराजनन्दिनी उमाने अपने स्वामी पशुपति महादेवजीसे पूछा—॥

भगवन् क नु यान्त्येते देवाः शक्रपुरोगमाः।
ब्रूहि तत्त्वेन तत्त्वज्ञ संशयो मे महानयम् ॥ २३ ॥

'भगवन् ! ये इन्द्र आदि देवता कहाँ जा रहे हैं ? तत्त्वज्ञ परमेश्वर ! ठीक-ठीक बताइये । मेरे मनमें यह महान् संशय उत्पन्न हुआ है' ॥ २३ ॥

महेश्वर उवाच

दक्षो नाम महाभागे प्रजानां पतिरुत्तमः।
हयमेधेन यजते तत्र यान्ति दिवौकसः ॥ २४ ॥

महेश्वरने कहा—महाभागे ! श्रेष्ठ प्रजापति दक्ष अश्वमेध यज्ञ करते हैं; उसीमें ये सब देवता जा रहे हैं ॥ २४ ॥

उमोवाच

यज्ञमेतं महादेव किमर्थं नाधिगच्छसि।
केन वा प्रतिषेधेन गमनं ते न विद्यते ॥ २५ ॥

उमा बोलीं—महादेव ! इस यज्ञमें आप क्यों नहीं पधार रहे हैं ? किस प्रतिबन्धके कारण आपका वहाँ जाना नहीं हो रहा है ? ॥२५ ॥

महेश्वर उवाच

सुरैरेव महाभागे पूर्वमेतदनुष्ठितम्।
यज्ञेषु सर्वेषु मम न भाग उपकल्पितः ॥ २६ ॥

महेश्वरने कहा—महाभागे ! देवताओंने ही पहले ऐसा निश्चय किया था । उन्होंने सभी यज्ञोंमेंसे किसीमें भी मेरे लिये भाग नियत नहीं किया ॥ २६ ॥

पूर्वोपायोपपन्नेन मार्गेण वरवर्णिनि।
न मे सुराः प्रयच्छन्ति भागं यज्ञस्य धर्मतः ॥ २७ ॥

सुन्दरि ! पूर्वनिश्चित नियमके अनुसार धर्मकी दृष्टिसे ही देवतालोग यज्ञमें मुझे भाग नहीं अर्पित करते हैं ॥२७॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेषु प्रभावाभ्यधिको गुणैः।
अजय्यश्चाप्यधृष्यश्च तेजसा यशसा श्रिया ॥ २८ ॥
अनेन ते महाभाग प्रतिषेधेन भागतः।
अतीव दुःखमुत्पन्नं वेपथुश्च ममानघ ॥ २९ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंमें सबसे अधिक प्रभावशाली, गुणवान्, अजेय, अधृष्य, तेजस्वी, यशस्वी तथा श्रीसम्पन्न हैं । महाभाग ! यज्ञमें जो इस प्रकार आपको भाग देनेका निषेध किया गया है, इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ है । अनघ ! इस अपमानसे मेरा सारा शरीर काँप रहा है ॥ २८-२९ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा तु सा देवी तदा पशुपतिं पतिम्।
तूष्णींभूताभवद् राजन् दह्यमानेन चेतसा ॥ ३० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! अपने पति भगवान् पशुपतिसे ऐसा कहकर पार्वतीदेवी चुप हो गयीं, परंतु उनका हृदय शोकसे दग्ध हो रहा था ॥ ३० ॥

अथ देव्या मतं ज्ञात्वा हृद्गतं यच्चिकीर्षितम्।
स समाज्ञापयामास तिष्ठ त्वमिति नन्दिनम् ॥ ३१ ॥

पार्वतीदेवीके मनमें क्या है और वे क्या करना चाहती हैं, इस बातको जानकर महादेवजीने नन्दीको आज्ञा दी कि तुम यहीं खड़े रहो ॥ ३१ ॥

ततो योगबलं कृत्वा सर्वयोगेश्वरेश्वरः।
तं यज्ञं स महातेजा भीमैरनुचरैस्तदा ॥ ३२ ॥
सहसा घातयामास देवदेवः पिनाकधृक्।

तदनन्तर सम्पूर्ण योगेश्वरोंके भी ईश्वर महातेजस्वी देवाधिदेव पिनाकधारी शिवने योगबलका आश्रय ले अपने भयानक सेवकोंद्वारा उस यज्ञको सहसा नष्ट करा दिया ॥

केचिन्नादानमुञ्चन्त केचिद्धासांश्च चक्रिरे ॥ ३३ ॥
रुधिरेणापरे राजंस्तत्राग्निं समवाकिरन्।

राजन्! भगवान् शिवके अनुचरोंमेंसे कोई तो जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे, किन्हींने अट्टहास करना आरम्भ कर दिया तथा दूसरे यज्ञाग्निको बुझानेके लिये उसपर रक्तकी वर्षा करने लगे ॥ ३३½ ॥

केचिद् यूपान् समुत्पाट्य बभ्रमुर्विकृताननाः ॥ ३४ ॥
आस्यैरन्ये चाग्रसन्त तथैव परिचारकान्।

कोई विकराल मुखवाले पार्षद यज्ञके यूपोंको उखाड़कर वहाँ चारों ओर चक्कर लगाने लगे। दूसरोंने यज्ञके परिचारकोंको अपने मुखका ग्रास बना लिया ॥ ३४½ ॥

ततः स यज्ञो नृपते वध्यमानः समन्ततः ॥ ३५ ॥
आस्थाय मृगरूपं वै खमेवाभ्यगमत् तदा।

नरेश्वर! इस प्रकार जब सब ओरसे आघात होने लगा, तब वह यज्ञ मृगका रूप धारण करके आकाशकी ओर ही भाग चला ॥ ३५½ ॥

तं तु यज्ञं तथारूपं गच्छन्तमुपलभ्य सः ॥ ३६ ॥
धनुरादाय बाणेन तदान्वसरत प्रभुः।

यज्ञको मृगका रूप धारण करके भागते देख भगवान् शिवने धनुष हाथमें लेकर अपने बाणके द्वारा उसका पीछा किया ॥ ३६½ ॥

ततस्तस्य सुरेशस्य क्रोधादमिततेजसः ॥ ३७ ॥
ललाटात् प्रसृतो घोरः स्वेदबिन्दुर्बभूव ह।
तस्मिन् पतितमात्रे च स्वेदबिन्दौ तदा भुवि ॥ ३८ ॥
प्रादुर्बभूव सुमहानग्निः कालानलोपमः।

तत्पश्चात् अमिततेजस्वी देवेश्वर महादेवजीके क्रोधके कारण उनके ललाटसे भयंकर पसीनेकी बूँद प्रकट हुई। उस पसीनेके बिन्दुके पृथ्वीपर पड़ते ही कालाग्निके समान विशाल अग्निपुञ्जका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ३७-३८½ ॥

तत्र चाजायत तदा पुरुषः पुरुषर्षभ ॥ ३९ ॥
ह्रस्वोऽतिमात्रं रक्ताक्षो हरिश्मश्रुर्विभीषणः।

पुरुषप्रवर! उस समय उस आगसे एक नाटा-सा पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसकी आँखें बहुत ही लाल थीं। दाढ़ी और मूँछके बाल भूरे रंगके थे। वह देखनेमें बड़ा डरावना जान पड़ता था ॥ ३९½ ॥

ऊर्ध्वकेशोऽतिरोमाङ्गः श्येनोलूकस्तथैव च ॥ ४० ॥
करालकृष्णवर्णश्च रक्तवासास्तथैव च।
तं यज्ञं सुमहासत्त्वोऽदहत् कक्षमिवानलः ॥ ४१ ॥

उसके केश ऊपरकी ओर उठे हुए थे। उसके सारे अङ्ग बाज और उल्लूके समान अतिशय रोमावलियोंसे भरे थे। शरीरका रंग काला और विकराल था। उसके वस्त्र लाल रंगके थे। उस महान् शक्तिशाली पुरुषने उस यज्ञको उसी प्रकार दग्ध कर दिया, जैसे आग सूखे काठ या घास-फूसके ढेरको जलाकर भस्म कर डालती है ॥ ४०-४१ ॥

व्यचरत् सर्वतो देवान् प्राद्रवत् स ऋषींस्तथा।
देवाश्चाप्याद्रवन् सर्वे ततो भीता दिशो दश ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् वह पुरुष सब ओर विचरने लगा और देवताओं तथा ऋषियोंकी ओर दौड़ा। उसे देखकर सब देवता भयभीत हो दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ ४२ ॥

तेन तस्मिन् विचरता पुरुषेण विशाम्पते।
पृथिवी ह्यचलद् राजन्नतीव भरतर्षभ ॥ ४३ ॥

राजन्! भरतभूषण! प्रजानाथ! उस यज्ञमें विचरते हुए उस पुरुषके पैरोंकी धमकसे यह पृथ्वी बड़े जोर-जोरसे काँपने लगी ॥ ४३ ॥

हाहाभूतं जगत् सर्वमुपलक्ष्य तदा प्रभुः।
पितामहो महादेवं दर्शयन् प्रत्यभाषत ॥ ४४ ॥

उस समय सारे जगत्में हाहाकार मच गया। यह सब देखकर भगवान् ब्रह्माने महादेवजीको जगत्की यह दुर्दशा दिखाते हुए उनसे इस प्रकार कहा ॥ ४४ ॥

ब्रह्मोवाच

भवतोऽपि सुराः सर्वे भागं दास्यन्ति वै प्रभो।
क्रियतां प्रतिसंहारः सर्वदेवेश्वर त्वया ॥ ४५ ॥

ब्रह्माजी बोले—सर्वदेवेश्वर! प्रभो! अब आप अपने बढ़े हुए उस क्रोधको शान्त कीजिये। आजसे सब देवता आपको भी यज्ञका भाग दिया करेंगे ॥ ४५ ॥

इमा हि देवताः सर्वा ऋषयश्च परंतप।
तव क्रोधान्महादेव न शान्तिमुपलेभिरे ॥ ४६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले महादेव! ये सब देवता और ऋषि आपके क्रोधसे संतप्त होकर कहीं शान्ति नहीं पा रहे हैं ॥ ४६ ॥

यश्चैष पुरुषो जातः स्वेदात् ते विबुधोत्तम।
ज्वरो नामैष धर्मज्ञ लोकेषु प्रचरिष्यति ॥ ४७ ॥

धर्मज्ञ देवेश्वर ! आपके पसीनेसे जो यह पुरुष प्रकट हुआ है, इसका नाम होगा ज्वर। यह समस्त लोकोंमें विचरण करेगा ॥ ४७ ॥

एकीभूतस्य न त्वस्य धारणे तेजसः प्रभो।
समर्था सकला पृथ्वी बहुधा सृज्यतामयम् ॥ ४८ ॥

प्रभो ! आपका तेजरूप यह ज्वर जबतक एक रूपमें रहेगा, तबतक यह सारी पृथ्वी इसे धारण करनेमें समर्थ न हो सकेगी। अतः इसे अनेक रूपोंमें विभक्त कर दीजिये ॥

इत्युक्तो ब्रह्मणा देवो भागे चापि प्रकल्पिते।
भगवन्तं तथेत्याह ब्रह्माणममितौजसम् ॥ ४९ ॥

जब ब्रह्माजीने इस प्रकार कहा और यज्ञमें भाग मिलनेकी भी व्यवस्था हो गयी, तब महादेवजी अमित-तेजस्वी भगवान् ब्रह्मासे इस प्रकार बोले—'तथास्तु' ऐसा ही हो ॥ ४९ ॥

परां च प्रीतिमगमदुत्स्मयंश्च पिनाकधृक्।
अवाप च तदा भागं यथोक्तं ब्रह्मणा भवः ॥ ५० ॥

पिनाकधारी शिवको उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई और वे मुस्कराने लगे। जैसा कि ब्रह्माजीने कहा था, उसके अनुसार उन्होंने यज्ञमें भाग प्राप्त कर लिया ॥ ५० ॥

ज्वरं च सर्वधर्मज्ञो बहुधा व्यसृजत् तदा।
शान्त्यर्थं सर्वभूतानां शृणु तच्चापि पुत्रक ॥ ५१ ॥

वत्स युधिष्ठिर ! उस समय समस्त धर्मोंके ज्ञाता भगवान् शिवने सम्पूर्ण प्राणियोंकी शान्तिके लिये ज्वरको अनेक रूपोंमें बाँट दिया, उसे भी सुन लो ॥ ५१ ॥

शीर्षाभितापो नागानां पर्वतानां शिलाजतु।
अपां तु नीलिकां विद्यान्निर्मोकं भुजगेषु च ॥ ५२ ॥
खोरकः सौरभेयाणामूषरं पृथिवीतले।
पशूनामपि धर्मज्ञ दृष्टिप्रत्यवरोधनम् ॥ ५३ ॥

हाथियोंके मस्तकमें जो ताप या पीड़ा होती है, वही उनका ज्वर है। पर्वतोंका ज्वर शिलाजितके रूपमें प्रकट होता है। सेवारको पानीका ज्वर समझना चाहिये। सर्पोंका ज्वर केंचुल है। गाय, बैलोंके खुरोंमें जो खोरक नामवाला रोग होता है, वही उनका ज्वर है। पृथ्वीका ज्वर ऊसरके रूपमें प्रकट होता है। धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! पशुओंकी दृष्टि-शक्तिका जो अवरोध होता है, वह भी उनका ज्वर ही है ॥ ५२-५३ ॥

रन्ध्रागतमथाश्वानां शिखोद्भेदश्च बर्हिणाम्।
नेत्ररोगः कोकिलस्य ज्वरः प्रोक्तो महात्मना ॥ ५४ ॥

घोड़ोंके गलेके छेदमें जो मांसखण्ड बढ़ जाता है, वही उनका ज्वर है। मोरोंकी शिखाका निकलना ही उनके लिये ज्वर है। कोकिलका जो नेत्ररोग है, उसे भी महात्मा शिवने ज्वर बताया है ॥ ५४ ॥

अवीनां पित्तभेदश्च सर्वेषामिति नः श्रुतम्।
शुकानामपि सर्वेषां हिक्किका प्रोच्यते ज्वरः ॥ ५५ ॥

समस्त भेड़ोंका पित्तभेद भी ज्वर ही है—यह हमारे सुननेमें आया है। समस्त तोतोंके लिये हिचकीको ही ज्वर बताया गया है ॥ ५५ ॥

शार्दूलेष्वथ धर्मज्ञ श्रमो ज्वर इहोच्यते।
मानुषेषु तु धर्मज्ञ ज्वरो नामैष भारत ॥ ५६ ॥

धर्मज्ञ भरतनन्दन ! सिंहोंमें थकावटका होना ही ज्वर कहलाता है; परंतु मनुष्योंमें यह ज्वरके नामसे ही प्रसिद्ध है ॥ ५६ ॥

मरणे जन्मनि तथा मध्ये चाविशते नरम्।
एतन्माहेश्वरं तेजो ज्वरो नाम सुदारुणः ॥ ५७ ॥
नमस्यश्चैव मान्यश्च सर्वप्राणिभिरीश्वरः।
अनेन हि समाविष्टो वृत्रो धर्मभृतां वरः ॥ ५८ ॥

भगवान् महेश्वरका तेजरूप यह ज्वर अत्यन्त दारुण है। यह मृत्युकालमें, जन्मके समय तथा बीचमें भी मनुष्योंके शरीरमें प्रवेश कर जाता है। यह सर्वसमर्थ माहेश्वर ज्वर समस्त प्राणियोंके लिये वन्दनीय और माननीय है। इसीने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ वृत्रासुरके शरीरमें प्रवेश किया था ॥

व्यजृम्भत ततः शक्रस्तस्मै वज्रमवासृजत्।
प्रविश्य वज्रं वृत्रं च दारयामास भारत ॥ ५९ ॥

भारत ! उस ज्वरसे पीड़ित होकर जब वह जँभाई लेने लगा, उसी समय इन्द्रने उसपर वज्रका प्रहार किया। वज्रने उसके शरीरमें घुसकर उसे चीर डाला ॥ ५९ ॥

दारितश्च स वज्रेण महायोगी महासुरः।
जगाम परमं स्थानं विष्णोरमिततेजसः ॥ ६० ॥

वज्रसे विदीर्ण हुआ महायोगी एवं महान् असुर वृत्र अमिततेजस्वी भगवान् विष्णुके परम धामको चला गया ॥

विष्णुभक्त्या हि तेनेदं जगद् व्याप्तमभूत् तदा।
तस्माच्च निहतो युद्धे विष्णोः स्थानमवाप्तवान् ॥ ६१ ॥

भगवान् विष्णुकी भक्तिके प्रभावसे ही उसने अपनी विशाल कायाद्वारा इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर लिया था। अतः युद्धमें मारे जानेपर उसने विष्णुधाम प्राप्त कर लिया ॥ ६१ ॥

इत्येष वृत्रमाश्रित्य ज्वरस्य महतो मया।
विस्तरः कथितः पुत्र किमन्यत् प्रब्रवीमि ते ॥ ६२ ॥

बेटा ! इस प्रकार वृत्रासुरके वधके प्रसंगसे मैंने महान् माहेश्वर ज्वरकी उत्पत्तिका वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कह सुनाया। अब तुमसे और क्या कहूँ ? ॥ ६२ ॥

इमां ज्वरोत्पत्तिमदीनमानसः
पठेत् सदा यः सुसमाहितो नरः।
विमुक्तरोगः स सुखी मुदा युतो
लभेत कामान् स यथामनीषितान् ।६३।

जो उदारचित्त एवं एकाग्र होकर ज्वरकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाली इस कथाको सदा पढ़ता है, वह मनुष्य रोगमुक्त, सुखी एवं प्रसन्न होकर मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ज्वरोत्पत्तिर्नाम त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ज्वरकी उत्पत्तिविषयक दो सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६३½ श्लोक हैं)

चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पार्वतीके रोष एवं खेदका निवारण करनेके लिये भगवान् शिवके द्वारा दक्षयज्ञका विध्वंस, दक्षद्वारा किये हुए शिवसहस्रनामस्तोत्रसे संतुष्ट होकर महादेवजीका उन्हें वरदान देना तथा इस स्तोत्रकी महिमा

जनमेजय उवाच

प्राचेतसस्य दक्षस्य कथं वैवस्वतेऽन्तरे।
विनाशमगमद् ब्रह्मन् हयमेधः प्रजापतेः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! वैवस्वत मन्वन्तरमें प्रचेताओंके पुत्र दक्षप्रजापतिका अश्वमेध यज्ञ कैसे नष्ट हो गया? ॥ १ ॥

देव्या मन्युकृतं मत्वा क्रुद्धः सर्वात्मकः प्रभुः।
प्रसादात् तस्य दक्षेण स यज्ञः संधितः कथम्।
एतद् वेदितुमिच्छेयं तन्मे ब्रूहि यथातथम् ॥ २ ॥

दक्षके यज्ञमें मेरा आवाहन न होना पार्वतीके दुःखका कारण बन गया है—यह जानकर भगवान् शंकर, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा हैं, जब कुपित हो उठे, तब फिर उन्हींकी कृपापूर्ण प्रसन्नतासे दक्षप्रजापतिका यह यज्ञ कैसे सम्पन्न हुआ? मैं यह वृत्तान्त जानना चाहता हूँ, आप इसे यथार्थ रूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

पुरा हिमवतः पृष्ठे दक्षो वै यज्ञमाहरत्।
गङ्गाद्वारे शुभे देशे ऋषिसिद्धनिषेविते ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—प्राचीन कालकी बात है—हिमालयके पार्श्ववर्ती गङ्गाद्वार (हरिद्वार) के शुभ देशमें, जहाँ ऋषियों तथा सिद्ध पुरुषोंका निवास है, प्रजापति दक्षने अपने यज्ञका आयोजन किया था ॥ ३ ॥

गन्धर्वाप्सरसाकीर्णे नानाद्रुमलतावृते।
ऋषिसङ्घैः परिवृतं दक्षं धर्मभृतां वरम् ॥ ४ ॥
पृथिव्यामन्तरिक्षे च ये च स्वर्लोकवासिनः।
सर्वे प्राञ्जलयो भूत्वा उपतस्थुः प्रजापतिम् ॥ ५ ॥

वह स्थान गन्धर्वों और अप्सराओंसे भरा था। भाँति-भाँतिके वृक्षसमूह और लताएँ वहाँ सब ओर छा रही थीं। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ प्रजापति दक्ष ऋषिसमुदायसे घिरे हुए बैठे। उस समय पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकके निवासी भी वहाँ जुटे हुए थे और वे सब-के-सब हाथ जोड़कर प्रजापतिको प्रणाम करके उनकी सेवामें खड़े थे ॥ ४-५ ॥

देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः।
हाहाहूहूश्च गन्धर्वौ तुम्बुरुर्नारदस्तथा ॥ ६ ॥
विश्वावसुर्विश्वसेनो गन्धर्वाप्सरसस्तथा।

देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग, राक्षस, हाहा और हूहू नामक गन्धर्व, तुम्बुरु, नारद, विश्वावसु, विश्वसेन तथा दूसरे-दूसरे गन्धर्व और अप्सराएँ वहाँ उपस्थित थीं ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्याः सह मरुद्गणैः ॥ ७ ॥
इन्द्रेण सहिताः सर्वे आगता यज्ञभागिनः।

आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य और मरुद्गण—ये सब-के-सब इन्द्रके साथ यज्ञमें भाग लेनेके लिये वहाँ पधारे थे ॥ ७½ ॥

ऊष्मपाः सोमपाश्चैव धूमपा आज्यपास्तथा ॥ ८ ॥
ऋषयः पितरश्चैव आगता ब्रह्मणा सह।

ऊष्मपा (सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले), सोमपा (सोमरस पीनेवाले), धूमपा (यज्ञमें धूम-पान करनेवाले) और आज्यपा (घृत-पान करनेवाले) पितर और ऋषि भी ब्रह्माजीके साथ उस यज्ञमें पधारे थे ॥ ८½ ॥

एते चान्ये च बहवो भूतग्रामाश्चतुर्विधाः ॥ ९ ॥
जरायुजाण्डजाश्चैव सहसा स्वेदजोद्भिजैः।

ये तथा और भी बहुत-से चतुर्विध प्राणिसमुदाय जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज वहाँ उपस्थित हुए थे ॥

आहूता मन्त्रिताः सर्वे देवाश्च सह पत्निभिः ॥ १० ॥
विराजन्ते विमानस्था दीप्यमाना इवाग्नयः।

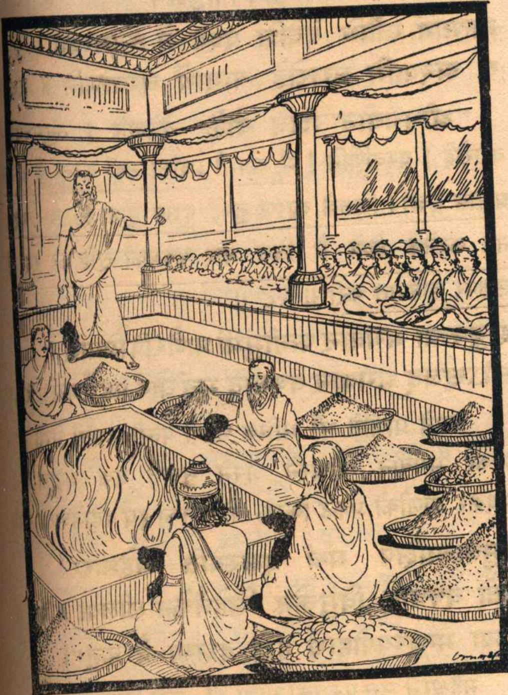
जिन्हें निमन्त्रित करके बुलाया गया था, वे सब देवता अपनी पत्नियोंके साथ विमानपर बैठकर आते समय प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १०½ ॥

तान् दृष्ट्वा मन्युनाऽऽविष्टो दधीचिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥



नायं यज्ञो न वा धर्मो यत्र रुद्रो न इज्यते ।
वधबन्धं प्रपन्ना वै किं नु कालस्य पर्ययः ॥ १२ ॥

(महामुनि दधीचि भी उस यज्ञमण्डपमें उपस्थित थे । उन्होंने देखा कि देवता और दानव आदिका समाज तो खूब जुटा हुआ है; परंतु भगवान् शंकर दिखायी नहीं देते हैं । जान पड़ता है उनका आवाहन नहीं किया गया है । इससे उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ ।) उन सब देवताओंको वहाँ उपस्थित देख दधीचि क्रोधमें भर गये और बोले—'सज्जनो ! जिसमें भगवान् शिवकी पूजा नहीं होती



है, वह न यज्ञ है और न धर्म । यह यज्ञ भी भगवान् शिवके बिना यज्ञ कहनेयोग्य नहीं रहा । इसका आयोजन करनेवाले लोग वध और बन्धनकी दुर्दशामें पड़नेवाले हैं । अहो ! कालका कैसा उलट-फेर है ॥ ११-१२ ॥

किंतु मोहान्न पश्यन्ति विनाशं पर्युपस्थितम् ।
उपस्थितं महाघोरं न बुध्यन्ति महाध्वरे ॥ १३ ॥

'इस महायज्ञमें अत्यन्त घोर विनाश उपस्थित होनेवाला है; किंतु मोहवश कोई देख नहीं रहे हैं—समझ नहीं पाते हैं' ॥

इत्युक्त्वा स महायोगी पश्यति ध्यानचक्षुषा ।
स पश्यति महादेवं देवीं च वरदां शुभाम् ॥ १४ ॥
नारदं च महात्मानं तस्या देव्याः समीपतः ।
संतोषं परमं लेभे इति निश्चित्य योगवित् ॥ १५ ॥
एकमन्त्रास्तु ते सर्वे येनेशो न निमन्त्रितः ।

ऐसा कहकर महायोगी दधीचिने जब ध्यान लगाकर देखा, तब उन्हें भगवान् शंकर और मङ्गलमयी वरदायिनी देवी पार्वतीजीका दर्शन हुआ । उनके पास ही महात्मा नारदजी भी दिखायी दिये, इससे उनको बड़ा संतोष हुआ । योगवेत्ता दधीचिको यह निश्चय हो गया कि ये सब देवता एकमत हो गये हैं । इसीलिये इन्होंने महेश्वरको यहाँ निमन्त्रित नहीं किया है ॥ १४-१५½ ॥

तस्माद् देशादपक्रम्य दधीचिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १६ ॥
अपूज्यपूजनाच्चैव पूज्यानां चाप्यपूजनात् ।
नृघातकसमं पापं शश्वत् प्राप्नोति मानवः ॥ १७ ॥

यह बात ध्यानमें आते ही दधीचि यज्ञशालासे अलग हो गये और दूर जाकर कहने लगे—'सज्जनो ! अपूजनीय पुरुषकी पूजा करनेसे और पूजनीय महापुरुषकी पूजा न करनेसे मनुष्य सदा ही नरहत्याके समान पापका भागी होता है ॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ।
देवतानामृषीणां च मध्ये सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

'मैंने पहले कभी झूठ नहीं कहा है और आगे भी कभी झूठ नहीं कहूँगा । इन देवताओं तथा ऋषियोंके बीचमें मैं सच्ची बात कह रहा हूँ' ॥ १८ ॥

आगतं पशुभर्तारं स्रष्टारं जगतः पतिम् ।
अध्वरे ह्यग्रभोक्तारं सर्वेषां पश्यत प्रभुम् ॥ १९ ॥

'भगवान् शंकर सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करनेवाले, सम्पूर्ण जीवोंके रक्षक, स्वामी तथा सबके प्रभु हैं । तुम सब लोग देख लेना, वे इस यज्ञमें प्रधान भोक्ताके रूपमें उपस्थित होंगे' ॥

दक्ष उवाच

सन्ति नो बहवो रुद्राः शूलहस्ताः कपर्दिनः ।
एकादशस्थानगता नाहं वेद्मि महेश्वरम् ॥ २० ॥

दक्षने कहा—हाथोंमें शूल और मस्तकपर जटा-जूट धारण करनेवाले बहुत-से रुद्र हमारे यहाँ रहते हैं । वे ग्यारह हैं और ग्यारह स्थानोंमें निवास करते हैं । उनके सिवा दूसरे किसी महेश्वरको मैं नहीं जानता ॥ २० ॥

दधीचिरुवाच

सर्वेषामेव मन्त्रोऽयं येनासौ न निमन्त्रितः ।
यथाहं शंकरादूर्ध्वं नान्यं पश्यामि दैवतम् ।
तथा दक्षस्य विपुलो यज्ञोऽयं न भविष्यति ॥ २१ ॥

दधीचि बोले—मैं जानता हूँ, आप सब लोगोंका ही यह मिल-जुलकर किया हुआ निश्चय है । इसीलिये उन महादेवजीको निमन्त्रित नहीं किया गया है; परंतु मैं भगवान् शंकरसे बढ़कर दूसरे किसी देवताको नहीं देखता । यदि यह सत्य है तो प्रजापति दक्षका यह विशाल यज्ञ निश्चय ही नष्ट हो जायगा ॥

दक्ष उवाच

एतन्मखेशाय सुवर्णपात्रे
हविः समस्तं विधिमन्त्रपूतम् ।

विष्णोर्नयाम्यप्रतिमस्य भागं
प्रभुर्विभुश्चाहवनीय एषः ॥ २२ ॥

दक्षने कहा—महर्षे ! देखो, विधिपूर्वक मन्त्रसे पवित्र की हुई यह सारी हवि सुवर्णके पात्रमें रखी हुई है। यह यज्ञेश्वर श्रीविष्णुको समर्पित है। भगवान् विष्णुकी कहीं समता नहीं है। मैं उन्हींको हविष्यका यह भाग अर्पित करूँगा। ये भगवान् विष्णु ही सर्वसमर्थ, व्यापक और यज्ञ-भाग अर्पित करनेके योग्य हैं ॥ २२ ॥

देव्युवाच

किं नाम दानं नियमं तपो वा
कुर्यामहं येन पतिर्ममाद्य।
लभेत भागं भगवानचिन्त्यो
ह्यर्धं तथा भागमथो तृतीयम् ॥ २३ ॥

(दूसरी ओर कैलास पर्वतपर) पार्वती देवी (बहुत दुखी होकर) कह रही थीं—आह, मैं कौन-सा व्रत, दान या तप करूँ, जिसके प्रभावसे आज मेरे पतिदेव अचिन्त्य भगवान् शंकरको यज्ञका आधा अथवा तिहाई भाग अवश्य प्राप्त हो ?' ॥ २३ ॥

एवं ब्रुवाणां भगवान् स पत्नीं
प्रहृष्टरूपः क्षुभितामुवाच।
न वेत्सि मां देवि कृशोदराङ्गि
किं नाम युक्तं वचनं मखेशे ॥ २४ ॥

क्षोभमें भरकर इस प्रकार बोलती हुई पत्नीकी बात सुनकर भगवान् शंकर हर्षसे खिल उठे और इस प्रकार बोले—'देवि ! कृशोदराङ्गि ! तू मुझे नहीं जानती, मैं सम्पूर्ण यज्ञोंका ईश्वर हूँ। मेरे विषयमें किस प्रकारके वचन कहना चाहिये, यह भी तुम नहीं जानती ॥ २४ ॥

अहं विजानामि विशालनेत्रे
ध्यानेन हीना न विदन्त्यसन्तः।
तवाद्य मोहेन च सेन्द्रदेवा
लोकास्त्रयः सर्वत एव मूढाः ॥ २५ ॥

'पर मैं सब कुछ जानता हूँ। विशाललोचने ! जिनका चित्त एकाग्र नहीं है, वे ध्यानशून्य असाधु पुरुष मेरे स्वरूपको नहीं जानते। आज तुम्हारे इस मोहसे इन्द्र आदि देवताओंसहित तीनों लोक सब ओरसे किंकर्तव्यविमूढ हो गये हैं ॥ २५ ॥

मामध्वरे शंसितारः स्तुवन्ति
रथन्तरं सामगाश्चोपगान्ति।
मां ब्राह्मणा ब्रह्मविदो यजन्ते
ममाध्वर्यवः कल्पयन्ते च भागम् ॥ २६ ॥

'यज्ञमें प्रस्तोतालोग मेरी स्तुति करते हैं। सामगान करनेवाले ब्राह्मण रथन्तर सामके रूपमें मेरी ही महिमाका गान करते हैं। वेदवेत्ता विप्र मेरा ही यजन करते और ऋत्विजलोग यज्ञमें मुझे ही भाग अर्पित करते हैं' ॥ २६ ॥

देव्युवाच

सुप्राकृतोऽपि पुरुषः सर्वः स्त्रीजनसंसदि।
स्तौति गर्वायते चापि स्वमात्मानं न संशयः ॥ २७ ॥

देवीने कहा—नाथ ! अत्यन्त गँवार पुरुष भी क्यों न हो, प्रायः सभी स्त्रियोंके बीचमें अपनी प्रशंसाके गीत गाते और अपनी श्रेष्ठतापर गर्व करते हैं—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

नात्मानं स्तौमि देवेशि पश्य मे तनुमध्यमे।
यं स्रक्ष्यामि वरारोहे यागार्थं वरवर्णिनि ॥ २८ ॥

श्रीभगवान् शिव बोले—देवेश्वरि ! तनुमध्यमे ! वरारोहे ! वरवर्णिनि ! मैं अपनी प्रशंसा नहीं करता हूँ। मेरा प्रभाव देखो। जिसके कारण तुम्हें दुःख हुआ है, उस यज्ञको नष्ट करनेके लिये मैं जिस वीर पुरुषकी सृष्टि कर रहा हूँ उसपर दृष्टिपात करो ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् पत्नीमुमां प्राणैरपि प्रियाम्।
सोऽसृजद् भगवान् वक्त्राद् भूतं घोरं प्रहर्षणम् ॥ २९ ॥

अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यारी पत्नी उमासे ऐसी बात कहकर भगवान् महेश्वरने अपने मुखसे एक अद्भुत एवं भयंकर प्राणीको प्रकट किया, जो उनका हर्ष बढ़ानेवाला था ॥

तमुवाचाक्षिप मखं दक्षस्येति महेश्वरः।
ततो वक्त्राद् विमुक्तेन सिंहेनैकेन लीलया ॥ ३० ॥
देव्या मन्युव्यपोहार्थं हतो दक्षस्य वै क्रतुः।

महेश्वरने उस पुरुषको आज्ञा दी—'वीर ! तुम दक्षके यज्ञका नाश कर दो।' फिर तो भगवान्‌के मुखसे निकले हुए उस सिंहके समान पराक्रमी एक ही वीरने पार्वतीदेवीके दुःख और क्रोधका निवारण करनेके लिये खेल-ही-खेलमें प्रजापति दक्षके उस यज्ञका विध्वंस कर डाला ॥ ३०½ ॥

मन्युना च महाभीमा महाकाली महेश्वरी ॥ ३१ ॥
आत्मनः कर्मसाक्षित्वे तेन सार्धं सहानुगा।

उस समय भवानीके क्रोधसे प्रकट हुई अत्यन्त भयंकर रूपवाली महाकाली महेश्वरीने भी अपना पराक्रम दिखानेके लिये सेवकोंसहित उस वीरके साथ प्रस्थान किया था ॥ ३१½ ॥

देवस्यानुमतं मत्वा प्रणम्य शिरसा ततः ॥ ३२ ॥
आत्मनः सदृशः शौर्याद् बलरूपसमन्वितः।
स एव भगवान् क्रोधः प्रतिरूपसमन्वितः ॥ ३३ ॥
अनन्तबलवीर्यश्च अनन्तबलपौरुषः।
वीरभद्र इति ख्यातो देव्या मन्युप्रमार्जकः ॥ ३४ ॥

(वीरभद्रने किस प्रकार उस यज्ञका विध्वंस किया, वह

प्रसङ्ग आगे बताया जाता है—) महादेवजीकी अनुमति जानकर उसने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया। वह वीर अपने ही समान शौर्य, रूप और बलसे सम्पन्न था (उसकी कहीं उपमा नहीं थी)। भगवान् शिवका वह सब कुछ करनेमें समर्थ क्रोध ही मूर्तिमान् होकर उस वीरके रूपमें प्रकट हुआ था। उसके बल, वीर्य, शक्ति और पुरुषार्थका कहीं अन्त नहीं था। पार्वतीदेवीके क्रोध और खेदका निवारण करनेवाला वह पुरुष वीरभद्रके नामसे विख्यात हुआ॥ ३२—३४॥

सोऽसृजद् रोमकूपेभ्यो रौम्यान् नाम गणेश्वरान्।
रुद्रतुल्या गणा रौद्रा रुद्रवीर्यपराक्रमाः॥ ३५॥

उसने अपने रोमकूपोंसे रौम्य नामवाले गणेश्वरोंको प्रकट किया, जो रुद्रके समान ही होनेके कारण रौद्रगण कहलाये। उन सबके बल-पराक्रम भी रुद्रके ही समान थे॥ ३५॥

ते निपेतुस्ततस्तूर्णं दक्षयज्ञविहिंसया।
भीमरूपा महाकायाः शतशोऽथ सहस्रशः॥ ३६॥
ततः किलकिलाशब्दैराकाशं पूरयन्निव।

वे भयंकर रूपधारी विशालकाय रुद्रगण सैकड़ों और हजारोंकी टोलियाँ बनाकर अपनी किलकारियोंसे आकाशको गुँजाते हुए-से दक्षयज्ञका विध्वंस करनेके लिये बड़ी तेजीके साथ टूट पड़े॥ ३६½॥

तेन शब्देन महता त्रस्तास्तत्र दिवौकसः॥ ३७॥
पर्वताश्च व्यशीर्यन्त चकम्पे च वसुंधरा।
मारुताश्चैव घूर्णन्ते चुक्षुभे वरुणालयः॥ ३८॥

उस महाभयंकर कोलाहलसे उस यज्ञमें पधारे हुए समस्त देवता व्याकुल हो उठे। पर्वत टूक-टूक होकर बिखर गये। धरती डोलने लगी, आँधी चलने लगी और समुद्रमें तूफान आ गया॥ ३७-३८॥

अग्नयो नैव दीप्यन्ते नैव दीप्यति भास्करः।
ग्रहा नैव प्रकाशन्ते नक्षत्राणि न चन्द्रमाः॥ ३९॥
ऋषयो न प्रकाशन्ते न देवा न च मानुषाः।
एवं तु तिमिरीभूते निर्दहन्त्यपमानिताः॥ ४०॥

उस समय आग नहीं जलती थी, सूर्यका प्रकाश फीका पड़ गया; ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा भी निस्तेज हो गये। इस प्रकार वहाँ चारों ओर अँधेरा छा गया। देवता, ऋषि और मनुष्य—सभी छिप गये—कोई दिखायी नहीं देते थे। दक्षसे अपमानित हुए रुद्रगण यज्ञशालामें सब ओर आग लगाने लगे॥ ३९-४०॥

प्रहरन्त्यपरे घोरा यूपानुत्पाटयन्ति च।
प्रमर्दन्ति तथा चान्ये विमर्दन्ति तथा परे॥ ४१॥

दूसरे भयंकर भूत उसी यज्ञके सदस्योंको पीटने लगे। कुछ यूप उखाड़ने लगे। बहुतेरे रुद्रगण यज्ञकी सामग्रीको कुचलने और रौंदने लगे॥ ४१॥

आधावन्ति प्रधावन्ति वायुवेगा मनोजवाः।
चूर्ण्यन्ते यज्ञपात्राणि दिव्यान्याभरणानि च॥ ४२॥

वायु और मनके समान वेगशाली कितने ही पार्षद इधर-उधर दौड़ लगाने लगे। कुछ लोग यज्ञके उपयोगमें आनेवाले पात्रों तथा दिव्य आभूषणोंको चूर-चूर कर रहे थे॥

विशीर्यमाणा दृश्यन्ते तारा इव नभस्तले।
दिव्यान्नपानभक्ष्याणां राशयः पर्वतोपमाः॥ ४३॥

उनके बिखरकर गिरते हुए टुकड़े आकाशमें छिटके हुए तारोंके समान दिखायी देते थे। उस यज्ञभूमिमें जहाँ-तहाँ दिव्य अन्न, पान और भक्ष्य पदार्थोंके पर्वतों-जैसे ढेर दिखायी देते थे॥ ४३॥

क्षीरनद्योऽथ दृश्यन्ते घृतपायसकर्दमाः।
दधिमण्डोदका दिव्याः खण्डशर्करवालुकाः॥ ४४॥

दूधकी दिव्य नदियाँ वहाँ बहती दीखती थीं, घी और खीरकी कीच जम गयी थी, दही और मट्ठा पानीकी तरह बह रहे थे तथा खाँड़ और शक्कर वहाँ बालूकी भाँति बिछ गये थे॥ ४४॥

षड् रसान् निवहन्त्येता गुडकुल्या मनोरमाः।
उच्चावचानि मांसानि भक्ष्याणि विविधानि च॥ ४५॥

ये सब नदियाँ षट्रस भोजन प्रवाहित कर रही थीं। गुड़के रसकी छोटी-छोटी मनोरम नहरें दृष्टिगोचर होती थीं। नाना प्रकारके फलोंके गुदे और भाँति-भाँतिके भक्ष्य-पदार्थ प्रस्तुत किये गये थे॥ ४५॥

पानकानि च दिव्यानि लेह्यचोष्याणि यानि च।
भुञ्जते विविधैर्वक्त्रैर्विलुम्पन्त्याक्षिपन्ति च॥ ४६॥

दिव्य पेय पदार्थ, लेह्य और चोष्य आदि जो-जो भोजन वहाँ उपलब्ध हुए, उन सबको वे रुद्रगण अपने विविध मुखोंद्वारा खाने, नष्ट करने और चारों ओर छींटने तथा फेंकने लगे॥ ४६॥

रुद्रकोपान्महाकायाः कालाग्निसदृशोपमाः।
क्षोभयन् सुरसैन्यानि भीषयन्तः समन्ततः॥ ४७॥

वे विशालकाय भूत रुद्रदेवके क्रोधसे कालाग्निके समान होकर देवताओंकी सेनाओंको चारों ओरसे डराने और क्षुब्ध करने लगे॥ ४७॥

क्रीडन्ति विविधाकाराश्चिक्षिपुः सुरयोषितः।
रुद्रक्रोधात् प्रयत्नेन सर्वदेवैः सुरक्षितम्॥ ४८॥
तं यज्ञमदहच्छीघ्रं रुद्रकर्मा समन्ततः।

अनेक प्रकारकी आकृतिवाले वे रुद्रगण खेलते-कूदते और देवाङ्गनाओंको दूर फेंक देते थे। यद्यपि सम्पूर्ण देवताओंने मिलकर प्रयत्नपूर्वक उस यज्ञकी रक्षा की थी तथापि रुद्रकर्मा वीरभद्रने रुद्रदेवके क्रोधसे प्रेरित हो सब ओरसे शीघ्र ही उसे जलाकर भस्म कर दिया॥ ४८½॥

चकार भैरवं नादं सर्वभूतभयंकरम् ॥ ४९ ॥
छित्त्वा शिरो वै यज्ञस्य ननाद च मुमोद च ।

तत्पश्चात् उसने ऐसी भीषण गर्जना की, जो समस्त प्राणियोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाली थी । फिर उसने यज्ञका सिर काटकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया और मन-ही-मन आनन्दका अनुभव किया ॥ ४९½ ॥

ततो ब्रह्मादयो देवा दक्षश्चैव प्रजापतिः ॥ ५० ॥
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे कथ्यतां को भवानिति ।

तब ब्रह्मा आदि देवता तथा प्रजापति दक्ष—ये सब-के-सब हाथ जोड़कर बोले—'देवदेव ! कहिये, आप कौन हैं ?' ॥

वीरभद्र उवाच

नाहं रुद्रो न वा देवी नैव भोक्तुमिहागतः ॥ ५१ ॥
देव्या मन्युकृतं मत्वा क्रुद्धः सर्वात्मकः प्रभुः ।

वीरभद्रने कहा—ब्रह्मन् ! मैं न तो रुद्र हूँ, न देवी हूँ और न यहाँ भोजन करनेके लिये ही आया हूँ । तुम्हारा यह यज्ञ देवी पार्वतीके रोषका कारण बन गया है—ऐसा जानकर सर्वात्मा भगवान् शिव कुपित हो उठे हैं ॥ ५१½ ॥

द्रष्टुं वा नैव विप्रेन्द्रान् नैव कौतूहलेन वा ॥ ५२ ॥
तव यज्ञविघातार्थं सम्प्राप्तं विद्धि मामिह ।

मैं यहाँ आये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका दर्शन करने या कौतूहलवश इस यज्ञका तमाशा देखनेके लिये नहीं आया हूँ । तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैं तुम्हारे इस यज्ञका विनाश करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ ५२½ ॥

वीरभद्र इति ख्यातो रुद्रकोपाद् विनिःसृतः ॥ ५३ ॥
भद्रकालीति विख्याता देव्याः कोपाद् विनिःसृता ।
प्रेषितौ देवदेवेन यज्ञान्तिकमिहागतौ ॥ ५४ ॥

मेरा नाम वीरभद्र है । रुद्रदेवके क्रोधसे मेरा प्राकट्य हुआ है । यह नारी भद्रकालीके नामसे विख्यात है और देवी पार्वतीके कोपसे प्रकट हुई है । देवाधिदेव महादेवने हम दोनोंको यहाँ भेजा है । इसलिये हम दोनों इस यज्ञके निकट आये हैं ॥ ५३-५४ ॥

शरणं गच्छ विप्रेन्द्र देवदेवमुमापतिम् ।
वरं क्रोधोऽपि देवस्य वरदानं न चान्यतः ॥ ५५ ॥

विप्रवर ! तुम देवाधिदेव उमावल्लभ भगवान् शिवकी शरणमें जाओ । महादेवजीका क्रोध भी परम मङ्गलमय है और दूसरोंसे मिला हुआ वरदान भी मङ्गलकारक नहीं होता ॥

वीरभद्रवचः श्रुत्वा दक्षो धर्मभृतां वरः ।
तोषयामास स्तोत्रेण प्रणिपत्य महेश्वरम् ॥ ५६ ॥

वीरभद्रकी यह बात सुनकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ दक्षने भगवान् शिवके उद्देश्यसे प्रणाम करके निम्नाङ्कित स्तोत्रके द्वारा उनकी स्तुति की—॥ ५६ ॥

प्रपद्ये देवमीशानं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ।
महादेवं महात्मानं विश्वस्य जगतः पतिम् ॥ ५७ ॥

'जो सम्पूर्ण जगत्‌के शासक, पालक, महान् आत्मा, नित्य, सनातन, अविकारी और आराध्यदेव हैं, उन महादेवजीकी आज मैं शरण लेता हूँ' ॥ ५७ ॥

प्राणापानौ संनिरुध्य वक्त्रस्थानेन यत्नतः ।
विचार्य सर्वतो दृष्टिं बहुदृष्टिरमित्रजित् ॥ ५८ ॥
सहसा देवदेवेशो ह्यग्निकुण्डात् समुत्थितः ।
बिभ्रत्सूर्यसहस्रस्य तेजः संवर्तकोपमः ॥ ५९ ॥
स्मितं कृत्वाब्रवीद् वाक्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ।

तब अनेक नेत्रोंवाले, शत्रुविजयी, महादेव अपने मुखके द्वारा यत्नपूर्वक प्राण और अपान वायुको अवरुद्ध करके सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टिपात करते हुए सहसा अग्निकुण्डसे निकल पड़े । प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी स्वरूपसे सहस्रों सूर्योंकी प्रभा धारण किये वे दक्षके सामने खड़े हो गये और मुसकराकर बोले—'प्रजापते ! बोलो, मैं आज तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ' ॥ ५८-५९½ ॥

श्राविते च मखाध्याये देवानां गुरुणा ततः ॥ ६० ॥
तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा दक्षो देवं प्रजापतिः ।
भीतशङ्कितवित्रस्तः सबाष्पवदनेक्षणः ॥ ६१ ॥
यदि प्रसन्नो भगवान् यदि चाहं भवत्प्रियः ।
यदि वाहमनुग्राह्यो यदि वा वरदो मम ॥ ६२ ॥
यद् दग्धं भक्षितं पीतमशितं यच्च नाशितम् ।
चूर्णीकृतापविद्धं च यज्ञसम्भारमीदृशम् ॥ ६३ ॥
दीर्घकालेन महता प्रयत्नेन सुसंचितम् ।
तन्न मिथ्या भवेन्मह्यं वरमेतमहं वृणे ॥ ६४ ॥

उस समय देवगुरु बृहस्पतिने महादेवजीको वेदका मखाध्याय पढ़कर सुनाया । तत्पश्चात् प्रजापति दक्ष दोनों नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहाते हुए हाथ जोड़कर भय और शङ्कासे सहमे हुए-से बोले—'भगवन् ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, यदि मैं आपका प्रिय हूँ, आपके अनुग्रहका पात्र हूँ अथवा यदि आप मुझे वर देनेको उद्यत हैं तो मैं यही वर माँगता हूँ कि मैंने दीर्घकालसे महान् प्रयत्न करके जो ऐसा यज्ञ-सम्भार जुटा रखा था, उसमेंसे जो जला दिया गया, खा-पी लिया गया, नष्ट किया गया अथवा चूर-चूर करके फेंक दिया गया, वह सब मेरे लिये व्यर्थ न हो' ॥ ६०—६४ ॥

तथास्त्वित्याह भगवान् भगनेत्रहरो हरः ।
धर्माध्यक्षो विरूपाक्षस्त्र्यक्षो देवः प्रजापतिः ॥ ६५ ॥

तब धर्मके अध्यक्ष, प्रजापालक, विरूपाक्ष, त्रिनेत्रधारी, भगनेत्रहारी देवेश्वर भगवान् हरने 'तथास्तु' कहकर दक्षको मनोवाञ्छित वर दे दिया ॥ ६५ ॥

जानुभ्यामवनीं गत्वा दक्षो लब्ध्वा भवाद् वरम् ।
नाम्नामष्टसहस्रेण स्तुतवान् वृषभध्वजम् ॥ ६६ ॥



दक्षके यज्ञमें शिवजीका प्राकट्य

महादेवजीसे वर पाकर दक्षने धरतीपर घुटने टेककर उन्हें प्रणाम किया और एक हजार आठ नामोंद्वारा उन भगवान् वृषभध्वजका स्तवन किया ॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यैर्नामधेयैः स्तुतवान् दक्षो देवं प्रजापतिः ।
वक्तुमर्हसि मे तात श्रोतुं श्रद्धा ममानघ ॥ ६७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! निष्पाप पितामह ! प्रजापति दक्षने जिन नामोंद्वारा महादेवजीकी स्तुति की थी, उनका मुझसे वर्णन कीजिये । उन्हें सुननेके लिये मेरे हृदयमें बड़ी श्रद्धा है ॥ ६७ ॥

भीष्म उवाच

श्रूयतां देवदेवस्य नामान्यद्भुतकर्मणः ।
गूढव्रतस्य गुह्यानि प्रकाशानि च भारत ॥ ६८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! अद्भुत कर्म करनेवाले गूढ व्रतधारी देवाधिदेव महादेवजीके कुछ नाम गोपनीय हैं और कुछ प्रकाशित हैं । तुम उन सबको सुनो ॥ ६८ ॥

नमस्ते देवदेवेश देवारिबलसूदन ।
देवेन्द्रबलविष्टम्भ देवदानवपूजित ॥ ६९ ॥

(दक्ष बोले)—देवदेवेश्वर ! आपको नमस्कार है। आप देववैरी दानवोंकी सेनाके संहारक और देवराज इन्द्रकी शक्तिको भी स्तम्भित करनेवाले हैं । देवता और दानव-सबने आपकी पूजा की है ॥ ६९ ॥

सहस्राक्ष विरूपाक्ष त्र्यक्ष यक्षाधिपप्रिय ।
सर्वतःपाणिपादान्त सर्वतोऽक्षिशिरोमुख ॥ ७० ॥

आप सहस्रों नेत्रोंसे युक्त होनेके कारण सहस्राक्ष हैं । आपकी इन्द्रियाँ सबसे विलक्षण अर्थात् परोक्ष विषयको भी प्रत्यक्ष करनेवाली हैं, इसलिये आपको विरूपाक्ष कहते हैं । आप त्रिनेत्रधारी होनेके कारण त्र्यक्ष कहलाते हैं । यक्षराज कुबेरके भी आप प्रिय (इष्टदेव) हैं । आपके सब ओर हाथ और पैर हैं तथा सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं ॥

सर्वतःश्रुतिमँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि ।
शङ्कुकर्ण महाकर्ण कुम्भकर्णार्णवालय ॥ ७१ ॥
गजेन्द्रकर्ण गोकर्ण पाणिकर्ण नमोऽस्तु ते ।

आपके कान भी सब ओर हैं । संसारमें जो कुछ है, सबको व्याप्त करके आप स्थित हैं । शङ्कुकर्ण, महाकर्ण, कुम्भकर्ण, अर्णवालय, गजेन्द्रकर्ण, गोकर्ण और पाणिकर्ण—ये सात पार्षद् आपके ही स्वरूप हैं । इन सबके रूपमें आपको नमस्कार है ॥ ७१½ ॥

शतोदर शतावर्त शतजिह्व नमोऽस्तु ते ॥ ७२ ॥
गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणं त्वा शतक्रतुमूर्ध्वं खमिव मेनिरे ॥ ७३ ॥

आपके सैकड़ों उदर, सैकड़ों आवर्त और सैकड़ों जिह्वाएँ होनेके कारण आप क्रमशः शतोदर, शतावर्त और शतजिह्व नामसे प्रसिद्ध हैं । आपको प्रणाम है । गायत्री-मन्त्रका जप करनेवाले द्विज आपकी ही महिमाका गान करते हैं और सूर्योपासक सूर्यके रूपमें आपकी ही आराधना करते हैं । ऋषिगण आपको ही ब्रह्मा, शतक्रतु इन्द्र और आकाशके समान सर्वोच्च पद मानते हैं ॥ ७२-७३ ॥

मूर्तौ हि ते महामूर्ते समुद्राम्बरसंनिभ ।
सर्वा वै देवता ह्यस्मिन् गावो गोष्ठ इवासते ॥ ७४ ॥

समुद्र और आकाशके समान अपार, अनन्त रूप धारण करनेवाले महामूर्तिधारी महेश्वर ! जैसे गोशालामें गौएँ निवास करती हैं, उसी प्रकार आपकी भूमि, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा एवं यजमानरूप आठ प्रकारकी मूर्तियोंमें सम्पूर्ण देवताओंका निवास है ॥ ७४ ॥

भवच्छरीरे पश्यामि सोममग्निं जलेश्वरम् ।
आदित्यमथ वै विष्णुं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ७५ ॥

मैं आपके शरीरमें सोम, अग्नि, वरुण, सूर्य, विष्णु, ब्रह्मा तथा बृहस्पतिको भी देख रहा हूँ ॥ ७५ ॥

भगवान् कारणं कार्यं क्रिया करणमेव च ।
असतश्च सतश्चैव तथैव प्रभवाप्ययौ ॥ ७६ ॥

आप ही कारण, कार्य, क्रिया (प्रयत्न) और करण हैं । सत् और असत् पदार्थोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान भी आप ही हैं ॥ ७६ ॥

नमो भवाय शर्वाय रुद्राय वरदाय च ।
पशूनां पतये नित्यं नमोऽस्त्वन्धकघातिने ॥ ७७ ॥

आप सबके उद्भवका स्थान होनेसे भव, संहार करनेके कारण शर्व, 'रु' अर्थात् पाप एवं दुःखको दूर करनेसे रुद्र, वरदाता होनेसे वरद तथा पशुओं (जीवों) के पालक होनेके कारण सदा पशुपति कहलाते हैं । आपने ही अन्धकासुरका वध किया है, इसलिये आपका नाम अन्धकघाती है । आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ७७ ॥

त्रिजटाय त्रिशीर्षाय त्रिशूलवरपाणिने ।
त्र्यम्बकाय त्रिनेत्राय त्रिपुरघ्नाय वै नमः ॥ ७८ ॥

आप तीन जटा और तीन मस्तक धारण करनेवाले हैं । आपके हाथमें श्रेष्ठ त्रिशूल शोभा पाता है । आप त्र्यम्बक, त्रिनेत्रधारी तथा त्रिपुरासुरका विनाश करनेवाले हैं । आपको नमस्कार है ॥ ७८ ॥

नमश्चण्डाय कुण्डाय अण्डायाण्डधराय च ।
दण्डिने समकर्णाय दण्डिमुण्डाय वै नमः ॥ ७९ ॥

आप दुष्टोंपर अत्यन्त क्रोध करनेके कारण चण्ड हैं । कुण्डमें जलकी भाँति आपके उदरमें सम्पूर्ण जगत् स्थित है,

इसलिये आपको कुण्ड कहते हैं। आप अण्ड (ब्रह्माण्ड-स्वरूप) और अण्डधर (ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले) हैं। आप दण्डधारी (सबको दण्ड देनेवाले) और समकर्ण (सबकी समान रूपसे सुननेवाले) हैं । दण्डधारण करके मूँड़ मुँड़ानेवाले संन्यासी भी आपके ही स्वरूप हैं, इसलिये आपका नाम दण्डिमुण्ड है। आपको नमस्कार है ॥ ७९ ॥

नमोर्ध्वदंष्ट्रकेशाय शुक्लायावतताय च।
विलोहिताय धूम्राय नीलग्रीवाय वै नमः ॥ ८० ॥

आपकी दाढ़ें बड़ी-बड़ी और सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए हैं, इसलिये आप ऊर्ध्वदंष्ट्र तथा ऊर्ध्वकेश कहलाते हैं। आप ही शुक्ल (विशुद्ध ब्रह्म) और आप ही अवतत (जगत्के रूपमें विस्तृत) हैं । आप रजोगुणको अपनानेपर विलोहित और तमोगुणका आश्रय लेनेपर धूम्र कहलाते हैं। आपकी ग्रीवामें नीले रंगका चिह्न है, इसलिये आपको नीलग्रीव कहते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८० ॥

नमोऽस्त्वप्रतिरूपाय विरूपाय शिवाय च।
सूर्याय सूर्यमालाय सूर्यध्वजपताकिने ॥ ८१ ॥

आपके रूपकी कहीं भी समता नहीं है, इसलिये आप अप्रतिरूप हैं। विविध रूप धारण करनेके कारण आपका नाम विरूप है। आप ही परम कल्याणकारी शिव हैं। आप ही सूर्य हैं, आप ही सूर्यमण्डलके भीतर सुशोभित होते हैं। आप अपनी ध्वजा और पताकापर सूर्यका चिह्न धारण करते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८१ ॥

नमः प्रमथनाथाय वृषस्कन्धाय धन्विने।
शत्रुंदमाय दण्डाय पर्णचीरपटाय च ॥ ८२ ॥

आप प्रमथगणोंके अधीश्वर हैं। वृषभके कंधोंके समान आपके कंधे भरे हुए हैं। आप पिनाक धनुष धारण करते हैं। शत्रुओंका दमन करनेवाले और दण्डस्वरूप हैं। किरात या तपस्वीके रूपमें विचरते समय आप भोजपत्र और वल्कल-वस्त्र धारण करते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८२ ॥

नमो हिरण्यगर्भाय हिरण्यकवचाय च।
हिरण्यकृतचूडाय हिरण्यपतये नमः ॥ ८३ ॥

हिरण्य (सुवर्ण) को उत्पन्न करनेके कारण हिरण्यगर्भ कहलाते हैं। सुवर्णके ही कवच और मुकुट धारण करनेसे आपको हिरण्यकवच और हिरण्यचूड कहा गया है। आप सुवर्णके अधिपति हैं। आपको सादर नमस्कार है ॥

नमः स्तुताय स्तुत्याय स्तूयमानाय वै नमः।
सर्वाय सर्वभक्षाय सर्वभूतान्तरात्मने ॥ ८४ ॥

जिनकी स्तुति हो चुकी है, वे आप हैं। जो स्तुतिके योग्य हैं, वे भी आप हैं और जिनकी स्तुति हो रही है, वे भी आप ही हैं। आप सर्वस्वरूप, सर्वभक्षी और सम्पूर्ण भूतोंके अन्तरात्मा हैं। आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ८४ ॥

नमो होत्रेऽथ मन्त्राय शुक्लध्वजपताकिने।
नमो नाभाय नाभ्याय नमः कटकटाय च ॥ ८५ ॥

आप ही होता और मन्त्र हैं। आपको नमस्कार है। आपकी ध्वजा और पताकाका रंग श्वेत है। आपको नमस्कार है। आप नाभ (नाभिमें सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाले), नाभ्य (संसार-चक्रके नाभि-स्थान) तथा कट-कट (आवरणके भी आवरण) हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८५ ॥

नमोऽस्तु कृशनासाय कृशाङ्गाय कृशाय च।
संहृष्टाय विहृष्टाय नमः किलकिलाय च ॥ ८६ ॥

आपकी नासिका कृश (पतली) है, इसलिये आप कृशनस कहलाते हैं। आपके अवयव कृश होनेसे आपको कृशाङ्ग तथा शरीर दुबला होनेसे कृश कहते हैं। आप अत्यन्त हर्षोल्लाससे परिपूर्ण, विशेष हर्षका अनुभव करनेवाले और हर्षकी किल-किल ध्वनि हैं। आपको नमस्कार है ॥८६॥

नमोऽस्तु शयमानाय शयितायोत्थिताय च।
स्थिताय धावमानाय मुण्डाय जटिलाय च ॥ ८७ ॥

आप समस्त प्राणियोंके भीतर शयन करनेवाले अन्तर्यामी पुरुष हैं। प्रलयकालमें योगनिद्राका आश्रय लेकर सोते और सृष्टिके प्रारम्भकालमें कल्पान्त निद्रासे जागते हैं। आप ब्रह्मरूपसे सर्वत्र स्थित और कालरूपसे सदा दौड़नेवाले हैं। मूँड़ मुँड़ानेवाले संन्यासी और जटाधारी तपस्वी भी आपके ही स्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८७ ॥

नमो नर्तनशीलाय मुखवादित्रवादिने।
नाद्योपहारलुब्धाय गीतवादित्रशालिने ॥ ८८ ॥

आपका ताण्डव-नृत्य बराबर चलता रहता है। आप मुखसे शृङ्गी आदि बाजे बजानेमें कुशल हैं। कमलपुष्पकी भेंट लेनेके लिये सदा उत्सुक रहते हैं। गाने और बजानेकी कलामें तत्पर रहकर आप बड़ी शोभा पाते हैं। आपको प्रणाम है ॥ ८८ ॥

नमो ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय बलप्रमथनाय च।
कालनाथाय कल्याय क्षयायोपक्षयाय च ॥ ८९ ॥

आप अवस्थामें सबसे ज्येष्ठ और गुणोंमें भी सबसे श्रेष्ठ हैं। आपने बल नामक दैत्यको इन्द्ररूपसे मथ डाला था। आप कालके भी नियन्ता और सर्वशक्तिमान् हैं। महाप्रलय और अवान्तर-प्रलय भी आप ही हैं। आपको नमस्कार है॥

भीमदुन्दुभिहासाय भीमव्रतधराय च।
उग्राय च नमो नित्यं नमोऽस्तु दशबाहवे ॥ ९० ॥

प्रभो ! आपका अट्टहास भयंकर शब्द करनेवाली दुन्दुभिके समान जान पड़ता है। आप भीषण व्रतको धारण करनेवाले हैं। दस भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले उग्ररूपधारी आपको मेरा नित्य बारंबार नमस्कार है ॥ ९० ॥

नमः कपालहस्ताय चितिभस्मप्रियाय च।
विभीषणाय भीष्माय भीमव्रतधराय च ॥ ९१ ॥

आपके हाथमें कपाल है। चिताका भस्म आपको बहुत प्रिय है। आप सबको भयभीत करनेवाले और स्वयं निर्भय हैं तथा शम-दम आदि तीक्ष्ण व्रतोंको धारण करते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ९१ ॥

नमो विकृतवक्त्राय खड्गजिह्वाय दंष्ट्रिणे।
पक्वाममांसलुब्धाय तुम्बीवीणाप्रियाय च ॥ ९२ ॥

आपका मुख विकृत है। जिह्वा खड्गके समान है। आपका मुख दाढ़ोंसे सुशोभित होता है। आप कच्चे-पक्के फलोंके गुदेके लिये लुभायमान रहते हैं। तुम्बी और वीणा आपको विशेष प्रिय हैं। आपको प्रणाम है ॥ ९२ ॥

नमो वृषाय वृष्याय गोवृषाय वृषाय च।
कटंकटाय दण्डाय नमः पचपचाय च ॥ ९३ ॥

आप वृष (वृष्टिकर्ता), वृष्य (धर्मकी वृद्धि करनेवाले), गोवृष (नन्दी) और वृष (धर्म) आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। कटंकट (नित्य गतिशील), दण्ड (शासक) और पचपच (सम्पूर्ण भूतोंको पचानेवाला काल) भी आपके ही नाम हैं। आपको नमस्कार है ॥ ९३ ॥

नमः सर्ववरिष्ठाय वराय वरदाय च।
वरमाल्यगन्धवस्त्राय वरातिवरदे नमः ॥ ९४ ॥

आप सबसे श्रेष्ठ वरस्वरूप और वरदाता है। उत्तम वस्त्र, माल्य और गन्ध धारण करते हैं तथा भक्तको इच्छानुसार एवं उससे भी अधिक वर देनेवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ ९४ ॥

नमो रक्तविरक्ताय भावनायाक्षमालिने।
सम्भिन्नाय विभिन्नाय छायायातपनाय च ॥ ९५ ॥

रागी और विरागी—दोनों जिनके स्वरूप हैं, जो ध्यानपरायण, रुद्राक्षकी माला धारण करनेवाले, कारणरूपसे सबमें व्याप्त और कार्यरूपसे पृथक्-पृथक् दिखायी देनेवाले हैं तथा जो सम्पूर्ण जगत्‌को छाया और धूप प्रदान करते हैं, उन भगवान् शंकरको नमस्कार है ॥ ९५ ॥

अघोरघोररूपाय घोरघोरतराय च।
नमः शिवाय शान्ताय नमः शान्ततमाय च ॥ ९६ ॥

जो अघोर, घोर और घोरसे भी घोरतर रूप धारण करनेवाले हैं तथा जो शिव, शान्त एवं परमशान्तरूप हैं, उन भगवान् शंकरको मेरा बारंबार नमस्कार है ॥ ९६ ॥

एकपाद्बहुनेत्राय एकशीर्ष्णे नमोऽस्तु ते।
रुद्राय क्षुद्रलुब्धाय संविभागप्रियाय च ॥ ९७ ॥

एक पाद, अनेक नेत्र और एक मस्तकवाले आपको प्रणाम है। भक्तोंकी दी हुई छोटी-से-छोटी वस्तुके लिये भी लालायित रहनेवाले और उसके बदलेमें उन्हें अपार धन-राशि बाँट देनेकी रुचि रखनेवाले आप भगवान् रुद्रको नमस्कार है ॥ ९७ ॥

पञ्चालाय सिताङ्गाय नमः शमशमाय च।
नमश्चण्डिकघण्टाय घण्टायाघण्टघण्टिने ॥ ९८ ॥

जो इस विश्वका निर्माण करनेवाले कारीगर, गौरवर्णके शरीरवाले तथा सदा शान्तरूपसे रहनेवाले हैं, जिनकी घण्टाध्वनि शत्रुओंको भयभीत कर देती है तथा जो स्वयं ही घण्टानाद और अनाहतध्वनिके रूपमें श्रवणगोचर होते हैं उन महेश्वरको प्रणाम है ॥ ९८ ॥

सहस्राध्मातघण्टाय घण्टामालाप्रियाय च।
प्राणघण्टाय गन्धाय नमः कलकलाय च ॥ ९९ ॥

जिनके मन्दिरमें लगे हुए घण्टोंको सहस्रों आदमी बजाते हैं, घण्टोंकी माला जिन्हें प्रिय है, जिनके प्राण ही घण्टाके समानध्वनि करते हैं, जो गन्ध और कोलाहलरूप हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है ॥ ९९ ॥

हूंहूंहूंकारपाराय हूंहूंकारप्रियाय च।
नमः शमशमे नित्यं गिरिवृक्षालयाय च ॥ १०० ॥

आप हूं (क्रोध), हूं (हिंकार), हूं (आकाश, सूर्य और ईश्वर)—इन सबसे परे विद्यमान शान्तस्वरूप परब्रह्म हैं, 'हूं, हूं' करना आपको प्रिय लगता है, आप 'शान्त रहो, शान्त रहो' ऐसा कहकर सदा सबको आश्वासन देनेवाले हैं तथा पर्वतोंपर और वृक्षोंके नीचे निवास करते हैं। आपको प्रणाम है ॥ १०० ॥

गर्भमांसशृगालाय तारकाय तराय च।
नमो यज्ञाय यजिने हुताय प्रहुताय च ॥ १०१ ॥

आप फलके भीतरके गुदेरूप मांसके प्रलोभी शृगालरूप हैं। आप ही सबको तारनेवाले तथा तरण-तारणके साधन हैं। आप ही यज्ञ और आप ही यजमान हैं। आप ही हुत (हवन) और आप ही प्रहुत (अग्नि) हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०१ ॥

यज्ञवाहाय दान्ताय तप्यायातपनाय च।
नमस्तटाय तट्याय तटानां पतये नमः ॥ १०२ ॥

आप ही यज्ञके निर्वाहक अथवा उसे सब देवताओंतक पहुँचानेवाले अग्निदेव हैं। आप मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं। आप ही भक्तोंका कष्ट देखकर संतप्त होनेवाले तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले हैं। आप ही तट हैं। आप ही तटवर्ती नदी आदि हैं तथा आप ही तटोंके पालक हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०२ ॥

अन्नदायान्नपतये नमस्त्वन्नभुजे तथा।
नमः सहस्रशीर्षाय सहस्रचरणाय च ॥ १०३ ॥

आप ही अन्नदाता, अन्नपति और अन्नके भोक्ता हैं। आपके सहस्रों मस्तक और सहस्रों चरण हैं। आपको बारंबार प्रणाम है ॥ १०३ ॥

सहस्रोद्यतशूलाय सहस्रनयनाय च।
नमो बालार्कवर्णाय बालरूपधराय च ॥१०४॥

आप अपने सहस्रों हाथोंमें सहस्रों शूल लिये रहते हैं। आपके सहस्रों नेत्र हैं। आपकी अङ्गकान्ति प्रातःकालीन सूर्यके समान देदीप्यमान है। आप बालकरूप धारण करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०४ ॥

बालानुचरगोप्त्राय बालक्रीडनकाय च।
नमो वृद्धाय लुब्धाय क्षुब्धाय क्षोभणाय च ॥१०५॥

आप श्रीकृष्णरूपसे संगी-साथी बालकोंके रक्षक तथा बालकोंके साथ खेल करनेवाले हैं। आप सबकी अपेक्षा वृद्ध हैं। भक्ति और प्रेमके लोभी हैं। दुष्टोंके पापाचारसे क्षुब्ध हो उठते हैं और दुराचारियोंको क्षोभमें डालनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०५ ॥

तरङ्गाङ्कितकेशाय मुञ्जकेशाय वै नमः।
नमः षट्कर्मतुष्टाय त्रिकर्मनिरताय च ॥१०६॥

आपके केश गङ्गाके तरङ्गोंसे अङ्कित तथा मुञ्जके समान हैं। आपको नमस्कार है। आप ब्राह्मणोंके छः कर्म—अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन तथा दान और प्रतिग्रहसे संतुष्ट रहते हैं; स्वयं यजन, अध्ययन और दानरूप तीन कर्मोंमें ही तत्पर रहते हैं। आपको मेरा प्रणाम है ॥ १०६ ॥

वर्णाश्रमाणां विधिवत् पृथक्कर्मनिवर्तिने।
नमो घुष्याय घोषाय नमः कलकलाय च ॥१०७॥

आप वर्ण और आश्रमोंके भिन्न-भिन्न कर्मोंका विधिवत् विभाग करनेवाले, जपनीय मन्त्ररूप, घोषस्वरूप तथा कोलाहलमय हैं। आपको बारंबार नमस्कार है ॥ १०७ ॥

श्वेतपिङ्गलनेत्राय कृष्णरक्तेक्षणाय च।
प्राणभग्नाय दण्डाय स्फोटनाय कृशाय च ॥१०८॥

आपके नेत्र श्वेत और पिङ्गलवर्णके हैं, काले और लाल रंगके हैं। आप प्राणवायु (श्वास) को जीतनेवाले, दण्ड (आयुध) रूप, ब्रह्माण्डरूपी घटको फोड़नेवाले तथा कृश-शरीरधारी हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०८ ॥

धर्मकामार्थमोक्षाणां कथनीयकथाय च।
सांख्याय सांख्यमुख्याय सांख्ययोगप्रवर्तिने ॥१०९॥

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष देनेके विषयमें आपकी कीर्तिकथा वर्णन करनेके योग्य है। आप सांख्यस्वरूप, सांख्ययोगियोंमें प्रधान तथा सांख्यशास्त्रको प्रवृत्त करनेवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ १०९ ॥

नमो रथ्यविरथ्याय चतुष्पथरथाय च।
कृष्णाजिनोत्तरीयाय व्यालयज्ञोपवीतिने ॥११०॥

आप रथपर बैठकर तथा बिना रथके भी घूमनेवाले हैं। जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—इन चारों मार्गोंपर आपकी गति है। आप काले मृगचर्मको दुपट्टेकी भाँति ओढ़नेवाले तथा सर्पमय यज्ञोपवीत धारण करनेवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ ११० ॥

ईशान वज्रसंघात हरिकेश नमोऽस्तु ते।
त्र्यम्बकाम्बिकनाथाय व्यक्ताव्यक्त नमोऽस्तु ते ॥१११॥

ईशान ! आपका शरीर वज्रके समान कठोर है। हरिकेश ! आपको नमस्कार है। व्यक्ताव्यक्तस्वरूप परमेश्वर ! आप त्रिनेत्रधारी तथा अम्बिकाके स्वामी हैं। आपको नमस्कार है ॥ १११ ॥

काम कामद कामघ्न तृप्तातृप्तविचारिणे।
सर्व सर्वद सर्वघ्न संध्याराग नमोऽस्तु ते ॥११२॥

आप कामस्वरूप, कामनाओंको पूर्ण करनेवाले, कामदेवके नाशक, तृप्त और अतृप्तका विचार करनेवाले, सर्वस्वरूप, सब कुछ देनेवाले, सबके संहारक और संध्याकालके समान रंगवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ ११२ ॥

महाबल महाबाहो महासत्त्व महाद्युते।
महामेघचयप्रख्य महाकाल नमोऽस्तु ते ॥११३॥

महाबल ! महाबाहो ! महासत्त्व ! महाद्युते ! आप महान् मेघोंकी घटाके समान रंगवाले महाकालस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ ११३ ॥

स्थूल जीर्णाङ्ग जटिले वल्कलाजिनधारिणे।
दीप्तसूर्याग्निजटिले वल्कलाजिनवाससे।
सहस्रसूर्यप्रतिम तपोनित्य नमोऽस्तु ते ॥११४॥

आपका श्रीविग्रह स्थूल और जीर्ण है। आप जटाधारी हैं। वल्कल और मृगचर्म धारण करते हैं। देदीप्यमान सूर्य और अग्निके समान ज्योतिर्मयी जटासे सुशोभित हैं। वल्कल और मृगचर्म ही आपके वस्त्र हैं। आप सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशमान और सदा तपस्यामें संलग्न रहनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ ११४ ॥

उन्मादन शतावर्त गङ्गातोयार्द्रमूर्धज।
चन्द्रावर्त युगावर्त मेघावर्त नमोऽस्तु ते ॥११५॥

आप जगत्को उन्माद (मोह) में डालनेवाले हैं। आपके मस्तकपर गङ्गाजीकी सैकड़ों लहरें और भँवरें उठती रहती हैं। आपके केश सदा गङ्गाजलसे भीगे रहते हैं। आप चन्द्रमाको क्षय-वृद्धिके चक्करमें डालनेवाले हैं। आप ही युगोंकी पुनरावृत्ति करनेवाले और मेघोंके प्रवर्तक हैं। आपको नमस्कार है ॥ ११५ ॥

त्वमन्नमन्नभोक्ता च अन्नदोऽन्नभुगेव च।

अन्नस्रष्टा च पक्ता च पक्वभुक्पवनोऽनलः ॥११६॥

आप ही अन्न, अन्नके भोक्ता, अन्नदाता, अन्नका पालन करनेवाले, अन्नस्रष्टा, पाचक, पक्वान्नभोजी, प्राण-वायु तथा जठरानलरूप हैं ॥ ११६ ॥

जरायुजाण्डजाश्चैव स्वेदजाश्च तथोद्भिजाः ।
त्वमेव देवदेवेश भूतग्रामश्चतुर्विधः ॥११७॥

देवदेवेश्वर ! जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके प्राणिसमूह आप ही हैं ॥ ११७ ॥

चराचरस्य स्रष्टा त्वं प्रतिहर्ता तथैव च ।
त्वामाहुर्ब्रह्मविदुषो ब्रह्म ब्रह्मविदां वर ॥११८॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ! आप ही चराचर जीवोंकी सृष्टि तथा संहार करनेवाले हैं । ब्रह्मज्ञानी पुरुष आपहीको ब्रह्म कहते हैं ॥ ११८ ॥

मनसः परमा योनिः खं वायुर्ज्योतिषां निधिः ।
ऋक्सामानि तथोङ्कारमाहुस्त्वां ब्रह्मवादिनः ॥११९॥

वेदवादी विद्वान् आपको ही मनका परम कारण, आकाश, वायु, तेजकी निधि, ऋक्, साम तथा ॐकार बताते हैं ॥ ११९ ॥

हायिहायिहुवाहायिहावुहायि तथासकृत् ।
गायन्ति त्वां सुरश्रेष्ठ सामगा ब्रह्मवादिनः ॥१२०॥

सुरश्रेष्ठ ! सामगान करनेवाले वेदवेत्ता पुरुष 'हा ३ यि, हा ३ यि, हु ३ वा, हा ३ यि, हा ३ वु, हा ३ यि' आदिका बारंबार उच्चारण करके निरन्तर आपकी ही महिमाका गान करते हैं ॥ १२० ॥

यजुर्मयो ऋङ्मयश्च त्वमाहुतिमयस्तथा ।
पठ्यसे स्तुतिभिश्चैव वेदोपनिषदां गणैः ॥१२१॥

यजुर्वेद और ऋग्वेद आपके ही स्वरूप हैं । आप ही हविष्य हैं । वेदों और उपनिषदोंके समूह अपनी स्तुतियोंद्वारा आपकी ही महिमाका प्रतिपादन करते हैं ॥ १२१ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वर्णावराश्च ये ।
त्वमेव मेघसंघाश्च विद्युत्स्तनितगर्जितः ॥१२२॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यज—ये आपके ही स्वरूप हैं । मेघोंकी घटा, बिजली, गर्जना और गड़गड़ाहट भी आप ही हैं ॥ १२२ ॥

संवत्सरस्त्वमृतवो मासो मासार्धमेव च ।
युगं निमेषाः काष्ठास्त्वं नक्षत्राणि ग्रहाः कलाः ॥१२३॥

संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, युग, निमेष, काष्ठा, नक्षत्र, ग्रह और कला भी आप ही हैं ॥ १२३ ॥

वृक्षाणां ककुदोऽसि त्वं गिरीणां शिखराणि च ।
व्याघ्रो मृगाणां पततां तार्क्ष्योऽनन्तश्च भोगिनाम् ॥१२४॥

वृक्षोंमें प्रधान वट-पीपल आदि, पर्वतोंमें उनके शिखर, वन-जन्तुओंमें व्याघ्र, पक्षियोंमें गरुड तथा सर्पोंमें अनन्त आप ही हैं ॥ १२४ ॥

क्षीरोदो ह्यदधीनां च यन्त्राणां धनुरेव च ।
वज्रः प्रहरणानां च व्रतानां सत्यमेव च ॥१२५॥

समुद्रोंमें क्षीरसागर, यन्त्रों (अस्त्रों) में धनुष, चलाये जानेवाले आयुधोंमें वज्र और व्रतोंमें सत्य भी आप ही हैं ॥

त्वमेव द्वेष इच्छा च रागो मोहः क्षमाक्षमे ।
व्यवसायो धृतिर्लोभः कामक्रोधौ जयाजयौ ॥१२६॥

आप ही द्वेष, इच्छा, राग, मोह, क्षमा, अक्षमा, व्यवसाय, धैर्य, लोभ, काम, क्रोध, जय तथा पराजय हैं ॥

त्वं गदी त्वं शरी चापी खट्वाङ्गी झर्झरी तथा ।
छेत्ता भेत्ता प्रहर्ता त्वं नेता मन्ता पिता मतः ॥१२७॥

आप गदा, बाण, धनुष, खाटका अङ्ग तथा झर्झर नामक अस्त्र धारण करनेवाले हैं । आप छेदन, भेदन और प्रहार करनेवाले हैं । सत्पथपर ले जानेवाले, शुभका मनन करनेवाले तथा पिता माने गये हैं ॥ १२७ ॥

दशलक्षणसंयुक्तो धर्मोऽर्थः काम एव च ।
गङ्गा समुद्राः सरितः पल्वलानि सरांसि च ॥१२८॥
लता वल्ल्यस्तृणौषध्यः पशवो मृगपक्षिणः ।
द्रव्यकर्मसमारम्भः कालः पुष्पफलप्रदः ॥१२९॥

दस लक्षणोंवाला धर्म तथा अर्थ और काम भी आप ही हैं । गङ्गा, समुद्र, नदियाँ, गड्ढे, तालाब, लता, वल्ली, तृण, ओषधि, पशु, मृग, पक्षी, द्रव्य और कर्मोंके आरम्भ तथा फूल और फल देनेवाला काल भी आप ही हैं ॥१२८-१२९॥

आदिश्चान्तश्च देवानां गायत्र्योंकार एव च ।
हरितो रोहितो नीलः कृष्णो रक्तस्तथारुणः ।
कद्रुश्च कपिलश्चैव कपोतो मेचकस्तथा ॥१३०॥

आप देवताओंके आदि और अन्त हैं । गायत्री-मन्त्र और ॐकार भी आप ही हैं । हरित, लोहित, नील, कृष्ण, रक्त, अरुण, कद्रु, कपिल, कबूतरके समान तथा मेचक (श्याम मेघके समान)—ये दस प्रकारके रंग भी आपके ही स्वरूप हैं ॥ १३० ॥

अवर्णश्च सुवर्णश्च वर्णकारो घनोपमः ।
सुवर्णनामा च तथा सुवर्णप्रिय एव च ॥१३१॥

आप वर्णरहित होनेके कारण अवर्ण और अच्छे वर्ण-वाले होनेसे सुवर्ण कहलाते हैं । आप वर्णोंके निर्माता और मेघके समान हैं । आपके नाममें सुन्दर वर्णों (अक्षरों) का उपयोग हुआ है, इसलिये आप सुवर्णनामा हैं तथा आपको श्रेष्ठ वर्ण प्रिय है ॥ १३१ ॥

त्वमिन्द्रश्च यमश्चैव वरुणो धनदोऽनलः ।
उपप्लवश्चित्रभानुः स्वर्भानुर्भानुरेव च ॥१३२॥

आप ही इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, अग्नि, सूर्य-चन्द्र-का ग्रहण, चित्रभानु (सूर्य), राहु और भानु हैं ॥ १३२॥

होत्रं होता च होम्यं च हुतं चैव तथा प्रभुः ।
त्रिसौपर्ण तथा ब्रह्म यजुषां शतरुद्रियम् ॥ १३३॥

होत्र (स्रुवा), होता, हवनीय पदार्थ, हवन-क्रिया तथा (उसके फल देनेवाले) परमेश्वर भी आप ही हैं । वेदकी त्रिसौपर्ण नामक श्रुतियोंमें तथा यजुर्वेदके शतरुद्रिय-प्रकरणमें जो बहुत-से वैदिक नाम हैं, वे सब आपहीके नाम हैं ॥ १३३॥

पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
गिरिको हिंडुको वृक्षो जीवः पुद्गल एव च ॥ १३४॥
प्राणः सत्त्वं रजश्चैव तमश्चाप्रमदस्तथा ।
प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ॥ १३५॥
उन्मेषश्च निमेषश्च क्षुतं जृम्भितमेव च ।
लोहितान्तर्गता दृष्टिर्महावक्त्रो महोदरः ॥ १३६॥

आप पवित्रोंके भी पवित्र और मङ्गलोंके भी मङ्गल हैं । आप ही गिरिक (अचेतनको भी चेतन करनेवाले), हिंडुक (गमनागमन करनेवाले), संसार-वृक्ष, जीव, शरीर, प्राण, सत्त्व, रज, तम, अप्रमद (स्त्रीरहित—ऊर्ध्वरेता), प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, उन्मेष, निमेष (आँखोंका खोलना-मींचना), छींकना और जँभाई लेना आदि चेष्टाएँ भी आप ही हैं । आपकी अग्निमयी लाल रंगकी दृष्टि भीतर छिपी हुई है । आपके मुख और उदर महान् हैं ॥

सूचीरोमा हरिश्मश्रुरूर्ध्वकेशश्चलाचलः ।
गीतवादित्रतत्त्वज्ञो गीतवादनकप्रियः ॥ १३७॥

रोएँ सूईके समान हैं । दाढ़ी-मूछ काली है । सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए हैं । आप चराचर-स्वरूप हैं । गाने-बजानेके तत्त्वको जाननेवाले हैं । गाना-बजाना आपको अधिक प्रिय है ॥ १३७ ॥

मत्स्यो जलचरो जाल्योऽकलः केलिकलः कलिः ।
अकालश्चातिकालश्च दुष्कालः काल एव च ॥ १३८॥

आप मत्स्य, जलचर और जालधारी घड़ियाल हैं । फिर भी अकल (बन्धनसे परे) हैं । आप केलिकलासे युक्त और कलहरूप हैं । आप ही अकाल, अतिकाल, दुष्काल तथा काल हैं ॥ १३८ ॥

मृत्युः क्षुरश्च कृत्यश्च पक्षोऽपक्षक्षयंकरः ।
मेघकालो महादंष्ट्रः संवर्तकबलाहकः ॥ १३९॥

मृत्यु, क्षुर (छेदन करनेका शस्त्र), कृत्य (छेदन करने योग्य), पक्ष (मित्र) तथा अपक्ष-क्षयंकर (शत्रुपक्षका नाश करनेवाले) भी आप ही हैं । आप मेघके समान काले, बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले और प्रलयकालीन मेघ हैं ॥ १३९ ॥

घण्टोऽघण्टो घटी घण्टी चरुचेली मिलीमिली ।
ब्रह्मकायिकमग्नीनां दण्डी मुण्डस्त्रिदण्डधृक् ॥ १४०॥

घण्ट (प्रकाशवान्), अघण्ट (अव्यक्त प्रकाशवाले), घटी (कर्मफलसे युक्त करनेवाले), घण्टी (घण्टावाले), चरुचेली (जीवोंके साथ क्रीडा करनेवाले) तथा मिलीमिली (कारणरूपसे सबमें व्याप्त)—ये सब आप ही हैं । आप ही ब्रह्म, अग्नियोंके स्वरूप, दण्डी, मुण्ड तथा त्रिदण्डधारी हैं ॥

चतुर्युगश्चतुर्वेदश्चातुर्होत्रप्रवर्तकः ।
चातुराश्रम्यनेता च चातुर्वर्ण्यकरश्च यः ॥ १४१॥

चार युग और चार वेद आपके ही स्वरूप हैं तथा चार प्रकारके होतृ-कर्मोंके प्रवर्तक आप ही हैं । आप चारों आश्रमों-के नेता तथा चारों वर्णोंकी सृष्टि करनेवाले हैं ॥ १४१ ॥

सदा चाक्षप्रियो धूर्तो गणाध्यक्षो गणाधिपः ।
रक्तमाल्याम्बरधरो गिरिशो गिरिकप्रियः ॥ १४२॥

आप ही अक्षप्रिय, धूर्त, गणाध्यक्ष और गणाधिप आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं । आप रक्त वस्त्र तथा लाल फूलोंकी माला पहनते हैं, पर्वतपर शयन करते और गेरुए वस्त्रसे प्रेम रखते हैं ॥ १४२ ॥

शिल्पिकः शिल्पिनां श्रेष्ठः सर्वशिल्पप्रवर्तकः ।
भगनेत्राङ्कुशश्चण्डः पूष्णो दन्तविनाशनः ॥ १४३॥

आप ही शिल्पियोंमें सर्वश्रेष्ठ शिल्पी (कारीगर) तथा सब प्रकारकी शिल्पकलाके प्रवर्तक हैं । आप भगदेवताकी आँख फोड़नेके लिये अङ्कुश, चण्ड (अत्यन्त कोप करनेवाले) और पूषाके दाँत नष्ट करनेवाले हैं ॥ १४३ ॥

स्वाहा स्वधा वषट्कारो नमस्कारो नमो नमः ।
गूढव्रतो गुह्यतपास्तारकस्तारकामयः ॥ १४४॥

स्वाहा, स्वधा, वषट्, नमस्कार और नमो नमः आदि पद आपके ही नाम हैं । आप गूढ़ व्रतधारी, गुप्त तपस्या करनेवाले, तारकमन्त्र और ताराओंसे भरे हुए आकाश हैं ॥ १४४ ॥

धाता विधाता संधाता विधाता धारणोऽधरः ।
ब्रह्मा तपश्च सत्यं च ब्रह्मचर्यमथार्जवम् ॥ १४५॥
भूतात्मा भूतकृद्भूतो भूतभव्यभवोद्भवः ।
भूर्भुवः स्वरितश्चैव ध्रुवो दान्तो महेश्वरः ॥ १४६॥

धाता (धारण करनेवाले), विधाता (सृष्टि करनेवाले), संधाता (जोड़नेवाले), विधाता, धारण और अधर (आधाररहित) भी आपहीके नाम हैं । आप ब्रह्मा, तप, सत्य, ब्रह्मचर्य, आर्जव (सरलता), भूतात्मा (प्राणियोंके आत्मा), भूतोंकी सृष्टि करनेवाले, भूत (नित्यसिद्ध), भूत, भविष्य और वर्तमानकी उत्पत्तिके कारण, भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, ध्रुव (स्थिर), दान्त (दमनशील) और महेश्वर हैं ॥ १४५-१४६ ॥

दीक्षितोऽदीक्षितः क्षान्तो दुर्दान्तोऽदान्तनाशनः ।
चन्द्रावर्तो युगावर्तः संवर्तः सम्प्रवर्तकः ॥ १४७॥

दीक्षित (यज्ञकी दीक्षा लेनेवाले), अदीक्षित, क्षमावान्, दुर्दान्त, उद्दण्ड प्राणियोंका नाश करनेवाले, चन्द्रमाकी आवृत्ति करनेवाले (मास), युगोंकी आवृत्ति करनेवाले (कल्प), संवर्त (प्रलय) तथा सम्प्रवर्तक (पुनः सृष्टि-संचालन करनेवाले) भी आप ही हैं ॥१४७॥

कामो बिन्दुरणुः स्थूलः कर्णिकारस्रजप्रियः।
नन्दीमुखो भीममुखः सुमुखो दुर्मुखोऽमुखः ॥१४८॥
चतुर्मुखो बहुमुखो रणेष्वग्निमुखस्तथा।
हिरण्यगर्भः शकुनिर्महोरगपतिर्विराट् ॥१४९॥

आप ही काम, बिन्दु, अणु (सूक्ष्म) और स्थूलरूप हैं। आप कनेरके फूलकी माला अधिक पसंद करते हैं। आप ही नन्दीमुख, भीममुख (भयंकर मुखवाले), सुमुख, दुर्मुख, अमुख (मुखरहित), चतुर्मुख, बहुमुख तथा युद्धके समय शत्रुका संहार करनेके कारण अग्निमुख (अग्निके समान मुखवाले) हैं। हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा), शकुनि (पक्षीके समान असङ्ग), महान् सर्पोंके स्वामी (शेषनाग) और विराट् भी आप ही हैं ॥१४८-१४९॥

अधर्महा महापार्श्वश्चण्डधारो गणाधिपः।
गोनर्दो गोप्रतारश्च गोवृषेश्वरवाहनः ॥१५०॥
त्रैलोक्यगोप्ता गोविन्दो गोमार्गोऽमार्ग एव च।
श्रेष्ठः स्थिरश्च स्थाणुश्च निष्कम्पः कम्प एव च ॥१५१॥
दुर्वारणो दुर्विषहो दुःसहो दुरतिक्रमः।
दुर्धर्षो दुष्प्रकम्पश्च दुर्विषो दुर्जयो जयः ॥१५२॥
शशः शशाङ्कः शमनः शीतोष्णक्षुज्जराधिकृत्।
आधयो व्याधयश्चैव व्याधिहा व्याधिरेव च ॥१५३॥

आप अधर्मके नाशक, महापार्श्व, चण्डधार, गणाधिप, गोनर्द, गौओंको आपत्तिसे बचानेवाले, नन्दीकी सवारी करनेवाले, त्रैलोक्यरक्षक, गोविन्द (श्रीकृष्णरूप), गोमार्ग (इन्द्रियोंके संचालक), अमार्ग (इन्द्रियोंके अगोचर), श्रेष्ठ, स्थिर, स्थाणु, निष्कम्प, कम्प, दुर्वारण (जिनका सामना करना कठिन है, ऐसे), दुर्विषह (असह्य वेगवाले), दुःसह, दुर्लङ्घ्य, दुर्द्धर्ष, दुष्प्रकम्प, दुर्विष, दुर्जय, जय, शश (शीघ्रगामी), शशाङ्क (चन्द्रमा) तथा शमन (यमराज) हैं। सर्दी-गर्मी, क्षुधा, वृद्धावस्था तथा मानसिक चिन्ताको दूर करनेवाले भी आप ही हैं। आप ही आधि-व्याधि तथा उसे दूर करनेवाले हैं ॥ १५०—१५३ ॥

मम यज्ञमृगव्याधो व्याधीनामागमो गमः।
शिखण्डी पुण्डरीकाक्षः पुण्डरीकवनालयः ॥१५४॥
दण्डधारस्त्र्यम्बकश्च उग्रदण्डोऽण्डनाशनः।
विषाग्निपाः सुरश्रेष्ठः सोमपास्त्वं मरुत्पतिः ॥१५५॥

मेरे यज्ञरूपी मृगके वधिक तथा व्याधियोंको लाने और मिटानेवाले भी आप ही हैं। (कृष्णरूपमें) मस्तकपर शिखण्ड (मोरपङ्ख) धारण करनेके कारण आप शिखण्डी हैं। आप कमलके समान नेत्रोंवाले, कमलके वनमें निवास करनेवाले, दण्ड धारण करनेवाले, त्र्यम्बक, उग्रदण्ड और ब्रह्माण्डके संहारक हैं। विषाग्निको पी जानेवाले, देवश्रेष्ठ, सोमरसका पान करनेवाले और मरुद्गणोंके स्वामी हैं ॥ १५४-१५५ ॥

अमृतपास्त्वं जगन्नाथ देवदेव गणेश्वरः।
विषाग्निपा मृत्युपाश्च क्षीरपाः सोमपास्तथा।
मधुश्च्युतानामग्रपास्त्वमेव तुषिताद्यपाः ॥ १५६ ॥

देवाधिदेव ! जगन्नाथ ! आप अमृत पान करनेवाले और गणोंके स्वामी हैं। विषाग्नि तथा मृत्युसे रक्षा करनेवाले और दूध एवं सोमरसका पान करनेवाले हैं। आप सुखसे भ्रष्ट हुए जीवोंके प्रधान रक्षक तथा तुषितनामक देवताओंके आदिभूत ब्रह्माजीका भी पालन करनेवाले हैं ॥ १५६ ॥

हिरण्यरेताः पुरुषस्त्वमेव
त्वं स्त्री पुमांस्त्वं च नपुंसकं च।
बालो युवा स्थविरो जीर्णदंष्ट्र-
स्त्वं नागेन्द्र शक्रस्त्वं विश्वकृद्विश्वकर्ता ॥१५७॥
विश्वकृद् विश्वकृतां वरेण्यस्त्वं विश्ववाहो
विश्वरूपस्तेजस्वी विश्वतोमुखः।
चन्द्रादित्यौ चक्षुषी ते हृदयं च पितामहः ॥१५८॥

आप ही हिरण्यरेता (अग्नि), पुरुष (अन्तर्यामी) तथा आप ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक हैं। बालक-युवा और वृद्ध भी आप ही हैं। नागेश्वर ! आप जीर्ण दाढ़ोंवाले और इन्द्र हैं। आप विश्वकृत् (जगत्के संहारक), विश्वकर्ता (प्रजापति), विश्वकृत् (ब्रह्माजी), विश्वकी रचना करनेवाले प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ, विश्वका भार वहन करनेवाले, विश्वरूप, तेजस्वी और सब ओर मुखवाले हैं। चन्द्रमा और सूर्य आपके नेत्र तथा पितामह ब्रह्मा आपके हृदय हैं ॥ १५७-१५८ ॥

महोदधिः सरस्वती वाग् बलमनलोऽ-
निलः अहोरात्रं निमेषोन्मेषकर्म ॥१५९॥

आप ही समुद्र हैं, सरस्वती आपकी वाणी हैं, अग्नि और वायु बल हैं तथा आपके नेत्रोंका खुलना और बंद होना ही दिन और रात्रि हैं ॥ १५९ ॥

न ब्रह्मा न च गोविन्दः पौराणा ऋषयो न ते।
माहात्म्यं वेदितुं शक्ता याथातथ्येन ते शिव ॥१६०॥

शिव ! आपके माहात्म्यको ठीक-ठीक जाननेमें ब्रह्मा, विष्णु तथा प्राचीन ऋषि भी समर्थ नहीं हैं ॥ १६० ॥

या मूर्तयः सुसूक्ष्मास्ते न मह्यं यान्ति दर्शनम्।
त्राहि मां सततं रक्ष पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१६१॥

आपके जो सूक्ष्म रूप हैं, वे हमलोगोंकी दृष्टिमें नहीं आते। भगवन्! जैसे पिता अपने औरस पुत्रकी रक्षा करता है, उसी तरह आप सर्वदा मेरी रक्षा करें ॥ १६१ ॥

रक्ष मां रक्षणीयोऽहं तवानघ नमोऽस्तु ते।
भक्तानुकम्पी भगवान् भक्तश्चाहं सदा त्वयि ॥१६२॥

अनघ! मैं आपके द्वारा रक्षित होने योग्य हूँ, आप अवश्य मेरी रक्षा करें, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप भक्तों-पर दया करनेवाले भगवान् हैं और मैं सदाके लिये आपका भक्त हूँ ॥ १६२ ॥

यः सहस्राण्यनेकानि पुंसामावृत्य दुर्दृशः।
तिष्ठत्येकः समुद्रान्ते स मे गोप्तास्तु नित्यशः ॥१६३॥

जो हजारों मनुष्योंपर मायाका परदा डालकर सबके लिये दुर्बोध हो रहे हैं, अद्वितीय हैं तथा समुद्रके समान कामनाओंका अन्त होनेपर प्रकाशमें आते हैं, वे परमेश्वर नित्य मेरी रक्षा करें ॥ १६३ ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥१६४॥

जो निद्राके वशीभूत न होकर प्राणोंपर विजय पा चुके हैं और इन्द्रियोंको जीतकर सत्त्वगुणमें स्थित हैं, ऐसे योगी-लोग ध्यानमें जिस ज्योतिर्मय तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, उस योगात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ १६४ ॥

जटिले दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे।
कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥१६५॥

जो सदा जटा और दण्ड धारण किये रहते हैं, जिनका उदर और शरीर विशाल है तथा कमण्डलु ही जिनके लिये तरकसका काम देता है, ऐसे ब्रह्माजीके रूपमें विराजमान भगवान् शिवको प्रणाम है ॥ १६५ ॥

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसंधिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥१६६॥

जिनके केशोंमें बादल, शरीरकी संधियोंमें नदियाँ और उदरमें चारों समुद्र हैं, उन जलस्वरूप परमात्माको नमस्कार है॥

सम्भक्ष्य सर्वभूतानि युगान्ते पर्युपस्थिते।
यः शेते जलमध्यस्थस्तं प्रपद्येऽम्बुशायिनम् ॥१६७॥

जो प्रलयकाल उपस्थित होनेपर सब प्राणियोंका संहार करके एकार्णवके जलमें शयन करते हैं, उन जलशायी भगवान्‌की मैं शरण लेता हूँ ॥ १६७ ॥

प्रविश्य वदनं राहोर्यः सोमं पिबते निशि।
ग्रसत्यर्कं च स्वर्भानुर्भूत्वा मां सोऽभिरक्षतु ॥१६८॥

जो रातमें राहुके मुखमें प्रवेश करके स्वयं चन्द्रमाके अमृतका पान करते हैं तथा स्वयं ही राहु बनकर सूर्यपर ग्रहण लगाते हैं, वे परमात्मा मेरी रक्षा करें ॥ १६८ ॥

ये चानुपतिता गर्भा यथा भागानुपासते।
नमस्तेभ्यः स्वधा स्वाहा प्राप्नुवन्तु मुदन्तु ते ॥१६९॥

ब्रह्माजीके बाद उत्पन्न होनेवाले जो देवता और पितर बालककी भाँति यज्ञमें अपने-अपने भाग ग्रहण करते हैं, उन्हें नमस्कार है। वे 'स्वाहा और स्वधा' के द्वारा अपने भाग प्राप्त करके प्रसन्न हों ॥ १६९ ॥

येऽङ्गुष्ठमात्राः पुरुषा देहस्थाः सर्वदेहिनाम्।
रक्षन्तु ते हि मां नित्यं नित्यं चाप्याययन्तु माम् ॥१७०॥

जो अङ्गुष्ठमात्र जीवके रूपमें सम्पूर्ण देहधारियोंके भीतर विराजमान हैं, वे सदा मेरी रक्षा और वृद्धि करें ॥ १७० ॥

ये न रोदन्ति देहस्था देहिनो रोदयन्ति च।
हर्षयन्ति न हृष्यन्ति नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ॥१७१॥

जो देहके भीतर रहते हुए स्वयं न रोकर देहधारियोंको ही रुलाते हैं, स्वयं हर्षित न होकर उन्हें ही हर्षित करते हैं, उन सब रुद्रोंको मैं नित्य नमस्कार करता हूँ ॥ १७१ ॥

ये नदीषु समुद्रेषु पर्वतेषु गुहासु च।
वृक्षमूलेषु गोष्ठेषु कान्तारे गहनेषु च ॥१७२॥
चतुष्पथेषु रथ्यासु चत्वरेषु तटेषु च।
हस्त्यश्वरथशालासु जीर्णोद्यानालयेषु च ॥१७३॥
येषु पञ्चसु भूतेषु दिशासु विदिशासु च।
चन्द्रार्कयोर्मध्यगता ये च चन्द्रार्करश्मिषु ॥१७४॥
रसातलगता ये च ये च तस्मै परं गताः।
नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ॥१७५॥

नदी, समुद्र, पर्वत, गुहा, वृक्षोंकी जड़, गोशाला, दुर्गम पथ, वन, चौराहे, सड़क, चौतरे, किनारे, हस्तिशाला, अश्व-शाला, रथशाला, पुराने बगीचे, जीर्ण गृह, पञ्चभूत, दिशा, विदिशा, चन्द्रमा, सूर्य तथा उन-उनकी किरणोंमें, रसातलमें और उससे भिन्न स्थानोंमें भी जो अधिष्ठातृ देवताके रूपमें व्याप्त हैं, उन सबको सदा नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है ॥

येषां न विद्यते संख्या प्रमाणं रूपमेव च।
असंख्येयगुणा रुद्रा नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ॥१७६॥

जिनकी संख्या, प्रमाण और रूपकी सीमा नहीं है, जिनके गुणोंकी गिनती नहीं हो सकती, उन रुद्रोंको मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥ १७६ ॥

सर्वभूतकरो यस्मात् सर्वभूतपतिर्हरः।
सर्वभूतान्तरात्मा च तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥१७७॥

आप सम्पूर्ण भूतोंके जन्मदाता, सबके पालक और संहारक हैं तथा आप ही समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं, इसीलिये मैंने आपको पृथक् निमन्त्रण नहीं दिया ॥१७७॥

त्वमेव हीज्यसे यस्माद् यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
त्वमेव कर्ता सर्वस्य तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥१७८॥

नाना प्रकारकी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंद्वारा आपहीका यजन किया जाता है और आप ही सबके कर्ता हैं, इसीलिये मैंने आपको अलग निमन्त्रण नहीं दिया ॥ १७८ ॥

अथवा मायया देव सूक्ष्मया तव मोहितः ।
एतस्मात् कारणाद् वापि तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥१७९॥

अथवा देव ! आपकी सूक्ष्म मायासे मैं मोहमें पड़ गया था, इस कारणसे भी मैंने आपको निमन्त्रण नहीं दिया ॥

प्रसीद मम भद्रं ते भव भावगतस्य मे ।
त्वयि मे हृदयं देव त्वयि बुद्धिर्मनस्त्वयि ॥१८०॥

भगवन् भव ! आपका भला हो, मैं भक्तिभावके साथ आपकी शरणमें आया हूँ; इसलिये अब मुझपर प्रसन्न होइये । मेरा हृदय, मेरी बुद्धि और मेरा मन सब आपमें समर्पित हैं॥

स्तुत्वैवं स महादेवं विरराम प्रजापतिः ।
भगवानपि सुप्रीतः पुनर्दक्षमभाषत ॥१८१॥

इस प्रकार महादेवजीकी स्तुति करके प्रजापति दक्ष चुप हो गये । तब भगवान् शिवने भी बहुत प्रसन्न होकर दक्षसे कहा—॥

परितुष्टोऽस्मि ते दक्ष स्तवेनानेन सुव्रत ।
बहुनात्र किमुक्तेन मत्समीपे भविष्यसि ॥१८२॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दक्ष ! तुम्हारेद्वारा की हुई इस स्तुतिसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ । यहाँ अधिक क्या कहूँ, तुम मेरे निकट निवास करोगे ॥ १८२ ॥

अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च ।
प्रजापते मत्प्रसादात् फलभागी भविष्यसि ॥१८३॥

'प्रजापते ! मेरे प्रसादसे तुम्हें एक हजार अश्वमेध तथा एक सौ वाजपेय यज्ञका फल मिलेगा' ॥ १८३ ॥

अथैनमब्रवीद् वाक्यं लोकस्याधिपतिर्भवः ।
आश्वासनकरं वाक्यं वाक्यविद् वाक्यसम्मतम् ॥१८४॥

तदनन्तर वाक्यविशारद, लोकनाथ भगवान् शिवने प्रजापतिको सान्त्वना देनेवाला युक्तियुक्त एवं उत्तम वचन कहा—॥ १८४ ॥

दक्ष दक्ष न कर्तव्यो मन्युर्विघ्नमिमं प्रति ।
अहं यज्ञहरस्तुभ्यं दृष्टमेतत् पुरातनम् ॥१८५॥

'दक्ष ! दक्ष ! इस यज्ञमें जो विघ्न डाला गया है, इसके लिये तुम खेद न करना । मैंने पहले कल्पमें भी तुम्हारे यज्ञका विध्वंस किया था । यह घटना भी पूर्वकल्पके अनुसार ही हुई है ॥ १८५ ॥

भूयश्च ते वरं दद्मि तं त्वं गृह्णीष्व सुव्रत ।
प्रसन्नवदनो भूत्वा तदिहैकमनाः शृणु ॥१८६॥

'सुव्रत ! मैं पुनः तुम्हें वरदान देता हूँ, तुम इसे स्वीकार करो और प्रसन्नवदन तथा एकाग्रचित्त होकर यहाँ मेरी यह बात सुनो ॥ १८६ ॥

वेदात् षडङ्गादुद्धृत्य सांख्ययोगाच्च युक्तितः ।
तपः सुतप्तं विपुलं दुश्चरं देवदानवैः ॥१८७॥

'पूर्वकालमें षडङ्ग वेद, सांख्ययोग और तर्कसे निश्चित करके देवताओं और दानवोंने जिस विशाल एवं दुष्कर तपका अनुष्ठान किया था (उससे भी उत्तम व्रत मैं तुम्हें बता रहा हूँ)॥

अपूर्वं सर्वतोभद्रं सर्वतोमुखमव्ययम् ।
अब्दैर्दशाहसंयुक्तं गूढमप्राज्ञनिन्दितम् ॥१८८॥
वर्णाश्रमकृतैर्धर्मैर्विपरीतं क्वचित्समम् ।
गतान्तैरध्यवसितमत्याश्रममिदं व्रतम् ॥१८९॥
मया पाशुपतं दक्ष शुभमुत्पादितं पुरा ।
तस्य चीर्णस्य तत् सम्यक् फलं भवति पुष्कलम् ।
तच्चास्तु ते महाभाग त्यज्यतां मानसो ज्वरः ॥१९०॥

'दक्ष ! मैंने पूर्वकालमें एक शुभकारक पाशुपत नामक व्रतको प्रकट किया था, जो अपूर्व है, साधन और सिद्धि सभी अवस्थाओंमें सब प्रकारसे कल्याणकारी, सर्वतोमुखी (सभी वर्णों और आश्रमोंके अनुकूल) तथा मोक्षका साधक होनेके कारण अविनाशी है । वर्षोंतक पुण्यकर्म करने और यम-नियम नामक दस साधनोंको अभ्यासमें लानेसे उसकी उपलब्धि होती है । वह गूढ़ है । मूर्ख मनुष्य उसकी निन्दा करते हैं । वह समस्त वर्णधर्म और आश्रम-धर्मके अनुकूल, सम और किसी-किसी अंशमें विपरीत भी है । जिन्हें सिद्धान्तका ज्ञान है, उन्होंने इसे अपनानेका पूर्ण निश्चय कर लिया है । यह व्रत सभी आश्रमोंसे बढ़कर है । इसके अनुष्ठानसे उत्तम एवं प्रचुर फलकी प्राप्ति होती है । महाभाग ! उस पाशुपत व्रतके अनुष्ठानका फल तुम्हें प्राप्त हो । अब तुम अपनी मानसिक चिन्ताका परित्याग कर दो' ॥ १८८—१९० ॥

एवमुक्त्वा महादेवः सपत्नीकः सहानुगः ।
अदर्शनमनुप्राप्तो दक्षस्यामितविक्रमः ॥१९१॥

दक्षसे ऐसा कहकर पत्नी और पार्षदोंसहित अमित पराक्रमी महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १९१ ॥

दक्षप्रोक्तं स्तवमिमं कीर्तयेद् यः शृणोति वा ।
नाशुभं प्राप्नुयात् किंचिद् दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।१९२।

जो मनुष्य दक्षके द्वारा कहे हुए इस स्तोत्रका कीर्तन अथवा श्रवण करेगा, उसे कोई अमङ्गल नहीं प्राप्त होगा । वह दीर्घ आयु प्राप्त करता है ॥ १९२ ॥

यथा सर्वेषु देवेषु वरिष्ठो भगवाञ्छिवः ।
तथा स्तवो वरिष्ठोऽयं स्तवानां ब्रह्मसम्मितः ॥१९३॥

जैसे भगवान् शिव सब देवताओंमें श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार यह वेदतुल्य स्तोत्र सभी स्तुतियोंमें श्रेष्ठ है ॥ १९३ ॥

यशोराज्यसुखैश्वर्यकामार्थधनकाङ्क्षिभिः ।
श्रोतव्यो भक्तिमास्थाय विद्याकामैश्च यत्नतः ॥१९४॥

यश, राज्य, सुख, ऐश्वर्य, काम, अर्थ, धन और विद्याकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको भक्तिभावका आश्रय लेकर यत्नपूर्वक इस स्तोत्रका श्रवण करना चाहिये ॥ १९४ ॥

व्याधितो दुःखितो दीनश्चोरग्रस्तो भयार्दितः।
राजकार्याभियुक्तो वा मुच्यते महतो भयात् ॥१९५॥

रोगी, दुखी, दीन, चोरके हाथमें पड़ा हुआ, भयभीत तथा राजकार्यका अपराधी मनुष्य भी इस स्तोत्रका पाठ करनेसे महान् भयसे छुटकारा पा जाता है ॥ १९५ ॥

अनेनैव तु देहेन गणानां समतां व्रजेत्।
तेजसा यशसा चैव युक्तो भवति निर्मलः ॥१९६॥

इतना ही नहीं, वह इसी शरीरसे भगवान् शिवके गणोंकी समानता प्राप्त कर लेता है तथा तेज और यशसे सम्पन्न होकर निर्मल हो जाता है ॥ १९६ ॥

न राक्षसाः पिशाचा वा न भूता न विनायकाः।
विघ्नं कुर्युर्गृहे तस्य यत्रायं पठ्यते स्तवः ॥१९७॥

जिसके यहाँ इस स्तोत्रका पाठ होता है, उसके घरमें राक्षस, पिशाच, भूत और विनायक कभी कोई विघ्न नहीं करते हैं ॥ १९७ ॥

शृणुयाच्चैव या नारी तद्भक्ता ब्रह्मचारिणी।
पितृपक्षे भर्तृपक्षे पूज्या भवति देववत् ॥१९८॥

जो नारी भगवान् शङ्करमें भक्तिभाव रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करती हुई इस स्तोत्रको सुनती है, वह पितृकुल और पतिकुलमें देवताके समान आदरणीय होती है ॥ १९८ ॥

शृणुयाद् यः स्तवं कृत्स्नं कीर्तयेद् वा समाहितः।
तस्य सर्वाणि कर्माणि सिद्धिं गच्छन्त्यभीक्ष्णशः ॥१९९॥

जो एकाग्रचित्त होकर इस सम्पूर्ण स्तोत्रको सुनता अथवा पढ़ता है, उसके सारे कार्य सदा ही सिद्ध होते रहते हैं ॥

मनसा चिन्तितं यच्च यच्च वाचानुकीर्तितम्।
सर्वं सम्पद्यते तस्य स्तवस्यास्यानुकीर्तनात् ॥२००॥

वह मनसे जिस वस्तुके लिये चिन्तन करता है अथवा वाणीसे जिस मनोरथकी याचना करता है, उसका वह सारा अभीष्ट इस स्तोत्रके बार-बार पाठसे सिद्ध हो जाता है ॥२००॥

देवस्य च गुहस्यापि देव्या नन्दीश्वरस्य च।
बलिं सुविहितं कृत्वा दमेन नियमेन च ॥२०१॥
ततस्तु युक्तो गृह्णीयान्नामान्याशु यथाक्रमम्।
ईप्सिताल्लँभते सोऽर्थान् भोगान् कामांश्च मानवः ॥२०२
मृतश्च स्वर्गमाप्नोति तिर्यक्षु च न जायते।
इत्याह भगवान् व्यासः पराशरसुतः प्रभुः ॥२०३॥

मनुष्यको चाहिये कि वह इन्द्रियोंको संयममें रखकर शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन करते हुए महादेवजी, कार्तिकेय, पार्वतीदेवी और नन्दिकेश्वरको विधिपूर्वक पूजोपहार समर्पित करे, फिर एकाग्रचित्त होकर क्रमशः इन सहस्र नामोंका पाठ करे। ऐसा करनेसे मनुष्य शीघ्र ही मनोवाञ्छित पदार्थों, भोगों और कामनाओंको प्राप्त कर लेता है तथा मृत्युके पश्चात् स्वर्गमें जाता है। उसे पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जन्म नहीं लेना पड़ता है। इस प्रकार सर्वसमर्थ पराशरनन्दन भगवान् व्यासजीने इस स्तोत्रका माहात्म्य बतलाया है ॥२०१–२०३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दक्षप्रोक्तशिवसहस्रनामस्तवे चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें दक्षद्वारा कथित शिवसहस्रनामस्तोत्रविषयक दो सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अध्यात्मज्ञानका और उसके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अध्यात्मं नाम यदिदं पुरुषस्येह विद्यते।
यदध्यात्मं यतश्चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! शास्त्रमें पुरुषके लिये जो यह अध्यात्मतत्त्व बताया गया है, वह अध्यात्म क्या है ? और उसकी उत्पत्ति कहाँसे हुई है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वज्ञानं परं बुद्ध्या यन्मां त्वमनुपृच्छसि।
तद् व्याख्यास्यामि ते तात तस्य व्याख्यामिमां शृणु ॥२॥

भीष्मजीने कहा—तात ! तुम मुझसे जिस अध्यात्मतत्त्वको पूछ रहे हो, वह बुद्धिके द्वारा सभी विषयोंका उत्तम ज्ञान प्रदान करनेवाला है। मैं तुमसे उसकी व्याख्या करूँगा, तुम उस व्याख्याको ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
महाभूतानि भूतानां सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ॥ ३ ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये पाँच महाभूत समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं ॥ ३ ॥

स तेषां गुणसंघातः शरीरं भरतर्षभ।
सततं हि प्रलीयन्ते गुणास्ते प्रभवन्ति च ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! प्राणियोंका शरीर उन्हीं पाँचों महाभूतोंका कार्यसमूह है। वे कार्यरूपमें परिणत भूतगण सदा लीन होते और प्रकट होते रहते हैं ॥ ४ ॥

ततः सृष्टानि भूतानि तानि यान्ति पुनः पुनः।
महाभूतानि भूतेभ्य ऊर्मयः सागरे यथा ॥ ५ ॥

जैसे महाभूत सूक्ष्म भूतोंसे प्रकट होते और उन्हींमें लयको प्राप्त होते हैं तथा जैसे लहरें समुद्रसे प्रकट होकर फिर उसीमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार परमात्मासे समस्त प्राणी उत्पन्न होते और पुनः उसीमें लीन हो जाते हैं ॥ ५ ॥

प्रसारयित्वेहाङ्गानि कूर्मः संहरते यथा।
तद्वद् भूतानि भूतानामल्पीयांसि स्थवीयसाम्॥ ६ ॥

जैसे कछुआ यहाँ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंके शरीर आकाश आदि पाँच महाभूतोंसे उत्पन्न होते और फिर उन्हींमें लीन हो जाते हैं॥

आकाशात् खलु यो घोषः संघातस्तु महीगुणः।
वायोः प्राणो रसस्त्वद्भ्यो रूपं तेजस उच्यते॥ ७ ॥

शरीरमें जो शब्द होता है, वह आकाशका गुण है। यह स्थूल शरीर पृथ्वीका गुण या कार्य है। प्राण वायुका, रस जलका तथा रूप तेजका गुण बताया जाता है ॥ ७ ॥

इत्येतन्मयमेवैतत् सर्वं स्थावरजङ्गमम्।
प्रलये च तमभ्येति तस्मादुद्दिश्यते पुनः॥ ८ ॥

इस प्रकार यह समस्त स्थावर-जङ्गम शरीर पञ्चभूतमय ही है। प्रलयकालमें यह परमात्मामें ही लीन होता है और सृष्टिके आरम्भमें पुनः उन्हींसे प्रकट हो जाता है ॥ ८ ॥

महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत्।
विषयान् कल्पयामास यस्मिन् यदनुपश्यति॥ ९ ॥

सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले ईश्वरने समस्त प्राणियोंमें पञ्चमहाभूतोंका ही विभागपूर्वक समावेश किया है। देहके भीतर जिस भूतके स्थित होनेसे मनुष्य जो कार्य देखता है, वह बताता हूँ; सुनो ॥ ९ ॥

शब्दश्श्रोत्रे तथा खानि त्रयमाकाशयोनिजम्।
रसः स्नेहश्च जिह्वा च अपामेते गुणाः स्मृताः॥ १० ॥

शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय और सम्पूर्ण छिद्र—ये तीन आकाशके कार्य हैं। रस, स्नेह तथा जिह्वा—ये तीनों जलके गुण या कार्य माने गये हैं ॥ १० ॥

रूपं चक्षुर्विपाकश्च त्रिविधं ज्योतिरुच्यते।
घ्रेयं घ्राणं शरीरं च एते भूमिगुणाः स्मृताः॥ ११ ॥

रूप, नेत्र और परिपाक—इन तीन गुणोंके रूपमें तेजकी ही स्थिति बतायी जाती है। गन्ध, घ्राण तथा शरीर—ये तीनों भूमिके गुण माने गये हैं ॥ ११ ॥

प्राणः स्पर्शश्च चेष्टा च वायोरेते गुणाः स्मृताः।
इति सर्वगुणा राजन् व्याख्याताः पाञ्चभौतिकाः॥ १२॥

प्राण, स्पर्श और चेष्टा—ये तीनों वायुके गुण बताये गये हैं। राजन्! इस प्रकार मैंने समस्त पाञ्चभौतिक गुणोंकी व्याख्या कर दी ॥ १२ ॥

सत्त्वं रजस्तमः कालः कर्म बुद्धिश्च भारत।
मनःषष्ठानि चैतेषु ईश्वरः समकल्पयत्॥ १३॥

भरतनन्दन! ईश्वरने इन प्राणियोंके शरीरोंमें सत्त्व, रज, तम, काल, कर्म, बुद्धि तथा मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी कल्पना की है ॥ १३ ॥

यदूर्ध्वं पादतलयोरवाङ् मूर्ध्नश्च पश्यसि।
एतस्मिन्नेव कृत्स्नेयं वर्तते बुद्धिरन्तरे॥ १४ ॥

पैरोंके तलुओंसे लेकर ऊपरकी ओर और मस्तकसे नीचेकी ओर जितना भी शरीर है, इसके भीतर यह बुद्धि पूर्णरूपसे व्याप्त हो रही है ॥ १४ ॥

इन्द्रियाणि नरे पञ्च षष्ठं तु मन उच्यते।
सप्तमीं बुद्धिमेवाहुः क्षेत्रज्ञः पुनरष्टमः॥ १५ ॥

मानव-शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन बताया जाता है। बुद्धिको सातवीं और क्षेत्रज्ञको आठवाँ कहते हैं ॥

इन्द्रियाणि च कर्ता च विचेतव्यानि भागशः।
तमः सत्त्वं रजश्चैव तेऽपि भावास्तदाश्रयाः॥ १६ ॥

पाँच इन्द्रियाँ और जीवात्मा—इन सबको कार्य-विभागके अनुसार अलग-अलग समझना चाहिये। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तथा उनके सात्त्विक, राजस और तामस भाव जीवात्माके ही आश्रित हैं ॥ १६ ॥

चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः।
बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते।
तमः सत्त्वं रजश्चेति कालः कर्म च भारत॥ १७ ॥
गुणैर्नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाणि च।
मनःषष्ठानि सर्वाणि बुद्ध्यभावे कुतो गुणाः॥ १८ ॥

नेत्र आदि इन्द्रियाँ दर्शन आदि कार्योंके लिये हैं। मन संशय करता है और बुद्धि उस विषयका ठीक-ठीक निश्चय करनेके लिये है। क्षेत्रज्ञ (आत्मा) को साक्षी बताया जाता है। भरतनन्दन! सत्त्व, रज, तम, काल और कर्म—इन पाँच गुणोंद्वारा बुद्धि बार-बार विभिन्न विषयोंकी ओर ले जायी जाती है। बुद्धि मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंका संचालन करती है। यदि बुद्धि न हो तो ये गुण—इन्द्रिय आदि कैसे कोई कार्य कर सकते हैं ॥ १७-१८ ॥

येन पश्यति तच्चक्षुः शृण्वती श्रोत्रमुच्यते।
जिघ्रती भवति घ्राणं रसती रसना रसान्॥ १९ ॥
स्पर्शनं स्पर्शती स्पर्शान् बुद्धिर्विक्रियतेऽसकृत्।
यदा प्रार्थयते किंचित् तदा भवति सा मनः॥ २० ॥

बुद्धि जिसके द्वारा देखती है, उस इन्द्रियका नाम दृष्टि या नेत्र है। वही अपने वृत्तिविशेषके द्वारा जब सुनने लगती है, तब श्रोत्र कहलाती है। गन्धको ग्रहण करते समय वह घ्राण बन जाती है। रसास्वादन करते समय रसना कहलाती है और स्पर्शोंका अनुभव करते समय वही स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) नाम धारण करती है। इस प्रकार

बुद्धि बार-बार विकृत होती है। जब वह कुछ प्रार्थना (याचना) करती है, तब मन बन जाती है ॥ १९-२० ॥

अधिष्ठानानि बुद्ध्या हि पृथगेतानि पञ्चधा।
इन्द्रियाणीति तान्याहुस्तेषु दुष्टेषु दुष्यति ॥ २१ ॥

बुद्धिके ये जो पृथक्-पृथक् पाँच अधिष्ठान हैं, इन्हींको इन्द्रिय कहते हैं। इन इन्द्रियोंके दूषित होनेपर बुद्धि भी दूषित हो जाती है ॥ २१ ॥

पुरुषे तिष्ठती बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते।
कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदपि शोचति ॥ २२ ॥

साक्षी आत्माके आश्रित रहनेवाली बुद्धि सात्त्विक, राजस और तामस तीन भावोंमें (जो सुख-दुःख और मोह-रूप हैं) स्थित होती है, इसीलिये कभी (सत्त्वगुणका उद्रेक होनेपर) उसे आनन्द प्राप्त होता है और कभी (रजोगुणकी अधिकता होनेपर) वह दुःख-शोकका अनुभव करती है ॥ २२ ॥

न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि वर्तते।
सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतान् परिवर्तते ॥ २३ ॥

कभी (तमोगुणकी अधिकतासे मोहाच्छन्न होनेपर) उसका न सुखसे संयोग होता है न दुःखसे (वह निद्रा और आलस्य आदिमें मग्न रहती है)। इस प्रकार यह भावात्मिका बुद्धि इन तीन भावोंका अनुसरण करती है ॥ २३ ॥

सरितां सागरो भर्ता यथा वेलामिवोर्मिवान्।
इति भावगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते ॥ २४ ॥

जैसे सरिताओंका स्वामी समुद्र उत्ताल तरंगोंसे युक्त होनेपर भी अपनी तटभूमिका उल्लङ्घन नहीं करता है, उसी प्रकार सात्त्विक आदि भावोंसे युक्त बुद्धि तीनों गुणोंका उल्लङ्घन नहीं करती। भावनामय मनमें ही चक्कर लगाती रहती है ॥ २४ ॥

प्रवर्तमानं तु रजस्तद्भावेनानुवर्तते।
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ॥ २५ ॥
कथंचिदुपपद्यन्ते पुरुषे सात्त्विका गुणाः।

जब रजोगुणकी प्रवृत्ति होती है, तब बुद्धि राजसिक भावका अनुसरण करती है। यदि पुरुषमें किसी प्रकार अधिक हर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और चित्तमें शान्ति उपलब्ध हो तो ये सात्त्विक गुण हैं ॥ २५½ ॥

परिदाहस्तथा शोकः संतापोऽपूर्तिरक्षमा ॥ २६ ॥
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुभिः।

जब शरीर या मनमें किसी कारणसे या अकारण ही दाह, शोक, संताप, अपूर्णता (लोभ-लिप्सा) और असहन-शीलताके भाव दिखायी देते हों तो उन्हें रजोगुणके चिह्न समझना चाहिये ॥ २६½ ॥

अविद्या रागमोहौ च प्रमादः स्तब्धता भयम् ॥ २७ ॥
असमृद्धिस्तथा दैन्यं प्रमोहः स्वप्नतन्द्रिता।
कथंचिदुपवर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ २८ ॥

यदि किसी प्रकार अविद्या, राग, मोह, प्रमाद, स्तब्धता, भय, दरिद्रता, दीनता, प्रमोह (मूर्च्छा), स्वप्न, निद्रा और आलस्य आदि दोष आ घेरते हों तो उन्हें तमोगुणके ही विविध रूप जाने ॥ २७-२८ ॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत्।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्युपेक्षेत तत् तथा ॥ २९ ॥

ऐसी स्थितिमें शरीर अथवा मनके भीतर यदि कोई प्रसन्नताका भाव हो तो वह सात्त्विक भाव है, ऐसा विचार करना चाहिये ॥ २९ ॥

अथ यद् दुःखसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
प्रवृत्तं रज इत्येव तदसंरभ्य चिन्तयेत् ॥ ३० ॥

जब अपने लिये अप्रसन्नताका हेतु और दुःखयुक्त भाव अनुभवमें आये, तब रजोगुणकी प्रवृत्ति हुई है, ऐसा अपने मनमें विचार करे तथा वैसे किसी कार्यका आरम्भ न करके उसकी ओरसे अपना ध्यान हटा ले ॥ ३० ॥

अथ यन्मोहसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार शरीर या मनमें जो मोहयुक्त भाव अतर्कित या अविज्ञातरूपसे उपस्थित हो गया हो, उसके विषयमें यही निश्चय करे कि यह तमोगुण है ॥ ३१ ॥

इति बुद्धिगतीः सर्वा व्याख्याता यावतीरिह।
एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार बुद्धिकी जितनी अवस्थाएँ हैं, उनकी व्याख्या यहाँ कर दी गयी। यह सब जानकर मनुष्य ज्ञानी हो जाता है। इसके सिवा ज्ञानीका और क्या लक्षण हो सकता है ? ॥ ३२ ॥

सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः।
सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान् ॥ ३३ ॥

बुद्धि और क्षेत्रज्ञ (आत्मा)—ये दोनों सूक्ष्मतत्त्व हैं। इन दोनोंमें जो अन्तर है, उसे समझो। इनमेंसे एक अर्थात् बुद्धि तो गुणोंकी सृष्टि करती है और दूसरा (आत्मा) गुणोंकी सृष्टि नहीं करता—केवल साक्षीमात्रसे देखता रहता है॥ ३३ ॥

पृथग्भूतौ प्रकृत्या तु सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा।
यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात् सम्प्रयुक्तो भवेत् तथा ॥ ३४ ॥

वे दोनों बुद्धि और क्षेत्रज्ञ स्वभावतः एक दूसरेसे भिन्न हैं, परंतु सदा परस्पर मिले हुए-से प्रतीत होते हैं। जैसे मछली जलसे भिन्न है तो भी उससे सदा संयुक्त रहती है, उसी प्रकार बुद्धि और आत्मा परस्पर भिन्न होते हुए भी अभिन्न रहते हैं ॥ ३४ ॥

न गुणा विदुरात्मानं स गुणान् वेद सर्वतः।
परिद्रष्टा गुणानां तु संस्रष्टा मन्यते यथा ॥ ३५ ॥

सत्त्व आदि गुण जड होनेके कारण आत्माको नहीं जानते, परंतु आत्मा चेतन है, इसलिये गुणोंको पूर्णरूपसे जानता है। वह गुणोंका साक्षी है तथापि मूढ़ मनुष्य उसे गुणोंसे संश्लिष्ट या संयुक्त समझते हैं ॥ ३५ ॥

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य गुणसर्गेण चेतना।
सत्त्वमस्य सृजन्त्यन्ये गुणान् वेद कदाचन ॥ ३६ ॥

बुद्धि जब सत्त्वादि गुणोंकी सृष्टि करती है, उस समय जीवात्मा उसका आश्रय नहीं होता। अन्य गुणोंकी रचना बुद्धि ही करती है और उन गुणोंको जीव कभी जानता है ॥

सृजते हि गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति।
सम्प्रयोगस्तयोरेष सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्ध्रुवः ॥ ३७ ॥

बुद्धि गुणोंको उत्पन्न करती है और आत्मा केवल देखता है। बुद्धि और आत्माका यह सम्बन्ध अनादि है ॥ ३७ ॥

इन्द्रियैस्तु प्रदीपार्थं क्रियते बुद्धिरन्तरा।
निश्चक्षुर्भिरजानद्भिरिन्द्रियाणि प्रदीपवत् ॥ ३८ ॥

ज्ञानशक्तिरहित न जाननेवाली इन्द्रियाँ वस्तुओंको प्रकाशित करनेके लिये बुद्धिको बीचमें करती हैं। इन्द्रियाँ तो वस्तुको प्रकट करनेमें दीपककी भाँति केवल सहायक हैं ॥

एवंस्वभावमेवैतत् तद् बुद्ध्वा विहरेन्नरः।
अशोचन्नप्रहृष्यंश्च स वै विगतमत्सरः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार 'आत्मा असंग एवं निर्लेप है' इस बातको जानकर मनुष्य शोक, हर्ष और द्वेषका परित्याग करके विचरण करे ॥ ३९ ॥

स्वभावसिद्धमेवैतद् यदिमान् सृजते गुणान्।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं विज्ञेयास्तन्तुवद् गुणाः ॥ ४० ॥

जैसे मकड़ी जाला बुनती है, उसी प्रकार बुद्धि गुणोंकी सृष्टि करती है—यह स्वभावसिद्ध है, अतएव गुणोंको जालेके समान और बुद्धिको मकड़ीके समान जानना चाहिये ॥ ४० ॥

प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते प्रवृत्तिर्नोपलभ्यते।
एवमेके व्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ॥ ४१ ॥

वे गुण नष्ट होनेपर पुनः वापस नहीं आते; क्योंकि फिर उनकी प्रवृत्ति उपलब्ध नहीं होती। एक श्रेणीके विद्वानोंका ऐसा ही निश्चय है। दूसरी श्रेणीके लोग उन नष्ट हुए गुणोंकी पुनरावृत्ति भी मानते हैं ॥ ४१ ॥

इतीदं हृदयग्रन्थिं बुद्धिचिन्तामयं दृढम्।
विमुच्य सुखमासीत विशोकश्छिन्नसंशयः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार बुद्धिकी चिन्तास्वरूप इस सुदृढ़ हृदयग्रन्थिको त्यागकर शोक और संशयसे रहित हो सुखपूर्वक रहना चाहिये ॥ ४२ ॥

ताम्येयुः प्रच्युताः पृथ्वीं मोहपूर्णां नदीं नराः।
यथा गाधमविद्वांसो बुद्धियोगमयं तथा ॥ ४३ ॥

जलकी गहराईको न जाननेवाले मनुष्य जैसे नदीके तल-प्रदेशमें जाकर दुःखका अनुभव करते हैं, उसी प्रकार बुद्धि-योग (ज्ञान) से अनभिज्ञ सभी मनुष्य इस मोहपूर्ण विशाल संसारनदीमें पड़कर क्लेश भोगते हैं ॥ ४३ ॥

नैव ताम्यन्ति विद्वांसः प्लवन्तः पारमम्भसः।
अध्यात्मविदुषो धीरा ज्ञानं तु परमं प्लवः ॥ ४४ ॥

जो तैरनेकी कला जानते हैं, वे तैरकर अगाध जलसे पार हो जाते हैं। उन्हें कष्ट नहीं भोगना पड़ता। उसी प्रकार अध्यात्मतत्त्वके ज्ञाता धीर पुरुष अनायास संसार-सागरको पार कर जाते हैं। उनके लिये परम ज्ञान ही जहाज बन जाता है ॥ ४४ ॥

न भवति विदुषां महद्भयं
यदविदुषां सुमहद्भयं भवेत्।
न हि गतिरधिकास्ति कस्यचित्
सकृदुपदर्शयतीह तुल्यताम् ॥ ४५ ॥

अज्ञानियोंको जिस संसारसे महान् भय बना रहता है, उससे ज्ञानियोंको वह गुरुतर भय तनिक भी नहीं प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुषोंमेंसे किसीको भी अधिक या न्यून गति नहीं प्राप्त होती—वे सब समान गतिके भागी होते हैं। 'सकृद्विभातो ह्येष ब्रह्मलोकः' इत्यादि श्रुति यहाँ ज्ञानियोंकी गतिकी समानता दिखाती है ॥ ४५ ॥

यत् करोति बहुदोषमेकत-
स्तच्च दूषयति यत्पुरा कृतम्।
नाप्रियं तदुभयं करोत्यसौ
यच्च दूषयति यत् करोति च ॥ ४६ ॥

अज्ञानावस्थामें मनुष्य जो अनेक दोषसे युक्त कर्म करता है और वह पहलेके जो कर्म कर चुका है, उनके लिये शोक करता है। इसके सिवा अज्ञानावस्थामें जो वह दूसरेके किये हुए अप्रिय कर्मको दोषरूपमें देखता है और राग आदि दोषके कारण स्वयं जो दूषित कर्म करता है, वह दोनों ही प्रकारका कार्य वह ज्ञान होनेके बाद नहीं करता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पाञ्चभौतिके पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पाञ्चभौतिक तत्त्वोंका वर्णनविषयक दो सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८५ ॥

षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

समङ्गके द्वारा नारदजीसे अपनी शोकहीन स्थितिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

शोकाद् दुःखाच्च मृत्योश्च त्रसन्ते प्राणिनः सदा।
उभयं नो यथा न स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! संसारके सभी प्राणी सदा शोक, दुःख और मृत्युसे डरते रहते हैं; अतः आप हमें ऐसा उपदेश दें, जिससे हमलोगोंको उन दोनोंका भय न रहे ॥१॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादं समङ्गस्य च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष देवर्षि नारद और समङ्गके संवादरूप प्राचीन इतिहास-का उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

नारद उवाच

उरसेव प्रणमसे बाहुभ्यां तरसीव च।
सम्प्रहृष्टमना नित्यं विशोक इव लक्ष्यसे ॥ ३ ॥

नारदजीने पूछा—समङ्गजी ! दूसरे लोग तो सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं; परंतु आप हृदयसे प्रणाम करते जान पड़ते हैं। मालूम होता है, आप इस संसारसागरको अपनी इन दोनों भुजाओंसे ही तैरकर पार हो जायँगे। आपका मन नित्य प्रसन्न रहता है तथा आप सदा शोकशून्य-से दिखायी देते हैं ॥ ३ ॥

उद्वेगं न हि ते किंचित् सुसूक्ष्ममपि लक्षये।
नित्यतृप्त इव स्वस्थो बालवच्च विचेष्टसे ॥ ४ ॥

मैं आपके चित्तमें कभी कोई थोड़ा-सा भी उद्वेग नहीं देख पाता हूँ। आप नित्य तृप्तकी भाँति अपने आपमें ही स्थित रहकर बालकोंके समान चेष्टा करते हैं (इसका क्या कारण है ?) ॥ ४ ॥

समङ्ग उवाच

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वमेतत् तु मानद।
तेषां तत्त्वानि जानामि ततो न विमना ह्यहम् ॥ ५ ॥

समङ्गजीने कहा—दूसरोंको मान देनेवाले देवर्षे ! मैं भूत, वर्तमान और भविष्य इन सबका स्वरूप तथा तत्त्व जानता हूँ; इसलिये मेरे मनमें कभी विषाद नहीं होता ॥५॥

उपक्रमानहं वेद पुनरेव फलोदयान्।
लोके फलानि चित्राणि ततो न विमना ह्यहम् ॥ ६ ॥

मुझे कर्मोंके आरम्भका तथा उनके फलोदयकालका भी ज्ञान है और लोकमें जो भाँति-भाँतिके कर्मफल प्राप्त होते हैं, उनको भी मैं जानता हूँ; इसीलिये मेरे मनमें कभी खेद नहीं होता ॥ ६ ॥

अगाधाश्चाप्रतिष्ठाश्च गतिमन्तश्च नारद।
अन्धा जडाश्च जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ॥ ७ ॥

नारदजी ! देखिये, जैसे जगत्में गम्भीर, अप्रतिष्ठित, प्रगतिशील, अन्धे और जड मनुष्य भी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जी रहे हैं ॥ ७ ॥

विहितेनैव जीवन्ति अरोगाङ्गा दिवौकसः।
बलवन्तोऽबलाश्चैव तस्मादस्मान् सभाजय ॥ ८ ॥

नीरोग शरीरवाले देवता, बलवान् और निर्बल सभी अपने प्रारब्ध-विधानके अनुसार जीवन धारण करते हैं; अतः हम भी प्रारब्धपर ही अवलम्बित रहकर किसी कर्मका आरम्भ नहीं करते हैं, इसलिये हमारे प्रति भी आप आदर बुद्धि रखें (अकर्मण्य समझकर हमारा निरादर न करें) ॥ ८ ॥

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा।
शाकेन चान्ये जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ॥ ९ ॥

जिनके पास हजारों रुपये हैं, वे भी जीते हैं। जिनके पास सैकड़ों रुपयोंका संग्रह है, वे भी जीवन धारण करते हैं। दूसरे लोग सागसे ही जीवन-निर्वाह करते हैं। उसी तरह हमें भी जीवित समझिये ॥ ९ ॥

यदा न शोचेमहि किं नु नः स्याद्
धर्मेण वा नारद कर्मणा वा।
कृतान्तवश्यानि यदा सुखानि
दुःखानि वा यन्न विधर्षयन्ति ॥ १० ॥

नारदजी ! जब अज्ञान दूर हो जानेके कारण हम शोक ही नहीं करते हैं तो धर्म अथवा लौकिक कर्मसे हमारा क्या प्रयोजन है। सारे सुख और दुःख कालके अधीन होनेके कारण क्षणभङ्गुर हैं, अतः वे ज्ञानी पुरुषको पराभूत नहीं कर सकते हैं॥

यस्मै प्राज्ञाः कथयन्ते मनुष्याः
प्रज्ञामूलं हीन्द्रियाणां प्रसादः।
मुह्यन्ति शोचन्ति तथेन्द्रियाणि
प्रज्ञालाभो नास्ति मूढेन्द्रियस्य ॥ ११ ॥

ज्ञानी पुरुष जिसके लिये कहा करते हैं, उस प्रज्ञाकी जड़ है इन्द्रियोंकी निर्मलता। जिसकी इन्द्रियाँ मोह और शोकमें मग्न हैं, उस मोहाच्छन्न इन्द्रियवाले पुरुषको कभी प्रज्ञाका लाभ नहीं मिल सकता ॥ ११ ॥

मूढस्य दर्पः स पुनर्मोह एव
मूढस्य नायं न परोऽस्ति लोकः।

न ह्येव दुःखानि सदा भवन्ति
सुखस्य वा नित्यशो लाभ एव ॥ १२ ॥

मूढ़ मनुष्यको गर्व होता है। उसका वह गर्व मोहरूप ही है। मूढ़के लिये न तो यह लोक सुखद होता है और न परलोक ही। किसीको भी न तो सदा दुःख ही उठाने पड़ते हैं और न नित्य, निरन्तर सुखका ही लाभ होता है ॥ १२ ॥

भवात्मकं सम्परिवर्तमानं
न मादृशः संज्वरं जातु कुर्यात्।
इष्टान् भोगान् नानुरुध्येत् सुखं वा
न चिन्तयेद् दुःखमभ्यागतं वा ॥ १३ ॥

संसारके स्वरूपको परिवर्तित होता देख मेरे-जैसा मनुष्य कभी संताप नहीं करता है। अभीष्ट भोग अथवा सुखका भी अनुसरण नहीं करता तथा दुःख आ जाय तो उसके लिये चिन्तित नहीं होता ॥ १३ ॥

समाहितो न स्पृहयेत् परेषां
नानागतं चाभिनन्देच्च लाभम्।
न चापि हृष्येद् विपुलेऽर्थलाभे
तथार्थनाशे च न वै विषीदेत् ॥ १४ ॥

सब प्रकारसे उपरत महापुरुष दूसरोंसे कुछ भी नहीं चाहता। भविष्यमें होनेवाले अर्थलाभका भी अभिनन्दन नहीं करता। बहुत-सी सम्पत्ति पाकर हर्षित नहीं होता तथा धनका नाश हो जानेपर भी खेद नहीं करता ॥ १४ ॥

न बान्धवा न च वित्तं न कौल्यं
न च श्रुतं न च मन्त्रा न वीर्यम्।
दुःखात् त्रातुं सर्व एवोत्सहन्ते
परत्र शीलेन तु यान्ति शान्तिम् ॥ १५ ॥

बन्धु-बान्धव, धन, उत्तम कुल, शास्त्राध्ययन, मन्त्र तथा पराक्रम—ये सब-के-सब मिलकर भी किसीको दुःखसे छुटकारा नहीं दिला सकते हैं। परलोकमें मनुष्य उत्तम स्वभावके कारण ही शान्ति पाते हैं ॥ १५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नायोगाद् विन्दते सुखम्।
धृतिश्च दुःखत्यागश्चेत्युभयं तु सुखं नृप ॥ १६ ॥

जिसका चित्त योगयुक्त नहीं है, उसे समत्व बुद्धि नहीं प्राप्त होती। योगके बिना कोई सुख नहीं पाता है। नरेश्वर! दुःखोंके सम्बन्धका त्याग और धैर्य—ये ही दोनों सुखके कारण हैं ॥ १६ ॥

प्रियं हि हर्षजननं हर्ष उत्सेकवर्धनः।
उत्सेको नरकायैव तस्मात् तान् संत्यजाम्यहम् ॥ १७ ॥

प्रिय वस्तु हर्षजनक होती है। हर्ष अभिमानको बढ़ाता है और अभिमान नरकमें ही डुबानेवाला है। इसलिये मैं इन तीनोंका त्याग करता हूँ ॥ १७ ॥

एताञ्शोकभयोत्सेकान् मोहनान् सुखदुःखयोः।
पश्यामि साक्षिवल्लोके देहस्यास्य विचेष्टनात् ॥ १८ ॥

शोक, भय और अभिमान—ये प्राणियोंको सुख-दुःखमें डालकर मोहित करनेवाले हैं; इसलिये जबतक यह शरीर चेष्टा कर रहा है, तबतक मैं इन सबको साक्षीकी भाँति देखता हूँ ॥

अर्थकामौ परित्यज्य विशोको विगतज्वरः।
तृष्णामोहौ तु संत्यज्य चरामि पृथिवीमिमाम् ॥ १९ ॥

अर्थ और कामको त्यागकर एवं तृष्णा और मोहका सर्वथा परित्याग करके मैं शोक और संतापसे रहित हुआ इस पृथ्वीपर विचरता हूँ ॥ १९ ॥

न च मृत्योर्न चाधर्मान्न लोभान्न कुतश्चन।
पीतामृतस्येवात्यन्तमिह वामुत्र च भयम् ॥ २० ॥

जैसे अमृत पीनेवालेको मृत्युसे भय नहीं होता, उसी प्रकार मुझे भी इहलोक या परलोकमें मृत्यु, अधर्म, लोभ तथा दूसरे किसीसे भी भय नहीं है ॥ २० ॥

एतद् ब्रह्मन् विजानामि महत् कृत्वा तपोऽव्ययम्।
तेन नारद सम्प्राप्तो न मां शोकः प्रबाधते ॥ २१ ॥

ब्रह्मन्! मैंने महान् और अक्षय तप करके यही ज्ञान पाया है; अतः नारदजी! शोककी परिस्थिति उपस्थित होकर भी मुझे व्याकुल नहीं कर सकती ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि समङ्गनारदसंवादे षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें समङ्ग और नारदजीका संवादविषयक दो सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

नारदजीका गालव मुनिको श्रेयका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतत्त्वज्ञस्य शास्त्राणां सततं संशयात्मनः।
अकृतव्यवसायस्य श्रेयो ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो शास्त्रोंके तत्त्वको नहीं जानता, जिसका मन सदा संशयमें ही पड़ा रहता है तथा जिसने परमार्थके लिये कोई निश्चित ध्येय नहीं बनाया है, उस

पुरुषका कल्याण कैसे हो सकता है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

गुरुपूजा च सततं वृद्धानां पर्युपासनम् ।
श्रवणं चैव शास्त्राणां कूटस्थं श्रेय उच्यते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! सदा गुरुजनोंकी पूजा, वृद्ध पुरुषोंकी सेवा और शास्त्रोंका श्रवण—ये तीन कल्याणके अमोघ साधन बताये जाते हैं ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गालवस्य च संवादं देवर्षेर्नारदस्य च ॥ ३ ॥

इस विषयमें भी जानकर मनुष्य देवर्षि नारद और महर्षि गालवके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

स्वाश्रमं समनुप्राप्तं नारदं देववर्चसम् ।
वीतमोहक्लमं विप्रं ज्ञानतृप्तं जितेन्द्रियः ।
श्रेयस्कामो यतात्मानं नारदं गालवोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, कल्याणकी इच्छा रखनेवाले जितेन्द्रिय गालव मुनिने अपने आश्रमपर पधारे हुए देवोपम तेजस्वी ब्राह्मण, मोह और क्लान्तिसे रहित, ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण एवं मनको वशमें रखनेवाले देवर्षि नारदजीसे इस प्रकार पूछा—॥

यैः कश्चित् सम्मतो लोके गुणैश्च पुरुषो मुने ।
भवत्यनपगान् सर्वांस्तान् गुणाल्लँक्षयामहे ॥ ५ ॥

'मुने ! संसारमें कोई भी पुरुष जिन गुणोंद्वारा सम्मानित होता है, उन समस्त गुणोंका मैं आपमें कभी अभाव नहीं देखता हूँ ॥ ५ ॥

भवानेवंविधोऽस्माकं संशयं छेत्तुमर्हति ।
अमूढश्चिरमूढानां लोकतत्त्वमजानताम् ॥ ६ ॥

'लोक-तत्त्वके ज्ञानसे शून्य और चिरकालसे अज्ञानमें पड़े हुए हम-जैसे लोगोंके संशयका निवारण सर्वगुणसम्पन्न आप-जैसा ज्ञानी महात्मा ही कर सकता है ॥ ६ ॥

ज्ञाने ह्येवं प्रवृत्तिः स्यात् कार्याणामविशेषतः ।
यत् कार्यं न व्यवस्यामस्तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ७ ॥

'मुने ! शास्त्रोंमें बहुत-से कर्तव्यकर्म बताये गये हैं, उनमेंसे अमुक कर्मके इस प्रकार करनेसे ज्ञानमार्गमें प्रवृत्ति हो सकती है, इसका विशेषरूपसे हमें निश्चय नहीं हो पाता है; अतः हमारे लिये जो कर्तव्य हो और जिसका निर्धारण हम न कर पाते हों, उसे आप ही हमें बतानेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

भगवन्नाश्रमाः सर्वे पृथगाचारदर्शिनः ।
इदं श्रेय इदं श्रेय इति सर्वे प्रबोधिताः ॥ ८ ॥

'भगवन् ! सभी आश्रमोंवाले पृथक्-पृथक् आचारका दर्शन कराते हैं तथा 'यह श्रेष्ठ है, यह श्रेष्ठ है' ऐसा उपदेश देते हुए वे (अपने ही सिद्धान्तोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं और) सभी मनुष्योंकी बुद्धिमें यही बात जमा देते हैं ॥ ८ ॥

तांस्तु विप्रस्थितान् दृष्ट्वा शास्त्रैः शास्त्राभिनन्दिनः ।
स्वशास्त्रैः परितुष्टाश्च श्रेयो नोपलभामहे ॥ ९ ॥

'जिनके मनमें वह बात बैठ गयी है, उन सबको उन शास्त्रोंके उपदेशके अनुसार नाना प्रकारके आचार-मार्गोंसे चलते और अपने-अपने शास्त्रोंका अभिनन्दन करते देखकर जैसे हम अपनी मान्यतामें संतुष्ट हैं, वैसे ही उन्हें भी संतुष्ट पाकर हमारे मनमें संशय उत्पन्न हो गया है । हम यह ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि परम कल्याणकी प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय क्या है ? ॥ ९ ॥

शास्त्रं यदि भवेदेकं श्रेयो व्यक्तं भवेत् तदा ।
शास्त्रैश्च बहुभिर्भूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितम् ॥ १० ॥

'यदि शास्त्र एक होता तो श्रेयकी प्राप्तिका उपाय भी एक ही होनेके कारण वह स्पष्टरूपसे समझमें आ जाता, परंतु बहुत-से शास्त्रोंने नाना प्रकारसे वर्णन करके श्रेयको गुह्य अवस्थामें पहुँचा दिया है—उसे अत्यन्त गूढ़ बना डाला है ॥

एतस्मात् कारणाच्छ्रेयः कलिलं प्रतिभाति मे ।
ब्रवीतु भगवांस्तन्मे उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥ ११ ॥

'इस कारणसे मुझे श्रेयका स्वरूप संशयाच्छन्न जान पड़ता है । भगवन् ! अब आप ही मुझे उसका उपदेश दें । मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप मुझ शिष्यको श्रेयोमार्गका बोध करावें ॥

नारद उवाच

आश्रमास्तात चत्वारो यथासंकल्पिताः पृथक् ।
तान् सर्वाननुपश्य त्वं समाश्रित्येति गालव ॥ १२ ॥

नारदजीने कहा—तात ! आश्रम चार हैं और शास्त्रोंमें उनकी पृथक्-पृथक् व्यवस्था की गयी है । गालव ! तुम ज्ञानका आश्रय लेकर उन सबको यथार्थरूपसे जानो ॥ १२ ॥

तेषां तेषां तथा हि त्वमाश्रमाणां ततस्ततः ।
नानारूपगुणोद्देशं पश्य विप्र स्थितं पृथक् ॥ १३ ॥

विप्रवर ! उन-उन आश्रमोंके जो नाना-प्रकारसे गुण-सम्पन्न धर्म बताये गये हैं, उनकी पृथक्-पृथक् स्थिति है । इस बातको तुम देखो और समझो ॥ १३ ॥

न यान्ति चैव ते सम्यगभिप्रेतमसंशयम् ।
अन्येऽपश्यंस्तथा सम्यगाश्रमाणां परां गतिम् ॥ १४ ॥

जो साधारण मनुष्य हैं, वे उन आश्रमोंके वास्तविक अभिप्रायको भलीभाँति संशयरहित नहीं जान पाते, किंतु उनसे भिन्न जो तत्त्वज्ञ हैं, वे इन आश्रमोंके परमतत्त्वको ठीक-ठीक समझते हैं ॥ १४ ॥

यत् तु निःश्रेयसं सम्यक् तच्चैवासंशयात्मकम् ॥ १५ ॥
अनुग्रहं च मित्राणाममित्राणां च निग्रहम् ।

संग्रहं च त्रिवर्गस्य श्रेय आहुर्मनीषिणः ॥ १६ ॥

जो अच्छी तरह कल्याण करनेवाला साधन होता है, वह सर्वथा संशयरहित होता है। सुहृदोंपर अनुग्रह करना, शत्रुभाव रखनेवाले दुष्टोंको दण्ड देना तथा धर्म, अर्थ और कामका संग्रह करना—इसे मनीषी पुरुष श्रेय कहते हैं ॥ १५-१६ ॥

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता।
सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम् ॥ १७ ॥

पापकर्मसे दूर रहना, निरन्तर पुण्यकर्मोंमें लगे रहना और सत्पुरुषोंके साथ रहकर सदाचारका ठीक-ठीक पालन करना—यह संशयरहित कल्याणका मार्ग है ॥ १७ ॥

मार्दवं सर्वभूतेषु व्यवहारेषु चार्जवम्।
वाक् चैव मधुरा प्रोक्ता श्रेय एतदसंशयम् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति कोमलताका बर्ताव करना, व्यवहारमें सरल होना तथा मीठे वचन बोलना—यह भी कल्याणका संदेहरहित मार्ग है ॥ १८ ॥

दैवतेभ्यः पितृभ्यश्च संविभागोऽतिथिष्वपि।
असंत्यागश्च भृत्यानां श्रेय एतदसंशयम् ॥ १९ ॥

देवताओं, पितरों और अतिथियोंको उनका भाग देना तथा भरण-पोषण करनेयोग्य व्यक्तियोंका त्याग न करना—यह कल्याणका निश्चित साधन है ॥ १९ ॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं तु दुष्करम्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥ २० ॥

सत्य बोलना भी श्रेयस्कर है; परंतु सत्यको यथार्थरूपसे जानना कठिन है। मैं तो उसीको सत्य कहता हूँ, जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो ॥ २० ॥

अहंकारस्य च त्यागः प्रमादस्य च निग्रहः।
संतोषश्चैकचर्या च कूटस्थं श्रेय उच्यते ॥ २१ ॥

अहंकारका त्याग, प्रमादको रोकना, संतोष और एकान्तवास—यह सुनिश्चित श्रेय कहलाता है ॥ २१ ॥

धर्मेण वेदाध्ययनं वेदान्तानां तथैव च।
ज्ञानार्थानां च जिज्ञासा श्रेय एतदसंशयम् ॥ २२ ॥

धर्माचरणपूर्वक वेद और वेदाङ्गोंका स्वाध्याय करना तथा उनके सिद्धान्तको जाननेकी इच्छाको जगाये रखना निस्संदेह कल्याणका साधन है ॥ २२ ॥

शब्दरूपरसस्पर्शान् सह गन्धेन केवलान्।
नात्यर्थमुपसेवेत श्रेयसोऽर्थी कथंचन ॥ २३ ॥

जिसे कल्याणप्राप्तिकी इच्छा हो, उस मनुष्यको किसी तरह भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंका अधिक सेवन नहीं करना चाहिये ॥ २३ ॥

नक्तंचर्या दिवास्वप्नमालस्यं पैशुनं मदम्।
अतियोगमयोगं च श्रेयसोऽर्थी परित्यजेत् ॥ २४ ॥

कल्याण चाहनेवाला पुरुष रातमें घूमना, दिनमें सोना, आलस्य, चुगली, मादक वस्तुका सेवन, आहार-विहारका अधिक मात्रामें सेवन और उसका सर्वथा त्याग—ये सब बातें त्याग दे ॥ २४ ॥

आत्मोत्कर्षं न मार्गेत परेषां परिनिन्दया।
स्वगुणैरेव मार्गेत विप्रकर्षं पृथग्जनात् ॥ २५ ॥

दूसरोंकी निन्दा करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेका प्रयत्न न करे। साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा जो अपनी उत्कृष्टता है, उसे अपने गुणोंद्वारा ही सिद्ध करे (बातोंसे नहीं) ॥ २५ ॥

निर्गुणास्त्वेव भूयिष्ठमात्मसम्भाविता नराः।
दोषैरन्यान् गुणवतः क्षिपन्त्यात्मगुणक्षयात् ॥ २६ ॥

गुणहीन मनुष्य ही अधिकतर अपनी प्रशंसा किया करते हैं। वे अपनेमें गुणोंकी कमी देखकर दूसरे गुणवान् पुरुषोंके गुणोंमें दोष बताकर उनपर आक्षेप किया करते हैं ॥ २६ ॥

अनूच्यमानास्तु पुनस्ते मन्यन्तु महाजनात्।
गुणवत्तरमात्मानं स्वेन मानेन दर्पिताः ॥ २७ ॥

यदि उनको उत्तर दिया जाय तो फिर वे घमंडमें भरकर अपने-आपको महापुरुषोंसे भी अधिक गुणवान् मानने लगें ॥

अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन्।
विपश्चिद् गुणसम्पन्नः प्राप्नोत्येव महद् यशः ॥ २८ ॥

परंतु जो दूसरे किसीकी निन्दा तथा अपनी प्रशंसा नहीं करता, ऐसा उत्तम गुणसम्पन्न विद्वान् पुरुष ही महान् यशका भागी होता है ॥ २८ ॥

अब्रुवन् वाति सुरभिर्गन्धः सुमनसां शुचिः।
तथैवाव्याहरन् भाति विमलो भानुरम्बरे ॥ २९ ॥

फूलोंकी पवित्र एवं मनोरम सुगन्ध बिना कुछ बोले ही महक उठती है। निर्मल सूर्य अपनी प्रशंसा किये बिना ही आकाशमें प्रकाशित होने लगते हैं ॥ २९ ॥

एवमादीनि चान्यानि परित्यक्तानि मेधया।
ज्वलन्ति यशसा लोके यानि न व्याहरन्ति च ॥ ३० ॥

इस प्रकार संसारमें और भी बहुत-सी ऐसी बुद्धिसे रहित वस्तुएँ हैं, जो अपनी प्रशंसा नहीं करती हैं, किंतु अपने यशसे जगमगाती रहती हैं ॥ ३० ॥

न लोके दीप्यते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया।
अपि चापिहितः श्वभ्रे कृतविद्यः प्रकाशते ॥ ३१ ॥

मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसा करनेसे ही जगत्में ख्याति नहीं पा सकता। विद्वान् पुरुष गुफामें छिपा रहे तो भी उसकी सर्वत्र प्रसिद्धि हो जाती है ॥ ३१ ॥

असदुच्चैरपि प्रोक्तः शब्दः समुपशाम्यति।

दीप्यते त्वेव लोकेषु शनैरपि सुभाषितम् ॥ ३२ ॥

बुरी बात जोर-जोरसे कही गयी हो तो भी वह शून्यमें विलीन हो जाती है, लोकमें उसका आदर नहीं होता है; किंतु अच्छी बात धीरेसे कही जाय तो भी वह संसारमें प्रकाशित होती है—उसका आदर होता और प्रभाव बढ़ता है॥

मूढानामवलिप्तानामसारं भाषितं बहु ।
दर्शयत्यन्तरात्मानमग्निरूपमिवांशुमान् ॥ ३३ ॥

घमंडी मूर्खोंकी कही हुई असार बातें उनके दूषित अन्तःकरणका ही प्रदर्शन कराती हैं, ठीक उसी तरह जैसे सूर्य सूर्यकान्तमणिके योगसे अपने दाहक अग्निरूपको ही प्रकट करता है ॥ ३३ ॥

एतस्मात् कारणात् प्रज्ञां मृगयन्ते पृथग्विधाम् ।
प्रज्ञालाभो हि भूतानामुत्तमः प्रतिभाति मे ॥ ३४ ॥

इस कारण कल्याणकी इच्छा रखनेवाले साधु पुरुष अनेक शास्त्रोंके अध्ययनसे नाना प्रकारकी प्रज्ञा (उत्तम बुद्धि) का ही अनुसंधान करते हैं । मुझे तो सभी प्राणियोंके लिये प्रज्ञाका लाभ ही उत्तम जान पड़ता है ॥ ३४ ॥

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नाप्यन्यायेन पृच्छतः ।
ज्ञानवानपि मेधावी जडवत् समुपाविशेत् ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् पुरुष ज्ञानवान् होनेपर भी बिना पूछे किसीको कोई उपदेश न करे । अन्यायपूर्वक पूछनेपर भी किसीके प्रश्नका उत्तर न दे । जडकी भाँति चुपचाप बैठा रहे ॥

ततो वासं परीक्षेत धर्मनित्येषु साधुषु ।
मनुष्येषु वदान्येषु स्वधर्मनिरतेषु च ॥ ३६ ॥

मनुष्यको सदा धर्ममें लगे रहनेवाले साधु-महात्माओं तथा स्वधर्मपरायण उदार पुरुषोंके समीप निवास करनेकी इच्छा रखनी चाहिये ॥ ३६ ॥

चतुर्णां यत्र वर्णानां धर्मव्यतिकरो भवेत् ।
न तत्र वासं कुर्वीत श्रेयोऽर्थी वै कथंचन ॥ ३७ ॥

जहाँ चारों वर्णोंके धर्मोंका उल्लङ्घन होता हो, वहाँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषको किसी तरह भी नहीं रहना चाहिये ॥ ३७ ॥

निरारम्भोऽप्ययमिह यथालब्धोपजीवनः ।
पुण्यं पुण्येषु विमलं पापं पापेषु चाप्नुयात् ॥ ३८ ॥

किसी कर्मका आरम्भ न करनेवाला और जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन-निर्वाह करनेवाला पुरुष भी यदि पुण्यात्माओंके समाजमें रहे तो उसे निर्मल पुण्यकी प्राप्ति होती है और पापियोंके संसर्गमें रहे तो वह पापका ही भागी होता है॥

अपामग्नेस्तथेन्दोश्च स्पर्शं वेदयते यथा ।
तथा पश्यामहे स्पर्शमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ ३९ ॥

जैसे जल, अग्नि और चन्द्रमाकी किरणोंके संसर्गमें आनेपर मनुष्य क्रमशः शीत, उष्ण और सुखदायी स्पर्शका अनुभव करता है, उसी प्रकार हम पुण्यात्मा और पापियोंके संगसे पुण्य और पाप दोनोंके स्पर्शका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं॥

अपश्यन्तोऽनुविषयं भुञ्जते विघसाशिनः ।
भुञ्जानाश्चात्मविषयान् विषयान् विद्धि कर्मणाम्॥ ४० ॥

जो विघसाशी (भृत्यवर्ग और अतिथि आदिको भोजन करानेके बाद बचा हुआ भोजन करनेवाले) हैं, वे तिक्त-मधुर रस या स्वादकी आलोचना न करते हुए अन्न ग्रहण करते हैं; किंतु जो अपनी रसनाका विषय समझकर स्वादु और अस्वादुका विचार रखते हुए भोजन करते हैं, उन्हें कर्मपाशमें बँधा हुआ ही समझना चाहिये ॥ ४० ॥

यत्रागमयमानानामसत्कारेण पृच्छताम् ।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणो धर्मं त्यजेत् तं देशमात्मवान् ॥ ४१ ॥

जहाँ ब्राह्मण अनादर एवं अन्यायपूर्वक धर्म-शास्त्रविषयक प्रश्न करनेवाले पुरुषोंको धर्मका उपदेश करता हो, आत्मपरायण साधकको उस देशका परित्याग कर देना चाहिये॥

शिष्योपाध्यायिकावृत्तिर्यत्र स्यात् सुसमाहिता ।
यथावच्छास्त्रसम्पन्ना कस्तं देशं परित्यजेत् ॥ ४२ ॥

जहाँ गुरु और शिष्यका व्यवहार सुव्यवस्थित, शास्त्रसम्मत एवं यथावत् रूपसे चलता है, कौन उस देशका परित्याग करेगा ? ॥ ४२ ॥

आकाशस्था ध्रुवं यत्र दोषं ब्रूयुर्विपश्चिताम् ।
आत्मपूजाभिकामो वै को वसेत् तत्र पण्डितः ॥ ४३ ॥

जहाँके लोग बिना किसी आधारके ही विद्वान् पुरुषोंपर निश्चितरूपसे दोषारोपण करते हों, उस देशमें आत्मसम्मानकी इच्छा रखनेवाला कौन मनुष्य निवास करेगा ? ॥ ४३ ॥

यत्र संलोडिता लुब्धैः प्रायशो धर्मसेतवः ।
प्रदीप्तमिव चैलान्तं कस्तं देशं न संत्यजेत् ॥ ४४ ॥

जहाँ लालची मनुष्योंने प्रायः धर्मकी मर्यादाएँ तोड़ डाली हों, जलते हुए कपड़ेकी भाँति उस देशको कौन नहीं त्याग देगा ? ॥ ४४ ॥

यत्र धर्ममनाशङ्काश्चरेयुर्वीतमत्सराः ।
भवेत् तत्र वसेच्चैव पुण्यशीलेषु साधुषु ॥ ४५ ॥

परंतु जहाँके लोग मात्सर्य और शङ्कासे रहित होकर धर्मका आचरण करते हों, वहाँ पुण्यशील साधु पुरुषोंके पास अवश्य निवास करे ॥ ४५ ॥

धर्ममर्थनिमित्तं च चरेयुर्यत्र मानवाः ।
नताननुवसेज्जातु ते हि पापकृतो जनाः ॥ ४६ ॥

जहाँके मनुष्य धनके लिये धर्मका अनुष्ठान करते हों,

वहाँ उनके पास कदापि न रहे; क्योंकि वे सब-के-सब पापाचारी होते हैं ॥ ४६ ॥

कर्मणा यत्र पापेन वर्तन्ते जीवितेप्सवः ।
व्यवधावेत् ततस्तूर्णं ससर्पाच्छरणादिव ॥ ४७ ॥

जहाँ जीवनकी रक्षाके लिये लोग पापकर्मसे जीविका चलाते हों, सर्पयुक्त घरके समान उस स्थानसे तुरंत दूर हट जाना चाहिये ॥ ४७ ॥

येन खट्वां समारूढः कर्मणानुशयी भवेत् ।
आदितस्तन्न कर्तव्यमिच्छता भवमात्मनः ॥ ४८ ॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले साधकको चाहिये कि जिस पापकर्मके संस्कारोंसे युक्त हुआ मनुष्य खाटपर पड़कर दुःख भोगता है, उस कर्मको पहलेसे ही न करे ॥ ४८ ॥

यत्र राजा च राज्ञश्च पुरुषाः प्रत्यनन्तराः ।
कुटुम्बिनामग्रभुजस्त्यजेत् तद् राष्ट्रमात्मवान् ॥ ४९ ॥

जहाँ राजा और राजाके निकटवर्ती अन्य पुरुष कुटुम्बीजनोंसे पहले ही भोजन कर लेते हैं, उस राष्ट्रको मनस्वी पुरुष अवश्य त्याग दे ॥ ४९ ॥

श्रोत्रियास्त्वग्रभोक्तारो धर्मनित्याः सनातनाः ।
याजनाध्यापने युक्ता यत्र तद् राष्ट्रमावसेत् ॥ ५० ॥

जिस देशमें सदा धर्मपरायण, यज्ञ कराने और पढ़ानेके कार्यमें संलग्न सनातनधर्मी श्रोत्रिय ब्राह्मण ही सबसे पहले भोजन पाते हों, उस राष्ट्रमें अवश्य निवास करे ॥ ५० ॥

स्वाहास्वधावषट्कारा यत्र सम्यगनुष्ठिताः ।
अजस्रं चैव वर्तन्ते वसेत् तत्राविचारयन् ॥ ५१ ॥

जहाँ स्वाहा (अग्निहोत्र), स्वधा (श्राद्धकर्म) तथा वषट्कारका भलीभाँति अनुष्ठान होता हो और निरन्तर ये सभी कर्म किये जाते हों, वहाँ बिना विचारे ही निवास करना चाहिये ॥ ५१ ॥

अशुचीन् यत्र पश्येत ब्राह्मणान् वृत्तिकर्शितान् ।
त्यजेत् तद् राष्ट्रमासन्नमुपसृष्टमिवामिषम् ॥ ५२ ॥

जहाँ ब्राह्मणोंको जीविकाके लिये कष्ट पाते तथा अपवित्र अवस्थामें रहते देखे, उस राष्ट्रको निकटवर्ती होनेपर भी विषमिश्रित भोग्यवस्तुकी भाँति त्याग दे ॥ ५२ ॥

प्रीयमाणा नरा यत्र प्रयच्छेयुरयाचिताः ।
स्वस्थचित्तो वसेत् तत्र कृतकृत्य इवात्मवान् ॥ ५३ ॥

जहाँके लोग प्रसन्नतापूर्वक बिना माँगे ही भिक्षा देते हों, वहाँ मनको वशमें करनेवाला पुरुष कृतकृत्यकी भाँति स्वस्थचित्त होकर निवास करे ॥ ५३ ॥

दण्डो यत्राविनीतेषु सत्कारश्च कृतात्मसु ।
चरेत् तत्र वसेच्चैव पुण्यशीलेषु साधुषु ॥ ५४ ॥

जहाँ उद्दण्ड पुरुषोंको दण्ड दिया जाता हो और जितात्मा पुरुषोंका सत्कार किया जाता हो, वहाँ पुण्यशील श्रेष्ठ पुरुषोंके बीच विचरना और निवास करना चाहिये ॥

उपसृष्टेषु दान्तेषु दुराचारेषु साधुषु ।
अविनीतेषु लुब्धेषु सुमहद् दण्डधारणम् ॥ ५५ ॥

जो जितेन्द्रिय पुरुषोंपर क्रोध और श्रेष्ठ पुरुषोंपर अत्याचार करते हों, उद्दण्ड और लोभी हों, ऐसे लोगोंको जहाँ अत्यन्त कठोर और महान् दण्ड दिया जाता हो, उस देशमें बिना विचारे निवास करना चाहिये ॥ ५५ ॥

यत्र राजा धर्मनित्यो राज्यं धर्मेण पालयेत् ।
अपास्य कामान् कामेशो वसेत् तत्राविचारयन् ॥ ५६ ॥

जहाँका राजा सदा धर्मपरायण रहकर धर्मानुसार ही राज्यका पालन करता हो और सम्पूर्ण कामनाओंका स्वामी होकर भी विषयभोगसे विमुख रहता हो, वहाँ बिना कुछ सोचे-विचारे निवास करना चाहिये ॥ ५६ ॥

यथाशीला हि राजानः सर्वान् विषयवासिनः ।
श्रेयसा योजयत्याशु श्रेयसि प्रत्युपस्थिते ॥ ५७ ॥

क्योंकि राजाके शील-स्वभाव जैसे होते हैं, वैसे ही प्रजाके भी हो जाते हैं। वह अपने कल्याणका अवसर उपस्थित होनेपर समस्त प्रजाको भी शीघ्र ही कल्याणका भागी बना देता है ॥ ५७ ॥

पृच्छतस्ते मया तात श्रेय एतदुदाहृतम् ।
न हि शक्यं प्रधानेन श्रेयः संख्यातुमात्मनः ॥ ५८ ॥

तात ! मैंने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार यह श्रेयोमार्गका वर्णन किया है। पूर्णतया तो आत्मकल्याणकी परिगणना हो ही नहीं सकती ॥ ५८ ॥

एवं प्रवर्तमानस्य वृत्तिं प्राणिहितात्मनः ।
तपसैवेह बहुलं श्रेयो व्यक्तं भविष्यति ॥ ५९ ॥

जो इस प्रकारकी वृत्तिसे रहकर जीविका चलाता है और प्राणियोंके हितमें मन लगाये रहता है, उस पुरुषको स्वधर्मरूप तपके अनुष्ठानसे इस लोकमें ही परम कल्याणकी प्रत्यक्ष उपलब्धि हो जायगी ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्रेयोवाचिको नाम सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रेयोमार्गका प्रतिपादन नामक दो सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८७ ॥

अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अरिष्टनेमिका राजा सगरको वैराग्योत्पादक मोक्षविषयक उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

कथं नु युक्तः पृथिवीं चरेदस्मद्विधो नृपः।
नित्यं कैश्च गुणैर्युक्तः संगपाशाद् विमुच्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! मेरे-जैसा राजा कैसे साधन और व्यवहारसे युक्त होकर पृथ्वीपर विचरे और सदा किन गुणोंसे सम्पन्न होकर वह आसक्तिके बन्धनसे मुक्त हो ?॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
अरिष्टनेमिना प्रोक्तं सगरायानुपृच्छते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें राजा सगरके प्रश्न करनेपर अरिष्टनेमिने जो उत्तर दिया था, वह प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें बताऊँगा ॥ २ ॥

सगर उवाच

किं श्रेयः परमं ब्रह्मन् कृत्वेह सुखमश्नुते।
कथं न शोचेन्न क्षुभ्येदेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

सगरने पूछा—ब्रह्मन् ! इस जगत्में मनुष्य किस परम कल्याणकारी कर्मका अनुष्ठान करके सुखका भागी होता है ? तथा किस उपायसे उसे शोक या क्षोभ प्राप्त नहीं होता ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तदा तार्क्ष्यः सर्वशास्त्रविदां वरः।
विबुध्य सम्पदं चाग्र्यां सद्वाक्यमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! राजा सगरके इस प्रकार पूछनेपर सम्पूर्ण शास्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ तार्क्ष्य (अरिष्टनेमि) ने उनमें सर्वोत्तम दैवी सम्पत्तिके गुण जानकर उनको इस प्रकार उत्तम उपदेश दिया—॥ ४ ॥

सुखं मोक्षसुखं लोके न च मूढोऽवगच्छति।
प्रसक्तः पुत्रपशुषु धनधान्यसमाकुलः ॥ ५ ॥

'सगर ! संसारमें मोक्षका सुख ही वास्तविक सुख है, परंतु जो धनधान्यके उपार्जनमें व्यग्र तथा पुत्र और पशुओंमें आसक्त है, उस मूढ़ मनुष्यको उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता ॥ ५ ॥

सक्तबुद्धिरशान्तात्मा न शक्यं तच्चिकित्सितुम्।
स्नेहपाशसितो मूढो न स मोक्षाय कल्पते ॥ ६ ॥

'जिसकी बुद्धि विषयोंमें आसक्त है, जिसका मन अशान्त रहता है, ऐसे मनुष्यकी चिकित्सा करनी कठिन है; क्योंकि जो स्नेहके बन्धनमें बँधा हुआ है, वह मूढ़ मोक्ष पानेके लिये योग्य नहीं होता ॥ ६ ॥

स्नेहजानिह ते पाशान् वक्ष्यामि शृणु तान् मम।
सकर्णकेन शिरसा शक्याः श्रोतुं विजानता ॥ ७ ॥

'मैं तुम्हें स्नेहजनित बन्धनोंका परिचय देता हूँ, उन्हें तुम मुझसे सुनो। श्रवणेन्द्रियसम्पन्न समझदार मनुष्य ही ऐसी बातोंको बुद्धिपूर्वक सुन सकता है ॥ ७ ॥

सम्भाव्य पुत्रान् कालेन यौवनस्थान् विवेश्य च।
समर्थान् जीवने ज्ञात्वा मुक्तश्चर यथासुखम् ॥ ८ ॥

'समयानुसार पुत्रोंको उत्पन्न करके जब वे जवान हो जायँ, तब उनका विवाह कर दो और जब यह मालूम हो जाय कि अब ये दूसरेके सहयोगके बिना ही जीवन-निर्वाह करनेमें समर्थ हैं, तब उनके स्नेह-पाशसे मुक्त हो सुखपूर्वक विचरो ॥

भार्यां पुत्रवतीं वृद्धां लालितां पुत्रवत्सलाम्।
ज्ञात्वा प्रजहि कालेन परार्थमनुदृश्य च ॥ ९ ॥

'पत्नी पुत्रवती होकर वृद्ध हो गयी। अब पुत्रगण उसका पालन करते हैं और वह भी पुत्रोंपर पूर्ण वात्सल्य रखती है, यह जानकर परम पुरुषार्थ मोक्षको अपना लक्ष्य बनाकर यथासमय उसका परित्याग कर दे ॥ ९ ॥

सापत्यो निरपत्यो वा मुक्तश्चर यथासुखम्।
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थांस्त्वमनुभूय यथाविधि ॥ १० ॥
कृतकौतूहलस्तेषु मुक्तश्चर यथासुखम्।

'शास्त्र-विधिके अनुसार इन्द्रियोंद्वारा इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव करके जब तुम उनके खेलको पूरा कर चुको, तब संतान हुई हो चाहे न हुई हो, उनसे मुक्त होकर सुखपूर्वक विचरो ॥ १०½ ॥

उपपत्त्योपलब्धेषु लोकेषु च समो भव ॥ ११ ॥

'दैवेच्छासे जो भी लौकिक पदार्थ उपलब्ध हों, उनमें समान भाव रक्खो—राग-द्वेष न करो ॥ ११ ॥

एष तावत् समासेन तव संकीर्तितो मया।
मोक्षार्थो विस्तरेणाथ भूयो वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १२ ॥

'यह संक्षेपमें मैंने तुम्हें मोक्षका विषय बताया है। अब पुनः इसीको विस्तारके साथ बता रहा हूँ, सुनो ॥ १२ ॥

मुक्ता वीतभया लोके चरन्ति सुखिनो नराः।
सक्तभावा विनश्यन्ति नरास्तत्र न संशयः ॥ १३ ॥
आहारसंचयाश्चैव तथा कीटपिपीलिकाः।
असक्ताः सुखिनो लोके सक्ताश्चैव विनाशिनः ॥ १४ ॥

'मुक्त पुरुष सुखी होते हैं और संसारमें निर्भय होकर विचरते हैं; किंतु जिनका चित्त विषयोंमें आसक्त होता है, वे कीड़े-मकोड़ोंकी भाँति आहारका संग्रह करते-करते ही नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है; अतः जो आसक्तिसे रहित हैं, वे ही इस संसारमें सुखी हैं। आसक्त मनुष्योंका तो नाश ही होता है ॥ १३-१४ ॥

स्वजने न च ते चिन्ता कर्तव्या मोक्षबुद्धिना।
इमे मया विनाभूता भविष्यन्ति कथं त्विति ॥ १५ ॥

'यदि तुम्हारी बुद्धि मोक्षमें लगी हुई है तो तुम्हें स्वजनोंके विषयमें ऐसी चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि ये मेरे बिना कैसे रहेंगे ॥ १५ ॥

स्वयमुत्पद्यते जन्तुः स्वयमेव विवर्धते।
सुखदुःखे तथा मृत्युं स्वयमेवाधिगच्छति ॥ १६ ॥

'प्राणी स्वयं जन्म लेता है, स्वयं बढ़ता है और स्वयं ही सुख-दुःख तथा मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भोजनाच्छादने चैव मात्रा पित्रा च संग्रहम्।
स्वकृतेनाधिगच्छन्ति लोके नास्त्यकृतं पुरा ॥ १७ ॥

'मनुष्य पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही भोजन, वस्त्र तथा अपने माता-पिताके द्वारा संग्रह किया हुआ धन प्राप्त करता है। संसारमें जो कुछ मिलता है, वह पूर्वकृत कर्मोंके फलके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है ॥ १७ ॥

धात्रा विहितभक्ष्याणि सर्वभूतानि मेदिनीम्।
लोके विपरिधावन्ति रक्षितानि स्वकर्मभिः ॥ १८ ॥

'संसारमें सभी प्राणी अपने कर्मोंसे सुरक्षित हो सारी पृथ्वीकी दौड़ लगाते हैं और विधाताने उनके प्रारब्धके अनुसार जो आहार नियत कर दिया है, उसे प्राप्त करते हैं ॥

स्वयं मृत्पिण्डभूतस्य परतन्त्रस्य सर्वदा।
को हेतुः स्वजनं पोष्टुं रक्षितुं वादृढात्मनः ॥ १९ ॥

'जो स्वयं ही शरीरकी दृष्टिसे मिट्टीका लोंदामात्र है, सर्वदा परतन्त्र है, वह अदृढ़ मनवाला मनुष्य स्वजनोंका पोषण और रक्षण करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है ? ॥१९॥

स्वजनं हि यदा मृत्युर्हन्त्येव तव पश्यतः।
कृतेऽपि यत्ने महति तत्र बोद्धव्यमात्मना ॥ २० ॥

'जब स्वजनोंको तुम्हारे देखते-देखते मौत मार ही डालती है और तुम उन्हें बचानेके लिये महान् प्रयत्न करने-पर भी सफल नहीं हो पाते, तब इस विषयमें तुम्हें स्वयं ही यह विचार करना चाहिये कि मेरी क्या शक्ति है ? ॥ २० ॥

जीवन्तमपि चैवैनं भरणे रक्षणे तथा।
असमाप्ते परित्यज्य पश्चादपि मरिष्यसि ॥ २१ ॥

'यदि ये स्वजन जीवित रह जायँ तो भी इनके भरण-पोषण और संरक्षणका कार्य समाप्त होनेसे पहले ही तुम इन्हें छोड़कर पीछे स्वयं भी तो मर जाओगे ॥ २१ ॥

यदा मृतं च स्वजनं न ज्ञास्यसि कदाचन।
सुखितं दुःखितं वापि ननु बोद्धव्यमात्मना ॥ २२ ॥

'अथवा जब कोई स्वजन मरकर इस लोकसे चला जायगा, तब उसके विषयमें यह कभी नहीं जान सकोगे कि वह सुखी है या दुखी, अतः इस विषयमें तुम्हें स्वयं ही विचार करना चाहिये ॥ २२ ॥

मृते वा त्वयि जीवे वा यदा भोक्ष्यति वै जनः।
स्वकृतं ननु बुद्ध्वैवं कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २३ ॥

'तुम जीवित रहो या मर जाओ। तुम्हारा प्रत्येक स्वजन जब अपनी-अपनी करनीका ही फल भोगेगा, तब इस बातको जानकर तुम्हें भी अपने कल्याणके ही साधनमें लग जाना चाहिये ॥ २३ ॥

एवं विजानँल्लोकेऽस्मिन् कः कस्येत्यभिनिश्चितः।
मोक्षे निवेशय मनो भूयश्चाप्युपधारय ॥ २४ ॥

'ऐसा जानकर, इस संसारमें कौन किसका है, इस बातका भलीभाँति विचार करके अपने मनको मोक्षमें लगा दो और साथ ही पुनः इस बातपर ध्यान दो ॥ २४ ॥

क्षुत्पिपासादयो भावा जिता यस्येह देहिनः।
क्रोधो लोभस्तथा मोहः सत्त्ववान् मुक्त एव सः ॥ २५ ॥

'जिसने क्षुधा, पिपासा, क्रोध, लोभ और मोह आदि भावोंपर विजय पा ली है, वह सत्त्वसम्पन्न पुरुष सदा मुक्त ही है ॥ २५ ॥

द्यूते पाने तथा स्त्रीषु मृगयायां च यो नरः।
न प्रमाद्यति सम्मोहात् सततं मुक्त एव सः ॥ २६ ॥

'जो मोहवश जूआ, मद्यपान, परस्त्रीसंसर्ग तथ मृगया आदि व्यसनोंमें आसक्त होनेका प्रमाद नहीं करता है, वह भी सदा मुक्त ही है ॥ २६ ॥

दिवसे दिवसे नाम रात्रौ रात्रौ पुमान् सदा।
भोक्तव्यमिति यः खिन्नो दोषबुद्धिः स उच्यते ॥ २७ ॥

'जो पुरुष सदा प्रत्येक दिन और प्रत्येक रात्रिमें भोग भोगने या भोजन करनेकी ही चिन्तामें पड़कर दुखी रहता है, वह दोषबुद्धिसे युक्त कहलाता है ॥ २७॥

आत्मभावं तथा स्त्रीषु मुक्तमेव पुनः पुनः।
यः पश्यति सदा युक्तो यथावन्मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

'जो सदा योगयुक्त रहकर स्त्रियोंके प्रति अपने भाव (अनुराग या आसक्ति) को निवृत्त हुआ ही देखता है

अर्थात् जिसकी स्त्रियोंके प्रति भोग्यबुद्धि नहीं होती, वही वास्तवमें मुक्त है ॥ २८ ॥

सम्भवं च विनाशं च भूतानां चेष्टितं तथा।
यस्तत्त्वतो विजानाति लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥ २९॥

'जो प्राणियोंके जन्म, मृत्यु और चेष्टाओंको ठीक-ठीक जानता है, वह भी इस संसारमें मुक्त ही है ॥ २९ ॥

प्रस्थं वाहसहस्रेषु यात्रार्थं चैव कोटिषु।
प्रासादे मञ्चकं स्थानं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३० ॥

'जो हजारों और करोड़ों गाड़ी अन्नमेंसे केवल एक प्रस्थ (पेट भरने लायक) को ही अपने जीवननिर्वाहके लिये पर्याप्त समझता है (उससे अधिकका संग्रह करना नहीं चाहता) तथा बड़े-से-बड़े महलमें माँच बिछाने भरकी जगहको ही अपने लिये पर्याप्त समझता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३० ॥

मृत्युनाभ्याहतं लोकं व्याधिभिश्चोपपीडितम्।
अवृत्तिकर्शितं चैव यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३१ ॥

'जो इस जगत्‌को रोगोंसे पीड़ित, जीविकाके अभावसे दुर्बल और मृत्युके आघातसे नष्ट हुआ देखता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३१ ॥

यः पश्यति स संतुष्टो न पश्यंश्च विहन्यते।
यश्चाप्यल्पेन संतुष्टो लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥ ३२॥

'जो ऐसा देखता है, वह संतुष्ट एवं मुक्त होता है; किंतु जो ऐसा नहीं देखता, वह मारा जाता है—जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ा रहता है। जो थोड़ेसे लाभमें ही संतुष्ट रहता है, वह इस जगत्‌में मुक्त ही है ॥ ३२ ॥

अग्नीषोमाविदं सर्वमिति यश्चानुपश्यति।
न च संस्पृश्यते भावैरद्भुतैर्मुक्त एव सः ॥ ३३ ॥

'जो इस सम्पूर्ण जगत्‌को अग्नि और सोम (भोक्ता और भोज्य) रूप ही देखता है और स्वयंको उनसे भिन्न समझता है, उसे मायाके अद्भुत भाव—सुख-दुःख आदि छू नहीं सकते। वह सर्वथा मुक्त ही है ॥ ३३ ॥

पर्यङ्कशय्या भूमिश्च समाने यस्य देहिनः।
शालयश्च कदन्नं च यस्य स्यान्मुक्त एव सः ॥ ३४ ॥

'जिस देहधारीके लिये पलंगकी सेज और भूमि—दोनों समान हैं; जो अगहनीके चावल और कोदो आदिको एक-सा समझता है, वह मुक्त ही है ॥ ३४ ॥

क्षौमं च कुशचीरं च कौशेयं वल्कलानि च।
आविकं चर्म च समं यस्य स्यान्मुक्त एव सः ॥ ३५ ॥

जिसके लिये सनके वस्त्र, कुशके चीर, रेशमी वस्त्र, वल्कल, ऊनी वस्त्र और मृगचर्म—सब समान हैं, वह भी मुक्त ही है ॥ ३५ ॥

पञ्चभूतसमुद्भूतं लोकं यश्चानुपश्यति।
तथा च वर्तते दृष्ट्वा लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥ ३६॥

'जो संसारको पाञ्चभौतिक देखता और उस दृष्टिके अनुसार ही बर्ताव करता है, वह भी इस जगत्‌में मुक्त ही है ॥ ३६॥

सुखदुःखे समे यस्य लाभालाभौ जयाजयौ।
इच्छाद्वेषौ भयोद्वेगौ सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ३७॥

'जिसकी दृष्टिमें सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय पराजय सम है तथा जिसके इच्छा-द्वेष, भय और उद्वेग सर्वथा नष्ट हो गये हैं, वही मुक्त है ॥ ३७ ॥

रक्तमूत्रपुरीषाणां दोषाणां संचयांस्तथा।
शरीरं दोषबहुलं दृष्ट्वा चैव विमुच्यते ॥ ३८॥

'यह शरीर क्या है, बहुत-से दोषोंका भण्डार। इसमें रक्त, मल-मूत्र तथा और भी अनेक दोषोंका संचय हुआ है। जो इस बातको देखता और समझता है, वह मुक्त हो जाता है॥

वलीपलितसंयोगे कार्श्यं वैवर्ण्यमेव च।
कुब्जभावं च जरया यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३९॥

'बुढ़ापा आनेपर इस शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। सिरके बाल सफेद हो जाते हैं। देह दुबली-पतली एवं कान्तिहीन हो जाती है तथा कमर झुक जानेके कारण मनुष्य कुबड़ा-सा हो जाता है। इन सब बातोंकी ओर जिसकी सदा ही दृष्टि रहती है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

पुंस्त्वोपघातं कालेन दर्शनोपरमं तथा।
बाधिर्यं प्राणमन्दत्वं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ४०॥

'समय आनेपर पुरुषत्व नष्ट हो जाता है, आँखोंसे दिखायी नहीं देता है, कान बहरे हो जाते हैं और प्राणशक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है। इन सब बातोंको जो सदा देखता और इनपर विचार करता रहता है, वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ४० ॥

गतानृषींस्तथा देवानसुरांश्च तथा गतान्।
लोकादस्मात् परं लोकं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ४१॥

'कितने ही ऋषि, देवता तथा असुर इस लोकसे परलोकको चले गये। जो सदा यह देखता और स्मरण रखता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

प्रभावैरन्वितास्तैस्तैः पार्थिवेन्द्राः सहस्रशः।
ये गताः पृथिवीं त्यक्त्वा इति ज्ञात्वा विमुच्यते ॥ ४२॥

'सहस्रों प्रभावशाली नरेश इस पृथ्वीको छोड़कर कालके गालमें चले गये। इस बातको जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

अर्थांश्च दुर्लभाँल्लोके क्लेशांश्च सुलभांस्तथा।

दुःखं चैव कुटुम्बार्थे यः पश्यति स मुच्यते ॥ ४३ ॥

'संसारमें धन दुर्लभ है और क्लेश सुलभ। कुटुम्बके पालन-पोषणके लिये भी जहाँ बहुत दुःख उठाना पड़ता है, यह सब जिसकी दृष्टिमें है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

अपत्यानां च वैगुण्यं जनं विगुणमेव च।
पश्यन् भूयिष्ठशो लोके को मोक्षं नाभिपूजयेत् ॥ ४४ ॥

'इतना ही नहीं, इस जगत्‌में अपनी संतानोंकी गुणहीनताका दुःख भी देखना पड़ता है। विपरीत गुणवाले मनुष्योंसे भी सम्बन्ध हो जाता है। इस प्रकार जो यहाँ अधिकांश कष्ट ही देखता है, ऐसा कौन मनुष्य मोक्षका आदर नहीं करेगा? ॥ ४४ ॥

शास्त्राल्लोकाच्च यो बुद्धः सर्वं पश्यति मानवः।
असारमिव मानुष्यं सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ४५ ॥

'जो मनुष्य शास्त्रोंके अध्ययन तथा लौकिक अनुभवसे भी ज्ञानसम्पन्न होकर समस्त मानव-जगत्‌को सारहीन-सा देखता है, वह सब प्रकारसे मुक्त ही है ॥ ४५ ॥

एतच्छ्रुत्वा मम वचो भवांश्चरतु मुक्तवत्।
गार्हस्थ्ये यदि वा मोक्षे कृता बुद्धिरविक्लवा ॥ ४६ ॥

'मेरे इस वचनको सुनकर तुम अपनी बुद्धिको व्याकुलतासे रहित बनाकर गृहस्थाश्रममें या संन्यास-आश्रममें चाहे जहाँ रहकर मुक्तकी भाँति आचरण करो' ॥ ४६ ॥

तत् तस्य वचनं श्रुत्वा सम्यक् स पृथिवीपतिः।
मोक्षजैश्च गुणैर्युक्तः पालयामास च प्रजाः ॥ ४७ ॥

राजा सगर अरिष्टनेमिके उपर्युक्त उपदेशको भलीभाँति सुनकर मोक्षोपयोगी गुणोंसे सम्पन्न हो प्रजाका पालन करने लगे ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सगरारिष्टनेमिसंवादेऽष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें सगर और अरिष्टनेमिका संवादविषयक दो सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८८ ॥

एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

भृगुपुत्र उशनाका चरित्र और उन्हें शुक्र नामकी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

तिष्ठते मे सदा तात कौतूहलमिदं हृदि।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तः कुरुपितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात! कुरुकुलके पितामह! मेरे हृदयमें चिरकालसे यह एक कौतूहलपूर्ण प्रश्न खड़ा है, जिसका समाधान मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

कथं देवर्षिरुशना सदा काव्यो महामतिः।
असुराणां प्रियकरः सुराणामप्रिये रतः ॥ २ ॥

परम बुद्धिमान् कवित्वसम्पन्न देवर्षि उशना क्यों सदा ही असुरोंका प्रिय तथा देवताओंका अप्रिय करनेमें लगे रहते हैं? ॥ २ ॥

वर्धयामास तेजश्च किमर्थममितौजसाम्।
नित्यं वैरनिबद्धाश्च दानवाः सुरसत्तमैः ॥ ३ ॥

उन्होंने अमित तेजस्वी दानवोंका तेज किसलिये बढ़ाया? दानव तो सदा श्रेष्ठ देवताओंके साथ वैर ही बाँधे रहते हैं ॥ ३ ॥

कथं चाप्युशना प्राप शुक्रत्वममरद्युतिः।
ऋद्धिं च स कथं प्राप्तः सर्वमेतद् वदस्व मे ॥ ४ ॥

देवोपम तेजस्वी मुनिवर उशनाका नाम शुक्र क्यों हो गया? उन्हें ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई? यह सब मुझे बताइये ॥

न याति च स तेजस्वी मध्येन नभसः कथम्।
एतदिच्छामि विज्ञातुं निखिलेन पितामह ॥ ५ ॥

पितामह! देवर्षि उशना हैं तो बड़े तेजस्वी; परंतु वे आकाशके बीचसे होकर क्यों नहीं जाते? इन सब बातोंको मैं पूर्णरूपसे जानना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन्नवहितः सर्वमेतद् यथातथम्।
यथामति यथा चैतच्छ्रुतपूर्वं मयानघ ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—निष्पाप नरेश! मैंने इन सब बातोंको पहले जिस तरह सुन रक्खा है, वह सारा वृत्तान्त अपनी बुद्धिके अनुसार यथार्थरूपसे बता रहा हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो ॥

एष भार्गवदायादो मुनिर्मान्यो दृढव्रतः।
सुराणां विप्रियकरो निमित्ते कारणात्मके ॥ ७ ॥

ये भृगुपुत्र मुनिवर उशना सबके लिये माननीय तथा दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं। एक विशेष कारण बन जानेसे रुष्ट होकर ये देवताओंके विरोधी हो गये* ॥

* कहते हैं, किसी समय असुरगण देवताओंको कष्ट पहुँचाकर भृगुपत्नीके आश्रममें जाकर छिप जाते थे। असुरोंने 'माता' कहकर उनकी शरण ली थी और उन्होंने पुत्र मानकर उन सबको निर्भय

इन्द्रोऽथ धनदो राजा यक्षरक्षोऽधिपः सदा।
प्रभविष्णुश्च कोशस्य जगतश्च तथा प्रभुः॥ ८॥

उस समय इन्द्र तीनों लोकोंके अधीश्वर थे और सदा यक्षों तथा राक्षसोंके अधिपति प्रभावशाली जगत्पति राजा कुबेर उनके कोषाध्यक्ष बनाये गये थे॥ ८॥

तस्यात्मानमथाविश्य योगसिद्धो महामुनिः।
रुद्ध्वा धनपतिं देवं योगेन हृतवान् वसु॥ ९॥

योगसिद्ध महामुनि उशनाने योगबलसे धनाध्यक्ष कुबेरके भीतर प्रवेश करके उन्हें अपने काबूमें कर लिया और उनके सारे धनका अपहरण कर लिया॥ ९॥

हृते धने ततः शर्म न लेभे धनदस्तथा।
आपन्नमन्युः संविग्नः सोऽभ्यगात् सुरसत्तमम्॥ १०॥

धनका अपहरण हो जानेपर कुबेरको चैन नहीं पड़ा। वे कुपित और उद्विग्न होकर देवेश्वर महादेवजीके पास गये॥

निवेदयामास तदा शिवायामिततेजसे।
देवश्रेष्ठाय रुद्राय सौम्याय बहुरूपिणे॥ ११॥

उस समय उन्होंने अमित तेजस्वी अनेक रूपधारी सौम्य एवं शिवस्वरूप देवेश्वर रुद्रसे इस प्रकार निवेदन किया—॥

योगात्मकेनोशनसा रुद्ध्वा मम हृतं वसु।
योगेनात्मगतं कृत्वा निःसृतश्च महातपाः॥ १२॥

'प्रभो! महर्षि उशना योगबलसे सम्पन्न हैं। उन्होंने अपनी शक्तिसे मुझे बंदी बनाकर मेरा सारा धन हर लिया। वे महान् तपस्वी तो हैं ही, योगबलसे मुझे अपने अधीन करके अपना काम बनाकर निकल गये'॥ १२॥

एतच्छ्रुत्वा ततः क्रुद्धो महायोगी महेश्वरः।
संरक्तनयनो राजञ्शूलमादाय तस्थिवान्॥ १३॥

राजन्! यह सुनकर महायोगी महेश्वर कुपित हो गये और लाल आँखें किये हाथमें त्रिशूल लेकर खड़े हो गये॥ १३॥

क्वासौ क्वासाविति प्राह गृहीत्वा परमायुधम्।
उशना दूरतस्तस्य बभौ ज्ञात्वा चिकीर्षितम्॥ १४॥

उस उत्तम अस्त्रको लेकर वे सहसा बोल उठे—'कहाँ है, कहाँ है वह उशना?' महादेवजी क्या करना चाहते हैं, यह जानकर उशना उनसे दूर हो गये॥ १४॥

स महायोगिनो बुद्ध्वा तं रोषं वै महात्मनः।
गतिमागमनं वेत्ति स्थानं चैव ततः प्रभुः॥ १५॥

महायोगी महात्मा भगवान् शिवके उस रोषको समझकर वे उनसे दूर हट गये थे, योगसिद्ध उशना गमन, आगमन और स्थानको जानते थे अर्थात् कब हटना चाहिये, कब आना चाहिये तथा किस अवस्थामें कहीं अन्यत्र न जाकर अपने स्थानपर ही ठहरे रहना चाहिये, इन सब बातोंको वे अच्छी तरह समझते थे॥ १५॥

संचिन्त्योग्रेण तपसा महात्मानं महेश्वरम्।
उशना योगसिद्धात्मा शूलाग्रे प्रत्यदृश्यत॥ १६॥

योगसिद्धात्मा उशना अपनी उग्र तपस्याद्वारा महात्मा महेश्वरका चिन्तन करके उनके त्रिशूलके अग्रभागमें दिखायी दिये॥ १६॥

विज्ञातरूपः स तदा तपःसिद्धोऽथ धन्विना।
ज्ञात्वा शूलं च देवेशः पाणिना समनामयत्॥ १७॥

तपःसिद्ध शुक्राचार्यको उस रूपमें पहचानकर देवेश्वर शिवने उन्हें शूलपर स्थित जानकर अपने धनुषयुक्त हाथसे उस शूलको झुका दिया॥ १७॥

आनतेनाथ शूलेन पाणिनामिततेजसा।
पिनाकमिति चोवाच शूलमुग्रायुधः प्रभुः॥ १८॥

जब अमित तेजस्वी शूल उनके हाथसे मुड़कर धनुषके रूपमें परिणत हो गया, तब उग्र धनुर्धर भगवान् शिवने पाणिसे आनत होनेके कारण उस शूलको 'पिनाक' कहा॥ १८॥

पाणिमध्यगतं दृष्ट्वा भार्गवं तमुमापतिः।
आस्यं विवृत्य ककुदी पाणिना प्राक्षिपच्छनैः॥ १९॥

उसके मुड़नेके साथ ही भृगुपुत्र उशना उनके हाथमें आ गये, उशनाको हाथमें आया देख देवेश्वर उमावल्लभ भगवान् शिवने मुँह फैला लिया और धीरेसे हाथका धक्का देकर उशनाको मुखके भीतर डाल दिया॥ १९॥

स तु प्रविष्ट उशना कोष्ठं माहेश्वरं प्रभुः।
व्यचरच्चापि तत्रासौ महात्मा भृगुनन्दनः॥ २०॥

महादेवजीके पेटमें घुसकर प्रभावशाली महामना भृगुनन्दन उशना उसके भीतर सब ओर विचरने लगे॥ २०॥

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं व्यचरद् राजन्नुशना तस्य धीमतः।
जठरे देवदेवस्य किं चाकार्षीन्महाद्युतिः॥ २१॥

कर दिया था। देवता जब असुरोंको दण्ड देनेके लिये उनका पीछा करते हुए आते, तब भृगुपत्नीके प्रभावसे उनके आश्रममें प्रवेश नहीं कर पाते थे। यह देख समस्त देवताओंने भगवान् विष्णुकी शरण ली। भुवनपालक भगवान् विष्णुने देवताओं और दैवी-सम्पत्तिकी रक्षाके लिये चक्र उठाया तथा असुरों एवं आसुर भावके उत्थानमें योग देनेवाली भृगुपत्नीका सिर काट लिया। उस समय मरनेसे बचे हुए असुर भृगुपुत्र उशनाकी शरणमें गये। उशना माताके वधसे खिन्न थे; इसलिये उन्होंने असुरोंको अभयदान दे दिया। तभीसे वे देवताओंकी उन्नतिके मार्गमें असुरोंद्वारा बाधाएँ खड़ी करते रहते हैं।

युधिष्ठिरने पूछा—राजन् ! महातेजस्वी उशनाने बुद्धिमान् देवाधिदेव महादेवजीके उदरमें किसलिये विचरण किया और वहाँ क्या किया ? ॥ २१ ॥

भीष्म उवाच

पुरा सोऽन्तर्जलगतः स्थाणुभूतो महाव्रतः ।
वर्षाणामभवद् राजन् प्रयुतान्यर्बुदानि च ॥ २२ ॥

भीष्मजीने कहा--नरेश्वर ! प्राचीनकालमें महान् व्रतधारी महादेवजी जलके भीतर ठूँठे काठकी भाँति स्थिर भावसे खड़े हो लाखों-अरबों वर्षोंतक तपस्या करते रहे ॥२२॥

उदतिष्ठत् तपस्तप्त्वा दुश्चरं च महाह्रदात् ।
ततो देवातिदेवस्तं ब्रह्मा वै समसर्पत ॥ २३ ॥

वह दुष्कर तपस्या पूरी करके जब वे जलके उस महान् सरोवरसे बाहर निकले, तब देवदेव ब्रह्माजी उनके पास गये ॥ २३ ॥

तपोवृद्धिमपृच्छच्च कुशलं चैवमव्ययः ।
तपः सुचीर्णमिति च प्रोवाच वृषभध्वजः ॥ २४ ॥

अविनाशी ब्रह्माजीने उनकी तपोवृद्धिका कुशल-समाचार पूछा । तब भगवान् वृषभध्वजने यह बताया कि 'मेरी तपस्या भलीभाँति सम्पन्न हो गयी' ॥ २४ ॥

तत्संयोगेन वृद्धिं चाप्यपश्यत् स तु शंकरः ।
महामतिरचिन्त्यात्मा सत्यधर्मरतः सदा ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् परम बुद्धिमान्, अचिन्त्यस्वरूप और सदा सत्यधर्मपरायण महादेवजीने अपनी तपस्याके सम्पर्कसे उशनाकी तपस्यामें भी वृद्धि हुई देखी ॥ २५ ॥

स तेनाढ्यो महायोगी तपसा च धनेन च ।
व्यराजत महाराज त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ॥ २६ ॥

महाराज ! महायोगी उशना उस तपस्यारूप धनसे सम्पन्न एवं शक्तिशाली हो तीनों लोकोंमें प्रकाशित होने लगे ॥

ततः पिनाकी योगात्मा ध्यानयोगं समाविशत् ।
उशना तु समुद्विग्नो निलिल्ये जठरे ततः ॥ २७ ॥

तदनन्तर पिनाकधारी योगी महादेवने ध्यान लगाया । उस समय उशना अत्यन्त उद्विग्न हो उनके उदरमें ही विलीन होने लगे ॥ २७ ॥

तुष्टाव च महायोगी देवं तत्रस्थ एव च ।
निःसारं काङ्क्षमाणः स तेन स्म प्रतिहन्यते ॥ २८ ॥

महायोगी उशनाने वहीं रहकर महादेवजीकी स्तुति की। वे निकलनेका मार्ग चाहते थे; परंतु महादेवजी उनकी गतिको प्रतिहत कर देते थे ॥ २८ ॥

उशना तु तथोवाच जठरस्थो महामुनिः ।
प्रसादं मे कुरुष्वेति पुनः पुनररिंदम ॥ २९ ॥

शत्रुदमन नरेश ! तब उदरमें ही रहकर महामुनि उशनाने महादेवजीसे बारंबार प्रार्थना की—'प्रभो ! मुझपर कृपा कीजिये' ॥ २९ ॥

तमुवाच महादेवो गच्छ शिश्नेन मोक्षणम् ।
इति सर्वाणि स्रोतांसि रुद्ध्वा त्रिदशपुङ्गवः ॥ ३० ॥

तब महादेवजीने उनसे कहा—'शिश्नके मार्गसे ही तुम्हारा उद्धार होगा, अतः उसीसे निकलो ।' ऐसा कहकर देवेश्वर शिवने अन्य सारे द्वार रोक दिये ॥ ३० ॥

अपश्यमानस्तद् द्वारं सर्वतः पिहितो मुनिः ।
पर्यक्रामद् दह्यमान इतश्चेतश्च तेजसा ॥ ३१ ॥

सब ओरसे घिरे हुए मुनिवर उशना उस शिश्नद्वारको देख नहीं पाते थे । अतः भगवान् शङ्करके तेजसे दग्ध होते हुए वे उदरमें ही इधर-उधर चक्कर काटने लगे ॥ ३१ ॥

स वै निष्क्रम्य शिश्नेन शुक्रत्वमभिपेदिवान् ।
कार्येण तेन नभसो नाध्यगच्छत मध्यतः ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् वे शिश्नके द्वारसे निकलकर सहसा बाहर आ गये । उस द्वारसे निकलनेके कारण ही उनका नाम शुक्र (वीर्य) हो गया । यही कारण है जिससे वे आकाशके बीचसे होकर नहीं निकलते ॥ ३२ ॥

विनिष्क्रान्तं तु तं दृष्ट्वा ज्वलन्तमिव तेजसा ।
भवो रोषसमाविष्टः शूलोद्यतकरः स्थितः ॥ ३३ ॥

बाहर निकलनेपर शुक्र अपने तेजसे प्रज्वलित-से हो रहे थे । उन्हें उस अवस्थामें देखकर हाथमें त्रिशूल लेकर खड़े हुए भगवान् शिव पुनः रोषसे भर गये ॥ ३३ ॥

अवारयत तं देवी क्रुद्धं पशुपतिं पतिम् ।
पुत्रत्वमगमद् देव्या वारिते शंकरे च सः ॥ ३४ ॥

उस समय देवी पार्वतीने कुपित हुए अपने पतिदेव भगवान् पशुपतिको रोका । देवीके द्वारा भगवान् शङ्करके रोक दिये जानेपर शुक्राचार्य उनके पुत्रभावको प्राप्त हुए ॥ ३४ ॥

देव्युवाच

हिंसनीयस्त्वया नैव मम पुत्रत्वमागतः ।
न हि देवोदरात् कश्चिन्निःसृतो नाशमृच्छति ॥ ३५ ॥

देवी पार्वतीने कहा–प्रभो ! अब यह शुक्र मेरा पुत्र हो गया; अतः आपको इसका विनाश नहीं करना चाहिये । देव ! जो आपके उदरसे निकला हो, ऐसा कोई भी पुरुष विनाशको नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ३५ ॥

ततः प्रीतो भवो देव्याः प्रहसंश्चेदमब्रवीत् ।

गच्छत्वेष यथाकाममिति राजन् पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

राजन्! यह सुनकर महादेवजी पार्वतीजीपर बहुत प्रसन्न हुए और हँसते हुए बारंबार कहने लगे—'अब यह जहाँ चाहे जा सकता है' ॥ ३६ ॥

ततः प्रणम्य वरदं देवं देवीमुमां तथा।
उशना प्राप तद्धीमान् गतिमिष्टां महामुनिः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् महामुनि शुक्राचार्यने वरदायक देवता महादेवजी तथा उमादेवीको प्रणाम करके अभीष्ट गति प्राप्त कर ली ॥ ३७ ॥

एतत् ते कथितं तात भार्गवस्य महात्मनः।
चरितं भरतश्रेष्ठ यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ! तात युधिष्ठिर! तुमने जैसा मुझसे पूछा था, उसके अनुसार मैंने यह महात्मा भृगुपुत्र शुक्राचार्यका चरित्र तुमसे कह सुनाया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भवभार्गवसमागमे एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें महादेवजी और शुक्राचार्यका समागमविषयक दो सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८९ ॥

नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीताका आरम्भ—पराशर मुनिका राजा जनकको कल्याणकी प्राप्तिके साधनका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतः परं महाबाहो यच्छ्रेयस्तद् वदस्व मे।
न तृप्याम्यमृतस्येव वचसस्ते पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहु पितामह! अब इसके बाद जो भी कल्याण-प्राप्तिका उपाय हो, वह मुझे बताइये। जैसे अमृत पीनेसे मन नहीं भरता, उसी तरह आपके वचन सुननेसे मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

किं कर्म पुरुषः कृत्वा शुभं पुरुषसत्तम।
श्रेयः परमवाप्नोति प्रेत्य चेह च तद् वद ॥ २ ॥

पुरुषप्रवर! इसीलिये मैं पूछता हूँ कि पुरुष कौन-सा शुभ कर्म करे तो उसे इस लोक और परलोकमें भी परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है, यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथापूर्वं महायशाः।
पराशरं महात्मानं पप्रच्छ जनको नृपः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें भी मैं तुम्हें पूर्ववत् एक प्राचीन प्रसङ्ग सुनाऊँगा। एक समय महायशस्वी राजा जनकने महात्मा पराशर मुनिसे पूछा— ॥ ३ ॥

किं श्रेयः सर्वभूतानामस्मिँल्लोके परत्र च।
यद् भवेत् प्रतिपत्तव्यं तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ४ ॥

'मुने! कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो समस्त प्राणियोंके लिये इहलोक और परलोकमें भी कल्याणकारी एवं जानने योग्य है? उसे आप मुझे बताइये' ॥ ४ ॥

ततः स तपसा युक्तः सर्वधर्मविधानवित्।
नृपायानुग्रहमना मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ५ ॥

तब सम्पूर्ण धर्मोंके विधानको जाननेवाले वे तपस्वी मुनि राजा जनकपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे इस प्रकार बोले ॥ ५ ॥

पराशर उवाच

धर्म एव कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ ६ ॥

पराशरजीने कहा—राजन्! जैसा कि मनीषी पुरुषोंका कथन है, धर्मका ही विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाय तो वह इहलोक और परलोकमें भी कल्याणकारी होता है। उससे बढ़कर दूसरा कोई श्रेयका उत्तम साधन नहीं है ॥ ६ ॥

प्रतिपद्य नरो धर्मं स्वर्गलोके महीयते।
धर्मात्मकः कर्मविधिर्देहिनां नृपसत्तम ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ! धर्मको जानकर उसका आश्रय लेनेवाला मनुष्य स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है। वेदोंमें जो 'सत्यं वद, धर्मं चर, यजेत, जुहुयात्' इत्यादि वाक्योंद्वारा मनुष्योंके कर्तव्य-विधान किया गया है, वही धर्मका लक्षण है ॥ ७ ॥

तस्मिन्नाश्रमिणः सन्तः स्वकर्माणीह कुर्वते ॥ ८ ॥

सभी आश्रमोंके लोग उस धर्ममें ही स्थित रहकर इस जगत्में अपने-अपने कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं ॥ ८ ॥

चतुर्विधा हि लोकेऽस्मिन् यात्रा तात विधीयते।
मर्त्या यत्रावतिष्ठन्ते सा च कामात् प्रवर्तते ॥ ९ ॥

तात! इस लोकमें चार प्रकारकी जीविकाका विधान है

(ब्राह्मणके लिये यज्ञादि कराकर दक्षिणा लेना, क्षत्रियके लिये कर लेना, वैश्यके लिये खेती आदि करना और शूद्रके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा करना)। मनुष्य इन्हीं चार प्रकारकी जीविकाओंका आश्रय लेकर रहते हैं। वह जीविका दैवेच्छासे चलती है ॥ ९ ॥

सुकृतासुकृतं कर्म निषेव्य विविधैः क्रमैः।
दशार्धप्रविभक्तानां भूतानां बहुधा गतिः ॥ १० ॥

जो प्राणी नाना प्रकारके क्रमसे पुण्य और पापकर्मका सेवन करके पञ्चत्वको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् स्थूल शरीरका त्याग कर देते हैं उनको मिलनेवाली गति नाना प्रकारकी बतायी गयी है ॥ १० ॥

सौवर्णं राजतं चापि यथा भाण्डं निषिच्यते।
तथा निषिच्यते जन्तुः पूर्वकर्मवशानुगः ॥ ११ ॥

जैसे ताँबे आदिके बर्तनोंपर जब सोने और चाँदीकी कलई चढ़ा दी जाती है, तब वे वैसे ही दिखायी देने लगते हैं, उसी प्रकार पूर्व कर्मोंके वशीभूत प्राणी पूर्वकृत कर्मसे लिप्त रहता है (पुण्यकर्मसे लिप्त होनेके कारण वह सुखी होता है और पापसे लिप्त होनेके कारण उसे दुःख उठाना पड़ता है) ॥ ११ ॥

नाबीजाज्जायते किंचिन्नाकृत्वा सुखमेधते।
सुकृतैर्विन्दते सौख्यं प्राप्य देहक्षयं नरः ॥ १२ ॥

जैसे बिना बीजके कोई अङ्कुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार पुण्यकर्म किये बिना कोई सुखी या समृद्धिशाली नहीं हो सकता; अतः मनुष्य देहत्यागके पश्चात् पुण्यकर्मोंके फलसे ही सुख पाता है ॥ १२ ॥

दैवं तात न पश्यामि नास्ति दैवस्य साधनम्।
स्वभावतो हि संसिद्धा देवगन्धर्वदानवाः ॥ १३ ॥

तात ! इस विषयमें नास्तिक कहते हैं 'मैं प्रारब्धको प्रत्यक्ष नहीं देख पाता तथा प्रारब्धके अस्तित्वका सूचक अनुमानप्रमाण भी नहीं है। किंतु देवता, गन्धर्व और दानव आदि योनियाँ तो स्वभावसे ही प्राप्त होती हैं' ॥ १३ ॥

प्रेत्य जातिकृतं कर्म न स्मरन्ति सदा जनाः।
ते वै तस्य फलप्राप्तौ कर्म चापि चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि मरकर गये हुए प्राणी पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंको सदैव याद नहीं रख सकते। किंतु जब किसी पूर्वकृत कर्मका फल प्राप्त होता है, तब वे ही लोग सदा (मन, वाणी, नेत्र और क्रियाद्वारा किये हुए) चार प्रकारके कर्मोंका स्मरण करते हैं—अर्थात् यह कहते हैं कि मैंने पूर्व जन्ममें कोई ऐसा कर्म किया होगा जिसका फल इस रूपमें प्राप्त हुआ है ॥ १४ ॥

लोकयात्राश्रयश्चैव शब्दो वेदाश्रयः कृतः।
शान्त्यर्थं मनसस्तात तद् वृद्धानुशासनम् ॥ १५ ॥

तात ! नास्तिक लोग जो यह कहते हैं कि लोकयात्राके निर्वाह और मनकी शान्तिके लिये वेदोक्त शब्दोंको प्रमाण माना गया है अर्थात् वेदोंमें जो कर्म करनेका विधान है, वह तो असमर्थ पुरुषोंके जीविकानिर्वाहके लिये है और जो पूर्वजन्मके किये हुए कर्मकी चर्चा आयी है, वह दुखी मनुष्योंके मनको धीरज बँधानेके लिये है, परंतु यह मत ठीक नहीं है; क्योंकि पतञ्जलि आदि ज्ञानवृद्ध पुरुषोंने ऐसा उपदेश नहीं किया है (पतञ्जलिने 'तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' इस सूत्रके द्वारा जाति (जन्म), आयु और सुख-दुःखरूप भोगको पूर्वकृत कर्मका फल बताया है) ॥ १५ ॥

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम्।
कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥ १६ ॥

मनुष्य नेत्र, मन, वाणी और क्रियाके द्वारा चार प्रकारके कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसका फल पाता है ॥ १६ ॥

निरन्तरं च मिश्रं च लभते कर्म पार्थिव।
कल्याणं यदि वा पापं न तु नाशोऽस्य विद्यते ॥ १७ ॥

राजन् ! मनुष्य कर्मके फलरूपसे कभी केवल सुख, कभी सुख-दुःख दोनोंको एक साथ प्राप्त करता है। पुण्य या पाप कोई भी कर्म क्यों न हो, फल भोगे बिना उसका नाश नहीं होता ॥ १७ ॥

कदाचित् सुकृतं तात कूटस्थमिव तिष्ठति।
मज्जमानस्य संसारे यावद् दुःखाद् विमुच्यते ॥ १८ ॥
ततो दुःखक्षयं कृत्वा सुकृतं कर्म सेवते।
सुकृतक्षयाद् दुष्कृतं तद् विद्धि मनुजाधिप ॥ १९ ॥

तात ! संसार-सागरमें डूबते हुए मनुष्यका पुण्यकर्म कभी-कभी तबतक स्थिर-जैसा रहता है, जबतक कि दुःखसे उसका छुटकारा नहीं हो जाता है। तदनन्तर दुःखका भोग समाप्त कर लेनेपर जीव अपने पुण्य कर्मके फलका उपभोग आरम्भ करता है। जब पुण्यका भी क्षय हो जाता है, तब फिर वह पापका फल भोगता है। नरेश्वर ! इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ १८-१९ ॥

दमः क्षमा धृतिस्तेजः संतोषः सत्यवादिता।
ह्रीरहिंसाव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः ॥ २० ॥

इन्द्रियसंयम, क्षमा, धैर्य, तेज, संतोष, सत्यभाषण, लज्जा, अहिंसा, दुर्व्यसनका अभाव तथा दक्षता—ये सब सुख देनेवाले हैं ॥ २० ॥

दुष्कृते सुकृते चापि न जन्तुर्नियतो भवेत्।
नित्यं मनःसमाधाने प्रयतेत विचक्षणः ॥ २१ ॥

विद्वान् पुरुषको जीवनपर्यन्त पाप या पुण्यमें भी आसक्त न होकर अपने मनको परमात्माके ध्यानमें लगानेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ २१ ॥

नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते।
करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥ २२ ॥

जीव दूसरेके किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मको नहीं भोगता, वह स्वयं जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है॥

सुखदुःखे समाधाय पुमानन्येन गच्छति।
अन्येनैव जनः सर्वः संगतो यश्च पार्थिवः ॥ २३ ॥

विवेकी पुरुष सुख और दुःखको अपने भीतर विलीन करके अन्य मार्गसे अर्थात् मोक्षप्राप्तिके मार्गद्वारा चलता है। जो स्त्री, पुत्र और धन आदिमें आसक्त हैं, वे सब संसारी जीव उससे भिन्न दूसरे ही मार्गपर चलते हैं; अतः जन्मते और मरते रहते हैं ॥ २३ ॥

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति ॥ २४ ॥

मनुष्य दूसरेके जिस कर्मकी निन्दा करे, उसको स्वयं भी न करे। जो दूसरेकी निन्दा तो करता है; किंतु स्वयं उसी निन्द्य कर्ममें लगा रहता है, वह उपहासका पात्र होता है ॥ २४ ॥

भीरू राजन्यो ब्राह्मणः सर्वभक्ष्यो
वैश्योऽनीहावान् हीनवर्णोऽलसश्च।
विद्वांश्चाशीलो वृत्तहीनः कुलीनः
सत्याद् विभ्रष्टो धार्मिकः स्त्री च दुष्टा ॥ २५ ॥
रागी युक्तः पचमानोऽऽत्महेतो-
र्मूर्खो वक्ता नृपहीनं च राष्ट्रम्।
एते सर्वे शोच्यतां यान्ति राजन्
यश्चायुक्तः स्नेहहीनः प्रजासु ॥ २६ ॥

राजन्! डरपोक क्षत्रिय, (भक्ष्याभक्ष्यका विचार न करके) सब कुछ खानेवाला ब्राह्मण, धनोपार्जनकी चेष्टासे रहित वैश्य, आलसी शूद्र, उत्तम गुणोंसे रहित विद्वान्, सदाचारका पालन न करनेवाला कुलीन पुरुष, सत्यसे भ्रष्ट हुआ धार्मिक पुरुष, दुराचारिणी स्त्री, विषयासक्त योगी, केवल अपने लिये भोजन बनानेवाला मनुष्य, मूर्ख वक्ता, राजासे रहित राष्ट्र तथा अजितेन्द्रिय होकर प्रजाके प्रति स्नेह न रखनेवाला राजा—ये सब-के-सब शोकके योग्य हैं अर्थात् निन्दनीय हैं ॥ २५—२६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९० ॥

एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—कर्मफलकी अनिवार्यता तथा पुण्यकर्मसे लाभ

पराशर उवाच

मनोरथरथं प्राप्य इन्द्रियाख्यहयं नरः।
रश्मिभिर्ज्ञानसम्भूतैर्यो गच्छति स बुद्धिमान् ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—राजन्! इन्द्रियरूप घोड़ोंसे युक्त मनोमय (सूक्ष्म शरीर) एक रथ है। ज्ञानाकार वृत्तियाँ ही इस रथके घोड़ोंकी बागडोर हैं। इन उपकरणोंसे युक्त रथपर आरूढ़ होकर जो पुरुष यात्रा करता है, वह बुद्धिमान् है ॥ १ ॥

सेवाऽऽश्रितेन मनसा वृत्तिहीनस्य शस्यते।
द्विजातिहस्तान्निर्वृत्ता न तु तुल्यात् परस्परात् ॥ २ ॥

जो मनुष्य इन्द्रियोंकी बाह्य वृत्तिसे रहित (अन्तर्मुख) होकर ईश्वरकी शरणमें गये हुए मनके द्वारा उनकी उपासना करता है, उसकी वह उपासना श्रेष्ठ समझी जाती है। ऐसी उपासना किसी विद्वान् एवं भक्त ब्राह्मणके वरद हस्तसे ही उपलब्ध होती है। समान योग्यतावाले आपसके लोगोंसे उसकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २ ॥

आयुर्न सुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद् विशाम्पते।
उत्कर्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा ॥ ३ ॥

प्रजानाथ! मनुष्य-शरीरकी आयु सुलभ नहीं है—वह दुर्लभ वस्तु है, उसे पाकर आत्माको नीचे नहीं गिराना चाहिये। मनुष्यको चाहिये कि वह पुण्यकर्मके अनुष्ठानद्वारा आत्माके उत्थानके लिये सदा प्रयत्न करता रहे ॥ ३ ॥

वर्णेभ्यो हि परिभ्रष्टो न वै सम्मानमर्हति।
न तु यः सत्क्रियां प्राप्य राजसं कर्म सेवते ॥ ४ ॥

जो मनुष्य दुष्कर्म करके वर्णसे भ्रष्ट हो जाता है, वह कदापि सम्मान पानेके योग्य नहीं है। इसके सिवा जो मनुष्य सत्त्वगुणके द्वारा सत्कार पाकर फिर राजस कर्मका सेवन करने लगता है, वह भी सम्मानके योग्य नहीं है॥

वर्णोत्कर्षमवाप्नोति नरः पुण्येन कर्मणा ।
दुर्लभं तमलब्ध्वा हि हन्यात् पापेन कर्मणा ॥ ५ ॥

पुण्य कर्मसे ही मनुष्य उत्तम वर्णमें जन्म पाता है। पापीके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है। वह उसे न पाकर अपने पापकर्मके द्वारा अपना ही नाश करता है ॥ ५ ॥

अज्ञानाद्धि कृतं पापं तपसैवाभिनिर्णुदेत् ।
पापं हि कर्म फलति पापमेव स्वयं कृतम् ।
तस्मात् पापं न सेवेत कर्म दुःखफलोदयम् ॥ ६ ॥

अनजानमें जो पाप बन जाय, उसे तपस्याके द्वारा नष्ट कर दे; क्योंकि अपना किया हुआ पाप कर्म पापरूप दुःखके रूपमें ही फलता है। अतः दुःखमय फल देनेवाले पापकर्मका कदापि सेवन न करे ॥ ६ ॥

पापानुबन्धं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् ।
तन्न सेवेत मेधावी शुचिः कुशलिनं यथा ॥ ७ ॥

पापसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कर्म है, उसका कितना ही बड़ा लौकिक सुखरूप फल क्यों न हो, बुद्धिमान् पुरुष उसका कदापि सेवन न करे। वह उससे उसी तरह दूर रहे, जैसे पवित्र मनुष्य चाण्डालसे ॥ ७ ॥

किं कष्टमनुपश्यामि फलं पापस्य कर्मणः ।
प्रत्यापन्नस्य हि ततो नात्मा तावद् विरोचते ॥ ८ ॥

क्या पापकर्मका कोई दुःखदायक फल मैं देखता हूँ? अर्थात् नहीं देखता। ऐसा मानकर पापमें प्रवृत्त हुए मनुष्यको परमात्माका चिन्तन अच्छा नहीं लगता ॥ ८ ॥

प्रत्यापत्तिश्च यस्येह बालिशस्य न जायते ।
तस्यापि सुमहांस्तापः प्रस्थितस्योपजायते ॥ ९ ॥

इस संसारमें जिस मूर्खको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, उस मनुष्यको परलोकमें जानेपर महान् संताप भोगना पड़ता है ॥ ९ ॥

विरक्तं शोध्यते वस्त्रं न तु कृष्णोपसंहितम् ।
प्रयत्नेन मनुष्येन्द्र पापमेवं निबोध मे ॥ १० ॥

नरेन्द्र! बिना रँगा हुआ वस्त्र धोनेसे स्वच्छ हो जाता है; किंतु जो काले रंगमें रँगा हो वह प्रयत्न करनेसे भी सफेद नहीं होता; पापको भी ऐसा ही समझो। उसका रंग भी जल्दी नहीं उतरता है ॥ १० ॥

स्वयं कृत्वा तु यः पापं शुभमेवानुतिष्ठति ।
प्रायश्चित्तं नरः कर्तुमुभयं सोऽश्नुते पृथक् ॥ ११ ॥

जो स्वयं जान-बूझकर पाप करनेके पश्चात् उसके प्रायश्चित्तके उद्देश्यसे शुभ कर्मका अनुष्ठान करता है, वह शुभ और अशुभ दोनोंका पृथक्-पृथक् फल भोगता है ॥

अज्ञानात् तु कृतां हिंसामहिंसा व्यपकर्षति ।
ब्राह्मणाः शास्त्रनिर्देशादित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ॥ १२ ॥
तथा कामकृतं नास्य विहिंसैवानुकर्षति ।
इत्याहुर्ब्रह्मशास्त्रज्ञा ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ॥ १३ ॥

अनजानमें जो हिंसा हो जाती है, उसे अहिंसा-व्रतका पालन दूर कर देता है। ब्रह्मवादी ब्राह्मण शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार ऐसा ही कहते हैं; किंतु स्वेच्छासे किये हुए हिंसामय पापकर्मको अहिंसाका व्रत भी दूर नहीं कर सकता। ऐसा वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता, वेदका उपदेश देनेवाले ब्राह्मणोंका कथन है॥

अहं तु तावत् पश्यामि कर्म यद् वर्तते कृतम् ।
गुणयुक्तं प्रकाशं वा पापेनानुपसंहितम् ॥ १४ ॥

परंतु मैं तो ऐसा देखता हूँ कि जो कर्म किया गया है, वह पुण्य हो या पापयुक्त, प्रकटरूपमें किया गया हो या छिपाकर (तथा जान-बूझकर किया गया हो या अनजानमें), वह अपना फल अवश्य देता ही है ॥ १४ ॥

यथा सूक्ष्माणि कर्माणि फलन्तीह यथातथम् ।
बुद्धियुक्तानि तानीह कृतानि मनसा सह ॥ १५ ॥
भवत्यल्पफलं कर्म सेवितं नित्यमुल्बणम् ।
अबुद्धिपूर्वं धर्मज्ञ कृतमुग्रेण कर्मणा ॥ १६ ॥

धर्मज्ञ राजा जनक! जैसे मनसे सोच-विचारकर बुद्धिद्वारा निश्चय करके जो स्थूल या सूक्ष्म कर्म यहाँ किये जाते हैं, वे यथायोग्य फल अवश्य देते हैं, उसी प्रकार हिंसा आदि उग्र कर्मके द्वारा अनजानमें किया हुआ भयंकर पाप यदि सदा बनता रहे तो उसका फल भी मिलता ही है; अन्तर इतना ही है कि जान-बूझकर किये हुए कर्मकी अपेक्षा उसका फल बहुत कम हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा ।
न चरेत् तानि धर्मात्मा श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत् ॥ १७ ॥

देवताओं और मुनियोंद्वारा जो अनुचित कर्म किये गये हों, धर्मात्मा पुरुष उनका अनुकरण न करे और उन कर्मों-को सुनकर भी उन देवता आदिकी निन्दा भी न करे ॥ १७ ॥

संचिन्त्य मनसा राजन् विदित्वा शक्यमात्मनः ।
करोति यः शुभं कर्म स वै भद्राणि पश्यति ॥ १८ ॥

राजन्! जो मनुष्य मनसे खूब सोच-विचारकर, 'अमुक काम मुझसे हो सकेगा या नहीं' इसका निश्चय करके शुभकर्मका अनुष्ठान करता है, वह अवश्य ही अपनी भलाई देखता है ॥

नवे कपाले सलिलं संन्यस्तं हीयते यथा ।
नवेतरे तथाभावं प्राप्नोति सुखभावितम् ॥ १९ ॥

जैसे नये बने हुए कच्चे घड़ेमें रक्खा हुआ जल नष्ट

हो जाता है, परंतु पके-पकाये घड़ेमें रखा हुआ ज्यों-का-त्यों बना रहता है, उसी प्रकार परिपक्व विशुद्ध अन्तःकरणमें सम्पादित सुखदायक शुभकर्म निश्चल रहते हैं ॥ १९ ॥

सतोयेऽन्यत् तु यत् तोयं तस्मिन्नेव प्रसिच्यते ।
वृद्धे वृद्धिमवाप्नोति सलिले सलिलं यथा ॥ २० ॥
एवं कर्माणि यानीह बुद्धियुक्तानि पार्थिव ।
समानि चैव यानीह तानि पुण्यतमान्यपि ॥ २१ ॥

राजन् ! उसी जलयुक्त पक्के घड़ेमें यदि दूसरा जल डाला जाय तो पात्रमें रखा हुआ पहलेका जल और नया ढाला हुआ जल—दोनों मिलकर बढ़ जाते हैं और इस प्रकार वह घड़ा अधिक जलसे सम्पन्न हो जाता है, उसी तरह यहाँ विवेकपूर्वक किये हुए जो पुण्य कर्म संचित हैं, उन्हींके समान जो नये पुण्यकर्म किये जाते हैं, वे दोनों मिलकर अधिक पुण्यतम कर्म हो जाते हैं (और उनके द्वारा वह पुरुष महान् पुण्यात्मा हो जाता है) ॥ २०-२१ ॥

राज्ञा जेतव्याः शत्रवश्चोन्नताश्च
सम्यक् कर्तव्यं पालनं च प्रजानाम् ।
अग्निश्चेयो बहुभिश्चापि यज्ञै-
रन्त्ये मध्ये वा वनमाश्रित्य स्थेयम् ॥ २२ ॥

नरेश्वर ! राजाको चाहिये कि वह बढ़े हुए शत्रुओंको जीते । प्रजाका न्यायपूर्वक पालन करे । नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा अग्निदेवको तृप्त करे तथा वैराग्य होनेपर मध्यम अवस्थामें अथवा अन्तिम अवस्थामें वनमें जाकर रहे ॥ २२ ॥

दमान्वितः पुरुषो धर्मशीलो
भूतानि चात्मानमिवानुपश्येत् ।
गरीयसः पूजयेदात्मशक्त्या
सत्येन शीलेन सुखं नरेन्द्र ॥ २३ ॥

राजन् ! प्रत्येक पुरुषको इन्द्रियसंयमी और धर्मात्मा होकर समस्त प्राणियोंको अपने ही समान समझना चाहिये। जो विद्या, तप और अवस्थामें अपनेसे बड़े हों अथवा गुरु कोटिके लोग हों, उन सबकी यथाशक्ति पूजा करनी चाहिये । सत्यभाषण और अच्छे आचार-विचारसे ही सुख मिलता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९१ ॥

द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—धर्मोपार्जित धनकी श्रेष्ठता, अतिथि-सत्कारका महत्त्व, पाँच प्रकारके ऋणोंसे छूटनेकी विधि, भगवत्स्तवनकी महिमा एवं सदाचार तथा गुरुजनोंकी सेवासे महान् लाभ

पराशर उवाच

कः कस्य चोपकुरुते कश्च कस्मै प्रयच्छति ।
प्राणी करोत्ययं कर्म सर्वमात्मार्थमात्मना ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—राजन् ! कौन किसका उपकार करता है और कौन किसको देता है ? यह प्राणी सारा कार्य स्वयं अपने ही लिये करता है ॥ १ ॥

गौरवेण परित्यक्तं निःस्नेहं परिवर्जयेत् ।
सोदर्यं भ्रातरमपि किमुतान्यं पृथग्जनम् ॥ २ ॥

अपना सगा भाई भी यदि अपने श्रेष्ठ स्वभावका और स्नेहका त्याग कर दे तो लोग उसको त्याग देते हैं; फिर दूसरे किसी साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है ॥ २ ॥

विशिष्टस्य विशिष्टाच्च तुल्यौ दानप्रतिग्रहौ ।
तयोः पुण्यतरं दानं तद् द्विजस्य प्रयच्छतः ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ पुरुषको दिया हुआ दान और श्रेष्ठ पुरुषसे प्राप्त हुआ प्रतिग्रह—इन दोनोंका महत्त्व बराबर है तो भी इन दोनोंमेंसे ब्राह्मणके लिये प्रतिग्रह स्वीकार करनेकी अपेक्षा दान देना अधिक पुण्यमय माना गया है ॥ ३ ॥

न्यायागतं धनं चैव न्यायेनैव विवर्धितम् ।
संरक्ष्यं यत्नमास्थाय धर्मार्थमिति निश्चयः ॥ ४ ॥

जो धन न्यायसे प्राप्त किया गया हो और न्यायसे ही बढ़ाया गया हो, उसको यत्नपूर्वक धर्मके उद्देश्यसे बचाये रखना चाहिये । यही धर्मशास्त्रका निश्चय है ॥ ४ ॥

न धर्मार्थी नृशंसेन कर्मणा धनमर्जयेत् ।
शक्तितः सर्वकार्याणि कुर्यान्नर्द्धिमनुस्मरेत् ॥ ५ ॥

धर्म चाहनेवाले पुरुषको क्रूरकर्मके द्वारा धनका उपार्जन नहीं करना चाहिये । अपनी शक्तिके अनुसार समस्त शुभ कर्म करे । धन बढ़ानेकी चिन्तामें न पड़े ॥ ५ ॥

अपो हि प्रयतः शीतास्तापिता ज्वलनेन वा ।
शक्तितोऽतिथये दत्त्वा क्षुधार्तायाश्नुते फलम् ॥ ६ ॥

जो मौसमका विचार करके अपनी शक्तिके अनुसार प्यासे और भूखे अतिथिको ठंडा या गरम किया हुआ जल और अन्न पवित्रभावसे अर्पण करता है, वह उत्तम फल पाता है॥

रन्तिदेवेन लोकेष्टा सिद्धिः प्राप्ता महात्मना।
फलपत्रैरथो मूलैर्मुनीनर्चितवांश्च सः ॥ ७ ॥

महात्मा राजा रन्तिदेवने फल-मूल और पत्तोंसे ऋषि-मुनियोंका पूजन किया था। इसीसे उन्हें वह सिद्धि प्राप्त हुई, जिसकी सब लोग अभिलाषा रखते हैं ॥ ७ ॥

तैरेव फलपत्रैश्च स माठरमतोषयत्।
तस्माल्लेभे परं स्थानं शैब्योऽपि पृथिवीपतिः ॥ ८ ॥

पृथ्वीपालक महाराज शैब्यने भी उन फल और पत्रोंसे ही माठर मुनिको संतुष्ट किया था, जिससे उन्हें उत्तम लोककी प्राप्ति हुई ॥ ८ ॥

देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा।
ऋणवान् जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत् ॥ ९ ॥

प्रत्येक मनुष्य देवता, अतिथि, भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजन, पितर तथा अपने-आपका भी ऋणी होकर जन्म लेता है; अतः उसे उस ऋणसे मुक्त होनेका यत्न करना चाहिये ॥

स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा।
पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च ॥ १० ॥

वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करके ऋषियोंके, यज्ञ-कर्मद्वारा देवताओंके, श्राद्ध और दानसे पितरोंके तथा स्वागत-सत्कार, सेवा आदिसे अतिथियोंके ऋणसे छुटकारा होता है ॥ १० ॥

वाचा शेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च।
यथावद् भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत् कर्म आदितः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार वेद-वाणीके पठन, श्रवण एवं मननसे, यज्ञ-शेष अन्नके भोजनसे तथा जीवोंकी रक्षा करनेसे मनुष्य अपने ऋणसे मुक्त होता है। भरणीय कुटुम्बीजनके पालन-पोषणका आरम्भसे ही प्रबन्ध करना चाहिये। इससे उनके ऋणसे भी मुक्ति हो जाती है ॥ ११ ॥

प्रयत्नेन च संसिद्धा धनैरपि विवर्जिताः।
सम्यग्घुत्वा हुतवहं मुनयः सिद्धिमागताः ॥ १२ ॥

ऋषि-मुनियोंके पास धन नहीं था तो भी वे अपने प्रयत्नसे ही सिद्ध हो गये। उन्होंने विधिपूर्वक अग्निहोत्र करके सिद्धि प्राप्त की थी ॥ १२ ॥

विश्वामित्रस्य पुत्रत्वमृचीकतनयोऽगमत्।
ऋग्भिः स्तुत्वा महाबाहो देवान् वै यज्ञभागिनः ॥ १३ ॥

महाबाहो! ऋचीकके पुत्र यज्ञमें भाग लेनेवाले देवताओंकी वेद-मन्त्रोंद्वारा स्तुति करके विश्वामित्रके पुत्र हो गये ॥

गतः शुक्रत्वमुशना देवदेवप्रसादनात्।
देवीं स्तुत्वा तु गगने मोदते यशसा वृतः ॥ १४ ॥

महर्षि उशना देवाधिदेव महादेवजीको प्रसन्न करके उनके शुक्रत्वको प्राप्त हो उसी नामसे प्रसिद्ध हुए। साथ ही पार्वतीदेवीकी स्तुति करके वे यशस्वी मुनि आकाशमें ग्रहरूपसे स्थित हो आनन्द भोग रहे हैं ॥ १४ ॥

असितो देवलश्चैव तथा नारदपर्वतौ।
कक्षीवान् जामदग्न्यश्च रामस्ताण्ड्यस्तथाऽऽत्मवान् ॥
वसिष्ठो जमदग्निश्च विश्वामित्रोऽत्रिरेव च।
भरद्वाजो हरिश्मश्रुः कुण्डधारः श्रुतश्रवाः ॥ १६ ॥
एते महर्षयः स्तुत्वा विष्णुमृग्भिः समाहिताः।
लेभिरे तपसा सिद्धिं प्रसादात् तस्य धीमतः ॥ १७ ॥

असित, देवल, नारद, पर्वत, कक्षीवान्, जमदग्निनन्दन परशुराम, मनको वशमें रखनेवाले ताण्ड्य, वसिष्ठ, जमदग्नि, विश्वामित्र, अत्रि, भरद्वाज, हरिश्मश्रु, कुण्डधार तथा श्रुतश्रवा—इन महर्षियोंने एकाग्रचित्त हो वेदकी ऋचाओंद्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति करके उन्हीं बुद्धिमान् श्रीहरिकी कृपासे तपस्या करके सिद्धि प्राप्त कर ली ॥ १५—१७ ॥

अनर्हाश्चार्हतां प्राप्ताः सन्तः स्तुत्वा तमेव ह।
न तु वृद्धिमिहान्विच्छेत् कर्म कृत्वा जुगुप्सितम् ॥ १८ ॥

जो पूजाके योग्य नहीं थे, वे भी भगवान् विष्णुकी स्तुति करके पूजनीय संत होकर उन्हींको प्राप्त हो गये। इस लोकमें निन्दनीय आचरण करके किसीको भी अपने अभ्युदयकी आशा नहीं रखनी चाहिये ॥ १८ ॥

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकाङ्क्षया ॥ १९ ॥

धर्मका पालन करते हुए ही जो धन प्राप्त होता है, वही सच्चा धन है। जो अधर्मसे प्राप्त होता है, वह धन तो धिक्कार देने योग्य है। संसारमें धनकी इच्छासे शाश्वत धर्मका त्याग कभी नहीं करना चाहिये ॥ १९ ॥

आहिताग्निर्हि धर्मात्मा यः स पुण्यकृदुत्तमः।
वेदा हि सर्वे राजेन्द्र स्थितास्त्रिष्वग्निषु प्रभो ॥ २० ॥

राजेन्द्र! जो प्रतिदिन अग्निहोत्र करता है, वही धर्मात्मा है और वही पुण्यकर्म करनेवालोंमें श्रेष्ठ है। प्रभो! सम्पूर्ण वेद दक्षिण, आहवनीय तथा गार्हपत्य—इन तीन अग्नियोंमें ही स्थित हैं ॥ २० ॥

स चाप्यग्न्याहितो विप्रः क्रिया यस्य न हीयते।
श्रेयो ह्यनाहिताग्नित्वमग्निहोत्रं न निष्क्रियम् ॥ २१ ॥

जिसका सदाचार एवं सत्कर्म कभी लुप्त नहीं होता, वह ब्राह्मण (अग्निहोत्र न करनेपर भी) अग्निहोत्री ही है। सदाचारका ठीक-ठीक पालन होनेपर अग्निहोत्र न हो सके तो भी अच्छा है; किंतु सदाचारका त्याग करके केवल अग्नि-

होत्र करना कदापि कल्याणकारी नहीं है ॥ २१ ॥

अग्निरात्मा च माता च पिता जनयिता तथा।
गुरुश्च नरशार्दूल परिचर्या यथातथम् ॥ २२ ॥

पुरुषसिंह ! अग्नि, आत्मा, माता, जन्म देनेवाले पिता तथा गुरु—इन सबकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये ॥ २२ ॥

मानं त्यक्त्वा यो नरो वृद्धसेवी
विद्वान् क्लीबः पश्यति प्रीतियोगात्।
दाक्ष्येण हीनो धर्मयुक्तो नदान्तो
लोकेऽस्मिन् वै पूज्यते सद्भिरार्यः॥२३॥

जो अभिमानका त्याग करके वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करता, विद्वान् एवं काम-भोगमें अनासक्त होकर सबको प्रेमभावसे देखता, मनमें चतुराई न रखकर धर्ममें संलग्न रहता और दूसरोंका दमन या हिंसा नहीं करता है, वह मनुष्य इस लोकमें श्रेष्ठ है तथा सत्पुरुष भी उसका आदर करते हैं ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९२ ॥

त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—शूद्रके लिये सेवावृत्तिकी प्रधानता, सत्सङ्गकी महिमा और चारों वर्णोंके धर्मपालनका महत्त्व

पराशर उवाच

वृत्तिः सकाशाद् वर्णेभ्यस्त्रिभ्यो हीनस्य शोभना।
प्रीत्योपनीता निर्दिष्टा धर्मिष्ठान् कुरुते सदा ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—राजन् ! शूद्रके लिये तीनों वर्णोंकी सेवासे जीवन-निर्वाह करना ही सबसे उत्तम है। शूद्रके लिये निर्दिष्ट सेवावृत्तिका यदि वे प्रेमपूर्वक पालन करें तो वह सदा उन्हें धर्मिष्ठ बनाती है ॥ १ ॥

वृत्तिश्चेन्नास्ति शूद्रस्य पितृपैतामही ध्रुवा।
न वृत्तिं परतो मार्गेच्छुश्रूषां तु प्रयोजयेत् ॥ २ ॥

यदि शूद्रके पास बाप-दादोंका दिया हुआ जीविकाका कोई निश्चित साधन नहीं है तो वह दूसरी किसी वृत्तिका अनुसंधान न करे। तीनों वर्णोंकी सेवाको ही जीविकाके उपयोगमें लाये ॥ २ ॥

सद्भिस्तु सह संसर्गः शोभते धर्मदर्शिभिः।
नित्यं सर्वास्ववस्थासु नासद्भिरिति मे मतिः ॥ ३ ॥

धर्मपर दृष्टि रखनेवाले सत्पुरुषोंके संसर्गमें रहना सदा ही श्रेष्ठ है; परंतु किसी भी दशामें कभी दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग अच्छा नहीं है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥ ३ ॥

यथोदयगिरौ द्रव्यं संनिकर्षेण दीप्यते।
तथा सत्संनिकर्षेण हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४ ॥

जैसे सूर्यका सामीप्य प्राप्त होनेसे उदयाचल पर्वतकी प्रत्येक वस्तु चमक उठती है, उसी प्रकार साधु पुरुषोंके निकट रहनेसे नीच वर्णका मनुष्य भी सद्गुणोंसे सुशोभित होने लगता है ॥ ४ ॥

यादृशेन हि वर्णेन भाव्यते शुक्लमम्बरम्।
तादृशं कुरुते रूपमेतदेवमवेहि मे ॥ ५ ॥

श्वेत वस्त्रको जैसे रंगमें रँगा जाता है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जैसा सङ्ग किया जाता है, वैसा ही रंग अपने ऊपर चढ़ता है। यह बात मुझसे अच्छी तरह समझ लो ॥ ५ ॥

तस्माद् गुणेषु रज्येथा मा दोषेषु कदाचन।
अनित्यमिह मर्त्यानां जीवितं हि चलाचलम् ॥ ६ ॥

इसलिये तुम गुणोंमें ही अनुराग रक्खो, दोषोंमें कभी नहीं; क्योंकि यहाँ मनुष्योंका जीवन अनित्य और चञ्चल है ॥ ६ ॥

सुखे वा यदि वा दुःखे वर्तमानो विचक्षणः।
यश्चिनोति शुभान्येव स तन्त्राणीह पश्यति ॥ ७ ॥

जो विद्वान् सुख अथवा दुःखमें रहकर भी सदा शुभ-कर्मका ही अनुष्ठान करता है, वही यहाँ शास्त्रोंको देखता और समझता है ॥ ७ ॥

धर्मादपेतं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते ॥ ८ ॥

धर्मके विपरीत कर्म यदि लौकिक दृष्टिसे बहुत लाभदायक हो तो भी बुद्धिमान् पुरुषको उसका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसे इस जगत्‌में हितकर नहीं बताया जाता है ॥ ८ ॥

(धर्मेण सहितं यत् तु भवेदल्पफलोदयम्।
तत् कार्यमविशङ्केन कर्मात्यन्तं सुखावहम् ॥)
यो हृत्वा गोसहस्राणि नृपो दद्यादरक्षिता।
स शब्दमात्रफलभाग् राजा भवति तस्करः ॥ ९ ॥

जो कार्य धर्मके अनुकूल हो, वह अल्प लाभदायक होनेपर भी निःशङ्क होकर कर लेने योग्य है; क्योंकि वह अन्तमें अत्यन्त सुख देनेवाला होता है। जो राजा दूसरोंकी हजारों गौएँ छीनकर दान करता है और प्रजाकी रक्षा नहीं करता, वह नाममात्रका ही दानी और राजा है। वास्तवमें तो वह चोर और डाकू है ॥ ९ ॥

स्वयम्भूरसृजच्चाग्रे धातारं लोकसत्कृतम्।
धातासृजत् पुत्रमेकं लोकानां धारणे रतम्॥ १० ॥

ईश्वरने सबसे पहले लोकपूजित ब्रह्माको उत्पन्न किया। ब्रह्माने एक पुत्र (पर्जन्य) को जन्म दिया, जो सम्पूर्ण लोकोंको धारण करनेमें तत्पर है ॥ १० ॥

तमर्चयित्वा वैश्यस्तु कुर्यादत्यर्थमृद्धिमत्।
रक्षितव्यं तु राजन्यैरुपयोज्यं द्विजातिभिः ॥ ११ ॥
अजिह्मैरशठक्रोधैर्हव्यकव्यप्रयोक्तृभिः ।
शूद्रैर्निर्माजनं कार्यमेवं धर्मो न नश्यति ॥ १२ ॥

उसीकी पूजा करके वैश्यको चाहिये कि खेती और पशु-पालन आदिके द्वारा उसे अत्यन्त समृद्धिशाली बनाये। राजाको उसकी रक्षा करनी चाहिये और ब्राह्मणोंको चाहिये कि वे कुटिलता, शठता एवं क्रोधको त्यागकर हव्य-कव्यका प्रयोग करते हुए उस अन्न-धनका यज्ञ (लोकहितके कार्य) में सदुपयोग करें। शूद्रोंको यज्ञभूमि तथा त्रैवर्णिकोंके घरोंको झाड़-बुहारकर साफ रखना चाहिये। ऐसा करनेसे धर्मका नाश नहीं होता ॥ ११-१२ ॥

अप्रणष्टे ततो धर्मे भवन्ति सुखिताः प्रजाः।
सुखेन तासां राजेन्द्र मोदन्ते दिवि देवताः ॥ १३ ॥

धर्मका नाश न होकर उसका पालन होता रहे तो सारी प्रजा सुखी होती है। राजेन्द्र! प्रजाओंके सुखी होनेपर स्वर्गमें देवता भी प्रसन्न रहते हैं ॥ १३ ॥

तस्माद् यो रक्षति नृपः स धर्मेणेति पूज्यते।
अधीते चापि यो विप्रो वैश्यो यश्चार्जने रतः ॥ १४ ॥
यश्च शुश्रूषते शूद्रः सततं नियतेन्द्रियः ।
अतोऽन्यथा मनुष्येन्द्र स्वधर्मात् परिहीयते ॥ १५ ॥

जो राजा धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करता है, वह उस धर्माचरणके कारण ही लोकमें पूजित होता है। इसी प्रकार जो ब्राह्मण धर्मपूर्वक स्वाध्याय करता है, जो वैश्य धर्मके अनुसार धनोपार्जनमें तत्पर रहता है तथा जो शूद्र जितेन्द्रिय भावसे रहकर सर्वदा द्विजातियोंकी सेवा करता है, वे सभी अपने-अपने धर्माचरणके कारण लोकमें सम्मानित होते हैं। नरेन्द्र! इसके विपरीत आचरण करनेसे सब लोग अपने धर्मसे गिर जाते हैं ॥ १४-१५ ॥

प्राणसंतापनिर्दिष्टाः काकिण्योऽपि महाफलाः।
न्यायेनोपार्जिता दत्ताः किमुतान्याः सहस्रशः ॥ १६ ॥

प्राणोंको कष्ट देकर भी यदि न्यायसे कमायी हुई थोड़ी-सी कौड़ियोंका भी दान किया जाय तो वे महान् फल देनेवाली होती हैं; फिर जो दूसरी वस्तुएँ हजारोंकी संख्यामें दी जाती हैं, उनकी तो बात ही क्या है ॥ १६ ॥

सत्कृत्य हि द्विजातिभ्यो यो ददाति नराधिपः।
यादृशं तादृशं नित्यमश्नाति फलमूर्जितम् ॥ १७ ॥

जो राजा ब्राह्मणोंका सत्कार करके उन्हें जैसा दान देता है, वैसे ही उत्तम फलका वह सदा ही उपभोग करता है ॥

अभिगम्य च तत् तुष्ट्या दत्तमाहुरभिष्टुतम्।
याचितेन तु यद् दत्तं तदाहुर्मध्यमं बुधाः ॥ १८ ॥

स्वयं ही ब्राह्मणके पास जाकर उसे संतुष्ट करते हुए जो दान दिया जाता है, उसे प्रशंसनीय—उत्तम बताया गया है और याचना करनेपर जो कुछ दिया जाता है, उसे विद्वान् पुरुष मध्यम श्रेणीका दान कहते हैं ॥ १८ ॥

अवज्ञया दीयते यत् तथैवाश्रद्धयापि वा।
तमाहुरधमं दानं मुनयः सत्यवादिनः ॥ १९ ॥
अतिक्रामेन्मज्जमानो विविधेन नरः सदा।
तथा प्रयत्नं कुर्वीत यथा मुच्येत संश्रयात् ॥ २० ॥

अवहेलना अथवा अश्रद्धासे जो कुछ दिया जाता है, उसे सत्यवादी मुनियोंने अधम श्रेणीका दान कहा है। डूबता हुआ मनुष्य जिस तरह नाना प्रकारके उपायद्वारा समुद्रसे पार हो जाता है, वैसे ही तुमको भी सदा ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिस प्रकार संसारसमुद्रसे छुटकारा मिले ॥ १९-२० ॥

दमेन शोभते विप्रः क्षत्रियो विजयेन तु।
धनेन वैश्यः शूद्रस्तु नित्यं दाक्ष्येण शोभते ॥ २१ ॥

ब्राह्मण इन्द्रियसंयमसे, क्षत्रिय युद्धमें विजय पानेसे, वैश्य न्यायपूर्वक उपार्जित धनसे और शूद्र सदा सेवाकार्यमें कुशलताका परिचय देनेसे शोभा पाता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २२ श्लोक हैं)

चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—ब्राह्मण और शूद्रकी जीविका, निन्दनीय कर्मोंके त्यागकी आज्ञा, मनुष्योंमें आसुरभावकी उत्पत्ति और भगवान् शिवके द्वारा उसका निवारण तथा स्वधर्मके अनुसार कर्तव्यपालनका आदेश

पराशर उवाच

प्रतिग्रहागता विप्रे क्षत्रिये युधि निर्जिताः।
वैश्ये न्यायार्जिताश्चैव शूद्रे शुश्रूषयार्जिताः ॥ १ ॥
स्वल्पाप्यर्थाः प्रशस्यन्ते धर्मस्यार्थे महाफलाः।

पराशरजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मणके यहाँ प्रतिग्रहसे मिला हुआ, क्षत्रियके घर युद्धसे जीतकर लाया हुआ, वैश्यके पास न्यायपूर्वक (खेती आदिसे) कमाया हुआ और शूद्रके यहाँ सेवासे प्राप्त हुआ थोड़ा-सा भी धन हो तो उसकी बड़ी प्रशंसा होती है तथा धर्मके कार्यमें उसका उपयोग हो तो वह महान् फल देनेवाला होता है ॥ १½ ॥

नित्यं त्रयाणां वर्णानां शुश्रूषुः शूद्र उच्यते ॥ २ ॥
क्षत्रधर्मा वैश्यधर्मा नावृत्तिः पतते द्विजः।
शूद्रधर्मा यदा तु स्यात् तदा पतति वै द्विजः ॥ ३ ॥

शूद्रको तीनों वर्णोंका नित्य सेवक बताया जाता है। यदि ब्राह्मण जीविकाके अभावमें क्षत्रिय अथवा वैश्यके धर्मसे जीवन-निर्वाह करे तो वह पतित नहीं होता है; किंतु जब वह शूद्रके धर्मको अपनाता है, तब तत्काल पतित हो जाता है ॥

वाणिज्यं पाशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम्।
शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते ॥ ४ ॥

जब शूद्र सेवावृत्तिसे जीविका न चला सके, तब उसके लिये भी व्यापार, पशुपालन तथा शिल्पकला आदिसे जीवन-निर्वाह करनेकी आज्ञा है ॥ ४ ॥

रङ्गावतरणं चैव तथा रूपोपजीवनम्।
मद्यमांसोपजीव्यं च विक्रयं लोहचर्मणोः ॥ ५ ॥
अपूर्विणा न कर्तव्यं कर्म लोके विगर्हितम्।
कृतपूर्वं तु त्यजतो महान् धर्म इति श्रुतिः ॥ ६ ॥

रंगमञ्चपर स्त्री आदिके वेषमें उतरकर नाचना या खेल दिखाना, बहुरूपियेका काम करना, मदिरा और मांस बेचकर जीविका चलाना तथा लोहे और चमड़ेकी बिक्री करना—ये सब काम (सबके लिये) लोकमें निन्दित माने गये हैं। जिसके घरमें पूर्वपरम्परासे ये काम न होते आये हों, उसे स्वयं इनका आरम्भ नहीं करना चाहिये। जिसके यहाँ पहलेसे इन्हें करनेकी प्रथा हो, वह भी छोड़ दे तो महान् धर्म होता है—ऐसा शास्त्रका निर्णय है ॥ ५-६ ॥

संसिद्धः पुरुषो लोके यदाचरति पापकम्।
मदेनाभिप्लुतमनास्तच्च न ग्राह्यमुच्यते ॥ ७ ॥

यदि कोई जगत्में प्रसिद्ध हुआ पुरुष घमण्डमें आकर या मनमें लोभ भरा रहनेके कारण पापाचरण करने लगे तो उसका वह कार्य अनुकरण करने योग्य नहीं बताया गया है ॥

श्रूयन्ते हि पुराणेषु प्रजा धिग्दण्डशासनाः।
दान्ता धर्मप्रधानाश्च न्यायधर्मानुवृत्तिकाः ॥ ८ ॥

पुराणोंमें सुना जाता है कि पहले अधिकांश मनुष्य संयमी, धार्मिक तथा न्यायोचित आचारका ही अनुसरण करनेवाले थे। उस समय अपराधियोंको धिक्कारमात्रका ही दण्ड दिया जाता था ॥ ८ ॥

धर्म एव सदा नृणामिह राजन् प्रशस्यते।
धर्मवृद्धा गुणानेव सेवन्ते हि नरा भुवि ॥ ९ ॥

राजन्! इस जगत्में सदा मनुष्योंके धर्मकी ही प्रशंसा होती आयी है। धर्ममें बढ़े-चढ़े लोग इस भूतलपर केवल सद्गुणोंका ही सेवन करते हैं ॥ ९ ॥

तं धर्ममसुरास्तात नामृष्यन्त जनाधिप।
विवर्धमानाः क्रमशस्तत्र तेऽन्वाविशन् प्रजाः ॥ १० ॥

तात! जनेश्वर! परंतु उस धर्मको असुर नहीं सह सके। वे क्रमशः बढ़ते हुए प्रजाके शरीरमें समा गये ॥ १० ॥

तासां दर्पः समभवत् प्रजानां धर्मनाशनः।
दर्पात्मनां ततः पश्चात् क्रोधस्तासामजायत ॥ ११ ॥

तब प्रजाओंमें धर्मको नष्ट करनेवाला दर्प प्रकट हुआ। फिर जब प्रजाओंके मनमें दर्प आ गया, तब क्रोधका भी प्रादुर्भाव हो गया ॥ ११ ॥

ततः क्रोधाभिभूतानां वृत्तं लज्जासमन्वितम्।
ह्रीश्चैवाप्यनशद् राजंस्ततो मोहो व्यजायत ॥ १२ ॥

राजन्! तदनन्तर क्रोधसे आक्रान्त होनेपर मनुष्योंके लज्जायुक्त सदाचारका लोप हो गया। उनका संकोच भी जाता रहा। इसके बाद उनमें मोहकी उत्पत्ति हुई ॥ १२ ॥

ततो मोहपरीतास्ता नापश्यन्त यथा पुरा।
परस्परावमर्देन वर्धयन्त्यो यथासुखम् ॥ १३ ॥

मोहसे घिर जानेपर उनमें पहले-जैसी विवेकपूर्ण दृष्टि नहीं रह गयी; अतः वे परस्पर एक दूसरेका विनाश करके अपने-अपने सुखको बढ़ानेकी चेष्टा करने लगे ॥ १३ ॥

ताः प्राप्य तु स धिग्दण्डो न कारणमतोऽभवत्।

ततोऽभ्यगच्छन् देवांश्च ब्राह्मणांश्चावमन्य ह ॥ १४ ॥

उन बिगड़े हुए लोगोंको पाकर धिक्कारका दण्ड उन्हें राहपर लानेमें सफल न हो सका। सभी मनुष्य देवता और ब्राह्मणोंका अपमान करके मनमाने तौरपर विषय-भोगोंका सेवन करने लगे ॥ १४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवा देववरं शिवम्।
अगच्छन् शरणं धीरं बहुरूपं गुणाधिकम् ॥ १५ ॥

ऐसा अवसर उपस्थित होनेपर सम्पूर्ण देवता अनेक रूपधारी, अधिक गुणशाली, धीरजस्वभाव देवेश्वर भगवान् शिवकी शरणमें गये ॥ १५ ॥

तेन स ते गगनगाः सपुराः पातिताः क्षितौ।
त्रिधाप्येकेन बाणेन देवाप्यायिततेजसा ॥ १६ ॥

तब शिवजीने देवताओंके द्वारा बढ़ाये हुए तेजसे युक्त एक ही शक्तिशाली बाणके द्वारा तीन नगरोंसहित आकाशमें विचरनेवाले उन समस्त असुरोंको मारकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ १६ ॥

तेषामधिपतिस्त्वासीद् भीमो भीमपराक्रमः।
देवतानां भयकरः स हतः शूलपाणिना ॥ १७ ॥

उन असुरोंका स्वामी भयंकर आकारवाला तथा भीषण पराक्रमी था। देवताओंको वह सदा भयभीत किये रहता था; किंतु भगवान् शूलपाणिने उसे भी मार डाला ॥ १७ ॥

तस्मिन् हतेऽथ स्वं भावं प्रत्यपद्यन्त मानवाः।
प्रापद्यन्त च वेदान् वै शास्त्राणि च यथा पुरा ॥ १८ ॥

उस असुरके मारे जानेपर सब मनुष्य प्रकृतिस्थ हो गये तथा उन्हें पूर्ववत् वेद और शास्त्रोंका ज्ञान हो गया ॥ १८ ॥

ततोऽभिषिच्य राज्येन देवानां दिवि वासवम्।
सप्तर्षयश्चान्वयुञ्जन् नराणां दण्डधारणे ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् सप्तर्षियोंने इन्द्रको स्वर्गमें देवताओंके राज्यपर अभिषिक्त किया और वे स्वयं मनुष्यके शासनकार्यमें लग गये ॥ १९ ॥

सप्तर्षीणामथोर्ध्वं च विपृथुर्नाम पार्थिवः।
राजानः क्षत्रियाश्चैव मण्डलेषु पृथक् पृथक् ॥ २० ॥

सप्तर्षियोंके बाद विपृथुनामक राजा भूमण्डलका स्वामी हुआ तथा और भी बहुत-से क्षत्रिय भिन्न-भिन्न मण्डलोंके राजा हुए ॥ २० ॥

महाकुलेषु ये जाता वृद्धाः पूर्वतराश्च ये।
तेषामप्यासुरो भावो हृदयान्नापसर्पति ॥ २१ ॥

उस समय जो उच्च कुलोंमें उत्पन्न हुए थे, अवस्था और गुणोंमें बढ़े-चढ़े थे तथा जो उनसे भी पूर्ववर्ती पुरुष थे, उनके हृदयसे भी आसुरभाव पूर्णरूपसे नहीं निकला था ॥ २१ ॥

तस्मात् तेनैव भावेन सानुषङ्गेण पार्थिवाः।
आसुराण्येव कर्माणि न्यसेवन् भीमविक्रमाः ॥ २२ ॥

अतः उसी आनुषङ्गिक आसुरभावसे युक्त होकर कितने ही भयंकर पराक्रमी भूपाल असुरोचित कर्मोंका ही सेवन करने लगे ॥ २२ ॥

प्रत्यतिष्ठंश्च तेष्वेव तान्येव स्थापयन्त्यपि।
भजन्ते तानि चाद्यापि ये बालिशतरा नराः ॥ २३ ॥

जो मनुष्य अत्यन्त मूर्ख हैं, वे आज भी उन्हीं आसुर-भावोंमें स्थित हैं, उन्हींकी स्थापना करते हैं और उन्हींको सब प्रकारसे अपनाते हैं ॥ २३ ॥

तस्मादहं ब्रवीमि त्वां राजन् संचिन्त्य शास्त्रतः।
संसिद्धाधिगमं कुर्यात् कर्म हिंसात्मकं त्यजेत् ॥ २४ ॥

अतः राजन्! मैं शास्त्रके अनुसार खूब सोच-विचारकर कहता हूँ कि मनुष्यको उन्नत होनेका प्रयत्न तो करना चाहिये, किंतु हिंसात्मक कर्मका त्याग कर देना चाहिये ॥ २४ ॥

न संकरेण द्रविणं प्रचिन्वीयाद् विचक्षणः।
धर्मार्थं न्यायमुत्सृज्य न तत् कल्याणमुच्यते ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह धर्म करनेके लिये न्यायको त्यागकर पापमिश्रित मार्गसे धनका संग्रह न करे; क्योंकि उसे कल्याणकारी नहीं बताया जाता है ॥ २५ ॥

स त्वमेवंविधो दान्तः क्षत्रियः प्रियबान्धवः।
प्रजा भृत्यांश्च पुत्रांश्च स्वधर्मेणानुपालय ॥ २६ ॥

नरेश्वर! तुम भी इसी प्रकार जितेन्द्रिय क्षत्रिय होकर बन्धु-बान्धवोंसे प्रेम रखते हुए प्रजा, भृत्य और पुत्रोंका स्वधर्मके अनुसार पालन करो ॥ २६ ॥

इष्टानिष्टसमायोगो वैरं सौहार्दमेव च।
अथ जातिसहस्राणि बहूनि परिवर्तते ॥ २७ ॥

इष्ट और अनिष्टका संयोग, वैर और सौहार्द—इन सबका अनुभव करते-करते जीवके कई सहस्र जन्म बीत जाते हैं ॥ २७ ॥

तस्माद् गुणेषु रज्येथा मा दोषेषु कथंचन।
निर्गुणोऽपि हि दुर्बुद्धिरात्मनः सोऽतिरज्यते ॥ २८ ॥

इसलिये तुम सद्गुणोंमें ही अनुराग रखो, दोषोंमें किसी प्रकार नहीं; क्योंकि गुणहीन और दुर्बुद्धि मनुष्य भी अपने गुणोंके अभिमानसे अत्यन्त संतुष्ट रहता है ॥ २८ ॥

मानुषेषु महाराज धर्माधर्मौ प्रवर्ततः।
न तथान्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह ॥ २९ ॥

महाराज! यहाँ मनुष्योंमें जैसे धर्म और अधर्म निवास करते हैं, उस प्रकार मनुष्येतर अन्य प्राणियोंमें नहीं ॥ २९ ॥

धर्मशीलो नरो विद्वानीहकोऽनीहकोऽपि वा ।
आत्मभूतः सदा लोके चरेद् भूतान्यहिंसया ॥ ३० ॥

धर्मशील विद्वान् मनुष्य सचेष्ट हो चाहे चेष्टारहित, उसे चाहिये कि सदैव जगत्‌में सबके प्रति आत्मभाव रखकर किसी भी प्राणीकी हिंसा न करते हुए समभावसे व्यवहार करे ॥ ३० ॥

यदा व्यपेतहृल्लेखं मनो भवति तस्य वै ।
नानृतं चैव भवति तदा कल्याणमृच्छति ॥ ३१ ॥

जब मनुष्यका मन कामना और कर्मसंस्कारोंसे रहित हो जाता है तथा वह मिथ्याचारसे रहित हो जाता है, उस समय उसे कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—विषयासक्त मनुष्यका पतन, तपोबलकी श्रेष्ठता तथा दृढ़तापूर्वक स्वधर्मपालनका आदेश

पराशर उवाच

एष धर्मविधिस्तात गृहस्थस्य प्रकीर्तितः ।
तपोविधिं तु वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—तात ! यह मैंने गृहस्थके धर्मका विधान बताया है । अब मैं तपकी विधि बताऊँगा, उसे मेरे मुखसे सुनो ॥ १ ॥

प्रायेण च गृहस्थस्य ममत्वं नाम जायते ।
सङ्गागतं नरश्रेष्ठ भावै राजसतामसैः ॥ २ ॥

नरश्रेष्ठ ! गृहस्थ पुरुषको प्रायः राजस और तामस भावोंके संसर्गवश पदार्थ और व्यक्तियोंमें ममता हो जाती है ॥ २ ॥

गृहाण्याश्रित्य गावश्च क्षेत्राणि च धनानि च ।
दाराः पुत्राश्च भृत्याश्च भवन्तीह नरस्य वै ॥ ३ ॥

घरका आश्रय लेते ही मनुष्यका गौ, खेती-बारी, धन-दौलत, स्त्री-पुत्र तथा भरण-पोषणके योग्य अन्यान्य कुटुम्बी-जनोंसे सम्बन्ध स्थापित हो जाता है ॥ ३ ॥

एवं तस्य प्रवृत्तस्य नित्यमेवानुपश्यतः ।
रागद्वेषौ विवर्धेते ह्यनित्यत्वमपश्यतः ॥ ४ ॥

इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें रहकर वह नित्य ही उन वस्तुओंको देखता है, किंतु इनकी अनित्यताकी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती; इसलिये उसके मनमें इनके प्रति राग और द्वेष बढ़ने लगते हैं ॥ ४ ॥

रागद्वेषाभिभूतं च नरं द्रव्यवशानुगम् ।
मोहजाता रतिर्नाम समुपैति नराधिप ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! राग और द्वेषके वशीभूत होकर जब मनुष्य द्रव्यमें आसक्त हो जाता है, तब मोहकी कन्या रति उसके पास आ जाती है ॥ ५ ॥

कृतार्थं भोगिनं मत्वा सर्वो रतिपरायणः ।
लाभं ग्राम्यसुखादन्यं रतितो नानुपश्यति ॥ ६ ॥

तब रतिकी उपासनामें लगे हुए सभी लोग भोगीको ही कृतार्थ मानकर रतिके द्वारा जो विषय-सुख प्राप्त होता है, उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं समझते हैं ॥ ६ ॥

ततो लोभाभिभूतात्मा संगाद् वर्धयते जनम् ।
पुष्ट्यर्थं चैव तस्येह जनस्यार्थं चिकीर्षति ॥ ७ ॥

तदनन्तर उनके मनपर लोभका अधिकार हो जाता है और वे आसक्तिवश अपने परिजनोंकी संख्या बढ़ाने लगते हैं । इसके बाद उन कुटुम्बी जनोंके पालन-पोषणके लिये मनुष्यके मनमें धन-संग्रहकी इच्छा होती है ॥ ७ ॥

स जानन्नपि चाकार्यमर्थार्थं सेवते नरः ।
बालस्नेहपरीतात्मा तत्क्षयाच्चानुतप्यते ॥ ८ ॥

यद्यपि मनुष्य जानता है कि अमुक काम करना पाप है, तो भी वह धनके लिये उसका सेवन करता है । बाल-बच्चोंके स्नेहमें उसका मन डूबा रहता है और उनमेंसे जब कोई मर जाता है, तब उनके लिये वह बारंबार संतप्त होता है ॥ ८ ॥

ततो मानेन सम्पन्नो रक्षन्नात्मपराजयम् ।
करोति येन भोगी स्यामिति तस्माद् विनश्यति ॥ ९ ॥

धनसे जब लोकमें सम्मान बढ़ता है, तब वह मानसम्पन्न पुरुष सदा अपने अपमानसे बचनेके लिये प्रयत्न करता रहता है एवं 'मैं भोगसामग्रियोंसे सम्पन्न होऊँ' यह उद्देश्य लेकर ही वह सारा कार्य करता है और इसी प्रयत्नमें एक दिन नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

तथा हि बुद्धियुक्तानां शाश्वतं ब्रह्मवादिनाम् ।
अन्विच्छतां शुभं कर्म नराणां त्यजतां सुखम् ॥ १० ॥

वास्तवमें जो शुभ कर्मोंका अनुष्ठान तो करते हैं, परंतु उनसे सुख पानेकी इच्छाको त्याग देते हैं, उन समत्व-बुद्धिसे युक्त ब्रह्मवादी पुरुषोंको ही सनातन पदकी प्राप्ति होती है ॥

स्नेहायतननाशाच्च धननाशाच्च पार्थिव ।
आधिव्याधिप्रतापाच्च निर्वेदमुपगच्छति ॥ ११ ॥

पृथ्वीनाथ ! संसारी जीवोंको तो जब उनके स्नेहके आधारभूत स्त्री-पुत्र आदिका नाश हो जाता, धन चला जाता और रोग तथा चिन्तासे कष्ट उठाना पड़ता है, तभी वैराग्य होता है ॥ ११ ॥

निर्वेदादात्मसम्बोधः सम्बोधाच्छास्त्रदर्शनम् ।
शास्त्रार्थदर्शनाद् राजंस्तप एवानुपश्यति ॥ १२ ॥

राजन् ! वैराग्यसे मनुष्यको आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा होती है। जिज्ञासासे शास्त्रोंके स्वाध्यायमें मन लगता है तथा शास्त्रोंके अर्थ और भावके ज्ञानसे वह तपको ही कल्याणका साधन समझता है ॥ १२ ॥

दुर्लभो हि मनुष्येन्द्र नरः प्रत्यवमर्शवान् ।
यो वै प्रियसुखे क्षीणे तपः कर्तुं व्यवस्यति ॥ १३ ॥

नरेन्द्र ! संसारमें ऐसा विवेकी मनुष्य दुर्लभ है, जो स्त्री-पुत्र आदि प्रियजनोंसे मिलनेवाले सुखके न रहनेपर तपमें प्रवृत्त होनेका ही निश्चय करता है ॥ १३ ॥

तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते ।
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्गमार्गप्रवर्तकम् ॥ १४ ॥

तात ! तपस्यामें सभीका अधिकार है। जितेन्द्रिय और मनोनिग्रहसम्पन्न हीन वर्णके लिये भी तपका विधान है; क्योंकि तप पुरुषको स्वर्गकी राहपर लानेवाला है ॥ १४ ॥

प्रजापतिः प्रजाः पूर्वमसृजत् तपसा विभुः ।
क्वचित् क्वचिद् व्रतपरो व्रतान्यास्थाय पार्थिव ॥ १५ ॥

भूपाल ! पूर्वकालमें शक्तिशाली प्रजापतिने तपमें स्थित होकर और कभी-कभी ब्रह्मपरायण व्रतमें स्थित होकर संसारकी रचना की थी ॥ १५ ॥

आदित्या वसवो रुद्रास्तथैवाग्न्यश्विमारुताः ।
विश्वेदेवास्तथा साध्याः पितरोऽथ मरुद्गणाः ॥ १६ ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वाः सिद्धाश्चान्ये दिवौकसः ।
संसिद्धास्तपसा तात ये चान्ये स्वर्गवासिनः ॥ १७ ॥

तात ! आदित्य, वसु, रुद्र, अग्नि, अश्विनीकुमार, वायु, विश्वेदेव, साध्य, पितर, मरुद्गण, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, सिद्ध तथा अन्य जो स्वर्गवासी देवता हैं, वे सब-के-सब तपस्यासे ही सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ १६-१७ ॥

ये चादौ ब्राह्मणाः सृष्टा ब्रह्मणा तपसा पुरा ।
ते भावयन्तः पृथिवीं विचरन्ति दिवं तथा ॥ १८ ॥

ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिन मरीचि आदि ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया था, वे तपके ही प्रभावसे पृथ्वी और आकाशको पवित्र करते हुए ही विचरते हैं ॥ १८ ॥

मर्त्यलोके च राजानो ये चान्ये गृहमेधिनः ।
महाकुलेषु दृश्यन्ते तत् सर्वं तपसः फलम् ॥ १९ ॥

मर्त्यलोकमें भी जो राजे-महाराजे तथा अन्यान्य गृहस्थ महान् कुलोंमें उत्पन्न देखे जाते हैं, वह सब उनकी तपस्याका ही फल है ॥ १९ ॥

कौशिकानि च वस्त्राणि शुभान्याभरणानि च ।
वाहनासनपानानि तत् सर्वं तपसः फलम् ॥ २० ॥

रेशमी वस्त्र, सुन्दर आभूषण, वाहन, आसन और उत्तम खान-पान आदि सब कुछ तपस्याका ही फल है ॥२०॥

मनोऽनुकूलाः प्रमदा रूपवत्यः सहस्रशः ।
वासः प्रासादपृष्ठे च तत् सर्वं तपसः फलम् ॥ २१ ॥

मनके अनुकूल चलनेवाली सहस्रों रूपवती युवतियाँ और महलोंका निवास आदि सब कुछ तपस्याका ही फल है॥

शयनानि च मुख्यानि भोज्यानि विविधानि च ।
अभिप्रेतानि सर्वाणि भवन्ति शुभकर्मिणाम् ॥ २२ ॥

श्रेष्ठ शय्या, भाँति-भाँतिके उत्तम भोजन तथा सभी मनोवाञ्छित पदार्थ पुण्यकर्म करनेवाले लोगोंको ही प्राप्त होते हैं॥

नाप्राप्यं तपसः किंचित् त्रैलोक्येऽपि परंतप ।
उपभोगपरित्यागः फलान्यकृतकर्मणाम् ॥ २३ ॥

परंतप ! त्रिलोकीमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो तपस्यासे प्राप्त न हो सके; किंतु जिन्होंने काम्य अथवा निषिद्ध कर्म नहीं किये हैं, उनकी तपस्याका फल सुखभोगोंका परित्याग ही है ॥ २३ ॥

सुखितो दुःखितो वापि नरो लोभं परित्यजेत् ।
अवेक्ष्य मनसा शास्त्रं बुद्ध्या च नृपसत्तम ॥ २४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! मनुष्य सुखमें हो या दुःखमें, मन और बुद्धिसे शास्त्रका तत्त्व समझकर लोभका परित्याग कर दे ॥२४॥

असंतोषोऽसुखायेति लोभादिन्द्रियसम्भ्रमः ।
ततोऽस्य नश्यति प्रज्ञा विद्येवाभ्यासवर्जिता ॥ २५ ॥

असंतोष दुःखका ही कारण है। लोभसे मन और इन्द्रियाँ चञ्चल होती हैं, उससे मनुष्यकी बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे बिना अभ्यासके विद्या ॥ २५ ॥

नष्टप्रज्ञो यदा तु स्यात् तदा न्यायं न पश्यति ।
तस्मात् सुखक्षये प्राप्ते पुमानुग्रं तपश्चरेत् ॥ २६ ॥

जब मनुष्यकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, तब वह न्यायको नहीं देख पाता अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय नहीं

कर पाता है। इसलिये सुखका क्षय हो जानेपर प्रत्येक पुरुष-को घोर तपस्या करनी चाहिये ॥ २६ ॥

यदिष्टं तत् सुखं प्राहुर्द्वेष्यं दुःखमिहष्यते।
कृताकृतस्य तपसः फलं पश्यस्व यादृशम् ॥ २७ ॥

जो अपनेको प्रिय जान पड़ता है, उसे सुख कहते हैं तथा जो मनके प्रतिकूल होता है, वह दुःख कहलाता है। तपस्या करनेसे सुख और न करनेसे दुःख होता है। इस प्रकार तप करने और न करनेका जैसा फल होता है, उसे तुम भलीभाँति समझ लो ॥ २७ ॥

नित्यं भद्राणि पश्यन्ति विषयांश्चोपभुञ्जते।
प्राकाश्यं चैव गच्छन्ति कृत्वा निष्कल्मषं तपः ॥ २८ ॥

मनुष्य पापरहित तपस्या करके सदा अपना कल्याण ही देखते हैं। मनोवाञ्छित विषयोंका उपभोग करते हैं और संसारमें उनकी ख्याति होती है ॥ २८ ॥

अप्रियाण्यवमानांश्च दुःखं बहुविधात्मकम्।
फलार्थी तत्फलं त्यक्त्वा प्राप्नोति विषयात्मकम् ॥ २९ ॥

मनके अनुकूल फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य सकाम कर्मका अनुष्ठान करके अप्रिय, अपमान और नाना प्रकारके दुःख पाता है, किंतु उस फलका परित्याग करके वह सम्पूर्ण विषयोंके आत्मस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है ॥

धर्मे तपसि दाने च विचिकित्सास्य जायते।
स कृत्वा पापकान्येव निरयं प्रतिपद्यते ॥ ३० ॥

जिसे धर्म, तपस्या और दानमें संशय उत्पन्न हो जाता है, वह पापकर्म करके नरकमें पड़ता है ॥ ३० ॥

सुखे तु वर्तमानो वै दुःखे वापि नरोत्तम।
सुवृत्ताद् यो न चलते शास्त्रचक्षुः स मानवः ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ ! मनुष्य सुखमें हो या दुःखमें, जो सदाचारसे कभी विचलित नहीं होता, वही शास्त्रका ज्ञाता है ॥ ३१ ॥

इषुप्रपातमात्रं हि स्पर्शयोगे रतिः स्मृता।
रसने दर्शने घ्राणे श्रवणे च विशाम्पते ॥ ३२ ॥

प्रजानाथ ! बाणको धनुषसे छूटकर पृथ्वीपर गिरनेमें जितनी देर लगती है, उतना ही समय स्पर्शेन्द्रिय, रसना, नेत्र, नासिका और कानके विषयोंका सुख अनुभव करनेमें लगता है अर्थात् विषयोंका सुख क्षणिक है ॥ ३२ ॥

ततोऽस्य जायते तीव्रा वेदना तत्क्षयात् पुनः।
अबुधा न प्रशंसन्ति मोक्षं सुखमनुत्तमम् ॥ ३३ ॥

फिर वह सुख जब नष्ट हो जाता है, तब उसके लिये मनमें बड़ी वेदना होती है। इतनेपर भी अज्ञानी पुरुष (विषयोंमें ही लिप्त रहते हैं, वे) सर्वोत्तम मोक्ष-सुखकी प्रशंसा नहीं करते हैं अर्थात् उसे नहीं चाहते ॥ ३३ ॥

ततः फलार्थं सर्वस्य भवन्ति ज्यायसे गुणाः।
धर्मवृत्त्या च सततं कामार्थाभ्यां न हीयते ॥ ३४ ॥

अतः प्रत्येक विवेकी पुरुषके मनमें श्रेष्ठ मोक्षफलकी प्राप्ति करानेके लिये शम-दम आदि गुणोंकी उत्पत्ति होती है। निरन्तर धर्मका पालन करनेसे मनुष्य कभी धन और भोगोंसे वञ्चित नहीं रहता ॥ ३४ ॥

अप्रयत्नागताः सेव्या गृहस्थैर्विषयाः सदा।
प्रयत्नेनोपगम्यश्च स्वधर्म इति मे मतिः ॥ ३५ ॥

इसलिये गृहस्थ पुरुषको सदा बिना प्रयत्न अपने-आप प्राप्त हुए विषयोंका ही सेवन करना चाहिये और प्रयत्न करके तो अपने धर्मका ही पालन करना चाहिये। यही मेरा मत है ॥

मानिनां कुलजातानां नित्यं शास्त्रार्थचक्षुषाम्।
क्रियाधर्मविमुक्तानामशक्त्या संवृतात्मनाम् ॥ ३६ ॥
क्रियमाणं यदा कर्म नाशं गच्छति मानुषम्।
तेषां नान्यदृते लोके तपसः कर्म विद्यते ॥ ३७ ॥

जब उत्तम कुलमें उत्पन्न, सम्मानित तथा शास्त्रके अर्थको जाननेवाले पुरुषोंका और असमर्थताके कारण कर्म-धर्मसे रहित एवं आत्मतत्त्वसे अनभिज्ञ मनुष्योंका भी किया हुआ लौकिक कर्म नष्ट हो ही जाता है, तब यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत्में उनके लिये तपके सिवा दूसरा कोई सत्कर्म नहीं है ॥ ३६-३७ ॥

सर्वात्मनानुकुर्वीत गृहस्थः कर्मनिश्चयम्।
दाक्ष्येण हव्यकव्यार्थं स्वधर्मं विचरन् नृप ॥ ३८ ॥

नरेश्वर ! गृहस्थको सर्वथा अपने कर्तव्यका निश्चय करके स्वधर्मका पालन करते हुए कुशलतापूर्वक यज्ञ तथा श्राद्ध आदि कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३८ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ३९ ॥

जैसे सम्पूर्ण नदियाँ और नद समुद्रमें जाकर मिलते हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रम गृहस्थका ही सहारा लेते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९५ ॥

षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—वर्णविशेषकी उत्पत्तिका रहस्य, तपोबलसे उत्कृष्ट वर्णकी प्राप्ति, विभिन्न वर्णोंके विशेष और सामान्य धर्म, सत्कर्मकी श्रेष्ठता तथा हिंसारहित धर्मका वर्णन

जनक उवाच

वर्णो विशेषवर्णानां महर्षे केन जायते।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥

जनकने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! ब्राह्मण आदि विशेष-विशेष वर्णोंका जो वर्ण है, वह कैसे उत्पन्न होता है? यह मैं जानना चाहता हूँ। आप इस विषयको बतायें ॥ १ ॥

यदेतज्जायतेऽपत्यं स एवायमिति श्रुतिः।
कथं ब्राह्मणतो जातो विशेषग्रहणं गतः ॥ २ ॥

श्रुति कहती है कि जिससे यह संतान उत्पन्न होती है, तद्रूप ही समझी जाती है। अर्थात् संततिके रूपमें जन्मदाता पिता ही नूतन जन्म धारण करता है। ऐसी दशामें प्रारम्भमें ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे ही सबका जन्म हुआ है, तब उनकी क्षत्रिय आदि विशेष संज्ञा कैसे हो गयी? ॥ २ ॥

पराशर उवाच

एवमेतन्महाराज येन जातः स एव सः।
तपसस्त्वपकर्षेण जातिग्रहणतां गतः ॥ ३ ॥

पराशरजीने कहा—महाराज! यह ठीक है कि जिससे जो जन्म लेता है, उसीका वह स्वरूप होता है तथापि तपस्याकी न्यूनताके कारण लोग निकृष्ट जातिको प्राप्त हो गये हैं ॥ ३ ॥

सुक्षेत्राच्च सुबीजाच्च पुण्यो भवति सम्भवः।
अतोऽन्यतरतो हीनादवरो नाम जायते ॥ ४ ॥

उत्तम क्षेत्र और उत्तम बीजसे जो जन्म होता है, वह पवित्र ही होता है। यदि क्षेत्र और बीजमेंसे एक भी निम्नकोटिका हो तो उससे निम्न संतानकी ही उत्पत्ति होती है॥

वक्त्राद् भुजाभ्यामूरुभ्यां पद्भ्यां चैवाथ जज्ञिरे।
सृजतः प्रजापतेर्लोकानिति धर्मविदो विदुः ॥ ५ ॥

धर्मज्ञ पुरुष यह जानते हैं कि प्रजापति ब्रह्माजी जब मानव-जगत्‌की सृष्टि करने लगे, उस समय उनके मुख, भुजा, ऊरु और पैर—इन अङ्गोंसे मनुष्योंका प्रादुर्भाव हुआ था॥

मुखजा ब्राह्मणास्तात बाहुजाः क्षत्रियाः स्मृताः।
ऊरुजा धनिनो राजन् पादजाः परिचारकाः ॥ ६ ॥

तात! जो मुखसे उत्पन्न हुए, वे ब्राह्मण कहलाये। दोनों भुजाओंसे उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंको क्षत्रिय माना गया। राजन्! जो ऊरुओं (जाँघों) से उत्पन्न हुए, वे धनवान् (वैश्य) कहे गये; जिनकी उत्पत्ति चरणोंसे हुई, वे सेवक या शूद्र कहलाये ॥ ६ ॥

चतुर्णामेव वर्णानामागमः पुरुषर्षभ।
अतोऽन्ये त्वतिरिक्ता ये ते वै संकरजाः स्मृताः ॥ ७ ॥

पुरुषप्रवर! इस प्रकार ब्रह्माजीके चार अङ्गोंसे चार वर्णोंकी ही उत्पत्ति हुई। इनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे मनुष्य हैं, वे इन्हीं चार वर्णोंके सम्मिश्रणसे उत्पन्न होनेके कारण वर्णसंकर कहलाते हैं ॥ ७ ॥

क्षत्रियातिरथाम्बष्ठा उग्रा वैदेहकास्तथा।
श्वपाकाः पुल्कसाः स्तेना निषादाः सूतमागधाः ॥ ८ ॥
अयोगाः करणा व्रात्याश्चाण्डालाश्च नराधिप।
एते चतुर्भ्यो वर्णेभ्यो जायन्ते वै परस्परात् ॥ ९ ॥

नरेश्वर! क्षत्रिय, अतिरथ, अम्बष्ठ, उग्र, वैदेह, श्वपाक, पुल्कस, स्तेन, निषाद, सूत, मागध, अयोग, करण, व्रात्य और चाण्डाल—ये ब्राह्मण आदि चार वर्णोंसे अनुलोम और विलोम वर्णकी स्त्रियोंके साथ परस्पर संयोग होनेसे उत्पन्न होते हैं ॥ ८-९ ॥

जनक उवाच

ब्रह्मणैकेन जातानां नानात्वं गोत्रतः कथम्।
बहूनीह हि लोके वै गोत्राणि मुनिसत्तम ॥ १० ॥

जनकने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! जब सबको एकमात्र ब्रह्माजीने ही जन्म दिया है, तब मनुष्योंके भिन्न-भिन्न गोत्र कैसे हुए? इस जगत्‌में मनुष्योंके बहुत-से गोत्र सुने जाते हैं॥

यत्र तत्र कथं जाताः स्वयोनिं मुनयो गताः।
शुद्धयोनौ समुत्पन्ना वियोनौ च तथा परे ॥ ११ ॥

ऋषि-मुनि जहाँ-तहाँ जन्म ग्रहण करके अर्थात् जो शुद्ध योनिमें और दूसरे जो विपरीत योनिमें उत्पन्न हुए हैं, वे सब ब्राह्मणत्वको कैसे प्राप्त हुए? ॥ ११ ॥

पराशर उवाच

राजन्नेतद् भवेद् ग्राह्यमपकृष्टेन जन्मना।
महात्मनां समुत्पत्तिस्तपसा भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥

पराशरजीने कहा—राजन्! तपस्यासे जिनके अन्तःकरण शुद्ध हो गये हैं, उन महात्मा पुरुषोंके द्वारा जिस संतानकी उत्पत्ति होती है, अथवा वे स्वेच्छासे जहाँ-कहीं भी जन्म ग्रहण करते हैं, वह क्षेत्रकी दृष्टिसे निकृष्ट होनेपर भी उसे उत्कृष्ट ही मानना चाहिये ॥ १२ ॥

उत्पाद्य पुत्रान् मुनयो नृपते यत्र तत्र ह।
स्वेनैव तपसा तेषामृषित्वं विदधुः पुनः ॥ १३ ॥

नरेश्वर! मुनियोंने जहाँ-तहाँ कितने ही पुत्र उत्पन्न

करके उन सबको अपने ही तपोबलसे ऋषि बना दिया ॥

पितामहश्च मे पूर्वमृष्यश्रृङ्गश्च काश्यपः ।
वेदस्ताण्ड्यः कृपश्चैव कक्षीवान् कमठादयः ॥ १४ ॥
यवक्रीतश्च नृपते द्रोणश्च वदतां वरः ।
आयुर्मतङ्गो दत्तश्च द्रुपदो मत्स्य एव च ॥ १५ ॥
एते स्वां प्रकृतिं प्राप्ता वैदेह तपसोऽऽश्रयात् ।
प्रतिष्ठिता वेदविदो दमेन तपसैव हि ॥ १६ ॥

विदेहराज ! मेरे पितामह वसिष्ठजी, काश्यप-गोत्रीय ऋष्यश्रृङ्ग, वेद, ताण्ड्य, कृप, कक्षीवान्, कमठ आदि, यवक्रीत, वक्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोण, आयु, मतङ्ग, दत्त, द्रुपद तथा मत्स्य—ये सब तपस्याका आश्रय लेनेसे ही अपनी-अपनी प्रकृतिको प्राप्त हुए थे । इन्द्रियसंयम और तपसे ही वे वेदोंके विद्वान् तथा समाजमें प्रतिष्ठित हुए थे ॥ १४–१६ ॥

मूलगोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि पार्थिव ।
अङ्गिराः कश्यपश्चैव वसिष्ठो भृगुरेव च ॥ १७ ॥
कर्मतोऽन्यानि गोत्राणि समुत्पन्नानि पार्थिव ।
नामधेयानि तपसा तानि च ग्रहणं सताम् ॥ १८ ॥

पृथ्वीनाथ ! पहले अङ्गिरा, कश्यप, वसिष्ठ और भृगु—ये ही चार मूल गोत्र प्रकट हुए थे । अन्य गोत्र कर्मके अनुसार पीछे उत्पन्न हुए हैं । वे गोत्र और उनके नाम उन गोत्र-प्रवर्तक महर्षियोंकी तपस्यासे ही साधुसमाजमें सुविख्यात एवं सम्मानित हुए हैं ॥ १७-१८ ॥

जनक उवाच

विशेषधर्मान् वर्णानां प्रब्रूहि भगवन् मम ।
ततः सामान्यधर्मांश्च सर्वत्र कुशलो ह्यसि ॥ १९ ॥

जनकने पूछा—भगवन् ! आप मुझे सब वर्णोंके विशेष धर्म बताइये, फिर सामान्य धर्मोंका भी वर्णन कीजिये; क्योंकि आप सब विषयोंका प्रतिपादन करनेमें कुशल हैं ॥ १९ ॥

पराशर उवाच

प्रतिग्रहो याजनं च तथैवाध्यापनं नृप ।
विशेषधर्मो विप्राणां रक्षा क्षत्रस्य शोभना ॥ २० ॥

पराशरजीने कहा—राजन् ! दान लेना, यज्ञ कराना तथा विद्या पढ़ाना—ये ब्राह्मणोंके विशेष धर्म हैं (जो उनकी जीविकाके साधन हैं) । प्रजाकी रक्षा करना क्षत्रियके लिये श्रेष्ठ धर्म है ॥ २० ॥

कृषिश्च पाशुपाल्यं च वाणिज्यं च विशामपि ।
द्विजानां परिचर्या च शूद्रकर्म नराधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! कृषि, पशुपालन और व्यापार—ये वैश्योंके कर्म हैं तथा द्विजातियोंकी सेवा शूद्रका धर्म है ॥ २१ ॥

विशेषधर्मा नृपते वर्णानां परिकीर्तिताः ।
धर्मान् साधारणांस्तात विस्तरेण श्रृणुष्व मे ॥ २२ ॥

महाराज ! ये वर्णोंके विशेष धर्म बताये गये हैं । तात ! अब उनके साधारण धर्मोंका विस्तारपूर्वक वर्णन मुझसे सुनो ॥

आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता ।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥ २३ ॥
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता ।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप ॥ २४ ॥

क्रूरताका अभाव (दया), अहिंसा, अप्रमाद (साव-धानी), देवता-पितर आदिको उनके भाग समर्पित करना अथवा दान देना, श्राद्धकर्म, अतिथिसत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी ही पत्नीमें संतुष्ट रहना, पवित्रता रखना, कभी किसीके दोष न देखना, आत्मज्ञान तथा सहनशीलता—ये सभी वर्णोंके सामान्य धर्म हैं ॥ २३-२४ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
अत्र तेषामधीकारो धर्मेषु द्विपदां वर ॥ २५ ॥

नरश्रेष्ठ ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीन वर्ण द्विजाति कहलाते हैं । उपर्युक्त धर्मोंमें इन्हींका अधिकार है ॥

विकर्मावस्थिता वर्णाः पतन्ते नृपते त्रयः ।
उन्नमन्ति यथासन्तमाश्रित्येह स्वकर्मसु ॥ २६ ॥

नरेश्वर ! ये तीन वर्ण विपरीत कर्मोंमें प्रवृत्त होनेपर पतित हो जाते हैं । सत्पुरुषोंका आश्रय ले अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहनेसे जैसे इनकी उन्नति होती है, वैसे ही विपरीत कर्मोंके आचरणसे पतन भी हो जाता है ॥ २६ ॥

न चापि शूद्रः पततीति निश्चयो
न चापि संस्कारमिहार्हतीति वा ।
श्रुतिप्रवृत्तं न च धर्ममाप्नुते
न चास्य धर्मे प्रतिषेधनं कृतम् ॥ २७ ॥

यह निश्चय है कि शूद्र पतित नहीं होता तथा वह उपनयन आदि संस्कारका भी अधिकारी नहीं है । उसे वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्मोंके अनुष्ठानका भी अधिकार नहीं प्राप्त है; परंतु उपर्युक्त सामान्य धर्मोंका उसके लिये निषेध भी नहीं किया गया है ॥ २७ ॥

वैदेहकं शूद्रमुदाहरन्ति
द्विजा महाराज श्रुतोपपन्नाः ।
अहं हि पश्यामि नरेन्द्र देवं
विश्वस्य विष्णुं जगतः प्रधानम् ॥ २८ ॥

महाराज विदेहनरेश ! वेद-शास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न द्विज शूद्रको प्रजापतिके तुल्य बताते हैं (क्योंकि वह परिचर्या-द्वारा समस्त प्रजाका पालन करता है); परंतु नरेन्द्र ! मैं तो उसे सम्पूर्ण जगत्के प्रधान रक्षक भगवान् विष्णुके रूपमें देखता हूँ (क्योंकि पालन कर्म विष्णुका ही है और वह अपने उस कर्मद्वारा पालनकर्ता श्रीहरिकी आराधना करके उन्हींको प्राप्त होता है) ॥ २८ ॥

सतां वृत्तमधिष्ठाय निहीना उद्दिधीर्षवः ।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति कुर्वाणाः पौष्टिकीः क्रियाः ॥ २९ ॥

हीनवर्णके मनुष्य (शूद्र) यदि अपना उद्धार करना

चाहें तो सदाचारका पालन करते हुए आत्माको उन्नत बनानेवाली समस्त क्रियाओंका अनुष्ठान करें; परंतु वैदिक मन्त्रका उच्चारण न करें। ऐसा करनेसे वे दोषके भागी नहीं होते हैं ॥ २९ ॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमालम्बन्तीतरे जनाः।
तथा तथा सुखं प्राप्य प्रेत्य चेह च मोदते ॥ ३० ॥

इतर जातीय मनुष्य भी जैसे-जैसे सदाचारका आश्रय लेते हैं, वैसे-ही-वैसे सुख पाकर इहलोक और परलोकमें भी आनन्द भोगते हैं ॥ ३० ॥

जनक उवाच

किं कर्म दूषयत्येनमथो जातिर्महामुने।
संदेहो मे समुत्पन्नस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३१ ॥

जनकने पूछा—महामुने! मनुष्यको उसके कर्म दूषित करते हैं या जाति? मेरे मनमें यह संदेह उत्पन्न हुआ है, आप इसका विवेचन कीजिये ॥ ३१ ॥

पराशर उवाच

असंशयं महाराज उभयं दोषकारकम्।
कर्म चैव हि जातिश्च विशेषं तु निशामय ॥ ३२ ॥

पराशरजीने कहा—महाराज! इसमें संदेह नहीं कि कर्म और जाति दोनों ही दोषकारक होते हैं; परंतु इसमें जो विशेष बात है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ३२ ॥

जात्या च कर्मणा चैव दुष्टं कर्म न सेवते।
जात्या दुष्टश्च यः पापं न करोति स पूरुषः ॥ ३३ ॥

जो जाति और कर्म—इन दोनोंसे श्रेष्ठ तथा पापकर्मका सेवन नहीं करता एवं जातिसे दूषित होकर भी जो पापकर्म नहीं करता है, वही पुरुष कहलाने योग्य है ॥ ३३ ॥

जात्या प्रधानं पुरुषं कुर्वाणं कर्म धिक्कृतम्।
कर्म तद् दूषयत्येनं तस्मात् कर्म न शोभनम् ॥ ३४ ॥

जातिसे श्रेष्ठ पुरुष भी यदि निन्दित कर्म करता है तो वह कर्म उसे कलङ्कित कर देता है; इसलिये किसी भी दृष्टिसे बुरा कर्म करना अच्छा नहीं है ॥ ३४ ॥

जनक उवाच

कानि कर्माणि धर्म्याणि लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम।
न हिंसन्तीह भूतानि क्रियमाणानि सर्वदा ॥ ३५ ॥

जनकने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! इस लोकमें कौन-कौन-से ऐसे धर्मानुकूल कर्म हैं, जिनका अनुष्ठान करते समय कभी किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं होती? ॥ ३५ ॥

पराशर उवाच

शृणु मेऽत्र महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
यानि कर्माण्यहिंस्राणि नरं त्रायन्ति सर्वदा ॥ ३६ ॥

पराशरजीने कहा—महाराज! तुम जिन कर्मोंके विषयमें पूछ रहे हो, उन्हें बताता हूँ, मुझसे सुनो। जो कर्म हिंसासे रहित हैं, वे सदा मनुष्यकी रक्षा करते हैं ॥ ३६ ॥

संन्यस्याग्नीनुदासीनाः पश्यन्ति विगतज्वराः।
नैःश्रेयसं कर्मपथं समारुह्य यथाक्रमम् ॥ ३७ ॥
प्रश्रिता विनयोपेता दमनित्याः सुसंशिताः।
प्रयान्ति स्थानमजरं सर्वकर्मविवर्जिताः ॥ ३८ ॥

जो लोग (संन्यासकी दीक्षा ले) अग्निहोत्रका त्याग करके उदासीनभावसे सब कुछ देखते रहते हैं और सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित हो क्रमशः कल्याणकारी कर्मके पथपर आरूढ़ होकर नम्रता, विनय और इन्द्रियसंयम आदि गुणोंको अपनाते तथा तीक्ष्ण व्रतका पालन करते हैं, वे सब कर्मोंसे रहित हो अविनाशी पदको प्राप्त कर लेते हैं ॥

सर्वे वर्णा धर्मकार्याणि सम्यक्
कृत्वा राजन् सत्यवाक्यानि चोक्त्वा।
त्यक्त्वाधर्मं दारुणं जीवलोके
यान्ति स्वर्गं नात्र कार्यो विचारः ॥ ३९ ॥

राजन्! सभी वर्णोंके लोग इस जीव-जगत्‌में अपने-अपने धर्मानुसार कर्मका भलीभाँति अनुष्ठान करके, सदा सत्य बोलकर तथा भयानक पापकर्मका सर्वथा परित्याग करके स्वर्गलोकमें जाते हैं। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९६ ॥

सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—नाना प्रकारके धर्म और कर्तव्योंका उपदेश

पराशर उवाच

पिता सखायो गुरवः स्त्रियश्च
न निर्गुणानां हि भवन्ति लोके।
अनन्यभक्ताः प्रियवादिनश्च
हिताश्च वश्याश्च भवन्ति राजन् ॥ १ ॥

राजन्! संसारमें पिता, सखा, गुरुजन और स्त्रियाँ—ये कोई भी उसके नहीं होते, जो सर्वथा गुणहीन हैं; किंतु जो प्रभुके अनन्य भक्त, प्रियवादी, हितैषी और इन्द्रियविजयी हैं, वे ही उसके होते हैं अर्थात् उसका त्याग नहीं करते ॥ १ ॥

पिता परं दैवतं मानवानां
मातुर्विशिष्टं पितरं वदन्ति।

ज्ञानस्य लाभं परमं वदन्ति
जितेन्द्रियार्थाः परमाप्नुवन्ति ॥ २ ॥

पिता मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ देवता है। कोई-कोई पिताको मातासे भी बढ़कर बताते हैं। श्रेष्ठ पुरुष ज्ञानके लाभको ही परम लाभ कहते हैं। जिन्होंने श्रोत्र आदि इन्द्रियों और शब्द आदि विषयोंपर विजय पा ली है, वे परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

रणाजिरे यत्र शराग्निसंस्तरे
नृपात्मजो घातमवाप्य दह्यते।
प्रयाति लोकानमरैः सुदुर्लभान्
निषेवते स्वर्गफलं यथासुखम् ॥ ३ ॥

क्षत्रियका पुत्र यदि समराङ्गणमें घायल होकर बाणोंकी चितापर दग्ध होता है तो वह देवदुर्लभ लोकोंमें जाता और वहाँ आनन्दपूर्वक स्वर्गीय-सुख भोगता है ॥ ३ ॥

श्रान्तं भीतं भ्रष्टशस्त्रं रुदन्तं
पराङ्मुखं पारिबर्हैश्च हीनम्।
अनुद्यन्तं रोगिणं याचमानं
न वै हिंस्याद् बालवृद्धौ च राजन्॥ ४ ॥

राजन् ! जो युद्धमें थका हुआ हो, भयभीत हो, जिसने हथियार नीचे डाल दिया हो, जो रोता हो, पीठ दिखाकर भाग रहा हो, जिसके पास युद्धका कोई भी सामान न रह गया हो, जो युद्धविषयक उद्यम छोड़ चुका हो, रोगी हो और प्राणोंकी भीख माँगता हो तथा जो अवस्थामें बालक या वृद्ध हो, ऐसे शत्रुका वध नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

पारिबर्हैः सुसंयुक्तमुद्यतं तुल्यतां गतम्।
अतिक्रमेत् तं नृपतिः संग्रामे क्षत्रियात्मजम्॥ ५ ॥

किंतु जिसके पास युद्धका सामान हो, जो युद्धके लिये तैयार हो और अपने बराबरका हो, संग्रामभूमिमें उस क्षत्रिय-कुमारको राजा अवश्य जीतनेका प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

तुल्यादिह वधः श्रेयान् विशिष्टाच्चेति निश्चयः।
निहीनात् कातराच्चैव कृपणाद् गर्हितो वधः ॥ ६ ॥

अपने समान या अपनी अपेक्षा बड़े वीरके हाथसे वध होना श्रेष्ठ है, ऐसा युद्ध-शास्त्रके ज्ञाताओंका निश्चय है। अपनेसे हीन, कातर तथा दीन पुरुषके हाथसे होनेवाली मृत्यु निन्दित है ॥ ६ ॥

पापात् पापसमाचारान्निहीनाच्च नराधिप।
पाप एव वधः प्रोक्तो नरकायेति निश्चयः ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! पापी, पापाचारी और हीन मनुष्यके हाथसे जो वध होता है, वह पापरूप ही बताया गया है तथा वह नरकमें गिरानेवाला है, यही शास्त्रका निश्चय है ॥ ७ ॥

न कश्चित् त्राति वै राजन् दिष्टान्तवशमागतम्।
सावशेषायुषं चापि कश्चिन्नैवापकर्षति ॥ ८ ॥

राजन् ! मृत्युके वशमें पड़े हुए प्राणीको कोई बचा नहीं सकता और जिसकी आयु शेष है, उसे कोई मार भी नहीं सकता ॥ ८ ॥

स्निग्धैश्च क्रियमाणानि कर्माणीह निवर्तयेत्।
हिंसात्मकानि सर्वाणि नायुरिच्छेत् परायुषा ॥ ९ ॥

मनुष्यको चाहिये कि उसके प्रियजन यदि कोई हिंसात्मक कर्म उसके लिये करते हों तो वह उन सब कर्मोंको रोक दे। दूसरेकी आयुसे अपनी आयु बढ़ानेकी अर्थात् दूसरोंके प्राण लेकर अपने प्राण बचानेकी इच्छा न करे ॥ ९ ॥

गृहस्थानां तु सर्वेषां विनाशमभिकाङ्क्षताम्।
निधनं शोभनं तात पुलिनेषु क्रियावताम् ॥ १० ॥

तात ! मरनेकी इच्छावाले समस्त गृहस्थोंके लिये तो वही मृत्यु सबसे उत्तम मानी गयी है, जो गङ्गादि पवित्र नदियोंके तटोंपर शुभकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए प्राप्त हो ॥ १० ॥

आयुषि क्षयमापन्ने पञ्चत्वमुपगच्छति।
तथा ह्यकारणाद् भवति कारणैरुपपादितम् ॥ ११ ॥

जब आयु समाप्त हो जाती है तभी देहधारी जीव पञ्चत्वको प्राप्त होता है। यह बिना कारणके भी हो जाता है और कभी विभिन्न कारणोंसे उपपादित होता है ॥ ११ ॥

तथा शरीरं भवति देहाद् येनोपपादितम्।
अध्वानं गतकश्चायं प्राप्तश्चायं गृहाद् गृहम् ॥ १२ ॥

जो लोग देहको पाकर हठपूर्वक उसका परित्याग कर देते हैं, उनको पूर्ववत् ही यातनामय शरीरकी प्राप्ति होती है। ऐसे लोग (मोक्षके साधनरूप मनुष्यशरीरको पाकर भी आत्महत्याके कारण उस लाभसे वञ्चित हो) एक घरसे दूसरे घरमें जानेवाले मनुष्यके समान एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

द्वितीयं कारणं तत्र नान्यत् किंचन विद्यते।
तद् देहं देहिनां युक्तं पञ्चभूतेषु वर्तते ॥ १३ ॥

इनकी उस अवस्थाके प्राप्त होनेमें आत्महत्यारूप पापके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं है। उन प्राणियोंको उस शरीरका मिलना उचित ही है, जो कि पञ्चभूतमय है ॥ १३ ॥

शिरास्नाय्वस्थिसंघातं बीभत्सामेध्यसंकुलम्।
भूतानामिन्द्रियाणां च गुणानां च समागमम् ॥ १४ ॥

यह शरीर नस, नाड़ी और हड्डियोंका समूह है। घृणित और अपवित्र मल-मूत्र आदिसे भरा हुआ है। पञ्चमहाभूतों, श्रोत्र आदि इन्द्रियों तथा गुणों (वासनामय विषयों) का समुदाय है ॥ १४ ॥

त्वगन्तं देहमित्याहुर्विद्वांसोऽध्यात्मचिन्तकाः।
गुणैरपि परिक्षीणं शरीरं मर्त्यतां गतम् ॥ १५ ॥

अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि इस शरीरके अन्तमें अर्थात् बाह्यभागमें त्वचा (चमड़ा)

मात्र है। यह सौन्दर्य आदि गुणोंसे भी रहित है। इसकी मृत्यु अनिवार्य है ॥ १५ ॥

शरीरिणा परित्यक्तं निश्चेष्टं गतचेतनम्।
भूतैः प्रकृतिमापन्नैस्ततो भूमौ निमज्जति ॥ १६ ॥

जब जीवात्मा इस देहका परित्याग कर देता है, तब यह देह निश्चेष्ट और चेतनाशून्य हो जाती है। एवं इसके पाँच भूत अपनी-अपनी प्रकृतिके साथ मिल जाते हैं। फिर तो यह पृथ्वीमें निमग्न हो जाती है ॥ १६ ॥

भावितं कर्मयोगेन जायते तत्र तत्र ह।
इदं शरीरं वैदेह म्रियते यत्र यत्र ह।
तत्स्वभावोऽपरो दृष्टो विसर्गः कर्मणस्तथा ॥ १७ ॥

विदेहराज ! यह शरीर जिस किसी स्थानमें मृत्युको प्राप्त हो जाता है; फिर प्रारब्धकर्मके योगसे भावित होकर जहाँ-कहीं भी जन्म ले लेता है। कर्मोंका फलस्वरूप यह स्वभावसिद्ध पुनर्जन्म देखा गया है ॥ १७ ॥

न जायते तु नृपते कंचित् कालमयं पुनः।
परिभ्रमति भूतात्मा द्यामिवाम्बुधरो महान् ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! जैसे विशाल मेघ आकाशमें सब ओर भ्रमण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा प्रारब्ध-कर्मके फलसे कुछ कालतक घूमता रहता है, जन्म नहीं लेता है ॥ १८ ॥

स पुनर्जायते राजन् प्राप्येहायतनं नृप।
मनसः परमो ह्यात्मा इन्द्रियेभ्यः परं मनः ॥ १९ ॥

राजन् ! वही यहाँ फिर कोई आधार पाकर पुनः जन्म लेता है। मनसे आत्मा श्रेष्ठ है और इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है ॥

विविधानां च भूतानां जङ्गमाः परमा नृप।
जङ्गमानामपि तथा द्विपदाः परमा मताः ॥ २० ॥

महाराज ! संसारके विविध प्राणियोंमें चलने-फिरनेवाले जीव श्रेष्ठ माने गये हैं। इन जङ्गम प्राणियोंमें भी दो पैरवाले जीव (मनुष्य) श्रेष्ठ कहे गये हैं ॥ २० ॥

द्विपदानामपि तथा द्विजा वै परमाः स्मृताः।
द्विजानामपि राजेन्द्र प्रज्ञावन्तः परा मताः।
प्राज्ञानामात्मसम्बुद्धाः सम्बुद्धानाममानिनः ॥ २१ ॥

मनुष्योंमें भी द्विज श्रेष्ठ कहे गये हैं। राजेन्द्र ! द्विजोंमें बुद्धिमान् और बुद्धिमानोंमें भी आत्मज्ञानी श्रेष्ठ समझे जाते हैं। उनमें भी जो अहङ्काररहित हैं, उन्हें सर्वश्रेष्ठ माना गया है ॥ २१ ॥

जातमन्वेति मरणं नृणामिति विनिश्चयः।
अन्तवन्ति हि कर्माणि सेवन्ते गुणतः प्रजाः ॥ २२ ॥

जन्मके साथ ही मृत्यु मनुष्योंके पीछे लगी रहती है। यह विद्वानोंका निश्चय है। समस्त प्रजा सत्त्व आदि गुणोंसे प्रेरित होकर विनाशशील कर्मोंका आचरण करती है ॥ २२ ॥

आपन्ने तूत्तरां काष्ठां सूर्ये यो निधनं व्रजेत्।
नक्षत्रे च मुहूर्ते च पुण्ये राजन् स पुण्यकृत् ॥ २३ ॥

राजन् ! जो सूर्यके उत्तरायण होनेपर उत्तम नक्षत्र और पवित्र मुहूर्तमें मृत्युको प्राप्त होता है, वह पुण्यात्मा है ॥ २३ ॥

अयोजयित्वा क्लेशेन जनं प्लाव्य च दुष्कृतम्।
मृत्युनाऽऽत्मकृतेनेह कर्म कृत्वाऽऽत्मशक्तिभिः ॥ २४ ॥

वह किसीको भी कष्ट न देकर प्रायश्चित्तके द्वारा अपने पापको नष्ट कर डालता है और अपनी शक्तिके अनुसार शुभकर्म करके स्वेच्छासे मृत्युको अङ्गीकार करता है ॥ २४ ॥

विषमुद्बन्धनं दाहो दस्युहस्तात् तथा वधः।
दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च प्राकृतो वध उच्यते ॥ २५ ॥

किंतु विष खा लेनेसे, गलेमें फाँसी लगानेसे, आगमें जलनेसे, लुटेरोंके हाथसे तथा दाढ़वाले पशुओंके आघातसे जो वध होता है, वह अधम श्रेणीका माना जाता है ॥ २५ ॥

न चैभिः पुण्यकर्माणो युज्यन्ते चाभिसंधिजैः।
एवंविधैश्च बहुभिरपरैः प्राकृतैरपि ॥ २६ ॥

पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्य इस तरहके उपायोंसे प्राण नहीं देते तथा ऐसे-ऐसे दूसरे अधम उपायोंसे भी उनकी मृत्यु नहीं होती ॥ २६ ॥

ऊर्ध्वं भित्त्वा प्रतिष्ठन्ते प्राणाः पुण्यवतां नृप।
मध्यतो मध्यपुण्यानामधो दुष्कृतकर्मणाम् ॥ २७ ॥

राजन् ! पुण्यात्मा पुरुषोंके प्राण ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर निकलते हैं। जिनके पुण्यकर्म मध्यम श्रेणीके हैं, उनके प्राण मध्यद्वार (मुख, नेत्र आदि) से बाहर होते हैं तथा जिन्होंने केवल पाप ही किया है, उनके प्राण नीचेके छिद्र (गुदा या शिश्नद्वार) से निकलते हैं ॥ २७ ॥

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रु-
रज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्।
येनावृतः कुरुते सम्प्रयुक्तो
घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ॥ २८ ॥

राजन् ! पुरुषका एक ही शत्रु है, उसके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है। वह है अज्ञान, जिससे आवृत और प्रेरित होकर मनुष्य अत्यन्त घोर और क्रूरतापूर्ण कर्म करने लगता है ॥ २८ ॥

प्रबाधनार्थं श्रुतिधर्मयुक्तान्
वृद्धानुपास्य प्रभवेत यस्य।
प्रयत्नसाध्यो हि स राजपुत्र
प्रज्ञाशरेणोन्मथितः परैति ॥ २९ ॥

राजकुमार ! उस शत्रुको पराजित करनेमें वही समर्थ हो सकता है, जो वेदोक्त धर्मसम्पन्न वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करके प्रज्ञा (स्थिरबुद्धि) को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि अज्ञानमय शत्रुको जीतना महान् प्रयत्नसाध्य कर्म है। वह प्रज्ञारूपी बाणकी चोट खाकर ही नष्ट होता है ॥ २९ ॥

अधीत्य वेदं तपसा ब्रह्मचारी
यज्ञाञ्शक्त्या संनिगृह्येह पञ्च।
वनं गच्छेत् पुरुषो धर्मकामः
श्रेयः स्थित्वा स्थापयित्वा स्ववंशम्॥ ३०॥

द्विजको पहले ब्रह्मचर्य-आश्रममें रहकर तपस्यापूर्वक वेदोंका अध्ययन करना चाहिये; फिर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके अपनी शक्तिके अनुसार इन्द्रियसंयमपूर्वक पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये। तत्पश्चात् अपने पुत्रको घर-बारकी रक्षामें नियुक्त करके कल्याणमार्गमें स्थित हो केवल धर्म-पालनकी इच्छा रखकर उसे वनको प्रस्थान करना चाहिये॥

उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः।
चण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम्॥ ३१॥

तात! उपभोगके साधनोंसे वञ्चित होनेपर भी मनुष्य अपने-आपको हीन न समझे। चाण्डालकी योनिमें भी यदि मनुष्य-जन्म प्राप्त हो तो वह मानवेतर प्राणियोंकी अपेक्षा सर्वथा उत्तम है॥ ३१॥

इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः॥ ३२॥

क्योंकि पृथ्वीनाथ! मनुष्यकी योनि ही वह अद्वितीय योनि है, जिसे पाकर शुभकर्मोंके अनुष्ठानसे आत्माका उद्धार किया जा सकता है॥ ३२॥

कथं न विप्रणश्येम योनितोऽस्या इति प्रभो।
कुर्वन्ति धर्मं मनुजाः श्रुतिप्रामाण्यदर्शनात्॥ ३३॥

'प्रभो! हम कौन ऐसा उपाय करें, जिससे हमें इस मनुष्य-योनिसे नीचे न गिरना पड़े' यह सोचकर और वैदिक प्रमाणोंपर विचार करके मनुष्य धर्मका अनुष्ठान करते हैं॥

यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः।
धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत्स खलु वञ्च्यते॥ ३४॥

जो मानव अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर भी दूसरोंसे द्वेष करता है और धर्मका अनादर करता है तथा मनसे कामनाओंमें आसक्त हो जाता है, वह महान् लाभसे वञ्चित होता है॥ ३४॥

यस्तु प्रीतिपुरोगेन चक्षुषा तात पश्यति।
दीपोपमानि भूतानि यावदर्थान्न पश्यति॥ ३५॥

तात! जो समस्त प्राणियोंको दीपकके समान स्नेहसे संवर्धन करनेयोग्य मानता है और उन्हें स्नेहभरी दृष्टिसे देखता है एवं जो समस्त विषयोंकी ओर कभी दृष्टिपात नहीं करता, वह परलोकमें सम्मानित होता है॥ ३५॥

सान्त्वेनान्नप्रदानेन प्रियवादेन चाप्युत।
समदुःखसुखो भूत्वा स परत्र महीयते॥ ३६॥

जो सब लोगोंको सान्त्वना प्रदान करता, भूखोंको भोजन देता और प्रिय वचन बोलकर सबका सत्कार करता है, वह सुख-दुःखमें सम रहकर (इहलोक और) परलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ ३६॥

दानं त्यागः शोभना मूर्तिरद्भ्यो
भूतप्लाव्यं तपसा वै शरीरम्।
सरस्वतीनैमिषपुष्करेषु
ये चाप्यन्ये पुण्यदेशाः पृथिव्याम्॥ ३७॥

राजन्! सरस्वती नदी, नैमिषारण्यक्षेत्र, पुष्करक्षेत्र तथा और भी जो पृथ्वीके पावन तीर्थ हैं, उनमें जाकर दान देना, भोगोंका त्याग करना, शान्तभावसे रहना तथा तपस्या और तीर्थके जलसे तन-मनको पवित्र करना चाहिये॥ ३७॥

गृहेषु येषामसवः पतन्ति
तेषामथो निर्हरणं प्रशस्तम्।
यानेन वै प्रापणं च श्मशाने
शौचेन नूनं विधिना चैव दाहः॥ ३८॥

घरोंमें जिनके प्राण निकल रहे हों, उन्हें शीघ्र ही घरसे बाहर ले जाना उत्तम है। मृत्युके पश्चात् उन्हें विमानपर सुलाकर श्मशानमें पहुँचाना तथा पवित्रतापूर्वक शास्त्रोक्त-विधिसे उनका दाह-संस्कार करना आवश्यक कर्तव्य है॥ ३८॥

इष्टिः पुष्टिर्यजनं याजनं च
दानं पुण्यानां कर्मणां च प्रयोगः।
शक्त्या पित्र्यं यच्च किंचित् प्रशस्तं
सर्वाण्यात्मार्थे मानवोऽयं करोति॥ ३९॥

मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार इष्टि-पुष्टि (शान्तिकर्म), यजन, याजन, दान, पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान तथा श्राद्ध आदि जो भी कुछ उत्तम कार्य करता है, वह सब अपने ही लिये करता है॥ ३९॥

धर्मशास्त्राणि वेदाश्च षडङ्गानि नराधिप।
श्रेयसोऽर्थे विधीयन्ते नरस्याक्लिष्टकर्मणः॥ ४०॥

नरेश्वर! धर्मशास्त्र और छहों अङ्गोंसहित वेद पुण्यकर्म करनेवाले पुरुषके कल्याणके लिये ही कर्तव्यका विधान करते हैं॥ ४०॥

भीष्म उवाच

एतद् वै सर्वमाख्यातं मुनिना सुमहात्मना।
विदेहराजाय पुरा श्रेयसोऽर्थे नराधिप॥ ४१॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! प्राचीनकालमें महात्मा पराशर मुनिने विदेहराज जनकके कल्याणके लिये यह सब उपदेश दिया था॥ ४१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २९७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९७॥

अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीताका उपसंहार—राजा जनकके विविध प्रश्नोंका उत्तर

भीष्म उवाच

पुनरेव तु पप्रच्छ जनको मिथिलाधिपः।
पराशरं महात्मानं धर्मे परमनिश्चयम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर मिथिलानरेश जनकने उन धर्मके विषयमें उत्तम निश्चय रखनेवाले महात्मा पराशर मुनिसे इस प्रकार पूछा ॥ १ ॥

जनक उवाच

किं श्रेयः का गतिर्ब्रह्मन् किं कृतं न विनश्यति।
क गतो न निवर्तेत तन्मे ब्रूहि महामते ॥ २ ॥

जनक बोले—ब्रह्मन्! श्रेयका साधन क्या है? उत्तम गति कौन-सी है? कौन-सा कर्म नष्ट नहीं होता तथा कहाँ गया हुआ जीव फिर इस संसारमें नहीं लौटता है? महामते! मेरे इन प्रश्नोंका समाधान कीजिये ॥ २ ॥

पराशर उवाच

असङ्गः श्रेयसो मूलं ज्ञानं चैव परा गतिः।
चीर्णं तपो न प्रणश्येद्वापः क्षेत्रे न नश्यति ॥ ३ ॥

पराशरजीने कहा—राजन्! आसक्तिका अभाव ही श्रेयका मूल कारण है। ज्ञान ही सबसे उत्तम गति है। स्वयं किया हुआ तप तथा सुपात्रको दिया हुआ दान—ये कभी नष्ट नहीं होते ॥ ३ ॥

छित्त्वाधर्ममयं पाशं यदा धर्मेऽभिरज्यते।
दत्त्वाभयकृतं दानं तदा सिद्धिमवाप्नुते ॥ ४ ॥

जो मनुष्य जब अधर्ममय बन्धनका उच्छेद करके धर्ममें अनुरक्त हो जाता और सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान कर देता है, उसे उसी समय उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४ ॥

यो ददाति सहस्राणि गवामश्वशतानि च।
अभयं सर्वभूतेभ्यः सदा तमभिवर्तते ॥ ५ ॥

जो एक हजार गौ तथा एक सौ घोड़े दान करता है तथा दूसरा जो सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान देता है, वह सदा गौ और अश्वदान करनेवालेसे बढ़ा-चढ़ा रहता है ॥ ५ ॥

वसन् विषयमध्येऽपि न वसत्येव बुद्धिमान्।
संवसत्येव दुर्बुद्धिरसत्सु विषयेष्वपि ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् पुरुष विषयोंके बीचमें रहता हुआ भी (असङ्ग होनेके कारण) उनमें नहीं रहनेके बराबर ही है; किंतु जिसकी बुद्धि दूषित होती है, वह विषयोंके निकट न होनेपर भी सदा उन्हींमें रहता है ॥ ६ ॥

नाधर्मः श्लिष्यते प्राज्ञं पयः पुष्करपर्णवत्।
अप्राज्ञमधिकं पापं श्लिष्यते जतुकाष्ठवत् ॥ ७ ॥

जैसे पानी कमलके पत्तेको लिपायमान नहीं कर सकता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषोंको अधर्म लिप्त नहीं कर सकता; परंतु जैसे लाह काठमें चिपक जाती है, उसी प्रकार पाप अज्ञानी मनुष्यमें अधिक लिप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

नाधर्मः कारणापेक्षी कर्तारमभिमुञ्चति।
कर्ता खलु यथाकालं ततः समभिपद्यते ॥ ८ ॥

अधर्म फल प्रदानके अवसरकी प्रतीक्षा करनेवाला है, अतः वह कर्ताका पीछा नहीं छोड़ता। समय आनेपर उस कर्ताको उस पापका फल अवश्य भोगना पड़ता है ॥ ८ ॥

न भिद्यन्ते कृतात्मान आत्मप्रत्ययदर्शिनः।
बुद्धिकर्मेन्द्रियाणां हि प्रमत्तो यो न बुद्ध्यते।
शुभाशुभे प्रसक्तात्मा प्राप्नोति सुमहद् भयम् ॥ ९ ॥

पवित्र अन्तःकरणवाले आत्मज्ञानी पुरुष कर्मोंके शुभाशुभ फलोंसे कभी विचलित नहीं होते हैं। जो प्रमादवश ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंद्वारा होनेवाले पापोंपर विचार नहीं करता तथा शुभ एवं अशुभमें आसक्त रहता है, उसे महान् भयकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

वीतरागो जितक्रोधः सम्यग् भवति यः सदा।
विषये वर्तमानोऽपि न स पापेन युज्यते ॥ १० ॥

परंतु जो वीतराग होकर क्रोधको जीत लेता और नित्य सदाचारका पालन करता है, वह विषयोंमें वर्तमान रहकर भी पापकर्मसे सम्बन्ध नहीं जोड़ता है ॥ १० ॥

मर्यादायां धर्मसेतुर्निबद्धो नैव सीदति।
पुष्टस्रोत इवासक्तः स्फीतो भवति संचयः ॥ ११ ॥

जैसे नदीमें बँधा हुआ मजबूत बाँध टूटता नहीं है और उसके कारण वहाँ जलका स्रोत बढ़ता रहता है, उसी प्रकार प्राचीन मर्यादापर बँधा हुआ धर्मरूपी बाँध नष्ट नहीं होता है तथा उससे आसक्तिरहित संचित तपकी वृद्धि होने लगती है ॥ ११ ॥

यथा भानुगतं तेजो मणिः शुद्धः समाधिना।
आदत्ते राजशार्दूल तथा योगः प्रवर्तते ॥ १२ ॥

नृपश्रेष्ठ! जिस प्रकार शुद्ध सूर्यकान्तमणि सूर्यके तेजको ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार योगका साधक समाधिके द्वारा ब्रह्मके स्वरूपको ग्रहण करता है ॥ १२ ॥

यथा तिलानामिह पुष्पसंश्रयात्
पृथक्पृथग्याति गुणोऽतिसौम्यताम्।
तथा नराणां भुवि भावितात्मनां
यथाऽऽश्रयं सत्त्वगुणः प्रवर्तते ॥ १३ ॥

जैसे तिलका तेल भिन्न-भिन्न प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंसे वासित होकर अत्यन्त मनोरम गन्ध ग्रहण करता है, वैसे ही पृथ्वीपर शुद्धचित्त पुरुषोंका स्वभाव सत्पुरुषोंके सङ्गके अनुसार सत्त्वगुणसम्पन्न हो जाता है ॥ १३ ॥

जहाति दारांश्च जहाति सम्पदः
पदं च यानं विविधाश्च याः क्रियाः।
त्रिविष्टपे जातमतिर्यदा नर-
स्तदास्य बुद्धिर्विषयेषु भिद्यते ॥ १४ ॥

जिस समय मनुष्य सर्वोत्तम पद पानेके लिये उत्सुक हो जाता है, उस समय उसकी बुद्धि विषयोंसे विलग हो जाती है तथा वह स्त्री, सम्पत्ति, पद, वाहन और नाना प्रकारकी जो क्रियाएँ हैं, उनका भी परित्याग कर देता है ॥ १४ ॥

प्रसक्तबुद्धिर्विषयेषु यो नरो
न बुध्यते ह्यात्महितं कथंचन।
स सर्वभावानुगतेन चेतसा
नृपामिषेणेव झषो विकृष्यते ॥ १५ ॥

परंतु जिसकी बुद्धि विषयोंमें आसक्त हो जाती है, वह मनुष्य किसी तरह अपने हितकी बात नहीं समझता। राजन्! जैसे मछली काँटेमें गुँथे हुए मांसपर आकृष्ट होती है और दुःख पाती है, उसी तरह वह सब प्रकारकी वासनाओंसे वासित चित्तके द्वारा विषयोंकी ओर आकृष्ट होता है और दुःख भोगता है ॥ १५ ॥

संघातवन्मर्त्यलोकः परस्परमपाश्रितः।
कदलीगर्भनिःसारो नौरिवाप्सु निमज्जति ॥ १६ ॥

जैसे शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग एक-दूसरेके आश्रित हैं, उसी प्रकार यह मर्त्यलोक—स्त्री-पुत्र और पशु आदिका समुदाय आपसमें एक-दूसरेपर अवलम्बित है। यह संसार केलेके भीतरी भागके समान निस्सार है। जैसे नौका पानीमें डूब जाती है, उसी प्रकार यह सब कुछ कालके प्रवाहमें निमग्न हो जाता है ॥ १६ ॥

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो
न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते।
सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना
यदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते ॥ १७ ॥

पुरुषके लिये धर्म करनेका कोई विशेष समय निश्चित नहीं है; क्योंकि मृत्यु किसीकी बाट नहीं जोहती। जब मनुष्य सदा मौतके मुखमें ही है, तब नित्य-निरन्तर धर्मका आचरण करते रहना ही उसके लिये शोभाकी बात है ॥ १७ ॥

यथान्धः स्वगृहे युक्तो ह्यभ्यासादेव गच्छति।
तथा युक्तेन मनसा प्राज्ञो गच्छति तां गतिम् ॥ १८ ॥

जैसे अन्धा प्रतिदिनके अभ्याससे ही सावधानीके साथ बाहरसे अपने घरमें आ जाता है, उसी प्रकार विवेकी मनुष्य योगयुक्त चित्तके द्वारा उस परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १८ ॥

मरणं जन्मनि प्रोक्तं जन्म वै मरणाश्रितम्।
अविद्वान् मोक्षधर्मेषु बद्धो भ्रमति चक्रवत्।
बुद्धिमार्गप्रयातस्य सुखं त्विह परत्र च ॥ १९ ॥

जन्ममें मृत्युकी स्थिति बतायी गयी है और मृत्युमें जन्म निहित है। जो मोक्ष-धर्मको नहीं जानता, वह अज्ञानी मनुष्य संसारमें आबद्ध होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें घूमता रहता है; किंतु ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको इहलोक और परलोकमें भी सुख मिलता है ॥ १९ ॥

विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः।
परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ॥ २० ॥

कर्मोंका विस्तार क्लेशयुक्त होता है और संक्षेप सुखदायक है। सभी कर्म-विस्तार परार्थ हैं अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये हैं; परंतु त्याग अपने लिये हितकर माना गया है ॥ २० ॥

यथा मृणालानुगतमाशु मुञ्चति कर्दमम्।
तथाऽऽत्मा पुरुषस्येह मनसा परिमुच्यते ॥ २१ ॥

जैसे (पानीसे निकालते समय) कमलकी नालमें लगी हुई कीचड़ पानीसे तुरंत धुल जाती है, उसी प्रकार त्यागी पुरुषका आत्मा मनके द्वारा संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

मनः प्रणयतेऽऽत्मानं स एनमभियुञ्जति।
युक्तो यदा स भवति तदा तं पश्यते परम् ॥ २२ ॥

मन आत्माको योगकी ओर ले जाता है। योगी इस मनको योगयुक्त (आत्मामें लीन) करता है। इस प्रकार जब वह योगमें सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब वह उस परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ २२ ॥

परार्थे वर्तमानस्तु स्वं कार्यं योऽभिमन्यते।
इन्द्रियार्थेषु संयुक्तः स्वकार्यात् परिमुच्यते ॥ २३ ॥

जो परके लिये अर्थात् इन बाह्य इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये विषयभोगोंमें प्रवृत्त होकर इसे अपना मुख्य कार्य समझता है, वह अपने वास्तविक कर्तव्यसे च्युत हो जाता है ॥ २३ ॥

अधस्तिर्यग्गतिं चैव स्वर्गं चैव परां गतिम्।
प्राप्नोति स्वकृतैरात्मा प्राज्ञस्येहेतरस्य च ॥ २४ ॥

इहलोकमें बुद्धिमान् हो या मूढ़, उसका आत्मा अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार ही नरकको, पशु-पक्षी आदि योनियोंको, स्वर्गको और परम गतिको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

मृण्मये भाजने पक्के यथा वै न श्यति द्रवः।
तथा शरीरं तपसा तप्तं विषयमश्नुते ॥ २५ ॥

जैसे पके हुए मिट्टीके बर्तनमें रक्खा हुआ जल आदि तरल पदार्थ न तो चूता है और न नष्ट ही होता है, उसी प्रकार तपस्यासे तपा हुआ सूक्ष्म शरीर ब्रह्मलोकतकके विषयोंका अनुभव करता है ॥ २५ ॥

विषयानश्नुते यस्तु न स भोक्ष्यत्यसंशयम् ।
यस्तु भोगांस्त्यजेदात्मा स वै भोक्तुं व्यवस्यति॥ २६ ॥

जो मनुष्य शब्द, स्पर्श आदि विषयोंका उपभोग करता है, वह निश्चय ही ब्रह्मानन्दके अनुभवसे वञ्चित रह जायगा, परंतु जो विषयोंका परित्याग करता है, वह अवश्य ही ब्रह्मानन्दके अनुभवमें समर्थ हो सकता है ॥ २६ ॥

नीहारेण हि संवीतः शिश्नोदरपरायणः ।
जात्यन्ध इव पन्थानमावृतात्मा न बुद्ध्यते ॥ २७ ॥

जैसे जन्मका अंधा रास्तेको नहीं देख पाता, वैसे ही शिश्नोदरपरायण एवं अज्ञानसे आवृत जीव मायारूप कुहासासे आच्छन्न होनेके कारण मोक्षमार्गको नहीं समझ पाता है ॥ २७ ॥

वणिग् यथा समुद्राद् वै यथार्थं लभते धनम् ।
तथा मर्त्यार्णवे जन्तोः कर्मविज्ञानतो गतिः ॥ २८ ॥

जैसे वैश्य समुद्रमार्गसे व्यापार करने जाकर अपने मूलधनके अनुसार द्रव्य कमाकर लाता है, उसी प्रकार संसारसागरमें व्यापार करनेवाला जीव अपने कर्म एवं विज्ञानके अनुरूप गति पाता है ॥ २८ ॥

अहोरात्रमये लोके जरारूपेण संसरन् ।
मृत्युर्ग्रसति भूतानि पवनं पन्नगो यथा ॥ २९ ॥

दिन और रात्रिमय संसारमें बुढ़ापाका रूप धारण करके घूमती हुई मृत्यु समस्त प्राणियोंको उसी प्रकार खाती रहती है, जैसे सर्प हवा पीया करता है ॥ २९ ॥

स्वयंकृतानि कर्माणि जातो जन्तुः प्रपद्यते ।
नाकृत्वा लभते कश्चित् किंचिदत्र प्रियाप्रियम् ॥ ३० ॥

जीव जगत्‌में जन्म लेकर अपने पूर्वकृत कर्मोंका ही फल भोगता है; पूर्वजन्ममें कुछ किये बिना यहाँ कोई भी किसी इष्ट या अनिष्ट फलको नहीं पाता है ॥ ३० ॥

शयानं यान्तमासीनं प्रवृत्तं विषयेषु च ।
शुभाशुभानि कर्माणि प्रपद्यन्ते नरं सदा ॥ ३१ ॥

मनुष्य सोता हो, बैठा हो, चलता हो या विषयभोगमें लगा हो, उसके शुभाशुभ कर्म सदा उसे प्राप्त होते रहते हैं ॥

न ह्यन्यत् तीरमासाद्य पुनस्तर्तुं व्यवस्यति ।
दुर्लभो दृश्यते ह्यस्य विनिपातो महार्णवे ॥ ३२ ॥

जैसे समुद्रके परलेपार पहुँचकर पुनः कोई उसमें तैरनेका विचार नहीं करता, उसी प्रकार संसार-सागरसे पार हुए मनुष्यका फिर उसमें पड़ना अर्थात् वापस आना दुर्लभ दिखायी देता है ॥ ३२ ॥

यथा भावावसन्ना हि नौर्महाम्भसि तन्तुना ।
तथा मनोभियोगाद् वै शरीरं प्रचिकीर्षति ॥ ३३ ॥

जैसे गम्भीर जलमें पड़ी हुई नौका नाविकद्वारा रस्सीसे खींची जानेपर उसके मनोभावके अधीन होकर चलती है, उसी प्रकार यह जीव इस शरीररूपी नौकाको अपने मनके अभिप्रायानुसार चलाना चाहता है ॥ ३३ ॥

यथा समुद्रमभितः संश्रिताः सरितोऽपराः ।
तथाद्या प्रकृतिर्योगादभिसंश्रियते सदा ॥ ३४ ॥

जैसे बहुत-सी नदियाँ सब ओरसे आकर समुद्रमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार योगसे वशमें किया हुआ मन सदाके लिये मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है ॥ ३४ ॥

स्नेहपाशैर्बहुविधैरासक्तमनसो नराः ।
प्रकृतिस्था विषीदन्ति जले सैकतवेश्मवत् ॥ ३५ ॥

जिनका मन नाना प्रकारके स्नेह-बन्धनोंमें जकड़ा हुआ है, वे प्रकृतिमें स्थित हुए जीव जलमें ढह जानेवाले बालूके मकानकी भाँति महान् दुःखसे नष्टप्राय हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

शरीरगृहसंस्थस्य शौचतीर्थस्य देहिनः ।
बुद्धिमार्गप्रयातस्य सुखं त्विह परत्र च ॥ ३६ ॥

शरीर ही जिसका घर है, जो बाहर-भीतरकी पवित्रताको ही तीर्थ मानता है तथा बुद्धिपूर्वक कल्याणके मार्गपर चलता है, उस देहधारी जीवको इहलोक और परलोकमें भी सुख मिलता है ॥ ३६ ॥

विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः ।
परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ॥ ३७ ॥

क्रियाओंका विस्तार क्लेशदायक होता है और संक्षेप सुखदायक है। सभी कर्मविस्तार परार्थरूप अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये होते हैं, परंतु त्याग अपने लिये हितकर माना गया है ॥ ३७ ॥

संकल्पजो मित्रवर्गो ज्ञातयः कारणात्मकाः ।
भार्या पुत्रश्च दासश्च स्वमर्थमनुयुज्यते ॥ ३८ ॥

कोई-न-कोई संकल्प (मनोरथ) लेकर ही लोग मित्र बनते हैं, कुटुम्बी जन भी किसी हेतुसे ही नाता रखते हैं, पत्नी, पुत्र और सेवक सभी अपने-अपने स्वार्थका ही अनुसरण करते हैं ॥ ३८ ॥

न माता न पिता किंचित् कस्यचित् प्रतिपद्यते ।
दानपथ्यौदनो जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते ॥ ३९ ॥

माता और पिता भी परलोक-साधनमें किसीकी कुछ सहायता नहीं कर सकते। परलोकके पथमें तो अपना किया हुआ दान अर्थात् त्याग ही राहखर्चका काम देता है। प्रत्येक जीव अपने कर्मका ही फल भोगता है ॥ ३९ ॥

माता पुत्रः पिता भ्राता भार्या मित्रजनस्तथा ।
अष्टापदपदस्थाने लक्षमुद्रेव लक्ष्यते ॥ ४० ॥

माता, पिता, पुत्र, भ्राता, भार्या और मित्रगण—ये सब सुवर्णके सिक्कोंके स्थानपर रखी हुई लाखकी मुद्राके समान देखे जाते हैं ॥ ४० ॥

सर्वाणि कर्माणि पुरा कृतानि
शुभाशुभान्यात्मनो यान्ति जन्तोः ।

उपस्थितं कर्मफलं विदित्वा
बुद्धिं तथा चोदयतेऽन्तरात्मा ॥ ४१ ॥

पूर्वजन्मके किये हुए सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म जीवका अनुसरण करते हैं। इस प्रकार प्राप्त हुई परिस्थितिको अपने कर्मोंका फल जानकर जिसका मन अन्तर्मुख हो गया है, वह अपनी बुद्धिको वैसी शुभ प्रेरणा देता है जिससे भविष्य-में दुःख न भोगना पड़े ॥ ४१ ॥

व्यवसायं समाश्रित्य सहायान् योऽधिगच्छति।
न तस्य कश्चिदारम्भः कदाचिदवसीदति ॥ ४२ ॥

जो दृढ निश्चय एवं पूर्ण उद्योगका सहारा ले तदनुकूल सहायकोंका संग्रह करता है, उसका कोई भी कार्य कभी भी व्यर्थ नहीं होता ॥ ४२ ॥

अद्वैधमनसं युक्तं शूरं धीरं विपश्चितम्।
न श्रीः संत्यजते नित्यमादित्यमिव रश्मयः ॥ ४३ ॥

जिसके मनमें दुविधा नहीं होती, जो उद्योगी, शूरवीर, धीर और विद्वान् होता है, उसे सम्पत्ति उसी तरह कभी नहीं छोड़ती, जैसे किरणें सूर्यको ॥ ४३ ॥

आस्तिक्यव्यवसायाभ्यामुपायाद् विस्मयाद् धिया।
समारभेदनिन्द्यात्मा न सोऽर्थः परिषीदति ॥ ४४ ॥

जिसका हृदय उदार एवं प्रशस्त है, जो आस्तिक भाव, निश्चय एवं आवश्यक उपायसे गर्वहीनताके साथ उत्तम बुद्धिपूर्वक कार्य आरम्भ करता है, उसका वह कार्य कभी असफल नहीं होता है ॥ ४४ ॥

सर्वैः स्वानि शुभाशुभानि नियतं कर्माणि जन्तुः स्वयं
गर्भात् सम्प्रतिपद्यते तदुभयं यत् तेन पूर्वं कृतम्।
मृत्युश्चापरिहारवान् समगतिः कालेन विच्छेदिना
दारोश्चूर्णमिवाश्मसारविहितं कर्मान्तिकं प्रापयेत्॥४५॥

सभी जीव, पूर्वजन्ममें उन्होंने जो कुछ किया है, उन अपने शुभाशुभ कर्मोंके नियत फलोंको गर्भमें प्रवेश करनेके समयसे ही क्रमशः पाने और भोगने लगते हैं। जैसे वायु आरेसे चीरकर बनाये गये लकड़ीके चूरेको उड़ा देती है, उसी प्रकार कभी टाली न जा सकनेवाली मृत्यु विनाशकारी कालकी सहायतासे मनुष्यका अन्त कर देती है ॥ ४५ ॥

स्वरूपतामात्मकृतं च विस्तरं
कुलान्वयं द्रव्यसमृद्धिसंचयम्।
नरो हि सर्वो लभते यथाकृतं
शुभाशुभेनात्मकृतेन कर्मणा ॥ ४६ ॥

सब मनुष्य अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मके अनुसार ही सुन्दर या असुन्दर रूप, अपनेसे होनेवाले योग्य-अयोग्य पुत्र-पौत्र आदिका विस्तार, उत्तम या अधम कुलमें जन्म तथा द्रव्य-समृद्धिका संचय आदि पाते हैं ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो जनको राजन् याथातथ्यं मनीषिणा।
श्रुत्वा धर्मविदां श्रेष्ठः परां मुदमवाप ह ॥ ४७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ज्ञानी महात्मा पराशर मुनिके मुखसे इस यथार्थ उपदेशको सुनकर धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ राजा जनक बहुत प्रसन्न हुए ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायामष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९८ ॥

नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

हंसगीता—हंसरूपधारी ब्रह्माका साध्यगणोंको उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दमं क्षमां प्रज्ञां प्रशंसन्ति पितामह।
विद्वांसो मनुजा लोके कथमेतन्मतं तव ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! संसारमें बहुत-से विद्वान् सत्य, इन्द्रिय-संयम, क्षमा और प्रज्ञा (उत्तम बुद्धि) की प्रशंसा करते हैं। इस विषयमें आपका कैसा मत है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
साध्यानामिह संवादं हंसस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें साध्यगणों-का हंसके साथ जो संवाद हुआ था, वही प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ २ ॥

हंसो भूत्वाथ सौवर्णस्त्वजो नित्यः प्रजापतिः।
स वै पर्येति लोकांस्त्रीनथ साध्यानुपागमत् ॥ ३ ॥

एक समय नित्य अजन्मा प्रजापति सुवर्णमय हंसका रूप धारण करके तीनों लोकोंमें विचर रहे थे। घूमते-घामते वे साध्यगणोंके पास जा पहुँचे ॥ ३ ॥

साध्या ऊचुः

शकुने वयं स्म देवा वै साध्यास्त्वामनुयुङ्क्ष्महे।
पृच्छामस्त्वां मोक्षधर्मं भवांश्च किल मोक्षवित् ॥ ४ ॥

उस समय साध्योंने कहा—हंस! हमलोग साध्य देवता हैं और आपसे मोक्षधर्मके विषयमें प्रश्न करना चाहते हैं; क्योंकि आप मोक्ष-तत्त्वके ज्ञाता हैं, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥ ४ ॥



साध्यगणोंको हंसरूपमें ब्रह्माजीका उपदेश

श्रुतोऽसि नः पण्डितो धीरवादी
साधुशब्दश्चरते ते पतत्रिन्।
किं मन्यसे श्रेष्ठतमं द्विज त्वं
कस्मिन् मनस्ते रमते महात्मन्॥ ५॥

महात्मन्! हमने सुना है कि आप पण्डित और धीर वक्ता हैं। पतत्रिन्! आपकी उत्तम वाणीका सर्वत्र प्रचार है। पक्षि-प्रवर! आपके मतमें सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है? आपका मन किसमें रमता है?॥ ५॥

तन्नः कार्यं पक्षिवर प्रशाधि
यत् कार्याणां मन्यसे श्रेष्ठमेकम्।
यत् कृत्वा वै पुरुषः सर्वबन्धै-
र्विमुच्यते विहगेन्द्रेह शीघ्रम्॥ ६॥

पक्षिराज! खगश्रेष्ठ! समस्त कार्योंमेंसे जिस एक कार्यको आप सबसे उत्तम समझते हों तथा जिसके करनेसे जीवको सब प्रकारके बन्धनोंसे शीघ्र छुटकारा मिल सके, उसीका हमें उपदेश कीजिये॥ ६॥

हंस उवाच

इदं कार्यममृताशाः शृणोमि
तपो दमः सत्यमात्माभिगुप्तिः।
ग्रन्थीन् विमुच्य हृदयस्य सर्वान्
प्रियाप्रिये स्वं वशमानयीत॥ ७॥

हंसने कहा—अमृतभोजी देवताओ! मैं तो सुनता हूँ कि तप, इन्द्रियसंयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह आदि कार्य ही सबसे उत्तम हैं। हृदयकी सारी गाँठें खोलकर प्रिय और अप्रियको अपने वशमें करे अर्थात् उनके लिये हर्ष एवं विषाद न करे॥ ७॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेद् रुषतीं पापलोक्याम्॥ ८॥

किसीके मर्ममें आघात न पहुँचाये। दूसरोंसे निष्ठुर वचन न बोले। किसी नीच मनुष्यसे अध्यात्मशास्त्रका उप-देश न ग्रहण करे तथा जिसे सुनकर दूसरोंको उद्वेग हो, ऐसी नरकमें डालनेवाली अमङ्गलमयी बात भी मुँहसे न निकाले॥ ८॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति राज्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु॥ ९॥

वचनरूपी बाण जब मुँहसे निकल पड़ते हैं, तब उनके द्वारा बींधा गया मनुष्य रात-दिन शोकमें डूबा रहता है; क्योंकि वे दूसरोंके मर्मपर आघात पहुँचाते हैं, इसलिये विद्वान् पुरुषको किसी दूसरे मनुष्यपर वाग्बाणका प्रयोग नहीं करना चाहिये॥ ९॥

परश्चेदेनमतिवादबाणै-
र्भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यः।
संरोष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः
स आदत्ते सुकृतं वै परस्य॥ १०॥

दूसरा कोई भी यदि इस विद्वान् पुरुषको कटुवचनरूपी बाणोंसे बहुत अधिक चोट पहुँचाये तो भी उसे शान्त ही रहना चाहिये। जो दूसरोंके क्रोध करनेपर भी स्वयं बदलेमें प्रसन्न ही रहता है, वह उसके पुण्यको ग्रहण कर लेता है॥ १०॥

क्षेपायमाणमभिषङ्गव्यलीकं
निगृह्णाति ज्वलितं यश्च मन्युम्।
अदुष्टचेता मुदितोऽनसूयुः
स आदत्ते सुकृतं वै परेषाम्॥ ११॥

जो जगत्में निन्दा करानेवाले और आवेशमें डालनेके कारण अप्रिय प्रतीत होनेवाले प्रज्वलित क्रोधको रोक लेता है, चित्तमें कोई विकार या दोष नहीं आने देता, प्रसन्न रहता और दूसरोंके दोष नहीं देखता है, वह पुरुष अपने प्रति शत्रुभाव रखनेवाले लोगोंके पुण्य ले लेता है॥ ११॥

आक्रुश्यमानो न वदामि किंचित्
क्षमाम्यहं ताड्यमानश्च नित्यम्।
श्रेष्ठं ह्येतद् यत्क्षमामाहुरार्याः
सत्यं तथैवार्जवमानृशंस्यम्॥ १२॥

मुझे कोई गाली दे तो भी बदलेमें कुछ नहीं कहता हूँ। कोई मार दे तो उसे सदा क्षमा ही करता हूँ; क्योंकि श्रेष्ठ जन क्षमा, सत्य, सरलता और दयाको ही उत्तम बताते हैं॥

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम्॥ १३॥

वेदाध्ययनका सार है सत्यभाषण, सत्यभाषणका सार है इन्द्रियसंयम और इन्द्रियसंयमका फल है मोक्ष। यही सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश है॥ १३॥

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णा-
स्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च॥ १४॥

जो वाणीका वेग, मन और क्रोधका वेग, तृष्णाका वेग तथा पेट और जननेन्द्रियका वेग—इन सब प्रचण्ड वेगोंको सह लेता है, उसीको मैं ब्रह्मवेत्ता और मुनि मानता हूँ॥ १४॥

अक्रोधनः क्रुध्यतां वै विशिष्ट-
स्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः।

अमानुषान्मानुषो वै विशिष्ट-
स्तथाज्ञानाज्ज्ञानविद् वै विशिष्टः ॥ १५॥

क्रोधी मनुष्योंसे क्रोध न करनेवाला मनुष्य श्रेष्ठ है। असहनशीलसे सहनशील पुरुष बड़ा है। मनुष्येतर प्राणियोंसे मनुष्य ही बढ़कर है तथा अज्ञानीसे ज्ञानवान् ही श्रेष्ठ है॥१५॥

आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ १६ ॥

जो दूसरेके द्वारा गाली दी जानेपर भी बदलेमें उसे गाली नहीं देता, उस क्षमाशील मनुष्यका दबा हुआ क्रोध ही उस गाली देनेवालेको भस्म कर देता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है ॥ १६ ॥

यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा
यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्।
पापं च यो नेच्छति तस्य हन्तु-
स्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥ १७॥

जो दूसरोंके द्वारा अपने लिये कड़वी बात कही जानेपर भी उसके प्रति कठोर या प्रिय कुछ भी नहीं कहता तथा किसीके द्वारा चोट खाकर भी धैर्यके कारण बदलेमें न तो मारनेवालेको मारता है और न उसकी बुराई ही चाहता है, उस महात्मासे मिलनेके लिये देवता भी सदा लालायित रहते हैं ॥ १७ ॥

पापीयसः क्षमेतैव श्रेयसः सदृशस्य च।
विमानितो हतोत्क्रुष्ट एवं सिद्धिं गमिष्यति ॥ १८ ॥

पाप करनेवाला अपराधी अवस्थामें अपनेसे बड़ा हो या बराबर, उसके द्वारा अपमानित होकर, मार खाकर और गाली सुनकर भी उसे क्षमा ही कर देना चाहिये। ऐसा करनेवाला पुरुष परम सिद्धिको प्राप्त होगा ॥ १८ ॥

सदाहमार्यान्निभृतोऽप्युपासे
न मे विधित्सोत्सहते न रोषः।
न वाप्यहं लिप्समानः परैमि
न चैव किंचिद् विषयेण यामि ॥ १९ ॥

यद्यपि मैं सब प्रकारसे परिपूर्ण हूँ (मुझे कुछ जानना या पाना शेष नहीं है) तो भी मैं श्रेष्ठ पुरुषोंकी उपासना (सत्सङ्ग) करता रहता हूँ। मुझपर न तृष्णाका वश चलता है न रोषका। मैं कुछ पानेके लोभसे धर्मका उल्लङ्घन नहीं करता और न विषयोंकी प्राप्तिके लिये ही कहीं आता-जाता हूँ ॥ १९ ॥

नाहं शप्तः प्रतिशपामि कंचिद्
दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि।
गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् ॥ २० ॥

कोई मुझे शाप दे दे तो भी मैं बदलेमें उसे शाप नहीं देता। इन्द्रियसंयमको ही मोक्षका द्वार मानता हूँ। इस समय तुमलोगोंको एक बहुत गुप्त बात बता रहा हूँ, सुनो। मनुष्ययोनिसे बढ़कर कोई उत्तम योनि नहीं है ॥ २० ॥

निर्मुच्यमानः पापेभ्यो घनेभ्य इव चन्द्रमाः।
विरजाः कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण सिद्ध्यति ॥ २१॥

जिस प्रकार चन्द्रमा बादलोंके ओटसे निकलनेपर अपनी प्रभासे प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार पापोंसे मुक्त हुआ निर्मल अन्तःकरणवाला धीर पुरुष धैर्यपूर्वक कालकी प्रतीक्षा करता हुआ सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ २१ ॥

यः सर्वेषां भवति ह्यर्चनीय
उत्सेधनस्तम्भ इवाभिजातः।
यस्मै वाचं सुप्रसन्नां वदन्ति
स वै देवान् गच्छति संयतात्मा ॥ २२॥

जो अपने मनको वशमें रखनेवाला विद्वान् पुरुष ऊँचे उठानेवाले खम्भेकी भाँति उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ सबके लिये आदरके योग्य हो जाता है तथा जिसके प्रति सब लोग प्रसन्नतापूर्वक मधुर वचन बोलते हैं, वह मनुष्य देवभावको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

न तथा वक्तुमिच्छन्ति कल्याणान् पुरुषे गुणान्।
यथैषां वक्तुमिच्छन्ति नैर्गुण्यमनुयुञ्जकाः ॥ २३॥

किसीसे ईर्ष्या रखनेवाले मनुष्य जिस तरह उसके दोषोंका वर्णन करना चाहते हैं, उस प्रकार उसके कल्याणमय गुणोंका बखान करना नहीं चाहते हैं ॥ २३ ॥

यस्य वाङ्मनसी गुप्ते सम्यक् प्रणिहिते सदा।
वेदास्तपश्च त्यागश्च स इदं सर्वमाप्नुयात् ॥ २४॥

जिसकी वाणी और मन सुरक्षित होकर सदा सब प्रकारसे परमात्मामें लगे रहते हैं, वह वेदाध्ययन, तप और त्याग-इन सबके फलको पा लेता है ॥ २४ ॥

आक्रोशनविमानाभ्यां नाबुधान् बोधयेद् बुधः।
तस्मान्न वर्धयेदन्यं न चात्मानं विहिंसयेत् ॥ २५॥

अतः समझदार मनुष्यको चाहिये कि वह कटुवचन कहने या अपमान करनेवाले अज्ञानियोंको उनके उक्त दोष बताकर समझानेका प्रयत्न न करे। उसके सामने दूसरेको बढ़ावा न दे तथा उसपर आक्षेप करके उसके द्वारा अपनी हिंसा न कराये ॥ २५ ॥

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य पण्डितः।
सुखं ह्यवमतः शेते योऽवमन्ता स नश्यति ॥ २६॥

विद्वान्‌को चाहिये कि वह अपमान पाकर अमृत पीनेकी भाँति संतुष्ट हो; क्योंकि अपमानित पुरुष तो सुखसे सोता है, किंतु अपमान करनेवालेका नाश हो जाता है ॥ २६ ॥

यत् क्रोधनो यजति यद् ददाति
यद् वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ।
वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्य सर्वं
मोघः श्रमो भवति हि क्रोधनस्य ॥ २७ ॥

क्रोधी मनुष्य जो यज्ञ करता है, दान देता है, तप करता है अथवा जो हवन करता है, उसके उन सब कर्मोंके फलको यमराज हर लेते हैं। क्रोध करनेवालेका वह किया हुआ सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है ॥ २७ ॥

चत्वारि यस्य द्वाराणि सुगुप्तान्यमरोत्तमाः ।
उपस्थमुदरं हस्तौ वाक् चतुर्थी स धर्मवित् ॥ २८ ॥

देवेश्वरो ! जिस पुरुषके उपस्थ, उदर, दोनों हाथ और वाणी—ये चारों द्वार सुरक्षित होते हैं, वही धर्मज्ञ है ॥ २८ ॥

सत्यं दमं ह्यार्जवमानृशंस्यं
धृतिं तितिक्षामतिसेवमानः ।
स्वाध्यायनित्योऽस्पृहयन् परेषा-
मेकान्तशील्यूर्ध्वगतिर्भवेत् सः ॥ २९ ॥

जो सत्य, इन्द्रिय-संयम, सरलता, दया, धैर्य और क्षमा-का अधिक सेवन करता है, सदा स्वाध्यायमें लगा रहता है, दूसरेकी वस्तु नहीं लेना चाहता तथा एकान्तमें निवास करता है, वह ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

सर्वानेतान्अनुचरन् वत्सवच्चतुरः स्तनान् ।
न पावनतमं किंचित् सत्यादध्यगमं क्वचित् ॥ ३० ॥

जैसे बछड़ा अपनी माताके चारों स्तनोंका पान करता है, उसी प्रकार मनुष्यको उपर्युक्त सभी सद्गुणोंका सेवन करना चाहिये। मैंने अबतक सत्यसे बढ़कर परम पावन वस्तु कहीं किसीको नहीं समझा है ॥ ३० ॥

आचक्षेऽहं मनुष्येभ्यो देवेभ्यः प्रतिसंचरन् ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ३१ ॥

मैं चारों ओर घूमकर मनुष्यों और देवताओंसे कहा करता हूँ कि जैसे जहाज समुद्रसे पार होनेका साधन है, उसी प्रकार सत्य ही स्वर्गलोकमें पहुँचनेकी सीढ़ी है ॥ ३१ ॥

यादृशैः संनिवसति यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥ ३२ ॥

पुरुष जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे मनुष्योंका सेवन करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही होता है ॥ ३२ ॥

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रंगवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ ३३ ॥

जैसे वस्त्र जिस रंगमें रँगा जाय, वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोरका सेवन करता है तो वह उन्हीं-जैसा हो जाता है अर्थात् उसपर उन्हींका रंग चढ़ जाता है ॥ ३३ ॥

सदा देवाः साधुभिः संवदन्ते
न मानुषं विषयं यान्ति द्रष्टुम् ।
नेन्दुः समः स्यादसमो हि वायु-
रुच्चावचं विषयं यः स वेद ॥ ३४ ॥

देवतालोग सदा सत्पुरुषोंका सङ्ग—उन्हींके साथ वार्तालाप करते हैं; इसीलिये वे मनुष्योंके क्षणभङ्गुर भोगोंकी ओर देखने भी नहीं जाते। जो विभिन्न विषयोंके नश्वर स्वभावको ठीक-ठीक जानता है, उसकी समानता न चन्द्रमा कर सकते हैं न वायु ॥ ३४ ॥

अदुष्टं वर्तमाने तु हृदयान्तरपूरुषे ।
तेनैव देवाः प्रीयन्ते सतां मार्गस्थितेन वै ॥ ३५ ॥

हृदयगुफामें रहनेवाला अन्तर्यामी आत्मा जब दोषभावसे रहित हो जाता है, उस अवस्थामें उसका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष सन्मार्गगामी समझा जाता है। उसकी इस स्थितिसे ही देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ३५ ॥

शिश्नोदरे ये निरताः सदैव
स्तेना नरा वाक्परुषाश्च नित्यम् ।
अपेतदोषानपि तान् विदित्वा
दूराद् देवाः सम्परिवर्जयन्ति ॥ ३६ ॥

किंतु जो सदा पेट पालने और उपस्थ-इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें ही लगे रहते हैं तथा जो चोरी करने एवं सदा कठोर वचन बोलनेवाले हैं, वे यदि प्रायश्चित्त आदिके द्वारा उक्त कर्मोंके दोषसे छूट जायँ तो भी देवतालोग उन्हें पहचानकर दूरसे ही त्याग देते हैं ॥ ३६ ॥

न वै देवा हीनसत्त्वेन तोष्याः
सर्वाशिना दुष्कृतकर्मणा वा ।
सत्यव्रता ये तु नराः कृतज्ञा
धर्मे रतास्तैः सह सम्भजन्ते ॥ ३७ ॥

सत्त्वगुणसे रहित और सब कुछ भक्षण करनेवाले पापाचारी मनुष्य देवताओंको संतुष्ट नहीं कर सकते। जो मनुष्य नियमपूर्वक सत्य बोलनेवाले, कृतज्ञ और धर्मपरायण हैं, उन्हींके साथ देवता स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करते हैं ॥ ३७ ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम् ।
वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
प्रियं धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ ३८ ॥

व्यर्थ बोलनेकी अपेक्षा मौन रहना अच्छा बताया गया है, (यह वाणीकी प्रथम विशेषता है) सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है, प्रिय बोलना वाणीकी तीसरी विशेषता है। धर्मसम्मत बोलना यह वाणीकी चौथी विशेषता है (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है) ॥ ३८ ॥

साध्या ऊचुः

केनायमावृतो लोकः केन वा न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ३९ ॥

साध्योंने पूछा—हंस ! इस जगत्‌को किसने आवृत कर रक्खा है ? किस कारणसे उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता है ? मनुष्य किस हेतुसे मित्रोंका त्याग करता है ? और किस दोषसे वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता ? ॥ ३९ ॥

हंस उवाच

अज्ञानेनावृतो लोको मात्सर्यान्न प्रकाशते ।
लोभात् त्यजति मित्राणि संगात् स्वर्गं न गच्छति॥४०॥

हंसने कहा—देवताओ ! अज्ञानने इस लोकको आवृत कर रक्खा है । आपसमें डाह होनेके कारण इसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता । मनुष्य लोभसे मित्रोंका त्याग करता है और आसक्तिदोषके कारण वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता ॥ ४० ॥

साध्या ऊचुः

कः स्विदेको रमते ब्राह्मणानां
कः स्विदेको बहुभिर्जोषमास्ते ।
कः स्विदेको बलवान् दुर्बलोऽपि
कः स्विदेषां कलहं नान्ववैति ॥ ४१ ॥

साध्योंने पूछा—हंस ! ब्राह्मणोंमें कौन एकमात्र सुखका अनुभव करता है ? वह कौन ऐसा एक मनुष्य है, जो बहुतोंके साथ रहकर भी चुप रहता है ? वह कौन एक मनुष्य है, जो दुर्बल होनेपर भी बलवान् है तथा इनमें कौन ऐसा है, जो किसीके साथ कलह नहीं करता ? ॥ ४१ ॥

हंस उवाच

प्राज्ञ एको रमते ब्राह्मणानां
प्राज्ञश्चैको बहुभिर्जोषमास्ते ।
प्राज्ञ एको बलवान् दुर्बलोऽपि
प्राज्ञ एषां कलहं नान्ववैति ॥ ४२ ॥

हंसने कहा—देवताओ ! ब्राह्मणोंमें जो ज्ञानी है, एकमात्र वही परम सुखका अनुभव करता है । ज्ञानी ही बहुतोंके साथ रहकर भी मौन रहता है । एकमात्र ज्ञानी दुर्बल होनेपर भी बलवान् है और इनमें ज्ञानी ही किसीके साथ कलह नहीं करता है ॥ ४२ ॥

साध्या ऊचुः

किं ब्राह्मणानां देवत्वं किं च साधुत्वमुच्यते ।
असाधुत्वं च किं तेषां किमेषां मानुषं मतम् ॥ ४३ ॥

साध्योंने पूछा—हंस ! ब्राह्मणोंका देवत्व क्या है ? उनमें साधुता क्या बतायी जाती है ? उनके भीतर असाधुता और मनुष्यता क्या मानी गयी है ? ॥ ४३ ॥

हंस उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं व्रतं साधुत्वमुच्यते ।
असाधुत्वं परीवादो मृत्युर्मानुष्यमुच्यते ॥ ४४ ॥

हंसने कहा—साध्यगण ! वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय ही ब्राह्मणोंका देवत्व है । उत्तम व्रतोंका पालन करना ही उनमें साधुता बतायी जाती है । दूसरोंकी निन्दा करना ही उनकी असाधुता है और मृत्युको प्राप्त होना ही उनकी मनुष्यता बतायी गयी है ॥ ४४ ॥

भीष्म उवाच

(इत्युक्त्वा परमो देवो भगवान् नित्य अव्ययः ।
साध्यैर्देवगणैः सार्धं दिवमेवारुरोह सः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर नित्य अविनाशी परमदेव भगवान् ब्रह्मा साध्य देवताओंके साथ ही ऊपर स्वर्गलोककी ओर चल दिये ॥

एतद् यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्गाय च ध्रुवम् ।
दर्शितं देवदेवेन परमेणाव्ययेन च ॥)

सर्वश्रेष्ठ अविनाशी देवाधिदेव ब्रह्माजीके द्वारा प्रकाशमें लाया हुआ यह पुण्यमय तत्त्वज्ञान यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला है तथा यह स्वर्गलोककी प्राप्तिका निश्चित साधन है॥

संवाद इत्ययं श्रेष्ठः साध्यानां परिकीर्तितः ।
क्षेत्रं वै कर्मणां योनिः सद्भावः सत्यमुच्यते ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार साध्योंके साथ जो हंसका संवाद हुआ था, उसका मैंने तुमसे वर्णन किया । यह शरीर ही कर्मोंकी योनि है और सद्भावको ही सत्य कहते हैं ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हंसगीतासमाप्तौ नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हंसगीताकी समाप्ति विषयक दो सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४७ श्लोक हैं)

त्रिशततमोऽध्यायः

सांख्य और योगका अन्तर बतलाते हुए योगमार्गके स्वरूप, साधन, फल और प्रभावका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सांख्ये योगे च मे तात विशेषं वक्तुमर्हसि ।
तव धर्मज्ञ सर्वं हि विदितं कुरुसत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! धर्मज्ञ कुरुश्रेष्ठ ! सांख्य और योगमें क्या अन्तर है ? यह बतानेकी कृपा करें; क्योंकि आपको सब बातोंका ज्ञान है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सांख्याः सांख्यं प्रशंसन्ति योगा योगं द्विजातयः।
वदन्ति कारणं श्रेष्ठं स्वपक्षोद्भावनाय वै ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! सांख्यके विद्वान् सांख्यकी और योगके ज्ञाता द्विज योगकी प्रशंसा करते हैं। दोनों ही अपने-अपने पक्षकी उत्कृष्टता सूचित करनेके लिये उत्तमोत्तम युक्तियोंका प्रतिपादन करते हैं ॥ २ ॥

अनीश्वरः कथं मुच्येदित्येवं शत्रुकर्शन।
वदन्ति कारणैः श्रैष्ठ्यं योगाः सम्यङ्मनीषिणः॥ ३ ॥

शत्रुसूदन ! योगके मनीषी विद्वान् अपने मतकी श्रेष्ठता बताते हुए यह युक्ति उपस्थित करते हैं कि ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किये बिना किसीकी भी मुक्ति कैसे हो सकती है ? (अतः मोक्षदाता ईश्वरकी सत्ता अवश्य स्वीकार करनी चाहिये) ॥ ३ ॥

वदन्ति कारणं चेदं सांख्याः सम्यग् द्विजातयः।
विज्ञायेह गतीः सर्वा विरक्तो विषयेषु यः ॥ ४ ॥
ऊर्ध्वं स देहात् सुव्यक्तं विमुच्येदिति नान्यथा।
एतदाहुर्महाप्राज्ञाः सांख्ये वै मोक्षदर्शनम् ॥ ५ ॥

सांख्यमतके माननेवाले महाज्ञानी द्विज मोक्षका युक्तियुक्त कारण इस प्रकार बताते हैं—सब प्रकारकी गतियोंको जानकर जो विषयोंसे विरक्त हो जाता है; वही देहत्यागके अनन्तर मुक्त होता है। यह बात स्पष्टरूपसे सबकी समझमें आ सकती है। दूसरे किसी उपायसे मोक्ष मिलना असम्भव है। इस प्रकार वे सांख्यको ही मोक्षदर्शन कहते हैं ॥४-५॥

स्वपक्षे कारणं ग्राह्यं समर्थं वचनं हितम्।
शिष्टानां हि मतं ग्राह्यं त्वद्विधैः शिष्टसम्मतैः ॥ ६ ॥

अपने-अपने पक्षमें युक्तियुक्त कारण ग्राह्य होता है तथा सिद्धान्तके अनुकूल हितकारक वचन मानने योग्य समझा जाता है। शिष्ट पुरुषोंद्वारा सम्मानित तुम जैसे लोगोंको श्रेष्ठ पुरुषोंका ही मत ग्रहण करना चाहिये ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षहेतवो योगाः सांख्याः शास्त्रविनिश्चयाः।
उभे चैते मते तत्त्वे मम तात युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

योगके विद्वान् प्रधानतया प्रत्यक्ष प्रमाणको ही माननेवाले होते हैं और सांख्यमतानुयायी शास्त्र-प्रमाणपर ही विश्वास करते हैं। तात युधिष्ठिर ! ये दोनों ही मत मुझे तात्त्विक जान पड़ते हैं ॥ ७ ॥

उभे चैते मते ज्ञाते नृपते शिष्टसम्मते।
अनुष्ठिते यथाशास्त्रं नयेतां परमां गतिम् ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! इन दोनों मतोंका श्रेष्ठ पुरुषोंने आदर किया है। इन दोनों ही मतोंको जानकर शास्त्रके अनुसार उनका आचरण किया जाय तो वे परमगतिकी प्राप्ति करा सकते हैं।

तुल्यं शौचं तपोयुक्तं दया भूतेषु चानघ।
व्रतानां धारणं तुल्यं दर्शनं न समं तयोः ॥ ९ ॥

बाहर-भीतरकी पवित्रता, तप, प्राणियोंपर दया और व्रतोंका पालन आदि नियम दोनों मतोंमें समान रूपसे स्वीकार किये गये हैं। केवल उनके दर्शनोंमें अर्थात् पद्धतियोंमें समानता नहीं है ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदि तुल्यं व्रतं शौचं दया चात्र फलं तथा।
न तुल्यं दर्शनं कस्मात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि इन दोनों मतोंमें उत्तम व्रत, बाहर-भीतरकी पवित्रता और दया समान है एवं दोनोंका परिणाम भी एक ही है तो इनके दर्शनमें समानता क्यों नहीं है, यह मुझे बताइये ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

रागं मोहं तथा स्नेहं कामं क्रोधं च केवलम्।
योगाच्छित्त्वा ततो दोषान् पञ्चैतान् प्राप्नुवन्ति तत् ११

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! योगी पुरुष केवल योगबलसे राग, मोह, स्नेह, काम और क्रोध—इन पाँच दोषोंका मूलोच्छेद करके परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ११ ॥

यथा चानिमिषाः स्थूला जालं छित्त्वा पुनर्जलम्।
प्राप्नुवन्ति तथा योगास्तत् पदं वीतकल्मषाः॥ १२ ॥

जैसे बड़े-बड़े और मोटे मत्स्य जालको काटकर फिर जलमें समा जाते हैं, उसी प्रकार योगी अपने पापोंका नाश करके परमात्मपदको प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

तथैव वागुरां छित्त्वा बलवन्तो यथा मृगाः।
प्राप्नुयुर्विमलं मार्गं विमुक्ताः सर्वबन्धनैः ॥ १३ ॥
लोभजानि तथा राजन् बन्धनानि बलान्विताः।
छित्त्वा योगाः परं मार्गं गच्छन्ति विमलं शिवम्॥ १४ ॥

राजन् ! इसी प्रकार जैसे बलवान् मृग जाल तोड़कर सारे बन्धनोंसे मुक्त हो निर्विघ्न मार्गपर चले जाते हैं, वैसे ही योगबलसे सम्पन्न योगी पुरुष लोभजनित सब बन्धनोंको तोड़कर परम निर्मल कल्याणमय मार्गको प्राप्त कर लेते हैं ॥१३-१४॥

अबलाश्च मृगा राजन् वागुरासु तथा परे।
विनश्यन्ति न संदेहस्तद्वद् योगबलादृते ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! जैसे निर्बल मृग तथा दूसरे पशु जालमें पड़कर निस्सन्देह नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार योगबलसे रहित मनुष्यकी भी दशा होती है ॥ १५ ॥

बलहीनाश्च कौन्तेय यथा जालं गता झषाः।
वधं गच्छन्ति राजेन्द्र योगास्तद्वत् सुदुर्बलाः ॥ १६ ॥

कुन्तीनन्दन राजेन्द्र ! जैसे निर्बल मत्स्य जालमें फँसकर वधको प्राप्त होते हैं, वही दशा योगबलसे सर्वथा रहित मनुष्योंकी भी होती है ॥ १६ ॥

यथा च शकुनाः सूक्ष्मं प्राप्य जालमरिंदम।
तत्र सक्ता विपद्यन्ते मुच्यन्ते च बलान्विताः॥ १७॥
कर्मजैर्बन्धनैर्बद्धास्तद्वद् योगाः परंतप।
अबला वै विनश्यन्ति मुच्यन्ते च बलान्विताः॥ १८॥

शत्रुदमन ! जैसे निर्बल पक्षी सूक्ष्म जालमें फँसकर बन्धनको प्राप्त हो अपने प्राण खो देते हैं और बलवान् पक्षी जाल तोड़कर उसके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्मजनित बन्धनोंसे बँधे हुए निर्बल योगी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, किंतु परंतप ! योगबलसे सम्पन्न योगी सब प्रकारके बन्धनोंसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ १७-१८ ॥

अल्पकश्च यथा राजन् वह्निः शाम्यति दुर्बलः।
आक्रान्त इन्धनैः स्थूलैस्तद्वद् योगोऽबलः प्रभो॥ १९॥

राजन् ! जैसे अल्प होनेके कारण दुर्बल अग्निपर बड़े-बड़े मोटे ईंधन रख देनेसे वह जलनेके बजाय बुझ जाती है, प्रभो ! उसी प्रकार निर्बल योगी महान् योगके भारसे दबकर नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥

स एव च यदा राजन् वह्निर्जातबलः पुनः।
समीरणगतः क्षिप्रं दहेत् कृत्स्नां महीमपि॥ २०॥

राजन् ! वही आग जब हवाका सहारा पाकर प्रबल हो जाती है, तब सम्पूर्ण पृथ्वीको भी तत्काल भस्म कर सकती है ॥ २० ॥

तद्वज्जातबलो योगी दीप्ततेजा महाबलः।
अन्तकाल इवादित्यः कृत्स्नं संशोषयेज्जगत्॥ २१॥

इसी तरह योगीका भी योगबल बढ़ जानेसे जब वह उद्दीप्त तेजसे सम्पन्न और महान् शक्तिशाली हो जाता है, तब वह जैसे प्रलयकालीन सूर्य समस्त जगत्को सुखा डालता है, वैसे ही समस्त रागादि दोषोंका नाश कर देता है ॥२१॥

दुर्बलश्च यथा राजन् स्रोतसा ह्रियते नरः।
बलहीनस्तथा योगो विषयैर्ह्रियतेऽवशः॥ २२॥

राजन् ! जैसे दुर्बल मनुष्य पानीके वेगसे बह जाता है, उसी तरह दुर्बल योगी विवश होकर विषयोंकी ओर खिंच जाता है ॥ २२ ॥

तदेव च महास्रोतो विष्टम्भयति वारणः।
तद्वद् योगबलं लब्ध्वा व्यूहते विषयान् बहून्॥ २३॥

परंतु जलके उसी महान् स्रोतको जैसे गजराज रोक देता है अर्थात् उसमें नहीं बहता, उसी प्रकार योगका महान् बल पाकर योगी भी उन सभी बहुसंख्यक विषयोंको अवरुद्ध कर देता है अर्थात् उनके प्रवाहमें नहीं बहता ॥ २३ ॥

विशन्ति चावशाः पार्थ योगाद् योगबलान्विताः।
प्रजापतीनृषीन् देवान् महाभूतानि चेश्वराः॥ २४॥

कुन्तीनन्दन ! योगशक्तिसम्पन्न पुरुष स्वतन्त्रतापूर्वक प्रजापति, ऋषि, देवता और पञ्चमहाभूतोंमें प्रवेश कर जाते हैं। उनमें ऐसा करनेकी सामर्थ्य आ जाती है ॥ २४ ॥

न यमो नान्तकः क्रुद्धो न मृत्युर्भीमविक्रमः।
ईशते नृपते सर्वे योगस्यामिततेजसः॥ २५॥

नरेश्वर ! अमित तेजस्वी योगीपर क्रोधमें भरे हुए यमराज, अन्तक और भयंकर पराक्रम दिखानेवाली मृत्युका भी शासन नहीं चलता है ॥ २५ ॥

आत्मनां च सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ।
योगः कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥ २६॥

भरतश्रेष्ठ ! योगी योगबल पाकर अपने हजारों रूप बना सकता है और उन सबके द्वारा इस पृथ्वीपर विचर सकता है॥

प्राप्नुयाद् विषयांश्चैव पुनश्चोग्रं तपश्चरेत्।
संक्षिपेच्च पुनस्तात सूर्यस्तेजोगुणानिव॥ २७॥

तात ! वह उन शरीरोंद्वारा विषयोंका सेवन और उग्र तपस्या भी करता है। तदनन्तर अपनी तेजोमयी किरणोंको समेट लेनेवाले सूर्यकी भाँति सभी रूपोंको अपनेमें लीन कर लेता है॥ २७ ॥

बलस्थस्य हि योगस्य बन्धनेशस्य पार्थिव।
विमोक्षप्रभविष्णुत्वमुपपन्नमसंशयम्॥ २८॥

पृथ्वीनाथ ! बलवान् योगी बन्धनोंको तोड़नेमें समर्थ होता है, उसमें अपनेको मुक्त करनेकी पूर्ण शक्ति आ जाती है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २८ ॥

बलानि योगप्राप्तानि मयैतानि विशाम्पते।
निदर्शनार्थं सूक्ष्माणि वक्ष्यामि च पुनस्तव॥ २९॥

प्रजापालक नरेश ! मैं दृष्टान्तके लिये योगसे प्राप्त होनेवाली कुछ सूक्ष्म शक्तियोंका पुनः तुमसे वर्णन करूँगा॥

आत्मनश्च समाधाने धारणां प्रति वा विभो।
निदर्शनानि सूक्ष्माणि शृणु मे भरतर्षभ॥ ३०॥

प्रभो ! भरतश्रेष्ठ ! आत्मसमाधिके लिये जो धारणा की जाती है, उसके विषयमें भी कुछ सूक्ष्म दृष्टान्त बतलाता हूँ, सुनो ॥ ३० ॥

अप्रमत्तो तथा धन्वी लक्ष्यं हन्ति समाहितः।
युक्तः सम्यक् तथा योगी मोक्षं प्राप्नोत्यसंशयम्॥ ३१॥

जैसे सदा सावधान रहनेवाला धनुर्धर वीर चित्तको एकाग्र करके बाण चलानेपर लक्ष्यको अवश्य बींध डालता है, उसी प्रकार जो योगी मनको परमात्माके ध्यानमें लगा देता है, वह निस्संदेह मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ ३१ ॥

स्नेहपूर्णे यथा पात्रे मन आधाय निश्चलम्।
पुरुषो युक्त आरोहेत् सोपानं युक्तमानसः॥ ३२॥
युक्तस्तथायमात्मानं योगः पार्थिव निश्चलम्।
करोत्यमलमात्मानं भास्करोपमदर्शनम्॥ ३३॥

पृथ्वीनाथ ! जैसे सिरपर रक्खे हुए तेलसे भरे पात्रकी

और मनको स्थिरभावसे लगाये रखनेवाला पुरुष एकाग्रचित्त हो सीढ़ियोंपर चढ़ जाता है और जरा भी तेल नहीं छलकता, उसी तरह योगी भी योगयुक्त होकर जब आत्माको परमात्मामें स्थिर करता है, उस समय उसका आत्मा अत्यन्त निर्मल तथा अचल सूर्यके समान तेजस्वी हो जाता है ॥ ३२-३३ ॥

यथा च नावं कौन्तेय कर्णधारः समाहितः।
महार्णवगतां शीघ्रं नयेत् पार्थिवसत्तम ॥ ३४ ॥
तद्वदात्मसमाधानं युक्त्वा योगेन तत्त्ववित्।
दुर्गमं स्थानमाप्नोति हित्वा देहमिमं नृप ॥ ३५ ॥

कुन्तीकुमार ! नृपश्रेष्ठ ! जैसे सावधान नाविक समुद्रमें पड़ी हुई नौकाको शीघ्र ही किनारेपर लगा देता है, उसी प्रकार योगके अनुसार तत्त्वको जाननेवाला पुरुष समाधिके द्वारा मनको परमात्मामें लगाकर इस देहका त्याग करनेके अनन्तर दुर्गम स्थान (परमधाम) को प्राप्त होता है ॥

सारथिश्च यथा युक्त्वा सदश्वान् सुसमाहितः।
देशमिष्टं नयत्याशु धन्विनं पुरुषर्षभ ॥ ३६ ॥
तथैव नृपते योगी धारणासु समाहितः।
प्राप्नोत्याशु परं स्थानं लक्षं मुक्त इवाशुगः ॥ ३७ ॥

पुरुषप्रवर ! राजन् ! जिस तरह अत्यन्त सावधान रहनेवाला सारथि अच्छे घोड़ोंको रथमें जोतकर धनुर्धर योद्धाको तुरंत ही अभीष्ट स्थानपर पहुँचा देता है, वैसे ही धारणाओंमें एकाग्रचित्त हुआ योगी लक्ष्यकी ओर छोड़े हुए बाणकी भाँति शीघ्र परम पदको प्राप्त हो जाता है ॥ ३६-३७ ॥

प्रवेश्यात्मनि चात्मानं योगी तिष्ठति योऽचलः।
पापं हन्ति पुनीतानां पदमाप्नोति सोऽजरम् ॥ ३८ ॥

जो योगी समाधिके द्वारा आत्माको परमात्मामें स्थिर करके अचल हो जाता है, वह अपने पापको नष्ट कर देता है और पवित्र पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले अविनाशी पदको पा लेता है ॥ ३८ ॥

नाभ्यां कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः।
दर्शने श्रवणे चापि घ्राणे चामितविक्रम ॥ ३९ ॥
स्थानेष्वेतेषु यो योगी महाव्रतसमाहितः।
आत्मना सूक्ष्ममात्मानं युङ्क्ते सम्यग्विशाम्पते ॥ ४० ॥
स शीघ्रमचलप्रख्यं कर्म दग्ध्वा शुभाशुभम्।
उत्तमं योगमास्थाय यदीच्छति विमुच्यते ॥ ४१ ॥

अमित पराक्रमी नरेश ! योगके महान् व्रतमें एकाग्रचित्त रहनेवाला जो योगी नाभि, कण्ठ, मस्तक, हृदय, वक्षःस्थल, पार्श्वभाग, नेत्र, कान और नासिका आदि स्थानोंमें धारणाके द्वारा सूक्ष्म आत्माको परमात्माके साथ भलीभाँति संयुक्त करता है, वह यदि इच्छा करे तो अपने पर्वताकार विशाल शुभाशुभ कर्मोंको शीघ्र ही भस्म करके उत्तम योगका आश्रय लेकर मुक्त हो जाता है ॥ ३९—४१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आहारान् कीदृशान् कृत्वा कानि जित्वा च भारत।
योगी बलमवाप्नोति तद् भवान् वक्तुमर्हसि ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! योगी कैसे आहार करके और किन-किनको जीतकर योगशक्ति प्राप्त कर लेता है यह आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच

कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत।
स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! जो धानकी खुद्दी और तिलकी खली खाता तथा घी-तेलका परित्याग कर देता है, उसी योगीको योगबलकी प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥

भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालमरिंदम।
एकाहारो विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४४ ॥

शत्रुदमन नरेश ! जो दीर्घकालतक एक समय जौका रूखा दलिया खाता है, वह योगी शुद्धचित्त होकर योगबलकी प्राप्ति कर सकता है ॥ ४४ ॥

पक्षान् मासानृतूंश्चैतान् संवत्सरानहस्तथा।
अपः पीत्वा पयोमिश्रा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४५ ॥

जो योगी दुग्धमिश्रित जलको दिनमें एक बार पीता है; फिर पंद्रह दिनोंमें एक बार पीता है। तत्पश्चात् एक महीनेमें, एक ऋतुमें और एक वर्षमें एक बार उसे ग्रहण करता है, उसको योगशक्ति प्राप्त होती है ॥ ४५ ॥

अखण्डमपि वा मांसं सततं मनुजेश्वर।
उपोष्य सम्यक् शुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४६ ॥

नरेश्वर ! जो लगातार जीवनभरके लिये मांस नहीं खाता है और विधिपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करके अपने अन्तःकरणको शुद्ध बना लेता है, वह योगी भी योगशक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥

कामं जित्वा तथा क्रोधं शीतोष्णे वर्षमेव च।
भयं शोकं तथा श्वासं पौरुषान् विषयांस्तथा ॥ ४७ ॥
अरतिं दुर्जयां चैव घोरां तृष्णां च पार्थिव।
स्पर्शं निद्रां तथा तन्द्रीं दुर्जयां नृपसत्तम ॥ ४८ ॥
दीपयन्ति महात्मानः सूक्ष्ममात्मानमात्मना।
वीतरागा महाप्राज्ञा ध्यानाध्ययनसम्पदा ॥ ४९ ॥

पृथ्वीनाथ ! नृपश्रेष्ठ ! काम, क्रोध, सर्दी, गर्मी, वर्षा, भय, शोक, श्वास, मनुष्योंको प्रिय लगनेवाले विषय, दुर्जय असंतोष, घोर तृष्णा, स्पर्श, निद्रा तथा दुर्जय आलस्यको जीतकर वीतराग, महान् एवं उत्तम बुद्धिसे युक्त महात्मा योगी स्वाध्याय तथा ध्यानका सम्पादन करके बुद्धिके द्वारा सूक्ष्म आत्माका साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ ४७—४९ ॥

दुर्गस्त्वेष मतः पन्था ब्राह्मणानां विपश्चिताम्।
यः कश्चिद् व्रजति ह्यस्मिन् क्षेमेण भरतर्षभ ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! विद्वान् ब्राह्मणोंने योगके इस मार्गको दुर्गम माना है । कोई विरला ही इस मार्गको कुशलपूर्वक तै कर सकता है ॥ ५० ॥

यथा कश्चिद् वनं घोरं बहुसर्पसरीसृपम् ।
श्वभ्रवत् तोयहीनं च दुर्गमं बहुकण्टकम् ॥ ५१ ॥
अभक्तमटवीप्रायं दावदग्धमहीरुहम् ।
पन्थानं तस्कराकीर्णं क्षेमेणाभिपतेद् युवा ॥ ५२ ॥
योगमार्गं तथाऽऽसाद्य यः कश्चिद् व्रजते द्विजः ।
क्षेमेणोपरमेन्मार्गाद् बहुदोषो हि स स्मृतः ॥ ५३ ॥

जैसे कोई-कोई विरला नवयुवक ही अनेकानेक सर्पों तथा बिच्छू आदिसे भरे हुए गड्ढों और बहुत-से काँटोंवाले, जल-शून्य, दुर्गम एवं घोर वनमें सकुशल यात्रा कर सकता है तथा जहाँ भोजन मिलना असम्भव है, जिसमें प्रायः जंगल-ही-जंगल पड़ता है, जहाँके वृक्ष दावानलसे जलकर भस्म हो गये हैं तथा जो चोर-डाकुओंसे भरा हुआ है, ऐसे मार्गको सकुशल तै कर सकता है; उसी प्रकार योगमार्गका आश्रय लेकर कोई विरला ही द्विज उसपर कुशलपूर्वक चल पाता है, क्योंकि वह बहुत-से दोषों (कठिनाइयों) से भरा हुआ बताया गया है ॥५१–५३॥

सुस्थेयं क्षुरधारासु निशितासु महीपते ।
धारणासु तु योगस्य दुःस्थेयमकृतात्मभिः ॥ ५४ ॥

पृथ्वीपते ! छुरेकी तीखी धारपर कोई सुखपूर्वक खड़ा रह सकता है; किंतु जिनका चित्त शुद्ध नहीं है, ऐसे मनुष्योंका योगकी धारणाओंमें स्थिर रहना नितान्त कठिन है ॥ ५४ ॥

विपन्ना धारणास्तात नयन्ति न शुभां गतिम् ।
नेतृहीना यथा नावः पुरुषानर्णवे नृप ॥ ५५ ॥

तात ! नरेश्वर ! जैसे समुद्रमें बिना नाविककी नाव मनुष्योंको पार नहीं लगा सकती, उसी प्रकार यदि योगकी धारणाएँ सिद्ध न हुईं तो वे शुभगतिकी प्राप्ति नहीं करा सकतीं ॥ ५५ ॥

यस्तु तिष्ठति कौन्तेय धारणासु यथाविधि ।
मरणं जन्म दुःखं च सुखं च स विमुञ्चति ॥ ५६ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो विधिपूर्वक योगकी धारणाओंमें स्थिर रहता है, वह जन्म, मृत्यु, दुःख और सुखके बन्धनोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ५६ ॥

नानाशास्त्रेषु निष्पन्नं योगेष्विदमुदाहृतम् ।
परं योगस्य यत् कृत्यं निश्चितं तद् द्विजातिषु ॥ ५७ ॥

यह मैंने तुम्हें योगविषयक नाना शास्त्रोंका सिद्धान्त बतलाया है । योग-साधनाका जो-जो कृत्य है, वह द्विजातियोंके लिये ही निश्चित किया गया है अर्थात् उन्हींका उसमें अधिकार है ॥ ५७ ॥

परं हि तद् ब्रह्म महन्महात्मन्
ब्रह्माणमीशं वरदं च विष्णुम् ।
भवं च धर्मं च षडाननं च
यद् ब्रह्मपुत्रांश्च महानुभावान् ॥ ५८ ॥
तमश्च कष्टं सुमहद् रजश्च
सत्त्वं विशुद्धं प्रकृतिं परां च ।
सिद्धिं च देवीं वरुणस्य पत्नीं
तेजश्च कृत्स्नं सुमहच्च धैर्यम् ॥ ५९ ॥
ताराधिपं खे विमलं सतारं
विश्वांश्च देवानुरगान् पितॄंश्च ।
शैलांश्च कृत्स्नानुदधींश्च घोरान्
नदीश्च सर्वाः सवनान् घनांश्च ॥ ६० ॥
नागान् नगान् यक्षगणान् दिशश्च
गन्धर्वसंघान् पुरुषान् स्त्रियश्च ।
परस्परं प्राप्य महान्महात्मा
विशेत योगी न चिराद् विमुक्तः ॥ ६१ ॥

महात्मन् ! योगसिद्ध महात्मा पुरुष यदि चाहे तो तुरंत ही मुक्त होकर महान् परब्रह्मके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है अथवा वह अपने योगबलसे भगवान् ब्रह्मा, वरदायक विष्णु, महादेवजी, धर्म, छः मुखोंवाले कार्त्तिकेय, ब्रह्माजीके महानुभाव पुत्र सनकादि, कष्टदायक तमोगुण, महान् रजोगुण, विशुद्ध सत्त्वगुण, मूल प्रकृति, वरुणपत्नी सिद्धिदेवी, सम्पूर्ण तेज, महान् धैर्य, ताराओंसहित आकाशमें प्रकाशित होनेवाले निर्मल तारापति चन्द्रमा, विश्वेदेव, नाग, पितर, सम्पूर्ण पर्वत, भयंकर समुद्र, सम्पूर्ण नदी-समुदाय, वन, मेघ, नाग, वृक्ष, यक्ष, दिशा, गन्धर्वगण, समस्त पुरुष और स्त्री—इनमेंसे प्रत्येकके पास पहुँचकर उसके भीतर प्रवेश कर सकता है ॥५८–६१॥

कथा च येयं नृपते प्रसक्ता
देवे महावीर्यमतौ शुभेयम् ।
योगी स सर्वानभिभूय मर्त्यान्
नारायणात्मा कुरुते महात्मा ॥ ६२ ॥

नरेश्वर ! महान् बल और बुद्धिसे सम्पन्न परमात्मासे सम्बन्ध रखनेवाली यह कल्याणमयी वार्ता मैंने प्रसंगवश तुम्हें सुनायी है । योगसिद्ध महात्मा पुरुष सब मनुष्योंसे ऊपर उठकर नारायणस्वरूप हो जाता है और संकल्पमात्रसे सृष्टि करने लगता है ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि योगविधौ त्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें योगविधिविषयक तीन सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०० ॥

कल्याणके २४ वें वर्षका विशेषाङ्क 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥) डाकव्ययसहित। साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ; हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, परलोकवाद, श्राद्धतत्त्व, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, समाजरचना, ज्ञान, भक्ति, योग, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, यज्ञानुष्ठान, पीठविज्ञान, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, आयुर्वेद, विज्ञान, अङ्कगणित, कर्मविज्ञान, उपासनातत्त्व, तीर्थ-व्रत, पर्व-त्योहार, शिक्षा, विभिन्न सम्प्रदाय, स्थापत्यकला, मन्दिर, मूर्तिकला, शिल्प, चित्रकला, नाट्यकला, चौसठकला, गान्धर्व-विद्या, वाद्ययन्त्र, क्रीडा, अस्त्र-शस्त्रादि, वैमानिककला, नौनिर्माणकला, काल-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ज्यौतिष, सामुद्रिक, नक्षत्रविज्ञान, रत्न-विज्ञान, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'पर कौन क्या कहते हैं—

महामहोपाध्याय डा० पं० श्रीउमेशजी मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०, प्रयाग-विश्वविद्यालय—

"इस अङ्कको पढ़नेसे भारतीय संस्कृतिका जागता हुआ एक चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। भारतीय संस्कृतिका सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन किसी एक ग्रन्थमें सकलसाधारण लोगोंके समझने योग्य शब्दोंमें आजतक देख नहीं पड़ा था। ××× इस घोर कलिकालमें, जब कि चारों ओरसे भारतीय संस्कृतिके ऊपर इतना प्रहार हो रहा है और इसके रक्षक ही जब इसके भक्षक हो चले हैं, इस ग्रन्थरत्नको प्रकाशितकर भारतीयोंके हृदयमें संस्कृतिके संस्कारको पुनः जगाया है। प्रत्येक भारतीयको यह ग्रन्थ पढ़ना चाहिये और अपने पास सदा रखना चाहिये···। परीक्षाकी बधाईके स्थानमें यही अङ्क उपहारस्वरूपमें दिया जाय। इसका प्रयत्न लोग करें।×××"

हिंदीके प्रसिद्ध और गम्भीर लेखक डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०—

"×××लगभग नौ सौ पृष्ठोंकी इतनी बहुविध सुपाठ्य और रोचक सामग्री इस अङ्कमें एकत्र देखकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। भारतीय धर्म, दर्शन, कला और जीवनके कितने ही महत्त्वपूर्ण अंशोंपर प्रकाश डाला गया है। कलाके चित्रोंका चुनाव कल्याणके लिये एक नवीन आयोजन है। ×××× भारतीय संस्कृतिकी सामग्री तो वस्तुतः अपरम्पार है। उसका जितना अधिक व्याख्यान एवं रूप-प्रकाशन किया जाय, स्वागतके योग्य है। ××× इस अङ्कके सम्पादन-प्रकाशनसे एक अभावकी पूर्ति हुई है। ××××"

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

महाभारत

संस्कृत मूल





हिन्दी अनुवाद

संस्कृत मूल

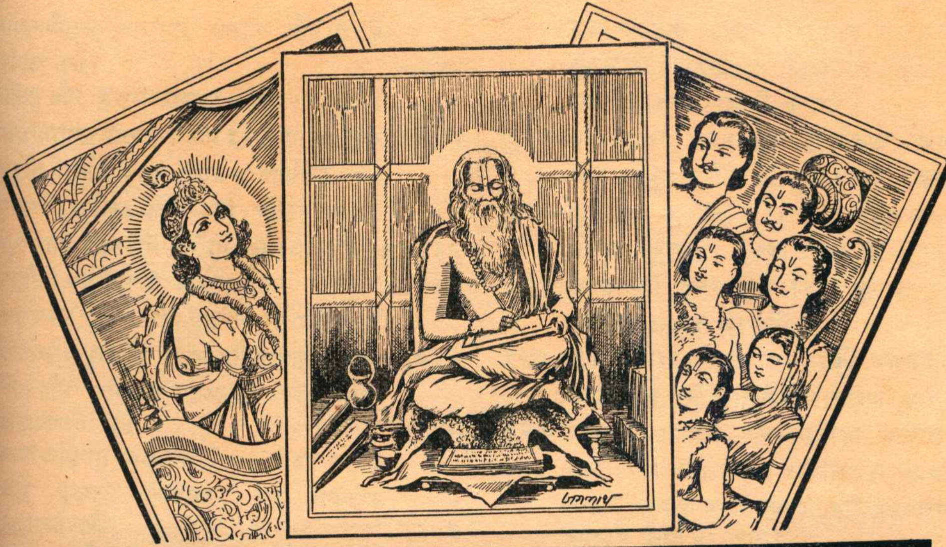
हिन्दी अनुवाद

वर्ष ३

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या ३

ॐ श्रीपरमात्मने नमः



महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष ३ | गोरखपुर, पौष २०१४, जनवरी १९५८ | संख्या ३ पूर्ण संख्या २७

भगवान् मुकुन्दकी शरण

यः कर्ता सर्वसृष्टेरपरिमितकलं सर्ववित् सर्वशक्ति-
र्योऽन्तःसर्वं सहेतुं नियमयति विभुर्विश्वमाविश्य नित्यम् ।
यं ब्रह्मेशानशक्रप्रमुखसुरगणा नित्यमाराधयन्ति
यस्मिन्नन्ते लयोऽस्य प्रभुमनवरतं तं प्रपद्ये मुकुन्दम् ॥

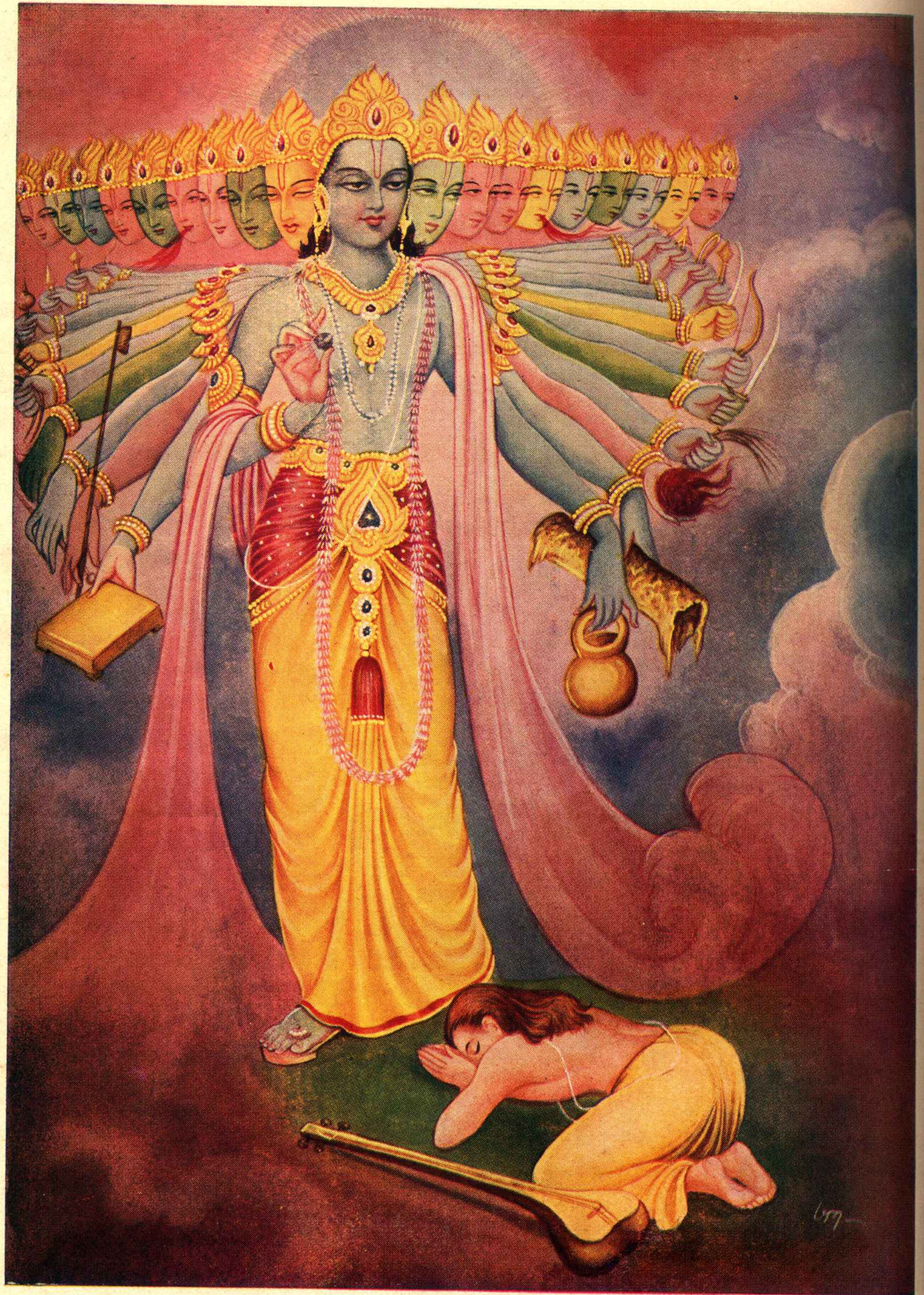
जो समस्त सृष्टिके कर्ता, अपरिमित कलाओंसे युक्त, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, जो सर्वव्यापी स्वरूपसे सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त होकर सदा कारण-सहित सम्पूर्ण जगत्को अपने नियन्त्रणमें रखते हैं, ब्रह्मा, शिव और इन्द्र आदि प्रधान देवता जिनकी नित्य आराधना करते हैं तथा अन्ततोगत्वा इस सम्पूर्ण प्रपञ्चका एकमात्र जिनमें ही लय होता है, उन भगवान् मुकुन्दकी मैं निरन्तर शरण लेता हूँ ।

वार्षिक मूल्य	सम्पादक—**हनुमानप्रसाद पोद्दार**	एक प्रति का
भारतमें २०)	टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'	भारतमें २)
विदेशमें २६॥)	मुद्रक-प्रकाशक—**घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर**	विदेशमें २॥)
(४० शिलिंग)		**(४ शिलिंग)**

* श्रीहरिः *

विषय-सूची (शान्तिपर्व)

चित्र-सूची



नारदजीको भगवान्‌के विश्वरूपका दर्शन

एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सांख्ययोगके अनुसार साधन और उसके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सम्यक् त्वयायं नृपते वर्णितः शिष्टसम्मतः।
योगमार्गो यथान्यायं शिष्यायेह हितैषिणा ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाराज ! आप मेरे हितैषी हैं, आपने मुझ शिष्यके प्रति शिष्ट पुरुषोंके मतके अनुसार इस योगमार्गका यथोचितरूपसे वर्णन किया ॥ १ ॥

सांख्ये त्विदानीं कार्त्स्न्येन विधिं प्रब्रूहि पृच्छते।
त्रिषु लोकेषु यज्ज्ञानं सर्वं तद् विदितं हि ते ॥ २ ॥

अब मैं सांख्यविषयक सम्पूर्ण विधि पूछ रहा हूँ। आप मुझे उसे बतानेकी कृपा करें; क्योंकि तीनों लोकोंमें जो ज्ञान है, वह सब आपको विदित है ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शृणु मे त्वमिदं सूक्ष्मं सांख्यानां विदितात्मनाम्।
विहितं यतिभिः सर्वैः कपिलादिभिरीश्वरैः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! आत्मतत्त्वके जाननेवाले सांख्यशास्त्रके विद्वानोंका यह सूक्ष्म ज्ञान तुम मुझसे सुनो। इसे ईश्वरकोटिके कपिल आदि सम्पूर्ण यतियोंने प्रकाशित किया है ॥

यस्मिन् न विभ्रमाः केचिद् दृश्यन्ते मनुजर्षभ।
गुणाश्च यस्मिन् बहवो दोषहानिश्च केवला ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ ! इस मतमें किसी प्रकारकी भूल नहीं दिखायी देती। इसमें गुण तो बहुत-से हैं; किंतु दोषोंका सर्वथा अभाव है ॥ ४ ॥

ज्ञानेन परिसंख्याय सदोषान् विषयान् नृप।
मानुषान् दुर्जयान् कृत्स्नान् पैशाचान् विषयांस्तथा ॥ ५ ॥
राक्षसान् विषयान् ज्ञात्वा यक्षाणां विषयांस्तथा।
विषयानौरगान् ज्ञात्वा गान्धर्वविषयांस्तथा ॥ ६ ॥
पितॄणां विषयान् ज्ञात्वा तिर्यक्षु चरतां नृप।
सुपर्णविषयान् ज्ञात्वा मरुतां विषयांस्तथा ॥ ७ ॥
राजर्षिविषयान् ज्ञात्वा ब्रह्मर्षिविषयांस्तथा।
आसुरान् विषयान् ज्ञात्वा वैश्वदेवांस्तथैव च ॥ ८ ॥
देवर्षिविषयान् ज्ञात्वा योगानामपि चेश्वरान्।
प्रजापतीनां विषयान् ब्रह्मणो विषयांस्तथा ॥ ९ ॥
आयुषश्च परं कालं लोके विज्ञाय तत्त्वतः।
सुखस्य च परं तत्त्वं विज्ञाय वदतां वर ॥ १० ॥
प्राप्ते काले च यद् दुःखं सततं विषयैषिणाम्।
तिर्यक्षु पततां दुःखं पततां नरके च यत् ॥ ११ ॥
स्वर्गस्य च गुणान् कृत्स्नान् दोषान् सर्वांश्च भारत।
वेदवादेऽपि ये दोषा गुणा ये चापि वैदिकाः ॥ १२ ॥
ज्ञानयोगे च ये दोषा गुणा योगे च ये नृप।
सांख्यज्ञाने च ये दोषास्तथैव च गुणा नृप ॥ १३ ॥
सत्त्वं दशगुणं ज्ञात्वा रजो नवगुणं तथा।
तमश्चाष्टगुणं ज्ञात्वा बुद्धिं सप्तगुणां तथा ॥ १४ ॥
षड्गुणं च मनो ज्ञात्वा नभः पञ्चगुणं तथा।
बुद्धिं चतुर्गुणां ज्ञात्वा तमश्च त्रिगुणं तथा ॥ १५ ॥
द्विगुणं च रजो ज्ञात्वा सत्त्वमेकगुणं पुनः।
मार्गं विज्ञाय तत्त्वेन प्रलये प्रेक्षणे तथा ॥ १६ ॥
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः कारणैर्भाविताः शुभाः।
प्राप्नुवन्ति शुभं मोक्षं सूक्ष्मा इव नभः परम् ॥ १७ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर ! जो ज्ञानके द्वारा मनुष्य, पिशाच, राक्षस, यक्ष, सर्प, गन्धर्व, पितर, तिर्यग्योनि, गरुड़, मरुद्गण, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, असुर, विश्वेदेव, देवर्षि, योगी, प्रजापति तथा ब्रह्माजीके भी सम्पूर्ण दुर्जय विषयोंको सदोष जानकर, संसारके मनुष्योंका परमायुकाल तथा सुखके परम तत्त्वका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और विषयोंकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको समय-समयपर जो दुःख प्राप्त होता है, उसको, तिर्यग्योनि और नरकमें पड़नेवाले जीवोंके दुःखको, स्वर्ग तथा वेदकी फल-श्रुतियोंके सम्पूर्ण गुण-दोषोंको जानकर ज्ञानयोग, सांख्यज्ञान और योगमार्गके गुण-दोषोंको भी समझ लेते हैं तथा भरतनन्दन ! सत्त्वगुणके दस[1], रजोगुणके नौ[2], तमोगुणके आठ[3], बुद्धिके सात[4], मनके छः[5] और आकाशके पाँच[6] गुणोंका ज्ञान प्राप्त करके बुद्धिके दूसरे चार[7], तमोगुणके दूसरे तीन[8], रजोगुणके दूसरे दो[9] और सत्त्वगुणके पुनः एक[10] गुणको जानकर आत्माकी प्राप्ति करानेवाले मार्ग—प्राकृत प्रलय तथा आत्मविचारको ठीक-ठीक जान लेते हैं, वे ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न तथा मोक्षोपयोगी साधनोंके अनुष्ठानसे शुद्धचित्त हुए

१. ज्ञानशक्ति, वैराग्य, स्वामिभाव, तप, सत्य, क्षमा, धैर्य, स्वच्छता, आत्माका बोध और अधिष्ठातृत्व—ये दस सात्त्विक गुण बताये गये हैं। २. असंतोष, पश्चात्ताप, शोक, लोभ, अक्षमा, दमन करनेकी प्रवृत्ति, काम, क्रोध और ईर्ष्या—ये नौ राजस गुण बताये गये हैं। ३. अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न, निद्रा, अभिमान, विषाद और प्रीतिका अभाव—ये आठ तामस गुण हैं। ४. महत्, अहंकार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा—ये सात गुण बुद्धिके हैं। ५. श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—इन पाँच इन्द्रियोंसहित छठा मन—ये मनके छः गुण हैं। ६. आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये आकाशके पाँच गुण हैं। ७. संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण—ये बुद्धिके चार गुण हैं। ८. अप्रतिपत्ति, विप्रतिपत्ति और विपरीत प्रतिपत्ति—ये तीन गुण तमके हैं। ९. प्रवृत्ति तथा दुःख—ये दो गुण रजके हैं। १०. प्रकाश सत्त्वका एक प्रधान गुण है।

कल्याणमय सांख्ययोगी परम आकाशको प्राप्त होनेवाले सूक्ष्म भूतोंके समान मङ्गलमय मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं ॥५-१७॥

रूपेण दृष्टिं संयुक्तां घ्राणं गन्धगुणेन च ।
शब्दे सक्तं तथा श्रोत्रं जिह्वां रसगुणेषु च ॥ १८ ॥

नेत्र रूप-गुणसे संयुक्त हैं । घ्राणेन्द्रिय गन्ध नामक गुणसे सम्बन्ध रखती है । श्रोत्रेन्द्रिय शब्दमें आसक्त है और रसना रसगुणमें ॥ १८ ॥

तनुं स्पर्शे तथा सक्तां वायुं नभसि चाश्रितम् ।
मोहं तमसि संयुक्तं लोभमर्थेषु संश्रितम् ॥ १९ ॥

त्वचा स्पर्शनामक गुणमें आसक्त है । इसी प्रकार वायुका आश्रय आकाश, मोहका आश्रय तमोगुण और लोभका आश्रय इन्द्रियोंके विषय हैं ॥ १९ ॥

विष्णुं क्रान्ते बले शक्रं कोष्ठे सक्तं तथानलम् ।
अप्सु देवीं समासक्तामपस्तेजसि संश्रिताः ॥ २० ॥
तेजो वायौ तु संसक्तं वायुं नभसि चाश्रितम् ।
नभो महति संयुक्तं महद् बुद्धौ च संश्रितम् ॥ २१ ॥

गतिका आधार विष्णु, बलका इन्द्र, उदरका अग्नि तथा पृथ्वीदेवीका आधार जल है । जलका तेज, तेजका वायु, वायुका आकाश, आकाशका आश्रय महत्तत्त्व अर्थात् महत्तत्त्वका कार्य अहंकार है और अहंकारका अधिष्ठान समष्टि बुद्धि है ॥ २०-२१ ॥

बुद्धिं तमसि संसक्तां तमो रजसि संश्रितम् ।
रजः सत्त्वे तथा सक्तं सत्त्वं सक्तं तथाऽऽत्मनि ॥ २२ ॥
सक्तमात्मानमीशे च देवे नारायणे तथा ।
देवं मोक्षे च संसक्तं मोक्षं सक्तं तु न क्वचित् ॥ २३ ॥

बुद्धिका आश्रय तमोगुण, तमोगुणका आश्रय रजोगुण और रजोगुणका आश्रय सत्त्वगुण है । सत्त्वगुण जीवात्माके आश्रित है । जीवात्माको भगवान् नारायणदेवके आश्रित समझो । भगवान् नारायणका आश्रय है मोक्ष (परब्रह्म), परंतु मोक्षका कोई भी आश्रय नहीं है (वह अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित है) ॥ २२-२३ ॥

ज्ञात्वा सत्त्वगुणं देहं वृतं षोडशभिर्गुणैः ।
स्वभावं चेतनां चैव ज्ञात्वा देहसमाश्रिते ॥ २४ ॥
मध्यस्थमेकमात्मानं पापं यस्मिन् न विद्यते ।
द्वितीयं कर्म विज्ञाय नृपते विषयैषिणाम् ॥ २५ ॥

इन बातोंको भलीभाँति जानकर तथा सत्त्वगुणको, मनसहित ग्यारह इन्द्रिय, पाँच प्राण—इन सोलह गुणोंसे घिरे हुए सूक्ष्म शरीरको, शरीरके आश्रित रहनेवाले स्वभाव और चेतनाको जाने । नरेश्वर ! जिसमें पापका लेश भी नहीं है, वह एकमात्र जीवात्मा शरीरके भीतर हृदयरूपी गुफामें उदासीनभावसे विद्यमान है, इस बातको जाने । विषयकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्योंका जो कर्म है, वह शरीरके भीतर आत्माके अतिरिक्त दूसरा तत्त्व है । यह भी अच्छी तरह जान ले ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च सर्वानात्मनि संश्रितान् ।
दुर्लभत्वं च मोक्षस्य विज्ञाय श्रुतिपूर्वकम् ॥ २६ ॥

इन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषय—ये सबके सब शरीरके भीतर स्थित हैं । मोक्ष परम दुर्लभ वस्तु है । इन सब बातोंको वेदोंके स्वाध्यायपूर्वक भलीभाँति समझ ले ॥ २६ ॥

प्राणापानौ समानं च व्यानोदानौ च तत्त्वतः ।
अधश्चैवानिलं ज्ञात्वा प्रवहं चानिलं पुनः ॥ २७ ॥
सप्त वातांस्तथा ज्ञात्वा सप्तधा विहितान् पुनः ।
प्रजापतीनृषींश्चैव मार्गांश्चैव बहून् वरान् ॥ २८ ॥

प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—ये पाँच प्राणवायु हैं । अधोगामी वायु छठा और ऊर्ध्वगामी प्रवह नामक वायु सातवाँ है । ये वायुके जो सात भेद हैं, इनमेंसे प्रत्येकके सात-सात भेद और हो जाते हैं । इस प्रकार कुल उन्चास वायु होते हैं । अनेक प्रजापति, अनेक ऋषि तथा मुक्तिके अनेकानेक उत्तम मार्ग हैं । इन सबकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये ॥ २७-२८ ॥

सप्तर्षींश्च बहून् ज्ञात्वा राजर्षींश्च परंतप ।
सुरर्षीन् महतश्चान्यान् ब्रह्मर्षीन् सूर्यसंनिभान् ॥ २९ ॥

परंतप ! सप्तर्षियों, बहुसंख्यक राजर्षियों, देवर्षियों, अन्यान्य महापुरुषों तथा सूर्यके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षियोंका भी ज्ञान प्राप्त करे ॥ २९ ॥

ऐश्वर्याच्च्यावितान् दृष्ट्वा कालेन महता नृप ।
महतां भूतसंघानां श्रुत्वा नाशं च पार्थिव ॥ ३० ॥
गतिं चाप्यशुभां ज्ञात्वा नृपते पापकर्मिणाम् ।
वैतरण्यां च यद् दुःखं पतितानां यमक्षये ॥ ३१ ॥

पृथ्वीनाथ ! महान् कालकी प्रेरणासे मनुष्य ऐश्वर्यसे भ्रष्ट कर दिये जाते हैं । बड़े-बड़े जो भूत-समुदाय हैं, उनका भी कालके द्वारा नाश हो जाता है । यह सब देख-सुनकर पापकर्मी मनुष्योंको जो अशुभ गति प्राप्त होती है तथा यमलोकमें जाकर वैतरणी नदीमें गिरे हुए प्राणियोंको जो दुःख होता है, उसको भी जाने ॥ ३०-३१ ॥

योनीषु च विचित्रासु संसारानशुभांस्तथा ।
जठरे चाशुभे वासं शोणितोदकभाजने ॥ ३२ ॥
श्लेष्ममूत्रपुरीषे च तीव्रगन्धसमन्विते ।
शुक्रशोणितसंघाते मज्जास्नायुपरिग्रहे ॥ ३३ ॥
शिराशतसमाकीर्णे नवद्वारे पुरेऽशुचौ ।
विज्ञाय हितमात्मानं योगांश्च त्रिविधान् नृप ॥ ३४ ॥

प्राणियोंको विचित्र-विचित्र योनियोंमें अशुभ जन्म धारण करने पड़ते हैं । रक्त और मूत्रके पात्ररूप अपवित्र गर्भाशयमें निवास करना पड़ता है, जहाँ कफ, मूत्र और मल भरा होता है तथा तीव्र दुर्गन्ध व्याप्त रहती है, जो रज और वीर्यका समुदायमात्र है, मज्जा एवं स्नायुका संग्रह है, सैकड़ों नस-नाड़ियोंसे व्याप्त है तथा जिसमें नौ द्वार

हैं; उस अपवित्र पुर अर्थात् शरीरमें जीवको रहना पड़ता है। नरेश्वर! इन सब बातोंको जानकर अपने परम हितस्वरूप आत्माको और उसकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंद्वारा बताये हुए नाना प्रकारके योगों (साधनों) की जानकारी प्राप्त करनी चाहिये ॥ ३२—३४ ॥

तामसानां च जन्तूनां रमणीयावृतात्मनाम्।
सात्त्विकानां च जन्तूनां कुत्सितं भरतर्षभ ॥ ३५ ॥
गर्हितं महतामर्थे सांख्यानां विदितात्मनाम्।

भरतश्रेष्ठ! तामस, राजस और सात्त्विक—इन तीन प्रकारके प्राणियोंके जो तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषोंद्वारा निन्दित—मोक्षविरोधी व्यवहार हैं, उनको भी जानना चाहिये ॥

उपप्लवांस्तथा घोराञ्शशिनस्तेजसस्तथा ॥ ३६ ॥
ताराणां पतनं दृष्ट्वा नक्षत्राणां च पर्ययम्।
द्वन्द्वानां विप्रयोगं च विज्ञाय कृपणं नृप ॥ ३७ ॥

नरेश्वर! घोर उत्पात, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, ताराओंका टूटकर गिरना, नक्षत्रोंकी गतिमें उलट-फेर होना तथा पति-पत्नियोंका दुःखदायक वियोग होना आदि बातें, जो इस जगत्में घटित होती हैं, उनको भी जानकर अपने कल्याणका उपाय करना चाहिये ॥ ३६-३७ ॥

अन्योन्यभक्षणं दृष्ट्वा भूतानामपि चाशुभम्।
बाल्ये मोहं च विज्ञाय क्षयं देहस्य चाशुभम् ॥ ३८ ॥
रागे मोहे च सम्प्राप्ते क्वचित् सत्त्वं समाश्रितम्।
सहस्रेषु नरः कश्चिन्मोक्षबुद्धिं समाश्रितः ॥ ३९ ॥

संसारके प्राणी एक-दूसरेको खा जाते हैं, यह कैसी अशुभ घटना है। इसपर दृष्टिपात करो। बाल्यावस्थामें मनपर मोह छाया रहता है और वृद्धावस्थामें शरीरका अमङ्गलकारी विनाश उपस्थित होता है। राग और मोह प्राप्त होनेपर अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, इन सबको जानकर कहीं किसी-किसीको ही सत्त्वगुणसे युक्त देखा जाता है। सहस्रों मनुष्योंमेंसे कोई बिरला ही मोक्षविषयक बुद्धिका आश्रय लेता है ॥ ३८—३९ ॥

दुर्लभत्वं च मोक्षस्य विज्ञाय श्रुतिपूर्वकम्।
बहुमानमलब्धेषु लब्धे मध्यस्थतां पुनः ॥ ४० ॥

वेद-वाक्योंके श्रवणद्वारा मुक्तिकी दुर्लभताको जानकर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होनेपर भी उस परिस्थितिके प्रति अधिक आदर-बुद्धि रखे और मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त हो जाय, तो भी उसकी ओरसे उदासीन ही रहे ॥ ४० ॥

विषयाणां च दौरात्म्यं विज्ञाय नृपते पुनः।
गतासूनां च कौन्तेय देहान् दृष्ट्वा तथाशुभान् ॥ ४१ ॥

नरेश्वर! शब्द-स्पर्श आदि विषय दुःखरूप ही हैं, इस बातको जाने। कुन्तीनन्दन! जिनके प्राण चले जाते हैं, उन मनुष्योंके शरीरोंकी जो अशुभ एवं बीभत्स दशा होती है, उसपर भी दृष्टिपात करे ॥ ४१ ॥

वासं कुलेषु जन्तूनां दुःखं विज्ञाय भारत।
ब्रह्मघ्नानां गतिं ज्ञात्वा पतितानां सुदारुणाम् ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन! प्राणियोंका घरोंमें निवास करना भी दुःखरूप ही है, इस बातको अच्छी तरह समझे तथा ब्रह्मघाती और पतित मनुष्योंकी जो अत्यन्त भयंकर दुर्गति होती है, उसको भी जाने ॥ ४२ ॥

सुरापाने च सक्तानां ब्राह्मणानां दुरात्मनाम्।
गुरुदारप्रसक्तानां गतिं विज्ञाय चाशुभाम् ॥ ४३ ॥

मदिरापानमें आसक्त दुरात्मा ब्राह्मणोंकी तथा गुरु-पत्नीगामी मनुष्योंकी जो अशुभ गति होती है, उसका भी विचार करे ॥ ४३ ॥

जननीषु च वर्तन्ते ये न सम्यग् युधिष्ठिर।
सदेवकेषु लोकेषु ये न वर्तन्ति मानवाः ॥ ४४ ॥
तेन ज्ञानेन विज्ञाय गतिं चाशुभकर्मणाम्।
तिर्यग्योनिगतानां च विज्ञाय गतयः पृथक् ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर! जो मनुष्य माताओं, देवताओं तथा सम्पूर्ण लोकोंके प्रति उत्तम बर्ताव नहीं करते हैं, उनकी दुर्गतिका ज्ञान जिससे होता है, उसी ज्ञानसे पापाचारी पुरुषोंकी अधोगतिका ज्ञान प्राप्त करे तथा तिर्यग्योनिमें पड़े हुए प्राणियोंकी जो विभिन्न गतियाँ होती हैं, उनको भी जान ले ॥ ४४-४५ ॥

वेदवादांस्तथा चित्रानृतूनां पर्ययांस्तथा।
क्षयं संवत्सराणां च मासानां च क्षयं तथा ॥ ४६ ॥
पक्षक्षयं तथा दृष्ट्वा दिवसानां च संक्षयम्।
क्षयं वृद्धिं च चन्द्रस्य दृष्ट्वा प्रत्यक्षतस्तथा ॥ ४७ ॥
वृद्धिं दृष्ट्वा समुद्राणां क्षयं तेषां तथा पुनः।
क्षयं धनानां दृष्ट्वा च पुनर्वृद्धिं तथैव च ॥ ४८ ॥

वेदोंके भाँति-भाँतिके विचित्र वचन, ऋतुओंके परिवर्तन तथा दिन, पक्ष, मास और संवत्सर आदि काल जो प्रतिक्षण बीत रहा है, उसकी ओर भी ध्यान दे। चन्द्रमाकी ह्रास-वृद्धि तो प्रत्यक्ष दिखायी देती है। समुद्रोंका ज्वारभाटा भी प्रत्यक्ष ही है। धनवानोंके धनका नाश और नाशके बाद पुनः वृद्धिका क्रम भी दृष्टिगोचर होता ही रहता है। इन सबको देखकर अपने कर्तव्यका निश्चय करे ॥ ४६—४८ ॥

संयोगानां क्षयं दृष्ट्वा युगानां च विशेषतः।
क्षयं च दृष्ट्वा शैलानां क्षयं च सरितां तथा ॥ ४९ ॥
वर्णानां च क्षयं दृष्ट्वा क्षयान्तं च पुनः पुनः।
जरामृत्युं तथा जन्म दृष्ट्वा दुःखानि चैव ह ॥ ५० ॥

संयोगोंका, युगोंका, पर्वतोंका और सरिताओंका जो क्षय होता है, उसपर दृष्टि डाले। वर्णोंका क्षय और क्षयका अन्त भी बारंबार देखे। जन्म, मृत्यु और जरावस्थाके दुःखोंपर दृष्टिपात करे ॥ ४९-५० ॥

देहदोषांस्तथा ज्ञात्वा तेषां दुःखं च तत्त्वतः।
देहविक्लवतां चैव सम्यग् विज्ञाय तत्त्वतः ॥ ५१ ॥

देहके दोषोंको जानकर उनसे मिलनेवाले दुःखका भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। शरीरकी व्याकुलताको भी ठीक-ठीक जाननेका प्रयत्न करे ॥ ५१ ॥

आत्मदोषांश्च विज्ञाय सर्वानात्मनि संश्रितान्।
स्वदेहादुत्थितान् गन्धांस्तथा विज्ञाय चाशुभान् ॥ ५२॥

अपने शरीरमें स्थित जो अपने ही दोष हैं, उन सबको जानकर शरीरसे जो निरन्तर दुर्गन्ध उठती रहती है, उसकी ओर भी ध्यान दे (तथा विरक्त होकर परमात्माका चिन्तन करते हुए भवबन्धनसे मुक्त होनेका प्रयत्न करे) ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कान् स्वगात्रोद्भवान् दोषान् पश्यस्यमितविक्रम।
एतन्मे संशयं कृत्स्नं वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—अमितपराक्रमी पितामह ! आपके देखनेमें कौन-कौन-से दोष ऐसे हैं, जो अपने ही शरीरसे उत्पन्न होते हैं? आप मेरे इस सम्पूर्ण संदेहका यथार्थ-रूपसे समाधान करनेकी कृपा करें ॥ ५३ ॥

भीष्म उवाच

पञ्च दोषान् प्रभो देहे प्रवदन्ति मनीषिणः।
मार्गज्ञाः कापिलाः सांख्याः शृणु तानरिसूदन ॥ ५४ ॥

भीष्मजीने कहा—प्रभो ! शत्रुसूदन ! कपिल-सांख्य-मतके अनुसार चलनेवाले उत्तम मार्गोंके ज्ञाता मनीषी पुरुष इस देहके भीतर पाँच दोष बतलाते हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ५४ ॥

कामक्रोधौ भयं निद्रा पञ्चमः श्वास उच्यते।
एते दोषाः शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम् ॥ ५५ ॥

काम, क्रोध, भय, निद्रा और श्वास—ये पाँच दोष समस्त देहधारियोंके शरीरोंमें देखे जाते हैं ॥ ५५ ॥

छिन्दन्ति क्षमया क्रोधं कामं संकल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनान्निद्रामप्रमादाद् भयं तथा ॥ ५६ ॥
छिन्दन्ति पञ्चमं श्वासमल्पाहारतया नृप ॥ ५७ ॥

सत्पुरुष क्षमासे क्रोधका, संकल्पके त्यागसे कामका, सत्त्वगुणके सेवनसे निद्राका, प्रमादके त्यागसे भयका तथा अल्पाहारके सेवनद्वारा पाँचवें श्वास-दोषका नाश करते हैं ॥

गुणान् गुणशतैर्ज्ञात्वा दोषान् दोषशतैरपि।
हेतून् हेतुशतैश्चित्रैश्चित्रान् विज्ञाय तत्त्वतः ॥ ५८ ॥
अपां फेनोपमं लोकं विष्णोर्मायाशतैर्वृतम्।
चित्रभित्तिप्रतीकाशं नलसारमनर्थकम् ॥ ५९ ॥
तमः श्वभ्रनिभं दृष्ट्वा वर्षबुद्बुदसंनिभम्।
नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमिहावशम् ॥ ६० ॥
रजस्तमसि सम्मग्नं पङ्के द्विपमिवावशम्।
सांख्या राजन् महाप्राज्ञास्त्यक्त्वा स्नेहं प्रजाकृतम् ॥ ६१ ॥
ज्ञानयोगेन सांख्येन व्यापिना महता नृप।
राजसानशुभान् गन्धांस्तामसांश्च तथाविधान् ॥ ६२ ॥
पुण्यांश्च सात्त्विकान् गन्धान् स्पर्शजान् देहसंश्रितान्।
छित्त्वाऽऽशु ज्ञानशस्त्रेण तपोदण्डेन भारत ॥ ६३ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! महाबुद्धिमान् सांख्यके विद्वान् सैकड़ों गुणोंके द्वारा गुणोंको, सैकड़ों दोषोंके द्वारा दोषोंको तथा सैकड़ों विचित्र हेतुओंसे विचित्र हेतुओंको तत्त्वतः जानकर व्यापक ज्ञानके प्रभावसे संसारको पानीके फेनके समान नश्वर, विष्णुकी सैकड़ों मायाओंसे ढका हुआ, दीवारपर बने हुए चित्रके समान, नरकुलके समान सारहीन, अन्धकारसे भरे हुए गड्ढेकी भाँति भयंकर, वर्षाकालके पानीके बुलबुलोंके समान क्षणभङ्गुर, सुखहीन, पराधीन, नष्टप्राय तथा कीचड़में फँसे हुए हाथीकी तरह रजोगुण और तमोगुणमें मग्न समझते हैं। इसलिये वे संतान आदिकी आसक्तिको दूर करके तपरूप दण्डसे युक्त विवेकरूपी शस्त्रसे राजस-तामस अशुभ गन्धोंको और सुन्दर शोभनीय सात्त्विक गन्धोंको तथा स्पर्शेन्द्रियके देहाश्रित भोगोंकी आसक्तिको शीघ्र ही काट डालते हैं ॥ ५८—६३ ॥

ततो दुःखोदकं घोरं चिन्ताशोकमहाह्रदम्।
व्याधिमृत्युमहाग्राहं महाभयमहोरगम् ॥ ६४ ॥
तमःकूर्मं रजोमीनं प्रज्ञया संतरन्त्युत।
स्नेहपङ्कं जरादुर्गं ज्ञानद्वीपमरिंदम ॥ ६५ ॥
कर्मागाधं सत्यतीरं स्थितव्रतमरिंदम।
हिंसाशीघ्रमहावेगं नानारससमाकरम् ॥ ६६ ॥
नानाप्रीतिमहारत्नं दुःखज्वरसमीरणम्।
शोकतृष्णामहावर्तं तीक्ष्णव्याधिमहागजम् ॥ ६७ ॥
अस्थिसंघातसंघट्टं श्लेष्मफेनमरिंदम।
दानमुक्ताकरं घोरं शोणितह्रदविद्रुमम् ॥ ६८ ॥
हसितोत्क्रुष्टनिर्घोषं नानाज्ञानसुदुस्तरम्।
रोदनाश्रुमलक्षारं संगत्यागपरायणम् ॥ ६९ ॥
पुत्रदारजलौकौघं मित्रबान्धवपत्तनम्।
अहिंसासत्यमर्यादं प्राणत्यागमहोर्मिणम् ॥ ७० ॥
वेदान्तगमनद्वीपं सर्वभूतदयोदधिम्।
मोक्षदुर्लभविषयं वडवामुखसागरम् ॥ ७१ ॥
तरन्ति यतयः सिद्धा ज्ञानयानेन भारत।
तीर्त्वातिदुस्तरं जन्म विशन्ति विमलं नभः ॥ ७२ ॥

शत्रुसूदन ! तदनन्तर वे सिद्ध यति प्रज्ञारूपी नौकाके द्वारा उस संसाररूपी घोर सागरको तर जाते हैं, जिसमें दुःखरूपी जल भरा है। चिन्ता और शोकके बड़े-बड़े कुण्ड हैं। नाना प्रकारके रोग और मृत्यु विशाल ग्राहोंके समान हैं। महान् भय ही महानागोंके समान हैं। तमोगुण कछुए और रजोगुण मछलियाँ हैं। स्नेह ही कीचड़ है। बुढ़ापा ही उससे पार होनेमें कठिनाई है। ज्ञान ही उसका द्वीप है। नाना प्रकारके कर्मोंद्वारा वह अगाध बना हुआ है।

सत्य ही उसका तीर है । नियम-व्रत आदि स्थिरता है । हिंसा ही उसका शीघ्रगामी महान् वेग है । वह नाना प्रकारके रसोंका भण्डार है । अनेक प्रकारकी प्रीतियाँ ही उस भवसागरके महारत्न हैं । दुःख और संताप ही वहाँकी वायु है । शोक और तृष्णाकी बड़ी-बड़ी भँवरें उठती रहती हैं । तीव्र व्याधियाँ उसके भीतर रहनेवाले महान् जलहस्ती हैं । हड्डियाँ ही उसके घाट हैं । कफ फेन हैं । दान मोतियोंकी राशि हैं । रक्त उसके कुण्डमें रहनेवाले मूँगा हैं । हँसना और चिल्लाना ही उस सागरकी गम्भीर गर्जना है । अनेक प्रकारके अज्ञान ही इसे अत्यन्त दुस्तर बनाये हुए हैं । रोदनजनित आँसू ही उसमें मलिन खारे जलके समान हैं । आसक्तियोंका त्याग ही उसमें परम आश्रय या दूसरा तट है । स्त्री-पुत्र जोंकके समान हैं । मित्र और बन्धु-बान्धव तटवर्ती नगर हैं । अहिंसा और सत्य उसकी सीमा हैं । प्राणोंका परित्याग ही उसकी उत्ताल तरङ्गें हैं । वेदान्तज्ञान द्वीप है । समस्त प्राणियोंके प्रति दयाभाव इसकी जलराशि हैं । मोक्ष उसमें दुर्लभ विषय है और नाना प्रकारके संताप उस संसारसागरके बड़वानल हैं । भरतनन्दन ! उससे पार होकर वे आकाशस्वरूप निर्मल परब्रह्ममें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ६४--७२ ॥

तत्र तान् सुकृतीन् सांख्यान् सूर्यो वहति रश्मिभिः ।
पद्मतन्तुवदाविश्य प्रवहन् विषयान् नृप ॥ ७३ ॥

राजन् ! उन पुण्यात्मा सांख्ययोगी सिद्ध पुरुषोंको अपनी रश्मियोंद्वारा उनमें प्रविष्ट हुआ सूर्य अर्चिमार्गसे उस ब्रह्मलोकमें ले जानेके लिये ऊपरके लोकोंमें उसी प्रकार वहन करता है, जैसे कमलकी नाल सरोवरके जलको खींच लेती है॥

तत्र तान् प्रवहो वायुः प्रतिगृह्णाति भारत ।
वीतरागान् यतीन् सिद्धान् वीर्ययुक्तांस्तपोधनान्॥ ७४॥

वहाँ प्रवहनामक वायु-अभिमानी देवता उन वीतराग शक्तिसम्पन्न सिद्ध तपोधन महापुरुषोंको सूर्य-अभिमानी देवतासे अपने अधिकारमें ले लेता है ॥ ७४ ॥

सूक्ष्मः शीतः सुगन्धी च सुखस्पर्शश्च भारत ।
सप्तानां मरुतां श्रेष्ठो लोकान् गच्छति यः शुभान्।
स तान् वहति कौन्तेय नभसः परमां गतिम् ॥ ७५ ॥

भरतनन्दन ! कुन्तीकुमार ! सूक्ष्म, शीतल, सुगन्धित, सुखस्पर्श एवं सातों वायुओंमें श्रेष्ठ जो वायुदेव शुभ लोकोंमें जाते हैं, वे फिर उन कल्याणमय सांख्ययोगियोंको आकाशकी ऊँची स्थितिमें पहुँचा देते हैं ॥ ७५ ॥

नभो वहति लोकेश रजसः परमां गतिम् ।
रजो वहति राजेन्द्र सत्त्वस्य परमां गतिम् ॥ ७६ ॥
सत्त्वं वहति शुद्धात्मन् परं नारायणं प्रभुम् ।
प्रभुर्वहति शुद्धात्मा परमात्मानमात्मना ॥ ७७ ॥
परमात्मानमासाद्य तद्भूतायतनामलाः ।
अमृतत्वाय कल्पन्ते न निवर्तन्ति वा विभो ॥ ७८ ॥

लोकेश्वर ! आकाशाभिमानी देवता उन योगियोंको रजोगुणकी परमागतितक वहन करता है । अर्थात् तेजोमय विद्युत्-अभिमानी देवताओंके पास पहुँचा देता है । राजेन्द्र ! वह रजोगुण अर्थात् विद्युदभिमानी देवता उनको सत्यकी परमगतितक अर्थात् जहाँ श्रीनारायणके पार्षदगण उनको लेनेके लिये प्रस्तुत रहते हैं, वहाँतक वहन करता है । शुद्धात्मन् ! वहाँसे सत्त्वगुणयुक्त वे भगवान्के पार्षद उनको परम प्रभु श्रीनारायणके पास पहुँचा देते हैं । समर्थ राजन् ! भगवान् नारायण स्वयं उनको विशुद्ध आत्मा परब्रह्म परमात्मामें प्रविष्ट कर देते हैं । परमात्माको पाकर तद्रूप हुए वे निर्मल योगीजन अमृतभावसम्पन्न हो जाते हैं, फिर नहीं लौटते॥

परमा सा गतिः पार्थ निर्द्वन्द्वानां महात्मनाम् ।
सत्यार्जवरतानां वै सर्वभूतदयावताम् ॥ ७९ ॥

कुन्तीकुमार ! जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित, सत्यवादी, सरल तथा सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनेवाले हैं, उन महात्माओंको वही परमगति मिलती है ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्थानमुत्तममासाद्य भगवन्तं स्थिरव्रताः ।
आजन्ममरणं वा ते स्मरन्त्युत न वानघ ॥ ८० ॥
यदत्र तथ्यं तन्मे त्वं यथावद् वक्तुमर्हसि ।
त्वदृते पुरुषं नान्यं प्रष्टुमर्हामि कौरव ॥ ८१ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—निष्पाप पितामह ! स्थिरतापूर्वक श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले वे सांख्ययोगी महात्मा भगवान् नारायणको एवं उत्तम परमात्मपद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेनेपर अपने जन्मसे लेकर मृत्युतकके बीते हुए वृत्तान्तको फिर कभी याद करते हैं या नहीं ? (मोक्षावस्थामें विशेष-विशेष बातोंका ज्ञान रहता है या नहीं ? यही मेरा प्रश्न है ।) इस विषयमें जो तथ्य बात है, उसे आप यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें । कुरुनन्दन ! आपके सिवा दूसरे किसी पुरुषसे मैं ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता ॥ ८०-८१ ॥

मोक्षे दोषो महानेष प्राप्य सिद्धिं गतानृषीन् ।
यदि तत्रैव विज्ञाने वर्तन्ते यतयः परे ॥ ८२ ॥
प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं पश्यामि परमं नृप ।
मग्नस्य हि परे ज्ञाने किं नु दुःखतरं भवेत् ॥ ८३ ॥

सिद्धावस्थाको प्राप्त ऋषियोंके लिये मोक्षमें यह एक बड़ा दोष प्रतीत होता है । वह यह कि यदि मोक्ष प्राप्त होनेपर भी वे यतिलोग विशेष ज्ञानमें ही विचरण करते हैं अर्थात् उनको पहलेकी स्मृति रहती है, तब तो मैं प्रवृत्तिरूप धर्मको ही सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ । यदि कहें, मुक्तावस्थामें विशेष विज्ञानका अनुभव नहीं होता तब तो उस परम ज्ञानमें डूब जानेपर

विशेष जानकारीका अभाव हो जाता है, इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है ? ॥ ८२-८३ ॥

भीष्म उवाच

यथान्यायं त्वया तात प्रश्नः पृष्टः सुसंकटः।
बुधानामपि सम्मोहः प्रश्नेऽस्मिन् भरतर्षभ ॥ ८४ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! भरतश्रेष्ठ ! तुमने यथोचित रीतिसे यह बहुत ही जटिल प्रश्न उपस्थित किया। इस प्रश्नपर विचार करते समय बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं॥

अत्रापि तत्त्वं परमं शृणु सम्यङ्मयेरितम्।
बुद्धिश्च परमा यत्र कापिलानां महात्मनाम् ॥ ८५ ॥

इस विषयमें भी जो परम तत्त्व है, उसे मैं भलीभाँति बता रहा हूँ, सुनो। यहाँ कपिलजीके द्वारा प्रतिपादित सांख्यमतका अनुसरण करनेवाले महात्मा पुरुषोंका जो उत्तम विचार है, वही प्रस्तुत किया जाता है ॥ ८५ ॥

इन्द्रियाण्येव बुध्यन्ते स्वदेहे देहिनां नृप।
कारणान्यात्मनस्तानि सूक्ष्मः पश्यति तैस्तु सः ॥ ८६ ॥

नरेश्वर ! देहधारियोंके अपने-अपने शरीरमें जो इन्द्रियाँ हैं, वे ही विशेष-विशेष विषयोंको देखती या अनुभव करती हैं; वे ही आत्माको विभिन्न ज्ञान करानेमें कारण हैं; क्योंकि वह सूक्ष्म आत्मा उन इन्द्रियोंद्वारा ही बाह्य विषयोंका दर्शन या प्रकाशन करता है (मुक्तावस्थामें मन और इन्द्रियोंसे सम्बन्ध न रहनेके कारण ही उसमें इन्द्रियजनित विशेष ज्ञानका अभाव देखा जाता है) ॥ ८६ ॥

आत्मना विप्रहीणानि काष्ठकुड्यसमानि तु।
विनश्यन्ति न संदेहः फेना इव महार्णवे ॥ ८७ ॥

जैसे महासागरमें उठे हुए फेन नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मासे परित्यक्त होनेपर मनुष्यकी काठ और दीवारकी भाँति जड इन्द्रियाँ प्रकृतिमें विलीन हो जाती हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ ८७ ॥

इन्द्रियैः सह सुप्तस्य देहिनः शत्रुतापन।
सूक्ष्मश्चरति सर्वत्र नभसीव समीरणः ॥ ८८ ॥

शत्रुओंको ताप देनेवाले नरेश ! जब शरीरधारी प्राणी इन्द्रियोंसहित निद्रित हो जाता है, तब उसका सूक्ष्मशरीर आकाशमें वायुके समान सर्वत्र विचरण करने लगता है अर्थात् स्वप्न देखने लगता है ॥ ८८ ॥

स पश्यति यथान्यायं स्पर्शान् स्पृशति वा विभो।
बुध्यमानो यथापूर्वमखिलेनेह भारत ॥ ८९ ॥

प्रभो ! भरतनन्दन ! वह जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति स्वप्नमें भी यथोचित रीतिसे दृश्य वस्तुओंको देखता है तथा स्पृश्य पदार्थोंका स्पर्श करता है। सारांश यह कि सम्पूर्ण विषयोंका वह जाग्रत्के समान ही अनुभव करता है ॥ ८९ ॥

इन्द्रियाणीह सर्वाणि स्वे स्वे स्थाने यथाविधि।
अनीशत्वात् प्रलीयन्ते सर्पा हतविषा इव ॥ ९० ॥

फिर सुषुप्ति-अवस्था होनेपर विषय-ज्ञानमें असमर्थ हुई सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थानमें उसी प्रकार विधिवत् लीन हो जाती हैं, जैसे विषहीन सर्प (भयसे) छिपे रहते हैं ॥ ९० ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां स्वस्थानेष्वेव सर्वशः।
आक्रम्य गतयः सूक्ष्माश्चरत्यात्मा न संशयः ॥ ९१ ॥

स्वप्नावस्थामें अपने-अपने स्थानोंमें स्थित हुई सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी समस्त गतियोंको आक्रान्त करके जीवात्मा सूक्ष्म विषयोंमें विचरण करता है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ९१ ॥

सत्त्वस्य च गुणान् कृत्स्नान् रजसश्च गुणान् पुनः।
गुणांश्च तमसः सर्वान् गुणान् बुद्धेश्च भारत ॥ ९२ ॥
गुणांश्च मनसश्चापि नभसश्च गुणांश्च सः।
गुणान् वायोश्च धर्मात्मंस्तेजसश्च गुणान् पुनः ॥ ९३ ॥
अपां गुणांस्तथा पार्थ पार्थिवांश्च गुणानपि।
सर्वाण्येव गुणैर्व्याप्य क्षेत्रज्ञेषु युधिष्ठिर ॥ ९४ ॥
मनोऽनु याति क्षेत्रज्ञं कर्मणी च शुभाशुभे।
शिष्या इव महात्मानमिन्द्रियाणि च तं प्रभो ॥ ९५ ॥
प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य गच्छत्यात्मानमव्ययम्।
परं नारायणात्मानं निर्द्वन्द्वं प्रकृतेः परम् ॥ ९६ ॥

भरतनन्दन ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ! परब्रह्म परमात्मा सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंको एवं बुद्धि, मन, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन सबके सम्पूर्ण गुणोंको तथा अन्य सब वस्तुओंको भी अपने गुणोंद्वारा व्याप्त करके सभी क्षेत्रज्ञों (जीवात्माओं) में स्थित हैं, प्रभो ! जैसे शिष्य अपने गुरुके पीछे चलते हैं, उसी प्रकार मन, इन्द्रियाँ और शुभाशुभ कर्म भी उस जीवात्माके पीछे-पीछे चलते हैं। जब जीवात्मा इन्द्रियों और प्रकृतिको भी लाँघकर जाता है, तब उस नारायणस्वरूप अविनाशी परमात्माको प्राप्त हो जाता है, जो द्वन्द्वरहित और मायासे अतीत है ॥ ९२—९६ ॥

विमुक्तः पुण्यपापेभ्यः प्रविष्टस्तमनामयम्।
परमात्मानमगुणं न निवर्तति भारत ॥ ९७ ॥

भारत ! पुण्य-पापसे रहित हुआ सांख्ययोगी मुक्त होकर जब उन्हीं निर्गुण-निर्विकार नारायणस्वरूप परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है, फिर वह इस संसारमें नहीं लौटता है ॥ ९७ ॥

शिष्टं तत्र मनस्तात इन्द्रियाणि च भारत।
आगच्छन्ति यथाकालं गुरोः संदेशकारिणः ॥ ९८ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुषका आत्मा तो परमात्मामें मिल जाता है, परंतु प्रारब्धवश जबतक शरीर रहता है, तबतक उसके मन और इन्द्रियाँ शेष रहते हैं और गुरुके आदेश पालन करनेवाले शिष्योंके समान यथासमय यहाँ गमनागमन करते हैं ॥ ९८ ॥

शक्यं चाल्पेन कालेन शान्तिं प्राप्तुं गुणार्थिना।
एवमुक्तेन कौन्तेय युक्तज्ञानेन मोक्षिणा ॥ ९९ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार बताये हुए ज्ञानसे सम्पन्न मोक्षाधिकारी तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी अभिलाषा रखनेवाला पुरुष थोड़े ही समयमें परम शान्ति प्राप्त कर सकता है॥

सांख्या राजन् महाप्राज्ञा गच्छन्ति परमां गतिम्।
ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते ॥१००॥

राजन् ! कुन्तीकुमार ! महाज्ञानी सांख्ययोगी ऊपर बताये हुए इसी परमगतिको प्राप्त होते हैं। इस ज्ञानके समान दूसरा कोई ज्ञान नहीं है ॥ १०० ॥

अत्र ते संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम्।
अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥१०१॥

सांख्यज्ञान सबसे उत्कृष्ट माना गया है। इस विषयमें तुम्हें तनिक भी संशय नहीं होना चाहिये। इसमें अक्षर, ध्रुव एवं पूर्ण सनातन ब्रह्मका ही प्रतिपादन हुआ है॥१०१॥

अनादिमध्यनिधनं निर्द्वन्द्वं कर्तृ शाश्वतम्।
कूटस्थं चैव नित्यं च यद् वदन्ति मनीषिणः॥१०२॥

वह ब्रह्म आदि, मध्य और अन्तसे रहित, निर्द्वन्द्व, जगत्की उत्पत्तिका हेतुभूत, शाश्वत, कूटस्थ और नित्य है, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ १०२ ॥

यतः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।
यच्च शंसन्ति शास्त्रेषु वदन्ति परमर्षयः॥१०३॥

संसारकी सृष्टि और प्रलयरूप सारे विकार उसीसे सम्भव होते। महर्षि अपने शास्त्रोंमें उसीकी प्रशंसा करते हैं ॥१०३॥

सर्वे विप्राश्च देवाश्च तथा शमविदो जनाः।
ब्रह्मण्यं परमं देवमनन्तं परमच्युतम् ॥१०४॥
प्रार्थयन्तश्च तं विप्रा वदन्ति गुणबुद्धयः।
सम्यग्युक्तास्तथा योगाः सांख्याश्चामितदर्शनाः।१०५।

समस्त ब्राह्मण, देवता और शान्तिका अनुभव करनेवाले लोग उसी अनन्त, अच्युत, ब्राह्मणहितैषी तथा परमदेव परमात्माकी स्तुति-प्रार्थना करते हैं। उनके गुणोंका चिन्तन करते हुए उनकी महिमाका गान करते हैं। योगमें उत्तम सिद्धिको प्राप्त हुए योगी तथा अपार ज्ञानवाले सांख्यवेत्ता पुरुष भी उसीके गुण गाते हैं ॥ १०४-१०५ ॥

अमूर्तेस्तस्य कौन्तेय सांख्यं मूर्तिरिति श्रुतिः।
अभिज्ञानानि तस्याहुर्मतं हि भरतर्षभ ॥१०६॥

कुन्तीनन्दन ! ऐसी प्रसिद्धि है कि यह सांख्यशास्त्र ही उस निराकार परमात्माका आकार है। भरतश्रेष्ठ ! जितने ज्ञान हैं, वे सब सांख्यकी ही मान्यताका प्रतिपादन करते हैं ॥

द्विविधानीह भूतानि पृथिव्यां पृथिवीपते।
जङ्गमागमसंज्ञानि जङ्गमं तु विशिष्यते ॥१०७॥

पृथ्वीनाथ ! इस भूतलपर स्थावर और जङ्गम—दो प्रकारके प्राणी उपलब्ध होते हैं। उनमें भी जङ्गम ही श्रेष्ठ है॥१०७॥

ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन्
वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे
सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ॥१०८॥

राजन् ! नरेश्वर ! महात्मा पुरुषोंमें, वेदोंमें, सांख्यों (दर्शनों) में, योगशास्त्रमें तथा पुराणोंमें जो नाना प्रकारका उत्तम ज्ञान देखा जाता है, वह सब सांख्यसे ही आया हुआ है ॥ १०८ ॥

यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं
यच्चार्थशास्त्रे नृप शिष्टजुष्टे।
ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित्
सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् ॥१०९॥

नरेश ! महात्मन् ! बड़े-बड़े इतिहासोंमें, सत्पुरुषोंद्वारा सेवित अर्थशास्त्रमें तथा इस संसारमें जो कुछ भी महान् ज्ञान देखा गया है, वह सब सांख्यसे ही प्राप्त हुआ है ॥ १०९ ॥

शमश्च दृष्टः परमं बलं च
ज्ञानं च सूक्ष्मं च यथावदुक्तम्।
तपांसि सूक्ष्माणि सुखानि चैव
सांख्ये यथावद् विहितानि राजन् ॥११०॥

राजन् ! प्रत्यक्ष प्राप्त मन और इन्द्रियोंका संयम, उत्तम बल, सूक्ष्मज्ञान तथा परिणाममें सुख देनेवाले जो सूक्ष्म तप बतलाये गये हैं, उन सबका सांख्यशास्त्रमें यथावत् वर्णन किया गया है ॥ ११० ॥

विपर्यये तस्य हि पार्थ देवान्
गच्छन्ति सांख्याः सततं सुखेन।
तांश्चानुसंचार्य ततः कृतार्थाः
पतन्ति विप्रेषु यतेषु भूयः ॥१११॥

कुन्तीकुमार ! यदि साधनमें कुछ त्रुटि रह जानेके कारण सांख्यका सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ हो तो भी सांख्ययोगके साधक देवलोकमें अवश्य जाते हैं और वहाँ निरन्तर सुखसे रहते हुए देवताओंका आधिपत्य पाकर कृतार्थ हो जाते हैं। तदनन्तर पुण्यक्षयके पश्चात् वे इस लोकमें आकर पुनः साधनके लिये यत्नशील ब्राह्मणोंके यहाँ जन्म ग्रहण करते हैं॥

हित्वा च देहं प्रविशन्ति देवं
दिवौकसो द्यामिव पार्थ सांख्याः।
अतोऽधिकं तेऽभिरता महार्हे
सांख्ये द्विजाः पार्थिव शिष्टजुष्टे ॥११२॥

पार्थ ! सांख्यज्ञानी शरीर-त्यागके पश्चात् परमदेव परमात्मामें उसी प्रकार प्रवेश कर जाते हैं, जैसे देवता स्वर्गमें। पृथ्वीनाथ ! अतः शिष्ट पुरुषोंद्वारा सेवित परम पूजनीय सांख्यशास्त्रमें वे सभी द्विज अधिक अनुरक्त रहते हैं ॥ ११२॥

तेषां न तिर्यग्गमनं हि दृष्टं
नार्वाग्गतिः पापकृताधिवासः।
न वा प्रधाना अपि ते द्विजातयो
ये ज्ञानमेतन्नृपतेऽनुरक्ताः ॥११३॥

राजन् ! जो इस सांख्य-ज्ञानमें अनुरक्त हैं, वे ही ब्राह्मण प्रधान हैं, अतः उन्हें मृत्युके पश्चात् कभी पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जाना पड़ा हो, ऐसा नहीं देखा गया है। वे कभी नरकादि अधोगतिको भी नहीं प्राप्त होते हैं तथा उन्हें पापाचारियोंके बीचमें भी नहीं रहना पड़ता है ॥ ११३ ॥

सांख्यं विशालं परमं पुराणं
महार्णवं विमलमुदारकान्तम् ।
कृत्स्नं च सांख्यं नृपते महात्मा
नारायणो धारयतेऽप्रमेयम् ॥ ११४॥

सांख्यका ज्ञान अत्यन्त विशाल और परम प्राचीन है। यह महासागरके समान अगाध, निर्मल, उदार भावोंसे परिपूर्ण और अतिसुन्दर है । नरनाथ ! परमात्मा भगवान् नारायण इस सम्पूर्ण अप्रमेय सांख्य-ज्ञानको पूर्णरूपसे धारण करते हैं ॥ ११४ ॥

एतन्मयोक्तं नरदेव तत्त्वं
नारायणो विश्वमिदं पुराणम्।
स सर्गकाले च करोति सर्गं
संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥११५॥
संहृत्य सर्वं निजदेहसंस्थं
कृत्वाप्सु शेते जगदन्तरात्मा॥११६॥

नरदेव ! यह मैंने तुमसे सांख्यका तत्त्व बतलाया है। इस पुरातन विश्वके रूपमें साक्षात् भगवान् नारायण ही सर्वत्र विराजमान हैं। वे ही सृष्टिके समय जगत्की सृष्टि और संहारकालमें उसको अपनेमें विलीन कर लेते हैं। इस प्रकार जगत्को अपने शरीरके भीतर ही स्थापित करके वे जगत्के अन्तरात्मा भगवान् नारायण एकार्णवके जलमें शयन करते हैं ॥ ११५-११६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सांख्यकथने एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें सांख्यतत्त्वका वर्णनविषयक तीन सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०१ ॥

द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

वसिष्ठ और करालजनकका संवाद—क्षर और अक्षरतत्त्वका निरूपण और इनके ज्ञानसे मुक्ति

युधिष्ठिर उवाच

किं तदक्षरमित्युक्तं यस्मान्नावर्तते पुनः।
किं च तत्क्षरमित्युक्तं यस्मादावर्तते पुनः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! वह अक्षर तत्त्व क्या है, जिसे प्राप्त कर लेनेपर जीव फिर इस संसारमें नहीं लौटता तथा वह क्षर पदार्थ क्या है, जिसको जानने या पा लेनेपर भी पुनः इस संसारमें लौटना पड़ता है ? ॥ १ ॥

अक्षरक्षरयोर्व्यक्तिं पृच्छाम्यरिनिषूदन ।
उपलब्धुं महाबाहो तत्त्वेन कुरुनन्दन ॥ २ ॥

शत्रुसूदन ! महाबाहु ! कुरुनन्दन ! क्षर और अक्षरके स्वरूपको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये ही मैंने आपसे यह प्रश्न किया है ॥ २ ॥

त्वं हि ज्ञाननिधिर्विप्रैरुच्यसे वेदपारगैः ।
ऋषिभिश्च महाभागैर्यतिभिश्च महात्मभिः ॥ ३ ॥

वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण, महाभाग महर्षि तथा महात्मा यति भी आपको ज्ञाननिधि कहते हैं ॥ ३ ॥

शेषमल्पं दिनानां ते दक्षिणायनभास्करे ।
आवृत्ते भगवत्यर्के गन्तासि परमां गतिम् ॥ ४ ॥

अब सूर्यके दक्षिणायनमें रहनेके थोड़े ही दिन शेष हैं । भगवान् सूर्यके उत्तरायणमें पदार्पण करते ही आप परमधामको पधारेंगे ॥ ४ ॥

त्वयि प्रतिगते श्रेयः कुतः श्रोष्यामहे वयम् ।
कुरुवंशप्रदीपस्त्वं ज्ञानदीपेन दीप्यसे ॥ ५ ॥

आपके चले जानेपर हमलोग अपने कल्याणकी बातें किससे सुनेंगे ? आप कुरुवंशको प्रकाशित करनेवाले प्रदीप हैं और ज्ञानदीपसे उद्भासित हो रहे हैं ॥ ५ ॥

तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि त्वत्तः कुरुकुलोद्वह।
न तृप्यामीह राजेन्द्र शृण्वन्नमृतमीदृशम् ॥ ६ ॥

अतः कुरुकुलधुरन्धर ! राजेन्द्र ! मैं आपहीके मुँहसे यह सब सुनना चाहता हूँ । आपके इन अमृतमय वचनोंको सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती है (अतएव आप मुझे यह क्षर-अक्षरका विषय बताइये ।)॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

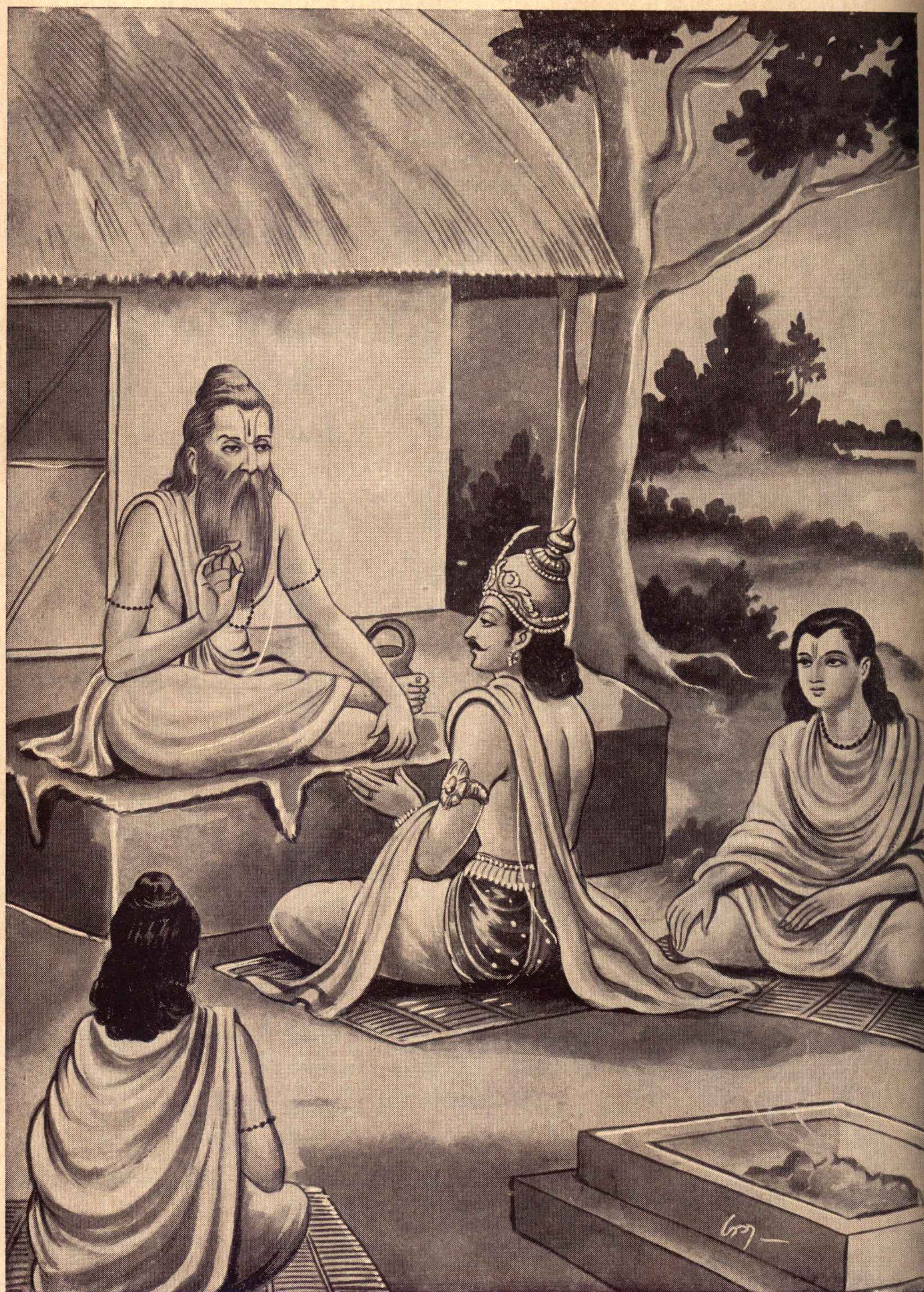
अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
वसिष्ठस्य च संवादं करालजनकस्य च ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें कराल नामक जनक और वसिष्ठका जो संवाद हुआ था, वही प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें बतलाऊँगा ॥ ७ ॥

वसिष्ठं श्रेष्ठमासीनमृषीणां भास्करद्युतिम्।
पप्रच्छ जनको राजा ज्ञानं नैःश्रेयसं परम् ॥ ८ ॥

एक समयकी बात है, ऋषियोंमें सूर्यके समान तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ अपने आश्रमपर विराजमान थे । वहाँ राजा जनकने पहुँचकर उनसे परम कल्याणकारी ज्ञानके विषयमें पूछा ॥ ८ ॥

परमध्यात्मकुशलमध्यात्मगतिनिश्चयम् ।
मैत्रावरुणिमासीनमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ९ ॥
स्वक्षरं प्रश्रितं वाक्यं मधुरं चाप्यनुल्बणम्।
पप्रच्छर्षिवरं राजा करालजनकः पुरा ॥ १० ॥



महर्षि वशिष्ठका राजा करालजनकको उपदेश

मित्रावरुणके पुत्र वसिष्ठजी अध्यात्मविषयक प्रवचनमें अत्यन्त कुशल थे और उन्हें अध्यात्मज्ञानका निश्चय हो गया था। वे एक आसनपर विराजमान थे। पूर्वकालमें कराल नामक राजा जनकने उन मुनिवरके पास जा हाथ जोड़कर प्रणाम किया और सुन्दर अक्षरोंसे युक्त विनयपूर्ण तथा कुतर्करहित मधुर वाणीमें इस प्रकार पूछा—॥ ९-१० ॥

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि परं ब्रह्म सनातनम्।
यस्मान्न पुनरावृत्तिमाप्नुवन्ति मनीषिणः ॥ ११ ॥

'भगवन्! जहाँसे मनीषी पुरुष पुनः इस संसारमें लौटकर नहीं आते हैं, उस सनातन परब्रह्मके स्वरूपका मैं वर्णन सुनना चाहता हूँ॥ ११ ॥

यच्च तत् क्षरमित्युक्तं यत्रेदं क्षरते जगत्।
यच्चाक्षरमिति प्रोक्तं शिवं क्षेम्यमनामयम् ॥ १२ ॥

'तथा जिसे क्षर कहा गया है, उसे भी जानना चाहता हूँ। जिसमें इस जगत्का क्षरण (लय) होता है और जिसे अक्षर कहा गया है, उस निर्विकार कल्याणमय शिवस्वरूप अधिष्ठानका भी ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ'॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

श्रूयतां पृथिवीपाल क्षरतीदं यथा जगत्।
यन्न क्षरति पूर्वेण यावत्कालेन वाप्यथ ॥ १३ ॥

वसिष्ठजीने कहा—भूपाल! जिस प्रकार इस जगत्का क्षय (परिवर्तन) होता है, उसको तथा जो किसी भी कालमें क्षरित (नष्ट) नहीं होता, उस अक्षरको भी बता रहा हूँ, सुनो॥ १३ ॥

युगं द्वादशसाहस्रं कल्पं विद्धि चतुर्युगम्।
दशकल्पशतावृत्तमहस्तद् ब्राह्ममुच्यते ॥ १४ ॥

देवताओंके बारह हजार वर्षोंका एक चतुर्युग होता है। इसीको कल्प अर्थात् महायुग समझो। ऐसे एक हजार महायुगोंका ब्रह्माजीका एक दिन बताया जाता है॥ १४ ॥

रात्रिश्चैतावती राजन् यस्यान्ते प्रतिबुद्ध्यते।
सृजत्यनन्तकर्माणं महान्तं भूतमग्रजम् ॥ १५ ॥
मूर्तिमन्तममूर्तात्मा विश्वं शम्भुः स्वयम्भुवः।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानं ज्योतिरव्ययम् ॥ १६ ॥
सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १७ ॥

राजन्! उनकी रात्रि भी इतनी ही बड़ी होती है; जिसके अन्तमें वे जागते हैं। अनन्तकर्मा ब्रह्माजी सबके अग्रज और महान् भूत हैं। यह सम्पूर्ण विश्व उन्हींका स्वरूप है। जो अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि सिद्धियोंपर शासन करनेवाले हैं, वे कल्याणस्वरूप निराकार परमेश्वर ही उन मूर्तिमान् ब्रह्माकी सृष्टि करते हैं। परमात्मा ज्योतिःस्वरूप स्वयं प्रकट और अविनाशी हैं। उनके हाथ, पैर, नेत्र, मस्तक और मुख सब ओर हैं। कान भी सब ओर हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं॥ १५—१७ ॥

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्यजः ॥ १८ ॥

परमेश्वरसे उत्पन्न जो सबके अग्रज भगवान् हिरण्यगर्भ हैं, ये ही बुद्धि कहे गये हैं। योगशास्त्रमें ये ही महान् कहे गये हैं। इन्हींको विरिञ्चि तथा अज भी कहते हैं॥ १८ ॥

सांख्ये च पठ्यते शास्त्रे नामभिर्बहुधात्मकः।
विचित्ररूपो विश्वात्मा एकाक्षर इति स्मृतः ॥ १९ ॥
वृतं नैकात्मकं येन कृतं त्रैलोक्यमात्मना।
तथैव बहुरूपत्वाद् विश्वरूप इति स्मृतः ॥ २० ॥

अनेक नाम और रूपोंसे युक्त इन हिरण्यगर्भ ब्रह्माका सांख्यशास्त्रमें भी वर्णन आता है। ये विचित्र रूपधारी, विश्वात्मा और एकाक्षर कहे गये हैं। इस अनेक रूपोंवाली त्रिलोकीकी रचना उन्होंने ही की है और स्वयं ही इसे व्याप्त कर रक्खा है। इस प्रकार बहुत-से रूप धारण करनेके कारण वे विश्वरूप माने गये हैं॥ १९-२० ॥

एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना।
अहङ्कारं महातेजाः प्रजापतिमहंकृतम् ॥ २१ ॥

ये महातेजस्वी भगवान् हिरण्यगर्भ विकारको प्राप्त हो स्वयं ही अहंकारकी और उसके अभिमानी प्रजापति विराट्की सृष्टि करते हैं॥ २१ ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमापन्नं विद्यासर्गं वदन्ति तम्।
महान्तं चाप्यहङ्कारमविद्यासर्गमेव च ॥ २२ ॥

इनमें निराकारसे साकार रूपमें प्रकट होनेवाली मूल प्रकृतिको तो विद्यासर्ग कहते हैं और महत्तत्त्व एवं अहंकारको अविद्यासर्ग कहते हैं॥ २२ ॥

अविधिश्च विधिश्चैव समुत्पन्नौ तथैकतः।
विद्याविद्येति विख्याते श्रुतिशास्त्रार्थचिन्तकैः ॥ २३ ॥

अविधि (ज्ञान) और विधि (कर्म) की उत्पत्ति भी उस परमात्मासे ही हुई है। श्रुति तथा शास्त्रके अर्थका विचार करनेवाले विद्वानोंने उन्हें विद्या और अविद्या बतलाया है॥

भूतसर्गमहङ्कारात् तृतीयं विद्धि पार्थिव।
अहङ्कारेषु सर्वेषु चतुर्थं विद्धि वैकृतम् ॥ २४ ॥

पृथ्वीनाथ! अहंकारसे जो सूक्ष्म भूतोंकी सृष्टि होती है, उसे तीसरा सर्ग समझो। सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारके अहंकारोंसे जो चौथी सृष्टि उत्पन्न होती है, उसे वैकृत-सर्ग समझो॥ २४ ॥

वायुर्ज्योतिरथाकाशमापोऽथ पृथिवी तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥ २५ ॥

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय वैकृत-सर्गके अन्तर्गत हैं॥ २५ ॥

एवं युगपदुत्पन्नं दशवर्गमसंशयम्।

पञ्चमं विद्धि राजेन्द्र भौतिकं सर्गमर्थवत् ॥ २६ ॥

इन दसोंकी उत्पत्ति एक ही साथ होती है, इसमें संशय नहीं है। राजेन्द्र ! पाँचवाँ भौतिक सर्ग समझो। जो प्राणियोंके लिये विशेष प्रयोजनीय होनेके कारण सार्थक है ॥ २६ ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमेव च पञ्चमम्।
वाक् च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च ॥ २७ ॥
बुद्धीन्द्रियाणि चैतानि तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
सम्भूतानीह युगपन्मनसा सह पार्थिव ॥ २८ ॥

इस भौतिक सर्गके अन्तर्गत आँख, कान, नाक, त्वचा और जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। पृथ्वीनाथ ! मनसहित इन सबकी उत्पत्ति भी एक ही साथ होती है ॥ २७-२८ ॥

एषा तत्त्वचतुर्विंशा सर्वाकृतिषु वर्तते।
यां ज्ञात्वा नाभिशोचन्ति ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ॥ २९ ॥

ये चौबीस तत्त्व सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें मौजूद रहते हैं। तत्त्वदर्शी ब्राह्मण इनके यथार्थ स्वरूपको जानकर कभी शोक नहीं करते हैं ॥ २९ ॥

एतद् देहं समाख्यातं त्रैलोक्ये सर्वदेहिषु।
वेदितव्यं नरश्रेष्ठ सदेवनरदानवे ॥ ३० ॥
सयक्षभूतगन्धर्वे सकिन्नरमहोरगे।
सचारणपिशाचे वै सदेवर्षिनिशाचरे ॥ ३१ ॥
सदंशकीटमशके सपूतिकृमिमूषिके।
शुनि श्वपाके चैणेये सचाण्डाले सपुल्कसे ॥ ३२ ॥
हस्त्यश्वखरशार्दूले सवृक्षे गवि चैव ह।
यच्च मूर्तिमयं किंचित् सर्वत्रैतन्निदर्शनम् ॥ ३३ ॥

नरश्रेष्ठ ! तीनों लोकोंमें जितने देहधारी हैं, उन सबमें इन्हीं तत्त्वोंके समुदायको देह समझना चाहिये। देवता, मनुष्य, दानव, यक्ष, भूत, गन्धर्व, किन्नर, महासर्प, चारण, पिशाच, देवर्षि, निशाचर, दंश (डंक मारनेवाली मक्खी), कीट, मच्छर, दुर्गन्धित कीड़े, चूहे, कुत्ते, चाण्डाल, हिरन, श्वपाक (कुत्ताका मांस खानेवाला), पुल्कस (म्लेच्छ), हाथी, घोड़े, गधे, सिंह, वृक्ष और गौ आदिके रूपमें जो कुछ मूर्तिमान् पदार्थ है, सर्वत्र इन्हीं तत्त्वोंका दर्शन होता है ॥ ३०-३३ ॥

जले भुवि तथाऽऽकाशे नान्यत्रेति विनिश्चयः।
स्थानं देहवतामासीदित्येवमनुशुश्रुम ॥ ३४ ॥

पृथ्वी, जल और आकाशमें ही देहधारियोंका निवास है, और कहीं नहीं; यह विद्वानोंका निश्चय है। ऐसा मैंने सुन रक्खा है ॥ ३४ ॥

कृत्स्नमेतावतस्तात क्षरते व्यक्तसंज्ञितम्।
अहन्यहनि भूतात्मा ततः क्षर इति स्मृतः ॥ ३५ ॥

हे तात ! यह सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत् व्यक्त कहलाता है और प्रतिदिन इसका क्षरण होता है, इसलिये इसको क्षर कहते हैं ॥ ३५ ॥

एतदक्षरमित्युक्तं क्षरतीदं यथा जगत्।
जगन्मोहात्मकं प्राहुरव्यक्ताद् व्यक्तसंज्ञकम् ॥ ३६ ॥

इससे भिन्न जो तत्त्व है, उसे अक्षर कहा गया है। इस प्रकार उस अव्यक्त अक्षरसे उत्पन्न हुआ यह व्यक्तसंज्ञक मोहात्मक जगत् क्षरित होनेके कारण क्षर नाम धारण करता है ॥ ३६ ॥

महांश्चैवाग्रजो नित्यमेतत् क्षरनिदर्शनम्।
कथितं ते महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३७ ॥

क्षर-तत्त्वोंमें सबसे पहले महत्तत्त्वकी ही सृष्टि हुई है। यह बात सदा ध्यानमें रखनेयोग्य है। यही क्षरका परिचय है। महाराज ! तुमने जो मुझसे पूछा था, उसके अनुसार यह मैंने तुम्हारे समक्ष क्षर-अक्षरके विषयका वर्णन किया है ॥

पञ्चविंशतिमो विष्णुर्निस्तत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः।
तत्त्वसंश्रयणादेतत् तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥ ३८ ॥

इन चौबीस तत्त्वोंसे परे जो भगवान् विष्णु (सर्वव्यापी परमात्मा) हैं, उन्हें पचीसवाँ तत्त्व कहा गया है। तत्त्वोंको आश्रय देनेके कारण ही मनीषी पुरुष उन्हें तत्त्व कहते हैं ॥

यन्मर्त्यमसृजद् व्यक्तं तत्तन्मूर्त्यधितिष्ठति।
चतुर्विंशतिमोऽव्यक्तो ह्यमूर्तः पञ्चविंशकः ॥ ३९ ॥

महत्तत्त्व आदि व्यक्त पदार्थ जिन मरणशील (नश्वर) पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं, वे किसी-न-किसी आकार या मूर्तिका आश्रय लेकर स्थित होते हैं। गणना करनेपर चौबीसवाँ तत्त्व है अव्यक्त प्रकृति और पचीसवाँ है निराकार परमात्मा ॥ ३९ ॥

स एव हृदि सर्वासु मूर्तिष्वातिष्ठतेऽऽत्मवान्।
केवलश्चेतनो नित्यः सर्वमूर्तिरमूर्तिमान् ॥ ४० ॥

जो अद्वितीय, चेतन, नित्य, सर्वस्वरूप, निराकार एवं सबके आत्मा हैं, वे परम पुरुष परमात्मा ही समस्त शरीरोंके हृदयदेशमें निवास करते हैं ॥ ४० ॥

सर्गप्रलयधर्मिण्या असर्गप्रलयात्मकः ।
गोचरे वर्तते नित्यं निर्गुणं गुणसंज्ञितम् ॥ ४१ ॥

यद्यपि सृष्टि और प्रलय प्रकृतिके ही धर्म हैं। पुरुष तो उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित है तथापि उस प्रकृतिके संसर्गवश पुरुष भी उस सृष्टि और प्रलयरूप धर्मसे सम्बद्ध-सा जान पड़ता है। इन्द्रियोंका विषय न होनेपर भी इन्द्रियगोचर-सा हो जाता है तथा निर्गुण होनेपर भी गुणवान्-सा जान पड़ता है॥

एवमेष महानात्मा सर्गप्रलयकोविदः।
विकुर्वाणः प्रकृतिमानभिमन्यत्यबुद्धिमान् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार सृष्टि और प्रलयके तत्त्वको जाननेवाला यह महान् आत्मा अविकारी होकर भी प्रकृतिके संसर्गसे युक्त हो विकारवान्-सा हो जाता है एवं प्राकृत-बुद्धिसे रहित होनेपर भी शरीरमें आत्माभिमान कर लेता है ॥ ४२ ॥

तमःसत्त्वरजोयुक्तस्तासु तास्विह योनिषु ।
नियते प्रतिबुद्धित्वादबुद्धजनसेवनात् ॥ ४३ ॥

प्रकृतिके संसर्गवश ही वह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे युक्त हो जाता है तथा अज्ञानी मनुष्योंका सङ्ग करनेसे उन्हीं-की भाँति अपनेको शरीरस्थ समझनेके कारण वह उन-उन सात्त्विक, राजस, तामस योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है ॥

सहवासविनाशित्वान्नान्योऽहमिति मन्यते ।
योऽहं सोऽहमिति ह्युक्त्वा गुणानेवानुवर्तते ॥ ४४ ॥

प्रकृतिके सहवाससे अपने स्वरूपका बोध लुप्त हो जानेके कारण पुरुष यह समझने लगता है कि मैं शरीरसे भिन्न नहीं हूँ। 'मैं यह हूँ, वह हूँ, अमुकका पुत्र हूँ, अमुक जातिका हूँ', इस प्रकार कहता हुआ वह सात्त्विक आदि गुणोंका ही अनुसरण करता है ॥ ४४ ॥

तमसा तामसान् भावान् विविधान् प्रतिपद्यते ।
रजसा राजसांश्चैव सात्त्विकान् सत्त्वसंश्रयात् ॥ ४५ ॥

वह तमोगुणसे मोह आदि नाना प्रकारके तामस भावों-को, रजोगुणसे प्रवृत्ति आदि राजस भावोंको तथा सत्त्वगुणका आश्रय लेकर प्रकाश आदि सात्त्विक भावोंको प्राप्त होता है ॥

शुक्ललोहितकृष्णानि रूपाण्येतानि त्रीणि तु ।
सर्वाण्येतानि रूपाणि यानीह प्राकृतानि वै ॥ ४६ ॥

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे क्रमशः शुक्ल, रक्त और कृष्ण—ये तीन वर्ण प्रकट होते हैं। प्रकृतिसे जो-जो रूप प्रकट हुए हैं, वे सब इन्हीं तीनों वर्णोंके अन्तर्गत हैं ॥

तामसा निरयं यान्ति राजसा मानुषानथ ।
सात्त्विका देवलोकाय गच्छन्ति सुखभागिनः ॥ ४७ ॥

तमोगुणी प्राणी नरकमें पड़ते हैं, राजस स्वभावके जीव मनुष्यलोकमें जाते हैं तथा सुखके भागी सात्त्विक पुरुष देव-लोकको प्रस्थान करते हैं ॥ ४७ ॥

निष्कैवल्येन पापेन तिर्यग्योनिमवाप्नुयात् ।
पुण्यपापेन मानुष्यं पुण्येनैकेन देवताः ॥ ४८ ॥

अत्यन्त केवल पापकर्मोंके फलस्वरूप जीव पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनिको प्राप्त होता है। पुण्य और पाप दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्यलोक मिलता है तथा केवल पुण्यसे प्राणी देवयोनिको प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

एवमव्यक्तविषयं क्षरमाहुर्मनीषिणः ।
पञ्चविंशतिमो योऽयं ज्ञानादेव प्रवर्तते ॥ ४९ ॥

इस प्रकार ज्ञानी पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए पदार्थोंको क्षर कहते हैं। उपर्युक्त चौबीस तत्त्वोंसे भिन्न जो पचीसवाँ तत्त्व—परमपुरुष परमात्मा बताया गया है, वही अक्षर है। उसकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३०२॥

त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रकृति-संसर्गके कारण जीवका अपनेको नाना प्रकारके कर्मोंका कर्ता और भोक्ता मानना एवं नाना योनियोंमें बारंबार जन्म ग्रहण करना

वसिष्ठ उवाच

एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धमनुवर्तते ।
देहाद् देहसहस्राणि तथा समभिपद्यते ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार जीव बोध-हीन होनेके कारण अज्ञानका ही अनुसरण करता है; इसीलिये उसे एक शरीरसे सहस्रों शरीरोंमें भ्रमण करना पड़ता है ॥१॥

तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद् देवतास्वपि ।
उपपद्यति संयोगाद् गुणैः सह गुणक्षयात् ॥ २ ॥

वह गुणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे उन्हीं गुणोंकी सामर्थ्यसे कभी सहस्रों बार तिर्यग्योनियोंमें और कभी देवताओंमें जन्म लेता है ॥ २ ॥

मानुषत्वाद् दिवं याति दिवो मानुष्यमेव च ।
मानुष्यान्निरयस्थानमानन्त्यं प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

कभी मानव-योनिसे स्वर्गलोकमें जाता है और कभी स्वर्गसे मनुष्यलोकमें लौट आता है। मनुष्यलोकसे कभी-कभी अनन्त नरकोंमें भी पड़ता है ॥ ३ ॥

कोशकारो यथाऽऽत्मानं कीटः समवरुन्धति ।
सूत्रतन्तुगुणैर्नित्यं तथायमगुणो गुणैः ॥ ४ ॥

जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही उत्पन्न किये हुए तन्तुओंसे अपनेको सब ओरसे बाँध लेता है, उसी प्रकार यह निर्गुण आत्मा भी अपने ही प्रकट किये हुए प्राकृत गुणोंसे बँध जाता है ॥ ४ ॥

द्वन्द्वमेति च निर्द्वन्द्वस्तासु तास्विह योनिषु ।
शीर्षरोगेऽक्षिरोगे च दन्तशूले गलग्रहे ॥ ५ ॥

वह स्वयं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित होनेपर भी भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म धारण करके सुख-दुःखको भोगता है। उसे कभी सिरमें दर्द होता, कभी आँख दुखती, कभी दाँतमें व्यथा होती और कभी गलेमें घेघा निकल आता है ॥

जलोदरे तृषारोगे ज्वरगण्डे विषूचके ।
श्वित्रकुष्ठेऽग्निदग्धे च सिध्मापस्मारयोरपि ॥ ६ ॥

इसी प्रकार वह जलोदर, तृषारोग, ज्वर, गलगण्ड (गलसूआ), विषूचिका (हैजा), सफेद कोढ़, अग्निदाह,

सिध्मा[१] (सफेद दाग या सेहुँवा), अपस्मार (मृगी) आदि रोगोंका शिकार होता रहता है ॥ ६ ॥

यानि चान्यानि द्वन्द्वानि प्राकृतानि शरीरिषु ।
उत्पद्यन्ते विचित्राणि तान्येषोऽप्यभिमन्यते ॥ ७ ॥

इनके सिवा और भी जितने प्रकारके प्रकृतिजन्य विचित्र रोग या द्वन्द्व देहधारियोंमें उत्पन्न होते हैं, उन सबसे यह अपनेको आक्रान्त मानता है ॥ ७ ॥

तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद् देवतास्वपि ।
अभिमन्यत्यभीमानात् तथैव सुकृतान्यपि ॥ ८ ॥

कभी अपनेको सहस्रों तिर्यग्योनियोंका जीव समझता है और कभी देवत्वका अभिमान धारण करता है तथा इसी अभिमानके कारण उन-उन शरीरोंद्वारा किये हुए कर्मोंका फल भी भोगता है ॥ ८ ॥

शुक्लवासाश्च दुर्वासाः शायी नित्यमधस्तथा ।
मण्डूकशायी च तथा वीरासनगतस्तथा ॥ ९ ॥
चीरधारणमाकाशे शयनं स्थानमेव च ।
इष्टकाप्रस्तरे चैव कण्टकप्रस्तरे तथा ॥ १० ॥
भस्मप्रस्तरशायी च भूमिशय्या तलेषु च ।
वीरस्थानाम्बुपङ्के च शयनं फलकेषु च ॥ ११ ॥
विविधासु च शय्यासु फलगृद्ध्यान्वितस्तथा ।
मुञ्जमेखलनग्नत्वं क्षौमकृष्णाजिनानि च ॥ १२ ॥

फलकी आशासे बँधा हुआ मनुष्य कभी नये-धुले सफेद वस्त्र पहनता है और कभी फटे-पुराने मैले वस्त्र धारण करता है, कभी पृथ्वीपर सोता है, कभी मेढकके समान हाथ-पैर सिकोड़कर शयन करता है, कभी वीरासनसे बैठता है और कभी खुले आकाशके नीचे । कभी चीर और वल्कल पहनता है, कभी ईंट और पत्थरपर सोता-बैठता है तो कभी काँटोंके बिछौनोंपर । कभी राख बिछाकर सोता है, कभी भूमिपर ही लेट जाता है, कभी किसी पेड़के नीचे पड़ा रहता है । कभी युद्धभूमिमें, कभी पानी और कीचड़में, कभी चौकियोंपर तथा कभी नाना प्रकारकी शय्याओंपर सोता है । कभी मूँजकी मेखला बाँधे कौपीन धारण करता है, कभी नंग-धड़ंग घूमता है । कभी रेशमी वस्त्र और कभी काला मृगचर्म पहनता है ॥

शाणीवालपरीधानो व्याघ्रचर्मपरिच्छदः ।
सिंहचर्मपरीधानः पट्टवासास्तथैव च ॥ १३ ॥

कभी सन या ऊनके बने वस्त्र धारण करता है । कभी व्याघ्र या सिंहके चमड़ोंसे अपने अङ्गोंको ढँक लेता है । कभी रेशमी पीताम्बर पहनता है ॥ १३ ॥

फलकपरिधानश्च तथा कण्टकवस्त्रधृक् ।
कीटकावसनश्चैव चीरवासास्तथैव च ॥ १४ ॥

कभी फलकवस्त्र (भोजपत्रकी छाल), कभी साधारण वस्त्र और कभी कण्टकवस्त्र धारण करता है । कभी कीड़ोंसे निकले हुए रेशमके मुलायम वस्त्र पहनता है तो कभी चिथड़े पहनकर रहता है ॥ १४ ॥

वस्त्राणि चान्यानि बहून्यभिमन्यत्यबुद्धिमान् ।
भोजनानि विचित्राणि रत्नानि विविधानि च ॥ १५ ॥

वह अज्ञानी जीव इनके अतिरिक्त भी नाना प्रकारके वस्त्र पहनता, विचित्र-विचित्र भोजनोंके स्वाद लेता और भाँति-भाँतिके रत्न धारण करता है ॥ १५ ॥

एकरात्रान्तराशित्वमेककालिकभोजनम् ।
चतुर्थाष्टमकालश्च षष्ठकालिक एव च ॥ १६ ॥

कभी एक रातका अन्तर देकर भोजन करता है, कभी दिन-रातमें एक बार अन्न ग्रहण करता है और कभी दिनके चौथे, छठे या आठवें पहरमें भोजन करता है ॥ १६ ॥

षड्रात्रभोजनश्चैव तथैवाष्टाहभोजनः ।
सप्तरात्रदशाहारो द्वादशाहिकभोजनः ॥ १७ ॥

कभी छः रात बिताकर खाता है और कभी सात, आठ, दस अथवा बारह दिनोंके बाद अन्न ग्रहण करता है ॥ १७ ॥

मासोपवासी मूलाशी फलाहारस्तथैव च ।
वायुभक्षोऽम्बुपिण्याकदधिगोमयभोजनः ॥ १८ ॥

कभी लगातार एक मासतक उपवास करता है । कभी फल खाकर रहता है और कभी कन्द-मूलके भोजनसे निर्वाह करता है । कभी पानी-हवा पीकर रह जाता है । कभी तिलकी खली, कभी दही और कभी गोबर खाकर ही रहता है ॥ १८ ॥

गोमूत्रभोजनश्चैव शाकपुष्पाद एव च ।
शैवालभोजनश्चैव तथाऽऽचामेन वर्तयन् ॥ १९ ॥

कभी वह गोमूत्रका भोजन करनेवाला बनता है । कभी वह साग, फूल या सेवार खाता है तथा कभी जलका आचमन मात्र करके जीवन-निर्वाह करता है ॥ १९ ॥

वर्तयन् शीर्णपर्णैश्च प्रकीर्णफलभोजनः ।
विविधानि च कृच्छ्राणि सेवते सिद्धिकाङ्क्षया ॥ २० ॥

कभी सूखे पत्ते और पेड़से गिरे हुए फलोंको ही खाकर रह जाता है । इस प्रकार सिद्धि पानेकी अभिलाषासे वह नाना प्रकारके कठोर नियमोंका सेवन करता है ॥ २० ॥

चान्द्रायणानि विधिवल्लिङ्गानि विविधानि च ।
चातुराश्रम्यपन्थानमाश्रयत्यपथानपि ॥ २१ ॥

कभी विधिपूर्वक चान्द्रायण-व्रतका अनुष्ठान करता और अनेक प्रकारके धार्मिक चिह्न धारण करता है । कभी चारों आश्रमोंके मार्गपर चलता और कभी विपरीत पथका भी आश्रय लेता है ॥ २१ ॥

उपाश्रमानप्यपरान् पाषण्डान् विविधानपि ।
विविक्ताश्च शिलाच्छायास्तथा प्रस्रवणानि च ॥ २२ ॥

कभी नाना प्रकारके उपाश्रमों तथा भाँति-भाँतिके

---

१. किसी-किसी टीकाकारने 'सिध्मा' का अर्थ 'खाँसी' और 'दमा' भी किया है । परंतु कोष-प्रसिद्ध अर्थ 'सफेद दाग या सेहुँवा' ही है ।

पाखण्डोंको अपनाता है। कभी एकान्तमें शिलाखण्डोंकी छायामें बैठता और कभी झरनोंके समीप निवास करता है ॥ २२ ॥

पुलिनानि विविक्तानि विविक्तानि वनानि च।
देवस्थानानि पुण्यानि विविक्तानि सरांसि च ॥ २३ ॥

कभी नदियोंके एकान्त तटोंमें, कभी निर्जन वनोंमें, कभी पवित्र देवमन्दिरोंमें तथा कभी एकान्त सरोवरोंके आसपास रहता है ॥ २३ ॥

विविक्ताश्चापि शैलानां गुहा गृहनिभोपमाः।
विविक्तानि च जप्यानि व्रतानि विविधानि च ॥ २४ ॥
नियमान् विविधांश्चापि विविधानि तपांसि च।
यज्ञांश्च विविधाकारान् विधींश्च विविधांस्तथा ॥ २५ ॥

कभी पर्वतोंकी एकान्त गुफाओंमें, जो गृहके समान ही होती हैं, निवास करता है। उन स्थानोंमें नाना प्रकारके गोपनीय जप, व्रत, नियम, तप, यज्ञ तथा अन्य भाँति-भाँतिके कर्मोंका अनुष्ठान करता है ॥ २४-२५ ॥

वणिक्पथं द्विजं क्षत्रं वैश्यशूद्रांस्तथैव च।
दानं च विविधाकारं दीनान्धकृपणादिषु ॥ २६ ॥

वह कभी व्यापार करता, कभी ब्राह्मण और क्षत्रियोंके कर्तव्यका पालन करता तथा कभी वैश्यों और शूद्रोंके कर्मोंका आश्रय लेता। दीन-दुखी और अन्धोंको नाना प्रकारके दान देता है ॥ २६ ॥

अभिमन्यत्यसम्बोधात् तथैव त्रिविधान् गुणान्।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव धर्मार्थौ काम एव च ॥ २७ ॥

अज्ञानवश वह अपनेमें सत्त्व, रज, तम—इन त्रिविध गुणों और धर्म, अर्थ एवं कामका अभिमान कर लेता है ॥

प्रकृत्याऽऽत्मानमेवात्मा एवं प्रविभजत्युत।
स्वधाकारवषट्कारौ स्वाहाकारनमस्क्रियाः ॥ २८ ॥

इस प्रकार आत्मा प्रकृतिके द्वारा अपने ही स्वरूपके अनेक विभाग करता है। वह कभी स्वाहा, कभी स्वधा, कभी वषट्कार और कभी नमस्कारमें प्रवृत्त होता है ॥ २८ ॥

याजनाध्यापनं दानं तथैवाहुः प्रतिग्रहम्।
यजनाध्ययने चैव यच्चान्यदपि किंचन ॥ २९ ॥

कभी यज्ञ करता और कराता, कभी वेद पढ़ता और पढ़ाता तथा कभी दान करता और प्रतिग्रह लेता है। इसी प्रकार वह दूसरे-दूसरे कार्य भी किया करता है ॥ २९ ॥

जन्ममृत्युविवादे च तथा विशसनेऽपि च।
शुभाशुभमयं सर्वमेतदाहुः क्रियापथम् ॥ ३० ॥

कभी जन्म लेता, कभी मरता तथा कभी विवाद और संग्राममें प्रवृत्त रहता है। विद्वान् पुरुषोंका कहना है कि यह सब शुभाशुभ कर्ममार्ग है ॥ ३० ॥

प्रकृतिः कुरुते देवी भवं प्रलयमेव च।
दिवसान्ते गुणानेतानभ्येत्यैकोऽवतिष्ठते ॥ ३१ ॥
रश्मिजालमिवादित्यस्तत् तत्काले नियच्छति।

प्रकृतिदेवी ही जगत्की सृष्टि और प्रलय करती है। जैसे सूर्य प्रतिदिन प्रातःकाल अपनी किरणोंको सब ओर फैलाता और सायंकालमें अपने किरण-जालको समेट लेता है, वैसे ही आदिपुरुष ब्रह्मा अपने दिन—कल्पके आरम्भमें तीनों गुणोंका विस्तार करता और अन्तमें सबको समेटकर अकेला ही रह जाता है ॥ ३१½ ॥

एवमेषोऽसकृत्पूर्वं क्रीडार्थमभिमन्यते ॥ ३२ ॥
आत्मरूपगुणानेतान् विविधान् हृदयप्रियान्।

इस प्रकार प्रकृतिसे संयुक्त हुआ पुरुष तत्त्वज्ञान होनेसे पहले मनको प्रिय लगनेवाले नाना प्रकारके अपने व्यापारोंको क्रीड़ाके लिये बार-बार करता और उन्हें अपना कर्तव्य मानता है ॥ ३२½ ॥

एवमेतां विकुर्वाणः सर्गप्रलयधर्मिणीम् ॥ ३३ ॥
क्रियां क्रियापथे रक्तस्त्रिगुणां त्रिगुणाधिपः।
क्रियां क्रियापथोपेतस्तथा तदिति मन्यते ॥ ३४ ॥

सृष्टि और प्रलय जिसके धर्म हैं, उस त्रिगुणमयी प्रकृतिको विकृत करके तीनों गुणोंका स्वामी आत्मा कर्ममार्गमें अनुरक्त और प्रवृत्त हो उस प्रकृतिके द्वारा होनेवाले प्रत्येक त्रिगुणात्मक कार्यको अपना मान लेता है ॥ ३३-३४ ॥

प्रकृत्या सर्वमेवेदं जगदन्धीकृतं विभो।
रजसा तमसा चैव व्याप्तं सर्वमनेकधा ॥ ३५ ॥

प्रभो! प्रकृतिने इस सम्पूर्ण जगत्को अन्धा बना रखा है। उसीके संयोगसे समस्त पदार्थ अनेक प्रकारसे रजोगुण और तमोगुणसे व्याप्त हो रहे हैं ॥ ३५ ॥

एवं द्वन्द्वान्यथैतानि समावर्तन्ति नित्यशः।
ममैवैतानि जायन्ते धावन्ते तानि मामिति ॥ ३६ ॥
निस्तर्तव्यान्यथैतानि सर्वाणीति नराधिप।
मन्यतेऽयं ह्यबुद्धत्वात् तथैव सुकृतान्यपि ॥ ३७ ॥
भोक्तव्यानि मयैतानि देवलोकगतेन वै।
इहैव चैनं भोक्ष्यामि शुभाशुभफलोदयम् ॥ ३८ ॥

इस प्रकार प्रकृतिकी प्रेरणासे स्वभावतः सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंकी सदा पुनरावृत्ति होती रहती है; किंतु जीवात्मा अज्ञानवश यह मान बैठता है कि ये सारे द्वन्द्व मुझपर ही धावा करते हैं और मुझे इनसे निस्तार पानेकी चेष्टा करनी चाहिये। (ऐसा मानकर वह दुखी होता है) नरेश्वर! प्रकृतिसे संयुक्त हुआ पुरुष अज्ञानवश यह मान लेता है कि मैं देवलोकमें जाकर अपने समस्त पुण्योंके फलका उपभोग करूँगा और पूर्वजन्मके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका जो फल प्रकट हो रहा है, उसे यहीं भोगूँगा ॥ ३६-३८ ॥

सुखमेव तु कर्तव्यं सकृत् कृत्वा सुखं मम।
यावदन्तं च मे सौख्यं जात्यां जात्यां भविष्यति ॥ ३९ ॥

अब मुझे सुखके साधनभूत पुण्यका ही अनुष्ठान करना चाहिये। उसका एक बार भी अनुष्ठान कर लेनेपर मुझे

आजीवन सुख मिलेगा तथा भविष्यमें भी प्रत्येक जन्ममें सुखकी प्राप्ति होती रहेगी ॥ ३९ ॥

भविष्यति च मे दुःखं कृतेनेहाप्यनन्तकम्।
महद् दुःखं हि मानुष्यं निरये चापि मज्जनम् ॥ ४० ॥

यदि इस जन्ममें मैं बुरे कर्म करूँगा तो मुझे यहाँ भी अनन्त दुःख भोगना पड़ेगा। यह मानव-जन्म महान् दुःखसे भरा हुआ है। इसके सिवा पापके फलसे नरकमें भी डूबना पड़ेगा ॥ ४० ॥

निरयाच्चापि मानुष्यं कालेनैष्याम्यहं पुनः।
मनुष्यत्वाच्च देवत्वं देवत्वात् पौरुषं पुनः ॥ ४१ ॥

नरकसे दीर्घकालके बाद छुटकारा मिलनेपर मैं पुनः मनुष्यलोकमें जन्म लूँगा। मानवयोनिसे पुण्यके फलस्वरूप देवयोनिमें जाऊँगा और वहाँसे पुण्य-क्षीण होनेपर पुनः मानव-शरीरमें जन्म लूँगा ॥ ४१ ॥

मनुष्यत्वाच्च निरयं पर्यायेणोपगच्छति।
य एवं वेत्ति नित्यं वै निरात्माऽऽत्मगुणैर्वृतः ॥ ४२ ॥
तेन देवमनुष्येषु निरये चोपपद्यते।

इसी तरह बारी-बारीसे वह जीव मानव-योनिसे नरकमें (और नरकसे मानवयोनिमें) आता-जाता रहता है। आत्मासे भिन्न तथा आत्माके गुण चैतन्य आदिसे युक्त जो इन्द्रियोंका समुदाय शरीरमें ऐसी भावना रखता है कि 'यह मैं हूँ' वही देवलोक, मनुष्यलोक, नरक तथा तिर्यग्योनिमें जाता है ॥ ४२½ ॥

ममत्वेनावृतो नित्यं तत्रैव परिवर्तते ॥ ४३ ॥
सर्गकोटिसहस्राणि मरणान्तासु मूर्तिषु।

स्त्री-पुत्र आदिके प्रति ममतासे बँधा हुआ पुरुष उन्हींके संसर्गमें रहकर सहस्र-सहस्र कोटि सृष्टिपर्यन्त नश्वर शरीरोंमें ही सदा चक्कर लगाता रहता है ॥ ४३½ ॥

य एवं कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम् ॥ ४४ ॥
स एवं फलमाप्नोति त्रिषु लोकेषु मूर्तिमान्।

जो इस प्रकार शुभाशुभ फल देनेवाला कर्म करता है, वही तीनों लोकोंमें शरीर धारण करके इन उपर्युक्त फलोंको पाता है ॥ ४४½ ॥

प्रकृतिः कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम्।
प्रकृतिश्च तदश्नाति त्रिषु लोकेषु कामगा ॥ ४५ ॥

वास्तवमें तो प्रकृति ही शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करती है और तीनों लोकोंमें इच्छानुसार विचरण करनेवाली वह प्रकृति ही उन कर्मोंका फल भोगती है (किंतु पुरुष अज्ञानके कारण कर्ता-भोक्ता बन जाता है) ॥ ४५ ॥

तिर्यग्योनिमनुष्यत्वं देवलोके तथैव च।
त्रीणि स्थानानि चैतानि जानीयात् प्राकृतानि ह ॥ ४६ ॥

तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि तथा देवलोकमें देवयोनि—ये कर्म-फल-भोगके तीन स्थान हैं। इन सबको प्राकृत समझो ॥

अलिङ्गां प्रकृतिं त्वाहुर्लिङ्गैरनुमिमीमहे।
तथैव पौरुषं लिङ्गमनुमानाद्धि मन्यते ॥ ४७ ॥

मुनिगण प्रकृतिको लिङ्गरहित बताते हैं; किंतु हमलोग विशेष हेतुओंके द्वारा ही उसका अनुमान कर सकते हैं। इसी प्रकार अनुमानद्वारा ही हमें पुरुषके स्वरूपका अर्थात् उसके होनेका ज्ञान होता है ॥ ४७ ॥

स लिङ्गान्तरमासाद्य प्राकृतं लिङ्गमव्रणः।
व्रणद्वाराण्यधिष्ठाय कर्मण्यात्मनि मन्यते ॥ ४८ ॥

पुरुष स्वयं छिद्ररहित होते हुए भी प्रकृतिनिर्मित चिह्नस्वरूप विभिन्न शरीरोंका अवलम्बन करके छिद्रोंमें स्थित रहनेवाली इन्द्रियोंका अधिष्ठाता बनकर उन सबके कर्मोंको अपनेमें मान लेता है ॥ ४८ ॥

श्रोत्रादीनि तु सर्वाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाण्यथ।
वागादीनि प्रवर्तन्ते गुणेष्विह गुणैः सह ॥ ४९ ॥

इस जगत्‌में श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने गुणोंके साथ गुणमय शरीरोंमें स्थित हैं ॥ ४९ ॥

अहमेतानि वै सर्वं मय्येतानीन्द्रियाणि ह।
निरिन्द्रियो हि मन्येत व्रणवानस्मि निर्व्रणः ॥ ५० ॥

किंतु यह जीव वास्तवमें इन्द्रियोंसे रहित है तो भी यह मानता है कि मैं ही ये सब कर्म करता हूँ और मुझमें ही सब इन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार यह छिद्रशून्य होकर भी अपनेको छिद्रयुक्त मानता है ॥ ५० ॥

अलिङ्गो लिङ्गमात्मानमकालः कालमात्मनः।
असत्त्वं सत्त्वमात्मानमतत्त्वं तत्त्वमात्मनः ॥ ५१ ॥

वह लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरसे हीन होनेपर भी अपनेको उससे युक्त मानता है। कालधर्म (मृत्यु) से रहित होकर भी अपनेको कालधर्मी (मरणशील) समझता है। सत्त्वसे भिन्न होकर भी अपनेको सत्त्वरूप मानता है तथा महाभूतादि तत्त्वसे रहित होकर भी अपने आपको तत्त्वस्वरूप समझता है ॥ ५१ ॥

अमृत्युर्मृत्युमात्मानमचरश्चरमात्मनः।
अक्षेत्रः क्षेत्रमात्मानमसर्गः सर्गमात्मनः ॥ ५२ ॥

वह मृत्युसे सर्वथा रहित है तो भी अपनेको मृत्युग्रस्त मानता है। अचर होनेपर भी अपनेको चलने-फिरनेवाला मानता है। क्षेत्रसे भिन्न होनेपर भी अपनेको क्षेत्र मानता है। सृष्टिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होनेपर भी सृष्टिको अपनी ही समझता है ॥ ५२ ॥

अतपास्तप आत्मानमगतिर्गतिमात्मनः।
अभवो भवमात्मानमभयो भयमात्मनः ॥ ५३ ॥
अक्षरः क्षरमात्मानमबुद्धिस्त्वभिमन्यते ॥ ५४ ॥

वह कभी तप नहीं करता तो भी अपनेको तपस्वी

मानता है। कहीं गमन नहीं करता तो भी अपनेको आनेजानेवाला समझता है। संसाररहित होकर भी अपनेको संसारी और निर्भय होकर भी अपनेको भयभीत मानता है। यद्यपि वह अक्षर (अविनाशी) है तो भी अपनेको क्षर (नाशवान्) समझता है तथा बुद्धिसे परे होनेपर भी बुद्धिमत्ताका अभिमान रखता है ॥ ५३-५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०३ ॥

चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रकृतिके संसर्गदोषसे जीवका पतन

वसिष्ठ उवाच

एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धजनसेवनात् ।
सर्गकोटिसहस्राणि पतनान्तानि गच्छति ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन्! इस तरह अज्ञानके कारण अज्ञानी पुरुषोंका संग करनेसे जीवका निरन्तर पतन होता है तथा उसे हजारों-करोड़ बार जन्म लेने पड़ते हैं ॥ १ ॥

धाम्ना धामसहस्राणि मरणान्तानि गच्छति ।
तिर्यग्योनिमनुष्यत्वे देवलोके तथैव च ॥ २ ॥

वह पशु-पक्षी, मनुष्य तथा देवताओंकी योनियोंमें तथा एक स्थानसे सहस्रों स्थानोंमें बारंबार मरकर जाता और जन्म लेता है ॥ २ ॥

चन्द्रमा इव भूतानां पुनस्तत्र सहस्रशः ।
लीयतेऽप्रतिबुद्धत्वादेवमेष ह्यबुद्धिमान् ॥ ३ ॥

जैसे चन्द्रमाका सहस्रों बार क्षय और सहस्रों बार वृद्धि होती रहती है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव भी अज्ञानवश ही सहस्रों बार लयको प्राप्त होता है (और जन्म लेता है)॥ ३ ॥

कला पञ्चदशी योनिस्तद्धाम प्रतिबुध्यते ।
नित्यमेतद् विजानीहि सोमं वै षोडशीं कलाम् ॥ ४ ॥

राजन्! चन्द्रमाकी पंद्रह कलाओंके समान जीवोंकी पंद्रह कलाएँ ही उत्पत्तिके स्थान हैं। अज्ञानी जीव उन्हींको अपना आश्रय समझता है; परंतु उसकी जो सोलहवीं कला है, उसको तुम नित्य समझो। वह चन्द्रमाकी अमा नामक सोलहवीं कलाके समान है ॥ ४ ॥

कलायां जायतेऽजस्रं पुनः पुनरबुद्धिमान् ।
धाम तस्योपयुञ्जन्ति भूय एवोपजायते ॥ ५ ॥

अज्ञानी जीव सदा बारंबार उन्हीं कलाओंमें स्थित हुआ जन्म ग्रहण करता है। वे ही कलाएँ जीवके आश्रय लेनेयोग्य हैं, अतः जीवका उन्हींसे पुनः-पुनः जन्म होता रहता है ॥ ५ ॥

षोडशी तु कला सूक्ष्मा स सोम उपधार्यताम् ।
न तूपयुज्यते देवैर्देवानुपयुनक्ति सा ॥ ६ ॥

अमा नामक जो सोलहवीं सूक्ष्म कला है, वही सोम है अर्थात् जीवकी प्रकृति है, यह तुम निश्चितरूपसे जान लो। देवतालोग अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियगण जिनको पंद्रह कलाओंके नामसे कहा गया, वे उस सोलहवीं कलाका उपयोग नहीं कर सकते; किंतु वे सोलहवीं कला अर्थात् उन सबकी कारणभूता प्रकृति ही उनका उपयोग करती है ॥ ६ ॥

एतामक्षपयित्वा हि जायते नृपसत्तम ।
सा ह्यस्य प्रकृतिर्दृष्टा तत्क्षयान्मोक्ष उच्यते ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! जीव अपने अज्ञानवश उस सोलहवीं कलारूप प्रकृतिके संयोगका क्षय नहीं कर पाता, इसलिये बारंबार जन्म ग्रहण करता है। वह ही कला जीवकी प्रकृति अर्थात् उत्पत्तिका कारण देखी गयी है। उसके संयोगका क्षय होनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति बतायी जाती है ॥ ७ ॥

तदेव षोडशकलं देहमव्यक्तसंज्ञकम् ।
ममायमिति मन्वानस्तत्रैव परिवर्तते ॥ ८ ॥

(मूल प्रकृति, दस इन्द्रियाँ—एक प्राण और चार प्रकारका अन्तःकरण—इन) सोलह कलाओंसे युक्त जो यह सूक्ष्मशरीर है, इसे 'यह मेरा है' ऐसा माननेके कारण अज्ञानी जीव उसीमें भटकता रहता है ॥ ८ ॥

पञ्चविंशो महानात्मा तस्यैवाप्रतिबोधनात् ।
विमलस्य विशुद्धस्य शुद्धाशुद्धनिषेवणात् ॥ ९ ॥
अशुद्ध एव शुद्धात्मा तादृग् भवति पार्थिव ।
अबुद्धसेवनाच्चापि बुद्धोऽप्यबुद्धतां व्रजेत् ॥ १० ॥

पचीसवाँ तत्त्वरूप जो महान् आत्मा है, वह निर्मल एवं विशुद्ध है। उसको न जाननेके कारण तथा शुद्ध-अशुद्ध वस्तुओंके सेवनसे वह निर्मल, संगरहित आत्मा भी शुद्ध और अशुद्ध वस्तुओंके सदृश हो जाता है। पृथ्वीनाथ ! अविवेकीके संगसे विवेकशील भी अविवेकी हो जाता है ॥ ९-१० ॥

तथैवाप्रतिबुद्धोऽपि विज्ञेयो नृपसत्तम ।
प्रकृतेस्त्रिगुणायास्तु सेवनात् त्रिगुणो भवेत् ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मूर्ख भी विवेकशीलका संग करनेसे विवेकशील हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये। त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके सम्बन्धसे निर्गुण आत्मा भी त्रिगुणमय सा हो जाता है ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०४ ॥

पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

क्षर-अक्षर एवं प्रकृति-पुरुषके विषयमें राजा जनककी शङ्का और उसका वसिष्ठजीद्वारा उत्तर

जनक उवाच

अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः सम्बन्ध इष्यते।
स्त्रीपुंसोर्वापि भगवन् सम्बन्धस्तद्वदुच्यते ॥ १ ॥

राजा जनकने कहा—भगवन् ! क्षर और अक्षर (प्रकृति और पुरुष) दोनोंका यह सम्बन्ध वैसा ही माना जाता है, जैसा कि नारी और पुरुषका दाम्पत्य-सम्बन्ध बताया जाता है ॥ १ ॥

ऋते तु पुरुषं नेह स्त्री गर्भं धारयत्युत।
ऋते स्त्रियं न पुरुषो रूपं निर्वर्तयेत् तथा ॥ २ ॥

इस जगत्में न तो पुरुषके बिना स्त्री गर्भ धारण कर सकती है और न स्त्रीके बिना कोई पुरुष ही किसी शरीरको उत्पन्न कर सकता है ॥ २ ॥

अन्योन्यस्याभिसम्बन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात्।
रूपं निर्वर्तयत्येतदेवं सर्वासु योनिषु ॥ ३ ॥

दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धसे एक दूसरेके गुणोंका आश्रय लेकर ही किसी शरीरका निर्माण होता है। प्रायः सभी योनियोंमें ऐसी ही स्थिति है ॥ ३ ॥

रत्यर्थमभिसम्बन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात्।
ऋतौ निर्वर्त्यते रूपं तद् वक्ष्यामि निदर्शनम् ॥ ४ ॥
ये गुणाः पुरुषस्येह ये च मातृगुणास्तथा।
अस्थि स्नायुश्च मज्जा च जानीमः पितृतो गुणाः ॥ ५ ॥
त्वङ्मांसं शोणितं चेति मातृजान्यपि शुश्रुम।
एवमेतद् द्विजश्रेष्ठ वेदे शास्त्रे च पठ्यते ॥ ६ ॥

जब स्त्री ऋतुमती होती है, उस समय रतिके लिये पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध होनेसे दोनोंके गुणोंका मिश्रण होनेपर शरीरकी उत्पत्ति होती है। शरीरमें पुरुष अर्थात् पिताके जो गुण हैं तथा माताके जो गुण हैं, उन्हें मैं दृष्टान्तके तौरपर बता रहा हूँ। हड्डी, स्नायु और मज्जा—इन्हें मैं पितासे प्राप्त हुए गुण समझता हूँ तथा त्वचा, मांस और रक्त—ये मातासे पैदा हुए गुण हैं, ऐसा मैंने सुना है। द्विजश्रेष्ठ ! यही बात वेद और शास्त्रमें भी पढ़ी जाती है ॥ ४–६ ॥

प्रमाणं यत् स्ववेदोक्तं शास्त्रोक्तं यच्च पठ्यते।
वेदशास्त्रद्वयं चैव प्रमाणं तत् सनातनम् ॥ ७ ॥

वेदोंमें जो प्रमाण बताया गया है तथा शास्त्रमें कहे हुए जिस प्रमाणको पढ़ा और सुना जाता है, वह सब ठीक है; क्योंकि वेद और शास्त्र दोनों ही सनातन प्रमाण हैं ॥ ७ ॥

अन्योन्यगुणसंरोधादन्योन्यगुणसंश्रयात्।
एवमेवाभिसम्बद्धौ नित्यं प्रकृतिपूरुषौ ॥ ८ ॥
पश्यामि भगवंस्तस्मान्मोक्षधर्मो न विद्यते।

भगवन् ! इस प्रकार प्रकृति और पुरुष दोनों ही एक दूसरेके गुणोंको आच्छादित करके एक दूसरेके गुणोंका आश्रय* लेते हुए सृष्टि करते हैं। इस तरह मैं इन दोनोंको सदा एक दूसरेसे सम्बद्ध देखता हूँ। अतः पुरुषके लिये मोक्ष-धर्मकी सिद्धि असम्भव जान पड़ती है ॥ ८½ ॥

अथवानन्तरकृतं किंचिदेव निदर्शनम् ॥ ९ ॥
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन प्रत्यक्षो ह्यसि सर्वदा।

अथवा पुरुषके मोक्षका साक्षात्कार करानेवाला कोई दृष्टान्त हो तो आप उसे बताइये और मुझे ठीक-ठीक समझा दीजिये; क्योंकि आपको सदा सब कुछ प्रत्यक्ष है ॥ ९½ ॥

मोक्षकामा वयं चापि काङ्क्षामो यदनामयम्।
अदेहमजरं नित्यमतीन्द्रियमनीश्वरम् ॥ १० ॥

मैं भी मोक्षकी अभिलाषा रखता हूँ और उस पदको पाना चाहता हूँ, जो निर्विकार, निराकार, अजर, अमर, नित्य और इन्द्रियातीत है तथा जिसे प्राप्त पुरुषका कोई शासक नहीं है ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

यदेतदुक्तं भवता वेदशास्त्रनिदर्शनम्।
एवमेतद् यथा चैतन्निगृह्णाति तथा भवान् ॥ ११ ॥

वसिष्ठजीने कहा—राजन् ! तुमने वेद और शास्त्रोंके दृष्टान्त देकर यह जो कुछ कहा है, वह ठीक है। तुम जैसा समझते हो, वैसी ही बात है ॥ ११ ॥

धार्यते हि त्वया ग्रन्थ उभयोर्वेदशास्त्रयोः।
न च ग्रन्थस्य तत्त्वज्ञो यथातत्त्वं नरेश्वर ॥ १२ ॥

* पुरुष प्रकृतिकी जडताको आच्छादित करके उसके दुःखका आश्रय लेता है तथा प्रकृति पुरुषके आनन्दगुणको आच्छादित करके उसके चैतन्य गुणका आश्रय लेती है। तात्पर्य यह कि प्रकृतिके संयोगसे पुरुष आनन्दसे वञ्चित हो दुःखका भागी होता है और प्रकृति पुरुषके संगसे अपनी जडताको भुलाकर चेतनकी भाँति कार्य करने लगती है।

नरेश्वर ! इसमें संदेह नहीं कि वेद-शास्त्रोंमें जो कुछ लिखा है, वह सब तुम्हें याद है; परंतु ग्रन्थके यथार्थ तत्त्वका तुम्हें ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है ॥ १२ ॥

यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः ।
न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा ॥ १३ ॥

जो वेद और शास्त्रके ग्रन्थोंको तो याद रखनेमें तत्पर है, किंतु उनके यथार्थ तत्त्वको नहीं समझता, उसका वह याद रखना व्यर्थ है ॥ १३ ॥

भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः ।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा ॥ १४ ॥

जो ग्रन्थके अर्थको नहीं समझता, वह केवल रटकर मानो उन ग्रन्थोंका बोझ ढोता है; परंतु जो ग्रन्थके अर्थका तत्त्व समझता है, उसके लिये उस ग्रन्थका अध्ययन व्यर्थ नहीं है ॥ १४ ॥

ग्रन्थस्यार्थस्य पृष्टः संस्तादृशो वक्तुमर्हति ।
यथा तत्त्वाभिगमनादर्थं तस्य स विन्दति ॥ १५ ॥

ऐसा पुरुष पूछनेपर तत्त्वज्ञानपूर्वक ग्रन्थके अर्थको जैसा समझता है, वैसा दूसरोंको भी बता सकता है ॥ १५ ॥

न यः संसत्सु कथयेद् ग्रन्थार्थं स्थूलबुद्धिमान् ।
स कथं मन्दविज्ञानो ग्रन्थं वक्ष्यति निर्णयात् ॥ १६ ॥

जो स्थूल एवं मन्दबुद्धिसे युक्त होनेके कारण विद्वानोंकी सभामें शास्त्रग्रन्थका अर्थ नहीं बता सकता, वह निर्णयपूर्वक उस ग्रन्थका तात्पर्य कैसे कह सकता है ? ॥ १६ ॥

निर्णयं चापि छिद्रात्मा न तं वक्ष्यति तत्त्वतः ।
सोपहासात्मतामेति यस्माच्चैवात्मवानपि ॥ १७ ॥

जिसका चित्त शास्त्रज्ञानसे शून्य है, वह ग्रन्थके तात्पर्यका ठीक-ठीक निर्णय कर ही नहीं सकता । यदि वह कुछ कहता है तो मनस्वी होनेपर भी लोगोंके उपहासका पात्र बनता है ॥ १७ ॥

तस्मात् त्वं शृणु राजेन्द्र यथैतदनुदृश्यते ।
याथातथ्येन सांख्येषु योगेषु च महात्मसु ॥ १८ ॥

इसलिये राजेन्द्र ! सांख्य और योगके ज्ञाता महात्मा पुरुषोंके मतमें मोक्षका जैसा स्वरूप देखा जाता है, उसे मैं तुम्हें यथार्थरूपसे बताता हूँ, सुनो ॥ १८ ॥

यदेव योगाः पश्यन्ति सांख्यैस्तदनुगम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स बुद्धिमान् ॥ १९ ॥

योगी जिस तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं; सांख्यवेत्ता विद्वान् भी उसीका ज्ञान प्राप्त करते हैं । जो सांख्य और योगको फलकी दृष्टिसे एक समझता है, वही बुद्धिमान् है ॥ १९ ॥

त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जा च स्नायु च ।
अथ चैन्द्रियकं तात तद् भवानिदमाह माम् ॥ २० ॥

तात ! तुम मुझसे कह चुके हो कि शरीरमें जो त्वचा, मांस, रुधिर, मेदा, पित्त, मज्जा, स्नायु और इन्द्रिय-समुदाय हैं (वे सब माता-पिताके सम्बन्धसे प्रकट हुए हैं) ॥ २० ॥

द्रव्याद् द्रव्यस्य निर्वृत्तिरिन्द्रियादिन्द्रियं तथा ।
देहाद् देहमवाप्नोति बीजाद् बीजं तथैव च ॥ २१ ॥

जैसे बीजसे बीजकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार द्रव्यसे द्रव्य, इन्द्रियसे इन्द्रिय तथा देहसे देहकी प्राप्ति होती है ॥ २१ ॥

निरिन्द्रियस्याबीजस्य निर्द्रव्यस्याप्यदेहिनः ।
कथं गुणा भविष्यन्ति निर्गुणत्वान्महात्मनः ॥ २२ ॥

परंतु परमात्मा तो इन्द्रिय, बीज, द्रव्य और देहसे रहित तथा निर्गुण है; अतः उसमें गुण कैसे हो सकते हैं ॥

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च ।
एवं गुणाः प्रकृतितो जायन्ते निविशन्ति च ॥ २३ ॥

जैसे आकाश आदि गुण सत्त्व आदि गुणोंसे उत्पन्न होते और उन्हींमें लीन हो जाते हैं; उसी प्रकार सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण भी प्रकृतिसे उत्पन्न होते और उसीमें लीन होते हैं ॥ २३ ॥

त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जास्थि स्नायु च ।
अष्टौ तान्यथ शुक्रेण जानीहि प्राकृतानि वै ॥ २४ ॥

राजन् ! तुम यह जान लो कि त्वचा, मांस, रुधिर, मेदा, पित्त, मज्जा, अस्थि और स्नायु—ये आठों वस्तुएँ वीर्यसे उत्पन्न हुई हैं; इसलिये प्राकृत ही हैं ॥ २४ ॥

पुमांश्चैवापुमांश्चैव त्रैलिङ्ग्यं प्राकृतं स्मृतम् ।
न वापुमान् पुमांश्चैव स लिङ्गीत्यभिधीयते ॥ २५ ॥

पुरुष और प्रकृति—ये दो तत्त्व हैं । इनके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले जो तीन प्रकारके सात्त्विक, राजस और तामस चिह्न हैं, वे सब प्राकृत माने गये हैं; परंतु जो लिङ्गी अर्थात् इन सबका आधार आत्मा है, वह न पुरुष कहा जा सकता है और न प्रकृति ही । वह इन दोनोंसे विलक्षण है ॥ २५ ॥

अलिङ्गात् प्रकृतिर्लिङ्गैरुपलभ्यति सात्मजैः ।
यथा पुष्पफलैर्नित्यमृतवोऽमूर्तयस्तथा ॥ २६ ॥

जैसे फूलों और फलोंद्वारा सदा निराकार ऋतुओंका अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार निराकार पुरुषका संयोग पाकर अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए जो महत्तत्त्व आदि लिङ्ग हैं, उन्हींके द्वारा प्रकृति अनुमानका विषय होती है ॥

एवमप्यनुमानेन ह्यलिङ्गमुपलभ्यते ।
पञ्चविंशतिमस्तात लिङ्गेषु नियतात्मकः ॥ २७ ॥

इसी प्रकार लिङ्गसे भिन्न जो शुद्ध चेतनरूप आत्मा है, वह भी अनुमानसे बोधका विषय होता है अर्थात् जैसे दृश्यको प्रकाशित करनेके कारण सूर्य दृश्यसे भिन्न हैं, उसी प्रकार ज्ञान-स्वरूप आत्मा भी ज्ञेय वस्तुओंको प्रकाशित करनेके कारण उनसे भिन्न सत्ता रखता है । तात ! वही पचीसवाँ तत्त्व है, जो सभी लिङ्गोंमें नियतरूपसे व्याप्त है ॥

अनादिनिधनोऽनन्तः सर्वदर्शी निरामयः।
केवलं त्वभिमानित्वाद् गुणेषु गुण उच्यते ॥ २८ ॥

आत्मा तो जन्म-मृत्युसे रहित, अनन्त, सबका द्रष्टा और निर्विकार है। वह सत्त्व आदि गुणोंमें केवल अभिमान करनेके कारण ही गुणस्वरूप कहलाता है ॥ २८ ॥

गुणा गुणवतः सन्ति निर्गुणस्य कुतो गुणाः।
तस्मादेवं विजानन्ति ये जना गुणदर्शिनः ॥ २९ ॥
यदा त्वेष गुणानेतान् प्राकृतानभिमन्यते।
तदा स गुणहान्यै तं परमेवानुपश्यति ॥ ३० ॥

गुण तो गुणवान्में ही रहते हैं। निर्गुण आत्मामें गुण कैसे रह सकते हैं। अतः गुणोंके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् पुरुषोंका यही सिद्धान्त है कि जब जीवात्मा इन गुणोंको प्रकृतिका कार्य मानकर उनमें अपनेपनका अभिमान त्याग देता है, उस समय वह देह आदिमें आत्मबुद्धिका परित्याग करके अपने विशुद्ध परमात्मस्वरूपका साक्षात्कार करता है ॥

यत् तद् बुद्धेः परं प्राहुः सांख्या योगाश्च सर्वशः।
बुध्यमानं महाप्राज्ञमबुद्धपरिवर्जनात् ॥ ३१ ॥
अप्रबुद्धमथाव्यक्तं सगुणं प्राहुरीश्वरम्।
निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव च ॥ ३२ ॥
प्रकृतेश्च गुणानां च पञ्चविंशतिकं बुधाः।
सांख्ययोगे च कुशला बुध्यन्ते परमैषिणः ॥ ३३ ॥

सांख्य और योगके सम्पूर्ण विद्वान् जिसको बुद्धिसे परे बताते हैं, जो परम ज्ञानसम्पन्न है, अहंकार आदि जड तत्त्वोंका परित्याग (बाध) कर देनेपर शेष रहे हुए चिन्मय तत्त्वके रूपमें जिसका बोध होता है, जो अज्ञात, अव्यक्त, सगुण ईश्वर, निर्गुण ईश्वर, नित्य और अधिष्ठाता कहा गया है, वह परमात्मा ही प्रकृति और उसके गुणों (चौबीस तत्त्वों) की अपेक्षा पचीसवाँ तत्त्व है, ऐसा सांख्य और योगमें कुशल तथा परमतत्त्वकी खोज करनेवाले विद्वान् पुरुष समझते हैं ॥ ३१–३३ ॥

यदा प्रबुद्धा ह्यव्यक्तमवस्थाजन्मभीरवः।
बुध्यमानं प्रबुध्यन्ति गमयन्ति समं तदा ॥ ३४ ॥

जिस समय बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था अथवा जन्म-मरणसे भयभीत हुए विवेकी पुरुष चेतन-स्वरूप अव्यक्त परमात्माके तत्त्वको ठीक-ठीक समझ लेते हैं, उस समय उन्हें परब्रह्म परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ३४ ॥

एतन्निदर्शनं सम्यगसम्यगनिदर्शनम्।
बुध्यमानाप्रबुद्धानां पृथक्पृथगरिंदम ॥ ३५ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश! ज्ञानी पुरुषोंका यह ज्ञान युक्तियुक्त होनेके कारण उत्तम और (अज्ञानियोंकी धारणासे) पृथक् है। इसके विपरीत अज्ञानी पुरुषोंका जो अप्रामाणिक ज्ञान है, वह युक्तियुक्त न होनेके कारण ठीक नहीं है। यह पूर्वोक्त सम्यक् ज्ञानसे पृथक् है ॥ ३५ ॥

परस्परेणैतदुक्तं क्षराक्षरनिदर्शनम्।
एकत्वमक्षरं प्राहुर्नानात्वं क्षरमुच्यते ॥ ३६ ॥

क्षर और अक्षरके तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाला यह दर्शन मैंने तुम्हें बताया है। क्षर और अक्षरमें परस्पर क्या अन्तर है? इसे इस प्रकार समझो—सदा एकरूपमें रहनेवाले परमात्मतत्त्वको अक्षर बताया गया है और नाना रूपोंमें प्रतीत होनेवाला यह प्राकृत प्रपञ्च क्षर कहलाता है ॥ ३६ ॥

पञ्चविंशतिनिष्ठोऽयं यदा सम्यक् प्रवर्तते।
एकत्वं दर्शनं चास्य नानात्वं चाप्यदर्शनम् ॥ ३७ ॥

जब यह पुरुष पचीसवें तत्त्वस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाता है, तब उसकी स्थिति उत्तम बतायी जाती है—वह ठीक बर्ताव करता है, ऐसा माना जाता है। एकत्वका बोध ही ज्ञान है और नानात्वका बोध ही अज्ञान है ॥ ३७ ॥

तत्त्वनिस्तत्त्वयोरेतत् पृथगेव निदर्शनम्।
पञ्चविंशतिसर्गं तु तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥ ३८ ॥
निस्तत्त्वं पञ्चविंशस्य परमाहुर्निदर्शनम्।
सर्गस्य वर्गमाधारं तत्त्वं तत्त्वात् सनातनम् ॥ ३९ ॥

तत्त्व (क्षर) और निस्तत्त्व (अक्षर) का यह पृथक्-पृथक् लक्षण समझना चाहिये। कुछ मनीषी पुरुष पचीस तत्त्वोंको ही तत्त्व कहते हैं; परंतु दूसरे विद्वानोंने चौबीस जड तत्त्वोंको तो तत्त्व कहा है और पचीसवें चेतन परमात्माको निस्तत्त्व (तत्त्वसे भिन्न) बताया है। यह चैतन्य ही परमात्माका लक्षण है। महत्तत्त्व आदि जो विकार हैं, वे क्षरतत्त्व हैं और परम पुरुष परमात्मा उन 'क्षर' तत्त्वोंसे भिन्न उनका सनातन आधार है ॥ ३८-३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठकरालजनकसंवादविषयक तीन सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०५ ॥

षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः

योग और सांख्यके स्वरूपका वर्णन तथा आत्मज्ञानसे मुक्ति

जनक उवाच

नानात्वैकत्वमित्युक्तं त्वयैतदृषिसत्तम।
पश्यामि चैतद्धि संदिग्धमेतयोर्वै निदर्शनम् ॥ १ ॥

जनकने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! आपने क्षरको अनेक रूप और अक्षरको एकरूप बताया; किंतु इन दोनोंके तत्त्वका जो निर्णय किया गया है, उसे मैं अब भी संदेहकी दृष्टिसे ही देखता हूँ ॥ १ ॥

तथा बुद्धप्रबुद्धाभ्यां बुद्ध्यमानस्य चानघ ।
स्थूलबुद्ध्या न पश्यामि तत्त्वमेतन्न संशयः ॥ २ ॥

निष्पाप महर्षे ! जिसे अज्ञानी पुरुष (अनेक रूपमें) और ज्ञानी पुरुष एक रूपमें जानते हैं, उस परमात्माका तत्त्व मैं अपनी स्थूल बुद्धिके कारण समझ नहीं पाता हूँ। मेरे इस कथनमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २ ॥

अक्षरक्षरयोरुक्तं त्वया यदपि कारणम् ।
तदप्यस्थिरबुद्धित्वात् प्रणष्टमिव मेऽनघ ॥ ३ ॥

अनघ ! यद्यपि आपने क्षर और अक्षरको समझानेके लिये अनेक प्रकारकी युक्तियाँ बतायी हैं तथापि मेरी बुद्धि अस्थिर होनेके कारण मैं उन सारी युक्तियोंको मानो भूल गया हूँ ॥ ३ ॥

तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि नानात्वैकत्वदर्शनम् ।
बुद्धं चाप्रतिबुद्धं च बुध्यमानं च तत्त्वतः ॥ ४ ॥

इसलिये इस नानात्व और एकत्व-रूप दर्शनको मैं पुनः सुनना चाहता हूँ। बुद्ध (ज्ञानवान्) क्या है ? अप्रतिबुद्ध (ज्ञानहीन) क्या है ? तथा बुद्ध्यमान (ज्ञेय) क्या है ? यह ठीक-ठीक बताइये ॥ ४ ॥

विद्याविद्ये च भगवन्नक्षरं क्षरमेव च ।
साङ्ख्यं योगं च कार्त्स्न्येन पृथक् चैवापृथक् च ह॥५॥

भगवन् ! मैं विद्या, अविद्या, अक्षर और क्षर तथा सांख्य और योगको पृथक्-पृथक् पूर्णरूपसे समझना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

हन्त ते सम्प्रवक्ष्यामि यदेतदनुपृच्छसि ।
योगकृत्यं महाराज पृथगेव शृणुष्व मे ॥ ६ ॥

वसिष्ठजीने कहा—महाराज ! तुम जो-जो बातें पूछ रहे हो, मैं उन सबका भलीभाँति उत्तर दूँगा। इस समय योगसम्बन्धी कृत्यका पृथक् ही वर्णन कर रहा हूँ, सुनो ॥

योगकृत्यं तु योगानां ध्यानमेव परं बलम् ।
तच्चापि द्विविधं ध्यानमाहुर्विद्याविदो जनाः ॥ ७ ॥
एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च ।
प्राणायामस्तु सगुणो निर्गुणो मनसस्तथा ॥ ८ ॥

योगियोंके लिये प्रधान कर्तव्य है ध्यान। वही उनका परम बल है। योगके विद्वान् उस ध्यानको दो प्रकारका बतलाते हैं—एक तो मनकी एकाग्रता और दूसरा प्राणायाम। प्राणायामके भी दो भेद हैं—सगुण और निर्गुण। इनमेंसे जिस प्राणायाममें मनका सम्बन्ध सगुणके साथ रहता है, वह सगुण प्राणायाम है और जिसमें मनका सम्बन्ध निर्गुणके साथ रहता है, वह निर्गुण प्राणायाम है ॥ ७-८ ॥

मूत्रोत्सर्गपुरीषे च भोजने च नराधिप ।
त्रिकालं नाभियुञ्जीत शेषं युञ्जीत तत्परः ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! मलत्याग, मूत्रत्याग और भोजन—इन तीन कार्योंमें जो समय लगता है, उसमें योगका अभ्यास न करे। शेष समयमें तत्परतापूर्वक योगका अभ्यास करना चाहिये ॥ ९ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निवर्त्य मनसा शुचिः ।
दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात् परं ततः ॥ १० ॥
संचोदनाभिर्मतिमानात्मानं चोदयेदथ ।
तिष्ठन्तमजरं तं तु यत् तदुक्तं मनीषिभिः ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् योगीको चाहिये कि पवित्र हो मनके द्वारा श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको शब्द आदि विषयोंसे हटावे एवं बाईस प्रकारकी प्रेरणाओंद्वारा[1] उस जरारहित जीवात्माको, जिसे मनीषी पुरुषोंने आत्मस्वरूप बताया है, चौबीस तत्त्वोंके समुदायरूप प्रकृतिसे परे परम पुरुष परमात्माकी ओर प्रेरित करे ॥ १०-११ ॥

तैश्चात्मा सततं ज्ञेय इत्येवमनुशुश्रुम ।
व्रतं ह्यहीनमनसो नान्यथेति विनिश्चयः ॥ १२ ॥

हमने गुरुजनोंके मुखसे सुना है कि जो लोग इस प्रकार प्राणायाम करते हैं, वे सदा ही परब्रह्म परमात्माके जाननेके अधिकारी होते हैं। जिसका मन सदा ध्यानमें संलग्न रहता है, ऐसे योगीके ही योग्य यह व्रत है अन्यथा बहिर्मुख चित्तवाले पुरुषके लिये यह नहीं है। यह निश्चितरूपसे जानना चाहिये ॥ १२ ॥

विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
पूर्वरात्रेऽपररात्रे धारयीत मनोऽऽत्मनि ॥ १३ ॥

योगी सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त हो मिताहारी और जितेन्द्रिय बने तथा रात्रिके पहले और पिछले भागमें मनको आत्मामें एकाग्र करे ॥ १३ ॥

स्थिरीकृत्येन्द्रियग्रामं मनसा मिथिलेश्वर ।
मनो बुद्ध्या स्थिरं कृत्वा पाषाण इव निश्चलः ॥ १४ ॥
स्थाणुवच्चाप्यकम्पः स्याद् गिरिवच्चापि निश्चलः ।
बुद्ध्या विधिविधानज्ञास्तदा युक्तं प्रचक्षते ॥ १५ ॥

---

१. जैसे घड़ेमें जल भरा जाता है, उसी प्रकार पादाङ्गुष्ठसे लेकर मूर्धातक सम्पूर्ण शरीरमें नासिकाके छिद्रोंद्वारा वायुको खींचकर भर ले। फिर ब्रह्मरन्ध्र (मूर्धा) से वायुको हटाकर ललाटमें स्थापित करे। यह प्राणवायुके प्रत्याहारका पहला स्थान है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर हटाते और रोकते हुए क्रमशः भ्रूमध्य, नेत्र, नासिकामूल, जिह्वामूल, कण्ठकूप, हृदयमध्य, नाभिमध्य, मेढ़ (उपस्थका मूलभाग), उदर, गुदा, ऊरुमूल, ऊरुमध्य, जानु, चितिमूल, जङ्घामध्य, गुल्फ और पादाङ्गुष्ठ—इन स्थानोंमें वायुको ले जाकर स्थापित करे। इन अठारह स्थानोंमें किये हुए प्रत्याहारोंको अठारह प्रकारकी प्रेरणा समझना चाहिये। इनके सिवा ध्यान, धारणा, समाधि तथा 'सत्त्वपुरुषान्यता ख्याति' (बुद्धि और पुरुष इन दोनोंकी भिन्नताका बोध)—ये चार प्रेरणाएँ और हैं। ये ही सब मिलकर बाईस प्रकारकी प्रेरणाएँ कही गयी हैं।

मिथिलेश्वर ! जब योगी मनके द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको और बुद्धिके द्वारा मनको स्थिर करके पत्थरकी भाँति अविचल हो जाय, सूखे काठकी भाँति निष्कम्प और पर्वतकी तरह स्थिर रहने लगे तभी शास्त्रके विधानको जाननेवाले विद्वान् पुरुष अपने अनुभवसे ही उसको योगयुक्त कहते हैं ॥ १४-१५ ॥

न शृणोति न चाघ्राति न रस्यति न पश्यति ।
न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः ॥ १६ ॥
न चाभिमन्यते किंचिन्न च बुध्यति काष्ठवत् ।
तदा प्रकृतिमापन्नं युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १७ ॥

जिस समय वह न तो सुनता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न देखता है और न स्पर्शका ही अनुभव करता है, जब उसके मनमें किसी प्रकारका संकल्प नहीं उठता तथा काठकी भाँति स्थित होकर वह किसी भी वस्तुका अभिमान या सुध-बुध नहीं रखता, उसी समय मनीषी पुरुष उसे अपने शुद्धस्वरूपको प्राप्त एवं योगयुक्त कहते हैं ॥ १६-१७ ॥

निर्वाते हि यथा दीप्यन् दीपस्तद्वत् प्रकाशते ।
निर्लिङ्गोऽविचलश्चोर्ध्वं न तिर्यग् गतिमाप्नुयात् ॥ १८ ॥

उस अवस्थामें वह वायुरहित स्थानमें रखे हुए निश्चलभावसे प्रज्वलित दीपककी भाँति प्रकाशित होता है । लिङ्ग शरीरसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता । वह ऐसा निश्चल हो जाता है कि उसकी ऊपर-नीचे अथवा मध्यमें कहीं भी गति नहीं होती ॥ १८ ॥

तदा तमनुपश्येत यस्मिन् दृष्टे न कथ्यते ।
हृदयस्थोऽन्तरात्मेति ज्ञेयो ज्ञस्तात मद्विधैः ॥ १९ ॥

जिनका साक्षात्कार कर लेनेपर मनुष्य कुछ बोल नहीं पाता, योगकालमें योगी उसी परमात्माको देखे । वत्स ! मुझ-जैसे लोगोंको अपने-अपने हृदयमें स्थित सबके ज्ञाता अन्तरात्माका ही ज्ञान प्राप्त करना उचित है ॥ १९ ॥

विधूम इव सप्तार्चिरादित्य इव रश्मिमान् ।
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि ॥ २० ॥

ध्याननिष्ठ योगीको अपने हृदयमें उसी प्रकार परमात्माका साक्षात् दर्शन होता है जैसे धूमरहित अग्निका, किरणमालाओंसे मण्डित सूर्यका तथा आकाशमें विद्युत्के प्रकाशका दर्शन होता है ॥ २० ॥

ये पश्यन्ति महात्मानो धृतिमन्तो मनीषिणः ।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ह्ययोनिममृतात्मकम् ॥ २१ ॥

धैर्यवान्, मनीषी, ब्रह्मबोधक शास्त्रोंमें निष्ठा रखनेवाले और महात्मा ब्राह्मण ही उस अजन्मा एवं अमृतस्वरूप ब्रह्मका दर्शन कर पाते हैं ॥ २१ ॥

तदेवाहुरणुभ्योऽणु तन्महद्भ्यो महत्तरम् ।
तत् तत्त्वं सर्वभूतेषु ध्रुवं तिष्ठन् न दृश्यते ॥ २२ ॥

वह ब्रह्म अणुसे भी अणु और महान्से भी महान् कहा गया है । सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर वह अन्तर्यामीरूपसे अवश्य स्थिर रहता है तथापि किसीको दिखायी नहीं देता है ॥ २२ ॥

बुद्धिद्रव्येण दृश्येत मनोदीपेन लोककृत् ।
महतस्तमसस्तात पारे तिष्ठन्नतामसः ॥ २३ ॥
स तमोनुद इत्युक्तः सर्वज्ञैर्वेदपारगैः ।
विमलो वितमस्कश्च निर्लिङ्गोऽलिङ्गसंज्ञितः ॥ २४ ॥
योग एष हि योगानां किमन्यद् योगलक्षणम् ।
एवं पश्यं प्रपश्यन्ति आत्मानमजरं परम् ॥ २५ ॥

सूक्ष्म बुद्धिरूप धन-सम्पन्न पुरुष ही मनोमय दीपकके द्वारा उस लोकस्रष्टा परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं । वह परमात्मा महान् अन्धकारसे परे और तमोगुणसे रहित है; इसलिये वेदके पारगामी सर्वज्ञ पुरुषोंने उसे तमोनुद (अज्ञाननाशक) कहा है । वह निर्मल, अज्ञानरहित, लिङ्गहीन और अलिङ्ग नामसे प्रसिद्ध (उपाधिशून्य) है । यही योगियोंका योग है । इसके सिवा योगका और क्या लक्षण हो सकता है । इस तरह साधना करनेवाले योगी सबके द्रष्टा अजर-अमर परमात्मा दर्शन करते हैं ॥ २३—२५ ॥

योगदर्शनमेतावदुक्तं ते तत्त्वतो मया ।
सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम् ॥ २६ ॥

यहाँतक मैंने तुम्हें यथार्थरूपसे योग-दर्शनकी बात बतायी है, अब सांख्यका वर्णन करता हूँ; यह विचारप्रधान दर्शन है ॥ २६ ॥

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः ।
तस्मान्महत् समुत्पन्नं द्वितीयं राजसत्तम ॥ २७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! प्रकृतिवादी विद्वान् मूल प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं । उससे दूसरा तत्त्व प्रकट हुआ, जिसे महत्तत्त्व कहते हैं ॥ २७ ॥

अहङ्कारस्तु महतस्तृतीयमिति नः श्रुतम् ।
पञ्चभूतान्यहङ्कारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः ॥ २८ ॥

महत्तत्त्वसे अहंकार प्रकट हुआ, जो तीसरा तत्त्व है । ऐसा हमारे सुननेमें आया है । अहंकारसे पाँच सूक्ष्म भूतोंकी अर्थात् पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति हुई; यह सांख्यात्मदर्शी विद्वानोंका कथन है ॥ २८ ॥

एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश ।
पञ्च चैव विशेषा वै तथा पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ २९ ॥

ये आठ प्रकृतियाँ हैं । इनसे सोलह तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है, जिन्हें विकार कहते हैं । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच स्थूलभूत—ये सोलह विकार हैं । इनमेंसे आकाश आदि पाँच तत्त्व और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये विशेष कहलाते हैं ॥ २९ ॥

एतावदेव तत्त्वानां सांख्यमाहुर्मनीषिणः ।
सांख्ये विधिविधानज्ञा नित्यं सांख्यपथे रताः ॥ ३० ॥

सांख्यशास्त्रीय विधिविधानके ज्ञाता और सदा सांख्यमार्गमें ही अनुरक्त रहनेवाले मनीषी पुरुष इतनी ही सांख्यसम्मत

तत्त्वोंकी संख्या बतलाते हैं। अर्थात् अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा—इन आठ प्रकृतियोंसहित उपर्युक्त सोलह विकार मिलकर कुल चौबीस तत्त्व सांख्यशास्त्रके विद्वानोंने स्वीकार किये हैं ॥ ३० ॥

यस्माद् यदभिजायेत तत् तत्रैव प्रलीयते।
लीयन्ते प्रतिलोमानि सृज्यन्ते चान्तरात्मना ॥ ३१ ॥

जो तत्त्व जिससे उत्पन्न होता है, वह उसीमें लीन भी होता है। अनुलोमक्रमसे उन तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है (जैसे प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे सूक्ष्म भूत आदिके क्रमसे सृष्टि होती है); परंतु उनका संहार विलोमक्रमसे होता है (अर्थात् पृथ्वीका जलमें, जलका तेजमें और तेजका वायुमें लय होता है। इस तरह सभी तत्त्व अपने-अपने कारणमें लीन होते हैं)। ये सभी तत्त्व अन्तरात्माद्वारा ही रचे जाते हैं ॥ ३१ ॥

अनुलोमेन जायन्ते लीयन्ते प्रतिलोमतः।
गुणा गुणेषु सततं सागरस्योर्मयो यथा ॥ ३२ ॥

जैसे समुद्रसे उठी हुई लहरें फिर उसीमें शान्त हो जाती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण गुण (तत्त्व) सदा अनुलोमक्रमसे उत्पन्न होते और विलोमक्रमसे अपने कारणभूत गुणों (तत्त्व) में ही लीन हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

सर्गप्रलय एतावान् प्रकृतेर्नृपसत्तम।
एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च यदासृजत् ॥ ३३ ॥
एवमेव च राजेन्द्र विज्ञेयं ज्ञानकोविदैः।
अधिष्ठातारमव्यक्तमस्याप्येतन्निदर्शनम् ॥ ३४ ॥

नृपश्रेष्ठ! इतना ही प्रकृतिके सर्ग और प्रलयका विषय है। प्रलयकालमें इसका एकत्व है और जब रचना होती है, तब इसके बहुत भेद हो जाते हैं। राजेन्द्र! ज्ञाननिपुण पुरुषोंको इसी प्रकार प्रकृतिका एकत्व और नानात्व जानना चाहिये। अव्यक्त प्रकृति ही अधिष्ठाता पुरुषको सृष्टिकालमें नानात्वकी ओर ले जाती है। यही पुरुषके एकत्वका निदर्शन है ॥ ३३-३४ ॥

एकत्वं च बहुत्वं च प्रकृतेरर्थतत्त्ववान्।
एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च प्रवर्तनात् ॥ ३५ ॥

अर्थ-तत्त्वके ज्ञाता पुरुषको यह जानना चाहिये कि प्रलयकालमें प्रकृतिमें भी एकता और सृष्टिकालमें अनेकता रहती है। इसी प्रकार पुरुष भी प्रलयकालमें एक ही रहता है; किंतु सृष्टिकालमें प्रकृतिका प्रेरक होनेके कारण उसमें नानात्वका आरोप हो जाता है ॥ ३५ ॥

बहुधाऽऽत्मा प्रकुर्वीत प्रकृतिं प्रसवात्मिकाम्।
तच्च क्षेत्रं महानात्मा पञ्चविंशोऽधितिष्ठति ॥ ३६ ॥

परमात्मा ही प्रसवात्मिका प्रकृतिको नाना रूपोंमें परिणत करता है। प्रकृति और उसके विकारको क्षेत्र कहते हैं। चौबीस तत्त्वोंसे भिन्न जो पचीसवाँ तत्त्व महान् आत्मा है, वह क्षेत्रमें अधिष्ठातारूपसे निवास करता है ॥ ३६ ॥

अधिष्ठातेति राजेन्द्र प्रोच्यते यतिसत्तमैः।
अधिष्ठानादधिष्ठाता क्षेत्राणामिति नः श्रुतम् ॥ ३७ ॥

राजेन्द्र! इसीलिये यतिशिरोमणि उसे अधिष्ठाता कहते हैं। क्षेत्रोंका अधिष्ठान होनेके कारण वह अधिष्ठाता है, ऐसा हमने सुन रक्खा है ॥ ३७ ॥

क्षेत्रं जानाति चाव्यक्तं क्षेत्रज्ञ इति चोच्यते।
आव्यक्तिके पुरे शेते पुरुषश्चेति कथ्यते ॥ ३८ ॥

वह अव्यक्तसंज्ञक क्षेत्र (प्रकृति) को जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाता है और प्राकृत शरीररूपी पुरोंमें अन्तर्यामीरूपसे शयन करनेके कारण उसे 'पुरुष' कहते हैं ॥ ३८ ॥

अन्यदेव च क्षेत्रं स्यादन्यः क्षेत्रज्ञ उच्यते।
क्षेत्रमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञाता वै पञ्चविंशकः ॥ ३९ ॥

वास्तवमें क्षेत्र अन्य वस्तु है और क्षेत्रज्ञ अन्य। क्षेत्र अव्यक्त कहा गया है और क्षेत्रज्ञ उसका ज्ञाता पचीसवाँ तत्त्व आत्मा है ॥ ३९ ॥

अन्यदेव च ज्ञानं स्यादन्यज्ज्ञेयं तदुच्यते।
ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः ॥ ४० ॥

ज्ञान अन्य वस्तु है और ज्ञेय उससे भिन्न कहा जाता है। ज्ञान[1] अव्यक्त कहा गया है और ज्ञेय पचीसवाँ तत्त्व आत्मा है ॥ ४० ॥

अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्त्वं तथेश्वरः।
अनीश्वरमतत्त्वं च तत्त्वं तत् पञ्चविंशकम् ॥ ४१ ॥

अव्यक्तको क्षेत्र कहा गया है। उसीको सत्त्व (बुद्धि) और शासककी भी संज्ञा दी गयी है; परंतु पचीसवाँ तत्त्व परमपुरुष परमात्मा जड तत्त्व और ईश्वरसे रहित भिन्न है ॥

सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम्।
सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥ ४२ ॥

इतना ही सांख्यदर्शन है। सांख्यके विद्वान् तत्त्वोंकी संख्या (गणना) करते और प्रकृतिको ही जगत्का कारण बताते हैं। इसीलिये इस दर्शनका नाम सांख्यदर्शन है ॥ ४२ ॥

तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः।
सांख्याः सह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वः पञ्चविंशकः ॥ ४३ ॥

सांख्यवेत्ता पुरुष प्रकृतिसहित चौबीस तत्त्वोंकी परिगणना करके परमपुरुषको जड तत्त्वोंसे भिन्न पचीसवाँ निश्चित करते हैं ॥ ४३ ॥

पञ्चविंशोऽप्रकृत्यात्मा बुध्यमान इति स्मृतः।
यदा तु बुध्यतेऽऽत्मानं तदा भवति केवलः ॥ ४४ ॥

वह पचीसवाँ प्रकृतिरूप नहीं है। उससे सर्वथा भिन्न ज्ञानस्वरूप माना गया है। जब वह अपने-आपको प्रकृतिसे भिन्न नित्य-चिन्मय जान लेता है, उस समय केवल हो जाता है अर्थात् अपने विशुद्ध परब्रह्मरूपमें स्थित हो जाता है ॥ ४४ ॥

---

१. यहाँ 'ज्ञान' शब्दसे बुद्धिवृत्तिको समझना चाहिये।

सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं तव तत्त्वतः।
एवमेतद् विजानन्तः साम्यतां प्रति यान्त्युत ॥ ४५ ॥

इस प्रकार मैंने तुमसे यह सम्यग्दर्शन (सांख्य) का यथावत्‌रूपसे वर्णन किया है। जो इसे इस प्रकार जानते हैं, वे शान्तस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ ४५ ॥

सम्यङ्‌निदर्शनं नाम प्रत्यक्षं प्रकृतेस्तथा।
गुणतत्त्वान्यथैतानि निर्गुणोऽन्यस्तथा भवेत् ॥ ४६ ॥

प्रकृति-पुरुषका प्रत्यक्ष-दर्शन (अपरोक्ष-अनुभव) ही सम्यग्दर्शन है। ये जो गुणमय तत्त्व हैं, इनसे भिन्न परमपुरुष परमात्मा निर्गुण हैं ॥ ४६ ॥

न त्वेवं वर्तमानानामावृत्तिर्विद्यते पुनः।
विद्यतेऽक्षरभावत्वादपरं परमव्ययम् ॥ ४७ ॥

इस दर्शनके अनुसार ज्ञान प्राप्त करनेवालोंकी इस संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होती; क्योंकि वे अविनाशी ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं, अतः परापरस्वरूप निर्विकार परब्रह्मरूपसे ही उनकी स्थिति होती है ॥ ४७ ॥

पश्येरन्नैकमतयो न सम्यक् तेषु दर्शनम्।
ते व्यक्तं प्रतिपद्यन्ते पुनः पुनररिंदम ॥ ४८ ॥

शत्रुदमन नरेश ! जिनकी बुद्धि नानात्वका दर्शन करती है, उन्हें सम्यक्‌-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। ऐसे लोगोंको बारंबार शरीर धारण करना पड़ता है ॥ ४८ ॥

सर्वमेतद् विजानन्तो नासर्वस्य प्रबोधनात्।
व्यक्तीभूता भविष्यन्ति व्यक्तस्य वशवर्तिनः ॥ ४९ ॥

जो इस सारे प्रपञ्चको ही जानते हैं, वे इससे भिन्न परमात्माका तत्त्व न जाननेके कारण निश्चय ही शरीरधारी होंगे और शरीर तथा काम-क्रोध आदि दोषोंके वशवर्ती बने रहेंगे ॥ ४९ ॥

सर्वमव्यक्तमित्युक्तमसर्वः पञ्चविंशकः।
य एनमभिजानन्ति न भयं तेषु विद्यते ॥ ५० ॥

'सर्व' नाम है अव्यक्त प्रकृतिका और उससे भिन्न पचीसवें तत्त्व परमात्माको असर्व कहा गया है। जो उन्हें इस प्रकार जानते हैं, उन्हें आवागमनका भय नहीं होता है ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०६ ॥



सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः

विद्या-अविद्या, अक्षर और क्षर तथा प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका एवं विवेकीके उद्गारका वर्णन

वसिष्ठ उवाच

सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम।
विद्याविद्ये त्विदानीं मे त्वं निबोधानुपूर्वशः ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! यहाँतक मैंने तुम्हें सांख्यदर्शनकी बात बतायी है। अब इस समय तुम मुझसे विद्या और अविद्याका वर्णन क्रमसे सुनो ॥ १ ॥

अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै।
सर्गप्रलयनिर्मुक्तं विद्यां वै पञ्चविंशकः ॥ २ ॥

मुनियोंने सृष्टि और प्रलयरूप धर्मवाले कार्यसहित अव्यक्तको ही अविद्या कहा है तथा चौबीस तत्त्वोंसे परे जो पचीसवाँ तत्त्व परम पुरुष परमात्मा है, जो सृष्टि और प्रलयसे रहित है, उसीको विद्या कहते हैं ॥ २ ॥

परस्परस्य विद्यां वै त्वं निबोधानुपूर्वशः।
यथोक्तमृषिभिस्तात सांख्यस्याभिनिदर्शनम् ॥ ३ ॥

तात ! ऋषियोंने जिस प्रकार सांख्यदर्शनकी बात बतायी है, उसी प्रकार तुम अव्यक्तका जो पारस्परिक भेद है, उनमें जो जिसकी विद्या है अर्थात् श्रेष्ठ है, उसका वर्णन क्रमसे सुनो ॥ ३ ॥

कर्मेन्द्रियाणां सर्वेषां विद्या बुद्धीन्द्रियं स्मृतम्।
बुद्धीन्द्रियाणां च तथा विशेषा इति नः श्रुतम् ॥ ४ ॥

हमने सुन रक्खा है कि समस्त कर्मेन्द्रियोंकी विद्या ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गयी हैं। अर्थात् कर्मेन्द्रियोंसे ज्ञानेन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं और ज्ञानेन्द्रियोंकी विद्या पञ्चमहाभूत हैं ॥ ४ ॥

विशेषाणां मनस्तेषां विद्यामाहुर्मनीषिणः।
मनसः पञ्च भूतानि विद्या इत्यभिचक्षते ॥ ५ ॥

मनीषी पुरुष कहते हैं कि स्थूल पञ्चभूतोंकी विद्या मन है और मनकी विद्या सूक्ष्म पञ्चभूत हैं ॥ ५ ॥

अहङ्कारस्तु भूतानां पञ्चानां नात्र संशयः।
अहङ्कारस्य च तथा बुद्धिर्विद्या नरेश्वर ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! उन सूक्ष्मपञ्चभूतोंकी विद्या अहंकार है, इसमें कोई संशय नहीं है तथा अहंकारकी विद्या बुद्धि मानी गयी है ॥ ६ ॥

विद्या प्रकृतिरव्यक्तं तत्त्वानां परमेश्वरी।
विद्या ज्ञेया नरश्रेष्ठ विधिश्च परमः स्मृतः ॥ ७ ॥

नरश्रेष्ठ ! अव्यक्त नामवाली जो परमेश्वरी प्रकृति है, वह सम्पूर्ण तत्त्वोंकी विद्या है। यह विद्या जानने योग्य है, इसीको ज्ञानकी परम विधि कहते हैं ॥ ७ ॥

अव्यक्तस्य परं प्राहुर्विद्यां वै पञ्चविंशकम्।
सर्वस्य सर्वमित्युक्तं ज्ञेयं ज्ञानस्य पार्थिव ॥ ८ ॥

पचीसवें तत्त्वके रूपमें जिस परम पुरुष परमात्मा

चर्चा की गयी है, उसीको अव्यक्त प्रकृतिकी परम विद्या बताया गया है। राजन्! वही सम्पूर्ण ज्ञानका सर्वरूप ज्ञेय है॥

ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः।
तथैव ज्ञानमव्यक्तं विज्ञाता पञ्चविंशकः॥ ९॥

ज्ञान अव्यक्त कहा गया है और परम पुरुष ज्ञेय बताया गया है, उसी प्रकार ज्ञान अव्यक्त है और उसका ज्ञाता परम पुरुष है॥ ९॥

विद्याविद्यार्थतत्त्वेन मयोक्ता ते विशेषतः।
अक्षरं च क्षरं चैव यदुक्तं तन्निबोध मे॥ १०॥

राजन्! मैंने तुम्हारे समक्ष यथार्थरूपसे विद्यासहित अविद्याका विशेषरूपसे वर्णन किया है। अब जो क्षर और अक्षर तत्त्व कहे गये हैं; उनके विषयमें मुझसे सुनो॥ १०॥

उभावेवाक्षरावुक्तावुभावेतावनक्षरौ।
कारणं तु प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं तु ज्ञानतः॥ ११॥

सांख्यमतमें प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही अक्षर कहा गया है तथा ये ही दोनों क्षर भी हैं। मैं अपने ज्ञानके अनुसार इसका यथार्थ कारण बतलाता हूँ॥ ११॥

अनादिनिधनावेतावुभावेवेश्वरौ मतौ।
तत्त्वसंज्ञावुभावेतौ प्रोच्येते ज्ञानचिन्तकैः॥ १२॥

ये दोनों ही अनादि और अनन्त हैं; अतः परस्पर संयुक्त होकर दोनों ही ईश्वर (सर्वसमर्थ) माने गये हैं। सांख्यज्ञानका विचार करनेवाले विद्वान् इन दोनों-को ही 'तत्त्व' कहते हैं॥ १२॥

सर्गप्रलयधर्मत्वादव्यक्तं प्राहुरक्षरम्।
तदेतद् गुणसर्गाय विकुर्वाणं पुनः पुनः॥ १३॥

सृष्टि और प्रलय प्रकृतिका धर्म है। इसलिये प्रकृतिको अक्षर कहा गया है। वही प्रकृति महत्तत्त्व आदि गुणोंकी सृष्टिके लिये बारंबार विकारको प्राप्त होती है; इसलिये उसे क्षर भी कहा जाता है॥ १३॥

गुणानां महदादीनामुत्पत्तिश्च परस्परम्।
अधिष्ठानात् क्षेत्रमाहुरेतत्तत् पञ्चविंशकम्॥ १४॥

महत्तत्त्व आदि गुणोंकी उत्पत्ति प्रकृति और पुरुषके परस्पर संयोगसे होती है; अतः एक दूसरेका अधिष्ठान होनेके कारण पुरुषको भी क्षेत्र कहते हैं॥ १४॥

यदा तु गुणजालं तदव्यक्तात्मनि संक्षिपेत्।
तदा सह गुणैस्तैस्तु पञ्चविंशो विलीयते॥ १५॥

योगी जब अपने योगके प्रभावसे प्रकृतिके गुणसमूहको अव्यक्त मूल प्रकृतिमें विलीन कर देता है, तब उन गुणोंका विलय होनेके साथ-साथ पचीसवाँ तत्त्व पुरुष भी परमात्मामें मिल जाता है। इस दृष्टिसे उसे भी क्षर कह सकते हैं॥ १५॥

गुणा गुणेषु लीयन्ते तदैका प्रकृतिर्भवेत्।
क्षेत्रज्ञोऽपि यदा तात तत्क्षेत्रे सम्प्रलीयते॥ १६॥

तात! जब कार्यभूत गुण कारणभूत गुणोंमें लीन हो जाते हैं, उस समय सब कुछ एकमात्र प्रकृतिस्वरूप हो जाता है तथा जब क्षेत्रज्ञ भी परमात्मामें लीन हो जाता है, तब उसका भी पृथक् अस्तित्व नहीं रहता॥ १६॥

तदा क्षरत्वं प्रकृतिर्गच्छते गुणसंश्रिता।
निर्गुणत्वं च वैदेह गुणेष्वप्रतिवर्तनात्॥ १७॥

विदेहराज! उस समय त्रिगुणमयी प्रकृति क्षरत्व (नाश) को प्राप्त होती है और पुरुष भी गुणोंमें प्रवृत्त न होनेके कारण निर्गुण (गुणातीत) हो जाता है॥ १७॥

एवमेव च क्षेत्रज्ञः क्षेत्रज्ञानपरिक्षये।
प्रकृत्या निर्गुणस्त्वेष इत्येवमनुशुश्रुम॥ १८॥

इस प्रकार जब क्षेत्रका ज्ञान नहीं रहता अर्थात् पुरुषको प्रकृतिका ज्ञान नहीं रहता, तब वह स्वभावसे ही निर्गुण है—यह हमने सुन रक्खा है॥ १८॥

क्षरो भवत्येष यदा तदा गुणवतीमथ।
प्रकृतिं त्वभिजानाति निर्गुणत्वं तथाऽऽत्मनः॥ १९॥

जब वह पुरुष क्षर होता है, अर्थात् परमात्मामें लीन हो जाता है, उस समय वह प्रकृतिके सगुणत्वको और अपने निर्गुणत्वको यथार्थ समझ लेता है॥ १९॥

तदा विशुद्धो भवति प्रकृतेः परिवर्जनात्।
अन्योऽहमन्येयमिति यदा बुध्यति बुद्धिमान्॥ २०॥

इस तरह ज्ञानवान् पुरुष जब यह जान लेता है कि मैं अन्य हूँ और यह प्रकृति मुझसे भिन्न है, तब वह प्रकृतिसे रहित हो जानेसे अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित होता है॥

तदैष तत्त्वतामेति न चापि मिश्रतां व्रजेत्।
प्रकृत्या चैव राजेन्द्र मिश्रो ह्यन्यश्च दृश्यते॥ २१॥

राजेन्द्र! प्रकृतिसे संयोगके समय उससे अभिन्न-सा प्रतीत होनेके कारण यह पुरुष तद्रूपताको प्राप्त हुआ-सा जान पड़ता है, परंतु उस अवस्थामें भी उसका प्रकृतिके साथ मिश्रण नहीं होता, उसकी पृथकता बनी रहती है। इस प्रकार पुरुष प्रकृतिके साथ संयुक्त और पृथक् भी दिखायी देता है॥ २१॥

यदा तु गुणजालं तत् प्राकृतं वै जुगुप्सते।
पश्यते च परं पश्यं तदा पश्यन्न संत्यजेत्॥ २२॥

जब वह प्राकृत गुणसमुदायको कुत्सित समझकर उससे विरत हो जाता है, उस समय वह परम दर्शनीय परमात्माका दर्शन पा जाता है और उसको देखकर फिर भी उसका त्याग नहीं करता अर्थात् उससे अलग नहीं होता॥ २२॥

किं मया कृतमेतावद् योऽहं कालमिमं जनम्।
मत्स्यो जालं ह्यविज्ञानादनुवर्तितवानिह॥ २३॥

(जिस समय जीवात्माको विवेक होता है, उस समय वह यों विचार करने लगता है—) 'ओह! मैंने यह क्या किया? जैसे मछली अज्ञानवश स्वयं ही जाकर जालमें फँस जाती है, उसी प्रकार मैं भी आजतक यहाँ इस प्राकृत शरीर-का ही अनुसरण करता रहा॥ २३॥

अहमेव हि सम्मोहादन्यमन्यं जनाज्जनम् ।
मत्स्यो यथोदकज्ञानादनुवर्तितवानहम् ॥ २४ ॥

'जैसे मत्स्य पानीको ही अपने जीवनका मूल समझकर एक जलाशयसे दूसरे जलाशयको जाता है, उसी तरह मैं भी मोहवश एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भटकता रहा ॥ २४ ॥

मत्स्योऽन्यत्वं यथाज्ञानादुदकान्नाभिमन्यते ।
आत्मानं तद्वदज्ञानादन्यत्वं नैव वेद्म्यहम् ॥ २५ ॥

'जैसे मत्स्य अज्ञानवश अपनेको जलसे भिन्न नहीं समझता, उसी प्रकार मैं भी अपनी अज्ञताके कारण इस प्राकृत शरीरसे अपनेको भिन्न नहीं समझता था ॥ २५ ॥

ममास्तु धिगबुद्धस्य योऽहं मग्नमिमं पुनः ।
अनुवर्तितवान् मोहादन्यमन्यं जनाज्जनम् ॥ २६ ॥

'मुझ मूढ़को धिक्कार है; जो कि संसारसागरमें डूबे हुए इस शरीरका आश्रय ले मोहवश एक शरीरसे दूसरे शरीरका अनुसरण करता रहा ॥ २६ ॥

अयमत्र भवेद् बन्धुरनेन सह मे क्षमम् ।
साम्यमेकत्वमायातो यादृशस्तादृशस्त्वहम् ॥ २७ ॥

'वास्तवमें इस जगत्के भीतर यह परमात्मा ही मेरा बन्धु है । इसीके साथ मेरी मैत्री हो सकती है । पहले मैं कैसा भी क्यों न रहा होऊँ, इस समय तो मैं इसकी समानता और एकताको प्राप्त हो चुका हूँ, जैसा वह है वैसा ही मैं हूँ॥

तुल्यतामिह पश्यामि सदृशोऽहमनेन वै ।
अयं हि विमलो व्यक्तमहमीदृशकस्तथा ॥ २८ ॥

'इसीमें मुझे अपनी समानता दिखायी देती है । मैं अवश्य इसके ही सदृश हूँ । यह परमात्मा प्रत्यक्ष ही अत्यन्त निर्मल है और मैं भी ऐसा ही हूँ ॥ २८ ॥

योऽहमज्ञानसम्मोहादज्ञया सम्प्रवृत्तवान् ।
ससङ्गयाहं निःसङ्गः स्थितः कालमिमं त्वहम् ॥ २९ ॥

'मैं जो कि आसक्तिसे सर्वथा रहित हूँ तो भी अज्ञान एवं मोहके वशीभूत होकर इतने समयतक इस आसक्तिमयी जड प्रकृतिके साथ रमता रहा ॥ २९ ॥

अनयाहं वशीभूतः कालमेतं न बुद्धवान् ।
उच्चमध्यमनीचानां तामहं कथमावसे ॥ ३० ॥

'इसने मुझे इस तरह वशमें कर लिया था कि मुझे आजतकके समयका पता ही न चला । यह तो उच्च, मध्यम तथा नीच सब श्रेणीके लोगोंके साथ रहती है । भला, इसके साथ मैं कैसे रह सकता हूँ ? ॥ ३० ॥

समानयानया चेह सह वासमहं कथम् ।
गच्छाम्यबुद्धभावत्वादेषेदानीं स्थिरो भवे ॥ ३१ ॥

'जो मेरे साथ संयुक्त होकर मेरी समानता करने लगी है, ऐसी इस प्रकृतिके साथ मैं मूर्खतावश सहवास कैसे कर सकता हूँ ? यह लो, अब मैं स्थिर हो रहा हूँ ॥ ३१ ॥

सहवासं न यास्यामि कालमेतद्धि वञ्चनात् ।
वञ्चितोऽस्म्यनया यद्धि निर्विकारो विकारया ॥ ३२ ॥

'मैं निर्विकार होकर भी इस विकारमयी प्रकृतिके द्वारा ठगा गया । इतने समयतक इसने मेरे साथ ठगी की है। इसलिये अब इसके साथ नहीं रहूँगा ॥ ३२ ॥

न चायमपराधोऽस्या ह्यपराधो ह्ययं मम ।
योऽहमत्राभवं सक्तः पराङ्मुखमुपस्थितः ॥ ३३ ॥

'किंतु यह इसका अपराध नहीं है, सारा अपराध मेरा ही है; जो कि मैं परमात्मासे विमुख होकर इसमें आसक्त हुआ स्थित रहा ॥ ३३ ॥

ततोऽस्मि बहुरूपासु स्थितो मूर्तिष्वमूर्तिमान् ।
अमूर्तश्चापि मूर्तात्मा ममत्वेन प्रधर्षितः ॥ ३४ ॥

'यद्यपि मैं सर्वथा अमूर्त हूँ अर्थात् किसी आकारवाला नहीं हूँ तो भी मैं प्रकृतिकी अनेक रूपवाली मूर्तियोंमें स्थित हुआ देहरहित होकर भी ममतासे पराधीन होनेके कारण देहधारी बना रहा ॥ ३४ ॥

प्राक् कृतेन ममत्वेन तासु तास्विह योनिषु ।
निर्ममस्य ममत्वेन किं कृतं तासु तासु च ॥ ३५ ॥

'पहले जो मैंने इसके प्रति ममता की थी, उसके कारण मुझे भिन्न-भिन्न योनियोंमें भटकना पड़ा । यद्यपि मैं ममता-रहित हूँ तो भी इस प्रकृतिजनित ममताने भिन्न-भिन्न योनियोंमें मुझे डालकर मेरी बड़ी दुर्दशा कर डाली ॥ ३५ ॥

योनीषु वर्तमानेन नष्टसंज्ञेन चेतसा ।
न ममात्रानया कार्यमहंकारकृतात्मया ॥ ३६ ॥

'इसके साथ नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकनेके कारण मेरी चेतना खो गयी थी । अब इस अहंकारमयी प्रकृतिसे मेरा कोई काम नहीं है ॥ ३६ ॥

आत्मानं बहुधा कृत्वा येयं भूयो युनक्ति माम् ।
इदानीमेष बुद्धोऽस्मि निर्ममो निरहंकृतः ॥ ३७ ॥

'अब भी यह बहुत-से रूप धारण करके मेरे साथ संयोगकी चेष्टा कर रही है; किंतु अब मैं सावधान हो गया हूँ, इसलिये ममता और अहंकारसे रहित हो गया हूँ ॥ ३७ ॥

ममत्वमनया नित्यमहंकारकृतात्मकम् ।
अपेत्याहमिमां हित्वा संश्रयिष्ये निरामयम् ॥ ३८ ॥

'अब तो इसको और इसकी अहंकारस्वरूपिणी ममता-को त्यागकर इससे सर्वथा अतीत होकर मैं निरामय परमात्मा-की शरण लूँगा ॥ ३८ ॥

अनेन साम्यं यास्यामि नानयाहमचेतया ।
क्षेमं मम सहानेन नैकत्वमनया सह ॥ ३९ ॥

'उन परमात्माकी ही समानता प्राप्त करूँगा । इस जड प्रकृतिकी समानता नहीं धारण करूँगा । परमात्माके साथ संयोग करनेमें ही मेरा कल्याण है । इस प्रकृतिके साथ नहीं॥

एवं परमसम्बोधात् पञ्चविंशोऽनुबुद्धवान् ।
अक्षरत्वं नियच्छेत त्यक्त्वा क्षरमनामयम् ॥ ४० ॥

इस प्रकार उत्तम विवेकके द्वारा अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवाँ आत्मा क्षरभाव (विनाशशीलता) का त्याग करके निरामय अक्षरभावको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

अव्यक्तं व्यक्तधर्माणं सगुणं निर्गुणं तथा।
निर्गुणं प्रथमं दृष्ट्वा तादृग् भवति मैथिल ॥ ४१ ॥

मिथिलानरेश ! अव्यक्त प्रकृति, व्यक्त महत्तत्त्वादि, सगुण (जडवर्ग), निर्गुण (आत्मा) तथा सबके आदि-भूत निर्गुण परमात्माका साक्षात्कार करके मनुष्य स्वयं भी वैसा ही हो जाता है ॥ ४१ ॥

क्षराक्षरयोरेतदुक्तं तव निदर्शनम्।
मयेह ज्ञानसम्पन्नं यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४२ ॥

राजन् ! वेदमें जैसा वर्णन किया गया है, उसके अनुरूप यह क्षर-अक्षरका विवेक करानेवाला ज्ञान मैंने तुम्हें सुनाया है॥

निःसंदिग्धं च सूक्ष्मं च विबुद्धं विमलं यथा।
प्रवक्ष्यामि तु ते भूयस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥ ४३ ॥

अब पुनः श्रुतिके अनुसार संदेहरहित, सूक्ष्म तथा अत्यन्त निर्मल विशिष्ट ज्ञानकी बात तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥

सांख्ययोगौ मया प्रोक्तौ शास्त्रद्वयनिदर्शनात्।
यदेव शास्त्रं सांख्योक्तं योगदर्शनमेव तत् ॥ ४४ ॥

मैंने सांख्य और योगका जो वर्णन किया है, उसमें इन दोनोंको पृथक्-पृथक् दो शास्त्र बताया है; परंतु वास्तवमें जो सांख्यशास्त्र है, वही योगशास्त्र भी है (क्योंकि दोनोंका फल एक ही है) ॥ ४४ ॥

प्रबोधनकरं ज्ञानं सांख्यानामवनीपते।
विस्पष्टं प्रोच्यते तत्र शिष्याणां हितकाम्यया ॥ ४५ ॥

पृथ्वीनाथ ! मैंने शिष्योंके हितकी कामनासे उनके लिये ज्ञानजनक जो सांख्यदर्शन है, उसका तुम्हारे निकट स्पष्टरूपसे वर्णन किया है ॥ ४५ ॥

बृहच्चैवमिदं शास्त्रमित्याहुर्विदुषो जनाः।
अस्मिंश्च शास्त्रे योगानां पुनर्वेदे पुरःसरः ॥ ४६ ॥

विद्वान् पुरुषोंका कहना है कि यह सांख्यशास्त्र महान् है। इस शास्त्रमें, योगशास्त्रमें तथा वेदमें अधिक प्रामाणिकता समझकर मनुष्यको इनके अध्ययनके लिये आगे बढ़ना चाहिये ॥ ४६ ॥

पञ्चविंशात् परं तत्त्वं पठ्यते न नराधिप।
सांख्यानां तु परं तत्त्वं यथावदनुवर्णितम् ॥ ४७ ॥

नरेश्वर ! सांख्यशास्त्रके आचार्य पचीसवें तत्त्वसे परे और किसी तत्त्वका वर्णन नहीं करते हैं। यह मैंने सांख्योंके परम तत्त्वका यथावत्‌रूपसे वर्णन किया है ॥ ४७ ॥

बुद्धमप्रतिबुद्धत्वाद् बुध्यमानं च तत्त्वतः।
बुध्यमानं च बुद्धं च प्राहुर्योगनिदर्शनम् ॥ ४८ ॥

जो नित्य ज्ञानसम्पन्न परब्रह्म परमात्मा है, वही बुद्ध है तथा जो परमात्मतत्त्वको न जाननेके कारण जिज्ञासु जीवात्मा है, उसकी 'बुध्यमान' संज्ञा होती है। इस प्रकार योगके सिद्धान्तके अनुसार बुद्ध (नित्य ज्ञानसम्पन्न परमात्मा) और बुध्यमान (जिज्ञासु जीव)—ये दो चेतन माने गये हैं ॥४८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठकरालजनकसंवादविषयक तीन सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०७ ॥

अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

क्षर-अक्षर और परमात्म-तत्त्वका वर्णन, जीवके नानात्व और एकत्वका दृष्टान्त, उपदेशके अधिकारी और अनधिकारी तथा इस ज्ञानकी परम्पराको बताते हुए वसिष्ठ-करालजनक-संवादका उपसंहार

वसिष्ठ उवाच

अथ बुद्धमथाबुद्धमिमं गुणविधिं शृणु।
आत्मानं बहुधा कृत्वा तान्येव प्रविचक्षते ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन् ! अब बुद्ध (परमात्मा), अबुद्ध (जीवात्मा) और इस गुणमयी सृष्टि (प्राकृत प्रपञ्च) का वर्णन सुनो। जीवात्मा अपने आपको अनेक रूपोंमें प्रकट करके उन रूपोंको सत्य मानकर देखता रहता है॥

एतदेवं विकुर्वाणो बुध्यमानो न बुध्यते।
गुणान् धारयते ह्येष सृजत्याक्षिपते तदा ॥ २ ॥

वास्तवमें ज्ञानसम्पन्न होनेपर भी इस प्रकार प्रकृतिके संसर्गसे विकारको प्राप्त हुआ जीवात्मा ब्रह्मको नहीं जान पाता। वह गुणोंको धारण करता है; अतः कर्तृत्वका अभिमान लेकर रचना और संहार किया करता है ॥ २ ॥

अजस्रं त्विह क्रीडार्थं विकरोति जनाधिप।
अव्यक्तबोधनाच्चैव बुध्यमानं वदन्त्यपि ॥ ३ ॥

जनेश्वर ! जीवात्मा इस जगत्‌में सदा क्रीड़ा करनेके लिये ही विकारको प्राप्त होता है। वह अव्यक्त प्रकृतिको जानता है, इसलिये ऋषि-मुनि उसे 'बुध्यमान' कहते हैं ॥ ३ ॥

न त्वेव बुध्यतेऽव्यक्तं सगुणं तात निर्गुणम्।
कदाचित् त्वेव खल्वेतदाहुरप्रतिबुद्धकम् ॥ ४ ॥

तात ! परब्रह्म परमात्मा सगुण हो या निर्गुण, उसे प्रकृति कभी नहीं जानती (क्योंकि वह जड है), अतः सांख्यवादी विद्वान् इस प्रकृतिको अप्रतिबुद्ध (ज्ञानशून्य) कहते हैं ॥ ४ ॥

बुध्यते यदि वाव्यक्तमेतद् वै पञ्चविंशकम्।

बुध्यमानो भवत्येव सङ्गात्मक इति श्रुतिः।
अनेनाप्रतिबुद्धेति वदन्त्यव्यक्तमच्युतम् ॥ ५ ॥

यदि यह मान लिया जाय कि प्रकृति भी जानती है तो यह केवल पचीसवें तत्त्व–पुरुषको ही उससे संयुक्त होकर जान पाती है, प्रकृतिके साथ संयुक्त होनेके कारण ही जीव सङ्गात्मक (सङ्गी) होता है; ऐसा श्रुतिका कथन है। इस सङ्गदोषके कारण ही अव्यक्त एवं अविकारी जीवात्माको लोग 'मूढ़' कह दिया करते हैं ॥ ५ ॥

अव्यक्तबोधनाच्चापि बुध्यमानं वदन्त्युत।
पञ्चविंशं महात्मानं न चासावपि बुध्यते ॥ ६ ॥
षड्विंशं विमलं बुद्धमप्रमेयं सनातनम्।
स तु तं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च बुध्यते ॥ ७ ॥

पचीसवाँ तत्त्वरूप महान् आत्मा अव्यक्त प्रकृतिको जानता है, इसलिये उसे 'बुध्यमान' कहते हैं; परंतु वह भी छब्बीसवें तत्त्वरूप निर्मल नित्य शुद्ध बुद्ध अप्रमेय सनातन परमात्माको नहीं जानता है; किंतु वह सनातन परमात्मा उस पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको तथा चौबीसवीं प्रकृतिको भी भलीभाँति जानता है ॥ ६-७ ॥

दृश्यादृश्ये ह्यनुगतं स्वभावेन महाद्युते।
अव्यक्तमत्र तद् ब्रह्म बुध्यते तात केवलम् ॥ ८ ॥

तात ! महातेजस्वी नरेश ! वह अव्यक्त एवं अद्वितीय ब्रह्म यहाँ दृश्य और अदृश्य सभी वस्तुओंमें स्वभावसे ही व्याप्त है; अतः वह सबको जानता है ॥ ८ ॥

केवलं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं न पश्यति।
बुध्यमानो यदाऽऽत्मानमन्योऽहमिति मन्यते ॥ ९ ॥
तदा प्रकृतिमानेष भवत्यव्यक्तलोचनः।

चौबीसवीं अव्यक्त प्रकृति न तो अद्वितीय ब्रह्मको देख पाती है और न पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको। जब जीवात्मा अव्यक्त ब्रह्मकी ओर दृष्टि रखकर अपनेको प्रकृतिसे भिन्न मानता है, तब यह प्रकृतिका अधिपति हो जाता है ॥ ९½ ॥

बुध्यते च परां बुद्धिं विशुद्धाममलां यदा ॥ १० ॥
षड्विंशो राजशार्दूल तथा बुद्धत्वमाव्रजेत्।
ततस्त्यजति सोऽव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! जब जीवात्मा शुद्ध ब्रह्मविषयिणी, निर्मल एवं सर्वोत्कृष्ट बुद्धिको प्राप्त कर लेता है, तब वह छब्बीसवें तत्त्वरूप परब्रह्मका साक्षात्कार करके तद्रूप हो जाता है। उस स्थितिमें वह नित्य शुद्ध-बुद्ध ब्रह्मभावमें ही प्रतिष्ठित होता है। फिर तो वह सृष्टि और प्रलयरूप धर्मवाली अव्यक्त प्रकृतिसे सर्वथा अतीत हो जाता है ॥ १०-११ ॥

निर्गुणः प्रकृतिं वेद गुणयुक्तामचेतनाम्।
ततः केवलधर्मासौ भवत्यव्यक्तदर्शनात् ॥ १२ ॥

वह गुणोंसे अतीत होकर त्रिगुणमयी प्रकृतिको जडरूपमें जान लेता है, इस प्रकार प्रकृतिको अपनेसे सर्वथा अभिन्न देखनेके कारण वह कैवल्यको प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

केवलेन समागम्य विमुक्तोऽऽत्मानमाप्नुयात्।
एतत् तु तत्त्वमित्याहुर्निस्तत्त्वमजरामरम् ॥ १३ ॥

केवल (अद्वितीय) ब्रह्मसे मिलकर सब प्रकारके बन्धनों-से मुक्त हुआ अपने परमार्थस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसीको परमार्थतत्त्व कहते हैं। यह सब तत्त्वोंसे अतीत तथा जरा-मरणसे रहित है ॥ १३ ॥

तत्त्वसंश्रयणादेतत् तत्त्ववन्न च मानद।
पञ्चविंशति तत्त्वानि प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १४ ॥

सबको मान देनेवाले नरेश ! जीवात्मा तत्त्वोंका आश्रय लेनेसे ही तत्त्व-सदृश प्रतीत होता है। वास्तवमें वह तत्त्वोंका द्रष्टामात्र होनेके कारण तत्त्व नहीं है—तत्त्वोंसे सर्वथा भिन्न ही है। इस प्रकार मनीषी पुरुष (प्रकृतिके चौबीस तत्त्वोंके साथ) जीवात्माको भी एक तत्त्व मानकर कुल पचीस तत्त्वों-का प्रतिपादन करते हैं ॥ १४ ॥

न चैष तत्त्ववांस्तात निस्तत्त्वस्त्वेष बुद्धिमान्।
एष मुञ्चति तत्त्वं हि क्षिप्रं बुद्धस्य लक्षणम् ॥ १५ ॥

तात ! यह जीवात्मा वास्तवमें तत्त्वोंसे अतीत है, अतः तद्रूप नहीं होता है; अपितु ज्ञानवान् होनेके कारण ब्रह्मज्ञानका उदय होनेपर यह शीघ्र ही प्राकृत तत्त्वोंका त्याग कर देता है और उसमें नित्य शुद्ध-बुद्ध ब्रह्मके लक्षण प्रकट हो जाते हैं ॥

षड्विंशोऽहमिति प्राज्ञो गृह्यमाणोऽजरामरः।
केवलेन बलेनैव समतां यात्यसंशयम् ॥ १६ ॥

'मैं पचीस तत्त्वोंसे भिन्न छब्बीसवाँ परमात्मा हूँ। नित्य ज्ञानसम्पन्न और जाननेके योग्य अजर-अमरस्वरूप हूँ,' इस प्रकार विचार करते-करते जीवात्मा केवल विवेक-बलसे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥

षड्विंशेन प्रबुद्धेन बुध्यमानोऽप्यबुद्धिमान्।
एतन्नानात्वमित्युक्तं सांख्यश्रुतिनिदर्शनात् ॥ १७ ॥

जीव छब्बीसवें तत्त्व ज्ञानस्वरूप परमात्माके प्रकाशसे ही जडवर्गको जानता है; परंतु उसे जानकर भी परमात्माको न जाननेके कारण वह अज्ञानी ही रह जाता है। यह अज्ञान ही जीवके नानात्वरूप बन्धनका कारण बताया जाता है। जैसा कि सांख्यशास्त्र और श्रुतियोंद्वारा दिग्दर्शन कराया गया है ॥

चेतनेन समेतस्य पञ्चविंशतिकस्य ह।
एकत्वं वै भवत्यस्य यदा बुद्ध्या न बुध्यते ॥ १८ ॥

जब जीवात्मा बुद्धिके द्वारा जडवर्गको अपना नहीं समझता अर्थात् उससे सम्बन्ध नहीं जोड़ता, तब नित्य चेतन परमात्मासे संयुक्त हुए उस जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता हो जाती है ॥ १८ ॥

बुध्यमानोऽप्रबुद्धेन समतां याति मैथिल।
सङ्गधर्मा भवत्येष निःसङ्गात्मा नराधिप ॥ १९ ॥

मिथिलानरेश ! जबतक जीवात्मा जडवर्गको अपना

समझता है, तबतक उस जडवर्गकी ही समताको वह प्राप्त होता है। यद्यपि वह स्वरूपसे असङ्ग है, तो भी प्रकृतिके सम्पर्कसे आसक्तिरूप धर्मवाला हो जाता है ॥ १९ ॥

निःसङ्गात्मानमासाद्य षड्विंशकमजं विभुम्।
विभुस्त्यजति चाव्यक्तं यदा त्वेतद् विबुद्ध्यते ॥ २० ॥
चतुर्विंशमसारं च षड्विंशस्य प्रबोधनात्।

छब्बीसवाँ तत्त्व परमात्मा अजन्मा, सर्वव्यापी और सङ्ग-दोषसे रहित है। उसकी शरण लेकर जब जीवात्मा उसके स्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है, तब परमात्मज्ञानके प्रभावसे स्वयं भी सर्वव्यापी हो जाता है तथा चौबीस तत्त्वोंसे युक्त प्रकृतिको असार समझकर त्याग देता है ॥ २०½ ॥

एष ह्यप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ ॥ २१ ॥
प्रोक्तो बुद्धश्च तत्त्वेन यथाश्रुतिनिदर्शनात्।
नानात्वैकत्वमेतावद् द्रष्टव्यं शास्त्रदर्शनात् ॥ २२ ॥

निष्पाप नरेश ! इस प्रकार मैंने तुमसे अप्रतिबुद्ध (क्षर), बुध्यमान (अक्षर जीवात्मा) और बुद्ध (ज्ञान-स्वरूप परमात्मा)—इन तीनोंका श्रुतिके निर्देशके अनुसार यथार्थरूपसे प्रतिपादन किया है। शास्त्रीय दृष्टिके अनुसार जीवात्माके नानात्व और एकत्वको इसी तरह समझना चाहिये ॥

मशकोदुम्बरे यद्वदन्यत्वं तद्वदेतयोः।
मत्स्योदके यथा तद्वदन्यत्वमुपलभ्यते ॥ २३ ॥

जैसे गूलर और उसके कीड़े एक साथ रहते हुए भी परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुषमें भी भिन्नता है। जैसे मछली और जल एक-दूसरेसे भिन्न हैं, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुषमें भी भेद उपलब्ध होता है ॥ २३ ॥

एवमेवावगन्तव्यं नानात्वैकत्वमेतयोः।
एतद्धि मोक्ष इत्युक्तमव्यक्तज्ञानसंहितम् ॥ २४ ॥

इसी प्रकार प्रकृति और पुरुषकी एकता और अनेकता-को समझना चाहिये । अव्यक्त प्रकृतिका पुरुषसे जो नित्य भेद है, उसके यथार्थज्ञानसे पुरुष उसके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। इसीको मोक्ष कहा गया है ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतिकस्यास्य योऽयं देहेषु वर्तते।
एष मोक्षयितव्येति प्राहुरव्यक्तगोचरात् ॥ २५ ॥

इस शरीरमें जो पचीसवाँ तत्त्व अन्तर्यामी पुरुष विद्यमान है, उसे अव्यक्तके कार्यभूत महत्तत्त्वादिके बन्धनसे मुक्त करना आवश्यक है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं ॥ २५ ॥

सोऽयमेवं विमुच्येत नान्यथेति विनिश्चयः।
परेण परधर्मा च भवत्येष समेत्य वै ॥ २६ ॥

वह यह जीवात्मा पूर्वोक्त प्रकारसे ही मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। यही विद्वानोंका निश्चय है। यह दूसरेसे मिल-कर उसीका समानधर्मी हो जाता है ॥ २६ ॥

विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान्।
विमुक्तधर्मा मुक्तेन समेत्य पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥

पुरुषप्रवर ! जीवात्मा शुद्ध पुरुषका सङ्ग करके विशुद्ध धर्मवाला होता है। किसी ज्ञानी या बुद्धिमान्‌का सङ्ग करनेसे बुद्धिमान् होता है । किसी मुक्तसे मिलनेपर उसमें मुक्तके-से ही धर्म या लक्षण प्रकट होते हैं ॥ २७ ॥

वियोगधर्मिणा चैव विमुक्तात्मा भवत्यथ।
विमोक्षिणा विमोक्षश्च समेत्येह तथा भवेत् ॥ २८ ॥

जिसका प्रकृतिसे सम्बन्ध हट गया है, ऐसे पुरुषसे मिलनेपर वह विमुक्तात्मा होता है। जो मोक्षधर्मसे युक्त है, उसका साथ करनेसे जीवको मोक्ष प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

शुचिकर्मा शुचिश्चैव भवत्यमितदीप्तिमान्।
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना ॥ २९ ॥

जिसके आचार-विचार शुद्ध हैं, उससे मिलनेपर वह पवित्र-कर्मा एवं पवित्र होता है। जिसका अन्तःकरण निर्मल है, उसके सम्पर्कमें जानेपर वह भी निर्मलात्मा और अमित-तेजस्वी होता है ॥ २९ ॥

केवलात्मा तथा चैव केवलेन समेत्य वै।
स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नुते ॥ ३० ॥

अद्वितीय परमात्मासे सम्बन्ध स्थापित करके वह तद्रूपता-को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अद्वितीय परमात्माको प्राप्त हो जाता है। स्वतन्त्र परमेश्वरसे सम्बन्ध रखनेके कारण वह वास्तवमें स्वतन्त्र होकर वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है ॥

एतावदेतत् कथितं मया ते
तथ्यं महाराज यथार्थतत्त्वम्।
अमत्सरत्वं परिगृह्य चार्थं
सनातनं ब्रह्म विशुद्धमाद्यम् ॥ ३१ ॥

महाराज ! मैंने ईर्ष्या-द्वेषसे रहित भावको स्वीकार करके और तुम्हारे प्रयोजनको समझकर तुमसे प्रेमपूर्वक इस शुद्ध सनातन एवं सबके आदिभूत सत्यस्वरूप ब्रह्मके यथार्थ तत्त्वका इस रूपमें वर्णन किया है ॥ ३१ ॥

नावेदनिष्ठस्य जनस्य राजन्
प्रदेयमेतत् परमं त्वया भवेत्।
विधित्समानाय विबोधकारणं
प्रबोधहेतोः प्रणतस्य शासनम् ॥ ३२ ॥

राजन् ! जो मनुष्य वेदमें श्रद्धा रखनेवाला न हो, उसे इस उत्तम ज्ञानका उपदेश तुम्हें नहीं करना चाहिये। जिसे बोधके लिये अधिक प्यास हो तथा जो जिज्ञासुभावसे शरणमें आया हो, वही इस उपदेशको सुननेका अधिकारी है ॥ ३२ ॥

न देयमेतच्च तथानृतात्मने
शठाय क्लीबाय न जिह्मबुद्धये।
न पण्डितज्ञानपरोपतापिने
देयं तु देयं च निबोध यादृशे ॥ ३३ ॥

असत्यवादी, शठ, नीच, कपटी, अपनेको पण्डित माननेवाले और दूसरेको कष्ट पहुँचानेवाले मनुष्यको भी

इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। कैसे पुरुषको इस ज्ञानका उपदेश देना और अवश्य देना चाहिये—यह भी सुन लो॥ ३३॥

श्रद्धान्विताय़ाथ गुणान्विताय
परापवादाद् विरताय नित्यम्।
विशुद्धयोगाय बुधाय नित्यं
क्रियावते च क्षमिणे हिताय॥ ३४॥
विविक्तशीलाय विधिप्रियाय
विवादहीनाय बहुश्रुताय।
विजानते चैव न चाहितक्षमे
दमे च शक्ताय शमे च देयम्॥ ३५॥

श्रद्धालु, गुणवान्, परनिन्दासे सदा दूर रहनेवाले, विशुद्ध योगी, विद्वान्, सदा शास्त्रोक्त कर्म करनेवाले, क्षमाशील, सबके हितैषी, एकान्तवासी, शास्त्रविधिका आदर करनेवाले, विवादहीन, बहुज्ञ, विज्ञ, किसीका अहित न करनेवाले तथा इन्द्रियसंयम एवं मनोनिग्रहमें समर्थ पुरुषको ही इस ज्ञानका उपदेश देना चाहिये॥ ३४-३५॥

एतैर्गुणैर्हीनतमे न देय-
मेतत् परं ब्रह्म विशुद्धमाहुः।
न श्रेयसा योक्ष्यति तादृशे कृतं
धर्मप्रवक्तारमपात्रदानात्॥ ३६॥

जो इन सद्गुणोंसे अत्यन्त हीन हो, उसे इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। यह ज्ञान विशुद्ध परब्रह्मस्वरूप बताया गया है। वैसे गुणहीन पुरुषको दिया हुआ यह ज्ञान उसके लिये कल्याणकारी नहीं होगा तथा कुपात्रको उपदेश देनेसे वह वक्ताका भी कल्याण नहीं करेगा॥ ३६॥

पृथ्वीमिमां यद्यपि रत्नपूर्णां
दद्यान्न देयं त्विदमव्रताय।
जितेन्द्रियायैतदसंशयं ते
भवेत् प्रदेयं परमं नरेन्द्र॥ ३७॥

नरेन्द्र! जिसने व्रत और नियमोंका पालन न किया हो, वह यदि रत्नोंसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीका राज्य दे तो भी उसे इस ज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये। परंतु जितेन्द्रिय पुरुषको निस्संदेह इस परम उत्तम ज्ञानका उपदेश देना तुझे उचित है॥ ३७॥

कराल मा ते भयमस्तु किञ्चि-
देतच्छ्रुतं ब्रह्म परं त्वयाद्य।
यथावदुक्तं परमं पवित्रं
विशोकमत्यन्तमनादिमध्यम्॥ ३८॥
अगाधजन्मामरणं च राजन्
निरामयं वीतभयं शिवं च।
समीक्ष्य मोहं त्यज वाद्य सर्वं-
ज्ञानस्य तत्त्वार्थमिदं विदित्वा॥ ३९॥

कराल! तुमने मुझसे आज परब्रह्मका ज्ञान सुना है; अतः तुम्हारे मनमें तनिक भी भय नहीं होना चाहिये। वह परब्रह्म परम पवित्र, शोकरहित, आदि, मध्य और अन्तसे शून्य, जन्म-मृत्युसे बचानेवाला, निरामय, निर्भय तथा कल्याणमय है। राजन्! उसका मैंने यथावत्‌रूपसे प्रतिपादन किया है। वही सम्पूर्ण ज्ञानोंका तात्त्विक अर्थ है। ऐसा जानकर उसका ज्ञान प्राप्त करके आज मोहका परित्याग कर दो॥

अवाप्तमेतद्धि मया सनातना-
द्धिरण्यगर्भाद् गदतो नराधिप।
प्रसाद्य यत्नेन तमुग्रचेतसं
सनातनं ब्रह्म यथाद्य वै त्वया॥ ४०॥

नरेश्वर! जिस प्रकार आज तुमने मुझसे सनातन ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया है; इसी प्रकार मैंने भी हिरण्यगर्भ नामसे प्रसिद्ध सनातन उग्रचेता ब्रह्माजीके मुखसे, उन्हें बड़े यत्नसे प्रसन्न करके, इसे प्राप्त किया था॥ ४०॥

पृष्टस्त्वया चास्मि यथा नरेन्द्र
यथा मयेदं त्वयि चोक्तमद्य।
तथावाप्तं ब्रह्मणो मे नरेन्द्र
महाज्ञानं मोक्षविदां परायणम्॥ ४१॥

नरेन्द्र! जैसे तुमने मुझसे पूछा है और जैसे मैंने तुम्हारे प्रति आज इस ज्ञानका उपदेश किया है, उसी प्रकार मैंने भी ब्रह्माजीसे प्रश्न करके उनके मुखसे इस महान् ज्ञानको प्राप्त किया है। यह मोक्षज्ञानियोंका परम आश्रय है॥ ४१॥

भीष्म उवाच

एतदुक्तं परं ब्रह्म यस्मान्नावर्तते पुनः।
पञ्चविंशो महाराज परमर्षिनिदर्शनात्॥ ४२॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज! महर्षि वसिष्ठके बताये अनुसार यह परब्रह्मका स्वरूप मैंने तुम्हें बताया है, जिसे पाकर जीवात्मा फिर इस संसारमें नहीं लौटता॥ ४२॥

पुनरावृत्तिमाप्नोति परं ज्ञानमवाप्य च।
नावबुध्यति तत्त्वेन बुध्यमानोऽजरामरम्॥ ४३॥

जो इस उत्तम ज्ञानको गुरुके मुखसे पाकर भी भलीभाँति समझता नहीं है, वह पुनरावृत्ति (बारंबार आवागमन)को प्राप्त होता है और जो इसे तत्त्वतः समझ लेता है, वह जरा-मृत्युसे रहित परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है॥ ४३॥

एतन्निःश्रेयसकरं ज्ञानं ते परमं मया।
कथितं तत्त्वतस्तात श्रुत्वा देवर्षितो नृप॥ ४४॥

तात! नरेश्वर! यह परम कल्याणकारी उत्तम ज्ञान मैंने देवर्षि नारदजीके मुँहसे सुना था। जिसे यथार्थरूपसे तुम्हें भी बताया है॥ ४४॥

हिरण्यगर्भादृषिणा वसिष्ठेन महात्मना।
वसिष्ठादृषिशार्दूलान्नारदोऽवाप्तवानिदम्॥ ४५॥
नारदाद् विदितं मह्यमेतद् ब्रह्म सनातनम्।
मा शुचः कौरवेन्द्र त्वं श्रुत्वैतत् परमं पदम्॥ ४६॥

ब्रह्माजीसे महात्मा वसिष्ठ मुनिने यह ज्ञान प्राप्त किया था। मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठसे यह नारदजीको उपलब्ध हुआ और नारदजीसे मुझे यह सनातन ब्रह्मका उपदेश प्राप्त हुआ है। कौरवनरेश! यह ज्ञान परमपद है। इसे सुनकर अब तुम शोकका त्याग कर दो ॥ ४५-४६ ॥

येन क्षराक्षरे वित्ते भयं तस्य न विद्यते।
विद्यते तु भयं तस्य यो नैतद् वेत्ति पार्थिव ॥ ४७ ॥

पृथ्वीनाथ! जिसने क्षर और अक्षरके तत्त्वको जान लिया है, उसमें किसी प्रकारका भी भय नहीं होता। जो इसे नहीं जानता, उसीमें भय रहता है ॥ ४७ ॥

अविज्ञानाच्च मूढात्मा पुनः पुनरुपाद्रवत्।
प्रेत्य जातिसहस्राणि मरणान्तान्युपाश्नुते ॥ ४८ ॥

मूर्ख मनुष्य इस तत्त्वको न जाननेके कारण बारंबार संसारमें आता है और हजारों योनियोंमें जन्म-मरणके कष्टका अनुभव करता है ॥ ४८ ॥

देवलोकं तथा तिर्यङ्मानुष्यमपि चाश्नुते।
यदि शुध्यति कालेन तस्मादज्ञानसागरात् ॥ ४९ ॥
(उत्तीर्णोऽस्मादगाधात् स परमाप्नोति शोभनम्।)

वह देव, मनुष्य और पशु-पक्षी आदिकी योनिमें भटकता रहता है। यदि कभी समयके अनुसार शुद्ध हो गया तो उस अगाध अज्ञानसमुद्रसे पार होकर परम कल्याणका भागी होता है ॥ ४९ ॥

अज्ञानसागरो घोरो ह्यव्यक्तोऽगाध उच्यते।
अहन्यहनि मज्जन्ति यत्र भूतानि भारत ॥ ५० ॥

भरतनन्दन! अज्ञानरूपी समुद्र अव्यक्त, अगाध और भयंकर बताया जाता है। इसमें असंख्य प्राणी प्रतिदिन गोते खाते रहते हैं ॥ ५० ॥

यस्मादगाधादव्यक्तादुत्तीर्णस्त्वं सनातनात्।
तस्मात् त्वं विरजाश्चैव वितमस्कश्च पार्थिव ॥ ५१ ॥

राजन्! तुम मेरा उपदेश पाकर इस अव्यक्त, अगाध एवं प्रवाहरूपमें सदा रहनेवाले भवसागरसे पार हो गये हो, इसलिये अब तुम रजोगुण और तमोगुणसे भी रहित हो गये हो ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादसमाप्तौ अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ-करालजनक-संवादकी समाप्तिविषयक तीन सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५१½ श्लोक हैं)

नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

जनकवंशी वसुमान्‌को एक मुनिका धर्मविषयक उपदेश

भीष्म उवाच

मृगयां विचरन् कश्चिद् विजने जनकात्मजः।
वने ददर्श विप्रेन्द्रमृषिं वंशधरं भृगोः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! एक समयकी बात है, जनकवंशका कोई राजकुमार शिकार खेलनेके लिये एक निर्जन वनमें घूम रहा था। उसने वनमें बैठे हुए एक मुनिको देखा; जो ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ एवं महर्षि भृगुके वंशधर थे ॥ १ ॥

उपासीनमुपासीनः प्रणम्य शिरसा मुनिम्।
पश्चादनुमतस्तेन पप्रच्छ वसुमानिदम् ॥ २ ॥

पास ही बैठे हुए मुनिको मस्तक झुकाकर प्रणाम करके वह राजकुमार उनके समीपमें ही बैठ गया। उसका नाम वसुमान् था। उसने महर्षिकी आज्ञा लेकर उनसे इस प्रकार पूछा—॥ २ ॥

भगवन् किमिदं श्रेयः प्रेत्य चापीह वा भवेत्।
पुरुषस्याध्रुवे देहे कामस्य वशवर्तिनः ॥ ३ ॥

'भगवन्! इस क्षणभङ्गुर शरीरमें कामके अधीन होकर रहनेवाले पुरुषका इस लोक और परलोकमें किस उपायसे कल्याण हो सकता है?' ॥ ३ ॥

सत्कृत्य परिपृष्टः सन् सुमहात्मा महातपाः।
निजगाद ततस्तस्मै श्रेयस्करमिदं वचः ॥ ४ ॥

सत्कारपूर्वक प्रश्न करनेपर उन महातपस्वी महात्मा मुनिने राजकुमार वसुमान्‌से यह कल्याणकारी वचन कहा ॥

ऋषिरुवाच

मनसोऽप्रतिकूलानि प्रेत्य चेह च वाञ्छसि।
भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्व यतेन्द्रियः ॥ ५ ॥

ऋषि बोले—राजकुमार! यदि तुम इस लोक और परलोकमें अपने मनके अनुकूल वस्तुएँ पाना चाहते हो तो अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर समस्त प्राणियोंके प्रतिकूल आचरणोंसे दूर हट जाओ ॥ ५ ॥

धर्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम्।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः ॥ ६ ॥

धर्म ही सत्पुरुषोंका कल्याण करनेवाला और धर्म ही उनका आश्रय है। तात! चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोक धर्मसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ६ ॥

स्वादुकामुक कामानां वैतृष्ण्यं किं न गच्छसि।
मधु पश्यसि दुर्बुद्धे प्रपातं नानुपश्यसि ॥ ७ ॥

भोगोंका रस लेनेकी इच्छा रखनेवाले दुर्बुद्धि मानव! तुम्हारी कामपिपासा शान्त क्यों नहीं होती? अभी तुम्हें वृक्षकी ऊँची डालीमें लगा हुआ केवल मधु ही दिखायी

देता है। वहाँसे गिरनेपर प्राणान्त हो सकता है, इसकी ओर तुम्हारी दृष्टि नहीं है (अर्थात् अभी तुम भोगोंकी मिठासपर ही लुभाये हुए हो। उससे होनेवाले पतनकी ओर तुम्हारा ध्यान नहीं जा रहा है) ॥ ७ ॥

यथा ज्ञाने परिचयः कर्तव्यस्तत्फलार्थिना।
तथा धर्मे परिचयः कर्तव्यस्तत्फलार्थिना ॥ ८ ॥

जैसे ज्ञानका फल चाहनेवालेके लिये ज्ञानसे परिचित होना आवश्यक है, उसी प्रकार धर्मका फल चाहनेवाले मनुष्यको भी धर्मका परिचय प्राप्त करना चाहिये ॥ ८ ॥

असता धर्मकामेन विशुद्धं कर्म दुष्करम्।
सता तु धर्मकामेन सुकरं कर्म दुष्करम् ॥ ९ ॥

दुष्ट पुरुष यदि धर्मकी इच्छा करे तो भी उसके द्वारा विशुद्ध कर्मका सम्पादन होना कठिन है और साधु पुरुष यदि धर्मके अनुष्ठानकी इच्छा करे तो उसके लिये कठिन-से-कठिन कर्म भी करना सहज है ॥ ९ ॥

वने ग्राम्यसुखाचारो यथा ग्राम्यस्तथैव सः।
ग्रामे वनसुखाचारो यथा वनचरस्तथा ॥ १० ॥

वनमें रहकर भी जो ग्रामीण सुखोंका उपभोग करनेमें लगा है, उसको ग्रामीण ही समझना चाहिये तथा गाँवोंमें रहकर भी जो वनवासी मुनियोंके-से बर्तावमें ही सुख मानता है, उसकी गिनती वनवासियोंमें ही करनी चाहिये ॥ १० ॥

मनोवाक्कायिके धर्मे कुरु श्रद्धां समाहितः।
निवृत्तौ वा प्रवृत्तौ वा सम्प्रधार्य गुणागुणान् ॥ ११ ॥

पहले निवृत्ति और प्रवृत्ति-मार्गमें जो गुण-अवगुण हैं, उनका तुम अच्छी तरह निश्चय कर लो; फिर एकाग्रचित्त हो मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले धर्ममें श्रद्धा करो (अर्थात् श्रद्धापूर्वक धर्मके पालनमें लग जाओ) ॥ ११ ॥

नित्यं च बहु दातव्यं साधुभ्यश्चानसूयता।
प्रार्थितं व्रतशौचाभ्यां सत्कृतं देशकालयोः ॥ १२ ॥

प्रतिदिन व्रत और शौचाचारका पालन करते हुए उत्तम देश और कालमें साधु पुरुषोंको प्रार्थना और सत्कार-पूर्वक अधिक-से-अधिक दान करना चाहिये और उनमें दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिये ॥ १२ ॥

शुभेन विधिना लब्धमर्हाय प्रतिपादयेत्।
क्रोधमुत्सृज्य दद्याच्च नानुतप्येन्न कीर्तयेत् ॥ १३ ॥

शुभकर्मोंद्वारा प्राप्त हुआ धन सत्पात्रको अर्पण करना चाहिये। क्रोधको त्यागकर दान देना चाहिये और देनेके बाद न तो उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये और न उसे दूसरोंको बताना ही चाहिये ॥ १३ ॥

अनृशंसः शुचिर्दान्तः सत्यवागार्जवे स्थितः।
योनिकर्मविशुद्धश्च पात्रं स्याद् वेदविद् द्विजः ॥ १४ ॥

दयालु, पवित्र, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरलतापूर्ण बर्ताव करनेवाला तथा योनिसे अर्थात् जन्मसे और कर्मसे शुद्ध वेदवेत्ता ब्राह्मण ही दान पानेका उत्तम पात्र है ॥ १४ ॥

सत्कृता चैकपत्नी च जात्या योनिरिहेष्यते।
ऋग्यजुःसामगो विद्वान् षट्कर्मा पात्रमुच्यते ॥ १५ ॥

अपनी ही जातिके उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई तथा पतिद्वारा सम्मानित पतिव्रता स्त्री यहाँ उत्तम योनि मानी गयी है। अतः जिसका ऐसी मातासे जन्म हुआ, हो वह जन्मसे शुद्ध है। ऋक्, यजुष् और सामवेदका विद्वान् होकर सदा (यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन) छः कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला ब्राह्मण कर्मसे शुद्ध एवं उत्तम पात्र बताया गया है ॥ १५ ॥

स एव धर्मः सोऽधर्मस्तं तं प्रति नरं भवेत्।
पात्रकर्मविशेषेण देशकालाववेक्ष्य च ॥ १६ ॥

देश, काल, पात्र और कर्मविशेषपर विचार करनेसे एक ही कर्म भिन्न-भिन्न मनुष्यके लिये धर्म और अधर्मरूप हो जाता है ॥ १६ ॥

लीलयाल्पं यथा गात्रात् प्रमृज्यात् तु रजः पुमान्।
बहुयत्नेन च महत् पापनिर्हरणं तथा ॥ १७ ॥

जैसे शरीरमें थोड़ी-सी धूल लगी हुई हो तो मनुष्य उसे अनायास ही झाड़-पोंछकर दूर कर देता है; परंतु बहुत अधिक मैल बैठ जाय तो उसे बड़े प्रयत्नसे दूर कर सकता है, उसी प्रकार थोड़ा पाप थोड़े-से प्रयत्नसे और महान् पाप महान् प्रायश्चित्त करनेसे दूर होता है ॥ १७ ॥

विरिक्तस्य यथा सम्यग् घृतं भवति भेषजम्।
तथा निर्हृतदोषस्य प्रेत्य धर्मः सुखावहः ॥ १८ ॥

जैसे जिसने विरेचनके द्वारा अपने पेटको अच्छी तरह साफ कर लिया हो, वह मनुष्य यदि घी खाय तो वह उसके लिये दवाके सामन लाभदायक होता है। उसी तरह जिसके सारे पाप-दोष दूर हो गये हैं, उसीके लिये धर्म परलोकमें सुख देनेवाला होता है ॥ १८ ॥

मानसं सर्वभूतेषु वर्तते वै शुभाशुभम्।
अशुभेभ्यः सदाऽऽक्षिप्य शुभेष्वेवावतारयेत् ॥ १९ ॥

सभी प्राणियोंके मनमें शुभ और अशुभ विचार उठते रहते हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह चित्तको सदा अशुभ विचारोंकी ओरसे हटाकर शुभ विचारोंमें ही लगाये ॥ १९ ॥

सर्वं सर्वेण सर्वत्र क्रियमाणं च पूजय।
स्वधर्मे यत्र रागस्ते कामं धर्मो विधीयताम् ॥ २० ॥

अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सबके द्वारा सब जगह किये जानेवाले सब प्रकारके कर्मोंका आदर करो। तुम भी अपने धर्मके अनुसार जिस कर्ममें तुम्हारा अनुराग हो, उसका इच्छानुसार पालन करते रहो ॥ २० ॥

अधृतात्मन् धृतौ तिष्ठ दुर्बुद्धे बुद्धिमान् भव।
अप्रशान्तः प्रशाम्य त्वमप्राज्ञः प्राज्ञवच्चर ॥ २१ ॥

अधीरचित्त नरेश ! धीरताका आश्रय लो। दुर्बुद्धे !

बुद्धिमान् बनो। तुम सदा अशान्त रहते हो। अबसे शान्त हो जाओ और अबतक मूर्खोंके-से बर्ताव करते रहे, अब विद्वानोंके समान आचरण करो ॥ २१ ॥

तेजसा शक्यते प्राप्तुमुपायः सहचारिणा।
इह च प्रेत्य च श्रेयस्तस्य मूलं धृतिः परा ॥ २२ ॥

जो सत्पुरुषोंका सङ्ग करता है, उसे उन्हींके तेज या प्रतापसे कोई ऐसा उपाय प्राप्त हो सकता है, जो इस लोक और परलोकमें भी कल्याण करनेवाला हो। उत्तम धृति (मनकी स्थिरता) ही कल्याणका मूल है ॥ २२ ॥

राजर्षिरधृतिः स्वर्गात् पतितो हि महाभिषः।
ययातिः क्षीणपुण्योऽपि धृत्या लोकानवाप्तवान् ॥ २३ ॥

राजर्षि महाभिष धृतिमान् न होनेके कारण ही स्वर्गसे नीचे गिरे और राजा ययाति अपना पुण्यक्षीण हो जानेके बाद भी धृतिके ही बलसे उत्तम लोकोंको प्राप्त हुए ॥ २३ ॥

तपस्विनां धर्मवतां विदुषां चोपसेवनात्।
प्राप्स्यसे विपुलां बुद्धिं तथा श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ २४ ॥

राजन्! तपस्वी, धर्मात्मा एवं विद्वानोंकी सेवा करनेसे तुम्हें विशाल बुद्धि प्राप्त होगी, जिससे तुम कल्याणके भागी हो सकोगे ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच

स तु स्वभावसम्पन्नस्तच्छ्रुत्वा मुनिभाषितम्।
विनिवर्त्य मनः कामाद् धर्मे बुद्धिं चकार ह ॥ २५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! राजकुमार वसुमान् अच्छे स्वभावसे सम्पन्न था। उसने मुनिके उस उपदेशको सुनकर अपने मनको कामनाओंसे हटा लिया और बुद्धिको धर्ममें ही लगा दिया ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जनकानुशासने नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जनकवंशी वसुमान्‌को उपदेशविषयक तीन सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०९ ॥

दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

याज्ञवल्क्यका राजा जनकको उपदेश—सांख्यमतके अनुसार चौबीस तत्त्वों और नौ प्रकारके सर्गोंका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

धर्माधर्मविमुक्तं यद् विमुक्तं सर्वसंशयात्।
जन्ममृत्युविमुक्तं च विमुक्तं पुण्यपापयोः ॥ १ ॥
यच्छिवं नित्यमभयं नित्यमक्षरमव्ययम्।
शुचि नित्यमनायासं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! जो धर्म और अधर्मके बन्धनसे मुक्त, सम्पूर्ण संशयोंसे रहित, जन्म और मृत्युसे रहित, पुण्य और पापसे मुक्त, नित्य, निर्भय, कल्याणमय, अक्षर, अव्यय (अविकारी), पवित्र एवं क्लेशरहित तत्त्व है, उसका आप हमें उपदेश कीजिये ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
याज्ञवल्क्यस्य संवादं जनकस्य च भारत ॥ ३ ॥

भीष्मजी बोले—भरतनन्दन! इस विषयमें मैं तुम्हें जनक और याज्ञवल्क्यका संवादरूप एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं दैवरातिर्महायशाः।
पप्रच्छ जनको राजा प्रश्नं प्रश्नविदां वरम् ॥ ४ ॥

एक बार देवरातके महायशस्वी पुत्र राजा जनकने प्रश्नका रहस्य समझनेवालोंमें श्रेष्ठ मुनिवर याज्ञवल्क्यजीसे पूछा ॥ ४ ॥

जनक उवाच

कतीन्द्रियाणि विप्रर्षे कति प्रकृतयः स्मृताः।
किमव्यक्तं परं ब्रह्म तस्माच्च परतस्तु किम् ॥ ५ ॥
प्रभवं चाप्ययं चैव कालसंख्यां तथैव च।
वक्तुमर्हसि विप्रेन्द्र त्वदनुग्रहकाङ्क्षिणः ॥ ६ ॥

जनक बोले—ब्रह्मर्षे! इन्द्रियाँ कितनी हैं? प्रकृतिके कितने भेद माने गये हैं? अव्यक्त क्या है? और उससे परे परब्रह्म परमात्माका क्या स्वरूप है? सृष्टि और प्रलय क्या है? और कालकी गणना कैसे की जाती है? विप्रेन्द्र! ये सब बतानेकी कृपा करें; क्योंकि हमलोग आपकी कृपाके अभिलाषी हैं ॥

अज्ञानात् परिपृच्छामि त्वं हि ज्ञानमयो निधिः।
तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वमेतदसंशयम् ॥ ७ ॥

मैं इन बातोंको नहीं जानता, इसलिये पूछ रहा हूँ। आप ज्ञानके भण्डार हैं, इसलिये आपहीसे इन सब विषयोंको सुननेकी इच्छा हो रही है; जिससे सारा संदेह दूर हो जाय ॥

याज्ञवल्क्य उवाच

श्रूयतामवनीपाल यदेतदनुपृच्छसि।
योगानां परमं ज्ञानं सांख्यानां च विशेषतः ॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्यजीने कहा—भूपाल! सुनो, तुम जो कुछ पूछते हो, वह योग और विशेषतः सांख्यका परम रहस्यमय ज्ञान तुम्हें बताता हूँ ॥ ८ ॥

न तवाविदितं किंचिन्मां तु जिज्ञासते भवान्।
पृष्टेन चापि वक्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥

यद्यपि तुमसे कोई भी विषय अज्ञात नहीं है, फिर भी मुझसे पूछते हो तो कहना ही पड़ता है; क्योंकि किसीके पूछनेपर जानकार मनुष्यको उसके प्रश्नका उत्तर देना ही चाहिये। यही सनातन धर्म है ॥ ९ ॥

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश।
तत्र तु प्रकृतीरष्टौ प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ॥ १० ॥
अव्यक्तं च महान्तं च तथाहङ्कार एव च।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ ११ ॥

प्रकृतियाँ आठ बतायी गयी हैं और उनके विकार सोलह। अध्यात्मशास्त्रका चिन्तन करनेवाले विद्वान् आठ प्रकृतियोंके नाम इस प्रकार बतलाते हैं—अव्यक्त (मूल प्रकृति), महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ॥ १०-११ ॥

एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकारानपि मे शृणु।
श्रोत्रं त्वक्चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम् ॥ १२ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।
वाक्च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च॥ १३ ॥

ये आठ प्रकृतियाँ कही गयीं। अब मुझसे विकारोंका भी वर्णन सुनो—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, पाँचवीं नासिका, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वाणी, हाथ, पैर, लिङ्ग और गुदा ॥ १२-१३ ॥

एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पञ्चसु।
बुद्धीन्द्रियाण्यथैतानि सविशेषाणि मैथिल ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! उनमें पाँच कर्मेन्द्रियों और शब्द आदि पाँच विषयोंकी 'विशेष' संज्ञा है और ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ 'सविशेष' कहलाती हैं। मिथिलानरेश ! ये 'विशेष' और 'सविशेष' तत्त्व पञ्चमहाभूतोंमें ही स्थित हैं ॥ १४ ॥

मनः षोडशकं प्राहुरध्यात्मगतिचिन्तकाः।
त्वं चैवान्ये च विद्वांसस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ॥ १५ ॥

(ये सब मिलकर पंद्रह हैं) इनके साथ सोलहवाँ मन है। अध्यात्मगतिका चिन्तन करनेवाले तत्त्वज्ञान-विशारद तुम और दूसरे विद्वान् भी इन्हींको सोलह विकार कहते हैं ॥

अव्यक्ताच्च महानात्मा समुत्पद्यति पार्थिव।
प्रथमं सर्गमित्येतदाहुः प्राधानिकं बुधाः ॥ १६ ॥

पृथ्वीनाथ ! अव्यक्त प्रकृतिसे महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। इसे विद्वान् पुरुष प्रथम एवं प्राकृत सृष्टि कहते हैं ॥ १६ ॥

महतश्चाप्यहङ्कार उत्पन्नो हि नराधिप।
द्वितीयं सर्गमित्याहुरेतद् बुद्ध्यात्मकं स्मृतम् ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! महत्तत्त्वसे अहंकार प्रकट होता है, जो दूसरा सर्ग बताया जाता है। इसे बुद्ध्यात्मक-सृष्टि माना गया है ॥

अहङ्काराच्च सम्भूतं मनो भूतगुणात्मकम्।
तृतीयः सर्ग इत्येष आहङ्कारिक उच्यते ॥ १८ ॥

अहंकारसे मन उत्पन्न हुआ है, जो पञ्चभूत और शब्दादि गुणस्वरूप है। इसे तीसरा और आहंकारिक सर्ग कहा जाता है ॥ १८ ॥

मनसस्तु समुद्भूता महाभूता नराधिप।
चतुर्थं सर्गमित्येतन्मानसं विद्धि मे मतम् ॥ १९ ॥

राजन् ! मनसे पाँच सूक्ष्म महाभूत उत्पन्न हुए हैं। यह चौथा सर्ग है। मेरे मतके अनुसार इसे मानसी सृष्टि समझो ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।
पञ्चमं सर्गमित्याहुर्भौतिकं भूतचिन्तकाः ॥ २० ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न हुए हैं। यह पाँचवीं सृष्टि है। भूत-चिन्तक विद्वान् इसे भौतिक सर्ग कहते हैं ॥ २० ॥

श्रोत्रं त्वक् चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम्।
सर्गं तु षष्ठमित्याहुर्बहुचिन्तात्मकं स्मृतम् ॥ २१ ॥

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और पाँचवीं नासिका—इसे छठा सर्ग बताया गया है। यह बहुचिन्तात्मक सर्ग माना गया है ॥ २१ ॥

अधः श्रोत्रेन्द्रियग्राम उत्पद्यति नराधिप।
सप्तमं सर्गमित्याहुरेतदैन्द्रियकं स्मृतम् ॥ २२ ॥

नरेन्द्र ! श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके बाद कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। इसे सातवाँ सर्ग कहते हैं। इसीको ऐन्द्रियक सृष्टि भी कहा जाता है ॥ २२ ॥

ऊर्ध्वं स्रोतस्तथा तिर्यगुत्पद्यति नराधिप।
अष्टमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं स्मृतम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर जिसका प्रवाह ऊपरकी ओर है, वह प्राण एवं तिरछा चलनेवाले समान, व्यान और उदान—ये सब प्रकट हुए। यह आठवाँ सर्ग है। इसीको आर्जवक सर्ग कहा गया है ॥ २३ ॥

तिर्यक्स्रोतस्त्वधःस्रोत उत्पद्यति नराधिप।
नवमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं बुधाः ॥ २४ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् जिसका प्रवाह तिरछा चलता है, वे व्यान और उदान अपान वायुके साथ निम्नभागमें प्रकट हुए। इसे नवम सर्ग कहते हैं। इसे भी विद्वान् पुरुष आर्जवक सृष्टिके नामसे ही पुकारते हैं ॥ २४ ॥

एतानि नव सर्गाणि तत्त्वानि च नराधिप।
चतुर्विंशतिरुक्तानि यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! ये नौ सर्ग और चौबीस तत्त्व श्रुतिके निर्देशके अनुसार यहाँ बताये गये हैं ॥ २५ ॥

अत ऊर्ध्वं महाराज गुणस्यैतस्य तत्त्वतः।

महात्मभिरनुप्रोक्तां कालसंख्यां निबोध मे ॥ २६ ॥

महाराज ! अब इसके बाद महात्मा पुरुषोंद्वारा बतायी गयी इस गुणमयी सृष्टिकी कालसंख्या भी मुझसे यथावत्‌रूपसे सुनो ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य-जनक-संवादविषयक तीन सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१० ॥

एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, मन और विषयोंकी कालसंख्याका एवं सृष्टिका वर्णन तथा इन्द्रियोंमें मनकी प्रधानताका प्रतिपादन

याज्ञवल्क्य उवाच

अव्यक्तस्य नरश्रेष्ठ कालसंख्यां निबोध मे ।
पञ्चकल्पसहस्राणि द्विगुणान्यहरुच्यते ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! अब तुम मुझसे अव्यक्तकी काल-संख्या सुनो । दस हजार कल्पोंका (महायुगोंका) इस अव्यक्तका एक दिन बताया जाता है ॥ १ ॥

रात्रिरेतावती चास्य प्रतिबुद्धो नराधिप ।
सृजत्योषधिमेवाग्रे जीवनं सर्वदेहिनाम् ॥ २ ॥

नरेश्वर ! उसकी रात्रि भी उतनी ही बड़ी होती है । ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा पहले समस्त प्राणियोंके जीवननिर्वाहके लिये ओषधि (नाना प्रकारके अन्न) की सृष्टि करते हैं ॥ २ ॥

ततो ब्रह्माणमसृजद्धिरण्याण्डसमुद्भवम् ।
सा मूर्तिः सर्वभूतानामित्येवमनुशुश्रुम ॥ ३ ॥

हमने सुना है कि परमात्माने ओषधियोंकी सृष्टिके बाद ब्रह्माजीकी सृष्टि की थी, जो सुवर्णमय अण्डके भीतरसे प्रकट हुए थे । वे ही सम्पूर्ण भूतोंके उद्गमस्थान हैं ॥ ३ ॥

संवत्सरमुषित्वाण्डे निष्क्रम्य च महामुनिः ।
संदधे स महीं कृत्स्नां दिवमूर्ध्वं प्रजापतिः ॥ ४ ॥

वे महामुनि प्रजापति ब्रह्मा उस सुवर्णमय अण्डके भीतर एक वर्षतक निवास करके उससे बाहर निकल आये । फिर उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी, आकाश और ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) की सृष्टिके लिये विचार आरम्भ किया ॥ ४ ॥

द्यावापृथिव्योरित्येष राजन् वेदेषु पठ्यते ।
तयोः शकलयोर्मध्यमाकाशमकरोत् प्रभुः ॥ ५ ॥

राजन् ! शक्तिशाली ब्रह्माजीने उस अण्डके दोनों टुकड़ोंके एवं स्वर्ग तथा भूतलके मध्यभागमें आकाशकी सृष्टि की । यह बात वेदोंमें कही गयी है ॥ ५ ॥

एतस्यापि च संख्यानं वेदवेदाङ्गपारगैः ।
दशकल्पसहस्राणि पादोनान्यहरुच्यते ॥ ६ ॥

वेदों और वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् ब्रह्माजीकी भी कालसंख्याका विचार करते हुए कहते हैं कि दस हजार कल्पोंमेंसे एक चौथाई कम कर देनेपर जितना शेष रहता है, उतना ही ब्रह्माजीके एक दिनका मान है अर्थात् साढ़े सात हजार कल्पोंका उनका एक दिन होता है ॥ ६ ॥

रात्रिमेतावतीं चास्य प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ।
सृजत्यहङ्कारमृषिर्भूतं दिव्यात्मकं तथा ॥ ७ ॥

अध्यात्मतत्त्वोंका चिन्तन करनेवाले विद्वानोंका कथन है कि ब्रह्माजीकी रात्रि भी इतनी ही बड़ी है । महान् ऋषि ब्रह्मा अहंकार नामक दिव्य भूतकी सृष्टि करते हैं ॥ ७ ॥

चतुरश्चापरान् पुत्रान् देहात् पूर्वं महानृषिः ।
ते वै पितृणां पितरः श्रूयन्ते राजसत्तम ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! महान् ऋषि ब्रह्माने पूर्वकालमें भौतिक देहकी उत्पत्तिसे पहले चार अन्य पुत्रोंको उत्पन्न किया (जिनके नाम ये हैं—बुद्धि, अहंकार, मन और चित्त) । वे चारों पुत्र 'पितरोंके भी पितर' अर्थात् पञ्चमहाभूतोंके भी जनक सुने जाते हैं ॥ ८ ॥

देवाः पितृणां च सुता देवैर्लोकाः समावृताः ।
चराचरा नरश्रेष्ठ इत्येवमनुशुश्रुम ॥ ९ ॥

नरश्रेष्ठ ! देवता (श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ) पितरों (पञ्चमहाभूतों) के पुत्र हैं अर्थात् सारी इन्द्रियाँ पञ्चमहाभूतोंसे ही उत्पन्न हुई हैं और वे समस्त चराचर जगत्‌का आश्रय लेकर स्थित हैं, ऐसा हमने सुना है ॥ ९ ॥

परमेष्ठी त्वहङ्कारः सृजन् भूतानि पञ्चधा ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ १० ॥

स्रष्टाके उत्तम पदपर प्रतिष्ठित हुआ अहंकार आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन पाँच प्रकारके भूतोंकी सृष्टि करता है ॥ १० ॥

एतस्यापि निशामाहुस्तृतीयमिह कुर्वतः ।
पञ्चकल्पसहस्राणि तावदेवाहरुच्यते ॥ ११ ॥

इस तृतीय भौतिक सर्गकी सृष्टि करनेवाले अहंकारकी रात्रि पाँच हजार कल्पोंकी होती है । उसका दिन भी उतना ही बड़ा बताया जाता है ॥ ११ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पञ्चसु ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! आकाश आदि पाँच महाभूतोंमें क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये विशेष गुण हैं ॥ १२ ॥

यैराविष्टानि भूतानि अहन्यहनि पार्थिव ।

अन्योन्यं स्पृहयन्त्येते अन्योन्यस्य हिते रताः ॥ १३ ॥
अन्योन्यमतिवर्तन्ते अन्योन्यस्पर्धिनस्तथा ।
ते वध्यमाना ह्यन्योन्यं गुणैर्हारिभिरव्ययैः ॥ १४ ॥

पृथ्वीनाथ ! प्रवाहरूपसे सदा विद्यमान रहनेवाले इन मनोहर शब्द आदि विषयोंसे आविष्ट होकर सभी प्राणी प्रतिदिन कभी एक-दूसरेको चाहते हैं, कभी पारस्परिक हित-साधनमें तत्पर रहते हैं, कभी एक-दूसरेको नीचा दिखानेकी चेष्टा करते हैं, कभी आपसमें ईर्ष्या रखते हैं और कभी परस्पर प्रहार भी कर बैठते हैं ॥ १३-१४ ॥

इहैव परिवर्तन्ते तिर्यग्योनिप्रवेशिनः ।
त्रीणि कल्पसहस्राणि एतेषामहरुच्यते ॥ १५ ॥
रात्रिरेतावती चैव मनसश्च नराधिप ।

ऐसे विषयासक्त प्राणी तिर्यग्योनियोंमें प्रवेश करके इसी संसारमें चक्कर काटते रहते हैं । इन शब्दादि विषयोंका एक दिन तीन हजार कल्पोंका बताया जाता है । नरेश्वर ! इनकी रात भी इतनी ही बड़ी है । मनके भी दिन-रातका परिमाण इतना ही है ॥ १५½ ॥

मनश्चरति राजेन्द्र चारितं सर्वमिन्द्रियैः ॥ १६ ॥
न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवानुपश्यति ।
चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा तु न चक्षुषा ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! मन इन्द्रियोंद्वारा संचालित होकर सब विषयोंकी ओर जाता है । इन्द्रियाँ उन विषयोंको नहीं देखतीं, मन ही उन्हें निरन्तर देखता है । आँख मनके सहयोगसे ही रूपका दर्शन करती है, अपनी शक्तिसे नहीं ॥ १६-१७ ॥

मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ।
तथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते ॥ १८ ॥

जिस समय मन व्यग्र रहता है, उस समय आँख देखती हुई भी नहीं देख पाती । लोग भ्रमवश ही ऐसा कहते हैं कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विषयोंको प्रत्यक्ष करती हैं ॥ १८ ॥

न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति ।
मनस्युपरते राजन्निन्द्रियोपरमो भवेत् ॥ १९ ॥

किंतु इन्द्रियाँ कुछ नहीं देखतीं, केवल मन ही देखता है । राजन् ! मन विषयोंसे उपरत हो जाय तो इन्द्रियाँ भी विषयोंसे निवृत्त हो जाती हैं ॥ १९ ॥

न चेन्द्रियव्युपरमे मनस्युपरमो भवेत् ।
एवं मनःप्रधानानि इन्द्रियाणि प्रभावयेत् ॥ २० ॥

परंतु इन्द्रियोंके उपरत होनेपर मनमें उपरति नहीं आती। इस प्रकार यह निश्चय करना चाहिये कि सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें मन ही प्रधान है ॥ २० ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषामीश्वरं मन उच्यते ।
एतद् विशन्ति भूतानि सर्वाणीह महायशः ॥ २१ ॥

मनको सम्पूर्ण इन्द्रियोंका स्वामी कहा जाता है । महायशस्वी नरेश ! जगत्‌के समस्त प्राणी इस मनका ही आश्रय लेते हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य-जनकका संवादविषयक तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥३११॥

द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

संहारक्रमका वर्णन

याज्ञवल्क्य उवाच

तत्त्वानां सर्वसंख्या च कालसंख्या तथैव च ।
मया प्रोक्ताऽऽनुपूर्व्येण संहारमपि मे शृणु ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—राजन् ! अब मेरेद्वारा क्रमशः बतायी हुई तत्त्वोंकी सम्पूर्ण संख्या, कालसंख्या तथा तत्त्वोंके संहारकी वार्ता सुनो ॥ १ ॥

यथा संहरते जन्तून् ससर्ज च पुनः पुनः ।
अनादिनिधनो ब्रह्मा नित्यश्चाक्षर एव च ॥ २ ॥

आदि और अन्तसे रहित नित्य अक्षरस्वरूप ब्रह्माजी किस प्रकार बारंबार प्राणियोंकी सृष्टि और संहार करते हैं—यह बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

अहःक्षयमथो बुद्ध्वा निशि स्वप्नमनास्तथा ।
चोदयामास भगवानव्यक्तोऽहंकृतं नरम् ॥ ३ ॥

भगवान् ब्रह्माजी जब देखते हैं कि मेरे दिनका अन्त हो गया, तब उनके मनमें रातको शयन करनेकी इच्छा होती है, इसलिये वे अहंकारके अभिमानी देवता रुद्रको संहारके लिये प्रेरित करते हैं ॥ ३ ॥

ततः शतसहस्रांशुरव्यक्तेनाभिचोदितः ।
कृत्वा द्वादशधाऽऽत्मानमादित्यो ज्वलदग्निवत् ॥ ४ ॥

उस समय वे रुद्रदेव ब्रह्माजीसे प्रेरित होकर प्रचण्ड सूर्यका रूप धारण करते हैं और अपनेको बारह रूपोंमें अभिव्यक्त करके अग्निके समान प्रज्वलित हो उठते हैं ॥ ४ ॥

चतुर्विधं महीपाल निर्दहत्याशु तेजसा ।
जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जं च नराधिप ॥ ५ ॥

भूपाल ! नरेश्वर ! फिर वे अपने तेजसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार प्रकारके प्राणियोंसे भरे हुए सम्पूर्ण जगत्‌को शीघ्र ही भस्म कर डालते हैं ॥ ५ ॥

एतदुन्मेषमात्रेण विनष्टं स्थाणु जङ्गमम् ।
कूर्मपृष्ठसमा भूमिर्भवत्यथ समन्ततः ॥ ६ ॥

पलक मारते-मारते इस समस्त चराचर जगत्‌का नाश

हो जाता है और यह भूमि सब ओरसे कछुएकी पीठकी तरह प्रतीत होने लगती है ॥ ६ ॥

जगद् दग्ध्वामितबलः केवलां जगतीं ततः ।
अम्भसा बलिना क्षिप्रमापूरयति सर्वशः ॥ ७ ॥

जगत्‌को दग्ध करनेके बाद अमित बलवान् रुद्र इस अकेली बची हुई समूची पृथ्वीको शीघ्र ही जलके महान् प्रवाहमें डुबो देते हैं ॥ ७ ॥

ततः कालाग्निमासाद्य तदम्भो याति संक्षयम् ।
विनष्टेऽम्भसि राजेन्द्र जाज्वलत्यनलो महान् ॥ ८ ॥

तदनन्तर कालाग्निकी लपटमें पड़कर वह सारा जल सूख जाता है। राजेन्द्र! जलके नष्ट हो जानेपर आग अत्यन्त भयानक रूप धारण करती है और सब ओर बड़े जोरसे प्रज्वलित होने लगती है ॥ ८ ॥

तमप्रमेयोऽतिबलं ज्वलमानं विभावसुम् ।
ऊष्माणं सर्वभूतानां सप्तार्चिषमथाञ्जसा ॥ ९ ॥
भक्षयामास भगवान् वायुरष्टात्मको बली ।
विचरन्नमितप्राणस्तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ॥ १० ॥

सम्पूर्ण भूतोंको गर्मी पहुँचानेवाली तथा अत्यन्त प्रबल वेगसे जलती हुई उस सात ज्वालाओंसे युक्त आगको बलवान् वायुदेव अपने आठ रूपोंमें प्रकट होकर निगल जाते हैं और ऊपर-नीचे तथा बीचमें सब ओर प्रवाहित होने लगते हैं ॥ ९-१० ॥

तमप्रतिबलं भीममाकाशं ग्रसतेऽऽत्मना ।
आकाशमप्यभिनदन्मनो ग्रसति चाधिकम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर आकाश उस अत्यन्त प्रबल एवं भयंकर वायु-को स्वयं ही ग्रस लेता है। फिर गर्जन-तर्जन करनेवाले उस आकाशको उससे भी अधिक शक्तिशाली मन अपना ग्रास बना लेता है ॥ ११ ॥

मनो ग्रसति भूतात्मा सोऽहंकारः प्रजापतिः ।
अहंकारं महानात्मा भूतभव्यभविष्यवित् ॥ १२ ॥

क्रमशः भूतात्मा और प्रजापतिस्वरूप अहंकार मनको अपनेमें लीन कर लेता है। तत्पश्चात् भूत, भविष्य और वर्तमानका ज्ञाता बुद्धिस्वरूप महत्तत्त्व अहंकारको अपना ग्रास बना लेता है ॥ १२ ॥

तमप्यनुपमात्मानं विश्वं शम्भुः प्रजापतिः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १३ ॥
सर्वतःपाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥
हृदयं सर्वभूतानां पर्वणाङ्गुष्ठमात्रकः ।
अथ ग्रसत्यनन्तो हि महात्मा विश्वमीश्वरः ॥ १५ ॥

इसके बाद, जिनके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं, सब ओर कान हैं तथा जो जगत्‌में सबको व्याप्त करके स्थित हैं, जो सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें अङ्गुष्ठपर्वके बराबर आकार धारण करके विराजमान हैं, अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि ऐश्वर्य जिनके अधीन हैं, जो सबके नियन्ता, ज्योतिःस्वरूप, अविनाशी, कल्याणमय, प्रजाके स्वामी, अनन्त, महान् आत्मा और सर्वेश्वर हैं, वे परब्रह्म परमात्मा उस अनुपम विश्वरूप बुद्धितत्त्वको अपनेमें लीन कर लेते हैं ॥ १३—१५ ॥

ततः समभवत् सर्वमक्षयाव्ययमव्रणम् ।
भूतभव्यभविष्याणां स्रष्टारमनघं तथा ॥ १६ ॥

तदनन्तर ह्रास और वृद्धिसे रहित, अविनाशी और निर्विकार, सर्वस्वरूप परब्रह्म ही शेष रह जाता है। उसीने भूत, भविष्य और वर्तमानकी सृष्टि करनेवाले निष्पाप ब्रह्माकी भी सृष्टि की है ॥ १६ ॥

एषोऽव्ययस्ते राजेन्द्र यथावत् समुदाहृतः ।
अध्यात्ममधिभूतं च अधिदैवं च श्रूयताम् ॥ १७ ॥

राजेन्द्र! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समक्ष संहारक्रमका यथावत्‌रूपसे वर्णन किया है। अब तुम अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवका वर्णन सुनो ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१२ ॥

त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवतका वर्णन तथा सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके लक्षण

याज्ञवल्क्य उवाच

पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।
गन्तव्यमधिभूतं च विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—राजन्! तत्त्वदर्शी ब्राह्मणों-का कथन है कि दोनों पैर अध्यात्म हैं, गन्तव्य स्थान अधि-भूत है और विष्णु अधिदैवत हैं ॥ १ ॥

पायुरध्यात्ममित्याहुर्यथा तत्त्वार्थदर्शिनः ।
विसर्गमधिभूतं च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ २ ॥

तत्त्वार्थदर्शी विद्वान् गुदाको अध्यात्म कहते हैं। मलत्याग अधिभूत है और मित्र अधिदैवत हैं ॥ २ ॥

उपस्थोऽध्यात्ममित्याहुर्यथा योगप्रदर्शिनः ।
अधिभूतं तथाऽऽनन्दो दैवतं च प्रजापतिः ॥ ३ ॥

योगमतका प्रदर्शन करनेवाले जैसा कहते हैं, उसके अनुसार उपस्थ अध्यात्म है, मैथुनजनित आनन्द अधिभूत है और प्रजापति अधिदैवत हैं ॥ ३ ॥

हस्तावध्यात्ममित्याहुर्यथा संख्यानदर्शिनः ।
कर्तव्यमधिभूतं तु इन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ ४ ॥

सांख्यदर्शी विद्वानोंके कथनानुसार दोनों हाथ अध्यात्म हैं, कर्तव्य अधिभूत है और इन्द्र अधिदैवत हैं ॥ ४ ॥

वागध्यात्ममिति प्राहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥ ५ ॥

वेदार्थपर विचार करनेवाले विद्वान् जैसा कहते हैं, उसके अनुसार वाक् अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है और अग्नि अधिदैवत हैं ॥ ५ ॥

चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रूपमत्राधिभूतं तु सूर्यश्चाप्यधिदैवतम् ॥ ६ ॥

वेददर्शी विद्वान् जैसा बताते हैं, उसके अनुसार नेत्र अध्यात्म है, रूप अधिभूत है और सूर्य अधिदैवत हैं ॥ ६ ॥

श्रोत्रमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
शब्दस्तत्राधिभूतं तु दिशश्चात्राधिदैवतम् ॥ ७ ॥

वैदिक सिद्धान्तका ज्ञान रखनेवाले विद्वान् पुरुष कहते हैं कि श्रोत्र अध्यात्म है, शब्द अधिभूत है और दिशाएँ अधिदैवत हैं ॥ ७ ॥

जिह्वामध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रस एवाधिभूतं तु आपस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८ ॥

वेदके अनुसार दृष्टि रखनेवाले विद्वानोंका कथन है कि जिह्वा अध्यात्म है, रस अधिभूत है और जल अधिदैवत है ॥ ८ ॥

घ्राणमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
गन्ध एवाधिभूतं तु पृथिवी चाधिदैवतम् ॥ ९ ॥

वैदिक मतके अनुसार यथार्थ तत्त्वका ज्ञान रखनेवाले विद्वान् कहते हैं कि नासिका अध्यात्म है, गन्ध अधिभूत है और पृथ्वी अधिदैवत है ॥ ९ ॥

त्वगध्यात्ममिति प्राहुस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ।
स्पर्शमेवाधिभूतं तु पवनश्चाधिदैवतम् ॥ १० ॥

तत्त्वज्ञानमें कुशल पुरुषोंका कथन है कि त्वचा अध्यात्म है, स्पर्श अधिभूत है और वायु अधिदैवत है ॥ १० ॥

मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्यथा शास्त्रविशारदाः ।
मन्तव्यमधिभूतं तु चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥ ११ ॥

शास्त्रज्ञाननिपुण विद्वान् कहते हैं कि मन अध्यात्म है, मन्तव्य अधिभूत है और चन्द्रमा अधिदेवता हैं ॥ ११ ॥

अहंकारिकमध्यात्ममाहुस्तत्त्वनिदर्शिनः ।
अभिमानोऽधिभूतं तु रुद्रश्चात्राधिदैवतम् ॥ १२ ॥

तत्त्वदर्शी पुरुषोंका कथन है कि अहङ्कार अध्यात्म है, अभिमान अधिभूत है और रुद्र अधिदेवता हैं ॥ १२ ॥

बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथावदभिदर्शिनः ।
बोद्धव्यमधिभूतं तु क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ॥ १३ ॥

यथार्थ ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि बुद्धि अध्यात्म है, बोद्धव्य अधिभूत है और आत्मा अधिदेवता है ॥ १३ ॥

एषा ते व्यक्तितो राजन् विभूतिरनुदर्शिता ।
आदौ मध्ये तथान्ते च यथातत्त्वेन तत्त्ववित् ॥ १४ ॥

तत्त्वज्ञ नरेश ! यह मैंने तुम्हारे निकट आदि, मध्य और अन्तमें तत्त्वतः प्रकाशित होनेवाली जीवकी व्यक्तिगत विभूतिका वर्णन किया है ॥ १४ ॥

प्रकृतिर्गुणान् विकुरुते स्वच्छन्देनात्मकाम्यया ।
क्रीडार्थं तु महाराज शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १५ ॥

महाराज ! प्रकृति स्वतन्त्रतापूर्वक खेल करनेके लिये अपनी ही इच्छासे सैकड़ों और हजारों गुणोंको उत्पन्न करती है ॥

यथा दीपसहस्राणि दीपान्मर्त्याः प्रकुर्वते ।
प्रकृतिस्तथा विकुरुते पुरुषस्य गुणान् बहून् ॥ १६ ॥

जैसे मनुष्य एक दीपकसे हजारों दीपक जला लेते हैं, उसी प्रकार प्रकृति पुरुषके सम्बन्धसे अनेक गुण उत्पन्न कर देती है ॥ १६ ॥

सत्त्वमानन्द उद्रेकः प्रीतिः प्राकाश्यमेव च ।
सुखं शुद्धित्वमारोग्यं संतोषः श्रद्दधानता ॥ १७ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः क्षमा धृतिरहिंसता ।
समता सत्यमानृण्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १८ ॥
शौचमार्जवमाचारमलौल्यं हृद्यसम्भ्रमः ।
इष्टानिष्टवियोगानां कृतानामविकत्थना ॥ १९ ॥
दानेन चात्मग्रहणमस्पृहत्वं परार्थता ।
सर्वभूतदया चैव सत्त्वस्यैते गुणाः स्मृताः ॥ २० ॥

धैर्य, आनन्द, प्रीति, उत्कर्ष, प्रकाश (ज्ञानशक्ति), सुख, शुद्धि, आरोग्य, संतोष, श्रद्धा, अकार्पण्य (दीनताका अभाव), असंरम्भ (क्रोधका अभाव), क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, ऋणसे रहित होना, मृदुता, लज्जा, अचञ्चलता, शौच, सरलता, सदाचार, अलोलुपता, हृदयमें सम्भ्रमका न होना, इष्ट और अनिष्टके वियोगका बखान न करना, दानके द्वारा धैर्य धारण करना, किसी वस्तुकी इच्छा न करना, परोपकार और सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया—ये सब सत्त्वसम्बन्धी गुण बताये गये हैं ॥ १७–२० ॥

रजोगुणानां संघातो रूपमैश्वर्यविग्रहौ ।
अत्यागित्वमकारुण्यं सुखदुःखोपसेवनम् ॥ २१ ॥
परापवादेषु रतिर्विवादानां च सेवनम् ।
अहंकारमसत्कारश्चिन्ता वैरोपसेवनम् ॥ २२ ॥
परितापोऽभिहरणं ह्रीनाशोऽनार्जवं तथा ।
भेदः परुषता चैव कामः क्रोधो मदस्तथा ॥ २३ ॥
दर्पो द्वेषोऽतिवादश्च एते प्रोक्ता रजोगुणाः ।
तामसानां तु संघातं प्रवक्ष्याम्युपधार्यताम् ॥ २४ ॥

रूप, ऐश्वर्य, विग्रह, त्यागका अभाव, करुणाका अभाव, दुःख-सुखका उपभोग, परनिन्दामें प्रीति, वाद-विवाद करना, अहङ्कार, माननीय पुरुषोंका सत्कार न करना, चिन्ता, वैर-भाव रखना, संताप करना, दूसरोंका धन हड़प लेना, निर्लज्जता, कुटिलता, भेदबुद्धि, कठोरता, काम, क्रोध, मद, दर्प, द्वेष और बहुत बोलनेका स्वभाव—यह रजोगुणका समूह है। ये सारे भाव रजोगुणके कार्य बताये गये हैं। अब मैं तामस भावोंके समूहका परिचय देता हूँ, ध्यान देकर सुनो॥

मोहोऽप्रकाशस्तामिस्रमन्धतामिस्रसंज्ञितम् ।
मरणं चान्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते ॥ २५ ॥
तमसो लक्षणानीह भक्षणाद्यभिरोचनम् ।
भोजनानामपर्याप्तिस्तथा पेयेष्वतृप्तता ॥ २६ ॥
गन्धवासो विहारेषु शयनेष्वासनेषु च ।
दिवास्वप्नेऽतिवादे च प्रमादेषु च वै रतिः ॥ २७ ॥
नृत्यवादित्रगीतानामज्ञानाच्छ्रद्दधानता ।
द्वेषो धर्मविशेषाणामेते वै तामसा गुणाः ॥ २८ ॥

मोह, अप्रकाश (अज्ञान), तामिस्र और अन्धतामिस्र—ये सब तमोगुणके लक्षण हैं। इनमें तामिस्र क्रोधका वाचक है और अन्धतामिस्र मरणका। भोजनमें रुचिका न होना, खानेकी वस्तुओंसे तृप्ति या संतोषका अभाव अथवा कितना ही भोजन क्यों न मिले, उसे पर्याप्त न मानना, पीनेकी वस्तुओंसे कभी तृप्त न होना, दुर्गन्धयुक्त वस्त्र, अनुचित विहार, मलिन शय्या और आसनोंका सेवन, दिनमें सोना, अत्यन्त वाद-विवादमें और प्रमादमें अत्यन्त आसक्त रहना, अज्ञानवश नाच-गीत और नाना प्रकारके बाजोंमें श्रद्धा, नाना प्रकारके धर्मोंसे द्वेष—ये तमोगुणके लक्षण हैं॥ २५—२८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३१३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१३॥

चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृतिके मनुष्योंकी गतिका वर्णन तथा राजा जनकके प्रश्न

याज्ञवल्क्य उवाच

एते प्रधानस्य गुणास्त्रयः पुरुषसत्तम ।
कृत्स्नस्य चैव जगतस्तिष्ठन्त्यनपगाः सदा ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—पुरुषप्रवर! सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिके गुण हैं, जो सम्पूर्ण जगत्में सदा विद्यमान रहते हैं। कभी उससे अलग नहीं होते हैं॥ १॥

अव्यक्तरूपो भगवान् शतधा च सहस्रधा ।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा ॥ २ ॥
कोटिशश्च करोत्येष प्रत्यगात्मानमात्मना ।

यह ऐश्वर्यशालिनी प्रकृति अपने ही प्रभावसे जीवको सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों रूपोंमें प्रकट कर देती है॥

सात्त्विकस्योत्तमं स्थानं राजसस्येह मध्यमम् ॥ ३ ॥
तामसस्याधमं स्थानं प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ।

अध्यात्म-शास्त्रका चिन्तन करनेवाले विद्वान् कहते हैं कि सात्त्विक पुरुषको उत्तम, रजोगुणीको मध्यम और तमोगुणीको अधम स्थानकी प्राप्ति होती है॥ ३½॥

केवलेनेह पुण्येन गतिमूर्ध्वामवाप्नुयात् ॥ ४ ॥
पुण्यपापेन मानुष्यमधर्मेणाप्यधोगतिम् ।

केवल पुण्य करनेसे मनुष्य ऊर्ध्वलोकमें गमन करता है, पुण्य और पाप दोनोंके अनुष्ठानसे मर्त्यलोकमें जन्म लेता है तथा केवल पापाचार करनेपर उसे अधोगतिमें गिरना पड़ता है॥ ४½॥

द्वन्द्वमेषां त्रयाणां तु संनिपातं च तत्त्वतः ॥ ५ ॥
सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च शृणुष्व मे ।

अब मैं सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके द्वन्द्व[1] और संनिपातका[2] यथार्थरूपसे वर्णन करता हूँ, सुनो॥ ५½॥

सत्त्वस्य तु रजो दृष्टं रजसश्च तमस्तथा ॥ ६ ॥
तमसश्च तथा सत्त्वं सत्त्वस्याव्यक्तमेव च ।
अव्यक्तः सत्त्वसंयुक्तो देवलोकमवाप्नुयात् ॥ ७ ॥

सत्त्वगुणके साथ रजोगुण, रजोगुणके साथ तमोगुण, तमोगुणके साथ सत्त्वगुण तथा सत्त्वगुणके साथ अव्यक्त (जीवात्मा) का सम्मिश्रण देखा जाता है (यह दो तत्त्वोंका संयोग या मेल ही द्वन्द्व है)। जीवात्मा जब सत्त्वगुणसे संयुक्त होता है, तब देवलोकको प्राप्त होता है॥ ६-७॥

रजःसत्त्वसमायुक्तो मानुषेषु प्रपद्यते ।
रजस्तमोभ्यां संयुक्तस्तिर्यग्योनिषु जायते ॥ ८ ॥

रजोगुण और सत्त्वगुणसे संयुक्त होनेपर वह मनुष्य-लोकमें जाता है तथा रजोगुण और तमोगुणसे संयुक्त होनेपर वह पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है॥ ८॥

राजसैस्तामसैः सत्त्वैर्युक्तो मानुषमाप्नुयात् ।
पुण्यपापवियुक्तानां स्थानमाहुर्महात्मनाम् ।
शाश्वतं चाव्ययं चैवमक्षय्यं चामृतं च तत् ॥ ९ ॥

राजस, तामस और सात्त्विक तीनों भावोंसे युक्त होनेपर जीवको मनुष्ययोनिकी प्राप्ति होती है। जो पुण्य और पाप

१—२. दो गुणोंके मेलको द्वन्द्व और तीन गुणोंके मेलको संनिपात कहते हैं।

दोनोंसे रहित हैं, उन महात्मा पुरुषोंके लिये सनातन, अविकारी, अक्षय और अमृतपदकी प्राप्ति बतायी गयी है॥ ९॥

ज्ञानिनां सम्भवं श्रेष्ठं स्थानमव्रणमच्युतम्।
अतीन्द्रियमबीजं च जन्ममृत्युतमोनुदम्॥ १०॥

जहाँ किसी प्रकारका कष्ट नहीं है, जहाँसे कभी पतन नहीं होता है, जो इन्द्रियातीत है, जहाँ बन्धनमें डालनेवाला कोई कारण नहीं है तथा जो जन्म, मृत्यु और अज्ञानका विनाश करनेवाला है, वह श्रेष्ठ स्थान (परमपद) ज्ञानियोंको ही प्राप्त हो सकता है॥ १०॥

अव्यक्तस्थं परं यत् तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप।
स एष प्रकृतिस्थो हि तत्स्थ इत्यभिधीयते॥ ११॥

नरेश्वर! तुमने जो अव्यक्त प्रकृतिमें स्थित परमतत्त्वके विषयमें मुझसे प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें यह निवेदन है कि यह परमतत्त्व प्राकृत शरीरमें स्थित होनेसे ही प्रकृतिस्थ कहलाता है॥ ११॥

अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव।
एतेनाधिष्ठिता चैव सृजते संहरत्यपि॥ १२॥

पृथ्वीनाथ! प्रकृति अचेतन मानी गयी है। इस परमतत्त्वद्वारा अधिष्ठित होकर ही वह सृष्टि एवं संहार करती है॥ १२॥

जनक उवाच

अनादिनिधनावेतावुभावेव महामते।
अमूर्तिमन्तावचलावप्रकम्प्यगुणागुणौ॥ १३॥

जनकने पूछा—महामते! प्रकृति और पुरुष दोनों आदि-अन्तसे रहित, मूर्तिहीन और अचल हैं। दोनों अपने-अपने गुणमें स्थिर रहनेवाले और दोनों ही निर्गुण हैं॥१३॥

अग्राह्यावृषिशार्दूल कथमेको ह्यचेतनः।
चेतनावांस्तथा चैकः क्षेत्रज्ञ इति भाषितः॥ १४॥

मुनिश्रेष्ठ! वे दोनों ही बुद्धि-अगोचर हैं। फिर इन दोनोंमेंसे एक प्रकृतिको आपने अचेतन क्यों बताया है? तथा दूसरेको चेतन एवं क्षेत्रज्ञ कैसे कहा है?॥ १४॥

त्वं हि विप्रेन्द्र कार्त्स्न्येन मोक्षधर्ममुपाससे।
साकल्यं मोक्षधर्मस्य श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ १५॥

विप्रवर! आप पूर्णरूपसे मोक्षधर्मका सेवन करते हैं, इसलिये आपहीके मुँहसे मैं सम्पूर्ण मोक्ष-धर्मका यथावत् रूपसे श्रवण करना चाहता हूँ॥ १५॥

अस्तित्वं केवलत्वं च विनाभावं तथैव च।
दैवतानि च मे ब्रूहि देहं यान्याश्रितानि वै॥ १६॥

आप पुरुषके अस्तित्व, केवलत्व और प्रकृतिसे पृथक् सत्ताका स्पष्टीकरण कीजिये और देहका आश्रय ग्रहण करनेवाले जो देवता हैं, उनका तत्त्व भी मुझे समझाइये॥ १६॥

तथैवोत्क्रामिणः स्थानं देहिनो वै विपद्यतः।
कालेन यद्धि प्राप्नोति स्थानं तत् प्रब्रवीहि मे॥ १७॥

तथा मरनेवाले जीवके प्राणोंका जब उत्क्रमण होता है, उस समय उसे समयानुसार किस स्थानकी प्राप्ति होती है? इसपर भी प्रकाश डालिये॥ १७॥

सांख्यज्ञानं च तत्त्वेन पृथग्योगं तथैव च।
अरिष्टानि च तत्त्वानि वक्तुमर्हसि सत्तम।
विदितं सर्वमेतत् ते पाणावामलकं यथा॥ १८॥

साधुशिरोमणे! साथ ही पृथक्-पृथक् सांख्य और योगके ज्ञानका तथा मृत्युसूचक लक्षणोंका यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये; क्योंकि ये सारी बातें आपको हाथपर रखे हुए आँवलेके समान ज्ञात हैं॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३१४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥३१४॥

पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रकृति-पुरुषका विवेक और उसका फल

याज्ञवल्क्य उवाच

न शक्यो निर्गुणस्तात गुणीकर्तुं विशाम्पते।
गुणवांश्चाप्यगुणवान् यथातत्त्वं निबोध मे॥ १॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—तात! प्रजापालक नरेश! निर्गुणको सगुण और सगुणको निर्गुण नहीं किया जा सकता। इस विषयमें जो यथार्थ तत्त्व है, वह मुझसे सुनो॥ १॥

गुणैर्हि गुणवानेव निर्गुणश्चागुणस्तथा।
प्राहुरेवं महात्मानो मुनयस्तत्त्वदर्शिनः॥ २॥

तत्त्वदर्शी महात्मा मुनि कहते हैं, जिसका गुणोंके साथ सम्पर्क है, वह गुणवान् है तथा जो गुणोंके संसर्गसे रहित है, वह निर्गुण कहलाता है॥ २॥

गुणस्वभावस्त्वव्यक्तो गुणान् नैवातिवर्तते।
उपयुङ्क्ते च तानेव स चैवाज्ञः स्वभावतः॥ ३॥

अव्यक्त प्रकृति स्वभावसे ही गुणवती है। वह गुणोंका कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकती है। उन्हींको उपयोगमें लाती है और स्वभावसे ही ज्ञानरहित है॥ ३॥

अव्यक्तस्तु न जानीते पुरुषो ज्ञः स्वभावतः।
न मत्तः परमोऽस्तीति नित्यमेवाभिमन्यते॥ ४॥

प्रकृतिको किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता। इसके विपरीत पुरुष स्वभावसे ही ज्ञानी है। वह सदा इस बातको जानता रहता है कि मुझसे कोई दूसरा उत्कृष्ट पदार्थ नहीं है॥ ४॥

अनेन कारणेनैतदव्यक्तं स्यादचेतनम्।

नित्यत्वाच्चाक्षरत्वाच्च क्षरत्वान्न तदन्यथा ॥ ५ ॥

इस कारणसे प्रकृतिको अचेतन माना गया है। क्षर अर्थात् विनाशी होनेके कारण वह जडके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकती। इधर नित्य तथा अक्षर (अविनाशी) होनेके कारण पुरुष चेतन है ॥ ५ ॥

यदाज्ञानेन कुर्वीत गुणसर्गं पुनः पुनः।
यदाऽऽत्मानं न जानीते तदाऽऽत्मापि न मुच्यते ॥ ६ ॥

परंतु वह जबतक अज्ञानवश बारंबार गुणोंका संसर्ग करता और अपने असङ्गस्वरूपको नहीं जानता है, तबतक उसकी मुक्ति नहीं होती है ॥ ६ ॥

कर्तृत्वाच्चापि सर्गाणां सर्गधर्मा तथोच्यते।
कर्तृत्वाच्चापि योगानां योगधर्मा तथोच्यते ॥ ७ ॥

वह अपनेको सृष्टिका कर्ता माननेके कारण सर्गधर्मा कहलाता है और योगका कर्ता माननेसे योगधर्मा कहा जाता है ॥ ७ ॥

कर्तृत्वात् प्रकृतीनां च तथा प्रकृतिधर्मिता ॥ ८ ॥

नाना प्रकृतियोंको अपनेमें स्वीकार कर लेनेसे वह प्रकृतिधर्मवाला हो जाता है ॥ ८ ॥

कर्तृत्वाच्चापि बीजानां बीजधर्मा तथोच्यते।
गुणानां प्रसवत्वाच्च प्रलयत्वात् तथैव च ॥ ९ ॥

तथा स्थावर पदार्थोंके बीजोंका कर्ता होनेसे उसे बीजधर्मा कहते हैं। साथ ही वह गुणोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कर्ता है, इसलिये गुणधर्मा कहलाता है ॥ ९ ॥

उपेक्षत्वादनन्यत्वादभिमानाच्च केवलम्।
मन्यन्ते यतयः सिद्धा अध्यात्मज्ञा गतज्वराः।
अनित्यं नित्यमव्यक्तं व्यक्तमेतद्धि शुश्रुम ॥ १० ॥

अध्यात्मशास्त्रको जाननेवाले चिन्तारहित सिद्ध यति लोग पुरुषको केवल (प्रकृतिके सङ्गसे रहित) मानते हैं; क्योंकि वह साक्षी और अद्वितीय है, उसे सुख-दुःखका अनुभव तो अभिमानके कारण होता है। वह वास्तवमें तो नित्य और अव्यक्त है, किंतु प्रकृतिके सम्बन्धसे अनित्य और व्यक्त प्रतीत होता है ॥ १० ॥

अव्यक्तैकत्वमित्याहुर्नानात्वं पुरुषे तथा।
सर्वभूतदयावन्तः केवलं ज्ञानमास्थिताः ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनेवाले और केवल ज्ञानका सहारा लेनेवाले कुछ सांख्यके विद्वान् प्रकृतिको एक तथा पुरुषको अनेक मानते हैं ॥ ११ ॥

अन्यः स पुरुषोऽव्यक्तस्त्वध्रुवो ध्रुवसंज्ञकः।
यथा मुञ्ज इषीकाणां तथैवैतद्धि जायते ॥ १२ ॥

पुरुष प्रकृतिसे भिन्न और नित्य है तथा अव्यक्त (प्रकृति) पुरुषसे भिन्न एवं अनित्य है। जैसे सींकसे मूँज अलग होती है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुषसे पृथक् है ॥

अन्यच्च मशकं विद्यादन्यच्चोदुम्बरं तथा।
न चोदुम्बरसंयोगैर्मशकस्तत्र लिप्यते ॥ १३ ॥
अन्य एव तथा मत्स्यस्तदन्यदुदकं स्मृतम्।
न चोदकस्य स्पर्शेन मत्स्यो लिप्यति सर्वशः ॥ १४ ॥

जैसे गूलर और उसके कीड़े एक साथ होनेपर भी अलग-अलग समझे जाते हैं, गूलरके संयोगसे कीड़े उससे लिप्त नहीं होते तथा जैसे मत्स्य दूसरी वस्तु है और जल दूसरी। पानीके स्पर्शसे कभी कोई मत्स्य लिप्त नहीं होता है ॥ १३-१४ ॥

अन्यो ह्यग्निरुखाप्यन्या नित्यमेवमवेहि भोः।
न चोपलिप्यते सोऽग्निरुखासंस्पर्शनेन वै ॥ १५ ॥

राजन्! जैसे अग्नि दूसरी वस्तु है और मिट्टीकी हँड़िया दूसरी वस्तु। इन दोनोंके भेदको नित्य समझो। उस हँड़ियेके स्पर्शसे अग्नि दूषित नहीं होती है ॥ १५ ॥

पुष्करं त्वन्यदेवात्र तथान्यदुदकं स्मृतम्।
न चोदकस्य स्पर्शेन लिप्यते तत्र पुष्करम् ॥ १६ ॥

जैसे कमल दूसरी वस्तु है और पानी दूसरी, पानीके स्पर्शसे कमल लिप्त नहीं होता है। उसी प्रकार पुरुष भी प्रकृतिसे भिन्न और असङ्ग है ॥ १६ ॥

एतेषां सहवासं च निवासं चैव नित्यशः।
याथातथ्येन पश्यन्ति न नित्यं प्राकृता जनाः ॥ १७ ॥
ये त्वन्यथैव पश्यन्ति न सम्यक् तेषु दर्शनम्।
ते व्यक्तं निरयं घोरं प्रविशन्ति पुनः पुनः ॥ १८ ॥

साधारण मनुष्य इनके सहवास और निवासको कभी ठीक-ठीक समझ नहीं पाते। जो इन दोनोंके स्वरूपको अन्यथा जानते हैं अर्थात् प्रकृति और पुरुषको एक दूसरेसे भिन्न नहीं जानते हैं उनकी दृष्टि ठीक नहीं है। वे अवश्य ही बार-बार घोर नरकमें पड़ते हैं ॥ १७-१८ ॥

सांख्यदर्शनमेतत् ते परिसंख्यानमुत्तमम्।
एवं हि परिसंख्याय सांख्याः केवलतां गताः ॥ १९ ॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें यह विचारप्रधान उत्तम सांख्यदर्शन बताया है। सांख्यशास्त्रके विद्वान् इस प्रकार जान करके कैवल्यको प्राप्त हो गये हैं ॥ १९ ॥

ये त्वन्ये तत्त्वकुशलास्तेषामेतन्निदर्शनम्।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योगानामनुदर्शनम् ॥ २० ॥

दूसरे भी जो तत्त्वविचारकुशल विद्वान् हैं, उनका भी ऐसा ही मत है। इसके बाद मैं योगियोंके शास्त्रका वर्णन करूँगा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकके संवादमें तीन सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१५ ॥

षोडशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

योगका वर्णन और उसके साधनसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति

याज्ञवल्क्य उवाच

सांख्यज्ञानं मया प्रोक्तं योगज्ञानं निबोध मे ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं तत्त्वेन नृपसत्तम ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! मैं सांख्यसम्बन्धी ज्ञान तो तुम्हें बतला चुका। अब जैसा मैंने देखा, सुना या समझा है, उसके अनुसार योगशास्त्रका तात्त्विक ज्ञान मुझसे सुनो ॥

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् ।
तावुभावेकचर्यौ तावुभावनिधनौ स्मृतौ ॥ २ ॥

सांख्यके समान कोई ज्ञान नहीं है । योगके समान कोई बल नहीं है । इन दोनोंका लक्ष्य एक है और वे दोनों ही मृत्युका निवारण करनेवाले माने गये हैं ॥ २॥

पृथक् पृथक् प्रपश्यन्ति येऽप्यबुद्धिरता नराः ।
वयं तु राजन् पश्याम एकमेव तु निश्चयात् ॥ ३ ॥

राजन् ! जो मनुष्य अज्ञानपरायण हैं, वे ही इन दोनों शास्त्रोंको सर्वथा भिन्न मानते हैं । हम तो विचारके द्वारा पूर्ण निश्चय करके दोनोंको एक ही समझते हैं ॥ ३ ॥

यदेव योगाः पश्यन्ति तत् सांख्यैरपि दृश्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥ ४ ॥

योगी जिस तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, वही सांख्यों-द्वारा भी देखा जाता है; अतः जो सांख्य और योगको एक देखता है, वही तत्त्वज्ञानी है ॥ ४ ॥

रुद्रप्रधानानपरान् विद्धि योगानरिंदम ।
तेनैव चाथ देहेन विचरन्ति दिशो दश ॥ ५ ॥

शत्रुदमन नरेश ! योग-साधनोंमें रुद्र अर्थात् प्राण प्रधान है । इन सबको तुम सर्वश्रेष्ठ समझो । प्राणको अपने वशमें कर लेनेपर योगी इसी शरीरसे दसों दिशाओंमें स्वच्छन्द विचरण कर सकते हैं ॥ ५॥

यावद्धि प्रलयस्तात सूक्ष्मेणाष्टगुणेन ह ।
योगेन लोकान् विचरन् सुखं संन्यस्य चानघ ॥ ६ ॥

प्रिय निष्पाप भूपाल ! जबतक मृत्यु न हो जाय, तबतक ही योगी योगबलसे स्थूल शरीरको यहीं छोड़कर अष्टविध ऐश्वर्यसे युक्त सूक्ष्मशरीरके द्वारा लोक-लोकान्तरोंमें सुखपूर्वक विचरण करता है ॥ ६ ॥

वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः ।
सूक्ष्ममष्टगुणं प्राहुर्नेतरं नृपसत्तम ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! मनीषी पुरुषोंका कहना है कि वेदमें स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकारके योगोंका वर्णन है । उनमें स्थूल योग अणिमा आदि आठ प्रकारकी सिद्धि प्रदान करनेवाला है और सूक्ष्म योग ही (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन) आठ गुणों (अङ्गों) से युक्त है; दूसरा नहीं ॥ ७ ॥

द्विगुणं योगकृत्यं तु योगानां प्राहुरुत्तमम् ।
सगुणं निर्गुणं चैव यथा शास्त्रनिदर्शनम् ॥ ८ ॥

योगका मुख्य साधन दो प्रकारका बताया गया है—सगुण और निर्गुण (सबीज और निर्बीज) । ऐसा ही शास्त्रोंका निर्णय है ॥ ८ ॥

धारणं चैव मनसः प्राणायामश्च पार्थिव ।
एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च ॥ ९ ॥

पृथ्वीनाथ ! किसी विशेष देशमें चित्तको स्थापित करनेका नाम 'धारणा' है । मनकी धारणाके साथ किया जानेवाला प्राणायाम सगुण है और देश-विशेषका आश्रय न लेकर मनको निर्बीज समाधिमें एकाग्र करना निर्गुण प्राणायाम कहलाता है ॥ ९ ॥

प्राणायामो हि सगुणो निर्गुणं धारयेन्मनः ।
यद्यदृश्यति मुञ्चन् वै प्राणान् मैथिलसत्तम ।
वाताधिक्यं भवत्येव तस्मात् तं न समाचरेत् ॥ १० ॥

सगुण प्राणायाम मनको निर्गुण अर्थात् वृत्तिशून्य करके स्थिर करनेमें सहायक होता है । मैथिलशिरोमणे ! यदि पूरक आदिके समय नियत देवता आदिका ध्यानद्वारा साक्षात्कार किये बिना ही कोई प्राणवायुका रेचन करता है तो उसके शरीरमें वायुका प्रकोप बढ़ जाता है; अतः ध्यान-रहित प्राणायामको नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

निशायाः प्रथमे यामे चोदना द्वादश स्मृताः ।
मध्ये स्वप्नात् परे यामे द्वादशैव तु चोदनाः ॥ ११ ॥

रातके पहले पहरमें वायुको धारण करनेकी बारह प्रेरणाएँ बतायी गयी हैं । मध्य रात्रिमें रात्रिके बिचले दो पहरोंमें सोना चाहिये तथा पुनः अन्तिम प्रहरमें बारह प्रेरणाओंका ही अभ्यास करना चाहिये* ॥ ११ ॥

तदेवमुपशान्तेन दान्तेनैकान्तशीलिना ।
आत्मारामेण बुद्धेन योक्तव्योऽऽत्मा न संशयः ॥ १२ ॥

इस प्रकार प्राणायामके द्वारा मनको वशमें करके शान्त और जितेन्द्रिय हो एकान्तवास करनेवाले आत्माराम ज्ञानीको चाहिये कि मनको परमात्मामें लगावे । इसमें संशय नहीं है ॥

पञ्चानामिन्द्रियाणां तु दोषानाक्षिप्य पञ्चधा ।
शब्दं रूपं तथा स्पर्शं रसं गन्धं तथैव च ॥ १३ ॥

---

* एक प्राणायाममें पूरक, कुम्भक और रेचकके भेदसे तीन प्रेरणाएँ समझनी चाहिये । इस प्रकार जहाँ बारह प्रेरणाओंके अभ्यासका विधान किया गया है, वहाँ चार-चार प्राणायाम करनेकी विधि समझनी चाहिये । तात्पर्य यह कि रातके पहले और पिछले पहरोंमें ध्यानपूर्वक चार-चार प्राणायामोंका नित्य अभ्यास करना योगीके लिये अत्यन्त आवश्यक है ।

प्रतिभामपवर्गं च प्रतिसंहृत्य मैथिल।
इन्द्रियग्राममखिलं मनस्यभिनिवेश्य ह ॥ १४ ॥
मनस्तथैवाहंकारे प्रतिष्ठाप्य नराधिप।
अहंकारं तथा बुद्धौ बुद्धिं च प्रकृतावपि ॥ १५ ॥
एवं हि परिसंख्याय ततो ध्यायन्ति केवलम्।
विरजस्कमलं नित्यमनन्तं शुद्धमव्रणम् ॥ १६ ॥
तस्थुषं पुरुषं नित्यमभेद्यमजरामरम्।
शाश्वतं चाव्ययं चैव ईशानं ब्रह्म चाव्ययम् ॥ १७ ॥

मिथिलानरेश! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये इन्द्रियोंके पाँच दोष हैं। इन दोषोंको दूर करे। फिर लय और विक्षेपको शान्त करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मनमें स्थिर करे। नरेश्वर! तत्पश्चात् मनको अहंकारमें, अहंकारको बुद्धिमें और बुद्धिको प्रकृतिमें स्थापित करे। इस प्रकार सबका लय करके योगी पुरुष केवल उस परमात्माका ध्यान करते हैं, जो रजोगुणसे रहित, निर्मल, नित्य, अनन्त, शुद्ध, छिद्ररहित, कूटस्थ, अन्तर्यामी, अभेद्य, अजर, अमर, अविकारी, सबका शासन करनेवाला और सनातन ब्रह्म है ॥ १३—१७ ॥

युक्तस्य तु महाराज लक्षणान्युपधारय।
लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत् ॥ १८ ॥

महाराज! अब समाधिमें स्थित हुए योगीके लक्षण सुनो। जैसे तृप्त हुआ मनुष्य सुखसे सोता है, उसी प्रकार योगयुक्त पुरुषके चित्तमें सदा प्रसन्नता बनी रहती है—वह समाधिसे विरत होना नहीं चाहता। यही उसकी प्रसन्नताकी पहचान है ॥ १८ ॥

निर्वाते तु यथा दीपो ज्वलेत् स्नेहसमन्वितः।
निश्चलोर्ध्वशिखस्तद्वद् युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १९ ॥

जैसे तेलसे भरा हुआ दीपक वायुशून्य स्थानमें एकतार जलता रहता है। उसकी शिखा स्थिरभावसे ऊपरकी ओर उठी रहती है, उसी तरह समाधिनिष्ठ योगीको भी मनीषी पुरुष स्थिर बताते हैं ॥ १९ ॥

पाषाण इव मेघोत्थैर्यथा बिन्दुभिराहतः।
नालं चालयितुं शक्यस्तथा युक्तस्य लक्षणम् ॥ २० ॥

जैसे बादलकी बरसायी हुई बूँदोंके आघातसे पर्वत चञ्चल नहीं होता, उसी तरह अनेक प्रकारके विक्षेप आकर योगीको विचलित नहीं कर सकते। यही योगयुक्त पुरुषकी पहचान है ॥ २० ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्विविधैर्गीतवादितैः।
क्रियमाणैर्न कम्पेत युक्तस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २१ ॥

उसके पास बहुत-से शङ्ख और नगाड़ोंकी ध्वनि हो और तरह-तरहके गाने-बजाने किये जायँ तो भी उसका ध्यान भङ्ग नहीं हो सकता। यही उसकी सुदृढ़ समाधिकी पहचान है ॥ २१ ॥

तैलपात्रं यथा पूर्णं कराभ्यां गृह्य पूरुषः।
सोपानमारुहेद् भीतस्तर्ज्यमानोऽसिपाणिभिः ॥ २२ ॥
संयतात्मा भयात् तेषां न पात्राद् बिन्दुमुत्सृजेत्।
तथैवोत्तरमागम्य एकाग्रमनसस्तथा ॥ २३ ॥
स्थिरत्वादिन्द्रियाणां तु निश्चलत्वात् तथैव च।
एवं युक्तस्य तु मुनेर्लक्षणान्युपलक्षयेत् ॥ २४ ॥

जैसे मनको संयममें रखनेवाला सावधान मनुष्य हाथोंमें तेलसे भरा कटोरा लेकर सीढ़ीपर चढ़े और उस समय बहुत-से पुरुष हाथमें तलवार लेकर उसे डराने-धमकाने लगें तो भी वह उनके डरसे एक बूँद भी तेल पात्रसे गिरने नहीं देता, उसी प्रकार योगकी ऊँची स्थितिको प्राप्त हुआ एकाग्रचित्त योगी इन्द्रियोंकी स्थिरता और मनकी अविचल स्थितिके कारण समाधिसे विचलित नहीं होता। योगसिद्ध मुनिके ऐसे ही लक्षण समझने चाहिये ॥ २२—२४ ॥

स्वयुक्तः पश्यते ब्रह्म यत् तत्परममव्ययम्।
महतस्तमसो मध्ये स्थितं ज्वलनसंनिभम् ॥ २५ ॥

जो अच्छी तरह समाधिमें स्थित हो जाता है, वह महान् अन्धकारके बीचमें प्रकाशित होनेवाली प्रज्वलित अग्निके समान हृदयदेशमें स्थित अविनाशी (ज्ञानस्वरूप) परब्रह्मका साक्षात्कार करता है ॥ २५ ॥

एतेन केवलं याति त्यक्त्वा देहमसाक्षिकम्।
कालेन महता राजञ्श्रुतिरेषा सनातनी ॥ २६ ॥

राजन्! इस साधनाके द्वारा मनुष्य दीर्घकालके पश्चात् इस अचेतन देहका परित्याग करके केवल (प्रकृतिके संसर्गसे रहित) परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। ऐसी सनातन श्रुति है ॥ २६ ॥

एतद्धि योगं योगानां किमन्यद् योगलक्षणम्।
विज्ञाय तद्धि मन्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥ २७ ॥

यही योगियोंका योग है। इसके सिवा योगका और क्या लक्षण हो सकता है? इसे जानकर मनीषी पुरुष अपने आपको कृतकृत्य मानते हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे षोडशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१६ ॥

सप्तदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

विभिन्न अङ्गोंसे प्राणोंके उत्क्रमणका फल तथा मृत्युसूचक लक्षणोंका वर्णन और मृत्युको जीतनेका उपाय

याज्ञवल्क्य उवाच

तथैवोत्क्रममाणं तु शृणुष्वावहितो नृप।
पद्भ्यामुत्क्रममाणस्य वैष्णवं स्थानमुच्यते ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नरेश्वर ! देह-त्यागके समय मनुष्यके जिन-जिन अङ्गोंसे निकलकर प्राण जिन-जिन ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं, उनके विषयमें बता रहा हूँ; तुम सावधान होकर सुनो । पैरोंके मार्गसे प्राणोंके उत्क्रमण करनेपर मनुष्यको भगवान् विष्णुके परमधामकी प्राप्ति होती बतायी जाती है ॥ १ ॥

जङ्घाभ्यां तु वसून् देवानाप्नुयादिति नः श्रुतम्।
जानुभ्यां च महाभागान् साध्यान् देवानवाप्नुयात्॥२॥

जिसके प्राण दोनों पिण्डलियोंके मार्गसे बाहर निकलते हैं, वह वसु नामक देवताओंके लोकमें जाता है; ऐसा हमने सुन रक्खा है । घुटनोंसे प्राणत्याग करनेपर महाभाग साध्य-देवताओंके लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

पायुनोत्क्रममाणस्तु मैत्रं स्थानमवाप्नुयात् ।
पृथिवीं जघनेनाथ ऊरुभ्यां च प्रजापतिम् ॥ ३ ॥

जिसके प्राण गुदामार्गसे निकलकर ऊपरकी ओर जाते हैं, वह मित्रदेवताके उत्तम स्थानको पाता है । कटिके अग्रभागसे प्राण निकलनेपर पृथ्वीलोककी और दोनों जाँघोंसे निकलनेपर प्रजापतिलोककी प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

पार्श्वाभ्यां मरुतो देवान् नाभ्यामिन्द्रत्वमेव च।
बाहुभ्यामिन्द्रमेवाहुरुरसा रुद्रमेव च ॥ ४ ॥

दोनों पसलियोंसे प्राणोंका निष्क्रमण हो तो मरुत् नामक देवताओंकी, नाभिसे हो तो इन्द्रपदकी, दोनों भुजाओंसे हो तो भी इन्द्रपदकी ही और वक्षःस्थलसे हो तो रुद्रलोककी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

ग्रीवया तु मुनिश्रेष्ठं नरमाप्नोत्यनुत्तमम् ।
विश्वेदेवान् मुखेनाथ दिशः श्रोत्रेण चाप्नुयात्॥ ५ ॥

ग्रीवासे प्राणोंका निष्क्रमण होनेपर मनुष्य मुनियोंमें श्रेष्ठ परम उत्तम नरका सांनिध्य प्राप्त करता है । मुखसे प्राण-त्याग करनेपर वह विश्वेदेवोंको और श्रोत्रसे प्राण त्याग-नेपर दिशाओंकी अधिष्ठात्री देवियोंको प्राप्त होता है ॥५॥

घ्राणेन गन्धवहनं नेत्राभ्यामग्निमेव च ।
भ्रूभ्यां चैवाश्विनौ देवौ ललाटेन पितॄनथ ॥ ६ ॥

नासिकासे प्राणोंका उत्क्रमण हो तो मनुष्य वायुदेवताको, दोनों नेत्रोंसे हो तो अग्निदेवताको, दोनों भौंहोंसे हो तो अश्विनीकुमारोंको और ललाटसे हो तो पितरोंको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

ब्रह्माणमाप्नोति विभुं मूर्ध्ना देवाग्रजं तथा ।
एतान्युत्क्रमणस्थानान्युक्तानि मिथिलेश्वर ॥ ७ ॥

मस्तकसे प्राणोंका परित्याग करनेपर मनुष्य देवताओंके अग्रज भगवान् ब्रह्माजीके लोकको जाता है । मिथिलेश्वर ! ये प्राणोंके निष्क्रमणके स्थान बताये गये हैं ॥ ७ ॥

अरिष्टानि प्रवक्ष्यामि विहितानि मनीषिभिः ।
संवत्सरवियोगस्य सम्भवन्ति शरीरिणः ॥ ८ ॥

अब मैं ज्ञानी पुरुषोंद्वारा नियत किये हुए अमङ्गल अथवा मृत्युको सूचित करनेवाले उन चिह्नोंका वर्णन करता हूँ, जो देहधारीके शरीर छूटनेमें केवल एक वर्ष शेष रह जानेपर उसके सामने प्रकट होते हैं ॥ ८ ॥

योऽरुन्धतीं न पश्येत दृष्टपूर्वां कदाचन ।
तथैव ध्रुवमित्याहुः पूर्णेन्दुं दीपमेव च ॥ ९ ॥
खण्डाभासं दक्षिणतस्तेऽपि संवत्सरायुषः ।

जो कभी पहलेकी देखी हुई अरुन्धती और ध्रुवको न देख पाता हो तथा पूर्णचन्द्रमाका मण्डल और दीपककी शिखा जिसे दाहिने भागसे खण्डित जान पड़े, ऐसे लोग केवल एक वर्षतक जीवित रहनेवाले होते हैं ॥ ९½ ॥

परचक्षुषि चात्मानं ये न पश्यन्ति पार्थिव ॥ १० ॥
आत्मच्छायाकृतीभूतं तेऽपि संवत्सरायुषः ।

पृथ्वीनाथ ! जो लोग दूसरेके नेत्रोंमें अपनी परछाईं न देख सकें, उनकी आयु भी एक ही वर्षतक शेष समझनी चाहिये ॥

अतिद्युतिरतिप्रज्ञा अप्रज्ञा चाद्युतिस्तथा ॥ ११ ॥
प्रकृतेर्विक्रियापत्तिः षण्मासान्मृत्युलक्षणम् ।

यदि मनुष्यकी बहुत बढ़ी-चढ़ी कान्ति भी अत्यन्त फीकी पड़ जाय, अधिक बुद्धिमत्ता भी बुद्धिहीनतामें परिणत हो जाय और स्वभावमें भी भारी उलट-फेर हो जाय तो यह उसके छः महीनेके भीतर ही होनेवाली मृत्युका सूचक है ॥ ११½ ॥

दैवतान्यवजानाति ब्राह्मणैश्च विरुद्ध्यते ॥ १२ ॥
कृष्णश्यावच्छविच्छायः षण्मासान्मृत्युलक्षणम् ।

जो काले रंगका होकर भी पीला पड़ने लगे, देवताओंका अनादर करे और ब्राह्मणोंके साथ विरोध करे, वह भी छः महीनेसे अधिक नहीं जी सकता, यह उक्त लक्षणोंसे सूचित होता है ॥ १२½ ॥

ऊर्णनाभेर्यथा चक्रं छिद्रं सोमं प्रपश्यति ॥ १३ ॥
तथैव च सहस्रांशुं सप्तरात्रेण मृत्युभाक् ।

जो मनुष्य सूर्य और चन्द्रमाके मण्डलको मकड़ीके जालेके समान छिद्रयुक्त देखता है, वह सात रातमें ही मृत्युका भागी होता है ॥ १३½ ॥

शवगन्धमुपाघ्राति सुरभिं प्राप्य यो नरः ॥ १४ ॥
देवतायतनस्थस्तु सप्तरात्रेण मृत्युभाक् ।

जो देवमन्दिरमें बैठकर वहाँकी सुगन्धित वस्तुमें सड़े मुर्देकी-सी दुर्गन्धका अनुभव करता है, वह सात दिनमें ही मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥ १४½ ॥

कर्णनासावनमनं दन्तदृष्टिविरागिता ॥ १५ ॥
संज्ञालोपो निरूष्मत्वं सद्योमृत्युनिदर्शनम् ।
अकस्माच्च स्रवेद् यस्य वाममक्षि नराधिप ॥ १६ ॥
मूर्धतश्चोत्पतेद् धूमः सद्योमृत्युनिदर्शनम् ।

नरेश्वर ! जिसके नाक और कान टेढ़े हो जायँ, दाँत और नेत्रोंका रंग बिगड़ जाय, जिसे बेहोशी होने लगे, जिसका शरीर ठंडा पड़ जाय तथा जिसकी बायीं आँखसे अकस्मात् आँसू बहने और मस्तकसे धुआँ उठने लगे, उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है । उपर्युक्त लक्षण तत्काल होनेवाली मृत्युके सूचक हैं ॥ १५-१६½ ॥

एतावन्ति त्वरिष्टानि विदित्वा मानवोऽऽत्मवान् ॥ १७ ॥
निशि चाहनि चात्मानं योजयेत् परमात्मनि ।
प्रतीक्षमाणस्तत्कालं यत्कालं प्रेतता भवेत् ॥ १८ ॥

इन मृत्युसूचक लक्षणोंको जानकर मनको वशमें रखनेवाला साधक रात-दिन परमात्माका ध्यान करे और जिस समय मृत्यु होनेवाली हो, उस कालकी प्रतीक्षा करता रहे ॥ १७-१८ ॥

अथास्य नेष्टं मरणं स्थातुमिच्छेदिमां क्रियाम् ।
सर्वगन्धान् रसांश्चैव धारयीत नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! यदि योगीको मृत्यु अभीष्ट न हो, अभी वह इस जगत्‌में रहना चाहे तो यह क्रिया करे । पूर्वोक्त रीतिसे पञ्चभूतविषयक धारणा करके पृथ्वी आदि तत्त्वोंपर विजय प्राप्त करते हुए सम्पूर्ण गन्धों, रसों तथा रूप आदि विषयोंको अपने वशमें करे * ॥ १९ ॥

ससांख्यधारणं चैव विदितात्मा नरर्षभ ।
जयेच्च मृत्युं योगेन तत्परेणान्तरात्मना ॥ २० ॥

नरश्रेष्ठ ! सांख्य और योगके अनुसार धारणापूर्वक आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके ध्यानयोगके द्वारा अन्तरात्माको परमात्मामें लगा देनेसे योगी मृत्युको जीत लेता है ॥ २० ॥

गच्छेत् प्राप्याक्षयं कृत्स्नमजन्म शिवमव्ययम् ।
शाश्वतं स्थानमचलं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ २१ ॥

ऐसा करनेसे वह उस सनातन पदको प्राप्त करता है, जो अशुद्ध चित्तवाले पुरुषोंको दुर्लभ है तथा जो अक्षय, अजन्मा, अचल, अविकारी, पूर्ण एवं कल्याणमय है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे सप्तदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१७ ॥

अष्टादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

याज्ञवल्क्यद्वारा अपनेको सूर्यसे वेदज्ञानकी प्राप्तिका प्रसङ्ग सुनाना, विश्वावसुको जीवात्मा और परमात्माकी एकताके ज्ञानका उपदेश देकर उसका फल मुक्ति बताना तथा जनकको उपदेश देकर विदा होना

याज्ञवल्क्य उवाच

अव्यक्तस्थं परं यत् तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप ।
परं गुह्यमिमं प्रश्नं शृणुष्वावहितो नृप ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नरेश्वर ! तुमने जो मुझसे अव्यक्तमें स्थित परब्रह्मके विषयमें प्रश्न किया है, वह अत्यन्त गूढ़ है । उसके विषयमें ध्यान देकर सुनो ॥ १ ॥

यथाऽऽर्षेणेह विधिना चरतावनतेन ह ।
मयाऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप ॥ २ ॥

मिथिलापते ! पूर्वकालमें मैंने शास्त्रोक्त विधिसे व्रतका आचरण करते हुए नतमस्तक होकर भगवान् सूर्यसे जिस प्रकार शुक्लयजुर्वेदके मन्त्र उपलब्ध किये थे, वह सब प्रसङ्ग सुनो ॥ २ ॥

---

* धारणाद्वारा पञ्चभूतोंपर विजय या अधिकार प्राप्त करके योगी जन्म, जरा, मृत्यु आदिको जीत लेता है; इस विषयमें यह सूत्र भी प्रमाण है—

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

'ध्यानयोगका साधन करते-करते जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतोंका उत्थान हो जाता है अर्थात् जब साधकका इन पाँचों महाभूतोंपर अधिकार हो जाता है और इन पाँचों महाभूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली योगविषयक पाँचों सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, उस समय योगाग्निमय शरीरको प्राप्त कर लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है । अभिप्राय यह कि उसकी इच्छाके बिना उसका शरीर नष्ट नहीं हो सकता (योगद० ३ । ४६, ४७) ।

महता तपसा देवस्तपिष्णुः सेवितो मया।
प्रीतेन चाहं विभुना सूर्येणोक्तस्तदानघ ॥ ३ ॥

निष्पाप नरेश ! पहलेकी बात है, मैंने बड़ी भारी तपस्या करके तपनेवाले भगवान् सूर्यकी आराधना की थी। उससे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यने मुझसे कहा—॥ ३ ॥

वरं वृणीष्व विप्रर्षे यदिष्टं ते सुदुर्लभम्।
तत् ते दास्यामि प्रीतात्मा मत्प्रसादो हि दुर्लभः॥ ४ ॥

'ब्रह्मर्षे ! तुम्हारी जैसी इच्छा हो, उसके अनुसार कोई वर माँगो। वह अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी मैं तुम्हें दे दूँगा; क्योंकि मेरा मन तुम्हारी तपस्यासे बहुत संतुष्ट है। मेरा कृपा-प्रसाद प्रायः दुर्लभ है' ॥ ४ ॥

ततः प्रणम्य शिरसा मयोक्तस्तपतां वरः।
यजूंषि नोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५ ॥

तब मैंने मस्तक झुकाकर तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् सूर्यको प्रणाम किया और उनसे कहा—'प्रभो ! मैं शीघ्र ही ऐसे यजुर्मन्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, जो आजसे पहले दूसरे किसीके उपयोगमें नहीं आये हैं' ॥ ५ ॥

ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज।
सरस्वतीह वाग्भूता शरीरं ते प्रवेक्ष्यति ॥ ६ ॥
ततो मामाह भगवानास्यं स्वं विवृतं कुरु।
विवृतं च ततो मेऽऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥ ७ ॥

तब भगवान् सूर्यने मुझसे कहा—'ब्रह्मन् ! मैं तुम्हें यजुर्वेद प्रदान करता हूँ। तुम अपना मुँह खोलो। वाङ्मयी सरस्वती देवी तुम्हारे शरीरमें प्रवेश करेंगी।' यह सुनकर मैंने मुँह खोल दिया और सरस्वती देवी उसमें प्रविष्ट हो गयीं॥

ततो विदह्यमानोऽहं प्रविष्टोऽम्भस्तदानघ।
अविज्ञानादमर्षाच्च भास्करस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

निष्पाप नरेश ! सरस्वतीके प्रवेश करते ही मैं तापसे जलने लगा और जलमें घुस गया। महात्मा भास्करकी महिमाको न जानने तथा अपनेमें सहनशीलता न होनेके कारण मुझे उस समय विशेष कष्ट हुआ था ॥ ८ ॥

ततो विदह्यमानं मामुवाच भगवान् रविः।
मुहूर्तं सह्यतां दाहस्ततः शीतीभविष्यति ॥ ९ ॥

तदनन्तर मुझे तापसे दग्ध होता देख भगवान् सूर्यने कहा—'तात ! तुम दो घड़ीतक इस तापको सहन करो। फिर यह स्वयं ही शीतल एवं शान्त हो जायगा' ॥ ९ ॥

शीतीभूतं च मां दृष्ट्वा भगवानाह भास्करः।
प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिलः सोत्तरो द्विज ॥ १० ॥

जब मैं पूर्ण शीतल हो गया, तब मुझे देखकर भगवान् भास्करने कहा—'विप्रवर ! खिल और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेद तुम्हारे भीतर प्रतिष्ठित होंगे ॥ १० ॥

कृत्स्नं शतपथं चैव प्रणेष्यसि द्विजर्षभ।
तस्यान्ते चापुनर्भावे बुद्धिस्तव भविष्यति ॥ ११ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! तुम सम्पूर्ण शतपथका भी प्रणयन (सम्पादन) करोगे। इसके बाद तुम्हारी बुद्धि मोक्षमें स्थिर होगी॥ ११॥

प्राप्स्यसे च यदिष्टं तत् सांख्ययोगेप्सितं पदम्।
एतावदुक्त्वा भगवानस्तमेवाभ्यवर्तत ॥ १२॥

'तुम उस अभीष्ट पदको प्राप्त करोगे, जिसे सांख्यवेत्ता तथा योगी भी पाना चाहते हैं।' इतना कहकर भगवान् सूर्य वहीं अदृश्य हो गये ॥ १२ ॥

ततोऽनुव्याहृतं श्रुत्वा गते देवे विभावसौ।
गृहमागत्य संहृष्टोऽचिन्तयं वै सरस्वतीम् ॥ १३॥

मैंने सूर्यदेवका वह कथन सुना। फिर जब वे चले गये, तब मैंने घर आकर प्रसन्नतापूर्वक सरस्वतीका चिन्तन किया॥

ततः प्रवृत्तातिशुभा स्वरव्यञ्जनभूषिता।
ओङ्कारमादितः कृत्वा मम देवी सरस्वती ॥ १४॥

मेरे स्मरण करते ही स्वर और व्यञ्जन-वर्णोंसे विभूषित अत्यन्त मङ्गलमयी सरस्वतीदेवी ॐकारको आगे करके मेरे सम्मुख प्रकट हुईं ॥ १४ ॥

ततोऽहमर्घ्यं विधिवत् सरस्वत्यै न्यवेदयम्।
तपतां च वरिष्ठाय निषण्णस्तत्परायणः ॥ १५॥

तब मैंने सरस्वतीदेवी तथा तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् भास्करको अर्घ्य निवेदन किया और उन्हींका चिन्तन करता हुआ बैठ गया ॥ १५ ॥

ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम्।
चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह ॥ १६॥

उस समय बड़े हर्षके साथ मैंने रहस्य, संग्रह और परिशिष्ट-भागसहित समस्त शतपथका संकलन किया ॥ १६॥

कृत्वा चाध्ययनं तेषां शिष्याणां शतमुत्तमम्।
विप्रियार्थं सशिष्यस्य मातुलस्य महात्मनः ॥ १७॥
ततः सशिष्येण मया सूर्येणेव गभस्तिभिः।
व्यस्तो यज्ञो महाराज पितुस्तव महात्मनः ॥ १८॥

महाराज ! तदनन्तर मैंने अपने सौ उत्तम शिष्योंको शतपथका अध्ययन कराया। इसके बाद शिष्यसहित अपने महामनस्वी मामाका (जो पहले मुझे तिरस्कृत कर चुके थे) अप्रिय करनेके लिये किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले सूर्यकी भाँति शिष्योंसे सुशोभित हो मैंने तुम्हारे पिता महात्मा राजा जनकके यज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ १७-१८ ॥

मिषतो देवलस्यापि ततोऽर्धं हृतवानहम्।
स्ववेददक्षिणायार्थे विमर्दे मातुलेन ह ॥ १९॥

उस समय अपने वेदकी दक्षिणाके लिये मामाके द्वारा विशेष आग्रह होनेपर महर्षि देवलके सामने ही मैंने आधी दक्षिणा उन्हें दे दी और आधी स्वयं ग्रहण की ॥ १९ ॥

सुमन्तुनाथ पैलेन तथा जैमिनिना च वै।
पित्रा ते मुनिभिश्चैव ततोऽहमनुमानितः ॥ २०॥

तदनन्तर सुमन्तु, पैल, जैमिनि, तुम्हारे पिता तथा अन्य



महर्षि याज्ञवल्क्यके स्मरणसे देवी सरस्वतीका प्राकट्य

ऋषि-मुनियोंने मेरा बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ २० ॥

दश पञ्च च प्राप्तानि यजूंष्यर्कान्मयानघ ।
तथैव रोमहर्षेण पुराणमवधारितम् ॥ २१ ॥

निष्पाप नरेश ! इस प्रकार मैंने सूर्यदेवसे शुक्लयजुर्वेद की पंद्रह शाखाएँ प्राप्त कीं । इसी तरह रोमहर्षण सूतसे मैंने पुराणोंका अध्ययन किया ॥ २१ ॥

बीजमेतत् पुरस्कृत्य देवीं चैव सरस्वतीम् ।
सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप ॥ २२ ॥
कर्तुं शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया ।
यथाभिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥ २३ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर मैंने बीजरूप प्रणव और सरस्वती देवीको सामने करके भगवान् सूर्यकी कृपासे शतपथकी रचना आरम्भ की और इस अपूर्व ग्रन्थको पूर्ण कर लिया और जो मोक्षका मार्ग मुझे अभीष्ट था, उसका भी भलीभाँति सम्पादन किया ॥ २२-२३ ॥

शिष्याणामखिलं कृत्स्नमनुज्ञातं ससंग्रहम् ।
सर्वे च शिष्याः शुचयो गताः परमहर्षिताः ॥ २४ ॥

फिर मैंने शिष्योंको वह सारा ग्रन्थ रहस्य और संग्रह-सहित पढ़ाया और उन्हें घर जानेकी अनुमति दे दी । फिर वे सभी शुद्ध आचार-विचारवाले शिष्य अत्यन्त हर्षित हो अपने-अपने घरको चले गये ॥ २४ ॥

शाखाः पञ्चदशेमास्तु विद्या भास्करदेशिताः ।
प्रतिष्ठाप्य यथाकामं वेद्यं तदनुचिन्तयम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार सूर्यदेवके द्वारा उपदेश की हुई शुक्लयजुर्वेद विद्याकी इन पंद्रह शाखाओंका ज्ञान प्राप्त करके मैंने इच्छानुसार वेद्यतत्त्वका चिन्तन किया है ॥ २५ ॥

किमत्र ब्रह्मण्यमृतं किं च वेद्यमनुत्तमम् ।
चिन्तयंस्तत्र चागत्य गन्धर्वो मामपृच्छत ॥ २६ ॥
विश्वावसुस्ततो राजन् वेदान्तज्ञानकोविदः ।

राजन् ! एक समय वेदान्तज्ञानमें कुशल विश्वावसु नामक गन्धर्व मेरे पास आया एवं इस बातका विचार करते हुए कि यहाँ ब्राह्मण-जातिके लिये हितकर क्या है ? सत्य और सर्वोत्तम ज्ञातव्य वस्तु क्या है ? मुझसे पूछने लगा ॥ २६½ ॥

चतुर्विंशांस्ततोऽपृच्छत् प्रश्नान् वेदस्य पार्थिव ॥ २७ ॥
पञ्चविंशतिमं प्रश्नं पप्रच्छान्वीक्षिकीं तदा ।
विश्वाविश्वं तथाश्वाश्वं मित्रं वरुणमेव च ॥ २८ ॥

पृथ्वीनाथ ! तत्पश्चात् उन्होंने वेदके सम्बन्धमें चौबीस प्रश्न पूछे । फिर आन्वीक्षिकी विद्याके सम्बन्धमें पचीसवाँ प्रश्न उपस्थित किया । वे चौबीस प्रश्न इस प्रकार हैं—१. विश्व क्या है ? २. अविश्व क्या है ? ३. अश्वा क्या है ? ४. अश्व क्या है ? ५. मित्र क्या है ? ६. वरुण क्या है ? ॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञोऽज्ञः कस्तपा अतपास्तथा ।
सूर्यातिसूर्य इति च विद्याविद्ये तथैव च ॥ २९ ॥

७. ज्ञान क्या है ? ८. ज्ञेय क्या है ? ९. ज्ञाता क्या है ? १०. अज्ञ क्या है ? ११. क कौन है ? १२. कौन तपस्वी है ? १३. और कौन अतपस्वी है ? १४. कौन सूर्य है ? १५. तथा कौन अतिसूर्य ? १६. और विद्या क्या है ? १७. तथा अविद्या क्या है ? ॥ २९ ॥

वेद्यावेद्यं तथा राजन्नचलं चलमेव च ।
अपूर्वमक्षयं क्षय्यमेतत् प्रश्नमनुत्तमम् ॥ ३० ॥

१८. राजन् ! वेद्य क्या है ? १९. अवेद्य क्या है ? २०. चल क्या है ? २१. अचल क्या है ? २२. अपूर्व क्या है ? २३. अक्षय क्या है ? २४. और विनाशशील क्या है ? ये ही उनके परम उत्तम प्रश्न हैं ॥ ३० ॥

अथोक्तश्च महाराज राजा गन्धर्वसत्तमः ।
पृष्टवाननुपूर्वेण प्रश्नमर्थविदुत्तमम् ॥ ३१ ॥
मुहूर्तमृष्यतां तावद् यावदेवं विचिन्तये ।
बाढमित्येव कृत्वा च तूष्णीं गन्धर्व आस्थितः ॥ ३२ ॥

महाराज ! इन प्रश्नोंको सुनकर मैंने गन्धर्वशिरोमणि राजा विश्वावसुसे कहा—'राजन् ! आपने क्रमशः बड़े उत्तम प्रश्न उपस्थित किये हैं । आप अर्थके ज्ञाता हैं । थोड़ी देर ठहर जाइये, तबतक मैं आपके इन प्रश्नोंपर विचार कर लेता हूँ ।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर गन्धर्वराज चुपचाप बैठे रहे ॥ ३१-३२ ॥

ततोऽनुचिन्तयमहं भूयो देवीं सरस्वतीम् ।
मनसा स च मे प्रश्नो दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर मैंने पुनः सरस्वतीदेवीका मन-ही-मन चिन्तन किया । फिर तो जैसे दहीसे घी निकल आता है, उसी प्रकार उन प्रश्नोंका उत्तर निकल आया ॥ ३३ ॥

तत्रोपनिषदं चैव परिशेषं च पार्थिव ।
मथ्नामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीक्षिकीं पराम् ॥ ३४ ॥

राजन् ! तात ! उस समय मैं वहाँ उपनिषद्, उसके परिशिष्ट भाग और परम उत्तम आन्वीक्षिकी विद्यापर दृष्टिपात करके मनके द्वारा उन सबका मन्थन करने लगा ॥ ३४ ॥

चतुर्थी राजशार्दूल विद्यैषा साम्परायिकी ।
उदीरिता मया तुभ्यं पञ्चविंशादधिष्ठिता ॥ ३५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह आन्वीक्षिकी विद्या (त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—इन तीन विद्याओंकी अपेक्षासे) चौथी बतायी गयी है । यह मोक्षमें सहायक है । पचीसवें तत्त्वरूप पुरुषसे अधिष्ठित उस विद्याका मैंने तुमसे प्रतिपादन किया था (वही विश्वावसुके निकट भी कही गयी) ॥ ३५ ॥

अथोक्तस्तु मया राजन् राजा विश्वावसुस्तदा ।
श्रूयतां यद् भवानस्मान् प्रश्नं सम्पृष्टवानिह ॥ ३६ ॥

राजन् ! उस समय मैंने राजा विश्वावसुसे कहा—'गन्धर्वराज ! आपने यहाँ मुझसे जो प्रश्न पूछे हैं, उनका उत्तर सुनिये ॥ ३६ ॥

विश्वाविश्वेति यदिदं गन्धर्वेन्द्रानुपृच्छसि ।
विश्वाव्यक्तं परं विद्याद् भूतभव्यभयंकरम् ॥ ३७ ॥

गन्धर्वपते ! आपने जो विश्वा और अविश्व इत्यादि कहकर यह प्रश्नावली उपस्थित की है, उसमें विश्वा अव्यक्त प्रकृतिका नाम है । वह संसार-बन्धनमें डालनेवाली होनेके कारण भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें भयंकर है—इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ॥ ३७ ॥

त्रिगुणं गुणकर्तृत्वादविश्वो निष्कलस्तथा ।
अश्वश्चाश्वा च मिथुनमेवमेवानुदृश्यते ॥ ३८ ॥

इस प्रकार विश्वा नामसे प्रसिद्ध जो अव्यक्त प्रकृति है, वह त्रिगुणमयी है; क्योंकि वही त्रिगुणात्मक जगत्‌को उत्पन्न करनेवाली है । उससे भिन्न जो निष्कल (कलाओंसे रहित) आत्मा है, वही अविश्व कहलाता है । इसी तरह अश्व और अश्वाकी जोड़ी भी देखी जाती है (अर्थात् अश्वा अव्यक्त प्रकृति है और अश्व पुरुष) ॥ ३८ ॥

अव्यक्तं प्रकृतिं प्राहुः पुरुषेति च निर्गुणम् ।
तथैव मित्रं पुरुषं वरुणं प्रकृतिं तथा ॥ ३९ ॥

अव्यक्त प्रकृतिको सगुण बताया गया है और पुरुषको निर्गुण । इसी प्रकार वरुणको प्रकृति समझना चाहिये और मित्रको पुरुष ॥ ३९ ॥

ज्ञानं तु प्रकृतिं प्राहुर्ज्ञेयं निष्कलमेव च ।
अज्ञश्च ज्ञश्च पुरुषस्तस्मान्निष्कल उच्यते ॥ ४० ॥

(भौतिक) ज्ञान शब्दसे प्रकृतिका प्रतिपादन किया गया है और निष्कल आत्माको ज्ञेय बताया गया है । इसी तरह अज्ञ प्रकृति है और उससे भिन्न निष्कल पुरुषको 'ज्ञाता' बताया गया है ॥ ४० ॥

कस्तपा अतपाः प्रोक्तः कोऽसौ पुरुष उच्यते ।
तपास्तु प्रकृतिं प्राहुरतपा निष्कलः स्मृतः ॥ ४१ ॥

क, तपा और अतपाके विषयमें जो प्रश्न उपस्थित किया गया है, उसके विषयमें बताया जाता है । पुरुषको ही 'क' कहते हैं । प्रकृतिका ही नाम तपा है और निष्कल पुरुषको अतपा नाम दिया गया है ॥ ४१ ॥

(सूर्यमव्यक्तमित्युक्तमतिसूर्यस्तु निष्कलः ।
अविद्या प्रकृतिर्ज्ञेया विद्या पुरुष उच्यते ॥)

अव्यक्त प्रकृतिको ही सूर्य और निष्कल पुरुषको अति-सूर्य कहा गया है । प्रकृतिको अविद्या जानना चाहिये और पुरुष विद्या कहलाता है ॥

तथैवावेद्यमव्यक्तं वेद्यः पुरुष उच्यते ।
चलाचलमिति प्रोक्तं त्वया तदपि मे शृणु ॥ ४२ ॥

इसी तरह अवेद्य नामसे अव्यक्त प्रकृतिका और वेद्य नामसे पुरुषका प्रतिपादन किया जाता है । आपने जो चल और अचलके विषयमें प्रश्न किया है, उसका भी उत्तर सुनिये ॥

चलां तु प्रकृतिं प्राहुः कारणं क्षयसर्गयोः ।
आक्षेपसर्गयोः कर्ता निश्चलः पुरुषः स्मृतः ॥ ४३ ॥

सृष्टि और संहारकी कारणभूता प्रकृतिको 'चला' कहा गया है और सृष्टि और प्रलयका कर्ता पुरुष ही निश्चल पुरुष माना गया है ॥ ४३ ॥

तथैव वेद्यमव्यक्तमवेद्यः पुरुषस्तथा ।
अज्ञावुभौ ध्रुवौ चैव अक्षयौ चाप्युभावपि ॥ ४४ ॥
अजौ नित्यावुभौ प्राहुरध्यात्मगतिनिश्चयाः ॥ ४५ ॥

उसी प्रकार अव्यक्त प्रकृति वेद्य (जाननेमें आनेवाली) है और पुरुष अवेद्य (जाननेमें न आनेवाला) । अध्यात्म-तत्त्वका निश्चयात्मक ज्ञान रखनेवाले विद्वान् कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अज्ञ हैं, दोनों ही निश्चल हैं और दोनों ही अक्षय, अजन्मा तथा नित्य हैं ॥ ४४-४५ ॥

अक्षयत्वात् प्रजनने अजमत्राहुरव्ययम् ।
अक्षयं पुरुषं प्राहुः क्षयो ह्यस्य न विद्यते ॥ ४६ ॥

ज्ञानी पुरुषोंका कथन है कि जन्म ग्रहण करनेपर भी क्षयरहित होनेके कारण यहाँ पुरुषको अजन्मा, अविनाशी और अक्षय कहा गया है; क्योंकि उसका कभी क्षय नहीं होता है ॥ ४६ ॥

गुणक्षयत्वात् प्रकृतिः कर्तृत्वादक्षयं बुधाः ।
एषा तेऽऽन्वीक्षिकी विद्या चतुर्थी साम्परायिकी ॥ ४७ ॥

गुणोंका क्षय होनेके कारण प्रकृति क्षयशील मानी गयी है और उसका प्रेरक होनेके कारण पुरुषको विद्वानोंने अक्षय कहा है । गन्धर्वराज ! यह मैंने आपको चौथी आन्वीक्षिकी विद्या, जो मोक्षमें सहायक है, बतायी है ॥ ४७ ॥

विद्योपेतं धनं कृत्वा कर्मणा नित्यकर्मणि ।
एकान्तदर्शना वेदाः सर्वे विश्वावसो स्मृताः ॥ ४८ ॥

विश्वावसो ! आन्वीक्षिकी विद्यासहित वेद-विद्यारूपी धनका उपार्जन करके प्रयत्नपूर्वक नित्यकर्ममें संलग्न रहना चाहिये । सभी वेद एकान्ततः स्वाध्याय और मनन करनेके योग्य माने गये हैं ॥ ४८ ॥

जायन्ते च म्रियन्ते च यस्मिन्नेते यतश्च्युताः ।
वेदार्थं ये न जानन्ति वेद्यं गन्धर्वसत्तम ॥ ४९ ॥

गन्धर्वराज ! समस्त भूत जिसमें स्थित हैं, जिससे उत्पन्न होते और जिसमें लीन हो जाते हैं, उस वेदप्रतिपाद्य ज्ञेय परमात्माको जो नहीं जानते हैं, वे परमार्थसे भ्रष्ट होकर जन्मते और मरते रहते हैं ॥ ४९ ॥

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते ।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः ॥ ५० ॥

साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़कर भी जो वेदोंके द्वारा जाननेके योग्य परमेश्वरको नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदोंका बोझ ढोनेवाला है ॥ ५० ॥

यो घृतार्थी खरीक्षीरं मथेद् गन्धर्वसत्तम ।
विष्ठां तत्रानुपश्येत न मण्डं न च वै घृतम् ॥ ५१ ॥

गन्धर्वशिरोमणे ! जो घी पानेकी इच्छा रखकर गधीके दूधको मथता है, उसे वहाँ विष्ठा ही दिखायी देती है। उसे न तो वहाँ मक्खन ही मिलता है और न घी ही ॥ ५१ ॥

तथा वेद्यमवेद्यं च वेदविद्यो न विन्दति।
स केवलं मूढमतिर्ज्ञानभारवहः स्मृतः ॥ ५२ ॥

इसी प्रकार जो वेदोंका अध्ययन करके भी वेद्य और अवेद्यका तत्त्व नहीं जानता, वह मूढ़बुद्धि मानव केवल ज्ञानका बोझ ढोनेवाला माना गया है ॥ ५२ ॥

द्रष्टव्यौ नित्यमेवैतौ तत्परेणान्तरात्मना।
तथास्य जन्मनिधने न भवेतां पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

मनुष्यको सदा ही तत्पर होकर अन्तरात्माके द्वारा इन दोनों प्रकृति और पुरुषका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जिससे बारंबार उसे जन्म-मृत्युके चक्करमें न पड़ना पड़े ॥ ५३ ॥

अजस्रं जन्मनिधनं चिन्तयित्वा त्रयीमिमाम्।
परित्यज्य क्षयमिह अक्षयं धर्ममास्थितः ॥ ५४ ॥

संसारमें जन्म और मरणकी परम्परा निरन्तर चलती रहती है—ऐसा सोचकर वैदिक कर्मकाण्डमें बताये हुए सभी कर्मों और उनके फलोंको विनाशशील जानकर उनका परित्याग करके मनुष्यको यहाँ अक्षय धर्मका आश्रय लेना चाहिये ॥

यदानुपश्यतेऽत्यन्तमहन्यहनि काश्यप।
तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ५५ ॥

कश्यपनन्दन ! जब साधक प्रतिदिन परमात्माके स्वरूपका विचार एवं चिन्तन करने लगता है, तब वह प्रकृतिके संसर्गसे रहित होकर छब्बीसवें तत्त्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है ॥ ५५ ॥

अन्यश्च शाश्वतोऽव्यक्तस्तथान्यः पञ्चविंशकः।
तस्य द्वावनुपश्येतां तमेकमिति साधवः ॥ ५६ ॥

मूढ़बुद्धि मानव उस आत्माके सम्बन्धमें द्वैतभावसे युक्त धारणा रखते हुए कहते हैं—'सनातन अव्यक्त परमात्मा दूसरा है और पचीसवाँ तत्त्वरूप जीवात्मा दूसरा, परंतु साधु पुरुष उन दोनोंको एक मानते हैं ॥ ५६ ॥

ते नैतन्नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम्।
जन्ममृत्युभयाद् योगाः सांख्याश्च परमैषिणः ॥ ५७ ॥

वे जन्म और मृत्युके भयसे रहित होकर परमपद पानेकी इच्छा रखनेवाले सांख्यवेत्ता और योगी जीवात्मा और परमात्माको एक दूसरेसे भिन्न नहीं मानते हैं। जीव और ईश्वरका अभेद बतानेवाला जो यह पूर्वोक्त दर्शन अथवा साधुमत है, उसका वे भी अभिनन्दन करते ही हैं ॥

विश्वावसुरुवाच

पञ्चविंशं यदेतत् ते प्रोक्तं ब्राह्मणसत्तम।
तथा तन्न तथा चेति तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ५८ ॥

विश्वावसुने कहा—ब्राह्मणशिरोमणे ! आपने जो यह पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको परमात्मासे अभिन्न बताया है, उसमें यह संदेह उठता है कि जीवात्मा वास्तवमें परमात्मासे अभिन्न है या नहीं ? अतः आप इस बातका स्पष्टरूपसे वर्णन करें ॥ ५८ ॥

जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मया श्रुतम्।
पराशरस्य विप्रर्षेर्वार्षगण्यस्य धीमतः ॥ ५९ ॥
भृगोः पञ्चशिखस्यास्य कपिलस्य शुकस्य च।
गौतमस्यार्ष्टिषेणस्य गर्गस्य च महात्मनः ॥ ६० ॥
नारदस्यासुरेश्चैव पुलस्त्यस्य च धीमतः।
सनत्कुमारस्य ततः शुक्रस्य च महात्मनः ॥ ६१ ॥
कश्यपस्य पितुश्चैव पूर्वमेव मया श्रुतम्।

मैंने मुनिवर जैगीषव्य, असित, देवल, ब्रह्मर्षि पराशर, बुद्धिमान् वार्षगण्य, भृगु, पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्ष्टिषेण, महात्मा गर्ग, नारद, आसुरि, बुद्धिमान् पुलस्त्य, सनत्कुमार, महात्मा शुक्र तथा अपने पिता कश्यपजीके मुखसे भी पहले इस विषयका प्रतिपादन सुना था ॥ ५९–६१½ ॥

तदनन्तरं च रुद्रस्य विश्वरूपस्य धीमतः ॥ ६२ ॥
दैवतेभ्यः पितृभ्यश्च दैतेयेभ्यस्ततस्ततः।
प्राप्तमेतन्मया कृत्स्नं वेद्यं नित्यं वदन्त्युत ॥ ६३ ॥

तदनन्तर रुद्र, बुद्धिमान् विश्वरूप, अन्यान्य देवता, पितर तथा दैत्योंसे भी जहाँ-तहाँसे यह सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। वे सब लोग ज्ञेय तत्त्वको पूर्ण और नित्य बतलाते हैं ॥ ६२-६३ ॥

तस्मात् तद् वै भवद्बुद्ध्या श्रोतुमिच्छामि ब्राह्मण।
भवान् प्रबर्हः शास्त्राणां प्रगल्भश्चातिबुद्धिमान् ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणदेव ! अब मैं इस विषयमें आपकी बुद्धिसे किये गये निर्णयको सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप विद्वानोंमें श्रेष्ठ, शास्त्रोंके प्रगल्भ पण्डित और अत्यन्त बुद्धिमान् हैं ॥

न तवाविदितं किंचिद् भवाञ्छ्रुतिनिधिः स्मृतः।
कथ्यते देवलोके च पितृलोके च ब्राह्मण ॥ ६५ ॥

ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसे आप न जानते हों। वैदिक ज्ञानके तो आप भण्डार ही माने जाते हैं। ब्रह्मन् ! देवलोक और पितृलोकमें भी आपकी ख्याति है ॥ ६५ ॥

ब्रह्मलोकगताश्चैव कथयन्ति महर्षयः।
पतिश्च तपतां शश्वदादित्यस्तव भाषिता ॥ ६६ ॥

ब्रह्मलोकमें गये हुए महर्षि भी आपकी महिमाका वर्णन करते हैं। तपनेवाले तेजस्वी ग्रहोंके पति अदितिनन्दन सनातन भगवान् सूर्यने आपको वेदका उपदेश किया है ॥

सांख्यज्ञानं त्वया ब्रह्मन्नवाप्तं कृत्स्नमेव च।
तथैव योगशास्त्रं च याज्ञवल्क्य विशेषतः ॥ ६७ ॥

ब्रह्मन् ! याज्ञवल्क्य ! आपने सम्पूर्ण सांख्य तथा योगशास्त्रका भी विशेष ज्ञान प्राप्त किया है ॥ ६७ ॥

निःसंदिग्धं प्रबुद्धस्त्वं बुध्यमानश्चराचरम्।

श्रोतुमिच्छामि तज्ज्ञानं घृतं मण्डमयं यथा ॥ ६८ ॥

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि आप पूर्ण ज्ञानी हैं और सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को जानते हैं; अतः मैं माखनमय घीके समान स्वादिष्ट एवं सारभूत वह तत्त्वज्ञान आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ ६८ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच

कृत्स्नधारिणमेव त्वां मन्ये गन्धर्वसत्तम।
जिज्ञाससे च मां राजंस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥ ६९ ॥

याज्ञवल्क्यजीने कहा—अर्थात् मैंने उत्तर दिया—गन्धर्वशिरोमणे ! आपको मैं निःसंदेह सम्पूर्ण ज्ञानोंको धारण करनेवाली मेधाशक्तिसे सम्पन्न मानता हूँ। राजन् ! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझसे प्रश्न करते और मेरे विचारको जानना चाहते हैं; इसलिये मैंने जैसा सुना है, वह बताता हूँ सुनिये ॥ ६९ ॥

अबुध्यमानां प्रकृतिं बुध्यते पञ्चविंशकः।
न तु बुध्यति गन्धर्व प्रकृतिः पञ्चविंशकम् ॥ ७० ॥

गन्धर्व ! प्रकृति जड है, इसलिये उसे पचीसवाँ तत्त्व—जीवात्मा तो जानता है; किंतु प्रकृति जीवात्माको नहीं जानती ॥ ७० ॥

अनेन प्रतिबोधेन प्रधानं प्रवदन्ति तत्।
सांख्ययोगाश्च तत्त्वज्ञा यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥ ७१ ॥

सांख्य और योगके तत्त्वज्ञानी विद्वान् श्रुतिमें किये हुए निरूपणके अनुसार जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाले चन्द्रमाके समान प्रकृतिमें ज्ञानस्वरूप जीवात्माके बोधका प्रतिबिम्ब पड़नेसे उस प्रकृतिको प्रधान कहते हैं ॥ ७१ ॥

पश्यंस्तथैव चापश्यन् पश्यत्यन्यः सदानघ।
षड्विंशं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च पश्यति ॥ ७२ ॥

निष्पाप गन्धर्व ! जीवात्मा जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें सब कुछ देखता है। सुषुप्ति और समाधि अवस्थामें कुछ भी नहीं देखता है तथा परमात्मा सदा ही छब्बीसवें तत्त्वरूप अपने-आपको, पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको और चौबीसवें तत्त्वरूप प्रकृतिको भी देखता रहता है ॥ ७२ ॥

न तु पश्यति पश्यंस्तु यश्चैनमनुपश्यति।
पञ्चविंशोऽभिमन्येत नान्योऽस्ति परतो मम ॥ ७३ ॥

किंतु यदि जीवात्मा यह अभिमान करता है कि मुझसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है तो जो परमात्मा उसे निरन्तर देखता है, उसे वह समझता हुआ भी नहीं समझता ॥७३॥

न चतुर्विंशको ग्राह्यो मनुजैर्ज्ञानदर्शिभिः।
मत्स्यश्चोदकमन्वेति प्रवर्तेत प्रवर्तनात् ॥ ७४ ॥

तत्त्वज्ञानी मनुष्योंको चाहिये कि वे प्रकृतिको आत्मभावसे ग्रहण न करें। जैसे मत्स्य जलका अनुसरण करता है, परंतु अपनेको उससे भिन्न ही मानता है, उसी प्रकार मनुष्य उसकी प्रवृत्तिके अनुसार स्वयं भी प्रवृत्त होवे; परंतु प्रकृतिको अपना स्वरूप न माने ॥ ७४ ॥

यथैव बुध्यते मत्स्यस्तथैषोऽप्यनुबुध्यते।
स स्नेहात् सहवासाच्च साभिमानाच्च नित्यशः॥ ७५॥
स निमज्जति कालस्य यदैकत्वं न बुध्यते।
उन्मज्जति हि कालस्य समत्वेनाभिसंवृतः ॥ ७६॥

जैसे मछली जलमें रहती हुई भी उस जलको अपनेसे भिन्न समझती है, उसी प्रकार यह जीवात्मा प्राकृत शरीरमें रहकर भी प्रकृतिसे अपनेको भिन्न समझता है तथापि वह शरीरके प्रति स्नेह, सहवास और अभिमानके कारण जब परमात्माके साथ अपनी एकताका अनुभव नहीं करता है, तब कालके समुद्रमें डूब जाता है। परंतु जब वह समत्वबुद्धिसे युक्त हो अपनी और परमात्माकी एकताको समझ लेता है, तब उस कालसमुद्रसे उसका उद्धार हो जाता है॥

यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः।
तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ॥ ७७॥

जब द्विज इस बातको समझ लेता है कि मैं अन्य हूँ और यह प्राकृत शरीर अथवा अनात्म-जगत् मुझसे सर्वथा भिन्न है, तब वह प्रकृतिके संसर्गसे रहित हो छब्बीसवें तत्त्व परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ७७ ॥

अन्यश्च राजन्नवरस्तथान्यः पञ्चविंशकः।
तत्स्थानाच्चानुपश्यन्ति एक एवेति साधवः ॥ ७८॥

राजन् ! परमात्मा भिन्न है और जीवात्मा भिन्न; क्योंकि परमात्मा जीवात्माका आश्रय है; परंतु ज्ञानी संत महात्मा उन दोनोंको एक ही देखते और समझते हैं ॥ ७८ ॥

ते नैतन्नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम्।
जन्ममृत्युभयाद् भीता योगाःसांख्याश्च काश्यप॥७९॥

कश्यपनन्दन ! जन्म और मृत्युके भयसे डरे हुए योग और सांख्यके साधक भगवत्परायण हो शुद्ध भावसे छब्बीसवें तत्त्व परमात्माका दर्शन करते हुए जीवात्मा और परमात्माको एक समझते हैं और इस अभेद-दर्शनका सदा अभिनन्दन ही करते हैं ॥ ७९ ॥

षड्विंशमनुपश्यन्तः शुचयस्तत्परायणाः।
यदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति।
तदा स सर्वविद् विद्वान् न पुनर्जन्म विन्दति ॥ ८०॥

जब जीवात्मा प्रकृतिके संसर्गसे रहित हो परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब वह सर्वज्ञ विद्वान् होकर इस संसारमें पुनर्जन्म नहीं पाता है ॥ ८० ॥

एवमप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ।
बुद्धश्चोक्तो यथातत्त्वं मया श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ८१॥

निष्पाप गन्धर्वराज ! इस प्रकार मैंने तुमसे जड प्रकृति, चेतन जीवात्मा और बोधस्वरूप परमात्माका श्रुतिके अनुसार यथावत्‌रूपसे निरूपण किया है ॥ ८१ ॥

पश्यापश्यं यो न पश्येत् क्षेम्यं तत्त्वं च काश्यप।
केवलाकेवलं चाद्यं पञ्चविंशं परं च यत् ॥ ८२॥

कश्यपनन्दन ! जो मनुष्य जीवात्माको और प्रकृति आदि जडवर्गको पृथक्-पृथक् नहीं जानता, मङ्गलकारी तत्त्वपर दृष्टि नहीं रखता, केवल (प्रकृति-संसर्गसे रहित), अकेवल (प्रकृति-संसर्गसे युक्त), सबके आदिकारण जीवात्मा तथा परब्रह्म परमात्माको भी यथार्थरूपसे नहीं जानता (वह आवागमनके चक्करमें पड़ा रहता है) ॥ ८२ ॥

विश्वावसुरुवाच

तथ्यं शुभं चैतदुक्तं त्वया विभो
सम्यक् क्षेम्यं दैवताद्यं यथावत् ।
स्वस्त्यक्षयं भवतश्चास्तु नित्यं
बुद्ध्या सदा बुद्धियुक्तं मनस्ते ॥ ८३ ॥

विश्वावसुने कहा—प्रभो ! आपने सब देवताओंके आदिकारण ब्रह्मके विषयमें जो यथावत् वर्णन किया है, वह सत्य, शुभ, सुन्दर तथा परम मङ्गलकारी है । आपका मन सदा ही इसी प्रकार ज्ञानमें स्थित रहे तथा आपको नित्य अक्षय कल्याणकी प्राप्ति हो (अच्छा, अब मैं जाता हूँ) ॥

याज्ञवल्क्य उवाच

एवमुक्त्वा सम्प्रयातो दिवं स
विभ्राजन् वै श्रीमता दर्शनेन ।
दृष्टश्च तुष्ट्या परयाभिनन्द्य
प्रदक्षिणं मम कृत्वा महात्मा ॥ ८४ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं राजन् ! ऐसा कहकर महामना गन्धर्वराज विश्वावसु अपने कान्तिमान् दर्शनसे प्रकाशित होते हुए मेरी परिक्रमा और अभिनन्दन करके स्वर्गलोकको चले गये । उस समय मैंने भी बड़े संतोषसे उनकी ओर देखा था ॥ ८४ ॥

ब्रह्मादीनां खेचराणां क्षितौ च
ये चाधस्तात् संवसन्ते नरेन्द्र ।
तत्रैव तद्दर्शनं दर्शयन् वै
सम्यक् क्षेम्यं ये पथं संश्रिता वै ॥ ८५ ॥

राजा जनक ! आकाशमें विचरनेवाले जो ब्रह्मा आदि देवता हैं, पृथ्वीपर निवास करनेवाले जो मनुष्य हैं तथा जो पृथ्वीसे नीचेके लोकोंमें रहते हैं, उनमेंसे जो लोग कल्याणमय मोक्षमार्गका आश्रय लिये हुए थे, उन सबको उन्हीं स्थानोंमें जाकर विश्वावसुने मेरे बताये हुए इस सम्यक्-दर्शनका उपदेश दिया था ॥ ८५ ॥

सांख्याः सर्वे सांख्यधर्मे रताश्च
तद्वद् योगा योगधर्मे रताश्च ।
ये चाप्यन्ये मोक्षकामा मनुष्या-
स्तेषामेतद् दर्शनं ज्ञानदृष्टम् ॥ ८६ ॥

सांख्यधर्ममें तत्पर रहनेवाले सम्पूर्ण सांख्यवेत्ता, योग-धर्मपरायण योगी तथा दूसरे जो मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्य हैं, उन सबको यह उपदेश ज्ञानका प्रत्यक्ष फल देनेवाला है ॥ ८६ ॥

ज्ञानान्मोक्षो जायते राजसिंह
नास्त्यज्ञानादेवमाहुर्नरेन्द्र ।
तस्माज्ज्ञानं तत्त्वतोऽन्वेषितव्यं
येनात्मानं मोक्षयेज्जन्ममृत्योः ॥ ८७ ॥

राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी नरेन्द्र ! ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, अज्ञानसे नहीं—ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं । इसलिये यथार्थ ज्ञानका अनुसंधान करना चाहिये, जिससे अपने-आपको जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुड़ाया जा सके ॥

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा
वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम् ।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं
न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम् ॥ ८८ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा नीच वर्णमें उत्पन्न हुए पुरुषसे भी यदि ज्ञान मिलता हो तो उसे प्राप्त करके श्रद्धालु मनुष्यको सदा उसपर श्रद्धा रखनी चाहिये । जिसके भीतर श्रद्धा है, उस मनुष्यमें जन्म-मृत्युका प्रवेश नहीं हो सकता ॥ ८८ ॥

सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च
सर्वे नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म ।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि
सर्वं विश्वं ब्रह्म चैतत् समस्तम् ॥ ८९ ॥

ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण सभी वर्ण ब्राह्मण हैं । सभी सदा ब्रह्मका उच्चारण करते हैं । मैं ब्रह्मबुद्धिसे यथार्थ शास्त्रका सिद्धान्त बता रहा हूँ । यह सम्पूर्ण जगत्, यह सारा दृश्यप्रपञ्च ब्रह्म ही है ॥ ८९ ॥

ब्रह्मास्यतो ब्राह्मणाः सम्प्रसूता
बाहुभ्यां वै क्षत्रियाः सम्प्रसूताः ।
नाभ्यां वैश्याः पादतश्चापि शूद्राः
सर्वे वर्णा नान्यथा वेदितव्याः ॥ ९० ॥

ब्रह्मके मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए हैं, ब्रह्मकी ही भुजाओंसे क्षत्रियोंकी उत्पत्ति हुई है, ब्रह्मकी ही नाभिसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र प्रकट हुए हैं, अतः सभी वर्णके लोग ब्रह्मरूप ही हैं । किसी भी वर्णको ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझना चाहिये ॥ ९० ॥

अज्ञानतः कर्मयोनिं भजन्ते
तां तां राजंस्ते तथा यान्त्यभावम् ।
तथा वर्णा ज्ञानहीनाः पतन्ते
घोरादज्ञानात् प्राकृतं योनिजालम् ॥ ९१ ॥

राजन् ! मनुष्य अज्ञानके कारण ही कर्मानुष्ठानसे भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेते और मरते हैं । ज्ञानहीन मनुष्य ही अपने भयंकर अज्ञानके कारण नाना प्रकारकी प्राकृत योनियोंमें गिरते हैं ॥ ९१ ॥

तस्माज्ज्ञानं सर्वतो मार्गितव्यं
सर्वत्रस्थं चैतदुक्तं मया ते।
तत्स्थो ब्रह्मा तस्थिवांश्चापरो य-
स्तस्मै नित्यं मोक्षमाहुर्नरेन्द्र ॥ ९२ ॥

नरेन्द्र ! अतः सब ओरसे ज्ञान प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। यह तो मैं तुमसे बता ही चुका हूँ कि सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने आश्रममें रहते हुए ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; अतः जो ब्राह्मण ज्ञानमें स्थित है अथवा जो दूसरे वर्णका मनुष्य भी ज्ञाननिष्ठ है, उसके लिये नित्य मोक्षकी प्राप्ति बतायी गयी है ॥ ९२ ॥

यत् ते पृष्टं तन्मया चोपदिष्टं
याथातथ्यं तद्विशोको भवस्व ।
राजन् गच्छस्वैतदर्थस्य पारं
सम्यक् प्रोक्तं स्वस्ति ते त्वस्तु नित्यम् ॥

राजन् ! तुमने जो पूछा था उसके उत्तरमें मैंने तुम्हें यथार्थ ज्ञानका उपदेश किया है; अतः अब तुम शोकरहित हो जाओ और इस तत्त्वज्ञानमें पारङ्गत बनो । मैंने तुम्हें ज्ञानका भलीभाँति उपदेश कर दिया है। जाओ, तुम्हारा सदा कल्याण हो ॥ ९३ ॥

भीष्म उवाच

स एवमनुशास्तस्तु याज्ञवल्क्येन धीमता।
प्रीतिमानभवद् राजा मिथिलाधिपतिस्तदा ॥ ९४ ॥

भीष्मजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! बुद्धिमान् याज्ञवल्क्यजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर मिथिलापति राजा जनक उस समय बहुत प्रसन्न हुए ॥ ९४ ॥

गते मुनिवरे तस्मिन् कृते चापि प्रदक्षिणम्।
दैवरातिर्नरपतिरासीनस्तत्र मोक्षवित् ॥ ९५ ॥
गोकोटिं स्पर्शयामास हिरण्यं तु तथैव च।
रत्नाञ्जलिमथैकं च ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा ॥ ९६ ॥

उन्होंने सत्कारपूर्वक मुनिकी प्रदक्षिणा करके उन्हें विदा किया। जब वे मुनिवर याज्ञवल्क्य चले गये, तब मोक्षके ज्ञाता देवरातनन्दन राजा जनकने वहीं बैठे-बैठे एक करोड़ गौएँ छूकर ब्राह्मणोंको दान कर दीं तथा प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक अञ्जलि रत्न और सुवर्ण प्रदान किये ॥ ९५-९६ ॥

विदेहराज्यं च तदा प्रतिष्ठाप्य सुतस्य वै।
यतिधर्ममुपासंश्चाप्यवसन्मिथिलाधिपः ॥ ९७ ॥

इसके बाद मिथिलानरेशने विदेहदेशका राज्य अपने पुत्रको सौंप दिया और स्वयं वे यति-धर्मका पालन करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ ९७ ॥

सांख्यज्ञानमधीयानो योगशास्त्रं च कृत्स्नशः।
धर्माधर्मं च राजेन्द्र प्राकृतं परिगर्हयन् ॥ ९८ ॥
अनन्त इति कृत्वा स नित्यं केवलमेव च।
धर्माधर्मौ पुण्यपापे सत्यासत्ये तथैव च ॥ ९९ ॥
जन्ममृत्यू च राजेन्द्र प्राकृतं तदचिन्तयत्।
व्यक्ताव्यक्तस्य कर्मेदमिति नित्यं नराधिप ॥१००॥

राजेन्द्र ! नरेश्वर ! उन्होंने सम्पूर्ण सांख्य, ज्ञान और योगशास्त्रका स्वाध्याय करके प्राकृत धर्म और अधर्मको त्याज्य मानते हुए यह निश्चय किया कि 'मैं अनन्त हूँ।' ऐसा निश्चय करके वे धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, सत्य-असत्य तथा जन्म और मृत्युको व्यक्त (बुद्धि आदि) और अव्यक्त (प्रकृति) का कार्य मानकर सबको प्राकृत (प्रकृतिजन्य एवं मिथ्या) समझते हुए प्रकृतिसंसर्गसे रहित अपने शुद्ध एवं नित्य स्वरूपका ही चिन्तन करने लगे ॥ ९८-१०० ॥

पश्यन्ति योगाः सांख्याश्च स्वशास्त्रकृतलक्षणाः।
इष्टानिष्टविमुक्तं हि तस्थौ ब्रह्म परात्परम् ॥१०१॥

युधिष्ठिर ! सांख्य और योगके विद्वान् अपने-अपने शास्त्रोंमें वर्णित लक्षणोंके अनुसार ऐसा देखते और समझते हैं कि वह ब्रह्म इष्ट और अनिष्टसे मुक्त, अचल-भावसे स्थित एवं परात्पर है ॥ १०१ ॥

नित्यं तदाहुर्विद्वांसः शुचि तस्माच्छुचिर्भव।
दीयते यच्च लभते दत्तं यच्चानुमन्यते ॥१०२॥
ददाति च नरश्रेष्ठ प्रतिगृह्णाति यच्च ह।
ददात्यव्यक्त इत्येतत् प्रतिगृह्णाति तच्च वै ॥१०३॥

विद्वान् पुरुष उस ब्रह्मको नित्य एवं पवित्र बताते हैं; अतः तुम भी उसे जानकर पवित्र हो जाओ। नरश्रेष्ठ ! जो कुछ दिया जाता है, जो दी हुई वस्तु किसीको प्राप्त होती है, जो दानका अनुमोदन करता है, जो देता है तथा जो उस दानको ग्रहण करता है, वह सब अव्यक्त परमात्मा ही है। परमात्मा ही यह सब कुछ देता और लेता है ॥

आत्मा ह्येवात्मनो ह्येकः कोऽन्यस्तस्मात्परो भवेत्।
एवं मन्यस्व सततमन्यथा मा विचिन्तय ॥१०४॥

युधिष्ठिर ! एकमात्र परमात्मा ही अपना है। उससे बढ़कर आत्मीय दूसरा कौन हो सकता है । तुम सदा ऐसा ही मानो और इसके विपरीत दूसरी किसी बातका चिन्तन न करो ॥ १०४ ॥

यस्याव्यक्तं न विदितं सगुणं निर्गुणं पुनः।
तेन तीर्थानि यज्ञाश्च सेवितव्या विपश्चिता ॥१०५॥

जिसे अव्यक्त प्रकृतिका ज्ञान न हुआ हो, सगुण-निर्गुण परमात्माकी पहचान न हुई हो, उस विद्वान्को तीर्थोंका सेवन और यज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १०५ ॥

न स्वाध्यायैस्तपोभिर्वा यज्ञैर्वा कुरुनन्दन।
लभतेऽव्यक्तिकं स्थानं ज्ञात्वा व्यक्तं महीयते ॥१०६॥

कुरुनन्दन ! स्वाध्याय, तप अथवा यज्ञोंद्वारा मोक्ष या परमात्मपदकी प्राप्ति नहीं होती (ये तो उनके तत्त्वको जाननेमें सहायक होते हैं) । इनके द्वारा परमात्माका स्पष्ट

(अपरोक्ष) ज्ञान प्राप्त करके ही मनुष्य महिमान्वित होता है॥

तथैव महतः स्थानमाहङ्कारिकमेव च ।
अहङ्कारात् परं चापि स्थानानि समवाप्नुयात् ॥१०७॥

महत्तत्त्वकी उपासना करनेवाले महत्तत्त्वको और अहंकार-के उपासक अहंकारको प्राप्त होते हैं; परंतु महत्तत्त्व और अहंकारसे भी श्रेष्ठ जो स्थान हैं, उन्हें प्राप्त करना चाहिये॥१०७॥

ये त्वव्यक्तात् परं नित्यं जानते शास्त्रतत्पराः ।
जन्ममृत्युविमुक्तं च विमुक्तं सदसच्च यत् ॥१०८॥

जो शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर होते हैं, वे ही प्रकृतिसे पर, नित्य, जन्म-मृत्युसे रहित, मुक्त एवं सदसत्स्वरूप परमात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥ १०८ ॥

एतन्मयाऽऽप्तं जनकात् पुरस्तात्
तेनापि चाप्तं नृप याज्ञवल्क्यात् ।
ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि यज्ञा
ज्ञानेन दुर्गं तरते न यज्ञैः ॥१०९॥

युधिष्ठिर ! यह ज्ञान मुझे पूर्वकालमें राजा जनकसे मिला था और जनकको याज्ञवल्क्यजीसे प्राप्त हुआ था । ज्ञान सबसे उत्तम साधन है । यज्ञ इसकी समानता नहीं कर सकते । ज्ञानसे ही मनुष्य इस दुर्गम संसार-सागरसे पार हो सकता है; यज्ञोंद्वारा नहीं ॥ १०९ ॥

दुर्गं जन्म निधनं चापि राजन्
न भौतिकं ज्ञानविदो वदन्ति ।
यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्व्रतैश्च
दिवं समासाद्य पतन्ति भूमौ ॥११०॥

राजन् ! ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि भौतिक जन्म और मृत्युको पार करना अत्यन्त कठिन है । यज्ञ आदिके द्वारा भी मनुष्य उस दुर्गम संकटसे पार नहीं हो सकता । यज्ञ, तप, नियम और व्रतोंद्वारा तो लोग स्वर्गलोकमें जाते और पुण्य क्षीण होनेपर फिर इस पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं ॥ ११० ॥

तस्मादुपास्स्व परं महच्छुचि
शिवं विमोक्षं विमलं पवित्रम् ।
क्षेत्रं ज्ञात्वा पार्थिव ज्ञानयज्ञ-
मुपास्य वै तत्त्वमृषिर्भविष्यसि ॥१११॥

इसलिये तुम प्रकृतिसे पर, महत्, पवित्र, कल्याणमय, निर्मल, शुद्ध तथा मोक्षस्वरूप ब्रह्मकी उपासना करो । पृथ्वी-नाथ ! क्षेत्रको जानकर और ज्ञानयज्ञका आश्रय लेकर तुम निश्चय ही तत्त्वज्ञानी ऋषि बन जाओगे ॥ १११ ॥

यदुपनिषदमुपाकरोत् तथासौ
जनकनृपस्य पुरा हि याज्ञवल्क्यः।
यदुपगणितशाश्वताव्ययंत-
च्छुभममृतत्वमशोकमच्छेति ॥११२॥

पूर्वकालमें याज्ञवल्क्य मुनिने राजा जनकको जिस उप-निषद् (ज्ञान) का उपदेश दिया था, उसका मनन करनेसे मनुष्य पूर्वकथित सनातन अविनाशी, शुभ, अमृतमय तथा शोकरहित परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ११२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादसमाप्तौ अष्टादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य-जनक-संवादकी समाप्तिविषयक तीन सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ११३ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

जरा-मृत्युका उल्लङ्घन करनेके विषयमें पञ्चशिख और राजा जनकका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

ऐश्वर्यं वा महत् प्राप्य धनं वा भरतर्षभ ।
दीर्घमायुरवाप्याथ कथं मृत्युमतिक्रमेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! महान् ऐश्वर्य या प्रचुर धन अथवा बहुत बड़ी आयु पाकर मनुष्य किस तरह मृत्युका उल्लङ्घन कर सकता है ? ॥ १ ॥

तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा ।
रसायनप्रयोगैर्वा कैर्नाप्नोति जरान्तकौ ॥ २ ॥

बड़ गुरुतर तपस्या करके, महान् कर्मोंका अनुष्ठान करके, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके अथवा नाना प्रकारके रसायनों-का प्रयोग करके किन उपायोंद्वारा जरा और मृत्युको प्राप्त नहीं होता है ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भिक्षोः पञ्चशिखस्येह संवादं जनकस्य च ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष संन्यासी पञ्चशिख तथा राजा जनकके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

वैदेहो जनको राजा महर्षिं वेदवित्तमम् ।
पर्यपृच्छत् पञ्चशिखं छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, विदेहदेशके राजा जनकने वेद-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षि पञ्चशिखसे, जिनके धर्म और अर्थ-विषयक संदेह नष्ट हो गये थे, इस प्रकार प्रश्न किया—॥ ४ ॥

केन वृत्तेन भगवन्नतिक्रामेज्जरान्तकौ ।
तपसा वाथ बुद्ध्या वा कर्मणा वा श्रुतेन वा ॥ ५ ॥

'भगवन् ! किस आचार, तपस्या, बुद्धि, कर्म अथवा शास्त्रज्ञानके द्वारा मनुष्य जरा और मृत्युको लाँघ सकता है ?' ॥

एवमुक्तः स वैदेहं प्रत्युवाचापरोक्षवित् ।
निवृत्तिर्न तयोरस्ति नानिवृत्तिः कथञ्चन ॥ ६ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर अपरोक्षज्ञानसे सम्पन्न महर्षि पञ्चशिखने विदेहराजको इस प्रकार उत्तर दिया—'जरा और मृत्युकी निवृत्ति नहीं होती है, परंतु ऐसा भी नहीं है कि किसी प्रकार उनकी निवृत्ति हो ही नहीं सकती (धन और ऐश्वर्य आदिसे उनकी निवृत्ति नहीं होती, परंतु ज्ञानसे तो पुनर्जन्मकी भी निवृत्ति हो जाती है; फिर जरा और मृत्युकी तो बात ही क्या ?) ॥ ६ ॥

न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः क्षपाः ।
सोऽयं प्रपद्यतेऽध्वानं चिराय ध्रुवमध्रुवः ॥ ७ ॥

दिन, रात और महीनोंके जो चक्र चल रहे हैं, वे किसीके टाले नहीं टलते हैं। इसी प्रकार जन्म, मृत्यु और जरा आदिके क्रम प्रायः चलते ही रहते हैं। जिसके जीवनका कुछ ठिकाना नहीं, वह मरणधर्मा मानव कभी दीर्घकालके पश्चात् नित्य-पथ (मोक्षमार्ग) का आश्रय लेता है ॥ ७ ॥

सर्वभूतसमुच्छेदः स्रोतसेवोह्यते सदा ।
ऊह्यमानं निमज्जन्तमप्लवे कालसागरे ॥ ८ ॥
जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदभिपद्यते ।

काल समस्त प्राणियोंका उच्छेद कर डालता है। जैसे जलका प्रवाह किसी वस्तुको बहाये लिये जाता है, उसी प्रकार काल सदा ही प्राणियोंको अपने वेगसे बहाया करता है। यह काल बिना नौकाके समुद्रकी भाँति लहरा रहा है। जरा और मृत्यु विशाल ग्राहका रूप धारण करके उसमें बैठे हुए हैं। उस काल-सागरमें बहते और डूबते हुए जीवको कोई भी बचा नहीं सकता ॥ ८½ ॥

नैवास्य कश्चिद् भवति नासौ भवति कस्यचित् ॥ ९ ॥
पथि सङ्गतमेवेदं दारैरन्यैश्च बन्धुभिः ।
नायमत्यन्तसंवासो लब्धपूर्वो हि केनचित् ॥ १० ॥

यहाँ इस जीवका कोई भी अपना नहीं है और वह भी किसीका अपना नहीं है। रास्तेमें मिले हुए राहगीरोंके समान यहाँ पत्नी तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंका साथ हो जाता है, परंतु यहाँ पहले कभी किसीने किसीके साथ चिरकालतक सहवास-का सुख नहीं उठाया है ॥ १० ॥

क्षिप्यन्ते तेन तेनैव निष्टनन्तः पुनः पुनः ।
कालेन जाता याता हि वायुनेवाभ्रसंचयाः ॥ ११ ॥

जैसे गर्जते हुए बादलोंको हवा बारंबार उड़ाकर छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार काल यहाँ जन्म लेनेवाले प्राणियोंको उनके रोने-चिल्लानेपर भी विनाशकी आगमें झोंक देता है ॥ ११ ॥

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव ।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि ॥ १२ ॥

कोई बलवान् हों या दुर्बल, बड़ा हों या छोटा, उन सब प्राणियोंको बुढ़ापा और मौत व्याघ्रकी भाँति खा जाती है ॥ १२ ॥

एवंभूतेषु भूतात्मा नित्यभूतोऽध्रुवेषु च ।
कथं हि हृष्येज्जातेषु मृतेषु च कथं ज्वरेत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार जब सभी प्राणी विनाशशील ही हैं, तब नित्य-स्वरूप जीवात्मा उन प्राणियोंके लिये जन्म लेनेपर हर्ष किस लिये माने और मर जानेपर शोक क्यों करे ? ॥ १३ ॥

कुतोऽहमागतः कोऽस्मि क्व गमिष्यामि कस्य वा ।
कस्मिन् स्थितः क्व भविता कस्मात्किमनुशोचसि ॥ १४ ॥

मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? किसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है ? किस स्थानमें स्थित होकर कहाँ फिर जन्म लूँगा ? इन सब बातोंको लेकर तुम किस लिये क्या शोक कर रहे हो ? ॥ १४ ॥

द्रष्टा स्वर्गस्य कोऽन्योऽस्ति तथैव नरकस्य च ।
आगमांस्त्वनतिक्रम्य दद्याच्चैव यजेत च ॥ १५ ॥

जो शुभ और अशुभ कर्म करता है, उसके सिवा दूसरा कौन ऐसा है जो उन कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और नरकका दर्शन एवं उपभोग करेगा; अतः शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करते हुए सब लोगोंको दान और यज्ञ आदि सत्कर्म करते रहने चाहिये ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखजनकसंवादे एकोनविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पञ्चशिख और जनकका संवादविषयक तीन सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१९ ॥

विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा जनककी परीक्षा करनेके लिये आयी हुई सुलभाका उनके शरीरमें प्रवेश करना, राजा जनकका उसपर दोषारोपण करना एवं सुलभाका युक्तियोंद्वारा निराकरण करते हुए राजा जनकको अज्ञानी बताना

युधिष्ठिर उवाच

अपरित्यज्य गार्हस्थ्यं कुरुराजर्षिसत्तम ।
कः प्राप्तो विनयं बुद्ध्या मोक्षतत्त्वं वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुकुलराजर्षिशिरोमणि ! जहाँ बुद्धिका लय हो जाता है, उस मोक्षतत्त्वको गृहस्थाश्रमका त्याग बिना किये कौन पुरुष प्राप्त हुआ है, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

संन्यस्यते यथाऽऽत्मायं व्यक्तस्यात्मा यथा च यत्।
परं मोक्षस्य यच्चापि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! यह मनुष्यशरीर जिस प्रकार स्थूल शरीरका त्याग करता है और जिस प्रकार स्थूल शरीरका आत्मा सूक्ष्म शरीरका त्याग करता है अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म—इन दोनों शरीरोंके अभिमानसे जिस प्रकार रहित हो सकता है एवं उनके त्यागका जो स्वरूप है और जो मोक्षका तत्त्व है, वह मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
जनकस्य च संवादं सुलभायाश्च भारत ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें जानकार मनुष्य जनक और सुलभाके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

संन्यासफलिकः कश्चिद् बभूव नृपतिः पुरा।
मैथिलो जनको नाम धर्मध्वज इति श्रुतः ॥ ४ ॥

प्राचीन कालमें मिथिलापुरीके कोई एक राजा जनक हो गये हैं, जो धर्मध्वज नामसे प्रसिद्ध थे । उन्हें (गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी) संन्यासका जो सम्यग्ज्ञानरूप फल है, वह प्राप्त हो गया था ॥ ४ ॥

स वेदे मोक्षशास्त्रे च स्वे च शास्त्रे कृतश्रमः।
इन्द्रियाणि समाधाय शशास वसुधामिमाम् ॥ ५ ॥

उन्होंने वेदमें, मोक्षशास्त्रमें तथा अपने शास्त्र (दण्डनीति) में भी बड़ा परिश्रम किया था । वे इन्द्रियोंको एकाग्र करके इस वसुन्धराका शासन करते थे ॥ ५ ॥

तस्य वेदविदः प्राज्ञाः श्रुत्वा तां साधुवृत्तताम्।
लोकेषु स्पृहयन्त्यन्ये पुरुषाः पुरुषेश्वर ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! वेदोंके ज्ञाता विद्वान् पुरुष उनकी उस साधुवृत्तिका समाचार सुनकर उन्हींके समान सज्जन होनेकी इच्छा करते थे ॥ ६ ॥

अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता।
महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी ॥ ७ ॥

वह धर्मप्रधान युगका समय था । उन दिनों सुलभा नामवाली एक संन्यासिनी योगधर्मके अनुष्ठानद्वारा सिद्धि प्राप्त करके अकेली ही इस पृथ्वीपर विचरण करती थी ॥ ७ ॥

तया जगदिदं कृत्स्नमटन्त्या मिथिलेश्वरः।
तत्र तत्र श्रुतो मोक्षे कथ्यमानस्त्रिदण्डिभिः ॥ ८ ॥

इस सम्पूर्ण जगत्में घूमती हुई सुलभाने यत्र-तत्र अनेक स्थानोंमें त्रिदण्डी संन्यासियोंके मुखसे मोक्ष-तत्त्वकी जानकारीके विषयमें मिथिलापति राजा जनककी प्रशंसा सुनी ॥ ८ ॥

सातिसूक्ष्मां कथां श्रुत्वा तथ्यं नेति ससंशया।
दर्शने जातसंकल्पा जनकस्य बभूव ह ॥ ९ ॥

उनके द्वारा कही जानेवाली अत्यन्त सूक्ष्म परब्रह्मविषयक वार्ता दूसरोंके मुखसे सुनकर सुलभाके मनमें यह संदेह हुआ कि पता नहीं जनकके सम्बन्धमें जो बातें सुनी जाती हैं, वे सत्य हैं या नहीं । यह संशय उत्पन्न होनेपर उसके हृदयमें राजा जनकके दर्शनका संकल्प उदित हुआ ॥ ९ ॥

तत्र सा विप्रहायाथ पूर्वरूपं हि योगतः।
अबिभ्रदनवद्याङ्गी रूपमन्यदनुत्तमम् ॥ १० ॥
चक्षुर्निमेषमात्रेण लघ्वस्त्रगतिगामिनी।
विदेहानां पुरीं सुभ्रूर्जगाम कमलेक्षणा ॥ ११ ॥

उसने योगशक्तिसे अपना पहला शरीर छोड़कर दूसरा परम सुन्दर रूप धारण कर लिया । अब उसका प्रत्येक अङ्ग अनिन्द्य सौन्दर्यसे प्रकाशित होने लगा । सुन्दर भौंहोंवाली वह कमलनयनी बाला बाणोंके समान तीव्र गतिसे चलकर पलभरमें विदेहदेशकी राजधानी मिथिलामें जा पहुँची ॥ १०-११ ॥

सा प्राप्य मिथिलां रम्यां प्रभूतजनसंकुलाम्।
भैक्ष्यचर्यापदेशेन ददर्श मिथिलेश्वरम् ॥ १२ ॥

प्रचुर जनसमुदायसे भरी हुई उस रमणीय मिथिलानगरीमें पहुँचकर संन्यासिनी सुलभाने भिक्षा लेनेके बहाने मिथिलानरेशका दर्शन किया ॥ १२ ॥

राजा तस्याः परं दृष्ट्वा सौकुमार्यं वपुस्तदा।
केयं कस्य कुतो वेति बभूवागतविस्मयः ॥ १३ ॥

उसके परम सुकुमार शरीर और सौन्दर्यको देखकर राजा जनक आश्चर्यसे चकित हो उठे और मन-ही-मन सोचने लगे, 'यह कौन है, किसकी है अथवा कहाँसे आयी है?' ॥ १३ ॥

ततोऽस्याः स्वागतं कृत्वा व्यादिश्य च वरासनम्।
पूजितां पादशौचेन वरान्नेनाप्यतर्पयत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर उसका स्वागत करके राजाने उसे सुन्दर आसन समर्पित किया और पैर धुलाकर उसका यथोचित पूजन करनेके पश्चात् उत्तमोत्तम अन्न देकर उसे तृप्त किया ॥ १४ ॥

अथ भुक्तवती प्रीता राजानं मन्त्रिभिर्वृतम्।
सर्वभाष्यविदां मध्ये चोदयामास भिक्षुकी ॥ १५ ॥

भोजन करके संतुष्ट हुई संन्यासिनी सुलभाने सम्पूर्ण भाष्यवेत्ता विद्वानोंके बीचमें मन्त्रियोंसे घिरकर बैठे हुए राजा जनकसे कुछ प्रश्न करनेका विचार किया ॥ १५ ॥

सुलभा त्वस्य धर्मेषु मुक्तो नेति ससंशया।
सत्त्वं सत्त्वेन योगज्ञा प्रविवेश महीपतेः ॥ १६ ॥

सुलभा मोक्षधर्मके विषयमें राजासे कुछ पूछना चाहती थी । उसके मनमें यह संदेह था कि राजा जनक जीवन्मुक्त हैं या नहीं । वह योगशक्तियोंकी जानकार तो थी ही, अपनी सूक्ष्म बुद्धिद्वारा राजाकी बुद्धिमें प्रविष्ट हो गयी ॥ १६ ॥

नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्य रश्मीन् संयम्य रश्मिभिः।
सा स्म तं चोदयिष्यन्ती योगबन्धैर्बबन्ध ह ॥ १७ ॥

राजा जनकसे प्रश्न करनेके लिये उद्यत हो उसने अपने नेत्रोंकी किरणोंद्वारा उनके नेत्रोंकी किरणोंको संयत करके

योगबलसे उनके चित्तको बाँधकर उन्हें वशमें कर लिया॥ १७॥

जनकोऽप्युत्स्मयन् राजा भावमस्या विशेषयन्।
प्रतिजग्राह भावेन भावमस्या नृपोत्तम ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तब राजा जनकने सुलभाके अभिप्रायको जानकर उसका आदर करते हुए मुस्कराकर अपने भावद्वारा उसके भावको ग्रहण कर लिया ॥ १८ ॥

तदेकस्मिन्नधिष्ठाने संवादः श्रूयतामयम्।
छत्रादिषु विमुक्तस्य मुक्तायाश्च त्रिदण्डके ॥ १९ ॥

फिर छत्र आदि राजचिह्नोंसे रहित हुए राजा जनक और त्रिदण्डरूप संन्यास-चिह्नसे मुक्त हुई सुलभाका एक ही शरीरमें रहकर जो संवाद हुआ था, उसे सुनो ॥ १९ ॥

जनक उवाच

भगवत्याः क्व चर्येयं कृता क्व च गमिष्यसि।
कस्य च त्वं कुतो वेति पप्रच्छैनां महीपतिः ॥ २० ॥

जनकने पूछा—भगवति ! आपको यह संन्यासकी दीक्षा कहाँसे प्राप्त हुई है, आप कहाँ जायँगी ? किसकी हैं और कहाँसे यहाँ आपका शुभागमन हुआ है ? ये सब बातें राजा जनकने सुलभासे पूछीं ॥ २० ॥

श्रुते वयसि जातौ च सद्भावो नाधिगम्यते।
एष्वर्थेषूत्तरं तस्मात् प्रवेद्यं मत्समागमे ॥ २१ ॥

वे बोले, किसीसे पूछे बिना उसके शास्त्रज्ञान, अवस्था और जातिके विषयमें सच्ची बात नहीं मालूम होती;अतः मेरे साथ जो तुम्हारा समागम हुआ है, इस अवसरपर इन सब विषयोंकी जानकारीके लिये यथार्थ उत्तर जानना आवश्यक है॥

छत्रादिषु विशेषेषु मुक्तं मां विद्धि तत्त्वतः।
स त्वां सम्मन्तुमिच्छामि मानार्हा हि मतासि मे ॥ २२ ॥

छत्र आदि जो विशेष राजोचित चिह्न हैं, उन्हें इस समय मैं त्याग चुका हूँ; अतः अब आप मुझे यथार्थरूपसे जान लें। मैं आपका सम्मान करना चाहता हूँ; क्योंकि आप मुझे सम्मानके योग्य जान पड़ती हैं ॥ २२ ॥

यस्माच्चैतन्मया प्राप्तं ज्ञानं वैशेषिकं पुरा।
यस्य नान्यः प्रवक्तास्ति मोक्षं तमपि मे शृणु ॥ २३ ॥

मैंने पूर्वकालमें सर्वश्रेष्ठ मोक्षविषयक ज्ञान जिनसे प्राप्त किया था, जिसका उनके सिवा दूसरा कोई प्रतिपादन करनेवाला नहीं है, उस ज्ञान और ज्ञानदाता गुरुका भी परिचय आप मुझसे सुनो ॥ २३ ॥

पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः ॥ २४ ॥

पराशरगोत्री संन्यास-धर्मावलम्बी वृद्ध महात्मा पञ्चशिख मेरे गुरु हैं। मैं उनका परम प्रिय शिष्य हूँ ॥ २४ ॥

सांख्यज्ञाने च योगे च महीपालविधौ तथा।
त्रिविधे मोक्षधर्मेऽस्मिन् गताध्वा छिन्नसंशयः ॥ २५ ॥

सांख्यज्ञान, योगविद्या तथा राजधर्म—इन तीन प्रकारके मोक्षधर्ममें मुझे गन्तव्य मार्ग गुरुदेवसे प्राप्त हो चुका है। इन विषयोंके मेरे सारे संशय दूर हो गये हैं ॥ २५ ॥

स यथाशास्त्रदृष्टेन मार्गेणेह परिभ्रमन्।
वार्षिकांश्चतुरो मासान् पुरा मयि सुखोषितः ॥ २६ ॥

पहलेकी बात है, वे आचार्यचरण शास्त्रोक्त मार्गसे चलते हुए घूमते-घामते इधर आ निकले और वर्षा-ऋतुके चार महीने मेरे यहाँ सुखपूर्वक रहे ॥ २६ ॥

तेनाहं सांख्यमुख्येन सुदृष्टार्थेन तत्त्वतः।
श्रावितस्त्रिविधं मोक्षं न च राज्याद्धि चालितः ॥ २७ ॥

वे सांख्यशास्त्रके प्रमुख विद्वान् हैं और सारा सिद्धान्त उन्हें यथावत् रूपसे प्रत्यक्षकी भाँति ठीक-ठीक ज्ञात है। उन्होंने मुझे त्रिविध मोक्षधर्म श्रवण कराया है, परंतु राज्यसे दूर हटनेकी आज्ञा नहीं दी है ॥ २७ ॥

सोऽहं तामखिलां वृत्तिं त्रिविधां मोक्षसंहिताम्।
मुक्तरागश्चराम्येकः पदे परमके स्थितः ॥ २८ ॥

इस प्रकार उपदेश पाकर मैं विषयोंकी आसक्तिसे रहित हो मुक्तिविषयक तीन प्रकारकी समस्त वृत्तियोंका आचरण करता हूँ और अकेला ही परमपदमें स्थित हूँ ॥ २८ ॥

वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमो विधिः।
ज्ञानादेव च वैराग्यं जायते येन मुच्यते ॥ २९ ॥

वैराग्य ही इस मुक्तिका प्रधान कारण है और ज्ञानसे ही वह वैराग्य प्राप्त होता है, जिससे मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ २९ ॥

ज्ञानेन कुरुते यत्नं यत्नेन प्राप्यते महत्।
महद् द्वन्द्वप्रमोक्षाय सा सिद्धिर्या वयोऽतिगा ॥ ३० ॥

मनुष्य ज्ञानके द्वारा मुक्ति पानेके लिये यत्न करता है। उस यत्नसे महान् आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। वह महान् आत्मज्ञान ही सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे छुटकारा दिलानेका साधन है, वही सिद्धि है, जो काल (मृत्यु) को भी लाँघ जानेवाली है ॥ ३० ॥

सेयं परमिका बुद्धिः प्राप्ता निर्द्वन्द्वता मया।
इहैव गतमोहेन चरता मुक्तसङ्गिना ॥ ३१ ॥

मेरा मोह दूर हो गया है। मैं समस्त संसर्गोंका त्याग कर चुका हूँ; इसलिये मैंने इस गृहस्थधर्ममें रहते हुए ही बुद्धिकी परम निर्द्वन्द्वता प्राप्त कर ली है ॥ ३१ ॥

यथा क्षेत्रं मृदूभूतमद्भिराप्लावितं तथा।
जनयत्यङ्कुरं कर्म नृणां तद्वत् पुनर्भवम् ॥ ३२ ॥

जैसे जिस खेतको जोतकर खूब मुलायम बना दिया गया हो और यथासमय उसे पानीसे सींचा गया हो, वही बोये हुए बीजमें अङ्कुर उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मनुष्योंका शुभ-अशुभ कर्म ही पुनर्जन्मका उत्पादन करता है ॥ ३२ ॥

यथा चोत्तापितं बीजं कपाले यत्र तत्र वा।
प्राप्याप्यङ्कुरहेतुत्वमबीजत्वान्न जायते ॥ ३३ ॥

तद्वद् भगवतानेन शिखा प्रोक्तेन भिक्षुणा।
ज्ञानं कृतमबीजं मे विषयेषु न जायते ॥ ३४ ॥

जैसे मिट्टीके खपरेमें या और किसी भी बर्तनमें भूना गया बीज बीज न रह जानेके कारण अङ्कुर उगाने योग्य खेतमें पड़कर भी नहीं जमता है, उसी प्रकार मेरे संन्यासी गुरु भगवान् पञ्चशिखने मुझे जो ज्ञान प्रदान किया है, वह निर्बीज है। इसलिये विषयोंके क्षेत्रमें अङ्कुरित नहीं होता है ॥ ३३-३४ ॥

नाभिरज्यति कस्मिंश्चिन्नानर्थे न परिग्रहे।
नाभिरज्यति चैतेषु व्यर्थत्वाद् रागरोषयोः ॥ ३५ ॥

मेरी बुद्धि किसी अनर्थमें अथवा भोगोंके संग्रहमें भी आसक्त नहीं होती है। स्त्री आदिके विषयमें जो अनुराग और शत्रु आदिके विषयमें जो क्रोध होता है, वह व्यर्थ होनेके कारण उसकी ओर मेरी बुद्धिकी प्रवृत्ति नहीं होती है ॥ ३५ ॥

यश्च मे दक्षिणं बाहुं चन्दनेन समुक्षयेत्।
सव्यं वास्यापि यस्तक्षेत् समावेतावुभौ मम ॥ ३६ ॥

जो मेरी दाहिनी बाँहपर चन्दन छिड़के और जो बायीं बाँहको बँसूलेसे काटे तो ये दोनों ही मनुष्य मेरे लिये एक समान हैं ॥ ३६ ॥

सुखी सोऽहमवाप्तार्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
मुक्तसङ्गः स्थितो राज्ये विशिष्टोऽन्यैस्त्रिदण्डिभिः ॥ ३७ ॥

मैं आप्तकाम होकर सदा सुखका अनुभव करता हूँ। मेरी दृष्टिमें मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण सब एक-से हैं। मैं आसक्तिरहित होकर राजाके पदपर प्रतिष्ठित हूँ। अतः अन्य त्रिदण्डी साधुओंसे मेरा स्थान विशिष्ट है ॥ ३७ ॥

मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टान्यैर्मोक्षवित्तमैः।
ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम् ॥ ३८ ॥

अलौकिक जो ज्ञान है, अलौकिक जो संन्यास है तथा जो कर्मोंका अलौकिक अनुष्ठान है अर्थात् निष्काम भावसे कर्मोंका करना है—इन तीन प्रकारकी निष्ठाओंको ही मोक्षवेत्ता विद्वानोंने मोक्षका उपाय देखा और समझा है ॥ ३८ ॥

ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः।
कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥ ३९ ॥

मोक्षशास्त्रका ज्ञान रखनेवाले एक श्रेणीके लोग कहते हैं कि ज्ञाननिष्ठा ही मोक्षका साधन है तथा दूसरे सूक्ष्मदर्शी यति लोग कर्मनिष्ठाको ही मुक्तिका उपाय बताते हैं ॥ ३९ ॥

प्रहायोभयमप्येव ज्ञानं कर्म च केवलम्।
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ॥ ४० ॥

किंतु उन महात्मा पञ्चशिखाचार्यने पूर्वोक्त केवल ज्ञान और केवल कर्म—इन दोनों पक्षोंका परित्याग करके एक तीसरी निष्ठा बतायी है ॥ ४० ॥

यमे च नियमे चैव कामे द्वेषे परिग्रहे।
माने दम्भे तथा स्नेहे सदृशास्ते कुटुम्बिभिः ॥ ४१ ॥

यम, नियम, काम, द्वेष, परिग्रह, मान, दम्भ तथा स्नेह करके उनसे होनेवाले लाभ और हानिमें संन्यासी भी गृहस्थोंके ही तुल्य है अर्थात् यम-नियम आदिका अभ्यास करनेपर गृहस्थ भी मोक्षलाभ कर सकते हैं और कामना तथा द्वेष होनेपर संन्यासी भी मुक्तिसे वञ्चित हो सकते हैं ॥

त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञानेन कस्यचित्।
छत्रादिषु कथं न स्यात् तुल्यहेतौ परिग्रहे ॥ ४२ ॥

संन्यासी त्रिदण्ड आदि धारण करते हैं और गृहस्थ नरेश छत्र-चँवर आदि। यदि त्रिदण्ड धारण करनेपर किसीको ज्ञानद्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है तो छत्र आदि धारण करनेपर दूसरेको उसी ज्ञानके द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त नहीं हो सकता ? क्योंकि प्रतिबन्धका कारण परिग्रह दोनोंके लिये समान है—एक त्रिदण्ड आदिका संग्रह करता है और दूसरा छत्र आदिका ॥ ४२ ॥

येन येन हि यस्यार्थः कारणेनेह कर्मणि।
तत्तदालम्बते सर्वः स्वे स्वे स्वार्थपरिग्रहे ॥ ४३ ॥

अपने-अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये जिस मनुष्यको जिस-जिस साधनभूत वस्तुसे प्रयोजन होता है, वे सभी अपना-अपना काम बनानेके लिये उन-उन वस्तुओंका आश्रय लेते हैं ॥

दोषदर्शी तु गार्हस्थ्ये यो व्रजत्याश्रमान्तरे।
उत्सृजन् परिगृह्णंश्च सोऽपि सङ्गान्न मुच्यते ॥ ४४ ॥

जो गृहस्थ-आश्रममें दोष देखकर उसका परित्याग करके दूसरे आश्रममें चला जाता है, वह भी कुछ छोड़ता है और कुछ ग्रहण करता है; अतः उसे भी सङ्गदोषसे छुटकारा नहीं मिलता है ॥ ४४ ॥

आधिपत्ये तथा तुल्ये निग्रहानुग्रहात्मके।
राजभिर्भिक्षुकास्तुल्या मुच्यन्ते केन हेतुना ॥ ४५ ॥

किसीका निग्रह और किसीपर अनुग्रह करना ही आधिपत्य (प्रभुत्व) कहलाता है। यह जैसे राजामें है, वैसे संन्यासीमें भी है। इस दृष्टिसे जब संन्यासी भी राजाओंके ही समान हैं, तब केवल वे ही मुक्त होते हैं—ऐसा माननेका क्या कारण है ? ॥ ४५ ॥

अथ सत्याधिपत्येऽपि ज्ञानेनैवेह केवलम्।
मुच्यन्ते सर्वपापेभ्यो देहे परमके स्थिताः ॥ ४६ ॥

मनुष्यरूप उत्तम शरीरमें स्थित हुए प्राणी प्रभुत्व रखते हुए भी केवल ज्ञानके ही बलसे यहाँ समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

काषायधारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धं कमण्डलुम्।
लिङ्गान्युत्पथभूतानि न मोक्षायेति मे मतिः ॥ ४७ ॥

मेरी तो यह धारणा है कि गेरुआ वस्त्र पहनना, मस्तक मुड़ा लेना तथा त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करना—ये सब उत्कृष्ट संन्यासमार्गका परिचय देनेवाले चिह्नमात्र हैं। इनके द्वारा मोक्षकी सिद्धि नहीं होती ॥ ४७ ॥

यदि सत्यपि लिङ्गेऽस्मिन् ज्ञानमेवात्र कारणम् ।
निर्मोक्षायेह दुःखस्य लिङ्गमात्रं निरर्थकम् ॥ ४८ ॥

यदि इन चिह्नोंके रहते हुए भी यहाँ दुःखसे सर्वथा मोक्ष पानेके लिये एकमात्र ज्ञान ही उपाय है तो जितने भी चिह्न धारण किये जाते हैं, वे सब निरर्थक हैं ॥ ४८ ॥

अथवा दुःखशैथिल्यं वीक्ष्य लिङ्गे कृता मतिः ।
किं तदेवार्थसामान्यं छत्रादिषु न लक्ष्यते ॥ ४९ ॥

अथवा यदि कहें कि त्रिदण्ड और गैरिक वस्त्र आदि धारण करनेसे कुछ सुविधा प्राप्त होती है और कष्ट कम होता है, इसलिये संन्यासियोंने उन चिह्नोंको धारण करनेका विचार किया है तो छत्र आदि धारण करनेमें भी इसी सामान्य प्रयोजनकी ओर क्यों न दृष्टि रखी जाय ? ॥ ४९ ॥

आकिंचन्ये न मोक्षोऽस्ति किंचन्ये नास्ति बन्धनम् ।
किंचन्ये चेतरे चैव जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते ॥ ५० ॥

न तो अकिञ्चनता (दरिद्रता) में मोक्ष है और न किञ्चनता (आवश्यक वस्तुओंसे सम्पन्न होने) में बन्धन ही है । धन और निर्धनता दोनों ही अवस्थाओंमें ज्ञानसे ही जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ५० ॥

तस्माद् धर्मार्थकामेषु तथा राज्यपरिग्रहे ।
बन्धनायतनेष्वेषु विद्ध्यबन्धे पदे स्थितम् ॥ ५१ ॥

इसलिये धर्म, अर्थ, काम तथा राज्यपरिग्रह—इन बन्धनके स्थानोंमें रहते हुए भी मुझे आप बन्धनरहित (जीवन्मुक्त) पदपर प्रतिष्ठित समझें ॥ ५१ ॥

राज्यैश्वर्यमयः पाशः स्नेहायतनबन्धनः ।
मोक्षाश्मनिशितेनेह च्छिन्नस्त्यागासिना मया ॥ ५२ ॥

मैंने मोक्षरूपी पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए त्याग-वैराग्यरूपी तलवारसे राज्य और ऐश्वर्यरूपी पाशको तथा स्नेहके आश्रयभूत स्त्री-पुत्र आदिके ममत्वरूपी बन्धनको काट डाला है ॥ ५२ ॥

सोऽहमेवंगतो मुक्तो जातास्थस्त्वयि भिक्षुकि ।
अयथार्थं हि ते वर्णं वक्ष्यामि श्रृणु तन्मम ॥ ५३ ॥

संन्यासिनी ! इस प्रकार मैं जीवन्मुक्त हूँ । आपमें योगका प्रभाव देखकर यद्यपि आपके प्रति मेरी आस्था और आदर-बुद्धि हो गयी है तथापि मैं आपके इस रूप और सौन्दर्यको योगसाधनाके योग्य नहीं मानता, अतः इस विषयमें मैं जो कुछ कहता हूँ, मेरे उस वचनको आप सुनिये ॥५३॥

सौकुमार्यं तथा रूपं वपुरग्र्यं तथा वयः ।
तवैतानि समस्तानि नियमश्चेति संशयः ॥ ५४ ॥

सुकुमारता, सौन्दर्य, मनोहर शरीर तथा यौवनावस्था—ये सारी वस्तुएँ योगके विरुद्ध हैं; फिर भी आपमें इन सब गुणोंके साथ-साथ योग और नियम भी है ही, यह कैसे सम्भव हुआ ? यही मेरे मनमें संदेह है ॥ ५४ ॥

यच्चाप्यननुरूपं ते लिङ्गस्यास्य विचेष्टितम् ।
मुक्तोऽयं स्यान्न वेति स्याद् धर्षितो मत्परिग्रहः ॥ ५५ ॥

यह जो त्रिदण्डधारणरूप चिह्न है, उसके अनुरूप आपकी कोई चेष्टा नहीं है । यह मुक्त है या नहीं, इसकी परीक्षा लेनेके लिये आपने मेरे शरीरको अभिभूत कर दिया है—उसपर बलात्कारपूर्वक अधिकार जमा लिया है ॥ ५५ ॥

न च कामसमायुक्ते युक्तेऽप्यस्ति त्रिदण्डके ।
न रक्ष्यते त्वया चेदं न मुक्तस्यास्ति गोपना ॥ ५६ ॥

मनुष्य योगयुक्त होकर भी यदि कामभोगमें आसक्त हो जाय तो उसका त्रिदण्ड धारण करना अनुचित एवं व्यर्थ है । आप अपने इस बर्तावद्वारा संन्यास-आश्रमके नियमकी रक्षा नहीं कर रही हैं । यदि अपने स्वरूपको छिपानेके लिये आपने ऐसा किया हो तो जीवन्मुक्त पुरुषके लिये आत्मगोपन आवश्यक नहीं है ॥ ५६ ॥

मत्पक्षसंश्रयाच्चायं श्रृणु यस्ते व्यतिक्रमः ।
आश्रयन्त्याः स्वभावेन मम पूर्वपरिग्रहम् ॥ ५७ ॥

आपने स्वभावतः सोच-समझकर मेरे पूर्व-शरीरका आश्रय लेनेकी चेष्टा की है, अतः मेरे पक्षका आश्रय लेने—मेरे शरीरमें प्रवेश करनेके कारण आपसे जो व्यतिक्रम बन गया है, उसे बताता हूँ, सुनिये ॥ ५७ ॥

प्रवेशस्ते कृतः केन मम राष्ट्रे पुरेऽपि वा ।
कस्य वा संनिकर्षात् त्वं प्रविष्टा हृदयं मम ॥ ५८ ॥

आपने किस कारणसे मेरे राज्य अथवा नगरमें प्रवेश किया है अथवा किसके संकेतसे आप मेरे हृदयमें घुस आयी हैं ? ॥ ५८ ॥

वर्णप्रवरमुख्यासि ब्राह्मणी क्षत्रियस्त्वहम् ।
नावयोरेकयोगोऽस्ति मा कृथा वर्णसंकरम् ॥ ५९ ॥

वर्णोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी जो कन्याएँ हैं, उन सबमें आप प्रमुख हैं । आप ब्राह्मणी हैं और मैं क्षत्रिय हूँ; अतः हम दोनोंका एकत्र संयोग होना कदापि उचित नहीं है; इसलिये आप वर्णसंकर नामक दोषका उत्पादन न कीजिये ॥ ५९ ॥

वर्तसे मोक्षधर्मेण त्वं गार्हस्थ्येऽहमाश्रमे ।
अयं चापि सुकष्टस्ते द्वितीयोऽऽश्रमसंकरः ॥ ६० ॥

आप मोक्षधर्म (संन्यास-आश्रम) के अनुसार बर्ताव करती हैं और मैं गृहस्थ-आश्रममें स्थित हूँ; अतः आपके द्वारा यह दूसरा आश्रमसंकर नामक दोषका उत्पादन किया जा रहा है, जो अत्यन्त कष्टप्रद है ॥ ६० ॥

सगोत्रां वासगोत्रां वा न वेद त्वां न वेत्थ माम् ।
सगोत्रमाविशन्त्यास्ते तृतीयो गोत्रसंकरः ॥ ६१ ॥

मैं यह भी नहीं जानता कि आप सगोत्रा हैं या असगोत्रा । इसी प्रकार आप भी मेरे विषयमें कुछ नहीं जानतीं । अतः मुझ सगोत्रमें प्रवेश करनेके कारण आपके द्वारा तीसरा गोत्रसंकर नामक दोष उत्पन्न किया गया है ॥ ६१ ॥

अथ जीवति ते भर्ता प्रोषितोऽप्यथवा क्वचित् ।

अगम्या परभार्येति चतुर्थो धर्मसंकरः ॥ ६२ ॥

यदि आपके पति जीवित हैं अथवा कहीं परदेशमें चले गये हैं तो आप परायी स्त्री होनेके कारण मेरे लिये सर्वथा अगम्य हैं। ऐसी दशामें आपका यह बर्ताव धर्मसंकर नामक चौथा दोष है ॥ ६२ ॥

सा त्वमेतान्यकार्याणि कार्यापेक्षा व्यवस्यसि।
अविज्ञानेन वा युक्ता मिथ्याज्ञानेन वा पुनः ॥ ६३ ॥

आप कार्य-साधनकी अपेक्षा रखकर अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञानसे युक्त हो ये सब न करने योग्य कार्य कर डालनेको उद्यत हो गयी हैं ॥ ६३ ॥

अथवापि स्वतन्त्रासि स्वदोषेणेह कर्हिचित्।
यदि किंचिच्छ्रुतं तेऽस्ति सर्वं कृतमनर्थकम् ॥ ६४ ॥

अथवा यदि आप स्वतन्त्र हैं तो कभी आपके द्वारा यदि कुछ शास्त्रका श्रवण किया गया हो तो आपने अपने ही दोषसे वह सब व्यर्थ कर दिया है ॥ ६४ ॥

इदमन्यत्तृतीयं ते भावस्पर्शविघातकम्।
दुष्टाया लक्ष्यते लिङ्गं विवृण्वत्याप्रकाशितम् ॥ ६५ ॥

आपका जो दोष छिपा हुआ था, उसे आपने स्वयं ही प्रकाशित कर दिया। इससे आप दुष्टा जान पड़ती हैं। आपकी दुष्टताका यह और चौथा चिह्न स्पष्ट दिखायी दे रहा है, जो हृदयकी प्रीतिपर आघात करनेवाला है ॥ ६५ ॥

न मय्येवाभिसंधिस्ते जयैषिण्या जये कृतः।
येयं मत्परिषत् कृत्स्ना जेतुमिच्छसि तामपि ॥ ६६ ॥

आप अपनी विजय चाहती हैं। आपने केवल मुझे ही जीतनेकी इच्छा नहीं की है, अपितु यह जो मेरी सारी सभा बैठी है, इसे भी जीतना चाहती हैं ॥ ६६ ॥

तथाह्येतस्ततश्च त्वं दृष्टिं स्वां प्रतिमुञ्चसि।
मत्पक्षप्रतिघाताय स्वपक्षोद्भावनाय च ॥ ६७ ॥

आप मेरे पक्षकी पराजय और अपने पक्षकी विजयके लिये इन माननीय सभासदोंपर भी बारंबार अपनी दृष्टि फेंक रही हैं ॥ ६७ ॥

सा स्वेनामर्षजेन त्वमृद्धिमोहेन मोहिता।
भूयः सृजसि योगांस्त्वं विषामृतमिवैकताम् ॥ ६८ ॥

आप अपनी असहिष्णुताजनित योगसमृद्धिके मोहसे मोहित हो विष और अमृतको एक करनेके समान कामके साथ योगका सम्बन्ध जोड़ रही हैं ॥ ६८ ॥

इच्छतोरत्र यो लाभः स्त्रीपुंसोरमृतोपमः।
अलाभश्चापि रक्तस्य सोऽपि दोषो विषोपमः ॥ ६९ ॥

स्त्री और पुरुष जब एक-दूसरेको चाहते हों, उस समय उन्हें जो संयोग-सुखका लाभ होता है, वह अमृतके समान मधुर है। यदि अनुरक्त नारीको अनुरक्त पुरुषकी प्राप्ति नहीं हुई तो वह दोष विषके समान भयंकर होता है ॥ ६९ ॥

मा स्प्राक्षीः साधु जानीष्व स्वशास्त्रमनुपालय।
कृतेयं हि विजिज्ञासा मुक्तो नेति त्वया मम।
एतत् सर्वं प्रतिच्छन्नं मयि नार्हसि गूहितुम् ॥ ७० ॥

आप मेरा स्पर्श न करें। मेरे चरित्रको उत्तम और निष्कलङ्क समझें और अपने शास्त्र (संन्यास-धर्म) का निरन्तर पालन करती रहें। आपने मेरे विषयमें यह जाननेकी इच्छा की थी कि यह राजा जीवन्मुक्त है या नहीं। यह सारा भाव आपके हृदयमें प्रच्छन्नभावसे स्थित था, अतः इस समय आप मुझसे इसको छिपा नहीं सकतीं ॥ ७० ॥

सा यदि त्वं स्वकार्येण यद्यन्यस्य महीपतेः।
तत् त्वं सत्रप्रतिच्छन्ना मयि नार्हसि गूहितुम् ॥ ७१ ॥

यदि आप अपने कार्यसे या किसी दूसरे राजाके कार्यसे यहाँ वेष बदलकर आयी हों तो अब आपके लिये यथार्थ बातको गुप्त रखना उचित नहीं है ॥ ७१ ॥

न राजानं मृषा गच्छेन्न द्विजातिं कथंचन।
न स्त्रियं स्त्रीगुणोपेतां हन्युर्ह्येते मृषा गताः ॥ ७२ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह किसी राजाके पास या किसी ब्राह्मणके निकट अथवा स्त्रीजनोचित पातिव्रत्य गुणसे सम्पन्न किसी सती-साध्वी नारीके समीप छद्मवेष धारण करके न जाय; क्योंकि ये राजा, ब्राह्मण और पतिव्रता स्त्री उस छद्मवेषधारी मनुष्यके धोखा देनेपर उसपर कुपित हो उसका विनाश कर देते हैं ॥ ७२ ॥

राज्ञां हि बलमैश्वर्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम्।
रूपयौवनसौभाग्यं स्त्रीणां बलमनुत्तमम् ॥ ७३ ॥

राजाओंका बल ऐश्वर्य है, वेदज्ञ ब्राह्मणोंका बल वेद है तथा स्त्रियोंका परम उत्तम बल रूप, यौवन और सौभाग्य है ॥

अत एतैर्बलैरेव बलिनः स्वार्थमिच्छता।
आर्जवेनाभिगन्तव्या विनाशाय ह्यनार्जवम् ॥ ७४ ॥

ये इन्हीं बलोंसे बलवान् होते हैं। अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको इनके पास सरलभावसे जाना चाहिये; क्योंकि इनके प्रति किया हुआ कुटिल भाव विनाशका कारण बन जाता है ॥ ७४ ॥

सा त्वं जातिं श्रुतं वृत्तं भावं प्रकृतिमात्मनः।
कृत्यमागमने चैव वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ ७५ ॥

अतः संन्यासिनि ! आपको अपनी जाति, शास्त्रज्ञान, चरित्र, अभिप्राय, स्वभाव एवं यहाँ आगमनका प्रयोजन भी यथार्थरूपसे बताना उचित है ॥ ७५ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतैरसुखैर्वाक्यैरयुक्तैरसमञ्जसैः।
प्रत्यादिष्टा नरेन्द्रेण सुलभा न व्यकम्पत ॥ ७६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजा जनकने इन दुःखजनक, अयोग्य और असङ्गत वचनोंद्वारा उसका बड़ा तिरस्कार किया, तो भी सुलभा अपने मनमें तनिक भी विचलित नहीं हुई ॥ ७६ ॥

उक्तवाक्ये तु नृपतौ सुलभा चारुदर्शना।
ततश्चारुतरं वाक्यं प्रचक्रामाथ भाषितुम् ॥ ७७ ॥

जब राजाकी बात समाप्त हो गयी, तब परम सुन्दरी सुलभाने अत्यन्त मधुर वचनोंमें भाषण देना आरम्भ किया ॥

सुलभोवाच

नवभिर्नवभिश्चैव दोषैर्वाग्बुद्धिदूषणैः।
अपेतमुपपन्नार्थमष्टादशगुणान्वितम् ॥ ७८ ॥
सौक्ष्म्यं सांख्यक्रमौ चोभौ निर्णयः सप्रयोजनः।
पञ्चैतान्यर्थजातानि वाक्यमित्युच्यते नृप ॥ ७९ ॥

सुलभा बोली—राजन्! वाणी और बुद्धिको दूषित करनेवाले जो नौ-नौ दोष हैं, उनसे रहित, अठारह गुणोंसे सम्पन्न और युक्तिसङ्गत अर्थसे युक्त पदसमूहको वाक्य कहते हैं। उस वाक्यमें सौक्ष्म्य, सांख्य, क्रम, निर्णय और प्रयोजन—ये पाँच प्रकारके अर्थ रहने चाहिये ॥ ७८-७९ ॥

एषामेकैकशोऽर्थानां सौक्ष्म्यादीनां सुलक्षणम्।
शृणु संसार्यमाणानां पदार्थपदवाक्यतः ॥ ८० ॥

ये जो सौक्ष्म्य आदि अर्थ हैं, ये पद, वाक्य, पदार्थ और वाक्यार्थरूपसे खोलकर बताये जा रहे हैं। आप इनमेंसे एक-एकका अलग-अलग लक्षण सुनिये ॥ ८० ॥

ज्ञानं ज्ञेयेषु भिन्नेषु यदा भेदेन वर्तते।
तत्रातिशायिनी बुद्धिस्तत् सौक्ष्म्यमिति वर्तते ॥ ८१ ॥

जहाँ अनेक भिन्न-भिन्न ज्ञेय (अर्थ) उपस्थित हों और 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार वस्तुओंका पृथक्-पृथक् ज्ञान होता हो, ऐसे स्थलोंमें यथार्थ निर्णय करनेवाली जो बुद्धि है, उसीका नाम सौक्ष्म्य है ॥ ८१ ॥

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥ ८२ ॥

जहाँ किसी विशेष अर्थको अभीष्ट मानकर उसके दोषों और गुणोंकी विभागपूर्वक गणना की जाती है, उस अर्थको संख्या अथवा सांख्य समझना चाहिये ॥ ८२ ॥

इदं पूर्वमिदं पश्चाद् वक्तव्यं यद् विवक्षितम्।
क्रमयोगं तमप्याहुर्वाक्यं वाक्यविदो जनाः ॥ ८३ ॥

परिगणित गुणों और दोषोंमेंसे अमुक गुण या दोष पहले कहना चाहिये और अमुकको पीछे कहना अभीष्ट है। इस प्रकार जो पूर्वापरके क्रमका विचार होता है, उसका नाम क्रम है और जिस वाक्यमें ऐसा क्रम हो, उस वाक्यको वाक्यवेत्ता विद्वान् क्रमयुक्त कहते हैं ॥ ८३ ॥

धर्मकामार्थमोक्षेषु प्रतिज्ञाय विशेषतः।
इदं तदिति वाक्यान्ते प्रोच्यते स विनिर्णयः ॥ ८४ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें किसी एकका विशेषरूपसे प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करके प्रवचनके अन्तमें 'यही वह अभीष्ट विषय है' ऐसा कहकर जो सिद्धान्त स्थिर किया जाता है, उसीका नाम निर्णय है ॥ ८४ ॥

इच्छाद्वेषभवैर्दुःखैः प्रकर्षो यत्र जायते।
तत्र या नृपते वृत्तिस्तत् प्रयोजनमिष्यते ॥ ८५ ॥

नरेश्वर! इच्छा अथवा द्वेषसे उत्पन्न हुए दुःखोंद्वारा जहाँ किसी एक प्रकारके दुःखकी प्रधानता हो जाय, वहाँ जो वृत्ति उदय होती है, उसीको प्रयोजन कहते हैं ॥ ८५ ॥

तान्येतानि यथोक्तानि सौक्ष्म्यादीनि जनाधिप।
एकार्थसमवेतानि वाक्यं मम निशामय ॥ ८६ ॥

जनेश्वर! जिस वाक्यमें पूर्वोक्त सौक्ष्म्य आदि गुण एक अर्थमें सम्मिलित हों, मेरे वैसे ही वाक्यको आप श्रवण करें ॥ ८६ ॥

उपेतार्थमभिन्नार्थं न्यायवृत्तं न चाधिकम्।
नाश्लक्ष्णं न च संदिग्धं वक्ष्यामि परमं ततः ॥ ८७ ॥

मैं ऐसा वाक्य बोलूँगी, जो सार्थक होगा। उसमें अर्थभेद नहीं होगा। वह न्याययुक्त होगा। उसमें आवश्यकतासे अधिक, कर्णकटु एवं संदेह-जनक पद नहीं होंगे। इस प्रकार मैं परम उत्तम वाक्य बोलूँगी ॥ ८७ ॥

न गुर्वक्षरसंयुक्तं पराङ्मुखसुखं न च।
नानृतं न त्रिवर्गेण विरुद्धं नाप्यसंस्कृतम् ॥ ८८ ॥

मेरे इस वचनमें गुरु एवं निष्ठुर अक्षरोंका संयोग नहीं होगा; उसमें कोमलकान्त सुकुमार पदावली होगी। वह पराङ्मुख व्यक्तियोंके लिये सुखद नहीं होगा। वह न तो झूठ होगा न धर्म, अर्थ और कामके विरुद्ध और संस्कारशून्य ही होगा ॥ ८८ ॥

न न्यूनं कष्टशब्दं वा विक्रमाभिहितं न च।
न शेषमनु कल्पेन निष्कारणमहेतुकम् ॥ ८९ ॥

मेरे उस वाक्यमें न्यूनपदत्व नामक दोष नहीं रहेगा, कष्टकर शब्दोंका प्रयोग नहीं होगा, उसका क्रमरहित उच्चारण नहीं होगा। उसमें दूसरे पदोंके अध्याहार और लक्षणकी आवश्यकता नहीं होगी। यह वाक्य निष्प्रयोजन और युक्तिशून्य भी नहीं होगा ॥ ८९ ॥

कामात् क्रोधाद् भयाल्लोभाद् दैन्यादानार्यकात् तथा।
ह्रीतोऽनुक्रोशतो मानान्न वक्ष्यामि कथंचन ॥ ९० ॥

मैं काम, क्रोध, भय, लोभ, दैन्य, अनार्यता, लज्जा, दया तथा अभिमानसे किसी तरह कोई बात नहीं बोलूँगी ॥

वक्ता श्रोता च वाक्यं च यदा त्वविकलं नृप।
सममेति विवक्षायां तदा सोऽर्थः प्रकाशते ॥ ९१ ॥

नरेश्वर! बोलनेकी इच्छा होनेपर जब वक्ता, श्रोता और वाक्य—तीनों अविकलभावसे सम-स्थितिमें आ जाते हैं, तब वक्ताका कहा हुआ अर्थ प्रकाशित होता है (श्रोताके समझमें आ जाता है) ॥ ९१ ॥

वक्तव्ये तु यदा वक्ता श्रोतारमवमन्य वै।
स्वार्थमाह परार्थं तत् तदा वाक्यं न रोहति ॥ ९२ ॥

जब बोलते समय वक्ता श्रोताकी अवहेलना करके दूसरेके लिये अपनी बात कहने लगता है, उस समय वह वाक्य श्रोताके हृदयमें प्रवेश नहीं करता है ॥ ९२ ॥

अथ यः स्वार्थमुत्सृज्य परार्थं प्राह मानवः ।
विशङ्का जायते तस्मिन् वाक्यं तदपि दोषवत् ॥ ९३ ॥

और जो मनुष्य स्वार्थ त्यागकर दूसरेके लिये कुछ कहता है, उस समय उसके प्रति श्रोताके हृदयमें आशङ्का उत्पन्न होती है, अतः वह वाक्य भी दोषयुक्त ही है ॥ ९३ ॥

यस्तु वक्ता द्वयोरर्थमविरुद्धं प्रभाषते ।
श्रोतुश्चैवात्मनश्चैव स वक्ता नेतरो नृप ॥ ९४ ॥

परंतु नरेश्वर! जो वक्ता अपने और श्रोता दोनोंके लिये अनुकूल विषय ही बोलता है, वही वास्तवमें वक्ता है, दूसरा नहीं ॥ ९४ ॥

तदर्थवदिदं वाक्यमुपेतं वाक्यसम्पदा ।
अविक्षिप्तमना राजन्नेकाग्रः श्रोतुमर्हसि ॥ ९५ ॥

अतः राजन्! आप स्थिरचित्त एवं एकाग्र होकर यह वाक्यसम्पत्तिसे युक्त सार्थक वचन सुनिये ॥ ९५ ॥

कासि कस्य कुतश्चेति त्वयाहमभिचोदिता ।
तत्रोत्तरमिदं वाक्यं राजन्नेकमनाः शृणु ॥ ९६ ॥

महाराज! आपने मुझसे पूछा था कि आप कौन हैं, किसकी हैं और कहाँसे आयी हैं? अतः इसके उत्तरमें मेरा यह कथन एकचित्त होकर सुनिये ॥ ९६ ॥

यथा जतु च काष्ठं च पांसवश्चोदबिन्दवः ।
संश्लिष्टानि तथा राजन् प्राणिनामिह सम्भवः ॥ ९७ ॥

राजन्! जैसे काठके साथ लाह और धूलके साथ पानीकी बूँदें मिलकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार इस जगत्‌में प्राणियोंका जन्म कई तत्त्वोंके मेलसे होता है ॥ ९७ ॥

शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धः पञ्चेन्द्रियाणि च ।
पृथगात्मान आत्मानं संश्लिष्टा जतुकाष्ठवत् ॥ ९८ ॥
न चैषां चोदना काचिदस्तीत्येष विनिश्चयः ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ—ये आत्मासे पृथक् होनेपर भी काष्ठमें सटे हुए लाहके समान आत्माके साथ जुड़े हुए हैं; परंतु इनमें स्वतन्त्र कोई प्रेरणा-शक्ति नहीं है। यही विद्वानोंका निश्चय है ॥ ९८½ ॥

एकैकस्येह विज्ञानं नास्त्यात्मनि तथा परे ॥ ९९ ॥
न वेद चक्षुश्चक्षुष्ट्वं श्रोत्रं नात्मनि वर्तते ।

इनमेंसे एक-एक इन्द्रियको न तो अपना ज्ञान है और न दूसरेका। नेत्र अपने नेत्रत्वको नहीं जानता। इसी प्रकार कान भी अपने विषयमें कुछ नहीं जानता ॥ ९९½ ॥

तथैव व्यभिचारेण न वर्तन्ते परस्परम् ॥ १०० ॥
प्रश्लिष्टं च न जानन्ति यथाऽऽप इव पांसवः ।

इसी तरह ये इन्द्रियाँ और विषय परस्पर एक दूसरेसे मिल-जुलकर भी नहीं जान सकते। जैसे कि जल और धूल परस्पर मिलकर भी अपने सम्मिश्रणको नहीं जानते ॥ १००½ ॥

बाह्यानन्यानपेक्षन्ते गुणांस्तानपि मे शृणु ॥ १०१ ॥
रूपं चक्षुः प्रकाशश्च दर्शने हेतवस्त्रयः ।

शरीरस्थ इन्द्रियाँ विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करते समय अन्यान्य बाह्य गुणोंकी अपेक्षा रखती हैं। उन गुणोंको आप मुझसे सुनिये। रूप, नेत्र और प्रकाश—ये तीन किसी वस्तुको प्रत्यक्ष देखनेमें हेतु हैं ॥ १०१½ ॥

यथैवात्र तथान्येषु ज्ञानज्ञेयेषु हेतवः ॥ १०२ ॥
ज्ञानज्ञेयान्तरे तस्मिन् मनो नामापरो गुणः ।
विचारयति येनायं निश्चये साध्वसाधुनी ॥ १०३ ॥

जैसे प्रत्यक्ष दर्शनमें ये तीन हेतु हैं, उसी प्रकार अन्यान्य ज्ञान और ज्ञेयमें भी तीन-तीन हेतु जानने चाहिये। ज्ञान और ज्ञातव्य विषयोंके बीचमें किसी ज्ञानेन्द्रियके अतिरिक्त मन नामक एक दूसरा गुण भी रहता है, जिससे यह जीवात्मा किसी विषयमें भले-बुरेका निश्चय करनेके लिये विचार करता है ॥ १०२-१०३ ॥

द्वादशस्त्वपरस्तत्र बुद्धिर्नाम गुणः स्मृतः ।
येन संशयपूर्वेषु बोद्धव्येषु व्यवस्यति ॥ १०४ ॥

वहीं एक और बारहवाँ गुण भी है, जिसका नाम है बुद्धि। जिससे किसी ज्ञातव्य विषयमें संशय उत्पन्न होनेपर मनुष्य एक निश्चयपर पहुँचता है ॥ १०४ ॥

अथ द्वादशके तस्मिन् सत्त्वं नामापरो गुणः ।
महासत्त्वोऽल्पसत्त्वो वा जन्तुर्येनानुमीयते ॥ १०५ ॥

उस बारहवें गुण बुद्धिमें सत्त्वनामक एक (तेरहवाँ) गुण है, जिससे महासत्त्व और अल्पसत्त्व प्राणीका अनुमान किया जाता है ॥ १०५ ॥

अहं कर्तेति चाप्यन्यो गुणस्तत्र चतुर्दशः ।
ममायमिति येनायं मन्यते न ममेति च ॥ १०६ ॥

उस सत्त्वमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे अभिमानसे युक्त अहंकार नामक एक अन्य चौदहवाँ गुण है, जिससे जीवात्मा 'यह वस्तु मेरी है और यह वस्तु मेरी नहीं है' ऐसा मानता है ॥

अथ पञ्चदशो राजन् गुणस्तत्रापरः स्मृतः ।
पृथक्कलासमूहस्य सामग्र्यं तदिहोच्यते ॥ १०७ ॥
गुणस्त्वेवापरस्तत्र संघात इव षोडशः ।

राजन्! उस अहंकारमें वासना नामक एक गुण और माना गया है, जो पंद्रहवाँ है। वहाँ पृथक्-पृथक् कलाओंके समूहकी जो समग्रता है, वह एक अन्य गुण है। वह संघातकी भाँति यहाँ सोलहवाँ कहा जाता है ॥ १०७½ ॥

प्रकृतिर्व्यक्तिरित्येतौ गुणौ यस्मिन् समाश्रितौ ॥ १०८ ॥

जिसमें प्रकृति (माया) और व्यक्ति (प्रकाश)—ये दो गुण आश्रित हैं (यहाँतक सब अठारह हुए) ॥ १०८ ॥

सुखासुखे जरामृत्यू लाभालाभौ प्रियाप्रिये ।
इति चैकोनविंशोऽयं द्वन्द्वयोग इति स्मृतः ॥ १०९ ॥

सुख और दुःख, जरा और मृत्यु, लाभ और हानि तथा प्रिय और अप्रिय इत्यादि द्वन्द्वोंका जो योग है, यह उन्नीसवाँ गुण माना गया है ॥ १०९ ॥

ऊर्ध्वं चैकोनविंशत्या कालो नामापरो गुणः।
इतीमं विद्धि विंशत्या भूतानां प्रभवाप्ययम्॥११०॥

इस उन्नीसवें गुणसे परे कालनामक दूसरा गुण और है। इसे बीसवाँ गुण समझिये। इसीसे प्राणियोंकी उत्पत्ति और लय होते हैं॥ ११०॥

विंशकश्चैष संघातो महाभूतानि पञ्च च।
सदसद्भावयोगौ तु गुणावन्यौ प्रकाशकौ॥१११॥

इन बीस गुणोंका समुदाय एवं पाँच महाभूत तथा सद्भावयोग[1] और असद्भावयोग[2]—ये दो अन्य प्रकाशक गुण, ये सब मिलकर सत्ताईस हैं॥ १११॥

इत्येवं विंशकश्चैव गुणाः सप्त च ये स्मृताः।
विधिः शुक्रं बलं चेति त्रय एते गुणाः परे॥११२॥

ये जो बीस और सात गुण बताये गये हैं, इनके सिवा तीन गुण और हैं—विधि[3], शुक्र[4] और बल[5]॥ ११२॥

विंशतिर्दश चैवं हि गुणाः संख्यानतः स्मृताः।
समग्रा यत्र वर्तन्ते तच्छरीरमिति स्मृतम्॥११३॥

इस प्रकार गणना करनेसे बीस और दस तीस गुण होते हैं। ये सारे-के-सारे गुण जहाँ विद्यमान हैं, उसको शरीर कहा गया है॥ ११३॥

अव्यक्तं प्रकृतिं त्वासां कलानां कश्चिदिच्छति।
व्यक्तं चासां तथा चान्यः स्थूलदर्शी प्रपश्यति॥११४॥

कोई-कोई विद्वान् अव्यक्त प्रकृतिको इन तीस कलाओंका उपादान कारण मानते हैं। दूसरे स्थूलदर्शी विचारक व्यक्त अर्थात् परमाणुओंको कारण मानते हैं तथा कोई-कोई अव्यक्त और व्यक्तको अर्थात् प्रकृति और परमाणु—इन दोनोंको उनका उपादान कारण समझते हैं॥ ११४॥

अव्यक्तं यदि वा व्यक्तं द्वयीमथ चतुष्टयीम्।
प्रकृतिं सर्वभूतानां पश्यन्त्यध्यात्मचिन्तकाः॥११५॥

अव्यक्त हो, व्यक्त हो, दोनों हों अथवा चारों (ब्रह्म, माया, जीव और अविद्या) कारण हों, अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले विद्वान् प्रकृतिको ही संपूर्ण भूतोंका उपादान कारण समझते हैं॥ ११५॥

येयं प्रकृतिरव्यक्ता कलाभिर्व्यक्ततां गता।
अहं च त्वं च राजेन्द्र ये चाप्यन्ये शरीरिणः॥११६॥

राजेन्द्र! यह जो अव्यक्त प्रकृति सबका उपादान कारण है, यही पूर्वोक्त तीस कलाओंके रूपमें व्यक्तभावको प्राप्त हुई है। मैं, आप तथा जो अन्य शरीरधारी हैं, उन सबके शरीरोंकी उत्पत्ति प्रकृतिसे ही हुई है॥ ११६॥

बिन्दुन्यासादयोऽवस्थाः शुक्रशोणितसम्भवाः।
यासामेव निपातेन कललं नाम जायते॥११७॥

प्राणियोंकी वीर्यस्थापनासे लेकर रजोवीर्यसंयोगसम्भूत कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनके सम्मिश्रणसे ही 'कलल' नामक एक पदार्थ उत्पन्न होता है॥ ११७॥

कललाद् बुद्बुदोत्पत्तिः पेशी च बुद्बुदात् स्मृता।
पेश्यास्त्वङ्गाभिनिर्वृत्तिर्नखरोमाणि चाङ्गतः॥११८॥

कललसे बुद्बुदकी उत्पत्ति होती है। बुद्बुदसे मांस-पेशीका प्रादुर्भाव माना गया है। पेशीसे विभिन्न अङ्गोंका निर्माण होता है और अङ्गोंसे रोमावलियाँ तथा नख प्रकट होते हैं॥ ११८॥

सम्पूर्णे नवमे मासि जन्तोर्जातस्य मैथिल।
जायते नामरूपत्वं स्त्री पुमान् वेति लिङ्गतः॥११९॥

मिथिलानरेश! गर्भमें नौ मास पूर्ण हो जानेपर जीव जन्म ग्रहण करता है। उस समय उसे नाम और रूप प्राप्त होता है तथा वह विशेष प्रकारके चिह्नसे स्त्री अथवा पुरुष समझा जाता है॥ ११९॥

जातमात्रं तु तद्रूपं दृष्ट्वा ताम्रनखाङ्गुलि।
कौमारं रूपमापन्नं रूपतो नोपलभ्यते॥१२०॥

जिस समय बालकका जन्म होता है, उस समय उसका जो रूप देखनेमें आता है, उसके नख और अङ्गुलियाँ ताँबेके समान लाल-लाल होती हैं, फिर जब वह कुमारावस्थाको प्राप्त होता है तो उस समय उसका पहलेका वह रूप नहीं उपलब्ध होता है॥ १२०॥

कौमाराद् यौवनं चापि स्थाविर्यं चापि यौवनात्।
अनेन क्रमयोगेन पूर्वं पूर्वं न लभ्यते॥१२१॥

इसी प्रकार कुमारावस्थासे जवानीको और जवानीसे बुढ़ापेको वह प्राप्त होता है। इस क्रमसे उत्तरोत्तर अवस्थामें पहुँचनेपर पूर्व-पूर्व अवस्थाका रूप नहीं देखनेमें आता है॥

कलानां पृथगर्थानां प्रतिभेदः क्षणे क्षणे।
वर्तते सर्वभूतेषु सौक्ष्म्यात् तु न विभाव्यते॥१२२॥

सभी प्राणियोंमें विभिन्न प्रयोजनकी सिद्धिके लिये जो पूर्वोक्त कलाएँ हैं, उनके स्वरूपमें प्रतिक्षण भेद या परिवर्तन हो रहा है; परंतु वह इतना सूक्ष्म है कि जान नहीं पड़ता॥ १२२॥

न चैषामत्ययो राजल्लँक्ष्यते प्रभवो न च।
अवस्थायामवस्थायां दीपस्येवार्चिषो गतिः॥१२३॥

राजन्! प्रत्येक अवस्थामें इन कलाओंका लय और उद्भव होता रहता है, किंतु दिखायी नहीं देता है; ठीक उसी तरह

---

१. 'इह घटो अस्ति (यहाँ घड़ा है)'—इत्यादि रूपसे जो सत्तासूचक व्यवहार होता है, उसका नाम 'सद्भावयोग' है। २. 'इह घटो नास्ति (यहाँ घड़ा नहीं है)'—इत्यादि रूपसे जो असत्तासूचक व्यवहार होता है, वही 'असद्भावयोग' है। ३. यहाँ 'विधि' शब्दसे वासनाके बीजभूत धर्म और अधर्म समझने चाहिये। ४. वासनाका उद्बोधक संस्कार ही 'शुक्र' है। ५. वासनाके अनुसार विषयकी प्राप्तिके अनुकूल जो यत्न है, वही 'बल' है।

जैसे दीपककी लौ क्षण-क्षणमें मिटती और उत्पन्न होती रहती है, पर दिखायी नहीं देती ॥ १२३ ॥

तथाप्येवंप्रभावस्य सदश्वस्येव धावतः ।
अजस्रं सर्वलोकस्य कः कुतो वा न वा कुतः ॥ १२४ ॥
कस्येदं कस्य वा नेदं कुतो वेदं न वा कुतः ।
सम्बन्धः कोऽस्ति भूतानां स्वैरप्यवयवैरिह ॥ १२५ ॥

जैसे दौड़ता हुआ अच्छा घोड़ा इतनी तीव्र गतिसे एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानपर पहुँच जाता है कि कुछ कहते नहीं बनता, उसी प्रकार यह प्रभावशाली लोक निरन्तर वेगपूर्वक एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें जा रहा है, अतः उसके विषयमें यह प्रश्न नहीं बन सकता कि 'कौन कहाँसे आता है और कौन कहाँसे नहीं आता है, यह किसका है? किसका नहीं है? किससे उत्पन्न हुआ है और किससे नहीं हुआ है? प्राणियोंका अपने अङ्गोंके साथ भी यहाँ क्या सम्बन्ध है?' अर्थात् कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥ १२४-२५ ॥

यथाऽऽदित्यान्मणेश्चापि वीरुद्भ्यश्चैव पावकः ।
जायन्त्येवं समुदयात् कलानामिव जन्तवः ॥ १२६ ॥

जैसे सूर्यकी किरणोंका सम्पर्क पाकर सूर्यकान्तमणिसे आग प्रकट हो जाती है, परस्पर रगड़ खानेपर काठसे अग्निका प्रादुर्भाव हो जाता है, इसी प्रकार पूर्वोक्त कलाओंके समुदायसे जीव जन्म ग्रहण करते हैं ॥ १२६ ॥

आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं यथा त्वमनुपश्यसि ।
एवमेवात्मनाऽऽत्मानमन्यस्मिन् किं न पश्यसि ॥ १२७ ॥

जैसे आप स्वयं अपनेद्वारा अपनेहीमें आत्माका दर्शन करते हैं, उसी प्रकार अपनेद्वारा दूसरोंमें आत्माका दर्शन क्यों नहीं करते हैं? ॥ १२७ ॥

यद्यात्मनि परस्मिंश्च समतामध्यवस्यसि ।
अथ मां कासि कस्येति किमर्थमनुपृच्छसि ॥ १२८ ॥

यदि आप अपनेमें और दूसरेमें भी समभाव रखते हैं तो मुझसे बारंबार क्यों पूछते हैं कि 'आप कौन हैं और किसकी हैं?' ॥ १२८ ॥

इदं मे स्यादिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य मैथिल ।
कासि कस्य कुतो वेति वचनैः किं प्रयोजनम् ॥ १२९ ॥

मिथिलानरेश! 'यह मुझे प्राप्त हो जाय, यह न हो।' इत्यादि रूपसे जो द्वन्द्वविषयक चिन्ता प्राप्त होती है, उससे यदि आप मुक्त हैं तो 'आप कौन हैं? किसकी हैं? अथवा कहाँसे आयी हैं?' इन वचनोंद्वारा प्रश्न करनेसे आपका क्या प्रयोजन है? ॥ १२९ ॥

रिपौ मित्रेऽथ मध्यस्थे विजये संधिविग्रहे ।
कृतवान् यो महीपालः किं तस्मिन् मुक्तलक्षणम् ॥ १३० ॥

शत्रु-मित्र और मध्यस्थके विषयमें, विजय, संधि और विग्रहके अवसरोंपर जिस भूपालने यथोचित कार्य किये हैं, उसमें जीवन्मुक्तका क्या लक्षण ? है ॥ १३० ॥

त्रिवर्गं सप्तधा व्यक्तं यो न वेदेह कर्मसु ।
सङ्गवान् यस्त्रिवर्गेण किं तस्मिन् मुक्तलक्षणम् ॥ १३१ ॥

धर्म, अर्थ और कामको त्रिवर्ग कहते हैं। वह सात रूपोंमें अभिव्यक्त होता है। जो कर्मोंमें इस त्रिवर्गको नहीं जानता तथा जो सदा त्रिवर्गसे सम्बन्ध रखता है, ऐसे पुरुषमें जीवन्मुक्तका क्या लक्षण है? ॥ १३१ ॥

प्रिये वाप्यप्रिये वापि दुर्बले बलवत्यपि ।
यस्य नास्ति समं चक्षुः किं तस्मिन् मुक्तलक्षणम् ॥ १३२ ॥

प्रिय अथवा अप्रियमें, दुर्बल अथवा बलवान्‌में जिसकी समदृष्टि नहीं है, उसमें मुक्तका क्या लक्षण है? ॥ १३२ ॥

तदयुक्तस्य ते मोक्षे योऽभिमानो भवेन्नृप ।
सुहृद्भिः संनिवार्यस्तेऽविरक्तस्येव भेषजम् ॥ १३३ ॥

नरेश्वर! वास्तवमें आप योगयुक्त नहीं हैं तथापि आपको जो जीवन्मुक्तिका अभिमान हो रहा है, वह आपके सुहृदोंको दूर कर देना चाहिये अर्थात् यह नहीं मानना चाहिये कि आप जीवन्मुक्त हैं, ठीक उसी तरह जैसे अपथ्यशील रोगीको दवा देना बंद कर दिया जाता है ॥ १३३ ॥

तानि तानि तु संचिन्त्य सङ्गस्थानान्यरिंदम ।
आत्मनाऽऽत्मनि सम्पश्येत् किमन्यन्मुक्तलक्षणम् १३४

शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज! नाना प्रकारके जो-जो पदार्थ हैं, उन सबको आसक्तिके स्थान समझकर अपनेद्वारा अपनेहीमें अपनेको देखे। इसके सिवा मुक्तका और क्या लक्षण हो सकता है? ॥ १३४ ॥

इमान्यन्यानि सूक्ष्माणि मोक्षमाश्रित्य कानिचित् ।
चतुरङ्गप्रवृत्तानि सङ्गस्थानानि मे शृणु ॥ १३५ ॥

राजन्! अपने मोक्षका आश्रय लेकर भी ये और दूसरे जो कुछ चार अङ्गोंमें प्रवृत्त आसक्तिके जो सूक्ष्म स्थान हैं, उनको भी अपना रखा है, उन्हें बताती हूँ, आप मुझसे सुनें ॥

य इमां पृथिवीं कृत्स्नामेकच्छत्रां प्रशास्ति ह ।
एक एव स वै राजा पुरमध्यावसत्युत ॥ १३६ ॥

जो इस सारी पृथ्वीका एकच्छत्र शासन करता है, वह एक ही सार्वभौम नरेश भी एकमात्र नगरमें ही निवास करता है ॥ १३६ ॥

तत्पुरे चैकमेवास्य गृहं यदधितिष्ठति ।
गृहे शयनमप्येकं निशायां यत्र लीयते ॥ १३७ ॥

उस नगरमें भी उसके लिये एक ही महल होता है, जिसमें वह निवास करता है। उस महलमें भी उसके लिये एक ही शय्या होती है, जिसपर वह रातमें सोता है ॥ १३७ ॥

शय्यार्धं तस्य चाप्यत्र स्त्रीपूर्वमधितिष्ठति ।
तदनेन प्रसङ्गेन फलेनैवेह युज्यते ॥ १३८ ॥

उस शय्याके भी आधे भागपर राजाकी स्त्रीका अधिकार होता है; अतः इस प्रसङ्गसे वह बहुत अल्प फलका ही भागी होता है ॥ १३८ ॥

एवमेवोपभोगेषु भोजनाच्छादनेषु च ।
गुणेषु परिमेयेषु निग्रहानुग्रहं प्रति ॥ १३९॥
परतन्त्रः सदा राजा स्वल्पेष्वपि प्रसज्जते ।
संधिविग्रहयोगे च कुतो राज्ञः स्वतन्त्रता ॥ १४०॥

इसी प्रकार उपभोग, भोजन, आच्छादन तथा अन्यान्य परिमित विषयोंके सेवनमें और दुष्टोंके दमन एवं शिष्ट पुरुषोंके प्रति अनुग्रहके विषयमें भी राजा सदा ही परतन्त्र है । इसी प्रकार वह बहुत थोड़े कार्योंमें भी स्वतन्त्र नहीं है तो भी उनमें आसक्त रहता है । संधि और विग्रह करनेमें भी राजाको कहाँ स्वतन्त्रता प्राप्त है ? ॥ १३९-१४० ॥

स्त्रीषु क्रीडाविहारेषु नित्यमस्यास्वतन्त्रता ।
मन्त्रे चामात्यसमितौ कुतस्तस्य स्वतन्त्रता ॥ १४१॥

स्त्री-सहवास, क्रीड़ा और विहारमें भी उसे सदा परतन्त्रता रहती है । मन्त्रियोंकी सभामें बैठकर मन्त्रणा करते समय भी उसे कहाँ स्वतन्त्रता रहती है ॥ १४१ ॥

यदा ह्याज्ञापयत्यन्यांस्तत्रास्योक्ता स्वतन्त्रता ।
अवशः कार्यते तत्र तस्मिंस्तस्मिन् क्षणे स्थितः ॥ १४२॥

राजा जिस समय दूसरोंको कुछ करनेकी आज्ञा देता है, उस समय वहाँ उसकी स्वतन्त्रता बतायी जाती है; परंतु ऐसे अवसरोंपर भी भिन्न-भिन्न क्षणोंमें राजासनपर बैठा हुआ नरेश सलाह देनेवाले मन्त्रियोंद्वारा अपनी इच्छाके विपरीत करनेके लिये विवश कर दिया जाता है ॥ १४२ ॥

स्वप्नकामो न लभते स्वप्तुं कार्यार्थिभिर्जनैः ।
शयने चाप्यनुज्ञातः सुप्त उत्थाप्यतेऽवशः ॥ १४३॥

वह सोना चाहता है, परंतु कार्यार्थी मनुष्योंद्वारा घिरा रहनेके कारण सोने नहीं पाता । शय्यापर सोये हुए राजाको भी लोगोंके अनुरोधसे विवश होकर उठना पड़ता है ॥ १४३ ॥

स्नाह्यालभ पिब प्राश जुहुध्यग्नीन् यजेत्यपि ।
ब्रवीहि शृणु चापीति विवशः कार्यते परैः ॥ १४४॥

'महाराज ! स्नान कीजिये, तेल लगवाइये, पानी पीजिये, भोजन कीजिये, आहुति दीजिये, अग्निहोत्रमें संलग्न होइये, अपनी कहिये और दूसरोंकी सुनिये ।' इत्यादि बातें कह-कहकर दूसरे लोग राजाको वैसा करनेके लिये विवश कर देते हैं ॥

अभिगम्याभिगम्यैवं याचन्ते सततं नराः ।
न चाप्युत्सहते दातुं वित्तरक्षी महाजनात् ॥ १४५॥

याचक मनुष्य सदा निकट आ-आकर राजासे धनकी याचना करते हैं; किंतु जो लोग दानके श्रेष्ठ पात्र हैं, उनके लिये भी वह कुछ देनेका साहस नहीं करता । अपने धनको सर्वथा सुरक्षित रखना चाहता है ॥ १४५ ॥

दाने कोषक्षयोऽप्यस्य वैरं चास्याप्रयच्छतः ।
क्षणेनास्योपवर्तन्ते दोषा वैराग्यकारकाः ॥ १४६॥

यदि सबको धनका दान करे तो उसका खजाना ही खाली हो जाय और किसीको कुछ न दे तो सबके साथ वैर बढ़ जाय । उसके सामने क्षण-क्षणमें ऐसे दोष उपस्थित होते हैं, जो उसे राज-काजसे विरक्त कर देते हैं ॥ १४६ ॥

प्राज्ञाञ्शूरांस्तथैवाढ्यानेकस्थानपि शङ्कते ।
भयमप्यभये राज्ञो यैश्च नित्यमुपास्यते ॥ १४७॥

विद्वानों, शूरवीरों तथा धनियोंको भी जब वह एक स्थानपर जुटा हुआ देख लेता है, तब उसके मनमें उनके प्रति शङ्का उत्पन्न हो जाती है । जहाँ भयका कोई कारण नहीं है, वहाँ भी राजाको भय होता है । जो लोग सदा उसके पास उठते-बैठते या सेवामें रहते हैं, उनसे भी वह सशंक बना रहता है ॥ १४७ ॥

तथा चैते प्रदुष्यन्ति राजन् ये कीर्तिता मया ।
तथैवास्य भयं तेभ्यो जायते पश्य यादृशम् ॥ १४८॥

राजन् ! मैंने जिनका नाम लिया है, वे विद्वान् और शूरवीर आदि अपने प्रति राजाकी आशंका देखकर सचमुच ही उसके प्रति दुर्भाव रखने लगते हैं और फिर उनसे राजाको जैसा भय प्राप्त होता है, उसको आप स्वयं ही समझ लें ॥

सर्वः स्वे स्वे गृहे राजा सर्वः स्वे स्वे गृहे गृही ।
निग्रहानुग्रहान् कुर्वंस्तुल्यो जनक राजभिः ॥ १४९॥

जनक ! सब लोग अपने-अपने घरमें राजा हैं और सभी अपने-अपने घरमें गृहस्वामी हैं, सभी किसीको दण्ड देते और किसीपर अनुग्रह करते हैं; अतः वे सब लोग राजाओंके समान ही हैं ॥ १४९ ॥

पुत्रा दारास्तथैवात्मा कोशो मित्राणि संचयाः ।
परैः साधारणा ह्येते तैस्तैरेवास्य हेतुभिः ॥ १५०॥

स्त्री, पुत्र, शरीर, कोष, मित्र तथा संग्रह—ये सब वस्तुएँ राजाओंकी भाँति दूसरोंके पास भी साधारणतया रहते ही हैं। जिन कारणोंसे वह राजा कहलाता है, उन्हीं युक्तियोंसे दूसरे लोग भी उसके समान ही कहे जा सकते हैं ॥ १५० ॥

हतो देशः पुरं दग्धं प्रधानः कुञ्जरो मृतः ।
लोकसाधारणेष्वेषु मिथ्याज्ञानेन तप्यते ॥ १५१॥

'हाय ! देश नष्ट हो गया, सारा नगर आगसे जल गया और वह प्रधान हाथी मर गया ।' यद्यपि ये सब बातें सब लोगोंके लिये साधारण हैं—सबपर समान रूपसे ये कष्ट प्राप्त होते हैं तथापि राजा अपने मिथ्याज्ञानके कारण केवल अपनी ही हानि समझकर संतप्त होता रहता है ॥ १५१ ॥

अमुक्तो मानसैर्दुःखैरिच्छाद्वेषभयोद्भवैः ।
शिरोरोगादिभी रोगैस्तथैवाभिनियन्तृभिः ॥ १५२॥

इच्छा, द्वेष और भयजनित मानसिक दुःख राजाको कभी नहीं छोड़ते हैं । सिरदर्द आदि शारीरिक रोग भी उसे सब ओरसे नियन्त्रणमें रखकर व्याकुल किये रहते हैं ॥ १५२ ॥

द्वन्द्वैस्तैस्तैस्त्वपहतः सर्वतः परिशङ्कितः ।
बहुप्रत्यर्थिकं राज्यमुपास्ते गणयन्निशाः ॥ १५३॥

वह नाना प्रकारके द्वन्द्वोंसे आहत और सब ओरसे

शङ्कित हो रातें गिनता हुआ अनेक शत्रुओंसे भरे हुए राज्यका सेवन करता है ॥ १५३ ॥

तदल्पसुखमत्यर्थं बहुदुःखमसारवत्।
तृणाग्निज्वलनप्रख्यं फेनबुद्बुदसंनिभम् ॥१५४॥
को राज्यमभिपद्येत प्राप्य चोपशमं लभेत्।

जिसमें सुख तो बहुत थोड़ा, किंतु दुःख बहुत अधिक है, जो सर्वथा सारहीन है, जो घास-फूसमें लगी आगके समान क्षणस्थायी और फेन तथा बुद्बुदके समान क्षणभङ्गुर है, ऐसे राज्यको कौन ग्रहण करेगा ? और ग्रहण कर लेनेपर कौन शान्ति पा सकता है ? ॥ १५४½ ॥

ममेदमिति यच्चेदं पुरं राष्ट्रं च मन्यसे ॥१५५॥
बलं कोशममात्यांश्च कस्यैतानि न वा नृप।

नरेश्वर ! आप जो इस नगरको, राष्ट्रको, सेनाको तथा कोष और मन्त्रियोंको भी 'ये सब मेरे हैं' ऐसा कहते हुए अपना मानते हैं, वह आपका भ्रम ही है। मैं पूछती हूँ, ये सब किसके हैं और किसके नहीं हैं ? ॥ १५५½ ॥

मित्रामात्यपुरं राष्ट्रं दण्डः कोशो महीपतिः ॥१५६॥
सप्ताङ्गस्यास्य राज्यस्य त्रिदण्डस्येव तिष्ठतः।
अन्योन्यगुणयुक्तस्य कः केन गुणतोऽधिकः ॥१५७॥

मित्र, मन्त्री, नगर, राष्ट्र, दण्ड, कोष और राजा—ये राज्यके सात अङ्ग हैं। जैसे मेरे हाथमें त्रिदण्ड है, वैसे आपके हाथमें यह राज्य स्थित है। आपका सात अङ्गोंवाला राज्य और मेरा त्रिदण्ड—ये दोनों परस्पर उत्कृष्ट गुणोंसे युक्त हैं। फिर इनमेंसे कौन किस गुणके कारण अधिक है ? ॥१५६-१५७॥

तेषु तेषु हि कालेषु तत्तदङ्गं विशिष्यते।
येन यत् सिध्यते कार्यं तत् प्राधान्याय कल्पते ॥१५८॥

राज्यके जो सात अङ्ग हैं, उनमें सभी समय-समयपर अपनी विशिष्टता सिद्ध करते हैं। जिस अङ्गसे जो कार्य सिद्ध होता है, उसके लिये उसीकी प्रधानता मानी जाती है ॥१५८॥

सप्ताङ्गश्चैव संघातस्त्रयश्चान्ये नृपोत्तम।
सम्भूय दशवर्गोऽयं भुङ्क्ते राज्यं हि राजवत् ॥१५९॥

नृपश्रेष्ठ ! उक्त सात अङ्गोंका समुदाय और तीन अन्य शक्तियाँ (प्रभु-शक्ति, उत्साहशक्ति और मन्त्रशक्ति)—ये सब मिलकर राज्यके दस वर्ग हैं। ये दसों वर्ग संगठित होकर राजाके समान ही राज्यका उपभोग करते हैं ॥ १५९ ॥

यश्च राजा महोत्साहः क्षत्रधर्मे रतो भवेत्।
स तुष्येद् दशभागेन ततस्त्वन्यो दशावरैः ॥१६०॥

जो राजा महान् उत्साही और क्षत्रिय-धर्ममें तत्पर होता है, वह 'कर'के रूपमें प्रजाकी आयका दसवाँ भाग लेकर संतुष्ट हो जाता है तथा उससे भिन्न साधारण भूपाल दसवें भागसे कम लेकर भी संतोष कर लेते हैं ॥ १६० ॥

नास्त्यसाधारणो राजा नास्ति राज्यमराजकम्।
राज्येऽसति कुतो धर्मो धर्मेऽसति कुतः परम् ॥१६१॥

साधारण प्रजा न हो तो कोई राजा नहीं हो सकता। राजा न हो तो राज्य नहीं टिक सकता। राज्य न हो तो धर्म कैसे रह सकता है और धर्म न हो तो परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ १६१ ॥

योऽप्यत्र परमो धर्मः पवित्रं राजराज्ययोः।
पृथिवी दक्षिणा यस्य सोऽश्वमेधेन युज्यते ॥१६२॥

यहाँ राजा और राज्यके लिये जो परम धर्म और परम पवित्र वस्तु है, उसे सुनिये। जिसकी पृथ्वी दक्षिणारूपमें दे दी जाती है अर्थात् जो अपनी राज्यभूमिका दान कर देता है, वह अश्वमेध यज्ञके पुण्यफलका भागी होता है ॥ १६२ ॥

साहमेतानि कर्माणि राजदुःखानि मैथिल।
समर्था शतशो वक्तुमथवापि सहस्रशः ॥१६३॥

मिथिलानरेश ! जो राजाको दुःख देनेवाले हैं, ऐसे सैकड़ों और हजारों कर्म मैं यहाँ बता सकती हूँ ॥ १६३ ॥

स्वदेहेनाभिषङ्गो मे कुतः परपरिग्रहे।
न मामेवंविधां युक्तामीदृशं वक्तुमर्हसि ॥१६४॥

मेरी तो अपने ही शरीरमें आसक्ति नहीं है, फिर दूसरेके शरीरमें कैसे हो सकती है ? इस प्रकार योगयुक्त रहनेवाली मुझ संन्यासिनीके प्रति आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये १६४

ननु नाम त्वया मोक्षः कृत्स्नः पञ्चशिखाच्छ्रुतः।
सोपायः सोपनिषदः सोपासङ्गः सनिश्चयः ॥१६५॥
तस्य ते मुक्तसङ्गस्य पाशानाक्रम्य तिष्ठतः।
छत्रादिषु विशेषेषु पुनः सङ्गः कथं नृप ॥१६६॥

नरेश्वर ! जब आपने महर्षि पञ्चशिखाचार्यसे उपाय (निदिध्यासन), उपनिषद् (उसके श्रवण-मनन), उपासङ्ग (यम-नियम आदि योगाङ्ग) और निश्चय (ब्रह्म और जीवात्माकी एकताका अनुभव)—इन सबके सहित सम्पूर्ण मोक्षशास्त्रका श्रवण किया है, आप आसक्तियोंसे मुक्त हो गये हैं और सम्पूर्ण बन्धनोंको काटकर खड़े हैं, तब आपकी छत्र-चवँर आदि विशेष-विशेष वस्तुओंमें आसक्ति कैसे हो रही है ? ॥ १६५-१६६ ॥

श्रुतं ते न श्रुतं मन्ये मृषा वापि श्रुतं श्रुतम्।
अथवा श्रुतसंकाशं श्रुतमन्यच्छ्रुतं त्वया ॥१६७॥

मैं समझती हूँ कि आपने पञ्चशिखाचार्यसे शास्त्रका श्रवण करके भी श्रवण नहीं किया है अथवा उनसे यदि कोई शास्त्र सुना है तो उसे सुनकर भी मिथ्या कर दिया है; या यह भी हो सकता है कि आपने वेद-शास्त्र-जैसा प्रतीत होनेवाला कोई और ही शास्त्र उनसे सुना हो ॥ १६७ ॥

अथापीमासु संज्ञासु लौकिकीषु प्रतिष्ठसे।
अभिषङ्गावरोधाभ्यां बद्धस्त्वं प्राकृतो यथा ॥१६८॥

इतनेपर भी यदि आप 'विदेहराज' 'मिथिलापति' आदि इन लौकिक नामोंमें ही प्रतिष्ठित हो रहे हैं तो आप दूसरे साधारण मनुष्योंकी भाँति आसक्ति और अवरोधसे ही बँधे हुए हैं ॥ १६८ ॥

सत्त्वेनानुप्रवेशो हि योऽयं त्वयि कृतो मया ।
किं तवापकृतं तत्र यदि मुक्तोऽसि सर्वशः ॥१६९॥

यदि आप सर्वथा मुक्त हैं तो मैंने जो बुद्धिके द्वारा आपके भीतर प्रवेश किया है, इसमें आपका क्या अपराध किया है ? ॥ १६९ ॥

नियमो ह्येषु वर्णेषु यतीनां शून्यवासिता ।
शून्यमावेशयन्त्या च मया किं कस्य दूषितम् ॥१७०॥

इन सभी वर्णोंमें यह नियम प्रसिद्ध है कि संन्यासियोंको एकान्त स्थानमें रहना चाहिये । मैंने भी आपके शून्य शरीरमें निवास करके किसकी किस वस्तुको दूषित कर दिया है ? ॥१७०॥

न पाणिभ्यां न बाहुभ्यां पादोरुभ्यां न चानघ ।
न गात्रावयवैरन्यैः स्पृशामि त्वां नराधिप ॥१७१॥

निष्पाप नरेश ! न तो हाथोंसे, न भुजाओंसे, न पैरोंसे, न जाँघोंसे और न शरीरके दूसरे ही अवयवोंसे मैं आपका स्पर्श कर रही हूँ ॥ १७१ ॥

कुले महति जातेन ह्रीमता दीर्घदर्शिना ।
नैतत्सदसि वक्तव्यं सद्वासद्वा मिथः कृतम् ॥१७२॥

आप महान् कुलमें उत्पन्न, लज्जाशील तथा दीर्घदर्शी पुरुष हैं । हम दोनोंने परस्पर भला या बुरा जो कुछ भी किया है, उसे आपको इस भरी सभामें नहीं कहना चाहिये ॥

ब्राह्मणा गुरवश्चेमे तथा मान्या गुरूत्तमाः ।
त्वं चाथ गुरुरप्येषामेवमन्योन्यगौरवम् ॥१७३॥

यहाँ ये सभी वर्णोंके गुरु ब्राह्मण विद्यमान हैं । इन गुरुओंकी अपेक्षा भी उत्तम कितने ही माननीय महापुरुष यहाँ बैठे हैं तथा आप भी राजा होनेके कारण इन सबके लिये गुरुस्वरूप हैं । इस प्रकार आप सबका गौरव एक दूसरेपर अवलम्बित है ॥ १७३ ॥

तदेवमनुसंदृश्य वाच्यावाच्यं परीक्षता ।
स्त्रीपुंसोः समवायोऽयं त्वया वाच्यो न संसदि ॥१७४॥

अतः इस प्रकार विचार करके यहाँ क्या कहना चाहिये और क्या नहीं, इसको जाँच-बूझ लेना आवश्यक है । इस भरी सभामें आपको स्त्री-पुरुषोंके संयोगकी चर्चा कदापि नहीं करनी चाहिये ॥ १७४ ॥

यथा पुष्करपर्णस्थं जलं तत्पर्णमस्पृशत् ।
तिष्ठत्यस्पृशती तद्वत् त्वयि वत्स्यामि मैथिल ॥१७५॥

मिथिलानरेश ! जैसे कमलके पत्तेपर पड़ा हुआ जल उस पत्तेका स्पर्श नहीं करता है, उसी प्रकार मैं आपका स्पर्श न करती हुई आपके भीतर निवास करूँगी ॥ १७५ ॥

यदि वाप्यस्पृशन्त्या मे स्पर्शं जानासि कञ्चन ।
ज्ञानं कृतमबीजं ते कथं तेनेह भिक्षुणा ॥१७६॥

यद्यपि मैं स्पर्श नहीं कर रही हूँ तो भी यदि आप मेरे स्पर्शका अनुभव करते हैं तो मुझे यह कहना पड़ता है कि उन संन्यासी महात्मा पञ्चशिखने आपको ज्ञानका उपदेश कैसे कर दिया ? क्योंकि आपने उसे निर्बीज कर दिया ! ॥ १७६ ॥

स गार्हस्थ्याच्च्युतश्च त्वं मोक्षं चानाप्य दुर्विदम् ।
उभयोरन्तराले वै वर्तसे मोक्षवार्तिकः ॥१७७॥

परस्त्रीके स्पर्शका अनुभव करनेके कारण आप गार्हस्थ्य-धर्मसे तो गिर गये और दुर्बोध एवं दुर्लभ मोक्ष भी नहीं पा सके, अतः केवल मोक्षकी बात करते हुए आप गार्हस्थ्य और मोक्ष दोनोंके बीचमें लटक रहे हैं ॥ १७७ ॥

न हि मुक्तस्य मुक्तेन ज्ञस्यैकत्वपृथक्त्वयोः ।
भावाभावसमायोगे जायते वर्णसंकरः ॥१७८॥

जीवन्मुक्त ज्ञानीका जीवन्मुक्त ज्ञानीके साथ, एकत्वका पृथक्त्वके साथ तथा भाव (आत्मा) का अभाव (प्रकृति) के साथ संयोग होनेपर वर्णसंकरताकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥

वर्णाश्रमाः पृथक्त्वेन दृष्टार्थस्यापृथक्त्विनः ।
नान्यदन्यदिति ज्ञात्वा नान्यदन्यत्र वर्तते ॥१७९॥

मैं मानती हूँ कि समस्त वर्ण और आश्रम पृथक्-पृथक् बताये गये हैं । तथापि जिसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो गया है, जो अभेदज्ञानसे सम्पन्न है और यह जानकर सारा बर्ताव करता है कि आत्मासे भिन्न दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है तथा अन्य वस्तु अपनेसे भिन्न दूसरी वस्तुमें विद्यमान नहीं है, उसका किसी अन्यके साथ संयोग होना सम्भव नहीं है; अतः वर्णसंकरता नहीं हो सकती ॥ १७९ ॥

पाणौ कुण्डं तथा कुण्डे पयः पयसि मक्षिका ।
आश्रिताश्रययोगेन पृथक्त्वेनाश्रिताः पुनः ॥१८०॥

हाथमें कुंडी है, कुंडीमें दूध है और दूधमें मक्खी पड़ी हुई है । ये तीनों परस्पर पृथक् होते हुए भी आधाराधेय-भाव सम्बन्धसे एक दूसरेके आश्रित हो एक साथ हो गये हैं ॥१८०॥

न तु कुण्डे पयोभावः पयश्चापि न मक्षिका ।
स्वयमेवाप्नुवन्त्येते भावा ननु पराश्रयम् ॥१८१॥

फिर भी कुंडीमें दुग्धत्व नहीं आया है और दूध भी मक्खी नहीं बन गया है । ये सारे आधेय पदार्थ स्वयं ही अपनेसे भिन्न आधारको प्राप्त होते हैं ॥ १८१ ॥

पृथक्त्वादाश्रमाणां च वर्णान्यत्वे तथैव च ।
परस्परपृथक्त्वाच्च कथं ते वर्णसंकरः ॥१८२॥

सारे आश्रम पृथक्-पृथक् हैं तथा चारों वर्ण भी भिन्न हैं । जब इनमें परस्पर पार्थक्य बना हुआ है, तब पृथक्त्वको जाननेवाले आपके वर्णका संकर कैसे हो सकता है ? ॥ १८२ ॥

नास्मि वर्णोत्तमा जात्या न वैश्या नावरा तथा ।
तव राजन् सवर्णास्मि शुद्धयोनिरविप्लुता ॥१८३॥

राजन् ! मैं जातिसे ब्राह्मणी नहीं हूँ और न वैश्या अथवा शूद्रा ही हूँ । मैं तो आपके समान वर्णवाली क्षत्रिया ही हूँ । मेरा जन्म शुद्ध वंशमें हुआ है और मैंने अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया है ॥ १८३ ॥

प्रधानो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
कुले तस्य समुत्पन्नां सुलभां नाम विद्धि माम् ॥१८४॥

आपने प्रधान नामक राजर्षिका नाम अवश्य सुना होगा। मैं उन्हींके कुलमें उत्पन्न हुई हूँ। आपको मालूम होना चाहिये कि मेरा नाम सुलभा है ॥ १८४ ॥

द्रोणश्च शतशृङ्गश्च चक्रद्वारश्च पर्वतः।
मम सत्रेषु पूर्वेषां चिता मघवता सह ॥१८५॥

मेरे पूर्वजोंके यज्ञोंमें देवराज इन्द्रके सहयोगसे द्रोण, शतशृङ्ग और चक्रद्वार नामक पर्वत यज्ञवेदीमें ईंटोंकी जगह चुने गये थे ॥ १८५ ॥

साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम् ॥१८६॥

मेरा जन्म उसी महान् कुलमें हुआ है। मैंने अपने योग्य पतिके न मिलनेपर मोक्षधर्मकी शिक्षा ली तथा मुनिव्रत धारण करके मैं अकेली विचरती रहती हूँ ॥ १८६ ॥

नास्मि सत्रप्रतिच्छन्ना न परस्वापहारिणी।
न धर्मसंकरकरी स्वधर्मेऽस्मि धृतव्रता ॥१८७॥

मैंने संन्यासिनीका छद्मवेष नहीं धारण किया है। मैं पराये धनका अपहरण नहीं करती हूँ और न धर्मसंकरता ही फैलाती हूँ। मैं दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करती हुई अपने धर्ममें स्थित रहती हूँ ॥ १८७ ॥

नास्थिरा स्वप्रतिज्ञायां नासमीक्ष्य प्रवादिनी।
नासमीक्ष्यागता चेह त्वत्सकाशं जनाधिप ॥१८८॥

जनेश्वर ! मैं अपनी प्रतिज्ञासे कभी विचलित नहीं होती हूँ। बिना सोचे-समझे कोई बात नहीं बोलती हूँ और आपके पास भी यहाँ खूब सोच-विचारकर ही आयी हूँ ॥ १८८ ॥

मोक्षे ते भावितां बुद्धिं श्रुत्वाहं कुशलैषिणी।
तव मोक्षस्य चाप्यस्य जिज्ञासार्थमिहागता ॥१८९॥

मैंने सुना था कि आपकी बुद्धि मोक्षधर्ममें लगी हुई है, अतः आपकी मङ्गलाकाङ्क्षिणी होकर आपके इस मोक्षज्ञानका मर्म जाननेके लिये मैं यहाँ आयी हूँ ॥ १८९ ॥

न वर्गस्था ब्रवीम्येतत् स्वपक्षपरपक्षयोः।
मुक्तो व्यायच्छते यश्च शान्तौ यश्च न शाम्यति ॥१९०॥

मैं स्वपक्ष और परपक्षमेंसे अपने पक्षमें स्थित हो पक्षपातपूर्वक यह बात नहीं कह रही हूँ, आपके हितको दृष्टिमें रखकर बोलती हूँ; क्योंकि जो वाणीका व्यायाम नहीं करता और जो शान्त परब्रह्ममें निमग्न रहता है, वही मुक्त है ॥

यथा शून्ये पुरागारे भिक्षुरेकां निशां वसेत्।
तथाहं त्वच्छरीरेऽस्मिन्निमां वत्स्यामि शर्वरीम् ॥१९१॥

जैसे नगरके किसी सूने घरमें संन्यासी एक रात निवास कर लेता है, इसी तरह आपके इस शरीरमें मैं आजकी रात रहूँगी ॥ १९१ ॥

साहं मानप्रदानेन वागातिथ्येन चार्चिता।
सुप्ता सुशरणं प्रीता श्वो गमिष्यामि मैथिल ॥१९२॥

आपने मुझे बड़ा सम्मान दिया। अपनी वाणीरूप आतिथ्यके द्वारा मेरा भलीभाँति सत्कार किया। मिथिलानरेश ! अब मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके शरीररूपी सुन्दर गृहमें सोकर कल सबेरे यहाँसे चली जाऊँगी ॥ १९२ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतानि स वाक्यानि हेतुमन्त्यर्थवन्ति च।
श्रुत्वा नाधिजगौ राजा किञ्चिदन्यदतः परम् ॥१९३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! सुलभाके ये युक्तियुक्त और सार्थक वचन सुनकर राजा जनक इसके बाद और कोई बात नहीं बोले ॥ १९३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सुलभाजनकसंवादे विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें सुलभा और जनकका संवादविषयक तीन सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२० ॥

एकविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका अपने पुत्र शुकदेवको वैराग्य और धर्मपूर्ण उपदेश देते हुए सावधान करना

युधिष्ठिर उवाच

कथं निर्वेदमापन्नः शुको वैयासकिः पुरा।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पूर्वकालमें व्यासपुत्र शुकदेवको किस प्रकार वैराग्य प्राप्त हुआ था ? मैं यह सुनना चाहता हूँ। इस विषयमें मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ १ ॥

अव्यक्तव्यक्ततत्त्वानां निश्चयं बुद्धिनिश्चयम्।
वक्तुमर्हसि कौरव्य देवस्याजस्य या कृतिः ॥ २ ॥

कुरुनन्दन ! इसके सिवा आप मुझे व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वोंका बुद्धिद्वारा निश्चित किया हुआ स्वरूप बतलाइये तथा अजन्मा भगवान् नारायणका जो चरित्र है, उसे भी सुनानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

प्राकृतेन सुवृत्तेन चरन्तमकुतोभयम्।
अध्याप्य कृत्स्नं स्वाध्यायमन्वशाद् वै पिता सुतम् ॥३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पुत्र शुकदेवको साधारण लोगोंकी भाँति आचरण करते और सर्वथा निर्भय विचरते देख पिता श्रीव्यासजीने उन्हें सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कराया और फिर यह उपदेश दिया ॥ ३ ॥

व्यास उवाच

धर्मे पुत्र निषेवस्व सुतीक्ष्णौ च हिमातपौ ।
क्षुत्पिपासे च वायुं च जय नित्यं जितेन्द्रियः ॥ ४ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! तुम सदा धर्मका सेवन करते रहो और जितेन्द्रिय होकर कड़ीसे कड़ी सर्दी, गर्मी, भूख-प्यासको सहन करते हुए प्राणवायुपर विजय प्राप्त करो ॥ ४ ॥

सत्यमार्जवमक्रोधमनसूयां दमं तपः ।
अहिंसां चानृशंस्यं च विधिवत् परिपालय ॥ ५ ॥

सत्य, सरलता, अक्रोध, दोषदर्शनका अभाव, इन्द्रिय-संयम, तप, अहिंसा और दया आदि धर्मोंका विधिपूर्वक पालन करो ॥ ५ ॥

सत्ये तिष्ठ रतो धर्मे हित्वा सर्वमनार्जवम् ।
देवतातिथिशेषेण यात्रां प्राणस्य संलिह ॥ ६ ॥

सत्यपर डटे रहो तथा सब प्रकारकी वक्रता छोड़कर धर्ममें अनुराग करो । देवताओं और अतिथियोंका सत्कार करके जो अन्न बचे, उसीका प्राणरक्षाके लिये आस्वादन करो ॥ ६ ॥

फेनमात्रोपमे देहे जीवे शकुनिवत् स्थिते ।
अनित्ये प्रियसंवासे कथं स्वपिषि पुत्रक ॥ ७ ॥

बेटा ! यह शरीर जलके फेनकी तरह क्षणभङ्गुर है । इसमें जीव पक्षीकी तरह बसा हुआ है और यह प्रियजनोंका सहवास भी सदा रहनेवाला नहीं है । फिर भी तुम क्यों सोये पड़े हो ? ॥ ७ ॥

अप्रमत्तेषु जाग्रत्सु नित्ययुक्तेषु शत्रुषु ।
अन्तरं लिप्समानेषु बालस्त्वं नावबुध्यसे ॥ ८ ॥

तुम्हारे शत्रु सर्वदा सावधान, जगे हुए, सर्वथा उद्यत और तुम्हारे छिद्रोंको देखनेमें लगे हुए हैं; परंतु तुम अभी बालक हो, इसलिये समझ नहीं रहे हो ॥ ८ ॥

अहःसु गण्यमानेषु क्षीयमाणे तथाऽऽयुषि ।
जीविते लिख्यमाने च किमुत्थाय न धावसि ॥ ९ ॥

तुम्हारी आयुके दिन गिने जा रहे हैं । आयु क्षीण होती जा रही है और जीवन मानो कहीं लिखा जा रहा है (समाप्त हो रहा है) । फिर तुम उठकर भागते क्यों नहीं हो ? (शीघ्रतापूर्वक कर्तव्यपालनमें लग क्यों नहीं जाते हो ?) ॥ ९ ॥

ऐहलौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्धनम् ।
पारलौकिककार्येषु प्रसुप्ता भृशनास्तिकाः ॥ १० ॥

अत्यन्त नास्तिक मनुष्य केवल इस लोकके स्वार्थको चाहते हुए शरीरमें मांस और रक्तको बढ़ानेवाली चेष्टा ही करते रहते हैं । पारलौकिक कार्योंकी ओरसे तो वे सदा सोये ही रहते हैं ॥ १० ॥

धर्माय येऽभ्यसूयन्ति बुद्धिमोहान्विता नराः ।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाताऽपि पीड्यते ॥ ११ ॥

जो बुद्धिके व्यामोहमें डूबे हुए मनुष्य धर्मसे द्वेष करते हैं, वे सदा कुमार्गसे ही चलते हैं । उनकी तो बात ही क्या है, उनके अनुयायियोंको भी कष्ट भोगना पड़ता है ॥ ११ ॥

ये तु तुष्टाः श्रुतिपरा महात्मानो महाबलाः ।
धर्म्यं पन्थानमारूढास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥ १२ ॥

इसलिये जो महान् धर्मबलसे सम्पन्न महात्मा पुरुष संतुष्ट और श्रुतिपरायण होकर सर्वदा धर्मपथपर ही आरूढ़ रहते हैं, तुम उन्हींकी सेवामें रहो और उन्हींसे अपना कर्तव्य पूछो ॥ १२ ॥

उपधार्य मतं तेषां बुधानां धर्मदर्शिनाम् ।
नियच्छ परया बुद्ध्या चित्तमुत्पथगामि वै ॥ १३ ॥

उन धर्मदर्शी विद्वानोंका मत जानकर तुम अपनी श्रेष्ठ बुद्धिके द्वारा अपने कुपथगामी मनको काबूमें करो ॥

आद्यकालिकया बुद्ध्या दूरे श्व इति निर्भयाः ।
सर्वभक्ष्या न पश्यन्ति कर्मभूमिमचेतसः ॥ १४ ॥

जिसकी केवल वर्तमान सुखपर ही दृष्टि रहती है, उस बुद्धिके द्वारा भावी परिणामको बहुत दूर जानकर जो निर्भय रहते और सब प्रकारके अभक्ष्य पदार्थोंको खाते रहते हैं, वे बुद्धिहीन मनुष्य इस कर्मभूमिके महत्त्वको नहीं देख पाते हैं ॥ १४ ॥

धर्मं निःश्रेणिमास्थाय किंचित् किंचित् समारुह ।
कोषकारवदात्मानं वेष्टयन्नावबुध्यसे ॥ १५ ॥

तुम धर्मरूपी सीढ़ीको पाकर धीरे-धीरे उसपर चढ़ते जाओ । अभी तो तुम रेशमके कीड़ेकी तरह अपने-आपको वासनाओंके जालसे ही लपेटते जा रहे हो, तुम्हें चेत नहीं हो रहा है ॥ १५ ॥

नास्तिकं भिन्नमर्यादं कूलपातमिव स्थितम् ।
वामतः कुरु विस्रब्धो नरं वेणुमिवोद्धृतम् ॥ १६ ॥

जो नास्तिक हो, धर्मकी मर्यादा भङ्ग कर रहा हो और किनारेको तोड़-फोड़कर गिरा देनेवाले नदीके महान् जल-प्रवाहकी भाँति स्थित हो, ऐसे मनुष्यको उखाड़े हुए बाँसकी तरह बिना किसी हिचकके त्याग दो ॥ १६ ॥

कामं क्रोधं च मृत्युं च पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ १७ ॥

काम, क्रोध, मृत्यु और जिसमें पाँच इन्द्रियरूपी जल भरा हुआ है, ऐसी विषयासक्तिरूपी नदीको तुम सात्त्विकी धृतिरूप नौकाका आश्रय ले पार कर लो और इस प्रकार जन्म-मृत्युरूपी दुर्गम संकटसे पार हो जाओ ॥ १७ ॥

मृत्युनाभ्याहते लोके जरया परिपीडिते ।
अमोघासु पतन्तीषु धर्मपोतेन संतर ॥ १८ ॥

सारा संसार मृत्युके थपेड़े खाता हुआ वृद्धावस्थासे पीड़ित हो रहा है । ये रातें प्राणियोंकी आयुका अपहरण

करके अपनेको सफल बनाती हुई बीत रही हैं । तुम धर्मरूपी नौकापर चढ़कर भवसागरसे पार हो जाओ ॥ १८ ॥

तिष्ठन्तं च शयानं च मृत्युरन्वेषते यदा ।
निर्वृत्तिं लभते कस्मादकस्मान्मृत्युनाशितः ॥ १९ ॥

मनुष्य खड़ा हो या सो रहा हो, मृत्यु निरन्तर उसे खोजती फिरती है । जब इस प्रकार तुम अकस्मात् मृत्युके ग्रास बन जानेवाले हो, तब इस तरह निश्चिन्त एवं शान्त कैसे बैठे हो ? ॥ १९ ॥

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ २० ॥

मनुष्य भोगसामग्रियोंके संचयमें लगा ही रहता है और उनसे तृप्त भी नहीं होने पाता है कि भेड़के बच्चेको उठा ले जानेवाली बाघिनकी भाँति मौत उसे अपनी दाढ़में दबाकर चल देती है ॥ २० ॥

क्रमशः संचितशिखो धर्मबुद्धिमयो महान् ।
अन्धकारे प्रवेष्टव्यं दीपो यत्नेन धार्यताम् ॥ २१ ॥

यदि तुम्हें इस संसाररूपी अन्धकारमें प्रवेश करना है तो हाथमें उस धर्म-बुद्धिमय महान् दीपकको यत्नपूर्वक धारण कर लो, जिसकी शिखा क्रमशः प्रज्वलित हो रही हो ॥ २१ ॥

सम्पतन् देहजालानि कदाचिदिह मानुषे ।
ब्राह्मण्यं लभते जन्तुस्तत् पुत्र परिपालय ॥ २२ ॥

बेटा ! जीव अनेक प्रकारके शरीरोंमें जन्मता-मरता हुआ कभी इस मानव-योनिमें आकर ब्राह्मणका शरीर पाता है, अतः तुम ब्राह्मणोचित कर्तव्यका पालन करो ॥

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते ।
इह क्लेशाय तपसे प्रेत्य त्वनुपमं सुखम् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणका यह शरीर भोग भोगनेके लिये नहीं पैदा होता है । यह तो यहाँ क्लेश उठाकर तपस्या करने और मृत्युके पश्चात् अनुपम सुख भोगनेके लिये रचा गया है ॥ २३ ॥

ब्राह्मण्यं बहुभिरवाप्यते तपोभि-
स्तल्लब्ध्वा न रतिपरेण हेलितव्यम् ।
स्वाध्याये तपसि दमे च नित्ययुक्तः
क्षेमार्थी कुशलपरः सदा यतस्व ॥ २४ ॥

बहुत समयतक बड़ी भारी तपस्या करनेसे ब्राह्मणका शरीर मिलता है । उसे पाकर विषयानुरागमें फँसकर बरबाद नहीं करना चाहिये । अतः यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो कुशलप्रद कर्ममें संलग्न हो सदा स्वाध्याय, तपस्या और इन्द्रियसंयममें पूर्णतः तत्पर रहनेका प्रयत्न करो ॥ २४ ॥

अव्यक्तप्रकृतिरयं कलाशरीरः
सूक्ष्मात्मा क्षणत्रुटिशो निमेषरोमा ।
ऋत्वास्यः समबलशुक्लकृष्णनेत्रो
मासाङ्गो द्रवति वयोहयो नराणाम् ॥ २५ ॥
तं दृष्ट्वा प्रसृतमजस्रमुग्रवेगं
गच्छन्तं सततमिहाव्यपेक्षमाणम् ।
चक्षुस्ते यदि न परप्रणेतृनेयं
धर्मे ते भवतु मनः परं निशाम्य ॥ २६ ॥

मनुष्योंका आयुरूप अश्व बड़े वेगसे दौड़ा जा रहा है । इसका स्वभाव अव्यक्त है । कला-काष्ठा आदि इसके शरीर हैं । इसका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है । क्षण, त्रुटि (चुटकी) और निमेष आदि इसके रोम हैं । ऋतुएँ मुख हैं । समान बलवाले शुक्ल और कृष्णपक्ष नेत्र हैं तथा महीने इसके विभिन्न अङ्ग हैं । वह भयंकर वेगशाली अश्व यहाँकी किसी वस्तुकी अपेक्षा न रखकर निरन्तर अविराम गतिसे वेगपूर्वक भागा जा रहा है । उसे देखकर यदि तुम्हारी ज्ञानदृष्टि दूसरेके द्वारा चलाने-पर चलनेवाली नहीं है; तो तुम्हारा मन धर्ममें ही लगना चाहिये । तुम दूसरे धर्मात्माओंपर भी दृष्टि डालो ॥ २५-२६ ॥

ये चात्र प्रचलितधर्मकामवृत्ताः
क्रोशन्तः सततमनिष्टसम्प्रयोगाः ।
क्लिश्यन्तः परिगतवेदनाशरीरा
बह्वीभिः सुभृशमधर्मकारणाभिः ॥ २७ ॥

जो लोग यहाँ धर्मसे विचलित हो स्वेच्छाचारमें लगे हुए हैं, दूसरोंको बुरा-भला कहते हुए सदा अनिष्टकारी अशुभ कर्मोंमें ही लगे हुए हैं, वे मरनेके बाद यातनादेह पाकर अपने अनेक पापकर्मोंके कारण अत्यन्त क्लेश भोगते हैं ॥ २७ ॥

राजा सदा धर्मपरः शुभाशुभस्य गोप्ता
समीक्ष्य सुकृतिनां दधाति लोकान् ।
बहुविधमपि चरति प्रविशति
सुखमनुपगतं निरवद्यम् ॥ २८ ॥

जो राजा सर्वदा धर्मपरायण रहकर उत्तम और अधम प्रजाका यथायोग्य विचारपूर्वक पालन करता है, वह पुण्यात्माओंके लोकोंको प्राप्त होता है । यदि वह स्वयं भी नाना प्रकारके शुभ कर्मोंका आचरण करता है तो उसके फलस्वरूप उसे अप्राप्त एवं निर्दोष सुख प्राप्त होता है ॥

श्वानो भीषणकाया अयोमुखानि वयांसि
बलगृध्रकुलपक्षिणां च संघाः ।
नरकदने रुधिरपा गुरुवचन-
नुदमुपरतं विशसन्ति ॥ २९ ॥

परंतु जो गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, उनके मरणके पश्चात् नरकमें स्थित भयानक शरीरवाले कुत्ते, लोहमुख पक्षी, कौए-गीध आदि पक्षियोंके समुदाय तथा रक्त पीनेवाले कीट उनके यातना-शरीरपर आक्रमण करके उसे नोचते और काटते हैं ॥ २९ ॥

मर्यादा नियताः स्वयम्भुवा य इहेमाः
प्रभिनत्ति दशगुणा मनोऽनुगत्वात्।
निवसति भृशमसुखं पितृविषय-
विपिनमवगाह्य स पापः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य मनचाही करनेके कारण स्वायम्भुवमनुकी बाँधी हुई धर्मकी दस[1] प्रकारकी मर्यादाओंको तोड़ता है, वह पापात्मा पितृलोकके असिपत्रवनमें जाकर वहाँ अत्यन्त दुःख भोगता रहता है ॥ ३० ॥

यो लुब्धः सुभृशं प्रियानृतश्च मनुष्यः
सततनिकृतिवञ्चनाभिरतिः स्यात्।
उपनिधिभिरसुखकृत्स परमनिरयगो
भृशमसुखमनुभवति दुष्कृतकर्मा ॥ ३१ ॥

जो पुरुष अत्यन्त लोभी, असत्यसे प्रेम करनेवाला और सर्वदा कपटभरी बातें बनानेवाला और ठगाईमें रत है तथा जो तरह-तरहके साधनोंसे दूसरोंको दुःख देता है, वह पापात्मा घोर नरकमें पड़कर अत्यन्त दुःख भोगता है ॥ ३१ ॥

उष्णां वैतरणीं महानदी-
मवगाढोऽसिपत्रवनभिन्नगात्रः।
परशुवनशयो निपतितो
वसति च महानिरये भृशार्तः ॥ ३२ ॥

उसे अत्यन्त उष्ण महानदी वैतरणीमें गोता लगाना पड़ता है । असिपत्रवनमें उसका अङ्ग-अङ्ग छिन्न-भिन्न हो जाता है और परशुवनमें उसे शयन करना पड़ता है। इस प्रकार महानरकमें पड़कर वह अत्यन्त आतुर हो उठता है और विवश होकर उसीमें निवास करता है ॥ ३२ ॥

महापदानि कत्थसे न चाप्यवेक्षसे परम्।
चिरस्य मृत्युकारिकामनागतां न बुध्यसे ॥ ३३ ॥

तुम ब्रह्मलोक आदि बड़े-बड़े स्थानोंकी बातें तो बनाते हो, परंतु परमपदपर तुम्हारी दृष्टि नहीं है। भविष्यमें जो मृत्युकी परिचारिका वृद्धावस्था आनेवाली है, उसका तुम्हें पता ही नहीं है ॥ ३३ ॥

प्रयायतां किमास्यते समुत्थितं महद् भयम्।
अतिप्रमाथि दारुणं सुखस्य संविधीयताम् ॥ ३४ ॥

वत्स ! चुपचाप क्यों बैठे हो ? जल्दीसे आगे बढ़ो। तुम्हारे ऊपर हृदयको अत्यन्त मथ डालनेवाला, भयंकर एवं महान् भय उठ खड़ा हुआ है; अतः परमानन्दकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करो ॥ ३४ ॥

पुरा मृतः प्रणीयसे यमस्य राजशासनात्।
त्वमन्तकाय दारुणैः प्रयत्नमार्जवे कुरु ॥ ३५ ॥

तुम्हें मरनेपर यमराजकी आज्ञासे भयानक यमदूतोंद्वारा उनके सामने उपस्थित किया जाय, इसके पहले ही सरलतारूप धर्मके सम्पादनके लिये प्रयत्न करो ॥ ३५ ॥

पुरा समूलबान्धवं प्रभुर्हरत्यदुःखवित्।
तवेह जीवितं यमो न चास्ति तस्य वारकः ॥ ३६ ॥

यमराज सबके स्वामी हैं । वे किसीका दुःख-दर्द नहीं समझते हैं। वे मूल और बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारे प्राण हर लेंगे । उन्हें रोकनेवाला कोई नहीं है । वह समय आनेके पहले ही तुम अपनी रक्षाके लिये प्रबन्ध कर लो ॥ ३६ ॥

पुराभिवाति मारुतो यमस्य यः पुरःसरः।
पुरैक एव नीयसे कुरुष्व साम्परायिकम् ॥ ३७ ॥

जिस समय यमराजके आगे-आगे चलनेवाला प्रचण्ड कालरूपी पवन चल पड़ेगा, उस समय वह अकेले तुम्हींको वहाँ ले जायगा; अतः तुम पहलेसे ही परलोकमें सुख देनेवाले धर्मका आचरण करो ॥ ३७ ॥

पुरा स हि क्व एव ते प्रवाति मारुतोऽन्तकः।
पुरा च विभ्रमन्ति ते दिशो महाभयागमे ॥ ३८ ॥

पूर्वजन्ममें तुम्हारे सामने जो प्राणनाशक पवन चल रहा था, आज वह कहाँ है ? अब भी जब मृत्युरूप महान् भय उपस्थित होगा, तब तुम्हें सम्पूर्ण दिशाएँ घूमती दिखायी देंगी; अतः पहलेसे ही सावधान हो जाओ ॥ ३८ ॥

श्रुतिश्च संनिरुध्यते पुरा तवेह पुत्रक।
समाकुलस्य गच्छतः समाधिमुत्तमं कुरु ॥ ३९ ॥

बेटा ! जब तुम इस शरीरको छोड़कर चलने लगोगे, उस समय व्याकुलताके कारण तुम्हारी श्रवणशक्ति भी नष्ट हो जायगी। इसलिये तुम सुदृढ़ समाधि प्राप्त कर लो ॥ ३९ ॥

शुभाशुभे पुरा कृते प्रमादकर्मविप्लुते।
स्मरन् पुरा न तप्यसे निधत्स्व केवलं निधिम् ॥ ४० ॥

तुम पहले असावधानतावश जो अनुचितरूपसे शुभाशुभ कर्म कर चुके हो, उसे स्मरण करके उनके फलभोगसे संतप्त होनेके पहले ही अपने लिये केवल ज्ञानका भण्डार भर लो ॥

पुरा जरा कलेवरं विजर्जरीकरोति ते।
बलाङ्गरूपहारिणी निधत्स्व केवलं निधिम् ॥ ४१ ॥

देखो, बल, अङ्ग और रूपका विनाश करनेवाली वृद्धावस्था एक दिन तुम्हारे शरीरको जर्जर कर डालेगी, उसके पहले ही तुम अपने लिये ज्ञानका भण्डार भर लो ॥ ४१ ॥

पुरा शरीरमन्तको भिनत्ति रोगसारथिः।
प्रसह्य जीवितक्षये तपो महत् समाचर ॥ ४२ ॥

रोग जिसका सारथि है, वह काल हठात् तुम्हारे शरीरको विदीर्ण कर डालेगा, इसलिये इस जीवनका नाश होनेसे पूर्व ही तुम महान् तपका अनुष्ठान कर लो ॥ ४२ ॥

पुरा वृका भयंकरा मनुष्यदेहगोचराः।

---

१. मनुजीने धर्मके दस भेद ये बताये हैं—
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
'धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

अभिद्रवन्ति सर्वतो यतस्व पुण्यशीलने ॥ ४३ ॥

इस मानव-शरीरमें रहनेवाले काम-क्रोध आदि भयंकर व्याघ्र तुमपर चारों ओरसे आक्रमण कर रहे हैं, इसलिये पहलेसे ही तुम पुण्यसंचयके लिये प्रयत्न करो ॥ ४३ ॥

पुरान्धकारमेककोऽनुपश्यसि त्वरस्व वै।
पुरा हिरण्मयान् नगान् निरीक्षसेऽद्रिमूर्धनि ॥ ४४ ॥

मरनेके समय तुम्हें पहले घोर अन्धकार दिखलायी देगा। फिर पर्वतके शिखरपर सुनहरे वृक्ष दृष्टिगोचर होंगे। वह समय आनेसे पहले ही अपने कल्याणके लिये तुम शीघ्र प्रयत्न करो ॥ ४४ ॥

पुरा कुसङ्गतानि ते सुहृन्मुखाश्च शत्रवः।
विचालयन्ति दर्शनाद् घटस्व पुत्र यत्परम् ॥ ४५ ॥

इस संसारमें दुष्ट पुरुषोंके सङ्ग तथा ऊपरसे मित्रभाव एवं भीतरसे शत्रुता रखनेवाले लोग दर्शनमात्रसे तुम्हें कर्तव्य-पथसे विचलित कर देंगे, इसलिये तुम पहलेसे ही परम उत्तम पुण्यसंचयके लिये प्रयत्न करो ॥ ४५ ॥

धनस्य यस्य राजतो भयं न चास्ति चोरतः।
मृतं च यन्न मुञ्चति समर्जयस्व तद् धनम् ॥ ४६ ॥

जिस धनको न तो राजासे भय है और न चोरसे ही तथा जो मर जानेपर भी जीवका साथ नहीं छोड़ता है, उस धर्मरूपी धनका उपार्जन करो ॥ ४६ ॥

न तत्र संवियुज्यते स्वकर्मभिः परस्परम्।
यदेव यस्य यौतकं तदेव तत्र सोऽश्नुते ॥ ४७ ॥

अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए उस धनको परलोकमें परस्पर बाँटना नहीं पड़ता है। वहाँ तो जो जिसकी निजी सम्पत्ति है, उसे ही वह भोगता है ॥ ४७ ॥

परत्र येन जीव्यते तदेव पुत्र दीयताम्।
धनं यदक्षरं ध्रुवं समर्जयस्व तत् स्वयम् ॥ ४८ ॥

बेटा! जिससे परलोकमें भी जीवन-निर्वाह हो सकता है तथा जो अविनाशी और अटल धन है, उसीका दान करो एवं उसीका स्वयं भी उपार्जन करते रहो ॥ ४८ ॥

न यावदेव पच्यते महाजनस्य यावकम्।
अपक्व एव यावके पुरा प्रलीयसे त्वर ॥ ४९ ॥

बेटा! घरपर आये हुए किसी समादरणीय अतिथिके लिये जितनी देरमें यावक (घृत और खाँड़ मिलाकर तैयार किया हुआ जौके आटेका पूआ) पकाया जाता है, उसके पकनेसे भी पहले तुम्हारी मृत्यु हो सकती है; अतः तुम ज्ञान-रूपी धनके उपार्जनके लिये शीघ्रता करो ॥ ४९ ॥

न मातृपुत्रबान्धवा न संस्तुतः प्रियो जनः।
अनुव्रजन्ति संकटे व्रजन्तमेकपातिनम् ॥ ५० ॥

जीव जब अकेला ही परलोकके पथपर प्रस्थान करता है, उस संकटके समय माता, पुत्र, भाई-बन्धु तथा अन्यान्य प्रशंसित प्रियजन भी उसके साथ नहीं जाते हैं ॥ ५० ॥

यदेव कर्म केवलं पुरा कृतं शुभाशुभम्।
तदेव पुत्र सार्थिकं भवत्यमुत्र गच्छतः ॥ ५१ ॥

पुत्र! परलोकमें जाते समय अपना पहलेका किया हुआ जो शुभाशुभ कर्म होता है, केवल वही साथ रहता है ॥ ५१ ॥

हिरण्यरत्नसंचयाः शुभाशुभेन संचिताः।
न तस्य देहसंक्षये भवन्ति कार्यसाधकाः ॥ ५२ ॥

मनुष्यके द्वारा अच्छे-बुरे सभी तरहके कर्म करके जो सुवर्ण और रत्नोंके ढेर इकट्ठे किये जाते हैं, वे भी उस मनुष्यके शरीरका नाश होनेपर उसके किसी काम नहीं आते हैं (क्योंकि वे सब यहीं रह जाते हैं) ॥ ५२ ॥

परत्रगामिकस्य ते कृताकृतस्य कर्मणः।
न साक्षि आत्मना समो नृणामिहास्ति कश्चन ॥ ५३ ॥

परलोककी यात्रा करते समय तुम्हारे किये और न किये हुए कर्मका साक्षी आत्माके समान मनुष्योंमें दूसरा कोई नहीं है ॥ ५३ ॥

मनुष्यदेहशून्यकं भवत्यमुत्र गच्छतः।
प्रविश्य बुद्धिचक्षुषा प्रदृश्यते हि सर्वशः ॥ ५४ ॥

परलोकमें जाते समय इस मनुष्य-शरीरका अभाव हो जाता है अर्थात् यह यहीं छूट जाता है। जीव सूक्ष्म शरीरसे लोकान्तरमें प्रवेश करके अपने बुद्धिरूपी नेत्रसे वहाँ सब कुछ देखता है ॥ ५४ ॥

इहाग्निसूर्यवायवः शरीरमाश्रितास्त्रयः।
त एव तस्य साक्षिणो भवन्ति धर्मदर्शिनः ॥ ५५ ॥

इस लोकमें अग्नि, वायु और सूर्य—ये तीन देवता जीवके शरीरका आश्रय करके रहते हैं। वे ही उसके धर्माचरणको देखनेवाले हैं और वे ही परलोकमें उसके साक्षी होते हैं ॥ ५५ ॥

अहर्निशेषु सर्वतः स्पृशत्सु सर्वचारिषु।
प्रकाशगूढवृत्तिषु स्वधर्ममेव पालय ॥ ५६ ॥

दिन सब पदार्थोंको प्रकाशित करता है और रात्रि उन्हें छिपा लेती है। ये सर्वत्र व्याप्त हैं और सभी वस्तुओंका स्पर्श करते हैं, अतः तुम इनकी वेलामें सर्वदा अपने धर्मका ही पालन करो ॥ ५६ ॥

अनेकपारिपन्थिके विरूपरौद्रमक्षिके।
स्वमेव कर्म रक्ष्यतां स्वकर्म तत्र गच्छति ॥ ५७ ॥

परलोकके मार्गपर बहुत-से लुटेरे और बटमार रहते हैं तथा विकराल एवं भयंकर डाँस एवं मक्खियाँ होती हैं। वहाँ केवल अपना किया हुआ कर्म ही साथ जाता है; अतः तुम्हें अपने सत्कर्मकी ही रक्षा करनी चाहिये ॥ ५७ ॥

न तत्र संविभज्यते स्वकर्मणा परस्परम्।
तथा कृतं स्वकर्मजं तदेव भुज्यते फलम् ॥ ५८ ॥

वहाँ अपने कर्मके अनुसार जो फल प्राप्त होता है, उसका किसीके साथ बँटवारा नहीं होता। वहाँ तो अपने किये हुए कर्मोंका ही फल भोगना होता है ॥ ५८ ॥

यथाप्सरोगणाः फलं सुखं महर्षिभिः सह ।
तथाऽऽप्नुवन्ति कर्मजं विमानकामगामिनः ॥ ५९ ॥

जैसे महर्षियोंके साथ झुंड-की-झुंड अप्सराएँ होती हैं और वे सब पुण्यके फलस्वरूप सुख भोगते हैं, उसी प्रकार वहाँ पुण्यात्मा लोग विमानोंपर चढ़कर इच्छानुसार विचरते और पुण्यकर्मजनित सुख भोगते हैं ॥ ५९ ॥

यथेह यत् कृतं शुभं विपाप्मभिः कृतात्मभिः ।
तदाप्नुवन्ति मानवास्तथा विशुद्धयोनयः ॥ ६० ॥

निष्पाप पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा इस लोकमें जो शुभ कर्म सम्पादित होता है, जन्मान्तरमें विशुद्ध योनिमें जन्म लेकर उसका वैसा ही फल पाते हैं ॥ ६० ॥

प्रजापतेः सलोकतां बृहस्पतेः शतक्रतोः ।
व्रजन्ति ते परां गतिं गृहस्थधर्मसेतुभिः ॥ ६१ ॥

गृहस्थ-धर्मकी मर्यादाका पालन करनेवाले लोग प्रजापति, बृहस्पति अथवा इन्द्रके लोकमें उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं ॥

सहस्रशोऽप्यनेकशः प्रवक्तुमुत्सहाम ते ।
अबुद्धिमोहनं पुनः प्रभुर्विनाय पावकः ॥ ६२ ॥

वत्स ! मैं तुम्हारे सामने हजारों तथा उससे भी अधिक बार यह बात जोर देकर कह सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् तथा सबको पवित्र करनेवाले धर्मने, जिसकी बुद्धिपर मोह नहीं छा गया है, उस धर्मात्मा पुरुषको सदा ही पुण्यलोकमें पहुँचाया है ॥ ६२ ॥

गता त्रिरष्टवर्षता ध्रुवोऽसि पञ्चविंशकः ।
कुरुष्व धर्मसंचयं वयो हि तेऽतिवर्तते ॥ ६३ ॥

बेटा ! तुम्हारी आयुके चौबीस वर्ष बीत गये । अब निश्चय ही तुम पचीस सालके हो गये; अतः धर्मका संचय करो । तुम्हारी सारी आयु यों ही बीती जा रही है ॥ ६३ ॥

पुरा करोति सोऽन्तकः प्रमादगोमुखां चमूम् ।
यथागृहीतमुत्थितस्त्वरस्व धर्मपालने ॥ ६४ ॥

देखो, तुम्हारा जो प्रमाद है, उसमें निवास करनेवाला काल तुम्हारी इन्द्रियोंके समुदायको मुखरहित (भोगशक्तिसे हीन) कर रहा है । इनके असमर्थ हो जानेके पहले ही तुम खड़े हो जाओ और अपने शरीरसे धर्मका पालन करनेके लिये जल्दी करो ॥ ६४ ॥

यथा त्वमेव पृष्ठतस्त्वमग्रतो गमिष्यसि ।
तथा गतिं गमिष्यतः किमात्मना परेण वा ॥ ६५ ॥

जिस समय तुम शरीर छोड़कर परलोककी राह लोगे, उस समय तुम्हीं पीछे रहोगे और तुम्हीं आगे चलोगे—तुम्हारे सिवा दूसरा कोई वहाँ आगे-पीछे चलनेवाला न होगा । ऐसी दशामें किसी अपने या पराये व्यक्तिसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? ॥ ६५ ॥

यदेकपातिनां सतां भवत्यमुत्र गच्छताम् ।
भयेषु साम्परायिकं निधत्स्व केवलं निधिम् ॥ ६६ ॥

भय उपस्थित होनेपर अकेले यात्रा करनेवाले सत्पुरुषोंके लिये परलोकमें जो हितकर होता है, उस धर्म या ज्ञानकी निधिको शुद्धभावसे संचित करो ॥ ६६ ॥

सकूलमूलबान्धवं प्रभुर्हरत्यसङ्गवान् ।
न सन्ति यस्य वारकाः कुरुष्व धर्मसंनिधिम् ॥ ६७ ॥

सर्वसमर्थ काल किसीके प्रति भी स्नेह नहीं करता । वह कूल और मूल अर्थात् आदि-अन्तसहित समस्त बन्धु-बान्धवों-को हर ले जाता है । उसको रोकनेवाले कोई नहीं हैं; इसलिये तुम धर्मका संचय करो ॥ ६७ ॥

इदं निदर्शनं मया तवेह पुत्र साम्प्रतम् ।
स्वदर्शनानुमानतः प्रवर्णितं कुरुष्व तत् ॥ ६८ ॥

बेटा ! मैंने अपने शास्त्रज्ञान और अनुमानके द्वारा इस समय तुम्हें जिस ज्ञानका उपदेश किया है, तुम उसीके अनुसार आचरण करो ॥ ६८ ॥

दधाति यः स्वकर्मणा ददाति यस्य कस्यचित् ।
अबुद्धिमोहजैर्गुणैः स एक एव युज्यते ॥ ६९ ॥

जो पुरुष अपने सत्कर्मोंद्वारा धर्मको धारण करता है और जिस किसीको भी निष्कामभावसे दान देता है, वह अकेला ही मोहरहित बुद्धिसे प्राप्त होनेवाले गुणोंसे संयुक्त होता है ॥ ६९ ॥

श्रुतं समस्तमश्नुते प्रकुर्वतः शुभाः क्रियाः ।
तदेतदर्थदर्शनं कृतज्ञमर्थसंहितम् ॥ ७० ॥

जो समस्त शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करता और तदनुसार शुभ कर्मोंके अनुष्ठानमें लगा रहता है, उसीके लिये इस ज्ञानका उपदेश किया गया है; क्योंकि कृतज्ञ पुरुषको जो भी उपदेश दिया जाता है, वही सफल होता है ॥ ७० ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥ ७१ ॥

मनुष्य जब गाँवमें रहकर वहींके पदार्थोंसे प्रेम करने लगता है, वह उसे बाँधनेवाली रस्सी ही है । पुण्यात्मा लोग इसे काटकर उत्तम लोकोंमें चले जाते हैं, परंतु पापात्मा पुरुष इसे नहीं काट पाते हैं ॥ ७१ ॥

किं ते धनेन किं बन्धुभिस्ते
किं ते पुत्रैः पुत्रक यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताश्च सर्वे ॥ ७२ ॥

बेटा ! जब तुम्हें एक दिन मरना ही है, तब धन, बन्धु और पुत्र आदिसे तुम्हें क्या लेना है; अतः तुम हृदयरूपी गुफामें छिपे हुए आत्मतत्त्वका अनुसंधान करो । सोचो तो सही; आज तुम्हारे सारे पूर्वज—पितामह कहाँ चले गये ? ॥ ७२ ॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वाकृतम् ॥ ७३ ॥

जो काम कल करना हो, उसे आज ही कर लेना चाहिये

और जो दोपहर-बाद करना हो, उसे पहले ही पहरमें पूरा कर डालना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम पूरा हुआ है या नहीं ॥ ७३ ॥

अनुगम्य विनाशान्ते निवर्तन्ते ह बान्धवाः ।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं ज्ञातयः सुहृदस्तथा ॥ ७४ ॥

मृत्युके बाद भाई-बन्धु, कुटुम्बी और सुहृद् श्मशान-भूमितक पीछे-पीछे जाते हैं और मृत पुरुषके शरीरको चिताकी आगमें डालकर लौट आते हैं ॥ ७४ ॥

नास्तिकान् निरनुक्रोशान् नरान् पापमते स्थितान् ।
वामतः कुरु विस्रब्धं परं प्रेप्सुरतन्द्रितः ॥ ७५ ॥

अतः तुम परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके इच्छुक हो आलस्य छोड़कर नास्तिक, निर्दय तथा पापबुद्धि मनुष्योंको बिना किसी हिचकके बायें कर दो—कभी भूलकर भी उनका साथ न दो ॥ ७५ ॥

एवमभ्याहते लोके कालेनोपनिपीडिते ।
सुमहद् धैर्यमालम्ब्य धर्मं सर्वात्मना कुरु ॥ ७६ ॥

इस प्रकार जब सारा संसार कालसे आहत और पीड़ित हो रहा है, तब तुम महान् धैर्यका आश्रय ले सम्पूर्ण हृदयसे धर्मका आचरण करो ॥ ७६ ॥

अथेमं दर्शनोपायं सम्यग् यो वेत्ति मानवः ।
सम्यक् स्वधर्मं कृत्वेह परत्र सुखमश्नुते ॥ ७७ ॥

जो मनुष्य परमात्माके साक्षात्कारके इस साधनको भली-भाँति जानता है, वह इस लोकमें स्वधर्मका ठीक-ठीक पालन करके परलोकमें सुख भोगता है ॥ ७७ ॥

न देहभेदे मरणं विजानतां
न च प्रणाशः स्वनुपालिते पथि ।
धर्मं हि यो वर्धयते स पण्डितो
य एव धर्माच्च्यवते स मुह्यति ॥ ७८ ॥

जो ऐसा जानते हैं कि शरीरका नाश हो जानेपर भी अपनी मृत्यु नहीं होती है और शिष्ट पुरुषोंद्वारा पालित धर्म-मार्गपर चलनेवालोंका कभी नाश नहीं होता है, वे ही बुद्धि-मान् हैं । जो इन सब बातोंको सोच-विचारकर धर्मको बढ़ाता रहता है, वह विद्वान् है । जो धर्मसे गिर जाता है, वही मोह-ग्रस्त अथवा मूढ़ है ॥ ७८ ॥

प्रयुक्तयोः कर्मपथि स्वकर्मणोः
फलं प्रयोक्ता लभते यथाकृतम् ।
निहीनकर्मा निरयं प्रपद्यते
त्रिविष्टपं गच्छति धर्मपारगः ॥ ७९ ॥

कर्मके मार्गपर प्रयोग (आचरण) में लाये गये जो अपने शुभाशुभ कर्म हैं, उनका फल कर्ताको उस कर्मके अनुसार प्राप्त होता है । नीच कर्म करनेवाला नरकमें पड़ता है और धर्माचरणमें पारङ्गत पुरुष स्वर्गलोकको जाता है ॥

सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
तथाऽऽत्मानं समादध्याद् भ्रश्यते न पुनर्यथा ॥ ८० ॥

यह दुर्लभ मानव-शरीर स्वर्गलोकमें पहुँचनेके लिये सीढ़ीके समान है । इसे पाकर अपने-आपको इस प्रकार धर्ममें एकाग्र करे, जिससे फिर उसे स्वर्गसे नीचे न गिरना पड़े ॥

यस्य नोत्क्रामति मतिः स्वर्गमार्गानुसारिणी ।
तमाहुः पुण्यकर्माणमशोच्यं पुत्रबान्धवैः ॥ ८१ ॥

स्वर्गलोकके मार्गका अनुसरण करनेवाली जिसकी बुद्धि धर्मका कभी उल्लङ्घन नहीं करती, उसको पुण्यात्मा कहते हैं । वह पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंके लिये कदापि शोचनीय नहीं है ॥ ८१ ॥

यस्य नोपहता बुद्धिर्निश्चये ह्यवलम्बते ।
स्वर्गे कृतावकाशस्य नास्ति तस्य महद् भयम् ॥ ८२ ॥

जिसकी बुद्धि दूषित न होकर दृढ़ निश्चयका सहारा लेती है, उसने स्वर्गमें अपने लिये स्थान बना लिया है । उसे नरकका महान् भय नहीं प्राप्त होता ॥ ८२ ॥

तपोवनेषु ये जातास्तत्रैव निधनं गताः ।
तेषामल्पतरो धर्मः कामभोगानजानताम् ॥ ८३ ॥

जो लोग तपोवनोंमें पैदा हुए और वहीं मृत्युको प्राप्त हो गये, उन्हें थोड़े-से ही धर्मकी प्राप्ति होती है; क्योंकि वे काम-भोगोंको जानते ही नहीं थे (अतः उन्हें त्यागनेके लिये उनको कष्ट सहन नहीं करना पड़ता) ॥ ८३ ॥

यस्तु भोगान् परित्यज्य शरीरेण तपश्चरेत् ।
न तेन किंचिन्न प्राप्तं तन्मे बहु मतं फलम् ॥ ८४ ॥

जो भोगोंका परित्याग करके तपोवनमें जाकर शरीरसे तपस्या करता है, उसके लिये कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो प्राप्त न हो । वही फल मुझे अधिक जान पड़ता है ॥ ८४ ॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
अनागतान्यतीतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥ ८५ ॥

हजारों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री-पुत्र पहले जन्मोंमें हो चुके हैं और भविष्यमें होंगे । वे हममेंसे किसके हैं और हम उनमेंसे किसके हैं ? ॥ ८५ ॥

अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तन्न पश्यामि यो मम ॥ ८६ ॥

मैं अकेला हूँ । न तो दूसरा कोई मेरा है और न मैं दूसरे किसीका हूँ । मैं ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता, जिसका मैं होऊँ तथा ऐसा भी कोई नहीं दिखायी देता, जो मेरा हो ॥ ८६ ॥

न तेषां भवता कार्यं न कार्यं तव तैरपि ।
स्वकृतैस्तानि यातानि भवांश्चैव गमिष्यति ॥ ८७ ॥

न उनका तुम कुछ कर सकते हो और न वे तुम्हारे किसी काम आ सकते हैं । वे अपने कर्मोंके साथ चले गये और तुम भी चले जाओगे ॥ ८७ ॥

इह लोके हि धनिनां स्वजनः स्वजनायते ।

स्वजनस्तु दरिद्राणां जीवतामपि नश्यति ॥ ८८ ॥

इस संसारमें जो धनवान् हैं, उन्हींके स्वजन उनके साथ स्वजनोचित बर्ताव करते हैं; दरिद्रोंके स्वजन तो उनके जीते-जी ही उन्हें छोड़कर उनकी आँखसे ओझल हो जाते हैं ।८८।

संचिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः ।
ततः क्लेशमवाप्नोति परत्रेह तथैव च ॥ ८९ ॥

मनुष्य अपनी स्त्रीके लिये अशुभ कर्मका संचय करता है, फिर उसके फलरूपमें इहलोक और परलोकमें भी कष्ट उठाता है ॥ ८९ ॥

पश्यति च्छिन्नभूतं हि जीवलोकं स्वकर्मणा ।
तत् कुरुष्व तथा पुत्र कृत्स्नं यत् समुदाहृतम् ॥ ९० ॥

मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही इस जीव-जगत्‌को छिन्न-भिन्न हुआ देखता है, अतः बेटा ! मैंने जो कुछ कहा है, वह सब काममें लाओ ॥ ९० ॥

तदेतत् सम्प्रदृश्यैव कर्मभूमिं प्रपश्यतः ।
शुभान्याचरितव्यानि परलोकमभीप्सता ॥ ९१ ॥

इहलोक कर्मभूमि है—ऐसा समझकर इसकी ओर देखते हुए दिव्य लोकोंकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको शुभकर्मोंका ही आचरण करना चाहिये ॥ ९१ ॥

मासर्तुसंज्ञापरिवर्तकेण
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
स्वकर्मनिष्ठाफलसाक्षिकेण
भूतानि कालः पचति प्रसह्य ॥ ९२ ॥

यह कालरूपी रसोइया बलपूर्वक सब जीवोंको पका रहा है । मास और ऋतु नामक करछुलसे वह जीवोंको उलटता-पलटता रहता है । सूर्य उसके लिये आगका काम देते हैं और कर्मफलके साक्षी रात और दिन उसके लिये ईंधन बने हुए हैं ॥ ९२ ॥

धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते
बलेन किं येन रिपुं न बाधते ।
श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो वशी ॥ ९३ ॥

उस धनसे क्या लाभ, जिसे मनुष्य न तो किसीको दे सकता और न अपने उपभोगमें ही ला सकता है ? उस बलसे क्या लाभ, जिससे शत्रुओंको बाधित न किया जा सके ? उस शास्त्रज्ञानसे क्या लाभ, जिसके द्वारा मनुष्य धर्माचरण न कर सके ? और उस जीवात्मासे क्या लाभ, जो न तो जितेन्द्रिय है और न मनको ही वशमें रख सकता है ? ॥ ९३ ॥

भीष्म उवाच

इदं द्वैपायनवचो हितमुक्तं निशम्य तु ।
शुको गतः परित्यज्य पितरं मोक्षदैशिकम् ॥ ९४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! व्यासजीके कहे हुए ये हितकर वचन सुनकर शुकदेवजी अपने पिताको छोड़कर मोक्षतत्त्वके उपदेशक गुरुके पास चले गये ॥ ९४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पावकाध्ययनं नामैकविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पावकाध्ययन नामक तीन सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम कर्ताको अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा तपस्तप्तं तथैव च ।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! यदि दान, यज्ञ, तप अथवा गुरु-शुश्रूषा करनेसे कोई फल मिलता है तो वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

आत्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः ।
स कर्म कलुषं कृत्वा क्लेशे महति धीयते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जब बुद्धि काम-क्रोध आदि अनर्थोंसे युक्त हो जाती है, तब उससे प्रेरित हुए मनुष्यका मन पापमें प्रवृत्त होने लगता है । फिर वह मनुष्य दोषयुक्त कर्म करके महान् क्लेशमें पड़ जाता है ॥ २ ॥

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद् भयम् ।
मृतेभ्यः प्रमृता यान्ति दरिद्राः पापकर्मिणः ॥ ३ ॥

पापकर्म करनेवाले दरिद्र मानव दुर्भिक्षसे दुर्भिक्षको, क्लेशसे क्लेशको तथा भयसे भयको पाते हुए मरे हुओंसे भी अधिक मृतकतुल्य हो जाते हैं ॥ ३ ॥

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम् ।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनस्थाः शुभकारिणः ॥ ४ ॥

जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धनसम्पन्न तथा शुभकर्मपरायण होते हैं, वे उत्सवसे अधिक उत्सवको, स्वर्गसे अधिक स्वर्गको तथा सुखसे अधिक सुखको पाते हैं ॥ ४ ॥

व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचौरभयेषु च ।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम् ॥ ५ ॥

नास्तिक मनुष्योंके हाथमें हथकड़ी डालकर राजा उन्हें राज्यसे दूर निकाल देता है और वे उन जङ्गलोंमें चले जाते हैं, जो मतवाले हाथियोंके कारण दुर्गम तथा सर्प और चोर आदिके भयसे भरे हुए होते हैं । इससे बढ़कर उन्हें और क्या दण्ड मिल सकता है ? ॥ ५ ॥

प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः ।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम् ॥ ६ ॥

जिन्हें देवपूजा और अतिथि-सत्कार प्रिय है, जो उदार हैं तथा श्रेष्ठ पुरुष जिन्हें अच्छे लगते हैं, वे पुण्यात्मा मनुष्य अपने दाहिने हाथके समान मङ्गलकारी एवं मनको वशमें रखनेवाले योगियोंको ही प्राप्त होने योग्य मार्गपर आरूढ़ होते हैं ॥ ६ ॥

पुलाका इव धान्येषु पूत्यण्डा इव पक्षिषु ।
तद्विधास्ते मनुष्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ ७ ॥

जिनका उद्देश्य धर्मपालन नहीं है, ऐसे मनुष्य मानव-समाजके भीतर वैसे ही समझे जाते हैं जैसे धानोंमें थोथा धान और पक्षियोंमें सड़ा हुआ अंडा ॥ ७ ॥

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति ।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ॥ ८ ॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति ।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते ॥ ९ ॥

जिस-जिस मनुष्यने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है । यदि कर्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजीके साथ उसके पीछे जाता है । जब वह सोता है, तब उसका कर्मफल भी उसीके साथ सो जाता है । जब वह खड़ा होता है, तब वह भी उसके पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है, तब वह भी उसके पीछे-पीछे चलने लगता है । इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता । सदा छायाके समान पीछे लगा रहता है ॥ ८-९ ॥

येन येन यथा यद् यत्पुरा कर्म सुनिश्चितम् ।
तत् तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना ॥ १० ॥

जिस-जिस मनुष्यने अपने-अपने पूर्वजन्मोंमें जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वह अपने ही किये हुए उन कर्मोंका फल सदा अकेला ही भोगता है ॥ १० ॥

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम् ।
भूतग्राममिमं कालः समन्तादपकर्षति ॥ ११ ॥

अपने-अपने कर्मका फल एक धरोहरके समान है, वह शास्त्र-विधानके अनुसार सुरक्षित रहता है । उपयुक्त अवसर आनेपर वह काल इस प्राणिसमुदायको कर्मानुसार खींच ले जाता है ॥

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च ।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ १२ ॥

जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणाके बिना ही अपने समयपर वृक्षोंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार पहलेके किये हुए कर्म भी अपने फलभोगके समयका उल्लङ्घन नहीं करते हैं ॥

सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ ।
प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पदे पदे ॥ १३ ॥

सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति-अवनति—ये पूर्व-जन्मके कर्मोंके अनुसार पग-पगपर प्राप्त होते हैं और प्रारब्ध-भोगके पश्चात् पुनः निवृत्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् ।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥ १४ ॥

दुःख अपने ही किये हुए कर्मोंका फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है । जीव माताकी गर्भशय्यामें आते ही पूर्व शरीरद्वारा उपार्जित सुख-दुःखका उपभोग करने लगता है ॥ १४ ॥

बालो युवा वा वृद्धश्च यत् करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि ॥ १५ ॥

कोई बालक हो, तरुण हो या बूढ़ा हो, वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, जन्म-जन्मान्तरमें उसी अवस्थामें उस-उस कर्मका फल भोगता है ॥ १५ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १६ ॥

जैसे बछड़ा हजारों गौओंमेंसे अपनी माँको पहचानकर उसे पा लेता है, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी अपने कर्ताके पास पहुँच जाता है ॥ १६ ॥

मलिनं हि यथा वस्त्रं पश्चाच्छुद्ध्यति वारिणा ।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम् ॥ १७ ॥

जैसे मलिन हुआ वस्त्र पीछे जलसे धोनेपर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार जो उपवासपूर्वक तपस्या करते हैं, (उनका अन्तःकरण शुद्ध होकर) उन्हें कभी समाप्त न होनेवाला महान् सुख मिलता है ॥ १७ ॥

दीर्घकालेन तपसा सेवितेन महामते ।
धर्मनिर्धूतपापानां संसिध्यन्ते मनोरथाः ॥ १८ ॥

महामते ! दीर्घकालतक की हुई तपस्यासे तथा धर्मा-चरणद्वारा जिनके सारे पाप धुल गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनो-रथ सिद्ध हो जाते हैं ॥ १८ ॥

शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके ।
पदं यथा न दृश्येत तथा पुण्यकृतां गतिः ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंके और जलमें मछलियोंके चरण-चिह्न दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार पुण्यात्मा ज्ञानियोंकी भी गतिका पता नहीं चलता ॥ १९ ॥

अलमन्यैरुपालब्धैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः ।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २० ॥

दूसरोंको उलाहने देने तथा लोगोंके अन्यान्य अपराधों-की चर्चा करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है । जो सुन्दर, अनुकूल और अपने लिये हितकर जान पड़े, वही कर्म करना चाहिये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्ममूलिको नाम द्वाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्ममूलिकनामक तीन सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीकी पुत्रप्राप्तिके लिये तपस्या और भगवान् शंकरसे वरप्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

कथं व्यासस्य धर्मात्मा शुको जज्ञे महातपाः ।
सिद्धिं च परमां प्राप्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! व्यासजीके यहाँ महा-तपस्वी और धर्मात्मा शुकदेवजीका जन्म कैसे हुआ ? तथा उन्होंने परम सिद्धि कैसे प्राप्त की ? यह मुझे बताइये ॥

कस्यां चोत्पादयामास शुकं व्यासस्तपोधनः ।
न ह्यस्य जननीं विद्म जन्म चाग्र्यं महात्मनः ॥ २ ॥

तपस्याके धनी व्यासजीने किस स्त्रीके गर्भसे शुकदेवजीको उत्पन्न किया ? हमें उन महात्मा शुकदेवजीकी माताका नाम नहीं मालूम है और हम उनके श्रेष्ठ जन्मका वृत्तान्त भी नहीं जानते हैं ॥ २ ॥

कथं च बालस्य सतः सूक्ष्मज्ञाने गता मतिः ।
यथा नान्यस्य लोकेऽस्मिन् द्वितीयस्येह कस्यचित् ॥ ३ ॥

शुकदेवजी अभी बालक थे तो भी सूक्ष्मज्ञानमें उनकी बुद्धि कैसे लगी ? इस संसारमें उनके सिवा दूसरे किसीकी ऐसी बुद्धि नहीं देखी गयी ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामते ।
न हि मे तृप्तिरस्तीह शृण्वतोऽमृतमुत्तमम् ॥ ४ ॥

महामते ! मैं इस प्रसङ्गको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ । आपका यह अमृतके समान उत्तम एवं मधुर प्रवचन सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ ४ ॥

माहात्म्यमात्मयोगं च विज्ञानं च शुकस्य ह ।
यथावदानुपूर्व्येण तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥

पितामह ! आप मुझे शुकदेवजीका माहात्म्य, आत्मयोग और विज्ञान यथार्थ रीतिसे क्रमशः बताइये ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! कोई अधिक वर्षोंकी अवस्था हो जानेसे, बाल पक जानेसे, अधिक धन होनेसे तथा भाई-बन्धुओंकी संख्या बढ़ जानेसे भी बड़ा नहीं होता । ऋषियोंने यह नियम बनाया है कि हमलोगोंमेंसे जो वेदोंका प्रवचन कर सकेगा, वही महान् माना जायगा ॥ ६ ॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि पाण्डव ।
तदिन्द्रियाणि संयम्य तपो भवति नान्यथा ॥ ७ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे हो, उस सबकी जड़ तपस्या है । इन्द्रियोंका संयम करनेसे ही तपस्याकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव सिद्धिमाप्नोति मानवः ॥ ८ ॥

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य इन्द्रियोंकी विषयासक्तिके कारण ही दोषको प्राप्त होता है और उन्हीं इन्द्रियोंको काबूमें कर लेनेपर वह सिद्धिका भागी होता है ॥ ८ ॥

अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च ।
योगस्य कलया तात न तुल्यं विद्यते फलम् ॥ ९ ॥

तात ! सहस्रों अश्वमेध और सैंकड़ों वाजपेय यज्ञोंका जो फल है, वह योगकी सोलहवीं कलाके फलकी भी समानता नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि जन्मयोगफलं तथा ।
शुकस्याग्र्यां गतिं चैव दुर्विदामकृतात्मभिः ॥ १० ॥

राजन् ! मैं तुम्हें शुकदेवजीका जन्म-वृत्तान्त, योगफल तथा अजितात्मा पुरुषोंकी समझमें न आनेवाली उनकी उत्कृष्ट गति बता रहा हूँ ॥ १० ॥

मेरुश‍ृङ्गे किल पुरा कर्णिकारवनायुते ।
विजहार महादेवो भीमैर्भूतगणैर्वृतः ॥ ११ ॥

कहते हैं, पूर्वकालमें कनेरके वनोंसे सुशोभित मेरुपर्वतके शिखरपर भगवान् शङ्कर भयानक भूतगणोंको साथ ले विहार करते थे ॥ ११ ॥

शैलराजसुता चैव देवी तत्राभवत् पुरा ।
तत्र दिव्यं तपस्तेपे कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ १२ ॥

वहीं गिरिराजकुमारी उमादेवी भी उनके साथ ही निवास करती थीं । उन्हीं दिनों श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास उस पर्वतपर दिव्य तपस्या कर रहे थे ॥ १२ ॥

योगेनात्मानमाविश्य योगधर्मपरायणः ।
धारयन् स तपस्तेपे पुत्रार्थं कुरुसत्तम ॥ १३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! योगधर्मपरायण व्यास योगके द्वारा अपने मनको परमात्मामें लगाकर धारणापूर्वक तपका अनुष्ठान करते थे । उनके तपका उद्देश्य था पुत्रकी प्राप्ति ॥ १३ ॥

अग्नेर्भूमेरपां वायोरन्तरिक्षस्य वा विभो ।
धैर्येण सम्मितः पुत्रो मम भूयादिति स्म ह ॥ १४ ॥

उन्होंने यह संकल्प लेकर कि मुझे अग्नि, भूमि, जल, वायु अथवा आकाशके समान धैर्यशाली पुत्र प्राप्त हो, तपस्या आरम्भ की थी ॥ १४ ॥

संकल्पेनाथ योगेन दुष्प्रापमकृतात्मभिः ।
वरयामास देवेशमास्थितस्तप उत्तमम् ॥ १५ ॥

उक्त संकल्प लेकर योगके द्वारा उत्तम तपस्यामें लगे हुए वेदव्यासजीने अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्लभ देवेश्वर महादेवजीसे वर-प्रार्थना की ॥ १५ ॥

अतिष्ठन्मारुताहारः शतं किल समाः प्रभुः ।
आराधयन्महादेवं बहुरूपमुमापतिम् ॥ १६ ॥

शक्तिशाली व्यासजी सौ वर्षोंतक केवल वायुभक्षण करते हुए अनेक रूपधारी उमापति महादेवजीकी आराधनामें लगे रहे ॥ १६ ॥

तत्र ब्रह्मर्षयश्चैव सर्वे राजर्षयस्तथा।
लोकपालाश्च लोकेशं साध्याश्च वसुभिः सह ॥ १७ ॥
आदित्याश्चैव रुद्राश्च दिवाकरनिशाकरौ।
वसवो मरुतश्चैव सागराः सरितस्तथा ॥ १८ ॥
अश्विनौ देवगन्धर्वास्तथा नारदपर्वतौ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वः सिद्धाश्चाप्सरसस्तथा ॥ १९ ॥

वहाँ सम्पूर्ण ब्रह्मर्षि, सभी राजर्षि, लोकपाल, वसुओंसहित साध्य, आदित्य, रुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, वसुगण, मरुद्गण, समुद्र, सरिताएँ, दोनों अश्विनीकुमार, देवता, गन्धर्व, नारद, पर्वत, गन्धर्वराज विश्वावसु, सिद्ध तथा अप्सराएँ भी लोकेश्वर महादेवजीकी आराधना करती थीं॥

तत्र रुद्रो महादेवः कर्णिकारमयीं शुभाम्।
धारयाणः स्रजं भाति ज्योत्स्नामिव निशाकरः ॥ २० ॥
तस्मिन् दिव्ये वने रम्ये देवदेवर्षिसंकुले।
आस्थितः परमं योगमृषिः पुत्रार्थमच्युतः ॥ २१ ॥

वहाँ महान् रुद्रदेव कनेर पुष्पोंकी मनोहर माला धारण किये चाँदनीसहित चन्द्रमाके समान शोभा पाते थे। देवताओं तथा देवर्षियोंसे भरे हुए उस दिव्य रमणीय वनमें पुत्र-प्राप्तिके लिये परम योगका आश्रय ले मुनिवर व्यास तपस्यामें प्रवृत्त थे और उससे विचलित नहीं होते थे ॥ २०-२१ ॥

न चास्य हीयते प्राणो न ग्लानिरुपजायते।
त्रयाणामपि लोकानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २२ ॥

ऐसा कठोर तप करनेपर भी न तो उनके प्राण नष्ट हुए और न उन्हें थकान ही हुई। यह तीनों लोकोंके लिये अद्भुत-सी बात हुई ॥ २२ ॥

जटाश्च तेजसा तस्य वैश्वानरशिखोपमाः।
प्रज्वलन्त्यः स्म दृश्यन्ते युक्तस्यामिततेजसः ॥ २३ ॥

योगयुक्त हुए अमित तेजस्वी व्यासजीकी जटाएँ उनके तेजसे आगकी लपटोंके समान प्रज्वलित दिखायी देती थीं॥ २३॥

मार्कण्डेयो हि भगवानेतदाख्यातवान् मम।
स देवचरितानीह कथयामास मे सदा ॥ २४ ॥

मुझे तो यह वृत्तान्त भगवान् मार्कण्डेयजीने सुनाया था। वे मुझे सदा ही देवताओंके चरित्र सुनाया करते थे॥ २४॥

एता अद्यापि कृष्णस्य तपसा तेन दीपिताः।
अग्निवर्णा जटास्तात प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ २५ ॥

तात! उसी तपस्यासे उद्दीप्त हुई महात्मा व्यासजीकी ये जटाएँ आज भी अग्निके समान प्रकाशित हो रही हैं ॥ २५॥

एवंविधेन तपसा तस्य भक्त्या च भारत।
महेश्वरः प्रसन्नात्मा चकार मनसा मतिम् ॥ २६ ॥

भारत! उनकी ऐसी तपस्या और भक्ति देखकर महादेवजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने मन-ही-मन उन्हें अभीष्ट वर देनेका विचार किया ॥ २६ ॥

उवाच चैवं भगवांस्त्र्यम्बकः प्रहसन्निव।
एवंविधस्ते तनयो द्वैपायन भविष्यति ॥ २७ ॥

भगवान् शिव व्यासजीके सामने आये और हँसते हुए-से बोले—'द्वैपायन! तुम जैसा चाहते हो, वैसा ही पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा ॥ २७ ॥

यथा ह्यग्निर्यथा वायुर्यथा भूमिर्यथा जलम्।
यथा च खं तथा शुद्धो भविता ते सुतो महान् ॥ २८ ॥

'जैसे अग्नि, जैसे वायु, जैसे पृथ्वी, जैसे जल और जैसे आकाश शुद्ध है, तुम्हारा पुत्र भी वैसा ही शुद्ध एवं महान् होगा ॥ २८ ॥

तद्भावभावी तद्बुद्धिस्तदात्मा तदपाश्रयः।
तेजसाऽऽवृत्य लोकांस्त्रीन् यशः प्राप्स्यति ते सुतः॥२९॥

'वह भगवद्भावमें रँगा होगा, भगवान्‌में ही उसकी बुद्धि होगी, भगवान्‌में ही उसका मन लगा रहेगा और एकमात्र भगवान्‌को ही वह अपना आश्रय समझेगा। उसके तेजसे तीनों लोक व्याप्त हो जायँगे और तुम्हारा वह पुत्र महान् यश प्राप्त करेगा' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी उत्पत्ति और उनके यज्ञोपवीत, वेदाध्ययन एवं समावर्तन संस्कारका वृत्तान्त

भीष्म उवाच

स लब्ध्वा परमं देवाद् वरं सत्यवतीसुतः।
अरणी सहिते गृह्य ममन्थाग्निचिकीर्षया ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! महादेवजीसे उत्तम वर पाकर एक दिन सत्यवतीनन्दन व्यासजी अग्नि प्रकट करनेकी इच्छासे दो अरणी काष्ठ लेकर उनका मन्थन करने लगे॥

अथ रूपं परं राजन् बिभ्रतीं स्वेन तेजसा।
घृताचीं नामाप्सरसमपश्यद् भगवानृषिः ॥ २ ॥

नरेश्वर! इसी समय उन भगवान् महर्षि व्यासने वहाँ आयी हुई घृताची नामक अप्सराको देखा, जो अपने तेजसे परम मनोहर रूप धारण किये हुए थी ॥ २ ॥

ऋषिरप्सरसं दृष्ट्वा सहसा काममोहितः।

अभवद् भगवान् व्यासो वने तस्मिन् युधिष्ठिर ॥ ३ ॥
सा च दृष्ट्वा तदा व्यासं कामसंविग्नमानसम् ।
शुकी भूत्वा महाराज घृताची समुपागमत् ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! उस वनमें उस अप्सराको देखकर ऋषि भगवान् व्यास सहसा कामसे मोहित हो गये । महाराज ! उस समय व्यासजीका हृदय कामसे व्याकुल हुआ देख घृताची अप्सरा शुकी होकर उनके पास आयी ॥ ३-४ ॥

स तामप्सरसं दृष्ट्वा रूपेणान्येन संवृताम् ।
शरीरजेनानुगदः सर्वगात्रातिगेन ह ॥ ५ ॥

उस अप्सराको दूसरे रूपसे छिपी हुई देख उनके सम्पूर्ण शरीरमें कामवेदना व्याप्त हो गयी ॥ ५ ॥

स तु धैर्येण महता निगृह्णन् हृच्छयं मुनिः ।
न शशाक नियन्तुं तद् व्यासः प्रविसृतं मनः ॥ ६ ॥

मुनिवर व्यास महान् धैर्यके साथ अपने कामवेगको रोकने लगे; परंतु अप्सराकी ओर गये हुए मनको रोकनेमें वे किसी तरह समर्थ न हो सके ॥ ६ ॥

भावित्वाच्चैव भावस्य घृताच्या वपुषा हृतः ।
यत्नान्नियच्छतस्तस्य मुनेरग्निचिकीर्षया ॥ ७ ॥
अरण्यामेव सहसा तस्य शुक्रमवापतत् ।

होनहार होकर ही रहती है; इसलिये व्यासजी घृताचीके रूपसे आकृष्ट हो गये । अग्नि प्रकट करनेकी इच्छासे अपने कामवेगको यत्नपूर्वक रोकते हुए महर्षि व्यासका वीर्य सहसा उस अरणीकाष्ठपर ही गिर पड़ा ॥ ७½ ॥

सोऽविशंकेन मनसा तथैव द्विजसत्तमः ॥ ८ ॥
अरणीं ममन्थ ब्रह्मर्षिस्तस्यां जज्ञे शुको नृप ।

नरेश्वर ! उस समय भी द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मर्षि व्यास निःशङ्क मनसे दोनों अरणियोंके मन्थनमें ही लगे रहे । उसी समय अरणीसे शुकदेवजी प्रकट हो गये ॥ ८½ ॥

शुक्रे निर्मथ्यमाने स शुको जज्ञे महातपाः ॥ ९ ॥
परमर्षिर्महायोगी अरणीगर्भसम्भवः ।

अरणीके साथ-साथ शुक्रका भी मन्थन होनेसे महातपस्वी तथा महायोगी परम ऋषि शुकदेवजीका जन्म हो गया । वे अरणीके ही गर्भसे प्रकट हुए ॥ ९½ ॥

यथाध्वरे समिद्धोऽग्निर्भाति हव्यमुदावहम् ॥ १० ॥
तथारूपः शुको जज्ञे प्रज्वलन्निव तेजसा ।

जैसे यज्ञमें हविष्यका वहन करनेवाली प्रज्वलित अग्नि प्रकाशित होती है, वैसे ही रूपसे शुकदेवजी प्रकट हुए थे । वे अपने तेजसे मानो जाज्वल्यमान हो रहे थे ॥ १०½ ॥

बिभ्रत् पितुश्च कौरव्य रूपवर्णमनुत्तमम् ॥ ११ ॥
बभौ तदा भावितात्मा विधूम इव पावकः ।

कुरुनन्दन ! अपने पिताके समान ही परम उत्तम रूप और कान्ति धारण किये पवित्रात्मा शुकदेव धूमरहित अग्निके समान देदीप्यमान हो रहे थे ॥ ११½ ॥

तं गङ्गा सरितां श्रेष्ठा मेरुपृष्ठे जनेश्वर ॥ १२ ॥
स्वरूपिणी तदाभ्येत्य तर्पयामास वारिणा ।

जनेश्वर ! उसी समय सरिताओंमें श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजी मूर्तिमती होकर मेरुपर्वतपर आयीं और उन्होंने अपने जलसे शुकदेवजीको तृप्त किया ॥ १२½ ॥

अन्तरिक्षाच्च कौरव्य दण्डः कृष्णाजिनं च ह ॥ १३ ॥
पपात भूमिं राजेन्द्र शुकस्यार्थे महात्मनः ।

कुरुनन्दन ! राजेन्द्र ! आकाशसे महात्मा शुकदेवके लिये दण्ड और काला मृगचर्म—ये दोनों वस्तुएँ पृथ्वीपर गिरीं ॥ १३½ ॥

जेगीयन्ते स्म गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ १४ ॥
देवदुन्दुभयश्चैव प्रावाद्यन्त महास्वनाः ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वस्तथा तुम्बुरुनारदौ ॥ १५ ॥
हाहा हूहूश्च गन्धर्वौ तुष्टुवुः शुकसम्भवम् ।

गन्धर्व गाने और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं । देवताओंकी दुंदुभियाँ बड़े जोर-जोरसे बज उठीं । विश्वावसु, तुम्बुरु, नारद, हाहा और हूहू आदि गन्धर्व शुकदेवजीके जन्मकी बधाई गाने लगे ॥ १४-१५½ ॥

तत्र शक्रपुरोगाश्च लोकपालाः समागताः ॥ १६ ॥
देवा देवर्षयश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽपि च ।

इन्द्र आदि सम्पूर्ण लोकपाल, देवता, देवर्षि और ब्रह्मर्षि भी वहाँ आये ॥ १६½ ॥

दिव्यानि सर्वपुष्पाणि प्रववर्ष च मारुतः ॥ १७ ॥
जङ्गमाजङ्गमं चैव प्रहृष्टमभवज्जगत् ।

वायुने सब प्रकारके दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की । चर और अचर सारा संसार हर्षसे खिल उठा ॥ १७½ ॥

तं महात्मा स्वयं प्रीत्या देव्या सह महाद्युतिः ॥ १८ ॥
जातमात्रं मुनेः पुत्रं विधिनोपानयत् तदा ।

तब महातेजस्वी महात्मा भगवान् शङ्करने देवी पार्वतीके साथ स्वयं प्रसन्नतापूर्वक पधारकर महर्षि व्यासके उस नवजात पुत्रका विधिपूर्वक उपनयन संस्कार किया ॥ १८½ ॥

तस्य देवेश्वरः शक्रो दिव्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १९ ॥
ददौ कमण्डलुं प्रीत्या देववासांसि वा विभो ।

प्रभो ! उस समय देवेश्वर इन्द्रने उन्हें प्रेमपूर्वक दिव्य एवं अद्भुत कमण्डलु तथा देवोचित वस्त्र प्रदान किये ॥ १९½ ॥

हंसाश्च शतपत्राश्च सारसाश्च सहस्रशः ॥ २० ॥
प्रदक्षिणमवर्तन्त शुकाश्चाषाश्च भारत ।

भारत ! सहस्रों हंस, शतपत्र, सारस, शुक और नीलकण्ठ आदि पक्षी उनकी प्रदक्षिणा करने लगे ॥ २०½ ॥

आरणेयस्ततो दिव्यं प्राप्य जन्म महाद्युतिः ॥ २१ ॥
तत्रैवोवास मेधावी व्रतचारी समाहितः ।

तदनन्तर महातेजस्वी अरणिसम्भूत शुक वह दिव्य जन्म पाकर ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ले वहीं रहने लगे । वे बड़े

बुद्धिमान्, व्रतपालक तथा चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे ॥ २१½ ॥

उत्पन्नमात्रं तं वेदाः सरहस्याः ससंग्रहाः ॥ २२ ॥
उपतस्थुर्महाराज यथास्य पितरं तथा ।

महाराज ! शुकदेवजीके जन्म लेते ही रहस्य और संग्रह-सहित सम्पूर्ण वेद उसी प्रकार उनकी सेवामें उपस्थित हो गये, जैसे वे उनके पिता वेदव्यासकी सेवामें उपस्थित हुए थे ॥

बृहस्पतिं च वव्रे स वेदवेदाङ्गभाष्यवित् ॥ २३ ॥
उपाध्यायं महाराज धर्ममेवानुचिन्तयन् ।

महाराज ! वेद-वेदाङ्गोंकी विस्तृत व्याख्याके ज्ञाता शुकदेवजीने धर्मका विचार करके बृहस्पतिको अपना गुरु बनाया ॥ २३½ ॥

सोऽधीत्य निखिलान् वेदान् सरहस्यान् ससंग्रहान् ॥
इतिहासं च कार्त्स्न्येन राजशास्त्राणि वा विभो ।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावृत्तो महामुनिः ॥ २५ ॥

प्रभो ! महामुनि शुकदेवने उनसे रहस्य और संग्रह-सहित सम्पूर्ण वेदोंका, समूचे इतिहासका तथा राजशास्त्रका भी अध्ययन करके गुरुको दक्षिणा दे समावर्तन संस्कारके पश्चात् घरको प्रस्थान किया ॥ २४-२५ ॥

उग्रं तपः समारेभे ब्रह्मचारी समाहितः ।
देवतानामृषीणां च बाल्येऽपि स महातपाः ।
सम्मन्त्रणीयो मान्यश्च ज्ञानेन तपसा तथा ॥ २६ ॥

उन्होंने एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए उग्र तपस्या प्रारम्भ की । महातपस्वी शुकदेव ज्ञान और तपस्याके द्वारा बाल्यकालमें भी देवताओं तथा ऋषियोंके आदरणीय और उन्हें सलाह देने योग्य हो गये थे ॥ २६ ॥

न त्वस्य रमते बुद्धिराश्रमेषु नराधिप ।
त्रिषु गार्हस्थ्यमूलेषु मोक्षधर्मानुदर्शिनः ॥ २७ ॥

नरेश्वर ! वे मोक्षधर्मपर ही दृष्टि रखते थे; अतः उनकी बुद्धि गार्हस्थ्य आश्रमपर अवलम्बित रहनेवाले तीनों आश्रमोंमें प्रसन्नताका अनुभव नहीं करती थी ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पिताकी आज्ञासे शुकदेवजीका मिथिलामें जाना और वहाँ उनका द्वारपाल, मन्त्री और युवती स्त्रियोंके द्वारा सत्कृत होनेके उपरान्त ध्यानमें स्थित हो जाना

भीष्म उवाच

स मोक्षमनुचिन्त्यैव शुकः पितरमभ्यगात् ।
प्राहाभिवाद्य च गुरुं श्रेयोऽर्थी विनयान्वितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! शुकदेवजी मोक्षका विचार करते हुए ही अपने पिता एवं गुरु व्यासजीके पास गये और विनीतभावसे उनके चरणोंमें प्रणाम करके कल्याण-प्राप्तिकी इच्छा रखकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

मोक्षधर्मेषु कुशलो भगवान् प्रब्रवीतु मे ।
यथा मे मनसः शान्तिः परमा सम्भवेत् प्रभो ॥ २ ॥

'प्रभो ! आप मोक्षधर्ममें कुशल हैं; अतः मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मेरे चित्तको परम शान्ति मिले' ॥ २ ॥

श्रुत्वा पुत्रस्य तु वचः परमर्षिरुवाच तम् ।
अधीष्व पुत्र मोक्षं वै धर्मांश्च विविधानपि ॥ ३ ॥

पुत्रकी वह बात सुनकर महर्षि व्यासने कहा, 'बेटा ! तुम मोक्ष तथा अन्यान्य विविध धर्मोंका अध्ययन करो' ॥ ३ ॥

पितुर्नियोगाज्जग्राह शुको धर्मभृतां वरः ।
योगशास्त्रं च निखिलं कापिलं चैव भारत ॥ ४ ॥

भारत ! पिताकी आज्ञासे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ शुकने सम्पूर्ण योगशास्त्र तथा समस्त सांख्यका अध्ययन किया ॥ ४ ॥

स तं ब्राह्म्या श्रिया युक्तं ब्रह्मतुल्यपराक्रमम् ।
मेने पुत्रं यदा व्यासो मोक्षधर्मविशारदम् ॥ ५ ॥
उवाच गच्छेति तदा जनकं मिथिलेश्वरम् ।
स ते वक्ष्यति मोक्षार्थं निखिलं मिथिलेश्वरः ॥ ६ ॥

जब व्यासजीने यह समझ लिया कि मेरा पुत्र ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और मोक्षधर्ममें कुशल हो गया है तथा समस्त शास्त्रोंमें इसकी ब्रह्माके समान गति हो गयी है, तब उन्होंने कहा—'बेटा ! अब तुम मिथिलाके राजा जनकके पास जाओ । वे मिथिलानरेश तुम्हें सम्पूर्ण मोक्षशास्त्रका सार सिद्धान्त बता देंगे' ॥ ५-६ ॥

पितुर्नियोगमादाय जगाम मिथिलां नृप ।
प्रष्टुं धर्मस्य निष्ठां वै मोक्षस्य च परायणम् ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! पिताकी आज्ञा पाकर शुकदेवजी धर्मकी निष्ठा और मोक्षका परम आश्रय पूछनेके लिये मिथिलाकी ओर चल दिये ॥ ७ ॥

उक्तश्च मानुषेण त्वं पथा गच्छेत्यविस्मितः ।
न प्रभावेण गन्तव्यमन्तरिक्षचरेण वै ॥ ८ ॥

जाते समय व्यासजीने फिर बिना किसी विस्मयके कहा—'बेटा ! जिस मार्गसे साधारण मनुष्य चलते हों, उसीसे तुम भी जाना । अपनी योगशक्तिका आश्रय लेकर आकाशमार्गसे कदापि यात्रा न करना ॥ ८ ॥

आर्जवेणैव गन्तव्यं न सुखान्वेषिणा तथा ।
नान्वेष्टव्या विशेषास्तु विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥ ९ ॥

'सरलभावसे ही यात्रा करनी चाहिये। रास्तेमें सुख और सुविधाकी खोज नहीं करनी चाहिये। विशेष-विशेष व्यक्तियों अथवा स्थानोंका अनुसंधान न करना; क्योंकि इससे उनके प्रति आसक्ति हो जाती है ॥ ९ ॥

अहंकारो न कर्तव्यो याज्ये तस्मिन् नराधिपे।
स्थातव्यं च वशे तस्य स ते छेत्स्यति संशयम् ॥ १० ॥

'राजा जनक मेरे यजमान हैं, ऐसा समझकर उनके प्रति अहंकार न प्रकट करना तथा सब प्रकारसे उनकी आज्ञाके अधीन रहना। वे तुम्हारी सब शङ्काओंका समाधान कर देंगे ॥ १० ॥

स धर्मकुशलो राजा मोक्षशास्त्रविशारदः।
याज्यो मम स यद् ब्रूयात् तत् कार्यमविशङ्कया ॥ ११ ॥

'मेरे यजमान राजा जनक धर्मनिपुण तथा मोक्ष-शास्त्रमें प्रवीण हैं। वे तुम्हें जो आज्ञा दें, उसीका निःशङ्क होकर पालन करना' ॥ ११ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा जगाम मिथिलां मुनिः।
पद्भ्यां शक्तोऽन्तरिक्षेण क्रान्तुं पृथ्वीं ससागराम्। १२।

पिताके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा मुनि शुकदेवजी मिथिलाकी ओर चल दिये। यद्यपि वे आकाशमार्गसे सारी पृथ्वीको लाँघ जानेमें समर्थ थे, तो भी पैदल ही चले ॥ १२ ॥

स गिरींश्चाप्यतिक्रम्य नदीतीर्थसरांसि च।
बहुव्यालमृगाकीर्णा ह्यटवीश्च वनानि च ॥ १३ ॥
मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः।
क्रमेणैवं व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत् ॥ १४ ॥

मार्गमें उन्हें अनेक पर्वत, नदी, तीर्थ और सरोवर पार करने पड़े। बहुत-से सर्पों और वन्य पशुओंसे भरे हुए कितने ही जंगलोंमें होकर जाना पड़ा। उन सबको लाँघकर क्रमशः मेरु (इलावृत) वर्ष, हरिवर्ष और हैमवत (किम्पुरुष) वर्षको पार करते हुए वे भारतवर्षमें आये ॥ १३-१४ ॥

स देशान् विविधान् पश्यंश्चीनहूणनिषेवितान्।
आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः ॥ १५ ॥

चीन और हूण जातिके लोगोंसे सेवित नाना प्रकारके देशोंका दर्शन करते हुए महामुनि शुकदेवजी इस आर्यावर्त देशमें आ पहुँचे ॥ १५ ॥

पितुर्वचनमाज्ञाय तमेवार्थं विचिन्तयन्।
अध्वानं सोऽतिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ॥ १६ ॥

पिताकी आज्ञा मानकर उसी ज्ञातव्य विषयका चिन्तन करते हुए उन्होंने सारा मार्ग पैदल ही तै किया। जैसे आकाशचारी पक्षी आकाशमें विचरता है, उसी प्रकार वे भूतलपर विचरण करते थे ॥ १६ ॥

पत्तनानि च रम्याणि स्फीतानि नगराणि च।
रत्नानि च विचित्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १७ ॥

रास्तेमें बड़े सुन्दर-सुन्दर शहर और कस्बे तथा समृद्धिशाली नगर दिखायी पड़े। भाँति-भाँतिके विचित्र रत्न दृष्टिगोचर हुए; किंतु शुकदेवजी उनकी ओर देखते हुए भी नहीं देखते थे ॥ १७ ॥

उद्यानानि च रम्याणि तथैवायतनानि च।
पुण्यानि चैव रत्नानि सोऽत्यक्रामदथाध्वगः ॥ १८ ॥

पथिक शुकदेवजीने बहुत-से मनोहर उद्यान तथा घर और मन्दिर देखकर उनकी उपेक्षा कर दी। कितने ही पवित्र रत्न उनके सामने पड़े, परंतु वे सबको लाँघकर आगे बढ़ गये ॥ १८ ॥

सोऽचिरेणैव कालेन विदेहानाससाद ह।
रक्षितान् धर्मराजेन जनकेन महात्मना ॥ १९ ॥

इस प्रकार यात्रा करते हुए वे थोड़े ही समयमें धर्मराज महात्मा जनकद्वारा पालित विदेहप्रान्तमें जा पहुँचे ॥

तत्र ग्रामान् बहून् पश्यन् बह्वन्नरसभोजनान्।
पल्लीघोषान् समृद्धांश्च बहुगोकुलसंकुलान् ॥ २० ॥

वहाँ बहुत-से गाँव उनकी दृष्टिमें आये, जहाँ अन्न, पानी तथा नाना प्रकारकी खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रामें मौजूद थी। छोटी-छोटी टोलियाँ तथा गोष्ठ (गौओंके रहनेके स्थान) भी दृष्टिगोचर हुए, जो बड़े समृद्धिशाली और बहुसंख्यक गोसमुदायोंसे भरे हुए थे ॥ २० ॥

स्फीतांश्च शालियवसैर्हंससारससेवितान्।
पद्मिनीभिश्च शतशः श्रीमतीभिरलङ्कृतान् ॥ २१ ॥

सारे विदेहप्रान्तमें सब ओर अगहनी धानकी खेती लहलहा रही थी। वहाँके निवासी धन-धान्यसे सम्पन्न थे। उस देशमें चारों ओर हंस और सारस निवास करते थे। कमलोंसे अलंकृत सैकड़ों सुन्दर सरोवर विदेह-राज्यकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २१ ॥

स विदेहानतिक्रम्य समृद्धजनसेवितान्।
मिथिलोपवनं रम्यमाससाद समृद्धिमत् ॥ २२ ॥

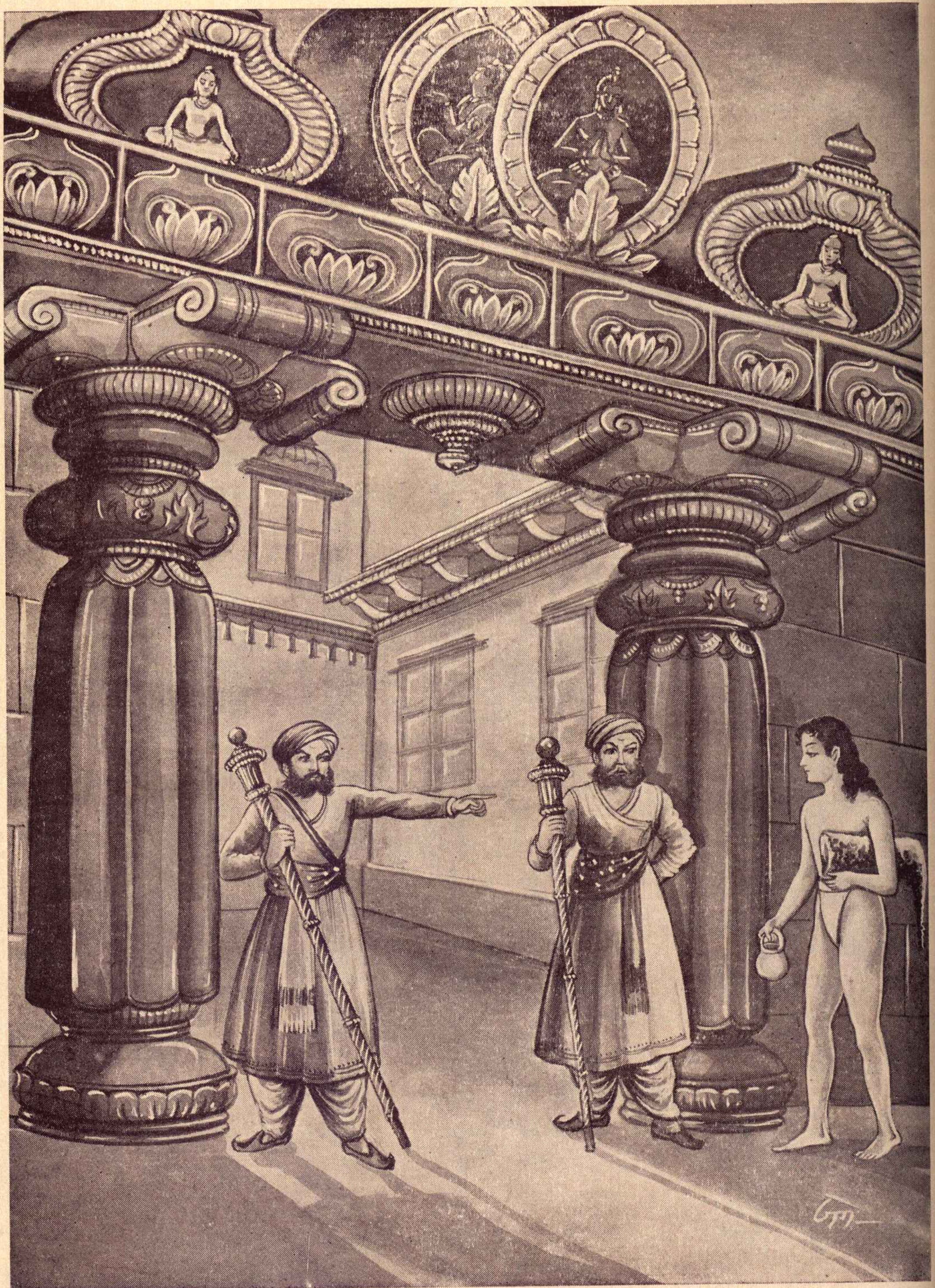
इस प्रकार समृद्धिशाली मनुष्योंद्वारा सेवित विदेह-देशको लाँघकर वे मिथिलाके समृद्धिसम्पन्न रमणीय उपवनके पास जा पहुँचे ॥ २२ ॥

हस्त्यश्वरथसंकीर्णं नरनारीसमाकुलम्।
पश्यन्नपश्यन्निव तत् समतिक्रामदच्युतः ॥ २३ ॥

वह स्थान हाथी, घोड़े और रथोंसे भरा था। असंख्य नर-नारी वहाँ आते-जाते दिखायी देते थे। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले शुकदेवजी वह सब देखकर भी नहीं देखते हुए-से वहाँसे आगे बढ़ गये ॥ २३ ॥

मनसा तं वहन् भारं तमेवार्थं विचिन्तयन्।
आत्मारामः प्रसन्नात्मा मिथिलामाससाद ह ॥ २४ ॥

मनसे जिज्ञासाका भार वहन करते और उस ज्ञेय वस्तु



राजा जनकके द्वारपर शुकदेवजी

का ही चिन्तन करते हुए आत्माराम प्रसन्नचित्त शुकदेवने मिथिलामें प्रवेश किया ॥ २४ ॥

तस्या द्वारं समासाद्य निःशङ्कः प्रविवेश ह ।
तत्रापि द्वारपालास्तमुग्रवाचा न्यषेधयन् ॥ २५ ॥

नगरद्वारपर पहुँचकर वे निःशङ्कभावसे उसके भीतर प्रवेश करने लगे । तब वहाँ द्वारपालोंने कठोर वाणीद्वारा उन्हें डाँटकर भीतर जानेसे रोक दिया ॥ २५ ॥

तथैव च शुकस्तत्र निर्मन्युः समतिष्ठत ।
न चातपाध्वसंतप्तः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ॥ २६ ॥

शुकदेवजी वहीं खड़े हो गये; किंतु उनके मनमें किसी प्रकारका खेद या क्रोध नहीं हुआ । रास्तेकी थकावट और सूर्यकी धूपसे उन्हें संताप नहीं पहुँचा था । भूख और प्यास उन्हें कष्ट नहीं दे सकी थी ॥ २६ ॥

प्रताम्यति ग्लायति वा नापैति च तथाऽऽतपात् ।
तेषां तु द्वारपालानामेकः शोकसमन्वितः ॥ २७ ॥

वे उस धूपसे न तो संतप्त होते थे, न ग्लानिका अनुभव करते थे और न धूपसे हटकर छायामें ही जाते थे । उस समय उन द्वारपालोंमेंसे एकको अपने व्यवहारपर बड़ा दुःख हुआ ॥ २७ ॥

मध्यं गतमिवादित्यं दृष्ट्वा शुकमवस्थितम् ।
पूजयित्वा यथान्यायमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ २८ ॥
प्रावेशयत् ततः कक्ष्यां द्वितीयां राजवेश्मनः ।

उसने मध्याह्नकालीन तेजस्वी सूर्यकी भाँति शुकदेवजीको चुपचाप खड़ा देख हाथ जोड़कर प्रणाम किया और शास्त्रीय विधिके अनुसार उनकी यथोचित पूजा करके उन्हें राजभवनकी दूसरी कक्षामें पहुँचा दिया ॥ २८½ ॥

तत्रासीनः शुकस्तात मोक्षमेवान्वचिन्तयत् ॥ २९ ॥
छायायामातपे चैव समदर्शी महाद्युतिः ।

तात ! वहाँ एक जगह बैठकर महातेजस्वी शुकदेवजी मोक्षका ही चिन्तन करने लगे । धूप हो या छाया, दोनोंमें उनकी समान दृष्टि थी ॥ २९½ ॥

तं मुहूर्तादिवागम्य राज्ञो मन्त्री कृताञ्जलिः ॥ ३० ॥
प्रावेशयत् ततः कक्ष्यां तृतीयां राजवेश्मनः ।

थोड़ी ही देरमें राजमन्त्री हाथ जोड़े हुए वहाँ पधारे और उन्हें अपने साथ महलकी तीसरी ड्योढ़ीमें ले गये ॥

तत्रान्तःपुरसम्बद्धं महच्चैत्ररथोपमम् ॥ ३१ ॥
सुविभक्तजलाक्रीडं रम्यं पुष्पितपादपम् ।
शुकं प्रावेशयन्मन्त्री प्रमदावनमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

वहाँ अन्तःपुरसे सटा हुआ एक बहुत सुन्दर विशाल बगीचा था, जो चैत्ररथ वनके समान मनोहर जान पड़ता था । उसमें पृथक्-पृथक् जल-क्रीड़ाके लिये अनेक सुन्दर जलाशय बने हुए थे । वह रमणीय उपवन खिले हुए वृक्षोंसे सुशोभित होता था । उस उत्तम उद्यानका नाम था प्रमदावन । मन्त्रीने शुकदेवजीको उसके भीतर पहुँचा दिया ॥ ३१-३२ ॥

स तस्यासनमादिश्य निश्चक्राम ततः पुनः ।
तं चारुवेषाः सुश्रोण्यस्तरुण्यः प्रियदर्शनाः ॥ ३३ ॥
सूक्ष्मरक्ताम्बरधरास्तप्तकाञ्चनभूषणाः ।
संलापोल्लापकुशला नृत्यगीतविशारदाः ॥ ३४ ॥
स्मितपूर्वाभिभाषिण्यो रूपेणाप्सरसां समाः ।
कामोपचारकुशला भावज्ञाः सर्वकोविदाः ॥ ३५ ॥
परं पञ्चाशतं नार्यो वारमुख्याः समाद्रवन् ।

वहाँ उनके लिये सुन्दर आसन बताकर राजमन्त्री पुनः प्रमदावनसे बाहर निकल आये । मन्त्रीके जाते ही पचास प्रमुख वाराङ्गनाएँ शुकदेवजीके पास दौड़ी आयीं । उनकी वेषभूषा बड़ी मनोहारिणी थी । वे सब-की-सब देखनेमें परम सुन्दरी और नवयुवती थीं । वे सुरम्य कटिप्रदेशसे सुशोभित थीं । उनके सुन्दर अङ्गोंपर लाल रंगकी महीन साड़ियाँ शोभा पा रही थीं । तपाये हुए सुवर्णके आभूषण उनका सौन्दर्य बढ़ा रहे थे । वे बातचीत करनेमें कुशल और नाचने-गानेकी कलामें बड़ी प्रवीण थीं । उनका रूप अप्सराओंके समान था, वे मन्द मुसकानके साथ बातें करतीं और दूसरोंके मनका भाव समझ लेती थीं । कामचर्यामें कुशल और सम्पूर्ण कलाओं-का विशेष ज्ञान रखनेवाली थीं ॥ ३३—३५½ ॥

पाद्यादीनि प्रतिग्राह्य पूजया परयार्चयन् ॥ ३६ ॥
कालोपपन्नेन तदा स्वाद्वन्नेनाभ्यतर्पयन् ।

उन्होंने पाद्य, अर्घ्य आदि निवेदन करके उत्तम विधिसे शुकदेवजीका पूजन किया और उन्हें समयानुकूल स्वादिष्ट अन्न भोजन कराकर पूर्णतः तृप्त किया ॥ ३६½ ॥

तस्य भुक्तवतस्तात तदन्तःपुरकाननम् ॥ ३७ ॥
सुरम्यं दर्शयामासुरेकैकश्येन भारत ।

तात ! भरतनन्दन ! जब वे भोजन कर चुके, तब वे वाराङ्गनाएँ उन्हें साथ लेकर अन्तःपुरके उस सुरम्य कानन—प्रमदावनकी सैर कराने और वहाँकी एक-एक वस्तुको दिखाने लगीं ॥ ३७½ ॥

क्रीडन्त्यश्च हसन्त्यश्च गायन्त्यश्चापि ताः शुभम् ॥ ३८ ॥
उदारसत्त्वं सत्त्वज्ञाः स्त्रियः पर्यचरंस्तथा ।

उस समय वे हँसती, गाती तथा नाना प्रकारकी सुन्दर क्रीड़ाएँ करती थीं । मनके भावको समझनेवाली वे सुन्दरियाँ उन उदारचित्त शुकदेवजीकी सब प्रकारसे सेवा करने लगीं ॥

आरणेयस्तु शुद्धात्मा निःसंदेहः स्वकर्मकृत् ॥ ३९ ॥
वश्येन्द्रियो जितक्रोधो न हृष्यति न कुप्यति ।

परंतु अरणिसम्भव शुकदेवजीका अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध था । वे इन्द्रियों और क्रोधपर विजय पा चुके थे । उन्हें न तो किसी बातपर हर्ष होता था और न वे किसीपर क्रोध ही

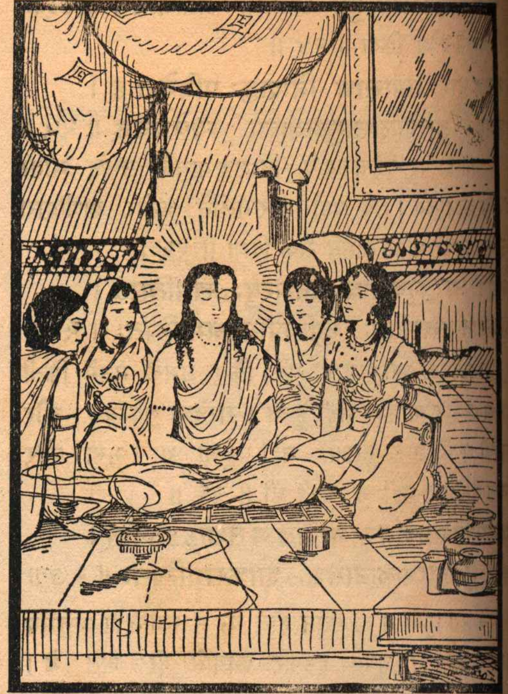
करते थे। उनके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था और वे सदा अपने कर्तव्यका पालन किया करते थे ॥ ३९½ ॥

तस्मै शय्यासनं दिव्यं देवार्हं रत्नभूषितम् ॥ ४० ॥
स्पर्ध्यास्तरणसंकीर्णं ददुस्ताः परमस्त्रियः ।

उन सुन्दरी रमणियोंने देवताओंके बैठने योग्य एक दिव्य पलंग, जिसमें रत्न जड़े हुए थे और जिसपर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे, शुकदेवजीको सोनेके लिये दिया ॥ ४०½ ॥

पादशौचं तु कृत्वैव शुकः संध्यामुपास्य च ॥ ४१ ॥
निषसादासने पुण्ये तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
पूर्वरात्रे तु तत्रासौ भूत्वा ध्यानपरायणः ॥ ४२ ॥
मध्यरात्रे यथान्यायं निद्रामाहारयत् प्रभुः ।

परंतु शुकदेवजीने पहले हाथ-पैर धोकर संध्योपासना की। उसके बाद पवित्र आसनपर बैठकर वे मोक्षतत्त्वका ही विचार करने लगे। रातके पहले पहरमें वे ध्यानस्थ होकर बैठे रहे। फिर रात्रिके मध्यभाग (दूसरे और तीसरे पहर) में प्रभावशाली शुकने यथोचित निद्राको स्वीकार किया ॥



ततो मुहूर्तादुत्थाय कृत्वा शौचमनन्तरम् ॥ ४३ ॥
स्त्रीभिः परिवृतो धीमान् ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ ४४ ॥

तदनन्तर जब दो घड़ी रात बाकी रह गयी, उस समय ब्रह्मवेलामें वे पुनः उठ गये और शौच-स्नान करनेके अनन्तर बुद्धिमान् शुकदेव फिर परमात्माके ध्यानमें ही निमग्न हो गये। उस समय भी वे सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें घेरकर बैठी थीं ॥४३-४४॥

अनेन विधिना कार्ष्णिस्तदहःशेषमच्युतः ।
तां च रात्रिं नृपकुले वर्तयामास भारत ॥ ४५ ॥

भरतनन्दन! इस विधिसे अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले व्यासनन्दन शुकने दिनका शेष भाग और समूची रात उस राजभवनमें रहकर व्यतीत की ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुककी उत्पत्तिविषयक तीन सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३२५॥

षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा जनकके द्वारा शुकदेवजीका पूजन तथा उनके प्रश्नका समाधान करते हुए ब्रह्मचर्याश्रममें परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद अन्य तीनों आश्रमोंकी अनावश्यकताका प्रतिपादन करना तथा मुक्त पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

भीष्म उवाच

ततः स राजा जनको मन्त्रिभिः सह भारत ।
पुरः पुरोहितं कृत्वा सर्वाण्यन्तःपुराणि च ॥ १ ॥
आसनं च पुरस्कृत्य रत्नानि विविधानि च ।
शिरसा चार्घ्यमादाय गुरुपुत्रं समभ्यगात् ॥ २ ॥

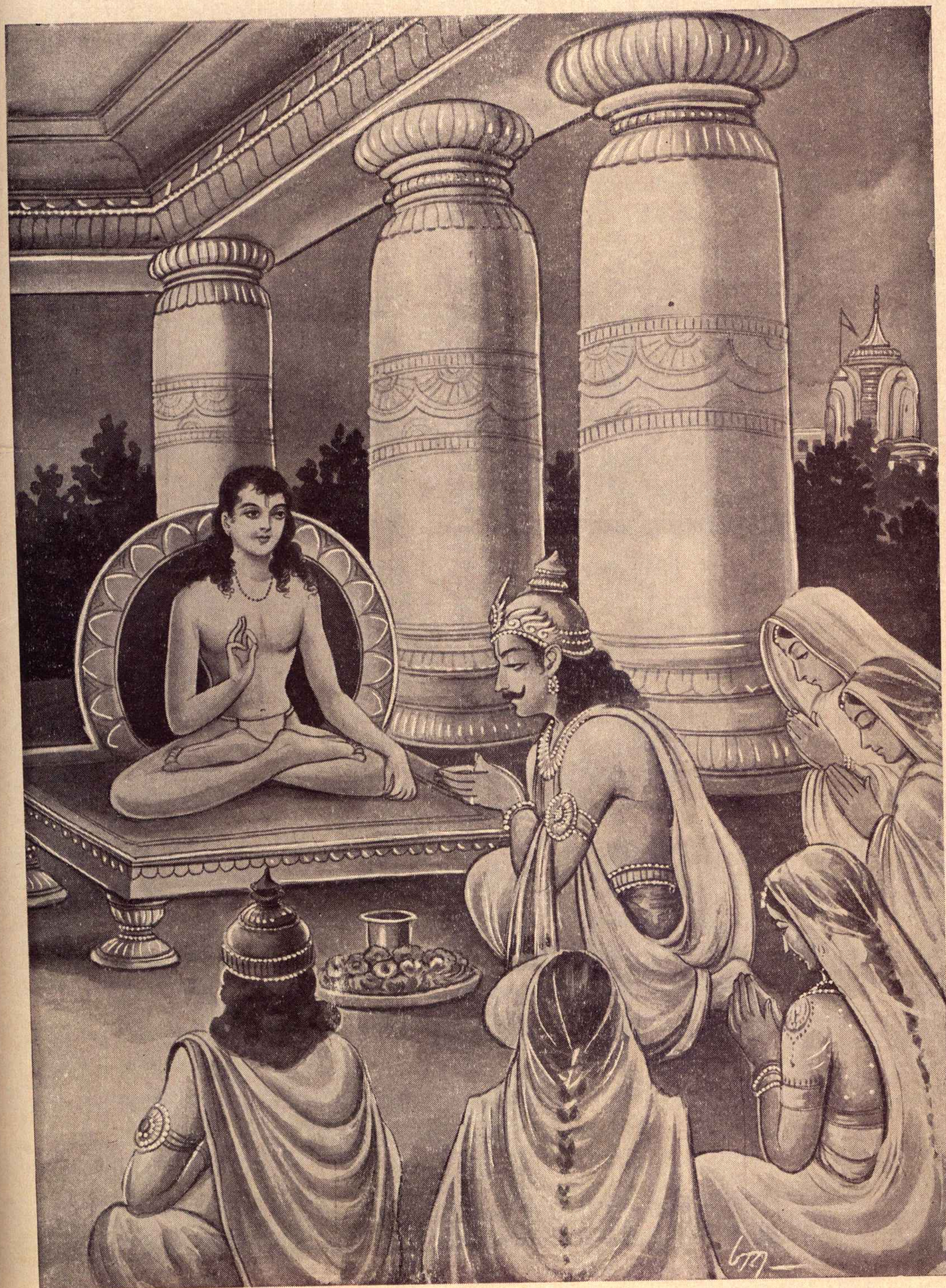
भीष्मजी कहते हैं—भारत! तदनन्तर मन्त्रियोंसहित राजा जनक अन्तःपुरकी सम्पूर्ण स्त्रियों और पुरोहितको आगे करके आसन तथा नाना प्रकारके रत्नोंकी भेंट लिये मस्तकपर अर्घ्यपात्र रखकर गुरुपुत्र शुकदेवजीके पास आये ॥ १-२ ॥

स तदाऽऽसनमादाय बहुरत्नविभूषितम् ।
स्पर्द्ध्यास्तरणसंस्तीर्णं सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ॥ ३ ॥
पुरोधसा संगृहीतं हस्तेनालभ्य पार्थिवः ।
प्रददौ गुरुपुत्राय शुकाय परमार्चितम् ॥ ४ ॥

उस समय जिसे पुरोहितने ले रखा था, वह सर्वतोभद्र नामक बहुरत्नजटित आसन, जिसपर मूल्यवान् बिछौने बिछे हुए थे, उनके हाथसे अपने हाथमें लेकर राजा जनकने गुरुपुत्र शुकदेवको समर्पित किया। वह आसन समृद्धिसे सम्पन्न था॥

तत्रोपविष्टं तं कार्ष्णिं शास्त्रतः प्रत्यपूजयत् ।
पाद्यं निवेद्य प्रथममर्घ्यं गां च न्यवेदयत् ॥ ५ ॥

व्यासपुत्र शुकदेव जब उस आसनपर विराजमान हुए, तब राजा जनकने शास्त्रके अनुसार उनका पूजन आरम्भ किया। पहले पाद्य और अर्घ्य आदि निवेदन करके राजाने उन्हें एक गौ प्रदान की ॥ ५ ॥



राजा जनकके द्वारा शुकदेवजीका पूजन

स च तां मन्त्रवत्पूजां प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकाद् द्विजसत्तमः ॥ ६ ॥
गां चैव समनुज्ञाय राजानमनुमान्य च ।
पर्यपृच्छन्महातेजा राज्ञः कुशलमव्ययम् ॥ ७ ॥

द्विजश्रेष्ठ शुकदेवजीने राजा जनककी ओरसे प्राप्त हुई वह मन्त्रयुक्त सविधि पूजा स्वीकार की । पूजा ग्रहण करनेके पश्चात् गोदान स्वीकार करके राजाको आदर देते हुए महातेजस्वी शुकने उनका सदा बना रहनेवाला कुशल-समाचार पूछा ॥ ६-७ ॥

अनामयं च राजेन्द्र शुकः सानुचरस्य ह ।
अनुशिष्टस्तु तेनासौ निषसाद सहानुगः ॥ ८ ॥
उदारसत्त्वाभिजनो भूमौ राजा कृताञ्जलिः ।
कुशलं चाव्ययं चैव पृष्ट्वा वैयासकिं नृपः ।
किमागमनमित्येवं पर्यपृच्छत पार्थिवः ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! सेवकोंसहित राजाके आरोग्यका समाचार भी उन्होंने पूछा । फिर उनकी आज्ञा ले राजा अपने अनुचरवर्गके साथ वहाँ हाथ जोड़े हुए भूमिपर ही बैठ गये । राजाका हृदय तो उदार था ही, उनका कुल भी परम उदार था । उन पृथ्वीपति नरेशने व्यासनन्दन शुकसे उनके कुशल-मङ्गलकी जिज्ञासा करके पूछा—'ब्रह्मन् ! किस निमित्तसे यहाँ आपका शुभागमन हुआ है ?' ॥ ८-९ ॥

शुक उवाच

पित्राहमुक्तो भद्रं ते मोक्षधर्मार्थकोविदः ।
विदेहराजो याज्यो मे जनको नाम विश्रुतः ॥ १० ॥
तत्र गच्छस्व वै तूर्णं यदि ते हृदि संशयः ।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा स ते च्छेत्स्यति संशयम् ॥ ११ ॥

शुकदेवजीने कहा—राजन् ! आपका कल्याण हो । मेरे पिताजीने मुझसे कहा है कि मेरे यजमान लोकप्रसिद्ध विदेहराज जनक मोक्षधर्मके विशेषज्ञ हैं । यदि प्रवृत्ति या निवृत्ति-धर्मके विषयमें तुम्हारे हृदयमें कोई संदेह हो तो तुरंत ही उनके पास चले जाओ । वे तुम्हारी सारी शङ्काओंका समाधान कर देंगे ॥

सोऽहं पितुर्नियोगात् त्वामुपप्रष्टुमिहागतः ।
तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश ! पिताकी इस आज्ञासे ही मैं यहाँ आपके पास कुछ पूछनेके लिये आया हूँ । आप मेरे प्रश्नोंका यथावत् उत्तर दें ॥ १२ ॥

किं कार्यं ब्राह्मणेनेह मोक्षार्थश्च किमात्मकः ।
कथं च मोक्षः प्राप्तव्यो ज्ञानेन तपसाथवा ॥ १३ ॥

ब्राह्मणका कर्तव्य क्या है ? मोक्षनामक पुरुषार्थका क्या स्वरूप है ? उस मोक्षको ज्ञानसे अथवा तपस्यासे किस साधनसे प्राप्त किया जा सकता है ? ॥ १३ ॥

जनक उवाच

यत् कार्यं ब्राह्मणेनेह जन्मप्रभृति तच्छृणु ।
कृतोपनयनस्तात भवेद् वेदपरायणः ॥ १४ ॥

जनकने कहा—तात ! ब्राह्मणको जन्मसे लेकर जो-जो कर्म करने चाहिये, उनको सुनिये—यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेके बाद ब्राह्मण-बालकको वेदाध्ययनमें तत्पर होना चाहिये ॥

तपसा गुरुवृत्त्या च ब्रह्मचर्येण वा विभो ।
देवतानां पितॄणां चाप्यनृणो ह्यनसूयकः ॥ १५ ॥
वेदानधीत्य नियतो दक्षिणामपवर्ज्य च ।
अभ्यनुज्ञामथ प्राप्य समावर्तेत वै द्विजः ॥ १६ ॥

प्रभो ! तपस्या, गुरुकी सेवा तथा ब्रह्मचर्यका पालन—इन तीन कर्मोंके साथ-साथ वेदाध्ययनका कार्य सम्पन्न करना चाहिये । हवनकर्मद्वारा देवताओंके और तर्पणद्वारा वह पितरोंके ऋणसे मुक्त होनेका यत्न करे । किसीके दोष न देखे और संयमपूर्वक रहकर वेदाध्ययन समाप्त करनेके पश्चात् गुरुको दक्षिणा दे और उनकी आज्ञा लेकर समावर्तन-संस्कारके पश्चात् घरको लौटे ॥ १५-१६ ॥

समावृत्तश्च गार्हस्थ्ये स्वदारनिरतो वसेत् ।
अनसूयुर्यथान्यायमाहिताग्निस्तथैव च ॥ १७ ॥

घर आनेपर विवाह करके गार्हस्थ्यधर्मका पालन करे और अपनी ही स्त्रीके प्रति अनुराग रखे । दूसरोंके दोष न देखकर सबके साथ यथोचित बर्ताव करे और अग्निकी स्थापनाके पश्चात् प्रतिदिन अग्निहोत्र करता रहे ॥ १७ ॥

उत्पाद्य पुत्रपौत्रं तु वन्याश्रमपदे वसेत् ।
तानेवाग्नीन् यथाशास्त्रमर्चयन्नतिथिप्रियः ॥ १८ ॥

वहाँ पुत्र-पौत्र उत्पन्न करके पुत्रको गार्हस्थ्यधर्मका भार सौंपकर वनमें जा वानप्रस्थ आश्रममें रहे । उस समय भी शास्त्रविधिके अनुसार उन्हीं गार्हपत्य आदि अग्नियोंकी आराधना करते हुए अतिथियोंका प्रेमपूर्वक सत्कार करे ॥ १८ ॥

स वनेऽग्नीन् यथान्यायमात्मन्यारोप्य धर्मवित् ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा ब्रह्माश्रमपदे वसेत् ॥ १९ ॥

इसके बाद धर्मज्ञ पुरुष शास्त्रीय विधिके अनुसार अग्निहोत्रकी अग्नियोंका आत्मामें आरोप करके निर्द्वन्द्व एवं वीतराग होकर ब्रह्मचिन्तनसे सम्बन्ध रखनेवाले संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे ॥ १९ ॥

शुक उवाच

उत्पन्ने ज्ञानविज्ञाने निर्द्वन्द्वे हृदि शाश्वते ।
किमवश्यं निवस्तव्यमाश्रमेषु भवेत् त्रिषु ॥ २० ॥

शुकदेवजीने पूछा—राजन् ! यदि किसीके हृदयमें ब्रह्मचर्य आश्रममें ही सनातन ज्ञान-विज्ञान प्रकट हो जाय और हृदयके राग-द्वेष आदि द्वन्द्व दूर हो जायँ तो भी क्या उसके लिये शेष तीन आश्रमोंमें रहना आवश्यक है ? ॥ २० ॥

एतद् भवन्तं पृच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ।
यथा वेदार्थतत्त्वेन ब्रूहि मे त्वं जनाधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! मैं यही बात आपसे पूछता हूँ । आप मुझे यह

बतानेकी कृपा करें। वेदके वास्तविक सिद्धान्तके अनुसार क्या करना उचित है? यह आप मुझे बताइये ॥ २१ ॥

जनक उवाच

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्।
न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः॥ २२॥

जनकने कहा—ब्रह्मन्! जैसे ज्ञान-विज्ञानके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सद्गुरुसे सम्बन्ध हुए बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते।
विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत्॥ २३॥

गुरु इस संसारसागरसे पार उतारनेवाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान यहाँ नौकाके समान बताया जाता है। मनुष्य उस ज्ञानको पाकर भवसागरसे पार और कृतकृत्य हो जाता है। जैसे नदीको पार कर लेनेपर मनुष्य नाव और नाविक दोनोंको छोड़ देता है, उसी प्रकार मुक्त हुआ पुरुष गुरु और ज्ञान दोनोंको छोड़ दे ॥ २३ ॥

अनुच्छेदाय लोकानामनुच्छेदाय कर्मणाम्।
पूर्वैराचरितो धर्मश्चातुराश्रम्यसंकटः॥ २४॥

पहलेके विद्वान् लोकमर्यादाकी तथा कर्मपरम्पराकी रक्षा करनेके लिये चारों आश्रमोंसहित वर्णधर्मोंका पालन करते थे ॥

अनेन क्रमयोगेन बहुजातिषु कर्मणाम्।
हित्वा शुभाशुभं कर्म मोक्षो नामेह लभ्यते॥ २५॥

इस तरह क्रमशः नाना प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए शुभाशुभ कर्मोंकी आसक्तिका परित्याग करनेसे यहाँ मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

भावितैः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु।
आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे॥ २६॥

अनेक जन्मोंसे कर्म करते-करते जब सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पवित्र हो जाती हैं, तब शुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य पहले ही आश्रममें अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रममें मोक्षरूप ज्ञान प्राप्त कर सकता है ॥ २६ ॥

तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः।
त्रिष्वाश्रमेषु को न्वर्थो भवेत् परमभीप्सतः॥ २७॥

उसे पाकर जब ब्रह्मचर्य-आश्रममें ही तत्त्वका साक्षात्कार हो जाय तो परमात्माको चाहनेवाले जीवन्मुक्त विद्वान्‌के लिये शेष तीन आश्रमोंमें जानेकी क्या आवश्यकता है? अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं है ॥ २७ ॥

राजसांस्तामसांश्चैव नित्यं दोषान् विवर्जयेत्।
सात्त्विकं मार्गमास्थाय पश्येदात्मानमात्मना॥ २८॥

विद्वान्‌को चाहिये कि वह राजस और तामस दोषोंका सदा ही परित्याग कर दे और सात्त्विक मार्गका आश्रय लेकर बुद्धिके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करे ॥ २८ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नोपलिप्येत जले वारिचरो यथा॥ २९॥

जो सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको देखता है, वह संसारमें उसी तरह कहीं भी आसक्त नहीं होता जैसे जलचर पक्षी जलमें रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता ॥ २९ ॥

पक्षिवत् प्रवणादूर्ध्वममुत्रानन्त्यमश्नुते।
विहाय देहान्निर्मुक्तो निर्द्वन्द्वः प्रशमं गतः॥ ३०॥

वह तो घोंसलेको छोड़कर उड़ जानेवाले पक्षीकी भाँति इस देहसे पृथक् हो निर्द्वन्द्व एवं शान्त होकर परलोकमें अक्षयपद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

अत्र गाथाः पुरा गीताः शृणु राज्ञा ययातिना।
धार्यन्ते या द्विजैस्तात मोक्षशास्त्रविशारदैः॥ ३१॥

तात! इस विषयमें पूर्वकालमें राजा ययातिके द्वारा गायी हुई गाथाएँ सुनिये, जिन्हें मोक्षशास्त्रके ज्ञाता द्विज सदा याद रखते हैं ॥ ३१ ॥

ज्योतिरात्मनि नान्यत्र सर्वजन्तुषु तत् समम्।
स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा॥ ३२॥

अपने भीतर ही आत्मज्योतिका प्रकाश है, अन्यत्र नहीं। वह ज्योति सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर समानरूपसे स्थित है। अपने चित्तको भलीभाँति एकाग्र करनेवाला उसको स्वयं देख सकता है ॥ ३२ ॥

न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः।
यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३३॥

जिससे दूसरा कोई प्राणी नहीं डरता, जो स्वयं दूसरे किसी प्राणीसे भयभीत नहीं होता तथा जो न तो किसी वस्तुकी इच्छा करता है और न किसीसे द्वेष ही रखता है, वह तत्काल ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३३ ॥

यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३४॥

जब मनुष्य मन, वाणी तथा क्रियाके द्वारा किसी भी प्राणीके प्रति पापभाव नहीं करता अर्थात् समस्त प्राणियोंमें द्वेषरहित हो जाता है, उस समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३४ ॥

संयोज्य मनसाऽऽत्मानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहनीम्।
त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते॥ ३५॥

जब मोहमें डालनेवाली ईर्ष्या, काम एवं मोहका त्याग करके साधक अपने मनको आत्मामें लगा देता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३५ ॥

यदा श्राव्ये च दृश्ये च सर्वभूतेषु चाप्ययम्।
समो भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३६॥

जब यह साधक सुनने और देखने योग्य पदार्थोंमें तथा

सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान भाववाला हो जाता है एवं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाता है, उस समय वह ब्रह्म-भावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

यदा स्तुतिं च निन्दां च समत्वेनैव पश्यति ।
काञ्चनं चायसं चैव सुखं दुःखं तथैव च ॥ ३७ ॥
शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम् ।
जीवितं मरणं चैव ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३८ ॥

जिस समय मनुष्य निन्दा और स्तुतिको समान भावसे समझता है, सोना-लोहा, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, अर्थ-अनर्थ, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मरणमें भी उसकी समान दृष्टि हो जाती है, उस समय वह साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३७-३८ ॥

प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तथेन्द्रियाणि मनसा संयन्तव्यानि भिक्षुणा ॥ ३९ ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार संन्यासीको मनके द्वारा इन्द्रियोंपर नियन्त्रण रखना चाहिये ॥ ३९ ॥

तमःपरिगतं वेश्म यथा दीपेन दृश्यते ।
तथा बुद्धिप्रदीपेन शक्य आत्मा निरीक्षितुम् ॥ ४० ॥

जैसे अन्धकारसे आच्छादित हुआ घर दीपकके प्रकाशसे देखा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानान्धकारसे आवृत हुए आत्माका विशुद्ध बुद्धिरूपी दीपकके द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ ४० ॥

एतत् सर्वं च पश्यामि त्वयि बुद्धिमतां वर ।
यच्चान्यदपि वेत्तव्यं तत्त्वतो वेद तद् भवान् ॥ ४१ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ शुकदेवजी ! उपर्युक्त सारी बातें मुझे आपके भीतर दिखायी देती हैं। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ जानने योग्य तत्त्व है, उसे आप ठीक-ठीक जानते हैं ॥

ब्रह्मर्षे विदितश्चासि विषयान्तमुपागतः ।
गुरोस्तव प्रसादेन तव चैवोपशिक्षया ॥ ४२ ॥

ब्रह्मर्षे ! मैं आपको अच्छी तरह जान गया । आप अपने पिताजीकी कृपा और उन्हींसे मिली हुई शिक्षा-द्वारा विषयोंसे परे हो चुके हैं ॥ ४२ ॥

तस्यैव च प्रसादेन प्रादुर्भूतं महामुने ।
ज्ञानं दिव्यं ममापीदं तेनासि विदितो मम ॥ ४३ ॥

महामुने ! उन्हीं गुरुदेवकी कृपासे मुझे भी यह दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिससे मैं आपकी स्थितिको ठीक-ठीक समझ गया हूँ ॥ ४३ ॥

अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्तव ।
अधिकं तव चैश्वर्यं तच्च त्वं नावबुध्यसे ॥ ४४ ॥

आपका विज्ञान, आपकी गति और आपका ऐश्वर्य—ये सभी अधिक हैं; परंतु आपको इस बातका पता नहीं है ॥ ४४ ॥

बाल्याद् वा संशयाद् वापि भयाद् वाप्यविमोक्षजात् ।
उत्पन्ने चापि विज्ञाने नाधिगच्छति तां गतिम् ॥ ४५ ॥

बालस्वभावके कारण, संशयसे अथवा मोक्ष न मिलनेके काल्पनिक भयसे मनुष्यको विज्ञान प्राप्त हो जानेपर भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४५ ॥

व्यवसायेन शुद्धेन मद्विधैश्छिन्नसंशयः ।
विमुच्य हृदयग्रन्थीनासादयति तां गतिम् ॥ ४६ ॥

मेरे-जैसे लोगोंके द्वारा जिसका संशय नष्ट हो गया है, वह साधक विशुद्ध निश्चयके द्वारा हृदयकी गाँठें खोलकर उस परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥

भवांश्चोत्पन्नविज्ञानः स्थिरबुद्धिरलोलुपः ।
व्यवसायादृते ब्रह्मन्नासादयति तत्परम् ॥ ४७ ॥

ब्रह्मन् ! आपको ज्ञान प्राप्त हो चुका है। आपकी बुद्धि भी स्थिर है तथा आपमें विषयलोलुपताका भी सर्वथा अभाव हो गया है, परंतु विशुद्ध निश्चयके बिना कोई परमात्म-भावको नहीं प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

नास्ति ते सुखदुःखेषु विशेषो नास्ति लोलुपः ।
नौत्सुक्यं नृत्यगीतेषु न राग उपजायते ॥ ४८ ॥

आप सुख-दुःखमें कोई अन्तर नहीं समझते। आपके मनमें लोभ नहीं है। आपको न तो नाच देखनेकी उत्कण्ठा होती है और न गीत सुननेकी। किसी विषयके प्रति आपके मनमें राग नहीं उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥

न बन्धुष्वनुबन्धस्ते न भयेष्वस्ति ते भयम् ।
पश्यामि त्वां महाभाग तुल्यलोष्टाश्मकाञ्चनम् ॥ ४९ ॥

महाभाग ! न तो भाई-बन्धुओंमें आपकी आसक्ति है, न भयदायक पदार्थोंसे आपको भय ही होता है। मैं देखता हूँ, आपके लिये मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण एक-से हैं ॥ ४९ ॥

अहं त्वामनुपश्यामि ये चाप्यन्ये मनीषिणः ।
आस्थितं परमं मार्गमक्षयं तमनामयम् ॥ ५० ॥

मैं तथा दूसरे मनीषी पुरुष भी आपको अक्षय एवं अनामय परम मार्ग (मोक्ष) में स्थित मानते हैं ॥ ५० ॥

यत् फलं ब्राह्मणस्येह मोक्षार्थश्च यदात्मकः ।
तस्मिन् वै वर्तसे ब्रह्मन् किमन्यत् परिपृच्छसि ॥ ५१ ॥

ब्रह्मन् ! इस जगत्में ब्राह्मण होनेका जो फल है और मोक्षका जो स्वरूप है, उसीमें आपकी स्थिति है। अब और क्या पूछना चाहते हैं ? ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकोत्पत्तिविषयक तीन सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीका पिताके पास लौट आना तथा व्यासजीका अपने शिष्योंको स्वाध्यायकी विधि बताना

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं कृतात्मा कृतनिश्चयः।
आत्मनाऽऽत्मानमास्थाय दृष्ट्वा चात्मानमात्मना॥ १ ॥
कृतकार्यः सुखी शान्तस्तूष्णीं प्रायादुदङ्मुखः।
शैशिरं गिरिमुद्दिश्य सधर्मा मातरिश्वनः॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! राजा जनककी यह बात सुनकर विशुद्ध अन्तःकरणवाले शुकदेवजी एक दृढ़ निश्चयपर पहुँच गये और बुद्धिके द्वारा आत्मामें स्थित होकर स्वयं अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करके कृतार्थ हो गये। एवं आनन्दमग्न हो, बड़ी शान्तिका अनुभव करते हुए हिमालयपर्वतको लक्ष्य करके वायुके समान वेगसे चुपचाप उत्तर दिशाकी ओर चल दिये॥ १-२॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवर्षिर्नारदस्तथा।
हिमवन्तमियाद् द्रष्टुं सिद्धचारणसेवितम्॥ ३ ॥

इसी समय देवर्षि नारद सिद्धों और चारणोंसे सेवित हिमालय पर्वतपर उसका दर्शन करनेके लिये आये॥ ३॥

तमप्सरोगणाकीर्णं शान्तस्वननिनादितम्।
किन्नराणां सहस्रैश्च भृङ्गराजैस्तथैव च॥ ४ ॥
मद्गुभिः खञ्जरीटैश्च विचित्रैर्जीवजीवकैः॥ ५ ॥
चित्रवर्णैर्मयूरैश्च केकाशतविराजितैः।
राजहंससमूहैश्च कृष्णैः परभृतैस्तथा॥ ६ ॥

उस पर्वतपर सब ओर अप्सराएँ विचर रही थीं। चारों ओर विविध प्राणियोंकी शान्तिमयी ध्वनिसे वहाँका सारा प्रान्त व्याप्त हो रहा था। सहस्रों किन्नर, भ्रमर, मद्गु, विचित्र खञ्जरीट, चकोर, सैकड़ों मधुर वाणीसे सुशोभित विचित्र वर्णवाले मयूर, राजहंसोंके समुदाय तथा काले कोकिल वहाँ अपनी शान्त मधुर ध्वनि फैला रहे थे॥ ४-६॥

पक्षिराजो गरुत्मांश्च यं नित्यमधितिष्ठति।
चत्वारो लोकपालाश्च देवाः सर्षिगणास्तथा॥ ७ ॥
तत्र नित्यं समायान्ति लोकस्य हितकाम्यया।

पक्षिराज गरुड उस पर्वतपर नित्य विराजमान होते हैं। चारों लोकपाल, देवता तथा ऋषिगण सम्पूर्ण जगत्‌के हितकी कामनासे वहाँ सदा आते रहते हैं॥ ७½॥

विष्णुना यत्र पुत्रार्थे तपस्तप्तं महात्मना॥ ८ ॥
तत्रैव च कुमारेण बाल्ये क्षिप्ता दिवौकसः।
शक्तिर्न्यस्ता क्षितितले त्रैलोक्यमवमन्य वै॥ ९ ॥

वहीं महात्मा श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) ने पुत्रके लिये तप किया था। वहीं कुमार कार्तिकेयने बाल्यावस्थामें देवताओंपर आक्षेप किया था और त्रिलोकीका अपमान करके पृथ्वीमें अपनी शक्ति गाड़ दी थी॥ ८-९॥

तत्रोवाच जगत् स्कन्दः क्षिपन् वाक्यमिदं तदा।
योऽन्योऽस्ति मत्तोऽभ्यधिको विप्रा यस्याधिकं प्रियाः॥
यो ब्रह्मण्यो द्वितीयोऽस्ति त्रिषु लोकेषु वीर्यवान्।
सोऽभ्युद्धरत् त्विमां शक्तिमथवा कम्पयत्विति॥ ११॥

उस समय वहाँ स्कन्दने सम्पूर्ण जगत्‌पर आक्षेप करते हुए यह बात कही थी—'जो कोई भी दूसरा पुरुष मुझसे अधिक बलवान् हो, जिसे ब्राह्मण अधिक प्रिय हों, जो दूसरा व्यक्ति मुझसे भी अधिक ब्राह्मणभक्त तथा तीनों लोकोंमें पराक्रमशाली हो, वह इस शक्तिको उखाड़ दे अथवा हिला दे'॥ १०-११॥

तच्छ्रुत्वा व्यथिता लोकाः क इमामुद्धरेदिति।
अथ देवगणं सर्वं सम्भ्रान्तेन्द्रियमानसम्॥ १२॥
अपश्यद् भगवान् विष्णुः क्षिप्तं सासुरराक्षसम्।
किं त्वत्र सुकृतं कार्यं भवेदिति विचिन्तयन्॥ १३॥

उनकी यह तिरस्कारपूर्ण घोषणा सुनकर सब लोग व्यथित हो उठे और मन-ही-मन सोचने लगे, 'भला, कौन वीर इस शक्तिको उखाड़ सकता है?' उस समय भगवान् विष्णुने देखा कि सम्पूर्ण देवताओंकी इन्द्रियाँ और चित्त भयसे व्याकुल हैं तथा असुर और राक्षसोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌पर स्कन्दद्वारा आक्षेप किया गया है। यह देखकर वे सोचने लगे कि यहाँ क्या करना अच्छा होगा?॥१२-१३॥

अनामृष्य ततः क्षेपमवैक्षत च पावकिम्।
सम्प्रगृह्य विशुद्धात्मा शक्तिं प्रज्वलितां तदा॥ १४॥
कम्पयामास सव्येन पाणिना पुरुषोत्तमः।

तब उस आक्षेपको सहन न करके विशुद्धात्मा भगवान् विष्णुने अग्निकुमार स्कन्दकी ओर देखा। फिर उन पुरुषोत्तमने उस समय उस प्रज्वलित शक्तिको बायें हाथसे पकड़कर हिला दिया॥ १४½॥

शक्त्यां तु कम्प्यमानायां विष्णुना बलिना तदा॥ १५॥
मेदिनी कम्पिता सर्वा सशैलवनकानना।

बलवान् भगवान् विष्णुके द्वारा उस शक्तिके कम्पित किये जानेपर पर्वत, वन और काननोंसहित सारी पृथ्वी काँप उठी॥ १५½॥

शक्तेनापि समुद्धर्तुं कम्पिता साभवत् तदा॥ १६॥
रक्षिता स्कन्दराजस्य धर्षणा प्रभविष्णुना।

यद्यपि प्रभावशाली भगवान् विष्णु उसे उखाड़ फेंकनेमें समर्थ थे तो भी उन्होंने कुमार स्कन्दका तिरस्कार नहीं होने दिया। उन्हें अपमानसे बचा लिया॥ १६½॥

तां कम्पयित्वा भगवान् प्रह्लादमिदमब्रवीत्॥ १७॥
पश्य वीर्यं कुमारस्य नैतदन्यः करिष्यति।

उस शक्तिको हिलाकर भगवान्‌ने प्रह्लादसे कहा—'देखो, कुमारमें कितना बल है ? यह कार्य दूसरा कोई नहीं कर सकेगा' ॥ १७½ ॥

सोऽमृष्यमाणस्तद्वाक्यं समुद्धरणनिश्चितः ॥ १८ ॥
जग्राह तां तदा शक्तिं न चैनां स व्यकम्पयत् ।

भगवान्‌के इस कथनको सहन न कर सकनेके कारण प्रह्लादने स्वयं ही उस शक्तिको उखाड़ फेंकनेका दृढ़ निश्चय कर लिया और उस शक्तिको पकड़कर खींचा; परंतु वे उसे हिला भी न सके ॥ १८½ ॥

नादं महान्तं मुक्त्वा स मूर्च्छितो गिरिमूर्धनि ॥ १९ ॥
विह्वलः प्रापतद् भूमौ हिरण्यकशिपोः सुतः ।

हिरण्यकशिपुकुमार प्रह्लाद बड़े जोरसे चिग्घाड़कर मूर्च्छित एवं व्याकुल हो उस पर्वतशिखरकी भूमिपर गिर पड़े ॥ १९½ ॥

तत्रोत्तरां दिशं गत्वा शैलराजस्य पार्श्वतः ॥ २० ॥
तपोऽतप्यत दुर्धर्ष तात नित्यं वृषध्वजः ।

तात ! उसी गिरिराज हिमालयके पार्श्वभागमें उत्तर दिशाकी ओर जाकर भगवान् वृषध्वज शिवने नित्य-निरन्तर दुर्धर्ष तपस्या की है ॥ २०½ ॥

पावकेन परिक्षिप्तं दीप्यता यस्य चाश्रमम् ॥ २१ ॥
आदित्यपर्वतं नाम दुर्धर्षमकृतात्मभिः ।
न तत्र शक्यते गन्तुं यक्षराक्षसदानवैः ॥ २२ ॥

भगवान् शङ्करके उस आश्रमको प्रज्वलित अग्निने चारों ओरसे घेर रक्खा है । उस पर्वतशिखरका नाम आदित्यगिरि है, जिसपर अजितात्मा पुरुष नहीं चढ़ सकते । यक्ष, राक्षस और दानवोंके लिये वहाँ पहुँचना सर्वथा असम्भव है ॥

दशयोजनविस्तारमग्निज्वालासमावृतम् ।
भगवान् पावकस्तत्र स्वयं तिष्ठति वीर्यवान् ॥ २३ ॥

वह दस योजन विस्तृत शिखर आगकी लपटोंसे घिरा हुआ है । शक्तिशाली भगवान् अग्निदेव वहाँ स्वयं विराजमान हैं ॥ २३ ॥

सर्वान् विघ्नान् प्रशमयन् महादेवस्य धीमतः ।
दिव्यं वर्षसहस्रं हि पादेनैकेन तिष्ठतः ॥ २४ ॥
देवान् संतापयंस्तत्र महादेवो महाव्रतः ।

परम बुद्धिमान् महादेवजी सहस्र दिव्य वर्षोंतक वहाँ एक पैरसे खड़े रहे और उनकी तपस्याके सम्पूर्ण विघ्नोंका निवारण करते हुए अग्निदेव वहीं विराजमान थे । महान् व्रतधारी महादेवजी वहाँ देवताओंको संतप्त करते हुए महान् तपमें प्रवृत्त थे ॥ २४½ ॥

ऐन्द्रीं तु दिशमास्थाय शैलराजस्य धीमतः ॥ २५ ॥
विविक्ते पर्वततटे पाराशर्यो महातपाः ।
वेदानध्यापयामास व्यासः शिष्यान् महामतिः ॥ २६ ॥
सुमन्तुं च महाभागं वैशम्पायनमेव च ।
जैमिनिं च महाप्राज्ञं पैलं चापि तपस्विनम् ॥ २७ ॥

उसी बुद्धिमान् गिरिराज हिमवान्‌की पूर्व दिशाका आश्रय लेकर पर्वतके एकान्त तटप्रान्तमें महातपस्वी महाबुद्धिमान् पराशरनन्दन व्यास अपने शिष्य महाभाग सुमन्तु, महाबुद्धिमान् जैमिनि, तपस्वी पैल तथा वैशम्पायन—इन चार शिष्योंको वेद पढ़ा रहे थे ॥२५—२७॥

यत्र शिष्यैः परिवृतो व्यास आस्ते महातपाः ।
तत्राश्रमपदं रम्यं ददर्श पितुरुत्तमम् ॥ २८ ॥

जहाँ महातपस्वी व्यास अपने शिष्योंसे घिरे हुए बैठे थे, वहाँ शुकदेवजीने अपने पिताके उस रमणीय एवं उत्तम आश्रमको देखा ॥ २८ ॥

आरणेयो विशुद्धात्मा नभसीव दिवाकरः ।
अथ व्यासः परिक्षिप्तं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ २९ ॥
ददर्श सुतमायान्तं दिवाकरसमप्रभम् ।

उस समय विशुद्ध अन्तःकरणवाले अरणीनन्दन शुकदेव आकाशमें स्थित सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे, इतनेहीमें व्यासजीने भी प्रज्वलित अग्नि तथा सूर्यके समान तेजस्वी पुत्रको सब ओर अपनी प्रभा बिखेरते हुए आते देखा ॥

असज्जमानं वृक्षेषु शैलेषु विषयेषु च ।
योगयुक्तं महात्मानं यथा बाणं गुणच्युतम् ॥ ३० ॥

योगयुक्त महात्मा शुकदेव धनुषकी डोरीसे छूटे हुए बाणके समान तीव्र गतिसे आ रहे थे । वे वृक्षों और पर्वतोंमें कहीं भी अटक नहीं पाते थे ॥ ३० ॥

सोऽभिगम्य पितुः पादावगृह्णादरणीसुतः ।
यथोपजोषं तैश्चापि समागच्छन्महामुनिः ॥ ३१ ॥

निकट आकर अरणीपुत्र महामुनि शुकदेवने पिताके दोनों पैर पकड़ लिये और शान्तभावसे उनके अन्य सब शिष्योंके साथ भी मिले ॥ ३१ ॥

ततो निवेदयामास पित्रे सर्वमशेषतः ।
शुको जनकराजेन संवादं प्रीतमानसः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर प्रसन्नचित्त हुए शुकने राजा जनकके साथ जो वार्तालाप हुआ था, वह सारा-का-सारा वृत्तान्त अपने पितासे कह सुनाया ॥ ३२ ॥

एवमध्यापयञ्शिष्यान् व्यासः पुत्रं च वीर्यवान् ।
उवास हिमवत्पृष्ठे पाराशर्यो महामुनिः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार शक्तिशाली महामुनि पराशरनन्दन व्यास अपने शिष्यों और पुत्रको पढ़ाते हुए हिमालयके शिखरपर ही रहने लगे ॥ ३३ ॥

ततः कदाचिच्छिष्यास्तं परिवार्यावतस्थिरे ।
वेदाध्ययनसम्पन्नाः शान्तात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ ३४ ॥
वेदेषु निष्ठां सम्प्राप्य साङ्गेष्वपि तपस्विनः ।
अथोचुस्ते तदा व्यासं शिष्याः प्राञ्जलयो गुरुम् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर किसी समय वेदाध्ययनसे सम्पन्न, शान्तचित्त,

जितेन्द्रिय, साङ्गवेदमें पारङ्गत और तपस्वी शिष्यगण गुरुवर व्यासजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये और उनसे हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले ॥ ३४-३५ ॥

शिष्या ऊचुः

महता तेजसा युक्ता यशसा चापि वर्धिताः ।
एकं त्विदानीमिच्छामो गुरुणानुग्रहं कृतम् ॥ ३६ ॥

शिष्योंने कहा--गुरुदेव ! हम आपकी कृपासे महान् तेजस्वी हो गये हैं। हमारा यश भी चारों ओर बढ़ गया है। अब इस समय हम यह चाहते हैं कि आप एक बार और हमलोगोंपर अनुग्रह करें ॥ ३६ ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा ब्रह्मर्षिस्तानुवाच ह ।
उच्यतामिति तद् वत्सा यद् वः कार्यं प्रियं मया ॥ ३७ ॥

शिष्योंकी यह बात सुनकर ब्रह्मर्षि व्यासने उनसे कहा—'बच्चो ! कहो, क्या चाहते हो ? मुझे तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करना है ?' ॥ ३७ ॥

एतद् वाक्यं गुरोः श्रुत्वा शिष्यास्ते हृष्टमानसाः।
पुनः प्राञ्जलयो भूत्वा प्रणम्य शिरसा गुरुम् ॥ ३८ ॥
ऊचुस्ते सहिता राजन्निदं वचनमुत्तमम् ।
यदि प्रीत उपाध्यायो धन्याः स्मो मुनिसत्तम ॥ ३९ ॥

गुरुदेवका यह वचन सुनकर उन शिष्योंका हृदय हर्षसे खिल उठा। राजन् ! वे पुनः हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर गुरुजीको प्रणाम करके एक साथ यह उत्तम वचन बोले—'मुनिश्रेष्ठ ! आप हमारे उपाध्याय हैं। यदि आप प्रसन्न हैं तो हम धन्य हो गये ॥ ३८-३९ ॥

काङ्क्षामस्तु वयं सर्वे वरं दातुं महर्षिणा ।
षष्ठः शिष्यो न ते ख्यातिं गच्छेदत्र प्रसीद नः ॥ ४० ॥

'हम सब लोग यह चाहते हैं कि महर्षि एक वरदान दें, वह यह कि आपका कोई छठा शिष्य प्रसिद्ध न हो। यहाँ हमलोगोंपर इतनी ही कृपा कीजिये ॥ ४० ॥

चत्वारस्ते वयं शिष्या गुरुपुत्रश्च पञ्चमः ।
इह वेदाः प्रतिष्ठेरन्नेष नः काङ्क्षितो वरः ॥ ४१ ॥

'हम चार आपके शिष्य हैं और पञ्चम शिष्य गुरुपुत्र शुकदेव हैं। इन पाँचोंमें ही आपके पढ़ाये हुए सम्पूर्ण वेद प्रतिष्ठित हों; यही हमारे लिये मनोवाञ्छित वर है' ॥४१॥

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा व्यासो वेदार्थतत्त्ववित् ।
पराशरात्मजो धीमान् परलोकार्थचिन्तकः ॥ ४२ ॥
उवाच शिष्यान् धर्मात्मा धर्म्यं नैःश्रेयसं वचः ।

शिष्योंकी यह बात सुनकर वेदार्थके तत्त्वज्ञ, पारलौकिक अर्थका चिन्तन करनेवाले, धर्मात्मा, पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यासजीने अपने समस्त शिष्योंसे यह धर्मानुकूल कल्याण-कारी वचन कहा—॥ ४२½ ॥

ब्राह्मणाय सदा देयं ब्रह्म शुश्रूषवे तथा ॥ ४३ ॥
ब्रह्मलोके निवासं यो ध्रुवं समभिकाङ्क्षते ।

'शिष्यगण ! जो ब्रह्मलोकमें अटल निवास चाहता हो, उसका कर्तव्य है कि वह पढ़नेकी इच्छासे आये हुए ब्राह्मण-को सदा ही वेद पढ़ावे ॥ ४३½ ॥

भवन्तो बहुलाः सन्तु वेदो विस्तार्यतामयम् ॥ ४४ ॥
नाशिष्ये सम्प्रदातव्यो नाव्रते नाकृतात्मनि ।

'तुमलोग बहुसंख्यक हो जाओ और इस वेदका विस्तार करो। जिसका मन वशमें न हो, जो ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन न करता हो तथा जो शिष्यभावसे पढ़ने न आया हो, उसे वेदाध्ययन नहीं कराना चाहिये ॥ ४४½ ॥

एते शिष्यगुणाः सर्वे विज्ञातव्या यथार्थतः ॥ ४५ ॥
नापरीक्षितचारित्रे विद्या देया कथंचन ।

'ये सभी शिष्यके गुण हैं। किसीको शिष्य बनानेसे पहले उसके इन गुणोंको यथार्थरूपसे परख लेना चाहिये। जिसके सदाचारकी परीक्षा न ली गयी हो, उसे किसी प्रकार विद्यादान नहीं देना चाहिये ॥ ४५½ ॥

यथा हि कनकं शुद्धं तापच्छेदनिकर्षणैः ॥ ४६ ॥
परीक्षेत तथा शिष्यानीक्षेत् कुलगुणादिभिः ।

'जैसे आगमें तपाने, काटने और कसौटीपर कसनेसे शुद्ध सोनेकी परख की जाती है, उसी प्रकार कुल और गुण आदिके द्वारा शिष्योंकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ ४६½ ॥

न नियोज्याश्च वः शिष्या अनियोगे महाभये ॥ ४७ ॥
यथामति यथापाठं तथा विद्या फलिष्यति ।
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ॥ ४८ ॥

'तुमलोग अपने शिष्योंको किसी अनुचित या महान् भयदायक कार्यमें न लगाना। तुम्हारे पढ़ानेपर भी जिसकी जैसी बुद्धि होगी और जो पढ़नेमें जैसा परिश्रम करेगा, उसीके अनुसार उसकी विद्या सफल होगी। सब लोग दुर्गम संकटसे पार हों और सभी अपना कल्याण देखें ॥ ४७-४८ ॥

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।
वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत् स्मृतम् ॥ ४९ ॥

'ब्राह्मणको आगे रखकर चारों वर्णोंको उपदेश देना चाहिये। यह वेदाध्ययन महान् कार्य माना गया है। इसे अवश्य करना चाहिये ॥ ४९ ॥

स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदाः सृष्टाः स्वयम्भुवा ।
यो निर्वदेत सम्मोहाद् ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ ५० ॥
सोऽभिध्यानाद् ब्राह्मणस्य पराभूयादसंशयम् ।

'स्वयम्भू ब्रह्माने यहाँ देवताओंकी स्तुतिके लिये वेदोंकी सृष्टि की है। जो मोहवश वेदके पारङ्गत ब्राह्मणकी निन्दा करता है, वह उसके अनिष्ट-चिन्तनके कारण निस्संदेह पराभवको प्राप्त होता है ॥ ५०½ ॥

यश्चाधर्मेण विब्रूयाद् यश्चाधर्मेण पृच्छति ॥ ५१ ॥
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति ।

'जो धार्मिक विधिका उल्लङ्घन करके प्रश्न करता है

और जो अधर्मपूर्वक उसका उत्तर देता है, उन दोनोंमेंसे एककी मृत्यु हो जाती है अथवा एक दूसरेके द्वेषका पात्र बन जाता है ॥ ५१½ ॥

एतद् वः सर्वमाख्यातं स्वाध्यायस्य विधिं प्रति।
उपकुर्याच्च शिष्याणामेतच्च हृदि वो भवेत् ॥ ५२ ॥

'यह सब मैंने तुमलोगोंसे स्वाध्यायकी विधि बतायी है। यह तुम्हारे हृदयमें सदा स्मरण रहे; क्योंकि यह शिष्यों-का उपकार कर सकती है' ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शिष्योंके जानेके बाद व्यासजीके पास नारदजीका आगमन और व्यासजीको वेदपाठके लिये प्रेरित करना तथा व्यासजीका शुकदेवको अनध्यायका कारण बताते हुए 'प्रवह' आदि सात वायुओंका परिचय देना

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा गुरोर्वाक्यं व्यासशिष्या महौजसः।
अन्योन्यं हृष्टमनसः परिषस्वजिरे तदा ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! अपने गुरु व्यासके इस उपदेशको सुनकर उनके महातेजस्वी शिष्य मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और आपसमें एक-दूसरेको हृदयसे लगाने लगे ॥

उक्ताः स्मो यद् भगवता तदात्वायतिसंहितम्।
तन्नो मनसि संरूढं करिष्यामस्तथा च तत् ॥ २ ॥

फिर व्यासजीसे बोले—'भगवन्! आपने भविष्यमें हमारे हितका विचार करके जो बातें बतायी हैं, वे हमारे मनमें बैठ गयी हैं। हम अवश्य उनका पालन करेंगे' ॥ २ ॥

अन्योन्यं संविभाष्यैवं सुप्रीतमनसः पुनः।
विज्ञापयन्ति स्म गुरुं पुनर्वाक्यविशारदाः ॥ ३ ॥

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करके गुरु और शिष्य सभी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर प्रवचनकुशल शिष्यों-ने गुरुसे इस प्रकार निवेदन किया—॥ ३ ॥

शैलादस्मान्महीं गन्तुं काङ्क्षितं नो महामुने।
वेदाननेकधा कर्तुं यदि ते रुचितं प्रभो ॥ ४ ॥

'महामुने! अब हम इस पर्वतसे पृथ्वीपर जाना चाहते हैं। वेदोंके अनेक विभाग करके उनका प्रचार करना ही हमारी इस यात्राका उद्देश्य है। प्रभो! यदि आपको यह रुचिकर जान पड़े तो हमें जानेकी आज्ञा दें' ॥ ४ ॥

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ॥ ५ ॥

शिष्योंकी यह बात सुनकर पराशरनन्दन भगवान् व्यास यह धर्म और अर्थयुक्त हितकर वचन बोले—॥ ५ ॥

क्षितिं वा देवलोकं वा गम्यतां यदि रोचते।
अप्रमादश्च वः कार्यो ब्रह्म हि प्रचुरच्छलम् ॥ ६ ॥

'शिष्यो! यदि तुम्हें यही अच्छा लगता है तो तुम पृथ्वीपर या देवलोकमें जहाँ चाहो जा सकते हो; परंतु प्रमाद न करना; क्योंकि वेदमें बहुत सी प्ररोचनात्मक श्रुतियाँ हैं, जो व्याजसे (फलोंका लोभ दिखाकर) धर्मका प्रतिपादन करती हैं' ॥ ६ ॥

तेऽनुज्ञातास्ततः सर्वे गुरुणा सत्यवादिना।
जग्मुः प्रदक्षिणं कृत्वा व्यासं मूर्ध्नाभिवाद्य च ॥ ७ ॥

सत्यवादी गुरुकी यह आज्ञा पाकर सभी शिष्योंने उनके चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम किया। तत्पश्चात् वे व्यासजी-की प्रदक्षिणा करके वहाँसे चले गये' ॥ ७ ॥

अवतीर्य महीं तेऽथ चातुर्होत्रमकल्पयन्।
संयाजयन्तो विप्रांश्च राजन्यांश्च विशस्तथा ॥ ८ ॥
पूज्यमाना द्विजैर्नित्यं मोदमाना गृहे रताः।
याजनाध्यापनरताः श्रीमन्तो लोकविश्रुताः ॥ ९ ॥

पृथ्वीपर उतरकर उन्होंने चातुर्होत्र कर्म (अग्निहोत्रसे लेकर सोमयागतक) का प्रचार किया और गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंके यज्ञ कराते हुए वे द्विजातियोंसे पूजित हो बड़े आनन्दसे रहने लगे। यज्ञ कराने और वेदोंकी शिक्षा देनेमें ही वे तत्पर रहते थे। इन्हीं कर्मोंके कारण वे श्रीसम्पन्न और लोक-विख्यात हो गये थे ॥ ८-९ ॥

अवतीर्णेषु शिष्येषु व्यासः पुत्रसहायवान्।
तूष्णीं ध्यानपरो धीमानेकान्ते समुपाविशत् ॥ १० ॥

शिष्योंके पर्वतसे नीचे उतर जानेपर व्यासजीके साथ उनके पुत्र शुकदेवके सिवा और कोई नहीं रह गया। वे बुद्धिमान् व्यासजी एकान्तमें ध्यानमग्न होकर चुपचाप बैठे थे ॥ १० ॥

तं ददर्शाश्रमपदे नारदः सुमहातपाः।
अथैनमब्रवीत् काले मधुराक्षरया गिरा ॥ ११ ॥

उसी समय महातपस्वी नारदजी उस आश्रमपर पधारकर व्यासजीसे मिले और मधुर अक्षरोंसे युक्त मीठी वाणीमें उनसे इस प्रकार बोले—॥ ११ ॥



भो भो ब्रह्मर्षिवासिष्ठ ब्रह्मघोषो न वर्तते।
एको ध्यानपरस्तूष्णीं किमास्से चिन्तयन्निव ॥ १२ ॥

'हे ब्रह्मर्षिवासिष्ठ ! आज आपके इस आश्रममें वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि क्यों नहीं हो रही है ? आप अकेले ध्यानमग्न होकर चुपचाप क्यों बैठे हैं ? जान पड़ता है, आप किसी चिन्तामें मग्न हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्मघोषैर्विरहितः पर्वतोऽयं न शोभते।
रजसा तमसा चैव सोमः सोपप्लवो यथा ॥ १३ ॥
न भ्राजते यथापूर्वं निषादानामिवालयः।
देवर्षिगणजुष्टोऽपि वेदध्वनिनिराकृतः ॥ १४ ॥

'वेदध्वनि न होनेके कारण इस पर्वतकी पहले-जैसी शोभा नहीं रही। रज और तमसे आच्छन्न हो यह राहुग्रस्त चन्द्रमाके समान जान पड़ता है। देवर्षियोंसे सेवित होनेपर भी यह शैल-शिखर ब्रह्मघोषके बिना भीलोंके घरकी तरह श्रीहीन प्रतीत होता है ॥ १३-१४ ॥

ऋषयश्च हि देवाश्च गन्धर्वाश्च महौजसः।
वियुक्ता ब्रह्मघोषेण न भ्राजन्ते यथा पुरा ॥ १५ ॥

'यहाँके ऋषि, देवता और महाबली गन्धर्व भी ब्रह्मघोष-से विमुक्त हो अब पहलेकी भाँति शोभा नहीं पा रहे हैं' ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।
महर्षे यत् त्वया प्रोक्तं वेदवादविचक्षण ॥ १६ ॥
एतन्मनोऽनुकूलं मे भवानर्हति भाषितुम्।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वत्र च कुतूहली ॥ १७ ॥

नारदजीकी बात सुनकर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने कहा—'वेदविद्याके विद्वान् महर्षे ! आपने जो कुछ कहा है, यह मेरे मनके अनुकूल ही है। आप ही ऐसी बात कह सकते हैं। आप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सर्वत्रकी बातें जाननेके लिये उत्कण्ठित रहनेवाले हैं ॥ १६-१७ ॥

त्रिषु लोकेषु यद् भूतं सर्वं तव मते स्थितम्।
तदाज्ञापय विप्रर्षे ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १८ ॥

'तीनों लोकोंमें जो बात होती है या हो चुकी है, वह सब आपकी जानकारीमें है। ब्रह्मर्षे ! बताइये, आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ १८ ॥

यन्मया समनुष्ठेयं ब्रह्मर्षे तदुदाहर।
विमुक्तस्येह शिष्यैर्मे नातिहृष्टमिदं मनः ॥ १९ ॥

'ब्रह्मर्षि नारद ! इस समय मेरा जो कर्तव्य है, उसे भी बताइये। अपने प्यारे शिष्योंसे बिछुड़ जानेके कारण इस समय मेरा यह मन विशेष प्रसन्न नहीं है' ॥ १९ ॥

नारद उवाच

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम्।
मलं पृथिव्या वाहीकाः स्त्रीणां कौतूहलं मलम् ॥ २० ॥

नारदजीने कहा—व्यासजी ! वेद पढ़कर उसका अभ्यास (पुनरावृत्ति) न करना वेदाध्ययनका दूषण है। व्रतका पालन न करना ब्राह्मणका दूषण है। वाहीक देशके लोग पृथ्वीके दूषण हैं और नये-नये खेल-तमाशा देखनेकी लालसा स्त्रीके लिये दोषकी बात है ॥ २० ॥

अधीयतां भवान् वेदान् सार्धं पुत्रेण धीमता।
विधुन्वन् ब्रह्मघोषेण रक्षोभयकृतं तमः ॥ २१ ॥

आप अपने वेदोच्चारणकी ध्वनिसे राक्षसभयजनित अन्धकारका नाश करते हुए बुद्धिमान् पुत्र शुकदेवजीके साथ वेदोंका स्वाध्याय करते रहें ॥ २१ ॥

भीष्म उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा व्यासः परमधर्मवित्।
तथेत्युवाच संहृष्टो वेदाभ्यासदृढव्रतः ॥ २२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! नारदजीकी बात सुनकर परम धर्मज्ञ व्यासजीने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और हर्षमें भरकर वे वेदाभ्यासरूपी व्रतका दृढतापूर्वक पालन करने लगे ॥ २२ ॥

शुकेन सह पुत्रेण वेदाभ्यासमथाकरोत्।
स्वरेणोच्चैः स शैक्ष्येण लोकानापूरयन्निव ॥ २३ ॥

उन्होंने अपने पुत्र शुकदेवके साथ शिक्षाके नियमानुसार उच्चस्वरसे तीनों लोकोंको परिपूर्ण करते हुए-से वेदोंकी आवृत्ति आरम्भ कर दी ॥ २३ ॥

तयोरभ्यसतोरेव नानाधर्मप्रवादिनोः।
वातोऽतिमात्रं प्रववौ समुद्रानिलवेजितः ॥ २४ ॥

नाना प्रकारके धर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले वे पिता-पुत्र उक्त रूपसे वेदोंका अभ्यास कर ही रहे थे कि समुद्री हवासे प्रेरित होकर बड़े जोरकी आँधी चलने लगी ॥ २४ ॥

ततोऽनध्याय इति तं व्यासः पुत्रमवारयत् ।
शुको वारितमात्रस्तु कौतूहलसमन्वितः ॥ २५ ॥

तब अनध्याय-काल बताकर व्यासजीने अपने पुत्रको वेद पढ़नेसे उस समय रोक दिया । उनके मना करनेपर शुकदेवजीके मनमें इसका कारण जाननेके लिये प्रबल उत्कण्ठा हुई ॥ २५ ॥

अपृच्छत् पितरं ब्रह्मन् कुतो वायुरभूदयम् ।
आख्यातुमर्हति भवान् वायोः सर्वं विचेष्टितम् ॥ २६ ॥

उन्होंने अपने पितासे पूछा—'ब्रह्मन् ! इस वायुकी उत्पत्ति किससे हुई है ? आप वायुकी सारी चेष्टाओंका विस्तारपूर्वक वर्णन करें' ॥ २६ ॥

शुकस्यैतद् वचः श्रुत्वा व्यासः परमविस्मितः ।
अनध्यायनिमित्तेऽस्मिन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥

शुकदेवजीका यह वचन सुनकर व्यासजी अत्यन्त आश्चर्यसे चकित हो उठे और अनध्यायके कारणपर प्रकाश डालते हुए इस प्रकार बोले— ॥ २७ ॥

दिव्यं ते चक्षुरुत्पन्नं स्वयं ते निर्मलं मनः ।
तमसा रजसा चापि त्यक्तः सत्त्वे व्यवस्थितः ॥ २८ ॥

'बेटा ! तुम्हें स्वयं ही दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है । तुम्हारा हृदय अत्यन्त निर्मल है । तुम रजोगुण और तमोगुणसे रहित होकर सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित हो ॥ २८ ॥

आदर्शे स्वामिव च्छायां पश्यस्यात्मानमात्मना।
न्यस्यात्मनि स्वयं वेदान् बुद्ध्या समनुचिन्तय ॥ २९ ॥

'जैसे लोग दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं, उसी प्रकार तुम बुद्धिके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करते हो; अतः स्वयं ही वेदोंको अपने भीतर स्थापित करके बुद्धिद्वारा अनध्यायके कारणभूत वायुके विषयमें विचार करो ॥ २९ ॥

देवयानचरो विष्णोः पितृयाणश्च तामसः ।
द्वावेतौ प्रेत्य पन्थानौ दिवं चाधश्च गच्छतः ॥ ३० ॥

'मरकर ऊपरके लोकोंमें जानेवाले और नीचेके लोकोंमें जानेवाले मनुष्योंके लिये दो मार्ग हैं, एक तो देवयान जो कि विष्णुलोकका मार्ग है, अतः सात्त्विक है, दूसरा पितृयान जो कि तामस है ॥ ३० ॥

पृथिव्यामन्तरिक्षे च यत्र संवान्ति वायवः ।
सप्तैते वायुमार्गा वै तान् निबोधानुपूर्वशः ॥ ३१ ॥

'पृथ्वीपर या आकाशमें जहाँ भी हवा चलती है, उसके बहनेके लिये सात मार्ग हैं । तुम क्रमशः उनका वर्णन सुनो ॥

तत्र देवगणाः साध्या महाभूता महाबलाः ।
तेषामप्यभवत् पुत्रः समानो नाम दुर्जयः ॥ ३२ ॥

'पृथ्वी और आकाशमें जो महाबली और महान् भूतस्वरूप साध्य नामक देवगण अदृश्यभावसे रहते हैं, उनके दुर्जय पुत्रका नाम है समान ॥ ३२ ॥

उदानस्तस्य पुत्रोऽभूद् व्यानस्तस्याभवत् सुतः।
अपानश्च ततो ज्ञेयः प्राणश्चापि ततोऽपरः ॥ ३३ ॥

'समानका पुत्र है उदान, उदानका पुत्र है व्यान, उसके पुत्रका नाम अपान जानना चाहिये और अपानसे प्राणकी उत्पत्ति हुई है ॥ ३३ ॥

अनपत्योऽभवत् प्राणो दुर्धर्षः शत्रुतापनः ।
पृथक् कर्माणि तेषां ते प्रवक्ष्यामि यथातथम् ॥ ३४ ॥

'प्राणके कोई संतान नहीं हुई । वह शत्रुओंको संताप देनेवाला और दुर्जय है । उन सबके कर्म पृथक्-पृथक् हैं, जिनका मैं तुमसे यथावत्‌रूपसे वर्णन करता हूँ ॥ ३४ ॥

प्राणिनां सर्वतो वायुश्चेष्टां वर्तयते पृथक् ।
प्राणनाच्चैव भूतानां प्राण इत्यभिधीयते ॥ ३५ ॥

'वायुदेव प्राणियोंकी पृथक् पृथक् समस्त चेष्टाओंका सम्पादन करते हैं तथा सम्पूर्ण भूतोंको अनुप्राणित (जीवित) रखते हैं, इसलिये 'प्राण' कहलाते हैं ॥ ३५ ॥

प्रेरयत्यभ्रसंघातान् धूमजांश्चोष्मजांश्च यः ।
प्रथमः प्रथमे मार्गे प्रवहो नाम योऽनिलः ॥ ३६ ॥

'जो धूम तथा गर्मीसे उत्पन्न बादलों और ओलोंको इधरसे उधर ले जाता है, वह प्रथम मार्गमें प्रवाहित होनेवाला 'प्रवह' नामक प्रथम वायु है ॥ ३६ ॥

अम्बरे स्नेहमभ्येत्य विद्युद्भ्यश्च महाद्युतिः ।
आवहो नाम संवाति द्वितीयः श्वसनो नदन् ॥ ३७ ॥

'जो आकाशमें रसकी मात्राओं और बिजली आदिकी उत्पत्तिके लिये प्रकट होता है, वह महान् तेजसे सम्पन्न द्वितीय वायु 'आवह' नामसे प्रसिद्ध है । वह बड़ी भारी आवाजके साथ बहता है ॥ ३७ ॥

उदयं ज्योतिषां शश्वत् सोमादीनां करोति यः ।
अन्तर्देहेषु चोदानं यं वदन्ति मनीषिणः ॥ ३८ ॥
यश्चतुर्भ्यः समुद्रेभ्यो वायुर्धारयते जलम् ।
उद्धृत्याददते चापो जीमूतेभ्योऽम्बरेऽनिलः ॥ ३९ ॥
योऽद्भिः संयोज्य जीमूतान् पर्जन्याय प्रयच्छति ।
उद्वहो नाम बंहिष्ठस्तृतीयः स सदागतिः ॥ ४० ॥

'जो सदा सोम, सूर्य आदि ग्रहोंका उदय एवं उद्भव करता है, मनीषी पुरुष शरीरके भीतर जिसे 'उदान' कहते हैं, जो चारों समुद्रोंसे जलको ऊपर उठाकर जीमूत नामक मेघोंमें स्थापित करता है तथा जीमूत नामक मेघोंको जलसे संयुक्त करके उन्हें पर्जन्यके हवाले कर देता है, वह महान् वायु 'उद्वह' कहलाता है, जो तृतीय मार्गपर चलनेके कारण तीसरा कहा गया है ॥ ३८–४० ॥

समूह्यमाना बहुधा येन नीताः पृथग् घनाः ।
वर्षमोक्षकृतारम्भास्ते भवन्ति घनाघनाः ॥ ४१ ॥
संहता येन चाविद्धा भवन्ति नदतां नदाः ।
रक्षणार्थाय सम्भूता मेघत्वमुपयान्ति च ॥ ४२ ॥

योऽसौ वहति भूतानां विमानानि विहायसा ।
चतुर्थः संवहो नाम वायुः स गिरिमर्दनः ॥ ४३ ॥

'जिसके द्वारा इधर-उधर ले जाये गये अनेक प्रकारके महामेघ घटा बाँधकर जल बरसाना आरम्भ करते हैं, घटाके रूपमें घनीभूत होनेपर भी जिसकी प्रेरणासे सारे बादल फट जाते हैं, फिर वे वेणुनादके समान शब्द करनेके कारण 'नद' कहलाते हैं तथा प्राणियोंकी रक्षाके लिये पुनः जलका संग्रह करके घनीभूत हो जाते हैं, जो वायु देवताओंके आकाशमार्गसे जानेवाले विमानोंको स्वयं ही वहन करता है, वह पर्वतोंका मान मर्दन करनेवाला चतुर्थ वायु 'संवह' नामसे प्रसिद्ध है ॥

येन वेगवता रुग्णा रूक्षेण रुवता नगान् ।
वायुना सहिता मेघास्ते भवन्ति बलाहकाः ॥ ४४ ॥
दारुणोत्पातसंचारो नभसः स्तनयित्नुमान् ।
पञ्चमः स महावेगो विवहो नाम मारुतः ॥ ४५ ॥

'जो रुक्षभावसे वेगपूर्वक महान् शब्दके साथ बहकर बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ देता और उखाड़ फेंकता है तथा जिसके द्वारा संगठित हुए प्रलयकालीन मेघ 'बलाहक' संज्ञा धारण करते हैं, जिस वायुका संचरण भयानक उत्पात लानेवाला होता है तथा जो आकाशसे अपने साथ मेघोंकी घटाएँ लिये चलता है, उस अत्यन्त वेगशाली पञ्चम वायुको 'विवह' नाम दिया गया है ॥ ४४-४५ ॥

यस्मिन् पारिप्लवा दिव्या वहन्त्यापो विहायसा ।
पुण्यं चाकाशगङ्गायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठति ॥ ४६ ॥
दूरात् प्रतिहतो यस्मिन्नेकरश्मिर्दिवाकरः ।
योनिरंशुसहस्रस्य येन भाति वसुन्धरा ॥ ४७ ॥
यस्मादाप्यायते सोमो निधिर्दिव्योऽमृतस्य च ।
षष्ठः परिवहो नाम स वायुर्जयतां वरः ॥ ४८ ॥

'जिस वायुके आधारपर आकाशमें दिव्य जल ऊपर-ही-ऊपर प्रवाहित होते हैं, जो आकाशगङ्गाके पवित्र जलको धारण करके स्थित है और जिसके द्वारा दूरसे ही प्रतिहत होकर सहस्रों किरणोंके उत्पत्तिस्थान सूर्यदेव, जिनसे यह पृथ्वी प्रकाशित होती है, एक ही किरणसे युक्त जान पड़ते हैं तथा जिससे अमृतकी दिव्य निधि चन्द्रमाका भी पोषण होता है, वह विजयशीलोंमें श्रेष्ठ छठा वायुतत्त्व 'परिवह' नामसे प्रसिद्ध है ॥ ४६—४८ ॥

सर्वप्राणभृतां प्राणान् योऽन्तकाले निरस्यति ।
यस्य वर्त्मानुवर्तेते मृत्युवैवस्वतावुभौ ॥ ४९ ॥
सम्यगन्वीक्षतां बुद्ध्या शान्तयाध्यात्मनित्यया ।
ध्यानाभ्यासाभिरामाणां योऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ५० ॥
यं समासाद्य वेगेन दिशोऽन्तं प्रतिपेदिरे ।
दक्षस्य दशपुत्राणां सहस्राणि प्रजापतेः ॥ ५१ ॥
येन स्पृष्टः पराभूतो यात्येव न निवर्तते ।
परावहो नाम परो वायुः स दुरतिक्रमः ॥ ५२ ॥

'जो वायु अन्तकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्राणोंको शरीरसे निकालता है, जिसके इस प्राणनिष्कासनरूप मार्गका मृत्यु तथा वैवस्वत यम अनुगमनमात्र करते हैं, सदा अध्यात्मचिन्तनमें लगी हुई शान्त बुद्धिके द्वारा भलीभाँति अनुसंधान करनेवाले तथा ध्यानके अभ्यासमें ही सानन्द रत रहनेवाले पुरुषोंको जो अमृतत्व देनेमें समर्थ है, जिसमें स्थित होकर प्रजापति दक्षके दस हजार पुत्र सम्पूर्ण दिशाओंके अन्तमें पहुँच गये तथा जिससे स्पर्शित होकर विलीन हुआ प्राणी यहाँसे केवल जाता है वापस नहीं लौटता, उस सर्वश्रेष्ठ सप्तम वायुका नाम 'परावह' है । उसका अतिक्रमण करना सभीके लिये सर्वथा कठिन है ॥ ४९—५२ ॥

एवमेते दितेः पुत्रा मारुताः परमाद्भुताः ।
अनारतं ते संवान्ति सर्वगाः सर्वधारिणः ॥ ५३ ॥

'इस प्रकार ये सात मरुद्गण दितिके अत्यन्त अद्भुत पुत्र हैं। इनकी सर्वत्र गति है । ये निरन्तर बहते और सबको धारण करते हैं ॥ ५३ ॥

एतत् तु महदाश्चर्यं यदयं पर्वतोत्तमः ।
कम्पितः सहसा तेन वायुनातिप्रवायता ॥ ५४ ॥

'यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि अत्यन्त वेगसे बहते हुए उस वायुके द्वारा यह पर्वतोंमें श्रेष्ठ हिमालय भी सहसा काँप उठा है ॥ ५४ ॥

विष्णोर्निःश्वासवातोऽयं यदा वेगसमीरितः ।
सहसोदीर्यते तात जगत् प्रव्यथते तदा ॥ ५५ ॥

'तात ! यह भगवान् विष्णुका निःश्वास है । जब कभी सहसा वह निःश्वास वेगसे निकल पड़ता है, उस समय यह सारा जगत् व्यथित हो उठता है ॥ ५५ ॥

तस्माद् ब्रह्मविदो वेदान् नाधीयन्तेऽतिवायति ।
वायोर्वायुभयं ह्युक्तं ब्रह्म तत्पीडितं भवेत् ॥ ५६ ॥

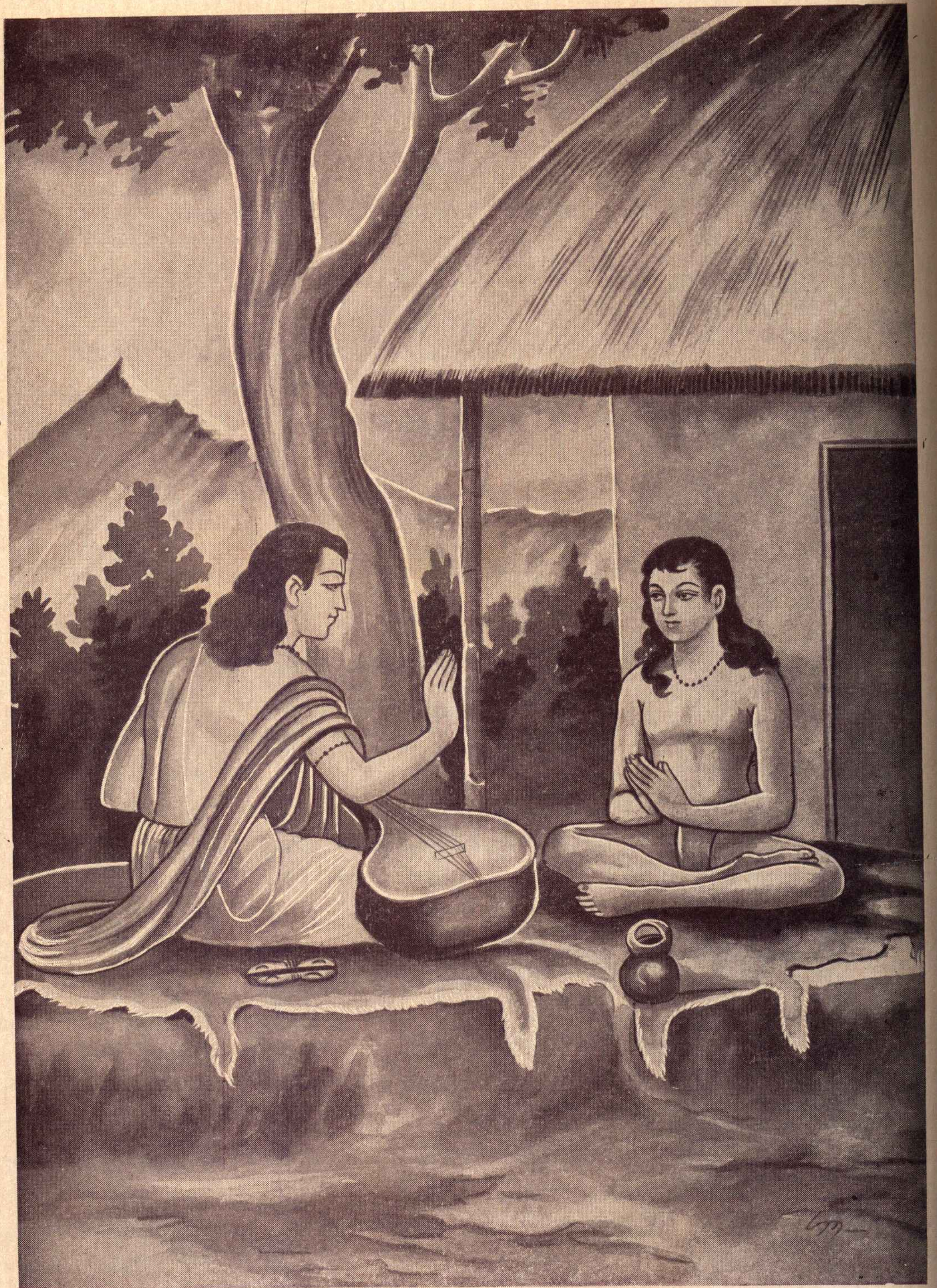
'इसलिये ब्रह्मवेत्ता पुरुष प्रचण्ड वायु (आँधी) चलनेपर वेदका पाठ नहीं करते हैं । वेद भी भगवान्‌का निःश्वास ही है । उस समय वेदपाठ करनेपर वायुको वायुसे भय प्राप्त होता है और उस वेदको भी पीड़ा होती है' ॥ ५६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं पराशरसुतः प्रभुः ।
उक्त्वा पुत्रमधीष्वेति व्योमगङ्गामगात् तदा ॥ ५७ ॥

अनध्यायके विषयमें यह बात कहकर पराशरनन्दन भगवान् व्यास अपने पुत्र शुकदेवसे बोले—'अब तुम वेदपाठ करो ।' यों कहकर वे आकाशगङ्गाके तटपर चले गये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अनध्यायनिमित्तकथनं नामाष्टाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अनध्यायके कारणका कथन नामक तीन सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२८ ॥



शुकदेवजीको नारदजीका उपदेश

एकोनत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीको नारदजीका वैराग्य और ज्ञानका उपदेश

भीष्म उवाच

एतस्मिन्नन्तरे शून्ये नारदः समुपागमत्।
शुकं स्वाध्यायनिरतं वेदार्थान् वक्तुमीप्सितान्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! व्यासजीके चले जानेके बाद उस सूने आश्रममें स्वाध्यायपरायण शुकदेवसे अपना इच्छित वेदोंका अर्थ कहनेके लिये देवर्षि नारदजी पधारे॥ १॥

देवर्षिं तु शुको दृष्ट्वा नारदं समुपस्थितम्।
अर्घ्यपूर्वेण विधिना वेदोक्तेनाभ्यपूजयत्॥ २॥

देवर्षि नारदको उपस्थित देख शुकदेवने वेदोक्त विधिसे अर्घ्य आदि निवेदन करके उनका पूजन किया॥ २॥

नारदोऽथाब्रवीत् प्रीतो ब्रूहि धर्मभृतां वर।
केन त्वां श्रेयसा वत्स योजयामीति हृष्टवत्॥ ३॥

उस समय नारदजीने प्रसन्न होकर कहा—'वत्स! तुम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हो। बताओ, तुम्हें किस श्रेष्ठ वस्तुकी प्राप्ति कराऊँ?' यह बात उन्होंने बड़े हर्षके साथ कही॥ ३॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः प्रोवाच भारत।
अस्मिँल्लोके हितं यत् स्यात् तेन मां योक्तुमर्हसि॥ ४॥

भरतनन्दन! नारदजीकी यह बात सुनकर शुकदेवने कहा—'इस लोकमें जो परम कल्याणका साधन हो, उसीका मुझे उपदेश देनेकी कृपा करें'॥ ४॥

नारद उवाच

तत्त्वं जिज्ञासतां पूर्वमृषीणां भावितात्मनाम्।
सनत्कुमारो भगवानिदं वचनमब्रवीत्॥ ५॥

नारदजीने कहा—वत्स! पूर्वकालकी बात है, पवित्र अन्तःकरणवाले ऋषियोंने तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रश्न किया। उसके उत्तरमें भगवान् सनत्कुमारने यह उपदेश दिया॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥ ६॥

विद्याके समान कोई नेत्र नहीं है। सत्यके समान कोई तप नहीं है। रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके सदृश कोई सुख नहीं है॥ ६॥

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम्॥ ७॥

पापकर्मोंसे दूर रहना, सदा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करना, श्रेष्ठ पुरुषोंके-से बर्ताव और सदाचारका पालन करना—यही सर्वोत्तम श्रेय (कल्याण) का साधन है॥ ७॥

मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति।
नालं स दुःखमोक्षाय संयोगो दुःखलक्षणम्॥ ८॥

जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे इस मानव-शरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहको प्राप्त होता है। विषयोंका संयोग दुःखरूप ही है; अतः दुःखोंसे छुटकारा नहीं दिला सकता॥ ८॥

सक्तस्य बुद्धिश्चलति मोहजालविवर्धनी।
मोहजालावृतो दुःखमिह चामुत्र सोऽश्नुते॥ ९॥

विषयासक्त पुरुषकी बुद्धि चञ्चल होती है। वह मोहजालको बढ़ानेवाली है, मोहजालसे बँधा हुआ पुरुष इस लोक तथा परलोकमें दुःख ही भोगता है॥ ९॥

सर्वोपायात् तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
कार्यः श्रेयोऽर्थिना तौ हि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ॥ १०॥

जिसे कल्याणप्राप्तिकी इच्छा हो, उसे सभी उपायोंसे काम और क्रोधको दबाना चाहिये; क्योंकि ये दोनों दोष कल्याणका नाश करनेके लिये उद्यत रहते हैं॥ १०॥

नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानावमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः॥ ११॥

मनुष्यको चाहिये कि सदा तपको क्रोधसे, लक्ष्मीको डाहसे, विद्याको मानापमानसे और अपने-आपको प्रमादसे बचावे॥ ११॥

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं न सत्याद् विद्यते परम्॥ १२॥

क्रूर स्वभावका परित्याग सबसे बड़ा धर्म है। क्षमा सबसे बड़ा बल है। आत्माका ज्ञान ही सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है और सत्यसे बढ़कर तो कुछ है ही नहीं॥ १२॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम॥ १३॥

सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ है; परंतु सत्यसे भी श्रेष्ठ है हितकारक वचन बोलना। जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, वही मेरे विचारसे सत्य है॥ १३॥

सर्वारम्भपरित्यागी निराशीर्निष्परिग्रहः।
येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः॥ १४॥

जो कार्य आरम्भ करनेके सभी संकल्पोंको छोड़ चुका है, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता तथा जिसने सब कुछ त्याग दिया है, वही विद्वान् है और वही पण्डित॥ १४॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थान् यश्चरत्यात्मवशैरिह।
असज्जमानः शान्तात्मा निर्विकारः समाहितः॥ १५॥
आत्मभूतैरतद्भूतः सह चैव विनैव च।
स विमुक्तः परं श्रेयो नचिरेणाधिगच्छति॥ १६॥

जो अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा यहाँ अनासक्त भावसे विषयोंका अनुभव करता है, जिसका चित्त शान्त, निर्विकार और एकाग्र है तथा जो आत्मस्वरूप प्रतीत

होनेवाले देह और इन्द्रियाँ हैं, उनके साथ रहकर भी उनसे तद्रूप न हो अलग-सा ही रहता है, वह मुक्त है और उसे बहुत शीघ्र परम कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ १५-१६ ॥

अदर्शनमसंस्पर्शस्तथासम्भाषणं सदा ।
यस्य भूतैः सह मुने स श्रेयो विन्दते परम् ॥ १७ ॥

मुने ! जिसकी किसी प्राणीकी ओर दृष्टि नहीं जाती, जो किसीका स्पर्श तथा किसीसे बातचीत नहीं करता, वह परम कल्याणको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदं जन्म समासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ १८ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे । सबके प्रति मित्रभाव रखते हुए विचरे तथा यह मनुष्य-जन्म पाकर किसीके साथ वैर न करे ॥ १८ ॥

आकिञ्चन्यं सुसंतोषो निराशीस्त्वमचापलम् ।
एतदाहुः परं श्रेय आत्मज्ञस्य जितात्मनः ॥ १९ ॥

जो आत्मतत्त्वका ज्ञाता तथा मनको वशमें रखनेवाला है, उसके लिये यही परम कल्याणका साधन बताया गया है कि वह किसी वस्तुका संग्रह न करे, संतोष रखे तथा कामना और चञ्चलताको त्याग दे ॥ १९ ॥

परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः ।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम् ॥ २० ॥

तात शुकदेव ! तुम संग्रहका त्याग करके जितेन्द्रिय हो जाओ तथा उस पदको प्राप्त करो, जो इस लोक और परलोकमें भी निर्भय एवं सर्वथा शोकरहित है ॥ २० ॥

निरामिषा न शोचन्ति त्यजेदामिषमात्मनः ।
परित्यज्यामिषं सौम्य दुःखतापाद् विमोक्ष्यसे ॥ २१ ॥

जिन्होंने भोगोंका परित्याग कर दिया है, वे कभी शोकमें नहीं पड़ते, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको भोगासक्तिका त्याग करना चाहिये । सौम्य ! भोगोंका त्याग कर देनेपर तुम दुःख और संतापसे छूट जाओगे ॥ २१ ॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ २२ ॥

जो अजित् (परमात्मा) को जीतनेकी इच्छा रखता हो, उसे तपस्वी, जितेन्द्रिय, मननशील, संयतचित्त और विषयोंमें अनासक्त रहना चाहिये ॥ २२ ॥

गुणसङ्गेष्वनासक्त एकचर्यारतः सदा ।
ब्राह्मणो नचिरादेव सुखमायात्यनुत्तमम् ॥ २३ ॥

जो ब्राह्मण त्रिगुणात्मक विषयोंमें आसक्त न होकर सदा एकान्तवास करता है, वह शीघ्र ही सर्वोत्तम सुखरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ २३ ॥

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु य एको रमते मुनिः ।
विद्धि प्रज्ञानतृप्तं तं ज्ञानतृप्तो न शोचति ॥ २४ ॥

जो मुनि मैथुनमें सुख माननेवाले प्राणियोंके बीचमें रहकर भी अकेले रहनेमें ही आनन्द मानता है, उसे विज्ञान-से परितृप्त समझना चाहिये । जो ज्ञानसे तृप्त होता है, वह कभी शोक नहीं करता ॥ २४ ॥

शुभैर्लभति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम् ।
अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः ॥ २५ ॥

जीव सदा कर्मोंके अधीन रहता है । वह शुभकर्मोंके अनुष्ठानसे देवता होता है, दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्य-जन्म पाता है और केवल अशुभ कर्मोंसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म लेता है ॥ २५ ॥

तत्र मृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यते जन्तुस्तत्कथं नावबुद्ध्यसे ॥ २६ ॥

उन-उन योनियोंमें जीवको सदा जरा-मृत्यु और नाना प्रकारके दुःखोंसे संतप्त होना पड़ता है । इस प्रकार संसारमें जन्म लेनेवाला प्रत्येक प्राणी संतापकी आगमें पकाया जाता है—इस बातकी ओर तुम क्यों नहीं ध्यान देते ? ॥ २६ ॥

अहिते हितसंज्ञस्त्वमध्रुवे ध्रुवसंज्ञकः ।
अनर्थे चार्थसंज्ञस्त्वं किमर्थं नावबुद्ध्यसे ॥ २७ ॥

तुमने अहितमें ही हित-बुद्धि कर ली है, जो अध्रुव (विनाशशील) वस्तुएँ हैं, उन्हींको 'ध्रुव' (अविनाशी) नाम दे रक्खा है और अनर्थमें ही तुम्हें अर्थका बोध हो रहा है । यह बात तुम्हारी समझमें क्यों नहीं आती है ? ॥ २७ ॥

संवेष्ट्यमानं बहुभिर्मोहात् तन्तुभिरात्मजैः ।
कोषकार इवात्मानं वेष्टयन् नावबुध्यसे ॥ २८ ॥

जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही शरीरसे उत्पन्न हुए तन्तुओंद्वारा अपने आपको आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार तुम भी मोहवश अपनेहीसे उत्पन्न सम्बन्धके बन्धनोंद्वारा अपने आपको बाँधते जा रहे हो तो भी यह बात तुम्हारी समझमें नहीं आ रही है ॥ २८ ॥

अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः ।
कृमिर्हि कोषकारस्तु बध्यते स परिग्रहात् ॥ २९ ॥

यहाँ विभिन्न वस्तुओंके संग्रहकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि संग्रहसे महान् दोष प्रकट होता है । रेशमका कीड़ा अपने संग्रह-दोषके कारण ही बन्धनमें पड़ता है ॥ २९ ॥

पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ ३० ॥

स्त्री-पुत्र और कुटुम्बमें आसक्त रहनेवाले प्राणी उसी प्रकार कष्ट पाते हैं, जैसे जंगलके बूढ़े हाथी तालाबके दल-दलमें फँसकर दुःख उठाते हैं ॥ ३० ॥

महाजालसमाकृष्टान् स्थले मत्स्यानिवोद्धृतान् ।
स्नेहजालसमाकृष्टान् पश्य जन्तून् सुदुःखितान् ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार महान् जालमें फँसकर पानीसे बाहर आये हुए मत्स्य तड़पते हैं, उसी प्रकार स्नेह-जालसे आकृष्ट होकर

अत्यन्त कष्ट उठाते हुए इन प्राणियोंकी ओर दृष्टिपात करो ॥ ३१ ॥

कुटुम्बं पुत्रदारांश्च शरीरं संचयाश्च ये ।
पारक्यमध्रुवं सर्वं किं स्वं सुकृतदुष्कृतम् ॥ ३२ ॥

संसारमें कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, शरीर और संग्रह—सब कुछ पराया है । सब नाशवान् है । इसमें अपना क्या है, केवल पाप और पुण्य ॥ ३२ ॥

यदा सर्वं परित्यज्य गन्तव्यमवशेन ते ।
अनर्थे किं प्रसक्तस्त्वं स्वमर्थं नानुतिष्ठसि ॥ ३३ ॥

जब सब कुछ छोड़कर तुम्हें यहाँसे विवश होकर चल देना है, तब इस अनर्थमय जगत्‌में क्यों आसक्त हो रहे हो ? अपने वास्तविक अर्थ—मोक्षका साधन क्यों नहीं करते हो ? ॥ ३३ ॥

अविश्रान्तमनालम्बमपाथेयमदैशिकम् ।
तमःकान्तारमध्वानं कथमेको गमिष्यसि ॥ ३४ ॥

जहाँ ठहरनेके लिये कोई स्थान नहीं, कोई सहारा देनेवाला नहीं, राहखर्च नहीं तथा अपने देशका कोई साथी अथवा राह बतानेवाला नहीं है, जो अन्धकारसे व्याप्त और दुर्गम है, उस मार्गपर तुम अकेले कैसे चल सकोगे ? ॥ ३४ ॥

न हि त्वां प्रस्थितं कश्चित् पृष्ठतोऽनुगमिष्यति ।
सुकृतं दुष्कृतं च त्वां यास्यन्तमनुयास्यति ॥ ३५ ॥

जब तुम परलोककी राह लोगे, उस समय तुम्हारे पीछे कोई नहीं जायगा । केवल तुम्हारा किया हुआ पुण्य या पाप ही वहाँ जाते समय तुम्हारा अनुसरण करेगा ॥ ३५ ॥

विद्या कर्म च शौचं च ज्ञानं च बहुविस्तरम् ।
अर्थार्थमनुसार्यन्ते सिद्धार्थश्च विमुच्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ (परमात्मा) की प्राप्तिके लिये ही विद्या, कर्म, पवित्रता और अत्यन्त विस्तृत ज्ञानका सहारा लिया जाता है । जब कार्यकी सिद्धि (परमात्माकी प्राप्ति) हो जाती है, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥ ३७ ॥

गाँवोंमें रहनेवाले मनुष्यकी विषयोंके प्रति जो आसक्ति होती है, वह उसे बाँधनेवाली रस्सीके समान है । पुण्यात्मा पुरुष उसे काटकर आगे—परमार्थके पथपर बढ़ जाते हैं; किंतु जो पापी हैं, वे उसे नहीं काट पाते ॥ ३७ ॥

रूपकूलां मनःस्रोतां स्पर्शद्वीपां रसावहाम् ।
गन्धपङ्कां शब्दजलां स्वर्गमार्गदुरावहाम् ॥ ३८ ॥
क्षमारित्रां सत्यमयीं धर्मस्थैर्यवटारकाम् ।
त्यागवाताध्वगां शीघ्रां नौतार्यां तां नदीं तरेत् ॥ ३९ ॥

यह संसार एक नदीके समान है; जिसका उपादान या उद्गम सत्य है, रूप इसका किनारा, मन स्रोत, स्पर्श द्वीप और रस ही प्रवाह है । गन्ध उस नदीकी कीचड़, शब्द जल और स्वर्गरूपी दुर्गम घाट है । शरीररूपी नौकाकी सहायतासे उसे पार किया जा सकता है । क्षमा इसको खेनेवाली लग्गी और धर्म इसको स्थिर करनेवाली रस्सी (लंगर) है । यदि त्यागरूपी अनुकूल पवनका सहारा मिले तो इस शीघ्रगामिनी नदीको पार किया जा सकता है । इसे पार करनेका अवश्य प्रयत्न करे ॥ ३८-३९ ॥

त्यज धर्ममधर्मं च तथा सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ ४० ॥

धर्म और अधर्मको छोड़ो । सत्य और असत्यको भी त्याग दो और उन दोनोंका त्याग करके जिसके द्वारा त्याग करते हो, उसको भी त्याग दो ॥ ४० ॥

त्यज धर्ममसंकल्पादधर्मं चाप्यलिप्सया ।
उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात् ॥ ४१ ॥

संकल्पके त्यागद्वारा धर्मको और लिप्साके अभावद्वारा अधर्मको भी त्याग दो । फिर बुद्धिके द्वारा सत्य और असत्यका त्याग करके परमतत्त्वके निश्चयद्वारा बुद्धिको भी त्याग दो ॥ ४१ ॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ४२ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ॥ ४३ ॥

यह शरीर पञ्चभूतोंका घर है । इसमें हड्डियोंके खंभे लगे हैं । यह नस-नाड़ियोंसे बँधा हुआ, रक्त-मांससे लिपा हुआ और चमड़ेसे मढ़ा हुआ है । इसमें मल-मूत्र भरा है, जिससे दुर्गन्ध आती रहती है । यह बुढ़ापा और शोकसे व्याप्त, रोगोंका घर, दुःखरूप, रजोगुणरूपी धूलसे ढका हुआ और अनित्य है; अतः तुम्हें इसकी आसक्तिको त्याग देना चाहिये ॥ ४२-४३ ॥

इदं विश्वं जगत् सर्वमजगच्चापि यद् भवेत् ।
महाभूतात्मकं सर्वं महद् यत् परमाश्रयात् ॥ ४४ ॥
इन्द्रियाणि च पञ्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ॥ ४५ ॥

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न हुआ है । इसलिये महाभूतस्वरूप ही है । जो शरीरसे परे है, वह महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म महाभूत अर्थात् तन्मात्राएँ, पाँच प्राण तथा सत्त्व आदि गुण—इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायका नाम अव्यक्त है ॥

सर्वैरिहेन्द्रियार्थैश्च व्यक्ताव्यक्तैर्हि संहितः ।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गणः ॥ ४६ ॥

इनके साथ ही इन्द्रियोंके पाँच विषय अर्थात् स्पर्श, शब्द, रूप, रस और गन्ध एवं मन और अहंकार—इन सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्तको मिलानेसे जो चौबीस तत्त्वोंका

समूह होता है, उसे व्यक्ताव्यक्तमय समुदाय कहा गया है ॥

एतैः सर्वैः समायुक्तः पुमानित्यभिधीयते ।
त्रिवर्गं तु सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥ ४७ ॥
य इदं वेद तत्त्वेन स वेद प्रभवाप्ययौ ।

इन सब तत्त्वोंसे जो संयुक्त है, उसे पुरुष कहते हैं। जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम, सुख-दुःख और जीवन-मरणके तत्त्वको ठीक-ठीक समझता है, वही उत्पत्ति और प्रलयके तत्त्वको भी यथार्थरूपसे जानता है ॥ ४७½ ॥

पारम्पर्येण बोद्धव्यं ज्ञानानां यच्च किञ्चन ॥ ४८ ॥
इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत् तद् व्यक्तमिति स्थितिः।
अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ ४९ ॥

ज्ञानके सम्बन्धमें जितनी बातें हैं, उन्हें परम्परासे जानना चाहिये। जो पदार्थ इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये जाते हैं, उन्हें व्यक्त कहते हैं और जो इन्द्रियोंके अगोचर होनेके कारण अनुमानसे जाने जाते हैं, उनको अव्यक्त कहते हैं ॥ ४८-४९ ॥

इन्द्रियैर्नियतैर्देही धाराभिरिव तर्प्यते ।
लोके विततमात्मानं लोकांश्चात्मनि पश्यति ॥ ५० ॥

जिनकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, वे जीव उसी प्रकार तृप्त हो जाते हैं, जैसे वर्षाकी धारासे प्यासा मनुष्य। ज्ञानी पुरुष अपनेको प्राणियोंमें व्याप्त और प्राणियोंको अपनेमें स्थित देखते हैं ॥ ५० ॥

परावरदृशः शक्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ।
पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ॥ ५१ ॥
सर्वभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते ।

उस परावरदर्शी ज्ञानी पुरुषकी ज्ञानमूलक शक्ति कभी नष्ट नहीं होती। जो सम्पूर्ण भूतोंको सभी अवस्थाओंमें सदा देखा करता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंके सहवासमें आकर भी कभी अशुभ कर्मोंसे युक्त नहीं होता अर्थात् अशुभ कर्म नहीं करता ॥ ५१½ ॥

ज्ञानेन विविधान् क्लेशानतिवृत्तस्य मोहजान् ॥ ५२ ॥
लोके बुद्धिप्रकाशेन लोकमार्गो न रिष्यते ।

जो ज्ञानके बलसे मोहजनित नाना प्रकारके क्लेशोंसे पार हो गया है, उसके लिये जगत्में बौद्धिक प्रकाशसे कोई भी लोक-व्यवहारका मार्ग अवरुद्ध नहीं होता ॥ ५२½ ॥

अनादिनिधनं जन्तुमात्मनि स्थितमव्ययम् ॥ ५३ ॥
अकर्तारममूर्तं च भगवानाह तीर्थवित् ।

मोक्षके उपायको जाननेवाले भगवान् नारायण कहते हैं कि आदि-अन्तसे रहित, अविनाशी, अकर्ता और निराकार जीवात्मा इस शरीरमें स्थित है ॥ ५२-५३½ ॥

यो जन्तुः स्वकृतैस्तैस्तैः कर्मभिर्नित्यदुःखितः ॥ ५४ ॥
स दुःखप्रतिघातार्थं हन्ति जन्तूननेकधा ।

जो जीव अपने ही किये हुए विभिन्न कर्मोंके कारण सदा दुखी रहता है, वही उस दुःखका निवारण करनेके लिये नाना प्रकारके प्राणियोंकी हत्या करता है ॥ ५४½ ॥

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यन्नवं बहु ॥ ५५ ॥
तप्यतेऽथ पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः ।

तदनन्तर वह और भी बहुत-से नये-नये कर्म करता है और जैसे रोगी अपथ्य खाकर दुःख पाता है, उसी प्रकार उस कर्मसे वह अधिकाधिक कष्ट पाता रहता है ॥ ५५½ ॥

अजस्रमेव मोहान्धो दुःखेषु सुखसंज्ञितः ॥ ५६ ॥
बध्यते मथ्यते चैव कर्मभिर्मन्थवत् सदा ।

जो मोहसे अन्धा (विवेकशून्य) हो गया है, वह सदा ही दुःखद भोगोंमें ही सुखबुद्धि कर लेता है और मथानीकी भाँति कर्मोंसे बँधता एवं मथा जाता है ॥ ५६½ ॥

ततो निबद्धः स्वां योनिं कर्मणामुदयादिह ॥ ५७ ॥
परिभ्रमति संसारं चक्रवद् बहुवेदनः ।

फिर प्रारब्ध कर्मोंके उदय होनेपर वह बद्ध प्राणी कर्मके अनुसार जन्म पाकर संसारमें नाना प्रकारके दुःख भोगता हुआ उसमें चक्रकी भाँति घूमता रहता है ॥ ५७½ ॥

स त्वं निवृत्तबन्धस्तु निवृत्तश्चापि कर्मतः ॥ ५८ ॥
सर्ववित् सर्वजित् सिद्धो भव भावविवर्जितः ।

इसलिये तुम कर्मोंसे निवृत्त, सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त, सर्वज्ञ, सर्वविजयी, सिद्ध और सांसारिक भावनासे रहित हो जाओ ॥ ५८½ ॥

संयमेन नवं बन्धं निवर्त्य तपसो बलात् ।
सम्प्राप्ता बहवः सिद्धिमप्यबाधां सुखोदयाम् ॥ ५९ ॥

बहुत-से ज्ञानी पुरुष संयम और तपस्याके बलसे नवीन बन्धनोंका उच्छेद करके अनन्त सुख देनेवाली अबाध सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि एकोनत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२९ ॥

त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवको नारदजीका सदाचार और अध्यात्मविषयक उपदेश

नारद उवाच

अशोकं शोकनाशार्थं शास्त्रं शान्तिकरं शिवम् ।
निशम्य लभते बुद्धिं तां लब्ध्वा सुखमेधते ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—शुकदेव! शास्त्र शोकको दूर

करनेवाला, शान्ति-कारक और कल्याणमय है। जो अपने शोक-का नाश करनेके लिये शास्त्रका श्रवण करता है, वह उत्तम बुद्धि पाकर सुखी होता है ॥ १ ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २ ॥

शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं, जो प्रतिदिन मूढ़ पुरुषोंपर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान्‌पर नहीं ॥ २ ॥

तस्मादनिष्टनाशार्थमितिहासं निबोध मे।
तिष्ठते चेद् वशे बुद्धिर्लभते शोकनाशनम् ॥ ३ ॥

इसलिये अपने अनिष्टका नाश करनेके लिये मेरा यह उपदेश सुनो—यदि बुद्धि अपने वशमें रहे तो सदाके लिये शोकका नाश हो जाता है ॥ ३ ॥

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते स्वल्पबुद्धयः ॥ ४ ॥

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुकी प्राप्ति और प्रिय वस्तुका वियोग होनेपर मन-ही-मन दुखी होते हैं ॥ ४ ॥

द्रव्येषु समतीतेषु ये गुणास्तान् न चिन्तयेत्।
न तानाद्रियमाणस्य स्नेहबन्धः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

जो वस्तु भूतकालके गर्भमें छिप गयी (नष्ट हो गयी), उसके गुणोंका स्मरण नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो आदर-पूर्वक उसके गुणोंका चिन्तन करता है, उसका उसके प्रति आसक्तिका बन्धन नहीं छूटता है ॥ ५ ॥

दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र रागः प्रवर्तते।
अनिष्टवर्धितं पश्येत् तथा क्षिप्रं विरज्यते ॥ ६ ॥

जहाँ चित्तकी आसक्ति बढ़ने लगे, वहीं दोषदृष्टि करनी चाहिये और उसे अनिष्टको बढ़ानेवाला समझना चाहिये। ऐसा करनेपर उससे शीघ्र ही वैराग्य हो जाता है ॥ ६ ॥

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥ ७ ॥

जो बीती बातके लिये शोक करता है, उसे न तो अर्थकी प्राप्ति होती है न धर्मकी और न यशकी ही प्राप्ति होती है। वह उसके अभावका अनुभव करके केवल दुःख ही उठाता है। उससे अभाव दूर नहीं होता ॥ ७ ॥

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥ ८ ॥

सभी प्राणियोंको उत्तम पदार्थोंसे संयोग और वियोग प्राप्त होते रहते हैं। किसी एकपर ही यह शोकका अवसर आता हो, ऐसी बात नहीं है ॥ ८ ॥

मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ॥ ९ ॥

जो मनुष्य भूतकालमें मरे हुए किसी व्यक्तिके लिये अथवा नष्ट हुई किसी वस्तुके लिये निरन्तर शोक करता है, वह एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है। इस प्रकार उसे दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं ॥ ९ ॥

नाश्रु कुर्वन्ति ये बुद्ध्या दृष्ट्वा लोकेषु संततिम्।
सम्यक् प्रपश्यतः सर्वं नाश्रुकर्मोपपद्यते ॥ १० ॥

जो मनुष्य संसारमें अपनी संतानकी मृत्यु हुई देखकर भी अश्रुपात नहीं करते, वे ही धीर हैं। सभी वस्तुओंपर समीचीन भावसे दृष्टिपात या विचार करनेपर किसीका भी आँसू बहाना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है ॥ १० ॥

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते।
यस्मिन् न शक्यते कर्तुं यत्नस्तन्नानुचिन्तयेत् ॥ ११ ॥

यदि कोई शारीरिक या मानसिक दुःख उपस्थित हो जाय और उसे दूर करनेके लिये कोई यत्न न किया जा सके अथवा किया हुआ यत्न काम न दे सके तो उसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ ११ ॥

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ॥ १२ ॥

दुःख दूर करनेकी सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका बार-बार चिन्तन न किया जाय। चिन्तन करनेसे वह घटता नहीं, बल्कि बढ़ता ही जाता है ॥ १२ ॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ १३ ॥

इसलिये मानसिक दुःखको बुद्धिके द्वारा विचारसे और शारीरिक कष्टको औषध-सेवनद्वारा नष्ट करना चाहिये। शास्त्र-ज्ञानके प्रभावसे ही ऐसा होना सम्भव है। दुःख पड़नेपर बालकोंकी तरह रोना उचित नहीं है ॥ १३ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ १४ ॥

रूप, यौवन, जीवन, धन-संग्रह, आरोग्य तथा प्रिय जनोंका सहवास—ये सब अनित्य हैं। विद्वान् पुरुषको इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ १४ ॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥ १५ ॥

सारे देशपर आये हुए संकटके लिये किसी एक व्यक्तिको शोक करना उचित नहीं है। यदि उस संकटको टालनेका कोई उपाय दिखलायी दे तो शोक छोड़कर उसे ही करना चाहिये ॥ १५ ॥

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नात्र संशयः।
स्निग्धत्वं चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥ १६ ॥

इसमें संदेह नहीं कि जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है। किंतु सभीको मोहवश विषयोंके प्रति अनुराग होता है और मृत्यु अप्रिय लगती है ॥ १६ ॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः।

अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः॥ १७ ॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंकी ही चिन्ता छोड़ देता है, वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। विद्वान् पुरुष उसके लिये शोक नहीं करते हैं ॥ १७ ॥

त्यज्यन्ते दुःखमर्था हि पालने न च ते सुखाः।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत् ॥ १८ ॥

धन खर्च करते समय बड़ा दुःख होता है। उसकी रक्षामें भी सुख नहीं है और उसकी प्राप्ति भी बड़े कष्टसे होती है, अतः धनको प्रत्येक अवस्थामें दुःखदायक समझकर उसके नष्ट होनेपर चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ १८ ॥

अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः।
अतृप्ता यान्ति विध्वंसं संतोषं यान्ति पण्डिताः ॥ १९ ॥

मनुष्य धनका संग्रह करते-करते पहलेकी अपेक्षा ऊँची धन-सम्पन्न स्थितिको प्राप्त होकर भी कभी तृप्त नहीं होते। वे और अधिककी आशा लिये हुए ही मर जाते हैं; किंतु विद्वान् पुरुष सदा संतुष्ट रहते हैं (वे धनकी तृष्णामें नहीं पड़ते) ॥ १९ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥ २० ॥

संग्रहका अन्त है विनाश। ऊँचे चढ़नेका अन्त है नीचे गिरना। संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका अन्त है मरण ॥ २० ॥

अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः ॥ २१ ॥

तृष्णाका कभी अन्त नहीं होता। संतोष ही परम सुख है, अतः पण्डितजन इस लोकमें संतोषको ही उत्तम धन समझते हैं ॥ २१ ॥

निमेषमात्रमपि हि वयो गच्छन्न तिष्ठति।
स्वशरीरेष्वनित्येषु नित्यं किमनुचिन्तयेत् ॥ २२ ॥

आयु निरन्तर बीती जा रही है। वह पलभर भी ठहरती नहीं है। जब अपना शरीर ही अनित्य है, तब इस संसारकी किस वस्तुको नित्य समझा जाय ॥ २२ ॥

भूतेषु भावं संचिन्त्य ये बुद्ध्वा मनसः परम्।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २३ ॥

जो मनुष्य सब प्राणियोंके भीतर मनसे परे परमात्माकी स्थिति जानकर उन्हींका चिन्तन करते हैं, वे संसार-यात्रा समाप्त होनेपर परमपदका साक्षात्कार करते हुए शोकके पार हो जाते हैं ॥ २३ ॥

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ २४ ॥

जैसे जंगलमें नयी-नयी घासकी खोजमें विचरते हुए अतृप्त पशुको सहसा व्याघ्र आकर दबोच लेता है, उसी प्रकार भोगोंकी खोजमें लगे हुए अतृप्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है ॥ २४ ॥

तथाप्युपायं सम्पश्येद् दुःखस्य परिमोक्षणम्।
अशोचन् नारभेच्चैव मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ॥ २५ ॥

तथापि सबको दुःखसे छूटनेका उपाय अवश्य सोचना चाहिये। जो शोक छोड़कर साधन आरम्भ करता है और किसी व्यसनमें आसक्त नहीं होता, वह निश्चय ही दुःखोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

शब्दे स्पर्शे च रूपे च गन्धेषु च रसेषु च।
नोपभोगात् परं किंचिद् धनिनो वाधनस्य च ॥ २६ ॥

धनी हो या निर्धन, सबको उपभोगकालमें ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और उत्तम गन्ध आदि विषयोंमें किञ्चित् सुखकी प्रतीति होती है, उपभोगके पश्चात् नहीं ॥ २६ ॥

प्राक्सम्प्रयोगाद् भूतानां नास्ति दुःखं परायणम्।
विप्रयोगात् तु सर्वस्य न शोचेत् प्रकृतिस्थितः॥ २७ ॥

प्राणियोंके एक दूसरेसे संयोग होनेके पहले कोई दुःख नहीं रहता। जब संयोगके बाद वियोग होता है तभी सबको दुःख हुआ करता है। अतः अपने स्वरूपमें स्थित विवेकी पुरुषको किसीके वियोगमें कभी भी शोक नहीं करना चाहिये ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया ॥ २८ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह धैर्यके द्वारा शिश्न और उदरकी, नेत्रके द्वारा हाथ और पैरकी, मनके द्वारा आँख और कानकी तथा सद्विद्याके द्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे ॥ २८ ॥

प्रणयं प्रतिसंहृत्य संस्तुतेष्वितरेषु च।
विचरेदसमुन्नद्धः स सुखी स च पण्डितः ॥ २९ ॥

जो पूजनीय तथा अन्य मनुष्योंमें आसक्तिको हटाकर विनीतभावसे विचरण करता है, वही सुखी और वही विद्वान् है ॥ २९ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन यश्चरेत् स सुखी भवेत् ॥ ३० ॥

जो अध्यात्मविद्यामें अनुरक्त, कामनाशून्य तथा भोगासक्तिसे दूर है, जो अकेला ही विचरण करता है, वह सुखी होता है ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिपतने त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका ऊर्ध्वगमनविषयक तीन सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३० ॥

एकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका शुकदेवको कर्मफल-प्राप्तिमें परतन्त्रताविषयक उपदेश तथा शुकदेवजीका सूर्यलोकमें जानेका निश्चय

नारद उवाच

सुखदुःखविपर्यासो यदा समनुपद्यते ।
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नापि पौरुषम् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—शुकदेव ! जब मनुष्य सुखको दुःख और दुःखको सुख समझने लगता है, उस समय बुद्धि, उत्तम नीति और पुरुषार्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाता ॥

स्वभावाद् यत्नमातिष्ठेद् यत्नवान् नावसीदति ।
जरामरणरोगेभ्यः प्रियमात्मानमुद्धरेत् ॥ २ ॥

अतः मनुष्यको स्वभावतः ज्ञान-प्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये; क्योंकि यत्न करनेवाला पुरुष कभी दुःखमें नहीं पड़ता । आत्मा सबसे बढ़कर प्रिय है; अतः जरा, मृत्यु और रोगोंके कष्टसे उसका उद्धार करे ॥ २ ॥

रुजन्ति हि शरीराणि रोगाः शारीरमानसाः ।
सायका इव तीक्ष्णाग्राः प्रयुक्ता दृढधन्विभिः ॥ ३ ॥

शारीरिक और मानसिक रोग सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले वीर पुरुषोंके छोड़े हुए तीक्ष्ण बाणोंके समान शरीरको पीड़ा देते हैं ॥ ३ ॥

व्यथितस्य विधित्साभिस्ताम्यतो जीवितैषिणः ।
अवशस्य विनाशाय शरीरमपकृष्यते ॥ ४ ॥

तृष्णासे व्यथित, दुखी एवं विवश होकर जीनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यका शरीर विनाशकी ओर ही खिंचता चला जाता है ॥ ४ ॥

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः ॥ ५ ॥

जैसे नदियोंका प्रवाह आगेकी ओर ही बढ़ता चला जाता है, पीछेकी ओर नहीं लौटता, उसी प्रकार रात और दिन भी मनुष्योंकी आयुका अपहरण करते हुए बारंबार आते और बीतते चले जाते हैं ॥ ५ ॥

व्यत्ययो ह्ययमत्यन्तं पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ।
जातान् मर्त्याञ्जरयति निमेषान् नावतिष्ठते ॥ ६ ॥

शुक्ल और कृष्ण—दोनों पक्षोंका निरन्तर होनेवाला यह परिवर्तन मनुष्योंको जराजीर्ण कर रहा है । यह कुछ क्षणके लिये भी विश्राम नहीं लेता है ॥ ६ ॥

सुखदुःखानि भूतानामजरो जरयत्यसौ ।
आदित्यो ह्यस्तमभ्येति पुनः पुनरुदेति च ॥ ७ ॥

सूर्य प्रतिदिन अस्त होते और फिर उदय लेते हैं । वे स्वयं अजर होकर भी प्रतिदिन प्राणियोंके सुख और दुःखको जीर्ण करते रहते हैं ॥ ७ ॥

अदृष्टपूर्वानादाय भावानपरिशङ्कितान् ।
इष्टानिष्टान् मनुष्याणामस्तं गच्छन्ति रात्रयः ॥ ८ ॥

ये रात्रियाँ मनुष्योंके लिये कितनी ही अपूर्व तथा असम्भावित प्रिय-अप्रिय घटनाएँ लिये आती और चली जाती हैं ॥ ८ ॥

योऽयमिच्छेद् यथाकामं कामानां तदवाप्नुयात् ।
यदि स्यान्न पराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम् ॥ ९ ॥

यदि जीवके किये हुए कर्मोंका फल पराधीन न होता तो जो जिस वस्तुकी इच्छा करता, वह अपनी उसी कामनाको रुचिके अनुसार प्राप्त कर लेता ॥ ९ ॥

संयताश्च हि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ।
दृश्यन्ते निष्फलाः संतः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः ॥ १० ॥

बड़े-बड़े संयमी, बुद्धिमान् और चतुर मनुष्य भी समस्त कर्मोंसे श्रान्त होकर असफल होते देखे जाते हैं ॥ १० ॥

अपरे बालिशाः सन्तो निर्गुणाः पुरुषाधमाः ।
आशीर्भिरप्यसंयुक्ता दृश्यन्ते सर्वकामिनः ॥ ११ ॥

किंतु दूसरे मूर्ख, गुणहीन और अधम मनुष्य भी किसीका आशीर्वाद न मिलनेपर भी सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न दिखायी देते हैं ॥ ११ ॥

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ।
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखेष्वेव जीर्यते ॥ १२ ॥

कोई-कोई मनुष्य तो सदा प्राणियोंकी हिंसामें ही लगा रहता है और सब लोगोंको धोखा दिया करता है, तो भी वह सुख ही भोगते-भोगते बूढ़ा होता है ॥ १२ ॥

अचेष्टमानमासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठते ।
कश्चित् कर्मानुसृत्यान्यो न प्राप्यमधिगच्छति ॥ १३ ॥

कितने ही ऐसे हैं, जो कोई काम न करके चुपचाप बैठे रहते हैं, फिर भी लक्ष्मी उनके पास अपने-आप पहुँच जाती है और कुछ लोग काम करके भी अपनी प्राप्य वस्तुको उपलब्ध नहीं कर पाते ॥ १३ ॥

अपराधं समाचक्ष्व पुरुषस्य स्वभावतः ।
शुक्रमन्यत्र सम्भूतं पुनरन्यत्र गच्छति ॥ १४ ॥

इसमें स्वभावतः पुरुषका ही अपराध (प्रारब्ध-दोष) समझो । वीर्य अन्यत्र उत्पन्न होता है और संतानोत्पादनके लिये अन्यत्र जाता है ॥ १४ ॥

तस्य योनौ प्रयुक्तस्य गर्भो भवति वा न वा ।
आम्रपुष्पोपमा यस्य निवृत्तिरुपलभ्यते ॥ १५ ॥

कभी तो वह योनिमें पहुँचकर गर्भ धारण करानेमें समर्थ होता है और कभी नहीं होता तथा कभी-कभी आमके बौरके समान वह व्यर्थ ही झर जाता है ॥ १५ ॥

केषाञ्चित् पुत्रकामानामनुसंतानमिच्छताम् ।
सिद्धौ प्रयतमानानां न चाण्डमुपजायते ॥ १६ ॥

कुछ लोग पुत्रकी इच्छा रखते हैं और उस पुत्रके भी संतान चाहते हैं तथा इसकी सिद्धिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करते हैं, तो भी उनके एक अंडा भी उत्पन्न नहीं होता ॥

गर्भाच्चोद्विजमानानां क्रुद्धादाशीविषादिव ।
आयुष्माञ्जायते पुत्रः कथं प्रेत इवाभवत् ॥ १७ ॥

बहुत-से मनुष्य बच्चा पैदा होनेसे उसी तरह डरते हैं, जैसे क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पसे लोग भयभीत रहते हैं, तथापि उनके यहाँ दीर्घजीवी पुत्र उत्पन्न होता है और क्या मजाल कि वह कभी किसी तरह रोग आदिसे मृतकतुल्य हो सके ॥ १७ ॥

देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ।
दश मासान् परिधृता जायन्ते कुलपांसनाः ॥ १८ ॥

पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाले दीन स्त्री-पुरुषोंद्वारा देवताओंकी पूजा और तपस्या करके दस मासतक गर्भ धारण किया जाता है तथापि उनके कुलाङ्गार पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥

अपरे धनधान्यानि भोगांश्च पितृसंचितान् ।
विपुलानभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः ॥ १९ ॥

तथा बहुत-से ऐसे हैं, जो आमोद-प्रमोदमें ही जन्म धारण करके पिताके संचित किये हुए अपार धनधान्य एवं विपुल भोगोंके अधिकारी होते हैं ॥ १९ ॥

अन्योन्यं समभिप्रेत्य मैथुनस्य समागमे ।
उपद्रव इवाविष्टो योनिं गर्भः प्रपद्यते ॥ २० ॥

पति-पत्नीकी पारस्परिक इच्छाके अनुसार मैथुनके लिये जब उनका समागम होता है, उस समय किसी उपद्रवके समान गर्भ योनिमें प्रवेश करता है ॥ २० ॥

शीघ्रं परशरीराणि च्छिन्नबीजं शरीरिणम् ।
प्राणिनं प्राणसंरोधे मांसश्लेष्मविवेष्टितम् ॥ २१ ॥

जिसका स्थूल शरीर क्षीण हो गया है तथा जो कफ और मांसमय शरीरसे घिरा हुआ है, उस देहधारी प्राणीको मृत्युके बाद शीघ्र ही दूसरे शरीर उपलब्ध हो जाते हैं ॥ २१ ॥

निर्दग्धं परदेहेऽपि परदेहं चलाचलम् ।
विनश्यन्तं विनाशान्ते नावि नावमिवाहितम् ॥ २२ ॥

जैसे एक नौकाके भग्न होनेपर उसपर बैठे हुए लोगोंको उतारनेके लिये दूसरी नाव प्रस्तुत रहती है, उसी प्रकार एक शरीरसे मृत्युको प्राप्त होते हुए जीवको लक्ष्य करके मृत्युके बाद उसके कर्मफलभोगके लिये दूसरा नाशवान् शरीर उपस्थित कर दिया जाता है ॥ २२ ॥

सङ्गत्या जठरे न्यस्तं रेतोबिन्दुमचेतनम् ।
केन यत्नेन जीवन्तं गर्भं त्वमिह पश्यसि ॥ २३ ॥

शुकदेव ! पुरुष स्त्रीके साथ समागम करके उसके उदरमें जिस अचेतन शुक्रबिन्दुको स्थापित करता है, वही गर्भरूपमें परिणत होता है । फिर वह गर्भ किस यत्नसे यहाँ जीवित रहता है, क्या तुम कभी इसपर विचार करते हो ? ॥ २३ ॥

अन्नपानानि जीर्यन्ते यत्र भक्षाश्च भक्षिताः ।
तस्मिन्नेवोदरे गर्भः किं नान्नमिव जीर्यते ? ॥ २४ ॥

जहाँ खाये हुए अन्न और जल पच जाते हैं तथा सभी तरहके भक्ष्य पदार्थ जीर्ण हो जाते हैं, उसी पेटमें पड़ा हुआ गर्भ अन्नके समान क्यों नहीं पच जाता है ॥ २४ ॥

गर्भे मूत्रपुरीषाणां स्वभावनियता गतिः ।
धारणे वा विसर्गे वा न कर्ता विद्यते वशः ॥ २५ ॥
स्रवन्ति ह्युदराद् गर्भा जायमानास्तथा परे ।
आगमेन तथान्येषां विनाश उपपद्यते ॥ २६ ॥

गर्भमें मल और मूत्रके धारण करने या त्यागमें कोई स्वभावनियत गति है; किंतु कोई स्वाधीन कर्ता नहीं है। कुछ गर्भ माताके पेटसे गिर जाते हैं, कुछ जन्म लेते हैं और कितनोंकी ही जन्म लेनेके बाद मृत्यु हो जाती है ॥ २५-२६ ॥

एतस्माद् योनिसम्बन्धाद् यो जीवन् परिमुच्यते।
प्रजां च लभते काञ्चित् पुनर्द्वन्द्वेषु सज्जति ॥ २७ ॥

इस योनि-सम्बन्धसे कोई सकुशल जीता हुआ बाहर निकल आता है, तब कोई संतानको प्राप्त होता है और पुनः परस्परके सम्बन्धमें संलग्न हो जाता है ॥ २७ ॥

स तस्य सहजातस्य सप्तमीं नवमीं दशाम् ।
प्राप्नुवन्ति ततः पञ्च न भवन्ति गतायुषः ॥ २८ ॥

अनादिकालसे साथ उत्पन्न होनेवाले शरीरके साथ जीवात्मा अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । इस शरीरकी गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, यौवन, वृद्धत्व, जरा, प्राणरोध और नाश—ये दस दशाएँ होती हैं । इनमेंसे सातवीं और नवीं दशाको भी शरीरगत पाँचों भूत ही प्राप्त होते हैं, आत्मा नहीं । आयु समाप्त होनेपर शरीरकी नवीं दशामें पहुँचनेपर ये पाँच भूत नहीं रहते । अर्थात् दसवीं दशाको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २८ ॥

नाभ्युत्थाने मनुष्याणां योगाः स्युर्नात्र संशयः।
व्याधिभिश्च विमथ्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव ॥ २९ ॥

जैसे व्याध छोटे मृगोंको कष्ट पहुँचाते हैं, उसी प्रकार जब नाना प्रकारके रोग मनुष्योंको मथ डालते हैं, तब उनमें उठने-बैठनेकी भी शक्ति नहीं रह जाती, इसमें संशय नहीं है ॥ २९ ॥

व्याधिभिर्मथ्यमानानां त्यजतां विपुलं धनम् ।
वेदनां नापकर्षन्ति यतमानाश्चिकित्सकाः ॥ ३० ॥

रोगोंसे पीड़ित हुए मनुष्य वैद्योंको बहुत-सा धन देते हैं और वैद्यलोग रोग दूर करनेकी बहुत चेष्टा करते हैं, तो भी उन रोगियोंकी पीड़ा दूर नहीं कर पाते हैं ॥ ३० ॥

ते चातिनिपुणा वैद्याः कुशलाः सम्भृतौषधाः ।
व्याधिभिः परिकृष्यन्ते मृगा व्याधैरिवार्दिताः ॥ ३१ ॥

बहुत-सी ओषधियोंका संग्रह करनेवाले चिकित्सामें कुशल चतुर वैद्य भी व्याधोंके मारे हुए मृगोंकी भाँति रोगोंके शिकार हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥ ३२ ॥

वे तरह-तरहके काढ़े और नाना प्रकारके घी पीते रहते हैं, तो भी बड़े-बड़े हाथी जैसे वृक्षोंको झुका देते हैं, वैसे ही वृद्धावस्था उनकी कमर टेढ़ी कर देती है; यह देखा जाता है ॥ ३२ ॥

के वा भुवि चिकित्सन्ते रोगार्तान् मृगपक्षिणः।
श्वापदानि दरिद्रांश्च प्रायो नार्ता भवन्ति ते ॥ ३३ ॥

इस पृथ्वीपर मृग, पक्षी, हिंसक पशु और दरिद्र मनुष्योंको जब रोग सताता है, तब कौन उनकी चिकित्सा करने जाते हैं ! किंतु प्रायः उन्हें रोग होता ही नहीं है ॥ ३३ ॥

घोरानपि दुराधर्षान् नृपतीनुग्रतेजसः।
आक्रम्याददते रोगाः पशून् पशुगणा इव ॥ ३४ ॥

परंतु बड़े-बड़े पशु जैसे छोटे पशुओंपर आक्रमण करके उन्हें दबा देते हैं, उसी प्रकार प्रचण्ड तेजवाले, घोर एवं दुर्धर्ष राजाओंपर भी बहुत-से रोग आक्रमण करके उन्हें अपने वशमें कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम्।
स्रोतसा सहसाऽऽक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार सब लोग भवसागरके प्रबल प्रवाहमें सहसा पड़कर इधर-उधर बहते हुए मोह और शोकमें डूब रहे हैं और आर्तनादतक नहीं कर पाते हैं ॥ ३५ ॥

न धनेन न राज्येन नोग्रेण तपसा तथा।
स्वभावमतिवर्तन्ते ये नियुक्ताः शरीरिणः ॥ ३६ ॥

विधाताके द्वारा कर्मफल-भोगमें नियुक्त हुए देहधारी मनुष्य धन, राज्य तथा कठोर तपस्याके प्रभावसे प्रकृतिका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

न म्रियेरन् न जीर्येरन् सर्वे स्युः सर्वकामिनः।
नाप्रियं प्रति पश्येयुरुत्थानस्य फले सति ॥ ३७ ॥

यदि प्रयत्नका फल अपने हाथमें होता तो मनुष्य न तो बूढ़े होते और न मरते ही। सबकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जातीं और किसीको अप्रिय नहीं देखना पड़ता ॥ ३७ ॥

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते।
यतते च यथाशक्ति न च तद् वर्तते तथा ॥ ३८ ॥

सब लोग लोकोंके ऊपर-से-ऊपर स्थानमें जाना चाहते हैं और यथाशक्ति इसके लिये चेष्टा भी करते हैं; किंतु वैसा करनेमें समर्थ नहीं होते ॥ ३८ ॥

ऐश्वर्यमदमत्तांश्च मत्तान् मद्यमदेन च।
अप्रमत्ताः शठाञ्छूरा विक्रान्ताः पर्युपासते ॥ ३९ ॥

प्रमादरहित पराक्रमी शूरवीर भी ऐश्वर्य तथा मदिराके मदसे उन्मत्त रहनेवाले शठ मनुष्योंकी सेवा करते हैं ॥ ३९ ॥

क्लेशाः परिनिवर्तन्ते केषाञ्चिदसमीक्षिताः।
स्वं स्वं च पुनरन्येषां न किंचिदधिगम्यते ॥ ४० ॥

कितने ही लोगोंके क्लेश ध्यान दिये बिना ही निवृत्त हो जाते हैं तथा दूसरोंको अपने ही धनमेंसे समयपर कुछ भी नहीं मिलता ॥ ४० ॥

महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु।
वहन्ति शिबिकामन्ये यान्त्यन्ये शिबिकागताः ॥ ४१ ॥

कर्मोंके फलमें भी बड़ी भारी विषमता देखनेमें आती है। कुछ लोग पालकी ढोते हैं और दूसरे लोग उसी पालकीमें बैठकर चलते हैं ॥ ४१ ॥

सर्वेषामृद्धिकामानामन्ये रथपुरःसराः।
मनुष्याश्च गतस्त्रीकाः शतशो विविधस्त्रियः ॥ ४२ ॥

सभी मनुष्य धन और समृद्धि चाहते हैं; परंतु उनमेंसे थोड़ेसे ही ऐसे लोग होते हैं, जो रथपर चढ़कर चलते हैं। कितने ही पुरुष स्त्रीरहित हैं और सैकड़ों मनुष्य कई स्त्रियोंवाले हैं ॥ ४२ ॥

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु गच्छन्त्येकैकशो नराः।
इदमन्यत् पदं पश्य मात्र मोहं करिष्यसि ॥ ४३ ॥

सभी प्राणी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें रम रहे हैं। मनुष्य उनमेंसे एक-एकका अनुभव करते हैं अर्थात् किसीको सुखका अनुभव होता है, किसीको दुःखका। यह जो ब्रह्म-नामक वस्तु है, इसे सबसे भिन्न एवं विलक्षण समझो। इसके विषयमें तुम्हें मोहग्रस्त नहीं होना चाहिये ॥ ४३ ॥

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ ४४ ॥

धर्म और अधर्मको छोड़ो। सत्य और असत्य दोनोंका त्याग करो। सत्य और असत्य दोनोंका त्याग करके जिससे त्याग करते हो, उस अहंकारको भी त्याग दो ॥ ४४ ॥

एतत् ते परमं गुह्यमाख्यातमृषिसत्तम।
येन देवाः परित्यज्य मर्त्यलोकं दिवं गताः ॥ ४५ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! यह मैंने तुमसे परम गूढ़ बात बतलायी है, जिससे देवतालोग मर्त्यलोक छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ४५ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः परमबुद्धिमान्।
संचिन्त्य मनसा धीरो निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ ४६ ॥

नारदजीकी बात सुनकर परम बुद्धिमान् और धीरचित्त शुकदेवजीने मन-ही-मन बहुत विचार किया; किंतु सहसा वे किसी निश्चयपर न पहुँच सके ॥ ४६ ॥

पुत्रदारैर्महान् क्लेशो विद्याम्नाये महाञ्छ्रमः।
किं नु स्याच्छाश्वतं स्थानमल्पक्लेशं महोदयम् ॥ ४७ ॥

वे सोचने लगे, स्त्री-पुत्रोंके झमेलेमें पड़नेसे महान् क्लेश होगा। विद्याभ्यासमें भी बहुत अधिक परिश्रम है।

कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे सनातन पद प्राप्त हो जाय। उस साधनमें क्लेश तो थोड़ा हो, किंतु अभ्युदय महान् हो ॥ ४७ ॥

ततो मुहूर्तं संचिन्त्य निश्चितां गतिमात्मनः।
परावरज्ञो धर्मस्य परां नैःश्रेयसीं गतिम् ॥ ४८ ॥

तदनन्तर उन्होंने दो घड़ीतक अपनी निश्चित गतिके विषयमें विचार किया; फिर भूत और भविष्यके ज्ञाता शुकदेवजीको अपने धर्मकी कल्याणमयी परम गतिका निश्चय हो गया ॥ ४८ ॥

कथं त्वहमसंश्लिष्टो गच्छेयं गतिमुत्तमाम्।
नावर्तेयं यथा भूयो योनिसंकरसागरे ॥ ४९ ॥

फिर वे सोचने लगे, मैं सब प्रकारकी उपाधियोंसे मुक्त होकर किस प्रकार उस उत्तम गतिको प्राप्त करूँ, जहाँसे फिर इस संसार-सागरमें आना न पड़े ॥ ४९ ॥

परं भावं हि काङ्क्षामि यत्र नावर्तते पुनः।
सर्वसङ्गान् परित्यज्य निश्चितो मनसा गतिम् ॥ ५० ॥

जहाँ जानेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती, मैं उसी परमभावको प्राप्त करना चाहता हूँ। सब प्रकारकी आसक्तियोंका परित्याग करके मैंने मनके द्वारा उत्तम गति प्राप्त करनेका निश्चय किया है ॥ ५० ॥

तत्र यास्यामि यत्रात्मा शमं मेऽधिगमिष्यति।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव यत्र स्थास्यामि शाश्वतः ॥ ५१ ॥

अब मैं वहीं जाऊँगा, जहाँ मेरे आत्माको शान्ति मिलेगी तथा जहाँ मैं अक्षय, अविनाशी और सनातनरूपसे स्थित रहूँगा ॥ ५१ ॥

न तु योगमृते शक्या प्राप्तुं सा परमा गतिः।
अवबन्धो हि बुद्धस्य कर्मभिर्नोपपद्यते ॥ ५२ ॥

परंतु योगके बिना उस परम गतिको नहीं प्राप्त किया जा सकता। बुद्धिमान्‌का कर्मोंके निकृष्ट बन्धनसे बँधा रहना उचित नहीं है ॥ ५२ ॥

तस्माद् योगं समास्थाय त्यक्त्वा गृहकलेवरम्।
वायुभूतः प्रवेक्ष्यामि तेजोराशिं दिवाकरम् ॥ ५३ ॥

अतः मैं योगका आश्रय ले इस देह-गेहका परित्याग करके वायुरूप हो तेजोराशिमय सूर्यमण्डलमें प्रवेश करूँगा ॥ ५३ ॥

न ह्येष क्षयतां याति सोमः सुरगणैर्यथा।
कम्पितः पतते भूमिं पुनश्चैवाधिरोहति ॥ ५४ ॥

देवतालोग चन्द्रमाका अमृत पीकर जिस प्रकार उसे क्षीण कर देते हैं, उस प्रकार सूर्यदेवका क्षय नहीं होता। धूममार्गसे चन्द्रमण्डलमें गया हुआ जीव कर्मभोग समाप्त होनेपर कम्पित हो फिर इस पृथ्वीपर गिर पड़ता है। इसी प्रकार नूतन कर्मफल भोगनेके लिये वह पुनः चन्द्रलोकमें जाता है (सारांश यह कि चन्द्रलोकमें जानेवालेको आवागमनसे छुटकारा नहीं मिलता है) ॥ ५४ ॥

क्षीयते हि सदा सोमः पुनश्चैवाभिपूर्यते।
नेच्छाम्येवं विदित्वैते ह्रासवृद्धी पुनः पुनः ॥ ५५ ॥

इसके सिवा चन्द्रमा सदा घटता-बढ़ता रहता है। उसकी ह्रास-वृद्धिका क्रम कभी टूटता नहीं है। इन सब बातोंको जानकर मुझे चन्द्रलोकमें जाने या ह्रास-वृद्धिके चक्करमें पड़नेकी इच्छा नहीं होती है ॥ ५५ ॥

रविस्तु संतापयते लोकान् रश्मिभिरुल्बणैः।
सर्वतस्तेज आदत्ते नित्यमक्षयमण्डलः ॥ ५६ ॥

सूर्यदेव अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समस्त जगत्‌को संतप्त करते हैं। वे सब जगहसे तेजको स्वयं ग्रहण करते हैं (उनके तेजका कभी ह्रास नहीं होता); इसलिये उनका मण्डल सदा अक्षय बना रहता है ॥ ५६ ॥

अतो मे रोचते गन्तुमादित्यं दीप्ततेजसम्।
अत्र वत्स्यामि दुर्धर्षो निःशङ्केनान्तरात्मना ॥ ५७ ॥

अतः उद्दीप्त तेजवाले आदित्यमण्डलमें जाना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है। इसमें मैं निर्भीकचित्त होकर निवास करूँगा। किसीके लिये भी मेरा पराभव करना कठिन होगा ॥ ५७ ॥

सूर्यस्य सदने चाहं निक्षिप्येदं कलेवरम्।
ऋषिभिः सह यास्यामि सौरं तेजोऽतिदुःसहम् ॥ ५८ ॥

इस शरीरको सूर्यलोकमें छोड़कर मैं ऋषियोंके साथ सूर्यदेवके अत्यन्त दुःसह तेजमें प्रवेश कर जाऊँगा ॥ ५८ ॥

आपृच्छामि नगान् नागान् गिरिमुर्वीं दिशो दिवम्।
देवदानवगन्धर्वान् पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ५९ ॥

इसके लिये मैं नग-नाग, पर्वत, पृथ्वी, दिशा, द्युलोक, देव, दानव, गन्धर्व, पिशाच, सर्प और राक्षसोंसे आज्ञा माँगता हूँ ॥ ५९ ॥

लोकेषु सर्वभूतानि प्रवेक्ष्यामि न संशयः।
पश्यन्तु योगवीर्यं मे सर्वे देवाः सहर्षिभिः ॥ ६० ॥

आज मैं निःसंदेह जगत्‌के सम्पूर्ण भूतोंमें प्रवेश करूँगा। समस्त देवता और ऋषि मेरी योगशक्तिका प्रभाव देखें ॥ ६० ॥

अथानुज्ञाप्य तमृषिं नारदं लोकविश्रुतम्।
तस्मादनुज्ञां सम्प्राप्य जगाम पितरं प्रति ॥ ६१ ॥

ऐसा निश्चय करके शुकदेवजीने विश्वविख्यात देवर्षि नारदजीसे आज्ञा माँगी। उनसे आज्ञा लेकर वे अपने पिता व्यासजीके पास गये ॥ ६१ ॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं मुनिम्।
शुकः प्रदक्षिणं कृत्वा कृष्णमापृष्टवान् मुनिम् ॥ ६२ ॥

वहाँ अपने पिता महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिको प्रणाम करके शुकदेवजीने उनकी प्रदक्षिणा की और उनसे जानेके लिये आज्ञा माँगी ॥ ६२ ॥

श्रुत्वा चर्षिस्तद् वचनं शुकस्य
प्रीतो महात्मा पुनराह चैनम्।
भो भो पुत्र स्थीयतां तावदद्य
यावच्चक्षुः प्रीणयामि त्वदर्थे ॥ ६३ ॥

शुकदेवकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए महात्मा व्यासने उनसे कहा—'बेटा ! बेटा ! आज यहीं रहो, जिससे तुम्हें जी-भर निहारकर अपने नेत्रोंको तृप्त कर लूँ' ॥ ६३ ॥

निरपेक्षः शुको भूत्वा निःस्नेहो मुक्तसंशयः।
मोक्षमेवानुसंचिन्त्य गमनाय मनो दधे ॥ ६४ ॥

परंतु शुकदेवजी स्नेहका बन्धन तोड़कर निरपेक्ष हो गये थे। तत्त्वके विषयमें उन्हें कोई संशय नहीं रह गया था; अतः बारंबार मोक्षका ही चिन्तन करते हुए उन्होंने वहाँसे जानेका ही विचार किया ॥ ६४ ॥

पितरं सम्परित्यज्य जगाम मुनिसत्तमः।
कैलासपृष्ठं विपुलं सिद्धसंघनिषेवितम् ॥ ६५ ॥

पिताको वहीं छोड़कर मुनिश्रेष्ठ शुकदेव सिद्ध-समुदायसे सेवित विशाल कैलासशिखरपर चले गये ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिगमने एकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका प्रस्थानविषयक तीन सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी ऊर्ध्वगतिका वर्णन

भीष्म उवाच

गिरिशृङ्गं समारुह्य सुतो व्यासस्य भारत।
समे देशे विविक्ते स निःशलाक उपाविशत् ॥ १ ॥
धारयामास चात्मानं यथाशास्त्रं यथाविधि।
पादप्रभृतिगात्रेषु क्रमेण क्रमयोगवित् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! कैलासशिखरपर आरूढ़ हो व्यासपुत्र शुकदेव एकान्तमें तृणरहित समतल भूमिपर बैठ गये और शास्त्रोक्त विधिसे पैरसे लेकर सिरतक सम्पूर्ण अङ्गोंमें क्रमशः आत्माकी धारणा करने लगे । वे क्रमयोगके पूर्ण ज्ञाता थे ॥ १-२ ॥

ततः स प्राङ्मुखो विद्वानादित्ये नचिरोदिते।
पाणिपादं समादाय विनीतवदुपाविशत् ॥ ३ ॥
न तत्र पक्षिसंघातो न शब्दो नातिदर्शनम्।
यत्र वैयासकिर्धीमान् योक्तुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

थोड़ी ही देरमें जब सूर्योदय हुआ, तब ज्ञानी शुकदेव हाथ-पैर समेटकर विनीतभावसे पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बैठे और योगमें प्रवृत्त हो गये । उस समय बुद्धिमान् व्यासनन्दन जहाँ योगयुक्त हो रहे थे, वहाँ न तो पक्षियोंका समुदाय था, न कोई शब्द सुनायी पड़ता था और न दृष्टिको आकृष्ट करनेवाला कोई दृश्य ही उपस्थित था ॥ ३-४ ॥

स ददर्श तदाऽऽत्मानं सर्वसंगविनिःसृतम्।
प्रजहास ततो हासं शुकः सम्प्रेक्ष्य तत्परम् ॥ ५ ॥

उस समय उन्होंने सब प्रकारके संगोंसे रहित आत्माका दर्शन किया । उस परमतत्त्वका साक्षात्कार करके शुकदेवजी जोर-जोरसे हँसने लगे ॥ ५ ॥

स पुनर्योगमास्थाय मोक्षमार्गोपलब्धये।
महायोगेश्वरो भूत्वा सोऽत्यक्रामद् विहायसम्॥ ६ ॥

फिर मोक्षमार्गकी उपलब्धिके लिये योगका आश्रय ले महान् योगेश्वर होकर वे आकाशमें उड़नेके लिये तैयार हो गये ॥ ६ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा देवर्षिं नारदं ततः।
निवेदयामास च तं स्वं योगं परमर्षये ॥ ७ ॥

तदनन्तर देवर्षि नारदके पास जा उनकी प्रदक्षिणा की और उन परम ऋषिसे अपने योगके सम्बन्धमें इस प्रकार निवेदन किया ॥ ७ ॥

शुक उवाच

दृष्टो मार्गः प्रवृत्तोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु तपोधन।
त्वत्प्रसादाद् गमिष्यामि गतिमिष्टां महाद्युते ॥ ८ ॥

शुकदेव बोले—महातेजस्वी तपोधन ! आपका कल्याण हो । अब मुझे मोक्षमार्गका दर्शन हो गया । मैं वहाँ जानेको तैयार हूँ । आपकी कृपासे मैं अभीष्ट गति प्राप्त करूँगा ॥८॥

नारदेनाभ्यनुज्ञातः शुको द्वैपायनात्मजः।
अभिवाद्य पुनर्योगमास्थायाकाशमाविशत् ॥ ९ ॥
कैलासपृष्ठादुत्पत्य स पपात दिवं तदा।
अन्तरिक्षचरः श्रीमान् वायुभूतः सुनिश्चितः ॥ १० ॥

नारदजीकी आज्ञा पाकर व्यासकुमार शुकदेवजी उन्हें प्रणाम करके पुनः योगमें स्थित हो आकाशमें प्रविष्ट हुए । कैलासशिखरसे उछलकर वे तत्काल आकाशमें जा पहुँचे और सुनिश्चित ज्ञान पाकर वायुका रूप धारण करके श्रीमान् शुकदेव अन्तरिक्षमें विचरने लगे ॥ ९-१० ॥

तमुद्यन्तं द्विजश्रेष्ठं वैनतेयसमद्युतिम्।
ददृशुः सर्वभूतानि मनोमारुतरंहसम् ॥ ११ ॥

उस समय समस्त प्राणियोंने ऊपर जाते हुए द्विजश्रेष्ठ शुकदेवको विनतानन्दन गरुडके समान कान्तिमान् तथा मन और वायुके समान वेगशाली देखा ॥ ११ ॥

व्यवसायेन लोकांस्त्रीन् सर्वान् सोऽथ विचिन्तयन्।

आस्थितो दीर्घमध्वानं पावकार्कसमप्रभः ॥ १२ ॥

वे निश्चयात्मक बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण त्रिलोकीको आत्मभावसे देखते हुए बहुत दूरतक आगे बढ़ गये। उस समय उनका तेज सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था ॥

तमेकमनसं यान्तमव्यग्रमकुतोभयम्।
ददृशुः सर्वभूतानि जङ्गमानि चराणि च ॥ १३ ॥
यथाशक्ति यथान्यायं पूजां वै चक्रिरे तदा।
पुष्पवर्षैश्च दिव्यैस्तमवचक्रुर्दिवौकसः ॥ १४ ॥

उन्हें निर्भय होकर शान्त और एकाग्रचित्तसे ऊपर जाते समय समस्त चराचर प्राणियोंने देखा और अपनी शक्ति तथा रीतिके अनुसार उनका यथोचित पूजन किया। देवताओंने उनपर दिव्य फूलोंकी वर्षा की ॥ १३-१४ ॥

तं दृष्ट्वा विस्मिताः सर्वे गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
ऋषयश्चैव संसिद्धाः परं विस्मयमागताः ॥ १५ ॥

उन्हें इस प्रकार जाते देख समस्त गन्धर्व, अप्सराओंके समुदाय तथा सिद्ध ऋषि-मुनि महान् आश्चर्यमें पड़ गये ॥

अन्तरिक्षगतः कोऽयं तपसा सिद्धिमागतः।
अधःकायोर्ध्ववक्त्रश्च नेत्रैः समभिरज्यते ॥ १६ ॥

और आपसमें कहने लगे—'तपस्यासे सिद्धिको प्राप्त हुआ यह कौन महात्मा आकाशमार्गसे जा रहा है, जिसका मुखमण्डल ऊपरकी ओर और शरीरका निचला भाग नीचेकी ओर ही है ? हमारी आँखें बरबस इसकी ओर खिंच जाती हैं' ॥ १६ ॥

ततः परमधर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
भास्करं समुदीक्षन् स प्राङ्मुखो वाग्यतोऽगमत्॥१७॥

तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध परम धर्मात्मा शुकदेवजी पूर्वदिशाकी ओर मुँह करके सूर्यको देखते हुए मौनभावसे आगे बढ़ रहे थे ॥ १७ ॥

शब्देनाकाशमखिलं पूरयन्निव सर्वशः।
तमापतन्तं सहसा दृष्ट्वा सर्वाप्सरोगणाः ॥ १८ ॥
सम्भ्रान्तमनसो राजन्नासन् परमविस्मिताः।

वे अपने शब्दसे सम्पूर्ण आकाशको पूर्ण-सा कर रहे थे। राजन्! उन्हें सहसा आते देख सम्पूर्ण अप्सराएँ मन-ही-मन घबरा उठीं और अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गयीं ॥ १८½ ॥

पञ्चचूडाप्रभृतयो भृशमुत्फुल्ललोचनाः ॥ १९ ॥
दैवतं कतमं ह्येतदुत्तमां गतिमास्थितम्।
सुनिश्चितमिहायाति विमुक्तमिव निःस्पृहम् ॥ २० ॥

पञ्चचूडा आदि अप्सराओंके नेत्र विस्मयसे अत्यन्त खिल उठे थे। वे परस्पर कहने लगीं कि उत्तम गतिका आश्रय लेकर यह कौन-सा देवता यहाँ आ रहा है ? इसका निश्चय अत्यन्त दृढ़ है। यह सब प्रकारके बन्धनों तथा संशयोंसे मुक्त-सा हो गया है और इसके भीतर किसी वस्तुकी कामना नहीं रह गयी है ॥ १९-२० ॥

ततः समभिचक्राम मलयं नाम पर्वतम्।
उर्वशी पूर्वचित्तिश्च यं नित्यमुपसेवतः ॥ २१ ॥

कुछ ही देरमें वे मलय नामक पर्वतपर जा पहुँचे, जहाँ उर्वशी और पूर्वचित्ति—ये दो अप्सराएँ सदा निवास करती हैं ॥ २१ ॥

तस्य ब्रह्मर्षिपुत्रस्य विस्मयं ययतुः परम्।
अहो बुद्धिसमाधानं वेदाभ्यासरते द्विजे ॥ २२ ॥
अचिरेणैव कालेन नभश्चरति चन्द्रवत्।
पितृशुश्रूषया बुद्धिं सम्प्राप्तोऽयमनुत्तमाम् ॥ २३ ॥

ब्रह्मर्षि व्यासजीके पुत्रकी यह उत्तम गति देख उन दोनोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे आपसमें कहने लगीं, 'अहो! इस वेदाभ्यासपरायण ब्राह्मणकी बुद्धिमें कितनी अद्भुत एकाग्रता है ! पिताकी सेवासे थोड़े ही समयमें उत्तम बुद्धि पाकर यह चन्द्रमाके समान आकाशमें विचर रहा है ॥ २२-२३ ॥

पितृभक्तो दृढतपाः पितुः सुदयितः सुतः।
अनन्यमनसा तेन कथं पित्रा विसर्जितः ॥ २४ ॥

'यह बड़ा ही तपस्वी और पितृभक्त था और अपने पिताका बहुत ही प्यारा बेटा था। उनका मन सदा इसीमें लगा रहता था; फिर भी उन्होंने इसे जानेकी आज्ञा कैसे दे दी?' ॥

उर्वश्या वचनं श्रुत्वा शुकः परमधर्मवित्।
उदैक्षत दिशः सर्वा वचने गतमानसः ॥ २५ ॥

उर्वशीकी बात सुनकर परम धर्मज्ञ शुकदेवजीने सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखा। उस समय उनका चित्त उसकी बातोंकी ओर चला गया था ॥ २५ ॥

सोऽन्तरिक्षं महीं चैव सशैलवनकाननाम्।
विलोकयामास तदा सरांसि सरितस्तथा ॥ २६ ॥

आकाश, पर्वत, वन और काननोंसहित पृथ्वी एवं सरोवरों और सरिताओंकी ओर भी उन्होंने दृष्टि डाली ॥ २६ ॥

ततो द्वैपायनसुतं बहुमानात् समन्ततः।
कृताञ्जलिपुटाः सर्वा निरीक्षन्ते स्म देवताः ॥ २७ ॥

उस समय इन सबकी अधिष्ठात्री देवियोंने सब ओरसे बड़े आदरके साथ द्वैपायनकुमार शुकदेवजीको देखा। वे सब-की-सब अञ्जलि बाँधे खड़ी थीं ॥ २७ ॥

अब्रवीत् तास्तदा वाक्यं शुकः परमधर्मवित्।
पिता यद्यनुगच्छेन्मां क्रोशमानः शुकेति वै ॥ २८ ॥
ततः प्रतिवचो देयं सर्वैरेव समाहितैः।
एतन्मे स्नेहतः सर्वे वचनं कर्तुमर्हथ ॥ २९ ॥

तब परम धर्मज्ञ शुकदेवजीने उन सबसे कहा—'देवियो! यदि मेरे पिताजी मेरा नाम लेकर पुकारते हुए इधर आ निकलें तो आप सब लोग सावधान होकर मेरी ओरसे उन्हें उत्तर देना। आप लोगोंका मुझपर बड़ा स्नेह है; इसलिये आप सब मेरी इतनी-सी बात मान लेना' ॥ २८-२९ ॥

शुकस्य वचनं श्रुत्वा दिशः सर्वाः सकाननाः ।
समुद्राः सरितः शैलाः प्रत्यूचुस्तं समन्ततः ॥ ३० ॥

शुकदेवजीकी यह बात सुनकर काननोंसहित सम्पूर्ण दिशाओं, समुद्रों, नदियों, पर्वतों और पर्वतोंकी अधिष्ठात्री देवियोंने सब ओरसे यह उत्तर दिया—॥ ३० ॥

यथाऽऽज्ञापयसे विप्र बाढमेवं भविष्यति ।
ऋषेर्व्याहरतो वाक्यं प्रतिवक्ष्यामहे वयम् ॥ ३१ ॥

'ब्रह्मन् ! आप जैसी आज्ञा देते हैं, निश्चय ही वैसा ही होगा । जब महर्षि व्यास आपको पुकारेंगे, तब हम सब लोग उन्हें उत्तर देंगी' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिपतने द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीका ऊर्ध्वगमनविषयक तीन सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी परमपद-प्राप्ति तथा पुत्र-शोकसे व्याकुल व्यासजीको महादेवजीका आश्वासन देना

भीष्म उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं ब्रह्मर्षिः सुमहातपाः ।
प्रातिष्ठत शुकः सिद्धिं हित्वा दोषांश्चतुर्विधान् ॥ १ ॥
तमो ह्यष्टविधं हित्वा जहौ पञ्चविधं रजः ।
ततः सत्त्वं जहौ धीमांस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह वचन कहकर महातपस्वी शुकदेवजी सिद्धि पानेके उद्देश्यसे आगे बढ़ गये । बुद्धिमान् शुकने चार प्रकारके दोषोंका, आठ प्रकारके तमोगुणका तथा पाँच प्रकारके रजोगुणका परित्याग करके सत्त्वगुणको भी त्याग दिया*; यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥

ततस्तस्मिन् पदे नित्ये निर्गुणे लिङ्गवर्जिते ।
ब्रह्मणि प्रत्यतिष्ठत् स विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् वे नित्य निर्गुण एवं लिङ्गरहित ब्रह्मपदमें स्थित हो गये । उस समय उनका तेज धूमहीन अग्निकी भाँति देदीप्यमान हो रहा था ॥ ३ ॥

उल्कापाता दिशां दाहो भूमिकम्पस्तथैव च ।
प्रादुर्भूताः क्षणे तस्मिंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४ ॥

उसी क्षण उल्काएँ टूटकर गिरने लगीं । दिशाओंमें दाह होने लगा और धरती डोलने लगी । यह सब आश्चर्य-की-सी घटना घटित हुई ॥ ४ ॥

द्रुमाः शाखाश्च मुमुचुः शिखराणि च पर्वताः ।
निर्घातशब्दैश्च गिरिर्हिमवान् दीर्यतीव ह ॥ ५ ॥

वृक्षोंने अपनी शाखाएँ अपने आप तोड़कर गिरा दीं । पर्वतोंने अपने शिखर भङ्ग कर दिये । वज्रपातके शब्दोंसे गिरिराज हिमालय विदीर्ण-सा होता जान पड़ता था ॥

न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः ।
ह्रदाश्च सरितश्चैव चुक्षुभुः सागरास्तथा ॥ ६ ॥

सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी । आग प्रज्वलित नहीं होती थी । सरोवर, सरिता और समुद्र सभी क्षुब्ध हो उठे ॥

ववर्ष वासवस्तोयं रसवच्च सुगन्धि च ।
ववौ समीरणश्चापि दिव्यगन्धवहः शुचिः ॥ ७ ॥

इन्द्रने सरस और सुगन्धित जलकी वर्षा की तथा दिव्य गन्ध फैलाती हुई परम पवित्र वायु चलने लगी ॥ ७ ॥

स शृङ्गे प्रथमे दिव्ये हिमवन्मेरुसम्भवे ।
संश्लिष्टे श्वेतपीते द्वे रुक्मरूप्यमये शुभे ॥ ८ ॥
शतयोजनविस्तारे तिर्यगूर्ध्वं च भारत ।
उदीचीं दिशमास्थाय रुचिरे संददर्श ह ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! आगे बढ़नेपर श्रीशुकदेवजीने पर्वतके दो दिव्य एवं सुन्दर शिखर देखे, जो एक दूसरेसे सटे हुए थे । उनमेंसे एक हिमालयका शिखर था और दूसरा मेरुपर्वतका । हिमालयका शिखर रजतमय होनेके कारण श्वेत दिखायी देता था और सुमेरुका स्वर्णमय शृङ्ग पीले रंगका था । इन दोनोंकी लंबाई-चौड़ाई और ऊँचाई सौ-सौ योजनकी थी । उत्तरदिशाकी ओर जाते समय ये दोनों सुरम्य शिखर शुकदेवजीकी दृष्टिमें पड़े ॥ ८-९ ॥

सोऽविशङ्केन मनसा तदैवाभ्यपतच्छुकः ।
ततः पर्वतशृङ्गे द्वे सहसैव द्विधाकृते ॥ १० ॥
अदृश्येतां महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ।

उन्हें देखकर वे पूर्ववत् निःशङ्क मनसे उनके ऊपर चढ़ गये । फिर तो वे दोनों पर्वतशिखर सहसा दो भागोंमें बँट गये और बीचसे फटे हुए-से दिखायी देने लगे । महाराज ! यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १०½ ॥

ततः पर्वतशृङ्गाभ्यां सहसैव विनिःसृतः ॥ ११ ॥
न च प्रतिजघानास्य स गतिं पर्वतोत्तमः ।

तत्पश्चात् उन पर्वतशिखरोंसे वे सहसा आगे निकल गये । वह श्रेष्ठ पर्वत उनकी गतिको रोक न सका ॥ ११½ ॥

ततो महानभूच्छब्दो दिवि सर्वदिवौकसाम् ॥ १२ ॥
गन्धर्वाणामृषीणां च ये च शैलनिवासिनः ।

यह देख सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों, ऋषियों तथा जो

* सत्त्वगुण भी सुख और ज्ञानके सम्बन्धसे बाँधनेवाला होता है । 'मैं सुखी हूँ, अज्ञानी हूँ,' ऐसा जो अभिमान हो जाता है, वह ज्ञानीको गुणातीत अवस्थासे वञ्चित रख देता है । इसलिये यहाँ सत्त्वगुणको भी त्याग देनेकी बात कही गयी है ।

उस पर्वतपर रहनेवाले दूसरे लोग थे, उन सबने बड़े जोरसे हर्षनाद किया। उनकी हर्षध्वनि आकाशमें चारों ओर गूँज उठी ॥ १२½ ॥

दृष्ट्वा शुकमतिक्रान्तं पर्वतं च द्विधाकृतम् ॥ १३ ॥
साधु साध्विति तत्रासीन्नादः सर्वत्र भारत।

भारत! शुकदेवजीको पर्वत लाँघकर आगे बढ़ते और उस पर्वतको दो टुकड़ोंमें विदीर्ण होते देख वहाँ सब ओर 'साधु-साधु' शब्द सुनायी पड़ने लगे ॥ १३½ ॥

स पूज्यमानो देवैश्च गन्धर्वैर्ऋषिभिस्तथा ॥ १४ ॥
यक्षराक्षससंघैश्च विद्याधरगणैस्तथा।
दिव्यैः पुष्पैः समाकीर्णमन्तरिक्षं समन्ततः ॥ १५ ॥
आसीत् किल महाराज शुकाभिपतने तदा।

महाराज! देवता, गन्धर्व, ऋषि, यक्ष, राक्षस और विद्याधरोंने उनका पूजन किया। वहाँसे शुकदेवजीके ऊपर उठते समय उनके चढ़ाये हुए दिव्य पुष्पोंकी वर्षासे वहाँ सब ओरका सारा आकाश छा गया ॥ १४-१५½ ॥

ततो मन्दाकिनीं रम्यामुपरिष्टादभिव्रजन् ॥ १६ ॥
शुको ददर्श धर्मात्मा पुष्पितद्रुमकाननाम्।

राजन्! धर्मात्मा शुकने ऊर्ध्वलोकमें जाते समय खिले हुए वृक्षों और वनोंसे सुशोभित रमणीय मन्दाकिनी (आकाश-गङ्गा) का दर्शन किया ॥ १६½ ॥

तस्यां क्रीडन्त्यभिरतास्ते चैवाप्सरसां गणाः ॥ १७ ॥
शून्याकारं निराकाराः शुकं दृष्ट्वा विवाससः।

उसमें बहुत-सी अप्सराएँ स्नान एवं जलक्रीड़ा कर रही थीं। यद्यपि वे नंगी थीं, तो भी शुकदेवजीको शून्याकार (बाह्यज्ञानसे रहित एवं आत्मनिष्ठ) देख अपने शरीरको ढकने या छिपानेके लिये उद्यत नहीं हुईं ॥ १७½ ॥

तं प्रक्रामन्तमाज्ञाय पिता स्नेहसमन्वितः ॥ १८ ॥
उत्तमां गतिमास्थाय पृष्ठतोऽनुससार ह।

उन्हें इस प्रकार सिद्धिके लिये उत्क्रमण करते जान उनके पिता वेदव्यासजी भी स्नेहवश उत्तम गतिका आश्रय ले उनके पीछे-पीछे जाने लगे ॥ १८½ ॥

शुकस्तु मारुतादूर्ध्वं गतिं कृत्वान्तरिक्षगाम् ॥ १९ ॥
दर्शयित्वा प्रभावं स्वं ब्रह्मभूतोऽभवत् तदा।

उधर शुकदेव वायुसे आकाशगामिनी ऊर्ध्वगतिका आश्रय ले अपना प्रभाव दिखाकर तत्काल ब्रह्मीभूत हो गये ॥ १९½ ॥

महायोगगतिं त्वन्यां व्यासोत्थाय महातपाः ॥ २० ॥
निमेषान्तरमात्रेण शुकाभिपतनं ययौ।
स ददर्श द्विधा कृत्वा पर्वताग्रं शुकं गतम् ॥ २१ ॥

महातपस्वी व्यासजी दूसरी महायोगसम्बन्धिनी गतिका अवलम्बन करके ऊपरको उठे और पलक मारते-मारते उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँसे उन पर्वत-शिखरोंको दो भागोंमें विदीर्ण करके शुकदेवजी आगे बढ़े थे। वह स्थान शुकाभिपतनके नामसे प्रसिद्ध हो गया था। उन्होंने उस स्थानको देखा ॥ २०-२१ ॥

शशंसुर्ऋषयस्तत्र कर्म पुत्रस्य तत् तदा।
ततः शुकेति दीर्घेण शब्देनाक्रन्दितस्तदा ॥ २२ ॥

वहाँ रहनेवाले ऋषियोंने आकर व्यासजीसे उनके पुत्रका वह अलौकिक कर्म कह सुनाया। तब व्यासजीने शुकदेवका नाम लेकर बड़े जोरसे रोदन किया ॥ २२ ॥

स्वयं पित्रा स्वरेणोच्चैस्त्रींल्लोकाननुनाद्य वै।
शुकः सर्वगतो भूत्वा सर्वात्मा सर्वतोमुखः ॥ २३ ॥
प्रत्यभाषत धर्मात्मा भो शब्देनानुनादयन्।

जब पिताने उच्चस्वरसे तीनों लोकोंको गुँजाते हुए पुकारा, तब सर्वव्यापी, सर्वात्मा एवं सर्वतोमुख होकर धर्मात्मा शुकने 'भोः' शब्दसे सम्पूर्ण जगत्‌को प्रतिध्वनित करते हुए पिताको उत्तर दिया ॥ २३½ ॥

तत एकाक्षरं नादं भोरित्येव समीरयन् ॥ २४ ॥
प्रत्याहरज्जगत् सर्वमुच्चैः स्थावरजङ्गमम्।

उसीके साथ-साथ सम्पूर्ण चराचर जगत्‌ने उच्चस्वरसे 'भोः' इस एकाक्षर शब्दका उच्चारण करते हुए उत्तर दिया ॥ २४½ ॥

ततः प्रभृति चाद्यापि शब्दानुच्चारितान् पृथक् ॥ २५ ॥
गिरिगह्वरपृष्ठेषु व्याहरन्ति शुकं प्रति।

तभीसे आजतक पर्वतोंके शिखरपर अथवा गुफाओंके आस-पास जब-जब आवाज दी जाती है, तब-तब वहाँके चराचर निवासी प्रतिध्वनिके रूपमें उसका उत्तर देते हैं, जैसा कि उन्होंने शुकदेवजीके लिये किया था ॥ २५½ ॥

अन्तर्हितः प्रभावं तु दर्शयित्वा शुकस्तदा ॥ २६ ॥
गुणान् संत्यज्य शब्दादीन् पदमभ्यगमत् परम्।

इस प्रकार अपना प्रभाव दिखलाकर शुकदेवजी अन्तर्धान हो गये और शब्द आदि गुणोंका परित्याग करके परमपदको प्राप्त हुए ॥ २६½ ॥

महिमानं तु तं दृष्ट्वा पुत्रस्यामिततेजसः ॥ २७ ॥
निषसाद गिरिप्रस्थे पुत्रमेवानुचिन्तयन्।

अपने अमिततेजस्वी पुत्रकी यह महिमा देखकर व्यासजी उसीका चिन्तन करते हुए उस पर्वतके शिखरपर बैठ गये ॥ २७½ ॥

ततो मन्दाकिनीतीरे क्रीडन्तोऽप्सरसां गणाः ॥ २८ ॥
आसाद्य तमृषिं सर्वाः सम्भ्रान्ता गतचेतसः।
जले निलिल्यिरे काश्चित् काश्चिद् गुल्मान् प्रपेदिरे ॥ २९ ॥

उस समय मन्दाकिनीके तटपर क्रीड़ा करती हुई समस्त अप्सराएँ महर्षि व्यासको अपने निकट पाकर बड़ी घबराहटमें पड़ गयीं, अचेत-सी हो गयीं। कोई जलमें छिप गयीं और कोई लताओंकी झुरमुटमें ॥ २८-२९ ॥

वसनान्यादुदुः काश्चित् तं दृष्ट्वा मुनिसत्तमम् ।
तां मुक्ततां तु विज्ञाय मुनिः पुत्रस्य वै तदा ॥ ३० ॥
सक्ततामात्मनश्चैव प्रीतोऽभूद् व्रीडितश्च ह ॥ ३१ ॥

कुछ अप्सराओंने मुनिश्रेष्ठ व्यासको देखकर अपने वस्त्र पहन लिये । उस समय अपने पुत्रकी मुक्तता जानकर मुनि बड़े प्रसन्न हुए और अपनी आसक्तिका विचार करके वे बहुत लज्जित भी हुए ॥ ३०-३१ ॥

तं देवगन्धर्ववृतो महर्षिगणपूजितः ।
पिनाकहस्तो भगवानभ्यागच्छत शंकरः ॥ ३२ ॥
तमुवाच महादेवः सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तं कृष्णद्वैपायनं तदा ॥ ३३ ॥

इसी समय देवताओं और गन्धर्वोंसे घिरे हुए तथा महर्षियोंसे पूजित पिनाकधारी भगवान् शङ्कर वहाँ आ पहुँचे और पुत्र-शोकसे संतप्त वेदव्यासजीको सान्त्वना देते हुए कहने लगे—॥ ३२-३३ ॥

अग्नेर्भूमेरपां वायोरन्तरिक्षस्य चैव ह ।
वीर्येण सदृशः पुत्रः पुरा मत्तस्त्वया वृतः ॥ ३४ ॥
स तथालक्षणो जातस्तपसा तव सम्भृतः ।
मम चैव प्रसादेन ब्रह्मतेजोमयः शुचिः ॥ ३५ ॥

'ब्रह्मन् ! तुमने पहले अग्नि, भूमि, जल, वायु और आकाशके समान शक्तिशाली पुत्र होनेका मुझसे वरदान माँगा था; अतः तुम्हें तुम्हारी तपस्याके प्रभाव तथा मेरी कृपासे पालित वैसा ही पुत्र प्राप्त हुआ । वह ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और परम पवित्र था ॥ ३४-३५ ॥

स गतिं परमां प्राप्तो दुष्प्रापामजितेन्द्रियैः ।
दैवतैरपि विप्रर्षे तं त्वं किमनुशोचसि ॥ ३६ ॥

'ब्रह्मर्षे ! इस समय उसने ऐसी उत्तम गति प्राप्त की है, जो अजितेन्द्रिय पुरुषों तथा देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, फिर भी तुम उसके लिये क्यों शोक कर रहे हो ? ॥ ३६ ॥

यावत् स्थास्यन्ति गिरयो यावत् स्थास्यन्ति सागराः ।
तावत् तवाक्षया कीर्तिः सपुत्रस्य भविष्यति ॥ ३७ ॥

'जबतक इस संसारमें पर्वतोंकी सत्ता रहेगी और जबतक समुद्रोंकी स्थिति बनी रहेगी, तबतक तुम्हारी और तुम्हारे पुत्रकी अक्षय कीर्ति इस संसारमें छायी रहेगी ॥

छायां स्वपुत्रसदृशीं सर्वतोऽनपगां सदा ।
द्रक्ष्यसे त्वं च लोकेऽस्मिन् मत्प्रसादान्महामुने ॥ ३८ ॥

'महामुने ! तुम मेरे प्रसादसे इस जगत्में सदा अपने पुत्रसदृश छायाका दर्शन करते रहोगे । वह सब ओर दिखायी देगी, कभी तुम्हारी आँखोंसे ओझल न होगी' ॥

सोऽनुनीतो भगवता स्वयं रुद्रेण भारत ।
छायां पश्यन् समावृत्तः स मुनिः परया मुदा ॥ ३९ ॥

भरतनन्दन ! साक्षात् भगवान् शंकरके इस प्रकार आश्वासन देनेपर सर्वत्र अपने पुत्रकी छाया देखते हुए मुनिवर व्यास बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने आश्रमपर लौट आये ॥ ३९ ॥

इति जन्म गतिश्चैव शुकस्य भरतर्षभ ।
विस्तरेण समाख्याता यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४० ॥

भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे थे, वह शुकदेवजीके जन्म और परमपद-प्राप्तिकी कथा मैंने तुम्हें विस्तारसे सुनायी है ॥ ४० ॥

एतदाचष्ट मे राजन् देवर्षिर्नारदः पुरा ।
व्यासश्चैव महायोगी संजल्पेषु पदे पदे ॥ ४१ ॥

राजन् ! सबसे पहले देवर्षि नारदजीने यह वृत्तान्त मुझे बताया था । महायोगी व्यासजी भी बातचीतके प्रसंगमें पद-पदपर इस प्रसङ्गको दुहराया करते हैं ॥ ४१ ॥

इतिहासमिमं पुण्यं मोक्षधर्मोपसंहितम् ।
धारयेद् यः शमपरः स गच्छेत् परमां गतिम् ॥ ४२ ॥

जो पुरुष मोक्षधर्मसे युक्त इस परम पवित्र इतिहासको सुनकर या पढ़कर अपने हृदयमें धारण करेगा, वह शान्ति-परायण हो परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होगा ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पतनसमाप्तिर्नाम त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीकी ऊर्ध्वगतिके वर्णनकी समाप्ति नामक तीन सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

बदरिकाश्रममें नारदजीके पूछनेपर भगवान् नारायणका परमदेव परमात्माको ही सर्वश्रेष्ठ पूजनीय बताना

युधिष्ठिर उवाच

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
य इच्छेत् सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत सः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी जो भी सिद्धि पाना चाहे, वह किस देवताका पूजन करे ? ॥ १ ॥

कुतो ह्यस्य ध्रुवः स्वर्गः कुतो नैःश्रेयसं परम् ।
विधिना केन जुहुयाद् दैवं पित्र्यं तथैव च ॥ २ ॥

मनुष्यको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? उसे परम कल्याण किस साधनसे सुलभ हो सकता है ? वह किस विधिसे देवताओं तथा पितरोंके उद्देश्यसे होम करे ? ॥ २ ॥

मुक्तश्च कां गतिं गच्छेन्मोक्षश्चैव किमात्मकः ।
स्वर्गतश्चैव किं कुर्याद् येन न च्यवते दिवः ॥ ३ ॥

मुक्त पुरुष किस गतिको प्राप्त होता है ? मोक्षका क्या स्वरूप है ? स्वर्गमें गये हुए मनुष्यको क्या करना चाहिये, जिससे वह स्वर्गसे नीचे न गिरे ? ॥ ३ ॥

देवतानां च को देवः पितृणां च पिता तथा ।
तस्मात् परतरं यच्च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ४ ॥

देवताओंका भी देवता और पितरोंका भी पिता कौन है ? अथवा उससे भी श्रेष्ठ तत्त्व क्या है ? पितामह ! इन सब बातोंको आप मुझे बताइये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

गूढं मां प्रश्नवित् प्रश्नं पृच्छसे त्वमिहानघ ।
न ह्येतत् तर्कया शक्यं वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ ५ ॥
ऋते देवप्रसादाद् वा राजन् ज्ञानागमेन वा ।
गहनं ह्येतदाख्यानं व्याख्यातव्यं तवारिहन् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—निष्पाप युधिष्ठिर ! तुम प्रश्न करना खूब जानते हो । इस समय तुमने मुझसे बड़ा गूढ़ प्रश्न किया है । राजन् ! भगवान्‌की कृपा अथवा ज्ञानप्रधान शास्त्रके बिना केवल तर्कके द्वारा सैकड़ों वर्षोंमें भी इन प्रश्नोंका उत्तर नहीं दिया जा सकता । शत्रुसूदन ! यद्यपि यह विषय समझनेमें बहुत कठिन है, तो भी तुम्हारे लिये तो इसकी व्याख्या करनी ही है ॥ ५-६ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ७ ॥

इस विषयमें जानकार लोग देवर्षि नारद और नारायण ऋषिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ७ ॥

नारायणो हि विश्वात्मा चतुर्मूर्तिः सनातनः ।
धर्मात्मजः सम्बभूव पितैवं मेऽभ्यभाषत ॥ ८ ॥

मेरे पिताजीने मुझे यह बताया था कि भगवान् नारायण सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा, चतुर्मूर्ति और सनातन देवता हैं । वे ही एक समय धर्मके पुत्ररूपसे प्रकट हुए थे ॥ ८ ॥

कृते युगे महाराज पुरा स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णः स्वयम्भुवः ॥ ९ ॥

महाराज ! स्वायम्भुव मन्वन्तरके सत्ययुगमें उन स्वयम्भू भगवान् वासुदेवके चार अवतार हुए थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं—नर, नारायण, हरि और कृष्ण ॥ ९ ॥

तेषां नारायणनरौ तपस्तेपतुरव्ययौ ।
बदर्याश्रममासाद्य शकटे कनकामये ॥ १० ॥

उनमेंसे अविनाशी नारायण और नर बदरिकाश्रममें जाकर एक सुवर्णमय रथपर स्थित हो घोर तपस्या करने लगे ॥ १० ॥

अष्टचक्रं हि तद् यानं भूतयुक्तं मनोरमम् ।
तत्राद्यौ लोकनाथौ तौ कृशौ धमनिसंततौ ॥ ११ ॥
तपसा तेजसा चैव दुर्निरीक्ष्यौ सुरैरपि ।
यस्य प्रसादं कुर्वाते स देवौ द्रष्टुमर्हति ॥ १२ ॥

उनका वह मनोरम रथ आठ पहियोंसे युक्त था और उसमें अनेकानेक प्राणी जुते हुए थे । वे दोनों आदिपुरुष जगदीश्वर तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये । उनके शरीरकी नसें दिखायी देने लगीं । तपस्यासे उनका तेज इतना बढ़ गया था कि देवताओंको भी उनकी ओर देखना कठिन हो रहा था । जिनपर वे कृपा करते थे, वही उन दोनों देवेश्वरोंका दर्शन कर सकता था ॥ ११-१२ ॥

नूनं तयोरनुमते हृदि हृच्छयचोदितः ।
महामेरोर्गिरेः शृङ्गात् प्रच्युतो गन्धमादनम् ॥ १३ ॥

निश्चय ही उन दोनोंकी इच्छाके अनुसार अपने हृदयमें अन्तर्यामीकी प्रेरणा होनेपर देवर्षि नारद महामेरु पर्वतके शिखरसे गन्धमादन पर्वतपर उतर पड़े ॥ १३ ॥

नारदः सुमहद्भूतं सर्वलोकानचीचरत् ।
तं देशमगमद् राजन् बदर्याश्रममाशुगः ॥ १४ ॥

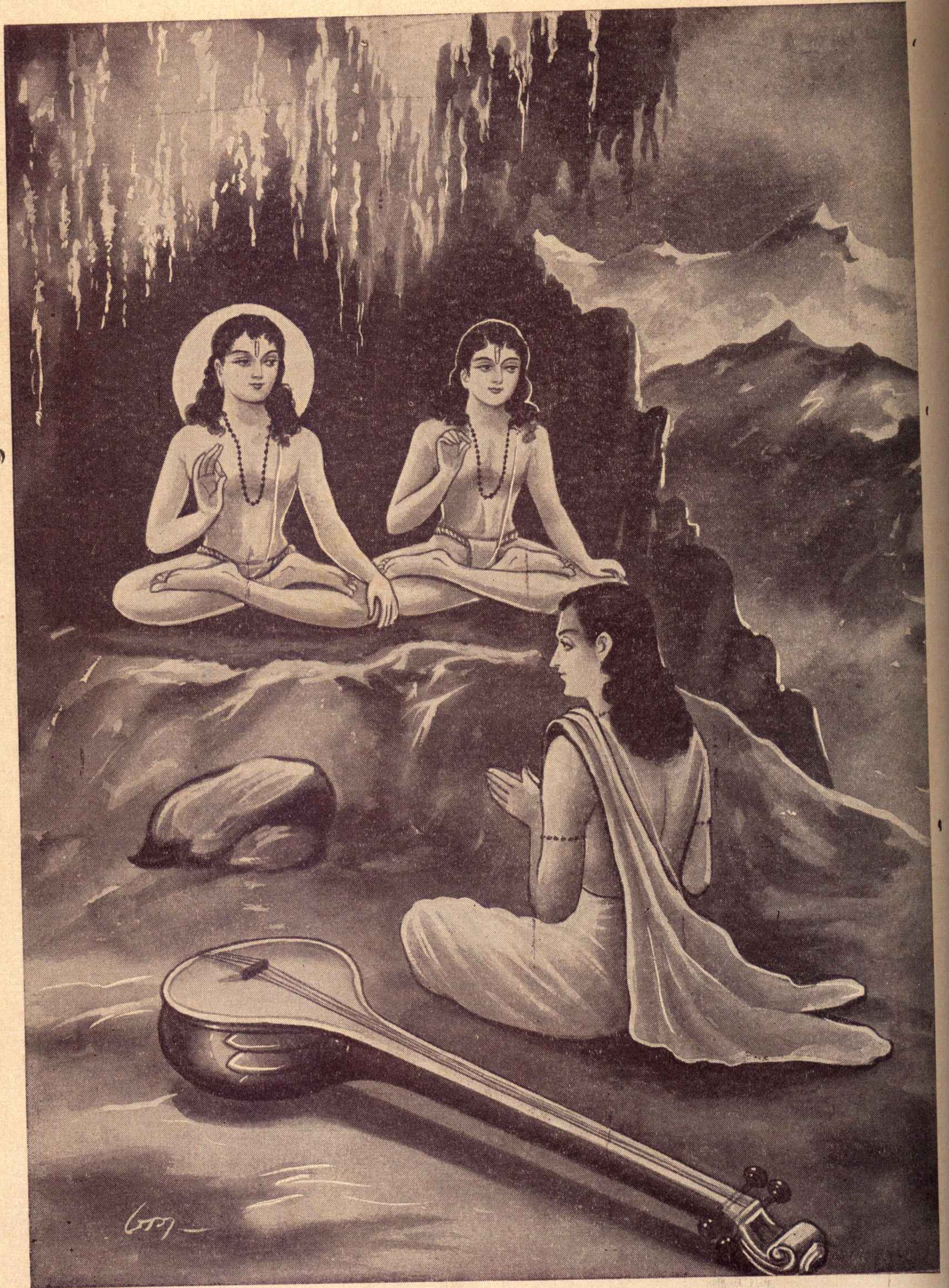
राजन् ! नारदजी सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते थे; अतः वे शीघ्रगामी मुनि बदरिकाश्रमके उस विशाल प्रदेशमें घूमते-घामते आ पहुँचे, जो महान् प्राणियोंसे युक्त था ॥ १४ ॥

तयोराह्निकवेलायां तस्य कौतूहलं त्वभूत् ।
इदं तदास्पदं कृत्स्नं यस्मिँल्लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ १५ ॥
सदेवासुरगन्धर्वाः सकिन्नरमहोरगाः ।

जब वहाँ भगवान् नर और नारायणके नित्यकर्मका समय हुआ, उसी समय नारदजीके मनमें उनके दर्शनके लिये बड़ी उत्कण्ठा हुई । वे सोचने लगे, 'अहो ! यह उन्हीं भगवान्‌का स्थान है, जिनके भीतर देवता, असुर, गन्धर्व, किन्नर और महान् नागोंसहित सम्पूर्ण लोक निवास करते हैं ॥ १५½ ॥

एका मूर्तिरियं पूर्वं जाता भूयश्चतुर्विधा ॥ १६ ॥
धर्मस्य कुलसंताने धर्मादेभिर्विवर्धितः ।
अहो ह्यनुगृहीतोऽद्य धर्म एभिः सुरैरिह ॥ १७ ॥
नरनारायणाभ्यां च कृष्णेन हरिणा तथा ।

'पहले ये एक ही रूपमें विद्यमान थे; फिर धर्मकी वंश-परम्पराका विस्तार करनेके लिये ये चार विग्रहोंमें प्रकट हुए । इन चारोंने अपने उपार्जित धर्मसे धर्मदेवकी वंश-परम्पराको बढ़ाया है । अहो ! इस समय नर, नारायण, कृष्ण और हरि—इन चारों देवताओंने धर्मपर बड़ा अनुग्रह किया है ॥ १६-१७½ ॥



नर-नारायणका नारदजीके साथ संवाद

अत्र कृष्णो हरिश्चैव कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ॥ १८ ॥
स्थितौ धर्मोत्तरौ ह्येतौ तथा तपसि धिष्ठितौ ।

'इनमेंसे हरि और कृष्ण किसी और कार्यमें संलग्न हैं; परंतु ये दोनों भाई नारायण और नर धर्मको ही प्रधान मानते हुए तपस्यामें संलग्न हैं ॥ १८½ ॥

एतौ हि परमं धाम कानयोराह्निकक्रिया ॥ १९ ॥
पितरौ सर्वभूतानां दैवतं च यशस्विनौ ।
कां देवतां तु यजतः पितॄन् वा कान् महामती ॥ २० ॥

'ये ही दोनों परमधामस्वरूप हैं । इनका यह नित्यकर्म कैसा है ? ये दोनों यशस्वी देवता सम्पूर्ण प्राणियोंके पिता और देवता हैं । ये परम बुद्धिमान् दोनों बन्धु भला किस देवताका यजन और किन पितरोंका पूजन करते हैं ?' ॥ १९-२० ॥

इति संचिन्त्य मनसा भक्त्या नारायणस्य तु ।
सहसा प्रादुरभवत् समीपे देवयोस्तदा ॥ २१ ॥

मन-ही-मन ऐसा सोचकर भगवान् नारायणके प्रति भक्तिसे प्रेरित हो नारदजी सहसा उन देवताओंके समीप प्रकट हो गये ॥ २१ ॥

कृते दैवे च पित्र्ये च ततस्ताभ्यां निरीक्षितः ।
पूजितश्चैव विधिना यथाप्रोक्तेन शास्त्रतः ॥ २२ ॥

भगवान् नर और नारायण जब देवता और पितरोंकी पूजा समाप्त कर चुके, तब उन्होंने नारदजीको देखा और शास्त्रमें बतायी हुई विधिसे उनका पूजन किया ॥ २२ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यमपूर्वं विधिविस्तरम् ।
उपोपविष्टः सुप्रीतो नारदो भगवानृषिः ॥ २३ ॥

उनके द्वारा शास्त्रविधिका यह अपूर्व विस्तार और अत्यन्त आश्चर्यजनक व्यवहार देखकर उनके पास ही बैठे हुए देवर्षि भगवान् नारद अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २३ ॥

नारायणं संनिरीक्ष्य प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
नमस्कृत्वा महादेवमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

प्रसन्न चित्तसे महादेव भगवान् नारायणकी ओर देखकर नारदजीने उन्हें नमस्कार किया और इस प्रकार कहा ॥ २४ ॥

नारद उवाच

वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयसे ।
त्वमजः शाश्वतो धाता मातामृतमनुत्तमम् ॥ २५ ॥

नारदजी बोले—भगवन् ! अङ्ग और उपाङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदों तथा पुराणोंमें आपकी ही महिमाका गान किया जाता है । आप अजन्मा, सनातन, सबके माता-पिता और सर्वोत्तम अमृतरूप हैं ॥ २५ ॥

प्रतिष्ठितं भूतभव्यं त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
चत्वारो ह्याश्रमा देव सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः ॥ २६ ॥
यजन्ते त्वामहरहर्नानामूर्तिसमास्थितम् ।

देव ! आपमें ही भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है । गार्हस्थ्यमूलक चारों आश्रमोंके सब लोग नाना रूपोंमें स्थित हुए आपकी ही प्रतिदिन पूजा करते हैं ॥ २६½ ॥

पिता माता च सर्वस्य जगतः शाश्वतो गुरुः ।
कं त्वद्य यजसे देवं पितरं कं न विद्महे ॥ २७ ॥
(कमर्चसि महाभाग तन्मे ब्रूहीह पृच्छतः ।)

आप ही सम्पूर्ण जगत्के माता, पिता और सनातन गुरु हैं, तो भी आज आप किस देवता और किस पितरकी पूजा करते हैं ? यह मैं समझ नहीं पाया । अतः महाभाग ! मैं आपसे पूछ रहा हूँ' मुझे बताइये कि आप किसकी पूजा करते हैं ? ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

अवाच्यमेतद् वक्तव्यमात्मगुह्यं सनातनम् ।
तव भक्तिमतो ब्रह्मन् वक्ष्यामि तु यथातथम् ॥ २८ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन् ! तुमने जिसके विषयमें प्रश्न किया है, वह अपने लिये गोपनीय विषय है । यद्यपि यह सनातन रहस्य किसीसे कहने योग्य नहीं है, तथापि तुम-जैसे भक्त पुरुषको तो उसे बताना ही चाहिये; अतः मैं यथार्थ रूपसे इस विषयका वर्णन करूँगा ॥ २८ ॥

यत् तत् सूक्ष्ममविज्ञेयमव्यक्तमचलं ध्रुवम् ।
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैश्च सर्वभूतैश्च वर्जितम् ॥ २९ ॥
स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते ।
त्रिगुणव्यतिरिक्तो वै पुरुषश्चेति कल्पितः ॥ ३० ॥
तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम ।
अव्यक्ता व्यक्तभावस्था या सा प्रकृतिरव्यया ॥ ३१ ॥

जो सूक्ष्म, अज्ञेय, अव्यक्त, अचल और ध्रुव है, जो इन्द्रियों, विषयों और सम्पूर्ण भूतोंसे परे है, वही सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है; अतः क्षेत्रज्ञ नामसे कहा जाता है, वही त्रिगुणातीत तथा पुरुष कहलाता है । उसीसे त्रिगुणमय अव्यक्तकी उत्पत्ति हुई है । द्विजश्रेष्ठ ! उसीको व्यक्तभावमें स्थित, अविनाशिनी अव्यक्त प्रकृति कहा गया है ॥ २९-३१ ॥

तां योनिमावयोर्विद्धि योऽसौ सदसदात्मकः ।
आवाभ्यां पूज्यतेऽसौ हि दैवे पित्र्ये च कल्प्यते ॥ ३२ ॥

वह सदसत्स्वरूप परमात्मा ही हम दोनोंकी उत्पत्तिका कारण है, इस बातको जान लो । हम दोनों उसीकी पूजा करते तथा उसीको देवता और पितर मानते हैं ॥ ३२ ॥

नास्ति तस्मात् परोऽन्यो हि पिता देवोऽथ वा द्विज ।
आत्मा हि नः स विज्ञेयस्ततस्तं पूजयावहे ॥ ३३ ॥

ब्रह्मन् ! उससे बढ़कर दूसरा कोई देवता या पितर नहीं है । वही हमलोगोंका आत्मा है, यह जानना चाहिये; अतः हम उसीकी पूजा करते हैं ॥ ३३ ॥

तेनैषा प्रथिता ब्रह्मन् मर्यादा लोकभाविनी ।

दैवं पित्र्यं च कर्तव्यमिति तस्यानुशासनम् ॥ ३४ ॥

ब्रह्मन् ! उसीने लोकको उन्नतिके पथपर ले जानेवाली यह धर्मकी मर्यादा स्थापित की है। देवताओं और पितरोंकी पूजा करनी चाहिये, यह उसीकी आज्ञा है ॥ ३४ ॥

ब्रह्मा स्थाणुर्मनुर्दक्षो भृगुर्धर्मस्तपो यमः।
मरीचिरङ्गिराऽत्रिश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ ३५ ॥
वसिष्ठः परमेष्ठी च विवस्वान् सोम एव च।
कर्दमश्चापि यः प्रोक्तः क्रोधो विक्रीत एव च ॥ ३६ ॥
एकविंशतिरुत्पन्नास्ते प्रजापतयः स्मृताः।
तस्य देवस्य मर्यादां पूजयन्तः सनातनीम् ॥ ३७ ॥

ब्रह्मा, रुद्र, मनु, दक्ष, भृगु, धर्म, तप, यम, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, कर्दम, क्रोध और विक्रीत—ये इक्कीस प्रजापति उसी परमात्मासे उत्पन्न बताये गये हैं तथा उसी परमात्माकी सनातन धर्म-मर्यादाका पालन एवं पूजन करते हैं ॥ ३५–३७ ॥

दैवं पित्र्यं च सततं तस्य विज्ञाय तत्त्वतः।
आत्मप्राप्तानि च ततः प्राप्नुवन्ति द्विजोत्तमाः ॥ ३८ ॥

श्रेष्ठ द्विज उसीके उद्देश्यसे किये जानेवाले देवता तथा पितृ-सम्बन्धी कार्योंको ठीक-ठीक जानकर अपनी अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३८ ॥

स्वर्गस्था अपि ये केचित् तान् नमस्यन्ति देहिनः।
ते तत्प्रसादाद् गच्छन्ति तेनादिष्टफलां गतिम् ॥ ३९ ॥

स्वर्गमें रहनेवाले प्राणियोंमेंसे भी जो कोई उस परमात्माको प्रणाम करते हैं, वे उसके कृपा-प्रसादसे उसीकी आज्ञाके अनुसार फल देनेवाली उत्तम गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ३९ ॥

ये हीनाः सप्तदशभिर्गुणैः कर्मभिरेव च।
कलाः पञ्चदश त्यक्त्वा ते मुक्ता इति निश्चयः ॥ ४० ॥

जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धिरूप सत्रह गुणोंसे, सब कर्मोंसे रहित हो पंद्रह कलाओंको त्याग करके स्थित हैं, वे ही मुक्त हैं, यह शास्त्रका सिद्धान्त है ॥ ४० ॥

मुक्तानां तु गतिर्ब्रह्मन् क्षेत्रज्ञ इति कल्पिता।
स हि सर्वगुणश्चैव निर्गुणश्चैव कथ्यते ॥ ४१ ॥

ब्रह्मन् ! मुक्त पुरुषोंकी गति क्षेत्रज्ञ परमात्मा निश्चित किया गया है। वही सर्वसद्गुणसम्पन्न तथा निर्गुण भी कहलाता है ॥ ४१ ॥

दृश्यते ज्ञानयोगेन आवां च प्रसृतौ ततः।
एवं ज्ञात्वा तमात्मानं पूजयावः सनातनम् ॥ ४२ ॥

ज्ञानयोगके द्वारा उसका साक्षात्कार होता है। हम दोनोंका आविर्भाव उसीसे हुआ है—ऐसा जानकर हम दोनों उस सनातन परमात्माकी पूजा करते हैं ॥ ४२ ॥

तं वेदाश्चाश्रमाश्चैव नानामतसमाश्रिताः।
भक्त्या सम्पूजयन्त्याशु गतिं चैषां ददाति सः ॥ ४३ ॥

चारों वेद, चारों आश्रम तथा नाना प्रकारके मतोंका आश्रय लेनेवाले लोग भक्तिपूर्वक उसकी पूजा करते हैं और वह इन सबको शीघ्र ही उत्तम गति प्रदान करता है ॥ ४३ ॥

ये तु तद्भाविता लोके ह्येकान्तित्वं समाश्रिताः।
एतदभ्यधिकं तेषां यत् ते तं प्रविशन्त्युत ॥ ४४ ॥

जो सदा उसका स्मरण करते तथा अनन्य भावसे उसकी शरण लेते हैं, उन्हें सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि वे उसके स्वरूपमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ४४ ॥

इति गुह्यसमुद्देशस्तव नारद कीर्तितः।
भक्त्या प्रेम्णा च विप्रर्षे अस्मद्भक्त्या च ते श्रुतः ॥ ४५ ॥

नारद ! ब्रह्मर्षे ! तुममें भगवान्‌के प्रति भक्ति और प्रेम है। हमलोगोंके प्रति भी तुम्हारा भक्तिभाव बना हुआ है। इसलिये हमने तुम्हारे सामने इस गोपनीय विषयका वर्णन किया है और तुम्हें इसे सुननेका शुभ अवसर मिला है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

पञ्चत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका श्वेतद्वीपदर्शन, वहाँके निवासियोंके स्वरूपका वर्णन, राजा उपरिचरका चरित्र तथा पाञ्चरात्रकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग

भीष्म उवाच

स एवमुक्तो द्विपदां वरिष्ठो
नारायणेनोत्तमपूरुषेण।
जगाद वाक्यं द्विपदां वरिष्ठं
नारायणं लोकहिताधिवासम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पुरुषोत्तम भगवान् नारायणने जब पुरुषप्रवर नारदजीसे इस प्रकार कहा, तब वे लोकहितके आश्रयभूत पुरुषाग्रगण्य भगवान् नारायणसे यों बोले ॥ १ ॥

नारद उवाच

यदर्थमात्मप्रभवेण जन्म
कृतं त्वया धर्मगृहे चतुर्धा।

तत् साध्यतां लोकहितार्थमद्य
गच्छामि द्रष्टुं प्रकृतिं तवाद्याम् ॥ २ ॥

नारदजीने कहा—प्रभो ! आप समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारण हैं। आपने जिसके लिये धर्मके गृहमें चार स्वरूपोंमें अवतार धारण किया है, उस प्रयोजनकी लोकहितके लिये सिद्धि कीजिये। अब मैं (श्वेतद्वीपमें स्थित) आपके आदिविग्रहका दर्शन करने जाता हूँ ॥ २ ॥

पूजां गुरूणां सततं करोमि
परस्य गुह्यं न तु भिन्नपूर्वम्।
वेदाः स्वधीता मम लोकनाथ
तप्तं तपो नानृतमुक्तपूर्वम् ॥ ३ ॥

लोकनाथ ! मैं गुरुजनोंका सदा आदर करता हूँ। किसीकी गुप्त बात पहले कभी दूसरोंके समक्ष प्रकट नहीं की है। मैंने वेदोंका स्वाध्याय किया, तपस्या की और कभी असत्य-भाषण नहीं किया है ॥ ३ ॥

गुप्तानि चत्वारि यथागमं मे
शत्रौ च मित्रे च समोऽस्मि नित्यम्।
तं चादिदेवं सततं प्रपन्न
एकान्तभावेन वृणोम्यजस्रम् ॥ ४ ॥
एभिर्विशेषैः परिशुद्धसत्त्वः
कस्मान्न पश्येयमनन्तमीशम्।

शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार हाथ, पैर, उदर और उपस्थ—इन चारोंकी मैंने रक्षा की है। शत्रु और मित्रके प्रति मैं सदा समानभाव रखता हूँ। इन आदिदेव परमात्मा श्रीनारायण-की निरन्तर शरण लेकर मैं अनन्यभावसे सदा उन्हींका भजन करता हूँ। इन सब विशेष कारणोंसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है। ऐसी दशामें मैं उन अनन्त परमेश्वरका दर्शन कैसे नहीं कर सकता हूँ ? ॥ ४ ½ ॥

तत् पारमेष्ठ्यस्य वचो निशम्य
नारायणः शाश्वतधर्मगोप्ता ॥ ५ ॥
गच्छेति तं नारदमुक्तवान् स
सम्पूजयित्वाऽऽत्मविधिक्रियाभिः।

ब्रह्मपुत्र नारदजीका यह वचन सुनकर सनातन धर्मके रक्षक भगवान् नारायणने उनकी विधिवत् पूजा करके उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी ॥ ५ ½ ॥

ततो विसृष्टः परमेष्ठिपुत्रः
सोऽभ्यर्चयित्वा तमृषिं पुराणम् ॥ ६ ॥
खमुत्पपातोत्तमयोगयुक्त-
स्ततोऽधिमेरौ सहसा निलिल्ये।

उनसे विदा लेकर ब्रह्मकुमार नारद उन पुरातन ऋषि नारायणका पूजन करके उत्तम योगसे युक्त हो आकाशकी ओर उड़े और सहसा मेरुपर्वतपर पहुँचकर अदृश्य हो गये ॥

तत्रावतस्थे च मुनिर्मुहूर्त-
मेकान्तमासाद्य गिरेः स शृङ्गे ॥ ७ ॥
आलोकयन्नुत्तरपश्चिमेन
ददर्श चाप्यद्भुतमुक्तरूपम्।

मेरुके शिखरपर एकान्त स्थानमें जाकर नारद मुनिने दो घड़ीतक विश्राम किया। फिर वहाँसे उत्तर-पश्चिमकी ओर दृष्टिपात करनेपर उन्होंने पूर्व-वर्णित एक अद्भुत दृश्य देखा ॥

क्षीरोदधेरुत्तरतो हि द्वीपः
श्वेतः स नाम्ना प्रथितो विशालः ॥ ८ ॥
मेरोः सहस्रैः स हि योजनानां
द्वात्रिंशतोर्ध्वं कविभिर्निरुक्तः।
अनिन्द्रियाश्चानशनाश्च तत्र
निष्पन्दहीनाः सुसुगन्धिनस्ते ॥ ९ ॥

क्षीरसागरके उत्तरभागमें जो श्वेत नामसे प्रसिद्ध विशाल द्वीप है, वह उनके सामने प्रकट हो गया। विद्वानोंने उस द्वीपको मेरुपर्वतसे बत्तीस हजार योजन ऊँचा बताया है। वहाँके निवासी इन्द्रियोंसे रहित, निराहार तथा चेष्टारहित एवं ज्ञानसम्पन्न होते हैं। उनके अङ्गोंसे उत्तम सुगन्ध निकलती रहती है ॥ ८-९ ॥

श्वेताः पुमांसो गतसर्वपापा-
श्चक्षुर्मुषः पापकृतां नराणाम्।
वज्रास्थिकायाः सममानोन्माना
दिव्यावयवरूपाः शुभसारोपेताः॥ १० ॥
छत्राकृतिशीर्षा मेघौघनिनादाः
समुष्कचतुष्का राजीवच्छतपादाः।
षष्ट्या दन्तैर्युक्ताः शुक्लैरष्टाभिर्दंष्ट्राभिर्ये
जिह्वाभिर्ये विश्ववक्त्रं लेलिह्यन्ते सूर्यप्रख्यम् ॥ ११ ॥

उस द्वीपमें सब प्रकारके पापोंसे रहित श्वेत वर्णवाले पुरुष निवास करते हैं। उनकी ओर देखनेसे पापी मनुष्योंकी आँखें चौंधिया जाती हैं। उनके शरीर तथा हड्डियाँ वज्रके समान सुदृढ़ होती हैं। वे मान और अपमानको समान समझते हैं। उनके अङ्ग दिव्य होते हैं। वे शुभ (योगके प्रभाव-से उत्पन्न) बलसे सम्पन्न होते हैं। उनके मस्तकका आकार छत्रके समान और स्वर मेघोंकी घटाके गर्जनकी भाँति गम्भीर होता है। उनके बराबर-बराबर चार भुजाएँ होती हैं। उनके पैर सैकड़ों कमलसदृश रेखाओंसे सुशोभित होते हैं। उनके मुँहमें साठ सफेद दाँत और आठ दाढ़ें होती हैं। वे सूर्यके समान कान्तिमान् तथा सम्पूर्ण विश्वको अपने मुखमें रखने-वाले महाकालको भी अपनी जिह्वाओंसे चाट लेते हैं ॥ १०-११ ॥

देवं भक्त्या विश्वोत्पन्नं
यस्मात् सर्वे लोकाः सम्प्रसूताः।
वेदा धर्मा मुनयः शान्ता
देवाः सर्वे तस्य निसर्गः ॥ १२ ॥

जिनसे सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है, सारे लोक प्रकट हुए हैं, वेद, धर्म, शान्त स्वभाववाले मुनि तथा सम्पूर्ण देवता जिनकी सृष्टि हैं, उन अनन्त शक्तिसम्पन्न परमेश्वरको श्वेतद्वीपके निवासी भक्तिभावसे अपने हृदयमें धारण करते हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनिन्द्रिया निराहारा अनिष्पन्दाः सुगन्धिनः ।
कथं ते पुरुषा जाताः का तेषां गतिरुत्तमा ॥ १३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! श्वेतद्वीपमें रहनेवाले पुरुष इन्द्रिय, आहार तथा चेष्टासे रहित क्यों होते हैं ? उनके शरीरसे सुन्दर गन्ध क्यों निकलती है ? उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है तथा वे किस उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं ? ॥ १३ ॥

ये च मुक्ता भवन्तीह नरा भरतसत्तम ।
तेषां लक्षणमेतद्धि तच्छ्वेतद्वीपवासिनाम् ॥ १४ ॥
तस्मान्मे संशयं छिन्धि परं कौतूहलं हि मे ।
त्वं हि सर्वकथारामस्त्वां चैवोपाश्रिता वयम् ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस लोकसे मुक्त होनेवाले पुरुषोंका शास्त्रोंमें जो लक्षण बताया गया है, वैसा ही आपने श्वेतद्वीपके निवासियोंका भी बताया है । इसलिये मुझे संदेह होता है, अतः मेरे इस संशयका निवारण कीजिये । इसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है । आप सम्पूर्ण ज्ञानमयी कथाओंमें रस लेनेवाले हैं और हम आपके शरणागत हैं ॥ १४-१५ ॥

भीष्म उवाच

विस्तीर्णैषा कथा राजन् श्रुता मे पितृसंनिधौ ।
यैषा तव हि वक्तव्या कथासारो हि सा मता ॥ १६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यह कथा बहुत विस्तृत है । इसे मैंने अपने पिताजीके निकट सुना था । इस समय जो कथा तुम्हारे सामने कहनी है, वह सम्पूर्ण कथाओंकी सारभूत मानी गयी है ॥ १६ ॥

(शान्तनोः कथयामास नारदो मुनिसत्तमः ।
राज्ञा पृष्टः पुरा प्राह तत्राहं श्रुतवान् पुरा ॥)

पूर्वकालमें मेरे पिता महाराज शान्तनुके पूछनेपर मुनिश्रेष्ठ नारदजीने उनसे यह कथा कही थी । उसी समय वहाँ मैंने भी इसे सुना था ॥

राजोपरिचरो नाम बभूवाधिपतिर्भुवः ।
आखण्डलसखः ख्यातो भक्तो नारायणं हरिम् ॥ १७ ॥

पहलेकी बात है, इस पृथ्वीपर एक उपरिचर नामक राजा राज्य करते थे । वे इन्द्रके मित्र और पापहारी भगवान् नारायणके विख्यात भक्त थे ॥ १७ ॥

धार्मिको नित्यभक्तश्च पितुर्नित्यमतन्द्रितः ।
साम्राज्यं तेन सम्प्राप्तं नारायणवरात् पुरा ॥ १८ ॥

वे धर्मात्मा तथा पिताके नित्य भक्त थे । आलस्यका उनमें सर्वथा अभाव था । पूर्वकालमें भगवान् नारायणके वरसे उन्होंने भूमण्डलका साम्राज्य प्राप्त किया था ॥ १८ ॥

सात्वतं विधिमास्थाय प्राक् सूर्यमुखनिःसृतम् ।
पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पितामहान् ॥ १९ ॥
पितृशेषेण विप्रांश्च संविभज्याश्रितांश्च सः ।
शेषान्नभुक् सत्यपरः सर्वभूतेष्वहिंसकः ॥ २० ॥

जो पहले भगवान् सूर्यके मुखसे प्रकट हुआ था, उस वैष्णव शास्त्रोक्त विधिका आश्रय ले वे प्रथम तो देवेश्वर भगवान् नारायणका पूजन करते । फिर उनकी सेवासे बचे हुए पदार्थोंसे पितरोंका, पितरोंकी सेवासे बचे हुए पदार्थोंसे ब्राह्मणोंका तथा अन्य आश्रितजनोंका विभागपूर्वक सत्कार करते थे । सबको देनेके अनन्तर बचे हुए अन्नका भोजन करते थे, सत्यमें तत्पर रहते और किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करते थे ॥ १९-२० ॥

सर्वभावेन भक्तः स देवदेवं जनार्दनम् ।
अनादिमध्यनिधनं लोककर्तारमव्ययम् ॥ २१ ॥

वे आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अविनाशी, लोककर्ता, देवदेव जनार्दनके भजनमें सम्पूर्णभावसे लगे रहते थे ॥

तस्य नारायणे भक्तिं वहतोऽमित्रकर्षिणः ।
एकशय्यासनं देवो दत्तवान् देवराट् स्वयम् ॥ २२ ॥

भगवान् नारायणमें भक्ति रखनेवाले उस शत्रुसूदन नरेशपर प्रसन्न हो देवराज इन्द्र उन्हें अपने साथ एक शय्या और एक आसनपर बिठाया करते थे ॥ २२ ॥

आत्मराज्यं धनं चैव कलत्रं वाहनं तथा ।
यत्तद्भागवतं सर्वमिति तत् प्रोक्षितं सदा ॥ २३ ॥

राजा उपरिचरने अपने राज्य, धन, स्त्री और वाहन आदि सब उपकरणोंको भगवान्की ही वस्तु समझकर सदा उन्हींको समर्पित कर रखा था ॥ २३ ॥

काम्यनैमित्तिका राजन् यज्ञियाः परमक्रियाः ।
सर्वाः सात्वतमास्थाय विधिं चक्रे समाहितः ॥ २४ ॥

राजन् ! वे सदा सावधान रहकर सकाम और नैमित्तिक यज्ञोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको वैष्णवशास्त्रोक्त विधिसे सम्पन्न किया करते थे ॥ २४ ॥

पाञ्चरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः ।
प्रायणं भगवत्प्रोक्तं भुञ्जते वाग्रभोजनम् ॥ २५ ॥

उन महात्मा नरेशके घरमें पाञ्चरात्र शास्त्रके मुख्य-मुख्य विद्वान् सदा मौजूद रहते थे और भगवान्को समर्पित किया हुआ प्रसाद अथवा भोज्य पदार्थ सबसे पहले वे ही भोजन करते थे ॥ २५ ॥

तस्य प्रशासतो राज्यं धर्मेणामित्रघातिनः ।
नानृता वाक् समभवन्मनो दुष्टं न चाभवत् ॥ २६ ॥
न च कायेन कृतवान् स पापं परमण्वपि ।

धर्मपूर्वक राज्यका शासन करते हुए उन शत्रुघाती नरेशने न तो कभी असत्य-भाषण किया और न कभी उनका मन ही बुरे विचारोंसे दूषित हुआ । अपने शरीरसे

द्वारा उन्होंने कभी छोटे-से छोटा पाप भी नहीं किया था ॥

एते हि ते ऋषयः ख्याताः सप्त चित्रशिखण्डिनः ॥ २७ ॥
तैरेकमतिभिर्भूत्वा यत् प्रोक्तं शास्त्रमुत्तमम् ।
वेदैश्चतुर्भिः समितं कृतं मेरौ महागिरौ ॥ २८ ॥
आस्यैः सप्तभिरुद्गीर्णं लोकधर्ममनुत्तमम् ।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठश्च महातेजास्ते हि चित्रशिखण्डिनः ॥ २९ ॥

(अब मैं जिस प्रकार तन्त्र, स्मृति और आगम-की उत्पत्ति हुई है, उसे बताता हूँ, सुनो—) मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और महातेजस्वी वसिष्ठ—ये सात प्रसिद्ध ऋषि चित्रशिखण्डी कहलाते हैं। ये जो चित्रशिखण्डी नामसे विख्यात सात ऋषि हैं, इन्होंने महागिरि मेरुपर एकमत होकर जिस उत्तम शास्त्रका प्रवचन एवं निर्माण किया, वह चारों वेदोंके समान आदरणीय एवं प्रमाणभूत है। उसमें सात मुखोंसे प्रकट हुए उत्तम लोकधर्मकी व्याख्या हुई है ॥ २७—२९ ॥

सप्त प्रकृतयो ह्येतास्तथा स्वायम्भुवोऽष्टमः ।
एताभिर्धार्यते लोकस्ताभ्यः शास्त्रं विनिःसृतम् ॥ ३० ॥

ये सातों ऋषि प्रकृतिके सात रूप हैं अर्थात् प्रजाके स्रष्टा हैं। आठवाँ ब्रह्मा है। ये सब मिलकर इस सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करते हैं। इन्हींके द्वारा शास्त्रका प्राकट्य हुआ है ॥ ३० ॥

एकाग्रमनसो दान्ता मुनयः संयमे रताः ।
भूतभव्यभविष्यज्ञाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ३१ ॥

ये सबके सब ऋषि एकाग्रचित्त, जितेन्द्रिय, संयम-परायण, भूत, भविष्य और वर्तमानके ज्ञाता तथा सत्य-धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं ॥ ३१ ॥

इदं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमम् ।
लोकान् संचिन्त्य मनसा ततः शास्त्रं प्रचक्रिरे ॥ ३२ ॥

इन्होंने मन-ही-मन यह सोचकर कि अमुक साधनसे जगत्‌का कल्याण होगा, अमुकसे परमात्माकी प्राप्ति होगी तथा अमुक उपायसे संसारका सर्वोत्तम हितसाधन होगा, शास्त्रकी रचना की ॥ ३२ ॥

तत्र धर्मार्थकामा हि मोक्षः पश्चाच्च कीर्तितः ।
मर्यादा विविधाश्चैव दिवि भूमौ च संस्थिताः ॥ ३३ ॥

उसमें पहले धर्म, अर्थ और कामका, फिर मोक्षका भी वर्णन है तथा स्वर्ग एवं मर्त्यलोकमें प्रचलित नाना प्रकारकी मर्यादाओंका भी प्रतिपादन किया गया है ॥

आराध्य तपसा देवं हरिं नारायणं प्रभुम् ।
दिव्यं वर्षसहस्रं वै सर्वे ते ऋषिभिः सह ॥ ३४ ॥
नारायणानुशास्ता हि तदा देवी सरस्वती ।
विवेश तानृषीन् सर्वाँल्लोकानां हितकाम्यया ॥ ३५ ॥

उपर्युक्त ऋषियोंने अन्य ऋषियोंके साथ एक हजार दिव्य वर्षोंतक तपस्या करके भगवान् नारायणकी आराधना की थी। उससे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने सरस्वतीदेवीको उनके पास भेजा। नारायणकी आज्ञासे सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये उस समय सरस्वती देवीने उन सम्पूर्ण ऋषियोंके भीतर प्रवेश किया था ॥ ३४-३५ ॥

ततः प्रवर्तिता सम्यक् तपोविद्भिर्द्विजातिभिः ।
शब्दे चार्थे च हेतौ च एषा प्रथमसर्गजा ॥ ३६ ॥

तब उन तपस्वी ब्राह्मणोंने शब्द, अर्थ और हेतुसे युक्त वाणीका प्रयोग किया। यह उनकी प्रथम रचना थी ॥ ३६ ॥

आदावेव हि तच्छास्त्रमोंकारस्वरपूजितम् ।
ऋषिभिः श्रावितं यत्र तत्र कारुणिको ह्यसौ ॥ ३७ ॥

उस शास्त्रके आरम्भमें ही ॐकार स्वरका प्रयोग किया गया है। ऋषियोंने सबसे पहले जहाँ उस शास्त्रको सुनाया, वहाँ वे करुणामय भगवान् विराजमान थे ॥

ततः प्रसन्नो भगवाननिर्दिष्टशरीरगः ।
ऋषीनुवाच तान् सर्वानदृश्यः पुरुषोत्तमः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर अनिर्वचनीय शरीरमें स्थित भगवान् पुरुषोत्तम प्रसन्न हो अदृश्य रहकर ही उन सब ऋषियोंसे बोले— ॥ ३८ ॥

कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम् ।
लोकतन्त्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद् धर्मः प्रवर्तते ॥ ३९ ॥

'मुनिवरो! तुमलोगोंने एक लाख श्लोकोंका यह उत्तम शास्त्र बनाया है। इससे सम्पूर्ण लोकतन्त्रका धर्म प्रचलित होगा ॥ ३९ ॥

प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यस्मादेतद् भविष्यति ।
यजुर्ऋक्सामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा ॥ ४० ॥

'प्रवृत्ति और निवृत्तिके विषयमें यह ऋक्, यजुः, साम और अथर्व वेदके मन्त्रोंसे अनुमोदित ग्रन्थके समान प्रमाणभूत होगा ॥ ४० ॥

यथा प्रमाणं हि मया कृतो ब्रह्मा प्रसादतः ।
रुद्रश्च क्रोधजो विप्रा यूयं प्रकृतयस्तथा ॥ ४१ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ वायुर्भूमिरापोऽग्निरेव च ।
सर्वे च नक्षत्रगणा यच्च भूताभिशब्दितम् ॥ ४२ ॥
अधिकारेषु वर्तन्ते यथास्वं ब्रह्मवादिनः ।
सर्वे प्रमाणं हि यथा तथा तच्छास्त्रमुत्तमम् ॥ ४३ ॥
भविष्यति प्रमाणं वै एतन्मदनुशासनम् ।

'ब्राह्मणो! जैसे मेरे प्रसादसे उत्पन्न ब्रह्मा प्रमाणभूत है एवं जैसे क्रोधसे उत्पन्न रुद्र, तुम सब प्रजापति, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, भूमि, जल, अग्नि, सम्पूर्ण नक्षत्रगण तथा अन्यान्य भूतनामधारी पदार्थ और ब्रह्मवादी ऋषिगण अपने-अपने अधिकारके अनुसार बर्ताव करते हुए प्रमाणभूत माने जाते हैं, उसी प्रकार तुमलोगोंका बनाया हुआ यह उत्तम शास्त्र भी प्रामाणिक माना जायगा, यह मेरी आज्ञा है ॥ ४१—४३½ ॥

तस्मात् प्रवक्ष्यते धर्मान् मनुः स्वायम्भुवः स्वयम्॥ ४४ ॥
उशना बृहस्पतिश्चैव यदोत्पन्नौ भविष्यतः।
तदा प्रवक्ष्यतः शास्त्रं युष्मन्मतिभिरुद्धृतम् ॥ ४५ ॥

'स्वायम्भुव मनु स्वयं इसी ग्रन्थके अनुसार धर्मोंका उपदेश करेंगे। शुक्राचार्य और बृहस्पति जब प्रकट होंगे, तब वे भी तुम्हारी बुद्धिसे निकले हुए इस शास्त्रका प्रवचन करेंगे ॥ ४४-४५ ॥

स्वायम्भुवेषु धर्मेषु शास्त्रे चौशनसे कृते।
बृहस्पतिमते चैव लोकेषु प्रतिचारिते ॥ ४६ ॥
युष्मत्कृतमिदं शास्त्रं प्रजापालो वसुस्ततः।
बृहस्पतिसकाशाद् वै प्राप्स्यते द्विजसत्तमाः ॥ ४७ ॥

'द्विजश्रेष्ठगण! स्वायम्भुव मनुके धर्मशास्त्र, शुक्राचार्यके शास्त्र तथा बृहस्पतिके मतका जब लोकमें प्रचार हो जायगा, तब प्रजापालक वसु (राजा उपरिचर) बृहस्पतिजीसे तुम्हारे बनाये हुए इस शास्त्रका अध्ययन करेगा ।४६-४७।

स हि सद्भावितो राजा मद्भक्तश्च भविष्यति।
तेन शास्त्रेण लोकेषु क्रियाः सर्वाः करिष्यति ॥ ४८ ॥

'सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित वह राजा मेरा बड़ा भक्त होगा और लोकमें उसी शास्त्रके अनुसार सम्पूर्ण कार्य करेगा ॥४८॥

एतद्धि युष्मच्छास्त्राणां शास्त्रमुत्तमसंज्ञितम्।
एतदर्थ्यं च धर्म्यं च रहस्यं चैतदुत्तमम् ॥ ४९ ॥

'तुम्हारा बनाया हुआ यह शास्त्र सब शास्त्रोंसे श्रेष्ठ माना जायगा। यह धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं उत्तम रहस्यमय ग्रन्थ है ॥ ४९ ॥

अस्य प्रवर्तनाच्चैव प्रजावन्तो भविष्यथ।
स च राजश्रिया युक्तो भविष्यति महान् वसुः॥ ५०॥

'इसके प्रचारसे तुम सब लोग संतानवान् होओगे अर्थात् तुम्हारी प्रजाकी वृद्धि होगी तथा राजा उपरिचर भी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न एवं महान् पुरुष होगा ॥५०॥

संस्थिते तु नृपे तस्मिञ्शास्त्रमेतत् सनातनम्।
अन्तर्धास्यति तत् सर्वमेतद् वः कथितं मया ॥ ५१॥

'उस राजाके दिवंगत होनेके बाद यह सनातन शास्त्र सर्वसाधारणकी दृष्टिसे लुप्त हो जायगा। इसके सम्बन्धमें सारी बातें मैंने तुमलोगोंको बता दीं' ॥ ५१ ॥

एतावदुक्त्वा वचनमदृश्यः पुरुषोत्तमः।
विसृज्य तानृषीन् सर्वान् कामपि प्रस्थितो दिशम्॥५२॥

अदृश्यभावसे ऐसी बात कहकर भगवान् पुरुषोत्तम उन समस्त ऋषियोंको वहीं छोड़कर किसी अज्ञात दिशाकी ओर चल दिये ॥ ५२ ॥

ततस्ते लोकपितरः सर्वलोकार्थचिन्तकाः।
प्रावर्तयन्त तच्छास्त्रं धर्मयोनिं सनातनम् ॥ ५३॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण लोकोंका हितचिन्तन करनेवाले उन लोकपिता प्रजापतियोंने धर्मके मूलभूत उस सनातन शास्त्रका जगत्में प्रचार किया ॥ ५३ ॥

उत्पन्नेऽङ्गिरसे चैव युगे प्रथमकल्पिते।
साङ्गोपनिषदं शास्त्रं स्थापयित्वा बृहस्पतौ ॥ ५४॥
जग्मुर्यथेप्सितं देशं तपसे कृतनिश्चयाः।
धारणाः सर्वलोकानां सर्वधर्मप्रवर्तकाः ॥ ५५॥

फिर आदिकल्पके प्रारम्भिक युगमें जब बृहस्पतिका प्रादुर्भाव हुआ, तब उन्होंने साङ्गोपाङ्ग वेद और उपनिषदोंसहित वह शास्त्र उनको पढ़ाया। तदनन्तर सब धर्मोंका प्रचार और समस्त लोकोंको धर्ममर्यादाके भीतर स्थापित करनेवाले वे ऋषिगण तपस्याका निश्चय करके अपने अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ ५४-५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये पञ्चत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणका महत्त्वविषयक तीन सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५६ श्लोक हैं)

षट्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा उपरिचरके यज्ञमें भगवान्‌पर बृहस्पतिका क्रोधित होना, एकत आदि मुनियोंका बृहस्पतिसे श्वेतद्वीप एवं भगवान्‌की महिमाका वर्णन करके उनको शान्त करना

भीष्म उवाच

ततोऽतीते महाकल्पे उत्पन्नेऽङ्गिरसः सुते।
बभूवुर्निर्वृता देवा जाते देवपुरोहिते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर बीते हुए महान् कल्पके आरम्भमें जब अङ्गिराके पुत्र बृहस्पति उत्पन्न हुए और देवताओंके पुरोहित बन गये, तब देवताओंको बड़ा संतोष प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

बृहद् ब्रह्म महच्चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः।
एभिः समन्वितो राजन् गुणैर्विद्वान् बृहस्पतिः॥ २ ॥

राजन्! बृहत्, ब्रह्म और महत्—ये तीनों शब्द एक अर्थके वाचक हैं। इन तीनों शब्दोंके गुण देवपुरोहितमें मौजूद थे; इसलिये वे विद्वान् देवगुरु 'बृहस्पति' कहलाते थे॥

तस्य शिष्यो बभूवाग्र्यो राजोपरिचरो वसुः।
अधीतवांस्तदा शास्त्रं सम्यक् चित्रशिखण्डिजम्॥ ३ ॥

उनके श्रेष्ठ शिष्य हुए राजा उपरिचर वसु, जिन्होंने उनसे उन दिनों चित्रशिखण्डियोंके बनाये हुए तन्त्रशास्त्रका विधिवत् अध्ययन किया ॥ ३ ॥

स राजा भावितः पूर्वं दैवेन विधिना वसुः ।
पालयामास पृथिवीं दिवमाखण्डलो यथा ॥ ४ ॥

वे राजा उपरिचर वसु पहले दैवविधानसे भावित हो इस पृथ्वीका उसी प्रकार पालन करने लगे, जैसे इन्द्र स्वर्गका ॥ ४ ॥

तस्य यज्ञो महानासीदश्वमेधो महात्मनः ।
बृहस्पतिरुपाध्यायस्तत्र होता बभूव ह ॥ ५ ॥

एक समय उन महात्मा नरेशने महान् अश्वमेध-यज्ञका आयोजन किया । उसमें उनके उपाध्याय बृहस्पति होता हुए ॥ ५ ॥

प्रजापतिसुताश्चात्र सदस्याश्चाभवंस्त्रयः ।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः ॥ ६ ॥

प्रजापतिके तीन पुत्र एकत, द्वित और त्रित नामक महर्षि उस यज्ञमें सदस्य हुए ॥ ६ ॥

धनुषाख्योऽथ रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू ।
ऋषिर्मेधातिथिश्चैव ताण्ड्यश्चैव महानृषिः ॥ ७ ॥
ऋषिः शान्तिर्महाभागस्तथा वेदशिराश्च यः ।
ऋषिश्रेष्ठश्च कपिलः शालिहोत्रपिता स्मृतः ॥ ८ ॥
आद्यः कठस्तैत्तिरिश्च वैशम्पायनपूर्वजः ।
कण्वोऽथ देवहोत्रश्च एते षोडश कीर्तिताः ॥ ९ ॥

इनके सिवा (तेरह सदस्य और थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं—) धनुष, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, मुनिवर मेधातिथि, महर्षि ताण्ड्य, महाभाग शान्ति मुनि, वेदशिरा, शालिहोत्रके पिता ऋषिश्रेष्ठ कपिल, आद्यकठ, वैशम्पायनके बड़े भाई तैत्तिरि, कण्व और देवहोत्र । ये कुल मिलाकर सोलह सदस्य बताये गये हैं ॥ ७–९ ॥

सम्भूताः सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ ।
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैवं स्थितोऽभवत् ॥ १० ॥

राजन् ! उस महान् यज्ञमें सारे सामान एकत्र किये गये; परंतु उसमें किसी पशुका वध नहीं हुआ । वे राजा उपरिचर इसी भावसे उस यज्ञमें स्थित हुए थे ॥ १० ॥

अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रो निराशीः कर्मसंस्तुतः ।
आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः ॥ ११ ॥

वे हिंसाभावसे रहित, पवित्र, उदार तथा कामनाओंसे रहित थे और इसी भावसे कर्ममें प्रवृत्त हुए थे । जंगलमें उत्पन्न हुए फल-मूल आदि पदार्थोंसे ही उस यज्ञमें देवताओंके भाग निश्चित किये गये थे ॥ ११ ॥

प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेवः पुरातनः ।
साक्षात् तं दर्शयामास सोऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥ १२ ॥

उस समय पुराणपुरुष देवाधिदेव भगवान् नारायणने प्रसन्न होकर राजाको प्रत्यक्ष दर्शन दिया; परंतु दूसरे किसीको उनका दर्शन नहीं हुआ ॥ १२ ॥

स्वयं भागमुपाघ्राय पुरोडाशं गृहीतवान् ।
अदृश्येन हृतो भागो देवेन हरिमेधसा ॥ १३ ॥

भगवान् हयग्रीवने स्वयं अदृश्य रहकर ही अपने लिये अर्पित पुरोडाशको ग्रहण किया और उसे सूँघकर अपने अधीन कर लिया ॥ १३ ॥

बृहस्पतिस्ततः क्रुद्धः स्रुचमुद्यम्य वेगितः ।
आकाशं घ्नन् स्रुचः पातै रोषादश्रूण्यवर्तयत् ॥ १४ ॥

यह देख बृहस्पति क्रोधमें भर गये । उन्होंने बड़े वेगसे स्रुवा उठा लिया और आकाशमें उसे दे मारा । साथ ही वे रोषवश अपने नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ १४ ॥

उवाच चोपरिचरं मया भागोऽयमुद्यतः ।
ग्राह्यः स्वयं हि देवेन मत्प्रत्यक्षं न संशयः ॥ १५ ॥

फिर वे राजा उपरिचरसे बोले—'मैंने जो यह भाग प्रस्तुत किया है, उसे भगवान्‌को मेरी आँखोंके सामने प्रकट होकर ग्रहण करना चाहिये, यही न्याय है, इसमें संशय नहीं है' ।१५।

युधिष्ठिर उवाच

उद्यता यज्ञभागा हि साक्षात् प्राप्ताः सुरैरिह ।
किमर्थमिह न प्राप्तो दर्शनं स हरिर्विभुः ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जब सभी देवताओंने प्रत्यक्ष दर्शन देकर अपने-अपने भाग ग्रहण किये, तब भगवान् विष्णुने उस यज्ञमें पधारकर भी क्यों प्रत्यक्ष दर्शन नहीं दिया ? ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

ततः स तं समुद्धूतं भूमिपालो महान् वसुः ।
प्रसादयामास मुनिं सदस्यास्ते च सर्वशः ॥ १७ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इसका कारण बताता हूँ, सुनो । वे महान् भूपाल वसु तथा अन्य सम्पूर्ण सदस्य मिलकर उस समय रोषमें भरे हुए मुनि बृहस्पतिको मनाने लगे ॥ १७ ॥

ऊचुश्चैनमसम्भ्रान्ता न रोषं कर्तुमर्हसि ।
नैष धर्मः कृतयुगे यस्त्वं रोषमचीकृथाः ॥ १८ ॥

सब लोग शान्तचित्त होकर उनसे बोले—'मुने ! आप रोष न करें । आपने जो रोष किया है, यह सत्ययुगका धर्म नहीं है ॥ १८ ॥

अरोषणो ह्यसौ देवो यस्य भागोऽयमुद्यतः ।
न शक्यः स त्वया द्रष्टुमस्माभिर्वा बृहस्पते ॥ १९ ॥
यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति ।

'बृहस्पते ! जिनको यह भाग समर्पित किया गया है, वे भगवान् कभी क्रोध नहीं करते हैं । हम और आप उन्हें स्वेच्छासे नहीं देख सकते हैं । जिसपर वे कृपा करते हैं, वही उनका दर्शन कर पाता है' ॥ १९½ ॥

एकतद्वितत्रिताश्चोचुस्ततश्चित्रशिखण्डिनः ॥ २० ॥
वयं हि ब्रह्मणः पुत्रा मानसाः परिकीर्तिताः ।
गता निःश्रेयसार्थं हि कदाचिद् दिशमुत्तराम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर एकत, द्वित और त्रितने तथा चित्रशिखण्डी नामवाले ऋषियोंने उनसे कहा—'बृहस्पते ! हमलोग ब्रह्माजीके मानसपुत्र कहलाते हैं । एक बार अपने कल्याणकी इच्छासे हम सबने उत्तर दिशाकी यात्रा की ॥ २०-२१ ॥

तप्त्वा वर्षसहस्राणि चरित्वा तप उत्तमम् ।
एकपादाः स्थिताः सम्यक् काष्ठभूताः समाहिताः॥२२॥
मेरोरुत्तरभागे तु क्षीरोदस्यानुकूलतः ।
स देशो यत्र नस्तप्तं तपः परमदारुणम् ॥ २३ ॥
कथं पश्येम हि वयं देवं नारायणात्मकम् ।
वरेण्यं वरदं तं वै देवदेवं सनातनम् ॥ २४ ॥

'वहाँ मेरुके उत्तर और क्षीरसागरके किनारे एक पवित्र स्थान है, जहाँ हमलोगोंने हजार वर्षोंतक एकाग्रचित्त हो काष्ठकी भाँति एक पैरसे खड़े होकर बड़ी कठोर तपस्या की थी । वह उत्तम तपस्या करके हम यही चाहते थे कि किसी तरह वरदायक सनातन देवाधिदेव वरणीय भगवान् नारायणका दर्शन कर लें ॥ २२–२४ ॥

कथं पश्येम हि वयं देवं नारायणं त्विति ।
अथ व्रतस्यावभृथे वागुवाचाशरीरिणी ॥ २५ ॥
स्निग्धगम्भीरया वाचा प्रहर्षणकरी विभो ।

'हम बारंबार यही सोचते थे कि हमें श्रीनारायणदेवका दर्शन कैसे प्राप्त होगा ? तदनन्तर व्रतकी समाप्ति होनेपर हमें हर्ष प्रदान करनेवाली किसी शरीररहित वाणीने स्नेहपूर्ण गम्भीर स्वरसे इस प्रकार कहा—॥ २५½ ॥

सुतप्तं वस्तपो विप्राः प्रसन्नेनान्तरात्मना ॥ २६ ॥
यूयं जिज्ञासवो भक्ताः कथं द्रक्ष्यथ तं विभुम् ।

'ब्राह्मणो ! तुमने प्रसन्न हृदयसे भलीभाँति तप किया है । तुम भगवान्‌के भक्त हो और यह जानना चाहते हो कि उन सर्वव्यापी परमात्माका दर्शन कैसे हो ? ॥ २६½ ॥

क्षीरोदधेरुत्तरतः श्वेतद्वीपो महाप्रभः ॥ २७ ॥
तत्र नारायणपरा मानवाश्चन्द्रवर्चसः ।

'इसका उपाय सुनो । क्षीरसागरके उत्तरभागमें अत्यन्त प्रकाशमान श्वेतद्वीप है । वहाँ भगवान् नारायणका भजन करनेवाले पुरुष रहते हैं, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् हैं ॥ २७½ ॥

एकान्तभावोपगतास्ते भक्ताः पुरुषोत्तमम् ॥ २८ ॥
ते सहस्रार्चिषं देवं प्रविशन्ति सनातनम् ।
अनिन्द्रिया निराहारा अनिष्पन्दाः सुगन्धिनः ॥ २९ ॥

'वे स्थूल इन्द्रियोंसे रहित, निराहार और निश्चेष्ट होते हैं । उनके शरीरसे मनोहर सुगन्ध निकलती रहती है तथा वे भगवान्‌के अनन्य भक्त होते हैं और सहस्रों किरणोंवाले उन सनातनदेव भगवान् पुरुषोत्तममें प्रवेश कर जाते हैं ॥ २८-२९ ॥

एकान्तिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीपनिवासिनः ।
गच्छध्वं तत्र मुनयस्तत्रात्मा मे प्रकाशितः ॥ ३० ॥

'मुनियो ! वे श्वेतद्वीपके निवासी मेरे एकान्त भक्त हैं, तुम वहीं जाओ । वहाँ मेरे स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन होता है' ॥ ३० ॥

अथ श्रुत्वा वयं सर्वे वाचं तामशरीरिणीम् ।
यथाख्यातेन मार्गेण तं देशं प्रतिपेदिरे ॥ ३१ ॥

'इस आकाशवाणीको सुनकर हमलोग उसके बताये हुए मार्गसे उस स्थानको गये ॥ ३१ ॥

प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं तच्चित्तास्तद्दिदृक्षवः ।
ततोऽस्मद्दृष्टिविषयस्तदा प्रतिहतोऽभवत् ॥ ३२ ॥

'श्वेतनामक महाद्वीपमें पहुँचकर हमारा चित्त भगवान्‌में ही लगा रहा । हम उनके दर्शनकी इच्छासे उत्कण्ठित हो रहे थे । वहाँ जाते ही हमारी दृष्टिशक्ति प्रतिहत हो गयी ॥

न च पश्याम पुरुषं तत्तेजोहृतदर्शनाः ।
ततो नः प्रादुरभवद् विज्ञानं देवयोगजम् ॥ ३३ ॥
न किलातप्ततपसा शक्यते द्रष्टुमञ्जसा ।

'वहाँके निवासियोंके तेजसे आँखें चौंधिया जानेके कारण हम वहाँ किसी पुरुषको देख नहीं पाते थे । तदनन्तर दैवयोगसे हमारे हृदयमें यह ज्ञान प्रकट हुआ कि तपस्या किये बिना हमलोग भगवान्‌को सुगमतापूर्वक नहीं देख सकते ॥

ततः पुनर्वर्षशतं तप्त्वा तात्कालिकं महत् ॥ ३४ ॥
व्रतावसाने च शुभान् नरान् ददृशिरे वयम् ।
श्वेतांश्चन्द्रप्रतीकाशान् सर्वलक्षणलक्षितान् ॥ ३५ ॥

'तदनन्तर हमने तत्काल पुनः सौ वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की । उस तपोमय व्रतके पूर्ण होनेपर हमलोगोंको वहाँके शुभलक्षण पुरुषोंका दर्शन हुआ, जो चन्द्रमाके समान गौरवर्ण और सब प्रकारके उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे ॥ ३४-३५॥

नित्याञ्जलिकृतान् ब्रह्म जपतः प्रागुदङ्मुखान् ।
मानसो नाम स जपो जप्यते तैर्महात्मभिः ॥ ३६ ॥

'वे प्रतिदिन ईशानकोणकी ओर मुँह करके हाथ जोड़े हुए ब्रह्मका मानसजप करते थे ॥ ३६ ॥

तेनैकाग्रमनस्त्वेन प्रीतो भवति वै हरिः ।
याभवन्मुनिशार्दूल भाः सूर्यस्य युगक्षये ॥ ३७ ॥
एकैकस्य प्रभा तादृक् साभवन्मानवस्य ह ।

'उनके मनकी इस एकाग्रतासे भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते थे । मुनिश्रेष्ठ ! प्रलयकालमें सूर्यकी जैसी प्रभा होती है, वैसी ही उस द्वीपमें रहनेवाले प्रत्येक पुरुषकी थी ॥ ३७½ ॥

तेजोनिवासः स द्वीप इति वै मेनिरे वयम् ॥ ३८ ॥
न तत्राभ्यधिकः कश्चित् सर्वे ते समतेजसः ।

'हमलोगोंने तो यही समझा कि यह द्वीप तेजका ही निवासस्थान है । वहाँ कोई किसीसे बढ़कर नहीं था । सबका तेज समान था ॥ ३८½ ॥

अथ सूर्यसहस्रस्य प्रभां युगपदुत्थिताम् ॥ ३९ ॥
सहसा दृष्टवन्तः स्म पुनरेव बृहस्पते ।

'बृहस्पते ! थोड़ी ही देरमें हमारे सामने एक ही साथ हजारों सूर्योंके समान प्रभा प्रकट हुई । हमारी दृष्टि सहसा उस ओर खिंच गयी ॥ ३९½ ॥

सहिताश्चाभ्यधावन्त ततस्ते मानवा द्रुतम् ॥ ४० ॥
कृताञ्जलिपुटा हृष्टा नम इत्येव वादिनः ।

'तदनन्तर वहाँके निवासी पुरुष बड़ी प्रसन्नताके साथ दोनों हाथ जोड़े 'नमो नमः' कहते हुए एक ही साथ तीव्र गतिसे उस तेजकी ओर दौड़े ॥ ४०½ ॥

ततो हि वदतां तेषामश्रौष्म विपुलं ध्वनिम् ॥ ४१ ॥
बलिः किलोपह्रियते तस्य देवस्य तैर्नरैः ।

'इसके बाद जब वे स्तुति करने लगे, तब उनकी तुमुल ध्वनि हमारे कानोंमें पड़ी । वे सब लोग उन तेजोमय भगवान्‌को पूजाकी सामग्री अर्पण कर रहे थे ॥ ४१½ ॥

वयं तु तेजसा तस्य सहसा हृतचेतसः ॥ ४२ ॥
न किंचिदपि पश्यामो हतचक्षुर्बलेन्द्रियाः ।

'भगवान्‌के उस अनिर्वचनीय तेजने हमारे चित्तको सहसा खींच लिया था; परंतु हमारे नेत्र, बल और इन्द्रियाँ प्रतिहत हो गयी थीं, इसलिये हम स्पष्ट रूपसे कुछ देख नहीं पाते थे ॥

एकस्तु शब्दो विततः श्रुतोऽस्माभिरुदीरितः ॥ ४३ ॥
जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुषपूर्वज ॥ ४४ ॥

'परंतु एक शब्द जो उच्चस्वरसे उच्चारित होकर दूरतक फैल रहा था, हमने भी सुना । सब लोग कह रहे थे—'पुण्डरीकाक्ष ! आपकी जय हो । विश्वभावन ! आपको प्रणाम है । महापुरुषोंके भी पूर्वज हृषीकेश ! आपको नमस्कार है' ॥

इति शब्दः श्रुतोऽस्माभिः शिक्षाक्षरसमन्वितः ।
एतस्मिन्नन्तरे वायुः सर्वगन्धवहः शुचिः ॥ ४५ ॥
दिव्यान्युवाह पुष्पाणि कर्मण्याश्चौषधीस्तथा ।
तैरिष्टः पञ्चकालज्ञैर्हरिरेकान्तिभिर्नरैः ॥ ४६ ॥
भक्त्या परमया युक्तैर्मनोवाक्कर्मभिस्तदा ।

'शिक्षा और अक्षरसे युक्त यह वाक्य हमलोगोंको श्रवणगोचर हुआ । इतनेहीमें पवित्र और सुगन्धित वायु बहुत-से दिव्य पुष्प और कार्योपयोगी ओषधियाँ ले आयी, जिनसे वहाँके पञ्चकालवेत्ता अनन्य भक्तोंने बड़ी भक्तिके साथ मन, वाणी और क्रियाद्वारा उन श्रीहरिका पूजन किया ॥४५-४६½॥

नूनं तत्रागतो देवो यथा तैर्वागुदीरिता ॥ ४७ ॥
वयं त्वेनं न पश्यामो मोहितास्तस्य मायया ।

'जैसी बातचीत उन्होंने की थी, उससे हमें विश्वास हो गया था कि निश्चय ही यहाँ भगवान् पधारे हुए हैं, परंतु उन्हींकी मायासे मोहित होनेके कारण हम उन्हें देख नहीं पाते थे ॥ ४७½ ॥

मारुते संनिवृत्ते च बलौ च प्रतिपादिते ॥ ४८ ॥
चिन्ताव्याकुलितात्मानो जाताः स्मोऽङ्गिरसां वर ।

'बृहस्पते ! जब उस सुगन्धित वायुका चलना बंद हो गया और भगवान्‌को बलिसमर्पणका कार्य पूर्ण हो गया, तब हमलोग मन-ही-मन चिन्तासे व्याकुल हो उठे ॥४८½॥

मानवानां सहस्रेषु तेषु वै शुद्धयोनिषु ॥ ४९ ॥
अस्मान् न कश्चिन्मनसा चक्षुषा वाप्यपूजयत् ।

'वहाँ शुद्ध कुलवाले सहस्रों पुरुष थे; परंतु उनमेंसे किसीने मनसे अथवा दृष्टिपातद्वारा भी हमलोगोंका सत्कार नहीं किया ॥ ४९½ ॥

तेऽपि स्वस्था मुनिगणा एकभावमनुव्रताः ॥ ५० ॥
नास्मासु दधिरे भावं ब्रह्मभावमनुष्ठिताः ।

वहाँ जो स्वस्थ मुनिगण थे, वे भी अनन्य भावसे भगवान्‌के भजनमें ही मन लगाये रहते थे । उन ब्रह्मभावमें स्थित मुनियोंने हमलोगोंकी ओर ध्यान नहीं दिया ॥५०½॥

ततोऽस्मान् सुपरिश्रान्तांस्तपसा चातिकर्शितान्॥५१॥
उवाच स्वस्थं किमपि भूतं तत्राशरीरकम् ।

'हमलोग तपस्यासे थककर अत्यन्त दुर्बल हो गये थे । उस समय हमलोगोंसे किसी शरीररहित स्वस्थ प्राणी (देवता) ने कहा ॥ ५१½ ॥

देव उवाच

दृष्टा वः पुरुषाः श्वेताः सर्वेन्द्रियविवर्जिताः ॥ ५२ ॥
दृष्टो भवति देवेश एभिर्दृष्टैर्द्विजोत्तमैः ।

देवता बोले—मुनिवरो ! तुमलोगोंने श्वेतद्वीपनिवासी श्वेतकाय इन्द्रियरहित पुरुषोंका दर्शन किया । इन श्रेष्ठ द्विजोंके दर्शन होनेसे साक्षात् देवेश्वर भगवान्‌का ही दर्शन हो जाता है ॥ ५२½ ॥

गच्छध्वं मुनयः सर्वे यथागतमितोऽचिरात् ॥ ५३ ॥
न स शक्यस्त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथंचन ।

मुनियो ! तुम सब लोग जैसे आये हो, वैसे ही शीघ्र लौट जाओ । भगवान्‌में अनन्य भक्ति हुए बिना किसीको किसी तरह भी उनका साक्षात् दर्शन नहीं हो सकता ॥ ५३½ ॥

कामं कालेन महता एकान्तित्वमुपागतैः ॥ ५४ ॥
शक्यो द्रष्टुं स भगवान् प्रभामण्डलदुर्दृशः ।

हाँ, बहुत समयतक उनकी भक्ति करते-करते जब पूरी अनन्यता आ जायगी, तब ज्योतिःपुञ्जके कारण कठिनतासे देखे जानेवाले भगवान्‌का दर्शन सम्भव हो सकता है ॥ ५४½ ॥

महत् कार्यं च कर्तव्यं युष्माभिर्द्विजसत्तमाः ॥ ५५ ॥
इतः कृतयुगेऽतीते विपर्यासं गतेऽपि च ।
वैवस्वतेऽन्तरे विप्राः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः ॥ ५६ ॥
सुराणां कार्यसिद्ध्यर्थं सहाया वै भविष्यथ ।

विप्रवरो ! इस समय तुम्हें अभी बहुत बड़ा काम

करना है। इस सत्ययुगके बीतनेपर जब धर्ममें किञ्चित् व्यतिक्रम आ जायगा और वैवस्वत मन्वन्तरके त्रेतायुगका आरम्भ होगा, उस समय देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये तुमलोग ही सहायक होगे ॥ ५५-५६½ ॥

ततस्तदद्भुतं वाक्यं निशम्यैवामृतोपमम् ॥ ५७ ॥
तस्य प्रसादात् प्राप्ताः स्मो देशमीप्सितमञ्जसा ।

'यह अमृतके समान मधुर एवं अद्भुत वचन सुनकर हमलोग भगवान्‌की कृपासे अनायास ही अपने अभीष्ट स्थान-पर आ पहुँचे ॥ ५७½ ॥

एवं सुतपसा चैव हव्यकव्यैस्तथैव च ॥ ५८ ॥
देवोऽस्माभिर्न दृष्टः स कथं त्वं द्रष्टुमर्हसि ।

'बृहस्पते ! इस प्रकार हमने बड़ी भारी तपस्या की, हव्य-कव्योंके द्वारा भगवान्‌का पूजन भी किया, तो भी हमें उनका दर्शन न हो सका। फिर तुम कैसे अनायास ही उनका दर्शन पा लोगे ? ॥ ५८½ ॥

नारायणो महद्भूतं विश्वसृग्घव्यकव्यभुक् ॥ ५९ ॥
अनादिनिधनोऽव्यक्तो देवदानवपूजितः ।

'भगवान् नारायण सबसे महान् देवता हैं। वे ही संसारके स्रष्टा और हव्य-कव्यके भोक्ता हैं। उनका आदि और अन्त नहीं हैं। उन अव्यक्त परमेश्वरकी देवता और दानव भी पूजा करते हैं' ॥ ५९½ ॥

एवमेकतवाक्येन द्वितत्रितमतेन च ॥ ६० ॥
अनुनीतः सदस्यैश्च बृहस्पतिरुदारधीः ।
समापयत् ततो यज्ञं दैवतं समपूजयत् ॥ ६१ ॥

इस प्रकार एकतके कहनेसे, द्वित और त्रितकी सम्मतिसे तथा अन्य सदस्योंद्वारा अनुनय किये जानेसे उदारबुद्धि बृहस्पतिने उस यज्ञको समाप्त किया और भगवान्‌की पूजा की ॥ ६०-६१ ॥

समाप्तयज्ञो राजापि प्रजां पालितवान् वसुः ।
ब्रह्मशापाद् दिवो भ्रष्टः प्रविवेश महीं ततः ॥ ६२ ॥

राजा वसु भी यज्ञ पूरा करके प्रजाका पालन करने लगे। एक बार ब्रह्मशापसे उन्हें स्वर्गसे भ्रष्ट होना पड़ा था। उस समय वे पृथ्वीके भीतर रसातलमें समा गये थे ॥ ६२ ॥

स राजा राजशार्दूल सत्यधर्मपरायणः ।
अन्तर्भूमिगतश्चैव सततं धर्मवत्सलः ॥ ६३ ॥
नारायणपरो भूत्वा नारायणजपं जपन् ।
तस्यैव च प्रसादेन पुनरेवोत्थितस्तु सः ॥ ६४ ॥
महीतलाद् गतः स्थानं ब्रह्मणः समनन्तरम् ।
परां गतिमनुप्राप्त इति नैष्ठिकमञ्जसा ॥ ६५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! सदा धर्मपर अनुराग रखनेवाले सत्यधर्म-परायण राजा उपरिचर भूमिके भीतर प्रवेश करके भी निरन्तर नारायण-मन्त्रका जप करते हुए भी उन्हींकी आराधनामें तत्पर रहते थे। अतः उन्हींकी कृपासे वे पुनः ऊपरको उठे और भूतलसे ब्रह्मलोकमें जाकर उन्होंने परम गति प्राप्त कर ली। अनायास ही उन्हें निष्ठावानोंकी यह उत्तम गति प्राप्त हो गयी ॥ ६३—६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये षट्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महत्ताका वर्णनविषयक तीन सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यज्ञमें आहुतिके लिये अजका अर्थ अन्न है, बकरा नहीं—इस बातको जानते हुए भी पक्षपात करनेके कारण राजा उपरिचरके अधःपतनकी और भगवत्कृपासे उनके पुनरुत्थानकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

यदा भागवतोऽत्यर्थमासीद् राजा महान् वसुः ।
किमर्थं स परिभ्रष्टो विवेश विवरं भुवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजा वसु जब भगवान्‌के अत्यन्त भक्त और महान् पुरुष थे, तब वे स्वर्गसे भ्रष्ट होकर पातालमें कैसे प्रविष्ट हुए ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऋषीणां चैव संवादं त्रिदशानां च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें ज्ञानी-जन ऋषियों और देवताओंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासको उद्धृत किया करते हैं— ॥ २ ॥

अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।
स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः ॥ ३ ॥

'अजके द्वारा यज्ञ करना चाहिये—ऐसा विधान है।' ऐसा कहकर देवताओंने वहाँ आये हुए सभी श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंसे कहा, 'यहाँ अजका अर्थ बकरा समझना चाहिये, दूसरा पशु नहीं, ऐसा निश्चय है' ॥ ३ ॥

ऋषय ऊचुः

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥ ४ ॥

ऋषियोंने कहा—देवताओ ! यज्ञोंमें बीजोंद्वारा यजन करना चाहिये, ऐसी वैदिकी श्रुति है। बीजोंका ही नाम अज है; अतः बकरेका वध करना हमें उचित नहीं है ॥ ४ ॥

नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः॥ ५ ॥

देवताओ ! जहाँ कहीं भी यज्ञमें पशुका वध हो, वह सत्पुरुषोंका धर्म नहीं है। यह श्रेष्ठ सत्ययुग चल रहा है। इसमें पशुका वध कैसे किया जा सकता है ? ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

तेषां संवदतामेवमृषीणां विबुधैः सह।
मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्तं देशं प्राप्तवान् वसुः॥ ६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार जब ऋषियोंका देवताओंके साथ संवाद चल रहा था, उसी समय नृपश्रेष्ठ वसु भी उस मार्गसे आ निकले और उस स्थानपर पहुँच गये॥ ६ ॥

अन्तरिक्षचरः श्रीमान् समग्रबलवाहनः।
तं दृष्ट्वा सहसाऽऽयान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम्॥ ७ ॥
ऊचुर्द्विजातयो देवानेष च्छेत्स्यति संशयम्।
यज्वा दानपतिः श्रेष्ठः सर्वभूतहितप्रियः॥ ८ ॥

श्रीमान् राजा उपरिचर अपनी सेना और वाहनोंके साथ आकाशमार्गसे चलते थे। उन अन्तरिक्षचारी वसुको सहसा आते देख ब्रह्मर्षियोंने देवताओंसे कहा—'ये नरेश हमलोगोंका संदेह दूर कर देंगे; क्योंकि ये यज्ञ करनेवाले, दानपति, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूतोंके हितैषी एवं प्रिय हैं॥ ७-८ ॥

कथंस्विदन्यथा ब्रूयादेष वाक्यं महान् वसुः।
एवं ते संविदं कृत्वा विबुधा ऋषयस्तथा॥ ९ ॥
अपृच्छन् सहिताभ्येत्य वसुं राजानमन्तिकात्।

'ये महान् पुरुष वसु शास्त्रके विपरीत वचन कैसे कह सकते हैं।' ऐसी सम्मति करके देवताओं और ऋषियोंने एक साथ राजा वसुके पास आकर अपना प्रश्न उपस्थित किया—॥ ९½ ॥

भो राजन् केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदौषधैः॥ १० ॥
एतन्नः संशयं छिन्धि प्रमाणं नो भवान् मतः।

'राजन्! किसके द्वारा यज्ञ करना चाहिये ? बकरेके द्वारा अथवा अन्नद्वारा ? हमारे इस संदेहका आप निवारण करें। हमलोगोंकी रायमें आप ही प्रामाणिक व्यक्ति हैं'॥ १०½ ॥

स तान् कृताञ्जलिर्भूत्वा परिपप्रच्छ वै वसुः॥ ११ ॥
कस्य वै को मतः कामो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः।

तब राजा वसुने हाथ जोड़कर उन सबसे पूछा—'विप्रवरो ! आपलोग सच-सच बताइये, आपलोगोंमेंसे किस पक्षको कौन-सा मत अभीष्ट है ? कौन अजका अर्थ बकरा मानता है और कौन अन्न ?' ॥ ११½ ॥

ऋषय ऊचुः

धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकं नराधिप॥ १२ ॥
देवानां तु पशुः पक्षो मतो राजन् वदस्व नः।

ऋषि बोले—नरेश्वर ! हमलोगोंका पक्ष यह है कि अन्नसे यज्ञ करना चाहिये तथा देवताओंका पक्ष यह है कि छाग नामक पशुके द्वारा यज्ञ होना चाहिये। राजन् ! अब आप हमें अपना निर्णय बताइये॥ १२½ ॥

भीष्म उवाच

देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्षसंश्रयात्॥ १३ ॥
छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! देवताओंका मत जानकर राजा वसुने उन्हींका पक्ष लेकर कह अजका अर्थ है, छाग (बकरा); अतः उसीके द्वारा यज्ञ करना चाहिये॥ १३½ ॥

कुपितास्ते ततः सर्वे मुनयः सूर्यवर्चसः॥ १४ ॥
ऊचुर्वसुं विमानस्थं देवपक्षार्थवादिनम्।

यह सुनकर वे सभी सूर्यके समान तेजस्वी ऋषि कुपित हो उठे और विमानपर बैठकर देवपक्षकी बात कहनेवाले वसुसे बोले—॥ १४½ ॥

सुरपक्षो गृहीतस्ते यस्मात् तस्माद् दिवः पत॥ १५ ॥
अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशे विहता गतिः।
अस्मच्छापाभिघातेन महीं भित्त्वा प्रवेक्ष्यसि॥ १६ ॥

'राजन् ! तुमने यह जानकर भी कि अजका अर्थ अन्न है, देवताओंका पक्ष लिया है; इसलिये स्वर्गसे नीचे गिर जाओ। आजसे तुम्हारी आकाशमें विचरनेकी शक्ति नष्ट हो गयी। हमारे शापके आघातसे तुम पृथ्वीको भेदकर पातालमें प्रवेश करोगे॥ १५-१६ ॥

(विरुद्धं वेदसूत्राणामुक्तं यदि भवेन्नृप।
वयं विरुद्धवचना यदि तत्र पतामहे ॥)

'नरेश्वर ! तुमने यदि वेद और सूत्रोंके विरुद्ध कहा हो तो हमारा यह शाप अवश्य लागू हो और यदि हम शास्त्रविरुद्ध वचन कहते हों तो हमारा पतन हो जाय' ॥

ततस्तस्मिन् मुहूर्तेऽथ राजोपरिचरस्तदा।
अधो वै सम्बभूवाशु भूमेर्विवरगो नृप॥ १७ ॥

राजन् ! ऋषियोंके इतना कहते ही उसी क्षण राजा उपरिचर आकाशसे नीचे आ गये और तत्काल पृथ्वीके विवरमें प्रवेश कर गये॥ १७ ॥

स्मृतिस्त्वेनं न हि जहौ तदा नारायणाज्ञया।
देवास्तु सहिताः सर्वे वसोः शापविमोक्षणम्॥ १८ ॥
चिन्तयामासुरव्यग्राः सुकृतं हि नृपस्य तत्।
अनेनास्मत्कृते राज्ञा शापः प्राप्तो महात्मना॥ १९ ॥

उस समय भी भगवान् नारायणकी आज्ञासे उनकी स्मरणशक्ति उन्हें छोड़ न सकी। इधर सब देवता एकत्र होकर राजाको शापसे छुटकारा दिलानेका उपाय सोचने लगे। वे शान्तभावसे परस्पर बोले—'राजाने तो पुण्य-ही-

पुण्य किया है। उन महात्मा नरेशको हमारे कारणसे ही यह शाप प्राप्त हुआ है ॥ १८-१९ ॥

अस्य प्रतिप्रियं कार्यं सहितैर्नो दिवौकसः।
इति बुद्ध्या व्यवस्याशु गत्वा निश्चयमीश्वराः ॥ २० ॥
ऊचुः संहृष्टमनसो राजोपरिचरं तदा।

'देवताओ! हमलोगोंको एक साथ होकर उनका अतिशय प्रिय करना चाहिये।' अपनी बुद्धिके द्वारा ऐसा निश्चय करके वे सभी देवता राजा उपरिचर वसुके पास जाकर प्रसन्नचित्त हो बोले—॥ २०½ ॥

ब्रह्मण्यदेवभक्तस्त्वं सुरासुरगुरुर्हरिः ॥ २१ ॥
कामं स तव तुष्टात्मा कुर्याच्छापविमोक्षणम्।

'राजन्! तुम ब्रह्मण्यदेव भगवान् विष्णुके भक्त हो और वे श्रीहरि देवता तथा असुर सबके गुरु हैं। उनका मन तुमपर संतुष्ट है; इसलिये वे तुम्हारी इच्छाके अनुसार तुम्हें अवश्य शापसे मुक्त कर देंगे ॥ २१½ ॥

मानना तु द्विजातीनां कर्तव्या वै महात्मनाम् ॥ २२ ॥
अवश्यं तपसा तेषां फलितव्यं नृपोत्तम।
यतस्त्वं सहसा भ्रष्ट आकाशान्मेदिनीतलम् ॥ २३ ॥

'नृपश्रेष्ठ! तुम्हें महात्मा ब्राह्मणोंका सदा ही समादर करना चाहिये। अवश्य ही यह उनकी तपस्याका फल है; जिससे तुम आकाशसे सहसा भ्रष्ट होकर पातालमें चले आये हो ॥ २२-२३ ॥

एकं त्वनुग्रहं तुभ्यं दद्मो वै नृपसत्तम।
यावत् त्वं शापदोषेण कालमासिष्यसेऽनघ ॥ २४ ॥
भूमेर्विवरगो भूत्वा तावत् त्वं कालमाप्स्यसि।
यज्ञेषु सुहुतां विप्रैर्वसोर्धारां समाहितैः ॥ २५ ॥

'निष्पाप नृपशिरोमणे! हम तुम्हें अपना एक अनुग्रह प्रदान करते हैं। तुम शापदोषके कारण जबतक—जितने समयतक पृथ्वीके विवरमें रहोगे, तबतक एकाग्रचित्त ब्राह्मणोंद्वारा यज्ञोंमें दी हुई वसुधाराकी आहुति तुम्हें प्राप्त होती रहेगी ॥ २४-२५ ॥

प्राप्स्यसेऽस्मदनुध्यानान्मा च त्वां ग्लानिरस्पृशत्।
न क्षुत्पिपासे राजेन्द्र भूमेश्छिद्रे भविष्यतः ॥ २६ ॥
वसोर्धाराभिपीतत्वात् तेजसाऽऽप्यायितेन च।
स देवोऽस्मद्वरात् प्रीतो ब्रह्मलोकं हि नेष्यति ॥ २७ ॥

'राजेन्द्र! हमारे चिन्तनसे तुम्हें वसुधाराकी प्राप्ति होगी, जिससे ग्लानि तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकेगी और इस पातालमें रहते हुए भी तुम्हें भूख और प्यासका कष्ट नहीं होगा; क्योंकि वसुधाराका पान करनेसे तुम्हारे तेजकी वृद्धि होती रहेगी। हमारे वरदानसे भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हो तुम्हें ब्रह्मलोकमें ले जायँगे' ॥ २६-२७ ॥

एवं दत्त्वा वरं राज्ञे सर्वे ते च दिवौकसः।
गताः स्वभवनं देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ २८ ॥

इस प्रकार राजाको वरदान देकर वे सब देवता तथा तपोधन ऋषि अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ २८ ॥

चक्रे वसुस्ततः पूजां विष्वक्सेनाय भारत।
जप्यं जगौ च सततं नारायणमुखोद्गतम् ॥ २९ ॥

भारत! तदनन्तर वसुने भगवान् विष्वक्सेनकी पूजा आरम्भ की और भगवान् नारायणके मुखसे प्रकट हुए जपनीय मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) का निरन्तर जप करने लगे ॥ २९ ॥

तत्रापि पञ्चभिर्यज्ञैः पञ्चकालानरिंदम।
अयजद्धरिं सुरपतिं भूमेर्विवरगोऽपि सन् ॥ ३० ॥

शत्रुदमन युधिष्ठिर! वहाँ पातालके विवरमें रहते हुए भी राजा उपरिचर पाँच समय पाँच यज्ञोंद्वारा देवेश्वर श्रीहरिकी आराधना करते थे ॥ ३० ॥

ततोऽस्य तुष्टो भगवान् भक्त्या नारायणो हरिः।
अनन्यभक्तस्य सतस्तत्परस्य जितात्मनः ॥ ३१ ॥

उन्होंने अपने मनको जीत लिया था और वे सदा भगवान्के भजनमें ही लगे रहते थे। अपने उस अनन्य भक्तकी भक्तिसे भगवान् श्रीनारायण हरि बहुत संतुष्ट हुए ॥ ३१ ॥

वरदो भगवान् विष्णुः समीपस्थं द्विजोत्तमम्।
गरुत्मन्तं महावेगमाबभाषेप्सितं तदा ॥ ३२ ॥

फिर उन वरदायक भगवान् विष्णुने अपने पास ही खड़े हुए महान् वेगशाली पक्षिराज गरुड़से अपनी अभीष्ट बात इस प्रकार कही—॥ ३२ ॥

द्विजोत्तम महाभाग पश्यतां वचनान्मम।
सम्राड् राजा वसुर्नाम धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ ३३ ॥

'महाभाग पक्षिप्रवर! तुम मेरी आज्ञासे कठोर व्रतका पालन करनेवाले धर्मात्मा सम्राट् राजा वसुके पास जाकर उन्हें देखो ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणानां प्रकोपेन प्रविष्टो वसुधातलम्।
मानितास्ते तु विप्रेन्द्रास्त्वं तु गच्छ द्विजोत्तम ॥ ३४ ॥

'पक्षिराज! वे ब्राह्मणोंके कोपसे पातालमें प्रविष्ट हुए हैं। फिर भी उन्होंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका सदा सम्मान ही किया है; अतः तुम उनके पास जाओ ॥ ३४ ॥

भूमेर्विवरसंगुप्तं गरुडेह ममाज्ञया।
अधश्चरं नृपश्रेष्ठं खेचरं कुरु मा चिरम् ॥ ३५ ॥

'गरुड! पृथ्वीके विवरमें सुरक्षितरूपसे रहनेवाले इन पातालचारी नृपश्रेष्ठ वसुको तुम मेरी आज्ञासे शीघ्र ही आकाशचारी बना दो' ॥ ३५ ॥

गरुत्मानथ विक्षिप्य पक्षौ मारुतवेगवान्।
विवेश विवरं भूमेर्यत्रास्ते पार्थिवो वसुः ॥ ३६ ॥

यह आज्ञा पाकर वायुके समान वेगशाली गरुड अपने

दोनों पंख फैलाकर उड़े और पातालमें जहाँ राजा वसु विराजमान थे, घुस गये ॥ ३६ ॥

तत एनं समुत्क्षिप्य सहसा विनतासुतः ।
उत्पपात नभस्तूर्णं तत्र चैनममुञ्चत ॥ ३७ ॥

विनतानन्दन गरुड सहसा राजाको वहाँसे ऊपर उठाकर तुरंत आकाशमें ले उड़े और वहीं इन्हें छोड़ दिया ॥

अस्मिन् मुहूर्ते संजज्ञे राजोपरिचरः पुनः ।
सशरीरो गतश्चैव ब्रह्मलोकं नृपोत्तमः ॥ ३८ ॥

उसी क्षण राजा वसु पुनः उपरिचर हो गये । फिर वे नृपश्रेष्ठ सशरीर ब्रह्मलोकमें चले गये ॥ ३८ ॥

एवं तेनापि कौन्तेय वाग्दोषाद् देवताज्ञया ।
प्राप्ता गतिरधस्तात् तु द्विजशापान्महात्मना ॥ ३९ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार उस महामनस्वी नरेशने भी देवताओंकी आज्ञासे वाचिक अपराध करनेके कारण ब्राह्मणोंके शापसे अधोगति प्राप्त की थी ॥ ३९ ॥

केवलं पुरुषस्तेन सेवितो हरिरीश्वरः ।
ततः शीघ्रं जहौ शापं ब्रह्मलोकमवाप च ॥ ४० ॥

फिर उन्होंने केवल पुरुषप्रवर भगवान् श्रीहरिका सेवन किया, जिससे वे उस शापसे शीघ्र ही छूट गये और ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे ॥ ४० ॥

भीष्म उवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं सम्भूता मानवा यथा ।
नारदोऽपि यथा श्वेतं द्वीपं स गतवानृषिः ।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना नृप ॥ ४१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! श्वेतद्वीपके निवासी पुरुष जैसे हैं, उनकी सारी स्थिति मैंने तुमसे कह सुनायी । अब देवर्षि नारद जिस प्रकार श्वेतद्वीपमें गये, वह सब प्रसङ्ग तुमसे कहूँगा । तुम एकचित्त होकर सुनो ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये सप्तत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाका वर्णनविषयक तीन सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

अष्टत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका दो सौ नामोंद्वारा भगवान्‌की स्तुति करना

भीष्म उवाच

प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं नारदो भगवानृषिः ।
ददर्श तानेव नराञ्श्वेतांश्चन्द्रसमप्रभान् ॥ १ ॥
पूजयामास शिरसा मनसा तैश्च पूजितः ।
दिदृक्षुर्जप्यपरमः सर्वकृच्छ्रगतः स्थितः ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस महान् श्वेतद्वीपमें पहुँचकर भगवान् देवर्षि नारदने जब वहाँके उन चन्द्रमाके समान कान्तिमान् पुरुषोंको देखा, तब मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और मन-ही-मन उनकी पूजा की । तत्पश्चात् श्वेतद्वीपनिवासी पुरुषोंने भी नारदजीका सत्कार किया । फिर वे भगवान्‌के दर्शनकी इच्छासे उनके नामका जप करने लगे एवं कठोर नियमोंका पालन करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ १-२ ॥

भूत्वैकाग्रमना विप्र ऊर्ध्वबाहुः समाहितः ।
स्तोत्रं जगौ स विश्वाय निर्गुणाय गुणात्मने ॥ ३ ॥

नारदजी वहाँ अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर एकाग्रचित्त हो निर्गुण सगुणरूप विश्वात्मा भगवान् नारायणकी इस प्रकार (दो सौ नामोंद्वारा) स्तुति करने लगे ॥

नारद उवाच

१ नमस्ते देवदेवेश २ निष्क्रिय ३ निर्गुण ४ लोकसाक्षिन् ५ क्षेत्रज्ञ ६ पुरुषोत्तम ७ अनन्त ८ पुरुष ९ महापुरुष १० पुरुषोत्तम ११ त्रिगुण १२ प्रधान १३ अमृत १४ अमृताख्य १५ अनन्ताख्य १६ व्योम १७ सनातन १८ सदसद्व्यक्ताव्यक्त १९ ऋतधामन् २० आदिदेव २१ वसुप्रद २२ प्रजापते २३ सुप्रजापते २४ वनस्पते २५ महाप्रजापते २६ ऊर्जस्पते २७ वाचस्पते २८ जगत्पते २९ मनस्पते ३० दिवस्पते ३१ मरुत्पते ३२ सलिलपते ३३ पृथिवीपते ३४ दिक्पते ३५ पूर्वनिवास ३६ गुह्य ३७ ब्रह्मपुरोहित ३८ ब्रह्मकायिक ३९ महाराजिक ४० चातुर्महाराजिक ४१ भासुर ४२ महाभासुर ४३ सप्तमहाभाग ४४ याम्य ४५ महायाम्य ४६ संज्ञासंज्ञ ४७ तुषित ४८ महातुषित ४९ प्रमर्दन ५० परिनिर्मित ५१ अपरिनिर्मित ५२ वशवर्तिन् ५३ अपरिनिन्दित ५४ अपरिमित ५५ वशवर्तिन् ५६ अवशवर्तिन् ५७ यज्ञ ५८ महायज्ञ ५९ यज्ञसम्भव ६० यज्ञयोने ६१ यज्ञगर्भ ६२ यज्ञहृदय ६३ यज्ञस्तुत ६४ यज्ञभागहर ६५ पञ्चयज्ञ ६६ पञ्चकालकर्तृपते ६७ पाञ्चरात्रिक ६८ वैकुण्ठ ६९ अपराजित ७० मानसिक ७१ नामनामिक ७२ परस्वामिन् ७३ सुस्नात ७४ हंस ७५ परमहंस ७६ महाहंस ७७ परमयाज्ञिक ७८ सांख्ययोग ७९ सांख्यमूर्ते ८० अमृतेशय ८१ हिरण्येशय ८२ देवेशय ८३ कुशेशय ८४ ब्रह्मेशय ८५ पद्मेशय ८६ विश्वेश्वर ८७ विष्वक्सेन ८८ त्वं जगदन्वयः ८९ त्वं जगत्प्रकृतिः

९० तवाग्निरास्यम् ९१ वडवामुखोऽग्निः ९२ त्वमाहुतिः ९३ सारथिः ९४ त्वं वषट्कारः ९५ त्वमोङ्कारः ९६ त्वं तपः ९७ त्वं मनः ९८ त्वं चन्द्रमाः ९९ त्वं चक्षुरादित्यं १०० त्वं सूर्यः १०१ त्वं दिशां गजः १०२ त्वं दिग्भानो १०३ विदिग्भानो १०४ हयशिरः १०५ प्रथमत्रिसौपर्णः १०६ वर्णधरः १०७ पञ्चाग्ने १०८ त्रिणाचिकेत १०९ षडङ्गनिधान ११० प्राग्ज्योतिष १११ ज्येष्ठसामग ११२ सामिकव्रतधर ११३ अथर्वशिराः ११४ पञ्चमहाकल्प ११५ फेनपाचार्य ११६ वालखिल्य ११७ वैखानस ११८ अभग्नयोग ११९ अभग्नपरिसंख्यान १२० युगादे १२१ युगमध्य १२२ युगनिधन १२३ आखण्डल १२४ प्राचीनगर्भ १२५ कौशिक १२६ पुरुष्टुत १२७ पुरुहूत १२८ विश्वकृत् १२९ विश्वरूप १३० अनन्तगते १३१ अनन्तभोग १३२ अनन्त १३३ अनादे १३४ अमध्य १३५ अव्यक्तमध्य १३६ अव्यक्तनिधन १३७ व्रतावास १३८ समुद्राधिवास १३९ यशोवास १४० तपोवास १४१ दमावास १४२ लक्ष्म्यावास १४३ विद्यावास १४४ कीर्त्यावास १४५ श्रीवास १४६ सर्वावास १४७ वासुदेव १४८ सर्वच्छन्दक १४९ हरिहय १५० हरिमेध १५१ महायज्ञभागहर १५२ वरप्रद १५३ सुखप्रद १५४ धनप्रद १५५ हरिमेध १५६ यम १५७ नियम १५८ महानियम १५९ कृच्छ्र १६० अतिकृच्छ्र १६१ महाकृच्छ्र १६२ सर्वकृच्छ्र १६३ नियमधर १६४ निवृत्तभ्रम १६५ प्रवचनगत १६६ पृश्निगर्भप्रवृत्त १६७ प्रवृत्तवेदक्रिय १६८ अज १६९ सर्वगते १७० सर्वदर्शिन् १७१ अग्राह्य १७२ अचल १७३ महाविभूते १७४ माहात्म्यशरीर १७५ पवित्र १७६ महापवित्र १७७ हिरण्मय १७८ बृहत् १७९ अप्रतर्क्य १८० अविज्ञेय १८१ ब्रह्माग्र्य १८२ प्रजासर्गकर १८३ प्रजानिधनकर १८४ महामायाधर १८५ चित्रशिखण्डिन् १८६ वरप्रद १८७ पुरोडाशभागहर १८८ गताध्वर १८९ छिन्नतृष्ण १९० छिन्नसंशय १९१ सर्वतोवृत्त १९२ निवृत्तिरूप १९३ ब्राह्मणरूप १९४ ब्राह्मणप्रिय १९५ विश्वमूर्ते १९६ महामूर्ते १९७ बान्धव १९८ भक्तवत्सल १९९ ब्रह्मण्यदेव भक्तोऽहं त्वां दिदृक्षुरेकान्तदर्शनाय २०० नमो नमः ॥

१-देवदेवेश ! आपको नमस्कार है। २-आप निष्क्रिय, ३-निर्गुण और ४- समस्त जगत्के साक्षी हैं। ५-क्षेत्रज्ञ, ६-पुरुषोत्तम (क्षर-अक्षर पुरुषसे उत्तम), ७-अनन्त, ८-पुरुष, ९-महापुरुष, १०-पुरुषोत्तम (परमात्मा), ११-त्रिगुण, १२-प्रधान, १३-अमृत, १४ अमृताख्य, १५-अनन्ताख्य (शेषनागरूप), १६-व्योम (महाकाशरूप), १७-सनातन, १८-सदसद्व्यक्ताव्यक्त, १९-ऋतधामा (सत्य धामस्वरूप), २०-आदिदेव, २१-वसुप्रद (कर्म-फलके दाता), २२-प्रजापते (दक्ष आदि), २३-सुप्रजापते (प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ), २४-वनस्पते, २५-महाप्रजापते (ब्रह्मस्वरूप), २६-ऊर्जस्पते (महाशक्तिशाली), २७-वाचस्पते (बृहस्पति), २८-जगत्पते, २९-मनस्पते, ३०-दिवस्पते (सूर्य), ३१-मरुत्पते (वायुदेवताके स्वामी), ३२-सलिलपते (जलके स्वामी), ३३-पृथ्वीपते, ३४-दिक्पते, ३५-पूर्वनिवास (महाप्रलयके समय जगत्के आधाररूप), ३६-गुह्य(स्वरूप), ३७-ब्रह्मपुरोहित, ३८-ब्रह्मकायिक, ३९-महाराजिक, ४०-चातुर्महाराजिक, ४१-भासुर (प्रकाशमान), ४२-महाभासुर (महाप्रकाशमान), ४३-सप्तमहाभाग, ४४-याम्य, ४५-महायाम्य, ४६-संज्ञासंज्ञ, ४७-तुषित, ४८-महातुषित, ४९-प्रमर्दन (मृत्युरूप), ५०-परिनिर्मित, ५१-अपरिनिर्मित, ५२-वशवर्ती, ५३-अपरिनिन्दित (शम दम आदि गुणसम्पन्न), ५४-अपरिमित (अनन्त), ५५-वशवर्ती, ५६-अवशवर्ती, ५७-यज्ञ, ५८-महायज्ञ, ५९-यज्ञसम्भव, ६०-यज्ञयोनि(वेदस्वरूप), ६१-यज्ञगर्भ, ६२-यज्ञहृदय, ६३-यज्ञस्तुत, ६४-यज्ञभागहर, ६५-पञ्चयज्ञ, ६६-पञ्चकालकर्तृपति (अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और संवत्सररूप कालके स्वामी), ६७-पाञ्चरात्रिक, ६८-वैकुण्ठ (परमधाम), ६९-अपराजित, ७०-मानसिक, ७१-नानाक्ष (जिनमें सब नामोंका समावेश है), ७२-परस्वामी (परमेश्वर), ७३-सुस्नात, ७४-हंस, ७५-परमहंस, ७६-महाहंस, ७७-परमयाज्ञिक, ७८-सांख्ययोगरूप, ७९-सांख्यमूर्ति (ज्ञानमूर्ति), ८०-अमृतेशय (विष्णु), ८१-हिरण्येशय, ८२-देवेशय, ८३-कुशेशय, ८४-ब्रह्मेशय, ८५-पद्मेशय (विष्णु), ८६-विश्वेश्वर और ८७-विष्वक्सेन आदि आपहीके नाम हैं। ८८-आप ही जगदन्वय (जगत्में ओतप्रोत) तथा ८९-आप ही जगत्के कारणस्वरूप हैं। ९०-अग्नि आपका मुख है। ९१-आप ही बड़वानल, ९२-आप ही आहुतिरूप, ९३-सारथि, ९४-वषट्कार, ९५-ॐकार, ९६-तपःस्वरूप, ९७-मनःस्वरूप, ९८-चन्द्रमास्वरूप, ९९-चक्षुके देवता सूर्य आप ही हैं। १००-सूर्य, १०१-दिग्गज, १०२-दिग्भानु (दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले), १०३-विदिग्भानु (विदिशाओंको प्रकाशित करनेवाले) तथा १०४-हयग्रीवरूप हैं। १०५-आप प्रथम त्रिसौपर्ण मन्त्र, १०६-ब्राह्मणादि वर्णोंको धारण करनेवाले तथा १०७-पञ्चाग्निरूप हैं। १०८-नाचिकेत नामसे प्रसिद्ध त्रिविध अग्नि भी आप ही हैं। १०९-आप शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष नामक छः अङ्गोंके भण्डार हैं। ११०-प्राग्ज्योतिषस्वरूप, १११-ज्येष्ठ सामगस्वरूप आप ही हैं। ११२-सामिक व्रतधारी, ११३-अथर्वशिरा ११४-

पञ्चमहाकल्परूप (आप ही सौर, शाक्त, गाणपत्य, शैव और वैष्णव शास्त्रोंके उपास्यदेव) हैं। ११५–फेनपाचार्य, ११६–वालखिल्य-मुनिरूप, ११७–वैखानस मुनिरूप आप ही हैं। ११८–अभग्नयोग (अखण्डयोग), ११९–अभग्नपरिसंख्यान (अखण्ड विचार), १२०–युगादि (युगके आदिरूप), १२१–युगमध्य (युगके मध्यरूप), १२२–युगान्त (युगके अन्तरूप आप ही हैं), १२३–आखण्डल (इन्द्र), १२४–आपही प्राचीनगर्भ, १२५–कौशिकमुनि, १२६–पुरुष्टुत (सबके द्वारा प्रचुर स्तुति करने योग्य), १२७–पुरुहूत, १२८–विश्वकृत् (विश्वके रचयिता), १२९–विश्वरूप, १३०–अनन्तगति, १३१–अनन्तभोग, १३२–आपका न तो अन्त है, १३३–न आदि, १३४–न मध्य, १३५–अव्यक्तमध्य, १३६–अव्यक्तनिधन, १३७–व्रतावास (व्रतके आश्रय), १३८–समुद्रवासी (क्षीरसागरशायी), १३९–यशोवास (यशके निवासस्थान), १४०–तपोवास (तपके निवासस्थान), १४१–दमावास (संयमके आधार), १४२–लक्ष्मीनिवास, १४३–विद्याके आश्रय, १४४–कीर्तिके आधार, १४५–सम्पत्तिके आश्रय, १४६–सर्वावास (सबके निवासस्थान), १४७–वासुदेव, १४८–सर्वच्छन्दक (सबकी इच्छा पूर्ण करनेवाले), १४९–हरिहय, १५०–हरिमेध (अश्वमेध–यज्ञरूप), १५१–महायज्ञभागहर, १५२–वरप्रद (भक्तोंको वरदान देनेवाले), १५३–सुखप्रद (सबको सुख प्रदान करनेवाले), १५४–धनप्रद (सबको धन देनेवाले), १५५–हरिमेध (भगवद्भक्त भी आप ही हैं), १५६–यम, १५७–नियम, १५८–महानियम आदि साधन भी आप ही हैं। १५९–कृच्छ्र, १६०–अतिकृच्छ्र, १६१–महाकृच्छ्र, १६२–सर्वकृच्छ्र आदि चान्द्रायणव्रत भी आप ही हैं। १६३–नियमधर (नियमोंको धारण करनेवाले), १६४–निवृत्तभ्रम (भ्रमरहित), १६५–प्रवचनगत (वेदवाक्यके विषय), १६६–पृश्निगर्भप्रवृत्त, १६७–प्रवृत्तवेदक्रिय (वैदिक कर्मोंके प्रवर्तक), १६८–अज (जन्मरहित), १६९–सर्वगति (सर्वव्यापी), १७०–सर्वदर्शी, १७१–अग्राह्य, १७२–अचल, १७३–महाविभूति (सृष्टिरूप विभूतिवाले), १७४–माहात्म्यशरीर (अतुलित प्रभावशाली स्वरूपवाले), १७५–पवित्र, १७६–महापवित्र (पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले), १७७–हिरण्मय, १७८–बृहद् (ब्रह्म), १७९–अप्रतर्क्य (तर्कसे जाननेमें न आनेवाले), १८०–अविज्ञेय, १८१–ब्रह्माग्रय, १८२–प्रजाकी सृष्टि करनेवाले, १८३–प्रजाका अन्त करनेवाले, १८४–महामायाधर, १८५–चित्रशिखण्डी, १८६–वरप्रद, १८७–पुरोडाश भागको ग्रहण करनेवाले, १८८–गताध्वर (प्राप्तयज्ञ), १८९–छिन्नतृष्ण (तृष्णारहित), १९०–छिन्नसंशय (संशयरहित), १९१–सर्वतोवृत्त (सर्वव्यापक), १९२–निवृत्तिरूप, १९३–ब्राह्मणरूप, १९४–ब्राह्मणप्रिय, १९५–विश्वमूर्ति, १९६–महामूर्ति, १९७–बान्धव (जगत्के बन्धु), १९८–भक्तवत्सल तथा १९९–ब्रह्मण्यदेव आदि नामोंसे पुकारे जानेवाले परमेश्वर ! आपको नमस्कार है। मैं आपका भक्त हूँ। आपके दर्शनकी इच्छासे यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। २००–एकान्तमें दर्शन देनेवाले आप परमात्माको बारंबार नमस्कार है॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अष्टत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

श्वेतद्वीपमें नारदजीको भगवान्‌का दर्शन, भगवान्‌का वासुदेव-सङ्कर्षण आदि अपने व्यूह-स्वरूपोंका परिचय कराना और भविष्यमें होनेवाले अवतारोंके कार्योंकी सूचना देना और इस कथाके श्रवण-पठनका माहात्म्य

भीष्म उवाच

एवं स्तुतः स भगवान् गुह्यैस्तथ्यैश्च नामभिः।
तं मुनिं दर्शयामास नारदं विश्वरूपधृक्॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार गुह्य तथा सत्य नामोंसे जब नारदजीने भगवान्‌की स्तुति की, तब उन्होंने विश्वरूप धारण करके उन्हें दर्शन दिया॥ १ ॥

किंचिच्चन्द्राद् विशुद्धात्मा किंचिच्चन्द्राद् विशेषवान्।
कृशानुवर्णः किंचिच्च किंचिद्धिष्ण्याकृतिः प्रभुः॥ २ ॥

उनका वह स्वरूप कुछ चन्द्रमासे भी अधिक निर्मल और कुछ चन्द्रमासे भी विलक्षण था। कुछ अग्निके समान देदीप्यमान और कुछ नक्षत्रोंके समान जाज्वल्यमान था॥२॥

शुकपत्रनिभः किंचित् किंचित्स्फटिकसंनिभः।
नीलाञ्जनचयप्रख्यो जातरूपप्रभः कचित्॥ ३ ॥

कुछ तोतेकी पाँखके समान हरा, कुछ स्फटिकमणिके समान उज्ज्वल, कहींसे कज्जलराशिके समान काला और कहींसे सुवर्णके समान कान्तिमान् था॥ ३ ॥

प्रवालाङ्कुरवर्णश्च श्वेतवर्णस्तथा कचित्।
कचित् सुवर्णवर्णाभो वैदूर्यसदृशः कचित्॥ ४ ॥

कहीं नवाङ्कुरित पल्लवके समान था। कहीं श्वेतवर्ण दिखायी देता था, कहीं सुनहरी आभा दिखायी देती थी और कहीं-कहीं वैदूर्यमणिकी-सी छटा छिटक रही थी॥ ४ ॥

नीलवैदूर्यसदृश इन्द्रनीलनिभः कचित्।

मयूरग्रीववर्णाभो मुक्ताहारनिभः क्वचित् ॥ ५ ॥

कहीं नीलवैदूर्य, कहीं इन्द्रनीलमणि, कहीं मोरकी ग्रीवाके सदृश वर्ण और कहीं मोतीके हारकी-सी कान्ति दृष्टिगोचर होती थी ॥ ५ ॥

एतान् बहुविधान् वर्णान् रूपैर्बिभ्रत्सनातनः ।
सहस्रनयनः श्रीमाञ्छतशीर्षः सहस्रपात् ॥ ६ ॥
सहस्रोदरबाहुश्च अव्यक्त इति च क्वचित् ।

इस प्रकार वे सनातन भगवान् श्रीहरि अपने स्वरूपमें नाना प्रकारके रंग धारण किये हुए थे। उनके हजारों नेत्र, सैकड़ों (हजारों) मस्तक, हजारों पैर, हजारों उदर और हजारों हाथ थे। वे अपूर्व कान्तिसे सम्पन्न थे और कहीं-कहीं उनकी आकृति अव्यक्त थी ॥ ६½ ॥

ओङ्कारमुद्गिरन् वक्त्रात् सावित्रीं च तदन्वयाम् ॥ ७ ॥
शेषेभ्यश्चैव वक्त्रेभ्यश्चतुर्वेदान् गिरन् बहून् ।
आरण्यकं जगौ देवो हरिर्नारायणो वशी ॥ ८ ॥

सबको वशमें रखनेवाले वे भगवान् नारायण हरि एक मुखसे तो ॐकार तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली गायत्रीका जप करते थे एवं अन्यान्य मुखोंसे चारों वेदों और उनके आरण्यकभागका गान कर रहे थे ॥ ७-८ ॥

वेदिं कमण्डलुं शुभ्रान् मणीनुपानहौ कुशान् ।
अजिनं दण्डकाष्ठं च ज्वलितं च हुताशनम् ॥ ९ ॥
धारयामास देवेशो हस्तैर्यज्ञपतिस्तदा ।

यज्ञोंके स्वामी उन भगवान् देवेश्वर विष्णुने उस समय अपने हाथोंमें यज्ञवेदी, कमण्डलु, चमकीले मणिरत्न, उपानह, कुश, मृगचर्म, दण्ड-काष्ठ और प्रज्वलित अग्नि—ये सब वस्तुएँ ले रखी थीं ॥ ९½ ॥

तं प्रसन्नं प्रसन्नात्मा नारदो द्विजसत्तमः ॥ १० ॥
वाग्यतः प्रणतो भूत्वा ववन्दे परमेश्वरम् ।

उनका दर्शन करनेके पश्चात् प्रसन्नचित्त हुए द्विजश्रेष्ठ नारदने मौनभावसे नतमस्तक हो उन प्रसन्न हुए परमेश्वरकी वन्दना की ॥ १०½ ॥

तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः ॥ ११ ॥

मस्तक झुकाकर चरणोंमें पड़े हुए नारदजीसे देवताओंके आदिकारण अविनाशी श्रीहरिने इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥

श्रीभगवानुवाच

एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः ।
इमं देशमनुप्राप्ता मम दर्शनलालसाः ॥ १२ ॥

श्रीभगवान् बोले—देवर्षे! महर्षि एकत, द्वित और त्रित—ये सब भी मेरे दर्शनकी इच्छासे इस स्थानपर आये हुए थे ॥ १२ ॥

न च मां ते ददृशिरे न च द्रक्ष्यति कश्चन ।
ऋते ह्यैकान्तिकश्रेष्ठात् त्वं चैवैकान्तिकोत्तमः ॥ १३ ॥

किंतु उन्हें मेरा दर्शन न प्राप्त हो सका। वास्तवमें मेरे अनन्य भक्तके सिवा और कोई मनुष्य मेरा दर्शन नहीं कर सकता। तुम तो मेरे अनन्य भक्तोंमें श्रेष्ठ हो; इसीलिये तुम्हें मेरा दर्शन हुआ है ॥ १३ ॥

ममैतास्तनवः श्रेष्ठा जाता धर्मगृहे द्विज ।
तास्त्वं भजस्व सततं साधयस्व यथागतम् ॥ १४ ॥

विप्रवर! धर्मके घरमें जो अवतीर्ण हुए हैं, वे नर-नारायण आदि चारों भाई मेरे ही स्वरूप हैं; अतः तुम सदा उनका भजन किया करो तथा जो कार्य प्राप्त हो, उसका साधन करो ॥

वृणीष्व च वरं विप्र मत्तस्त्वं यदिहेच्छसि ।
प्रसन्नोऽहं तवाद्येह विश्वमूर्तिरिहाव्ययः ॥ १५ ॥

द्विजश्रेष्ठ! मैं अविनाशी विश्वरूप परमेश्वर आज तुमपर प्रसन्न हुआ हूँ; अतः तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, वह वर माँग लो ॥ १५ ॥

नारद उवाच

अद्य मे तपसो देव यमस्य नियमस्य च ।
सद्यः फलमवाप्तं वै दृष्टो यद् भगवान् मया ॥ १६ ॥

नारदजीने कहा—देव! जब मैंने आप भगवान्का दर्शन पा लिया, तब मुझे तप, यम और नियम—सबका फल तत्काल ही मिल गया ॥ १६ ॥

वर एष ममात्यन्तं दृष्टस्त्वं यत् सनातनः ।
भगवन् विश्वदृक् सिंहः सर्वमूर्तिर्महान् प्रभुः ॥ १७ ॥

भगवन्! आप सम्पूर्ण विश्वके द्रष्टा, सिंहके समान निर्भय, सर्वस्वरूप, महान् एवं सनातन प्रभु हैं। आपका जो दर्शन हो गया, यही मेरे लिये सबसे बड़ा वरदान है ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

एवं संदर्शयित्वा तु नारदं परमेष्ठिनम् ।
उवाच वचनं भूयो गच्छ नारद मा चिरम् ॥ १८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार दर्शन देकर भगवान्ने ब्रह्मपुत्र नारदजीसे फिर कहा, 'नारद! जाओ, विलम्ब न करो ॥ १८ ॥

इमे ह्यनिन्द्रियाहारा मद्भक्ताश्चन्द्रवर्चसः ।
एकाग्राश्चिन्तयेयुर्मां नैषां विघ्नो भवेदिति ॥ १९ ॥

'ये इन्द्रिय और आहारसे शून्य, चन्द्रमाके समान कान्तिमान् मेरे भक्तजन एकाग्रभावसे मेरा चिन्तन कर सकें और इनके ध्यानमें किसी प्रकारका विघ्न न हो, इसके लिये तुम्हें यहाँसे चले जाना चाहिये ॥ १९ ॥

सिद्धा ह्येते महाभागाः पुरा ह्येकान्तिनोऽभवन् ।
तमोरजोभिर्निर्मुक्ता मां प्रवेक्ष्यन्त्यसंशयम् ॥ २० ॥

'यहाँ निवास करनेवाले ये सभी महाभाग सिद्ध हो चुके हैं। ये पहले भी मेरे अनन्य भक्त रहे हैं। ये तमोगुण और रजोगुणसे मुक्त हैं; अतः निःसंदेह मुझमें ही प्रवेश करेंगे ॥ २० ॥

न दृश्यश्चक्षुषा योऽसौ न स्पृश्यः स्पर्शनेन च ।
न घ्रेयश्चैव गन्धेन रसेन च विवर्जितः ॥ २१ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव न गुणास्तं भजन्ति वै ।
यश्च सर्वगतः साक्षी लोकस्यात्मेति कथ्यते ॥ २२ ॥
भूतग्रामशरीरेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।
अजो नित्यः शाश्वतश्च निर्गुणो निष्कलस्तथा ॥ २३ ॥
द्विर्द्वादशेभ्यस्तत्त्वेभ्यः ख्यातो यः पञ्चविंशकः ।
पुरुषो निष्क्रियश्चैव ज्ञानदृश्यश्च कथ्यते ॥ २४ ॥
यं प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता वै द्विजसत्तमाः ।
स वासुदेवो विज्ञेयः परमात्मा सनातनः ॥ २५ ॥

'जो नेत्रोंसे देखा नहीं जाता, त्वचासे जिसका स्पर्श नहीं होता, गन्ध ग्रहण करनेवाली घ्राणेन्द्रियसे जो सूँघनेमें नहीं आता, जो रसनेन्द्रियकी पहुँचसे परे है; सत्त्व, रज और तम नामक गुण जिसपर कोई प्रभाव नहीं डाल पाते, जो सर्वव्यापी, साक्षी और सम्पूर्ण जगत्का आत्मा कहलाता है, सम्पूर्ण प्राणियोंका नाश हो जानेपर भी जो स्वयं नष्ट नहीं होता है, जिसे अजन्मा, नित्य, सनातन, निर्गुण और निष्कल बताया गया है, जो चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवें तत्त्वके रूपमें विख्यात है, जिसे अन्तर्यामी पुरुष, निष्क्रिय तथा ज्ञानमय नेत्रोंसे ही देखने योग्य बताया जाता है, जिसमें प्रवेश करके श्रेष्ठ द्विज यहाँ मुक्त हो जाते हैं, वही सनातन परमात्मा है। उसीको वासुदेव नामसे जानना चाहिये ॥ २१—२५ ॥

पश्य देवस्य माहात्म्यं महिमानं च नारद ।
शुभाशुभैः कर्मभिर्यो न लिप्यति कदाचन ॥ २६ ॥

'नारद ! उस परमात्मदेवका माहात्म्य और महिमा तो देखो, जो शुभाशुभ कर्मोंसे कभी लिप्त नहीं होता है ॥ २६ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणानेतान् प्रचक्षते ।
एते सर्वशरीरेषु तिष्ठन्ति विचरन्ति च ॥ २७ ॥

'सत्त्व, रज और तम–ये तीन गुण बताये जाते हैं, जो सम्पूर्ण शरीरोंमें स्थित रहते हैं और विचरते हैं ॥ २७ ॥

एतान् गुणांस्तु क्षेत्रज्ञो भुङ्क्ते नैभिः स भुज्यते ।
निर्गुणो गुणभुक् चैव गुणस्रष्टा गुणाधिकः ॥ २८ ॥

'इन गुणोंको क्षेत्रज्ञ स्वयं भोगता है, किंतु इन गुणोंके द्वारा वह क्षेत्रज्ञ भोगा नहीं जाता; क्योंकि वह निर्गुण, गुणोंका भोक्ता, गुणोंका स्रष्टा तथा गुणोंसे उत्कृष्ट है ॥२८॥

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥ २९ ॥

'देवर्षे ! यह सम्पूर्ण जगत् जिसपर प्रतिष्ठित है, वह पृथ्वी जलमें विलीन हो जाती है । जलका तेजमें और तेजका वायुमें लय होता है ॥ २९ ॥

खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च ।
मनो हि परमं भूतं तदव्यक्ते प्रलीयते ॥ ३० ॥

'वायुका आकाशमें लय होता है, आकाश मनमें विलीन होता है । मन उत्कृष्ट भूत है । वह अव्यक्त प्रकृतिमें लीन होता है ॥ ३० ॥

अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्क्रिये सम्प्रलीयते ।
नास्ति तस्मात् परतरः पुरुषाद् वै सनातनात् ॥ ३१ ॥

'ब्रह्मन् ! अव्यक्तका निष्क्रिय पुरुषमें लय होता है। उस सनातन पुरुषसे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥ ३१ ॥

नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् ।
ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम् ॥ ३२ ॥

'संसारमें उस एकमात्र सनातन पुरुष वासुदेवको छोड़कर कोई भी चराचर भूत नित्य नहीं है ॥ ३२ ॥

सर्वभूतात्मभूतो हि वासुदेवो महाबलः ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ ३३ ॥

'महाबली वासुदेव सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश–ये पाँच महाभूत हैं ॥ ३३ ॥

ते समेता महात्मानः शरीरमिति संज्ञितम् ।
तदा विशति यो ब्रह्मन्नदृश्यो लघुविक्रमः ॥ ३४ ॥

'वे सब महाभूत एक साथ मिलकर ही शरीर नाम धारण करते हैं। ब्रह्मन् ! उस समय अदृश्यभावसे जो शीघ्रगामी चेतन उसमें प्रवेश करता है, वही जीवात्मा है ॥ ३४॥

उत्पन्न एव भवति शरीरं चेष्टयन् प्रभुः ।
न विना धातुसंघातं शरीरं भवति क्वचित् ॥ ३५ ॥

'उसका शरीरमें प्रवेश करना ही उत्पन्न होना बताया जाता है । वही शरीरको चेष्टाशील बनाता है । वही इसके संचालनमें समर्थ है। कहीं भी पाँचों भूतोंके मिलित समुदायके बिना कोई शरीर नहीं होता ॥ ३५ ॥

न च जीवं विना ब्रह्मन् वायवश्चेष्टयन्त्युत ।
स जीवः परिसंख्यातः शेषः संकर्षणः प्रभुः ॥ ३६ ॥

'ब्रह्मन् ! जीवके बिना प्राणवायु चेष्टा नहीं करती। वह जीव ही शेष या भगवान् सङ्कर्षण कहा गया है ॥ ३६ ॥

तस्मात् सनत्कुमारत्वं योऽलभत् स्वेन कर्मणा ।
यस्मिंश्च सर्वभूतानि प्रलयं यान्ति संक्षयम् ॥ ३७ ॥
स मनः सर्वभूतानां प्रद्युम्नः परिपठ्यते ।

'जो उसी सङ्कर्षण अथवा जीवसे उत्पन्न होकर अपने कर्म (ध्यान, पूजन आदि) के द्वारा सनत्कुमारत्व (जीवन्मुक्ति) प्राप्त कर लेता है, जिसमें समस्त प्राणी लय एवं क्षयको प्राप्त होते हैं, वह सम्पूर्ण भूतोंका मन ही 'प्रद्युम्न' कहलाता है ॥ ३७½ ॥

तस्मात् प्रसूतो यः कर्ता कारणं कार्यमेव च ॥ ३८ ॥

'उस प्रद्युम्नसे जिसकी उत्पत्ति हुई है, वह (अहंकार ही) तन्मात्रा आदिका कर्ता, परम्परा-सम्बन्धसे महाभूतोंका कारण तथा महत्तत्त्वका कार्य है ॥ ३८ ॥

तस्मात् सर्वं सम्भवति जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
सोऽनिरुद्धः स ईशानो व्यक्तः स सर्वकर्मसु ॥ ३९ ॥

'उसीसे समस्त चराचर जगत्की उत्पत्ति होती है। वही 'अनिरुद्ध' एवं 'ईशान' कहलाता है। वह (कर्तृत्वके अभिमानरूपसे) सम्पूर्ण कर्मोंमें व्यक्त होता है ॥ ३९ ॥

यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ।
ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः ॥ ४० ॥
संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते ।
प्रद्युम्नाद् योऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकारः स ईश्वरः ॥ ४१ ॥

'राजेन्द्र ! जो भगवान् वासुदेव क्षेत्रज्ञस्वरूप एवं निर्गुण-रूपसे जाननेयोग्य बताये गये हैं, वे ही प्रभावशाली सङ्कर्षण-रूप जीवात्मा हैं। सङ्कर्षणसे प्रद्युम्नका प्रादुर्भाव हुआ है, जो मनोमय कहलाते हैं। प्रद्युम्नसे जो अनिरुद्ध प्रकट हुए हैं, वे ही अहंकार और ईश्वर हैं ॥ ४०-४१ ॥

मत्तः सर्वं सम्भवति जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
अक्षरं च क्षरं चैव सच्चासच्चैव नारद ॥ ४२ ॥

'नारद ! मुझसे ही समस्त स्थावर-जङ्गमरूप जगत्की उत्पत्ति होती है। क्षर और अक्षर तथा असत् और सत् भी मुझसे ही प्रकट हुए हैं ॥ ४२ ॥

मां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता भक्तास्तु ये मम ।
अहं हि पुरुषो ज्ञेयो निष्क्रियः पञ्चविंशकः ॥ ४३ ॥

'यहाँ जो मेरे भक्त हैं, वे मुझमें ही प्रवेश करके मुक्त होते हैं। मैं ही पचीसवें तत्त्व निष्क्रिय पुरुषरूपसे जानने योग्य हूँ ॥ ४३ ॥

निर्गुणो निष्कलश्चैव निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
एतत् त्वया न विज्ञेयं रूपवानिति दृश्यते ॥ ४४ ॥
इच्छन् मुहूर्तान्नश्येयमीशोऽहं जगतो गुरुः ।

'मैं निर्गुण, निष्कल, द्वन्द्वोंसे अतीत और परिग्रहसे शून्य हूँ। तुम ऐसा न समझ लेना कि ये रूपवान् हैं, इस-लिये दिखायी देते हैं; क्योंकि मैं इच्छा करते ही एक ही क्षणमें अदृश्य हो सकता हूँ; क्योंकि मैं सम्पूर्ण जगत्का ईश्वर और गुरु हूँ ॥ ४४½ ॥

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ॥ ४५ ॥
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि ।

'नारद ! तुम जो मुझे देख रहे हो, इस रूपमें मैंने माया रची है। तुम मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंके गुणोंसे युक्त न जानो ॥ ४५½ ॥

मयैतत् कथितं सम्यक् तव मूर्तिचतुष्टयम् ॥ ४६ ॥
अहं हि जीवसंज्ञातो मयि जीवः समाहितः ।
नैवं ते बुद्धिरत्राभूद् दृष्टो जीवो मयेति वै ॥ ४७ ॥

'मैंने अपने वासुदेव, सङ्कर्षण आदि चार स्वरूपोंका तुम्हारे सामने भलीभाँति वर्णन किया है। मैं ही जीव नामसे प्रसिद्ध हूँ, मुझमें ही जीवकी स्थिति है; परंतु तुम्हारे मनमें ऐसा विचार नहीं उठना चाहिये कि मैंने जीवको देखा है ॥ ४६-४७ ॥

अहं सर्वत्रगो ब्रह्मन् भूतग्रामान्तरात्मकः ।
भूतग्रामशरीरेषु नश्यत्सु न नशाम्यहम् ॥ ४८ ॥

'ब्रह्मन् ! मैं सर्वव्यापी और समस्त प्राणिसमुदायका अन्तरात्मा हूँ। सम्पूर्ण भूतसमुदाय और शरीरोंके नष्ट हो जानेपर भी मेरा नाश नहीं होता है ॥ ४८ ॥

सिद्धा हि ते महाभागा नरा ह्येकान्तिनोऽभवन् ।
तमोरजोभ्यां निर्मुक्ताः प्रवेक्ष्यन्ति च मां मुने ॥ ४९ ॥

'मुने ! ये महाभाग श्वेतद्वीपनिवासी सिद्ध हैं। ये पहले मेरे अनन्य भक्त रहे हैं। ये तमोगुण और रजोगुणसे मुक्त हो गये हैं; इसलिये मेरे भीतर प्रवेश करेंगे ॥ ४९ ॥

हिरण्यगर्भो लोकादिश्चतुर्वक्त्रोऽनिरुक्तगः ।
ब्रह्मा सनातनो देवो मम बह्वर्थचिन्तकः ॥ ५० ॥

'जो सम्पूर्ण जगत्के आदि, चतुर्मुख, अनिर्वचनीयस्वरूप, हिरण्यगर्भ एवं सनातन देवता हैं, वे ब्रह्मा मेरे बहुत-से कार्योंका चिन्तन करनेवाले हैं ॥ ५० ॥

ललाटाच्चैव मे रुद्रो देवः क्रोधाद् विनिःसृतः ।
पश्यैकादश मे रुद्रान् दक्षिणं पार्श्वमाश्रितान् ॥ ५१ ॥

'मेरे क्रोधवश ललाटसे मेरे ही रुद्रदेवका प्राकट्य हुआ है। देखो, ये ग्यारह रुद्र मेरे दाहिने भागमें विराजमान हैं ॥ ५१ ॥

द्वादशैव तथाऽऽदित्यान् वामपार्श्वे समास्थितान् ।
अग्रतश्चैव मे पश्य वसूनष्टौ सुरोत्तमान् ॥ ५२ ॥

'इसी प्रकार मेरे बायें भागमें बारह आदित्य विराज रहे हैं। अग्रभागमें सुरश्रेष्ठ आठ वसु विद्यमान हैं। इन सबको प्रत्यक्ष देखो ॥ ५२ ॥

नासत्यं चैव दस्रं च भिषजौ पश्य पृष्ठतः ।
सर्वान् प्रजापतीन् पश्य पश्य सप्त ऋषींस्तथा ॥ ५३ ॥
वेदान् यज्ञांश्च शतशः पश्यामृतमथौषधीः ।
तपांसि नियमांश्चैव यमानपि पृथग्विधान् ॥ ५४ ॥

'मेरे पृष्ठभागमें भी दृष्टिपात करो, जहाँ नासत्य और दस्र—ये दोनों देववैद्य अश्विनीकुमार स्थित हैं। इनके सिवा मेरे विभिन्न अङ्गोंमें समस्त प्रजापतियों, सप्तर्षियों, सम्पूर्ण वेदों, सैकड़ों यज्ञों, ओषधियों तथा अमृतको भी देखो। तप तथा नाना प्रकारके यम-नियम भी यहाँ मूर्तिमान् हैं ॥ ५३-५४ ॥

तथाष्टगुणमैश्वर्यमेकस्थं पश्य मूर्तिमत् ।
श्रियं लक्ष्मीं च कीर्तिं च पृथिवीं च ककुद्मिनीम् ॥ ५५ ॥
वेदानां मातरं पश्य मत्स्थां देवीं सरस्वतीम् ।
ध्रुवं च ज्योतिषां श्रेष्ठं पश्य नारद खेचरम् ॥ ५६ ॥

'आठ प्रकारके ऐश्वर्य भी यहाँ एक ही जगह साकार-रूपसे प्रकट हैं, इन्हें देखो। श्री, लक्ष्मी, कीर्ति, पर्वतोंसहित पृथ्वी तथा वेदमाता सरस्वतीदेवी भी मेरे भीतर विराजमान हैं, उन सबका दर्शन करो। नारद ! ये नक्षत्रोंमें श्रेष्ठ आकाशचारी ध्रुव दिखायी दे रहे हैं, इनकी ओर भी दृष्टिपात करो ॥ ५५-५६ ॥

अम्भोधरान् समुद्रांश्च सरांसि सरितस्तथा ।
मूर्तिमन्तः पितृगणांश्चतुरः पश्य सत्तम ॥ ५७ ॥

'साधुशिरोमणे ! बादल, समुद्र, सरोवर और सरिताओंको भी मेरे भीतर मूर्तिमान् देख लो । चारों प्रकारके पितृगण भी सशरीर प्रकट हैं, इनका भी दर्शन कर लो ॥ ५७ ॥

त्रींश्चैवेमान् गुणान् पश्य मत्स्थान् मूर्तिविवर्जितान् ।
देवकार्यादपि मुने पितृकार्यं विशिष्यते ॥ ५८ ॥

'मेरे शरीरमें स्थित हुए मूर्तिरहित इन तीन गुणोंको भी मूर्तिमान् देख लो । मुने ! देवकार्यसे भी पितृकार्य बढ़कर है ॥ ५८ ॥

देवानां च पितॄणां च पिता ह्येकोऽहमादितः ।
अहं हयशिरा भूत्वा समुद्रे पश्चिमोत्तरे ॥ ५९ ॥
पिबामि सुहुतं हव्यं कव्यं च श्रद्धयान्वितम् ।

'एकमात्र मैं ही देवताओं और पितरोंका भी पिता हूँ । मैं ही हयग्रीवरूप धारण करके समुद्रमें वायव्यकोणकी ओर रहता हूँ और विधिपूर्वक हवन किये हुए हव्य और श्रद्धापूर्वक समर्पित किये हुए कव्यका भी पान करता हूँ ॥ ५९½ ॥

मया सृष्टः पुरा ब्रह्मा मां यज्ञमयजत् स्वयम् ॥ ६० ॥
ततस्तस्मिन् वरान् प्रीतो दत्तवानस्म्यनुत्तमान् ।

'पूर्वकालमें मेरे द्वारा उत्पन्न किये गये ब्रह्माने स्वयं ही मुझ यज्ञपुरुषका यजन किया था । इससे प्रसन्न होकर मैंने उन्हें उत्तम वरदान दिये थे ॥ ६०½ ॥

मत्पुत्रत्वं च कल्पादौ लोकाध्यक्षत्वमेव च ॥ ६१ ॥
अहंकारकृतं चैव नाम पर्यायवाचकम् ।
त्वया कृतां च मर्यादां नातिक्रंस्यति कश्चन ॥ ६२ ॥

(वे वरदान इस प्रकार हैं—) "ब्रह्मन् ! तुम प्रत्येक कल्पके आदिमें मेरे पुत्ररूपसे उत्पन्न होओगे । तुम्हें लोकाध्यक्षका पद प्राप्त होगा । तुम्हारा पर्यायवाची नाम होगा, अहङ्कारकर्ता । तुम्हारी बाँधी हुई मर्यादाका कोई उल्लङ्घन नहीं करेगा ॥ ६१-६२ ॥

त्वं चैव वरदो ब्रह्मन् वरेप्सूनां भविष्यसि ।
सुरासुरगणानां च ऋषीणां च तपोधन ॥ ६३ ॥
पितॄणां च महाभाग सततं संशितव्रत ।
विविधानां च भूतानां त्वमुपास्यो भविष्यसि ॥ ६४ ॥

"ब्रह्मन् ! तुम वर चाहनेवाले साधकोंको वर देनेमें समर्थ होओगे । कठोर व्रतका पालन करनेवाले महाभाग तपोधन ! तुम देवताओं, असुरों, ऋषियों, पितरों तथा नाना प्रकारके प्राणियोंके सदा ही उपासनीय होओगे ॥ ६३-६४ ॥

प्रादुर्भावगतश्चाहं सुरकार्येषु नित्यदा ।
अनुशास्यस्त्वया ब्रह्मन् नियोज्यश्च सुतो यथा ॥ ६५ ॥

"ब्रह्मन् ! जब मैं देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये अवतार धारण करूँ, उन दिनों सदा तुम मुझपर शासन करना और पुत्रकी भाँति मुझे प्रत्येक कार्यमें नियुक्त करना" ॥

एतांश्चान्यांश्च रुचिरान् ब्रह्मणेऽमिततेजसे ।
अहं दत्त्वा वरान् प्रीतो निवृत्तिपरमोऽभवम् ॥ ६६ ॥

'नारद ! अमित तेजस्वी ब्रह्माको ये तथा और भी बहुत-से सुन्दर वर देकर मैं प्रसन्नतापूर्वक निवृत्तिपरायण हो गया॥

निर्वाणं सर्वधर्माणां निवृत्तिः परमा स्मृता ।
तस्मान्निवृत्तिमापन्नश्चरेत् सर्वाङ्गनिर्वृतः ॥ ६७ ॥

'समस्त कर्मोंसे उपरत हो जाना ही परम निवृत्ति है; अतः जो निवृत्तिको प्राप्त हो गया है, वह सभी अङ्गोंसे सुखी होकर विचरण करे ॥ ६७ ॥

विद्यासहायवन्तं च आदित्यस्थं समाहितम् ।
कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्यनिश्चितनिश्चयाः ॥ ६८ ॥

'सांख्यशास्त्रके सिद्धान्तका निश्चय करनेवाले आचार्यगण मुझे ही विद्याकी सहायतासे युक्त, सूर्यमण्डलमें स्थित एवं समाहितचित्त कपिल कहते हैं ॥ ६८ ॥

हिरण्यगर्भो भगवानेष च्छन्दसि सुष्टुतः ।
सोऽहं योगरतिर्ब्रह्मन् योगशास्त्रेषु शब्दितः ॥ ६९ ॥

'वेदमें जिनकी स्तुति की गयी है, वे भगवान् हिरण्यगर्भ मेरे ही स्वरूप हैं ! ब्रह्मन् ! योगीलोग जिसमें रमण करते हैं, वह योगशास्त्रप्रसिद्ध पुरुषविशेष ईश्वर भी मैं ही हूँ ॥ ६९ ॥

एषोऽहं व्यक्तिमागत्य तिष्ठामि दिवि शाश्वतः ।
ततो युगसहस्रान्ते संहरिष्ये जगत् पुनः ॥ ७० ॥

'इस समय मैं सनातन परमात्मा ही व्यक्तरूप धारण करके आकाशमें स्थित हूँ । फिर एक सहस्र चतुर्युग व्यतीत होनेपर मैं ही इस जगत्का संहार करूँगा ॥ ७० ॥

कृत्वाऽऽत्मस्थानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
एकाकी विद्यया सार्धं विहरिष्ये जगत् पुनः ॥ ७१ ॥

'उस समय सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंको अपनेमें लीन करके मैं अकेला ही अपनी विद्या-शक्तिके साथ सूने संसारमें विहार करूँगा ॥ ७१ ॥

ततो भूयो जगत् सर्वं करिष्यामीह विद्यया ।
अस्मिन् मूर्तिश्चतुर्थी या सासृजच्छेषमव्ययम् ॥ ७२ ॥

'तदनन्तर सृष्टिका समय आनेपर फिर उस विद्याशक्तिके ही द्वारा संसारके सारे चराचर प्राणियोंकी सृष्टि करूँगा । मेरी जो चार मूर्तियाँ हैं, उनमें जो चौथी वासुदेव मूर्ति है, उसने अविनाशी शेषको उत्पन्न किया है ॥ ७२ ॥

स हि संकर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोऽप्यजीजनत् ।
प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽहं सर्गो मम पुनः पुनः ॥ ७३ ॥

'उस शेषको ही सङ्कर्षण कहा गया है । सङ्कर्षणने प्रद्युम्नको प्रकट किया है और प्रद्युम्नसे अनिरुद्धका आविर्भाव हुआ है । वह सब मैं ही हूँ । बारंबार उत्पन्न होनेवाला यह सृष्टि-विस्तार मेरा ही है ॥ ७३ ॥

अनिरुद्धात् तथा ब्रह्मा तन्नाभिकमलोद्भवः ।
ब्रह्मणः सर्वभूतानि चराणि स्थावराणि च ॥ ७४ ॥

'मेरी अनिरुद्ध मूर्तिसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं, जिनका प्राकट्य मेरे नाभिकमलसे हुआ है । ब्रह्मासे समस्त चराचर भूत उत्पन्न हुए हैं ॥ ७४ ॥

एतां सृष्टिं विजानीहि कल्पादिषु पुनः पुनः ।
यथा सूर्यस्य गगनादुदयास्तमने इह ॥ ७५ ॥

'कल्पके आदिमें बारंबार इस सृष्टिको मैं प्रकट करता हूँ (और अन्तमें इसका संहार कर डालता हूँ) । इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो । जैसे आकाशसे सूर्यका उदय होता है और आकाशमें ही वह अस्त होता है—ये उदय-अस्तके क्रम सदा चलते रहते हैं (उसी प्रकार मुझसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है और मुझमें ही उसका लय होता है । यह सृष्टि और संहारका क्रम यों ही चला करता है) ॥

नष्टे पुनर्बलात् काल आनयत्यमितद्युतिः ।
तथा बलादहं पृथ्वीं सर्वभूतहिताय वै ॥ ७६ ॥

'जैसे अमिततेजस्वी काल सूर्यके अदृश्य होनेपर पुनः बलपूर्वक उसे दृष्टिपथमें ला देता है, उसी प्रकार मैं भी समस्त प्राणियोंके हितके लिये इस पृथ्वीको समुद्रके जलसे बलपूर्वक ऊपर लाता हूँ' ॥ ७६ ॥

(भीष्म उवाच

नारदस्त्वथ पप्रच्छ भगवन्तं जनार्दनम् ।
केषु केषु च भावेषु त्वं द्रष्टव्यो महाप्रभो ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर नारदजीने भगवान् जनार्दनसे पूछा—'महाप्रभो ! किन-किन स्वरूपोंमें आपका दर्शन (और स्मरण) करना चाहिये ? ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु नारद तत्त्वेन प्रादुर्भावान् महामुने ।
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहश्च वामनः ॥
रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्की च ते दश ।

श्रीभगवान् बोले—महामुनि नारद ! तुम मेरे अवतारोंके नाम सुनो—मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण तथा कल्कि—ये दस अवतार हैं ॥

पूर्वं मीनो भविष्यामि स्थापयिष्याम्यहं प्रजाः ॥
लोकान् वेदान् धरिष्यामि मज्जमानान् महार्णवे ।

पहले मैं 'मत्स्य' रूपसे प्रकट होऊँगा और समस्त प्रजाको निर्भय अवस्थामें स्थापित करूँगा । महासागरमें डूबते हुए लोकों और वेदोंकी भी रक्षा करूँगा ॥

द्वितीयं कूर्मरूपं मे हेमकूटनिभं सुत ॥
मन्दरं धारयिष्यामि अमृतार्थे द्विजोत्तम ।

वत्स ! मेरा दूसरा अवतार होगा कूर्म—कच्छप । उस समय मैं हेमकूट पर्वतके समान कच्छपरूप धारण करूँगा । द्विजश्रेष्ठ ! जब देवता अमृतके लिये क्षीरसागरका मन्थन करेंगे, तब मैं अपनी पीठपर मन्दराचलको धारण करूँगा ॥

मग्नां महार्णवे घोरे भाराक्रान्तामिमां पुनः ॥)
सत्त्वैराक्रान्तसर्वाङ्गां नष्टां सागरमेखलाम् ।
आनयिष्यामि स्वस्थानं वाराहं रूपमास्थितः ॥ ७७ ॥
हिरण्याक्षं वधिष्यामि दैतेयं बलगर्वितम् ।

जिसके सारे अङ्ग प्राणियोंसे भरे हुए हैं तथा जो समुद्रसे घिरी हुई है, वही यह पृथ्वी जब भारी भारसे दबकर घोर महासागरमें निमग्न हो जायगी, उस समय मैं वाराहरूप धारण करके इसे पुनः अपने स्थानपर ला दूँगा । उसी समय बलके घमंडमें भरे हुए हिरण्याक्ष नामक दैत्यका वध कर डालूँगा ॥ ७७½ ॥

नारसिंहं वपुः कृत्वा हिरण्यकशिपुं पुनः ॥ ७८ ॥
सुरकार्ये हनिष्यामि यज्ञघ्नं दितिनन्दनम् ।

तदनन्तर देवताओंके कार्यके लिये नरसिंहरूप धारण करके यज्ञनाशक दितिनन्दन हिरण्यकशिपुका संहार कर डालूँगा ॥ ७८½ ॥

विरोचनस्य बलवान् बलिः पुत्रो महासुरः ॥ ७९ ॥
अवध्यः सर्वलोकानां सदेवासुररक्षसाम् ।
भविष्यति स शक्रं वा स्वराज्याच्च्यावयिष्यति ॥ ८० ॥

विरोचनके एक बलवान् पुत्र होगा, जो महासुर बलिके नामसे विख्यात होगा । उसे देवता, असुर तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण लोक भी नहीं मार सकेंगे । वह इन्द्रको राज्यसे भ्रष्ट कर देगा ॥ ७९-८० ॥

त्रैलोक्येऽपहृते तेन विमुखे च शचीपतौ ।
अदित्यां द्वादशादित्यः सम्भविष्यामि कश्यपात् ॥ ८१ ॥

जब वह त्रिलोकीका अपहरण कर लेगा और शचीपति इन्द्र युद्धमें पीठ दिखाकर भाग जायँगे, उस समय मैं कश्यपजीके अंश और अदितिके गर्भसे बारहवाँ आदित्य वामन बनकर प्रकट होऊँगा ॥ ८१ ॥

(जटी गत्वा यज्ञसदः स्तूयमानो द्विजोत्तम ।
यज्ञस्तवं करिष्यामि श्रुत्वा प्रीतो भवेद् बलिः ॥

द्विजश्रेष्ठ ! उस समय सब लोग मेरी स्तुति करेंगे और मैं जटाधारी ब्रह्मचारीके रूपमें बलिके यज्ञमण्डपमें जाकर उसके उस यज्ञकी भूरि-भूरि प्रशंसा करूँगा, जिसे सुनकर बलि बहुत प्रसन्न होगा ॥

किमिच्छसि वटो ब्रूहीत्युक्तो याचे महद् वरम् ।
दीयतां त्रिपदीमात्रमिति याचे महासुरम् ॥

जब वह कहेगा कि 'ब्रह्मचारी ब्राह्मण ! बताओ, क्या चाहते हो ?' तब मैं उससे महान् वरकी याचना करूँगा । मैं उस महान् असुरसे कहूँगा कि 'मुझे तीन पग भूमिमात्र दे दो' ॥

स दद्यान्मयि सम्प्रीतः प्रतिषिद्धश्च मन्त्रिभिः ।
यावज्जलं हस्तगतं त्रिभिर्विक्रमणैर्वृतम् ॥)
ततो राज्यं प्रदास्यामि शक्रायामिततेजसे ।
देवताः स्थापयिष्यामि स्वस्वस्थानेषु नारद ॥ ८२ ॥

वह अपने मन्त्रियोंके मना करनेपर भी मुझपर प्रसन्न होनेके कारण वह वर मुझे दे देगा। ज्यों ही संकल्पका जल मेरे हाथपर आयेगा, त्यों ही तीन पगोंसे त्रिलोकीको नापकर उसका सारा राज्य अमिततेजस्वी इन्द्रको समर्पित कर दूँगा। नारद! इस प्रकार मैं सम्पूर्ण देवताओंको अपने-अपने स्थानों-पर स्थापित कर दूँगा ॥ ८२ ॥

बलिं चैव करिष्यामि पातालतलवासिनम्।
दानवं च बलिं श्रेष्ठमवध्यं सर्वदैवतैः ॥ ८३ ॥

साथ ही सम्पूर्ण देवताओंके लिये अवध्य श्रेष्ठ दानव बलिको भी पातालतलका निवासी बना दूँगा ॥ ८३ ॥

त्रेतायुगे भविष्यामि रामो भृगुकुलोद्वहः।
क्षत्रं चोत्सादयिष्यामि समृद्धबलवाहनम् ॥ ८४ ॥

फिर त्रेतायुगमें भृगुकुलभूषण परशुरामके रूपमें प्रकट होऊँगा और सेना तथा सवारियोंसे सम्पन्न क्षत्रियकुलका संहार कर डालूँगा ॥ ८४ ॥

संध्यांशे समनुप्राप्ते त्रेताया द्वापरस्य च।
अहं दाशरथी रामो भविष्यामि जगत्पतिः ॥ ८५ ॥

तदनन्तर जब त्रेता और द्वापरकी सन्ध्या उपस्थित होगी, उस समय मैं जगत्पति दशरथनन्दन रामके रूपमें अवतार लूँगा॥

त्रितोपघाताद् वैरूप्यमेकतोऽथ द्वितस्तथा।
प्राप्स्येते वानरत्वं हि प्रजापतिसुतावृषी ॥ ८६ ॥

त्रित नामक मुनिके साथ विश्वासघात करनेके कारण एकत और द्वित—ये दो प्रजापतिके पुत्र ऋषि विरूप वानर-योनिको प्राप्त होंगे ॥ ८६ ॥

तयोर्ये त्वन्वये जाता भविष्यन्ति वनौकसः।
महाबला महावीर्याः शक्रतुल्यपराक्रमाः ॥ ८७ ॥

उन दोनोंके वंशमें जो वनवासी वानर जन्म लेंगे, वे महाबली, महापराक्रमी और इन्द्रके तुल्य पराक्रम प्रकट करनेमें समर्थ होंगे ॥ ८७ ॥

ते सहाया भविष्यन्ति सुरकार्ये मम द्विज।
ततो रक्षःपतिं घोरं पुलस्त्यकुलपांसनम् ॥ ८८ ॥
हरिष्ये रावणं रौद्रं सगणं लोककण्टकम्।

ब्रह्मन्! वे देवकार्यकी सिद्धिके लिये मेरे सहायक होंगे। तदनन्तर मैं पुलस्त्यकुलाङ्गार भयंकर राक्षसराज रावणको, जो समस्त जगत्के लिये भयावह होगा, उसके गणोंसहित मार डालूँगा ॥ ८८½ ॥

द्वापरस्य कलेश्चैव संधौ पार्यवसानिके ॥ ८९ ॥
प्रादुर्भावः कंसहेतोर्मथुरायां भविष्यति।

फिर द्वापर और कलिकी संधिका समय बीतते-बीतते कंसका वध करनेके लिये मथुरामें मेरा अवतार होगा ॥ ८९½ ॥

(कंसं केशिं तथा कालमरिष्टं च महासुरम्।
चाणूरं च महावीर्यं मुष्टिकं च महाबलम् ॥
प्रलम्बं धेनुकं चैव अरिष्टं वृषरूपिणम्।
कालीयं च वशे कृत्वा यमुनाया महाह्रदे ॥
गोकुले तु ततः पश्चाद् गवार्थे तु महागिरिम्।
सप्तरात्रं धरिष्यामि वर्षमाणे तु वासवे ॥
अपक्रान्ते ततो वर्षे गिरिमूर्धन्यवस्थितः।
इन्द्रेण सह संवादं करिष्यामि तदा द्विज ॥)

उस समय कंस, केशी, कालासुर, महादैत्य अरिष्टासुर, महापराक्रमी चाणूर, महाबली मुष्टिक, प्रलम्ब, धेनुकासुर तथा वृषभरूपधारी अरिष्टको मारकर यमुनाके विशाल कुण्डमें स्थित कालियनागको वशमें करके गोकुलमें इन्द्रके वर्षा करते समय गौओंकी रक्षाके लिये महान् पर्वत गोवर्धनको सात दिन-रात अपने हाथसे छत्रकी भाँति धारण किये रहूँगा। ब्रह्मन्! जब वर्षा बंद हो जायगी, तब पर्वतके शिखरपर आरूढ़ हो मैं इन्द्रके साथ संवाद करूँगा ॥

तत्राहं दानवान् हत्वा सुबहून् देवकण्टकान् ॥ ९० ॥
कुशस्थलीं करिष्यामि निवेशं द्वारकां पुरीम्।

वहाँ मैं बहुत-से देवकण्टक दानवोंको मारकर कुशस्थली-को द्वारकापुरीके नामसे बसाऊँगा और उसीमें निवास करूँगा॥

वसानस्तत्र वै पुर्यामदितेर्विप्रियंकरम् ॥ ९१ ॥
हनिष्ये नरकं भौमं मुरं पीठं च दानवम्।
प्राग्ज्योतिषं पुरं रम्यं नानाधनसमन्वितम् ॥ ९२ ॥
कुशस्थलीं नयिष्यामि हत्वा वै दानवोत्तमम्।

वहाँ रहकर देवमाता अदितिका अप्रिय करनेवाले भूमि-पुत्र नरकासुर, मुर तथा पीठ नामक दानवोंका संहार करूँगा। एवं नाना प्रकारके धन-धान्यसे सम्पन्न जो प्राग्ज्योतिषपुर नामक रमणीय नगर है, वहाँ दानवराज नरकका वध करके उसका सारा वैभव कुशस्थलीमें पहुँचा दूँगा ॥ ९१-९२½ ॥

(कृकलासं नृगं चैव मोचयिष्ये ह वै पुनः ॥
तत्र पौत्रनिमित्तेन गत्वा वै शोणितं पुरम्।
बाणस्य च पुरं गत्वा करिष्ये कदनं महत् ॥)

गिरगिटकी योनिमें पड़े हुए राजा नृगका भी उद्धार करूँगा। उसी अवतारमें अपने पौत्र अनिरुद्धके निमित्त बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरमें जाकर वहाँकी असुरसेना-का महान् संहार कर डालूँगा ॥

महेश्वरमहासेनौ बाणप्रियहितैषिणौ ॥ ९३ ॥
पराजेष्याम्यथोद्युक्तौ देवौ लोकनमस्कृतौ।

बाणासुरका प्रिय और हित चाहनेवाले विश्ववन्दित देवता भगवान् शङ्कर और कार्तिकेय भी जब मेरे साथ युद्धके लिये उद्यत होंगे, तब उन दोनोंको पराजित कर दूँगा ॥ ९३½ ॥

ततः सुतं बलेर्जित्वा बाणं बाहुसहस्रिणम् ॥ ९४ ॥
विनाशयिष्यामि ततः सर्वान् सौभनिवासिनः।

तदनन्तर सहस्र भुजाओंसे सुशोभित बलिपुत्र बाणासुरको पराजित करके शाल्वके सौभ विमानमें रहनेवाले समस्त योद्धाओंका विनाश कर डालूँगा ॥ ९४½ ॥

यः कालयवनः ख्यातो गर्गतेजोऽभिसंवृतः ॥ ९५ ॥
भविष्यति वधस्तस्य मत्त एव द्विजोत्तम ।

द्विजोत्तम ! गर्गाचार्यके तेजसे उत्पन्न होकर शक्तिशाली बना हुआ जो कालयवन नामक विख्यात असुर होगा, उसका वध भी मेरे ही द्वारा सम्भव होगा ॥ ९५½ ॥

जरासंधश्च बलवान् सर्वराजविरोधनः ॥ ९६ ॥
भविष्यत्यसुरः स्फीतो भूमिपालो गिरिव्रजे ।
मम बुद्धिपरिस्पन्दाद् वधस्तस्य भविष्यति ॥ ९७ ॥

गिरिव्रजमें जरासंध नामक एक बहुत समृद्धिशाली और बलवान् असुर राजा होगा, जो सम्पूर्ण राजाओंसे वैर मोल लेता फिरेगा । मेरे ही बौद्धिक प्रयत्नसे उसका भी वध हो सकेगा ॥ ९६-९७ ॥

शिशुपालं वधिष्यामि यज्ञे धर्मसुतस्य वै ।
समागतेषु बलिषु पृथिव्यां सर्वराजसु ॥ ९८ ॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरके यज्ञमें भूमण्डलके समस्त बलवान् राजा पधारेंगे, उनके बीचमें मैं शिशुपालका वध कर डालूँगा॥

वासविः सुसहायो वै मम त्वेको भविष्यति ।
युधिष्ठिरं स्थापयिष्ये स्वराज्ये भ्रातृभिः सह ॥ ९९ ॥

एकमात्र इन्द्रकुमार अर्जुन मेरा सखा एवं सुन्दर सहायक होगा । मैं राजा युधिष्ठिरको उनके भाइयोंसहित पुनः राजपदपर प्रतिष्ठित करूँगा ॥ ९९ ॥

एवं लोका वदिष्यन्ति नरनारायणावृषी ।
उद्युक्तौ दहतः क्षत्रं लोककार्यार्थमीश्वरौ ॥१००॥

उस समयके लोग कहेंगे कि 'ये ईश्वररूप नर और नारायण नामक ऋषि ही एक साथ उद्यत हो लोकहितके लिये क्षत्रियजातिका संहार कर रहे हैं ॥ १०० ॥

कृत्वा भारावतरणं वसुधाया यथेप्सितम् ।
सर्वसात्वतमुख्यानां द्वारकायाश्च सत्तम ॥१०१॥
करिष्ये प्रलयं घोरमात्मज्ञातिविनाशनम् ।

साधुशिरोमणे ! पृथ्वीदेवीकी इच्छाके अनुसार उसका भार उतारकर मैं द्वारकाके समस्त यादवशिरोमणियोंका नाश करके अपनी जातिका विनाशरूप घोर कर्म करूँगा॥१०१½॥

कर्माण्यपरिमेयाणि चतुर्मूर्तिधरो ह्यहम् ॥१०२॥
कृत्वा लोकान् गमिष्यामि स्वानहं ब्रह्मसत्कृतान् ।

श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार स्वरूपोंका धारण करनेवाला मैं असंख्य कर्म करके ब्रह्माजीके द्वारा सम्मानित अपने धामको चला जाऊँगा ॥ १०२½ ॥

हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तम ॥१०३॥
वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च ।
रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च ॥१०४॥

द्विजश्रेष्ठ ! हंस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, दशरथनन्दन राम, यदुवंशी श्रीकृष्ण तथा कल्कि—ये सब मेरे अवतार हैं ॥ १०३-१०४ ॥

यदा वेदश्रुतिर्नष्टा मया प्रत्याहृता पुनः ।
सवेदाः सश्रुतीकाश्च कृताः पूर्वं कृते युगे ॥१०५॥

जब-जब वेद-श्रुति लुप्त हुई है, तब-तब अवतार लेकर मैंने पुनः उसे प्रकाशमें ला दिया है । मैंने ही पहले सत्ययुगमें वेदोंसहित श्रुतियोंको प्रकट किया था ॥ १०५ ॥

अतिक्रान्ताः पुराणेषु श्रुतास्ते यदि वा क्वचित् ।
अतिक्रान्ताश्च बहवः प्रादुर्भावा ममोत्तमाः ॥१०६॥

मेरे जो अवतार अबतक व्यतीत हो चुके हैं, उन्हें सम्भवतः तुमने पुराणोंमें सुना होगा । मेरे कई उत्तमोत्तम अवतार हो चुके हैं ॥ १०६ ॥

लोककार्याणि कृत्वा च पुनः स्वां प्रकृतिं गताः ।
न ह्येतद् ब्रह्मणा प्राप्तमीदृशं मम दर्शनम् ॥१०७॥
यत् त्वया प्राप्तमद्येह एकान्तगतबुद्धिना ।

वे अवतार लोकहितके कार्य सम्पन्न करके पुनः अपने मूलस्वरूपमें मिल गये हैं । मुझमें अनन्य भक्ति रखनेके कारण आज तुमने यहाँ जिस स्वरूपका दर्शन पाया है, मेरे ऐसे स्वरूपका दर्शन अबतक ब्रह्माको भी नहीं प्राप्त हो सका है ॥ १०७½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं ब्रह्मन् भक्तिमतो मया॥१०८॥
पुराणं च भविष्यं च सरहस्यं च सत्तम ।

ब्रह्मन् ! साधुप्रवर ! तुम मुझमें भक्तिभाव रखनेवाले हो, इसलिये मैंने तुमसे भूत और भविष्यके सारे अवतारोंका रहस्यसहित वर्णन किया है ॥ १०८½ ॥

भीष्म उवाच

एवं स भगवान् देवो विश्वमूर्तिधरोऽव्ययः ॥१०९॥
एतावदुक्त्वा वचनं तत्रैवान्तर्दधे पुनः ।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! विश्वरूपधारी अविनाशी भगवान् नारायणदेव इतनी बात कहकर वहीं पुनः अन्तर्धान हो गये ॥ १०९½ ॥

नारदोऽपि महातेजाः प्राप्यानुग्रहमीप्सितम् ॥११०॥
नरनारायणौ द्रष्टुं बदर्याश्रममाद्रवत् ।

तब महातेजस्वी नारदजी भी भगवान्का मनोवाञ्छित अनुग्रह पाकर नर-नारायणका दर्शन करनेके लिये बदरिकाश्रमकी ओर चल दिये ॥ ११०½ ॥

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् ॥१११॥
सांख्ययोगकृतं तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम् ।
नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः ॥११२॥
ब्रह्मणः सदने तात यथादृष्टं यथाश्रुतम् ।

यह महान् उपनिषद् (ज्ञान) चारों वेदोंके विज्ञानसे सम्पन्न है । इसमें सांख्य और योगका सिद्धान्त कूट-कूटकर भरा है । इसकी पाञ्चरात्र आगमके नामसे प्रसिद्धि है। साक्षात् नारायणके मुखसे इसका गान हुआ है । तात ! इस

विषयको नारदजीने श्वेतद्वीपमें जैसा देखा और सुना था, वैसा ही ब्रह्माजीके भवनमें सुनाया था ॥ १११-११२½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एतदाश्चर्यभूतं हि माहात्म्यं तस्य धीमतः ॥११३॥
किं वै ब्रह्मा न जानीते यतः शुश्राव नारदात् ।

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! बुद्धिमान् नारायणदेवका माहात्म्य तो बड़ा ही आश्चर्यमय है । क्या ब्रह्माजी इसे नहीं जानते थे कि नारदजीके मुखसे इसका श्रवण किया ? ॥

पितामहोऽपि भगवांस्तस्माद् देवादनन्तरः ॥११४॥
कथं स न विजानीयात् प्रभावममितौजसः ।

भगवान् ब्रह्मा तो उन्हीं नारायणसे प्रकट हुए हैं । फिर वे उन महातेजस्वी नारायणका प्रभाव कैसे नहीं जानते होंगे ? ॥ ११४½ ॥

भीष्म उवाच

महाकल्पसहस्राणि महाकल्पशतानि च ॥११५॥
समतीतानि राजेन्द्र सर्गाश्च प्रलयाश्च ह ।
सर्गस्यादौ स्मृतो ब्रह्मा प्रजासर्गकरः प्रभुः ॥११६॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! अबतक सैकड़ों और हजारों महाकल्प बीत चुके हैं, कितने ही सर्ग और प्रलय समाप्त हो चुके हैं । सर्गके आरम्भमें ब्रह्माजी ही प्रजावर्गके सृष्टिकर्ता माने गये हैं ॥ ११५-११६ ॥

जानाति देवप्रवरं भूयश्चातोऽधिकं नृप ।
परमात्मानमीशानमात्मनः प्रभवं तथा ॥११७॥

नरेश्वर ! वे अपनी उत्पत्तिके कारणभूत देवप्रवर नारायणको इससे भी अधिक जानते हैं । उन्हें सर्वेश्वर और परमात्मा समझते हैं ॥ ११७ ॥

ये त्वन्ये ब्रह्मसदने सिद्धसंघाः समागताः ।
तेभ्यस्तच्छ्रावयामास पुराणं वेदसम्मितम् ॥११८॥

ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके अलावा जो दूसरे-दूसरे सिद्धसमुदाय निवास करते हैं, उनके लिये नारदजीने यह वेदतुल्य पुरातन पाञ्चरात्र सुनाया था ॥ ११८ ॥

तेषां सकाशात् सूर्यस्तु श्रुत्वा वै भावितात्मनाम् ।
आत्मानुगामिनां राजन् श्रावयामास वै ततः ॥११९॥
षट्षष्टिर्हि सहस्राणि ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
सूर्यस्य तपतो लोकान् निर्मिता ये पुरःसराः ॥१२०॥
तेषामकथयत् सूर्यः सर्वेषां भावितात्मनाम् ।

पवित्र अन्तःकरणवाले उन सिद्धोंके मुखसे भगवान् सूर्यने इस माहात्म्यको सुना । राजन् ! सूर्यने सुनकर अपने पीछे चलनेवाले साठ हजार भावितात्मा मुनियोंको इसका श्रवण कराया । लोकमें तपते हुए सूर्यके आगे चलनेके लिये जिन ऋषियोंकी सृष्टि हुई है, उन भावितात्माओंको भी सूर्यदेवने भगवान्‌की यह महिमा सुनायी थी ॥११९-१२०½॥

सूर्यानुगामिभिस्तात ऋषिभिस्तैर्महात्मभिः ॥१२१॥
मेरौ समागता देवाः श्राविताश्चेदमुत्तमम् ।

तात ! सूर्यदेवका अनुसरण करनेवाले उन महात्मा ऋषियोंने मेरुपर्वतपर आये हुए देवताओंको वह उत्तम माहात्म्य सुनाया था ॥ १२१½ ॥

देवानां तु सकाशाद् वै ततः श्रुत्वासितो द्विजः ॥१२२॥
श्रावयामास राजेन्द्र पितॄणां मुनिसत्तमः ।

राजेन्द्र ! मुनिश्रेष्ठ ब्राह्मण असितने देवताओंके मुखसे उस माहात्म्यको सुनकर पितरोंको सुनाया ॥ १२२½ ॥

(एवं परम्पराख्यातमिदं शान्तनुमाश्रितम्)
मम चापि पिता तात कथयामास शान्तनुः ॥१२३॥

इस प्रकार परम्परया प्राप्त होकर यह उत्तम ज्ञान महाराज शान्तनुको मिला । तात ! फिर पिता शान्तनुने मुझे इसका उपदेश दिया ॥ १२३ ॥

ततो मयापि श्रुत्वा च कीर्तितं तव भारत ।
सुरैर्वा मुनिभिर्वापि पुराणं यैरिदं श्रुतम् ॥१२४॥
सर्वे ते परमात्मानं पूजयन्ते समन्ततः ।

भरतनन्दन ! पिताजीके मुखसे इस प्रसङ्गको सुनकर मैंने अब तुमसे इसका वर्णन किया है । देवताओं, मुनियों अथवा जिन लोगोंने भी इस पुरातन ज्ञानको सुना है, वे सभी सब ओर परमात्माका पूजन करते हैं ॥ १२४½ ॥

इदमाख्यानमार्षेयं पारम्पर्यागतं नृप ॥१२५॥
नावासुदेवभक्ताय त्वया देयं कथंचन ।

नरेश्वर ! इस प्रकार यह ऋषिसम्बन्धी आख्यान परम्परासे प्राप्त हुआ है । जो भगवान् वासुदेवका भक्त न हो, उसे किसी तरह भी इसका उपदेश तुम्हें नहीं देना चाहिये ॥ १२५½ ॥

(आख्यानमुत्तमं चेदं श्रावयेद् यः सदा नृप ।
तदैव मनुजो भक्तः शुचिर्भूत्वा समाहितः ॥
प्राप्नुयादचिराद् राजन् विष्णुलोकं सनातनम् ।)

नरेश्वर ! जो मनुष्य सदा इस उत्तम उपाख्यानको सुनायेगा, वह भक्त मनुष्य पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर शीघ्र ही भगवान् विष्णुके सनातनलोकको प्राप्त होगा ॥

मत्तोऽन्यानि च ते राजन्नुपाख्यानशतानि वै ॥१२६॥
यानि श्रुतानि सर्वाणि तेषां सारोऽयमुद्धृतः ।

राजन् ! तुमने मुझसे जो अन्य सैकड़ों उपाख्यान सुने हैं, उन सबका यह सारभाग निकालकर तुम्हारे सामने रक्खा गया है ॥ १२६½ ॥

सुरासुरैर्यथा राजन् निर्मथ्यामृतमुद्धृतम् ॥१२७॥
एवमेतत् पुरा विप्रैः कथामृतमिहोद्धृतम् ।

युधिष्ठिर ! जैसे देवताओं और असुरोंने समुद्रको मथकर उससे अमृत निकाला था, उसी प्रकार प्राचीनकालमें ब्राह्मणोंने सारे शास्त्रोंको मथकर इस अमृतमयी कथाको यहाँ प्रकाशित किया ॥ १२७½ ॥

यश्चेदं पठते नित्यं यश्चेदं शृणुयान्नरः ॥१२८॥
एकान्तभावोपगत एकान्तेषु समाहितः।
प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं भूत्वा चन्द्रप्रभो नरः ॥१२९॥
स सहस्रार्चिषं देवं प्रविशेन्नात्र संशयः।

जो मनुष्य प्रतिदिन इसका पाठ करेगा और जो इसे सदा सुनेगा, वह भगवान्‌के प्रति अनन्यभावको प्राप्त होकर उनके अनन्य भक्तोंमें एकाग्रचित्तसे अनुरक्त हो श्वेतनामक महाद्वीपमें पहुँच जायगा और वह मनुष्य चन्द्रमाके समान कान्तिमान् रूप धारण करके उन सहस्रों किरणोंवाले भगवान् नारायणदेवमें प्रवेश करेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ १२८-१२९½ ॥

मुच्येदार्तस्तथा रोगाच्छ्रुत्वेमामादितः कथाम् ॥१३०॥
जिज्ञासुर्लभते कामान् भक्तो भक्तगतिं व्रजेत्।

इस कथाको आदिसे ही सुनकर रोगी रोगसे मुक्त हो जायगा, जिज्ञासु पुरुषको इच्छानुसार ज्ञान प्राप्त होगा और भक्त पुरुष भक्तजनोचित गतिको प्राप्त होगा ॥ १३०½ ॥

त्वयापि सततं राजन्नभ्यर्च्यः पुरुषोत्तमः ॥१३१॥
स हि माता पिता चैव कृत्स्नस्य जगतो गुरुः।

राजन्! तुम्हें भी सदा ही भगवान् पुरुषोत्तमकी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि वे ही सम्पूर्ण जगत्‌के माता, पिता और गुरु हैं ॥ १३१½ ॥

ब्रह्मण्यदेवो भगवान् प्रीयतां ते सनातनः ॥१३२॥
युधिष्ठिर महाबाहो महाबुद्धिर्जनार्दनः।

महाबाहु युधिष्ठिर! ब्राह्मणहितैषी परम बुद्धिमान् सनातन पुरुष भगवान् जनार्दन देव तुमपर सदा प्रसन्न रहें ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतदाख्यानवरं धर्मराड् जनमेजय ॥१३३॥
भ्रातरश्चास्य ते सर्वे नारायणपराऽभवन्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस उत्तम उपाख्यानको सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर और उनके सभी भाई भगवान् नारायणके परम भक्त हो गये ॥ १३३½ ॥

जितं भगवता तेन पुरुषेणेति भारत ॥१३४॥
नित्यं जप्यपरा भूत्वा सरस्वतीमुदीरयन्।

भरतनन्दन! वे नित्यप्रति भगवन्नामके जपमें तत्पर होकर 'भगवान् पुरुषोत्तमकी जय हो' ऐसी वाणी बोला करते थे ॥ १३४½ ॥

यो ह्यस्माकं गुरुश्रेष्ठः कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥१३५॥
जगौ परमकं जप्यं नारायणमुदीरयन्।

जो हमारे परमगुरु मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास हैं, वे भी परम उत्तम नारायणमन्त्रका जप करते हुए निरन्तर उनकी महिमाका गान करते रहते हैं ॥ १३५½ ॥

गत्वान्तरिक्षात् सततं क्षीरोदममृताशयम् ॥१३६॥
पूजयित्वा च देवेशं पुनरायात् स्वमाश्रमम्।

व्यासजी सदा ही आकाशमार्गसे अमृतनिधि क्षीरसागरके तटपर जाकर देवेश्वर श्रीहरिकी पूजा करनेके पश्चात् पुनः अपने आश्रमपर लौट आते हैं ॥ १३६½ ॥

भीष्म उवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं नारदोक्तं मयेरितम् ॥१३७॥
पारम्पर्यागतं ह्येतत् पित्रा मे कथितं पुरा।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! नारदजीका कहा हुआ यह सारा उपाख्यान मैंने तुमसे कह सुनाया। यह पूर्व-परम्परासे पहले मेरे पिताजीको प्राप्त हुआ। फिर पिताजीने मुझसे कहा था ॥ १३७½ ॥

सौतिरुवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं वैशम्पायनकीर्तितम् ॥१३८॥
जनमेजयेन तच्छ्रुत्वा कृतं सम्यग् यथाविधि।
यूयं हि तप्ततपसः सर्वे च चरितव्रताः ॥१३९॥

सूतपुत्र बोले—शौनक! वैशम्पायनजीका कहा हुआ यह सारा आख्यान मैंने तुमसे कहा है। जनमेजयने इसे सुनकर उत्तम विधिपूर्वक भगवान्‌का यजन किया। तुमलोग भी तपस्वी और व्रतका पालन करनेवाले हो ॥१३८-१३९॥

सर्वे वेदविदो मुख्या नैमिषारण्यवासिनः।
शौनकस्य महासत्रं प्राप्ताः सर्वे द्विजोत्तमाः ॥१४०॥

नैमिषारण्यमें निवास करनेवाले प्रायः सभी ऋषि प्रमुख वेदवेत्ता हैं और सभी श्रेष्ठ द्विज शौनकके इस महायज्ञमें एकत्र हुए हैं ॥ १४० ॥

यजध्वं सुहुतैर्यज्ञैः शाश्वतं परमेश्वरम्।
पारम्पर्यागतं ह्येतत् पित्रा मे कथितं पुरा ॥१४१॥

आप सब लोग विधिवत् हवन करके उत्तम यज्ञोंद्वारा उन सनातन परमेश्वरका यजन करें। यह परम्परासे प्राप्त हुआ उत्तम आख्यान मेरे पिताने पहले-पहल मुझसे कहा था ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये एकोनचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणका माहात्म्यविषयक तीन सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३३९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५½ श्लोक मिलाकर कुल १५६½ श्लोक हैं)

चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका अपने शिष्योंको भगवान्‌द्वारा ब्रह्मादि देवताओंसे कहे हुए प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप धर्मके उपदेशका रहस्य बताना

शौनक उवाच

कथं स भगवान् देवो यज्ञेष्वग्रहरः प्रभुः।
यज्ञधारी च सततं वेदवेदाङ्गवित् तथा ॥ १ ॥

शौनकजीने कहा—सूतनन्दन! वे प्रभु

शाली वेदवेद्य भगवान् नारायणदेव यज्ञोंमें प्रथम भाग ग्रहण करनेवाले माने गये हैं तथा वे ही वेदों और वेदाङ्गोंके ज्ञाता परमेश्वर नित्य-निरन्तर यज्ञधारी (यज्ञकर्ता) भी बताये गये हैं। एक ही भगवान्में यज्ञोंके कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों कैसे सम्भव होते हैं ? ॥ १ ॥

निवृत्तं चास्थितो धर्मं क्षमी भागवतः प्रभुः ।
निवृत्तिधर्मान् विदधे स एव भगवान् प्रभुः ॥ २ ॥

सबके स्वामी क्षमाशील भगवान् नारायण स्वयं तो निवृत्तिधर्ममें ही स्थित हैं और उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान्ने निवृत्तिधर्मोंका विधान किया है ॥ २ ॥

कथं प्रवृत्तिधर्मेषु भागार्हा देवताः कृताः ।
कथं निवृत्तिधर्माश्च कृता व्यावृत्तबुद्धयः ॥ ३ ॥

इस प्रकार निवृत्तिधर्मावलम्बी होते हुए भी उन्होंने देवताओंको प्रवृत्तिधर्मोंमें अर्थात् यज्ञादि कर्मोंमें भाग लेनेका अधिकारी क्यों बनाया ? तथा ऋषि-मुनियोंको विषयोंसे विरक्तबुद्धि और निवृत्तिधर्मपरायण किस कारण बनाया ? ॥

एतं नः संशयं सौते छिन्धि गुह्यं सनातनम् ।
त्वया नारायणकथाः श्रुता वै धर्मसंहिताः ॥ ४ ॥

सूतनन्दन ! यह गूढ़ संदेह हमारे मनमें सदा उठता रहता है, आप इसका निवारण कीजिये; क्योंकि आपने भगवान् नारायणकी बहुत-सी धर्मसङ्गत कथाएँ सुन रक्खी हैं ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच

जनमेजयेन यत् पृष्टः शिष्यो व्यासस्य धीमतः ।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि पौराणं शौनकोत्तम ॥ ५ ॥

सूतपुत्रने कहा—मुनिश्रेष्ठ शौनक ! राजा जनमेजयने बुद्धिमान् व्यासजीके शिष्य वैशम्पायनजीके सम्मुख जो प्रश्न उपस्थित किया था, उस पुराणप्रोक्त विषयका मैं तुम्हारे सामने वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥

श्रुत्वा माहात्म्यमेतस्य देहिनां परमात्मनः ।
जनमेजयो महाप्राज्ञो वैशम्पायनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

परम बुद्धिमान् जनमेजयने समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप इन परमात्मा नारायणदेवका माहात्म्य सुनकर उनसे इस प्रकार कहा ॥ ६ ॥

जनमेजय उवाच

इमे सब्रह्मका लोकाः ससुरासुरमानवाः ।
क्रियास्वभ्युदयोक्तासु सक्ता दृश्यन्ति सर्वशः ॥ ७ ॥

जनमेजय बोले—मुने ! ब्रह्मा, देवगण, असुरगण तथा मनुष्योंसहित ये समस्त लोक लौकिक अभ्युदयके लिये बताये गये कर्मोंमें ही आसक्त देखे जाते हैं ॥ ७ ॥

मोक्षश्चोक्तस्त्वया ब्रह्मन् निर्वाणं परमं सुखम् ।
ये तु मुक्ता भवन्तीह पुण्यपापविवर्जिताः ॥ ८ ॥
ते सहस्रार्चिषं देवं प्रविशन्तीह शुश्रुम ।

ब्रह्मन् ! परंतु आपने मोक्षको परम शान्ति एवं परम सुखस्वरूप बताया है। जो मुक्त होते हैं, वे पुण्य और पापसे रहित हो सहस्रों किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले भगवान् नारायणदेवमें प्रवेश करते हैं, यह बात मैंने सुन रक्खी है ।८½।

अयं हि दुरनुष्ठेयो मोक्षधर्मः सनातनः ॥ ९ ॥
यं हित्वा देवताः सर्वा हव्यकव्यभुजोऽभवन् ।

किंतु यह सनातन मोक्षधर्म अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है, जिसे छोड़कर सब देवता हव्य और कव्योंके भोक्ता बन गये हैं ॥ ९½ ॥

किं च ब्रह्मा च रुद्रश्च शक्रश्च बलभित् प्रभुः ॥ १० ॥
सूर्यस्ताराधिपो वायुरग्निर्वरुण एव च ।
आकाशं जगती चैव ये च शेषा दिवौकसः ॥ ११ ॥
प्रलयं न विजानन्ति आत्मनः परिनिर्मितम् ।
ततस्तेनास्थिता मार्गं ध्रुवमक्षरमव्ययम् ॥ १२ ॥

इसके सिवा ब्रह्मा, रुद्र और बलासुरका वध करनेवाले सामर्थ्यशाली इन्द्र एवं सूर्य, तारापति चन्द्रमा, वायु, अग्नि, वरुण, आकाश, पृथ्वी तथा जो अवशिष्ट देवता बताये गये हैं, वे सब क्या परमात्माके रचे हुए अपने मोक्ष-मार्गको नहीं जानते हैं ? जिससे कि निश्चल, क्षयशून्य एवं अविनाशी मार्गका आश्रय नहीं लेते हैं ? ॥ १०—१२ ॥

स्मृत्वा कालपरीमाणं प्रवृत्तिं ये समास्थिताः ।
दोषः कालपरीमाणे महानेष क्रियावताम् ॥ १३ ॥

जो लोग नियत कालतक प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फलोंको लक्ष्य करके प्रवृत्तिमार्गका आश्रय लेते हैं, उन कर्मपरायण पुरुषोंके लिये यही सबसे बड़ा दोष है कि वे कालकी सीमामें आबद्ध रहकर ही कर्मका फल भोग करते हैं ॥ १३ ॥

एतन्मे संशयं विप्र हृदि शल्यमिवार्पितम् ।
छिन्धीतिहासकथनात् परं कौतूहलं हि मे ॥ १४ ॥

विप्रवर ! यह संशय मेरे हृदयमें काँटेके समान चुभता है। आप इतिहास सुनाकर मेरे संदेहका निवारण करें । मेरे मनमें इस विषयको जाननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥

कथं भागहराः प्रोक्ता देवताः क्रतुषु द्विज ।
किमर्थं चाध्वरे ब्रह्मन्निज्यन्ते त्रिदिवौकसः ॥ १५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! देवताओंको यज्ञोंमें भाग लेनेका अधिकारी क्यों बताया गया है ? ब्रह्मन् ! स्वर्गलोकमें निवास करनेवाले देवताओंकी ही यज्ञमें किसलिये पूजा की जाती है ? ॥ १५ ॥

ये च भागं प्रगृह्णन्ति यज्ञेषु द्विजसत्तम ।
ते यजन्तो महायज्ञैः कस्य भागं ददन्ति वै ॥ १६ ॥

ब्राह्मणशिरोमणे ! जो यज्ञोंमें भाग ग्रहण करते हैं, वे देवता जब स्वयं महायज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, तब किसको भाग समर्पित करते हैं ? ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

अहो गूढतमः प्रश्नस्त्वया पृष्टो जनेश्वर ।

नातप्ततपसा ह्येष नावेदविदुषा तथा ॥ १७ ॥
नापुराणविदा चैव शक्यो व्याहर्तुमञ्जसा ।

वैशम्पायनजीने कहा—जनेश्वर ! तुमने बड़ा गूढ़ प्रश्न उपस्थित किया है । जिसने तपस्या नहीं की है तथा जो वेदों और पुराणोंका विद्वान् नहीं है, वह मनुष्य अनायास ही ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता ॥ १७½ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मे पृष्टः पुरा गुरुः ॥ १८ ॥
कृष्णद्वैपायनो व्यासो वेदव्यासो महानृषिः ।

अब मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देता हूँ । पूर्वकालमें मेरे पूछनेपर वेदोंका विस्तार करनेवाले गुरुदेव महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने जो कुछ बताया था, वही मैं तुमसे कहूँगा ॥ १८½ ॥

सुमन्तुर्जैमिनिश्चैव पैलश्च सुदृढव्रतः ॥ १९ ॥
अहं चतुर्थः शिष्यो वै पञ्चमश्च शुकः स्मृतः ।

सुमन्तु, जैमिनि, दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पैल—इन तीनके सिवा व्यासजीका चौथा शिष्य मैं ही हूँ और पाँचवें शिष्य उनके पुत्र शुकदेव माने गये हैं ॥१९½॥

एतान् समागतान् सर्वान् पञ्च शिष्यान् दमान्वितान्२०
शौचाचारसमायुक्ताञ्जितक्रोधाञ्जितेन्द्रियान् ।
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ॥ २१ ॥

ये पाँचों शिष्य इन्द्रियदमन एवं मनोनिग्रहसे सम्पन्न, शौच तथा सदाचारसे संयुक्त, क्रोधशून्य और जितेन्द्रिय हैं । अपनी सेवामें आये हुए इन सभी शिष्योंको व्यासजीने चारों वेदों तथा पाँचवें वेद महाभारतका अध्ययन कराया ।२०-२१।

मेरौ गिरिवरे रम्ये सिद्धचारणसेविते ।
तेषामभ्यस्यतां वेदान् कदाचित् संशयोऽभवत् ॥२२॥
एष वै यस्त्वया पृष्टस्तेन तेषां प्रकीर्तितः ।
ततः श्रुतो मया चापि तवाख्येयोऽद्य भारत ॥ २३ ॥

सिद्धों और चारणोंसे सेवित गिरिवर मेरुके रमणीय शिखरपर वेदाभ्यास करते हुए हम सब शिष्योंके मनमें किसी समय यही संदेह उत्पन्न हुआ, जिसे आज तुमने पूछा है । भारत ! व्यासजीने हम शिष्योंको जो उत्तर दिया, उसे मैंने भी उन्हींके मुखसे सुना था । वही आज तुम्हें भी बताना है ॥

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा सर्वाज्ञानतमोनुदः ।
पराशरसुतः श्रीमान् व्यासो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ २४ ॥

अपने शिष्योंका संशययुक्त वचन सुनकर सबके अज्ञानान्धकारका निवारण करनेवाले पराशरनन्दन श्रीमान् व्यासजीने यह बात कही—॥ २४ ॥

मया हि सुमहत् तप्तं तपः परमदारुणम् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च जानीयामिति सत्तमाः ॥ २५ ॥

'साधु पुरुषोंमें श्रेष्ठ शिष्यगण ! एक समयकी बात है कि मैंने भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त कठोर और बड़ी भारी तपस्या की ॥

तस्य मे तप्ततपसो निगृहीतेन्द्रियस्य च ।
नारायणप्रसादेन क्षीरोदस्यानुकूलतः ॥ २६ ॥
त्रैकालिकमिदं ज्ञानं प्रादुर्भूतं यथेप्सितम् ।
तच्छृणुध्वं यथान्यायं वक्ष्ये संशयमुत्तमम् ॥ २७ ॥

'जब मैं इन्द्रियोंको वशमें करके अपनी तपस्या पूर्ण कर चुका, तब भगवान् नारायणके कृपाप्रसादसे क्षीरसागरके तटपर मुझे मेरी इच्छाके अनुसार यह तीनों कालोंका ज्ञान प्राप्त हुआ । अतः मैं तुम्हारे संदेहके निवारणके लिये उत्तम एवं न्यायोचित बात कहूँगा । तुमलोग ध्यान देकर सुनो ॥

यथा वृत्तं हि कल्पादौ दृष्टं मे ज्ञानचक्षुषा ।
परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविदो जनाः ॥ २८ ॥
महापुरुषसंज्ञां स लभते स्वेन कर्मणा ।
तस्मात् प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तं विदुर्बुधाः ॥ २९ ॥

'कल्पके आदिमें जैसा वृत्तान्त घटित हुआ था और जिसे मैंने ज्ञानदृष्टिसे देखा था, वह सब बता रहा हूँ । सांख्य और योगके विद्वान् जिन्हें परमात्मा कहते हैं, वे ही अपने कर्मके प्रभावसे महापुरुष नाम धारण करते हैं । उन्हींसे अव्यक्तकी उत्पत्ति हुई है, जिसे विद्वान् पुरुष प्रधानके नामसे भी जानते हैं ॥ २८-२९ ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमुत्पन्नं लोकसृष्ट्यर्थमीश्वरात् ।
अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मेति कथ्यते ॥ ३० ॥

'जगत्की सृष्टिके लिये उन्हीं महापुरुष और अव्यक्तसे व्यक्तकी उत्पत्ति हुई, जिसे सम्पूर्ण लोकोंमें अनिरुद्ध एवं महान् आत्मा कहते हैं ॥ ३० ॥

योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम् ।
सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ३१ ॥

'व्यक्तभावको प्राप्त हुए उन्हीं अनिरुद्धने पितामह ब्रह्माकी सृष्टि की । वे ब्रह्मा सम्पूर्ण तेजोमय हैं और उन्हींको समष्टि अहंकार कहा गया है ॥ ३१ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
अहंकारप्रसूतानि महाभूतानि पञ्चधा ॥ ३२ ॥

'पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये पाँच सूक्ष्म महाभूत अहंकारसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ३२ ॥

महाभूतानि सृष्ट्वैव तान् गुणान् निर्ममे पुनः ।
भूतेभ्यश्चैव निष्पन्ना मूर्तिमन्तश्च ताञ्शृणु ॥ ३३ ॥

'अहंकारस्वरूप ब्रह्माने पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि करके फिर उनके शब्द-स्पर्श आदि गुणोंका निर्माण किया । उन भूतोंसे जो मूर्तिमान् प्राणी उत्पन्न हुए, उनके नाम सुनो ॥ ३३ ॥

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठश्च महात्मा वै मनुः स्वायम्भुवस्तथा ॥ ३४ ॥

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, महात्मा वसिष्ठ और स्वायम्भुव मनु ॥ ३४ ॥

ज्ञेयाः प्रकृतयोऽष्टौ ता यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
वेदवेदाङ्गसंयुक्तान् यज्ञान् यज्ञाङ्गसंयुतान् ॥ ३५ ॥
निर्ममे लोकसिद्ध्यर्थं ब्रह्मा लोकपितामहः ।
अष्टाभ्यः प्रकृतिभ्यश्च जातं विश्वमिदं जगत् ॥ ३६ ॥

'इन आठोंको प्रकृति जानना चाहिये, जिनमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। लोकपितामह ब्रह्माने सम्पूर्ण लोकोंके जीवन-निर्वाहके लिये वेद-वेदाङ्ग और यज्ञाङ्गोंसे युक्त यज्ञोंकी सृष्टि की है। पूर्वोक्त आठ प्रकृतियोंसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है ॥ ३५-३६ ॥

रुद्रो रोषात्मको जातो दशान्यान् सोऽसृजत् स्वयम् ।
एकादशैते रुद्रास्तु विकारपुरुषाः स्मृताः ॥ ३७ ॥

'ब्रह्माजीके रोषसे रुद्रका प्रादुर्भाव हुआ है। उन रुद्रने स्वयं ही दस अन्य रुद्रोंकी भी सृष्टि कर ली है। इस प्रकार वे ग्यारह रुद्र हैं, जो विकारपुरुष माने गये हैं ॥ ३७ ॥

ते रुद्राः प्रकृतिश्चैव सर्वे चैव सुरर्षयः ।
उत्पन्ना लोकसिद्ध्यर्थं ब्रह्माणं समुपस्थिताः ॥ ३८ ॥

'वे ग्यारह रुद्र, आठ प्रकृति और समस्त देवर्षिगण, जो लोकरक्षाके लिये उत्पन्न हुए थे, ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ३८ ॥

वयं सृष्टा हि भगवंस्त्वया च प्रभविष्णुना ।
येन यस्मिन्नधीकारे वर्तितव्यं पितामह ॥ ३९ ॥
योऽसौ त्वयाभिनिर्दिष्टो ह्यधिकारोऽर्थचिन्तकः ।
परिपाल्यः कथं तेन साहंकारेण कर्तृणा ॥ ४० ॥

(और इस प्रकार बोले—) 'भगवन्! पितामह! आप महान् प्रभावशाली हैं। आपने ही हमलोगोंकी सृष्टि की है। हममेंसे जिसको जिस अधिकार या कार्यमें प्रवृत्त होना है तथा आपके द्वारा जिस अर्थसाधक अधिकारका निर्देश किया गया है, उसका पालन अहंकारयुक्त कर्ताके द्वारा कैसे हो सकता है? ॥ ३९-४० ॥

प्रदिशस्व बलं तस्य योऽधिकारार्थचिन्तकः ।
एवमुक्तो महादेवो देवांस्तानिदमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

'उस अधिकार और प्रयोजनका चिन्तन करनेवाला जो पुरुष है, उसे आप कर्तव्यपालनकी शक्ति प्रदान कीजिये।' उनके ऐसा कहनेपर महान् देव ब्रह्माजीने उन देवताओंसे इस प्रकार कहा ॥ ४१ ॥

ब्रह्मोवाच

साध्वहं ज्ञापितो देवा युष्माभिर्भद्रमस्तु वः ।
ममाप्येषा समुत्पन्ना चिन्ता या भवतां मता ॥ ४२ ॥

ब्रह्माजी बोले—देवताओ! तुमने मुझे अच्छी बात सुझायी है! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे हृदयमें जो चिन्ता उत्पन्न हुई है, वही मेरे हृदयमें भी पैदा हुई है ॥ ४२ ॥

लोकत्रयस्य कृत्स्नस्य कथं कार्यः परिग्रहः ।
कथं बलक्षयो न स्याद् युष्माकं ह्यात्मनश्च मे ॥ ४३ ॥

किस प्रकार तीनों लोकोंके अधिकृत कार्यका सम्पादन किया जाय तथा किस तरह तुम्हारी और मेरी शक्तिका भी क्षय न हो ॥ ४३ ॥

इतः सर्वेऽपि गच्छामः शरणं लोकसाक्षिणम् ।
महापुरुषमव्यक्तं स नो वक्ष्यति यद्धितम् ॥ ४४ ॥

हम सब लोग यहाँसे अव्यक्त लोकसाक्षी महापुरुष नारायण-देवकी शरणमें चलें। वे हमारे लिये हितकी बात बतायेंगे ॥

ततस्ते ब्रह्मणा सार्धमृषयो विबुधास्तथा ।
क्षीरोदस्योत्तरं कूलं जग्मुर्लोकहितार्थिनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर वे सब ऋषि और देवता सम्पूर्ण जगत्के हितकी भावना लेकर ब्रह्माजीके साथ क्षीरसागरके उत्तर तट-पर गये ॥ ४५ ॥

ते तपः समुपातिष्ठन् ब्रह्मोक्तं वेदकल्पितम् ।
स महानियमो नाम तपश्चर्यासु दारुणः ॥ ४६ ॥

वहाँ ब्रह्माजीके कथनानुसार उन सबने वेदोक्त रीतिसे तपस्या आरम्भ की। उनका वह महान् नियम सभी तपस्याओंमें कठोर था ॥ ४६ ॥

ऊर्ध्वा दृष्टिर्बाहवश्च एकाग्रं च मनोऽभवत् ।
एकपादाः स्थिताः सर्वे काष्ठभूताः समाहिताः ॥ ४७ ॥

उनकी आँखें ऊपरकी ओर लगी थीं, भुजाएँ भी ऊपर-की ओर ही उठी हुई थीं। मन एकाग्र था। वे सब-के-सब समाहितचित्त हो एक पैरसे खड़े हो काष्ठके समान जान पड़ते थे ॥ ४७ ॥

दिव्यं वर्षसहस्रं ते तपस्तप्त्वा सुदारुणम् ।
शुश्रुवुर्मधुरां वाणीं वेदवेदाङ्गभूषिताम् ॥ ४८ ॥

एक हजार दिव्य वर्षोंतक अत्यन्त कठोर तपस्या करनेके पश्चात् उन्हें वेद और वेदाङ्गोंसे विभूषित मधुर वाणी सुनायी दी ॥

श्रीभगवानुवाच

भो भोः सब्रह्मका देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
स्वागतेनार्च्य वः सर्वाञ्श्रावये वाक्यमुत्तमम् ॥ ४९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे तपस्याके धनी ब्रह्मा आदि देवताओ तथा ऋषियो! मैं स्वागतके द्वारा तुम सबका सत्कार करके तुम्हें यह उत्तम वचन सुनाता हूँ ॥ ४९ ॥

विज्ञातं वो मया कार्यं तच्च लोकहितं महत् ।
प्रवृत्तियुक्तं कर्तव्यं युष्मत्प्राणोपबृंहणम् ॥ ५० ॥

तुम्हारा प्रयोजन क्या है? यह मुझे ज्ञात हो गया है। वह सम्पूर्ण जगत्के लिये अत्यन्त हितकर है। तुम्हें प्रवृत्ति-युक्त धर्मका पालन करना चाहिये। वह तुम्हारे प्राणोंका पोषक तथा शक्तिका संवर्द्धन करनेवाला होगा ॥ ५० ॥

सुतप्तं च तपो देवा ममाराधनकाम्यया ।
भोक्ष्यथास्य महासत्त्वास्तपसः फलमुत्तमम् ॥ ५१ ॥

महान् धैर्यशाली देवताओ! तुमलोगोंने मेरी आराधना-की इच्छासे बड़ी भारी तपस्या की है। उस तपस्याके उत्तम फलका तुम अवश्य उपभोग करोगे ॥ ५१ ॥

एष ब्रह्मा लोकगुरुर्महाँल्लोकपितामहः ।
यूयं च विबुधश्रेष्ठा मां यजध्वं समाहिताः ॥ ५२ ॥

ये सम्पूर्ण जगत्के महान् गुरु लोकपितामह ब्रह्मा और तुम सभी श्रेष्ठ देवगण एकाग्रचित्त हो यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करो ॥

सर्वे भागान् कल्पयध्वं यज्ञेषु मम नित्यशः ।
तथा श्रेयोऽभिधास्यामि यथाधीकारमीश्वराः ॥ ५३ ॥

लोकेश्वरो ! तुम सब लोग यज्ञोंमें सदा मेरे लिये भाग समर्पित करते रहो । ऐसा होनेपर मैं तुम्हें तुम्हारे अधिकारके अनुसार कल्याणमार्गका उपदेश करता रहूँगा ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतद् देवदेवस्य वाक्यं हृष्टतनूरुहाः ।
ततस्ते विबुधाः सर्वे ब्रह्मा ते च महर्षयः ॥ ५४ ॥
वेददृष्टेन विधिना वैष्णवं क्रतुमाहरन् ।
तस्मिन् सत्रे सदा ब्रह्मा स्वयं भागमकल्पयत् ॥ ५५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवाधिदेव भगवान् नारायणका यह वचन सुनकर उन सबके रोम हर्षसे खिल उठे । तदनन्तर उन सब देवताओं, महर्षियों और ब्रह्माजीने वेदोक्त विधिसे वैष्णव यज्ञका अनुष्ठान किया । उस यज्ञमें ब्रह्माजीने स्वयं भगवान्के लिये भाग निश्चित किया ।५४-५५।

देवा देवर्षयश्चैव स्वं स्वं भागमकल्पयन् ।
ते कार्तयुगधर्माणो भागाः परमसत्कृताः ॥ ५६ ॥

उसी प्रकार देवताओं और देवर्षियोंने भी अपना-अपना भाग भगवान्के लिये निश्चित किया । सत्ययुगके न्यायानुसार निश्चित किये हुए वे उत्तम यज्ञ-भाग सबके द्वारा अत्यन्त सत्कृत हुए ॥ ५६ ॥

प्रादुरादित्यवर्णं तं पुरुषं तमसः परम् ।
बृहन्तं सर्वगं देवमीशानं वरदं प्रभुम् ॥ ५७ ॥

ऋषि कहते हैं कि 'भगवान् नारायण सूर्यके समान तेजस्वी, अन्तर्यामी पुरुष, अज्ञानान्धकारसे परे, सर्वव्यापी, सर्वगामी, ईश्वर, वरदाता और सर्वसमर्थ हैं' ॥ ५७ ॥

ततोऽथ वरदो देवस्तान् सर्वानमरान् स्थितान् ।
अशरीरो बभाषेदं वाक्यं खस्थो महेश्वरः ॥ ५८ ॥

यज्ञभाग निश्चित हो जानेपर उन वरदायक देवता महेश्वर नारायणदेवने आकाशमें बिना शरीरके ही स्थित हो वहाँ खड़े हुए उन समस्त देवताओंसे यह बात कही—॥५८॥

येन यः कल्पितो भागः स तथा मामुपागतः ।
प्रीतोऽहं प्रदिशाम्यद्य फलमावृत्तिलक्षणम् ॥ ५९ ॥

'देवताओ ! जिसने जो भाग हमारे लिये निश्चित किया था, वह उसी रूपमें मुझे प्राप्त हो गया । इससे प्रसन्न होकर आज मैं तुम्हें पुनरावृत्तिरूप फल प्रदान करता हूँ ॥

एतद् वो लक्षणं देवा मत्प्रसादसमुद्भवम् ।
स्वयं यज्ञैर्यजमानाः समाप्तवरदक्षिणैः ॥ ६० ॥
युगे युगे भविष्यध्वं प्रवृत्तिफलभागिनः ।

'देवताओ ! मेरी कृपासे तुम्हारा ऐसा ही लक्षण होगा । तुम प्रत्येक युगमें उत्तम दक्षिणाओंसे संयुक्त यज्ञोंद्वारा यजन करके प्रवृत्तिरूप धर्मफलके भागी होओगे ॥ ६०½ ॥

यज्ञैर्ये चापि यक्ष्यन्ति सर्वलोकेषु वै सुराः ॥ ६१ ॥
कल्पयिष्यन्ति वो भागांस्ते नरा वेदकल्पितान् ।

'देवगण ! सम्पूर्ण लोकोंमें जो मनुष्य यज्ञोंद्वारा यजन करेंगे, वे तुम्हारे लिये वेदके कथनानुसार यज्ञभाग निश्चित करेंगे ॥ ६१½ ॥

यो मे यथा कल्पितवान् भागमस्मिन् महाक्रतौ ॥ ६२ ॥
स तथा यज्ञभागार्हो वेदसूत्रे मया कृतः ।

'इस महान् यज्ञमें जिस देवताने मेरे लिये जैसा भाग निश्चित किया है, वह वैदिक सूत्रमें मेरेद्वारा वैसे ही यज्ञ-भागका अधिकारी बनाया गया ॥ ६२½ ॥

यूयं लोकान् भावयध्वं यज्ञभागफलोचिताः ॥ ६३ ॥
सर्वार्थचिन्तका लोके यथाधीकारनिर्मिताः ।

'तुमलोग यज्ञमें भाग लेकर यजमानको उसका फल देनेमें प्रवृत्त हो जगत्में अपने अधिकारके अनुसार सबके सभी मनोरथोंका चिन्तन करते हुए सब लोगोंको उन्नतिशील बनाओ ॥ ६३½ ॥

याः क्रियाः प्रचरिष्यन्ति प्रवृत्तिफलसत्कृताः ॥ ६४ ॥
आभिराप्यायितबला लोकान् वै धारयिष्यथ ।

'प्रवृत्ति-फलसे समादृत होनेवाली जिन यज्ञ-क्रियाओंका जगत्में प्रचार होगा, उन्हींसे तुम्हारे बलकी वृद्धि होगी और बलिष्ठ होकर तुमलोग सम्पूर्ण लोकोंका भरण-पोषण करोगे ॥ ६४½ ॥

यूयं हि भाविता यज्ञैः सर्वयज्ञेषु मानवैः ॥ ६५ ॥
मां ततो भावयिष्यध्वमेषा वो भावना मम ।

'सम्पूर्ण यज्ञोंमें मनुष्य तुम्हारा यजन करके तुम्हें उन्नतिशील एवं पुष्ट बनायेंगे, फिर तुमलोग भी मुझे इसी प्रकार परिपुष्ट करोगे । यही तुम्हारे लिये मेरा उपदेश है ॥

इत्यर्थं निर्मिता वेदा यज्ञाश्चौषधिभिः सह ॥ ६६ ॥
एभिः सम्यक् प्रयुक्तैर्हि प्रीयन्ते देवताः क्षितौ ।

'इसीके लिये मैंने वेदों तथा ओषधियों (अन्न-फल आदि) सहित यज्ञोंकी सृष्टि की है । इनका भलीभाँति पृथ्वी-पर अनुष्ठान होनेसे सम्पूर्ण देवता तृप्त होंगे ॥ ६६½ ॥

निर्माणमेतद् युष्माकं प्रवृत्तिगुणकल्पितम् ॥ ६७ ॥
मया कृतं सुरश्रेष्ठा यावत्कल्पक्षयादिह ।
चिन्तयध्वं लोकहितं यथाधीकारमीश्वराः ॥ ६८ ॥

'देवश्रेष्ठगण ! मैंने प्रवृत्तिप्रधान गुणके सहित तुमलोगोंकी सृष्टि की है, अतः लोकेश्वरो ! जबतक कल्पका अन्त न हो जाय, तबतक तुमलोग अपने अधिकारके अनुसार लोगोंका हितचिन्तन करते रहो ॥ ६७-६८ ॥

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।

वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥ ६९ ॥

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सात ऋषि ब्रह्माजीके द्वारा मनसे उत्पन्न किये गये हैं ॥ ६९ ॥

एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः ।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ॥ ७० ॥

'ये प्रधान वेदवेत्ता और प्रवृत्ति-धर्मावलम्बी हैं। इन सबको वेदाचार्य माना गया है और प्रजापतिके पदपर प्रतिष्ठित किया गया है ॥ ७० ॥

अयं क्रियावतां पन्था व्यक्तीभूतः सनातनः ।
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकसर्गकरः प्रभुः ॥ ७१ ॥

'यह कर्मपरायण पुरुषोंके लिये सनातन मार्ग प्रकट हुआ है। इस पद्धतिसे लोकोंकी सृष्टि करनेवाले प्रभावशाली पुरुषको अनिरुद्ध कहा गया है ॥ ७१ ॥

सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः ।
सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः ॥ ७२ ॥
सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुताः ।
स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममास्थिताः ॥ ७३ ॥

'सन, सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल तथा सातवें सनातन—ये सात ऋषि भी ब्रह्माके मानस पुत्र कहे गये हैं। इन्हें स्वयं विज्ञान प्राप्त है और ये निवृत्ति-धर्ममें स्थित हैं ॥ ७२-७३ ॥

एते योगविदो मुख्याः सांख्यज्ञानविशारदाः ।
आचार्या धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः ॥ ७४ ॥

'ये प्रमुख योगवेत्ता, सांख्यज्ञान-विशारद, धर्मशास्त्रोंके आचार्य तथा मोक्षधर्मके प्रवर्तक हैं ॥ ७४ ॥

यतोऽहं प्रसृतः पूर्वमव्यक्तात् त्रिगुणो महान् ।
तस्मात् परतरो योऽसौ क्षेत्रज्ञ इति कल्पितः ॥ ७५ ॥

'पूर्वकालमें अव्यक्त प्रकृतिसे जो त्रिगुणात्मक महान् अहंकार प्रकट हुआ था, उससे अत्यन्त परे जिसकी स्थिति है, वह समष्टि चेतन क्षेत्रज्ञ माना गया है ॥ ७५ ॥

सोऽहं क्रियावतां पन्थाः पुनरावृत्तिदुर्लभः ।
यो यथा निर्मितो जन्तुर्यस्मिन् यस्मिंश्च कर्मणि ॥ ७६ ॥
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा तत्फलं सोऽश्नुते महत् ।

'वह क्षेत्रज्ञ मैं हूँ। जो कर्मपरायण मनुष्य हैं, वे पुनरावृत्तिशील हैं; अतः उनके लिये यह निवृत्तिमार्ग दुर्लभ है। जिस प्राणीका जिस प्रकार निर्माण हुआ है तथा वह जिस-जिस प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप कर्ममें संलग्न होता है, वह उसीके महान् फलका भागी होता है ॥ ७६½ ॥

एष लोकगुरुर्ब्रह्मा जगदादिकरः प्रभुः ॥ ७७ ॥
एष माता पिता चैव युष्माकं च पितामहः ।
मयानुशिष्टो भविता सर्वभूतवरप्रदः ॥ ७८ ॥

'ये लोकगुरु ब्रह्मा जगत्के आदि स्रष्टा और प्रभु हैं। ये ही तुम्हारे माता-पिता और पितामह हैं। मेरी आज्ञाके अनुसार ये सम्पूर्ण भूतोंको वर प्रदान करनेवाले होंगे ॥

अस्य चैवात्मजो रुद्रो ललाटाद् यः समुत्थितः ।
ब्रह्मानुशिष्टो भविता सर्वभूतधरः प्रभुः ॥ ७९ ॥

'इनके ललाटसे जो रुद्र उत्पन्न हुए हैं, वे भी इन (ब्रह्माजी) के ही पुत्र हैं। ब्रह्माजीकी आज्ञासे वे सम्पूर्ण भूतोंकी रक्षा करनेमें समर्थ होंगे ॥ ७९ ॥

गच्छध्वं स्वानधीकारांश्चिन्तयध्वं यथाविधि ।
प्रवर्तन्तां क्रियाः सर्वाः सर्वलोकेषु मा चिरम् ॥ ८० ॥

'तुम सब लोग जाओ और अपने-अपने अधिकारोंका विधिपूर्वक पालन करो। समस्त लोकोंमें सम्पूर्ण वैदिक क्रियाएँ अविलम्ब प्रचलित हो जानी चाहिये ॥ ८० ॥

प्रदिश्यन्तां च कर्माणि प्राणिनां गतयस्तथा ।
परिनिष्ठितकालानि आयूंषीह सुरोत्तमाः ॥ ८१ ॥

'सुरश्रेष्ठगण! तुमलोग प्राणियोंको उनके कर्म, उन कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाली गति तथा नियत कालतककी आयु प्रदान करो ॥ ८१ ॥

इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः ।
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन् न तदन्यथा ॥ ८२ ॥

'यह सत्ययुग नामक श्रेष्ठ समय चल रहा है। इस युगमें यज्ञ-पशुओंकी हिंसा नहीं की जाती। अहिंसाधर्मके विपरीत यहाँ कुछ भी नहीं होता है ॥ ८२ ॥

चतुष्पात् सकलो धर्मो भविष्यत्यत्र वै सुराः ।
ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति ॥ ८३ ॥

'देवताओ! इस सत्ययुगमें चारों चरणोंसे युक्त सम्पूर्ण धर्मका पालन होगा। तदनन्तर त्रेतायुग आयेगा, जिसमें वेदत्रयीका प्रचार होगा ॥ ८३ ॥

प्रोक्षिता यत्र पशवो वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे ।
यत्र पादश्चतुर्थो वै धर्मस्य न भविष्यति ॥ ८४ ॥

'उस युगमें यज्ञमें मन्त्रोंद्वारा पवित्र किये गये पशुओंका वध किया जायगा* और धर्मका एक पाद—चतुर्थ अंश कम हो जायगा ॥ ८४ ॥

ततो वै द्वापरं नाम मिश्रः कालो भविष्यति ।
द्विपादहीनो धर्मश्च युगे तस्मिन् भविष्यति ॥ ८५ ॥

'उसके बाद द्वापर युगका आगमन होगा। वह समय धर्म और अधर्मके सम्मिश्रणसे युक्त होगा। उस युगमें धर्मके दो चरण नष्ट हो जायँगे ॥ ८५ ॥

ततस्तिष्येऽथ सम्प्राप्ते युगे कलिपुरस्कृते ।
एकपादस्थितो धर्मो यत्र तत्र भविष्यति ॥ ८६ ॥

'तदनन्तर पुष्य नक्षत्रमें कलियुगका पदार्पण होगा। उस समय यत्र-तत्र धर्मका एक चरण ही शेष रह जायगा' ॥

---

* पशुवधसे यहाँ क्या अभिप्राय है, ठीक समझमें नहीं आया।

देवा देवर्षयश्चोचुस्तमेवंवादिनं गुरुम् ।
एकपादस्थिते धर्मे यत्र क्वचन गामिनि ॥ ८७ ॥
कथं कर्तव्यमस्माभिर्भगवंस्तद् वदस्व नः ।

तब देवताओं और देवर्षियोंने उपर्युक्त बात कहनेवाले गुरुस्वरूप भगवान्‌से कहा—'भगवन् ! जब कलियुगमें जहाँ कहीं भी धर्मका एक ही चरण अवशिष्ट रहेगा, तब हमें क्या करना होगा ? यह बताइये' ॥ ८७½ ॥

श्रीभगवानुवाच

यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा ॥ ८८ ॥
अहिंसाधर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः ।
स वो देशः सेवितव्यो मा वोऽधर्मः पदा स्पृशेत्॥

श्रीभगवान् बोले—सुरश्रेष्ठगण ! जहाँ वेद, यज्ञ, तप, सत्य, इन्द्रियसंयम और अहिंसाधर्म प्रचलित हों, उसी देशका तुम्हें सेवन करना चाहिये । ऐसा करनेसे तुम्हें अधर्म अपने एक पैरसे भी नहीं छू सकेगा ॥ ८८-८९ ॥

व्यास उवाच

तेऽनुशिष्टा भगवता देवाः सर्षिगणास्तथा ।
नमस्कृत्वा भगवते जग्मुर्देशान् यथेप्सितान् ॥ ९० ॥

व्यासजी कहते हैं—शिष्यो ! भगवान्‌का यह उपदेश पाकर ऋषियोंसहित देवता उन्हें नमस्कार करके अपने अभीष्ट देशोंको चले गये ॥ ९० ॥

गतेषु त्रिदिवौकःसु ब्रह्मैकः पर्यवस्थितः ।
दिदृक्षुर्भगवन्तं तमनिरुद्धतनौ स्थितम् ॥ ९१ ॥

स्वर्गवासी देवताओंके चले जानेपर अकेले ब्रह्माजी ही वहाँ खड़े रहे । वे अनिरुद्धविग्रहमें स्थित भगवान् श्रीहरिका दर्शन करना चाहते थे ॥ ९१ ॥

तं देवो दर्शयामास कृत्वा हयशिरो महत् ।
साङ्गानावर्तयन् वेदान् कमण्डलुत्रिदण्डधृक् ॥ ९२ ॥

तब भगवान्‌ने महान् हयग्रीवरूप धारण करके ब्रह्माजीको दर्शन दिया । वे कमण्डलु और त्रिदण्ड धारण करके छहों अङ्गोंसहित वेदोंकी आवृत्ति कर रहे थे ॥ ९२ ॥

ततोऽश्वशिरसं दृष्ट्वा तं देवममितौजसम् ।
लोककर्ता प्रभुर्ब्रह्मा लोकानां हितकाम्यया ॥ ९३ ॥
मूर्ध्ना प्रणम्य वरदं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ।
स परिष्वज्य देवेन वचनं श्रावितस्तदा ॥ ९४ ॥

उस समय अमित पराक्रमी भगवान् हयग्रीवका दर्शन करके सम्पूर्ण जगत्‌के हितकी कामनासे लोककर्ता भगवान् ब्रह्माने उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और उन वरदायक देवताके सम्मुख वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये । तब भगवान्‌ने उनको हृदयसे लगाकर यह बात सुनायी ॥

श्रीभगवानुवाच

लोककार्यगतीः सर्वास्त्वं चिन्तय यथाविधि ।
धाता त्वं सर्वभूतानां त्वं प्रभुर्जगतो गुरुः ॥ ९५ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन् ! तुम सम्पूर्ण लोकोंके समस्त कर्मों और उनसे मिलनेवाली गतियोंका विधिपूर्वक चिन्तन करो; क्योंकि तुम्हीं सम्पूर्ण प्राणियोंके धाता हो, तुम्हीं सबके प्रभु हो और तुम्हीं इस जगत्‌के गुरु हो ॥ ९५ ॥

त्वय्यावेशितभारोऽहं धृतिं प्राप्स्याम्यथाञ्जसा ।
यदा च सुरकार्यं ते अविषह्यं भविष्यति ॥ ९६ ॥
प्रादुर्भावं गमिष्यामि तदाऽऽत्मज्ञानदैशिकः ।
एवमुक्त्वा हयशिरास्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ९७ ॥

तुमपर यह भार रखकर मैं अनायास ही धैर्य धारण करूँगा । जब कभी तुम्हारे लिये देवताओंका कार्य असह्य हो जायगा, तब मैं आत्मज्ञानका उपदेश देनेके लिये तुम्हारे सामने प्रकट हो जाऊँगा । ऐसा कहकर भगवान् हयग्रीव वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ९६-९७ ॥

तेनानुशिष्टो ब्रह्मापि स्वलोकमचिराद् गतः ।
एवमेष महाभागः पद्मनाभः सनातनः ॥ ९८ ॥
यज्ञेष्वग्रहरः प्रोक्तो यज्ञधारी च नित्यदा ।
निवृत्तिं चास्थितो धर्मं गतिमक्षयधर्मिणाम् ।
प्रवृत्तिधर्मान् विदधे कृत्वा लोकस्य चित्रताम् ॥ ९९ ॥

भगवान्‌का यह उपदेश पाकर ब्रह्मा भी शीघ्र ही अपने लोकको चले गये । इस प्रकार ये महाभाग सनातन पुरुष भगवान् पद्मनाभ यज्ञोंमें अग्रभोक्ता और सदा ही यज्ञके पोषक एवं प्रवर्तक बताये गये हैं । वे कभी अक्षयधर्मा महात्माओंके निवृत्तिधर्मका आश्रय लेते हैं और कभी लोककी विचित्र चित्तवृत्ति करके प्रवृत्तिधर्मका विधान करते हैं ॥

स आदिः स मध्यः स चान्तः प्रजानां
स धाता स धेयं स कर्ता स कार्यम् ।
युगान्ते प्रसुप्तः सुसंक्षिप्य लोकान्
युगादौ प्रबुद्धो जगद्ध्युत्ससर्ज ॥ १०० ॥

वे ही भगवान् नारायण प्रजाके आदि, मध्य और अन्त हैं । वे ही धाता, धेय, कर्ता और कार्य हैं । वे ही युगान्तके समय सम्पूर्ण लोकोंका संहार करके सो जाते हैं और वे ही कल्पके आदिमें जाग्रत् हो सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करते हैं ॥ १०० ॥

तस्मै नमध्वं देवाय निर्गुणाय महात्मने ।
अजाय विश्वरूपाय धाम्ने सर्वदिवौकसाम् ॥ १०१ ॥

शिष्यो ! तुम उन्हीं अजन्मा, विश्वरूप, सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय निर्गुण परमात्मा नारायणदेवको नमस्कार करो ॥

महाभूताधिपतये रुद्राणां पतये तथा ।
आदित्यपतये चैव वसूनां पतये तथा ॥ १०२ ॥

वे ही महाभूतोंके अधिपति तथा रुद्रों, आदित्यों और वसुओंके स्वामी हैं । उन्हें नमस्कार करो ॥ १०२ ॥

अश्विभ्यां पतये चैव मरुतां पतये तथा ।
वेदयज्ञाधिपतये वेदाङ्गपतयेऽपि च ॥ १०३ ॥

वे अश्विनीकुमारोंके पति, मरुद्गणोंके पालक, वेद और यज्ञोंके अधिपति तथा वेदाङ्गोंके भी स्वामी हैं । उन्हें प्रणाम करो ॥ १०३ ॥

समुद्रवासिने नित्यं हरये मुञ्जकेशिने ।
शान्ताय सर्वभूतानां मोक्षधर्मानुभाषिणे ॥१०४॥

जो सदा समुद्रमें निवास करते हैं, जिनका केश मूँजके समान है तथा जो समस्त प्राणियोंको मोक्षधर्मका उपदेश देते हैं, उन शान्तस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार करो ॥ १०४ ॥

तपसां तेजसां चैव पतये यशसामपि ।
वचसां पतये नित्यं सरितां पतये तथा ॥१०५॥

जो तप, तेज, यश, वाणी तथा सरिताओंके स्वामी एवं नित्य संरक्षक हैं, उन श्रीहरिको नमस्कार करो ॥ १०५॥

कपर्दिने वराहाय एकशृङ्गाय धीमते ।
विवस्वतेऽश्वशिरसे चतुर्मूर्तिधृते सदा ॥१०६॥

जो जटाजूटधारी, एक सींगवाले वराह, बुद्धिमान् विवस्वान्, हयग्रीव तथा चतुर्मूर्तिधारी हैं, उन श्रीनारायणदेवको सदा नमस्कार करो ॥ १०६ ॥

गुह्याय ज्ञानदृश्याय अक्षराय क्षराय च ।
एष देवः संचरति सर्वत्रगतिरव्ययः ॥१०७॥

जिनका स्वरूप गुह्य है, जो ज्ञानरूपी नेत्रसे ही देखे जाते हैं तथा अक्षर और क्षररूप हैं, उन श्रीहरिको प्रणाम करो। ये अविनाशी नारायणदेव सर्वत्र संचरण करते हैं; इनकी सर्वत्र गति है ॥ १०७ ॥

एष चैतत् परं ब्रह्म ज्ञेयो विज्ञानचक्षुषा ।
एवमेतत् पुरा दृष्टं मया वै ज्ञानचक्षुषा ॥१०८॥

ये ही परब्रह्म हैं। विज्ञानमय नेत्रसे ही इनका दर्शन एवं ज्ञान हो सकता है । पूर्वकालमें मैंने ज्ञानदृष्टिसे ही इनका इस प्रकार साक्षात्कार किया था ॥ १०८ ॥

कथितं तच्च वै सर्वं मया पृष्टेन तत्त्वतः ।
क्रियतां मद्वचः शिष्याः सेव्यतां हरिरीश्वरः ।
गीयतां वेदशब्दैश्च पूज्यतां च यथाविधि ॥१०९॥

शिष्यो ! तुमलोगोंके पूछनेपर मैंने ये सारी बातें यथार्थरूपसे कही हैं । तुम मेरी बात मानो और सर्वेश्वर श्रीहरिका सेवन करो । वेदमन्त्रोंद्वारा उन्हींकी महिमाका गान और उन्हींका विधिपूर्वक पूजन करो ॥ १०९ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तास्तु वयं तेन वेदव्यासेन धीमता ।
सर्वे शिष्याः सुतश्चास्य शुकः परमधर्मवित् ॥११०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परम बुद्धिमान् वेदव्यासने हम सब शिष्योंको तथा अपने परम धर्मज्ञ पुत्र शुकदेवको ऐसा ही उपदेश दिया ॥ ११० ॥

स चास्माकमुपाध्यायः सहास्माभिर्विशाम्पते ।
चतुर्वेदोद्गताभिस्तमृग्भिः समभितुष्टुवे ॥१११॥

प्रजानाथ ! फिर हमारे उपाध्याय व्यासने हमारे साथ चारों वेदोंकी ऋचाओंद्वारा उन नारायणदेवका स्तवन किया ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
एवं मेऽकथयद् राजन् पुरा द्वैपायनो गुरुः ॥११२॥

राजन् ! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने कह सुनाया । पूर्वकालमें मेरे गुरु व्यासजीने मुझे ऐसा ही उपदेश दिया था ॥ ११२ ॥

यश्चेदं शृणुयान्नित्यं यश्चैनं परिकीर्तयेत् ।
नमो भगवते कृत्वा समाहितमतिर्नरः ॥११३॥
भवत्यरोगो मतिमान् बलरूपसमन्वितः ।
आतुरो मुच्यते रोगाद् बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥११४॥

जो प्रतिदिन इसे सुनता है और जो भगवान्‌को नमस्कार करके एकाग्रचित्त हो सदा इसका पाठ करता है, वह बुद्धिमान्, बलवान्, रूपवान् तथा रोगरहित होता है । रोगी रोगसे और बँधा हुआ पुरुष बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥

कामान् कामी लभेत् कामं दीर्घं चायुरवाप्नुयात् ।
ब्राह्मणः सर्ववेदी स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत् ॥११५॥

कामनावाला पुरुष मनोवाञ्छित कामनाओंको पाता है तथा बड़ी भारी आयु प्राप्त कर लेता है । ब्राह्मण सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञाता और क्षत्रिय विजयी होता है ॥ ११५ ॥

वैश्यो विपुललाभः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् ।
अपुत्रो लभते पुत्रं कन्या चैवेप्सितं पतिम् ॥११६॥

वैश्य इसको पढ़ने और सुननेसे महान् लाभका भागी होता है । शूद्र सुख पाता है । पुत्रहीनको पुत्र और कन्याको मनोवाञ्छित पतिकी प्राप्ति होती है ॥ ११६ ॥

लग्नगर्भा विमुच्येत गर्भिणी जनयेत् सुतम् ।
वन्ध्या प्रसवमाप्नोति पुत्रपौत्रसमृद्धिमत् ॥११७॥

जिसका गर्भ अटक गया हो, वह इसको सुननेसे उस संकटसे छूट जाती है । गर्भवती स्त्री यथासमय पुत्र पैदा करती है । वन्ध्या भी प्रसवको प्राप्त होती है तथा उसका वह प्रसव पुत्र-पौत्र एवं समृद्धिसे सम्पन्न होता है ॥११७॥

क्षेमेण गच्छेदध्वानमिदं यः पठते पथि ।
यो यं कामं कामयते स तमाप्नोति च ध्रुवम् ॥११८॥

जो मार्गमें इसका पाठ करता है, वह कुशलतापूर्वक अपनी यात्रा पूरी करता है । इसे पढ़ने और सुननेवाला पुरुष जिस वस्तुकी इच्छा करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है ॥ ११८ ॥

इदं महर्षेर्वचनं विनिश्चितं
महात्मनः पुरुषवरस्य कीर्तितम् ।
समागमं चर्षिदिवौकसामिमं
निशम्य भक्ताः सुसुखं लभन्ते ॥११९॥

पुरुषप्रवर महात्मा महर्षि व्यासके कहे हुए इस सिद्धान्तभूत वचनको तथा ऋषियों और देवताओंके समागमसम्बन्धी इस वृत्तान्तको श्रवण करके भक्तजन उत्तम सुख पाते हैं ॥ ११९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनको अपने प्रभावका वर्णन करते हुए अपने नामोंकी व्युत्पत्ति एवं माहात्म्य बताना

जनमेजय उवाच

अस्तौषीद् यैरिमं व्यासः सशिष्यो मधुसूदनम्।
नामभिर्विविधैरेषां निरुक्तं भगवन् मम ॥ १ ॥
वक्तुमर्हसि शुश्रूषोः प्रजापतिपतेर्हरेः।
श्रुत्वा भवेयं यत् पूतः शरच्चन्द्र इवामलः ॥ २ ॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! शिष्योंसहित महर्षि व्यासने जिन नाना प्रकारके नामोंद्वारा इन मधुसूदनका स्तवन किया था, उनका निर्वचन (व्युत्पत्ति) मुझे बतानेकी कृपा करें। मैं प्रजापतियोंके पति भगवान् श्रीहरिके नामोंकी व्याख्या सुनना चाहता हूँ; क्योंकि उन्हें सुनकर मैं शरच्चन्द्रके समान निर्मल एवं पवित्र हो जाऊँगा ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् यथाऽऽचष्ट फाल्गुनस्य हरिः प्रभुः।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनो नाम्नां निरुक्तं गुणकर्मजम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! भगवान् श्रीहरिने अर्जुनपर प्रसन्न होकर उनसे गुण और कर्मके अनुसार स्वयं अपने नामोंकी जैसी व्याख्या की थी, वही तुम्हें सुना रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

नामभिः कीर्तितैस्तस्य केशवस्य महात्मनः।
पृष्टवान् केशवं राजन् फाल्गुनः परवीरहा ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! जिन नामोंके द्वारा उन महात्मा केशवका कीर्तन किया जाता है, शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने श्रीकृष्णसे उनके विषयमें इस प्रकार पूछा ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

भगवन् भूतभव्येश सर्वभूतसृगव्यय।
लोकधाम जगन्नाथ लोकानामभयप्रद ॥ ५ ॥
यानि नामानि ते देव कीर्तितानि महर्षिभिः।
वेदेषु सपुराणेषु यानि गुह्यानि कर्मभिः ॥ ६ ॥
तेषां निरुक्तं त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि केशव।
न ह्यन्यो वर्णयेन्नाम्नां निरुक्तं त्वामृते प्रभो ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके स्वामी, सम्पूर्ण भूतोंके स्रष्टा, अविनाशी, जगदाधार तथा सम्पूर्ण लोकोंको अभय देनेवाले जगन्नाथ, भगवन्, नारायणदेव ! महर्षियोंने आपके जो-जो नाम कहे हैं तथा पुराणों और वेदोंमें कर्मानुसार जो-जो गोपनीय नाम पढ़े गये हैं, उन सबकी व्याख्या मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ। प्रभो ! केशव ! आपके सिवा दूसरा कोई उन नामोंकी व्युत्पत्ति नहीं बता सकता ॥ ५—७ ॥

श्रीभगवानुवाच

ऋग्वेदे सयजुर्वेदे तथैवाथर्वसामसु।
पुराणे सोपनिषदे तथैव ज्यौतिषेऽर्जुन ॥ ८ ॥
सांख्ये च योगशास्त्रे च आयुर्वेदे तथैव च।
बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः ॥ ९ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—अर्जुन ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, उपनिषद्, पुराण, ज्योतिष, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र तथा आयुर्वेदमें महर्षियोंने मेरे बहुत-से नाम कहे हैं ॥

गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि च कानिचित्।
निरुक्तं कर्मजानां त्वं शृणुष्व प्रयतोऽनघ ॥ १० ॥

उनमें कुछ नाम तो गुणोंके अनुसार हैं और कुछ कर्मोंसे हुए हैं। निष्पाप अर्जुन ! तुम पहले एकाग्रचित्त होकर मेरे कर्मजनित नामोंकी व्याख्या सुनो ॥ १० ॥

कथ्यमानं मया तात त्वं हि मेऽर्धं स्मृतः पुरा।
नमोऽतियशसे तस्मै देहिनां परमात्मने ॥ ११ ॥
नारायणाय विश्वाय निर्गुणाय गुणात्मने।

तात ! मैं तुमसे उन नामोंकी व्युत्पत्ति बताता हूँ; क्योंकि पूर्वकालसे ही तुम मेरे आधे शरीर माने गये हो। जो समस्त देहधारियोंके उत्कृष्ट आत्मा हैं, उन महायशस्वी, निर्गुण-सगुणरूप विश्वात्मा भगवान् नारायणदेवको नमस्कार है।

यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रश्च क्रोधसम्भवः ॥ १२ ॥
योऽसौ योनिर्हि सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च।

जिनके प्रसादसे ब्रह्मा और क्रोधसे रुद्र प्रकट हुए हैं, वे श्रीहरि ही सम्पूर्ण चराचर जगत्की उत्पत्तिके कारण हैं।

अष्टादशगुणं यत् तत् सत्त्वं सत्त्ववतां वर ॥ १३ ॥
प्रकृतिः सा परा मह्यं रोदसी योगधारिणी।
ऋता सत्यामराजय्या लोकानामात्मसंज्ञिता ॥ १४ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अठारह[1] गुणोंवाला जो सत्त्व

---

[1] प्रीति, प्रकाश, उत्कर्ष, हलकापन, सुख, कृपणताका अभाव, रोषका अभाव, संतोष, श्रद्धा, क्षमा, धृति, अहिंसा, शौच, अक्रोध, सरलता, समता, सत्य तथा दोषदृष्टिका अभाव—ये सत्त्वके अठारह गुण

है अर्थात् आदिपुरुष है, वही मेरी परा प्रकृति है। पृथ्वी और आकाशकी आत्मस्वरूपा वह योगबलसे समस्त लोकोंको धारण करनेवाली है। वही ऋता (कर्मफलभूत गतिस्वरूपा), सत्या (त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूपा) अमर, अजेय तथा सम्पूर्ण लोकोंकी आत्मा है ॥ १३-१४ ॥

तस्मात् सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
तपो यज्ञश्च यष्टा च पुराणः पुरुषो विराट् ॥ १५ ॥
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकानां प्रभवाप्ययः ।

उसीसे सृष्टि और प्रलय आदि सम्पूर्ण विकार प्रकट होते हैं। वही तप, यज्ञ और यजमान है, वही पुरातन विराट् पुरुष है, उसे ही अनिरुद्ध कहा गया है। उसीसे लोकोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं ॥ १५½ ॥

ब्राह्मे रात्रिक्षये प्राप्ते तस्य ह्यमिततेजसः ॥ १६ ॥
प्रसादात् प्रादुरभवत् पद्मं पद्मनिभेक्षण ।
ततो ब्रह्मा समभवत् स तस्यैव प्रसादजः ॥ १७ ॥

जब प्रलयकी रात व्यतीत हुई थी, उस समय उन अमित तेजस्वी अनिरुद्धकी कृपासे एक कमल प्रकट हुआ। कमलनयन अर्जुन ! उसी कमलसे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ। वे ब्रह्मा भगवान् अनिरुद्धके प्रसादसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥

अह्नः क्षये ललाटाच्च सुतो देवस्य वै तथा ।
क्रोधाविष्टस्य संजज्ञे रुद्रः संहारकारकः ॥ १८ ॥

ब्रह्माका दिन बीतनेपर क्रोधके आवेशमें आये हुए उस देवके ललाटसे उनके पुत्ररूपमें संहारकारी रुद्र प्रकट हुए ॥

एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजावुभौ ।
तदादेशितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ॥ १९ ॥

ये दोनों श्रेष्ठ देवता—ब्रह्मा और रुद्र भगवान्‌के प्रसाद और क्रोधसे प्रकट हुए हैं तथा उन्हींके बताये हुए मार्गका आश्रय ले सृष्टि और संहारका कार्य पूर्ण करते हैं ॥ १९ ॥

निमित्तमात्रं तावत्र सर्वप्राणिवरप्रदौ ।
कपर्दी जटिलो मुण्डः श्मशानगृहसेवकः ॥ २० ॥
उग्रव्रतचरो रुद्रो योगी परमदारुणः ।
दक्षक्रतुहरश्चैव भगनेत्रहरस्तथा ॥ २१ ॥

समस्त प्राणियोंको वर देनेवाले वे दोनों देवता सृष्टि और प्रलयके निमित्तमात्र हैं। (वास्तवमें तो वह सब कुछ भगवान्‌की इच्छासे ही होता है।) इनमेंसे संहारकारी रुद्रके कपर्दी (जटाजूटधारी), जटिल, मुण्ड, श्मशानगृहका सेवन करनेवाले, उग्र व्रतका आचरण करनेवाले, रुद्र, योगी, परम दारुण, दक्षयज्ञ-विध्वंसक तथा भगनेत्रहारी आदि अनेक नाम हैं ॥ २०-२१ ॥

नारायणात्मको ज्ञेयः पाण्डवेय युगे युगे ।
तस्मिन् हि पूज्यमाने वै देवदेवे महेश्वरे ॥ २२ ॥
सम्पूजितो भवेत् पार्थ देवो नारायणः प्रभुः ।

पाण्डुनन्दन ! इन भगवान् रुद्रको नारायणस्वरूप ही जानना चाहिये। पार्थ ! प्रत्येक युगमें उन देवाधिदेव महेश्वरकी पूजा करनेसे सर्वसमर्थ भगवान् नारायणकी ही पूजा होती है ॥ २२½ ॥

अहमात्मा हि लोकानां विश्वेषां पाण्डुनन्दन ॥ २३ ॥
तस्मादात्मानमेवाग्रे रुद्रं सम्पूजयाम्यहम् ।

पाण्डुकुमार ! मैं सम्पूर्ण जगत्‌का आत्मा हूँ। इसलिये मैं पहले अपने आत्मारूप रुद्रकी ही पूजा करता हूँ ॥ २३½ ॥

यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम् ॥ २४ ॥
आत्मानं नार्चयेत् कश्चिदिति मे भावितात्मनः ।

यदि मैं वरदाता भगवान् शिवकी पूजा न करूँ तो दूसरा कोई भी उन आत्मरूप शङ्करका पूजन नहीं करेगा, ऐसी मेरी धारणा है ॥ २४½ ॥

मया प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्तते ॥ २५ ॥
प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम् ।
यस्तं वेत्ति स मां वेत्ति योऽनु तं स हि मामनु ॥ २६ ॥

मेरे किये हुए कार्यको प्रमाण या आदर्श मानकर सब लोग उसका अनुसरण करते हैं। जिनकी पूजनीयता वेद-शास्त्रोंद्वारा प्रमाणित है, उन्हीं देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा सोचकर ही मैं रुद्रदेवकी पूजा करता हूँ। जो रुद्रको जानता है, वह मुझे जानता है। जो उनका अनुगामी है, वह मेरा भी अनुगामी है ॥ २५-२६ ॥

रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम् ।
लोके चरति कौन्तेय व्यक्तिस्थं सर्वकर्मसु ॥ २७ ॥

कुन्तीनन्दन ! रुद्र और नारायण दोनों एक ही स्वरूप हैं, जो दो स्वरूप धारण करके भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें स्थित हो संसारमें यज्ञ आदि सब कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ २७ ॥

न हि मे केनचिद् देयो वरः पाण्डवनन्दन ।
इति संचिन्त्य मनसा पुराणं रुद्रमीश्वरम् ॥ २८ ॥
पुत्रार्थमाराधितवानहमात्मानमात्मना ।

पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले अर्जुन ! मुझे दूसरा कोई वर नहीं दे सकता; यही सोचकर मैंने पुत्र-प्राप्तिके लिये स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप पुराणपुरुष जगदीश्वर रुद्रकी आराधना की थी ॥ २८½ ॥

न हि विष्णुः प्रणमति कस्मैचिद् विबुधाय च ॥ २९ ॥
ऋते आत्मानमेवेति ततो रुद्रं भजाम्यहम् ।

विष्णु अपने आत्मस्वरूप रुद्रके सिवा किसी दूसरे देवताको प्रणाम नहीं करते; इसलिये मैं रुद्रका भजन करता हूँ ॥ २९½ ॥

सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेन्द्रा देवाः सहर्षिभिः ॥ ३० ॥
अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् ।

ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवता सुरश्रेष्ठ नारायणदेव श्रीहरिकी अर्चना करते हैं ॥ ३०½ ॥

भविष्यतां वर्ततां च भूतानां चैव भारत ॥ ३१ ॥

सर्वेषामग्रणीर्विष्णुः सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः ।

भरतनन्दन ! भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाले समस्त पुरुषोंके भगवान् विष्णु ही अग्रगण्य हैं; अतः सबको सदा उन्हींकी सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥३१½॥

नमस्व हव्यदं विष्णुं तथा शरणदं नम ॥ ३२ ॥
वरदं नमस्व कौन्तेय हव्यकव्यभुजं नम ।

कुन्तीकुमार ! तुम हव्यदाता विष्णुको नमस्कार करो, शरणदाता श्रीहरिको शीश झुकाओ, वरदाता विष्णुकी वन्दना करो तथा हव्यकव्यभोक्ता भगवान्‌को प्रणाम करो ॥ ३२½ ॥

चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि मे श्रुतम् ॥ ३३ ॥
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः ।
अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् ॥ ३४ ॥

तुमने मुझसे सुना है कि आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके मनुष्य मेरे भक्त हैं । इनमें जो एकान्ततः मेरा ही भजन करते हैं, दूसरे देवताओंको अपना आराध्य नहीं मानते हैं, वे सबसे श्रेष्ठ हैं । निष्कामभावसे समस्त कर्म करनेवाले उन भक्तोंकी परमगति मैं ही हूँ ॥

ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः ।
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक् ॥ ३५ ॥

जो शेष तीन प्रकारके भक्त हैं, वे फलकी इच्छा रखनेवाले माने गये हैं । अतः वे सभी नीचे गिरनेवाले होते हैं—पुण्यभोगके अनन्तर स्वर्गादिलोकोंसे च्युत हो जाते हैं, परंतु ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ फल (भगवत्प्राप्ति) का भागी होता है ॥

ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः ।
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत् परम् ॥ ३६ ॥

ज्ञानी भक्त ब्रह्मा, शिव तथा दूसरे देवताओंकी निष्कामभावसे सेवा करते हुए भी अन्तमें मुझ परमात्माको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥

भक्तं प्रति विशेषस्ते एष पार्थानुकीर्तितः ।
त्वं चैवाहं च कौन्तेय नरनारायणौ स्मृतौ ॥ ३७ ॥
भारावतरणार्थं तु प्रविष्टौ मानुषीं तनुम् ।

पार्थ ! यह मैंने तुमसे भक्तोंका अन्तर बतलाया है । कुन्तीनन्दन ! तुम और मैं दोनों ही नर-नारायण नामक ऋषि हैं और पृथ्वीका भार उतारनेके लिये हमने मानव-शरीरमें प्रवेश किया है॥

जानाम्यध्यात्मयोगांश्च योऽहं यस्माच्च भारत ॥ ३८ ॥
निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाऽऽभ्युदयिकोऽपि च ।
नराणामयनं ख्यातमहमेकः सनातनः ॥ ३९ ॥

भारत ! मैं अध्यात्मयोगोंको जानता हूँ तथा मैं कौन हूँ और कहाँसे आया हूँ—इस बातका भी मुझे ज्ञान है । लौकिक अभ्युदयका साधक प्रवृत्तिधर्म और निःश्रेयस प्रदान करनेवाला निवृत्तिधर्म भी मुझसे अज्ञात नहीं है । एकमात्र मैं सनातन पुरुष ही सम्पूर्ण मनुष्योंका सुविख्यात आश्रयभूत नारायण हूँ ॥ ३८-३९ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
अयनं मम तत् पूर्वमतो नारायणो ह्यहम् ॥ ४० ॥

नरसे उत्पन्न होनेके कारण जलको नार कहा गया है । वह नार (जल) पहले मेरा अयन (निवासस्थान) था; इसलिये ही मैं 'नारायण' कहलाता हूँ ॥ ४० ॥

छादयामि जगद् विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः ।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ॥ ४१ ॥

(जो सबमें व्याप्त हो अथवा जो किसीका निवासस्थान हो, उसे 'वासु' कहते हैं ।) मैं ही सूर्यरूप धारण करके अपनी किरणोंसे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करता हूँ तथा मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका वासस्थान हूँ; इसलिये मेरा नाम 'वासुदेव' है ॥

गतिश्च सर्वभूतानां प्रजनश्चापि भारत ।
व्याप्ता मे रोदसी पार्थ कान्तिश्चाभ्यधिका मम ॥ ४२ ॥
अधिभूतानि चान्तेषु तदिच्छंश्चास्मि भारत ।
क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः ॥ ४३ ॥

भारत ! मैं सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति और उत्पत्तिका स्थान हूँ । पार्थ ! मैंने आकाश और पृथ्वीको व्याप्त कर रक्खा है । मेरी कान्ति सबसे बढ़कर है । भरतनन्दन ! समस्त प्राणी अन्तकालमें जिस ब्रह्मको पानेकी इच्छा करते हैं, वह भी मैं ही हूँ । कुन्तीकुमार ! मैं सबका अतिक्रमण करके स्थित हूँ । इन सभी कारणोंसे मेरा नाम 'विष्णु' हुआ है* ॥ ४२-४३ ॥

दमात् सिद्धिं परीप्सन्तो मां जनाः कामयन्ति ह ।
दिवं चोर्वीं च मध्यं च तस्माद् दामोदरो ह्यहम् ॥ ४४ ॥

मनुष्य दम (इन्द्रियसंयम) के द्वारा सिद्धि पानेकी इच्छा करते हुए मुझे पाना चाहते हैं तथा दमके द्वारा ही वे पृथ्वी, स्वर्ग एवं मध्यवर्ती लोकोंमें ऊँची स्थिति पानेकी अभिलाषा करते हैं, इसलिये मैं 'दामोदर' कहलाता हूँ (दम एव दामः तेन उदीर्यति—उन्नतिं प्राप्नोति यस्मात् स दामोदरः—यह दामोदर शब्दकी व्युत्पत्ति है) ॥ ४४ ॥

पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेद आपोऽमृतं तथा ।
ममैतानि सदा गर्भः पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम् ॥ ४५ ॥

अन्न, वेद, जल और अमृतको पृश्नि कहते हैं । ये सदा मेरे गर्भमें रहते हैं; इसलिये मेरा नाम 'पृश्निगर्भ' है ॥

ऋषयः प्राहुरेवं मां त्रितं कूपनिपातितम् ।
पृश्निगर्भ त्रितं पाहीत्येकतद्वितपातितम् ॥ ४६ ॥
ततः स ब्रह्मणः पुत्र आद्यो ह्यृषिवरस्त्रितः ।
उत्ततारोदपानाद् वै पृश्निगर्भानुकीर्तनात् ॥ ४७ ॥

---

* 'विच्छ गतौ' (तुदादि), 'विच्छ दीप्तौ' (चुरादि), 'विषु सेचने' (भ्वादि), 'विष्लृ व्याप्तौ' (जुहोत्यादि), 'विश प्रवेशने' (तुदादि), 'ष्णु प्रस्रवणे' (अदादि)—इन सभी धातुओंसे 'विष्णु' शब्दकी सिद्धि होती है, अतः गति, दीप्ति, सेचन, व्याप्ति, प्रवेश तथा प्रस्रवण—ये सभी अर्थ 'विष्णु' शब्दमें निहित हैं ।

जब त्रितमुनि अपने भाइयोंद्वारा कुएँमें गिरा दिये गये, उस समय ऋषियोंने मुझसे इस प्रकार प्रार्थना की—'पृश्निगर्भ ! आप एकत और द्वितके गिराये हुए त्रितको डूबनेसे बचाइये।' उस समय मेरे पृश्निगर्भ नामका बारंबार कीर्तन करनेसे ब्रह्माजीके आदिपुत्र ऋषिप्रवर त्रित उस कुएँसे बाहर हो गये॥

सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत ।
अंशवो यत् प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः ॥ ४८ ॥
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः ।

जगत्‌को तपानेवाले सूर्यकी तथा अग्नि और चन्द्रमाकी जो किरणें प्रकाशित होती हैं, वे सब मेरा केश कहलाती हैं। उस केशसे युक्त होनेके कारण सर्वज्ञ द्विजश्रेष्ठ मुझे 'केशव' कहते हैं ॥ ४८½ ॥

एवं हि वरदं नाम केशवेति ममार्जुन ।
देवानामथ सर्वेषामृषीणां च महात्मनाम् ॥ ४९ ॥

अर्जुन ! इस प्रकार मेरा 'केशव' नाम सम्पूर्ण देवताओं और महात्मा ऋषियोंके लिये वरदायक है ॥ ४९ ॥

अग्निः सोमेन संयुक्त एकयोनित्वमागतः ।
अग्नीषोममयं तस्माज्जगत् कृत्स्नं चराचरम् ॥ ५० ॥

अग्नि सोमके साथ संयुक्त हो एक योनिको प्राप्त हुए, इसलिये सम्पूर्ण चराचर जगत् अग्नि-सोममय है ॥ ५० ॥

अपि हि पुराणे भवति एकयोन्यात्मकावग्नीषोमौ देवाश्चाग्निमुखा इति एकयोनित्वाच्च परस्परमर्हन्तो लोकान् धारयन्त इति ॥ ५१ ॥

पुराणमें यह कहा गया है कि अग्नि और सोम एकयोनि हैं तथा सम्पूर्ण देवताओंके मुख अग्नि हैं। एकयोनि होनेके कारण ये एक दूसरेको आनन्द प्रदान करते और समस्त लोकोंको धारण करते हैं ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये एकचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सृष्टिकी प्रारम्भिक अवस्थाका वर्णन, ब्राह्मणोंकी महिमा बतानेवाली अनेक प्रकारकी संक्षिप्त कथाओं-का उल्लेख, भगवन्नामोंके हेतु तथा रुद्रके साथ होनेवाले युद्धमें नारायणकी विजय

अर्जुन उवाच

अग्नीषोमौ कथं पूर्वमेकयोनी प्रवर्तितौ ।
एष मे संशयो जातस्तं छिन्धि मधुसूदन ॥ १ ॥

अर्जुनने पूछा—मधुसूदन ! अग्नि और सोम पूर्वकालमें एकयोनि कैसे हो गये ? मेरे मनमें यह संदेह उत्पन्न हुआ है। आप इसका निवारण कीजिये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते वर्तयिष्यामि पुराणं पाण्डुनन्दन ।
आत्मतेजोद्भवं पार्थ शृणुष्वैकमना मम ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—पाण्डुनन्दन ! कुन्तीकुमार ! अपने तेजके उद्भवका प्राचीन वृत्तान्त मैं तुम्हें हर्षपूर्वक बताऊँगा। तुम एकचित्त होकर मुझसे सुनो ॥ २ ॥

सम्प्रक्षालनकालेऽतिक्रान्ते चतुर्युगसहस्रान्ते अव्यक्ते सर्वभूते प्रलये सर्वभूतस्था वरजङ्गमे ज्योतिर्धरणिवायुरहितेऽन्धे तमसि जलैकार्णवे लोके ॥ ३ ॥

एक सहस्र चतुर्युग बीत जानेपर सम्पूर्ण लोकोंके लिये प्रलयकाल आ पहुँचा था। समस्त भूतोंका अव्यक्तमें लय हो गया था। स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी विलीन हो गये थे। पृथ्वी, तेज और वायुका कहीं पता नहीं था। चारों ओर घोर अन्धकार छा रहा था तथा समस्त संसार एकार्णवके जलमें निमग्न हो चुका था ॥ ३ ॥

आप इत्येवं ब्रह्मभूतसंज्ञकेऽद्वितीये प्रतिष्ठिते ॥ ४ ॥

सब ओर केवल जल-ही-जल स्थित था। दूसरा कोई तत्त्व नहीं दिखायी देता था, मानो एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित हो ॥ ४ ॥

न वै रात्र्यां न दिवसे न सति नासति न व्यक्ते न चाप्यव्यक्ते व्यवस्थिते ॥ ५ ॥

उस समय न रात थी, न दिन। न सत् था, न असत्। न व्यक्त था और न अव्यक्तकी ही स्थिति थी ॥ ५ ॥

एवमस्यां व्यवस्थायां नारायणगुणाश्रयादजराम-रादनिन्द्रियादग्राह्यादसम्भवात् सत्यादहिंस्राल्ललामाद् विविधप्रवृत्तिविशेषाद्वैरादक्षयादमरादजरादमूर्तितः सर्वव्यापिनः सर्वकर्तुः शाश्वतस्तस्मात् पुरुषः प्रादुर्भूतो हरिरव्ययः ॥ ६ ॥

इस अवस्थामें नारायणके गुणोंका आश्रय लेकर रहनेवाले उस अजर, अमर, इन्द्रियरहित, अग्राह्य, असम्भव, सत्य-स्वरूप, हिंसारहित, सुन्दर, नाना प्रकारकी विशेष प्रवृत्तियोंके हेतुभूत, वैररहित, अक्षय, अमर, जरारहित, निराकार, सर्व-व्यापी तथा सर्वकर्ता तत्त्वसे अविनाशी सनातन पुरुष हरिका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ६ ॥

निदर्शनमपि ह्यत्र भवति ॥ ७ ॥

इस विषयमें श्रुतिका यह दृष्टान्त भी है ॥ ७ ॥

नासीदहो न रात्रिरासीन्न सदासीन्नासदासीत् तम एव पुरस्तादभवद् विश्वरूपम् । सा विश्वरूपस्य रजनी हि एवमस्यार्थोऽनुभाष्यः ॥ ८ ॥

उस प्रलयकालमें न दिन था न रात थी, न सत् था न असत् था, केवल तम ही सामने था। वही सर्वरूप हो रहा था। वही विश्वात्माकी रात्रि है। इस प्रकार इस श्रुतिका अर्थ कहना और समझना चाहिये ॥ ८ ॥

तस्येदानीं तमसः सम्भवस्य पुरुषस्य ब्रह्मयोनेर्ब्रह्मणः प्रादुर्भावे स पुरुषः प्रजाः सिसृक्षमाणो नेत्राभ्यामग्नीषोमौ ससर्ज। ततो भूतसर्गेषु सृष्टेषु प्रजाक्रमवशाद् ब्रह्मक्षत्रमुपातिष्ठत्। यः सोमस्तद् ब्रह्म यद् ब्रह्म ते ब्राह्मणा योऽग्निस्तत् क्षत्रं क्षत्राद् ब्रह्म बलवत्तरम्। कस्मादिति लोकप्रत्यक्षगुणमेतत्तद्यथा। ब्राह्मणेभ्यः परं भूतं नोत्पन्नपूर्वं दीप्यमानेऽग्नौ जुहोति। यो ब्राह्मणमुखे जुहोतीति कृत्वा ब्रवीमि भूतसर्गः कृतो ब्रह्मणा भूतानि च प्रतिष्ठाप्य त्रैलोक्यं धार्यत इति मन्त्रवादोऽपि हि भवति ॥ ९ ॥

उस समय उस मायाविशिष्ट ईश्वरसे प्रकट हुए उस ब्रह्मयोनि पुरुषसे जब ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ, तब उस पुरुषने प्रजासृष्टिकी इच्छासे अपने नेत्रोंद्वारा अग्नि और सोमको उत्पन्न किया। इस प्रकार भौतिक सर्गकी सृष्टि हो जानेपर प्रजाकी उत्पत्तिके समय क्रमशः ब्रह्म और क्षत्रका प्रादुर्भाव हुआ। जो सोम है, वही ब्रह्म है और जो ब्रह्म है, वही ब्राह्मण। जो अग्नि है, वही क्षत्र या क्षत्रिय जाति है। क्षत्रियसे ब्राह्मण जाति अधिक प्रबल है। यदि कहो कैसे? तो इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मणकी यह प्रबलताका गुण सब लोगोंको प्रत्यक्ष है। यथा ब्राह्मणसे बढ़कर कोई प्राणी पहले कभी उत्पन्न नहीं हुआ। जो ब्राह्मणके मुखमें भोजन देता है, वह मानो प्रज्वलित अग्निमें आहुति प्रदान करता है। यही सोचकर मैं ऐसा कहता हूँ। ब्रह्माने भूतोंकी सृष्टि की और सम्पूर्ण भूतोंको यथास्थान स्थापित करके वे तीनों लोकोंको धारण करते हैं। यह मन्त्रवाक्य भी इसी बातका समर्थक है॥ ९ ॥

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितो देवानां मानुषाणां च जगत इति ॥ १० ॥

अग्ने! तुम यज्ञोंके होता तथा सम्पूर्ण देवताओं, मनुष्यों और सारे जगत्के हितैषी हो ॥ १० ॥

निदर्शनं चात्र भवति विश्वेषामग्ने यज्ञानां त्वं होतेति। त्वं हितो देवैर्मनुष्यैर्जगत इति ॥ ११ ॥

इस विषयमें यह दृष्टान्त भी है—हे अग्निदेव! तुम सम्पूर्ण यज्ञोंके होता हो। समस्त देवताओं तथा मनुष्योंसहित जगत्के हितैषी हो ॥ ११ ॥

अग्निर्हि यज्ञानां होता कर्ता स चाग्निर्ब्रह्म ॥१२॥

अग्निदेव यज्ञोंके होता और कर्ता हैं। वे अग्निदेव ब्राह्मण हैं ॥ १२ ॥

न ह्यृते मन्त्राणां हवनमस्ति न विना पुरुषं तपः सम्भवति। हविर्मन्त्राणां सम्पूजा विद्यते देवमानुषऋषीणामनेन त्वं होतेति नियुक्तः। ये च मानुषहोत्राधिकारास्ते च ब्राह्मणस्य हि याजनं विधीयते न क्षत्रवैश्ययोर्द्विजात्योस्तस्माद् ब्राह्मणा ह्यग्निभूता यज्ञानुद्वहन्ति। यज्ञास्ते देवांस्तर्पयन्ति देवाः पृथिवीं भावयन्ति शतपथेऽपि हि ब्राह्मणमुखे भवति ॥१३॥

क्योंकि मन्त्रोंके बिना हवन नहीं होता और पुरुषके बिना तपस्या सम्भव नहीं होती। हविष्ययुक्त मन्त्रोंके सम्बन्धसे देवताओं, मनुष्यों और ऋषियोंकी पूजा होती है; इसलिये हे अग्निदेव! तुम होता नियुक्त किये गये हो। मनुष्योंमें जो होताके अधिकारी हैं, वे ब्राह्मणके ही हैं; क्योंकि उसीके लिये यज्ञ करानेका विधान है। द्विजातियोंमें जो क्षत्रिय और वैश्य हैं, उन्हें यज्ञ करानेका अधिकार नहीं है; इसलिये अग्निस्वरूप ब्राह्मण ही यज्ञोंका भार वहन करते हैं। वे यज्ञ देवताओंको तृप्त करते हैं और देवता भूमण्डलको धन-धान्यसे सम्पन्न बनाते हैं। शतपथ ब्राह्मणमें भी ब्राह्मणके मुखमें आहुति देनेकी बात कही गयी है ॥ १३ ॥

अग्नौ समिद्धे स जुहोति यो विद्वान् ब्राह्मणमुखेनाहुतिं जुहोति ॥ १४ ॥

जो विद्वान् ब्राह्मणके मुखरूपी अग्निमें अन्नकी आहुति देता है, वह मानो प्रज्वलित अग्निमें होम करता है ॥ १४ ॥

एवमप्यग्निभूता ब्राह्मणा विद्वांसोऽग्निं भावयन्ति। अग्निर्विष्णुः सर्वभूतान्यनुप्रविश्य प्राणान् धारयति ॥ १५ ॥

इस प्रकार ब्राह्मण अग्निस्वरूप हैं। विद्वान् ब्राह्मण अग्निकी आराधना करते हैं। अग्निदेव विष्णु हैं। वे समस्त प्राणियोंके भीतर प्रवेश करके उनके प्राणोंको धारण करते हैं॥

अपि चात्र सनत्कुमारगीताः श्लोका भवन्ति—

ब्रह्मा विश्वं सृजत् पूर्वं सर्वादिर्निरवस्कृतम्।
ब्रह्मघोषैर्दिवं गच्छन्त्यमरा ब्रह्मयोनयः ॥ १६ ॥

इसके सिवा इस विषयमें सनत्कुमारजीके द्वारा गाये हुए श्लोक भी उपलब्ध होते हैं। सबके आदिकारण ब्रह्माजीने (जो ब्राह्मण ही हैं) पहले निर्मल विश्वकी सृष्टि की थी। ब्रह्म ही जिनकी उत्पत्तिके स्थान हैं, वे अमर देवता ब्राह्मणोंकी वेदध्वनिसे ही स्वर्गलोकको जाते हैं ॥ १६ ॥

ब्राह्मणानां मतिर्वाक्यं कर्म श्रद्धां तपांसि च।
धारयन्ति महीं द्यां च शैक्यो वागमृतं तथा ॥ १७ ॥

जैसे छींका दूध, दही आदिको धारण करता है, उसी प्रकार ब्राह्मणोंकी बुद्धि, वाक्य, कर्म, श्रद्धा, तप और वचनामृत पृथ्वी और स्वर्गको धारण करते हैं ॥ १७ ॥

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नास्ति मातृसमो गुरुः।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति प्रेत्य चेह च भूतये ॥ १८ ॥

सत्यसे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है। माताके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है तथा ब्राह्मणोंसे बढ़कर इहलोक और पर-

लोकमें कल्याण करनेवाला और कोई नहीं है ॥ १८ ॥

नैषामुक्षा वहति नोत वाहा
न गर्गरो मथ्यति सम्प्रदाने ।
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति
येषां राष्ट्रे ब्राह्मणा वृत्तिहीनाः ॥ १९ ॥

जिनके राज्यमें ब्राह्मणोंके लिये कोई आजीविका न हो, उन राजाओंकी सवारी, बैल और घोड़े नहीं रहते, दूसरोंको देनेके लिये उनके यहाँ दही-दूधके मटके नहीं मथे जाते हैं तथा वे अपनी मर्यादासे भ्रष्ट होकर लुटेरे हो जाते हैं ॥१९॥

वेदपुराणेतिहासप्रामाण्यान्नारायणमुखोद्भताः सर्वात्मानः सर्वकर्तारः सर्वभावाश्च ब्राह्मणाश्च ॥२०॥

वेद, पुराण और इतिहासके प्रमाणसे यह सिद्ध है कि ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति भगवान् नारायणके मुखसे हुई है; अतः वे ब्राह्मण सर्वात्मा, सर्वकर्ता और सर्वभावस्वरूप हैं ॥ २० ॥

वाक्संयमकाले हितस्य वरप्रदस्य देवदेवस्य ब्राह्मणाः प्रथमं प्रादुर्भूता ब्राह्मणेभ्यश्च शेषा वर्णाः प्रादुर्भूताः ॥ २१ ॥

वाणीके संयमकालमें सबके हितैषी, वरदाता, देवाधिदेव ब्रह्माजीके द्वारा सबसे पहले ब्राह्मण उत्पन्न हुए। फिर ब्राह्मणोंसे शेष वर्णोंका प्रादुर्भाव हुआ ॥ २१ ॥

इत्थं च सुरासुरविशिष्टा ब्राह्मणा य एव मया ब्रह्मभूतेन पुरा स्वयमेवोत्पादिताः सुरासुरमहर्षयो भूतविशेषाः स्थापिता निगृहीताश्च ॥ २२ ॥

इस प्रकार ब्राह्मण देवताओं और असुरोंसे भी श्रेष्ठ हैं। पूर्वकालमें मैंने स्वयं ही ब्रह्मारूप होकर उन ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया था। देवता, असुर और महर्षि आदि जो भूतविशेष हैं, उन्हें ब्राह्मणोंने ही उनके अधिकारपर स्थापित किया और उनके द्वारा अपराध होनेपर उन्हें दण्ड भी दिया ॥ २२ ॥

अहल्याधर्षणनिमित्तं हि गौतमाद्धरिश्मश्रुतामिन्द्रः प्राप्तः कौशिकनिमित्तं चेन्द्रो मुष्कवियोगं मेषवृषणत्वं चावाप ॥ २३ ॥

अहल्यापर बलात्कार करनेके कारण गौतमके शापसे इन्द्रको हरिश्मश्रु (हरी दाढ़ी-मूछोंसे युक्त) होना पड़ा तथा विश्वामित्रके शापसे इन्द्रको अपना अण्डकोष खो देना पड़ा और उनके भेड़ेके अण्डकोष जोड़े गये ॥ २३ ॥

अश्विनोर्ग्रहप्रतिषेधोद्यतवज्रस्य पुरन्दरस्य च्यवनेन स्तम्भितौ बाहू ॥ २४ ॥

अश्विनीकुमारोंके लिये नियत यज्ञभागका निषेध करनेके लिये वज्र उठाये हुए इन्द्रकी दोनों भुजाओंको महर्षि च्यवनने स्तम्भित कर दिया था ॥ २४ ॥

क्रतुवधप्राप्तमन्युना च दक्षेण भूयस्तपसा चात्मानं संयोज्य नेत्राकृतिरन्या ललाटे रुद्रस्योत्पादिता ॥ २५ ॥

इसी प्रकार दक्ष प्रजापतिने रुद्रद्वारा किये गये अपने यज्ञके विध्वंससे कुपित हो बड़ी भारी तपस्या की और रुद्रदेवके ललाटमें एक तीसरा नेत्र-चिह्न प्रकट कर दिया था ॥

त्रिपुरवधार्थं दीक्षामुपगतस्य रुद्रस्य उशनसा जटाः शिरस उत्कृत्य प्रयुक्तास्ततः प्रादुर्भूता भुजगास्तैरस्य भुजगैः पीड्यमानः कण्ठो नीलतामुपगतः पूर्वे च मन्वन्तरे स्वायम्भुवे नारायणहस्तग्रहणान्नीलकण्ठत्वमेव च ॥ २६ ॥

जिस समय रुद्रने त्रिपुरनिवासी दैत्योंके वधके लिये दीक्षा ली थी, उस समय शुक्राचार्यने अपने मस्तकसे जटाएँ उखाड़कर उन्हींका महादेवजीपर प्रयोग किया। फिर तो उन जटाओंसे बहुतेरे सर्प उत्पन्न हुए, जिन्होंने रुद्रदेवके कण्ठमें डँसना आरम्भ किया। इससे उनका कण्ठ नीला हो गया तथा पहले स्वायम्भुव मन्वन्तरमें नारायणने अपने हाथसे उनका कण्ठ पकड़ा था, इसलिये भी कण्ठका रंग नीला हो जानेसे वे रुद्रदेव नीलकण्ठ हो गये ॥ २६ ॥

अमृतोत्पादने पुरश्चरणतामुपगतस्याङ्गिरसो बृहस्पतेरुपस्पृशतो न प्रसादं गतवत्यः किलापः, अथ बृहस्पतिरपां चुक्रोध यस्मान्ममोपस्पृशतः कलुषीभूता न च प्रसादमुपगतास्तस्मादद्यप्रभृति झषमकरकच्छपजन्तुभिः कलुषीभवतेति, तदा प्रभृत्यापो यादोभिः संकीर्णाः सम्प्रवृत्ताः ॥ २७ ॥

अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिने अमृत उत्पन्न करनेके समय पुरश्चरण आरम्भ किया। उस समय जब वे आचमन करने लगे, तब जल स्वच्छ नहीं हुआ। इससे बृहस्पति जलके प्रति कुपित हो उठे और बोले—'मेरे आचमन करते समय भी तुम स्वच्छ न हुए, मैले ही बने रह गये; इसलिये आजसे मत्स्य, मकर और कछुए आदि जन्तुओंद्वारा तुम कलुषित होते रहो।' तभीसे सारे जलाशय जलजन्तुओंसे भरे रहने लगे।२७।

विश्वरूपो हि वै त्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानामासीत्, स्वस्रीयोऽसुराणां स प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागमदात् परोक्षमसुरेभ्यः ॥ २८ ॥

त्वष्टाके पुत्र विश्वरूप देवताओंके पुरोहित थे। वे असुरोंके भांनजे लगते थे; अतः देवताओंको प्रत्यक्ष और असुरोंको परोक्षरूपसे यज्ञोंका भाग दिया करते थे ॥ २८ ॥

अथ हिरण्यकशिपुं पुरस्कृत्य विश्वरूपमातरं स्वसारमसुरा वरमयाचन्त हे स्वसरयं ते पुत्रस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपस्त्रिशिरा देवानां पुरोहितः प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागमदात् परोक्षमस्माकं ततो देवा वर्धन्ते वयं क्षीयामस्तदेनं त्वं वारयितुमर्हसि तथा यथास्मान् भजेदिति ॥ २९ ॥

कुछ कालके अनन्तर हिरण्यकशिपुको आगे करके सब असुर विश्वरूपकी माताके पास गये और उनसे वर माँगने लगे—'बहिन ! यह तुम्हारा पुत्र विश्वरूप, जिसके तीन सिर हैं,

देवताओंका पुरोहित बना हुआ है। यह देवताओंको तो प्रत्यक्ष भाग देता है और हमलोगोंको परोक्षरूपसे भाग समर्पित करता है। इससे देवता तो बढ़ते हैं और हमलोग निरन्तर क्षीण होते चले जा रहे हैं। तुम इसे मना कर दो, जिससे यह देवताओंको छोड़कर हमारा पक्ष ग्रहण करे' ॥ २९ ॥

अथ विश्वरूपं नन्दनवनमुपगतं मातोवाच पुत्र किं परपक्षवर्धनस्त्वं मातुलपक्षं नाशयसि नार्हस्येवं कर्तुमिति स विश्वरूपो मातुर्वाक्यमनतिक्रमणीयमिति मत्वा सम्पूज्य हिरण्यकशिपुमगात् ॥ ३० ॥

तब एक दिन माताने नन्दनवनमें गये हुए विश्वरूपसे कहा-'बेटा ! क्यों तुम दूसरे पक्षकी वृद्धि करते हुए मामाके पक्षका नाश कर रहे हो ? तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये।' विश्वरूपने माताकी आज्ञाको अलङ्घनीय मानकर उसका सम्मान करके विदा कर दिया और वे स्वयं हिरण्यकशिपुके पास चले गये ॥ ३० ॥

हैरण्यगर्भाच्च वसिष्ठाद्धिरण्यकशिपुः शापं प्राप्तवान् यस्मात् त्वयान्यो वृतो होता तस्मादसमाप्तयज्ञस्त्वमपूर्वात् सत्त्वजाताद् वधं प्राप्स्यसीति तच्छापदानाद्धिरण्यकशिपुः प्राप्तवान् वधम् ॥ ३१ ॥

(हिरण्यकशिपुने उन्हें अपना होता बना लिया)। इधर ब्रह्माजीके पुत्र वसिष्ठकी ओरसे हिरण्यकशिपुको शाप प्राप्त हुआ—'तुमने मेरी अवहेलना करके दूसरा होता चुन लिया है; इसलिये इस यज्ञकी समाप्ति होनेसे पहले ही किसी अभूतपूर्व प्राणीके हाथसे तुम्हारा वध हो जायगा।' वसिष्ठजीके वैसा शाप देनेसे हिरण्यकशिपु वधको प्राप्त हुआ ॥ ३१ ॥

अथ विश्वरूपो मातृपक्षवर्धनोऽत्यर्थं तपस्यभवत् तस्य व्रतभङ्गार्थमिन्द्रो बह्वीः श्रीमत्योऽप्सरसो नियुयोज ताश्च दृष्ट्वा मनः क्षुभितं तस्याभवत् तासु चाप्सरःसु नचिरादेव सक्तोऽभवत् सक्तं चैनं ज्ञात्वा अप्सरस ऊचुर्गच्छामहे वयं यथागतमिति ॥ ३२ ॥

तदनन्तर विश्वरूप मातृपक्षकी वृद्धि करनेके लिये बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न हो गये। यह देख उनके व्रतको भङ्ग करनेके लिये इन्द्रने बहुत-सी सुन्दरी अप्सराओंको नियुक्त कर दिया। उन अप्सराओंको देखते ही विश्वरूपका मन चञ्चल हो गया और वे तुरंत ही उनमें आसक्त हो गये। उन्हें आसक्त जानकर अप्सराओंने कहा—'अब हमलोग जहाँसे आयी हैं, वहीं जा रही हैं' ॥ ३२ ॥

तास्त्वाष्ट्र उवाच क्व गमिष्यथास्यतां तावन्मया सह श्रेयो भविष्यन्तीति तास्तमब्रुवन् वयं देवस्त्रियोऽप्सरस इन्द्रं देवं वरदं पुरा प्रभविष्णुं वृणीमह इति ॥ ३३ ॥

तब त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपने उनसे कहा-'कहाँ जाओगी ? अभी यहीं मेरे साथ रहो। इससे तुम्हारा भला होगा।' यह सुनकर वे अप्सराएँ बोलीं-'हम सब देवाङ्गना-अप्सराएँ हैं। हमने पहलेसे ही वरदायक देवता प्रभावशाली इन्द्रका वरण कर लिया है' ॥ ३३ ॥

अथ ता विश्वरूपोऽब्रवीदद्यैव सेन्द्रा देवा न भविष्यन्तीति ततो मन्त्रान् जजाप तैर्मन्त्रैरवर्धत त्रिशिरा एकेनास्येन सर्वलोकेषु यथावद् द्विजैः क्रियावद्भिर्यज्ञेषु सुहुतं सोमं पपावेकेनान्नमेकेन सेन्द्रान् देवानथेन्द्रस्तं विवर्धमानं सोमपानाप्यायितसर्वगात्रं दृष्ट्वा चिन्तामापेदे सह देवैः ॥ ३४ ॥

तब विश्वरूपने उनसे कहा—'आज ही इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंका अभाव हो जायगा।' ऐसा कहकर वे मन्त्रोंका जप करने लगे। उन मन्त्रोंसे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। तीन सिरोंवाले विश्वरूप अपने एक मुखसे सारे संसारके क्रियानिष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा विधिपूर्वक यज्ञोंमें होमे गये सोमरसको पी लेते थे, दूसरेसे अन्न खाते थे और तीसरेसे इन्द्र आदि देवताओंके तेजको पी लेते थे। इन्द्रने देखा, विश्वरूपका सारा शरीर सोमपानसे परिपुष्ट हो रहा है। यह देखकर देवताओंसहित इन्द्रको बड़ी चिन्ता हुई ॥ ३४ ॥

ते देवाः सेन्द्रा ब्रह्माणमभिजग्मुस्त ऊचुर्विश्वरूपेण सर्वयज्ञेषु सुहुतः सोमः पीयते वयमभागाः संवृत्ता असुरपक्षो वर्धते वयं क्षीयामस्तदर्हसि नो विधातुं श्रेयोऽनन्तरमिति ॥ ३५ ॥

तदनन्तर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता ब्रह्माजीके पास गये और इस प्रकार बोले-'भगवन् ! विश्वरूप सम्पूर्ण यज्ञोंमें विधिपूर्वक होमे गये सोमरसको पी लेते हैं। हम यज्ञभागसे वञ्चित हो गये। असुरपक्ष बढ़ रहा है और हमलोग क्षीण होते जा रहे हैं; अतः आपको अब हमलोगोंका कल्याणसाधन करना चाहिये' ॥ ३५ ॥

तान् ब्रह्मोवाच ऋषिर्भार्गवस्तपस्तप्यते दधीचः स याच्यतां वरं स यथा कलेवरं जह्यात् तथा विधीयतां तस्यास्थिभिर्वज्रं क्रियतामिति ॥ ३६ ॥

तब ब्रह्माजीने उन देवताओंसे कहा—'भृगुवंशी दधीचि ऋषि तपस्या करते हैं। उनके पास जाकर ऐसा वर माँगो, जिससे वे अपने शरीरको त्याग दें। फिर उन्हींकी हड्डियोंसे वज्र नामक अस्त्रका निर्माण करो' ॥ ३६ ॥

ततो देवास्तत्रागच्छन् यत्र दधीचो भगवानृषिस्तपस्तेपे सेन्द्रा देवास्तं तथाभिगम्योचुर्भगवंस्तपः सुकुशलमभिन्नं चेति ॥ ३७ ॥

तब देवता वहाँ गये, जहाँ भगवान् दधीचि ऋषि तपस्या करते थे। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता उनके निकट जाकर इस प्रकार बोले-'भगवन् ! आपकी तपस्या सकुशल चल रही है न ? उसमें कोई बाधा तो नहीं आती है ?' ॥ ३७ ॥

तान् दधीच उवाच स्वागतं भवद्भ्य उच्यतां किं क्रियतामिति यद् वक्ष्यथ तत् करिष्यामि ॥ ३८ ॥

दधीचिने इन देवताओंसे कहा—'आपलोगोंका स्वागत है। बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आप जो कहेंगे, वही करूँगा' ॥ ३८ ॥

ते तमब्रुवञ्शरीरपरित्यागं लोकहितार्थं भगवान् कर्तुमर्हतीति ॥ ३९ ॥

देवता बोले—'भगवन् ! आप लोकहितके लिये अपने शरीरका परित्याग कर दें' ॥ ३९ ॥

अथ दधीचस्तथैवाविमनाः सुखदुःखसमो महायोगी आत्मानं समाधाय शरीरपरित्यागं चकार ॥ ४० ॥

यह सुनकर दधीचिके मनमें पूर्ववत् सोत्साह बना रहा, तनिक भी उदासी नहीं हुई । वे सुख और दुःखमें समान भाव रखनेवाले महान् योगी थे । उन्होंने आत्माको परमात्मामें लगाकर अपने शरीरका परित्याग कर दिया ॥ ४० ॥

तस्य परमात्मन्यपसृते तान्यस्थीनि धाता संगृह्य वज्रमकरोत् तेन वज्रेणाभेद्येनाप्रधृष्येण ब्रह्मास्थिसम्भूतेन विष्णुप्रविष्टेनेन्द्रो विश्वरूपं जघान शिरसां चास्य छेदनमकरोत् तस्मादनन्तरं विश्वरूपगात्रमथनसम्भवं त्वष्ट्रोत्पादितमेवारिं वृत्रमिन्द्रो जघान ॥ ४१ ॥

उनके परमात्मामें लीन हो जानेपर उनकी उन अस्थियोंका संग्रह करके धाताने वज्रास्त्रका निर्माण किया । ब्राह्मणकी हड्डीसे बने हुए उस अभेद्य एवं दुर्जय वज्रसे, जिसमें भगवान् विष्णु प्रविष्ट हुए थे, इन्द्रने विश्वरूपका वध कर डाला और उनके तीनों सिरोंको काट दिया । तदनन्तर त्वष्टा प्रजापतिने विश्वरूपके शरीरका मन्थन करके जिसे उत्पन्न किया था, उस अपने वैरी वृत्रासुरका भी इन्द्रने उसी वज्रसे संहार कर डाला ॥

तस्यां द्वैधीभूतायां ब्रह्मवध्यायां भयादिन्द्रो देवराज्यं पर्यत्यजदप्सु सम्भवां च शीतलां मानससरोगतां नलिनीं प्रतिपेदे तत्र चैश्वर्ययोगादणुमात्रो भूत्वा बिसग्रन्थिं प्रविवेश ॥ ४२ ॥

अब इन्द्रके पास दोहरी ब्रह्महत्या उपस्थित हुई । उसके भयसे इन्द्रने देवराजपदका परित्याग कर दिया और मानसरोवरके जलमें उत्पन्न हुई एक शीतल कमलिनीके पास जा पहुँचे । वहाँ अणिमा आदि ऐश्वर्यके योगसे इन्द्र अणुमात्र रूप धारण करके कमलनालकी ग्रन्थिमें प्रविष्ट हो गये ॥४२॥

अथ ब्रह्मवध्याभयप्रणष्टे त्रैलोक्यनाथे शचीपतौ जगदनीश्वरं बभूव देवान् रजस्तमश्चाविवेश मन्त्रा न प्रावर्तन्त महर्षीणां रक्षांसि प्रादुरभवन् ब्रह्म चोत्सादनं जगामानिन्द्राश्चाबला लोकाः सुप्रधृष्या बभूवुः ॥ ४३ ॥

ब्रह्महत्याके भयसे त्रिलोकीनाथ शचीपति इन्द्रके भागकर अदृश्य हो जानेपर इस जगत्का कोई ईश्वर नहीं रहा । देवताओंमें रजोगुण और तमोगुणका आवेश हो गया । महर्षियोंके मन्त्र अब कुछ काम नहीं दे रहे थे । राक्षस बढ़ गये । वेदोंका स्वाध्याय बंद हो गया । तीनों लोक इन्द्रसे अरक्षित होनेके कारण निर्बल एवं सुगमतासे जीत लेने योग्य हो गये ॥ ४३ ॥

अथ देवा ऋषयश्चायुषः पुत्रं नहुषं नाम देवराज्येऽभिषिषिचुर्नहुषः पञ्चभिः शतैर्ज्योतिषां ललाटे ज्वलद्भिः सर्वतेजोहरैस्त्रिविष्टपं पालयांबभूव ॥ ४४ ॥

तदनन्तर देवताओं और ऋषियोंने आयुके पुत्र नहुषको देवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया । नहुषके ललाटमें समस्त प्राणियोंके तेजको हर लेनेवाली पाँच सौ प्रज्वलित ज्योतियाँ जगमगाती रहती थीं । उनके द्वारा वे स्वर्गके राज्यका पालन करने लगे ॥ ४४ ॥

अथ लोकाः प्रकृतिमापेदिरे स्वस्थाश्च हृष्टाश्च बभूवुः ॥ ४५ ॥

ऐसा होनेपर सब लोग स्वाभाविक स्थितिमें आ गये । सभी स्वस्थ एवं प्रसन्न हो गये ॥ ४५ ॥

अथोवाच नहुषः सर्वं मां शक्रोपभुक्तमुपस्थितमृते शचीमिति स एवमुक्त्वा शचीसमीपमगमदुवाचैनां सुभगेऽहमिन्द्रो देवानां भजस्व मामिति तं शची प्रत्युवाच प्रकृत्या त्वं धर्मवत्सलः सोमवंशोद्भवश्च नार्हसि परपत्नीधर्षणं कर्तुमिति ॥ ४६ ॥

कुछ कालके पश्चात् नहुषने देवताओंसे कहा—'इन्द्रके उपभोगमें आनेवाली अन्य सारी वस्तुएँ तो मेरी सेवामें उपस्थित हैं । केवल शची मुझे नहीं मिली है ।' ऐसा कहकर वे शचीके पास गये और उनसे बोले—'सौभाग्यशालिनि ! मैं देवताओंका राजा इन्द्र हूँ । मेरी सेवा स्वीकार करो ।' शचीने उत्तर दिया—'महाराज ! आप स्वभावसे ही धर्मवत्सल और चन्द्रवंशके रत्न हैं । आपको परायी स्त्रीपर बलात्कार नहीं करना चाहिये' ॥ ४६ ॥

तामथोवाच नहुष ऐन्द्रं पदमध्यास्यते मयाऽहमिन्द्रस्य राज्यरत्नहरो नात्राधर्मः कश्चित् त्वमिन्द्रोपभुक्तेति सा तमुवाचास्ति मम किंचिद् व्रतमपर्यवसितं तस्यावभृथे त्वामुपगमिष्यामि कैश्चिदेवाहोभिरिति स शच्यैवमभिहितो जगाम ॥ ४७ ॥

तब नहुषने शचीसे कहा—'देवि ! इस समय मैं इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित हूँ । इन्द्रके राज्य और रत्न दोनोंका अधिकारी हो गया हूँ; अतः तुम्हारे साथ समागम करनेमें कोई अधर्म नहीं है; क्योंकि तुम इन्द्रके उपभोगमें आयी हुई वस्तु हो ।' यह सुनकर शचीने कहा—'महाराज ! मैंने एक व्रत ले रक्खा है । वह अभी समाप्त नहीं हुआ है । उसकी समाप्ति हो जानेपर कुछ ही दिनोंमें मैं आपकी सेवामें उपस्थित होऊँगी ।' शचीके ऐसा कहनेपर नहुष चले गये ॥ ४७ ॥

अथ शची दुःखशोकार्ता भर्तृदर्शनलालसा नहुषभयगृहीता बृहस्पतिमुपागच्छत् स च तामत्युद्विग्नां दृष्ट्वैव ध्यानं प्रविश्य भर्तृकार्यतत्परां ज्ञात्वा बृहस्पति-

रुवाचानेनैव व्रतेन तपसा चान्विता देवीं वरदामुपश्रुतिमाह्वय तदा सा ते इन्द्रं दर्शयिष्यतीति साथ महानियमस्थिता देवीं वरदामुपश्रुतिं मन्त्रैराह्वयति सोपश्रुतिः शचीसमीपमगादुवाच चैनामियमस्मीति त्वयाऽऽहूतोपस्थिता किं ते प्रियं करवाणीति तां मूर्ध्ना प्रणम्योवाच शची भगवत्यर्हसि मे भर्तारं दर्शयितुं त्वं सत्या ऋता चेति सैनां मानसं सरोऽनयत् तत्रेन्द्रं बिसग्रन्थिगतमदर्शयत् ॥ ४८ ॥

इसके बाद नहुषके भयसे डरी हुई शची दुःख-शोकसे आतुर तथा पतिके दर्शनके लिये उत्कण्ठित हो बृहस्पतिजीके पास गयीं। उन्हें अत्यन्त उद्विग्न देख बृहस्पतिजीने ध्यानस्थ होकर यह जान लिया कि यह अपने स्वामीके कार्यसाधनमें लगी हुई है। तब उन्होंने शचीसे कहा—'देवि ! इसी व्रत और तपस्यासे सम्पन्न हो तुम वरदायिनी देवी उपश्रुतिका आवाहन करो । तब वह तुम्हें इन्द्रका दर्शन करायेगी।' गुरुका यह आदेश पाकर महान् नियममें तत्पर हुई शचीने मन्त्रोंद्वारा वरदायिनी देवी उपश्रुतिका आह्वान किया। तब उपश्रुतिदेवी शचीके समीप आयीं और उनसे इस प्रकार बोलीं—'इन्द्राणी ! यह मैं तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। तुमने बुलाया और मैं तत्काल उपस्थित हो गयी। बोलो, मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?' शचीने देवीके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और कहा—'भगवति ! आप मुझे मेरे पतिदेवके दर्शन करानेकी कृपा करें। आप ही ऋत और सत्य हैं।' उपश्रुति शचीको मानसरोवरपर ले गयीं । वहाँ उसने मृणालकी ग्रन्थियोंमें छिपे हुए इन्द्रका उन्हें दर्शन करा दिया ॥ ४८ ॥

तामथ पत्नीं कृशां ग्लानां चेन्द्रो दृष्ट्वा चिन्तयाम्बभूव अहो मम दुःखमिदमुपगतं नष्टं हि मामियमन्विष्य यत्पत्न्यभ्यगमद् दुःखार्तेति तामिन्द्र उवाच कथं वर्तयसीति सा तमुवाच नहुषो मामाह्वयति पत्नीं कर्तुं कालश्चास्य मया कृत इति तामिन्द्र उवाच गच्छ नहुषस्त्वया वाच्योऽपूर्वेण मामृषियुक्तेन यानेन त्वमधिरूढ उद्वहस्वेति इन्द्रस्य महान्ति वाहनानि सन्ति मनःप्रियाण्यधिरूढानि मया त्वमन्येनोपयातुमर्हसीति सैवमुक्ता हृष्टा जगामेन्द्रोऽपि बिसग्रन्थिमेवाविवेश भूयः ॥ ४९ ॥

अपनी पत्नी शचीको दुर्बल और दुखी देख इन्द्र मन-ही-मन कहने लगे—'अहो ! यह बड़े दुःखकी बात है कि मैं यहाँ छिपा हुआ बैठा हूँ और मेरी यह पत्नी दुःखसे आतुर हो मुझे ढूँढ़ती हुई यहाँतक आयी है।' इस प्रकार खेद प्रकट करके इन्द्रने अपनी पत्नीसे कहा—'देवि ! कैसे दिन बिता रही हो ?' शची बोली—'प्राणनाथ ! राजा नहुष इन्द्र बना बैठा है और मुझे अपनी पत्नी बनानेके लिये बुला रहा है। इसके लिये मुझे कुछ ही दिनोंका समय मिला है और मैंने नियत समयके बाद उसकी बात माननेका वचन दे दिया है।' 'तब इन्द्रने उनसे कहा 'जाओ और नहुषसे इस प्रकार कहो—'राजन् ! आप ऋषियोंसे जुते हुए अपूर्व वाहनपर आरूढ़ होकर आइये और मुझे अपनी सेवामें ले चलिये। इन्द्रके पास मनको प्रिय लगनेवाले बड़े-बड़े वाहन हैं, किंतु उन सबपर मैं आरूढ़ हो चुकी हूँ, अतः आप उन सबसे भिन्न किसी और ही विलक्षण वाहनसे मेरे पास आइये।'' इन्द्रके इस प्रकार सुझाव देनेपर शची हर्षपूर्वक लौट गयीं और इन्द्र भी पुनः उस कमलनालकी ग्रन्थिमें ही प्रविष्ट हो गये ॥ ४९ ॥

अथेन्द्राणीमभ्यागतां दृष्ट्वा तामुवाच नहुषः पूर्णः स काल इति तं शच्यब्रवीच्छक्रेण यथोक्तं स महर्षियुक्तं वाहनमधिरूढः शचीसमीपमुपागच्छत् ॥ ५० ॥

इन्द्राणीको आयी हुई देख नहुषने उससे कहा—'देवि ! तुमने जो समय दिया था, वह पूरा हो गया है।' तब शचीने इन्द्रके बताये अनुसार सारी बातें कह सुनायीं। नहुष महर्षियोंसे जुते हुए वाहनपर आरूढ़ हो शचीके समीप चले ॥

अथ मैत्रावरुणिः कुम्भयोनिरगस्त्य ऋषिवरो महर्षीन् धिक्क्रियमाणांस्तान् नहुषेणापश्यत् पद्भ्यां च तेनास्पृश्यत ततः स नहुषमब्रवीदकार्यप्रवृत्त पाप पतस्व महीं सर्पो भव यावद्भूमिर्गिरयश्च तिष्ठेयुस्तावदिति स महर्षिवाक्यसमकालमेव तस्माद् यानादवापतत् ॥ ५१ ॥

इसी समय मित्रावरुणके पुत्र कुम्भज मुनिवर अगस्त्यने देखा कि नहुष महर्षियोंको तीव्र गतिसे चलनेके लिये धिक्कार और फटकार रहा है। उसने अगस्त्यके शरीरमें भी दोनों पैरोंसे धक्के दिये। तब अगस्त्यने नहुषसे कहा—'न करने योग्य नीच कर्ममें प्रवृत्त हुए पापी नहुष ! तू अभी पृथ्वीपर गिर जा तथा जबतक पृथ्वी और पर्वत स्थिर रहें, तबतकके लिये सर्प हो जा।' महर्षिके इतना कहते ही नहुष उस वाहनसे नीचे गिर पड़ा ॥ ५१ ॥

अथानिन्द्रं पुनस्त्रैलोक्यमभवत् ततो देवा ऋषयश्च भगवन्तं विष्णुं शरणमिन्द्रार्थेऽभिजग्मुरूचुश्चैनं भगवन्निन्द्रं ब्रह्महत्याभिभूतं त्रातुमर्हसीति ततः स वरदस्तानब्रवीदश्वमेधं यज्ञं वैष्णवं शक्रोऽभियजतां ततः स्वस्थानं प्राप्स्यतीति ततो देवा ऋषयश्चेन्द्रं नापश्यन् यदा तदा शचीमूचुर्गच्छ सुभगे इन्द्रमानयस्वेति सा पुनस्तत्सरः समभ्यगच्छदिन्द्रश्च तस्मात् सरसः प्रत्युत्थाय बृहस्पतिमभिजगाम बृहस्पतिश्चाश्वमेधं महाक्रतुं शक्रायाहरत् तत्र कृष्णसारङ्गं मेध्यमश्वमुत्सृज्य वाहनं तमेव कृत्वा इन्द्रं मरुत्पतिं बृहस्पतिः स्वं स्थानं प्रापयामास ॥ ५२ ॥

नहुषका पतन हो जानेपर त्रिलोकीका राज्य पुनः बिना इन्द्रके हो गया, तब देवता और ऋषि इन्द्रके लिये भगवान् विष्णुकी शरणमें गये और उनसे बोले—'भगवन्! ब्रह्म-हत्यासे पीड़ित हुए इन्द्रकी रक्षा कीजिये।' तब वरदायक भगवान् विष्णुने उन देवताओंसे कहा—'देवगण! इन्द्र विष्णुके उद्देश्यसे अश्वमेध यज्ञ करें। तब वे फिर अपना स्थान प्राप्त करेंगे।' यह सुनकर देवता और महर्षि इन्द्रको ढूँढ़ने लगे। जब वे कहीं उनका पता न पा सके, तब वे शचीसे बोले—'सुभगे! तुम्हीं जाओ और इन्द्रको यहाँ ले आओ।' तब शची पुनः मानसरोवरपर गयीं। शचीके कहनेसे इन्द्र उस सरोवरसे निकलकर बृहस्पतिजीके पास आये। बृहस्पतिजीने इन्द्रके लिये अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान किया। उस यज्ञमें उन्होंने कृष्णसारङ्ग नामक यज्ञीय अश्वको छोड़ा था। उसीको वाहन बनाकर बृहस्पतिने पुनः देवराज इन्द्रको अपने पदपर प्रतिष्ठित किया ॥ ५२ ॥

ततः स देवराड् देवैर्ऋषिभिः स्तूयमानस्त्रिविष्टपस्थो निष्कल्मषो बभूव ह ब्रह्मवध्यां चतुर्षु स्थानेषु वनिताग्निवनस्पतिगोषु व्यभजदेवमिन्द्रो ब्रह्मतेजःप्रभावोपबृंहितः शत्रुवधं कृत्वा स्वं स्थानं प्रापितः ॥५३॥

तदनन्तर देवताओं और ऋषियोंसे अपनी स्तुति सुनते हुए देवराज इन्द्र निष्पाप हो स्वर्गलोकमें रहने लगे। अपनी ब्रह्महत्याको उन्होंने स्त्री, अग्नि, वृक्ष और गौ—इन चार स्थानोंमें विभक्त कर दिया। ब्रह्मतेजके प्रभावसे वृद्धिको प्राप्त हुए इन्द्रने शत्रुओंका वध करके पुनः अपना स्थान प्राप्त कर लिया ॥ ५३ ॥

(नहुषस्य शापमोक्षनिमित्तं देवैर्ऋषिभिश्च याच्यमानोऽगस्त्यः प्राह ।
यावत् स्वकुलजः श्रीमान् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कथयित्वा स्वकान् प्रश्नान् भीमं तं च विमोक्ष्यते ॥)

उधर नहुषको शापसे छुटकारा दिलानेके लिये देवताओं और ऋषियोंके प्रार्थना करनेपर अगस्त्यने कहा—'जब नहुषके कुलमें उत्पन्न हुए श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर उनके प्रश्नोंका उत्तर देकर भीमसेनको उनके बन्धनसे छुड़ा देंगे, तब नहुषको भी वे शापसे मुक्त कर देंगे' ॥

आकाशगङ्गागतश्च पुरा भरद्वाजो महर्षिरुपास्पृशत् त्रीन् क्रमान् क्रमता विष्णुनाभ्यासादितः स भरद्वाजेन ससलिलेन पाणिनोरसि ताडितः सलक्षणोरस्कः संवृत्तः ॥ ५४ ॥

प्राचीन कालमें महर्षि भरद्वाज आकाश-गङ्गाके जलमें खड़े हो आचमन कर रहे थे। उस समय तीन पगसे त्रिलोकीको नापते हुए भगवान् विष्णु उनके पासतक आ पहुँचे। तब भरद्वाजने जलसहित हाथसे उनकी छातीमें प्रहार किया। इससे उनकी छातीमें एक चिह्न बन गया ॥ ५४ ॥

भृगुणा महर्षिणा शप्तोऽग्निः सर्वभक्षत्वमुपानीतः ॥ ५५ ॥

महर्षि भृगुके शापसे अग्निदेव सर्वभक्षी हो गये ॥५५॥

अदितिर्वै देवानामन्नमपचदेतद् भुक्त्वासुरान् हनिष्यन्तीति तत्र बुधो व्रतचर्यासमाप्तावागच्छददितिं चावोचद् भिक्षां देहीति तत्र देवैः पूर्वमेतत् प्राश्यं नान्येनेत्यदितिर्भिक्षां नादादथ भिक्षाप्रत्याख्यानरुषितेन बुधेन ब्रह्मभूतेनादितिः शप्ता अदितेरुदरे भविष्यति व्यथा विवस्वतो द्वितीयजन्मन्यण्डसंज्ञितस्य अण्डं मातुरदित्या मारितं स मार्तण्डो विवस्वानभवच्छ्राद्धदेवः ॥ ५६ ॥

अदितिने देवताओंके लिये इस उद्देश्यसे रसोई तैयार की थी कि वे इसे खाकर असुरोंका वध कर सकेंगे। इसी समय बुध अपनी व्रतचर्या समाप्त करके अदितिके पास गये और बोले—'मुझे भिक्षा दीजिये।' अदितिने सोचा यह अन्न पहले देवताओंको ही खाना चाहिये, दूसरे किसीको नहीं; इसलिये उन्होंने बुधको भिक्षा नहीं दी। भिक्षा न मिलनेसे रोषमें भरे हुए ब्राह्मण बुधने अदितिको यह शाप दिया कि 'अण्ड नामधारी विवस्वान्के दूसरे जन्मके समय अदितिके उदरमें पीड़ा होगी।' माता अदितिके पेटका वह अण्ड उस पीड़ाद्वारा मारा गया। मृत अण्डसे प्रकट होनेके कारण श्राद्धदेवसंज्ञक विवस्वान् मार्तण्ड नामसे प्रसिद्ध हुए ॥५६॥

दक्षस्य या वै दुहितरः षष्टिरासंस्ताभ्यः कश्यपाय त्रयोदश प्रादाद् दश धर्माय दश मनवे सप्तविंशतिमिन्दवे तासु तुल्यासु नक्षत्राख्यां गतासु सोमो रोहिण्यामभ्यधिकं प्रीतिमानभूत् ततस्ताः शिष्टाः पत्न्य ईर्ष्यावत्यः पितुः समीपं गत्वेममर्थं शशंसुर्भगवन्नस्मासु तुल्यप्रभावासु सोमो रोहिणीं प्रत्यधिकं भजतीति सोऽब्रवीद् यक्ष्मैनमाविश्यतेति दक्षशापात् सोमं राजानं यक्ष्मा विवेश स यक्ष्मणाऽऽविष्टो दक्षमगाद् दक्षश्चैनमब्रवीन्न समं वर्तयसीति तत्रर्षयः सोममब्रुवन् क्षीयसे यक्ष्मणा पश्चिमायां दिशि समुद्रे हिरण्यसरस्तीर्थं तत्र गत्वा आत्मानमभिषेचयस्वेत्यथागच्छत् सोमस्तत्र हिरण्यसरस्तीर्थं गत्वा चात्मनः सेचनमकरोत् स्नात्वा चात्मानं पाप्मनो मोक्षयामास तत्र चावभासितस्तीर्थे यदा सोमस्तदा प्रभृति च तीर्थं तत् प्रभासमिति नाम्ना ख्यातं बभूव ॥ ५७ ॥

प्रजापति दक्षके साठ कन्याएँ थीं। उनमेंसे तेरहका विवाह उन्होंने कश्यपजीके साथ कर दिया। दस कन्याएँ धर्मको, दस मनुको और सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको दे डालीं। उन सत्ताईस कन्याओंकी नक्षत्र नामसे प्रसिद्धि हुई। यद्यपि वे सब-की-सब एक समान रूपवती थीं तो भी चन्द्रमा सबसे

अधिक रोहिणीपर ही प्रेम करने लगे । यह देख शेष पत्नियोंके मनमें ईर्ष्या हुई और उन्होंने पिताके समीप जाकर यह बात बतायी—'भगवन् ! हम सब बहिनोंका प्रभाव एक-सा है तो भी चन्द्रदेव रोहिणीपर ही अधिक स्नेह रखते हैं ।' यह सुनकर दक्षने कहा—'इनके भीतर यक्ष्माका प्रवेश होगा ।' इस प्रकार ब्राह्मण दक्षके शापसे राजा सोमके शरीरमें यक्ष्माने प्रवेश किया । यक्ष्मासे ग्रस्त होकर राजा सोम प्रजापति दक्षके पास गये । रोषका कारण पूछनेपर दक्षने उनसे कहा—'तुम अपनी सभी पत्नियोंके प्रति समान बर्ताव नहीं करते हो, उसीका यह दण्ड है ।' वहाँ दूसरे ऋषियोंने सोमसे कहा—'तुम यक्ष्मासे क्षीण होते चले जा रहे हो । अतः पश्चिम दिशामें समुद्रके तटपर जो हिरण्यसर नामक तीर्थ है, वहाँ जाकर अपने-आपको स्नान कराओ ।' तब सोमने हिरण्यसर तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान किया । स्नान करके उन्होंने अपने-आपको पापसे छुड़ाया । उस तीर्थमें वे दिव्य प्रभासे प्रभासित हो उठे थे, इसलिये उसी समयसे वह स्थान प्रभासतीर्थके नामसे विख्यात हो गया ॥ ५७ ॥

तच्छापादद्यापि क्षीयते सोमोऽमावास्यान्तरस्थः पौर्णमासीमात्रेऽधिष्ठितो मेघलेखाप्रतिच्छन्नं वपुर्दर्शयति मेघसदृशं वर्णमगमत् तदस्य शशलक्ष्म विमलमभवत् ॥ ५८ ॥

उसी शापसे आज भी चन्द्रमा कृष्णपक्षमें अमावास्यातक क्षीण होता रहता है और शुक्लपक्षमें पूर्णिमातक उसकी वृद्धि होती रहती है । उसका मण्डलाकार स्वरूप मेघकी श्याम रेखासे आच्छन्न-सा दिखायी देता है । उसके शरीरमें खरगोशका-सा चिह्न मेघके समान श्यामवर्णका है । वह स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है ॥ ५८ ॥

स्थूलशिरा महर्षिर्मेरोः प्रागुत्तरे दिग्विभागे तपस्तेपे ततस्तस्य तपस्तप्यमानस्य सर्वगन्धवहः शुचिर्वायुर्वायमानः शरीरमस्पृशत् स तपसा तापितशरीरः कृशो वायुनोपवीज्यमानो हृदये परितोषमगमत् तत्र किल तस्यानिलव्यजनकृतपरितोषस्य सद्यो वनस्पतयः पुष्पशोभां निदर्शितवन्त इति स एताञ्शशाप न सर्वकालं पुष्पवन्तो भविष्यथेति ॥ ५९ ॥

पूर्वकालकी बात है, मेरुपर्वतके पूर्वोत्तर भागमें स्थूलशिरा नामक महर्षि बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे । उनके तपस्या करते समय सब प्रकार सुगन्ध लिये पवित्र वायु बहने लगी । उस वायुने प्रवाहित होकर मुनिके शरीरका स्पर्श किया । तपस्यासे संतप्त शरीरवाले उन कृशकाय मुनिने उस वायुसे वीजित हो अपने हृदयमें बड़े संतोषका अनुभव किया । वायुके द्वारा व्यजन डुलानेसे संतुष्ट हुए मुनिके समक्ष वृक्षोंने तत्काल फूलकी शोभा दिखलायी । इससे रुष्ट होकर मुनिने उन्हें शाप दिया कि तुम हर समय फूलोंसे भरे-पूरे नहीं रहोगे ॥ ५९ ॥

नारायणो लोकहितार्थं वडवामुखो नाम पुरा महर्षिर्बभूव तस्य मेरौ तपस्तप्यतः समुद्र आहूतो नागतस्तेनामर्षितेनात्मगात्रोष्मणा समुद्रः स्तिमितजलः कृतः स्वेदप्रस्यन्दनसदृशश्चास्य लवणभावो जनितः ॥ ६० ॥

एक समय भगवान् नारायण लोकहितके लिये बडवामुख नामक महर्षि हुए । जब वे मेरुपर्वतपर तपस्या कर रहे थे, उन्हीं दिनों उन्होंने समुद्रका आवाहन किया; किंतु वह नहीं आया । इससे अमर्षमें भरकर उन्होंने अपने शरीरकी गर्मीसे समुद्रके जलको चञ्चल कर दिया और पसीनेके प्रवाहकी भाँति उसमें खारापन प्रकट कर दिया ॥ ६० ॥

उक्तश्चाप्यपेयो भविष्यस्येतच्च ते तोयं वडवामुखसंज्ञितेन पेपीयमानं मधुरं भविष्यति तदेतदद्यापि वडवामुखसंज्ञितेनानुवर्तिना तोयं समुद्रात् पीयते ॥ ६१ ॥

साथ ही उससे कहा—'समुद्र ! तू पीनेयोग्य नहीं रह जायगा । तेरा यह जल बडवामुखके द्वारा बारंबार पीया जानेपर मधुर होगा ।' यह बात आज भी देखनेमें आती है । बडवामुखसंज्ञक अग्नि समुद्रसे जल लेकर पीती है ॥ ६१ ॥

हिमवतो गिरेर्दुहितरमुमां कन्यां रुद्रश्चकमे भृगुरपि च महर्षिर्हिमवन्तमागत्याब्रवीत् कन्यामिमां मे देहीति तमब्रवीद्धिमवानभिलक्षितो वरो रुद्र इति तमब्रवीद् भृगुर्यस्मात् त्वयाहं कन्यावरणकृतभावः प्रत्याख्यातस्तस्मान्न रत्नानां भवान् भाजनं भविष्यतीति ॥ ६२ ॥

हिमवान्‌की पुत्री उमाको जब वह कुमारी अवस्थामें थी तभी रुद्रने पानेकी इच्छा की । दूसरी ओरसे महर्षि भृगु भी वहाँ आकर हिमवान्‌से बोले—'अपनी यह कन्या मुझे दे दो ।' तब हिमवान्‌ने उनसे कहा—'इस कन्याके लिये देख-सुनकर लक्षित किये हुए वर रुद्रदेव हैं ।' तब भृगुने कहा—'मैं कन्याका वरण करनेकी भावना लेकर यहाँ आया था, किंतु तुमने मेरी उपेक्षा कर दिया है; इसलिये मैं शाप देता हूँ कि तुम रत्नोंके भण्डार नहीं होओगे' ॥ ६२ ॥

अद्यप्रभृत्येतदवस्थितमृषिवचनं तदेवंविधं माहात्म्यं ब्राह्मणानाम् ॥ ६३ ॥

आज भी महर्षिका वह वचन हिमवान्‌पर ज्यों-का-त्यों लागू हो रहा है । ऐसा ब्राह्मणोंका माहात्म्य है ॥ ६३ ॥

क्षत्रमपि च ब्राह्मणप्रसादादेव शाश्वतीमव्ययां च पृथिवीं पत्नीमभिगम्य बुभुजे ॥ ६४ ॥

क्षत्रिय जाति भी ब्राह्मणोंकी कृपासे ही सदा रहनेवाली इस अविनाशिनी पृथ्वीको पत्नीकी भाँति पाकर इसका उपभोग करती है ॥ ६४ ॥

यदेतद् ब्रह्माग्नीषोमीयं तेन जगद् धार्यते ॥ ६५ ॥

यह जो अग्नि और सोमसम्बन्धी ब्रह्म है, उसीके द्वारा सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है ॥ ६५ ॥

उच्यते—

सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुः केशाश्चैवांशवः स्मृताः ।
बोधयंस्तापयंश्चैव जगदुत्तिष्ठते पृथक् ॥६६॥

कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा (अग्नि और सोम) मेरे नेत्र हैं तथा उनकी किरणोंको केश कहा गया है । सूर्य और चन्द्रमा जगत्को क्रमशः ताप और मोद प्रदान करते हुए पृथक्-पृथक् उदित होते हैं ॥ ६६ ॥

(नाम्नां निरुक्तं वक्ष्यामि शृणुष्वैकाग्रमानसः ।)
बोधनात् तापनाच्चैव जगतो हर्षणं भवेत् ।
अग्नीषोमकृतैरेभिः कर्मभिः पाण्डुनन्दन ।
हृषीकेशोऽहमीशानो वरदो लोकभावनः ॥ ६७ ॥

अब मैं अपने नामोंकी व्याख्या करूँगा । तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो । जगत्को मोद और ताप प्रदान करनेके कारण चन्द्रमा और सूर्य हर्षदायक होते हैं । पाण्डुनन्दन ! अग्नि और सोमद्वारा किये गये इन कर्मोंद्वारा मैं विश्वभावन वरदायक ईश्वर ही 'हृषीकेश[1]' कहलाता हूँ ॥ ६७ ॥

इलोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुष्वहम् ।
वर्णश्च मे हरिः श्रेष्ठस्तस्माद्धरिरहं स्मृतः ॥ ६८ ॥

यज्ञमें 'इलोपहूता सह दिवा' आदि मन्त्रसे आवाहन करनेपर मैं अपना भाग हरण (स्वीकार) करता हूँ तथा मेरे शरीरका रंग भी हरित (श्याम) है, इसलिये मुझे 'हरि' कहते हैं ॥ ६८ ॥

धाम सारो हि भूतानामृतं चैव विचारितम् ।
ऋतधामा ततो विप्रैः सत्यश्चाहं प्रकीर्तितः ॥ ६९ ॥

प्राणियोंके सारका नाम है धाम और ऋतका अर्थ है सत्य, ऐसा विद्वानोंने विचार किया है ! इसीलिये ब्राह्मणोंने तत्काल मेरा नाम 'ऋतधामा' रख दिया था ॥ ६९ ॥

नष्टां च धरणीं पूर्वमविन्दं वै गुहागताम् ।
गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः ॥ ७० ॥

मैंने पूर्वकालमें नष्ट होकर रसातलमें गयी हुई पृथ्वीको पुनः वराहरूप धारण करके प्राप्त किया था, इसलिये देवताओंने अपनी वाणीद्वारा 'गोविन्द' कहकर मेरी स्तुति की थी (गां विन्दति इति गोविन्दः—जो पृथ्वीको प्राप्त करे, उसका नाम गोविन्द है) ॥ ७० ॥

शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च यो भवेत् ।
तेनाविष्टं तु यत्किंचिच्छिपिविष्टेति च स्मृतः ॥७१॥

मेरे 'शिपिविष्ट' नामकी व्याख्या इस प्रकार है । रोमहीन प्राणीको शिपि कहते हैं—तथा विष्टका अर्थ है व्यापक । मैंने निराकाररूपसे समस्त जगत्को व्याप्त कर रक्खा है, इसलिये मुझे 'शिपिविष्ट' कहते हैं ॥ ७१ ॥

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान् ।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥ ७२ ॥

यास्कमुनिने शान्तचित्त होकर अनेक यज्ञोंमें शिपिविष्ट कहकर मेरी महिमाका गान किया है; अतः मैं इस गुह्यनामको धारण करता हूँ ॥ ७२ ॥

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥ ७३ ॥

उदारचेता यास्क मुनिने शिपिविष्ट नामसे मेरी स्तुति करके मेरी ही कृपासे पाताललोकमें नष्ट हुए निरुक्तशास्त्रको पुनः प्राप्त किया था ॥ ७३ ॥

न हि जातो न जायेयं न जनिष्ये कदाचन ।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः ॥ ७४ ॥

मैंने न तो पहले कभी जन्म लिया है, न अब जन्म लेता हूँ और न आगे कभी जन्म लूँगा । मैं समस्त प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला क्षेत्रज्ञ आत्मा हूँ । इसीलिये मेरा नाम 'अज' है ॥ ७४ ॥

नोक्तपूर्वं मया क्षुद्रमश्लीलं वा कदाचन ।
ऋता ब्रह्मसुता सा मे सत्या देवी सरस्वती ॥ ७५ ॥
सच्चासच्चैव कौन्तेय मयाऽऽवेशितमात्मनि ।
पौष्करे ब्रह्मसदने सत्यं मामृषयो विदुः ॥ ७६ ॥

मैंने कभी ओछी या अश्लील बात मुँहसे नहीं निकाली है । सत्यस्वरूपा ब्रह्मपुत्री सरस्वतीदेवी मेरी वाणी है । कुन्तीकुमार ! सत् और असत्को भी मैंने अपने भीतर ही प्रविष्ट कर रक्खा है; इसलिये मेरे नाभि-कमलरूप ब्रह्मलोकमें रहनेवाले ऋषिगण मुझे 'सत्य' कहते हैं ॥७५-७६॥

सत्त्वान्न च्युतपूर्वोऽहं सत्त्वं वै विद्धि मत्कृतम् ।
जन्मनीहा भवेत् सत्त्वं पौर्विकं मे धनंजय ॥ ७७ ॥
निराशीःकर्मसंयुक्तः सत्त्वतश्चाप्यकल्मषः ।
सात्त्वतज्ञानदृष्टोऽहं सत्त्वतामिति सात्त्वतः ॥ ७८ ॥

धनंजय ! मैं पहले कभी सत्त्वसे च्युत नहीं हुआ हूँ । सत्त्वको मुझसे ही उत्पन्न हुआ समझो । मेरा वह पुरातन सत्त्व इस अवतारकालमें भी विद्यमान है । सत्त्वके कारण ही मैं पापसे रहित हो निष्कामकर्ममें लगा रहता हूँ । भगवत्प्राप्त पुरुषोंके सात्त्वतज्ञान (पाञ्चरात्रादि वैष्णवतन्त्र) से मेरे स्वरूपका बोध होता है । इन सब कारणोंसे लोग मुझे 'सात्त्वत' कहते हैं ॥ ७७-७८ ॥

कृषामि मेदिनीं पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो महान् ।
कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात् तस्मात् कृष्णोऽहमर्जुन ॥७९॥

पृथापुत्र अर्जुन ! मैं काले लोहेका विशाल फाल बनकर इस पृथ्वीको जोतता हूँ तथा मेरे शरीरका रंग भी काला

[1] १. सूर्य और चन्द्रमा ही अग्नि एवं सोम हैं । वे जगत्को हर्ष प्रदान करनेके कारण 'हृषी' कहलाते हैं । वे ही भगवान्के केश अर्थात् किरणें हैं, इसलिये भगवान्का नाम 'हृषीकेश' है ।

है, इसलिये मैं 'कृष्ण' कहलाता हूँ* ॥ ७९ ॥

मया संश्लेषिता भूमिरद्भिर्व्योम च वायुना ।
वायुश्च तेजसा सार्धं वैकुण्ठत्वं ततो मम ॥ ८० ॥

मैंने भूमिको जलके साथ, आकाशको वायुके साथ और वायुको तेजके साथ संयुक्त किया है। इसलिये (विगता कुण्ठा पञ्चानां भूतानां मेलने असामर्थ्यं यस्य सः विकुण्ठः; विकुण्ठ एव वैकुण्ठः—पाँचों भूतोंको मिलानेमें जिनकी शक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती, वे भगवान् वैकुण्ठ हैं, इस व्युत्पत्तिके अनुसार) मैं 'वैकुण्ठ' कहलाता हूँ ॥ ८० ॥

निर्वाणं परमं ब्रह्म धर्मोऽसौ पर उच्यते ।
तस्मान्न च्युतपूर्वोऽहमच्युतस्तेन कर्मणा ॥ ८१ ॥

परम शान्तिमय जो ब्रह्म है, वही परम धर्म कहा गया है। उससे पहले कभी मैं च्युत नहीं हुआ हूँ, इसलिये लोग मुझे 'अच्युत' कहते हैं ॥ ८१ ॥

पृथिवीनभसी चोभे विश्रुते विश्वतोमुखे ।
तयोः संधारणार्थं हि मामधोक्षजमञ्जसा ॥ ८२ ॥

('अधः' का अर्थ है पृथ्वी, 'अक्ष' का अर्थ है आकाश और 'ज' का अर्थ है इनको धारण करनेवाला) पृथ्वी और आकाश दोनों सर्वतोमुखी एवं प्रसिद्ध हैं। उनको अनायास ही धारण करनेके कारण लोग मुझे 'अधोक्षज' कहते हैं ॥ ८२ ॥

निरुक्तं वेदविदुषो वेदशब्दार्थचिन्तकाः ।
ते मां गायन्ति प्राग्वंशे अधोक्षज इति स्थितिः ॥ ८३ ॥

वेदोंके शब्द और अर्थपर विचार करनेवाले वेदवेत्ता विद्वान् प्राग्वंश (यज्ञशालाके एक भाग) में बैठकर अधोक्षज नामसे मेरी महिमाका गान करते हैं; इसलिये भी मेरा नाम 'अधोक्षज' है ॥ ८३ ॥

(अधो न क्षीयते यस्माद् वदन्त्यन्ये ह्यधोक्षजम् ।)

जिसके अनुग्रहसे जीव अधोगतिमें पड़कर क्षीण नहीं होता, उन भगवान्को दूसरे लोग इसी व्युत्पत्तिके अनुसार 'अधोक्षज' कहते हैं ॥

शब्द एकपदैरेष व्याहृतः परमर्षिभिः ।
नान्यो ह्यधोक्षजो लोके ऋते नारायणं प्रभुम् ॥ ८४ ॥

महर्षि लोग अधोक्षज शब्दको पृथक्-पृथक् तीन पदोंका एक समुदाय मानते हैं—'अ' का अर्थ है लय-स्थान, 'धोक्ष' का अर्थ है पालन-स्थान और 'ज' का अर्थ है उत्पत्ति-स्थान। उत्पत्ति, स्थिति और लयके स्थान एकमात्र नारायण ही हैं; अतः उन भगवान् नारायणको छोड़कर संसारमें दूसरा कोई 'अधोक्षज' नहीं कहला सकता ॥ ८४ ॥

घृतं ममार्चिषो लोके जन्तूनां प्राणधारणम् ।
घृतार्चिरहमव्यग्रैर्वेदज्ञैः परिकीर्तितः ॥ ८५ ॥

प्राणियोंके प्राणोंकी पुष्टि करनेवाला घृत मेरे स्वरूपभूत अग्निदेवकी अर्चिष् अर्थात् ज्वालाको जगानेवाला है; इसलिये शान्तचित्त वेदज्ञ विद्वानोंने मुझे 'घृतार्चि' कहा है ॥ ८५ ॥

त्रयो हि धातवः ख्याताः कर्मजा इति ते स्मृताः ।
पित्तं श्लेष्मा च वायुश्च एष संघात उच्यते ॥ ८६ ॥
एतैश्च धार्यते जन्तुरेतैः क्षीणैश्च क्षीयते ।
आयुर्वेदविदस्तस्मात् त्रिधातुं मां प्रचक्षते ॥ ८७ ॥

शरीरमें तीन धातु विख्यात हैं वात, पित और कफ। वे सब-के-सब कर्मजन्य माने गये हैं। इनके समुदायको त्रिधातु कहते हैं। जीव इन धातुओंके रहनेसे जीवन धारण करते हैं और उनके क्षीण हो जानेपर क्षीण हो जाते हैं। इसलिये आयुर्वेदके विद्वान् मुझे 'त्रिधातु' कहते हैं ॥

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ।
नैघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ॥ ८८ ॥

भरतनन्दन ! भगवान् धर्म सम्पूर्ण लोकोंमें वृषके नामसे विख्यात हैं। वैदिक शब्दार्थबोधक कोशमें वृषका अर्थ धर्म बताया गया है; अतः उत्तम धर्मस्वरूप मुझ वासुदेवको 'वृष' समझो ॥ ८८ ॥

कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥ ८९ ॥

कपि शब्दका अर्थ वराह एवं श्रेष्ठ है और वृष कहते हैं धर्मको। मैं धर्म और श्रेष्ठ वराहरूपधारी हूँ; इसलिये प्रजापति कश्यप मुझे 'वृषाकपि' कहते हैं ॥ ८९ ॥

न चादि न मध्यं तथा चैव नान्तं
कदाचिद् विदन्ते सुराश्चासुराश्च ।
अनाद्यो ह्यमध्यस्तथा चाप्यनन्तः
प्रगीतोऽहमीशो विभुर्लोकसाक्षी ॥ ९० ॥

मैं जगत्का साक्षी और सर्वव्यापी ईश्वर हूँ। देवता तथा असुर भी मेरे आदि, मध्य और अन्तका कभी पता नहीं पाते हैं; इसलिये मैं 'अनादि', 'अमध्य' और 'अनन्त' कहलाता हूँ ॥ ९० ॥

शुचीनि श्रवणीयानि शृणोमीह धनंजय ।
न च पापानि गृह्णामि ततोऽहं वै शुचिश्रवाः ॥ ९१ ॥

धनंजय ! मैं यहाँ पवित्र एवं श्रवण करने योग्य वचनोंको ही सुनता हूँ और पापपूर्ण बातोंको कभी ग्रहण नहीं करता हूँ, इसलिये मेरा नाम 'शुचिश्रवा' है ॥ ९१ ॥

एकशृङ्गः पुरा भूत्वा वराहो नन्दिवर्धनः ।
इमां चोद्धृतवान् भूमिमेकशृङ्गस्ततो ह्यहम् ॥ ९२ ॥

पूर्वकालमें मैंने एक सींगवाले वराहका रूप धारण करके इस पृथ्वीको पानीसे बाहर निकाला और सारे जगत्का आनन्द बढ़ाया; इसलिये मैं 'एकशृङ्ग' कहलाता हूँ ॥ ९२ ॥

* 'कृष्ण' नामकी दूसरी व्युत्पत्ति भी इस प्रकार है—कृष् नाम है सत्का और ण कहते हैं आनन्दको। इन दोनोंसे उपलक्षित सच्चिदानन्दघन श्यामसुन्दर गोलोकविहारी नन्दनन्दन श्रीकृष्ण कहलाते हैं।

तथैवासं त्रिककुदो वाराहं रूपमास्थितः ।
त्रिककुत् तेन विख्यातः शरीरस्य तु मापनात् ॥ ९३ ॥

इसी प्रकार वराहरूप धारण करनेपर गौर शरीरमें तीन ककुद् (ऊँचे स्थान) थे; इसलिये शरीरके मापसे मैं 'त्रिककुद्' नामसे विख्यात हुआ ॥ ९३ ॥

विरिञ्च इति यत् प्रोक्तं कापिलज्ञानचिन्तकैः ।
स प्रजापतिरेवाहं चेतनात् सर्वलोककृत् ॥ ९४ ॥

कपिल मुनिके द्वारा प्रतिपादित सांख्यशास्त्रका विचार करनेवाले विद्वानोंने जिसे विरिञ्च कहा है, यह सर्वलोकस्रष्टा प्रजापति 'विरिञ्च' मैं ही हूँ, क्योंकि मैं ही सबको चेतना प्रदान करता हूँ ॥ ९४ ॥

विद्यासहायवन्तं मामादित्यस्थं सनातनम् ।
कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्या निश्चितनिश्चयाः ॥ ९५ ॥

तत्त्वका निश्चय करनेवाले सांख्यशास्त्रके आचार्योंने मुझे आदित्य-मण्डलमें स्थित, विद्याशक्तिके साहचर्यसे सम्पन्न सनातन देवता 'कपिल' कहा है ॥ ९५ ॥

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः ।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स एवाहं भुवि स्मृतः ॥ ९६ ॥

वेदोंमें जिनकी स्तुति की गयी है तथा इस जगत्में योगीजन सदा जिनकी पूजा और स्मरण करते हैं, वह तेजस्वी 'हिरण्यगर्भ' मैं ही हूँ ॥ ९६ ॥

एकविंशतिसाहस्रं ऋग्वेदं मां प्रचक्षते ।
सहस्रशाखं यत् साम ये वै वेदविदो जनाः ॥ ९७ ॥

वेदके विद्वान् मुझे ही इक्कीस हजार ऋचाओंसे युक्त 'ऋग्वेद' और एक हजार शाखाओंवाला 'सामवेद' कहते हैं ॥ ९७ ॥

गायन्त्यारण्यके विप्रा मद्भक्तास्ते हि दुर्लभाः ।
षट्पञ्चाशतमष्टौ च सप्तत्रिंशतमित्युत ॥ ९८ ॥
यस्मिञ्छाखा यजुर्वेदे सोऽहमाध्वर्यवे स्मृतः ।

आरण्यकोंमें ब्राह्मणलोग मेरा ही गान करते हैं। वे मेरे परम भक्त दुर्लभ हैं। जिस यजुर्वेदकी छप्पन+आठ+सैंतीस = एक सौ एक शाखाएँ मौजूद हैं, उस यजुर्वेदमें भी मेरा ही गान किया गया है ॥ ९८½ ॥

पञ्चकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृंहितम् ॥ ९९ ॥
कल्पयन्ति हि मां विप्रा अथर्वाणविदस्तथा ।

अथर्ववेदी ब्राह्मण मुझे ही कृत्याओं—आभिचारिक प्रयोगोंसे सम्पन्न पञ्चकल्पात्मक 'अथर्ववेद' मानते हैं ॥ ९९½ ॥

शाखाभेदाश्च ये केचिद् याश्च शाखासु गीतयः ॥ १०० ॥
स्वरवर्णसमुच्चाराः सर्वांस्तान् विद्धि मत्कृतान् ।

वेदोंमें जो भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, उन शाखाओंमें जितने गीत हैं तथा उन गीतोंमें स्वर और वर्णके उच्चारण करनेकी जितनी रीतियाँ हैं, उन सबको मेरी बनायी हुई ही समझो ॥ १००½ ॥

यत् तद्धयशिरः पार्थ समुदेति वरप्रदम् ॥ १०१ ॥
सोऽहमेवोत्तरे भागे क्रमाक्षरविभागवित् ।

कुन्तीनन्दन! सबको वर देनेवाले जो हयग्रीव प्रकट होते हैं, उनके रूपमें मैं ही अवतीर्ण होता हूँ। मैं ही उत्तरभागमें वेद-मन्त्रोंके क्रम-विभाग और अक्षर-विभागका ज्ञाता हूँ* ॥ १०१½ ॥

वामादेशितमार्गेण मत्प्रसादान्महात्मना ॥ १०२ ॥
पाञ्चालेन क्रमः प्राप्तस्तस्माद् भूतात् सनातनात् ।

महात्मा पाञ्चालने वामदेवके बताये हुए ध्यान-मार्गसे मेरी आराधना करके मुझ सनातन पुरुषके ही कृपाप्रसादसे वेदका क्रमविभाग प्राप्त किया था ॥ १०२½ ॥

बाभ्रव्यगोत्रः स बभौ प्रथमं क्रमपारगः ॥ १०३ ॥
नारायणाद् वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमनुत्तमम् ।
क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः ॥ १०४ ॥

बाभ्रव्य-गोत्रमें उत्पन्न हुए वे महर्षि गालव भगवान् नारायणसे वर एवं परम उत्तम योग पाकर वेदके क्रमविभाग एवं शिक्षाका प्रणयन करके सबसे पहले क्रमविभागके पारङ्गत विद्वान् हुए थे ॥ १०३-१०४ ॥

कण्डरीकोऽथ राजा च ब्रह्मदत्तः प्रतापवान् ।
जातीमरणजं दुःखं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ॥ १०५ ॥
सप्तजातिषु मुख्यत्वाद् योगानां सम्पदं गतः ।

कण्डरीक-कुलमें उत्पन्न हुए प्रतापी राजा ब्रह्मदत्तने सात जन्मोंके जन्म-मृत्युसम्बन्धी दुःखोंका बार-बार स्मरण करके तीव्रतम वैराग्यके कारण शीघ्र ही योगजनित ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया था ॥ १०५½ ॥

पुराहमात्मजः पार्थ प्रथितः कारणान्तरे ॥ १०६ ॥
धर्मस्य कुरुशार्दूल ततोऽहं धर्मजः स्मृतः ।

कुरुश्रेष्ठ! कुन्तीकुमार! पूर्वकालमें किसी कारणवश मैं धर्मके पुत्ररूपसे प्रसिद्ध हुआ था। इसीलिये मुझे 'धर्मज' कहा गया है ॥ १०६½ ॥

नरनारायणौ पूर्वं तपस्तेपतुरव्ययम् ॥ १०७ ॥
धर्मयानं समारूढौ पर्वते गन्धमादने ।
तत्कालसमये चैव दक्षयज्ञो बभूव ह ॥ १०८ ॥

पहले नर और नारायणने जब धर्ममय रथपर आरूढ़ हो गन्धमादन पर्वतपर अक्षय तप किया था, उसी समय प्रजापति दक्षका यज्ञ आरम्भ हुआ ॥ १०७-१०८ ॥

न चैवाकल्पयद् भागं दक्षो रुद्रस्य भारत ।
ततो दधीचिवचनाद् दक्षयज्ञमपाहरत् ॥ १०९ ॥

भारत! उस यज्ञमें दक्षने रुद्रके लिये भाग नहीं दिया

*वेदमन्त्रके दो-दो पदका उच्चारण करके पहले-पहलेको छोड़ते जाना और उत्तरोत्तर पदको मिलाकर दो-दो पदोंका एक साथ पाठ करते रहना क्रमविभाग कहलाता है। जैसे—'अग्नि मीळे पुरोहितम्' इस मन्त्रका क्रमपाठ इस प्रकार है—'अग्नि मीळे ईळे पुरोहितं पुरोहितं यज्ञस्य' इत्यादि। अक्षरविभागका अर्थ है पदविभाग—एक-एक पदको अलग-अलग करके पढ़ना। यथा 'अग्निम् ईळे पुरोहितम्' इत्यादि।

था; इसलिये दधीचिके कहनेसे रुद्रदेवने दक्षके यज्ञका विध्वंस कर डाला ॥ १०९ ॥

ससर्ज शूलं कोपेन प्रज्वलन्तं मुहुर्मुहुः।
तच्छूलं भस्मसात्कृत्वा दक्षयज्ञं सविस्तरम् ॥११०॥
आवयोः सहसागच्छद् बदर्याश्रममन्तिकात्।

रुद्रने क्रोधपूर्वक अपने प्रज्वलित त्रिशूलका बारंबार प्रयोग किया। वह त्रिशूल दक्षके विस्तृत यज्ञको भस्म करके सहसा बदरिकाश्रममें हम दोनों (नर और नारायण) के निकट आ पहुँचा ॥ ११०½ ॥

वेगेन महता पार्थ पतन्नारायणोरसि ॥१११॥
ततस्तत्तेजसाऽऽविष्टाः केशा नारायणस्य ह।
बभूवुर्मुञ्जवर्णास्तु ततोऽहं मुञ्जकेशवान् ॥११२॥

पार्थ! उस समय नारायणकी छातीमें वह त्रिशूल बड़े वेगसे जा लगा। उससे निकलते हुए तेजकी लपेटमें आकर नारायणके केश मूँजके समान रंगवाले हो गये। इससे मेरा नाम 'मुञ्जकेश' हो गया ॥ १११-११२ ॥

तच्च शूलं विनिर्धूतं हुंकारेण महात्मना।
जगाम शंकरकरं नारायणसमाहतम् ॥११३॥

तब महात्मा नारायणने हुंकारध्वनिके द्वारा उस त्रिशूलको पीछे हटा दिया। नारायणके हुंकारसे प्रतिहत होकर वह शङ्करजीके हाथमें चला गया ॥ ११३ ॥

अथ रुद्र उपाधावत् तावृषी तपसान्वितौ।
तत एनं समुद्भूतं कण्ठे जग्राह पाणिना ॥११४॥
नारायणः स विश्वात्मा तेनास्य शितिकण्ठता।

यह देख रुद्र तपस्यामें लगे हुए उन ऋषियोंपर टूट पड़े। तब विश्वात्मा नारायणने अपने हाथसे उन आक्रमणकारी रुद्रदेवका गला पकड़ लिया। इसीसे कण्ठ नीला हो जानेके कारण वे 'नीलकण्ठ'के नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ११४½ ॥

अथ रुद्रविघातार्थमिषीकां नर उद्धरन् ॥११५॥
मन्त्रैश्च संयुयोजाशु सोऽभवत् परशुर्महान्।

इसी समय रुद्रका विनाश करनेके लिये नरने एक सींक निकाली और उसे मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके शीघ्र ही छोड़ दिया। वह सींक एक बहुत बड़े परशुके रूपमें परिणत हो गयी ॥ ११५½ ॥

क्षिप्तश्च सहसा तेन खण्डनं प्राप्तवांस्तदा ॥११६॥
ततोऽहं खण्डपरशुः स्मृतः परशुखण्डनात्।

नरका चलाया हुआ वह परशु सहसा रुद्रके द्वारा खण्डित कर दिया गया। मेरे परशुका खण्डन हो जानेसे मैं 'खण्ड-परशु' कहलाया ॥ ११६½ ॥

अर्जुन उवाच

अस्मिन् युद्धे तु वार्ष्णेय त्रैलोक्यशमने तदा ॥११७॥
को जयं प्राप्तवांस्तत्र शंसैतन्मे जनार्दन।

अर्जुनने पूछा—वृष्णिनन्दन! त्रिलोकीका संहार करनेवाले उस युद्धके उपस्थित होनेपर वहाँ रुद्र और नारायणमेंसे किसको विजय प्राप्त हुई? जनार्दन! आप यह बात मुझे बताइये ॥ ११७½ ॥

श्रीभगवानुवाच

तयोः संलग्नयोर्युद्धे रुद्रनारायणात्मनोः ॥११८॥
उद्विग्नाः सहसा कृत्स्नाः सर्वे लोकास्तदाभवन्।
नागृह्णात् पावकः शुभ्रं मखेषु सुहुतं हविः ॥११९॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! रुद्र और नारायण जब इस प्रकार परस्पर युद्धमें संलग्न हो गये, उस समय सम्पूर्ण लोकोंके समस्त प्राणी सहसा उद्विग्न हो उठे। अग्निदेव यज्ञोंमें विधिपूर्वक होम किये गये विशुद्ध हविष्यको भी ग्रहण नहीं कर पाते थे ॥ ११८-११९ ॥

वेदा न प्रतिभान्ति स्म ऋषीणां भावितात्मनाम्।
देवान् रजस्तमश्चैव समाविविशतुस्तदा ॥१२०॥

पवित्रात्मा ऋषियोंको वेदोंका स्मरण नहीं हो पाता था। उस समय देवताओंमें रजोगुण और तमोगुणका आवेश हो गया था ॥ १२० ॥

वसुधा संचकम्पे च नभश्च विचचाल ह।
निष्प्रभाणि च तेजांसि ब्रह्मा चैवासनच्युतः ॥१२१॥
अगाच्छोषं समुद्रश्च हिमवांश्च व्यशीर्यत।

पृथ्वी काँपने लगी, आकाश विचलित हो गया। समस्त तेजस्वी पदार्थ (ग्रह-नक्षत्र आदि) निष्प्रभ हो गये। ब्रह्मा अपने आसनसे गिर पड़े। समुद्र सूखने लगा और हिमालय पर्वत विदीर्ण होने लगा ॥ १२१½ ॥

तस्मिन्नेवं समुत्पन्ने निमित्ते पाण्डुनन्दन ॥१२२॥
ब्रह्मा वृतो देवगणैर्ऋषिभिश्च महात्मभिः।
आजगामाशु तं देशं यत्र युद्धमवर्तत ॥१२३॥

पाण्डुनन्दन! ऐसे अपशकुन प्रकट होनेपर ब्रह्माजी देवताओं तथा महात्मा ऋषियोंको साथ ले शीघ्र उस स्थानपर आये, जहाँ वह युद्ध हो रहा था ॥ १२२-१२३ ॥

सोऽञ्जलिप्रग्रहो भूत्वा चतुर्वक्त्रो निरुक्तगः।
उवाच वचनं रुद्रं लोकानामस्तु वै शिवम् ॥१२४॥
न्यस्यायुधानि विश्वेश जगतो हितकाम्यया।

निरुक्तगम्य भगवान् चतुर्मुखने हाथ जोड़कर रुद्रदेवसे कहा—'प्रभो! समस्त लोकोंका कल्याण हो! विश्वेश्वर! आप जगत्के हितकी कामनासे अपने हथियार रख दीजिये ॥ १२४½ ॥

यदक्षरमथाव्यक्तमीशं लोकस्य भावनम् ॥१२५॥
कूटस्थं कर्तृ निर्द्वन्द्वमकर्तेति च यं विदुः।
व्यक्तिभावगतस्यास्य एका मूर्तिरियं शुभा ॥१२६॥

'जो सम्पूर्ण जगत्का उत्पादक, अविनाशी और अव्यक्त ईश्वर हैं, जिन्हें ज्ञानी पुरुष कूटस्थ, निर्द्वन्द्व, कर्ता और अकर्ता मानते हैं, व्यक्त-भावको प्राप्त हुए उन्हीं परमेश्वरकी यह एक कल्याणमयी मूर्ति है ॥१२५-१२६॥

रो नारायणश्चैव जातौ धर्मकुलोद्वहौ ।
तपसा महता युक्तौ देवश्रेष्ठौ महाव्रतौ ॥१२७॥

'धर्मकुलमें उत्पन्न हुए ये दोनों महाव्रती देवश्रेष्ठ नर और नारायण महान् तपस्यासे युक्त हैं ॥ १२७ ॥

अहं प्रसादजस्तस्य कुतश्चित् कारणान्तरे ।
त्वं चैव क्रोधजस्तात पूर्वसर्गे सनातनः ॥१२८॥

'किसी निमित्तसे उन्हीं नारायणके कृपाप्रसादसे मेरा जन्म हुआ है । तात ! आप भी पूर्वसर्गमें उन्हीं भगवान्के क्रोधसे उत्पन्न हुए सनातन पुरुष हैं ॥ १२८ ॥

मया च सार्धं वरद विबुधैश्च महर्षिभिः ।
प्रसादयाशु लोकानां शान्तिर्भवतु मा चिरम् ॥१२९॥

'वरद ! आप देवताओं और महर्षियोंके तथा मेरे साथ शीघ्र इन भगवान्को प्रसन्न कीजिये, जिससे सम्पूर्ण जगत्में शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो' ॥ १२९ ॥

ब्रह्मणा त्वेवमुक्तस्तु रुद्रः क्रोधाग्निमुत्सृजन् ।
प्रसादयामास ततो देवं नारायणं प्रभुम् ।
शरणं च जगामाद्यं वरेण्यं वरदं प्रभुम् ॥१३०॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर रुद्रदेवने अपनी क्रोधाग्निका त्याग किया । फिर आदिदेव, वरेण्य, वरदायक, सर्वसमर्थ भगवान् नारायणको प्रसन्न किया और उनकी शरण ली ॥

ततोऽथ वरदो देवो जितक्रोधो जितेन्द्रियः ।
प्रीतिमानभवत् तत्र रुद्रेण सह संगतः ॥१३१॥

तब क्रोध और इन्द्रियोंको जीत लेनेवाले वरदायक देवता नारायण वहाँ बड़े प्रसन्न हुए और रुद्रदेवसे गले मिले ॥ १३१ ॥

ऋषिभिर्ब्रह्मणा चैव विबुधैश्च सुपूजितः ।
उवाच देवमीशानमीशः स जगतो हरिः ॥१३२॥
यस्त्वां वेत्ति स मां वेत्ति यस्त्वामनु स मामनु ।
नावयोरन्तरं किंचिन्मा तेऽभूद् बुद्धिरन्यथा ॥१३३॥

तदनन्तर देवताओं, ऋषियों और ब्रह्माजीसे अत्यन्त पूजित हो जगदीश्वर श्रीहरिने रुद्रदेवसे कहा—'प्रभो ! जो तुम्हें जानता है, वह मुझे भी जानता है । जो तुम्हारा अनुगामी है, वह मेरा भी अनुगामी है । हम दोनोंमें कुछ भी अन्तर नहीं है । तुम्हारे मनमें इसके विपरीत विचार नहीं होना चाहिये ॥१३२-१३३ ॥

अद्यप्रभृति श्रीवत्सः शूलाङ्को मे भवत्वयम् ।
मम पाण्यङ्कितश्चापि श्रीकण्ठस्त्वं भविष्यसि ॥१३४॥

'आजसे तुम्हारे शूलका यह चिह्न मेरे वक्षःस्थलमें 'श्रीवत्स'के नामसे प्रसिद्ध होगा और तुम्हारे कण्ठमें मेरे हाथके चिह्नसे अङ्कित होनेके कारण तुम भी 'श्रीकण्ठ' कहलाओगे' ॥ १३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं लक्षणमुत्पाद्य परस्परकृतं तदा ।
सख्यं चैवातुलं कृत्वा रुद्रेण सहितावृषी ॥१३५॥
तपस्तेपतुरव्यग्रौ विसृज्य त्रिदिवौकसः ।
एष ते कथितः पार्थ नारायणजयो मृधे ॥१३६॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पार्थ ! इस प्रकार अपने-अपने शरीरमें एक दूसरेके द्वारा किये हुए ऐसे लक्षण (चिह्न) उत्पन्न करके वे दोनों ऋषि रुद्रदेवके साथ अनुपम मैत्री स्थापित कर देवताओंको विदा करनेके पश्चात् शान्तचित्त हो पूर्ववत् तपस्या करने लगे । इस प्रकार मैंने तुम्हें युद्धमें नारायणकी विजयका वृत्तान्त बताया है ॥ १३५-१३६ ॥

नामानि चैव गुह्यानि निरुक्तानि च भारत ।
ऋषिभिः कथितानीह यानि संकीर्तितानि ते ॥१३७॥

भारत ! मेरे जो गोपनीय नाम हैं, उनकी व्युत्पत्ति मैंने बतायी है । ऋषियोंने मेरे जो नाम निश्चित किये हैं, उनका भी मैंने तुमसे वर्णन किया है ॥ १३७ ॥

एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम् ।
ब्रह्मलोकं च कौन्तेय गोलोकं च सनातनम् ॥१३८॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार अनेक तरहके रूप धारण करके मैं इस पृथ्वीपर विचरता हूँ, ब्रह्मलोकमें रहता हूँ और सनातन गोलोकमें विहार करता हूँ ॥ १३८ ॥

मया त्वं रक्षितो युद्धे महान्तं प्राप्तवाञ्जयम् ।
यस्तु ते सोऽग्रतो याति युद्धे सम्प्रत्युपस्थिते ॥१३९॥
तं विद्धि रुद्रं कौन्तेय देवदेवं कपर्दिनम् ।
कालः स एव कथितः क्रोधजेति मया तव ॥१४०॥

मुझसे सुरक्षित होकर तुमने महाभारत युद्धमें महान् विजय प्राप्त की है । कुन्तीनन्दन ! युद्ध उपस्थित होनेपर जो पुरुष तुम्हारे आगे-आगे चलते थे, उन्हें तुम जटाजूटधारी देवाधिदेव रुद्र समझो । उन्हींको मैंने तुमसे क्रोधद्वारा उत्पन्न बताया है । वे ही काल कहे गये हैं ॥ १३९-१४० ॥

निहतास्तेन वै पूर्वं हतवानसि यान् रिपून् ।
अप्रमेयप्रभावं तं देवदेवमुमापतिम् ।
नमस्व देवं प्रयतो विश्वेशं हरमक्षयम् ॥१४१॥

तुमने जिन शत्रुओंको मारा है, वे पहले ही रुद्रदेवके हाथसे मार दिये गये थे । उनका प्रभाव अप्रमेय है । तुम उन देवाधिदेव, उमावल्लभ विश्वनाथ, पापहारी एवं अविनाशी महादेवजीको संयतचित्त होकर नमस्कार करो ॥ १४१ ॥

यश्च ते कथितः पूर्वं क्रोधजेति पुनः पुनः ।

तस्य प्रभाव एवाग्रे यच्छ्रुतं ते धनंजय ॥१४२॥

धनंजय ! जिन्हें क्रोधज बताकर मैंने तुमसे बारंबार उनका परिचय दिया है और पहले तुमने जो कुछ सुन रक्खा है, वह सब उन रुद्रदेवका ही प्रभाव है ॥ १४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि [मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये द्विचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १४४ श्लोक हैं)

त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

जनमेजयका प्रश्न, देवर्षि नारदका श्वेतद्वीपसे लौटकर नर-नारायणके पास जाना और उनके पूछनेपर उनसे वहाँके महत्त्वपूर्ण दृश्यका वर्णन करना

शौनक उवाच

सौते सुमहदाख्यानं भवता परिकीर्तितम् ।
यच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे विस्मयं परमं गताः ॥ १ ॥

शौनकने कहा—सूतनन्दन ! आपने यह बहुत बड़ा आख्यान सुनाया है । इसे सुनकर समस्त ऋषियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ है ॥ १ ॥

सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
न तथा फलदं सौते नारायणकथा यथा ॥ २ ॥

सूतकुमार ! सम्पूर्ण ऋषि-आश्रमोंकी यात्रा करना और समस्त तीर्थोंमें स्नान करना भी वैसा फलदायक नहीं है, जैसी कि भगवान् नारायणकी कथा है ॥ २ ॥

पाविताङ्गाः स्म संवृत्ताः श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।
नारायणाश्रयां पुण्यां सर्वपापप्रमोचनीम् ॥ ३ ॥

समस्त पापोंसे छुड़ानेवाली नारायणसम्बन्धिनी इस पुण्यमयी कथाको आरम्भसे ही सुनकर हमारे तन-मन पवित्र हो गये ॥ ३ ॥

दुर्दर्शो भगवान् देवः सर्वलोकनमस्कृतः ।
सब्रह्मकैः सुरैः कृत्स्नैरन्यैश्चैव महर्षिभिः ॥ ४ ॥

सर्वलोकवन्दित भगवान् नारायणदेवका दर्शन तो ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवताओं तथा अन्यान्य महर्षियोंके लिये भी दुर्लभ है ॥ ४ ॥

दृष्टवान् नारदो यत्तु देवं नारायणं हरिम् ।
नूनमेतद्ध्यनुमतं तस्य देवस्य सूतज ॥ ५ ॥

सूतनन्दन ! नारदजीने जो देवदेव नारायण हरिका दर्शन कर लिया, यह निश्चय ही उन भगवान्‌की अनुमतिसे ही सम्भव हुआ ॥ ५ ॥

यद् दृष्टवान् जगन्नाथमनिरुद्धतनौ स्थितम् ।
यत् प्राद्रवत् पुनर्भूयो नारदो देवसत्तमौ ॥ ६ ॥
नरनारायणौ द्रष्टुं कारणं तद् ब्रवीहि मे ।

नारदजीने जो अनिरुद्ध-विग्रहमें स्थित हुए जगन्नाथ श्रीहरिका दर्शन किया और पुनः जो वे वहाँसे देवश्रेष्ठ नर-नारायणका दर्शन करनेके लिये उनके पास दौड़े गये, इसका क्या कारण है ? यह मुझे बताइये ॥ ६½ ॥

सौतिरुवाच

तस्मिन् यज्ञे वर्तमाने राज्ञः पारिक्षितस्य वै ॥ ७ ॥
कर्मान्तरेषु विधिवद् वर्तमानेषु शौनक ।
कृष्णद्वैपायनं व्यासमृषिं वेदनिधिं प्रभुम् ॥ ८ ॥
परिपप्रच्छ राजेन्द्रः पितामहपितामहम् ।

सूतपुत्रने कहा—शौनक ! राजा जनमेजयका वह यज्ञ विधिपूर्वक चल रहा था । उसमें विभिन्न कर्मोंके बीचमें अवकाश मिलनेपर राजेन्द्र जनमेजयने अपने पितामहोंके पितामह वेदनिधि भगवान् कृष्णद्वैपायन महर्षि व्याससे इस प्रकार पूछा ॥ ७-८½ ॥

जनमेजय उवाच

श्वेतद्वीपान्निवृत्तेन नारदेन सुरर्षिणा ॥ ९ ॥
ध्यायता भगवद्वाक्यं चेष्टितं किमतः परम् ।

जनमेजय बोले—भगवन् ! भगवान् नारायणके कथनपर विचार करते हुए देवर्षि नारद जब श्वेतद्वीपसे लौट आये, तब उसके बाद उन्होंने क्या किया ? ॥ ९½ ॥

बदर्याश्रममागम्य समागम्य च तावृषी ॥ १० ॥
कियन्तं कालमवसत् कां कथां पृष्टवांश्च सः ।

बदरिकाश्रममें आकर उन दोनों ऋषियोंसे मिलनेके पश्चात् नारदजीने वहाँ कितने समयतक निवास किया और उन दोनोंसे कौन-सी कथा पूछी ? ॥ १०½ ॥

इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तरात् ॥ ११ ॥
आमन्थ्य मतिमन्थेन ज्ञानोदधिमनुत्तमम् ।

एक लाख श्लोकोंसे युक्त विस्तृत महाभारत इतिहाससे निकालकर जो आपने यह सारभूत कथा सुनायी है, यह बुद्धिरूपी मथानीके द्वारा ज्ञानके उत्तम समुद्रको मथकर निकाले गये अमृतके समान है ॥ ११½ ॥

नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा ॥ १२ ॥
आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा ।
समुद्धृतमिदं ब्रह्मन् कथामृतमिदं तथा ॥ १३ ॥

ब्रह्मन्! जैसे दहीसे मक्खन, मलयपर्वतसे चन्दन, वेदोंसे आरण्यक और ओषधियोंसे अमृत निकाला गया है, उसी प्रकार आपने यह कथारूपी अमृत निकालकर रक्खा है ॥ १२-१३ ॥

तपोनिधे त्वयोक्तं हि नारायणकथाश्रयम् ।
स ईशो भगवान् देवः सर्वभूतात्मभावनः ॥ १४ ॥

तपोनिधे! आपने भगवान् नारायणकी कथासे सम्बन्ध रखनेवाली जो बातें कही हैं, वे सब इस ग्रन्थकी सारभूत हैं। सबके ईश्वर भगवान् नारायणदेव सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ १४ ॥

अहो नारायणं तेजो दुर्दर्शं द्विजसत्तम ।
यत्राविशन्ति कल्पान्ते सर्वे ब्रह्मादयः सुराः ॥ १५ ॥
ऋषयश्च सगन्धर्वा यच्च किंचिच्चराचरम् ।
न ततोऽस्ति परं मन्ये पावनं दिवि चेह च ॥ १६ ॥

द्विजश्रेष्ठ! उन भगवान् नारायणका तेज अद्भुत है। मनुष्यके लिये उसकी ओर देखना भी कठिन है। कल्पके अन्तमें जिनके भीतर ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवता, ऋषि, गन्धर्व तथा जो कुछ भी चराचर जगत् है, वह सब विलीन हो जाता है, उनसे बढ़कर परम पावन एवं महान् इस भूतल और स्वर्गलोकमें मैं दूसरे किसीको नहीं मानता ॥ १५-१६ ॥

सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
न तथा फलदं चापि नारायणकथा यथा ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण ऋषि-आश्रमोंकी यात्रा करना और समस्त तीर्थोंमें स्नान करना भी वैसा फल देनेवाला नहीं है, जैसा कि भगवान् नारायणकी कथा प्रदान करती है ॥ १७ ॥

सर्वथा पाविताः स्मेह श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।
हरेर्विश्वेश्वरस्येह सर्वपापप्रणाशनीम् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण विश्वके स्वामी श्रीहरिकी कथा सब पापोंका नाश करनेवाली है। उसे आरम्भसे ही सुनकर हम सब लोग यहाँ सर्वथा पवित्र हो गये हैं ॥ १८ ॥

न चित्रं कृतवांस्तत्र यदार्यो मे धनंजयः ।
वासुदेवसहायो यः प्राप्तवाञ्जयमुत्तमम् ॥ १९ ॥

मेरे पितामह अर्जुनने जो भगवान् वासुदेवकी सहायता पाकर उत्तम विजय प्राप्त कर ली, वह वहाँ उन्होंने कोई अद्भुत कार्य नहीं किया है ॥ १९ ॥

न चास्य किंचिदप्राप्यं मन्ये लोकेष्वपि त्रिषु ।
त्रैलोक्यनाथो विष्णुः स यथाऽऽसीत् साह्यकृत् स वै ॥

त्रिलोकीनाथ भगवान् कृष्ण ही जब उनके सहायक थे, तब उनके लिये तीनों लोकोंमें किसी वस्तुकी प्राप्ति असम्भव रही हो, यह मैं नहीं मानता ॥ २० ॥

धन्याश्च सर्व एवासन् ब्रह्मंस्ते मम पूर्वजाः ।
हिताय श्रेयसे चैव येषामासीज्जनार्दनः ॥ २१ ॥

ब्रह्मन्! मेरे सभी पूर्वज धन्य थे, जिनका हित और कल्याण करनेके लिये साक्षात् जनार्दन तैयार रहते थे ॥

तपसाथ सुदृश्यो हि भगवाँल्लोकपूजितः ।
यं दृष्टवन्तस्ते साक्षाच्छ्रीवत्साङ्कविभूषणम् ॥ २२ ॥

लोकपूजित भगवान् नारायणका दर्शन तो तपस्यासे ही हो सकता है; किंतु मेरे पितामहोंने श्रीवत्सके चिह्नसे विभूषित उन भगवान्‌का साक्षात् दर्शन अनायास ही पा लिया था ॥ २२ ॥

तेभ्यो धन्यतरश्चैव नारदः परमेष्ठिजः ।
न चाल्पतेजसमृषिं वेद्मि नारदमव्ययम् ॥ २३ ॥
श्वेतद्वीपं समासाद्य येन दृष्टः स्वयं हरिः ।
देवप्रसादानुगतं व्यक्तं तत् तस्य दर्शनम् ॥ २४ ॥

उन सबसे भी अधिक धन्यवादके योग्य ब्रह्मपुत्र नारदजी हैं। मैं अविनाशी नारदजीको कम तेजस्वी ऋषि नहीं समझता, जिन्होंने श्वेतद्वीपमें पहुँचकर साक्षात् श्रीहरिका दर्शन प्राप्त कर लिया। उनका वह भगवद्-दर्शन स्पष्ट ही उन भगवान्‌की कृपाका फल है ॥ २३-२४ ॥

तद् दृष्टवांस्तदा देवमनिरुद्धतनौ स्थितम् ।
बदरीमाश्रमं यत् तु नारदः प्राद्रवत् पुनः ॥ २५ ॥
नरनारायणौ द्रष्टुं किं तु तत् कारणं मुने ।

मुने! नारदजीने उस समय श्वेतद्वीपमें जाकर जो अनिरुद्ध-विग्रहमें स्थित नारायणदेवका साक्षात्कार किया तथा पुनः नर-नारायणका दर्शन करनेके लिये जो बदरिकाश्रमको प्रस्थान किया, इसका क्या कारण है? ॥ २५½ ॥

श्वेतद्वीपान्निवृत्तश्च नारदः परमेष्ठिजः ॥ २६ ॥
बदरीमाश्रमं प्राप्य समागम्य च तावृषी ।
कियन्तं कालमवसत् प्रश्नान् कान् पृष्टवांश्च ह ॥ २७ ॥

ब्रह्मपुत्र नारदजी श्वेतद्वीपसे लौटनेपर जब बदरिकाश्रममें पहुँचकर उन दोनों ऋषियोंसे मिले, तब वहाँ उन्होंने कितने समयतक निवास किया? और वहाँ उनसे किन-किन प्रश्नोंको पूछा? ॥ २६-२७ ॥

श्वेतद्वीपादुपावृत्ते तस्मिन् वा सुमहात्मनि ।
किमब्रूतां महात्मानौ नरनारायणावृषी ॥ २८ ॥
तदेतन्मे यथातत्त्वं सर्वमाख्यातुमर्हसि ।

श्वेतद्वीपसे लौटे हुए उन नारदजीसे महात्मा नर-

नारायण ऋषियोंने क्या बात की थी ? ये सब बातें आप यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ २८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

नमो भगवते तस्मै व्यासायामिततेजसे ॥ २९ ॥
यस्य प्रसादाद् वक्ष्यामि नारायणकथामिमाम् ।

वैशम्पायनजीने कहा—अमिततेजस्वी भगवान् व्यासको नमस्कार है, जिनके कृपाप्रसादसे मैं भगवान् नारायणकी यह कथा कह रहा हूँ ॥ २९½ ॥

प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं दृष्ट्वा च हरिमव्ययम् ॥ ३० ॥
निवृत्तो नारदो राजंस्तरसा मेरुमागमत् ।
हृदयेनोद्वहन् भारं यदुक्तं परमात्मना ॥ ३१ ॥

राजन् ! श्वेतनामक महाद्वीपमें जाकर वहाँ अविनाशी श्रीहरिका दर्शन करके जब नारदजी लौटे, तब बड़े वेगसे मेरुपर्वतपर आ पहुँचे । परमात्मा श्रीहरिने उनसे जो कुछ कहा था, उस कार्यभारको वे हृदयसे ढो रहे थे ॥३०-३१॥

पश्चादस्याभवद् राजन्नात्मनः साध्वसं महत् ।
यद् गत्वा दूरमध्वानं क्षेमी पुनरिहागतः ॥ ३२ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् उनके मनमें यह सोचकर बड़ा भारी विस्मय हुआ कि मैं इतनी दूरका मार्ग तै करके पुनः यहाँ सकुशल कैसे लौट आया ? ॥ ३२ ॥

मेरोः प्रचक्राम ततः पर्वतं गन्धमादनम् ।
निपपात च खात् तूर्णं विशालां बदरीमनु ॥ ३३ ॥

तदनन्तर वे मेरुसे गन्धमादन पर्वतकी ओर चले और बदरीविशालतीर्थके समीप तुरंत ही आकाशसे नीचे उतर पड़े ॥ ३३ ॥

ततः स ददृशे देवौ पुराणावृषिसत्तमौ ।
तपश्चरन्तौ सुमहदात्मनिष्ठौ महाव्रतौ ॥ ३४ ॥

वहाँ उन्होंने उन दोनों पुरातन देवता ऋषिश्रेष्ठ नर-नारायणका दर्शन किया, जो आत्मनिष्ठ हो महान् व्रत लेकर बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे ॥ ३४ ॥

तेजसाभ्यधिकौ सूर्यात् सर्वलोकविरोचनात् ।
श्रीवत्सलक्षणौ पूज्यौ जटामण्डलधारिणौ ॥ ३५ ॥

वे दोनों सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करनेवाले सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी थे । उन पूज्य महात्माओंके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सके चिह्न सुशोभित हो रहे थे और वे अपने मस्तकपर जटामण्डल धारण किये हुए थे ॥ ३५ ॥

जालपादभुजौ तौ तु पादयोश्चक्रलक्षणौ ।
व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ तथा मुष्कचतुष्किणौ ॥ ३६ ॥
षष्टिदन्तावष्टदंष्ट्रौ मेघौघसदृशस्वनौ ।
स्वास्यौ पृथुललाटौ च सुभ्रू सुहनुनासिकौ ॥ ३७ ॥

उनके हाथोंमें हंसका और चरणोंमें चक्रका चिह्न था। विशाल वक्षःस्थल, बड़ी-बड़ी भुजाएँ, अण्डकोशमें चार-चार बीज, मुखमें साठ दाँत और आठ दाढ़ें, मेघके समान गम्भीर स्वर, सुन्दर मुख, चौड़े ललाट, बाँकी भौंहें, सुन्दर ठोढ़ी और मनोहर नासिकासे उन दोनोंकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ ३६-३७ ॥

आतपत्रेण सदृशे शिरसी देवयोस्तयोः ।
एवं लक्षणसम्पन्नौ महापुरुषसंज्ञितौ ॥ ३८ ॥
तौ दृष्ट्वा नारदो हृष्टस्ताभ्यां च प्रतिपूजितः ।
स्वागतेनाभिभाष्याथ पृष्टश्चानामयं तथा ॥ ३९ ॥

उन दोनों देवताओंके मस्तक छत्रके समान प्रतीत होते थे । ऐसे शुभलक्षणोंसे सम्पन्न उन दोनों महापुरुषोंका दर्शन करके नारदजीको बड़ी प्रसन्नता हुई । भगवान् नर और नारायणने भी नारदजीका स्वागत-सत्कार करके उनका कुशल-समाचार पूछा ॥ ३८-३९ ॥

बभूवान्तर्गतमतिर्निरीक्ष्य पुरुषोत्तमौ ।
सदोगतास्तत्र ये वै सर्वभूतनमस्कृताः ॥ ४० ॥
श्वेतद्वीपे मया दृष्टास्तादृशावृषिसत्तमौ ।

तदनन्तर नारदजीने उन दोनों पुरुषोत्तमोंकी ओर देखकर मन-ही-मन विचार किया, अहो ! मैंने श्वेतद्वीपमें भगवान्‌की सभाके भीतर जिन सर्वभूतवन्दित सदस्योंको देखा था, ये दोनों ऋषिश्रेष्ठ भी वैसे ही हैं ॥ ४०½ ॥

इति संचिन्त्य मनसा कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ॥ ४१ ॥
स चोपविविशे तत्र पीठे कुशमये शुभे ।

मन-ही-मन ऐसा सोचकर वे उन दोनोंकी प्रदक्षिणा करके एक सुन्दर कुशासनपर बैठ गये ॥ ४१½ ॥

ततस्तौ तपसां वासौ यशसां तेजसामपि ॥ ४२ ॥
ऋषी शमदमोपेतौ कृत्वा पौर्वाह्णिकं विधिम् ।
पश्चान्नारदमव्यग्रौ पाद्यार्घ्याभ्यामथार्चतः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर तपस्या, यश और तेजके भी निवासस्थान वे शम-दमसम्पन्न दोनों ऋषि पूर्वाह्णकालका नित्य कर्म पूर्ण करके फिर शान्त-भावसे पाद्य और अर्घ्य आदि निवेदन करके नारदजीकी पूजा करने लगे ॥ ४२-४३ ॥

पीठयोश्चोपविष्टौ तौ कृतातिथ्याह्निकौ नृप ।
तेषु तत्रोपविष्टेषु स देशोऽभिव्यराजत ॥ ४४ ॥
आज्याहुतिमहाज्वालैर्यज्ञवाटो यथाग्निभिः ।

नरेश्वर ! अपने नित्यकर्म तथा नारदजीका आतिथ्य-सत्कार करके वे दोनों ऋषि भी कुशासनपर बैठ गये । वहाँ उन तीनोंके बैठ जानेपर वह प्रदेश घीकी आहुतिसे प्रज्वलित विशाल लपटोंवाले तीन अग्नियोंसे प्रकाशित यज्ञमण्डपकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ ४४½ ॥

अथ नारायणस्तत्र नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४५ ॥
सुखोपविष्टं विश्रान्तं कृतातिथ्यं सुखस्थितम् ।

इसके बाद वहाँ आतिथ्य ग्रहण करके सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करते हुए नारदजीसे नारायणने इस प्रकार कहा ॥

नरनारायणावूचतुः

इदानीं स भगवान् परमात्मा सनातनः ॥ ४६ ॥
श्वेतद्वीपे त्वया दृष्ट आवयोः प्रकृतिः परा ।

नर-नारायण बोले—देवर्षे ! क्या तुमने इस समय श्वेतद्वीपमें जाकर हम दोनोंका परम कारणरूप सनातन परमात्मा भगवान्‌का दर्शन कर लिया ? ॥ ४६½ ॥

नारद उवाच

दृष्टो मे पुरुषः श्रीमान् विश्वरूपधरोऽव्ययः ॥ ४७ ॥
सर्वे लोका हि तत्रस्थास्तथा देवाः सहर्षिभिः ।

नारदजीने कहा—भगवन् ! मैंने विश्वरूपधारी उन अविनाशी एवं कान्तिमान् परम पुरुषका दर्शन कर लिया। ऋषियोंसहित देवता तथा सम्पूर्ण लोक उन्हींके भीतर विराजमान हैं ॥ ४७½ ॥

अद्यापि चैनं पश्यामि युवां पश्यन् सनातनौ ॥ ४८ ॥
यैर्लक्षणैरुपेतः स हरिरव्यक्तरूपधृक् ।
तैर्लक्षणैरुपेतौ हि व्यक्तरूपधरौ युवाम् ॥ ४९ ॥

मैं इस समय भी आप दोनों सनातन पुरुषोंको देखकर वहीं श्वेतद्वीपनिवासी भगवान्‌की झाँकी कर रहा हूँ। वहाँ मैंने अव्यक्तरूपधारी श्रीहरिको जिन लक्षणोंसे सम्पन्न देखा था, आप दोनों व्यक्तरूपधारी पुरुष भी उन्हीं लक्षणोंसे सुशोभित हैं ॥ ४८-४९ ॥

दृष्टौ युवां मया तत्र तस्य देवस्य पार्श्वतः ।
इहैव चागतोऽस्म्यद्य विसृष्टः परमात्मना ॥ ५० ॥

इतना ही नहीं, मैंने आप दोनोंको वहाँ भी परमदेवके पास उपस्थित देखा था और उन्हीं परमात्माके भेजनेसे आज मैं फिर यहाँ आया हूँ ॥ ५० ॥

को हि नाम भवेत् तस्य तेजसा यशसा श्रिया ।
सदृशस्त्रिषु लोकेषु ऋते धर्मात्मजौ युवाम् ॥ ५१ ॥

तीनों लोकोंमें धर्मके पुत्र आप दोनों महापुरुषोंके सिवा दूसरा कौन है, जो तेज, यश और श्रीमें उन्हीं परमेश्वरके समान हो ॥ ५१ ॥

तेन मे कथितः कृत्स्नो धर्मः क्षेत्रज्ञसंज्ञितः ।
प्रादुर्भावाश्च कथिता भविष्या इह ये यथा ॥ ५२ ॥

उन भगवान् श्रीहरिने मुझसे सम्पूर्ण धर्मका वर्णन किया था। क्षेत्रज्ञका भी परिचय दिया था और यहाँ भविष्यमें उनके जो अवतार जैसे होनेवाले हैं, उन्हें भी बताया था ॥ ५२ ॥

तत्र ये पुरुषाः श्वेताः पञ्चेन्द्रियविवर्जिताः ।
प्रतिबुद्धाश्च ते सर्वे भक्ताश्च पुरुषोत्तमम् ॥ ५३ ॥

वहाँ जो चन्द्रमाके समान गौरवर्णके पुरुष थे, वे सब-के-सब पाँचों इन्द्रियोंसे रहित अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीरसे शून्य, ज्ञानवान् तथा पुरुषोत्तम श्रीविष्णुके भक्त थे ॥ ५३ ॥

तेऽर्चयन्ति सदा देवं तैः सार्धं रमते च सः ।
प्रियभक्तो हि भगवान् परमात्मा द्विजप्रियः ॥ ५४ ॥

वे सदा उन नारायणदेवकी पूजा-अर्चा करते रहते हैं और भगवान् भी सदा उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं। भगवान्‌को अपने भक्त बहुत ही प्रिय हैं तथा वे परमात्मा श्रीहरि ब्राह्मणोंके भी प्रेमी हैं ॥ ५४ ॥

रमते सोऽर्च्यमानो हि सदा भागवतप्रियः ।
विश्वभुक् सर्वगो देवो माधवो भक्तवत्सलः ॥ ५५ ॥

वे विश्वका पालन करनेवाले सर्वव्यापी भगवान् बड़े भक्तवत्सल हैं। भगवद्भक्तोंके प्रेमी और प्रियतम श्रीहरि उनसे पूजित हो वहाँ सदा सुप्रसन्न रहते हैं ॥ ५५ ॥

स कर्ता कारणं चैव कार्यं चातिबलद्युतिः ।
हेतुश्चाज्ञा विधानं च तत्त्वं चैव महायशाः ॥ ५६ ॥

वे ही कर्ता, कारण और कार्य हैं। उनका बल और तेज अनन्त है। वे महायशस्वी भगवान् ही हेतु, आज्ञा, विधि और तत्त्वरूप हैं ॥ ५६ ॥

तपसा योज्य सोऽऽत्मानं श्वेतद्वीपात् परं हि यत् ।
तेज इत्यभिविख्यातं स्वयंभासावभासितम् ॥ ५७ ॥

वे अपने आपको तपस्यामें लगाकर श्वेतद्वीपसे भी परे प्रकाशमान तेजोमय स्वरूपसे विख्यात हैं। उनका वह तेज अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है ॥ ५७ ॥

शान्तिः सा त्रिषु लोकेषु विहिता भावितात्मना ।
एतया शुभया बुद्ध्या नैष्ठिकं व्रतमास्थितः ॥ ५८ ॥

उन पूतात्मा परमात्माने तीनों लोकोंमें उस शान्तिका विस्तार किया है। अपनी इस कल्याणमयी बुद्धिके द्वारा वे नैष्ठिक व्रतका आश्रय लेकर स्थित हैं ॥ ५८ ॥

न तत्र सूर्यस्तपति न सोमोऽभिविराजते ।
न वायुर्वाति देवेशे तपश्चरति दुश्चरम् ॥ ५९ ॥

वहाँ सूर्य नहीं तपते, चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होते तथा दुष्कर तपस्यामें लगे हुए देवेश्वर श्रीहरिके समीप यह लौकिक वायु भी नहीं चलती है ॥ ५९ ॥

वेदीमष्टनलोत्सेधां भूमावास्थाय विश्वकृत् ।
एकपादस्थितो देव ऊर्ध्वबाहुरुदङ्मुखः ॥ ६० ॥

वहाँकी भूमिपर एक ऊँची वेदी बनी है, जिसकी ऊँचाई आठ अंगुलियोंकी लंबाईके बराबर है। उसपर आरूढ हो

वे विश्वकर्ता परमात्मा दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये और उत्तरकी ओर मुँह किये एक पैरसे खड़े हैं ॥ ६० ॥

साङ्गानावर्तयन् वेदांस्तपस्तेपे सुदुश्चरम् ।
यद् ब्रह्मा ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत् ॥ ६१ ॥
शेषाश्च विबुधश्रेष्ठा दैत्यदानवराक्षसाः ।
नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः सिद्धा राजर्षयश्च ये ॥ ६२ ॥
हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते ।
कृत्स्नं तु तस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठति ॥ ६३ ॥

वे अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंकी आवृत्ति करते हुए अत्यन्त कठोर तपस्यामें संलग्न हैं। ब्रह्मा, स्वयं महादेव, सम्पूर्ण ऋषि और शेष श्रेष्ठ देवता तथा दैत्य, दानव, राक्षस, नाग, गरुड़, गन्धर्व, सिद्ध एवं राजर्षिगण सदा विधिपूर्वक जो हव्य और कव्य अर्पण करते हैं, वह सब कुछ उन्हीं भगवान्‌के चरणोंमें उपस्थित होता है ॥ ६१—६३ ॥

याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताश्च एकान्तगतबुद्धिभिः ।
ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम् ॥ ६४ ॥

जिनकी बुद्धि अनन्य भावसे एकमात्र भगवान्‌में ही लगी हुई है, उन भक्तोंद्वारा जो क्रियाएँ समर्पित की जाती हैं, उन सबको वे भगवान् स्वयं शिरोधार्य करते हैं ॥ ६४ ॥

न तस्यान्यः प्रियतरः प्रतिबुद्धैर्महात्मभिः ।
विद्यते त्रिषु लोकेषु ततोऽस्म्यैकान्तिकं गतः ॥ ६५ ॥

वहाँके ज्ञानी महात्मा भक्तोंसे बढ़कर भगवान्‌को तीनों लोकोंमें दूसरा कोई प्रिय नहीं है; अतः मैं अनन्य भावसे उन्हींकी शरणमें गया हूँ ॥ ६५ ॥

इह चैवागतस्तेन विसृष्टः परमात्मना ।
एवं मे भगवान् देवः स्वयमाख्यातवान् हरिः ।
आसिष्ये तत्परो भूत्वा युवाभ्यां सह नित्यशः ॥ ६६ ॥

यहाँ भी मैं उन्हीं परमात्माके भेजनेसे आया हूँ। स्वयं भगवान् श्रीहरिने मुझसे ऐसा कहा था। अब मैं उन्हींकी आराधनामें तत्पर हो आप दोनोंके साथ यहाँ नित्य निवास करूँगा ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नर-नारायणका नारदजीकी प्रशंसा करते हुए उन्हें भगवान् वासुदेवका माहात्म्य बतलाना

नरनारायणावूचतुः

धन्योऽस्यनुगृहीतोऽसि यत् ते दृष्टः स्वयं प्रभुः ।
न हि तं दृष्टवान् कश्चित् पद्मयोनिरपि स्वयम् ॥ १ ॥

नर-नारायणने कहा—नारद ! तुमने श्वेतद्वीपमें जाकर जो साक्षात् भगवान्‌का दर्शन कर लिया, इससे तुम धन्य हो गये। वास्तवमें भगवान्‌ने तुमपर बड़ा भारी अनुग्रह किया। तुम्हारे सिवा और किसीने, साक्षात् कमलयोनि ब्रह्माजीने भी भगवान्‌का इस प्रकार दर्शन नहीं किया ॥ १ ॥

अव्यक्तयोनिर्भगवान् दुर्दर्शः पुरुषोत्तमः ।
नारदैतद्धि नौ सत्यं वचनं समुदाहृतम् ॥ २ ॥
नास्य भक्तात् प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते ।
ततः स्वयं दर्शितवान् स्वमात्मानं द्विजोत्तम ॥ ३ ॥

नारद ! वे भगवान् पुरुषोत्तम अव्यक्त प्रकृतिके मूल कारण हैं। उनका दर्शन मिलना अत्यन्त कठिन है। द्विजश्रेष्ठ ! हम दोनों तुमसे सच कहते हैं कि भगवान्‌को इस जगत्‌में भक्तसे बढ़कर दूसरा कोई प्रिय नहीं है। इसलिये उन्होंने स्वयं ही तुम्हें अपने स्वरूपका दर्शन कराया है ॥ २-३ ॥

तपो हि तप्यतस्तस्य यत् स्थानं परमात्मनः ।
न तत् सम्प्राप्नुते कश्चिदृते ह्यावां द्विजोत्तम ॥ ४ ॥

द्विजोत्तम ! तपस्यामें लगे हुए उन परमात्माका जो स्थान है, वहाँ हम दोनोंके सिवा दूसरा कोई नहीं पहुँच सकता ॥ ४ ॥

या हि सूर्यसहस्रस्य समस्तस्य भवेद् द्युतिः ।
स्थानस्य सा भवेत् तस्य स्वयं तेन विराजता ॥ ५ ॥

एक हजार सूर्योंके एकत्र होनेपर जितनी कान्ति हो सकती है, उतनी ही उस स्थानकी भी कान्ति है, जहाँ भगवान् विराज रहे हैं ॥ ५ ॥

तस्मादुत्तिष्ठते विप्र देवाद् विश्वभुवः पतेः ।
क्षमा क्षमावतां श्रेष्ठ यया भूमिस्तु युज्यते ॥ ६ ॥

विप्रवर ! क्षमाशीलोंमें श्रेष्ठ नारद ! विश्वविधाता ब्रह्माजीके भी पति उन परमेश्वरसे ही क्षमाकी उत्पत्ति हुई है, जिससे पृथ्वीका संयोग होता है ॥ ६ ॥

तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात् सर्वभूतहिताद् रसः ।
आपो हि तेन युज्यन्ते द्रवत्वं प्राप्नुवन्ति च ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहनेवाले उन नारायणदेवसे ही रस प्रकट हुआ है, जिसका जलके साथ संयोग है और जिसके कारण जल द्रवीभूत होता है ॥ ७ ॥

तस्मादेव समुद्भूतं तेजो रूपगुणात्मकम् ।
येन संयुज्यते सूर्यस्ततो लोके विराजते ॥ ८ ॥

उन्हींसे रूप-गुणविशिष्ट तेजका प्रादुर्भाव हुआ है, जिससे सूर्यदेव संयुक्त हुए हैं । इसीलिये वे लोकमें प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

तस्माद् देवात् समुद्भूतः स्पर्शस्तु पुरुषोत्तमात् ।
येन स युज्यते वायुस्ततो लोकान् विवात्यसौ ॥ ९ ॥

उन्हीं भगवान् पुरुषोत्तमसे स्पर्शकी उत्पत्ति हुई है, जिससे वायुदेव संयुक्त होते हैं और उससे संयुक्त होनेके कारण ही वे सम्पूर्ण लोकोंमें प्रवाहित होते हैं ॥ ९ ॥

तस्माच्चोत्तिष्ठते शब्दः सर्वलोकेश्वरात् प्रभोः ।
आकाशं युज्यते येन ततस्तिष्ठत्यसंवृतम् ॥ १० ॥

उन्हीं सर्वलोकेश्वर प्रभुसे शब्दका प्रादुर्भाव होता है, जिससे आकाशका नित्य संयोग है और जिसके ही कारण वह निरावृत रहता है ॥ १० ॥

तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात् सर्वभूतगतं मनः ।
चन्द्रमा येन संयुक्तः प्रकाशगुणधारणः ॥ ११ ॥

उन्हीं नारायणदेवसे सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर रहनेवाले मनकी भी उत्पत्ति हुई है । उस मनसे संयुक्त होकर ही चन्द्रमा प्रकाश-गुणको धारण करता है ॥ ११ ॥

सद्भूतोत्पादकं नाम तत् स्थानं वेदसंज्ञितम् ।
विद्यासहायो यत्रास्ते भगवान् हव्यकव्यभुक् ॥ १२ ॥

जहाँ भगवान् श्रीहरि हव्य और कव्यका भोग ग्रहण करते हुए विद्याशक्तिके साथ विराजमान हैं, वह वेदसंज्ञक स्थान सद्भूतोत्पादक कहलाता है ॥ १२ ॥

ये हि निष्कलुषा लोके पुण्यपापविवर्जिताः ।
तेषां वै क्षेममध्वानं गच्छतां द्विजसत्तम ॥ १३ ॥
सर्वलोकतमोहन्ता आदित्यो द्वारमुच्यते ।

द्विजश्रेष्ठ ! संसारमें जो लोग पुण्य और पापसे रहित एवं निर्मल हैं, वे कल्याणमय मार्गसे भगवद्धामको प्राप्त होते हैं, उस समय सम्पूर्ण लोकोंके अन्धकारका नाश करनेवाले भगवान् सूर्य ही उनके उस मोक्षधामका द्वार बताये जाते हैं ॥ १३½ ॥

आदित्यदग्धसर्वाङ्गा अदृश्याः केनचित् क्वचित् ॥ १४ ॥
परमाणुभूता भूत्वा तु तं देवं प्रविशन्त्युत ।

सूर्यदेव उनके सम्पूर्ण अङ्गोंको जलाकर भस्म कर देते हैं । फिर कहीं कोई उन्हें देख नहीं पाता । वे परमाणुस्वरूप होकर उन्हीं सूर्यदेवमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ १४½ ॥

तस्मादपि च निर्मुक्ता अनिरुद्धतनौ स्थिताः ॥ १५ ॥
मनोभूतास्ततो भूत्वा प्रद्युम्नं प्रविशन्त्युत ।

फिर उनसे भी मुक्त होकर वे अनिरुद्धविग्रहमें स्थित होते हैं । फिर मनोमय होकर प्रद्युम्नमें प्रवेश करते हैं ॥ १५½ ॥

प्रद्युम्नाच्चापि निर्मुक्ता जीवं संकर्षणं ततः ॥ १६ ॥
विशन्ति विप्रप्रवराः सांख्या भागवतैः सह ।

प्रद्युम्नसे भी मुक्त होकर वे सांख्यज्ञानसम्पन्न श्रेष्ठ ब्राह्मण भगवद्भक्तोंके साथ जीवस्वरूप संकर्षणमें प्रविष्ट होते हैं ॥ १६½ ॥

ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते परमात्मानमञ्जसा ॥ १७ ॥
प्रविशन्ति द्विजश्रेष्ठाः क्षेत्रज्ञं निर्गुणात्मकम् ।
सर्वावासं वासुदेवं क्षेत्रज्ञं विद्धि तत्त्वतः ॥ १८ ॥

तदनन्तर तीनों गुणोंसे मुक्त हो वे श्रेष्ठ द्विज अनायास ही निर्गुणस्वरूप क्षेत्रज्ञ परमात्मामें प्रवेश कर जाते हैं । तुम सबके निवासस्थान भगवान् वासुदेवको ही क्षेत्रज्ञ समझो ॥ १७-१८ ॥

समाहितमनस्काश्च नियताः संयतेन्द्रियाः ।
एकान्तभावोपगता वासुदेवं विशन्ति ते ॥ १९ ॥

जिन्होंने अपने मनको एकाग्र कर लिया है, जो शौच-संतोष आदि नियमोंसे सम्पन्न और जितेन्द्रिय हैं, वे अनन्य भावसे भगवान्‌की शरणमें गये हुए भक्त साक्षात् वासुदेवमें प्रवेश करते हैं ॥ १९ ॥

आवामपि च धर्मस्य गृहे जातौ द्विजोत्तम ।
रम्यां विशालामाश्रित्य तप उग्रं समास्थितौ ॥ २० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! हम दोनों भी धर्मके घरमें अवतीर्ण हो इस रमणीय बदरिकाश्रमतीर्थका आश्रय ले कठोर तपस्यामें संलग्न हैं ॥ २० ॥

ये तु तस्यैव देवस्य प्रादुर्भावाः सुरप्रियाः ।
भविष्यन्ति त्रिलोकस्थास्तेषां स्वस्त्यथो द्विज ॥ २१ ॥

ब्रह्मन् ! उन्हीं भगवान् परमदेव परमात्माके तीनों लोकोंमें जो देवप्रिय अवतार होनेवाले हैं, उनका सदा ही परम मङ्गल हो—यही हमारी इस तपस्याका उद्देश्य है ॥ २१ ॥

विधिना स्वेन युक्ताभ्यां यथापूर्वं द्विजोत्तम ।
आस्थिताभ्यां सर्वकृच्छ्रं व्रतं सम्यगनुत्तमम् ॥ २२ ॥
आवाभ्यामपि दृष्टस्त्वं श्वेतद्वीपे तपोधन ।
समागतो भगवता संजल्पं कृतवांस्तथा ॥ २३ ॥
सर्वं हि नौ संविदितं त्रैलोक्ये सचराचरे ।
यद् भविष्यति वृत्तं वा वर्तते वा शुभाशुभम् ।
सर्वं स ते कथितवान् देवदेवो महामुने ॥ २४ ॥

द्विजोत्तम ! हम दोनोंने पूर्ववत् अपने कर्ममें संलग्न हो सर्वोत्तम एवं सम्पूर्ण कठिनाइयोंसे युक्त उत्तम व्रतमें तत्पर रहते हुए ही श्वेतद्वीपमें उपस्थित होकर वहाँ तुम्हें देखा था। तपोधन ! तुम वहाँ भगवान्‌से मिले और उनके साथ वार्तालाप किया। ये सारी बातें हम दोनोंको अच्छी तरह विदित हैं। महामुने ! चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें जो शुभ या अशुभ बात हो चुकी है, हो रही है अथवा होनेवाली है, वह सब उस समय देवदेव भगवान् श्रीहरिने तुमसे कही थी ॥ २२—२४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तयोर्वाक्यं तपस्युग्रे च वर्ततोः।
नारदः प्राञ्जलिर्भूत्वा नारायणपरायणः ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कठोर तपस्यामें लगे हुए भगवान् नर और नारायणकी यह बात सुनकर नारदजीने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और नारायणकी शरण लेकर उन्हींकी आराधनामें लग गये ॥ २५ ॥

जजाप विधिवन्मन्त्रान् नारायणगतान् बहून्।
दिव्यं वर्षसहस्रं हि नरनारायणाश्रमे ॥ २६ ॥

उन्होंने नारायणसम्बन्धी बहुत-से मन्त्रोंका विधिपूर्वक जप किया और एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक वे नर-नारायणके आश्रममें टिके रहे ॥ २६ ॥

अवसत् स महातेजा नारदो भगवानृषिः।
तमेवाभ्यर्चयन् देवं नरनारायणौ च तौ ॥ २७ ॥

महातेजस्वी भगवान् नारद मुनि प्रतिदिन उन्हीं भगवान् वासुदेवकी तथा उन दोनों नर और नारायणकी भी आराधना करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

भगवान् वराहके द्वारा पितरोंके पूजनकी मर्यादाका स्थापित होना

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य नारदः परमेष्ठिजः।
दैवं कृत्वा यथान्यायं पित्र्यं चक्रे ततः परम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! किसी समय ब्रह्मपुत्र नारदजीने शास्त्रीय विधिके अनुसार पहले देवकार्य (हवन-पूजन) करके फिर पितृकार्य (श्राद्ध-तर्पण) किया ॥ १ ॥

ततस्तं वचनं प्राह ज्येष्ठो धर्मात्मजः प्रभुः।
क इज्यते द्विजश्रेष्ठ दैवे पित्र्ये च कल्पिते ॥ २ ॥
त्वया मतिमतां श्रेष्ठ तन्मे शंस यथागमम्।
किमेतत् क्रियते कर्म फलं वास्य किमिष्यते ॥ ३ ॥

तब धर्मके ज्येष्ठ पुत्र नरने उनसे इस प्रकार पूछा—'द्विजश्रेष्ठ ! तुम बुद्धिमानोंमें अग्रगण्य हो। तुम्हारे द्वारा देवकार्य और पितृकार्यके सम्पादित होनेपर उन कर्मोंसे किसकी पूजा सम्पन्न होती है ? यह मुझे शास्त्रके अनुसार बताओ। तुम यह कौन-सा कर्म करते हो ? और इसके द्वारा किस फलको प्राप्त करना चाहते हो ?' ॥ २-३ ॥

नारद उवाच

त्वयैतत् कथितं पूर्वं दैवं कर्तव्यमित्यपि।
दैवतं च परो यज्ञः परमात्मा सनातनः ॥ ४ ॥

नारदजीने कहा—प्रभो ! आपने ही पहले यह कहा था कि देवकर्म सबके लिये कर्तव्य है; क्योंकि देवकर्म उत्तम यज्ञ है और यज्ञ सनातन परमात्माका स्वरूप है ॥ ४ ॥

ततस्तद्भावितो नित्यं यजे वैकुण्ठमव्ययम्।
तस्माच्च प्रसृतः पूर्वं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ५ ॥

अतः आपके उस उपदेशसे प्रभावित होकर मैं प्रतिदिन अविनाशी भगवान् वैकुण्ठका यजन करता हूँ। उन्हींसे सर्वप्रथम लोक-पितामह ब्रह्माजी प्रकट हुए हैं ॥ ५ ॥

मम वै पितरं प्रीतः परमेष्ठ्यप्यजीजनत्।
अहं संकल्पजस्तस्य पुत्रः प्रथमकल्पितः ॥ ६ ॥

परमेष्ठी ब्रह्माने प्रसन्न होकर मेरे पिता प्रजापतिको उत्पन्न किया *। मैं उनका संकल्पजनित प्रथम पुत्र हूँ ॥ ६ ॥

यजामि वै पितॄन् साधो नारायणविधौ कृते।
एवं स एव भगवान् पिता माता पितामहः ॥ ७ ॥

साधो ! मैं पहले नारायणकी आराधनाका कार्य पूर्ण कर लेनेपर पितरोंका पूजन करता हूँ। इस प्रकार वे भगवान् नारायण ही मेरे पिता, माता और पितामह हैं ॥ ७ ॥

---

* यद्यपि नारदजी ब्रह्माजीके ही पुत्र हैं तथापि दक्षके शापवश उन्हें पुनः प्रजापतिसे जन्म ग्रहण करना पड़ा। यह कथा हरिवंशमें आयी है।

इज्यते पितृयज्ञेषु तथा नित्यं जगत्पतिः।
श्रुतिश्चाप्यपरा देवी पुत्रान् हि पितरोऽयजन् ॥ ८ ॥

पितृयज्ञोंमें सदा श्रीहरिकी ही आराधना की जाती है। एक दूसरी श्रुति है कि पिताओं (देवताओं) ने पुत्रों (अग्निष्वात्त * आदि) का पूजन किया ॥ ८ ॥

वेदश्रुतिः प्रणष्टा च पुनरध्यापिता सुतैः।
ततस्ते मन्त्रदाः पुत्राः पितृत्वमुपपेदिरे ॥ ९ ॥

देवताओंका वेदज्ञान भूल गया था; फिर उनके पुत्रोंने ही उन्हें वेदश्रुतियोंको पढ़ाया। इसीसे वे मन्त्रदाता पुत्र पितृभावको प्राप्त हुए ॥ ९ ॥

नूनं पुरैतद् विदितं युवयोर्भावितात्मनोः।
पुत्राश्च पितरश्चैव परस्परमपूजयन् ॥ १० ॥

पुत्रों और पिताओंने जो परस्पर एक दूसरेका पूजन किया, यह बात आप दोनों शुद्धात्मा पुरुषोंको निश्चय ही पहलेसे ही ज्ञात रही होगी ॥ १० ॥

त्रीन् पिण्डान् न्यस्य वै पृथ्व्यां पूर्वं दत्त्वा कुशानिति।
कथं तु पिण्डसंज्ञां ते पितरो लेभिरे पुरा ॥ ११ ॥

देवताओंने पृथ्वीपर पहले कुश बिछाकर उनपर पितरोंके निमित्त तीन पिण्ड रखकर जो उनका पूजन किया था, इसका क्या कारण है ? पूर्वकालमें पितरोंने पिण्डनाम कैसे प्राप्त किया ? ॥ ११ ॥

नरनारायणावूचतुः

इमां हि धरणीं पूर्वं नष्टां सागरमेखलाम्।
गोविन्द उज्जहाराशु वाराहं रूपमास्थितः ॥ १२ ॥

नर-नारायण बोले—मुने ! यह समुद्रसे घिरी हुई पृथ्वी पहले एकार्णवके जलमें डूबकर अदृश्य हो गयी थी। उस समय भगवान् गोविन्दने वाराह-रूप धारण करके शीघ्रतापूर्वक इसका उद्धार किया था ॥ १२ ॥

स्थापयित्वा तु धरणीं स्वे स्थाने पुरुषोत्तमः।
जलकर्दमलिप्ताङ्गो लोककार्यार्थमुद्यतः ॥ १३ ॥

वे पुरुषोत्तम पृथ्वीको अपने स्थानपर स्थापित करके जल और कीचड़से लिपटे अङ्गोंसे ही लोकहितका कार्य करनेके लिये उद्यत हुए ॥ १३ ॥

प्राप्ते चाह्निककाले तु मध्यदेशगते रवौ।
दंष्ट्राविलग्नांस्त्रीन् पिण्डान् विधाय सहसा प्रभुः ॥ १४ ॥

स्थापयामास वै पृथ्व्यां कुशानास्तीर्य नारद।
स तेष्वात्मानमुद्दिश्य पित्र्यं चक्रे यथाविधि ॥ १५ ॥

जब सूर्य दिनके मध्य भागमें आ पहुँचे और तत्कालोचित नित्यकर्मका समय उपस्थित हुआ, तब भगवान्ने अपनी दाढ़ोंमें लगी हुई मिट्टीके सहसा तीन पिण्ड बनाये। नारद ! फिर पृथ्वीपर कुश बिछाकर उन्होंने उन कुशोंपर ही वे पिण्ड रख दिये। इसके बाद अपने ही उद्देश्यसे उन पिण्डोंपर विधिपूर्वक पितृपूजनका कार्य सम्पन्न किया ॥ १४-१५ ॥

संकल्पयित्वा त्रीन् पिण्डान् स्वेनैव विधिना प्रभुः।
आत्मगात्रोष्मसम्भूतैः स्नेहगर्भैस्तिलैरपि ॥ १६ ॥
प्रोक्ष्यापसव्यं देवेशः प्राङ्मुखः कृतवान् स्वयम्।
मर्यादास्थापनार्थं च ततो वचनमुक्तवान् ॥ १७ ॥

अपने ही विधानसे प्रभुने वे तीनों पिण्ड संकल्पित किये। फिर अपने शरीरकी ही गर्मीसे उत्पन्न हुए स्नेहयुक्त तिलोंद्वारा अपसव्यभावसे उन पिण्डोंका प्रोक्षण किया। तदनन्तर देवेश्वर श्रीहरिने स्वयं ही पूर्वाभिमुख हो प्रार्थना की और धर्म-मर्यादाकी स्थापनाके लिये यह बात कही ॥ १६-१७ ॥

वृषाकपिरुवाच

अहं हि पितरः स्रष्टुमुद्यतो लोककृत् स्वयम्।
यस्य चिन्तयतः सद्यः पितृकार्यविधीन् परान् ॥ १८ ॥
दंष्ट्राभ्यां प्रविनिर्धूता ममैते दक्षिणां दिशम्।
आश्रिता धरणीं पिण्डास्तस्मात् पितर एव ते ॥ १९ ॥

भगवान् वराहने कहा—मैं ही सम्पूर्ण लोकोंका स्रष्टा हूँ। मैं स्वयं ही जब पितरोंकी सृष्टिके लिये उद्यत हो पितृकार्यसम्बन्धी दूसरी विधियोंका चिन्तन करने लगा, उसी क्षण मेरी दो दाढ़ोंसे ये तीन पिण्ड दक्षिण दिशाकी ओर पृथ्वीपर गिर पड़े; अतः ये पिण्ड पितृस्वरूप ही हैं ॥ १८-१९ ॥

त्रयो मूर्तिविहीना वै पिण्डमूर्तिधरास्त्विमे।
भवन्तु पितरो लोके मया सृष्टाः सनातनाः ॥ २० ॥

तीन पितर मूर्तिहीन या अमूर्त होते हैं; जो पिण्डरूप मूर्ति धारण करके प्रकट हुए हैं, लोकमें मेरेद्वारा उत्पन्न किये गये ये सनातन पितर हों ॥ २० ॥

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
अहमेवात्र विज्ञेयस्त्रिषु पिण्डेषु संस्थितः ॥ २१ ॥

पिता, पितामह और प्रपितामह—इनके रूपमें मुझे ही इन तीन पिण्डोंमें स्थित जानना चाहिये ॥ २१ ॥

नास्ति मत्तोऽधिकः कश्चित् को वान्योऽर्च्यो मया स्वयम्।
को वा मम पिता लोके अहमेव पितामहः ॥ २२ ॥

मुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है; फिर दूसरा कौन है जिसका स्वयं मैं पूजन करूँ ? संसारमें मेरा पिता कौन है ? सबका दादा-बाबा तो मैं ही हूँ ॥ २२ ॥

* अग्निष्वात्त आदि पितृगण देवताओंके ही पुत्र हैं। एक समय देवता दीर्घकालतक असुरोंके साथ युद्धमें लगे रहे, इसलिये उन्हें अपने पढ़े हुए वेद भूल गये। फिर उन पुत्रोंसे ही वेदोंको पढ़कर देवताओंने उनको पितृपदपर प्रतिष्ठित किया।

पितामहपिता चैव अहमेवात्र कारणम् ।
इत्येतदुक्त्वा वचनं देवदेवो वृषाकपिः ॥ २३ ॥
वराहपर्वते विप्र दत्त्वा पिण्डान् सविस्तरान् ।
आत्मानं पूजयित्वैव तत्रैवादर्शनं गतः ॥ २४ ॥

पितामहका पिता—परदादा भी मैं ही हूँ। मैं ही इस जगत्‌का कारण हूँ। विप्रवर ! ऐसी बात कहकर देवाधिदेव भगवान् वराहने वराहपर्वतपर विस्तारपूर्वक पिण्डदान दे पितरोंके रूपमें अपने आपका ही पूजन करके वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २३-२४ ॥

एषा तस्य स्थितिर्विप्र पितरः पिण्डसंज्ञिताः ।
लभन्ते सततं पूजां वृषाकपिवचो यथा ॥ २५ ॥

ब्रह्मन् ! यह भगवान्‌की ही नियत की हुई मर्यादा है। इस प्रकार पितरोंको पिण्डसंज्ञा प्राप्त हुई है। भगवान् वराहके कथनानुसार वे पितर सदा सबके द्वारा पूजा प्राप्त करते हैं ॥ २५ ॥

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा ।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं यथा ॥ २६ ॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते ।
अन्तर्गतः स भगवान् सर्वसत्त्वशरीरगः ॥ २७ ॥

जो देवता, पितर, गुरु, अतिथि, गौ, श्रेष्ठ ब्राह्मण, पृथ्वी और माताकी मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा पूजा करते हैं, वे वास्तवमें भगवान् विष्णुकी ही आराधना करते हैं; क्योंकि भगवान् विष्णु समस्त प्राणियोंके शरीरमें अन्तरात्मारूपसे विराजमान हैं ॥ २६-२७ ॥

समः सर्वेषु भूतेषु ईश्वरः सुखदुःखयोः ।
महान् महात्मा सर्वात्मा नारायण इति श्रुतिः ॥ २८ ॥

सुख और दुःखके स्वामी श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें समभावसे स्थित हैं। श्रीनारायण महान् महात्मा एवं सर्वात्मा हैं; ऐसा श्रुतिमें कहा गया है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारायणकी महिमासम्बन्धी उपाख्यानका उपसंहार

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतन्नारदो वाक्यं नरनारायणेरितम् ।
अत्यन्तं भक्तिमान् देवे एकान्तित्वमुपेयिवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नर-नारायणका वह कथन सुनकर भगवान्‌के प्रति नारदजीकी भक्ति बहुत बढ़ गयी। वे उनके अनन्य भक्त हो गये ॥ १ ॥

प्रोष्य वर्षसहस्रं तु नरनारायणाश्रमे ।
श्रुत्वा भगवदाख्यानं दृष्ट्वा च हरिमव्ययम् ॥ २ ॥
हिमवन्तं जगामाशु यत्रास्य स्वक आश्रमः ।

नर-नारायणके आश्रममें भगवान्‌की कथा सुनते और प्रतिदिन अविनाशी श्रीहरिका दर्शन करते हुए जब नारदजीके एक हजार दिव्य वर्ष पूरे हो गये, तब वे शीघ्र ही हिमालयपर्वतके उस भागमें चले गये, जहाँ उनका अपना आश्रम था ॥ २½ ॥

तावपि ख्याततपसौ नरनारायणावृषी ॥ ३ ॥
तस्मिन्नेवाश्रमे रम्ये तेपतुस्तप उत्तमम् ।

तत्पश्चात् वे विख्यात तपस्वी नर-नारायण ऋषि भी पुनः उसी रमणीय आश्रममें रहते हुए उत्तम तपस्यामें संलग्न हो गये ॥ ३½ ॥

त्वमप्यमितविक्रान्तः पाण्डवानां कुलोद्वहः ॥ ४ ॥
पावितात्माद्य संवृत्तः श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।

जनमेजय ! तुम पाण्डवोंके कुलभूषण और अत्यन्त पराक्रमी हो। तुम भी प्रारम्भसे ही इस कथाको सुनकर आज परम पवित्र हो गये हो ॥ ४½ ॥

नैव तस्यापरो लोको नायं पार्थिवसत्तम ॥ ५ ॥
कर्मणा मनसा वाचा यो द्विष्याद् विष्णुमव्ययम् ।

नृपश्रेष्ठ ! जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा अविनाशी भगवान् विष्णुके साथ द्वेष रखता है, उसका न इस लोकमें ठिकाना है और न परलोकमें ॥ ५½ ॥

मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः ॥ ६ ॥
यो द्विष्याद् विबुधश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् ।

जो देवश्रेष्ठ भगवान् नारायण हरिसे द्वेष करता है, उसके पितर सदाके लिये नरकमें डूब जाते हैं ॥ ६½ ॥

कथं नाम भवेद् द्वेष्य आत्मा लोकस्य कस्यचित् ॥ ७ ॥
आत्मा हि पुरुषव्याघ्र ज्ञेयो विष्णुरिति स्थितिः ।

पुरुषसिंह ! भगवान् विष्णुको सबका आत्मा जानना चाहिये। यही वास्तविक स्थिति है। कोई भी मनुष्य भला अपने आत्माके साथ द्वेष कैसे कर सकता है ? ॥ ७½ ॥

य एष गुरुरस्माकमृषिर्गन्धवतीसुतः ॥ ८ ॥
तेनैतत् कथितं तात माहात्म्यं परमव्ययम् ।
तस्माच्छ्रुतं मया चेदं कथितं च तवानघ ॥ ९ ॥

तात ! ये जो हमलोगोंके गुरु गन्धवतीपुत्र महर्षि व्यास बैठे हैं, इन्होंने ही भगवान्‌के परम उत्तम अविनाशी माहात्म्यका वर्णन किया है । निष्पाप ! उन्हींसे मैंने यह सब सुना है और मेरेद्वारा तुमको भी कहा गया है ॥ ८-९ ॥

नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः ।
एष धर्मो जगन्नाथात् साक्षान्नारायणान्नृप ॥ १० ॥

नरेश्वर ! देवर्षि नारदने तो रहस्य और संग्रहसहित इस धर्मको साक्षात् जगदीश्वर नारायणसे ही प्राप्त किया था ॥ १० ॥

एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार यह महान् धर्म मैंने तुम्हें पहले हरिगीतामें संक्षेपसे बताया है ॥ ११ ॥

कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं भुवि ।
को ह्यन्यः पुरुषव्याघ्र महाभारतकृद् भवेत् ॥ १२ ॥

पुरुषसिंह ! तुम कृष्णद्वैपायन व्यासको इस भूतलपर नारायणका ही स्वरूप समझो । भला, भगवान्‌के सिवा दूसरा कौन महाभारतका कर्ता हो सकता है ? ॥ १२ ॥

धर्मान् नानाविधांश्चैव को ब्रूयात् तमृते प्रभुम् ॥ १३ ॥
वर्ततां ते महायज्ञो यथा संकल्पितस्त्वया ।
संकल्पिताश्वमेधस्त्वं श्रुतधर्मश्च तत्त्वतः ॥ १४ ॥

भगवान्‌के सिवा दूसरा कौन ऐसा है, जो नाना प्रकारके धर्मोंका वर्णन कर सके ? तुम्हारा यह महान् यज्ञ, जैसा कि तुमने संकल्प कर रक्खा है, निरन्तर चालू रहे । तुमने अश्वमेध-यज्ञ करनेका संकल्प लिया है और सब धर्मोंका यथार्थरूपसे श्रवण किया है ॥ १३-१४ ॥

सौतिरुवाच

एतत् तु महदाख्यानं श्रुत्वा पार्थिवसत्तमः ।
ततो यज्ञसमाप्त्यर्थं क्रियाः सर्वाः समारभत् ॥ १५ ॥

सूतपुत्र कहते हैं—शौनक ! वैशम्पायनजीके मुखसे यह महान् उपाख्यान सुनकर राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजयने अपने यज्ञको पूर्ण करनेका सारा कार्य आरम्भ किया ॥ १५ ॥

नारायणीयमाख्यानमेतत् ते कथितं मया ।
पृष्टेन शौनकाद्येह नैमिषारण्यवासिषु ॥ १६ ॥

शौनक ! आज तुम्हारे प्रश्नके अनुसार इन नैमिषारण्यनिवासी मुनियोंके समीप मैंने यहाँ यह नारायणका माहात्म्य-सम्बन्धी उपाख्यान तुम्हें सुनाया है ॥ १६ ॥

नारदेन पुरा राजन् गुरवे मे निवेदितम् ।
ऋषीणां पाण्डवानां च शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः ॥ १७ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें नारदजीने ऋषियों, पाण्डवों, श्रीकृष्ण तथा भीष्मके सुनते हुए यह प्रसङ्ग मेरे गुरु व्यासजीको बताया था ॥ १७ ॥

स हि परमगुरुर्जनभुवनपतिः
पृथुधरणिधरः श्रुतिविनयनिधिः ।
शमनियमनिधिर्द्विजपरमहित-
स्तव भवतु गतिर्हरिरमरहितः ॥ १८ ॥

वे परम गुरु, जनपति, भुवनपति, विशाल पृथ्वीको धारण करनेवाले, वेदज्ञान और विनयके भण्डार, शम और नियमकी निधि, ब्राह्मणोंके परम हितैषी तथा देवताओंके हितचिन्तक श्रीहरि तुम्हारे आश्रय हों ॥ १८ ॥

असुरवधकरस्तपसां निधिः
सुमहतां यशसां च भाजनम् ।
मधुकैटभहा कृतधर्मविदां गतिदो-
ऽभयदो मखभागहरोऽस्तु शरणं स ते ॥ १९ ॥

असुरोंका वध करनेवाले, तपस्याकी निधि, विशाल यशके भाजन, मधु और कैटभके हन्ता, सत्ययुगके धर्मोंका ज्ञान रखकर उनका पालन करनेवालोंको सद्गति प्रदान करनेवाले, अभयदाता तथा यज्ञका भाग ग्रहण करनेवाले भगवान् नारायण तुम्हें शरण दें ॥ १९ ॥

त्रिगुणो विगुणश्चतुरात्मधरः
पूर्तेष्टयोश्च फलभागहरः ।
विदधातु नित्यमजितोऽतिचलो
गतिमात्मगां सुकृतिनामृषीणाम् ॥ २० ॥

जो तीनों गुणोंसे विशिष्ट होते हुए भी निर्गुण हैं, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक चार विग्रहोंको धारण करनेवाले हैं, इष्ट (यज्ञ-याग आदि), आपूर्त (वापी, कूप, तड़ाग-निर्माण आदि) के फलभागको ग्रहण करनेवाले हैं, जो कभी किसीसे पराजित नहीं होते तथा धैर्य या मर्यादासे विचलित नहीं होते, वे भगवान् श्रीहरि पुण्यात्मा ऋषियोंको आत्मज्ञानजन्य सद्गति प्रदान करें ॥ २० ॥

तं लोकसाक्षिणमजं पुरुषं पुराणं
रविवर्णमीश्वरं गतिं बहुशः ।
प्रणमध्वमेकमनसो यतः
सलिलोद्भवोऽपि तमृषिं प्रणतः ॥ २१ ॥

जो सम्पूर्ण जगत्‌के साक्षी, अजन्मा, अन्तर्यामी, पुराण-पुरुष, सूर्यके समान तेजस्वी, ईश्वर और सब प्रकारसे सबकी गति हैं, उन परमेश्वरको तुम सब लोग एकाग्रचित्त होकर प्रणाम करो; क्योंकि उन वासुदेवस्वरूप नारायण ऋषिको शेषशायी भी प्रणाम करते हैं ॥ २१ ॥

स हि लोकयोनिरमृतस्य पदं
सूक्ष्मं परायणमचलं हि पदम् ।

तत्सांख्ययोगिभिरुदार वृतं
बुद्ध्या यतात्मभिरिदं सनातनम् ॥ २२॥

वे इस जगत्के आदिकारण, अमृतपद (मोक्षके आश्रय), सूक्ष्मस्वरूप, दूसरोंको शरण देनेवाले, अविचल और सनातन पद हैं। उदार शौनक ! अपने मनको वशमें रखनेवाले सांख्ययोगी बुद्धिके द्वारा उन्हींका वरण करते हैं॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये षट्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४६ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

हयग्रीव-अवतारकी कथा, वेदोंका उद्धार, मधुकैटभका वध तथा नारायणकी महिमाका वर्णन

शौनक उवाच

श्रुतं भगवतस्तस्य माहात्म्यं परमात्मनः।
जन्म धर्मगृहे चैव नरनारायणात्मकम् ॥ १ ॥

शौनकने कहा—सूतनन्दन ! हमलोगोंने षड्विध ऐश्वर्यसे सम्पन्न उन परमात्मा श्रीहरिका माहात्म्य सुना और धर्मके घरमें उन्होंने ही नर-नारायणरूपसे जन्म ग्रहण किया था, इस बातको भी जान लिया ॥ १ ॥

महावराहसृष्टा च पिण्डोत्पत्तिः पुरातनी।
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यो यथा परिकल्पितः ॥ २ ॥
तथा च नः श्रुतो ब्रह्मन् कथ्यमानस्त्वयानघ।

निष्पाप सूतपुत्र ! भगवान् महावराहने जो प्राचीन कालमें पिण्डोंकी उत्पत्ति करके पिण्डदानकी मर्यादा चलायी तथा प्रवृत्ति और निवृत्तिके विषयमें जिस विधिकी जैसी कल्पना की, वह सब आपके मुखसे हमलोगोंने सुना ॥ २½ ॥

हव्यकव्यभुजो विष्णुरुदक्पूर्वे महोदधौ ॥ ३ ॥
यच्च तत् कथितं पूर्वं त्वया हयशिरो महत्।
तच्च दृष्टं भगवता ब्रह्मणा परमेष्ठिना ॥ ४ ॥

समुद्रके उत्तर-पूर्वभागमें हव्य और कव्यका भोग ग्रहण करनेवाले भगवान् विष्णुने महान् हयग्रीवावतार धारण किया था, यह बात आपने पहले मुझसे कही थी। साथ ही यह भी बतायी थी कि भगवान् परमेष्ठी ब्रह्माने उस रूपका प्रत्यक्ष दर्शन किया था ॥ ३-४ ॥

किं तदुत्पादितं पूर्वं हरिणा लोकधारिणा।
रूपं प्रभावं महतामपूर्वं धीमतां वर ॥ ५ ॥

महान् बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र ! सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाले श्रीहरिने पूर्वकालमें वह अद्भुत प्रभावशाली रूप क्यों प्रकट किया ? उनका वैसा रूप तो पहले कभी देखनेमें नहीं आया था ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा हि विबुधश्रेष्ठमपूर्वममितौजसम्।
तदश्वशिरसं पुण्यं ब्रह्मा किमकरोन्मुने ॥ ६ ॥

मुने ! अमित बलशाली एवं अपूर्वरूपधारी उन पुण्यात्मा सुरश्रेष्ठ हयग्रीवका दर्शन करके ब्रह्माजीने क्या किया ? ॥ ६ ॥

एतन्नः संशयं ब्रह्मन् पुराणं ज्ञानसम्भवम्।
कथयस्वोत्तममते महापुरुषनिर्मितम् ॥ ७ ॥
पाविताः स्म त्वया ब्रह्मन् पुण्यां कथयता कथाम्।

सूतनन्दन ! आपकी बुद्धि बड़ी उत्तम है। महापुरुष भगवान्के अवतारसम्बन्धी इस पुरातन ज्ञानके विषयमें हमलोगोंको संशय हो रहा है। आप इसका समाधान कीजिये। आपने यह पुण्यमयी कथा कहकर हमलोगोंको पवित्र कर दिया है ॥ ७½ ॥

सौतिरुवाच

कथयिष्यामि ते सर्वं पुराणं वेदसम्मितम् ॥ ८ ॥
जगौ यद् भगवान् व्यासो राज्ञः पारिक्षितस्य वै।

सूतपुत्रने कहा—शौनकजी ! मैं तुमसे वेदतुल्य प्रमाणभूत सारा पुरातन वृत्तान्त कहूँगा, जिसे भगवान् व्यासने* राजा जनमेजयको सुनाया था ॥ ८½ ॥

श्रुत्वाश्वशिरसो मूर्तिं देवस्य हरिमेधसः ॥ ९ ॥
उत्पन्नसंशयो राजा एतदेवमचोदयत्।

भगवान् विष्णुके हयग्रीवावतारकी चर्चा सुनकर तुम्हारी ही तरह राजा जनमेजयको भी संदेह हो गया था। तब उन्होंने इस प्रकार प्रश्न किया— ॥ ९½ ॥

जनमेजय उवाच

यत्तद् दर्शितवान् ब्रह्मा देवं हयशिरोधरम् ॥ १० ॥
किमर्थं तत् समभवत् तन्ममाचक्ष्व सत्तम।

जनमेजय बोले—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ मुने ! ब्रह्माजीने भगवान्के जिस हयग्रीवावतारका दर्शन किया था, उसका प्रादुर्भाव किसलिये हुआ था ? यह मुझे बताइये ॥ १०½ ॥

* वैशम्पायनजीने जनमेजयको महाभारतकी कथा वेदव्यासजीकी आज्ञासे सुनायी थी इस कारण यहाँ ऐसा लिखा है।

वैशम्पायन उवाच

यत् किंचिदिह लोके वै देहसत्त्वं विशाम्पते ॥ ११ ॥
सर्वं पञ्चभिराविष्टं भूतैरीश्वरबुद्धिभिः ।

वैशम्पायनजीने कहा—प्रजानाथ ! इस जगत्‌में जितने प्राणी हैं, वे सब ईश्वरके संकल्पसे उत्पन्न हुए पाँच महाभूतोंसे युक्त हैं ॥ ११½ ॥

ईश्वरो हि जगत्स्रष्टा प्रभुर्नारायणो विराट् ॥ १२ ॥
भूतान्तरात्मा वरदः सगुणो निर्गुणोऽपि च ।

विराट्स्वरूप भगवान् नारायण इस जगत्‌के ईश्वर और स्रष्टा हैं, वे ही सब जीवोंके अन्तरात्मा, वरदाता, सगुण और निर्गुणरूप हैं ॥ १२½ ॥

भूतप्रलयमत्यन्तं शृणुष्व नृपसत्तम ॥ १३ ॥
धरण्यामथ लीनायामप्सु चैकार्णवे पुरा ।
ज्योतिर्भूते जले चापि लीने ज्योतिषि चानिले ॥ १४ ॥
वायौ चाकाशसंलीने आकाशे च मनोऽनुगे ।
व्यक्ते मनसि संलीने व्यक्ते चाव्यक्ततां गते ॥ १५ ॥
अव्यक्ते पुरुषं याते पुंसि सर्वगतेऽपि च ।
तम एवाभवत् सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ १६ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अब तुम पञ्चभूतोंके आत्यन्तिक प्रलयकी बात सुनो । पूर्वकालमें जब इस पृथ्वीका एकार्णवके जलमें लय हो गया । जलका तेजमें, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका मनमें, मनका व्यक्त (महत्तत्त्व) में, व्यक्तका अव्यक्त प्रकृतिमें, अव्यक्तका पुरुषमें अर्थात् मायाविशिष्ट ईश्वरमें और पुरुषका सर्वव्यापी परमात्मामें लय हो गया, उस समय सब ओर केवल अन्धकार-ही-अन्धकार छा गया । उसके सिवा और कुछ भी जान नहीं पड़ता था ॥ १३—१६ ॥

तमसो ब्रह्म सम्भूतं तमोमूलामृतात्मकम् ।
तद्विश्वभावसंज्ञान्तं पौरुषीं तनुमाश्रितम् ॥ १७ ॥

तमसे जगत्‌का कारणभूत ब्रह्म (परम व्योम) प्रकट हुआ है । तमका मूल है अधिष्ठानभूत अमृततत्त्व । वह मूलभूत अमृत ही तमसे युक्त हो सभी नाम-रूपमें प्रपञ्चको प्रकट करता है और विराट् शरीरका आश्रय लेकर रहता है ॥ १७ ॥

सोऽनिरुद्ध इति प्रोक्तस्तत् प्रधानं प्रचक्षते ।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं त्रिगुणं नृपसत्तम ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उसीको अनिरुद्ध कहा गया है । उसीको प्रधान भी कहते हैं तथा उसीको त्रिगुणमय अव्यक्त जानना चाहिये ॥

विद्यासहायवान् देवो विष्वक्सेनो हरिः प्रभुः ।
अप्स्वेव शयनं चक्रे निद्रायोगमुपागतः ॥ १९ ॥

उस अवस्थामें विद्याशक्तिसे सम्पन्न सर्वव्यापी भगवान् श्रीहरिने योगनिद्राका आश्रय लेकर जलमें शयन किया ॥ १९ ॥

जगतश्चिन्तयन् सृष्टिं चित्रां बहुगुणोद्भवाम् ।
तस्य चिन्तयतः सृष्टिं महानात्मगुणः स्मृतः ॥ २० ॥
अहंकारस्ततो जातो ब्रह्मा स तु चतुर्मुखः ।
हिरण्यगर्भो भगवान् सर्वलोकपितामहः ॥ २१ ॥

उस समय वे नाना गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली जगत्‌की अद्भुत सृष्टिके विषयमें विचार करने लगे । सृष्टिके विषयमें विचार करते हुए उन्हें अपने गुण महान् (महत्तत्त्व) का स्मरण हो आया । उससे अहङ्कार प्रकट हुआ । वह अहङ्कार ही चार मुखोंवाले ब्रह्माजी हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके पितामह और भगवान् हिरण्यगर्भके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ २०-२१ ॥

पद्मेऽनिरुद्धात् सम्भूतस्तदा पद्मनिभेक्षणः ।
सहस्रपत्रे द्युतिमानुपविष्टः सनातनः ॥ २२ ॥
ददृशेऽद्भुतसंकाशो लोकानापोमयान् प्रभुः ।
सत्त्वस्थः परमेष्ठी स ततो भूतगणान् सृजन् ॥ २३ ॥

ब्रह्माण्डमें कमलमें अनिरुद्ध (अहङ्कार) से कमलनयन ब्रह्माका उस समय प्रादुर्भाव हुआ था । वे अद्भुत रूपधारी एवं तेजस्वी सनातन भगवान् ब्रह्मा सहस्रदल कमलपर विराजमान हो जब इधर-उधर दृष्टि डालने लगे, तब उन्हें समस्त जगत् जलमय दिखायी दिया । तब ब्रह्माजी सत्त्वगुणमें स्थित होकर प्राणियोंकी सृष्टिमें प्रवृत्त हुए ॥ २२-२३ ॥

पूर्वमेव च पद्मस्य पत्रे सूर्यांशुसप्रभे ।
नारायणकृतौ बिन्दू अपामास्तां गुणोत्तरौ ॥ २४ ॥

वे जिस कमलपर बैठे थे, उसका पत्ता सूर्यके समान देदीप्यमान होता था । उसपर पहलेसे ही भगवान् नारायणकी प्रेरणासे जलकी दो बूँदें पड़ी थीं, जो रजोगुण और तमोगुणकी प्रतीक थीं ॥ २४ ॥

तावपश्यत् स भगवाननादिनिधनोऽच्युतः ।
एकस्तत्राभवद् बिन्दुर्मध्वाभो रुचिरप्रभः ॥ २५ ॥
स तामसो मधुर्जातस्तदा नारायणाज्ञया ।
कठिनस्त्वपरो बिन्दुः कैटभो राजसस्तु सः ॥ २६ ॥

आदि-अन्तसे रहित भगवान् अच्युतने उन दोनों बूँदोंकी ओर देखा । उनमेंसे एक बूँद भगवान्‌की दृष्टि पड़ते ही उनकी प्रेरणासे तमोमय मधुनामक दैत्यके आकारमें परिणत हो गयी । उस दैत्यका रंग मधुके समान था और उसकी कान्ति बड़ी सुन्दर थी । जलकी दूसरी बूँद, जो कुछ कड़ी थी, नारायणकी आज्ञासे रजोगुणसे उत्पन्न कैटभ नामक दैत्यके रूपमें प्रकट हुई ॥ २५-२६ ॥

तावभ्यधावतां श्रेष्ठौ तमसा रजसान्वितौ ।
बलवन्तौ गदाहस्तौ पद्मनालानुसारिणौ ॥ २७ ॥

तमोगुण और रजोगुणसे युक्त वे दोनों श्रेष्ठ दैत्य मधु और कैटभ बड़े बलवान् थे । वे अपने हाथोंमें गदा

लिये कमलनालका अनुसरण करते हुए आगे बढ़ने लगे ॥

ददृशातेऽरविन्दस्थं ब्रह्माणममितप्रभम् ।
सृजन्तं प्रथमं वेदांश्चतुरश्चारुविग्रहान् ॥ २८ ॥

ऊपर जाकर उन्होंने कमल-पुष्पके आसनपर बैठकर सृष्टि-रचनामें प्रवृत्त हुए अमित तेजस्वी ब्रह्माजीको देखा एवं उनके पास ही मनोहर रूप धारण किये हुए चारों वेदोंको देखा ॥ २८ ॥

ततो विग्रहवन्तौ तौ वेदान् दृष्ट्वासुरोत्तमौ ।
सहसा जगृहतुर्वेदान् ब्रह्मणः पश्यतस्तदा ॥ २९ ॥

उन विशालकाय श्रेष्ठ असुरोंने उस समय वेदोंपर दृष्टि पड़ते ही उन्हें ब्रह्माजीके देखते-देखते सहसा हर लिया ॥

अथ तौ दानवश्रेष्ठौ वेदान् गृह्य सनातनान् ।
रसां विविशतुस्तूर्णमुदक्पूर्वे महोदधौ ॥ ३० ॥

सनातन वेदोंका अपहरण करके वे दोनों श्रेष्ठ दानव उत्तर-पूर्ववर्ती महासागरमें घुस गये और तुरंत रसातलमें जा पहुँचे ॥ ३० ॥

ततो हृतेषु वेदेषु ब्रह्मा कश्मलमाविशत् ।
ततो वचनमीशानं प्राह वेदैर्विनाकृतः ॥ ३१ ॥

वेदोंका अपहरण हो जानेपर ब्रह्माजीको बड़ा खेद हुआ । उनपर मोह छा गया । वे वेदोंसे वञ्चित होकर मन-ही-मन परमात्मासे इस प्रकार कहने लगे ॥ ३१ ॥

ब्रह्मोवाच

वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा मे परमं बलम् ।
वेदा मे परमं धाम वेदा मे ब्रह्म चोत्तरम् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मा बोले—भगवन् ! वेद ही मेरे उत्तम नेत्र हैं, वेद ही मेरे परम बल हैं । वेद ही मेरे परम आश्रय तथा वेद ही मेरे सर्वोत्तम उपास्य देव हैं ॥ ३२ ॥

मम वेदा हृताः सर्वे दानवाभ्यां बलादितः ।
अन्धकारा हि मे लोका जाता वेदैर्विनाकृताः ॥ ३३ ॥

मेरे वे सभी वेद आज दो दानवोंने बलपूर्वक यहाँसे छीन लिये हैं । अब वेदोंके बिना मेरे लिये सम्पूर्ण लोक अन्धकारमय हो गये हैं ॥ ३३ ॥

वेदानृते हि कुर्यां लोकानां सृष्टिमुत्तमाम् ।
अहो बत महद् दुःखं वेदनाशनजं मम ॥ ३४ ॥
प्राप्तं दुनोति हृदयं तीव्रं शोकपरायणम् ।
को हि शोकार्णवे मग्नं मामितोऽद्य समुद्धरेत् ॥ ३५ ॥
वेदांस्तांश्चानयेन्नष्टान् कस्य चाहं प्रियो भवे ।

मैं वेदोंके बिना संसारकी उत्तम सृष्टि कैसे कर सकता हूँ ? अहो ! आज वेदोंके नष्ट होनेसे मुझपर बड़ा भारी दुःख आ पड़ा है, जो मेरे शोकमग्न हृदयको दुःसह पीड़ा दे रहा है । आज शोकके समुद्रमें डूबे हुए मुझ असहायका यहाँसे कौन उद्धार करेगा ? उन नष्ट हुए वेदोंको कौन लायेगा ! मैं किसको इतना प्रिय हूँ, जो मेरी ऐसी सहायता करेगा !

इत्येवं भाषमाणस्य ब्रह्मणो नृपसत्तम ॥ ३६ ॥
हरेः स्तोत्रार्थमुद्भूता बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ।
ततो जगौ परं जप्यं साञ्जलिप्रग्रहः प्रभुः ॥ ३७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ऐसी बातें कहते हुए ब्रह्माजीके मनमें भगवान् श्रीहरिकी स्तुति करनेका विचार उत्पन्न हुआ । बुद्धिमानोंमें अग्रगण्य नरेश ! तब भगवान् ब्रह्माने हाथ जोड़कर उत्तम एवं जपने योग्य स्तोत्रका गान आरम्भ किया ॥ ३६-३७ ॥

ब्रह्मोवाच

ॐ नमस्ते ब्रह्महृदय नमस्ते मम पूर्वज ।
लोकाद्य भुवनश्रेष्ठ सांख्ययोगनिधे प्रभो ॥ ३८ ॥

ब्रह्माजी बोले—प्रभो ! वेद आपका हृदय है, आपको नमस्कार है । मेरे पूर्वज ! आपको प्रणाम है । जगत्के आदि कारण ! भुवनश्रेष्ठ ! सांख्ययोगनिधे ! प्रभो ! आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ३८ ॥

व्यक्ताव्यक्तकराचिन्त्य क्षेमं पन्थानमास्थित ।
विश्वभुक् सर्वभूतानामन्तरात्मन्नयोनिज ।
अहं प्रसादजस्तुभ्यं लोकधाम स्वयम्भुवः ॥ ३९ ॥

व्यक्त जगत् और अव्यक्त प्रकृतिको उत्पन्न करनेवाले परमात्मन् ! आपका स्वरूप अचिन्त्य है । आप कल्याणमय मार्गमें स्थित हैं । विश्वपालक ! आप सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा, किसी योनिसे उत्पन्न न होनेवाले, जगत्के आधार और स्वयम्भू हैं । मैं आपकी कृपासे उत्पन्न हुआ हूँ ॥ ३९ ॥

त्वत्तो मे मानसं जन्म प्रथमं द्विजपूजितम् ।
चाक्षुषं वै द्वितीयं मे जन्म चासीत् पुरातनम् ॥ ४० ॥

आपसे मेरा प्रथम बार जो जन्म हुआ था, वह द्विजों-द्वारा सम्मानित मानस जन्म कहा गया है अर्थात् प्रथम बार मैं आपके मनसे उत्पन्न हुआ । तदनन्तर पूर्वकालमें मैं आपके नेत्रसे उत्पन्न हुआ । वह मेरा दूसरा जन्म था ॥

त्वत्प्रसादात् तु मे जन्म तृतीयं वाचिकं महत् ।
त्वत्तः श्रवणजं चापि चतुर्थं जन्म मे विभो ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् आपके कृपाप्रसादसे मेरा जो तीसरा महत्त्व-पूर्ण जन्म हुआ, वह वाचिक था अर्थात् आपके वचनमात्रसे सुलभ हो गया था । विभो ! उसके बाद आपके कानोंसे मेरा चतुर्थ जन्म हुआ था ॥ ४१ ॥

नासिक्यं चापि मे जन्म त्वत्तः परममुच्यते ।
अण्डजं चापि मे जन्म त्वत्तः षष्ठं विनिर्मितम् ॥ ४२ ॥



भगवान् हयग्रीव वेदोंको रसातलसे लाकर ब्रह्माजीको लौटा रहे हैं

उसके बाद आपकी नासिकासे मेरा पाँचवाँ उत्तम जन्म बताया जाता है। तदनन्तर मैं आपके द्वारा ब्रह्माण्डसे उत्पन्न किया गया। वह मेरा छठा जन्म था ॥ ४२ ॥

इदं च सप्तमं जन्म पद्मजन्मेति वै प्रभो।
सर्गे सर्गे ह्यहं पुत्रस्तव त्रिगुणवर्जित ॥ ४३ ॥

प्रभो! यह मेरा सातवाँ जन्म है, जो कमलसे उत्पन्न हुआ है। त्रिगुणातीत परमेश्वर! मैं प्रत्येक कल्पमें आपका पुत्र होकर प्रकट होता हूँ ॥ ४३ ॥

प्रथितः पुण्डरीकाक्ष प्रधानगुणकल्पितः।
त्वमीश्वरः स्वभावश्च स्वयम्भूः पुरुषोत्तमः ॥ ४४ ॥

कमलनयन! आपका पुत्र मैं शुद्ध सत्त्वमय शरीरसे उत्पन्न हुआ हूँ। आप ईश्वर, स्वभाव, स्वयम्भू एवं पुरुषोत्तम हैं ॥ ४४ ॥

त्वया विनिर्मितोऽहं वै वेदचक्षुर्वयोतिगः।
ते मे वेदा हृताश्चक्षुरन्धो जातोऽस्मि जागृहि ॥ ४५ ॥
ददस्व चक्षूंषि मम प्रियोऽहं ते प्रियोऽसि मे।

आपने मुझे वेदरूपी नेत्रोंसे युक्त बनाया है। आपकी ही कृपासे कालातीत हूँ—मुझपर कालका जोर नहीं चलता। मेरे नेत्ररूप वे वेद दानवोंद्वारा हर लिये गये हैं; अतः मैं अन्धा-सा हो गया हूँ। प्रभो! निद्रा त्यागकर जागिये। मुझे मेरे नेत्र वापस दीजिये; क्योंकि मैं आपका प्रिय भक्त हूँ और आप मेरे प्रियतम स्वामी हैं ॥ ४५½ ॥

एवं स्तुतः स भगवान् पुरुषः सर्वतोमुखः ॥ ४६ ॥
जहौ निद्रामथ तदा वेदकार्यार्थमुद्यतः।

ब्रह्माजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर सब ओर मुखवाले सबके अन्तर्यामी आत्मा भगवान्‌ने उसी क्षण निद्रा त्याग दी और वे वेदोंकी रक्षा करनेके लिये उद्यत हो गये ॥ ४६½ ॥

ऐश्वर्येण प्रयोगेण द्वितीयां तनुमास्थितः ॥ ४७ ॥
सुनासिकेन कायेन भूत्वा चन्द्रप्रभस्तदा।
कृत्वा हयशिरः शुभ्रं वेदानामालयं प्रभुः ॥ ४८ ॥

उन्होंने अपने ऐश्वर्यके योगसे दूसरा शरीर धारण किया, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् था। सुन्दर नासिकावाले शरीरसे युक्त हो वे प्रभु घोड़ेके समान गर्दन और मुख धारण करके स्थित हुए। उनका वह शुद्ध मुख सम्पूर्ण वेदोंका आलय था ॥ ४७-४८ ॥

तस्य मूर्धा समभवद् द्यौः सनक्षत्रतारका।
केशाश्चास्याभवन् दीर्घा रवेरंशुसमप्रभाः ॥ ४९ ॥

नक्षत्रों और ताराओंसे युक्त स्वर्गलोक उनका सिर था। सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले बड़े-बड़े बाल थे ॥ ४९ ॥

कर्णावाकाशपाताले ललाटं भूतधारिणी।
गङ्गा सरस्वती श्रोण्यौ भ्रुवावास्तां महोदधी ॥ ५० ॥

आकाश और पाताल उनके कान थे एवं समस्त भूतोंको धारण करनेवाली पृथ्वी ललाट थी। गङ्गा और सरस्वती उनके नितम्ब तथा दो समुद्र उनकी दोनों भौंहें थे ॥ ५० ॥

चक्षुषी सोमसूर्यौ ते नासा संध्या पुनः स्मृता।
ॐकारस्त्वथ संस्कारो विद्युज्जिह्वा च निर्मिता ॥ ५१ ॥

चन्द्रमा और सूर्य उनके दोनों नेत्र तथा नासिका संध्या थी। ॐकार संस्कार (आभूषण) और विद्युत् जिह्वा बनी हुई थी ॥ ५१ ॥

दन्ताश्च पितरो राजन् सोमपा इति विश्रुताः।
गोलोको ब्रह्मलोकश्च ओष्ठावास्तां महात्मनः ॥ ५२ ॥

राजन्! सोमपान करनेवाले पितर उनके दाँत सुने गये हैं तथा गोलोक और ब्रह्मलोक उन महात्माके ओष्ठ थे ॥

ग्रीवा चास्याभवद् राजन् कालरात्रिर्गुणोत्तरा।
एतद्धयशिरः कृत्वा नानामूर्तिभिरावृतम् ॥ ५३ ॥
अन्तर्दधौ स विश्वेशो विवेश च रसां प्रभुः।

नरेश्वर! तमोमयी कालरात्रि उनकी ग्रीवा थी। इस प्रकार अनेक मूर्तियोंसे आवृत हयग्रीव रूप धारण करके वे जगदीश्वर श्रीहरि वहाँसे अन्तर्धान हो गये और रसातलमें जा पहुँचे ॥ ५३½ ॥

रसां पुनः प्रविष्टश्च योगं परममास्थितः ॥ ५४ ॥
शैक्ष्यं स्वरं समास्थाय उद्गीतं प्रासृजत् स्वरम्।

रसातलमें प्रवेश करके परम योगका आश्रय ले शिक्षाके नियमानुसार उदात्त आदि स्वरोंसे युक्त उच्च स्वरसे सामवेदका गान करने लगे ॥ ५४½ ॥

स स्वरः सानुनादी च सर्वशः स्निग्ध एव च ॥ ५५ ॥
बभूवान्तर्महीभूतः सर्वभूतगुणोदितः।

नाद और स्वरसे विशिष्ट सामगानकी वह सर्वथा स्निग्ध एवं मधुर ध्वनि रसातलमें सब ओर फैल गयी, जो समस्त प्राणियोंके लिये गुणकारक थी ॥ ५५½ ॥

ततस्तावसुरौ कृत्वा वेदान् समयबन्धनान् ॥ ५६ ॥
रसातले विनिक्षिप्य यतः शब्दस्ततो द्रुतौ।

उन दोनों असुरोंने वह शब्द सुनकर वेदोंको कालपाशसे आबद्ध करके रसातलमें फेंक दिया और स्वयं उसी ओर दौड़े जिधरसे वह ध्वनि आ रही थी ॥ ५६½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधरः ॥ ५७ ॥
जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः।
प्रादाच्च ब्रह्मणे भूयस्ततः स्वां प्रकृतिं गतः ॥ ५८ ॥

राजन्! इसी बीचमें हयग्रीव रूपधारी भगवान् श्रीहरिने रसातलमें पड़े हुए उन सम्पूर्ण वेदोंको ले लिया तथा

ब्रह्माजीको पुनः वापस दे दिया और फिर वे अपने आदि रूपमें आ गये ॥ ५७-५८ ॥

स्थापयित्वा हयशिर उदक्पूर्वे महोदधौ ।
वेदानामालयं चापि बभूवाश्वशिरास्ततः ॥ ५९ ॥

भगवान्‌ने महासागरके पूर्वोत्तरभागमें वेदोंके आश्रयभूत अपने हयग्रीव रूपकी स्थापना करके पुनः पूर्वरूप धारण कर लिया । तबसे भगवान् हयग्रीव वहीं रहने लगे ॥ ५९ ॥

अथ किंचिदपश्यन्तौ दानवौ मधुकैटभौ ।
पुनराजग्मतुस्तत्र वेगितौ पश्यतां च तौ ॥ ६० ॥
यत्र वेदा विनिक्षिप्तास्तत् स्थानं शून्यमेव च ।

इधर वेदध्वनिके स्थानपर आकर मधु और कैटभ दोनों दानवोंने जब कुछ नहीं देखा, तब वे बड़े वेगसे फिर वहीं लौट आये, जहाँ उन वेदोंको नीचे डाल रखा था । वहाँ देखनेपर उन्हें वह स्थान सूना ही दिखायी दिया ॥ ६०½ ॥

तत उत्तममास्थाय वेगं बलवतां वरौ ॥ ६१ ॥
पुनरुत्तस्थतुः शीघ्रं रसानामालयात् तदा ।
ददृशाते च पुरुषं तमेवादिकरं प्रभुम् ॥ ६२ ॥
श्वेतं चन्द्रविशुद्धाभमनिरुद्धतनौ स्थितम् ।
भूयोऽप्यमितविक्रान्तं निद्रायोगमुपागतम् ॥ ६३ ॥

तब वे बलवानोंमें श्रेष्ठ दोनों दानव पुनः उत्तम वेगका आश्रय ले रसातलसे शीघ्र ही ऊपर उठे और ऊपर आकर देखते हैं तो वे ही आदिकर्ता भगवान् पुरुषोत्तम दृष्टिगोचर हुए । जो चन्द्रमाके समान विशुद्ध, उज्ज्वल प्रभासे विभूषित, गौरवर्णके थे । वे उस समय अनिरुद्ध-विग्रहमें स्थित थे और वे अमित पराक्रमी भगवान् योगनिद्राका आश्रय लेकर सो रहे थे ॥ ६१-६३ ॥

आत्मप्रमाणरचिते अपामुपरि कल्पिते ।
शयने नागभोगाढ्ये ज्वालामालासमावृते ॥ ६४ ॥
निष्कलमषेण सत्त्वेन सम्पन्नं रुचिरप्रभम् ।
तं दृष्ट्वा दानवेन्द्रौ तौ महाहासममुञ्चताम् ॥ ६५ ॥

पानीके ऊपर शेषनागके शरीरकी शय्या निर्मित हुई थी, जिसकी लम्बाई भगवान्‌के श्रीविग्रहके अनुरूप ही थी । वह शय्या ज्वालामालाओंसे आवृत जान पड़ती थी । उसके ऊपर विशुद्ध सत्त्वगुणसे सम्पन्न मनोहर कान्तिवाले भगवान् नारायण सो रहे थे । उन्हें देखकर वे दोनों दानवराज ठहाका मारकर जोर-जोरसे हँसने लगे ॥ ६४-६५ ॥

ऊचतुश्च समाविष्टौ रजसा तमसा च तौ ।
अयं स पुरुषः श्वेतः शेते निद्रामुपागतः ॥ ६६ ॥
अनेन नूनं वेदानां कृतमाहरणं रसात् ।
कस्यैष को नु खल्वेष किं च स्वपिति भोगवान् ॥ ६७ ॥

रजोगुण और तमोगुणसे आविष्ट हुए वे दोनों असुर परस्पर कहने लगे, 'यह जो श्वेतवर्णवाला पुरुष निद्रामें निमग्न होकर सो रहा है, निश्चय ही इसीने रसातलसे वेदोंका अपहरण किया है । यह किसका पुत्र है ? कौन है ? और क्यों यहाँ सर्पके शरीरकी शय्यापर सो रहा है ?' ॥ ६६-६७ ॥

इत्युच्चारितवाक्यौ तौ बोधयामासतुर्हरिम् ।
युद्धार्थिनौ हि विज्ञाय विबुद्धः पुरुषोत्तमः ॥ ६८ ॥
निरीक्ष्य चासुरेन्द्रौ तौ ततो युद्धे मनो दधे ।

इस प्रकार बातचीत करके उन दोनोंने भगवान्‌को जगाया । उन्हें युद्धके लिये उत्सुक जान भगवान् पुरुषोत्तम जाग उठे । फिर उन दोनों असुरेन्द्रोंका अच्छी तरह निरीक्षण करके उन्होंने मन-ही-मन उनके साथ युद्ध करनेका निश्चय किया ॥ ६८½ ॥

अथ युद्धं समभवत् तयोर्नारायणस्य वै ॥ ६९ ॥
रजस्तमोविष्टतनू तावुभौ मधुकैटभौ ।
ब्रह्मणोपचितिं कुर्वन् जघान मधुसूदनः ॥ ७० ॥

फिर तो उन दोनों असुरोंका और भगवान् नारायणका युद्ध आरम्भ हो गया । भगवान् मधुसूदनने ब्रह्माजीका मान रखनेके लिये तमोगुण और रजोगुणसे आविष्ट शरीरवाले उन दोनों दैत्यों—मधु और कैटभको मार डाला ॥ ६९-७० ॥



ततस्तयोर्वधेनाशु वेदापहरणेन च ।
शोकापनयनं चक्रे ब्रह्मणः पुरुषोत्तमः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार वेदोंको वापस लाकर और मधु-कैटभका वध करके भगवान् पुरुषोत्तमने ब्रह्माजीका शोक दूर कर दिया ॥

ततः परिवृतो ब्रह्मा हरिणा वेदसत्कृतः ।
निर्ममे स तदा लोकान् कृत्स्नान् स्थावरजङ्गमान् ॥ ७२ ॥

तत्पश्चात् वेदसे सम्मानित और भगवान्‌से सुरक्षित होकर ब्रह्माजीने समस्त चराचर जगत्‌की सृष्टि की ॥ ७२ ॥

दत्त्वा पितामहायाग्र्यां मतिं लोकविसर्गिकीम् ।
ततैवान्तर्दधे देवो यत एवागतो हरिः ॥ ७३ ॥

ब्रह्माजीको लोक-रचनाकी श्रेष्ठ बुद्धि देकर भगवान् नारायणदेव वहीं अन्तर्धान हो गये । वे जहाँसे आये थे, वहीं चले गये ॥ ७३ ॥

तौ दानवौ हरिर्हत्वा कृत्वा हयशिरस्तनुम् ।
पुनः प्रवृत्तिधर्मार्थं तामेव विदधे तनुम् ॥ ७४ ॥

श्रीहरिने इस प्रकार हयग्रीवरूप धारण करके उन दोनों दानवोंका वध किया था । उन्होंने पुनः प्रवृत्तिधर्मका प्रचार करनेके लिये ही उस शरीरको प्रकट किया था ॥ ७४ ॥

एवमेव महाभागो बभूवाश्वशिरा हरिः ।
पौराणमेतत् प्रख्यातं रूपं वरदमैश्वरम् ॥ ७५ ॥

इस तरह महाभाग श्रीहरिने हयग्रीवरूप धारण किया था। भगवान्‌का यह वरदायक रूप पुरातन एवं पुराण-प्रसिद्ध है॥

यो ह्येतद् ब्राह्मणो नित्यं शृणुयाद् धारयीत वा ।
न तस्याध्ययनं नाशमुपगच्छेत् कदाचन ॥ ७६ ॥

जो ब्राह्मण प्रतिदिन इस अवतार-कथाको सुनता या स्मरण करता है, उसका अध्ययन कभी नष्ट (निष्फल) नहीं होता है ॥ ७६ ॥

आराध्य तपसोग्रेण देवं हयशिरोधरम् ।
पञ्चालेन क्रमः प्राप्तो देवेन पथि देशिते ॥ ७७ ॥

महादेवजीके बताये हुए मार्गपर चलकर उग्र तपस्याद्वारा भगवान् हयग्रीवकी आराधना करके पाञ्चालदेशीय गालवमुनिने वेदोंका क्रमविभाग प्राप्त किया था ॥ ७७ ॥

एतद्धयशिरो राजन्नाख्यानं तव कीर्तितम् ।
पुराणं वेदसमितं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ७८ ॥

राजन् ! तुमने जिसके लिये मुझसे पूछा था, यह हयग्रीवावतारकी वेदानुमोदित प्राचीन कथा मैंने तुम्हें सुना दी॥

यां यामिच्छेत् तनुं देवः कर्तुं कार्यविधौ क्वचित् ।
तां तां कुर्याद् विकुर्वाणः स्वयमात्मानमात्मना ॥ ७९ ॥

परमात्मा कार्यसाधनके लिये जिस-जिस शरीरको धारण करना चाहते हैं, उसे कार्य करते समय स्वयं ही प्रकट कर लेते हैं ॥ ७९ ॥

एष वेदनिधिः श्रीमानेष वै तपसो निधिः ।
एष योगश्च सांख्यं च ब्रह्म चाग्र्यं हविर्विभुः ॥ ८० ॥

ये श्रीमान् हरि वेद और तपस्याकी निधि हैं । ये ही योग, सांख्य, ब्रह्म, श्रेष्ठ हविष्य और विभु हैं ॥ ८० ॥

नारायणपरा वेदा यज्ञा नारायणात्मकाः ।
तपो नारायणपरं नारायणपरा गतिः ॥ ८१ ॥

वेदोंका पर्यवसान भगवान् नारायणमें ही है । यज्ञ नारायणके ही स्वरूप हैं । तपस्याके परम फल भगवान् नारायण ही हैं तथा नारायणकी प्राप्ति ही सर्वोत्तम गति है ॥ ८१ ॥

नारायणपरं सत्यमृतं नारायणात्मकम् ।
नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ॥ ८२ ॥

सत्यके परम लक्ष्य नारायण ही हैं । ऋत नारायणका ही स्वरूप है । जिसके आचरणसे पुनर्जन्मकी प्राप्ति नहीं होती, उस निवृत्तिप्रधान धर्मके भी चरम लक्ष्य भगवान् नारायण ही हैं ॥ ८२ ॥

प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः ।
नारायणात्मको गन्धो भूमौ श्रेष्ठतमः स्मृतः ॥ ८३ ॥

प्रवृत्तिरूप धर्म भी नारायणका ही स्वरूप है । भूमिका श्रेष्ठतम गुण गन्ध भी नारायणमय ही है ॥ ८३ ॥

अपां चापि गुणा राजन् रसा नारायणात्मकाः ।
ज्योतिषां च परं रूपं स्मृतं नारायणात्मकम् ॥ ८४ ॥

राजन् ! जलका गुण रस भी नारायणका ही स्वरूप है । तेजका उत्तम गुण रूप भी नारायणमय ही है ॥ ८४ ॥

नारायणात्मकश्चापि स्पर्शो वायुगुणः स्मृतः ।
नारायणात्मकश्चैव शब्द आकाशसम्भवः ॥ ८५ ॥

वायुका गुण स्पर्श भी नारायणस्वरूप ही है तथा आकाशका गुण शब्द भी नारायणमय ही है ॥ ८५ ॥

मनश्चापि ततो भूतमव्यक्तगुणलक्षणम् ।
नारायणपरः कालो ज्योतिषामयनं च यत् ॥ ८६ ॥

अव्यक्त गुण एवं लक्षणवाला मन नामक भूत, काल और नक्षत्रमण्डल--ये सब नारायणके ही आश्रित हैं ॥ ८६ ॥

नारायणपरा कीर्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च देवताः ।
नारायणपरं सांख्यं योगो नारायणात्मकः ॥ ८७ ॥

कीर्ति, श्री और लक्ष्मी आदि देवियाँ नारायणको ही अपना परम आश्रय मानती हैं । सांख्यका परम तात्पर्य भी नारायण ही हैं और योग भी नारायणका ही स्वरूप है ॥

कारणं पुरुषो ह्येषां प्रधानं चापि कारणम् ।
स्वभावश्चैव कर्माणि दैवं येषां च कारणम् ॥ ८८ ॥

पुरुष, प्रधान, स्वभाव, कर्म तथा दैव—ये जिन वस्तुओंके कारण हैं, वे भी नारायणरूप ही हैं ॥ ८८ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधा च तथा चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ ८९ ॥
पञ्चकारणसंख्यातो निष्ठा सर्वत्र वै हरिः ।

अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न-भिन्न प्रकारके करण, नाना

प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ तथा पाँचवाँ दैव—इन पाँच कारणोंके रूपमें सर्वत्र श्रीहरि ही विराजमान हैं ॥ ८९½ ॥

तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिः सर्वतोमुखैः ॥ ९० ॥
तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः प्रभुः ।

जो लोग सर्वव्यापक हेतुओंद्वारा तत्त्वको जाननेकी इच्छा रखते हैं, उनके लिये महायोगी भगवान् नारायण हरि ही एकमात्र ज्ञातव्य तत्त्व हैं ॥ ९०½ ॥

ब्रह्मादीनां स लोकानामृषीणां च महात्मनाम् ॥ ९१ ॥
सांख्यानां योगिनां चापि यतीनामात्मवेदिनाम् ।
मनीषितं विजानाति केशवो न तु तस्य ते ॥ ९२ ॥

भगवान् केशव ब्रह्मा आदि देवताओं, सम्पूर्ण लोकों, महात्मा-ऋषियों, सांख्यवेत्ताओं, योगियों और आत्मज्ञानी यतियोंके मनकी बातें भी जानते हैं; परंतु उनके मनमें क्या है ? यह उनमेंसे किसीको पता नहीं है ॥ ९१-९२ ॥

ये केचित् सर्वलोकेषु दैवं पित्र्यं च कुर्वते ।
दानानि च प्रयच्छन्ति तप्यन्ते च तपो महत् ॥ ९३ ॥
सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वरं विधिमास्थितः ।
सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥ ९४ ॥

समस्त विश्वमें जो कोई देवताओंके लिये यज्ञ और पितरोंके लिये श्राद्ध करते हैं, दान देते हैं और बड़ी भारी तपस्या करते हैं, उन सबके आश्रय भगवान् विष्णु ही हैं। वे अपने ऐश्वर्ययोगमें स्थित रहते हैं । सम्पूर्ण प्राणियोंके आवासस्थान होनेके कारण वे 'वासुदेव' कहे जाते हैं ॥ ९३-९४ ॥

अयं हि नित्यः परमो महर्षि-
र्महाविभूतिर्गुणवर्जिताख्यः ।
गुणैश्च संयोगमुपैति शीघ्रं
कालो यथर्तावृतुसम्प्रयुक्तः ॥ ९५ ॥

ये परम महर्षि नारायण नित्य, महान् ऐश्वर्यसे युक्त और गुणोंसे रहित हैं तथापि जैसे गुणहीन काल ऋतुके गुणोंसे युक्त होता है, उसी प्रकार वे भी समय-समयपर गुणोंको स्वीकार करके उनसे संयुक्त होते हैं ॥ ९५ ॥

नैवास्य विन्दन्ति गतिं महात्मनो
न चागतिं कश्चिदिहानुपश्यति ।
ज्ञानात्मकाः सन्ति हि ये महर्षयः
पश्यन्ति नित्यं पुरुषं गुणाधिकम् ॥ ९६ ॥

उन महात्माकी गतिको कोई नहीं जानता । उनके आगमनका भी यहाँ किसीको कुछ पता नहीं चलता। जो ज्ञानस्वरूप महर्षि हैं, वे ही उन नित्य, अन्तर्यामी एवं अनन्तगुणविभूषित परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये सप्तचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सात्वत-धर्मकी उपदेश-परम्परा तथा भगवान्‌के प्रति ऐकान्तिक भावकी महिमा

जनमेजय उवाच

अहो ह्येकान्तिनः सर्वान् प्रीणाति भगवान् हरिः ।
विधिप्रयुक्तां पूजां च गृह्णाति भगवान् स्वयम् ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! भगवान् अनन्यभावसे भजन करनेवाले सभी भक्तोंको प्रसन्न करते और उनकी विधिवत् की हुई पूजाको स्वयं ग्रहण करते हैं; यह कितने आनन्दकी बात है ॥ १ ॥

ये तु दग्धेन्धना लोके पुण्यपापविवर्जिताः ।
तेषां त्वयाभिनिर्दिष्टा पारम्पर्यागता गतिः ॥ २ ॥

संसारमें जिन लोगोंकी वासनाएँ दग्ध हो गयी हैं और जो पुण्य-पापसे रहित हो गये हैं, उन्हें परम्परासे जो गति प्राप्त होती है, उसका भी आपने वर्णन किया है ॥ २ ॥

चतुर्थ्यां चैव ते गत्यां गच्छन्ति पुरुषोत्तमम् ।
एकान्तिनस्तु पुरुषा गच्छन्ति परमं पदम् ॥ ३ ॥

जो भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, वे साधुपुरुष अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और सङ्कर्षणकी अपेक्षा न रखकर वासुदेवसंज्ञक चौथी गतिमें पहुँचकर भगवान् पुरुषोत्तम एवं उनके परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३ ॥

नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः ।
अगत्वा गतयस्तिस्रो यद् गच्छत्यव्ययं हरिम् ॥ ४ ॥

निश्चय ही यह अनन्यभावसे भगवान्‌का भजनरूप धर्म श्रेष्ठ एवं श्रीनारायणको परम प्रिय है; क्योंकि इसका आश्रय लेनेवाले भक्तजन उक्त तीन गतियोंको प्राप्त न होकर सीधे चौथी गतिमें पहुँचकर अविनाशी श्रीहरिको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४ ॥

सहोपनिषदान् वेदान् ये विप्राः सम्यगास्थिताः ।
पठन्ति विधिमास्थाय ये चापि यतिधर्मिणः ॥ ५ ॥

तेभ्यो विशिष्टां जानामि गतिमेकान्तिनां नृणाम्।

जो ब्राह्मण उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका भलीभाँति आश्रय ले उनका विधिपूर्वक स्वाध्याय करते हैं तथा जो संन्यास-धर्मका पालन करनेवाले हैं, इन सबसे उत्तम गति उन्हींको प्राप्त होती है, जो भगवान्के अनन्य भक्त होते हैं॥ ५½ ॥

केनैष धर्मः कथितो देवेन ऋषिणापि वा ॥ ६ ॥
एकान्तिनां च का चर्या कदा चोत्पादिता विभो।
एतन्मे संशयं छिन्धि परं कौतूहलं हि मे ॥ ७ ॥

भगवन्! इस भक्तिरूप धर्मका किस देवता अथवा ऋषिने उपदेश किया है? अनन्य भक्तोंकी जीवनचर्या क्या है? और वह कबसे प्रचलित हुई? मेरे इस संशयका निवारण कीजिये। इस विषयको सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है॥

वैशम्पायन उवाच

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! जिस समय कौरव और पाण्डवोंकी सेनाएँ युद्धके लिये आमने-सामने डटी हुई थीं और अर्जुन युद्धसे अनमने हो रहे थे, उस समय स्वयं भगवान्ने उन्हें गीतामें इस धर्मका उपदेश दिया ॥ ८ ॥

अगतिश्च गतिश्चैव पूर्वं ते कथिता मया।
गहनो ह्येष धर्मो वै दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ ९ ॥

मैंने पहले तुमसे गति और अगतिका स्वरूप भी बताया था। यह धर्म गहन तथा अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्गम है ॥ ९ ॥

सम्मितः सामवेदेन पुरैवादियुगे कृतः।
धार्यते स्वयमीशेन राजन् नारायणेन च ॥ १० ॥

राजन्! यह धर्म सामवेदके समान है। प्राचीनकालके सत्ययुगसे ही यह प्रचलित हुआ है। स्वयं जगदीश्वर भगवान् नारायण ही इस धर्मको धारण करते हैं॥ १० ॥

एतदर्थं महाराज पृष्टः पार्थेन नारदः।
ऋषिमध्ये महाभागः शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः॥ ११ ॥

महाराज! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने ऋषियोंके बीचमें महाभाग नारदजीसे यही विषय पूछा था। उस समय श्रीकृष्ण और भीष्म भी इस विषयको सुन रहे थे॥ ११ ॥

गुरुणा च मयाप्येष कथितो नृपसत्तम।
यथा तत् कथितं तत्र नारदेन तथा शृणु ॥ १२ ॥

नृपश्रेष्ठ! मेरे गुरु व्यासजीने और मैंने भी यह विषय कहा था; परंतु वहाँ नारदजीने उस विषयका जैसा वर्णन किया था, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १२ ॥

यदासीन्मानसं जन्म नारायणमुखोद्गतम्।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल तदा नारायणः स्वयम् ॥ १३ ॥
तेन धर्मेण कृतवान् दैवं पित्र्यं च भारत।
फेनपा ऋषयश्चैव तं धर्मं प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥

भूपाल! सृष्टिके आदिमें जब भगवान् नारायणके मुखसे ब्रह्माजीका मानसिक जन्म हुआ था, उस समय साक्षात् नारायणने उन्हें इस धर्मका उपदेश किया था। भरतनन्दन! नारायणने उस धर्मसे देवताओं और पितरोंका पूजनादि कर्म किया था। फिर फेनप ऋषियोंने उस धर्मको ग्रहण किया ॥ १३-१४ ॥

वैखानसाः फेनपेभ्यो धर्मं तं प्रतिपेदिरे।
वैखानसेभ्यः सोमस्तु ततः सोऽन्तर्दधे पुनः ॥ १५ ॥

फेनपोंसे वैखानसोंने उस धर्मको उपलब्ध किया। उनसे सोमने उसे ग्रहण किया। तदनन्तर वह धर्म फिर लुप्त हो गया॥

यदासीच्चाक्षुषं जन्म द्वितीयं ब्रह्मणो नृप।
तदा पितामहेनैव सोमाद् धर्मः परिश्रुतः ॥ १६ ॥
नारायणात्मको राजन् रुद्राय प्रददौ च तम्।

नरेश्वर! जब ब्रह्माजीका नेत्रजनित द्वितीय जन्म हुआ, तब उन्होंने सोमसे उस नारायण-स्वरूप धर्मको सुना था। राजन्! ब्रह्माजीने रुद्रको इसका उपदेश दिया ॥ १६½ ॥

ततो योगस्थितो रुद्रः पुरा कृतयुगे नृप ॥ १७ ॥
वालखिल्यानृषीन् सर्वान् धर्ममेतदपाठयत्।
अन्तर्दधे ततो भूयस्तस्य देवस्य मायया ॥ १८ ॥

नरेश्वर! तत्पश्चात् योगनिष्ठ रुद्रने पूर्वकालके कृतयुगमें सम्पूर्ण वालखिल्य ऋषियोंको इस धर्मसे अवगत कराया; तदनन्तर भगवान् विष्णुकी मायासे वह धर्म फिर लुप्त हो गया ॥ १७-१८ ॥

तृतीयं ब्रह्मणो जन्म यदासीद् वाचिकं महत्।
तत्रैष धर्मः सम्भूतः स्वयं नारायणान्नृप ॥ १९ ॥

राजन्! जब भगवान्की वाणीसे ब्रह्माजीका तीसरा महत्त्व-पूर्ण जन्म हुआ, तब फिर साक्षात् नारायणसे ही यह धर्म प्रकट हुआ ॥ १९ ॥

सुपर्णो नाम तमृषिः प्राप्तवान् पुरुषोत्तमात्।
तपसा वै सुतप्तेन दमेन नियमेन च ॥ २० ॥

सुपर्ण नामक ऋषिने इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहपूर्वक भलीभाँति तपस्या करके भगवान् पुरुषोत्तमसे इस धर्मको प्राप्त किया ॥ २० ॥

त्रिः परिक्रान्तवानेतत् सुपर्णो धर्ममुत्तमम्।
यस्मात् तस्माद् व्रतं ह्येतत् त्रिसौपर्णमिहोच्यते ॥ २१ ॥

सुपर्णने प्रतिदिन इस उत्तम धर्मकी तीन आवृत्ति की थी, इसलिये इस व्रत या धर्मको यहाँ 'त्रिसौपर्ण' कहते हैं ॥ २१ ॥

ऋग्वेदपाठपठितं व्रतमेतद्धि दुश्चरम्।
सुपर्णाच्चाप्यधिगतो धर्म एष सनातनः ॥ २२ ॥
वायुना द्विपदां श्रेष्ठ कथितो जगदायुषा।

यह दुष्कर धर्म ऋग्वेदके पाठमें स्पष्टरूपसे पढ़ा गया है। नरश्रेष्ठ ! सुपर्णसे उस सनातन धर्मको इस जगत्‌के प्राणस्वरूप वायुने प्राप्त किया ॥ २२½ ॥

वायोः सकाशात् प्राप्तश्च ऋषिभिर्विघसाशिभिः ॥ २३ ॥
ततो महोदधिश्चैव प्राप्तवान् धर्ममुत्तमम् ।
अन्तर्दधे ततो भूयो नारायणसमाहितः ॥ २४ ॥

वायुसे विघसाशी ऋषियोंने इस धर्मका उपदेश ग्रहण किया। उनसे महोदधिको इस उत्तम धर्मकी प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् यह धर्म फिर लुप्त होकर भगवान् नारायणमें विलीन हो गया ॥ २३-२४ ॥

यदा भूयः श्रवणजा सृष्टिरासीन्महात्मनः ।
ब्रह्मणः पुरुषव्याघ्र तत्र कीर्तयतः शृणु ॥ २५ ॥

पुरुषसिंह ! जब पुनः भगवान्‌के कानोंसे महात्मा ब्रह्माजीकी चौथी बार उत्पत्ति हुई, तब जिस प्रकार इस धर्मका प्रादुर्भाव हुआ था, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २५ ॥

जगत्स्रष्टुमना देवो हरिर्नारायणः स्वयम् ।
चिन्तयामास पुरुषं जगत्सर्गकरं प्रभुम् ॥ २६ ॥

साक्षात् भगवान् नारायण हरिने जगत्‌की सृष्टि करनेकी इच्छासे एक ऐसे पुरुषका चिन्तन किया, जो संसारकी सृष्टि करनेमें पूर्णतः समर्थ हो ॥ २६ ॥

अथ चिन्तयतस्तस्य कर्णाभ्यां पुरुषः स्मृतः ।
प्रजासर्गकरो ब्रह्मा तमुवाच जगत्पतिः ॥ २७ ॥
सृज प्रजाः पुत्र सर्वा मुखतः पादतस्तथा ।

कहा जाता है, चिन्तन करते समय भगवान्‌के दोनों कानोंसे एक पुरुषका प्रादुर्भाव हुआ। वही प्रजाकी सृष्टि करनेवाला ब्रह्मा हुआ। जगदीश्वर नारायणने ब्रह्मासे कहा—'बेटा ! तुम अपने मुखसे लेकर पैरतकके अङ्गोंसे समस्त प्रजाकी सृष्टि करो ॥ २७½ ॥

श्रेयस्तव विधास्यामि बलं तेजश्च सुव्रत ॥ २८ ॥
धर्मं च मत्तो गृह्णीष्व सात्वतं नाम नामतः ।
तेन सृष्टं कृतयुगं स्थापयस्व यथाविधि ॥ २९ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुत्र ! मैं तुम्हारा कल्याण करूँगा और तुम्हारे भीतर तेज एवं बलकी वृद्धि करता रहूँगा। तुम मुझसे इस सात्वत नामक धर्मको ग्रहण करो और उसके द्वारा विधिपूर्वक सत्ययुगकी सृष्टि करके उसकी स्थापना करो' ॥ २९ ॥

ततो ब्रह्मा नमश्चक्रे देवाय हरिमेधसे ।
धर्मं चाग्र्यं स जग्राह सरहस्यं ससंग्रहम् ॥ ३० ॥
आरण्यकेन सहितं नारायणमुखोद्भवम् ।

तदनन्तर ब्रह्माने भगवान् श्रीहरिको नमस्कार किया और उन्हीं नारायणदेवके मुखसे प्रकट आरण्यक, रहस्य तथा संग्रहसहित उस श्रेष्ठ धर्मका उपदेश ग्रहण किया ॥ ३०½ ॥

उपदिश्य ततो धर्मं ब्रह्मणेऽमिततेजसे ॥ ३१ ॥
त्वं कर्ता युगधर्माणां निराशीःकर्मसंज्ञितम् ।

अमिततेजस्वी ब्रह्माको इस धर्मका उपदेश देकर उस समय भगवान्‌ने उनसे कहा—'तुम निष्कामभावसे सारे कर्म करते हुए युगधर्मोंके प्रवर्तक बनो' ॥ ३१½ ॥

जगाम तमसः पारं यत्राव्यक्तं व्यवस्थितम् ॥ ३२ ॥
ततोऽथ वरदो देवो ब्रह्मा लोकपितामहः ।
असृजत् स ततो लोकान् कृत्स्नान् स्थावरजङ्गमान् ॥ ३३ ॥

यह आदेश देकर वे अज्ञानान्धकारसे परे विराजमान अपने परम अव्यक्त धामको चले गये। तदनन्तर वरदायक देवता लोकपितामह ब्रह्माने सम्पूर्ण चराचर लोकोंकी सृष्टि की ॥ ३२-३३ ॥

ततः प्रावर्तत तदा आदौ कृतयुगं शुभम् ।
ततो हि सात्वतो धर्मो व्याप्य लोकानवस्थितः ॥ ३४ ॥

फिर तो सृष्टिके आरम्भमें कल्याणकारी कृतयुगकी प्रवृत्ति हुई और तबसे सात्वतधर्म सारे संसारमें व्याप्त हो गया ॥ ३४ ॥

तेनैवाद्येन धर्मेण ब्रह्मा लोकविसर्गकृत् ।
पूजयामास देवेशं हरिं नारायणं प्रभुम् ॥ ३५ ॥

लोकस्रष्टा ब्रह्माने उसी आदिधर्मके द्वारा देवेश्वर भगवान् नारायण हरिकी आराधना की ॥ ३५ ॥

धर्मप्रतिष्ठाहेतोश्च मनुं स्वारोचिषं ततः ।
अध्यापयामास तदा लोकानां हितकाम्यया ॥ ३६ ॥

फिर इस धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये समस्त लोकोंके हितकी कामनासे उन्होंने स्वारोचिषमनुको उस समय इस धर्मका उपदेश किया ॥ ३६ ॥

ततः स्वरोचिषः पुत्रं स्वयं शङ्खपदं नृप ।
अध्यापयत् पुराव्यग्रः सर्वलोकपतिर्विभुः ॥ ३७ ॥

नरेश्वर ! उन दिनों स्वारोचिष मनु ही सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति एवं प्रभु थे। उन्होंने शान्तभावसे पहले अपने पुत्र शङ्खपदको स्वयं इस धर्मका ज्ञान प्रदान किया ॥ ३७ ॥

ततः शङ्खपदश्चापि पुत्रमात्मजमौरसम् ।
दिशां पालं सुवर्णाभमध्यापयत भारत ।
सोऽन्तर्दधे ततो भूयः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः ॥ ३८ ॥

भारत ! फिर शङ्खपदने भी अपने औरस पुत्र दिक्पाल सुवर्णाभको इस धर्मका अध्ययन कराया। इसके बाद त्रेतायुग प्राप्त होनेपर वह धर्म फिर लुप्त हो गया ॥ ३८ ॥

नासिक्ये जन्मनि पुरा ब्रह्मणः पार्थिवोत्तम ।
धर्ममेतं स्वयं देवो हरिर्नारायणः प्रभुः ॥ ३९ ॥
तज्जगादारविन्दाक्षो ब्रह्मणः पश्यतस्तदा ।

नृपश्रेष्ठ ! फिर पूर्वकालमें ब्रह्माजीने नासिकाके द्वारा

जब पाँचवाँ जन्म ग्रहण किया, तब स्वयं कमलनयन भगवान् नारायण हरिने ब्रह्माजीके सामने इस धर्मका उपदेश दिया ॥

सनत्कुमारो भगवांस्ततः प्राधीतवान् नृप ॥ ४० ॥
सनत्कुमारादपि च वीरणो वै प्रजापतिः ।
कृतादौ कुरुशार्दूल धर्ममेतदधीतवान् ॥ ४१ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् भगवान् सनत्कुमारने उनसे उस सात्वत-धर्मका उपदेश ग्रहण किया । कुरुश्रेष्ठ ! सनत्कुमारसे वीरण प्रजापतिने कृतयुगके आदिमें इस धर्मका उपदेश ग्रहण किया ॥ ४०-४१ ॥

वीरणश्चाप्यधीत्यैनं रैभ्याय मुनये ददौ ।
रैभ्यः पुत्राय शुद्धाय सुव्रताय सुमेधसे ॥ ४२ ॥
कुक्षिनाम्ने स प्रददौ दिशां पालाय धर्मिणे ।
ततोऽप्यन्तर्दधे भूयो नारायणमुखोद्भवः ॥ ४३ ॥

वीरणने इसका अध्ययन करके रैभ्यमुनिको उपदेश दिया । रैभ्यने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रेष्ठ बुद्धिसे युक्त धर्मात्मा एवं शुद्ध आचार-विचारवाले अपने पुत्र दिक्पाल कुक्षिको इसका उपदेश दिया । तदनन्तर नारायणके मुखसे निकला हुआ यह सात्वत धर्म फिर लुप्त हो गया ॥४२-४३॥

अण्डजे जन्मनि पुनर्ब्रह्मणे हरियोनये ।
एष धर्मः समुद्भूतो नारायणमुखात् पुनः ॥ ४४ ॥

इसके बाद जब ब्रह्माजीका अण्डसे छठा जन्म हुआ, तब भगवान्से उत्पन्न हुए ब्रह्माजीके लिये पुनः भगवान् नारायणके मुखसे यह धर्म प्रकट हुआ ॥ ४४ ॥

गृहीतो ब्रह्मणा राजन् प्रयुक्तश्च यथाविधि ।
अध्यापिताश्च मुनयो नाम्ना बर्हिषदो नृप ॥ ४५ ॥

राजन् ! ब्रह्माजीने इस धर्मको ग्रहण किया और वे विधिपूर्वक उसे अपने उपयोगमें लाये । नरेश्वर ! फिर उन्होंने बर्हिषद् नामवाले मुनियोंको इसका अध्ययन कराया ॥ ४५ ॥

बर्हिषद्भ्यश्च सम्प्राप्तः सामवेदान्तगं द्विजम् ।
ज्येष्ठं नामाभिविख्यातं ज्येष्ठसामव्रतो हरिः ॥ ४६ ॥

बर्हिषद् नामक ऋषियोंसे इस धर्मका उपदेश ज्येष्ठ नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मणको मिला, जो सामवेदके पारङ्गत विद्वान् थे । ज्येष्ठसामकी उपासनाका उन्होंने व्रत ले रक्खा था । इसलिये वे ज्येष्ठसामव्रती हरि कहलाते थे ॥ ४६ ॥

ज्येष्ठाच्चाप्यनुसंक्रान्तो राजानमविकम्पनम् ।
अन्तर्दधे ततो राजन्नेष धर्मः प्रभो हरेः ॥ ४७ ॥

राजन् ! ज्येष्ठसे राजा अविकम्पनको इस धर्मका उपदेश प्राप्त हुआ । प्रभो ! तदनन्तर यह भागवत-धर्म फिर लुप्त हो गया ॥ ४७ ॥

यदिदं सप्तमं जन्म पद्मजं ब्रह्मणो नृप ।
तत्रैष धर्मः कथितः स्वयं नारायणेन ह ॥ ४८ ॥
पितामहाय शुद्धाय युगादौ लोकधारिणे ।
पितामहश्च दक्षाय धर्ममेतं पुरा ददौ ॥ ४९ ॥

नरेश्वर ! यह जो ब्रह्माजीका भगवान्के नाभिकमलसे सातवाँ जन्म हुआ है, इसमें स्वयं नारायणने ही कल्पके आरम्भमें जगद्धाता शुद्धस्वरूप ब्रह्माको इस धर्मका उपदेश दिया; फिर ब्रह्माजीने सबसे पहले प्रजापति दक्षको इस धर्मकी शिक्षा दी ॥ ४८-४९ ॥

ततो ज्येष्ठे तु दौहित्रे प्रादाद् दक्षो नृपोत्तम ।
आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वाञ्जगृहे ततः ॥ ५० ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसके बाद दक्षने अपने ज्येष्ठ दौहित्र–अदितिके सवितासे भी बड़े पुत्रको इस धर्मका उपदेश दिया । उन्हींसे विवस्वान् (सूर्य) ने इस धर्मका उपदेश ग्रहण किया ॥ ५० ॥

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ ।
मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥ ५१ ॥

फिर त्रेतायुगके आरम्भमें सूर्यने मनुको और मनुने सम्पूर्ण जगत्के कल्याणके लिये अपने पुत्र इक्ष्वाकुको इसका उपदेश दिया ॥ ५१ ॥

इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः ।
गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप ॥ ५२ ॥

इक्ष्वाकुके उपदेशसे इस सात्वत धर्मका सम्पूर्ण जगत्में प्रचार और प्रसार हो गया । नरेश्वर ! कल्पान्तमें यह धर्म फिर भगवान् नारायणको ही प्राप्त हो जायगा ॥ ५२ ॥

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥ ५३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यतियोंका जो धर्म है, वह मैंने पहले ही तुम्हें हरिगीतामें संक्षेप शैलीसे बता दिया है ॥ ५३ ॥

नारदेन सुसम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः ।
एष धर्मो जगन्नाथात् साक्षान्नारायणान्नृप ॥ ५४ ॥

महाराज ! नारदजीने रहस्य और संग्रहसहित इस धर्मको साक्षात् जगदीश्वर नारायणसे भलीभाँति प्राप्त किया था ॥५४॥

एवमेष महान् धर्म आद्यो राजन् सनातनः ।
दुर्विज्ञेयो दुष्करश्च सात्वतैर्धार्यते सदा ॥ ५५ ॥

राजन् ! इस प्रकार यह आदि एवं महान् धर्म सनातन-कालसे चला आ रहा है । यह दूसरोंके लिये दुर्ज्ञेय और दुष्कर है । भगवान्के भक्त सदा ही इस धर्मको धारण करते हैं ।५५।

धर्मज्ञानेन चैतेन सुप्रयुक्तेन कर्मणा ।
अहिंसाधर्मयुक्तेन प्रीयते हरिरीश्वरः ॥ ५६ ॥

इस धर्मको जाननेसे और अहिंसाभावसे युक्त इस

सात्वतधर्मको क्रियारूपसे आचरणमें लानेसे जगदीश्वर श्रीहरि प्रसन्न होते हैं ॥ ५६ ॥

एकव्यूहविभागो वा क्वचिद् द्विव्यूहसंज्ञितः ।
त्रिव्यूहश्चापि संख्यातश्चतुर्व्यूहश्च दृश्यते ॥ ५७ ॥

भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कभी केवल एक व्यूह—भगवान् वासुदेवकी, कभी दो व्यूह-वासुदेव और सङ्कर्षणकी, कभी प्रद्युम्नसहित तीन व्यूहोंकी और कभी अनिरुद्धसहित चार व्यूहोंकी उपासना देखी जाती है ॥ ५७ ॥

हरिरेव हि क्षेत्रज्ञो निर्ममो निष्कलस्तथा ।
जीवश्च सर्वभूतेषु पञ्चभूतगुणातिगः ॥ ५८ ॥

भगवान् श्रीहरि ही क्षेत्रज्ञ हैं, ममतारहित और निष्कल हैं। ये ही सम्पूर्ण भूतोंमें पाञ्चभौतिक गुणोंसे अतीत जीवात्मा-रूपसे विराजमान हैं ॥ ५८ ॥

मनश्च प्रथितं राजन् पञ्चेन्द्रियसमीरणम् ।
एष लोकविधिर्धीमानेष लोकविसर्गकृत् ॥ ५९ ॥

राजन् ! पाँचों इन्द्रियोंका प्रेरक जो विख्यात मन है, वह भी श्रीहरि ही हैं। ये बुद्धिमान् श्रीहरि ही सम्पूर्ण जगत्‌के प्रेरक और स्रष्टा हैं ॥ ५९ ॥

अकर्ता चैव कर्ता च कार्यं कारणमेव च ।
यथेच्छति तथा राजन् क्रीडते पुरुषोऽव्ययः ॥ ६० ॥

नरेश्वर ! ये अविनाशी पुरुष नारायण ही अकर्ता, कर्ता, कार्य तथा कारण हैं। ये जैसा चाहते हैं, वैसे ही क्रीडा करते हैं ॥ ६० ॥

एष एकान्तधर्मस्ते कीर्तितो नृपसत्तम ।
मया गुरुप्रसादेन दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ ६१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह मैंने तुमसे गुरुकृपासे ज्ञात हुए अनन्य भक्तिरूप धर्मका वर्णन किया है। जिनका अन्तःकरण पवित्र नहीं है, ऐसे लोगोंके लिये इस धर्मका ज्ञान होना बहुत ही कठिन है ॥ ६१ ॥

एकान्तिनो हि पुरुषा दुर्लभा बहवो नृप ।
यद्येकान्तिभिराकीर्णं जगत् स्यात् कुरुनन्दन ॥ ६२ ॥
अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः ।
भवेत् कृतयुगप्राप्तिराशीःकर्मविवर्जिता ॥ ६३ ॥

नरेश्वर ! भगवान्‌के अनन्य भक्त दुर्लभ हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष बहुत नहीं हुआ करते। कुरुनन्दन ! यदि सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले, आत्मज्ञानी, अहिंसक एवं अनन्य भक्तोंसे जगत् भर जाय तो यहाँ सर्वत्र सत्ययुग ही छा जाय और कहीं भी सकाम कर्मोंका अनुष्ठान न हो ॥ ६२-६३ ॥

एवं स भगवान् व्यासो गुरुर्मम विशाम्पते ।
कथयामास धर्मज्ञो धर्मराज्ञे द्विजोत्तमः ॥ ६४ ॥
ऋषीणां संनिधौ राजञ्शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः ।

प्रजानाथ ! इस प्रकार मेरे धर्मज्ञ गुरु द्विजश्रेष्ठ भगवान् व्यासने श्रीकृष्ण और भीष्मके सुनते हुए ऋषि-मुनियोंके समीप धर्मराजको इस धर्मका उपदेश किया था ॥ ६४½ ॥

तस्याप्यकथयत् पूर्वं नारदः सुमहातपाः ॥ ६५ ॥
देवं परमकं ब्रह्म श्वेतं चन्द्राभमच्युतम् ।
यत्र चैकान्तिनो यान्ति नारायणपरायणाः ॥ ६६ ॥

राजन् ! उनसे भी प्राचीनकालमें महातपस्वी नारदजीने इसका प्रतिपादन किया था। नारायणकी आराधनामें लगे हुए अनन्य भक्त चन्द्रमाके समान गौरवर्णवाले उन्हीं परब्रह्मस्वरूप भगवान् अच्युतको प्राप्त होते हैं ॥ ६५-६६½ ॥

जनमेजय उवाच

एवं बहुविधं धर्मं प्रतिबुद्धैर्निषेवितम् ।
न कुर्वन्ति कथं विप्रा अन्ये नानाव्रते स्थिताः ॥ ६७ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! इस प्रकार ज्ञानी पुरुषोंद्वारा सेवित जो यह अनेक सद्गुणोंसे सम्पन्न धर्म है, इसे नाना प्रकारके व्रतोंमें लगे हुए दूसरे ब्राह्मण क्यों आचरणमें नहीं लाते हैं ? ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तिस्रः प्रकृतयो राजन् देहबन्धेषु निर्मिताः ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चैव भारत ॥ ६८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतनन्दन ! शरीरके बन्धनमें बँधे हुए जो जीव हैं, उनके लिये ईश्वरने तीन प्रकारकी प्रकृतियाँ बनायी हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी ॥ ६८ ॥

देहबन्धेषु पुरुषः श्रेष्ठः कुरुकुलोद्वह ।
सात्त्विकः पुरुषव्याघ्र भवेन्मोक्षाय निश्चितः ॥ ६९ ॥

पुरुषसिंह ! कुरुकुलधुरंधर वीर ! इन तीन प्रकृतियोंवाले जीवोंमें जो सात्त्विकी प्रकृतिसे युक्त सात्त्विक पुरुष है, वही श्रेष्ठ है; क्योंकि वही मोक्षका निश्चित अधिकारी है ॥ ६९ ॥

अत्रापि स विजानाति पुरुषं ब्रह्मवित्तमम् ।
नारायणपरो मोक्षस्ततो वै सात्त्विकः स्मृतः ॥ ७० ॥

यहाँ भी वह इस बातको अच्छी तरह जानता है कि परमपुरुष नारायण सर्वोत्तम वेदवेत्ता हैं और मोक्षके परम आश्रय भगवान् नारायण ही हैं, इसीलिये वह मनुष्य सात्त्विक माना गया है ॥ ७० ॥

मनीषितं च प्राप्नोति चिन्तयन् पुरुषोत्तमम् ।
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः ॥ ७१ ॥

भगवान् नारायणके आश्रित उनका अनन्य भक्त

अपने मनके अभीष्ट भगवान् पुरुषोत्तमका निरन्तर चिन्तन करता हुआ उनको प्राप्त कर लेता है ॥ ७१ ॥

मनीषिणो हि ये केचिद् यतयो मोक्षधर्मिणः।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥ ७२॥

मोक्षधर्ममें तत्पर रहनेवाले जो कोई भी मनीषी यति हैं तथा जिनकी तृष्णाका सर्वथा नाश हो गया है, उनके योग-क्षेमका भार स्वयं भगवान् नारायण वहन करते हैं ॥ ७२ ॥

जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः।
सात्त्विकस्तु स विज्ञेयो भवेन्मोक्षे च निश्चितः ॥ ७३॥

जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए जिस पुरुषको भगवान् मधुसूदन अपनी कृपा-दृष्टिसे देख लेते हैं, उसे सात्त्विक जानना चाहिये। वह मोक्षका सुनिश्चित अधिकारी हो जाता है ॥ ७३ ॥

सांख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवितः।
नारायणात्मके मोक्षे ततो यान्ति परां गतिम् ॥ ७४॥

एकान्त भक्तोंद्वारा सेवित धर्म सांख्य और योगके तुल्य है। उसके सेवनसे मनुष्य नारायणस्वरूप मोक्षमें ही परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ७४ ॥

नारायणेन दृष्टस्तु प्रतिबुद्धो भवेत् पुमान्।
एवमात्मेच्छया राजन् प्रतिबुद्धो न जायते ॥ ७५॥

राजन्! जिसपर भगवान् नारायणकी कृपादृष्टि हो जाती है, वह पुरुष ही ज्ञानवान् होता है। इस तरह अपनी इच्छा-मात्रसे कोई ज्ञानी नहीं होता ॥ ७५ ॥

राजसी तामसी चैव व्यामिश्रे प्रकृती स्मृते।
तदात्मकं हि पुरुषं जायमानं विशाम्पते ॥ ७६॥
प्रवृत्तिलक्षणैर्युक्तं नावेक्षति हरिः स्वयम्।

प्रजानाथ! राजसी और तामसी—ये दो प्रकृतियाँ दोषोंसे मिश्रित होती हैं। जो पुरुष राजस और तामस प्रकृतिसे युक्त होकर जन्म धारण करता है, वह प्रायः सकाम कर्ममें प्रवृत्तिके लक्षणोंसे युक्त होता है। अतः भगवान् श्रीहरि उसकी ओर नहीं देखते ॥ ७६½ ॥

पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ७७॥
रजसा तमसा चैव मानसं समभिप्लुतम्।

ऐसा पुरुष जब जन्म लेता है, तब उसपर लोकपितामह ब्रह्माकी कृपादृष्टि होती है (और वे उसे प्रवृत्तिमार्गमें नियुक्त कर देते हैं)। उसका मन रजोगुण और तमोगुणके प्रवाहमें डूबा रहता है ॥ ७७½ ॥

कामं देवा ऋषयश्च सत्त्वस्था नृपसत्तम ॥ ७८॥
हीनाः सत्त्वेन शुद्धेन ततो वैकारिकाः स्मृताः।

नृपश्रेष्ठ! देवता और ऋषि कामनायुक्त सत्त्वगुणमें स्थित होते हैं। उनमें भी शुद्ध सत्त्वगुणकी कमी होती है, इसलिये वे वैकारिक माने जाते हैं ॥ ७८½ ॥

जनमेजय उवाच

कथं वैकारिको गच्छेत् पुरुषः पुरुषोत्तमम् ॥ ७९॥
वद सर्वं यथादृष्टं प्रवृत्तिं च यथाक्रमम्।

जनमेजयने पूछा—मुने! वैकारिक पुरुष भगवान् पुरुषोत्तमको कैसे प्राप्त कर सकता है? यह सब आप अपने अनुभवके अनुसार बताइये और उसकी प्रवृत्तिका भी क्रमशः वर्णन कीजिये ॥ ७९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

सुसूक्ष्मं सत्त्वसंयुक्तं संयुक्तं त्रिभिरक्षरैः ॥ ८०॥
पुरुषः पुरुषं गच्छेन्निष्क्रियः पञ्चविंशकः।

वैशम्पायनजीने कहा—जो अत्यन्त सूक्ष्म, सत्त्व-गुणसे संयुक्त तथा अकार, उकार और मकार—इन तीन अक्षरोंसे युक्त प्रणवस्वरूप है, उस परम पुरुष परमात्माको पचीसवाँ तत्त्वरूप पुरुष (जीवात्मा) कर्तृत्वके अहंकारसे शून्य होनेपर प्राप्त करता है ॥ ८०½ ॥

एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च ॥ ८१॥
परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते।
एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः ॥ ८२॥

इस प्रकार आत्मा और अनात्माका विवेक करानेवाला सांख्य, चित्तवृत्तियोंके निरोधका उपदेश देनेवाला योग, जीव और ब्रह्मके अभेदका बोध करानेवाला वेदोंका आरण्यक-भाग (उपनिषद्) तथा भक्तिमार्गका प्रतिपादन करनेवाला पाञ्चरात्र आगम—ये सब शास्त्र एक लक्ष्यके साधक होनेके कारण एक बताये जाते हैं। ये सब एक-दूसरेके अङ्ग हैं। सारे कर्मोंको भगवान् नारायणके चरणारविन्दोंमें समर्पित कर देना यह एकान्त भक्तोंका धर्म है ॥ ८१-८२ ॥

यथा समुद्रात् प्रसृता जलौघा-
स्तमेव राजन् पुनराविशन्ति।
इमे तथा ज्ञानमहाजलौघा
नारायणं वै पुनराविशन्ति ॥ ८३॥

राजन्! जैसे सारे जल-प्रवाह समुद्रसे ही प्रसारको प्राप्त होते हैं और फिर उस समुद्रमें ही आकर मिल जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी जलके महान् प्रवाह नारायणसे ही प्रकट होकर फिर उन्हींमें लीन हो जाते हैं ॥ ८३ ॥

एष ते कथितो धर्मः सात्वतः कुरुनन्दन।
कुरुष्वैनं यथान्यायं यदि शक्तोऽसि भारत ॥ ८४॥

भरतभूषण! कुरुनन्दन! यह तुम्हें सात्वत-धर्मका

परिचय दिया गया है। यदि तुमसे हो सके तो यथोचित-रूपसे इस धर्मका पालन करो ॥ ८४ ॥

एवं हि स महाभागो नारदो गुरवे मम।
श्वेतानां यतिनां चाह एकान्तगतिमव्ययाम् ॥ ८५ ॥

इस प्रकार महाभाग नारदजीने मेरे गुरु व्यासजीसे श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थों और काषायवस्त्रधारी संन्यासियोंकी अविनश्वर एकान्त गतिका वर्णन किया है ॥ ८५ ॥

व्यासश्चाकथयत् प्रीत्या धर्मपुत्राय धीमते।
स एवायं मया तुभ्यमाख्यातः प्रसृतो गुरोः ॥ ८६ ॥

व्यासजीने भी बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिरको प्रेमपूर्वक इस धर्मका उपदेश दिया। गुरुके मुखसे प्रकट हुए उसी धर्मका मैंने यहाँ तुम्हारे लिये वर्णन किया है ॥ ८६ ॥

इत्थं हि दुश्चरो धर्म एष पार्थिवसत्तम।
यथैव त्वं तथैवान्ये भवन्तीह विमोहिताः ॥ ८७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इस तरह यह धर्म दुष्कर है। तुम्हारी तरह दूसरे लोग भी इसके विषयमें मोहित हो जाते हैं ॥ ८७ ॥

कृष्ण एव हि लोकानां भावनो मोहनस्तथा।
संहारकारकश्चैव कारणं च विशांपते ॥ ८८ ॥

प्रजानाथ ! भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण लोकोंके पालक, मोहक, संहारक तथा कारण हैं (अतः तुम उन्हींका भक्ति-भावसे भजन करो।) ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये ऐकान्तिकभावेऽष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमा एवं उनके प्रति ऐकान्तिकभावविषयक तीन सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान् नारायणके अंशसे सरस्वतीपुत्र अपान्तरतमाके रूपमें जन्म होनेकी और उनके प्रभावकी कथा

जनमेजय उवाच

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदारण्यकमेव च।
ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति ह ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मर्षे ! सांख्य, योग, पाञ्चरात्र और वेदोंके आरण्यकभाग—ये चार प्रकारके ज्ञान सम्पूर्ण लोकोंमें प्रचलित हैं ॥ १ ॥

किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने।
प्रब्रूहि वै मया पृष्टः प्रवृत्तिं च यथाक्रमम् ॥ २ ॥

मुने ! क्या ये सब एक ही लक्ष्यका बोध करानेवाले हैं अथवा पृथक्-पृथक् लक्ष्यके प्रतिपादक हैं ? मेरे इस प्रश्नका आप यथावत् उत्तर दें और प्रवृत्तिका भी क्रमशः वर्णन करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

जज्ञे बहुज्ञं परमत्युदारं
यं द्वीपमध्ये सुतमात्मयोगात्।
पराशरात् सत्यवती महर्षिं
तस्मै नमोऽज्ञानतमोनुदाय ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! देवी सत्यवतीने यमुनातटवर्ती द्वीपमें पराशर मुनिसे अपने शरीरका संयोग करके जिन बहुज्ञ और अत्यन्त उदार महर्षिको पुत्ररूपसे उत्पन्न किया था, अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करनेवाले ज्ञानसूर्यस्वरूप उन गुरुदेव व्यासजीको मेरा नमस्कार है ॥ ३ ॥

पितामहाद् यं प्रवदन्ति षष्ठं
महर्षिमार्षेयविभूतियुक्तम्।
नारायणस्यांशजमेकपुत्रं
द्वैपायनं वेद महानिधानम् ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीके आदिपुरुष जो नारायण हैं, उनके स्वरूपभूत जिन महर्षिको पूर्वपुरुष नारायणसे छठी पीढ़ीमें* उत्पन्न बताते हैं, जो ऋषियोंके सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं, नारायणके अंशसे उत्पन्न हैं, अपने पिताके एक ही पुत्र हैं और द्वीपमें उत्पन्न होनेके कारण द्वैपायन कहलाते हैं, उन वेदके महान् भण्डाररूप व्यासजीको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४ ॥

तमादिकालेषु महाविभूति-
र्नारायणो ब्रह्ममहानिधानम्।
ससर्ज पुत्रार्थमुदारतेजा
व्यासं महात्मानमजं पुराणम् ॥ ५ ॥

प्राचीनकालमें उदार तेजस्वी, महान् वैभवसम्पन्न भगवान् नारायणने वैदिक ज्ञानकी महानिधिरूप महात्मा अजन्मा और पुराणपुरुष व्यासजीको अपने पुत्ररूपसे उत्पन्न किया था ॥ ५ ॥

* १. नारायण, २. ब्रह्मा, ३. वसिष्ठ, ४. शक्ति, ५. पराशर, ६. व्यास—इस प्रकार व्यासजी छठी पीढ़ीमें उत्पन्न हुए हैं।

जनमेजय उवाच

त्वयैव कथितं पूर्वं सम्भवे द्विजसत्तम।
वसिष्ठस्य सुतः शक्तिः शक्तिपुत्रः पराशरः ॥ ६ ॥
पराशरस्य दायादः कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
भूयो नारायणसुतं त्वमेवैनं प्रभाषसे ॥ ७ ॥

जनमेजयने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आपहीने पहले आदि-पर्वकी कथा सुनाते समय यह कहा था कि वसिष्ठके पुत्र शक्ति, शक्तिके पुत्र पराशर और पराशरके पुत्र मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास हैं और अब पुनः आप इन्हें नारायण-का पुत्र बतला रहे हैं ॥ ६-७ ॥

किमतः पूर्वजं जन्म व्यासस्यामिततेजसः।
कथयस्वोत्तममते जन्म नारायणोद्भवम् ॥ ८ ॥

श्रेष्ठ बुद्धिवाले मुनीश्वर ! क्या अमिततेजस्वी व्यासजीका इससे पहले भी कोई जन्म हुआ था ? नारायणसे व्यासजीका जन्म कब और कैसे हुआ ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

वेदार्थान् वेत्तुकामस्य धर्मिष्ठस्य तपोनिधेः।
गुरोर्मे ज्ञाननिष्ठस्य हिमवत्पाद आसतः ॥ ९ ॥
कृत्वा भारतमाख्यानं तपःश्रान्तस्य धीमतः।
शुश्रूषां तत्परा राजन् कृतवन्तो वयं तदा ॥ १० ॥
सुमन्तुर्जैमिनिश्चैव पैलश्च सुदृढव्रतः।
अहं चतुर्थः शिष्यो वै शुको व्यासात्मजस्तथा ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! मेरे धर्मिष्ठ गुरु वेदव्यास तपस्याकी निधि और ज्ञाननिष्ठ हैं । पहले वे वेदोंके अर्थका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे हिमालयके एक शिखरपर रहते थे । ये महाभारत नामक इतिहासकी रचना करके तपस्या करते-करते थक गये थे । उन दिनों इन बुद्धिमान् गुरुकी सेवामें तत्पर हम पाँच शिष्य उनके साथ रहते थे । सुमन्तु, जैमिनि, दृढ़तापूर्वक उत्तम धर्मका पालन करनेवाले पैल, चौथा मैं और पाँचवें व्यासपुत्र शुकदेव थे ॥ ९—११ ॥

एभिः परिवृतो व्यासः शिष्यैः पञ्चभिरुत्तमैः।
शुशुभे हिमवत्पादे भूतैर्भूतपतिर्यथा ॥ १२ ॥

इन पाँच उत्तम शिष्योंसे घिरे हुए व्यासजी हिमालयके शिखरपर भूतोंसे परिवेष्टित भूतनाथ भगवान् शिवके समान शोभा पाते थे ॥ १२ ॥

वेदानावर्तयन् साङ्गान् भारतार्थांश्च सर्वशः।
तमेकमनसं दान्तं युक्ता वयमुपास्महे ॥ १३ ॥

वहाँ व्यासजी अङ्गोंसहित सब वेदों तथा महाभारतके अर्थोंकी आवृत्ति करते और हम सब शिष्योंको पढ़ाते थे एवं हम सब लोग सदा उद्यत रहकर उन एकाग्रचित्त एवं जितेन्द्रिय गुरुकी सेवा करते थे ॥ १३ ॥

कथान्तरेऽथ कस्मिंश्चित् पृष्टोऽस्माभिर्द्विजोत्तमः।
वेदार्थान् भारतार्थांश्च जन्म नारायणात् तथा ॥ १४ ॥

एक दिन किसी बातचीतके प्रसङ्गमें हमलोगोंने द्विजश्रेष्ठ व्यासजीसे वेदों और महाभारतका अर्थ तथा भगवान् नारायणसे उनके जन्म होनेका वृत्तान्त पूछा ॥ १४ ॥

स पूर्वमुक्त्वा वेदार्थान् भारतार्थांश्च तत्त्ववित्।
नारायणादिदं जन्म व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १५ ॥

तत्त्वज्ञानी व्यासजीने पहले हमें वेदों और महाभारतका अर्थ बताया । उसके बाद भगवान् नारायणसे अपने जन्मका वृत्तान्त इस प्रकार बताना आरम्भ किया—॥ १५ ॥

शृणुध्वमाख्यानवरमिदमार्षेयमुत्तमम्।
आदिकालोद्भवं विप्रास्तपसाधिगतं मया ॥ १६ ॥

'विप्रगण ! ऋषिसम्बन्धी यह उत्तम आख्यान सुनो । प्राचीन कालका यह वृत्तान्त मैंने तपस्याके द्वारा जाना है ॥ १६ ॥

प्राप्ते प्रजाविसर्गे वै सप्तमे पद्मसम्भवे।
नारायणो महायोगी शुभाशुभविवर्जितः ॥ १७ ॥
ससृजे नाभितः पूर्वं ब्रह्माणममितप्रभः।
ततः स प्रादुरभवदथैनं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

'जब सातवें कल्पके आरम्भमें सातवीं बार ब्रह्माजीके कमलसे जन्म-ग्रहण करनेका अवसर आया, तब शुभ और अशुभसे रहित अमिततेजस्वी महायोगी भगवान् नारायणने सबसे पहले अपने नाभिकमलसे ब्रह्माजीको उत्पन्न किया । जब ब्रह्माजी प्रकट हो गये, तब उनसे भगवान्ने यह बात कही—॥ १७-१८ ॥

मम त्वं नाभितो जातः प्रजासर्गकरः प्रभुः।
सृज प्रजास्त्वं विविधा ब्रह्मन् सजडपण्डिताः ॥ १९ ॥

''ब्रह्मन् ! तुम मेरी नाभिसे प्रजावर्गकी सृष्टि करनेके लिये उत्पन्न हुए हो और इस कार्यमें समर्थ हो; अतः जड-चेतनसहित नाना प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि करो' ॥ १९ ॥

स एवमुक्तो विमुखश्चिन्ताव्याकुलमानसः।
प्रणम्य वरदं देवमुवाच हरिमीश्वरम् ॥ २० ॥

'भगवान्के इस प्रकार आदेश देनेपर ब्रह्माजीका मन चिन्तासे व्याकुल हो उठा । वे सृष्टिकार्यसे विमुख हो वरदायक देवता सर्वेश्वर श्रीहरिको प्रणाम करके इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

का शक्तिर्मम देवेश प्रजाः स्रष्टुं नमोऽस्तु ते।
अप्रज्ञावानहं देव विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ २१ ॥

''देवेश्वर ! मुझमें प्रजाकी सृष्टि करनेकी क्या शक्ति है ? आपको नमस्कार है । देव ! मैं सृष्टिविषयक बुद्धिसे सर्वथा

रहित हूँ—यह जानकर अब आपको जो उचित जान पड़े, वह कीजिये' ॥ २१ ॥

स एवमुक्तो भगवान् भूत्वाथान्तर्हितस्ततः।
चिन्तयामास देवेशो बुद्धिं बुद्धिमतां वरः ॥ २२ ॥

'ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ देवेश्वर भगवान् विष्णुने अदृश्य होकर बुद्धिका चिन्तन किया ॥ २२ ॥

स्वरूपिणी ततो बुद्धिरुपतस्थे हरिं प्रभुम्।
योगेन चैनां निर्योगः स्वयं नियुयुजे तदा ॥ २३ ॥

'उनके चिन्तन करते ही मूर्तिमती बुद्धि उन सामर्थ्यशाली श्रीहरिकी सेवामें उपस्थित हो गयी। तदनन्तर जिनपर दूसरोंका वश नहीं चलता, उन भगवान् नारायणने स्वयं ही उस बुद्धिको उस समय योगशक्तिसे सम्पन्न कर दिया। २३।

स तामैश्वर्ययोगस्थां बुद्धिं गतिमतीं सतीम्।
उवाच वचनं देवो बुद्धिं वै प्रभुरव्ययः ॥ २४ ॥

'अविनाशी प्रभु नारायणदेवने ऐश्वर्ययोगमें स्थित हुई उस सती-साध्वी प्रगतिशील बुद्धिसे कहा—॥ २४ ॥

ब्रह्माणं प्रविशस्वेति लोकसृष्ट्यर्थसिद्धये।
ततस्तमीश्वरादिष्टा बुद्धिः क्षिप्रं विवेश सा ॥ २५ ॥

''तुम संसारकी सृष्टिरूप अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये ब्रह्माजीके भीतर प्रवेश करो।' ईश्वरका यह आदेश पाकर बुद्धि शीघ्र ही ब्रह्माजीमें प्रवेश कर गयी ॥ २५ ॥

अथैनं बुद्धिसंयुक्तं पुनः स ददृशे हरिः।
भूयश्चैव वचः प्राह सृजेमा विविधाः प्रजाः ॥ २६ ॥

'जब ब्रह्माजी सृष्टिविषयक बुद्धिसे संयुक्त हो गये, तब श्रीहरिने पुनः उनकी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखा और फिर इस प्रकार कहा—'अब तुम इन नाना प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि करो' ॥ २६ ॥

बाढमित्येव कृत्वासौ यथाऽऽज्ञां शिरसा हरेः।
एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २७ ॥

'तब 'बहुत अच्छा' कहकर उन्होंने श्रीहरिकी आज्ञा शिरोधार्य की। इस प्रकार उन्हें सृष्टिका आदेश देकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २७ ॥

प्राप चैनं मुहूर्तेन संस्थानं देवसंज्ञितम्।
तां चैव प्रकृतिं प्राप्य एकीभावगतोऽभवत् ॥ २८ ॥

'वे एक ही मुहूर्तमें अपने देवधाममें जा पहुँचे और अपनी प्रकृतिको प्राप्त हो उसके साथ एकीभूत हो गये ॥ २८ ॥

अथास्य बुद्धिरभवत् पुनरन्या तदा किल।
सृष्टाः प्रजा इमाः सर्वा ब्रह्मणा परमेष्ठिना ॥ २९ ॥

'तदनन्तर कुछ कालके बाद भगवान्‌के मनमें फिर दूसरा विचार उठा। वे सोचने लगे, परमेष्ठी ब्रह्माने इन समस्त प्रजाओंकी सृष्टि तो कर दी ॥ २९ ॥

दैत्यदानवगन्धर्वरक्षोगणसमाकुला ।
जाता हीयं वसुमती भाराक्रान्ता तपस्विनी ॥ ३० ॥

'किंतु दैत्य, दानव, गन्धर्व और राक्षसोंसे व्याप्त हुई यह तपस्विनी पृथ्वी भारसे पीड़ित हो गयी है ॥ ३० ॥

बहवो बलिनः पृथ्व्यां दैत्यदानवराक्षसाः।
भविष्यन्ति तपोयुक्ता वरान् प्राप्स्यन्ति चोत्तमान् ॥ ३१ ॥

'इस पृथ्वीपर बहुत-से ऐसे बलवान् दैत्य, दानव और राक्षस होंगे, जो तपस्यामें प्रवृत्त हो उत्तमोत्तम वर प्राप्त करेंगे ॥

अवश्यमेव तैः सर्वैर्वरदानेन दर्पितैः।
बाधितव्याः सुरगणा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ ३२ ॥

'वरदानसे घमंडमें आकर वे समस्त दानव निश्चय ही देवसमूहों तथा तपोधन ऋषियोंको बाधा पहुँचायेंगे ॥ ३२ ॥

तत्र न्याय्यमिदं कर्तुं भारावतरणं मया।
अथ नानासमुद्भूतैर्वसुधायां यथाक्रमम् ॥ ३३ ॥

'अतः अब मुझे पृथ्वीपर क्रमशः नाना अवतार धारण करके इसके भारको उतारना उचित होगा ॥ ३३ ॥

निग्रहेण च पापानां साधूनां प्रग्रहेण च।
इयं तपस्विनी सत्या धारयिष्यति मेदिनी ॥ ३४ ॥

'पापियोंको दण्ड देने और साधु पुरुषोंपर अनुग्रह करनेसे यह तपस्विनी सत्यस्वरूपा पृथ्वी बलसे टिकी रह सकेगी ॥ ३४ ॥

मया ह्येषा हि ध्रियते पातालस्थेन भोगिना।
मया धृता धारयति जगद् विश्वं चराचरम् ॥ ३५ ॥

'मैं पातालमें शेषनागके रूपसे रहकर इस पृथ्वीको धारण करता हूँ और मेरेद्वारा धारित होकर यह सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को धारण करती है ॥ ३५ ॥

तस्मात् पृथ्व्याः परित्राणं करिष्ये सम्भवं गतः।
एवं स चिन्तयित्वा तु भगवान् मधुसूदनः ॥ ३६ ॥
रूपाण्यनेकान्यसृजत् प्रादुर्भावे भवाय सः।
वाराहं नारसिंहं च वामनं मानुषं तथा ॥ ३७ ॥
एभिर्मया निहन्तव्या दुर्विनीताः सुरारयः।

'इसलिये मैं अवतार लेकर इस पृथ्वीकी रक्षा अवश्य करूँगा। ऐसा सोच-विचारकर भगवान् मधुसूदनने जगत्‌के लिये अवतार ग्रहण करनेके निमित्त अपने अनेक रूपोंकी सृष्टि की अर्थात् वाराह, नरसिंह, वामन एवं मनुष्यरूपोंका स्मरण किया। उन्होंने यह निश्चय किया था कि मुझे इन अवतारोंद्वारा उद्दण्ड दैत्योंका वध करना है ॥ ३६-३७½ ॥

अथ भूयो जगत्स्रष्टा भोःशब्देनानुनादयन् ॥ ३८ ॥

सरस्वतीमुच्चचार तत्र सारस्वतोऽभवत् ।
अपान्तरतमा नाम सुतो वाक्सम्भवः प्रभुः ॥ ३९ ॥

'तदनन्तर जगत्स्रष्टा श्रीहरिने 'भोः' शब्दसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए सरस्वती (वाणी) का उच्चारण किया । इससे वहाँ सारस्वतका आविर्भाव हुआ । सरस्वती या वाणीसे उत्पन्न हुए उस शक्तिशाली पुत्रका नाम 'अपान्तरतमा' हुआ ॥ ३८-३९ ॥

भूतभव्यभविष्यज्ञः सत्यवादी दृढव्रतः ।
तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः ॥ ४० ॥

'वे अपान्तरतमा भूत, वर्तमान और भविष्यके ज्ञाता, सत्यवादी तथा दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले थे । मस्तक झुकाकर खड़े हुए उस पुत्रसे देवताओंके आदिकारण अविनाशी श्रीहरिने कहा—॥ ४० ॥

वेदाख्याने श्रुतिः कार्या त्वया मतिमतां वर ।
तस्मात् कुरु यथाऽऽज्ञप्तं ममैतद् वचनं मुने ॥ ४१ ॥

''बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ मुने ! तुम्हें वेदोंकी व्याख्याके लिये ऋक्, साम, यजुष् आदि श्रुतियोंका पृथक्-पृथक् संग्रह करना चाहिये । अतः तुम मेरी आज्ञाके अनुसार कार्य करो । मुझे तुमसे इतना ही कहना है' ॥ ४१ ॥

तेन भिन्नास्तदा वेदा मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
ततस्तुतोष भगवान् हरिस्तेनास्य कर्मणा ॥ ४२ ॥
तपसा च सुतप्तेन यमेन नियमेन च ।
मन्वन्तरेषु पुत्रत्वमेवमेव प्रवर्तकः ॥ ४३ ॥

'अपान्तरतमाने स्वायम्भुव मन्वन्तरमें भगवान्की आज्ञाके अनुसार वेदोंका विभाग किया । उनके इस कर्मसे तथा उनके द्वारा की हुई उत्तम तपस्या, यम और नियमसे भी भगवान् श्रीहरि बहुत संतुष्ट हुए और बोले—''बेटा ! तुम सभी मन्वन्तरोंमें इसी प्रकार धर्मके प्रवर्तक होओगे ॥ ४२-४३ ॥

भविष्यस्यचलो ब्रह्मन्नप्रधृष्यश्च नित्यशः ।
पुनस्तिष्ये च सम्प्राप्ते कुरवो नाम भारताः ॥ ४४ ॥
भविष्यन्ति महात्मानो राजानः प्रथिता भुवि ।

''ब्रह्मन् ! तुम सदा ही अविचल एवं अजेय बने रहोगे । फिर द्वापर और कलियुगकी संधिका समय आनेपर भरतवंशमें कुरुवंशी क्षत्रिय होंगे । वे महामनस्वी राजा समस्त भूमण्डलमें विख्यात होंगे ॥ ४४½ ॥

तेषां त्वत्तः प्रसूतानां कुलभेदो भविष्यति ॥ ४५ ॥
परस्परविनाशार्थं त्वामृते द्विजसत्तम ।

''द्विजश्रेष्ठ ! उनमेंसे जो लोग तुम्हारी संतानोंके वंशज होंगे, उनमें परस्पर विनाशके लिये फूट हो जायगी । तुम्हारे सहयोगके बिना उनमें विग्रह होगा ॥ ४५½ ॥

तत्राप्यनेकधा वेदान् भेत्स्यसे तपसान्वितः ॥ ४६ ॥
कृष्णे युगे च सम्प्राप्ते कृष्णवर्णो भविष्यसि ।

''उस समय भी तुम तपोबलसे सम्पन्न हो वेदोंके अनेक विभाग करोगे । उस समय कलियुग आ जानेपर तुम्हारे शरीरका वर्ण काला होगा ॥ ४६½ ॥

धर्माणां विविधानां च कर्ता ज्ञानकरस्तथा ।
भविष्यसि तपोयुक्तो न च रागाद् विमोक्ष्यसे॥ ४७ ॥

''तुम नाना प्रकारके धर्मोंके प्रवर्तक, ज्ञानदाता और तपस्वी होओगे, परंतु रागसे सर्वथा मुक्त नहीं रहोगे ॥ ४७ ॥

वीतरागश्च पुत्रस्ते परमात्मा भविष्यति ।
महेश्वरप्रसादेन नैतद् वचनमन्यथा ॥ ४८ ॥

''तुम्हारा पुत्र भगवान् महेश्वरकी कृपासे वीतराग होकर परमात्मस्वरूप हो जायगा । मेरी यह बात टल नहीं सकती ॥

यं मानसं वै प्रवदन्ति विप्राः
पितामहस्योत्तमबुद्धियुक्तम् ।
वसिष्ठमग्र्यं च तपोनिधानं
यस्यातिसूर्यं व्यतिरिच्यते भाः ॥ ४९ ॥
तस्यान्वये चापि ततो महर्षिः
पराशरो नाम महाप्रभावः ।
पिता स ते वेदनिधिर्वरिष्ठो
महातपा वै तपसो निवासः ॥ ५० ॥

''जिन्हें ब्राह्मणलोग ब्रह्माजीका मानसपुत्र कहते हैं, जो उत्तम बुद्धिसे युक्त, तपस्याकी निधि एवं सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठमुनिके नामसे प्रसिद्ध हैं और जिनका तेज भगवान् सूर्यसे भी बढ़कर प्रकाशित होता है, उन्हीं ब्रह्मर्षि वसिष्ठके वंशमें पराशर नामवाले महान् प्रभावशाली महर्षि होंगे । वे वैदिक ज्ञानके भण्डार, मुनियोंमें श्रेष्ठ, महान् तपस्वी एवं तपस्याके आवासस्थान होंगे । वे ही पराशर मुनि उस समय तुम्हारे पिता होंगे ।४९-५०।

कानीनगर्भः पितृकन्यकायां
तस्मादृषेस्त्वं भविता च पुत्रः ॥ ५१ ॥

''उन्हीं ऋषिसे तुम पिताके घरमें रहनेवाली एक कुमारी कन्याके पुत्ररूपसे जन्म लोगे और कानीनगर्भ (कन्याकी संतान) कहलाओगे ॥ ५१ ॥

भूतभव्यभविष्याणां छिन्नसर्वार्थसंशयः ।
ये ह्यतिक्रान्तकाः पूर्वं सहस्रयुगपर्ययाः ॥ ५२ ॥
तांश्च सर्वान् मयोद्दिष्टान् द्रक्ष्यसे तपसान्वितः ।
पुनर्द्रक्ष्यसि चानेकसहस्रयुगपर्ययान् ॥ ५३ ॥

''भूत, वर्तमान और भविष्यके सभी विषयोंमें तुम्हारा संशय नष्ट हो जायगा । पहले जो सहस्र युगोंके कल्प व्यतीत हो चुके हैं, उन सबको मेरी आज्ञासे तुम देख सकोगे और तपो-

बलसे सम्पन्न बने रहोगे। भविष्यमें होनेवाले अनेक कल्प भी तुम्हें दृष्टिगोचर होंगे ॥ ५२-५३ ॥

अनादिनिधनं लोके चक्रहस्तं च मां मुने।
अनुध्यानान्मम मुने नैतद् वचनमन्यथा ॥ ५४ ॥

''मुने ! तुम निरन्तर मेरा चिन्तन करनेसे जगत्‌में मुझ अनादि और अनन्त परमेश्वरको चक्र हाथमें लिये देखोगे। मेरी यह बात कभी मिथ्या नहीं होगी ॥ ५४ ॥

भविष्यति महासत्त्व ख्यातिश्चाप्यतुला तव।
शनैश्चरः सूर्यपुत्रो भविष्यति मनुर्महान् ॥ ५५ ॥
तस्मिन्मन्वन्तरे चैव मन्वादिगणपूर्वकः।
त्वमेव भविता वत्स मत्प्रसादान्न संशयः ॥ ५६ ॥

''महान् शक्तिशाली मुनीश्वर ! जगत्‌में तुम्हारी अनुपम ख्याति होगी। वत्स ! जब सूर्यपुत्र शनैश्चर मन्वन्तरके प्रवर्तक हो महामनुके पदपर प्रतिष्ठित होंगे, उस मन्वन्तरमें तुम्हीं मेरे कृपा-प्रसादसे मन्वादि गणोंमें प्रधान होओगे। इसमें संशय नहीं है ॥

यत्किंचिद् विद्यते लोके सर्वं तन्मद्विचेष्टितम्।
अन्यो ह्यन्यं चिन्तयति स्वच्छन्दं विदधाम्यहम्॥ ५७ ॥

''संसारमें जो कुछ हो रहा है, वह सब मेरी ही चेष्टाका फल है। दूसरे लोग दूसरी-दूसरी बातें सोचते रहते हैं, परंतु मैं स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार कार्य करता हूँ' ॥

एवं सारस्वतमृषिमपान्तरतमं तथा।
उक्त्वा वचनमीशानः साधयस्वेत्यथाब्रवीत् ॥ ५८ ॥

'सरस्वती-पुत्र अपान्तरतम मुनिसे ऐसा कहकर भगवान् उन्हें विदा करते हुए बोले—'जाओ, अपना काम करो' ॥५८॥

सोऽहं तस्य प्रसादेन देवस्य हरिमेधसः।
अपान्तरतमा नाम ततो जातोऽऽज्ञया हरेः।
पुनश्च जातो विख्यातो वसिष्ठकुलनन्दनः ॥ ५९ ॥

'इस प्रकार मैं भगवान् विष्णुके कृपा-प्रसादसे पहले अपान्तरतमा नामसे उत्पन्न हुआ था और अब उन्हीं श्रीहरिकी आज्ञासे पुनः वसिष्ठकुलनन्दन व्यासके नामसे उत्पन्न होकर प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५९ ॥

तदेतत् कथितं जन्म मया पूर्वकमात्मनः।
नारायणप्रसादेन तथा नारायणांशजम् ॥ ६० ॥

'नारायणकी कृपासे और उन्हींके अंशसे जो पहले मेरा जन्म हुआ था, उसका यह वृत्तान्त मैंने तुम सब लोगोंसे कहा है ॥

मया हि सुमहत् तप्तं तपः परमदारुणम्।
पुरा मतिमतां श्रेष्ठाः परमेण समाधिना ॥ ६१ ॥

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ शिष्यगण ! पूर्वकालमें मैंने उत्तम समाधिके द्वारा अत्यन्त कठोर एवं बड़ी भारी तपस्या की थी ॥

एतद् वः कथितं सर्वं यन्मां पृच्छत पुत्रकाः।
पूर्वजन्म भविष्यं च भक्तानां स्नेहतो मया ॥ ६२ ॥

'पुत्रो ! तुमलोग मुझसे जो कुछ पूछते थे, वह सब मैंने तुम्हें कह सुनाया। तुम गुरुभक्त शिष्योंके स्नेहवश ही मैंने यह अपने पूर्वजन्म और भविष्यका वृत्तान्त तुम्हें बताया है' ॥६२॥

वैशम्पायन उवाच

एष ते कथितः पूर्वं सम्भवोऽस्मद्गुरोर्नृप।
व्यासस्याक्लिष्टमनसो यथा पृष्टः पुनः शृणु ॥ ६३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरेश्वर ! तुमने जैसा मुझसे प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने पहले क्लेशरहित चित्तवाले अपने गुरु व्यासजीके जन्मका वृत्तान्त कहा है। अब दूसरी बातें सुनो ॥ ६३ ॥

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥ ६४ ॥

राजर्षे ! सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद और पाशुपत-शास्त्र—इन ज्ञानोंको तुम नाना प्रकारके मत समझो ॥ ६४ ॥

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः ॥ ६५ ॥

सांख्यशास्त्रके वक्ता कपिल हैं। वे परमऋषि कहलाते हैं। योगशास्त्रके पुरातन ज्ञाता हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ही हैं, दूसरा नहीं ॥ ६५ ॥

अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥ ६६ ॥

मुनिवर अपान्तरतमा वेदोंके आचार्य बताये जाते हैं। यहाँ कुछ लोग उन महर्षिको प्राचीनगर्भ कहते हैं ॥ ६६ ॥

उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ॥ ६७ ॥

ब्रह्माजीके पुत्र भूतनाथ श्रीकण्ठ उमापति भगवान् शिवने शान्तचित्त होकर पाशुपतज्ञानका उपदेश किया है ॥६७॥

पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्।
सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते ॥ ६८ ॥
यथागमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः।
न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशाम्पते ॥ ६९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण पाञ्चरात्रके ज्ञाता तो साक्षात् भगवान् नारायण ही हैं। यदि वेदशास्त्र और अनुभवके अनुसार विचार किया जाय तो इन सभी ज्ञानोंमें इनके परम तात्पर्यरूपसे भगवान् नारायण ही स्थित दिखायी देते हैं। प्रजानाथ ! जो अज्ञानमें डूबे हुए हैं, वे लोग भगवान् श्रीहरिको इस रूपमें नहीं जानते हैं ॥ ६८-६९ ॥

तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः।
निष्ठां नारायणमृषिं नान्योऽस्तीति वचो मम ॥७०॥

शास्त्रके रचयिता ज्ञानीजन उन नारायण ऋषिको ही समस्त शास्त्रोंका परम लक्ष्य बताते हैं; दूसरा कोई उनके समान नहीं है—यह मेरा कथन है ॥ ७० ॥

निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः।
ससंशयान् हेतुबलान् नाध्यावसति माधवः ॥ ७१ ॥

ज्ञानके बलसे जिनके संशयका निवारण हो गया है, उन सबके भीतर सदा श्रीहरि निवास करते हैं; परंतु कुतर्कके बलसे जो संशयमें पड़े हुए हैं, उनके भीतर भगवान् माधवका निवास नहीं है ॥ ७१ ॥

पाञ्चरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरा नृप।
एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै ॥ ७२ ॥

नरेश्वर ! जो पाञ्चरात्रके ज्ञाता हैं और उसमें बताये हुए क्रमके अनुसार सेवापरायण हो अनन्यभावसे भगवान्‌की शरणमें प्राप्त हैं, वे उन भगवान् श्रीहरिमें ही प्रवेश करते हैं ॥ ७२ ॥

सांख्यं च योगं च सनातने द्वे
वेदाश्च सर्वे निखिलेन राजन्।
सर्वैः समस्तैर्ऋषिभिर्निरुक्तो
नारायणो विश्वमिदं पुराणम् ॥ ७३ ॥

राजन् ! सांख्य और योग—ये दो सनातन शास्त्र तथा सम्पूर्ण वेद सर्वथा यही कहते हैं और समस्त ऋषियोंने भी यही बताया है कि यह पुरातन विश्व भगवान् नारायण ही हैं ॥ ७२ ॥

शुभाशुभं कर्म समीरितं यत्
प्रवर्तते सर्वलोकेषु किञ्चित्।
तस्मादृषेस्तद्भवतीति विद्याद्
दिव्यन्तरिक्षे भुवि चाप्सु चेति ॥ ७४ ॥

स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूतल और जल—इन सभी स्थानोंमें और सम्पूर्ण लोकोंमें जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म होता बताया गया है, वह सब नारायणकी सत्तासे ही हो रहा है—ऐसा जानना चाहिये ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि द्वैपायनोत्पत्तौ एकोनपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें द्वैपायनकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४९ ॥

पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

वैजयन्त पर्वतपर ब्रह्मा और रुद्रका मिलन एवं ब्रह्माजीद्वारा परम पुरुष नारायणकी महिमाका वर्णन

जनमेजय उवाच

बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु।
को ह्यत्र पुरुषः श्रेष्ठः को वा योनिरिहोच्यते ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! पुरुष अनेक हैं या एक ? इस जगत्‌में कौन पुरुष सबसे श्रेष्ठ है ? अथवा किसे यहाँ सबकी उत्पत्तिका स्थान बताया जाता है ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

बहवः पुरुषा लोके सांख्ययोगविचारणे।
नैतदिच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—कुरुकुलका भार वहन करनेवाले नरेश ! सांख्य और योगकी विचारधाराके अनुसार इस जगत्‌में पुरुष अनेक हैं। वे 'एकपुरुषवाद' नहीं स्वीकार करते हैं ॥ २ ॥

बहूनां पुरुषाणां च यथैका योनिरुच्यते।
तथा तं पुरुषं विश्वं व्याख्यास्यामि गुणाधिकम् ॥ ३ ॥

नमस्कृत्वा च गुरवे व्यासाय विदितात्मने।
तपोयुक्ताय दान्ताय वन्द्याय परमर्षये ॥ ४ ॥

बहुत-से पुरुषोंकी उत्पत्तिका स्थान एक ही पुरुष कैसे बताया जाता है ? यह समझानेके लिये आत्मज्ञानी, तपस्वी, जितेन्द्रिय एवं वन्दनीय परमर्षि गुरु व्यासजीको नमस्कार करके मैं तुम्हारे सामने अधिक गुणशाली विश्वात्मा पुरुषकी व्याख्या करूँगा ॥ ३-४ ॥

इदं पुरुषसूक्तं हि सर्ववेदेषु पार्थिव।
ऋतं सत्यं च विख्यातमृषिसिंहेन चिन्तितम् ॥ ५ ॥

राजन् ! यह पुरुषसम्बन्धी सूक्त तथा ऋत और सत्य सम्पूर्ण वेदोंमें विख्यात है। ऋषिसिंह व्यासने इसका भलीभाँति चिन्तन किया है ॥ ५ ॥

उत्सर्गेणापवादेन ऋषिभिः कपिलादिभिः।
अध्यात्मचिन्तामाश्रित्य शास्त्राण्युक्तानि भारत ॥ ६ ॥

भारत ! कपिल आदि ऋषियोंने सामान्य और विशेष-

रूपमें अध्यात्म-तत्त्वका चिन्तन करके विभिन्न शास्त्रोंका प्रतिपादन किया है ॥ ६ ॥

समासतस्तु यद् व्यासः पुरुषैकत्वमुक्तवान् ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि प्रसादादमितौजसः ॥ ७ ॥

परंतु व्यासजीने संक्षेपसे पुरुषकी एकताका जिस तरह प्रतिपादन किया है, उसीको मैं भी उन अमिततेजस्वी गुरुके कृपा-प्रसादसे तुम्हें बताऊँगा ॥ ७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्रह्मणा सह संवादं त्र्यम्बकस्य विशाम्पते ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! इस विषयमें जानकार मनुष्य ब्रह्माजीके साथ रुद्रके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ८ ॥

क्षीरोदस्य समुद्रस्य मध्ये हाटकसप्रभः ।
वैजयन्त इति ख्यातः पर्वतप्रवरो नृप ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! क्षीरसागरके मध्यभागमें वैजयन्त नामसे विख्यात एक श्रेष्ठ पर्वत है, जो सुवर्णकी-सी कान्तिसे प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

तत्राध्यात्मगतिं देव एकाकी प्रविचिन्तयन् ।
वैराजसदनान्नित्यं वैजयन्तं निषेवते ॥ १० ॥

वहाँ एकाकी ब्रह्मा अध्यात्मगतिका चिन्तन करनेके लिये ब्रह्मलोकसे प्रतिदिन आते और उस वैजयन्त पर्वतका सेवन करते थे ॥ १० ॥

अथ तत्रासतस्तस्य चतुर्वक्त्रस्य धीमतः ।
ललाटप्रभवः पुत्रः शिव आगाद् यदृच्छया ॥ ११ ॥
आकाशेन महायोगी पुरा त्रिनयनः प्रभुः ।
ततः खान्निपपाताशु धरणीधरमूर्धनि ॥ १२ ॥

पहले एक दिन बुद्धिमान् चतुर्मुख ब्रह्माजी जब वहाँ बैठे हुए थे, उसी समय उनके ललाटसे उत्पन्न हुए पुत्र महायोगी त्रिनेत्रधारी भगवान् शिव अनायास ही आकाश-मार्गसे घूमते हुए वैजयन्तपर्वतके सामने आये और शीघ्र ही आकाशसे उस पर्वतशिखरपर उतर पड़े ॥ ११-१२ ॥

अग्रतश्चाभवत् प्रीतो ववन्दे चापि पादयोः ।
तं पादयोर्निपतितं दृष्ट्वा सव्येन पाणिना ॥ १३ ॥
उत्थापयामास तदा प्रभुरेकः प्रजापतिः ।
उवाच चैनं भगवांश्चिरस्यागतमात्मजम् ॥ १४ ॥

सामने ब्रह्माजीको देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने उनके दोनों चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया। भगवान् शिवको अपने चरणोंमें पड़ा देख उस समय एकमात्र सर्वसमर्थ भगवान् प्रजापतिने दाहिने हाथसे उन्हें उठाया और दीर्घकालके पश्चात् अपने निकट आये हुए पुत्रसे इस प्रकार कहा ॥ १३-१४ ॥

पितामह उवाच

स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मेऽन्तिकम् ।
कच्चित् ते कुशलं पुत्र स्वाध्यायतपसोः सदा ॥ १५ ॥
नित्यमुग्रतपास्त्वं हि ततः पृच्छामि ते पुनः ॥ १६ ॥

ब्रह्माजी बोले—महाबाहो ! तुम्हारा स्वागत है। सौभाग्यसे मेरे निकट आये हो। बेटा ! तुम्हारा स्वाध्याय और तप सदा सकुशल चल रहा है न ? तुम सर्वदा कठोर तपस्यामें ही लगे रहते हो; इसलिये मैं तुमसे बारंबार तपके विषयमें पूछता हूँ ॥ १५-१६ ॥

रुद्र उवाच

त्वत्प्रसादेन भगवन् स्वाध्यायतपसोर्मम ।
कुशलं चाव्ययं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥ १७ ॥

रुद्रने कहा—भगवन् ! आपकी कृपासे मेरे स्वाध्याय और तप सकुशल चल रहे हैं; कभी भङ्ग नहीं हुए हैं। सम्पूर्ण जगत् भी कुशल-क्षेमसे है ॥ १७ ॥

चिरदृष्टो हि भगवान् वैराजसदने मया ।
ततोऽहं पर्वतं प्राप्तस्त्विमं त्वत्पादसेवितम् ॥ १८ ॥

प्रभो ! बहुत दिन हुए, मैंने ब्रह्मलोकमें आपका दर्शन किया था। इसीलिये आज आपके चरणोंद्वारा सेवित इस पर्वतपर पुनः दर्शनके लिये आया हूँ ॥ १८ ॥

कौतूहलं चापि हि मे एकान्तगमनेन ते ।
नैतत् कारणमल्पं हि भविष्यति पितामह ॥ १९ ॥

पितामह ! आपके एकान्तमें जानेसे मेरे मनमें बड़ा कौतूहल पैदा हुआ। मैंने सोचा, इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं होगा ॥ १९ ॥

किं नु तत्सदनं श्रेष्ठं क्षुत्पिपासाविवर्जितम् ।
सुरासुरैरध्युषितं ऋषिभिश्चामितप्रभैः ॥ २० ॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च सततं संनिषेवितम् ।
उत्सृज्येमं गिरिवरमेकाकी प्राप्तवानसि ॥ २१ ॥

क्या कारण है कि क्षुधा-पिपासासे रहित उस श्रेष्ठ धामको, जहाँ निरन्तर देवता, असुर, अमिततेजस्वी ऋषि, गन्धर्व और अप्सराओंके समूह आपकी सेवामें उपस्थित रहते हैं, छोड़कर आप अकेले इस श्रेष्ठ पर्वतपर चले आये हैं ? ॥ २०-२१ ॥

ब्रह्मोवाच

वैजयन्तो गिरिवरः सततं सेव्यते मया ।
अत्रैकाग्रेण मनसा पुरुषश्चिन्त्यते विराट् ॥ २२ ॥

ब्रह्माजीने कहा—वत्स ! मैं इन दिनों गिरिवर वैजयन्तका जो निरन्तर सेवन कर रहा हूँ, इसका कारण यह है कि यहाँ एकाग्रचित्तसे विराट् पुरुषका चिन्तन किया करता हूँ ॥ २२ ॥

रुद्र उवाच

बहवः पुरुषा ब्रह्मंस्त्वया सृष्टाः स्वयम्भुवा ।
सृज्यन्ते चापरे ब्रह्मन् स चैकः पुरुषो विराट् ॥ २३ ॥

रुद्र बोले—ब्रह्मन् ! आप स्वयम्भू हैं । आपने बहुत-से पुरुषोंकी सृष्टि की है और अभी दूसरे-दूसरे पुरुषोंकी सृष्टि करते जा रहे हैं । वह विराट् भी तो एक पुरुष ही है, फिर उसमें क्या विशेषता है ? ॥ २३ ॥

को ह्यसौ चिन्त्यते ब्रह्मंस्त्वयैकः पुरुषोत्तमः ।
एतन्मे संशयं ब्रूहि महत् कौतूहलं हि मे ॥ २४ ॥

प्रभो ! आप जिन एक पुरुषोत्तमका चिन्तन करते हैं, वे कौन हैं ? मेरे इस संशयका समाधान कीजिये । इस विषयको सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥ २४ ॥

ब्रह्मोवाच

बहवः पुरुषाः पुत्र त्वया ये समुदाहृताः ।
एवमेतदतिक्रान्तं द्रष्टव्यं नैवमित्यपि ॥ २५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! तुमने जिन बहुत-से पुरुषोंका उल्लेख किया है, उनके विषयमें तुम्हारा यह कथन ठीक ही है । जिनकी सृष्टि मैं करता हूँ, उनका चिन्तन मैं क्यों करूँगा ? ॥ २५ ॥

आधारं तु प्रवक्ष्यामि एकस्य पुरुषस्य ते ।
बहूनां पुरुषाणां स यथैका योनिरुच्यते ॥ २६ ॥

मैं तुम्हें उस एक पुरुषके सम्बन्धमें बताऊँगा, जो सबका आधार है और जिस प्रकार वह बहुत-से पुरुषोंका एकमात्र कारण बताया जाता है ॥ २६ ॥

तथा तं पुरुषं विश्वं परमं सुमहत्तमम् ।
निर्गुणं निर्गुणा भूत्वा प्रविशन्ति सनातनम् ॥ २७ ॥

जो लोग साधन करते-करते गुणातीत हो जाते हैं, वे ही उस विश्वरूप, अत्यन्त महान्, सनातन एवं निर्गुण परम पुरुषमें प्रवेश करते हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये ब्रह्मरुद्रसंवादे पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाके प्रसङ्गमें ब्रह्मा तथा रुद्रका संवादविषयक तीन सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५० ॥

एकपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्रह्मा और रुद्रके संवादमें नारायणकी महिमाका विशेषरूपसे वर्णन

ब्रह्मोवाच

शृणु पुत्र यथा ह्येष पुरुषः शाश्वतोऽव्ययः ।
अक्षयश्चाप्रमेयश्च सर्वगश्च निरुच्यते ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! यह विराट् पुरुष जिस प्रकार सनातन, अविकारी, अविनाशी, अप्रमेय और सर्वव्यापी बताया जाता है, वह सुनो ॥ १ ॥

न स शक्यस्त्वया द्रष्टुं मयान्यैर्वापि सत्तम ।
सगुणो निर्गुणो विश्वो ज्ञानदृश्यो ह्यसौ स्मृतः ॥ २ ॥

साधुशिरोमणे ! तुम, मैं अथवा दूसरे लोग भी उस सगुण-निर्गुण विश्वात्मा पुरुषको इन चर्म-चक्षुओंसे नहीं देख सकते । वे ज्ञानसे ही देखने योग्य माने गये हैं ॥ २ ॥

अशरीरः शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ ।
वसन्नपि शरीरेषु न स लिप्यति कर्मभिः ॥ ३ ॥

वे स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंसे रहित होकर भी सम्पूर्ण शरीरोंमें निवास करते हैं और उन शरीरोंमें रहते हुए भी कभी उनके कर्मोंसे लिप्त नहीं होते हैं ॥ ३ ॥

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहिसंज्ञिताः ।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित् ॥ ४ ॥

वे मेरे, तुम्हारे तथा दूसरे जो देहधारी संज्ञावाले जीव हैं, उनके भी अन्तरात्मा हैं । सबके साक्षी वे पुरुषोत्तम श्रीहरि कहीं किसीके द्वारा भी पकड़में नहीं आते ॥ ४ ॥

विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः ।
एकश्चरति क्षेत्रेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण विश्व ही उनका मस्तक, भुजा, पैर, नेत्र और नासिका है । वे स्वच्छन्द विचरनेवाले एकमात्र पुरुषोत्तम सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें सुखपूर्वक विचरण करते हैं ॥ ५ ॥

क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभम् ।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ ६ ॥

वे योगात्मा श्रीहरि क्षेत्रसंज्ञक शरीरोंको और शुभाशुभ कर्मरूप उनके कारणको भी जानते हैं, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं ॥ ६ ॥

नागतिर्न गतिस्तस्य ज्ञेया भूतेषु केनचित्।
सांख्येन विधिना चैव योगेन च यथाक्रमम् ॥ ७ ॥
चिन्तयामि गतिं चास्य न गतिं वेद्मि चोत्तराम्।
यथाज्ञानं तु वक्ष्यामि पुरुषं तु सनातनम् ॥ ८ ॥

समस्त प्राणियोंमेंसे कोई भी यह नहीं जान पाता कि वे किस तरह शरीरोंमें आते और जाते हैं ? मैं क्रमशः सांख्य और योगकी विधिसे उनकी गतिका चिन्तन करता हूँ; परंतु उस उत्कृष्ट गतिको समझ नहीं पाता । तथापि मुझे जैसा अनुभव है, उसके अनुसार उस सनातन पुरुषका वर्णन करता हूँ ॥ ७-८ ॥

तस्यैकत्वं महत्त्वं च स चैकः पुरुषः स्मृतः।
महापुरुषशब्दं स बिभर्त्येकः सनातनः ॥ ९ ॥

उनमें एकत्व भी है और महत्त्व भी; अतः एकमात्र वे ही पुरुष माने गये हैं । एक सनातन श्रीहरि ही महापुरुष नाम धारण करते हैं ॥ ९ ॥

एको हुताशो बहुधा समिध्यते
एकः सूर्यस्तपसो योनिरेका।
एको वायुर्बहुधा वाति लोके
महोदधिश्चाम्भसां योनिरेकः ।
पुरुषश्चैको निर्गुणो विश्वरूप-
स्तं निर्गुणं पुरुषं चाविशन्ति ॥ १० ॥

अग्नि एक ही है; परंतु वह अनेक रूपोंमें प्रज्वलित एवं प्रकाशित होती है । एक ही सूर्य सारे जगत्को ताप एवं प्रकाश देते हैं । तप अनेक प्रकारका है; परंतु उसका मूल एक ही है । एक ही वायु इस जगत्में विविध रूपसे प्रवाहित होती है तथा समस्त जलोंकी उत्पत्ति और लयका स्थान समुद्र भी एक ही है । उसी प्रकार वह निर्गुण विश्वरूप पुरुष भी एक ही है । उसी निर्गुण पुरुषमें सबका लय होता है ॥ १० ॥

हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म हित्वा शुभाशुभम्।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा एवं भवति निर्गुणः ॥ ११ ॥

देह, इन्द्रिय आदि समस्त गुणमय पदार्थोंकी ममता छोड़कर शुभाशुभ कर्मको त्यागकर तथा सत्य और मिथ्या दोनोंका परित्याग करके ही कोई साधक निर्गुण हो सकता है ॥

अचिन्त्यं चापि तं ज्ञात्वा भावसूक्ष्मं चतुष्टयम्।
विचरेद् योऽसमुन्नद्धः स गच्छेत् पुरुषं शुभम् ॥ १२ ॥

जो चारों सूक्ष्म भावोंसे युक्त उस निर्गुण पुरुषको अचिन्त्य जानकर अहङ्कारशून्य होकर विचरण करता है, वही कल्याणमय परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

एवं हि परमात्मानं केचिदिच्छन्ति पण्डिताः।
एकात्मानं तथाऽऽत्मानमपरे ज्ञानचिन्तकाः ॥ १३ ॥

इस प्रकार कुछ विद्वान् (अपनेसे भिन्न) परमात्माको पाना चाहते हैं । कुछ अपनेसे अभिन्न परमात्मा—एकात्माको पानेकी इच्छा रखते हैं तथा दूसरे विचारक केवल आत्माको ही जानना या पाना चाहते हैं ॥ १३ ॥

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।
स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः ॥ १४ ॥

इनमें जो परमात्मा है, वह नित्य निर्गुण माना गया है। उसीको नारायण नामसे जानना चाहिये । वही सर्वात्मा पुरुष है ॥ १४ ॥

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा।
कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ॥ १५ ॥

जैसे कमलका पत्ता पानीमें रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा कर्मफलोंसे निर्लिप्त रहता है। परंतु जो कर्मोंका कर्ता है एवं बन्धन और मोक्षसे सम्बन्ध जोड़ता है, वह जीवात्मा उससे भिन्न है ॥ १५ ॥

स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः।
एवं बहुविधः प्रोक्तः पुरुषस्ते यथाक्रमम् ॥ १६ ॥

उसीका पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच भूत, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके राशिभूत सूक्ष्म शरीरसे संयोग होता है । वही कर्मभेदसे देव-तिर्यक् आदि भावोंको प्राप्त होनेके कारण बहुविध बताया गया है । इस प्रकार तुम्हें क्रमशः पुरुषकी एकता और अनेकताकी बात बतायी गयी ॥

यत् तत्कृत्स्नं लोकतन्त्रस्य धाम
वेद्यं परं बोधनीयं स बोद्धा।
मन्ता मन्तव्यं प्राशिता प्राशनीयं
घ्राता घ्रेयं स्पर्शिता स्पर्शनीयम् ॥ १७ ॥

जो लोकतन्त्रका सम्पूर्ण धाम या प्रकाशक है, वह परम पुरुष ही वेदनीय (जाननेयोग्य) परम तत्त्व है । वही ज्ञाता और वही ज्ञातव्य है । वही मनन करनेवाला और वही मननीय वस्तु है । वही भोक्ता और वही भोज्य पदार्थ है। वही सूँघनेवाला और वही सूँघनेयोग्य वस्तु है । वही स्पर्श करनेवाला तथा वही स्पर्शके योग्य वस्तु है ॥ १७ ॥

द्रष्टा द्रष्टव्यं श्राविता श्रावणीयं
ज्ञाता ज्ञेयं सगुणं निर्गुणं च।
यद् वै प्रोक्तं तात सम्यक् प्रधानं
नित्यं चैतच्छाश्वतं चाव्ययं च ॥ १८ ॥

वही द्रष्टा और द्रष्टव्य है। वही सुनानेवाला और सुनाने-योग्य वस्तु है। वही ज्ञाता और ज्ञेय है तथा वही सगुण और निर्गुण है। तात! जिसे सम्यक् प्रधान तत्त्व कहा गया है, वह भी यह पुरुष ही है। यह नित्य सनातन और अविनाशी तत्त्व है ॥ १८ ॥

यद् वै सूते धातुराद्यं विधानं
तद् वै विप्राः प्रवदन्तेऽनिरुद्धम्।
यद् वै लोके वैदिकं कर्म साधु
आशीर्युक्तं तद्धि तस्यैव भाव्यम्॥ १९ ॥

वही मुझ विधाताके आदि विधानको उत्पन्न करता है। विद्वान् ब्राह्मण उसीको अनिरुद्ध कहते हैं। लोकमें सकाम भावसे जो वैदिक सत्कर्म किये जाते हैं, वे उस अनिरुद्धात्मा पुरुषकी प्रसन्नताके लिये ही होते हैं—ऐसा चिन्तन करना चाहिये ॥ १९ ॥

देवाः सर्वे मुनयः साधु शान्ता-
स्तं प्राग्वंशे यज्ञभागैर्यजन्ते।
अहं ब्रह्मा आद्य ईशः प्रजानां
तस्माज्जातस्त्वं च मत्तः प्रसूतः ॥ २० ॥

सम्पूर्ण देवता और शान्त स्वभाववाले मुनि यज्ञशालामें यज्ञभागोंद्वारा उसीका यजन करते हैं। मैं प्रजाओंका आदि ईश्वर ब्रह्मा उसी परम पुरुषसे उत्पन्न हुआ हूँ और मुझसे तुम्हारी उत्पत्ति हुई है ॥ २० ॥

मत्तो जगज्जङ्गमं स्थावरं च
सर्वे वेदाः सरहस्या हि पुत्र ॥ २१ ॥

पुत्र! मुझसे यह चराचर जगत् तथा रहस्यसहित सम्पूर्ण वेद प्रकट हुए हैं ॥ २१ ॥

चतुर्विभक्तः पुरुषः स क्रीडति यथेच्छति।
एवं स भगवान् स्वेन ज्ञानेन प्रतिबोधितः ॥ २२ ॥

वासुदेव आदि चार व्यूहोंमें विभक्त हुए वे परम पुरुष ही जैसी इच्छा होती है, वैसी क्रीड़ा करते हैं। इसी तरह वे भगवान् अपने ही ज्ञानसे जाननेमें आते हैं ॥ २२ ॥

एतत् ते कथितं पुत्र यथावदनुपृच्छतः।
सांख्यज्ञाने तथा योगे यथावदनुवर्णितम् ॥ २३ ॥

पुत्र! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने यथावत्‌रूपसे ये सब बातें बतायी हैं। सांख्य और योगमें इस विषयका यथार्थरूपसे वर्णन किया गया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीयसमाप्तौ एकपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाका उपसंहारविषयक तीन सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदके द्वारा इन्द्रको उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणकी कथा सुनानेका उपक्रम

युधिष्ठिर उवाच

धर्माः पितामहेनोक्ता मोक्षधर्माश्रिताः शुभाः।
धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हति मे भवान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! आपके बतलाये हुए कल्याणमय मोक्षसम्बन्धी धर्मोंका मैंने श्रवण किया। अब आप आश्रमधर्मोंका पालन करनेवाले मनुष्योंके लिये जो सबसे उत्तम धर्म हो, उसका उपदेश करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं महत्।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! सभी आश्रमोंमें स्वधर्म-पालनका विधान है, सबमें स्वर्गका तथा महान् सत्यफल—मोक्षका भी साधन है। धर्मके यज्ञ, दान, तप आदि बहुत-से द्वार हैं; अतः इस जगत्‌में धर्मकी कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती ॥ २ ॥

यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम्।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ! जो-जो मनुष्य जिस-जिस विषय-स्वर्ग या मोक्षके लिये साधन करके उसमें सुनिश्चित सफलताको प्राप्त कर लेता है, उसी साधन या धर्मको वह श्रेष्ठ समझता है, दूसरेको नहीं ॥ ३ ॥

इमां च त्वं नरव्याघ्र श्रोतुमर्हसि मे कथाम्।
पुरा शक्रस्य कथितां नारदेन महर्षिणा ॥ ४ ॥

पुरुषसिंह! इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा सुना रहा हूँ, उसे सुनो। पूर्वकालमें महर्षि नारदने इन्द्रको यह कथा सुनायी थी ॥ ४ ॥

महर्षिर्नारदो राजन् सिद्धस्त्रैलोक्यसम्मतः ।
पर्येति क्रमशो लोकान् वायुरव्याहतो यथा ॥ ५ ॥

राजन् ! महर्षि नारद तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित सिद्ध पुरुष हैं । वायुके समान उनकी सर्वत्र अबाधित गति है । वे क्रमशः सभी लोकोंमें घूमते रहते हैं ॥ ५ ॥

स कदाचिन्महेष्वास देवराजालयं गतः ।
सत्कृतश्च महेन्द्रेण प्रत्यासन्नगतोऽभवत् ॥ ६ ॥

महाधनुर्धर नरेश ! एक समय वे नारदजी देवराज इन्द्रके यहाँ पधारे । इन्द्रने उन्हें अपने समीप ही बिठाकर उनका बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ ६ ॥

तं कृतक्षणमासीनं पर्यपृच्छच्छचीपतिः ।
महर्षे किंचिदाश्चर्यमस्ति दृष्टं त्वयानघ ॥ ७ ॥

जब नारदजी थोड़ी देर बैठकर विश्राम ले चुके, तब शचीपति इन्द्रने पूछा—'निष्पाप महर्षे ! इधर आपने कोई आश्चर्यजनक घटना देखी है क्या ? ॥ ७ ॥

यदा त्वमपि विप्रर्षे त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
जातकौतूहलो नित्यं सिद्धश्चरसि साक्षिवत् ॥ ८ ॥

'ब्रह्मर्षे ! आप सिद्ध पुरुष हैं और कौतूहलवश चराचर प्राणियोंसे युक्त तीनों लोकोंमें सदा साक्षीकी भाँति विचरते रहते हैं ॥ ८ ॥

न ह्यस्त्यविदितं लोके देवर्षे तव किंचन ।
श्रुतं वाप्यनुभूतं वा दृष्टं वा कथयस्व मे ॥ ९ ॥

'देवर्षे ! जगत्में कोई भी ऐसी बात नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो । यदि आपने कोई अद्भुत बात देखी हो, सुनी हो अथवा अनुभव की हो तो वह मुझे बताइये' ॥ ९ ॥

तस्मै राजन् सुरेन्द्राय नारदो वदतां वरः ।
आसीनायोपपन्नाय प्रोक्तवान् विपुलां कथाम् ॥ १० ॥

राजन् ! उनके इस प्रकार पूछनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजीने अपने पास ही बैठे हुए सुरेन्द्रको एक विस्तृत कथा सुनायी ॥ १० ॥

यथा येन च कल्पेन स तस्मै द्विजसत्तमः ।
कथां कथितवान् पृष्टस्तथा त्वमपि मे शृणु ॥ ११ ॥

इन्द्रके पूछनेपर द्विजश्रेष्ठ नारदने उन्हें जैसे और जिस ढंगसे वह कथा कही थी, वैसे ही मैं भी कहूँगा । तुम भी मेरी कही हुई उस कथाको ध्यान देकर सुनो ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने द्विपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

महापद्मपुरमें एक श्रेष्ठ ब्राह्मणके सदाचारका वर्णन और उसके घरपर अतिथिका आगमन

भीष्म उवाच

आसीत् किल नरश्रेष्ठ महापद्मे पुरोत्तमे ।
गङ्गाया दक्षिणे तीरे कश्चिद् विप्रः समाहितः ॥ १ ॥
सौम्यः सोमान्वये वेदे गताध्वा छिन्नसंशयः ।
धर्मनित्यो जितक्रोधो नित्यतृप्तो जितेन्द्रियः ॥ २ ॥
तपःस्वाध्यायनिरतः सत्यः सज्जनसम्मतः ।
न्यायप्राप्तेन वित्तेन स्वेन शीलेन चान्वितः ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! (नारदजीने जो कथा सुनायी, वह इस प्रकार है—) गङ्गाके दक्षिणतटपर महापद्म नामक कोई श्रेष्ठ नगर है । वहाँ एक ब्राह्मण रहता था । वह एकाग्रचित्त और सौम्य स्वभावका मनुष्य था । उसका जन्म चन्द्रमाके कुलमें—अत्रिगोत्रमें हुआ था । वेदमें उसकी अच्छी गति थी और उसके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था । वह सदा धर्मपरायण, क्रोधरहित, नित्य संतुष्ट, जितेन्द्रिय, तप और स्वाध्यायमें संलग्न, सत्यवादी और सत्पुरुषोंके सम्मानका पात्र था । न्यायोपार्जित धन और अपने ब्राह्मणोचित शीलसे सम्पन्न था ॥ १—३ ॥

ज्ञातिसम्बन्धिविपुले सत्त्वाद्याश्रयसम्मिते ।
कुले महति विख्याते विशिष्टां वृत्तिमास्थितः ॥ ४ ॥

उसके कुलमें सगे-सम्बन्धियोंकी संख्या अधिक थी । सभी लोग सत्त्वप्रधान सद्गुणोंका सहारा लेकर श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करते थे । उस महान् एवं विख्यात कुलमें रहकर वह उत्तम आजीविकाके सहारे जीवन-निर्वाह करता था ॥ ४ ॥

स पुत्रान् बहुलान् दृष्ट्वा विपुले कर्मणि स्थितः ।
कुलधर्माश्रितो राजन् धर्मचर्यास्थितोऽभवत् ॥ ५ ॥

राजन् ! उसने देखा कि मेरे बहुत-से पुत्र हो गये, तब वह लौकिक कार्यसे विरक्त हो महान् कर्ममें संलग्न हो गया

और अपने कुलधर्मका आश्रय ले धर्माचरणमें ही तत्पर रहने लगा ॥ ५ ॥

ततः स धर्मं वेदोक्तं तथा शास्त्रोक्तमेव च ।
शिष्टाचीर्णं च धर्मं च त्रिविधं चिन्त्य चेतसा ॥ ६ ॥

तदनन्तर उसने वेदोक्त धर्म, शास्त्रोक्त धर्म तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित धर्म—इन तीन प्रकारके धर्मोंपर मन-ही-मन विचार करना आरम्भ किया—॥ ६ ॥

किन्नु मे स्याच्छुभं कृत्वा किं कृतं किं परायणम् ।
इत्येवं खिद्यते नित्यं न च याति विनिश्चयम् ॥ ७ ॥

'क्या करनेसे मेरा कल्याण होगा ? मेरा क्या कर्तव्य है तथा कौन मेरे लिये परम आश्रय है ?' इस प्रकार वह सदा सोचते-सोचते खिन्न हो जाता था; परंतु किसी निर्णयपर नहीं पहुँच पाता था ॥ ७ ॥

तस्यैवं खिद्यमानस्य धर्मं परममास्थितः ।
कदाचिदतिथिः प्राप्तो ब्राह्मणः सुसमाहितः ॥ ८ ॥

एक दिन जब वह इसी तरह सोच-विचारमें पड़ा हुआ कष्ट पा रहा था, उसके यहाँ एक परम धर्मात्मा तथा एकाग्रचित्त ब्राह्मण अतिथिके रूपमें आ पहुँचा ॥ ८ ॥

स तस्मै सत्क्रियां चक्रे क्रियायुक्तेन हेतुना ।
विश्रान्तं सुसमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

ब्राह्मणने उस अतिथिका क्रियायुक्त हेतु (शास्त्रोक्त विधि) से आदर-सत्कार किया और जब वह सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करने लगा, तब उससे इस प्रकार कहा ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने त्रिपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५३ ॥

चतुःपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अतिथिद्वारा स्वर्गके विभिन्न मार्गोंका कथन

ब्राह्मण उवाच

समुत्पन्नाभिधानोऽस्मि वाङ्माधुर्येण तेऽनघ ।
मित्रत्वमभिपन्नस्त्वं किंचिद् वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला—निष्पाप ! आपकी मीठी बातें सुनकर ही मैं आपके प्रति स्नेह-बन्धनसे बँध गया हूँ । आपके ऊपर मेरा मित्रभाव हो गया है; अतः आपसे कुछ कह रहा हूँ, मेरी बात सुनिये ॥ १ ॥

गृहस्थधर्मं विप्रेन्द्र कृत्वा पुत्रगतं त्वहम् ।
धर्मं परमकं कुर्यां को हि मार्गो भवेद् द्विज ॥ २ ॥

विप्रवर ! मैं गृहस्थधर्मको अपने पुत्रोंके अधीन करके सर्वश्रेष्ठ धर्मका पालन करना चाहता हूँ । ब्रह्मन् ! बताइये, मेरे लिये कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर होगा ? ॥ २ ॥

अहमात्मानमास्थाय एक एवात्मनि स्थितिम् ।
कर्तुं काङ्क्षामि नेच्छामि बद्धः साधारणैर्गुणैः ॥ ३ ॥

कभी मेरी इच्छा होती है कि अकेला ही रहूँ और आत्माका आश्रय लेकर उसीमें स्थित हो जाऊँ ? परंतु इन तुच्छ विषयोंसे बँधा होनेके कारण वह इच्छा नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

यावदेतदतीतं मे वयः पुत्रफलाश्रितम् ।
तावदिच्छामि पाथेयमादातुं पारलौकिकम् ॥ ४ ॥

अबतककी सारी आयु पुत्रसे फल पानेकी कामनामें ही बीत गयी । अब ऐसे धर्ममय धनका संग्रह करना चाहता हूँ, जो परलोकके मार्गमें पाथेय (राहखर्च) का काम दे सके ॥ ४ ॥

अस्मिन् हि लोकसम्भारे परं पारमभीप्सतः ।
उत्पन्ना मे मतिरियं कुतो धर्ममयः प्लवः ॥ ५ ॥

मुझे इस संसारसागरसे पार जानेकी इच्छा हुई है, अतः मेरे मनमें यह जिज्ञासा हो रही है कि मुझे धर्ममयी नौका कहाँसे प्राप्त होगी ? ॥ ५ ॥

संयुज्यमानानि निशम्य लोके
निर्यात्यमानानि च सात्त्विकानि ।
दृष्ट्वा तु धर्मध्वजकेतुमालां
प्रकीर्यमाणामुपरि प्रजानाम् ॥ ६ ॥
न मे मनो रज्यति भोगकाले
दृष्ट्वा यतीन् प्रार्थयतः परत्र ।
तेनातिथे बुद्धिबलाश्रयेण
धर्मेण धर्मे विनियुङ्क्ष्व मां त्वम् ॥ ७ ॥

जब मैं सुनता हूँ कि संसारमें विषयोंके सम्पर्कमें आये हुए सात्त्विक पुरुष भी तरह-तरहकी यातनाएँ भोगते हैं तथा जब देखता हूँ कि समस्त प्रजाके ऊपर यमराजकी

ध्वजाएँ फहरा रही हैं, तब भोगकालमें भोगोंके प्राप्त होनेपर भी उन्हें भोगनेकी रुचि मेरे मनमें नहीं होती है। जब संन्यासियोंको भी दूसरोंके दरवाजोंपर अन्न-वस्त्रकी भीख माँगते देखता हूँ, तब उस संन्यासधर्ममें भी मेरा मन नहीं लगता है; अतः अतिथिदेव ! आप अपनी ही बुद्धिके बलसे अब मुझे धर्मद्वारा धर्ममें लगाइये ॥ ६-७ ॥

सोऽतिथिर्वचनं तस्य श्रुत्वा धर्माभिभाषिणः।
प्रोवाच वचनं श्लक्ष्णं प्राज्ञो मधुरया गिरा ॥ ८ ॥

धर्मयुक्त वचन बोलनेवाले उस ब्राह्मणकी बात सुनकर उस विद्वान् अतिथिने मधुर वाणीमें यह उत्तम वचन कहा ॥ ८ ॥

अतिथिरुवाच

अहमप्यत्र मुह्यामि ममाप्येष मनोरथः।
न च संनिश्चयं यामि बहुद्वारे त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥

अतिथिने कहा—विप्रवर ! मेरा भी ऐसा ही मनोरथ है। मैं भी आपकी ही भाँति श्रेष्ठ धर्मका आश्रय लेना चाहता हूँ, परंतु मुझे भी इस विषयमें मोह ही बना हुआ है। स्वर्गके अनेक द्वार (साधन) हैं, अतः किसका आश्रय लिया जाय ? इसका निश्चय मैं भी नहीं कर पाता हूँ ॥ ९ ॥

केचिन्मोक्षं प्रशंसन्ति केचिद् यज्ञफलं द्विजाः।
वानप्रस्थाश्रयाः केचिद् गार्हस्थ्यं केचिदाश्रिताः॥१०॥

कोई द्विज मोक्षकी प्रशंसा करते हैं तो कोई यज्ञफलकी। कोई वानप्रस्थधर्मका आश्रय लेते हैं तो कोई गार्हस्थ्यधर्मका ॥ १० ॥

राजधर्माश्रयं केचित् केचिदात्मफलाश्रयम्।
गुरुधर्माश्रयं केचित्केचिद् वाक्संयमाश्रयम् ॥ ११ ॥

कोई राजधर्म, कोई आत्मज्ञान, कोई गुरुशुश्रूषा और कोई मौनव्रतका ही आश्रय लिये बैठे हैं ॥ ११ ॥

मातरं पितरं केचिच्छुश्रूषन्तो दिवं गताः।
अहिंसया परे स्वर्गं सत्येन च तथा परे ॥ १२॥

कुछ लोग माता-पिताकी सेवा करके ही स्वर्गमें चले गये। कोई अहिंसासे और कोई सत्यसे ही स्वर्गलोकके भागी हुए हैं ॥ १२ ॥

आहवेऽभिमुखाः केचिन्निहतास्त्रिदिवं गताः।
केचिदुञ्छव्रतैः सिद्धाः स्वर्गमार्गं समाश्रिताः॥ १३॥

कुछ वीर पुरुष युद्धमें शत्रुओंका सामना करते हुए मारे जाकर स्वर्गलोकमें जा पहुँचे हैं। कितने ही मनुष्य उञ्छवृत्तिके द्वारा सिद्धि प्राप्त करके स्वर्गगामी हुए हैं ॥ १३ ॥

केचिदध्ययने युक्ता वेदव्रतपराः शुभाः।
बुद्धिमन्तो गताः स्वर्गं तुष्टात्मानो जितेन्द्रियाः॥ १४॥

कुछ बुद्धिमान् पुरुष संतुष्टचित्त और जितेन्द्रिय हो वेदोक्त व्रतका पालन तथा स्वाध्याय करते हुए शुभसम्पन्न हो स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर चुके हैं ॥ १४ ॥

आर्जवेनापरे युक्ता निहतानार्जवैर्जनैः।
ऋजवो नाकपृष्ठे वै शुद्धात्मानः प्रतिष्ठिताः॥ १५॥

कितने ही सरल और शुद्धात्मा पुरुष सरलतासे ही संयुक्त हो कुटिल मनुष्योंद्वारा मारे गये और स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हुए हैं ॥ १५ ॥

एवं बहुविधैर्लोकैर्धर्मद्वारैरनावृतैः।
ममापि मतिराविग्ना मेघलेखेव वायुना ॥ १६॥

इस प्रकार लोकमें धर्मके विविध एवं बहुत-से दरवाजे खुले हुए हैं, उनसे मेरी बुद्धि भी उसी प्रकार उद्विग्न एवं चञ्चल हो उठी है, जैसे वायुसे मेघोंकी घटा ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने
चतुःपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अतिथिद्वारा नागराज पद्मनाभके सदाचार और सद्गुणोंका वर्णन तथा ब्राह्मणको उसके पास जानेके लिये प्रेरणा

अतिथिरुवाच

उपदेशं तु ते विप्र करिष्येऽहं यथाक्रमम्।
गुरुणा मे यथाख्यातमर्थतत्त्वं तु मे शृणु ॥ १ ॥

अतिथिने कहा—विप्रवर ! मेरे गुरुने इस विषयमें जो तात्त्विक बात बतलायी है, उसीका मैं तुमको क्रमशः उपदेश करूँगा। तुम मेरे इस कथनको सुनो ॥ १ ॥

तत्र पूर्वाभिसर्गे वै धर्मचक्रं प्रवर्तितम्।
नैमिषे गोमतीतीरे तत्र नागाह्वयं पुरम्॥ २॥
समग्रैस्त्रिदशैस्तत्र इष्टमासीद् द्विजर्षभ।
यत्रेन्द्रातिक्रमं चक्रे मान्धाता राजसत्तमः॥ ३॥

द्विजश्रेष्ठ! पूर्वकल्पमें जहाँ प्रजापतिने धर्मचक्र प्रवर्तित किया था, सम्पूर्ण देवताओंने जहाँ यज्ञ किया था तथा जहाँ राजाओंमें श्रेष्ठ मान्धाता यज्ञ करनेमें इन्द्रसे भी आगे बढ़ गये थे, उस नैमिषारण्यमें गोमतीके तटपर नागपुर नामक एक नगर है॥ २-३॥

कृताधिवासो धर्मात्मा तत्र चक्षुःश्रवा महान्।
पद्मनाभो महानागः पद्म इत्येव विश्रुतः॥ ४॥

वहाँ एक महान् धर्मात्मा सर्प निवास करता है। उस महानागका नाम तो है पद्मनाभ; परंतु पद्म नामसे ही उसकी प्रसिद्धि है॥ ४॥

स वाचा कर्मणा चैव मनसा च द्विजर्षभ।
प्रसादयति भूतानि त्रिविधे वर्त्मनि स्थितः॥ ५॥

द्विजश्रेष्ठ! पद्म मन, वाणी और क्रियाद्वारा कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों मार्गोंका आश्रय लेकर रहता और सम्पूर्ण भूतोंको प्रसन्न रखता है॥ ५॥

साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनेति चतुर्विधम्।
विषमस्थं समस्थं च चक्षुर्ध्यानेन रक्षति॥ ६॥

वह विषमतापूर्ण बर्ताव करनेवाले पुरुषको साम, दान, दण्ड और भेद-नीतिके द्वारा राहपर लाता है, समदर्शीकी रक्षा करता है और नेत्र आदि इन्द्रियोंको विचारके द्वारा कुमार्गमें जानेसे बचाता है॥ ६॥

तमतिक्रम्य विधिना प्रष्टुमर्हसि काङ्क्षितम्।
स ते परमकं धर्मं न मिथ्या दर्शयिष्यति॥ ७॥

तुम उसीके पास जाकर विधिपूर्वक अपना मनोवाञ्छित प्रश्न पूछो। वह तुम्हें परम उत्तम धर्मका दर्शन करायेगा; मिथ्या धर्मका उपदेश नहीं करेगा॥ ७॥

स हि सर्वातिथिर्नागो बुद्धिशास्त्रविशारदः।
गुणैरनुपमैर्युक्तः समस्तैराभिकामिकैः॥ ८॥

वह नाग बड़ा बुद्धिमान् और शास्त्रोंका पण्डित है। सबका अतिथि-सत्कार करता है। समस्त अनुपम तथा वाञ्छनीय सद्गुणोंसे सम्पन्न है॥ ८॥

प्रकृत्या नित्यसलिलो नित्यमध्ययने रतः।
तपोदमाभ्यां संयुक्तो वृत्तेनानवरेण च॥ ९॥

स्वभाव तो उसका पानीके समान है। वह सदा स्वाध्यायमें लगा रहता है। तप, इन्द्रिय-संयम तथा उत्तम आचार-विचारसे संयुक्त है॥ ९॥

यज्वा दानपतिः क्षान्तो वृत्ते च परमे स्थितः।
सत्यवागनसूयुश्च शीलवान्नियतेन्द्रियः॥ १०॥

वह यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला, दानियोंका शिरोमणि, क्षमाशील, श्रेष्ठ सदाचारमें संलग्न, सत्यवादी, दोषदृष्टिसे रहित, शीलवान् और जितेन्द्रिय है॥ १०॥

शेषान्नभोक्ता वचनानुकूलो
हितार्जवोत्कृष्टकृताकृतज्ञः।
अवैरकृद् भूतहिते नियुक्तो
गङ्गाह्रदाम्भोऽभिजनोपपन्नः॥ ११॥

यज्ञशेष अन्नका वह भोजन करता है, अनुकूल वचन बोलता है, हित और सरलभावसे रहता है। उत्कृष्ट कर्तव्य और अकर्तव्यको जानता है, किसीसे भी वैर नहीं करता है। समस्त प्राणियोंके हितमें लगा रहता है तथा वह गङ्गाजीके समान पवित्र एवं निर्मल कुलमें उत्पन्न हुआ है॥ ११॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३५५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५५॥

षट्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अतिथिके वचनोंसे संतुष्ट होकर ब्राह्मणका उसके कथनानुसार नागराजके घरकी ओर प्रस्थान

ब्राह्मण उवाच

अतिभारोऽद्य तस्यैव भारावतरणं महत्।
पराश्वासकरं वाक्यमिदं मे भवतः श्रुतम्॥ १॥

ब्राह्मणने कहा—अतिथिदेव! मुझपर बड़ा भारी बोझ-सा लदा हुआ था, उसे आज आपने उतार दिया। यह बहुत बड़ा कार्य हो गया। आपकी यह बात जो मैंने सुनी है, दूसरोंको पूर्ण सान्त्वना प्रदान करनेवाली है॥ १॥

अध्वक्लान्तस्य शयनं स्थानक्लान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधार्तस्य च भोजनम्॥ २॥

राह चलनेसे थके हुए बटोहीको शय्या, खड़े-खड़े जिसके

पैर दुख रहे हों, उसके लिये बैठनेका आसन, प्यासेको पानी और भूखसे पीड़ित मनुष्यको भोजन मिलनेसे जितना संतोष होता है, उतनी ही प्रसन्नता मुझे आपकी यह बात सुनकर हुई है ॥ २ ॥

ईप्सितस्येव सम्प्राप्तिरन्नस्य समयेऽतिथेः।
एषितस्यात्मनः काले वृद्धस्यैव सुतो यथा ॥ ३ ॥
मनसा चिन्तितस्येव प्रीतिस्निग्धस्य दर्शनम्।
प्रह्लादयति मां वाक्यं भवता यदुदीरितम् ॥ ४ ॥

भोजनके समय मनोवाञ्छित अन्नकी प्राप्ति होनेसे अतिथिको, समयपर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेसे अपने मनको, पुत्रकी प्राप्ति होनेसे वृद्धको तथा मनसे जिसका चिन्तन हो रहा हो, उस प्रेमी मित्रका दर्शन होनेसे मित्रको जितना आनन्द प्राप्त होता है, आज आपने जो बात कही है, वह मुझे उतना ही आनन्द दे रही है ॥ ३-४ ॥

दत्तचक्षुरिवाकाशे पश्यामि विमृशामि च।
प्रज्ञानवचनाद्योऽयमुपदेशो हि मे कृतः ॥ ५ ॥

आपने मुझे यह उपदेश क्या दिया, अन्धेको आँख दे दी। आपके इस ज्ञानमय वचनको सुनकर मैं आकाशकी ओर देखता और कर्तव्यका विचार करता हूँ ॥ ५ ॥

बाढमेवं करिष्यामि यथा मे भाषते भवान्।
इमां हि रजनीं साधो निवसस्व मया सह ॥ ६ ॥
प्रभाते यास्यति भवान् पर्याश्वस्तः सुखोषितः।
असौ हि भगवान् सूर्यो मन्दरश्मिरवाङ्मुखः ॥ ७ ॥

विद्वन्! आप मुझे जैसी सलाह दे रहे हैं, अवश्य ऐसा ही करूँगा। साधो! वे भगवान् सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहे हैं। उनकी किरणें मन्द हो गयी हैं; अतः आप इस रातमें मेरे साथ यहीं रहिये और सुखपूर्वक विश्राम करके भलीभाँति अपनी थकावट दूर कीजिये; फिर सबेरे अपने अभीष्ट स्थानको चले जाइयेगा ॥ ६-७ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तेन कृतातिथ्यः सोऽतिथिः शत्रुसूदन।
उवास किल तां रात्रिं सह तेन द्विजेन वै ॥ ८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—शत्रुसूदन! तदनन्तर वह अतिथि उस ब्राह्मणका आतिथ्य ग्रहण करके रातभर वहीं उस ब्राह्मणके साथ रहा ॥ ८ ॥

चतुर्थधर्मसंयुक्तं तयोः कथयतोस्तदा।
व्यतीता सा निशा कृत्स्ना सुखेन दिवसोपमा ॥ ९ ॥

मोक्षधर्मके सम्बन्धमें बातें करते हुए उन दोनोंकी वह सारी रात दिनके समान ही बड़े सुखसे बीत गयी ॥ ९ ॥

ततः प्रभातसमये सोऽतिथिस्तेन पूजितः।
ब्राह्मणेन यथाशक्त्या स्वकार्यमभिकाङ्क्षता ॥ १० ॥

फिर सबेरा होनेपर अपने कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले उस ब्राह्मणद्वारा यथाशक्ति सम्मानित हो वह अतिथि चला गया ॥

ततः स विप्रः कृतकर्मनिश्चयः
कृताभ्यनुज्ञः स्वजनेन धर्मकृत्।
यथोपदिष्टं भुजगेन्द्रसंश्रयं
जगाम काले सुकृतैकनिश्चयः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् वह धर्मात्मा ब्राह्मण अपने अभीष्ट कार्यको पूर्ण करनेका निश्चय करके स्वजनोंकी अनुमति ले अतिथिके बताये अनुसार यथासमय नागराजके घरकी ओर चल दिया। उसने अपने शुभ कार्यको सिद्ध करनेका एक दृढ़ निश्चय कर लिया था ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने षट्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागपत्नीके द्वारा ब्राह्मणका सत्कार और वार्तालापके बाद ब्राह्मणके द्वारा नागराजके आगमनकी प्रतीक्षा

भीष्म उवाच

स वनानि विचित्राणि तीर्थानि च सरांसि च।
अभिगच्छन् क्रमेण स कंचिन्मुनिमुपस्थितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वह ब्राह्मण क्रमशः अनेकानेक विचित्र वनों, तीर्थों और सरोवरोंको लाँघता हुआ किसी मुनिके आश्रमपर उपस्थित हुआ ॥ १ ॥

तं स तेन यथोद्दिष्टं नागं विप्रेण ब्राह्मणः।
पर्यपृच्छद् यथान्यायं श्रुत्वैव च जगाम सः ॥ २ ॥

उस मुनिसे ब्राह्मणने अपने अतिथिके बताये हुए नागका पता पूछा। मुनिने जो कुछ बताया, उसे

यथावत्रूपसे सुनकर वह पुनः आगे बढ़ा ॥ २ ॥

सोऽभिगम्य यथान्यायं नागायतनमर्थवित्।
प्रोक्तवानहमस्मीति भोःशब्दालंकृतं वचः॥ ३ ॥

अपने उद्देश्यको ठीक-ठीक समझनेवाला वह ब्राह्मण विधिपूर्वक यात्रा करके नागके घरपर जा पहुँचा। घरके द्वारपर पहुँचकर उसने 'भोः' शब्दसे विभूषित वचन बोलते हुए पुकार लगायी—'कोई है ? मैं यहाँ द्वारपर आया हूँ' ॥

ततस्तस्य वचनं श्रुत्वा रूपिणी धर्मवत्सला।
दर्शयामास तं विप्रं नागपत्नी पतिव्रता॥ ४ ॥

उसकी वह बात सुनकर धर्मके प्रति अनुराग रखनेवाली नागराजकी परम सुन्दरी पतिव्रता पत्नीने उस ब्राह्मणको दर्शन दिया ॥ ४ ॥

सा तस्मै विधिवत् पूजां चक्रे धर्मपरायणा।
स्वागतेनागतं कृत्वा किं करोमीति चाब्रवीत्॥ ५ ॥

उस धर्मपरायणा सतीने ब्राह्मणका विधिपूर्वक पूजन किया और स्वागत करते हुए कहा—'ब्राह्मणदेव ! आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ५ ॥

ब्राह्मण उवाच

विश्रान्तोऽभ्यर्चितश्चास्मि भवत्या श्लक्ष्णया गिरा।
द्रष्टुमिच्छामि भवति देवं नागमनुत्तमम्॥ ६ ॥

ब्राह्मणने कहा—देवि ! आपने मधुर वाणीसे मेरा स्वागत और पूजन किया। इससे मेरी सारी थकावट दूर हो गयी। अब मैं परम उत्तम नागदेवका दर्शन करना चाहता हूँ ॥

एतद्धि परमं कार्यमेतन्मे परमेप्सितम्।
अनेन चार्थेनास्म्यद्य सम्प्राप्तः पन्नगाश्रमम्॥ ७ ॥

यही मेरा सबसे बड़ा कार्य है और यही मेरा महान् मनोरथ है, मैं इसी उद्देश्यसे आज नागराजके इस आश्रमपर आया हूँ ॥ ७ ॥

नागभार्योवाच

आर्यः सूर्यरथं वोढुं गतोऽसौ मासचारिकः।
सप्ताष्टभिर्दिनैर्विप्र दर्शयिष्यत्यसंशयम्॥ ८ ॥

नागपत्नीने कहा—विप्रवर ! मेरे माननीय पतिदेव सूर्यदेवका रथ ढोनेके लिये गये हुए हैं। वर्षमें एक बार एक मासतक उन्हें यह कार्य करना पड़ता है। पंद्रह दिनोंमें ही वे यहाँ दर्शन देंगे—इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

एतद्विदितमार्यस्य विवासकरणं तव।
भर्तुर्भवतु किं चान्यत् क्रियतां तद् वदस्व मे॥ ९ ॥

मेरे पतिदेव—आर्यपुत्रके प्रवासका यह कारण आपको विदित हो। उनके दर्शनके सिवा और क्या काम है ? यह मुझे बताइये; जिससे वह पूर्ण किया जाय ॥ ९ ॥

ब्राह्मण उवाच

अनेन निश्चयेनाहं साध्वि सम्प्राप्तवानिह।
प्रतीक्षन्नागमं देवि वत्स्याम्यस्मिन् महावने॥ १० ॥

ब्राह्मणने कहा—सती-साध्वी देवि ! मैं उनके दर्शन करनेका निश्चय करके ही यहाँ आया हूँ; अतः उनके आगमनकी प्रतीक्षा करता हुआ मैं इस महान् वनमें निवास करूँगा ॥ १० ॥

सम्प्राप्तस्यैव चाव्यग्रमावेद्योऽहमिहागतः।
ममाभिगमनं प्राप्तो वाच्यश्च वचनं त्वया॥ ११ ॥

जब नागराज यहाँ आ जायँ, तब उन्हें शान्तभावसे यह बतला देना चाहिये कि मैं यहाँ आया हूँ। तुम्हें ऐसी बात उनसे कहनी चाहिये, जिससे वे मेरे निकट आकर मुझे दर्शन दें ॥ ११ ॥

अहमप्यत्र वत्स्यामि गोमत्याः पुलिने शुभे।
कालं परिमिताहारो यथोक्तं परिपालयन्॥ १२ ॥

मैं भी यहाँ गोमतीके सुन्दर तटपर परिमित आहार करके तुम्हारे बताये हुए समयकी प्रतीक्षा करता हुआ निवास करूँगा ॥ १२ ॥

ततः स विप्रस्तां नागीं समाधाय पुनः पुनः।
तदेव पुलिनं नद्याः प्रययौ ब्राह्मणर्षभः॥ १३ ॥

तदनन्तर वह श्रेष्ठ ब्राह्मण नागपत्नीको बारंबार (नागराज-को भेजनेके लिये) जताकर गोमती नदीके तटपर ही चला गया ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने सप्तपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥३५७॥

अष्टपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजके दर्शनके लिये ब्राह्मणकी तपस्या तथा नागराजके परिवारवालोंका भोजनके लिये ब्राह्मणसे आग्रह करना

भीष्म उवाच

अथ तेन नरश्रेष्ठ ब्राह्मणेन तपस्विना।
निराहारेण वसता दुःखितास्ते भुजङ्गमाः॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर गोमतीके

तटपर रहता हुआ वह ब्राह्मण निराहार रहकर तपस्या करने लगा। उसके भोजन न करनेसे वहाँ रहनेवाले नागोंको बड़ा दुःख हुआ ॥ १ ॥

सर्वे सम्भूय सहिता ह्यस्य नागस्य बान्धवाः।
भ्रातरस्तनया भार्या ययुस्तं ब्राह्मणं प्रति ॥ २ ॥

तब नागराजके भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र सब मिलकर उस ब्राह्मणके पास गये ॥ २ ॥

तेऽपश्यन् पुलिने तं वै विविक्ते नियतव्रतम्।
समासीनं निराहारं द्विजं जप्यपरायणम् ॥ ३ ॥

उन्होंने देखा, ब्राह्मण गोमतीके तटपर एकान्त प्रदेशमें व्रत और नियमके पालनमें तत्पर हो निराहार बैठा हुआ है और मन्त्रका जप कर रहा है ॥ ३ ॥

ते सर्वे समतिक्रम्य विप्रमभ्यर्च्य चासकृत्।
ऊचुर्वाक्यमसंदिग्धमातिथेयस्य बान्धवाः ॥ ४ ॥

अतिथि-सत्कारके लिये प्रसिद्ध हुए नागराजके सब भाई-बन्धु ब्राह्मणके पास जा उसकी बारंबार पूजा करके संदेह-रहित वाणीमें बोले—॥ ४ ॥

षष्ठो हि दिवसस्तेऽद्य प्राप्तस्येह तपोधन।
न चाभिभाषसे किंचिदाहारं धर्मवत्सल ॥ ५ ॥

'धर्मवत्सल तपोधन! आपको यहाँ आये आज छः दिन हो गये; किंतु अभीतक आप कुछ भोजन लानेके लिये हमें आज्ञा नहीं दे रहे हैं ॥ ५ ॥

अस्मानभिगतश्चासि वयं च त्वामुपस्थिताः।
कार्यं चातिथ्यमस्माभिर्वयं सर्वे कुटुम्बिनः ॥ ६ ॥

'आप हमारे घर अतिथिके रूपमें आये हैं और हम आपकी सेवामें उपस्थित हुए हैं। आपका आतिथ्य करना हमारा कर्तव्य है; क्योंकि हम सब लोग गृहस्थ हैं ॥ ६ ॥

मूलं फलं वा पर्णं वा पयो वा द्विजसत्तम।
आहारहेतोरन्नं वा भोक्तुमर्हसि ब्राह्मण ॥ ७ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ब्राह्मणदेव! आप क्षुधाकी निवृत्तिके लिये हमारे लाये हुए फल-मूल, साग, दूध अथवा अन्नको अवश्य ग्रहण करनेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

त्यक्ताहारेण भवता वने निवसता त्वया।
बालवृद्धमिदं सर्वं पीड्यते धर्मसंकटात् ॥ ८ ॥

'इस वनमें रहकर आपने भोजन छोड़ दिया है। इससे हमारे धर्ममें बाधा आती है। बालकसे लेकर वृद्धतक हम सब लोगोंको इस बातसे बड़ा कष्ट हो रहा है ॥ ८ ॥

न हि नो भ्रूणहा कश्चिज्जातापत्यमृतोऽपि वा।
पूर्वाशी वा कुले ह्यस्मिन् देवतातिथिबन्धुषु ॥ ९ ॥

'हमारे इस कुलमें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसने कभी भ्रूणहत्या की हो, जिसकी संतान पैदा होकर मर गयी हो, जिसने मिथ्या भाषण किया हो अथवा जो देवता, अतिथि एवं बन्धुओंको अन्न देनेके पहले ही भोजन कर लेता हो' ॥ ९ ॥

ब्राह्मण उवाच

उपदेशेन युष्माकमाहारोऽयं कृतो मया।
द्विरूनं दशरात्रं वै नागस्यागमनं प्रति ॥ १० ॥

ब्राह्मणने कहा—नागगण! आपलोगोंके इस उपदेशसे ही मैं तृप्त हो गया। आपलोग ऐसा समझें कि मैंने यह आहार ही प्राप्त कर लिया। नागराजके आनेमें केवल आठ रातें बाकी हैं ॥ १० ॥

यद्यष्टरात्रेऽतिक्रान्ते नागमिष्यति पन्नगः।
तदाहारं करिष्यामि तन्निमित्तमिदं व्रतम् ॥ ११ ॥

यदि आठ रात बीत जानेपर भी नागराज नहीं आयेंगे तो मैं भोजन कर लूँगा। उनके आगमनके लिये ही मैंने यह व्रत लिया है ॥ ११ ॥

कर्तव्यो न च संतापो गम्यतां च यथागतम्।
तन्निमित्तमिदं सर्वं नैतद् भेत्तुमिहार्हथ ॥ १२ ॥

आपलोगोंको इसके लिये संताप नहीं करना चाहिये। आप जैसे आये हैं, वैसे ही घर लौट जाइये। नागराजके दर्शनके लिये ही मेरा यह सारा व्रत और नियम है। अतः आपलोग इसे भङ्ग न करें ॥ १२ ॥

ते तेन समनुज्ञाता ब्राह्मणेन भुजङ्गमाः।
स्वमेव भवनं जग्मुरकृतार्था नरर्षभ ॥ १३ ॥

नरश्रेष्ठ! उस ब्राह्मणके इस प्रकार आदेश देनेपर वे नाग अपने प्रयत्नमें असफल हो घरको ही लौट गये ॥ १३ ॥

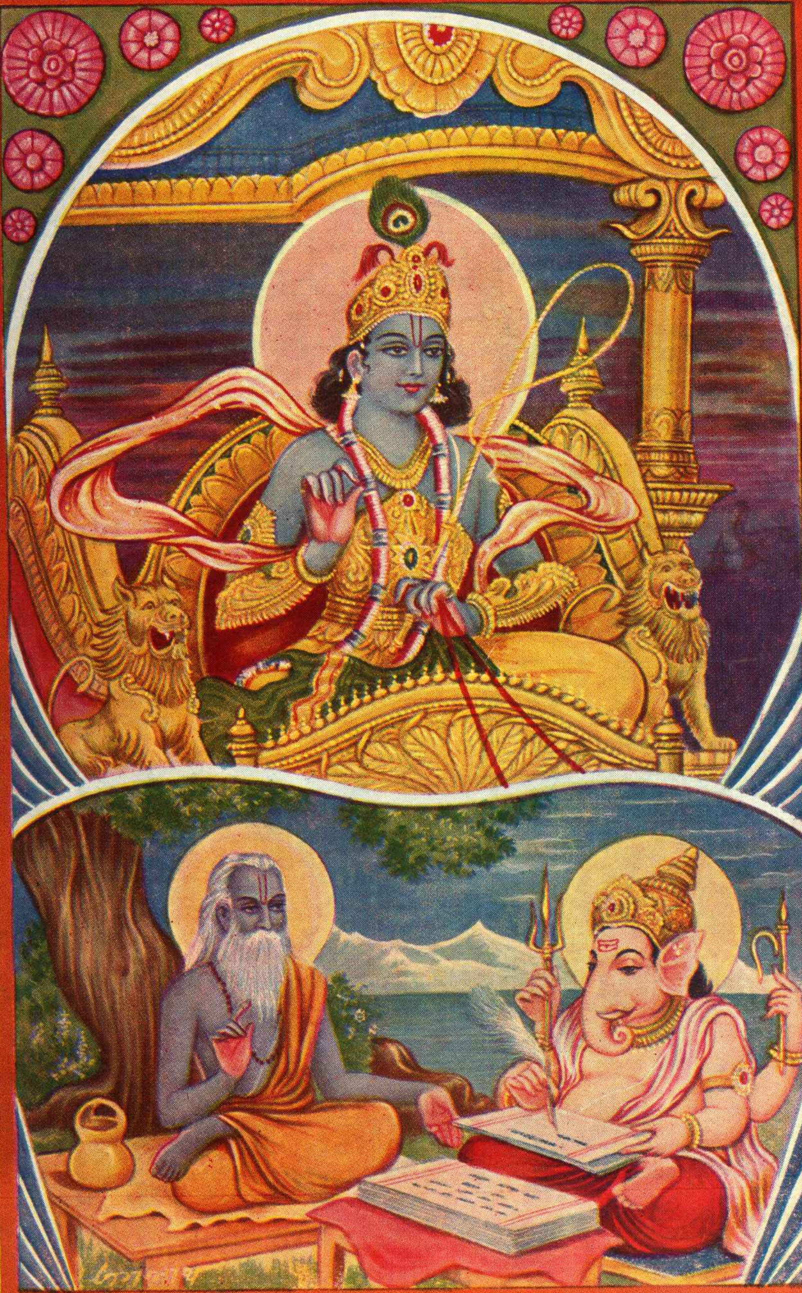
इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने अष्टपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५८ ॥

महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद



संस्कृत मूल

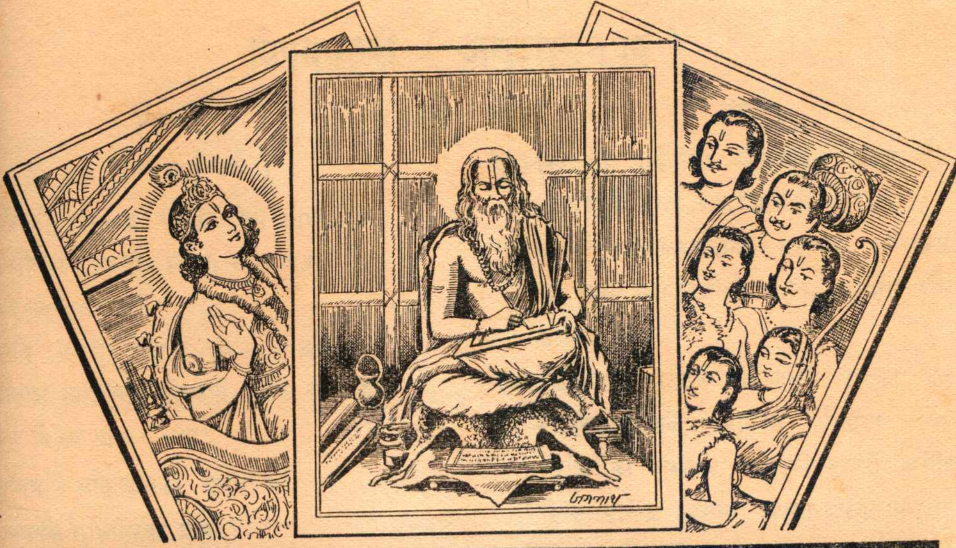
हिन्दी अनुवाद

वर्ष ३

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या ४

ॐ श्रीपरमात्मने नमः



महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष ३ | गोरखपुर, माघ २०१४, फरवरी १९५८ | संख्या ४ पूर्ण संख्या २८

ध्येय श्रीकृष्ण

श्रीकृष्णं सच्चिदानन्दं ज्ञेयं ध्येयार्च्यविग्रहम् ।
वन्दे वेदान्ततात्पर्यं भक्तवत्सलमद्भुतम् ॥
सर्वसाधनसम्पन्नोऽप्यात्मतत्त्वविचारवान् ।
दृष्टदुःखनिवृत्त्यर्थं ध्यानं कुर्याद्धरेः सदा ॥

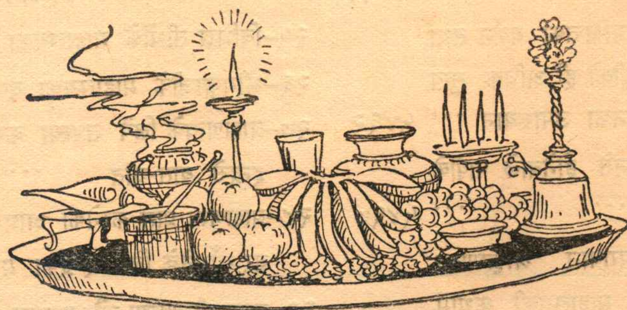
जो सच्चिदानन्दघनस्वरूप एवं जानने योग्य हैं, जिनका श्रीविग्रह ध्यान और पूजनके योग्य है तथा जो वेदान्तके चरम तात्पर्य हैं; उन अद्भुत वैभवशाली भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ । आत्म-तत्त्वके विचारमें निपुण तथा सर्वसाधनसम्पन्न पुरुषको भी उचित है कि वह दृष्ट दुःखकी निवृत्तिके लिये सदा श्रीहरिका ध्यान करे ।

वार्षिक मूल्य		एक प्रतिका
भारतमें २०)	सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार	भारतमें २)
विदेशमें २६॥)	टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'	विदेशमें २॥)
(४० शिलिंग)	मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर	(४ शिलिंग)

* श्रीहरिः *

विषय-सूची (अनुशासनपर्व)

चित्र-सूची







देवाधिदेव भगवान् शङ्कर

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

अनुशासनपर्व

(दानधर्मपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको सान्त्वना देनेके लिये भीष्मजीके द्वारा गौतमी ब्राह्मणी, व्याध, सर्प, मृत्यु और कालके संवादका वर्णन

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

युधिष्ठिर उवाच

शमो बहुविधाकारः सूक्ष्म उक्तः पितामह।
न च मे हृदये शान्तिरस्ति श्रुत्वेदमीदृशम्॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! आपने नाना प्रकारसे शान्तिके सूक्ष्म स्वरूपका (शोकसे मुक्त होनेके विविध उपायोंका) वर्णन किया; परंतु आपका यह ऐसा उपदेश सुनकर भी मेरे हृदयमें शान्ति नहीं है ॥ १॥

अस्मिन्नर्थे बहुविधा शान्तिरुक्ता पितामह।
स्वकृते का नु शान्तिः स्याच्छमाद् बहुविधादपि॥ २॥

दादाजी ! आपने इस विषयमें शान्तिके बहुत-से उपाय बताये, परंतु इन नाना प्रकारके शान्तिदायक उपायोंको सुनकर भी स्वयं ही किये गये अपराधसे मनको शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ॥ २॥

शराचितशरीरं हि तीव्रव्रणमुदीक्ष्य च।
शर्म नोपलभे वीर दुष्कृतान्येव चिन्तयन्॥ ३॥

वीरवर ! बाणोंसे भरे हुए आपके शरीर और इसके गहरे घावको देखकर मैं बार-बार अपने पापोंका ही चिन्तन करता हूँ; अतः मुझे तनिक भी चैन नहीं मिलता है ॥ ३॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रस्रवन्तं यथाचलम्।
त्वां दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्र सीदे वर्षास्विवाम्बुजम्॥ ४॥

पुरुषसिंह ! पर्वतसे गिरनेवाले झरनेकी तरह आपके शरीरसे रक्तकी धारा बह रही है—आपके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहे हैं। इस अवस्थामें आपको देखकर मैं वर्षा-कालके कमलकी तरह गला (दुखित होता) जाता हूँ ॥

अतः कष्टतरं किं नु मत्कृते यत् पितामहः।
इमामवस्थां गमितः प्रत्यमित्रै रणाजिरे॥ ५॥

मेरे ही कारण समराङ्गणमें शत्रुओंने जो पितामहको इस अवस्थामें पहुँचा दिया, इससे बढ़कर कष्टकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ ५॥

तथा चान्ये नृपतयः सहपुत्राः सबान्धवाः।
मत्कृते निधनं प्राप्ताः किं नु कष्टतरं ततः॥ ६॥

आपके सिवा और भी बहुत-से नरेश मेरे ही कारण अपने पुत्रों और बान्धवोंसहित युद्धमें मारे गये हैं। इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या होगी ? ॥ ६॥

वयं हि धार्तराष्ट्राश्च कालमन्युवशंगताः।
कृत्वेदं निन्दितं कर्म प्राप्स्यामः कां गतिं नृप॥ ७॥

नरेश्वर ! हम पाण्डव और धृतराष्ट्रके सभी पुत्र काल और क्रोधके वशीभूत हो यह निन्दित कर्म करके न जाने किस दुर्गतिको प्राप्त होंगे ! ॥ ७॥

इदं तु धार्तराष्ट्रस्य श्रेयो मन्ये जनाधिप।
इमामवस्थां सम्प्राप्तं यदसौ त्वां न पश्यति॥ ८॥

नरेश्वर ! मैं राजा दुर्योधनके लिये उसकी मृत्युको श्रेष्ठ समझता हूँ, जिससे कि वह आपको इस अवस्थामें पड़ा हुआ नहीं देखता है॥ ८॥

सोऽहं तव ह्यन्तकरः सुहृद्वधकरस्तथा।
न शान्तिमधिगच्छामि पश्यंस्त्वां दुःखितं क्षितौ॥ ९॥

मैं ही आपके जीवनका अन्त करनेवाला हूँ और मैं ही दूसरे-दूसरे सुहृदोंका भी वध करनेवाला हूँ। आपको इस दुःखमयी दुरवस्थामें भूमिपर पड़ा देख मुझे शान्ति नहीं मिलती है॥ ९॥

दुर्योधनो हि समरे सहसैन्यः सहानुजः।
निहतः क्षत्रधर्मेऽस्मिन् दुरात्मा कुलपांसनः॥ १०॥

दुरात्मा एवं कुलाङ्गार दुर्योधन सेना और बन्धुओंसहित क्षत्रियधर्मके अनुसार होनेवाले इस युद्धमें मारा गया॥ १०॥

न स पश्यति दुष्टात्मा त्वामद्य पतितं क्षितौ।
अतः श्रेयो मृतं मन्ये नेह जीवितमात्मनः॥ ११॥

वह दुष्टात्मा आज आपको इस तरह भूमिपर पड़ा हुआ नहीं देख रहा है, अतः उसकी मृत्युको ही मैं यहाँ श्रेष्ठ मानता हूँ; किंतु अपने इस जीवनको नहीं॥ ११॥

अहं हि समरे वीर गमितः शत्रुभिः क्षयम्।
अभविष्यं यदि पुरा सह भ्रातृभिरच्युत॥ १२॥
न त्वामेवं सुदुःखार्तमद्राक्षं सायकार्दितम्।

अपनी मर्यादासे कभी नीचे न गिरनेवाले वीरवर ! यदि भाइयोंसहित मैं शत्रुओंद्वारा पहले ही युद्धमें मार डाला गया होता तो आपको इस प्रकार सायकोंसे पीड़ित और अत्यन्त दुःखसे आतुर अवस्थामें नहीं देखता॥ १२½॥

नूनं हि पापकर्माणो धात्रा सृष्टाः स्म हे नृप॥ १३॥
अन्यस्मिन्नपि लोके वै यथा मुच्येम किल्बिषात्।
तथा प्रशाधि मां राजन् मम चेदिच्छसि प्रियम्॥ १४॥

नरेश्वर ! निश्चय ही विधाताने हमें पापी ही रचा है। राजन् ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे परलोकमें भी मुझे इस पापसे छुटकारा मिल सके॥ १३-१४॥

भीष्म उवाच

परतन्त्रं कथं हेतुमात्मानमनुपश्यसि।
कर्मणां हि महाभाग सूक्ष्मं ह्येतदतीन्द्रियम्॥ १५॥

भीष्मजी कहते हैं—महाभाग ! तुम तो सदा परतन्त्र हो (काल, अदृष्ट और ईश्वरके अधीन हो), फिर अपनेको शुभाशुभ कर्मोंका कारण क्यों समझते हो ? वास्तवमें कर्मोंका कारण क्या है, यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म तथा इन्द्रियोंकी पहुँचसे बाहर है॥ १५॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं मृत्युगौतम्योः काललुब्धकपन्नगैः॥ १६॥

इस विषयमें विद्वान् पुरुष गौतमी ब्राह्मणी, व्याध, सर्प, मृत्यु और कालके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ १६॥

गौतमी नाम कौन्तेय स्थविरा शमसंयुता।
सर्पेण दष्टं स्वं पुत्रमपश्यद्‌गतचेतनम्॥ १७॥

कुन्तीनन्दन ! पूर्वकालमें गौतमी नामवाली एक बूढ़ी ब्राह्मणी थी, जो शान्तिके साधनमें संलग्न रहती थी। एक दिन उसने देखा, उसके इकलौते बेटेको साँपने डँस लिया और उसकी चेतनाशक्ति लुप्त हो गयी॥ १७॥

अथ तं स्नायुपाशेन बद्ध्वा सर्पममर्षितः।
लुब्धकोऽर्जुनको नाम गौतम्याः समुपानयत्॥ १८॥

इतनेहीमें अर्जुनक नामवाले एक व्याधने उस साँपको ताँतके फाँसमें बाँध लिया और अमर्षवश वह उसे गौतमीके पास ले आया॥ १८॥

स चाब्रवीदयं ते स पुत्रहा पन्नगाधमः।
ब्रूहि क्षिप्रं महाभागे वध्यतां केन हेतुना॥ १९॥

लाकर उसने कहा—'महाभागे ! यही वह नीच सर्प है, जिसने तुम्हारे पुत्रको मार डाला है। जल्दी बताओ, मैं किस तरह इसका वध करूँ ?॥ १९॥

अग्नौ प्रक्षिप्यतामेष च्छिद्यतां खण्डशोऽपि वा।
न ह्ययं बालहा पापश्चिरं जीवितुमर्हति॥ २०॥

'मैं इसे आगमें झोंक दूँ या इसके टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ ? बालककी हत्या करनेवाला यह पापी सर्प अब अधिक समयतक जीवित रहने योग्य नहीं है'॥ २०॥

गौतम्युवाच

विसृजैनमबुद्धिस्त्वमवध्योऽर्जुनक त्वया।
को ह्यात्मानं गुरुं कुर्यात् प्राप्तव्यमविचिन्तयन्॥ २१॥

गौतमी बोली—अर्जुनक ! छोड़ दे इस सर्पको। तू अभी नादान है। तुझे इस सर्पको नहीं मारना चाहिये। होनहारको कोई टाल नहीं सकता—इस बातको जानते हुए भी इसकी उपेक्षा करके कौन अपने ऊपर पापका भारी बोझ लादेगा ?॥ २१॥

प्लवन्ते धर्मलघवो लोकेऽम्भसि यथा प्लवाः।
मज्जन्ति पापगुरवः शस्त्रं स्कन्नमिवोदके॥ २२॥

संसारमें धर्माचरण करके जो अपनेको हल्के रखते हैं (अपने ऊपर पापका भारी बोझ नहीं लादते हैं), वे पानीके

ऊपर चलनेवाली नौकाके समान भवसागरसे पार हो जाते हैं; परंतु जो पापके बोझसे अपनेको बोझिल बना लेते हैं, वे जलमें फेंके हुए हथियारकी भाँति नरक-समुद्रमें डूब जाते हैं ॥

हत्वा चैनं नामृतः स्यादयं मे
जीवत्यस्मिन् कोऽत्ययः स्यादयं ते ।
अस्योत्सर्गे प्राणयुक्तस्य जन्तो-
र्मृत्योर्लोकं को नु गच्छेदनन्तम् ॥ २३ ॥

इसको मार डालनेसे मेरा यह पुत्र जीवित नहीं हो सकता और इस सर्पके जीवित रहनेपर भी तुम्हारी क्या हानि हो सकती है ? ऐसी दशामें इस जीवित प्राणीके प्राणोंका नाश करके कौन यमराजके अनन्त लोकमें जाय ? ॥ २३ ॥

लुब्धक उवाच

जानाम्यहं देवि गुणागुणज्ञे
सर्वार्तियुक्ता गुरवो भवन्ति ।
स्वस्थस्यैते तूपदेशा भवन्ति
तस्मात् क्षुद्रं सर्पमेनं हनिष्ये ॥ २४ ॥

व्याधने कहा—गुण और अवगुणको जाननेवाली देवि ! मैं जानता हूँ कि बड़े-बूढ़े लोग किसी भी प्राणीको कष्टमें पड़ा देख इसी तरह दुखी हो जाते हैं। परंतु ये उपदेश तो स्वस्थ पुरुषके लिये हैं (दुखी मनुष्यके मनपर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता) । अतः मैं इस नीच सर्पको अवश्य मार डालूँगा ॥ २४ ॥

शमार्थिनः कालगतिं वदन्ति
सद्यः शुचं त्वर्थविदस्त्यजन्ति ।
श्रेयःक्षयं शोचति नित्यमोहात्
तस्माच्छुचं मुञ्च हते भुजङ्गे ॥ २५ ॥

शान्ति चाहनेवाले पुरुष कालकी गति बताते हैं (अर्थात् कालने ही इसका नाश कर दिया है, ऐसा कहते हुए शोकका त्याग करके संतोष धारण करते हैं) । परंतु जो अर्थवेत्ता हैं—बदला लेना जानते हैं, वे शत्रुका नाश करके तुरंत ही शोक छोड़ देते हैं । दूसरे लोग श्रेयका नाश होनेपर मोहवश सदा उसके लिये शोक करते रहते हैं; अतः इस शत्रुभूत सर्पके मारे जानेपर तुम भी तत्काल ही अपने पुत्र-शोकको त्याग देना ॥ २५ ॥

गौतम्युवाच

आर्तिर्नैवं विद्यतेऽस्मद्विधानां
धर्मात्मानः सर्वदा सज्जना हि ।
नित्यायस्तो बालकोऽप्यस्य तस्मा-
दीशो नाहं पन्नगस्य प्रमाथे ॥ २६ ॥

गौतमी बोली—अर्जुनक ! हम-जैसे लोगोंको कभी किसी तरहकी हानिसे भी पीड़ा नहीं होती । धर्मात्मा सज्जन पुरुष सदा धर्ममें ही लगे रहते हैं। मेरा यह बालक सर्वथा मरनेहीवाला था; इसलिये मैं इस सर्पको मारनेमें असमर्थ हूँ ॥ २६ ॥

न ब्राह्मणानां कोपोऽस्ति कुतः कोपाच्च यातनाम् ।
मार्दवात् क्षम्यतां साधो मुच्यतामेष पन्नगः ॥ २७ ॥

ब्राह्मणोंको क्रोध नहीं होता; फिर वे क्रोधवश दूसरोंको पीड़ा कैसे दे सकते हैं; अतः साधो ! तू भी कोमलताका आश्रय लेकर इस सर्पके अपराधको क्षमा कर और इसे छोड़ दे ।२७।

लुब्धक उवाच

हत्वा लाभः श्रेय एवाव्ययः स्या-
ल्लभ्यो लाभः स्याद् बलिभ्यः प्रशस्तः ।
कालाल्लाभो यस्तु सत्यो भवेत
श्रेयोलाभः कुत्सितेऽस्मिन्न ते स्यात् ॥ २८ ॥

व्याधने कहा—देवि ! इस सर्पको मार डालनेसे जो बहुतोंका भला होगा, यही अक्षय लाभ है। बलवानोंसे बलपूर्वक लाभ उठाना ही उत्तम लाभ है । कालसे जो लाभ होता है, वही सच्चा लाभ है । इस नीच सर्पके जीवित रहनेसे तुम्हें कोई श्रेय नहीं मिल सकता ॥ २८ ॥

गौतम्युवाच

का नु प्राप्तिर्गृह्य शत्रुं निहत्य
का कामाप्तिः प्राप्य शत्रुं न मुक्त्वा ।
कस्मात् सौम्याहं न क्षमे नो भुजङ्गे
मोक्षार्थं वा कस्य हेतोर्न कुर्याम् ॥ २९ ॥

गौतमी बोली—अर्जुनक ! शत्रुको कैद करके उसे मार डालनेसे क्या लाभ होता है तथा शत्रुको अपने हाथमें पाकर उसे न छोड़नेसे किस अभीष्ट मनोरथकी प्राप्ति हो जाती है ? सौम्य ! क्या कारण है कि मैं इस सर्पके अपराधको क्षमा न करूँ ? तथा किसलिये इसको छुटकारा दिलानेका प्रयत्न न करूँ ? ॥ २९ ॥

लुब्धक उवाच

अस्मादेकाद् बहवो रक्षितव्या
नैको बहुभ्यो गौतमि रक्षितव्यः ।
कृतागसं धर्मविदस्त्यजन्ति
सरीसृपं पापमिमं जहि त्वम् ॥ ३० ॥

व्याधने कहा—गौतमी! इस एक सर्पसे बहुतेरे मनुष्यों-के जीवनकी रक्षा करनी चाहिये । (क्योंकि यदि यह जीवित रहा तो बहुतोंको काटेगा ।) अनेकोंकी जान लेकर एककी रक्षा करना कदापि उचित नहीं है । धर्मज्ञ पुरुष अपराधीको त्याग देते हैं; इसलिये तुम भी इस पापी सर्पको मार डालो ॥

गौतम्युवाच

नास्मिन् हते पन्नगे पुत्रको मे
सम्प्राप्स्यते लुब्धक जीवितं वै ।

गुणं चान्यं नास्य वधे प्रपश्ये
तस्मात् सर्प लुब्धक मुञ्च जीवम् ॥ ३१ ॥

गौतमी बोली—व्याध ! इस सर्पके मारे जानेपर मेरा पुत्र पुनः जीवन प्राप्त कर लेगा, ऐसी बात नहीं है । इसका वध करनेसे दूसरा कोई लाभ भी मुझे नहीं दिखायी देता है । इसलिये इस सर्पको तुम जीवित छोड़ दो ॥ ३१ ॥

लुब्धक उवाच

वृत्रं हत्वा देवराट् श्रेष्ठभाग् वै
यज्ञं हत्वा भागमवाप चैव ।
शूली देवो देववृत्तं चर त्वं
क्षिप्रं सर्पं जहि मा भूत् ते विशङ्का॥ ३२॥

व्याधने कहा—देवि ! वृत्रासुरका वध करके देवराज इन्द्र श्रेष्ठ पदके भागी हुए और त्रिशूलधारी रुद्रदेवने दक्षके यज्ञका विध्वंस करके उसमें अपने लिये भाग प्राप्त किया । तुम भी देवताओंद्वारा किये गये इस बर्तावका ही पालन करो । इस सर्पको शीघ्र ही मार डालो । इस कार्यमें तुम्हें शङ्का नहीं करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

भीष्म उवाच

असकृत् प्रोच्यमानापि गौतमी भुजगं प्रति ।
लुब्धकेन महाभागा पापे नैवाकरोन्मतिम् ॥ ३३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! व्याधके बार-बार कहने और उकसानेपर भी महाभागा गौतमीने सर्पको मारनेका विचार नहीं किया ॥ ३३ ॥

ईषदुच्छ्वसमानस्तु कृच्छ्रात् संस्तभ्य पन्नगः ।
उत्ससर्ज गिरं मन्दां मानुषीं पाशपीडितः ॥ ३४ ॥

उस समय बन्धनसे पीड़ित होकर धीरे-धीरे साँस लेता हुआ वह साँप बड़ी कठिनाईसे अपनेको सँभालकर मन्द-स्वरसे मनुष्यकी वाणीमें बोला ॥ ३४ ॥

सर्प उवाच

को न्वर्जुनक दोषोऽत्र विद्यते मम बालिश ।
अस्वतन्त्रं हि मां मृत्युर्विवशं यदचूचुदत् ॥ ३५ ॥

सर्पने कहा—ओ नादान अर्जुनक ! इसमें मेरा क्या दोष है ? मैं तो पराधीन हूँ । मृत्युने मुझे विवश करके इस कार्यके लिये प्रेरित किया था ॥ ३५ ॥

तस्यायं वचनाद् दष्टो न कोपेन न काम्यया ।
तस्य तत्किल्बिषं लुब्ध विद्यते यदि किल्बिषम् ॥ ३६ ॥

उसके कहनेसे ही मैंने इस बालकको डँसा है, क्रोधसे और कामनासे नहीं । व्याध ! यदि इसमें कुछ अपराध है तो वह मेरा नहीं, मृत्युका है ॥ ३६ ॥

लुब्धक उवाच

यद्यन्यवशगेनेदं कृतं ते पन्नगाशुभम् ।
कारणं वै त्वमप्यत्र तस्मात् त्वमपि किल्बिषी॥ ३७ ॥

व्याधने कहा—ओ सर्प ! यद्यपि तूने दूसरेके अधीन होकर यह पाप किया है तथापि तू भी तो इसमें कारण है ही; इसलिये तू भी अपराधी है ॥ ३७ ॥

मृत्पात्रस्य क्रियायां हि दण्डचक्रादयो यथा ।
कारणत्वे प्रकल्प्यन्ते तथा त्वमपि पन्नग ॥ ३८ ॥

सर्प ! जैसे मिट्टीका बर्तन बनाते समय दण्ड और चाक आदिको भी उसमें कारण माना जाता है, उसी प्रकार तू भी इस बालकके वधमें कारण है ॥ ३८ ॥

किल्बिषी चापि मे वध्यः किल्बिषी चासि पन्नग ।
आत्मानं कारणं ह्यत्र त्वमाख्यासि भुजङ्गम ॥ ३९ ॥

भुजङ्गम ! जो भी अपराधी हो, वह मेरे लिये वध्य है; पन्नग ! तू भी अपराधी है ही; क्योंकि तू स्वयं अपने आपको इसके वधमें कारण बताता है ॥ ३९ ॥

सर्प उवाच

सर्वे एते ह्यस्ववशा दण्डचक्रादयो यथा ।
तथाहमपि तस्मान्मे नैष दोषो मतस्तव ॥ ४० ॥

सर्पने कहा—व्याध ! जैसे मिट्टीका बर्तन बनानेमें ये दण्ड-चक्र आदि सभी कारण पराधीन होते हैं, उसी प्रकार मैं भी मृत्युके अधीन हूँ; इसलिये तुमने जो मुझपर दोष लगाया है, वह ठीक नहीं है ॥ ४० ॥

अथवा मतमेतत्ते तेऽप्यन्योन्यप्रयोजकाः ।
कार्यकारणसंदेहो भवत्यन्योन्यचोदनात् ॥ ४१ ॥

अथवा यदि तुम्हारा यह मत हो कि ये दण्ड-चक्र आदि भी एक दूसरेके प्रयोजक होते हैं, इसलिये कारण हैं ही, किंतु ऐसा माननेसे एक दूसरेको प्रेरणा देनेवाला होनेके कारण कार्य-कारणभावके निर्णयमें संदेह हो जाता है ॥ ४१ ॥

एवं सति न दोषो मे नास्मि वध्यो न किल्बिषी ।
किल्बिषं समवाये स्यान्मन्यसे यदि किल्बिषम् ॥ ४२ ॥

ऐसी दशामें न तो मेरा कोई दोष है और न मैं वध्य अथवा अपराधी ही हूँ । यदि तुम किसीका अपराध समझते हो तो वह सारे कारणोंके समूहपर ही लागू होता है ॥ ४२ ॥

लुब्धक उवाच

कारणं यदि न स्याद् वै न कर्ता स्यास्त्वमप्युत ।
विनाशकारणं त्वं च तस्माद् वध्योऽसि मे मतः॥ ४३ ॥

व्याधने कहा—सर्प ! यदि मान भी लें कि तू अपराधका न तो कारण है और न कर्ता ही है तो भी इस बालककी मृत्यु तो तेरे ही कारण हुई है, इसलिये मैं तुझे मारने योग्य समझता हूँ ॥ ४३ ॥

असत्यपि कृते कार्ये नेह पन्नग लिप्यते ।
तस्मान्नात्रैव हेतुः स्याद् वध्यः किं बहु भाषसे ॥ ४४ ॥

सर्प ! तेरे मतके अनुसार यदि दुष्टतापूर्ण कार्य करके भी कर्ता उस दोषसे लिप्त नहीं होता है, तब तो चोर या हत्यारे

आदि जो अपने अपराधोंके कारण राजाओंके यहाँ वध्य होते हैं, उन्हें भी वास्तवमें अपराधी या दोषका भागी नहीं होना चाहिये। (फिर तो पाप और उसका दण्ड भी व्यर्थ ही होगा) अतः तू क्यों बहुत बकवाद कर रहा है ॥ ४४ ॥

सर्प उवाच

कार्याभावे क्रिया न स्यात् सत्यसत्यपि कारणे।
तस्मात् समेऽस्मिन् हेतौ मे वाच्यो हेतुर्विशेषतः॥ ४५॥
यद्यहं कारणत्वेन मतो लुब्धक तत्त्वतः।
अन्यः प्रयोगे स्यादत्र किल्बिषी जन्तुनाशने॥ ४६॥

सर्पने कहा—व्याध! प्रयोजक (प्रेरक) कर्ता रहे या न रहे, प्रयोज्य कर्ताके बिना क्रिया नहीं होती; इसलिये यहाँ यद्यपि हमलोग (मैं और मृत्यु) समानरूपसे हेतु हैं तो भी प्रयोजक होनेके कारण मृत्युपर ही विशेषरूपसे यह अपराध लगाया जा सकता है। यदि तुम मुझे इस बालककी मृत्युका वस्तुतः कारण मानते हो तो यह तुम्हारी भूल है। वास्तवमें विचार करनेपर प्रेरणा करनेके कारण दूसरा ही (मृत्यु ही) अपराधी सिद्ध होगा; क्योंकि वही प्राणियोंके विनाशमें अपराधी है ॥ ४५-४६ ॥

लुब्धक उवाच

वध्यस्त्वं मम दुर्बुद्धे बालघाती नृशंसकृत्।
भाषसे किं बहु पुनर्वध्यः सन् पन्नगाधम॥ ४७॥

व्याधने कहा—खोटी बुद्धिवाले नीच सर्प! तू बाल-हत्यारा और क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाला है; अतः निश्चय ही मेरे हाथसे वधके योग्य है। तू वध्य होकर भी अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेके लिये क्यों बहुत बातें बना रहा है? ।४७।

सर्प उवाच

यथा हवींषि जुह्वाना मखे वै लुब्धकर्त्विजः।
न फलं प्राप्नुवन्त्यत्र फलयोगे तथा ह्यहम्॥ ४८॥

सर्पने कहा—व्याध! जैसे यजमानके यहाँ यज्ञमें ऋत्विज लोग अग्निमें आहुति डालते हैं; किंतु उसका फल उन्हें नहीं मिलता। इसी प्रकार इस अपराधके फल या दण्डको भोगनेमें मुझे नहीं सम्मिलित करना चाहिये (क्योंकि वास्तवमें मृत्यु ही अपराधी है) ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

तथा ब्रुवति तस्मिंस्तु पन्नगे मृत्युचोदिते।
आजगाम ततो मृत्युः पन्नगं चाब्रवीदिदम्॥ ४९॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! मृत्युकी प्रेरणासे बालकको डँसनेवाला सर्प जब बारंबार अपनेको निर्दोष और मृत्युको दोषी बताने लगा, तब मृत्यु देवता भी वहाँ आ पहुँचा और सर्पसे इस प्रकार बोला ॥ ४९ ॥

मृत्युरुवाच

प्रचोदितोऽहं कालेन पन्नग त्वामचूचुदम्।
विनाशहेतुर्नास्य त्वमहं न प्राणिनः शिशोः॥ ५०॥

मृत्युने कहा—सर्प! कालसे प्रेरित होकर ही मैंने तुझे इस बालकको डँसनेके लिये प्रेरणा दी थी; अतः इस शिशुप्राणीके विनाशमें न तो तू कारण है और न मैं ही कारण हूँ ॥ ५० ॥

यथा वायुर्जलधरान् विकर्षति ततस्ततः।
तद्वज्जलदवत् सर्प कालस्याहं वशानुगः॥ ५१॥

सर्प! जैसे हवा बादलोंको इधर-उधर उड़ा ले जाती है, उन बादलोंकी ही भाँति मैं भी कालके वशमें हूँ ॥५१॥

सात्त्विका राजसाश्चैव तामसा ये च केचन।
भावाः कालात्मकाः सर्वे प्रवर्तन्ते ह जन्तुषु॥ ५२॥

सात्त्विक, राजस और तामस जितने भी भाव हैं, वे सब कालात्मक हैं और कालकी ही प्रेरणासे प्राणियोंको प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

जङ्गमाः स्थावराश्चैव दिवि वा यदि वा भुवि।
सर्वे कालात्मकाः सर्प कालात्मकमिदं जगत्॥ ५३॥

सर्प! पृथ्वी अथवा स्वर्गलोकमें जितने भी स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं, वे सभी कालके अधीन हैं। यह सारा जगत् ही कालस्वरूप है ॥ ५३ ॥

प्रवृत्तयश्च लोकेऽस्मिंस्तथैव च निवृत्तयः।
तासां विकृतयो याश्च सर्वं कालात्मकं स्मृतम्॥ ५४॥

इस लोकमें जितने प्रकारकी प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा उनकी विकृतियाँ (फल) हैं, ये सब कालके ही स्वरूप हैं ॥५४॥

आदित्यश्चन्द्रमा विष्णुरापो वायुः शतक्रतुः।
अग्निः खं पृथिवी मित्रः पर्जन्यो वसवोऽदितिः॥ ५५॥
सरितः सागराश्चैव भावाभावौ च पन्नग।
सर्वे कालेन सृज्यन्ते ह्रियन्ते च पुनः पुनः॥ ५६॥

पन्नग! सूर्य, चन्द्रमा, जल, वायु, इन्द्र, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, मित्र, पर्जन्य, वसु, अदिति, नदी, समुद्र तथा भाव और अभाव—ये सभी कालके द्वारा ही रचे जाते हैं और काल ही इनका संहार कर देता है ॥ ५५-५६ ॥

एवं ज्ञात्वा कथं मां त्वं सदोषं सर्प मन्यसे।
अथ चैवंगते दोषे मयि त्वमपि दोषवान्॥ ५७॥

सर्प! यह सब जानकर भी तुम मुझे कैसे दोषी मानते हो? और यदि ऐसी स्थितिमें भी मुझपर दोषारोपण हो सकता है, तब तो तू भी दोषी ही है ॥ ५७ ॥

सर्प उवाच

निर्दोषं दोषवन्तं वा न त्वां मृत्यो ब्रवीम्यहम्।
त्वयाहं चोदित इति ब्रवीम्येतावदेव तु॥ ५८॥

सर्पने कहा—मृत्यो! मैं तुम्हें न तो निर्दोष बताता हूँ और न दोषी ही। मैं तो इतना ही कह रहा हूँ कि इस बालकको डँसनेके लिये तूने ही मुझे प्रेरित किया था ॥५८॥

यदि काले तु दोषोऽस्ति यदि तत्रापि नेष्यते ।
दोषो नैव परीक्ष्यो मे न ह्यत्राधिकृता वयम् ॥ ५९ ॥

इस विषयमें यदि कालका दोष है अथवा यदि वह भी निर्दोष है तो हो, मुझे किसीके दोषकी जाँच नहीं करनी है और जाँच करनेका मुझे कोई अधिकार भी नहीं है ॥ ५९ ॥

निर्मोक्षस्त्वस्य दोषस्य मया कार्यो यथा तथा ।
मृत्योरपि न दोषः स्यादिति मेऽत्र प्रयोजनम् ॥ ६० ॥

परंतु मेरे ऊपर जो दोष लगाया गया है, उसका निवारण तो मुझे जैसे-तैसे करना ही है। मेरे कहनेका यह प्रयोजन नहीं है कि मृत्युका भी दोष सिद्ध हो जाय ॥ ६० ॥

भीष्म उवाच

सर्पोऽथार्जुनकं प्राह श्रुतं ते मृत्युभाषितम् ।
नानागसं मां पाशेन संतापयितुमर्हसि ॥ ६१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सर्पने अर्जुनकसे कहा—'तुमने मृत्युकी बात तो सुन ली न? अब मुझ निरपराधको बन्धनमें बाँधकर कष्ट देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ ६१ ॥

लुब्धक उवाच

मृत्योः श्रुतं मे वचनं तव चैव भुजङ्गम ।
नैव तावददोषत्वं भवति त्वयि पन्नग ॥ ६२ ॥

व्याधने कहा—पन्नग! मैंने मृत्युकी और तेरी—दोनों-की बातें सुन लीं; किंतु भुजङ्गम! इससे तेरी निर्दोषता नहीं सिद्ध हो रही है ॥ ६२ ॥

मृत्युस्त्वं चैव हेतुर्हि बालस्यास्य विनाशने ।
उभयं कारणं मन्ये न कारणमकारणम् ॥ ६३ ॥

इस बालकके विनाशमें तू और मृत्यु—दोनों ही कारण हो; अतः मैं दोनोंको ही कारण या अपराधी मानता हूँ, किसी एकको अपराधी या निरपराध नहीं मानता ॥ ६३ ॥

धिङ्मृत्युं च दुरात्मानं क्रूरं दुःखकरं सताम् ।
त्वां चैवाहं वधिष्यामि पापं पापस्य कारणम् ॥ ६४ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंको दुःख देनेवाले इस क्रूर एवं दुरात्मा मृत्युको धिक्कार है और तू तो इस पापका कारण है ही; इसलिये तुझ पापात्माका वध मैं अवश्य करूँगा ॥ ६४ ॥

मृत्युरुवाच

विवशौ कालवशगावावां निर्दिष्टकारिणौ ।
नावां दोषेण गन्तव्यौ यदि सम्यक् प्रपश्यसि ॥ ६५ ॥

मृत्युने कहा—व्याध! हम दोनों कालके अधीन होनेके कारण विवश हैं। हम तो केवल उसके आदेशका पालनमात्र करते हैं। यदि तुम अच्छी तरह विचार करोगे तो हमलोगोंपर दोषारोपण नहीं करोगे ॥ ६५ ॥

लुब्धक उवाच

युवामुभौ कालवशौ यदि मे मृत्युपन्नगौ ।
हर्षक्रोधौ यथा स्यातामेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ६६ ॥

व्याधने कहा—मृत्यु और सर्प! यदि तुम दोनों कालके अधीन हो तो मुझ तटस्थ व्यक्तिको परोपकारीके प्रति हर्ष और दूसरोंका अपकार करनेवाले तुम दोनोंपर क्रोध क्यों होता है, यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ ६६ ॥

मृत्युरुवाच

या काचिदेव चेष्टा स्यात् सर्वा कालप्रचोदिता ।
पूर्वमेवैतदुक्तं हि मया लुब्धक कालतः ॥ ६७ ॥

मृत्युने कहा—व्याध! जगत्‌में जो कोई भी चेष्टा हो रही है, वह सब कालकी प्रेरणासे ही होती है। यह बात मैंने तुमसे पहले ही बता दी है ॥ ६७ ॥

तस्मादुभौ कालवशावावां निर्दिष्टकारिणौ ।
नावां दोषेण गन्तव्यौ त्वया लुब्धक कर्हिचित् ॥ ६८ ॥

अतः व्याध! हम दोनोंको कालके अधीन और कालके ही आदेशका पालक समझकर तुम्हें कभी हमारे ऊपर दोषा-रोपण नहीं करना चाहिये ॥ ६८ ॥

भीष्म उवाच

अथोपगम्य कालस्तु तस्मिन् धर्मार्थसंशये ।
अब्रवीत् पन्नगं मृत्युं लुब्धं चार्जुनकं तथा ॥ ६९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर धार्मिक विषयमें संदेह उपस्थित होनेपर काल भी वहाँ आ पहुँचा तथा सर्प, मृत्यु एवं अर्जुनक व्याधसे इस प्रकार बोला ॥ ६९ ॥

काल उवाच

न ह्यहं नाप्ययं मृत्युर्नायं लुब्धक पन्नगः ।
किल्बिषी जन्तुमरणे न वयं हि प्रयोजकाः ॥ ७० ॥

कालने कहा—व्याध! न तो मैं, न यह मृत्यु और न यह सर्प ही इस जीवकी मृत्युमें अपराधी हैं। हमलोग किसीकी मृत्युमें प्रेरक या प्रयोजक भी नहीं हैं ॥ ७० ॥

अकरोद् यदयं कर्म तन्नोऽर्जुनक चोदकम् ।
विनाशहेतुर्नान्योऽस्य वध्यतेऽयं स्वकर्मणा ॥ ७१ ॥

अर्जुनक! इस बालकने जो कर्म किया है, वही इसकी मृत्युमें प्रेरक हुआ है, दूसरा कोई इसके विनाशका कारण नहीं है। यह जीव अपने कर्मसे ही मरता है ॥ ७१ ॥

यदनेन कृतं कर्म तेनायं निधनं गतः ।
विनाशहेतुः कर्मास्य सर्वे कर्मवशा वयम् ॥ ७२ ॥

इस बालकने जो कर्म किया है, उसीसे यह मृत्युको प्राप्त हुआ है। इसका कर्म ही इसके विनाशका कारण है। हम सब लोग कर्मके ही अधीन हैं ॥ ७२ ॥

कर्मदायादवाँल्लोकः कर्मसम्बन्धलक्षणः ।
कर्माणि चोदयन्तीह यथान्योन्यं तथा वयम् ॥ ७३ ॥

संसारमें कर्म ही मनुष्योंका पुत्र-पौत्रके समान अनुगमन करनेवाला है। कर्म ही दुःख-सुखके सम्बन्धका सूचक है।



वृद्धा गौतमीकी आदर्श क्षमा

इस जगत्‌में कर्म ही जैसे परस्पर एक-दूसरेको प्रेरित करते हैं, वैसे ही हम भी कर्मोंसे ही प्रेरित हुए हैं ॥ ७३ ॥

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद् यदिच्छति।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

जैसे कुम्हार मिट्टीके लोंदेसे जो-जो बर्तन चाहता है, वही बना लेता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्मके अनुसार ही सब कुछ पाता है ॥ ७४ ॥

यथा च्छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ निरन्तरम्।
तथा कर्म च कर्ता च सम्बद्धावात्मकर्मभिः ॥ ७५ ॥

जैसे धूप और छाया दोनों नित्य-निरन्तर एक-दूसरेसे मिले रहते हैं, उसी प्रकार कर्म और कर्ता दोनों अपने कर्मानुसार एक-दूसरेसे सम्बद्ध होते हैं ॥ ७५ ॥

एवं नाहं न वै मृत्युर्न सर्पो न तथा भवान्।
न चेयं ब्राह्मणी वृद्धा शिशुरेवात्र कारणम् ॥ ७६ ॥

इस प्रकार विचार करनेसे न मैं, न मृत्यु, न सर्प, न तुम (व्याध) और न यह बूढ़ी ब्राह्मणी ही इस बालककी मृत्युमें कारण है। यह शिशु स्वयं ही कर्मके अनुसार अपनी मृत्युमें कारण हुआ है ॥ ७६ ॥

तस्मिंस्तथा ब्रुवाणे तु ब्राह्मणी गौतमी नृप।
स्वकर्मप्रत्ययाँल्लोकान् मत्वार्जुनकमब्रवीत् ॥ ७७ ॥

नरेश्वर! कालके इस प्रकार कहनेपर गौतमी ब्राह्मणीको यह निश्चय हो गया कि मनुष्यको अपने कर्मोंके अनुसार ही फल मिलता है। फिर वह अर्जुनकसे बोली ॥ ७७ ॥

गौतम्युवाच

नैव कालो न भुजगो न मृत्युरिह कारणम्।
स्वकर्मभिरयं बालः कालेन निधनं गतः ॥ ७८ ॥

गौतमीने कहा—व्याध! न यह काल, न सर्प और न मृत्यु ही यहाँ कारण है। यह बालक अपने कर्मोंसे ही प्रेरित हो कालके द्वारा विनाशको प्राप्त हुआ है ॥ ७८ ॥

मया च तत् कृतं कर्म येनायं मे मृतः सुतः।
यातु कालस्तथा मृत्युर्मुञ्चार्जुनक पन्नगम् ॥ ७९ ॥

अर्जुनक! मैंने भी वैसा कर्म किया था, जिससे मेरा पुत्र मर गया है। अतः काल और मृत्यु अपने-अपने स्थानको पधारें और तू इस सर्पको छोड़ दे ॥ ७९ ॥

भीष्म उवाच

ततो यथागतं जग्मुर्मृत्युः कालोऽथ पन्नगः।
अभूद् विशोकोऽर्जुनको विशोका चैव गौतमी ॥ ८० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर काल, मृत्यु और सर्प जैसे आये थे वैसे ही चले गये और अर्जुनक तथा गौतमी ब्राह्मणीका भी शोक दूर हो गया ॥ ८० ॥

एतच्छ्रुत्वा शमं गच्छ मा भूः शोकपरो नृप।
स्वकर्मप्रत्ययाँल्लोकान् सर्वे गच्छन्ति वै नृप ॥ ८१ ॥

नरेश्वर! इस उपाख्यानको सुनकर तुम शान्ति धारण करो, शोकमें न पड़ो। सब मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाले लोकोंमें ही जाते हैं ॥ ८१ ॥

नैव त्वया कृतं कर्म नापि दुर्योधनेन वै।
कालेनैतत् कृतं विद्धि निहता येन पार्थिवाः ॥ ८२ ॥

तुमने या दुर्योधनने कुछ नहीं किया है। कालकी ही यह सारी करतूत समझो, जिससे समस्त भूपाल मारे गये हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा बभूव विगतज्वरः।
युधिष्ठिरो महातेजाः पप्रच्छेदं च धर्मवित् ॥ ८३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मकी यह बात सुनकर महातेजस्वी धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिरकी चिन्ता दूर हो गयी तथा उन्होंने पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गौतमीलुब्धकव्यालमृत्युकालसंवादे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गौतमी ब्राह्मणी, व्याध, सर्प, मृत्यु और कालका संवादविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

प्रजापति मनुके वंशका वर्णन, अग्निपुत्र सुदर्शनका अतिथिसत्काररूपी धर्मके पालनसे मृत्युपर विजय पाना

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
श्रुतं मे महदाख्यानमिदं मतिमतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ सर्वशास्त्र-विशारद महाप्राज्ञ पितामह! इस महत्त्वपूर्ण उपाख्यानको मैंने बड़े ध्यानसे सुना है ॥ १ ॥

भूयस्तु श्रोतुमिच्छामि धर्मार्थसहितं नृप।
कथ्यमानं त्वया किञ्चित् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

नरेश्वर! अब मैं पुनः आपके मुखसे कुछ और धर्म और अर्थयुक्त उपदेश सुनना चाहता हूँ, अतः आप मुझे इस विषयको विस्तारपूर्वक बताइये ॥ २ ॥

केन मृत्युर्गृहस्थेन धर्ममाश्रित्य निर्जितः।

इत्येतत् सर्वमाचक्ष्व तत्त्वेनापि च पार्थिव ॥ ३ ॥

भूपाल ! किस गृहस्थने केवल धर्मका आश्रय लेकर मृत्युपर विजय पायी है ? यह सब बातें आप यथार्थरूपसे कहिये ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा मृत्युर्गृहस्थेन धर्ममाश्रित्य निर्जितः ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! एक गृहस्थने जिस प्रकार धर्मका आश्रय लेकर मृत्युपर विजय पायी थी, उसके विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥

मनोः प्रजापते राजन्निक्ष्वाकुरभवत् सुतः ।
तस्य पुत्रशतं जज्ञे नृपतेः सूर्यवर्चसः ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! प्रजापति मनुके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम था इक्ष्वाकु । राजा इक्ष्वाकु सूर्यके समान तेजस्वी थे । उन्होंने सौ पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ५ ॥

दशमस्तस्य पुत्रस्तु दशाश्वो नाम भारत ।
माहिष्मत्यामभूद् राजा धर्मात्मा सत्यविक्रमः ॥ ६ ॥

भारत ! उनमेंसे दसवें पुत्रका नाम दशाश्व था, जो माहिष्मतीपुरीमें राज्य करता था । वह बड़ा ही धर्मात्मा और सत्यपराक्रमी था ॥ ६ ॥

दशाश्वस्य सुतस्त्वासीद् राजा परमधार्मिकः ।
सत्ये तपसि दाने च यस्य नित्यं रतं मनः ॥ ७ ॥

दशाश्वका पुत्र भी बड़ा धर्मात्मा राजा था । उसका मन सदा सत्य, तपस्या और दानमें ही लगा रहता था ॥ ७ ॥

मदिराश्व इति ख्यातः पृथिव्यां पृथिवीपतिः ।
धनुर्वेदे च वेदे च निरतो योऽभवत् सदा ॥ ८ ॥

वह राजा इस भूतलपर मदिराश्वके नामसे विख्यात था और सदा वेद एवं धनुर्वेदके अभ्यासमें संलग्न रहता था ॥ ८ ॥

मदिराश्वस्य पुत्रस्तु द्युतिमान् नाम पार्थिवः ।
महाभागो महातेजा महासत्त्वो महाबलः ॥ ९ ॥

मदिराश्वका पुत्र महाभाग, महातेजस्वी, महान् धैर्यशाली और महाबली द्युतिमान् नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ ॥

पुत्रो द्युतिमतस्त्वासीद् राजा परमधार्मिकः ।
सर्वलोकेषु विख्यातः सुवीरो नाम नामतः ॥ १० ॥
धर्मात्मा कोषवांश्चापि देवराज इवापरः ।

द्युतिमान्‌का पुत्र परम धर्मात्मा राजा सुवीर हुआ, जो सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात था । वह धर्मात्मा, कोश (धन-भण्डार) से सम्पन्न तथा दूसरे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी था ॥ १०½ ॥

सुवीरस्य तु पुत्रोऽभूत् सर्वसंग्रामदुर्जयः ॥ ११ ॥
स दुर्जय इति ख्यातः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।

सुवीरका पुत्र दुर्जय नामसे विख्यात हुआ । वह सभी संग्रामोंमें शत्रुओंके लिये दुर्जय तथा सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था ॥ ११½ ॥

दुर्जयस्येन्द्रवपुषः पुत्रोऽश्विसदृशद्युतिः ॥ १२ ॥
दुर्योधनो नाम महान् राजा राजर्षिसत्तमः ।

इन्द्रके समान शरीरवाले राजा दुर्जयके एक पुत्र हुआ, जो अश्विनीकुमारोंके समान कान्तिमान् था । उसका नाम था दुर्योधन । वह राजर्षियोंमें श्रेष्ठ महान् राजा था ॥ १२½ ॥

तस्येन्द्रसमवीर्यस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः ॥ १३ ॥
विषये वासवस्तस्य सम्यगेव प्रवर्षति ।

इन्द्रके समान पराक्रमी और युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले राजा दुर्योधनके राज्यमें इन्द्र सदा ठीक समयपर और उचित मात्रामें ही वर्षा करते थे ॥ १३½ ॥

रत्नैर्धनैश्च पशुभिः सस्यैश्चापि पृथग्विधैः ॥ १४ ॥
नगरं विषयश्चास्य प्रतिपूर्णस्तदाभवत् ।

उनका नगर और राज्य रत्न, धन, पशु तथा भाँति-भाँतिके धान्योंसे उन दिनों भरा-पूरा रहता था ॥ १४½ ॥

न तस्य विषये चाभूत् कृपणो नापि दुर्गतः ॥ १५ ॥
व्याधितो वा कृशो वापि तस्मिन् नाभून्नरः क्वचित् ।

उनके राज्यमें कहीं कोई भी कृपण, दुर्गतिग्रस्त, रोगी अथवा दुर्बल मनुष्य नहीं दृष्टिगोचर होता था ॥ १५½ ॥

सुदक्षिणो मधुरवागनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
धर्मात्मा चानृशंसश्च विक्रान्तोऽथाविकत्थनः ॥ १६ ॥

वह राजा अत्यन्त उदार, मधुरभाषी, किसीके दोष न देखनेवाला, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, दयालु और पराक्रमी था । वह कभी अपनी प्रशंसा नहीं करता था ॥ १६ ॥

यज्वा च दान्तो मेधावी ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ।
न चावमन्ता दाता च वेदवेदाङ्गपारगः ॥ १७ ॥

राजा दुर्योधन वेद-वेदाङ्गोंका पारङ्गत विद्वान्, यज्ञकर्ता, जितेन्द्रिय, मेधावी, ब्राह्मणभक्त और सत्यप्रतिज्ञ था । वह सबको दान देता और किसीका भी अपमान नहीं करता था ॥ १७ ॥

तं नर्मदा देवनदी पुण्या शीतजला शिवा ।
चकमे पुरुषव्याघ्रं स्वेन भावेन भारत ॥ १८ ॥

भारत ! एक समय शीतल जलवाली पवित्र एवं कल्याणमयी देवनदी नर्मदा उस पुरुषसिंहको सम्पूर्ण हृदयसे चाहने लगी और उसकी पत्नी बन गयी ॥ १८ ॥

तस्यां जज्ञे तदा नद्यां कन्या राजीवलोचना ।
नाम्ना सुदर्शना राजन् रूपेण च सुदर्शना ॥ १९ ॥

राजन् ! उस नदीके गर्भसे राजाके द्वारा एक कमललोचना कन्या उत्पन्न हुई, जो नामसे तो सुदर्शना थी ही, रूपसे भी सुदर्शना (सुन्दर एवं दर्शनीय) थी ॥ १९ ॥

तादृग्रूपा न नारीषु भूतपूर्वा युधिष्ठिर ।
दुर्योधनसुता यादृगभवद् वरवर्णिनी ॥ २० ॥

युधिष्ठिर ! दुर्योधनकी वह सुन्दर वर्णवाली पुत्री जैसी रूपवती थी, वैसी रूप-सौन्दर्यशालिनी स्त्री नारियोंमें पहले कभी नहीं हुई थी ॥ २० ॥

तामग्निश्चकमे साक्षाद् राजकन्यां सुदर्शनाम्।
भूत्वा च ब्राह्मणो राजन् वरयामास तं नृपम् ॥ २१ ॥

राजन् ! राजकन्या सुदर्शनापर साक्षात् अग्निदेव आसक्त हो गये और उन्होंने ब्राह्मणका रूप धारण करके राजासे उस कन्याको माँगा ॥ २१ ॥

दरिद्रश्चासवर्णश्च ममायमिति पार्थिवः।
न दित्सति सुतां तस्मै तां विप्राय सुदर्शनाम् ॥ २२ ॥

राजा यह सोचकर कि एक तो यह दरिद्र है और दूसरे मेरे समान वर्णका नहीं है, अपनी पुत्री सुदर्शनाको उस ब्राह्मणके हाथमें नहीं देना चाहते थे ॥ २२ ॥

ततोऽस्य वितते यज्ञे नष्टोऽभूद्धव्यवाहनः।
ततः सुदुःखितो राजा वाक्यमाह द्विजांस्तदा ॥ २३ ॥

तब अग्निदेव रुष्ट होकर राजाके आरम्भ हुए यज्ञमेंसे अदृश्य हो गये। इससे राजाको बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा—॥ २३ ॥

दुष्कृतं मम किं नु स्याद् भवतां वा द्विजर्षभाः।
येन नाशं जगामाग्निः कृतं कुपुरुषेष्विव ॥ २४ ॥

'विप्रवरो ! मुझसे या आपलोगोंसे कौन-सा ऐसा दुष्कर्म बन गया है, जिससे अग्निदेव दुष्ट मनुष्योंके प्रति किये गये उपकारके समान नष्ट हो गये हैं ॥ २४ ॥

न ह्यल्पं दुष्कृतं नोऽस्ति येनाग्निर्नाशमागतः।
भवतां चाथवा मह्यं तत्त्वेनैतद् विमृश्यताम् ॥ २५ ॥

'हमलोगोंका थोड़ा-सा अपराध नहीं है, जिससे अग्निदेव अदृश्य हो गये हैं। वह अपराध आपलोगोंका है या मेरा ? इसका ठीक-ठीक विचार करें !' ॥ २५ ॥

तत्र राज्ञो वचः श्रुत्वा विप्रास्ते भरतर्षभ।
नियता वाग्यताश्चैव पावकं शरणं ययुः ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजाकी यह बात सुनकर उन ब्राह्मणोंने शौच-संतोष आदि नियमोंके पालनपूर्वक मौन हो भगवान् अग्निदेवकी शरण ली ॥ २६ ॥

तान् दर्शयामास तदा भगवान् हव्यवाहनः।
स्वं रूपं दीप्तिमत् कृत्वा शरदर्कसमद्युतिः ॥ २७ ॥

तब भगवान् हव्यवाहनने रातमें अपना तेजस्वी रूप प्रकट करके शरत्कालके सूर्यके सदृश द्युतिमान् हो उन ब्राह्मणोंको दर्शन दिया ॥ २७ ॥

ततो महात्मा तानाह दहनो ब्राह्मणर्षभान्।
वरयाम्यात्मनोऽर्थाय दुर्योधनसुतामिति ॥ २८ ॥

उस समय महात्मा अग्निने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे कहा—'मैं दुर्योधनकी पुत्रीका अपने लिये वरण करता हूँ' ॥ २८ ॥

ततस्ते कल्यमुत्थाय तस्मै राज्ञे न्यवेदयन्।
ब्राह्मणा विस्मिताः सर्वे यदुक्तं चित्रभानुना ॥ २९ ॥

यह सुनकर आश्चर्यचकित हुए सब ब्राह्मणोंने सबेरे उठकर, अग्निदेवने जो कहा था वह सब कुछ राजासे निवेदन किया ॥ २९ ॥

ततः स राजा तच्छ्रुत्वा वचनं ब्रह्मवादिनाम्।
अवाप्य परमं हर्षं तथेति प्राह बुद्धिमान् ॥ ३० ॥

ब्रह्मवादी ऋषियोंका यह वचन सुनकर राजाको बड़ा हर्ष हुआ और उन बुद्धिमान् नरेशने 'तथास्तु' कहकर अग्निदेवका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया ॥ ३० ॥

अयाचत च तं शुल्कं भगवन्तं विभावसुम्।
नित्यं सांनिध्यमिह ते चित्रभानो भवेदिति ॥ ३१ ॥

तदनन्तर उन्होंने कन्याके शुल्करूपसे भगवान् अग्निसे याचना की—'चित्रभानो ! इस नगरीमें आपका सदा निवास बना रहे' ॥ ३१ ॥

तमाह भगवानग्निरेवमस्त्विति पार्थिवम्।
ततः सांनिध्यमद्यापि माहिष्मत्यां विभावसोः ॥ ३२ ॥

यह सुनकर भगवान् अग्निने राजासे कहा, 'एवमस्तु (ऐसा ही होगा)'। तभीसे आजतक माहिष्मती नगरीमें अग्निदेवका निवास बना हुआ है ॥ ३२ ॥

दृष्टं हि सहदेवेन दिशं विजयता तदा।
ततस्तां समलंकृत्य कन्यामाहतवाससम् ॥ ३३ ॥
ददौ दुर्योधनो राजा पावकाय महात्मने।

सहदेवने दक्षिण दिशाकी विजय करते समय वहाँ अग्निदेवको प्रत्यक्ष देखा था। अग्निदेवके वहाँ रहना स्वीकार कर लेनेपर राजा दुर्योधनने अपनी कन्याको सुन्दर वस्त्र पहनाकर नाना प्रकारके आभूषणोंसे अलंकृत करके महात्मा अग्निके हाथमें दे दिया ॥ ३३½ ॥

प्रतिजग्राह चाग्निस्तु राजकन्यां सुदर्शनाम् ॥ ३४ ॥
विधिना वेददृष्टेन वसोर्धारामिवाध्वरे।

अग्निने वेदोक्त विधिसे राजकन्या सुदर्शनाको उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे वे यज्ञमें वसुधारा ग्रहण करते हैं ॥

तस्या रूपेण शीलेन कुलेन वपुषा श्रिया ॥ ३५ ॥
अभवत् प्रीतिमानग्निर्गर्भं चास्या मनो दधे।

सुदर्शनाके रूप, शील, कुल, शरीरकी आकृति और कान्तिको देखकर अग्निदेव बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसमें गर्भाधान करनेका विचार किया ॥ ३५½ ॥

तस्याः समभवत् पुत्रो नाम्नाऽऽग्नेयः सुदर्शनः ॥ ३६ ॥
सुदर्शनस्तु रूपेण पूर्णेन्दुसदृशोपमः।
शिशुरेवाध्यगात् सर्वं परं ब्रह्म सनातनम् ॥ ३७ ॥

कुछ कालके पश्चात् उसके गर्भसे अग्निके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम सुदर्शन रखा गया। वह रूपमें पूर्ण चन्द्रमाके

समान मनोहर था और उसे बचपनमें ही सर्वस्वरूप सनातन परब्रह्मका ज्ञान हो गया था ॥ ३६-३७ ॥

अथौघवान् नाम नृपो नृगस्यासीत् पितामहः ।
तस्यायौघवती कन्या पुत्रश्चौघरथोऽभवत् ॥ ३८ ॥

उन दिनों राजा नृगके पितामह ओघवान् इस पृथ्वीपर राज्य करते थे । उनके ओघवती नामवाली एक कन्या और ओघरथ नामवाला एक पुत्र था ॥ ३८ ॥

तामोघवान् ददौ तस्मै स्वयमोघवतीं सुताम् ।
सुदर्शनाय विदुषे भार्यार्थे देवरूपिणीम् ॥ ३९ ॥

ओघवती देवकन्याके समान सुन्दरी थी । ओघवान्ने अपनी उस पुत्रीको विद्वान् सुदर्शनको पत्नी बनानेके लिये दे दिया ॥ ३९ ॥

स गृहस्थाश्रमरतस्तया सह सुदर्शनः ।
कुरुक्षेत्रेऽवसद् राजन्नोघवत्या समन्वितः ॥ ४० ॥

राजन् ! सुदर्शन उसके साथ गृहस्थ धर्मका पालन करने लगे । उन्होंने ओघवतीके साथ कुरुक्षेत्रमें निवास किया ॥४०॥

गृहस्थश्चावजेष्यामि मृत्युमित्येव स प्रभो ।
प्रतिज्ञामकरोद् धीमान् दीप्ततेजा विशाम्पते ॥ ४१ ॥

प्रजानाथ ! प्रभो ! उद्दीप्त तेजवाले उस बुद्धिमान् सुदर्शनने यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं गृहस्थ धर्मका पालन करते हुए ही मृत्युको जीत लूँगा ॥ ४१ ॥

तामथौघवतीं राजन् स पावकसुतोऽब्रवीत् ।
अतिथेः प्रतिकूलं ते न कर्तव्यं कथंचन ॥ ४२ ॥

राजन् ! अग्निकुमार सुदर्शनने ओघवतीसे कहा—'देवि ! तुम्हें अतिथिके प्रतिकूल किसी तरह कोई कार्य नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

येन येन च तुष्येत नित्यमेव त्वयातिथिः ।
अप्यात्मनः प्रदानेन न ते कार्या विचारणा ॥ ४३ ॥

'जिस-जिस वस्तुसे अतिथि संतुष्ट हो, वह वस्तु तुम्हें सदा ही उसे देनी चाहिये । यदि अतिथिके संतोषके लिये तुम्हें अपना शरीर भी देना पड़े तो मनमें कभी अन्यथा विचार न करना ॥ ४३ ॥

एतद् व्रतं मम सदा हृदि सम्परिवर्तते ।
गृहस्थानां च सुश्रोणि नातिथेर्विद्यते परम् ॥ ४४ ॥

'सुन्दरी ! अतिथि-सेवाका यह व्रत मेरे हृदयमें सदा स्थित रहता है । गृहस्थोंके लिये अतिथि-सेवासे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है ॥ ४४ ॥

प्रमाणं यदि वामोरु वचस्ते मम शोभने ।
इदं वचनमव्यग्रा हृदि त्वं धारयेः सदा ॥ ४५ ॥

'वामोरु शोभने ! यदि तुम्हें मेरा वचन मान्य हो तो मेरी इस बातको शान्त भावसे सदा अपने हृदयमें धारण किये रहना ॥ ४५ ॥

निष्क्रान्ते मयि कल्याणि तथा संनिहितेऽनघे ।
नातिथिस्तेऽवमन्तव्यः प्रमाणं यद्यहं तव ॥ ४६ ॥

'कल्याणि ! निष्पाप ! यदि तुम मुझे आदर्श मानती हो तो मैं घरमें रहूँ या घरसे कहीं दूर निकल जाऊँ, तुम्हें किसी भी दशामें अतिथिका अनादर नहीं करना चाहिये' ॥ ४६ ॥

तमब्रवीदोघवती तथा मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
न मे त्वद्वचनात् किंचिन्न कर्तव्यं कथंचन ॥ ४७ ॥

यह सुनकर ओघवतीने दोनों हाथ जोड़ मस्तकमें लगाकर कहा—'कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जो मैं आपकी आज्ञासे किसी कारणवश न कर सकूँ' ॥ ४७ ॥

जिगीषमाणस्तु गृहे तदा मृत्युः सुदर्शनम् ।
पृष्ठतोऽन्वगमद् राजन् रन्ध्रान्वेषी तदा सदा ॥ ४८ ॥

राजन् ! उन दिनों गृहस्थ-धर्ममें स्थित हुए सुदर्शनको जीतनेकी इच्छासे मृत्यु उनका छिद्र खोजती हुई सदा उनके पीछे लगी रहती थी ॥ ४८ ॥

इध्मार्थं तु गते तस्मिन्नग्निपुत्रे सुदर्शने ।
अतिथिर्ब्राह्मणः श्रीमांस्तामाहौघवतीं तदा ॥ ४९ ॥

एक दिन अग्निपुत्र सुदर्शन जब समिधा लानेके लिये बाहर चले गये, उसी समय उनके घरपर एक तेजस्वी ब्राह्मण अतिथि आया और ओघवतीसे बोला—॥ ४९ ॥

आतिथ्यं कृतमिच्छामि त्वयाद्य वरवर्णिनि ।
प्रमाणं यदि धर्मस्ते गृहस्थाश्रमसम्मतः ॥ ५० ॥

'वरवर्णिनि ! यदि तुम गृहस्थसम्मत धर्मको मान्य समझती हो तो आज मैं तुम्हारे द्वारा किया गया आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करना चाहता हूँ' ॥ ५० ॥

इत्युक्ता तेन विप्रेण राजपुत्री यशस्विनी ।
विधिना प्रतिजग्राह वेदोक्तेन विशाम्पते ॥ ५१ ॥

प्रजानाथ ! उस ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर यशस्विनी राजकुमारी ओघवतीने वेदोक्त विधिसे उसका पूजन किया ॥५१॥

आसनं चैव पाद्यं च तस्मै दत्त्वा द्विजातये ।
प्रोवाचौघवती विप्रं केनार्थः किं ददामि ते ॥ ५२ ॥

ब्राह्मणको बैठनेके लिये आसन और पैर धोनेके लिये जल देकर ओघवतीने उससे पूछा—'विप्रवर ! आपको किस वस्तुकी आवश्यकता है ? मैं आपकी सेवामें क्या भेंट करूँ ?' ॥ ५२ ॥

तामब्रवीत् ततो विप्रो राजपुत्रीं सुदर्शनाम् ।
त्वया ममार्थः कल्याणि निर्विशङ्कैतदाचर ॥ ५३ ॥

तब ब्राह्मणने दर्शनीय सौन्दर्यसे सुशोभित राजकुमारी ओघवतीसे कहा—'कल्याणि ! मुझे तुमसे ही काम है । तुम निःशङ्क होकर मेरा यह प्रिय कार्य करो ॥ ५३ ॥

यदि प्रमाणं धर्मस्ते गृहस्थाश्रमसम्मतः ।
प्रदानेनात्मनो राज्ञि कर्तुमर्हसि मे प्रियम् ॥ ५४ ॥

'रानी ! यदि तुम्हें गृहस्थसम्मत धर्म मान्य है तो मुझे अपना शरीर देकर मेरा प्रिय कार्य करना चाहिये' ॥ ५४ ॥

स तया छन्द्यमानोऽन्यैरीप्सितैर्नृपकन्यया।
नान्यमात्मप्रदानात् स तस्या वव्रे वरं द्विजः ॥ ५५ ॥

राजकन्याने दूसरी कोई अभीष्ट वस्तु माँगनेके लिये उस अतिथिसे बारंबार अनुरोध किया, किंतु उस ब्राह्मणने उसके शरीर-दानके सिवा और कोई अभिलषित पदार्थ उससे नहीं माँगा ॥ ५५ ॥

सा तु राजसुता स्मृत्वा भर्तुर्वचनमादितः।
तथेति लज्जमाना सा तमुवाच द्विजर्षभम् ॥ ५६ ॥

तब राजकुमारीने पहले कहे हुए पतिके वचनको याद करके लजाते-लजाते उस द्विजश्रेष्ठसे कहा, 'अच्छा, आपकी आज्ञा स्वीकार है' ॥ ५६ ॥

ततो विहस्य विप्रर्षिः सा चैवाथ विवेश ह।
संस्मृत्य भर्तुर्वचनं गृहस्थाश्रमकाङ्क्षिणः ॥ ५७ ॥

गृहस्थाश्रमके धर्मके पालनकी इच्छा रखनेवाले पतिकी कही हुई बातको स्मरण करके जब उसने ब्राह्मणके समक्ष 'हाँ' कर दिया, तब उस विप्र ऋषिने मुसकराकर ओघवतीके साथ घरके भीतर प्रवेश किया ॥ ५७ ॥

अथेध्मानुपादाय स पावकिरुपागमत्।
मृत्युना रौद्रभावेन नित्यं बन्धुरिवान्वितः ॥ ५८ ॥

इतनेहीमें अग्निकुमार सुदर्शन समिधा लेकर लौट आये। मृत्यु क्रूर भावनासे सदा उनके पीछे लगी रहती थी, मानो कोई स्नेही बन्धु अपने प्रिय बन्धुके पीछे-पीछे चल रहा हो ॥ ५८ ॥

ततस्त्वाश्रममागम्य स पावकसुतस्तदा।
तां व्याजहारौघवतीं क्वासि यातेति चासकृत् ॥ ५९ ॥

आश्रमपर पहुँचकर फिर अग्निपुत्र सुदर्शन अपनी पत्नी ओघवतीको बारंबार पुकारने लगे—'देवि ! तुम कहाँ चली गयी?' ॥ ५९ ॥

तस्मै प्रतिवचः सा तु भर्त्रे न प्रददौ तदा।
कराभ्यां तेन विप्रेण स्पृष्टा भर्तृव्रता सती ॥ ६० ॥
उच्छिष्टास्मीति मन्वाना लज्जिता भर्तुरेव च।
तूष्णीं भूताभवत् साध्वी न चोवाचाथ किंचन ॥ ६१ ॥

परंतु ओघवतीने उस समय अपने पतिको कोई उत्तर नहीं दिया। अतिथिरूपमें आये हुए ब्राह्मणने अपने दोनों हाथोंसे उसे छू दिया था। इससे वह सती-साध्वी पतिव्रता अपनेको दूषित मानकर अपने स्वामीसे भी लज्जित हो गयी थी; इसीलिये वह साध्वी चुप हो गयी। कुछ भी बोल न सकी ॥ ६०-६१ ॥

अथ तां पुनरेवेदं प्रोवाच स सुदर्शनः।
क्व सा साध्वी क्व सा याता गरीयः किमतो मम ॥ ६२ ॥
पतिव्रता सत्यशीला नित्यं चैवार्जवे रता।
कथं न प्रत्युदेत्यद्य स्मयमाना यथा पुरा ॥ ६३ ॥

अब सुदर्शन फिर पुकार-पुकारकर इस प्रकार कहने लगे—'मेरी वह साध्वी पत्नी कहाँ है? वह सुशीला कहाँ चली गयी? मेरी सेवासे बढ़कर कौन गुरुतर कार्य उसपर आ पड़ा। वह पतिव्रता, सत्य बोलनेवाली और सदा सरलभावसे रहनेवाली है। आज पहलेकी ही भाँति मुसकराती हुई वह मेरी अगवानी क्यों नहीं कर रही है?' ॥ ६२-६३ ॥

उटजस्थस्तु तं विप्रः प्रत्युवाच सुदर्शनम्।
अतिथिं विद्धि सम्प्राप्तं ब्राह्मणं पावके च माम् ॥ ६४ ॥

यह सुनकर आश्रमके भीतर बैठे हुए ब्राह्मणने सुदर्शनको उत्तर दिया—'अग्निकुमार ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैं ब्राह्मण हूँ और तुम्हारे घरपर अतिथिके रूपमें आया हूँ ॥ ६४ ॥

अनया छन्द्यमानोऽहं भार्यया तव सत्तम।
तैस्तैरतिथिसत्कारैर्ब्रह्मन्नेषा वृता मया ॥ ६५ ॥

'साधुशिरोमणे ! तुम्हारी इस पत्नीने अतिथि-सत्कारके द्वारा मेरी इच्छा पूर्ण करनेका वचन दिया है। ब्रह्मन् ! तब मैंने इसे ही वरण कर लिया है ॥ ६५ ॥

अनेन विधिना सेयं मामर्च्छति शुभानना।
अनुरूपं यदत्रान्यत् तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ ६६ ॥

'इसी विधिके अनुसार यह सुमुखी इस समय मेरी सेवामें उपस्थित हुई है। अब यहाँ तुम्हें दूसरा जो कुछ उचित प्रतीत हो, वह कर सकते हो' ॥ ६६ ॥

कूटमुद्गरहस्तस्तु मृत्युस्तं वै समन्वगात्।
हीनप्रतिज्ञमत्रैनं वधिष्यामीति चिन्तयन् ॥ ६७ ॥

इसी समय मृत्यु हाथमें लोहदण्ड लिये सुदर्शनके पीछे आकर खड़ी हो गयी। वह सोचती थी कि अब तो यह अपनी प्रतिज्ञा तोड़ बैठेगा। इसलिये इसे यहीं मार डालूँगी ॥ ६७ ॥

सुदर्शनस्तु मनसा कर्मणा चक्षुषा गिरा।
त्यक्तेर्ष्यस्त्यक्तमन्युश्च स्मयमानोऽब्रवीदिदम् ॥ ६८ ॥

परंतु सुदर्शन मन, वाणी, नेत्र और क्रियासे भी ईर्ष्या तथा क्रोधका त्याग कर चुके थे। वे हँसते-हँसते यों बोले— ॥

सुरतं तेऽस्तु विप्राग्र्य प्रीतिर्हि परमा मम।
गृहस्थस्य हि धर्मोऽग्र्यः सम्प्राप्तातिथिपूजनम् ॥ ६९ ॥

'विप्रवर ! आपकी सुरत कामना पूर्ण हो। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता है; क्योंकि घरपर आये हुए अतिथिका पूजन करना गृहस्थके लिये सबसे बड़ा धर्म है ॥ ६९ ॥

अतिथिः पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति।
नान्यस्तस्मात् परो धर्म इति प्राहुर्मनीषिणः ॥ ७० ॥

'जिस गृहस्थके घरपर आया हुआ अतिथि पूजित होकर जाता है, उसके लिये उससे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है—ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ ७० ॥

प्राणा हि मम दाराश्च यच्चान्यद् विद्यते वसु।
अतिथिभ्यो मया देयमिति मे व्रतमाहितम् ॥ ७१ ॥

'मेरे प्राण, मेरी पत्नी तथा मेरे पास और जो कुछ धन-दौलत है, वह सब मेरी ओरसे अतिथियोंके लिये निछावर है, ऐसा मैंने व्रत ले रखा है ॥ ७१ ॥

निःसंदिग्धं यथा वाक्यमेतन्मे समुदाहृतम् ।
तेनाहं विप्र सत्येन स्वयमात्मानमालभे ॥ ७२ ॥

'ब्रह्मन् ! मैंने जो यह बात कही है, इसमें संदेह नहीं है । इस सत्यको सिद्ध करनेके लिये मैं स्वयं ही अपने शरीरको छूकर शपथ खाता हूँ ॥ ७२ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
बुद्धिरात्मा मनः कालो दिशश्चैव गुणा दश ॥ ७३ ॥
नित्यमेव हि पश्यन्ति देहिनां देहसंश्रिताः ।
सुकृतं दुष्कृतं चापि कर्म धर्मभृतां वर ॥ ७४ ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, नेत्र, बुद्धि, आत्मा, मन, काल और दिशाएँ—ये दस गुण (वस्तुएँ) सदा ही प्राणियोंके शरीरमें स्थित होकर उनके पुण्य और पापकर्मको देखा करते हैं ॥ ७३-७४ ॥

यथैषा नानृता वाणी मयाद्य समुदीरिता ।
तेन सत्येन मां देवाः पालयन्तु दहन्तु वा ॥ ७५ ॥

'आज मेरी कही हुई यह वाणी यदि मिथ्या नहीं है तो इस सत्यके प्रभावसे देवता मेरी रक्षा करें अथवा मिथ्या होनेपर मुझे जलाकर भस्म कर डालें' ॥ ७५ ॥

ततो नादः समभवद् दिक्षु सर्वासु भारत ।
असकृत् सत्यमित्येवं नैतन्मिथ्येति सर्वतः ॥ ७६ ॥

भरतनन्दन ! सुदर्शनके इतना कहते ही सम्पूर्ण दिशाओंसे बारंबार आवाज आने लगी—'तुम्हारा कथन सत्य है । इसमें झूठका लेश भी नहीं है' ॥ ७६ ॥

उटजात् तु ततस्तस्मान्निश्चक्राम स वै द्विजः ।
वपुषा द्यां च भूमिं च व्याप्य वायुरिवोद्यतः ॥ ७७ ॥

तत्पश्चात् वह ब्राह्मण उस आश्रमसे बाहर निकला । वह अपने शरीरसे वायुकी भाँति पृथ्वी और आकाशको व्याप्त करके स्थित हो गया ॥ ७७ ॥

स्वरेण विप्रः शैक्षेण त्रीँल्लोकाननुनादयन् ।
उवाच चैनं धर्मज्ञं पूर्वमामन्त्र्य नामतः ॥ ७८ ॥

शिक्षाके अनुकूल उदात्त आदि स्वरसे तीनों लोकोंको प्रतिध्वनित करते हुए उस ब्राह्मणने पहले धर्मज्ञ सुदर्शनको सम्बोधित करके उससे इस प्रकार कहा— ॥ ७८ ॥

धर्मोऽहमस्मि भद्रं ते जिज्ञासार्थं तवानघ ।
प्राप्तः सत्यं च ते ज्ञात्वा प्रीतिर्मे परमा त्वयि ॥ ७९ ॥

'निष्पाप सुदर्शन ! तुम्हारा कल्याण हो । मैं धर्म हूँ



और तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये यहाँ आया हूँ । तुममें सत्य है यह जानकर मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ ॥ ७९ ॥

विजितश्च त्वया मृत्युर्योऽयं त्वामनुगच्छति ।
रन्ध्रान्वेषी तव सदा त्वया धृत्या वशी कृतः ॥ ८० ॥

'तुमने इस मृत्युको, जो सदा तुम्हारा छिद्र ढूँढ़ती हुई तुम्हारे पीछे लगी रहती थी, जीत लिया । तुमने अपने धैर्यसे मृत्युको वशमें कर लिया है ॥ ८० ॥

न चास्ति शक्तिस्त्रैलोक्ये कस्यचित् पुरुषोत्तम ।
पतिव्रतामिमां साध्वीं तवोद्वीक्षितुमप्युत ॥ ८१ ॥

'पुरुषोत्तम ! तीनों लोकोंमें किसीकी भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो तुम्हारी इस सती-साध्वी पतिव्रता पत्नीकी ओर कलुषित भावनासे आँख उठाकर देख भी सके ॥ ८१ ॥

रक्षिता त्वद्गुणैरेषा पतिव्रतगुणैस्तथा ।
अधृष्या यदियं ब्रूयात् तथा तन्नान्यथा भवेत् ॥ ८२ ॥

'यह तुम्हारे गुणोंसे तथा अपने पातिव्रत्यके गुणोंद्वारा भी सदा सुरक्षित है । कोई भी इसका पराभव नहीं कर सकता । यह जो बात अपने मुँहसे निकालेगी, वह सत्य ही होगी । मिथ्या नहीं हो सकती ॥ ८२ ॥

एषा हि तपसा स्वेन संयुक्ता ब्रह्मवादिनी ।
पावनार्थं च लोकस्य सरिच्छ्रेष्ठा भविष्यति ॥ ८३ ॥
अर्धेनौघवती नाम त्वामर्धेनानुयास्यति ।
शरीरेण महाभागा योगो ह्यस्या वशे स्थितः ॥ ८४ ॥

'अपने तपोबलसे युक्त यह ब्रह्मवादिनी नारी संसारको पवित्र करनेके लिये अपने आधे शरीरसे ओघवती नामवाली श्रेष्ठ नदी होगी और आधे शरीरसे यह परम सौभाग्यवती सती तुम्हारी सेवामें रहेगी । योग सदा इसके वशमें रहेगा ॥

अनया सह लोकांश्च गन्तासि तपसार्जितान् ।
यत्र नावृत्तिमभ्येति शाश्वतांस्तान् सनातनान् ॥ ८५ ॥

'तुम भी इसके साथ अपनी तपस्यासे प्राप्त हुए उन सनातन लोकोंमें जाओगे, जहाँसे फिर इस संसारमें लौटना नहीं पड़ता ॥ ८५ ॥

अनेन चैव देहेन लोकांस्त्वमभिपत्स्यसे ।
निर्जितश्च त्वया मृत्युरैश्वर्यं च तवोत्तमम् ॥ ८६ ॥

'तुम इसी शरीरसे उन दिव्य लोकोंमें जाओगे; क्योंकि तुमने मृत्युको जीत लिया है और तुम्हें उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त है॥

पञ्चभूतान्यतिक्रान्तः स्ववीर्याच्च मनोजवः ।
गृहस्थधर्मेणानेन कामक्रोधौ च ते जितौ ॥ ८७ ॥

'अपने पराक्रमसे पञ्चभूतोंको लाँघकर तुम मनके समान वेगवान् हो गये हो । इस गृहस्थ-धर्मके आचरणसे ही तुमने काम और क्रोधपर विजय पा ली है ॥ ८७ ॥

स्नेहो रागश्च तन्द्री च मोहो द्रोहश्च केवलः ।
तव शुश्रूषया राजन् राजपुत्र्या विनिर्जिताः ॥ ८८ ॥

'राजन् ! राजकुमारी ओघवतीने भी तुम्हारी सेवाके बलसे स्नेह (आसक्ति), राग, आलस्य, मोह और द्रोह आदि दोषोंको जीत लिया है' ॥ ८८ ॥

भीष्म उवाच

शुक्लानां तु सहस्रेण वाजिनां रथमुत्तमम् ।
युक्तं प्रगृह्य भगवान् वासवोऽभ्याजगाम तम् ॥ ८९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर भगवान् इन्द्र भी श्वेत रंगके एक हजार घोड़ोंसे जुते हुए उत्तम रथको लेकर उनसे मिलनेके लिये आये ॥ ८९ ॥

मृत्युरात्मा च लोकाश्च जिता भूतानि पञ्च च ।
बुद्धिः कालो मनो व्योम कामक्रोधौ तथैव च ॥ ९० ॥

इस प्रकार सुदर्शनने अतिथि-सत्कारके पुण्यसे मृत्यु, आत्मा, लोक, पञ्चभूत, बुद्धि, काल, मन, आकाश, काम और क्रोधको भी जीत लिया ॥ ९० ॥

तस्माद् गृहाश्रमस्थस्य नान्यद् दैवतमस्ति वै ।
ऋतेऽतिथिं नरव्याघ्र मनसैतद् विचारय ॥ ९१ ॥

पुरुषसिंह ! इसलिये तुम अपने मनमें यह निश्चित विचार कर लो कि गृहस्थ पुरुषके लिये अतिथिको छोड़कर दूसरा कोई देवता नहीं है ॥ ९१ ॥

अतिथिः पूजितो यद्धि ध्यायते मनसा शुभम् ।
न तत् क्रतुशतेनापि तुल्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ९२ ॥

यदि अतिथि पूजित होकर मन-ही-मन गृहस्थके कल्याण-का चिन्तन करे तो उससे जो फल मिलता है, उसकी सौ यज्ञोंसे भी तुलना नहीं हो सकती अर्थात् सौ यज्ञोंसे भी बढ़-कर है । ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है ॥ ९२ ॥

पात्रं त्वतिथिमासाद्य शीलाढ्यं यो न पूजयेत् ।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥ ९३ ॥

जो गृहस्थ सुपात्र और सुशील अतिथिको पाकर उसका यथोचित सत्कार नहीं करता, वह अतिथि उसे अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है ॥ ९३ ॥

एतत् ते कथितं पुत्र मयाऽऽख्यानमनुत्तमम् ।
यथा हि विजितो मृत्युर्गृहस्थेन पुराभवत् ॥ ९४ ॥

बेटा ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार पूर्वकालमें गृहस्थने जिस प्रकार मृत्युपर विजय पायी थी, वह उत्तम उपाख्यान मैंने तुमसे कहा ॥ ९४ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यमिदमाख्यानमुत्तमम् ।
बुभूषताभिमन्तव्यं सर्वदुश्चरितापहम् ॥ ९५ ॥

यह उत्तम आख्यान धन, यश और आयुकी प्राप्ति करानेवाला है । इससे सब प्रकारके दुष्कर्मोंका नाश हो जाता है, अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको सदा ही इसके प्रति आदरबुद्धि रखनी चाहिये ॥ ९५ ॥

इदं यः कथयेद् विद्वानहन्यहनि भारत ।
सुदर्शनस्य चरितं पुण्याँल्लोकानवाप्नुयात् ॥ ९६ ॥

भरतनन्दन ! जो विद्वान् सुदर्शनके इस चरित्रका प्रतिदिन वर्णन करता है, वह पुण्यलोकोंको प्राप्त होता है* ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सुदर्शनोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सुदर्शनका उपाख्यानविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

---

* इस अध्यायमें वर्णित चरित्र असाधारण शक्तिसम्पन्न पुरुषोंके हैं । आजकलके साधारण मनुष्योंको इसके उस अंशका अनुकरण नहीं करना चाहिये, जिसमें स्त्रीके लिये अपने शरीर-प्रदानकी बात कही गयी है । अतिथिको अन्न, जल, बैठनेके लिये आसन, रहनेके लिये स्थान, सोनेके लिये बिस्तर और वस्त्र आदि वस्तुएँ अपनी शक्तिके अनुसार समर्पित करनी चाहिये । मीठे वचनोंद्वारा उसका आदर-सत्कार भी करना चाहिये । इतना ही इस अध्यायका तात्पर्य है ।

तृतीयोऽध्यायः

विश्वामित्रको ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति कैसे हुई—इस विषयमें युधिष्ठिरका प्रश्न

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्राप्यं त्रिभिर्वर्णैर्नराधिप।
कथं प्राप्तं महाराज क्षत्रियेण महात्मना ॥ १ ॥
विश्वामित्रेण धर्मात्मन् ब्राह्मणत्वं नरर्षभ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाराज ! नरेश्वर ! यदि अन्य तीन वर्णोंके लिये ब्राह्मणत्व प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है तो क्षत्रियकुलमें उत्पन्न महात्मा विश्वामित्रने कैसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया ? धर्मात्मन् ! नरश्रेष्ठ पितामह ! इस बातको मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ, आप मुझे बताइये ॥ १–२ ॥

तेन ह्यमितवीर्येण वसिष्ठस्य महात्मनः।
हतं पुत्रशतं सद्यस्तपसापि पितामह ॥ ३ ॥

पितामह ! अमित पराक्रमी विश्वामित्रने अपनी तपस्याके प्रभावसे महात्मा वसिष्ठके सौ पुत्रोंको तत्काल नष्ट कर दिया था ॥ ३ ॥

यातुधानाश्च बहवो राक्षसास्तिग्मतेजसः।
मन्युनाऽऽविष्टदेहेन सृष्टाः कालान्तकोपमाः ॥ ४ ॥

उन्होंने क्रोधके आवेशमें आकर बहुत-से प्रचण्ड तेजस्वी यातुधान एवं राक्षस रच डाले थे, जो काल और यमराजके समान भयानक थे ॥ ४ ॥

महान् कुशिकवंशश्च ब्रह्मर्षिशतसंकुलः।
स्थापितो नरलोकेऽस्मिन् विद्वद्ब्राह्मणसंस्तुतः॥ ५ ॥

इतना ही नहीं, इस मनुष्य-लोकमें उन्होंने उस महान् कुशिक-वंशको स्थापित किया, जो अब सैकड़ों ब्रह्मर्षियोंसे व्याप्त और विद्वान् ब्राह्मणोंसे प्रशंसित है ॥ ५ ॥

ऋचीकस्यात्मजश्चैव शुनःशेपो महातपाः।
विमोक्षितो महासत्रात् पशुतामप्युपागतः ॥ ६ ॥

ऋचीक (अजीगर्त) का महातपस्वी पुत्र शुनःशेप एक यज्ञमें यज्ञ-पशु बनाकर लाया गया था; किंतु विश्वामित्रजीने उस महायज्ञसे उसको छुटकारा दिला दिया ॥ ६ ॥

हरिश्चन्द्रक्रतौ देवांस्तोषयित्वाऽऽत्मतेजसा।
पुत्रतामनुसम्प्राप्तो विश्वामित्रस्य धीमतः ॥ ७ ॥

हरिश्चन्द्रके उस यज्ञमें अपने तेजसे देवताओंको संतुष्ट करके विश्वामित्रने शुनःशेपको छुड़ाया था; इसलिये वह बुद्धिमान् विश्वामित्रके पुत्रभावको प्राप्त हो गया ॥ ७ ॥

नाभिवादयते ज्येष्ठं देवरातं नराधिप।
पुत्राः पञ्चाशदेवापि शप्ताः श्वपचतां गताः ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! शुनःशेप देवताओंके देनेसे देवरात नामसे प्रसिद्ध हो विश्वामित्रका ज्येष्ठ पुत्र हुआ। उसके छोटे भाई—विश्वामित्रके अन्य पचास पुत्र उसे बड़ा मानकर प्रणाम नहीं करते थे; इसलिये विश्वामित्रके शापसे वे सब-के-सब चाण्डाल हो गये ॥ ८ ॥

त्रिशङ्कुर्बन्धुभिर्मुक्त ऐक्ष्वाकः प्रीतिपूर्वकम्।
अवाक्शिरा दिवं नीतो दक्षिणामाश्रितो दिशम्॥ ९ ॥

जिस इक्ष्वाकुवंशी त्रिशंकुको भाई-बन्धुओंने त्याग दिया था और जब वह स्वर्गसे भ्रष्ट होकर दक्षिण दिशामें नीचे सिर किये लटक रहा था, तब विश्वामित्रजीने ही उसे प्रेमपूर्वक स्वर्गलोकमें पहुँचाया था ॥ ९ ॥

विश्वामित्रस्य विपुला नदी देवर्षिसेविता।
कौशिकी च शिवा पुण्या ब्रह्मर्षिसुरसेविता ॥ १० ॥

देवर्षियों, ब्रह्मर्षियों और देवताओंसे सेवित, पवित्र, मङ्गलकारिणी एवं विशाल कौशिकी नदी विश्वामित्रके ही प्रभावसे प्रकट हुई है ॥ १० ॥

तपोविघ्नकरी चैव पञ्चचूडा सुसम्मता।
रम्भा नामाप्सराः शापाद् यस्य शैलत्वमागता॥ ११ ॥

पाँच चोटीवाली लोकप्रिय रम्भा नामक अप्सरा विश्वामित्रजीकी तपस्यामें विघ्न डालने गयी थी, जो उनके शापसे पत्थर हो गयी ॥ ११ ॥

तथैवास्य भयाद् बद्ध्वा वसिष्ठः सलिले पुरा।
आत्मानं मज्जयञ्छ्रीमान् विपाशः पुनरुत्थितः॥ १२ ॥
तदाप्रभृति पुण्या हि विपाशाभून्महानदी।
विख्याता कर्मणा तेन वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ १३ ॥

पूर्वकालमें विश्वामित्रके ही भयसे अपने शरीरको रस्सीसे बाँधकर श्रीमान् वसिष्ठजी अपने-आपको एक नदीके जलमें डुबो रहे थे; परंतु उस नदीके द्वारा पाशरहित (बन्धनमुक्त) हो पुनः ऊपर उठ आये। महात्मा वसिष्ठके उस महान् कर्मसे विख्यात हो वह पवित्र नदी उसी दिनसे 'विपाशा' कहलाने लगी ॥ १२-१३ ॥

वाग्भिश्च भगवान् येन देवसेनाग्रगः प्रभुः।
स्तुतः प्रीतमनाश्चासीच्छापाच्चैनममुञ्चत ॥ १४॥

वाणीद्वारा स्तुति करनेपर उन विश्वामित्रपर सामर्थ्यशाली भगवान् इन्द्र प्रसन्न हो गये थे और उनको शापमुक्त कर दिया था ॥ १४ ॥

ध्रुवस्यौत्तानपादस्य ब्रह्मर्षीणां तथैव च।
मध्यं ज्वलति यो नित्यमुदीचीमाश्रितो दिशम्॥ १५॥
तस्यैतानि च कर्माणि तथान्यानि च कौरव।
क्षत्रियस्येत्यतो जातमिदं कौतूहलं मम ॥ १६॥

जो विश्वामित्र उत्तानपादके पुत्र ध्रुव तथा ब्रह्मर्षियों (सप्तर्षियों) के बीचमें उत्तर दिशाके आकाशका आश्रय ले तारारूपसे सदा प्रकाशित होते रहते हैं, वे क्षत्रिय ही रहे हैं। कुरुनन्दन ! उनके ये तथा और भी बहुत-से अद्भुत कर्म हैं, उन्हें याद करके मेरे हृदयमें यह जाननेका कौतूहल उत्पन्न हुआ है कि वे ब्राह्मण कैसे हो गये ? ॥ १५-१६ ॥

किमेतदिति तत्त्वेन प्रब्रूहि भरतर्षभ।
देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत् ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह क्या बात है ? इसे ठीक-ठीक बताइये। विश्वामित्रजी दूसरा शरीर धारण किये बिना ही कैसे ब्राह्मण हो गये ? ॥ १७ ॥

एतत् तत्त्वेन मे तात सर्वमाख्यातुमर्हसि।
मतङ्गस्य यथातत्त्वं तथैवैतद् वदस्व मे ॥ १८ ॥

तात ! यह सब आप यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें। जैसे मतङ्गको तपस्या करनेसे भी ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त हुआ, वैसी ही बात विश्वामित्रके लिये क्यों नहीं हुई ? यह मुझे बताइये ॥ १८ ॥

स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यं नालभद् भरतर्षभ।
चण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मतङ्गको जो ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त हुआ, वह उचित ही था; क्योंकि उसका जन्म चाण्डालकी योनिमें हुआ था; परंतु विश्वामित्रने कैसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया ? ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विश्वामित्रोपाख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विश्वामित्रका उपाख्यानविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

आजमीढके वंशका वर्णन तथा विश्वामित्रके जन्मकी कथा और उनके पुत्रोंके नाम

भीष्म उवाच

श्रूयतां पार्थ तत्त्वेन विश्वामित्रो यथा पुरा।
ब्राह्मणत्वं गतस्तात ब्रह्मर्षित्वं तथैव च ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! कुन्तीनन्दन ! पूर्वकालमें विश्वामित्रजीने जिस प्रकार ब्राह्मणत्व तथा ब्रह्मर्षित्व प्राप्त किया, वह प्रसङ्ग यथार्थरूपसे बता रहा हूँ, सुनो ॥ १ ॥

भरतस्यान्वये चैवाजमीढो नाम पार्थिवः।
बभूव भरतश्रेष्ठ यज्वा धर्मभृतां वरः ॥ २ ॥

भरतवंशमें अजमीढ नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। भरतश्रेष्ठ ! वे राजा अजमीढ यज्ञकर्ता एवं धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे ॥ २ ॥

तस्य पुत्रो महानासीज्जह्नुर्नाम नरेश्वरः।
दुहितृत्वमनुप्राप्ता गङ्गा यस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

उनके पुत्र महाराज जह्नु हुए, जिन महात्मा नरेशके समीप जाकर गङ्गाजी पुत्रीभावको प्राप्त हुई थीं ॥ ३ ॥

तस्यात्मजस्तुल्यगुणः सिन्धुद्वीपो महायशाः।
सिन्धुद्वीपाच्च राजर्षिर्बलाकाश्वो महाबलः ॥ ४ ॥

जह्नुके पुत्रका नाम सिन्धुद्वीप था, जो पिताके समान ही गुणवान् और महायशस्वी थे। सिन्धुद्वीपसे महाबली राजा बलाकाश्वका जन्म हुआ था ॥ ४ ॥

वल्लभस्तस्य तनयः साक्षाद्धर्म इवापरः।
कुशिकस्तस्य तनयः सहस्राक्षसमद्युतिः ॥ ५ ॥

बलाकाश्वका पुत्र वल्लभनामसे प्रसिद्ध हुआ, जो साक्षात् दूसरे धर्मके समान था। वल्लभके पुत्र कुशिक हुए, जो इन्द्रके समान तेजस्वी थे ॥ ५ ॥

कुशिकस्यात्मजः श्रीमान् गाधिर्नाम जनेश्वरः।
अपुत्रः प्रसवेनार्थी वनवासमुपावसत् ॥ ६ ॥

कुशिकके पुत्र महाराज गाधि हुए, जो दीर्घकालतक पुत्रहीन रह गये। तब संतानकी इच्छासे पुण्यकर्म करनेके लिये वे वनमें रहने लगे ॥ ६ ॥

कन्या जज्ञे सुतात् तस्य वने निवसतः सतः।
नाम्ना सत्यवती नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥ ७ ॥

वहाँ रहते समय सोमयाग करनेसे राजाके एक कन्या हुई, जिसका नाम सत्यवती था। भूतलपर कहीं भी उसके रूप और सौन्दर्यकी तुलना नहीं थी ॥ ७ ॥

तां वव्रे भार्गवः श्रीमांश्च्यवनस्यात्मसम्भवः।
ऋचीक इति विख्यातो विपुले तपसि स्थितः ॥ ८ ॥

उन दिनों च्यवनके पुत्र भृगुवंशी श्रीमान् ऋचीक विख्यात तपस्वी थे और बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न रहते थे। उन्होंने राजा गाधिसे उस कन्याको माँगा ॥ ८ ॥

स तां न प्रददौ तस्मै ऋचीकाय महात्मने।
दरिद्र इति मत्वा वै गाधिः शत्रुनिबर्हणः ॥ ९ ॥

शत्रुसूदन गाधिने महात्मा ऋचीकको दरिद्र समझकर उन्हें अपनी कन्या नहीं दी ॥ ९ ॥

प्रत्याख्याय पुनर्यान्तमब्रवीद् राजसत्तमः।
शुल्कं प्रदीयतां मह्यं ततो वत्स्यसि मे सुताम् ॥ १० ॥

उनके इनकार कर देनेपर जब महर्षि लौटने लगे, तब

नृपश्रेष्ठ गाधिने उनसे कहा, 'महर्षे ! मुझे शुल्क दीजिये, तब आप मेरी पुत्रीको विवाहद्वारा प्राप्त कर सकेंगे' ॥ १० ॥

ऋचीक उवाच

किं प्रयच्छामि राजेन्द्र तुभ्यं शुल्कमहं नृप ।
दुहितुर्बूह्यसंसक्तो माभूत् तत्र विचारणा ॥ ११ ॥

ऋचीकने पूछा—राजेन्द्र ! मैं आपकी पुत्रीके लिये आपको क्या शुल्क दूँ ? आप निस्संकोच होकर बताइये । नरेश्वर ! इसमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

गाधिरुवाच

चन्द्ररश्मिप्रकाशानां हयानां वातरंहसाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां सहस्रं देहि भार्गव ॥ १२ ॥

गाधिने कहा—भृगुनन्दन ! आप मुझे शुल्करूपमें एक हजार ऐसे घोड़े ला दीजिये, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् और वायुके समान वेगवान् हों तथा जिनका एक-एक कान श्याम रंगका हो ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

ततः स भृगुशार्दूलश्च्यवनस्यात्मजः प्रभुः ।
अब्रवीद् वरुणं देवमादित्यं पतिमम्भसाम् ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब भृगुश्रेष्ठ च्यवनपुत्र शक्तिशाली महर्षि ऋचीकने जलके स्वामी अदितिनन्दन वरुणदेवके पास जाकर कहा—॥ १३ ॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
सहस्रं वातवेगानां भिक्षे त्वां देवसत्तम ॥ १४ ॥

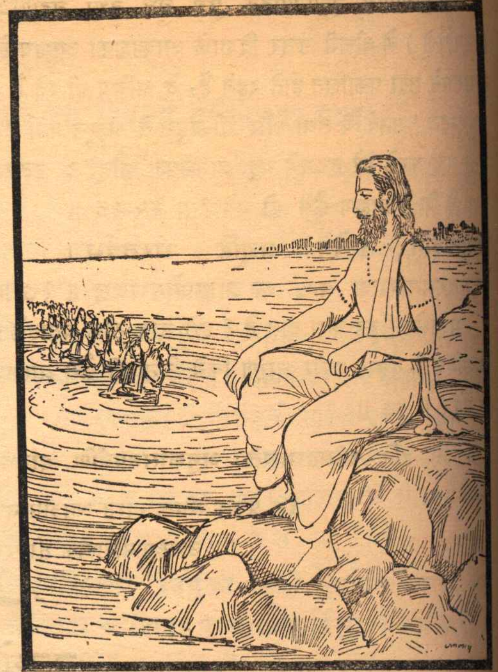
'देवशिरोमणे ! मैं आपसे चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा वायुके समान वेगवान् एक हजार ऐसे घोड़ोंकी भिक्षा माँगता हूँ, जिनका एक ओरका कान श्याम रंगका हो' ॥ १४ ॥

तथेति वरुणो देव आदित्यो भृगुसत्तमम् ।
उवाच यत्र ते च्छन्दस्तत्रोत्थास्यन्ति वाजिनः ॥ १५ ॥

तब अदितिनन्दन वरुणदेवने उन भृगुश्रेष्ठ ऋचीकसे कहा—बहुत अच्छा, जहाँ आपकी इच्छा होगी, वहींसे इस तरहके घोड़े प्रकट हो जायँगे' ॥ १५ ॥

ध्यातमात्रमृचीकेन हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
गङ्गाजलात् समुत्तस्थौ सहस्रं विपुलौजसाम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर ऋचीकके चिन्तन करते ही गङ्गाजीके जलसे चन्द्रमाके समान कान्तिवाले एक हजार तेजस्वी घोड़े प्रकट हो गये ॥ १६ ॥



अदूरे कान्यकुब्जस्य गङ्गायास्तीरमुत्तमम् ।
अश्वतीर्थं तदद्यापि मानवैः परिचक्ष्यते ॥ १७ ॥

कन्नौजके पास ही गङ्गाजीका वह उत्तम तट आज भी मानवोंद्वारा अश्वतीर्थ कहलाता है ॥ १७ ॥

ततो वै गाधये तात सहस्रं वाजिनां शुभम् ।
ऋचीकः प्रददौ प्रीतः शुल्कार्थं तपतां वरः ॥ १८ ॥

तात ! तब तपस्वी मुनियोंमें श्रेष्ठ ऋचीक मुनिने प्रसन्न होकर शुल्कके लिये राजा गाधिको वे एक हजार सुन्दर घोड़े दे दिये ॥ १८ ॥

ततः स विस्मितो राजा गाधिः शापभयेन च ।
ददौ तां समलंकृत्य कन्यां भृगुसुताय वै ॥ १९ ॥

तब आश्चर्यचकित हुए राजा गाधिने शापके भयसे डरकर अपनी कन्याको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके भृगुनन्दन ऋचीकको दे दिया ॥ १९ ॥

जग्राह विधिवत् पाणिं तस्या ब्रह्मर्षिसत्तमः ।
सा च तं पतिमासाद्य परं हर्षमवाप ह ॥ २० ॥

ब्रह्मर्षिशिरोमणि ऋचीकने उसका विधिवत् पाणिग्रहण किया । वैसे तेजस्वी पतिको पाकर उस कन्याको भी बड़ा हर्ष हुआ ॥ २० ॥

स तुतोष च ब्रह्मर्षिस्तस्या वृत्तेन भारत ।
छन्दयामास चैवैनां वरेण वरवर्णिनीम् ॥ २१ ॥

भरतनन्दन ! अपनी पत्नीके सद्व्यवहारसे ब्रह्मर्षि बहुत संतुष्ट हुए । उन्होंने उस परम सुन्दरी पत्नीको मनोवाञ्छित वर देनेकी इच्छा प्रकट की ॥ २१ ॥

मात्रे तत् सर्वमाचख्यौ सा कन्या राजसत्तम ।
अथ तामब्रवीन्माता सुतां किंचिदवाङ्मुखी ॥ २२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तब उस राजकन्याने अपनी मातासे मुनिकी कही हुई सब बातें बतायीं। वह सुनकर उसकी माताने संकोचसे सिर नीचे करके पुत्रीसे कहा—॥ २२ ॥

ममापि पुत्रि भर्ता ते प्रसादं कर्तुमर्हति ।
अपत्यस्य प्रदानेन समर्थश्च महातपाः ॥ २३ ॥

'बेटी ! तुम्हारे पतिको पुत्र प्रदान करनेके लिये मुझपर भी कृपा करनी चाहिये, क्योंकि वे महान् तपस्वी और समर्थ हैं' ॥ २३ ॥

ततः सा त्वरितं गत्वा तत् सर्वं प्रत्यवेदयत् ।
मातुश्चिकीर्षितं राजन्नृचीकस्तामथाब्रवीत् ॥ २४ ॥

राजन् ! तदनन्तर सत्यवतीने तुरंत जाकर माताकी वह सारी इच्छा ऋचीकसे निवेदन की । तब ऋचीकने उससे कहा—॥ २४ ॥

गुणवन्तमपत्यं सा अचिराज्जनयिष्यति ।
मम प्रसादात् कल्याणि माभूत् ते प्रणयोऽन्यथा॥ २५॥

'कल्याणि ! मेरे प्रसादसे तुम्हारी माता शीघ्र ही गुणवान् पुत्रको जन्म देगी । तुम्हारा प्रेमपूर्ण अनुरोध असफल नहीं होगा ॥ २५ ॥

तव चैव गुणश्लाघी पुत्र उत्पत्स्यते महान् ।
अस्मद्वंशकरः श्रीमान् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २६ ॥

'तुम्हारे गर्भसे भी एक अत्यन्त गुणवान् और महान् तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा, जो हमारी वंशपरम्पराको चलायेगा। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ॥ २६ ॥

ऋतुस्नाता च साश्वत्थं त्वं च वृक्षमुदुम्बरम् ।
परिष्वजेथाः कल्याणि तत एवमवाप्स्यथः ॥ २७ ॥

'कल्याणि ! तुम्हारी माता ऋतुस्नानके पश्चात् पीपलके वृक्षका आलिङ्गन करे और तुम गूलरके वृक्षका । इससे तुम दोनोंको अभीष्ट पुत्रकी प्राप्ति होगी ॥ २७ ॥

चरुद्वयमिदं चैव मन्त्रपूतं शुचिस्मिते ।
त्वं च सा चोपभुञ्जीतं ततः पुत्राववाप्स्यथः ॥ २८ ॥

'पवित्र मुसकानवाली देवि ! मैंने ये दो मन्त्रपूत चरु तैयार किये हैं । इनमेंसे एकको तुम खा लो और दूसरेको तुम्हारी माता । इससे तुम दोनोंको पुत्र प्राप्त होंगे' ॥ २८॥

ततः सत्यवती हृष्टा मातरं प्रत्यभाषत ।
यदृचीकेन कथितं तच्चाचख्यौ चरुद्वयम् ॥ २९ ॥

तब सत्यवतीने हर्षमग्न होकर ऋचीकने जो कुछ कहा था, वह सब अपनी माताको बताया और दोनोंके लिये तैयार किये हुए पृथक्-पृथक् चरुओंकी भी चर्चा की ॥ २९ ॥

तामुवाच ततो माता सुतां सत्यवतीं तदा ।
पुत्रि पूर्वोपपन्नायाः कुरुष्व वचनं मम ॥ ३० ॥

उस समय माताने अपनी पुत्री सत्यवतीसे कहा—'बेटी ! माता होनेके कारण पहलेसे मेरा तुमपर अधिकार है; अतः तुम मेरी बात मानो ॥ ३० ॥

भर्त्रा य एष दत्तस्ते चरुर्मन्त्रपुरस्कृतः ।
एनं प्रयच्छ मह्यं त्वं मदीयं त्वं गृहाण च ॥ ३१ ॥

'तुम्हारे पतिने जो मन्त्रपूत चरु तुम्हारे लिये दिया है, वह तुम मुझे दे दो और मेरा चरु तुम ले लो ॥ ३१ ॥

व्यत्यासं वृक्षयोश्चापि करवाव शुचिस्मिते ।
यदि प्रमाणं वचनं मम मातुरनिन्दिते ॥ ३२ ॥

'पवित्र हास्यवाली मेरी अच्छी बेटी ! यदि तुम मेरी बात मानने योग्य समझो तो हमलोग वृक्षोंमें भी अदल-बदल कर लें ॥ ३२ ॥

स्वमपत्यं विशिष्टं हि सर्व इच्छत्यनाविलम् ।
व्यक्तं भगवता चात्र कृतमेवं भविष्यति ॥ ३३ ॥

'प्रायः सभी लोग अपने लिये निर्मल एवं सर्वगुणसम्पन्न श्रेष्ठ पुत्रकी इच्छा करते हैं । अवश्य ही भगवान् ऋचीकने भी चरु निर्माण करते समय ऐसा तारतम्य रक्खा होगा ॥

ततो मे त्वच्चरौ भावः पादपे च सुमध्यमे ।
कथं विशिष्टो भ्राता मे भवेदित्येव चिन्तय ॥ ३४ ॥

'सुमध्यमे ! इसीलिये तुम्हारे लिये नियत किये गये चरु और वृक्षमें मेरा अनुराग हुआ है । तुम भी यही चिन्तन करो कि मेरा भाई किसी तरह श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हो' ॥३४॥

तथा च कृतवत्यौ ते माता सत्यवती च सा ।
अथ गर्भावनुप्राप्ते उभे ते वै युधिष्ठिर ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर ! इस तरह सलाह करके सत्यवती और उसकी माताने उसी तरह उन दोनों वस्तुओंका अदल-बदलकर उपयोग किया । फिर तो वे दोनों गर्भवती हो गयीं ॥ ३५॥

दृष्ट्वा गर्भमनुप्राप्तां भार्यां स च महानृषिः ।
उवाच तां सत्यवतीं दुर्मना भृगुसत्तमः ॥ ३६ ॥

अपनी पत्नी सत्यवतीको गर्भवती अवस्थामें देखकर भृगुश्रेष्ठ महर्षि ऋचीकका मन खिन्न हो गया ॥ ३६ ॥

व्यत्यासेनोपयुक्तस्ते चरुर्व्यक्तं भविष्यति ।
व्यत्यासः पादपे चापि सुव्यक्तं ते कृतः शुभे ॥ ३७ ॥

उन्होंने कहा—'शुभे ! जान पड़ता है, तुमने बदलकर चरुका उपयोग किया है । इसी तरह तुमलोगोंने वृक्षोंके आलिङ्गनमें भी उलट-फेर कर दिया है—ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ॥ ३७ ॥

मया हि विश्वं यद्ब्रह्म त्वच्चरौ संनिवेशितम् ।
क्षत्रवीर्यं च सकलं चरौ तस्या निवेशितम् ॥ ३८ ॥

'मैंने तुम्हारे चरुमें सम्पूर्ण ब्रह्मतेजका संनिवेश किया था और तुम्हारी माताके चरुमें समस्त क्षत्रियोचित्त शक्तिकी स्थापना की थी ॥ ३८ ॥

त्रैलोक्यविख्यातगुणं त्वं विप्रं जनयिष्यसि ।
सा च क्षत्रं विशिष्टं वै तत एतत् कृतं मया ॥ ३९ ॥

'मैंने सोचा था कि तुम त्रिभुवनमें विख्यात गुणवाले ब्राह्मणको जन्म दोगी और तुम्हारी माता सर्वश्रेष्ठ क्षत्रियकी

जननी होगी; इसीलिये मैंने दो तरहके चरुओंका निर्माण किया था ॥ ३९ ॥

व्यत्यासस्तु कृतो यस्मात् त्वया मात्रा च ते शुभे।
तस्मात् सा ब्राह्मणं श्रेष्ठं माता ते जनयिष्यति ॥ ४० ॥
क्षत्रियं तूग्रकर्माणं त्वं भद्रे जनयिष्यसि।
न हि ते तत् कृतं साधु मातृस्नेहेन भाविनि ॥ ४१ ॥

'शुभे ! तुमने और तुम्हारी माताने अदला-बदली कर ली है, इसलिये तुम्हारी माता श्रेष्ठ ब्राह्मणपुत्रको जन्म देगी और भद्रे ! तुम भयंकर कर्म करनेवाले क्षत्रियकी जननी होओगी। भाविनि ! माताके स्नेहमें पड़कर तुमने यह अच्छा काम नहीं किया' ॥ ४०-४१ ॥

सा श्रुत्वा शोकसंतप्ता पपात वरवर्णिनी।
भूमौ सत्यवती राजन् छिन्नेव रुचिरा लता ॥ ४२ ॥

राजन् ! पतिकी यह बात सुनकर सुन्दरी सत्यवती शोकसे संतप्त हो वृक्षसे कटी हुई मनोहर लताके समान मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ४२ ॥

प्रतिलभ्य च सा संज्ञां शिरसा प्रणिपत्य च।
उवाच भार्या भर्तारं गाधेयी भार्गवर्षभम् ॥ ४३ ॥
प्रसादयन्त्यां भार्यायां मयि ब्रह्मविदां वर।
प्रसादं कुरु विप्रर्षे न मे स्यात् क्षत्रियः सुतः ॥ ४४ ॥

थोड़ी देरमें जब उसे चेत हुआ, तब वह गाधिकुमारी अपने स्वामी भृगुभूषण ऋचीकके चरणोंमें सिर रखकर प्रणामपूर्वक बोली—'ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ! मैं आपकी पत्नी हूँ, अतः आपसे कृपा-प्रसादकी भीख चाहती हूँ। आप ऐसी कृपा करें, जिससे मेरे गर्भसे क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न न हो ॥

कामं ममोग्रकर्मा वै पौत्रो भवितुमर्हति।
न तु मे स्यात् सुतो ब्रह्मन्नेष मे दीयतां वरः ॥ ४५ ॥

'मेरा पौत्र चाहे उग्रकर्मा क्षत्रियस्वभावका हो जाय; परंतु मेरा पुत्र वैसा न हो। ब्रह्मन् ! मुझे यही वर दीजिये' ॥

एवमस्त्विति होवाच स्वां भार्यां सुमहातपाः।
ततः सा जनयामास जमदग्निं सुतं शुभम् ॥ ४६ ॥

तब उन महातपस्वी ऋषिने अपनी पत्नीसे कहा, 'अच्छा, ऐसा ही हो'। तदनन्तर सत्यवतीने जमदग्निनामक शुभ-गुणसम्पन्न पुत्रको जन्म दिया ॥ ४६ ॥

विश्वामित्रं चाजनयद् गाधिभार्या यशस्विनी।
ऋषेः प्रसादाद् राजेन्द्र ब्रह्मर्षेर्ब्रह्मवादिनम् ॥ ४७ ॥

राजेन्द्र ! उन्हीं ब्रह्मर्षिके कृपा-प्रसादसे गाधिकी यशस्विनी पत्नीने ब्रह्मवादी विश्वामित्रको उत्पन्न किया ॥ ४७ ॥

ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वामित्रो महातपाः।
क्षत्रियः सोऽप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारकः ॥ ४८ ॥

इसीलिये महातपस्वी विश्वामित्र क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो ब्राह्मण-वंशके प्रवर्तक हुए ॥ ४८ ॥

तस्य पुत्रा महात्मानो ब्रह्मवंशविवर्धनाः।
तपस्विनो ब्रह्मविदो गोत्रकर्तार एव च ॥ ४९ ॥

उन ब्रह्मवेत्ता तपस्वीके महामनस्वी पुत्र भी ब्राह्मणवंशकी वृद्धि करनेवाले और गोत्रकर्ता हुए ॥ ४९ ॥

मधुच्छन्दश्च भगवान् देवरातश्च वीर्यवान्।
अक्षीणश्च शकुन्तश्च बभ्रुः कालपथस्तथा ॥ ५० ॥
याज्ञवल्क्यश्च विख्यातस्तथा स्थूणो महाव्रतः।
उलूको यमदूतश्च तथर्षिः सैन्धवायनः ॥ ५१ ॥
वल्गुजङ्घश्च भगवान् गालवश्च महानृषिः।
ऋषिर्वज्रस्तथा ख्यातः सालंकायन एव च ॥ ५२ ॥
लीलाढ्यो नारदश्चैव तथा कूर्चामुखः स्मृतः।
वादुलिर्मुसलश्चैव वक्षोग्रीवस्तथैव च ॥ ५३ ॥
आंघ्रिको नैकदृक् चैव शिलायूपः शितः शुचिः।
चक्रको मारुतन्तव्यो वातघ्नोऽथाश्वलायनः ॥ ५४ ॥
श्यामायनोऽथ गार्ग्यश्च जाबालिः सुश्रुतस्तथा।
कारीषिरथ संश्रुत्यः परपौरवतन्तवः ॥ ५५ ॥
महानृषिश्च कपिलस्तथर्षिस्ताडकायनः।
तथैव चोपगहनस्तथर्षिश्चासुरायणः ॥ ५६ ॥
मार्दमर्षिर्हिरण्याक्षो जङ्गारिर्बाभ्रवायणिः।
भूतिर्विभूतिः सूतश्च सुरकृत् तु तथैव च ॥ ५७ ॥
अरालिर्नाचिकश्चैव चाम्पेयोज्जयनौ तथा।
नवतन्तुर्बकनखः सेयनो यतिरेव च ॥ ५८ ॥
अम्भोरुहश्चारुमत्स्यः शिरीषी चाथ गार्दभिः।
ऊर्जयोनिरुदापेक्षी नारदी च महानृषिः ॥ ५९ ॥
विश्वामित्रात्मजाः सर्वे मुनयो ब्रह्मवादिनः।

भगवान् मधुच्छन्दा, शक्तिशाली देवरात, अक्षीण, शकुन्त, बभ्रु, कालपथ, विख्यात याज्ञवल्क्य, महाव्रती स्थूण, उलूक, यमदूत, सैन्धवायन ऋषि, भगवान् वल्गुजङ्घ, महर्षि गालव, वज्रमुनि, विख्यात सालङ्कायन, लीलाढ्य, नारद, कूर्चामुख, वादुलि, मुसल, वक्षोग्रीव, आङ्घ्रिक, नैकदृक्, शिलायूप, शित, शुचि, चक्रक, मारुतन्तव्य, वातघ्न, आश्वलायन, श्यामायन, गार्ग्य, जाबालि, सुश्रुत, कारीषि, संश्रुत्य, पर, पौरव, तन्तु, महर्षि कपिल, मुनिवर ताडकायन, उपगहन, आसुरायण ऋषि, मार्दमर्षि, हिरण्याक्ष, जङ्गारि, बाभ्रवायणि, भूति, विभूति, सूत, सुरकृत्, अरालि, नाचिक, चाम्पेय, उज्जयन, नवतन्तु, बकनख, सेयन, यति, अम्भोरुह, चारुमत्स्य, शिरीषी, गार्दभि, ऊर्जयोनि, उदापेक्षी और महर्षि नारदी—ये सभी विश्वामित्रके पुत्र एवं ब्रह्मवादी ऋषि थे ॥ ५०-५९½ ॥

तथैव क्षत्रियो राजन् विश्वामित्रो महातपाः ॥ ६० ॥

ऋचीकेनाहितं ब्रह्म परमेतद् युधिष्ठिर ।

राजा युधिष्ठिर ! महातपस्वी विश्वामित्र यद्यपि क्षत्रिय थे तथापि ऋचीक मुनिने उनमें परम उत्कृष्ट ब्रह्मतेजका आधान किया था ॥ ६०½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ ६१ ॥
विश्वामित्रस्य वै जन्म सोमसूर्याग्नितेजसः ।

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार मैंने तुम्हें सोम, सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी विश्वामित्रके जन्मका सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे बताया है ॥ ६१½ ॥

यत्र यत्र च संदेहो भूयस्ते राजसत्तम ।
तत्र तत्र च मां ब्रूहि च्छेत्तास्मि तव संशयम् ॥ ६२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अब फिर तुम्हें जहाँ-जहाँ संदेह हो, उस-उस विषयकी बात मुझसे पूछो । मैं तुम्हारे संशयका निवारण करूँगा॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विश्वामित्रोपाख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विश्वामित्रका उपाख्यानविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

स्वामिभक्त एवं दयालु पुरुषकी श्रेष्ठता बतानेके लिये इन्द्र और तोतेके संवादका उल्लेख

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यस्य धर्मज्ञ गुणान् भक्तजनस्य च ।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—धर्मज्ञ पितामह ! अब मैं दयालु और भक्त पुरुषोंके गुण सुनना चाहता हूँ; अतः कृपा करके मुझे उनके गुण ही बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वासवस्य च संवादं शुकस्य च महात्मनः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें भी महामनस्वी तोते और इन्द्रका जो संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

विषये काशिराजस्य ग्रामान्निष्क्रम्य लुब्धकः ।
सविषं काण्डमादाय मृगयामास वै मृगम् ॥ ३ ॥

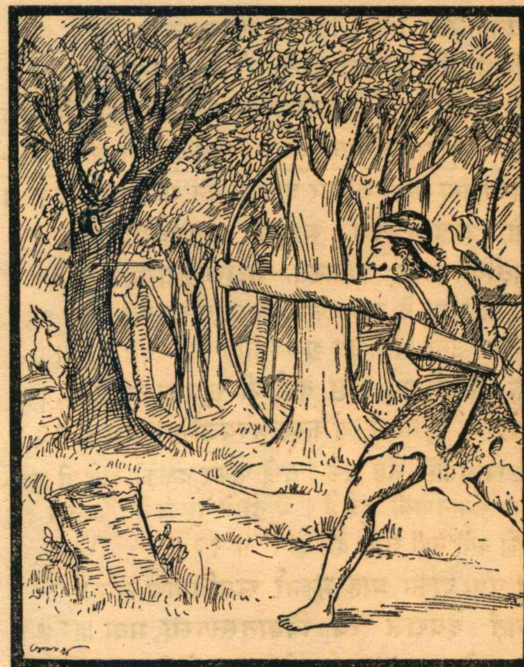
काशिराजके राज्यकी बात है, एक व्याधा विषमें बुझाया हुआ बाण लेकर गाँवसे निकला और शिकारके लिये किसी मृगको खोजने लगा ॥ ३ ॥

तत्र चामिषलुब्धेन लुब्धकेन महावने ।
अविदूरे मृगान् दृष्ट्वा बाणः प्रतिसमाहितः ॥ ४ ॥

उस महान् वनमें थोड़ी ही दूर जानेपर मांसलोभी व्याधने कुछ मृगोंको देखा और उनपर बाण चला दिया ॥ ४ ॥

तेन दुर्वारितास्त्रेण निमित्तचपलेषुणा ।
महान् वनतरुस्तत्र विद्धो मृगजिघांसया ॥ ५ ॥

व्याधका वह बाण अमोघ था; परंतु निशाना चूक जानेके कारण मृगको मारनेकी इच्छासे छोड़े गये उस बाणने एक विशाल वृक्षको वेध दिया ॥ ५ ॥



स तीक्ष्णविषदिग्धेन शरेणातिबलात् क्षतः ।
उत्सृज्य फलपत्राणि पादपः शोषमागतः ॥ ६ ॥

तीखे विषसे पुष्ट हुए उस बाणसे बड़े जोरका आघात लगनेके कारण उस वृक्षमें जहर फैल गया । उसके फल और पत्ते झड़ गये और धीरे-धीरे वह सूखने लगा ॥ ६ ॥

तस्मिन् वृक्षे तथाभूते कोटरेषु चिरोषितः ।
न जहाति शुको वासं तस्य भक्त्या वनस्पतेः ॥ ७ ॥

उस वृक्षके खोखलेमें बहुत दिनोंसे एक तोता निवास करता था । उसका उस वृक्षके प्रति बड़ा प्रेम हो गया था, इसलिये वह उसके सूखनेपर भी वहाँका निवास छोड़ नहीं रहा था ॥

निष्प्रचारो निराहारो ग्लानः शिथिलवागपि ।
कृतज्ञः सह वृक्षेण धर्मात्मा सोऽप्यशुष्यत ॥ ८ ॥

वह धर्मात्मा एवं कृतज्ञ तोता कहीं आता-जाता नहीं था। चारा चुगना भी छोड़ चुका था। वह इतना शिथिल हो गया था कि उससे बोला तक नहीं जाता था। इस प्रकार उस वृक्षके साथ वह स्वयं भी सूखता चला जा रहा था॥

तमुदारं महासत्त्वमतिमानुषचेष्टितम्।
समदुःखसुखं दृष्ट्वा विस्मितः पाकशासनः॥ ९॥

उसका धैर्य महान् था। उसकी चेष्टा अलौकिक दिखायी देती थी। दुःख और सुखमें समान भाव रखनेवाले उस उदार तोतेको देखकर पाकशासन इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ॥९॥

ततश्चिन्तामुपगतः शक्रः कथमयं द्विजः।
तिर्यग्योनावसम्भाव्यमानृशंस्यमवस्थितः॥ १०॥

इन्द्र यह सोचने लगे कि यह पक्षी कैसे ऐसी अलौकिक दयाको अपनाये बैठा है, जो पक्षीकी योनिमें प्रायः असम्भव है॥ १०॥

अथवा नात्र चित्रं हि ह्यभवद् वासवस्य तु।
प्राणिनामपि सर्वेषां सर्वं सर्वत्र दृश्यते॥ ११॥

अथवा इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि सब जगह सब प्राणियोंमें सब तरहकी बातें देखनेमें आती हैं—ऐसी भावना मनमें लानेपर इन्द्रका मन शान्त हुआ॥११॥

ततो ब्राह्मणवेषेण मानुषं रूपमास्थितः।
अवतीर्य महीं शक्रस्तं पक्षिणमुवाच ह॥ १२॥

तदनन्तर वे ब्राह्मणके वेशमें मनुष्यका रूप धारण करके पृथ्वीपर उतरे और उस शुक पक्षीसे बोले—॥ १२॥

शुक भो पक्षिणां श्रेष्ठ दाक्षेयी सुप्रजा त्वया।
पृच्छे त्वां शुकमेनं त्वं कस्मान्न त्यजसि द्रुमम्॥ १३॥

'पक्षियोंमें श्रेष्ठ शुक! तुम्हें पाकर दक्षकी दौहित्री शुकी उत्तम संतानवाली हुई है। मैं तुमसे पूछता हूँ कि अब इस वृक्षको क्यों नहीं छोड़ देते हो?'॥ १३॥

अथ पृष्टः शुकः प्राह मूर्ध्ना समभिवाद्य तम्।
स्वागतं देवराज त्वं विज्ञातस्तपसा मया॥ १४॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर शुकने मस्तक नवाकर उन्हें प्रणाम किया और कहा, 'देवराज! आपका स्वागत है। मैंने तपस्याके बलसे आपको पहचान लिया है'॥ १४॥

ततो दशशताक्षेण साधु साध्विति भाषितम्।
अहो विज्ञानमित्येवं मनसा पूजितस्ततः॥ १५॥

यह सुनकर सहस्रनेत्रधारी इन्द्रने मन-ही-मन कहा—'वाह! वाह! क्या अद्भुत विज्ञान है!' ऐसा कहकर उन्होंने मनसे ही उसका आदर किया॥ १५॥

तमेवं शुभकर्माणं शुकं परमधार्मिकम्।
विजानन्नपि तां प्रीतिं पप्रच्छ बलसूदनः॥ १६॥

'वृक्षके प्रति इस तोतेका कितना प्रेम है' इस बातको जानते हुए भी बलसूदन इन्द्रने शुभकर्म करनेवाले उस परम धर्मात्मा शुकसे पूछा—॥ १६॥

निष्पत्रमफलं शुष्कमशरण्यं पतत्रिणाम्।
किमर्थं सेवसे वृक्षं यदा महदिदं वनम्॥ १७॥

'शुक! इस वृक्षके पत्ते झड़ गये, फल भी नहीं रहे। यह सूख जानेके कारण पक्षियोंके बसेरे लेने योग्य नहीं रह गया है। जब यह विशाल वन पड़ा हुआ है, तब तुम इस ठूँठ वृक्षका सेवन किस लिये करते हो?॥ १७॥

अन्येऽपि बहवो वृक्षाः पत्रसंछन्नकोटराः।
शुभाः पर्याप्तसंचारा विद्यन्तेऽस्मिन् महावने॥ १८॥

'इस विशाल वनमें और भी बहुत-से वृक्ष हैं, जिनके खोखले हरे-हरे पत्तोंसे आच्छादित हैं, जो सुन्दर हैं तथा जिनपर पक्षियोंके संचारके लिये योग्य पर्याप्त स्थान हैं॥१८॥

गतायुषमसामर्थ्यं क्षीणसारं हतश्रियम्।
विमृश्य प्रज्ञया धीर जहीमं स्थविरं द्रुमम्॥ १९॥

'धीर शुक! इस वृक्षकी आयु समाप्त हो गयी, शक्ति नष्ट हो गयी। इसका सार क्षीण हो गया और इसकी शोभा भी छिन गयी। अपनी बुद्धिके द्वारा इन सब बातोंपर विचार करके अब इस बूढ़े वृक्षको त्याग दो'॥ १९॥

भीष्म उवाच

तदुपश्रुत्य धर्मात्मा शुकः शक्रेण भाषितम्।
सुदीर्घमतिनिःश्वस्य दीनो वाक्यमुवाच ह॥ २०॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इन्द्रकी यह बात सुनकर धर्मात्मा शुकने लंबी साँस खींचकर दीन भावसे यह बात कही—॥

अनतिक्रमणीयानि दैवतानि शचीपते।
यत्राभवत् तव प्रश्नस्तन्निबोध सुराधिप॥ २१॥

'शचीवल्लभ! दैवका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता। देवराज! जिसके विषयमें आपने प्रश्न किया है, उसकी बात सुनिये॥ २१॥

अस्मिन्नहं द्रुमे जातः साधुभिश्च गुणैर्युतः।
बालभावेन संगुप्तः शत्रुभिश्च न धर्षितः॥ २२॥

'मैंने इसी वृक्षपर जन्म लिया और यहीं रहकर अच्छे-अच्छे गुण सीखे हैं। इस वृक्षने अपने बालककी भाँति मुझे सुरक्षित रखा और मेरे ऊपर शत्रुओंका आक्रमण नहीं होने दिया॥ २२॥

किमनुक्रोश्य वैफल्यमुत्पादयसि मेऽनघ।
आनृशंस्याभियुक्तस्य भक्तस्यानन्यगस्य च॥ २३॥

'निष्पाप देवेन्द्र! इन्हीं सब कारणोंसे मेरी इस वृक्षके प्रति भक्ति है। मैं दयारूपी धर्मके पालनमें लगा हूँ और यहाँसे अन्यत्र नहीं जाना चाहता। ऐसी दशामें आप कृपा करके मेरी सद्भावनाको व्यर्थ बनानेकी चेष्टा क्यों करते हैं?॥

अनुक्रोशो हि साधूनां महद्धर्मस्य लक्षणम्।
अनुक्रोशश्च साधूनां सदा प्रीतिं प्रयच्छति॥ २४॥

'श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये दूसरोंपर दया करना ही महान् धर्मका सूचक है। दयाभाव श्रेष्ठ पुरुषोंको सदा ही आनन्द प्रदान करता है॥ २४॥



धर्मात्मा शुक और इन्द्रकी बातचीत



महर्षि वशिष्ठका ब्रह्माजीके साथ प्रश्नोत्तर

…मेव दैवतैः सर्वैः पृच्छ्यसे धर्मसंशयात्।
…तस्त्वं देवदेवानामाधिपत्ये प्रतिष्ठितः ॥ २५ ॥

'धर्मके विषयमें संशय होनेपर सब देवता आपसे ही …पना संदेह पूछते हैं। इसीलिये आप देवाधिदेवोंके अधि…ति पदपर प्रतिष्ठित हैं ॥ २५ ॥

…र्हसे मां सहस्राक्ष द्रुमं त्याजयितुं चिरात्।
…समर्थमुपजीव्येमं त्यजेयं कथमद्य वै ॥ २६ ॥

'सहस्राक्ष! आप इस वृक्षको मुझसे छुड़ानेके लिये प्रयत्न …न कीजिये। जब यह समर्थ था, तब मैंने दीर्घकालसे इसीके …आश्रयमें रहकर जीवन धारण किया है और आज जब यह …शक्तिहीन हो गया, तब इसे छोड़कर चल दूँ—यह कैसे हो …सकता है?' ॥ २६ ॥

…तस्य वाक्येन सौम्येन हर्षितः पाकशासनः।
…शुकं प्रोवाच धर्मात्मा आनृशंस्येन तोषितः ॥ २७ ॥

तोतेकी इस कोमल वाणीसे पाकशासन इन्द्रको बड़ी …प्रसन्नता हुई। धर्मात्मा देवेन्द्रने शुककी दयालुतासे संतुष्ट हो …उससे कहा—॥ २७ ॥

…वरं वृणीष्वेति तदा स च वव्रे वरं शुकः।
…आनृशंस्यपरो नित्यं तस्य वृक्षस्य सम्भवम् ॥ २८ ॥

'शुक! तुम मुझसे कोई वर माँगो।' तब दयापरायण …शुकने यह वर माँगा कि 'यह वृक्ष पहलेकी ही भाँति हरा-भरा हो जाय' ॥ २८ ॥

विदित्वा च दृढां भक्तिं तां शुके शीलसम्पदम्।
प्रीतः क्षिप्रमथो वृक्षममृतेनावसिक्तवान् ॥ २९ ॥

तोतेकी इस सुदृढ़ भक्ति और शील-सम्पत्तिको जानकर इन्द्रको और भी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तुरंत ही उस वृक्षको अमृतसे सींच दिया ॥ २९ ॥

ततः फलानि पत्राणि शाखाश्चापि मनोहराः।
शुकस्य दृढभक्तित्वाच्छ्रीमत्तां प्राप स द्रुमः ॥ ३० ॥

फिर तो उसमें नये-नये पत्ते, फल और मनोहर शाखाएँ निकल आयीं। तोतेकी दृढ़भक्तिके कारण वह वृक्ष पूर्ववत् श्रीसम्पन्न हो गया ॥ ३० ॥

शुकश्च कर्मणा तेन आनृशंस्यकृतेन वै।
आयुषोऽन्ते महाराज प्राप शक्रसलोकताम् ॥ ३१ ॥

महाराज! वह शुक भी आयु समाप्त होनेपर अपने उस दयापूर्ण बर्तावके कारण इन्द्रलोकको प्राप्त हुआ ॥ ३१ ॥

एवमेव मनुष्येन्द्र भक्तिमन्तं समाश्रितः।
सर्वार्थसिद्धिं लभते शुकं प्राप्य यथा द्रुमः ॥ ३२ ॥

नरेन्द्र! जैसे भक्तिमान् शुकका सहवास पाकर उस वृक्षने सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि प्राप्त कर ली, उसी प्रकार अपनेमें भक्ति रखनेवाले पुरुषका सहारा पाकर प्रत्येक मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ सिद्ध कर लेता है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शुकवासवसंवादे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें शुक और इन्द्रका संवादविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

दैवकी अपेक्षा पुरुषार्थकी श्रेष्ठताका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
दैवे पुरुषकारे च किंस्विच्छ्रेष्ठतरं भवेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ महाप्राज्ञ पितामह! दैव और पुरुषार्थमें कौन श्रेष्ठ है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वसिष्ठस्य च संवादं ब्रह्मणश्च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें वसिष्ठ और ब्रह्माजीके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

दैवमानुषयोः किंस्वित् कर्मणोः श्रेष्ठमित्युत।
पुरा वसिष्ठो भगवान् पितामहमपृच्छत ॥ ३ ॥

प्राचीन कालकी बात है, भगवान् वसिष्ठने लोक-पितामह ब्रह्माजीसे पूछा—'प्रभो! दैव और पुरुषार्थमें कौन श्रेष्ठ है?' ॥ ३ ॥

ततः पद्मोद्भवो राजन् देवदेवः पितामहः।
उवाच मधुरं वाक्यमर्थवद्धेतुभूषितम् ॥ ४ ॥

राजन्! तब कमलजन्मा देवाधिदेव पितामहने मधुर स्वरमें युक्तियुक्त सार्थक वचन कहा ॥ ४ ॥

ब्रह्मोवाच

(बीजतो ह्यङ्कुरोत्पत्तिरङ्कुरात् पर्णसम्भवः।
पर्णान्नालाः प्रसूयन्ते नालात् स्कन्धः प्रवर्तते ॥
स्कन्धात् प्रवर्तते पुष्पं पुष्पान्निर्वर्तते फलम्।
फलान्निर्वर्त्यते बीजं बीजं नाफलमुच्यते ॥)

ब्रह्माजीने कहा—मुने! बीजसे अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है, अङ्कुरसे पत्ते होते हैं। पत्तोंसे नाल, नालसे तने और डालियाँ होती हैं। उनसे पुष्प प्रकट होता है। फूलसे फल लगता है और फलसे बीज उत्पन्न होता है और बीज कभी निष्फल नहीं बताया गया है ॥

नाबीजं जायते किंचिन्न बीजेन विना फलम्।
बीजाद् बीजं प्रभवति बीजादेव फलं स्मृतम् ॥ ५ ॥

बीजके बिना कुछ भी पैदा नहीं होता, बीजके बिना फल भी नहीं लगता। बीजसे बीज प्रकट होता है और बीजसे ही फलकी उत्पत्ति मानी जाती है ॥ ५ ॥

यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम्॥ ६॥

किसान खेतमें जाकर जैसा बीज बोता है, उसीके अनुसार उसको फल मिलता है। इसी प्रकार पुण्य या पाप, जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है॥ ६॥

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम्।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति॥ ७॥

जैसे बीज खेतमें बोये बिना फल नहीं दे सकता, उसी प्रकार दैव (प्रारब्ध) भी पुरुषार्थके बिना नहीं सिद्ध होता॥ ७॥

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् ततः सस्यं समृद्ध्यते॥ ८॥

पुरुषार्थ खेत है और दैवको बीज बताया गया है। खेत और बीजके संयोगसे ही अनाज पैदा होता है॥ ८॥

कर्मणः फलनिर्वृत्तिं स्वयमश्नाति कारकः।
प्रत्यक्षं दृश्यते लोके कृतस्यापकृतस्य च॥ ९॥

कर्म करनेवाला मनुष्य अपने भले या बुरे कर्मका फल स्वयं ही भोगता है। यह बात संसारमें प्रत्यक्ष दिखायी देती है॥ ९॥

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित्॥ १०॥

शुभ कर्म करनेसे सुख और पाप कर्म करनेसे दुःख मिलता है। अपना किया हुआ कर्म सर्वत्र ही फल देता है। बिना किये हुए कर्मका फल कहीं नहीं भोगा जाता॥ १०॥

कृती सर्वत्र लभते प्रतिष्ठां भाग्यसंयुताम्।
अकृती लभते भ्रष्टः क्षते क्षारावसेचनम्॥ ११॥

पुरुषार्थी मनुष्य सर्वत्र भाग्यके अनुसार प्रतिष्ठा पाता है; परंतु जो अकर्मण्य है, वह सम्मानसे भ्रष्ट होकर घावपर नमक छिड़कनेके समान असह्य दुःख भोगता है॥ ११॥

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना॥ १२॥

मनुष्यको तपस्यासे रूप, सौभाग्य और नाना प्रकारके रत्न प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कर्मसे सब कुछ मिल सकता है; परंतु भाग्यके भरोसे निकम्मे बैठे रहनेवालेको कुछ नहीं मिलता॥ १२॥

तथा स्वर्गश्च भोगश्च निष्ठा या च मनीषिता।
सर्वं पुरुषकारेण कृतेनेहोपलभ्यते॥ १३॥

इस जगत्‌में पुरुषार्थ करनेसे स्वर्ग, भोग, धर्ममें निष्ठा और बुद्धिमत्ता—इन सबकी उपलब्धि होती है॥ १३॥

ज्योतींषि त्रिदशा नागा यक्षाश्चन्द्रार्कमारुताः।
सर्वे पुरुषकारेण मानुष्याद् देवतां गताः॥ १४॥

नक्षत्र, देवता, नाग, यक्ष, चन्द्रमा, सूर्य और वायु आदि सभी पुरुषार्थ करके ही मनुष्यलोकसे देवलोकको गये हैं॥ १४॥

अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम्।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः॥ १५॥

जो पुरुषार्थ नहीं करते, वे धन, मित्रवर्ग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल तथा दुर्लभ लक्ष्मीका भी उपभोग नहीं कर सकते॥ १५॥

शौचेन लभते विप्रः क्षत्रियो विक्रमेण तु।
वैश्यः पुरुषकारेण शूद्रः शुश्रूषया श्रियम्॥ १६॥

ब्राह्मण शौचाचारसे, क्षत्रिय पराक्रमसे, वैश्य उद्योगसे तथा शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवासे सम्पत्ति पाता है॥ १६॥

नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीबं नापि निष्क्रियम्।
नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम्॥ १७॥

न तो दान न देनेवाले कंजूसको धन मिलता है, न नपुंसकको, न अकर्मण्यको, न कामसे जी चुरानेवालेको, न शौर्यहीनको और न तपस्या न करनेवालेको ही मिलता है॥ १७॥

येन लोकास्त्रयः सृष्टा दैत्याः सर्वाश्च देवताः।
स एष भगवान् विष्णुः समुद्रे तप्यते तपः॥ १८॥

जिन्होंने तीनों लोकों, दैत्यों तथा सम्पूर्ण देवताओंकी भी सृष्टि की है, वे ही ये भगवान् विष्णु समुद्रमें रहकर तपस्या करते हैं॥ १८॥

स्वं चेत् कर्मफलं न स्यात् सर्वमेवाफलं भवेत्।
लोको दैवं समालक्ष्य उदासीनो भवेन्नु॥ १९॥

यदि अपने कर्मोंका फल न प्राप्त हो तो सारा कर्म ही निष्फल हो जाय और सब लोग भाग्यको ही देखते हुए कर्म करनेसे उदासीन हो जायँ॥ १९॥

अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैवमनुवर्तते।
वृथा श्राम्यति सम्प्राप्य पतिं क्लीबमिवाङ्गना॥ २०॥

मनुष्यके योग्य कर्म न करके जो पुरुष केवल दैवका अनुसरण करता है, वह दैवका आश्रय लेकर व्यर्थ ही कष्ट उठाता है। जैसे कोई स्त्री अपने नपुंसक पतिको पाकर भी कष्ट ही भोगती है॥ २०॥

न तथा मानुषे लोके भयमस्ति शुभाशुभे।
तथा त्रिदशलोके हि भयमल्पेन जायते॥ २१॥

इस मनुष्यलोकमें शुभाशुभ कर्मोंसे उतना भय नहीं प्राप्त होता, जितना कि देव-लोकमें थोड़े-से पापसे भय होता है॥ २१॥

कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते।
न दैवमकृते किंचित् कस्यचिद् दातुमर्हति॥ २२॥

किया हुआ पुरुषार्थ ही दैवका अनुसरण करता है; परंतु पुरुषार्थ न करनेपर दैव किसीको कुछ नहीं दे सकता॥

यथा स्थानान्यनित्यानि दृश्यन्ते दैवतेष्वपि।
कथं कर्म विना दैवं स्थास्यति स्थापयिष्यति॥ २३॥

देवताओंमें भी जो इन्द्रादिके स्थान हैं, वे अनित्य देखे जाते हैं। पुण्यकर्मके बिना दैव कैसे स्थिर रहेगा और कैसे वह दूसरोंको स्थिर रख सकेगा ॥ २३ ॥

न दैवतानि लोकेऽस्मिन् व्यापारं यान्ति कस्यचित्।
व्यासङ्गं जनयन्त्युग्रमात्माभिभवशङ्कया ॥ २४ ॥

देवता भी इस लोकमें किसीके पुण्यकर्मका अनुमोदन नहीं करते हैं, अपितु अपनी पराजयकी आशङ्कासे वे पुण्यात्मा पुरुषमें भयंकर आसक्ति पैदा कर देते हैं (जिससे उनके धर्ममें विघ्न उपस्थित हो जाय) ॥ २४ ॥

ऋषीणां देवतानां च सदा भवति विग्रहः।
कस्य वाचा ह्यदैवं स्याद् यतो दैवं प्रवर्तते ॥ २५ ॥

ऋषियों और देवताओंमें सदा कलह होता रहता है (देवता ऋषियोंकी तपस्यामें विघ्न डालते हैं तथा ऋषि अपने तपोबलसे देवताओंको स्थानभ्रष्ट कर देते हैं। फिर भी दैवके बिना केवल कथन मात्रसे किसको सुख या दुःख मिल सकता है ? क्योंकि कर्मके मूलमें दैवका ही हाथ है ॥ २५ ॥

कथं तस्य समुत्पत्तिर्यतो दैवं प्रवर्तते।
एवं त्रिदशलोकेऽपि प्राप्यन्ते बहवो गुणाः ॥ २६ ॥

दैवके बिना पुरुषार्थकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि प्रवृत्तिका मूल कारण दैव ही है (जिन्होंने पूर्वजन्ममें पुण्यकर्म किये हैं, वे ही दूसरे जन्ममें भी पूर्वसंस्कारवश पुण्यमें प्रवृत्त होते हैं। यदि ऐसा न हो तो सभी पुण्यकर्मोंमें ही लग जायँ)। देवलोकमें भी दैववश ही बहुत-से गुण (सुखद साधन) उपलब्ध होते हैं ॥ २६ ॥

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी कृतस्याप्यकृतस्य च ॥ २७ ॥

आत्मा ही अपना बन्धु है, आत्मा ही अपना शत्रु है तथा आत्मा ही अपने कर्म और अकर्मका साक्षी है ॥ २७ ॥

कृतं चाप्यकृतं किंचित् कृते कर्मणि सिद्ध्यति।
सुकृतं दुष्कृतं कर्म न यथार्थं प्रपद्यते ॥ २८ ॥

प्रबल पुरुषार्थ करनेसे पहलेका किया हुआ भी कोई कर्म बिना किया हुआ-सा हो जाता है और वह प्रबल कर्म ही सिद्ध होकर फल प्रदान करता है। इस तरह पुण्य या पापकर्म अपने यथार्थ फलको नहीं दे पाते हैं ॥ २८ ॥

देवानां शरणं पुण्यं सर्वं पुण्यैरवाप्यते।
पुण्यशीलं नरं प्राप्य किं दैवं प्रकरिष्यति ॥ २९ ॥

देवताओंका आश्रय पुण्य ही है। पुण्यसे ही सब कुछ प्राप्त होता है। पुण्यात्मा पुरुषको पाकर दैव क्या करेगा ? ॥

पुरा ययातिर्विभ्रष्टश्च्यावितः पतितः क्षितौ।
पुनरारोपितः स्वर्गं दौहित्रैः पुण्यकर्मभिः ॥ ३० ॥

पूर्वकालमें राजा ययाति पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गसे च्युत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े थे; परंतु उनके पुण्यकर्मा दौहित्रोंने उन्हें पुनः स्वर्गलोकमें पहुँचा दिया ॥ ३० ॥

पुरूरवाश्च राजर्षिर्द्विजैरभिहितः पुरा।
ऐल इत्यभिविख्यातः स्वर्गं प्राप्तो महीपतिः ॥ ३१ ॥

इसी तरह पूर्वकालमें ऐल नामसे विख्यात राजर्षि पुरूरवा ब्राह्मणोंके आशीर्वाद देनेपर स्वर्गलोकको प्राप्त हुए थे ॥

अश्वमेधादिभिर्यज्ञैः सत्कृतः कोसलाधिपः।
महर्षिशापात् सौदासः पुरुषादत्वमागतः ॥ ३२ ॥

(अब इसके विपरीत दृष्टान्त देते हैं—) अश्वमेध आदि यज्ञोंद्वारा सम्मानित होनेपर भी कोशलनरेश सौदासको महर्षि वसिष्ठके शापसे नरभक्षी राक्षस होना पड़ा ॥ ३२ ॥

अश्वत्थामा च रामश्च मुनिपुत्रौ धनुर्धरौ।
न गच्छतः स्वर्गलोकं सुकृतेनेह कर्मणा ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार अश्वत्थामा और परशुराम—ये दोनों ही ऋषिपुत्र और धनुर्धर वीर हैं। इन दोनोंने पुण्यकर्म भी किये हैं तथापि उस कर्मके प्रभावसे स्वर्गमें नहीं गये ॥ ३३ ॥

वसुर्यज्ञशतैरिष्ट्वा द्वितीय इव वासवः।
मिथ्याभिधानेनैकेन रसातलतलं गतः ॥ ३४ ॥

द्वितीय इन्द्रके समान सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके भी राजा वसु एक ही मिथ्या भाषणके दोषसे रसातलको चले गये ॥ ३४ ॥

बलिर्वैरोचनिर्बद्धो धर्मपाशेन दैवतैः।
विष्णोः पुरुषकारेण पातालसदनः कृतः ॥ ३५ ॥

विरोचनकुमार बलिको देवताओंने धर्मपाशसे बाँध लिया और भगवान् विष्णुके पुरुषार्थसे वे पातालवासी बना दिये गये ॥ ३५ ॥

शक्रस्योद्यम्य चरणं प्रस्थितो जनमेजयः।
द्विजस्त्रीणां वधं कृत्वा किं दैवेन न वारितः ॥ ३६ ॥

राजा जनमेजय द्विज स्त्रियोंका वध करके इन्द्रके चरण-का आश्रय ले जब स्वर्गलोकको प्रस्थित हुए, उस समय दैवने उसे आकर क्यों नहीं रोका ॥ ३६ ॥

अज्ञानाद् ब्राह्मणं हत्वा स्पृष्टो बालवधेन च।
वैशम्पायनविप्रर्षिः किं दैवेन न वारितः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मर्षि वैशम्पायन अज्ञानवश ब्राह्मणकी हत्या करके बाल-वधके पापसे भी लिप्त हो गये थे तो भी दैवने उन्हें स्वर्ग जानेसे क्यों नहीं रोका ॥ ३७ ॥

गोप्रदानेन मिथ्या च ब्राह्मणेभ्यो महामखे।
पुरा नृगश्च राजर्षिः कृकलासत्वमागतः ॥ ३८ ॥

पूर्वकालमें राजर्षि नृग बड़े दानी थे। एक बार किसी महायज्ञमें ब्राह्मणोंको गोदान करते समय उनसे भूल हो गयी अर्थात् एक गऊको दुबारा दानमें दे दिया, जिसके कारण उन्हें गिरगटकी योनिमें जाना पड़ा ॥ ३८ ॥

धुन्धुमारश्च राजर्षिः सत्रेष्वेव जरां गतः।
प्रीतिदायं परित्यज्य सुष्वाप स गिरिव्रजे ॥ ३९ ॥

राजर्षि धुन्धुमार यज्ञ करते-करते बूढ़े हो गये तथापि देवताओंके प्रसन्नतापूर्वक दिये हुए वरदानको त्यागकर गिरिव्रजमें सो गये, (यज्ञका फल नहीं पा सके) ॥ ३९ ॥

पाण्डवानां हृतं राज्यं धार्तराष्ट्रैर्महाबलैः ।
पुनः प्रत्याहृतं चैव न दैवाद् भुजसंश्रयात् ॥ ४० ॥

महाबली धृतराष्ट्र-पुत्रोंने पाण्डवोंका राज्य हड़प लिया था। उसे पाण्डवोंने पुनः बाहुबलसे ही वापस लिया। दैवके भरोसे नहीं ॥ ४० ॥

तपोनियमसंयुक्ता मुनयः संशितव्रताः ।
किं ते दैवबलाच्छापमुत्सृजन्ते न कर्मणा ॥ ४१ ॥

तप और नियममें संयुक्त रहकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनि क्या दैवबलसे ही किसीको शाप देते हैं, पुरुषार्थके बलसे नहीं ? ॥ ४१ ॥

पापमुत्सृजते लोके सर्वं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
लोभमोहसमापन्नं न दैवं त्रायते नरम् ॥ ४२ ॥

संसारमें समस्त सुदुर्लभ सुख-भोग किसी पापीको प्राप्त हो जाय तो भी वह उसके पास टिकता नहीं, शीघ्र ही उसे छोड़कर चल देता है। जो मनुष्य लोभ और मोहमें डूबा हुआ है, उसे दैव भी संकटसे नहीं बचा सकता ॥ ४२ ॥

यथाग्निः पवनोद्धूतः सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत् ।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ॥ ४३ ॥

जैसे थोड़ी-सी भी आग वायुका सहारा पाकर बहुत बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थका सहारा पाकर दैवका बल विशेष बढ़ जाता है ॥ ४३ ॥

यथा तैलक्षयाद् दीपः प्रह्रासमुपगच्छति ।
तथा कर्मक्षयाद् दैवं प्रह्रासमुपगच्छति ॥ ४४ ॥

जैसे तेल समाप्त हो जानेसे दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार कर्मके क्षीण हो जानेपर दैव भी नष्ट हो जाता है ॥

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान् स्त्रियो वा
पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम्।
सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणं
पुरुष इह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः ॥ ४५ ॥

उद्योगहीन मनुष्य धनका बहुत बड़ा भण्डार, तरह-तरहके भोग और स्त्रियोंको पाकर भी उनका उपभोग नहीं कर सकता; किंतु सदा उद्योगमें लगा रहनेवाला महामनस्वी पुरुष देवताओंद्वारा सुरक्षित तथा गाड़कर रखे हुए धनको भी प्राप्त कर लेता है ॥ ४५॥

व्ययगुणमपि साधुं कर्मणा संश्रयन्ते
भवति मनुजलोकाद् देवलोको विशिष्टः।
बहुतरसुसमृद्ध्या मानुषाणां गृहाणि
पितृवनभवनाभं दृश्यते चामराणाम् ॥ ४६ ॥

जो दान करनेके कारण निर्धन हो गया है, ऐसे सत्पुरुषके पास उसके सत्कर्मके कारण देवता भी पहुँचते हैं और इस प्रकार उसका घर मनुष्यलोककी अपेक्षा श्रेष्ठ देवलोक-सा हो जाता है। परंतु जहाँ दान नहीं होता, वह घर बड़ी भारी समृद्धिसे भरा हो तो भी देवताओंकी दृष्टिमें वह श्मशान-के ही तुल्य जान पड़ता है ॥ ४६ ॥

न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवं
व्यपनयति विमार्गं नास्ति दैवे प्रभुत्वम्।
गुरुमिव कृतमग्र्यं कर्म संयाति दैवं
नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र ॥ ४७ ॥

इस जीव-जगत्‌में उद्योगहीन मनुष्य कभी फूलता-फलता नहीं दिखायी देता। दैवमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह उसे कुमार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगा दे। जैसे शिष्य गुरुको आगे करके चलता है, उसी तरह दैव पुरुषार्थको ही आगे करके स्वयं उसके पीछे चलता है। संचित किया हुआ पुरुषार्थ ही दैवको जहाँ चाहता है, वहाँ-वहाँ ले जाता है ॥ ४७ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया वै मुनिसत्तम ।
फलं पुरुषकारस्य सदा संदृश्य तत्त्वतः ॥ ४८ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! मैंने सदा पुरुषार्थके ही फलको प्रत्यक्ष देखकर यथार्थरूपसे ये सारी बातें तुम्हें बतायी हैं ॥ ४८ ॥

अभ्युत्थानेन दैवस्य समारब्धेन कर्मणा ।
विधिना कर्मणा चैव स्वर्गमार्गमवाप्नुयात् ॥ ४९ ॥

मनुष्य दैवके उत्थानसे आरम्भ किये हुए पुरुषार्थसे उत्तम विधि और शास्त्रोक्त सत्कर्मसे ही स्वर्गलोकका मार्ग पा सकता है ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि दैवपुरुषकारनिर्देशे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें दैव और पुरुषार्थका निर्देशविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं)



सप्तमोऽध्यायः

कर्मोंके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कर्मणां च समस्तानां शुभानां भरतर्षभ ।
फलानि महतां श्रेष्ठ प्रब्रूहि परिपृच्छतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महापुरुषोंमें प्रधान भरतश्रेष्ठ ! अब मैं समस्त शुभ कर्मोंके फल क्या हैं ? यह पूछ रहा हूँ, अतः यही बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां पृच्छसि भारत।
रहस्यं यदृषीणां तु तच्छृणुष्व युधिष्ठिर।
या गतिः प्राप्यते येन प्रेत्यभावे चिरेप्सिता॥ २॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन युधिष्ठिर! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, यह ऋषियोंके लिये भी रहस्यका विषय है, किंतु मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। सुनो, मरनेके बाद जिस मनुष्यको जैसी चिर अभिलषित गति मिलती है, उसका भी वर्णन करता हूँ॥ २॥

येन येन शरीरेण यद् यत् कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्नुते॥ ३॥

मनुष्य जिस-जिस (स्थूल या सूक्ष्म) शरीरसे जो-जो कर्म करता है, उसी-उसी शरीरसे उस-उस कर्मका फल भोगता है॥ ३॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यत् करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि॥४॥

जिस-जिस अवस्थामें वह जो-जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, प्रत्येक जन्ममें उसी-उसी अवस्थामें वह उसका फल भोगता है॥ ४॥

न नश्यति कृतं कर्म सदा पञ्चेन्द्रियैरिह।
ते ह्यस्य साक्षिणो नित्यं षष्ठ आत्मा तथैव च॥ ५॥

पाँचों इन्द्रियोंद्वारा किया हुआ कर्म कभी नष्ट नहीं होता है। वे पाँचों इन्द्रियाँ और छठा मन—ये उस कर्मके साक्षी होते हैं॥ ५॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः॥ ६॥

अतः मनुष्यको उचित है कि यदि कोई अतिथि घरपर आ जाय तो उसको प्रसन्न दृष्टिसे देखे। उसकी सेवामें मन लगावे। मीठी बोली बोलकर उसे संतुष्ट करे। जब वह जाने लगे तो उसके पीछे-पीछे कुछ दूरतक जाय और जबतक वह रहे, उसके स्वागत-सत्कारमें लगा रहे—ये पाँच काम करना गृहस्थके लिये पाँच प्रकारकी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ कहलाता है॥ ६॥

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत्॥ ७॥

जो थके-माँदे अपरिचित पथिकको प्रसन्नतापूर्वक अन्न दान करता है, उसे महान् पुण्यफलकी प्राप्ति होती है॥ ७॥

स्थण्डिलेषु शयानानां गृहाणि शयनानि च।
चीरवल्कलसंवीते वासांस्याभरणानि च॥ ८॥

जो वानप्रस्थी वेदीपर शयन करते हैं, उन्हें जन्मान्तरमें उत्तम गृह और शय्याकी प्राप्ति होती है। जो चीर और वल्कल वस्त्र पहनते हैं, उन्हें दूसरे जन्ममें उत्तम वस्त्र और उत्तम आभूषणोंकी प्राप्ति होती है॥ ८॥

वाहनानि च यानानि योगात्मनि तपोधने।
अग्नीनुपशयानस्य राज्ञः पौरुषमेव च॥ ९॥

जिसका चित्त योगयुक्त होता है, उस तपोधन पुरुषको दूसरे जन्ममें अच्छे-अच्छे वाहन और यान उपलब्ध होते हैं तथा अग्निकी उपासना करनेवाले राजाको जन्मान्तरमें पौरुषकी प्राप्ति होती है॥ ९॥

रसानां प्रतिसंहारे सौभाग्यमनुगच्छति।
आमिषप्रतिसंहारे पशून् पुत्रांश्च विन्दति॥ १०॥

रसोंका परित्याग करनेसे सौभाग्यकी और मांसका त्याग करनेसे पशुओं तथा पुत्रोंकी प्राप्ति होती है॥ १०॥

अवाक्शिरास्तु यो लम्बेदुदवासं च यो वसेत्।
सततं चैकशायी यः स लभेतेप्सितां गतिम्॥ ११॥

जो तपस्वी नीचे सिर करके लटकता है अथवा जलमें निवास करता है तथा जो सदा ही अकेला सोता (ब्रह्मचर्यका पालन करता) है, वह मनोवाञ्छित गतिको प्राप्त होता है॥

पाद्यमासनमेवाथ दीपमन्नं प्रतिश्रयम्।
दद्यादतिथिपूजार्थं स यज्ञः पञ्चदक्षिणः॥ १२॥

जो अतिथिको पैर धोनेके लिये जल, बैठनेके लिये आसन, प्रकाशके लिये दीपक, खानेके लिये अन्न और ठहरनेके लिये घर देता है, इस प्रकार अतिथिका सत्कार करनेके लिये इन पाँच वस्तुओंका दान 'पञ्चदक्षिण यज्ञ' कहलाता है॥

वीरासनं वीरशय्यां वीरस्थानमुपागतः।
अक्षयास्तस्य वै लोकाः सर्वकामगमास्तथा॥ १३॥

जो वीरासन रणभूमिमें जाकर वीरशय्या (मृत्यु) को प्राप्त हो वीरस्थान (स्वर्गलोक) में जाता है, उसे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति होती है, वे लोक सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं॥ १३॥

धनं लभेत दानेन मौनेनाज्ञां विशाम्पते।
उपभोगांश्च तपसा ब्रह्मचर्येण जीवितम्॥ १४॥

प्रजानाथ! मनुष्य दानसे धन पाता है, मौन-व्रतके पालनसे दूसरोंद्वारा आज्ञापालन करानेकी शक्ति प्राप्त करता है, तपस्यासे भोग और ब्रह्मचर्य-पालनसे जीवन (आयु) की उपलब्धि होती है॥ १४॥

रूपमैश्वर्यमारोग्यमहिंसाफलमश्नुते।
फलमूलाशिनो राज्यं स्वर्गः पर्णाशिनां भवेत्॥ १५॥

अहिंसा धर्मके आचरणसे रूप, ऐश्वर्य और आरोग्यरूपी फलकी प्राप्ति होती है। फल-मूल खानेवालेको राज्य और पत्ते चबाकर रहनेवालेको स्वर्गकी प्राप्ति होती है॥ १५॥

प्रायोपवेशिनो राजन् सर्वत्र सुखमुच्यते।
गवाढ्यः शाकदीक्षायां स्वर्गगामी तृणाशनः॥ १६॥

राजन्! जो आमरण अनशनका व्रत लेकर बैठता है, उसके लिये सर्वत्र सुख बताया गया है। शाकाहारकी दीक्षा लेनेपर गोधनकी प्राप्ति होती है और तृण खाकर रहनेवाला पुरुष स्वर्गलोकमें जाता है॥ १६॥

स्त्रियस्त्रिषवणं स्नात्वा वायुं पीत्वा क्रतुं लभेत्।
स्वर्गं सत्येन लभते दीक्षया कुलमुत्तमम् ॥ १७ ॥

स्त्री-सम्बन्धी भोगोंका परित्याग करके त्रिकाल स्नान करते हुए वायु पीकर रहनेसे यज्ञका फल प्राप्त होता है। सत्यसे मनुष्य स्वर्गको और दीक्षासे उत्तम कुलको पाता है ॥

सलिलाशी भवेद् यस्तु सदाग्निः संस्कृतो द्विजः।
मनुं साधयतो राज्यं नाकपृष्ठमनाशके ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मण सदा जल पीकर रहता है, अग्निहोत्र करता है और मन्त्र-साधनामें संलग्न रहता है, उसे राज्य मिलता है और निराहारव्रत करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १८ ॥

उपवासं च दीक्षायामभिषेकं च पार्थिव।
कृत्वा द्वादश वर्षाणि वीरस्थानाद् विशिष्यते ॥ १९ ॥

पृथ्वीनाथ ! जो पुरुष बारह वर्षोंतकके लिये व्रतकी दीक्षा लेकर अन्नका त्याग करता और तीर्थोंमें स्नान करता रहता है, उसे रणभूमिमें प्राण त्यागनेवाले वीरसे भी बढ़कर उत्तम लोककी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

अधीत्य सर्ववेदान् वै सद्यो दुःखाद् विमुच्यते।
मानसं हि चरन् धर्मं स्वर्गलोकमुपाश्नुते ॥ २० ॥

जो सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर लेता है, वह तत्काल दुःखसे मुक्त हो जाता है तथा जो मनसे धर्मका आचरण करता है, उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ॥ २० ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥ २१ ॥

खोटी बुद्धिवाले पुरुषोंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्यके जीर्ण हो जानेपर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणनाशक रोगके समान सदा कष्ट देती रहती है, उस तृष्णाका त्याग कर देनेवाले पुरुषको ही सुख मिलता है ॥ २१ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ २२ ॥

जैसे बछड़ा हजारों गौओंके बीचमें अपनी माताको ढूँढ़ लेता है, उसी प्रकार पहलेका किया हुआ कर्म भी कर्ताको पहचानकर उसका अनुसरण करता है ॥ २२ ॥

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वकालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ २३ ॥

जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणा न होनेपर भी अपने समयका उल्लङ्घन नहीं करते—ठीक समयपर फूलने-फलने लग जाते हैं, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी समयपर फल देता ही है ॥ २३ ॥

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
चक्षुःश्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका न तु जीर्यते ॥ २४ ॥

मनुष्यके जीर्ण (जराग्रस्त) होनेपर उसके केश जीर्ण होकर झड़ जाते हैं, वृद्ध पुरुषके दाँत भी टूट जाते हैं, नेत्र और कान भी जीर्ण होकर अन्धे-बहरे हो जाते हैं। केवल तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती है (वह सदा नयी-नवेली बनी रहती है) ॥ २४ ॥

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥ २५ ॥
येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम्।

मनुष्य जिस व्यवहारसे पिताको प्रसन्न करता है, उससे भगवान् प्रजापति प्रसन्न होते हैं। जिस बर्तावसे वह माताको संतुष्ट करता है, उससे पृथ्वी देवीकी भी पूजा हो जाती है तथा जिससे वह उपाध्यायको तृप्त करता है, उसके द्वारा परब्रह्म परमात्माकी पूजा सम्पन्न हो जाती है ॥ २५½ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २६ ॥

जिसने इन तीनोंका आदर किया, उसके द्वारा सभी धर्मोंका आदर हो गया और जिसने इन तीनोंका अनादर कर दिया, उसकी सम्पूर्ण यज्ञादिक क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीष्मस्यैतद् वचः श्रुत्वा विस्मिताः कुरुपुङ्गवाः।
आसन् प्रहृष्टमनसः प्रीतिमन्तोऽभवंस्तदा ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मजीकी यह बात सुनकर समस्त श्रेष्ठ कुरुवंशी आश्चर्यचकित हो उठे। सबके मनमें हर्षजनित उल्लास भर गया। उस समय सभी बड़े प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥

यन्मन्त्रे भवति वृथोपयुज्यमाने
यत् सोमे भवति वृथाभिषूयमाणे।
यच्चाग्नौ भवति वृथाभिहूयमाने
तत् सर्वं भवति वृथाभिधीयमाने ॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वेदमन्त्रोंका व्यर्थ (अशुद्ध) उपयोग (उच्चारण) करनेपर जो पाप लगता है, सोमयागको दक्षिणा आदि न देनेके कारण व्यर्थ कर देनेपर जो दोष लगता है तथा विधि और मन्त्रके बिना अग्निमें निरर्थक आहुति देनेपर जो पाप होता है; वह सारा पाप मिथ्या भाषण करनेसे प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

इत्येतदृषिणा प्रोक्तमुक्तवानस्मि यद् विभो।
शुभाशुभफलप्राप्तौ किमतः श्रोतुमिच्छसि ॥ २९ ॥

राजन् ! शुभ और अशुभ फलकी प्राप्तिके विषयमें महर्षि व्यासने ये सब बातें बतायी थीं, जिन्हें मैंने इस समय तुमसे कहा है। अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कर्मफलिकोपाख्याने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें कर्मफलका उपाख्यानविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी महिमा

युधिष्ठिर उवाच

के पूज्याः के नमस्कार्याः कान् नमस्यसि भारत ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व येभ्यः स्पृहयसे नृप ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! इस जगत्‌में कौन-कौन पुरुष पूजन और नमस्कारके योग्य हैं ? आप किनको प्रणाम करते हैं ? तथा नरेश्वर ! आप किनको चाहते हैं ? यह सब मुझे बताइये ॥ १ ॥

उत्तमापद्गतस्यापि यत्र ते वर्तते मनः ।
मनुष्यलोके सर्वस्मिन् यदमुत्रेह चाप्युत ॥ २ ॥

बड़ी-से-बड़ी आपत्तिमें पड़नेपर भी आपका मन किनका स्मरण किये बिना नहीं रहता ? तथा इस समस्त मानवलोक और परलोकमें हितकारक क्या है ? ये सब बातें बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

स्पृहयामि द्विजातिभ्यो येषां ब्रह्म परं धनम् ।
येषां स्वप्रत्ययः स्वर्गस्तपः स्वाध्यायसाधनम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जिनका ब्रह्म (वेद) ही परम धन है, आत्मज्ञान ही स्वर्ग है तथा वेदोंका स्वाध्याय करना ही श्रेष्ठ तप है, उन ब्राह्मणोंको मैं चाहता हूँ ॥ ३ ॥

येषां बालाश्च वृद्धाश्च पितृपैतामहीं धुरम् ।
उद्वहन्ति न सीदन्ति तेभ्यो वै स्पृहयाम्यहम् ॥ ४ ॥

जिनके कुलमें बच्चेसे लेकर बूढ़ेतक बाप-दादोंकी परम्परासे चले आनेवाले धार्मिक कार्यका भार सँभालते हैं; परंतु उसके लिये मनमें कभी खेदका अनुभव नहीं करते हैं, ऐसे ही लोगोंको मैं चाहता हूँ ॥ ४ ॥

विद्यास्वभिविनीतानां दान्तानां मृदुभाषिणाम् ।
श्रुतवृत्तोपपन्नानां सदाक्षरविदां सताम् ॥ ५ ॥
संसत्सु वदतां तात हंसानामिव संघशः ।
मङ्गल्यरूपा रुचिरा दिव्यजीमूतनिःस्वनाः ॥ ६ ॥
सम्यगुच्चरिता वाचः श्रूयन्ते हि युधिष्ठिर ।
शुश्रूषमाणे नृपतौ प्रेत्य चेह सुखावहाः ॥ ७ ॥

जो विनीत भावसे विद्याध्ययन करते हैं, इन्द्रियोंको संयममें रखते हैं और मीठे वचन बोलते हैं, जो शास्त्रज्ञान और सदाचार दोनोंसे सम्पन्न हैं, अविनाशी परमात्माको जाननेवाले सत्पुरुष हैं, तात युधिष्ठिर ! सभाओंमें बोलते समय हंस-समूहोंकी भाँति जिनके मुखसे मेघके समान गम्भीर स्वरसे मनोहर मङ्गलमयी एवं अच्छे ढंगसे कही गयी बातें सुनायी देती हैं, उन ब्राह्मणोंको ही मैं चाहता हूँ । यदि राजा उन महात्माओंकी बातें सुननेकी इच्छा रखे तो वे उसे इहलोक और परलोकमें भी सुख पहुँचानेवाली होती हैं ॥ ५–७ ॥

ये चापि तेषां श्रोतारः सदा सदसि सम्मताः ।
विज्ञानगुणसम्पन्नास्तेभ्यश्च स्पृहयाम्यहम् ॥ ८ ॥

जो प्रतिदिन उन महात्माओंकी बातें सुनते हैं, वे श्रोता विज्ञानगुणसे सम्पन्न हो सभाओंमें सम्मानित होते हैं । मैं ऐसे श्रोताओंकी भी चाह रखता हूँ ॥ ८ ॥

सुसंस्कृतानि प्रयताः शुचीनि गुणवन्ति च ।
ददत्यन्नानि तृप्त्यर्थं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥
ये चापि सततं राजंस्तेभ्यश्च स्पृहयाम्यहम् ।

राजा युधिष्ठिर ! जो पवित्र होकर ब्राह्मणोंको उनकी तृप्तिके लिये शुद्ध और अच्छे ढंगसे तैयार किये हुए पवित्र तथा गुणकारक अन्न परोसते हैं, उनको भी मैं सदा चाहता हूँ ॥ ९½ ॥

शक्यं ह्येवाहवे योद्धुं न दातुमनसूयितम् ॥ १० ॥
शूरा वीराश्च शतशः सन्ति लोके युधिष्ठिर ।
येषां संख्यायमानानां दानशूरो विशिष्यते ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर ! संग्राममें युद्ध करना सहज है । परंतु दोषदृष्टिसे रहित होकर दान देना सहज नहीं है । संसारमें सैकड़ों शूरवीर हैं; परंतु उनकी गणना करते समय जो उनमें दानशूर हो, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १०-११ ॥

धन्यः स्यां यद्यहं भूयः सौम्य ब्राह्मणकोऽपि वा ।
कुले जातो धर्मगतिस्तपोविद्यापरायणः ॥ १२ ॥

सौम्य ! यदि मैं कुलीन, धर्मात्मा, तपस्वी और विद्वान् अथवा कैसा भी ब्राह्मण होता तो अपनेको धन्य समझता ॥

न मे त्वत्तः प्रियतरो लोकेऽस्मिन् पाण्डुनन्दन ।
त्वत्तश्चापि प्रियतरा ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ १३ ॥

पाण्डुनन्दन ! इस संसारमें मुझे तुमसे अधिक प्रिय कोई नहीं है; परंतु भरतश्रेष्ठ ! ब्राह्मणोंको मैं तुमसे भी अधिक प्रिय मानता हूँ ॥ १३ ॥

यथा मम प्रियतमास्त्वत्तो विप्राः कुरूत्तम ।
तेन सत्येन गच्छेयं लोकान् यत्र स शान्तनुः ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! 'ब्राह्मण मुझे तुम्हारी अपेक्षा भी बहुत अधिक प्रिय हैं'—इस सत्यके प्रभावसे मैं उन्हीं पुण्यलोकोंमें जाऊँगा, जहाँ मेरे पिता महाराज शान्तनु गये हैं ॥ १४ ॥

न मे पिता प्रियतरो ब्राह्मणेभ्यस्तथाभवत् ।
न मे पितुः पिता वापि ये चान्येऽपि सुहृज्जनाः ॥ १५ ॥

मेरे पिता भी मुझे ब्राह्मणोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय नहीं रहे हैं । पितामह और अन्य सुहृदोंको भी मैंने कभी ब्राह्मणोंसे अधिक प्रिय नहीं समझा है ॥ १५ ॥

न हि मे वृजिनं किंचिद् विद्यते ब्राह्मणेष्विह ।
अणु वा यदि वा स्थूलं विद्यते साधुकर्मसु ॥ १६ ॥

मेरे द्वारा ब्राह्मणोंके प्रति किन्हीं श्रेष्ठ कर्मोंमें कभी छोटा-मोटा किञ्चिन्मात्र भी अपराध नहीं हुआ है ॥ १६ ॥

कर्मणा मनसा वापि वाचा वापि परंतप।
यन्मे कृतं ब्राह्मणेभ्यस्तेनाद्य न तपाम्यहम् ॥ १७ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! मैंने मन, वाणी और कर्मसे ब्राह्मणोंका जो थोड़ा-बहुत उपकार किया है, उसीके प्रभावसे आज इस अवस्थामें पड़ जानेपर भी मुझे पीड़ा नहीं होती है ॥ १७ ॥

ब्रह्मण्य इति मामाहुस्तया वाचास्मि तोषितः।
एतदेव पवित्रेभ्यः सर्वेभ्यः परमं स्मृतम् ॥ १८ ॥

लोग मुझे ब्राह्मणभक्त कहते हैं। उनके इस कथनसे मुझे बड़ा संतोष होता है। ब्राह्मणोंकी सेवा ही सम्पूर्ण पवित्र कर्मोंसे बढ़कर परम पवित्र कार्य है ॥ १८ ॥

पश्यामि लोकानमलाञ्छुचीन् ब्राह्मणयायिनः।
तेषु मे तात गन्तव्यमह्नाय च चिराय च ॥ १९ ॥

तात ! ब्राह्मणकी सेवामें रहनेवाले पुरुषको जिन पवित्र और निर्मल लोकोंकी प्राप्ति होती है, उन्हें मैं यहींसे देखता हूँ। अब शीघ्र मुझे चिरकालके लिये उन्हीं लोकोंमें जाना है ॥

यथा भर्त्राश्रयो धर्मः स्त्रीणां लोके युधिष्ठिर।
स देवः सा गतिर्नान्या क्षत्रियस्य तथा द्विजाः ॥ २० ॥

युधिष्ठिर ! जैसे स्त्रियोंके लिये पतिकी सेवा ही संसारमें सबसे बड़ा धर्म है, पति ही उनका देवता और वही उनकी परम गति है, उनके लिये दूसरी कोई गति नहीं है; उसी प्रकार क्षत्रियके लिये ब्राह्मणकी सेवा ही परम धर्म है। ब्राह्मण ही उनका देवता और परम गति है, दूसरा नहीं ॥ २० ॥

क्षत्रियः शतवर्षी च दशवर्षी द्विजोत्तमः।
पितापुत्रौ च विज्ञेयौ तयोर्हि ब्राह्मणो गुरुः ॥ २१ ॥

क्षत्रिय सौ वर्षका हो और श्रेष्ठ ब्राह्मण दस वर्षकी अवस्था-का हो तो भी उन दोनोंको परस्पर पुत्र और पिताके समान जानना चाहिये। उनमें ब्राह्मण पिता है और क्षत्रिय पुत्र ॥

नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्।
पृथिवी ब्राह्मणालाभे क्षत्रियं कुरुते पतिम् ॥ २२ ॥

जैसे नारी पतिके अभावमें देवरको पति बनाती है, उसी प्रकार पृथ्वी ब्राह्मणके न मिलनेपर ही क्षत्रियको अपना अधिपति बनाती है ॥ २२ ॥

(ब्राह्मणानुज्ञया ग्राह्यं राज्यं च सपुरोहितैः।
तद्रक्षणेन स्वर्गोऽस्य तत्कोपान्नरकोऽक्षयः ॥)

पुरोहितसहित राजाओंको ब्राह्मणकी आज्ञासे राज्य ग्रहण करना चाहिये। ब्राह्मणकी रक्षासे ही राजाको स्वर्ग मिलता है और उसको रुष्ट कर देनेसे वह अनन्तकालके लिये नरकमें गिर जाता है ॥

पुत्रवच्च ततो रक्ष्या उपास्या गुरुवच्च ते।
अग्निवच्चोपचर्या वै ब्राह्मणाः कुरुसत्तम ॥ २३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! ब्राह्मणोंकी पुत्रके समान रक्षा, गुरुकी भाँति उपासना और अग्निकी भाँति उनकी सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥

ऋजून् सतः सत्यशीलान् सर्वभूतहिते रतान्।
आशीविषानिव क्रुद्धान् द्विजान् परिचरेत् सदा ॥ २४ ॥
(दूरतो मातृवत् पूज्या विप्रदाराः सुरक्षया।)

सरल, साधु, स्वभावतः सत्यवादी तथा समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले ब्राह्मणोंकी सदा ही सेवा करनी चाहिये और क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान समझकर उनसे भयभीत रहना चाहिये। ब्राह्मणोंकी जो स्त्रियाँ हों, उनकी भी सुरक्षाका ध्यान रखते हुए माताके समान उनका दूरसे ही पूजन करना चाहिये ॥ २४ ॥

तेजसस्तपसश्चैव नित्यं बिभ्येद् युधिष्ठिर।
उभे चैते परित्याज्ये तेजश्चैव तपस्तथा ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ! ब्राह्मणोंके तेज और तपसे सदा डरना चाहिये तथा उनके सामने अपने तप एवं तेजका अभिमान त्याग देना चाहिये ॥ २५ ॥

व्यवसायस्तयोः शीघ्रमुभयोरेव विद्यते।
हन्युः क्रुद्धा महाराज ब्राह्मणा ये तपस्विनः ॥ २६ ॥

महाराज ! ब्राह्मणके तप और क्षत्रियके तेजका फल शीघ्र ही प्रकट होता है तथापि जो तपस्वी ब्राह्मण हैं, वे कुपित होनेपर तेजस्वी क्षत्रियको अपने तपके प्रभावसे मार सकते हैं ॥

भूयः स्यादुभयं दत्तं ब्राह्मणाद् यदकोपनात्।
कुर्यादुभयतः शेषं दत्तशेषं न शेषयेत् ॥ २७ ॥

क्रोधरहित—क्षमाशील ब्राह्मणको पाकर क्षत्रियकी ओरसे अधिक मात्रामें प्रयुक्त किये गये तप और तेज आगपर रूईके ढेरके समान तत्काल नष्ट हो जाते हैं। यदि दोनों ओरसे एक-दूसरेपर तेज और तपका प्रयोग हो तो उनका सर्वथा नाश नहीं होता; परंतु क्षमाशील ब्राह्मणके द्वारा खण्डित होनेसे बचा हुआ क्षत्रियका तेज किसी तेजस्वी ब्राह्मणपर प्रयुक्त हो तो वह उससे प्रतिहत होकर सर्वथा नष्ट हो जाता है, थोड़ा-सा भी शेष नहीं रह जाता ॥ २७ ॥

दण्डपाणिर्यथा गोषु पालो नित्यं हि रक्षयेत्।
ब्राह्मणान् ब्रह्म च तथा क्षत्रियः परिपालयेत् ॥ २८ ॥

जैसे चरवाहा हाथमें डंडा लेकर सदा गौओंकी रखवाली करता है, उसी प्रकार क्षत्रियको उचित है कि वह ब्राह्मणों और वेदोंकी सदा रक्षा करे ॥ २८ ॥

पितेव पुत्रान् रक्षेथा ब्राह्मणान् धर्मचेतसः।
गृहे चैषामवेक्षेथाः किंस्विदस्तीति जीवनम् ॥ २९ ॥

राजाको चाहिये कि वह धर्मात्मा ब्राह्मणोंकी उसी तरह रक्षा करे, जैसे पिता पुत्रोंकी करता है। वह सदा इस बातकी देख-भाल करता रहे कि उनके घरमें जीवन-निर्वाहके लिये क्या है और क्या नहीं है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी प्रशंसाविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।८।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके $1\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल $30\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

नवमोऽध्यायः

ब्राह्मणको देनेकी प्रतिज्ञा करके न देने तथा उसके धनका अपहरण करनेसे दोषकी प्राप्तिके विषयमें सियार और वानरके संवादका उल्लेख एवं ब्राह्मणोंको दान देनेकी महिमा

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणानां तु ये लोकाः प्रतिश्रुत्य पितामह ।
न प्रयच्छन्ति मोहात् ते के भवन्ति महाद्युते ॥ १ ॥
एतन्मे तत्त्वतो ब्रूहि धर्मं धर्मभृतां वर ।
प्रतिश्रुत्य दुरात्मानो न प्रयच्छन्ति ये नराः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी पितामह ! जो लोग ब्राह्मणोंको कुछ देनेकी प्रतिज्ञा करके फिर मोहवश नहीं देते हैं, जो दुरात्मा दानका संकल्प करके भी दान नहीं देते हैं, वे क्या होते हैं ? यह धर्मका विषय मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

यो न दद्यात् प्रतिश्रुत्य स्वल्पं वा यदि वा बहु ।
आशास्तस्य हताः सर्वाः क्लीबस्येव प्रजाफलम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो थोड़ा या अधिक देनेकी प्रतिज्ञा करके उसे नहीं देता है, उसकी सभी आशाएँ वैसे ही नष्ट हो जाती हैं, जैसे नपुंसककी संतानरूपी फलविषयक आशा ॥ ३ ॥

यां रात्रिं जायते जीवो यां रात्रिं च विनश्यति ।
एतस्मिन्नन्तरे यद् यत् सुकृतं तस्य भारत ॥ ४ ॥
यच्च तस्य हुतं किंचिद् दत्तं वा भरतर्षभ ।
तपस्तप्तमथो वापि सर्वं तस्योपहन्यते ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! जीव जिस रातको जन्म लेता है और जिस रातको उसकी मौत होती है—इन दोनों रात्रियोंके बीचमें जीवनभर वह जो-जो पुण्यकर्म करता है, भरतश्रेष्ठ ! उसने आजीवन जो कुछ होम, दान तथा तप किया होता है, उसका वह सब कुछ उस प्रतिज्ञा-भङ्गके पापसे नष्ट हो जाता है ।४-५।

अथैतद् वचनं प्राहुर्धर्मशास्त्रविदो जनाः ।
निशाम्य भरतश्रेष्ठ बुद्ध्या परमयुक्तया ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! धर्मशास्त्रके ज्ञाता मनुष्य अपनी परम योगयुक्त बुद्धिसे विचार करके यह उपर्युक्त बात कहते हैं ॥ ६ ॥

अपि चोदाहरन्तीमं धर्मशास्त्रविदो जनाः ।
अश्वानां श्यामकर्णानां सहस्रेण स मुच्यते ॥ ७ ॥

धर्मशास्त्रोंके विद्वान् यह भी कहते हैं कि प्रतिज्ञा-भङ्गका पाप करनेवाला पुरुष एक हजार श्यामकर्ण घोड़ोंका दान करनेसे उस पापसे मुक्त होता है ॥ ७ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शृगालस्य च संवादं वानरस्य च भारत ॥ ८ ॥

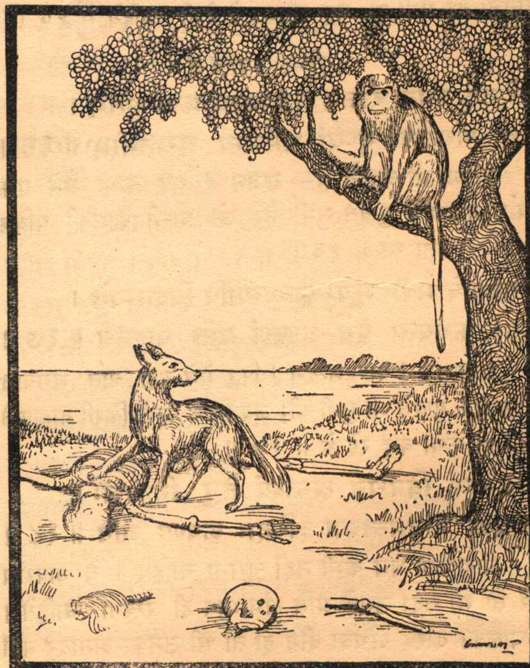
भारत ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष सियार और वानरके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ८ ॥

तौ सखायौ पुरा ह्यास्तां मानुषत्वे परंतप ।
अन्यां योनिं समापन्नौ शार्गालीं वानरीं तथा ॥ ९ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! मनुष्य-जन्ममें जो दोनों पहले एक-दूसरेके मित्र थे, वे ही दूसरे जन्ममें सियार और वानरकी योनिमें प्राप्त हो गये ॥ ९ ॥

ततः परासून् खादन्तं शृगालं वानरोऽब्रवीत् ।
श्मशानमध्ये सम्प्रेक्ष्य पूर्वजातिमनुस्मरन् ॥ १० ॥
किं त्वया पापकं पूर्वं कृतं कर्म सुदारुणम् ।
यस्त्वं श्मशाने मृतकान् पूतिकानत्सि कुत्सितान् ॥

तदनन्तर एक दिन सियारको मरघटमें मुर्दे खाता देख वानरने पूर्व-जन्मका स्मरण करके पूछा—'भैया ! तुमने पहले



जन्ममें कौन-सा भयंकर पाप किया था, जिससे तुम मरघटमें घृणित एवं दुर्गन्धयुक्त मुर्दे खा रहे हो ?' ॥ १०-११ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच शृगालो वानरं तदा।
ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुत्य न मया तदुपाहृतम् ॥ १२ ॥
तत्कृते पापकीं योनिमापन्नोऽस्मि प्लवङ्गम।
तस्मादेवंविधं भक्ष्यं भक्षयामि बुभुक्षितः ॥ १३ ॥

वानरके इस प्रकार पूछनेपर सियारने उसे उत्तर दिया—'भाई वानर ! मैंने ब्राह्मणको देनेकी प्रतिज्ञा करके वह वस्तु उसे नहीं दी थी। इसीके कारण मैं इस पापयोनिमें आ पड़ा हूँ और उसी पापसे भूखा होनेपर मुझे इस तरहका घृणित भोजन करना पड़ता है' ॥ १२-१३ ॥

भीष्म उवाच

शृगालो वानरं प्राह पुनरेव नरोत्तम।
किं त्वया पातकं कर्म कृतं येनासि वानरः ॥ १४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! इसके बाद सियारने वानरसे पुनः पूछा—'तुमने कौन-सा पाप किया था ? जिससे वानर हो गये ?' ॥ १४ ॥

वानर उवाच

सदा चाहं फलाहारो ब्राह्मणानां प्लवङ्गमः।
तस्मान्न ब्राह्मणस्वं तु हर्तव्यं विदुषा सदा।
समं विवादो मोक्तव्यो दातव्यं च प्रतिश्रुतम् ॥ १५ ॥

वानरने कहा—मैं सदा ब्राह्मणोंका फल चुराकर खाया करता था; इसी पापसे वानर हुआ। अतः विज्ञ पुरुषको कभी ब्राह्मणका धन नहीं चुराना चाहिये। उनके साथ कभी झगड़ा नहीं करना चाहिये और उनके लिये जो वस्तु देनेकी प्रतिज्ञा की गयी हो, वह अवश्य दे देनी चाहिये ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतद् ब्रुवतो राजन् ब्राह्मणस्य मया श्रुतम्।
कथां कथयतः पुण्यां धर्मज्ञस्य पुरातनीम् ॥ १६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यह कथा मैंने एक धर्मज्ञ ब्राह्मणके मुखसे सुनी है; जो प्राचीनकालकी पवित्र कथाएँ सुनाता था ॥ १६ ॥

श्रुतश्चापि मया भूयः कृष्णस्यापि विशाम्पते।
कथां कथयतः पूर्वं ब्राह्मणं प्रति पाण्डव ॥ १७ ॥

प्रजानाथ ! पाण्डुनन्दन ! फिर मैंने यही बात भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे भी सुनी थी; जब कि वे पहले किसी ब्राह्मणसे ऐसी ही कथा कह रहे थे ॥ १७ ॥

न हर्तव्यं विप्रधनं क्षन्तव्यं तेषु नित्यशः।
बालाश्च नावमन्तव्या दरिद्राः कृपणा अपि ॥ १८ ॥

ब्राह्मणका धन कभी नहीं चुराना चाहिये। वे अपराध करें तो भी सदा उनके प्रति क्षमाभाव ही रखना चाहिये। वे बालक, दरिद्र अथवा दीन हों तो भी उनका अनादर नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥

एवमेव च मां नित्यं ब्राह्मणाः संदिशन्ति वै।
प्रतिश्रुत्य भवेद् देयं नाशा कार्या द्विजोत्तमे ॥ १९ ॥

ब्राह्मणलोग भी मुझे सदा यही उपदेश दिया करते थे कि प्रतिज्ञा कर लेनेपर वह वस्तु ब्राह्मणको दे ही देनी चाहिये। किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणकी आशा भङ्ग नहीं करनी चाहिये ॥ १९ ॥

ब्राह्मणो ह्याशया पूर्वं कृतया पृथिवीपते।
सुसमिद्धो यथा दीप्तः पावकस्तद्विधः स्मृतः ॥ २० ॥

पृथ्वीनाथ ! ब्राह्मणको पहले आशा दे देनेपर वह समिधासे प्रज्वलित हुई अग्निके समान उद्दीप्त हो उठता है ॥ २० ॥

यं निरीक्षत संक्रुद्ध आशया पूर्वजातया।
प्रदहेच्च हि तं राजन् कक्षमक्षय्यभुग् यथा ॥ २१ ॥

राजन् ! पहलेकी लगी हुई आशा भङ्ग होनेसे अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ ब्राह्मण जिसकी ओर देख लेता है, उसे उसी प्रकार जलाकर भस्म कर डालता है, जैसे अग्नि सूखी लकड़ी अथवा तिनकोंके बोझको जला देती है ॥ २१ ॥

स एव हि यदा तुष्टो वचसा प्रतिनन्दति।
भवत्यगदसंकाशो विषये तस्य भारत ॥ २२ ॥

भारत ! वही ब्राह्मण जब आशापूर्तिसे संतुष्ट होकर वाणीद्वारा राजाका अभिनन्दन करता है—उसे आशीर्वाद देता है, तब उसके राज्यके लिये वह चिकित्सकके तुल्य हो जाता है ॥ २२ ॥

पुत्रान् पौत्रान् पशूंश्चैव बान्धवान् सचिवांस्तथा।
पुरं जनपदं चैव शान्तिरिष्टेन पोषयेत् ॥ २३ ॥

तथा उस दाताके पुत्र-पौत्र, बन्धु-बान्धव, पशु, मन्त्री, नगर और जनपदके लिये वह शान्तिदायक बनकर उन्हें कल्याणका भागी बनाता और उन सबका पोषण करता है ॥ २३ ॥

एतद्धि परमं तेजो ब्राह्मणस्येह दृश्यते।
सहस्रकिरणस्येव सवितुर्धरणीतले ॥ २४ ॥

इस पृथ्वीपर ब्राह्मणका उत्कृष्ट तेज सहस्र किरणोंवाले सूर्यदेवके समान दृष्टिगोचर होता है ॥ २४ ॥

तस्माद् दातव्यमेवेह प्रतिश्रुत्य युधिष्ठिर।
यदीच्छेच्छोभनां जातिं प्राप्तुं भरतसत्तम ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! इसलिये जो उत्तम योनिमें जन्म लेना चाहता हो, उसे ब्राह्मणको देनेकी प्रतिज्ञा की हुई वस्तु अवश्य दे डालनी चाहिये ॥ २५ ॥

ब्राह्मणस्य हि दत्तेन ध्रुवं स्वर्गो ह्यनुत्तमः।
शक्यः प्राप्तुं विशेषेण दानं हि महती क्रिया ॥ २६ ॥

ब्राह्मणको दान देनेसे निश्चय ही परम उत्तम स्वर्गलोकको विशेष रूपसे प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि दान महान् पुण्यकर्म है ॥ २६ ॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा।
तस्माद् दानानि देयानि ब्राह्मणेभ्यो विजानता ॥ २७ ॥

इस लोकमें ब्राह्मणको दान देनेसे देवता और पितर तृप्त होते हैं; इसलिये विद्वान् पुरुष ब्राह्मणको अवश्य दान दे ॥ २७ ॥

महद्धि भरतश्रेष्ठ ब्राह्मणस्तीर्थमुच्यते।

वेलायां न तु कस्यांचिद् गच्छेद् विप्रो ह्यपूजितः॥ २८॥

भरतश्रेष्ठ ! ब्राह्मण महान् तीर्थ कहे जाते हैं; अतः वे किसी भी समय घरपर आ जायँ तो बिना सत्कार किये उन्हें नहीं जाने देना चाहिये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शृगालवानरसंवादे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सियार और वानरका संवादविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।९।

दशमोऽध्यायः

अनधिकारीको उपदेश देनेसे हानिके विषयमें एक शूद्र और तपस्वी ब्राह्मणकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

मित्रसौहार्दयोगेन उपदेशं करोति यः।
जात्यावरस्य राजर्षेर्दोषस्तस्य भवेन्न वा ॥ १ ॥
एतदिच्छामि तत्त्वेन व्याख्यातुं वै पितामह ।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य यत्र मुह्यन्ति मानवाः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि कोई मित्रता या सौहार्दके सम्बन्धसे किसी नीच जातिके मनुष्यको उपदेश देता है तो उस राजर्षिको दोष लगेगा या नहीं ? मैं इस बातको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ । आप इसका विशदरूपसे विवेचन करें; क्योंकि धर्मकी गति सूक्ष्म है, जहाँ मनुष्य मोहमें पड़ जाते हैं ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि शृणु राजन् यथाक्रमम् ।
ऋषीणां वदतां पूर्वं श्रुतमासीत् यथा पुरा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें पूर्वकालमें ऋषियोंके मुखसे जैसा मैंने सुना है, उसी क्रमसे बताऊँगा, तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ३ ॥

उपदेशो न कर्तव्यो जातिहीनस्य कस्यचित् ।
उपदेशे महान् दोष उपाध्यायस्य भाष्यते ॥ ४ ॥

किसी भी नीच जातिके मनुष्यको उपदेश नहीं देना चाहिये । उसे उपदेश देनेपर उपदेशक आचार्यके लिये महान् दोष बताया जाता है ॥ ४ ॥

निदर्शनमिदं राजञ्शृणु मे भरतर्षभ ।
दुरुक्तवचने राजन् यथापूर्वं युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भरतभूषण राजा युधिष्ठिर ! इस विषयमें एक दृष्टान्त सुनो, जो दुःखमें पड़े हुए एक नीच जातिके पुरुषको उपदेश देनेसे सम्बन्धित है ॥ ५ ॥

ब्रह्माश्रमपदे वृत्तं पार्श्वे हिमवतः शुभे ।
तत्राश्रमपदं पुण्यं नानावृक्षगणायुतम् ॥ ६ ॥

हिमालयके सुन्दर पार्श्वभागमें, जहाँ बहुत-से ब्राह्मणोंके आश्रम बने हुए हैं, यह वृत्तान्त घटित हुआ था । उस प्रदेशमें एक पवित्र आश्रम है, जहाँ नाना प्रकारके हरे-भरे वृक्ष शोभा पाते हैं ॥ ६ ॥

नानागुल्मलताकीर्णं मृगद्विजनिषेवितम् ।
सिद्धचारणसंयुक्तं रम्यं पुष्पितकाननम् ॥ ७ ॥

नाना प्रकारकी लता-बेलें वहाँ छायी हुई हैं । मृग और पक्षी उस आश्रमका सेवन करते हैं । सिद्ध और चारण वहाँ सदा निवास करते हैं । उस रमणीय आश्रमके आस-पासका वन सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित है ॥ ७ ॥

व्रतिभिर्बहुभिः कीर्णं तापसैरुपसेवितम् ।
ब्राह्मणैश्च महाभागैः सूर्यज्वलनसंनिभैः ॥ ८ ॥

बहुत-से व्रतपरायण तपस्वी उस आश्रमका सेवन करते हैं । कितने ही सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी महाभाग ब्राह्मण वहाँ भरे रहते हैं ॥ ८ ॥

नियमव्रतसम्पन्नैः समाकीर्णं तपस्विभिः ।
दीक्षितैर्भरतश्रेष्ठ यताहारैः कृतात्मभिः ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! नियम और व्रतसे सम्पन्न, तपस्वी, दीक्षित, मिताहारी और जितात्मा मुनियोंसे वह आश्रम भरा रहता है ॥

तपोऽध्ययनघोषैश्च नादितं भरतर्षभ ।
वालखिल्यैश्च बहुभिर्यतिभिश्च निषेवितम् ॥ १० ॥

भरतभूषण ! वहाँ सब ओर वेदाध्ययनकी ध्वनि गूँजती रहती है । बहुत-से वालखिल्य एवं संन्यासी उस आश्रमका सेवन करते हैं ॥ १० ॥

तत्र कश्चित् समुत्साहं कृत्वा शूद्रो दयान्वितः ।
आगतो ह्याश्रमपदं पूजितश्च तपस्विभिः ॥ ११ ॥

उसी आश्रममें कोई दयालु शूद्र बड़ा उत्साह करके आया । वहाँ रहनेवाले तपस्वी ऋषियोंने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ ११ ॥

तांस्तु दृष्ट्वा मुनिगणान् देवकल्पान् महौजसः ।
विविधां वहतो दीक्षां सम्प्राहृष्यत भारत ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! उस आश्रमके महातेजस्वी देवोपम मुनियोंको नाना प्रकारकी दीक्षा धारण किये देख उस शूद्रको बड़ा हर्ष हुआ ॥ १२ ॥

अथास्य बुद्धिरभवत् तपस्ये भरतर्षभ ।
ततोऽब्रवीत् कुलपतिं पादौ संगृह्य भारत ॥ १३ ॥

भारत ! भरतभूषण ! उसके मनमें वहाँ तपस्या करनेका विचार उत्पन्न हुआ; अतः उसने कुलपतिके पैर पकड़कर कहा— ॥ १३ ॥

भवत्प्रसादादिच्छामि धर्मं वक्तुं द्विजर्षभ ।
तन्मां त्वं भगवन् वक्तुं प्रव्राजयितुमर्हसि ॥ १४ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपकी कृपासे धर्मका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ । अतः भगवन् ! आप मुझे विधिवत् संन्यासीकी दीक्षा दे दें ॥ १४ ॥

वर्णावरोऽहं भगवञ्शूद्रो जात्यास्मि सत्तम ।
शुश्रूषां कर्तुमिच्छामि प्रपन्नाय प्रसीद मे ॥ १५ ॥

'भगवन् ! साधुशिरोमणे ! मैं वर्णोंमें सबसे छोटा शूद्र जातिका हूँ और यहीं रहकर संतोंकी सेवा करना चाहता हूँ; अतः मुझ शरणागतपर आप प्रसन्न हों' ॥ १५ ॥

कुलपतिरुवाच

न शक्यमिह शूद्रेण लिङ्गमाश्रित्य वर्तितुम् ।
आस्यतां यदि ते बुद्धिः शुश्रूषानिरतो भव ॥ १६ ॥
शुश्रूषया परॉंल्लोकानवाप्स्यसि न संशयः ॥ १७ ॥

कुलपतिने कहा—इस आश्रममें कोई शूद्र संन्यासका चिह्न धारण करके नहीं रह सकता । यदि तुम्हारा विचार यहाँ रहनेका हो तो यों ही रहो और साधु-महात्माओंकी सेवा करो । सेवासे ही तुम उत्तम लोक प्राप्त कर लोगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १६-१७ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तु मुनिना स शूद्रोऽचिन्तयन्नृप ।
कथमत्र मया कार्यं श्रद्धा धर्मपरा च मे ॥ १८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! मुनिके ऐसा कहनेपर शूद्रने सोचा, यहाँ मुझे क्या करना चाहिये ? मेरी श्रद्धा तो संन्यास-धर्मके अनुष्ठानके लिये ही है ॥ १८ ॥

विज्ञातमेवं भवतु करिष्ये प्रियमात्मनः ।
गत्वाऽऽश्रमपदाद् दूरमुटजं कृतवांस्तु सः ॥ १९ ॥

अच्छा, एक बात समझमें आयी । शूद्रके लिये ऐसा ही विधान हो तो रहे । मैं तो वही करूँगा जो मुझे प्रिय लगता है—ऐसा विचारकर उसने उस आश्रमसे दूर जाकर एक पर्णकुटी बना ली ॥ १९ ॥

तत्र वेदीं च भूमिं च देवतायतनानि च ।
निवेश्य भरतश्रेष्ठ नियमस्थोऽभवन्मुनिः ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ यज्ञके लिये वेदी, रहनेके लिये स्थान और देवालय बनाकर मुनिकी भाँति नियमपूर्वक रहने लगा ॥

अभिषेकांश्च नियमान् देवतायतनेषु च ।
बलिं च कृत्वा हुत्वा च देवतां चाप्यपूजयत् ॥ २१ ॥

वह तीनों समय नहाता, नियमोंका पालन करता, देव-स्थानोंमें पूजा चढ़ाता, अग्निमें आहुति देता और देवताकी पूजा करता था ॥ २१ ॥

संकल्पनियमोपेतः फलाहारो जितेन्द्रियः ।
नित्यं संनिहिताभिस्तु ओषधीभिः फलैस्तथा ॥ २२ ॥
अतिथीन् पूजयामास यथावत् समुपागतान् ।
एवं हि सुमहान् कालो व्यत्यक्रामत तस्य वै ॥ २३ ॥

वह मानसिक संकल्पोंका नियन्त्रण (चित्तवृत्तियोंका निरोध) करते हुए फल खाकर रहता और इन्द्रियोंको काबूमें रखता था । उसके यहाँ जो अन्न और फल उपस्थित रहता, उन्हींके द्वारा प्रतिदिन आये हुए अतिथियोंका यथोचित सत्कार करता था । इस प्रकार रहते हुए उस शूद्र मुनिको बहुत समय बीत गया ॥ २२-२३ ॥

अथास्य मुनिरागच्छत् संगत्या वै तमाश्रमम् ।
सम्पूज्य स्वागतेनर्षिं विधिवत् समतोषयत् ॥ २४ ॥

एक दिन एक मुनि सत्सङ्गकी दृष्टिसे उसके आश्रमपर पधारे । उस शूद्रने विधिवत् स्वागत-सत्कार करके ऋषिका पूजन किया और उन्हें संतुष्ट कर दिया ॥ २४ ॥

अनुकूलाः कथाः कृत्वा यथागतमपृच्छत ।
ऋषिः परमतेजस्वी धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ २५ ॥
एवं सुबहुशस्तस्य शूद्रस्य भरतर्षभ ।
सोऽगच्छदाश्रममृषिः शूद्रं द्रष्टुं नरर्षभ ॥ २६ ॥

भरतभूषण नरश्रेष्ठ !तत्पश्चात् उसने अनुकूल बातें करके उनके आगमनका वृत्तान्त पूछा । तबसे कठोर व्रतका पालन करनेवाले वे परम तेजस्वी धर्मात्मा ऋषि अनेक बार उस शूद्रके आश्रमपर उससे मिलनेके लिये आये ॥ २५-२६ ॥

अथ तं तापसं शूद्रः सोऽब्रवीद् भरतर्षभ ।
पितृकार्यं करिष्यामि तत्र मेऽनुग्रहं कुरु ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! एक दिन उस शूद्रने उन तपस्वी मुनिसे कहा—'मैं पितरोंका श्राद्ध करूँगा । आप उसमें मुझपर अनुग्रह कीजिये' ॥ २७ ॥

बाढमित्येव तं विप्र उवाच भरतर्षभ ।
शुचिर्भूत्वा स शूद्रस्तु तस्यर्षेः पाद्यमानयत् ॥ २८ ॥

भरतभूषण नरेश ! तब ब्राह्मणने 'बहुत अच्छा' कहकर उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया । तत्पश्चात् शूद्र नहा-धोकर शुद्ध हो उन ब्रह्मर्षिके पैर धोनेके लिये जल ले आया ॥

अथ दर्भांश्च वन्यांश्च ओषधीर्भरतर्षभ ।
पवित्रमासनं चैव बृसीं च समुपानयत् ॥ २९ ॥

भरतर्षभ ! तदनन्तर वह जंगली कुशा, अन्न आदि ओषधि, पवित्र आसन और कुशकी चटाई ले आया ॥२९॥

अथ दक्षिणमावृत्य बृसीं चरमशीर्षिकीम् ।
कृतामन्यायतो दृष्ट्वा ततः शूद्रमृषिरब्रवीत् ॥ ३० ॥

उसने दक्षिण दिशामें ले जाकर ब्राह्मणके लिये पश्चिमाग्र चटाई बिछा दी । यह शास्त्रके विपरीत अनुचित आचार देखकर ऋषिने शूद्रसे कहा— ॥ ३० ॥

कुरुष्वैतां पूर्वशीर्षां भवांश्चोदङ्मुखः शुचिः ।
स च तत् कृतवान् शूद्रः सर्वं यदृषिरब्रवीत् ॥ ३१ ॥

'तुम इस कुशकी चटाईका अग्रभाग तो पूर्व दिशाकी ओर करो और स्वयं शुद्ध होकर उत्तराभिमुख बैठो ।' ऋषिने जो-जो कहा, शूद्रने वह सब किया ॥ ३१ ॥

यथोपदिष्टं मेधावी दर्भार्घ्यादि यथातथम् ।
हव्यकव्यविधिं कृत्स्नमुक्तं तेन तपस्विना ॥ ३२ ॥

बुद्धिमान् शूद्रने कुश, अर्घ्य आदि तथा हव्य-कव्यकी विधि—सब कुछ उन तपस्वी मुनिके उपदेशके अनुसार ठीक-ठीक किया ॥ ३२ ॥

ऋषिणा पितृकार्ये च स च धर्मपथे स्थितः ।
पितृकार्ये कृते चापि विसृष्टः स जगाम ह ॥ ३३ ॥

ऋषिके द्वारा पितृकार्य विधिवत् सम्पन्न हो जानेपर वे ऋषि शूद्रसे विदा लेकर चले गये और वह शूद्र धर्ममार्गमें स्थित हो गया ॥ ३३ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य स तप्यञ्शूद्रतापसः ।
वने पञ्चत्वमगमत् सुकृतेन च तेन वै ॥ ३४ ॥
अजायत महाराजवंशे स च महाद्युतिः ।

तदनन्तर दीर्घकालतक तपस्या करके वह शूद्र तपस्वी वनमें ही मृत्युको प्राप्त हुआ और उसी पुण्यके प्रभावसे एक महान् राजवंशमें महातेजस्वी बालकके रूपमें उत्पन्न हुआ ॥

तथैव स ऋषिस्तात कालधर्ममवाप ह ॥ ३५ ॥
पुरोहितकुले विप्र आजातो भरतर्षभ ।
एवं तौ तत्र सम्भूतावुभौ शूद्रमुनी तदा ॥ ३६ ॥
क्रमेण वर्धितौ चापि विद्यासु कुशलावुभौ ॥ ३७ ॥

तात ! इसी प्रकार वे ऋषि भी कालधर्म—मृत्युको प्राप्त हुए । भरतश्रेष्ठ ! वे ही ऋषि दूसरे जन्ममें उसी राजवंशके पुरोहितके कुलमें उत्पन्न हुए । इस प्रकार वह शूद्र और वे मुनि दोनों ही वहाँ उत्पन्न हुए, क्रमशः बढ़े और सब प्रकारकी विद्याओंमें निपुण हो गये ॥ ३५—३७ ॥

अथर्ववेदे वेदे च बभूवर्षिः सुनिष्ठितः ।
कल्पप्रयोगे चोत्पन्ने ज्योतिषे च परं गतः ॥ ३८ ॥
सांख्ये चैव परा प्रीतिस्तस्य चैवं व्यवर्धत ।

वे ऋषि वेद और अथर्ववेदके परिनिष्ठित विद्वान् हो गये । कल्पप्रयोग और ज्योतिषमें भी पारङ्गत हुए । सांख्यमें भी उनका परम अनुराग बढ़ने लगा ॥ ३८½ ॥

पितर्युपरते चापि कृतशौचस्तु पार्थिव ॥ ३९ ॥
अभिषिक्तः प्रकृतिभी राजपुत्रः स पार्थिवः ।

नरेश ! पिताके परलोकवासी हो जानेपर शुद्ध होनेके पश्चात् मन्त्री और प्रजा आदिने मिलकर उस राजकुमारको राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ३९½ ॥

अभिषिक्तेन स ऋषिरभिषिक्तः पुरोहितः ॥ ४० ॥

राजाने अभिषिक्त होनेके साथ ही उस ऋषिका भी पुरोहितके पदपर अभिषेक कर दिया ॥ ४० ॥

स तं पुरोधाय सुखमवसद् भरतर्षभ ।
राज्यं शशास धर्मेण प्रजाश्च परिपालयन् ॥ ४१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऋषिको पुरोहित बनाकर वह राजा सुखपूर्वक रहने और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए राज्यका शासन करने लगा ॥ ४१ ॥

पुण्याहवाचने नित्यं धर्मकार्येषु चासकृत् ।
उत्स्मयन् प्राहसच्चापि दृष्ट्वा राजा पुरोहितम् ॥ ४२ ॥

जब पुरोहितजी प्रतिदिन पुण्याहवाचन करते और निरन्तर धर्मकार्यमें संलग्न रहते, उस समय राजा उन्हें देखकर कभी मुसकराते और कभी जोर-जोरसे हँसने लगते थे ॥ ४२ ॥

एवं स बहुशो राजन् पुरोधसमुपाहसत् ।
लक्षयित्वा पुरोधास्तु बहुशस्तं नराधिपम् ॥ ४३ ॥
उत्स्मयन्तं च सततं दृष्ट्वासौ मन्युमाविशत् ।

राजन् ! इस प्रकार अनेक बार राजाने पुरोहितका उपहास किया । पुरोहितने जब अनेक बार और निरन्तर उस राजाको अपने प्रति हँसते और मुसकराते लक्ष्य किया, तब उनके मनमें बड़ा खेद और क्षोभ हुआ ॥ ४३½ ॥

अथ शून्ये पुरोधास्तु सह राज्ञा समागतः ॥ ४४ ॥
कथाभिरनुकूलाभी राजानं चाभ्यरोचयत् ।

तदनन्तर एक दिन पुरोहितजी राजासे एकान्तमें मिले और मनोनुकूल कथाएँ सुनाकर राजाको प्रसन्न करने लगे ॥

ततोऽब्रवीन्नरेन्द्रं स पुरोधा भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
वरमिच्छाम्यहं त्वेकं त्वया दत्तं महाद्युते ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! फिर पुरोहित राजासे इस प्रकार बोले—'महातेजस्वी नरेश ! मैं आपका दिया हुआ एक वर प्राप्त करना चाहता हूँ' ॥ ४५-४६ ॥

राजोवाच

वराणां ते शतं दद्यां किं बतैकं द्विजोत्तम ।
स्नेहाच्च बहुमानाच्च नास्त्यदेयं हि मे तव ॥ ४७ ॥

राजाने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपको सौ वर दे सकता हूँ । एककी तो बात ही क्या । आपके प्रति मेरा जो स्नेह और विशेष आदर है, उसे देखते हुए मेरे पास आपके लिये कुछ भी अदेय नहीं है ॥ ४७ ॥

पुरोहित उवाच

एकं वै वरमिच्छामि यदि तुष्टोऽसि पार्थिव ।
प्रतिजानीहि तावत् त्वं सत्यं यद् वद नानृतम् ॥ ४८ ॥

पुरोहितने कहा—पृथ्वीनाथ ! यदि आप प्रसन्न हों तो मैं एक ही वर चाहता हूँ । आप पहले यह प्रतिज्ञा कीजिये कि 'मैं दूँगा ।' इस विषयमें सत्य कहिये, झूठ न बोलिये ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

बाढमित्येव तं राजा प्रत्युवाच युधिष्ठिर ।
यदि ज्ञास्यामि वक्ष्यामि अजानन् न तु संवदे ॥ ४९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब राजाने उत्तर

दिया, 'बहुत अच्छा। यदि मैं जानता होऊँगा तो अवश्य बता दूँगा और यदि नहीं जानता होऊँगा तो नहीं बताऊँगा'॥

पुरोहित उवाच

पुण्याहवाचने नित्यं धर्मकृत्येषु चासकृत्।
शान्तिहोमेषु च सदा किं त्वं हससि वीक्ष्य माम्॥५०॥

पुरोहितजीने कहा—महाराज! प्रतिदिन पुण्याहवाचनके समय तथा बारंबार धार्मिक कृत्य कराते समय एवं शान्तिहोमके अवसरोंपर आप मेरी ओर देखकर क्यों हँसा करते हैं?॥ ५०॥

सव्रीडं वै भवति हि मनो मे हसता त्वया।
कामया शापितो राजन् नान्यथा वक्तुमर्हसि॥ ५१॥

आपके हँसनेसे मेरा मन लज्जित-सा हो जाता है। राजन्! मैं शपथ दिलाकर पूछ रहा हूँ; आप इच्छानुसार सच-सच बताइये। दूसरी बात कहकर बहलाइयेगा मत॥

सुव्यक्तं कारणं ह्यत्र न ते हास्यमकारणम्।
कौतूहलं मे सुभृशं तत्त्वेन कथयस्व मे॥ ५२॥

आपके इस हँसनेमें स्पष्ट ही कोई विशेष कारण जान पड़ता है। आपका हँसना बिना किसी कारणके नहीं हो सकता। इसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है; अतः आप यथार्थ रूपसे यह सब कहिये॥ ५२॥

राजोवाच

एवमुक्ते त्वया विप्र यदवाच्यं भवेदपि।
अवश्यमेव वक्तव्यं शृणुष्वैकमना द्विज॥ ५३॥

राजाने कहा—विप्रवर! आपके इस प्रकार पूछनेपर तो यदि कोई न कहने योग्य बात हो तो उसे भी अवश्य ही कह देना चाहिये। अतः आप मन लगाकर सुनिये॥ ५३॥

पूर्वदेहे यथा वृत्तं तन्निबोध द्विजोत्तम।
जातिं स्मराम्यहं ब्रह्मन्नवधानेन मे शृणु॥ ५४॥

द्विजश्रेष्ठ! जब हमने पूर्वजन्ममें शरीर धारण किया था, उस समय जो घटना घटित हुई थी, उसे सुनिये। ब्रह्मन्! मुझे पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण है। आप ध्यान देकर मेरी बात सुनिये॥ ५४॥

शूद्रोऽहमभवं पूर्वं तापसो भृशसंयुतः।
ऋषिरुग्रतपास्त्वं च तदाभूद् द्विजसत्तम॥ ५५॥

विप्रवर! पहले जन्ममें मैं शूद्र था। फिर बड़ा भारी तपस्वी हो गया। उन्हीं दिनों आप उग्र तप करनेवाले श्रेष्ठ महर्षि थे॥ ५५॥

प्रीयता हि तदा ब्रह्मन् ममानुग्रहबुद्धिना।
पितृकार्ये त्वया पूर्वमुपदेशः कृतोऽनघ॥ ५६॥

निष्पाप ब्रह्मन्! उन दिनों आप मुझसे बड़ा प्रेम रखते थे; अतः मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके विचारसे आपने पितृकार्यमें मुझे आवश्यक विधिका उपदेश किया था॥५६॥

बृस्यां दर्भेषु हव्ये च कव्ये च मुनिसत्तम।
एतेन कर्मदोषेण पुरोधास्त्वमजायथाः॥ ५७॥

मुनिश्रेष्ठ! कुशाके चट कैसे रखे जायँ? कुशा कैसे बिछायी जाय? हव्य और कव्य कैसे समर्पित किये जायँ? इन्हीं सब बातोंका आपने मुझे उपदेश दिया था। इसी कर्मदोषके कारण आपको इस जन्ममें पुरोहित होना पड़ा॥५७॥

अहं राजा च विप्रेन्द्र पश्य कालस्य पर्ययम्।
मत्कृतस्योपदेशस्य त्वयावाप्तमिदं फलम्॥ ५८॥

विप्रेन्द्र! यह कालका उलट-फेर तो देखिये कि मैं तो शूद्रसे राजा हो गया और मुझे ही उपदेश करनेके कारण आपको यह फल मिला॥ ५८॥

एतस्मात् कारणाद् ब्रह्मन् प्रहसे त्वां द्विजोत्तम।
न त्वां परिभवन् ब्रह्मन् प्रहसामि गुरुर्भवान्॥ ५९॥

द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्मन्! इसी कारणसे मैं आपकी ओर देखकर हँसता हूँ। आपका अनादर करनेके लिये मैं आपकी हँसी नहीं उड़ाता हूँ; क्योंकि आप मेरे गुरु हैं॥ ५९॥

विपर्ययेण मे मन्युस्तेन संतप्यते मनः।
जातिं स्मराम्यहं तुभ्यमतस्त्वां प्रहसामि वै॥ ६०॥

यह जो उलट-फेर हुआ है, इससे मुझको बड़ा खेद है और इसीसे मेरा मन संतप्त रहता है। मैं अपनी और आपकी भी पूर्वजन्मकी बातोंको याद करता हूँ; इसीलिये आपकी ओर देखकर हँस देता हूँ॥ ६०॥

एवं तवोग्रं हि तप उपदेशेन नाशितम्।
पुरोहितत्वमुत्सृज्य यतस्व त्वं पुनर्भवे॥ ६१॥

आपकी उग्र तपस्या थी, वह मुझे उपदेश देनेके कारण नष्ट हो गयी। अतः आप पुरोहितका काम छोड़कर पुनः संसारसागरसे पार होनेके लिये प्रयत्न कीजिये॥ ६१॥

इतस्त्वमधमामन्यां मा योनिं प्राप्स्यसे द्विज।
गृह्यतां द्रविणं विप्र पूतात्मा भव सत्तम॥ ६२॥

ब्रह्मन्! साधुशिरोमणे! कहीं ऐसा न हो कि आप इसके बाद दूसरी किसी नीच योनिमें पड़ जायँ। अतः विप्रवर! जितना चाहिये धन ले लीजिये और अपने अन्तःकरणको पवित्र बनानेका प्रयत्न कीजिये॥ ६२॥

भीष्म उवाच

ततो विसृष्टो राज्ञा तु विप्रो दानान्यनेकशः।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं भूमिं ग्रामांश्च सर्वशः॥ ६३॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर राजासे विदा लेकर पुरोहितने बहुत-से ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके दान दिये। धन, भूमि और ग्राम भी वितरण किये॥ ६३॥

कृच्छ्राणि चीर्त्वा च ततो यथोक्तानि द्विजोत्तमैः।
तीर्थानि चापि गत्वा वै दानानि विविधानि च॥ ६४॥

उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके बताये अनुसार उन्होंने अनेक प्रकारके कृच्छ्रव्रत किये और तीर्थोंमें जाकर नाना प्रकारकी वस्तुएँ दान कीं॥ ६४॥

दत्त्वा गाश्चैव विप्रेभ्यः पूतात्माभवदात्मवान्।
तमेव चाश्रमं गत्वा चचार विपुलं तपः ॥ ६५ ॥

ब्राह्मणोंको गोदान करके पवित्रात्मा होकर उन मनस्वी ब्राह्मणने फिर उसी आश्रमपर जाकर बड़ी भारी तपस्या की ॥

ततः सिद्धिं परां प्राप्तो ब्राह्मणो राजसत्तम।
सम्मतश्चाभवत् तेषामाश्रमे तन्निवासिनाम् ॥ ६६ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर परम सिद्धिको प्राप्त होकर वे ब्राह्मण देवता उस आश्रममें रहनेवाले समस्त साधकोंके लिये सम्माननीय हो गये ॥ ६६ ॥

एवं प्राप्तो महत्कृच्छ्रमृषिः सन्नृपसत्तम।
ब्राह्मणेन न वक्तव्यं तस्माद् वर्णावरे जने ॥ ६७ ॥

नृपशिरोमणे ! इस प्रकार वे ऋषि शूद्रको उपदेश देनेके कारण महान् कष्टमें पड़ गये; इसलिये ब्राह्मणको चाहिये कि वह नीच वर्णके मनुष्यको उपदेश न दे ॥ ६७ ॥

(वर्जयेदुपदेशं च सदैव ब्राह्मणो नृप।
उपदेशं हि कुर्वाणो द्विजः कृच्छ्रमवाप्नुयात् ॥

नरेश्वर ! ब्राह्मणको चाहिये कि वह कभी शूद्रको उपदेश न दे; क्योंकि उपदेश करनेवाला ब्राह्मण स्वयं ही संकटमें पड़ जाता है॥

नेषितव्यं सदा वाचा द्विजेन नृपसत्तम।
न च प्रवक्तव्यमिह किंचिद् वर्णावरे जने ॥)

नृपश्रेष्ठ ! ब्राह्मणको अपनी वाणीद्वारा कभी उपदेश देनेकी इच्छा ही नहीं करनी चाहिये। यदि करे भी तो नीच वर्णके पुरुषको तो कदापि कुछ उपदेश न दे ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
एतेषु कथयन् राजन् ब्राह्मणो न प्रदुष्यति ॥ ६८ ॥

राजन् ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीन वर्ण द्विजाति कहलाते हैं। इन्हें उपदेश देनेवाला ब्राह्मण दोषका भागी नहीं होता है ॥ ६८ ॥

तस्मात् सद्भिर्न वक्तव्यं कस्यचित् किंचिदग्रतः।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य दुर्ज्ञेया ह्यकृतात्मभिः ॥ ६९ ॥

इसलिये सत्पुरुषोंको कभी किसीके सामने कोई उपदेश नहीं देना चाहिये; क्योंकि धर्मकी गति सूक्ष्म है। जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध एवं वशीभूत नहीं कर लिया है, उनके लिये धर्मकी गतिको समझना बहुत ही कठिन है ॥६९॥

तस्मान्मौनेन मुनयो दीक्षां कुर्वन्ति चादृताः।
दुरुक्तस्य भयाद् राजन् नाभाषन्ते च किंचन ॥ ७० ॥

राजन् ! इसीलिये ऋषि-मुनि मौनभावसे ही आदरपूर्वक दीक्षा देते हैं। कोई अनुचित बात मुँहसे न निकल जाय, इसीके भयसे वे कोई भाषण नहीं देते हैं ॥ ७० ॥

धार्मिका गुणसम्पन्नाः सत्यार्जवसमन्विताः।
दुरुक्तवाचाभिहितैः प्राप्नुवन्तीह दुष्कृतम् ॥ ७१ ॥

धार्मिक, गुणवान् तथा सत्य-सरलता आदि गुणोंसे सम्पन्न पुरुष भी शास्त्रविरुद्ध अनुचित वचन कह देनेके कारण यहाँ दुष्कर्मके भागी हो जाते हैं ॥ ७१ ॥

उपदेशो न कर्तव्यः कदाचिदपि कस्यचित्।
उपदेशाद्धि तत् पापं ब्राह्मणः समवाप्नुयात् ॥ ७२ ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि वह कभी किसीको उपदेश न करे; क्योंकि उपदेश करनेसे वह शिष्यके पापको स्वयं ग्रहण करता है ॥

विमृश्य तस्मात् प्राज्ञेन वक्तव्यं धर्ममिच्छता।
सत्यानृतेन हि कृत उपदेशो हिनस्ति हि ॥ ७३ ॥

अतः धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले विद्वान् पुरुषको बहुत सोच-विचारकर बोलना चाहिये; क्योंकि साँच और झूठ-मिश्रित वाणीसे किया गया उपदेश हानिकारक होता है ॥७३॥

वक्तव्यमिह पृष्टेन विनिश्चित्य विनिश्चयम्।
स चोपदेशः कर्तव्यो येन धर्ममवाप्नुयात् ॥ ७४ ॥

यहाँ किसीके पूछनेपर बहुत सोच-विचारकर शास्त्रका जो सिद्धान्त हो, वही बताना चाहिये तथा उपदेश वह करना चाहिये, जिससे धर्मकी प्राप्ति हो ॥ ७४ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातमुपदेशकृते मया।
महान् क्लेशो हि भवति तस्मान्नोपदिशेदिह ॥ ७५ ॥

उपदेशके सम्बन्धमें मैंने ये सब बातें तुम्हें बतायी हैं। अनधिकारीको उपदेश देनेसे महान् क्लेश प्राप्त होता है। इसलिये यहाँ किसीको उपदेश न दे ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शूद्रमुनिसंवादे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें शूद्र और मुनिका संवादविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ७७ श्लोक हैं)

एकादशोऽध्यायः

लक्ष्मीके निवास करने और न करने योग्य पुरुष, स्त्री और स्थानोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशे पुरुषे तात स्त्रीषु वा भरतर्षभ।
श्रीः पद्मा वसते नित्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! भरतश्रेष्ठ ! कैसे पुरुषमें और किस तरहकी स्त्रियोंमें लक्ष्मी नित्य निवास करती हैं ? पितामह ! यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं यथाश्रुतम् ।
रुक्मिणी देवकीपुत्रसंनिधौ पर्यपृच्छत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें एक यथार्थ वृत्तान्तको मैंने जैसा सुना है, उसीके अनुसार तुम्हें बता रहा हूँ । देवकीनन्दन श्रीकृष्णके समीप रुक्मिणीदेवीने साक्षात् लक्ष्मीसे जो कुछ पूछा था, वह मुझसे सुनो ॥ २ ॥

नारायणस्याङ्कगतां ज्वलन्तीं
दृष्ट्वा श्रियं पद्मसमानवर्णाम् ।
कौतूहलाद् विस्मितचारुनेत्रा
पप्रच्छ माता मकरध्वजस्य ॥ ३ ॥

भगवान् नारायणके अङ्कमें बैठी हुई कमलके समान कान्तिवाली लक्ष्मीदेवीको अपनी प्रभासे प्रकाशित होती देख जिनके मनोहर नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे थे, उन प्रद्युम्नजननी रुक्मिणीदेवीने कौतूहलवश लक्ष्मीसे पूछा—॥ ३ ॥

कानीह भूतान्युपसेवसे त्वं
संतिष्ठसे कानिव सेवसे त्वम् ।
तानि त्रिलोकेश्वरभूतकान्ते
तत्त्वेन मे ब्रूहि महर्षिकन्ये ॥ ४ ॥

'महर्षि भृगुकी पुत्री तथा त्रिलोकीनाथ भगवान् नारायणकी प्रियतमे ! देवि ! तुम इस जगत्में किन प्राणियोंपर कृपा करके उनके यहाँ रहती हो ? कहाँ निवास करती हो और किन-किनका सेवन करती हो ? उन सबको मुझे यथार्थरूपसे बताओ' ॥ ४ ॥

एवं तदा श्रीरभिभाष्यमाणा
देव्या समक्षं गरुडध्वजस्य ।
उवाच वाक्यं मधुराभिधानं
मनोहरं चन्द्रमुखी प्रसन्ना ॥ ५ ॥

रुक्मिणीके इस प्रकार पूछनेपर चन्द्रमुखी लक्ष्मीदेवीने प्रसन्न होकर भगवान् गरुडध्वजके सामने ही मीठी वाणीमें यह वचन कहा ॥ ५ ॥

श्रीरुवाच

वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे
दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने ।
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे
जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे ॥ ६ ॥

लक्ष्मी बोलीं—देवि ! मैं प्रतिदिन ऐसे पुरुषमें निवास करती हूँ, जो सौभाग्यशाली, निर्भीक, कार्यकुशल, कर्मपरायण, क्रोधरहित, देवाराधनतत्पर, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय तथा बढ़े हुए सत्त्वगुणसे युक्त हो ॥ ६ ॥

नाकर्मशीले पुरुषे वसामि
न नास्तिके साङ्करिके कृतघ्ने ।
न भिन्नवृत्ते न नृशंसवर्णे
न चापि चौरे न गुरुष्वसूये ॥ ७ ॥

जो पुरुष अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसङ्कर, कृतघ्न, दुराचारी, क्रूर, चोर तथा गुरुजनोंके दोष देखनेवाला हो, उसके भीतर मैं निवास नहीं करती हूँ ॥ ७ ॥

ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः
क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र ।
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु
नरेषु संगुप्तमनोरथेषु ॥ ८ ॥

जिनमें तेज, बल, सत्त्व और गौरवकी मात्रा बहुत थोड़ी है, जो जहाँ-तहाँ हर बातमें खिन्न हो उठते हैं, जो मनमें दूसरा भाव रखते हैं और ऊपरसे कुछ और ही दिखाते हैं, ऐसे मनुष्योंमें मैं निवास नहीं करती हूँ ॥ ८ ॥

यश्चात्मनि प्रार्थयते न किञ्चिद्
यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा ।
तेष्वल्पसंतोषपरेषु नित्यं
नरेषु नाहं निवसामि सम्यक् ॥ ९ ॥

जो अपने लिये कुछ नहीं चाहता, जिसका अन्तःकरण मूढ़तासे आच्छन्न है, जो थोड़ेमें ही संतोष कर लेते हैं, ऐसे मनुष्योंमें मैं भलीभाँति नित्य निवास नहीं करती हूँ ॥ ९ ॥

स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु
वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते ।
कृतात्मनि क्षान्तिपरे समर्थे
क्षान्तासु दान्तासु तथाबलासु ॥ १० ॥
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु
वसामि देवद्विजपूजिकासु ।

जो स्वभावतः स्वधर्मपरायण, धर्मज्ञ, बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें तत्पर, जितेन्द्रिय, मनको वशमें रखनेवाले, क्षमाशील और सामर्थ्यशाली हैं, ऐसे पुरुषोंमें तथा क्षमाशील एवं जितेन्द्रिय अबलाओंमें भी मैं निवास करती हूँ । जो स्त्रियाँ स्वभावतः सत्यवादिनी तथा सरलतासे संयुक्त हैं, जो देवताओं और द्विजोंकी पूजा करनेवाली हैं, उनमें भी मैं निवास करती हूँ ॥

(अबन्ध्यकालेषु सदा दानशौचरतेषु च ।
ब्रह्मचर्यतपोज्ञानगोद्विजातिप्रियेषु च ॥

जो अपने समयको कभी व्यर्थ नहीं जाने देते, सदा दान एवं शौचाचारमें तत्पर रहते हैं, जिन्हें ब्रह्मचर्य, तपस्या, ज्ञान, गौ और द्विज परम प्रिय हैं, ऐसे पुरुषोंमें मैं निवास करती हूँ ॥

वसामि स्त्रीषु कान्तासु देवद्विजपरासु च ।
विशुद्धगृहभाण्डासु गोधान्याभिरतासु च ॥)

जो स्त्रियाँ कमनीय गुणोंसे युक्त, देवताओं तथा ब्राह्मणोंकी सेवामें तत्पर, घरके बर्तन-भाँड़ोंको शुद्ध तथा स्वच्छ रखने-

वाली एवं गौओंकी सेवा तथा धान्यके संग्रहमें तत्पर होती हैं, उनमें भी मैं सदा निवास करती हूँ ॥

प्रकीर्णभाण्डामनवेक्ष्यकारिणीं
सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम् ॥ ११ ॥
परस्य वेश्माभिरतामलज्जा-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि ।

जो घरके बर्तनोंको सुव्यवस्थित रूपसे न रखकर इधर-उधर बिखेरे रहती हैं, सोच-समझकर काम नहीं करती हैं, सदा अपने पतिके प्रतिकूल ही बोलती हैं, दूसरोंके घरोंमें घूमने-फिरनेमें आसक्त रहती हैं और लज्जाको सर्वथा छोड़ बैठती हैं, उनको मैं त्याग देती हूँ ॥ ११½ ॥

पापामचोक्षामवलेहिनीं च
व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च ॥ १२ ॥
निद्राभिभूतां सततं शयाना-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि ।

जो स्त्री निर्दयतापूर्वक पापाचारमें तत्पर रहनेवाली, अपवित्र, चटोर, धैर्यहीन, कलहप्रिय, नींदमें बेसुध होकर सदा खाटपर पड़ी रहनेवाली होती है, ऐसी नारीसे मैं सदा दूर ही रहती हूँ ॥ १२½ ॥

सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु
सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु ॥ १३ ॥
वसामि नारीषु पतिव्रतासु
कल्याणशीलासु विभूषितासु ।

जो स्त्रियाँ सत्यवादिनी और अपनी सौम्य वेश-भूषाके कारण देखनेमें प्रिय होती हैं, जो सौभाग्यशालिनी, सद्गुणवती, पतिव्रता एवं कल्याणमय आचार-विचारवाली होती हैं तथा जो सदा वस्त्राभूषणोंसे विभूषित रहती हैं, ऐसी स्त्रियोंमें मैं सदा निवास करती हूँ ॥ १३½ ॥

यानेषु कन्यासु विभूषणेषु
यज्ञेषु मेघेषु च वृष्टिमत्सु ॥ १४ ॥
वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु
नक्षत्रवीथीषु च शारदीषु ।
गजेषु गोष्ठेषु तथाऽऽसनेषु
सरःसु फुल्लोत्पलपङ्कजेषु ॥ १५ ॥

सुन्दर सवारियोंमें, कुमारी कन्याओंमें, आभूषणोंमें, यज्ञोंमें, वर्षा करनेवाले मेघोंमें, खिले हुए कमलोंमें, शरद् ऋतुकी नक्षत्र-मालाओंमें, हाथियों और गोशालाओंमें, सुन्दर आसनोंमें तथा खिले हुए उत्पल और कमलोंसे सुशोभित सरोवरोंमें मैं सदा निवास करती हूँ ॥ १४-१५ ॥

नदीषु हंसस्वननादितासु
क्रौञ्चावघुष्टस्वरशोभितासु ।
विकीर्णकूलद्रुमराजितासु
तपस्विसिद्धद्विजसेवितासु ॥ १६ ॥
वसामि नित्यं सुबहूदकासु
सिंहैर्गजैश्चाकुलितोदकासु ।

जहाँ हंसोंकी मधुर ध्वनि गूँजती रहती है, क्रौञ्च पक्षीके कलरव जिनकी शोभा बढ़ाते हैं, जो अपने तटोंपर फैले हुए वृक्षोंकी श्रेणियोंसे शोभायमान हैं, जिनके किनारे तपस्वी, सिद्ध और ब्राह्मण निवास करते हैं, जिनमें बहुत जल भरा रहता है तथा सिंह और हाथी जिनके जलमें अवगाहन करते रहते हैं, ऐसी नदियोंमें भी मैं सदा निवास करती रहती हूँ ॥

मत्ते गजे गोवृषभे नरेन्द्रे
सिंहासने सत्पुरुषेषु नित्यम् ॥ १७ ॥
यस्मिञ्जनो हव्यभुजं जुहोति
गोब्राह्मणं चार्चति देवताश्च ।
काले च पुष्पैर्बलयः क्रियन्ते
तस्मिन् गृहे नित्यमुपैमि वासम् ॥ १८ ॥

मतवाले हाथी, साँड़, राजा, सिंहासन और सत्पुरुषोंमें मेरा नित्य निवास है। जिस घरमें लोग अग्निमें आहुति देते हैं, गौ, ब्राह्मण तथा देवताओंकी पूजा करते हैं और समय-समयपर जहाँ फूलोंसे देवताओंको उपहार समर्पित किये जाते हैं, उस घरमें मैं नित्य निवास करती हूँ ॥ १७-१८ ॥

स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु
क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव ।
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि
शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते ॥ १९ ॥

सदा वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले ब्राह्मणों, स्वधर्म-परायण क्षत्रियों, कृषि-कर्ममें लगे हुए वैश्यों तथा नित्य सेवा-परायण शूद्रोंके यहाँ भी मैं सदा निवास करती हूँ ॥ १९ ॥

नारायणे त्वेकमना वसामि
सर्वेण भावेन शरीरभूता ।
तस्मिन् हि धर्मः सुमहान् निविष्टो
ब्रह्मण्यता चात्र तथा प्रियत्वम् ॥ २० ॥

मैं मूर्तिमती एवं अनन्यचित्त होकर तो भगवान् नारायणमें ही सम्पूर्ण भावसे निवास करती हूँ; क्योंकि उनमें महान् धर्म संनिहित है। उनका ब्राह्मणोंके प्रति प्रेम है और उनमें स्वयं सर्वप्रिय होनेका गुण भी है ॥ २० ॥

नाहं शरीरेण वसामि देवि
नैवं मया शक्यमिहाभिधातुम् ।
भावेन यस्मिन् निवसामि पुंसि
स वर्धते धर्मयशोऽर्थकामैः ॥ २१ ॥

देवि ! मैं नारायणके सिवा अन्यत्र शरीरसे नहीं निवास

करती हूँ। मैं यहाँ ऐसा नहीं कह सकती कि सर्वत्र इसी रूपमें रहती हूँ। जिस पुरुषमें भावनाद्वारा निवास करती हूँ, वह धर्म, यश, धन और कामसे सम्पन्न होकर सदा बढ़ता रहता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्रीरुक्मिणीसंवादे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें लक्ष्मी और रुक्मिणीका संवादविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

द्वादशोऽध्यायः

कृतघ्नकी गति और प्रायश्चित्तका वर्णन तथा स्त्री-पुरुषके संयोगमें स्त्रीको ही अधिक सुख होनेके सम्बन्धमें भंगास्वनका उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

प्रायश्चित्तं कृतघ्नानां प्रतिब्रूहि पितामह ।
मातापितॄन् गुरूंश्चैव येऽवमन्यन्ति मोहिताः ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो मोहवश माता-पिता तथा गुरुजनोंका अपमान करते हैं, उन कृतघ्नोंके लिये क्या प्रायश्चित्त है ? यह बताइये ॥

ये चाप्यन्ये परे तात कृतघ्ना निरपत्रपाः ।
तेषां गतिं महाबाहो श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥

तात ! महाबाहो ! दूसरे भी जो निर्लज्ज एवं कृतघ्न हैं, उनकी गति कैसी होती है ? यह सब मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

कृतघ्नानां गतिस्तात नरके शाश्वतीः समाः ।
मातापितृगुरूणां च ये न तिष्ठन्ति शासने ॥
कृमिकीटपिपीलेषु जायन्ते स्थावरेषु च ।
दुर्लभो हि पुनस्तेषां मानुष्ये पुनरुद्भवः ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! कृतघ्नोंकी एक ही गति है, सदाके लिये नरकमें पड़े रहना। जो माता-पिता तथा गुरुजनोंकी आज्ञाके अधीन नहीं रहते हैं, वे कृमि, कीट, पिपीलिका और वृक्ष आदिकी योनियोंमें जन्म लेते हैं। मनुष्ययोनिमें फिर जन्म होना उनके लिये दुर्लभ हो जाता है ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वत्सनाभो महाप्राज्ञो महर्षिः संशितव्रतः ॥
वल्मीकभूतो ब्रह्मर्षिस्तप्यते सुमहत्तपः ।

इस विषयमें जानकार मनुष्य इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं। वत्सनाभ नामवाले एक परम बुद्धिमान् महर्षि कठोर व्रतके पालनमें लगे थे। उनके शरीरपर दीमकोंने घर बना लिया था; अतः वे ब्रह्मर्षि बाँबीरूप हो गये थे और उसी अवस्थामें वे बड़ी भारी तपस्या करते थे ॥

तस्मिंश्च तप्यति तपो वासवो भरतर्षभ ॥
ववर्ष सुमहद् वर्षं सविद्युत्स्तनयित्नुमान् ।

भरतश्रेष्ठ ! उनके तप करते समय इन्द्रने बिजलीकी चमक और मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके साथ बड़ी भारी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

तत्र सप्ताहवर्षं तु मुमुचे पाकशासनः ।
निमीलिताक्षस्तद्वर्षं प्रत्यगृह्णीत वै द्विजः ॥

पाकशासन इन्द्रने लगातार एक सप्ताहतक वहाँ जल बरसाया और वे ब्राह्मण वत्सनाभ आँख मूँदकर चुपचाप उस वर्षाका आघात सहन करते रहे ॥

तस्मिन् पतति वर्षे तु शीतवातसमन्विते ।
विशीर्णध्वस्तशिखरो वल्मीकोऽशनिताडितः ॥

सर्दी और हवासे युक्त वह वर्षा हो ही रही थी कि बिजलीसे आहत हो उस वल्मीक (बाँबी) का शिखर टूटकर बिखर गया ॥

ताड्यमाने ततस्तस्मिन् वत्सनाभे महात्मनि ।
कारुण्यात् तस्य धर्मः स्वमानृशंस्यमथाकरोत् ॥

अब महामना वत्सनाभपर उस वर्षाकी चोट पड़ने लगी। यह देख धर्मके हृदयमें करुणा भर आयी और उन्होंने वत्सनाभपर अपनी सहज दया प्रकट की ॥

चिन्तयानस्य ब्रह्मर्षिं तपन्तमधिधार्मिकम् ।
अनुरूपा मतिः क्षिप्रमुपजाता स्वभावजा ॥

तपस्यामें लगे हुए उन अत्यन्त धार्मिक ब्रह्मर्षिकी चिन्ता करतेहुए धर्मके हृदयमें शीघ्र ही स्वाभाविक सुबुद्धिका उदय हुआ, जो उन्हींके अनुरूप थी ॥

स्वं रूपं माहिषं कृत्वा सुमहान्तं मनोहरम् ।
त्राणार्थं वत्सनाभस्य चतुष्पादुपरि स्थितः ॥

वे विशाल और मनोहर भैंसेका-सा अपना स्वरूप बनाकर वत्सनाभकी रक्षाके लिये उनके चारों ओर अपने चारों पैर जमाकर उनके ऊपर खड़े हो गये ॥

यदा त्वपगतं वर्षं शीतवातसमन्वितम् ।
ततो महिषरूपी स धर्मो धर्मभृतां वर ॥
शनैर्वल्मीकमुत्सृज्य प्राद्रवद् भरतर्षभ ।
स्थितेऽस्मिन् वृष्टिसम्पाते रक्षितः स महातपाः ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरतभूषण युधिष्ठिर ! जब शीतल

हवासे युक्त वह वर्षा बंद हो गयी, तब भैंसेका रूप धारण करनेवाले धर्म धीरेसे उस वल्मीकको छोड़कर वहाँसे दूर खिसक गये। उस मुसलाधार वर्षामें महिषरूपधारी धर्मके खड़े हो जानेसे महातपस्वी वत्सनाभकी रक्षा हो गयी ॥

दिशः सुविपुलास्तत्र गिरीणां शिखराणि च ॥
दृष्ट्वा च पृथिवीं सर्वां सलिलेन परिप्लुताम्।
जलाशयान् स तान् दृष्ट्वा विप्रः प्रमुदितोऽभवत्॥

तदनन्तर वहाँ सुविस्तृत दिशाओं, पर्वतोंके शिखरों, जलमें डूबी हुई सारी पृथ्वी और जलाशयोंको देखकर ब्राह्मण वत्सनाभ बहुत प्रसन्न हुए ॥

अचिन्तयद् विस्मितश्च वर्षात् केनाभिरक्षितः।
ततोऽपश्यत् तं महिषमवस्थितमदूरतः॥

फिर वे विस्मित होकर सोचने लगे कि 'इस वर्षासे किसने मेरी रक्षा की है। इतनेहीमें पास ही खड़े हुए उस भैंसेपर उनकी दृष्टि पड़ी ॥

तिर्यग्योनावपि कथं दृश्यते धर्मवत्सलः।
अतो नु भद्रं महिषः शिलापट्ट इव स्थितः।
पीवरश्चैव शूल्यश्च बहुमांसो भवेदयम्॥

'अहो! पशुयोनिमें पैदा होकर भी यह कैसा धर्मवत्सल दिखायी देता है? निश्चय ही यह भैंसा मेरे ऊपर शिलापट्टके समान खड़ा हो गया था। इसीलिये मेरा भला हुआ है। यह बड़ा मोटा और बहुत मांसल है' ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता धर्मसंसक्तिजा मुनेः।
कृतघ्ना नरकं यान्ति ये तु विश्वासघातिनः॥

तदनन्तर धर्ममें अनुराग होनेके कारण मुनिके हृदयमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'जो विश्वासघाती एवं कृतघ्न मनुष्य हैं, वे नरकमें पड़ते हैं ॥

निष्कृतिं नैव पश्यामि कृतघ्नानां कथंचन।
ऋते प्राणपरित्यागं धर्मज्ञानां वचो यथा॥

'मैं प्राण-त्यागके सिवा कृतघ्नोंके उद्धारका दूसरा कोई उपाय किसी तरह नहीं देख पाता। धर्मज्ञ पुरुषोंका कथन भी ऐसा ही है ॥

अकृत्वा भरणं पित्रोरदत्त्वा गुरुदक्षिणाम्।
कृतघ्नतां च सम्प्राप्य मरणान्ता च निष्कृतिः॥

'पिता-माताका भरण-पोषण न करके तथा गुरुदक्षिणा न देकर मैं कृतघ्नभावको प्राप्त हो गया हूँ। इस कृतघ्नताका प्रायश्चित्त है स्वेच्छासे मृत्युको वरण कर लेना ॥

आकाङ्क्षायामुपेक्षायां चोपपातकमुत्तमम्।
तस्मात् प्राणान् परित्यक्ष्ये प्रायश्चित्तार्थमित्युत॥

'अपने कृतघ्न जीवनकी आकाङ्क्षा और प्रायश्चित्तकी उपेक्षा करनेपर भी भारी उपपातक भी बढ़ता रहेगा। अतः मैं प्रायश्चित्तके लिये अपने प्राणोंका परित्याग करूँगा' ॥

स मेरुशिखरं गत्वा निस्सङ्गेनान्तरात्मना।
प्रायश्चित्तं कर्तुकामः शरीरं त्यक्तुमुद्यतः॥
निगृहीतश्च धर्मात्मा हस्ते धर्मेण धर्मवित्॥

अनासक्त चित्तसे मेरु पर्वतके शिखरपर जाकर प्रायश्चित्त करनेकी इच्छासे अपने शरीरका त्याग करनेके लिये उद्यत हो गये। इसी समय धर्मने आकर उन धर्मज्ञ, धर्मात्मा वत्सनाभका हाथ पकड़ लिया ॥

धर्म उवाच

वत्सनाभ महाप्राज्ञ बहुवर्षशतायुषः।
परितुष्टोऽस्मि त्यागेन निःसङ्गेन तथाऽऽत्मनः॥

धर्मने कहा—महाप्राज्ञ वत्सनाभ! तुम्हारी आयु कई सौ वर्षोंकी है। तुम्हारे इस आसक्तिरहित आत्मत्यागके विचारसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ ॥

एवं धर्मभृतः सर्वे विमृशन्ति तथा कृतम्।
न स कश्चिद् वत्सनाभ यस्य नापहतं मनः॥
यश्चानवद्यश्चरति शक्तो धर्मं तु सर्वशः।
निवर्तस्व महाप्राज्ञ भूतात्मा ह्यसि शाश्वतः॥)

इसी प्रकार सभी धर्मात्मा पुरुष अपने किये हुए कर्मकी आलोचना करते हैं। वत्सनाभ! जगत्में कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जिसका मन कभी दूषित न हुआ हो। जो मनुष्य निन्द्य कर्मोंसे दूर रहकर सब तरहसे धर्मका आचरण करता है, वही शक्तिशाली है। महाप्राज्ञ! अब तुम प्राणत्यागके संकल्पसे निवृत्त हो जाओ, क्योंकि तुम सनातन (अजर-अमर) आत्मा हो ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्त्रीपुंसयोः सम्प्रयोगे स्पर्शः कस्याधिको भवेत्।
एतस्मिन् संशये राजन् यथावद् वक्तुमर्हसि॥१॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन्! स्त्री और पुरुषके संयोगमें विषयसुखकी अनुभूति किसको अधिक होती है (स्त्रीको या पुरुषको)? इस संशयके विषयमें आप यथावत्‌रूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
भंगास्वनेन शक्रस्य यथा वैरमभूत् पुरा॥२॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें भी भङ्गास्वनके साथ इन्द्रका पहले जो वैर हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

पुरा भंगास्वनो नाम राजर्षिरतिधार्मिकः।
अपुत्रः पुरुषव्याघ्र पुत्रार्थं यज्ञमाहरत्॥३॥

पुरुषसिंह! पहलेकी बात है, भङ्गास्वन नामसे प्रसिद्ध अत्यन्त धर्मात्मा राजर्षि पुत्रहीन होनेके कारण पुत्र-प्राप्तिके लिये यज्ञ करते थे ॥ ३ ॥

अग्निष्टुतं स राजर्षिरिन्द्रद्विष्टं महाबलः।
प्रायश्चित्तेषु मर्त्यानां पुत्रकामेषु चेष्यते ॥ ४ ॥

उन महाबली राजर्षिने अग्निष्टुत नामक यज्ञका आयोजन किया था। उसमें इन्द्रकी प्रधानता न होनेके कारण इन्द्र उस यज्ञसे द्वेष रखते हैं। वह यज्ञ मनुष्योंके प्रायश्चित्तके अवसरपर अथवा पुत्रकी कामना होनेपर अभीष्ट मानकर किया जाता है ॥ ४ ॥

इन्द्रो ज्ञात्वा तु तं यज्ञं महाभागः सुरेश्वरः।
अन्तरं तस्य राजर्षेरन्विच्छन्नियतात्मनः ॥ ५ ॥

महाभाग देवराज इन्द्रको जब उस यज्ञकी बात मालूम हुई, तब वे मनको वशमें रखनेवाले राजर्षि भङ्गास्वनका छिद्र ढूँढ़ने लगे ॥ ५ ॥

न चैवास्यान्तरं राजन् स ददर्श महात्मनः।
कस्यचित्त्वथ कालस्य मृगयां गतवान् नृपः ॥ ६ ॥

राजन्! बहुत ढूँढ़नेपर भी वे उस महामना नरेशका कोई छिद्र न देख सके। कुछ कालके अनन्तर राजा भङ्गास्वन शिकार खेलनेके लिये वनमें गये ॥ ६ ॥

इदमन्तरमित्येव शक्रो नृपममोहयत्।
एकाश्वेन च राजर्षिर्भ्रान्त इन्द्रेण मोहितः ॥ ७ ॥
न दिशोऽविन्दत नृपः क्षुत्पिपासार्दितस्तदा।
इतश्चेतश्च वै राजञ्श्रमतृष्णान्वितो नृप ॥ ८ ॥

नरेश्वर! 'यही बदला लेनेका अवसर है' ऐसा निश्चय करके इन्द्रने राजाको मोहमें डाल दिया। इन्द्रद्वारा मोहित एवं भ्रान्त हुए राजर्षि भङ्गास्वन एकमात्र घोड़ेके साथ इधर-उधर भटकने लगे। उन्हें दिशाओंका भी पता नहीं चलता था। वे भूख-प्याससे पीड़ित तथा परिश्रम और तृष्णासे विकल हो इधर-उधर घूमते रहे ॥ ७-८ ॥

सरोऽपश्यत् सुरुचिरं पूर्णं परमवारिणा।
सोऽवगाह्य सरस्तात पाययामास वाजिनम् ॥ ९ ॥

तात! घूमते-घूमते उन्होंने उत्तम जलसे भरा हुआ एक सुन्दर सरोवर देखा। उन्होंने घोड़ेको उस सरोवरमें स्नान कराकर पानी पिलाया ॥ ९ ॥

अथ पीतोदकं सोऽश्वं वृक्षे बद्ध्वा नृपोत्तमः।
अवगाह्य ततः स्नातस्तत्र स्त्रीत्वमवाप्तवान् ॥ १० ॥

जब घोड़ा पानी पी चुका, तब उसे एक वृक्षमें बाँधकर वे श्रेष्ठ नरेश स्वयं भी जलमें उतरे। उसमें स्नान करते ही वे राजा स्त्रीभावको प्राप्त हो गये ॥ १० ॥

आत्मानं स्त्रीकृतं दृष्ट्वा व्रीडितो नृपसत्तमः।
चिन्तानुगतसर्वात्मा व्याकुलेन्द्रियचेतनः ॥ ११ ॥

अपनेको स्त्रीरूपमें देखकर राजाको बड़ी लज्जा हुई। उनके सारे अन्तःकरणमें भारी चिन्ता व्याप्त हो गयी। उनकी इन्द्रियाँ और चेतना व्याकुल हो उठीं ॥ ११ ॥

आरोहिष्ये कथं त्वश्वं कथं यास्यामि वै पुरम्।
इष्टेनाग्निष्टुता चापि पुत्राणां शतमौरसम् ॥ १२ ॥
जातं महाबलानां मे तान् प्रवक्ष्यामि किं त्वहम्।
दारेषु चात्मकीयेषु पौरजानपदेषु च ॥ १३ ॥

वे स्त्रीरूपमें इस प्रकार सोचने लगे, 'अब मैं कैसे घोड़ेपर चढ़ूँगी? कैसे नगरको जाऊँगी? मेरे अग्निष्टुत यज्ञके अनुष्ठानसे मुझे सौ महाबलवान् औरस पुत्र प्राप्त हुए हैं। उन सबसे क्या कहूँगी? अपनी स्त्रियों तथा नगर और जनपदके लोगोंमें कैसे जाऊँगी? ॥ १२-१३ ॥

मृदुत्वं च तनुत्वं च विक्लवत्वं तथैव च।
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्मतत्त्वार्थदर्शिभिः ॥ १४ ॥

'धर्मके तत्त्वको देखने और जाननेवाले ऋषियोंने मृदुता, कृशता और व्याकुलता—ये स्त्रीके गुण बताये हैं ॥ १४ ॥

व्यायामे कर्कशत्वं च वीर्यं च पुरुषे गुणाः।
पौरुषं विप्रणष्टं वै स्त्रीत्वं केनापि मेऽभवत् ॥ १५ ॥

'परिश्रम करनेमें कठोरता और बल-पराक्रम—ये पुरुषके गुण हैं। मेरा पौरुष नष्ट हो गया और किसी अज्ञात कारणसे मुझमें स्त्रीत्व प्रकट हो गया ॥ १५ ॥

स्त्रीभावात् पुनरश्वं तं कथमारोढुमुत्सहे।
महता त्वथ यत्नेन आरुह्याश्वं नराधिपः ॥ १६ ॥
पुनरायात् पुरं तात स्त्रीकृतो नृपसत्तमः।

'अब स्त्रीभाव आ जानेसे उस अश्वपर कैसे चढ़ सकूँगी?' तात! किसी-किसी तरह महान् प्रयत्न करके वे स्त्रीरूपधारी नरेश घोड़ेपर चढ़कर अपने नगरमें आये ॥ १६½ ॥

पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च पौरजानपदाश्च ते ॥ १७ ॥
किंत्विदं त्विति विज्ञाय विस्मयं परमं गताः।

राजाके पुत्र, स्त्रियाँ, सेवक तथा नगर और जनपदके लोग, 'यह क्या हुआ?' ऐसी जिज्ञासा करते हुए बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ॥ १७½ ॥

अथोवाच स राजर्षिः स्त्रीभूतो वदतां वरः ॥ १८ ॥
मृगयामस्मि निर्यातो बलैः परिवृतो दृढम्।
उद्भ्रान्तः प्राविशं घोरामटवीं दैवचोदितः ॥ १९ ॥

तब स्त्रीरूपधारी, वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजर्षि भङ्गास्वन बोले—'मैं अपनी सेनासे घिरकर शिकार खेलनेके लिये निकला था; परंतु दैवकी प्रेरणासे भ्रान्तचित्त होकर एक भयानक वनमें जा घुसा ॥ १८-१९ ॥

अटव्यां च सुघोरायां तृष्णार्तो नष्टचेतनः।
सरः सुरुचिरप्रख्यमपश्यं पक्षिभिर्वृतम् ॥ २० ॥

उस घोर वनमें प्याससे पीड़ित एवं अचेत-सा होकर मैंने एक सरोवर देखा, जो पक्षियोंसे घिरा हुआ और मनोहर शोभासे सम्पन्न था ॥ २० ॥

तत्रावगाढः स्त्रीभूतो दैवेनाहं कृतः पुरा।
नामगोत्राणि चाभाष्य दाराणां मन्त्रिणां तथा ॥ २१ ॥

आह पुत्रांस्ततः सोऽथ स्त्रीभूतः पार्थिवोत्तमः।
सम्प्रीत्या भुज्यतां राज्यं वनं यास्यामि पुत्रकाः ॥ २२ ॥

उस सरोवरमें उतरकर स्नान करते ही दैवने मुझे स्त्री बना दिया। अपनी स्त्रियों और मन्त्रियोंके नाम-गोत्र बताकर उन स्त्रीरूपधारी श्रेष्ठ नरेशने अपने पुत्रोंसे कहा—'पुत्रो! तुमलोग आपसमें प्रेमपूर्वक रहकर राज्यका उपभोग करो। अब मैं वनको चला जाऊँगा' ॥ २१-२२ ॥

एवमुक्त्वा पुत्रशतं वनमेव जगाम ह।
गत्वा चैवाश्रमं सा तु तापसं प्रत्यपद्यत ॥ २३ ॥

अपने सौ पुत्रोंसे ऐसा कहकर राजा वनको चले गये। वह स्त्री किसी आश्रममें जाकर एक तापसके आश्रयमें रहने लगी ॥ २३ ॥

तापसेनास्य पुत्राणामाश्रमेष्वभवच्छतम्।
अथ साऽऽदाय तान् सर्वान् पूर्वपुत्रानभाषत॥ २४ ॥
पुरुषत्वे सुता यूयं स्त्रीत्वे चेमे शतं सुताः।
एकत्र भुज्यतां राज्यं भ्रातृभावेन पुत्रकाः ॥ २५ ॥

उस तपस्वीसे आश्रममें उसके सौ पुत्र हुए। तब वह रानी अपने उन पुत्रोंको लेकर पहलेवाले पुत्रोंके पास गयी और उनसे इस प्रकार बोली—'पुत्रो! जब मैं पुरुषरूपमें थी, तब तुम मेरे सौ पुत्र हुए थे और जब स्त्रीरूपमें आयी हूँ, तब ये मेरे सौ पुत्र हुए हैं। तुम सब लोग एकत्र होकर साथ-साथ मातृभावसे इस राज्यका उपभोग करो' ॥ २४-२५ ॥

सहिता भ्रातरस्तेऽथ राज्यं बुभुजिरे तदा।
तान् दृष्ट्वा भ्रातृभावेन भुञ्जानान् राज्यमुत्तमम्॥ २६ ॥
चिन्तयामास देवेन्द्रो मन्युनाथ परिप्लुतः।
उपकारोऽस्य राजर्षेः कृतो नापकृतं मया ॥ २७ ॥

तब वे सब भाई एक साथ होकर उस राज्यका उपभोग करने लगे। उन सबको भ्रातृभावसे एक साथ रहकर उस उत्तम राज्यका उपभोग करते देख क्रोधमें भरे हुए देवराज इन्द्रने सोचा कि मैंने तो इस राजर्षिका उपकार ही कर दिया, अपकार तो कुछ किया ही नहीं ॥ २६-२७ ॥

ततो ब्राह्मणरूपेण देवराजः शतक्रतुः।
भेदयामास तान् गत्वा नगरं वै नृपात्मजान् ॥ २८ ॥

तब देवराज इन्द्रने ब्राह्मणका रूप धारण करके उस नगरमें जाकर उन राजकुमारोंमें फूट डाल दी ॥ २८ ॥

भ्रातॄणां नास्ति सौभ्रात्रं येऽप्येकस्य पितुः सुताः।
राज्यहेतोर्विवदिताः कश्यपस्य सुरासुराः ॥ २९ ॥

वे बोले—'राजकुमारो! जो एक पिताके पुत्र हैं, ऐसे भाइयोंमें भी प्रायः उत्तम भ्रातृप्रेम नहीं रहता। देवता और असुर दोनों ही कश्यपजीके पुत्र हैं तथापि राज्यके लिये परस्पर विवाद करते रहते हैं ॥ २९ ॥

यूयं भङ्गास्वनापत्यास्तापसस्येतरे सुताः।
कश्यपस्य सुराश्चैव असुराश्च सुतास्तथा ॥ ३० ॥

'तुमलोग तो भङ्गास्वनके पुत्र हो और दूसरे सौ भाई एक तापसके लड़के हैं। फिर तुममें प्रेम कैसे रह सकता है? देवता और असुर तो कश्यपके ही पुत्र हैं, फिर भी उनमें प्रेम नहीं हो पाता है ॥ ३० ॥

युष्माकं पैतृकं राज्यं भुज्यते तापसात्मजैः।
इन्द्रेण भेदितास्ते तु युद्धेऽन्योन्यमपातयन् ॥ ३१ ॥

'तुमलोगोंका जो पैतृक राज्य है, उसे तापसके लड़के आकर भोग रहे हैं।' इस प्रकार इन्द्रके द्वारा फूट डालनेपर वे आपसमें लड़ पड़े। उन्होंने युद्धमें एक-दूसरेको मार गिराया ॥ ३१ ॥

तच्छ्रुत्वा तापसी चापि संतप्ता प्ररुरोद ह।
ब्राह्मणच्छद्मनाभ्येत्य तामिन्द्रोऽथान्वपृच्छत ॥ ३२ ॥

यह समाचार सुनकर तापसीको बड़ा दुःख हुआ। वह फूट-फूटकर रोने लगी। उस समय ब्राह्मणका वेश धारण करके इन्द्र उसके पास आये और पूछने लगे—॥ ३२ ॥

केन दुःखेन संतप्ता रोदिषि त्वं वरानने।
ब्राह्मणं तं ततो दृष्ट्वा सा स्त्री करुणमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

'सुमुखि! तुम किस दुःखसे संतप्त होकर रो रही हो?' उस ब्राह्मणको देखकर वह स्त्री करुणस्वरमें बोली—॥ ३३॥

पुत्राणां द्वे शते ब्रह्मन् कालेन विनिपातिते।
अहं राजाभवं विप्र तत्र पूर्वं शतं मम ॥ ३४॥
समुत्पन्नं स्वरूपाणां पुत्राणां ब्राह्मणोत्तम।
कदाचिन्मृगयां यात उद्भ्रान्तो गहने वने ॥ ३५ ॥

'ब्रह्मन्! मेरे दो सौ पुत्र कालके द्वारा मारे गये। विप्रवर! मैं पहले राजा था। तब मेरे सौ पुत्र हुए थे। द्विजश्रेष्ठ! वे सभी मेरे अनुरूप थे। एक दिन मैं शिकार खेलनेके लिये गहन वनमें गया और वहाँ अकारण भ्रमित-सा होकर इधर-उधर भटकने लगा ॥ ३४-३५ ॥

अवगाढश्च सरसि स्त्रीभूतो ब्राह्मणोत्तम।
पुत्रान् राज्ये प्रतिष्ठाप्य वनमस्मि ततो गतः ॥ ३६ ॥

'ब्राह्मणशिरोमणे! वहाँ एक सरोवरमें स्नान करते ही मैं पुरुषसे स्त्री हो गया और पुत्रोंको राज्यपर बिठाकर वनमें चला गया ॥ ३६ ॥

स्त्रियाश्च मे पुत्रशतं तापसेन महात्मना।
आश्रमे जनितं ब्रह्मन् नीतं तन्नगरं मया ॥ ३७ ॥

'स्त्रीरूपमें आनेपर महामना तापसने इस आश्रममें मुझसे सौ पुत्र उत्पन्न किये। ब्रह्मन्! मैं उन सब पुत्रोंको नगरमें ले गयी और उन्हें भी राज्यपर प्रतिष्ठित करायी ॥ ३७ ॥

तेषां च वैरमुत्पन्नं कालयोगेन वै द्विज।
एतच्छोचाम्यहं ब्रह्मन् दैवेन समभिप्लुता ॥ ३८ ॥

'विप्रवर! कालकी प्रेरणासे उन सब पुत्रोंमें वैर उत्पन्न हो गया और वे आपसमें ही लड़-भिड़कर नष्ट हो गये। इस प्रकार दैवकी मारी हुई मैं शोकमें डूब रही हूँ' ॥ ३८ ॥

इन्द्रस्तां दुःखितां दृष्ट्वा अब्रवीत् परुषं वचः।
पुरा सुदुःसहं भद्रे मम दुःखं त्वया कृतम्॥ ३९॥

इन्द्रने उसे दुखी देख कठोर वाणीमें कहा—भद्रे! जब पहले तुम राजा थीं, तब तुमने भी मुझे दुःसह दुःख दिया था॥ ३९॥

इन्द्रद्विष्टेन यजता मामनाहूय धिष्ठितम्।
इन्द्रोऽहमस्मि दुर्बुद्धे वैरं ते पातितं मया॥ ४०॥

'तुमने उस यज्ञका अनुष्ठान किया, जिसका मुझसे वैर है। मेरा आवाहन न करके तुमने वह यज्ञ पूरा कर लिया। खोटी बुद्धिवाली स्त्री! मैं वही इन्द्र हूँ और तुमसे मैंने ही अपने वैरका बदला लिया है'॥ ४०॥

इन्द्रं दृष्ट्वा तु राजर्षिः पादयोः शिरसा गतः।
प्रसीद त्रिदशश्रेष्ठ पुत्रकामेन स क्रतुः॥ ४१॥
इष्टस्त्रिदशशार्दूल तत्र मे क्षन्तुमर्हसि।

इन्द्रको देखकर वे स्त्री-रूपधारी राजर्षि उनके चरणोंमें सिर रखकर बोले—'सुरश्रेष्ठ! आप प्रसन्न हों। मैंने पुत्रकी इच्छासे वह यज्ञ किया था। देवेश्वर! उसके लिये आप मुझे क्षमा करें'॥ ४१½॥

प्रणिपातेन तस्येन्द्रः परितुष्टो वरं ददौ॥ ४२॥
पुत्रास्ते कतमे राजन् जीवन्त्वेतत् प्रचक्ष्व मे।
स्त्रीभूतस्य हि ये जाताः पुरुषस्याथ येऽभवन्॥ ४३॥

इनके इस प्रकार प्रणाम करनेपर इन्द्र संतुष्ट हो गये और वर देनेके लिये उद्यत होकर बोले—राजन्! तुम्हारे कौन-से पुत्र जीवित हो जायँ? तुमने स्त्री होकर जिन्हें उत्पन्न किया था, वे अथवा पुरुषावस्थामें जो तुमसे उत्पन्न हुए थे?'॥ ४२-४३॥

तापसी तु ततः शक्रमुवाच प्रयताञ्जलिः।
स्त्रीभूतस्य हि ये पुत्रास्ते मे जीवन्तु वासव॥ ४४॥

तब तापसीने इन्द्रसे हाथ जोड़कर कहा—'देवेन्द्र! स्त्रीरूप हो जानेपर मुझसे जो पुत्र उत्पन्न हुए हैं, वे ही जीवित हो जायँ'॥ ४४॥

इन्द्रस्तु विस्मितो दृष्ट्वा स्त्रियं पप्रच्छ तां पुनः।
पुरुषोत्पादिता ये ते कथं द्वेष्याः सुतास्तव॥ ४५॥
स्त्रीभूतस्य हि ये जाताः स्नेहस्तेभ्योऽधिकः कथम्।
कारणं श्रोतुमिच्छामि तन्मे वक्तुमिहार्हसि॥ ४६॥

तब इन्द्रने विस्मित होकर उस स्त्रीसे पूछा—'तुमने पुरुषरूपसे जिन्हें उत्पन्न किया था, वे पुत्र तुम्हारे द्वेषके पात्र क्यों हो गये? तथा स्त्रीरूप होकर तुमने जिनको जन्म दिया है, उनपर तुम्हारा अधिक स्नेह क्यों है? मैं इसका कारण सुनना चाहता हूँ, तुम्हें मुझसे यह बताना चाहिये'॥

स्त्र्युवाच

स्त्रियास्त्वभ्यधिकः स्नेहो न तथा पुरुषस्य वै।
तस्मात् ते शक्र जीवन्तु ये जाताः स्त्रीकृतस्य वै॥ ४७॥

स्त्रीने कहा—इन्द्र! स्त्रीका अपने पुत्रोंपर अधिक स्नेह होता है, वैसा स्नेह पुरुषका नहीं होता है। अतः इन्द्र! स्त्रीरूपमें आनेपर मुझसे जिनका जन्म हुआ है, वे ही जीवित हो जायँ॥ ४७॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्ततस्त्विन्द्रः प्रीतो वाक्यमुवाच ह।
सर्व एवेह जीवन्तु पुत्रास्ते सत्यवादिनि॥ ४८॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तापसीके यों कहनेपर इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'सत्यवादिनि! तुम्हारे सभी पुत्र जीवित हो जायँ॥ ४८॥

वरं च वृणु राजेन्द्र यं त्वमिच्छसि सुव्रत।
पुरुषत्वमथ स्त्रीत्वं मत्तो यदभिकाङ्क्षते॥ ४९॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजेन्द्र! तुम मुझसे अपनी इच्छाके अनुसार दूसरा वर भी माँग लो। बोलो, फिरसे पुरुष होना चाहते हो या स्त्री ही रहनेकी इच्छा है? जो चाहो वह मुझसे ले लो'॥ ४९॥

स्त्र्युवाच

स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र पुंस्त्वं नेच्छामि वासव।
एवमुक्तस्तु देवेन्द्रस्तां स्त्रियं प्रत्युवाच ह॥ ५०॥

स्त्रीने कहा—इन्द्र! मैं स्त्रीत्वका ही वरण करती हूँ। वासव! अब मैं पुरुष होना नहीं चाहती। उसके ऐसा कहनेपर देवराजने उस स्त्रीसे पूछा—॥ ५०॥

पुरुषत्वं कथं त्यक्त्वा स्त्रीत्वं चोदयसे विभो।
एवमुक्तः प्रत्युवाच स्त्रीभूतो राजसत्तमः॥ ५१॥

'प्रभो! तुम्हें पुरुषत्वका त्याग करके स्त्री बने रहनेकी इच्छा क्यों होती है?'

इन्द्रके यों पूछनेपर उन स्त्रीरूपधारी नृपश्रेष्ठने इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ५१॥

स्त्रियाः पुरुषसंयोगे प्रीतिरभ्यधिका सदा।
एतस्मात् कारणाच्छक्र स्त्रीत्वमेव वृणोम्यहम्॥ ५२॥

'देवेन्द्र! स्त्रीका पुरुषके साथ संयोग होनेपर स्त्रीको ही पुरुषकी अपेक्षा अधिक विषयसुख प्राप्त होता है, इसी कारणसे मैं स्त्रीत्वका ही वरण करती हूँ॥ ५२॥

रमिताभ्यधिकं स्त्रीत्वे सत्यं वै देवसत्तम।
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप॥ ५३॥

'देवश्रेष्ठ! सुरेश्वर! मैं सच कहती हूँ, स्त्रीरूपमें मैंने अधिक रति-सुखका अनुभव किया है, अतः स्त्रीरूपसे ही संतुष्ट हूँ। आप पधारिये'॥ ५३॥

एवमस्त्विति चोक्त्वा तामापृच्छ्य त्रिदिवं गतः।

एवं स्त्रिया महाराज अधिका प्रीतिरुच्यते ॥ ५४ ॥

महाराज ! तब 'एवमस्तु' कहकर उस तापसीसे विदा ले इन्द्र स्वर्गलोकको चले गये। इस प्रकार स्त्रीको विषय-भोगमें पुरुषकी अपेक्षा अधिक सुख-प्राप्ति बतायी जाती है ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि भङ्गास्वनोपाख्याने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें भङ्गास्वनका उपाख्यानविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २६ श्लोक मिलाकर कुल ८० श्लोक हैं)

त्रयोदशोऽध्यायः

शरीर, वाणी और मनसे होनेवाले पापोंके परित्यागका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

किं कर्तव्यं मनुष्येण लोकयात्राहितार्थिना।
कथं वै लोकयात्रां तु किंशीलश्च समाचरेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! लोकयात्राका भली-भाँति निर्वाह करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको क्या करना चाहिये ? कैसा स्वभाव बनाकर किस प्रकार लोकमें जीवन बिताना चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं चैव दशकर्मपथांस्त्यजेत् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! शरीरसे तीन प्रकारके कर्म, वाणीसे चार प्रकारके कर्म और मनसे भी तीन प्रकारके कर्म—इस तरह कुल दस तरहके कर्मोंका त्याग कर दे ॥२॥

प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदारानथापि च।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥

दूसरोंके प्राणनाश करना, चोरी करना और परायी स्त्रीसे संसर्ग रखना—ये तीन शरीरसे होनेवाले पाप हैं। इन सबका परित्याग कर देना उचित है ॥ ३ ॥

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ॥ ४ ॥

मुँहसे बुरी बातें निकालना, कठोर बोलना, चुगली खाना और झूठ बोलना—ये चार वाणीसे होनेवाले पाप हैं। राजेन्द्र ! इन्हें न तो कभी जबानपर लाना चाहिये और न मनमें ही सोचना चाहिये ॥ ४ ॥

अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम्।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत् ॥ ५ ॥

दूसरेके धनको लेनेका उपाय न सोचना, समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखना और कर्मोंका फल अवश्य मिलता है, इस बातपर विश्वास रखना—ये तीन मनसे आचरण करने योग्य कार्य हैं। इन्हें सदा करना चाहिये। (इनके विपरीत दूसरोंके धनका लालच करना, समस्त प्राणियोंसे वैर रखना और कर्मोंके फलपर विश्वास न करना—ये तीन मानसिक पाप हैं—इनसे सदा बचे रहना चाहिये) ॥

तस्माद् वाक्कायमनसा नाचरेदशुभं नरः।
शुभाशुभान्याचरन् हि तस्य तस्याश्नुते फलम् ॥ ६ ॥

इसलिये मनुष्यका कर्तव्य है कि वह मन, वाणी या शरीरसे कभी अशुभ कर्म न करे; क्योंकि वह शुभ या अशुभ जैसा कर्म करता है, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है ॥ ६ ॥

[ब्रह्माजीका देवताओंसे गरुड-कश्यप-संवादका प्रसंग सुनाना, गरुडजीका ऋषियोंके समाजमें नारायणकी महिमाके सम्बन्धमें अपना अनुभव सुनाना तथा इस प्रसंगके पाठ और श्रवणकी महिमा]

अमृतस्य समुत्पत्तौ देवानामसुरैः सह।
षष्टिवर्षसहस्राणि देवासुरमवर्तत ॥

एक समय अमृतकी उत्पत्ति हो जानेपर उसकी प्राप्तिके लिये देवताओंका असुरोंके साथ साठ हजार वर्षोंतक युद्ध हुआ, जो देवासुर-संग्रामके नामसे प्रसिद्ध है ॥

तत्र देवास्तु दैतेयैर्वध्यन्ते भृशदारुणैः।
त्रातारं नाधिगच्छन्ति वध्यमाना महासुरैः ॥

उस युद्धमें अत्यन्त भयंकर दैत्यों एवं बड़े-बड़े असुरोंकी मार खाकर देवता किसी रक्षकको नहीं पाते थे ॥

आर्तास्ते देवदेवेशं प्रपन्नाः शरणैषिणः।
पितामहं महाप्राज्ञं वध्यमानाः सुरेतरैः ॥

दैत्योंद्वारा सताये जानेवाले देवता दुखी होकर अपने लिये आश्रय ढूँढ़ते हुए देवदेवेश्वर महाज्ञानी ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥

वैकुण्ठं शरणं देवं प्रतिपेदे च तैः सह ॥

तब ब्रह्माजी उन सबके साथ भगवान् विष्णुकी शरणमें गये ॥

ततः स देवैः सहितः पद्मयोनिर्नरेश्वर।
तुष्टाव प्राञ्जलिर्भूत्वा नारायणमनामयम् ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर देवताओंसहित कमलयोनि ब्रह्माजी हाथ जोड़कर रोग-शोकसे रहित भगवान् नारायणकी स्तुति करने लगे ॥

ब्रह्मोवाच

त्वद्रूपचिन्तनान्नाम्नां स्मरणादर्चनादपि।
तपोयोगादिभिश्चैव श्रेयो यान्ति मनीषिणः ॥

ब्रह्माजी बोले—प्रभो ! आपके रूपका चिन्तन करनेसे, नामोंके स्मरण और जपसे, पूजनसे तथा तप और योग आदिसे मनीषी पुरुष कल्याणको प्राप्त होते हैं ॥

भक्तवत्सल पद्माक्ष परमेश्वर पापहन् ।
परमात्माविकाराद्य नारायण नमोऽस्तु ते ॥

भक्तवत्सल ! कमलनयन ! परमेश्वर ! पापहारी परमात्मन् ! निर्विकार ! आदिपुरुष ! नारायण ! आपको नमस्कार है ॥

नमस्ते सर्वलोकादे सर्वात्मामितविक्रम ।
सर्वभूतभविष्येश सर्वभूतमहेश्वर ॥

सम्पूर्ण लोकोंके आदिकारण ! सर्वात्मन् ! अमित पराक्रमी नारायण ! सम्पूर्ण भूत और भविष्यके स्वामी ! सर्वभूतमहेश्वर ! आपको नमस्कार है ॥

देवानामपि देवस्त्वं सर्वविद्यापरायणः ।
जगद्बीजसमाहार जगतः परमो ह्यसि ॥

प्रभो ! आप देवताओंके भी देवता और समस्त विद्याओंके परम आश्रय हैं । जगत्के जितने भी बीज हैं, उन सबका संग्रह करनेवाले आप ही हैं । आप ही जगत्के परम कारण हैं ॥

त्रायस्व देवता वीर दानवाद्यैः सुपीडिताः ।
लोकांश्च लोकपालांश्च ऋषींश्च जयतां वर ॥

वीर ! ये देवता दानव, दैत्य आदिसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं । आप इनकी रक्षा कीजिये । विजयशीलोंमें सबसे श्रेष्ठ नारायणदेव ! आप लोकों, लोकपालों तथा ऋषियोंका संरक्षण कीजिये ॥

वेदाः साङ्गोपनिषदः सरहस्याः ससंग्रहाः ।
सोङ्काराः सवषट्काराः प्राहुस्त्वां यज्ञमुत्तमम् ॥

सम्पूर्ण अङ्गों और उपनिषदोंसहित वेद, उनके रहस्य, संग्रह, ॐकार और वषट्कार आपहीको उत्तम यज्ञका स्वरूप बताते हैं ॥

पवित्राणां पवित्रं च मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
तपस्विनां तपश्चैव दैवतं देवतास्वपि ॥

आप पवित्रोंके भी पवित्र, मङ्गलोंके भी मङ्गल, तपस्वियोंके तप और देवताओंके भी देवता हैं ॥

भीष्म उवाच

एवमादिपुरस्कारैर्ऋक्सामयजुषां गणैः ।
वैकुण्ठं तुष्टुवुर्देवाः समेत्य ब्रह्मणा सह ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार ब्रह्मासहित देवताओंने एकत्र होकर ऋक्, साम और यजुर्वेदके मन्त्रों-द्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति की ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीन्मेघगम्भीरनिःस्वना ।
जेष्यध्वं दानवान् यूयं मयैव सह सङ्गरे ॥

तब मेघके समान गम्भीर स्वरमें आकाशवाणी हुई— 'देवताओ ! तुम युद्धमें मेरे साथ रहकर दानवोंको अवश्य जीत लोगे' ॥

ततो देवगणानां च दानवानां च युध्यताम् ।
प्रादुरासीन्महातेजाः शङ्खचक्रगदाधरः ॥

तत्पश्चात् परस्पर युद्ध करनेवाले देवताओं और दानवोंके बीच शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महातेजस्वी भगवान् विष्णु प्रकट हुए ॥

सुपर्णपृष्ठमास्थाय तेजसा प्रदहन्निव ।
व्यधमद् दानवान् सर्वान् बाहुद्रविणतेजसा ॥

उन्होंने गरुडकी पीठपर बैठकर तेजसे विरोधियोंको दग्ध करते हुए-से अपनी भुजाओंके तेज और वैभवसे समस्त दानवोंका संहार कर डाला ॥

तं समासाद्य समरे दैत्यदानवपुङ्गवाः ।
व्यनश्यन्त महाराज पतङ्गा इव पावकम् ॥

महाराज ! समरभूमिमें दैत्यों और दानवोंके प्रमुख वीर भगवान्से टक्कर लेकर वैसे ही नष्ट हो गये, जैसे पतङ्गे आगमें कूदकर अपने प्राण दे देते हैं ॥

स विजित्यासुरान् सर्वान् दानवांश्च महामतिः ।
पश्यतामेव देवानां तत्रैवान्तरधीयत ॥

परम बुद्धिमान् श्रीहरि समस्त असुरों और दानवोंको परास्त करके देवताओंके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये ॥

तं दृष्ट्वान्तर्हितं देवं विष्णुं देवामितद्युतिम् ।
विस्मयोत्फुल्लनयना ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ॥

अनन्त तेजस्वी श्रीविष्णुदेवको अदृश्य हुआ देख आश्चर्यसे चकित नेत्रवाले देवता ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—॥

देवा उचुः

भगवन् सर्वलोकेश सर्वलोकपितामह ।
इदमत्यद्भुतं वृत्तं त्वं नः शंसितुमर्हसि ॥

देवताओंने पूछा—सर्वलोकेश्वर ! सम्पूर्ण जगत्के पितामह ! भगवन् ! यह अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त हमें बतानेकी कृपा करें ॥

कोऽयमस्मान् परित्राय तूर्णीमेव यथागतम् ।
प्रतिप्रयातो दिव्यात्मा तं नः शंसितुमर्हसि ॥

कौन दिव्यात्मा पुरुष हमारी रक्षा करके चुपचाप जैसे आया था, वैसे लौट गया ? यह हमें बतानेकी कृपा करें ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तः सुरैः सर्वैर्वचनं वचनार्थवित् ।
उवाच पद्मनाभस्य पूर्वरूपं प्रति प्रभो ॥

भीष्मजी कहते हैं—प्रभो ! सम्पूर्ण देवताओंके ऐसा कहनेपर वचनके तात्पर्यको समझनेवाले ब्रह्माजीने भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) के पूर्वरूपके विषयमें इस प्रकार कहा—॥

ब्रह्मोवाच

न ह्येनं वेद तत्त्वेन भुवनं भुवनेश्वरम् ।
संख्यातुं नैव चात्मानं निर्गुणं गुणिनां वरम् ॥

ब्रह्माजी बोले—देवताओ ! ये भगवान् सम्पूर्ण भुवनोंके अधीश्वर हैं । इन्हें जगत्का कोई भी प्राणी यथार्थरूपसे नहीं जानता । गुणवानोंमें श्रेष्ठ निर्गुण परमात्माकी महिमाका कोई पूर्णतः वर्णन नहीं कर सकता ॥

अत्र वो वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् ।
सुपर्णस्य च संवादमृषीणां चापि देवताः ॥

देवगण ! इस विषयमें मैं तुमलोगोंको गरुड और ऋषियों-का संवादरूप प्राचीन इतिहास बता रहा हूँ ॥

पुरा ब्रह्मर्षयश्चैव सिद्धाश्च भुवनेश्वरम्।
आश्रित्य हिमवत्पृष्ठे चक्रिरे विविधाः कथाः ॥

पूर्वकालकी बात है, हिमालयके शिखरपर ब्रह्मर्षि और सिद्धगण जगदीश्वर श्रीहरिकी शरण ले उन्हींके विषयमें नाना प्रकारकी बातें कर रहे थे ॥

तेषां कथयतां तत्र कथान्ते पततां वरः।
प्रादुरासीन्महातेजा वाहश्चक्रगदाभृतः ॥

उनकी बातचीत पूरी होते ही चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णुके वाहन महातेजस्वी पक्षिराज गरुड वहाँ आ पहुँचे ॥

स तानृषीन् समासाद्य विनयावनताननः।
अवतीर्य महावीर्यस्तानृषीनभिजग्मिवान् ॥

उन ऋषियोंके पास पहुँचकर महापराक्रमी गरुड नीचे उतर पड़े और विनयसे मस्तक झुकाकर उनके समीप गये ॥

अभ्यर्चितः स ऋषिभिः स्वागतेन महाबलः।
उपाविशत तेजस्वी भूमौ वेगवतां वरः ॥

ऋषियोंने स्वागतपूर्वक वेगवानोंमें श्रेष्ठ महान् बलवान् एवं तेजस्वी गरुडका पूजन किया। उनसे पूजित होकर वे पृथ्वीपर बैठे ॥

तमासीनं महात्मानं वैनतेयं महाद्युतिम्।
ऋषयः परिपप्रच्छुर्महात्मानं तपस्विनः ॥

बैठ जानेपर उन महाकाय, महामना और महातेजस्वी विनतानन्दन गरुडसे वहाँ बैठे हुए तपस्वी ऋषियोंने पूछा ॥

ऋषय ऊचुः

कौतूहलं वैनतेय परं नो हृदि वर्तते।
तस्य नान्योऽस्ति वक्तेह त्वामृते पन्नगाशन ॥
तदाख्यातमिहेच्छामो भवता प्रश्नमुत्तमम्।

ऋषि बोले--विनतानन्दन गरुड ! हमारे हृदयमें एक प्रश्नको लेकर बड़ा कौतूहल उत्पन्न हो गया है। उसका समाधान करनेवाला यहाँ आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है, अतः हम आपके द्वारा अपने उस उत्तम प्रश्नका विवेचन कराना चाहते हैं ॥

गरुड उवाच

किं मया ब्रूत वक्तव्यं कार्यं च वदतां वराः ॥
यूयं हि मां यथायुक्तं सर्वे वै देष्टुमर्हथ।

गरुड बोले--वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वरो ! मेरे द्वारा किस विषयमें आप प्रवचन कराना चाहते हैं ? यह बताइये। आप मुझे सभी यथोचित कार्योंके लिये आज्ञा दे सकते हैं ॥

ब्रह्मोवाच

नमस्कृत्वा ह्यनन्ताय ततस्ते हृदि सत्तमाः।
प्रष्टुं प्रचक्रमुस्तत्र वैनतेयं महाबलम् ॥

ब्रह्माजी कहते हैं--देवताओ ! तदनन्तर उन श्रेष्ठतम ऋषियोंने अन्तरहित भगवान् नारायणको नमस्कार करके महाबली गरुडसे वहाँ इस प्रकार पूछना आरम्भ किया ॥

ऋषय ऊचुः

देवदेवं महात्मानं नारायणमनामयम्।
भवानुपास्ते वरदं कुतोऽसौ कश्च तत्त्वतः ॥

ऋषि बोले--विनतानन्दन ! जिस रोग-शोकसे रहित वरदायक देवाधिदेव महात्मा नारायणकी आप उपासना करते हैं, उनका प्राकट्य कहाँसे हुआ है ? तथा वे वास्तवमें कौन हैं ? ॥

प्रकृतिर्विकृतिर्वास्य कीदृशी क नु संस्थितिः।
एतद् भवन्तं पृच्छामो देवोऽयं क कृतालयः ॥

उनकी प्रकृति अथवा विकृति कैसी है ? उनकी स्थिति कहाँ है ? तथा वे नारायणदेव कहाँ अपना घर बनाये हुए हैं ? ये सब बातें हमलोग आपसे पूछते हैं ॥

एष भक्तप्रियो देवः प्रियभक्तस्तथैव च।
त्वं प्रियश्चास्य भक्तश्च नान्यः काश्यप विद्यते ॥

कश्यपकुमार ! ये भगवान् नारायण भक्तोंके प्रिय हैं तथा भक्त भी उन्हें बहुत प्रिय हैं और आप भी उनके प्रिय एवं भक्त हैं। आपके समान दूसरा कोई उन्हें प्रिय नहीं है ॥

मुष्णन्निव मनश्चक्षूंष्यविभाव्यतनुर्विभुः।
अनादिमध्यनिधनो न विद्मैनं कुतो ह्यसौ ॥

उनका विग्रह इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष अनुभवमें आने योग्य नहीं है। वे सबके मन और नेत्रोंको मानो चुराये लेते हैं। उनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। हम इनके विषयमें यह नहीं समझ पाते कि ये कहाँसे प्रकट हुए हैं ? ॥

वेदेष्वपि च विश्वात्मा गीयते न च विद्महे।
तत्त्वतस्तत्त्वभूतात्मा विभुर्नित्यः सनातनः ॥

वेदोंमें भी विश्वात्मा कहकर इनकी महिमाका गान किया गया है, परंतु हम यह नहीं जानते कि वे तत्त्वभूतस्वरूप नित्य सनातन प्रभु वस्तुतः कैसे हैं ? ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
गुणाश्चैषां यथासंख्यं भावाभावौ तथैव च ॥
तमः सत्त्वं रजश्चैव भावाश्चैव तदात्मकाः।
मनो बुद्धिश्च तेजश्च बुद्धिगम्यानि तत्त्वतः ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि—ये पाँच भूत; क्रमशः इन भूतोंके गुण; भाव-अभाव; सत्त्व, रज, तम, सात्त्विक, राजस और तामस भाव; मन, बुद्धि और तेज—ये वास्तवमें बुद्धिगम्य हैं ॥

जायन्ते तात तस्माद्धि तिष्ठते तेष्वसौ विभुः।
संचिन्त्य बहुधा बुद्ध्या नाध्यवस्यामहे परम् ॥

तस्य देवस्य तत्त्वेन तन्नः शंस यथातथम्।

तात ! ये सब उन्हीं श्रीहरिसे उत्पन्न होते हैं और वे भगवान् इन सबमें व्यापकरूपसे स्थित हैं। हम उनके विषयमें अपनी बुद्धिके द्वारा नाना प्रकारसे विचार करते हैं तथापि किसी उत्तम निश्चयपर नहीं पहुँच पाते, अतः आप यथार्थ रूपसे हमें उनका तत्त्व बताइये ॥

सुपर्ण उवाच

स्थूलतो यस्तु भगवांस्तेनैव स्वेन हेतुना।
त्रैलोक्यस्य तु रक्षार्थं दृश्यते रूपमास्थितः॥

गरुडजीने कहा—महात्माओ ! जो स्थूलस्वरूप भगवान् हैं, वे तीनों लोकोंकी रक्षाके लिये उसी कारणभूत अपने स्वरूपसे लोगोंको दृष्टिगोचर होते हैं ॥

मया तु मद्दाश्चर्यं पुरा दृष्टं सनातने।
देवे श्रीवत्सनिलये तच्छृणुध्वमशेषतः।

मैंने पूर्वकालमें श्रीवत्सचिह्नके आश्रयभूत सनातनदेव श्रीहरिके विषयमें जो महान् आश्चर्यकी बात देखी है, वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥

न स्म शक्यो मया वेत्तुं न भवद्भिः कथंचन॥
यथा मां प्राह भगवांस्तथा तच्छ्रूयतां मम।

मैं या आपलोग कोई भी किसी तरह भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको नहीं जान सकते। भगवान्‌ने स्वयं ही अपने विषयमें मुझसे जो कुछ जैसा कहा है, वह उसी रूपमें सुनिये ॥

मयामृतं देवतानां मिषतामृषिसत्तमाः॥
हृतं विपाट्य तं यन्त्रं विद्राव्यामृतरक्षिणः।
देवता विमुखीकृत्य सेन्द्राः समरुतो मृधे॥
तं दृष्ट्वा मम विक्रान्तं वागुवाचाशरीरिणी।

मुनिश्रेष्ठगण ! मैंने देवताओंके देखते-देखते उनके रक्षा-यन्त्रको विदीर्ण करके अमृतके रक्षकोंको खदेड़कर युद्धमें इन्द्र और मरुद्गणोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको पराजित करके शीघ्र ही अमृतका अपहरण कर लिया। मेरे उस पराक्रमको देखकर आकाशवाणीने कहा ॥

अशरीरिणी वागुवाच

प्रीतोऽस्मि ते वैनतेय कर्मणानेन सुव्रत।
अवृथा तेऽस्तु मद्वाक्यं ब्रूहि किं करवाणि ते॥

आकाशवाणी बोली—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले विनतानन्दन ! मैं तुम्हारे इस पराक्रमसे बहुत प्रसन्न हूँ। मेरी यह वाणी व्यर्थ नहीं जानी चाहिये; इसलिये बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूर्ण करूँ ? ॥

सुपर्ण उवाच

तामेवंवादिनीं वाचमहं प्रत्युक्तवांस्तदा।
ज्ञातुमिच्छामि कस्त्वं हि ततो मे दास्यसे वरम्॥

गरुड कहते हैं—ऋषिगण ! आकाशवाणीकी ऐसी बात सुनकर मैंने उस समय यों उत्तर दिया—'पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं ? फिर मुझे वर दीजियेगा' ॥

ततो जलदगम्भीरं प्रहस्य गदतां वरः।
उवाच वरदः प्रीतः काले त्वं माभिवेत्स्यसि॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ वरदायक भगवान्‌ने बड़े जोरसे हँसकर मेघके समान गम्भीर वाणीमें प्रसन्नतापूर्वक कहा—'समय आनेपर मेरे विषयमें तुम सब कुछ जान लोगे ॥

वाहनं भव मे साधु वरं दद्मि तवोत्तमम्।
न ते वीर्येण सदृशः कश्चिल्लोके भविष्यति॥
पतङ्ग पततां श्रेष्ठ न देवो नापि दानवः।
मत्सखित्वमनुप्राप्तो दुर्धर्षश्च भविष्यसि॥

'पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड ! मैं तुम्हें यह उत्तम वर देता हूँ कि देवता हो या दानव, कोई भी इस संसारमें तुम्हारे समान पराक्रमी न होगा। तुम मेरे अच्छे वाहन हो जाओ, मेरे सखा-भावको प्राप्त होनेके कारण तुम सदा दुर्जय बने रहोगे' ॥

तमब्रवं देवदेवं मामेवं वादिनं परम्।
प्रयतः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रणम्य शिरसा विभुम्॥

तब मैंने हाथ जोड़ पवित्र हो उपर्युक्त बात कहनेवाले सर्वव्यापी देवाधिदेव भगवान् परम पुरुषको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥

एवमेतन्महाबाहो सर्वमेतद् भविष्यति।
वाहनं ते भविष्यामि यथा वदति मां भवान्॥
ध्वजस्तेऽहं भविष्यामि रथस्थस्य न संशयः।

'महाबाहो ! आपका यह कथन ठीक है। यह सब कुछ आपकी आज्ञाके अनुसार ही होगा। आप मुझे जैसा आदेश दे रहे हैं, उसके अनुसार मैं आपका वाहन अवश्य होऊँगा। आप रथपर विराजमान होंगे, उस समय मैं आपकी ध्वजापर स्थित रहूँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥

तथास्त्विति स मामुक्त्वा यथाभिप्रायतो गतः॥

तब भगवान्‌ने मुझसे 'तथास्तु' कहकर वे अपनी इच्छाके अनुसार चले गये ॥

ततोऽहं कृतसंवादस्तेन केनापि सत्तमाः।
कौतूहलसमाविष्टः पितरं काश्यपं गतः॥

साधुशिरोमणियो ! तदनन्तर उन अनिर्वचनीय देवतासे वार्तालाप करके मैं कौतूहलवश अपने पिता कश्यपजीके पास गया ॥

सोऽहं पितरमासाद्य प्रणिपत्याभिवाद्य च।
सर्वमेतद् यथातथ्यमुक्तवान् पितुरन्तिके॥

पिताके पास पहुँचकर मैंने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और यह सारा वृत्तान्त उनसे यथावत्‌रूपसे कह सुनाया ॥

श्रुत्वा तु भगवान् मह्यं ध्यानमेवान्वपद्यत।
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा मामाह वदतां वरः॥

यह सुनकर मेरे पूज्यपाद पिताने ध्यान लगाया। दो घड़ीतक ध्यान करके वे वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनि मुझसे बोले—॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यत् त्वं तेन महात्मना।
संवादं कृतवांस्तात गुह्येन परमात्मना॥

'तात! मैं धन्य हूँ, भगवान्‌की कृपाका पात्र हूँ, जिसके पुत्र होकर तुमने उन महामनस्वी गुह्य परमात्मासे वार्तालाप कर लिया॥

मया हि स महातेजा नान्ययोगसमाधिना।
तपसोग्रेण तेजस्वी तोषितस्तपसां निधिः॥

'मैंने अनन्यभावसे मनको एकाग्र करके उग्र तपस्याद्वारा उन महातेजस्वी तपस्याकी निधिरूप (प्रतापी) श्रीहरिको संतुष्ट किया था॥

ततो मे दर्शयामास तोषयन्निव पुत्रक।
श्वेतपीतारुणनिभः कद्रूकपिलपिङ्गलः॥

'बेटा! तब मुझे संतुष्ट करते हुए-से भगवान् श्रीहरिने मुझे दर्शन दिया। उनके विभिन्न अङ्गोंकी कान्ति श्वेत, पीत, अरुण, भूरी, कपिश और पिङ्गल वर्णकी थी॥

रक्तनीलासितनिभः सहस्रोदरपाणिमान्।
द्विसाहस्रमहावक्त्र एकाक्षः शतलोचनः॥

'वे लाल, नीले और काले-जैसे भी दीखते थे। उनके सहस्रों उदर और हाथ थे। उनके महान् मुख दो सहस्रकी संख्यामें दिखायी देते थे। वे एक नेत्र तथा सौ नेत्रोंसे युक्त थे॥

समासाद्य तु तं विश्वमहं मूर्ध्ना प्रणम्य च।
ऋग्यजुःसामभिः स्तुत्वा शरण्यं शरणं गतः॥

'उन विश्वात्माको निकट पाकर मैंने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और ऋक्, यजुः तथा साम-मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करके मैं उन शरणागतवत्सल देवकी शरणमें गया॥

तेन त्वं कृतसंवादः स्वतः सर्वहितैषिणा।
विश्वरूपेण देवेन पुरुषेण महात्मना॥
तमेवाराधय क्षिप्रं तमाराध्य न सीदसि।

'बेटा गरुड! सबका हित चाहनेवाले उन विश्वरूपधारी अन्तर्यामी परमात्मदेवसे तुमने वार्तालाप किया है; अतः शीघ्र उन्हींकी आराधना करो। उनकी आराधना करके तुम कभी कष्टमें नहीं पड़ोगे'॥

सोऽहमेवं भगवता पित्रा ब्रह्मर्षिसत्तमाः॥
अनुनीतो यथान्यायं स्वमेव भवनं गतः।
सोऽहमामन्त्र्य पितरं तद्भावगतमानसः॥
स्वमेवालयमासाद्य तमेवार्थमचिन्तयम्।

ब्रह्मर्षिशिरोमणियो! इस प्रकार अपने पूज्य पिताके यथोचितरूपसे समझानेपर मैं अपने घरको गया। पितासे विदा ले अपने घर आकर मैं उन्हीं परमात्माके ध्यानमें मन लगाकर उन्हींका चिन्तन करने लगा॥

तद्भावगतभावात्मा तद्भूतगतमानसः॥
गोविन्दं चिन्तयन्नास्से शाश्वतं परमव्ययम्।

मेरा भावभक्तिसे युक्त मन उन्हींकी भावनामें लगा हुआ था। मेरा चित्त उनका चिन्तन करते-करते तदाकार हो गया था। इस प्रकार मैं उन सनातन अविनाशी परम पुरुष गोविन्दके चिन्तनमें तत्पर हो बैठा रहा॥

धृतं बभूव हृदयं नारायणदिदृक्षया॥
सोऽहं वेगं समास्थाय मनोमारुतवेगवान्।
रम्यां विशालां बदरीं गतो नारायणाश्रमम्॥

ऐसा करनेसे मेरा हृदय नारायणके दर्शनकी इच्छासे स्थिर हो गया और मैं मन एवं वायुके समान वेगशाली हो महान् वेगका आश्रय ले रमणीय बदरीविशाल तीर्थमें भगवान् नारायणके आश्रमपर जा पहुँचा॥

ततस्तत्र हरिं दृष्ट्वा जगतः प्रभवं विभुम्।
गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं प्रणतः शिरसा हरिम्॥
ऋग्यजुःसामभिश्चैनं तुष्टाव परया मुदा।

तदनन्तर वहाँ जगत्‌की उत्पत्तिके कारणभूत सर्वव्यापी कमलनयन श्रीगोविन्द हरिका दर्शन करके मैं उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और बड़ी प्रसन्नताके साथ ऋक्, यजुः एवं साममन्त्रोंके द्वारा उनका स्तवन किया॥

सोऽहं प्रपन्नः शरणं देवदेवं सनातनम्।
प्राञ्जलिर्मनसा भूत्वा वाक्यमेतत् तदोक्तवान्॥

तब मैं मन-ही-मन उन सनातन देवदेवकी शरणमें गया और हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—॥

भगवन् भूतभव्येश भवद्भूतकृदव्यय।
शरणं सम्प्रपन्नं मां त्रातुमर्हस्यरिंदम॥

'भगवन्! भूत और भविष्यके स्वामी, वर्तमान भूतोंके निर्माता, शत्रुदमन, अविनाशी! मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी रक्षा करें॥

अहं तु तत्त्वजिज्ञासुः कोऽसि कस्यासि कुत्र वा।
सम्प्राप्तः पदवीं देव स मां संत्रातुमर्हसि॥

'मैं तो 'आप कौन हैं, किसके हैं और कहाँ रहते हैं?' इस बातको तत्त्वसे जाननेकी इच्छा रखकर आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ। देव! आप मेरी रक्षा करें'॥

श्रीभगवानुवाच

मम त्वं विदितः सौम्य यथावत् तत्त्वदर्शने।
ज्ञापितश्चापि यत् पित्रा तच्चापि विदितं महत्॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—सौम्य! तुम यथावत्‌रूपसे मेरे तत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिये सचेष्ट होओ। यह बात मुझे पहलेसे ही विदित है। तुम्हारे पिताने तुम्हें मेरे विषयमें जो कुछ ज्ञान दिया है, वह सब कुछ मुझे ज्ञात है॥

वैनतेय न कस्यापि अहं वेद्यः कथंचन।
मां हि विन्दन्ति विद्वांसो ये ज्ञाने परिनिष्ठिताः॥

विनतानन्दन ! किसीको भी किसी तरह मेरे स्वरूपका पूर्णतः ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञाननिष्ठ विद्वान् ही मेरे विषयमें कुछ जान पाते हैं ॥

निर्ममा निरहङ्कारा निराशीर्बन्धनायुताः।
भवांस्तु सततं भक्तो मन्मनाः पक्षिसत्तम॥
स्थूलं मां वेत्स्यसे तस्माज्जगतः कारणे स्थितम्।

जो ममता और अहंकारसे रहित तथा कामनाओंके बन्धनसे मुक्त हैं, वे ही मुझे जान पाते हैं। पक्षिप्रवर ! तुम मेरे भक्त हो और सदा ही मुझमें मन लगाये रखते हो। इसलिये जगत्के कारणरूपमें स्थित मेरे स्थूलस्वरूपका बोध प्राप्त करोगे ॥

सुपर्ण उवाच

एवं दत्ताभयस्तेन ततोऽहमृषिसत्तमाः।
नष्टखेदश्रमभयः क्षणेन ह्यभवं तदा॥

गरुड कहते हैं—ऋषिशिरोमणियो ! इस प्रकार भगवान्के अभय देनेपर क्षणभरमें मेरे खेद, श्रम और भय सब नष्ट हो गये ॥

स शनैर्याति भगवान् गत्या लघुपराक्रमः।
अहं तु सुमहावेगमास्थायानुव्रजामि तम्॥

उस समय शीघ्रगामी भगवान् अपनी गतिसे धीरे-धीरे चल रहे थे और मैं महान् वेगका आश्रय लेकर उनका अनुसरण करता था ॥

स गत्वा दीर्घमध्वानमाकाशममितद्युतिः।
मनसाप्यगमं देशमाससादात्मतत्त्ववित्॥

वे अमित तेजस्वी एवं आत्मतत्त्वके ज्ञाता भगवान् श्रीहरि आकाशमें बहुत दूरतकका मार्ग तै करके ऐसे देशमें जा पहुँचे, जो मनके लिये भी अगम्य था ॥

अथ देवः समासाद्य मनसः सदृशं जवम्।
मोहयित्वा च मां तत्र क्षणेनान्तरधीयत॥

तदनन्तर भगवान् मनके समान वेगको अपनाकर मुझे मोहित करके वहीं क्षणभरमें अदृश्य हो गये ॥

तत्राम्बुधरधीरेण भोःशब्देनानुनादिना।
अयं भोऽहमिति प्राह वाक्यं वाक्यविशारदः॥

वहाँ मेघके समान धीर-गम्भीर स्वरमें उच्चारित 'भो' शब्दके द्वारा बोलनेमें कुशल भगवान् इस प्रकार बोले—'हे गरुड ! यह मैं हूँ' ॥

शब्दानुसारी तु ततस्तं देशमहमाव्रजम्।
तत्रापश्यं ततश्चाहं श्रीमद्धंसयुतं सरः॥

मैं उसी शब्दका अनुसरण करता हुआ उस स्थानपर जा पहुँचा। वहाँ मैंने एक सुन्दर सरोवर देखा, जिसमें बहुत-से हंस शोभा पा रहे थे ॥

स तत्सरः समासाद्य भगवानात्मवित्तमः।
भोःशब्दप्रतिसृष्टेन स्वरेणाप्रतिवादिना॥
विवेश देवः स्वां योनिं मामिदं चाभ्यभाषत।

आत्मतत्त्वके ज्ञाताओंमें सर्वोत्तम भगवान् नारायण उस सरोवरके पास पहुँचकर 'भो' शब्दसे युक्त अनुपम गम्भीर स्वरसे मुझे पुकारते हुए अपने शयन-स्थान जलमें प्रविष्ट हो गये और मुझसे इस प्रकार बोले ॥

श्रीभगवानुवाच

विशस्व सलिलं सौम्य सुखमत्र वसामहे।

श्रीभगवान्ने कहा—सौम्य ! तुम भी जलमें प्रवेश करो। हम दोनों वहाँ सुखसे रहेंगे ॥

सुपर्ण उवाच

ततश्च प्राविशं तत्र सह तेन महात्मना।
दृष्टवानद्भुततरं तस्मिन् सरसि भास्वताम्॥
अग्नीनां सुप्रणीतानामिद्धानामिन्धनैर्विना।
दीप्तानामाज्यसिक्तानां स्थानेष्वर्चिष्मतां सदा॥

गरुड कहते हैं—ऋषियो ! तब मैं उन महात्मा श्रीहरिके साथ उस सरोवरमें घुसा। वहाँ मैंने अत्यन्त अद्भुत दृश्य देखा। भिन्न-भिन्न स्थानोंपर विधिपूर्वक स्थापित की हुई प्रज्वलित अग्नियाँ बिना ईंधनके ही जल रही थीं और घीकी आहुति पाकर उद्दीप्त हो उठी थीं ॥

दीप्तिस्तेषामनाज्यानां प्राप्ताज्यानामिवाभवत्।
अनिद्धानामिव सतामिद्धानामिव भास्वताम्॥

घी न मिलनेपर भी उन अग्नियोंकी दीप्ति घीकी आहुति पायी हुई अग्नियोंके समान थी और बिना ईंधनके भी ईंधनयुक्त आगके तुल्य उनकी प्रभा प्रकाशित होती रहती थी ॥

अथाहं वरदं देवं नापश्यं तत्र सङ्गतम्।

वहाँ जानेपर भी उन वरदायक देवता नारायणदेवका मुझे दर्शन न हो सका ॥

तेषां तत्राग्निहोत्राणामीडितानां सहस्रशः॥
समीपे त्वद्भुततममपश्यमहमव्ययम्॥

सहस्रों स्थानोंमें प्रशंसित होनेवाले उन अग्निहोत्रोंके समीप मैंने उन अद्भुत एवं अविनाशी श्रीहरिको ढूँढ़ना आरम्भ किया ॥

एषु चाग्निसमीपेषु शुश्राव सुपदाक्षराः॥
प्रभावान्तरितानां तु प्रस्पष्टाक्षरभाषिणाम्।
ऋग्यजुःसामगानां च मधुराः सुस्वरा गिरः॥

इन अग्नियोंके समीप अक्षरोंका स्पष्ट उच्चारण करनेवाले तथा अपने प्रभावसे अदृश्य रहनेवाले, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके विद्वानोंकी सुस्वर मधुर वाणी मैंने सुनी। उनके पद और अक्षर बहुत सुन्दर ढंगसे उच्चारित हो रहे थे ॥

तान्यनेकसहस्राणि परीयंस्तु महाजवात्।
अपश्यमानस्तं देवं ततोऽहं व्यथितोऽभवम्॥

मैं बड़े वेगसे वहाँके हजारों घरोंमें घूम आया; परंतु कहीं भी अपने उन आराध्यदेवको न देख सका, इससे मुझे बड़ी व्यथा हुई ॥

ततस्तेष्वग्निहोत्रेषु ज्वलत्सु विमलार्चिषु।
भानुमत्सु न पश्यामि देवदेवं सनातनम् ॥
ततोऽहं तानि दीप्तानि परीय व्यथितेन्द्रियः।
नान्तं तेषां प्रपश्यामि येनाहमिह चोदितः ॥

निर्मल ज्वालाओंसे युक्त वे अग्निहोत्र पूर्ववत् प्रकाशित हो रहे थे। उनके समीप भी मुझे कहीं सनातन देवाधिदेव श्रीहरि नहीं दिखायी दिये। तब मैं उन प्रदीप्त अग्निहोत्रोंकी परिक्रमा करते-करते थक गया। मेरी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं; परंतु उनका कहीं अन्त नहीं दिखायी दिया। जिन भगवान्ने मुझे यहाँ आनेके लिये प्रेरित किया था, उनका दर्शन नहीं हो सका ॥

एवं चिन्तासमापन्नः प्रध्यातुमुपचक्रमे।
विनयावनतो भूत्वा नमश्चक्रे महात्मने ॥
अनादिनिधनायैभिर्नामभिः परमात्मने।

इस तरह चिन्तामें पड़कर मैं भगवान्का ध्यान करने लगा; एवं विनयसे नतमस्तक होकर मैंने निम्नाङ्कित नामों-द्वारा आदि-अन्तसे रहित परमात्मा महामनस्वी नारायण-की वन्दना आरम्भ की—॥

नारायणाय शुद्धाय शाश्वताय ध्रुवाय च ॥
भूतभव्यभवेशाय शिवाय शिवमूर्तये।
शिवयोनेः शिवाद्याय शिवपूज्यतमाय च ॥

'जो शुद्ध, सनातन, ध्रुव, भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी, शिवस्वरूप और मङ्गलमूर्ति हैं, कल्याणके उत्पत्तिस्थान हैं, शिवके भी आदिकारण तथा भगवान् शिवके भी परम पूजनीय हैं, उन नारायणदेवको नमस्कार है ॥

घोररूपाय महते युगान्तकरणाय च।
विश्वाय विश्वदेवाय विश्वेशाय महात्मने ॥

'जो कल्पका अन्त करनेके लिये अत्यन्त घोर रूप धारण करते हैं, जो विश्वरूप, विश्वदेव, विश्वेश्वर एवं परमात्मा हैं, उन श्रीहरिको नमस्कार है ॥

सहस्रोदारपादाय सहस्रनयनाय च।
सहस्रबाहवे चैव सहस्रवदनाय च ॥

'जिनके सहस्रों उदर, सहस्रों पैर और सहस्रों नेत्र हैं, जो सहस्रों भुजाओं और सहस्रों मुखोंसे सुशोभित हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

शुचिश्रवाय महते ऋतुसंवत्सराय च।
ऋग्यजुःसामवक्त्राय अथर्वशिरसे नमः ॥

'जिनका यश पवित्र है, जो महान् तथा ऋतु एवं संवत्सररूप हैं, ऋक्, यजुः और सामवेद जिनके मुख हैं तथा अथर्ववेद जिनका सिर है, उन नारायणदेवको नमस्कार है ॥

हृषीकेशाय कृष्णाय द्रुहिणोरुक्रमाय च।
ब्रह्मेन्द्रकाय तार्क्ष्याय वराहायैकशृङ्गिणे ॥

'जो हृषीकेश (सम्पूर्ण इन्द्रियोंके नियन्ता), कृष्ण (सच्चिदानन्दस्वरूप), द्रुहिण (ब्रह्मा), ऊरुक्रम (बहुत बड़े डग भरनेवाले त्रिविक्रम), ब्रह्मा एवं इन्द्ररूप, गरुड-स्वरूप तथा एक सींगवाले वराहरूपधारी हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

शिपिविष्टाय सत्याय हरयेऽथ शिखण्डिने।
हुतायोर्ध्वाय वक्त्राय रौद्रानीकाय साधवे ॥
सिन्धवे सिन्धुवर्षघ्ने देवानां सिन्धवे नमः।

'जो शिपिविष्ट (तेजसे व्याप्त), सत्य, हरि और शिखण्डी (मोरपंखधारी श्रीकृष्ण) आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं, जो हुत (हविष्यको ग्रहण करनेवाले अग्निरूप), ऊर्ध्वमुख, रुद्रकी सेना, साधु, सिन्धु, समुद्रमें वर्षाका हनन करनेवाले तथा देव-सिन्धु (गङ्गास्वरूप) हैं, उन भगवान् विष्णुको प्रणाम है ॥

गरुत्मते त्रिनेत्राय सुधामाय वृषावृषे ॥
सम्राडुग्रे संकृतये विरजे सम्भवे भवे।

'जो गरुडरूपधारी, तीन नेत्रोंसे युक्त (रुद्ररूप), उत्तम धामवाले, वृषावृष, धर्मपालक, सबके सम्राट्, उग्ररूप-धारी, उत्तम कृतिवाले, रजोगुणरहित, सबकी उत्पत्तिके कारण तथा भवरूप हैं, उन श्रीहरिको नमस्कार है ॥

वृषाय वृषरूपाय विभवे भूर्भुवाय च ॥
दीप्तसृष्टाय यज्ञाय स्थिराय स्थविराय च।

'जो वृष (अभीष्ट वस्तुओंकी वर्षा करनेवाले), वृषरूप (धर्मस्वरूप), विभु (व्यापक) तथा भूर्लोक और भुवर्लोक-मय हैं, जो तेजस्वी पुरुषोंद्वारा सम्पादित यज्ञरूप हैं, स्थिर हैं और स्थविररूप (वृद्ध) हैं, उन भगवान्को नमस्कार है ॥

अच्युताय तुषाराय वीराय च समाय च ॥
जिष्णवे पुरुहूताय वशिष्ठाय वराय च।

'जो अपनी महिमासे कभी च्युत नहीं होते, हिमके समान शीतल हैं, जिनमें वीरत्व है, जो सर्वत्र समभावसे स्थित हैं, विजयशील हैं, जिन्हें बहुत लोग पुकारते हैं अथवा जो इन्द्र-रूप हैं तथा जो सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठ हैं, उन भगवान्को नमस्कार है ॥

सत्येशाय सुरेशाय हरयेऽथ शिखण्डिने ॥
बर्हिषाय वरेण्याय वसवे विश्ववेधसे।

'जो सत्य और देवताओंके स्वामी हैं, हरि (श्यामसुन्दर) और शिखण्डी (मोरमुकुटधारी) हैं, जो कुशापर बैठनेवाले सर्वश्रेष्ठ वसुरूप हैं, उन विश्वस्रष्टा भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

किरीटिने सुकेशाय वासुदेवाय शुष्मिणे ॥
बृहदुक्थसुषेणाय युग्ये दुन्दुभये तथा।

'जो किरीटधारी, सुन्दर केशोंसे सुशोभित तथा पराक्रमी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णरूप हैं, बृहदुक्थ साम जिनका स्वरूप है, जो सुन्दर सेनासे युक्त हैं, जुएका भार सँभालनेवाले वृषभ-

रूप हैं तथा दुन्दुभि नामक वाद्यविशेष हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है ॥

भवेसखाय विभवे भरद्वाजाभयाय च ॥
भास्कराय वरेन्द्राय पद्मनाभाय भूरिणे ।

'जो इस जगत्‌में जीवमात्रके सखा हैं, व्यापकरूप हैं, भरद्वाजको अभय देनेवाले हैं, सूर्यरूपसे प्रभाका विस्तार करनेवाले हैं, श्रेष्ठ पुरुषोंके स्वामी हैं, जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है और जो महान् हैं, उन भगवान् नारायणको नमस्कार है ॥

पुनर्वसुभृतत्वाय जीवप्रभविषाय च ॥
वषट्काराय स्वाहायै स्वधायै निधनाय च ।
ऋचे च यजुषे साम्ने त्रैलोक्यपतये नमः ॥

'जो पुनर्वसु नामक नक्षत्रसे पालित और जीवमात्रकी उत्पत्तिके स्थान हैं, वषट्कार, स्वाहा, स्वधा और निधन—ये जिनके ही नाम और रूप हैं तथा जो ऋक्, यजुष्, सामवेदस्वरूप हैं और त्रिलोकीके अधिपति हैं, उन भगवान् विष्णुको मेरा प्रणाम है ॥

श्रीपद्मायात्मसदृशे धरणे धारणे परे ।
सौम्याय सौम्यरूपाय सौम्ये सुमनसे नमः ॥

'जो शोभाशाली कमलको हाथमें लिये रहते हैं, जो अपने समान स्वयं ही हैं, जो धारण करने और करानेवाले परम पुरुष हैं, जो सौम्य, सौम्य रूपधारी तथा सौम्य एवं सुन्दर मनवाले हैं, उन श्रीहरिको नमस्कार है ॥

विश्वाय च सुविश्वाय विश्वरूपधराय च ।
केशवाय सुकेशाय रश्मिकेशाय भूरिणे ॥

'जो विश्वरूप, सुन्दर विश्वके निर्माता तथा विश्वरूपधारी हैं, जो केशव, सुन्दर केशोंसे युक्त, किरणरूपी केशवाले और अधिक बलशाली हैं, उन भगवान् विष्णुको मेरा प्रणाम है ॥

हिरण्यगर्भाय नमः सौम्याय वृषरूपिणे ।
नारायणाग्र्यवपुषे पुरुहूताय वज्रिणे ॥
धर्मिणे वृषसेनाय धर्मसेनाय रोधसे ।

'जो हिरण्यगर्भ, सौम्य, वृषरूपधारी, नारायण, श्रेष्ठ शरीरधारी, पुरुहूत (इन्द्र) तथा वज्र धारण करनेवाले हैं, जो धर्मात्मा, वृषसेन, धर्मसेन तथा तटरूप हैं, उन भगवान् श्रीहरिको नमस्कार है ॥

मुनये ज्वरमुक्ताय ज्वराधिपतये नमः ॥
अनेत्राय त्रिनेत्राय पिङ्गलाय विड्मिंणे ।

'जो मननशील मुनि, ज्वर आदि रोगोंसे मुक्त तथा ज्वरके अधिपति हैं, जिनके नेत्र नहीं हैं अथवा जिनके तीन नेत्र हैं, जो पिङ्गलवर्णवाले तथा प्रजारूपी लहरोंकी उत्पत्तिके लिये महासागरके समान हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

तपोब्रह्मनिधानाय युगपर्यायिणे नमः ॥
शरणाय शरण्याय शक्तेष्टशरणाय च ।
नमः सर्वभवेशाय भूतभव्यभवाय च ॥

'जो तप और वेदकी निधि हैं, बारी-बारीसे युगोंका परिवर्तन करनेवाले हैं, सबके शरणदाता, शरणागतवत्सल और शक्तिशाली पुरुषके लिये अभीष्ट आश्रय हैं, सम्पूर्ण संसारके अधीश्वर एवं भूत, वर्तमान और भविष्यरूप हैं, उन भगवान् नारायणको नमस्कार है ॥

पाहि मां देवदेवेश कोऽप्यजोऽसि सनातन ।
एवं गतोऽस्मि शरणं शरण्यं ब्रह्मयोनिनाम् ॥

'देवदेवेश्वर ! आप मेरी रक्षा करें । सनातन परमात्मन् ! आप कोई अनिर्वचनीय अजन्मा पुरुष हैं, ब्राह्मणोंके शरणदाता हैं; मैं इस संकटमें पड़कर आपकी ही शरण लेता हूँ' ॥

स्तव्यं स्तवं स्तुतवतस्तत् तमो मे प्रणश्यत ।
शृणोमि च गिरं दिव्यामन्तर्धानगतां शिवाम् ।

इस प्रकार स्तवनीय परमेश्वरकी स्तुति करते ही मेरा वह सारा दुःख नष्ट हो गया । तत्पश्चात् मुझे किसी अदृश्य शक्तिके द्वारा कही हुई यह मङ्गलमयी दिव्य वाणी सुनायी दी ॥

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्गरुत्मन् दान्तोऽसि पुनः सेन्द्रान् दिवौकसः ॥
स्वं चैव भवनं गत्वा द्रक्ष्यसे पुत्रबान्धवान् ।

श्रीभगवान् बोले—गरुड ! तुम डरो मत । तुमने मन और इन्द्रियोंको जीत लिया है । अब तुम पुनः इन्द्र आदि देवताओंके सहित अपने घरमें जाकर पुत्रों और भाई-बन्धुओंको देखोगे ॥

सुपर्ण उवाच

ततस्तस्मिन् क्षणेनैव सहसैव महाद्युतिः ॥
प्रत्यदृश्यत तेजस्वी पुरस्तात् स ममान्तिके ।

गरुडजी कहते हैं—मुनियो ! तदनन्तर उसी क्षण वे परम कान्तिमान् तेजस्वी नारायण सहसा मेरे सामने अत्यन्त निकट दिखायी दिये ॥

समागम्य ततस्तेन शिवेन परमात्मना ॥
अपश्यं चाहमायान्तं नरनारायणाश्रमे ।
चतुर्द्विगुणविन्यासं तं च देवं सनातनम् ॥

तब उन मङ्गलमय परमात्मासे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । फिर मैंने देखा, वे आठ भुजाओंवाले सनातनदेव पुनः नर-नारायणके आश्रमकी ओर आ रहे हैं ॥

यजतस्तानृषीन् देवान् वदतो ध्यायतो मुनीन् ।
युक्तान् सिद्धान् नैष्ठिकांश्च जपतो यजतो गृहीन् ॥

वहाँ मैंने देखा, ऋषि यज्ञ कर रहे हैं, देवता बातें कर रहे हैं, मुनिलोग ध्यानमें मग्न हैं, योगयुक्त सिद्ध और नैष्ठिक ब्रह्मचारी जप करते हैं तथा गृहस्थलोग यज्ञोंके अनुष्ठानमें संलग्न हैं ॥

पुष्पपूरपरिक्षिप्तं धूपितं दीपितं हितम् ।
वन्दितं सिक्तसम्मृष्टं नरनारायणाश्रमम् ॥

नर-नारायणका आश्रम धूपसे सुगन्धित और दीपसे प्रकाशित हो रहा था। वहाँ चारों ओर ढेर-के-ढेर फूल बिखरे हुए थे। वह आश्रम सबके लिये हितकर एवं सत्पुरुषोंद्वारा वन्दित था। झाड़-बुहारकर स्वच्छ बनाया और सींचा गया था॥

तदद्भुतमहं दृष्ट्वा विस्मितोऽस्मि तदानघाः।
जगाम शिरसा देवं प्रयतेनान्तरात्मना॥

निष्पाप मुनियो! उस अद्भुत दृश्यको देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ और मैंने पवित्र एवं एकाग्र हृदयसे मस्तक झुकाकर उन भगवान्‌की शरण ली॥

तदत्यद्भुतसंकाशं किमेतदिति चिन्तयन्।
नाध्यगच्छं परं दिव्यं तस्य सर्वभवात्मनः॥

वह सब अद्भुत-सा दृश्य क्या था, यह बहुत सोचनेपर भी मेरी समझमें नहीं आया। सबकी उत्पत्तिके कारणभूत उन परमात्माके परम दिव्य भावको मैं नहीं समझ सका॥

प्रणिपत्य सुदुर्धर्षं पुनः पुनरुदीक्ष्य च।
शिरस्यञ्जलिमाधाय विस्मयोत्फुल्ललोचनः॥
अवोचं तमदीनार्थं श्रेष्ठानां श्रेष्ठमुत्तमम्।

उन दुर्जय परमात्माको बारंबार प्रणाम करके उनकी ओर देखकर मेरे नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे और मैंने मस्तकपर अञ्जलि बाँधे उन श्रेष्ठ पुरुषोंमें भी सर्वश्रेष्ठ एवं उदार पुरुषोत्तमसे कहा—॥

नमस्ते भगवन् देव भूतभव्यभवत्प्रभो॥
यदेतदद्भुतं देव मया दृष्टं त्वदाश्रयम्।
अनादिमध्यपर्यन्तं किं तच्छंसितुमर्हसि॥

'भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी भगवान् नारायण-देव! आपको नमस्कार है। देव! मैंने आपके आश्रित जो यह अद्भुत दृश्य देखा है, इसका कहीं आदि, मध्य और अन्त नहीं है। वह सब क्या है, यह बतानेकी कृपा करें॥

यदि जानासि मां भक्तं यदि वानुग्रहो मयि।
शंस सर्वमशेषेण श्रोतव्यं यदि चेन्मया॥

'यदि आप मुझे अपना भक्त समझते हैं अथवा यदि आपका मुझपर अनुग्रह है तो यह सब यदि मेरे सुननेयोग्य हो तो पूर्णरूपसे बताइये॥

स्वभावस्तव दुर्ज्ञेयः प्रादुर्भावोऽभवस्य च।
भवद्भूतभविष्येश सर्वथा गहनो भवान्॥

'आपका स्वभाव दुर्ज्ञेय है। आप अजन्मा परमेश्वरका प्रादुर्भाव भी समझमें आना कठिन है। भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी नारायण! आप सर्वथा गहन (अगम्य) हैं॥

ब्रूहि सर्वमशेषेण तदाश्चर्यं महामुने।
किं तदत्यद्भुतं वृत्तं तेष्वग्निषु समन्ततः॥

'महामुने! वह सारा आश्चर्यजनक एवं अद्भुत वृत्तान्त, जो उन अग्नियोंके चारों ओर देखा गया, क्या था? यह पूर्णरूपसे बतानेकी कृपा करें॥

कानि तान्यग्निहोत्राणि केषां शब्दः श्रुतो मया।
शृण्वतां ब्रह्म सततमदृश्यानां महात्मनाम्॥

'वे अग्निहोत्र कौन थे? निरन्तर वेदोंका श्रवण और पाठ करनेवाले वे अदृश्य महात्मा कौन थे, जिनका शब्दमात्र मैंने सुना था?॥

एतन्मे भगवन् कृष्ण ब्रूहि सर्वमशेषतः।
गृणन्त्यग्निसमीपेषु के च ते ब्रह्मराशयः॥

'भगवान् श्रीकृष्ण! यह सब आप पूर्णरूपसे मुझे बताइये। जो लोग अग्निके समीप वेदोंका पारायण कर रहे थे, वे ब्राह्मणसमूह महात्मा कौन थे?'॥

श्रीभगवानुवाच

मां न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
विदुस्तत्त्वेन तत्त्वस्थं सूक्ष्मात्मानमवस्थितम्॥

श्रीभगवान् बोले—गरुड! मुझे न तो देवता, न गन्धर्व, न पिशाच और न राक्षस ही तत्त्वसे जानते हैं। मैं सम्पूर्ण तत्त्वोंमें उनके सूक्ष्म आत्मारूपसे अवस्थित हूँ॥

चतुर्धाहं विभक्तात्मा लोकानां हितकाम्यया।
भूतभव्यभविष्यादिरनादिर्विश्वकृत्तमः॥

लोकोंके हितकी कामनासे मैंने अपने आपको चार स्वरूपोंमें विभक्त कर रक्खा है। मैं भूत, वर्तमान और भविष्यका आदि हूँ। मेरा आदि कोई नहीं है। मैं ही सबसे बड़ा विश्वस्रष्टा हूँ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
मनो बुद्धिश्च तेजश्च तमः सत्त्वं रजस्तथा॥
प्रकृतिर्विकृतिश्चेति विद्याविद्ये शुभाशुभे।
मत्त एतानि जायन्ते नाहमेभ्यः कथंचन॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, मन, बुद्धि, तेज (अहंकार), सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, प्रकृति, विकृति, विद्या, अविद्या तथा शुभ और अशुभ—ये सब मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। मैं इनसे किसी प्रकार उत्पन्न नहीं होता॥

यत् किंचिच्छ्रेयसा युक्तः श्रेष्ठभावं व्यवस्यति।
धर्मयुक्तं च पुण्यं च सोऽहमस्मि निरामयः॥

मनुष्य कल्याणभावनासे युक्त हो जिस-किसी पवित्र, धर्मयुक्त एवं श्रेष्ठ भावका निश्चय करता है, वह सब मैं निरामय परमेश्वर ही हूँ॥

यः स्वभावात्मतत्त्वज्ञैः कारणैरुपलक्ष्यते।
अनादिमध्यनिधनः सोऽन्तरात्मास्मि शाश्वतः॥

स्वभाव एवं आत्माके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष विभिन्न हेतुओंद्वारा जिसका साक्षात्कार करते हैं, वह आदि, मध्य और अन्तसे रहित सर्वान्तरात्मा सनातन पुरुष मैं ही हूँ॥

यत् तु मे परमं गुह्यं रूपं सूक्ष्मार्थदर्शिभिः।
गृह्यते सूक्ष्मभावज्ञैः स विभाव्योऽस्मि शाश्वतः॥

सूक्ष्म अर्थको देखने और समझनेवाले तथा सूक्ष्मभावको जाननेवाले ज्ञानी पुरुष मेरे जिस परम गुह्य रूपको ग्रहण करते हैं, वह चिन्तनीय सनातन परमात्मा मैं ही हूँ ॥

यत् तु मे परमं गुह्यं येन व्याप्तमिदं जगत्।
सोऽहं गतः सर्वसत्त्वः सर्वस्य प्रभवोऽव्ययः ॥

जो मेरा परम गुह्य रूप है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह सर्वसत्त्वरूप परमात्मा मैं ही हूँ, मैं ही सबका अविनाशी कारण हूँ ॥

मत्तो जातानि भूतानि मया धार्यन्त्यहर्निशम्।
मय्येव विलयं यान्ति प्रलये पन्नगाशन ॥

गरुड ! सम्पूर्ण भूत प्राणी मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, मेरे ही द्वारा वे अहर्निश जीवन धारण करते हैं और प्रलयके समय सब-के-सब मुझमें ही लीन हो जाते हैं ॥

यो मां यथा वेदयति तस्य तस्यास्मि काश्यप।
मनोबुद्धिगतः श्रेयो विदधामि विहङ्गम ॥

काश्यप ! जो मुझे जैसा जानता है, उसके लिये मैं वैसा ही हूँ। विहङ्गम ! मैं सभीके मन और बुद्धिमें रहकर सबका कल्याण करता हूँ ॥

मां तु ज्ञातुं कृता बुद्धिर्भवता पक्षिसत्तम।
शृणु योऽहं यतश्चाहं यदर्थं चाहमुद्यतः ॥

पक्षिप्रवर ! तुमने मेरे तत्त्वको जाननेका विचार किया था; अतः मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? और किस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये उद्यत हुआ हूँ ? यह सब बताता हूँ, सुनो ॥

ये केचिन्नियतात्मानस्त्रेताग्निपरमा द्विजाः।
अग्निकार्यपरा नित्यं जपहोमपरायणाः ॥
आत्मन्यग्नीन् समाधाय नियता नियतेन्द्रियाः।
अनन्यमनसस्ते मां सर्वे वै समुपासते ॥
यजन्तो जपयज्ञैर्मां मानसैश्च सुसंयताः।
अग्नीनभ्युद्ययुः शश्वदग्निष्वेवाभिसंस्थिताः ॥
अनन्यकार्याः शुचयो नित्यमग्निपरायणाः।
य एवंबुद्धयो धीरास्ते मां गच्छन्ति तादृशाः ॥

जो कोई ब्राह्मण अपने मनको वशमें करके त्रिविध अग्नियोंकी उपासना करते हैं, नित्य अग्निहोत्रमें तत्पर और जप-होममें संलग्न हैं, जो नियमपूर्वक रहकर अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके अपने-आपमें ही अग्नियोंका आधान कर लेते हैं तथा सब-के-सब अनन्यचित्त होकर मेरी ही उपासना करते हैं, जो अपनेको पूर्ण संयममें रखकर जप, यज्ञ और मानसयज्ञोंद्वारा मेरी आराधना करते हैं, जो सदा अग्निहोत्रमें ही तत्पर रहकर अग्नियोंका स्वागत करते हैं तथा अन्य कार्यमें रत न होकर शुद्धभावसे सदा अग्निकी परिचर्या करते हैं; ऐसी बुद्धिवाले धीर पुरुष वैसे भक्तिभावसे सम्पन्न होते हैं, वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं ॥

अकामहतसंकल्पा ज्ञाने नित्यं समाहिताः।
आत्मन्यग्नीन् समाधाय निराहारा निराशिषः ॥
विषयेषु निरारम्भा विमुक्ता ज्ञानचक्षुषः।
अनन्यमनसो धीराः स्वभावनियमान्विताः ॥

जिन्होंने निष्कामभावके द्वारा अपने सारे संकल्पोंको नष्ट कर दिया है, जो सदा ज्ञानमें ही चित्तको एकाग्र किये रहते हैं और अग्नियोंको अपने आत्मामें ही स्थापित करके आहार (भोग) और कामनाओंका त्याग कर देते हैं, विषयोंकी उपलब्धिके लिये जिनकी कोई प्रवृत्ति नहीं होती, जो सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त एवं ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न हैं, वे स्वभावतः नियमपरायण एवं अनन्यचित्तसे मेरा चिन्तन करनेवाले धीर पुरुष मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥

यत् तद् वियति दृष्टं तत् सरः पद्मोत्पलायुतम्।
तत्राग्नयः संनिहिता दीप्यन्ते स्म निरिन्धनाः ॥

तुमने जो आकाशमें कमल और उत्पलसे भरा हुआ सुन्दर सरोवर देखा था, उसके समीप स्थापित हुई अग्नियाँ बिना ईंधनके ही प्रज्वलित होती हैं ॥

ज्ञानामलाशयास्तस्मिन् ये च चन्द्रांशुनिर्मलाः।
उपासीना गृणन्तोऽग्निं प्रस्पष्टाक्षरभाषिणः ॥
आकाङ्क्षमाणाः शुचयस्तेष्वग्निषु विहङ्गम।

जिनके अन्तःकरण ज्ञानके प्रकाशसे निर्मल हो गये हैं, जो चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल हैं, वे ही वहाँ स्पष्ट अक्षरका उच्चारण करते हुए वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक अग्निकी उपासना करते हैं। विहङ्गम ! वे पवित्रभावसे रहकर उन अग्नियोंकी परिचर्याकी ही इच्छा रखते हैं ॥

ये मया भावितात्मानो मय्येवाभिरताः सदा ॥
उपासते च मामेव ज्योतिर्भूता निरामयाः।
तैर्हि तत्रैव वस्तव्यं नीरागात्मभिरच्युतैः ॥

मेरा चिन्तन करनेके कारण जिनका अन्तःकरण पवित्र हो गया है, जो सदा मेरी ही उपासनामें रत हैं, वे ही वहाँ रोग-शोकसे रहित एवं ज्योतिःस्वरूप होकर मेरी ही उपासना किया करते हैं। वे अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होकर वीतराग हृदयसे सदा वहीं निवास करेंगे ॥

निराहारा ह्यनिष्यन्दाश्चन्द्रांशुसदृशप्रभाः।
निर्मला निरहंकारा निरालम्बा निराशिषः ॥
मद्भक्ताः सततं ते वै भक्तस्तानपि चाप्यहम्।

उनकी अङ्गकान्ति चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल है। वे निराहार, श्रमबिन्दुओंसे रहित, निर्मल, अहंकारशून्य, आलम्बनरहित और निष्काम हैं। उनकी सदा मुझमें भक्ति बनी रहती है तथा मैं भी उनका भक्त (प्रेमी) बना रहता हूँ ॥

चतुर्धाहं विभक्तात्मा चरामि जगतो हितः ॥
लोकानां धारणार्थाय विधानं विदधामि च।

यथावत्तदशेषेण श्रोतुमर्हति मे भवान् ॥

मैं अपनेको चार स्वरूपोंमें विभक्त करके जगत्के हित-साधनमें तत्पर हो विचरता रहता हूँ। सम्पूर्ण लोक जीवित एवं सुरक्षित रहें, इसके लिये मैं विधान बनाता हूँ। वह सब तुम यथार्थरूपसे सुननेके अधिकारी हो ॥

एका मूर्तिर्निर्गुणाख्या योगं परममास्थिता।
द्वितीया सृजते तात भूतग्रामं चराचरम् ॥

तात! मेरी एक निर्गुण मूर्ति है, जो परम योगका आश्रय लेकर रहती है। दूसरी वह मूर्ति है, जो चराचर प्राणिसमुदायकी सृष्टि करती है ॥

सृष्टं संहरते चैका जगत् स्थावरजङ्गमम्।
अतात्मनिष्ठा क्षपयन् मोहयन्निव मायया ॥

तीसरी मूर्ति स्थावर-जङ्गम जगत्का संहार करती है और चौथी मूर्ति आत्मनिष्ठ है, जो आसुरी शक्तियोंको मायासे मोहित-सी करके उन्हें नष्ट कर देती है ॥

क्षिपन्ती मोहयन्ती च ह्यात्मनिष्ठा स्वमायया।
चतुर्थी मे महामूर्तिर्जगद्वृद्धिं ददाति सा ॥
रक्षते चापि नियता सोऽहमस्मि नभश्चर।

अपनी मायासे दुष्टोंको मोहित और नष्ट करनेवाली जो मेरी चौथी आत्मनिष्ठ महामूर्ति है, वह नियमपूर्वक रहकर जगत्की वृद्धि और रक्षा करती है। गरुड! वही मैं हूँ ॥

मया सर्वमिदं व्याप्तं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
अहं सर्वजगद्बीजं सर्वत्रगतिरव्ययः।

मैंने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है। सारा जगत् मुझमें ही प्रतिष्ठित है। मैं ही सम्पूर्ण जगत्का बीज हूँ। मेरी सर्वत्र गति है और मैं अविनाशी हूँ ॥

यानि तान्यग्निहोत्राणि ये च चन्द्रांशुराशयः।
गृणन्ति वेद सततं तेष्वग्निषु विहङ्गम ॥
क्रमेण मां समायान्ति सुखिनो ज्ञानसंयुताः।
तेषामहं तपो दीप्तं तेजः सम्यक् समाहितम्।
नित्यं ते मयि वर्तन्ते तेषु चाहमतन्द्रितः ॥

विहङ्गम! वे जो अग्निहोत्र थे तथा जो चन्द्रमाकी किरणोंके पुञ्ज-जैसी कान्तिवाले पुरुष निरन्तर उन अग्नियोंके समीप बैठकर वेदोंका पाठ करते थे, वे ज्ञानसम्पन्न एवं सुखी होकर क्रमशः मुझे प्राप्त होते हैं। मैं ही उनका उद्दीप्त तप और सम्यक् रूपसे संचित तेज हूँ। वे सदा मुझमें विद्यमान हैं और मैं उनमें सावधान हुआ रहता हूँ ॥

सर्वतो मुक्तसङ्गेन मय्यनन्यसमाधिना।
शक्यः समासादयितुमहं वै ज्ञानचक्षुषा ॥

जो सब ओरसे आसक्तिशून्य है, वह मुझमें अनन्यभावसे चित्तको एकाग्र करके ज्ञानदृष्टिसे मेरा साक्षात्कार कर सकता है ॥

एकान्तिनो ध्यानपरा यतिभावाद् व्रजन्ति माम्।

जो संन्यासका आश्रय लेकर अनन्यभावसे मेरे ध्यानमें तत्पर रहते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥

सत्त्वयुक्ता मतिर्येषां केवलाऽऽत्मविनिश्चिता ॥
ते पश्यन्ति स्वमात्मानं परमात्मानमव्ययम्।

जिनकी बुद्धि सत्त्वगुणसे युक्त है और केवल आत्मतत्त्वका निश्चय करके उसीके चिन्तनमें लगी हुई है, वे अपने आत्मरूप अविनाशी परमात्माका दर्शन करते हैं ॥

अहिंसा सर्वभूतेषु तेष्ववस्थितमार्जवम् ॥
तेष्वेव च समाधाय सम्यगेति स मामजम्।

उन्हींका समस्त प्राणियोंके प्रति अहिंसा भाव होता है, उन्हींमें 'सरलता' नामक सद्गुणकी स्थिति होती है और उन्हीं गुणोंमें स्थित हुआ जो चित्तको मुझ परमात्मामें भलीभाँति समाहित कर देता है, वह मुझ अजन्मा परमेश्वरको प्राप्त होता है ॥

यदेतत् परमं गुह्यमाख्यानं परमाद्भुतम् ॥
यत्नेन तदशेषेण यथावच्छ्रोतुमर्हसि।

यह जो परम गोपनीय एवं अत्यन्त अद्भुत आख्यान है, इसे पूर्णतः यत्नपूर्वक यथावत् रूपसे श्रवण करो ॥

ये त्वग्निहोत्रनियता जपयज्ञपरायणाः ॥
ये मामुपासते शश्वदेतांस्त्वं दृष्टवानसि।

जो अग्निहोत्रमें संलग्न और जप-यज्ञपरायण होते हैं, जो निरन्तर मेरी उपासना करते रहते हैं; उन्हींका तुमने प्रत्यक्ष दर्शन किया है ॥

शास्त्रदृष्टविधानज्ञा असक्ताः क्वचिदन्यथा ॥
शक्योऽहं वेदितुं तैस्तु यन्मे परममव्ययम्।

जो शास्त्रोक्त विधिके ज्ञाता होकर अनासक्तभावसे सत्कर्म करते हैं, कभी शास्त्रविपरीत—असत्-कर्ममें नहीं लगते, उनके द्वारा ही मैं जाना जा सकता हूँ। मेरा जो अविनाशी परम तत्त्व है, उसे भी वे ही जान सकते हैं।

तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन प्रसन्नात्मात्मविच्छुचिः ॥
आसादयति तद् ब्रह्म यत्र गत्वा न शोचति।

इसलिये विशुद्ध ज्ञानके द्वारा जिसका चित्त प्रसन्न (निर्मल) है, जो आत्मतत्त्वका ज्ञाता और पवित्र है, वह ज्ञानी पुरुष ही उस ब्रह्मको प्राप्त होता है, जहाँ जाकर कोई शोकमें नहीं पड़ता ॥

शुद्धाभिजनसम्पन्नाः श्रद्धायुक्तेन चेतसा ॥
मद्भक्त्या च द्विजश्रेष्ठा गच्छन्ति परमां गतिम्।

जो शुद्ध कुलमें उत्पन्न हैं, जो श्रेष्ठ द्विज श्रद्धायुक्त चित्तसे मेरा भजन करते हैं, वे मेरी भक्तिद्वारा परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥

यद् गुह्यं परमं बुद्धेरलिङ्गग्रहणं च यत् ॥
तत् सूक्ष्मं गृह्यते विप्रैर्यतिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।

जो बुद्धिके लिये परम गुह्य रहस्य है, जो किसी आकृतिसे गृहीत नहीं होता—अनुभवमें नहीं आता, उस सूक्ष्म परब्रह्मका तत्त्वदर्शी यति ब्राह्मण साक्षात्कार कर लेते हैं ॥

न वायुः पवते तत्र न तस्मिञ्ज्योतिषां गतिः ॥
न चापः पृथिवी नैव नाकाशं न मनोगतिः ।

वहाँ यह वायु नहीं चलती, ग्रहों और नक्षत्रोंकी पहुँच नहीं होती तथा जल, पृथ्वी, आकाश और मनकी भी गति नहीं हो पाती है ॥

तस्माच्चैतानि सर्वाणि प्रजायन्ते विहङ्गम ॥
सर्वेभ्यश्च स तेभ्यश्च प्रभवत्यमलो विभुः ।

विहङ्गम ! उसी ब्रह्मसे ये सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। वह निर्मल एवं सर्वव्यापी परमात्मा उन सबके द्वारा ही सबको उत्पन्न करनेमें समर्थ है ॥

स्थूलदर्शनमेतन्मे यद् दृष्टं भवतानघ ॥
एतत् सूक्ष्मस्य च द्वारं कार्याणां कारणं त्वहम् ।

अनघ ! तुमने जो मेरा यह स्थूल रूप देखा है, यही मेरे सूक्ष्म स्वरूपमें प्रवेश करनेका द्वार है । समस्त कार्योंका कारण मैं ही हूँ ॥

दृष्टो वै भवता तस्मात् सरस्यमितविक्रम ॥

अमित पराक्रमी गरुड ! इसीलिये तुमने उस सरोवरमें मेरा दर्शन किया है ॥

मां यज्ञमाहुर्यज्ञज्ञा वेदं वेदविदो जनाः ।
मुनयश्चापि मामेव जपयज्ञं प्रचक्षते ॥

यज्ञके ज्ञाता मुझे यज्ञ कहते हैं। वेदोंके विद्वान् मुझे ही वेद बताते हैं और मुनि भी मुझे ही जप-यज्ञ कहते हैं ॥

वक्ता मन्ता रसयिता घ्राता द्रष्टा प्रदर्शकः ।
बोद्धा बोधयिता चाहं गन्ता श्रोता चिदात्मकः ॥

मैं ही वक्ता, मनन करनेवाला, रस लेनेवाला, सूँघनेवाला, देखने और दिखानेवाला, समझने और समझानेवाला तथा जाने और सुननेवाला चेतन आत्मा हूँ ॥

मामिष्ट्वा स्वर्गमायान्ति तथा चाप्नुवते महत् ।
ज्ञात्वा मामेव चैवं ते निःसङ्गेनान्तरात्मना ॥

मेरा ही यजन करके यजमान स्वर्गमें आते और महान् पद पाते हैं । इसी प्रकार जो अनासक्त हृदयसे मुझे ही जान लेते हैं, वे मुझ परमात्माको ही प्राप्त होते हैं ॥

अहं तेजो द्विजातीनां मम तेजो द्विजातयः ।
मम यस्तेजसा देहः सोऽग्निरित्यवगम्यताम् ॥

मैं ब्राह्मणोंका तेज हूँ और ब्राह्मण मेरे तेज हैं । मेरे तेजसे जो शरीर प्रकट हुआ है, उसीको तुम अग्नि समझो ॥

प्राणपालः शरीरेऽहं योगिनामहमीश्वरः ।
सांख्यानामिदमेवाग्रे मयि सर्वमिदं जगत् ॥

मैं ही शरीरमें प्राणोंका रक्षक हूँ । मैं ही योगियोंका ईश्वर हूँ । सांख्योंका जो यह प्रधान तत्त्व है, वह भी मैं ही हूँ । मुझमें ही यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है ॥

धर्ममर्थं च कामं च मोक्षं चैवार्जवं जपम् ।
तमः सत्त्वं रजश्चैव कर्मजं च भवाप्ययम् ॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सरलता, जप, सत्त्वगुण, तमोगुण, रजोगुण तथा कर्मजनित जन्म-मरण—सब मेरे ही स्वरूप हैं ॥

स तदाहं तथारूपस्त्वया दृष्टः सनातनः ।
ततस्त्वहं परतरः शक्यः कालेन वेदितुम् ॥
मम यत् परमं गुह्यं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ।
तदेवं परमो गुह्यो देवो नारायणो हरिः ॥

उस समय तुमने मुझ सनातन पुरुषका उस रूपमें दर्शन किया था । उससे भी उत्कृष्ट जो मेरा स्वरूप है, उसे तुम समयानुसार जान सकते हो । मेरा जो परम गोपनीय, शाश्वत, ध्रुव एवं अव्यय पद है, उसका ज्ञान भी तुम्हें समयानुसार हो सकता है । इस प्रकार मैं नारायणदेव एवं हरिनामसे प्रसिद्ध परमेश्वर परम गोपनीय माना गया हूँ ॥

न तच्छक्यं भुजङ्गारे वेत्तमभ्युदयान्वितैः ।
निरारम्भनमस्कारा निराशीर्बन्धनास्तथा ॥
गच्छन्ति तं महात्मानं परं ब्रह्म सनातनम् ।

गरुड ! जो लौकिक अभ्युदयमें आसक्त हैं, वे मेरे उस स्वरूपको नहीं जान सकते । जो कर्मोंके आरम्भका मार्ग छोड़ चुके हैं, नमस्कारसे दूर हो गये हैं और कामनाओंके बन्धनसे मुक्त हैं, वे यतिजन उन सनातन परमात्मा परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥

स्थूलोऽहमेवं विहग त्वया दृष्टस्तथानघ ॥
एतच्चापि न वेत्त्यन्यस्त्वामृते पन्नगाशन ।

निष्पाप पक्षिराज गरुड ! इस प्रकार तुमने मेरे स्थूल स्वरूपका दर्शन किया है । परंतु तुम्हारे सिवा दूसरा कोई इस स्वरूपको भी नहीं जानता ॥

मा मतिस्तव गान्नाशमेषा गतिरनुत्तमा ॥
मद्भक्तो भव नित्यं त्वं ततो वेत्स्यसि मे पदम् ।

तुम्हारी बुद्धिका नाश न हो—यही सर्वोत्तम गति है । तुम नित्य-निरन्तर मेरी भक्तिमें लगे रहो । इससे तुम्हें मेरे स्वरूपका यथार्थ बोध हो जायगा ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं रहस्यं दिव्यमानुषम् ॥
एतच्छ्रेयः परं चैतत् पन्थानं विद्धि मोक्षिणाम् ।

यह सब तुम्हें बताया गया । यह देवताओं और मनुष्योंके लिये भी रहस्यकी बात है । यही परम कल्याण है। तुम इसे मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंका मार्ग समझो ॥

सुपर्ण उवाच

एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥

पश्यतो मे महायोगी जगामात्मगतिर्गतिम् ।

गरुड कहते हैं—ऋषियो ! ऐसा कहकर वे भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये । वे महायोगी तथा आत्मगतिरूप परमेश्वर मेरे देखते-देखते अदृश्य हो गये ॥

एतदेवंविधं तस्य महिमानं महात्मनः ॥
अच्युतस्याप्रमेयस्य दृष्टवानस्मि यत् पुरा ।

इस प्रकार मैंने पूर्वकालमें अप्रमेय महात्मा अच्युतकी महिमाका साक्षात्कार किया था ॥

एतद् वः सर्वमाख्यातं चेष्टितं तस्य धीमतः ॥
मयानुभूतं प्रत्यक्षं दृष्ट्वा चाद्भुतकर्मणः ।

अद्भुतकर्मा परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीहरिकी यह सारी लीला जो मैंने प्रत्यक्ष देखकर अनुभव की है, आपको बता दी ॥

ऋषय ऊचुः

अहो श्रावितमाख्यानं भवतात्यद्भुतं महत् ॥
पुण्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत् ।

ऋषियोंने कहा—अहो ! आपने यह बड़ा अद्भुत एवं महत्त्वपूर्ण आख्यान सुनाया । यह परम पवित्र प्रसङ्ग यश, आयु एवं स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला तथा महान् मङ्गलकारी है ॥

एतत् पवित्रं देवानामेतद् गुह्यं परंतप ॥
एतज्ज्ञानवतां ज्ञेयमेषा गतिरनुत्तमा ।

परंतप गरुडजी ! यह पवित्र विषय देवताओंके लिये भी गुह्य रहस्य है । यही ज्ञानियोंका ज्ञेय है और यही सर्वोत्तम गति है ॥

य इमां श्रावयेद् विद्वान् कथां पर्वसु पर्वसु ॥
स लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यान् देवर्षिभिरभिष्टुतान् ।

जो विद्वान् प्रत्येक पर्वके अवसरपर इस कथाको सुनायेगा, वह देवर्षियोंद्वारा प्रशंसित पुण्यलोकोंको प्राप्त होगा ॥

श्राद्धकाले च विप्राणां य इमां श्रावयेच्छुचिः ॥
न तत्र रक्षसां भागो नासुराणां च विद्यते ।

जो श्राद्धके समय पवित्रभावसे ब्राह्मणोंको यह प्रसङ्ग सुनायेगा, उस श्राद्धमें राक्षसों और असुरोंको भाग नहीं मिलेगा ॥

अनसूयुर्जितक्रोधः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥
यः पठेत् सततं युक्तः स व्रजेत् तत्सलोकताम् ।

जो दोषदृष्टिसे रहित हो क्रोधको जीतकर समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर हो सदा योगयुक्त रहकर इसका पाठ करेगा, वह भगवान् विष्णुके लोकमें जायगा ॥

वेदान् पारयते विप्रो राजा विजयवान् भवेत् ॥
वैश्यस्तु धनधान्याढ्यः शूद्रः सुखमवाप्नुयात् ।

इसका पाठ करनेवाला ब्राह्मण वेदोंका पारंगत विद्वान् होगा । क्षत्रियको इसका पाठ करनेसे युद्धमें विजयकी प्राप्ति होगी । वैश्य धन-धान्यसे सम्पन्न और शूद्र सुखी होगा ॥

भीष्म उवाच

ततस्ते मुनयः सर्वे सम्पूज्य विनतासुतम् ।
स्वानेव चाश्रमाञ्जग्मुर्बभूवुः शान्तितत्पराः ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वे सम्पूर्ण महर्षि विनतानन्दन गरुडकी पूजा करके अपने-अपने आश्रमको चले गये और वहाँ शम-दमके साधनमें तत्पर हो गये ॥

स्थूलदर्शिभिराक्रुष्टो दुर्ज्ञेयो ह्यकृतात्मभिः ।
एषा श्रुतिर्महाराज धर्म्या धर्मभृतां वर ॥
सुराणां ब्रह्मणा प्रोक्ता विस्मितानां परंतप ।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर ! जिनका मन अपने वशमें नहीं है, उन स्थूलदर्शी पुरुषोंके लिये भगवान् श्रीहरिके तत्त्वका ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है । यह धर्म-सम्मत श्रुति है । परंतप ! इसे ब्रह्माजीने आश्चर्यचकित हुए देवताओंको सुनाया था ॥

ममाप्येषा कथा तात कथिता मातुरन्तिके ॥
वसुभिः सत्त्वसम्पन्नैः तवाप्येषा मयोच्यते ।

तात ! तत्त्वज्ञानी वसुओंने मेरी माता गङ्गाजीके निकट मुझसे यह कथा कही थी और अब तुमसे मैंने कही है ॥

तदग्निहोत्रपरमा जपयज्ञपरायणाः ॥
निराशीर्बन्धनाः सन्तः प्रयान्त्यक्षरसात्मताम् ।

जो अग्निहोत्रमें तत्पर, जप-यज्ञमें संलग्न तथा कामनाओं-के बन्धनसे मुक्त होते हैं, वे अविनाशी परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं ॥

आरम्भयज्ञानुत्सृज्य जपहोमपरायणाः ।
ध्यायन्तो मनसा विष्णुं गच्छन्ति परमां गतिम् ॥

जो क्रियात्मक यज्ञोंका परित्याग करके जप और होममें तत्पर हो मन-ही-मन भगवान् विष्णुका ध्यान करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥

तदेव परमो मोक्षो मोक्षद्वारं च भारत ।
यदा विनिश्चितात्मानो गच्छन्ति परमां गतिम् ॥

भरतनन्दन ! जब निश्चित बुद्धिवाले पुरुष परमात्म-तत्त्वको जानकर परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं, वही परम मोक्ष या मोक्षद्वार कहलाता है ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि लोकयात्राकथने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें लोकयात्राके निर्वाहकी विधिका वर्णनविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २०४½ श्लोक मिलाकर कुल २१०½ श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

भीष्मजीकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्णका युधिष्ठिरसे महादेवजीके माहात्म्यकी कथामें उपमन्युद्वारा महादेवजीकी स्तुति-प्रार्थना, उनके दर्शन और वरदान पानेका तथा अपनेको दर्शन प्राप्त होनेका कथन

युधिष्ठिर उवाच

त्वयाऽऽपगेय नामानि श्रुतानीह जगत्पतेः।
पितामहेशाय विभो नामान्याचक्ष्व शम्भवे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—गङ्गानन्दन ! आपने ब्रह्माजीके भी ईश्वर कल्याणकारी जगदीश्वर भगवान् शिवके जो नाम सुने हों, उन्हें यहाँ बताइये ॥ १ ॥

बभ्रवे विश्वरूपाय महाभाग्यं च तत्त्वतः।
सुरासुरगुरौ देवे शंकरेऽव्यक्तयोनये ॥ २ ॥

जो विराट् विश्वरूपधारी हैं, अव्यक्तके भी कारण हैं, उन सुरासुरगुरु भगवान् शङ्करके माहात्म्यका यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अशक्तोऽहं गुणान् वक्तुं महादेवस्य धीमतः।
यो हि सर्वगतो देवो न च सर्वत्र दृश्यते ॥ ३ ॥
ब्रह्मविष्णुसुरेशानां स्रष्टा च प्रभुरेव च।
ब्रह्मादयः पिशाचान्ता यं हि देवा उपासते ॥ ४ ॥
प्रकृतीनां परत्वेन पुरुषस्य च यः परः।
चिन्त्यते यो योगविद्भिर्ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
अक्षरं परमं ब्रह्म असच्च सदसच्च यः ॥ ५ ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षोभयित्वा स्वतेजसा।
ब्रह्माणमसृजत् तस्माद् देवदेवः प्रजापतिः ॥ ६ ॥
को हि शक्तो गुणान् वक्तुं देवदेवस्य धीमतः।
गर्भजन्मजरायुक्तो मर्त्यो मृत्युसमन्वितः ॥ ७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! मैं परम बुद्धिमान् महादेवजीके गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ । जो भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं, किन्तु(सबके आत्मा होनेके कारण)सर्वत्र देखनेमें नहीं आते हैं, ब्रह्मा, विष्णु और देवराज इन्द्रके भी स्रष्टा तथा प्रभु हैं, ब्रह्मा आदि देवताओंसे लेकर पिशाचतक जिनकी उपासना करते हैं, जो प्रकृतिसे भी परे और पुरुषसे भी विलक्षण हैं, योगवेत्ता तत्त्वदर्शी ऋषि जिनका चिन्तन करते हैं, जो अविनाशी परम ब्रह्म एवं सदसत्स्वरूप हैं, जिन देवाधिदेव प्रजापति शिवने अपने तेजसे प्रकृति और पुरुषको क्षुब्ध करके ब्रह्माजीकी सृष्टि की, उन्हीं देवदेव बुद्धिमान् महादेवजीके गुणोंका वर्णन करनेमें गर्भ, जन्म, जरा और मृत्युसे युक्त कौन मनुष्य समर्थ हो सकता है ? ॥ ३–७ ॥

को हि शक्तो भवं ज्ञातुं मद्विधः परमेश्वरम्।
ऋते नारायणात् पुत्र शङ्खचक्रगदाधरात् ॥ ८ ॥

बेटा ! शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् नारायणको छोड़कर मेरे-जैसा कौन पुरुष परमेश्वर शिवके तत्त्वको जान सकता है ? ॥ ८ ॥

एष विद्वान् गुणश्रेष्ठो विष्णुः परमदुर्जयः।
दिव्यचक्षुर्महातेजा वीक्षते योगचक्षुषा ॥ ९ ॥

ये भगवान् विष्णु सर्वज्ञ, गुणोंमें सबसे श्रेष्ठ, अत्यन्त दुर्जय, दिव्य नेत्रधारी तथा महातेजस्वी हैं । ये योगदृष्टिसे सब कुछ देखते हैं ॥ ९ ॥

रुद्रभक्त्या तु कृष्णेन जगद् व्याप्तं महात्मना।
तं प्रसाद्य तदा देवं बदर्यां किल भारत ॥ १० ॥
अर्थात् प्रियतरत्वं च सर्वलोकेषु वै तदा।
प्राप्तवानेव राजेन्द्र सुवर्णाक्षान्महेश्वरात् ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! रुद्रदेवके प्रति भक्तिके कारण ही महात्मा श्रीकृष्णने सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रक्खा है । राजन् ! कहते हैं कि पूर्वकालमें महादेवजीको बदरिकाश्रममें प्रसन्न करके उन दिव्यदृष्टि महेश्वरसे श्रीकृष्णने सब पदार्थोंकी अपेक्षा प्रियतर-भावको प्राप्त कर लिया अर्थात् वे सम्पूर्ण लोकोंके प्रियतम बन गये ॥ १०-११ ॥

पूर्णं वर्षसहस्रं तु तप्तवानेष माधवः।
प्रसाद्य वरदं देवं चराचरगुरुं शिवम् ॥ १२ ॥

इन माधवने वरदायक देवता चराचरगुरु भगवान् शिवको प्रसन्न करते हुए पूर्वकालमें पूरे एक हजार वर्षतक तपस्या की थी ॥ १२ ॥

युगे युगे तु कृष्णेन तोषितो वै महेश्वरः।
भक्त्या परमया चैव प्रीतश्चैव महात्मनः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णने प्रत्येक युगमें महेश्वरको संतुष्ट किया है। महात्मा श्रीकृष्णकी परम भक्तिसे वे सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ १३ ॥

ऐश्वर्यं यादृशं तस्य जगद्योनेर्महात्मनः।
तदयं दृष्टवान् साक्षात् पुत्रार्थे हरिरच्युतः ॥ १४ ॥

जगत्‌के कारणभूत परमात्मा शिवका ऐश्वर्य जैसा है, उसे पुत्रके लिये तपस्या करते हुए इन अच्युत श्रीहरिने प्रत्यक्ष देखा है ॥ १४ ॥

यस्मात् परतरं चैव नान्यं पश्यामि भारत।
व्याख्यातुं देवदेवस्य शक्तो नामान्यशेषतः ॥ १५ ॥

भारत ! उसी ऐश्वर्यके कारण मैं परात्पर श्रीकृष्णके सिवा किसी दूसरेको ऐसा नहीं देखता, जो देवाधिदेव महादेवजीके नामोंकी पूर्णरूपसे व्याख्या कर सके ॥ १५ ॥

एष शक्तो महाबाहुर्वक्तुं भगवतो गुणान् ।
विभूतिं चैव कार्त्स्न्येन सत्यां माहेश्वरीं नृप ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! ये महाबाहु श्रीकृष्ण ही भगवान् महेश्वरके गुणों तथा उनके यथार्थ ऐश्वर्यका पूर्णतः वर्णन करनेमें समर्थ हैं ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तदा भीष्मो वासुदेवं महायशाः ।
भवमाहात्म्यसंयुक्तमिदमाह पितामहः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महायशस्वी पितामह भीष्मने युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर भगवान् वासुदेवके प्रति शङ्करजीकी महिमासे युक्त यह बात कही॥ १७॥

भीष्म उवाच

सुरासुरगुरो देव विष्णो त्वं वक्तुमर्हसि ।
शिवाय विश्वरूपाय यन्मां पृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १८ ॥

भीष्मजी बोले—देवासुरगुरो ! विष्णुदेव ! राजा युधिष्ठिरने मुझसे जो पूछा है, उस विश्वरूप शिवके माहात्म्यको बतानेके योग्य आप ही हैं ॥ १८ ॥

नाम्नां सहस्रं देवस्य तण्डिना ब्रह्मयोनिना ।
निवेदितं ब्रह्मलोके ब्रह्मणो यत् पुराभवत् ॥ १९ ॥
द्वैपायनप्रभृतयस्तथा चेमे तपोधनाः ।
ऋषयः सुव्रता दान्ताः शृण्वन्तु गदतस्तव ॥ २० ॥

पूर्वकालमें ब्रह्मपुत्र तण्डीमुनिके द्वारा ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके समक्ष जिस शिव-सहस्रनामका निरूपण किया गया था, उसीका आप वर्णन करें और ये उत्तम व्रतका पालन करनेवाले व्यास आदि तपोधन एवं जितेन्द्रिय महर्षि आपके मुखसे इसका श्रवण करें ॥ १९-२० ॥

ध्रुवाय नन्दिने होत्रे गोप्त्रे विश्वसृजेऽग्नये ।
महाभाग्यं विभोर्ब्रूहि मुण्डिनेऽथ कपर्दिने ॥ २१ ॥

जो ध्रुव (कूटस्थ), नन्दी (आनन्दमय), होता, गोप्ता (रक्षक), विश्वस्रष्टा, गार्हपत्य आदि अग्नि, मुण्डी (चूड़ारहित) और कपर्दी (जटाजूटधारी) हैं, उन भगवान् शङ्करके महान् सौभाग्यका आप वर्णन कीजिये ॥२१॥

वासुदेव उवाच

न गतिः कर्मणां शक्या वेत्तुमीशस्य तत्त्वतः ।
हिरण्यगर्भप्रमुखा देवाः सेन्द्रा महर्षयः ॥ २२ ॥
न विदुर्यस्य भवनमादित्याः सूक्ष्मदर्शिनः ।
स कथं नरमात्रेण शक्यो ज्ञातुं सतां गतिः ॥ २३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भगवान् शङ्करके कर्मोंकी गतिका यथार्थरूपसे ज्ञान होना अशक्य है । ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवता, महर्षि तथा सूक्ष्मदर्शी आदित्य भी जिनके निवासस्थानको नहीं जानते, सत्पुरुषोंके आश्रयभूत उन भगवान् शिवके तत्त्वका ज्ञान मनुष्यमात्रको कैसे हो सकता है ? ॥ २२-२३ ॥

तस्याहमसुरघ्नस्य कांश्चिद् भगवतो गुणान् ।
भवतां कीर्तयिष्यामि व्रतेशाय यथातथम् ॥ २४ ॥

अतः मैं उन असुरविनाशक व्रतेश्वर भगवान् शङ्करके कुछ गुणोंका आपलोगोंके समक्ष यथार्थरूपसे वर्णन करूँगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भगवान् गुणांस्तस्य महात्मनः ।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा कथयामास धीमतः ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्ण आचमन करके पवित्र हो बुद्धिमान् परमात्मा शिवके गुणोंका वर्णन करने लगे ॥ २५ ॥

वासुदेव उवाच

शुश्रूषध्वं ब्राह्मणेन्द्रास्त्वं च तात युधिष्ठिर ।
त्वं चापगेय नामानि शृणुष्वेह कपर्दिने ॥ २६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—यहाँ बैठे हुए ब्राह्मणशिरोमणियो ! सुनो, तात युधिष्ठिर ! और गङ्गानन्दन भीष्म ! आपलोग भी यहाँ भगवान् शङ्करके नामोंका श्रवण करें ॥

यदवाप्तं च मे पूर्वं साम्बहेतोः सुदुष्करम् ।
यथावद् भगवान् दृष्टो मया पूर्वं समाधिना ॥ २७ ॥

पूर्वकालमें साम्बकी उत्पत्तिके लिये अत्यन्त दुष्कर तप करके मैंने जिस दुर्लभ नामसमूहका ज्ञान प्राप्त किया था और समाधिके द्वारा भगवान् शङ्करका जिस प्रकार यथावत्-रूपसे साक्षात्कार किया था, वह सब प्रसङ्ग सुना रहा हूँ ॥ २७ ॥

शम्बरे निहते पूर्वं रौक्मिणेयेन धीमता ।
अतीते द्वादशे वर्षे जाम्बवत्यब्रवीद्धि माम् ॥ २८ ॥
प्रद्युम्नचारुदेष्णादीन् रुक्मिण्या वीक्ष्य पुत्रकान् ।
पुत्रार्थिनी मामुपेत्य वाक्यमाह युधिष्ठिर ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर ! बुद्धिमान् रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नके द्वारा पूर्वकालमें जब शम्बरासुर मारा गया और वे द्वारकामें आये, तबसे बारह वर्ष व्यतीत होनेके पश्चात् रुक्मिणीके प्रद्युम्न, चारुदेष्ण आदि पुत्रोंको देखकर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली जाम्बवती मेरे पास आकर इस प्रकार बोली—॥ २८-२९ ॥

शूरं बलवतां श्रेष्ठं कान्तरूपमकल्मषम् ।
आत्मतुल्यं मम सुतं प्रयच्छाच्युत माचिरम् ॥ ३० ॥

'अच्युत ! आप मुझे अपने ही समान शूरवीर, बलवानोंमें श्रेष्ठ तथा कमनीय रूप-सौन्दर्यसे युक्त निष्पाप पुत्र प्रदान कीजिये । इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ ३० ॥

न हि तेऽप्राप्यमस्तीह त्रिषु लोकेषु किंचन ।
लोकान् सृजेस्त्वमपरानिच्छन् यदुकुलोद्वह ॥ ३१ ॥

'यदुकुलधुरन्धर ! आपके लिये तीनों लोकोंमें कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं है । आप चाहें तो दूसरे-दूसरे लोकोंकी सृष्टि कर सकते हैं ॥ ३१ ॥

त्वया द्वादशवर्षाणि व्रतीभूतेन शुष्यता।
आराध्य पशुभर्तारं रुक्मिण्यां जनिताः सुताः ॥ ३२ ॥

'आपने बारह वर्षोंतक व्रतपरायण हो अपने शरीरको सुखाकर भगवान् पशुपतिकी आराधना की और रुक्मिणीदेवीके गर्भसे अनेक पुत्र उत्पन्न किये ॥ ३२ ॥

चारुदेष्णः सुचारुश्च चारुवेशो यशोधरः।
चारुश्रवाश्चारुयशाः प्रद्युम्नः शम्भुरेव च ॥ ३३ ॥
यथा ते जनिताः पुत्रा रुक्मिण्यां चारुविक्रमाः।
तथा ममापि तनयं प्रयच्छ मधुसूदन ॥ ३४ ॥

'मधुसूदन ! चारुदेष्ण, सुचारु, चारुवेश, यशोधर, चारुश्रवा, चारुयशा, प्रद्युम्न और शम्भु—इन सुन्दर पराक्रमी पुत्रोंको जिस प्रकार आपने रुक्मिणीदेवीके गर्भसे उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मुझे भी पुत्र प्रदान कीजिये' ॥ ३३-३४ ॥

इत्येवं चोदितो देव्या तामवोचं सुमध्यमाम्।
अनुजानीहि मां राज्ञि करिष्ये वचनं तव ॥ ३५ ॥

देवी जाम्बवतीके इस प्रकार प्रेरणा देनेपर मैंने उस सुन्दरीसे कहा—'रानी ! मुझे जानेकी अनुमति दो। मैं तुम्हारी प्रार्थना सफल करूँगा' ॥ ३५ ॥

सा च मामब्रवीद् गच्छ शिवाय विजयाय च।
ब्रह्मा शिवः काश्यपश्च नद्यो देवा मनोऽनुगाः॥ ३६ ॥
क्षेत्रौषध्यो यज्ञवाहाश्छन्दांस्यृषिगणाध्वराः।
समुद्रा दक्षिणास्तोभा ऋक्षाणि पितरो ग्रहाः॥ ३७ ॥
देवपत्न्यो देवकन्या देवमातर एव च।
मन्वन्तराणि गावश्च चन्द्रमाः सविता हरिः॥ ३८ ॥
सावित्री ब्रह्मविद्या च ऋतवो वत्सरास्तथा।
क्षणा लवा मुहूर्ताश्च निमेषा युगपर्ययाः॥ ३९ ॥
रक्षन्तु सर्वत्र गतं त्वां यादव सुखाय च।
अरिष्टं गच्छ पन्थानमप्रमत्तो भवानघ ॥ ४० ॥

उसने कहा—'प्राणनाथ ! आप कल्याण और विजय पानेके लिये जाइये। यदुनन्दन ! ब्रह्मा, शिव, काश्यप, नदियाँ, मनोऽनुकूल देवगण, क्षेत्र, ओषधियाँ, यज्ञवाह (मन्त्र), छन्द, ऋषिगण, यज्ञ, समुद्र, दक्षिणा, स्तोभ (सामगानपूरक 'हावु' 'हायि' आदि शब्द), नक्षत्र, पितर, ग्रह, देवपत्नियाँ, देवकन्याएँ और देवमाताएँ, मन्वन्तर, गौ, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, सावित्री, ब्रह्मविद्या, ऋतु, वर्ष, क्षण, लव, मुहूर्त, निमेष और युग—ये सर्वत्र आपकी रक्षा करें। आप अपने मार्गपर निर्विघ्न यात्रा करें और अनघ ! आप सतत सावधान रहें' ॥ ३६-४० ॥

एवं कृतस्वस्त्ययनस्तयाहं
ततोऽभ्यनुज्ञाय नरेन्द्रपुत्रीम्।
पितुः समीपं नरसत्तमस्य
मातुश्च राज्ञश्च तथाऽऽहुकस्य ॥ ४१ ॥
गत्वा समावेद्य यदब्रवीन्मां
विद्याधरेन्द्रस्य सुता भृशार्ता।
तानभ्यनुज्ञाय तदातिदुःखाद्
गदं तथैवातिबलं च रामम्।
अथोचतुः प्रीतियुतौ तदानीं
तपःसमृद्धिर्भवतोऽस्त्वविघ्नम् ॥ ४२ ॥

इस तरह जाम्बवतीके द्वारा स्वस्तिवाचनके पश्चात् मैं उस राजकुमारीकी अनुमति ले नरश्रेष्ठ पिता वसुदेव, माता देवकी तथा राजा उग्रसेनके समीप गया। वहाँ जाकर विद्याधरराज-कुमारी जाम्बवतीने अत्यन्त आर्त होकर मुझसे जो प्रार्थना की थी, वह सब मैंने बताया और उन सबसे तपके लिये जानेकी आज्ञा ली। गद और अत्यन्त बलवान् बलरामजीसे विदा माँगी। उन दोनोंने बड़े दुःखसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक उस समय मुझसे कहा—'भाई ! तुम्हारी तपस्या निर्विघ्न पूर्ण हो' ॥ ४१-४२ ॥

प्राप्यानुज्ञां गुरुजनादहं तार्क्ष्यमचिन्तयम्।
सोऽवहद्धिमवन्तं मां प्राप्य चैनं व्यसर्जयम् ॥ ४३ ॥

गुरुजनोंकी आज्ञा पाकर मैंने गरुडका चिन्तन किया। उसने (आकर) मुझे हिमालयपर पहुँचा दिया। वहाँ पहुँचकर मैंने गरुडको विदा कर दिया ॥ ४३ ॥

तत्राहमद्भुतान् भावानपश्यं गिरिसत्तमे।
क्षेत्रं च तपसां श्रेष्ठं पश्याम्यद्भुतमुत्तमम् ॥ ४४ ॥

मैंने उस श्रेष्ठ पर्वतपर वहाँ अद्भुत भाव देखे। मुझे वहाँका स्थान तपस्याके लिये अद्भुत, उत्तम और श्रेष्ठ क्षेत्र दिखायी दिया ॥ ४४ ॥

दिव्यं वैयाघ्रपद्यस्य उपमन्योर्महात्मनः।
पूजितं देवगन्धर्वैर्ब्राह्म्या लक्ष्म्या समावृतम् ॥ ४५ ॥

वह व्याघ्रपादके पुत्र महात्मा उपमन्युका दिव्य आश्रम था, जो ब्राह्मी शोभासे सम्पन्न तथा देवताओं और गन्धर्वोंद्वारा सम्मानित था ॥ ४५ ॥

धवककुभकदम्बनारिकेलैः
कुरबककेतकजम्बुपाटलाभिः।
वटवरुणकवत्सनाभबिल्वैः
सरलकपित्थप्रियालसालतालैः ॥ ४६ ॥
बदरीकुन्दपुन्नागैरशोकाम्रातिमुक्तकैः।
मधूकैः कोविदारैश्च चम्पकैः पनसैस्तथा ॥ ४७ ॥
वन्यैर्बहुविधैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युतम्।
पुष्पगुल्मलताकीर्णं कदलीषण्डशोभितम् ॥ ४८ ॥

धव, ककुभ (अर्जुन), कदम्ब, नारियल, कुरबक, केतक, जामुन, पाटल, बड़, वरुणक, वत्सनाभ, बिल्व, सरल, कपित्थ, प्रियाल, साल, ताल, बेर, कुन्द, पुन्नाग, अशोक, आम्र, अतिमुक्त, महुआ, कोविदार, चम्पा तथा कटहल आदि बहुत-से फल-फूल देनेवाले विविध वन्य वृक्ष अ

आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे । फूलों, गुल्मों और लताओंसे वह व्याप्त था। केलेके कुञ्ज उसकी शोभाको और भी बढ़ा रहे थे ॥ ४६-४८ ॥

नानाशकुनिसम्भोज्यैः फलैर्वृक्षैरलंकृतम् ।
यथास्थानविनिक्षिप्तैर्भूषितं भस्मराशिभिः ॥ ४९ ॥

नाना प्रकारके पक्षियोंके खाने योग्य फल और वृक्ष उस आश्रमके अलंकार थे । यथास्थान रखी हुई भस्मराशिसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४९ ॥

रुरुवानरशार्दूलसिंहद्वीपिसमाकुलम् ।
कुरङ्गबर्हिणाकीर्णं मार्जारभुजगावृतम् ।
पूगैश्च मृगजातीनां महिषर्क्षनिषेवितम् ॥ ५० ॥

रुरु, वानर, शार्दूल, सिंह, चीते, मृग, मयूर, बिल्ली, सर्प, विभिन्न जातिके मृगोंके झुंड, भैंस तथा रीछोंसे उस आश्रमका निकटवर्ती वन भरा हुआ था ॥ ५० ॥

सकृत्प्रभिन्नैश्च गजैर्विभूषितं
प्रहृष्टनानाविधपक्षिसेवितम् ।
सुपुष्पितैरम्बुधरप्रकाशै-
र्महीरुहाणां च वनैर्विचित्रैः ॥ ५१ ॥

जिनके मस्तकसे पहली बार मदकी धारा फूटकर बही थी, ऐसे हाथी वहाँके उपवनकी शोभा बढ़ाते थे । हर्षमें भरे हुए नाना प्रकारके विहंगम वहाँके वृक्षोंपर बसेरे लेते थे । अनेकानेक वृक्षोंके विचित्र वन सुन्दर फूलोंसे सुशोभित हो मेघोंके समान प्रतीत होते थे और उन सबके द्वारा उस आश्रमकी अनुपम शोभा हो रही थी ॥ ५१ ॥

नानापुष्परजोमिश्रो गजदानाधिवासितः ।
दिव्यस्त्रीगीतबहुलो मारुतोऽभिमुखो ववौ ॥ ५२ ॥

सामनेसे नाना प्रकारके पुष्पोंके परागपुञ्जसे पूरित तथा हाथियोंके मदकी सुगन्धसे सुवासित मन्द-मन्द अनुकूल वायु आ रही थी; जिसमें दिव्य रमणियोंके मधुर गीतोंकी मनोरम ध्वनि विशेषरूपसे व्याप्त थी ॥ ५२ ॥

धारानिनादैर्विहगप्रणादैः
शुभैस्तथा बृंहितैः कुञ्जराणाम् ।
गीतैस्तथा किन्नराणामुदारैः
शुभैः स्वनैः सामगानां च वीर ॥ ५३ ॥

वीर ! पर्वतशिखरोंसे झरते हुए झरनोंकी झर-झर ध्वनि, विहंगमोंके सुन्दर कलरव, हाथियोंकी गर्जना, किन्नरोंके उदार (मनोहर) गीत तथा सामगान करनेवाले सामवेदी विद्वानोंके मङ्गलमय शब्द उस वन-प्रान्तको संगीतमय बना रहे थे ॥

अचिन्त्यं मनसाप्यन्यैः सरोभिः समलंकृतम् ।
विशालैश्चाग्निशरणैर्भूषितं कुसुमावृतैः ॥ ५४ ॥

जिसके विषयमें दूसरे लोग मनसे सोच भी नहीं सकते, ऐसी अचिन्त्य शोभासे सम्पन्न वह पर्वतीय भाग अनेकानेक सरोवरोंसे अलंकृत तथा फूलोंसे आच्छादित विशाल अग्नि-शालाओंद्वारा विभूषित था ॥ ५४ ॥

विभूषितं पुण्यपवित्रतोयया
सदा च जुष्टं नृप जह्नुकन्यया ।
विभूषितं धर्मभृतां वरिष्ठै-
र्महात्मभिर्वह्निसमानकल्पैः ॥ ५५ ॥

नरेश्वर ! पुण्यसलिला जाह्नवी सदा उस क्षेत्रकी शोभा बढ़ाती हुई मानो उसका सेवन करती थीं । अग्निके समान तेजस्वी तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ अनेकानेक महात्माओंसे वह स्थान विभूषित था ॥ ५५ ॥

वाय्वाहारैरम्बुपैर्जप्यनित्यैः
सम्प्रक्षालैर्योगिभिर्ध्याननित्यैः ।
धूमप्राशैरूष्मपैः क्षीरपैश्च
संजुष्टं च ब्राह्मणेन्द्रैः समन्तात् ॥ ५६ ॥

वहाँ चारों ओर श्रेष्ठ ब्राह्मण निवास करते थे । उनमेंसे कुछ लोग केवल वायु पीकर रहते थे । कुछ लोग जल पीकर जीवन धारण करते थे । कुछ लोग निरन्तर जपमें संलग्न रहते थे । कुछ साधक मैत्री-मुदिता आदि साधनाओंद्वारा अपने चित्तका शोधन करते थे । कुछ योगी निरन्तर ध्यान-मग्न रहते थे । कोई अग्निहोत्रका धूआँ, कोई गरम-गरम सूर्यकी किरणें और कोई दूध पीकर रहते थे ॥ ५६ ॥

गोचारिणोऽथाश्मकुट्टा दन्तोलूखलिकास्तथा ।
मरीचिपाः फेनपाश्च तथैव मृगचारिणः ॥ ५७ ॥

कुछ लोग गोसेवाका व्रत लेकर गौओंके ही साथ रहते और विचरते थे । कुछ लोग खाद्य वस्तुओंको पत्थरसे पीस-कर खाते थे और कुछ लोग दाँतोंसे ही ओखली-मूसलका काम लेते थे । कुछ लोग किरणों और फेनोंका पान करते थे तथा कितने ही ऋषि मृगचर्याका व्रत लेकर मृगोंके ही साथ रहते और विचरते थे ॥ ५७ ॥

अश्वत्थफलभक्षाश्च तथा ह्युदकशायिनः ।
चीरचर्माम्बरधरास्तथा वल्कलधारिणः ॥ ५८ ॥

कोई पीपलके फल खाकर रहते, कोई जलमें ही सोते तथा कुछ लोग चीर, वल्कल और मृगचर्म धारण करते थे ॥

सुदुःखान् नियमांस्तांस्तान् वहतः सुतपोधनान् ।
पश्यन् मुनीन् बहुविधान् प्रवेष्टुमुपचक्रमे ॥ ५९ ॥

अत्यन्त कष्टसाध्य नियमोंका निर्वाह करते हुए विविध तपस्वी मुनियोंका दर्शन करते हुए मैंने उस महान् आश्रममें प्रवेश करनेका उपक्रम किया ॥ ५९ ॥

सुपूजितं देवगणैर्महात्मभिः
शिवादिभिर्भारत पुण्यकर्मभिः ।
रराज तच्चाश्रममण्डलं सदा
दिवीव राजञ्शशिमण्डलं यथा ॥ ६० ॥

भरतवंशी नरेश ! महात्मा तथा पुण्यकर्मा शिव आदि

देवताओंसे समादृत हो वह आश्रममण्डल सदा ही आकाशमें चन्द्रमण्डलकी भाँति शोभा पाता था ॥ ६० ॥

क्रीडन्ति सर्पैर्नकुला मृगैर्व्याघ्राश्च मित्रवत् ।
प्रभावाद् दीप्ततपसां संनिकर्षान्महात्मनाम् ॥ ६१ ॥

वहाँ तीव्र तपस्यावाले महात्माओंके प्रभाव तथा सांनिध्यसे प्रभावित हो नेवले साँपोंके साथ खेलते थे और व्याघ्र मृगोंके साथ मित्रकी भाँति रहते थे ॥ ६१ ॥

तत्राश्रमपदे श्रेष्ठे सर्वभूतमनोरमे ।
सेविते द्विजशार्दूलैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ ६२ ॥
नानानियमविख्यातैर्ऋषिभिः सुमहात्मभिः ।
प्रविशन्नेव चापश्यं जटाचीरधरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥
तेजसा तपसा चैव दीप्यमानं यथानलम् ।
शिष्यैरनुगतं शान्तं युवानं ब्राह्मणर्षभम् ॥ ६४ ॥

वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् श्रेष्ठ ब्राह्मण जिसका सेवन करते थे तथा नाना प्रकारके नियमोंद्वारा विख्यात हुए महात्मा महर्षि जिसकी शोभा बढ़ाते थे, समस्त प्राणियोंके लिये मनोरम उस श्रेष्ठ आश्रममें प्रवेश करते ही मैंने जटावल्कलधारी, प्रभावशाली, तेज और तपस्यासे अग्निके समान देदीप्यमान, शान्तस्वभाव और युवावस्थासे सम्पन्न ब्राह्मणशिरोमणि उपमन्युको शिष्योंसे घिरकर बैठा देखा ॥ ६२–६४ ॥

शिरसा वन्दमानं मामुपमन्युरभाषत ॥ ६५ ॥
स्वागतं पुण्डरीकाक्ष सफलानि तपांसि नः ।
यः पूज्यः पूजयसि मां द्रष्टव्यो द्रष्टुमिच्छसि ॥ ६६ ॥

मैंने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया । मुझे वन्दना करते देख उपमन्यु बोले—'पुण्डरीकाक्ष ! आपका स्वागत है । आप पूजनीय होकर मेरी पूजा करते हैं और दर्शनीय होकर मेरा दर्शन चाहते हैं, इससे हमलोगोंकी तपस्या सफल हो गयी' ॥ ६५-६६ ॥

तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा मृगपक्षिष्वथाग्निषु ।
धर्मे च शिष्यवर्गे च समपृच्छमनामयम् ॥ ६७ ॥

तब मैंने हाथ जोड़कर आश्रमके मृग, पक्षी, अग्निहोत्र, धर्माचरण तथा शिष्यवर्गका कुशल-समाचार पूछा ॥ ६७ ॥

ततो मां भगवानाह साम्ना परमवल्गुना ।
लप्स्यसे तनयं कृष्ण आत्मतुल्यमसंशयम् ॥ ६८ ॥

तब भगवान् उपमन्युने परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वाणीमें मुझसे कहा—श्रीकृष्ण ! आप अपने समान पुत्र प्राप्त करेंगे—इसमें संशय नहीं है ॥ ६८ ॥

तपः सुमहदास्थाय तोषयेशानमीश्वरम् ।
इह देवः सपत्नीकः समाक्रीडत्यधोक्षज ॥ ६९ ॥

अधोक्षज ! आप महान् तपका आश्रय लेकर यहाँ सर्वेश्वर भगवान् शिवको संतुष्ट कीजिये । यहाँ महादेवजी अपनी पत्नी भगवती उमाके साथ क्रीड़ा करते हैं ॥ ६९ ॥

इहैनं दैवतश्रेष्ठं देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ॥ ७० ॥
तोषयित्वा शुभान् कामान् प्राप्तवन्तो जनार्दन ।

जनार्दन ! यहाँ सुरश्रेष्ठ महादेवजीको तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रिय-संयमद्वारा संतुष्ट करके पहले कितने ही देवता और महर्षि अपने शुभ मनोरथ प्राप्त कर चुके हैं ॥

तेजसां तपसां चैव निधिः स भगवानिह ॥ ७१½ ॥
शुभाशुभान्वितान् भावान् विसृजन् संक्षिपन्नपि ।
आस्ते देव्या सदाचिन्त्यो यं प्रार्थयसि शत्रुहन् ॥ ७२ ॥

शत्रुनाशक श्रीकृष्ण ! आप जिनकी प्रार्थना करते हैं, वे तेज और तपस्याकी निधि अचिन्त्य भगवान् शङ्कर यहाँ शम आदि शुभभावोंकी सृष्टि और काम आदि अशुभ भावोंका संहार करते हुए देवी पार्वतीके साथ सदा विराजमान रहते हैं ॥

हिरण्यकशिपुर्योऽभूद् दानवो मेरुकम्पनः ।
तेन सर्वामरैश्वर्यं शर्वात् प्राप्तं समार्बुदम् ॥ ७३ ॥

पहले जो मेरुपर्वतको भी कम्पित कर देनेवाला हिरण्यकशिपु नामक दानव हुआ था, उसने भगवान् शङ्करसे एक अर्बुद (दस करोड़) वर्षोंतकके लिये सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य प्राप्त किया था ॥ ७३ ॥

तस्यैव पुत्रप्रवरो मन्दारो नाम विश्रुतः ।
महादेववराच्छक्रं वर्षार्बुदमयोधयत् ॥ ७४ ॥

उसीका श्रेष्ठ पुत्र मन्दार नामसे विख्यात हुआ, जो महादेवजीके वरसे एक अर्बुद वर्षोंतक इन्द्रके साथ युद्ध करता रहा ॥ ७४ ॥

विष्णोश्चक्रं च तद् घोरं वज्रमाखण्डलस्य च ।
शीर्णं पुराभवत् तात ग्रहस्याङ्गेषु केशव ॥ ७५ ॥

तात केशव ! भगवान् विष्णुका वह भयंकर चक्र तथा इन्द्रका वज्र भी पूर्वकालमें उस ग्रहके अङ्गोंपर पुराने तिनकोंके समान जीर्ण-शीर्ण-सा हो गया था ॥ ७५ ॥

यत् तद् भगवता पूर्वं दत्तं चक्रं तवानघ ।
जलान्तरचरं हत्वा दैत्यं च बलगर्वितम् ॥ ७६ ॥
उत्पादितं वृषाङ्केन दीप्तज्वलनसंनिभम् ।
दत्तं भगवता तुभ्यं दुर्धर्षं तेजसाद्भुतम् ॥ ७७ ॥

निष्पाप श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें जलके भीतर रहनेवाले गर्वीले दैत्यको मारकर भगवान् शङ्करने आपको जो चक्र प्रदान किया था, उस अग्निके समान तेजस्वी शस्त्रको स्वयं भगवान् वृषध्वजने ही उत्पन्न किया और आपको दिया था, वह अस्त्र अद्भुत तेजसे युक्त एवं दुर्धर्ष है ॥ ७६-७७ ॥

न शक्यं द्रष्टुमन्येन वर्जयित्वा पिनाकिनम् ।
सुदर्शनं भवत्येवं भवेनोक्तं तदा तु तत् ॥ ७८ ॥
सुदर्शनं तदा तस्य लोके नाम प्रतिष्ठितम् ।
तज्जीर्णमभवत् तात ग्रहस्याङ्गेषु केशव ॥ ७९ ॥

पिनाकपाणि भगवान् शङ्करको छोड़कर दूसरा कोई उसको

...ल नहीं सकता था। उस समय भगवान् शङ्करने कहा, 'यह अस्त्र सुदर्शन (देखनेमें सुगम) हो जाय ।' तभीसे ...संसारमें उसका सुदर्शन नाम प्रचलित हो गया। तात केशव! ...प्रसिद्ध अस्त्र भी उस ग्रहके अङ्गोंपर जीर्ण-सा हो गया ॥

...ग्रहस्यातिबलस्याङ्गे वरदत्तस्य धीमतः।
...शस्त्राणि वहन्त्यङ्गे चक्रवज्रशतान्यपि ॥ ८० ॥

भगवान् शङ्करसे उसको वर मिला था । उस अत्यन्त ...शाली बुद्धिमान् ग्रहके अङ्गमें चक्र और वज्र-जैसे सैकड़ों ...अस्त्र भी काम नहीं देते थे ॥ ८० ॥

...अर्द्यमानाश्च विबुधा ग्रहेण सुबलीयसा।
...शिवदत्तवरान् जघ्नुरसुरेन्द्रान् सुरा भृशम् ॥ ८१ ॥

जब उस बलवान् ग्रहने देवताओंको सताना आरम्भ कर दिया, तब देवताओंने भी भगवान् शङ्करसे वर पाये हुए उन असुरेन्द्रोंको बहुत पीटा। (इस प्रकार उनमें दीर्घकालतक युद्ध होता रहा) ॥ ८१ ॥

...तुष्टो विद्युत्प्रभस्यापि त्रिलोकेश्वरतां ददौ।
...शतं वर्षसहस्राणां सर्वलोकेश्वरोऽभवत् ॥ ८२ ॥

इसी तरह विद्युत्प्रभ नामक दैत्यपर भी संतुष्ट होकर रुद्रदेवने उसे तीनों लोकोंका आधिपत्य प्रदान कर दिया। इस प्रकार वह एक लाख वर्षोंतक सम्पूर्ण लोकोंका अधीश्वर बना रहा ॥ ८२ ॥

ममैवानुचरो नित्यं भवितासीति चाब्रवीत्।
तथा पुत्रसहस्राणामयुतं च ददौ प्रभुः ॥ ८३ ॥

भगवान्‌ने उसे यह भी वर दिया था कि 'तुम मेरे नित्य पार्षद हो जाओगे' साथ ही उन प्रभुने उसे सहस्र अयुत (एक करोड़) पुत्र प्रदान किये ॥ ८३ ॥

कुशद्वीपं च स ददौ राज्येन भगवानजः।
तथा शतमुखो नाम धात्रा सृष्टो महासुरः ॥ ८४ ॥
येन वर्षशतं साग्रमात्ममांसैर्हुतोऽनलः।

अजन्मा भगवान् शिवने उसे राज्य करनेके लिये कुशद्वीप दिया था। इसी प्रकार भगवान् ब्रह्माने एक समय शतमुख नामक महान् असुरकी सृष्टि की थी, जिसने सौ वर्षसे अधिक कालतक अग्निमें अपने ही मांसकी आहुति दी थी ॥

तं प्राह भगवांस्तुष्टः किं करोमीति शंकरः ॥ ८५ ॥
तं वै शतमुखः प्राह योगो भवतु मेऽद्भुतः।
बलं च दैवतश्रेष्ठ शाश्वतं सम्प्रयच्छ मे ॥ ८६ ॥

उससे संतुष्ट होकर भगवान् शङ्करने पूछा—'बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूर्ण करूँ ?' तब शतमुखने उनसे कहा—'सुरश्रेष्ठ ! मुझे अद्भुत योगशक्ति प्राप्त हो। साथ ही आप मुझे सदा बना रहनेवाला बल प्रदान कीजिये' ॥ ८५-८६ ॥

तथेति भगवानाह तस्य तद् वचनं प्रभुः।
स्वायम्भुवः क्रतुश्चापि पुत्रार्थमभवत् पुरा ॥ ८७ ॥
आविश्य योगेनात्मानं त्रीणि वर्षशतान्यपि।
तस्य चोपददौ पुत्रान् सहस्रं क्रतुसम्मितान् ॥ ८८ ॥

उसकी वह बात सुनकर शक्तिशाली भगवान्‌ने 'तथास्तु' कहकर उसे स्वीकार कर लिया। इसी तरह पूर्वकालमें स्वयम्भूके पुत्र क्रतुने पुत्र-प्राप्तिके लिये तीन सौ वर्षोंतक योगके द्वारा अपने आपको भगवान् शिवके चिन्तनमें लगा रखा था; अतः क्रतुको भी भगवान् शङ्करने उन्हींके समान एक हजार पुत्र प्रदान किये ॥ ८७-८८ ॥

योगेश्वरं देवगीतं वेत्थ कृष्ण न संशयः।
याज्ञवल्क्य इति ख्यात ऋषिः परमधार्मिकः ॥ ८९ ॥
आराध्य स महादेवं प्राप्तवानतुलं यशः।

श्रीकृष्ण ! देवता जिनकी महिमाका गान करते हैं, उन योगेश्वर शिवको आप भलीभाँति जानते हैं, इसमें संशय नहीं है। याज्ञवल्क्य नामसे विख्यात परम धर्मात्मा ऋषिने महादेवजीकी आराधना करके अनुपम यश प्राप्त किया ॥ ८९½ ॥

वेदव्यासश्च योगात्मा पराशरसुतो मुनिः ॥ ९० ॥
सोऽपि शङ्करमाराध्य प्राप्तवानतुलं यशः।

पराशरजीके पुत्र मुनिवर वेदव्यास तो योगके स्वरूप ही हैं। उन्होंने भी शङ्करजीकी आराधना करके वह महान् यश पा लिया, जिसकी कहीं तुलना नहीं है ॥ ९०½ ॥

बालखिल्या मघवता ह्यवज्ञाताः पुरा किल ॥ ९१ ॥
तैः क्रुद्धैर्भगवान् रुद्रस्तपसा तोषितो ह्यभूत्।

कहते हैं, पूर्वकालमें किसी समय इन्द्रने बालखिल्य नामक ऋषियोंका अपमान कर दिया था । उन ऋषियोंने कुपित होकर तपस्या की और उसके द्वारा भगवान् रुद्रको संतुष्ट किया ॥ ९१½ ॥

तांश्चापि दैवतश्रेष्ठः प्राह प्रीतो जगत्पतिः ॥ ९२ ॥
सुपर्णं सोमहर्तारं तपसोत्पादयिष्यथ।

तब सुरश्रेष्ठ विश्वनाथ शिवने प्रसन्न होकर उनसे कहा—'तुम अपनी तपस्याके बलसे गरुडको उत्पन्न करोगे, जो इन्द्रका अमृत छीन लायेगा' ॥ ९२½ ॥

महादेवस्य रोषाच्च आपो नष्टाः पुराभवन् ॥ ९३ ॥
ताश्च सप्तकपालेन देवैरन्याः प्रवर्तिताः।
ततः पानीयमभवत् प्रसन्ने त्र्यम्बके भुवि ॥ ९४ ॥

पहलेकी बात है, महादेवजीके रोषसे जल नष्ट हो गया था। तब देवताओंने, जिसके स्वामी रुद्र हैं, उस सप्त कपालयागके द्वारा दूसरा जल प्राप्त किया। इस प्रकार त्रिनेत्रधारी भगवान् शिवके प्रसन्न होनेपर ही भूतलपर जलकी उपलब्धि हुई ॥ ९३-९४ ॥

अत्रेर्भार्यापि भर्तारं संत्यज्य ब्रह्मवादिनी।
नाहं तस्य मुनेर्भूयो वशगा स्यां कथंचन ॥ ९५ ॥
इत्युक्त्वा सा महादेवमगच्छच्छरणं किल।

अत्रिकी पत्नी ब्रह्मवादिनी अनसूया भी किसी समय रुष्ट हो अपने पतिको त्यागकर चली गयीं और मनमें यह संकल्प

करके कि 'अब मैं किसी तरह भी पुनः अत्रिमुनिके वशीभूत नहीं होऊँगी' महादेवजीकी शरणमें गयीं ॥ ९५½ ॥

निराहारा भयादत्रेस्त्रीणि वर्षशतान्यपि ॥ ९६ ॥
अशेत मुसलेष्वेव प्रसादार्थं भवस्य सा ।

वे अत्रिमुनिके भयसे तीन सौ वर्षोंतक निराहार रहकर मुसलोंपर ही सोयीं और भगवान् शङ्करकी प्रसन्नताके लिये तपस्या करती रहीं ॥ ९६½ ॥

तामब्रवीद्धसन् देवो भविता वै सुतस्तव ॥ ९७ ॥
विना भर्त्रा च रुद्रेण भविष्यति न संशयः ।
वंशे तथैव नाम्ना तु ख्यातिं यास्यति चेप्सिताम् ॥ ९८ ॥

तब महादेवजीने उनसे हँसते हुए कहा—'देवि ! मेरी कृपासे केवल यज्ञसम्बन्धी चरुका द्रव पीनेमात्रसे तुम्हें पतिके सहयोगके बिना ही एक पुत्र प्राप्त होगा—इसमें संशय नहीं है । वह तुम्हारे वंशमें तुम्हारे ही नामसे इच्छानुसार ख्याति प्राप्त करेगा' ॥ ९७-९८ ॥

विकर्णश्च महादेवं तथा भक्तसुखावहम् ।
प्रसाद्य भगवान् सिद्धिं प्राप्तवान् मधुसूदन ॥ ९९ ॥

मधुसूदन ! ऐश्वर्यशाली विकर्णने भक्तसुखदायक महादेवजीको प्रसन्न करके मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त की थी ॥ ९९ ॥

शाकल्यः संशितात्मा वै नववर्षशतान्यपि ।
आराधयामास भवं मनोयज्ञेन केशव ॥ १०० ॥

केशव ! शाकल्य ऋषिके मनमें सदा संशय बना रहता था । उन्होंने मनोमय यज्ञ (ध्यान) के द्वारा भगवान् शिवकी नौ सौ वर्षोंतक आराधना की ॥ १०० ॥

तं चाह भगवांस्तुष्टो ग्रन्थकारो भविष्यसि ।
वत्साक्षया च ते कीर्तिस्त्रैलोक्ये वै भविष्यति ॥ १०१ ॥

तब उनसे भी संतुष्ट होकर भगवान् शङ्करने कहा—'वत्स ! तुम ग्रन्थकार होओगे तथा तीनों लोकोंमें तुम्हारी अक्षय कीर्ति फैल जायगी ॥ १०१ ॥

अक्षयं च कुलं तेऽस्तु महर्षिभिरलंकृतम् ।
भविष्यति द्विजश्रेष्ठः सूत्रकर्ता सुतस्तव ॥ १०२ ॥

'तुम्हारा कुल अक्षय एवं महर्षियोंसे अलंकृत होगा । तुम्हारा पुत्र एक श्रेष्ठ ब्राह्मण एवं सूत्रकार होगा' ॥ १०२ ॥

सावर्णिश्चापि विख्यात ऋषिरासीत् कृते युगे ।
इह तेन तपस्तप्तं षष्टिवर्षशतान्यथ ॥ १०३ ॥

सत्ययुगमें सावर्णिनामसे विख्यात एक ऋषि थे । उन्होंने यहाँ आकर छः हजार वर्षोंतक तपस्या की ॥ १०३ ॥

तमाह भगवान् रुद्रः साक्षात् तुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।
ग्रन्थकृल्लोकविख्यातो भवितास्यजरामरः ॥ १०४ ॥

तब भगवान् रुद्रने उन्हें साक्षात् दर्शन देकर कहा—'अनघ ! मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ । तुम विश्वविख्यात ग्रन्थकार और अजर-अमर होओगे' ॥ १०४ ॥

शक्रेण तु पुरा देवो वाराणस्यां जनार्दन ।
आराधितोऽभूद् भक्तेन दिग्वासा भस्मगुण्ठितः ॥ १०५ ॥
आराध्य स महादेवं देवराजमवाप्तवान् ।

जनार्दन ! पहलेकी बात है, इन्द्रने भक्तिभावके साथ काशीपुरीमें भस्मभूषित दिगम्बर महादेवजीकी आराधना की। महादेवजीकी आराधना करके ही उन्होंने देवराजपद प्राप्त किया ॥ १०५½ ॥

नारदेन तु भक्त्यासौ भव आराधितः पुरा ॥ १०६ ॥
तस्य तुष्टो महादेवो जगौ देवगुरुर्गुरुः ।
तेजसा तपसा कीर्त्या त्वत्समो न भविष्यति ॥ १०७ ॥
गीतेन वादितव्येन नित्यं मामनुयास्यसि ।

देवर्षि नारदने भी पहले भक्तिभावसे भगवान् शङ्करकी आराधना की थी । इससे संतुष्ट होकर गुरुस्वरूप देवगुरु महादेवजीने उन्हें यह वरदान दिया कि 'तेज, तप और कीर्तिमें कोई तुम्हारी समता करनेवाला नहीं होगा । तुम गीत और वीणावादनके द्वारा सदा मेरा अनुसरण करोगे' ॥ १०६-१०७½ ॥

मयापि च यथा दृष्टो देवदेवः पुरा विभो ॥ १०८ ॥
साक्षात् पशुपतिस्तात तच्चापि शृणु माधव ।

प्रभो ! तात माधव ! मैंने भी पूर्वकालमें साक्षात् देवाधिदेव पशुपतिका जिस प्रकार दर्शन किया था, वह प्रसङ्ग सुनिये ॥ १०८½ ॥

यदर्थं च मया देवः प्रयतेन तथा विभो ॥ १०९ ॥
प्रबोधितो महातेजास्तं चापि शृणु विस्तरम् ।

भगवन् ! मैंने जिस उद्देश्यसे प्रयत्नपूर्वक महातेजस्वी महादेवजीको संतुष्ट किया था, वह सब विस्तारपूर्वक सुनिये ॥ १०९½ ॥

यदवाप्तं च मे पूर्वं देवदेवान्महेश्वरात् ॥ ११० ॥
तत् सर्वं निखिलेनाद्य कथयिष्यामि तेऽनघ ।

अनघ ! पूर्वकालमें मुझे देवाधिदेव महेश्वरसे जो कुछ प्राप्त हुआ था, वह सब आज पूर्णरूपसे तुम्हें बताऊँगा ॥

पुरा कृतयुगे तात ऋषिरासीन्महायशाः ॥ १११ ॥
व्याघ्रपाद इति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः ।

तात ! पहले सत्ययुगमें एक महायशस्वी ऋषि हो गये हैं, जो व्याघ्रपादनामसे प्रसिद्ध थे । वे वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् थे ॥ १११½ ॥

तस्याहमभवं पुत्रो धौम्यश्चापि ममानुजः ॥ ११२ ॥
कस्यचित् त्वथ कालस्य धौम्येन सह माधव ।
आगच्छमाश्रमं क्रीडन् मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ ११३ ॥

उन्हींका मैं पुत्र हूँ । मेरे छोटे भाईका नाम धौम्य है । माधव ! किसी समय मैं धौम्यके साथ खेलता हुआ पवित्रात्मा मुनियोंके आश्रमपर आया ॥ ११२-११३ ॥

तत्रापि च मया दृष्टा दुह्यमाना पयस्विनी ।
लक्षितं च मया क्षीरं स्वादुतो ह्यमृतोपमम् ॥ ११४ ॥

वहाँ मैंने देखा, एक दुधारू गाय दुही जा रही थी ।

वहीं मैंने दूध देखा, जो स्वादमें अमृतके समान होता है ॥

ततोऽहमब्रुवं बाल्याज्जननीमात्मनस्तथा।
क्षीरोदनसमायुक्तं भोजनं हि प्रयच्छ मे ॥११५॥

तब मैंने बालस्वभाववश अपनी मातासे कहा—'माँ! मुझे खानेके लिये दूध-भात दो' ॥ ११५ ॥

अभावाच्चैव दुग्धस्य दुःखिता जननी तदा।
ततः पिष्टं समालोड्य तोयेन सह माधव ॥११६॥
आवयोः क्षीरमित्येव पानार्थं समुपानयत्।

घरमें दूधका अभाव था; इसलिये मेरी माताको उस समय बड़ा दुःख हुआ। माधव! तब वह पानीमें आटा घोलकर ले आयी और दूध कहकर दोनों भाइयोंको पीनेके लिये दे दिया ॥ ११६½ ॥

अथ गव्यं पयस्तात कदाचित् प्राशितं मया ॥११७॥
पित्राहं यज्ञकाले हि नीतो ज्ञातिकुलं महत्।
तत्र सा क्षरते देवी दिव्या गौः सुरनन्दिनी ॥११८॥

तात! उसके पहले एक दिन मैंने गायका दूध पीया था। पिताजी यज्ञके समय एक बड़े भारी धनी कुटुम्बीके घर मुझे ले गये थे। वहाँ दिव्य सुरभी गाय दूध दे रही थी ॥

तस्याहं तत् पयः पीत्वा रसेन ह्यमृतोपमम्।
ज्ञात्वा क्षीरगुणांश्चैव उपलभ्य हि सम्भवम् ॥११९॥

उस अमृतके समान स्वादिष्ट दूधको पीकर मैं यह जान गया था कि दूधका स्वाद कैसा होता है और उसकी उपलब्धि किस प्रकार होती है ॥ ११९ ॥

स च पिष्टरसस्तात न मे प्रीतिमुपावहत्।
ततोऽहमब्रुवं बाल्याज्जननीमात्मनस्तदा ॥१२०॥

तात! इसीलिये वह आटेका रस मुझे प्रिय नहीं लगा; अतः मैंने बालस्वभाववश ही अपनी मातासे कहा—॥१२०॥

नेदं क्षीरोदनं मातर्यत् त्वं मे दत्तवत्यसि।
ततो मामब्रवीन्माता दुःखशोकसमन्विता ॥१२१॥
पुत्रस्नेहात् परिष्वज्य मूर्ध्नि चाघ्राय माधव।
कुतः क्षीरोदनं वत्स मुनीनां भावितात्मनाम् ॥१२२॥
वने निवसतां नित्यं कन्दमूलफलाशिनाम्।

'माँ! तुमने मुझे जो दिया है, यह दूध-भात नहीं है।' माधव! तब मेरी माता दुःख और शोकमें मग्न हो पुत्र-स्नेहवश मुझे हृदयसे लगाकर मेरा मस्तक सूँघती हुई मुझसे बोली—'बेटा! जो सदा वनमें रहकर कन्द, मूल और फल खाकर निर्वाह करते हैं, उन पवित्र अन्तःकरणवाले मुनियोंको भला दूध-भात कहाँसे मिल सकता है? ॥१२१-१२२½॥

आस्थितानां नदीं दिव्यां वालखिल्यैर्निषेविताम्॥१२३॥
कुतः क्षीरं वनस्थानां मुनीनां गिरिवासिनाम्।

'जो वालखिल्योंद्वारा सेवित दिव्य नदी गङ्गाका सहारा लिये बैठे हैं, पर्वतों और वनोंमें रहनेवाले उन मुनियोंको दूध कहाँसे मिलेगा? ॥ १२३½ ॥

पावनानां वनाशानां वनाश्रमनिवासिनाम् ॥१२४॥
ग्राम्याहारनिवृत्तानामारण्यफलभोजिनाम्।

'जो पवित्र हैं, वनमें ही होनेवाली वस्तुएँ खाते हैं, वनके आश्रमोंमें ही निवास करते हैं, ग्रामीण आहारसे निवृत्त होकर जंगलके फल-मूलोंका ही भोजन करते हैं, उन्हें दूध कैसे मिल सकता है? ॥ १२४½ ॥

नास्ति पुत्र पयोऽरण्ये सुरभीगोत्रवर्जिते ॥१२५॥
नदीगह्वरशैलेषु तीर्थेषु विविधेषु च।
तपसा जप्यनित्यानां शिवो नः परमा गतिः ॥१२६॥

'बेटा! यहाँ सुरभी गायकी कोई संतान नहीं है; अतः इस जंगलमें दूधका सर्वथा अभाव है। नदी, कन्दरा, पर्वत और नाना प्रकारके तीर्थोंमें तपस्यापूर्वक जपमें तत्पर रहनेवाले हम ऋषि-मुनियोंके भगवान् शङ्कर ही परम आश्रय हैं। १२५-१२६।

अप्रसाद्य विरूपाक्षं वरदं स्थाणुमव्ययम्।
कुतः क्षीरोदनं वत्स सुखानि वसनानि च ॥१२७॥

'वत्स! जो सबको वर देनेवाले, नित्य स्थिर रहनेवाले और अविनाशी ईश्वर हैं, उन भगवान् विरूपाक्षको प्रसन्न किये बिना दूध-भात और सुखदायक वस्त्र कैसे मिल सकते हैं? ॥

तं प्रपद्य सदा वत्स सर्वभावेन शङ्करम्।
तत्प्रसादाच्च कामेभ्यः फलं प्राप्स्यसि पुत्रक ॥१२८॥

'बेटा! सदा सर्वतोभावसे उन्हीं भगवान् शङ्करकी शरण लेकर उनकी कृपासे ही इच्छानुसार फल पा सकोगे' ॥१२८॥

जनन्यास्तद् वचः श्रुत्वा तदाप्रभृति शत्रुहन्।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा इदमम्बामचोदयम् ॥१२९॥

शत्रुसूदन! जननीकी वह बात सुनकर उसी समय मैंने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर माताजीसे यह पूछा—॥ १२९ ॥

कोऽयमम्ब महादेवः स कथं च प्रसीदति।
कुत्र वा वसते देवो द्रष्टव्यो वा कथंचन ॥१३०॥

'अम्ब! ये महादेवजी कौन हैं? और कैसे प्रसन्न होते हैं? वे शिव देवता कहाँ रहते हैं और कैसे उनका दर्शन किया जा सकता है? ॥ १३० ॥

तुष्यते वा कथं शर्वो रूपं तस्य च कीदृशम्।
कथं ज्ञेयः प्रसन्नो वा दर्शयेज्जननि मम ॥१३१॥

'मेरी माँ! यह बताओ कि शिवजीका रूप कैसा है? वे कैसे संतुष्ट होते हैं? उन्हें किस तरह जाना जाय अथवा वे कैसे प्रसन्न होकर मुझे दर्शन दे सकते हैं?' ॥ १३१ ॥

एवमुक्ता तदा कृष्ण माता मे सुतवत्सला।
मूर्ध्न्याघ्राय गोविन्द सबाष्पाकुललोचना ॥१३२॥
प्रमार्जन्ती च गात्राणि मम वै मधुसूदन।
दैन्यमालम्ब्य जननी इदमाह सुरोत्तम ॥१३३॥

सच्चिदानन्दस्वरूप गोविन्द! सुरश्रेष्ठ मधुसूदन! मेरे इस प्रकार पूछनेपर मेरी पुत्रवत्सला माताके नेत्रोंमें आँसू भरे

आये। वह मेरा मस्तक सूँघकर मेरे सभी अङ्गोंपर हाथ फेरने लगी और कुछ दीन-सी होकर यों बोली ॥ १३२-१३३ ॥

अम्बोवाच

दुर्विज्ञेयो महादेवो दुराधारो दुरन्तकः।
दुराबाधश्च दुर्ग्राह्यो दुर्दृश्यो ह्यकृतात्मभिः ॥ १३४ ॥

माताने कहा—जिन्होंने अपने मनको वशमें नहीं किया है, ऐसे लोगोंके लिये महादेवजीका ज्ञान होना बहुत कठिन है। उनका मनसे धारण करनेमें आना मुश्किल है। उनकी प्राप्तिके मार्गमें बड़े-बड़े विघ्न हैं। दुस्तर बाधाएँ हैं। उनका ग्रहण और दर्शन होना भी अत्यन्त कठिन है ॥ १३४ ॥

यस्य रूपाण्यनेकानि प्रवदन्ति मनीषिणः।
स्थानानि च विचित्राणि प्रसादाश्चाप्यनेकशः ॥ १३५ ॥

मनीषी पुरुष कहते हैं कि भगवान् शङ्करके अनेक रूप हैं। उनके रहनेके विचित्र स्थान हैं और उनका कृपाप्रसाद भी अनेक रूपोंमें प्रकट होता है ॥ १३५ ॥

को हि तत्त्वेन तद् वेद ईशस्य चरितं शुभम्।
कृतवान् यानि रूपाणि देवदेवः पुरा किल।
क्रीडते च तथा शर्वः प्रसीदति यथा च वै ॥ १३६ ॥

पूर्वकालमें देवाधिदेव महादेवने जो-जो रूप धारण किये हैं, ईश्वरके उस शुभ चरित्रको कौन यथार्थरूपसे जानता है? वे कैसे क्रीडा करते हैं और किस तरह प्रसन्न होते हैं? यह कौन समझ सकता है ॥ १३६ ॥

हृदिस्थः सर्वभूतानां विश्वरूपो महेश्वरः।
भक्तानामनुकम्पार्थं दर्शनं च यथाश्रुतम् ॥ १३७ ॥
मुनीनां ब्रुवतां दिव्यमीशानचरितं शुभम्।

वे विश्वरूपधारी महेश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयमन्दिरमें विराजमान हैं। वे भक्तोंपर कृपा करनेके लिये किस प्रकार दर्शन देते हैं? यह शङ्करजीके दिव्य एवं कल्याणमय चरित्रका वर्णन करनेवाले मुनियोंके मुखसे जैसा मैंने सुना है वह बताऊँगी ॥ १३७½ ॥

कृतवान् यानि रूपाणि कथितानि दिवौकसैः ॥ १३८ ॥
अनुग्रहार्थं विप्राणां शृणु वत्स समासतः।
तानि ते कीर्तयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १३९ ॥

वत्स! उन्होंने ब्राह्मणोंपर अनुग्रह करनेके लिये देवताओं-द्वारा कथित जो-जो रूप ग्रहण किये हैं, उन्हें संक्षेपसे सुनो। वत्स! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वे सारी बातें मैं तुम्हें बताऊँगी ॥ १३८-१३९ ॥

अम्बोवाच

ब्रह्मविष्णुसुरेन्द्राणां रुद्रादित्याश्विनामपि।
विश्वेषामपि देवानां वपुर्धारयते भवः ॥ १४० ॥

ऐसा कहकर माता फिर कहने लगी—भगवान् शिव ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार तथा सम्पूर्ण देवताओंका शरीर धारण करते हैं ॥ १४० ॥

नराणां देवनारीणां तथा प्रेतपिशाचयोः।
किरातशबराणां च जलजानामनेकशः ॥ १४१ ॥
करोति भगवान् रूपमाटव्यशबराण्यपि।

वे भगवान् पुरुषों, देवाङ्गनाओं, प्रेतों, पिशाचों, किरातों, शबरों, अनेकानेक जलजन्तुओं तथा जंगली भीलोंके भी रूप ग्रहण कर लेते हैं ॥ १४१½ ॥

कूर्मो मत्स्यस्तथा शङ्खः प्रवालाङ्कुरभूषणः ॥ १४२ ॥
यक्षराक्षससर्पाणां दैत्यदानवयोरपि।
वपुर्धारयते देवो भूयश्च बिलवासिनाम् ॥ १४३ ॥

कूर्म, मत्स्य, शङ्ख, नये-नये पल्लवोंके अङ्कुरसे सुशोभित होनेवाले वसंत आदिके रूपोंमें भी वे ही प्रकट होते हैं। वे महादेवजी यक्ष, राक्षस, सर्प, दैत्य, दानव और पाताल-वासियोंका भी रूप धारण करते हैं ॥ १४२-१४३ ॥

व्याघ्रसिंहमृगाणां च तरक्ष्वृक्षपतत्रिणाम्।
उलूकश्वशृगालानां रूपाणि कुरुतेऽपि च ॥ १४४ ॥

वे व्याघ्र, सिंह, मृग, तरक्षु, रीछ, पक्षी, उल्लू, कुत्ते और सियारोंके भी रूप धारण कर लते हैं ॥ १४४ ॥

हंसकाकमयूराणां कृकलासकसारसाम्।
रूपाणि च बलाकानां गृध्रचक्राङ्गयोरपि ॥ १४५ ॥
करोति वा स रूपाणि धारयत्यपि पर्वतम्।
गोरूपं च महादेवो हस्त्यश्वोष्ट्रखराकृतिः ॥ १४६ ॥

हंस, काक, मोर, गिरगिट, सारस, बगले, गीध और चक्राङ्ग (हंसविशेष) के भी रूप वे महादेवजी धारण करते हैं। पर्वत, गाय, हाथी, घोड़े, ऊँट और गदहेके आकारमें भी वे प्रकट हो जाते हैं ॥ १४५-१४६ ॥

छागशार्दूलरूपश्च अनेकमृगरूपधृक्।
अण्डजानां च दिव्यानां वपुर्धारयते भवः ॥ १४७ ॥

वे बकरे और शार्दूलके रूपमें भी उपलब्ध होते हैं। नाना प्रकारके मृगों—वन्य पशुओंके भी रूप धारण करते हैं तथा भगवान् शिव दिव्य पक्षियोंके भी रूप धारण कर लेते हैं ॥ १४७ ॥

दण्डी छत्री च कुण्डी च द्विजानां धारणस्तथा।
षण्मुखो वै बहुमुखस्त्रिनेत्रो बहुशीर्षकः ॥ १४८ ॥

वे द्विजोंके चिह्न दण्ड, छत्र और कुण्ड (कमण्डलु) धारण करते हैं। कभी छः मुख और कभी बहुत-से मुखवाले हो जाते हैं। कभी तीन नेत्र धारण करते हैं। कभी बहुत-से मस्तक बना लेते हैं ॥ १४८ ॥

अनेककटिपादश्च अनेकोदरवक्त्रधृक्।
अनेकपाणिपार्श्वश्च अनेकगणसंवृतः ॥ १४९ ॥

उनके पैर और कटिभाग अनेक हैं। वे बहुसंख्यक पेट और मुख धारण करते हैं। उनके हाथ और पार्श्वभाग भी अनेकानेक हैं। अनेक पार्षदगण उन्हें सब ओरसे घेरे रहते हैं ॥ १४९ ॥

ऋषिगन्धर्वरूपश्च सिद्धचारणरूपधृक् ।
भस्मपाण्डुरगात्रश्च चन्द्रार्धकृतभूषणः ॥१५०॥

वे ऋषि और गन्धर्वरूप हैं। सिद्ध और चारणोंके भी रूप धारण करते हैं। उनका सारा शरीर भस्म रमाये रहनेसे सफेद जान पड़ता है। वे ललाटमें अर्द्धचन्द्रका आभूषण धारण करते हैं ॥ १५० ॥

अनेकरावसंघुष्टश्चानेकस्तुतिसंस्कृतः ।
सर्वभूतान्तकः सर्वः सर्वलोकप्रतिष्ठितः ॥१५१॥

उनके पास अनेक प्रकारके शब्दोंका घोष होता रहता है। वे अनेक प्रकारकी स्तुतियोंसे सम्मानित होते हैं, समस्त प्राणियोंका संहार करते हैं, स्वयं सर्वस्वरूप हैं तथा सबके अन्तरात्मारूपसे सम्पूर्ण लोकोंमें प्रतिष्ठित हैं ॥ १५१ ॥

सर्वलोकान्तरात्मा च सर्वगः सर्ववाद्यपि ।
सर्वत्र भगवान् ज्ञेयो हृदिस्थः सर्वदेहिनाम् ॥१५२॥

वे सम्पूर्ण जगत्के अन्तरात्मा, सर्वव्यापी और सर्ववादी हैं, उन भगवान् शिवको सर्वत्र और सम्पूर्ण देहधारियोंके हृदयमें विराजमान जानना चाहिये ॥ १५२ ॥

यो हि यं कामयेत् कामं यस्मिन्नर्थेऽर्च्यते पुनः।
तत् सर्वं वेत्ति देवेशस्तं प्रपद्य यदीच्छसि ॥१५३॥

जो जिस मनोरथको चाहता है और जिस उद्देश्यसे उसके द्वारा भगवान्‌की अर्चना की जाती है, देवेश्वर भगवान् शिव वह सब जानते हैं। इसलिये यदि तुम कोई वस्तु चाहते हो तो उन्हींकी शरण लो ॥१५३ ॥

नन्दते कुप्यते चापि तथा हुंकारयत्यपि ।
चक्री शूली गदापाणिर्मुसली खड्गपट्टिशी ॥१५४॥

वे कभी आनन्दित रहकर आनन्द देते, कभी कुपित होकर कोप प्रकट करते और कभी हुंकार करते हैं, अपने हाथोंमें चक्र, शूल, गदा, मुसल, खड्ग और पट्टिश धारण करते हैं ॥ १५४ ॥

भूधरो नागमौञ्जी च नागकुण्डलकुण्डली ।
नागयज्ञोपवीती च नागचर्मोत्तरच्छदः ॥१५५॥

वे धरणीधर शेषनागरूप हैं। वे नागकी मेखला धारण करते हैं। नागमय कुण्डलसे कुण्डलधारी होते हैं। नागोंका ही यज्ञोपवीत धारण करते हैं तथा नागचर्मका ही उत्तरीय (चादर) लिये रहते हैं ॥ १५५ ॥

हसते गायते चैव नृत्यते च मनोहरम् ।
वादयत्यपि वाद्यानि विचित्राणि गणैर्युतः ॥१५६॥

वे अपने गणोंके साथ रहकर हँसते हैं, गाते हैं, मनोहर नृत्य करते हैं और विचित्र बाजे भी बजाते हैं ॥ १५६ ॥

वल्गते जृम्भते चैव रुदते रोदयत्यपि ।
उन्मत्तमत्तरूपं च भाषते चापि सुस्वरः ॥१५७॥

भगवान् रुद्र उछलते-कूदते हैं। जँभाई लेते हैं। रोते हैं, रुलाते हैं। कभी पागलों और मतवालोंकी तरह बातें करते हैं और कभी मधुर स्वरसे उत्तम वचन बोलते हैं ॥ १५७ ॥

अतीव हसते रौद्रस्त्रासयन् नयनैर्जनम् ।
जागर्ति चैव स्वपिति जृम्भते च यथासुखम् ॥१५८॥

कभी भयंकर रूप धारण करके अपने नेत्रोंद्वारा लोगोंमें त्रास उत्पन्न करते हुए जोर-जोरसे अट्टहास करते, जागते, सोते और मौजसे अँगड़ाई लेते हैं ॥ १५८ ॥

जपते जप्यते चैव तपते तप्यते पुनः ।
ददाति प्रतिगृह्णाति युञ्जते ध्यायतेऽपि च ॥१५९॥

वे जप करते हैं और वे ही जपे जाते हैं; तप करते हैं और तपे जाते हैं (उन्हींके उद्देश्यसे तप किया जाता है)। वे दान देते और दान लेते हैं तथा योग और ध्यान करते हैं ॥

वेदीमध्ये तथा यूपे गोष्ठमध्ये हुताशने ।
दृश्यते दृश्यते चापि बालो वृद्धो युवा तथा ॥१६०॥

यज्ञकी वेदीमें, यूपमें, गोशालामें तथा प्रज्वलित अग्निमें वे ही दिखायी देते हैं। बालक, वृद्ध और तरुणरूपमें भी उनका दर्शन होता है ॥ १६० ॥

क्रीडते ऋषिकन्याभिर्ऋषिपत्नीभिरेव च ।
ऊर्ध्वकेशो महाशेफो नग्नो विकृतलोचनः ॥१६१॥

वे ऋषिकन्याओं तथा मुनिपत्नियोंके साथ खेला करते हैं। कभी ऊर्ध्वकेश (ऊपर उठे हुए बालवाले), कभी महालिङ्ग, कभी नंग-धड़ंग और कभी विकराल नेत्रोंसे युक्त हो जाते हैं ॥ १६१ ॥

गौरः श्यामस्तथा कृष्णः पाण्डुरो धूमलोहितः।
विकृताक्षो विशालाक्षो दिग्वासाः सर्ववासकः ॥१६२॥

कभी गोरे, कभी साँवले, कभी काले, कभी सफेद, कभी धूएँके समान रंगवाले एवं लोहित दिखायी देते हैं। कभी विकृत नेत्रोंसे युक्त होते हैं। कभी सुन्दर विशाल नेत्रोंसे सुशोभित होते हैं। कभी दिगम्बर दिखायी देते हैं और कभी सब प्रकारके वस्त्रोंसे विभूषित होते हैं ॥ १६२ ॥

अरूपस्याद्यरूपस्य अतिरूपाद्यरूपिणः।
अनाद्यन्तमजस्यान्तं वेत्स्यते कोऽस्य तत्त्वतः ॥१६३॥

वे रूपरहित हैं। उनका स्वरूप ही सबका आदिकारण है। वे रूपसे अतीत हैं। सबसे पहले जिसकी सृष्टि हुई है, जल उन्हींका रूप है। इन अजन्मा महादेवजीका स्वरूप आदि-अन्तसे रहित है। उसे कौन ठीक-ठीक जान सकता है॥

हृदि प्राणो मनो जीवो योगात्मा योगसंज्ञितः ।
ध्यानं तत्परमात्मा च भावग्राह्यो महेश्वरः ॥१६४॥

भगवान् शङ्कर प्राणियोंके हृदयमें प्राण, मन एवं जीवात्मारूपसे विराजमान हैं। वे ही योगस्वरूप, योगी, ध्यान तथा परमात्मा हैं। भगवान् महेश्वर भक्तिभावसे ही गृहीत होते हैं ॥ १६४ ॥

वादको गायनश्चैव सहस्रशतलोचनः ।
एकवक्त्रो द्विवक्त्रश्च त्रिवक्त्रोऽनेकवक्त्रकः ॥१६५॥

वे बाजा बजानेवाले और गीत गानेवाले हैं। उनके लाखों नेत्र हैं। वे एकमुख, द्विमुख, त्रिमुख और अनेक मुखवाले हैं ॥ १६५ ॥

तद्भक्तस्तद्गतो नित्यं तन्निष्ठस्तत्परायणः।
भज पुत्र महादेवं ततः प्राप्स्यसि चेप्सितम् ॥१६६॥

बेटा ! तुम उन्हींके भक्त बनकर उन्हींमें आसक्त रहो। सदा उन्हींपर निर्भर रहो और उन्हींके शरणागत होकर महादेवजीका निरन्तर भजन करते रहो। इससे तुम्हें मनोवाञ्छित वस्तुकी प्राप्ति होगी ॥ १६६ ॥

जनन्यास्तद् वचः श्रुत्वा तदाप्रभृति शत्रुहन्।
मम भक्तिर्महादेवे नैष्ठिकी समपद्यत ॥१६७॥

शत्रुसूदन श्रीकृष्ण ! माताका वह उपदेश सुनकर तभीसे महादेवजीके प्रति मेरी सुदृढ़ भक्ति हो गयी ॥ १६७ ॥

ततोऽहं तप आस्थाय तोषयामास शङ्करम्।
एकं वर्षसहस्रं तु वामाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितः ॥१६८॥

तदनन्तर मैंने तपस्याका आश्रय ले भगवान् शङ्करको संतुष्ट किया। एक हजार वर्षतक केवल बायें पैरके अँगूठेके अग्रभागके बलपर मैं खड़ा रहा ॥ १६८ ॥

एकं वर्षशतं चैव फलाहारस्ततोऽभवम्।
द्वितीयं शीर्णपर्णाशी तृतीयं चाम्बुभोजनः ॥१६९॥

पहले तो एक सौ वर्षोंतक मैं फलाहारी रहा। दूसरे शतकमें गिरे-पड़े सूखे पत्ते चबाकर रहा और तीसरे शतकमें केवल जल पीकर ही प्राण धारण करता रहा ॥ १६९ ॥

शतानि सप्त चैवाहं वायुभक्षस्तदाभवम्।
एकं वर्षसहस्रं तु दिव्यमाराधितो मया ॥१७०॥

फिर शेष सात सौ वर्षोंतक केवल हवा पीकर रहा। इस प्रकार मैंने एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक उनकी आराधना की॥

ततस्तुष्टो महादेवः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः।
एकभक्त इति ज्ञात्वा जिज्ञासां कुरुते तदा ॥१७१॥

तदनन्तर सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी भगवान् महादेव मुझे अपना अनन्यभक्त जानकर संतुष्ट हुए और मेरी परीक्षा लेने लगे ॥ १७१ ॥

शक्ररूपं स कृत्वा तु सर्वैर्देवगणैर्वृतः।
सहस्राक्षस्तदा भूत्वा वज्रपाणिर्महायशाः ॥१७२॥

उन्होंने सम्पूर्ण देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रका रूप धारण करके पदार्पण किया। उस समय उनके सहस्र नेत्र शोभा पा रहे थे। उन महायशस्वी इन्द्रके हाथमें वज्र प्रकाशित हो रहा था ॥ १७२ ॥

सुधावदातं रक्ताक्षं स्तब्धकर्णं मदोत्कटम्।
आवेष्टितकरं घोरं चतुर्दंष्ट्रं महागजम् ॥१७३॥
समास्थितः स भगवान् दीप्यमानः स्वतेजसा।
आजगाम किरीटी तु हारकेयूरभूषितः ॥१७४॥

वे भगवान् इन्द्र लाल नेत्र और खड़े कानवाले, सुधाके समान उज्ज्वल, मुड़ी हुई सूँड़से सुशोभित, चार दाँतोंसे युक्त और देखनेमें भयंकर मदसे उन्मत्त महान् गजराज ऐरावतकी पीठपर बैठकर अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए वहाँ पधारे। उनके मस्तकपर मुकुट, गलेमें हार और भुजाओंमें केयूर शोभा दे रहे थे ॥ १७३-१७४ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
सेव्यमानोऽप्सरोभिश्च दिव्यगन्धर्वनादितैः ॥१७५॥

सिरपर श्वेत छत्र तना हुआ था। अप्सराएँ उनकी सेवा कर रही थीं और दिव्य गन्धर्वोंके संगीतकी मनोरम ध्वनि वहाँ सब ओर गूँज रही थी ॥ १७५ ॥

ततो मामाह देवेन्द्रस्तुष्टस्तेऽहं द्विजोत्तम।
वरं वृणीष्व मत्तस्त्वं यत् ते मनसि वर्तते ॥१७६॥
शक्रस्य तु वचः श्रुत्वा नाहं प्रीतमनाभवम्।
अब्रुवंश्च तदा हृष्टो देवराजमिदं वचः ॥१७७॥

उस समय देवराज इन्द्रने मुझसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ। तुम्हारे मनमें जो वर लेनेकी इच्छा हो, वही मुझसे माँग लो।' इन्द्रकी बात सुनकर मेरा मन प्रसन्न नहीं हुआ। मैंने ऊपरसे हर्ष प्रकट करते हुए देवराजसे यह कहा—॥ १७६-१७७ ॥

नाहं त्वत्तो वरं काङ्क्षे नान्यस्मादपि दैवतात्।
महादेवादृते सौम्य सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥१७८॥

'सौम्य ! मैं महादेवजीके सिवा तुमसे या दूसरे किसी देवतासे वर लेना नहीं चाहता। यह मैं सच्ची बात कहता हूँ

सत्यं सत्यं हि नः शक्र वाक्यमेतत् सुनिश्चितम्।
न यन्महेश्वरं मुक्त्वा कथान्या मम रोचते ॥१७९॥

'इन्द्र ! हमारा यह कथन सत्य है, सत्य है और सुनिश्चित है। मुझे महादेवजीको छोड़कर और कोई बात अच्छी ही नहीं लगती है ॥ १७९ ॥

पशुपतिवचनाद् भवामि सद्यः
कृमिरथवा तरुरप्यनेकशाखः।
अपशुपतिवरप्रसादजा मे
त्रिभुवनराज्यविभूतिरप्यनिष्टा ॥१८०॥

'मैं भगवान् पशुपतिके कहनेसे तत्काल प्रसन्नतापूर्वक कीट अथवा अनेक शाखाओंसे युक्त वृक्ष भी हो सकता हूँ; परंतु भगवान् शिवसे भिन्न दूसरे किसीके वर-प्रसादसे मुझे त्रिभुवनका राज्यवैभव प्राप्त हो रहा हो तो वह भी अभीष्ट नहीं है ॥ १८० ॥

जन्म श्वपाकमध्येऽपि
मेऽस्तु हरचरणवन्दनरतस्य।
मा वानीश्वरभक्तो
भवानि भवनेऽपि शक्रस्य ॥१८१॥

'यदि मुझे भगवान् शङ्करके चरणारविन्दोंकी वन्दनामें तत्पर रहनेका अवसर मिले तो मेरा जन्म चाण्डालोंमें भी

हो जाय तो यह मुझे सहर्ष स्वीकार है। परंतु भगवान् शिवकी अनन्यभक्तिसे रहित होकर मैं इन्द्रके भवनमें भी स्थान पाना नहीं चाहता ॥ १८१ ॥

वाय्वम्बुभुजोऽपि सतो
नरस्य दुःखक्षयः कुतस्तस्य।
भवति हि सुरासुरगुरौ
यस्य न विश्वेश्वरे भक्तिः ॥१८२॥

'कोई जल या हवा पीकर ही रहनेवाला क्यों न हो, जिसकी सुरासुरगुरु भगवान् विश्वनाथमें भक्ति न हो, उसके दुःखोंका नाश कैसे हो सकता है ? ॥ १८२ ॥

अलमन्याभिस्तेषां
कथाभिरप्यन्यधर्मयुक्ताभिः।
येषां न क्षणमपि रुचितो
हरचरणस्मरणविच्छेदः ॥१८३॥

'जिन्हें क्षणभरके लिये भी भगवान् शिवके चरणारविन्दोंके स्मरणका वियोग अच्छा नहीं लगता, उन पुरुषोंके लिये अन्यान्य धर्मोंसे युक्त दूसरी-दूसरी सारी कथाएँ व्यर्थ हैं ॥

हरचरणनिरतमतिना
भवितव्यमनार्जवं युगं प्राप्य।
संसारभयं न भवति
हरभक्तिरसायनं पीत्वा ॥१८४॥

'कुटिल कलिकालको पाकर सभी पुरुषोंको अपना मन भगवान् शङ्करके चरणारविन्दोंके चिन्तनमें लगा देना चाहिये। शिव-भक्तिरूपी रसायनके पी लेनेपर संसाररूपी रोगका भय नहीं रह जाता है ॥ १८४ ॥

दिवसं दिवसार्धं वा मुहूर्तं वा क्षणं लवम्।
न ह्यलब्धप्रसादस्य भक्तिर्भवति शङ्करे ॥१८५॥

'जिसपर भगवान् शिवकी कृपा नहीं है, उस मनुष्यकी एक दिन, आधे दिन, एक मुहूर्त, एक क्षण या एक लवके लिये भी भगवान् शङ्करमें भक्ति नहीं होती है ॥ १८५ ॥

अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शङ्कराज्ञया।
न तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये ॥१८६॥

श्वापि महेश्वरवचनाद्
भवामि स हि नः परः कामः।
त्रिदशगणराज्यमपि खलु
नेच्छाम्यमहेश्वराज्ञप्तम् ॥१८७॥

'शक्र ! मैं भगवान् शङ्करकी आज्ञासे कीट या पतंग भी हो सकता हूँ, परंतु तुम्हारा दिया हुआ त्रिलोकीका राज्य भी नहीं लेना चाहता। महेश्वरके कहनेसे यदि मैं कुत्ता भी हो जाऊँ तो उसे मैं सर्वोत्तम मनोरथकी पूर्ति समझूँगा; परंतु महादेवजीके सिवा दूसरे किसीसे प्राप्त हुए देवताओंके राज्यको लेनेकी भी मुझे इच्छा नहीं है ॥ १८६-१८७ ॥

न नाकपृष्ठं न च देवराज्यं
न ब्रह्मलोकं न च निष्कलत्वम्।
न सर्वकामानखिलान् वृणोमि
हरस्य दासत्वमहं वृणोमि ॥१८८॥

'न तो मैं स्वर्गलोक चाहता हूँ, न देवताओंका राज्य पानेकी अभिलाषा रखता हूँ। न ब्रह्मलोककी इच्छा करता हूँ और न निर्गुण ब्रह्मका सायुज्य ही प्राप्त करना चाहता हूँ। भूमण्डलकी समस्त कामनाओंको भी पानेकी मेरी इच्छा नहीं है। मैं तो केवल भगवान् शिवकी दासताका ही वरण करता हूँ ॥ १८८ ॥

यावच्छशाङ्कधवलामलबद्धमौलि-
र्न प्रीयते पशुपतिर्भगवान् ममेशः।
तावज्जरामरणजन्मशताभिघातै-
र्दुःखानि देहविहितानि समुद्वहामि ॥

'जिनके मस्तकपर अर्द्धचन्द्रमय उज्ज्वल एवं निर्मल मुकुट बँधा हुआ है, वे मेरे स्वामी भगवान् पशुपति जबतक प्रसन्न नहीं होते हैं, तबतक मैं जरा-मृत्यु और जन्मके सैकड़ों आघातोंसे प्राप्त होनेवाले दैहिक दुःखोंका भार ढोता रहूँगा ॥१८९॥

दिवसकरशशाङ्कवह्निदीप्तं
त्रिभुवनसारमसारमाद्यमेकम्।
अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं
जगति पुमानिह को लभते शान्तिम् ॥१९०॥

'जो अपने नेत्रभूत सूर्य, चन्द्रमा और अग्निकी प्रभासे उद्भासित होते हैं, त्रिभुवनके साररूप हैं, जिनसे बढ़कर सारतत्त्व दूसरा नहीं है, जो जगत्के आदिकारण, अद्वितीय तथा अजर-अमर हैं, उन भगवान् रुद्रको भक्तिभावसे प्रसन्न किये बिना कौन पुरुष इस संसारमें शान्ति पा सकता है ॥ १९० ॥

यदि नाम जन्म भूयो
भवति मदीयैः पुनर्दोषैः।
तस्मिंस्तस्मिञ्जन्मनि
भवे भवेन्मेऽक्षया भक्तिः ॥१९१॥

'यदि मेरे दोषोंसे मुझे बारंबार इस जगत्में जन्म लेना पड़े तो मेरी यही इच्छा है कि उस-उस प्रत्येक जन्ममें भगवान् शिवमें मेरी अक्षय भक्ति हो' ॥ १९१ ॥

शक्र उवाच

कः पुनर्भवने हेतुरीशे कारणकारणे।
येन शर्वादृतेऽन्यस्मात् प्रसादं नाभिकाङ्क्षसि ॥१९२॥

इन्द्रने पूछा—ब्रह्मन् ! कारणके भी कारण जगदीश्वर शिवकी सत्तामें क्या प्रमाण है, जिससे तुम शिवके अतिरिक्त दूसरे किसी देवताका कृपा-प्रसाद ग्रहण करना नहीं चाहते ?॥

उपमन्युरुवाच

सदसद् व्यक्तमव्यक्तं यमाहुर्ब्रह्मवादिनः।
नित्यमेकमनेकं च वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९३॥

उपमन्युने कहा—देवराज ! ब्रह्मवादी महात्मा जिन्हें विभिन्न मतोंके अनुसार सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त, नित्य, एक और अनेक कहते हैं, उन्हीं महादेवजीसे हम वर माँगेंगे ॥१९३॥

अनादिमध्यपर्यन्तं ज्ञानैश्वर्यमचिन्तितम् ।
आत्मानं परमं यस्माद् वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९४॥

जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, ज्ञान ही जिनका ऐश्वर्य है तथा जो चित्तकी चिन्तनशक्तिसे भी परे हैं और इन्हीं कारणोंसे जिन्हें परमात्मा कहा जाता है, उन्हीं महादेवजी-से हम वर प्राप्त करेंगे ॥ १९४ ॥

ऐश्वर्यं सकलं यस्मादनुत्पादितमव्ययम् ।
अबीजाद् बीजसम्भूतं वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९५॥

योगीलोग महादेवजीके समस्त ऐश्वर्यको ही नित्य सिद्ध और अविनाशी बताते हैं । वे कारणरहित हैं और उन्हींसे समस्त कारणोंकी उत्पत्ति हुई है । अतः महादेवजीकी ऐसी महिमा है, इसलिये हम उन्हींसे वर माँगते हैं ॥ १९५ ॥

तमसः परमं ज्योतिस्तपस्तद्वृत्तिनां परम् ।
यं ज्ञात्वा नानुशोचन्ति वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९६॥

जो अज्ञानान्धकारसे परे चिन्मय परमज्योतिःस्वरूप हैं, तपस्वीजनोंके परम तप हैं तथा जिनका ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी पुरुष कभी शोक नहीं करते हैं, उन्हीं भगवान् शिवसे हम वर प्राप्त करना चाहते हैं ॥ १९६ ॥

भूतभावनभावज्ञं सर्वभूताभिभावनम् ।
सर्वगं सर्वदं देवं पूजयामि पुरन्दर ॥ १९७॥

पुरंदर ! जो सम्पूर्ण भूतोंके उत्पादक तथा उनके मनोभावोंको जाननेवाले हैं, समस्त प्राणियोंके पराभव (विलय) के भी जो एकमात्र स्थान हैं तथा जो सर्वव्यापी और सब कुछ देनेमें समर्थ हैं, उन्हीं महादेवजीकी मैं पूजा करता हूँ ।१९७।

हेतुवादैर्विनिर्मुक्तं सांख्ययोगार्थदं परम् ।
यमुपासन्ति तत्त्वज्ञा वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९८॥

जो युक्तिवादसे दूर हैं, जो अपने भक्तोंको सांख्य और योगका परम प्रयोजन (आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति और ब्रह्म-साक्षात्कार) प्रदान करनेवाले हैं, तत्त्वज्ञ पुरुष जिनकी सदा उपासना करते हैं, उन्हीं महादेवजीसे हम वरके लिये प्रार्थना करते हैं ॥ १९८ ॥

मघवन् मघवात्मानं यं वदन्ति सुरेश्वरम् ।
सर्वभूतगुरुं देवं वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९९॥

मघवन् ! ज्ञानी पुरुष जिन्हें देवेश्वर इन्द्ररूप तथा सम्पूर्ण-भूतोंके गुरुदेव बताते हैं, उन्हींसे हम वर लेना चाहते हैं ।१९९।

यः पूर्वमसृजद् देवं ब्रह्माणं लोकभावनम् ।
अण्डमाकाशमापूर्य वरं तस्माद् वृणीमहे ॥२००॥

जिन्होंने पूर्वकालमें आकाशव्यापी ब्रह्माण्ड एवं लोकस्रष्टा देवेश्वर ब्रह्माको उत्पन्न किया, उन्हीं महादेवजीसे हम वर प्राप्त करना चाहते हैं ॥ २०० ॥

अग्निरापोऽनिलः पृथ्वी खं बुद्धिश्च मनो महान् ।
स्रष्टा चैषां भवेद् योऽन्यो ब्रूहि कः परमेश्वरात्॥२०१॥

देवराज ! जो अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इन सबका स्रष्टा हो, वह परमेश्वरसे भिन्न दूसरा कौन पुरुष है ? यह बताओ ॥ २०१ ॥

मनो मतिरहंकारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
ब्रूहि चैषां भवेच्छक्र कोऽन्योऽस्ति परमं शिवात्॥२०२॥

शक्र ! जो मन, बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा और दस इन्द्रिय—इन सबकी सृष्टि कर सके, ऐसा कौन पुरुष है, जो भगवान् शिवसे भिन्न अथवा उत्कृष्ट हो ? यह बताओ।२०२।

स्रष्टारं भुवनस्येह वदन्तीह पितामहम् ।
आराध्य स तु देवेशमश्नुते महतीं श्रियम् ॥२०३॥

ज्ञानी महात्मा ब्रह्माजीको ही सम्पूर्ण विश्वका स्रष्टा बताते हैं । परंतु वे देवेश्वर महादेवजीकी आराधना करके ही महान् ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं ॥ २०३ ॥

भगवत्युत्तमैश्वर्यं ब्रह्मविष्णुपुरोगमम् ।
विद्यते वै महादेवाद् ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥२०४॥

जिस भगवान्‌में ब्रह्मा और विष्णुसे भी उत्तम ऐश्वर्य है, वह परमेश्वर महादेवके सिवा दूसरा कौन है ? यह बताओ तो सही ॥ २०४ ॥

दैत्यदानवमुख्यानामाधिपत्यारिमर्दनात् ।
कोऽन्यः शक्नोति देवेशाद् दितेः सम्पादितुं सुतान् ॥

दैत्यों और दानवोंके प्रमुख वीर हिरण्यकशिपु आदिमें जो तीनों लोकोंपर आधिपत्य स्थापित करने और अपने शत्रुओंको कुचल देनेकी शक्ति सुनी गयी है, उसपर दृष्टिपात करके मैं यह पूछ रहा हूँ कि देवेश्वर महादेवके सिवा दूसरा कौन ऐसा है जो दितिके पुत्रोंको इस प्रकार अनुपम ऐश्वर्यसे सम्पन्न कर सके ? ॥ २०५ ॥

दिक्कालसूर्यतेजांसि ग्रहवाय्विन्दुतारकाः ।
विद्धि त्वेते महादेवाद् ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥२०६॥

दिशा, काल, सूर्य, अग्नि, अन्य ग्रह, वायु, चन्द्रमा और नक्षत्र—ये महादेवजीकी कृपासे ही ऐसे प्रभावशाली हुए हैं । इस बातको तुम जानते हो, अतः तुम्हीं बताओ, परमेश्वर महादेवजीके सिवा दूसरा कौन ऐसी अचिन्त्य शक्तिसे सम्पन्न है ? ॥ २०६ ॥

अथोत्पत्तिविनाशे वा यज्ञस्य त्रिपुरस्य वा ।
दैत्यदानवमुख्यानामाधिपत्यारिमर्दनः ॥२०७॥

यज्ञकी उत्पत्ति और त्रिपुरका विनाश भी उन्हींके द्वारा सम्पन्न हुआ है । प्रधान-प्रधान दैत्यों और दानवोंको आधिपत्य प्रदान करने और शत्रुमर्दनकी शक्ति देनेवाले भी वे ही हैं ॥

किं चात्र बहुभिः सूक्तैर्हेतुवादैः पुरंदर ।
सहस्रनयनं दृष्ट्वा त्वामेव सुरसत्तम ॥२०८॥
पूजितं सिद्धगन्धर्वैर्देवैश्च ऋषिभिस्तथा ।
देवदेवप्रसादेन तत् सर्वं कुशिकोत्तम ॥२०९॥

सुरश्रेष्ठ पुरंदर ! कौशिकवंशावतंस इन्द्र ! यहाँ बहुत-सी युक्तियुक्त सूक्तियोंको सुनानेसे क्या लाभ ? आप जो सहस्र

ङ्गोंसे सुशोभित हैं तथा आपको देखकर सिद्ध, गन्धर्व, देवता और ऋषि जो सम्मान प्रदर्शित करते हैं, वह सब देवाधिदेव महादेवके प्रसादसे ही सम्भव हुआ है ॥ २०८-२०९ ॥

अव्यक्तमुक्तकेशाय सर्वगस्येदमात्मकम् ।
चेतनाचेतनाद्येषु शक्र विद्धि महेश्वरात् ॥२१०॥

इन्द्र ! चेतन और अचेतन आदि समस्त पदार्थोंमें 'यह ऐसा है' इस प्रकारका जो लक्षण देखा जाता है, वह सब अव्यक्त, मुक्तकेश एवं सर्वव्यापी महादेवजीके ही प्रभावसे प्रकट है; अतएव सब कुछ महेश्वरसे ही उत्पन्न हुआ है—ऐसा समझो ॥ २१० ॥

भुवाद्येषु महान्तेषु लोकालोकान्तरेषु च ।
द्वीपस्थानेषु मेरोश्च विभवेष्वन्तरेषु च ॥२११॥
भगवन् मघवन् देवं वदन्ते तत्त्वदर्शिनः ।

भगवान् देवराज ! भूलोकसे लेकर महर्लोकतक समस्त लोक-लोकान्तरोंमें, पर्वतके मध्यभागमें, सम्पूर्ण द्वीपस्थानोंमें, मेरुपर्वतके वैभवपूर्ण प्रान्तोंमें सर्वत्र ही तत्त्वदर्शी पुरुष महादेवजीकी स्थिति बताते हैं ॥ २११½ ॥

यदि देवाः सुराः शक्र पश्यन्त्यन्यां भवाद् गतिम् ॥२१२॥
किं न गच्छन्ति शरणं मर्दिताश्चासुरैः सुराः ।

शक्र ! यदि तेजस्वी देवगण महादेवजीके सिवा दूसरा कोई सहारा देखते हैं तो असुरोंद्वारा कुचले जानेपर वे उसीकी शरणमें क्यों नहीं जाते हैं ? ॥ २१२½ ॥

अभिघातेषु देवानां सयक्षोरगरक्षसाम् ॥२१३॥
परस्परविनाशेषु स्वस्थानैश्वर्यदो भवः ।

देवता, यक्ष, नाग और राक्षस—इनमें जब संघर्ष होता और परस्पर एक-दूसरेसे विनाशका अवसर उपस्थित होता है, तब उन्हें अपने स्थान और ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाले भगवान् शिव ही हैं ॥ २१३½ ॥

अन्धकस्याथ शुक्रस्य दुन्दुभेर्महिषस्य च ॥२१४॥
यक्षेन्द्रबलरक्षःसु निवातकवचेषु च ।
वरदानावघाताय ब्रूहि कोऽन्यो महेश्वरात् ॥२१५॥

बताओ तो सही, अन्धकको, शुक्रको, दुन्दुभिको, महिषको, यक्षराज कुबेरकी सेनाके राक्षसोंको तथा निवातकवच नामक दानवोंको वरदान देने और उनका विनाश करनेमें भगवान् महेश्वरको छोड़कर दूसरा कौन समर्थ है ? ।२१४-२१५।

सुरासुरगुरोर्वक्त्रे कस्य रेतः पुरा हुतम् ।
कस्य वान्यस्य रेतस्तद् येन हैमो गिरिः कृतः ॥२१६॥

पूर्वकालमें महादेवजीके सिवा दूसरे किस देवताके वीर्यकी देवासुरगुरु अग्निके मुखमें आहुति दी गयी थी ? जिसके द्वारा सुवर्णमय मेरुगिरिका निर्माण हुआ, वह भगवान् शिवके सिवा और किस देवताका वीर्य था ? ॥ २१६ ॥

दिग्वासाः कीर्त्यते कोऽन्यो लोके कश्चोर्ध्वरेतसः ।
कस्य चार्धे स्थिता कान्ता अनङ्गः केन निर्जितः ॥२१७॥

दूसरा कौन दिगम्बर कहलाता है ? संसारमें दूसरा कौन ऊर्ध्वरेता है ? किसके आधे शरीरमें धर्मपत्नी स्थित रहती है तथा किसने कामदेवको परास्त किया है ? ॥ २१७ ॥

ब्रूहीन्द्र परमं स्थानं कस्य देवैः प्रशस्यते ।
श्मशाने कस्य क्रीडार्थं नृत्ते वा कोऽभिभाष्यते ॥२१८॥

इन्द्र ! बताओ तो सही, किसके उत्कृष्ट स्थानकी देवताओंद्वारा प्रशंसा की जाती है ? किसकी क्रीड़ाके लिये श्मशान-भूमिमें स्थान नियत किया गया है ? तथा ताण्डव-नृत्यमें कौन सर्वोपरि बताया जाता है ॥ २१८ ॥

कस्यैश्वर्यं समानं च भूतैः को वापि क्रीडते ।
कस्य तुल्यबला देव गणाश्चैश्वर्यदर्पिताः ॥२१९॥

भगवान् शङ्करके समान दूसरे किसका ऐश्वर्य है ? कौन भूतोंके साथ क्रीड़ा करता है ? देव ! किसके पार्षदगण स्वामीके समान ही बलवान् और ऐश्वर्य पर अभिमान करनेवाले हैं ? ॥

घुष्यते ह्यचलं स्थानं कस्य त्रैलोक्यपूजितम् ।
वर्षते तपते कोऽन्यो ज्वलते तेजसा च कः ॥२२०॥

किसका स्थान तीनों लोकोंमें पूजित और अविचल बताया जाता है। भगवान् शङ्करके सिवा दूसरा कौन वर्षा करता है ? कौन तपता है ? और कौन अपने तेजसे प्रज्वलित होता है ? ॥

कस्मादोषधिसम्पत्तिः को वा धारयते वसु ।
प्रकामं क्रीडते को वा त्रैलोक्ये सचराचरे ॥२२१॥

किससे ओषधियाँ—खेती-बारी या शस्य-सम्पत्ति बढ़ती है ? कौन धनका धारण-पोषण करता है ? कौन चराचर प्राणियोंसहित त्रिलोकीमें इच्छानुसार क्रीड़ा करता है ? ।२२१।

ज्ञानसिद्धिक्रियायोगैः सेव्यमानश्च योगिभिः ।
ऋषिगन्धर्वसिद्धैश्च विहितं कारणं परम् ॥२२२॥

योगीजन ज्ञान, सिद्धि और क्रिया-योगद्वारा भगवान् शिवकी ही सेवा करते हैं तथा ऋषि, गन्धर्व और सिद्धगण उन्हें ही परम कारण मानकर उनका आश्रय लेते हैं ॥२२२॥

कर्मयज्ञक्रियायोगैः सेव्यमानः सुरासुरैः ।
नित्यं कर्मफलैर्हीनं तमहं कारणं वदे ॥२२३॥

देवता और असुर सब लोग कर्म, यज्ञ और क्रियायोग-द्वारा सदा जिनकी सेवा करते हैं, उन कर्मफलरहित महादेवजीको मैं सबका कारण कहता हूँ ॥ २२३ ॥

स्थूलं सूक्ष्ममनौपम्यमग्राह्यं गुणगोचरम् ।
गुणहीनं गुणाध्यक्षं परं माहेश्वरं पदम् ॥२२४॥

महादेवजीका परमपद स्थूल, सूक्ष्म, उपमारहित, इन्द्रियों-द्वारा अग्राह्य, सगुण, निर्गुण तथा गुणोंका नियामक है ।२२४।

विश्वेशं कारणगुरुं लोकालोकान्तकारणम् ।
भूताभूतभविष्यच्च जनकं सर्वकारणम् ॥२२५॥
अक्षराक्षरमव्यक्तं विद्याविद्ये कृताकृते ।
धर्माधर्मौ यतः शक्र तमहं कारणं ब्रुवे ॥२२६॥

इन्द्र ! जो सम्पूर्ण विश्वके अधीश्वर, प्रकृतिके भी नियामक,

लोक (जगत्‌की सृष्टि) तथा सम्पूर्ण लोकोंके संहारके भी कारण हैं, भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों काल जिनके ही स्वरूप हैं, जो सबके उत्पादक एवं कारण हैं, क्षर-अक्षर, अव्यक्त, विद्या-अविद्या, कृत-अकृत तथा धर्म और अधर्म जिनसे ही प्रकट हुए हैं, उन महादेवजीको ही मैं सबका परम कारण बताता हूँ ॥ २२५-२२६ ॥

प्रत्यक्षमिह देवेन्द्र पश्य लिङ्गं भगाङ्कितम् ।
देवदेवेन रुद्रेण सृष्टिसंहारहेतुना ॥२२७॥

देवेन्द्र ! सृष्टि और संहारके कारणभूत देवाधिदेव भगवान् रुद्रने जो भग-चिह्नित लिङ्गमूर्ति धारण की है, उसे आप यहाँ प्रत्यक्ष देख लें । यह उनके कारण-स्वरूपका परिचायक है ॥ २२७ ॥

मात्रा पूर्वं ममाख्यातं कारणं लोकलक्षणम् ।
नास्ति चेशात् परं शक्र तं प्रपद्य यदीच्छसि ॥२२८॥

इन्द्र ! मेरी माताने पहले कहा था कि महादेवजीके अतिरिक्त अथवा उनसे बढ़कर कोई लोकरूपी कार्यका कारण नहीं है; अतः यदि किसी अभीष्ट वस्तुके पानेकी तुम्हारी इच्छा हो तो भगवान् शङ्करकी ही शरण लो ॥ २२८ ॥

प्रत्यक्षं ननु ते सुरेश विदितं संयोगलिङ्गोद्भवं
त्रैलोक्यं सविकारनिर्गुण गणं ब्रह्मादिरेतोद्भवम् ।
यद्ब्रह्मेन्द्रहुताशविष्णुसहिता देवाश्च दैत्येश्वरा
नान्यत् कामसहस्रकल्पितधियः शंसन्ति ईशात् परम्॥
तं देवं सचराचरस्य जगतो व्याख्यातवेद्योत्तमं
कामार्थी वरयामि संयतमना मोक्षाय सद्यः शिवम्॥२२९

सुरेश्वर ! तुम्हें प्रत्यक्ष विदित है कि ब्रह्मा आदि प्रजापतियोंके संकल्पसे उत्पन्न हुआ यह बद्ध और मुक्त जीवोंसे युक्त त्रिभुवन भग और लिङ्गसे प्रकट हुआ है तथा सहस्रों कामनाओंसे युक्त बुद्धिवाले तथा ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि एवं विष्णुसहित सम्पूर्ण देवता और दैत्यराज महादेवजीसे बढ़कर दूसरे किसी देवताको नहीं बताते हैं । जो सम्पूर्ण चराचर जगत्‌के लिये वेद-विख्यात सर्वोत्तम जाननेयोग्य तत्त्व हैं, उन्हीं कल्याणमय देव भगवान् शङ्करका कामनापूर्तिके लिये वरण करता हूँ तथा संयतचित्त होकर सद्यःमुक्तिके लिये भी उन्हींसे प्रार्थना करता हूँ ॥ २२९ ॥

हेतुभिर्वा किमन्यैस्तैरीशः कारणकारणम् ।
न शुश्रुम यदन्यस्य लिङ्गमभ्यर्चितं सुरैः ॥२३०॥

दूसरे-दूसरे कारणोंको बतलानेसे क्या लाभ ? भगवान् शङ्कर इसलिये भी समस्त कारणोंके भी कारण सिद्ध होते हैं कि हमने देवताओंद्वारा दूसरे किसीके लिङ्गको पूजित होते नहीं सुना है ॥ २३० ॥

कस्यान्यस्य सुरैः सर्वैर्लिङ्गं मुक्त्वा महेश्वरम् ।
अर्च्यतेऽर्चितपूर्वं वा ब्रूहि यद्यस्ति ते श्रुतिः ॥२३१॥

भगवान् महेश्वरको छोड़कर दूसरे किसके लिङ्गकी सम्पूर्ण देवता पूजा करते हैं अथवा पहले कभी उन्होंने पूजा की है ! यदि तुम्हारे सुननेमें आया हो तो बताओ ॥ २३१ ॥

यस्य ब्रह्मा च विष्णुश्च त्वं चापि सह दैवतैः ।
अर्चयध्वं सदा लिङ्गं तस्माच्छ्रेष्ठतमो हि सः ॥२३२॥

ब्रह्मा, विष्णु तथा सम्पूर्ण देवताओंसहित तुम सदा ही शिवलिङ्गकी पूजा करते आये हो; इसलिये भगवान् शिव ही सबसे श्रेष्ठतम देवता हैं ॥ २३२ ॥

न पद्माङ्का न चक्राङ्का न वज्राङ्का यतः प्रजाः ।
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा ॥२३३॥

प्रजाओंके शरीरमें न तो पद्मका चिह्न है, न चक्रका चिह्न है और न वज्रका ही चिह्न उपलक्षित होता है । सभी प्रजा लिङ्ग और भगके चिह्नसे युक्त हैं, इसलिये यह सिद्ध है कि सम्पूर्ण प्रजा माहेश्वरी है (महादेवजीसे ही उत्पन्न हुई है) ॥ २३३ ॥

देव्याः कारणरूपभावजनिताः
सर्वा भगाङ्काः स्त्रियो
लिंगेनापि हरस्य सर्वपुरुषाः
प्रत्यक्षचिह्नीकृताः ।
योऽन्यत्कारणमीश्वरात् प्रवदते
देव्या च यन्नाङ्कितं
त्रैलोक्ये सचराचरे स तु पुमान्
बाह्यो भवेद् दुर्मतिः ॥२३४॥

देवी पार्वतीके कारणस्वरूप भावसे संसारकी समस्त स्त्रियाँ उत्पन्न हुई हैं; इसलिये भगके चिह्नसे अङ्कित हैं और भगवान् शिवसे उत्पन्न होनेके कारण सभी पुरुष लिङ्गके चिह्नसे चिह्नित हैं—यह सबको प्रत्यक्ष है; ऐसी दशामें जो शिव और पार्वतीके अतिरिक्त अन्य किसीको कारण बताता है, जिससे कि प्रजा चिह्नित नहीं है, वह अन्य कारणवादी दुर्बुद्धि पुरुष चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंसे बाहर कर देने योग्य है ॥ २३४ ॥

पुंलिङ्गं सर्वमीशानं स्त्रीलिङ्गं विद्धि चाप्युमाम् ।
द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत् ॥२३५॥

जितना भी पुँल्लिङ्ग है, वह सब शिवस्वरूप है और जो भी स्त्रीलिङ्ग है उसे उमा समझो । महेश्वर और उमा—इन दो शरीरोंसे ही यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है ॥२३५॥

(दिवसकरशशाङ्कवह्निनेत्रं
त्रिभुवनसारमपारमीशमाद्यम् ।
अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं
जगति पुमानिह को लभेत शान्तिम् ॥)

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि जिनके नेत्र हैं, जो त्रिभुवनके सारतत्त्व, अपार, ईश्वर, सबके आदिकारण तथा अजर-अमर हैं, उन रुद्रदेवको प्रसन्न किये बिना इस संसारमें कौन पुरुष शान्ति पा सकता है ॥

तस्माद् वरमहं काङ्क्षे निधनं वापि कौशिक ।
गच्छ वा तिष्ठ वा शक्र यथेष्टं बलसूदन ॥२३६॥

अतः कौशिक! मैं भगवान् शङ्करसे ही वर अथवा मृत्यु पानेकी इच्छा रखता हूँ। बलसूदन इन्द्र! तुम जाओ या खड़े रहो, जैसी इच्छा हो करो ॥ २३६ ॥

काममेष वरो मेऽस्तु शापो वाथ महेश्वरात् ।
न चान्यां देवतां काङ्क्षे सर्वकामफलामपि ॥२३७॥

मुझे महेश्वरसे चाहे वर मिले, चाहे शाप प्राप्त हो, स्वीकार है; परंतु दूसरा देवता यदि सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाला हो तो भी मैं उसे नहीं चाहता ॥ २३७ ॥

एवमुक्त्वा तु देवेन्द्रं दुःखादाकुलितेन्द्रियः ।
न प्रसीदति मे देवः किमेतदिति चिन्तयन् ॥२३८॥

देवराज इन्द्रसे ऐसा कहकर मेरी इन्द्रियाँ दुःखसे व्याकुल हो उठीं और मैं सोचने लगा कि यह क्या कारण हो गया कि महादेवजी मुझपर प्रसन्न नहीं हो रहे हैं ॥ २३८ ॥

अथापश्यं क्षणेनैव तमेवैरावतं पुनः ।
हंसकुन्देन्दुसदृशं मृणालरजतप्रभम् ॥२३९॥
वृषरूपधरं साक्षात् क्षीरोदमिव सागरम् ।
कृष्णपुच्छं महाकायं मधुपिङ्गललोचनम् ॥२४०॥

तदनन्तर एक ही क्षणमें मैंने देखा कि वही ऐरावत हाथी अब वृषभरूप धारण करके स्थित है। उसका वर्ण हंस, कुन्द और चन्द्रमाके समान श्वेत है। उसकी अङ्गकान्ति मृणालके समान उज्ज्वल और चाँदीके समान चमकीली है। जान पड़ता था, साक्षात् क्षीरसागर ही वृषभरूप धारण करके खड़ा हो। काली पूँछ, विशाल शरीर और मधुके समान पिङ्गल वर्णवाले नेत्र शोभा पा रहे थे ॥ २३९-२४० ॥

वज्रसारमयैः शृङ्गैर्निष्टप्तकनकप्रभैः ।
सुतीक्ष्णैर्मृदुरक्ताग्रैरुत्किरन्तमिवावनिम् ॥२४१॥

उसके सींग ऐसे जान पड़ते थे मानो वज्रके सारतत्त्वसे बने हों। उनसे तपाये हुए सुवर्णकी-सी प्रभा फैल रही थी। उन सींगोंके अग्रभाग अत्यन्त तीखे, कोमल तथा लाल रंगके थे। ऐसा लगता था मानो उन सींगोंके द्वारा वह इस पृथ्वीको विदीर्ण कर डालेगा ॥ २४१ ॥

जाम्बूनदेन दाम्ना च सर्वतः समलंकृतम् ।
सुवक्त्रखुरनासं च सुकर्णं सुकटीतटम् ॥२४२॥

उसके शरीरको सब ओरसे जाम्बूनद नामक सुवर्णकी लड़ियोंसे सजाया गया था। उसके मुख, खुर, नासिका (नथुने), कान और कटिप्रदेश—सभी बड़े सुन्दर थे ॥

सुपार्श्वं विपुलस्कन्धं सुरूपं चारुदर्शनम् ।
ककुदं तस्य चाभाति स्कन्धमापूर्य धिष्ठितम् ॥२४३॥

उसके अगल-बगलका भाग भी बड़ा मनोहर था। कंधे चौड़े और रूप सुन्दर था। वह देखनेमें बड़ा मनोहर जान पड़ता था। उसका ककुद् समूचे कंधेको घेरकर ऊँचे उठा था। उसकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २४३ ॥

तुषारगिरिकूटाभं सिताभ्रशिखरोपमम् ।
तमास्थितश्च भगवान् देवदेवः सहोमया ॥२४४॥
अशोभत महादेवः पौर्णमास्यामिवोडुराट् ।

हिमालय पर्वतके शिखर अथवा श्वेत बादलोंके विशाल खण्डके समान प्रतीत होनेवाले उस नन्दिकेश्वरपर देवाधिदेव भगवान् महादेव भगवती उमाके साथ आरूढ़ हो पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ २४४½ ॥

तस्य तेजोभवो वह्निः समेघः स्तनयित्नुमान् ॥२४५॥
सहस्रमिव सूर्याणां सर्वमापूर्य धिष्ठितः ।

उनके तेजसे प्रकट हुई अग्निकी-सी प्रभा गर्जना करनेवाले मेघोंसहित सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त करके सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशित हो रही थी ॥ २४५½ ॥

ईश्वरः सुमहातेजाः संवर्तक इवानलः ॥२४६॥
युगान्ते सर्वभूतानां दिधक्षुरिव चोद्यतः ।

वे महातेजस्वी महेश्वर ऐसे दिखायी देते थे, मानो कल्पान्तके समय सम्पूर्ण भूतोंको दग्ध कर देनेकी इच्छासे उद्यत हुई प्रलयकालीन अग्नि प्रज्वलित हो उठी हो ॥२४६½॥

तेजसा तु तदा व्याप्तं दुर्निरीक्ष्यं समन्ततः ॥२४७॥
पुनरुद्विग्नहृदयः किमेतदिति चिन्तयम् ।

वे अपने तेजसे सब ओर व्याप्त हो रहे थे, अतः उनकी ओर देखना कठिन था। तब मैं उद्विग्नचित्त होकर फिर इस चिन्तामें पड़ गया कि यह क्या है? ॥ २४७½ ॥

मुहूर्तमिव तत् तेजो व्याप्य सर्वा दिशो दश ॥२४८॥
प्रशान्तं दिक्षु सर्वासु देवदेवस्य मायया ।

इतनेहीमें एक मुहूर्त बीतते-बीतते वह तेज सम्पूर्ण दिशाओंमें फैलकर देवाधिदेव महादेवजीकी मायासे सब ओर शान्त हो गया ॥ २४८½ ॥

अथापश्यं स्थितं स्थाणुं भगवन्तं महेश्वरम् ॥२४९॥
नीलकण्ठं महात्मानमसक्तं तेजसां निधिम् ।
अष्टादशभुजं स्थाणुं सर्वाभरणभूषितम् ॥२५०॥

तत्पश्चात् मैंने देखा, भगवान् महेश्वर स्थिर भावसे खड़े हैं। उनके कण्ठमें नील चिह्न शोभा पा रहा था। वे महात्मा कहीं भी आसक्त नहीं थे। वे तेजकी निधि जान पड़ते थे। उनके अठारह भुजाएँ थीं। वे भगवान् स्थाणु समस्त आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ २४९-२५० ॥

शुक्लाम्बरधरं देवं शुक्लमाल्यानुलेपनम् ।
शुक्लध्वजमनाधृष्यं शुक्लयज्ञोपवीतिनम् ॥२५१॥

महादेवजीने श्वेत वस्त्र धारण कर रखा था। उनके श्रीअङ्गोंमें श्वेत चन्दनका अनुलेप लगा था। उनकी ध्वजा भी श्वेत वर्णकी ही थी। वे श्वेत रंगका यज्ञोपवीत धारण करनेवाले और अजेय थे ॥ २५१ ॥

गायद्भिर्नृत्यमानैश्च वादयद्भिश्च सर्वशः ।
वृतं पार्श्वचरैर्दिव्यैरात्मतुल्यपराक्रमैः ॥२५२॥

वे अपने ही समान पराक्रमी दिव्य पार्षदोंसे घिरे हुए थे। उनके वे पार्षद सब ओर गाते, नाचते और बाजे बजाते थे॥

बालेन्दुमुकुटं पाण्डुं शरच्चन्द्रमिवोदितम्।
त्रिभिर्नेत्रैः कृतोद्योतं त्रिभिः सूर्यैरिवोदितैः ॥२५३॥

भगवान् शिवके मस्तकपर बाल चन्द्रमाका मुकुट सुशोभित था। उनकी अङ्ग-कान्ति श्वेतवर्णकी थी। वे शरद्-ऋतुके पूर्ण चन्द्रमाके समान उदित हुए थे। उनके तीनों नेत्रोंसे ऐसा प्रकाश-पुञ्ज छा रहा था, मानो तीन सूर्य उदित हुए हों ॥ २५३ ॥

(सर्वविद्याधिपं देवं शरच्चन्द्रसमप्रभम्।
नयनाह्लादसौभाग्यमपश्यं परमेश्वरम् ॥)

जो सम्पूर्ण विद्याओंके अधिपति, शरत्कालके चन्द्रमाकी भाँति कान्तिमान् तथा नेत्रोंके लिये परमानन्ददायक सौभाग्य प्रदान करनेवाले थे। इस प्रकार मैंने परमेश्वर महादेवजीके मनोहर रूपको देखा ॥

अशोभतास्य देवस्य माला गात्रे सितप्रभे।
जातरूपमयैः पद्मैर्ग्रथिता रत्नभूषिता ॥२५४॥

भगवान्‌के उज्ज्वल प्रभावाले गौर विग्रहपर सुवर्णमय कमलोंसे गुँथी हुई रत्नभूषित माला बड़ी शोभा पा रही थी ॥

मूर्तिमन्ति तथास्त्राणि सर्वतेजोमयानि च।
मया दृष्टानि गोविन्द भवस्यामिततेजसः ॥२५५॥

गोविन्द ! मैंने अमित तेजस्वी महादेवजीके सम्पूर्ण तेजोमय आयुधोंको मूर्तिमान् होकर उनकी सेवामें उपस्थित देखा था ॥ २५५ ॥

इन्द्रायुधसवर्णाभं धनुस्तस्य महात्मनः।
पिनाकमिति विख्यातमभवत् पन्नगो महान् ॥२५६॥

उन महात्मा रुद्रदेवका इन्द्रधनुषके समान रंगवाला जो पिनाक नामसे विख्यात धनुष है, वह विशाल सर्पके रूपमें प्रकट हुआ था ॥ २५६ ॥

सप्तशीर्षो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो विषोल्बणः।
ज्यावेष्टितमहाग्रीवः स्थितः पुरुषविग्रहः ॥२५७॥

उसके सात फन थे। उसका डीलडौल भी विशाल था। तीखी दाढ़ें दिखायी देती थीं। वह अपने प्रचण्ड विषके कारण मतवाला हो रहा था। उसकी विशाल ग्रीवा प्रत्यञ्चासे आवेष्टित थी। वह पुरुष-शरीर धारण करके खड़ा था ॥

शरश्च सूर्यसंकाशः कालानलसमद्युतिः।
यत्तदस्त्रं महाघोरं दिव्यं पाशुपतं महत् ॥२५८॥

भगवान्‌का जो बाण था, वह सूर्य और प्रलयकालीन अग्निके समान प्रचण्ड तेजसे प्रकाशित होता था। यही अत्यन्त भयंकर एवं महान् दिव्य पाशुपत अस्त्र था ॥२५८॥

अद्वितीयमनिर्देश्यं सर्वभूतभयावहम्।
सस्फुलिङ्गं महाकायं विसृजन्तमिवानलम् ॥२५९॥

उसकी जोड़का दूसरा अस्त्र नहीं था। समस्त प्राणियोंको भय देनेवाला वह विशालकाय अस्त्र अनिर्वचनीय जान पड़ता था और अपने मुखसे चिनगारियोंसहित अग्निकी वर्षा कर रहा था ॥ २५९ ॥

एकपादं महादंष्ट्रं सहस्रशिरसोदरम्।
सहस्रभुजजिह्वाक्षमुद्गिरन्तमिवानलम् ॥२६०॥

वह भी सर्पके ही आकारमें दृष्टिगोचर होता था। उसके एक पैर, बहुत बड़ी दाढ़ें, सहस्रों सिर, सहस्रों पेट, सहस्रों भुजा, सहस्रों जिह्वा और सहस्रों नेत्र थे। वह आग-सा उगल रहा था ॥ २६० ॥

ब्राह्मान्नारायणाच्चैन्द्रादाग्नेयादपि वारुणात्।
यद् विशिष्टं महाबाहो सर्वशस्त्रविघातनम् ॥२६१॥

महाबाहो ! सम्पूर्ण शस्त्रोंका विनाश करनेवाला वह पाशुपत अस्त्र ब्राह्म, नारायण, ऐन्द्र, आग्नेय और वारुण अस्त्रसे भी बढ़कर शक्तिशाली था ॥ २६१ ॥

येन तत् त्रिपुरं दग्ध्वा क्षणाद् भस्मीकृतं पुरा।
शरेणैकेन गोविन्द महादेवेन लीलया ॥२६२॥

गोविन्द ! उसीके द्वारा महादेवजीने लीलापूर्वक एक ही बाण मारकर क्षणभरमें दैत्योंके तीनों पुरोंको जलाकर भस्म कर दिया था ॥ २६२ ॥

निर्दहेत च यत् कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
महेश्वरभुजोत्सृष्टं निमेषार्धान्न संशयः ॥२६३॥

भगवान् महेश्वरकी भुजाओंसे छूटनेपर वह अस्त्र चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको आधे निमेषमें ही भस्म कर देता है—इसमें संशय नहीं है ॥ २६३ ॥

नावध्यो यस्य लोकेऽस्मिन् ब्रह्मविष्णुसुरेष्वपि।
तदहं दृष्टवांस्तत्र आश्चर्यमिदमुत्तमम् ॥२६४॥
गुह्यमस्त्रवरं नान्यत् तत्तुल्यमधिकं हि वा।

इस लोकमें जिस अस्त्रके लिये ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंमेंसे भी कोई अवध्य नहीं है, उस परम उत्तम आश्चर्यमय पाशुपतास्त्रको मैंने यहाँ प्रत्यक्ष देखा था। वह श्रेष्ठ अस्त्र परम गोपनीय है। उसके समान अथवा उससे बढ़कर भी दूसरा कोई श्रेष्ठ अस्त्र नहीं है ॥ २६४½ ॥

यत् तच्छूलमिति ख्यातं सर्वलोकेषु शूलिनः ॥२६५॥
दारयेद् यां महीं कृत्स्नां शोषयेद् वा महोदधिम्।
संहरेद् वा जगत् कृत्स्नं विसृष्टं शूलपाणिना ॥२६६॥

त्रिशूलधारी भगवान् शङ्करका सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात जो वह त्रिशूल नामक अस्त्र है, वह शूलपाणि शङ्करके द्वारा छोड़े जानेपर इस सारी पृथ्वीको विदीर्ण कर सकता है, महासागरको सुखा सकता है अथवा समस्त संसारका संहार कर सकता है ॥ २६५-२६६ ॥

यौवनाश्वो हतो येन मान्धाता सबलः पुरा।
चक्रवर्ती महातेजास्त्रिलोकविजयी नृपः ॥२६७॥
महाबलो महावीर्यः शक्रतुल्यपराक्रमः।
करस्थेनैव गोविन्द लवणस्येह रक्षसः ॥२६८॥

श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें त्रिलोकविजयी, महातेजस्वी, महाबली, महान् वीर्यशाली, इन्द्रतुल्य पराक्रमी चक्रवर्ती राजा मान्धाता लवणासुरके द्वारा प्रयुक्त हुए उस शूलसे ही सेनासहित नष्ट हो गये थे। अभी वह अस्त्र उस असुरके हाथसे छूटने भी नहीं पाया था कि राजाका सर्वनाश हो गया ! ॥ २६७-२६८ ॥

तच्छूलमतितीक्ष्णाग्रं सुभीमं लोमहर्षणम्।
त्रिशिखां भ्रुकुटिं कृत्वा तर्जमानमिव स्थितम् ॥२६९॥

उस शूलका अग्रभाग अत्यन्त तीक्ष्ण है। वह बहुत ही भयंकर और रोमाञ्चकारी है, मानो वह अपनी भौंहें तीन जगहसे टेढ़ी करके विरोधीको डाँट बता रहा हो, ऐसा जान पड़ता है ॥ २६९ ॥

विधूमं सार्चिषं कृष्णं कालसूर्यमिवोदितम्।
सर्पहस्तमनिर्देश्यं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥२७०॥
दृष्टवानस्मि गोविन्द तदस्त्रं रुद्रसंनिधौ।

गोविन्द ! धूमरहित आगकी ज्वालाओंसहित वह काला त्रिशूल प्रलयकालके सूर्यके समान उदित हुआ था और हाथमें सर्प लिये अवर्णनीय शक्तिशाली पाशधारी यमराजके समान जान पड़ता था। भगवान् रुद्रके निकट मैंने उसका भी दर्शन किया था ॥ २७०½ ॥

परशुस्तीक्ष्णधारश्च दत्तो रामस्य यः पुरा ॥२७१॥
महादेवेन तुष्टेन क्षत्रियाणां क्षयंकरः।
कार्तवीर्यो हतो येन चक्रवर्ती महामृधे ॥२७२॥

पूर्वकालमें महादेवजीने संतुष्ट होकर परशुरामको जिसका दान किया था और जिसके द्वारा महासमरमें चक्रवर्ती राजा कार्तवीर्य अर्जुन मारा गया था, क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला वह तीखी धारसे युक्त परशु मुझे भगवान् रुद्रके निकट दिखायी दिया था ॥ २७१-२७२ ॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी येन निःक्षत्रिया कृता।
जामदग्न्येन गोविन्द रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥२७३॥

गोविन्द ! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले जमदग्नि-नन्दन परशुरामने उसी परशुके द्वारा इक्कीस बार इस पृथ्वी-को क्षत्रियोंसे शून्य कर दिया था ॥ २७३ ॥

दीप्तधारः सुरौद्रास्यः सर्पकण्ठाग्रधिष्ठितः।
अभवच्छूलिनोऽभ्याशे दीप्तवह्निशतोपमः ॥२७४॥

उसकी धार चमक रही थी, उसका मुखभाग बड़ा भयं-कर जान पड़ता था। वह सर्पयुक्त कण्ठवाले महादेवजीके कण्ठके अग्रभागमें स्थित था। इस प्रकार शूलधारी भगवान् शिवके समीप वह परशु सैकड़ों प्रज्वलित अग्नियोंके समान देदीप्यमान होता था ॥ २७४ ॥

असंख्येयानि चास्त्राणि तस्य दिव्यानि धीमतः।
प्राधान्यतो मयैतानि कीर्तितानि तवानघ ॥२७५॥

निष्पाप श्रीकृष्ण ! बुद्धिमान् भगवान् शिवके असंख्य दिव्यास्त्र हैं। मैंने यहाँ आपके सामने इन प्रमुख अस्त्रोंका वर्णन किया है ॥ २७५ ॥

सव्यदेशे तु देवस्य ब्रह्मा लोकपितामहः।
दिव्यं विमानमास्थाय हंसयुक्तं मनोजवम् ॥२७६॥
वामपार्श्वगतश्चापि तथा नारायणः स्थितः।
वैनतेयं समारुह्य शङ्खचक्रगदाधरः ॥२७७॥

उस समय महादेवजीके दाहिने भागमें लोकपितामह ब्रह्मा मनके समान वेगशाली हंसयुक्त दिव्य विमानपर बैठे हुए शोभा पा रहे थे और बायें भागमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये भगवान् नारायण गरुडपर विराजमान थे ॥२७६-२७७॥

स्कन्दो मयूरमास्थाय स्थितो देव्याः समीपतः।
शक्तिघण्टे समादाय द्वितीय इव पावकः ॥२७८॥

कुमार स्कन्द मोरपर चढ़कर हाथमें शक्ति और घंटा लिये पार्वतीदेवीके पास ही खड़े थे। वे दूसरे अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७८ ॥

पुरस्ताच्चैव देवस्य नन्दिं पश्याम्यवस्थितम्।
शूलं विष्टभ्य तिष्ठन्तं द्वितीयमिव शङ्करम् ॥२७९॥

महादेवजीके आगे मैंने नन्दीको उपस्थित देखा, जो शूल उठाये दूसरे शङ्करके समान खड़े थे ॥ २७९ ॥

स्वायम्भुवाद्या मनवो भृग्वाद्या ऋषयस्तथा।
शक्राद्या देवताश्चैव सर्व एव समभ्ययुः ॥२८०॥

स्वायम्भुव आदि मनु, भृगु आदि ऋषि तथा इन्द्र आदि देवता—ये सभी वहाँ पधारे थे ॥ २८० ॥

सर्वभूतगणाश्चैव मातरो विविधाः स्थिताः।
तेऽभिवाद्य महात्मानं परिवार्य समन्ततः ॥२८१॥
अस्तुवन् विविधैः स्तोत्रैर्महादेवं सुरास्तदा।

समस्त भूतगण और नाना प्रकारकी मातृकाएँ उपस्थित थीं। वे सब देवता महात्मा महादेवजीको चारों ओरसे घेरकर नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति कर रहे थे ॥२८१½॥

ब्रह्मा भवं तदास्तौषीद् रथन्तरमुदीरयन् ॥२८२॥
ज्येष्ठसाम्ना च देवेशं जगौ नारायणस्तदा ॥२८३॥

ब्रह्माजीने रथन्तर सामका उच्चारण करके उस समय भगवान् शङ्करकी स्तुति की। नारायणने ज्येष्ठसामद्वारा देवेश्वर शिवकी महिमाका गान किया ॥ २८२-२८३ ॥

गृणन् ब्रह्म परं शक्रः शतरुद्रियमुत्तमम्।
ब्रह्मा नारायणश्चैव देवराजश्च कौशिकः ॥२८४॥
अशोभन्त महात्मानस्त्रयस्त्रय इवाग्नयः।

इन्द्रने उत्तम शतरुद्रियका सस्वर पाठ करते हुए परब्रह्म शिवका स्तवन किया। ब्रह्मा, नारायण और देवराज इन्द्र—ये तीनों महात्मा तीन अग्नियोंके समान शोभा पा रहे थे ॥

तेषां मध्यगतो देवो रराज भगवाञ्छिवः ॥२८५॥
शरदभ्रविनिर्मुक्तः परिधिस्थ इवांशुमान्।

इन तीनोंके बीचमें विराजमान भगवान् शिव शरदृतु-

के बादलोंके आवरणसे मुक्त हो परिधि (घेरे) में स्थित हुए सूर्यदेवके समान शोभा पा रहे थे ॥ २८५½ ॥

अयुतानि च चन्द्रार्कानपश्यं दिवि केशव ॥२८६॥
ततोऽहमस्तुवं देवं विश्वस्य जगतः पतिम् ।

केशव ! उस समय मैंने आकाशमें सहस्रों चन्द्रमा और सूर्य देखे । तदनन्तर मैं सम्पूर्ण जगत्‌के पालक महादेवजीकी स्तुति करने लगा ॥ २८६½ ॥

उपमन्युरुवाच

नमो देवाधिदेवाय महादेवाय ते नमः ॥२८७॥
शक्ररूपाय शक्राय शक्रवेषधराय च ।
नमस्ते वज्रहस्ताय पिङ्गलायारुणाय च ॥२८८॥

उपमन्यु बोले—प्रभो ! आप देवताओंके भी अधिदेवता हैं । आपको नमस्कार है । आप ही महान् देवता हैं, आपको नमस्कार है । इन्द्र आपके ही रूप हैं । आप ही साक्षात् इन्द्र हैं तथा आप इन्द्रका-सा वेश धारण करनेवाले हैं । इन्द्रके रूपमें आप ही अपने हाथमें वज्र लिये रहते हैं । आपका वर्ण पिङ्गल और अरुण है, आपको नमस्कार है ॥

पिनाकपाणये नित्यं शङ्खशूलधराय च ।
नमस्ते कृष्णवासाय कृष्णकुञ्चितमूर्धजे ॥२८९॥

आपके हाथमें पिनाक शोभा पाता है । आप सदा शङ्ख और त्रिशूल धारण करते हैं । आपके वस्त्र काले हैं तथा आप मस्तकपर काले घुँघराले केश धारण करते हैं, आपको नमस्कार है ॥ २८९ ॥

कृष्णाजिनोत्तरीयाय कृष्णाष्टमिरताय च ।
शुक्लवर्णाय शुक्लाय शुक्लाम्बरधराय च ॥२९०॥

काला मृगचर्म आपका दुपट्टा है । आप श्रीकृष्णाष्टमी-व्रतमें तत्पर रहते हैं । आपका वर्ण शुक्ल है । आप स्वरूपसे भी शुक्ल (शुद्ध) है तथा आप श्वेत वस्त्र धारण करते हैं । आपको नमस्कार है ॥ २९० ॥

शुक्लभस्मावलिप्ताय शुक्लकर्मरताय च ।
नमोऽस्तु रक्तवर्णाय रक्ताम्बरधराय च ॥२९१॥

आप अपने सारे अङ्गोंमें श्वेत भस्म लपेटे रहते हैं । विशुद्ध कर्ममें अनुरक्त हैं । कभी-कभी आप रक्त वर्णके हो जाते हैं और लाल वस्त्र ही धारण कर लेते हैं । आपको नमस्कार है ॥ २९१ ॥

रक्तध्वजपताकाय रक्तस्रगनुलेपिने ।
नमोऽस्तु पीतवर्णाय पीताम्बरधराय च ॥२९२॥

रक्ताम्बरधारी होनेपर आप अपनी ध्वजा-पताका भी लाल ही रखते हैं । लाल फूलोंकी माला पहनकर अपने श्रीअङ्गोंमें लाल चन्दनका ही लेप लगाते हैं । किसी समय आपकी अङ्गकान्ति पीले रंगकी हो जाती है । ऐसे समयमें आप पीताम्बर धारण करते हैं । आपको नमस्कार है ॥२९२॥

नमोऽस्तूच्छ्रितच्छत्राय किरीटवरधारिणे ।
अर्धहारार्धकेयूर अर्धकुण्डलकर्णिने ॥२९३॥

आपके मस्तकपर ऊँचा छत्र तना है । आप सुन्दर किरीट धारण करते हैं । अर्द्धनारीश्वररूपमें आपके आधे अङ्गमें ही हार, आधेमें ही केयूर और आधे अङ्गके ही कानमें कुण्डल शोभा पाता है । आपको नमस्कार है ॥ २९३ ॥

नमः पवनवेगाय नमो देवाय वै नमः ।
सुरेन्द्राय मुनीन्द्राय महेन्द्राय नमोऽस्तु ते ॥२९४॥

आप वायुके समान वेगशाली हैं । आपको नमस्कार है । आप ही मेरे आराध्यदेव हैं । आपको बारंबार नमस्कार है । आप ही सुरेन्द्र, मुनीन्द्र और महेन्द्र हैं । आपको नमस्कार है ॥ २९४ ॥

नमः पद्मार्धमालाय उत्पलैर्मिश्रिताय च ।
अर्धचन्दनलिप्ताय अर्धस्रगनुलेपिने ॥२९५॥

आप अपने आधे अङ्गको कमलोंकी मालासे अलंकृत करते हैं और आधेमें उत्पलोंसे विभूषित होते हैं । आधे अङ्गमें चन्दनका लेप लगाते हैं तो आधे शरीरमें फूलोंका गजरा और सुगन्धित अङ्गराग धारण करते हैं । ऐसे अर्द्धनारीश्वररूपमें आपको नमस्कार है ॥ २९५ ॥

नम आदित्यवक्त्राय आदित्यनयनाय च ।
नम आदित्यवर्णाय आदित्यप्रतिमाय च ॥२९६॥

आपके मुख सूर्यके समान तेजस्वी हैं । सूर्य आपके नेत्र हैं । आपकी अङ्गकान्ति भी सूर्यके ही समान है तथा आप अधिक सादृश्यके कारण सूर्यकी प्रतिमा-से जान पड़ते हैं ।२९६।

नमः सोमाय सौम्याय सौम्यवक्त्रधराय च ।
सौम्यरूपाय मुख्याय सौम्यदंष्ट्राविभूषिणे ॥२९७॥

आप सोमस्वरूप हैं । आपकी आकृति बड़ी सौम्य है । आप सौम्य मुख धारण करते हैं । आपका रूप भी सौम्य है । आप प्रमुख देवता हैं और सौम्य दन्तावलीसे विभूषित होते हैं । आपको नमस्कार है ॥ २९७ ॥

नमः श्यामाय गौराय अर्धपीतार्धपाण्डवे ।
नारीनरशरीराय स्त्रीपुंसाय नमोऽस्तु ते ॥२९८॥

आप हरिहररूप होनेके कारण आधे शरीरसे साँवले और आधेसे गोरे हैं । आधे शरीरमें पीताम्बर धारण करते हैं और आधेमें श्वेत वस्त्र पहनते हैं । आपको नमस्कार है । आपके आधे शरीरमें नारीके अवयव हैं और आधेमें नरके । आप स्त्री-पुरुषरूप हैं । आपको नमस्कार है ॥ २९८ ॥

नमो वृषभवाहाय गजेन्द्रगमनाय च ।
दुर्गमाय नमस्तुभ्यमगम्यगमनाय च ॥२९९॥

आप कभी बैलपर सवार होते हैं और कभी गजराजकी पीठपर बैठकर यात्रा करते हैं । आप दुर्गम हैं । आपको नमस्कार है । जो दूसरोंके लिये अगम्य है, वहाँ भी आपकी गति है । आपको नमस्कार है ॥ २९९ ॥

नमोऽस्तु गणगीताय गणवृन्दरताय च ।

गणानुयातमार्गाय गणनित्यव्रताय च ॥३००॥

प्रमथगण आपकी महिमाका गान करते हैं। आप अपने पार्षदोंकी मण्डलीमें रत रहते हैं। आपके प्रत्येक मार्गपर प्रमथगण आपके पीछे-पीछे चलते हैं। आपकी सेवा ही गणों-का नित्य-व्रत है। आपको नमस्कार है ॥ ३०० ॥

नमः श्वेताभ्रवर्णाय संध्यारागप्रभाय च।
अनुद्दिष्टाभिधानाय स्वरूपाय नमोऽस्तु ते ॥३०१॥

आपकी कान्ति श्वेत बादलोंके समान है। आपकी प्रभा संध्याकालीन अरुणरागके समान है। आपका कोई निश्चित नाम नहीं है। आप सदा स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३०१ ॥

नमो रक्ताग्रवासाय रक्तसूत्रधराय च।
रक्तमालाविचित्राय रक्ताम्बरधराय च ॥३०२॥

आपका सुन्दर वस्त्र लाल रंगका है। आप लाल सूत्र धारण करते हैं। लाल रंगकी मालासे आपकी विचित्र शोभा होती है। आप रक्त वस्त्रधारी रुद्रदेवको नमस्कार है ॥ ३०२ ॥

मणिभूषितमूर्धाय नमश्चन्द्रार्धभूषिणे।
विचित्रमणिमूर्धाय कुसुमाष्टधराय च ॥३०३॥

आपका मस्तक दिव्य मणिसे विभूषित है। आप अपने ललाटमें अर्द्धचन्द्रका आभूषण धारण करते हैं। आपका सिर विचित्र मणिकी प्रभासे प्रकाशमान है और आप आठ पुष्प धारण करते हैं ॥ ३०३ ॥

नमोऽग्निमुखनेत्राय सहस्रशशिलोचने।
अग्निरूपाय कान्ताय नमोऽस्तु गहनाय च ॥३०४॥

आपके मुख और नेत्रमें अग्निका निवास है। आपके नेत्र सहस्रों चन्द्रमाओंके समान प्रकाशित हैं। आप अग्नि-स्वरूप, कमनीयविग्रह और दुर्गम गहन (वन) रूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३०४ ॥

खचराय नमस्तुभ्यं गोचराभिरताय च।
भूचराय भुवनाय अनन्ताय शिवाय च ॥३०५॥

चन्द्रमा और सूर्यके रूपमें आप आकाशचारी देवताको नमस्कार है। जहाँ गौएँ चरती हैं, उस स्थानसे आप विशेष प्रेम रखते हैं। आप पृथ्वीपर विचरनेवाले और त्रिभुवनरूप हैं। अनन्त एवं शिवस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥३०५॥

नमो दिग्वाससे नित्यमधिवाससुवाससे।
नमो जगन्निवासाय प्रतिपत्तिसुखाय च ॥३०६॥

आप दिगम्बर हैं। आपको नमस्कार है। आप सबके आवास-स्थान और सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाले हैं। सम्पूर्ण जगत् आपमें ही निवास करता है। आपको सम्पूर्ण सिद्धियों-का सुख सुलभ है। आपको नमस्कार है ॥ ३०६ ॥

नित्यमुद्बद्धमुकुटे महाकेयूरधारिणे।
सर्पकण्ठोपहाराय विचित्राभरणाय च ॥ ३०७॥

आप मस्तकपर सदा मुकुट बाँधे रहते हैं। भुजाओंमें विशाल केयूर धारण करते हैं। आपके कण्ठमें सर्पोंका हार शोभा पाता है तथा आप विचित्र आभूषणोंसे विभूषित होते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३०७ ॥

नमस्त्रिनेत्रनेत्राय सहस्रशतलोचने।
स्त्रीपुंसाय नपुंसाय नमः सांख्याय योगिने ॥३०८॥

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—ये तीन नेत्ररूप होकर आपको त्रिनेत्रधारी बना देते हैं। आपके लाखों नेत्र हैं। आप स्त्री हैं, पुरुष हैं और नपुंसक हैं। आप ही सांख्यवेत्ता और योगी हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३०८ ॥

शंयोरभिस्रवन्ताय अथर्वाय नमो नमः।
नमः सर्वार्तिनाशाय नमः शोकहराय च ॥३०९॥

आप यज्ञपूरक 'शंयु' नामक देवताके प्रसादरूप हैं और अथर्ववेदस्वरूप हैं। आपको बारंबार नमस्कार है। जो सबकी पीड़ाका नाश करनेवाले और शोकहारी हैं, उन्हें नमस्कार है, नमस्कार है ॥ ३०९ ॥

नमो मेघनिनादाय बहुमायाधराय च।
बीजक्षेत्राभिपालाय स्रष्टाराय नमो नमः ॥३१०॥

जो मेघके समान गम्भीर नाद करनेवाले तथा बहुसंख्यक मायाओंके आधार हैं, जो बीज और क्षेत्रका पालन करते हैं और जगत्‌की सृष्टि करनेवाले हैं, उन भगवान् शिवको बारं-बार नमस्कार है ॥ ३१० ॥

नमः सुरासुरेशाय विश्वेशाय नमो नमः।
नमः पवनवेगाय नमः पवनरूपिणे ॥३११॥

आप देवताओं और असुरोंके स्वामी हैं। आपको नमस्कार है। आप सम्पूर्ण विश्वके ईश्वर हैं। आपको बारंबार नमस्कार है। आप वायुके समान वेगशाली तथा वायुरूप हैं। आपको नमस्कार है, नमस्कार है ॥ ३११ ॥

नमः काञ्चनमालाय गिरिमालाय वै नमः।
नमः सुरारिमालाय चण्डवेगाय वै नमः ॥३१२॥

आप सुवर्णमालाधारी तथा पर्वत-मालाओंमें विहार करने-वाले हैं। देवशत्रुओंके मुण्डोंकी माला धारण करनेवाले प्रचण्ड वेगशाली आपको नमस्कार है, नमस्कार है ॥ ३१२ ॥

ब्रह्मशिरोपहर्ताय महिषघ्नाय वै नमः।
नमः स्त्रीरूपधाराय यज्ञविध्वंसनाय च ॥३१३॥

ब्रह्माजीके मस्तकका उच्छेद और महिषका विनाश करने-वाले आपको नमस्कार है। आप स्त्रीरूप धारण करनेवाले तथा यज्ञके विध्वंसक हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३१३ ॥

नमस्त्रिपुरहर्ताय यज्ञविध्वंसनाय च।
नमः कामाङ्गनाशाय कालदण्डधराय च ॥३१४॥

असुरोंके तीनों पुरोंका विनाश और दक्ष-यज्ञका विध्वंस करनेवाले आपको नमस्कार है। कामके शरीरका नाश तथा कालदण्डको धारण करनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ३१४॥

नमः स्कन्दविशाखाय ब्रह्मदण्डाय वै नमः ।
नमो भवाय शर्वाय विश्वरूपाय वै नमः ॥३१५॥

स्कन्द और विशाखरूप आपको नमस्कार है । ब्रह्मदण्ड-स्वरूप आपको नमस्कार है । भव (उत्पादक) और शर्व (संहारक) रूप आपको नमस्कार है । विश्वरूपधारी प्रभुको नमस्कार है ॥ ३१५ ॥

ईशानाय भवघ्नाय नमोऽस्त्वन्धकघातिने ।
नमो विश्वाय मायाय चिन्त्याचिन्त्याय वै नमः ॥३१६॥

आप सबके ईश्वर, संसार-बन्धनका नाश करनेवाले तथा अन्धकासुरके घातक हैं । आपको नमस्कार है । आप सम्पूर्ण मायास्वरूप तथा चिन्त्य और अचिन्त्यरूप हैं । आपको नमस्कार है ॥ ३१६ ॥

त्वं नो गतिश्च श्रेष्ठश्च त्वमेव हृदयं तथा ।
त्वं ब्रह्मा सर्वदेवानां रुद्राणां नीललोहितः ॥३१७॥

आप ही हमारी गति हैं, श्रेष्ठ हैं और आप ही हमारे हृदय हैं । आप सम्पूर्ण देवताओंमें ब्रह्मा तथा रुद्रोंमें नील-लोहित हैं ॥ ३१७ ॥

आत्मा च सर्वभूतानां सांख्ये पुरुष उच्यते ।
ऋषभस्त्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः ॥३१८॥

आप समस्त प्राणियोंमें आत्मा और सांख्यशास्त्रमें पुरुष कहलाते हैं । आप पवित्रोंमें ऋषभ तथा योगियोंमें निष्कल शिवरूप हैं ॥ ३१८ ॥

गृहस्थस्त्वमाश्रमिणामीश्वराणां महेश्वरः ।
कुबेरः सर्वयक्षाणां क्रतूनां विष्णुरुच्यते ॥३१९॥

आप आश्रमियोंमें गृहस्थ, ईश्वरोंमें महेश्वर, सम्पूर्ण यक्षोंमें कुबेर तथा यज्ञोंमें विष्णु कहलाते हैं ॥ ३१९ ॥

पर्वतानां भवान् मेरुर्नक्षत्राणां च चन्द्रमाः ।
वसिष्ठस्त्वमृषीणां च ग्रहाणां सूर्य उच्यते ॥३२०॥

पर्वतोंमें आप मेरु हैं । नक्षत्रोंमें चन्द्रमा हैं । ऋषियोंमें वसिष्ठ हैं तथा ग्रहोंमें सूर्य कहलाते हैं ॥ ३२० ॥

आरण्यानां पशूनां च सिंहस्त्वं परमेश्वरः ।
ग्राम्याणां गोवृषश्चासि भवाँल्लोकप्रपूजितः ॥३२१॥

आप जंगली पशुओंमें सिंह हैं । आप ही परमेश्वर हैं । ग्रामीण पशुओंमें आप ही लोकसम्मानित साँड़ हैं ॥ ३२१ ॥

आदित्यानां भवान् विष्णुर्वसूनां चैव पावकः ।
पक्षिणां वैनतेयस्त्वमनन्तो भुजगेषु च ॥३२२॥

आप ही आदित्योंमें विष्णु हैं । वसुओंमें अग्नि हैं । पक्षियोंमें आप विनतानन्दन गरुड और सर्पोंमें अनन्त (शेषनाग) हैं ॥ ३२२ ॥

सामवेदश्च वेदानां यजुषां शतरुद्रियम् ।
सनत्कुमारो योगानां सांख्यानां कपिलो ह्यसि ॥३२३॥

आप वेदोंमें सामवेद, यजुर्वेदके मन्त्रोंमें शतरुद्रिय, योगियोंमें सनत्कुमार और सांख्यवेत्ताओंमें कपिल हैं ॥३२३॥

शक्रोऽसि मरुतां देव पितॄणां हव्यवाडसि ।
ब्रह्मलोकश्च लोकानां गतीनां मोक्ष उच्यसे ॥३२४॥

देव ! आप मरुद्गणोंमें इन्द्र, पितरोंमें हव्यवाहन अग्नि, लोकोंमें ब्रह्मलोक और गतियोंमें मोक्ष कहलाते हैं ॥ ३२४ ॥

क्षीरोदः सागराणां च शैलानां हिमवान् गिरिः ।
वर्णानां ब्राह्मणश्चासि विप्राणां दीक्षितो द्विजः ॥३२५॥

आप समुद्रोंमें क्षीरसागर, पर्वतोंमें हिमालय, वर्णोंमें ब्राह्मण और ब्राह्मणोंमें भी दीक्षित ब्राह्मण (यज्ञकी दीक्षा लेने-वाले) हैं ॥ ३२५ ॥

आदिस्त्वमसि लोकानां संहर्ता काल एव च ।
यच्चान्यदपि लोके वै सर्वतेजोऽधिकं स्मृतम् ॥३२६॥
तत् सर्वं भगवानेव इति मे निश्चिता मतिः ।

आप ही सम्पूर्ण लोकोंके आदि हैं । आप ही संहार करनेवाले काल हैं । संसारमें और भी जो-जो वस्तुएँ सर्वथा तेजमें बढ़ी-चढ़ी हैं, वे सभी आप भगवान् ही हैं—यह मेरी निश्चित धारणा है ॥ ३२६½ ॥

नमस्ते भगवन् देव नमस्ते भक्तवत्सल ॥३२७॥
योगेश्वर नमस्तेऽस्तु नमस्ते विश्वसम्भव ।

भगवन् ! देव ! आपको नमस्कार है । भक्तवत्सल ! आपको नमस्कार है । योगेश्वर ! आपको नमस्कार है । विश्वकी उत्पत्तिके कारण ! आपको नमस्कार है ॥ ३२७½ ॥

प्रसीद मम भक्तस्य दीनस्य कृपणस्य च ॥३२८॥
अनैश्वर्येण युक्तस्य गतिर्भव सनातन ।

सनातन परमेश्वर ! आप मुझ दीन-दुखी भक्तपर प्रसन्न होइये । मैं ऐश्वर्यसे रहित हूँ । आप ही मेरे आश्रय-दाता हों ॥ ३२८½ ॥

यच्चापराधं कृतवानज्ञात्वा परमेश्वर ॥३२९॥
मद्भक्त इति देवेश तत् सर्वं क्षन्तुमर्हसि ।

परमेश्वर देवेश ! मैंने अनजानमें जो अपराध किये हों, वह सब यह समझकर क्षमा कीजिये कि यह मेरा अपना ही भक्त है ॥ ३२९½ ॥

मोहितश्चास्मि देवेश त्वया रूपविपर्ययात् ॥३३०॥
नार्घ्यं ते न मया दत्तं पाद्यं चापि महेश्वर ।

देवेश्वर ! आपने अपना रूप बदलकर मुझे मोहमें डाल दिया । महेश्वर ! इसीलिये न तो मैंने आपको अर्घ्य दिया और न पाद्य ही समर्पित किया ॥ ३३०½ ॥

एवं स्तुत्वाहमीशानं पाद्यमर्घ्यं च भक्तितः ॥३३१॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा सर्वं तस्मै न्यवेदयम् ।

इस प्रकार भगवान् शिवकी स्तुति करके मैंने उन्हें भक्तिभावसे पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया । फिर दोनों हाथ जोड़कर उन्हें अपना सब कुछ समर्पित कर दिया ॥३३१½॥

ततः शीताम्बुसंयुक्ता दिव्यगन्धसमन्विता ॥३३२॥
पुष्पवृष्टिः शुभा तात पपात मम मूर्धनि ।

दुन्दुभिश्च तदा दिव्यस्ताडितो देवकिङ्करैः।
ववौ च मारुतः पुण्यः शुचिगन्धः सुखावहः ॥३३३॥

तात ! तदनन्तर मेरे मस्तकपर शीतल जल और दिव्य सुगन्धसे युक्त फूलोंकी शुभ वृष्टि होने लगी। उसी समय देवकिंकरोंने दिव्य दुन्दुभि बजाना आरम्भ किया और पवित्र गन्धसे युक्त पुण्यमयी सुखद वायु चलने लगी ॥३३२-३३३॥

ततः प्रीतो महादेवः सपत्नीको वृषध्वजः।
अब्रवीत् त्रिदशांस्तत्र हर्षयन्निव मां तदा ॥३३४॥

तब पत्नीसहित प्रसन्न हुए वृषभध्वज महादेवजीने मेरा हर्ष बढ़ाते हुए-से वहाँ सम्पूर्ण देवताओंसे कहा—॥ ३३४ ॥

पश्यध्वं त्रिदशाः सर्वे उपमन्योर्महात्मनः।
मयि भक्तिं परां नित्यमेकभावादवस्थिताम् ॥३३५॥

'देवताओ ! तुम सब लोग देखो कि महात्मा उपमन्युकी मुझमें नित्य एकभावसे बनी रहनेवाली कैसी उत्तम भक्ति है' ॥ ३३५ ॥

एवमुक्तास्तदा कृष्ण सुरास्ते शूलपाणिना।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे नमस्कृत्वा वृषध्वजम् ॥३३६॥

श्रीकृष्ण ! शूलपाणि महादेवजीके ऐसा कहनेपर वे सब देवता हाथ जोड़ उन वृषभध्वज शिवजीको नमस्कार करके बोले—॥ ३३६ ॥

भगवन् देवदेवेश लोकनाथ जगत्पते।
लभतां सर्वकामेभ्यः फलं त्वत्तो द्विजोत्तमः ॥३३७॥

'भगवन् ! देवदेवेश्वर ! लोकनाथ ! जगत्पते ! ये द्विज-श्रेष्ठ उपमन्यु आपसे अपनी सम्पूर्ण कामनाओंके अनुसार अभीष्ट फल प्राप्त करें' ॥ ३३७ ॥

एवमुक्तस्ततः शर्वः सुरैर्ब्रह्मादिभिस्तथा।
आह मां भगवानीशः प्रहसन्निव शंकरः ॥३३८॥

ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवताओंके ऐसा कहनेपर सबके ईश्वर और कल्याणकारी भगवान् शिवने मुझसे हँसते हुए-से कहा ॥ ३३८ ॥

श्रीभगवानुवाच

वत्सोपमन्यो तुष्टोऽस्मि पश्य मां मुनिपुङ्गव।
दृढभक्तोऽसि विप्रर्षे मया जिज्ञासितो ह्यसि ॥३३९॥

भगवान् शिवजी बोले—वत्स उपमन्यो ! मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ। मुनिपुङ्गव ! तुम मेरी ओर देखो। ब्रह्मर्षे ! मुझमें तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति है। मैंने तुम्हारी परीक्षा कर ली है ॥ ३३९ ॥

अनया चैव भक्त्या ते अत्यर्थं प्रीतिमानहम्।
तस्मात् सर्वान् ददाम्यद्य कामांस्तव यथेप्सितान् ॥३४०॥

तुम्हारी इस भक्तिसे मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है, अतः मैं तुम्हें आज तुम्हारी सभी मनोवाञ्छित कामनाएँ पूर्ण किये देता हूँ ॥ ३४० ॥

एवमुक्तस्य चैवाथ महादेवेन धीमता।
हर्षादश्रूण्यवर्तन्त रोमहर्षस्त्वजायत ॥३४१॥

परम बुद्धिमान् महादेवजीके इस प्रकार कहनेपर मेरे नेत्रोंसे हर्षके आँसू बहने लगे और सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आया ॥ ३४१ ॥

अब्रुवं च तदा देवं हर्षगद्गदया गिरा।
जानुभ्यामवनीं गत्वा प्रणम्य च पुनः पुनः ॥३४२॥

तब मैंने धरतीपर घुटने टेककर भगवान्‌को बारंबार प्रणाम किया और हर्षगद्गद वाणीद्वारा महादेवजीसे इस प्रकार कहा—॥ ३४२ ॥

अद्य जातो ह्यहं देव सफलं जन्म चाद्य मे।
सुरासुरगुरुर्देवो यत् तिष्ठति ममाग्रतः ॥३४३॥

'देव ! आज ही मैंने वास्तवमें जन्म ग्रहण किया है। आज मेरा जन्म सफल हो गया; क्योंकि इस समय मेरे सामने देवताओं और असुरोंके गुरु आप साक्षात् महादेवजी खड़े हैं ॥ ३४३ ॥

यं न पश्यन्ति चैवाद्धा देवा ह्यमितविक्रमम्।
तमहं दृष्टवान् देवं कोऽन्यो धन्यतरो मया ॥३४४॥

'जिन अमित पराक्रमी महादेवजीको देवता भी सुगमता-पूर्वक देख नहीं पाते हैं, उन्हींका मुझे प्रत्यक्ष दर्शन मिला है; अतः मुझसे बढ़कर धन्यवादका भागी दूसरा कौन हो सकता है ? ॥ ३४४ ॥

एवं ध्यायन्ति विद्वांसः परं तत्त्वं सनातनम्।
तद् विशेषमिति ख्यातं यदजं ज्ञानमक्षरम् ॥३४५॥

'अजन्मा, अविनाशी, ज्ञानमय तथा सर्वश्रेष्ठ रूपसे विख्यात जो सनातन परम तत्त्व है, उसका ज्ञानी पुरुष इसी रूपमें ध्यान करते हैं (जैसा कि आज मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ) ॥ ३४५ ॥

स एष भगवान् देवः सर्वसत्त्वादिरव्ययः।
सर्वतत्त्वविधानज्ञः प्रधानपुरुषः परः ॥३४६॥

'जो सम्पूर्ण प्राणियोंका आदिकारण, अविनाशी, समस्त तत्त्वोंके विधानका ज्ञाता तथा प्रधान परम पुरुष है, वह ये भगवान् महादेवजी ही हैं ॥ ३४६ ॥

योऽसृजद् दक्षिणादङ्गाद् ब्रह्माणं लोकसम्भवम्।
वामपार्श्वात् तथा विष्णुं लोकरक्षार्थमीश्वरः ॥३४७॥

'इन्हीं जगदीश्वरने अपने दाहिने अङ्गसे लोकस्रष्टा ब्रह्मा-को और बायें अङ्गसे जगत्‌की रक्षाके लिये विष्णुको उत्पन्न किया है ॥ ३४७ ॥

युगान्ते चैव सम्प्राप्ते रुद्रमीशोऽसृजत् प्रभुः।
स रुद्रः संहरन् कृत्स्नं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥३४८॥

'प्रलयकाल प्राप्त होनेपर इन्हीं भगवान् शिवने रुद्रकी रचना की थी। वे ही रुद्र सम्पूर्ण चराचर जगत्‌का संहार करते हैं ॥ ३४८ ॥

कालो भूत्वा महातेजाः संवर्तक इवानलः।

युगान्ते सर्वभूतानि ग्रसन्निव व्यवस्थितः ॥३४९॥

'वे ही महातेजस्वी काल होकर कल्पके अन्तमें समस्त प्राणियोंको अपना ग्रास बनाते हुए-से प्रलयकालीन अग्निके सदृश स्थित होते हैं ॥ ३४९ ॥

एष देवो महादेवो जगत् सृष्ट्वा चराचरम्।
कल्पान्ते चैव सर्वेषां स्मृतिमाक्षिप्य तिष्ठति ॥३५०॥

'ये ही देवदेव महादेव चराचर जगत्‌की सृष्टि करके कल्पान्तमें सबकी स्मृति-शक्तिको मिटाकर स्वयं ही स्थित रहते हैं ॥ ३५० ॥

सर्वगः सर्वभूतात्मा सर्वभूतभवोद्भवः।
आस्ते सर्वगतो नित्यमदृश्यः सर्वदैवतैः ॥३५१॥

'ये सर्वत्र गमन करनेवाले, सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा तथा समस्त भूतोंके जन्म और वृद्धिके हेतु हैं। ये सर्वव्यापी परमेश्वर सदा सम्पूर्ण देवताओंसे अदृश्य रहते हैं ॥ ३५१ ॥

यदि देयो वरो मह्यं यदि तुष्टोऽसि मे प्रभो।
भक्तिर्भवतु मे नित्यं त्वयि देव सुरेश्वर ॥३५२॥

'प्रभो ! यदि आप मुझपर संतुष्ट हैं और मुझे वर देना चाहते हैं तो हे देव ! हे सुरेश्वर ! मेरी सदा आपमें भक्ति बनी रहे ॥ ३५२ ॥

अतीतानागतं चैव वर्तमानं च यद् विभो।
जानीयामिति मे बुद्धिः प्रसादात् सुरसत्तम ॥३५३॥

'सुरश्रेष्ठ ! विभो ! आपकी कृपासे मैं भूत, वर्तमान और भविष्यको जान सकूँ; ऐसा मेरा निश्चय है ॥ ३५३ ॥

क्षीरोदनं च भुञ्जीयामक्षयं सह बान्धवैः।
आश्रमे च सदास्माकं सांनिध्यं परमस्तु ते ॥३५४॥

'मैं अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सदा अक्षय दूध-भातका भोजन प्राप्त करूँ और हमारे इस आश्रममें सदा आपका निकट निवास रहे' ॥ ३५४ ॥

एवमुक्तः स मां प्राह भगवाँल्लोकपूजितः।
महेश्वरो महातेजाश्चराचरगुरुः शिवः ॥३५५॥

मेरे ऐसा कहनेपर लोकपूजित चराचरगुरु महातेजस्वी महेश्वर भगवान् शिव मुझसे यों बोले ॥ ३५५ ॥

श्रीभगवानुवाच

अजरश्चामरश्चैव भव त्वं दुःखवर्जितः।
यशस्वी तेजसा युक्तो दिव्यज्ञानसमन्वितः ॥३५६॥

भगवान् शिवने कहा—ब्रह्मन् ! तुम दुःखसे रहित अजर-अमर हो जाओ। यशस्वी, तेजस्वी तथा दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न बने रहो ॥ ३५६ ॥

ऋषीणामभिगम्यश्च मत्प्रसादाद् भविष्यसि।
शीलवान् गुणसम्पन्नः सर्वज्ञः प्रियदर्शनः ॥३५७॥

मेरी कृपासे तुम ऋषियोंके भी दर्शनीय एवं आदरणीय होओगे तथा सदा शीलवान्, गुणवान्, सर्वज्ञ एवं प्रियदर्शन बने रहोगे ॥ ३५७ ॥

अक्षयं यौवनं तेऽस्तु तेजश्चैवानलोपमम्।
क्षीरोदः सागरश्चैव यत्र यत्रेच्छसि प्रियम् ॥३५८॥
तत्र ते भविता कामं सांनिध्यं पयसो निधेः।

तुम्हें अक्षय यौवन और अग्निके समान तेज प्राप्त हो। तुम्हारे लिये क्षीरसागर सुलभ हो जायगा। तुम जहाँ-जहाँ प्रिय वस्तुकी इच्छा करोगे, वहाँ-वहाँ तुम्हारी सारी कामना सफल होगी और तुम्हें क्षीरसागरका सांनिध्य प्राप्त होगा ॥ ३५८½ ॥

क्षीरोदनं च भुङ्क्ष्व त्वममृतेन समन्वितम् ॥३५९॥
बन्धुभिः सहितः कल्पं ततो मामुपयास्यसि।
अक्षया बान्धवाश्चैव कुलं गोत्रं च ते सदा ॥३६०॥

तुम अपने भाई-बन्धुओंके साथ एक कल्पतक अमृत-सहित दूध-भातका भोजन पाते रहो। तत्पश्चात् तुम मुझे प्राप्त हो जाओगे। तुम्हारे बन्धु-बान्धव, कुल तथा गोत्रकी परम्परा सदा अक्षय बनी रहेगी ॥ ३५९-३६० ॥

भविष्यति द्विजश्रेष्ठ मयि भक्तिश्च शाश्वती।
सांनिध्यं चाश्रमे नित्यं करिष्यामि द्विजोत्तम ॥३६१॥

द्विजश्रेष्ठ ! मुझमें तुम्हारी सदा अचल भक्ति होगी तथा द्विजप्रवर ! तुम्हारे इस आश्रमके निकट मैं सदा अदृश्यरूपसे निवास करूँगा ॥ ३६१ ॥

तिष्ठ वत्स यथाकामं नोत्कण्ठां च करिष्यसि।
स्मृतस्त्वया पुनर्विप्र करिष्यामि च दर्शनम् ॥३६२॥

बेटा ! तुम इच्छानुसार यहाँ रहो। कभी किसी बातके लिये चिन्ता न करना। विप्रवर ! तुम्हारे स्मरण करनेपर मैं पुनः तुम्हें दर्शन दूँगा ॥ ३६२ ॥

एवमुक्त्वा स भगवान् सूर्यकोटिसमप्रभः।
ईशानः स वरान् दत्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥३६३॥

ऐसा कहकर वे करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी भगवान् शङ्कर उपर्युक्त वर प्रदान करके वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३६३ ॥

एवं दृष्टो मया कृष्ण देवदेवः समाधिना।
तदवाप्तं च मे सर्वं यदुक्तं तेन धीमता ॥३६४॥

श्रीकृष्ण ! इस प्रकार मैंने समाधिके द्वारा देवाधिदेव भगवान् शङ्करका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया। उन बुद्धिमान् महादेवजीने जो कुछ कहा था, वह सब मुझे प्राप्त हो गया है ॥ ३६४ ॥

प्रत्यक्षं चैव ते कृष्ण पश्य सिद्धान् व्यवस्थितान्।
ऋषीन् विद्याधरान् यक्षान् गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥३६५॥

श्रीकृष्ण ! यह सब आप प्रत्यक्ष देख लें। यहाँ सिद्ध महर्षि, विद्याधर, यक्ष, गन्धर्व और अप्सराएँ विद्यमान हैं ॥

पश्य वृक्षलतागुल्मान् सर्वपुष्पफलप्रदान्।
सर्वर्तुकुसुमैर्युक्तान् सुखपत्रान् सुगन्धिनः ॥३६६॥

देखिये, यहाँके वृक्ष, लता और गुल्म सब प्रकारके फूल और फल देनेवाले हैं। ये सभी ऋतुओंके फूलोंसे युक्त,

सुखदायक पल्लवोंसे सम्पन्न और सुगन्धसे परिपूर्ण हैं ॥

सर्वमेतन्महाबाहो दिव्यभावसमन्वितम् ।
प्रसादाद् देवदेवस्य ईश्वरस्य महात्मनः ॥३६७॥

महाबाहो! देवताओंके भी देवता तथा सबके ईश्वर महात्मा शिवके प्रसादसे ही यहाँ सब कुछ दिव्य भावसे सम्पन्न दिखायी देता है ॥ ३६७ ॥

वासुदेव उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रत्यक्षमिव दर्शनम् ।
विस्मयं परमं गत्वा अब्रुवं तं महामुनिम् ॥३६८॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! उनकी यह बात सुनकर मानो मुझे भगवान् शिवका प्रत्यक्ष दर्शन हो गया हो, ऐसा प्रतीत हुआ। फिर बड़े विस्मयमें पड़कर मैंने उन महामुनिसे पूछा—॥ ३६८ ॥

धन्यस्त्वमसि विप्रेन्द्र कस्त्वदन्योऽस्ति पुण्यकृत् ।
यस्य देवाधिदेवस्ते सांनिध्यं कुरुतेऽऽश्रमे ॥३६९॥

'विप्रवर! आप धन्य हैं। आपसे बढ़कर पुण्यात्मा पुरुष दूसरा कौन है? क्योंकि आपके इस आश्रममें साक्षात् देवाधिदेव महादेव निवास करते हैं ॥ ३६९ ॥

अपि तावन्ममाप्येवं दद्यात् स भगवाञ्छिवः ।
दर्शनं मुनिशार्दूल प्रसादं चापि शंकरः ॥३७०॥

'मुनिश्रेष्ठ! क्या कल्याणकारी भगवान् शिव मुझे भी इसी प्रकार दर्शन देंगे? मुझपर भी कृपा करेंगे?' ॥३७०॥

उपमन्युरुवाच

द्रक्ष्यसे पुण्डरीकाक्ष महादेवं न संशयः ।
अचिरेणैव कालेन यथा दृष्टो मयानघ ॥३७१॥

उपमन्यु बोले—निष्पाप कमलनयन! जैसे मैंने भगवान्‌का दर्शन किया है, उसी प्रकार आप भी थोड़े ही समयमें महादेवजीका दर्शन प्राप्त करेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥

चक्षुषा चैव दिव्येन पश्याम्यमितविक्रमम् ।
षष्ठे मासि महादेवं द्रक्ष्यसे पुरुषोत्तम ॥३७२॥

पुरुषोत्तम! मैं दिव्य दृष्टिसे देख रहा हूँ। आप आजसे छठे महीनेमें अमित पराक्रमी महादेवजीका दर्शन करेंगे ॥ ३७२ ॥

षोडशाष्टौ वरांश्चापि प्राप्स्यसि त्वं महेश्वरात् ।
सपत्नीकाद् यदुश्रेष्ठ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥३७३॥

यदुश्रेष्ठ! पत्नीसहित महादेवजीसे आप सोलह और आठ वर प्राप्त करेंगे। यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ ॥

अतीतानागतं चैव वर्तमानं च नित्यशः ।
विदितं मे महाबाहो प्रसादात् तस्य धीमतः ॥३७४॥

महाबाहो! बुद्धिमान् महादेवजीके कृपा-प्रसादसे मुझे सदा ही भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालका ज्ञान प्राप्त है ॥ ३७४ ॥

एतान् सहस्रशश्चान्यान् समनुध्यातवान् हरः ।
कस्मात् प्रसादं भगवान् न कुर्यात् तव माधव ॥३७५॥

माधव! भगवान् हरने यहाँ रहनेवाले इन सहस्रों मुनियोंको कृपापूर्ण हृदयसे अनुगृहीत किया है। फिर आपपर वे अपना कृपाप्रसाद क्यों नहीं प्रकट करेंगे ॥ ३७५ ॥

त्वादृशेन हि देवानां श्लाघनीयः समागमः ।
ब्रह्मण्येनानृशंसेन श्रद्दधानेन चाप्युत ॥३७६॥
जप्यं तु ते प्रदास्यामि येन द्रक्ष्यसि शंकरम् ।

आप-जैसे ब्राह्मणभक्त, कोमलस्वभाव और श्रद्धालु पुरुषका समागम देवताओंके लिये भी प्रशंसनीय है। मैं आपको जपनेयोग्य मन्त्र प्रदान करूँगा, जिससे आप भगवान् शङ्करका दर्शन करेंगे ॥३७६½॥

श्रीकृष्ण उवाच

अब्रुवं तमहं ब्रह्मंस्त्वत्प्रसादान्महामुने ॥३७७॥
द्रक्ष्ये दितिजसंघानां मर्दनं त्रिदशेश्वरम् ।

श्रीकृष्ण कहते हैं—तब मैंने उनसे कहा—ब्रह्मन्! महामुने! मैं आपके कृपाप्रसादसे दैत्यदलोंका दलन करनेवाले देवेश्वर महादेवजीका दर्शन अवश्य करूँगा ॥ ३७७½ ॥

एवं कथयतस्तस्य महादेवाश्रितां कथाम् ॥३७८॥
दिनान्यष्टौ ततो जग्मुर्मुहूर्तमिव भारत ।
दिनेऽष्टमे तु विप्रेण दीक्षितोऽहं यथाविधि ॥३७९॥

भरतनन्दन! इस प्रकार महादेवजीकी महिमासे सम्बन्ध रखनेवाली कथा कहते हुए उन मुनीश्वरके आठ दिन एक मुहूर्तके समान बीत गये। आठवें दिन विप्रवर उपमन्युने विधिपूर्वक मुझे दीक्षा दी ॥ ३७८-३७९ ॥

दण्डी मुण्डी कुशी चीरी घृताक्तो मेखली कृतः ।
मासमेकं फलाहारो द्वितीयं सलिलाशनः ॥३८०॥

उन्होंने मेरा सिर मुड़ा दिया। मेरे शरीरमें घी लगाया तथा मुझसे दण्ड, कुशा, चीर एवं मेखला धारण कराया। मैं एक महीनेतक फलाहार करके रहा और दूसरे महीनेमें केवल जलका आहार किया ॥ ३८० ॥

तृतीयं च चतुर्थं च पञ्चमं चानिलाशनः ।
एकपादेन तिष्ठंश्च ऊर्ध्वबाहुरतन्द्रितः ॥३८१॥

तीसरे, चौथे और पाँचवें महीनेमें मैं दोनों बाँहें ऊपर उठाये एक पैरसे खड़ा रहा। आलस्यको अपने पास नहीं आने दिया। उन दिनों वायुमात्र ही मेरा आहार रहा ॥३८१॥

तेजः सूर्यसहस्रस्य अपश्यं दिवि भारत ।
तस्य मध्यगतं चापि तेजसः पाण्डुनन्दन ॥३८२॥
इन्द्रायुधपिनद्धाङ्गं विद्युन्मालागवाक्षकम् ।
नीलशैलचयप्रख्यं बलाकाभूषिताम्बरम् ॥३८३॥

भारत! पाण्डुनन्दन! छठे महीनेमें आकाशके भीतर मुझे सहस्रों सूर्योंका-सा तेज दिखायी दिया। उस तेजके भीतर एक और तेजोमण्डल दृष्टिगोचर हुआ, जिसका सर्वाङ्ग

इन्द्रधनुषसे परिवेष्टित था। विद्युन्माला उसमें झरोखेके समान प्रतीत होती थी। वह तेज नील पर्वतमालाके समान प्रकाशित होता था। उस द्विविध तेजके कारण वहाँका आकाश बक-पंक्तियोंसे विभूषित-सा जान पड़ता था ॥ ३८२-३८३ ॥

तत्र स्थितश्च भगवान् देव्या सह महाद्युतिः।
तपसा तेजसा कान्त्या दीप्तया सह भार्यया ॥३८४॥

उस नील तेजके भीतर महातेजस्वी भगवान् शिव तप, तेज, कान्ति तथा अपनी तेजस्विनी पत्नी उमादेवीके साथ विराजमान थे ॥ ३८४ ॥

रराज भगवांस्तत्र देव्या सह महेश्वरः।
सोमेन सहितः सूर्यो यथा मेघस्थितस्तथा ॥३८५॥

उस नील तेजमें पार्वती देवीके साथ स्थित हुए भगवान् महेश्वर ऐसी शोभा पा रहे थे मानो चन्द्रमाके साथ सूर्य श्याम मेघके भीतर विराज रहे हों ॥ ३८५ ॥

संहृष्टरोमा कौन्तेय विस्मयोत्फुल्ललोचनः।
अपश्यं देवसंघानां गतिमार्तिहरं हरम् ॥३८६॥

कुन्तीनन्दन ! जो सम्पूर्ण देवसमुदायकी गति हैं तथा सबकी पीड़ा हर लेते हैं, उन भगवान् हरको जब मैंने देखा, तब मेरे रोंगटे खड़े हो गये और मेरे नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे ॥

किरीटिनं गदिनं शूलपाणिं
व्याघ्राजिनं जटिलं दण्डपाणिम्।
पिनाकिनं वज्रिणं तीक्ष्णदंष्ट्रं
शुभाङ्गदं व्यालयज्ञोपवीतम् ॥३८७॥

भगवान्‌के मस्तकपर मुकुट था। उनके हाथमें गदा, त्रिशूल और दण्ड शोभा पाते थे। सिरपर जटा थी। उन्होंने व्याघ्रचर्म धारण कर रखा था। पिनाक और वज्र भी उनकी शोभा बढ़ा रहे थे। उनकी दाढ़ तीखी थी। उन्होंने सुन्दर बाजूबंद पहनकर सर्पमय यज्ञोपवीत धारण कर रखा था ॥

दिव्यां मालामुरसानेकवर्णां
समुद्वहन्तं गुल्फदेशावलम्बाम्।
चन्द्रं यथा परिविष्टं ससंध्यं
वर्षात्यये तद्वदपश्यमेनम् ॥३८८॥

वे अपने वक्षःस्थलपर अनेक रंगवाली दिव्य माला धारण किये हुए थे, जो गुल्फदेश (घुटनों) तक लटक रही थी। जैसे शरद्‌ऋतुमें संध्याकी लालीसे युक्त और घेरेसे घिरे हुए चन्द्रमाका दर्शन होता हो, उसी प्रकार मैंने मालावेष्टित उन भगवान् महादेवजीका दर्शन किया था ॥ ३८८ ॥

प्रमथानां गणैश्चैव समन्तात् परिवारितम्।
शरदीव सुदुष्प्रेक्ष्यं परिविष्टं दिवाकरम् ॥३८९॥

प्रमथगणोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए महातेजस्वी महादेव परिधिसे घिरे हुए शरत्कालके सूर्यकी भाँति बड़ी कठिनाईसे देखे जाते थे ॥ ३८९ ॥

एकादशशतान्येवं रुद्राणां वृषवाहनम्।
अस्तुवं नियतात्मानं कर्मभिः शुभकर्मिणम् ॥३९०॥

इस प्रकार मनको वशमें रखनेवाले और कर्मेन्द्रियोंद्वारा शुभकर्मका ही अनुष्ठान करनेवाले महादेवजीकी, जो ग्यारह सौ रुद्रोंसे घिरे हुए थे, मैंने स्तुति की ॥ ॥ ३९० ॥

आदित्या वसवः साध्या विश्वेदेवास्तथाश्विनौ।
विश्वाभिः स्तुतिभिर्देवं विश्वदेवं समस्तुवन् ॥३९१॥

बारह आदित्य, आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव तथा अश्विनीकुमार—ये भी सम्पूर्ण स्तुतियोंद्वारा सबके देवता महादेवजीकी स्तुति कर रहे थे ॥ ३९१ ॥

शतक्रतुश्च भगवान् विष्णुश्चादितिनन्दनौ।
ब्रह्मा रथन्तरं साम ईरयन्ति भवान्तिके ॥३९२॥

इन्द्र तथा वामनरूपधारी भगवान् विष्णु—ये दोनों अदितिकुमार और ब्रह्माजी भगवान् शिवके निकट रथन्तर सामका गान कर रहे थे ॥ ३९२ ॥

योगीश्वराः सुबहवो योगदं पितरं गुरुम्।
ब्रह्मर्षयश्च ससुतास्तथा देवर्षयश्च वै ॥३९३॥

बहुत-से योगीश्वर, पुत्रोंसहित ब्रह्मर्षि तथा देवर्षिगण भी योगसिद्धि प्रदान करनेवाले, पिता एवं गुरुरूप महादेवजीकी स्तुति करते थे ॥ ३९३ ॥

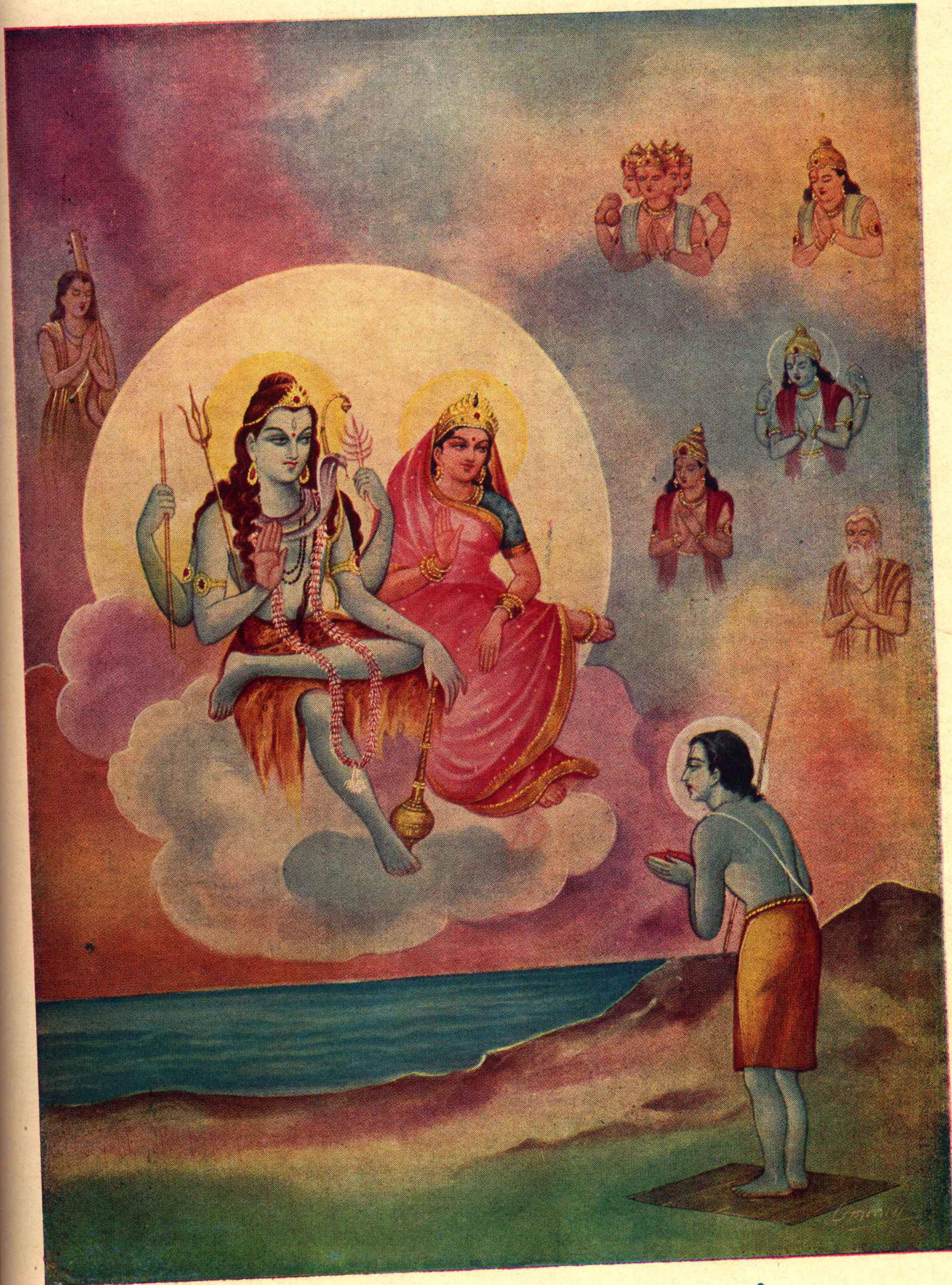
(महाभूतानि च्छन्दांसि प्रजानां पतयो मखाः।
सरितः सागरा नागा गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥
विद्याधराश्च गीतेन वाद्यनृत्तादिनार्चयन्।
तेजस्विनां मध्यगतं तेजोराशिं जगत्पतिम् ॥)

महाभूत, छन्द, प्रजापति, यज्ञ, नदी, समुद्र, नाग, गन्धर्व, अप्सरा तथा विद्याधर—ये सब गीत, वाद्य तथा नृत्य आदिके द्वारा तेजस्वियोंके मध्यभागमें विराजमान तेजोराशि जगदीश्वर शिवकी पूजा-अर्चा करते थे ॥

पृथिवी चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
मासार्धमासा ऋतवो रात्रिः संवत्सराः क्षणाः ॥३९४॥
मुहूर्ताश्च निमेषाश्च तथैव युगपर्ययाः।
दिव्या राजन् नमस्यन्ति विद्याः सत्त्वविदस्तथा ॥३९५॥

राजन् ! पृथ्वी, अन्तरिक्ष, नक्षत्र, ग्रह, मास, पक्ष, ऋतु, रात्रि, संवत्सर, क्षण, मुहूर्त, निमेष, युगचक्र तथा दिव्य विद्याएँ—ये सब (मूर्तिमान् होकर) शिवजीको नमस्कार कर रहे थे। वैसे ही सत्त्ववेत्ता पुरुष भी भगवान् शिवको नमस्कार करते थे ॥ ३९४-३९५ ॥

सनत्कुमारो देवाश्च इतिहासास्तथैव च।
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥३९६॥
मनवः सप्त सोमश्च अथर्वा सबृहस्पतिः।
भृगुर्दक्षः कश्यपश्च वसिष्ठः काश्य एव च ॥३९७॥



दण्ड-मेखलाधारी भगवान् श्रीकृष्णको शिव-पार्वतीके दर्शन

छन्दांसि दीक्षा यज्ञाश्च दक्षिणाः पावको हविः ।
यज्ञोपगानि द्रव्याणि मूर्तिमन्ति युधिष्ठिर ॥३९८॥
प्रजानां पालकाः सर्वे सरितः पन्नगा नगाः ।
देवानां मातरः सर्वा देवपत्न्यः सकन्यकाः ॥३९९॥
सहस्राणि मुनीनां च अयुतान्यर्बुदानि च ।
नमस्यन्ति प्रभुं शान्तं पर्वताः सागरा दिशः ॥४००॥

युधिष्ठिर ! सनत्कुमार, देवगण, इतिहास, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, सात मनु, सोम, अथर्वा, बृहस्पति, भृगु, दक्ष, कश्यप, वसिष्ठ, काश्य, छन्द, दीक्षा, यज्ञ, दक्षिणा, अग्नि, हविष्य, यज्ञोपयोगी मूर्तिमान् द्रव्य, समस्त प्रजापालकगण, नदी, नग, नाग, सम्पूर्ण देवमाताएँ, देवपत्नियाँ, देवकन्याएँ, सहस्रों, लाखों, अरबों महर्षि, पर्वत, समुद्र और दिशाएँ—ये सब-के-सब शान्तस्वरूप भगवान् शिवको नमस्कार करते थे ॥ ३९६-४०० ॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव गीतवादित्रकोविदाः ।
दिव्यतालेषु गायन्तः स्तुवन्ति भवमद्भुतम् ॥४०१॥

गीत और वाद्यकी कलामें कुशल अप्सराएँ तथा गन्धर्व दिव्य तालपर गाते हुए अद्भुत शक्तिशाली भगवान् भवकी स्तुति करते थे ॥ ४०१ ॥

विद्याधरा दानवाश्च गुह्यका राक्षसास्तथा ।
सर्वाणि चैव भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
नमस्यन्ति महाराज वाङ्मनःकर्मभिर्विभुम् ॥४०२॥

महाराज ! विद्याधर, दानव, गुह्यक, राक्षस तथा समस्त चराचर प्राणी मन, वाणी और क्रियाओंद्वारा भगवान् शिवको नमस्कार करते थे ॥ ४०२ ॥

पुरस्ताद् धिष्ठितः शर्वो ममासीत् त्रिदशेश्वरः ।
पुरस्ताद् धिष्ठितं दृष्ट्वा ममेशानं च भारत ॥४०३॥
सप्रजापतिशक्रान्तं जगन्मामभ्युदैक्षत ।
ईक्षितुं च महादेवं न मे शक्तिरभूत् तदा ॥४०४॥

देवेश्वर शिव मेरे सामने खड़े थे । भारत ! मेरे सामने महादेवजीको खड़ा देख प्रजापतियोंसे लेकर इन्द्रतक सारा जगत् मेरी ओर देखने लगा । किंतु उस समय महादेवजीको देखनेकी मुझमें शक्ति नहीं रह गयी थी ॥ ४०३-४०४ ॥

ततो मामब्रवीद् देवः पश्य कृष्ण वदस्व च ।
त्वया ह्याराधितश्चाहं शतशोऽथ सहस्रशः ॥४०५॥

तब भगवान् शिवने मुझसे कहा—'श्रीकृष्ण ! मुझे देखो, मुझसे वार्तालाप करो । तुमने पहले भी सैकड़ों और हजारों बार मेरी आराधना की है ॥ ४०५ ॥

त्वत्समो नास्ति मे कश्चित् त्रिषु लोकेषु वै प्रियः ।
शिरसा वन्दिते देवे देवी प्रीता ह्युमा तदा ।
ततोऽहमब्रुवं स्थाणुं स्तुतं ब्रह्मादिभिः सुरैः ॥४०६॥

'तीनों लोकोंमें तुम्हारे समान दूसरा कोई मुझे प्रिय नहीं है ।' जब मैंने मस्तक झुकाकर महादेवजीको प्रणाम किया, तब देवी उमाको बड़ी प्रसन्नता हुई । उस समय मैंने ब्रह्मा आदि देवताओंद्वारा प्रशंसित भगवान् शिवसे इस प्रकार कहा ॥४०६॥

श्रीकृष्ण उवाच

नमोऽस्तु ते शाश्वत सर्वयोने
ब्रह्माधिपं त्वामृषयो वदन्ति ।
तपश्च सत्त्वं च रजस्तमश्च
त्वामेव सत्यं च वदन्ति सन्तः ॥४०७॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—सबके कारणभूत सनातन परमेश्वर ! आपको नमस्कार है । ऋषि आपको ब्रह्माजीका भी अधिपति बताते हैं । साधु पुरुष आपको ही तप, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तथा सत्यस्वरूप कहते हैं ॥ ४०७ ॥

त्वं वै ब्रह्मा च रुद्रश्च वरुणोऽग्निर्मनुर्भवः ।
धाता त्वष्टा विधाता च त्वं प्रभुः सर्वतोमुखः ॥४०८॥

आप ही ब्रह्मा, रुद्र, वरुण, अग्नि, मनु, शिव, धाता, विधाता और त्वष्टा हैं । आप ही सब ओर मुखवाले परमेश्वर हैं ॥ ४०८ ॥

त्वत्तो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
त्वया सृष्टमिदं कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥४०९॥

समस्त चराचर प्राणी आपहीसे उत्पन्न हुए हैं । आपने ही स्थावर-जङ्गम प्राणियोंसहित इस समस्त त्रिलोकीकी सृष्टि की है ॥ ४०९ ॥

यानीन्द्रियाणीह मनश्च कृत्स्नं
ये वायवः सप्त तथैव चाग्नयः ।
ये देवसंस्थास्तवदेवताश्च
तस्मात् परं त्वामृषयो वदन्ति ॥४१०॥

यहाँ जो-जो इन्द्रियाँ, जो सम्पूर्ण मन, जो समस्त वायु और सात अग्नियाँ[1] हैं, जो देवसमुदायके अंदर रहनेवाले स्तवनके योग्य देवता हैं, उन सबसे परे आपकी स्थिति है । ऋषिगण आपके विषयमें ऐसा ही कहते हैं ॥ ४१० ॥

वेदाश्च यज्ञाः सोमश्च दक्षिणा पावको हविः ।
यज्ञोपगं च यत् किंचिद् भगवांस्तदसंशयम् ॥४११॥

वेद, यज्ञ, सोम, दक्षिणा, अग्नि, हविष्य तथा जो कुछ भी यज्ञोपयोगी सामग्री है, वह सब आप भगवान् ही हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ४११ ॥

इष्टं दत्तमधीतं च व्रतानि नियमाश्च ये ।
ह्रीः कीर्तिः श्रीर्द्युतिस्तुष्टिः सिद्धिश्चैव तदर्पणी ॥४१२॥

यज्ञ, दान, अध्ययन, व्रत और नियम, लज्जा, कीर्ति, श्री, द्युति, तुष्टि तथा सिद्धि—ये सब आपके स्वरूपकी प्राप्ति करानेवाले हैं ॥ ४१२ ॥

१. गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य—ये पाँच वैदिक अग्नियाँ हैं । स्मार्त छठी और लौकिक सातवीं अग्नि है ।

कामः क्रोधो भयं लोभो मदः स्तम्भोऽथ मत्सरः।
आधयो व्याधयश्चैव भगवंस्तनवस्तव ॥४१३॥

भगवन् ! काम, क्रोध, भय, लोभ, मद, स्तब्धता, मात्सर्य, आधि और व्याधि-ये सब आपके ही शरीर हैं।४१३।

कृतिर्विकारः प्रणयः प्रधानं बीजमव्ययम्।
मनसः परमा योनिः प्रभावश्चापि शाश्वतः ॥४१४॥

क्रिया, विकार, प्रणय, प्रधान, अविनाशी बीज, मनका परम कारण और सनातन प्रभाव-ये भी आपके ही स्वरूप हैं ॥

अव्यक्तः पावनोऽचिन्त्यः सहस्रांशुर्हिरण्मयः।
आदिर्गणानां सर्वेषां भवान् वै जीविताश्रयः ॥४१५॥

अव्यक्त, पावन, अचिन्त्य, हिरण्मय सूर्यस्वरूप आप ही समस्त गणोंके आदिकारण तथा जीवनके आश्रय हैं।४१५।

महानात्मा मतिर्ब्रह्मा विश्वः शम्भुः स्वयम्भुवः।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च संवित् ख्यातिर्धृतिःस्मृतिः॥४१६॥
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते।
त्वां बुद्ध्वा ब्राह्मणो वेदात् प्रमोहं विनियच्छति॥४१७॥

महान्, आत्मा, मति, ब्रह्मा, विश्व, शम्भु, स्वयम्भू, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, संवित्, ख्याति, धृति और स्मृति-इन चौदह पर्यायवाची शब्दोंद्वारा आप परमात्मा ही प्रकाशित होते हैं। वेदसे आपका बोध प्राप्त करके ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण मोहका सर्वथा नाश कर देता है ॥ ४१६-४१७ ॥

हृदयं सर्वभूतानां क्षेत्रज्ञस्त्वमृषिस्तुतः।
सर्वतःपाणिपादस्त्वं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ॥४१८॥

ऋषियोंद्वारा प्रशंसित आप ही सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें स्थित क्षेत्रज्ञ हैं। आपके सब ओर हाथ-पैर हैं। सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं ॥ ४१८ ॥

सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि।
फलं त्वमसि तिग्मांशोर्निमेषादिषु कर्मसु ॥४१९॥

आपके सब ओर कान हैं और जगत्में आप सबको व्याप्त करके स्थित हैं। जीवके आँख मीजने और खोलनेसे लेकर जितने कर्म हैं, उनके फल आप ही हैं ॥ ४१९ ॥

त्वं वै प्रभार्चिः पुरुषः सर्वस्य हृदि संश्रितः।
अणिमा महिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥४२०॥

आप अविनाशी परमेश्वर ही सूर्यकी प्रभा और अग्निकी ज्वाला हैं। आप ही सबके हृदयमें आत्मारूपसे निवास करते हैं। अणिमा, महिमा और प्राप्ति आदि सिद्धियाँ तथा ज्योति भी आप ही हैं ॥ ४२० ॥

त्वयि बुद्धिर्मतिर्लोकाः प्रपन्नाः संश्रिताश्च ये।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसत्त्वा जितेन्द्रियाः॥४२१॥

आपमें बोध और मननकी शक्ति विद्यमान है। जो लोग आपकी शरणमें आकर सर्वथा आपके आश्रित रहते हैं, वे ध्यानपरायण, नित्य योगयुक्त, सत्यसंकल्प तथा जितेन्द्रिय होते हैं ॥ ४२१ ॥

यस्त्वां ध्रुवं वेदयते गुहाशयं
प्रभुं पुराणं पुरुषं च विग्रहम्।
हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं
स बुद्धिमान् बुद्धिमतीत्य तिष्ठति॥४२२॥

जो आपको अपनी हृदयगुहामें स्थित आत्मा, प्रभु, पुराण-पुरुष, मूर्तिमान् परब्रह्म, हिरण्मय पुरुष और बुद्धिमानोंकी परम गतिरूपमें निश्चित भावसे जानता है, वही बुद्धिमान् लौकिक बुद्धिका उल्लङ्घन करके परमात्मभावमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४२२ ॥

विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं त्वां च मूर्तितः।
प्रधानविधियोगस्थस्त्वामेव विशते बुधः ॥४२३॥

विद्वान् पुरुष महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—इन सात सूक्ष्म तत्त्वोंको जानकर आपके स्वरूपभूत छः अङ्गों[१]का बोध प्राप्त करके प्रमुख विधियोगका आश्रय ले आपमें ही प्रवेश करते हैं ॥ ४२३ ॥

एवमुक्ते मया पार्थ भवे चार्तिविनाशने।
चराचरं जगत् सर्वं सिंहनादं तदाकरोत् ॥४२४॥

कुन्तीनन्दन ! जब मैंने सबकी पीड़ाका नाश करनेवाले महादेवजीकी इस प्रकार स्तुति की, तब यह सम्पूर्ण चराचर जगत् सिंहनाद कर उठा ॥ ४२४ ॥

तं विप्रसंघाश्च सुरासुराश्च
नागाः पिशाचाः पितरो वयांसि।
रक्षोगणा भूतगणाश्च सर्वे
महर्षयश्चैव तदा प्रणेमुः ॥४२५॥

ब्राह्मणोंके समुदाय, देवता, असुर, नाग, पिशाच, पितर, पक्षी, राक्षसगण, समस्त भूतगण तथा महर्षि भी उस समय भगवान् शिवको प्रणाम करने लगे ॥ ४२५ ॥

मम मूर्ध्नि च दिव्यानां कुसुमानां सुगन्धिनाम्।
राशयो निपतन्ति स्म वायुश्च सुसुखो ववौ ॥४२६॥

मेरे मस्तकपर ढेर-के-ढेर दिव्य सुगन्धित पुष्पोंकी वर्षा होने लगी तथा अत्यन्त सुखदायक हवा चलने लगी ॥४२६॥

निरीक्ष्य भगवान् देवीं ह्युमां मां च जगद्धितः।
शतक्रतुं चाभिवीक्ष्य स्वयं मामाह शङ्करः ॥४२७॥

जगत्के हितैषी भगवान् शङ्करने उमादेवीकी ओर देखकर मेरी ओर देखा और फिर इन्द्रपर दृष्टिपात करके स्वयं मुझसे कहा— ॥ ४२७ ॥

विद्मः कृष्ण परां भक्तिमस्मासु तव शत्रुहन्।
क्रियतामात्मनः श्रेयः प्रीतिर्हि त्वयि मे परा ॥४२८॥

१. सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्त शक्ति और अनन्त शक्ति—ये महेश्वरके स्वरूपभूत छः अङ्ग बताये गये हैं।

'शत्रुहन् श्रीकृष्ण ! मुझमें जो तुम्हारी पराभक्ति है, उसे सब लोग जानते हैं, अब तुम अपना कल्याण करो; क्योंकि तुम्हारे ऊपर मेरा विशेष प्रेम है ॥ ४२८ ॥

वृणीष्वाष्टौ वरान् कृष्ण दातास्मि तव सत्तम ।
ब्रूहि यादवशार्दूल यानिच्छसि सुदुर्लभान् ॥४२९॥

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! यदुकुलसिंह श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हें आठ वर देता हूँ । तुम जिन परम दुर्लभ वरोंको पाना चाहते हो, उन्हें बताओ' ॥ ४२९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मेघवाहनपर्वका आख्यानविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

(दाक्षिणात्य पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ४३३ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

शिव और पार्वतीका श्रीकृष्णको वरदान और उपमन्युके द्वारा महादेवजीकी महिमा

श्रीकृष्ण उवाच

मूर्ध्ना निपत्य नियतस्तेजःसंनिचये ततः ।
परमं हर्षमागत्य भगवन्तमथाब्रुवम् ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—भारत ! तदनन्तर मनको वशमें करके तेजोराशिमें स्थित महादेवजीको मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेके अनन्तर बड़े हर्षमें भरकर मैंने उन भगवान् शिवसे कहा—॥

धर्मे दृढत्वं युधि शत्रुघातं
यशस्तथाग्र्यं परमं बलं च ।
योगप्रियत्वं तव संनिकर्षं
वृणे सुतानां च शतं शतानि ॥ २ ॥

'धर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थिति, युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेकी क्षमता, श्रेष्ठ यश, उत्तम बल, योगबल, सबका प्रिय होना, आपका सांनिध्य तथा दस हजार पुत्र—ये ही आठ वर मैं माँग रहा हूँ' ॥ २ ॥

एवमस्त्विति तद्वाक्यं मयोक्तः प्राह शङ्करः ।
ततो मां जगतो माता धारिणी सर्वपावनी ॥ ३ ॥
उवाचोमा प्रणिहिता शर्वाणी तपसां निधिः ।
दत्तो भगवता पुत्रः साम्बो नाम तवानघ ॥ ४ ॥

मेरे इस प्रकार कहनेपर भगवान् शङ्करने कहा, 'एवमस्तु—ऐसा ही हो ।' तब सबका धारण-पोषण करनेवाली सर्वपावनी तपोनिधि रुद्रपत्नी जगदम्बा उमादेवी एकाग्रचित्त होकर बोलीं—'निष्पाप श्यामसुन्दर ! भगवान्ने तुम्हें साम्ब नामक पुत्र दिया है ॥ ३-४ ॥

मत्तोऽप्यष्टौ वरानिष्टान् गृहाण त्वं ददामि ते ।
प्रणम्य शिरसा सा च मयोक्ता पाण्डुनन्दन ॥ ५ ॥

'अब मुझसे भी अभीष्ट आठ वर माँग लो । मैं तुम्हें वे वर प्रदान करती हूँ ।' पाण्डुनन्दन ! तब मैंने जगदम्बाके चरणोंमें सिरसे प्रणाम करके उनसे कहा—॥ ५ ॥

द्विजेष्वकोपं पितृतः प्रसादं
शतं सुतानां परमं च भोगम् ।
कुले प्रीतिं मातृतश्च प्रसादं
शमप्राप्तिं प्रवृणे चापि दाक्ष्यम् ॥ ६ ॥

'ब्राह्मणोंपर कभी मेरे मनमें क्रोध न हो । मेरे पिता मुझपर प्रसन्न रहें । मुझे सैकड़ों पुत्र प्राप्त हों । उत्तम भोग सदा उपलब्ध रहें । हमारे कुलमें प्रसन्नता बनी रहे । मेरी माता भी प्रसन्न रहें । मुझे शान्ति मिले और प्रत्येक कार्यमें कुशलता प्राप्त हो—ये आठ वर और माँगता हूँ' ॥ ६ ॥

उमोवाच

एवं भविष्यत्यमरप्रभाव
नाहं मृषा जातु वदे कदाचित् ।
भार्यासहस्राणि च षोडशैव
तासु प्रियत्वं च तथाक्षयं च ॥ ७ ॥
प्रीतिं चाग्र्यां बान्धवानां सकाशाद्
ददामि तेऽहं वपुषः काम्यतां च ।
भोक्ष्यन्ते वै सप्तति वै शतानि
गृहे तुभ्यमतिथीनां च नित्यम् ॥ ८ ॥

भगवती उमाने कहा—अमरोंके समान प्रभावशाली श्रीकृष्ण ! ऐसा ही होगा । मैं कभी झूठ नहीं बोलती हूँ । तुम्हें सोलह हजार रानियाँ होंगी । उनका तुम्हारे प्रति प्रेम रहेगा । तुम्हें अक्षय धनधान्यकी प्राप्ति होगी । बन्धु-बान्धवोंकी ओरसे तुम्हें प्रसन्नता प्राप्त होगी । मैं तुम्हारे इस शरीरके सदा कमनीय बने रहनेका वर देती हूँ और तुम्हारे घरमें प्रतिदिन सात हजार अतिथि भोजन करेंगे* ॥ ७-८ ॥

* यहाँ श्रीकृष्णके माँगे हुए आठ वरोंको एवं 'भविष्यति' इस वाक्यके द्वारा देनेके पश्चात् पार्वतीजी अपनी ओरसे आठ वर और देती हैं । इनमें 'अमरप्रभाव' इस सम्बोधनके द्वारा देवोपम प्रभावका दान ही पहला वरदान सूचित किया गया है । 'मैं कभी झूठ नहीं बोलती' इस कथनके द्वारा 'तुम भी कभी झूठ नहीं बोलोगे' यह दूसरा वर सूचित होता है । सोलह हजारके प्राप्त होनेका वर तीसरा है । उनका प्रिय होना चौथा वर है । अक्षय धनधान्यकी प्राप्ति पाँचवाँ वर है । बान्धवोंकी प्रीति छठा, शरीरकी कमनीयता सातवाँ और सात हजार अतिथियोंका भोजन आठवाँ वर है । इससे पहले जो सोलह और आठ वरके प्राप्त होनेकी बात कही गयी थी, उसकी सङ्गति लग जाती है ।

वासुदेव उवाच

एवं दत्त्वा वरान् देवो मम देवी च भारत ।
अन्तर्हितः क्षणे तस्मिन् सगणो भीमपूर्वज ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतनन्दन ! भीमसेनके बड़े भैया ! इस प्रकार महादेवजी तथा देवी पार्वती मुझे वरदान देकर अपने गणोंके साथ उसी क्षण अन्तर्धान हो गये ॥ ९ ॥

एतदत्यद्भुतं पूर्वं ब्राह्मणायातितेजसे ।
उपमन्यवे मया कृत्स्नं व्याख्यातं पार्थिवोत्तम ।
नमस्कृत्वा तु स प्राह देवदेवाय सुव्रत ॥ १० ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त मैंने पहले महातेजस्वी ब्राह्मण उपमन्युको पूर्णरूपसे बताया था । उत्तम व्रतका पालन करनेवाले नरेश ! उपमन्युने देवाधिदेव महादेवजीको नमस्कार करके इस प्रकार कहा ॥ १० ॥

उपमन्युरुवाच

नास्ति शर्वसमो देवो नास्ति शर्वसमा गतिः ।
नास्ति शर्वसमो दाने नास्ति शर्वसमो रणे ॥ ११ ॥

उपमन्यु बोले—महादेवजीके समान कोई देवता नहीं है । महादेवजीके समान कोई गति नहीं है । दानमें शिवजीकी समानता करनेवाला कोई नहीं है तथा युद्धमें भी भगवान् शङ्करके समान दूसरा कोई वीर नहीं है ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मेघवाहन (इन्द्ररूपधारी महादेव) की महिमाके प्रतिपादक पर्वकी कथामें पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

उपमन्यु-श्रीकृष्ण-संवाद—महात्मा तण्डिद्वारा की गयी महादेवजीकी स्तुति, प्रार्थना और उसका फल

उपमन्युरुवाच

ऋषिरासीत् कृते तात तण्डिरित्येव विश्रुतः ।
दशवर्षसहस्राणि तेन देवः समाधिना ॥ १ ॥
आराधितोऽभूद् भक्तेन तस्योदर्कं निशामय ।
स दृष्टवान् महादेवमस्तौषीच्च स्तवैर्विभुम् ॥ २ ॥

उपमन्यु कहते हैं—तात ! सत्ययुगमें तण्डि नामसे विख्यात एक ऋषि थे, जिन्होंने भक्तिभावसे ध्यानके द्वारा दस हजार वर्षोंतक महादेवजीकी आराधना की थी । उन्हें जो फल प्राप्त हुआ था, उसे बता रहा हूँ, सुनिये । उन्होंने महादेवजीका दर्शन किया और स्तोत्रोंद्वारा उन प्रभुकी स्तुति की ॥

इति तण्डिस्तपोयोगात् परमात्मानमव्ययम् ।
चिन्तयित्वा महात्मानमिदमाह सुविस्मितः ॥ ३ ॥

इस तरह तण्डिने तपस्यामें संलग्न होकर अविनाशी परमात्मा महामना शिवका चिन्तन करके अत्यन्त विस्मित हो इस प्रकार कहा था—॥ ३ ॥

यं पठन्ति सदा सांख्याश्चिन्तयन्ति च योगिनः ।
परं प्रधानं पुरुषमधिष्ठातारमीश्वरम् ॥ ४ ॥
उत्पत्तौ च विनाशे च कारणं यं विदुर्बुधाः ।
देवासुरमुनीनां च परं यस्मान्न विद्यते ॥ ५ ॥
अजं तमहमीशानमनादिनिधनं प्रभुम् ।
अत्यन्तसुखिनं देवमनघं शरणं व्रजे ॥ ६ ॥

'सांख्यशास्त्रके विद्वान् पर, प्रधान, पुरुष, अधिष्ठाता और ईश्वर कहकर सदा जिनका गुणगान करते हैं, योगीजन जिनके चिन्तनमें लगे रहते हैं, विद्वान् पुरुष जिन्हें जगत्की उत्पत्ति और विनाशका कारण समझते हैं, देवताओं, असुरों और मुनियोंमें भी जिनसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है, उन अजन्मा, अनादि, अनन्त, अनघ और अत्यन्त सुखी, प्रभावशाली ईश्वर महादेवजीकी मैं शरण लेता हूँ' ॥ ४—६ ॥

एवं ब्रुवन्नेव तदा ददर्श तपसां निधिम् ।
तमव्ययमनौपम्यमचिन्त्यं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ७ ॥
निष्कलं सकलं ब्रह्म निर्गुणं गुणगोचरम् ।
योगिनां परमानन्दमक्षरं मोक्षसंज्ञितम् ॥ ८ ॥

इतना कहते ही तण्डिने उन तपोनिधि, अविकारी, अनुपम, अचिन्त्य, शाश्वत, ध्रुव, निष्कल, सकल, निर्गुण एवं सगुण ब्रह्मका दर्शन प्राप्त किया, जो योगियोंके परमानन्द, अविनाशी एवं मोक्षस्वरूप हैं ॥ ७-८ ॥

मनोरिन्द्राग्निमरुतां विश्वस्य ब्रह्मणो गतिम् ।
अग्राह्यमचलं शुद्धं बुद्धिग्राह्यं मनोमयम् ॥ ९ ॥

वे ही मनु, इन्द्र, अग्नि, मरुद्गण, सम्पूर्ण विश्व तथा ब्रह्माजीकी भी गति हैं । मन और इन्द्रियोंके द्वारा उनका ग्रहण नहीं हो सकता । वे अग्राह्य, अचल, शुद्ध, बुद्धिके द्वारा अनुभव करने योग्य तथा मनोमय हैं ॥ ९ ॥

दुर्विज्ञेयमसंख्येयं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ।
योनिं विश्वस्य जगतस्तमसः परतः परम् ॥ १० ॥

उनका ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है । वे अप्रमेय हैं । जिन्होंने अपने अन्तःकरणको पवित्र एवं वशीभूत नहीं किया है, उनके लिये वे सर्वथा दुर्लभ हैं । वे ही सम्पूर्ण जगत्के कारण हैं । अज्ञानमय अन्धकारसे अत्यन्त परे हैं ॥ १० ॥

यः प्राणवन्तमात्मानं ज्योतिर्जीवस्थितं मनः ।
तं देवं दर्शनाकाङ्क्षी बहून् वर्षगणानृषिः ॥ ११ ॥
तपस्युग्रे स्थितो भूत्वा दृष्ट्वा तुष्टाव चेश्वरम् ॥

जो देवता अपनेको प्राणवान्—जीवस्वरूप बनाकर उसमें मनोमय ज्योति बनकर स्थित हुए थे, उन्हींके दर्शनकी अभिलाषासे तण्डि मुनि बहुत वर्षोंतक उग्र तपस्यामें लगे रहे। जब उनका दर्शन प्राप्त कर लिया, तब उन मुनीश्वरने जगदीश्वर शिवकी इस प्रकार स्तुति की ॥ ११½ ॥

तण्डिरुवाच

पवित्राणां पवित्रस्त्वं गतिर्गतिमतां वर ॥ १२ ॥
अत्युग्रं तेजसां तेजस्तपसां परमं तपः ।

तण्डिने कहा—सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! आप पवित्रोंमें भी परम पवित्र तथा गतिशील प्राणियोंकी उत्तम गति हैं। तेजोंमें अत्यन्त उग्र तेज और तपस्याओंमें उत्कृष्ट तप हैं ॥

विश्वावसुहिरण्याक्षपुरुहूतनमस्कृत ॥ १३ ॥
भूरिकल्याणद विभो परं सत्यं नमोऽस्तु ते ।

गन्धर्वराज विश्वावसु, दैत्यराज हिरण्याक्ष और देवराज इन्द्र भी आपकी वन्दना करते हैं। सबको महान् कल्याण प्रदान करनेवाले प्रभो ! आप परम सत्य हैं। आपको नमस्कार है ॥ १३½ ॥

जातीमरणभीरूणां यतीनां यततां विभो ॥ १४ ॥
निर्वाणद सहस्रांशो नमस्तेऽस्तु सुखाश्रय ।

विभो ! जो जन्म-मरणसे भयभीत हो संसार-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये प्रयत्न करते हैं, उन यतियोंको निर्वाण (मोक्ष) प्रदान करनेवाले आप ही हैं। आप ही सहस्रों किरणोंवाले सूर्य होकर तप रहे हैं। सुखके आश्रयरूप महेश्वर ! आपको नमस्कार है ॥ १४½ ॥

ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वेदेवा महर्षयः ॥ १५ ॥
न विदुस्त्वां तु तत्त्वेन कुतो वेत्स्यामहे वयम् ।
त्वत्तः प्रवर्तते सर्वं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १६ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, विश्वेदेव तथा महर्षि भी आपको यथार्थरूपसे नहीं जानते हैं। फिर हम कैसे जान सकते हैं। आपसे ही सबकी उत्पत्ति होती है तथा आपमें ही यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है ॥ १५-१६ ॥

कालाख्यः पुरुषाख्यश्च ब्रह्माख्यश्च त्वमेव हि ।
तनवस्ते स्मृतास्तिस्रः पुराणज्ञैः सुरर्षिभिः ॥ १७ ॥

काल, पुरुष और ब्रह्म—इन तीन नामोंद्वारा आप ही प्रतिपादित होते हैं। पुराणवेत्ता देवर्षियोंने आपके ये तीन रूप बताये हैं ॥ १७ ॥

अधिपौरुषमध्यात्ममधिभूताधिदैवतम् ।
अधिलोकाधिविज्ञानमधियज्ञस्त्वमेव हि ॥ १८ ॥

अधिपौरुष, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत, अधिलोक, अधिविज्ञान और अधियज्ञ आप ही हैं ॥ १८ ॥

त्वां विदित्वात्मदेहस्थं दुर्विदं दैवतैरपि ।
विद्वांसो यान्ति निर्मुक्ताः परं भावमनामयम् ॥ १९ ॥

आप देवताओंके लिये भी दुर्ज्ञेय हैं। विद्वान् पुरुष आपको अपने ही शरीरमें स्थित अन्तर्यामी आत्माके रूपमें जानकर संसार-बन्धनसे मुक्त हो रोग-शोकसे रहित परमभावको प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

अनिच्छतस्तव विभो जन्ममृत्युरनेकतः ।
द्वारं तु स्वर्गमोक्षाणामाक्षेप्ता त्वं ददासि च ॥ २० ॥

प्रभो ! यदि आप स्वयं ही कृपा करके जीवका उद्धार करना न चाहें तो उसके बारंबार जन्म और मृत्यु होते रहते हैं। आप ही स्वर्ग और मोक्षके द्वार हैं। आप ही उनकी प्राप्तिमें बाधा डालनेवाले हैं तथा आप ही ये दोनों वस्तुएँ प्रदान करते हैं ॥ २० ॥

त्वं वै स्वर्गश्च मोक्षश्च कामः क्रोधस्त्वमेव च ।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव अधश्चोर्ध्वं त्वमेव हि ॥ २१ ॥

आप ही स्वर्ग और मोक्ष हैं। आप ही काम और क्रोध हैं तथा आप ही सत्त्व, रज, तम, अधोलोक और ऊर्ध्वलोक हैं ॥

ब्रह्मा भवश्च विष्णुश्च स्कन्देन्द्रौ सविता यमः ।
वरुणेन्दू मनुर्धाता विधाता त्वं धनेश्वरः ॥ २२ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द, इन्द्र, सूर्य, यम, वरुण, चन्द्रमा, मनु, धाता, विधाता और धनाध्यक्ष कुबेर भी आप ही हैं ॥ २२ ॥

भूर्वायुः सलिलाग्निश्च खं वाग्बुद्धिः स्थितिर्मतिः ।
कर्म सत्यानृते चोभे त्वमेवास्ति च नास्ति च ॥ २३ ॥

पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, आकाश, वाणी, बुद्धि, स्थिति, मति, कर्म, सत्य, असत्य तथा अस्ति और नास्ति भी आप ही हैं ॥ २३ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च प्रकृतिभ्यः परं ध्रुवम् ।
विश्वाविश्वपरो भावश्चिन्त्याचिन्त्यस्त्वमेव हि ॥ २४ ॥

आप ही इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके विषय हैं। आप ही प्रकृतिसे परे निश्चल एवं अविनाशी तत्त्व हैं। आप ही विश्व और अविश्व—दोनोंसे परे विलक्षण भाव हैं तथा आप ही चिन्त्य और अचिन्त्य हैं ॥ २४ ॥

यच्चैतत् परमं ब्रह्म यच्च तत् परमं पदम् ।
या गतिः सांख्ययोगानां स भवान् नात्र संशयः ॥ २५ ॥

जो यह परम ब्रह्म है, जो वह परमपद है तथा जो सांख्यवेत्ताओं और योगियोंकी गति है, वह आप ही हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ २५ ॥

नूनमद्य कृतार्थाः स्म नूनं प्राप्ताः सतां गतिम् ।
यां गतिं प्रार्थयन्तीह ज्ञाननिर्मलबुद्धयः ॥ २६ ॥

ज्ञानसे निर्मल बुद्धिवाले ज्ञानी पुरुष यहाँ जिस गतिको

प्राप्त करना चाहते हैं, सत्पुरुषोंकी उसी गतिको निश्चित रूपसे हम प्राप्त हो गये हैं; अतः आज हम निश्चय ही कृतार्थ हो गये ॥ २६ ॥

अहो मूढाः स्म सुचिरमिमं कालमचेतसा।
यन्न विद्मः परं देवं शाश्वतं यं विदुर्बुधाः ॥ २७ ॥

अहो, हम अज्ञानवश इतने दीर्घकालतक मोहमें पड़े रहे हैं, क्योंकि जिन्हें विद्वान् पुरुष जानते हैं, उन्हीं सनातन परमदेवको हम अबतक नहीं जान सके थे ॥ २७ ॥

सेयमासादिता साक्षात् त्वद्भक्तिर्जन्मभिर्मया।
भक्तानुग्रहकृद् देवो यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥ २८ ॥

अब अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे मैंने यह साक्षात् आपकी भक्ति प्राप्त की है। आप ही भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले महान् देवता हैं, जिन्हें जानकर ज्ञानी पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥ २८ ॥

देवासुरमुनीनां तु यच्च गुह्यं सनातनम्।
गुहायां निहितं ब्रह्म दुर्विज्ञेयं मुनेरपि ॥ २९ ॥
स एष भगवान् देवः सर्वकृत् सर्वतोमुखः।
सर्वात्मा सर्वदर्शी च सर्वगः सर्ववेदिता ॥ ३० ॥

जो सनातन ब्रह्म देवताओं, असुरों और मुनियोंके लिये भी गुह्य है, जो हृदयगुहामें स्थित रहकर मननशील मुनिके लिये भी दुर्विज्ञेय बने हुए हैं, वही ये भगवान् हैं। ये ही सबकी सृष्टि करनेवाले देवता हैं। इनके सब ओर मुख हैं। ये सर्वात्मा, सर्वदर्शी, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ हैं ॥ २९-३० ॥

देहकृद् देहभृद् देही देहभुग्देहिनां गतिः।
प्राणकृत् प्राणभृत् प्राणी प्राणदः प्राणिनां गतिः ॥ ३१ ॥

आप शरीरके निर्माता और शरीरधारी हैं, इसीलिये देही कहलाते हैं। देहके भोक्ता और देहधारियोंकी परम गति हैं। आप ही प्राणोंके उत्पादक, प्राणधारी, प्राणी, प्राणदाता तथा प्राणियोंकी गति हैं ॥ ३१ ॥

अध्यात्मगतिरिष्टानां ध्यायिनामात्मवेदिनाम्।
अपुनर्भवकामानां या गतिः सोऽयमीश्वरः ॥ ३२ ॥

ध्यान करनेवाले प्रियभक्तोंकी जो अध्यात्मगति हैं तथा पुनर्जन्मकी इच्छा न रखनेवाले आत्मज्ञानी पुरुषोंकी जो गति बतायी गयी है, वह ये ईश्वर ही हैं ॥ ३२ ॥

अयं च सर्वभूतानां शुभाशुभगतिप्रदः।
अयं च जन्ममरणे विदध्यात् सर्वजन्तुषु ॥ ३३ ॥

ये ही समस्त प्राणियोंको शुभ और अशुभ गति प्रदान करनेवाले हैं। ये ही समस्त प्राणियोंको जन्म और मृत्यु प्रदान करते हैं ॥ ३३ ॥

अयं संसिद्धिकामानां या गतिः सोऽयमीश्वरः।
भूराद्यान् सर्वभुवनानुत्पाद्य सदिवौकसः।
दधाति देवस्तनुभिरष्टाभिर्यो बिभर्ति च ॥ ३४ ॥

संसिद्धि (मुक्ति) की इच्छा रखनेवाले पुरुषोंकी जो परम गति है, वह ये ईश्वर ही हैं। देवताओंसहित भू आदि समस्त लोकोंको उत्पन्न करके ये महादेव ही (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, यजमान—इन) अपनी आठ मूर्तियोंद्वारा उनका धारण और पोषण करते हैं ॥ ३४ ॥

अतः प्रवर्तते सर्वमस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।
अस्मिंश्च प्रलयं याति अयमेकः सनातनः ॥ ३५ ॥

इन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है और इन्हींमें सारा जगत् प्रतिष्ठित है और इन्हींमें सबका लय होता है। ये ही एक सनातन पुरुष हैं ॥ ३५ ॥

अयं स सत्यकामानां सत्यलोकः परं सताम्।
अपवर्गश्च मुक्तानां कैवल्यं चात्मवेदिनाम् ॥ ३६ ॥

ये ही सत्यकी इच्छा रखनेवाले सत्पुरुषोंके लिये सर्वोत्तम सत्यलोक हैं। ये ही मुक्त पुरुषोंके अपवर्ग (मोक्ष) और आत्मज्ञानियोंके कैवल्य हैं ॥ ३६ ॥

अयं ब्रह्मादिभिः सिद्धैर्गुहायां गोपितः प्रभुः।
देवासुरमनुष्याणामप्रकाशो भवेदिति ॥ ३७ ॥

देवता, असुर और मनुष्योंको इनका पता न लगने पाये, मानो इसीलिये ब्रह्मा आदि सिद्ध पुरुषोंने इन परमेश्वरको अपनी हृदयगुफामें छिपा रखा है ॥ ३७ ॥

तं त्वां देवासुरनरास्तत्त्वेन न विदुर्भवम्।
मोहिताः खल्वनेनैव हृदिस्थेनाप्रकाशिना ॥ ३८ ॥

हृदयमन्दिरमें गूढ़भावसे रहकर प्रकाशित न होनेवाले इन परमात्मदेवने सबको अपनी मायासे मोहित कर रखा है। इसीलिये देवता, असुर और मनुष्य आप महादेवको यथार्थ रूपसे नहीं जान पाते हैं ॥ ३८ ॥

ये चैनं प्रतिपद्यन्ते भक्तियोगेन भाविताः।
तेषामेवात्मनाऽऽत्मानं दर्शयत्येष हृच्छयः ॥ ३९ ॥

जो लोग भक्तियोगसे भावित होकर उन परमेश्वरकी शरण लेते हैं, उन्हींको यह हृदय-मन्दिरमें शयन करनेवाले भगवान् स्वयं अपना दर्शन देते हैं ॥ ३९ ॥

यं ज्ञात्वा न पुनर्जन्म मरणं चापि विद्यते।
यं विदित्वा परं वेद्यं वेदितव्यं न विद्यते ॥ ४० ॥
यं लब्ध्वा परमं लाभं नाधिकं मन्यते बुधः।
यां सूक्ष्मां परमां प्राप्तिं गच्छन्नव्ययमक्षयम् ॥ ४१ ॥
यं सांख्या गुणतत्त्वज्ञाः सांख्यशास्त्रविशारदाः।
सूक्ष्मज्ञानतराः सूक्ष्मं ज्ञात्वा मुच्यन्ति बन्धनैः ॥ ४२ ॥
यं च वेदविदो वेद्यं वेदान्ते च प्रतिष्ठितम्।
प्राणायामपरा नित्यं यं विशन्ति जपन्ति च ॥ ४३ ॥
ओंकाररथमारुह्य ते विशन्ति महेश्वरम्।
अयं स देवयानानामादित्यो द्वारमुच्यते ॥ ४४ ॥

जिन्हें जान लेनेपर फिर जन्म और मरणका बन्धन नहीं रह जाता है तथा जिनका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर फिर दूसरे किसी उत्कृष्ट ज्ञेय तत्त्वका जानना शेष नहीं रहता है, जिन्हें

प्राप्त कर लेनेपर विद्वान् पुरुष बड़े-से-बड़े लाभको भी उनसे अधिक नहीं मानता है, जिस सूक्ष्म परम पदार्थको पाकर ज्ञानी मनुष्य ह्रास और नाशसे रहित परमपदको प्राप्त कर लेता है, सत्त्व आदि तीन गुणों तथा चौबीस तत्त्वोंको जाननेवाले सांख्यज्ञानविशारद सांख्ययोगी विद्वान् जिस सूक्ष्म तत्त्वको जानकर उस सूक्ष्मज्ञानरूपी नौकाके द्वारा संसारसमुद्रसे पार होते और सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं, प्राणायामपरायण पुरुष वेदवेत्ताओंके जानने योग्य तथा वेदान्तमें प्रतिष्ठित जिस नित्य तत्त्वका ध्यान और जप करते हैं और उसीमें प्रवेश कर जाते हैं; वही ये महेश्वर हैं। ॐकाररूपी रथपर आरूढ़ होकर वे सिद्ध पुरुष इन्हींमें प्रवेश करते हैं। ये ही देवयानके द्वाररूप सूर्य कहलाते हैं ।४०-४४।

अयं च पितृयानानां चन्द्रमा द्वारमुच्यते ।
एष काष्ठा दिशश्चैव संवत्सरयुगादि च ॥ ४५ ॥
दिव्यादिव्यः परो लाभ अयने दक्षिणोत्तरे ।

ये ही पितृयान-मार्गके द्वार चन्द्रमा कहलाते हैं। काष्ठा, दिशा, संवत्सर और युग आदि भी ये ही हैं। दिव्य लाभ (देवलोकका सुख), अदिव्य लाभ (इस लोकका सुख), परम लाभ (मोक्ष), उत्तरायण और दक्षिणायन भी ये ही हैं ॥ ४५½ ॥

एवं प्रजापतिः पूर्वमाराध्य बहुभिः स्तवैः ॥ ४६ ॥
प्रजार्थं वरयामास नीललोहितसंज्ञितम् ।

पूर्वकालमें प्रजापतिने नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा इन्हीं नीललोहित नामवाले भगवान्‌की आराधना करके प्रजाकी सृष्टिके लिये वर प्राप्त किया था ॥ ४६½ ॥

ऋग्भिर्यमनुशासन्ति तत्त्वे कर्मणि बह्वृचाः ॥ ४७ ॥
यजुर्भिर्यत्त्रिधा वेद्यं जुह्वत्यध्वर्यवोऽध्वरे ।
सामभिर्यं च गायन्ति सामगाः शुद्धबुद्धयः ॥ ४८ ॥
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म स्तुवन्त्याथर्वणा द्विजाः ।
यज्ञस्य परमा योनिः पतिश्चायं परः स्मृतः ॥ ४९ ॥

ऋग्वेदके विद्वान् तात्त्विक यज्ञकर्ममें ऋग्वेदके मन्त्रोंद्वारा जिनकी महिमाका गान करते हैं, यजुर्वेदके ज्ञाता द्विज यज्ञमें यजुर्मन्त्रोंद्वारा दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय—इन त्रिविध रूपोंसे जाननेयोग्य जिन महादेवजीके उद्देश्यसे आहुति देते हैं तथा शुद्ध बुद्धिसे युक्त सामवेदके गानेवाले विद्वान् साममन्त्रोंद्वारा जिनकी स्तुति गाते हैं, अथर्ववेदी ब्राह्मण ऋत, सत्य एवं परब्रह्मनामसे जिनकी स्तुति करते हैं, जो यज्ञके परम कारण हैं, वे ही ये परमेश्वर समस्त यज्ञोंके परमपति माने गये हैं ॥ ४७-४९ ॥

रात्र्यहःश्रोत्रनयनः पक्षमासशिरोभुजः ।
ऋतुवीर्यस्तपोधैर्यो ह्यब्दगुह्योरुपादवान् ॥ ५० ॥

रात और दिन इनके कान और नेत्र हैं, पक्ष और मास इनके मस्तक और भुजाएँ हैं, ऋतु वीर्य है, तपस्या धैर्य है तथा वर्ष गुह्य-इन्द्रिय, ऊरु और पैर हैं ॥ ५० ॥

मृत्युर्यमो हुताशश्च कालः संहारवेगवान् ।
कालस्य परमा योनिः कालश्चायं सनातनः ॥ ५१ ॥

मृत्यु, यम, अग्नि, संहारके लिये वेगशाली काल, कालके परम कारण तथा सनातन काल भी—ये महादेव ही हैं ॥ ५१ ॥

चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रौ ग्रहाश्च सह वायुना ।
ध्रुवः सप्तर्षयश्चैव भुवनाः सप्त एव च ॥ ५२ ॥
प्रधानं महदव्यक्तं विशेषान्तं सवैकृतम् ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं भूतादि सदसच्च यत् ॥ ५३ ॥
अष्टौ प्रकृतयश्चैव प्रकृतिभ्यश्च यः परः ।

चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, वायु, ध्रुव, सप्तर्षि; सात भुवन, मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, विकारोंके सहित विशेषपर्यन्त समस्त तत्त्व, ब्रह्माजीसे लेकर कीटपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्, भूतादि, सत् और असत् आठ प्रकृतियाँ तथा प्रकृतिसे परे जो पुरुष है, इन सबके रूपमें ये महादेवजी ही विराजमान हैं ॥ ५२-५३½ ॥

अस्य देवस्य यद् भागं कृत्स्नं सम्परिवर्तते ॥ ५४ ॥
एतत् परममानन्दं यत् तच्छाश्वतमेव च ।
एषा गतिर्विरक्तानामेष भावः परः सताम् ॥ ५५ ॥

इन महादेवजीका अंशभूत जो सम्पूर्ण जगत् चक्रकी भाँति निरन्तर चलता रहता है, वह भी ये ही हैं। ये परमानन्दस्वरूप हैं। जो शाश्वत ब्रह्म है, वह भी ये ही हैं। ये ही विरक्तोंकी गति हैं और ये ही सत्पुरुषोंके परमभाव हैं ॥५४-५५॥

एतत् पदमनुद्विग्नमेतद् ब्रह्म सनातनम् ।
शास्त्रवेदाङ्गविदुषामेतद् ध्यानं परं पदम् ॥ ५६ ॥

ये ही उद्वेगरहित परमपद हैं। ये ही सनातन ब्रह्म हैं। शास्त्रों और वेदाङ्गोंके ज्ञाता पुरुषोंके लिये ये ही ध्यान करनेके योग्य परमपद हैं ॥ ५६ ॥

इयं सा परमा काष्ठा इयं सा परमा कला ।
इयं सा परमा सिद्धिरियं सा परमा गतिः ॥ ५७ ॥
इयं सा परमा शान्तिरियं सा निर्वृतिः परा ।
यं प्राप्य कृतकृत्याः स्म इत्यमन्यन्त योगिनः ॥ ५८ ॥

यही वह पराकाष्ठा, यही वह परम कला, यही वह परम सिद्धि और यही वह परम गति हैं एवं यही वह परम शान्ति और वह परम आनन्द भी हैं, जिसको पाकर योगीजन अपनेको कृतकृत्य मनाते हैं ॥ ५७-५८ ॥

इयं तुष्टिरियं सिद्धिरियं श्रुतिरियं स्मृतिः ।
अध्यात्मगतिरिष्टानां विदुषां प्राप्तिरव्यया ॥ ५९ ॥

यह तुष्टि, यह सिद्धि, यह श्रुति, यह स्मृति, भक्तोंकी यह अध्यात्मगति तथा ज्ञानी पुरुषोंकी यह अक्षय प्राप्ति (पुनरावृत्तिरहित मोक्षलाभ) आप ही हैं ॥ ५९ ॥

यजतां कामयानानां मखैर्विपुलदक्षिणैः।
या गतिर्यज्ञशीलानां सा गतिस्त्वं न संशयः ॥ ६० ॥

प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा सकाम भावसे यजन करनेवाले यजमानोंकी जो गति होती है, वह गति आप ही हैं। इसमें संशय नहीं है ॥ ६० ॥

सम्यग् योगजपैः शान्तिर्नियमैर्देहतापनैः।
तप्यतां या गतिर्देव परमा सा गतिर्भवान् ॥ ६१ ॥

देव ! उत्तम योग-जप तथा शरीरको सुखा देनेवाले नियमोंद्वारा जो शान्ति मिलती है और तपस्या करनेवाले पुरुषोंको जो दिव्य गति प्राप्त होती है, वह परम गति आप ही हैं ॥ ६१ ॥

कर्मन्यासकृतानां च विरक्तानां ततस्ततः।
या गतिर्ब्रह्मसदने सा गतिस्त्वं सनातन ॥ ६२ ॥

सनातन देव ! कर्म-संन्यासियोंको और विरक्तोंको ब्रह्मलोकमें जो उत्तम गति प्राप्त होती है, वह आप ही हैं ॥६२॥

अपुनर्भवकामानां वैराग्ये वर्ततां च या।
प्रकृतीनां लयानां च सा गतिस्त्वं सनातन ॥ ६३ ॥

सनातन परमेश्वर ! जो मोक्षकी इच्छा रखकर वैराग्यके मार्गपर चलते हैं उन्हें, और जो प्रकृतिमें लयको प्राप्त होते हैं उन्हें, जो गति उपलब्ध होती है, वह आप ही हैं ॥ ६३ ॥

ज्ञानविज्ञानयुक्तानां निरुपाख्या निरञ्जना।
कैवल्या या गतिर्देव परमा सा गतिर्भवान् ॥ ६४ ॥

देव ! ज्ञान और विज्ञानसे युक्त पुरुषोंको जो सारूप्य आदि नामसे रहित, निरञ्जन एवं कैवल्यरूप परमगति प्राप्त होती है, वह आप ही हैं ॥ ६४ ॥

वेदशास्त्रपुराणोक्ताः पञ्चैता गतयः स्मृताः।
त्वत्प्रसादाद्धि लभ्यन्ते न लभ्यन्तेऽन्यथा विभो ॥ ६५ ॥

प्रभो ! वेद-शास्त्र और पुराणोंमें जो ये पाँच गतियाँ बतायी गयी हैं, ये आपकी कृपासे ही प्राप्त होती हैं, अन्यथा नहीं ॥ ६५ ॥

इति तण्डिस्तपोराशिस्तुष्टावेशानमात्मना।
जगौ च परमं ब्रह्म यत् पुरा लोककृज्जगौ ॥ ६६ ॥

इस प्रकार तपस्याकी निधिरूप तण्डिने अपने मनसे महादेवजीकी स्तुति की और पूर्वकालमें ब्रह्माजीने जिस परम ब्रह्मस्वरूप स्तोत्रका गान किया था, उसीका स्वयं भी गान किया ॥ ६६ ॥

उपमन्युरुवाच

एवं स्तुतो महादेवस्तण्डिना ब्रह्मवादिना।
उवाच भगवान् देव उमया सहितः प्रभुः ॥ ६७ ॥

उपमन्यु कहते हैं—ब्रह्मवादी तण्डिके इस प्रकार स्तुति करनेपर पार्वतीसहित प्रभावशाली भगवान् महादेव उनसे बोले ॥ ६७ ॥

ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वेदेवा महर्षयः।
न विदुस्त्वामिति ततस्तुष्टः प्रोवाच तं शिवः ॥ ६८ ॥

तण्डिने स्तुति करते हुए यह बात कही थी कि 'ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, विश्वेदेव और महर्षि भी आपको यथार्थरूपसे नहीं जानते हैं', इससे भगवान् शङ्कर बहुत संतुष्ट हुए और बोले ॥ ६८ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षयश्चाव्ययश्चैव भविता दुःखवर्जितः।
यशस्वी तेजसा युक्तो दिव्यज्ञानसमन्वितः ॥ ६९ ॥

भगवान् श्रीशिवने कहा—ब्रह्मन् ! तुम अक्षय, अविकारी, दुःखरहित, यशस्वी, तेजस्वी एवं दिव्यज्ञानसे सम्पन्न होओगे ॥ ६९ ॥

ऋषीणामभिगम्यश्च सूत्रकर्ता सुतस्तव।
मत्प्रसादाद् द्विजश्रेष्ठ भविष्यति न संशयः ॥ ७० ॥
कं वा कामं ददाम्यद्य ब्रूहि यद् वत्स काङ्क्षसे।

द्विजश्रेष्ठ ! मेरी कृपासे तुम्हें एक विद्वान् पुत्र प्राप्त होगा, जिसके पास ऋषिलोग भी शिक्षा ग्रहण करनेके लिये जायँगे । वह कल्पसूत्रका निर्माण करेगा, इसमें संशय नहीं है । वत्स ! बोलो, तुम क्या चाहते हो ? अब मैं तुम्हें कौन-सा मनोवाञ्छित वर प्रदान करूँ ? ॥ ७०½ ॥

प्राञ्जलिः स उवाचेदं त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे ॥ ७१ ॥

तब तण्डिने हाथ जोड़कर कहा—'प्रभो ! आपके चरणारविन्दमें मेरी सुदृढ़ भक्ति हो' ॥ ७१ ॥

उपमन्युरुवाच

एतान् दत्त्वा वरान् देवो वन्द्यमानः सुरर्षिभिः।
स्तूयमानश्च विबुधैस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ७२ ॥

उपमन्युने कहा—देवर्षियोंद्वारा वन्दित और देवताओंद्वारा प्रशंसित होते हुए महादेवजी इन वरोंको देकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ७२ ॥

अन्तर्हिते भगवति सानुगे यादवेश्वर।
ऋषिराश्रममागम्य ममैतत् प्रोक्तवानिह ॥ ७३ ॥

यादवेश्वर ! जब पार्षदोंसहित भगवान् अन्तर्धान हो गये, तब ऋषिने मेरे आश्रमपर आकर यहाँ मुझसे ये सब बातें बतायीं ॥ ७३ ॥

यानि च प्रथितान्यादौ तण्डिराख्यातवान् मम।
नामानि मानवश्रेष्ठ तानि त्वं शृणु सिद्धये ॥ ७४ ॥

मानवश्रेष्ठ ! तण्डिमुनिने जिन आदिकालके प्रसिद्ध नामोंका मेरे सामने वर्णन किया, उन्हें आप भी सुनिये । वे सिद्धि प्रदान करनेवाले हैं ॥ ७४ ॥

दशनामसहस्राणि देवेष्वाह पितामहः।
शर्वस्य शास्त्रेषु तथा दशनामशतानि च ॥ ७५ ॥

पितामह ब्रह्माने पूर्वकालमें देवताओंके निकट महादेव-

जीके दस हजार नाम बताये थे और शास्त्रोंमें भी उनके सहस्र नाम वर्णित हैं ॥ ७५ ॥

गुह्यानीमानि नामानि तण्डिर्भगवतोऽच्युत ।
देवप्रसादाद् देवेशः पुरा प्राह महात्मने ॥ ७६ ॥

अच्युत ! पहले देवेश्वर ब्रह्माजीने महादेवजीकी कृपासे महात्मा तण्डिके निकट जिन नामोंका वर्णन किया था, महर्षि तण्डिने भगवान् महादेवके उन्हीं समस्त गोपनीय नामोंका मेरे समक्ष प्रतिपादन किया था ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मेघवाहनपर्वकी कथाविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

शिवसहस्रनामस्तोत्र और उसके पाठका फल

वासुदेव उवाच

ततः स प्रयतो भूत्वा मम तात युधिष्ठिर ।
प्राञ्जलिः प्राह विप्रर्षिर्नामसंग्रहमादितः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—तात युधिष्ठिर ! तदनन्तर ब्रह्मर्षि उपमन्युने मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके पवित्र हो हाथ जोड़ मेरे समक्ष वह नाम-संग्रह आदिसे ही कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

उपमन्युरुवाच

ब्रह्मप्रोक्तैर्ऋषिप्रोक्तैर्वेदवेदाङ्गसम्भवैः ।
सर्वलोकेषु विख्यातं स्तुत्यं स्तोष्यामि नामभिः॥ २ ॥

उपमन्यु बोले—मैं ब्रह्माजीके कहे हुए, ऋषियोंके बताये हुए तथा वेद-वेदाङ्गोंसे प्रकट हुए नामोंद्वारा सर्वलोकविख्यात एवं स्तुतिके योग्य भगवान्‌की स्तुति करूँगा ॥ २ ॥

महद्भिर्विहितैः सत्यैः सिद्धैः सर्वार्थसाधकैः ।
ऋषिणा तण्डिना भक्त्या कृतैर्वेदकृतात्मना ॥ ३ ॥
यथोक्तैः साधुभिः ख्यातैर्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
प्रवरं प्रथमं स्वर्ग्यं सर्वभूतहितं शुभम् ॥ ४ ॥
श्रुतैः सर्वत्र जगति ब्रह्मलोकावतारितैः ।
सत्यैस्तत् परमं ब्रह्म ब्रह्मप्रोक्तं सनातनम् ॥ ५ ॥
वक्ष्ये यदुकुलश्रेष्ठ शृणुष्वावहितो मम ।
वरयैनं भवं देवं भक्तस्त्वं परमेश्वरम् ॥ ६ ॥

इन सब नामोंका आविष्कार महापुरुषोंने किया है तथा वेदोंमें दत्तचित्त रहनेवाले महर्षि तण्डिने भक्तिपूर्वक इनका संग्रह किया है । इसलिये ये सभी नाम सत्य, सिद्ध तथा सम्पूर्ण मनोरथोंके साधक हैं । विख्यात श्रेष्ठ पुरुषों तथा तत्त्वदर्शी मुनियोंने इन सभी नामोंका यथावत्‌रूपसे प्रतिपादन किया है । महर्षि तण्डिने ब्रह्मलोकसे मर्त्यलोकमें इन नामोंको उतारा है; इसलिये ये सत्यनाम सम्पूर्ण जगत्‌में आदरपूर्वक सुने गये हैं । यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण ! यह ब्रह्माजीका कहा हुआ सनातन शिव-स्तोत्र अन्य स्तोत्रोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है और उत्तम वेदमय है । सब स्तोत्रोंमें इसका प्रथम स्थान है । यह स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला, सम्पूर्ण भूतोंके लिये हितकर एवं शुभकारक है । इसका मैं आपसे वर्णन करूँगा । आप सावधान होकर मेरे मुखसे इसका श्रवण करें । आप परमेश्वर महादेवजीके भक्त हैं; अतः इस शिवस्वरूप स्तोत्रका वरण करें ॥ ३–६ ॥

तेन ते श्रावयिष्यामि यत् तद् ब्रह्म सनातनम् ।
न शक्यं विस्तरात् कृत्स्नं वक्तुं सर्वस्य केनचित्॥ ७ ॥
युक्तेनापि विभूतीनामपि वर्षशतैरपि ।
यस्यादिर्मध्यमन्तं च सुरैरपि न गम्यते ॥ ८ ॥
कस्तस्य शक्नुयाद् वक्तुं गुणान् कार्त्स्न्येन माधव ।

शिवभक्त होनेके ही कारण मैं यह सनातन वेदस्वरूप स्तोत्र आपको सुनाता हूँ । महादेवजीके इस सम्पूर्ण नामसमूहका पूर्णरूपसे विस्तारपूर्वक वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता । कोई व्यक्ति योगयुक्त होनेपर भी भगवान् शिवकी विभूतियोंका सैकड़ों वर्षोंमें भी वर्णन नहीं कर सकता । माधव ! जिनके आदि, मध्य और अन्तका पता देवता भी नहीं पाते हैं, उनके गुणोंका पूर्णरूपसे वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ ७-८½ ॥

किं तु देवस्य महतः संक्षिप्तार्थपदाक्षरम् ॥ ९ ॥
शक्तितश्चरितं वक्ष्ये प्रसादात् तस्य धीमतः ।
अप्राप्य तु ततोऽनुज्ञां न शक्यः स्तोतुमीश्वरः ॥ १० ॥

परंतु मैं अपनी शक्तिके अनुसार उन बुद्धिमान् महादेवजीकी ही कृपासे संक्षिप्त अर्थ, पद और अक्षरोंसे युक्त उनके चरित्र एवं स्तोत्रका वर्णन करूँगा । उनकी आज्ञा प्राप्त किये बिना उन महेश्वरकी स्तुति नहीं की जा सकती है ॥ ९-१० ॥

यदा तेनाभ्यनुज्ञातः स्तुतो वै स तदा मया ।
अनादिनिधनस्याहं जगद्योनेर्महात्मनः ॥ ११ ॥
नाम्नां कंचित् समुद्देशं वक्ष्याम्यव्यक्तयोनिनः ।

जब उनकी आज्ञा प्राप्त हुई है, तभी मैंने उनकी स्तुति की है । आदि-अन्तसे रहित तथा जगत्‌के कारणभूत अव्यक्तयोनि महात्मा शिवके नामोंका कुछ संक्षिप्त संग्रह मैं बता रहा हूँ ॥ ११½ ॥

वरदस्य वरेण्यस्य विश्वरूपस्य धीमतः ॥ १२ ॥
शृणु नाम्नां चयं कृष्ण यदुक्तं पद्मयोनिना ।

श्रीकृष्ण ! जो वरदायक, वरेण्य (सर्वश्रेष्ठ), विश्वरूप

और बुद्धिमान् हैं, उन भगवान् शिवका पद्मयोनि ब्रह्माजीके द्वारा वर्णित नाम-संग्रह श्रवण करो ॥ १२½ ॥

दशनामसहस्राणि यान्याह प्रपितामहः ॥ १३ ॥
तानि निर्मथ्य मनसा दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ।

प्रपितामह ब्रह्माजीने जो दस हजार नाम बताये थे, उन्हींको मनरूपी मथानीसे मथकर मथे हुए दहीसे घीकी भाँति यह सहस्रनामस्तोत्र निकाला गया है ॥ १३½ ॥

गिरेः सारं यथा हेम पुष्पसारं यथा मधु ॥ १४ ॥
घृतात् सारं यथा मण्डस्तथैतत् सारमुद्धृतम् ।

जैसे पर्वतका सार सुवर्ण, फूलका सार मधु और घीका सार मण्ड है, उसी प्रकार यह दस हजार नामोंका सार उद्धृत किया गया है ॥ १४½ ॥

सर्वपापापहमिदं चतुर्वेदसमन्वितम् ॥ १५ ॥
प्रयत्नेनाधिगन्तव्यं धार्यं च प्रयतात्मना ।
माङ्गल्यं पौष्टिकं चैव रक्षोघ्नं पावनं महत् ॥ १६ ॥

यह सहस्रनाम सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला और चारों वेदोंके समन्वयसे युक्त है । मनको वशमें करके प्रयत्नपूर्वक इसका ज्ञान प्राप्त करे और सदा अपने मनमें इसको धारण करे । यह मङ्गलजनक, पुष्टिकारक, राक्षसोंका विनाशक तथा परम पावन है ॥ १५-१६ ॥

इदं भक्ताय दातव्यं श्रद्दधानास्तिकाय च ।
नाश्रद्दधानरूपाय नास्तिकायाजितात्मने ॥ १७ ॥

जो भक्त हो, श्रद्धालु और आस्तिक हो, उसीको इसका उपदेश देना चाहिये । अश्रद्धालु, नास्तिक और अजितात्मा पुरुषको इसका उपदेश नहीं देना चाहिये ॥ १७ ॥

यश्चाभ्यसूयते देवं कारणात्मानमीश्वरम् ।
स कृष्ण नरकं याति सह पूर्वैः सहात्मजैः ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण ! जो जगत्‌के कारणरूप ईश्वर महादेवके प्रति दोषदृष्टि रखता है, वह पूर्वजों और अपनी संतानके सहित नरकमें पड़ता है ॥ १८ ॥

इदं ध्यानमिदं योगमिदं ध्येयमनुत्तमम् ।
इदं जप्यमिदं ज्ञानं रहस्यमिदमुत्तमम् ॥ १९ ॥

यह सहस्रनामस्तोत्र ध्यान है, यह योग है, यह सर्वोत्तम ध्येय है, यह जपनीय मन्त्र है, यह ज्ञान है और यह उत्तम रहस्य है ॥ १९ ॥

यं ज्ञात्वा अन्तकालेऽपि गच्छेत परमां गतिम् ।
पवित्रं मङ्गलं मेध्यं कल्याणमिदमुत्तमम् ॥ २० ॥
इदं ब्रह्मा पुरा कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
सर्वस्तवानां राजत्वे दिव्यानां समकल्पयत् ॥ २१ ॥
तदाप्रभृति चैवायमीश्वरस्य महात्मनः ।
स्तवराज इति ख्यातो जगत्यमरपूजितः ॥ २२ ॥

जिसको अन्तकालमें भी जान लेनेपर मनुष्य परमगतिको पा लेता है, वह यह सहस्रनामस्तोत्र परम पवित्र, मङ्गलकारक, बुद्धिवर्द्धक, कल्याणमय तथा उत्तम है । सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने पूर्वकालमें इस स्तोत्रका आविष्कार करके इसे समस्त दिव्यस्तोत्रोंके राजाके पदपर प्रतिष्ठित किया था । तबसे महात्मा ईश्वर महादेवका यह देवपूजित स्तोत्र संसारमें 'स्तवराज' के नामसे विख्यात हुआ ॥ २०—२२ ॥

ब्रह्मलोकादयं स्वर्गे स्तवराजोऽवतारितः ।
यतस्तण्डिः पुरा प्राप तेन तण्डिकृतोऽभवत् ॥ २३ ॥

ब्रह्मलोकसे यह स्तवराज स्वर्गलोकमें उतारा गया । पहले इसे तण्डिमुनिने प्राप्त किया था, इसलिये यह 'तण्डिकृत सहस्रनामस्तवराज' के रूपमें प्रसिद्ध हुआ ॥ २३ ॥

स्वर्गाच्चैवात्र भूर्लोकं तण्डिना ह्यवतारितः ।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २४ ॥
निगदिष्ये महाबाहो स्तवानामुत्तमं स्तवम् ।

तण्डिने स्वर्गसे उसे इस भूतलपर उतारा था । यह सम्पूर्ण मङ्गलोंका भी मङ्गल तथा समस्त पापोंका नाश करनेवाला है । महाबाहो ! सब स्तोत्रोंमें उत्तम इस सहस्रनामस्तोत्रका मैं आपसे वर्णन करूँगा ॥ २४½ ॥

ब्रह्मणामपि यद् ब्रह्म पराणामपि यत् परम् ॥ २५ ॥
तेजसामपि यत् तेजस्तपसामपि यत् तपः ।
शान्तानामपि यः शान्तो द्युतीनामपि या द्युतिः ॥ २६ ॥
दान्तानामपि यो दान्तो धीमतामपि या च धीः ।
देवानामपि यो देव ऋषीणामपि यस्त्वृषिः ॥ २७ ॥
यज्ञानामपि यो यज्ञः शिवानामपि यः शिवः ।
रुद्राणामपि यो रुद्रः प्रभा प्रभवतामपि ॥ २८ ॥
योगिनामपि यो योगी कारणानां च कारणम् ।
यतो लोकाः सम्भवन्ति न भवन्ति यतः पुनः ॥ २९ ॥
सर्वभूतात्मभूतस्य हरस्यामिततेजसः ।
अष्टोत्तरसहस्रं तु नाम्नां शर्वस्य मे शृणु ।
यच्छ्रुत्वा मनुजव्याघ्र सर्वान् कामानवाप्स्यसि ॥ ३० ॥

जो वेदोंके भी वेद, उत्तम वस्तुओंमें भी परम उत्तम, तेजके भी तेज, तपके भी तप, शान्त पुरुषोंमें भी परम शान्त, कान्तिकी भी कान्ति, जितेन्द्रियोंमें भी परम जितेन्द्रिय, बुद्धिमानोंकी भी बुद्धि, देवताओंके भी देवता, ऋषियोंके भी ऋषि, यज्ञोंके भी यज्ञ, कल्याणोंके भी कल्याण, रुद्रोंके भी रुद्र, प्रभावशाली ईश्वरोंकी भी प्रभा (ऐश्वर्य), योगियोंके भी योगी तथा कारणोंके भी कारण हैं । जिनसे सम्पूर्ण लोक उत्पन्न होते और फिर उन्हींमें विलीन हो जाते हैं, जो सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं, उन्हीं अमित तेजस्वी भगवान् शिवके एक हजार आठ नामोंका वर्णन मुझसे सुनिये । पुरुषसिंह ! इसका श्रवणमात्र करके आप अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेंगे ॥ २५—३० ॥

स्थिरः स्थाणुः प्रभुर्भीमः प्रवरो वरदो वरः ।
सर्वात्मा सर्वविख्यातः सर्वः सर्वकरो भवः ॥ ३१ ॥

१ **स्थिरः**–चञ्चलतारहित, कूटस्थ एवं नित्य, २ **स्थाणुः**–गृहके आधारभूत खम्भके समान समस्त जगत्के आधारस्तम्भ, ३ प्रभुः– समर्थ ईश्वर, ४ **भीमः**–संहारकारी होनेके कारण भयंकर, ५ **प्रवरः**– सर्वश्रेष्ठ, ६ **वरदः**–अभीष्ट वर देनेवाले, ७ वरः–वरण करने योग्य, वरस्वरूप, ८ **सर्वात्मा**–सबके आत्मा, ९ **सर्वविख्यातः**–सर्वत्र प्रसिद्ध, १० **सर्वः**–विश्वात्मा होनेके कारण सर्वस्वरूप, ११ **सर्वकरः**–सम्पूर्ण जगत्के स्रष्टा, १२ **भवः**– सबकी उत्पत्तिके स्थान ॥ ३१ ॥

जटी चर्मी शिखण्डी च सर्वाङ्गः सर्वभावनः ।
हरश्च हरिणाक्षश्च सर्वभूतहरः प्रभुः ॥ ३२ ॥

१३ **जटी**–जटाधारी, १४ **चर्मी**–व्याघ्रचर्म धारण करनेवाले, १५ **शिखण्डी**–शिखाधारी, १६ **सर्वाङ्गः**–सम्पूर्ण अङ्गोंसे सम्पन्न, १७ **सर्वभावनः**–सबके उत्पादक, १८ हरः–पापहारी, १९ **हरिणाक्षः**–मृगके समान विशाल नेत्रवाले, २० **सर्वभूतहरः**–सम्पूर्ण भूतोंका संहार करनेवाले, २१ प्रभुः–स्वामी ॥ ३२ ॥

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च नियतः शाश्वतो ध्रुवः ।
श्मशानवासी भगवान् खचरो गोचरोऽर्दनः ॥ ३३ ॥

२२ **प्रवृत्तिः**–प्रवृत्तिमार्ग, २३ **निवृत्तिः**–निवृत्तिमार्ग, २४ **नियतः**–नियमपरायण, २५ **शाश्वतः**–नित्य, २६ ध्रुवः–अचल, २७ **श्मशानवासी**–श्मशानभूमिमें निवास करनेवाले, २८ **भगवान्**–सम्पूर्ण ऐश्वर्य, ज्ञान, यश, श्री, वैराग्य और धर्मसे सम्पन्न, २९ **खचरः**–आकाशमें विचरनेवाले, ३० **गोचरः**–पृथ्वीपर विचरनेवाले, ३१ **अर्दनः**–पापियोंको पीड़ा देनेवाले ॥ ३३ ॥

अभिवाद्यो महाकर्मा तपस्वी भूतभावनः ।
उन्मत्तवेषप्रच्छन्नः सर्वलोकप्रजापतिः ॥ ३४ ॥

३२ **अभिवाद्यः**–नमस्कारके योग्य, ३३ **महाकर्मा**–महान् कर्म करनेवाले, ३४ **तपस्वी**–तपस्यामें संलग्न, ३५ **भूतभावनः**–संकल्पमात्रसे आकाश आदि भूतोंकी सृष्टि करनेवाले, ३६ **उन्मत्तवेषप्रच्छन्नः**–उन्मत्त वेषमें छिपे रहनेवाले, ३७ **सर्वलोकप्रजापतिः**–सम्पूर्ण लोकोंकी प्रजाओंके पालक ॥ ३४ ॥

महारूपो महाकायो वृषरूपो महायशाः ।
महात्मा सर्वभूतात्मा विश्वरूपो महाहनुः ॥ ३५ ॥

३८ **महारूपः**–महान् रूपवाले, ३९ **महाकायः**–विराट्रूप, ४० **वृषरूपः**–धर्मस्वरूप, ४१ **महायशाः**–महान् यशस्वी, ४२ **महात्मा**–, ४३ **सर्वभूतात्मा**–सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा, ४४ **विश्वरूपः**–सम्पूर्ण विश्व जिनका रूप है वे, ४५ **महाहनुः**–विशाल ठोढ़ीवाले ॥ ३५ ॥

लोकपालोऽन्तर्हितात्मा प्रसादो हयगर्दभिः ।
पवित्रं च महांश्चैव नियमो नियमाश्रितः ॥ ३६ ॥

४६ **लोकपालः**–लोकरक्षक, ४७ **अन्तर्हितात्मा**–अदृश्य स्वरूपवाले, ४८ **प्रसादः**–प्रसन्नतासे परिपूर्ण, ४९ **हयगर्दभिः**–खच्चर जुते रथपर चलनेवाले, ५० **पवित्रम्**–शुद्ध वस्तुरूप, ५१ **महान्**–पूजनीय, ५२ **नियमः**–शौच-संतोष आदि नियमोंके पालनसे प्राप्त होने योग्य, ५३ **नियमाश्रितः**–नियमोंके आश्रयभूत ॥ ३६ ॥

सर्वकर्मा स्वयम्भूत आदिरादिकरो निधिः ।
सहस्राक्षो विशालाक्षः सोमो नक्षत्रसाधकः ॥ ३७ ॥

५४ **सर्वकर्मा**–सारा जगत् जिनका कर्म है वे, ५५ **स्वयम्भूतः**–नित्यसिद्ध, ५६ **आदिः**–सबसे प्रथम, ५७ **आदिकरः**–आदि पुरुष हिरण्यगर्भकी सृष्टि करनेवाले, ५८ **निधिः**–अक्षय ऐश्वर्यके भण्डार, ५९ **सहस्राक्षः**–सहस्रों नेत्रवाले, ६० **विशालाक्षः**–विशाल नेत्रवाले, ६१ **सोमः**–चन्द्रस्वरूप, ६२ **नक्षत्रसाधकः**–नक्षत्रोंके साधक ॥ ३७ ॥

चन्द्रः सूर्यः शनिः केतुर्ग्रहो ग्रहपतिर्वरः ।
अत्रिरत्र्या नमस्कर्ता मृगबाणार्पणोऽनघः ॥ ३८ ॥

६३ **चन्द्रः**–चन्द्रमारूपसे आह्लादकारी, ६४ **सूर्यः**–सबकी उत्पत्तिके हेतुभूत सूर्य, ६५ **शनिः**–, ६६ **केतुः**–, ६७ **ग्रहः**–चन्द्रमा और सूर्यपर ग्रहण लगानेवाला राहु, ६८ **ग्रहपतिः**–ग्रहोंके पालक, ६९ **वरः**–वरणीय, ७० **अत्रिः**–अत्रि ऋषिस्वरूप, ७१ **अत्र्या नमस्कर्ता**–अत्रिपत्नी अनसूयाको दुर्वासारूपसे नमस्कार करनेवाले, ७२ **मृगबाणार्पणः**–मृगरूपधारी यज्ञपर बाण चलानेवाले, ७३ **अनघः**–पापरहित ॥ ३८ ॥

महातपा घोरतपा अदीनो दीनसाधकः ।
संवत्सरकरो मन्त्रः प्रमाणं परमं तपः ॥ ३९ ॥

७४ **महातपाः**–महान् तपस्वी, ७५ **घोरतपाः**–भयंकर तपस्या करनेवाले, ७६ **अदीनः**–उदार, ७७ **दीनसाधकः**–शरणमें आये हुए दीन-दुखियोंका मनोरथ सिद्ध करनेवाले, ७८ **संवत्सरकरः**–संवत्सरका निर्माता, ७९ **मन्त्रः**–प्रणव आदि मन्त्ररूप, ८० **प्रमाणम्**–प्रमाणस्वरूप, ८१ **परमं तपः**–उत्कृष्ट तपःस्वरूप ॥ ३९ ॥

योगी योज्यो महाबीजो महारेता महाबलः ।
सुवर्णरेताः सर्वज्ञः सुबीजो बीजवाहनः ॥ ४० ॥

८२ **योगी**–योगनिष्ठ, ८३ **योज्यः**–मनोयोगके आश्रय, ८४ **महाबीजः**–महान् कारणरूप, ८५ **महारेताः**–महावीर्यशाली, ८६ **महाबलः**–महान् शक्तिसे सम्पन्न, ८७ **सुवर्णरेताः**–अग्निरूप, ८८ **सर्वज्ञः**–सब कुछ जाननेवाले, ८९ **सुबीजः**–उत्तम बीजरूप, ९० **बीजवाहनः**–जीवोंके संस्काररूप बीजको वहन करनेवाले ॥ ४० ॥

दशबाहुस्त्वनिमिषो नीलकण्ठ उमापतिः ।
विश्वरूपः स्वयं श्रेष्ठो बलवीरोऽबलो गणः ॥ ४१ ॥

९१ **दशबाहुः**–दस भुजाओंसे युक्त, ९२ **अनिमिषः**–कभी पलक न गिरानेवाले, ९३ **नीलकण्ठः**–जगत्की रक्षाके

लिये हालाहल विषका पान करके उसके नील चिह्नको कण्ठमें धारण करनेवाले, ९४ **उमापतिः**–गिरिराजकुमारी उमाके पतिदेव, ९५ **विश्वरूपः**–जगत्स्वरूप, ९६ **स्वयं श्रेष्ठः**–स्वतःसिद्ध श्रेष्ठतासे सम्पन्न, ९७ **बलवीरः**–बलके द्वारा वीरता प्रकट करनेवाले, ९८ **अबलो गणः**–निर्बल समुदायरूप ॥

गणकर्ता गणपतिर्दिग्वासाः काम एव च ।
मन्त्रवित् परमो मन्त्रः सर्वभावकरो हरः ॥ ४२ ॥

९९ **गणकर्ता**–अपने पार्षदगणोंका संघटन करनेवाले, १०० **गणपतिः**–प्रमथगणोंके स्वामी, १०१ **दिग्वासाः**–दिगम्बर, १०२ **कामः**–कमनीय, १०३ **मन्त्रवित्**–मन्त्रवेत्ता, १०४ **परमो मन्त्रः**–उत्कृष्ट मन्त्ररूप, १०५ **सर्वभावकरः**–समस्त पदार्थोंकी सृष्टि करनेवाले, १०६ **हरः**–दुःख हरण करनेवाले ॥ ४२ ॥

कमण्डलुधरो धन्वी बाणहस्तः कपालवान् ।
अशनी शतघ्नी खड्गी पट्टिशी चायुधी महान् ॥ ४३ ॥

१०७ **कमण्डलुधरः**–एक हाथमें कमण्डलु धारण करनेवाले, १०८ **धन्वी**–दूसरे हाथमें धनुष धारण करनेवाले, १०९ **बाणहस्तः**–तीसरे हाथमें बाण लिये रहनेवाले, ११० **कपालवान्**–चौथे हाथमें कपालधारी, १११ **अशनी**–पाँचवें हाथमें वज्र धारण करनेवाले, ११२ **शतघ्नी**–छठे हाथमें शतघ्नी रखनेवाले, ११३ **खड्गी**–सातवेंमें खड्गधारी, ११४ **पट्टिशी**–आठवेंमें पट्टिश धारण करनेवाले, ११५ **आयुधी**–नवें हाथमें अपने सामान्य आयुध त्रिशूलको लिये रहनेवाले, ११६ **महान्**–सर्वश्रेष्ठ ॥ ४३ ॥

स्रुवहस्तः सुरूपश्च तेजस्तेजस्करो निधिः ।
उष्णीषी च सुवक्त्रश्च उदग्रो विनतस्तथा ॥ ४४ ॥

११७ **स्रुवहस्तः**–दसवें हाथमें स्रुवा धारण करनेवाले, ११८ **सुरूपः**–सुन्दर रूपवाले, ११९ **तेजः**–तेजस्वी, १२० **तेजस्करो निधिः**–भक्तोंके तेजकी वृद्धि करनेवाले निधिरूप, १२१ **उष्णीषी**–सिरपर साफा धारण करनेवाले, १२२ **सुवक्त्रः**–सुन्दर मुखवाले, १२३ **उदग्रः**–ओजस्वी, १२४ **विनतः**–विनयशील ॥ ४४ ॥

दीर्घश्च हरिकेशश्च सुतीर्थः कृष्ण एव च ।
शृगालरूपः सिद्धार्थो मुण्डः सर्वशुभङ्करः ॥ ४५ ॥

१२५ **दीर्घः**–ऊँचे कदवाले, १२६ **हरिकेशः**–ब्रह्मा, विष्णु, महेशस्वरूप, १२७ **सुतीर्थः**–उत्तम तीर्थस्वरूप, १२८ **कृष्णः**–सच्चिदानन्दस्वरूप, १२९ **शृगालरूपः**–सियारका रूप धारण करनेवाले, १३० **सिद्धार्थः**–जिनके सभी प्रयोजन सिद्ध हैं, १३१ **मुण्डः**–मूँड़ मुड़ाये हुए, भिक्षुस्वरूप, १३२ **सर्वशुभंकरः**–समस्त प्राणियोंका हित करनेवाले ॥ ४५ ॥

अजश्च बहुरूपश्च गन्धधारी कपर्द्यपि ।
ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वलिङ्ग ऊर्ध्वशायी नभःस्थलः ॥ ४६ ॥

१३३ **अजः**–अजन्मा, १३४ **बहुरूपः**–बहुत-से रूप धारण करनेवाले, १३५ **गन्धधारी**–कुंकुम और कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ धारण करनेवाले, १३६ **कपर्दी**–जटाजूटधारी, १३७ **ऊर्ध्वरेताः**–अखण्डित ब्रह्मचर्यवाले, १३८ **ऊर्ध्वलिङ्गः**–, १३९ **ऊर्ध्वशायी**–आकाशमें शयन करनेवाले, १४० **नभःस्थलः**–आकाश जिनका वासस्थान है वे ॥४६॥

त्रिजटी चीरवासाश्च रुद्रः सेनापतिर्विभुः ।
अहश्चरो नक्तंचरस्तिग्ममन्युः सुवर्चसः ॥ ४७ ॥

१४१ **त्रिजटी**–तीन जटा धारण करनेवाले, १४२ **चीरवासाः**–वल्कल वस्त्र पहननेवाले, १४३ **रुद्रः**–दुःखको दूर भगानेवाले, १४४ **सेनापतिः**–सेनानायक, १४५ **विभुः**–सर्वव्यापी, १४६ **अहश्चरः**–दिनमें विचरनेवाले, १४७ **नक्तंचरः**–रातमें विचरनेवाले, १४८ **तिग्ममन्युः**–तीखे क्रोधवाले, १४९ **सुवर्चसः**–सुन्दर तेजवाले ॥४७॥

गजहा दैत्यहा कालो लोकधाता गुणाकरः ।
सिंहशार्दूलरूपश्च आर्द्रचर्माम्बरावृतः ॥ ४८ ॥

१५० **गजहा**–गजरूपधारी महान् असुरको मारनेवाले, १५१ **दैत्यहा**–अन्धक आदि दैत्योंका वध करनेवाले, १५२ **कालः**–मृत्यु अथवा संवत्सर आदि समय, १५३ **लोकधाता**–समस्त जगत्का धारण-पोषण करनेवाले, १५४ **गुणाकरः**–सद्गुणोंकी खान, १५५ **सिंहशार्दूलरूपः**–सिंह व्याघ्र आदिका रूप धारण करनेवाले, १५६ **आर्द्रचर्माम्बरावृतः**–गजासुरके गीले चर्मको ही वस्त्र बनाकर उससे अपने-आपको आच्छादित करनेवाले ॥ ४८ ॥

कालयोगी महानादः सर्वकामश्चतुष्पथः ।
निशाचरः प्रेतचारी भूतचारी महेश्वरः ॥ ४९ ॥

१५७ **कालयोगी**–कालको भी योगबलसे जीतनेवाले, १५८ **महानादः**–अनाहत ध्वनिरूप, १५९ **सर्वकामः**–सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न, १६० **चतुष्पथः**–जिनकी प्राप्तिके ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और अष्टाङ्गयोग–ये चार मार्ग हैं वे महादेव, १६१ **निशाचरः**–रात्रिके समय विचरनेवाले, १६२ **प्रेतचारी**–प्रेतोंके साथ विचरण करनेवाले, १६३ **भूतचारी**–भूतोंके साथ विचरनेवाले, १६४ **महेश्वरः**–इन्द्र आदि लोकेश्वरोंसे भी महान् ॥ ४९ ॥

बहुभूतो बहुधरः स्वर्भानुरमितो गतिः ।
नृत्यप्रियो नित्यनर्तो नर्तकः सर्वलालसः ॥ ५० ॥

१६५ **बहुभूतः**–सृष्टिकालमें एकसे अनेक होनेवाले, १६६ **बहुधरः**–बहुतोंको धारण करनेवाले, १६७ **स्वर्भानुः**–, १६८ **अमितः**–अनन्त, १६९ **गतिः**–भक्तों और मुक्तात्माओंके प्राप्त होने योग्य, १७० **नृत्यप्रियः**–ताण्डव नृत्य जिन्हें प्रिय है वे शिव, १७१ **नित्यनर्तः**–निरन्तर नृत्य करनेवाले, १७२ **नर्तकः**–नाचने-नचानेवाले, १७३ **सर्वलालसः**–सबपर प्रेम रखनेवाले ॥ ५० ॥

घोरो महातपाः पाशो नित्यो गिरिरुहो नभः।
सहस्रहस्तो विजयो व्यवसायो ह्यतन्द्रितः ॥ ५१ ॥

१७४ **घोरः**–भयंकर रूपधारी, १७५ **महातपाः**–महान् तप करनेवाले, १७६ **पाशः**–अपनी मायारूपी पाशसे बाँधनेवाले, १७७ **नित्यः**–विनाशरहित, १७८ **गिरिरुहः**–पर्वतपर आरूढ़—कैलाशवासी, १७९ **नभः**–आकाशके समान असङ्ग, १८० **सहस्रहस्तः**–हजारों हाथोंवाले, १८१ **विजयः**–विजेता, १८२ **व्यवसायः**–दृढ़-निश्चयी, १८३ **अतन्द्रितः**–आलस्यरहित ॥ ५१ ॥

अधर्षणो धर्षणात्मा यज्ञहा कामनाशकः।
दक्षयागापहारी च सुसहो मध्यमस्तथा ॥ ५२ ॥

१८४ **अधर्षणः**–अजेय, १८५ **धर्षणात्मा**–भयरूप, १८६ **यज्ञहा**–दक्षके यज्ञका विध्वंस करनेवाले, १८७ **कामनाशकः**=कामदेवको नष्ट करनेवाले, १८८ **दक्षयागापहारी**–दक्षके यज्ञका अपहरण करनेवाले, १८९ **सुसहः**–अति सहनशील, १९० **मध्यमः**–मध्यस्थ ॥ ५२ ॥

तेजोऽपहारी बलहा मुदितोऽर्थोऽजितोऽवरः।
गम्भीरघोषो गम्भीरो गम्भीरबलवाहनः ॥ ५३ ॥

१९१ **तेजोपहारी**–दूसरोंके तेजको हर लेनेवाले, १९२ **बलहा**–बलनामक दैत्यका वध करनेवाले, १९३ **मुदितः**–आनन्दस्वरूप, १९४ **अर्थः**–अर्थस्वरूप, १९५ **अजितः**–अपराजित, १९६ **अवरः**–जिनसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है वे भगवान् शिव, १९७ **गम्भीरघोषः**–गम्भीर घोष करनेवाले, १९८ **गम्भीरः**–गाम्भीर्ययुक्त, १९९ **गम्भीरबलवाहनः**–अगाध बलशाली वृषभपर सवारी करनेवाले ॥

न्यग्रोधरूपो न्यग्रोधो वृक्षकर्णस्थितिर्विभुः।
सुतीक्ष्णदशनश्चैव महाकायो महाननः ॥ ५४ ॥

२०० **न्यग्रोधरूपः**–वटवृक्षस्वरूप, २०१ **न्यग्रोधः**–वटनिकटनिवासी, २०२ **वृक्षकर्णस्थितिः**–वटवृक्षके पत्तेपर शयन करनेवाले बालमुकुन्दरूप, २०३ **विभुः**–विविध रूपोंसे प्रकट होनेवाले, २०४ **सुतीक्ष्णदशनः**–अत्यन्त तीखे दाँतवाले, २०५ **महाकायः**–बड़े डीलडौलवाले, २०६ **महाननः**–विशाल मुखवाले ॥ ५४ ॥

विष्वक्सेनो हरिर्यज्ञः संयुगापीडवाहनः।
तीक्ष्णतापश्च हर्यश्वः सहायः कर्मकालवित् ॥ ५५ ॥

२०७ **विष्वक्सेनः**–दैत्योंकी सेनाको सब ओर भगा देनेवाले, २०८ **हरिः**–आपत्तियोंको हर लेनेवाले, २०९ **यज्ञः**–यज्ञरूप, २१० **संयुगापीडवाहनः**–युद्धमें पीड़ारहित वाहनवाले, २११ **तीक्ष्णतापः**–दुःसह तापरूप, सूर्य, २१२ **हर्यश्वः**–हरे रंगके घोड़ोंसे युक्त, २१३ **सहायः**–जीवमात्रके सखा, २१४ **कर्मकालवित्**–कर्मोंके कालको ठीक-ठीक जाननेवाले ॥ ५५ ॥

विष्णुप्रसादितो यज्ञः समुद्रो वडवामुखः।
हुताशनसहायश्च प्रशान्तात्मा हुताशनः ॥ ५६ ॥

२१५ **विष्णुप्रसादितः**–भगवान् विष्णुने जिन्हें आराधना करके प्रसन्न किया था वे शिव, २१६ **यज्ञः**–विष्णुस्वरूप (यज्ञो वै विष्णुः), २१७ **समुद्रः**–महासागररूप, २१८ **वडवामुखः**–समुद्रमें स्थित वड़वानलरूप, २१९ **हुताशनसहायः**–अग्निके सखा वायुरूप, २२० **प्रशान्तात्मा**–शान्तचित्त, २२१ **हुताशनः**–अग्नि ॥५६॥

उग्रतेजा महातेजा जन्यो विजयकालवित्।
ज्योतिषामयनं सिद्धिः सर्वविग्रह एव च ॥ ५७ ॥

२२२ **उग्रतेजाः**–भयंकर तेजवाले, २२३ **महातेजाः**–महान् तेजसे सम्पन्न, २२४ **जन्यः**–संसारके जन्मदाता, २२५ **विजयकालवित्**–विजयके समयका ज्ञान रखनेवाले, २२६ **ज्योतिषामयनम्**–ज्योतिषोंका स्थान, २२७ **सिद्धिः**–सिद्धिस्वरूप, २२८ **सर्वविग्रहः**–सर्वस्वरूप ॥

शिखी मुण्डी जटी ज्वाली मूर्तिजो मूर्द्धगो बली।
वेणवी पणवी ताली खली कालकटंकटः ॥ ५८ ॥

२२९ **शिखी**–शिखाधारी गृहस्थस्वरूप, २३० **मुण्डी**–शिखारहित संन्यासी, २३१ **जटी**–जटाधारी वानप्रस्थ, २३२ **ज्वाली**–अग्निकी प्रज्वलित ज्वालामें समिधाकी आहुति देनेवाले ब्रह्मचारी, २३३ **मूर्तिजः**–शरीर रूपसे प्रकट होनेवाले, २३४ **मूर्द्धगः**–मूर्द्धा—सहस्रार चक्रमें ध्येय रूपसे विद्यमान, २३५ **बली**–बलिष्ठ, २३६ **वेणवी**–वंशी बजानेवाले श्रीकृष्ण, २३७ **पणवी**–पणव नामक वाद्य बजानेवाले, २३८ **ताली**–ताल देनेवाले, २३९ **खली**–खलिहानके स्वामी, २४० **कालकटंकटः**–यमराजके मायाको आवृत करनेवाले ॥ ५८ ॥

नक्षत्रविग्रहमतिर्गुणबुद्धिर्लयोऽगमः।
प्रजापतिर्विश्वबाहुर्विभागः सर्वगोऽमुखः ॥ ५९ ॥

२४१ **नक्षत्रविग्रहमतिः**–नक्षत्र—ग्रह तारा आदिकी गतिको जाननेवाले, २४२ **गुणबुद्धिः**–गुणोंमें बुद्धि लगानेवाले, २४३ **लयः**–प्रलयके स्थान, २४४ **अगमः**–जाननेमें न आनेवाला, २४५ **प्रजापतिः**–प्रजाके स्वामी, २४६ **विश्वबाहुः**–सब ओर भुजावाले, २४७ **विभागः**–विभागस्वरूप, २४८ **सर्वगः**–सर्वव्यापी, २४९ **अमुखः**–विना मुखवाला ॥ ५९ ॥

विमोचनः सुसरणो हिरण्यकवचोद्भवः।
मेढ्रजो बलचारी च महीचारी स्रुतस्तथा ॥ ६० ॥

२५० **विमोचनः**–संसार-बन्धनसे छुड़ानेवाले, २५१ **सुसरणः**–श्रेष्ठ आश्रय, २५२ **हिरण्यकवचोद्भवः**–हिरण्यगर्भकी उत्पत्तिका स्थान, २५३ **मेढ्रजः**–, २५४ **बलचारी**–बलका संचार करनेवाले, २५५ **महीचारी**–सारी पृथ्वीपर विचरनेवाले, २५६ **स्रुतः**–सर्वत्र पहुँचे हुए ॥

सर्वतूर्यनिनादी च सर्वातोद्यपरिग्रहः ।
व्यालरूपो गुहावासी गुहो माली तरङ्गवित् ॥ ६१ ॥

२५७ **सर्वतूर्यनिनादी**–सब प्रकारके बाजे बजानेवाले, २५८ **सर्वातोद्यपरिग्रहः**–सम्पूर्ण वाद्योंका संग्रह करनेवाले, २५९ **व्यालरूपः**–शेषनागस्वरूप, २६० **गुहावासी**–सबकी हृदयगुफामें निवास करनेवाले, २६१ **गुहः**–कार्तिकेयस्वरूप, २६२ **माली**–मालाधारी, २६३ **तरङ्गवित्**–क्षुधा-पिपासा आदि छहों ऊर्मियोंके ज्ञाता साक्षी ॥ ६१ ॥

त्रिदशस्त्रिकालधृक् कर्मसर्वबन्धविमोचनः ।
बन्धनस्त्वसुरेन्द्राणां युधि शत्रुविनाशनः ॥ ६२ ॥

२६४ **त्रिदशः**–प्राणियोंकी तीन दशाओं—जन्म, स्थिति और विनाशके हेतुभूत, २६५ **त्रिकालधृक्**–भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंको धारण करनेवाले, २६६ **कर्मसर्वबन्धविमोचनः**–कर्मोंके समस्त बन्धनोंको काटनेवाले, २६७ **असुरेन्द्राणां बन्धनः**–बलि आदि असुरपतियोंको बाँध लेनेवाले, २६८ **युधि शत्रुविनाशनः**–युद्धमें शत्रुओंका विनाश करनेवाले ॥ ६२ ॥

सांख्यप्रसादो दुर्वासाः सर्वसाधुनिषेवितः ।
प्रस्कन्दनो विभागज्ञोऽतुल्यो यज्ञविभागवित् ॥ ६३ ॥

२६९ **सांख्यप्रसादः**–आत्मा और अनात्माके विवेकरूप सांख्यज्ञानसे प्रसन्न होनेवाले, २७० **दुर्वासाः**–अत्रि और अनसूयाके पुत्र रुद्रावतार दुर्वासा मुनि, २७१ **सर्वसाधुनिषेवितः**–समस्त साधुपुरुषोंद्वारा सेवित, २७२ **प्रस्कन्दनः**–ब्रह्मादिको भी स्थानभ्रष्ट करनेवाले, २७३ **विभागज्ञः**–प्राणियोंके कर्म और फलोंके विभागको यथोचितरूपसे जाननेवाले, २७४ **अतुल्यः**–तुलनारहित, २७५ **यज्ञविभागवित्**–यज्ञसम्बन्धी हविष्यके विभिन्न भागोंका ज्ञान रखनेवाले ॥ ६३ ॥

सर्ववासः सर्वचारी दुर्वासा वासवोऽमरः ।
हैमो हेमकरोऽयज्ञः सर्वधारी धरोत्तमः ॥ ६४ ॥

२७६ **सर्ववासः**–सर्वत्र निवास करनेवाले, २७७ **सर्वचारी**–सर्वत्र विचरनेवाले, २७८ **दुर्वासाः**–अनन्त और अपार होनेके कारण जिनको वस्त्रसे आच्छादित करना दुर्लभ है, २७९ **वासवः**–इन्द्रस्वरूप, २८० **अमरः**–अविनाशी, २८१ **हैमः**–हिमसमूह—हिमालयरूप, २८२ **हेमकरः**–सुवर्णके उत्पादक, २८३ **अयज्ञः**–कर्मरहित, २८४ **सर्वधारी**–सबको धारण करनेवाले, २८५ **धरोत्तमः**–धारण करनेवालोंमें सबसे उत्तम—अखिल ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले ॥ ६४ ॥

लोहिताक्षो महाक्षश्च विजयाक्षो विशारदः ।
संग्रहो निग्रहः कर्ता सर्पचीरनिवासनः ॥ ६५ ॥

२८६ **लोहिताक्षः**–रक्तनेत्र, २८७ **महाक्षः**–बड़े नेत्रवाले, २८८ **विजयाक्षः**–विजयशील रथवाले, २८९ **विशारदः**–विद्वान्, २९० **संग्रहः**–संग्रह करनेवाले, २९१ **निग्रहः**–उद्दण्डोंको दण्ड देनेवाले, २९२ **कर्ता**–सबके उत्पादक, २९३ **सर्पचीरनिवासनः**–सर्पमय चीर धारण करनेवाले ॥ ६५ ॥

मुख्योऽमुख्यश्च देहश्च काहलिः सर्वकामदः ।
सर्वकालप्रसादश्च सुबलो बलरूपधृक् ॥ ६६ ॥
सर्वकामवरश्चैव सर्वदः सर्वतोमुखः ।
आकाशनिर्विरूपश्च निपाती ह्यवशः खगः ॥ ६७ ॥

२९४ **मुख्यः**–सर्वश्रेष्ठ, २९५ **अमुख्यः**–जिससे बढ़कर मुख्य दूसरा कोई न हो वह, २९६ **देहः**–देहस्वरूप, २९७ **काहलिः**–काहल नामक वाद्यविशेषको बजानेवाले, २९८ **सर्वकामदः**–सम्पूर्ण कामनाओंके दाता, २९९ **सर्वकालप्रसादः**–सर्वदा कृपा करनेवाले, ३०० **सुबलः**–उत्तम बलसे सम्पन्न, ३०१ **बलरूपधृक्**–बल और रूपके आधार, ३०२ **सर्वकामवरः**–सम्पूर्ण कमनीय पदार्थोंमें श्रेष्ठ—मोक्षस्वरूप, ३०३ **सर्वदः**–सब कुछ देनेवाले, ३०४ **सर्वतोमुखः**–सब ओर मुखवाले, ३०५ **आकाशनिर्विरूपः**–आकाशकी भाँति जिनसे नाना प्रकारके रूप प्रकट होते हैं वे, ३०६ **निपाती**–पापियोंको नरकमें गिरानेवाले, ३०७ **अवशः**–जिनके ऊपर किसीका वश नहीं चलता वे, ३०८ **खगः**–आकाशगामी ॥ ६६-६७ ॥

रौद्ररूपोंऽशुरादित्यो बहुरश्मिः सुवर्चसी ।
वसुवेगो महावेगो मनोवेगो निशाचरः ॥ ६८ ॥

३०९ **रौद्ररूपः**–भयंकर रूपधारी, ३१० **अंशुः**–किरणस्वरूप, ३११ **आदित्यः**–अदितिपुत्र, ३१२ **बहुरश्मिः**–असंख्य किरणोंवाले, सूर्यरूप, ३१३ **सुवर्चसी**–उत्तम तेजसे सम्पन्न, ३१४ **वसुवेगः**–वायुके समान वेगवाले, ३१५ **महावेगः**–वायुसे भी अधिक वेगशाली, ३१६ **मनोवेगः**–मनके समान वेगवाले, ३१७ **निशाचरः**–रात्रिमें विचरनेवाले ॥ ६८ ॥

सर्ववासी श्रियावासी उपदेशकरोऽकरः ।
मुनिरात्मनिरालोकः सम्भग्नश्च सहस्रदः ॥ ६९ ॥

३१८ **सर्ववासी**–सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मारूपसे निवास करनेवाले, ३१९ **श्रियावासी**–लक्ष्मीके साथ निवास करनेवाले विष्णुरूप, ३२० **उपदेशकरः**– जिज्ञासुओंको तत्त्वका और काशीमें मरे हुए जीवोंको तारकमन्त्रका उपदेश करनेवाले, ३२१ **अकरः**–कर्तृत्वके अभिमानसे रहित, ३२२ **मुनिः**–मननशील, ३२३ **आत्मनिरालोकः**–देह आदिकी उपाधिसे अलग होकर आलोचना करनेवाले, ३२४ **सम्भग्नः**–सम्यक् रूपसे सेवित, ३२५ **सहस्रदः**–हजारोंका दान करनेवाले ॥

पक्षी च पक्षरूपश्च अतिदीप्तो विशाम्पतिः ।
उन्मादो मदनः कामो ह्यश्वत्थोऽर्थकरो यशः ॥ ७० ॥

३२६ **पक्षी**–गरुडरूपधारी, ३२७ **पक्षरूपः**–शुक्ल-

रक्षस्वरूप, ३२८ **अतिदीप्तः**—अत्यन्त तेजस्वी, ३२९ **विशाम्पतिः**—प्रजाओंके स्वामी, ३३० **उन्मादः**—प्रेममें उन्मत्त, ३३१ **मदनः**— कामदेवरूप, ३३२ **कामः**—कमनीय विषय, ३३३ **अश्वत्थः**—संसार-वृक्षरूप, ३३४ **अर्थकरः**—धन आदि देनेवाले, ३३५ **यशः**—यशस्वरूप ॥ ७० ॥

वामदेवश्च वामश्च प्राग् दक्षिणश्च वामनः ।
सिद्धयोगी महर्षिश्च सिद्धार्थः सिद्धसाधकः ॥ ७१ ॥

३३६ **वामदेवः**—वामदेव ऋषिस्वरूप, ३३७ **वामः**—पापियोंके प्रतिकूल, ३३८ **प्राक्**—सबके आदि, ३३९ **दक्षिणः**—कुशल, ३४० **वामनः**—बलिको बाँधनेवाले वामन रूपधारी, ३४१ **सिद्धयोगी**—सनत्कुमार आदि सिद्ध महात्मा, ३४२ **महर्षिः**—वसिष्ठ आदि, ३४३ **सिद्धार्थः**—आप्तकाम, ३४४ **सिद्धसाधकः**—सिद्ध और साधकरूप ॥ ७१ ॥

भिक्षुश्च भिक्षुरूपश्च विपणो मृदुरव्ययः ।
महासेनो विशाखश्च षष्टिभागो गवां पतिः ॥ ७२ ॥

३४५ **भिक्षुः**—संन्यासी, ३४६ **भिक्षुरूपः**—श्रीरामकृष्ण आदिकी बालछविका दर्शन करनेके लिये भिक्षुरूप धारण करनेवाले, ३४७ **विपणः**—व्यवहारसे अतीत, ३४८ **मृदुः**-कोमल स्वभाववाले, ३४९ **अव्ययः**—अविनाशी, ३५० **महासेनः**—देव-सेनापति कार्तिकेयरूप, ३५१ **विशाखः**—कार्तिकेयके सहायक, ३५२ **षष्टिभागः**—प्रभव आदि साठ भागोंमें विभक्त संवत्सररूप, ३५३ **गवाम्पतिः**—इन्द्रियोंके स्वामी ॥ ७२ ॥

वज्रहस्तश्च विष्कम्भी चमूस्तम्भन एव च ।
वृत्तावृत्तकरस्तालो मधुर्मधुकलोचनः ॥ ७३ ॥

३५४ **वज्रहस्तः**—हाथमें वज्र धारण करनेवाले इन्द्ररूप, ३५५ **विष्कम्भी**—विस्तारयुक्त, ३५६ **चमूस्तम्भनः**—दैत्यसेनाको स्तब्ध करनेवाले, ३५७ **वृत्तावृत्तकरः**—युद्धमें रथके द्वारा मण्डल बनाना वृत्त कहलाता है और शत्रुसेनाको विदीर्ण करके अक्षत शरीरसे लौट आना आवृत्त कहलाता है। इन दोनोंको कुशलतापूर्वक करनेवाले, ३५८ **तालः**—संसारसागरके तल प्रदेश—आधार-स्थान अर्थात् शुद्ध ब्रह्मको जाननेवाले, ३५९ **मधुः**—वसन्त ऋतुरूप, ३६० **मधुकलोचनः**—मधुके समान पिङ्गल नेत्रवाले ॥ ७३ ॥

वाचस्पत्यो वाजसनो नित्यमाश्रमपूजितः ।
ब्रह्मचारी लोकचारी सर्वचारी विचारवित् ॥ ७४ ॥

३६१ **वाचस्पत्यः**—पुरोहितका काम करनेवाले, ३६२ **वाजसनः**—शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनी शाखाके प्रर्वतक, ३६३ **नित्यमाश्रमपूजितः**—सदा आश्रमोंद्वारा पूजित होनेवाले, ३६४ **ब्रह्मचारी**—ब्रह्मनिष्ठ, ३६५ **लोकचारी**—सम्पूर्ण लोकोंमें विचरनेवाले, ३६६ **सर्वचारी**—सर्वत्र गमन करनेवाले, ३६७ **विचारवित्**—विचारोंके ज्ञाता ॥ ७४ ॥

ईशान ईश्वरः कालो निशाचारी पिनाकवान् ।
निमित्तस्थो निमित्तं च नन्दिर्नन्दिकरो हरिः ॥ ७५ ॥

३६८ **ईशानः**—नियन्ता, ३६९ **ईश्वरः**— सबके शासक, ३७० **कालः**—कालस्वरूप, ३७१ **निशाचारी**—प्रलयकालकी रातमें विचरनेवाले, ३७२ **पिनाकवान्**—पिनाक नामक धनुष धारण करनेवाले, ३७३ **निमित्तस्थः**—अन्तर्यामी, ३७४ **निमित्तम्**—निमित्त कारणरूप, ३७५ **नन्दिः**—ज्ञानसम्पत्तिरूप, ३७६ **नन्दिकरः**—ज्ञानरूपी सम्पत्ति देनेवाले, ३७७ **हरिः**—विष्णुस्वरूप ॥ ७५ ॥

नन्दीश्वरश्च नन्दी च नन्दनो नन्दिवर्द्धनः ।
भगहारी निहन्ता च कालो ब्रह्मा पितामहः ॥ ७६ ॥

३७८ **नन्दीश्वरः**—नन्दी नामक पार्षदके स्वामी, ३७९ **नन्दी**—नन्दी नामक गणरूप, ३८० **नन्दनः**—परम आनन्द प्रदान करनेवाले, ३८१ **नन्दिवर्धनः**—समृद्धि बढ़ानेवाले, ३८२ **भगहारी**—ऐश्वर्यका अपहरण करनेवाले, ३८३ **निहन्ता**—मृत्युरूपसे सबको मारनेवाले, ३८४ **कालः**—चौसठ कलाओंके निवासस्थान, ३८५ **ब्रह्मा**—लोकस्रष्टा ब्रह्मा, ३८६ **पितामहः**—प्रजापतिके भी पिता ॥ ७६ ॥

चतुर्मुखो महालिङ्गश्चारुलिङ्गस्तथैव च ।
लिङ्गाध्यक्षः सुराध्यक्षो योगाध्यक्षो युगावहः ॥ ७७ ॥

३८७ **चतुर्मुखः**—चार मुखवाले, ३८८ **महालिङ्गः**—महालिंगस्वरूप, ३८९ **चारुलिङ्गः**—रमणीय वेषधारी, ३९० **लिङ्गाध्यक्षः**—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके अध्यक्ष, ३९१ **सुराध्यक्षः**—देवताओंके अधिपति, ३९२ **योगाध्यक्षः**—योगके अध्यक्ष, ३९३ **युगावहः**—चारों युगोंके निर्वाहक ॥ ७७ ॥

बीजाध्यक्षो बीजकर्ता अध्यात्मानुगतो बलः ।
इतिहासः सकल्पश्च गौतमोऽथ निशाकरः ॥ ७८ ॥

३९४ **बीजाध्यक्षः**—कारणोंके अध्यक्ष, ३९५ **बीजकर्ता**—कारणोंके उत्पादक, ३९६ **अध्यात्मानुगतः**—अध्यात्मशास्त्रका अनुसरण करनेवाले, ३९७ **बलः**—बलवान्, ३९८ **इतिहासः**—महाभारत आदि इतिहासरूप, ३९९ **सकल्पः**—कल्प—यज्ञोंके प्रयोग और विधिके विचारके साथ मीमांसा और न्यायका समूह, ४०० **गौतमः**—तर्कशास्त्रके प्रणेता मुनिस्वरूप, ४०१ **निशाकरः**—चन्द्रमारूप ॥ ७८ ॥

दम्भो ह्यदम्भो वैदम्भो वश्यो वशकरः कलिः ।
लोककर्ता पशुपतिर्महाकर्ता ह्यनौषधः ॥ ७९ ॥

४०२ **दम्भः**—शत्रुओंका दमन करनेवाले, ४०३ **अदम्भः**—दम्भरहित, ४०४ **वैदम्भः**—दम्भरहित पुरुषोंके आत्मीय, ४०५ **वश्यः**—भक्तपराधीन, ४०६ **वशकरः**—दूसरोंको वशमें करनेकी शक्ति रखनेवाले, ४०७ **कलिः**—कलि नामक युग, ४०८ **लोककर्ता**—जगत्की सृष्टि करनेवाले, ४०९ **पशुपतिः**—पशुओं—जीवोंके स्वामी, ४१० **महाकर्ता**—पञ्च महाभूतादि सृष्टिकी रचना करनेवाले, ४११

अनौषधः–अन्न आदि ओषधियोंके सेवनसे रहित ॥ ७९ ॥

अक्षरं परमं ब्रह्म बलवच्छक्र एव च।
नीतिर्ह्यनीतिः शुद्धात्मा शुद्धो मान्यो गतागतः ॥ ८० ॥

४१२ **अक्षरम्**–अविनाशी ब्रह्म, ४१३ **परमं ब्रह्म**–सर्वोत्कृष्ट परमात्मा, ४१४ **बलवत्**–शक्तिशाली, ४१५ **शक्रः**–इन्द्र, ४१६ **नीतिः**–न्यायस्वरूप, ४१७ **अनीतिः**–साम, दाम, दण्ड, भेदसे रहित, ४१८ **शुद्धात्मा**–शुद्धस्वरूप, ४१९ **शुद्धः**–परम पवित्र, ४२० **मान्यः**–सम्मानके योग्य, ४२१ **गतागतः**–गमनागमनशील संसारस्वरूप ॥ ८० ॥

बहुप्रसादः सुस्वप्नो दर्पणोऽथ त्वमित्रजित्।
वेदकारो मन्त्रकारो विद्वान् समरमर्दनः ॥ ८१ ॥

४२२ **बहुप्रसादः**–भक्तोंपर अधिक कृपा करनेवाले, ४२३ **सुस्वप्नः**–सुन्दर स्वप्नवाले, ४२४ **दर्पणः**–दर्पणके समान स्वच्छ, ४२५ **अमित्रजित्**–बाहर-भीतरके शत्रुओंको जीतनेवाले, ४२६ **वेदकारः**–वेदोंका कर्त्ता, ४२७ **मन्त्रकारः**–मन्त्रोंका आविष्कार करनेवाले, ४२८ **विद्वान्**–सर्वज्ञ, ४२९ **समरमर्दनः**–समराङ्गणमें शत्रुओंका संहार करनेवाले ॥ ८१ ॥

महामेघनिवासी च महाघोरो वशी करः।
अग्निज्वालो महाज्वालो अतिधूम्रो हुतो हविः ॥ ८२ ॥

४३० **महामेघनिवासी**–प्रलयकालिक महामेघोंमें निवास करनेवाले, ४३१ **महाघोरः**–प्रलय करनेवाले, ४३२ **वशी**–सबको वशमें रखनेवाले, ४३३ **करः**–संहारकारी, ४३४ **अग्निज्वालः**–अग्निकी ज्वालाके समान तेजवाले, ४३५ **महाज्वालः**–अग्निसे भी महान् तेजवाले, ४३६ **अतिधूम्रः**–कालाग्निरूपसे सबके दाहकालमें अत्यन्त धूम्र वर्णवाले, ४३७ **हुतः**–आहुति पाकर प्रसन्न होनेवाले अग्निरूप, ४३८ **हविः**–घी-दूध आदि हवनीय पदार्थरूप ॥ ८२ ॥

वृषणः शङ्करो नित्यं वर्चस्वी धूमकेतनः।
नीलस्तथाङ्गलुब्धश्च शोभनो निरवग्रहः ॥ ८३ ॥

४३९ **वृषणः**–कर्मफलकी वर्षा करनेवाले धर्मस्वरूप, ४४० **शङ्करः**–कल्याणकारी, ४४१ **नित्यं वर्चस्वी**–सदा तेजसे जगमगाते रहनेवाले, ४४२ **धूमकेतनः**–अग्निस्वरूप, ४४३ **नीलः**–श्यामवर्ण श्रीहरि, ४४४ **अङ्गलुब्धः**–अपने श्रीअङ्गके सौन्दर्यपर स्वयं ही लुभाये रहनेवाले, ४४५ **शोभनः**–शोभाशाली, ४४६ **निरवग्रहः**–प्रतिबन्धरहित ॥ ८३ ॥

स्वस्तिदः स्वस्तिभावश्च भागी भागकरो लघुः।
उत्सङ्गश्च महाङ्गश्च महागर्भपरायणः ॥ ८४ ॥

४४७ **स्वस्तिदः**–कल्याणदायक, ४४८ **स्वस्तिभावः**–कल्याणमयी सत्ता, ४४९ **भागी**–यज्ञमें भाग लेनेवाले, ४५० **भागकरः**–यज्ञके हविष्यका विभाजन करनेवाले, ४५१ **लघुः**–शीघ्रकारी, ४५२ **उत्सङ्गः**–सङ्गरहित, ४५३ **महाङ्गः**–महान् अङ्गवाले, ४५४ **महागर्भपरायणः**–हिरण्यगर्भके परम आश्रय ॥ ८४ ॥

कृष्णवर्णः सुवर्णश्च इन्द्रियं सर्वदेहिनाम्।
महापादो महाहस्तो महाकायो महायशाः ॥ ८५ ॥

४५५ **कृष्णवर्णः**–श्यामवर्ण विष्णुस्वरूप, ४५६ **सुवर्णः**–उत्तम वर्णवाले, ४५७ **सर्वदेहिनाम् इन्द्रियम्**–समस्त देहधारियोंके इन्द्रियसमुदायरूप, ४५८ **महापादः**–लंबे पैरोंवाले त्रिविक्रमस्वरूप, ४५९ **महाहस्तः**–लंबे हाथवाले, ४६० **महाकायः**–विश्वरूप, ४६१ **महायशाः**–महान् सुयशवाले ॥ ८५ ॥

महामूर्धा महामात्रो महानेत्रो निशालयः।
महान्तको महाकर्णो महोष्ठश्च महाहनुः ॥ ८६ ॥

४६२ **महामूर्धा**–महान् मस्तकवाले, ४६३ **महामात्रः**–विशाल नापवाले, ४६४ **महानेत्रः**–विशाल नेत्रोंवाले, ४६५ **निशालयः**–निशा अर्थात् अविद्याके लयस्थान, ४६६ **महान्तकः**–मृत्युकी भी मृत्यु, ४६७ **महाकर्णः**–बड़े-बड़े कानवाले, ४६८ **महोष्ठः** लंबे ओठवाले, ४६९ **महाहनुः**–पुष्ट एवं बड़ी ठोड़ीवाले ॥ ८६ ॥

महानासो महाकम्बुर्महाग्रीवः श्मशानभाक्।
महावक्षा महोरस्को ह्यन्तरात्मा मृगालयः ॥ ८७ ॥

४७० **महानासः**–बड़ी नासिकावाले, ४७१ **महाकम्बुः**–बड़े कण्ठवाले, ४७२ **महाग्रीवः**–विशाल ग्रीवासे युक्त, ४७३ **श्मशानभाक्**–श्मशानभूमिमें क्रीड़ा करनेवाले, ४७४ **महावक्षाः**–विशाल वक्षःस्थलवाले, ४७५ **महोरस्कः**–चौड़ी छातीवाले, ४७६ **अन्तरात्मा**–सबके अन्तरात्मा, ४७७ **मृगालयः**–मृग-शिशुको अपनी गोदमें लिये रहनेवाले ॥ ८७ ॥

लम्बनो लम्बितोष्ठश्च महामायः पयोनिधिः।
महादन्तो महादंष्ट्रो महाजिह्वो महामुखः ॥ ८८ ॥

४७८ **लम्बनः**–अनेक ब्रह्माण्डोंके आश्रय, ४७९ **लम्बितोष्ठः**–प्रलयकालमें सम्पूर्ण विश्वको अपना ग्रास बनानेके लिये ओठोंको फैलाये रखनेवाले, ४८० **महामायः**–महामायावी, ४८१ **पयोनिधिः**–क्षीरसागररूप, ४८२ **महादन्तः**–बड़े-बड़े दाँतवाले, ४८३ **महादंष्ट्रः**–बड़ी-बड़ी दाढ़वाले, ४८४ **महाजिह्वः**–विशाल जिह्वावाले, ४८५ **महामुखः**–बहुत बड़े मुखवाले ॥ ८८ ॥

महानखो महारोमा महाकोशो महाजटः।
प्रसन्नश्च प्रसादश्च प्रत्ययो गिरिसाधनः ॥ ८९ ॥

४८६ **महानखः**–बड़े-बड़े नखवाले नृसिंह, ४८७ **महारोमा**–विशाल रोमवाले वराहरूप, ४८८ **महाकोशः**–बहुत बड़े पेटवाले, ४८९ **महाजटः**–बड़ी-बड़ी जटावाले, ४९० **प्रसन्नः**–आनन्दमग्न, ४९१ **प्रसादः**–प्रसन्नताकी मूर्ति, ४९२ **प्रत्ययः**–ज्ञानस्वरूप, ४९३ **गिरिसाधनः**–पर्वतको युद्धका साधन बनानेवाले ॥ ८९ ॥

स्नेहनोऽस्नेहनश्चैव अजितश्च महामुनिः।
वृक्षाकारो वृक्षकेतुरनलो वायुवाहनः ॥ ९० ॥

४९४ **स्नेहनः**–प्रजाओंके प्रति पिताकी भाँति स्नेह रखनेवाले, ४९५ **अस्नेहनः**–आसक्तिसे रहित; ४९६ **अजितः**–किसीसे पराजित न होनेवाले, ४९७ **महामुनिः**–अत्यन्त मननशील, ४९८ **वृक्षाकारः**–संसारवृक्षस्वरूप, ४९९ **वृक्षकेतुः**–वृषके समान ऊँची ध्वजावाले, ५०० **अनलः**–अग्निस्वरूप, ५०१**वायुवाहनः**–वायुका वाहनके रूपमें उपयोग करनेवाले ॥ ९० ॥

गण्डली मेरुधामा च देवाधिपतिरेव च।
अथर्वशीर्षः सामास्य ऋक्सहस्रामितेक्षणः ॥ ९१ ॥

५०२ **गण्डली**–पहाड़ोंकी गुफाओंमें छिपकर रहनेवाले, ५०३ **मेरुधामा**–मेरु-पर्वतको अपना निवासस्थान बनानेवाले, ५०४ **देवाधिपतिः**–देवताओंके स्वामी, ५०५**अथर्वशीर्षः**–अथर्ववेद जिनका मस्तक है वे, ५०६ **सामास्यः**–सामवेद जिनका मुख है वे, ५०७**ऋक्सहस्रामितेक्षणः**–सहस्रों ऋचाओं जिनके नेत्र हैं ॥ ९१ ॥

यजुःपादभुजो गुह्यः प्रकाशो जङ्गमस्तथा।
अमोघार्थः प्रसादश्च अभिगम्यः सुदर्शनः ॥ ९२ ॥

५०८ **यजुःपादभुजः**–यजुर्वेद जिनके हाथ-पैर हैं, ५०९ **गुह्यः**–गोपनीयस्वरूप, ५१० **प्रकाशः**–भक्तोंपर कृपा करके स्वयं ही उनके समक्ष अपनेको प्रकाशित कर देनेवाले, ५११**जङ्गमः**–चलने-फिरनेवाले, ५१२ **अमोघार्थः**–किसी वस्तुके लिये याचना करनेपर उसे अवश्य सफल बनानेवाले, ५१३ **प्रसादः**–दया करके शीघ्र प्रसन्न होनेवाले, ५१४ **अभिगम्यः**–सुगमतासे प्राप्त होने योग्य, ५१५ **सुदर्शनः**–सुन्दर दर्शनवाले ॥ ९२ ॥

उपकारः प्रियः सर्वः कनकः काञ्चनच्छविः।
नाभिर्नन्दिकरो भावः पुष्करस्थपतिः स्थिरः ॥ ९३ ॥

५१६ **उपकारः**–उपकार करनेवाले, ५१७ **प्रियः**–भक्तोंके प्रेमास्पद, ५१८ **सर्वः**–सर्वस्वरूप, ५१९ **कनकः**–सुवर्णस्वरूप, ५२० **काञ्चनच्छविः**–काञ्चनके समान कमनीय कान्तिवाले, ५२१ **नाभिः**–समस्त भुवनका मध्यदेशरूप, ५२२ **नन्दिकरः**–आनन्द देनेवाले, ५२३ **भावः**–श्रद्धा-भक्तिस्वरूप, ५२४ **पुष्करस्थपतिः**–ब्रह्माण्डरूपी पुष्करका निर्माण करनेवाले, ५२५ **स्थिरः**–स्थिरस्वरूप ॥

द्वादशस्त्रासनश्चाद्यो यज्ञो यज्ञसमाहितः।
नक्तं कलिश्च कालश्च मकरः कालपूजितः ॥ ९४ ॥

५२६ **द्वादशः**–ग्यारह रुद्रोंसे श्रेष्ठ बारहवें रुद्र, ५२७ **त्रासनः**–संहारकारी होनेके कारण भयजनक, ५२८ **आद्यः**–सबके आदि कारण, ५२९ **यज्ञः**–यज्ञपुरुष, ५३० **यज्ञसमाहितः**–यज्ञमें उपस्थित रहनेवाले, ५३१ **नक्तम्**–प्रलयकालकी रात्रिस्वरूप, ५३२ **कलिः**–कलिके स्वरूप, ५३३ **कालः**–सबको अपना ग्रास बनानेवाले कालरूप, ५३४ **मकरः**–मकराकार शिशुमार चक्र, ५३५ **कालपूजितः**–काल अर्थात् मृत्युके द्वारा पूजित ॥ ९४ ॥

सगणो गणकारश्च भूतवाहनसारथिः।
भस्मशयो भस्मगोप्ता भस्मभूतस्तरुर्गणः ॥ ९५ ॥

५३६ **सगणः**–प्रमथ आदि गणोंसे युक्त, ५३७ **गणकारः**–बाणासुर आदि भक्तोंको अपने गणमें सम्मिलित करनेवाले, ५३८ **भूतवाहनसारथिः**–त्रिपुर-विनाशके लिये समस्त प्राणियोंके योगक्षेमका निर्वाह करनेवाले ब्रह्माजीको सारथि बनानेवाले, ५३९ **भस्मशयः**–भस्मपर शयन करनेवाले, ५४० **भस्मगोप्ता**=भस्मद्वारा रक्षा करनेवाले, ५४१**भस्मभूतः**–भस्मस्वरूप, ५४२ **तरुः**–कल्पवृक्षस्वरूप, ५४३ **गणः**–भृङ्गिरिटि और नन्दिकेश्वर आदि पार्षदरूप ॥

लोकपालस्तथालोको महात्मा सर्वपूजितः।
शुक्लस्त्रिशुक्लः सम्पन्नः शुचिर्भूतनिषेवितः ॥ ९६ ॥

५४४ **लोकपालः**–चतुर्दश भुवनोंका पालन करनेवाले, ५४५ **अलोकः**–लोकातीत, ५४६ **महात्मा**–, ५४७ **सर्वपूजितः**–सबके द्वारा पूजित, ५४८ **शुक्लः**–शुद्धस्वरूप, ५४९ **त्रिशुक्लः**–मन, वाणी और शरीर ये तीनों, ५५० **सम्पन्नः**–सम्पूर्ण सम्पदाओंसे युक्त, ५५१ **शुचिः**–परम पवित्र, ५५२ **भूतनिषेवितः**–समस्त प्राणियोंद्वारा सेवित ॥

आश्रमस्थः क्रियावस्थो विश्वकर्ममतिर्वरः।
विशालशाखस्ताम्रोष्ठो ह्यम्बुजालः सुनिश्चलः ॥ ९७ ॥

५५३ **आश्रमस्थः**–चारों आश्रमोंमें धर्मरूपसे स्थित रहनेवाले, ५५४ **क्रियावस्थः**–यज्ञादि क्रियाओंमें संलग्न, ५५५**विश्वकर्ममतिः**–संसारकी रचनारूप कर्ममें कुशल,५५६ **वरः**–सर्वश्रेष्ठ, ५५७ **विशालशाखः**–लंबी भुजाओंवाले, ५५८ **ताम्रोष्ठः**–लाल लाल ओठवाले, ५५९ **अम्बुजालः**–जलसमूह—सागररूप, ५६० **सुनिश्चलः**–सर्वथा निश्चलरूप ॥

कपिलः कपिशः शुक्ल आयुश्चैव परोऽपरः।
गन्धर्वो ह्यदितिस्तार्क्ष्यः सुविज्ञेयः सुशारदः ॥ ९८ ॥

५६१ **कपिलः**–कपिल वर्ण, ५६२ **कपिशः**–पीले वर्णवाले, ५६३ **शुक्लः**–श्वेत वर्णवाले, ५६४ **आयुः**–जीवनरूप, ५६५ **परः**–प्राचीन, ५६६ **अपरः**–अर्वाचीन, ५६७ **गन्धर्वः**–चित्ररथ आदि गन्धर्वरूप, ५६८**अदितिः**–देवमाता अदितिस्वरूप, ५६९**तार्क्ष्यः**–विनतानन्दन गरुडरूप, ५७० **सुविज्ञेयः**–सुगमतापूर्वक जानने योग्य, ५७१ **सुशारदः**—उत्तम वाणी बोलनेवाले ॥ ९८ ॥

परश्वधायुधो देवो अनुकारी सुबान्धवः।
तुम्बवीणो महाक्रोध ऊर्ध्वरेता जलेशयः ॥ ९९ ॥

५७२ **परश्वधायुधः**–फरसेका आयुधके रूपमें उपयोग करनेवाले परशुरामरूप, ५७३ **देवः**–महादेवस्वरूप, ५७४ **अनुकारी**–भक्तोंका अनुकरण करनेवाले, ५७५ **सुबान्धवः**–

उत्तम बान्धवरूप, ५७६ **तुम्बवीणः**–तूँबीकी वीणा बजानेवाले, ५७७ **महाक्रोधः**–प्रलयकालमें महान् क्रोध प्रकट करनेवाले, ५७८ **ऊर्ध्वरेताः**–अस्खलितवीर्य, ५७९ **जलेशयः**–विष्णुरूपसे जलमें शयन करनेवाले ॥ ९९ ॥

उग्रो वंशकरो वंशो वंशनादो ह्यनिन्दितः।
सर्वाङ्गरूपो मायावी सुहृदो ह्यनिलोऽनलः ॥१००॥

५८० **उग्रः**–प्रलयकालमें भयंकर रूप धारण करनेवाले, ५८१ **वंशकरः**–वंशप्रवर्तक, ५८२ **वंशः**–वंशस्वरूप, ५८३ **वंशनादः**–श्रीकृष्णरूपसे वंशी बजानेवाले, ५८४ **अनिन्दितः**–निन्दारहित,५८५ **सर्वाङ्गरूपः**–सर्वाङ्ग पूर्णरूपवाले,५८६**मायावी**–,५८७ **सुहृदः**–हेतुरहित दयालु, ५८८ **अनिलः**–वायुस्वरूप, ५८९ **अनलः**–अग्निस्वरूप ॥१००॥

बन्धनो बन्धकर्ता च सुबन्धनविमोचनः।
सयज्ञारिः सकामारिर्महादंष्ट्रो महायुधः ॥१०१॥

५९० **बन्धनः**–स्नेहबन्धनमें बाँधनेवाले, ५९१ **बन्धकर्ता**–बन्धनरूप संसारके निर्माता, ५९२ **सुबन्धनविमोचनः**–मायाके सुदृढ़ बन्धनसे छुड़ानेवाले, ५९३ **सयज्ञारिः**–दक्षयज्ञ-शत्रुओंके साथी, ५९४ **सकामारिः**–कामविजयी योगियोंके साथी, ५९५ **महादंष्ट्रः**–बड़ी-बड़ी दाढ़वाले नरसिंहरूप, ५९६ **महायुधः**–विशाल आयुधधारी ॥

बहुधा निन्दितः शर्वः शङ्करः शङ्करोऽधनः।
अमरेशो महादेवो विश्वदेवः सुरारिहा ॥ १०२ ॥

५९७ **बहुधा निन्दितः**–दक्ष और उनके समर्थकोंद्वारा अनेक प्रकारसे निन्दित, ५९८ **शर्वः**–प्रलयकालमें सबका संहार करनेवाले, ५९९ **शङ्करः**–कल्याणकारी, ६०० **शंकरः**–भक्तोंको आनन्द देनेवाले, ६०१ **अधनः**–सांसारिक धनसे रहित, ६०२ **अमरेशः**–देवताओंके भी ईश्वर, ६०३ **महादेवः**–देवताओंके भी पूजनीय, ६०४ **विश्वदेवः**–सम्पूर्ण विश्वके आराध्यदेव, ६०५ **सुरारिहा**–देवशत्रुओंका वध करनेवाले ॥ १०२ ॥

अहिर्बुध्न्योऽनिलाभश्च चेकितानो हविस्तथा।
अजैकपाच्च कापाली त्रिशंकुरजितः शिवः १०३ ॥

६०६ **अहिर्बुध्न्यः**–शेषनागस्वरूप, ६०७ **अनिलाभः**–वायुके समान वेगवान्, ६०८ **चेकितानः**–अतिशय ज्ञानसम्पन्न, ६०९ **हविः**–हविष्यरूप, ६१० **अजैकपाद्**–ग्यारह रुद्रोंमेंसे एक, ६११ **कापाली**–दो कपालोंसे निर्मित कपालरूप अखिल ब्रह्माण्डके अधीश्वर, ६१२ **त्रिशंकुः**–त्रिशंकुरूप, ६१३ **अजितः**–किसीके द्वारा पराजित न होनेवाले, ६१४ **शिवः**–कल्याणस्वरूप ॥ १०३ ॥

धन्वन्तरिर्धूमकेतुः स्कन्दो वैश्रवणस्तथा।
धाता शक्रश्च विष्णुश्च मित्रस्त्वष्टा ध्रुवो धरः ॥१०४॥

६१५ **धन्वन्तरिः**–महावैद्य धन्वन्तरिरूप, ६१६ **धूमकेतुः**–अग्निस्वरूप, ६१७ **स्कन्दः**–स्वामी कार्तिकेयस्वरूप, ६१८ **वैश्रवणः**–कुबेरस्वरूप, ६१९ **धाता**–सबको धारण करनेवाले, ६२० **शक्रः**–इन्द्रस्वरूप, ६२१ **विष्णुः**–सर्वव्यापी नारायणदेव, ६२२ **मित्रः**–बारह आदित्योंमेंसे एक, ६२३ **त्वष्टा**–प्रजापति विश्वकर्मा, ६२४ **ध्रुवः**–नित्यस्वरूप, ६२५ **धरः**–आठ वसुओंमेंसे एक वसु धरस्वरूप ॥

प्रभावः सर्वगो वायुरर्यमा सविता रविः।
उषङ्गुश्च विधाता च मान्धाता भूतभावनः ॥१०५॥

६२६ **प्रभावः**–उत्कृष्टभावसे सम्पन्न, ६२७ **सर्वगो वायुः**–सर्वव्यापी वायु—सूत्रात्मा, ६२८ **अर्यमा**–बारह आदित्योंमें एक आदित्य अर्यमारूप, ६२९ **सविता**–सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाले, ६३० **रविः**–सूर्य, ६३१ **उषङ्गुः**–सर्वदाहक किरणोंवाले सूर्यरूप, ६३२ **विधाता**–प्रजाका विशेषरूपसे धारण-पोषण करनेवाले, ६३३ **मान्धाता**–जीवको तृप्ति प्रदान करनेवाले, ६३४ **भूतभावनः**–समस्त प्राणियोंके उत्पादक ॥ १०५ ॥

विभुर्वर्णविभावी च सर्वकामगुणावहः।
पद्मनाभो महागर्भश्चन्द्रवक्त्रोऽनिलोऽनलः ॥१०६॥

६३५ **विभुः**–विविधरूपसे विद्यमान, ६३६ **वर्णविभावी**–श्वेत-पीत आदि वर्णोंको विविधरूपसे व्यक्त करनेवाले, ६३७ **सर्वकामगुणावहः**–समस्त भोगों और गुणोंकी प्राप्ति करानेवाले, ६३८ **पद्मनाभः**–अपनी नाभिसे कमलको प्रकट करनेवाले विष्णुरूप, ६३९ **महागर्भः**–विशाल ब्रह्माण्डको उदरमें धारण करनेवाले, ६४० **चन्द्रवक्त्रः**–चन्द्रमा-जैसे मनोहर मुखवाले, ६४१ **अनिलः**–वायुदेव, ६४२ **अनलः**–अग्निदेव ॥ १०६ ॥

बलवांश्चोपशान्तश्च पुराणः पुण्यचञ्चुरी।
कुरुकर्ता कुरुवासी कुरुभूतो गुणौषधः ॥१०७॥

६४३ **बलवान्**–शक्तिशाली, ६४४ **उपशान्तः**–शान्तस्वरूप, ६४५ **पुराणः**–पुराणपुरुष, ६४६ **पुण्यचञ्चुः**–पुण्यके द्वारा जाननेमें आनेवाले, ६४७ ई–दयास्वरूप, ६४८ **कुरुकर्ता**–कुरुक्षेत्रके निर्माता, ६४९ **कुरुवासी**–कुरुक्षेत्रनिवासी, ६५० **कुरुभूतः**–कुरुक्षेत्रस्वरूप, ६५१ **गुणौषधः**–गुणोंको उत्पन्न करनेवाली ओषधिके समान ज्ञान, वैराग्य आदि गुणोंके उत्पादक ॥ १०७ ॥

सर्वाशयो दर्भचारी सर्वेषां प्राणिनां पतिः।
देवदेवः सुखासक्तः सदसत्सर्वरत्नवित् ॥१०८॥

६५२ **सर्वाशयः**–सबके आश्रय, ६५३ **दर्भचारी**–वेदीपर बिछे हुए—कुशोंपर रखे हुए हविष्यको भक्षण करनेवाले, ६५४ **सर्वेषां प्राणिनां पतिः**–समस्त प्राणियोंके स्वामी, ६५५ **देवदेवः**–देवताओंके भी देवता, ६५६ **सुखासक्तः**–अपने परमानन्दमय स्वरूपमें ही रत रहनेवाले, ६५७ **सत्**–सत्स्वरूप, ६५८ **असत्**–असत्स्वरूप, ६५९ **सर्वरत्नवित्**–सम्पूर्ण रत्नोंके ज्ञाता ॥ १०८ ॥

कैलासगिरिवासी च हिमवद्गिरिसंश्रयः ।
कूलहारी कूलकर्ता बहुविद्यो बहुप्रदः ॥१०९॥

६६० **कैलासगिरिवासी**–कैलास पर्वतपर निवास करनेवाले, ६६१ **हिमवद्गिरिसंश्रयः**–हिमालयपर्वतके निवासी, ६६२ **कूलहारी**–प्रबल प्रवाहरूपसे नदियोंके तटोंका अपहरण करनेवाले, ६६३ **कूलकर्ता**–पुष्कर आदि बड़े-बड़े सरोवरोंका निर्माण करनेवाले, ६६४ **बहुविद्यः**–बहुत-सी विद्याओंके ज्ञाता, ६६५ **बहुप्रदः**–बहुत अधिक देनेवाले ॥ १०९ ॥

वणिजो वर्धकी वृक्षो बकुलश्चन्दनश्छदः ।
सारग्रीवो महाजत्रुरलोलश्च महौषधः ॥११०॥

६६६ **वणिजो**–वैश्यरूप, ६६७ **वर्धकी**–संसाररूपी वृक्षको काटनेवाले बढ़ई, ६६८ **वृक्षः**–संसाररूप वृक्षस्वरूप, ६६९ **वकुलः**–मौलसिरी वृक्षस्वरूप, ६७० **चन्दनः**–चन्दन वृक्षस्वरूप, ६७१ **छदः**–छितवन वृक्षस्वरूप, ६७२ **सारग्रीवः**–सुदृढ़ कण्ठवाले, ६७३ **महाजत्रुः**–बहुत बड़ी हँसुलीवाले, ६७४ **अलोलः**–अचञ्चल, ६७५ **महौषधः**–महान् औषधस्वरूप ॥ ११० ॥

सिद्धार्थकारी सिद्धार्थश्छन्दोव्याकरणोत्तरः ।
सिंहनादः सिंहदंष्ट्रः सिंहगः सिंहवाहनः ॥१११॥

६७६ **सिद्धार्थकारी**–आश्रितजनोंको सफलमनोरथ करनेवाले, ६७७ **सिद्धार्थः**–वेदकी व्याख्यासे निर्णीत उत्कृष्ट सिद्धान्तस्वरूप, ६७८ **सिंहनादः**–सिंहके समान गर्जना करनेवाले, ६७९ **सिंहदंष्ट्रः**–सिंहके समान दाढ़वाले, ६८० **सिंहगः**–सिंहपर आरूढ़ होकर चलनेवाले, ६८१ **सिंहवाहनः**–सिंहपर सवारी करनेवाले ॥ १११ ॥

प्रभावात्मा जगत्कालस्थालो लोकहितस्तरुः ।
सारङ्गो नवचक्राङ्गः केतुमाली सभावनः ॥११२॥

६८२ **प्रभावात्मा**–उत्कृष्ट सत्तास्वरूप, ६८३ **जगत्कालस्थालः**–प्रलयकालमें जगत्‌का संहार करनेवाले कालके स्थान, ६८४ **लोकहितः**–लोकहितैषी, ६८५ **तरुः**–तारनेवाले, ६८६ **सारङ्गः**–चातकस्वरूप, ६८७ **नवचक्राङ्गः**–नूतन हंसरूप, ६८८ **केतुमाली**–ध्वजा-पताकाओंकी मालाओंसे अलंकृत, ६८९ **सभावनः**–धर्मस्थानकी रक्षा करनेवाले ॥

भूतालयो भूतपतिरहोरात्रमनिन्दितः ॥११३॥

६९० **भूतालयः**–सम्पूर्ण भूतोंके घर, ६९१ **भूतपतिः**–सम्पूर्ण प्राणियोंके स्वामी, ६९२ **अहोरात्रम्**–दिन-रात्रिस्वरूप, ६९३ **अनिन्दितः**–निन्दारहित ॥ ११३ ॥

वाहिता सर्वभूतानां निलयश्च विभुर्भवः ।
अमोघः संयतो ह्यश्वो भोजनः प्राणधारणः ॥११४॥

६९४ **सर्वभूतानां वाहिता**–सम्पूर्ण भूतोंका भार वहन करनेवाले, ६९५ **सर्वभूतानां निलयः**–समस्त प्राणियोंके निवासस्थान, ६९६ **विभुः**–सर्वव्यापी, ६९७ **भवः**–सत्तारूप, ६९८ **अमोघः**–कभी असफल न होनेवाले, ६९९ **संयतः**–संयमशील, ७०० **अश्वः**–उच्चैःश्रवा आदि उत्तम अश्वरूप, ७०१ **भोजनः**–अन्नदाता, ७०२ **प्राणधारणः**–सबके प्राणोंकी रक्षा करनेवाले ॥ ११४ ॥

धृतिमान् मतिमान् दक्षः सत्कृतश्च युगाधिपः ।
गोपालिर्गोपतिर्ग्रामो गोचर्मवसनो हरिः ॥११५॥

७०३ **धृतिमान्**–धैर्यशाली, ७०४ **मतिमान्**–बुद्धिमान्, ७०५ **दक्षः**–चतुर, ७०६ **सत्कृतः**–सबके द्वारा सम्मानित, ७०७ **युगाधिपः**–युगके स्वामी, ७०८ **गोपालिः**–इन्द्रियोंके पालक, ७०९ **गोपतिः**–गौओंके स्वामी, ७१० **ग्रामः**–समूहरूप, ७११ **गोचर्मवसनः**–गोचर्ममय वस्त्र धारण करनेवाले, ७१२ **हरिः**–भक्तोंका दुःख हर लेनेवाले ॥११५॥

हिरण्यबाहुश्च तथा गुहापालः प्रवेशिनाम् ।
प्रकृष्टारिर्महाहर्षो जितकामो जितेन्द्रियः ॥११६॥

७१३ **हिरण्यबाहुः**–सुनहरी कान्तिवाली सुन्दर भुजाओंसे सुशोभित, ७१४ **गुहापालः प्रवेशिनाम्**–गुफाके भीतर प्रवेश करनेवाले योगियोंकी गुफाके रक्षक, ७१५ **प्रकृष्टारिः**–काम, क्रोध आदि शत्रुओंको क्षीण कर देनेवाले, ७१६ **महाहर्षः**–परमानन्दस्वरूप, ७१७ **जितकामः**–कामविजयी, ७१८ **जितेन्द्रियः**–इन्द्रियविजयी ॥ ११६ ॥

गान्धारश्च सुवासश्च तपःसक्तो रतिर्नरः ।
महागीतो महानृत्यो ह्यप्सरोगणसेवितः ॥११७॥

७१९ **गान्धारः**–गान्धार नामक स्वररूप, ७२० **सुवासः**–कैलास नामक सुन्दर स्थानमें वास करनेवाले, ७२१ **तपःसक्तः**–तपस्यामें संलग्न, ७२२ **रतिः**–प्रीतिरूप, ७२३ **नरः**–विराट् पुरुष, ७२४ **महागीतः**–जिनके माहात्म्यका वेद-शास्त्रोंद्वारा गान किया गया है, ऐसे महान् देव, ७२५ **महानृत्यः**–प्रकाण्ड ताण्डव करनेवाले, ७२६ **अप्सरोगणसेवितः**–अप्सराओंके समुदायसे सेवित ॥ ११७ ॥

महाकेतुर्महाधातुर्नैकसानुचरश्चलः ।
आवेदनीय आदेशः सर्वगन्धसुखावहः ॥११८॥

७२७ **महाकेतुः**–धर्मरूप महान् ध्वजावाले, ७२८ **महाधातुः**–सुवर्णस्वरूप, ७२९ **नैकसानुचरः**–मेरुगिरिके अनेक शिखरोंपर विचरण करनेवाले, ७३० **चलः**–किसीकी पकड़में नहीं आनेवाले, ७३१ **आवेदनीयः**–प्रार्थना करनेयोग्य, ७३२ **आदेशः**–आज्ञा प्रदान करनेवाले, ७३३ **सर्वगन्धसुखावहः**–सम्पूर्ण गन्धादि विषयोंके सुखकी प्राप्ति करानेवाले ॥ ११८ ॥

तोरणस्तारणो वातः परिधी पतिखेचरः ।
संयोगो वर्धनो वृद्धो अतिवृद्धो गुणाधिकः ॥११९॥

७३४ **तोरणः**–मुक्तिद्वारस्वरूप, ७३५ **तारणः**–तारनेवाले, ७३६ **वातः**–वायुरूप, ७३७ **परिधीः**–ब्रह्माण्डका घेरारूप, ७३८ **पतिखेचरः**–आकाशचारीका स्वामी, ७३९ **वर्धनः संयोगः**–वृद्धिका हेतुभूत स्त्री-पुरुषका संयोग,

७४० वृद्धः—गुणोंमें बढ़ा-चढ़ा, ७४१ अतिवृद्धः—सबसे पुरातन होनेके कारण अतिवृद्ध, ७४२ गुणाधिकः—ज्ञान-ऐश्वर्य आदि गुणोंके द्वारा सबसे अधिकतर ॥ ११९ ॥

नित्य आत्मसहायश्च देवासुरपतिः पतिः ।
युक्तश्च युक्तबाहुश्च देवो दिविसुपर्वणः ॥१२०॥

७४३ नित्य आत्मसहायः—आत्माकी सदा सहायता करनेवाले, ७४४ देवासुरपतिः—देवताओं और असुरोंके स्वामी, ७४५ पतिः—सबके स्वामी, ७४६ युक्तः—भक्तोंके उद्धारके लिये सदा उद्यत रहनेवाले, ७४७ युक्तबाहुः—सबकी रक्षाके लिये उपयुक्त भुजाओंवाले, ७४८ देवो दिविसुपर्वणः—स्वर्गमें जो महान् देवता इन्द्र हैं, उनके भी आराध्यदेव ॥ १२० ॥

आषाढश्च सुषाढश्च ध्रुवोऽथ हरिणो हरः ।
वपुरावर्तमानेभ्यो वसुश्रेष्ठो महापथः ॥१२१॥

७४९ आषाढः—भक्तोंको सब कुछ सहन करनेकी शक्ति देनेवाले, ७५० सुषाढः—उत्तम सहनशील, ७५१ ध्रुवः—अविचलस्वरूप, ७५२ हरिणः—शुद्धस्वरूप, ७५३ हरः—पापहारी, ७५४ आवर्तमानेभ्यो वपुः—स्वर्गलोकसे लौटनेवालेको नूतन शरीर देनेवाले, ७५५ वसुश्रेष्ठः—श्रेष्ठ धनस्वरूप अर्थात् मुक्तिस्वरूप, ७५६ महापथः—सर्वोत्तम मार्गस्वरूप ॥ १२१ ॥

शिरोहारी विमर्शश्च सर्वलक्षणलक्षितः ।
अक्षश्च रथयोगी च सर्वयोगी महाबलः ॥१२२॥

७५७ विमर्शः शिरोहारी—विवेकपूर्वक दुष्टोंका शिरश्छेद करनेवाले, ७५८ सर्वलक्षणलक्षितः—समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, ७५९ अक्षः रथयोगी—रथसे सम्बन्ध रखनेवाला धुरीस्वरूप, ७६० सर्वयोगी—सभी समयमें योगयुक्त, ७६१ महाबलः—अनन्त शक्तिसे सम्पन्न ॥ १२२ ॥

समाम्नायोऽसमाम्नायस्तीर्थदेवो महारथः ।
निर्जीवो जीवनो मन्त्रः शुभाक्षो बहुकर्कशः ॥१२३॥

७६२ समाम्नायः—वेदस्वरूप, ७६३ असमाम्नायः—वेदभिन्न स्मृति, इतिहास, पुराण और आगमरूप, ७६४ तीर्थदेवः—सम्पूर्ण तीर्थोंके देवस्वरूप, ७६५ महारथः—त्रिपुरदाहके समय पृथ्वीरूपी विशाल रथपर आरूढ़ होनेवाले, ७६६ निर्जीवः—जड-प्रपञ्चस्वरूप, ७६७ जीवनः=जीवनदाता, ७६८ मन्त्रः—प्रणव आदि मन्त्रस्वरूप, ७६९ शुभाक्षः—मङ्गलमयी दृष्टिवाले, ७७० बहुकर्कशः—संहारकालमें अत्यन्त कठोर स्वभाववाले ॥ १२३ ॥

रत्नप्रभूतो रत्नाङ्गो महार्णवनिपानवित् ।
मूलं विशालो ह्यमृतो व्यक्ताव्यक्तस्तपोनिधिः ॥१२४॥

७७१ रत्नप्रभूतः—अनेक रत्नोंके भण्डाररूप, ७७२ रत्नाङ्गः—रत्नमय अङ्गवाले, ७७३ महार्णवनिपानवित्—महासागररूपी निपानों (हौजों) को जाननेवाले, ७७४ मूलम्—संसाररूपी वृक्षके कारण, ७७५ विशालः—अत्यन्त शोभायमान, ७७६ अमृतः—अमृतस्वरूप मुक्तिस्वरूप, ७७७ व्यक्ताव्यक्तः—साकार-निराकार स्वरूप, ७७८ तपोनिधिः—तपस्याके भण्डार ॥ १२४ ॥

आरोहणोऽधिरोहश्च शीलधारी महायशाः ।
सेनाकल्पो महाकल्पो योगो युगकरो हरिः ॥१२५॥

७७९ आरोहणः—परम पदपर आरूढ़ होनेके द्वारस्वरूप, ७८० अधिरोहः—परमपदपर आरूढ़, ७८१ शीलधारी—सुशीलसम्पन्न, ७८२ महायशाः—महान् यशसे सम्पन्न, ७८३ सेनाकल्पः—सेनाके आभूषणरूप, ७८४ महाकल्पः—बहुमूल्य अलंकारोंसे अलंकृत, ७८५ योगः—चित्तवृत्तियोंके निरोधस्वरूप, ७८६ युगकरः—युगप्रवर्तक, ७८७ हरिः—भक्तोंका दुःख हर लेनेवाले ॥ १२५ ॥

युगरूपो महारूपो महानागहनोऽवधः ।
न्यायनिर्वपणः पादः पण्डितो ह्यचलोपमः ॥१२६॥

७८८ युगरूपः—युगस्वरूप, ७८९ महारूपः—महान् रूपवाले, ७९० महानागहनः—विशालकाय गजासुरका वध करनेवाले, ७९१ अवधः—मृत्युरहित, ७९२ न्यायनिर्वपणः—न्यायोचित दान करनेवाले, ७९३ पादः—शरण लेने-योग्य (पद्यते भक्तैः इति पादः), ७९४ पण्डितः—ज्ञानी, ७९५ अचलोपमः—पर्वतके समान अविचल ॥ १२६ ॥

बहुमालो महामालः शशी हरसुलोचनः ।
विस्तारो लवणः कूपस्त्रियुगः सफलोदयः ॥१२७॥

७९६ बहुमालः—बहुत-सी मालाएँ धारण करनेवाले, ७९७ महामालः—महती—पैरोंतक लटकनेवाली माला धारण करनेवाले, ७९८ शशी हरसुलोचनः—चन्द्रमाके समान सौम्य दृष्टियुक्त महादेव, ७९९ विस्तारो लवणः कूपः—विस्तृत क्षारसमुद्रस्वरूप, ८०० त्रियुगः—सत्ययुग, त्रेता और द्वापर त्रिविध युगस्वरूप, ८०१ सफलोदयः—जिसका अवताररूपमें प्रकट होना सफल है ॥ १२७ ॥

त्रिलोचनो विषण्णाङ्गो मणिविद्धो जटाधरः ।
बिन्दुर्विसर्गः सुमुखः शरः सर्वायुधः सहः ॥१२८॥

८०२ त्रिलोचनः—त्रिनेत्रधारी, ८०३ विषण्णाङ्गः—अङ्गरहित अर्थात् सर्वथा निराकार, ८०४ मणिविद्धः—मणिका कुण्डल पहिननेके लिये छिदे हुए कर्णवाले, ८०५ जटाधरः—जटाधारी, ८०६ बिन्दुः—अनुस्वाररूप, ८०७ विसर्गः—विसर्जनीयस्वरूप, ८०८ सुमुखः—सुन्दर मुखवाले, ८०९ शरः—बाणस्वरूप, ८१० सर्वायुधः—सम्पूर्ण आयुधोंसे युक्त, ८११ सहः—सहनशील ॥ १२८ ॥

निवेदनः सुखाजातः सुगन्धारो महाधनुः ।
गन्धपाली च भगवानुत्थानः सर्वकर्मणाम् ॥१२९॥

८१२ निवेदनः—सब प्रकारकी वृत्तिसे रहित ज्ञानवाले, ८१३ सुखाजातः—सब वृत्तियोंका लय होनेपर सुखरूपसे प्रकट

होनेवाले, ८१४ सुगन्धारः–उत्तम गन्धसे युक्त, ८१५ महाधनुः–पिनाक नामक विशाल धनुष धारण करनेवाले, ८१६ भगवान् गन्धपाली–उत्तम गन्धकी रक्षा करनेवाले भगवान्, ८१७ सर्वकर्मणामुत्थानः–समस्त कर्मोंके उत्थानस्थान ॥ १२९ ॥

मन्थानो बहुलो वायुः सकलः सर्वलोचनः ।
तलस्तालः करस्थाली ऊर्ध्वसंहननो महान् ॥१३०॥

८१८ मन्थानो बहुलो वायुः–विश्वको मथ डालनेमें समर्थ प्रलयकालकी महान् वायुस्वरूप, ८१९ सकलः–सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त, ८२० सर्वलोचनः–सबके द्रष्टा, ८२१ तलस्तालः–हाथपर ही ताल देनेवाले, ८२२ करस्थाली–हाथोंसे ही भोजनपात्रका काम लेनेवाले, ८२३ऊर्ध्वसंहननः–सुदृढ़ शरीरवाले, ८२४ महान्–श्रेष्ठतम ॥ १३० ॥

छत्रं सुच्छत्रो विख्यातो लोकः सर्वाश्रयः क्रमः ।
मुण्डो विरूपो विकृतो दण्डी कुण्डी विकुर्वणः ॥१३१॥

८२५ छत्रम्–छत्रके समान पाप-तापसे सुरक्षित रखनेवाले, ८२६ सुच्छत्रः–उत्तम छत्रस्वरूप, ८२७ विख्यातो लोकः–सुप्रसिद्ध लोकस्वरूप, ८२८ सर्वाश्रयः क्रमः–सबके आधारभूत गति, ८२९ मुण्डः–मुण्डित-मस्तक, ८३० विरूपः–विकट रूपवाले, ८३१ विकृतः–सम्पूर्ण विपरीत क्रियाओंको धारण करनेवाले, ८३२ दण्डी–दण्डधारी, ८३३ कुण्डी–खप्परधारी, ८३४ विकुर्वणः–क्रियाद्वारा अलभ्य ॥

हर्यक्षः ककुभो वज्री शतजिह्वः सहस्रपात् ।
सहस्रमूर्धा देवेन्द्रः सर्वदेवमयो गुरुः ॥१३२॥

८३५हर्यक्षः–सिंहस्वरूप, ८३६ ककुभः–सम्पूर्ण दिशास्वरूप, ८३७ वज्री–वज्रधारी, ८३८ शतजिह्वः–सैकड़ों जिह्वावाले, ८३९ सहस्रपात् सहस्रमूर्धा–सहस्रों पैर और मस्तकवाले, ८४० देवेन्द्रः–देवताओंके राजा, ८४१ सर्वदेवमयः–सम्पूर्ण देवस्वरूप, ८४२ गुरुः–सबके ज्ञानदाता ॥

सहस्रबाहुः सर्वाङ्गः शरण्यः सर्वलोककृत् ।
पवित्रं त्रिककुन्मन्त्रः कनिष्ठः कृष्णपिङ्गलः ॥१३३॥

८४३ सहस्रबाहुः–सहस्रों भुजाओंवाले, ८४४ सर्वाङ्गः–समस्त अङ्गोंसे सम्पन्न, ८४५ शरण्यः–शरण लेनेके योग्य, ८४६ सर्वलोककृत्–सम्पूर्ण लोकोंके उत्पन्न करनेवाले, ८४७ पवित्रम्–परम पावन, ८४८ त्रिककुन्मन्त्रः–त्रिपदा गायत्रीरूप, ८४९ कनिष्ठः–अदितिके पुत्रोंमें छोटे, वामनरूपधारी विष्णु, ८५० कृष्णपिङ्गलः–श्याम-गौर हरि-हर-मूर्ति ॥ १३३ ॥

ब्रह्मदण्डविनिर्माता शतघ्नीपाशशक्तिमान् ।
पद्मगर्भो महागर्भो ब्रह्मगर्भो जलोद्भवः ॥१३४॥

८५१ ब्रह्मदण्डविनिर्माता–ब्रह्मदण्डका निर्माण करनेवाले, ८५२ शतघ्नीपाशशक्तिमान्–शतघ्नी, पाश और शक्तिसे युक्त, ८५३ पद्मगर्भः–ब्रह्मास्वरूप, ८५४ महागर्भः–जगत्‌रूप गर्भको धारण करनेवाले होनेसे महागर्भ, ८५५ ब्रह्मगर्भः–वेदको उदरमें धारण करनेवाले, ८५६ जलोद्भवः–एकार्णवके जलमें प्रकट होनेवाले ॥ १३४ ॥

गभस्तिर्ब्रह्मकृद् ब्रह्मी ब्रह्मविद् ब्राह्मणो गतिः ।
अनन्तरूपो नैकात्मा तिग्मतेजाः स्वयम्भुवः ॥१३५॥

८५७ गभस्तिः–सूर्यस्वरूप, ८५८ ब्रह्मकृत्–वेदोंका आविष्कार करनेवाले, ८५९ ब्रह्मी–वेदाध्यायी, ८६० ब्रह्मवित्–वेदार्थवेत्ता, ८६१ ब्राह्मणः–ब्रह्मनिष्ठ, ८६२ गतिः–ब्रह्मनिष्ठोंकी परमगति, ८६३ अनन्तरूपः–अनन्त रूपवाले, ८६४ नैकात्मा–अनेक शरीरधारी, ८६५ तिग्मतेजाः स्वयम्भुवः–ब्रह्माजीकी अपेक्षा प्रचण्ड तेजस्वी॥ १३५॥

ऊर्ध्वगात्मा पशुपतिर्वातरंहा मनोजवः ।
चन्दनी पद्मनालाग्रः सुरभ्युत्तरणो नरः ॥१३६॥

८६६ ऊर्ध्वगात्मा–देश-काल-वस्तुकृत उपाधिसे अतीत स्वरूपवाले, ८६७ पशुपतिः–जीवोंके स्वामी, ८६८ वातरंहाः–वायुके समान वेगशाली, ८६९ मनोजवः–मनके समान वेगशाली, ८७० चन्दनी–चन्दनचर्चित अङ्गवाले, ८७१ पद्मनालाग्रः–पद्मनालके मूल विष्णुस्वरूप, ८७२ सुरभ्युत्तरणः–सुरभिको नीचे उतारनेवाले, ८७३ नरः–पुरुषरूप ॥ १३६ ॥

कर्णिकारमहास्रग्वी नीलमौलिः पिनाकधृत् ।
उमापतिरुमाकान्तो जाह्नवीधृदुमाधवः ॥१३७॥

८७४ कर्णिकारमहास्रग्वी–कनेरकी बहुत बड़ी माला धारण करनेवाले, ८७५ नीलमौलिः–मस्तकपर नीलमणिमय मुकुट धारण करनेवाले, ८७६ पिनाकधृत्–पिनाक धनुषको धारण करनेवाले, ८७७ उमापतिः–उमा—ब्रह्मविद्याके स्वामी, ८७८ उमाकान्तः–पार्वतीके प्राण-प्रियतम, ८७९ जाह्नवीधृत्–गङ्गाको मस्तकपर धारण करनेवाले, ८८० उमाधवः–पार्वतीपति ॥ १३७ ॥

वरो वराहो वरदो वरेण्यः सुमहास्वनः ।
महाप्रसादो दमनः शत्रुहा श्वेतपिङ्गलः ॥१३८॥

८८१ वरो वराहः–श्रेष्ठ वराहरूपधारी भगवान्, ८८२ वरदः–वरदाता, ८८३ वरेण्यः–स्वामी बनाने योग्य, ८८४ सुमहास्वनः–महान् गर्जना करनेवाले, ८८५ महाप्रसादः–भक्तोंपर महान् अनुग्रह करनेवाले, ८८६ दमनः–दुष्टोंका दमन करनेवाले, ८८७ शत्रुहा–शत्रुनाशक, ८८८ श्वेतपिङ्गलः–अर्धनारीनरेश्वर-वेशमें श्वेत-पिङ्गल वर्णवाले ॥

पीतात्मा परमात्मा च प्रयतात्मा प्रधानधृत् ।
सर्वपार्श्वमुखस्त्र्यक्षो धर्मसाधारणो वरः ॥१३९॥

८८९ पीतात्मा–हिरण्मय पुरुष, ८९० परमात्मा–परब्रह्म परमेश्वर, ८९१ प्रयतात्मा–विशुद्ध-चित्त, ८९२ प्रधानधृत्–जगत्‌के कारणभूत त्रिगुणमय प्रधानके अधिष्ठानस्वरूप, ८९३ सर्वपार्श्वमुखः–सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर मुखवाले, ८९४ त्र्यक्षः–त्रिनेत्रधारी, ८९५ धर्मसाधारणो वरः–धर्म-पालनके अनुसार वर देनेवाले ॥ १३९ ॥

चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा अमृतो गोवृषेश्वरः ।
साध्यर्षिर्वसुरादित्यो विवस्वान् सवितामृतः ॥१४०॥

८९६ चराचरात्मा–चराचर प्राणियोंके आत्मा, ८९७ सूक्ष्मात्मा–अति सूक्ष्मस्वरूप, ८९८ अमृतो गोवृषेश्वरः–निष्काम धर्मके स्वामी, ८९९ साध्यर्षिः–साध्य देवताओंके आचार्य, ९०० आदित्यो वसुः–अदितिकुमार वसु, ९०१ विवस्वान् सवितामृतः–किरणोंसे सुशोभित एवं जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले अमृतस्वरूप सूर्य ॥ १४० ॥

व्यासः सर्गः सुसंक्षेपो विस्तरः पर्ययो नरः ।
ऋतुः संवत्सरो मासः पक्षः संख्यासमापनः ॥१४१॥

९०२ व्यासः–पुराण-इतिहास आदिके स्रष्टा वेदव्यासस्वरूप, ९०३ सर्गः सुसंक्षेपो विस्तरः–संक्षिप्त और विस्तृत सृष्टिस्वरूप, ९०४ पर्ययो नरः–सब ओरसे व्याप्त करनेवाले वैश्वानरस्वरूप, ९०५ ऋतुः–ऋतुरूप, ९०६ संवत्सरः–संवत्सररूप, ९०७ मासः–मासरूप, ९०८ पक्षः–पक्षरूप, ९०९ संख्यासमापनः–पूर्वोक्त ऋतु आदिकी संख्या समाप्त करनेवाले पर्व (संक्रान्ति, दर्श, पूर्णमासादि) रूप ॥१४१॥

कलाः काष्ठा लवा मात्रा मुहूर्ताहःक्षपाः क्षणाः ।
विश्वक्षेत्रं प्रजाबीजं लिङ्गमाद्यस्तु निर्गमः ॥१४२॥

९१० कलाः, ९११ काष्ठाः, ९१२ लवाः, ९१३ मात्राः–(इत्यादि कालावयवस्वरूप), ९१४ मुहूर्ताहःक्षपाः– मुहूर्त, दिन और रात्रिरूप, ९१५ क्षणाः–क्षणरूप, ९१६ विश्वक्षेत्रम्–ब्रह्माण्डरूपी वृक्षके आधार, ९१७ प्रजाबीजम्–प्रजाओंके कारणरूप, ९१८ लिङ्गम्–महत्तत्त्वस्वरूप, ९१९ आद्यो निर्गमः–सबसे पहले प्रकट होनेवाले ॥१४२॥

सदसद् व्यक्तमव्यक्तं पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ॥१४३॥

९२० सत्–सत्स्वरूप, ९२१ असत्–असत्स्वरूप, ९२२ व्यक्तम्–साकाररूप, ९२३ अव्यक्तम्–निराकाररूप, ९२४ पिता, ९२५ माता, ९२६ पितामहः, ९२७ स्वर्गद्वारम्–स्वर्गके साधनस्वरूप, ९२८प्रजाद्वारम्–प्रजाके कारण, ९२९ मोक्षद्वारम्–मोक्षके साधनस्वरूप, ९३० त्रिविष्टपम्–स्वर्गके साधनस्वरूप ॥ १४३ ॥

निर्वाणं ह्लादनश्चैव ब्रह्मलोकः परा गतिः ।
देवासुरविनिर्माता देवासुरपरायणः ॥१४४॥

९३१ निर्वाणम्–मोक्षस्वरूप, ९३२ ह्लादनः–आनन्द प्रदान करनेवाले, ९३३ ब्रह्मलोकः–ब्रह्मलोकस्वरूप, ९३४ परा गतिः–सर्वोत्कृष्ट गतिस्वरूप, ९३५ देवासुरविनिर्माता–देवताओं और असुरोंके जन्मदाता, ९३६ देवासुरपरायणः–देवताओं तथा असुरोंके परम आश्रय ॥ १४४ ॥

देवासुरगुरुर्देवो देवासुरनमस्कृतः ।
देवासुरमहामात्रो देवासुरगणाश्रयः ॥१४५॥

९३७ देवासुरगुरुः–देवताओं और असुरोंके गुरु, ९३८ देवः–परम देवस्वरूप, ९३९ देवासुरनमस्कृतः–देवताओं और असुरोंसे वन्दित, ९४० देवासुरमहामात्रः–देवताओं और असुरोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ, ९४१ देवासुरगणाश्रयः–देवताओं तथा असुरगणोंके आश्रय लेने योग्य ॥१४५॥

देवासुरगणाध्यक्षो देवासुरगणाग्रणीः ।
देवातिदेवो देवर्षिर्देवासुरवरप्रदः ॥१४६॥

९४२ देवासुरगणाध्यक्षः–देवताओं तथा असुरगणोंके अध्यक्ष, ९४३ देवासुरगणाग्रणीः–देवताओं तथा असुरोंके अगुआ, ९४४ देवातिदेवः–देवताओंसे बढ़कर महादेव, ९४५ देवर्षिः–नारदस्वरूप, ९४६ देवासुरवरप्रदः–देवताओं और असुरोंको भी वरदान देनेवाले ॥ १४६ ॥

देवासुरेश्वरो विश्वो देवासुरमहेश्वरः ।
सर्वदेवमयोऽचिन्त्यो देवतात्माऽऽत्मसम्भवः ॥१४७॥

९४७ देवासुरेश्वरः–देवताओं और असुरोंके ईश्वर, ९४८ विश्वः–विराट् स्वरूप, ९४९ देवासुरमहेश्वरः–देवताओं और असुरोंके महान् ईश्वर, ९५० सर्वदेवमयः–सम्पूर्ण देवस्वरूप, ९५१ अचिन्त्यः–अचिन्त्यस्वरूप, ९५२ देवतात्मा–देवताओंके अन्तरात्मा, ९५३ आत्मसम्भवः–स्वयम्भू ॥ १४७ ॥

उद्भित् त्रिविक्रमो वैद्यो विरजो नीरजोऽमरः ।
ईड्यो हस्तीश्वरो व्याघ्रो देवसिंहो नरर्षभः ॥१४८॥

९५४ उद्भित्–वृक्षादिस्वरूप, ९५५ त्रिविक्रमः–तीनों लोकोंको तीन चरणोंसे नाप लेनेवाले भगवान् वामन, ९५६ वैद्यः–वैद्यस्वरूप, ९५७ विरजः–रजोगुणरहित, ९५८ नीरजः–निर्मल, ९५९ अमरः–नाशरहित, ९६० ईड्यः–स्तुतिके योग्य, ९६१ हस्तीश्वरः–ऐरावत हस्तीके ईश्वर इन्द्रस्वरूप, ९६२ व्याघ्रः–सिंहस्वरूप, ९६३ देवसिंहः–देवताओंमें सिंहके समान पराक्रमी, ९६४ नरर्षभः–मनुष्योंमें श्रेष्ठ ॥ १४८ ॥

विबुधोऽग्रवरः सूक्ष्मः सर्वदेवस्तपोमयः ।
सुयुक्तः शोभनो वज्री प्रासानां प्रभवोऽव्ययः ॥१४९॥

९६५ विबुधः–विशेष ज्ञानवान्, ९६६ अग्रवरः–यज्ञमें सबसे प्रथम भाग लेनेके अधिकारी, ९६७ सूक्ष्मः–अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूप, ९६८ सर्वदेवः–सर्वदेवस्वरूप, ९६९ तपोमयः–तपोमयस्वरूप, ९७० सुयुक्तः–भक्तोंपर कृपा करनेके लिये सब तरहसे सदा सावधान रहनेवाले, ९७१ शोभनः–कल्याणस्वरूप, ९७२ वज्री–वज्रायुधधारी, ९७३ प्रासानां प्रभवः–प्रास नामक अस्त्रकी उत्पत्तिके स्थान, ९७४ अव्ययः–विनाशरहित ॥ १४९ ॥

गुहः कान्तो निजः सर्गः पवित्रं सर्वपावनः ।
शृङ्गी शृङ्गप्रियो बभ्रू राजराजो निरामयः ॥१५०॥

९७५ गुहः–कुमार कार्तिकेयस्वरूप ९७६ कान्तः–आनन्दकी पराकाष्ठारूप, ९७७ निजः सर्गः–सृष्टिसे अभिन्न, ९७८ पवित्रम्–परम पवित्र, ९७९ सर्वपावनः–सबको पवित्र करनेवाले, ९८० शृङ्गी–सिंगी नामक बाजा अपने

वास रखनेवाले, ९८१ शृङ्गप्रियः—पर्वत-शिखरको पसंद करनेवाले, ९८२ बभ्रुः—विष्णुस्वरूप, ९८३ राजराजः—राजाओंके राजा, ९८४ निरामयः—सर्वथा दोषरहित ॥ १५० ॥

अभिरामः सुरगणो विरामः सर्वसाधनः ।
ललाटाक्षो विश्वदेवो हरिणो ब्रह्मवर्चसः ॥ १५१ ॥

९८५ अभिरामः—आनन्ददायक, ९८६ सुरगणः—देवसमुदायरूप, ९८७ विरामः—सबसे उपरत, ९८८ सर्वसाधनः—सभी साधनोंद्वारा साध्य, ९८९ ललाटाक्षः—ललाटमें तीसरा नेत्र धारण करनेवाले, ९९० विश्वदेवः—सम्पूर्ण विश्वके द्वारा क्रीड़ा करनेवाले, ९९१ हरिणः—मृगरूप, ९९२ ब्रह्मवर्चसः—ब्रह्मतेजसे सम्पन्न ॥ १५१ ॥

स्थावराणां पतिश्चैव नियमेन्द्रियवर्धनः ।
सिद्धार्थः सिद्धभूतार्थोऽचिन्त्यः सत्यव्रतः शुचिः १५२

९९३ स्थावराणां पतिः—पर्वतोंके स्वामी हिमाचलादिरूप, ९९४ नियमेन्द्रियवर्धनः—नियमोंद्वारा मनसहित इन्द्रियोंका दमन करनेवाले, ९९५ सिद्धार्थः—आप्तकाम, ९९६ सिद्धभूतार्थः—जिसके समस्त प्रयोजन सिद्ध हैं, ९९७ अचिन्त्यः—चित्तकी पहुँचसे परे, ९९८ सत्यव्रतः—सत्यप्रतिज्ञ, ९९९ शुचिः—सर्वथा शुद्ध ॥ १५२ ॥

व्रताधिपः परं ब्रह्म भक्तानां परमा गतिः ।
विमुक्तो मुक्ततेजाश्च श्रीमाञ्श्रीवर्धनो जगत् ॥ १५३ ॥

१००० व्रताधिपः—व्रतोंके अधिपति— १००१ परम्—सर्वश्रेष्ठ, १००२ ब्रह्म—देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न चिन्मयतत्त्व, १००३ भक्तानां परमा गतिः—भक्तोंके लिये परम गतिस्वरूप, १००४ विमुक्तः—नित्य मुक्त, १००५ मुक्ततेजाः—शत्रुओंपर तेज छोड़नेवाले, १००६ श्रीमान्—योगैश्वर्यसे सम्पन्न, १००७ श्रीवर्धनः—भक्तोंकी सम्पत्तिको बढ़ानेवाले, १००८ जगत्—जगत्स्वरूप ॥ १५३ ॥

यथाप्रधानं भगवानिति भक्त्या स्तुतो मया ।
यं न ब्रह्मादयो देवा विदुस्तत्त्वेन नर्षयः ॥ १५४ ॥
स्तोतव्यमर्च्यं वन्द्यं च कः स्तोष्यति जगत्पतिम् ।

श्रीकृष्ण ! इस प्रकार बहुत-से नामोंमेंसे प्रधान-प्रधान नाम चुनकर मैंने उनके द्वारा भक्तिपूर्वक भगवान् शङ्करका स्तवन किया। जिन्हें ब्रह्मा आदि देवता तथा ऋषि भी तत्त्वसे नहीं जानते, उन्हीं स्तवनके योग्य, अर्चनीय और वन्दनीय जगत्पति शिवकी कौन स्तुति करेगा ? ॥ १५४½ ॥

भक्त्या त्वेवं पुरस्कृत्य मया यज्ञपतिर्विभुः ॥ १५५ ॥
ततोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य स्तुतो मतिमतां वरः ।

इस तरह भक्तिके द्वारा भगवान्‌को सामने रखते हुए मैंने उन्हींसे आज्ञा लेकर उन बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भगवान् यज्ञपतिकी स्तुति की ॥ १५५½ ॥

शिवमेभिः स्तुवन् देवं नामभिः पुष्टिवर्धनैः ॥ १५६ ॥
नित्ययुक्तः शुचिर्भक्तः प्राप्नोत्यात्मानमात्मना ॥ १५७ ॥

जो सदा योगयुक्त एवं पवित्रभावसे रहनेवाला भक्त इन पुष्टिवर्धक नामोंद्वारा भगवान् शिवकी स्तुति करता है, वह स्वयं ही उन परमात्मा शिवको प्राप्त कर लेता है। १५६-१५७।

एतद्धि परमं ब्रह्म परं ब्रह्माधिगच्छति ।
ऋषयश्चैव देवाश्च स्तुवन्त्येतेन तत्परम् ॥ १५८ ॥

यह उत्तम वेदतुल्य स्तोत्र परब्रह्म परमात्मस्वरूप शिवको अपना लक्ष्य बनाता है। ऋषि और देवता भी उसके द्वारा उन परमात्मा शिवकी स्तुति करते हैं ॥ १५८ ॥

स्तूयमानो महादेवस्तुष्यते नियतात्मभिः ।
भक्तानुकम्पी भगवानात्मसंस्थाकरो विभुः ॥ १५९ ॥

जो लोग मनको संयममें रखकर इन नामोंद्वारा भक्तवत्सल तथा आत्मनिष्ठा प्रदान करनेवाले भगवान् महादेवकी स्तुति करते हैं, उनपर वे बहुत संतुष्ट होते हैं ॥ १५९ ॥

तथैव च मनुष्येषु ये मनुष्याः प्रधानतः ।
आस्तिकाः श्रद्दधानाश्च बहुभिर्जन्मभिः स्तवैः ॥ १६० ॥
भक्त्या ह्यनन्यमीशानं परं देवं सनातनम् ।
कर्मणा मनसा वाचा भावेनामिततेजसः ॥ १६१ ॥
शयाना जाग्रमाणाश्च व्रजन्नुपविशंस्तथा ।
उन्मिषन् निमिषंश्चैव चिन्तयन्तः पुनः पुनः ॥ १६२ ॥
शृण्वन्तः श्रावयन्तश्च कथयन्तश्च ते भवम् ।
स्तुवन्तः स्तूयमानाश्च तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ १६३ ॥

इसी प्रकार मनुष्योंमें जो प्रधानतः आस्तिक और श्रद्धालु हैं तथा अनेक जन्मतक की हुई स्तुति एवं भक्तिके प्रभावसे मन, वाणी, क्रिया तथा प्रेमभावके द्वारा सोते-जागते चलते-बैठते और आँखोंके खोलते-मीचते समय भी सदा अनन्यभावसे उन परम सनातनदेव जगदीश्वर शिवका बारंबार ध्यान करते हैं, वे अमित तेजसे सम्पन्न हो जाते हैं तथा जो उन्हींके विषयमें सुनते-सुनाते एवं उन्हींकी महिमाका कथोपकथन करते हुए इस स्तोत्रद्वारा सदा उनकी स्तुति करते हैं, वे स्वयं भी स्तुत्य होकर सदा संतुष्ट होते हैं और रमण करते हैं ॥ १६०—१६३ ॥

जन्मकोटिसहस्रेषु नानासंसारयोनिषु ।
जन्तोर्विगतपापस्य भवे भक्तिः प्रजायते ॥ १६४ ॥

कोटि सहस्र जन्मोंतक नाना प्रकारकी संसारी योनियोंमें भटकते-भटकते जब कोई जीव सर्वथा पापोंसे रहित हो जाता है, तब उसकी भगवान् शिवमें भक्ति होती है ॥ १६४ ॥

उत्पन्ना च भवे भक्तिरनन्या सर्वभावतः ।
भाविनः कारणे चास्य सर्वयुक्तस्य सर्वथा ॥ १६५ ॥

भाग्यसे जो सर्वसाधनसम्पन्न हो गया है, उसको जगत्‌के कारण भगवान् शिवमें सम्पूर्णभावसे सर्वथा अनन्य भक्ति प्राप्त होती है ॥ १६५ ॥

एतद् देवेषु दुष्प्रापं मनुष्येषु न लभ्यते ।
निर्विघ्ना निश्चला रुद्रे भक्तिरव्यभिचारिणी ॥ १६६ ॥

रुद्रदेवमें निश्चल एवं निर्विघ्नरूपसे अनन्यभक्ति हो

जाय—यह देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, मनुष्योंमें तो प्रायः ऐसी भक्ति स्वतः नहीं उपलब्ध होती है ॥ १६६ ॥

तस्यैव च प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।
येन यान्ति परां सिद्धिं तद्भागवतचेतसः ॥१६७॥

भगवान् शङ्करकी कृपासे ही मनुष्योंके हृदयमें उनकी अनन्यभक्ति उत्पन्न होती है, जिससे वे अपने चित्तको उन्हींके चिन्तनमें लगाकर परमसिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥ १६७ ॥

ये सर्वभावानुगताः प्रपद्यन्ते महेश्वरम्।
प्रपन्नवत्सलो देवः संसारात् तान् समुद्धरेत् ॥१६८॥

जो सम्पूर्ण भावसे अनुगत होकर महेश्वरकी शरण लेते हैं, शरणागतवत्सल महादेवजी इस संसारसे उनका उद्धार कर देते हैं ॥ १६८ ॥

एवमन्ये विकुर्वन्ति देवाः संसारमोचनम्।
मनुष्याणामृते देवं नान्या शक्तिस्तपोबलम् ॥१६९॥

इसी प्रकार भगवान्‌की स्तुतिद्वारा अन्य देवगण भी अपने संसारबन्धनका नाश करते हैं; क्योंकि महादेवजी-की शरण लेनेके सिवा ऐसी दूसरी कोई शक्ति या तपका बल नहीं है, जिससे मनुष्योंका संसारबन्धनसे छुटकारा हो सके ॥

इति तेनेन्द्रकल्पेन भगवान् सदसत्पतिः।
कृत्तिवासाः स्तुतः कृष्ण तण्डिना शुभबुद्धिना ॥१७०॥

श्रीकृष्ण ! यह सोचकर उन इन्द्रके समान तेजस्वी एवं कल्याणमयी बुद्धिवाले तण्डि मुनिने गजचर्मधारी एवं समस्त कार्यकारणके स्वामी भगवान् शिवकी स्तुति की ॥ १७० ॥

स्तवमेतं भगवतो ब्रह्मा स्वयमधारयत्।
गीयते च स बुद्ध्येत ब्रह्मा शंकरसंनिधौ ॥१७१॥

भगवान् शङ्करके इस स्तोत्रको ब्रह्माजीने स्वयं अपने हृदयमें धारण किया है। वे भगवान् शिवके समीप इस वेद-तुल्य स्तुतिका गान करते रहते हैं; अतः सबको इस स्तोत्र-का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ १७१ ॥

इदं पुण्यं पवित्रं च सर्वदा पापनाशनम्।
योगदं मोक्षदं चैव स्वर्गदं तोषदं तथा ॥१७२॥

यह परम पवित्र, पुण्यजनक तथा सर्वदा सब पापोंका नाश करनेवाला है। यह योग, मोक्ष, स्वर्ग और संतोष—सब कुछ देनेवाला है ॥ १७२ ॥

एवमेतत् पठन्ते य एकभक्त्या तु शङ्करम्।
या गतिः सांख्ययोगानां व्रजन्त्येतां गतिं तदा ॥१७३॥

जो लोग अनन्यभक्तिभावसे भगवान् शिवके स्वरूपभूत इस स्तोत्रका पाठ करते हैं, उन्हें वही गति प्राप्त होती है, जो सांख्यवेत्ताओं और योगियोंको मिलती है ॥ १७३ ॥

स्तवमेतं प्रयत्नेन सदा रुद्रस्य संनिधौ।
अब्दमेकं चरेद् भक्तः प्राप्नुयादीप्सितं फलम् ॥१७४॥

जो भक्त भगवान् शङ्करके समीप एक वर्षतक सदा प्रयत्नपूर्वक इस स्तोत्रका पाठ करता है, वह मनोवाञ्छित फल प्राप्त कर लेता है ॥ १७४ ॥

एतद् रहस्यं परमं ब्रह्मणो हृदि संस्थितम्।
ब्रह्मा प्रोवाच शक्राय शक्रः प्रोवाच मृत्यवे ॥१७५॥

यह परम रहस्यमय स्तोत्र ब्रह्माजीके हृदयमें स्थित है। ब्रह्माजीने इन्द्रको इसका उपदेश दिया और इन्द्रने मृत्युको ॥

मृत्युः प्रोवाच रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्तण्डिमागमत्।
महता तपसा प्राप्तस्तण्डिना ब्रह्मसद्मनि ॥१७६॥

मृत्युने एकादश रुद्रोंको इसका उपदेश किया। रुद्रोंसे तण्डिको इसकी प्राप्ति हुई। तण्डिने ब्रह्मलोकमें ही बड़ी भारी तपस्या करके इसे प्राप्त किया था ॥ १७६ ॥

तण्डिः प्रोवाच शुक्राय गौतमाय च भार्गवः।
वैवस्वताय मनवे गौतमः प्राह माधव ॥१७७॥

माधव ! तण्डिने शुक्रको, शुक्रने गौतमको और गौतमने वैवस्वतमनुको इसका उपदेश दिया ॥ १७७ ॥

नारायणाय साध्याय समाधिष्ठाय धीमते।
यमाय प्राह भगवान् साध्यो नारायणोऽच्युतः ॥१७८॥

वैवस्वत मनुने समाधिनिष्ठ और ज्ञानी नारायण नामक किसी साध्यदेवताको यह स्तोत्र प्रदान किया। धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले उन पूजनीय नारायण नामक साध्यदेवने यमको इसका उपदेश किया ॥ १७८ ॥

नाचिकेताय भगवानाह वैवस्वतो यमः।
मार्कण्डेयाय वार्ष्णेय नाचिकेतोऽभ्यभाषत ॥१७९॥

वृष्णिनन्दन ! ऐश्वर्यशाली वैवस्वत यमने नाचिकेताको और नाचिकेतने मार्कण्डेय मुनिको यह स्तोत्र प्रदान किया ॥

मार्कण्डेयान्मया प्राप्तो नियमेन जनार्दन।
तवाप्यहममित्रघ्न स्तवं दद्यां ह्यविश्रुतम् ॥१८०॥

शत्रुसूदन जनार्दन ! मार्कण्डेयजीसे मैंने नियमपूर्वक यह स्तोत्र ग्रहण किया था। अभी इस स्तोत्रकी अधिक प्रसिद्धि नहीं हुई है, अतः मैं तुम्हें इसका उपदेश देता हूँ ॥

स्वर्ग्यमारोग्यमायुष्यं धन्यं वेदेन सम्मितम्।
नास्य विघ्नं विकुर्वन्ति दानवा यक्षराक्षसाः।
पिशाचा यातुधाना वा गुह्यका भुजगा अपि ॥१८१॥

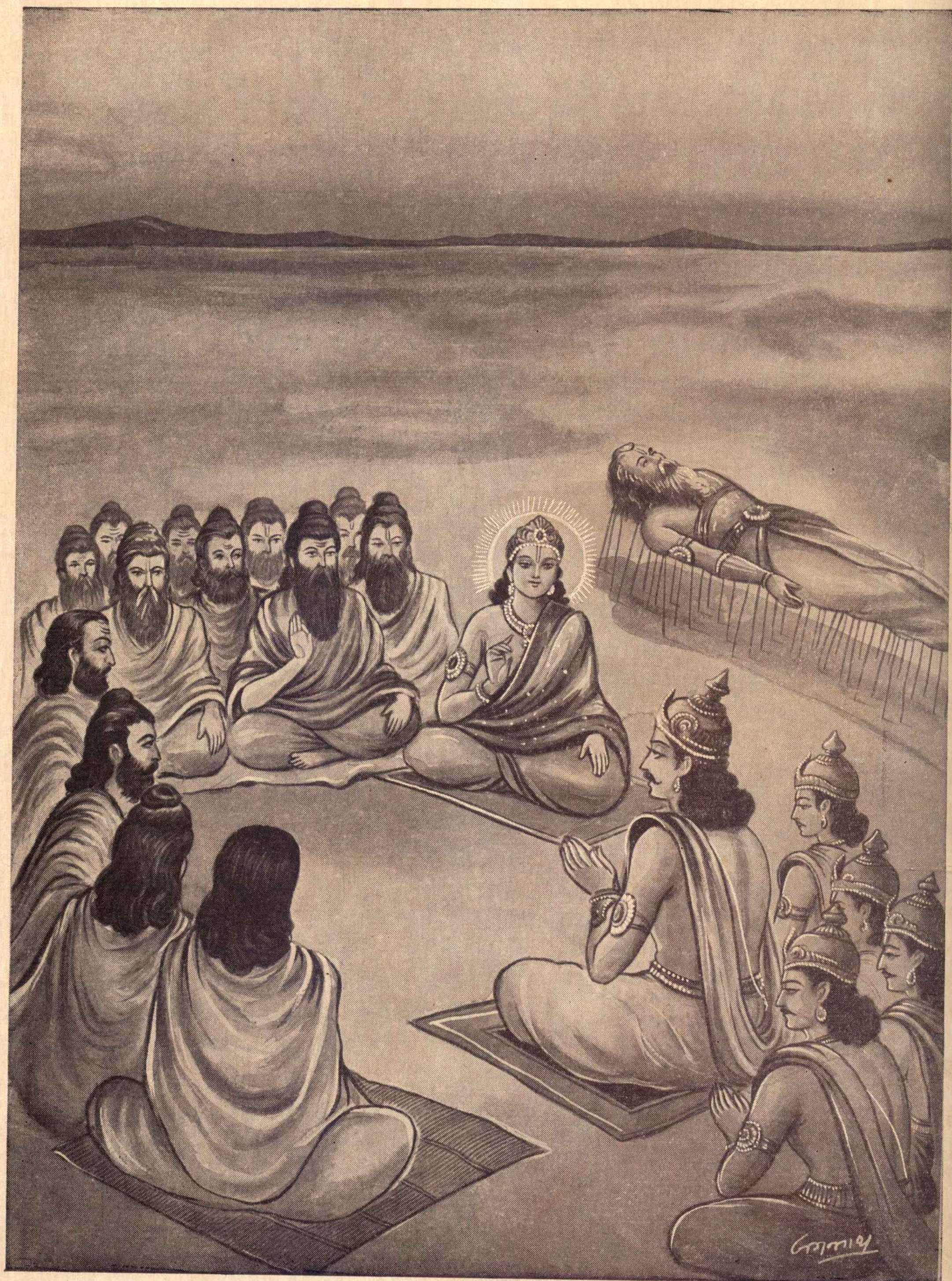
यह वेदतुल्य स्तोत्र स्वर्ग, आरोग्य, आयु तथा धन-धान्य प्रदान करनेवाला है। यक्ष, राक्षस, दानव, पिशाच, यातुधान, गुह्यक और नाग भी इसमें विघ्न नहीं डाल पाते हैं ॥ १८१ ॥

यः पठेत शुचिः पार्थ ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
अभग्नयोगो वर्षं तु सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥१८२॥

(श्रीकृष्ण कहते हैं—) कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! जो मनुष्य पवित्रभावसे ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक इन्द्रियोंको संयममें रखकर एक वर्षतक योगयुक्त रहते हुए इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ १८२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि महादेवसहस्रनामस्तोत्रे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें महादेवसहस्रनामस्तोत्रविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥



भगवान् श्रीकृष्ण एवं विभिन्न महर्षियोंका युधिष्ठिरको उपदेश

अष्टादशोऽध्यायः

शिवसहस्रनामके पाठकी महिमा तथा ऋषियोंका भगवान् शङ्करकी कृपासे अभीष्ट सिद्धि होनेके विषयमें अपना-अपना अनुभव सुनाना और श्रीकृष्णके द्वारा भगवान् शिवजीकी महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

महायोगी ततः प्राह कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
पठस्व पुत्र भद्रं ते प्रीयतां ते महेश्वरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महायोगी श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिवर व्यासने युधिष्ठिरसे कहा—'बेटा! तुम्हारा कल्याण हो। तुम भी इस स्तोत्रका पाठ करो, जिससे तुम्हारे ऊपर भी महेश्वर प्रसन्न हों॥ १॥

पुरा पुत्र मया मेरौ तप्यता परमं तपः।
पुत्रहेतोर्महाराज स्तव एषोऽनुकीर्तितः॥ २॥

'पुत्र! महाराज! पूर्वकालकी बात है, मैंने पुत्रकी प्राप्तिके लिये मेरुपर्वतपर बड़ी भारी तपस्या की थी। उस समय मैंने इस स्तोत्रका अनेक बार पाठ किया था॥ २॥

लब्धवानीप्सितान् कामानहं वै पाण्डुनन्दन।
तथा त्वमपि शर्वाद्धि सर्वान् कामानवाप्स्यसि॥ ३॥

'पाण्डुनन्दन! इसके पाठसे मैंने अपनी मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लिया था। उसी प्रकार तुम भी शङ्करजीसे सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लोगे'॥ ३॥

कपिलश्च ततः प्राह सांख्यर्षिर्देवसम्मतः।
मया जन्मान्यनेकानि भक्त्या चाराधितो भवः॥ ४॥
प्रीतश्च भगवान् ज्ञानं ददौ मम भवान्तकम्।

'तत्पश्चात् वहाँ सांख्यके आचार्य देवसम्मानित कपिलने कहा—'मैंने भी अनेक जन्मोंतक भक्तिभावसे भगवान् शङ्करकी आराधना की थी। इससे प्रसन्न होकर भगवान्ने मुझे भवभयनाशक ज्ञान प्रदान किया था'॥ ४½॥

चारुशीर्षस्ततः प्राह शक्रस्य दयितः सखा।
आलम्बायन इत्येवं विश्रुतः करुणात्मकः॥ ५॥

तदनन्तर इन्द्रके प्रिय सखा आलम्बगोत्रीय चारुशीर्षने जो आलम्बायन नामसे ही प्रसिद्ध तथा परम दयालु हैं, इस प्रकार कहा—॥ ५॥

मया गोकर्णमासाद्य तपस्तप्त्वा शतं समाः।
अयोनिजानां दान्तानां धर्मज्ञानां सुवर्चसाम्॥ ६॥
अजराणामदुःखानां शतवर्षसहस्रिणाम्।
लब्धं पुत्रशतं शर्वात् पुरा पाण्डुनृपात्मज॥ ७॥

'पाण्डुनन्दन! पूर्वकालमें गोकर्णतीर्थमें जाकर मैंने सौ वर्षोंतक तपस्या करके भगवान् शङ्करको संतुष्ट किया। इससे भगवान् शङ्करकी ओरसे मुझे सौ पुत्र प्राप्त हुए, जो अयोनिज, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, परम तेजस्वी, जरारहित, दुःखहीन और एक लाख वर्षकी आयुवाले थे'॥ ६-७॥

वाल्मीकिश्चाह भगवान् युधिष्ठिरमिदं वचः।
विवादे साग्निमुनिभिर्ब्रह्मघ्नो वै भवानिति॥ ८॥
उक्तः क्षणेन चाविष्टस्तेनाधर्मेण भारत।
सोऽहमीशानमनघममोघं शरणं गतः॥ ९॥
मुक्तश्चास्मि ततः पापैस्ततो दुःखविनाशनः।
आह मां त्रिपुरघ्नो वै यशस्तेऽग्र्यं भविष्यति॥ १०॥

इसके बाद भगवान् वाल्मीकिने राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—'भारत! एक समय अग्निहोत्री मुनियोंके साथ मेरा विवाद हो रहा था। उस समय उन्होंने कुपित होकर मुझे शाप दे दिया कि 'तुम ब्रह्महत्यारे हो जाओ।' उनके इतना कहते ही मैं क्षणभरमें उस अधर्मसे व्याप्त हो गया। तब मैं पापरहित एवं अमोघ शक्तिवाले भगवान् शङ्करकी शरणमें गया। इससे मैं उस पापसे मुक्त हो गया। फिर उन दुःखनाशन त्रिपुरहन्ता रुद्रने मुझसे कहा, 'तुम्हें सर्वश्रेष्ठ सुयश प्राप्त होगा'॥ ८-१०॥

जामदग्न्यश्च कौन्तेयमिदं धर्मभृतां वरः।
ऋषिमध्ये स्थितः प्राह ज्वलन्निव दिवाकरः॥ ११॥

इसके बाद धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन परशुरामजी ऋषियोंके बीचमें खड़े होकर सूर्यके समान प्रकाशित होते हुए वहाँ कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ ११॥

पितृविप्रवधेनाहमार्तो वै पाण्डवाग्रज।
शुचिर्भूत्वा महादेवं गतोऽस्मि शरणं नृप॥ १२॥
नामभिश्चास्तुवं देवं ततस्तुष्टोऽभवद् भवः।
परशुं च ततो देवो दिव्यान्यस्त्राणि चैव मे॥ १३॥
पापं च ते न भविता अजेयश्च भविष्यसि।
न ते प्रभविता मृत्युरजरश्च भविष्यसि॥ १४॥

'ज्येष्ठ पाण्डव! नरेश्वर! मैंने पितृतुल्य बड़े भाइयोंको मारकर पितृवध और ब्राह्मणवधका पाप कर डाला था। इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ और मैं पवित्र भावसे महादेवजीकी शरणमें गया। शरणागत होकर मैंने इन्हीं नामोंसे रुद्रदेवकी स्तुति की। इससे भगवान् महादेव मुझपर बहुत संतुष्ट हुए और मुझे अपना परशु एवं दिव्यास्त्र देकर बोले—'तुम्हें पाप नहीं लगेगा। तुम युद्धमें अजेय हो जाओगे। तुमपर मृत्युका वश नहीं चलेगा तथा तुम अजर-अमर बने रहोगे'॥ १२-१४॥

आह मां भगवानेवं शिखण्डी शिवविग्रहः।
तदवाप्तं च मे सर्वं प्रसादात् तस्य धीमतः॥ १५॥

'इस प्रकार कल्याणमय विग्रहवाले जटाधारी भगवान् शिवने मुझसे जो कुछ कहा, वह सब कुछ उन ज्ञानी महेश्वरके कृपाप्रसादसे मुझे प्राप्त हो गया'॥ १५॥

विश्वामित्रस्तदोवाच क्षत्रियोऽहं तदाभवम्।
ब्राह्मणोऽहं भवानीति मया चाराधितो भवः॥ १६॥

तत्प्रसादान्मया प्राप्तं ब्राह्मण्यं दुर्लभं महत् ।

तदनन्तर विश्वामित्रजीने कहा, 'राजन् ! जिस समय मैं क्षत्रिय था, उन दिनोंकी बात है, मेरे मनमें यह दृढ़ संकल्प हुआ कि मैं ब्राह्मण हो जाऊँ—यही उद्देश्य लेकर मैंने भगवान् शङ्करकी आराधना की और उनकी कृपासे मैंने अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया' ॥ १६½ ॥

असितो देवलश्चैव प्राह पाण्डुसुतं नृपम् ॥ १७ ॥
शापाच्छक्रस्य कौन्तेय विभो धर्मोऽनशत् तदा ।
तन्मे धर्मं यशश्चाग्र्यमायुश्चैवाददत् प्रभुः ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् असित देवलने पाण्डुकुमार राजा युधिष्ठिरसे कहा—'कुन्तीनन्दन ! प्रभो ! इन्द्रके शापसे मेरा धर्म नष्ट हो गया था; किंतु भगवान् शङ्करने ही मुझे धर्म, उत्तम यश तथा दीर्घ आयु प्रदान की'॥ १७-१८ ॥

ऋषिर्गृत्समदो नाम शक्रस्य दयितः सखा ।
प्राहाजमीढं भगवान् बृहस्पतिसमद्युतिः ॥ १९ ॥

इसके बाद इन्द्रके प्रिय सखा और बृहस्पतिके समान तेजस्वी मुनिवर भगवान् गृत्समदने अजमीढवंशी युधिष्ठिरसे कहा—॥ १९ ॥

वरिष्ठो नाम भगवांश्चाक्षुषस्य मनोः सुतः ।
शतक्रतोरचिन्त्यस्य सत्रे वर्षसहस्रिके ॥ २० ॥
वर्तमानेऽब्रवीद् वाक्यं साम्नि ह्युच्चारिते मया ।
रथन्तरे द्विजश्रेष्ठ न सम्यगिति वर्तते ॥ २१ ॥

"चाक्षुष मनुके पुत्र भगवान् वरिष्ठके नामसे प्रसिद्ध हैं। एक समय अचिन्त्य शक्तिशाली शतक्रतु इन्द्रका एक यज्ञ हो हो रहा था, जो एक हजार वर्षोंतक चलनेवाला था; उसमें मैं रथन्तर सामका पाठ कर रहा था। मेरे द्वारा उस सामका उच्चारण होनेपर वरिष्ठने मुझसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे द्वारा रथन्तर सामका पाठ ठीक नहीं हो रहा है ॥२०-२१॥

समीक्षस्व पुनर्बुद्ध्या पापं त्यक्त्वा द्विजोत्तम ।
अयज्ञवाहिनं पापमकार्षीस्त्वं सुदुर्मते ॥ २२ ॥

"विप्रवर ! तुम पापपूर्ण आग्रह छोड़कर फिर अपनी बुद्धिसे विचार करो। सुदुर्मते ! तुमने ऐसा पाप कर डाला है, जिससे यह यज्ञ ही निष्फल हो गया है' ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वा महाक्रोधः प्राह शम्भुं पुनर्वचः ।
प्रज्ञया रहितो दुःखी नित्यभीतो वनेचरः ॥ २३ ॥
दशवर्षसहस्राणि दशाष्टौ च शतानि च ।
नष्टपानीयपवने मृगैरन्यैश्च वर्जिते ॥ २४ ॥
अयज्ञीयद्रुमे देशे रुरुसिंहनिषेविते ।
भविता त्वं मृगः क्रूरो महादुःखसमन्वितः ॥ २५ ॥

"ऐसा कहकर महाक्रोधी वरिष्ठने भगवान् शङ्करकी ओर देखते हुए फिर कहा—'तुम ग्यारह हजार आठ सौ वर्षोंतक जल और वायुसे रहित तथा अन्य पशुओंसे परित्यक्त केवल रुरु तथा सिंहोंसे सेवित जो यज्ञोंके लिये उचित नहीं है ऐसे वृक्षोंसे भरे हुए विशालवनमें बुद्धिशून्य, दुखी, सर्वदा भयभीत, वनचारी और महान् कष्टमें मग्न क्रूर स्वभाववाले पशु होकर रहोगे' ॥ २३—२५ ॥

तस्य वाक्यस्य निधने पार्थ जातो ह्यहं मृगः ।
ततो मां शरणं प्राप्तं प्राह योगी महेश्वरः ॥ २६ ॥

"कुन्तीनन्दन ! उनका यह वाक्य पूरा होते ही मैं क्रूर पशु हो गया। तब मैं भगवान् शङ्करकी शरणमें गया। अपनी शरणमें आये हुए मुझ सेवकसे योगी महेश्वर इस प्रकार बोले—॥

अजरश्चामरश्चैव भविता दुःखवर्जितः ।
साम्यं ममास्तु ते सौख्यं युवयोर्वर्धतां क्रतुः ॥ २७ ॥

"मुने ! तुम अजर-अमर और दुःखरहित हो जाओगे। तुम्हें मेरी समानता प्राप्त हो और तुम दोनों यजमान और पुरोहितका यह यज्ञ सदा बढ़ता रहे' ॥ २७ ॥

अनुग्रहानेवमेष करोति भगवान् विभुः ।
परं धाता विधाता च सुखदुःखे च सर्वदा ॥ २८ ॥

"इस प्रकार सर्वव्यापी भगवान् शङ्कर सबके ऊपर अनुग्रह करते हैं। ये ही सबका अच्छे ढंगसे धारण-पोषण करते हैं और सर्वदा सबके सुख-दुःखका भी विधान करते हैं" ॥२८॥

अचिन्त्य एष भगवान् कर्मणा मनसा गिरा ।
न मे तात युधिश्रेष्ठ विद्यया पण्डितः समः ॥ २९ ॥

"तात ! समरभूमिके श्रेष्ठ वीर ! ये अचिन्त्य भगवान् शिव मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा आराधना करने योग्य हैं। उनकी आराधनाका ही यह फल है कि पाण्डित्यमें मेरी समानता करनेवाला आज कोई नहीं है" ॥ २९ ॥

वासुदेवस्ततोवाच पुनर्मतिमतां वरः ।
सुवर्णाक्षो महादेवस्तपसा तोषितो मया ॥ ३० ॥

उस समय बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण फिर इस प्रकार बोले—"मैंने सुवर्ण-जैसे नेत्रवाले महादेवजीको अपनी तपस्यासे संतुष्ट किया ॥ ३० ॥

ततोऽथ भगवानाह प्रीतो मां वै युधिष्ठिर ।
अर्थात् प्रियतरः कृष्ण मत्प्रसादाद् भविष्यसि ॥ ३१ ॥
अपराजितश्च युद्धेषु तेजश्चैवानलोपमम् ।

"युधिष्ठिर ! तब भगवान् शिवने मुझसे प्रसन्नतापूर्वक कहा—'श्रीकृष्ण ! तुम मेरी कृपासे प्रिय पदार्थोंकी अपेक्षा भी अत्यन्त प्रिय होओगे। युद्धमें तुम्हारी कभी पराजय नहीं होगी तथा तुम्हें अग्निके समान दुस्सह तेजकी प्राप्ति होगी' ॥

एवं सहस्रशश्चान्यान् महादेवो वरं ददौ ॥ ३२ ॥
मणिमन्थेऽथ शैले वै पुरा सम्पूजितो मया ।
वर्षायुतसहस्राणां सहस्रं शतमेव च ॥ ३३ ॥

"इस तरह महादेवजीने मुझे और भी सहस्रों वर दिये। पूर्वकालमें अन्य अवतारोंके समय मणिमन्थ पर्वतपर मैंने लाखों-करोड़ों वर्षोंतक भगवान् शङ्करकी आराधना की थी॥

ततो मां भगवान् प्रीत इदं वचनमब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते यस्ते मनसि वर्तते ॥ ३४ ॥

"इससे प्रसन्न होकर भगवान्ने मुझसे कहा—'कृष्ण !

तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारे मनमें जैसी रुचि हो, उसके अनुसार कोई वर माँगो' ॥ ३४ ॥

ततः प्रणम्य शिरसा इदं वचनमब्रुवम्।
यदि प्रीतो महादेवो भक्त्या परमया प्रभुः ॥ ३५ ॥
नित्यकालं तवेशान भक्तिर्भवतु मे स्थिरा।
एवमस्त्विति भगवांस्तत्रोक्त्वान्तरधीयत ॥ ३६ ॥

"यह सुनकर मैंने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और कहा—'यदि मेरी परम भक्तिसे भगवान् महादेव प्रसन्न हों तो ईशान ! आपके प्रति नित्य-निरन्तर मेरी स्थिर भक्ति बनी रहे।' तब 'एवमस्तु' कहकर भगवान् शिव वहीं अन्तर्धान हो गये" ॥ ३५-३६ ॥

जैगीषव्य उवाच

ममाष्टगुणमैश्वर्यं दत्तं भगवता पुरा।
यत्नेनान्येन बलिना वाराणस्यां युधिष्ठिर ॥ ३७ ॥

जैगीषव्य बोले—युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें भगवान् शिवने काशीपुरीके भीतर अन्य प्रबल प्रयत्नसे संतुष्ट हो मुझे अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ प्रदान की थीं ॥ ३७ ॥

गर्ग उवाच

चतुःषष्ट्यङ्गमददत् कलाज्ञानं ममाद्भुतम्।
सरस्वत्यास्तटे तुष्टो मनोयज्ञेन पाण्डव ॥ ३८ ॥
तुल्यं मम सहस्रं तु सुतानां ब्रह्मवादिनाम्।
आयुश्चैव सपुत्रस्य संवत्सरशतायुतम् ॥ ३९ ॥

गर्गने कहा—पाण्डुनन्दन ! मैंने सरस्वतीके तटपर मानस यज्ञ करके भगवान् शिवको संतुष्ट किया था। इससे प्रसन्न होकर उन्होंने मुझे चौंसठ कलाओंका अद्भुत ज्ञान प्रदान किया। मुझे मेरे ही समान एक सहस्र ब्रह्मवादी पुत्र दिये तथा पुत्रोंसहित मेरी दस लाख वर्षकी आयु नियत कर दी॥

पराशर उवाच

प्रसाद्येह पुरा शर्वं मनसाचिन्तयं नृप।
महातपा महातेजा महायोगी महायशाः ॥ ४० ॥
वेदव्यासः श्रियावासो ब्राह्मणः करुणान्वितः।
अप्यसावीप्सितः पुत्रो मम स्याद् वै महेश्वरात्॥४१॥

पराशरजीने कहा—नरेश्वर ! पूर्वकालमें यहाँ मैंने महादेवजीको प्रसन्न करके मन-ही-मन उनका चिन्तन आरम्भ किया। मेरी इस तपस्याका उद्देश्य यह था कि मुझे महेश्वर-की कृपासे महातपस्वी, महातेजस्वी, महायोगी, महायशस्वी, दयालु, श्रीसम्पन्न एवं ब्रह्मनिष्ठ वेदव्यासनामक मनोवाञ्छित पुत्र प्राप्त हो ॥ ४०-४१ ॥

इति मत्वा हृदि मतं प्राह मां सुरसत्तमः।
मयि सम्भावना यास्याः फलात्कृष्णो भविष्यति ॥ ४२ ॥

मेरा ऐसा मनोरथ जानकर सुरश्रेष्ठ शिवने मुझसे कहा—'मुने ! तुम्हारी मेरे प्रति जो सम्भावना है अर्थात् जिस वरको पानेकी लालसा है, उसीसे तुम्हें कृष्ण नामक पुत्र प्राप्त होगा॥

सावर्णस्य मनोः सर्गे सप्तर्षिश्च भविष्यति।
वेदानां च स वै वक्ता कुरुवंशकरस्तथा ॥ ४३ ॥
इतिहासस्य कर्ता च पुत्रस्ते जगतो हितः।
भविष्यति महेन्द्रस्य दयितः स महामुनिः ॥ ४४ ॥
अजरश्चामरश्चैव पराशर सुतस्तव।
एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४५ ॥
युधिष्ठिर महायोगी वीर्यवानक्षयोऽव्ययः।

'सावर्णिक मन्वन्तरके समय जो सृष्टि होगी, उसमें तुम्हारा यह पुत्र सप्तर्षिके पदपर प्रतिष्ठित होगा तथा इस वैवस्वत मन्वन्तरमें वह वेदोंका वक्ता, कौरव-वंशका प्रवर्तक, इतिहासका निर्माता, जगत्का हितैषी तथा देवराज इन्द्रका परमप्रिय महामुनि होगा। पराशर ! तुम्हारा वह पुत्र सदा अजर-अमर रहेगा।' युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर महायोगी, शक्तिशाली, अविनाशी और निर्विकार भगवान् शिव वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ४३—४५½ ॥

माण्डव्य उवाच

अचौरश्चौरशङ्कायां शूले भिन्नो ह्यहं तदा ॥ ४६ ॥
तत्रस्थेन स्तुतो देवः प्राह मां वै नरेश्वर।
मोक्षं प्राप्स्यसि शूलाच्च जीविष्यसि समार्बुदम् ॥ ४७ ॥
रुजा शूलकृता चैव न ते विप्र भविष्यति।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव वर्जितस्त्वं भविष्यसि ॥ ४८ ॥

माण्डव्य बोले—नरेश्वर ! मैं चोर नहीं था तो भी चोरीके संदेहमें मुझे शूलीपर चढ़ा दिया गया। वहींसे मैंने महादेवजीकी स्तुति की। तब उन्होंने मुझसे कहा—'विप्रवर ! तुम शूलसे छुटकारा पा जाओगे और दस करोड़ वर्षोंतक जीवित रहोगे। तुम्हारे शरीरमें इस शूलके धँसनेसे कोई पीड़ा नहीं होगी। तुम आधि-व्याधिसे मुक्त हो जाओगे ॥४६—४८॥

पादाच्चतुर्थात् सम्भूत आत्मा यस्मान्मुने तव।
त्वं भविष्यस्यनुपमो जन्म वै सफलं कुरु ॥ ४९ ॥

'मुने ! तुम्हारा यह शरीर धर्मके चौथे पाद सत्यसे उत्पन्न हुआ है। अतः तुम अनुपम सत्यवादी होओगे। जाओ, अपना जन्म सफल करो ॥ ४९ ॥

तीर्थाभिषेकं सकलं त्वमविघ्नेन चाप्स्यसि।
स्वर्गं चैवाक्षयं विप्र विदधामि तवोर्जितम् ॥ ५० ॥

'ब्रह्मन् ! तुम्हें बिना किसी विघ्न-बाधाके सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नानका सौभाग्य प्राप्त होगा। मैं तुम्हारे लिये अक्षय एवं तेजस्वी स्वर्गलोक प्रदान करता हूँ' ॥ ५० ॥

एवमुक्त्वा तु भगवान् वरेण्यो वृषवाहनः।
महेश्वरो महाराज कृत्तिवासा महाद्युतिः ॥ ५१ ॥
सगणो दैवतश्रेष्ठस्तत्रैवान्तरधीयत।

महाराज ! ऐसा कहकर कृत्तिवासा, महातेजस्वी, वृषभ-वाहन तथा वरणीय सुरश्रेष्ठ भगवान् महेश्वर अपने गणोंके साथ वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ५१½ ॥

गालव उवाच

विश्वामित्राभ्यनुज्ञातो ह्यहं पितरमागतः ॥ ५२ ॥
अब्रवीन्मां ततो माता दुःखिता रुदती भृशम्।
कौशिकेनाभ्यनुज्ञातं पुत्रं वेदविभूषितम् ॥ ५३ ॥
न तात तरुणं दान्तं पिता त्वां पश्यतेऽनघ।

गालवजीने कहा—राजन्! विश्वामित्र मुनिकी आज्ञा पाकर मैं अपने पिताजीका दर्शन करनेके लिये घरपर आया। उस समय मेरी माता वैधव्यके दुःखसे दुखी हो जोर-जोरसे रोती हुई मुझसे बोली—'तात! अनघ! कौशिक मुनिकी आज्ञा लेकर घरपर आये हुए वेदविद्यासे विभूषित तुझ तरुण एवं जितेन्द्रिय पुत्रको तुम्हारे पिता नहीं देख सके'। ५२-५३½।

श्रुत्वा जनन्या वचनं निराशो गुरुदर्शने ॥ ५४ ॥
नियतात्मा महादेवमपश्यं सोऽब्रवीच्च माम्।
पिता माता च ते त्वं च पुत्र मृत्युविवर्जिताः ॥ ५५ ॥
भविष्यथ विश क्षिप्रं द्रष्टासि पितरं क्षये।

माताकी बात सुनकर मैं पिताके दर्शनसे निराश हो गया और मनको संयममें रखकर महादेवजीकी आराधना करके उनका दर्शन किया। उस समय वे मुझसे बोले—'वत्स! तुम्हारे पिता, माता और तुम तीनों ही मृत्युसे रहित हो जाओगे। अब तुम अपने घरमें शीघ्र प्रवेश करो। वहाँ तुम्हें पिताका दर्शन प्राप्त होगा'॥ ५४-५५½॥

अनुज्ञातो भगवता गृहं गत्वा युधिष्ठिर ॥ ५६ ॥
अपश्यं पितरं तात इष्टिं कृत्वा विनिःसृतम्।
उपस्पृश्य गृहीत्वेध्मं कुशांश्च शरणात्तरून् ॥ ५७ ॥

तात युधिष्ठिर! भगवान् शिवकी आज्ञासे मैंने पुनः घर जाकर वहाँ यज्ञ करके यज्ञशालासे निकले हुए पिताका दर्शन किया। वे उस समय समिधा, कुश और वृक्षोंसे अपने-आप गिरे हुए पके फल आदि हव्य पदार्थ लिये हुए थे।५६-५७।

तान् विसृज्य च मां प्राह पिता साश्राविलेक्षणः।
प्रणमन्तं परिष्वज्य मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डव ॥ ५८ ॥
दिष्ट्या दृष्टोऽसि मे पुत्र कृतविद्य इहागतः।

पाण्डुनन्दन! उन्हें देखते ही मैं उनके चरणोंमें पड़ गया; फिर पिताजीने भी उन समिधा आदि वस्तुओंको अलग रखकर मुझे हृदयसे लगा लिया और मेरा मस्तक सूँघकर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए मुझसे कहा—'बेटा! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम विद्वान् होकर घर आ गये और मैंने तुम्हें भर आँख देख लिया'॥ ५८½॥

वैशम्पायन उवाच

एतान्यत्यद्भुतान्येव कर्माण्यथ महात्मनः ॥ ५९ ॥
प्रोक्तानि मुनिभिः श्रुत्वा विस्मयामास पाण्डवः।
ततः कृष्णोऽब्रवीद् वाक्यं पुनर्मतिमतां वरः ॥ ६० ॥
युधिष्ठिरं धर्मनिधिं पुरुहूतमिवेश्वरः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मुनियोंके कहे हुए महादेवजीके ये अद्भुत चरित्र सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको बड़ा विस्मय हुआ। फिर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने धर्मनिधि युधिष्ठिरसे उसी प्रकार कहा जैसे श्रीविष्णु देवराज इन्द्रसे कोई बात कहा करते हैं॥ ५९-६०½॥

वासुदेव उवाच

उपमन्युर्मयि प्राह तपन्निव दिवाकरः ॥ ६१ ॥
अशुभैः पापकर्माणो ये नराः कलुषीकृताः।
ईशानं न प्रपद्यन्ते तमोराजसवृत्तयः ॥ ६२ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—राजन्! सूर्यके समान तपते हुए-से तेजस्वी उपमन्युने मेरे समीप कहा था कि 'जो पापकर्मी मनुष्य अपने अशुभ आचरणोंसे कलुषित हो गये हैं, वे तमोगुणी या रजोगुणी वृत्तिके लोग भगवान् शिवकी शरण नहीं लेते हैं॥ ६१-६२॥

ईश्वरं सम्प्रपद्यन्ते द्विजा भावितभावनाः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि यो भक्तः परमेश्वरे ॥ ६३ ॥
सदृशोऽरण्यवासीनां मुनीनां भावितात्मनाम्।

'जिनका अन्तःकरण पवित्र है, वे ही द्विज महादेवजीकी शरण लेते हैं। जो परमेश्वर शिवका भक्त है, वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी पवित्र अन्तःकरणवाले बनवासी मुनियोंके समान है॥ ६३½॥

ब्रह्मत्वं केशवत्वं वा शक्रत्वं वा सुरैः सह ॥ ६४ ॥
त्रैलोक्यस्याधिपत्यं वा तुष्टो रुद्रः प्रयच्छति।

'भगवान् रुद्र संतुष्ट हो जायँ तो वे ब्रह्मपद, विष्णुपद, देवताओंसहित देवेन्द्रपद अथवा तीनों लोकोंका आधिपत्य प्रदान कर सकते हैं॥ ६४½॥

मनसापि शिवं तात ये प्रपद्यन्ति मानवाः ॥ ६५ ॥
विधूय सर्वपापानि देवैः सह वसन्ति ते।

'तात! जो मनुष्य मनसे भी भगवान् शिवकी शरण लेते हैं, वे सब पापोंका नाश करके देवताओंके साथ निवास करते हैं॥

भित्त्वा भित्त्वा च कूलानि हुत्वा सर्वमिदं जगत् ॥ ६६ ॥
यजेद् देवं विरूपाक्षं न स पापेन लिप्यते।

'बारंबार तालाबके तटभूमिको खोद-खोदकर उन्हें चौपट कर देनेवाला और इस सारे जगत्को जलती आगमें झोंक देनेवाला पुरुष भी यदि महादेवजीकी आराधना करता है तो वह पापसे लिप्त नहीं होता है॥ ६६½॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि युक्तो वा सर्वपातकैः ॥ ६७ ॥
सर्वं तुदति तत्पापं भावयञ्छिवमात्मना।

'समस्त लक्षणोंसे हीन अथवा सब पापोंसे युक्त मनुष्य भी यदि अपने हृदयसे भगवान् शिवका ध्यान करता है तो वह अपने सारे पापोंको नष्ट कर देता है॥ ६७½॥

कीटपक्षिपतङ्गानां तिरश्चामपि केशव ॥ ६८ ॥
महादेवप्रपन्नानां न भयं विद्यते क्वचित्।

'केशव! कीट, पतंग, पक्षी तथा पशु भी यदि महादेवजीकी शरणमें आ जायँ तो उन्हें भी कहीं किसीका भय नहीं प्राप्त होता है॥ ६८½॥

एवमेव महादेवं भक्ता ये मानवा भुवि ॥ ६९ ॥
न ते संसारवशगा इति मे निश्चिता मतिः ।
ततः कृष्णोऽब्रवीद् वाक्यं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ७० ॥

'इसी प्रकार इस भूतलपर जो मानव महादेवजीके भक्त हैं, वे संसारके अधीन नहीं होते—यह मेरा निश्चित विचार है।' तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भी धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे कहा ॥ ६९-७० ॥

विष्णुरुवाच

आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च
द्यौर्भूमिरापो वसवोऽथ विश्वे ।
धातार्यमा शुक्रबृहस्पती च
रुद्राः ससाध्या वरुणोऽथ गोपः ॥ ७१ ॥
ब्रह्मा शक्रो मारुतो ब्रह्म सत्यं
वेदा यज्ञा दक्षिणा वेदवाहाः ।
सोमो यष्टा यच्च हव्यं हविश्च
रक्षा दीक्षा संयमा ये च केचित् ॥ ७२ ॥
स्वाहा वौषट् ब्राह्मणाः सौरभेयी
धर्मं चाग्र्यं कालचक्रं बलं च ।
यशो दमो बुद्धिमतां स्थितिश्च
शुभाशुभं ये मुनयश्च सप्त ॥ ७३ ॥
अग्र्या बुद्धिर्मनसा दर्शने च
स्पर्शश्चाग्र्यः कर्मणां या च सिद्धिः ।
गणा देवानामूष्मपाः सोमपाश्च
लेखाः सुयामास्तुषिता ब्रह्मकायाः ॥ ७४ ॥
आभासुरा गन्धपा धूमपाश्च
वाचा विरुद्धाश्च मनोविरुद्धाः ।
शुद्धाश्च निर्माणरताश्च देवाः
स्पर्शाशना दर्शपा आज्यपाश्च ॥ ७५ ॥
चिन्त्यद्योता ये च देवेषु मुख्या
ये चाप्यन्ये देवताश्चाजमीढ ।
सुपर्णगन्धर्वपिशाचदानवा
यक्षास्तथा चारणपन्नगाश्च ॥ ७६ ॥
स्थूलं सूक्ष्मं मृदु चाप्यसूक्ष्मं
दुःखं सुखं दुःखमनन्तरं च ।
सांख्यं योगं तत्पराणां परं च
शर्वाज्जातं विद्धि यत् कीर्तितं मे ॥ ७७ ॥

श्रीकृष्ण बोले—अजमीढवंशी धर्मराज ! जो सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, स्वर्ग, भूमि, जल, वसु, विश्वदेव, धाता, अर्यमा, शुक्र, बृहस्पति, रुद्रगण, साध्यगण, राजा वरुण, ब्रह्मा, इन्द्र, वायुदेव, ॐकार, सत्य, वेद, यज्ञ, दक्षिणा, वेदपाठी ब्राह्मण, सोमरस, यजमान, हवनीय हविष्य, रक्षा, दीक्षा, सब प्रकारके संयम, स्वाहा, वौषट्, ब्राह्मणगण, गौ, श्रेष्ठ धर्म, कालचक्र, बल, यश, दम, बुद्धिमानोंकी स्थिति, शुभाशुभ कर्म, सप्तर्षि, श्रेष्ठ बुद्धि, मन, दर्शन, श्रेष्ठ स्पर्श, कर्मोंकी सिद्धि, ऊष्मप, सोमप, लेख, याम तथा तुषित आदि देवगण, ब्राह्मण-शरीर, दीप्तिशाली गन्धप, धूमप ऋषि, वाग्विरुद्ध और मनोविरुद्ध भाव, शुद्धभाव, निर्माण-कार्यमें तत्पर रहनेवाले देवता, स्पर्शमात्रसे भोजन करनेवाले, दर्शनमात्रसे पेय रसका पान करनेवाले, घृत पीनेवाले हैं, जिनके संकल्प करनेमात्रसे अभीष्ट वस्तु नेत्रोंके समक्ष प्रकाशित होने लगती है, ऐसे जो देवताओंमें मुख्य गण हैं, जो दूसरे दूसरे देवता हैं, जो सुपर्ण, गन्धर्व, पिशाच, दानव, यक्ष, चारण तथा नाग हैं, जो स्थूल, सूक्ष्म, कोमल, असूक्ष्म, सुख, इस लोकके दुःख, परलोकके दुःख, सांख्य, योग एवं पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ मोक्षरूप परम पुरुषार्थ बताया गया है; इन सबको तुम महादेवजीसे ही उत्पन्न हुआ समझो ॥

तत्सम्भूता भूतकृतो वरेण्याः
सर्वे देवा भुवनस्यास्य गोपाः ।
आविश्येमां धरणीं येऽभ्यरक्षन्
पुरातनीं तस्य देवस्य सृष्टिम् ॥ ७८ ॥

जो इस भूतलमें प्रवेश करके महादेवजीकी पूर्वकृत सृष्टिकी रक्षा करते हैं, जो समस्त जगत्‌के रक्षक, विभिन्न प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले और श्रेष्ठ हैं, वे सम्पूर्ण देवता भगवान् शिवसे ही प्रकट हुए हैं ॥ ७८ ॥

विचिन्वन्तस्तपसा तत्स्थवीयः
किंचित् तत्त्वं प्राणहेतोर्नतोऽस्मि ।
ददातु देवः स वरानिहेष्टा-
नाभिष्टुतो नः प्रभुरव्ययः सदा ॥ ७९ ॥

ऋषि-मुनि तपस्याद्वारा जिसका अन्वेषण करते हैं, उस सदा स्थिर रहनेवाले अनिर्वचनीय परम सूक्ष्म तत्त्वस्वरूप सदाशिवको मैं जीवन-रक्षाके लिये नमस्कार करता हूँ। जिन अविनाशी प्रभुकी मेरेद्वारा सदा ही स्तुति की गयी है, वे महादेव यहाँ मुझे अभीष्ट वरदान दें ॥ ७९ ॥

इमं स्तवं संनियतेन्द्रियश्च
भूत्वा शुचिर्यः पुरुषः पठेत ।
अभग्नयोगो नियतो मासमेकं
सम्प्राप्नुयादश्वमेधे फलं यत् ॥ ८० ॥

जो पुरुष इन्द्रियोंको वशमें करके पवित्र होकर इस स्तोत्रका पाठ करेगा और नियमपूर्वक एक मासतक अखण्डरूपसे इसे पाठको चलाता रहेगा, वह अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त कर लेगा ॥ ८० ॥

वेदान् कृत्स्नान् ब्राह्मणः प्राप्नुयात् तु
जयेन्नृपः पार्थ महीं च कृत्स्नाम् ।
वैश्यो लाभं प्राप्नुयान्नैपुणं च
शूद्रो गतिं प्रेत्य तथा सुखं च ॥ ८१ ॥

कुन्तीनन्दन ! ब्राह्मण इसके पाठसे सम्पूर्ण वेदोंके स्वाध्यायका फल पाता है। क्षत्रिय समस्त पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर लेता है। वैश्य व्यापारकुशलता एवं महान् लाभका

भागी होता है और शूद्र इहलोकमें सुख तथा परलोकमें सद्गति पाता है ॥ ८१ ॥

स्तवराजमिमं कृत्वा रुद्राय दधिरे मनः।
सर्वदोषापहं पुण्यं पवित्रं च यशस्विनः ॥ ८२ ॥

जो लोग सम्पूर्ण दोषोंका नाश करनेवाले इस पुण्यजनक पवित्र स्तवराजका पाठ करके भगवान् रुद्रके चिन्तनमें मन लगाते हैं, वे यशस्वी होते हैं ॥ ८२ ॥

यावन्त्यस्य शरीरेषु रोमकूपाणि भारत।
तावन्त्यब्दसहस्राणि स्वर्गे वसति मानवः ॥ ८३ ॥

भरतनन्दन ! मनुष्यके शरीरमें जितने रोमकूप होते हैं, इस स्तोत्रका पाठ करनेवाला मनुष्य उतने ही हजार वर्षोंतक स्वर्गमें निवास करता है ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मेघवाहनपर्वकी कथाविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अष्टावक्र मुनिका वदान्य ऋषिके कहनेसे उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान, मार्गमें कुबेरके द्वारा उनका स्वागत तथा स्त्रीरूपधारिणी उत्तरदिशाके साथ उनका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं सहधर्मेति प्रोच्यते भरतर्षभ।
पाणिग्रहणकाले तु स्त्रीणामेतत् कथं स्मृतम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! जो यह स्त्रियोंके लिये विवाहकालमें सहधर्मकी बात कही जाती है, वह किस प्रकार बतायी गयी है ? ॥ १ ॥

आर्ष एष भवेद् धर्मः प्राजापत्योऽथवाऽऽसुरः।
यदेतत् सहधर्मेति पूर्वमुक्तं महर्षिभिः ॥ २ ॥

महर्षियोंने पूर्वकालमें जो यह स्त्री-पुरुषोंके सहधर्मकी बात कही है, यह आर्ष धर्म है या प्राजापत्य धर्म है अथवा आसुर धर्म है ? ॥ २ ॥

संदेहः सुमहानेष विरुद्ध इति मे मतिः।
इह यः सहधर्मो वै प्रेत्यायं विहितः क नु ॥ ३ ॥

मेरे मनमें यह महान् संदेह पैदा हो गया है। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि यह सहधर्मका कथन विरुद्ध है। यहाँ जो सहधर्म है, वह मृत्युके पश्चात् कहाँ रहता है ? ॥ ३ ॥

स्वर्गो मृतानां भवति सहधर्मः पितामह।
पूर्वमेकस्तु म्रियते क चैकस्तिष्ठते वद ॥ ४ ॥

पितामह ! जब कि मरे हुए मनुष्योंका स्वर्गवास हो जाता है एवं पति और पत्नीमेंसे एककी पहले मृत्यु हो जाती है, तब एक व्यक्तिमें सहधर्म कहाँ रहता है ? यह बताइये ॥४॥

नानाधर्मफलोपेता नानाकर्मनिवासिताः।
नानानिरयनिष्ठान्ता मानुषा बहवो यदा ॥ ५ ॥

जब बहुत-से मनुष्य नाना प्रकारके धर्मफलसे संयुक्त होते हैं, नाना प्रकारके कर्मवश विभिन्न स्थानोंमें निवास करते हैं और शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग-नरक आदि नाना अवस्थाओंमें पड़ते हैं, तब वे सहधर्मका निर्वाह किस प्रकार कर सकते हैं ? ॥ ५ ॥

अनृताः स्त्रिय इत्येवं सूत्रकारो व्यवस्यति।
यदानृताः स्त्रियस्तात सहधर्मः कुतः स्मृतः ॥ ६ ॥

धर्मसूत्रकार यह निश्चितरूपसे कहते हैं कि स्त्रियाँ असत्यपरायण होती हैं। तात ! जब स्त्रियाँ असत्यवादिनी ही हैं, तब उन्हें साथ रखकर सहधर्मका अनुष्ठान कैसे किया जा सकता है ? ॥ ६ ॥

अनृताः स्त्रिय इत्येवं वेदेष्वपि हि पठ्यते।
धर्मोऽयं पूर्विका संज्ञा उपचारः क्रियाविधिः ॥ ७ ॥

वेदोंमें भी यह बात पढ़ी गयी है कि स्त्रियाँ असत्यभाषिणी होती हैं, ऐसी दशामें उनका वह असत्य भी सहधर्मके अन्तर्गत आ सकता है, किंतु असत्य कभी धर्म नहीं हो सकता; अतः दाम्पत्यधर्मको जो सहधर्म कहा गया है, यह उसकी गौण संज्ञा है। वे पति-पत्नी साथ रहकर जो भी कार्य करते हैं, उसीको उपचारतः धर्म नाम दे दिया गया है ॥ ७ ॥

गह्वरं प्रतिभात्येतन्मम चिन्तयतोऽनिशम्।
निःसंदेहमिदं सर्वं पितामह यथाश्रुति ॥ ८ ॥

पितामह ! मैं ज्यों-ज्यों इस विषयपर विचार करता हूँ, त्यों-त्यों यह बात मुझे अत्यन्त दुर्बोध प्रतीत होती है; अतः आपने इस विषयमें जो कुछ श्रुतिका विधान हो, उसके अनुसार यह सब समझाइये, जिससे मेरा संदेह दूर हो जाय ॥८॥

यदेतद् यादृशं चैतद् यथा चैतत् प्रवर्तितम्।
निखिलेन महाप्राज्ञ भवानेतद् ब्रवीतु मे ॥ ९ ॥

महामते ! यह सहधर्म जबसे प्रचलित हुआ, जिस रूपमें सामने आया और जिस प्रकार इसकी प्रवृत्ति हुई, ये सारी बातें आप मुझे बताइये ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अष्टावक्रस्य संवादं दिशया सह भारत ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें अष्टावक्र मुनिका उत्तर दिशाकी अधिष्ठात्रीदेवीके साथ जो संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥१०॥

निवेष्टुकामस्तु पुरा अष्टावक्रो महातपाः।
ऋषेरथ वदान्यस्य वव्रे कन्यां महात्मनः ॥ ११ ॥

पूर्वकालकी बात है, महातपस्वी अष्टावक्र विवाह करना चाहते थे, उन्होंने इसके लिये महात्मा वदान्य ऋषिसे उनकी कन्या माँगी ॥ ११ ॥

सुप्रभां नाम वै नाम्ना रूपेणाप्रतिमां भुवि ।
गुणप्रभावशीलेन चारित्रेण च शोभनाम् ॥ १२ ॥

उस कन्याका नाम था सुप्रभा। इस पृथ्वीपर उसके रूपकी कहीं तुलना नहीं थी। गुण, प्रभाव, शील और चरित्र सभी दृष्टियोंसे वह परम सुन्दर थी ॥ १२ ॥

सा तस्य दृष्ट्वैव मनो जहार शुभलोचना ।
वनराजी यथा चित्रा वसन्ते कुसुमाचिता ॥ १३ ॥

जैसे वसंतऋतुमें सुन्दर फूलोंसे सजी हुई विचित्र वन-श्रेणी मनुष्यके मनको लुभा लेती है, उसी प्रकार उस शुभ-लोचना मुनिकुमारीने दर्शनमात्रसे अष्टावक्रका मन चुरा लिया था ॥ १३ ॥

ऋषिस्तमाह देया मे सुता तुभ्यं हि तच्छृणु ।
(अनन्यस्त्रीजनः प्राज्ञो ह्यप्रवासी प्रियंवदः ।
सुरूपः सम्मतो वीरः शीलवान् भोगभुक्छविः ॥
दारानुमतयज्ञश्च सुनक्षत्रामथोद्वहेत् ।
सभर्त्रा स्वजनोपेत इह प्रेत्य च मोदते ॥)
गच्छ तावद् दिशं पुण्यामुत्तरां द्रक्ष्यसे ततः ॥ १४ ॥

वदान्य ऋषिने अष्टावक्रके माँगनेपर इस प्रकार उत्तर दिया—'विप्रवर ! जिसके दूसरी कोई स्त्री न हो, जो परदेशमें न रहता हो, विद्वान्, प्रिय वचन बोलनेवाला, लोकसम्मानित, वीर, सुशील, भोग भोगनेमें समर्थ, कान्तिमान् और सुन्दर पुरुष हो, उसीके साथ मुझे अपनी पुत्रीका विवाह करना है। जो स्त्रीकी अनुमतिसे यज्ञ करता और उत्तम नक्षत्रवाली कन्याको व्याहता है, वह पुरुष अपनी पत्नीके साथ तथा पत्नी अपने पतिके साथ रहकर दोनों ही इहलोक और परलोकमें आनन्द भोगते हैं। मैं तुम्हें अपनी कन्या अवश्य दे दूँगा, परंतु पहले एक बात सुनो, यहाँसे परम पवित्र उत्तर दिशाकी ओर चले जाओ। वहाँ तुम्हें उसका दर्शन होगा' ॥ १४ ॥

अष्टावक्र उवाच

किं द्रष्टव्यं मया तत्र वक्तुमर्हति मे भवान् ।
तथेदानीं मया कार्यं यथा वक्ष्यति मां भवान् ॥ १५ ॥

अष्टावक्रने पूछा—महर्षे ! उत्तर दिशामें जाकर मुझे किसका दर्शन करना होगा ? आप यह बतानेकी कृपा करें तथा उस समय मुझे क्या और किस प्रकार करना चाहिये, यह भी आप ही बतायेंगे ॥ १५ ॥

वदान्य उवाच

धनदं समतिक्रम्य हिमवन्तं च पर्वतम् ।
रुद्रस्यायतनं दृष्ट्वा सिद्धचारणसेवितम् ॥ १६ ॥

वदान्यने कहा—वत्स ! तुम कुबेरकी अलकापुरीको लाँघकर जब हिमालय पर्वतको भी लाँघ जाओगे, तब तुम्हें सिद्धों और चारणोंसे सेवित रुद्रके निवासस्थान कैलास पर्वतका दर्शन होगा ॥ १६ ॥

संहृष्टैः पार्षदैर्जुष्टं नृत्यद्भिर्विविधाननैः ।
दिव्याङ्गरागैः पैशाचैरन्यैर्नानाविधैः प्रभोः ॥ १७ ॥

वहाँ नाना प्रकारके मुखवाले भाँति-भाँतिके दिव्य अङ्ग-राग लगाये अनेकानेक पिशाच तथा अन्य भूत-वैताल आदि भगवान् शिवके पार्षदगण हर्ष और उल्लासमें भरकर नाच रहे होंगे ॥ १७ ॥

पाणितालसुतालैश्च शम्पातालैः समैस्तथा ।
सम्प्रहृष्टैः प्रनृत्यद्भिः शर्वस्तत्र निषेव्यते ॥ १८ ॥

वे करताल और सुन्दर ताल बजाकर शम्पा ताल देते हुए समभावसे हर्षविभोर हो जोर-जोरसे नृत्य करते हुए वहाँ भगवान् शङ्करकी सेवा करते हैं ॥ १८ ॥

इष्टं किल गिरौ स्थानं तद्दिव्यमिति शुश्रुम ।
नित्यं संनिहितो देवस्तथा ते पार्षदाः स्मृताः ॥ १९ ॥

उस पर्वतका वह दिव्य स्थान भगवान् शङ्करको बहुत प्रिय है। यह बात हमारे सुननेमें आयी है। वहाँ महादेवजी तथा उनके पार्षद नित्य निवास करते हैं ॥ १९ ॥

तत्र देव्या तपस्तप्तं शङ्करार्थं सुदुश्चरम् ।
अतस्तदिष्टं देवस्य तथोमाया इति श्रुतिः ॥ २० ॥

वहाँ देवी पार्वतीने भगवान् शङ्करकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त दुष्कर तपस्या की थी, इसीलिये वह स्थान भगवान् शिव और पार्वतीको अधिक प्रिय है, ऐसा सुना जाता है ॥ २० ॥

पूर्वे तत्र महापार्श्वे देवस्योत्तरतस्तथा ।
ऋतवः कालरात्रिश्च ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ २१ ॥
देवं चोपासते सर्वे रूपिणः किल तत्र ह ।
तदतिक्रम्य भवनं त्वया यातव्यमेव हि ॥ २२ ॥

महादेवजीके पूर्व तथा उत्तर भागमें महापार्श्व नामक पर्वत है, जहाँ ऋतु, कालरात्रि तथा दिव्य और मानुषभाव सब-के-सब मूर्तिमान् होकर महादेवजीकी उपासना करते हैं। उस स्थानको लाँघकर तुम आगे बढ़ते ही चले जाना ॥ २१-२२ ॥

ततो नीलं वनोद्देशं द्रक्ष्यसे मेघसंनिभम् ।
रमणीयं मनोग्राहि तत्र वै द्रक्ष्यसे स्त्रियम् ॥ २३ ॥
तपस्विनीं महाभागां वृद्धां दीक्षामनुष्ठिताम् ।
द्रष्टव्या सा त्वया तत्र सम्पूज्या चैव यत्नतः ॥ २४ ॥

तदनन्तर तुम्हें मेघोंकी घटाके समान नीला एक वन्य प्रदेश दिखायी देगा। वह बड़ा ही मनोरम और रमणीय है। उस वनमें तुम एक स्त्रीको देखोगे, जो तपस्विनी, महान् सौभाग्यवती, वृद्धा और दीक्षापरायण है। तुम यत्नपूर्वक वहाँ उसका दर्शन और पूजन करना ॥ २३-२४ ॥

तां दृष्ट्वा विनिवृत्तस्त्वं ततः पाणिं ग्रहीष्यसि ।
यद्येष समयः सर्वः साध्यतां तत्र गम्यताम् ॥ २५ ॥

उसे देखकर लौटनेपर ही तुम मेरी पुत्रीका पाणिग्रहण कर सकोगे। यदि यह सारी शर्त स्वीकार हो तो इसे पूरी करनेमें लग जाओ और अभी वहाँकी यात्रा आरम्भ कर दो ॥ २५ ॥

अष्टावक्र उवाच

तथास्तु साधयिष्यामि तत्र यास्याम्यसंशयम्।
यत्र त्वं वदसे साधो भवान् भवतु सत्यवाक् ॥ २६ ॥

अष्टावक्र बोले—ऐसा ही होगा, मैं यह शर्त पूरी करूँगा। श्रेष्ठ पुरुष! आप जहाँ कहते हैं, वहाँ अवश्य जाऊँगा। आपकी वाणी सत्य हो ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

ततोऽगच्छत् स भगवानुत्तरामुत्तरां दिशम्।
हिमवन्तं गिरिश्रेष्ठं सिद्धचारणसेवितम् ॥ २७ ॥
स गत्वा द्विजशार्दूलो हिमवन्तं महागिरिम्।
अभ्यगच्छन्नदीं पुण्यां बाहुदां धर्मशालिनीम् ॥२८॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भगवान् अष्टावक्र उत्तरोत्तर दिशाकी ओर चल दिये। सिद्धों और चारणोंसे सेवित गिरिश्रेष्ठ महापर्वत हिमालयपर पहुँचकर वे श्रेष्ठ द्विज धर्मसे शोभा पानेवाली पुण्यमयी बाहुदा नदीके तटपर गये ॥ २७-२८ ॥

अशोके विमले तीर्थे स्नात्वा वै तर्प्य देवताः।
तत्र वासाय शयने कौशे सुखमुवास ह ॥ २९ ॥

वहाँ निर्मल अशोक तीर्थमें स्नान करके देवताओंका तर्पण करनेके पश्चात् उन्होंने कुशकी चटाईपर सुखपूर्वक निवास किया ॥ २९ ॥

ततो रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरुत्थाय स द्विजः।
स्नात्वा प्रादुश्चकाराग्निं स्तुत्वा चैनं प्रधानतः ॥ ३० ॥
रुद्राणीं रुद्रमासाद्य ह्रदे तत्र समाश्वसत्।
विश्रान्तश्च समुत्थाय कैलासमभितो ययौ ॥ ३१ ॥

तदनन्तर रात बीतनेपर वे द्विज प्रातःकाल उठे और उन्होंने स्नान करके अग्निदेवको प्रज्वलित किया। फिर मुख्य-मुख्य वैदिक मन्त्रोंसे अग्निदेवकी स्तुति करके 'रुद्राणी रुद्र' नामक तीर्थमें गये और वहाँ सरोवरके तटपर कुछ कालतक विश्राम करते रहे। विश्रामके पश्चात् उठकर वे कैलासकी ओर चल दिये ॥ ३०-३१ ॥

सोऽपश्यत् काञ्चनद्वारं दीप्यमानमिव श्रिया।
मन्दाकिनीं च नलिनीं धनदस्य महात्मनः ॥ ३२ ॥

कुछ दूर जानेपर उन्होंने कुबेरकी अलकापुरीका सुवर्णमय द्वार देखा, जो दिव्य दीप्तिसे देदीप्यमान हो रहा था। वहीं महात्मा कुबेरकी कमलपुष्पोंसे सुशोभित एक बावड़ी देखी, जो गङ्गाजीके जलसे परिपूर्ण होनेके कारण मन्दाकिनी नामसे विख्यात थी ॥ ३२ ॥

अथ ते राक्षसाः सर्वे येऽभिरक्षन्ति पद्मिनीम्।
प्रत्युत्थिता भगवन्तं मणिभद्रपुरोगमाः ॥ ३३ ॥

वहाँ जो उस पद्मपूर्ण पुष्करिणीकी रक्षा कर रहे थे, वे सब मणिभद्र आदि राक्षस भगवान् अष्टावक्रको देखकर उनके स्वागतके लिये उठकर खड़े हो गये ॥ ३३ ॥

स तान् प्रत्यर्चयामास राक्षसान् भीमविक्रमान्।
निवेदयत मां क्षिप्रं धनदायेति चाब्रवीत् ॥ ३४ ॥

मुनिने भी उन भयंकर पराक्रमी राक्षसोंके प्रति सम्मान प्रकट किया और कहा, 'आपलोग शीघ्र ही धनपति कुबेरको मेरे आगमनकी सूचना दे दें' ॥ ३४ ॥

ते राक्षसास्तथा राजन् भगवन्तमथाब्रुवन्।
असौ वैश्रवणो राजा स्वयमायाति तेऽन्तिकम् ॥ ३५ ॥

राजन्! वे राक्षस वैसा करके भगवान् अष्टावक्रसे बोले—'प्रभो! राजा कुबेर स्वयं ही आपके निकट पधार रहे हैं ॥ ३५ ॥

विदितो भगवानस्य कार्यमागमनस्य यत्।
पश्यैनं त्वं महाभागं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ ३६ ॥

'आपका आगमन और इस आगमनका जो उद्देश्य है, वह सब कुछ कुबेरको पहलेसे ही ज्ञात है। देखिये, ये महाभाग धनाध्यक्ष अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए आ रहे हैं' ॥ ३६ ॥

ततो वैश्रवणोऽभ्येत्य अष्टावक्रमनिन्दितम्।
विधिवत्कुशलं पृष्ट्वा ततो ब्रह्मर्षिमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर विश्रवाके पुत्र कुबेरने निकट आकर निन्दारहित ब्रह्मर्षि अष्टावक्रसे विधिपूर्वक कुशल-समाचार पूछते हुए कहा—॥ ३७ ॥

सुखं प्राप्तो भवान् कच्चित् किं वा मत्तश्चिकीर्षति।
ब्रूहि सर्वं करिष्यामि यन्मां वक्ष्यसि वै द्विज ॥ ३८ ॥

'ब्रह्मन्! आप सुखपूर्वक यहाँ आये हैं न? बताइये मुझसे किस कार्यकी सिद्धि चाहते हैं? आप मुझसे जो-जो कहेंगे, वह सब पूर्ण करूँगा ॥ ३८ ॥

भवनं प्रविश त्वं मे यथाकामं द्विजोत्तम।
सत्कृतः कृतकार्यश्च भवान् यास्यत्यविघ्नतः ॥ ३९ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! आप इच्छानुसार मेरे भवनमें प्रवेश कीजिये और यहाँका सत्कार ग्रहण करके कृतकृत्य हो आप यहाँसे निर्विघ्न यात्रा कीजियेगा ॥ ३९ ॥

प्राविशद् भवनं स्वं वै गृहीत्वा तं द्विजोत्तमम्।
आसनं स्वं ददौ चैव पाद्यमर्घ्यं तथैव च ॥ ४० ॥

ऐसा कहकर कुबेरने विप्रवर अष्टावक्रको साथ लेकर अपने भवनमें प्रवेश किया और उन्हें पाद्य, अर्घ्य तथा अपना आसन दिया ॥ ४० ॥

अथोपविष्टयोस्तत्र मणिभद्रपुरोगमाः।
निषेदुस्तत्र कौबेरा यक्षगन्धर्वकिंनराः ॥ ४१ ॥

जब कुबेर और अष्टावक्र दोनों वहाँ आरामसे बैठ गये,

तब कुबेरके सेवक मणिभद्र आदि यक्ष, गन्धर्व और किन्नर भी नीचे बैठ गये ॥ ४१ ॥

ततस्तेषां निषण्णानां धनदो वाक्यमब्रवीत् ।
भवच्छन्दं समाज्ञाय नृत्येरन्नप्सरोगणाः ॥ ४२ ॥
आतिथ्यं परमं कार्यं शुश्रूषा भवतस्तथा ।
संवर्ततामित्युवाच मुनिर्मधुरया गिरा ॥ ४३ ॥

उन सबके बैठ जानेपर कुबेरने कहा—'आपकी इच्छा हो तो उसे जानकर यहाँ अप्सराएँ नृत्य करें; क्योंकि आपका आतिथ्य-सत्कार और सेवा करना हमलोगोंका परम कर्तव्य है।' तब मुनिने मधुर वाणीमें कहा, 'तथास्तु—ऐसा ही हो' ॥ ४२-४३ ॥

अथोर्वरा मिश्रकेशी रम्भा चैवोर्वशी तथा ।
अलम्बुषा घृताची च चित्रा चित्राङ्गदा रुचिः ॥ ४४ ॥
मनोहरा सुकेशी च सुमुखी हासिनी प्रभा ।
विद्युता प्रशमी दान्ता विद्योता रतिरेव च ॥ ४५ ॥
एताश्चान्याश्च वै बह्व्यः प्रनृत्ताप्सरसः शुभाः ।
अवादयंश्च गन्धर्वा वाद्यानि विविधानि च ॥ ४६ ॥

तदनन्तर उर्वरा, मिश्रकेशी, रम्भा, उर्वशी, अलम्बुषा, घृताची, चित्रा, चित्राङ्गदा, रुचि, मनोहरा, सुकेशी, सुमुखी, हासिनी, प्रभा, विद्युता, प्रशमी, दान्ता, विद्योता और रति—ये तथा और भी बहुत-सी शुभलक्षणा अप्सराएँ नृत्य करने लगीं और गन्धर्वगण नाना प्रकारके बाजे बजाने लगे ॥ ४४—४६ ॥

अथ प्रवृत्ते गान्धर्वे दिव्ये ऋषिरुपाविशत् ।
दिव्यं संवत्सरं तत्रारमतैष महातपाः ॥ ४७ ॥

वह दिव्य नृत्य-गीत आरम्भ होनेपर महातपस्वी ऋषि अष्टावक्र भी दर्शक मण्डलीमें आ बैठे और वे देवताओंके वर्षसे एक वर्षतक इसी आमोद-प्रमोदमें रमते रहे ॥ ४७ ॥

ततो वैश्रवणो राजा भगवन्तमुवाच ह ।
साग्रः संवत्सरो जातो विप्रेह तव पश्यतः ॥ ४८ ॥

तब राजा वैश्रवण (कुबेर) ने भगवान् अष्टावक्रसे कहा—'विप्रवर! यहाँ नृत्य देखते हुए आपका एक वर्षसे कुछ अधिक समय व्यतीत हो गया है ॥ ४८ ॥

हार्योऽयं विषयो ब्रह्मन् गान्धर्वो नाम नामतः ।
छन्दतो वर्ततां विप्र यथा वदति वा भवान् ॥ ४९ ॥

'ब्रह्मन्! यह नृत्य-गीतका विषय जिसे 'गान्धर्व' नाम दिया गया है, बड़ा मनोहारी है; अतः यदि आपकी इच्छा हो तो यह आयोजन कुछ दिन और इसी तरह चलता रहे अथवा विप्रवर! आप जैसी आज्ञा दें वैसा किया जाय ॥

अतिथिः पूजनीयस्त्वमिदं च भवतो गृहम् ।
सर्वमाज्ञाप्यतामाशु परवन्तो वयं त्वयि ॥ ५० ॥

'आप मेरे पूजनीय अतिथि हैं। यह घर आपका ही है। आप निस्संकोच भावसे शीघ्र ही सभी कार्योंके लिये हमें आज्ञा दें। हम आपके वशवर्ती किङ्कर हैं' ॥ ५० ॥

अथ वैश्रवणं प्रीतो भगवान् प्रत्यभाषत ।
अर्चितोऽस्मि यथान्यायं गमिष्यामि धनेश्वर ॥ ५१ ॥

तब अत्यन्त प्रसन्न हुए भगवान् अष्टावक्रने कुबेरसे कहा—'धनेश्वर! आपने यथोचित रूपसे मेरा सत्कार किया है। अब आज्ञा दें, मैं यहाँसे जाऊँगा ॥ ५१ ॥

प्रीतोऽस्मि सदृशं चैव तव सर्वं धनाधिप ।
तव प्रसादाद् भगवन् महर्षेश्च महात्मनः ॥ ५२ ॥
नियोगादद्य यास्यामि वृद्धिमानृद्धिमान् भव ।
अथ निष्क्रम्य भगवान् प्रययावुत्तरामुखः ॥ ५३ ॥

'धनाधिप! मैं बहुत प्रसन्न हूँ। आपकी सारी बातें आपके अनुरूप ही हैं। भगवन्! अब मैं आपकी कृपासे उन महात्मा महर्षि वदान्यकी आज्ञाके अनुसार आगे जाऊँगा। आप अभ्युदयशील एवं समृद्धिशाली हों।' इतना कहकर भगवान् अष्टावक्र उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके चल दिये ॥

कैलासं मन्दरं हैमं सर्वाननुचचार ह ।

एवं समूचे कैलास, मन्दराचल और हिमालयपर विचरण करने लगे ॥ ५३½ ॥

तानतीत्य महाशैलान् कैरातं स्थानमुत्तमम् ॥ ५४ ॥
प्रदक्षिणं तथा चक्रे प्रयतः शिरसा नतः ।
धरणीमवतीर्याथ पूतात्मासौ तदाभवत् ॥ ५५ ॥

उन बड़े-बड़े पर्वतोंको लाँघकर यतचित्त हो उन्होंने किरातवेषधारी महादेवजीके उत्तम स्थानकी परिक्रमा की और उसे मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। फिर नीचे पृथ्वीपर उतरकर वे उस स्थानके माहात्म्यसे तत्काल पवित्रात्मा हो गये ॥

स तं प्रदक्षिणं कृत्वा त्रिः शैलं चोत्तरामुखः ।
समेन भूमिभागेन ययौ प्रीतिपुरस्कृतः ॥ ५६ ॥

तीन बार उस पर्वतकी परिक्रमा करके वे उत्तराभिमुख हो समतल भूमिसे प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़े ॥ ५६ ॥

ततोऽपरं वनोद्देशं रमणीयमपश्यत ।
सर्वर्तुभिर्मूलफलैः पक्षिभिश्च समन्वितैः ॥ ५७ ॥
रमणीयैर्वनोद्देशैस्तत्र तत्र विभूषितम् ।

आगे जानेपर उन्हें एक दूसरी रमणीय वनस्थली दिखायी दी, जो सभी ऋतुओंके फल-मूलों, पक्षिसमूहों और मनोरम वनप्रान्तोंसे जहाँ-तहाँ शोभासम्पन्न हो रही थी ॥

तत्राश्रमपदं दिव्यं ददर्श भगवानथ ॥ ५८ ॥
शैलांश्च विविधाकारान् काञ्चनान् रत्नभूषितान् ।
मणिभूमौ निविष्टाश्च पुष्करिण्यस्तथैव च ॥ ५९ ॥

वहाँ भगवान् अष्टावक्रने एक दिव्य आश्रम देखा। उस आश्रमके चारों ओर नाना प्रकारके सुवर्णमय एवं रत्न-भूषित पर्वत शोभा पा रहे थे। वहाँकी मणिमयी भूमिपर कई सुन्दर बावड़ियाँ बनी थीं ॥ ५८-५९ ॥

अन्यान्यपि सुरम्याणि पश्यतः सुबहून्यथ ।

भृशं तस्य मनो रेमे महर्षेर्भावितात्मनः ॥ ६० ॥

इनके सिवा और भी बहुत-से सुरम्य दृश्य वहाँ दिखायी देते थे। उन सबको देखते हुए उन भावितात्मा महर्षिका मन वहाँ विशेष आनन्दका अनुभव करने लगा ॥ ६० ॥

स तत्र काञ्चनं दिव्यं सर्वरत्नमयं गृहम्।
ददर्शाद्भुतसंकाशं धनदस्य गृहाद् वरम् ॥ ६१ ॥

महर्षिने उस प्रदेशमें एक दिव्य सुवर्णमय भवन देखा, जिसमें सब प्रकारके रत्न जड़े गये थे। वह मनोहर गृह कुबेरके राजभवनसे भी सुन्दर, श्रेष्ठ एवं अद्भुत था ॥ ६१ ॥

महान्तो यत्र विविधा मणिकाञ्चनपर्वताः।
विमानानि च रम्याणि रत्नानि विविधानि च ॥ ६२ ॥

वहाँ भाँति-भाँतिके मणिमय और सुवर्णमय विशाल पर्वत शोभा पाते थे। अनेकानेक सुरम्य विमान तथा नाना प्रकारके रत्न दृष्टिगोचर होते थे ॥ ६२ ॥

मन्दारपुष्पैः संकीर्णां तथा मन्दाकिनीं नदीम्।
स्वयंप्रभाश्च मणयो वज्रैर्भूमिश्च भूषिता ॥ ६३ ॥

उस प्रदेशमें मन्दाकिनी नदी प्रवाहित होती थी, जिसके स्रोतमें मन्दारके पुष्प बह रहे थे। वहाँ स्वयं प्रकाशित होनेवाली मणियाँ अपनी अद्भुत छटा बिखेर रही थीं। वहाँकी भूमि हीरोंसे जड़ी गयी थी ॥ ६३ ॥

नानाविधैश्च भवनैर्विचित्रमणितोरणैः।
मुक्ताजालविनिक्षिप्तैर्मणिरत्नविभूषितैः ॥ ६४ ॥
मनोदृष्टिहरै रम्यैः सर्वतः संवृतं शुभैः।
ऋषिभिश्चावृतं तत्र आश्रमं तं मनोहरम् ॥ ६५ ॥

उस आश्रमके चारों ओर विचित्र मणिमय तोरणोंसे सुशोभित, मोतीकी झालरोंसे अलंकृत तथा मणि एवं रत्नोंसे विभूषित सुन्दर भवन शोभा पा रहे थे। वे मनको मोह लेनेवाले तथा दृष्टिको बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेनेवाले थे। उन मङ्गलमय भवनोंसे घिरा और ऋषि-मुनियोंसे भरा हुआ वह आश्रम बड़ा मनोहर जान पड़ता था ॥

ततस्तस्याभवच्चिन्ता कुत्र वासो भवेदिति।
अथ द्वारं समभितो गत्वा स्थित्वा ततोऽब्रवीत् ॥ ६६ ॥

वहाँ पहुँचकर अष्टावक्रके मनमें यह चिन्ता हुई कि अब कहाँ ठहरा जाय। यह विचार उठते ही वे प्रमुख द्वारके समीप गये और खड़े होकर बोले— ॥ ६६ ॥

अतिथिं समनुप्राप्तमभिजानन्तु येऽत्र वै।
अथ कन्याः परिवृता गृहात् तस्माद् विनिर्गताः ॥ ६७ ॥
नानारूपाः सप्त विभो कन्याः सर्वा मनोहराः।
यां यामपश्यत् कन्यां वै सा सा तस्य मनोऽहरत् ॥ ६८ ॥

'इस घरमें जो लोग रहते हों, उन्हें यह विदित होना चाहिये कि मैं एक अतिथि यहाँ आया हूँ।' उनके इस प्रकार कहते ही उस घरसे एक साथ सात कन्याएँ निकलीं। वे सब-की-सब भिन्न-भिन्न रूपवाली तथा बड़ी मनोहर थीं। विभो! अष्टावक्र मुनि उनमेंसे जिस-जिस कन्याकी ओर देखते, वही-वही उनका मन हर लेती थी ॥ ६७-६८ ॥

न च शक्तो वारयितुं मनोऽस्याथावसीदति।
ततो धृतिः समुत्पन्ना तस्य विप्रस्य धीमतः ॥ ६९ ॥

वे अपने मनको रोक नहीं पाते थे। बलपूर्वक रोकनेपर उनका मन शिथिल होता जाता था। तदनन्तर उन बुद्धिमान् ब्राह्मणके हृदयमें किसी तरह धैर्य उत्पन्न हुआ ॥ ६९ ॥

अथ तं प्रमदाः प्राहुर्भगवान् प्रविशत्विति।
स च तासां सुरूपाणां तस्यैव भवनस्य हि ॥ ७० ॥
कौतूहलं समाविष्टः प्रविवेश गृहं द्विजः।

तत्पश्चात् वे सातों तरुणी स्त्रियाँ बोलीं—'भगवन्! आप घरके भीतर प्रवेश करें।' ऋषिके मनमें उन सुन्दरियोंके तथा उस घरके विषयमें कौतूहल पैदा हो गया था; अतः उन्होंने उस घरमें प्रवेश किया ॥ ७०½ ॥

तत्रापश्यज्जरायुक्तामरजोऽम्बरधारिणीम् ॥ ७१ ॥
वृद्धां पर्यङ्कमासीनां सर्वाभरणभूषिताम्।

वहाँ उन्होंने एक जराजीर्ण वृद्धा स्त्रीको देखा, जो निर्मल वस्त्र धारण किये समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो पलँगपर बैठी हुई थी ॥ ७१½ ॥

स्वस्तीति तेन चैवोक्ता सा स्त्री प्रत्यवदत् तदा ॥ ७२ ॥
प्रत्युत्थाय च तं विप्रमास्यतामित्युवाच ह।

अष्टावक्रने 'स्वस्ति' कहकर उसे आशीर्वाद दिया। वह स्त्री उनके स्वागतके लिये पलँगसे उठकर खड़ी हो गयी और इस प्रकार बोली—'विप्रवर! बैठिये' ॥ ७२½ ॥

अष्टावक्र उवाच

सर्वाः स्वानालयान् यान्तु एका मामुपतिष्ठतु ॥ ७३ ॥
प्रज्ञाता या प्रशान्ता या शेषा गच्छन्तु च्छन्दतः।

अष्टावक्रने कहा—सारी स्त्रियाँ अपने-अपने घरको चली जायँ। केवल एक ही मेरे पास रह जाय। जो ज्ञानवती तथा मन और इन्द्रियोंको शान्त रखनेवाली हो, उसीको यहाँ रहना चाहिये। शेष स्त्रियाँ अपनी इच्छाके अनुसार जा सकती हैं ॥ ७३½ ॥

ततः प्रदक्षिणीकृत्य कन्यास्तास्तमृषिं तदा ॥ ७४ ॥
निश्चक्रमुर्गृहात् तस्मात् सा वृद्धाथ व्यतिष्ठत।

तदनन्तर वे सब कन्याएँ उस समय ऋषिकी परिक्रमा करके उस घरसे निकल गयीं। केवल वह वृद्धा ही वहाँ ठहरी रही ॥ ७४½ ॥

अथ तां संविशन् प्राह शयने भास्वरे तदा ॥ ७५ ॥
त्वयापि सुप्यतां भद्रे रजनी ह्यतिवर्तते।

तत्पश्चात् उज्ज्वल एवं प्रकाशमान शय्यापर सोते हुए ऋषिने उस वृद्धासे कहा—'भद्रे! अब तुम भी सो जाओ। रात अधिक बीत चली है' ॥ ७५½ ॥

संलापात् तेन विप्रेण तथा सा तत्र भाषिता ॥ ७६ ॥

द्वितीये शयने दिव्ये संविवेश महाप्रभे ।

बातचीतके प्रसङ्गमें उस ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर वह भी दूसरे अत्यन्त प्रकाशमान दिव्य पलँगपर सो रही ॥ ७६½ ॥

अथ सा वेपमानाङ्गी निमित्तं शीतजं तदा ॥ ७७ ॥
व्यपदिश्य महर्षेर्वै शयनं व्यवरोहत ।
स्वागतेनागतां तां तु भगवानभ्यभाषत ॥ ७८ ॥

थोड़ी ही देरमें वह सरदी लगनेका बहाना करके थरथर काँपती हुई आयी और महर्षिकी शय्यापर आरूढ़ हो गयी । पास आनेपर भगवान् अष्टावक्रने 'आइये, स्वागत है' ऐसा कहकर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया ॥ ७७-७८ ॥

सोपागूहद् भुजाभ्यां तु ऋषिं प्रीत्या नरर्षभ ।
निर्विकारमृषिं चापि काष्ठकुड्योपमं तदा ॥ ७९ ॥

नरश्रेष्ठ ! उसने प्रेमपूर्वक दोनों भुजाओंसे ऋषिका आलिङ्गन कर लिया तो भी उसने देखा, ऋषि अष्टावक्र सूखे काठ और दीवारके समान विकारशून्य हैं ॥ ७९ ॥

दुःखिता प्रेक्ष्य संजल्पमकार्षीद्दषिणा सह ।
ब्रह्मन्नकामतोऽन्यास्ति स्त्रीणां पुरुषतो धृतिः ॥ ८० ॥
कामेन मोहिता चाहं त्वां भजन्तीं भजस्व माम् ।
प्रहृष्टो भव विप्रर्षे समागच्छ मया सह ॥ ८१ ॥

उनकी ऐसी स्थिति देख वह बहुत दुखी हो गयी और मुनिसे इस प्रकार बोली—'ब्रह्मन् ! पुरुषको अपने समीप पाकर उसके काम-व्यवहारको छोड़कर और किसी बातसे स्त्रीको धैर्य नहीं रहता । मैं कामसे मोहित होकर आपकी सेवामें आयी हूँ । आप मुझे स्वीकार कीजिये । ब्रह्मर्षे ! आप प्रसन्न हों और मेरे साथ समागम करें ॥ ८०-८१ ॥

उपगूह च मां विप्र कामार्ताहं भृशं त्वयि ।
एतद्धि तव धर्मात्मंस्तपसः पूज्यते फलम् ॥ ८२ ॥

'विप्रवर ! आप मेरा आलिङ्गन कीजिये । मैं आपके प्रति अत्यन्त कामातुर हूँ । धर्मात्मन् ! यही आपकी तपस्याका प्रशस्त फल है ॥ ८२॥

प्रार्थितं दर्शनादेव भजमानां भजस्व माम् ।
मम चेदं धनं सर्वं यच्चान्यदपि पश्यसि ॥ ८३ ॥
प्रभुस्त्वं भव सर्वत्र मयि चैव न संशयः ।
सर्वान् कामान् विधास्यामि रमस्व सहितो मया ॥ ८४ ॥

'मैं आपको देखते ही आपके प्रति अनुरक्त हो गयी हूँ; अतः आप मुझ सेविकाको अपनाइये । मेरा यह सारा धन तथा और जो कुछ आप देख रहे हैं, उस सबके तथा मेरे भी आप ही स्वामी हैं—इसमें संशय नहीं है । आप मेरे साथ रमण कीजिये । मैं आपकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करूँगी ॥

रमणीये वने विप्र सर्वकामफलप्रदे ।
त्वद्वशाहं भविष्यामि रंस्यसे च मया सह ॥ ८५ ॥

'ब्रह्मन् ! सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलको देनेवाले इस रमणीय वनमें मैं आपके अधीन होकर रहूँगी । आप मेरे साथ रमण कीजिये ॥ ८५ ॥

सर्वान् कामानुपाश्नीमो ये दिव्या ये च मानुषाः ।
नातः परं हि नारीणां विद्यते च कदाचन ॥ ८६ ॥
यथा पुरुषसंसर्गः परमेतद्धि नः फलम् ।

'हमलोग यहाँ दिव्य और मनुष्यलोकसम्बन्धी सम्पूर्ण भोगोंका उपभोग करेंगे । स्त्रियोंके लिये पुरुषसंसर्ग जितना प्रिय है, उससे बढ़कर दूसरा कोई फल कदापि प्रिय नहीं होता । यही हमारे लिये सर्वोत्तम फल है ॥ ८६½ ॥

आत्मच्छन्देन वर्तन्ते नार्यो मन्मथचोदिताः ॥ ८७ ॥
न च दह्यन्ति गच्छन्त्यः सुतप्तैरपि पांसुभिः ।

'कामसे प्रेरित हुई नारियाँ सदा अपनी इच्छाके अनुसार बर्ताव करती हैं । कामसे संतप्त होनेपर वे तपी हुई धूलमें भी चलती हैं; परंतु इससे उनके पैर नहीं जलते हैं' ॥८७½॥

अष्टावक्र उवाच

परदारानहं भद्रे न गच्छेयं कथंचन ॥ ८८ ॥
दूषितं धर्मशास्त्रज्ञैः परदाराभिमर्शनम् ।

अष्टावक्र बोले—भद्रे ! मैं परायी स्त्रीके साथ किसी तरह संसर्ग नहीं कर सकता; क्योंकि धर्मशास्त्रके विद्वानोंने परस्त्रीसमागमकी निन्दा की है ॥ ८८½ ॥

भद्रे निवेष्टुकामं मां विद्धि सत्येन वै शपे ॥ ८९ ॥
विषयेष्वनभिज्ञोऽहं धर्मार्थं किल संततिः ।
एवं लोकान् गमिष्यामि पुत्रैरिति न संशयः ॥ ९० ॥
भद्रे धर्मं विजानीहि ज्ञात्वा चोपरमस्व ह ।

भद्रे ! मैं सत्यकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि एक मनोनीत मुनिकुमारीके साथ विवाह करना चाहता हूँ । तुम इसे ठीक समझो । मैं विषयोंसे अनभिज्ञ हूँ । केवल धर्मके लिये संतानकी प्राप्ति मुझे अभीष्ट है; अतः यही मेरे विवाहका उद्देश्य है । ऐसा होनेपर मैं पुत्रोंद्वारा अभीष्ट लोकोंमें जाऊँगा । इसमें संशय नहीं है । भद्रे ! तुम धर्मको समझो और उसे समझकर इस स्वेच्छाचारसे निवृत्त हो जाओ ॥ ८९-९०½ ॥

स्त्र्युवाच

नानिलोऽग्निर्न वरुणो न चान्ये त्रिदशा द्विज ॥ ९१ ॥
प्रियाः स्त्रीणां यथा कामो रतिशीला हि योषितः ।
सहस्रे किल नारीणां प्राप्येतैका कदाचन ॥ ९२ ॥
तथा शतसहस्रेषु यदि काचित् पतिव्रता ।

स्त्री बोली—ब्रह्मन् ! वायु, अग्नि, वरुण तथा अन्य देवता भी स्त्रियोंको वैसे प्रिय नहीं हैं, जैसा उन्हें काम प्रिय लगता है; क्योंकि स्त्रियाँ स्वभावतः रतिकी इच्छुक होती हैं । सहस्रों नारियोंमें कभी कोई एक ऐसी स्त्री मिलती है, जो

रतिलोलुप न हो तथा लाखों स्त्रियोंमें शायद ही कोई एक पतिव्रता मिल सके !! ९१-९२½ ॥

नैता जानन्ति पितरं न कुलं न च मातरम् ॥ ९३ ॥
न भ्रातॄन् न च भर्तारं न च पुत्रान् न देवरान् ।
लीलायन्त्यः कुलं घ्नन्ति कूलानीव सरिद्वराः ।
दोषान् सर्वांश्च मत्वाऽऽशु प्रजापतिरभाषत ॥ ९४ ॥

ये स्त्रियाँ न पिताको जानती हैं न माताको, न कुलको समझती हैं न भाइयोंको । पति, पुत्र तथा देवरोंकी भी ये परवा नहीं करती हैं । अपने लिये रतिकी इच्छा रखकर ये समस्त कुलकी मर्यादाका नाश कर डालती हैं, ठीक उसी तरह जैसे बड़ी-बड़ी नदियाँ अपने तटोंको ही तोड़-फोड़ देती हैं । इन सब दोषोंको समझकर ही प्रजापतिने स्त्रियोंके विषयमें उपर्युक्त बातें कही हैं ॥ ९३-९४ ॥

भीष्म उवाच

ततः स ऋषिरेकाग्रस्तां स्त्रियं प्रत्यभाषत ।
आस्यतां रुचितश्छन्दः किं च कार्यं ब्रवीहि मे ॥ ९५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब ऋषिने एकाग्रचित्त होकर उस स्त्रीसे कहा—'चुप रहो । मनमें भोगकी रुचि होनेपर स्वेच्छाचार होता है । मेरी रुचि नहीं है, अतः मुझसे यह काम नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त यदि मुझसे कोई काम हो तो बताओ' ॥ ९५ ॥

सा स्त्री प्रोवाच भगवन् द्रक्ष्यसे देशकालतः ।
वस तावन्महाभाग कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ ९६ ॥

उस स्त्रीने कहा—'भगवन् ! महाभाग ! देश और कालके अनुसार आपको अनुभव हो जायगा । आप यहाँ रहिये, कृतकृत्य हो जाइयेगा' ॥ ९६ ॥

ब्रह्मर्षिस्तामथोवाच स तथेति युधिष्ठिर ।
वत्स्येऽहं यावदुत्साहो भवत्या नात्र संशयः ॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर ! तब ब्रह्मर्षिने उससे कहा—'ठीक है, जबतक मेरे मनमें यहाँ रहनेका उत्साह होगा, तबतक आपके साथ रहूँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ९७ ॥

अथर्षिरभिसम्प्रेक्ष्य स्त्रियं तां जरयार्दिताम् ।
चिन्तां परमिकां भेजे संतप्त इव चाभवत् ॥ ९८ ॥

इसके बाद ऋषि उस स्त्रीको जरावस्थासे पीड़ित देख बड़ी चिन्तामें पड़ गये और संतप्त-से हो उठे ॥ ९८ ॥

यद् यदङ्गं हि सोऽपश्यत् तस्या विप्रर्षभस्तदा ।
नारमत् तत्र तत्रास्य दृष्टी रूपविरागिता ॥ ९९ ॥

विप्रवर अष्टावक्र उसका जो-जो अङ्ग देखते थे, वहाँ-वहाँ उनकी दृष्टि रमती नहीं थी, अपितु उसके रूपसे विरक्त हो उठती थी ॥ ९९ ॥

देवतेयं गृहस्यास्य शापात् किं नु विरूपिता ।
अस्याश्च कारणं वेत्तुं न युक्तं सहसा मया ॥१००॥

वे सोचने लगे 'यह नारी तो इस घरकी अधिष्ठात्री देवी है । फिर इसे इतना कुरूप किसने बना दिया ? इसकी कुरूपताका कारण क्या है ? इसे किसीका शाप तो नहीं लग गया । इसकी कुरूपताका कारण जाननेके लिये सहसा चेष्टा करना मेरे लिये उचित नहीं है' ॥ १०० ॥

इति चिन्ताविविक्तस्य तमर्थं ज्ञातुमिच्छतः ।
व्यगच्छत् तदहःशेषं मनसा व्याकुलेन तु ॥१०१॥

इस प्रकार व्याकुल चित्तसे एकान्तमें बैठकर चिन्ता करते और उसकी कुरूपताका कारण जाननेकी इच्छा रखते हुए महर्षिका वह सारा दिन बीत चला ॥ १०१ ॥

अथ सा स्त्री तथोवाच भगवन् पश्य वै रवेः ।
रूपं संध्याभ्रसंरक्तं किमुपस्थाप्यतां तव ॥१०२॥

तब उस स्त्रीने कहा—'भगवन् ! देखिये, सूर्यका रूप संध्याकी लालीसे लाल हो गया है । इस समय आपके लिये कौन-सी वस्तु प्रस्तुत की जाय ?' ॥ १०२ ॥

स उवाच ततस्तां स्त्रीं स्नानोदकमिहानय ।
उपासिष्ये ततः संध्यां वाग्यतो नियतेन्द्रियः ॥१०३॥

तब ऋषिने उस स्त्रीसे कहा—'मेरे नहानेके लिये यहाँ जल ले आओ । स्नानके पश्चात् मैं मौन होकर इन्द्रियसंयमपूर्वक संध्योपासना करूँगा' ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टावक्रदिक्संवादे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अष्टावक्र और उत्तर दिशाका संवादविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १०५ श्लोक हैं)

विंशोऽध्यायः

अष्टावक्र और उत्तर दिशाका संवाद

भीष्म उवाच

अथ सा स्त्री तमुवाच बाढमेवं भवत्विति ।
तैलं दिव्यमुपादाय स्नानशाटीमुपानयत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऋषिकी बात सुनकर उस स्त्रीने कहा—'बहुत अच्छा, ऐसा ही हो' यों कहकर वह दिव्य तेल और स्नानोपयोगी वस्त्र ले आयी ॥ १ ॥

अनुज्ञाता च मुनिना सा स्त्री तेन महात्मना ।
अथास्य तैलेनाङ्गानि सर्वाण्येवाभ्यमृक्षत ॥ २ ॥

फिर उन महात्मा मुनिकी आज्ञा लेकर उस स्त्रीने उनके सारे अङ्गोंमें तेलकी मालिश की ॥ २ ॥

शनैश्चोत्सादितस्तत्र स्नानशालामुपागमत्।
भद्रासनं ततश्चित्रमृषिरन्वगमन्नवम् ॥ ३ ॥

फिर उसके उठानेपर वे धीरेसे वहाँ स्नानगृहमें गये। वहाँ ऋषिको एक विचित्र एवं नूतन चौकी प्राप्त हुई ॥ ३ ॥

अथोपविष्टश्च यदा तस्मिन् भद्रासने तदा।
स्नापयामास शनकैस्तमृषिं सुखहस्तवत् ॥ ४ ॥

जब वे उस सुन्दर चौकीपर बैठ गये, तब उस स्त्रीने धीरे-धीरे हाथोंके कोमल स्पर्शसे उन्हें नहलाया ॥ ४ ॥

दिव्यं च विधिवच्चक्रे सोपचारं मुनेस्तदा।
स तेन सुसुखोष्णेन तस्या हस्तसुखेन च ॥ ५ ॥
व्यतीतां रजनीं कृत्स्नां नाजानात् स महाव्रतः।

उसने मुनिके लिये विधिपूर्वक सम्पूर्ण दिव्य सामग्री प्रस्तुत की। वे महाव्रतधारी मुनि उसके दिये हुए कुछ-कुछ गरम होनेके कारण सुखदायक जलसे नहाकर उसके हाथोंके सुखद स्पर्शसे सेवित होकर इतने आनन्दविभोर हो गये कि कब सारी रात बीत गयी ? इसका उन्हें ज्ञान ही नहीं हुआ ॥ ५½ ॥

तत उत्थाय स मुनिस्तदा परमविस्मितः ॥ ६ ॥
पूर्वस्यां दिशि सूर्यं च सोऽपश्यदुदितं दिवि।
तस्य बुद्धिरियं किं नु मोहस्तत्त्वमिदं भवेत् ॥ ७ ॥

तदनन्तर वे मुनि अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर उठ बैठे। उन्होंने देखा कि पूर्व-दिशाके आकाशमें सूर्यदेवका उदय हो गया है। वे सोचने लगे, क्या यह मेरा मोह है या वास्तवमें सूर्योदय हो गया है ॥ ६-७ ॥

अथोपास्य सहस्रांशुं किं करोमीत्युवाच ताम्।
सा चामृतरसप्रख्यं ऋषेरन्नमुपाहरत् ॥ ८ ॥

फिर तो तत्काल स्नान, संध्योपासना और सूर्योपस्थान करके उससे बोले, 'अब क्या करूँ ?' तब उस स्त्रीने ऋषिके समक्ष अमृतरसके समान मधुर अन्न परोसकर रक्खा ॥ ८ ॥

तस्य स्वादुतयान्नस्य न प्रभूतं चकार सः।
व्यगमच्चाप्यहःशेषं ततः संध्यागमत् पुनः ॥ ९ ॥

उस अन्नके स्वादसे वे इतने आकृष्ट हो गये कि उसे पर्याप्त न मान सके—'बस अब पूरा हो गया' यह बात न कह सके। इसीमें सारा दिन निकल गया और पुनः संध्याकाल आ पहुँचा ॥ ९ ॥

अथ सा स्त्री भगवन्तं सुप्यतामित्यचोदयत्।
तत्र वै शयने दिव्ये तस्य तस्याश्च कल्पिते ॥ १० ॥

इसके बाद उस स्त्रीने भगवान् अष्टावक्रसे कहा—'अब आप सो जाइये।' फिर वहीं उनके और उस स्त्रीके लिये दो शय्याएँ बिछायी गयीं ॥ १० ॥

पृथक् चैव तथा सुप्तौ सा स्त्री स च मुनिस्तदा।
तथार्धरात्रे सा स्त्री तु शयनं तदुपागमत् ॥ ११ ॥

उस समय वह स्त्री और मुनि दोनों अलग-अलग सो गये। जब आधी रात हुई, तब वह स्त्री उठकर मुनिकी शय्यापर आ बैठी ॥ ११ ॥

अष्टावक्र उवाच

न भद्रे परदारेषु मनो मे सम्प्रसज्जति।
उत्तिष्ठ भद्रे भद्रं ते स्वयं वै विरमस्व च ॥ १२ ॥

अष्टावक्र बोले—भद्रे ! मेरा मन परायी स्त्रियोंमें आसक्त नहीं होता है। तुम्हारा भला हो, यहाँसे उठो और स्वयं ही इस पापकर्मसे विरत हो जाओ ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

सा तदा तेन विप्रेण तथा तेन निवर्तिता।
स्वतन्त्रास्मीत्युवाचर्षिं न धर्मच्छलमस्ति ते ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार उन ब्रह्मर्षिके लौटानेपर उसने कहा—'मैं स्वतन्त्र हूँ; अतः मेरे साथ समागम करनेसे आपके धर्मकी छलना नहीं होगी' ॥ १३ ॥

अष्टावक्र उवाच

नास्ति स्वतन्त्रता स्त्रीणामस्वतन्त्रा हि योषितः।
प्रजापतिमतं ह्येतन्न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १४ ॥

अष्टावक्र बोले—भद्रे ! स्त्रियोंकी स्वतन्त्रता नहीं सिद्ध होती; क्योंकि वे परतन्त्र मानी गयी हैं। प्रजापतिका यह मत है कि स्त्री स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है ॥ १४ ॥

स्त्र्युवाच

बाधते मैथुनं विप्र मम भक्तिं च पश्य वै।
अधर्मं प्राप्स्यसे विप्र यन्मां त्वं नाभिनन्दसि ॥ १५ ॥

स्त्री बोली—ब्रह्मन् ! मुझे मैथुनकी भूख सता रही है। आपके प्रति जो मेरी भक्ति है, इसपर भी तो दृष्टिपात कीजिये। विप्रवर ! यदि आप मुझे संतुष्ट नहीं करते हैं तो आपको पाप लगेगा ॥ १५ ॥

अष्टावक्र उवाच

हरन्ति दोषजातानि नरं जातं यथेच्छकम्।
प्रभवामि सदा धृत्या भद्रे स्वशयनं व्रज ॥ १६ ॥

अष्टावक्रने कहा—भद्रे ! स्वेच्छाचारी मनुष्यको ही सब प्रकारके पापसमूह अपनी ओर खींचते हैं। मैं धैर्यके द्वारा सदा अपने मनको काबूमें रखता हूँ; अतः तुम अपनी शय्यापर लौट जाओ ॥ १६ ॥

स्त्र्युवाच

शिरसा प्रणमे विप्र प्रसादं कर्तुमर्हसि।
भूमौ निपतमानायाः शरणं भव मेऽनघ ॥ १७ ॥

स्त्री बोली—अनघ ! विप्रवर ! मैं सिर झुकाकर प्रणाम करती हूँ और आपके सामने पृथ्वीपर पड़ी हूँ। आप मुझपर कृपा करें और मुझे शरण दें ॥ १७ ॥

यदि वा दोषजातं त्वं परदारेषु पश्यसि।
आत्मानं स्पर्शयाम्यद्य पाणिं गृह्णीष्व मे द्विज ॥ १८ ॥

ब्रह्मन् ! यदि आप परायी स्त्रियोंके साथ समागममें दोष देखते हैं तो मैं स्वयं आपको अपना दान करती हूँ । आप मेरा पाणिग्रहण कीजिये ॥ १८ ॥

न दोषो भविता चैव सत्येनैतद् ब्रवीम्यहम् ।
स्वतन्त्रां मां विजानीहि योऽधर्मः सोऽस्तु वै मयि ।
त्वय्यावेशितचित्ता च स्वतन्त्रास्मि भजस्व माम् ॥ १९ ॥

मैं सच कहती हूँ, आपको कोई दोष नहीं लगेगा । आप मुझे स्वतन्त्र समझिये । इसमें जो पाप होता हो, वह मुझे ही लगे । मेरा चित्त आपके ही चिन्तनमें लगा है । मैं स्वतन्त्र हूँ; अतः मुझे स्वीकार कीजिये ॥ १९ ॥

अष्टावक्र उवाच

स्वतन्त्रा त्वं कथं भद्रे ब्रूहि कारणमत्र वै ।
नास्ति त्रिलोके स्त्री काचिद् या वै स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ २० ॥

अष्टावक्रने कहा—भद्रे ! तुम स्वतन्त्र कैसे हो ? इसमें जो कारण हो, वह बताओ ! तीनों लोकोंमें कोई ऐसी स्त्री नहीं है, जो स्वतन्त्र रहने योग्य हो ॥ २० ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थाविरे काले नास्ति स्त्रीणां स्वतन्त्रता ॥ २१ ॥

कुमारावस्थामें पिता इसकी रक्षा करते हैं, जवानीमें वह पतिके संरक्षणमें रहती है और बुढ़ापेमें पुत्र उसकी देखभाल करते हैं । इस प्रकार स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्रता नहीं है ।२१।

स्त्र्युवाच

कौमारं ब्रह्मचर्यं मे कन्यैवास्मि न संशयः ।
पत्नीं कुरुष्व मां विप्र श्रद्धां विजहि मा मम ॥ २२ ॥

स्त्री बोली—विप्रवर ! मैं कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचारिणी हूँ; अतः कन्या ही हूँ—इसमें संशय नहीं है । अब आप मुझे पत्नी बनाइये । मेरी श्रद्धाका नाश न कीजिये ॥

अष्टावक्र उवाच

यथा मम तथा तुभ्यं यथा तुभ्यं तथा मम ।
जिज्ञासेयमृषेस्तस्य विघ्नः सत्यं न किं भवेत् ॥ २३ ॥

अष्टावक्रने कहा—जैसी मेरी दशा है, वैसी तुम्हारी है और जैसी तुम्हारी दशा है, वैसी मेरी है । यह वास्तवमें वदान्य ऋषिके द्वारा परीक्षा ली जा रही है या सचमुच यह कोई विघ्न तो नहीं है ? ॥ २३ ॥

आश्चर्यं परमं हीदं किं नु श्रेयो हि मे भवेत् ।
दिव्याभरणवस्त्रा हि कन्येयं मामुपस्थिता ॥ २४ ॥

(वे मन-ही-मन सोचने लगे—) यह पहले वृद्धा थी और अब दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्यारूप होकर मेरी सेवामें उपस्थित है । यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है । क्या यह मेरे लिये कल्याणकारी होगा ? ॥ २४ ॥

किं त्वस्याः परमं रूपं जीर्णमासीत् कथं पुनः ।
कन्यारूपमिहाद्यैवं किमिवात्रोत्तरं भवेत् ॥ २५ ॥

परंतु इसका यह परम सुन्दर रूप पहले जराजीर्ण कैसे हो गया था और अब यहाँ यह कन्यारूप कैसे प्रकट हो गया ? ऐसी दशामें यहाँ उसके लिये क्या उत्तर हो सकता है ? ॥

यथा परं शक्तिधृतेर्न व्युत्थास्ये कथंचन ।
न रोचते हि व्युत्थानं सत्येनासादयाम्यहम् ॥ २६ ॥

मुझमें कामको दमन करनेकी शक्ति है और पूर्वप्राप्त मुनि-कन्याको किसी तरह भी प्राप्त करनेका धैर्य बना हुआ है । इस शक्ति और धृतिके ही सहारे मैं किसी तरह विचलित नहीं होऊँगा । मुझे धर्मका उल्लङ्घन अच्छा नहीं लगता है । मैं सत्यके सहारेसे ही पत्नीको प्राप्त करूँगा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टावक्रदिक्संवादे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अष्टावक्र और उत्तरदिशाका संवादविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

अष्टावक्र और उत्तरदिशाका संवाद, अष्टावक्रका अपने घर लौटकर वदान्य ऋषिकी कन्याके साथ विवाह करना

युधिष्ठिर उवाच

न बिभेति कथं सा स्त्री शापाच्च परमद्युतेः ।
कथं निवृत्तो भगवांस्तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! वह स्त्री उन महातेजस्वी ऋषिके शापसे डरती कैसे नहीं थी ? और वे भगवान् अष्टावक्र किस तरह वहाँसे लौटे थे ? यह सब मुझे बताइये ॥

भीष्म उवाच

अष्टावक्रोऽन्वपृच्छत् तां रूपं विकुरुषे कथम् ।
न चानृतं ते वक्तव्यं ब्रूहि ब्राह्मणकाम्यया ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! सुनो, अष्टावक्रने उस स्त्रीसे पूछा, 'तुम अपना रूप बदलती क्यों रहती हो ? बताओ, यदि मुझ-जैसे ब्राह्मणसे सम्मान पानेकी इच्छा हो तो झूठ न बोलना' ॥ २ ॥

स्त्र्युवाच

द्यावापृथिव्योर्यत्रैषा काम्या ब्राह्मणसत्तम ।
शृणुष्वावहितः सर्वं यदिदं सत्यविक्रम ॥ ३ ॥

स्त्री बोली—ब्राह्मणशिरोमणे ! स्वर्गलोक हो या मर्त्यलोक, जिस किसी भी स्थानमें स्त्री और पुरुष निवास करते हैं, वहाँ उनमें परस्पर संयोगकी यह कामना सदा बनी रहती है । सत्यपराक्रमी विप्र ! यह सब जो रूपपरिवर्तनकी लीला की गयी है, उसका कारण बताती हूँ, सावधान होकर सुनिये ॥ ३ ॥

जिज्ञासेयं प्रयुक्ता मे स्थिरीकर्तुं तवानघ ।
अभ्युत्थानेन ते लोका जिताः सत्यपराक्रम ॥ ४ ॥

निर्दोष ब्राह्मण ! आपको दृढ़ करनेके लिये आपकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे ही मैंने यह कार्य किया है । सत्यपराक्रमी द्विज ! आपने अपने धर्मसे विचलित न होकर समस्त पुण्यलोकोंको जीत लिया है ॥ ४ ॥

उत्तरां मां दिशं विद्धि दृष्टं स्त्रीचापलं च ते ।
स्थविराणामपि स्त्रीणां बाधते मैथुनज्वरः ॥ ५ ॥

आप मुझे उत्तरदिशा समझें । स्त्रीमें कितनी चपलता होती है—यह आपने प्रत्यक्ष देखा है । बूढ़ी स्त्रियोंको भी मैथुनके लिये होनेवाला कामजनित संताप कष्ट देता रहता है ॥ ५ ॥

(अविश्वासान्न व्यसनी नातिसक्तोऽप्रवासकः ।
विद्वान् सुशीलः पुरुषः सदारः सुखमश्नुते ॥)

जो कहीं भी विश्वास न करनेके कारण किसी व्यसनमें नहीं फँसता, कहीं भी अधिक आसक्त नहीं होता, परदेशमें नहीं रहता तथा जो विद्वान् और सुशील है, वही पुरुष स्त्रीके साथ रहकर सुख भोगता है ॥

तुष्टः पितामहस्तेऽद्य तथा देवाः सवासवाः ।
स त्वं येन च कार्येण सम्प्राप्तो भगवानिह ॥ ६ ॥
प्रेषितस्तेन विप्रेण कन्यापित्रा द्विजर्षभ ।
तवोपदेशं कर्तुं वै तच्च सर्वं कृतं मया ॥ ७ ॥

आज आपके ऊपर ब्रह्माजी तथा इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता संतुष्ट हैं । भगवन् द्विजश्रेष्ठ ! आप यहाँ जिस कार्यसे आये हैं, वह सफल हो गया । उस कन्याके पिता वदान्य ऋषिने मेरे पास आपको उपदेश देनेके लिये भेजा था । वह सब मैंने कर दिया ॥ ६-७ ॥

क्षेमैर्गमिष्यसि गृहं श्रमश्च न भविष्यति ।
कन्यां प्राप्स्यसि तां विप्र पुत्रिणी च भविष्यति ॥ ८ ॥

विप्रवर ! अब आप कुशलपूर्वक अपने घरको जायँगे और मार्गमें आपको कोई श्रम अथवा कष्ट नहीं होगा । उस मनोनीत कन्याको आप प्राप्त कर लेंगे और आपके द्वारा वह पुत्रवती भी होगी ही ॥ ८ ॥

काम्यया पृष्टवांस्त्वं मां ततो व्याहृतमुत्तमम् ।
अनतिक्रमणीया सा कृत्स्नैर्लोकैस्त्रिभिः सदा ॥ ९ ॥

आपने जाननेकी इच्छासे मुझसे यह बात पूछी थी, इसलिये मैंने अच्छे ढंगसे सब कुछ बता दिया । तीनों लोकोंके सम्पूर्ण निवासियोंके लिये भी ब्राह्मणकी आज्ञा कदापि उल्लङ्घनीय नहीं होती ॥ ९ ॥

गच्छस्व सुकृतं कृत्वा किं चान्यच्छ्रोतुमिच्छसि ।
यावद् ब्रवीमि विप्रर्षे अष्टावक्र यथातथम् ॥ १० ॥

ब्रह्मर्षि अष्टावक्र ! आप पुण्यका उपार्जन करके जाइये । और क्या सुनना चाहते हैं ? कहिये, मैं वह सब कुछ यथार्थरूपसे बताऊँगी ॥ १० ॥

ऋषिणा प्रसादिता चास्मि तव हेतोर्द्विजर्षभ ।
तस्य सम्माननार्थं मे त्वयि वाक्यं प्रभाषितम् ॥ ११ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! वदान्य मुनिने आपके लिये मुझे प्रसन्न किया था; अतः उनके सम्मानके लिये ही मैंने ये सारी बातें कही हैं ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

श्रुत्वा तु वचनं तस्याः स विप्रः प्राञ्जलिः स्थितः ।
अनुज्ञातस्तया चापि स्वगृहं पुनराव्रजत् ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! उस स्त्रीकी बात सुनकर विप्रवर अष्टावक्र उसके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये । फिर उसकी आज्ञा ले पुनः अपने घरको लौट आये ॥ १२ ॥

गृहमागत्य विश्रान्तः स्वजनं परिपृच्छ्य च ।
अभ्यगच्छच्च तं विप्रं न्यायतः कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन ! घर आकर उन्होंने विश्राम किया और स्वजनोंसे पूछकर वे न्यायानुसार फिर ब्राह्मण वदान्यके घर गये ॥

पृष्टश्च तेन विप्रेण दृष्टं त्वेतन्निदर्शनम् ।
प्राह विप्रं तदा विप्रः सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ १४ ॥

ब्राह्मणने उनकी यात्राके विषयमें पूछा, तब उन्होंने प्रसन्नचित्तसे जो कुछ वहाँ देखा था, सब बताना आरम्भ किया—॥ १४ ॥

भवता समनुज्ञातः प्रस्थितो गन्धमादनम् ।
तस्य चोत्तरतो देशे दृष्टं मे दैवतं महत् ॥ १५ ॥
तया चाहमनुज्ञातो भवांश्चापि प्रकीर्तितः ।
श्रावितश्चापि तद्वाक्यं गृहं चाभ्यागतः प्रभो ॥ १६ ॥

'महर्षे ! आपकी आज्ञा पाकर मैं उत्तर दिशामें गन्धमादनपर्वतकी ओर चल दिया । उससे भी उत्तर जानेपर मुझे एक महती देवीका दर्शन हुआ । उसने मेरी परीक्षा ली और आपका भी परिचय दिया । प्रभो ! फिर उसने अपनी बात सुनायी और उसकी आज्ञा लेकर मैं अपने घर आ गया' ॥ १५-१६ ॥

तमुवाच तदा विप्रः सुतां प्रतिगृहाण मे ।
नक्षत्रविधियोगेन पात्रं हि परमं भवान् ॥ १७ ॥

तब ब्राह्मण वदान्यने कहा—'आप उत्तम नक्षत्रमें विधिपूर्वक मेरी पुत्रीका पाणिग्रहण कीजिये; क्योंकि आप अत्यन्त सुयोग्य पात्र हैं' ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

अष्टावक्रस्तथेत्युक्त्वा प्रतिगृह्य च तां प्रभो।
कन्यां परमधर्मात्मा प्रीतिमांश्चाभवत् तदा ॥ १८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—प्रभो! तदनन्तर 'तथास्तु' कहकर परम धर्मात्मा अष्टावक्रने उस कन्याका पाणिग्रहण किया। इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १८ ॥

कन्यां तां प्रतिगृह्यैव भार्यां परमशोभनाम्।
उवास मुदितस्तत्र स्वाश्रमे विगतज्वरः ॥ १९ ॥

उस परम सुन्दरी कन्याका पत्नीरूपमें दान पाकर अष्टावक्र मुनिकी सारी चिन्ता दूर हो गयी और वे अपने आश्रममें उसके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टावक्रदिक्संवादे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अष्टावक्र और उत्तरदिशाका संवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २० श्लोक हैं)

द्वाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके विविध धर्मयुक्त प्रश्नोंका उत्तर तथा श्राद्ध और दानके उत्तम पात्रोंका लक्षण

[मार्कण्डेयजीके द्वारा विविध प्रश्न और नारदजीके द्वारा उनका उत्तर]

युधिष्ठिर उवाच

पुत्रैः कथं महाराज पुरुषस्तारितो भवेत्।
यावन्न लब्धवान् पुत्रमफलः पुरुषो नृप ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नरेश्वर! महाराज! पुत्रोंद्वारा पुरुषका कैसे उद्धार होता है? जबतक पुत्रकी प्राप्ति न हो, तबतक पुरुषका जीवन निष्फल क्यों माना जाता है? ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदेन पुरा गीतं मार्कण्डेयाय पृच्छते ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है। पूर्वकालमें मार्कण्डेय-के पूछनेपर देवर्षि नारदने जो उपदेश दिया था, उसीका इस इतिहासमें उल्लेख हुआ है ॥

पर्वतं नारदं चैवमसितं देवलं च तम्।
आरुणेयं च रैभ्यं च एतानत्रागतान् पुरा ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये भोगवत्याः समागमे।
दृष्ट्वा पूर्वं समासीनान् मार्कण्डेयोऽभ्यगच्छत ॥

पहलेकी बात है, गङ्गा-यमुनाके मध्यभागमें जहाँ भोग-वतीका समागम हुआ है, वहीं पर्वत, नारद, असित, देवल, आरुणेय और रैभ्य—ये ऋषि एकत्र हुए थे। इन सब ऋषि-योंको वहाँ पहलेसे विराजमान देख मार्कण्डेयजी भी गये ॥

ऋषयस्तु मुनिं दृष्ट्वा समुत्थायोन्मुखाः स्थिताः।
अर्चयित्वार्हतो विप्रं किं कुर्म इति चाब्रुवन् ॥

ऋषियोंने जब मुनिको आते देखा, तब वे सब-के-सब उठ-कर उनकी ओर मुख करके खड़े हो गये और उन ब्रह्मर्षिकी उन-के योग्य पूजा करके सबने पूछा—'हम आपकी क्या सेवा करें?' ॥

मार्कण्डेय उवाच

अयं समागमः सद्भिर्यत्नेनासादितो मया।
अत्र प्राप्स्यामि धर्माणामाचारस्य च निश्चयम् ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—मैंने बड़े यत्नसे सत्पुरुषोंका यह सङ्ग प्राप्त किया है। मुझे आशा है, यहाँ धर्म और आचारका निर्णय प्राप्त होगा ॥

ऋजुः कृतयुगे धर्मस्तस्मिन् क्षीणे विमुह्यति।
युगे युगे महर्षिभ्यो धर्ममिच्छामि वेदितुम् ॥

सत्ययुगमें धर्मका अनुष्ठान सरल होता है। उस युगके समाप्त हो जानेपर धर्मका स्वरूप मनुष्योंके मोहसे आच्छन्न हो जाता है; अतः प्रत्येक युगके धर्मका क्या स्वरूप है? इसे मैं आप सब महर्षियोंसे जानना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

ऋषिभिर्नारदः प्रोक्तो ब्रूहि यत्रास्य संशयः।
धर्माधर्मेषु तत्त्वज्ञ त्वं विच्छेत्तासि संशयान् ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तब सब ऋषियोंने मिल-कर नारदजीसे कहा—'तत्त्वज्ञ देवर्षे! मार्कण्डेयजीको जिस विषयमें संदेह है, उसका आप निरूपण कीजिये; क्योंकि धर्म और अधर्मके विषयमें होनेवाले समस्त संशयोंका निवारण करनेमें आप समर्थ हैं' ॥

ऋषिभ्योऽनुमतो वाक्यं नियोगान्नारदोऽब्रवीत्।
सर्वधर्मार्थतत्त्वज्ञं मार्कण्डेयं ततोऽब्रवीत् ॥

ऋषियोंकी यह अनुमति और आदेश पाकर नारदजीने सम्पूर्ण धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले मार्कण्डेयजीसे पूछा ॥

नारद उवाच

दीर्घायो तपसा दीप्त वेदवेदाङ्गतत्त्ववित्।
यत्र ते संशयो ब्रह्मन् समुत्पन्नः स उच्यताम् ॥

नारदजी बोले—तपस्यासे प्रकाशित होनेवाले दीर्घायु मार्कण्डेयजी! आप तो स्वयं ही वेदों और वेदाङ्गोंके तत्त्वको जाननेवाले हैं, तथापि ब्रह्मन्! जहाँ आपको संशय उत्पन्न हुआ हो, वह विषय उपस्थित कीजिये ॥

धर्मं लोकोपकारं वा यच्चान्यच्छ्रोतुमिच्छसि ।
तदहं कथयिष्यामि ब्रूहि त्वं सुमहातपाः ॥

महातपस्वी महर्षे ! धर्म, लोकोपकार अथवा और जिस किसी विषयमें आप सुनना चाहते हों, उसे कहिये । मैं उस विषयका निरूपण करूँगा ॥

मार्कण्डेय उवाच

युगे युगे व्यतीतेऽस्मिन् धर्मसेतुः प्रणश्यति ।
कथं धर्मच्छलेनाहं प्राप्नुयामिति मे मतिः ॥

मार्कण्डेयजी बोले—प्रत्येक युगके बीत जानेपर धर्मकी मर्यादा नष्ट हो जाती है । फिर धर्मके बहानेसे अधर्म करनेपर मैं उस धर्मका फल कैसे प्राप्त कर सकता हूँ ? मेरे मनमें यही प्रश्न उठता है ॥

नारद उवाच

आसीद् धर्मः पुरा विप्र चतुष्पादः कृते युगे ।
ततो ह्यधर्मः कालेन प्रवृत्तः किञ्चिदुन्नतः ॥

नारदजीने कहा—विप्रवर ! पहले सत्ययुगमें धर्म अपने चारों पैरोंसे युक्त होकर सबके द्वारा पालित होता था । तदनन्तर समयानुसार अधर्मकी प्रवृत्ति हुई और उसने अपना सिर कुछ ऊँचा किया ॥

ततस्त्रेतायुगं नाम प्रवृत्तं धर्मदूषणम् ।
तस्मिन् व्यतीते सम्प्राप्तं तृतीयं द्वापरं युगम् ॥
तदा धर्मस्य द्वौ पादावधर्मो नाशयिष्यति ।

तदनन्तर धर्मको अंशतः दूषित करनेवाले त्रेतानामक दूसरे युगकी प्रवृत्ति हुई । जब वह भी बीत गया, तब तीसरे युग द्वापरका पदार्पण हुआ । उस समय धर्मके दो पैरोंको अधर्म नष्ट कर देता है ॥

द्वापरे तु परिक्षीणे नन्दिके समुपस्थिते ॥
लोकवृत्तं च धर्मं च उच्यमानं निबोध मे ।

द्वापरके नष्ट होनेपर जब नन्दिक (कलियुग) उपस्थित होता है, उस समय लोकाचार और धर्मका जैसा स्वरूप रह जाता है, उसे बताता हूँ, सुनिये ॥

चतुर्थं नन्दिकं नाम धर्मः पादावशेषितः ॥
ततः प्रभृति जायन्ते क्षीणप्रज्ञायुषो नराः ।
क्षीणप्राणधना लोके धर्माचारबहिष्कृताः ॥

चौथे युगका नाम है नन्दिक । उस समय धर्मका एक ही पाद (अंश) शेष रह जाता है । तभीसे मन्दबुद्धि और अल्पायु मनुष्य उत्पन्न होने लगते हैं । लोकमें उनकी प्राणशक्ति बहुत कम हो जाती है । वे निर्धन तथा धर्म और सदाचारसे बहिष्कृत होते हैं ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवं विलुलिते धर्मे लोके चाधर्मसंयुते ।
किं चतुर्वर्णनियतं हव्यं कव्यं न नश्यति ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—जब इस प्रकार धर्मका लोप होकर जगत्‌में अधर्म छा जाता है, तब चारों वर्णोंके लिये नियत हव्य और कव्यका नाश क्यों नहीं हो जाता है ? ॥

नारद उवाच

मन्त्रपूतं सदा हव्यं कव्यं चैव न नश्यति ।
प्रतिगृह्णन्ति तद् देवा दातुर्न्यायात् प्रयच्छतः ॥

नारदजीने कहा—वेदमन्त्रसे सदा पवित्र होनेके कारण हव्य और कव्य नहीं नष्ट होते हैं । यदि दाता न्यायपूर्वक उनका दान करते हैं तो देवता और पितर उन्हें सादर ग्रहण करते हैं ॥

सत्त्वयुक्तश्च दाता च सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।
अवाप्तकामः स्वर्गे च महीयेत यथेप्सितम् ॥

जो दाता सात्त्विक भावसे युक्त होता है, वह इस लोकमें सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है । यहाँ आप्तकाम होकर वह स्वर्गमें भी अपनी इच्छाके अनुसार सम्मानित होता है ॥

मार्कण्डेय उवाच

चत्वारो ह्यथ ये वर्णा हव्यं कव्यं प्रदास्यते ।
मन्त्रहीनमवज्ञातं तेषां दत्तं क गच्छति ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—यहाँ जो चार वर्णके लोग हैं, उनके द्वारा यदि मन्त्ररहित और अवहेलनापूर्वक हव्य-कव्यका दान दिया जाय तो उनका वह दान कहाँ जाता है ? ॥

नारद उवाच

असुरान् गच्छते दत्तं विप्रै रक्षांसि क्षत्रियैः ।
वैश्यैः प्रेतानि वै दत्तं शूद्रैर्भूतानि गच्छति ॥

नारदजीने कहा—यदि ब्राह्मणोंने वैसा दान किया है तो वह असुरोंको प्राप्त होता है, क्षत्रियोंने किया है तो उसे राक्षस ले जाते हैं, वैश्योंद्वारा किये गये वैसे दानको प्रेत ग्रहण करते हैं और शूद्रोंद्वारा किया गया अवज्ञापूर्वक दान भूतोंको प्राप्त होता है ॥

मार्कण्डेय उवाच

अथ वर्णावरे जाताश्चातुर्वर्ण्योपदेशिनः ।
दास्यन्ति हव्यकव्यानि तेषां दत्तं क गच्छति ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—जो नीच वर्णमें उत्पन्न होकर चारों वर्णोंको उपदेश देते और हव्य-कव्यका दान देते हैं, उनका दिया हुआ दान कहाँ जाता है ? ॥

नारद उवाच

वर्णावराणां भूतानां हव्यकव्यप्रदातृणाम् ।
नैव देवा न पितरः प्रतिगृह्णन्ति तत् स्वयम् ॥

नारदजीने कहा—जब नीच वर्णके लोग हव्य-कव्यका दान करते हैं, तब उनके उस दानको न देवता ग्रहण करते हैं न पितर ॥

यातुधानाः पिशाचाश्च भूता ये चापि नैर्ऋताः ।

तेषां सा विहिता वृत्तिः पितृदैवतनिर्गता ॥

जो यातुधान, पिशाच, भूत और राक्षस हैं, उन्हींके लिये उस वृत्तिका विधान किया गया है। पितरों और देवताओंने वैसी वृत्तिका परित्याग कर दिया है ॥

तेषां सर्वप्रदातृणां हव्यकव्यं समाहिताः।
यत् प्रयच्छन्ति विधिवत् तद् वै भुञ्जन्ति देवताः॥

जो सब कुछ देनेवाले और उस कर्मके अधिकारी हैं, वे एकाग्रचित्त होकर विधिपूर्वक जो हव्य और कव्य समर्पित करते हैं, उसे देवता और पितर ग्रहण करते हैं ॥

मार्कण्डेय उवाच

श्रुतं वर्णावरैर्दत्तं हव्यं कव्यं च नारद।
सम्प्रयोगे च पुत्राणां कन्यानां च ब्रवीहि मे ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—नारदजी ! नीच वर्णके दिये हुए हव्य और कव्योंकी जो दशा होती है, उसे मैंने सुन ली। अब पुत्रों और कन्याओंके विषयमें एवं इनके संयोगके विषयमें मुझे कुछ बातें बताइये ॥

नारद उवाच

कन्याप्रदानं पुत्राणां स्त्रीणां संयोगमेव च।
आनुपूर्व्यान्मया सम्यगुच्यमानं निबोध मे ॥

नारदजीने कहा—अब मैं कन्या-विवाहके और पुत्रोंके विषयमें एवं स्त्रियोंके संयोगके विषयमें क्रमशः बता रहा हूँ, उसे सुनो ॥

जातमात्रा तु दातव्या कन्यका सदृशे वरे।
काले दत्तासु कन्यासु पिता धर्मेण युज्यते ॥

जो कन्या उत्पन्न हो जाती है; उसे किसी योग्य वरको सौंप देना आवश्यक होता है। यदि ठीक समयपर कन्याओंका दान हो गया तो पिता धर्मफलका भागी होता है ॥

यस्तु पुष्पवतीं कन्यां बान्धवो न प्रयच्छति।
मासि मासि गते बन्धुस्तस्या भ्रौणघ्न्यमाप्नुते ॥

जो भाई-बन्धु रजस्वलावस्थामें पहुँच जानेपर भी कन्याका किसी योग्य वरके साथ विवाह नहीं कर देता, वह उसके एक-एक मास बीतनेपर भ्रूणहत्याके फलका भागी होता है ॥

यस्तु कन्यां गृहे रुन्ध्याद् ग्राम्यैर्भोगैर्विवर्जिताम्।
अवध्यातः स कन्याया बन्धुः प्राप्नोति भ्रूणहाम्॥

जो भाई-बन्धु कन्याको विषय-भोगोंसे वञ्चित करके घरमें रोके रखता है, वह उस कन्याके द्वारा अनिष्ट चिन्तन किये जानेके कारण भ्रूणहत्याके पापका भागी होता है ॥

मार्कण्डेय उवाच

केन मङ्गलकृत्येषु विनियुज्यन्ति कन्यकाः।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वेनेह महामुने ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—महामुने ! किस कारणसे कन्याओंको माङ्गलिक कर्मोंमें नियुक्त किया जाता है ? मैं इस बातको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ ॥

नारद उवाच

नित्यं निवसते लक्ष्मीः कन्यकासु प्रतिष्ठिता।
शोभना शुभयोग्या च पूज्या मङ्गलकर्मसु ॥

नारदजीने कहा—कन्याओंमें सदा लक्ष्मी निवास करती हैं। वे उनमें नित्य प्रतिष्ठित होती हैं; इसलिये प्रत्येक कन्या शोभासम्पन्न, शुभ कर्मके योग्य तथा मङ्गल कर्मोंमें पूजनीय होती है ॥

आकरस्थं यथा रत्नं सर्वकामफलोपगम्।
तथा कन्या महालक्ष्मीः सर्वलोकस्य मङ्गलम् ॥

जैसे खानमें स्थित हुआ रत्न सम्पूर्ण कामनाओं एवं फलोंकी प्राप्ति करानेवाला होता है, उसी प्रकार महालक्ष्मीस्वरूपा कन्या सम्पूर्ण जगत्‌के लिये मङ्गलकारिणी होती है ॥

एवं कन्या परा लक्ष्मी रतिस्तोषश्च देहिनाम्।
महाकुलानां चारित्रं वृत्तेन निकषोपलम् ॥

इस तरह कन्याको लक्ष्मीका सर्वोत्कृष्ट रूप जानना चाहिये। उससे देहधारियोंको सुख और संतोषकी प्राप्ति होती है। वह अपने सदाचारके द्वारा उच्च कुलोंके चरित्रकी कसौटी समझी जाती है ॥

आनयित्वा स्वकाद् वर्णात् कन्यकां यो भजेन्नरः।
दातारं हव्यकव्यानां पुत्रकं या प्रसूयते ॥

जो मनुष्य अपने ही वर्णकी कन्याको विवाहके द्वारा लाकर उसे पत्नीके स्थानपर प्रतिष्ठित करता है, उसकी वह साध्वी पत्नी हव्य-कव्य प्रदान करनेवाले पुत्रको जन्म देती है ॥

साध्वी कुलं वर्धयति साध्वी पुष्टिर्गृहे परा।
साध्वी लक्ष्मी रतिः साक्षात् प्रतिष्ठा संततिस्तथा ॥

साध्वी स्त्री कुलकी वृद्धि करती है। साध्वी स्त्री घरमें परम पुष्टिरूप है तथा साध्वी स्त्री घरकी लक्ष्मी है, रति है, मूर्तिमती प्रतिष्ठा है तथा संतान-परम्पराकी आधार है ॥

मार्कण्डेय उवाच

कानि तीर्थानि भगवन् नृणां देहाश्रितानि वै।
तानि वै शंस भगवन् याथातथ्येन पृच्छतः ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—भगवन् ! मनुष्योंके शरीरमें कौन-कौन-से तीर्थ हैं ? मैं यह जानना चाहता हूँ। अतः आप यथार्थरूपसे मुझे बताइये ॥

नारद उवाच

देवर्षिपितृतीर्थानि ब्राह्मं मध्येऽथ वैष्णवम्।
नृणां तीर्थानि पञ्चाहुः पाणौ संनिहितानि वै ॥

नारदजीने कहा—मनीषी पुरुष कहते हैं, मनुष्योंके हाथमें ही पाँच तीर्थ हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—देवतीर्थ, ऋषितीर्थ, पितृतीर्थ, ब्राह्मतीर्थ और वैष्णवतीर्थ। (अङ्गुलियोंके अग्रभागमें देवतीर्थ है। कनिष्ठा और अनामिका

अङ्गुलिके मूलभागमें आर्षतीर्थ है। इसीको कायतीर्थ और प्राजापत्यतीर्थ भी कहते हैं। अङ्गुष्ठ और तर्जनीके मध्यभागमें पितृतीर्थ है। अङ्गुष्ठके मूलभागमें ब्राह्मतीर्थ है और हथेलीके मध्यभागमें वैष्णवतीर्श है।) ॥

आद्यतीर्थं तु तीर्थानां वैष्णवो भाग उच्यते।
यत्रोपस्पृश्य वर्णानां चतुर्णां वर्धते कुलम् ॥
पितृदैवतकार्याणि वर्धन्ते प्रेत्य चेह च।

हाथमें जो वैष्णवतीर्थका भाग है, उसे सब तीर्थोंमें प्रधान कहा जाता है। जहाँ जल रखकर आचमन करनेसे चारों वर्णोंके कुलकी वृद्धि होती है तथा देवता और पितरोंके कार्यकी इहलोक और परलोकमें वृद्धि होती है ॥

मार्कण्डेय उवाच

धर्मेष्वधिकृतानां तु नराणां मुह्यते मनः।
कथं न विघ्नं भवति एतदिच्छामि वेदितुम् ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—जो धर्मके अधिकारी हैं, ऐसे मनुष्योंका मन कभी-कभी धर्मके विषयमें संशयापन्न हो जाता है। क्या करनेसे उनके धर्माचरणमें विघ्न न पड़े ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥

नारद उवाच

अर्थाश्च नार्यश्च समानमेत-
च्छ्रेयांसि पुंसामिह मोहयन्ति।
रतिप्रमोदात् प्रमदा हरन्ति
भोगैर्धनं चाप्युपहन्ति धर्मान् ॥

नारदजीने कहा—धन और नारी दोनोंकी अवस्था एक-सी है। दोनों ही मनुष्योंको कल्याणके पथपर जानेमें बाधा देते हैं—उन्हें मोहित कर लेते हैं। रतिजनित आमोद-प्रमोदसे स्त्रियाँ मनको हर लेती हैं और धन-भोगोंके द्वारा धर्मको चौपट कर देता है ॥

हव्यं कव्यं च धर्मात्मा सर्वं तच्छ्रोत्रियोऽर्हति।
दत्तं हि श्रोत्रिये साधौ ज्वलिताग्नाविवाहुतिः ॥

धर्मात्मा श्रोत्रिय ब्राह्मण समस्त हव्य और कव्यको पानेका अधिकारी है। श्रेष्ठ श्रोत्रियको दिया हुआ हव्य-कव्य प्रज्वलित अग्निमें डाली हुई आहुतिके समान सफल होता है ॥

भीष्म उवाच

इति सम्भाष्य ऋषिभिर्मार्कण्डेयो महातपाः।
नारदं चापि सत्कृत्य तेन चैवाभिसत्कृतः ॥

भीष्मजी कहते हैं—इस प्रकार ऋषियोंके साथ बातचीत करके महातपस्वी मार्कण्डेयने नारदजीका सत्कार किया और स्वयं भी वे उनके द्वारा सम्मानित हुए ॥

आमन्त्रयित्वा ऋषिभिः प्रययावाश्रमं मुनिः।
ऋषयश्चापि तीर्थानां परिचर्यां प्रचक्रमुः ॥)

तत्पश्चात् ऋषियोंसे विदा लेकर मार्कण्डेय मुनि अपने आश्रमको चले गये तथा वे ऋषि भी तीर्थोंमें भ्रमण करने लगे ॥

[दाक्षिणात्य अध्याय समाप्त]

युधिष्ठिर उवाच

किमाहुर्भरतश्रेष्ठ पात्रं विप्राः सनातनाः।
ब्राह्मणं लिङ्गिनं चैव ब्राह्मणं वाप्यलिङ्गिनम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! प्राचीन ब्राह्मण किसको दानका श्रेष्ठ पात्र बताते हैं ? दण्ड-कमण्डलु आदि चिह्न धारण करनेवाले ब्रह्मचारी ब्राह्मणको अथवा चिह्नरहित गृहस्थ ब्राह्मणको ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

स्ववृत्तिमभिपन्नाय लिङ्गिने चेतराय च।
देयमाहुर्महाराज उभावेतौ तपस्विनौ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज ! जीवन-रक्षाके लिये अपनी वर्णाश्रमोचित वृत्तिका आश्रय लेनेवाले चिह्नधारी या चिह्नरहित किसी भी ब्राह्मणको दान दिया जाना उचित बताया गया है; क्योंकि स्वधर्मका आश्रय लेनेवाले ये दोनों ही तपस्वी एवं दानपात्र हैं ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रद्धया परया पूतो यः प्रयच्छेद् द्विजातये।
हव्यं कव्यं तथा दानं को दोषः स्यात् पितामह ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो केवल उत्कृष्ट श्रद्धासे ही पवित्र होकर ब्राह्मणको हव्य-कव्य तथा अन्य वस्तुका दान देता है, उसे अन्य प्रकारकी पवित्रता न होनेके कारण किस दोषकी प्राप्ति होती है ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

श्रद्धापूतो नरस्तात दुर्दान्तोऽपि न संशयः।
पूतो भवति सर्वत्र किमुत त्वं महाद्युते ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! मनुष्य जितेन्द्रिय न होनेपर भी केवल श्रद्धामात्रसे पवित्र हो जाता है—इसमें संशय नहीं है। महातेजस्वी नरेश ! श्रद्धापूत मनुष्य सर्वत्र पवित्र होता है, फिर तुम-जैसे धर्मात्माके पवित्र होनेमें तो संदेह ही क्या है ? ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवेषु सततं नरः।
कव्यप्रदाने तु बुधाः परीक्ष्यं ब्राह्मणं विदुः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! विद्वानोंका कहना है

कि देवकार्यमें कभी ब्राह्मणकी परीक्षा न करे, किंतु श्राद्धमें अवश्य उसकी परीक्षा करे; इसका क्या कारण है ? ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

न ब्राह्मणः साधयते हव्यं दैवात् प्रसिद्ध्यति।
देवप्रसादादिज्यन्ते यजमानैर्न संशयः ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! यज्ञ-होम आदि देवकार्यकी सिद्धि ब्राह्मणके अधीन नहीं है, वह दैवसे सिद्ध होता है । देवताओंकी कृपासे ही यजमान यज्ञ करते हैं । इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

ब्राह्मणान् भरतश्रेष्ठ सततं ब्रह्मवादिनः।
मार्कण्डेयः पुरा प्राह इति लोकेषु बुद्धिमान् ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीने बहुत पहलेसे ही यह बता रखा है कि श्राद्धमें सदा वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको ही निमन्त्रित करना चाहिये (क्योंकि उसकी सिद्धि सुपात्र ब्राह्मणके ही अधीन है) ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वोऽप्यथवा विद्वान् सम्बन्धी वा यथा भवेत्।
तपस्वी यज्ञशीलो वा कथं पात्रं भवेत् तु सः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—जो अपरिचित, विद्वान्, सम्बन्धी, तपस्वी अथवा यज्ञशील हों, इनमेंसे कौन किस प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न होनेपर श्राद्ध एवं दानका उत्तम पात्र हो सकता है ?॥

भीष्म उवाच

कुलीनः कर्मकृद् वैद्यस्तथैवाप्यानृशंस्यवान्।
ह्रीमानृजुः सत्यवादी पात्रं पूर्वे च ये त्रयः ॥ ९ ॥

भीष्मजीने कहा—कुलीन, कर्मठ, वेदोंके विद्वान्, दयालु, सलज्ज, सरल और सत्यवादी—इन सात प्रकारके गुण-वाले जो पूर्वोक्त तीन (अपरिचित विद्वान्, सम्बन्धी और तपस्वी) ब्राह्मण हैं, वे उत्तम पात्र माने गये हैं ॥ ९ ॥

तत्रेमं शृणु मे पार्थ चतुर्णां तेजसां मतम्।
पृथिव्याः काश्यपस्याग्नेर्मार्कण्डेयस्य चैव हि ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन ! इस विषयमें तुम मुझसे पृथ्वी, काश्यप, अग्नि और मार्कण्डेय—इन चार तेजस्वी व्यक्तियोंका मत सुनो॥

पृथिव्युवाच

यथा महार्णवे क्षिप्तः क्षिप्रं लेष्टुर्विनश्यति।
तथा दुश्चरितं सर्वं त्रिवृत्यां च निमज्जति ॥ ११ ॥

पृथ्वी कहती है—जिस प्रकार महासागरमें फेंका हुआ ढेला तुरंत गलकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह—इन तीन वृत्तियोंसे जीविका चलाने-वाले ब्राह्मणमें सारे दुष्कर्मोंका लय हो जाता है ॥ ११ ॥

काश्यप उवाच

सर्वे च वेदाः सह षड्भिरङ्गैः
सांख्यं पुराणं च कुले च जन्म।
नैतानि सर्वाणि गतिर्भवन्ति
शीलव्यपेतस्य नृप द्विजस्य ॥ १२ ॥

काश्यप कहते हैं—नरेश्वर ! जो ब्राह्मण शीलसे रहित है, उसे छहों अङ्गोंसहित वेद, सांख्य और पुराणका ज्ञान तथा उत्तम कुलमें जन्म—ये सब मिलकर भी उत्तम गति नहीं प्रदान कर सकते ॥ १२ ॥

अग्निरुवाच

अधीयानः पण्डितं मन्यमानो
यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम्।
प्रभ्रश्यतेऽसौ चरते न सत्यं
लोकास्तस्य ह्यन्तवन्तो भवन्ति ॥ १३ ॥

अग्नि कहते हैं—जो ब्राह्मण अध्ययन करके अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानता और अपनी विद्वत्तापर गर्व करने लगता है तथा जो अपनी विद्याके बलसे दूसरोंके यशका नाश करता है, वह धर्मसे भ्रष्ट होकर सत्यका पालन नहीं करता; अतः उसे नाशवान् लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
नाभिजानामि यद्यस्य सत्यस्यार्धमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—यदि तराजूके एक पलड़ेमें एक हजार अश्वमेध-यज्ञको और दूसरेमें सत्यको रखकर तौला जाय तो भी न जाने वे सारे अश्वमेध-यज्ञ इस सत्यके आधेके बराबर भी होंगे या नहीं ? ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा ते जग्मुराशु चत्वारोऽमिततेजसः।
पृथिवी काश्यपोऽग्निश्च प्रकृष्टायुश्च भार्गवः ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार अपना मत प्रकट करके वे चारों अमिततेजस्वी व्यक्ति—पृथ्वी, काश्यप, अग्नि और मार्कण्डेय शीघ्र ही चले गये ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदि ते ब्राह्मणा लोके व्रतिनो भुञ्जते हविः।
दत्तं ब्राह्मणकामाय कथं तत् सुकृतं भवेत् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण श्राद्धमें हविष्यान्नका भोजन करते हैं तो श्रेष्ठ ब्राह्मणकी कामनासे उन्हें दिया हुआ दान कैसे सफल हो सकता है ? ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

आदिष्टिनो ये राजेन्द्र ब्राह्मणा वेदपारगाः।
भुञ्जते ब्रह्मकामाय व्रतलुप्ता भवन्ति ते ॥ १७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! (जिन्हें गुरुने नियत वर्षोंतक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करनेका आदेश दे रखा है, वे आदिष्टी कहलाते हैं ।) ऐसे वेदके पारङ्गत आदिष्टी ब्राह्मण

यदि यजमानकी ब्राह्मणको दान देनेकी इच्छापूर्तिके लिये श्राद्धमें भोजन करते हैं तो उनका अपना ही व्रत नष्ट होता है (इससे दाताका दान दूषित नहीं होता है) * ॥१७॥

युधिष्ठिर उवाच

अनेकान्तं बहुद्वारं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
किंनिमित्तं भवेदत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! विद्वानोंका कहना है कि धर्मके साधन और फल अनेक प्रकारके हैं। पात्रके कौन-से गुण उसकी दानपात्रतामें कारण होते हैं ? यह मुझे बताइये ॥

भीष्म उवाच

अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा ।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥ १९ ॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कोमलता, इन्द्रियसंयम और सरलता—ये धर्मके निश्चित लक्षण हैं ॥ १९ ॥

ये तु धर्मं प्रशंसन्तश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
अनाचरन्तस्तद् धर्मं संकरेऽभिरताः प्रभो ॥ २० ॥

प्रभो ! जो लोग इस पृथ्वीपर धर्मकी प्रशंसा करते हुए घूमते-फिरते हैं; परंतु स्वयं उस धर्मका आचरण नहीं करते, वे ढोंगी हैं और धर्मसंकरता फैलानेमें लगे हैं ॥ २० ॥

तेभ्यो हिरण्यं रत्नं वा गामश्वं वा ददाति यः ।
दश वर्षाणि विष्ठां स भुङ्क्ते निरयमाश्रितः ॥ २१ ॥

ऐसे लोगोंको जो सुवर्ण, रत्न, गौ अथवा अश्व आदि वस्तुओंका दान करता है, वह नरकमें पड़कर दस वर्षोंतक विष्ठा खाता है ॥ २१ ॥

मेदानां पुल्कसानां च तथैवान्तेवसायिनाम् ।
कृतं कर्माकृतं वापि रागमोहेन जल्पताम् ॥ २२ ॥

जो उच्चवर्णके लोग राग और मोहके वशीभूत हो अपने किये अथवा बिना किये शुभ कर्मका जनसमुदायमें वर्णन करते हैं, वे मेद, पुल्कस तथा अन्त्यजोंके तुल्य माने जाते हैं ॥

वैश्वदेवं च ये मूढा विप्राय ब्रह्मचारिणे ।
ददते नेह राजेन्द्र ते लोकान् भुञ्जतेऽशुभान् ॥ २३ ॥

राजेन्द्र ! जो मूढ़ मानव ब्रह्मचारी ब्राह्मणको बलिवैश्वदेवसम्बन्धी अन्न (अतिथियोंको देनेयोग्य हन्तकार) नहीं देते हैं, वे अशुभ लोकोंका उपभोग करते हैं ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं परं ब्रह्मचर्यं च किं परं धर्मलक्षणम् ।
किं च श्रेष्ठतमं शौचं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! उत्तम ब्रह्मचर्य क्या है ? धर्मका सबसे श्रेष्ठ लक्षण क्या है ? तथा सर्वोत्तम पवित्रता किसे कहते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच

ब्रह्मचर्यात् परं तात मधुमांसस्य वर्जनम् ।
मर्यादायां स्थितो धर्मः शमश्चैवास्य लक्षणम् ॥२५॥

भीष्मजीने कहा—तात ! मांस और मदिराका त्याग ब्रह्मचर्यसे भी श्रेष्ठ है—वही उत्तम ब्रह्मचर्य है। वेदोक्त मर्यादामें स्थित रहना सबसे श्रेष्ठ धर्म है तथा मन और इन्द्रियोंको संयममें रखना ही सर्वोत्तम पवित्रता है ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मिन् काले चरेद् धर्मं कस्मिन् कालेऽर्थमाचरेत् ।
कस्मिन् काले सुखी च स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह॥ २६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! मनुष्य किस समय धर्मका आचरण करे ? कब अर्थोपार्जनमें लगे तथा किस समय सुखभोगमें प्रवृत्त हो ? यह मुझे बताइये ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

कल्यमर्थं निषेवेत ततो धर्ममनन्तरम् ।
पश्चात् कामं निषेवेत न च गच्छेत् प्रसङ्गिताम् ॥२७॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! पूर्वाह्णमें धनका उपार्जन करे, तदनन्तर धर्मका और उसके बाद कामका सेवन करे; परंतु काममें आसक्त न हो ॥ २७ ॥

ब्राह्मणांश्चैव मन्येत गुरूंश्चाप्यभिपूजयेत् ।
सर्वभूतानुलोमश्च मृदुशीलः प्रियंवदः ॥ २८ ॥

ब्राह्मणोंका सम्मान करे। गुरुजनोंकी सेवा-पूजामें संलग्न रहे। सब प्राणियोंके अनुकूल रहे। नम्रताका बर्ताव करे और सबसे मीठे वचन बोले ॥ २८ ॥

---

* श्राद्धमें भोजन कराने योग्य ब्राह्मणोंके विषयमें स्मृतियोंमें इस प्रकार उल्लेख मिलता है—'कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्निब्रह्मचारिणः। पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः श्राद्धसम्पदः॥ तथा—'व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत्।' तात्पर्य यह है कि क्रियानिष्ठ, तपस्वी, पञ्चाग्निका सेवन करनेवाले, ब्रह्मचारी तथा पिता-माताके भक्त—ये पाँच प्रकारके ब्राह्मण श्राद्धकी सम्पत्ति हैं। इन्हें भोजन करानेसे श्राद्धकर्मका पूर्णतया सम्पादन होता है।' तथा 'अपनी कन्याका बेटा ब्रह्मचारी हो तो भी यत्नपूर्वक उसे श्राद्धमें भोजन कराना चाहिये।' ऐसा करनेसे श्राद्धकर्ता पुण्यका भागी होता है। केवल श्राद्धमें ही ऐसी छूट दी गयी है। श्राद्धके अतिरिक्त और किसी कर्ममें ब्रह्मचारीको लोभ आदि दिखाकर जो उसके व्रतको भङ्ग करता है, उसे दोषका भागी होना पड़ता है और अपने किये हुए दानका भी पूरा-पूरा फल नहीं मिलता। इसीलिये शास्त्रमें लिखा है कि 'मनसा पात्रमुद्दिश्य जलमध्ये जलं क्षिपेत्। दाता तत्फलमाप्नोति प्रतिग्राही न दोषभाक् ॥' अर्थात् 'यदि किसी सुपात्र (ब्रह्मचारी आदि) को दान देना हो तो उसका मनमें ध्यान करे और उसे दान देनेके उद्देश्यसे हाथमें संकल्पका जल लेकर उसे जलहीमें छोड़ दे। इससे दाताको दानका फल मिल जाता है और दान लेनेवालेको दोषका भागी नहीं होना पड़ता।' यह बात सत्पात्रका आदर करनेके लिये बतायी गयी है। (नीलकण्ठी)

अधिकारे यदनृतं यच्च राजसु पैशुनम्।
गुरोश्चालीककरणं तुल्यं तद् ब्रह्महत्यया ॥ २९ ॥

न्यायका अधिकार पाकर झूठा फैसला देना अथवा न्यायालयमें जाकर झूठ बोलना, राजाओंके पास किसीकी चुगली करना और गुरुके साथ कपटपूर्ण बर्ताव करना—ये तीन ब्रह्महत्याके समान पाप हैं ॥ २९ ॥

प्रहरेन्न नरेन्द्रेषु न हन्याद् गां तथैव च।
भ्रूणहत्यासमं चैव उभयं यो निषेवते ॥ ३० ॥

राजाओंपर प्रहार न करे और गायको न मारे। जो राजा और गौपर प्रहाररूप द्विविध दुष्कर्मका सेवन करता है, उसे भ्रूणहत्याके समान पाप लगता है ॥ ३० ॥

नाग्निं परित्यजेज्जातु न च वेदान् परित्यजेत्।
न च ब्राह्मणमाक्रोशेत् सर्वं तद् ब्रह्महत्यया ॥ ३१ ॥

अग्निहोत्रका कभी त्याग न करे। वेदोंका स्वाध्याय न छोड़े तथा ब्राह्मणकी निन्दा न करे; क्योंकि ये तीनों दोष ब्रह्महत्याके समान हैं ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशाः साधवो विप्राः केभ्यो दत्तं महाफलम्।
कीदृशानां च भोक्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! कैसे ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ समझना चाहिये ? किनको दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला होता है ? तथा कैसे ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये ? यह मुझे बताइये ॥ ३२ ॥

भीष्म उवाच

अक्रोधना धर्मपराः सत्यनित्या दमे रताः।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो क्रोधरहित, धर्मपरायण, सत्यनिष्ठ और इन्द्रियसंयममें तत्पर हैं, ऐसे ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ समझना चाहिये और उन्हींको दान देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है (अतः उन्हींको श्राद्धमें भोजन कराना चाहिये) ॥

अमानिनः सर्वसहा दृढार्था विजितेन्द्रियाः।
सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३४ ॥

जिनमें अभिमानका नाम नहीं है, जो सब कुछ सह लेते हैं, जिनका विचार दृढ़ है, जो जितेन्द्रिय, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितकारी तथा सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाले हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला है ॥ ३४ ॥

अलुब्धाः शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः।
स्वकर्मनिरता ये च तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३५ ॥

जो निर्लोभ, पवित्र, विद्वान्, संकोची, सत्यवादी और अपने कर्तव्यका पालन करनेवाले हैं, उनको दिया हुआ दान भी महान् फलदायक होता है ॥ ३५ ॥

साङ्गांश्च चतुरो वेदानधीते यो द्विजर्षभः।
षड्भ्यः प्रवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः ॥ ३६ ॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण अङ्गोंसहित चारों वेदोंका अध्ययन करता और ब्राह्मणोचित छः कर्मों (अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान-प्रतिग्रह) में प्रवृत्त रहता है, उसे ऋषिलोग दानका उत्तम पात्र समझते हैं ॥ ३६ ॥

ये त्वेवंगुणजातीयास्तेभ्यो दत्तं महाफलम्।
सहस्रगुणमाप्नोति गुणार्हाय प्रदायकः ॥ ३७ ॥

जो ब्राह्मण ऊपर बताये हुए गुणोंसे युक्त होते हैं, उन्हें दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला है। गुणवान् एवं सुयोग्य पात्रको दान देनेवाला दाता सहस्रगुना फल पाता है ॥

प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च समन्वितः।
तारयेत कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजर्षभः ॥ ३८ ॥

यदि उत्तम बुद्धि, शास्त्रकी विद्वत्ता, सदाचार और सुशीलता आदि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न एक श्रेष्ठ ब्राह्मण भी दान स्वीकार कर ले तो वह दाताके सम्पूर्ण कुलका उद्धार कर देता है ॥ ३८ ॥

गामश्वं वित्तमन्नं वा तद्विधे प्रतिपादयेत्।
द्रव्याणि चान्यानि तथा प्रेत्यभावे न शोचति ॥ ३९ ॥

अतः ऐसे गुणवान् पुरुषको ही गाय, घोड़ा, अन्न, धन तथा दूसरे पदार्थ देने चाहिये। ऐसा करनेसे दाताको मरनेके बाद पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता ॥ ३९ ॥

तारयेत कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजोत्तमः।
किमङ्ग पुनरेवैते तस्मात् पात्रं समाचरेत् ॥ ४० ॥
(तृप्ते तृप्ताः सर्वदेवाः पितरो मुनयोऽपि च।)

एक भी उत्तम ब्राह्मण श्राद्धकर्ताके समस्त कुलको तार सकता है। यदि उपर्युक्त बहुत-से ब्राह्मण तार दें इसमें तो कहना ही क्या है। अतः सुपात्रकी खोज करनी चाहिये। उससे तृप्त होनेपर सम्पूर्ण देवता, पितर और ऋषि भी तृप्त हो जाते हैं ॥ ४० ॥

निशम्य च गुणोपेतं ब्राह्मणं साधुसम्मतम्।
दूरादानाय्य सत्कृत्य सर्वतश्चापि पूजयेत् ॥ ४१ ॥

सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित गुणवान् ब्राह्मण यदि कहीं दूर भी सुनायी पड़े तो उसको वहाँसे अपने यहाँ बुलाकर उसका हर प्रकारसे पूजन और सत्कार करना चाहिये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि बहुप्राश्निके द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें बहुत-से प्रश्नोंका निर्णयविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४६ श्लोक मिलाकर कुल ८७ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

देवता और पितरोंके कार्यमें निमन्त्रण देने योग्य पात्रों तथा नरकगामी और स्वर्गगामी मनुष्योंके लक्षणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

श्राद्धकाले च दैवे च पित्र्येऽपि च पितामह ।
इच्छामीह त्वयाऽऽख्यातं विहितं यत् सुरर्षिभिः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! देवता और ऋषियोंने श्राद्धके समय देवकार्य तथा पितृकार्यमें जिस-जिस कर्मका विधान किया है, उसका वर्णन मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

दैवं पौर्वाह्णिकं कुर्यादपराह्णे तु पैतृकम् ।
मङ्गलाचारसम्पन्नः कृतशौचः प्रयत्नवान् ॥ २ ॥
मनुष्याणां तु मध्याह्ने प्रदद्यादुपपत्तिभिः ।
कालहीनं तु यद् दानं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! मनुष्यको चाहिये कि वह स्नान आदिसे शुद्ध हो, माङ्गलिक कृत्य सम्पन्न करके प्रयत्नशील हो पूर्वाह्णमें देव-सम्बन्धी दान, अपराह्णमें पैतृक दान और मध्याह्नकालमें मनुष्यसम्बन्धी दान आदरपूर्वक करे । असमयमें किया हुआ दान राक्षसोंका भाग माना गया है ॥ २-३ ॥

लङ्घितं चावलीढं च कलिपूर्वं च यत् कृतम् ।
रजस्वलाभिदृष्टं च तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ४ ॥

जिस भोज्य पदार्थको किसीने लाँघ दिया हो, चाट लिया हो, जो लड़ाई-झगड़ा करके तैयार किया गया हो तथा जिसपर रजस्वला स्त्रीकी दृष्टि पड़ी हो, उसे भी राक्षसोंका ही भाग माना गया है ॥ ४ ॥

अवघुष्टं च यद् भुक्तमव्रतेन च भारत ।
परामृष्टं शुना चैव तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! जिसके लिये लोगोंमें घोषणा की गयी हो, जिसे व्रतहीन मनुष्यने भोजन किया हो अथवा जो कुत्तेसे छू गया हो, वह अन्न भी राक्षसोंका ही भाग समझा गया है ॥

केशकीटावपतितं क्षुतं श्वभिरवेक्षितम् ।
रुदितं चावधूतं च तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ६ ॥

जिसमें केश या कीड़े पड़ गये हों, जो छींकसे दूषित हो गया हो, जिसपर कुत्तोंकी दृष्टि पड़ गयी हो तथा जो रोकर और तिरस्कारपूर्वक दिया गया हो, वह अन्न भी राक्षसोंका ही भाग माना गया है ॥ ६ ॥

निरोङ्कारेण यद् भुक्तं सशस्त्रेण च भारत ।
दुरात्मना च यद् भुक्तं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! जिस अन्नमेंसे पहले ऐसे व्यक्तिने खा लिया हो, जिसे खानेकी अनुमति नहीं दी गयी है अथवा जिसमेंसे पहले प्रणव आदि वेदमन्त्रोंके अनधिकारी शूद्र आदिने भोजन कर लिया हो अथवा किसी शस्त्रधारी या दुराचारी पुरुषने जिसका उपयोग कर लिया हो, उस अन्नको भी राक्षसोंका ही भाग बताया गया है ॥ ७ ॥

परोच्छिष्टं च यद् भुक्तं परिभुक्तं च यद् भवेत् ।
दैवे पित्र्ये च सततं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ८ ॥

जिसे दूसरोंने उच्छिष्ट कर दिया हो, जिसमेंसे किसीने भोजन कर लिया हो तथा जो देवता, पितर, अतिथि एवं बालक आदिको दिये बिना ही अपने उपभोगमें लाया गया हो, वह अन्न देवकर्म तथा पितृकर्ममें सदा राक्षसोंका ही भाग माना गया है ॥ ८ ॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं यच्छ्राद्धं परिविष्यते ।
त्रिभिर्वर्णैर्नरश्रेष्ठ तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ९ ॥

नरश्रेष्ठ ! तीनों वर्णोंके लोग वैदिक मन्त्र एवं उसके विधि-विधानसे रहित जो श्राद्धका अन्न परोसते हैं, उसे राक्षसोंका ही भाग माना गया है ॥ ९ ॥

आज्याहुतिं विना चैव यत्किंचित् परिविष्यते ।
दुराचारैश्च यद् भुक्तं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ १० ॥
ये भागा रक्षसां प्राप्तास्त उक्ता भरतर्षभ ।

घीकी-आहुति दिये बिना ही जो कुछ परोसा जाता है तथा जिसमेंसे पहले कुछ दुराचारी मनुष्योंको भोजन करा दिया गया हो, वह राक्षसोंका भाग माना गया है । भरतश्रेष्ठ ! अन्नके जो भाग राक्षसोंको प्राप्त होते हैं, उनका वर्णन यहाँ किया गया ॥ १०½ ॥

अत ऊर्ध्वं विसर्गस्य परीक्षां ब्राह्मणे शृणु ॥ ११ ॥
यावन्तः पतिता विप्रा जडोन्मत्तास्तथैव च ।
दैवे वाप्यथ पित्र्ये वा राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १२ ॥

अब दान और भोजनके लिये ब्राह्मणकी परीक्षा करनेके विषयमें जो बात बतायी जाती है, उसे सुनो । राजन् ! जो ब्राह्मण पतित, जड या उन्मत्त हो गये हों, वे देवकार्य या पितृकार्यमें निमन्त्रण पानेके योग्य नहीं हैं ॥ ११-१२ ॥

श्वित्री क्लीबश्च कुष्ठी च तथा यक्ष्महतश्च यः ।
अपस्मारी च यश्चान्धो राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १३ ॥

राजन् ! जिसके शरीरमें सफेद दाग हो, जो कोढ़ी, नपुंसक, राजयक्ष्मासे पीड़ित, मृगीका रोगी और अन्धा हो, ऐसे लोग श्राद्धमें निमन्त्रण पानेके अधिकारी नहीं हैं ॥ १३ ॥

चिकित्सका देवलका वृथा नियमधारिणः ।
सोमविक्रयिणश्चैव राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! चिकित्सक या वैद्य, देवालयके पुजारी, पाखण्डी और सोमरस बेचनेवाले ब्राह्मण निमन्त्रण देने योग्य नहीं हैं ॥

गायना नर्तकाश्चैव प्लवका वादकास्तथा ।
कथका योधकाश्चैव राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १५ ॥

राजन् ! जो गाते-बजाते, नाचते, खेल-कूदकर तमाशा दिखाते, व्यर्थकी बातें बनाते और पहलवानी करते हैं, वे भी निमन्त्रण पानेके अधिकारी नहीं हैं ॥ १५ ॥

होतारो वृषलानां च वृषलाध्यापकास्तथा ।
तथा वृषलशिष्याश्च राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! जो शूद्रोंका यज्ञ कराते, उनको पढ़ाते अथवा स्वयं उनके शिष्य बनकर उनसे शिक्षा लेते या उनकी दासता करते हैं, वे भी निमन्त्रण देने योग्य नहीं हैं ॥ १६ ॥

अनुयोक्ता च यो विप्रो अनुयुक्तश्च भारत ।
नार्हतस्तावपि श्राद्धं ब्रह्मविक्रयिणौ हि तौ ॥ १७ ॥

भरतनन्दन ! जो ब्राह्मण वेतन लेकर पढ़ाता और वेतन देकर पढ़ता है, वे दोनों ही वेदको बेचनेवाले हैं; अतः वे श्राद्धमें सम्मिलित करने योग्य नहीं हैं ॥ १७ ॥

अग्रणीर्यः कृतः पूर्वं वर्णावरपरिग्रहः ।
ब्राह्मणः सर्वविद्योऽपि राजन् नार्हति केतनम् ॥ १८ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण पहले समाजका अगुआ रहा हो और पीछे उसने शूद्र-स्त्रीसे विवाह कर लिया हो, वह ब्राह्मण सम्पूर्ण विद्याओंका ज्ञाता होनेपर भी श्राद्धमें बुलाने योग्य नहीं है ॥ १८ ॥

अनग्नयश्च ये विप्रा मृतनिर्यातकाश्च ये ।
स्तेनाश्च पतिताश्चैव राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! जो ब्राह्मण अग्निहोत्र नहीं करते, जो मुर्दा ढोते, चोरी करते और जो पापोंके कारण पतित हो गये हैं, वे भी श्राद्धमें बुलाने योग्य नहीं हैं ॥ १९ ॥

अपरिज्ञातपूर्वाश्च गणपूर्वाश्च भारत ।
पुत्रिकापूर्वपुत्राश्च श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥ २० ॥

भारत ! जिनके विषयमें पहलेसे कुछ ज्ञात न हो, जो गाँवके अगुआ हों तथा पुत्रिका-धर्मके अनुसार ब्याही गयी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न होकर नानाके घरमें निवास करते हों, ऐसे ब्राह्मण भी श्राद्धमें निमन्त्रण पानेके अधिकारी नहीं हैं ॥ २० ॥

ऋणकर्ता च यो राजन् यश्च वार्धुषिको नरः ।
प्राणिविक्रयवृत्तिश्च राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ २१ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण रुपया-पैसा बढ़ानेके लिये लोगोंको ब्याजपर ऋण देता हो अथवा जो सस्ता अन्न खरीदकर उसे महँगे भावपर बेचता और उसका मुनाफा खाता हो अथवा प्राणियोंके क्रय-विक्रयसे जीविका चलाता हो, ऐसे ब्राह्मण श्राद्धमें बुलाने योग्य नहीं हैं ॥ २१ ॥

स्त्रीपूर्वाः काण्डपृष्ठाश्च यावन्तो भरतर्षभ ।
अजपा ब्राह्मणाश्चैव श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥ २२ ॥

जो स्त्रीकी कमाई खाते हों, वेश्याके पति हों और गायत्री-जप एवं संध्या-वन्दनसे हीन हों, ऐसे ब्राह्मण भी श्राद्धमें सम्मिलित होने योग्य नहीं हैं ॥ २२ ॥

श्राद्धे दैवे च निर्दिष्टो ब्राह्मणो भरतर्षभ ।
दातुः प्रतिग्रहीतुश्च शृणुष्वानुग्रहं पुनः ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! देवयज्ञ और श्राद्धकर्ममें वर्जित ब्राह्मणका निर्देश किया गया। अब दान देने और लेनेवाले ऐसे पुरुषोंका वर्णन करता हूँ, जो श्राद्धमें निषिद्ध होनेपर भी किसी विशेष गुणके कारण अनुग्रहपूर्वक ग्राह्य माने गये हैं। उनके विषयमें सुनो ॥ २३ ॥

चीर्णव्रता गुणैर्युक्ता भवेयुर्येऽपि कर्षकाः ।
सावित्रीज्ञाः क्रियावन्तस्ते राजन् केतनक्षमाः ॥ २४ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण व्रतका पालन करनेवाले, सद्गुणसम्पन्न, क्रियानिष्ठ और गायत्रीमन्त्रके ज्ञाता हों, वे खेती करनेवाले होनेपर भी उन्हें श्राद्धमें निमन्त्रण दिया जा सकता है ॥ २४ ॥

क्षात्रधर्मिणमप्याजौ केतयेत् कुलजं द्विजम् ।
न त्वेव वणिजं तात श्राद्धे च परिकल्पयेत् ॥ २५ ॥

तात ! जो कुलीन ब्राह्मण युद्धमें क्षत्रियधर्मका पालन करता हो, उसे भी श्राद्धमें निमन्त्रित करना चाहिये; परंतु जो वाणिज्य करता हो, उसे कभी श्राद्धमें सम्मिलित न करें ॥ २५ ॥

अग्निहोत्री च यो विप्रो ग्रामवासी च यो भवेत् ।
अस्तेनश्चातिथिज्ञश्च स राजन् केतनक्षमः ॥ २६ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण अग्निहोत्री हो, अपने ही गाँवका निवासी हो, चोरी न करता हो और अतिथिसत्कारमें प्रवीण हो, उसे भी निमन्त्रण दिया जा सकता है ॥ २६ ॥

सावित्रीं जपते यस्तु त्रिकालं भरतर्षभ ।
भिक्षावृत्तिः क्रियावांश्च स राजन् केतनक्षमः ॥ २७ ॥

भरतभूषण नरेश ! जो तीनों समय गायत्री-मन्त्रका जप करता है, भिक्षासे जीविका चलाता है, और क्रियानिष्ठ है, वह श्राद्धमें निमन्त्रण पानेका अधिकारी है ॥ २७ ॥

उदितास्तमितो यश्च तथैवास्तमितोदितः ।
अहिंस्रश्चाल्पदोषश्च स राजन् केतनक्षमः ॥ २८ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण उन्नत होकर तत्काल ही अवनत और अवनत होकर उन्नत हो जाता है एवं किसी जीवकी हिंसा नहीं करता है, वह थोड़ा दोषी हो तो भी उसे श्राद्धमें निमन्त्रण देना उचित है ॥ २८ ॥

---

१ जब कोई अपनी कन्याको इस शर्तपर ब्याहता है कि 'इससे जो पहला पुत्र होगा, उसे मैं गोद ले लूँगा और अपना पुत्र मानूँगा।' तो उसे 'पुत्रिकाधर्मके अनुसार विवाह' कहते हैं। इस नियमसे प्राप्त होनेवाला पुत्र श्राद्धका अधिकारी नहीं है।

अकल्कको ह्यतर्कश्च ब्राह्मणो भरतर्षभ ।
संसर्गे भैक्ष्यवृत्तिश्च स राजन् केतनक्षमः ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो दम्भरहित, व्यर्थ तर्क-वितर्क न करनेवाला तथा सम्पर्क स्थापित करनेके योग्य घरसे भिक्षा लेकर जीवन-निर्वाह करनेवाला है, वह ब्राह्मण निमन्त्रण पानेका अधिकारी है ॥ २९ ॥

अव्रती कितवः स्तेनः प्राणिविक्रयिको वणिक् ।
पश्चाच्च पीतवान् सोमं स राजन् केतनक्षमः ॥ ३० ॥

राजन् ! जो व्रतहीन, धूर्त, चोर, प्राणियोंका क्रय-विक्रय करनेवाला तथा वणिक्-वृत्तिसे जीविका चलानेवाला होकर भी पीछे यज्ञका अनुष्ठान करके उसमें सोमरसका पान कर चुका है, वह भी निमन्त्रण पानेका अधिकारी है ॥३०॥

अर्जयित्वा धनं पूर्वं दारुणैरपि कर्मभिः ।
भवेत् सर्वातिथिः पश्चात् स राजन् केतनक्षमः॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! जो पहले कठोर कर्मोंद्वारा भी धनका उपार्जन करके पीछे सब प्रकारसे अतिथियोंका सेवक हो जाता है, वह श्राद्धमें बुलाने योग्य है ॥ ३१ ॥

ब्रह्मविक्रयनिर्दिष्टं स्त्रिया यच्चार्जितं धनम् ।
अदेयं पितृविप्रेभ्यो यच्च क्लैब्यादुपार्जितम् ॥ ३२ ॥

जो धन वेद बेचकर लाया गया हो या स्त्रीकी कमाईसे प्राप्त हुआ हो अथवा लोगोंके सामने दीनता दिखाकर माँग लाया गया हो, वह श्राद्धमें ब्राह्मणोंको देने योग्य नहीं है ॥

क्रियमाणेऽपवर्गे च यो द्विजो भरतर्षभ ।
न व्याहरति यद्युक्तं तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो ब्राह्मण श्राद्धकी समाप्ति होनेपर 'अस्तु स्वधा' आदि तत्कालोचित वचनोंका प्रयोग नहीं करता है, उसे गायकी झूठी शपथ खानेका पाप लगता है ॥३३॥

श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः प्राप्तं दधि घृतं तथा ।
सोमक्षयश्च मांसं च यदारण्यं युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर ! जिस दिन भी सुपात्र ब्राह्मण, दही, घी, अमावास्या तिथि तथा जंगली कन्द, मूल और फलोंका गूदा प्राप्त हो जाय, वही श्राद्धका उत्तम काल है ॥३४॥

(मुहूर्तानां त्रयं पूर्वमह्नः प्रातरिति स्मृतम् ।
जपध्यानादिभिस्तस्मिन् विप्रैः कार्यं शुभव्रतम् ॥

दिनका प्रथम तीन मुहूर्त प्रातःकाल कहलाता है । उसमें ब्राह्मणोंको जप और ध्यान आदिके द्वारा अपने लिये कल्याणकारी व्रत आदिका पालन करना चाहिये ॥

सङ्गवाख्यं त्रिभागं तु मध्याह्नस्त्रिमुहूर्तकः ।
लौकिकं सङ्गवेऽर्थ्यं च स्नानादि ह्यथ मध्यमे ॥

उसके बादका तीन मुहूर्त सङ्गव कहलाता है तथा सङ्गवके बादका तीन मुहूर्त मध्याह्न कहलाता है । सङ्गव कालमें लौकिक कार्य देखना चाहिये और मध्याह्नकालमें स्नान-संध्यावन्दन आदि करना उचित है ॥

चतुर्थमपराह्णं तु त्रिमुहूर्तं तु पित्र्यकम् ।
सायाह्नस्त्रिमुहूर्तं च मध्यमं कविभिः स्मृतम् ॥)

मध्याह्नके बादका तीन मुहूर्त अपराह्ण कहलाता है । यह दिनका चौथा भाग पितृकार्यके लिये उपयोगी है । उसके बादका तीन मुहूर्त सायाह्न कहा गया है । इसे विद्वानोंने दिन और रातके बीचका समय माना है ॥

श्राद्धापवर्गे विप्रस्य स्वधा वै मुदिता भवेत् ।
क्षत्रियस्यापि यो ब्रूयात् प्रीयन्तां पितरस्त्विति ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणके यहाँ श्राद्ध समाप्त होनेपर 'स्वधा सम्पद्यताम्' इस वाक्यका उच्चारण करनेपर पितरोंको प्रसन्नता होती है । क्षत्रियके यहाँ श्राद्धकी समाप्तिमें 'पितरः प्रीयन्ताम्' (पितर तृप्त हो जायँ) इस वाक्यका उच्चारण करना चाहिये ॥३५॥

अपवर्गे तु वैश्यस्य श्राद्धकर्मणि भारत ।
अक्षय्यमभिधातव्यं स्वस्ति शूद्रस्य भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! वैश्यके घर श्राद्धकर्मकी समाप्तिपर 'अक्षय्यमस्तु' (श्राद्धका दान अक्षय हो) कहना चाहिये और शूद्रके श्राद्धकी समाप्तिके अवसरपर 'स्वस्ति' (कल्याण हो) इस वाक्यका उच्चारण करना उचित है ॥ ३६ ॥

पुण्याहवाचनं दैवं ब्राह्मणस्य विधीयते ।
एतदेव निरोङ्कारं क्षत्रियस्य विधीयते ॥ ३७ ॥

इसी तरह जब ब्राह्मणके यहाँ देवकार्य होता हो, तब उसमें ॐकारसहित पुण्याहवाचनका विधान है (अर्थात् 'पुण्यां भवन्तो ब्रुवन्तु—आपलोग पुण्याहवाचन करें' ऐसा यजमानके कहनेपर ब्राह्मणोंको 'ॐ पुण्याहम् ॐ पुण्याहम्' इस प्रकार कहना चाहिये) । यही वाक्य क्षत्रियके यहाँ बिना ॐकारके उच्चारण करना चाहिये ॥ ३७ ॥

वैश्यस्य दैवे वक्तव्यं प्रीयन्तां देवता इति ।
कर्मणामानुपूर्व्येण विधिपूर्वं कृतं शृणु ॥ ३८ ॥

वैश्यके घर देवकर्ममें 'प्रीयन्तां देवताः' इस वाक्यका उच्चारण करना चाहिये । अब क्रमशः तीनों वर्णोंके कर्मानुष्ठानकी विधि सुनो ॥ ३८ ॥

जातकर्मादिकाः सर्वास्त्रिषु वर्णेषु भारत ।
ब्रह्मक्षत्रे हि मन्त्रोक्ता वैश्यस्य च युधिष्ठिर ॥ ३९ ॥

भरतवंशी युधिष्ठिर ! तीनों वर्णोंमें जातकर्म आदि समस्त संस्कारोंका विधान है । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनोंके सभी संस्कार वेद-मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक होने चाहिये ॥३९॥

विप्रस्य रशना मौञ्जी मौर्वी राजन्यगामिनी ।
बाल्वजी ह्येव वैश्यस्य धर्म एष युधिष्ठिर ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर ! उपनयनके समय ब्राह्मणको मूँजकी, क्षत्रियको प्रत्यञ्चाकी और वैश्यको शणकी मेखला धारण करनी चाहिये । यही धर्म है ॥ ४० ॥

(पालाशो द्विजदण्डः स्यादश्वत्थः क्षत्रियस्य तु ।
औदुम्बरश्च वैश्यस्य धर्म एष युधिष्ठिर ॥)

ब्राह्मणका दण्ड पलाशका, क्षत्रियके लिये पीपलका और वैश्यके लिये गूलरका होना चाहिये । युधिष्ठिर ! ऐसा ही धर्म है ॥

दातुः प्रतिग्रहीतुश्च धर्माधर्माविमौ शृणु ।
ब्राह्मणस्यानृतेऽधर्मः प्रोक्तः पातकसंज्ञितः ।
चतुर्गुणः क्षत्रियस्य वैश्यस्याष्टगुणः स्मृतः ॥ ४१ ॥

अब दान देने और दान लेनेवालेके धर्माधर्मका वर्णन सुनो । ब्राह्मणको झूठ बोलनेसे जो अधर्म या पातक बताया गया है, उससे चौगुना क्षत्रियको और आठगुना वैश्यको लगता है ॥ ४१ ॥

नान्यत्र ब्राह्मणोऽश्नीयात् पूर्वं विप्रेण केतितः ।
यवीयान् पशुहिंसायां तुल्यधर्मो भवेत् स हि ॥ ४२ ॥

यदि किसी ब्राह्मणने पहलेसे ही श्राद्धका निमन्त्रण दे रखा हो तो निमन्त्रित ब्राह्मणको दूसरी जगह जाकर भोजन नहीं करना चाहिये । यदि वह करता है तो छोटा समझा जाता है और उसे पशुहिंसाके समान पाप लगता है ॥ ४२ ॥

तथा राजन्यवैश्याभ्यां यद्यश्नीयात्तु केतितः ।
यवीयान् पशुहिंसायां भागार्धं समवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

यदि उसे क्षत्रिय या वैश्यने पहलेसे निमन्त्रण दे रखा हो और वह कहीं अन्यत्र जाकर भोजन कर ले तो छोटा समझे जानेके साथ ही वह पशुहिंसाके आधे पापका भागी होता है ॥ ४३ ॥

दैवं वाप्यथवा पित्र्यं योऽश्नीयाद् ब्राह्मणादिषु ।
अस्नातो ब्राह्मणो राजंस्तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४४ ॥

नरेश्वर ! जो ब्राह्मण ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंके यहाँ देवयज्ञ अथवा श्राद्धमें स्नान किये बिना ही भोजन करता है, उसे गौकी झूठी शपथ खानेके समान पाप लगता है ॥ ४४ ॥

आशौचो ब्राह्मणो राजन् योऽश्नीयाद् ब्राह्मणादिषु ।
ज्ञानपूर्वमथो लोभात् तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४५ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण अपने घरमें अशौच रहते हुए भी लोभवश जान-बूझकर दूसरे ब्राह्मण आदिके यहाँ श्राद्धका अन्न ग्रहण करता है, उसे भी गौकी झूठी शपथ खानेका पाप लगता है ॥ ४५ ॥

अर्थेनान्येन यो लिप्सेत् कर्मार्थं चैव भारत ।
आमन्त्रयति राजेन्द्र तस्याधर्मोऽनृतं स्मृतम् ॥ ४६ ॥

भरतनन्दन ! राजेन्द्र ! जो तीर्थयात्रा आदि दूसरा प्रयोजन बताकर उसीके बहाने अपनी जीविकाके लिये धन माँगता है अथवा 'मुझे अमुक (यज्ञादि) कर्म करनेके लिये धन दीजिये' ऐसा कहकर जो दाताको अपनी ओर अभिमुख करता है, उसके लिये भी वही झूठी शपथ खानेका पाप बताया गया है ॥

अवेदव्रतचारित्रास्त्रिभिर्वर्णैर्युधिष्ठिर ।
मन्त्रवत्परिविष्यन्ते तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर ! जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेदव्रतका पालन न करनेवाले ब्राह्मणोंको श्राद्धमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक अन्न परोसते हैं, उन्हें भी गायकी झूठी शपथ खानेका पाप लगता है ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पित्र्यं वाप्यथवा दैवं दीयते यत् पितामह ।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं दत्तं केषु महाफलम् ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! देवयज्ञ अथवा श्राद्धकर्ममें जो दान दिया जाता है, वह कैसे पुरुषोंको देनेसे महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ? मैं इस बातको जानना चाहता हूँ ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

येषां दाराः प्रतीक्षन्ते सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
उच्छेषपरिशेषं हि तान् भोजय युधिष्ठिर ॥ ४९ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जैसे किसान वर्षाकी बाट जोहता रहता है, उसी प्रकार जिनके घरोंकी स्त्रियाँ अपने स्वामीके खा लेनेपर बचे हुए अन्नकी प्रतीक्षा करती रहती हैं (अर्थात् जिनके घरमें बनी हुई रसोईके सिवा और कोई अन्नका संग्रह न हो), उन निर्धन ब्राह्मणोंको तुम अवश्य भोजन कराओ ॥ ४९ ॥

चारित्रनिरता राजन् ये कृशाः कृशवृत्तयः ।
अर्थिनश्चोपगच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५० ॥

राजन् ! जो सदाचारपरायण हों, जिनकी जीविकाका साधन नष्ट हो गया हो और इसीलिये भोजन न मिलनेके कारण जो अत्यन्त दुर्बल हो गये हों, ऐसे लोग यदि याचक होकर दाताके पास आते हैं तो उन्हें दिया हुआ दान महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥ ५० ॥

तद्भक्तास्तद्गृहा राजंस्तद्बलास्तदपाश्रयाः ।
अर्थिनश्च भवन्त्यर्थे तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५१ ॥

नरेश्वर ! जो सदाचारके ही भक्त हैं, जिनके घरमें सदाचारका ही पालन होता है, जिन्हें सदाचारका ही बल है तथा जिन्होंने सदाचारका ही आश्रय ले रखा है, वे यदि आवश्यकता पड़नेपर याचना करते हैं तो उनको दिया हुआ दान महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥ ५१ ॥

तस्करेभ्यः परेभ्यो वा ये भयार्ता युधिष्ठिर ।
अर्थिनो भोक्तुमिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर ! चोरों और शत्रुओंके भयसे पीड़ित होकर आये हुए जो याचक केवल भोजन चाहते हैं, उन्हें दिया हुआ दान महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥ ५२ ॥

अकल्ककस्य विप्रस्य रौक्ष्यात् करकृतात्मनः ।
वटवो यस्य भिक्षन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५३ ॥

जिसके मनमें किसी तरहका कपट नहीं है, अत्यन्त

दरिद्रताके कारण जिसके हाथमें अन्न आते ही उसके भूखे बच्चे 'मुझे दो, मुझे दो' ऐसा कहकर माँगने लगते हैं; ऐसे निर्धन ब्राह्मण और उसके उन बच्चोंको दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५३ ॥

हृतस्वा हृतदाराश्च ये विप्रा देशसम्प्लवे ।
अर्थार्थमभिगच्छन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५४ ॥

देशमें विप्लव होनेके समय जिनके धन और स्त्रियाँ छिन गयी हों, वे ब्राह्मण यदि धनकी याचनाके लिये आयें तो उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५४ ॥

व्रतिनो नियमस्थाश्च ये विप्राः श्रुतसम्मताः ।
तत्समाप्त्यर्थमिच्छन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम्॥ ५५ ॥

जो व्रत और नियममें लगे हुए ब्राह्मण वेद-शास्त्रोंकी सम्मतिके अनुसार चलते हैं और अपने व्रतकी समाप्तिके लिये धन चाहते हैं, उन्हें देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥

अत्युत्क्रान्ताश्च धर्मेषु पाषण्डसमयेषु च ।
कृशप्राणाः कृशधनास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५६ ॥

जो पाखण्डियोंके धर्मसे दूर रहते हैं, जिनके पास धनका अभाव है तथा जो अन्न न मिलनेके कारण दुर्बल हो गये हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५६ ॥

(व्रतानां पारणार्थाय गुर्वर्थे यज्ञदक्षिणाम् ।
निवेशार्थं च विद्वांसस्तेषां दत्तं महाफलम् ॥

जो विद्वान् पुरुष व्रतोंका पारण, गुरुदक्षिणा, यज्ञदक्षिणा तथा विवाहके लिये धन चाहते हों, उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥

पित्रोश्च रक्षणार्थाय पुत्रदारार्थमेव वा ।
महाव्याधिविमोक्षाय तेषु दत्तं महाफलम् ॥

जो माता-पिताकी रक्षाके लिये, स्त्री-पुत्रोंके पालन तथा महान् रोगोंसे छुटकारा पानेके लिये धन चाहते हैं, उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥

बालाः स्त्रियश्च वाञ्छन्ति सुभक्तं चाप्यसाधनाः ।
स्वर्गमायान्ति दत्त्वैषां निरयान् नोपयान्ति ते ॥)

जो बालक और स्त्रियाँ सब प्रकारके साधनोंसे रहित होनेके कारण केवल भोजन चाहती हैं, उन्हें भोजन देकर दाता स्वर्गमें जाते हैं । वे नरकमें नहीं पड़ते हैं ॥

कृतसर्वस्वहरणा निर्दोषाः प्रभविष्णुभिः ।
स्पृहयन्ति च भुक्त्वान्नं तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५७ ॥

प्रभावशाली डाकुओंने जिन निर्दोष मनुष्योंका सर्वस्व छीन लिया हो, अतः जो खानेके लिये अन्न चाहते हों, उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५७ ॥

तपस्विनस्तपोनिष्ठास्तेषां भैक्षचराश्च ये ।
अर्थिनः किञ्चिदिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५८ ॥

जो तपस्वी और तपोनिष्ठ हैं तथा तपस्वी जनोंके लिये ही भीख माँगते हैं, ऐसे याचक यदि कुछ चाहते हैं तो उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५८ ॥

महाफलविधिर्दाने श्रुतस्ते भरतर्षभ ।
निरयं येन गच्छन्ति स्वर्गं चैव हि तच्छृणु ॥ ५९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! किनको दान देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है, यह विषय मैंने तुम्हें सुना दिया । अब जिन कर्मोंसे मनुष्य नरक या स्वर्गमें जाते हैं, उन्हें सुनो ॥ ५९ ॥

गुर्वर्थमभयार्थं वा वर्जयित्वा युधिष्ठिर ।
येऽनृतं कथयन्ति स्म ते वै निरयगामिनः ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर ! गुरुकी भलाईके लिये तथा दूसरेको भयसे मुक्त करनेके लिये जो झूठ बोलनेका अवसर आता है, उसे छोड़कर अन्यत्र जो झूठ बोलते हैं, वे मनुष्य निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६० ॥

परदाराभिहर्तारः परदाराभिमर्शिनः ।
परदारप्रयोक्तारस्ते वै निरयगामिनः ॥ ६१ ॥

जो दूसरोंकी स्त्री चुरानेवाले, परायी स्त्रीका सतीत्व नष्ट करनेवाले तथा दूत बनकर परस्त्रीको दूसरोंसे मिलानेवाले हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६१ ॥

ये परस्वापहर्तारः परस्वानां च नाशकाः ।
सूचकाश्च परेषां ये ते वै निरयगामिनः ॥ ६२ ॥

जो दूसरोंके धनको हड़पनेवाले और नष्ट करनेवाले हैं तथा दूसरोंकी चुगली खानेवाले हैं, उन्हें निश्चय ही नरकमें गिरना पड़ता है ॥ ६२ ॥

प्रपाणां च सभानां च संक्रमाणां च भारत ।
अगाराणां च भेत्तारो नरा निरयगामिनः ॥ ६३ ॥

भरतनन्दन ! जो पौंसलों, सभाओं, पुलों और किसीके घरोंको नष्ट करनेवाले हैं, वे मनुष्य निश्चय ही नरकमें पड़ते हैं।६३।

अनाथां प्रमदां बालां वृद्धां भीतां तपस्विनीम् ।
वञ्चयन्ति नरा ये च ते वै निरयगामिनः ॥ ६४ ॥

जो लोग अनाथ, बूढ़ी, तरुणी, बालिका, भयभीत और तपस्विनी स्त्रियोंको धोखेमें डालते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६४ ॥

वृत्तिच्छेदं गृहच्छेदं दारच्छेदं च भारत ।
मित्रच्छेदं तथाऽऽशायास्ते वै निरयगामिनः ॥ ६५ ॥

भरतनन्दन ! जो दूसरोंकी जीविका नष्ट करते, घर उजाड़ते, पति-पत्नीमें बिछोह डालते, मित्रोंमें विरोध पैदा करते और किसीकी आशा भङ्ग करते हैं, वे निश्चय ही नरकमें जाते हैं ॥ ६५ ॥

सूचकाः सेतुभेत्तारः परवृत्त्युपजीवकाः ।
अकृतज्ञाश्च मित्राणां ते वै निरयगामिनः ॥ ६६ ॥

जो चुगली खानेवाले, कुल या धर्मकी मर्यादा नष्ट करनेवाले, दूसरोंकी जीविकापर गुजारा करनेवाले तथा मित्रोंद्वारा

किये गये उपकारको भुला देनेवाले हैं, वे निश्चय ही नरकमें पड़ते हैं ॥ ६६ ॥

पाषण्डा दूषकाश्चैव समयानां च दूषकाः ।
ये प्रत्यवसिताश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ६७ ॥

जो पाखण्डी, निन्दक, धार्मिक नियमोंके विरोधी तथा एक बार संन्यास लेकर फिर गृहस्थ-आश्रममें लौट आनेवाले हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६७ ॥

विषमव्यवहाराश्च विषमाश्चैव वृद्धिषु ।
लाभेषु विषमाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ६८ ॥

जिनका व्यवहार सबके प्रति समान नहीं है तथा जो लाभ और वृद्धिमें विषम दृष्टि रखते हैं—ईमानदारीसे उसका वितरण नहीं करते हैं, वे अवश्य ही नरकगामी होते हैं ।६८।

दूतसंव्यवहाराश्च निष्परीक्षाश्च मानवाः ।
प्राणिहिंसाप्रवृत्ताश्च ते वै निरयगामिनः ॥ ६९ ॥

जो किसी मनुष्यकी परख करनेमें समर्थ नहीं हैं और दूतका काम करते हैं, जिनकी सदा जीवहिंसामें प्रवृत्ति होती है, वे निश्चय ही नरकमें गिरते हैं ॥ ६९ ॥

कृताशं कृतनिर्देशं कृतभक्तं कृतश्रमम् ।
भेदैर्ये व्यपकर्षन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७० ॥

जो वेतनपर रखे हुए परिश्रमी नौकरको कुछ देनेकी आशा देकर और देनेका समय नियत करके उसके पहले ही भेदनीतिके द्वारा उसे मालिकके यहाँसे निकलवा देते हैं, वे अवश्य ही नरकमें जाते हैं ॥ ७० ॥

पर्यश्नन्ति च ये दारानग्निभृत्यातिथींस्तथा ।
उत्सन्नपितृदेवेज्यास्ते वै निरयगामिनः ॥ ७१ ॥

जो पितरों और देवताओंके यजन-पूजनका त्याग करके अग्निमें आहुति दिये बिना तथा अतिथि, पोष्यवर्ग और स्त्री-बच्चोंको अन्न दिये बिना ही भोजन कर लेते हैं, वे निःसंदेह नरकगामी होते हैं ॥ ७१ ॥

वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः ।
वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७२ ॥

जो वेद बेचते हैं, वेदोंकी निन्दा करते हैं और विक्रयके लिये ही वेदोंके मन्त्र लिखते हैं, वे भी निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ७२ ॥

चातुराश्रम्यबाह्याश्च श्रुतिबाह्याश्च ये नराः ।
विकर्मभिश्च जीवन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७३ ॥

जो मनुष्य चारों आश्रमों और वेदोंकी मर्यादासे बाहर हैं तथा शास्त्रविरुद्ध कर्मोंसे ही जीविका चलाते हैं, उन्हें निश्चय ही नरकमें गिरना पड़ता है ॥ ७३ ॥

केशविक्रयिका राजन् विषविक्रयिकाश्च ये ।
क्षीरविक्रयिकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७४ ॥

राजन् ! जो (ब्राह्मण) केश, विष और दूध बेचते हैं, वे भी नरकमें ही जाते हैं ॥ ७४ ॥

ब्राह्मणानां गवां चैव कन्यानां च युधिष्ठिर ।
येऽन्तरं यान्ति कार्येषु ते वै निरयगामिनः ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर ! जो ब्राह्मण, गौ तथा कन्याओंके लिये हितकर कार्यमें विघ्न डालते हैं, वे भी अवश्य ही नरकगामी होते हैं ॥ ७५ ॥

शस्त्रविक्रयिकाश्चैव कर्तारश्च युधिष्ठिर ।
शल्यानां धनुषां चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७६ ॥

राजा युधिष्ठिर ! जो (ब्राह्मण) हथियार बेचते और धनुष-बाण आदि शस्त्रोंको बनाते हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥ ७६ ॥

शिलाभिः शङ्कुभिर्वापि श्वभ्रैर्वा भरतर्षभ ।
ये मार्गमनुरुन्धन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो पत्थर रखकर, काँटे बिछाकर और गड्ढे खोदकर रास्ता रोकते हैं, वे भी नरकमें ही गिरते हैं ॥७७॥

उपाध्यायांश्च भृत्यांश्च भक्तांश्च भरतर्षभ ।
ये त्यजन्त्यविकारांस्त्रींस्ते वै निरयगामिनः ॥ ७८ ॥

भरतभूषण ! जो अध्यापकों, सेवकों तथा अपने भक्तोंको बिना किसी अपराधके ही त्याग देते हैं, उन्हें भी नरकमें ही गिरना पड़ता है ॥ ७८ ॥

अप्राप्तदमकाश्चैव नासानां वेधकाश्च ये ।
बन्धकाश्च पशूनां ये ते वै निरयगामिनः ॥ ७९ ॥

जो काबूमें न आनेवाले पशुओंका दमन करते, नाथते अथवा कटघरेमें बंद करते हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥७९॥

अगोप्तारश्च राजानो बलिषड्भागतस्कराः ।
समर्थाश्चाप्यदातारस्ते वै निरयगामिनः ॥ ८० ॥

जो राजा होकर भी प्रजाकी रक्षा नहीं करते और उसकी आमदनीके छठे भागको लगानके रूपमें लूटते रहते हैं तथा जो समर्थ होनेपर भी दान नहीं करते, उन्हें भी निःसंदेह नरकमें जाना पड़ता है ॥ ८० ॥

(संश्रुत्य चाप्रदातारो दरिद्राणां विनिन्दकाः ।
श्रोत्रियाणां विनीतानां दरिद्राणां विशेषतः ॥
क्षमिणां निन्दकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ।)

जो देनेकी प्रतिज्ञा करके भी नहीं देते, दरिद्रोंकी एवं विनयशील निर्धन श्रोत्रियोंकी और क्षमाशीलोंकी निन्दा करते हैं, वे भी अवश्य ही नरकमें जाते हैं ॥

क्षान्तान् दान्तांस्तथा प्राज्ञान् दीर्घकालं सहोषितान् ।
त्यजन्ति कृतकृत्या ये ते वै निरयगामिनः ॥ ८१ ॥

जो क्षमाशील, जितेन्द्रिय तथा दीर्घकालतक साथ रहे हुए विद्वानोंको अपना काम निकल जानेके बाद त्याग देते हैं, वे नरकमें गिरते हैं ॥ ८१ ॥

बालानामथ वृद्धानां दासानां चैव ये नराः ।
अदत्त्वा भक्षयन्त्यग्रे ते वै निरयगामिनः ॥ ८२ ॥

जो बालकों, बूढ़ों और सेवकोंको दिये बिना ही पहले स्वयं भोजन कर लेते हैं, वे भी निःसंदेह नरकगामी होते हैं ॥

एते पूर्वं विनिर्दिष्टाः प्रोक्ता निरयगामिनः।
भागिनः स्वर्गलोकस्य वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ ८३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पहलेके संकेतके अनुसार यहाँ नरकगामी मनुष्योंका वर्णन किया गया है। अब स्वर्गलोकमें जानेवालोंका परिचय देता हूँ, सुनो ॥ ८३ ॥

सर्वेष्वेव तु कार्येषु दैवपूर्वेषु भारत।
हन्ति पुत्रान् पशून् कृत्स्नान् ब्राह्मणातिक्रमः कृतः॥८४॥

भरतनन्दन ! जिनमें पहले देवताओंकी पूजा की जाती है, उन समस्त कार्योंमें यदि ब्राह्मणका अपमान किया जाय तो वह अपमान करनेवालेके समस्त पुत्रों और पशुओंका नाश कर देता है ॥ ८४ ॥

दानेन तपसा चैव सत्येन च युधिष्ठिर।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८५ ॥

जो दान, तपस्या और सत्यके द्वारा धर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ८५ ॥

शुश्रूषाभिस्तपोभिश्च विद्यामादाय भारत।
ये प्रतिग्रहनिःस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८६ ॥

भारत ! जो गुरुशुश्रूषा और तपस्यापूर्वक वेदाध्ययन करके प्रतिग्रहमें आसक्त नहीं होते, वे लोग स्वर्गगामी होते हैं ॥८६॥

भयात्पापात्तथा बाधाद् दारिद्र्याद् व्याधिधर्षणात्।
यत्कृते प्रतिमुच्यन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८७ ॥

जिनके प्रयत्नसे मनुष्य भय, पाप, बाधा, दरिद्रता तथा व्याधिजनित पीड़ासे छुटकारा पा जाते हैं, वे लोग स्वर्गमें जाते हैं ॥ ८७ ॥

क्षमावन्तश्च धीराश्च धर्मकार्येषु चोत्थिताः।
मङ्गलाचारसम्पन्नाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ८८ ॥

जो क्षमावान्, धीर, धर्मकार्यके लिये उद्यत रहनेवाले और माङ्गलिक आचारसे सम्पन्न हैं, वे पुरुष भी स्वर्गगामी होते हैं ॥ ८८ ॥

निवृत्ता मधुमांसेभ्यः परदारेभ्य एव च।
निवृत्ताश्चैव मद्येभ्यस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८९ ॥

जो मद, मांस, मदिरा और परस्त्रीसे दूर रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ८९ ॥

आश्रमाणां च कर्तारः कुलानां चैव भारत।
देशानां नगराणां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९० ॥

भारत ! जो आश्रम, कुल, देश और नगरके निर्माता तथा संरक्षक हैं, वे पुरुष स्वर्गमें जाते हैं ॥ ९० ॥

वस्त्राभरणदातारो भक्षपानान्नदास्तथा।
कुटुम्बानां च दातारः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ९१ ॥

जो वस्त्र, आभूषण, भोजन, पानी तथा अन्न दान करते हैं एवं दूसरोंके कुटुम्बकी वृद्धिमें सहायक होते हैं, वे पुरुष स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९१ ॥

सर्वहिंसानिवृत्ताश्च नराः सर्वसहाश्च ये।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९२ ॥

जो सब प्रकारकी हिंसाओंसे अलग रहते हैं, सब कुछ सहते हैं और सबको आश्रय देते रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९२ ॥

मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति जितेन्द्रियाः।
भ्रातृणां चैव सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९३ ॥

जो जितेन्द्रिय होकर माता-पिताकी सेवा करते हैं तथा भाइयोंपर स्नेह रखते हैं, वे लोग स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९३ ॥

आढ्याश्च बलवन्तश्च यौवनस्थाश्च भारत।
ये वै जितेन्द्रिया धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९४ ॥

भारत ! जो धनी, बलवान् और नौजवान होकर भी अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं, वे धीर पुरुष स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९४ ॥

अपराधिषु सस्नेहा मृदवो मृदुवत्सलाः।
आराधनसुखाश्चापि पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ९५ ॥

जो अपराधियोंके प्रति भी दया करते हैं, जिनका स्वभाव मृदुल होता है, जो मृदुल स्वभाववाले व्यक्तियोंपर प्रेम रखते हैं तथा जिन्हें दूसरोंकी आराधना (सेवा) करनेमें ही सुख मिलता है, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९५ ॥

सहस्रपरिवेष्टारस्तथैव च सहस्रदाः।
त्रातारश्च सहस्राणां ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९६ ॥

जो मनुष्य सहस्रों मनुष्योंको भोजन परोसते, सहस्रोंको दान देते तथा सहस्रोंकी रक्षा करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९६ ॥

सुवर्णस्य च दातारो गवां च भरतर्षभ।
यानानां वाहनानां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो सुवर्ण, गौ, पालकी और सवारीका दान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९७ ॥

वैवाहिकानां द्रव्याणां प्रेष्याणां च युधिष्ठिर।
दातारो वाससां चैव ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९८ ॥

युधिष्ठिर ! जो वैवाहिक द्रव्य, दास-दासी तथा वस्त्र दान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९८ ॥

विहारावसथोद्यानकूपारामसभाप्रपाः।
वप्राणां चैव कर्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९९ ॥

जो दूसरोंके लिये आश्रम, गृह, उद्यान, कुआँ, बगीचा, धर्मशाला, पौंसला तथा चहारदीवारी बनवाते हैं, वे लोग स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९९ ॥

निवेशनानां क्षेत्राणां वसतीनां च भारत।
दातारः प्रार्थितानां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१००॥

भरतनन्दन ! जो याचकोंकी याचनाके अनुसार घर, खेत और गाँव प्रदान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ १०० ॥

रसानां चाथ बीजानां धान्यानां च युधिष्ठिर ।
स्वयमुत्पाद्य दातारः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥१०१॥

युधिष्ठिर ! जो स्वयं ही पैदा करके रस, बीज और अन्नका दान करते हैं, वे पुरुष स्वर्गगामी होते हैं ॥ १०१ ॥

यस्मिंस्तस्मिन् कुले जाता बहुपुत्राः शतायुषः ।
सानुक्रोशा जितक्रोधाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥१०२॥

जो किसी भी कुलमें उत्पन्न हो बहुत-से पुत्रों और सौ वर्षकी आयुसे युक्त होते हैं, दूसरोंपर दया करते हैं और क्रोधको काबूमें रखते हैं, वे पुरुष स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥१०२॥

एतदुक्तममुत्रार्थं दैवं पित्र्यं च भारत ।
दानधर्मं च दानस्य यत् पूर्वमृषिभिः कृतम् ॥१०३॥

भारत ! यह मैंने तुमसे परलोकमें कल्याण करनेवाले देवकार्य और पितृकार्यका वर्णन किया तथा प्राचीनकालमें ऋषियोंद्वारा बतलाये हुए दानधर्म और दानकी महिमाका भी निरूपण किया है ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि स्वर्गनरकगामिवर्णने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें स्वर्ग और नरकमें जानेवालोंका वर्णनविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८½ श्लोक मिलाकर कुल १११½ श्लोक हैं)

चतुर्विंशोऽध्यायः

ब्रह्महत्याके समान पापोंका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

इदं मे तत्त्वतो राजन् वक्तुमर्हसि भारत ।
अहिंसयित्वापि कथं ब्रह्महत्या विधीयते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतवंशी नरेश ! अब आप मुझे यह ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें कि ब्राह्मणकी हिंसा न करनेपर भी मनुष्यको ब्रह्महत्याका पाप कैसे लगता है ? ॥१॥

भीष्म उवाच

व्यासमामन्त्र्य राजेन्द्र पुरा यत् पृष्टवानहम् ।
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! पूर्वकालमें मैंने एक बार व्यासजीको बुलाकर उनसे जो प्रश्न किया था (तथा उन्होंने मुझे उसका जो उत्तर दिया था), वह सब तुम्हें बता रहा हूँ । तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

चतुर्थस्त्वं वसिष्ठस्य तत्त्वमाख्याहि मे मुने ।
अहिंसयित्वा केनेह ब्रह्महत्या विधीयते ॥ ३ ॥

मैंने पूछा था, 'मुने ! आप वसिष्ठजीके वंशजोंमें चौथी पीढ़ीके पुरुष हैं । कृपया मुझे यह ठीक-ठीक बताइये कि ब्राह्मणकी हिंसा न करनेपर भी किन कर्मोंके करनेसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है ?' ॥ ३ ॥

इति पृष्टो मया राजन् पराशरशरीरजः ।
अब्रवीन्निपुणो धर्मे निःसंशयमनुत्तमम् ॥ ४ ॥

राजन् ! मेरे द्वारा इस प्रकार पूछनेपर पराशर-पुत्र धर्मनिपुण व्यासजीने यह संदेहरहित परम उत्तम बात कही—॥४॥

ब्राह्मणं स्वयमाहूय भिक्षार्थे कृशवृत्तिनम् ।
ब्रूयान्नास्तीति यः पश्चात्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ५ ॥

'भीष्म ! जिसकी जीविकावृत्ति नष्ट हो गयी है, ऐसे ब्राह्मणको भिक्षा देनेके लिये स्वयं बुलाकर जो पीछे देनेसे इनकार कर देता है, उसे ब्रह्महत्यारा समझो ॥ ५ ॥

मध्यस्थस्येह विप्रस्य योऽनूचानस्य भारत ।
वृत्तिं हरति दुर्बुद्धिस्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ६ ॥

'भरतनन्दन ! जो दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य तटस्थ रहनेवाले विद्वान् ब्राह्मणकी जीविका छीन लेता है, उसे भी ब्रह्महत्यारा ही समझना चाहिये ॥ ६ ॥

गोकुलस्य तृषार्तस्य जलार्थे वसुधाधिप ।
उत्पादयति यो विघ्नं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ७ ॥

'पृथ्वीनाथ ! जो प्याससे पीड़ित हुई गौओंके पानी पीनेमें विघ्न डालता है, उसे भी ब्रह्मघाती जाने ॥ ७ ॥

यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक् शास्त्रं वा मुनिभिः कृतम् ।
दूषयत्यनभिज्ञाय तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ८ ॥

'जो मनुष्य उत्तम कर्मका विधान करनेवाली श्रुतियों और ऋषिप्रणीत शास्त्रोंपर बिना समझे-बूझे दोषारोपण करता है, उसको भी ब्रह्मघाती ही समझो ॥ ८ ॥

आत्मजां रूपसम्पन्नां महतीं सदृशे वरे ।
न प्रयच्छति यः कन्यां तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ९ ॥

जो अपनी रूपवती कन्याकी बड़ी उम्र हो जानेपर भी उसका योग्य वरके साथ विवाह नहीं करता, उसे ब्रह्महत्यारा जाने ॥ ९ ॥

अधर्मनिरतो मूढो मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
दद्यान्मर्मातिगं शोकं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ १० ॥

'जो पापपरायण मूढ़ मनुष्य ब्राह्मणोंको अकारण ही मर्मभेदी शोक प्रदान करता है, उसे ब्रह्मघाती जाने ॥ १० ॥

चक्षुषा विप्रहीणस्य पंगुलस्य जडस्य वा।
हरेत यो वै सर्वस्वं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम्॥ ११॥

'जो अन्धे, लूले और गूँगे मनुष्योंका सर्वस्व हर लेता है, उसे ब्रह्मघाती जाने ॥ ११ ॥

आश्रमे वा वने वापि ग्रामे वा यदि वा पुरे।
अग्निं समुत्सृजेन्मोहात्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम्॥ १२॥

'जो मोहवश आश्रम, वन, गाँव अथवा नगरमें आग लगा देता है, उसे भी ब्रह्मघाती ही समझना चाहिये' ॥१२॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्रह्मघ्नकथने चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्रह्महत्यारोंका कथनविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

विभिन्न तीर्थोंके माहात्म्यका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

तीर्थानां दर्शनं श्रेयः स्नानं च भरतर्षभ।
श्रवणं च महाप्राज्ञ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाज्ञानी भरतश्रेष्ठ! तीर्थोंका दर्शन, उनमें किया जानेवाला स्नान और उनकी महिमाका श्रवण श्रेयस्कर बताया गया है। अतः मैं तीर्थोंका यथावत् रूपसे वर्णन सुनना चाहता हूँ॥ १॥

पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यानि भरतर्षभ।
वक्तुमर्हसि मे तानि श्रोतास्मि नियतं प्रभो॥ २॥

भरतभूषण! इस पृथ्वीपर जो-जो पवित्र तीर्थ हैं, उन्हें मैं नियमपूर्वक सुनना चाहता हूँ। आप उन्हें बतलानेकी कृपा करें॥ २॥

भीष्म उवाच

इममङ्गिरसा प्रोक्तं तीर्थवंशं महाद्युते।
श्रोतुमर्हसि भद्रं ते प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम्॥ ३॥

भीष्मजीने कहा—महातेजस्वी नरेश! पूर्वकालमें अङ्गिरामुनिने तीर्थसमुदायका वर्णन किया था। तुम्हारा भला हो, तुम उसीको सुनो। इससे तुम्हें उत्तम धर्मकी प्राप्ति होगी॥ ३॥

तपोवनगतं विप्रमभिगम्य महामुनिम्।
पप्रच्छाङ्गिरसं धीरं गौतमः संशितव्रतः॥ ४॥

एक समयकी बात है, महामुनि विप्रवर धैर्यवान् अङ्गिरा अपने तपोवनमें विराजमान थे। उस समय कठिन व्रतका पालन करनेवाले महर्षि गौतमने उनके पास जाकर पूछा—॥४॥

अस्ति मे भगवन् कश्चित्तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः।
तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि तन्मे शंस महामुने॥ ५॥

'भगवन्! महामुने! मुझे तीर्थोंके सम्बन्धमें कुछ धर्म-विषयक संदेह है। वह सब मैं सुनना चाहता हूँ। आप कृपया मुझे बताइये॥ ५॥

उपस्पृश्य फलं किं स्यात्तेषु तीर्थेषु वै मुने।
प्रेत्यभावे महाप्राज्ञ तद् यथास्ति तथा वद॥ ६॥

'महाज्ञानी मुनीश्वर! उन तीर्थोंमें स्नान करनेसे मृत्युके बाद किस फलकी प्राप्ति होती है? इस विषयमें जैसी वस्तु-स्थिति है, वह बताइये' ॥ ६॥

अङ्गिरा उवाच

सप्ताहं चन्द्रभागां वै वितस्तामूर्मिमालिनीम्।
विगाह्य वै निराहारो निर्मलो मुनिवद् भवेत्॥ ७॥

अङ्गिराने कहा—मुने! मनुष्य उपवास करके चन्द्र-भागा (चनाव) और तरङ्गमालिनी वितस्ता (झेलम) में सात दिनतक स्नान करे तो मुनिके समान निर्मल हो जाता है॥ ७॥

काश्मीरमण्डले नद्यो याः पतन्ति महानदम्।
ता नदीः सिन्धुमासाद्य शीलवान् स्वर्गमाप्नुयात्॥ ८॥

काश्मीर प्रान्तकी जो-जो नदियाँ महानद सिन्धुमें मिलती हैं, उनमें तथा सिन्धुमें स्नान करके शीलवान् पुरुष मरनेके बाद स्वर्गमें जाता है॥ ८॥

पुष्करं च प्रभासं च नैमिषं सागरोदकम्।
देविकामिन्द्रमार्गं च स्वर्णबिन्दुं विगाह्य च॥ ९॥
विबोध्यते विमानस्थः सोऽप्सरोभिरभिष्टुतः।

पुष्कर, प्रभास, नैमिषारण्य, सागरोदक (समुद्रजल), देविका, इन्द्रमार्ग तथा स्वर्णबिन्दु—इन तीर्थोंमें स्नान करनेसे मनुष्य विमानपर बैठकर स्वर्गमें जाता है और अप्स-राएँ उसकी स्तुति करती हुई उसे जगाती हैं॥ ९½॥

हिरण्यबिन्दुं विक्षोभ्य प्रयतश्चाभिवाद्य च॥ १०॥
कुशेशयं च देवं तं धूयते तस्य किल्बिषम्।

जो मनुष्य मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए हिरण्यबिन्दु तीर्थमें स्नान करके वहाँके प्रमुख देवता भगवान् कुशेशयको प्रणाम करता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं॥

इन्द्रतोयां समासाद्य गन्धमादनसंनिधौ॥ ११॥
करतोयां कुरङ्गे च त्रिरात्रोपोषितो नरः।
अश्वमेधमवाप्नोति विगाह्य प्रयतः शुचिः॥ १२॥

गन्धमादन पर्वतके निकट इन्द्रतोया नदीमें और कुरङ्ग-क्षेत्रके भीतर करतोया नदीमें संयतचित्त एवं शुद्धभावसे स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ११-१२ ॥

गङ्गाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते।
तथा कनखले स्नात्वा धूतपाप्मा दिवं व्रजेत् ॥ १३ ॥

गङ्गाद्वार, कुशावर्त, बिल्वक तीर्थ, नील पर्वत तथा कनखलमें स्नान करके पापरहित हुआ मनुष्य स्वर्गलोकको जाता है ॥ १३ ॥

अपां ह्रद उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत्।
ब्रह्मचारी जितक्रोधः सत्यसंधस्त्वहिंसकः ॥ १४ ॥

यदि कोई क्रोधहीन, सत्यप्रतिज्ञ और अहिंसक होकर ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक सलिलह्रद नामक तीर्थमें डुबकी लगाये तो उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ १४ ॥

यत्र भागीरथी गङ्गा पतते दिशमुत्तराम्।
महेश्वरस्य त्रिस्थाने यो नरस्त्वभिषिच्यते ॥ १५ ॥
एकमासं निराहारः स पश्यति हि देवताः।

जहाँ उत्तर दिशामें भागीरथी गङ्गा गिरती हैं और वहाँ उनका स्रोत तीन भागोंमें विभक्त हो जाता है, वह भगवान् महेश्वरका त्रिस्थान नामक तीर्थ है। जो मनुष्य एक मासतक निराहार रहकर वहाँ स्नान करता है, उसे देवताओंका प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ १५½ ॥

सप्तगङ्गे त्रिगङ्गे च इन्द्रमार्गे च तर्पयन् ॥ १६ ॥
सुधां वै लभते भोक्तुं यो नरो जायते पुनः।

सप्तगङ्ग, त्रिगङ्ग और इन्द्रमार्गमें पितरोंका तर्पण करनेवाला मनुष्य यदि पुनर्जन्म लेता है तो उसे अमृत भोजन मिलता है (अर्थात् वह देवता हो जाता है।) ॥१६½॥

महाश्रम उपस्पृश्य योऽग्निहोत्रपरः शुचिः ॥ १७ ॥
एकमासं निराहारः सिद्धिं मासेन स व्रजेत्।

महाश्रम तीर्थमें स्नान करके प्रतिदिन पवित्र भावसे अग्निहोत्र करते हुए जो एक महीनेतक उपवास करता है, वह उतने ही समयमें सिद्ध हो जाता है ॥ १७½ ॥

महाह्रद उपस्पृश्य भृगुतुङ्गे त्वलोलुपः ॥ १८ ॥
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया।

जो लोभका त्याग करके भृगुतुङ्ग-क्षेत्रके महाह्रद नामक तीर्थमें स्नान करता है और तीन राततक भोजन छोड़ देता है, वह ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त हो जाता है ॥ १८½ ॥

कन्याकूप उपस्पृश्य बलाकायां कृतोदकः ॥ १९ ॥
देवेषु लभते कीर्तिं यशसा च विराजते ॥ २० ॥

कन्याकूपमें स्नान करके बलाका तीर्थमें तर्पण करनेवाला पुरुष देवताओंमें कीर्ति पाता है और अपने यशसे प्रकाशित होता है ॥ १९-२० ॥

देविकायामुपस्पृश्य तथा सुन्दरिकाह्रदे।
अश्विन्यां रूपवर्चस्कं प्रेत्य वै लभते नरः ॥ २१ ॥

देविकामें स्नान करके सुन्दरिकाकुण्ड और अश्विनीतीर्थमें स्नान करनेपर मृत्युके पश्चात् दूसरे जन्ममें मनुष्यको रूप और तेजकी प्राप्ति होती है ॥ २१ ॥

महागङ्गामुपस्पृश्य कृत्तिकाङ्गारके तथा।
पक्षमेकं निराहारः स्वर्गमाप्नोति निर्मलः ॥ २२ ॥

महागङ्गा और कृत्तिकाङ्गारक तीर्थमें स्नान करके एक पक्षतक निराहार रहनेवाला मनुष्य निर्मल—निष्पाप होकर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २२ ॥

वैमानिक उपस्पृश्य किङ्किणीकाश्रमे तथा।
निवासेऽप्सरसां दिव्ये कामचारी महीयते ॥ २३ ॥

जो वैमानिक और किङ्किणीकाश्रमतीर्थमें स्नान करता है, वह अप्सराओंके दिव्यलोकमें जाकर सम्मानित होता और इच्छानुसार विचरता है ॥ २३ ॥

कालिकाश्रममासाद्य विपाशायां कृतोदकः।
ब्रह्मचारी जितक्रोधस्त्रिरात्रं मुच्यते भवात् ॥ २४ ॥

जो कालिकाश्रममें स्नान करके विपाशा (व्यास) नदीमें पितरोंका तर्पण करता है और क्रोधको जीतकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए तीन रात वहाँ निवास करता है, वह जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाता है ॥ २४ ॥

आश्रमे कृत्तिकानां तु स्नात्वा यस्तर्पयेत् पितॄन्।
तोषयित्वा महादेवं निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ २५ ॥

जो कृत्तिकाश्रममें स्नान करके पितरोंका तर्पण करता है और महादेवजीको संतुष्ट करता है, वह पापमुक्त होकर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २५ ॥

महापुर उपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितः शुचिः।
त्रसानां स्थावराणां च द्विपदानां भयं त्यजेत् ॥ २६ ॥

महापुरतीर्थमें स्नान करके पवित्रतापूर्वक तीन रात उपवास करनेसे मनुष्य चराचर प्राणियों तथा मनुष्योंसे प्राप्त होनेवाले भयको त्याग देता है ॥ २६ ॥

देवदारुवने स्नात्वा धूतपाप्मा कृतोदकः।
देवलोकमवाप्नोति सप्तरात्रोषितः शुचिः ॥ २७ ॥

जो देवदारुवनमें स्नान करके तर्पण करता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं तथा जो वहाँ सात राततक निवास करता है, वह पवित्र हो, मृत्युके पश्चात् देवलोकमें जाता है ॥२७॥

शरस्तम्बे कुशस्तम्बे द्रोणशर्मपदे तथा।
अपां प्रपतनासेवी सेव्यते सोऽप्सरोगणैः ॥ २८ ॥

जो शरस्तम्ब, कुशस्तम्ब और द्रोणशर्मपदतीर्थके झरनोंमें स्नान करता है, वह स्वर्गमें अप्सराओंद्वारा सेवित होता है ॥

चित्रकूटे जनस्थाने तथा मन्दाकिनीजले।
विगाह्य वै निराहारो राजलक्ष्म्या निषेव्यते ॥ २९ ॥

जो चित्रकूटमें मन्दाकिनीके जलमें तथा जनस्थानमें गोदावरीके जलमें स्नान करके उपवास करता है, वह पुरुष राजलक्ष्मीसे सेवित होता है ॥ २९ ॥

श्यामायास्त्वाश्रमं गत्वा उषित्वा चाभिषिच्य च।
एकपक्षं निराहारस्त्वन्तर्धानफलं लभेत् ॥ ३० ॥

श्यामाश्रममें जाकर वहाँ स्नान, निवास तथा एक पक्षतक उपवास करनेवाला पुरुष अन्तर्धानके फलको प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

कौशिकीं तु समासाद्य वायुभक्षस्त्वलोलुपः।
एकविंशतिरात्रेण स्वर्गमारोहते नरः ॥ ३१ ॥

जो कौशिकी नदीमें स्नान करके लोलुपता त्यागकर इक्कीस रातोंतक केवल हवा पीकर रह जाता है, वह मनुष्य स्वर्गको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

मतङ्गवाप्यां यः स्नायादेकरात्रेण सिद्ध्यति।
विगाहति ह्यनालम्बमन्धकं वै सनातनम् ॥ ३२ ॥
नैमिषे स्वर्गतीर्थे च उपस्पृश्य जितेन्द्रियः।
फलं पुरुषमेधस्य लभेन्मासं कृतोदकः ॥ ३३ ॥

जो मतङ्गवापी तीर्थमें स्नान करता है, उसे एक रातमें सिद्धि प्राप्त होती है। जो अनालम्ब, अन्धक और सनातन तीर्थमें गोता लगाता है तथा नैमिषारण्यके स्वर्गतीर्थमें स्नान करके इन्द्रिय-संयमपूर्वक एक मासतक पितरोंको जलाञ्जलि देता है, उसे पुरुषमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ३२-३३ ॥

गङ्गाह्रद उपस्पृश्य तथा चैवोत्पलावने।
अश्वमेधमवाप्नोति तत्र मासं कृतोदकः ॥ ३४ ॥

जो गङ्गाह्रद और उत्पलावनतीर्थमें स्नान करके एक मासतक वहाँ पितरोंका तर्पण करता है, वह अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ३४ ॥

गङ्गायमुनयोस्तीर्थे तथा कालञ्जरे गिरौ।
दशाश्वमेधानाप्नोति तत्र मासं कृतोदकः ॥ ३५ ॥

गङ्गा-यमुनाके सङ्गमतीर्थमें तथा कालञ्जरतीर्थमें एक मासतक स्नान और तर्पण करनेसे दस अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

षष्टिह्रद उपस्पृश्य चान्नदानाद् विशिष्यते।
दशतीर्थसहस्राणि तिस्रः कोट्यस्तथा पराः ॥ ३६ ॥
समागच्छन्ति माघ्यां तु प्रयागे भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ ! षष्टिह्रद नामक तीर्थमें स्नान करनेसे अन्नदानसे भी अधिक फल प्राप्त होता है। माघ मासकी अमावास्याको प्रयागराजमें तीन करोड़ दस हजार अन्य तीर्थोंका समागम होता है ॥ ३६½ ॥

माघमासं प्रयागे तु नियतः संशितव्रतः ॥ ३७ ॥
स्नात्वा तु भरतश्रेष्ठ निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात्।

भरतश्रेष्ठ ! जो नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करते हुए माघके महीनेमें प्रयागमें स्नान करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गमें जाता है ॥ ३७½ ॥

मरुद्गण उपस्पृश्य पितृणामाश्रमे शुचिः ॥ ३८ ॥
वैवस्वतस्य तीर्थे च तीर्थभूतो भवेन्नरः।

जो पवित्र भावसे मरुद्गण तीर्थ, पितरोंके आश्रम तथा वैवस्वततीर्थमें स्नान करता है, वह मनुष्य स्वयं तीर्थरूप हो जाता है ॥ ३८ ॥

तथा ब्रह्मसरो गत्वा भागीरथ्यां कृतोदकः ॥ ३९ ॥
एकमासं निराहारः सोमलोकमवाप्नुयात् ॥ ४० ॥

जो ब्रह्मसरोवर (पुष्करतीर्थ) और भागीरथी गङ्गामें स्नान करके पितरोंका तर्पण करता और वहाँ एक मासतक निराहार रहता है, उसे चन्द्रलोककी प्राप्ति होती है। ३९-४०।

उत्पातके नरः स्नात्वा अष्टावक्रे कृतोदकः।
द्वादशाहं निराहारो नरमेधफलं लभेत् ॥ ४१ ॥

उत्पातक तीर्थमें स्नान और अष्टावक्र तीर्थमें तर्पण करके बारह दिनोंतक निराहार रहनेसे नरमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

अश्मपृष्ठे गयायां च निरविन्दे च पर्वते।
तृतीयां क्रौञ्चपद्यां च ब्रह्महत्यां विशुध्यते ॥ ४२ ॥

गयामें अश्मपृष्ठ (प्रेतशिला) पर पितरोंको पिण्ड देनेसे पहली, निरविन्द पर्वतपर पिण्डदान करनेसे दूसरी तथा क्रौञ्चपदी नामक तीर्थमें पिण्ड अर्पित करनेसे तीसरी ब्रह्महत्याको दूर करके मनुष्य सर्वथा शुद्ध हो जाता है ॥ ४२ ॥

कलविङ्क उपस्पृश्य विद्याच्च बहुशो जलम्।
अग्नेः पुरे नरः स्नात्वा अग्निकन्यापुरे वसेत् ॥ ४३ ॥

कलविङ्क तीर्थमें स्नान करनेसे अनेक तीर्थोंमें गोते लगानेका फल मिलता है। अग्निपुर तीर्थमें स्नान करनेसे अग्निकन्यापुरका निवास प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥

करवीरपुरे स्नात्वा विशालायां कृतोदकः।
देवह्रद उपस्पृश्य ब्रह्मभूतो विराजते ॥ ४४ ॥

करवीरपुरमें स्नान, विशालामें तर्पण और देवह्रदमें मज्जन करनेसे मनुष्य ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ ४४ ॥

पुनरावर्तनन्दां च महानन्दां च सेव्य वै।
नन्दने सेव्यते दान्तस्त्वप्सरोभिरहिंसकः ॥ ४५ ॥

जो सब प्रकारकी हिंसाका त्याग करके जितेन्द्रियभावसे आवर्तनन्दा और महानन्दा तीर्थका सेवन करता है, उसकी स्वर्गस्थ नन्दनवनमें अप्सराएँ सेवा करती हैं ॥ ४५ ॥

उर्वशीं कृत्तिकायोगे गत्वा चैव समाहितः।
लौहित्ये विधिवत् स्नात्वा पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ ४६ ॥

जो कार्तिककी पूर्णिमाको कृत्तिकाका योग होनेपर एकाग्र-

चित्त हो उर्वशी तीर्थ और लौहित्य तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करता है, उसे पुण्डरीक यज्ञका फल मिलता है ॥ ४६ ॥

रामह्रद उपस्पृश्य विपाशायां कृतोदकः।
द्वादशाहं निराहारः कल्मषाद् विप्रमुच्यते ॥ ४७ ॥

रामह्रद (परशुराम-कुण्ड) में स्नान और विपाशा नदीमें तर्पण करके बारह दिनोंतक उपवास करनेवाला पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ४७ ॥

महाह्रद उपस्पृश्य शुद्धेन मनसा नरः।
एकमासं निराहारो जमदग्निगतिं लभेत् ॥ ४८ ॥

महाह्रदमें स्नान करके यदि मनुष्य शुद्ध-चित्तसे वहाँ एक मासतक निराहार रहे तो उसे जमदग्निके समान सद्गति प्राप्त होती है ॥ ४८ ॥

विन्ध्ये संताप्य चात्मानं सत्यसंधस्त्वहिंसकः।
विनयात्तप आस्थाय मासेनैकेन सिध्यति ॥ ४९ ॥

जो हिंसाका त्याग करके सत्यप्रतिज्ञ होकर विन्ध्याचलमें अपने शरीरको कष्ट दे विनीतभावसे तपस्याका आश्रय लेकर रहता है, उसे एक महीनेमें सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ ४९ ॥

नर्मदायामुपस्पृश्य तथा शूर्पारकोदके।
एकपक्षं निराहारो राजपुत्रो विधीयते ॥ ५० ॥

नर्मदा नदी और शूर्पारक क्षेत्रके जलमें स्नान करके एक पक्षतक निराहार रहनेवाला मनुष्य दूसरे जन्ममें राजकुमार होता है ॥ ५० ॥

जम्बूमार्गे त्रिभिर्मासैः संयतः सुसमाहितः।
अहोरात्रेण चैकेन सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ५१ ॥

साधारण भावसे तीन महीनेतक जम्बूमार्गमें स्नान करनेसे तथा इन्द्रियसंयमपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ एक ही दिन स्नान करनेसे भी मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ५१ ॥

कोकामुखे विगाह्याथ गत्वा चाञ्जलिकाश्रमम्।
शाकभक्षश्चीरवासाः कुमारीर्विन्दते दश ॥ ५२ ॥
वैवस्वतस्य सदनं न स गच्छेत् कदाचन।
यस्य कन्याह्रदे वासो देवलोकं स गच्छति ॥ ५३ ॥

जो कोकामुख तीर्थमें स्नान करके अञ्जलिकाश्रमतीर्थमें जाकर सागका भोजन करता हुआ चीरवस्त्र धारण करके कुछ कालतक निवास करता है, उसे दस बार कन्याकुमारी तीर्थके सेवनका फल प्राप्त होता है तथा उसे कभी यमराजके घर नहीं जाना पड़ता। जो कन्याकुमारी तीर्थमें निवास करता है, वह मृत्युके पश्चात् देवलोकमें जाता है ॥५२-५३॥

प्रभासे त्वेकरात्रेण अमावास्यां समाहितः।
सिध्यते तु महाबाहो यो नरो जायतेऽमरः ॥ ५४ ॥

महाबाहो ! जो एकाग्रचित्त होकर अमावास्याको प्रभासतीर्थका सेवन करता है, उसे एक ही रातमें सिद्धि मिल जाती है तथा वह मृत्युके पश्चात् देवता होता है ॥ ५४ ॥

उज्जानक उपस्पृश्य आर्ष्टिषेणस्य चाश्रमे।
पिङ्गायाश्चाश्रमे स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५५ ॥

उज्जानकतीर्थमें स्नान करके आर्ष्टिषेणके आश्रम तथा पिङ्गाके आश्रममें गोता लगानेसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ५५ ॥

कुल्यायां समुपस्पृश्य जप्त्वा चैवाघमर्षणम्।
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य कुल्यामें स्नान करके अघमर्षण मन्त्रका जप करता है तथा तीन राततक वहाँ उपवासपूर्वक रहता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ ५६ ॥

पिण्डारक उपस्पृश्य एकरात्रोषितो नरः।
अग्निष्टोममवाप्नोति प्रभातां शर्वरीं शुचिः ॥ ५७ ॥

जो मानव पिण्डारक तीर्थमें स्नान करके वहाँ एक रात निवास करता है, वह प्रातःकाल होते ही पवित्र होकर अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त कर लेता है ॥ ५७ ॥

तथा ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम्।
पुण्डरीकमवाप्नोति उपस्पृश्य नरः शुचिः ॥ ५८ ॥

धर्मारण्यसे सुशोभित ब्रह्मसर तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान करके पवित्र हुआ मनुष्य पुण्डरीक यज्ञका फल पाता है ।५८।

मैनाके पर्वते स्नात्वा तथा संध्यामुपास्य च।
कामं जित्वा च वै मासं सर्वयज्ञफलं लभेत् ॥ ५९ ॥

मैनाक पर्वतपर एक महिनेतक स्नान और संध्योपासन करनेसे मनुष्य कामको जीतकर समस्त यज्ञोंका फल पा लेता है ॥ ५९ ॥

कालोदकं नन्दिकुण्डं तथा चोत्तरमानसम्।
अभ्येत्य योजनशताद् भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ ६० ॥

सौ योजन दूरसे आकर कालोदक, नन्दिकुण्ड तथा उत्तरमानस तीर्थमें स्नान करनेवाला मनुष्य यदि भ्रूणहत्यारा भी हो तो वह उस पापसे मुक्त हो जाता है ॥ ६० ॥

नन्दीश्वरस्य मूर्तिं तु दृष्ट्वा मुच्येत किल्बिषैः।
स्वर्गमार्गे नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ ६१ ॥

वहाँ नन्दीश्वरकी मूर्तिका दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। स्वर्गमार्गमें स्नान करनेसे वह ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ ६१ ॥

विख्यातो हिमवान् पुण्यः शङ्करश्वशुरो गिरिः।
आकरः सर्वरत्नानां सिद्धचारणसेवितः ॥ ६२ ॥

भगवान् शङ्करका श्वशुर हिमवान् पर्वत परम पवित्र और संसारमें विख्यात है। वह सब रत्नोंकी खान तथा सिद्ध और चारणोंसे सेवित है ॥ ६२ ॥

शरीरमुत्सृजेत् तत्र विधिपूर्वमनाशके ।
अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा यो वै वेदान्तगो द्विजः ॥ ६३ ॥
अभ्यर्च्य देवतास्तत्र नमस्कृत्य मुनींस्तथा ।
ततः सिद्धो दिवं गच्छेद् ब्रह्मलोकं सनातनम्॥ ६४ ॥

जो वेदान्तका ज्ञाता द्विज इस जीवनको नाशवान् समझकर उस पर्वतपर रहता और देवताओंका पूजन तथा मुनियोंको प्रणाम करके विधिपूर्वक अनशनके द्वारा अपने प्राणोंको त्याग देता है, वह सिद्ध होकर सनातन ब्रह्मलोकको प्राप्त हो जाता है ॥ ६३-६४ ॥

कामं क्रोधं च लोभं च यो जित्वा तीर्थमावसेत् ।
न तेन किञ्चिन्न प्राप्तं तीर्थाभिगमनाद् भवेत् ॥ ६५ ॥

जो काम, क्रोध और लोभको जीतकर तीर्थोंमें स्नान करता है, उसे उस तीर्थयात्राके पुण्यसे कोई वस्तु दुर्लभ नहीं रहती ॥ ६५ ॥

यान्यगम्यानि तीर्थानि दुर्गाणि विषमाणि च ।
मनसा तानि गम्यानि सर्वतीर्थसमीक्षया ॥ ६६ ॥

जो समस्त तीर्थोंके दर्शनकी इच्छा रखता हो, वह दुर्गम और विषम होनेके कारण जिन तीर्थोंमें शरीरसे न जा सके, वहाँ मनसे यात्रा करे ॥ ६६ ॥

इदं मेध्यमिदं पुण्यमिदं स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
इदं रहस्यं वेदानामाप्लाव्यं पावनं तथा ॥ ६७ ॥

यह तीर्थ-सेवनका कार्य परम पवित्र, पुण्यप्रद, स्वर्गकी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन और वेदोंका गुप्त रहस्य है । प्रत्येक तीर्थ पावन और स्नानके योग्य होता है ॥ ६७ ॥

इदं दद्याद् द्विजातीनां साधोरात्महितस्य च ।
सुहृदां च जपेत् कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य च ॥ ६८ ॥

तीर्थोंका यह माहात्म्य द्विजातियोंके, अपने हितैषी श्रेष्ठ पुरुषके, सुहृदोंके तथा अनुगत शिष्यके ही कानमें डालना चाहिये ॥ ६८ ॥

दत्तवान् गौतमस्यैतदङ्गिरा वै महातपाः ।
अङ्गिराः समनुज्ञातः काश्यपेन च धीमता ॥ ६९ ॥

सबसे पहले महातपस्वी अङ्गिराने गौतमको इसका उपदेश दिया । अङ्गिराको बुद्धिमान् काश्यपजीसे इसका ज्ञान प्राप्त हुआ था ॥ ६९ ॥

महर्षीणामिदं जप्यं पावनानां तथोत्तमम् ।
जपंश्चाभ्युत्थितः शश्वन्निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात्॥ ७० ॥

यह कथा महर्षियोंके पढ़ने योग्य और पावन वस्तुओंमें परम पवित्र है । जो सावधान एवं उत्साहयुक्त होकर सदा इसका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ७० ॥

इदं यश्चापि शृणुयाद् रहस्यं त्वङ्गिरोमतम् ।
उत्तमे च कुले जन्म लभेज्जातीश्च संस्मरेत् ॥ ७१ ॥

जो अङ्गिरामुनिके इस रहस्यमय मतको सुनता है, वह उत्तम कुलमें जन्म पाता और पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करता है ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि आङ्गिरसतीर्थयात्रायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें आङ्गिरसतीर्थयात्राविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

श्रीगङ्गाजीके माहात्म्यका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

बृहस्पतिसमं बुद्ध्या क्षमया ब्रह्मणः समम् ।
पराक्रमे शक्रसममादित्यसमतेजसम् ॥ १ ॥
गाङ्गेयमर्जुनेनाजौ निहतं भूरितेजसम् ।
भ्रातृभिः सहितोऽन्यैश्च पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः॥ २ ॥
शयानं वीरशयने कालाकाङ्क्षिणमच्युतम् ।
आजग्मुर्भरतश्रेष्ठं द्रष्टुकामा महर्षयः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जो बुद्धिमें बृहस्पतिके, क्षमामें ब्रह्माजीके, पराक्रममें इन्द्रके और तेजमें सूर्यके समान थे, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले वे महातेजस्वी गङ्गानन्दन भीष्मजी जब अर्जुनके हाथसे मारे जाकर युद्धमें वीरशय्यापर पड़े हुए कालकी बाट जोह रहे थे और भाइयों तथा अन्य लोगोंसहित राजा युधिष्ठिर उनसे तरह-तरहके प्रश्न कर रहे थे, उसी समय बहुत-से दिव्य महर्षि भीष्मजीको देखनेके लिये आये ॥ १–३ ॥

अत्रिर्वसिष्ठोऽथ भृगुः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
अङ्गिरा गौतमोऽगस्त्यः सुमतिः सुयतात्मवान्॥ ४ ॥
विश्वामित्रः स्थूलशिराः संवर्तः प्रमतिर्दमः ।
बृहस्पत्युशनोव्यासाश्च्यवनः काश्यपो ध्रुवः ॥ ५ ॥
दुर्वासा जमदग्निश्च मार्कण्डेयोऽथ गालवः ।
भरद्वाजोऽथ रैभ्यश्च यवक्रीतस्त्रितस्तथा ॥ ६ ॥
स्थूलाक्षः शबलाक्षश्च कण्वो मेधातिथिः कृशः ।
नारदः पर्वतश्चैव सुधन्वाथैकतो द्विजः ॥ ७ ॥

नितम्भूर्भुवनो धौम्यः शतानन्दोऽकृतव्रणः ।
जामदग्न्यस्तथा रामः कचश्चेत्येवमादयः ॥ ८ ॥

उनके नाम ये हैं—अत्रि, वसिष्ठ, भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा, गौतम, अगस्त्य, संयतचित्त सुमति, विश्वामित्र, स्थूलशिरा, संवर्त, प्रमति, दम, बृहस्पति, शुक्राचार्य, व्यास, च्यवन, काश्यप, ध्रुव, दुर्वासा, जमदग्नि, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, रैभ्य, यवक्रीत, त्रित, स्थूलाक्ष, शबलाक्ष, कण्व, मेधातिथि, कृश, नारद, पर्वत, सुधन्वा, एकत, नितम्भू, भुवन, धौम्य, शतानन्द, अकृतव्रण, जमदग्निनन्दन परशुराम और कच ॥ ४-८ ॥

समागता महात्मानो भीष्मं द्रष्टुं महर्षयः ।
तेषां महात्मनां पूजामागतानां युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
भ्रातृभिः सहितश्चक्रे यथावदनुपूर्वशः ।

ये सभी महात्मा महर्षि जब भीष्मजीको देखनेके लिये वहाँ पधारे, तब भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरने उनकी क्रमशः विधिवत् पूजा की ॥ ९½ ॥

ते पूजिताः सुखासीनाः कथाश्चक्रुर्महर्षयः ॥ १० ॥
भीष्माश्रिताः सुमधुराः सर्वेन्द्रियमनोहराः ।

पूजनके पश्चात् वे महर्षि सुखपूर्वक बैठकर भीष्मजीसे सम्बन्ध रखनेवाली मधुर एवं मनोहर कथाएँ कहने लगे । उनकी वे कथाएँ सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनको मोह लेती थीं ॥ १०½ ॥

भीष्मस्तेषां कथाः श्रुत्वा ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥
मेने दिविष्ठमात्मानं तुष्ट्या परमया युतः ।

शुद्ध अन्तःकरणवाले उन ऋषि-मुनियोंकी बातें सुनकर भीष्मजी बहुत संतुष्ट हुए और अपनेको स्वर्गमें ही स्थित मानने लगे ॥ ११½ ॥

ततस्ते भीष्ममामन्त्र्य पाण्डवांश्च महर्षयः ॥ १२ ॥
अन्तर्धानं गताः सर्वे सर्वेषामेव पश्यताम् ।

तदनन्तर वे महर्षिगण भीष्मजी और पाण्डवोंकी अनुमति लेकर सबके देखते-देखते ही वहाँसे अदृश्य हो गये ॥१२½॥

तानृषीन् सुमहाभागानन्तर्धानगतानपि ॥ १३ ॥
पाण्डवास्तुष्टुवुः सर्वे प्रणेमुश्च मुहुर्मुहुः ।

उन महाभाग मुनियोंके अदृश्य हो जानेपर भी समस्त पाण्डव बारंबार उनकी स्तुति और उन्हें प्रणाम करते रहे ॥

प्रसन्नमनसः सर्वे गाङ्गेयं कुरुसत्तमम् ॥ १४ ॥
उपतस्थुर्यथोद्यन्तमादित्यं मन्त्रकोविदाः ।

जैसे वेदमन्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मण उगते हुए सूर्यका उपस्थान करते हैं, उसी प्रकार प्रसन्न चित्त हुए समस्त पाण्डव कुरुश्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मको प्रणाम करने लगे ॥ १४½ ॥

प्रभावात् तपसस्तेषामृषीणां वीक्ष्य पाण्डवाः ॥ १५ ॥
प्रकाशन्तो दिशः सर्वा विस्मयं परमं ययुः ।

उन ऋषियोंकी तपस्याके प्रभावसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित होती देख पाण्डवोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १५½॥

महाभाग्यं परं तेषामृषीणामनुचिन्त्य ते ।
पाण्डवाः सह भीष्मेण कथाश्चक्रुस्तदाश्रयाः ॥ १६ ॥

उन महर्षियोंके महान् सौभाग्यका चिन्तन करके पाण्डव भीष्मजीके साथ उन्हींके सम्बन्धमें बातें करने लगे ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

कथान्ते शिरसा पादौ स्पृष्ट्वा भीष्मस्य पाण्डवः ।
धर्म्यं धर्मसुतः प्रश्नं पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बातचीतके अन्तमें भीष्मके चरणोंमें सिर रखकर धर्मपुत्र पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने यह धर्मानुकूल प्रश्न पूछा—॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

के देशाः के जनपदा आश्रमाः के च पर्वताः ।
प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यः पितामह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! कौन-से देश, कौन-से प्रान्त, कौन-कौन आश्रम, कौन-से पर्वत और कौन-कौन-सी नदियाँ पुण्यकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ समझने योग्य हैं ? ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शिलोञ्छवृत्तेः संवादं सिद्धस्य च युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें शिलोञ्छ-वृत्तिसे जीविका चलानेवाले एक पुरुषका किसी सिद्ध पुरुषके साथ जो संवाद हुआ था, वह प्राचीन इतिहास सुनो ॥१९॥

इमां कश्चित् परिक्रम्य पृथिवीं शैलभूषणाम् ।
असकृद् द्विपदां श्रेष्ठः श्रेष्ठस्य गृहमेधिनः ॥ २० ॥
शिलवृत्तेर्गृहं प्राप्तः स तेन विधिनार्चितः ।
उवास रजनीं तत्र सुमुखः सुखभागृषिः ॥ २१ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ कोई सिद्ध पुरुष शैलमालाओंसे अलंकृत इस समूची पृथ्वीकी अनेक बार परिक्रमा करनेके पश्चात् शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाले एक श्रेष्ठ गृहस्थके घर गया । उस गृहस्थने उसकी विधिपूर्वक पूजा की । वह समागत ऋषि वहाँ बड़े सुखसे रातभर रहा । उसके मुखपर प्रसन्नता छा रही थी ॥ २०-२१ ॥

शिलवृत्तिस्तु यत् कृत्यं प्रातस्तत् कृतवाञ्छुचिः ।
कृतकृत्यमुपातिष्ठत् सिद्धं तमतिथिं तदा ॥ २२ ॥

सबेरा होनेपर वह शिलवृत्तिवाला गृहस्थ स्नान आदिसे पवित्र होकर प्रातःकालीन नित्यकर्ममें लग गया । नित्यकर्म पूर्ण करके वह उस सिद्ध अतिथिकी सेवामें उपस्थित हुआ।

इसी बीचमें अतिथिने भी प्रातःकालके स्नान-पूजन आदि आवश्यक कृत्य पूर्ण कर लिये थे ॥ २२ ॥

तौ समेत्य महात्मानौ सुखासीनौ कथाः शुभाः ।
चक्रतुर्वेदसम्बद्धास्तच्छेषकृतलक्षणाः ॥ २३ ॥

वे दोनों महात्मा एक दूसरेसे मिलकर सुखपूर्वक बैठे तथा वेदोंसे सम्बद्ध और वेदान्तसे उपलक्षित शुभ चर्चाएँ करने लगे ॥ २३ ॥

शिलवृत्तिः कथान्ते तु सिद्धमामन्त्र्य यत्नतः ।
प्रश्नं पप्रच्छ मेधावी यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २४ ॥

बातचीत पूरी होनेपर शिलोञ्छवृत्तिवाले बुद्धिमान् गृहस्थ ब्राह्मणने सिद्धको सम्बोधित करके यत्नपूर्वक वही प्रश्न पूछा, जो तुम मुझसे पूछ रहे हो ॥ २४ ॥

शिलवृत्तिरुवाच

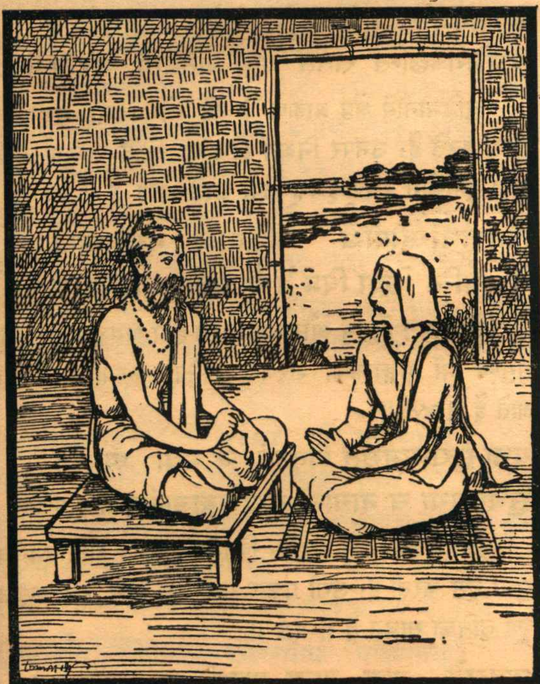
के देशाः के जनपदाः केऽऽश्रमाः के च पर्वताः ।
प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यस्तदुच्यताम् ॥ २५ ॥

शिलवृत्तिवाले ब्राह्मणने पूछा—ब्रह्मन् ! कौन-से देश, कौन-से जनपद, कौन-कौन आश्रम, कौन-से पर्वत और कौन-कौन-सी नदियाँ पुण्यकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ समझने योग्य हैं ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ २५ ॥

सिद्ध उवाच

ते देशास्ते जनपदास्तेऽऽश्रमास्ते च पर्वताः ।
येषां भागीरथी गङ्गा मध्येनैति सरिद्वरा ॥ २६ ॥

सिद्धने कहा—ब्रह्मन् ! वे ही देश, जनपद, आश्रम और पर्वत पुण्यकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनके बीचसे होकर सरिताओंमें उत्तम भागीरथी गङ्गा बहती हैं ॥ २६ ॥



तपसा ब्रह्मचर्येण यज्ञैस्त्यागेन वा पुनः ।
गतिं तां न लभेज्जन्तुर्गङ्गां संसेव्य यां लभेत् ॥ २७ ॥

गङ्गाजीका सेवन करनेसे जीव जिस उत्तम गतिको प्राप्त करता है, उसे वह तपस्या, ब्रह्मचर्य, यज्ञ अथवा त्यागसे भी नहीं पा सकता ॥ २७ ॥

स्पृष्टानि येषां गाङ्गेयैस्तोयैर्गात्राणि देहिनाम् ।
न्यस्तानि न पुनस्तेषां त्यागः स्वर्गाद् विधीयते ॥ २८ ॥

जिन देहधारियोंके शरीर गङ्गाजीके जलसे भीगते हैं अथवा मरनेपर जिनकी हड्डियाँ गङ्गाजीमें डाली जाती हैं, वे कभी स्वर्गसे नीचे नहीं गिरते ॥ २८ ॥

सर्वाणि येषां गाङ्गेयैस्तोयैः कार्याणि देहिनाम् ।
गां त्यक्त्वा मानवा विप्र दिवि तिष्ठन्ति ते जनाः ॥ २९ ॥

विप्रवर ! जिन देहधारियोंके सम्पूर्ण कार्य गङ्गाजलसे ही सम्पन्न होते हैं, वे मानव मरनेके बाद पृथ्वीका निवास छोड़कर स्वर्गमें विराजमान होते हैं ॥ २९ ॥

पूर्वे वयसि कर्माणि कृत्वा पापानि ये नराः ।
पश्चाद् गङ्गां निषेवन्ते तेऽपि यान्त्युत्तमां गतिम् ॥ ३० ॥

जो मनुष्य जीवनकी पहली अवस्थामें पापकर्म करके भी पीछे गङ्गाजीका सेवन करने लगते हैं, वे भी उत्तम गतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

स्नातानां शुचिभिस्तोयैर्गाङ्गेयैः प्रयतात्मनाम् ।
व्युष्टिर्भवति या पुंसां न सा क्रतुशतैरपि ॥ ३१ ॥

गङ्गाजीके पवित्र जलसे स्नान करके जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, उन पुरुषोंके पुण्यकी जैसी वृद्धि होती है, वैसी सैकड़ों यज्ञ करनेसे भी नहीं हो सकती ॥ ३१ ॥

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गातोयेषु तिष्ठति ।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥ ३२ ॥

मनुष्यकी हड्डी जितने समयतक गङ्गाजीके जलमें पड़ी रहती है, उतने हजार वर्षोंतक वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ३२ ॥

अपहत्य तमस्तीव्रं यथा भात्युदये रविः ।
तथापहत्य पाप्मानं भाति गङ्गाजलोक्षितः ॥ ३३ ॥

जैसे सूर्य उदयकालमें घने अन्धकारको विदीर्ण करके प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार गङ्गाजलमें स्नान करनेवाला पुरुष अपने पापोंको नष्ट करके सुशोभित होता है ॥ ३३ ॥

विसोमा इव शर्वर्यो विपुष्पास्तरवो यथा ।
तद्वद् देशा दिशश्चैव हीना गङ्गाजलैः शिवैः ॥ ३४ ॥

जैसे बिना चाँदनीकी रात और बिना फूलोंके वृक्ष शोभा नहीं पाते, उसी प्रकार गङ्गाजीके कल्याणमय जलसे वञ्चित हुए देश और दिशाएँ भी शोभा एवं सौभाग्यसे हीन हैं ॥ ३४ ॥

वर्णाश्रमा यथा सर्वे धर्मज्ञानविवर्जिताः।
क्रतवश्च यथासोमास्तथा गङ्गां विना जगत्॥ ३५॥

जैसे धर्म और ज्ञानसे रहित होनेपर सम्पूर्ण वर्णों और आश्रमोंकी शोभा नहीं होती है तथा जैसे सोमरसके बिना यज्ञ सुशोभित नहीं होते, उसी प्रकार गङ्गाके बिना जगत्की शोभा नहीं है ॥ ३५ ॥

यथा हीनं नभोऽर्केण भूः शैलैः खं च वायुना।
तथा देशा दिशश्चैव गङ्गाहीना न संशयः॥ ३६॥

जैसे सूर्यके बिना आकाश, पर्वतोंके बिना पृथ्वी और वायुके बिना अन्तरिक्षकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार जो देश और दिशाएँ गङ्गाजीसे रहित हैं, उनकी भी शोभा नहीं होती—इसमें संशय नहीं है ॥ ३६ ॥

त्रिषु लोकेषु ये केचित् प्राणिनः सर्व एव ते।
तर्प्यमाणाः परां तृप्तिं यान्ति गङ्गाजलैः शुभैः॥ ३७॥

तीनों लोकोंमें जो कोई भी प्राणी हैं, उन सबका गङ्गाजीके शुभ जलसे तर्पण करनेपर वे सब परम तृप्ति लाभ करते हैं ॥

यस्तु सूर्येण निष्टप्तं गाङ्गेयं पिबते जलम्।
गवां निर्हारनिर्मुक्ताद् यावकात् तद् विशिष्यते॥३८॥

जो मनुष्य सूर्यकी किरणोंसे तपे हुए गङ्गाजलका पान करता है, उसका वह जलपान गायके गोबरसे निकले हुए जौकी लप्सी खानेसे अधिक पवित्रकारक है ॥ ३८ ॥

इन्दुव्रतसहस्रं तु यश्चरेत् कायशोधनम्।
पिबेद् यश्चापि गङ्गाम्भः समौ स्यातां न वा समौ॥३९॥

जो शरीरको शुद्ध करनेवाले एक सहस्र चान्द्रायण व्रतोंका अनुष्ठान करता है और जो केवल गङ्गाजल पीता है, वे दोनों समान ही हैं अथवा यह भी हो सकता है कि दोनों समान न हों (गङ्गाजल पीनेवाला बढ़ जाय) ॥ ३९ ॥

तिष्ठेद् युगसहस्रं तु पदेनैकेन यः पुमान्।
मासमेकं तु गङ्गायां समौ स्यातां न वा समौ॥ ४०॥

जो पुरुष एक हजार युगोंतक एक पैरसे खड़ा होकर तपस्या करता है और जो एक मासतक गङ्गातटपर निवास करता है, वे दोनों समान हो सकते हैं अथवा यह भी सम्भव है कि समान न हों ॥ ४० ॥

लंबतेऽवाक्शिरा यस्तु युगानामयुतं पुमान्।
तिष्ठेद् यथेष्टं यश्चापि गङ्गायां स विशिष्यते॥ ४१॥

जो मनुष्य दस हजार युगोंतक नीचे सिर करके वृक्षमें लटका रहे और जो इच्छानुसार गङ्गाजीके तटपर निवास करे, उन दोनोंमें गङ्गाजीपर निवास करनेवाला ही श्रेष्ठ है ॥ ४१ ॥

अग्नौ प्रास्तं प्रधूयेत यथा तूलं द्विजोत्तम।
तथा गङ्गावगाढस्य सर्वपापं प्रधूयते॥ ४२॥

द्विजश्रेष्ठ ! जैसे आगमें डाली हुई रूई तुरंत जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार गङ्गामें गोता लगानेवाले मनुष्यके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

भूतानामिह सर्वेषां दुःखोपहतचेतसाम्।
गतिमन्वेषमाणानां न गङ्गासदृशी गतिः॥ ४३॥

इस संसारमें दुःखसे व्याकुलचित्त होकर अपने लिये कोई आश्रय ढूँढ़नेवाले समस्त प्राणियोंके लिये गङ्गाजीके समान कोई दूसरा सहारा नहीं है ॥ ४३ ॥

भवन्ति निर्विषाः सर्पा यथा तार्क्ष्यस्य दर्शनात्।
गङ्गाया दर्शनात् तद्वत् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ४४॥

जैसे गरुड़को देखते ही सारे सर्पोंके विष झड़ जाते हैं, उसी प्रकार गङ्गाजीके दर्शनमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ४४ ॥

अप्रतिष्ठाश्च ये केचिदधर्मशरणाश्च ये।
तेषां प्रतिष्ठा गङ्गेह शरणं शर्म वर्म च॥ ४५॥

जगत्में जिनका कहीं आधार नहीं है तथा जिन्होंने धर्मकी शरण नहीं ली है, उनका आधार और उन्हें शरण देनेवाली श्रीगङ्गाजी ही हैं। वे ही उसका कल्याण करनेवाली तथा कवचकी भाँति उसे सुरक्षित रखनेवाली हैं ॥ ४५ ॥

प्रकृष्टैरशुभैर्ग्रस्तानने कैः पुरुषाधमान्।
पततो नरके गङ्गा संश्रितान् प्रेत्य तारयेत्॥ ४६॥

जो नीच मानव अनेक बड़े-बड़े अमङ्गलकारी पापकर्मोंसे ग्रस्त होकर नरकमें गिरनेवाले हैं, वे भी यदि गङ्गाजीकी शरणमें आ जाते हैं तो ये मरनेके बाद उनका उद्धार कर देती हैं ॥

ते संविभक्ता मुनिभिर्नूनं देवैः सवासवैः।
येऽभिगच्छन्ति सततं गङ्गां मतिमतां वर॥ ४७॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ! जो लोग सदा गङ्गाजीकी यात्रा करते हैं, उनपर निश्चय ही इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता तथा मुनिलोग पृथक्-पृथक् कृपा करते आये हैं ॥ ४७ ॥

विनयाचारहीनाश्च अशिवाश्च नराधमाः।
ते भवन्ति शिवा विप्र ये वै गङ्गामुपाश्रिताः॥ ४८॥

विप्रवर ! विनय और सदाचारसे हीन अमङ्गलकारी नीच मनुष्य भी गङ्गाजीकी शरणमें जानेपर कल्याणस्वरूप हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

यथा सुराणाममृतं पितॄणां च यथा स्वधा।
सुधा यथा च नागानां तथा गङ्गाजलं नृणाम्॥ ४९॥

जैसे देवताओंको अमृत, पितरोंको स्वधा और नागोंको सुधा तृप्त करती है, उसी प्रकार मनुष्योंके लिये गङ्गाजल ही पूर्ण तृप्तिका साधन है ॥ ४९ ॥

उपासते यथा बाला मातरं क्षुधयार्दिताः।

श्रेयस्कामास्तथा गङ्गामुपासन्तीह देहिनः ॥ ५० ॥

जैसे भूखसे पीड़ित हुए बच्चे माताके पास जाते हैं, उसी प्रकार कल्याणकी इच्छा रखनेवाले प्राणी इस जगत्में गङ्गाजीकी उपासना करते हैं ॥ ५० ॥

स्वायम्भुवं यथा स्थानं सर्वेषां श्रेष्ठमुच्यते ।
स्नातानां सरितां श्रेष्ठा गङ्गा तद्वदिहोच्यते ॥ ५१ ॥

जैसे ब्रह्मलोक सब लोकोंसे श्रेष्ठ बताया जाता है, वैसे ही स्नान करनेवाले पुरुषोंके लिये गङ्गाजी ही सब नदियोंमें श्रेष्ठ कही गयी हैं ॥ ५१ ॥

यथोपजीविनां धेनुर्देवादीनां धरा स्मृता ।
तथोपजीविनां गङ्गा सर्वप्राणभृतामिह ॥ ५२ ॥

जैसे धेनुस्वरूपा पृथ्वी उपजीवी देवता आदिके लिये आदरणीय है, उसी प्रकार इस जगत्में गङ्गा समस्त उपजीवी प्राणियोंके लिये आदरणीय हैं ॥ ५२ ॥

देवाः सोमार्कसंस्थानि यथा सत्रादिभिर्मखैः ।
अमृतान्युपजीवन्ति तथा गङ्गाजलं नराः ॥ ५३ ॥

जैसे देवता सत्र आदि यज्ञोंद्वारा चन्द्रमा और सूर्यमें स्थित अमृतसे आजीविका चलाते हैं, उसी प्रकार संसारके मनुष्य गङ्गाजलका सहारा लेते हैं ॥ ५३ ॥

जाह्नवीपुलिनोत्थाभिः सिकताभिः समुक्षितम् ।
आत्मानं मन्यते लोको दिविष्ठमिव शोभितम् ॥ ५४ ॥

गङ्गाजीके तटसे उड़े हुए बालुका-कणोंसे अभिषिक्त हुए अपने शरीरको ज्ञानी पुरुष स्वर्गलोकमें स्थित हुआ-सा शोभासम्पन्न मानता है ॥ ५४ ॥

जाह्नवीतीरसम्भूतां मृदं मूर्ध्ना बिभर्ति यः ।
बिभर्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय निर्मलम् ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य गङ्गाके तीरकी मिट्टी अपने मस्तकमें लगाता है, वह अज्ञानान्धकारका नाश करनेके लिये सूर्यके समान निर्मल स्वरूप धारण करता है ॥ ५५ ॥

गङ्गोर्मिभिरथो दिग्धः पुरुषं पवनो यदा ।
स्पृशते सोऽस्य पाप्मानं सद्य एवापकर्षति ॥ ५६ ॥

गङ्गाकी तरङ्गमालाओंसे भीगकर बहनेवाली वायु जब मनुष्यके शरीरका स्पर्श करती है, उसी समय वह उसके सारे पापोंको नष्ट कर देती है ॥ ५६ ॥

व्यसनैरभितप्तस्य नरस्य विनशिष्यतः ।
गङ्गादर्शनजा प्रीतिर्व्यसनान्यपकर्षति ॥ ५७ ॥

दुर्व्यसनजनित दुःखोंसे संतप्त होकर मरणासन्न हुआ मनुष्य भी यदि गङ्गाजीका दर्शन करे तो उसे इतनी प्रसन्नता होती है कि उसकी सारी पीड़ा तत्काल नष्ट हो जाती है ॥

हंसारावैः कोकरवै रवैरन्यैश्च पक्षिणाम् ।
पस्पर्ध गङ्गा गन्धर्वान् पुलिनैश्च शिलोच्चयान् ॥ ५८ ॥

हंसोंकी मीठी वाणी, चक्रवाकोंके सुमधुर शब्द तथा अन्यान्य पक्षियोंके कलरवोंद्वारा गङ्गाजी गन्धर्वोंसे होड़ लगाती हैं तथा अपने ऊँचे-ऊँचे तटोंद्वारा पर्वतोंके साथ स्पर्धा करती हैं ॥

हंसादिभिः सुबहुभिर्विविधैः पक्षिभिर्वृताम् ।
गङ्गां गोकुलसम्बाधां दृष्ट्वा स्वर्गोऽपि विस्मृतः॥ ५९ ॥

हंस आदि बहुसंख्यक एवं विविध पक्षियोंसे घिरी हुई तथा गौओंके समुदायसे व्याप्त हुई गङ्गाजीको देखकर मनुष्य स्वर्गलोकको भी भूल जाता है ॥ ५९ ॥

न सा प्रीतिर्दिविष्ठस्य सर्वकामानुपाश्नतः ।
सम्भवेद् या परा प्रीतिर्गङ्गायाः पुलिने नृणाम् ॥ ६० ॥

गङ्गाजीके तटपर निवास करनेसे मनुष्योंको जो परम प्रीति—अनुपम आनन्द मिलता है, वह स्वर्गमें रहकर सम्पूर्ण भोगोंका अनुभव करनेवाले पुरुषको भी नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ६० ॥

वाङ्मनःकर्मजैर्ग्रस्तः पापैरपि पुमानिह ।
वीक्ष्य गङ्गां भवेत् पूतो अत्र मे नास्ति संशयः॥ ६१॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा होनेवाले पापोंसे ग्रस्त मनुष्य भी गङ्गाजीका दर्शन करने मात्रसे पवित्र हो जाता है—इसमें मुझे संशय नहीं है ॥ ६१ ॥

सप्तावरान् सप्त परान् पितॄंस्तेभ्यश्च ये परे ।
पुमांस्तारयते गङ्गां वीक्ष्य स्पृष्ट्वावगाह्य च ॥ ६२ ॥

गङ्गाजीका दर्शन, उनके जलका स्पर्श तथा उस जलके भीतर स्नान करके मनुष्य सात पीढ़ी पहलेके पूर्वजोंका और सात पीढ़ी आगे होनेवाली संतानोंका तथा इनसे भी ऊपरके पितरों और संतानोंका उद्धार कर देता है ॥ ६२ ॥

श्रुताभिलषिता पीता स्पृष्टा दृष्टावगाहिता ।
गङ्गा तारयते नृणामुभौ वंशौ विशेषतः ॥ ६३ ॥

जो पुरुष गङ्गाजीका माहात्म्य सुनता, उनके तटपर जानेकी अभिलाषा रखता, उनका दर्शन करता, जल पीता, स्पर्श करता तथा उनके भीतर गोते लगाता है, उसके दोनों कुलोंका भगवती गङ्गा विशेषरूपसे उद्धार कर देती हैं ॥ ६३॥

दर्शनात् स्पर्शनात् पानात् तथा गङ्गेति कीर्तनात् ।
पुनात्यपुण्यान् पुरुषाञ्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६४ ॥

गङ्गाजी अपने दर्शन, स्पर्श, जलपान तथा अपने गङ्गा-नामके कीर्तनसे सैकड़ों और हजारों पापियोंको तार देती हैं ॥

य इच्छेत् सफलं जन्म जीवितं श्रुतमेव च ।
स पितॄंस्तर्पयेद् गाङ्गमभिगम्य सुरांस्तथा ॥ ६५ ॥

जो अपने जन्म, जीवन और वेदाध्ययनको सफल बनाना चाहता हो, वह गङ्गाजीके पास जाकर उनके जलसे देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करे ॥ ६५ ॥

न सुतैर्न च वित्तेन कर्मणा न च तत्फलम् ।
प्राप्नुयात् पुरुषोऽत्यन्तं गङ्गां प्राप्य यदाप्नुयात् ॥ ६६ ॥

मनुष्य गङ्गास्नान करके जिस अक्षय फलको प्राप्त करता है, उसे पुत्रोंसे, धनसे तथा किसी कर्मसे भी नहीं पा सकता ॥

जात्यन्धैरिह तुल्यास्ते मृतैः पङ्गुभिरेव च ।
समर्था ये न पश्यन्ति गङ्गां पुण्यजलां शिवाम् ॥ ६७ ॥

जो सामर्थ्य होते हुए भी पवित्र जलवाली कल्याणमयी गङ्गाका दर्शन नहीं करते, वे जन्मके अन्धों, पंगुओं और मुर्दोंके समान हैं ॥ ६७ ॥

भूतभव्यभविष्यज्ञैर्महर्षिभिरुपस्थिताम् ।
देवैः सेन्द्रैश्च को गङ्गां नोपसेवेत मानवः ॥ ६८ ॥

भूत, वर्तमान और भविष्यके ज्ञाता महर्षि तथा इन्द्र आदि देवता भी जिनकी उपासना करते हैं, उन गङ्गाजीका सेवन कौन मनुष्य नहीं करेगा ? ॥ ६८ ॥

वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च यतिभिर्ब्रह्मचारिभिः ।
विद्यावद्भिः श्रितां गङ्गां पुमान् को नाम नाश्रयेत् ॥ ६९ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी और विद्वान् पुरुष भी जिनकी शरण लेते हैं, ऐसी गङ्गाजीका कौन मनुष्य आश्रय नहीं लेगा ? ॥ ६९ ॥

उत्क्रामद्भिश्च यः प्राणः प्रयतः शिष्टसम्मतः ।
चिन्तयेन्मनसा गङ्गां स गतिं परमां लभेत् ॥ ७० ॥

जो साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित तथा संयतचित्त मनुष्य प्राण निकलते समय मन-ही-मन गङ्गाजीका स्मरण करता है, वह परम उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ७० ॥

न भयेभ्यो भयं तस्य न पापेभ्यो न राजतः ।
आ देहपतनाद् गङ्गामुपास्ते यः पुमानिह ॥ ७१ ॥

जो पुरुष यहाँ जीवनपर्यन्त गङ्गाजीकी उपासना करता है, उसे भयदायक वस्तुओंसे, पापोंसे तथा राजासे भी भय नहीं होता ॥ ७१ ॥

महापुण्यां च गगनात् पतन्तीं वै महेश्वरः ।
दधार शिरसा गङ्गां तामेव दिवि सेवते ॥ ७२ ॥

भगवान् महेश्वरने आकाशसे गिरती हुई परम पवित्र गङ्गाजीको सिरपर धारण किया, उन्हींका वे स्वर्गमें सेवन करते हैं ॥ ७२ ॥

अलंकृतास्त्रयो लोकाः पथिभिर्विमलैस्त्रिभिः ।
यस्तु तस्या जलं सेवेत् कृतकृत्यः पुमान् भवेत् ॥ ७३ ॥

जिन्होंने तीन निर्मल मार्गोंद्वारा आकाश, पाताल तथा भूतल—इन तीन लोकोंको अलंकृत किया है, उन गङ्गाजीके जलका जो मनुष्य सेवन करेगा, वह कृतकृत्य हो जायगा ॥

दिवि ज्योतिर्यथाऽऽदित्यः पितॄणां चैव चन्द्रमाः ।
देवेशश्च तथा नृणां गङ्गा च सरितां तथा ॥ ७४ ॥

स्वर्गवासी देवताओंमें जैसे सूर्यका तेज श्रेष्ठ है, जैसे पितरोंमें चन्द्रमा तथा मनुष्योंमें राजाधिराज श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त सरिताओंमें गङ्गाजी उत्तम हैं ॥ ७४ ॥

मात्रा पित्रा सुतैर्दारैर्विमुक्तस्य धनेन वा ।
न भवेद्धि तथा दुःखं यथा गङ्गावियोगजम् ॥ ७५ ॥

(गङ्गाजीमें भक्ति रखनेवाले पुरुषको) माता, पिता, पुत्र, स्त्री और धनका वियोग होनेपर भी उतना दुःख नहीं होता, जितना गङ्गाके बिछोहसे होता है ॥ ७५ ॥

नारण्यैर्नेष्टविषयैर्न सुतैर्न धनागमैः ।
तथा प्रसादो भवति गङ्गां वीक्ष्य यथा भवेत् ॥ ७६ ॥

इसी प्रकार उसे गङ्गाजीके दर्शनसे जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी वनके दर्शनोंसे, अभीष्ट विषयसे, पुत्रोंसे तथा धनकी प्राप्तिसे भी नहीं होती ॥ ७६ ॥

पूर्णमिन्दुं यथा दृष्ट्वा नृणां दृष्टिः प्रसीदति ।
तथा त्रिपथगां दृष्ट्वा नृणां दृष्टिः प्रसीदति ॥ ७७ ॥

जैसे पूर्ण चन्द्रमाका दर्शन करके मनुष्योंकी दृष्टि प्रसन्न हो जाती है, उसी तरह त्रिपथगा गङ्गाका दर्शन करके मनुष्योंके नेत्र आनन्दसे खिल उठते हैं ॥ ७७ ॥

तद्भावस्तद्गतमनास्तन्निष्ठस्तत्परायणः ।
गङ्गां योऽनुगतो भक्त्या स तस्याः प्रियतां व्रजेत् ॥ ७८ ॥

जो गङ्गाजीमें श्रद्धा रखता, उन्हींमें मन लगाता, उन्हींके पास रहता, उन्हींका आश्रय लेता तथा भक्तिभावसे उन्हींका अनुसरण करता है, वह भगवती भागीरथीका स्नेह-भाजन होता है ॥ ७८ ॥

भूस्थैः खःस्थैर्दिविष्ठैश्च भूतैरुच्चावचैरपि ।
गङ्गा विगाह्या सततमेतत् कार्यतमं सताम् ॥ ७९ ॥

पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्गमें रहनेवाले छोटे-बड़े सभी प्राणियोंको चाहिये कि वे निरन्तर गङ्गाजीमें स्नान करें। यही सत्पुरुषोंका सबसे उत्तम कार्य है ॥ ७९ ॥

विश्वलोकेषु पुण्यत्वाद् गङ्गायाः प्रथितं यशः ।
यत्पुत्रान्सगरस्येतो भस्माख्याननयद् दिवम् ॥ ८० ॥

सम्पूर्ण लोकोंमें परम पवित्र होनेके कारण गङ्गाजीका यश विख्यात है; क्योंकि उन्होंने भस्मीभूत होकर पड़े हुए सगर-पुत्रोंको यहाँसे स्वर्गमें पहुँचा दिया ॥ ८० ॥

वाय्वीरिताभिः सुमनोहराभि-
र्द्रुताभिरत्यर्थसमुत्थिताभिः ।
गङ्गोर्मिभिर्भानुमतीभिरिद्धाः
सहस्ररश्मिप्रतिमा भवन्ति ॥ ८१ ॥

वायुसे प्रेरित हो बड़े वेगसे अत्यन्त ऊँचे उठनेवाली

गङ्गाजीकी परम मनोहर एवं कान्तिमती तरंगमालाओंसे नहाकर प्रकाशित होनेवाले पुरुष परलोकमें सूर्यके समान तेजस्वी होते हैं ॥ ८१ ॥

पयस्विनीं घृतिनीमत्युदारां
समृद्धिनीं वेगिनीं दुर्विगाह्याम्।
गङ्गां गत्वा यैः शरीरं विसृष्टं
गता धीरास्ते विबुधैः समत्वम् ॥ ८२ ॥

दुग्धके समान उज्ज्वल और घृतके समान स्निग्ध जलसे भरी हुई, परम उदार, समृद्धिशालिनी, वेगवती तथा अगाध जलराशिवाली गङ्गाजीके समीप जाकर जिन्होंने अपना शरीर त्याग दिया है, वे धीर पुरुष देवताओंके समान हो गये ॥

अन्धान् जडान् द्रव्यहीनांश्च गङ्गा
यशस्विनी बृहती विश्वरूपा।
देवैः सेन्द्रैर्मुनिभिर्मानवैश्च
निषेविता सर्वकामैर्युनक्ति ॥ ८३ ॥

इन्द्र आदि देवता, मुनि और मनुष्य जिनका सदा सेवन करते हैं, वे यशस्विनी, विशालकलेवरा, विश्वरूपा गङ्गादेवी अपनी शरणमें आये हुए अन्धों, जडों और धनहीनोंको भी सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंसे सम्पन्न कर देती हैं ॥८३॥

ऊर्जावतीं महापुण्यां मधुमतीं त्रिवर्त्मगाम्।
त्रिलोकगोप्त्रीं ये गङ्गां संश्रितास्ते दिवं गताः ॥ ८४ ॥

गङ्गाजी ओजस्विनी, परम पुण्यमयी, मधुर जलराशिसे परिपूर्ण तथा भूतल, आकाश और पाताल—इन तीन मार्गोंपर विचरनेवाली हैं। जो लोग तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाली गङ्गाजीकी शरणमें आये हैं, वे स्वर्गलोकको चले गये ॥८४॥

यो वत्स्यति द्रक्ष्यति वापि मर्त्य-
स्तस्मै प्रयच्छन्ति सुखानि देवाः।
तद्भाविताः स्पर्शनदर्शनेन
इष्टां गतिं तस्य सुरा दिशन्ति ॥ ८५ ॥

जो मनुष्य गङ्गाजीके तटपर निवास और उनका दर्शन करता है, उसे सब देवता सुख देते हैं। जो गङ्गाजीके स्पर्श और दर्शनसे पवित्र हो गये हैं, उन्हें गङ्गाजीसे ही महत्त्वको प्राप्त हुए देवता मनोवाञ्छित गति प्रदान करते हैं ॥ ८५ ॥

दक्षां पृश्निं बृहतीं विप्रकृष्टां
शिवामृद्धां भागिनीं सुप्रसन्नाम्।
विभावरीं सर्वभूतप्रतिष्ठां
गङ्गां गता ये त्रिदिवं गतास्ते ॥ ८६ ॥

गङ्गा जगत्‌का उद्धार करनेमें समर्थ हैं। भगवान् पृश्निगर्भकी जननी 'पृश्नि' के तुल्य हैं, विशाल हैं, सबसे उत्कृष्ट हैं, मङ्गलकारिणी हैं, पुण्यराशिसे समृद्ध हैं, शिवजीके द्वारा मस्तकपर धारित होनेके कारण सौभाग्यशालिनी तथा भक्तोंपर अत्यन्त प्रसन्न रहनेवाली हैं। इतना ही नहीं, पापोंका विनाश करनेके लिये वे कालरात्रिके समान हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी आश्रयभूत हैं। जो लोग गङ्गाजीकी शरणमें गये हैं, वे स्वर्गलोकमें जा पहुँचे हैं ॥ ८६ ॥

ख्यातिर्यस्याः खं दिवं गां च नित्यं
पुरा दिशो विदिशश्चावतस्थे।
तस्या जलं सेव्य सरिद्वराया
मर्त्याः सर्वे कृतकृत्या भवन्ति ॥ ८७ ॥

आकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, दिशा और विदिशाओंमें भी जिनकी ख्याति फैली हुई है, सरिताओंमें श्रेष्ठ उन भगवती भागीरथीके जलका सेवन करके सभी मनुष्य कृतार्थ हो जाते हैं ॥ ८७ ॥

इयं गङ्गेति नियतं प्रतिष्ठा
गुहस्य रुक्मस्य च गर्भयोषा।
प्रातस्त्रिवर्गा घृतवहा विपाप्मा
गङ्गावतीर्णा वियतो विश्वतोया ॥ ८८ ॥

'ये गङ्गाजी हैं'—ऐसा कहकर जो दूसरे मनुष्योंको उनका दर्शन कराता है, उसके लिये भगवती भागीरथी सुनिश्चित प्रतिष्ठा (अक्षय पद प्रदान करनेवाली) हैं। वे कार्तिकेय और सुवर्णको अपने गर्भमें धारण करनेवाली, पवित्र जलकी धारा बहानेवाली और पाप दूर करनेवाली हैं। वे आकाशसे पृथ्वीपर उतरी हुई हैं। उनका जल सम्पूर्ण विश्वके लिये पीने योग्य है। उनमें प्रातःकाल स्नान करनेसे धर्म, अर्थ और काम तीनों वर्गोंकी सिद्धि होती है ॥ ८८ ॥

(नारायणादक्षयात् पूर्वजाता
विष्णोः पादाच्छिशुमाराद् ध्रुवाच्च।
सोमात् सूर्यान्मेरुरूपाच्च विष्णोः
समागता शिवमूर्ध्नो हिमाद्रिम् ॥)

भगवती गङ्गा पूर्वकालमें अविनाशी भगवान् नारायणसे प्रकट हुई हैं। वे भगवान् विष्णुके चरण, शिशुमार चक्र, ध्रुव, सोम, सूर्य तथा मेरुरूप विष्णुसे अवतरित हो भगवान् शिवके मस्तकपर आयी हैं और वहाँसे हिमालय पर्वतपर गिरी हैं ॥

सुतावनीध्रस्य हरस्य भार्या
दिवो भुवश्चापि कृतानुरूपा।
भव्या पृथिव्यां भागिनी चापि राजन्
गङ्गा लोकानां पुण्यदा वै त्रयाणाम् ॥ ८९ ॥

गङ्गाजी गिरिराज हिमालयकी पुत्री, भगवान् शङ्करकी पत्नी तथा स्वर्ग और पृथ्वीकी शोभा हैं। राजन्! वे भूमण्डलपर निवास करनेवाले प्राणियोंका कल्याण करनेवाली, परम सौभाग्यवती तथा तीनों लोकोंको पुण्य प्रदान करनेवाली हैं ॥

मधुस्रवा घृतधारा घृतार्चि-
र्महोर्मिभिः शोभिता ब्राह्मणैश्च ।
दिवश्च्युता शिरसाऽऽत्ता शिवेन
गङ्गावनीध्रात् त्रिदिवस्य माता ॥ ९० ॥

श्रीभागीरथी मधुका स्रोत एवं पवित्र जलकी धारा बहाती हैं। जलती हुई घीकी ज्वालाके समान उनका उज्ज्वल प्रकाश है। वे अपनी उत्ताल तरङ्गों तथा जलमें स्नान-संध्या करनेवाले ब्राह्मणोंसे सुशोभित होती हैं। वे जब स्वर्गसे नीचेकी ओर चलीं, तब भगवान् शिवने उन्हें अपने सिरपर धारण किया। फिर हिमालय पर्वतपर आकर वहाँसे वे इस पृथ्वीपर उतरी हैं। श्रीगङ्गाजी स्वर्गलोककी जननी हैं ॥ ९० ॥

योनिर्वरिष्ठा विरजा वितन्वी
शय्याचिरा वारिवहा यशोदा ।
विश्वावती चाकृतिरिष्टसिद्धा
गङ्गोक्षितानां भुवनस्य पन्थाः ॥ ९१ ॥

सबका कारण, सबसे श्रेष्ठ, रजोगुणरहित, अत्यन्त सूक्ष्म, मरे हुए प्राणियोंके लिये सुखद शय्या, तीव्र वेगसे बहनेवाली, पवित्र जलका स्रोत बहानेवाली, यश देनेवाली, जगत्की रक्षा करनेवाली, सत्स्वरूपा तथा अभीष्टको सिद्ध करनेवाली भगवती गङ्गा अपने भीतर स्नान करनेवालोंके लिये स्वर्गका मार्ग बन जाती हैं ॥ ९१ ॥

क्षान्त्या मह्या गोपने धारणे च
दीप्त्या कृशानोस्तपनस्य चैव ।
तुल्या गङ्गा सम्मता ब्राह्मणानां
गुहस्य ब्रह्मण्यतया च नित्यम् ॥ ९२ ॥

क्षमा, रक्षा तथा धारण करनेमें पृथ्वीके समान और तेजमें अग्नि एवं सूर्यके समान शोभा पानेवाली गङ्गाजी ब्राह्मणजातिपर सदा अनुग्रह करनेके कारण सुब्रह्मण्य कार्तिकेय तथा ब्राह्मणोंके लिये भी प्रिय एवं सम्मानित हैं ॥ ९२ ॥

ऋषिष्टुतां विष्णुपदीं पुराणां
सुपुण्यतोयां मनसापि लोके ।
सर्वात्मना जाह्नवीं ये प्रपन्ना-
स्ते ब्रह्मणः सदनं सम्प्रयाताः ॥ ९३ ॥

ऋषियोंद्वारा जिनकी स्तुति होती है, जो भगवान् विष्णुके चरणोंसे उत्पन्न, अत्यन्त प्राचीन तथा परम पावन जलसे भरी हुई हैं, उन गङ्गाजीकी जगत्में जो लोग मनके द्वारा भी सब प्रकारसे शरण लेते हैं, वे देहत्यागके पश्चात् ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥ ९३ ॥

लोकानवेक्ष्य जननीव पुत्रान्
सर्वात्मना सर्वगुणोपपन्नान् ।
तत्स्थानकं ब्राह्ममभीप्समानै-
र्गङ्गा सदैवात्मवशैरुपास्या ॥ ९४ ॥

जैसे माता अपने पुत्रोंको स्नेहभरी दृष्टिसे देखती है और उनकी रक्षा करती है, उसी प्रकार गङ्गाजी सर्वात्मभावसे अपने आश्रयमें आये हुए सर्वगुणसम्पन्न लोकोंको कृपादृष्टिसे देखकर उनकी रक्षा करती हैं; अतः जो ब्रह्मलोकको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें अपने मनको वशमें करके सदा मातृभावसे गङ्गाजीकी उपासना करनी चाहिये ॥ ९४ ॥

उस्रां पुष्टां मिषतीं विश्वभोज्या-
मिरावतीं धारिणीं भूधराणाम् ।
शिष्टाश्रयाममृतां ब्रह्मकान्तां
गङ्गां श्रयेदात्मवान् सिद्धिकामः ॥ ९५ ॥

जो अमृतमय दूध देनेवाली, गौके समान सबको पुष्ट करनेवाली, सब कुछ देखनेवाली, सम्पूर्ण जगत्के उपयोगमें आनेवाली, अन्न देनेवाली तथा पर्वतोंको धारण करनेवाली हैं, श्रेष्ठ पुरुष जिनका आश्रय लेते हैं और जिन्हें ब्रह्माजी भी प्राप्त करना चाहते हैं तथा जो अमृतस्वरूप हैं, उन भगवती गङ्गाजीका सिद्धिकामी जितात्मा पुरुषोंको अवश्य आश्रय लेना चाहिये ॥ ९५ ॥

प्रसाद्य देवान् सविभून् समस्तान्
भगीरथस्तपसोग्रेण गङ्गाम् ।
गामानयत् तामभिगम्य शश्वत्
पुंसां भयं नेह चामुत्र विद्यात् ॥ ९६ ॥

राजा भगीरथ अपनी उग्र तपस्यासे भगवान् शङ्करसहित सम्पूर्ण देवताओंको प्रसन्न करके गङ्गाजीको इस पृथ्वीपर ले आये । उनकी शरणमें जानेसे मनुष्यको इहलोक और परलोकमें भय नहीं रहता ॥ ९६ ॥

उदाहृतः सर्वथा ते गुणानां
मयैकदेशः प्रसमीक्ष्य बुद्ध्या ।
शक्तिर्न मे काचिदिहास्ति वक्तुं
गुणान् सर्वान् परिमातुं तथैव ॥ ९७ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने अपनी बुद्धिसे सर्वथा विचारकर यहाँ गङ्गाजीके गुणोंका एक अंशमात्र बताया है। मुझमें कोई इतनी शक्ति नहीं है कि मैं यहाँ उनके सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन कर सकूँ ॥ ९७ ॥

मेरोः समुद्रस्य च सर्वयत्नैः
संख्योपलानामुदकस्य वापि ।
शक्यं वक्तुं नेह गङ्गाजलानां
गुणाख्यानं परिमातुं तथैव ॥ ९८ ॥

कदाचित् सब प्रकारके यत्न करनेसे मेरु गिरिके प्रस्तर-कणों और समुद्रके जलबिन्दुओंकी गणना की जा सके; परंतु यहाँ गङ्गाजलके गुणोंका वर्णन तथा गणना करना कदापि सम्भव नहीं है ॥ ९८ ॥

तस्मादेतान् परया श्रद्धयोक्तान्
गुणान् सर्वान् जाह्नवीयान् सदैव ।
भवेद् वाचा मनसा कर्मणा च
भक्त्या युक्तः श्रद्धया श्रद्दधानः ॥ ९९ ॥

अतः मैंने बड़ी श्रद्धाके साथ जो ये गङ्गाजीके गुण बताये हैं, उन सबपर विश्वास करके मन, वाणी, क्रिया, भक्ति और श्रद्धाके साथ आप सदा ही उनकी आराधना करें ॥ ९९ ॥

लोकानिमांस्त्रीन् यशसा वितत्य
सिद्धिं प्राप्य महतीं तां दुरापाम् ।
गङ्गाकृतानचिरेणैव लोकान्
यथेष्टमिष्टान् विहरिष्यसि त्वम् ॥ १०० ॥

इससे आप परम दुर्लभ उत्तम सिद्धि प्राप्त करके इन तीनों लोकोंमें अपने यशका विस्तार करते हुए शीघ्र ही गङ्गाजीकी सेवासे प्राप्त हुए अभीष्ट लोकोंमें इच्छानुसार विचरेंगे ॥

तव मम च गुणैर्महानुभावा
जुषतु मतिं सततं स्वधर्मयुक्तैः ।
अभिमतजनवत्सला हि गङ्गा
जगति युनक्ति सुखैश्च भक्तिमन्तम् ॥

महान् प्रभावशाली भगवती भागीरथी आपकी और मेरी बुद्धिको सदा स्वधर्मानुकूल गुणोंसे युक्त करें । श्रीगङ्गाजी बड़ी भक्तवत्सला हैं । वे संसारमें अपने भक्तोंको सुखी बनाती हैं ॥ १०१ ॥

भीष्म उवाच

इति परममतिर्गुणाननेकाञ्
शिलरतये त्रिपथानुयोगरूपान् ।
बहुविधमनुशास्य तथ्यरूपान्
गगनतलं द्युतिमान् विवेश सिद्धः ॥ १०२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वह उत्तम बुद्धिवाला परम तेजस्वी सिद्ध शिलोञ्छवृत्तिद्वारा जीविका चलानेवाले उस ब्राह्मणसे त्रिपथगा गङ्गाजीके उपर्युक्त सभी यथार्थ गुणोंका नाना प्रकारसे वर्णन करके आकाशमें प्रविष्ट हो गया ॥ १०२ ॥

शिलवृत्तिस्तु सिद्धस्य वाक्यैः सम्बोधितस्तदा ।
गङ्गामुपास्य विधिवत् सिद्धिं प्राप सुदुर्लभाम् ॥ १०३ ॥

वह शिलोञ्छवृत्तिवाला ब्राह्मण सिद्धके उपदेशसे गङ्गाजीके माहात्म्यको जानकर उनकी विधिवत् उपासना करके परम दुर्लभ सिद्धिको प्राप्त हुआ ॥ १०३ ॥

तथा त्वमपि कौन्तेय भक्त्या परमया युतः ।
गङ्गामभ्येहि सततं प्राप्स्यसे सिद्धिमुत्तमाम् ॥ १०४ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसी प्रकार तुम भी पराभक्तिके साथ सदा गङ्गाजीकी उपासना करो । इससे तुम्हें उत्तम सिद्धि प्राप्त होगी ॥ १०४ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वेतिहासं भीष्मोक्तं गङ्गायाः स्तवसंयुतम् ।
युधिष्ठिरः परां प्रीतिमगच्छद् भ्रातृभिः सह ॥ १०५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मजीके द्वारा कहे हुए श्रीगङ्गाजीकी स्तुतिसे युक्त इस इतिहासको सुनकर भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १०५ ॥

इतिहासमिमं पुण्यं शृणुयाद् यः पठेत वा ।
गङ्गायाः स्तवसंयुक्तं स मुच्येत् सर्वकिल्बिषैः ॥ १०६ ॥

जो गङ्गाजीके स्तवनसे युक्त इस पवित्र इतिहासका श्रवण अथवा पाठ करेगा, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ १०६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गङ्गामाहात्म्यकथने षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गङ्गाजीके माहात्म्यका वर्णनविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १०७ श्लोक हैं)

सप्तविंशोऽध्यायः

ब्राह्मणत्वके लिये तपस्या करनेवाले मतङ्गकी इन्द्रसे बातचीत

युधिष्ठिर उवाच

प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च यथा भवान् ।
गुणैश्च विविधैः सर्वैर्वयसा च समन्वितः ॥ १ ॥
भवान् विशिष्टो बुद्ध्या च प्रज्ञया तपसा तथा ।
तस्माद् भवन्तं पृच्छामि धर्मं धर्मभृतां वर ।
नान्यस्त्वदन्यो लोकेषु प्रष्टव्योऽस्ति नराधिप ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर ! आप बुद्धि, विद्या, सदाचार, शील और विभिन्न प्रकारके सम्पूर्ण सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं । आपकी अवस्था भी सबसे बड़ी है । आप बुद्धि, प्रज्ञा और तपस्यासे विशिष्ट हैं; अतः मैं आपसे धर्मकी बात पूछता हूँ । संसारमें आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जिससे सब प्रकारके प्रश्न पूछे जा सकें ॥ १-२ ॥

क्षत्रियो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम।
ब्राह्मण्यं प्राप्नुयाद् येन तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ ३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यदि क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ब्राह्मणत्व प्राप्त करना चाहे तो वह किस उपायसे उसे पा सकता है ? यह मुझे बताइये ॥ ३ ॥

तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा।
ब्राह्मण्यमथ चेदिच्छेत् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ४ ॥

पितामह ! यदि कोई ब्राह्मणत्व पानेकी इच्छा करे तो वह उसे तपस्या, महान् कर्म अथवा वेदोंके स्वाध्याय आदि किस उपायसे प्राप्त कर सकता है ? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मण्यं तात दुष्प्राप्यं वर्णैः क्षत्रादिभिस्त्रिभिः।
परं हि सर्वभूतानां स्थानमेतद् युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—तात युधिष्ठिर ! क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंके लिये ब्राह्मणत्व प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह समस्त प्राणियोंके लिये सर्वोत्तम स्थान है ॥ ५ ॥

बह्वीस्तु संसरन् योनीर्जायमानः पुनः पुनः।
पर्याये तात कस्मिंश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते ॥ ६ ॥

तात ! बहुत-सी योनियोंमें बारंबार जन्म लेते-लेते कभी किसी समय संसारी जीव ब्राह्मणकी योनिमें जन्म लेता है॥६॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मतङ्गस्य च संवादं गर्दभ्याश्च युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार मनुष्य मतङ्ग और गर्दभीके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ ७ ॥

द्विजातेः कस्यचित् तात तुल्यवर्णः सुतस्त्वभूत्।
मतङ्गो नाम नाम्ना वै सर्वैः समुदितो गुणैः ॥ ८ ॥

तात ! पूर्वकालमें किसी ब्राह्मणके एक मतङ्ग नामक पुत्र हुआ, जो (अन्य वर्णके पुरुषसे उत्पन्न होनेपर भी ब्राह्मणोचित्त संस्कारोंके प्रभावसे) उनके समान वर्णका ही समझा जाता था, वह समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न था ॥ ८ ॥

स यज्ञकारः कौन्तेय पित्रोत्सृष्टः परंतप।
प्रायाद् गर्दभयुक्तेन रथेनाप्याशुगामिना ॥ ९ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार ! एक दिन अपने पिताके भेजनेपर मतङ्ग किसी यजमानका यज्ञ करानेके लिये गधोंसे जुते हुए शीघ्रगामी रथपर बैठकर चला ॥ ९ ॥

स बालं गर्दभं राजन् वहन्तं मातुरन्तिके।
निरविध्यत् प्रतोदेन नासिकायां पुनः पुनः ॥ १० ॥

राजन् ! रथका बोझ ढोते हुए एक छोटी अवस्थाके गधेको उसकी माताके निकट ही मतङ्गने बारंबार चाबुकसे मारकर उसकी नाकमें घाव कर दिया ॥ १० ॥

तत्र तीव्रं व्रणं दृष्ट्वा गर्दभी पुत्रगृद्धिनी।
उवाच मा शुचः पुत्र चाण्डालस्त्वधितिष्ठति ॥ ११ ॥

पुत्रका भला चाहनेवाली गधी उस गधेकी नाकमें दुस्सह घाव हुआ देख उसे समझाती हुई बोली—'बेटा ! शोक न करो । तुम्हारे ऊपर ब्राह्मण नहीं, चाण्डाल सवार है ॥११॥

ब्राह्मणे दारुणं नास्ति मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।
आचार्यः सर्वभूतानां शास्ता किं प्रहरिष्यति ॥ १२ ॥

'ब्राह्मणमें इतनी क्रूरता नहीं होती । ब्राह्मण सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला बताया जाता है । जो समस्त प्राणियोंको उपदेश देनेवाला आचार्य है, वह कैसे किसीपर प्रहार करेगा ? ॥ १२ ॥

अयं तु पापप्रकृतिर्बाले न कुरुते दयाम्।
स्वयोनिं मानयत्येष भावो भावं नियच्छति ॥ १३ ॥

'यह स्वभावसे ही पापात्मा है; इसीलिये दूसरेके बच्चेपर दया नहीं करता है । यह अपने इस कुकृत्यद्वारा अपनी चाण्डाल योनिका ही सम्मान बढ़ा रहा है । जातिगत स्वभाव ही मनोभावपर नियन्त्रण करता है' ॥ १३ ॥

एतच्छ्रुत्वा मतङ्गस्तु दारुणं रासभीवचः।
अवतीर्य रथात् तूर्णं रासभीं प्रत्यभाषत ॥ १४ ॥

गधीका यह दारुण वचन सुनकर मतङ्ग तुरंत रथसे उतर पड़ा और गधीसे इस प्रकार बोला—॥ १४ ॥

ब्रूहि रासभि कल्याणि माता मे येन दूषिता।
कथं मां वेत्सि चण्डालं क्षिप्रं रासभि शंस मे ॥ १५ ॥

'कल्याणमयी गर्दभी ! बता, मेरी माता किससे कलङ्कित हुई है ? तू मुझे चाण्डाल कैसे समझती है ? शीघ्र मुझसे सारी बात बता ॥ १५ ॥

कथं मां वेत्सि चण्डालं ब्राह्मण्यं येन नश्यते।
तत्त्वेनैतन्महाप्राज्ञे ब्रूहि सर्वमशेषतः ॥ १६ ॥

'गधी ! तुझे कैसे मालूम हुआ कि मैं चाण्डाल हूँ ! किस कर्मसे मेरा ब्राह्मणत्व नष्ट हुआ है ? तू बड़ी समझदार है; अतः ये सारी बातें मुझे ठीक-ठीक बता' ॥ १६ ॥

गर्दभ्युवाच

ब्राह्मण्यां वृषलेन त्वं मत्तायां नापितेन ह।
जातस्त्वमसि चाण्डालो ब्राह्मण्यं तेन तेऽनशत् ॥१७॥

गदही बोली—मतङ्ग ! तू यौवनके मदसे मतवाली हुई एक ब्राह्मणीके पेटसे शूद्रजातीय नाईद्वारा पैदा किया गया, इसीलिये तू चाण्डाल है और तेरी माताके इसी व्यभिचार कर्मसे तेरा ब्राह्मणत्व नष्ट हो गया है ॥ १७ ॥

एवमुक्तो मतङ्गस्तु प्रतिप्रायाद् गृहं प्रति।
तमागतमभिप्रेक्ष्य पिता वाक्यमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥

गदहीके ऐसा कहनेपर मतङ्ग फिर अपने घरको लौट

गया। उसे लौटकर आया देख पिताने इस प्रकार कहा—॥ १८॥

मया त्वं यज्ञसंसिद्धौ नियुक्तो गुरुकर्मणि।
कस्मात् प्रतिनिवृत्तोऽसि कच्चिन्न कुशलं तव ॥ १९ ॥

'बेटा! मैंने तो तुम्हें यज्ञ करानेके भारी कार्यपर लगा रखा था, फिर तुम लौट कैसे आये? तुम कुशलसे तो हो न?' ॥ १९ ॥

मतङ्ग उवाच

अन्त्ययोनिरयोनिर्वा कथं स कुशली भवेत्।
कुशलं तु कुतस्तस्य यस्येयं जननी पितः ॥ २० ॥

मतङ्गने कहा—पिताजी! जो चाण्डाल योनिमें उत्पन्न हुआ है अथवा उससे भी नीच योनिमें पैदा हुआ है, वह कैसे सकुशल रह सकता है। जिसे ऐसी माता मिली हो, उसे कहाँसे कुशल प्राप्त होगी ॥ २० ॥

ब्राह्मण्यां वृषलाज्जातं पितर्वेदयतीव माम्।
अमानुषी गर्दभीयं तस्मात् तप्स्ये तपो महत् ॥ २१ ॥

पिताजी! यह मानवेतर योनिमें उत्पन्न हुई गदही मुझे ब्राह्मणीके गर्भसे शूद्रद्वारा पैदा हुआ बता रही है; इसलिये अब मैं महान् तपमें लग जाऊँगा ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा स पितरं प्रतस्थे कृतनिश्चयः।
ततो गत्वा महारण्यमतपत् सुमहत् तपः ॥ २२ ॥

पितासे ऐसा कहकर मतङ्ग तपस्याके लिये दृढ़ निश्चय करके घरसे निकल पड़ा और एक महान् वनमें जाकर वहाँ बड़ी भारी तपस्या करने लगा ॥ २२ ॥

ततः स तापयामास विबुधांस्तपसान्वितः।
मतङ्गः सुखसम्प्रेप्सुः स्थानं सुचरितादपि ॥ २३ ॥

तपस्यामें संलग्न हो मतङ्गने देवताओंको संतप्त कर दिया। वह भलीभाँति तपस्या करके सुखसे ही ब्राह्मणत्वरूपी अभीष्ट स्थानको प्राप्त करना चाहता था ॥ २३ ॥

तं तथा तपसा युक्तमुवाच हरिवाहनः।
मतङ्ग तप्स्यसे किं त्वं भोगानुत्सृज्य मानुषान् ॥ २४ ॥

उसे इस प्रकार तपस्यामें संलग्न देख इन्द्रने कहा—'मतङ्ग! तुम क्यों मानवीय भोगोंका परित्याग करके तपस्या कर रहे हो?' ॥ २४ ॥

वरं ददामि ते हन्त वृणीष्व त्वं यदिच्छसि।
यच्चाप्यवाप्यं हृदि ते सर्वं तद् ब्रूहि माचिरम् ॥ २५ ॥

'मैं तुम्हें वर देता हूँ। तुम जो चाहते हो, उसे प्रसन्नतापूर्वक माँग लो। तुम्हारे हृदयमें जो कुछ पानेकी अभिलाषा हो, वह सब शीघ्र बताओ' ॥ २५ ॥

मतङ्ग उवाच

ब्राह्मण्यं कामयानोऽहमिदमारब्धवांस्तपः।
गच्छेयं तदवाप्येह वर एष वृतो मया ॥ २६ ॥

मतङ्गने कहा—मैंने ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेकी इच्छासे यह तपस्या प्रारम्भ की है। उसे पा करके ही यहाँसे जाऊँ, मैं यही वर चाहता हूँ ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं तमुवाच पुरंदरः।
मतङ्ग दुर्लभमिदं विप्रत्वं प्रार्थ्यते त्वया ॥ २७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत! मतङ्गकी यह बात सुनकर इन्द्रदेवने कहा—'मतङ्ग! तुम जो ब्राह्मणत्व माँग रहे हो, यह तुम्हारे लिये दुर्लभ है ॥ २७ ॥

ब्राह्मण्यं प्रार्थयानस्त्वमप्राप्यमकृतात्मभिः।
विनशिष्यसि दुर्बुद्धे तदुपारम माचिरम् ॥ २८ ॥

'जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है अथवा जो पुण्यात्मा नहीं हैं, उनके लिये ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति असम्भव है। दुर्बुद्धे! तुम ब्राह्मणत्व माँगते-माँगते मर जाओगे तो भी वह नहीं मिलेगा; अतः इस दुराग्रहसे जितना शीघ्र सम्भव हो निवृत्त हो जाओ ॥ २८ ॥

श्रेष्ठतां सर्वभूतेषु तपोऽर्थं नातिवर्तते।
तदग्र्यं प्रार्थयानस्त्वमचिराद् विनशिष्यसि ॥ २९ ॥

'सम्पूर्ण भूतोंमें श्रेष्ठता ही ब्राह्मणत्व है और यही तुम्हारा अभीष्ट प्रयोजन है, परंतु यह तप उस प्रयोजनको सिद्ध नहीं कर सकता; अतः इस श्रेष्ठ पदकी अभिलाषा रखते हुए तुम शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे ॥ २९ ॥

देवतासुरमर्त्येषु यत् पवित्रं परं स्मृतम्।
चण्डालयोनौ जातेन न तत् प्राप्यं कथंचन ॥ ३० ॥

'देवताओं, असुरों और मनुष्योंमें भी जो परम पवित्र माना गया है, उस ब्राह्मणत्वको चाण्डालयोनिमें उत्पन्न हुआ मनुष्य किसी तरह नहीं पा सकता' ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि इन्द्रमतङ्गसंवादे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें इन्द्र और मतङ्गका संवादविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेका आग्रह छोड़कर दूसरा वर माँगनेके लिये इन्द्रका मतङ्गको समझाना

भीष्म उवाच

एवमुक्तो मतङ्गस्तु संशितात्मा यतव्रतः।
अतिष्ठदेकपादेन वर्षाणां शतमच्युतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इन्द्रके ऐसा कहनेपर

मतङ्गका मन और भी दृढ़ हो गया । वह संयमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करने लगा । अपने धैर्यसे च्युत न होनेवाला मतङ्ग सौ वर्षोंतक एक पैरसे खड़ा रहा ॥ १ ॥

तमुवाच ततः शक्रः पुनरेव महायशाः ।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं तात प्रार्थयानो न लप्स्यसे ॥ २ ॥

तब महायशस्वी इन्द्रने पुनः आकर उससे कहा—'तात ! ब्राह्मणत्व दुर्लभ है । उसे माँगनेपर भी पा न सकोगे ॥ २ ॥

मतङ्ग परमं स्थानं प्रार्थयन् विनशिष्यसि ।
मा कृथाः साहसं पुत्र नैष धर्मपथस्तव ॥ ३ ॥

'मतङ्ग ! तुम इस उत्तम स्थानको माँगते-माँगते मर जाओगे । बेटा ! दुःसाहस न करो । तुम्हारे लिये यह धर्मका मार्ग नहीं है ॥ ३ ॥

न हि शक्यं त्वया प्राप्तुं ब्राह्मण्यमिह दुर्मते ।
अप्राप्यं प्रार्थयानो हि नचिराद् विनशिष्यसि ॥ ४ ॥

'दुर्मते ! तुम इस जीवनमें ब्राह्मणत्व नहीं पा सकते । उस अप्राप्य वस्तुके लिये प्रार्थना करते-करते शीघ्र ही कालके गालमें चले जाओगे ॥ ४ ॥

मतङ्ग परमं स्थानं वार्यमाणोऽसकृन्मया ।
चिकीर्षस्येव तपसा सर्वथा न भविष्यसि ॥ ५ ॥

'मतङ्ग ! मैं तुम्हें बार-बार मना करता हूँ तो भी उस उत्कृष्ट स्थानको तुम तपस्याद्वारा प्राप्त करनेकी अभिलाषा करते ही जाते हो । ऐसा करनेसे सर्वथा तुम्हारी सत्ता मिट जायगी ॥ ५ ॥

तिर्यग्योनिगतः सर्वो मानुष्यं यदि गच्छति ।
स जायते पुल्कसो वा चण्डालो वाप्यसंशयः ॥ ६ ॥

'पशु-पक्षीकी योनिमें पड़े हुए सभी प्राणी यदि कभी मनुष्ययोनिमें जाते हैं तो पहले पुल्कस या चाण्डालके रूपमें जन्म लेते हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

पुल्कसः पापयोनिर्वा यः कश्चिदिह लक्ष्यते ।
स तस्यामेव सुचिरं मतङ्ग परिवर्तते ॥ ७ ॥

'मतङ्ग ! पुल्कस या जो कोई भी पापयोनि पुरुष यहाँ दिखायी देता है, वह सुदीर्घकालतक अपनी उसी योनिमें चक्कर लगाता रहता है ॥ ७ ॥

ततो दशशते काले लभते शूद्रतामपि ।
शूद्रयोनावपि ततो बहुशः परिवर्तते ॥ ८ ॥

'तदनन्तर एक हजार वर्ष बीतनेपर वह चाण्डाल या पुल्कस शूद्र-योनिमें जन्म लेता है और उसमें भी अनेक जन्मोंतक चक्कर लगाता रहता है ॥ ८ ॥

ततस्त्रिंशद्गुणे काले लभते वैश्यतामपि ।
वैश्यतायां चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ ९ ॥

'तत्पश्चात् तीस गुना समय बीतनेपर वह वैश्ययोनिमें आता है और चिरकालतक उसीमें चक्कर काटता रहता है ॥ ९ ॥

ततः षष्टिगुणे काले राजन्यो नाम जायते ।
ततः षष्टिगुणे काले लभते ब्रह्मबन्धुताम् ॥ १० ॥

'इसके बाद साठगुना समय बीतनेपर वह क्षत्रियकी योनिमें जन्म लेता है । फिर उससे भी साठगुना समय बीतनेपर वह गिरे हुए ब्राह्मणके घरमें जन्म लेता है ॥ १० ॥

ब्रह्मबन्धुश्चिरं कालं ततस्तु परिवर्तते ।
ततस्तु द्विशते काले लभते काण्डपृष्ठताम् ॥ ११ ॥

'दीर्घकालतक ब्राह्मणाधम रहकर जब उसकी अवस्था परिवर्तित होती है, तब वह अस्त्र-शस्त्रोंसे जीविका चलानेवाले ब्राह्मणके यहाँ जन्म लेता है ॥ ११ ॥

काण्डपृष्ठश्चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ।
ततस्तु त्रिशते काले लभते जपतामपि ॥ १२ ॥

'फिर चिरकालतक वह उसी योनिमें पड़ा रहता है । तदनन्तर तीन सौ वर्षका समय व्यतीत होनेपर वह गायत्री-मात्रका जप करनेवाले ब्राह्मणके यहाँ जन्म लेता है ॥ १२ ॥

तं च प्राप्य चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ।
ततश्चतुःशते काले श्रोत्रियो नाम जायते ।
श्रोत्रियत्वे चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ १३ ॥

'उस जन्मको पाकर वह चिरकालतक उसी योनिमें जन्मता-मरता रहता है । फिर चार सौ वर्षोंका समय व्यतीत होनेपर वह श्रोत्रिय (वेदवेत्ता) ब्राह्मणके कुलमें जन्म लेता है और उसी कुलमें चिरकालतक उसका आवागमन होता रहता है ॥ १३ ॥

तदेवं शोकहर्षौ तु कामद्वेषौ च पुत्रक ।
अतिमानातिवादौ च प्रविशेते द्विजाधमम् ॥ १४ ॥

'बेटा ! इस प्रकार शोक-हर्ष, राग-द्वेष, अतिमान और अतिवाद आदि दोषोंका अधम द्विजके भीतर प्रवेश होता है ॥ १४ ॥

तांश्चेज्जयति शत्रून् स तदा प्राप्नोति सद्गतिम् ।
अथ ते वै जयन्त्येनं तालाग्रादिव पात्यते ॥ १५ ॥

'यदि वह इन शत्रुओंको जीत लेता है तो सद्गतिको प्राप्त होता है और यदि वे शत्रु ही उसे जीत लेते हैं तो ताड़के वृक्षके ऊपरसे गिरनेवाले फलकी भाँति वह नीचे गिरा दिया जाता है ॥ १५ ॥

मतङ्ग सम्प्रधार्यैवं यदहं त्वामचूचुदम् ।

वृणीष्व काममन्यं त्वं ब्राह्मण्यं हि सुदुर्लभम् ॥ १६ ॥

'मतङ्ग ! यही सोचकर मैंने तुमसे कहा था कि तुम कोई दूसरी अभीष्ट वस्तु माँग लो; क्योंकि ब्राह्मणत्व अत्यन्त दुर्लभ है' ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि इन्द्रमतङ्गसंवादे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें इन्द्र और मतङ्गका संवादविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

मतङ्गकी तपस्या और इन्द्रका उसे वरदान देना

भीष्म उवाच

एवमुक्तो मतङ्गस्तु संशितात्मा यतव्रतः ।
सहस्रमेकपादेन ततो ध्याने व्यतिष्ठत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रके ऐसा कहनेपर मतङ्ग अपने मनको और भी दृढ़ और संयमशील बनाकर एक हजार वर्षोंतक एक पैरसे ध्यान लगाये खड़ा रहा ॥ १ ॥

तं सहस्रावरे काले शक्रो द्रष्टुमुपागमत् ।
तदेव च पुनर्वाक्यमुवाच बलवृत्रहा ॥ २ ॥

जब एक हजार वर्ष पूरे होनेमें कुछ ही बाकी था, उस समय बल और वृत्रासुरके शत्रु देवराज इन्द्र फिर मतङ्गको देखनेके लिये आये और पुनः उससे उन्होंने पहलेकी कही हुई बात ही दुहरायी ॥ २ ॥

मतङ्ग उवाच

इदं वर्षसहस्रं वै ब्रह्मचारी समाहितः ।
अतिष्ठमेकपादेन ब्राह्मण्यं प्राप्नुयां कथम् ॥ ३ ॥

मतङ्गने कहा—देवराज ! मैंने ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो एक हजार वर्षोंतक एक पैरसे खड़ा होकर तप किया है। फिर मुझे ब्राह्मणत्व कैसे नहीं प्राप्त हो सकता? ॥

शक्र उवाच

चण्डालयोनौ जातेन नावाप्यं वै कथंचन ।
अन्यं कामं वृणीष्व त्वं मा वृथा तेऽस्त्वयं श्रमः॥ ४ ॥

इन्द्रने कहा—मतङ्ग ! चाण्डालकी योनिमें जन्म लेनेवालेको किसी तरह ब्राह्मणत्व नहीं मिल सकता; इसलिये तुम दूसरी कोई अभीष्ट वस्तु माँग लो । जिससे तुम्हारा यह परिश्रम व्यर्थ न जाय ॥ ४ ॥

एवमुक्तो मतङ्गस्तु भृशं शोकपरायणः ।
अध्यतिष्ठद् गयां गत्वा सोऽङ्गुष्ठेन शतं समाः ॥ ५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मतङ्ग अत्यन्त शोकमग्न हो गयामें जाकर अंगूठेके बलपर सौ वर्षोंतक खड़ा रहा ॥ ५ ॥

सुदुर्वहं वहन् योगं कृशो धमनिसंततः ।
त्वगस्थिभूतो धर्मात्मा स पपातेति नः श्रुतम् ॥ ६ ॥

उसने दुर्धर योगका अनुष्ठान किया । उसका सारा शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया । नस-नाड़ियाँ उघड़ आयीं । धर्मात्मा मतङ्गका शरीर चमड़ेसे ढकी हुई हड्डियोंका ढाँचा-मात्र रह गया । उस अवस्थामें अपनेको न सँभाल सकनेके कारण वह गिर पड़ा, यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥६॥

तं पतन्तमभिद्रुत्य परिजग्राह वासवः ।
वराणामीश्वरो दाता सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥

उसे गिरते देख सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले वर देनेमें समर्थ इन्द्रने दौड़कर पकड़ लिया ॥ ७ ॥

शक्र उवाच

मतङ्ग ब्राह्मणत्वं ते विरुद्धमिह दृश्यते ।
ब्राह्मण्यं दुर्लभतरं संवृतं परिपन्थिभिः ॥ ८ ॥

इन्द्रने कहा—मतङ्ग ! इस जन्ममें तुम्हारे लिये ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति असम्भव दिखायी देती है । ब्राह्मणत्व अत्यन्त दुर्लभ है; साथ ही वह काम-क्रोध आदि लुटेरोंसे घिरा हुआ है ॥ ८ ॥

पूजयन् सुखमाप्नोति दुःखमाप्नोत्यपूजयन् ।
ब्राह्मणः सर्वभूतानां योगक्षेमसमर्पिता ॥ ९ ॥

जो ब्राह्मणका आदर करता है, वह सुख पाता है और जो अनादर करता है, वह दुःख पाता है । ब्राह्मण समस्त प्राणियोंको योगक्षेमकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ ९ ॥

ब्राह्मणेभ्योऽनुतृप्यन्ते पितरो देवतास्तथा ।
ब्राह्मणः सर्वभूतानां मतङ्ग पर उच्यते ॥ १० ॥

मतङ्ग ! ब्राह्मणोंके तृप्त होनेसे ही देवता और पितर भी तृप्त होते हैं। ब्राह्मणको समस्त प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है ॥

ब्राह्मणः कुरुते तद्धि यथा यद् यच्च वाञ्छति ।
बह्वीस्तु संविशन् योनीर्जायमानः पुनः पुनः ॥ ११ ॥
पर्याये तात कस्मिंश्चिद् ब्राह्मण्यमिह विन्दति ।

ब्राह्मण जो-जो जिस प्रकार करना चाहता है, अपने तपके

प्रभावसे वैसा ही कर सकता है। तात! जीव इस जगत्‌के भीतर अनेक योनियोंमें भ्रमण करता हुआ बारंबार जन्म लेता है। इसी तरह जन्म लेते-लेते कभी किसी समयमें वह ब्राह्मणत्वको प्राप्त कर लेता है ॥ ११½ ॥

तदुत्सृज्येह दुष्प्रापं ब्राह्मण्यमकृतात्मभिः ॥ १२ ॥
अन्यं वरं वृणीष्व त्वं दुर्लभोऽयं हि ते वरः ।

अतः जिनका मन अपने वशमें नहीं है, ऐसे लोगोंके लिये सर्वथा दुष्प्राप्य ब्राह्मणत्वको पानेका आग्रह छोड़कर तुम कोई दूसरा ही वर माँगो । यह वर तो तुम्हारे लिये दुर्लभ ही है ॥ १२½ ॥

मतङ्ग उवाच

किं मां तुदसि दुःखार्तं मृतं मारयसे च माम्॥ १३ ॥
त्वां तु शोचामि यो लब्ध्वा ब्राह्मण्यं न बुभूषसे ।

मतङ्गने कहा—देवराज! मैं तो यों ही दुःखसे आतुर हो रहा हूँ, फिर तुम भी क्यों मुझे पीड़ा दे रहे हो? मुझ मरे हुएको क्यों मारते हो? मैं तो तुम्हारे लिये शोक करता हूँ, जो जन्मसे ही ब्राह्मणत्वको पाकर भी तुम उसे अपना नहीं रहे हो ॥ १३½ ॥

ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्रापं त्रिभिर्वर्णैः शतक्रतो ॥ १४ ॥
सुदुर्लभं सदावाप्य नानुतिष्ठन्ति मानवाः ।

शतक्रतो! यदि क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंके लिये ब्राह्मणत्व दुर्लभ है तो उस परम दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाकर भी मनुष्य ब्राह्मणोचित शम-दमका अनुष्ठान नहीं करते हैं। यह कितने दुःखकी बात है!॥ १४½ ॥

यः पापेभ्यः पापतमस्तेषामधम एव सः ॥ १५ ॥
ब्राह्मण्यं यो न जानीते धनं लब्ध्वेव दुर्लभम् ।

वह पापियोंसे भी बढ़कर अत्यन्त पापी और उनमें भी अधम ही है, जो दुर्लभ धनकी भाँति ब्राह्मणत्वको पाकर भी उसके महत्त्वको नहीं समझता है ॥ १५½ ॥

दुष्प्रापं खलु विप्रत्वं प्राप्तं दुरनुपालनम् ॥ १६ ॥
दुरावापमवाप्यैतन्नानुतिष्ठन्ति मानवाः ।

पहले तो ब्राह्मणत्वका प्राप्त होना ही कठिन है। यदि वह प्राप्त हो जाय तो उसका पालन करना और भी कठिन हो जाता है; किंतु बहुत-से मनुष्य इस दुर्लभ वस्तुको पाकर भी तदनुकूल आचरण नहीं करते हैं ॥ १६½ ॥

एकारामो ह्यहं शक्र निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ १७ ॥
अहिंसादममास्थाय कथं नार्हामि विप्रताम् ।

शक्र! मैं एकान्तमें आनन्दपूर्वक रहता हूँ तथा द्वन्द्वों और परिग्रहोंसे दूर हूँ। अहिंसा और दमका पालन किया करता हूँ। ऐसी दशामें मैं ब्राह्मणत्व पाने योग्य क्यों नहीं हूँ? ॥

दैवं तु कथमेतद् वै यदहं मातृदोषतः ॥ १८ ॥
एतामवस्थां सम्प्राप्तो धर्मज्ञः सन् पुरंदर ।

पुरंदर! मैं धर्मज्ञ होकर भी केवल माताके दोषसे इस अवस्थामें आ पहुँचा हूँ। यह मेरा कैसा दुर्भाग्य है? ॥१८½॥

नूनं दैवं न शक्यं हि पौरुषेणातिवर्तितुम् ॥ १९ ॥
यदर्थं यत्नवानेव न लभे विप्रतां विभो ।

प्रभो! निश्चय ही पुरुषार्थके द्वारा दैवका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता; क्योंकि मैं जिसके लिये ऐसा प्रयत्नशील हूँ, उस ब्राह्मणत्वको नहीं उपलब्ध कर पाता हूँ ॥

एवंगते तु धर्मज्ञ दातुमर्हसि मे वरम् ॥ २० ॥
यदि तेऽहमनुग्राह्यः किंचिद् वा सुकृतं मम ।

धर्मज्ञ देवराज! यदि ऐसी अवस्थामें मैं आपका कृपा-पात्र हूँ अथवा यदि मेरा कुछ भी पुण्य शेष हो तो आप मुझे वर प्रदान कीजिये ॥ २०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

वृणीष्वेति तदा प्राह ततस्तं बलवृत्रहा ॥ २१ ॥
चोदितस्तु महेन्द्रेण मतङ्गः प्राब्रवीदिदम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब बल और वृत्रासुरको मारनेवाले इन्द्रने मतङ्गसे कहा—'तुम मुझसे वर माँगो।' महेन्द्रसे प्रेरित होकर मतङ्गने इस प्रकार कहा—॥२१½॥

यथा कामविहारी स्यां कामरूपी विहङ्गमः ॥ २२ ॥
ब्रह्मक्षत्राविरोधेन पूजां च प्राप्नुयामहम् ।
यथा ममाक्षया कीर्तिर्भवेच्चापि पुरंदर ॥ २३ ॥
कर्तुमर्हसि तद् देव शिरसा त्वां प्रसादये ।

'देव पुरंदर! आप ऐसी कृपा करें, जिससे मैं इच्छा-नुसार विचरनेवाला तथा अपनी इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेवाला आकाशचारी देवता होऊँ। ब्राह्मण और क्षत्रियों-के विरोधसे रहित हो मैं सर्वत्र पूजा एवं सत्कार प्राप्त करूँ तथा मेरी अक्षय कीर्तिका विस्तार हो। मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर आपकी प्रसन्नता चाहता हूँ। आप मेरी इस प्रार्थनाको सफल बनाइये' ॥ २२-२३½ ॥

शक्र उवाच

छन्दोदेव इति ख्यातः स्त्रीणां पूज्यो भविष्यसि ॥ २४ ॥
कीर्तिश्च तेऽतुला वत्स त्रिषु लोकेषु यास्यति ।

इन्द्रने कहा—वत्स! तुम स्त्रियोंके पूजनीय होओगे। 'छन्दोदेव' के नामसे तुम्हारी ख्याति होगी और तीनों लोकोंमें तुम्हारी अनुपम कीर्तिका विस्तार होगा ॥ २४½ ॥

एवं तस्मै वरं दत्त्वा वासवोऽन्तरधीयत ॥ २५ ॥
प्राणांस्त्यक्त्वा मतङ्गोऽपि सम्प्राप्तः स्थानमुत्तमम् ।

इस प्रकार उसे वर देकर इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये। मतङ्ग भी अपने प्राणोंका परित्याग करके उत्तम स्थान (ब्रह्मलोक) को प्राप्त हुआ ॥ २५½ ॥

एवमेतत् परं स्थानं ब्राह्मण्यं नाम भारत।
तच्च दुष्प्रापमिह वै महेन्द्रवचनं यथा ॥ २६ ॥

भारत ! इस तरह यह ब्राह्मणत्व परम उत्तम स्थान है। जैसा कि इन्द्रका कथन है, उसके अनुसार यह इस जीवनमें दूसरे वर्णके लोगोंके लिये दुर्लभ है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि इन्द्रमतङ्गसंवादे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें इन्द्र और मतङ्गका संवादविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

वीतहव्यके पुत्रोंसे काशी-नरेशोंका घोर युद्ध, प्रतर्दनद्वारा उनका वध और राजा वीतहव्यको भृगुके कथनसे ब्राह्मणत्व प्राप्त होनेकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं मे महदाख्यानमेतत् कुरुकुलोद्वह।
सुदुष्प्रापं यद् ब्रवीषि ब्राह्मण्यं वदतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुकुलमें उत्पन्न ! वक्ताओंमें श्रेष्ठ पितामह ! आपके मुखसे यह महान् उपाख्यान मैंने सुन लिया। आप कह रहे हैं कि अन्य वर्णोंके लिये इसी शरीरसे ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति बहुत ही कठिन है ॥ १ ॥

विश्वामित्रेण च पुरा ब्राह्मण्यं प्राप्तमित्युत।
श्रूयते वदसे तच्च दुष्प्रापमिति सत्तम ॥ २ ॥

सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह ! परंतु सुना जाता है कि पूर्वकालमें विश्वामित्रजीने इसी शरीरसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था और आप जो उसे सर्वथा दुर्लभ बता रहे हैं (ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध-सी जान पड़ती हैं) ॥ २ ॥

वीतहव्यश्च नृपतिः श्रुतो मे विप्रतां गतः।
तदेव तावद् गाङ्गेय श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो ॥ ३ ॥

मैंने सुननेमें यह भी आया है कि राजा वीतहव्य क्षत्रियसे ब्राह्मण हो गये थे। गङ्गानन्दन ! प्रभो ! अब मैं पहले उसी प्रसङ्गको सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

स केन कर्मणा प्राप्तो ब्राह्मण्यं राजसत्तमः।
वरेण तपसा वापि तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

वे नृपशिरोमणि वीतहव्य किस कर्मसे, किस वर अथवा तपस्यासे ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए ? यह मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् यथा राजा वीतहव्यो महायशाः।
राजर्षिर्दुर्लभं प्राप्तो ब्राह्मण्यं लोकसत्कृतम् ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! महायशस्वी राजर्षि राजा वीतहव्यने जिस प्रकार लोकसम्मानित दुर्लभ ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ५ ॥

मनोर्महात्मनस्तात प्रजा धर्मेण शासतः।
बभूव पुत्रो धर्मात्मा शर्यातिरिति विश्रुतः ॥ ६ ॥

तात ! पूर्वकालमें धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करनेवाले महामनस्वी राजा मनुके एक धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था शर्याति ॥ ६ ॥

तस्यान्ववाये द्वौ राजन् राजानौ सम्बभूवतुः।
हैहयस्तालजंघश्च वत्सस्य जयतां वर ॥ ७ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश ! राजा शर्यातिके वंशमें दो राजा बड़े विख्यात हुए—हैहय और तालजङ्घ। ये दोनों ही राजा वत्सके पुत्र थे ॥ ७ ॥

हैहयस्य तु राजेन्द्र दशसु स्त्रीषु भारत।
शतं बभूव पुत्राणां शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ ८ ॥

भरतवंशी राजेन्द्र ! उन दोनोंमें हैहयके (जिसका दूसरा नाम वीतहव्य भी था) दस स्त्रियाँ थीं। उन स्त्रियोंके गर्भसे सौ शूरवीर पुत्र उत्पन्न हुए, जो युद्धसे पीछे हटनेवाले नहीं थे ॥ ८ ॥

तुल्यरूपप्रभावाणां बलिनां युद्धशालिनाम्।
धनुर्वेदे च वेदे च सर्वत्रैव कृतश्रमाः ॥ ९ ॥

उन सबके रूप और प्रभाव एक समान थे, वे सभी बलवान् तथा युद्धमें शोभा पानेवाले थे। उन्होंने धनुर्वेद और वेदके सभी विषयोंमें परिश्रम किया था ॥ ९ ॥

काशिष्वपि नृपो राजन् दिवोदासपितामहः।
हर्यश्व इति विख्यातो बभूव जयतां वरः ॥ १० ॥

उन्हीं दिनों काशी प्रान्तमें हर्यश्व नामके राजा राज्य करते थे, जो दिवोदासके पितामह थे। वे विजयशील वीरोंमें श्रेष्ठ समझे जाते थे ॥ १० ॥

स वीतहव्यदायादैरागत्य पुरुषर्षभ ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये संग्रामे विनिपातितः ॥ ११ ॥

पुरुषप्रवर ! वीतहव्यके पुत्रोंने हर्यश्वके राज्यपर चढ़ाई की उन्हें गङ्गा-यमुनाके बीच युद्धमें मार गिराया ॥ ११ ॥

तं तु हत्वा नरपतिं हैहयास्ते महारथाः ।
प्रतिजग्मुः पुरीं रम्यां वत्सानामकुतोभयाः ॥ १२ ॥

राजा हर्यश्वको मारकर वे महारथी हैहय-राजकुमार निर्भय हो वत्सवंशी राजाओंकी सुरम्य पुरीको लौट गये ॥ १२ ॥

हर्यश्वस्य च दायादः काशिराजोऽभ्यषिच्यत ।
सुदेवो देवसंकाशः साक्षाद् धर्म इवापरः ॥ १३ ॥

हर्यश्वके पुत्र सुदेव जो देवताके तुल्य तेजस्वी और साक्षात् दूसरे धर्मराजके समान न्यायशील थे, पिताके बाद काशिराजके पदपर अभिषिक्त किये गये ॥ १३ ॥

स पालयामास महीं धर्मात्मा काशिनन्दनः ।
तैर्वीतहव्यैरागत्य युधि सर्वैर्विनिर्जितः ॥ १४ ॥

धर्मात्मा काशिनन्दन सुदेव धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करने लगे । इसी बीचमें वीतहव्यके सभी पुत्रोंने आक्रमण करके युद्धमें उन्हें भी परास्त कर दिया ॥ १४ ॥

तमथाजौ विनिर्जित्य प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।
सौदेवस्त्वथ काशीशो दिवोदासोऽभ्यषिच्यत॥१५ ॥

समराङ्गणमें सुदेवको धराशायी करके वे हैहयराजकुमार जैसे आये थे, वैसे लौट गये । तत्पश्चात् सुदेवके पुत्र दिवोदासका काशिराजके पदपर अभिषेक किया गया ॥ १५ ॥

दिवोदासस्तु विज्ञाय वीर्यं तेषां यतात्मनाम् ।
वाराणसीं महातेजा निर्ममे शक्रशासनात् ॥ १६ ॥

दिवोदास बड़े तेजस्वी राजा थे । उन्होंने जब मनको वशमें रखनेवाले हैहयराजकुमारोंके पराक्रमपर विचार किया, तब इन्द्रकी आज्ञासे वाराणसी नामवाली नगरी बसायी ॥ १६ ॥

विप्रक्षत्रियसम्बाधां वैश्यशूद्रसमाकुलाम् ।
नैकद्रव्योच्चयवतीं समृद्धविपणापणाम् ॥ १७ ॥

वह पुरी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंसे भरी हुई थी, नाना प्रकारके द्रव्योंके संग्रहसे सम्पन्न थी तथा उसके बाजार-हाट और दूकानें धन-वैभवसे भरपूर थीं ॥ १७ ॥

गङ्गाया उत्तरे कूले वप्रान्ते राजसत्तम ।
गोमत्या दक्षिणे कूले शक्रस्येवामरावतीम् ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उस नगरीके घेरेका एक छोर गङ्गाजीके उत्तर तटतक दूसरा छोर गोमतीके दक्षिण किनारेतक फैला हुआ था । वह नगरी इन्द्रकी अमरावतीपुरीके समान जान पड़ती थी ॥ १८ ॥

तत्र तं राजशार्दूलं निवसन्तं महीपतिम् ।
आगत्य हैहया भूयः पर्यधावन्त भारत ॥ १९ ॥

भारत ! उस नगरीमें निवास करते हुए राजसिंह भूपाल दिवोदासपर पुनः हैहयराजकुमारोंने धावा किया ॥ १९ ॥

स निष्क्रम्य ददौ युद्धं तेभ्यो राजा महाबलः ।
देवासुरसमं घोरं दिवोदासो महाद्युतिः ॥ २० ॥

महातेजस्वी महाबली राजा दिवोदासने पुरीसे बाहर निकलकर उन राजकुमारोंके साथ युद्ध किया । उनका वह युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर था ॥ २० ॥

स तु युद्धे महाराज दिनानां दशतीर्दश ।
हतवाहनभूयिष्ठस्ततो दैन्यमुपागमत् ॥ २१ ॥
हतयोधस्ततो राजन् क्षीणकोशश्च भूमिपः ।
दिवोदासः पुरीं त्यक्त्वा पलायनपरोऽभवत् ॥ २२ ॥

महाराज ! काशिनरेशने एक हजार दिन (दो वर्ष नौ महीने दस दिन) तक शत्रुओंके साथ युद्ध किया । इस युद्धमें दिवोदासके बहुत-से सिपाही और हाथी, घोड़े आदि वाहन मारे गये । उनका खजाना खाली हो गया और वे बड़ी दयनीय दशामें पड़ गये । अन्तमें अपनी राजधानी छोड़कर भाग निकले ॥ २१-२२ ॥

गत्वाऽऽश्रमपदं रम्यं भरद्वाजस्य धीमतः ।
जगाम शरणं राजा कृताञ्जलिररिंदम ॥ २३ ॥

शत्रुदमन नरेश ! बुद्धिमान् भरद्वाजके रमणीय आश्रमपर जाकर राजा दिवोदास हाथ जोड़े हुए वहाँ मुनिकी शरणमें गये ॥ २३ ॥

तमुवाच भरद्वाजो ज्येष्ठः पुत्रो बृहस्पतेः ।
पुरोधाः शीलसम्पन्नो दिवोदासं महीपतिम् ॥ २४ ॥
किमागमनकृत्यं ते सर्वं प्रब्रूहि मे नृप ।
यत् ते प्रियं तत् करिष्ये न मेऽत्रास्ति विचारणा॥ २५ ॥

बृहस्पतिके ज्येष्ठ पुत्र भरद्वाजजी बड़े शीलवान् और दिवोदासके पुरोहित थे । उन्होंने राजाको उपस्थित देखकर पूछा—'नरेश्वर ! तुम्हें यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ी ? मुझे अपना सब समाचार बता दो । तुम्हारा जो भी प्रिय कार्य होगा, उसे मैं करूँगा । इसके लिये मेरे मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होगा' ॥ २४-२५ ॥

राजोवाच

भगवन् वैतहव्यैर्मे युद्धे वंशः प्रणाशितः ।
अहमेकः परिद्यूनो भवन्तं शरणं गतः ॥ २६ ॥

राजाने कहा—भगवन् ! संग्राममें वीतहव्यके पुत्रोंने मेरे संग्राममें कुलका विनाश कर डाला । मैं अकेला ही अत्यन्त संतप्त हो आपकी शरणमें आया हूँ ॥ २६ ॥

शिष्यस्नेहेन भगवंस्त्वं मां रक्षितुमर्हसि ।
एकशेषः कृतो वंशो मम तैः पापकर्मभिः ॥ २७ ॥

भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ और आप मेरे गुरु हैं। शिष्यके प्रति गुरुका जो सहज स्नेह होता है, उसीके द्वारा आप मेरी रक्षा कीजिये। उन पापकर्मियोंने मेरे कुलमें केवल मुझ एक ही व्यक्तिको शेष छोड़ा है ॥ २७ ॥

तमुवाच महाभागो भरद्वाजः प्रतापवान्।
न भेतव्यं न भेतव्यं सौदेव व्येतु ते भयम् ॥ २८ ॥

यह सुनकर प्रतापी महर्षि महाभाग भरद्वाजने कहा—'सुदेवनन्दन! तुम न डरो, न डरो। तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये ॥ २८ ॥

अहमिष्टिं करिष्यामि पुत्रार्थं ते विशाम्पते।
वीतहव्यसहस्राणि येन त्वं प्रहरिष्यसि ॥ २९ ॥

'प्रजानाथ! मैं तुम्हारी पुत्र-प्राप्तिके लिये एक यज्ञ करूँगा। जिसकी सहायतासे तुम हजारों वीतहव्य-पुत्रोंको मार गिराओगे' ॥ २९ ॥

तत इष्टिं चकारर्षिस्तस्य वै पुत्रकामिकीम्।
अथास्य तनयो जज्ञे प्रतर्दन इति श्रुतः ॥ ३० ॥

तब ऋषिने राजासे पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। इससे उनके प्रतर्दन नामसे विख्यात पुत्र हुआ ॥ ३० ॥

स जातमात्रो ववृधे समाः सद्यस्त्रयोदश।
वेदं चापि जगौ कृत्स्नं धनुर्वेदं च भारत ॥ ३१ ॥

भारत! वह पैदा होते ही इतना बढ़ गया कि तुरंत तेरह वर्षकी अवस्थाका-सा दिखायी देने लगा। उसी समय उसने अपने मुखसे सम्पूर्ण वेद और धनुर्वेदका गान किया ॥ ३१ ॥

योगेन च समाविष्टो भरद्वाजेन धीमता।
तेजो लोक्यं स संगृह्य तस्मिन् देशे समाविशत् ॥ ३२ ॥

बुद्धिमान् भरद्वाजमुनिने उसे योगशक्तिसे सम्पन्न कर दिया और उसके शरीरमें सम्पूर्ण जगत्का तेज भर दिया ॥ ३२ ॥

ततः स कवची धन्वी स्तूयमानः सुरर्षिभिः।
वन्दिभिर्वन्द्यमानश्च बभौ सूर्य इवोदितः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर राजकुमार प्रतर्दनने अपने शरीरपर कवच धारण किया और हाथमें धनुष ले लिया। उस समय देवर्षिगण उसका यश गाने लगे। वन्दीजनोंसे वन्दित हो वह नवोदित सूर्यके समान प्रकाशित होने लगा ॥ ३३ ॥

स रथी बद्धनिस्त्रिंशो बभौ दीप्त इवानलः।
प्रययौ स धनुर्धुन्वन् खड्गी चर्मी शरासनी ॥ ३४ ॥

वह रथपर बैठ गया और कमरमें तलवार बाँधकर प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित होने लगा। ढाल, तलवार और धनुषसे सम्पन्न हो वह धनुषकी टङ्कार करता हुआ आगे बढ़ा ॥ ३४ ॥

तं दृष्ट्वा परमं हर्षं सुदेवतनयो ययौ।
मेने च मनसा दग्धान् वैतहव्यान् स पार्थिवः ॥ ३५ ॥

उसे देखकर सुदेव-पुत्र राजा दिवोदासको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने मन-ही-मन वीतहव्यके पुत्रोंको अपने पुत्रके तेजसे दग्ध हुआ ही समझा ॥ ३५ ॥

ततोऽसौ यौवराज्ये च स्थापयित्वा प्रतर्दनम्।
कृतकृत्यं तदाऽऽत्मानं स राजा अभ्यनन्दत ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् राजा दिवोदासने प्रतर्दनको युवराजके पदपर स्थापित करके अपने आपको कृतकृत्य माना और बड़े आनन्दका अनुभव किया ॥ ३६ ॥

ततस्तु वैतहव्यानां वधाय स महीपतिः।
पुत्रं प्रस्थापयामास प्रतर्दनमरिंदमम् ॥ ३७ ॥

इसके बाद राजाने अपने पुत्र शत्रुदमन प्रतर्दनको वीतहव्यके पुत्रोंका वध करनेके लिये भेजा ॥ ३७ ॥

सरथः स तु संतीर्य गङ्गामाशु पराक्रमी।
प्रययौ वीतहव्यानां पुरीं परपुरंजयः ॥ ३८ ॥

पिताकी आज्ञा पाकर वह शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला पराक्रमी वीर शीघ्र ही रथसहित गङ्गापार करके वीतहव्य-पुत्रोंकी राजधानीकी ओर चल दिया ॥ ३८ ॥

वैतहव्यास्तु संश्रुत्य रथघोषं समुद्धतम्।
निर्ययुर्नगराकारै रथैः पररथारुजैः ॥ ३९ ॥
निष्क्रम्य ते नरव्याघ्रा दंशिताश्चित्रयोधिनः।
प्रतर्दनं समाजग्मुः शरवर्षैरुदायुधाः ॥ ४० ॥

उसके रथकी घोर घरघराहट सुनकर विचित्र ढंगसे युद्ध करनेवाले पुरुषसिंह हैहयराजकुमार कवचसे सुसज्जित होकर शत्रुओंके रथको तोड़ डालनेवाले नगराकार विशाल रथोंपर बैठे हुए पुरीसे बाहर निकले और धनुष उठाये बाणोंकी वर्षा करते हुए प्रतर्दनपर चढ़ आये ॥ ३९-४० ॥

शस्त्रैश्च विविधाकारै रथौघैश्च युधिष्ठिर।
अभ्यवर्षन्त राजानं हिमवन्तमिवाम्बुदाः ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर! जैसे बादल हिमालयपर जल बरसाते हैं, उसी प्रकार हैहयराजकुमारोंने रथसमूहोंद्वारा आकर राजा प्रतर्दनपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ४१ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तेषां राजा प्रतर्दनः।
जघान तान् महातेजा वज्रानलसमैः शरैः ॥ ४२ ॥

तब महातेजस्वी राजा प्रतर्दनने अपने अस्त्रोंद्वारा शत्रुओंके अस्त्रोंका निवारण करके वज्र और अग्निके समान तेजस्वी बाणोंसे उन सबको मार डाला ॥ ४२ ॥

कृत्तोत्तमाङ्गास्ते राजन् भल्लैः शतसहस्रशः।
अपतन् रुधिरार्द्राङ्गा निकृत्ता इव किंशुकाः ॥ ४३ ॥

राजन्! भल्लोंकी मारसे उनके मस्तकोंके सैकड़ों और

हजारों टुकड़े हो गये थे। उनके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो गये और वे कटे हुए पलाशके वृक्षकी भाँति धरतीपर गिर पड़े ॥ ४३ ॥

हतेषु तेषु सर्वेषु वीतहव्यः सुतेष्वथ।
प्राद्रवन्नगरं हित्वा भृगोराश्रममप्युत ॥ ४४ ॥

उन सब पुत्रोंके मारे जानेपर राजा वीतहव्य अपना नगर छोड़कर महर्षि भृगुके आश्रममें भाग गये ॥ ४४ ॥

ययौ भृगुं च शरणं वीतहव्यो नराधिपः।
अभयं च ददौ तस्मै राज्ञे राजन् भृगुस्तदा ॥ ४५ ॥

राजन्! वहाँ नरेश्वर वीतहव्यने महर्षि भृगुकी शरण ली। तब भृगुने राजाको अभयदान दे दिया ॥ ४५ ॥

अथानुपदमेवाशु तत्रागच्छत् प्रतर्दनः।
स प्राप्य चाश्रमपदं दिवोदासात्मजोऽब्रवीत् ॥ ४६ ॥

इतनेहीमें उनके पीछे लगा हुआ दिवोदासकुमार प्रतर्दन भी शीघ्र ही वहाँ पहुँचा। आश्रममें पहुँचकर उसने इस प्रकार कहा—॥ ४६ ॥

भो भोः केऽत्राश्रमे सन्ति भृगोः शिष्या महात्मनः।
द्रष्टुमिच्छे मुनिमहं तस्याचक्षत मामिति ॥ ४७ ॥

'भाइयो! इस आश्रममें महात्मा भृगुके शिष्य कौन-कौन हैं? मैं महर्षिका दर्शन करना चाहता हूँ। आपलोग उन्हें मेरे आगमनकी सूचना दे दें' ॥ ४७ ॥

स तं विदित्वा तु भृगुर्निश्चक्रामाश्रमात् तदा।
पूजयामास च ततो विधिना नृपसत्तमम् ॥ ४८ ॥

प्रतर्दनको आया जान भृगुजी आश्रमसे निकले। उन्होंने नृपश्रेष्ठ प्रतर्दनका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया ॥

उवाच चैनं राजेन्द्र किं कार्यं ब्रूहि पार्थिव।
स चोवाच नृपस्तस्मै यदागमनकारणम् ॥ ४९ ॥

और इस प्रकार पूछा—'राजेन्द्र! पृथ्वीनाथ! मुझसे आपका क्या काम है, बताइये।' तब राजाने उनसे अपने आगमनका जो कारण था, उसे इस प्रकार बताया ॥ ४९ ॥

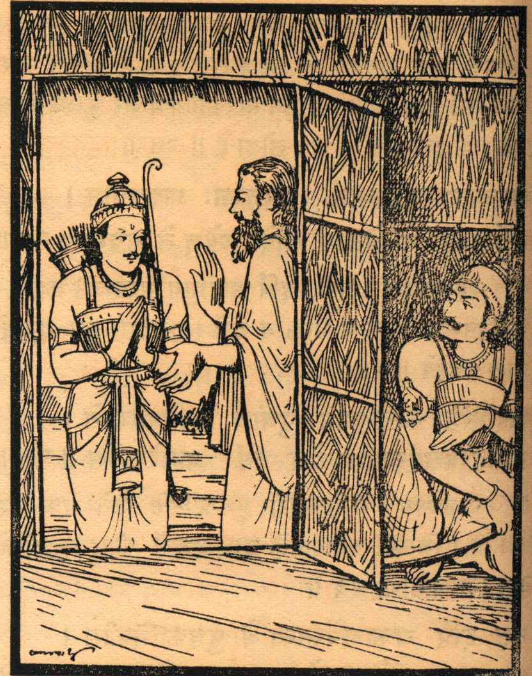
राजोवाच

अयं ब्रह्मन्नितो राजा वीतहव्यो विसर्ज्यताम्।
तस्य पुत्रैर्हि मे कृत्स्नो ब्रह्मन् वंशः प्रणाशितः॥ ५० ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! राजा वीतहव्यको आप यहाँसे बार निकाल दीजिये। विप्रवर! इनके पुत्रोंने मेरे सम्पूर्ण कुलका विनाश कर डाला है ॥ ५० ॥

उत्सादितश्च विषयः काशीनां रत्नसंचयः।
एतस्य वीर्यदृप्तस्य हतं पुत्रशतं मया ॥ ५१ ॥
अस्येदानीं वधादद्य भविष्याम्यनृणः पितुः।

इतना ही नहीं, उनके पुत्रोंने काशिप्रान्तका सारा राज्य



उजाड़ डाला और रत्नोंका संग्रह लूट लिया है। बलके घमंडमें भरे हुए इन राजाके सौ पुत्रोंको तो मैंने मार डाला; अब केवल ये ही रह गये हैं। इस समय इनका भी वध करके मैं पिताके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा ॥ ५१½ ॥

तमुवाच कृपाविष्टो भृगुर्धर्मभृतां वरः ॥ ५२ ॥
नेहास्ति क्षत्रियः कश्चित् सर्वे हीमे द्विजातयः।

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भृगुने दयासे द्रवित होकर उनसे कहा—'राजन्! यहाँ कोई क्षत्रिय नहीं है। ये सब-के-सब ब्राह्मण हैं' ॥ ५२½ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा भृगोस्तथ्यं प्रतर्दनः ॥ ५३ ॥
पादावुपस्पृश्य शनैः प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत्।
एवमप्यस्मि भगवन् कृतकृत्यो न संशयः ॥ ५४ ॥

महर्षि भृगुका यह यथार्थ वचन सुनकर प्रतर्दन बहुत प्रसन्न हुआ और धीरेसे उनके दोनों चरण छूकर बोला—'भगवन्! यदि ऐसी बात है तो मैं कृतकृत्य हो गया, इसमें संशय नहीं है ॥ ५३-५४ ॥

य एष राजा वीर्येण स्वजातिं त्याजितो मया।
अनुजानीहि मां ब्रह्मन् ध्यायस्व च शिवेन माम् ॥ ५५ ॥

'क्योंकि इन राजाको मैंने अपने पराक्रमसे अपनी जाति त्याग देनेके लिये विवश कर दिया। ब्रह्मन्! मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये और मेरा कल्याण-चिन्तन कीजिये ॥ ५५ ॥

त्याजितो हि मया जातिमेष राजा भृगूद्वह।
ततस्तेनाभ्यनुज्ञातो ययौ राजा प्रतर्दनः ॥ ५६ ॥
यथागतं महाराज मुक्त्वा विषमिवोरगः।

भृगुवंशी महर्षे ! मैंने इन राजासे अपनी जातिका त्याग करवा दिया ।' महाराज ! तदनन्तर महर्षिकी आज्ञा लेकर राजा प्रतर्दन जैसे साँप अपने विषको त्याग देता है, उसी प्रकार क्रोध छोड़कर जैसे आया था, वैसे लौट गया ॥५६½॥

भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः ॥ ५७ ॥
वीतहव्यो महाराज ब्रह्मवादित्वमेव च ।

नरेश्वर ! इस प्रकार राजा वीतहव्य भृगुजीके कथनमात्रसे ब्रह्मर्षि एवं ब्रह्मवादी हो गये ॥ ५७½ ॥

तस्य गृत्समदः पुत्रो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥ ५८ ॥
शक्रस्त्वमिति यो दैत्यैर्निगृहीतः किलाभवत् ।

उनके पुत्र गृत्समद हुए, जो रूपमें दूसरे इन्द्रके समान थे। कहते हैं, किसी समय दैत्योंने उन्हें यह कहते हुए पकड़ लिया था कि 'तुम इन्द्र हो' ॥ ५८½ ॥

ऋग्वेदे वर्तते चाग्र्या श्रुतिर्यस्य महात्मनः ॥ ५९ ॥
यत्र गृत्समदो राजन् ब्राह्मणैः स महीयते ।
स ब्रह्मचारी विप्रर्षिः श्रीमान् गृत्समदोऽभवत्॥ ६० ॥

ऋग्वेदमें महामना गृत्समदकी श्रेष्ठ श्रुति विद्यमान है । राजन् ! वहाँ ब्राह्मणलोग गृत्समदका बड़ा सम्मान करते हैं । ब्रह्मर्षि गृत्समद बड़े तेजस्वी और ब्रह्मचारी थे ॥ ५९-६० ॥

पुत्रो गृत्समदस्यापि सुचेता अभवद् द्विजः ।
वर्चाः सुचेतसः पुत्रो विहव्यस्तस्य चात्मजः ॥ ६१ ॥

गृत्समदके पुत्र सुचेता नामके ब्राह्मण हुए । सुचेताके पुत्र वर्चा और वर्चाके पुत्र विहव्य हुए ॥ ६१ ॥

विहव्यस्य तु पुत्रस्तु वितत्यस्तस्य चात्मजः ।
वितत्यस्य सुतः सत्यः संतः सत्यस्य चात्मजः ॥ ६२ ॥

विहव्यके पुत्रका नाम वितत्य था । वितत्यके पुत्र सत्य और सत्यके पुत्र सन्त हुए ॥ ६२ ॥

श्रवास्तस्य सुतश्चर्षिः श्रवसश्चाभवत् तमः ।
तमसश्च प्रकाशोऽभूत् तनयो द्विजसत्तमः ।
प्रकाशस्य च वागिन्द्रो बभूव जयतां वरः ॥ ६३ ॥

सन्तके पुत्र महर्षि श्रवा, श्रवाके तम और तमके पुत्र द्विजश्रेष्ठ प्रकाश हुए । प्रकाशका पुत्र विजयशीलोंमें श्रेष्ठ वागिन्द्र था ॥ ६३ ॥

तस्यात्मजश्च प्रमितिर्वेदवेदाङ्गपारगः ।
घृताच्यां तस्य पुत्रस्तु रुरुर्नामोदपद्यत ॥ ६४ ॥

वागिन्द्रके पुत्र प्रमिति हुए, जो वेदों और वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् थे । प्रमितिके घृताची अप्सरासे रुरुनामक पुत्र हुआ ॥ ६४ ॥

प्रमद्वरायां तु रुरोः पुत्रः समुदपद्यत ।
शुनको नाम विप्रर्षिर्यस्य पुत्रोऽथ शौनकः ॥ ६५ ॥

रुरुसे प्रमद्वराके गर्भसे ब्रह्मर्षि शुनकका जन्म हुआ, जिनके पुत्र शौनक मुनि हैं ॥ ६५ ॥

एवं विप्रत्वमगमद् वीतहव्यो नराधिपः ।
भृगोः प्रसादाद् राजेन्द्र क्षत्रियः क्षत्रियर्षभ ॥ ६६ ॥

राजेन्द्र ! क्षत्रियशिरोमणे ! इस प्रकार राजा वीतहव्य क्षत्रिय होकर भी भृगुके प्रसादसे ब्राह्मण हो गये ॥ ६६ ॥

तथैव कथितो वंशो मया गार्त्समदस्तव ।
विस्तरेण महाराज किमन्यदनुपृच्छसि ॥ ६७ ॥

महाराज ! इसी तरह मैंने गृत्समदके वंशका भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । अब और क्या पूछ रहे हो ? ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि वीतहव्योपाख्यानं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वीतहव्यका उपाख्याननामक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा पूजनीय पुरुषोंके लक्षण तथा उनके आदर-सत्कार और पूजनसे प्राप्त होनेवाले लाभका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

के पूज्या वै त्रिलोकेऽस्मिन् मानवा भरतर्षभ ।
विस्तरेण तदाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! इन तीनों लोकोंमें कौन-कौन-से मनुष्य पूज्य होते हैं ? यह विस्तारपूर्वक बताइये । आपकी बातें सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं वासुदेवस्य चोभयोः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष देवर्षि नारद और भगवान् श्रीकृष्णके संवादरूप इस इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

नारदं प्राञ्जलिं दृष्ट्वा पूजयानं द्विजर्षभान् ।
केशवः परिपप्रच्छ भगवन् कान् नमस्यसि ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, देवर्षि नारदजी हाथ जोड़कर उत्तम ब्राह्मणोंकी पूजा कर रहे थे । यह देखकर भगवान् श्रीकृष्णने पूछा—'भगवन् ! आप किनको नमस्कार कर रहे हैं ?' ॥ ३ ॥

बहुमानपरस्तेषु भगवन् यान् नमस्यसि ।
शक्यं चेच्छ्रोतुमस्माभिर्ब्रूह्येतद् धर्मवित्तम ॥ ४ ॥

'प्रभो ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नारदजी ! आपके हृदयमें जिनके प्रति बहुत बड़ा आदर है तथा आप भी जिनके सामने मस्तक झुकाते हैं, वे कौन हैं ? यदि हमें सुनाना उचित समझें तो आप उन पूज्य पुरुषोंका परिचय दीजिये' ॥ ४ ॥

नारद उवाच

शृणु गोविन्द यानेतान् पूजयाम्यरिमर्दन ।
त्वत्तोऽन्यः कः पुमाँल्लोके श्रोतुमेतदिहार्हति॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—शत्रुमर्दन गोविन्द ! मैं जिनका पूजन करता हूँ, उनका परिचय सुननेके लिये इस संसारमें आपसे बढ़कर दूसरा कौन पुरुष अधिकारी है ? ॥ ५ ॥

वरुणं वायुमादित्यं पर्जन्यं जातवेदसम् ।
स्थाणुं स्कन्दं तथा लक्ष्मीं विष्णुं ब्रह्माणमेव च ॥ ६ ॥
वाचस्पतिं चन्द्रमसमपः पृथ्वीं सरस्वतीम् ।
सततं ये नमस्यन्ति तान् नमस्याम्यहं विभो ॥ ७ ॥

जो लोग वरुण, वायु, आदित्य, पर्जन्य, अग्नि, रुद्र, स्वामी कार्तिकेय, लक्ष्मी, विष्णु, ब्रह्मा, बृहस्पति, चन्द्रमा, जल, पृथ्वी और सरस्वतीको सदा प्रणाम करते हैं, प्रभो ! मैं उन्हीं पूज्य पुरुषोंको मस्तक झुकाता हूँ ॥ ६-७ ॥

तपोधनान् वेदविदो नित्यं वेदपरायणान् ।
महार्हान् वृष्णिशार्दूल सदा सम्पूजयाम्यहम् ॥ ८ ॥

वृष्णिसिंह ! तपस्या ही जिनका धन है, जो वेदोंके ज्ञाता तथा वेदोक्त धर्मका ही आश्रय लेनेवाले हैं, उन परम पूजनीय पुरुषोंकी ही मैं सदा पूजा करता रहता हूँ ॥ ८ ॥

अभुक्त्वा देवकार्याणि कुर्वते येऽविकत्थनाः ।
संतुष्टाश्च क्षमायुक्तास्तान् नमस्याम्यहं विभो॥ ९ ॥

प्रभो ! जो भोजनसे पहले देवताओंकी पूजा करते, अपनी झूठी बड़ाई नहीं करते, संतुष्ट रहते और क्षमाशील होते हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ९ ॥

सम्यग् यजन्ति ये चेष्टीः क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः ।
सत्यं धर्मं क्षितिं गाश्च तान् नमस्यामि यादव॥ १० ॥

यदुनन्दन ! जो विधिपूर्वक यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, जो क्षमाशील, जितेन्द्रिय और मनको वशमें करनेवाले हैं और सत्य, धर्म, पृथ्वी तथा गौओंकी पूजा करते हैं, उन्हींको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १० ॥

ये वै तपसि वर्तन्ते वने मूलफलाशनाः ।
असंचयाः क्रियावन्तस्तान् नमस्यामि यादव ॥ ११ ॥

यादव ! जो लोग वनमें फल-मूल खाकर तपस्यामें लगे रहते हैं, किसी प्रकारका संग्रह नहीं रखते और क्रियानिष्ठ होते हैं, उन्हींको मैं मस्तक झुकाता हूँ ॥ ११ ॥

ये भृत्यभरणे शक्ताः सततं चातिथिव्रताः ।
भुञ्जते देवशेषाणि तान् नमस्यामि यादव ॥ १२ ॥

जो माता-पिता, कुटुम्बीजन एवं सेवक आदि भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंका पालन करनेमें समर्थ हैं, जिन्होंने सदा अतिथिसेवाका व्रत ले रखा है तथा जो देवयज्ञसे बचे हुए अन्नको ही भोजन करते हैं, मैं उन्हींके सामने नतमस्तक होता हूँ ॥ १२ ॥

ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षा वाग्मिनो ब्रह्मचारिणः ।
याजनाध्यापने युक्ता नित्यं तान् पूजयाम्यहम्॥ १३ ॥

जो वेदका अध्ययन करके दुर्धर्ष और बोलनेमें कुशल हो गये हैं, ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और यज्ञ कराने तथा वेद पढ़ानेमें लगे रहते हैं, उनकी मैं सदा पूजा किया करता हूँ ॥ १३ ॥

प्रसन्नहृदयाश्चैव सर्वसत्त्वेषु नित्यशः ।
आपृष्ठतापात् स्वाध्याये युक्तास्तान् पूजयाम्यहम्॥ १४ ॥

जो नित्य-निरन्तर समस्त प्राणियोंपर प्रसन्नचित्त रहते और सबेरेसे दोपहरतक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न रहते हैं, उनका मैं पूजन करता हूँ ॥ १४ ॥

गुरुप्रसादे स्वाध्याये यतन्तो ये स्थिरव्रताः ।
शुश्रूषवोऽनसूयन्तस्तान् नमस्यामि यादव ॥ १५ ॥

यदुकुलतिलक ! जो गुरुको प्रसन्न रखने और स्वाध्याय करनेके लिये सदा यत्नशील रहते हैं, जिनका व्रत कभी भंग नहीं होने पाता, जो गुरुजनोंकी सेवा करते और किसीके भी दोष नहीं देखते, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १५ ॥

सुव्रता मुनयो ये च ब्राह्मणाः सत्यसंगराः ।
वोढारो हव्यकव्यानां तान् नमस्यामि यादव ॥ १६ ॥

यदुनन्दन ! जो उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, मननशील, सत्यप्रतिज्ञ तथा हव्य-कव्यको नियमितरूपसे चलानेवाले ब्राह्मण हैं, उनको मैं मस्तक झुकाता हूँ ॥ १६ ॥

भैक्ष्यचर्यासु निरताः कृशा गुरुकुलाश्रयाः ।
निःसुखा निर्धना ये तु तान् नमस्यामि यादव ॥ १७ ॥

यदुकुलभूषण ! जो गुरुकुलमें रहकर भिक्षासे जीवन-निर्वाह करते हैं, तपस्यासे जिनका शरीर दुर्बल हो गया है

और जो कभी धन तथा सुखकी चिन्ता नहीं करते हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १७ ॥

निर्ममा निष्प्रतिद्वन्द्वा निर्ह्रीका निष्प्रयोजनाः।
ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षा वाग्मिनो ब्रह्मवादिनः ॥ १८ ॥
अहिंसानिरता ये च ये च सत्यव्रता नराः।
दान्ताः शमपराश्चैव तान् नमस्यामि केशव ॥ १९ ॥

केशव ! जिनके मनमें ममता नहीं है, जो प्रतिद्वन्द्वियोंसे रहित, लज्जासे ऊपर उठे हुए तथा कहीं भी कोई प्रयोजन न रखनेवाले हैं, जो वेदोंके ज्ञानका बल पाकर दुर्धर्ष हो गये हैं, प्रवचन-कुशल और ब्रह्मवादी हैं, जिन्होंने अहिंसामें तत्पर रहकर सदा सत्य बोलनेका व्रत ले रखा है तथा जो इन्द्रिय-संयम एवं मनोनिग्रहके साधनमें संलग्न रहते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १८-१९ ॥

देवतातिथिपूजायां युक्ता ये गृहमेधिनः।
कपोतवृत्तयो नित्यं तान् नमस्यामि यादव ॥ २० ॥

यादव ! जो गृहस्थ ब्राह्मण सदा कपोतवृत्तिसे रहते हुए देवता और अतिथियोंकी पूजामें संलग्न रहते हैं, उनको मैं मस्तक झुकाता हूँ ॥ २० ॥

येषां त्रिवर्गः कृत्येषु वर्तते नोपहीयते।
शिष्टाचारप्रवृत्ताश्च तान् नमस्याम्यहं सदा ॥ २१ ॥

जिनके कार्योंमें धर्म, अर्थ और काम तीनोंका निर्वाह होता है, किसी एककी भी हानि नहीं होने पाती तथा जो सदा शिष्टाचारमें ही संलग्न रहते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २१ ॥

ब्राह्मणाः श्रुतसम्पन्ना ये त्रिवर्गमनुष्ठिताः।
अलोलुपाः पुण्यशीलास्तान् नमस्यामि केशव ॥ २२ ॥

केशव ! जो ब्राह्मण वेद-शास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न, धर्म, अर्थ और कामका सेवन करनेवाले, लोलुपतासे रहित और स्वभावतः पुण्यात्मा हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २२ ॥

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च सुधाभक्षाश्च ये सदा।
व्रतैश्च विविधैर्युक्तास्तान् नमस्यामि माधव ॥ २३ ॥

माधव ! जो नाना प्रकारके व्रतोंका पालन करते हुए केवल पानी या हवा पीकर ही रह जाते हैं तथा जो सदा यज्ञशेष अन्नका ही भोजन करते हैं, उनके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २३ ॥

अयोनीनग्नियोनींश्च ब्रह्मयोनींस्तथैव च।
सर्वभूतात्मयोनींश्च तान् नमस्याम्यहं सदा ॥ २४ ॥

जो स्त्री नहीं रखते अर्थात् ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, जो अग्निहोत्रसे युक्त हैं तथा जो वेदोंको धारण करनेवाले हैं और समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप परमात्माको ही सबका कारण माननेवाले हैं, उनकी मैं सदा वन्दना करता हूँ ॥

नित्यमेतान् नमस्यामि कृष्ण लोककरानृषीन्।
लोकज्येष्ठान् कुलज्येष्ठांस्तमोघ्नाँल्लोकभास्करान् ॥ २५ ॥

श्रीकृष्ण ! जो लोकोंकी सृष्टि करनेवाले, संसारमें सबसे श्रेष्ठ, उत्तम कुलमें उत्पन्न, अज्ञानान्धकारका नाश करनेवाले तथा सूर्यके समान जगत्‌को ज्ञानालोक प्रदान करनेवाले हैं, उन ऋषियोंको मैं सदा मस्तक झुकाता हूँ ॥ २५ ॥

तस्मात् त्वमपि वार्ष्णेय द्विजान् पूजय नित्यदा।
पूजिताः पूजनार्हा हि सुखं दास्यन्ति तेऽनघ ॥ २६ ॥

वार्ष्णेय ! अतः आप भी सदा ब्राह्मणोंका पूजन करें। निष्पाप श्रीकृष्ण ! वे पूजनीय ब्राह्मण पूजित होनेपर आपको अपने आशीर्वादसे सुख प्रदान करेंगे ॥ २६ ॥

अस्मिँल्लोके सदा ह्येते परत्र च सुखप्रदाः।
चरन्ते मान्यमाना वै प्रदास्यन्ति सुखं तव ॥ २७ ॥

ये ब्राह्मण सदा इहलोक और परलोकमें भी सुख प्रदान करते हुए विचरते हैं। ये सम्मानित होनेपर आपको अवश्य ही सुख प्रदान करेंगे ॥ २७ ॥

ये सर्वातिथयो नित्यं गोषु च ब्राह्मणेषु च।
नित्यं सत्ये चाभिरता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २८ ॥

जो सबका अतिथि सत्कार करते तथा गौ-ब्राह्मण और सत्यपर प्रेम रखते हैं, वे बड़े-बड़े संकटसे पार हो जाते हैं ॥

नित्यं शमपरा ये च तथा ये चानसूयकाः।
नित्यस्वाध्यायिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २९ ॥

जो सदा मनको वशमें रखते, किसीके दोषपर दृष्टि नहीं डालते और प्रतिदिन स्वाध्यायमें संलग्न रहते हैं, वे दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं ॥ २९ ॥

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति ये चैकं वेदमाश्रिताः।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३० ॥

जो सब देवताओंको प्रणाम करते हैं, एकमात्र वेदका आश्रय लेते, श्रद्धा रखते और इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं, वे भी दुस्तर संकटसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ ३० ॥

तथैव विप्रप्रवरान् नमस्कृत्य यतव्रताः।
भवन्ति ये दानरता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार जो नियमपूर्वक व्रतोंका पालन करते हैं और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको नमस्कार करके उन्हें दान देते हैं, वे दुस्तर विपत्ति लाँघ जाते हैं ॥ ३१ ॥

तपस्विनश्च ये नित्यं कौमारब्रह्मचारिणः।
तपसा भावितात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३२ ॥

जो तपस्वी, आबालब्रह्मचारी और तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले हैं, वे दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणां चार्चने रताः।
शिष्टान्नभोजिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३३ ॥

जो देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग तथा पितरोंके पूजनमें तत्पर रहते हैं और यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करते हैं, वे भी दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

अग्निमाधाय विधिवत् प्रणता धारयन्ति ये।
प्राप्ताः सोमाहुतिं चैव दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३४ ॥

जो विधिपूर्वक अग्निकी स्थापना करके सदा अग्निदेवकी उपासना और वन्दना करते हुए सर्वदा उस अग्निकी रक्षा करते हैं तथा उसमें सोमरसकी आहुति देते हैं, वे दुस्तर विपत्तिसे पार हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

मातापित्रोर्गुरुषु च सम्यग् वर्तन्ति ये सदा।
यथा त्वं वृष्णिशार्दूलेत्युक्त्वैवं विरराम सः ॥ ३५ ॥

वृष्णिसिंह ! जो आपकी ही भाँति माता-पिता और गुरुके प्रति पूर्णतः न्याययुक्त बर्ताव करते हैं, वे भी संकटसे पार हो जाते हैं—ऐसा कहकर नारदजी चुप हो गये ॥ ३५ ॥

तस्मात् त्वमपि कौन्तेय पितृदेवद्विजातिथीन्।
सम्यक् पूजयसे नित्यं गतिमिष्टामवाप्स्यसि ॥ ३६ ॥

अतः कुन्तीनन्दन ! यदि तुम भी सदा देवताओं, पितरों, ब्राह्मणों और अतिथियोंका भलीभाँति पूजन एवं सत्कार करते रहोगे तो अभीष्ट गति प्राप्त कर लोगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कृष्णनारदसंवादे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्रीकृष्ण-नारदसंवादविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

राजर्षि वृषदर्भ (या उशीनर) के द्वारा शरणागत कपोतकी रक्षा तथा उस पुण्यके प्रभावसे अक्षयलोककी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि धर्मं भरतसत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाप्राज्ञ पितामह ! आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हैं, अतः भरतसत्तम ! मैं आपसे ही धर्मविषयक उपदेश सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

शरणागतं ये रक्षन्ति भूतग्रामं चतुर्विधम्।
किं तस्य भरतश्रेष्ठ फलं भवति तत्त्वतः ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अब यह बतानेकी कृपा कीजिये कि जो लोग शरणमें आए हुए अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज—इन चार प्रकारके प्राणियोंकी रक्षा करते हैं, उनको वास्तवमें क्या फल मिलता है ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

इदं शृणु महाप्राज्ञ धर्मपुत्र महायशः।
इतिहासं पुरावृत्तं शरणार्थं महाफलम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—महाप्राज्ञ, महायशस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिर ! शरणागतकी रक्षा करनेसे जो महान् फल प्राप्त होता है, उसके विषयमें तुम यह एक प्राचीन इतिहास सुनो ॥

प्रपात्यमानः श्येनेन कपोतः प्रियदर्शनः।
वृषदर्भं महाभागं नरेन्द्रं शरणं गतः ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, एक बाज किसी सुन्दर कबूतरको मार रहा था। वह कबूतर बाजके डरसे भागकर महाभाग राजा वृषदर्भ (उशीनर) की शरणमें गया ॥ ४ ॥

स तं दृष्ट्वा विशुद्धात्मा त्रासादङ्कमुपागतम्।
आश्वास्याश्वसिहीत्याह न तेऽस्ति भयमण्डज ॥ ५ ॥

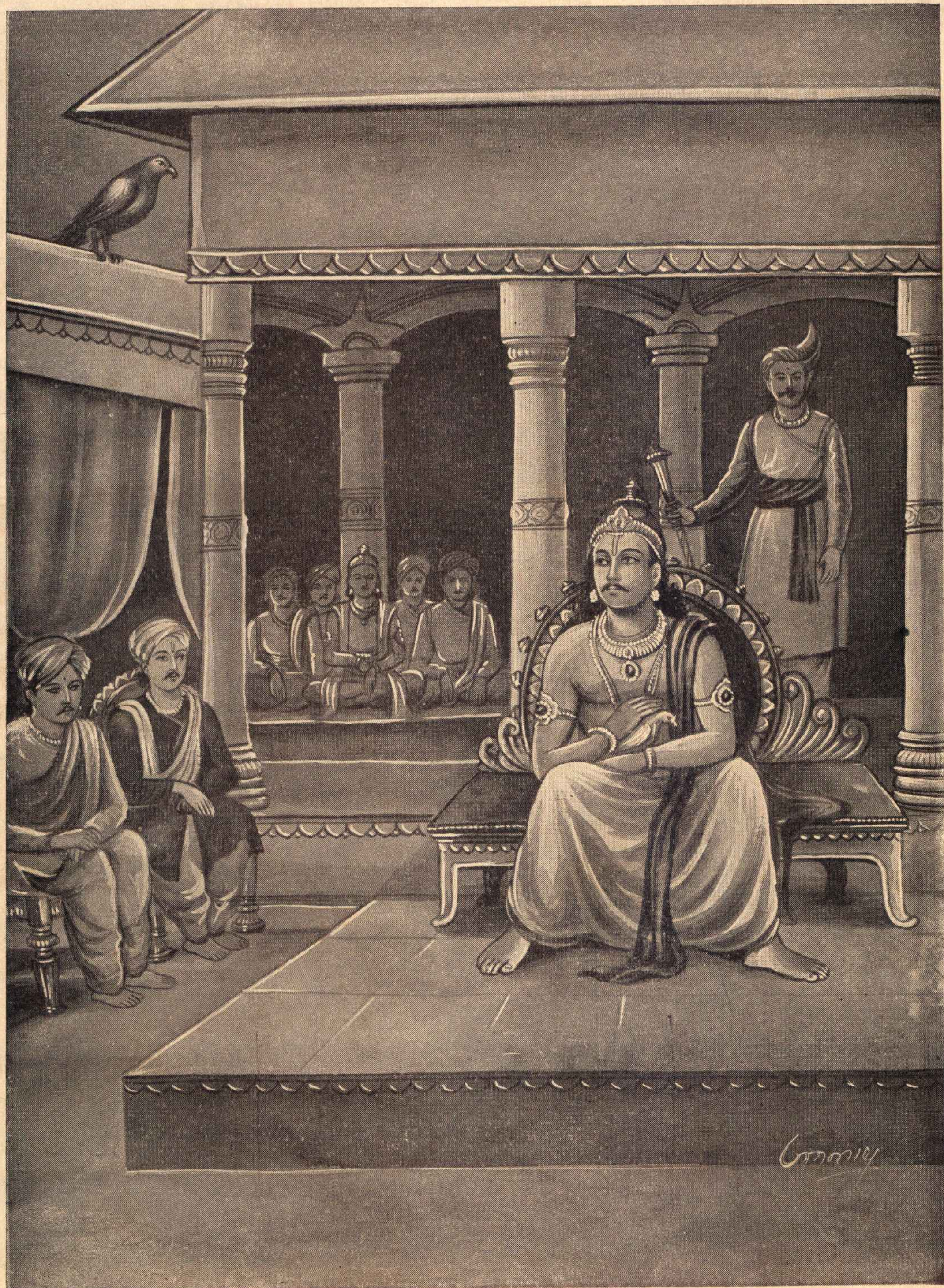
भयके मारे अपनी गोदमें आये हुए उस कबूतरको देखकर विशुद्ध अन्तःकरणवाले राजा उशीनरने उस पक्षीको आश्वासन देकर कहा—'अण्डज ! शान्त रह। यहाँ तुझे कोई भय नहीं है ॥ ५ ॥

भयं ते सुमहत् कस्मात् कुत्र किं वा कृतं त्वया।
येन त्वमिह सम्प्राप्तो विसंज्ञो भ्रान्तचेतनः ॥ ६ ॥

'बता, तुझे यह महान् भय कहाँ और किससे प्राप्त हुआ है ? तूने क्या अपराध किया है ? जिससे तेरी चेतना भ्रान्त-सी हो रही है तथा तू यहाँ बेसुध-सा होकर आया है ॥ ६ ॥

नवनीलोत्पलापीडचारुवर्ण सुदर्शन।
दाडिमाशोकपुष्पाक्ष मा त्रसस्वाभयं तव ॥ ७ ॥

'नूतन नील-कमलके हारकी भाँति तेरी मनोहर कान्ति है। तू देखनेमें बड़ा सुन्दर है। तेरी आँखें अनार और अशोकके फूलोंकी भाँति लाल हैं। तू भयभीत न हो। मैं तुझे अभय दान देता हूँ ॥ ७ ॥



भयभीत कबूतर महाराज शिविकी गोदमें

मत्सकाशमनुप्राप्तं न त्वां कश्चित् समुत्सहेत् ।
मनसा ग्रहणं कर्तुं रक्षाध्यक्षपुरस्कृतम् ॥ ८ ॥

'अब तू मेरे पास आ गया है; अतः रक्षाध्यक्षके सामने है । यहाँ तुझे कोई मनसे भी पकड़नेका साहस नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

काशिराज्यं तदद्यैव त्वदर्थं जीवितं तथा ।
त्यजेयं भव विश्रब्धः कपोत न भयं तव ॥ ९ ॥

'कबूतर ! आज ही मैं तेरी रक्षाके लिये यह काशिराज्य अर्थात् प्रकाशमान उशीनर देशका राज्य तथा अपना जीवन भी निछावर कर दूँगा । तू इस बातपर विश्वास करके निश्चिन्त हो जा । अब तुझे कोई भय नहीं है' ॥ ९ ॥

श्येन उवाच

ममैतद् विहितं भक्ष्यं न राजंस्त्रातुमर्हसि ।
अतिक्रान्तं च प्राप्तं च प्रयत्नाच्चोपपादितम् ॥ १० ॥

इतनेहीमें बाज भी वहाँ आ गया और बोला— राजन् ! विधाताने इस कबूतरको मेरा भोजन नियत किया है । आप इसकी रक्षा न करें । इसका जीवन गया हुआ ही है; क्योंकि अब यह मुझे मिल गया है । इसे मैंने बड़े प्रयत्नसे प्राप्त किया है ॥ १० ॥

मांसं च रुधिरं चास्य मज्जा मेदश्च मे हितम् ।
परितोषकरो ह्येष मम मास्याग्रतो भव ॥ ११ ॥

इसके रक्त, मांस, मज्जा और मेदा सभी मेरे लिये हितकर हैं । यह कबूतर मेरी क्षुधा मिटाकर मुझे पूर्णतः तृप्त कर देगा; अतः आप इस मेरे आहारके आगे आकर विघ्न न डालिये ॥ ११ ॥

तृष्णा मे बाधतेऽत्युग्रा क्षुधा निर्दहतीव माम् ।
मुञ्चैनं न हि शक्ष्यामि राजन् मन्दयितुं क्षुधाम् ॥ १२ ॥

मुझे बड़े जोरकी प्यास सता रही है । भूखकी ज्वाला मुझे दग्ध-सा किये देती है । राजन् ! उसे छोड़ दीजिये । मैं अपनी भूखको दबा नहीं सकूँगा ॥ १२ ॥

मया ह्यनुसृतो ह्येष मत्पक्षनखविक्षतः ।
किंचिदुच्छ्वासनिःश्वासं न राजन् गोप्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

मैं बड़ी दूरसे इसके पीछे पड़ा हुआ हूँ । यह मेरे पंखों और पंजोंसे घायल हो चुका है । अब इसकी कुछ-कुछ साँस बाकी रह गयी है । राजन् ! ऐसी दशामें आप इसकी रक्षा न करें ॥ १३ ॥

यदि स्वविषये राजन् प्रभुस्त्वं रक्षणे नृणाम् ।
खेचरस्य तृषार्तस्य न त्वं प्रभुरथोत्तम ॥ १४ ॥

श्रेष्ठ नरेश्वर ! अपने देशमें रहनेवाले मनुष्योंकी ही रक्षा करनेके लिये आप राजा बनाये गये हैं । भूख-प्याससे पीड़ित हुए पक्षीके आप स्वामी नहीं हैं ॥ १४ ॥

यदि वैरिषु भृत्येषु स्वजनव्यवहारयोः ।
विषयेष्विन्द्रियाणां च आकाशे मा पराक्रम ॥ १५ ॥

यदि आपमें शक्ति है तो वैरियों, सेवकों, स्वजनों, वादी-प्रतिवादीके व्यवहारों (मुद्दई-मुद्दालहोंके मामलों) तथा इन्द्रियोंके विषयोंपर पराक्रम प्रकट कीजिये । आकाशमें रहनेवालोंपर अपने बलका प्रयोग न कीजिये ॥ १५ ॥

प्रभुत्वं हि पराक्रम्य सम्यक् पक्षहरेषु ते ।
यदि त्वमिह धर्मार्थी मामपि द्रष्टुमर्हसि ॥ १६ ॥

जो लोग आपकी आज्ञाभङ्ग करनेवाले शत्रुकोटिके अन्तर्गत हैं, उनपर पराक्रम करके अपनी प्रभुता प्रकट करना आपके लिये उचित हो सकता है । यदि धर्मके लिये आप यहाँ कबूतरकी रक्षा करते हों तो मुझ भूखे पक्षीपर भी आपको दृष्टि डालनी चाहिये ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

श्रुत्वा श्येनस्य तद् वाक्यं राजर्षिर्विस्मयं गतः ।
सम्भाव्य चैनं तद्वाक्यं तदर्थी प्रत्यभाषत ॥ १७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! बाजकी यह बात सुनकर राजर्षि उशीनरको बड़ा विस्मय हुआ । वे उसके कथनकी प्रशंसा करके कपोतकी रक्षाके लिये इस प्रकार बोले ॥ १७ ॥

राजोवाच

गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा ।
त्वदर्थमद्य क्रियतां क्षुधाप्रशमनाय ते ॥ १८ ॥

राजाने कहा—बाज ! तुम चाहो तो तुम्हारी भूख मिटानेके लिये आज तुम्हारे भोजनके निमित्त बैल, भैंसा, सूअर अथवा मृग प्रस्तुत कर दिया जाय ॥ १८ ॥

शरणागतं न त्यजेयमिति मे व्रतमाहितम् ।
न मुञ्चति ममाङ्गानि द्विजोऽयं पश्य वै द्विज ॥ १९ ॥

विहंगम ! मैं शरणागतका त्याग नहीं कर सकता—यह मेरा व्रत है । देखो, यह पक्षी भयके मारे मेरे अङ्गोंको छोड़ नहीं रहा है ॥ १९ ॥

श्येन उवाच

न वराहं न चोक्षाणं न चान्यान् विविधान् द्विजान् ।
भक्षयामि महाराज किमन्याद्येन तेन मे ॥ २० ॥

बाजने कहा—महाराज ! मैं न तो सूअर, न बैल और न दूसरे ही नाना प्रकारके पक्षियोंका मांस खाऊँगा । जो दूसरोंका भोजन है, उसे लेकर मैं क्या करूँगा ॥ २० ॥

यस्तु मे विहितो भक्ष्यः स्वयं देवैः सनातनः ।
श्येनाः कपोतान् खादन्ति स्थितिरेषा सनातनी ॥ २१ ॥

साक्षात् देवताओंने सनातनकालसे मेरे लिये जो खाद्य नियत कर दिया है, वही मुझे मिलना चाहिये । प्राचीनकालसे लोग इस बातको जानते हैं कि बाज कबूतर खाते हैं ॥२१॥

उशीनर कपोते तु यदि स्नेहस्तवानघ ।
ततस्त्वं मे प्रयच्छाद्य स्वमांसं तुलया धृतम् ॥ २२ ॥

निष्पाप महाराज उशीनर ! यदि आपको इस कबूतरपर बड़ा स्नेह है तो आप मुझे इसके बराबर अपना ही मांस तराजूपर तौलकर दे दीजिये ॥ २२ ॥

राजोवाच

महाननुग्रहो मेऽद्य यस्त्वमेवमिहात्थ माम् ।
बाढमेव करिष्यामीत्युक्त्वासौ राजसत्तमः ॥ २३ ॥
उत्कृत्योत्कृत्य मांसानि तुलया समतोलयत् ।

राजाने कहा—'बाज ! तुमने ऐसी बात कहकर मुझपर बड़ा अनुग्रह किया । बहुत अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगा ।' यों कहकर नृपश्रेष्ठ उशीनरने अपना मांस काट-काटकर तराजूपर रखना आरम्भ किया ॥ २३½ ॥

अन्तःपुरे ततस्तस्य स्त्रियो रत्नविभूषिताः ॥ २४ ॥
हाहाभूता विनिष्क्रान्ताः श्रुत्वा परमदुःखिताः ।

यह समाचार सुनकर अन्तःपुरकी रत्नविभूषित रानियाँ बहुत दुखी हुईं और हाहाकार करती हुई बाहर निकल आयीं ॥ २४½ ॥

तासां रुदितशब्देन मन्त्रिभृत्यजनस्य च ॥ २५ ॥
बभूव सुमहान् नादो मेघगम्भीरनिःस्वनः ।

उनके रोनेके शब्दसे तथा मन्त्रियों और भृत्यजनोंके हाहाकारसे मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान वहाँ बड़ा भारी कोलाहल मच गया ॥ २५½ ॥

निरुद्धं गगनं सर्वं शुभ्रं मेघैः समन्ततः ॥ २६ ॥
मही प्रचलिता चासीत् तस्य सत्येन कर्मणा ।

सारा शुभ्र आकाश सब ओरसे मेघोंद्वारा आच्छादित हो गया । उनके सत्यकर्मके प्रभावसे पृथ्वी काँपने लगी ॥२६½॥

स राजा पार्श्वतश्चैव बाहुभ्यामूरुतश्च यत् ॥ २७ ॥
तानि मांसानि संछिद्य तुलां पूरयतेऽशनैः ।
तथापि न समस्तेन कपोतेन बभूव ह ॥ २८ ॥

राजा अपनी पसलियों, भुजाओं और जाँघोंसे मांस काट-कर जल्दी-जल्दी तराजू भरने लगे । तथापि वह मांसराशि उस कबूतरके बराबर नहीं हुई ॥ २७-२८ ॥

अस्थिभूतो यदा राजा निर्मांसो रुधिरस्रवः ।
तुलां ततः समारूढः स्वं मांसक्षयमुत्सृजन् ॥ २९ ॥

जब राजाके शरीरका मांस चुक गया और रक्तकी धारा बहाता हुआ हड्डियोंका ढाँचामात्र रह गया, तब वे मांस काटनेका काम बंद करके स्वयं ही तराजूपर चढ़ गये ॥२९॥

ततः सेन्द्रास्त्रयो लोकास्तं नरेन्द्रमुपस्थिताः ।
भेर्यश्चाकाशगैस्तत्र वादिता देवदुन्दुभिः ॥ ३० ॥

फिर तो इन्द्र आदि देवताओंसहित तीनों लोकोंके प्राणी उन नरेन्द्रके पास आ पहुँचे । कुछ देवता आकाशमें ही खड़े होकर दुन्दुभियाँ बजाने लगे ॥ ३० ॥

अमृतेनावसिक्तश्च वृषदर्भो नरेश्वरः ।
दिव्यैश्च सुसुखैर्माल्यैरभिवृष्टः पुनः पुनः ॥ ३१ ॥

कुछ देवताओंने राजा वृषदर्भको अमृतसे नहलाया और उनके ऊपर अत्यन्त सुखदायक दिव्य पुष्पोंकी बारंबार वर्षा की ॥ ३१ ॥

देवगन्धर्वसंघातैरप्सरोभिश्च सर्वतः ।
नृत्तश्चैवोपगीतश्च पितामह इव प्रभुः ॥ ३२ ॥

देव-गन्धर्वोंके समुदाय और अप्सराएँ सब ओरसे उन्हें घेरकर गाने और नाचने लगीं । वे उनके बीचमें भगवान् ब्रह्माजीके समान शोभा पाने लगे ॥ ३२ ॥

हेमप्रासादसम्बाधं मणिकाञ्चनतोरणम् ।
स वैदूर्यमणिस्तम्भं विमानं समधिष्ठितः ॥ ३३ ॥

इतनेहीमें एक दिव्य विमान उपस्थित हुआ, जिसमें सुवर्णके महल बने हुए थे, सोने और मणियोंकी बन्दनवारें लगी थीं और वैदूर्यमणिके खम्भे शोभा पा रहे थे ॥ ३३ ॥

स राजर्षिर्गतः स्वर्गं कर्मणा तेन शाश्वतम् ।

राजर्षि उशीनर उस विमानमें बैठकर उस पुण्यकर्मके प्रभावसे सनातन दिव्यलोकको प्राप्त हुए ॥ ३३½ ॥

शरणागतेषु चैवं त्वं कुरु सर्वं युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥
भक्तानामनुरक्तानामाश्रितानां च रक्षिता ।
दयावान् सर्वभूतेषु परत्र सुखमेधते ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर ! तुम भी शरणागतोंके लिये इसी प्रकार अपना सर्वस्व निछावर कर दो । जो मनुष्य अपने भक्त, प्रेमी और शरणागत पुरुषोंकी रक्षा करता है तथा सब प्राणियोंपर दया रखता है, वह परलोकमें सुख पाता है ॥ ३४-३५ ॥

साधुवृत्तो हि यो राजा सद्वृत्तमनुतिष्ठति ।
किं न प्राप्तं भवेत् तेन स्वव्याजेनेह कर्मणा ॥ ३६ ॥

जो राजा सदाचारी होकर सबके साथ सद्बर्ताव करता

है, वह अपने निश्छल कर्मसे किस वस्तुको नहीं प्राप्त कर लेता ॥ ३६ ॥

स राजर्षिर्विशुद्धात्मा धीरः सत्यपराक्रमः।
काशीनामीश्वरः ख्यातस्त्रिषु लोकेषु कर्मणा ॥ ३७ ॥

सत्य पराक्रमी, धीर और शुद्ध हृदयवाले काशी-नरेश राजर्षि उशीनर अपने पुण्यकर्मसे तीनों लोकोंमें विख्यात हो गये ॥ ३७ ॥

योऽप्यन्यः कारयेदेवं शरणागतरक्षणम्।
सोऽपि गच्छेत तामेव गतिं भरतसत्तम ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि दूसरा कोई भी पुरुष इसी प्रकार शरणागतकी रक्षा करेगा तो वह भी उसी गतिको प्राप्त करेगा ॥ ३८ ॥

इदं वृत्तं हि राजर्षेर्वृषदर्भस्य कीर्तयन्।
पूतात्मा वै भवेल्लोके शृणुयाद् यश्च नित्यशः ॥ ३९ ॥

राजर्षि वृषदर्भ (उशीनर) के इस चरित्रका जो सदा श्रवण और वर्णन करता है, वह संसारमें पुण्यात्मा होता है ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्येनकपोतसंवादे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें बाज और कबूतरका संवादविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मणके महत्त्वका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किं राज्ञः सर्वकृत्यानां गरीयः स्यात् पितामह।
कुर्वन् किं कर्म नृपतिरुभौ लोकौ समश्नुते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजाके सम्पूर्ण कृत्योंमें किसका महत्त्व सबसे अधिक है ? किस कर्मका अनुष्ठान करनेवाला राजा इसलोक और परलोक दोनोंमें सुखी होता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

एतद् राज्ञः कृत्यतममभिषिक्तस्य भारत।
ब्राह्मणानामनुष्ठानमत्यन्तं सुखमिच्छता ॥ २ ॥
कर्तव्यं पार्थिवेन्द्रेण तथैव भरतर्षभ।

भीष्मजीने कहा—भारत ! राजसिंहासनपर अभिषिक्त होकर राज्यशासन करनेवाले राजाका सबसे प्रधान कर्तव्य यही है कि वह ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजा करे। भरतश्रेष्ठ ! अक्षय सुखकी इच्छा रखनेवाले नरेशको ऐसा ही करना चाहिये ॥

श्रोत्रियान् ब्राह्मणान् वृद्धान् नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥ ३ ॥
पौरजानपदांश्चापि ब्राह्मणांश्च बहुश्रुतान्।
सान्त्वेन भोगदानेन नमस्कारैस्तथार्चयेत् ॥ ४ ॥

राजा वेदज्ञ ब्राह्मणों तथा बड़े-बूढ़ोंका सदा ही आदर करे। नगर और जनपदमें रहनेवाले बहुश्रुत ब्राह्मणोंको मधुर वचन बोलकर, उत्तम भोग प्रदानकर तथा सादर शीश झुकाकर सम्मानित करे ॥ ३-४ ॥

एतत् कृत्यतमं राज्ञो नित्यमेवोपलक्षयेत्।
यथाऽऽत्मानं यथा पुत्रांस्तथैतान् प्रतिपालयेत् ॥ ५ ॥

राजा जिस प्रकार अपनी तथा अपने पुत्रोंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार इन ब्राह्मणोंकी भी करे। यही राजाका प्रधान कर्तव्य है, जिसपर उसे सदा ही दृष्टि रखनी चाहिये ॥ ५ ॥

ये चाप्येषां पूज्यतमास्तान् दृढं प्रतिपूजयेत्।
तेषु शान्तेषु तद् राष्ट्रं सर्वमेव विराजते ॥ ६ ॥

जो इन ब्राह्मणोंके भी पूजनीय हों, उन पुरुषोंका भी सुस्थिर चित्तसे पूजन करे; क्योंकि उनके शान्त रहनेपर ही सारा राष्ट्र शान्त एवं सुखी रह सकता है ॥ ६ ॥

ते पूज्यास्ते नमस्कार्या मान्यास्ते पितरो यथा।
तेष्वेव यात्रा लोकानां भूतानामिव वासवे ॥ ७ ॥

राजाके लिये ब्राह्मण ही पिताकी भाँति पूजनीय, वन्दनीय और माननीय है। जैसे प्राणियोंका जीवन वर्षा करनेवाले इन्द्रपर निर्भर है, उसी प्रकार जगत्‌की जीवन-यात्रा ब्राह्मणोंपर ही अवलम्बित है ॥ ७ ॥

अभिचारैरुपायैश्च दहेयुरपि चेतसा।
निःशेषं कुपिताः कुर्युरुग्राः सत्यपराक्रमाः ॥ ८ ॥

ये सत्य-पराक्रमी ब्राह्मण जब कुपित होकर उग्ररूप धारण कर लेते हैं, उस समय अभिचार या अन्य उपायोंद्वारा संकल्पमात्रसे अपने विरोधियोंको भस्म कर सकते हैं और

उनका सर्वनाश कर डालते हैं ॥ ८ ॥

नान्तमेषां प्रपश्यामि न दिशश्चाप्यपावृताः ।
कुपिताः समुदीक्षन्ते दावेष्वग्निशिखा इव ॥ ९ ॥

मुझे इनका अन्त दिखायी नहीं देता । इनके लिये किसी भी दिशाका द्वार बंद नहीं है । ये जिस समय क्रोधमें भर जाते हैं, उस समय दावानलकी लपटोंके समान हो जाते हैं और वैसी ही दाहक दृष्टिसे देखने लगते हैं ॥ ९ ॥

बिभ्यत्येषां साहसिका गुणास्तेषामतीव हि ।
कूपा इव तृणच्छन्ना विशुद्धा द्यौरिवापरे ॥ १० ॥

बड़े-बड़े साहसी भी इनसे भय मानते हैं; क्योंकि इनके भीतर गुण ही अधिक होते हैं । इन ब्राह्मणोंमेंसे कुछ तो घास-फूससे ढके हुए कूपकी तरह अपने तेजको छिपाये रखते हैं और कुछ निर्मल आकाशकी भाँति प्रकाशित होते रहते हैं ॥ १० ॥

प्रसह्यकारिणः केचित् कार्पासमृदवो परे ।
(मान्यास्तेषां साधवो ये न निन्द्याश्चाप्यसाधवः ।)
सन्ति चैषामतिशठास्तथैवान्ये तपस्विनः ॥ ११ ॥

कुछ हठी होते हैं और कुछ रूईकी तरह कोमल । इनमें जो श्रेष्ठ पुरुष हों, उनका सम्मान करना चाहिये; परंतु जो श्रेष्ठ न हों, उनकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये । इन ब्राह्मणोंमें कुछ तो अत्यन्त शठ होते हैं और दूसरे महान् तपस्वी ॥ ११ ॥

कृषिगोरक्ष्यमप्येके भैक्ष्यमन्येऽप्यनुष्ठिताः ।
चौराश्चान्येऽनृताश्चान्ये तथान्ये नटनर्तकाः ॥ १२ ॥

कोई-कोई ब्राह्मण खेती और गोरक्षासे जीवन चलाते हैं, कोई भिक्षापर जीवन-निर्वाह करते हैं, कितने ही चोरी करते हैं, कोई झूठ बोलते हैं और दूसरे कितने ही नटोंका तथा नाचनेका कार्य करते हैं ॥ १२ ॥

सर्वकर्मसहाश्चान्ये पार्थिवेष्वितरेषु च ।
विविधाकारयुक्ताश्च ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कितने ही ब्राह्मण राजाओं तथा अन्य लोगोंके यहाँ सब प्रकारके कार्य करनेमें समर्थ होते हैं और अनेक ब्राह्मण नाना प्रकारके आकार धारण करते हैं ॥ १३ ॥

नानाकर्मसु रक्तानां बहुकर्मोपजीविनाम् ।
धर्मज्ञानां सतां तेषां नित्यमेवानुकीर्तयेत् ॥ १४ ॥

नाना प्रकारके कर्मोंमें संलग्न तथा अनेक कर्मोंसे जीविका चलानेवाले उन धर्मज्ञ एवं सत्पुरुष ब्राह्मणोंका सदा ही गुण गाना चाहिये ॥ १४ ॥

पितॄणां देवतानां च मनुष्योरगरक्षसाम् ।
पुराप्येते महाभागा ब्राह्मणा वै जनाधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! प्राचीनकालसे ही ये महाभाग ब्राह्मणलोग देवता, पितर, मनुष्य, नाग और राक्षसोंके पूजनीय हैं ॥ १५ ॥

नैते देवैर्न पितृभिर्न गन्धर्वैर्न राक्षसैः ।
नासुरैर्न पिशाचैश्च शक्या जेतुं द्विजातयः ॥ १६ ॥

ये द्विज न तो देवताओं, न पितरों, न गन्धर्वों, न राक्षसों, न असुरों और न पिशाचोंद्वारा ही जीते जा सकते हैं ॥ १६ ॥

अदैवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम् ।
यमिच्छेयुः स राजा स्याद् यो नेष्टः स पराभवेत् ॥ १७ ॥

ये चाहें तो जो देवता नहीं है, उसे देवता बना दें और जो देवता हैं, उन्हें भी देवत्वसे गिरा दें । ये जिसे राजा बनाना चाहें, वही राजा रह सकता है । जिसे राजाके रूपमें ये न देखना चाहें, उसका पराभव हो जाता है ॥ १७ ॥

परिवादं च ये कुर्युर्ब्राह्मणानामचेतसः ।
सत्यं ब्रवीमि ते राजन् विनश्येयुर्न संशयः ॥ १८ ॥

राजन् ! मैं तुमसे यह सच्ची बात बता रहा हूँ कि जो मूढ़ मानव ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ १८ ॥

निन्दाप्रशंसाकुशलाः कीर्त्यकीर्तिपरायणाः ।
परिकुप्यन्ति ते राजन् सततं द्विषतां द्विजाः ॥ १९ ॥

निन्दा और प्रशंसामें निपुण तथा लोगोंके यश और अपयशको बढ़ानेमें तत्पर रहनेवाले द्विज अपने प्रति सदा द्वेष रखनेवालोंपर कुपित हो उठते हैं ॥ १९ ॥

ब्राह्मणा यं प्रशंसन्ति पुरुषः स प्रवर्धते ।
ब्राह्मणैर्यः पराकृष्टः पराभूयात् क्षणाद्धि सः ॥ २० ॥

ब्राह्मण जिसकी प्रशंसा करते हैं, उस पुरुषका अभ्युदय होता है और जिसको वे शाप देते हैं, उसका एक क्षणमें पराभव हो जाता है ॥ २० ॥

शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥ २१ ॥

शक, यवन और काम्बोज आदि जातियाँ पहले क्षत्रिय ही थीं; किंतु ब्राह्मणोंकी कृपादृष्टिसे वञ्चित होनेके कारण उन्हें वृषल (शूद्र एवं म्लेच्छ) होना पड़ा ॥ २१ ॥

द्राविडाश्च कलिङ्गाश्च पुलिन्दाश्चाप्युशीनराः ।

कोलिसर्पा माहिषकास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ॥ २२ ॥
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्।
श्रेयान् पराजयस्तेभ्यो न जयो जयतां वर ॥ २३ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश ! द्राविड़, कलिङ्ग, पुलिन्द, उशीनर, कोलिसर्प और माहिषक आदि क्षत्रिय जातियाँ भी ब्राह्मणोंकी कृपादृष्टि न मिलनेसे ही शूद्र हो गयीं । ब्राह्मणोंसे हार मान लेनेमें ही कल्याण है, उन्हें हराना अच्छा नहीं है॥ २२–२३ ॥

यस्तु सर्वमिदं हन्याद् ब्राह्मणं च न तत्समम्।
ब्रह्मवध्या महान् दोष इत्याहुः परमर्षयः ॥ २४ ॥

जो इस सम्पूर्ण जगत्‌को मार डाले तथा जो ब्राह्मणका वध करे, उन दोनोंका पाप समान नहीं है। महर्षियोंका कहना है कि ब्रह्महत्या महान् दोष है ॥ २४ ॥

परिवादो द्विजातीनां न श्रोतव्यः कथंचन।
आसीताधोमुखस्तूर्ष्णी समुत्थाय व्रजेच्च वा ॥ २५ ॥

ब्राह्मणोंकी निन्दा किसी तरह नहीं सुननी चाहिये। जहाँ उनकी निन्दा होती हो, वहाँ नीचे मुँह करके चुपचाप बैठे रहना या वहाँसे उठकर चल देना चाहिये ॥ २५ ॥

न स जातोऽजनिष्यद् वा पृथिव्यामिह कश्चन।
यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितुमुत्सहेत् ॥ २६ ॥

इस पृथ्वीपर ऐसा कोई मनुष्य न तो पैदा हुआ है और न आगे पैदा होगा ही, जो ब्राह्मणके साथ विरोध करके सुख-पूर्वक जीवित रहनेका साहस करे ॥ २६ ॥

दुर्ग्राह्यो मुष्टिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी।
दुर्धरा पृथिवी राजन् दुर्जया ब्राह्मणा भुवि ॥ २७ ॥

राजन् ! हवाको मुट्ठीमें पकड़ना, चन्द्रमाको हाथसे छूना और पृथ्वीको उठा लेना जैसे अत्यन्त कठिन काम है, उसी तरह इस पृथ्वीपर ब्राह्मणोंको जीतना दुष्कर है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्राह्मणप्रशंसा नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्राह्मणको प्रशंसा नामक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर २७½ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानेव सततं भृशं सम्परिपूजयेत्।
एते हि सोमराजान ईश्वराः सुखदुःखयोः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्राह्मणोंका सदा ही भलीभाँति पूजन करना चाहिये । चन्द्रमा इनके राजा हैं। ये मनुष्यको सुख और दुःख देनेमें समर्थ हैं ॥ १ ॥

एते भोगैरलङ्कारैरन्यैश्चैव किमिच्छकैः।
सदा पूज्या नमस्कारै रक्ष्याश्च पितृवन्नृपैः ॥ २ ॥
ततो राष्ट्रस्य शान्तिर्हि भूतानामिव वासवात्।

राजाओंको चाहिये कि वे उत्तम भोग, आभूषण तथा पूछकर प्रस्तुत किये गये दूसरे मनोवाञ्छित पदार्थ देकर नमस्कार आदिके द्वारा सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करें और पिताके समान उनके पालन-पोषणका ध्यान रखें । तभी इन ब्राह्मणोंसे राष्ट्रमें शान्ति रह सकती है । ठीक उसी तरह, जैसे इन्द्रसे वृष्टि प्राप्त होनेपर समस्त प्राणियोंको सुख-शान्ति मिलती है ॥

जायतां ब्रह्मवर्चस्वी राष्ट्रे वै ब्राह्मणः शुचिः ॥ ३ ॥
महारथश्च राजन्य एष्टव्यः शत्रुतापनः।

सबको यह इच्छा करनी चाहिये कि राष्ट्रमें ब्रह्मतेजसे सम्पन्न पवित्र ब्राह्मण उत्पन्न हो और शत्रुओंको संताप देनेवाले महारथी क्षत्रियकी उत्पत्ति हो ॥ ३½ ॥

ब्राह्मणं जातिसम्पन्नं धर्मज्ञं संशितव्रतम् ॥ ४ ॥
वासयेत गृहे राजन् न तस्मात् परमस्ति वै।

राजन् ! विशुद्ध जातिसे युक्त तथा तीक्ष्ण व्रतका पालन करनेवाले धर्मज्ञ ब्राह्मणको अपने घरमें ठहराना चाहिये। इससे बढ़कर दूसरा कोई पुण्यकर्म नहीं है ॥ ४½ ॥

ब्राह्मणेभ्यो हविर्दत्तं प्रतिगृह्णन्ति देवताः ॥ ५ ॥
पितरः सर्वभूतानां नैतेभ्यो विद्यते परम्।

ब्राह्मणोंको जो हविष्य अर्पित किया जाता है, उसे देवता ग्रहण करते हैं; क्योंकि ब्राह्मण समस्त प्राणियोंके पिता हैं। इनसे बढ़कर दूसरा कोई प्राणी नहीं है ॥ ५½ ॥

आदित्यश्चन्द्रमा वायुरापो भूरम्बरं दिशः ॥ ६ ॥
सर्वे ब्राह्मणमाविश्य सदान्नमुपभुञ्जते ।

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश और दिशा– इन सबके अधिष्ठाता देवता सदा ब्राह्मणके शरीरमें प्रवेश करके अन्न भोजन करते हैं ॥ ६½ ॥

न तस्याश्नन्ति पितरो यस्य विप्रा न भुञ्जते ॥ ७ ॥
देवाश्चाप्यस्य नाश्नन्ति पापस्य ब्राह्मणद्विषः ।

ब्राह्मण जिसका अन्न नहीं खाते, उसके अन्नको पितर भी नहीं स्वीकार करते । उस ब्राह्मणद्रोही पापात्माका अन्न देवता भी नहीं ग्रहण करते हैं ॥ ७½ ॥

ब्राह्मणेषु तु तुष्टेषु प्रीयन्ते पितरः सदा ॥ ८ ॥
तथैव देवता राजन् नात्र कार्या विचारणा ।

राजन् ! यदि ब्राह्मण संतुष्ट हो जायँ तो पितर तथा देवता भी सदा प्रसन्न रहते हैं । इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ८½ ॥

तथैव तेऽपि प्रीयन्ते येषां भवति तद्धविः ॥ ९ ॥
न च प्रेत्य विनश्यन्ति गच्छन्ति च परां गतिम् ।

इसी प्रकार वे यजमान भी प्रसन्न होते हैं, जिनकी दी हुई हवि ब्राह्मणोंके उपयोगमें आती है । वे मरनेके बाद नष्ट नहीं होते हैं, उत्तम गतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ९½ ॥

येन येनैव हविषा ब्राह्मणांस्तर्पयेन्नरः ॥ १० ॥
तेन तेनैव प्रीयन्ते पितरो देवतास्तथा ।

मनुष्य जिस-जिस हविष्यसे ब्राह्मणोंको तृप्त करता है, उसी-उसीसे देवता और पितर भी तृप्त होते हैं ॥ १०½ ॥

ब्राह्मणादेव तद् भूतं प्रभवन्ति यतः प्रजाः ॥ ११ ॥
यतश्चायं प्रभवति प्रेत्य यत्र च गच्छति ।
वेदैष मार्गं स्वर्गस्य तथैव नरकस्य च ॥ १२ ॥
आगतानागते चोभे ब्राह्मणो द्विपदां वरः ।
ब्राह्मणो भरतश्रेष्ठ स्वधर्मं चैव वेद यः ॥ १३ ॥

जिससे समस्त प्रजा उत्पन्न होती है, वह यज्ञ आदि कर्म ब्राह्मणोंसे ही सम्पन्न होता है । जीव जहाँसे उत्पन्न होता है और मृत्युके पश्चात् जहाँ जाता है, उस तत्त्वको, स्वर्ग और नरकके मार्गको तथा भूत, वर्तमान और भविष्यको ब्राह्मण ही जानता है । ब्राह्मण मनुष्योंमें सबसे श्रेष्ठ है । भरतश्रेष्ठ ! जो अपने धर्मको जानता है और उसका पालन करता है, वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ ११–१३ ॥

ये चैनमनुवर्तन्ते ते न यान्ति पराभवम् ।
न ते प्रेत्य विनश्यन्ति गच्छन्ति न पराभवम् ॥ १४ ॥

जो लोग ब्राह्मणोंका अनुसरण करते हैं, उनकी कभी पराजय नहीं होती तथा मृत्युके पश्चात् उनका पतन नहीं होता । वे अपमानको भी नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥

यद् ब्राह्मणमुखात् प्राप्तं प्रतिगृह्णन्ति वै वचः ।
भूतात्मानो महात्मानस्ते न यान्ति पराभवम् ॥ १५ ॥

ब्राह्मणके मुखसे जो वाणी निकलती है, उसे जो शिरोधार्य करते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंको आत्मभावसे देखनेवाले महात्मा कभी पराभवको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

क्षत्रियाणां प्रतपतां तेजसा च बलेन च ।
ब्राह्मणेष्वेव शाम्यन्ति तेजांसि च बलानि च ॥ १६ ॥

अपने तेज और बलसे तपते हुए क्षत्रियोंके तेज और बल ब्राह्मणोंके सामने आनेपर ही शान्त होते हैं ॥ १६ ॥

भृगवस्तालजंघांश्च नीपानाङ्गिरसोऽजयन् ।
भरद्वाजो वैहतव्यानैलांश्च भरतर्षभ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भृगुवंशी ब्राह्मणोंने तालजङ्घोंको, अङ्गिराकी संतानोंने नीपवंशी राजाओंको तथा भरद्वाजने हैहयोंको और इलाके पुत्रोंको पराजित किया था ॥ १७ ॥

चित्रायुधांश्चाप्यजयन्नेते कृष्णाजिनध्वजाः ।
प्रक्षिप्याथ च कुम्भान् वै पारगामिनमारभेत् ॥ १८ ॥

क्षत्रियोंके पास अनेक प्रकारके विचित्र आयुध थे तो भी कृष्णमृगचर्म धारण करनेवाले इन ब्राह्मणोंने उन्हें हरा दिया । क्षत्रियको चाहिये कि ब्राह्मणोंको जलपूर्ण कलश दान करके पारलौकिक कार्य आरम्भ करे ॥ १८ ॥

यत् किंचित् कथ्यते लोके श्रूयते पठ्यतेऽपि वा ।
सर्वं तद् ब्राह्मणेष्वेव गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ १९ ॥

संसारमें जो कुछ कहा-सुना या पढ़ा जाता है, वह सब काठमें छिपी हुई आगकी तरह ब्राह्मणोंमें ही स्थित है ॥ १९ ॥

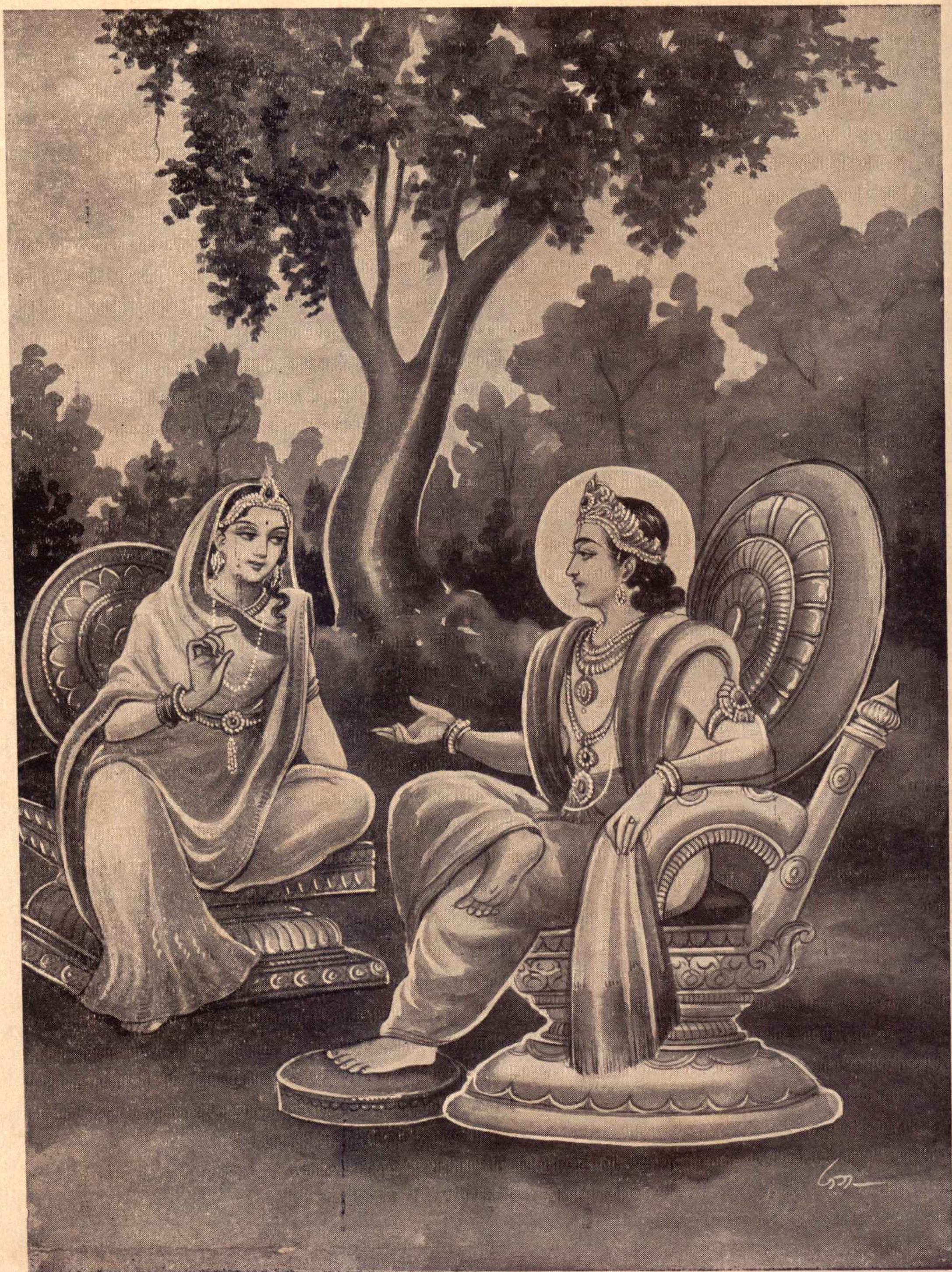
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं वासुदेवस्य पृथिव्याश्च भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस विषयमें जानकार लोग भगवान् श्रीकृष्ण और पृथ्वीके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २० ॥

वासुदेव उवाच

मातरं सर्वभूतानां पृच्छे त्वां संशयं शुभे ।
केनस्वित् कर्मणा पापं व्यपोहति नरो गृही ॥ २१ ॥

श्रीकृष्णने पूछा—शुभे ! तुम सम्पूर्ण भूतोंकी माता



पृथ्वी और श्रीकृष्णका संवाद

हो, इसलिये मैं तुमसे एक संदेह पूछ रहा हूँ। गृहस्थ मनुष्य किस कर्मके अनुष्ठानसे अपने पापका नाश कर सकता है ?॥

पृथिव्युवाच

ब्राह्मणानेव सेवेत पवित्रं ह्येतदुत्तमम्।
ब्राह्मणान् सेवमानस्य रजः सर्वं प्रणश्यति।
अतो भूतिरतः कीर्तिरतो बुद्धिः प्रजायते ॥ २२ ॥

पृथ्वीने कहा—भगवन् ! इसके लिये मनुष्यको ब्राह्मणोंकी ही सेवा करनी चाहिये। यही सबसे पवित्र और उत्तम कार्य है। ब्राह्मणोंकी सेवा करनेवाले पुरुषका समस्त रजोगुण नष्ट हो जाता है। इसीसे ऐश्वर्य, इसीसे कीर्ति और इसीसे उत्तम बुद्धि भी प्राप्त होती है ॥ २२ ॥

महारथश्च राजन्य एष्टव्यः शत्रुतापनः।
इति मां नारदः प्राह सततं सर्वभूतये ॥ २३ ॥

सदा सब प्रकारकी समृद्धिके लिये नारदजीने मुझसे कहा कि शत्रुओंको संताप देनेवाले महारथी क्षत्रियके उत्पन्न होनेकी कामना करनी चाहिये ॥ २३ ॥

ब्राह्मणं जातिसम्पन्नं धर्मज्ञं संशितं शुचिम्।
अपरेषां परेषां च परेभ्यश्चैव येऽपरे ॥ २४ ॥
ब्राह्मणा यं प्रशंसन्ति स मनुष्यः प्रवर्धते।
अथ यो ब्राह्मणान् क्रुष्टः पराभवति सोऽचिरात्॥ २५ ॥

उत्तम जातिसे सम्पन्न, धर्मज्ञ, दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले तथा पवित्र ब्राह्मणके उत्पन्न होनेकी भी इच्छा रखनी चाहिये। छोटे-बड़े सब लोगोंसे जो बड़े हैं, उनसे भी ब्राह्मण बड़े माने गये हैं। ऐसे ब्राह्मण जिसकी प्रशंसा करते हैं, उस मनुष्यकी वृद्धि होती है और जो ब्राह्मणोंकी निन्दा करता है, वह शीघ्र ही पराभवको प्राप्त होता है ॥ २४-२५ ॥

यथा महार्णवे क्षिप्त आमलोष्टो विनश्यति।
तथा दुश्चरितं सर्वं पराभावाय कल्पते ॥ २६ ॥

जैसे महासागरमें फेंका हुआ कच्ची मिट्टीका ढेला तुरंत गल जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मणोंका सङ्ग प्राप्त होते ही सारा दुष्कर्म नष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥

पश्य चन्द्रे कृतं लक्ष्म समुद्रो लवणोदकः।
तथा भगसहस्रेण महेन्द्रः परिचिह्नितः ॥ २७ ॥
तेषामेव प्रभावेण सहस्रनयनो ह्यसौ।
शतक्रतुः समभवत् पश्य माधव यादृशम् ॥ २८ ॥

माधव ! देखिये, ब्राह्मणोंका कैसा प्रभाव है, उन्होंने चन्द्रमामें कलङ्क लगा दिया, समुद्रका पानी खारा बना दिया तथा देवराज इन्द्रके शरीरमें एक हजार भगके चिह्न उत्पन्न कर दिये और फिर उन्हींके प्रभावसे वे भग नेत्रके रूपमें परिणत हो गये; जिनके कारण शतक्रतु इन्द्र 'सहस्राक्ष' नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ २७-२८ ॥

इच्छन् कीर्तिं च भूतिं च लोकांश्च मधुसूदन।
ब्राह्मणानुमते तिष्ठेत् पुरुषः शुचिरात्मवान् ॥ २९ ॥

मधुसूदन ! जो कीर्ति, ऐश्वर्य और उत्तम लोकोंको प्राप्त करना चाहता हो, वह मनको वशमें रखनेवाला पवित्र पुरुष ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अधीन रहे ॥ २९ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा मेदिन्या मधुसूदनः।
साधु साध्विति कौरव्य मेदिनीं प्रत्यपूजयत् ॥ ३० ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! पृथ्वीके ये वचन सुनकर भगवान् मधुसूदनने कहा, 'वाह-वाह, तुमने बहुत अच्छी बात बतायी।' ऐसा कहकर उन्होंने भूदेवीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ३० ॥

एतां श्रुत्वोपमां पार्थ प्रयतो ब्राह्मणर्षभान्।
सततं पूजयेथास्त्वं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ ३१ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस दृष्टान्त एवं ब्राह्मण-माहात्म्यको सुनकर तुम सदा पवित्रभावसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका पूजन करते रहो। इससे तुम कल्याणके भागी होओगे ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पृथ्वीवासुदेवसंवादे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पृथ्वी और वासुदेवका संवादविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीके द्वारा ब्राह्मणोंकी महत्ताका वर्णन

भीष्म उवाच

जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते।
नमस्यः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्राह्मण जन्मसे ही महान्

भाग्यशाली, समस्त प्राणियोंका वन्दनीय, अतिथि और प्रथम भोजन पानेका अधिकारी है ॥ १ ॥

सर्वार्थाः सुहृदस्तात ब्राह्मणाः सुमनामुखाः।
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिरनुध्यायन्ति पूजिताः ॥ २ ॥

तात ! ब्राह्मण सब मनोरथोंको सिद्ध करनेवाले, सबके सुहृद् तथा देवताओंके मुख हैं। वे पूजित होनेपर अपनी मङ्गलयुक्त वाणीसे आशीर्वाद देकर मनुष्यके कल्याणका चिन्तन करते हैं ॥ २ ॥

सर्वान्नो द्विषतस्तात ब्राह्मणा जातमन्यवः।
गीर्भिर्दारुणयुक्ताभिरभिहन्युरपूजिताः ॥ ३ ॥

तात ! हमारे शत्रुओंके द्वारा पूजित न होनेपर उनके प्रति कुपित हुए ब्राह्मण उन सबको अभिशापयुक्त कठोर वाणी-द्वारा नष्ट कर डालें ॥ ३ ॥

अत्र गाथाः पुरागीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
सृष्ट्वा द्विजातीन् धाता हि यथापूर्वं समादधत् ॥ ४ ॥
न चान्यदिह कर्तव्यं किञ्चिदूर्ध्वं यथाविधि।
गुप्तो गोपायते ब्रह्मा श्रेयो वस्तेन शोभनम् ॥ ५ ॥

इस विषयमें पुराणवेत्ता पुरुष पहलेकी गायी हुई कुछ गाथाओंका वर्णन करते हैं—प्रजापतिने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको पूर्ववत् उत्पन्न करके उनको समझाया, 'तुमलोगोंके लिये विधिपूर्वक स्वधर्मपालन और ब्राह्मणोंकी सेवाके सिवा और कोई कर्तव्य नहीं है। ब्राह्मणकी रक्षा की जाय तो वह स्वयं भी अपने रक्षककी रक्षा करता है; अतः ब्राह्मण-की सेवासे तुमलोगोंका परम कल्याण होगा ॥ ४-५ ॥

स्वमेव कुर्वतां कर्म श्रीर्वो ब्राह्मी भविष्यति।
प्रमाणं सर्वभूतानां प्रग्रहाश्च भविष्यथ ॥ ६ ॥

'ब्राह्मणकी रक्षारूप अपने कर्तव्यका पालन करनेसे ही तुम लोगोंको ब्राह्मी लक्ष्मी प्राप्त होगी। तुम सम्पूर्ण भूतोंके लिये प्रमाणभूत तथा उनको वशमें करनेवाले बन जाओगे ॥ ६ ॥

न शौद्रं कर्म कर्तव्यं ब्राह्मणेन विपश्चिता।
शौद्रं हि कुर्वतः कर्म धर्मः समुपरुध्यते ॥ ७ ॥

'विद्वान् ब्राह्मणको शूद्रोचित कर्म नहीं करना चाहिये। शूद्रके कर्म करनेसे उसका धर्म नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

श्रीश्च बुद्धिश्च तेजश्च विभूतिश्च प्रतापिनी।
स्वाध्याये चैव माहात्म्यं विपुलं प्रतिपत्स्यते ॥ ८ ॥

'स्वधर्मका पालन करनेसे लक्ष्मी, बुद्धि, तेज और प्रताप-युक्त ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है तथा स्वाध्यायका अत्यधिक माहात्म्य उपलब्ध होता है ॥ ८ ॥

हुत्वा चाहवनीयस्थं महाभाग्ये प्रतिष्ठिताः।
अग्रभोज्याः प्रसूतानां श्रिया ब्राह्म्यानुकल्पिताः ॥ ९ ॥

'ब्राह्मण आहवनीय अग्निमें स्थित देवतागणोंको हवनसे तृप्त करके महान् सौभाग्यपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित होते हैं। वे ब्राह्मी विद्यासे उत्तम पात्र बनकर बालकोंसे भी पहले भोजन पानेके अधिकारी होते हैं ॥ ९ ॥

श्रद्धया परया युक्ता ह्यनभिद्रोहलब्धया।
दमस्वाध्यायनिरताः सर्वान् कामानवाप्स्यथ ॥ १० ॥

'द्विजगण ! यदि तुमलोग किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करनेके कारण प्राप्त हुई परम श्रद्धासे सम्पन्न हो इन्द्रिय-संयम और स्वाध्यायमें लगे रहोगे तो सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लोगे ॥ १० ॥

यच्चैव मानुषे लोके यच्च देवेषु किञ्चन।
सर्वं तु तपसा साध्यं ज्ञानेन नियमेन च ॥ ११ ॥

'मनुष्यलोकमें तथा देवलोकमें जो कुछ भी भोग्य वस्तुएँ हैं, वे सब ज्ञान, नियम और तपस्यासे प्राप्त होनेवाली हैं ॥

(युष्मत्सम्माननात् प्रीतिं पावनाः क्षत्रियाः श्रियम्।
अमुत्रेह समायान्ति वैश्यशूद्रादिकास्तथा ॥
अरक्षिताश्च युष्माभिर्विरुद्धा यान्ति विप्लवम्।
युष्मत्तेजोधृता लोकास्तद् रक्षथ जगत्त्रयम् ॥)

'आपलोगोंके समादरसे पवित्र हुए क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि प्राणी इहलोक और परलोकमें भी प्रीति एवं सम्पत्ति पाते हैं। जो आपके विरोधी हैं, वे आपसे अरक्षित होनेके कारण विनाशको प्राप्त होते हैं। आपके तेजसे ही ये सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं; अतः आप तीनों लोकोंकी रक्षा करें' ॥

इत्येवं ब्रह्मगीतास्ते समाख्याता मयानघ।
विप्राणामनुकम्पार्थं तेन प्रोक्तं हि धीमता ॥ १२ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! इस प्रकार ब्रह्माजीकी गायी हुई गाथा मैंने तुम्हें बतायी है। उन परम बुद्धिमान् धाताने ब्राह्मणोंपर कृपा करनेके लिये ही ऐसा कहा है ॥ १२ ॥

भूयस्तेषां बलं मन्ये यथा राज्ञस्तपस्विनः।
दुरासदाश्च चण्डाश्च रभसाः क्षिप्रकारिणः ॥ १३ ॥

मैं ब्राह्मणोंका बल तपस्वी राजाके समान बहुत बड़ा मानता हूँ। वे दुर्जय, प्रचण्ड, वेगशाली और शीघ्रकारी होते हैं ॥ १३

सन्त्येषां सिंहसत्त्वाश्च व्याघ्रसत्त्वास्तथापरे।
वराहमृगसत्त्वाश्च जलसत्त्वास्तथापरे ॥ १४ ॥

ब्राह्मणोंमें कुछ सिंहके समान शक्तिशाली होते हैं और कुछ व्याघ्रके समान। कितनोंकी शक्ति बाराह और मृगके समान होती है। कितने ही जल-जन्तुओंके समान होते हैं ॥ १४ ॥

सर्पस्पर्शसमाः केचित् तथान्ये मकरस्पृशः।
विभाष्यघातिनः केचित् तथा चक्षुर्हणोऽपरे ॥ १५ ॥

किन्हींका स्पर्श सर्पके समान होता है तो किन्हींका घड़ियालोंके समान। कोई शाप देकर मारते हैं तो कोई क्रोधभरी दृष्टिसे देखकर ही भस्म कर देते हैं ॥ १५ ॥

सन्ति चाशीविषसमाः सन्ति मन्दास्तथापरे।
विविधानीह वृत्तानि ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ॥ १६ ॥

कुछ ब्राह्मण विषधर सर्पके समान भयंकर होते हैं और कुछ मन्द स्वभावके भी होते हैं। युधिष्ठिर ! इस जगत्‌में ब्राह्मणोंके स्वभाव और आचार-व्यवहार अनेक प्रकारके हैं ॥ १६ ॥

मेकला द्राविडा लाटाः पौण्ड्राः कान्वशिरास्तथा।
शौण्डिका दरदा दार्वाश्चौराः शबरबर्बराः ॥ १७ ॥
किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानाममर्षणात् ॥ १८ ॥

मेकल, द्राविड़, लाट, पौण्ड्र, कान्वशिरा, शौण्डिक, दरद, दार्व, चौर, शबर, बर्बर, किरात और यवन—ये सब पहले क्षत्रिय थे; किंतु ब्राह्मणोंके साथ ईर्ष्या करनेसे नीच हो गये ॥ १७-१८ ॥

ब्राह्मणानां परिभवादसुराः सलिलेशयाः।
ब्राह्मणानां प्रसादाच्च देवाः स्वर्गनिवासिनः ॥ १९ ॥

ब्राह्मणोंके तिरस्कारसे ही असुरोंको समुद्रमें रहना पड़ा और ब्राह्मणोंके कृपाप्रसादसे देवता स्वर्गलोकमें निवास करते हैं ॥ १९ ॥

अशक्यं स्प्रष्टुमाकाशमचाल्यो हिमवान् गिरिः।
अधार्या सेतुना गङ्गा दुर्जया ब्राह्मणा भुवि ॥ २० ॥

जैसे आकाशको छूना, हिमालयको विचलित करना और बाँध बाँधकर गङ्गाके प्रवाहको रोक देना असम्भव है, उसी प्रकार इस भूतलपर ब्राह्मणोंको जीतना सर्वथा असम्भव है ॥ २० ॥

न ब्राह्मणविरोधेन शक्या शास्तुं वसुन्धरा।
ब्राह्मणा हि महात्मानो देवानामपि देवताः ॥ २१ ॥

ब्राह्मणोंसे विरोध करके भूमण्डलका राज्य नहीं चलाया जा सकता; क्योंकि महात्मा ब्राह्मण देवताओंके भी देवता हैं ॥ २१ ॥

तान् पूजयस्व सततं दानेन परिचर्यया।
यदीच्छसि महीं भोक्तुमिमां सागरमेखलाम् ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! यदि तुम इस समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य भोगना चाहते हो तो दान और सेवाके द्वारा सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करते रहो ॥ २२ ॥

प्रतिग्रहेण तेजो हि विप्राणां शाम्यतेऽनघ।
प्रतिग्रहं ये नेच्छेयुस्तेभ्यो रक्ष्यं त्वया नृप ॥ २३ ॥

निष्पाप नरेश ! दान लेनेसे ब्राह्मणोंका तेज शान्त हो जाता है; इसलिये जो दान नहीं लेना चाहते, उन ब्राह्मणोंसे तुम्हें अपने कुलकी रक्षा करनी चाहिये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्राह्मणप्रशंसायां पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्राह्मणकी प्रशंसाविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके दो श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

षट्त्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मणकी प्रशंसाके विषयमें इन्द्र और शम्बरासुरका संवाद

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शक्रशम्बरसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस विषयमें इन्द्र और शम्बरासुरके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, इसे सुनो ॥ १ ॥

शक्रो ह्यज्ञातरूपेण जटी भूत्वा रजोगुणः।
विरूपं रथमास्थाय प्रश्नं पप्रच्छ शम्बरम् ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, देवराज इन्द्र अज्ञातरूपसे रजोगुणसम्पन्न जटाधारी तपस्वी बनकर एक बेडौल रथपर सवार हो शम्बरासुरके पास गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने उससे पूछा ॥ २ ॥

शक्र उवाच

केन शम्बर वृत्तेन स्वजात्यानधितिष्ठसि।
श्रेष्ठं त्वां केन मन्यन्ते तद् वै प्रब्रूहि तत्त्वतः ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले—शम्बरासुर ! किस बर्तावसे अपनी जातिवालोंपर शासन करते हो ? वे किस कारण तुम्हें सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ? यह ठीक-ठीक बतलाओ ॥ ३ ॥

शम्बर उवाच

नासूयामि यदा विप्रान् ब्राह्ममेव च मे मतम्।
शास्त्राणि वदतो विप्रान् सम्मन्यामि यथासुखम्॥ ४ ॥

शम्बरासुरने कहा—मैं ब्राह्मणोंमें कभी दोष नहीं देखता। उनके मतको ही अपना मत समझता हूँ और शास्त्रोंकी बात बतानेवाले विप्रोंका सदा सम्मान करता हूँ—उन्हें यथासाध्य सुख देनेकी चेष्टा करता हूँ ॥ ४ ॥

श्रुत्वा च नावजानामि नापराध्यामि कर्हिचित्।
अभ्यर्च्याभ्यनुपृच्छामि पादौ गृह्णामि धीमताम् ॥५॥

सुनकर उनके वचनोंकी अवहेलना नहीं करता। कभी उनका अपराध नहीं करता। उनकी पूजा करके कुशल पूछता हूँ और बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके पाँव पकड़ता हूँ ॥ ५ ॥

ते विश्रब्धाः प्रभाषन्ते सम्पृच्छन्ते च मां सदा।
प्रमत्तेष्वप्रमत्तोऽस्मि सदा सुप्तेषु जागृमि ॥ ६ ॥

ब्राह्मण भी अत्यन्त विश्वस्त होकर मेरे साथ बातचीत करते और मेरी कुशल पूछते हैं। ब्राह्मणोंके असावधान रहनेपर भी मैं सदा सावधान रहता हूँ। उनके सोते रहनेपर भी मैं जागता रहता हूँ ॥ ६ ॥

ते मां शास्त्रपथे युक्तं ब्रह्मण्यमनसूयकम्।
समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिकाः॥ ७ ॥

मुझे शास्त्रीय मार्गपर चलनेवाला, ब्राह्मणभक्त तथा अदोषदर्शी जानकर वे उपदेशक ब्राह्मण मुझे उसी प्रकार सदुपदेशके अमृतसे सींचते रहते हैं, जैसे मधुमक्खियाँ मधुके छत्तेको ॥ ७ ॥

यच्च भाषन्ति संतुष्टास्तच्च गृह्णामि मेधया।
समाधिमात्मनो नित्यमनुलोममचिन्तयम् ॥ ८ ॥

संतुष्ट होकर वे मुझसे जो कुछ कहते हैं, उसे मैं अपनी बुद्धिके द्वारा ग्रहण करता हूँ। सदा ब्राह्मणोंमें अपनी निष्ठा बनाये रखता हूँ और नित्यप्रति उनके अनुकूल विचार रखता हूँ ॥ ८ ॥

सोऽहं वागग्रमृष्टानां रसानामवलेहकः।
स्वजात्यानधितिष्ठामि नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ ९ ॥

उनकी वाणीसे जो उपदेशका मधुर रस प्रवाहित होता है, उसका मैं आस्वादन करता रहता हूँ; इसीलिये नक्षत्रोंपर चन्द्रमाकी भाँति मैं अपनी जातिवालोंपर शासन करता हूँ ॥ ९ ॥

एतत् पृथिव्याममृतमेतच्चक्षुरनुत्तमम्।
यद् ब्राह्मणमुखाच्छास्त्रमिह श्रुत्वा प्रवर्तते ॥ १० ॥

ब्राह्मणके मुखसे शास्त्रका उपदेश सुनकर इस जीवनमें उसके अनुसार बर्ताव करना ही पृथ्वीपर सर्वोत्तम अमृत और सर्वोत्तम दृष्टि है ॥ १० ॥

एतत् कारणमाज्ञाय दृष्ट्वा देवासुरं पुरा।
युद्धं पिता मे हृष्टात्मा विस्मितः समपद्यत ॥ ११ ॥

इस कारणको जानकर अर्थात् ब्राह्मणके उपदेशके अनुसार चलना ही अमृत है—इस बातको भलीभाँति समझकर पूर्वकालमें देवासुरसंग्रामको उपस्थित हुआ देख मेरे पिता मन-ही-मन प्रसन्न और विस्मित हुए थे ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा च ब्राह्मणानां तु महिमानं महात्मनाम्।
पर्यपृच्छत् कथममी सिद्धा इति निशाकरम् ॥ १२ ॥

महात्मा ब्राह्मणोंकी इस महिमाको देखकर उन्होंने चन्द्रमासे पूछा—'निशाकर ! इन ब्राह्मणोंको किस प्रकार सिद्धि प्राप्त हुई ?' ॥ १२ ॥

सोम उवाच

ब्राह्मणास्तपसा सर्वे सिध्यन्ते वाग्बलाः सदा।
भुजवीर्याश्च राजानो वागस्त्राश्च द्विजातयः ॥ १३ ॥

चन्द्रमाने कहा—दानवराज ! सम्पूर्ण ब्राह्मण तपस्यासे ही सिद्ध हुए हैं। इनका बल सदा इनकी वाणीमें ही होता है। राजाओंका बल उनकी भुजाएँ हैं और ब्राह्मणोंका बल उनकी वाणी ॥ १३ ॥

प्रणवं चाप्यधीयीत ब्राह्मीर्दुर्वसतीर्वसन्।
निर्मन्युरपि निर्वाणो यदि स्यात् समदर्शनः ॥ १४ ॥

पहले गुरुके घरमें ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए क्लेशसहनपूर्वक निवास करके प्रणवसहित वेदका अध्ययन करना चाहिये। फिर अन्तमें क्रोध त्यागकर शान्तभावसे संन्यास

ग्रहण करना चाहिये। यदि संन्यासी हो तो सर्वत्र समान दृष्टि रखे ॥ १४ ॥

अपि च ज्ञानसम्पन्नः सर्वान् वेदान् पितुर्गृहे।
श्लाघमान इवाधीयाद् ग्राम्य इत्येव तं विदुः ॥ १५ ॥

जो सम्पूर्ण वेदोंको पिताके घरमें रहकर पढ़ता है, वह ज्ञानसम्पन्न और प्रशंसनीय होनेपर भी विद्वानोंके द्वारा ग्रामीण (गँवार) ही समझा जाता है। (वास्तवमें गुरुके घरमें क्लेश-सहनपूर्वक रहकर वेद पढ़नेवाला ही श्रेष्ठ है) ॥ १५ ॥

भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाप्ययोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १६ ॥

जैसे साँप बिलमें रहनेवाले छोटे जीवोंको निगल जाता है, उसी प्रकार युद्ध न करनेवाले क्षत्रिय और विद्याके लिये प्रवास न करनेवाले ब्राह्मणको यह पृथ्वी निगल जाती है ॥ १६ ॥

अभिमानः श्रियं हन्ति पुरुषस्याल्पमेधसः।
गर्भेण दुष्यते कन्या गृहवासेन च द्विजः ॥ १७ ॥

मन्दबुद्धि पुरुषके भीतर जो अभिमान होता है, वह उसकी लक्ष्मीका नाश करता है। गर्भ धारण करनेसे कन्या दूषित हो जाती है और सदा घरमें रहनेसे ब्राह्मण दूषित समझे जाते हैं ॥ १७ ॥

(विद्याविदो लोकविदः तपोबलसमन्विताः।
नित्यपूज्याश्च वन्द्याश्च द्विजा लोकद्वयेच्छुभिः ॥)

जो इहलोक और परलोक दोनोंको सुधारना चाहते हों, उन्हें विद्वान्, लौकिक बातोंके ज्ञाता, तपस्वी और शक्तिशाली ब्राह्मणोंकी सदा पूजा और वन्दना करनी चाहिये ॥

इत्येतन्मे पिता श्रुत्वा सोमादद्भुतदर्शनात्।
ब्राह्मणान् पूजयामास तथैवाहं महाव्रतान् ॥ १८ ॥

अद्भुत दर्शनवाले चन्द्रमासे यह बात सुनकर मेरे पिताजीने महान् व्रतधारी ब्राह्मणोंका पूजन किया। वैसे ही मैं भी करता हूँ ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

श्रुत्वैतद् वचनं शक्रो दानवेन्द्रमुखाच्च्युतम्।
द्विजान् सम्पूजयामास महेन्द्रत्वमवाप च ॥ १९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत! दानवराज शम्बरके मुखसे यह वचन सुनकर इन्द्रने ब्राह्मणोंका पूजन किया, इससे उन्हें महेन्द्रपदकी प्राप्ति हुई ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्राह्मणप्रशंसायामिन्द्रशम्बरसंवादे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्राह्मणकी प्रशंसाके प्रसङ्गमें इन्द्र और शम्बरासुरका संवादविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २० श्लोक हैं)

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

दानपात्रकी परीक्षा

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वश्च भवेत् पात्रमथवापि चिरोषितः।
दूरादभ्यागतं चापि किं पात्रं स्यात् पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! दानका पात्र कौन होता है ? अपरिचित पुरुष या बहुत दिनोंतक अपने साथ रहा हुआ पुरुष अथवा किसी दूर देशसे आया हुआ मनुष्य ? इनमेंसे किसको दानका उत्तम पात्र समझना चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

क्रिया भवति केषांचिदुपांशुव्रतमुत्तमम्।
यो यो याचेत यत् किञ्चित् सर्वं दद्याम इत्यपि ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! कितने ही याचकोंका तो यज्ञ, गुरुदक्षिणा या कुटुम्बका भरण-पोषण आदि कार्य ही मनोरथ होता है और किन्हींका उत्तम मौनव्रतसे रहकर निर्वाह करना प्रयोजन होता है। इनमेंसे जो-जो याचक जिस किसी वस्तुकी याचना करे, उन सबके लिये यही कहना चाहिये कि 'हम देंगे' (किसीको निराश नहीं करना चाहिये) ॥

अपीडयन् भृत्यवर्गमित्येवमनुशुश्रुम।
पीडयन् भृत्यवर्गं हि आत्मानमपकर्षति ॥ ३ ॥

परंतु हमने सुना है कि 'जिनके भरण-पोषणका अपने ऊपर भार है, उस समुदायको कष्ट दिये बिना ही दाताको दान करना चाहिये। जो पोष्यवर्गको कष्ट देकर या भूखे मार-कर दान करता है, वह अपने आपको नीचे गिराता है' ॥ ३ ॥

अपूर्वं भावयेत् पात्रं यच्चापि स्याच्चिरोषितम्।
दूरादभ्यागतं चापि तत्पात्रं च विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥

इस दृष्टिसे विचार करनेपर जो पहलेसे परिचित नहीं है या जो चिरकालसे साथ रह चुका है, अथवा जो दूर देशसे आया हुआ है—इन तीनोंको ही विद्वान् पुरुष दान-पात्र समझते हैं ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अपीडया च भूतानां धर्मस्याहिंसया तथा।
पात्रं विद्यात् तु तत्त्वेन यस्मै दत्तं न संतपेत् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किसी प्राणीको पीड़ा न दी जाय और धर्ममें भी बाधा न आने पाये, इस प्रकार दान देना उचित है; परंतु पात्रकी यथार्थ पहचान कैसे हो ? जिससे दिया हुआ दान पीछे संतापका कारण न बने ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

ऋत्विक्पुरोहिताचार्याः शिष्यसम्बन्धिबान्धवाः।
सर्वे पूज्याश्च मान्याश्च श्रुतवन्तोऽनसूयकाः ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, शिष्य, सम्बन्धी, बान्धव, विद्वान् और दोष-दृष्टिसे रहित पुरुष—ये सभी पूजनीय और माननीय हैं ॥ ६ ॥

अतोऽन्यथा वर्तमानाः सर्वे नार्हन्ति सत्क्रियाम्।
तस्मान्नित्यं परीक्षेत पुरुषान् प्रणिधाय वै ॥ ७ ॥

इनसे भिन्न प्रकारके तथा भिन्न बर्तावबाले जो लोग हैं, वे सब सत्कारके पात्र नहीं हैं; अतः एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन सुपात्र पुरुषोंकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

अक्रोधः सत्यवचनमहिंसा दम आर्जवम्।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥ ८ ॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते न चाकार्याणि भारत।
स्वभावतो निविष्टानि तत्पात्रं मानमर्हति ॥ ९ ॥

भारत ! क्रोधका अभाव, सत्य-भाषण, अहिंसा, इन्द्रिय-संयम, सरलता, द्रोहहीनता, अभिमानशून्यता, लज्जा, सहनशीलता, दम और मनोनिग्रह—ये गुण जिनमें स्वभावतः दिखायी दें और धर्मविरुद्ध कार्य दृष्टिगोचर न हों, वे ही दानके उत्तम पात्र और सम्मानके अधिकारी हैं ॥ ८-९ ॥

तथा चिरोषितं चापि सम्प्रत्यागतमेव च।
अपूर्वं चैव पूर्वं च तत्पात्रं मानमर्हति ॥ १० ॥

जो पुरुष बहुत दिनोंतक अपने साथ रहा हो, एवं जो कहींसे तत्काल आया हो, वह पहलेका परिचित हो या अपरिचित, वह दानका पात्र और सम्मानका अधिकारी है ॥ १० ॥

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलङ्घनम्।
अव्यवस्था च सर्वत्र एतन्नाशनमात्मनः ॥ ११ ॥

वेदोंको अप्रामाणिक मानना, शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना तथा सर्वत्र अव्यवस्था फैलाना—ये सब अपना ही नाश करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

भवेत् पण्डितमानी यो ब्राह्मणो वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥ १२ ॥
हेतुवादान् ब्रुवन् सत्सु विजेताहेतुवादिकः।
आक्रोष्टा चातिवक्ता च ब्राह्मणानां सदैव हि ॥ १३ ॥
सर्वाभिशङ्की मूढश्च बालः कटुकवागपि।
बोद्धव्यस्तादृशस्तात नरं श्वानं हि तं विदुः ॥ १४ ॥

जो ब्राह्मण अपने पाण्डित्यका अभिमान करके व्यर्थके तर्कका आश्रय लेकर वेदोंकी निन्दा करता है, आन्वीक्षिकी निरर्थक तर्कविद्यामें अनुराग रखता है, सत्पुरुषोंकी सभामें कोरी तर्ककी बातें कहकर विजय पाता, शास्त्रानुकूल युक्तियोंका प्रतिपादन नहीं करता, जोर-जोरसे हल्ला मचाता और ब्राह्मणोंके प्रति सदा अतिवाद (अमर्यादित वचन) का प्रयोग करता है, जो सबपर संदेह करता है, जो बालकों और मूर्खोंका-सा व्यवहार करता तथा कटुवचन बोलता है, तात ! ऐसे मनुष्यको अस्पृश्य समझना चाहिये । विद्वान् पुरुषोंने ऐसे पुरुषको कुत्ता माना है ॥ १२–१४ ॥

यथा श्वा भषितुं चैव हन्तुं चैवावसज्जते।
एवं सम्भाषणार्थाय सर्वशास्त्रवधाय च ॥ १५ ॥

जैसे कुत्ता भूँकने और काटनेके लिये निकट आ जाता है, उसी प्रकार वह बहस करने और शास्त्रोंका खण्डन करनेके लिये इधर-उधर दौड़ता-फिरता है (ऐसा व्यक्ति दानका पात्र नहीं है) ॥ १५ ॥

लोकयात्रा च द्रष्टव्या धर्मश्चात्महितानि च।
एवं नरो वर्तमानः शाश्वतीर्वर्धते समाः ॥ १६ ॥

मनुष्यको जगत्के व्यवहारपर दृष्टि डालनी चाहिये। धर्म और अपने कल्याणके उपायोंपर भी विचार करना चाहिये। ऐसा करनेवाला मनुष्य सदा ही अभ्युदयशील होता है ॥ १६ ॥

ऋणमुन्मुच्य देवानामृषीणां च तथैव च।
पितॄणामथ विप्राणामतिथीनां च पञ्चमम् ॥ १७ ॥
पर्यायेण विशुद्धेन सुविनीतेन कर्मणा।
एवं गृहस्थः कर्माणि कुर्वन् धर्मान्न हीयते ॥ १८ ॥

जो यज्ञ-यागादि करके देवताओंके ऋणसे, वेदोंका स्वाध्याय करके ऋषियोंके ऋणसे, श्रेष्ठ पुत्रकी उत्पत्ति तथा श्राद्ध करके पितरोंके ऋणसे, दान देकर ब्राह्मणोंके ऋणसे और आतिथ्य-सत्कार करके अतिथियोंके ऋणसे मुक्त होता है तथा क्रमशः विशुद्ध और विनययुक्त प्रयत्नसे शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करता है, वह गृहस्थ कभी धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ १७-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पात्रपरीक्षायां सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पात्रकी परीक्षाविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

पञ्चचूड़ा अप्सराका नारदजीसे स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन करना

युधिष्ठिर उवाच

स्त्रीणां स्वभावमिच्छामि श्रोतुं भरतसत्तम ।
स्त्रियो हि मूलं दोषाणां लघुचित्ता हि ताः स्मृताः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भरतश्रेष्ठ ! मैं स्त्रियोंके स्वभावका वर्णन सुनना चाहता हूँ; क्योंकि सारे दोषोंकी जड़ स्त्रियाँ ही हैं । वे ओछी बुद्धिवाली मानी गयी हैं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं पुंश्चल्या पञ्चचूडया ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें देवर्षि नारदका अप्सरा पञ्चचूड़ाके साथ जो संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

लोकाननुचरन् सर्वान् देवर्षिर्नारदः पुरा ।
ददर्शाप्सरसं ब्राह्मीं पञ्चचूडामनिन्दिताम् ॥ ३ ॥

पहलेकी बात है, सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते हुए देवर्षि नारदने एक दिन ब्रह्मलोककी अनिन्द्य सुन्दरी अप्सरा पञ्चचूड़ाको देखा ॥ ३ ॥

तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं पप्रच्छाप्सरसं मुनिः ।
संशयो हृदि कश्चिन्मे ब्रूहि तन्मे सुमध्यमे ॥ ४ ॥

मनोहर अङ्गोंसे युक्त उस अप्सराको देखकर मुनिने उसके सामने अपना प्रश्न रखा—'सुमध्यमे ! मेरे हृदयमें एक महान् संदेह है । उसके विषयमें मुझे यथार्थ बात बताओ' ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्ताथ सा विप्रं प्रत्युवाचाथ नारदम् ।
विषये सति वक्ष्यामि समर्थं मन्यसे च माम् ॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! नारदजीके ऐसा कहनेपर पञ्चचूड़ा अप्सराने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'यदि आप मुझे उस प्रश्नका उत्तर देनेके योग्य मानते हैं और वह बताने योग्य है तो अवश्य बताऊँगी' ॥ ५ ॥

नारद उवाच

न त्वामविषये भद्रे नियोक्ष्यामि कथंचन ।
स्त्रीणां स्वभावमिच्छामि त्वत्तः श्रोतुं वरानने ॥ ६ ॥

नारदजीने कहा—भद्रे ! मैं तुम्हें ऐसी बात बतानेके लिये नहीं कहूँगा जो कहने योग्य न हो अथवा तुम्हारा विषय न हो । सुमुखि ! मैं तुम्हारे मुँहसे स्त्रियोंके स्वभावका वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य देवर्षेरप्सरोत्तमा ।
प्रत्युवाच न शक्ष्यामि स्त्री सती निन्दितुं स्त्रियः ॥ ७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! नारदजीका यह वचन सुनकर वह उत्तम अप्सरा बोली—'देवर्षे ! मैं स्त्री होकर स्त्रियोंकी निन्दा नहीं कर सकती ॥ ७ ॥

विदितास्ते स्त्रियो याश्च यादृशाश्च स्वभावतः ।
न मामर्हसि देवर्षे नियोक्तुं कार्य ईदृशे ॥ ८ ॥

'संसारमें जैसी स्त्रियाँ हैं और उनके जैसे स्वभाव हैं, वे सब आपको विदित हैं; अतः देवर्षे ! आप मुझे ऐसे कार्यमें न लगावें' ॥ ८ ॥

तामुवाच स देवर्षिः सत्यं वद सुमध्यमे ।
मृषावादे भवेद् दोषः सत्ये दोषो न विद्यते ॥ ९ ॥

तब देवर्षिने उससे कहा—'सुमध्यमे ! तुम सच्ची बात

बताओ। झूठ बोलनेमें दोष लगता है। सच कहनेमें कोई दोष नहीं है' ॥ ९ ॥

इत्युक्ता सा कृतमतिरभवच्चारुहासिनी।
स्त्रीदोषाञ्छाश्वतान् सत्यान् भाषितुं सम्प्रचक्रमे॥१०॥

उनके इस प्रकार समझानेपर उस मनोहर हास्यवाली अप्सराने कहनेके लिये दृढ़ निश्चय करके स्त्रियोंके सच्चे और स्वाभाविक दोषोंको बताना आरम्भ किया ॥ १० ॥

पञ्चचूडोवाच

कुलीना रूपवत्यश्च नाथवत्यश्च योषितः।
मर्यादासु न तिष्ठन्ति स दोषः स्त्रीषु नारद ॥ ११ ॥

पञ्चचूड़ा बोली—नारदजी! कुलीन, रूपवती और सनाथ युवतियाँ भी मर्यादाके भीतर नहीं रहती हैं। यह स्त्रियोंका दोष है ॥ ११ ॥

न स्त्रीभ्यः किञ्चिदन्यद् वै पापीयस्तरमस्ति वै।
स्त्रियो हि मूलं दोषाणां तथा त्वमपि वेत्थ ह ॥ १२ ॥

स्त्रियोंसे बढ़कर पापिष्ठ दूसरा कोई नहीं है। स्त्रियाँ सारे दोषोंकी जड़ हैं, इस बातको आप भी अच्छी तरह जानते हैं ॥ १२ ॥

समाज्ञातानृद्धिमतः प्रतिरूपान् वशे स्थितान्।
पतीनन्तरमासाद्य नालं नार्यः प्रतीक्षितुम् ॥ १३ ॥

यदि स्त्रियोंको दूसरोंसे मिलनेका अवसर मिल जाय तो वे सद्गुणोंमें विख्यात, धनवान्, अनुपम रूप-सौन्दर्यशाली तथा अपने वशमें रहनेवाले पतियोंकी भी प्रतीक्षा नहीं कर सकतीं ॥ १३ ॥

असद्धर्मस्त्वयं स्त्रीणामस्माकं भवति प्रभो।
पापीयसो नरान् यद् वै लज्जां त्यक्त्वा भजामहे॥१४॥

प्रभो! हम स्त्रियोंमें यह सबसे बड़ा पातक है कि हम पापीसे पापी पुरुषोंको भी लाज छोड़कर स्वीकार कर लेती हैं ॥ १४ ॥

स्त्रियं हि यः प्रार्थयते संनिकर्षं च गच्छति।
ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः ॥ १५ ॥

जो पुरुष किसी स्त्रीको चाहता है, उसके निकटतक पहुँचता है और उसकी थोड़ी-सी सेवा कर देता है, उसीको वे युवतियाँ चाहने लगती हैं ॥ १५ ॥

अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात् परिजनस्य च।
मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ १६ ॥

स्त्रियोंमें स्वयं मर्यादाका कोई ध्यान नहीं रहता। जब उनको कोई चाहनेवाला पुरुष न मिले और परिजनोंका भय बना रहे तथा पति पास हों, तभी ये नारियाँ मर्यादाके भीतर रह पाती हैं ॥ १६ ॥

नासां कश्चिदगम्योऽस्ति नासां वयसि निश्चयः।
विरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १७ ॥

इनके लिये कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है, जो अगम्य हो। उनका किसी अवस्था-विशेषपर भी निश्चय नहीं रहता। कोई रूपवान् हो या कुरूप; पुरुष है—इतना ही समझकर स्त्रियाँ उसका उपभोग करती हैं ॥ १७ ॥

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थहेतोः कथंचन।
न ज्ञातिकुलसम्बन्धात् स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ १८ ॥

स्त्रियाँ न तो भयसे, न दयासे, न धनके लोभसे और न जाति या कुलके सम्बन्धसे ही पतियोंके पास टिकती हैं ॥

यौवने वर्तमानानां मृष्टाभरणवाससाम्।
नारीणां स्वैरवृत्तीनां स्पृहयन्ति कुलस्त्रियः ॥ १९ ॥

जो जवान हैं, सुन्दर गहने और अच्छे कपड़े पहनती हैं, ऐसी स्वेच्छाचारिणी स्त्रियोंके चरित्रको देखकर कितनी ही कुलवती स्त्रियाँ भी वैसी ही बननेकी इच्छा करने लगती हैं ॥ १९ ॥

याश्च शश्वद् बहुमता रक्ष्यन्ते दयिताः स्त्रियः।
अपि ताः सम्प्रसज्जन्ते कुब्जान्धजडवामनैः ॥ २० ॥

जो बहुत सम्मानित और पतिकी प्यारी स्त्रियाँ हैं, जिनकी सदा अच्छी तरह रखवाली की जाती है, वे भी घरमें आने-जानेवाले कुबड़ों, अन्धों, गूँगों और बौनोंके साथ भी फँस जाती हैं ॥ २० ॥

पङ्गुष्वथ च देवर्षे ये चान्ये कुत्सिता नराः।
स्त्रीणामगम्यो लोकेऽस्मिन् नास्ति कश्चिन्महामुने॥२१॥

महामुनि देवर्षे! जो पङ्गु हैं अथवा जो अत्यन्त घृणित मनुष्य हैं, उनमें भी स्त्रियोंकी आसक्ति हो जाती है। इस संसारमें कोई भी पुरुष स्त्रियोंके लिये अगम्य नहीं है ॥२१॥

यदि पुंसां गतिर्ब्रह्मन् कथंचिन्नोपपद्यते।
अप्यन्योन्यं प्रवर्तन्ते न हि तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ २२ ॥

ब्रह्मन्! यदि स्त्रियोंको पुरुषकी प्राप्ति किसी प्रकार भी सम्भव न हो और पति भी दूर गये हों तो वे आपसमें ही कृत्रिम उपायोंसे ही मैथुनमें प्रवृत्त हो जाती हैं ॥ २२ ॥

अलाभात् पुरुषाणां हि भयात् परिजनस्य च।
वधबन्धभयाच्चापि स्वयं गुप्ता भवन्ति ताः ॥ २३ ॥

पुरुषोंके न मिलनेसे, घरके दूसरे लोगोंके भयसे तथा वध और बन्धनके डरसे ही स्त्रियाँ सुरक्षित रहती हैं ॥ २३ ॥

चलस्वभावा दुःसेव्या दुर्ग्राह्या भावतस्तथा ।
प्राज्ञस्य पुरुषस्येह यथा वाचस्तथा स्त्रियः ॥ २४ ॥

स्त्रियोंका स्वभाव चञ्चल होता है । उनका सेवन बहुत ही कठिन काम है । इनका भाव जल्दी किसीके समझमें नहीं आता; ठीक उसी तरह, जैसे विद्वान् पुरुषकी वाणी दुर्बोध होती है ॥ २४ ॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः ॥ २५ ॥

अग्नि कभी ईंधनसे तृप्त नहीं होती, समुद्र कभी नदियोंसे तृप्त नहीं होता, मृत्यु समस्त प्राणियोंको एक साथ पा जाय तो भी उनसे तृप्त नहीं होती; इसी प्रकार सुन्दर नेत्रोंवाली युवतियाँ पुरुषोंसे कभी तृप्त नहीं होतीं ॥ २५ ॥

इदमन्यच्च देवर्षे रहस्यं सर्वयोषिताम् ।
दृष्ट्वैव पुरुषं हृद्यं योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रियाः ॥ २६ ॥

देवर्षे ! सम्पूर्ण रमणियोंके सम्बन्धमें दूसरी भी रहस्यकी बात यह है कि किसी मनोरम पुरुषको देखते ही स्त्रीकी योनि गीली हो जाती है ॥ २६ ॥

कामानामपि दातारं कर्तारं मनसां प्रियम् ।
रक्षितारं न मृष्यन्ति स्वभर्तारमलं स्त्रियः ॥ २७ ॥

सम्पूर्ण कामनाओंके दाता तथा मनचाही करनेवाला पति भी यदि उनकी रक्षामें तत्पर रहनेवाला हो तो वे अपने पतिके शासनको भी सहन नहीं कर सकतीं ॥ २७ ॥

न कामभोगान् विपुलान् नालंकारान् न संश्रयान् ।
तथैव बहु मन्यन्ते यथा रत्यामनुग्रहम् ॥ २८ ॥

वे न तो काम-भोगकी प्रचुर सामग्रीको, न अच्छे-अच्छे गहनोंको और न उत्तम घरोंको ही उतना अधिक महत्त्व देती हैं, जैसा कि रतिके लिये किये गये अनुग्रहको ॥ २८ ॥

अन्तकः पवनो मृत्युः पातालं वडवामुखम् ।
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः ॥ २९ ॥

यमराज, वायु, मृत्यु, पाताल, बड़वानल, क्षुरेकी धार, विष, सर्प और अग्नि--ये सब विनाशके हेतु एक तरफ और स्त्रियाँ अकेली एक तरफ बराबर हैं ॥ २९ ॥

यतश्च भूतानि महान्ति पञ्च
यतश्च लोका विहिता विधात्रा ।
यतः पुमांसः प्रमदाश्च निर्मिता-
स्तदैव दोषाः प्रमदासु नारद ॥ ३० ॥

नारद ! जहाँसे पाँचों महाभूत उत्पन्न हुए हैं, जहाँसे विधाताने सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि की है तथा जहाँसे पुरुषों और स्त्रियोंका निर्माण हुआ है, वहींसे स्त्रियोंमें ये दोष भी रचे गये हैं (अर्थात् ये स्त्रियोंके स्वाभाविक दोष हैं) ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पञ्चचूडानारदसंवादे अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पञ्चचूड़ा और नारदका संवादविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

स्त्रियोंकी रक्षाके विषयमें युधिष्ठिरका प्रश्न

युधिष्ठिर उवाच

इमे वै मानवा लोके स्त्रीषु सज्जन्त्यभीक्ष्णशः ।
मोहेन परमाविष्टा देवसृष्टेन पार्थिव ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले--पृथ्वीनाथ ! संसारके ये मनुष्य विधाताद्वारा उत्पन्न किये गये महान् मोहसे आविष्ट हो सदा ही स्त्रियोंमें आसक्त होते हैं ॥ १ ॥

स्त्रियश्च पुरुषेष्वेव प्रत्यक्षं लोकसाक्षिकम् ।
अत्र मे संशयस्तीव्रो हृदि सम्परिवर्तते ॥ २ ॥

इसी तरह स्त्रियाँ भी पुरुषोंमें ही आसक्त होती हैं । यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है और लोग इसके साक्षी हैं । इस बातको लेकर मेरे मनमें भारी संदेह खड़ा हो गया है ॥ २ ॥

कथमासां नराः सङ्गं कुर्वते कुरुनन्दन ।
स्त्रियो वा केषु रज्यन्ते विरज्यन्ते च ताः पुनः ॥ ३ ॥

कुरुनन्दन ! पुरुष क्यों इन स्त्रियोंका सङ्ग करते हैं ? अथवा स्त्रियाँ भी किस निमित्तसे पुरुषोंमें अनुरक्त एवं विरक्त होती हैं ॥ ३ ॥

इति ताः पुरुषव्याघ्र कथं शक्यास्तु रक्षितुम् ।
प्रमदाः पुरुषेणेह तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

पुरुषसिंह ! पुरुष यौवनसे उन्मत्त स्त्रियोंकी रक्षा कैसे कर सकता है ? यह विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ ४ ॥

एता हि रममाणास्तु वञ्चयन्तीह मानवान् ।
न चासां मुच्यते कश्चित् पुरुषो हस्तमागतः ॥ ५ ॥

ये रमण करती हुई भी यहाँ पुरुषोंको ठगती रहती हैं। इनके हाथमें आया हुआ कोई भी पुरुष इनसे बचकर नहीं जा सकता ॥ ५ ॥

गावो नवतृणानीव गृह्णन्त्येता नवं नवम् ।
शम्बरस्य च या माया माया या नमुचेरपि ॥ ६ ॥
बलेः कुम्भीनसेश्चैव सर्वास्ता योषितो विदुः ।

जैसे गौएँ नयी-नयी घास चरती हैं, उसी प्रकार ये नारियाँ नये-नये पुरुषको अपनाती रहती हैं। शम्बरासुरकी जो माया है तथा नमुचि, बलि और कुम्भीनसीकी जो मायाएँ हैं, उन सबको ये युवतियाँ जानती हैं ॥ ६½ ॥

हसन्तं प्रहसन्त्येता रुदन्तं प्ररुदन्ति च ॥ ७ ॥
अप्रियं प्रियवाक्यैश्च गृह्णते कालयोगतः ।

पुरुषको हँसते देख ये स्त्रियाँ जोर-जोरसे हँसती हैं। उसे रोते देख स्वयं भी फूट-फूटकर रोने लगती हैं और अवसर आनेपर अप्रिय पुरुषको प्रिय वचनोंद्वारा अपना लेती हैं ॥ ७½ ॥

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ॥ ८ ॥
स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येत तास्तु रक्ष्याः कथं नरैः ।

जिस नीतिशास्त्रको शुक्राचार्य जानते हैं, जिसे बृहस्पति जानते हैं, वह भी स्त्रीकी बुद्धिसे बढ़कर नहीं है। ऐसी स्त्रियोंकी रक्षा पुरुष कैसे कर सकते हैं ॥ ८½ ॥

अनृतं सत्यमित्याहुः सत्यं चापि तथानृतम् ॥ ९ ॥
इति यास्ताः कथं वीर संरक्ष्याः पुरुषैरिह ।

वीर ! जिनके झूठको भी सच और सचको भी झूठ बताया गया है, ऐसी स्त्रियोंकी रक्षा पुरुष यहाँ कैसे कर सकते हैं ? ॥ ९½ ॥

स्त्रीणां बुद्ध्यर्थनिष्कर्षादर्थशास्त्राणि शत्रुहन् ॥ १० ॥
बृहस्पतिप्रभृतिभिर्मन्ये सद्भिः कृतानि वै ।

शत्रुघाती नरेश ! मुझे तो ऐसा लगता है कि स्त्रियोंकी बुद्धिमें जो अर्थ भरा है, उसीका निष्कर्ष (सारांश) लेकर बृहस्पति आदि सत्पुरुषोंने नीतिशास्त्रोंकी रचना की है ॥ १०½ ॥

सम्पूज्यमानाः पुरुषैर्विकुर्वन्ति मनो नृप ॥ ११ ॥
अपास्ताश्च तथा राजन् विकुर्वन्ति मनः स्त्रियः ।

नरेश्वर ! पुरुषोंद्वारा सम्मानित होनेपर भी ये रमणियाँ उनका मन विकृत कर देती हैं और उनके द्वारा तिरस्कृत होनेपर भी इनके मनमें विकार उत्पन्न कर देती हैं ॥ ११½ ॥

इमाः प्रजा महाबाहो धार्मिक्य इति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥
सत्कृतासत्कृताश्चापि विकुर्वन्ति मनः सदा ।
कस्ताः शक्तो रक्षितुं स्यादिति मे संशयो महान् ॥ १३ ॥

महाबाहो ! हमने सुन रक्खा है कि ये स्त्रीरूपिणी प्रजाएँ बड़ी धार्मिक होती हैं (जैसा कि सावित्री आदिके जीवनसे प्रत्यक्ष हो चुका है); फिर भी ये स्त्रियाँ सम्मानित हों या असम्मानित, सदा ही पुरुषोंके मनमें विकार उत्पन्न करती रहती हैं। उनकी रक्षा कौन कर सकता है ? यही मेरे मनमें महान् संशय है ॥ १२-१३ ॥

तथा ब्रूहि महाभाग कुरूणां वंशवर्धन ।
यदि शक्या कुरुश्रेष्ठ रक्षा तासां कदाचन ॥
कर्तुं वा कृतपूर्वं वा तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १४ ॥

महाभाग ! कुरुकुलवर्धन ! कुरुश्रेष्ठ ! यदि किसी प्रकार कभी भी उनकी रक्षा की जा सके तो वह बताइये। यदि किसीने पहले कभी किसी स्त्रीकी रक्षा की हो तो वह कथा भी मुझे विस्तारके साथ बताइये ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि स्त्रीस्वभावकथने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें स्त्रियोंके स्वभावका वर्णनविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

भृगुवंशी विपुलके द्वारा योगबलसे गुरुपत्नीके शरीरमें प्रवेश करके उसकी रक्षा करना

भीष्म उवाच

एवमेव महाबाहो नात्र मिथ्यास्ति किंचन ।
यथा ब्रवीषि कौरव्य नारीं प्रति जनाधिप ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—महाबाहो ! कुरुनन्दन ! ऐसी ही बात है । नरेश्वर ! नारियोंके सम्बन्धमें तुम जो कुछ कह रहे हो, उसमें तनिक भी मिथ्या नहीं है ॥ १ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् ।
यथा रक्षा कृता पूर्वं विपुलेन महात्मना ॥ २ ॥

इस विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास बताऊँगा कि पूर्वकालमें महात्मा विपुलने किस प्रकार एक स्त्री (गुरुपत्नी) की रक्षा की थी ॥ २ ॥

प्रमदाश्च यथा सृष्टा ब्रह्मणा भरतर्षभ ।
यदर्थं तच्च ते तात प्रवक्ष्यामि नराधिप ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तात ! नरेश्वर ! ब्रह्माजीने जिस प्रकार और जिस उद्देश्यसे युवतियोंकी सृष्टि की है, वह सब मैं तुम्हें बताऊँगा ॥ ३ ॥

न हि स्त्रीभ्यः परं पुत्र पापीयः किंचिदस्ति वै ।
अग्निर्हि प्रमदा दीप्तो मायाश्च मयजा विभो ॥ ४ ॥

बेटा ! स्त्रियोंसे बढ़कर पापिष्ठ दूसरा कोई नहीं है । यौवन-मदसे उन्मत्त रहनेवाली स्त्रियाँ वास्तवमें प्रज्वलित अग्निके समान हैं । प्रभो ! वे मयदानवकी रची हुई माया हैं ॥ ४ ॥

क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः ।
प्रजा इमा महाबाहो धार्मिक्य इति नः श्रुतम् ॥ ५ ॥
स्वयं गच्छन्ति देवत्वं ततो देवानियाद् भयम् ।

छुरेकी धार, विष, सर्प और आग—ये सब विनाशके हेतु एक ओर और तरुणी स्त्रियाँ एक ओर । महाबाहो ! पहले यह सारी प्रजा धार्मिक थी । यह हमने सुन रक्खा है । वे प्रजाएँ स्वयं देवत्वको प्राप्त हो जाती थीं । इससे देवताओं-को बड़ा भय हुआ ॥ ५½ ॥

अथाभ्यगच्छन् देवास्ते पितामहमरिंदम ॥ ६ ॥
निवेद्य मानसं चापि तूष्णीमासन्नधोमुखाः ।

शत्रुदमन ! तब वे देवता ब्रह्माजीके पास गये और उनसे अपने मनकी बात निवेदन करके मुँह नीचे किये चुपचाप बैठ गये ॥ ६½ ॥

तेषामन्तर्गतं ज्ञात्वा देवानां स पितामहः ॥ ७ ॥
मानवानां प्रमोहार्थं कृत्या नार्योऽसृजत् प्रभुः ।

उन देवताओंके मनकी बात जानकर भगवान् ब्रह्माने मनुष्यों-को मोहमें डालनेके लिये कृत्यारूप नारियोंकी सृष्टि की ॥ ७½ ॥

पूर्वसर्गे तु कौन्तेय साध्व्यो नार्य इहाभवन् ॥ ८ ॥
असाध्व्यस्तु समुत्पन्नाः कृत्याः सर्गात् प्रजापतेः ।
ताभ्यः कामान् यथाकामं प्रादाद्धि स पितामहः॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! सृष्टिके प्रारम्भमें यहाँ सब स्त्रियाँ पति-व्रता ही थीं । कृत्यारूप दुष्ट स्त्रियाँ तो प्रजापतिकी इस नूतन सृष्टिसे ही उत्पन्न हुई हैं । प्रजापतिने उन्हें उनकी इच्छाके अनुसार कामभाव प्रदान किया ॥ ८-९ ॥

ताः कामलुब्धाः प्रमदाः प्रबाधन्ते नरान् सदा ।
क्रोधं कामस्य देवेशः सहायं चासृजत् प्रभुः ॥ १० ॥
असज्जन्त प्रजाः सर्वाः कामक्रोधवशं गताः ।

वे मतवाली युवतियाँ कामलोलुप होकर पुरुषोंको सदा बाधा देती रहती हैं । देवेश्वर भगवान् ब्रह्माने कामकी सहा-यताके लिये क्रोधको उत्पन्न किया । इन्हीं काम और क्रोधके वशीभूत होकर स्त्री और पुरुषरूप सारी प्रजा परस्पर आसक्त होती है ॥ १०½ ॥

(द्विजानां च गुरूणां च महागुरुनृपादिनाम् ।
क्षणात् स्त्रीसङ्गकामोत्था यातनाहो निरन्तरा ॥

ब्राह्मण, गुरु, महागुरु और राजा—इन सबको स्त्रीके क्षणिक सङ्गसे निरन्तर कामजनित यातना सहनी पड़ती है ॥

अरक्तमनसां नित्यं ब्रह्मचर्यामलात्मनाम् ।
तपोदमार्चनध्यानयुक्तानां शुद्धिरुत्तमा ॥)

जिनका मन कहीं आसक्त नहीं है, जिन्होंने ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक अपने अन्तःकरणको निर्मल बना लिया है तथा जो तपस्या, इन्द्रियसंयम और ध्यान-पूजनमें संलग्न हैं, उन्हीं-की उत्तम शुद्धि होती है ॥

न च स्त्रीणां क्रियाः काश्चिदिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ११ ॥
निरिन्द्रिया ह्यशास्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति श्रुतिः ।
शय्यासनमलंकारमन्नपानमनार्यताम् ॥ १२ ॥
दुर्वाग्भावं रतिं चैव ददौ स्त्रीभ्यः प्रजापतिः ।

स्त्रियोंके लिये किन्हीं वैदिक कर्मोंके करनेका विधान नहीं है । यही धर्मशास्त्रकी व्यवस्था है । स्त्रियाँ इन्द्रियशून्य हैं अर्थात् वे अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेमें असमर्थ हैं ।

शास्त्रज्ञानसे रहित हैं और असत्यकी मूर्ति हैं। ऐसा उनके विषयमें श्रुतिका कथन है। प्रजापतिने स्त्रियोंको शय्या, आसन, अलंकार, अन्न, पान, अनार्यता, दुर्वचन, प्रियता तथा रति प्रदान की है ॥ ११-१२½ ॥

न तासां रक्षणं शक्यं कर्तुं पुंसा कथंचन ॥ १३ ॥
अपि विश्वकृता तात कुतस्तु पुरुषैरिह ।

तात ! लोकस्रष्टा ब्रह्मा-जैसा पुरुष भी स्त्रियोंकी किसी प्रकार रक्षा नहीं कर सकता, फिर साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या ॥ १३½ ॥

वाचा च वधबन्धैर्वा क्लेशैर्वा विविधैस्तथा ॥ १४ ॥
न शक्या रक्षितुं नार्यस्ता हि नित्यमसंयताः ।

वाणीके द्वारा एवं वध और बन्धनके द्वारा रोककर अथवा नाना प्रकारके क्लेश देकर भी स्त्रियोंकी रक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि वे सदा असंयमशील होती हैं ॥ १४½ ॥

इदं तु पुरुषव्याघ्र पुरस्ताच्छ्रुतवानहम् ॥ १५ ॥
यथा रक्षा कृता पूर्वं विपुलेन गुरुस्त्रियाः ।

पुरुषसिंह ! पूर्वकालमें मैंने यह सुना था कि प्राचीन-कालमें महात्मा विपुलने अपनी गुरुपत्नीकी रक्षा की थी। कैसे की ? यह मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ १५½ ॥

ऋषिरासीन्महाभागो देवशर्मेति विश्रुतः ॥ १६ ॥
तस्य भार्या रुचिर्नाम रूपेणासदृशी भुवि ।

पहलेकी बात है, देवशर्मा नामके एक महाभाग्यशाली ऋषि थे। उनके रुचि नामवाली एक स्त्री थी, जो इस पृथ्वी-पर अद्वितीय सुन्दरी थी ॥ १६½ ॥

तस्या रूपेण सम्मत्ता देवगन्धर्वदानवाः ॥ १७ ॥
विशेषेण तु राजेन्द्र वृत्रहा पाकशासनः ।

उसका रूप देखकर देवता, गन्धर्व और दानव भी मत-वाले हो जाते थे। राजेन्द्र ! वृत्रासुरका वध करनेवाले पाक-शासन इन्द्र उस स्त्रीपर विशेषरूपसे आसक्त थे ॥ १७½ ॥

नारीणां चरितज्ञश्च देवशर्मा महामुनिः ॥ १८ ॥
यथाशक्ति यथोत्साहं भार्यां तामभ्यरक्षत ।

महामुनि देवशर्मा नारियोंके चरित्रको जानते थे; अतः वे यथाशक्ति उत्साहपूर्वक उसकी रक्षा करते थे ॥ १८½ ॥

पुरन्दरं च जानीते परस्त्रीकामचारिणम् ॥ १९ ॥
तस्माद् बलेन भार्याया रक्षणं स चकार ह ।

वे यह भी जानते थे कि इन्द्र बड़ा ही पर-स्त्रीलम्पट है, इसलिये वे अपनी स्त्रीकी उनसे यत्नपूर्वक रक्षा करते थे ॥ १९½ ॥

स कदाचिदृषिस्तात यज्ञं कर्तुमनास्तदा ॥ २० ॥
भार्यासंरक्षणं कार्यं कथं स्यादित्यचिन्तयत् ।

तात ! एक समय ऋषिने यज्ञ करनेका विचार किया। उस समय वे यह सोचने लगे कि 'यदि मैं यज्ञमें लग जाऊँ तो मेरी स्त्रीकी रक्षा कैसे होगी' ॥ २०½ ॥

रक्षाविधानं मनसा स संचिन्त्य महातपाः ॥ २१ ॥
आहूय दयितं शिष्यं विपुलं प्राह भार्गवम् ।

फिर उन महातपस्वीने मन-ही-मन उसकी रक्षाका उपाय सोचकर अपने प्रिय शिष्य भृगुवंशी विपुलको बुलाकर कहा ॥

देवशर्मोवाच

यज्ञकारो गमिष्यामि रुचिं चेमां सुरेश्वरः ॥ २२ ॥
यतः प्रार्थयते नित्यं तां रक्षस्व यथाबलम् ।

देवशर्मा बोले—वत्स ! मैं यज्ञ करनेके लिये जाऊँगा। तुम मेरी इस पत्नी रुचिकी यत्नपूर्वक रक्षा करना; क्योंकि देवराज इन्द्र सदा इसे प्राप्त करनेकी चेष्टामें लगा रहता है ॥

अप्रमत्तेन ते भाव्यं सदा प्रति पुरन्दरम् ॥ २३ ॥
स हि रूपाणि कुरुते विविधानि भृगूत्तम ।

भृगुश्रेष्ठ ! तुम्हें इन्द्रकी ओरसे सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि वह अनेक प्रकारके रूप धारण करता है॥२३½॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो विपुलस्तेन तपस्वी नियतेन्द्रियः ॥ २४ ॥
सदैवोग्रतपा राजन्नग्न्यर्कसदृशद्युतिः ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च तथेति प्रत्यभाषत ।
पुनश्चेदं महाराज पप्रच्छ प्रस्थितं गुरुम् ॥ २५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! गुरुके ऐसा कहनेपर अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी, जितेन्द्रिय तथा सदा ही कठोर तपमें लगे रहनेवाले धर्मज्ञ एवं सत्यवादी विपुलने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। महा-राज ! फिर जब गुरुजी प्रस्थान करने लगे, तब उसने पुनः इस प्रकार पूछा ॥ २४-२५ ॥

विपुल उवाच

कानि रूपाणि शक्रस्य भवन्त्यागच्छतो मुने ।
वपुस्तेजश्च कीदृग् वै तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २६ ॥

विपुलने पूछा—मुने ! इन्द्र जब आता है, तब उसके कौन-कौन-से रूप होते हैं तथा उस समय उसका शरीर और तेज कैसा होता है ? यह मुझे स्पष्टरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥२६॥

भीष्म उवाच

ततः स भगवांस्तस्मै विपुलाय महात्मने ।
आचचक्षे यथातत्त्वं मायां शक्रस्य भारत ॥ २७ ॥

भीष्मजी कहते हैं--भरतनन्दन ! तदनन्तर भगवान् देवशर्माने महात्मा विपुलसे इन्द्रकी मायाको यथार्थरूपसे बताना आरम्भ किया ॥ २७ ॥

देवशर्मोवाच

बहुमायः स विप्रर्षे भगवान् पाकशासनः ।
तांस्तान् विकुरुते भावान् बहूनथ मुहुर्मुहुः ॥ २८ ॥

देवशर्माने कहा--ब्रह्मर्षे ! भगवान् पाकशासन इन्द्र बहुत-सी मायाओंके जानकार हैं। वे बारंबार बहुत-से रूप बदलते रहते हैं ॥ २८ ॥

किरीटी वज्रधृग् धन्वी मुकुटी बद्धकुण्डलः ॥ २९ ॥
भवत्यथ मुहूर्तेन चण्डालसमदर्शनः ।
शिखी जटी चीरवासाः पुनर्भवति पुत्रक ॥ ३० ॥

बेटा ! वे कभी तो मस्तकपर किरीट-मुकुट, कानोंमें कुण्डल तथा हाथोंमें वज्र एवं धनुष धारण किये आते हैं और कभी एक ही मुहूर्तमें चाण्डालके समान दिखायी देते हैं; फिर कभी शिखा, जटा और चीर वस्त्र धारण करनेवाले ऋषि बन जाते हैं ॥ २९-३० ॥

बृहच्छरीरश्च पुनश्चीरवासाः पुनः कृशः ।
गौरं श्यामं च कृष्णं च वर्णं विकुरुते पुनः ॥ ३१ ॥

कभी विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर धारण करते हैं तो कभी दुर्बल शरीरमें चिथड़े लपेटे दिखायी देते हैं। कभी गोरे, कभी साँवले और कभी काले रंगके रूप बदलते रहते हैं ॥ ३१ ॥

विरूपो रूपवांश्चैव युवा वृद्धस्तथैव च ।
ब्राह्मणः क्षत्रियश्चैव वैश्यः शूद्रस्तथैव च ॥ ३२ ॥

वे एक ही क्षणमें कुरूप और दूसरे ही क्षणमें रूपवान् हो जाते हैं। कभी जवान और कभी बूढ़े बन जाते हैं। कभी ब्राह्मण बनकर आते हैं तो कभी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रका रूप बना लेते हैं ॥ ३२ ॥

प्रतिलोमोऽनुलोमश्च भवत्यथ शतक्रतुः ।
शुकवायसरूपी च हंसकोकिलरूपवान् ॥ ३३ ॥

वे इन्द्र कभी अनुलोम संकरका रूप धारण करते हैं तो कभी विलोम संकरका। वे तोते, कौए, हंस और कोयलके रूपमें भी दिखायी देते हैं ॥ ३३ ॥

सिंहव्याघ्रगजानां च रूपं धारयते पुनः ।
दैवं दैत्यमथो राज्ञां वपुर्धारयतेऽपि च ॥ ३४ ॥

सिंह, व्याघ्र और हाथीके भी रूप बारंबार धारण करते हैं। देवताओं, दैत्यों तथा राजाओंके शरीर भी धारण कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

अकृशो वायुभग्नाङ्गः शकुनिर्विकृतस्तथा ।
चतुष्पाद् बहुरूपश्च पुनर्भवति बालिशः ॥ ३५ ॥

वे कभी हृष्ट-पुष्ट, कभी वातरोगसे भग्न शरीरवाले और कभी पक्षी बन जाते हैं। कभी विकृत वेष बना लेते हैं। फिर कभी चौपाया (पशु), कभी बहुरूपिया और कभी गँवार बन जाते हैं ॥ ३५ ॥

मक्षिकामशकादीनां वपुर्धारयतेऽपि च ।
न शक्यमस्य ग्रहणं कर्तुं विपुल केनचित् ॥ ३६ ॥
अपि विश्वकृता तात येन सृष्टमिदं जगत् ।
पुनरन्तर्हितः शक्रो दृश्यते ज्ञानचक्षुषा ॥ ३७ ॥

वे मक्खी और मच्छर आदिके भी रूप धारण करते हैं। विपुल ! कोई भी उन्हें पकड़ नहीं सकता। तात ! औरोंकी तो बात ही क्या है ? जिन्होंने इस संसारको बनाया है, वे विधाता भी उन्हें अपने काबूमें नहीं कर सकते। अन्तर्धान हो जानेपर इन्द्र केवल ज्ञानदृष्टिसे दिखायी देते हैं ॥ ३६-३७ ॥

वायुभूतश्च स पुनर्देवराजो भवत्युत ।
एवं रूपाणि सततं कुरुते पाकशासनः ॥ ३८ ॥

फिर वे वायुरूप होकर तुरंत ही देवराजके रूपमें प्रकट हो जाते हैं। इस तरह पाकशासन इन्द्र सदा नये-नये रूप धारण करता और बदलता रहता है ॥ ३८ ॥

तस्माद् विपुल यत्नेन रक्षेमां तनुमध्यमाम् ।
यथा रुचिं नावलिहेद् देवेन्द्रो भृगुसत्तम ॥ ३९ ॥
क्रतावुपहिते न्यस्तं हविः श्वेव दुरात्मवान् ।

भृगुश्रेष्ठ विपुल ! इसलिये तुम यत्नपूर्वक इस तनुमध्यमा रुचिकी रक्षा करना, जिससे दुरात्मा देवराज इन्द्र यज्ञमें रखे हुए हविष्यको चाटनेकी इच्छावाले कुत्तेकी भाँति मेरी पत्नी रुचिका स्पर्श न कर सके ॥ ३९½ ॥

एवमाख्याय स मुनिर्यष्टुकारोऽगमत् तदा ॥ ४० ॥
देवशर्मा महाभागस्ततो भरतसत्तम ।

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर महाभाग देवशर्मा मुनि यज्ञ करनेके लिये चले गये ॥ ४०½ ॥

विपुलस्तु वचः श्रुत्वा गुरोश्चिन्तामुपेयिवान् ॥ ४१ ॥
रक्षां च परमां चक्रे देवराजान्महाबलात् ।

गुरुकी बात सुनकर विपुल बड़ी चिन्तामें पड़ गये और महाबली देवराजसे उस स्त्रीकी बड़ी तत्परताके साथ रक्षा करने लगे ॥ ४१½ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं गुरुदाराभिरक्षणे ॥ ४२ ॥
मायावी हि सुरेन्द्रोऽसौ दुर्धर्षश्चापि वीर्यवान् ।

उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'मैं गुरुपत्नीकी रक्षाके लिये क्या कर सकता हूँ, क्योंकि वह देवराज इन्द्र मायावी होनेके साथ ही बड़ा दुर्धर्ष और पराक्रमी है ॥ ४२½ ॥

नापिधायाश्रमं शक्यो रक्षितुं पाकशासनः ॥ ४३ ॥
उटजं वा तथा ह्यस्य नानाविधसरूपता ।

'कुटी या आश्रमके दरवाजोंको बंद करके भी पाकशासन इन्द्रका आना नहीं रोका जा सकता; क्योंकि वे कई प्रकारके रूप धारण करते हैं ॥ ४३½ ॥

वायुरूपेण वा शक्रो गुरुपत्नीं प्रधर्षयेत् ॥ ४४ ॥
तस्मादिमां सम्प्रविश्य रुचिं स्थास्येऽहमद्य वै ।

'सम्भव है, इन्द्र वायुका रूप धारण करके आये और गुरुपत्नीको दूषित कर डाले; इसलिये आज मैं रुचिके शरीरमें प्रवेश करके रहूँगा ॥ ४४½ ॥

अथवा पौरुषेणेयं न शक्या रक्षितुं मया ॥ ४५ ॥
बहुरूपो हि भगवाञ्छ्रूयते पाकशासनः ।
सोऽहं योगबलादेनां रक्षिष्ये पाकशासनात् ॥ ४६ ॥

'अथवा पुरुषार्थके द्वारा मैं इसकी रक्षा नहीं कर सकता; क्योंकि ऐश्वर्यशाली पाकशासन इन्द्र बहुरूपिया सुने जाते हैं । अतः योगबलका आश्रय लेकर ही मैं इन्द्रसे इसकी रक्षा करूँगा ॥ ४५-४६ ॥

गात्राणि गात्रैरस्याहं सम्प्रवेक्ष्ये हि रक्षितुम् ।
यद्युच्छिष्टामिमां पत्नीमद्य पश्यति मे गुरुः ॥ ४७ ॥
शप्स्यत्यसंशयं कोपाद् दिव्यज्ञानो महातपाः ।

'मैं गुरुपत्नीकी रक्षा करनेके लिये अपने सम्पूर्ण अङ्गोंसे इसके सम्पूर्ण अङ्गोंमें समा जाऊँगा । यदि आज मेरे गुरुजी अपनी इस पत्नीको किसी पर-पुरुषद्वारा दूषित हुई देख लेंगे तो कुपित होकर मुझे निस्संदेह शाप दे देंगे; क्योंकि वे महातपस्वी गुरु दिव्यज्ञानसे सम्पन्न हैं ॥ ४७½ ॥

न चेयं रक्षितुं शक्या यथान्या प्रमदा नृभिः ॥ ४८ ॥
मायावी हि सुरेन्द्रोऽसावहो प्राप्तोऽस्मि संशयम् ।

'दूसरी युवतियोंकी तरह इस गुरुपत्नीकी भी मनुष्योंद्वारा रक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि देवराज इन्द्र बड़े मायावी हैं । अहो ! मैं बड़ी संशयजनित अवस्थामें पड़ गया ॥

अवश्यं करणीयं हि गुरोरिह हि शासनम् ॥ ४९ ॥
यदि त्वेतदहं कुर्यामाश्चर्यं स्यात् कृतं मया ।

'यहाँ गुरुने जो आज्ञा दी है, उसका पालन मुझे अवश्य करना चाहिये । यदि मैं ऐसा कर सका तो मेरे द्वारा यह एक आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न होगा ॥ ४९½ ॥

योगेनाथ प्रवेशो हि गुरुपत्न्याः कलेवरे ॥ ५० ॥
एवमेव शरीरेऽस्या निवत्स्यामि समाहितः ।
असक्तः पद्मपत्रस्थो जलबिन्दुर्यथाचलः ॥ ५१ ॥

'अतः मुझे गुरुपत्नीके शरीरमें योगबलसे प्रवेश करना चाहिये । जिस प्रकार कमलके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी बूँद उसपर निर्लिप्त भावसे स्थिर रहती है, उसी प्रकार मैं भी अनासक्त भावसे गुरुपत्नीके भीतर निवास करूँगा ॥५०-५१॥

निर्मुक्तस्य रजोरूपान्नापराधो भवेन्मम ।
यथा हि शून्यां पथिकः सभामध्यावसेत् पथि ॥ ५२ ॥
तथाद्यावासयिष्यामि गुरुपत्न्याः कलेवरम् ।
एवमेव शरीरेऽस्या निवत्स्यामि समाहितः ॥ ५३ ॥

'मैं रजोगुणसे मुक्त हूँ; अतः मेरे द्वारा कोई अपराध नहीं हो सकता, जैसे राह चलनेवाला बटोही कभी किसी सूनी धर्मशालामें ठहर जाता है, उसी प्रकार आज मैं सावधान होकर गुरुपत्नीके शरीरमें निवास करूँगा । इसी तरह इसके शरीरमें मेरा निवास हो सकेगा' ॥ ५२-५३ ॥

इत्येवं धर्ममालोक्य वेदवेदांश्च सर्वशः ।
तपश्च विपुलं दृष्ट्वा गुरोरात्मन एव च ॥ ५४ ॥
इति निश्चित्य मनसा रक्षां प्रति स भार्गवः ।
अन्वतिष्ठत् परं यत्नं यथा तच्छृणु पार्थिव ॥ ५५ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस तरह धर्मपर दृष्टि डाल, सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंपर विचार करके अपनी तथा गुरुकी प्रचुर तपस्याको दृष्टिमें रखते हुए भृगुवंशी विपुलने गुरुपत्नीकी रक्षाके लिये अपने मनसे उपर्युक्त उपाय ही निश्चित किया और इसके लिये जो महान् प्रयत्न किया, वह बताता हूँ, सुनो—॥

गुरुपत्नीं समासीनो विपुलः स महातपाः ।
उपासीनामनिन्द्याङ्गीं कथाभिः समलोभयत् ॥ ५६ ॥

'महातपस्वी विपुल गुरुपत्नीके पास बैठ गये और पास ही बैठी हुई निर्दोष अङ्गोंवाली उस रुचिको अनेक प्रकारकी कथा-वार्ता सुनाकर अपनी बातोंमें लुभाने लगे ॥ ५६ ॥

नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्या रश्मिं संयोज्य रश्मिभिः ।
विवेश विपुलः कायमाकाशं पवनो यथा ॥ ५७ ॥

'फिर अपने दोनों नेत्रोंको उन्होंने उसके नेत्रोंकी ओर लगाया और अपने नेत्रोंकी किरणोंको उसके नेत्रोंकी किरणोंके साथ जोड़ दिया । फिर उसी मार्गसे आकाशमें प्रविष्ट होनेवाली वायुकी भाँति रुचिके शरीरमें प्रवेश किया ॥

लक्षणं लक्षणेनैव वदनं वदनेन च ।
अविचेष्टन्नतिष्ठद् वै छायेवान्तर्हितो मुनिः ॥ ५८ ॥

'वे लक्षणोंसे लक्षणोंमें और मुखके द्वारा मुखमें प्रविष्ट हो कोई चेष्टा न करते हुए स्थिर भावसे स्थित हो गये। उस समय अन्तर्हित हुए विपुल मुनि छायाके समान प्रतीत होते थे ॥ ५८ ॥

ततो विष्टभ्य विपुलो गुरुपत्न्याः कलेवरम्।
उवास रक्षणे युक्तो न च सा तमबुद्ध्यत ॥ ५९ ॥

'विपुल गुरुपत्नीके शरीरको स्तम्भित करके उसकी रक्षामें संलग्न हो वहीं निवास करने लगे। परंतु रुचिको अपने शरीरमें उनके आनेका पता न चला ॥ ५९ ॥

यं कालं नागतो राजन् गुरुस्तस्य महात्मनः।
क्रतुं समाप्य स्वगृहं तं कालं सोऽभ्यरक्षत ॥ ६० ॥

'राजन्! जबतक महात्मा विपुलके गुरु यज्ञ पूरा करके अपने घर नहीं लौटे, तबतक विपुल इसी प्रकार अपनी गुरुपत्नीकी रक्षा करते रहे' ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विपुलोपाख्याने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विपुलका उपाख्यानविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६२ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

विपुलका देवराज इन्द्रसे गुरुपत्नीको बचाना और गुरुसे वरदान प्राप्त करना

भीष्म उवाच

ततः कदाचिद् देवेन्द्रो दिव्यरूपवपुर्धरः।
इदमन्तरमित्येवमभ्यगात् तमथाश्रमम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर किसी समय देवराज इन्द्र 'यही ऋषिपत्नी रुचिको प्राप्त करनेका अच्छा अवसर है' ऐसा सोचकर दिव्य रूप एवं शरीर धारण किये उस आश्रममें आये ॥ १ ॥

रूपमप्रतिमं कृत्वा लोभनीयं जनाधिप।
दर्शनीयतमो भूत्वा प्रविवेश तमाश्रमम् ॥ २ ॥

नरेश्वर! वहाँ इन्द्रने अनुपम लुभावना रूप धारण करके अत्यन्त दर्शनीय होकर उस आश्रममें प्रवेश किया ॥

स ददर्श तमासीनं विपुलस्य कलेवरम्।
निश्चेष्टं स्तब्धनयनं यथा लेख्यगतं तथा ॥ ३ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि विपुलका शरीर चित्रलिखितकी भाँति निश्चेष्ट पड़ा है और उनके नेत्र स्थिर हैं ॥ ३ ॥

रुचिं च रुचिरापाङ्गीं पीनश्रोणिपयोधराम्।
पद्मपत्रविशालाक्षीं सम्पूर्णेन्दुनिभाननाम् ॥ ४ ॥

दूसरी ओर स्थूल नितम्ब एवं पीन पयोधरोंसे सुशोभित, विकसित कमलदलके समान विशाल नेत्र एवं मनोहर कटाक्षवाली पूर्णचन्द्रानना रुचि बैठी हुई दिखायी दी ॥ ४ ॥

सा तमालोक्य सहसा प्रत्युत्थातुमियेष ह।
रूपेण विस्मिता कोऽसीत्यथ वक्तुमिवेच्छती ॥ ५ ॥

इन्द्रको देखकर वह सहसा उनकी अगवानीके लिये उठनेकी इच्छा करने लगी। उनका सुन्दर रूप देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ था, मानो वह उनसे पूछना चाहती थी कि आप कौन हैं? ॥ ५ ॥

उत्थातुकामा तु सती विष्टब्धा विपुलेन सा।
निगृहीता मनुष्येन्द्र न शशाक विचेष्टितुम् ॥ ६ ॥

नरेन्द्र! उसने ज्यों ही उठनेका विचार किया त्यों ही विपुलने उसके शरीरको स्तब्ध कर दिया। उनके काबूमें आ जानेके कारण वह हिल भी न सकी ॥ ६ ॥

तामाबभाषे देवेन्द्रः साम्ना परमवल्गुना।
त्वदर्थमागतं विद्धि देवेन्द्रं मां शुचिस्मिते ॥ ७ ॥

तब देवराज इन्द्रने बड़ी मधुर वाणीमें उसे समझाते हुए कहा—'पवित्र मुसकानवाली देवि! मुझे देवताओंका राजा इन्द्र समझो! मैं तुम्हारे लिये ही यहाँतक आया हूँ ॥

क्लिश्यमानमनङ्गेन त्वत्संकल्पभवेन ह।
तत् सम्प्राप्तं हि मां सुभ्रु पुरा कालोऽतिवर्तते ॥ ८ ॥

'तुम्हारा चिन्तन करनेसे मेरे हृदयमें जो काम उत्पन्न हुआ है, वह मुझे बड़ा कष्ट दे रहा है। इसीसे मैं तुम्हारे निकट उपस्थित हुआ हूँ। सुन्दरी! अब देर न करो, समय बीता जा रहा है' ॥ ८ ॥

तमेवंवादिनं शक्रं शुश्राव विपुलो मुनिः।
गुरुपत्न्याः शरीरस्थो ददर्श त्रिदशाधिपम् ॥ ९ ॥

देवराज इन्द्रकी यह बात गुरुपत्नीके शरीरमें बैठे हुए विपुल मुनिने भी सुनी और उन्होंने इन्द्रको देख भी लिया ॥ ९ ॥

न शशाक च सा राजन् प्रत्युत्थातुमनिन्दिता ।
वक्तुं च नाशकद् राजन् विष्टब्धा विपुलेन सा ॥ १० ॥

राजन् ! वह अनिन्द्य सुन्दरी रुचि विपुलके द्वारा स्तम्भित होनेके कारण न तो उठ सकी और न इन्द्रको कोई उत्तर ही दे सकी ॥ १० ॥

आकारं गुरुपत्न्यास्तु स विज्ञाय भृगूद्वहः ।
निजग्राह महातेजा योगेन बलवत् प्रभो ॥ ११ ॥

प्रभो ! गुरुपत्नीका आकार एवं चेष्टा देखकर भृगुश्रेष्ठ विपुल उसका मनोभाव ताड़ गये थे; अतः उन महातेजस्वी मुनिने योगद्वारा उसे बलपूर्वक काबूमें रखा ॥ ११ ॥

बबन्ध योगबन्धैश्च तस्याः सर्वेन्द्रियाणि सः ।
तां निर्विकारां दृष्ट्वा तु पुनरेव शचीपतिः ॥ १२ ॥
उवाच व्रीडितो राजंस्तां योगबलमोहिताम् ।
एह्येहीति ततः सा तु प्रतिवक्तुमियेष तम् ॥ १३ ॥

उन्होंने गुरुपत्नी रुचिकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको योगसम्बन्धी बन्धनोंसे बाँध लिया था । राजन् ! योगबलसे मोहित हुई रुचिको काम-विकारसे शून्य देख शचीपति इन्द्र लज्जित हो गये और फिर उससे बोले—'सुन्दरी ! आओ, आओ ।' उनका आवाहन सुनकर वह फिर उन्हें कुछ उत्तर देनेकी इच्छा करने लगी ॥ १२-१३ ॥

स तां वाचं गुरोः पत्न्या विपुलः पर्यवर्तयत् ।
भोः किमागमने कृत्यमिति तस्यास्तु निःसृता ॥ १४ ॥

यह देख विपुलने गुरुपत्नीकी उस वाणीको जिसे वह कहना चाहती थी, बदल दिया । उसके मुँहसे सहसा यह निकल पड़ा, 'अजी ! यहाँ तुम्हारे आनेका क्या प्रयोजन है ?' ॥ १४ ॥

वक्त्राच्छशाङ्कसदृशाद् वाणी संस्कारभूषणा ।
व्रीडिता सा तु तद्वाक्यमुक्त्वा परवशा तदा ॥ १५ ॥

उस चन्द्रोपम मुखसे जब यह संस्कृत वाणी प्रकट हुई, तब वह पराधीन हुई रुचि वह वाक्य कह देनेके कारण बहुत लज्जित हुई ॥ १५ ॥

पुरन्दरश्च तत्रस्थो बभूव विमना भृशम् ।
स तद्वैकृतमालक्ष्य देवराजो विशाम्पते ॥ १६ ॥
अवैक्षत सहस्राक्षस्तदा दिव्येन चक्षुषा ।
स ददर्श मुनिं तस्याः शरीरान्तरगोचरम् ॥ १७ ॥

वहाँ खड़े हुए इन्द्र उसकी पूर्वोक्त बात सुनकर मन-ही-मन बहुत दुखी हुए । प्रजानाथ ! उसके मनोविकार एवं भाव-परिवर्तनको लक्ष्य करके सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्रने दिव्य दृष्टिसे उसकी ओर देखा । फिर तो उसके शरीरके भीतर विपुल मुनिपर उनकी दृष्टि पड़ी ॥ १६-१७ ॥

प्रतिबिम्बमिवादर्शे गुरुपत्न्याः शरीरगम् ।
स तं घोरेण तपसा युक्तं दृष्ट्वा पुरन्दरः ॥ १८ ॥
प्रावेपत सुसंत्रस्तः शापभीतस्तदा विभो ।

जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, उसी प्रकार वे गुरुपत्नीके शरीरमें परिलक्षित हो रहे थे । प्रभो ! घोर तपस्यासे युक्त विपुल मुनिको देखते ही इन्द्र शापके भयसे संत्रस्त हो थर-थर काँपने लगे ॥ १८½ ॥

विमुच्य गुरुपत्नीं तु विपुलः सुमहातपाः ।
स्वकलेवरमाविश्य शक्रं भीतमथाब्रवीत् ॥ १९ ॥

इसी समय महातपस्वी विपुल गुरुपत्नीको छोड़कर अपने शरीरमें आ गये और डरे हुए इन्द्रसे बोले ॥ १९ ॥

विपुल उवाच

अजितेन्द्रिय दुर्बुद्धे पापात्मक पुरन्दर ।
न चिरं पूजयिष्यन्ति देवास्त्वां मानुषास्तथा ॥ २० ॥

विपुलने कहा—पापात्मा पुरन्दर ! तेरी बुद्धि बड़ी खोटी है । तू सदा इन्द्रियोंका गुलाम बना रहता है । यदि यही दशा रही तो अब देवता तथा मनुष्य अधिक कालतक तेरी पूजा नहीं करेंगे ॥ २० ॥

किं नु तद्विस्मृतं शक्र न तन्मनसि ते स्थितम् ।
गौतमेनासि यन्मुक्तो भगाङ्कपरिचिह्नितः ॥ २१ ॥

इन्द्र ! क्या तू उस घटनाको भूल गया ? क्या तेरे मनमें उसकी याद नहीं रह गयी है ? जब कि महर्षि गौतमने तेरे सारे शरीरमें भगके (हजार) चिह्न बनाकर तुझे जीवित छोड़ा था ? ॥ २१ ॥

जाने त्वां बालिशमतिमकृतात्मानमस्थिरम् ।
मयेयं रक्ष्यते मूढ गच्छ पाप यथागतम् ॥ २२ ॥

मैं जानता हूँ कि तू मूर्ख है, तेरा मन वशमें नहीं और तू महाचञ्चल है । पापी मूढ़ ! यह स्त्री मेरे द्वारा सुरक्षित है । तू जैसे आया है, उसी तरह लौट जा ॥ २२ ॥

नाहं त्वामद्य मूढात्मन् दहेयं हि स्वतेजसा ।
कृपायमानस्तु न ते दग्धुमिच्छामि वासव ॥ २३ ॥

मूढचित्त इन्द्र ! मैं अपने तेजसे तुझे जलाकर भस्म कर सकता हूँ । केवल दया करके ही तुझे इस समय जलाना नहीं चाहता ॥ २३ ॥

स च घोरतमो धीमान् गुरुर्मे पापचेतसम् ।
दृष्ट्वा त्वां निर्दहेदद्य क्रोधदीप्तेन चक्षुषा ॥ २४ ॥

मेरे बुद्धिमान् गुरु बड़े भयंकर हैं । वे तुझ पापात्माको देखते ही आज क्रोधसे उद्दीप्त हुई दृष्टिद्वारा दग्ध कर डालेंगे ॥

नैवं तु शक्र कर्तव्यं पुनर्मान्याश्च ते द्विजाः ।
मा गमः ससुतामात्यः क्षयं ब्रह्मबलार्दितः ॥ २५ ॥

इन्द्र ! आजसे फिर कभी ऐसा काम न करना। तुझे ब्राह्मणोंका सम्मान करना चाहिये, अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि तुझे ब्रह्मतेजसे पीड़ित होकर पुत्रों और मन्त्रियोंसहित कालके गालमें जाना पड़े ॥ २५ ॥

अमरोऽस्मीति यद्बुद्धिं समास्थाय प्रवर्तसे ।
मावमंस्था न तपसा नसाध्यं नाम किंचन ॥ २६ ॥

मैं अमर हूँ—ऐसी बुद्धिका आश्रय लेकर यदि तू स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हो रहा है तो (मैं तुझे सचेत किये देता हूँ) यों किसी तपस्वीका अपमान न किया कर; क्योंकि तपस्यासे कोई भी कार्य असाध्य नहीं है (तपस्वी अमरोंको भी मार सकता है) ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं शक्रो विपुलस्य महात्मनः ।
अकिंचिदुक्त्वा व्रीडार्तस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! महात्मा विपुलका वह कथन सुनकर इन्द्र बहुत लज्जित हुए और कुछ भी उत्तर न देकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २७ ॥

मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु देवशर्मा महातपाः ।
कृत्वा यज्ञं यथाकाममाजगाम स्वमाश्रमम् ॥ २८ ॥

उनके गये अभी एक ही मुहूर्त बीतने पाया था कि महातपस्वी देवशर्मा इच्छानुसार यज्ञ पूर्ण करके अपने आश्रमपर लौट आये ॥ २८ ॥

आगतेऽथ गुरौ राजन् विपुलः प्रियकर्मकृत् ।
रक्षितां गुरवे भार्यां न्यवेदयदनिन्दिताम् ॥ २९ ॥

राजन् ! गुरुके आनेपर उनका प्रिय कार्य करनेवाले विपुलने अपने द्वारा सुरक्षित हुई उनकी सती-साध्वी भार्या रुचिको उन्हें सौंप दिया ॥ २९ ॥

अभिवाद्य च शान्तात्मा स गुरुं गुरुवत्सलः ।
विपुलः पर्युपातिष्ठद् यथापूर्वमशङ्कितः ॥ ३० ॥

शान्त चित्तवाले गुरुप्रेमी विपुल गुरुदेवको प्रणाम करके पहलेकी ही भाँति निर्भीक होकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ३० ॥

विश्रान्ताय ततस्तस्मै सहासीनाय भार्यया ।
निवेदयामास तदा विपुलः शक्रकर्म तत् ॥ ३१ ॥

जब गुरुजी विश्राम करके अपनी पत्नीके साथ बैठे, तब विपुलने इन्द्रकी वह सारी करतूत उन्हें बतायी ॥ ३१ ॥

तच्छ्रुत्वा स मुनिस्तुष्टो विपुलस्य प्रतापवान् ।
बभूव शीलवृत्ताभ्यां तपसा नियमेन च ॥ ३२ ॥

यह सुनकर प्रतापी मुनि देवशर्मा विपुलके शील, सदाचार, तप और नियमसे बहुत संतुष्ट हुए ॥ ३२ ॥

विपुलस्य गुरौ वृत्तिं भक्तिमात्मनि तत्प्रभुः ।
धर्मे च स्थिरतां दृष्ट्वा साधु साध्वित्यभाषत ॥ ३३ ॥

विपुलकी गुरुसेवावृत्ति, अपने प्रति भक्ति और धर्मविषयक दृढ़ता देखकर गुरुने 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उनकी प्रशंसा की ॥ ३३ ॥

प्रतिलभ्य च धर्मात्मा शिष्यं धर्मपरायणम् ।
वरेणच्छन्दयामास देवशर्मा महामतिः ॥ ३४ ॥

परम बुद्धिमान् धर्मात्मा देवशर्माने अपने धर्मपरायण शिष्य विपुलको पाकर उन्हें इच्छानुसार वर माँगनेको कहा ॥ ३४ ॥

स्थितिं च धर्मे जग्राह स तस्माद् गुरुवत्सलः ।
अनुज्ञातश्च गुरुणा चचारानुत्तमं तपः ॥ ३५ ॥

गुरुवत्सल विपुलने गुरुसे यही वर माँगा कि 'मेरी धर्ममें निरन्तर स्थिति बनी रहे ।' फिर गुरुकी आज्ञा लेकर उन्होंने सर्वोत्तम तपस्या आरम्भ की ॥ ३५ ॥

तथैव देवशर्मापि सभार्यः स महातपाः ।
निर्भयो बलवृत्रघ्नाच्चचार विजने वने ॥ ३६ ॥

महातपस्वी देवशर्मा भी बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्रसे निर्भय हो पत्नीसहित उस निर्जन वनमें विचरने लगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विपुलोपाख्याने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विपुलका उपाख्यानविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

विपुलका गुरुकी आज्ञासे दिव्य पुष्प लाकर उन्हें देना और अपने द्वारा किये गये दुष्कर्मका स्मरण करना

भीष्म उवाच

विपुलस्त्वकरोत् तीव्रं तपः कृत्वा गुरोर्वचः।
तपोयुक्तमथात्मानममन्यत स वीर्यवान्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! विपुलने गुरुकी आज्ञाका पालन करके बड़ी कठोर तपस्या की। इससे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी और वे अपनेको बड़ा भारी तपस्वी मानने लगे। १।

स तेन कर्मणा स्पर्धन् पृथिवीं पृथिवीपते।
चचार गतभीः प्रीतो लब्धकीर्तिवरो नृप॥ २॥

पृथ्वीनाथ! विपुल उस तपस्याद्वारा मन-ही-मन गर्वका अनुभव करके दूसरोंसे स्पर्धा रखने लगे। नरेश्वर! उन्हें गुरुसे कीर्ति और वरदान दोनों प्राप्त हो चुके थे; अतः वे निर्भय एवं संतुष्ट होकर पृथ्वीपर विचरने लगे॥ २॥

उभौ लोकौ जितौ चापि तथैवामन्यत प्रभुः।
कर्मणा तेन कौरव्य तपसा विपुलेन च॥ ३॥

कुरुनन्दन! शक्तिशाली विपुल उस गुरुपत्नी-संरक्षणरूपी कर्म तथा प्रचुर तपस्याद्वारा ऐसा समझने लगे कि मैंने दोनों लोक जीत लिये॥ ३॥

अथ काले व्यतिक्रान्ते कस्मिंश्चित् कुरुनन्दन।
रुच्या भगिन्या आदानं प्रभूतधनधान्यवत्॥ ४॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर! तदनन्तर कुछ समय बीत जानेपर गुरुपत्नी रुचिकी बड़ी बहिनके यहाँ विवाहोत्सवका अवसर उपस्थित हुआ, जिसमें प्रचुर धनधान्यका व्यय होनेवाला था॥ ४॥

एतस्मिन्नेव काले तु दिव्या काचिद् वराङ्गना।
बिभ्रती परमं रूपं जगामाथ विहायसा॥ ५॥

उन्हीं दिनों एक दिव्य लोककी सुन्दरी दिव्याङ्गना परम मनोहर रूप धारण किये आकाशमार्गसे कहीं जा रही थी॥ ५॥

तस्याः शरीरात् पुष्पाणि पतितानि महीतले।
तस्याश्रमस्याविदूरे दिव्यगन्धानि भारत॥ ६॥

भारत! उसके शरीरसे कुछ दिव्य पुष्प, जिनसे दिव्य सुगन्ध फैल रही थी, देवशर्माके आश्रमके पास ही पृथ्वीपर गिरे॥

तान्यगृह्णात् ततो राजन् रुचिर्ललितलोचना।
तदा निमन्त्रकस्तस्या अङ्गेभ्यः क्षिप्रमागमत्॥ ७॥

राजन्! तब मनोहर नेत्रोंवाली रुचिने वे फूल ले लिये। इतनेमें ही अङ्गदेशसे उसका शीघ्र ही बुलावा आ गया॥ ७॥

तस्या हि भगिनी तात ज्येष्ठा नाम्ना प्रभावती।
भार्या चित्ररथस्याथ बभूवाङ्गेश्वरस्य वै॥ ८॥

तात! रुचिकी बड़ी बहिन, जिसका नाम प्रभावती था, अङ्गराज चित्ररथको ब्याही गयी थी॥ ८॥

पिनह्य तानि पुष्पाणि केशेषु वरवर्णिनी।
आमन्त्रिता ततोऽगच्छद् रुचिरङ्गपतेर्गृहम्॥ ९॥

उन दिव्य फूलोंको अपने केशोंमें गूँथकर सुन्दरी रुचि अङ्गराजके घर आमन्त्रित होकर गयी॥ ९॥

पुष्पाणि तानि दृष्ट्वा तु तदाङ्गेन्द्रवराङ्गना।
भगिनीं चोदयामास पुष्पार्थे चारुलोचना॥ १०॥

उस समय सुन्दर नेत्रोंवाली अङ्गराजकी सुन्दरी रानी प्रभावतीने उन फूलोंको देखकर अपनी बहिनसे वैसे ही फूल मँगवा देनेका अनुरोध किया॥ १०॥

सा भर्त्रे सर्वमाचष्ट रुचिः सुरुचिरानना।
भगिन्या भाषितं सर्वमृषिस्तच्चाभ्यनन्दत॥ ११॥

आश्रममें लौटनेपर सुन्दर मुखवाली रुचिने बहिनकी कही हुई सारी बातें अपने स्वामीसे कह सुनायीं। सुनकर ऋषिने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली॥ ११॥

ततो विपुलमानाय्य देवशर्मा महातपाः।
पुष्पार्थे चोदयामास गच्छ गच्छेति भारत॥ १२॥

भारत! तब महातपस्वी देवशर्माने विपुलको बुलवाकर उन्हें फूल लानेके लिये आदेश दिया और कहा, 'जाओ, जाओ'॥ १२॥

विपुलस्तु गुरोर्वाक्यमविचार्य महातपाः।
स तथेत्यब्रवीद् राजंस्तं च देशं जगाम ह॥ १३॥
यस्मिन् देशे तु तान्यासन् पतितानि नभस्तलात्।
अम्लानान्यपि तत्रासन् कुसुमान्यपराण्यपि॥ १४॥

राजन्! गुरुकी आज्ञा पाकर महातपस्वी विपुल उसपर कोई अन्यथा विचार न करके 'बहुत अच्छा' कहते हुए उस स्थानकी ओर चल दिये, जहाँ आकाशसे वे फूल गिरे थे। वहाँ और भी बहुत-से फूल पड़े हुए थे, जो कुम्हलाये नहीं थे॥

स ततस्तानि जग्राह दिव्यानि रुचिराणि च।
प्राप्तानि स्वेन तपसा दिव्यगन्धानि भारत॥ १५॥

भारत ! तदनन्तर अपने तपसे प्राप्त हुए उन दिव्य सुगन्धसे युक्त मनोहर दिव्य पुष्पोंको विपुलने उठा लिया ॥ १५ ॥

सम्प्राप्य तानि प्रीतात्मा गुरोर्वचनकारकः ।
तदा जगाम तूर्णं च चम्पां चम्पकमालिनीम् ॥ १६ ॥

गुरुकी आज्ञाका पालन करनेवाले विपुल उन फूलोंको पाकर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और तुरंत ही चम्पाके वृक्षोंसे घिरी हुई चम्पा नगरीकी ओर चल दिये ॥ १६ ॥

स वने निर्जने तात ददर्श मिथुनं नृणाम् ।
चक्रवत् परिवर्तन्तं गृहीत्वा पाणिना करम् ॥ १७ ॥

तात ! एक निर्जन वनमें आनेपर उन्होंने स्त्री-पुरुषके एक जोड़ेको देखा, जो एक दूसरेका हाथ पकड़कर कुम्हारके चाकके समान घूम रहे थे ॥ १७ ॥

तत्रैकस्तूर्णमगमत् तत्पदे च विवर्तयन् ।
एकस्तु न तदा राजंश्चक्रतुः कलहं ततः ॥ १८ ॥

राजन् ! उनमेंसे एकने अपनी चाल तेज कर दी और दूसरेने वैसा नहीं किया । इसपर दोनों आपसमें झगड़ने लगे ॥

त्वं शीघ्रं गच्छसीत्येकोऽब्रवीन्नेति तथा परः ।
नेति नेति च तौ राजन् परस्परमथोचतुः ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! एकने कहा, 'तुम जल्दी-जल्दी चलते हो ।' दूसरेने कहा, 'नहीं ।' इस प्रकार दोनों एक-दूसरेपर दोषारोपण करते हुए एक-दूसरेको 'नहीं-नहीं' कह रहे थे ॥ १९ ॥

तयोर्विस्पर्धतोरेवं शपथोऽयमभूत् तदा ।
सहसोद्दिश्य विपुलं ततो वाक्यमथोचतुः ॥ २० ॥

इस प्रकार एक-दूसरेसे स्पर्धा रखते हुए उन दोनोंमें शपथ खानेकी नौबत आ गयी । फिर तो सहसा विपुलको लक्ष्य करके वे दोनों इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

आवयोरनृतं प्राह यस्तस्याभूद् द्विजस्य वै ।
विपुलस्य परे लोके या गतिः सा भवेदिति ॥ २१ ॥

'हमलोगोंमेंसे जो भी झूठ बोलता है, उसकी वही गति होगी, जो परलोकमें ब्राह्मण विपुलके लिये नियत हुई है' ॥ २१ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु विपुलो विषण्णवदनोऽभवत् ।
एवं तीव्रतपाश्चाहं कष्टश्चायं परिश्रमः ॥ २२ ॥

यह सुनकर विपुलके मुँहपर विषाद छा गया । 'मैं ऐसी कठोर तपस्या करनेवाला हूँ तो भी मेरी दुर्गति होगी । तब तो तपस्या करनेका वह घोर परिश्रम कष्टदायक ही सिद्ध हुआ ॥

मिथुनस्यास्य किं मे स्यात् कृतं पापं यथा गतिः ।
अनिष्टा सर्वभूतानां कीर्तितानेन मेऽद्य वै ॥ २३ ॥

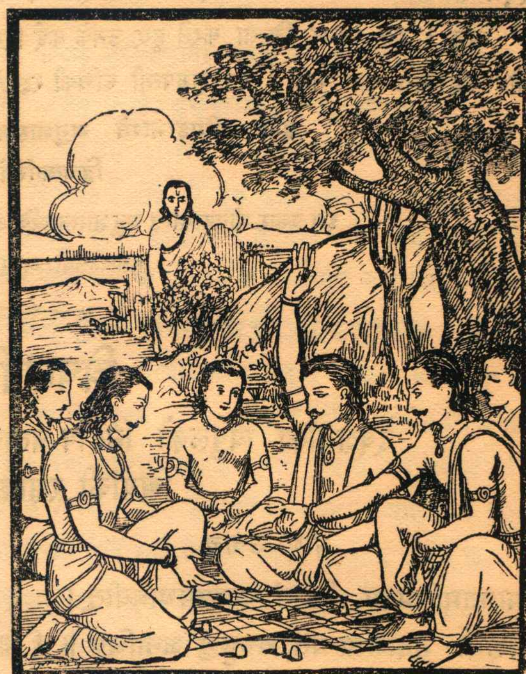
'मेरा ऐसा कौन-सा पाप है, जिसके अनुसार मेरी वह दुर्गति होगी, जो समस्त प्राणियोंके लिये अनिष्ट है एवं इस स्त्री-पुरुषके जोड़ेको मिलनेवाली है, जिसका इन्होंने आज मेरे समक्ष वर्णन किया है' ॥ २३ ॥

एवं संचिन्तयन्नेव विपुलो राजसत्तम ।
अवाङ्मुखो दीनमना दध्यौ दुष्कृतमात्मनः ॥ २४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ऐसा सोचते हुए ही विपुल नीचे मुँह किये दीनचित्त हो अपने दुष्कर्मका स्मरण करने लगे ॥ २४ ॥

ततः षडन्यान् पुरुषानक्षैः काञ्चनराजतैः ।
अपश्यद् दीव्यमानान् वै लोभहर्षान्वितांस्तथा ॥ २५ ॥
कुर्वतः शपथं तेन यः कृतो मिथुनेन तु ।
विपुलं वै समुद्दिश्य तेऽपि वाक्यमथाब्रुवन् ॥ २६ ॥

तदनन्तर विपुलको दूसरे छः पुरुष दिखायी पड़े, जो सोने-चाँदीके पासे लेकर जूआ खेल रहे थे और लोभ तथा



हर्षमें भरे हुए थे । वे भी वही शपथ कर रहे थे, जो पहले स्त्री-पुरुषके जोड़ेने की थी । उन्होंने विपुलको लक्ष्य करके कहा—॥ २५-२६ ॥

लोभमास्थाय योऽस्माकं विषमं कर्तुमुत्सहेत् ।
विपुलस्य परे लोके या गतिस्तामवाप्नुयात् ॥ २७ ॥

'हमलोगोंमेंसे जो लोभका आश्रय लेकर बेईमानी करनेका साहस करेगा, उसको वही गति मिलेगी, जो परलोकमें विपुलको मिलनेवाली है' ॥ २७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु विपुलो नापश्यद् धर्मसंकरम् ।
जन्मप्रभृति कौरव्य कृतपूर्वमथात्मनः ॥ २८ ॥

कुरुनन्दन ! यह सुनकर विपुलने जन्मसे लेकर वर्तमान समयतकके अपने समस्त कर्मोंका स्मरण किया; किंतु कभी कोई धर्मके साथ पापका मिश्रण हुआ हो, ऐसा नहीं दिखायी दिया ॥ २८ ॥

सम्प्रदध्यौ तथा राजन्नग्नावग्निरिवाहितः ।
दह्यमानेन मनसा शापं श्रुत्वा तथाविधम् ॥ २९ ॥

राजन् ! परंतु अपने विषयमें वैसा शाप सुनकर जैसे एक आगमें दूसरी आग रख दी गयी हो और उसकी ज्वाला और भी बढ़ गयी हो, उसी प्रकार विपुलका हृदय शोकाग्निसे दग्ध होने लगा और उसी अवस्थामें वे पुनः अपने कार्यों-पर विचार करने लगे ॥ २९ ॥

तस्य चिन्तयतस्तात बह्व्यो दिननिशा ययुः ।
इदमासीन्मनसि स रुच्या रक्षणकारितम् ॥ ३० ॥

तात ! इस प्रकार चिन्ता करते हुए उनके कई दिन और कई रातें बीत गयीं । तब गुरुपत्नी रुचिकी रक्षाके कारण उनके मनमें ऐसा विचार उठा— ॥ ३० ॥

लक्षणं लक्षणेनैव वदनं वदनेन च ।
विधाय न मया चोक्तं सत्यमेतद् गुरोस्तथा ॥ ३१ ॥

'मैंने जब गुरुपत्नीकी रक्षाके लिये उनके शरीरमें सूक्ष्म-रूपसे प्रवेश किया था, तब मेरी लक्षणेन्द्रिय उनकी लक्षणेन्द्रिय-से और मुख उनके मुखसे संयुक्त हुआ था । ऐसा अनुचित कार्य करके भी मैंने गुरुजीको यह सच्ची बात नहीं बतायी' ॥

एतदात्मनि कौरव्य दुष्कृतं विपुलस्तदा ।
अमन्यत महाभाग तथा तच्च न संशयः ॥ ३२ ॥

महाभाग कुरुनन्दन ! उस समय विपुलने अपने मनमें इसीको पाप माना और निस्संदेह बात भी ऐसी ही थी ॥ ३२ ॥

स चम्पां नगरीमेत्य पुष्पाणि गुरवे ददौ ।
पूजयामास च गुरुं विधिवत् स गुरुप्रियः ॥ ३३ ॥

चम्पानगरीमें जाकर गुरुप्रेमी विपुलने वे फूल गुरुजीको अर्पित कर दिये और उनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विपुलोपाख्याने
द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विपुलका उपाख्यानविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

देवशर्माका विपुलको निर्दोष बताकर समझाना और भीष्मका युधिष्ठिरको स्त्रियोंकी रक्षाके लिये आदेश देना

भीष्म उवाच

तमागतमभिप्रेक्ष्य शिष्यं वाक्यमथाब्रवीत् ।
देवशर्मा महातेजा यत् तच्छृणु जनाधिप ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! अपने शिष्य विपुलको आया हुआ देख महातेजस्वी देवशर्माने उनसे जो बात कही, वही बताता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

देवशर्मोवाच

किं ते विपुल दृष्टं वै तस्मिन् शिष्य महावने ।
ते त्वां जानन्ति विपुल आत्मा च रुचिरेव च ॥ २ ॥

देवशर्माने पूछा—मेरे प्रिय शिष्य विपुल ! तुमने उस महान् वनमें क्या देखा था ? वे लोग तो तुम्हें जानते हैं । उन्हें तुम्हारी अन्तरात्माका तथा मेरी पत्नी रुचिका भी पूरा परिचय प्राप्त है ॥ २ ॥

विपुल उवाच

ब्रह्मर्षे मिथुनं किं तत् के च ते पुरुषा विभो ।
ये मां जानन्ति तत्त्वेन यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३ ॥

विपुलने कहा—ब्रह्मर्षे ! मैंने जिसे देखा था, वह स्त्री-पुरुषका जोड़ा कौन था ? तथा वे छः पुरुष भी कौन थे, जो मुझे अच्छी तरह जानते थे और जिनके विषयमें आप भी मुझसे पूछ रहे हैं ? ॥ ३ ॥

देवशर्मोवाच

यद् वै तन्मिथुनं ब्रह्मन्नहोरात्रं हि विद्धि तत् ।
चक्रवत् परिवर्तेत तत् ते जानाति दुष्कृतम् ॥ ४ ॥
ये च ते पुरुषा विप्र अक्षैर्दीव्यन्ति हृष्टवत् ।
ऋतूंस्तानभिजानीहि ते ते जानन्ति दुष्कृतम् ॥ ५ ॥

देवशर्माने कहा—ब्रह्मन् ! तुमने जो स्त्री-पुरुषका जोड़ा देखा था, उसे दिन और रात्रि समझो । वे दोनों चक्र-

वत् घूमते रहते हैं, अतः उन्हें तुम्हारे पापका पता है ! विप्रवर ! तथा जो अत्यन्त हर्षमें भरकर जूआ खेलते हुए छः पुरुष दिखायी दिये, उन्हें छः ऋतु जानो; वे भी तुम्हारे पापको जानते हैं ॥ ४-५ ॥

न मां कश्चिद् विजानीत इति कृत्वा न विश्वसेत् ।
नरो रहसि पापात्मा पापकं कर्म वै द्विज ॥ ६ ॥

ब्रह्मन् ! पापात्मा मनुष्य एकान्तमें पापकर्म करके ऐसा विश्वास न करे कि कोई मुझे इस पापकर्ममें लिप्त नहीं जानता है ॥ ६ ॥

कुर्वाणं हि नरं कर्म पापं रहसि सर्वदा ।
पश्यन्ति ऋतवश्चापि तथा दिननिशेऽच्युत ॥ ७ ॥

एकान्तमें पापकर्म करते हुए पुरुषको ऋतुएँ तथा रात-दिन सदा देखते रहते हैं ॥ ७ ॥

तथैव हि भवेयुस्ते लोकाः पापकृतो यथा ।
कृत्वा नाचक्षतः कर्म मम तच्च यथाकृतम् ॥ ८ ॥

तुमने मेरी स्त्रीकी रक्षा करते समय जिस प्रकार वह पापकर्म किया था, उसे करके भी मुझे बताया नहीं था; अतः तुम्हें वे ही पापाचारियोंके लोक मिल सकते थे ॥ ८ ॥

ते त्वां हर्षस्मितं दृष्ट्वा गुरोः कर्मानिवेदकम् ।
स्मारयन्तस्तथा प्राहुस्ते यथा श्रुतवान् भवान् ॥ ९ ॥

गुरुको अपना पापकर्म न बताकर हर्ष और अभिमानमें भरा देख वे पुरुष तुम्हें अपने कर्मकी याद दिलाते हुए वैसी बातें बोल रहे थे, जिन्हें तुमने अपने कानों सुना है ॥ ९ ॥

अहोरात्रं विजानाति ऋतवश्चापि नित्यशः ।
पुरुषे पापकं कर्म शुभं वा शुभकर्मिणः ॥ १० ॥

पापीमें जो पापकर्म है और शुभकर्मी मनुष्यमें जो शुभकर्म है, उन सबको दिन, रात और ऋतुएँ सदा जानती रहती हैं ॥ १० ॥

तत् त्वया मम यत् कर्म व्यभिचाराद् भयात्मकम् ।
नाख्यातमिति जानन्तस्ते त्वामाहुस्तथा द्विज ॥ ११ ॥

ब्रह्मन् ! तुमने मुझसे अपना वह कर्म नहीं बताया, जो व्यभिचार-दोषके कारण भयरूप था । वे जानते थे, इसलिये उन्होंने तुम्हें बता दिया ॥ ११ ॥

तेनैव हि भवेयुस्ते लोकाः पापकृतो यथा ।
कृत्वा नाचक्षतः कर्म मम यच्च त्वया कृतम् ॥ १२ ॥

पापकर्म करके न बतानेवाले पुरुषको, जैसा कि तुमने मेरे साथ किया है, वे ही पापाचारियोंके लोक प्राप्त होते हैं ॥

तथाशक्या च दुर्वृत्ता रक्षितुं प्रमदा द्विज ।
न च त्वं कृतवान् किंचिदतः प्रीतोऽस्मि तेन ते ॥ १३ ॥

ब्रह्मन् ! यौवनमदसे उन्मत्त रहनेवाली उस स्त्रीकी (उसके शरीरमें प्रवेश किये बिना) रक्षा करना तुम्हारे वशकी बात नहीं थी । अतः तुमने अपनी ओरसे कोई पाप नहीं किया; इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हूँ ॥ १३ ॥

(मनोदोषविहीनानां न दोषः स्यात् तथा तव ।
अन्यथाऽऽलिङ्ग्यते कान्ता स्नेहेन दुहितान्यथा ॥

जो मानसिक दोषसे रहित हैं, उन्हें पाप नहीं लगता । यही बात तुम्हारे लिये भी हुई है । अपनी प्राणवल्लभा पत्नीका आलिङ्गन और भावसे किया जाता है और अपनी पुत्रीका और भावसे अर्थात् उसे वात्सल्यस्नेहसे गले लगाया जाता है ॥

निष्कषायो विशुद्धस्त्वं रुच्यावेशान्न दूषितः ।)

तुम्हारे मनमें राग नहीं है । तुम सर्वथा विशुद्ध हो, इसलिये रुचिके शरीरमें प्रवेश करके भी दूषित नहीं हुए हो ॥

यदि त्वहं त्वां दुर्वृत्तमद्राक्षं द्विजसत्तम ।
शपेयं त्वामहं क्रोधान्न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ १४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! यदि मैं इस कर्ममें तुम्हारा दुराचार देखता तो कुपित होकर तुम्हें शाप दे देता और ऐसा करके मेरे मनमें कोई अन्यथा विचार या पश्चात्ताप नहीं होता ॥ १४ ॥

सज्जन्ति पुरुषे नार्यः पुंसां सोऽर्थश्च पुष्कलः ।
अन्यथारक्षतः शापोऽभविष्यत् ते मतिश्च मे ॥ १५ ॥

स्त्रियाँ पुरुषमें आसक्त होती हैं और पुरुषोंका भी इसमें पूर्णतः वैसा ही भाव होता है । यदि तुम्हारा भाव उसकी रक्षा करनेके विपरीत होता तो तुम्हें शाप अवश्य प्राप्त होता और मेरा विचार तुम्हें शाप देनेका अवश्य हो जाता ॥ १५ ॥

रक्षिता च त्वया पुत्र मम चापि निवेदिता ।
अहं ते प्रीतिमांस्तात स्वस्थः स्वर्गं गमिष्यसि ॥ १६ ॥

बेटा ! तुमने यथाशक्ति मेरी स्त्रीकी रक्षा की है और यह बात मुझे बतायी है, अतः मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । तात ! तुम स्वस्थ रहकर स्वर्गलोकमें जाओगे ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा विपुलं प्रीतो देवशर्मा महानृषिः ।
मुमोद स्वर्गमास्थाय सहभार्यः सशिष्यकः ॥ १७ ॥

विपुलसे ऐसा कहकर प्रसन्न हुए महर्षि देवशर्मा अपनी पत्नी और शिष्यके साथ स्वर्गमें जाकर वहाँका सुख भोगने लगे ॥ १७ ॥

इदमाख्यातवांश्चापि ममाख्यानं महामुनिः ।
मार्कण्डेयः पुरा राजन् गङ्गाकूले कथान्तरे ॥ १८ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें गङ्गाके तटपर कथा-वार्ताके बीचमें ही महामुनि मार्कण्डेयने मुझे यह आख्यान सुनाया था ॥ १८ ॥

तस्माद् ब्रवीमि पार्थ त्वां स्त्रियो रक्ष्याः सदैव च।
उभयं दृश्यते तासु सततं साध्वसाधु च ॥ १९ ॥

अतः कुन्तीनन्दन ! मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें स्त्रियोंकी सदा ही रक्षा करनी चाहिये। स्त्रियोंमें भली और बुरी दोनों बातें हमेशा देखी जाती हैं ॥ १९ ॥

स्त्रियः साध्व्यो महाभागाः सम्मता लोकमातरः।
धारयन्ति महीं राजन्निमां सवनकाननाम् ॥ २० ॥

राजन् ! यदि स्त्रियाँ साध्वी एवं पतिव्रता हों तो बड़ी सौभाग्यशालिनी होती हैं। संसारमें उनका आदर होता है और वे सम्पूर्ण जगत्‌की माता समझी जाती हैं। इतना ही नहीं, वे अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे वन और काननोंसहित इस सम्पूर्ण पृथ्वीको धारण करती हैं ॥ २० ॥

असाध्व्यश्चापि दुर्वृत्ताः कुलघ्नाः पापनिश्चयाः।
विज्ञेया लक्षणैर्दुष्टैः स्वगात्रसहजैर्नृप ॥ २१ ॥

किंतु दुराचारिणी असती स्त्रियाँ कुलका नाश करनेवाली होती हैं, उनके मनमें सदा पाप ही बसता है। नरेश्वर ! फिर ऐसी स्त्रियोंको उनके शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए बुरे लक्षणोंसे पहचाना जा सकता है ॥ २१ ॥

एवमेतासु रक्षा वै शक्या कर्तुं महात्मभिः।
अन्यथा राजशार्दूल न शक्या रक्षितुं स्त्रियः ॥ २२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! महामनस्वी पुरुषोंद्वारा ही ऐसी स्त्रियोंकी इस प्रकार रक्षा की जा सकती है; अन्यथा स्त्रियोंकी रक्षा असम्भव है ॥ २२ ॥

एता हि मनुजव्याघ्र तीक्ष्णास्तीक्ष्णपराक्रमाः।
नासामस्ति प्रियो नाम मैथुने सङ्गमेति यः ॥ २३ ॥

पुरुषसिंह ! ये स्त्रियाँ तीखे स्वभावकी तथा दुस्सह शक्तिवाली होती हैं। कोई भी पुरुष इनका प्रिय नहीं है। मैथुनकालमें जो इनका साथ देता है, वही उतने ही समयके लिये प्रिय होता है ॥ २३ ॥

एताः कृत्याश्च कार्याश्च कृताश्च भरतर्षभ।
न चैकस्मिन् रमन्त्येताः पुरुषे पाण्डुनन्दन ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डुनन्दन ! ये स्त्रियाँ कृत्याओंके समान मनुष्योंके प्राण लेनेवाली होती हैं। उन्हें जब पहले पुरुष स्वीकार कर लेता है, तब आगे चलकर वे दूसरेके स्वीकार करने योग्य भी बन जाती हैं अर्थात् व्यभिचारदोषके कारण एक पुरुषको छोड़कर दूसरेपर आसक्त हो जाती हैं। किसी एक ही पुरुषमें इनका सदा अनुराग नहीं बना रहता है ॥ २४ ॥

नासां स्नेहो नरैः कार्यस्तथैवेर्ष्या जनेश्वर।
खेदमास्थाय भुञ्जीत धर्ममास्थाय चैव ह ॥ २५ ॥
(अनृताविह पर्वादिदोषवर्जं नराधिप।)

नरेश्वर ! मनुष्योंको स्त्रियोंके प्रति न तो विशेष आसक्त होना चाहिये और न उनसे ईर्ष्या ही करनी चाहिये। वैराग्यपूर्वक धर्मका आश्रय लेकर पर्व आदि दोषका त्याग करते हुए ऋतुस्नानके पश्चात् उनका उपभोग करना चाहिये ॥ २५ ॥

निहन्यादन्यथाकुर्वन् नरः कौरवनन्दन।
सर्वथा राजशार्दूल मुक्तिः सर्वत्र पूज्यते ॥ २६ ॥

कौरवनन्दन ! इसके विपरीत बर्ताव करनेवाला मनुष्य विनाशको प्राप्त होता है। नृपश्रेष्ठ ! सर्वत्र सब प्रकारसे मोक्षका ही सम्मान किया जाता है ॥ २६ ॥

तेनैकेन तु रक्षा वै विपुलेन कृता स्त्रियाः।
नान्यः शक्तस्त्रिलोकेऽस्मिन् रक्षितुं नृप योषितम् ॥ २७ ॥

नरेश्वर ! एकमात्र विपुलने ही स्त्रीकी रक्षा की थी। इस त्रिलोकीमें दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो युवती स्त्रियोंकी इस प्रकार रक्षा कर सके ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विपुलोपाख्याने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विपुलका उपाख्यानविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २९ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

कन्या-विवाहके सम्बन्धमें पात्रविषयक विभिन्न विचार

युधिष्ठिर उवाच

यन्मूलं सर्वधर्माणां स्वजनस्य गृहस्य च।
पितृदेवातिथीनां च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो समस्त धर्मोंका, कुटुम्बीजनोंका, घरका तथा देवता, पितर और अतिथियोंका मूल है, उस कन्यादानके विषयमें मुझे कुछ उपदेश कीजिये ॥

अयं हि सर्वधर्माणां धर्मश्चिन्त्यतमो मतः।
कीदृशाय प्रदेया स्यात् कन्येति वसुधाधिप ॥ २ ॥

पृथ्वीनाथ ! सब धर्मोंसे बढ़कर यही चिन्तन करने योग्य धर्म माना गया है कि कैसे पात्रको कन्या देनी चाहिये ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शीलवृत्ते समाज्ञाय विद्यां योनिं च कर्म च ।
सद्भिरेवं प्रदातव्या कन्या गुणयुते वरे ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! सत्पुरुषोंको चाहिये कि वे पहले वरके शील-स्वभाव, सदाचार, विद्या, कुल, मर्यादा और कार्योंकी जाँच करें । फिर यदि वह सभी दृष्टियोंसे गुणवान् प्रतीत हो तो उसे कन्या प्रदान करें ॥ ३ ॥

ब्राह्मणानां सतामेष ब्राह्मो धर्मो युधिष्ठिर ।
आवाह्यमावहेदेवं यो दद्यादनुकूलतः ॥ ४ ॥
शिष्टानां क्षत्रियाणां च धर्म एष सनातनः ।

युधिष्ठिर ! इस प्रकार ब्याहने योग्य वरको बुलाकर उसके साथ कन्याका विवाह करना उत्तम ब्राह्मणोंका धर्म—ब्राह्म-विवाह है । जो धन आदिके द्वारा वरपक्षको अनुकूल करके कन्यादान किया जाता है, वह शिष्ट ब्राह्मण और क्षत्रियोंका सनातन धर्म कहा जाता है । (इसीको प्राजापत्य विवाह कहते हैं) ॥ ४½ ॥

आत्माभिप्रेतमुत्सृज्य कन्याभिप्रेत एव यः ॥ ५ ॥
अभिप्रेता च या यस्य तस्मै देया युधिष्ठिर ।
गान्धर्वमिति तं धर्मं प्राहुर्वेदविदो जनाः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! जब कन्याके माता-पिता अपने पसंद किये हुए वरको छोड़कर जिसे कन्या पसंद करती हो तथा जो कन्याको चाहता हो ऐसे वरके साथ उस कन्याका विवाह करते हैं, तब वेदवेत्ता पुरुष उस विवाहको गान्धर्व धर्म (गान्धर्व विवाह) कहते हैं ॥ ५-६ ॥

धनेन बहुधा क्रीत्वा सम्प्रलोभ्य च बान्धवान् ।
असुराणां नृपैतं वै धर्ममाहुर्मनीषिणः ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! कन्याके बन्धु-बान्धवोंको लोभमें डालकर उन्हें बहुत-सा धन देकर जो कन्याको खरीद लिया जाता है, इसे मनीषी पुरुष असुरोंका धर्म (आसुर विवाह) कहते हैं ॥७॥

हत्वा छित्त्वा च शीर्षाणि रुदतां रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य हरणं तात राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ८ ॥

तात ! इसी प्रकार कन्याके रोते हुए अभिभावकोंको मारकर, उनके मस्तक काटकर रोती हुई कन्याको उसके घरसे बलपूर्वक हर लाना राक्षसोंका काम (राक्षस विवाह) बताया जाता है ॥ ८ ॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ युधिष्ठिर ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कथंचन ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! इन पाँच (ब्राह्म, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर और राक्षस) विवाहोंमेंसे पूर्वकथित तीन विवाह धर्मानुकूल हैं और शेष दो पापमय हैं । आसुर और राक्षस विवाह किसी प्रकार भी नहीं करने चाहिये* ॥ ९ ॥

ब्राह्मः क्षात्रोऽथ गान्धर्व एते धर्म्या नरर्षभ ।
पृथग् वा यदि वा मिश्राः कर्तव्या नात्र संशयः ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ ! ब्राह्म, क्षात्र (प्राजापत्य) तथा गान्धर्व— ये तीन विवाह धर्मानुकूल बताये गये हैं । ये पृथक् हों या अन्य विवाहोंसे मिश्रित, करने ही योग्य हैं । इसमें संशय नहीं है ॥ १० ॥

तिस्रो भार्या ब्राह्मणस्य द्वे भार्ये क्षत्रियस्य तु ।
वैश्यः स्वजात्यां विन्देत तास्वपत्यं समं भवेत् ॥ ११ ॥

ब्राह्मणके लिये तीन भार्याएँ बतायी गयी हैं (ब्राह्मण-कन्या, क्षत्रियकन्या और वैश्य-कन्या) ! क्षत्रियके लिये दो भार्याएँ कही गयी हैं (क्षत्रिय-कन्या और वैश्य-कन्या) । वैश्य केवल अपनी ही जातिकी कन्याके साथ विवाह करे । इन स्त्रियोंसे जो संतानें उत्पन्न होती हैं, वे पिताके समान वर्णवाली होती हैं (माताओंके कुल या वर्णके कारण उनमें कोई तारतम्य नहीं होता) ॥ ११ ॥

ब्राह्मणी तु भवेज्ज्येष्ठा क्षत्रिया क्षत्रियस्य तु ।
रत्यर्थमपि शूद्रा स्यान्नेत्याहुरपरे जनाः ॥ १२ ॥

ब्राह्मणकी पत्नियोंमें ब्राह्मण-कन्या श्रेष्ठ मानी जाती है, क्षत्रियके लिये क्षत्रिय-कन्या श्रेष्ठ है (वैश्यकी तो एक ही पत्नी होती है, अतः वह श्रेष्ठ है ही) । कुछ लोगोंका मत है कि रतिके लिये शूद्र-जातिकी कन्यासे भी विवाह किया जा सकता है परंतु और लोग ऐसा नहीं मानते (वे शूद्र-कन्याको त्रैवर्णिकोंके लिये अग्राह्य बतलाते हैं) ॥ १२ ॥

अपत्यजन्म शूद्रायां न प्रशंसन्ति साधवः ।
शूद्रायां जनयन् विप्रः प्रायश्चित्ती विधीयते ॥ १३ ॥

श्रेष्ठ पुरुष ब्राह्मणका शूद्र-कन्याके गर्भसे संतान उत्पन्न करना अच्छा नहीं मानते । शूद्राके गर्भसे संतान उत्पन्न करनेवाला ब्राह्मण प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥ १३ ॥

---

*स्मृतियोंमें निम्नलिखित आठ विवाह बतलाये गये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच । किंतु यहाँ १ ब्राह्म, २ प्राजापत्य, ३ गान्धर्व, ४ आसुर और ५ राक्षस—इन्हीं पाँच विवाहोंका उल्लेख किया गया है; अतः यहाँ जो ब्राह्म विवाह है, उसीमें स्मृतिकथित दैव और आर्ष विवाहोंका भी अन्तर्भाव समझना चाहिये । इसी प्रकार यहाँ बताये हुए राक्षस विवाहमें उपर्युक्त पैशाच विवाहका समावेश कर लेना चाहिये । प्राजापत्यको ही 'क्षात्र' विवाह भी कहा गया है ।

त्रिंशद्वर्षो दशवर्षां भार्यां विन्देत नग्निकाम्।
एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात्॥ १४॥

तीस वर्षका पुरुष दस वर्षकी कन्याको, जो रजस्वला न हुई हो, पत्नीरूपमें प्राप्त करे। अथवा इक्कीस वर्षका पुरुष सात वर्षकी कुमारीके साथ विवाह करे॥ १४॥

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता पिता वा भरतर्षभ।
नोपयच्छेत तां जातु पुत्रिकाधर्मिणी हि सा॥ १५॥

भरतश्रेष्ठ! जिस कन्याके पिता अथवा भाई न हों, उसके साथ कभी विवाह नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह पुत्रिका-धर्मवाली मानी जाती है॥ १५॥

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते स्वयं भर्तारमर्जयेत्॥ १६॥

(यदि पिता, भ्राता आदि अभिभावक ऋतुमती होनेके पहले कन्याका विवाह न कर दें तो) ऋतुमती होनेके पश्चात् तीन वर्षतक कन्या अपने विवाहकी बाट देखे। चौथा वर्ष लगनेपर वह स्वयं ही किसीको अपना पति बना ले॥१६॥

प्रजा न हीयते तस्या रतिश्च भरतर्षभ।
अतोऽन्यथा वर्तमाना भवेद् वाच्या प्रजापतेः॥१७॥

भरतश्रेष्ठ! ऐसा करनेपर उस कन्याका उस पुरुषके साथ किया हुआ सम्बन्ध तथा उससे होनेवाली संतान निम्न श्रेणीकी नहीं समझी जाती। इसके विपरीत बर्ताव करनेवाली स्त्री प्रजापतिकी दृष्टिमें निन्दनीय होती है॥ १७॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
इत्येतामनुगच्छेत तं धर्मं मनुरब्रवीत्॥ १८॥

जो कन्या माताकी सपिण्ड और पिताके गोत्रकी न हो, उसीका अनुगमन करे। इसे मनुजीने धर्मानुकूल बताया है*॥ १८॥

युधिष्ठिर उवाच

शुल्कमन्येन दत्तं स्याद् ददानीत्याह चापरः।
बलादन्यः प्रभाषेत धनमन्यः प्रदर्शयेत्॥ १९॥

पाणिग्रहीता चान्यः स्यात् कस्य भार्या पितामह।
तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान्॥ २०॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! यदि एक मनुष्यने विवाह पक्का करके कन्याका मूल्य दे दिया हो, दूसरेने मूल्य देनेका वादा करके विवाह पक्का किया हो, तीसरा उसी कन्याको बलपूर्वक ले जानेकी बात कर रहा हो, चौथा उसके भाई-बन्धुओंको विशेष धनका लोभ दिखाकर ब्याह करनेको तैयार हो और पाँचवाँ उसका पाणिग्रहण कर चुका हो तो धर्मतः उसकी कन्या किसकी पत्नी मानी जायगी? हमलोग इस विषयमें यथार्थ तत्त्वको जानना चाहते हैं। आप हमारे लिये नेत्र (पथ-प्रदर्शक) हों॥ १९-२०॥

भीष्म उवाच

यत् किंचित् कर्म मानुष्यं संस्थानाय प्रदृश्यते।
मन्त्रवन्मन्त्रितं तस्य मृषावादस्तु पातकः॥ २१॥

भीष्मजीने कहा—भारत! मनुष्योंके हितसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कोई भी कर्म है, वह व्यवस्थाके लिये देखा जाता है। समस्त विचारवान् पुरुष एकत्र होकर जब यह विचार कर लें कि 'अमुक कन्या अमुक पुरुषको देनी चाहिये' तो यह व्यवस्था ही विवाहका निश्चय करनेवाली होती है। जो झूठ बोलकर इस व्यवस्थाको उलट देता है, वह पापका भागी होता है॥ २१॥

भार्यापत्यृत्विगाचार्याः शिष्योपाध्याय एव च।
मृषोक्ते दण्डमर्हन्ति नेत्याहुरपरे जनाः॥ २२॥

भार्या, पति, ऋत्विज, आचार्य, शिष्य और उपाध्याय भी यदि उपर्युक्त व्यवस्थाके विरुद्ध झूठ बोलें तो दण्डके भागी होते हैं। परंतु दूसरे लोग उन्हें दण्डके भागी नहीं मानते हैं॥ २२॥

न ह्यकामेन संवासं मनुरेवं प्रशंसति।
अयशस्यमधर्म्यं च यन्मृषा धर्मकोपनम्॥ २३॥

अकाम पुरुषके साथ सकामा कन्याका सहवास हो, इसे मनु अच्छा नहीं मानते हैं। अतः सर्वसम्मतिसे निश्चित किये हुए विवाहको मिथ्या करनेका प्रयत्न अयश और अधर्मका कारण होता है। वह धर्मको नष्ट करनेवाला माना गया है॥ २३॥

नैकान्तो दोष एकस्मिंस्तदा केनोपपद्यते।
धर्मतो यां प्रयच्छन्ति यां च क्रीणन्ति भारत॥ २४॥

भारत! कन्याके भाई-बन्धु जिस कन्याको धर्मपूर्वक पाणिग्रहणकी विधिसे दान कर देते हैं अथवा जिसे मूल्य लेकर दे डालते हैं, उस कन्याको धर्मपूर्वक विवाह करनेवाला

---

* सापिण्ड्य-निवृत्तिके सम्बन्धमें स्मृतिका वचन है—वध्वा वरस्य वा तातः कूटस्थाद् यदि सप्तमः। पञ्चमी चेत्तयोर्माता तत्सापिण्ड्यं निवर्तते॥ अर्थात् 'यदि वर अथवा कन्याका पिता मूल पुरुषसे सातवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुआ है तथा माता पाँचवी पीढ़ीमें पैदा हुई है तो वर और कन्याके लिये सापिण्ड्यकी निवृत्ति हो जाती है।' पिताकी ओरका सापिण्ड्य सात पीढ़ीतक चलता है और माताका सापिण्ड्य पाँच पीढ़ीतक। सात पीढ़ीमें एक तो पिण्ड देनेवाला होता है, तीन पिण्डभागी होते हैं और तीन लेपभागी होते हैं।

अथवा मूल्य देकर खरीदनेवाला यदि अपने घर ले जाय तो इसमें किसी प्रकारका दोष नहीं होता। भला उस दशामें दोषकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?॥ २४॥

बन्धुभिः समनुज्ञाते मन्त्रहोमौ प्रयोजयेत्।
तथा सिद्ध्यन्ति ते मन्त्रा नादत्तायाः कथंचन॥२५॥

कन्याके कुटुम्बीजनोंकी अनुमति मिलनेपर वैवाहिक मन्त्र और होमका प्रयोग करना चाहिये, तभी वे मन्त्र सिद्ध (सफल) होते हैं अर्थात् वह मन्त्रोंद्वारा विवाह किया हुआ माना जाता है। जिस कन्याका माता-पिताके द्वारा दान नहीं किया गया, उसके लिये किये गये मन्त्र-प्रयोग किसी तरह सिद्ध नहीं होते अर्थात् वह विवाह मन्त्रोंद्वारा किया हुआ नहीं माना जाता॥ २५॥

यस्त्वत्र मन्त्रसमयो भार्यापत्योर्मिथः कृतः।
तमेवाहुर्गरीयांसं यश्चासौ ज्ञातिभिः कृतः॥ २६॥

पति और पत्नीमें भी परस्पर मन्त्रोच्चारणपूर्वक जो प्रतिज्ञा होती है, वही श्रेष्ठ मानी जाती है और यदि उसके लिये बन्धु-बान्धवोंका समर्थन प्राप्त हो तब तो और उत्तम बात है॥२६॥

देवदत्तां पतिर्भार्यां वेत्ति धर्मस्य शासनात्।
स दैवीं मानुषीं वाचमनृतां पर्युदस्यति॥ २७॥

धर्मशास्त्रकी आज्ञाके अनुसार न्यायतः प्राप्त हुई पत्नीको पति अपने प्रारब्धकर्मके अनुसार मिली हुई भार्या समझता है। इस प्रकार वह दैवयोगसे प्राप्त हुई पत्नीको ग्रहण करता है। तथा मनुष्योंकी झूठी बातको--उस विवाहको अयोग्य बतानेवाली वार्ताको अग्राह्य कर देता है॥ २७॥

युधिष्ठिर उवाच

कन्यायां प्राप्तशुल्कायां ज्यायांश्चेदाव्रजेद् वरः।
धर्मकामार्थसम्पन्नो वाच्यमत्रानृतं न वा॥ २८॥

युधिष्ठिरने पूछा--पितामह! यदि एक वरसे कन्याका विवाह पक्का करके उसका मूल्य ले लिया गया हो और पीछे उससे भी श्रेष्ठ धर्म, अर्थ और कामसे सम्पन्न अत्यन्त योग्य वर मिल जाय तो पहले जिससे मूल्य लिया गया है, उससे झूठ बोलना—उसको कन्या देनेसे इनकार कर देना चाहिये या नहीं ?॥ २८॥

तस्मिन्नुभयतोदोषे कुर्वञ्छ्रेयः समाचरेत्।
अयं नः सर्वधर्माणां धर्मश्चिन्त्यतमो मतः॥ २९॥

इसमें दोनों दशाओंमें दोष प्राप्त होता है—यदि बन्धुजनोंकी सम्मतिसे मूल्य लेकर निश्चित किये हुए विवाहको उलट दिया जाय तो वचन-भङ्गका दोष लगता है और श्रेष्ठ वरका उल्लङ्घन करनेसे कन्याके हितको हानि पहुँचानेका दोष प्राप्त होता है। ऐसी दशामें कन्यादाता क्या करे? जिससे वह कल्याणका भागी हो? हम तो सम्पूर्ण धर्मोंमें इस कन्यादानरूप धर्मको ही अधिक चिन्तन अर्थात् विचारके योग्य मानते हैं॥ २९॥

तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान्।
तदेतत् सर्वमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यताम्॥ ३०॥

हम इस विषयमें यथार्थ तत्त्वको जानना चाहते हैं। आप हमारे पथप्रदर्शक होइये। इन सब बातोंको स्पष्टरूपसे बताइये। मैं आपकी बातें सुननेसे तृप्त नहीं हो रहा हूँ। अतः आप इस विषयका प्रतिपादन कीजिये॥ ३०॥

भीष्म उवाच

नैव निष्ठाकरं शुल्कं ज्ञात्वाऽऽसीत् तेन नाहृतम्।
न हि शुल्कपराः सन्तः कन्यां ददति कर्हिचित्॥ ३१॥

भीष्मजीने कहा--राजन्! मूल्य दे देनेसे ही विवाहका अन्तिम निश्चय नहीं हो जाता (उसमें परिवर्तनकी सम्भावना रहती ही है)। यह समझकर ही मूल्य देनेवाला मूल्य देता है और फिर उसे वापस नहीं माँगता। सज्जन पुरुष कभी-कभी मूल्य लेकर भी किसी विशेष कारणवश कन्यादान नहीं करते हैं॥ ३१॥

अन्यैर्गुणैरुपेतं तु शुल्कं याचन्ति बान्धवाः।
अलंकृत्वा वहस्वेति यो दद्यादनुकूलतः॥ ३२॥

कन्याके भाई-बन्धु किसीसे मूल्य तभी माँगते हैं, जब वह विपरीत गुण (अधिक अवस्था आदि) से युक्त होता है। यदि वरको बुलाकर कहा जाय कि 'तुम मेरी कन्याको आभूषण पहनाकर इसके साथ विवाह कर लो' और ऐसा कहनेपर वह उसके लिये आभूषण देकर विवाह करे तो यह धर्मानुकूल ही है॥ ३२॥

यच्च तां च ददत्येवं न शुल्कं विक्रयो न सः।
प्रतिगृह्य भवेद् देयमेष धर्मः सनातनः॥ ३३॥

क्योंकि इस प्रकार जो कन्याके लिये आभूषण लेकर कन्यादान किया जाता है, वह न तो मूल्य है और न विक्रय ही; इसलिये कन्याके लिये कोई वस्तु स्वीकार करके कन्याका दान करना सनातन धर्म है॥ ३३॥

दास्यामि भवते कन्यामिति पूर्वं न भाषितम्।
ये चाहुर्ये च नाहुर्ये ये चावश्यं वदन्त्युत॥ ३४॥

जो लोग भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंसे कहते हैं कि 'मैं आपको अपनी कन्या दूँगा', जो कहते हैं 'नहीं दूँगा' और जो कहते हैं 'अवश्य दूँगा' उनकी ये सभी बातें कन्या देनेके पहले नहीं कही हुईके ही तुल्य हैं॥ ३४॥

तस्मादा ग्रहणात् पाणेर्याचयन्ति परस्परम्।
कन्यावरः पुरा दत्तो मरुद्भिरिति नः श्रुतम् ॥ ३५ ॥

जबतक कन्याका पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न न हो जाय तबतक कन्याको माँगना चाहिये। ऐसा कन्याओंके लिये मरुद्गणोंने पहले वर दिया है अर्थात् अधिकार दिया है—यह हमारे सुननेमें आया है। इसलिये पाणिग्रहण होनेके पहलेतक वर और कन्या आपसमें एक दूसरेके लिये प्रार्थना कर सकते हैं॥ ३५ ॥

नानिष्टाय प्रदातव्या कन्या इत्यृषिचोदितम्।
तन्मूलं काममूलस्य प्रजनस्येति मे मतिः ॥ ३६ ॥

महर्षियोंका मत है कि अयोग्य वरको कन्या नहीं देनी चाहिये; क्योंकि सुयोग्य पुरुषको कन्यादान करना ही कामसम्बन्धी सुख और सुयोग्य संतानकी उत्पत्तिका कारण है। ऐसा मेरा विचार है॥ ३६ ॥

समीक्ष्य च बहून् दोषान् संवासाद् विद्धि पाणयोः।
यथा निष्ठाकरं शुल्कं न जात्वासीत् तथा शृणु ॥ ३७ ॥

कन्याके क्रय-विक्रयमें बहुत-से दोष हैं। इस बातको तुम अधिक कालतक सोचने-विचारनेके बाद स्वयं समझ लोगे। केवल मूल्य दे देनेसे विवाहका अन्तिम निश्चय नहीं हो जाता है। पहले भी कभी ऐसा नहीं हुआ था, इस विषयमें तुम सुनो॥ ३७ ॥

अहं विचित्रवीर्यस्य द्वे कन्ये समुदावहम्।
जित्वा च मागधान् सर्वान् काशीनथ च कोसलान्।३८।

मैं विचित्रवीर्यके विवाहके लिये मगध, काशी तथा कोशलदेशके समस्त वीरोंको पराजित करके काशिराजकी दो* कन्याओंको हर लाया था॥ ३८ ॥

गृहीतपाणिरेकाऽऽसीत् प्राप्तशुल्का पराभवत्।
कन्या गृहीता तत्रैव विसर्ज्या इति मे पिता ॥ ३९ ॥
अब्रवीदितरां कन्यामावहेति स कौरवः।
अप्यन्याननुपप्रच्छ शङ्कमानः पितुर्वचः ॥ ४० ॥

उनमेंसे एक कन्या अम्बा अपना हाथ शाल्वराजके हाथमें दे चुकी थी अर्थात् मन-ही-मन उनको अपना पति मान चुकी थी। दूसरी (दो कन्याओं) का काशिराजको शुल्क प्राप्त हो गया था। इसलिये मेरे पिता (चाचा) कुरुवंशी बाह्लीकने वहीं कहा कि 'जो कन्या पाणिगृहीत हो चुकी है, उसका त्याग कर दो और दूसरी कन्याका (जिनके लिये शुल्कमात्र लिया गया है) विवाह करो।' मुझे चाचाजीके इस कथनमें संदेह था, इसलिये मैंने दूसरोंसे भी इसके विषयमें पूछा॥ ३९-४० ॥

अतीव ह्यस्य धर्मेच्छा पितुर्मेऽभ्यधिकाभवत्।
ततोऽहमब्रुवं राजन्नाचारेप्सुरिदं वचः।
आचारं तत्त्वतो वेत्तुमिच्छामि च पुनः पुनः ॥ ४१ ॥

परंतु इस विषयमें मेरे चाचाजीकी बहुत प्रबल इच्छा थी कि धर्मका पालन हो (अतः वे पाणिगृहीता कन्याके त्यागपर अधिक जोर दे रहे थे)। राजन्! तदनन्तर मैं आचार जाननेकी इच्छासे बोला—'पिताजी! मैं इस विषयमें यह ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ कि परम्परागत आचार क्या है?'॥ ४१ ॥

ततो मयैवमुक्ते तु वाक्ये धर्मभृतां वरः।
पिता मम महाराज बाह्लीको वाक्यमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

महाराज! मेरे ऐसा कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ मेरे चाचा बाह्लीक इस प्रकार बोले—॥ ४२ ॥

यदि वः शुल्कतो निष्ठा न पाणिग्रहणात् तथा।
लाभान्तरमुपासीत प्राप्तशुल्क इति स्मृतिः ॥ ४३ ॥

'यदि तुम्हारे मतमें मूल्य देनेमात्रसे ही विवाहका पूर्ण निश्चय हो जाता है, पाणिग्रहणसे नहीं, तब तो स्मृतिका यह कथन ही व्यर्थ होगा कि कन्याका पिता एक वरसे शुल्क ले लेनेपर भी दूसरे किसी गुणवान् वरका आश्रय ले सकता है। अर्थात् पहलेको छोड़कर दूसरे गुणवान् वरसे अपनी कन्याका विवाह कर सकता है॥ ४३ ॥

न हि धर्मविदः प्राहुः प्रमाणं वाक्यतः स्मृतम्।
येषां वै शुल्कतो निष्ठा न पाणिग्रहणात् तथा ॥ ४४ ॥

'जिनका यह मत है कि शुल्कसे ही विवाहका निश्चय होता है, पाणिग्रहणसे नहीं, उनके इस कथनको धर्मज्ञ पुरुष प्रमाण नहीं मानते हैं॥ ४४ ॥

प्रसिद्धं भाषितं दाने नैषां प्रत्यायकं पुनः।
ये मन्यन्ते क्रयं शुल्कं न ते धर्मविदो नराः ॥ ४५ ॥

'कन्यादानके विषयमें तो लोगोंका कथन भी प्रसिद्ध है अर्थात् सब लोग यही कहते हैं कि कन्यादान हुआ है। अतः जो शुल्कसे ही विवाहका निश्चय मानते हैं, उनके कथनकी प्रतीति करानेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। जो क्रय और शुल्कको मान्यता देते हैं, वे मनुष्य धर्मज्ञ नहीं हैं॥४५॥

न चैतेभ्यः प्रदातव्या न वोढव्या तथाविधा।
न ह्येव भार्या क्रेतव्या न विक्रय्या कथंचन ॥ ४६ ॥

---

* भीष्मजी काशिराजकी तीन कन्याओंको हरकर लाये थे, उनमेंसे दोको एक श्रेणीमें रखकर एकवचनका प्रयोग किया गया है, यह मानना चाहिये; तभी आदिपर्व अध्याय १०२ के वर्णनकी संगति ठीक लग सकती है।

'ऐसे लोगोंको कन्या नहीं देनी चाहिये और जो बेची जा रही हो, ऐसी कन्याके साथ विवाह नहीं करना चाहिये; क्योंकि भार्या किसी प्रकार भी खरीदने या विक्रय करनेकी वस्तु नहीं है ॥ ४६ ॥

ये च क्रीणन्ति दासीं च विक्रीणन्ति तथैव च।
भवेत् तेषां तथा निष्ठा लुब्धानां पापचेतसाम् ॥ ४७ ॥

'जो दासियोंको खरीदते और बेचते हैं, वे बड़े लोभी और पापात्मा हैं। ऐसे ही लोगोंमें पत्नीको भी खरीदने-बेचनेकी निष्ठा होती है ॥ ४७ ॥

अस्मिन्नर्थे सत्यवन्तं पर्यपृच्छन्त वै जनाः।
कन्यायाः प्राप्तशुल्कायाः शुल्कदः प्रशमं गतः ॥ ४८ ॥
पाणिग्रहीता चान्यः स्यादत्र नो धर्मसंशयः।
तन्नश्छिन्धि महाप्राज्ञ त्वं हि वै प्राज्ञसम्मतः ॥ ४९ ॥

'इस विषयमें पहलेके लोगोंने सत्यवान्से पूछा था कि 'महाप्राज्ञ ! यदि कन्याका शुल्क देनेके पश्चात् शुल्क देनेवालेकी मृत्यु हो जाय तो उसका पाणिग्रहण दूसरा कोई कर सकता है या नहीं ? इसमें हमें धर्मविषयक संदेह हो गया है। आप इसका निवारण कीजिये; क्योंकि आप ज्ञानी पुरुषोंद्वारा सम्मानित हैं ॥ ४८-४९ ॥

तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान्।
तानेवं ब्रुवतः सर्वान् सत्यवान् वाक्यमब्रवीत् ॥ ५० ॥

'हमलोग इस विषयमें यथार्थ बात जानना चाहते हैं। आप हमारे लिये पथप्रदर्शक होइये।' उन लोगोंके इस प्रकार कहनेपर सत्यवान्ने कहा— ॥ ५० ॥

यत्रेष्टं तत्र देया स्यान्नात्र कार्या विचारणा।
कुर्वते जीवतोऽप्येवं मृते नैवास्ति संशयः ॥ ५१ ॥

'जहाँ उत्तम पात्र मिलता हो, वहीं कन्या देनी चाहिये। इसके विपरीत कोई विचार मनमें नहीं लाना चाहिये। मूल्य देनेवाला यदि जीवित हो तो भी सुयोग्य वरके मिलनेपर सज्जन पुरुष उसीके साथ कन्याका विवाह करते हैं। फिर उसके मर जानेपर अन्यत्र करें—इसमें तो संदेह ही नहीं है ॥ ५१ ॥

देवरं प्रविशेत् कन्या तप्येद् वापि तपः पुनः।
तमेवानुगता भूत्वा पाणिग्राहस्य काम्यया ॥ ५२ ॥

'शुल्क देनेवालेकी मृत्यु हो जानेपर उसके छोटे भाईको वह कन्या पतिरूपमें ग्रहण करे अथवा जन्मान्तरमें उसी पतिको पानेकी इच्छासे उसीका अनुसरण (चिन्तन) करती हुई आजीवन कुमारी रहकर तपस्या करे ॥ ५२ ॥

लिखन्त्येव तु केषांचिदपरेषां शनैरपि।
इति ये संवदन्त्यत्र त एतं निश्चयं विदुः ॥ ५३ ॥
तत्पाणिग्रहणात् पूर्वमन्तरं यत्र वर्तते।
सर्वमङ्गलमन्त्रं वै मृषावादस्तु पातकः ॥ ५४ ॥

'किन्हींके मतमें अक्षतयोनि कन्याको स्वीकार करनेका अधिकार है। दूसरोंके मतमें यह मन्दप्रवृत्ति-अवैध कार्य है। इस प्रकार जो विवाद करते हैं, वे अन्तमें इसी निश्चयपर पहुँचते हैं कि कन्याका पाणिग्रहण होनेसे पहलेका वैवाहिक मङ्गलाचार और मन्त्रप्रयोग हो जानेपर भी जहाँ अन्तर या व्यवधान पड़ जाय अर्थात् अयोग्य वरको छोड़कर किसी दूसरे योग्य वरके साथ कन्या ब्याह दी जाय तो दाताको केवल मिथ्याभाषणका पाप लगता है (पाणिग्रहणसे पूर्व कन्या विवाहित नहीं मानी जाती है।) ॥ ५३-५४ ॥

पाणिग्रहणमन्त्राणां निष्ठा स्यात् सप्तमे पदे।
पाणिग्राहस्य भार्या स्याद् यस्य चाद्भिः प्रदीयते।
इति देयं वदन्त्यत्र त एतं निश्चयं विदुः ॥ ५५ ॥

'सप्तपदीके सातवें पदमें पाणिग्रहणके मन्त्रोंकी सफलता होती है (और तभी पति-पत्नीभावका निश्चय होता है)। जिस पुरुषको जलसे संकल्प करके कन्याका दान दिया जाता है, वही उसका पाणिग्रहीता पति होता है और उसीकी वह पत्नी मानी जाती है। विद्वान् पुरुष इसी प्रकार कन्यादानकी विधि बताते हैं। वे इसी निश्चयपर पहुँचे हुए हैं ॥ ५५ ॥

अनुकूलामनुवंशां भ्रात्रा दत्तामुपाग्निकाम्।
परिक्रम्य यथान्यायं भार्यां विन्देद् द्विजोत्तमः ॥ ५६ ॥

'जो अनुकूल हो, अपने वंशके अनुरूप हो, अपने पिता-माता या भाईके द्वारा दी गयी हो और प्रज्वलित अग्निके समीप बैठी हो, ऐसी पत्नीको श्रेष्ठ द्विज अग्निकी परिक्रमा करके शास्त्रविधिके अनुसार ग्रहण करे' ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मकथने चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मका वर्णनविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

कन्याके विवाहका तथा कन्या और दौहित्र आदिके उत्तराधिकारका विचार

युधिष्ठिर उवाच

कन्यायाः प्राप्तशुल्कायाः पतिश्चेन्नास्ति कश्चन।
तत्र का प्रतिपत्तिः स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जिस कन्याका मूल्य

ले लिया गया हो, उसका ब्याह करनेके लिये यदि कोई उपस्थित न हो, अर्थात् मूल्य देनेवाला परदेश चला गया हो और उसके भयसे दूसरा पुरुष भी उस कन्यासे विवाह करनेको तैयार न हो तो उसके पिताको क्या करना चाहिये? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

यापुत्रकस्य ऋद्धस्य प्रतिपाल्या तदा भवेत्।
अथ चेन्नाहरेच्छुल्कं क्रीता शुल्कप्रदस्य सा ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! यदि संतानहीन धनीसे कन्याका मूल्य लिया गया है तो पिताका कर्तव्य है कि वह उसके लौटनेतक कन्याकी हर तरहसे रक्षा करे। खरीदी हुई कन्याका मूल्य जबतक लौटा नहीं दिया जाता, तबतक वह कन्या मूल्य देनेवालेकी ही मानी जाती है ॥ २ ॥

तस्यार्थेऽपत्यमीहेत येन न्यायेन शक्नुयात्।
न तस्मान्मन्त्रवत्कार्यं कश्चित् कुर्वीत किंचन॥ ३ ॥

जिस न्यायोचित उपायसे सम्भव हो, उसीके द्वारा वह कन्या अपने मूल्यदाता पतिके लिये ही संतान उत्पन्न करनेकी इच्छा करे। अतः दूसरा कोई पुरुष वैदिक मन्त्रयुक्त विधिसे उसका पाणिग्रहण या और कोई कार्य नहीं कर सकता ॥

स्वयंवृतेन साऽऽज्ञप्ता पित्रा वै प्रत्यपद्यत।
तत् तस्यान्ये प्रशंसन्ति धर्मज्ञा नेतरे जनाः ॥ ४ ॥

सावित्रीने पिताकी आज्ञा लेकर स्वयं चुने हुए पतिके साथ सम्बन्ध स्थापित किया था। उसके इस कार्यकी दूसरे धर्मज्ञ पुरुष प्रशंसा करते हैं; परंतु कुछ लोग नहीं भी करते हैं ॥ ४ ॥

एतत् तु नापरे चक्रुरपरे जातु साधवः।
साधूनां पुनराचारो गरीयान् धर्मलक्षणः ॥ ५ ॥

कुछ लोगोंका कहना है कि दूसरे सत्पुरुषोंने ऐसा नहीं किया है और कुछ कहते हैं कि अन्य सत्पुरुषोंने भी कभी-कभी ऐसा किया है। अतः श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार ही धर्मका सर्वश्रेष्ठ लक्षण है ॥ ५ ॥

अस्मिन्नेव प्रकरणे सुक्रतुर्वाक्यमब्रवीत्।
नप्ता विदेहराजस्य जनकस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

इसी प्रसंगमें विदेहराज महात्मा जनकके नाती सुक्रतुने ऐसा कहा है ॥ ६ ॥

असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम्।
अत्र प्रश्नः संशयो वा सतामेवमुपालभेत् ॥ ७ ॥

दुराचारियोंके मार्गका शास्त्रोंद्वारा कैसे अनुमोदन किया जा सकता है? इस विषयमें सत्पुरुषोंके समक्ष प्रश्न, संशय अथवा उपालम्भ कैसे उपस्थित किया जा सकता है? ॥७॥

असदेव हि धर्मस्य प्रदानं धर्म आसुरः।
नानुशुश्रुम जात्वेतामिमां पूर्वेषु कर्मसु ॥ ८ ॥

स्त्रियाँ सदा पिता, पति या पुत्रोंके संरक्षणमें ही रहती हैं, स्वतन्त्र नहीं होतीं। यह पुरातन धर्म है। इस धर्मका खण्डन करना असत् कर्म या आसुर धर्म है। पूर्वकालके बड़े-बूढ़ोंमें विवाहके अवसरोंपर कभी इस आसुरी पद्धतिका अपनाया जाना हमने नहीं सुना है ॥ ८ ॥

भार्यापत्योर्हि सम्बन्धः स्त्रीपुंसोः स्वल्प एव तु।
रतिः साधारणो धर्म इति चाह स पार्थिवः ॥ ९ ॥

पति और पत्नीका अथवा स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ एवं सूक्ष्म है। रति उनका साधारण धर्म है। यह बात भी राजा सुक्रतुने कही थी ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अथ केन प्रमाणेन पुंसामादीयते धनम्।
पुत्रवद्धि पितुस्तस्य कन्या भवितुमर्हति ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! पिताके लिये पुत्री भी तो पुत्रके ही समान होती है; फिर उसके रहते हुए किस प्रमाणसे केवल पुरुष ही धनके अधिकारी होते हैं? ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ ११ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा! पुत्र अपने आत्माके समान है और कन्या भी पुत्रके ही तुल्य है, अतः आत्मस्वरूप पुत्रके रहते हुए दूसरा कोई उसका धन कैसे ले सकता है? ॥११॥

मातुश्च यौतकं यत् स्यात् कुमारीभाग एव सः।
दौहित्र एव तद् रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ॥ १२ ॥

माताको दहेजमें जो धन मिलता है, उसपर कन्याका ही अधिकार है; अतः जिसके कोई पुत्र नहीं है, उसके धनको पानेका अधिकारी उसका दौहित्र (नाती) ही है। वही उस धनको ले सकता है ॥ १२ ॥

ददाति हि स पिण्डान् वै पितुर्मातामहस्य च।
पुत्रदौहित्रयोरेव विशेषो नास्ति धर्मतः ॥ १३ ॥

दौहित्र अपने पिता और नानाको भी पिण्ड देता है। धर्मकी दृष्टिसे पुत्र और दौहित्रमें कोई अन्तर नहीं है ॥१३॥

अन्यत्र जामया सार्धं प्रजानां पुत्र ईहते।
दुहितान्यत्र जातेन पुत्रेणापि विशिष्यते ॥ १४ ॥

अन्यत्र अर्थात् यदि पहले कन्या उत्पन्न हुई और वह पुत्ररूपमें स्वीकार कर ली गयी तथा उसके बाद पुत्र भी पैदा हुआ तो वह पुत्र उस कन्याके साथ ही पिताके धनका अधिकारी होता है। यदि दूसरेका पुत्र गोद लिया गया हो तो उस दत्तक पुत्रकी अपेक्षा अपनी सगी बेटी ही श्रेष्ठ मानी

जाती है (अतः वह पैतृक धनके अधिक भागकी अधिकारिणी है) ॥ १४ ॥

दौहित्रकेण धर्मेण नात्र पश्यामि कारणम्।
विक्रीतासु हि ये पुत्रा भवन्ति पितुरेव ते ॥ १५ ॥

जो कन्याएँ मूल्य लेकर बेच दी गयी हों, उनसे उत्पन्न होनेवाले पुत्र केवल अपने पिताके ही उत्तराधिकारी होते हैं। उन्हें दौहित्रक धर्मके अनुसार नानाके धनका अधिकारी बनानेके लिये कोई युक्तिसंगत कारण मैं नहीं देखता ॥१५॥

असूयवस्त्वधर्मिष्ठाः परस्वादायिनः शठाः।
आसुरादधिसम्भूता धर्माद् विषमवृत्तयः ॥ १६ ॥

आसुर विवाहसे जिन पुत्रोंकी उत्पत्ति होती है, वे दूसरोंके दोष देखनेवाले, पापाचारी, पराया धन हड़पनेवाले, शठ तथा धर्मके विपरीत बर्ताव करनेवाले होते हैं ॥ १६ ॥

अत्र गाथा यमोद्गीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
धर्मज्ञा धर्मशास्त्रेषु निबद्धा धर्मसेतुषु ॥ १७ ॥

इस विषयमें प्राचीन बातोंको जाननेवाले तथा धर्मशास्त्रों और धर्ममर्यादाओंमें स्थित रहनेवाले धर्मज्ञ पुरुष यमकी गायी हुई गाथाका इस प्रकार वर्णन करते हैं—॥ १७ ॥

यो मनुष्यः स्वकं पुत्रं विक्रीय धनमिच्छति।
कन्यां वा जीवितार्थाय यः शुल्केन प्रयच्छति ॥ १८ ॥
सप्तावरे महाघोरे निरये कालसाह्वये।
स्वेदं मूत्रं पुरीषं च तस्मिन् मूढः समश्नुते ॥ १९ ॥

'जो मनुष्य अपने पुत्रको बेचकर धन पाना चाहता है अथवा जीविकाके लिये मूल्य लेकर कन्याको बेच देता है, वह मूढ़ कुम्भीपाक आदि सात नरकोंसे भी निकृष्ट कालसूत्र नामक नरकमें पड़कर अपने ही मल-मूत्र और पसीनेका भक्षण करता है' ॥ १८-१९ ॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।
अल्पो वा बहु वा राजन् विक्रयस्तावदेव सः ॥ २० ॥

राजन्! कुछ लोग आर्ष विवाहमें एक गाय और एक बैल—इन दो पशुओंको मूल्यके रूपमें लेनेका विधान बताते हैं, परंतु यह भी मिथ्या ही है; क्योंकि मूल्य थोड़ा लिया जाय या बहुत, उतनेहीसे वह कन्याका विक्रय हो जाता है ॥

यद्यप्याचरितः कैश्चिन्नैष धर्मः सनातनः।
अन्येषामपि दृश्यन्ते लोकतः सम्प्रवृत्तयः ॥ २१ ॥

यद्यपि कुछ पुरुषोंने ऐसा आचरण किया है; परंतु यह सनातन धर्म नहीं है। दूसरे लोगोंमें भी लोकाचारवश बहुत-सी प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं ॥ २१ ॥

वश्यां कुमारीं बलतो ये तां समुपभुञ्जते।
एते पापस्य कर्तारस्तमस्यन्धे च शेरते ॥ २२ ॥

जो किसी कुमारी कन्याको बलपूर्वक अपने वशमें करके उसका उपभोग करते हैं, वे पापाचारी मनुष्य अन्धकारपूर्ण नरकमें गिरते हैं ॥ २२ ॥

अन्योऽप्यथ न विक्रेयो मनुष्यः किं पुनः प्रजाः।
अधर्ममूलैर्हि धनैस्तैर्न धर्मोऽथ कश्चन ॥ २३ ॥

किसी दूसरे मनुष्यको भी नहीं बेचना चाहिये; फिर अपनी संतानको बेचनेकी तो बात ही क्या? अधर्ममूलक धनसे किया हुआ कोई भी धर्म सफल नहीं होता ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे यमगाथा नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मसम्बन्धी यमगाथानामक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

स्त्रियोंके वस्त्राभूषणोंसे सत्कार करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन

भीष्म उवाच

प्राचेतसस्य वचनं कीर्तयन्ति पुराविदः।
यस्याः किंचिन्नाददते ज्ञातयो न स विक्रयः ॥ १ ॥
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यतमं च तत्।
सर्वं च प्रतिदेयं स्यात् कन्यायै तदशेषतः ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! प्राचीन इतिहासके जाननेवाले विद्वान् दक्षप्रजापतिके वचनोंको इस प्रकार उद्धृत करते हैं। कन्याके भाई-बन्धु यदि उसके वस्त्र-आभूषणके लिये धन ग्रहण करते हैं और स्वयं उसमेंसे कुछ भी नहीं लेते हैं तो वह कन्याका विक्रय नहीं है। वह तो उन कन्याओंका सत्कार-मात्र है। वह परम दयालुतापूर्ण कार्य है। वह सारा धन जो कन्याके लिये ही प्राप्त हुआ हो, सब-का-सब कन्याको ही अर्पित कर देना चाहिये ॥ १-२ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथ देवरैः।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ३ ॥

बहुविध कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पिता, भाई, श्वशुर और देवरोंको उचित है कि वे नववधूका पूजन—वस्त्राभूषणोंद्वारा सत्कार करें ॥ ३ ॥

यदि वै स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनो न प्रवर्धते ॥ ४ ॥
पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप।

नरेश्वर! यदि स्त्रीकी रुचि पूर्ण न की जाय तो वह अपने

पतिको प्रसन्न नहीं कर सकती और उस अवस्थामें उस पुरुष-की संतानवृद्धि नहीं हो सकती। इसलिये सदा ही स्त्रियोंका सत्कार और दुलार करना चाहिये ॥ ४½ ॥

स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ॥ ५ ॥
अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।

जहाँ स्त्रियोंका आदर-सत्कार होता है, वहाँ देवतालोग प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं तथा जहाँ इनका अनादर होता है, वहाँकी सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ॥ ५½ ॥

तदा चैतत् कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः॥ ६ ॥
जामीशप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया।
नैव भान्ति न वर्धन्ते श्रिया हीनानि पार्थिव ॥ ७ ॥

जब कुलकी बहू-बेटियाँ दुःख मिलनेके कारण शोकमग्न होती हैं, तब उस कुलका नाश हो जाता है । वे खिन्न होकर जिन घरोंको शाप दे देती हैं, वे कृत्याके द्वारा नष्ट हुएके समान उजाड़ हो जाते हैं। पृथ्वीनाथ! वे श्रीहीन गृह न तो शोभा पाते हैं और न उनकी वृद्धि ही होती है ॥ ६-७ ॥

स्त्रियः पुंसां परिददे मनुर्जिगमिषुर्दिवम्।
अबलाः स्वल्पकौपीनाः सुहृदः सत्यजिष्णवः ॥ ८ ॥
ईर्ष्यवो मानकामाश्च चण्डाश्च सुहृदोऽबुधाः।
स्त्रियस्तु मानमर्हन्ति ता मानयत मानवाः ॥ ९ ॥
स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मो रतिभोगाश्च केवलाः।
परिचर्या नमस्कारास्तदायत्ता भवन्तु वः ॥ १० ॥

महाराज मनु जब स्वर्गको जाने लगे, तब उन्होंने स्त्रियोंको पुरुषोंके हाथमें सौंप दिया और कहा—'मनुष्यो! स्त्रियाँ अबला, थोड़ेसे वस्त्रोंसे काम चलानेवाली, अकारण हितसाधन करनेवाली, सत्यलोकको जीतनेकी इच्छावाली (सत्यपरायणा), ईर्ष्यालु, मान चाहनेवाली, अत्यन्त कोप करनेवाली, पुरुषके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाली और भोलीभाली होती हैं। स्त्रियाँ सम्मान पानेके योग्य हैं, अतः तुम सब लोग उनका सम्मान करो; क्योंकि स्त्री-जाति ही धर्मकी सिद्धिका मूल कारण है। तुम्हारे रतिभोग, परिचर्या और नमस्कार स्त्रियोंके ही अधीन होंगे ॥ ८—१० ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रीत्यर्थं लोकयात्रायाः पश्यत स्त्रीनिबन्धनम् ॥ ११ ॥
सम्मान्यमानाश्चैता हि सर्वकार्याण्यवाप्स्यथ।

'संतानकी उत्पत्ति, उत्पन्न हुए बालकका लालन-पालन तथा लोकयात्राका प्रसन्नतापूर्वक निर्वाह—इन सबको स्त्रियोंके ही अधीन समझो। यदि तुमलोग स्त्रियोंका सम्मान करोगे तो तुम्हारे सब कार्य सिद्ध होंगे' ॥ ११½ ॥

विदेहराजदुहिता चात्र श्लोकमगायत ॥ १२ ॥
नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासकम्।
धर्मः स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयन्त्युत ॥ १३ ॥

(स्त्रियोंके कर्तव्यके विषयमें) विदेहराज जनककी पुत्रीने एक श्लोकका गान किया है, जिसका सारांश इस प्रकार है—स्त्रीके लिये कोई यज्ञ आदि कर्म, श्राद्ध और उपवास करना आवश्यक नहीं है। उसका धर्म है अपने पतिकी सेवा। उसीसे स्त्रियाँ स्वर्गलोकपर विजय पा लेती हैं ॥ १२-१३ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १४ ॥

कुमारावस्थामें स्त्रीकी रक्षा उसका पिता करता है, जवानीमें पति उसका रक्षक है और वृद्धावस्थामें पुत्रगण उसकी रक्षा करते हैं। अतः स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये ॥

श्रिय एताः स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता।
पालिता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत ॥ १५ ॥

भरतनन्दन! स्त्रियाँ ही घरकी लक्ष्मी हैं । उन्नति चाहनेवाले पुरुषको उनका भलीभाँति सत्कार करना चाहिये। अपने वशमें रखकर उनका पालन करनेसे स्त्री श्री (लक्ष्मी) का स्वरूप बन जाती है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे स्त्रीप्रशंसा नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मके प्रसंगमें स्त्रीकी प्रशंसानामक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

ब्राह्मण आदि वर्णोंकी दायभाग-विधिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सर्वशास्त्रविधानज्ञ राजधर्मविदुत्तम।
अतीव संशयच्छेत्ता भवान् वै प्रथितः क्षितौ ॥ १ ॥
कश्चित्तु संशयो मेऽस्ति तन्मे ब्रूहि पितामह।
जातेऽस्मिन् संशये राजन् नान्यं पृच्छेम कञ्चन ॥२॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके विधानके ज्ञाता तथा राजधर्मके विद्वानोंमें श्रेष्ठ पितामह! आप इस भूमण्डलमें सम्पूर्ण संशयोंका सर्वथा निवारण करनेके लिये प्रसिद्ध हैं। मेरे हृदयमें एक संशय और है, उसका मेरे लिये समाधान कीजिये। राजन्! इस उत्पन्न हुए संशयके विषयमें मैं दूसरे किसीसे नहीं पूछूँगा ॥ १-२ ॥

यथा नरेण कर्तव्यं धर्ममार्गानुवर्तिना।

एतत् सर्वं महाबाहो भवान् व्याख्यातुमर्हति ॥ ३ ॥

महाबाहो ! धर्ममार्गका अनुसरण करनेवाले मनुष्यका इस विषयमें जैसा कर्तव्य हो, इस सबकी आप स्पष्टरूपसे व्याख्या करें ॥ ३ ॥

चतस्रो विहिता भार्या ब्राह्मणस्य पितामह ।
ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शूद्रा च रतिमिच्छतः ॥ ४ ॥

पितामह ! ब्राह्मणके लिये चार स्त्रियाँ शास्त्रविहित हैं– ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा । इनमेंसे शूद्रा केवल रतिकी इच्छावाले कामी पुरुषके लिये विहित है ॥ ४ ॥

तत्र जातेषु पुत्रेषु सर्वासां कुरुसत्तम ।
आनुपूर्व्येण कस्तेषां पित्र्यं दायादमर्हति ॥ ५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इन सबके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न हुए हों, उनमेंसे कौन क्रमशः पैतृक धनको पानेका अधिकारी है ? ॥

केन वा किं ततो हार्यं पितृवित्तात् पितामह ।
एतदिच्छामि कथितं विभागस्तेषु यः स्मृतः ॥ ६ ॥

पितामह ! किस पुत्रको पिताके धनमेंसे कौन-सा भाग मिलना चाहिये ? उनके लिये जो विभाग नियत किया गया है, उसका वर्णन मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
एतेषु विहितो धर्मो ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों वर्ण द्विजाति कहलाते हैं; अतः इन तीन वर्णोंमें ही ब्राह्मणका विवाह धर्मतः विहित है ॥ ७ ॥

वैषम्यादथवा लोभात् कामाद् वापि परंतप ।
ब्राह्मणस्य भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ८ ॥

परंतप नरेश ! अन्यायसे, लोभसे अथवा कामनासे शूद्र जातिकी कन्या भी ब्राह्मणकी भार्या होती है; परंतु शास्त्रोंमें इसका कहीं विधान नहीं मिलता ॥ ८ ॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
प्रायश्चित्तीयते चापि विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ९ ॥
तत्र जातेष्वपत्येषु द्विगुणं स्याद् युधिष्ठिर ।

शूद्रजातिकी स्त्रीको अपनी शय्यापर सुलाकर ब्राह्मण अधोगतिको प्राप्त होता है । साथ ही शास्त्रीय विधिके अनुसार वह प्रायश्चित्तका भागी होता है । युधिष्ठिर ! शूद्राके गर्भसे संतान उत्पन्न करनेपर ब्राह्मणको दूना पाप लगता है और उसे दूने प्रायश्चित्तका भागी होना पड़ता है ॥ ९½ ॥

आपद्यमानमृक्थं तु सम्प्रवक्ष्यामि भारत ॥ १० ॥
लक्षण्यं गोवृषो यानं यत् प्रधानतमं भवेत् ।
ब्राह्मण्यास्तद्धरेत् पुत्र एकांशं वै पितुर्धनात् ॥ ११ ॥
शेषं तु दशधा कार्यं ब्राह्मणस्वं युधिष्ठिर ।
तत्र तेनैव हर्तव्याश्चत्वारोंऽशाः पितुर्धनात् ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! अब मैं ब्राह्मण आदि वर्णोंकी कन्याओंके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रोंको पैतृक धनका जो भाग प्राप्त होता है, उसका वर्णन करूँगा । ब्राह्मणकी ब्राह्मणी पत्नीसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न गृह आदि, बैल, सवारी तथा अन्य जो-जो श्रेष्ठतम पदार्थ हों, उन सबको अर्थात् पैतृक धनके प्रधान अंशको पहले ही अपने अधिकारमें कर ले । युधिष्ठिर ! फिर ब्राह्मणका जो शेष धन हो, उसके दस भाग करने चाहिये । पिताके उस धनमें-से पुनः चार भाग ब्राह्मणीके पुत्रको ही ले लेने चाहिये ॥

क्षत्रियायास्तु यः पुत्रो ब्राह्मणः सोऽप्यसंशयः ।
स तु मातुर्विशेषेण त्रीनंशान् हर्तुमर्हति ॥ १३ ॥

क्षत्रियाका जो पुत्र है, वह भी ब्राह्मण ही होता है—इसमें संशय नहीं है । वह माताकी विशिष्टताके कारण पैतृक धनका तीन भाग ले लेनेका अधिकारी है ॥ १३ ॥

वर्णे तृतीये जातस्तु वैश्यायां ब्राह्मणादपि ।
द्विरंशस्तेन हर्तव्यो ब्राह्मणस्वाद् युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर ! तीसरे वर्णकी कन्या वैश्यामें जो ब्राह्मणसे पुत्र उत्पन्न होता है, उसे ब्राह्मणके धनमेंसे दो भाग लेने चाहिये ॥ १४ ॥

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो नित्यादेयधनः स्मृतः ।
अल्पं चापि प्रदातव्यं शूद्रापुत्राय भारत ॥ १५ ॥

भारत ! ब्राह्मणसे शूद्रामें जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे तो धन न देनेका ही विधान है तो भी शूद्राके पुत्रको पैतृक धनका स्वल्पतम भाग—एक अंश दे देना चाहिये ॥ १५ ॥

दशधा प्रविभक्तस्य धनस्यैष भवेत् क्रमः ।
सवर्णासु तु जातानां समान् भागान् प्रकल्पयेत् ॥ १६ ॥

दस भागोंमें विभक्त हुए बँटवारेका यही क्रम होता है । परतु जो समान वर्णकी स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए पुत्र हैं, उन सबके लिये बराबर भागोंकी कल्पना करनी चाहिये ॥

अब्राह्मणं तु मन्यन्ते शूद्रापुत्रमनैपुणात् ।
त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेत् ॥ १७ ॥

ब्राह्मणसे शूद्राके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे ब्राह्मण नहीं मानते हैं; क्योंकि उसमें ब्राह्मणोचित निपुणता नहीं पायी जाती । शेष तीन वर्णकी स्त्रियोंसे ब्राह्मणद्वारा जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह ब्राह्मण होता है ॥ १७ ॥

स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पञ्चमो नाधिगम्यते ।
हरेच्च दशमं भागं शूद्रापुत्रः पितुर्धनात् ॥ १८ ॥

चार ही वर्ण बताये हैं, पाँचवाँ वर्ण नहीं मिलता । शूद्राका पुत्र ब्राह्मण पिताके धनसे उसका दसवाँ भाग ले सकता है ॥ १८ ॥

तत्तु दत्तं हरेत् पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति ।
अवश्यं हि धनं देयं शूद्रापुत्राय भारत ॥ १९ ॥

वह भी पिताके देनेपर ही उसे लेना चाहिये, बिना दिये उसे लेनेका कोई अधिकार नहीं है। भरतनन्दन! किंतु शूद्राके पुत्रको भी धनका भाग अवश्य दे देना चाहिये ॥

आनृशंस्यं परो धर्म इति तस्मै प्रदीयते।
यत्र तत्र समुत्पन्नं गुणायैवोपपद्यते ॥ २० ॥

दया सबसे बड़ा धर्म है। यह समझकर ही उसे धनका भाग दिया जाता है। दया जहाँ भी उत्पन्न हो, वह गुणकारक ही होती है ॥ २० ॥

यद्यप्येष सपुत्रः स्यादपुत्रो यदि वा भवेत्।
नाधिकं दशमाद् दद्याच्छूद्रापुत्राय भारत ॥ २१ ॥

भारत! ब्राह्मणके अन्य वर्णकी स्त्रियोंसे पुत्र हों या न हों, वह शूद्राके पुत्रको दसवें भागसे अधिक धन न दे ॥

त्रैवार्षिकाद् यदा भक्तादधिकं स्याद् द्विजस्य तु।
यजेत तेन द्रव्येण न वृथा साधयेद् धनम् ॥ २२ ॥

जब ब्राह्मणके पास तीन वर्षतक निर्वाह होनेसे अधिक धन एकत्र हो जाय, तब वह उस धनसे यज्ञ करे। धनका व्यर्थ संग्रह न करे ॥ २२ ॥

त्रिसहस्रपरो दायः स्त्रियै देयो धनस्य वै।
भर्त्रा तच्च धनं दत्तं यथार्हं भोक्तुमर्हति ॥ २३ ॥

स्त्रीको तीन हजारसे अधिक लागतका धन नहीं देना चाहिये। पतिके देनेपर ही उस धनको वह यथोचित रूपसे उपभोगमें ला सकती है ॥ २३ ॥

स्त्रीणां तु पतिदायाद्यमुपभोगफलं स्मृतम्।
नापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिवित्तात् कथंचन ॥ २४ ॥

स्त्रियोंको पतिके धनसे जो हिस्सा मिलता है, उसका उपभोग ही (उसके लिये) फल माना गया है। पतिके दिये हुए स्त्रीधनसे पुत्र आदिको कुछ नहीं लेना चाहिये ॥ २४ ॥

स्त्रियास्तु यद् भवेद् वित्तं पित्रा दत्तं युधिष्ठिर।
ब्राह्मण्यास्तद्धरेत् कन्या यथा पुत्रस्तथा हि सा ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर! ब्राह्मणीको पिताकी ओरसे जो धन मिला हो, उस धनको उसकी पुत्री ले सकती है; क्योंकि जैसा पुत्र है, वैसी ही पुत्री भी है ॥ २५ ॥

सा हि पुत्रसमा राजन् विहिता कुरुनन्दन।
एवमेव समुद्दिष्टो धर्मो वै भरतर्षभ।
एवं धर्ममनुस्मृत्य न वृथा साधयेद् धनम् ॥ २६ ॥

कुरुनन्दन! भरतकुलभूषण नरेश! पुत्री पुत्रके समान ही है—ऐसा शास्त्रका विधान है। इस प्रकार वही धनके विभाजनकी धर्मयुक्त प्रणाली बतायी गयी है। इस तरह धर्मका चिन्तन एवं अनुस्मरण करते हुए ही धनका उपार्जन एवं संग्रह करे। परंतु उसे व्यर्थ न होने दे—यज्ञ-यागादिके द्वारा सफल कर ले ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो यद्यदेयधनः स्मृतः।
केन प्रतिविशेषेण दशमोऽप्यस्य दीयते ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! यदि ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न हुए पुत्रको धन न देने योग्य बताया गया है तो किस विशेषताके कारण उसको पैतृक धनका दसवाँ भाग भी दिया जाता है? ॥ २७ ॥

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः।
क्षत्रियायां तथैव स्याद् वैश्यायामपि चैव हि ॥ २८ ॥

ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुआ पुत्र ब्राह्मण हो—इसमें कोई संशय ही नहीं है; वैसे ही क्षत्रिया और वैश्याके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्र भी ब्राह्मण ही होते हैं ॥ २८ ॥

कस्मात् तु विषमं भागं भजेरन् नृपसत्तम।
यदा सर्वे त्रयो वर्णास्त्वयोक्ता ब्राह्मणा इति ॥ २९ ॥

नृपश्रेष्ठ! जब आपने ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंवाली स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए पुत्रोंको ब्राह्मण ही बताया है, तब वे पैतृक धनका समान भाग क्यों नहीं पाते हैं? क्यों वे विषम भाग ग्रहण करें? ॥ २९ ॥

भीष्म उवाच

दारा इत्युच्यते लोके नाम्नैकेन परंतप।
प्रोक्तेन चैव नाम्नायं विशेषः सुमहान् भवेत् ॥ ३० ॥

भीष्मजीने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! लोकमें सब स्त्रियोंका 'दारा' इस एक नामसे ही परिचय दिया जाता है। इस तथाकथित नामसे ही चारों वर्णोंकी स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए पुत्रोंमें महान् अन्तर हो जाता है* ॥ ३० ॥

तिस्रः कृत्वा पुरो भार्याः पश्चाद् विन्देत ब्राह्मणीम्।
सा ज्येष्ठा सा च पूज्या स्यात् सा च भार्या गरीयसी ॥

ब्राह्मण पहले अन्य तीनों वर्णोंकी स्त्रियोंको ब्याह लानेके पश्चात् भी यदि ब्राह्मणकन्यासे विवाह करे तो वही अन्य स्त्रियोंकी अपेक्षा ज्येष्ठ, अधिक आदर-सत्कारके योग्य तथा विशेष गौरवकी अधिकारिणी होगी ॥ ३१ ॥

स्नानं प्रसाधनं भर्तुर्दन्तधावनमञ्जनम्।
हव्यं कव्यं च यच्चान्यद् धर्मयुक्तं गृहे भवेत् ॥ ३२ ॥

---

* 'दार' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'आद्रियन्ते त्रिवर्गार्थिभिः इति दाराः' धर्म, अर्थ और कामकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंद्वारा जिनका आदर किया जाता है, वे दारा हैं। जहाँतक भोगविषयक आदर है, वह तो सभी स्त्रियोंके साथ समान है, परंतु व्यावहारिक जगत्‌में जो पतिके द्वारा आदर प्राप्त होता है, वह वर्णक्रमसे यथायोग्य न्यूनाधिक मात्रामें ही उपलब्ध होता है। यही बात उनके पुत्रोंके सम्बन्धमें भी लागू होती है। इसीलिये उनके पुत्रोंको पैतृक धनके विषयमें कम और अधिक भाग ग्रहण करनेका अधिकार है।

न तस्यां जातु तिष्ठन्त्यामन्या तत् कर्तुमर्हति ।
ब्राह्मणी त्वेव कुर्याद् वा ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर ! पतिको स्नान कराना, उनके लिये शृङ्गार-सामग्री प्रस्तुत करना, दाँतकी सफाईके लिये दातौन और मंजन देना, पतिके नेत्रोंमें आँजन या सुरमा लगाना, प्रतिदिन हवन और पूजनके समय हव्य और कव्यकी सामग्री जुटाना तथा घरमें और भी जो धार्मिक कृत्य हो, उसके सम्पादनमें योग देना--ये सब कार्य ब्राह्मणके लिये ब्राह्मणीको ही करने चाहिये । उसके रहते हुए दूसरे किसी वर्णवाली स्त्रीको यह सब करनेका अधिकार नहीं है ॥ ३२-३३ ॥

अन्नं पानं च माल्यं च वासांस्याभरणानि च ।
ब्राह्मण्यैतानि देयानि भर्तुः सा हि गरीयसी ॥ ३४ ॥

पतिको अन्न, पान, माला, वस्त्र और आभूषण--ये सब वस्तुएँ ब्राह्मणी ही समर्पित करे; क्योंकि वही उसके लिये सब स्त्रियोंसे अधिक गौरवकी अधिकारिणी है ॥ ३४ ॥

मनुनाभिहितं शास्त्रं यच्चापि कुरुनन्दन ।
तत्राप्येष महाराज दृष्टो धर्मः सनातनः ॥ ३५ ॥

महाराज कुरुनन्दन ! मनुने भी जिस धर्मशास्त्रका प्रतिपादन किया है, उसमें भी यही सनातन धर्म देखा गया है ॥ ३५ ॥

अथ चेदन्यथा कुर्याद् यदि कामाद् युधिष्ठिर ।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर ! यदि ब्राह्मण कामके वशीभूत होकर इस शास्त्रीय पद्धतिके विपरीत बर्ताव करता है, वह ब्राह्मण-चाण्डाल समझा जाता है जैसा कि पहले कहा गया है ॥३६॥

ब्राह्मण्याः सदृशः पुत्रः क्षत्रियायाश्च यो भवेत् ।
राजन् विशेषो यस्त्वत्र वर्णयोरुभयोरपि ॥ ३७ ॥

राजन् ! ब्राह्मणके समान ही जो क्षत्रियाका पुत्र होगा, उसमें भी उभयवर्णसम्बन्धी अन्तर तो रहेगा ही ॥ ३७ ॥

न तु जात्या समा लोके ब्राह्मण्याः क्षत्रिया भवेत् ।
ब्राह्मण्याः प्रथमः पुत्रो भूयान् स्याद् राजसत्तम ॥ ३८ ॥
भूयो भूयोऽपि संहार्यः पितृवित्ताद् युधिष्ठिर ।

क्षत्रियकन्या संसारमें अपनी जातिद्वारा ब्राह्मणकन्याके बराबर नहीं हो सकती । नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार ब्राह्मणीका पुत्र क्षत्रियाके पुत्रसे प्रथम एवं ज्येष्ठ होगा । युधिष्ठिर ! इसलिये पिताके धनमेंसे ब्राह्मणीके पुत्रको अधिक-अधिक भाग देना चाहिये ॥ ३८½ ॥

यथा न सदृशी जातु ब्राह्मण्याः क्षत्रिया भवेत् ॥ ३९ ॥
क्षत्रियायास्तथा वैश्या न जातु सदृशी भवेत् ।

जैसे क्षत्रिया कभी ब्राह्मणीके समान नहीं हो सकती, वैसे ही वैश्या भी कभी क्षत्रियाके तुल्य नहीं हो सकती ॥

श्रीश्च राज्यं च कोशश्च क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ॥ ४० ॥
विहितं दृश्यते राजन् सागरान्तां च मेदिनीम् ।
क्षत्रियो हि स्वधर्मेण श्रियं प्राप्नोति भूयसीम् ।
राजा दण्डधरो राजन् रक्षा नान्यत्र क्षत्रियात् ॥ ४१ ॥

राजा युधिष्ठिर ! लक्ष्मी, राज्य और कोष–यह सब शास्त्रमें क्षत्रियोंके लिये ही विहित देखा जाता है । राजन् ! क्षत्रिय अपने धर्मके अनुसार समुद्रपर्यन्त पृथ्वी तथा बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है । नरेश्वर ! राजा (क्षत्रिय) दण्ड धारण करनेवाला होता है । क्षत्रियके सिवा और किसीसे रक्षाका कार्य नहीं हो सकता ॥ ४०-४१ ॥

ब्राह्मणा हि महाभागा देवानामपि देवताः ।
तेषु राजन् प्रवर्तेत पूजया विधिपूर्वकम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! महाभाग ! ब्राह्मण देवताओंके भी देवता हैं; अतः उनका विधिपूर्वक पूजन–आदर-सत्कार करते हुए ही उनके साथ बर्ताव करे ॥ ४२ ॥

प्रणीतमृषिभिर्ज्ञात्वा धर्मं शाश्वतमव्ययम् ।
लुप्यमानं स्वधर्मेण क्षत्रियो ह्येष रक्षति ॥ ४३ ॥

ऋषियोंद्वारा प्रतिपादित अविनाशी सनातन धर्मको लुप्त होता जानकर क्षत्रिय अपने धर्मके अनुसार उसकी रक्षा करता है ॥ ४३ ॥

दस्युभिर्ह्रियमाणं च धनं दाराश्च सर्वशः ।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता भवति पार्थिवः ॥ ४४ ॥

डाकुओंद्वारा लूटे जाते हुए सभी वर्णोंके धन और स्त्रियोंका राजा ही रक्षक होता है ॥ ४४ ॥

भूयान् स्यात् क्षत्रियापुत्रो वैश्यापुत्रान्न संशयः ।
भूयस्तेनापि हर्तव्यं पितृवित्ताद् युधिष्ठिर ॥ ४५ ॥

इन सब दृष्टियोंसे क्षत्रियाका पुत्र वैश्याके पुत्रसे श्रेष्ठ होता है--इसमें संशय नहीं है । युधिष्ठिर ! इसलिये शेष पैतृक धनमेंसे उसको भी विशेष भाग लेना ही चाहिये ॥४५॥

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं ते विधिवद् राजन् ब्राह्मणस्य पितामह ।
इतरेषां तु वर्णानां कथं वै नियमो भवेत् ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा--पितामह ! आपने ब्राह्मणके धनका विभाजन विधिपूर्वक बता दिया । अब यह बताइये कि अन्य वर्णोंके धनके बँटवारेका कैसा नियम होना चाहिये ? ॥४६॥

भीष्म उवाच

क्षत्रियस्यापि भार्ये द्वे विहिते कुरुनन्दन ।
तृतीया च भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ४७ ॥

भीष्मजीने कहा--कुरुनन्दन ! क्षत्रियके लिये भी दो वर्णोंकी भार्याएँ शास्त्रविहित हैं । तीसरी शूद्रा भी उसकी भार्या हो सकती है । परंतु शास्त्रसे उसका समर्थन नहीं होता ॥

एष एव क्रमो हि स्यात् क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ।

अष्टधा तु भवेत् कार्यं क्षत्रियस्वं जनाधिप ॥ ४८ ॥

राजा युधिष्ठिर ! क्षत्रियोंके लिये भी बँटवारेका यही क्रम है। क्षत्रियके धनको आठ भागोंमें विभक्त करना चाहिये ॥४८॥

क्षत्रियाया हरेत् पुत्रश्चतुरोंऽशान् पितुर्धनात्।
युद्धावहारिकं यच्च पितुः स्यात् स हरेत् तु तत् ॥ ४९ ॥

क्षत्रियाका पुत्र उस पैतृक धनमेंसे चार भाग स्वयं ग्रहण कर ले तथा पिताकी जो युद्धसामग्री है, उसको भी वही ले ले ॥ ४९ ॥

वैश्यापुत्रस्तु भागांस्त्रीञ्शूद्रापुत्रस्तथाष्टमम्।
सोऽपि दत्तं हरेत् पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति ॥ ५० ॥

शेष धनमेंसे तीन भाग वैश्याका पुत्र ले ले और अवशिष्ट आठवाँ भाग शूद्राका पुत्र प्राप्त करे। वह भी पिताके देनेपर ही उसे लेना चाहिये। बिना दिया हुआ धन ले जानेका उसे अधिकार नहीं है ॥ ५० ॥

एकैव हि भवेद् भार्या वैश्यस्य कुरुनन्दन।
द्वितीया तु भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ५१ ॥

कुरुनन्दन ! वैश्यकी एक ही वैश्यकन्या ही धर्मानुसार भार्या हो सकती है। दूसरी शूद्रा भी होती है, परंतु शास्त्रसे उसका समर्थन नहीं होता है ॥ ५१ ॥

वैश्यस्य वर्तमानस्य वैश्यायां भरतर्षभ।
शूद्रायां चापि कौन्तेय तयोर्विनियमः स्मृतः ॥ ५२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कुन्तीकुमार ! वैश्यके वैश्या और शूद्रा दोनोंके गर्भसे पुत्र हों तो उनके लिये भी धनके बँटवारेका वैसा ही नियम है ॥ ५२ ॥

पञ्चधा तु भवेत् कार्यं वैश्यस्वं भरतर्षभ।
तयोरपत्ये वक्ष्यामि विभागं च जनाधिप ॥ ५३ ॥

भरतभूषण नरेश ! वैश्यके धनको पाँच भागोंमें विभक्त करना चाहिये। फिर वैश्या और शूद्राके पुत्रोंमें उस धनका विभाजन कैसे करना चाहिये, यह बताता हूँ ॥ ५३ ॥

वैश्यापुत्रेण हर्तव्याश्चत्वारोंऽशाः पितुर्धनात्।
पञ्चमस्तु स्मृतो भागः शूद्रापुत्राय भारत ॥ ५४ ॥

भरतनन्दन ! उस पैतृक धनमेंसे चार भाग तो वैश्याके पुत्रको ले लेने चाहिये और पाँचवाँ अंश शूद्राके पुत्रका भाग बताया गया है ॥ ५४ ॥

सोऽपि दत्तं हरेत् पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति।
त्रिभिर्वर्णैः सदा जातः शूद्रोऽदेयधनो भवेत् ॥ ५५ ॥

वह भी पिताके देनेपर ही उस धनको ले सकता है। बिना दिया हुआ धन लेनेका उसे कोई अधिकार नहीं है। तीनों वर्णोंसे उत्पन्न हुआ शूद्र सदा धन न देनेके योग्य ही होता है ॥ ५५ ॥

शूद्रस्य स्यात् सवर्णैव भार्या नान्या कथंचन।
समभागाश्च पुत्राः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ ५६ ॥

शूद्रकी एक ही अपनी जातिकी ही स्त्री भार्या होती है। दूसरी किसी प्रकार नहीं। उसके सभी पुत्र, वे सौ भाई क्यों न हों, पैतृक धनमेंसे समान भागके अधिकारी होते हैं ॥५६॥

जातानां समवर्णायाः पुत्राणामविशेषतः।
सर्वेषामेव वर्णानां समभागो धनात् स्मृतः ॥ ५७ ॥

समस्त वर्णोंके सभी पुत्रोंका, जो समान वर्णकी स्त्रीसे उत्पन्न हुए हैं, सामान्यतः पैतृक धनमें समान भाग माना गया है ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठस्य भागो ज्येष्ठः स्यादेकांशो यः प्रधानतः।
एष दायविधिः पार्थ पूर्वमुक्तः स्वयम्भुवा ॥ ५८ ॥

कुन्तीनन्दन ! ज्येष्ठ पुत्रका भाग भी ज्येष्ठ होता है। उसे प्रधानतः एक अंश अधिक मिलता है। पूर्वकालमें स्वयम्भू ब्रह्माजीने पैतृक धनके बँटवारेकी यह विधि बतायी थी ॥

समवर्णासु जातानां विशेषोऽस्त्यपरो नृप।
विवाहवैशिष्ट्यकृतः पूर्वपूर्वो विशिष्यते ॥ ५९ ॥

नरेश्वर ! समान वर्णकी स्त्रियोंमें जो पुत्र उत्पन्न हुए हैं, उनमें यह दूसरी विशेषता ध्यान देने योग्य है। विवाहकी विशिष्टताके कारण उन पुत्रोंमें भी विशिष्टता आ जाती है। अर्थात् पहले विवाहकी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ पुत्र श्रेष्ठ और दूसरे विवाहकी स्त्रीसे पैदा हुआ पुत्र कनिष्ठ होता है ॥५९॥

हरेज्ज्येष्ठः प्रधानांशमेकं तुल्यासु तेष्वपि।
मध्यमो मध्यमं चैव कनीयांस्तु कनीयसम् ॥ ६० ॥

तुल्य वर्णवाली स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए उन पुत्रोंमें भी जो ज्येष्ठ है, वह एक भाग ज्येष्ठांश ले सकता है। मध्यम पुत्रको मध्यम और कनिष्ठ पुत्रको कनिष्ठ भाग लेना चाहिये ॥

एवं जातिषु सर्वासु सवर्णः श्रेष्ठतां गतः।
महर्षिरपि चैतद् वै मारीचः काश्यपोऽब्रवीत् ॥ ६१ ॥

इस प्रकार सभी जातियोंमें समान वर्णकी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही श्रेष्ठ होता है। मरीचि-पुत्र महर्षि कश्यपने भी यही बात बतायी है ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे रिक्थविभागो नाम सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मके अन्तर्गत पैतृक धनका विभागनामक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

रजि० सं० ए० ८५४